सम्पादकीय

जगत् के प्रलोभन इतने गहरे होते है कि मनुष्य का भोग से योग की ओर या राग मे विराग की ओर उन्मुख होना अत्यन्त कठिन होता है। फिर यदि स्थिति सम्पन्न हो, आमोद-प्रमाद की सामग्री सहज सुलभ हो तब तो और कठिन। इतने पर भी जब जीवन मे नवतारुण्य का वसन्त खिल रहा हो उस स्थिति मे तो कोई असामान्य लोकोत्तर पुरुष ही निश्रेयस के पथ का अवलम्बन लेने की सोचता है। मरुधरकेसरी मुनि श्रीमिश्रीमलजी महाराज ऐसे ही असामान्य लोकोत्तर पुरुषो मे है। उन्हे क्या नही प्राप्त था ? मगर कोई भी प्रलोभन उन्हे उस पथ पर चलने से नही रोक सका जिसके विषय मे कहा गया है—'प्रणया वीरा महावीहिं' अर्थात् वीर पुरुष उस महामार्ग पर चले हैं। मुनिश्री के विषय मे शताधिक सज्जनो के उद्गार ग्रंथ मे अंकित हैं। उससे अधिक यहाँ कुछ नही कहना है।

मुनिश्री के श्रद्धालु भक्तो की सख्या विपुल है। जब उन्होने आपकी दीक्षास्वर्णजयन्ती के पुनीत प्रसग पर अभिनन्दन ग्रंथ समर्पित करने का सकल्प किया तो उसके सम्पादन का भार अकस्मात् मेरे कन्धो पर आ पडा। इस वृहत्तर एव गुरुतर कार्य को सम्पन्न करने के लिए समय अत्यल्प था और मैंने प्रकाशन समिति से एक वर्ष का समय बढा देने का अनुरोध किया किन्तु वह स्वीकार नही किया गया। तब मैं अपने सम्पूर्ण सामर्थ्य के साथ इसमे जुटा और उसका जो फल आया वह पाठको के समक्ष है।

शीघ्रता के कारण ग्रंथ के एक साथ अनेक खण्ड व्यतिक्रम मे मुद्रित कराने पडे और चतुर्थ खण्ड के मुद्रणार्थ दूसरे प्रेस को भी सहायता लेनी पडी। ऐसी स्थिति में सम्पादन और मुद्रण सम्बन्धी जो त्रुटिया रह गई हैं उनके लिए मैं क्षमाप्रार्थना का अधिकारी अवश्य हूँ। प्रारम्भ मे कल्पना नही थी कि ग्रंथ का कलेवर इतना बढ जाएगा, किन्तु असाधारण पुरुष के अभिनन्दनग्रंथ को असाधारण ही होना था। नियति के इस विधान को टालने वाला मैं कौन होता था ?

ग्रंथ में सकलित अधिकाश सामग्री उच्च कोटि की है, मौलिक एव गम्भीर है। चक्रवर्ती षट खण्डाधिपति माने गए है। चारित्रचक्रवर्ती मुनिश्री के अभिनन्दनार्थ प्रस्तुत ग्रंथ भी षट्खण्डो मे विभक्त हो, यह विचार समीचीन जान पडा। तदनुसार इसे छह खण्डो मे विभक्त किया गया है। प्रथम खण्ड मे मुनिश्री का सक्षिप्त जीवनवृत्त, सस्मरण आदि हैं। दूसरे खण्ड मे जैनदर्शन और धर्म सबधी महत्त्वपूर्ण निबन्ध है। इनमे कितने ही निबन्ध अपने-अपने विषय की गम्भीर और विशद विवेचना से सम्पन्न हैं। यही खण्ड सबसे बडा है। तृतीय खण्ड मे सस्कृति, कला एव इतिहास सम्बन्धी सामग्री प्रस्तुत की गई है। चतुर्थ खण्ड मे साहित्य का परिचय और तत्सम्बन्धी गवेषणा है। पचम खण्ड सर्वसाधारण के लिए उपयोगी है। वह विशेषत राजस्थानी जनपदीय सस्कृति का दिग्दर्शन कराता है। इस खण्ड की सामग्री के सकलन और सम्पादन का भार प्रसिद्ध विद्वान डा० बद्रीप्रसाद पचोली ने वहन किया है। छठे खण्ड मे आग्लभाषाविदो के लिए मननीय सामग्री सकलित की गई है।

वे सभी महानुभाव साधुवाद के पात्र है जिन्होंने सामग्री, अर्थ तथा अन्य प्रकार से सहयोग प्रदान किया है। साथ ही उन सहयोगी लेखको के प्रति मैं क्षमाप्रार्थी हूँ जिनके निबन्ध ग्रन्थ मे स्थान नही पा सके। सकोच से काम न लिया गया होता तो ग्रन्थ को अपना कलेवर सभालना कठिन हो जाता। कुछ बन्धुओं के सस्मरण और श्रद्धा-निवेदन भी विलम्ब से प्राप्त होने के कारण स्थान न पा सके।

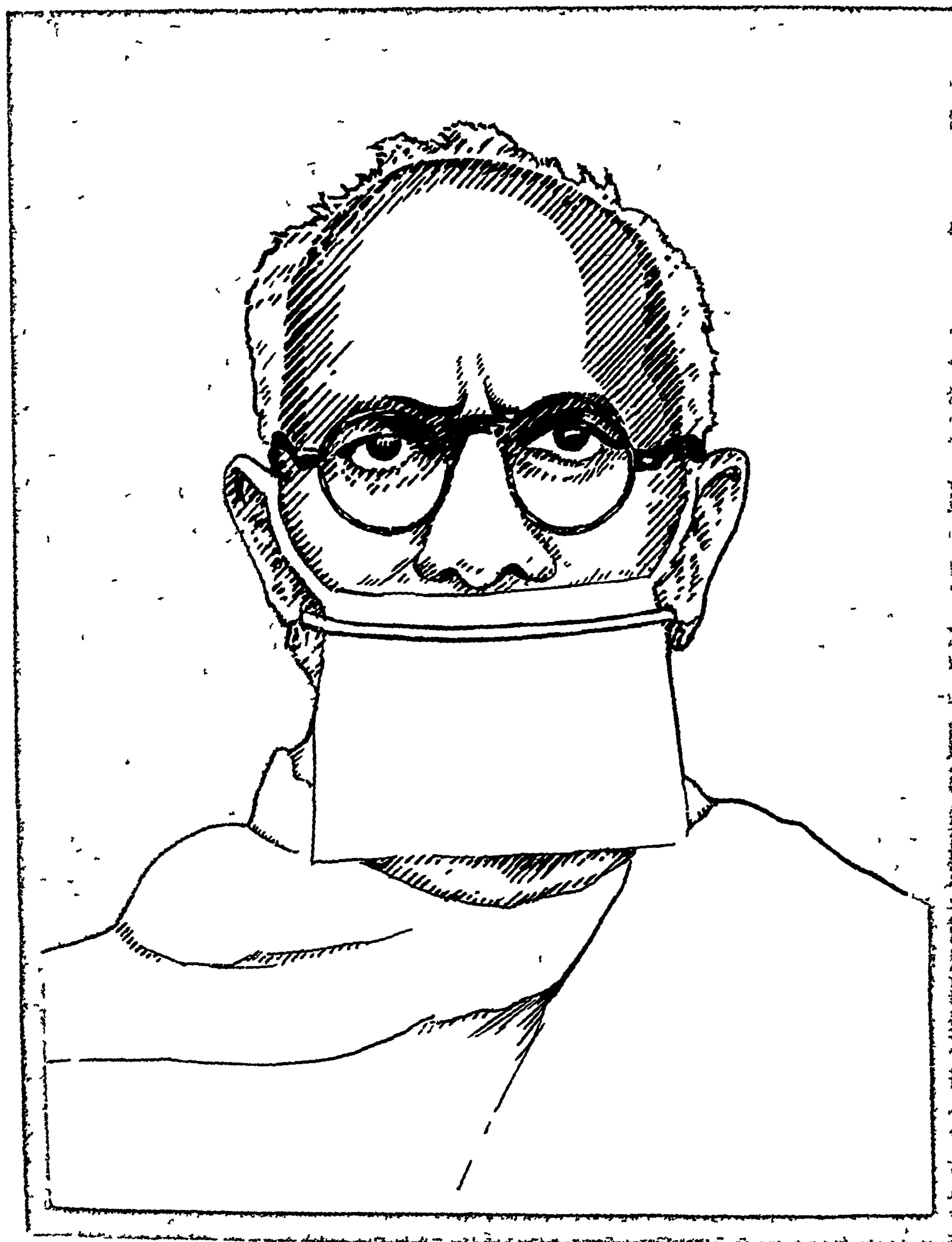
अर्थसहायको के चित्र वर्णानुक्रम से देने का विचार था। समिति के अध्यक्ष इसके लिए पुन पुन आग्रह भी करते थे, किन्तु बहुत-से चित्र बहुत विलम्ब से आए और अन्तिम समय तक आते ही रहे। उनके कारण चित्रो का मुद्रण रोक रखने का समय नही था। अतएव उस विचार का त्याग देना पडा। लेखको के चित्र खण्डश दिए गए है।

उद्योगशाला प्रेस के व्यवस्थापक श्री शान्तिलाल व० सेठ का हार्दिक सहयोग तो रहा ही, साथ ही सहृदय और कुशल मशीन-मैन श्री भवानीसिह जी तथा श्री सहदेवजी की लगन और तत्परता भी अविस्मरणीय है। ग्रंथमुद्रण को उन्होने अपना ही कार्य न समझा होता तो समय पर उसका तैयार होना कठिन था।

आशा है प्रस्तुत ग्रंथ हिन्दी के गौरव की और साथ ही जैन साहित्य के भण्डार मे एक महान् रचना की वृद्धि करेगा।

महावीर जयन्ती
वी० स० २४९५

शोभाचन्द्र भारिल्ल
प्रधान सम्पादक



मरुधरकेसरी पं० रत्न मुनि श्री मिश्रीमलजी महाराज

प्राक्कथन

बात संवत् २०१८ की है। श्रद्धेय गुरुदेव श्रीमरुधरकेसरीजी का चातुर्मास सादडी में था। उत्साही युवक स्व० श्री मदनलालजी सकलेचा जालना (आन्ध्र प्रदेश) निवासी गुरुदेव के दर्शनार्थ पधारे। अपार गुरुभक्ति एवं श्रद्धा के वशीभूत हो आपने स्थानीय संघ के प्रमुख कार्यकर्ताओं से मरुधरकेसरीजी की ५० वीं दीक्षा-जयंती पर समसमारोह अभिनन्दन करने की योजना रखी। उत्साही कार्यकर्ताओं ने श्री सकलेचाजी की योजना का सोत्साह स्वागत किया।

उसके बाद गुरुदेवश्री के जोधपुर, सोजत, चावण्डिया, कोटडा, निम्बाज आदि के चातुर्मासों के समय भी इस योजना पर विचार-विमर्श किया जाता रहा। इसी बीच समय की विचित्र गति और कराल काल की दुष्टता ने हम पर वज्राघात किया और संवत् २०२३ में श्री मदनलालजी साहब को हमारे बीच से सदा-सदा के लिये उठा लिया। आपके असामयिक निधन ने अभिनन्दन-योजना में कार्यरत युवकों को झकझोर दिया।

२०२३ का निम्बाज चातुर्मास पूर्णकर गुरुदेव श्री का जोधपुर पदार्पण हुआ। जोधपुर में ही उपरलावास स्थित महावीर भवन प्रथम बार आपश्री के चरण-स्पर्श से पवित्र हुआ। स्वर्गीय सकलेचाजी की भावना को मूर्तरूप देने की विधिवत् योजना उत्साही कार्यकर्ता श्री लालचंदजी खींवसरा बिलाडा निवासी द्वारा रखी गई और मरुधर-केसरी अभिनन्दनग्रंथ के प्रकाशन हेतु एक समिति का गठन किया गया। जिसका मुख्यालय जोधपुर तथा शाखालय ब्यावर में स्थापित किया गया। इस समिति के अध्यक्ष पद के लिये श्रीमान् पुखराजजी शिशोदिया ब्यावर निवासी का नाम चयन हुआ तथा प्रकाशन की देखरेख, व सामग्री संकलन एवं सम्पादन का कार्य विद्वान् लेखक पं० शोभाचन्द्रजी भारिल्ल के सुपुर्द किया गया।

अभिनन्दनग्रंथ समर्पण-समारोह का विशद आयोजन करने का कार्य सोजत संघ ने अपने ऊपर लेकर एक महान् प्रशंसनीय कार्य किया है। ग्रंथ प्रकाशन के लिये आर्थिक सहयोग जुटाने के लिये सोजत के युवक कार्यकर्ता श्री जवरीलालजी बोहरा, मोहनलालजी राठौड, जुगराजजी कोठारी, मदनलालजी तालेडा आदि ने अपना अमूल्य समय निकाल कर भारतव्यापी पर्यटन द्वारा श्रद्धावान् भक्तजनों से लगभग एक लाख रुपया एकत्रित किया है। इन सज्जनों के परिश्रम के फलस्वरूप आज यह विशाल ग्रंथ आपके समक्ष प्रस्तुत है।

इस ग्रंथ के प्रकाशन के पीछे स्वर्गीय श्री मदनलालजी सा० की प्रबल भावना रही है। इस नाशवान संसार में आज उनका भौतिक शरीर भले ही नहीं रहा हो, किन्तु ग्रंथ उनकी प्रेरणा के अमिट प्रतिबिम्ब के रूप में रहेगा।

गुरुदेवश्री की स्थानकवासी जैन समाज को प्रदत्त सेवाओं के प्रति यह अभिनन्दनग्रंथ समर्पित करते हुए हमें अपार हर्ष का अनुभव हो रहा है। समयाभाव से ग्रंथ का वर्तमान रूप में प्रकाशित कर देने की विवशता के कारण अनेकों लेखों को अप्रकाशित अवस्था में रोकना पड रहा है, जिसका हमें खेद है। आशा है लेखकगण इसका कोई अन्य कारण नहीं मानकर हमें क्षमा करेंगे।

यह अत्यन्त प्रसन्नता की बात है कि भारतीय संघ के उपराष्ट्रपति महामना श्री वी० वी० गिरि ने अभिनन्दनग्रंथ-समर्पण की रस्म अदा करने की स्वीकृति प्रदान कर दी है। इसका श्रेय अ०भा० स्था० जैन कान्फ्रेन्स के अध्यक्ष एवं विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के अध्यक्ष श्री दौलतसिंहजी कोठारी, माननीय श्री आनन्दराजजी सा० सुराणा, सेठ अचलसिंहजी सदस्य लोकसभा, लाला हरिश्चन्द्रजी माथुर सदस्य राज्यसभा, श्री माणकलालजी माथुर, श्री पुखराजजी कालानी सदस्य विधानसभा एवं श्री जिस्मनसिंहजी सा० लोढा आदि को है। जिनका हम सहृदय आभार प्रकट किये बिना नहीं रह सकते।

अन्त में, मैं उन सभी सज्जनों का जिन्होंने इस अभिनन्दन ग्रंथ के प्रकाशन में तन, मन, धन एवं समय का योगदान दिया है, हार्दिक अभिवादन करता हूँ। आशा है हमारा यह प्रयास उच्चकोटि के प्रकाशन की न्यूनता की पूर्ति में सहयोग करेगा एवं पाठकवृन्द अधिकाधिक लाभान्वित होकर सामाजिक जागृति की ओर बढ़ेंगे।

जोधपुर
चैत्री स्थापना, २०२५

सम्पतराज बरडिया
मंत्री, श्रीमरुधरकेसरी अभिनन्दनग्रंथ प्रकाशन समिति,
जोधपुर



मरुधरकेसरी पं० रत्न मुनि श्री मिश्रीमलजी महाराज

प्राक्कथन

बात संवत् २०१८ की है। श्रद्धेय गुरुदेव श्रीमरुधरकेसरीजी का चातुर्मास सादडी में था। उत्साही युवक स्व० श्री मदनलालजी मकलेचा जालना (आन्ध्र प्रदेश) निवासी गुरुदेव के दर्शनार्थ पधारे। अपार गुरुभक्ति एवं श्रद्धा के वशीभूत हो आपने स्थानीय संघ के प्रमुख कार्यकर्त्ताओं से मरुधरकेसरीजी की ५० वी दीक्षा-जयंती पर समारोह अभिनन्दन करने की योजना रखी। उत्साही कार्यकर्त्ताओं ने श्री मकलेचाजी की योजना का सोत्साह स्वागत किया।

इसके बाद गुरुदेवश्री के जोधपुर, सोजत, चावण्डिया, कोटडा, निम्बाज आदि के चातुर्मासों के समय भी इस योजना पर विचार-विमर्श किया जाता रहा। इसी बीच समय की विचित्र गति और कराल काल की दुष्टता ने हम पर वज्राघात किया और संवत् २०२३ में श्री मदनलालजी साहब को हमारे बीच में सदा-सदा के लिये उठा लिया। आपके असामयिक निधन ने अभिनन्दन-योजना में कार्यरत युवकों को झकझोर दिया।

२०२३ का निम्बाज चातुर्मास पूर्णकर गुरुदेव श्री का जोधपुर पदार्पण हुआ। जोधपुर में ही ऊपरलावास स्थित महावीर भवन प्रथम बार आपश्री के चरण-स्पर्श से पवित्र हुआ। स्वर्गीय मकलेचाजी की भावना को मूर्तरूप देने की विधिवत् योजना उत्साही कार्यकर्त्ता श्री लालचंदजी खींवसरा बिलाडा निवासी द्वारा रखी गई और मरुधर-केसरी अभिनन्दनग्रंथ के प्रकाशन हेतु एक समिति का गठन किया गया। जिसका मुख्यालय जोधपुर तथा शाखालय ब्यावर में स्थापित किया गया। इस समिति के अध्यक्ष पद के लिये श्रीमान् पुखराजजी शिशोदिया ब्यावर निवासी का नाम चयन हुआ तथा प्रकाशन की देखरेख, व सामग्री संकलन एवं सम्पादन का कार्य विद्वान् लेखक पं० शोभाचन्द्रजी भारिल्ल के सुपुर्द किया गया।

अभिनन्दनग्रंथ समर्पण-समारोह का विशद आयोजन करने का कार्य सोजत संघ ने अपने ऊपर लेकर एक महान् प्रशंसनीय कार्य किया है। ग्रंथ प्रकाशन के लिये आर्थिक सहयोग जुटाने के लिये सोजत के युवक कार्यकर्त्ता श्री जवरीलालजी बोहरा, मोहनलालजी राठौड, जुगराजजी कोठारी, मदनलालजी तालेडा आदि ने अपना अमूल्य समय निकाल कर भारतव्यापी पर्यटन द्वारा श्रद्धावान् भक्तजनों से लगभग एक लाख रुपया एकत्रित किया है। इन सज्जनों के परिश्रम के फलस्वरूप आज यह विशाल ग्रंथ आपके समक्ष प्रस्तुत है।

इस ग्रंथ के प्रकाशन के पीछे स्वर्गीय श्री मदनलालजी सा० की प्रबल भावना रही है। इस नाशवान संसार में आज उनका भौतिक शरीर भले ही नहीं रहा हो, किन्तु ग्रंथ उनकी प्रेरणा के अमिट प्रतिबिम्ब के रूप में रहेगा।

गुरुदेवश्री की स्थानकवासी जैन समाज को प्रदत्त सेवाओं के प्रति यह अभिनन्दनग्रंथ समर्पित करते हुए हमें अपार हर्ष का अनुभव हो रहा है। समयाभाव से ग्रंथ को वर्तमान रूप में प्रकाशित कर देने की विवशता के कारण अनेकों लेखों को अप्रकाशित अवस्था में रोकना पड रहा है, जिसका हमें खेद है। आशा है लेखकगण इसका कोई अन्य कारण नहीं मानकर हमें क्षमा करेंगे।

यह अत्यन्त प्रसन्नता की बात है कि भारतीय संघ के उपराष्ट्रपति महामना श्री वी० वी० गिरि ने अभिनन्दनग्रंथ-समर्पण की रस्म अदा करने की स्वीकृति प्रदान कर दी है। इसका श्रेय अ० भा० स्था० जैन कान्फ्रेन्स के अध्यक्ष एवं विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के अध्यक्ष श्री दौलतसिंहजी कोठारी, माननीय श्री आनन्दराजजी सा० सुराणा, सेठ अचलसिंहजी सदस्य लोकसभा, लाला हरिश्चन्द्रजी माथुर सदस्य राज्यसभा, श्री माणकलालजी माथुर, श्री पुखराजजी कालानी सदस्य विधानसभा एवं श्री चिम्मनसिंहजी सा० लोढा आदि को है। जिनका हम सहृदय आभार प्रकट किये बिना नहीं रह सकते।

अन्त में, मैं उन सभी सज्जनों का जिन्होंने इस अभिनन्दन ग्रंथ के प्रकाशन में तन, मन, धन एवं समय का योगदान दिया है, हार्दिक अभिवादन करता हूँ। आशा है हमारा यह प्रयास उच्चकोटि के प्रकाशन की न्यूनता की पूर्ति में सहयोग करेगा एवं पाठकवृन्द अधिकाधिक लाभान्वित होकर सामाजिक जागृति की ओर बढेंगे।

जोधपुर
चैत्री स्थापना, २०२५

सम्पतराज बरडिया
मंत्री, श्रीमरुधरकेसरी अभिनन्दनग्रंथ प्रकाशन समिति,
जोधपुर

प्रासंगिक

मरुधरकेसरी मुनिश्री मिश्रीमलजी महाराज सोजत सिटी पधारे तो मेरे मन मे दर्शन करने की अभिलाषा उत्पन्न हुई और मैं सोजत पहुँचा। व्याख्यानश्रवण आदि के पश्चात् मध्याह्न मे महाराजश्री की सेवा मे बैठा था। स्थानीय श्रावकसमुदाय भी उपस्थित था। उस समय अन्यान्य चर्चाओ के बीच सोजत वालो की ओर से यह चर्चा आई कि गुरुदेव की दीक्षा के पचास वर्ष पूर्ण हो रहे है। इस शुभ अवसर एक अभिनन्दनग्रथ अर्पित किया जाय तो हम लोग अच्छे ढग से उच्च स्तर पर समारोह का आयोजन करे। आखिर यह तय हुआ कि इस विचार को क्रियान्वित करने के सम्बन्ध मे जोधपुर मे मुख्य-मुख्य श्रावको की एक बैठक आयोजित की जाय।

विचार की यह लहर शान्त नही हुई। सोजत-सघ की भावना गहरी और स्थायी थी। जोधपुर मे मीटिंग का आयोजन किया गया। उसमे अभिनन्दनग्रन्थ अर्पित करने का निश्चय कर लिया गया और तदर्थ अभिनन्दनग्रन्थ-प्रकाशन समिति का भी निर्माण हो गया। जो सज्जन उसमे सम्मिलित हुए थे उन्होने अपना आत्मीय समझ कर मेरी अनुपस्थिति मे ही मुझे उसका अध्यक्ष नियुक्त कर दिया। मैं इकार नही कर सकता।

जोधपुर मे मीटिंग करने का सुझाव मैंने ही दिया था और वह इस कारण कि वहाँ ब्यावर की अपेक्षा प्रस्तुत कार्य को सम्पन्न करने के लिए विशेष योग्य व्यक्ति मिलना सभव था। वहाँ श्री इन्दरचन्द्रजी सकलेचा जैसे सुयोग्य एव गुरुदेव के परम भक्त सज्जन है। सम्पन्न और प्रतिभाशाली है। उनकी देख-रेख मे कार्य सुचारु रूप से सम्पन्न हो सकेगा।

लेकिन हुआ यह कि अध्यक्ष पद पर मुझे आसीन कर देने के कारण तथा ब्यावर निवासी प० श्री शोभाचन्द्रजी भारिल्ल की प्रधान सम्पादक के रूप मे नियुक्ति होने के कारण समिति का प्रधान कार्यक्षेत्र ब्यावर हो गया। इससे मेरे ऊपर जो उत्तरदायित्व आ पडा उसे मैंने अपनी योग्यता और अवकाश के अनुसार निभाने का प्रयत्न किया है। इसमे ब्यावर निवासी उत्साही और कर्मठ कार्यकर्त्ता श्री चिम्मनसिंहजी लोढा का मुझे पूर्ण सहयोग मिला है। उनके बहुमूल्य सहयोग के बिना इस गुरुतर कार्य को सभालना मेरे लिए अत्यन्त कठिन होता।

इतने विशाल ग्रन्थ का इतने अल्प समय मे तैयार हो जाना पण्डित भारिल्लजी के ही पुरुषार्थ का फल है। इसके लिए उन्होने जो श्रम किया है, वास्तव मे वह अविस्मरणीय है।

समिति की ओर से मैं उन सब सहयोगियो को शतश धन्यवाद अर्पित करता हूँ जिन्होने ग्रन्थ के लिए द्रव्य, सामग्री तथा अन्य प्रकार का सहयोग प्रदान किया है।

अन्त मे सोजत-सघ का आभार मानना मेरा परम कर्त्तव्य है जिसकी भावनास्वरूप यह ग्रथरत्न अस्तित्व मे आया और जिसने उसका समर्पण समारोह विशाल पैमाने पर मनाना तय किया है। मुनिश्री के दीक्षास्थान पर ही दीक्षा स्वर्णजयन्ती का आयोजन सर्वथा उपयुक्त है।

ब्यावर
वैशाखी पूर्णिमा
वि० स० २०२५

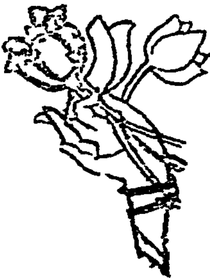
—पुखराज सिसौदिया
अध्यक्ष
मरुधरकेसरी अभिनदनग्रथप्रकाशन समिति



समर्पण

गुरुदेव !

समर्पण और केवल समर्पण ही जिनके जीवन का व्रत है, उनसे ग्रहण करने का अनुरोध करना अति साहस ही है। किन्तु इस समर्पण का अर्थ है श्रद्धा का प्रकाशन, भक्ति का अभिव्यंजन और प्रमोदभावना का व्यक्तीकरण। अतएव यह कृति आपके पावन कर-कमलों में सविनय समर्पित है।



मरुधरकेसरी-अभिनन्दन-ग्रंथ प्रकाशन समिति

Presented by me this Abhinandan
Granth to Marudhar Kesari
Swamishri, Misrimalji on
30/4/68 at Sojat City

V. V. Giri

Vice President of India

कतिपय शुभ सन्देश



राष्ट्रपति सचिवालय,
राष्ट्रपति भवन,
नई दिल्ली–५

पत्रावली सं० १८ (२)–पत्र/६८

फरवरी ७, १९६८
माघ १८, १८८९ (शक)

प्रिय महोदय,

राष्ट्रपति जी के नाम आपके पत्र संख्या १००८/६८ दिनांक १२ जनवरी, १९६८ से यह जानकर प्रसन्नता हुई कि मुनिश्री मिश्रीमलजी महाराज को अभिनन्दन-ग्रन्थ समर्पित करने का आयोजन किया जा रहा है।

मुनिश्री की दीर्घायु के लिये राष्ट्रपति जी अपनी शुभकामनायें भेजते है।

भवदीय,

खेमराज गुप्त

राष्ट्रपति के अपर निजी सचिव



उप-राष्ट्रपति, भारत
नई दिल्ली–१

शिविर-तन्जोर, जनवरी १७, १९६८

प्रिय महोदय,

आपका पत्र दिनांक १२ जनवरी, १९६८ का प्राप्त हुआ, धन्यवाद।

मुझे यह जानकर प्रसन्नता हुई कि आप श्री मरुधरकेसरी जी का एक 'अभिनन्दन-ग्रथ' आगामी मास अप्रैल मे भेंट करने जा रहे हैं।

मैं अभिनन्दन-ग्रन्थ की सफलता के लिए अपनी हार्दिक शुभकामनाएँ भेजता हूँ।

आपका

(वी० वि० गिरि)

राजभवन, जयपुर

क्रमांक ६२७६,

२६ नवम्बर १९६७

राज्यपाल महोदय की इस प्रकाशन के लिए शुभ कामनाएं प्रेषित की जाती हैं। राज्यपाल महोदय आशा करते है कि मुनिश्री मिश्रीमलजी जैसे तपस्वी सन्त के सान्निध्य से जनसाधारण मे नैतिक मूल्यो के प्रति आस्था और भी दृढ होगी।

भवदीय

सचिव, राज्यपाल राजस्थान

यह अतीव प्रसन्नता की बात है कि स्थानकवासी समाज मरुधरा के एक महान् ज्योतिपुञ्ज कविसम्राट् व्याख्यानवाचस्पति एवं समाजसुधारक सत मरुधरकेसरी प० रत्न १००८ मुनिश्री मिश्रीमलजी महाराज साहब की ५० वी दीक्षास्वर्णजयन्ती पर अभिनन्दन ग्रथ का प्रकाशन कर रहा है।

श्री मरुधरकेसरीजी की समाजसगठन के प्रति की गई सेवायें अत्यन्त ही स्तुत्य हैं। आपकी स्पष्टवादिता के कारण जन-मानस सदा ही आपके प्रति आकर्षित एवं श्रद्धावान् रहा है। ऐसे महान् सन्त का अभिनन्दन करते हुए हमे अपार हर्ष व उल्लास होना स्वाभाविक है।

यह अभिनन्दनग्रन्थ श्री मरुधरकेसरीजी की समाजसेवाओं के प्रति एक श्रद्धा का सुमन तथा समाजोपयोगी सामग्रीयुक्त प्रकाशन हो, यही शुभकामना है। ग्रथ मे सकलित सामग्री से आध्यात्मिकता का विकास हो जिससे आज भौतिकवादी युग का मानव लाभान्वित हो सके। यही एक महान् सन्त के प्रति हमारी सही और रचनात्मक श्रद्धाजलि होगी।

चांदमल लोढा

न्यायाधीश, राजस्थान उच्चन्यायालय,
जोधपुर (राजस्थान)

जोधपुर
दिनाक २४-३-६८

डा० गोपीनाथ शर्मा, एम० ए०, पीएच० डी०, राजस्थान वि० वि०, जयपुर

आप अभिनन्दन ग्रन्थ निकालने जा रहे हैं। यह पुनीत कार्य हमारे राजस्थान के शोधकार्य को आगे बढाने मे बडा सहायक होगा ऐसी मेरी मान्यता है।

प्रो० भागचन्द जैन, एम० ए०, शास्त्री, काव्यतीर्थ, इटारसी

हमारी शुभ कामनाएँ आपके साथ हैं। हम आपके इस मगलमय पवित्र कार्य की सफलता चाहते है।

श्री गोवर्धन शर्मा, एम० ए०, पी-एच० डी०, अहमदाबाद,

महाराजश्री मिश्रीमलजी के सम्मान मे आप एक अभिनन्दनग्रन्थ प्रकाशित करने जा रहे हैं इसकी सूचना मिली। बडा ही नेक काम है। आपकी योजना अति उत्तम है।

डा० ज्योतिप्रसादजी जैन, एम० ए०, एल-एल० बी०, पी-एच० डी०, लखनऊ

मरुधरकेसरी मुनिश्री मिश्रीमलजी म० के अभिनन्दनार्थ ग्रन्थ प्रकाशित कर रहे हैं, यह जानकर अत्यन्त प्रसन्नता हुई। विशिष्ट सन्तो और विद्वानो का इस प्रकार अभिनन्दन करके हम उनके प्रति कुछ कृतज्ञता ज्ञापन करते हैं। साथ ही इस बहाने स्वत लाभान्वित होते हैं—एक सुन्दर साहित्यिक सकलन प्रकाश मे आ जाता है।

श्री रामवल्लभ सोमाणी, जयपुर।

मुनि श्री हजारीमल स्मृतिग्रन्थ का आपने बहुत ही सुन्दर सम्पादन किया है। राजस्थान मे इतना सुन्दर स्मृतिग्रन्थ अब तक छपा प्रतीत नही होता। सामग्री भी इसमे बहुत ही अच्छी है। आशा है यह अभिनन्दन ग्रन्थ भी ऐसा ही सुन्दर होगा।

डा० राजाराम जैन, एम० ए०, पी-एच० डी०, आरा (बिहार)

ग्रन्थ प्रकाशन योजना मुझे सुरुचिकर लगी। इसकी शानदार सफलता के लिये मेरी मगल कामना है।

मुनि श्री कन्हैयालालजी 'कमल'

केसरीजी का अभिनन्दन समाज के लिये अत्यन्त गौरव का विषय है। समाज उनकी मूल्यवान सेवाओं के ऋण से अभिनन्दनग्रन्थ भेंट कर कुछ अश मे उऋण हो सकेगा।

मोतीलाल जैन 'विजय' एम० ए०

मरुधरकेसरी मुनि श्री मिश्रीमलजी महाराज के पावन अभिनन्दन समारोह पर मुद्रित हो रहे ग्रन्थ के प्रकाशन पर अत्यन्त प्रसन्नता होती है। मुनियो, तपस्वियो, साध्वियो, विद्वानो ने स्वसाधना के साथ-साथ लोककल्याणकारी प्रवृत्तियो द्वारा समाज को यथाकाल नई दिशा दी है। आपकी समिति के इस प्रयास पर हार्दिक बधाई देता हूँ।

महता शिखरचन्द कोचर
बी० ए०, एल-एल० बी०,
एफ० एस० आर० आई०,
साहित्यशिरोमणि, साहित्याचार्य,
डिस्ट्रिक्ट एण्ड सेशन्स जज

पो० झूंझनू (राज०)
ता० २-१०-६७

मुझे यह जानकर अत्यन्त प्रसन्नता हुई कि मुनिश्री मिश्रीमलजी महाराज की दीक्षा की स्वर्ण जयन्ती के सुअवसर पर एक अभिनन्दन-ग्रथ प्रकाशित किया जा रहा है। मै इस सुअवसर पर अपनी हार्दिक शुभकामनाएँ प्रेपित करता हूँ।

विषयानुक्रम

प्रथम खंड पृ० १—१६८

जीवन-परिचय, संस्मरण, श्रद्धानिवेदन, परम्परा

द्वितीय खण्ड पृ० १—३५५

धर्म, दर्शन, अध्यात्म

तृतीय खण्ड पृ० १—१७९

संस्कृति, कला, इतिहास

चतुर्थ खण्ड पृ० १८१-४७०

साहित्य

पंचम खण्ड पृ० १—११८

जनपदीय संस्कृति

षष्ठ खण्ड पृष्ठ १-१००

अंग्रेजी भाषा-निबन्ध





प्रधान सम्पादक

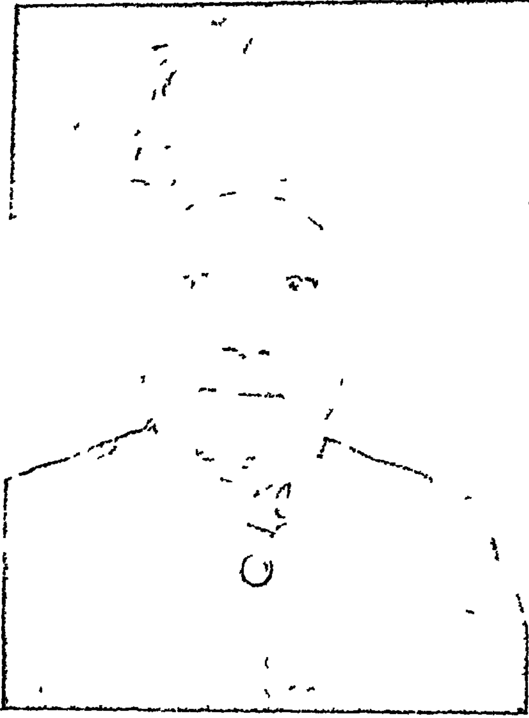
श्री शोभाचन्द्र भारिल्ल



प्रधान व्यवस्थापक

श्री चिम्मनसिंह लोढा

प्रकाशनसमिति के पदाधिकारी

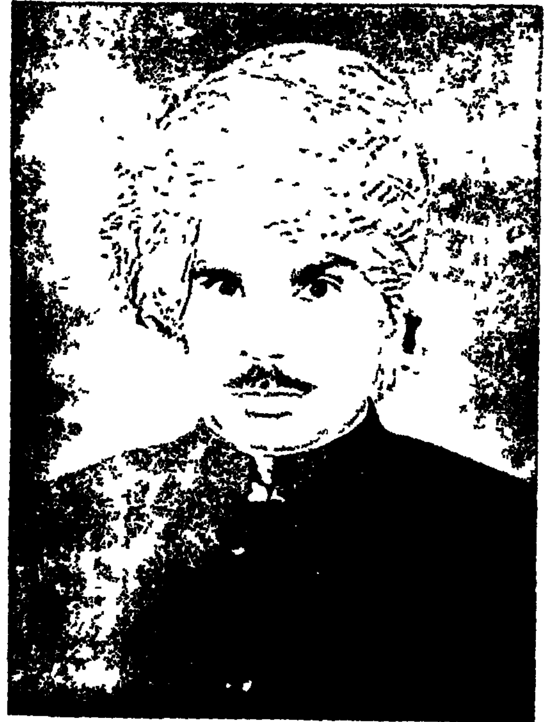


अध्यक्ष

सेठ श्री पुखराजजी सीसोदिया

ब्यावर

अन्य सहायक-परिचय पृ० ४ पर देखिये।



कोषाध्यक्ष

सेठ श्री इन्दरमलजी सकलेचा



उपाध्यक्ष

सेठ श्री केवलचदजी चौपड़ा

सोजत

अर्थ सहायक-परिचय पृ० ३ पर देखिये ।



उपाध्यक्ष

सेठ श्री बालचदजी बाफणा

सादडी

अर्थ सहायक-परिचय पृ० ४ पर देखिये ।



मत्री

श्री सम्पतराजजी वरडिया

जोधपुर



वित्तमत्री

श्री मदनराजजी वाठिया

सोजत



सहमंत्री
श्री मदनराजजी नाहटा
सोजत



प्रकाशन सहयोगी
श्री शान्तिलाल सेठ



परामर्शदाता
श्री प्रेमराजजी कामदार
चावण्डिया
अर्थ सहायक-परिचय पृ० ४ पर देखिये ।



परामर्शदाता
[illegible] पारसमलजी धोका सोजत
सोजत सीटी
अर्थ सहायक-परिचय पृ० ४ पर देखिये ।

अर्थसंचय मे सहयोग देने वाले सज्जन



श्री सोहनलालजी राठौड



श्री पुखराजजी कोठारी



श्री जवरीलालजी धोका

कायकर्त्ता



श्री लादूरामजी कामदार



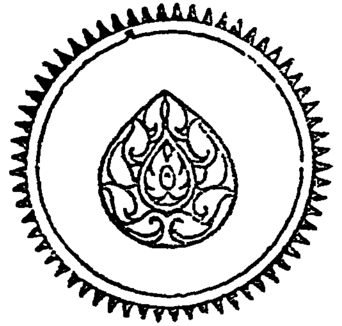
प्रथम खण्ड



जीवन-परिचय, संस्मरण
श्रद्धानिवेदन, परम्परा

मरुधरकेसरी-जीवनपरिचय

शोभाचंद्र भारिल्ल, न्यायतीर्थ



स जातो येन जातेन, याति वंशः समुन्नतिम् ।
परिवर्त्तिनि संसारे, मृतः को वा न जायते ।।

जो निरन्तर गतिशील है—जिसमें क्षण भर के लिए भी स्थिरता नहीं, जिसमें परिवर्तन की अजस्रगामिनी धारा प्रवाहित हो रही है, वही संसार है।

इस परिवर्तनशील संसार में असंख्य प्रकार के अनन्त-अनन्त जीवधारी दृष्टिगोचर होते हैं। वे इस धरातल पर आते, अपनी जीवनलीला पूर्ण करते और अन्त में सदा के लिए आखें मूंद लेते हैं। अधुना ज्ञात इस क्षुद्र विश्व में ही प्रतिदिन दो लाख मानवों के जन्म का औसत है। फिर हमारे द्वारा अज्ञात जगत् तो बहुत विशाल है। इसके अतिरिक्त ज्ञात अज्ञात जगत् में मनुष्येतर प्राणियों की गणना करना असंभव है। ऐसी स्थिति में कौन जाने कितने प्राणी प्रतिदिन जन्म लेते और महाकाल के भक्ष्य बन जाते हैं? कौन उनका नाम लेता है? कौन उन्हें जानता-पहचानता है?

किन्तु मानवेतर प्राणियों की बात जाने दीजिए। उनमें मनुष्य जैसी जागृत चेतना नहीं होती—उन्हें विशिष्ट विवेकबुद्धि उपलब्ध नहीं है। वे नहीं जानते कि जीवन का क्या मूल्य है? क्या उपयोगिता है? किस महान् उद्देश्य की पूर्ति में जीवन की सार्थकता है?

मनुष्य ने इन गहनतम प्रश्नों पर विचार किया है। उस विचार के निष्कर्ष में यद्यपि एकरूपता नहीं है और रुचि एवं संस्कार की भिन्नता के कारण वह हो भी नहीं सकती, तथापि अभ्युदय-साधना में मानव-जीवन की सफलता है, इस विचार में मतभेद का अवकाश नहीं।

मगर अभ्युदयसाधना क्या है? इस प्रश्न के उत्तर अनेक और परस्पर विरोधी हैं। एक महत्त्वाकांक्षी समग्र विश्व पर अपनी विजय-वैजयन्ती फहरा कर ही जीवन को सफल समझता है। दूसरा अर्थप्राण विपुल धनराशि संचित कर और धनकुबेर कहला कर अपने अहंकार की तुष्टि में जीवन की कृतार्थता अनुभव करता है। तीसरा किसी अन्य प्रकार की भौतिक समृद्धि प्राप्त करने में जीवन की सार्थकता मानता है।

दृष्टिकोण संबंधी इस भिन्नता का मूल 'स्व' के प्रति विविध प्रकार की धारणाओं में निहित है। बहुत लोग हैं जो अपने 'स्व' को वर्तमान जीवन की परिधि में ही घिरा समझते हैं। वे मानते हैं कि इस जीवन तक ही हमारा अस्तित्व है, न इससे पूर्व था, न आगे रहेगा। वे आत्मा के अनादि, अनन्त, अक्षय, अव्यय अस्तित्व पर विश्वास नहीं करते। ऐसे लोग ऐहिक जीवन से सम्बन्ध रखने वाले उत्कर्ष को ही परम और चरम मानें, यह स्वाभाविक है।

कुछ व्यक्ति ऐसे भी हैं और उनकी संख्या नगण्य नहीं है जो सिद्धान्त रूप में आत्मतत्त्व को अजर-अमर मानते हैं मगर भौतिक समृद्धि की बलवती कामना उनकी मान्यता को दबा देती है। जीवनव्यवहार में वे उसे विस्मृत



कर देते हैं और ऐहिक सम्पत्ति को ही अभ्युदयसाधना समझ लेते है। इस प्रकार प्रथम और द्वितीय श्रेणी के व्यक्तियो मे व्यवहारत कोई विशेष अन्तर नही रह जाता।

तीसरी श्रेणी मे ऐसे व्यक्तियो का समावेश होता है जो आत्मा के अमरत्व की आस्था से प्रेरित और प्रवृत्त होते है। उनके लिए वर्तमान जीवन आत्मा की सुदीर्घ विजय-यात्रा का पडाव मात्र है। वे अतीत और अनागत से वर्तमान को विच्छिन्न करके नही देखते। अतएव जिस अभ्युदय का सम्बन्ध केवल वर्तमान मे है, - ऐसी धन-सम्पत्ति, सत्ता तथा अन्य भौतिक विभूतियो का उनके मन मे कोई महत्व नही होता। वे आत्मा मे निहित विराट् वैभव को ही अपना मानते और उसी के विकास की साधना मे जीवन की सफलता समझते है।

जो अभ्युदय इसी जीवन तक सीमित है और इस जीवन मे भी बीच मे ही विनष्ट हो जाता है उससे आत्मा का स्थायी श्रेयस् सिद्ध नहीं हो सकता। वह प्राय आत्मा के पतन का ही कारण बनता है। अतएव सच्चा अभ्युदय है आत्मिक गुणो का विकास। आत्मा मे पारमात्मिक गुणो की सत्ता है—ईश्वरत्वप्राप्ति की क्षमता है। उसे प्राप्त करने के लिए जीवन को सयममय, तपोनिष्ठ और नियमपरायण बनाने की आवश्यकता है। अपने 'स्व' को इतना विराट् बनाना पडता है कि जगत् के समस्त चराचर प्राणियो का उसमे समावेश हो सके। परोपकार को आत्मोपकार अनुभव करने की उदार दृष्टि का विकास करना होता है। शास्त्रकार इस स्थिति की ओर सकेत करते है—

अत्तसम मन्नेज्ज छप्पि काए।

षट् निकायो मे वर्गीकृत विश्व के समस्त प्राणियो को साधक आत्मसदृश माने।

प्राणिमात्र के प्रति आत्मभावना उत्पन्न होने पर मनुष्य के जीवन के समस्त मानदण्ड बदल जाते है। वह शरीर मे समाहित होता हुआ भी अपने हृदय और मस्तिष्क से विश्वव्यापी बन जाता है। उसकी भावना और विचारणा समस्त सकीर्ण सीमाओ को पार करके असीम हो जाती है। इसी स्थिति मे साधुता का विकास होता है। वस्तुत यही मानवजीवन की सर्वोत्कृष्ट सार्थकता है।

यहा इसी श्रेणी के एक महामानव की जीवनी के कतिपय चित्र अकित किए जा रहे है। उन्होने अपने जीवन को 'सर्वभूतहिताय' अर्पित किया है। उनकी मानसिक, वाचिक और कायिक शक्ति जगत् के शाश्वत श्रेयस् की साधना मे सलग्न है। उनका सात्त्विक 'अहम्' विस्तार कर व्यापक बन गया है।

मुनिश्री मिश्रीमलजी महाराज का व्यक्तित्व वास्तव मे अद्‌भुत है। उनके हृदय मे नवनीत की कोमलता है तो सकल्प मे वज्र की कठोरता।

वज्रादपि कठोराणि, मृदूनि कुसुमादपि।
लोकोत्तराणा चेतासि, को हि विज्ञातुमर्हति ॥

—लोकोत्तर पुरुषो के चित्त की गहनता को कौन समझ सकता है ? वह वज्र से अधिक कठोर तो फूल से भी अधिक मृदु होता है।

हमारे चरितनायक 'कडक मिश्री' के नाम से प्रसिद्ध है। जिसने सर्वप्रथम यह उपसज्ञा प्रदान की उसकी सूझ-बूझ निस्सन्देह सराहना के योग्य है।

मुनिश्री दूसरो के प्रति अतीव सदय होते हुए भी अपने प्रति, अपने आचार-विचार और शरीर के प्रति अत्यन्त कठोर है। जिस महामार्ग का उन्होने अवलम्बन किया है उससे तिल भर डिगने की बात नही सोचते। अपने शरीर पर दया किए बिना उन्होने 'चरैवेति चरैवेति'—चलते रहो, चलते रहो, इस प्रेरणा को जीवन मे अपनाया है। इस अपेक्षा वे सच्चे 'परिव्राजक' है। वृद्धावस्था मे और रुग्णावस्था मे भी उनके सतत विहार का क्रम भग नही होता। पथविचलित जनो को पथारूढ करना, जन-मानस मे नीति, धर्म और अध्यात्म के बीज बोना, धर्म भावना को उद्दीपन

करना, संयम और तप की प्रेरणा देना, भारत की पुरातन आध्यात्मिक संस्कृति के संरक्षण के प्रयास में अपने आचार और विचार से दत्तचित्त रहना एवं ऋषि-महर्षियों की परम्परा को अक्षुण्ण रख कर उजागर करना ही उनके जीवन का लक्ष्य बन गया है।

मुनिश्री के जीवन में अनेकानेक तत्त्व विद्यमान हैं जिन्हें अपनाकर पाठक अपने जीवन को सफल एवं सुन्दर बना सकते हैं। उनसे सुन्दर प्रेरणाएं ग्रहण की जा सकती हैं। उनकी जीवनी एक ऐसा सांचा है जिसमें अपने जीवन को ढाल कर कोई भी कृतार्थ हो सकता है।

उनके जीवन के पचहत्तर और मुनिजीवन के पचास संवत्सर पूर्ण होने जा रहे हैं। इस दीर्घकाल में उन्होंने धर्म और संघ के लिए जो कुछ किया है उसका मूल्यांकन करना सरल नहीं है, फिर इस संक्षिप्त रूप-रेखा में तो सम्भव ही नहीं। यहां मुनिश्री के जीवन की एक झलक ही अंकित की जाएगी।

जन्म और शैशव

भारतवर्ष के पश्चिमी भाग में राजस्थान प्रान्त का जो मारवाड़ भाग है, उसकी अपनी कुछ विशेषताएं हैं। स्वतंत्रतासेनानी राठौड़ वीर दुर्गादास, सतवन्ती मीरा और इतिहास प्रसिद्ध वीर अमरसिंह जैसे महामनस्वियों की जन्मभूमि होने का गौरव इसी मरुप्रदेश को प्राप्त हुआ है। इस प्रदेश के पूर्वी, पश्चिमी तथा उत्तरी भाग रेगिस्तान से व्याप्त है तो दक्षिणी भाग में अरावली पर्वतमाला के क्रीडांगण में छलकती सूकड़ी तथा जवाई जैसी सरिताएं भी कभी-कभी इसका वक्षःप्रक्षालन कर देती हैं। यही कारण है कि इस क्षेत्र के कुछ भाग में जहां रबी और खरीफ की फसलें होती हैं वहां अधिकांश भूभाग में केवल बाजरा, ज्वार, मूंग, मोठ, तिल आदि खरीफ की फसलें ही प्रचुर मात्रा में उत्पन्न होती हैं।

प्रकृति की विचित्र लीलास्थली होने के कारण स्वल्प वर्षा होने पर भी यहां के अनुपम तथा स्वादिष्ट फल काकड़ी, मतीरे, बेर, सांगरी, काचरे, टालू और पीलू आदि देश-देशान्तर में प्रसिद्ध हैं।

प्राचीन काल में इस क्षेत्र का प्रशासन क्षत्रिय जाति के राठौड़ों के अधिकार में चिरकाल तक रहा।

इसी मरुभूमि के दक्षिणी भाग में पाली नामक विशाल नगर है जो आज विशिष्ट व्यापारिक केन्द्र होने के कारण समस्त भारत में प्रसिद्ध है। इस नगर का भूतकाल भी कम गौरवपूर्ण नहीं रहा है। इसके गौरव को प्रकट करने के लिए एक ही तथ्य पर्याप्त है।

कहा जाता है, यहां कभी लगभग एक लाख पालीवाल ब्राह्मणों के घर थे। वे प्रायः वैश्योचित व्यवसाय करते थे और इस कारण खूब सम्पन्न थे। कोई सामान्य स्थिति का व्यक्ति पाली में आकर निवास करता तो उसे प्रत्येक घर से एक-एक स्वर्णमुद्रा (दाम) और गृहनिर्माण करने के लिए एक-एक ईंट भेंट के रूप में प्रदान की जाती थी। इस प्रकार सामान्य व्यक्ति तत्काल लखाधिपति होकर नगर का गौरव बढ़ाने लगता था।



आज साम्यवाद और समाजवाद का ढोल पीटा जाता है। कानूनों के बल पर समाजवाद की प्रतिष्ठा करने का प्रयास किया जा रहा है, मगर दिनोंदिन आर्थिक वैषम्य की वृद्धि होती दिखाई दे रही है। किन्तु पाली नगर का वह समाजवाद कानून के बल पर नहीं, धर्मप्रेरित कर्त्तव्य के आधार पर प्रतिष्ठित था। जनतंत्र और समाजवाद की स्थापना प्रजा के जीवन में राष्ट्रधर्म की भावना की प्रतिष्ठा के बिना नहीं होती।

धनवैभव के साथ ही पाली का बुद्धिवैभव भी प्रसिद्ध हो चुका था। मारवाड़ी कहावत "पाली की पंचायत" आज भी प्रदेश के कोने-कोने में प्रचलित है।

इसी पाली नगर में श्रेष्ठिवर्य सोलंकी मेहता श्रीशेषमलजी निवास करते थे। आपकी पत्नी श्रीमती केसरकुंवर बाई अत्यन्त धर्मपरायणा, पतिव्रता एवं सौजन्य की प्रतिमूर्ति थीं।



श्रीमती केसरकुवर बाई की पावन कुक्षि से श्रावण शुक्ला १४, विक्रम स० १९५५ की रात्रि के उत्तरार्द्ध मे एक नररत्न का जन्म हुआ । वही नररत्न आज 'मरुधरकेसरी' की गरिमा से मडित है और कोटि-कोटि जनो को श्रद्धा और भक्ति के पात्र बने हुए हैं । । वही हमारे चरितनायक हैं ।

चरितनायक के पिता श्रीशेषमलजी भाद्राजून नगर के राजा के यहा प्रमुख अधिकारी थे । राजस्थान मे उन्हे 'कामदार' कहते हैं । भाद्राजून के राजा जोधपुर नरेश के प्रमुख सामन्त थे । उनके पूर्वजो ने अपनी प्रचण्ड शूरता और रणकुशलता के कारण 'राजा' की पदवी प्राप्त की थी । राजा साहब का सम्पूर्ण कार्यभार श्री शेषमलजी साहब के कधो पर था । आप अपने असाधारण कार्यकौशल और प्रामाणिकता के कारण राजा और प्रजा के पूर्ण विश्वासभाजन थे । राजकाय आपके लिए निजकार्य था ।

महापुरुष पूर्वजन्म के कुछ विशिष्ट सस्कारो को लेकर अवतीर्ण होते है । प्राय देखा गया है कि उन सस्कारो को प्रबुद्ध करने के लिए प्रकृति अज्ञात रूप मे प्रयास करती है । उनके जीवन मे कोई उद्वेगजनक घटना घटित होती है जिससे व्यक्त या अव्यक्त रूप मे सवेग और निर्वेद का बीजारोपण हो जाता है और वह क्रमश विकसित होता हुआ विशाल वृक्ष का रूप धारण कर लेता है । चरितनायक के जीवन मे भी हम यही देखते हैं ।

पाच वष की वय मे आपको मातृवियोग सहन करना पडा । प्रकृति ने मोह-ममता का एक बडा बन्धन काट कर फेंक दिया ।

माता का विछोह होने पर आपके पिता महताजी आपको भी भाद्राजून ले गए । उस समय तक आपके जीवन मे कुछ ऐसी स्पृहणीयता उद्भूत हो चुकी थी कि जो भी आपको देखता, मुग्ध हो जाता था अपरिचित को भी आकर्षित कर लेने वाला आपका शैशव अनेक दृष्टियो मे असाधारण था । राजा साहब की माता देवडीजी ने जब आपको देखा तो आपकी अलौकिक प्रतिभा मे अनायास ही आकृष्ट होकर लालन-पालन का भार अपने ऊपर ले लिया । समस्त राजपरिवार मेहता साहब की सेवाओ मे प्रसन्न था । अत चरितनायक का लालन-पालन राजमहल में राजकुमार की तरह ही होने लगा । यही क्रम चलता रहता तो आप एक उच्च पदप्राप्त कुशल प्रशासक होते । किन्तु आपका जीवन तो किसी दूसरी ही दिशा मे अग्रसर होने वाला था । अतएव प्रकृति ने पुन अपना पार्ट किया । वि० स० १९६७ मे मेहता साहब का भाद्राजून के शासक मे मतभेद हो गया, यहा तक कि पारस्परिक सम्बन्धो मे भी कटुता आ गई। स्वाभिमानी और अपने सिद्धान्त पर अटल रहने वाले मेहताजी ने भाद्राजून त्याग दिया और पाली आ गए। चरितनायकजी के जीवन की दिशा मे पुन एक मोड आ गया ।

विद्याभ्यास

भाद्राजून मे पाली लौटने पर आपके विद्याध्ययन का नियमित क्रम प्रारभ हुआ। केवल ६-७ मास जितने स्वल्प काल मे ही भाषाज्ञान के साथ उच्चकोटि के गणित का ज्ञान भी प्राप्त कर लिया । कठिनतम कटमामिति के ब्याजसिद्धान्त आदि का इतने से समय मे अध्ययन कर लेना आपकी जन्मजात प्रतिभा का परिचायक है । पाठकों को यह जानकर आश्चर्य हो सकता है कि इसी अन्तराल मे आपने चाणक्यनीति के चार अध्याय, उर्दू भाषा के दो कायदे और अगरेजी भाषा की दो रीडर भी पढ डाली । इस प्रकार छह-मास महीनो मे ही आपने सस्कृत, हिन्दी, उर्दू और अगरेजी भाषाओ का प्राथमिक और गणितशास्त्र का अच्छा खासा अभ्यास किया ।

चरितनायक की विलक्षण कुशाग्र बुद्धि और मेधाशक्ति पर उस समय विस्मय व्यक्त किया गया । आज भी साधारण व्यक्ति को आश्चर्य, यहा तक कि अविश्वास भी हो सकता है, किन्तु जो आत्मा की अनन्त शक्ति पर भरोसा करते है, उनके लिए इसमे अविश्वास का कोई कारण नहीं । ज्ञान और दर्शन ऐसे आत्मिक गुण है जो भवान्तरगामी हो सकते हैं । पूर्वभव मे अर्जित ज्ञान वर्तमान भव मे सस्कार के रूप में आता है और साधारण निमित्त मिलने भी 'दैवेच्छा बलीयसी' वह व्यक्त हो उठता है ।

महापुरुषों की लक्ष्यसिद्धि में वातावरण स्वतः अनुकूल होता जाता है। अलक्ष्य रूप में प्रकृति उनके जीवन-निर्माण में योग देती रहती है। हमारे चरितनायक का मार्ग भी सदा स्वतः प्रशस्त होता रहा है। जब वे बाल्यजीवन समाप्त कर ही रहे थे, लगभग १३ वर्ष की आयु में उन्हें एक साथ अनेक व्याधियों ने आ घेरा। चेचक और निमोनिया उनमें प्रधान थी। स्थिति इतनी विषम हो गई कि चरितनायक के पिता मेहता साहब निराशा अनुभव करने लगे। पत्नी का वियोग पहले ही हो चुका था, पुत्ररत्न के वियोग की सम्भावना उनके हृदय को मर्माहत करने लगी। पुत्रप्रेम से व्याकुल मेहता साहब के धैर्य का बांध टूट गया। नयनों से अजस्र अश्रुधारा प्रवाहित होने लगी। चिकित्सक पूरा मनोयोग लगा कर चिकित्सा कर रहे थे, परीक्षण हो रहे थे किन्तु चरितनायक की दशा सुधरती नहीं दिखाई देती थी। अन्ततः वे भी निराशा के गहन तिमिर में भटकने लगे।

उस जीवन का प्रदीप किसी भी क्षण बुझ सकता था किन्तु प्रकृति तो महापुरुष के जीवन-निर्माण में संलग्न थी। उसकी लीला का पार किसने पाया है। निर्माण का व्यापार अत्यन्त निगूढ और रहस्यमय होता है। अचानक एक घटना होती है और वह चरितनायक के जीवन को उस पथ की ओर उन्मुख करती है जिस पर उन्हें आगे चल कर अग्रसर होना था।

चरितनायक जब मूर्छित अवस्था में शय्याशरण हो रहे थे, उसी समय परमतपस्वी सन्त श्रीमानमलजी महाराज तथा सन्तरत्न श्रीबुधमलजी महाराज का अकस्मात् पदार्पण हुआ। कहना चाहिए, प्रकृति ने उन्हें भिक्षा के निमित्त से मेहता साहब के द्वार पर भेज दिया। उस समय मेहता साहब के निवासस्थान पर भीतर और बाहर भीड़ लग रही थी। मुनियुगल को वहाँ आया देख लोगों ने प्रार्थना की—पूज्यवर! अन्दर प्रवेश करने का अवसर नहीं है। मेहता साहब का पुत्र अन्तिम स्थिति में है। उसके प्राण-पखेरू उड़ने ही वाले हैं।

गुरुदेव ने कहा—'दैवेच्छा बलीयसी।' अन्दर जाकर मंगलपाठ सुना देने में क्या हानि है?

गुरुदेव अन्दर पधारे। दृष्टि पड़ते ही मेहताजी ने उनके चरणों में मस्तक रख दिया और बच्चे की भांति बिलखते हुए कहा—गुरुदेव! मेरा सर्वस्व लुटा जा रहा है। मेरे जीवन का एक मात्र आधार छिन रहा है। प्रभो! इसे बचाइए! मेरी रक्षा कीजिए!

अद्भुत चमत्कार

गुरुदेव का अन्तःकरण करुणा से परिपूर्ण हो गया। उन्होंने गम्भीर भाव से उत्तर दिया—श्रावकजी! धैर्य धारण करो! जिसने जन्म लिया है उसकी मृत्यु अनिवार्य है। अगर आयु का अन्त आ गया है तो देवराज इन्द्र भी किसी को बचा नहीं सकता। अनन्त शक्ति के धनी तीर्थंकर भी अपने आयुष्य में पल भर की वृद्धि नहीं कर सकते। उपाय तभी तक कारगर होते हैं जब आयु के दलिक अवशिष्ट हों। किन्तु आप सर्वथा निराश हो चुके हैं। आपको अपने चिरंजीव के जीवन की आशा नहीं रही है। ऐसी स्थिति में कर्मवशात् यदि बालक स्वास्थ्यलाभ कर ले तो क्या आप उसे विश्वहित के हेतु सक्षम बनाने के लिए हमें सौंप देंगे?

निर्ग्रन्थ सन्त धर्मोपकार और धर्मप्रचार के लिए ही जीवित रहते हैं, मेहताजी इस तथ्य से भलीभांति परिचित थे। अतएव गुरुदेव की इस वाक्यावली से उनके हृदय में आशा का किंचित् संचार हुआ। उन्होंने हाथ जोड़ कर निवेदन किया—भगवन्! आपके आदेशपालन में मुझे किंचित् भी संकोच नहीं होगा।

गुरुदेव ने मंगलपाठ का उच्चारण करने के पश्चात् दयार्द्रभाव से चरितनायक के मस्तक पर कर-स्पर्श किया। गुरुदेव पधार गए। पूरे दिन और रात तो ज्यों की त्यों स्थिति बनी रही किन्तु दूसरे दिन की अरुण वेला के साथ ही चेतना का पुनरागमन होने के लक्षण प्रकट होने लगे।

तपश्चर्या की शक्ति तर्क और अनुमान से अगोचर है। जहां समस्त भौतिक साधन विफल हो जाते हैं वहां भी तप का दिव्य प्रभाव अपना चमत्कार दिखलाता है। यह घटना राजर्षि नमि का स्मरण दिला देती है।



चरितनायक दूसरे दिन से उत्तरोत्तर आरोग्यलाभ करने लगे। पूज्य महाराज साहब बीच-बीच में दर्शन देते रहे। नियमानुसार महाराजश्री का अन्यत्र विहार हो गया और चरितनायक पूर्ण स्वस्थ हो कर समय यापन करने लगे।

ममता की मार

कुछ काल के पश्चात् पूज्य श्री मानमलजी महाराज साहब पुन पाली पधारे। चरितनायक के पिता मेहता साहब दर्शनार्थ पहुचे तो गुरुदेव ने प्रश्न किया—मेहताजी कुवर साहब के विषय मे क्या विचार है ?

महता साहब प्रश्न का आशय समझ गए। पर सकट टल जाने के पश्चात् उनके हृदय मे परिवर्तन हो चुका था। उनका मन पुत्र ममता का परित्याग करने मे असमर्थ हो गया था। अतएव बडे सकोच के साथ उन्होंने निवेदन किया —गुरुदेव! मेरा अन्य कोई उत्तराधिकारी नही है। मुझ पर अनुग्रह कीजिए। आप की चरणसेवा से विमुख नही होना चाहता किन्तु पुत्र का मोह त्यागने की क्षमता भी नही पाता।

गुरुदेव ने निस्पृहभाव से कहा—जैसी आपकी इच्छा! मगर ध्यान रखिए मिश्रीमल (चरितनायक) आपके घर म रहने वाला नही है। उसका विराट् व्यक्तित्व परिवार की परिधि मे समा नही सकता। उसके द्वारा सघ और शासन का बहुत उपकार होने वाला है।

जिन लोगो ने मुनिराज का यह वक्तव्य सुना वे विस्मित हुए। उनमे से जो अवशिष्ट है वे आज भी मुनिराज की भविष्यवाणी की यथार्थता देख कर अत्यन्त विस्मय अनुभव करते हैं।

गुरुदेव के प्रति आकर्षण

दिन पर दिन व्यतीत होते गए। चरितनायक गुरुदेव के द्वारा रुग्णावस्था में किए उपकार से और अपने विषय मे की गई भविष्यवाणी से भलीभाति परिचित हो चुके थे। इस कारण गुरुदेव के प्रति सहज ही श्रद्धा का भाव पनप गया था।

गुरुदेव का पुन पाली मे पदार्पण हुआ। मेहता साहब उस समय कार्यवश बाहर गए हुए थे। चरितनायक गुरुदेव के दर्शन और उपदेशश्रवण के लिए पधारे। उपदेश श्रवण करके आपके मन मे अपूर्व आह्लाद उत्पन्न हुआ। जो श्रद्धा भीतर ही भीतर पनप रही थी वह विकसित हुई। जब तक गुरुदेव वहा विराजमान रहे, आप प्रतिदिन उपदेशश्रवण के लिए जाते रहे। आकर्षण तीव्र होता गया, श्रद्धा प्रगाढ होती गई। गुरुदेव के चरणो मे जीवन अर्पित कर देने का सत्सकल्प सजीव हो उठा।

एक दिन आपने मेहता साहब के अन्यतम मित्र बख्तावरमलजी, नथमलजी बुबुकिया और पूसारामजी धारीवाल के समक्ष अपना मनोभाव व्यक्त कर दिया—मैं गुरुदेव के चरणो म रह कर सयम का पालन करना चाहता हू।

तीनो सज्जनो ने एक स्वर मे कहा—बापू! यह सभव नही है। तुम मेहता साहब के एकाकी पुत्र हो। वे उग्र स्वभाव के व्यक्ति हैं। वे तुम्हें सयमग्रहण करने की कदापि अनुमति नही देंगे। तुम्हारी यह इच्छा, कितनी ही ही प्रशस्त क्यो न हो, पूर्ण नही हो सकेगी।

तेजस्वी पिता के तेजस्वी पुत्र ने दृढ स्वर मे कहा—यदि मेरे मन मे किसी प्रकार की दुर्बलता नही है और भावना मे पवित्रता है तो मेरे निर्दिष्ट पथ मे कोई अवरोध खडा नहीं कर सकता। मेरी विचारधारा जिस दिशा मे प्रवाहित हो चली है, उसम किसी प्रकार का परिवर्तन नही हो सकता। मेरा निश्चय अडिग है। बचपन मे, रुग्णावस्था मे, इस देह का अन्त आ जाता तब भी पिताजी को धैर्य धारण करना पडता। फिर मेरे स्वस्थ होने पर गुरुदेव को भेंट कर देने का वे वचन भी दे चुके है। मेरे जीवनदाता गुरुदेव है, मैं उन्ही की शरण ग्रहण करना चाहता हू।

इसके अतिरिक्त, पिता के मन की रक्षा करना पुत्र का कर्तव्य है। मोहग्रस्त होने के कारण पिताजी प्रतिज्ञा से विचलित हों तो भी मैं उनकी प्रतिज्ञा भंग नहीं होने दूंगा।

चरितनायक की इस दृढ़ता से तीनों सज्जन प्रभावित हुए और वे लोककल्याण की भावना से उन्हें परोक्ष रूप में प्रोत्साहन देने लगे।

प्रचंड पितृकोप

अक्षयतृतीया पर्व अत्यन्त पुरातन है। भगवान् आदिनाथ के समय से, इस कर्मभूमियुग के प्रारंभ में ही, इस पर्व की स्थापना हुई। तत्पश्चात् बीच-बीच में घटित होने वाली अनेक महत्वपूर्ण घटनाएं इस पर्व को नूतन गौरव से मंडित करती रही हैं। यही पर्वदिन था जब हमारे चरितनायक ने गुरुदेव के साथ विरागी अवस्था में प्रथम विहार किया। इसी दिन आगे चल कर आपने प्रव्रज्या अंगीकार करके मुनिजीवन में प्रवेश किया। धन्य है अक्षय-तृतीया पर्व!

गुरुदेव ने अक्षयतृतीया के दिन पाली से विहार किया तो चरितनायक ने भी उनके पथ का अनुगमन किया। अन्य सज्जन शिष्टाचार के नाते कुछ दूर तक जाकर लौट गए, मगर चरितनायक किसी दूसरे रास्ते गए थे। वे आगे पधार 'सोमसी' तक साथ-साथ गए। सन्ध्या का समय हो गया। मेहता साहब तब तक भी पाली नहीं लौटे थे। आपकी माता साहबा के उद्वेग का पार न रहा। सभी ओर तलाश की गई किन्तु कहीं पता नहीं लगा। बाईजी ने मेहता साहब के पास भी एक सेवक भेज दिया कि वे जल्दी पधारें और 'बना' साहब का पता लगाएं।

मेहता साहब यह समाचार सुनते ही पाली लौटे। तब तक पता लग चुका था कि बना साहब (चरितनायक) महाराजश्री को पहुंचाने गए थे, सम्भवतः उन्हीं के साथ चले गए हैं।

गुरुदेव इस समय 'सूरपुरा' पहुंच चुके थे। मध्याह्न के १२ बजे होंगे कि ऊंट पर सवार मेहताजी सूरपुरा पधार गए। उधर सूर्य तप रहा था, इधर मेहता साहब का तेजस्वी चेहरा तमतमा रहा था।

पुत्रवियोग की भीषण कल्पना ने मेहता सा० के विवेक को आच्छादित कर दिया था। अतएव आते ही उन्होंने आवेश के साथ गुरुदेव को मर्यादाहीन शब्दों में उपालम्भ देना आरम्भ कर दिया। मगर क्षमासागर गुरुदेव का मुखमण्डल ज्यों का त्यों निर्विकार रहा। उन्होंने शान्त एवं गंभीर स्वर में कहा— हम आपके सुपुत्र को साथ नहीं लाए हैं। वह अपनी इच्छा से चला आया है। यदि आपके साथ लौटता है तो हमें क्या आपत्ति है। हम रोकने वाले नहीं हैं। हमें बुरा-भला कह कर आप अपने गौरव को क्यों कम करते हैं?

मेहता साहब का रोष चरितनायक पर बरस पड़ा। उन्होंने आपकी कटुक और कठोर शब्दों से भर्त्सना ही नहीं की, दो-चार चपत भी जड़ दिए। वे भूल गए कि पुत्र वयस्क है और गुरुदेव तथा अन्य सम्भ्रान्त पुरुष यहां मौजूद हैं।

चरितनायक फिर भी दृढ़ रहे। बोले—पिताजी! आप घर पधारिए। मेरा भाव घर चलने का अब सर्वथा नहीं है।

इन थोड़े-से शब्दों ने आग में घी का काम किया। मेहता साहब का क्रोध और अधिक भड़क उठा। जिस ऊंट पर सवार होकर वे आए थे, उसे बिठलाते हुए बोले—देखता हूं कैसे नहीं चलते हो। सीधी तरह तैयार न हुए तो ऊंट से बांध कर ले चलूंगा।

सूरपुरा के श्रावक अब तक पूरी तरह मौन थे। मेहता साहब को आपे से बाहर होते देख सेठ हीराचन्द जी बोले—आप क्यों इतने उग्र होते हैं? धीरज रखिए। आपके कुंवर साहब स्वेच्छा से जाते हैं तो ले जाइए। इस प्रकार बलप्रयोग पूर्वक तो हम इन्हें ले जाने नहीं देंगे।





मेहता साहब की उत्तेजना की सीमा न रही। सेठजी के शब्दों में स्पष्ट चुनौती थी। उसे वर्दाश्त करते हुए उन्होंने कहा – किसकी हिम्मत है जो बलपूर्वक मेरे लड़के को रोक सके ! मैं एक-एक को समझ लूगा ! अभी मैं जाता हू। आप और आपके गुरुजी किस प्रकार इसको दीक्षा देते है, मे देख लूगा।

मेहताजी जैसे गए थे वैसे ही पाली लौट आए। खाना दूर, पानी तक ग्रहण नहीं किया। मगर उनका क्रोध शान्त नही हुआ। आपने परिणाम का विचार किये विना ही गुरुदेव तथा उक्त तीन सज्जनों (वखतावरमलजी नथमलजी वुवुकिया तथा पूपारामजी खारीवाल) के विरुद्ध फौजदारी मुकदमा दायर कर दिया।

इधर सेठ हीराचन्दजी जोधपुर गए और भडारी सूवचन्दजी साहव को सारी घटना सुनाई। भडारी साहव जोधपुर के प्रभावशाली व्यक्ति थे और ऊपर तक उनकी पहुच थी। उन्होंने सेठ हीराचन्दजी द्वारा पूज्य गुरुदेव के पास सवाद भेज दिया—'आप आनन्दपूवक विचरें। किसी प्रकार उद्वेग अनुभव करने की आवश्यकता नही। चिन्ता और भय तो हम गृहस्थो के लिए है। हम सव निवटते रहेंगे, आप निर्भय रहे।'

सेठ हीराचन्दजी के लौटते ही भडारी साहव ने राज्य के उच्चाधिकारियो को सकेत करवा दिया कि इस मामले मे वे यथार्थ निर्णय लें। मेहताजी के प्रभाव मे कोई गलत निर्णय न ले लिया जाए।

परिणाम यह हुआ कि अभियोग फाइलो मे ही दवा रहा। चिरकाल तक कोई निर्णय सामने नही आया।

विलक्षण विचक्षणता

गुरुदेव सूरपुरा से विहार कर मादलिया पधारे। दो दिन ठहर कर तीसरे दिन विहार करने लगे तो मूथा नन्दरामजी, रावतमलजी, मूलचन्दजी तथा लोढा उम्मेदमलजी ने गुरुदेव के चरणस्पर्श कर प्रार्थना की— गुरुदेव ! कुछ दिन और विराजिए। आज तो हम हर्गिज न जाने देंगे।

गुरुदेव के उत्तर देने से पूर्व ही चरितनायक ने कहा – भाइयो ! आप अतीव आग्रह के साथ महाराज से विराजने का अनुरोध कर रहे है किन्तु इन दो दिनो मे मैंने देखा कि आप वडे-वडे सरदारो मे से एक ने भी कभी सामायिक नही की। धर्मध्यान न होता हो तो सन्तों को रोकना निरर्थक है।

वैरागीजी के इस सक्षिप्त कथन मे अनेक तथ्य सन्निहित थे। एक ओर मादलिया के श्रावको के प्रति उपालम्भ था तो दूसरी ओर यह सत्य भी स्पष्ट झलकता था कि श्रावकों के साथ सन्तो का जो नाता है वह धर्मक्रिया का ही है।

मूथा नन्दरामजी विवेकवान् श्रावक थे। वैरागीजी का कथन उन्हे अप्रिय नही लगा, वल्कि उन्होंने उक्त कथन का समर्थन करते हुए विनोद मे कहा—गुरुदेव, तीन पीढी तक तो हमे वडे ही वात्सल्य मे रखा गया है, यह चौथी पीढी (चरितनायक) तो वडी ओजस्वी प्रतीत हो रही है। जान पडता है, अव ढिलाई मे काम चलने वाला नही। हमे अभी से इनके अनुशासन के अनुकूल अपने को वदलना पडेगा। अनुग्रह कर आज मे ही सामायिक का नियम दिला दीजिए।

गुरुदेव उस दिन मादलिया मे ही विराजे। एक नूतन वातावरण निर्मित हो गया !

गुरुदेव ने वि० स० १९६९ का चौमासा जयतारण मे और १९७० का कहलवास मे व्यतीत किया। इस अवधि मे चरितनायक ने गुरुदेव के चरणो मे रहते हुए श्रावक और साधु का प्रतिक्रमण, दो सौ थोकडे, दशवैकालिक-सूत्र, नन्दीसूत्र और उत्तराध्ययनसूत्र के १३ अध्ययन कठस्थ कर लिये थे। अनेक स्तवन तथा सज्झाय भी कण्ठस्थ हो चुके थे। रात्रि के समय जव आप सुमधुर स्वर मे स्तवनगान करते तो एक समा वन्ध जाता और भक्ति तथा वैराग्य की लहरें श्रोताओ के मानस-सर मे लहराने लगती थी। आप प्राय निरन्तर स्वाध्याय मे लीन रहते थे। आपकी दैनदिन प्रवृत्तियो से लोगों को आप मे एक प्रकार की अलौकिकता का आभास होने लगा था।

गुरुदेव की भविष्यवाणी

वि० सं० १९८१ के भावी—चातुर्मास्य में पिचाक निवासी श्री छोटमलजी चोरडिया ने गुरुदेव की सेवा में रहकर चार मास व्यतीत किए। चातुर्मास्य के अन्त में गुरुदेव ने फर्माया—छोटमलजी, दीपक में अब तैल कम है, अतः आत्मसाधना का विशेष ध्यान रखो। अपरिग्रहवृत्ति मनुष्य को सच्ची शान्ति प्रदान करती है। वृद्धावस्था में तो इसे पूर्ण तरह अपना ही लेना चाहिए।

चोरडियाजी ने घर जाकर अपने पुत्र को व्यापार-व्यवसाय का भार सभला दिया। वे आत्माराधन में ही लीन रहने लगे। इस तरह गुरुदेव की आज्ञा का पालन किया और कुछ दिनों बाद स्वर्गवासी हो गए।

अद्भुत घटना

इस चौमासे में एक और उल्लेखनीय घटना घटित हुई। एक श्रावक चौविहार अष्टमभक्त की तपस्या से उपाश्रय में धर्मध्यान कर रहे थे। रात्रि में चोर घर में सेंध लगा कर ४-५ हजार की चोरी कर ले गए। जब वे गाँव के बाहर पहुँचे तो गुरुदेव के अलौकिक प्रभाव से दिग्भ्रान्त हो गए और सूर्योदय तक ग्राम के आसपास ही चक्कर काटते रहे। प्रभात में चोरी का पता लगा। लोगों ने पीछा किया और पूरे माल के साथ चोर पकड़ लिये गए। चोरों ने गुरुदेव के चरणों में नतमस्तक होकर क्षमायाचना की।

इन चमत्कारों को देखकर जनता अतीव श्रद्धालु हो गई। समस्त ग्रामनिवासियों ने मिलकर वैरागीजी (चरितनायक) का दीक्षा का समारोह भावी में ही करने का अनुरोध किया किन्तु गुरुदेव ने उसे स्वीकार नहीं किया। उत्तर में फर्माया वैरागीजी को अभी तक आज्ञा प्राप्त नहीं हुई है और आज्ञा के बिना दीक्षा नहीं दी जा सकती।

अद्भुत परीक्षा और शुभाशी :

भावी चातुर्मास्य की समाप्ति के पश्चात् गुरुदेव के साथ चरितनायक जोधपुर होते हुए सोजत पधारे। वयोवृद्ध सिद्धान्तमर्मज्ञ स्वामीजी श्री सन्तोषचन्द्रजी म० का भी वहाँ पदार्पण हुआ। चरितनायक इस समय तक अपनी प्रखर प्रज्ञा और सेवा के कारण पर्याप्त ख्याति उपार्जित कर चुके थे। सन्तों और श्रावकों का ध्यान अनायास ही आपकी ओर आकर्षित हो जाता था। सोजत में उक्त स्वामीजी ने चरितनायक के आगमज्ञान की परीक्षा ली। प्रश्न किया- तुम्हारे अन्दर उपयोग कितने हैं?

चरितनायक—स्वामिन्! समुच्चय रूप में छह हैं और इस समय की अपेक्षा तीन। क्योंकि जब मतिज्ञान और श्रुतज्ञान होते हैं तब अज्ञान नहीं हो सकते एवं चक्षुदर्शन के समय अचक्षुदर्शन संभव नहीं है। यह तीन उपयोग भी लब्धि की अपेक्षा से हैं। उपयोग की अपेक्षा से तो एक समय में दो उपयोग हो ही नहीं सकते।

स्वामीजी—तुम आहारक हो या अनाहारक?

चरितनायक—स्वामिन्! आहारक हूँ।

स्वामीजी—भाषक हो या अभाषक?

चरितनायक—स्वामिन्! भाषक हूँ।

स्वामीजी ये उत्तर सुनकर अत्यन्त सन्तुष्ट और प्रसन्न हुए। बोले—पूर्ण आशा है, हमारे सम्प्रदाय में यह एक आदर्श मुनि होगा। यह कह कर उन्होंने चरितनायक के सिर पर कर-कमलाश्लेप किया और शुभाशीर्वाद दिया।

अद्भुत स्मरणशक्ति

स्वामी श्रीप्रसन्नचन्द्रजी म० के गुरुजी द्वारा रचित 'द्वियत पणट्ठी' नामक एक रचना थी जो महाभारत





के कथानक के आधार पर लिखी गई थी। महाभारत की सम्पूर्ण कथावस्तु सक्षेप मे किन्तु अत्यन्त सुन्दर ढग से उसमे गुम्फित की गई थी। रचना की एक ही प्रति थी और वह प्रसन्नचन्द्रजी स्वामी के पास थी। चरितनायक के गुरुदेव ने उसकी एक प्रतिलिपि करानी चाही किन्तु स्वामीजी ने इसे स्वीकार नहीं किया। तब गुरुदेव ने सहज भाव से फर्माया— रात्रि मे यथावसर उस रचना का श्रवण तो करा दीजिए।

अन्य श्रोतृसमूह के साथ स्वामीजी को वह रचना सुनाई गई। श्रोताओं मे हमारे चरितनायक भी थे। आश्चर्य है, आपने एक बार सुनकर ही उस समग्र लावणी रचना को कण्ठस्थ कर लिया। जब सन्त समुदाय निद्रा मे लीन हो गया तो शुभ्र ज्योत्स्ना मे कण्ठस्थ की हुई रचना को लिपिबद्ध भी कर डाला।

प्रात काल गुरुदेव ने स्वामीजी से कहा—स्वामीजी, ज्ञान का अधिक से अधिक विस्तार करना चाहिए। सकोचवृत्ति के कारण भारतीय विद्याओ का बहुत बडा महत्त्वपूर्ण भाग नष्ट हो गया है। इस विषय में उदारता बरतनी चाहिए।

स्वामीजी ने उत्तर दिया—आपका कथन यथार्थ है, पर इस रचना पर मेरी ऐसी कुछ ममता हो गई है कि उसे कम करना मेरे लिए सभव नहीं।

इस वार्तालाप में भाग लेते हुए चरितनायक ने कहा—आपको कोई आपत्ति न हो और गुरुदेव का आदेश हो तो मै वह रचना गुरुदेव को सुना सकता हू।

गुरुदेव और स्वामीजी विस्मित हो गए। स्वामीजी ने कहा—वैरागीजी! क्या कह रहे हो?

वैरागीजी - सत्य निवेदन कर रहा हू। आज्ञा हो तो अभी सुना दूँ।

सुनाने की आज्ञा होते ही हमारे चरितनायक ने तत्काल उक्त रचना की २६५ गाथाए कठस्थ सुना दी।

दोनो सन्त तथा अन्य उपस्थित श्रोता चकित और विस्मित रह गए! इस काल मे इतनी तीव्र स्मरण-शक्ति! इतनी विशाल मेधा!

स्वामी प्रसन्नचन्द्रजी ने कहा—वैरागी! तुम्हारा बुद्धिबल सराहनीय है। अत्यन्त प्रसन्नता है कि सम्प्रदाय मे ऐसे भावी सन्त विद्यमान हैं। तुमने मुझे लूटने का सा काम किया है परन्तु लुटने का मुझे दु ख नहीं है। बस, इतना ध्यान रखना कि इस वैभव का अपव्यय न हो। तुम स्वय इसका उपयोग करना।

वैरागी अवस्था मे आपने जिस असाधारण स्मरण-शक्ति का परिचय दिया वह आधुनिक युग मे सर्वथा आश्चर्यजनक है!

गुरुदेव का वियोग

वि० स० १९७५ का चौमासा आउवा की देवली मे सानन्द व्यतीत कर गुरुदेव ने विहार किया। हमारे चरितनायक छाया की भाति सदा साथ ही रहा करते थे। श्रावकों का समूह जय-जय के निनाद से आकाश को गुजित कर रहा था। उनमे एक दलीचन्द्रजी सोलकी भी थे। सोलकीजी चरितनायक के गोत्रीय भाई और गुरुदेव के अनन्य श्रद्धालु भक्त थे। मागलिक श्रवण करने के पश्चात् लौटते समय सोलकीजी का हृदय गद्गद हो उठा। अश्रुधारा प्रवाहित होने लगी। तब गुरुदेव ने फर्माया—दलीचन्द्रजी! मेरे साथ ही दया पाला, शायद अब अपना मिलन नहीं होगा।

दलीचन्द्रजी के कलेजे मे जैसे वज्र का आघात हुआ। गुरुदेव के वचनों पर उन्हे अविचल विश्वास था, अतएव उन्हे निश्चय हो गया कि अवश्य कोई अवाछनीय परिस्थिति उत्पन्न होने वाली है।

गुरुदेव ग्रामानुग्राम विहार करते हुए जोधपुर पधार गए। पौष शुक्ला १५ को अपराह्न मे गुरुदेव को शीत का किंचित् अनुभव होने लगा। सम्पूर्ण रात्रि ज्वर की स्थिति मे व्यतीत हुई। प्रात गुरुदेव ने फर्माया—मेरा भाव सथारा करने का है। सन्तों और श्रावकों को सूचना हो जानी चाहिए।

विद्युद्वेग से यह दुःसंवाद समग्र जोधपुर में और दूर-दूर तक अन्यत्र भी फैल गया। अनन्तर माघ शुक्ला [illegible] के दिन गुरुदेव ने समाधिपूर्वक स्वर्गारोहण किया। इस आकस्मिक दुर्घटना का चरित्रनायक के हृदय पर गम्भीर प्रभाव पड़ा। आपकी विरक्ति अब चरम सीमा तक पहुँच गई। पूज्य श्री मानमलजी म० के स्थान पर अब स्वामीजी श्रीबुधमलजी म० आपके गुरु, अभिभावक एवं पथप्रदर्शक थे।

दीक्षा में विघ्न

गुरुदेव के स्वर्गारोहण के पश्चात् चरित्रनायक श्रीबुधमलजी महाराज के साथ विहार करते हुए सोजत पधारे। सोजत श्रीसंघ ने गुरु महाराज से प्रार्थना की—गुरुदेव! वैरागीजी के वैराग्य की खूब परीक्षा हो चुकी है। उन्होंने इतने काल में संयम का उत्कृष्ट पाठ सीख लिया है। अब इनको दीक्षा की स्वीकृति प्रदान कीजिए।

गुरुदेव ने फरमाया—वैरागीजी की योग्यता तो असंदिग्ध है किन्तु इनके पिताजी की आज्ञा प्राप्त नहीं हुई है।

श्री संघ ने निवेदन किया—इनकी वय स्वाधीन हो गई है। श्रीसंघ इन्हें आज्ञा देगा। अब अधिक प्रतीक्षा करना उचित नहीं।

गुरुदेव मौन रहे। 'मौनं स्वीकृतिलक्षणम्' की उक्ति का अनुसरण करके संघ ने वैरागीजी की दीक्षा के लिए अक्षयतृतीया का शुभ मुहूर्त निश्चित कर लिया। नगर भर में दीक्षा समारोह की धूम मच गई। चरित्रनायक के बिन्दौरे निकाले, अनेकानेक उत्सव किए जाने लगे। संघ में अपूर्व उत्साह था, गहरा उल्लास था और अनुपम हर्ष था। एक दैवी वातावरण की सृष्टि हो गई।

तीन बिन्दौरे निर्विघ्न हो गए। चौथे दिन ज्यों ही आप जुलूस के साथ स्थानक में लौटे कि पुलिस सुपरिन्टेंडेंट, सर्किल इन्स्पेक्टर और सब इन्स्पेक्टर दलबल के साथ आ धमके। चरित्रनायक के पिताजी ने पुलिस में रिपोर्ट कर दी थी और उसी के आधार पर पुलिस ने कार्रवाई शुरू की थी। मेहता साहब ने अपनी रिपोर्ट में दीक्षा न होने देने के दो कारण बतलाए थे—

(१) दीक्षार्थी अल्पवयस्क अर्थात् नाबालिग है, और
(२) साधु उसे भगा कर ले आए हैं।

पुलिस ने आकर दीक्षाकार्य में विघ्न उपस्थित कर दिया। संघ के प्रमुख जनों ने प्रतिज्ञापत्र (मुचलके) लिखकर दिये कि दीक्षा नहीं दी जाएगी।

संघ में जितना हर्ष था उतना ही विषाद व्याप गया। गुरुदेव की सेवा में संघ एकत्र हुआ। गुरुदेव उस समय भी सस्मित मुद्रा में थे। बोले—शीघ्रता करने का परिणाम देख लिया न आपने! किन्तु भयभीत होने का कोई कारण नहीं। धर्म के प्रताप से सब ठीक होगा।

इतने में ही स्थानीय म्युनिसिपल सुपरिन्टेंडेंट श्रीमोतीलाल अग्रवाल और हाकिम साहब श्रीविशू भाई गुरु महाराज के दर्शनार्थ पधारे। उन्होंने सारी परिस्थिति का अध्ययन किया तो स्पष्ट हो गया कि उक्त दोनों आरोप मिथ्या हैं। फलतः इधर इन अधिकारियों के प्रयत्न से और उधर श्रीवृद्धिचन्दजी भंडारी के प्रयत्न से विघ्न के बादल बिखर गए और राजाज्ञा प्राप्त हो गई कि दीक्षासंस्कार सम्पन्न कर दिया जाए।

दीक्षा-समारोह

राजाज्ञा प्राप्त होते ही संघ में द्विगुणित उत्साह और उमंग उत्पन्न हो गई। सभी मंगलकार्य सम्पन्न होने लगे। आखिर दीक्षा का समय आ पहुँचा। सोजत नगर के राजपोल द्वार के बाहर, वट वृक्ष के नीचे अगणित मानव-समूह की उपस्थिति में दीक्षासंस्कार का विधिविधान प्रारम्भ हो गया।





पाली के श्रीहस्तीमलजी रांकडिया तथा रतनचन्दजी अग्रवाल चरितनायक के पिता मेहता साहब को भी मना कर ले आए। मेहता साहब पर दृष्टि पड़ते ही गुरुदेव ने फरमाया—मेहता साहब, क्या विचार है? दीक्षा दी जाय?

मेहता साहब ने नेत्रों से उमड़ते आंसू बहाते हुए दोनों हाथ जोड़ कर उत्तर दिया—गुरुदेव! अपराध क्षमा करें। पुत्र के मोह से मूढ होकर मैंने आपका अविनय किया है। अब आप खुशी से मेरे पुत्र को दीक्षा दिलाइए।

सम्पूर्ण वातावरण मे अचानक परिवर्तन हो गया। सब मे मेहता साहब के प्रति जो कटुता थी वह मधुरता के रूप मे परिणत हो गई। चरितनायक ने वैरागी अवस्था से मुनि अवस्था मे प्रवेश किया।

अनेकानेक कठिनाइयों और विघ्न-बाधाओं को अपने दृढ मनोबल से तथा गुरुदेव के आशीर्वाद प्रभाव से पार करके मुनि बने हमारे चरितनायक आज मरुधरकेसरी, आशुकवि, पण्डितरत्न, मंत्री मुनि श्रीमिश्रीमलजी महाराज के रूप मे विराजमान है।

प्रव्रज्या-पर्याय अंगीकार किये पचास वर्ष-आधी शताब्दी का लम्बा काल बीत गया। इस सुदीर्घ काल मे मुनिश्री ने संयमसाधना के द्वारा आध्यात्मिक उन्नति के साथ-साथ, समाज और राष्ट्र के उत्थान मे भी महत्त्वपूर्ण योग प्रदान किया है।

इस आधी शताब्दी के कार्यकलाप का परिचय प्राप्त करने के लिए पाठकों को एक विस्तृत ग्रंथ की प्रतीक्षा करनी पडेगी। यहा अतिसंक्षेप मे कतिपय विषयों का ही अंकन किया जाएगा।

ज्ञानार्जन

मुनिश्री की प्रतिभा, प्रज्ञा, मेधा और स्मरणशक्ति कितनी तीव्र है, इसका परिचय पाठक प्राप्त कर चुके है। ६-७ मास जितने स्वल्प काल मे हिन्दी, उर्दू, संस्कृत और अंग्रेजी, इन चार भाषाओं का प्रारंभिक ज्ञान प्राप्त कर लेना कोई साधारण बात नही है। पूर्वार्जित संस्कारों की सहायता से ही इस प्रकार की सफलता प्राप्त की जा सकती है।

इस प्राथमिक शिक्षण के पश्चात् छह वर्षों तक विरक्त दशा मे गुरुदेव के निरन्तर सान्निध्य मे रहकर आपने आगमों का अभ्यास किया। जैसा कि पूर्व मे उल्लेख किया जा चुका है, एक ही चातुर्मास काल मे आपने सौ थोकडे, सात आगम तथा अन्य स्तवन सज्झाय आदि कण्ठस्थ कर लिये थे। इसीसे अनुमान किया जा सकता है कि छह वर्षों मे आपने कितना अध्ययन, चिन्तन और मनन किया!

मनीषी जन अध्ययन करते-करते कभी अघाते नही हैं। उनका ज्ञान ज्यों-ज्यों गहन होता जाता है त्यों त्यों उनकी जिज्ञासा प्रबल से प्रबलतर होती जाती है। मुनिदशा मे प्रवेश करने के पश्चात् आपकी अध्ययनविषयक उत्कट अभिलाषा और भी बढ गई। आपका प्रथम चौमासा वि० सं० १९७६ मे जैतारण मे हुआ। इस चौमासे मे आपने जोधपुर निवासी पण्डित देवीदत्तजी से लघुकौमुदी, पंचतंत्र, तर्कसंग्रह तथा अमरकोष आदि का अध्ययन किया। इनके तात्पर्य को भलीभांति हृदयंगम कर लिया।

तत्पश्चात् दूसरे चौमासे मे, जोधपुर मे, आपके अध्यापन के लिए भारतविख्यात विद्वान् पं० भगवतीलालजी की सेवाएं प्राप्त की गईं। पण्डितजी की अध्यापनशैली अनूठी थी। दुर्बोध से दुर्बोध विषय को भी सुबोध शैली मे विद्यार्थी को हृदयंगम करा देते थे। मुनिश्री जैसे कुशाग्रबुद्धि सुपात्र को पाकर उन्होंने अपना ज्ञानभंडार मुक्त कर दिया और मुनिश्री ने भी उस भण्डार के बहुमूल्य रत्नों को आत्मसात् कर लिया। इस चौमासे मे आपने अनेक विषयों का प्रौढ ज्ञान प्राप्त किया।

तीसरे योजन—चातुर्मास्य में पुनः पं० देवीदत्तजी तथा पं० सुन्दरलालजी को आमन्त्रित किया गया और मुनिश्री ने पाण्डित्य के अनेक सोपानों को पार किया।

वि० सं० १९८३ के चातुर्मास्य में चरित्रनायक की रुचि प्राकृतभाषा के अध्ययन की हुई। ऐसा होना स्वाभाविक भी था, क्योंकि समस्त प्राचीन एवं मौलिक जैन वाङ्मय प्राकृतभाषा में निबद्ध है और उसे भलीभाँति जाने बिना आगमों के वास्तविक और गम्भीर अर्थ को समझना कठिन होता है। आपकी इस जिज्ञासा की पूर्ति प्राकृत भाषा के धुरन्धर विद्वान् पं० रामकान्तजी शास्त्री के सहयोग से हुई। साथ ही पं० भगवतीलालजी ने आपको व्याकरण, साहित्य और न्यायशास्त्र का उच्चकोटि का अध्ययन कराया।

वि० सं० १९८४ के रतलाम चातुर्मास्य में आपका अध्ययन और भी अधिक विकसित हुआ। उस वर्ष व्याकरण-साहित्य-न्यायाचार्य पण्डितप्रवर विश्वेश्वरदत्तजी पाँच मास तक रतलाम में ही रहे। चरित्रनायक ने सिद्धान्तकौमुदी, न्यायमुक्तावली, स्याद्वादमञ्जरी, तत्त्वार्थराजवार्तिकालंकार, सन्मतितर्क तथा महाभाष्य जैसे उच्च कोटि के ग्रंथों का अध्ययन किया। आपका समय का बहुभाग अध्ययन में ही व्यतीत होता था। अब आप व्याकरण, साहित्य, न्याय और आगम के विशिष्ट विज्ञाता हो गए। आपका पाण्डित्य प्रखर होकर निखर उठा। उस समय तक आप संस्कृत गद्य पद्य में सुन्दर रचनाएँ करने लगे थे। अजमेर कालेज के प्रिंसिपल पं० शारदानन्दजी भी मुनिश्री की परीक्षा के हेतु प्रायः प्रतिमास पधारते रहे।

मुनिश्री ने हिन्दीसाहित्य का विशेष अध्ययन भी इस चौमासे में किया। इस प्रकार आपका अध्ययन स्नातकोटि पर पहुँच गया और आप प्रथम कोटि की विद्वत्ता से सम्पन्न हुए।

विविध भाषाओं और विविध विषयों का ज्ञानार्जन कर लेने के पश्चात् आगमों के अध्ययन का मार्ग स्वतः प्रशस्त हो गया। आपका बुद्धिवैभव विलक्षण तो था ही, स्वाध्यायशील वृत्ति के कारण सैद्धान्तिक ज्ञान भी गहन हो गया।

कवित्व और साहित्यसर्जना

वि० सं० १९८४ से आप काव्यप्रणयन कर रहे हैं। सर्वप्रथम आपकी दो रचनाएँ प्रकाश में आईं 'समाजसुधार' और 'जैन हित कुसुमहार।' तत्पश्चात् आपका कवित्व गम्भीर और व्यापक होता ही गया। आज तक आपके कवित्व की निर्झरधारा अविच्छिन्न गति से प्रवाहित हो रही है। लाखों पद्यों का आपकी लेखिनी से निर्माण हुआ है। जोधपुर में मरुधरा के कविसमाज ने आपकी असाधारण कवित्वशक्ति से विस्मित होकर 'आशुकवि' के गरिष्ठ विरुद से विभूषित किया। राजस्थानी भाषा, ब्रजभाषा और खड़ी हिन्दी में आप समान रूप से लिखते हैं। 'महाभारत' आपकी राजस्थानी भाषा की एक विराट् और उत्कृष्ट कृति है। सैकड़ों स्तवनों और भजनों की रचना कर चुके हैं। कठिन से कठिन समस्या की तत्काल पूर्ति कर देना आपके लिए खिलवाड़ है।

हिन्दी और राजस्थानी भाषा में आपका गद्य भी अतीव मनोहर होता है। सर्वसाधारण जनता के जीवन के अभ्युदय के दृष्टिकोण से ही आप प्रायः लिखते हैं जो आपके सन्तजीवन के अनुरूप ही है। आपका साहित्य जीवन में धर्म के प्रति आस्था उत्पन्न करने वाला एवं नैतिकता की प्रतिष्ठा करने वाला है। आधुनिकता के नाम पर वासनाओं को भड़काने वाले, सामाजिक मर्यादाओं को भंग करने वाले और उच्छृंखलता उत्पन्न करने वाले कथित साहित्य को आप हलाहल विष समझते हैं। दुर्भाग्य से आज इस प्रकार का गंदा साहित्य प्रचुर मात्रा में दिखाई पड़ने लगा है, मुनिश्री के लिए यह परिताप का विषय है।

मुनिश्री की साहित्यिक साधना के सम्बन्ध में एक पृथक् निबन्ध में मीमांसा की जा रही है, अतएव यहाँ विस्तार में जाना अभीष्ट नहीं है।





वक्तृत्व

तत्त्वज्ञान के अमृत का आकण्ठ पान करने वाले विद्वज्जन जब जगत् के उपकार या भव्य जीवों के उद्धार के लिए प्रवृत्त होते हैं तो दो प्रकार के उपायों का ही उन्हें अवलम्बन लेना पड़ता है। या तो लेखन द्वारा अपने भावों को व्यक्त करें अथवा वक्तृत्व द्वारा। किसी में लेखनकला की विशेषता दृष्टिगोचर होती है तो कोई विद्वान् अपने चामत्कारिक वक्तृत्व के द्वारा जनता का पथप्रदर्शन करते हैं। कोई विरल प्रतिभावान् ऐसे भी देखे जाते हैं जो दोनों प्रकार की शक्तियों से सम्पन्न होते हैं। हमारे चरितनायक में अपने विचारों की अभिव्यक्ति देने की दोनों कलाओं का समान रूप से विकास हुआ है।

वि० सं० १९७७ के जोधपुर चातुर्मास्य में ही आपने प्रवचन करना प्रारम्भ कर दिया था। आपकी नैसर्गिक प्रवचनप्रतिभा को देखकर प्रसिद्धवक्ता जैनदिवाकर श्री चौथमलजी महाराज ने हर्ष व्यक्त करते हुए फर्माया था—'मुनिजी, एक बात हृदयगम कर लेना—जब व्याख्यान करें या स्तवन आदि सुनाएं तब अपने मन में यही सोचें कि मैं स्वयं ही सब कुछ सुन रहा हूं। इससे आपकी वक्तृत्वशक्ति विकसित हो जाएगी और उत्तरोत्तर प्रस्फुटित होती रहेगी।'

चरितनायक ने दिवाकरजी की सूचना को सदैव ध्यान में रखा और पूर्ण सफलता तथा सिद्धि प्राप्त की।

आज मुनिश्री मरुधरा के सन्तों में प्रथम श्रेणी के वक्ताओं में गिने जाते हैं। आपका व्याख्यान प्राय राजस्थानी भाषा में होता है। अत्यन्त ओजपूर्ण, प्रभावोत्पादक और श्रोताओं के अन्तस्तल को स्पर्श करने वाला। सिंह-गर्जना के समान आपकी गर्जना को सुनकर शायद ही कोई अभव्य ऐसा हो जो प्रभावित न हो।

सर्वसाधारण जनता की मनोरुचि के ज्ञाता मुनिश्री प्राय किसी प्राचीन चरित को माध्यम बनाकर प्रवचन करते हैं। जिस चरित को आप लेते हैं, सजीव बना देते हैं। प्रासंगिक उपदेशों द्वारा उसे विभूषित कर देते हैं। वास्तव में आपके उपदेशों से सहस्रों पतितों का उद्धार हुआ है। बहुतों ने आत्मज्ञान का लोकोत्तर आलोक प्राप्त किया है। न जाने कितने श्रोताओं ने जीवन की दिव्यता और भव्यता प्राप्त की है।

वादशक्ति

मरुधरकेसरीजी शासन, संघ एवं सम्प्रदाय के सजग प्रहरी हैं। ऐसे प्रहरी, जो सदा सतर्क और सावधान रहते हैं और क्षण भर के लिए भी कभी गफलत में नहीं पड़ते। आपके जीवन की यह एक बहुत बड़ी विशेषता है। जब कभी शासन या संघ पर अथवा स्थानकवासी सम्प्रदाय पर किसी ओर से आक्रमण हुआ, आपने दृढतापूर्वक उसका सफल प्रतिकार किया है। इस युग में तो प्राय धार्मिक वादविवाद होते नहीं हैं, पण्डितवर्ग और जनसाधारण की मनोवृत्ति में बहुत परिवर्तन हो गया है, किन्तु अब से पच्चीस-पचास वर्ष पूर्व प्राय वादविवाद और शास्त्रार्थ होते ही रहते थे।

आर्यसमाज की ओर से जैनधर्म पर होने वाले आक्षेपों का प्रभावशाली उत्तर देने के लिए दिगम्बर जैन-समाज ने शास्त्रार्थ संघ नामक एक पृथक् संस्था की स्थापना की थी किन्तु उसका कार्यक्षेत्र प्राय पंजाब और उत्तर-प्रदेश था। स्थानकवासी समाज का ऐसा कोई संगठन नहीं था। ऐसी स्थिति में हमारे चरितनायक ने स्वयं ही एक संगठन का रूप धारण किया और जहां कहीं ऐसा प्रसंग उपस्थित हुआ, आप स्वयं पहुंचे और जैनधर्म के सिद्धान्तों की स्थापना करके विजय-वैजयन्ती फहराई।

प्रव्रज्या ग्रहण करने के एक वर्ष पश्चात् ही एक प्रसंग उपस्थित हो गया। सोजत के निकटवर्ती खीरवादा ग्राम में वैष्णव सन्यासियों ने जैनधर्म का उपहास किया। कहा—"जैनसमाज और जैनधर्म हिंसा का पोषक है। उनके णमोकार मंत्र का प्रथम चरण है—'णमो अरिहंताण' अर्थात् जो शत्रुओं का घात करने वाला है उसे नमस्कार हो। इसी प्रकार और भी कुछ असंगत आरोप किए।"

सीरवाड़ा के श्रावक गुरुदेव की सेवा में उपस्थित हुए। गुरुदेव उस समय चरित्रनायक के साथ सोजत-रोड में विराजमान थे। श्रावकों की प्रार्थना स्वीकार कर गुरुदेव सीरवाड़ा पधारे। वहां पहुंच कर चरित्रनायक ने सन्यासियों को ललकारा और उनकी जिह्वा पर ताला लगाया। आपने स्पष्ट किया कि आध्यात्मिक उन्नति के बाधक काम, क्रोध, मद, मोह आदि शत्रुओं का विनाश करने वाले ही अरिहन्त होते हैं। काम-क्रोधादि के विजेता देव ही सच्चे देव हैं। जो कामी है, क्रोधी है, राग-द्वेष से जिसकी आत्मा कलुषित है, वह देवत्व की गरिमा को नहीं पा सकता और न हमारा आराध्य हो सकता है।

लम्बा विवाद हुआ। आखिर सन्यासी के वयोवृद्ध गुरुजी ने ही उन्हें समझाया—मूर्ख, क्यों प्रलाप करता है। तेरे प्रश्न का उत्तर तो मिल ही गया है।

उपस्थित जैन-जैनेतर जनता ने मुनिश्री के पाण्डित्य की भूरि-भूरि प्रशंसा की और श्रावकों का चित्त प्रफुल्लित हो गया।

वि० सं० १९८४ के सोजतरोड—चातुर्मास में आर्यसमाजियों से ईश्वरकर्तृत्व विषय पर गंभीर चर्चा हुई। गुरुदेव तो स्वभावतः शान्त, दान्त तथा धीरोदात्त महापुरुषों में थे किन्तु मुनिश्री प्रतिपक्षियों से चर्चा करने से कभी हिचके नहीं। आर्यसमाज के विद्वानों के साथ हुए शास्त्रार्थ में भी आपने ही प्रमुख भाग लिया और आपके अकाट्य तर्कों के सामने उन्हें परास्त होना पड़ा।

इसी प्रकार किशनगढ़ तथा आउवा की देवरी में मूर्तिपूजक समाज के साथ चर्चा करने के प्रसंग उपस्थित हुए। कई बार तेरापंथी सम्प्रदाय के सन्तों से भी आपका वाद हुआ।

अभिप्राय यह है कि आपकी वादशक्ति भी बड़ी प्रखर है। स्थानकवासी परम्परा के संरक्षण का आपको सदैव ध्यान रहता है। जैनधर्म अथवा स्थानकवासी परम्परा पर होने वाले आक्षेपों का आपने सदैव अपने प्रगाढ़ वैदुष्य से निराकरण किया है। इस विषय में आपकी जागरूकता असाधारण है।

जैनशास्त्रों में आठ प्रकार के प्रभावक माने गए हैं। मगर हम देखते हैं कि मरुधरकेसरीजी अकेले में ही प्रवचन, धर्मकथा, तप, व्रत, चरित्र एवं वाद आदि के द्वारा अनेक प्रकार के प्रभावकत्व का समावेश है। उनके समग्र जीवन का अध्ययन करने से स्पष्ट हो जाता है कि मरुधरकेसरी वास्तव में जिनशासन के एक सुदृढ़ स्तम्भ हैं और जैनसंघ के सबल संरक्षक एवं परित्राता हैं।

संघ-एकता



संघ और धर्म में आधाराधेय का सम्बन्ध है। यही कारण है कि जैनागमों में संघ की महिमा बड़े उदात्त शब्दों में प्रकट की गई है। नन्दीसूत्र में संघ की वन्दना अत्यन्त भावपूर्ण एवं हृदयग्राही शब्दों में की गई है। वास्तव में संघ के बिना धर्म टिक नहीं सकता। संघ जितना सुसंगठित और दृढ़ होगा, धर्म का प्रभाव भी उतना ही अधिक विस्तृत होगा। जब संघ में अनैक्य उठ खड़ा होता है, परस्पर ईर्ष्या-द्वेष का जन्म होता है और संघ के सदस्य एक दूसरे को गिरा कर अपनी शक्ति को क्षीण करने लगते हैं तो धर्म को भी आघात पहुंचे बिना नहीं रहता।

मुनिश्री ने इस तथ्य को बड़ी गहराई से अनुभव किया है। इसी कारण आप संघ की एकता के प्रबल समर्थक हैं। आपने कितने ही स्थानों में फैली हुई फूट को दूर करने का सफल प्रयास किया है।

मारवाड़ के बसी ग्राम में करीब सौ घर श्रावकों के हैं। ग्राम में दो दल हो रहे थे। आपने उनमें एकता कराने का भरसक प्रयत्न किया किन्तु वहां का एक स्वार्थी व्यक्ति एकता में बाधक था। उसे भंग से बहुत प्रेम था और उसने भंग-सेवियों के भक्तों का एक गिरोह बना रक्खा था। उसे आपका एकता का प्रयास अरुचिकर हुआ। एक



दिन आप जब बाहर पधारे तो यति ने उपहासपूर्वक कहा—क्या दलबन्दी मिटा कर स्नेहसम्मेलन करा दिया ? तू हिया ही दलबन्दी भग करा देंगे तो हम यहा बैठे क्या गीत गाएंगे ?

गुरुदेव ने फर्माया—यतिजी, दलबन्दी रहे या न रहे, उसमे हमारा कोई सम्बन्ध नही है। हमारा काम उपदेश देना है। हम शान्ति चाहते है। आप फूट के पक्षपाती हो तो आप जानें, मगर इसमें आपकी शोभा तो नही है।

उसी दिन गुरुदेव और चरितनायक ने श्रावकों के समक्ष ऐसा ओजस्वी भाषण दिया कि तत्काल उसका गहरा प्रभाव पडा और लम्बे काल से चला आने वाला विवाद एक ही दिन मे समाप्त हो गया। सब लोग मनभेदों को भूल कर परस्पर स्नेहसूत्र मे आबद्ध हुए और 'महावीर स्वामी की जय' के तुमुल नाद से आकाश व्याप्त हो गया।

वि० स० २००४ मे चरितनायक का चौमासा सादडी (मारवाड) मे था। उसी समय श्रीलोकाशाह गुरुकुल का वार्षिक उत्सव आयोजित किया गया। सेठ केवलचन्दजी चौपडा अध्यक्ष निर्वाचित हुए। उत्सव धूमधाम से प्रारम्भ हुआ। किन्तु उस समय भी स्थानकवासी समाज मे दो दल थे। चौपडाजी ने अध्यक्षीय भाषण मे इस अनैक्य पर गहरा खेद प्रकाशित किया, यहा तक कि अनशन की घोषणा कर दी। आपके साथ ही स्थानीय तथा बाहर से आए लगभग ७०० नवयुवकों ने भी अनशन प्रारम्भ कर दिया। ऐसी विषम परिस्थिति मे चरितनायक किस प्रकार आहार ग्रहण कर सकते थे ? आपने भी आहार का परिहार कर दिया। एक दिन बीत गया।

दूसरे दिन चरितनायक ने हृदय को हिला देने वाला मर्मस्पर्शी प्रवचन दिया। प्रवचनपीयूष की धारा प्रवाहित होते ही लोगो के मन की मलीनता धुल गई और जो हृदय कषाय के ताप से तप्त थे वे स्नेह-सलिल से शीतल हो गए। सघ मे एकता और प्रेम का प्रसार हुआ। चिरकाल से चली आ रही तकरार दूर हो गई।

वि० स० २०१० का चातुर्मास्य बिलाडा मे व्यतीत कर अनेक ग्रामों और नगरो मे विचरण करते हुए मरुधरकेसरीजी बालोतरा पधारे। वहा करीब २५ वर्षों से जैन समाज मे चार दल चले आ रहे थे। इस अन्तराल मे एकता स्थापित करने के अनेक बार प्रयास किए गए थे पर वे सभी विफल रहे थे। किन्तु आपके प्रभाव एव कौशल ने ऐसा चमत्कार प्रदर्शित किया कि दलबन्दी समाप्त हो गई और बालोतरा-समाज एकता के बन्धन मे आबद्ध हो गया।

वि० स० २०११ मे सिवाना (मारवाड) मे आपने वर्षावास व्यतीत किया। वहा भी चिरकाल से क्लेशपूर्ण दलबन्दी चली आ रही थी। एकता स्थापित करने के लिए आपको अत्यधिक प्रयास करना पडा फिर भी आपके सत्प्रयत्न अन्त मे सफल हुए। मुकदमेबाजी का अन्त हुआ। कषाय की आग शान्त हुई। सघ मे सौमनस्य स्थापित हो गया।

इसी प्रकार ममदडी-सघ मे व्याप्त कलहाग्नि आपके प्रयासो से शान्त हुई। धवे मे तेरह घरो मे तीन दल थे। समाज तीन तेरह हो रहा था। इसी कारण धर्मध्यान के लिए कोई ठिकाना नही था। एकता स्थापित करने के आपके सत्प्रयत्न सफल हुए। धवे से विहार कर लुणावा पधारे। वहा १० घरो मे ही फूट का साम्राज्य था। समझा-बुझाकर वहाँ भी शान्ति स्थापित की। ब्यावर मे व्याप्त कलह की आग को बुझाने के लिए तो आपको अनशन करना पडा। आपकी सहानुभूति मे अनेक श्रावकों और श्राविकाओ ने भी अनशन प्रारम्भ कर दिया। एकता के प्रयत्न सफल होते न देख राव नारायणसिंहजी साहब मसूदा तथा स्थानीय उद्योगपति सेठ मुकुन्ददासजी राठी आदि ने अनशन समाप्त करने का आग्रहपूर्ण अनुरोध किया। किन्तु चरितनायक अपने सकल्प पर दृढ रहे। आपने उत्तर दिया—

सद्भिस्तु लीलया प्रोक्त शिलालिखितमक्षरम्।

सत्पुरुष मनोविनोद मे भी जो कह देते हैं, वह शिलालेख की तरह अमिट हो जाता है।

आपने फर्माया—संघ की अपेक्षा इस शरीर का मूल्य अधिक नहीं है। संघ के श्रेयस् के लिए शरीर का उत्सर्ग कर देने में मुझे कोई झिझक नहीं है।

आखिर आपकी तपश्चर्या प्रभावजनक सिद्ध हुई और संघ में शान्ति तथा एकता स्थापित हुई।

चरितनायक संघ की एकता के प्रबल समर्थक हैं और इसके लिए उग्र से उग्र प्रयत्न करने में भी कभी नहीं हिचके। कुछ उदाहरण ही यहाँ प्रस्तुत किए गए हैं। इस दिशा में आपके प्रयास बहुत व्यापक और महत्त्वपूर्ण रहे हैं।

श्रमणसंघ की एकता के लिए किए गए आपके स्तुत्य प्रयासों का उल्लेख पृथक् निबन्ध में किया जा रहा है।

जीवदया

'दया धर्म का मूल है' यह उक्ति विश्व के समस्त धर्मों और सम्प्रदायों को मान्य है। जैनधर्म की सम्पूर्ण आचारप्रणाली का केन्द्र अहिंसा है और जीवदया उसका प्राण है। इसी कारण अपने श्रमणजीवन के इस लम्बे काल में आपने जीवदया के निमित्त अगणित कार्य किए हैं। अपने प्रभावक प्रवचनों द्वारा तो आप जीवदया की प्रतिष्ठा करते ही रहते हैं किन्तु अनेक बार इसके लिए अन्यान्य उपायों का भी अवलम्बन लेते रहे हैं।

वि० सं० १९८७ की घटना है। बलुन्दा-चातुर्मास्य में एक बार करीब १५०० पशु फाटक में बन्द कर दिए गए। निस्सहाय मूक पशु अकारण ही बन्धनबद्ध हो दुखी हो रहे थे। चरितनायक को इस घटना का पता चला। आपके हृदय में दया का सागर उमड़ पड़ा। तत्काल वहाँ के ठाकुर साहब को सन्देश प्रेषित किया—'दण्ड अपराधी को मिलना चाहिए, निरपराध को नहीं। इन मूक पशुओं ने अगर कोई अपराध किया भी हो तो सहज बुभुक्षा के वशीभूत होकर ही। वह दण्डनीय अपराध की कोटि में नहीं है। अतः तत्काल पशुओं को मुक्त कर देना ही दयालुता है।'

ठाकुर साहब मुनिश्री के तप-त्याग से प्रभावित थे। उन्होंने तत्काल आदेश का पालन किया और पशुओं ने स्वाधीनता की सांस ली।

मगर संसार में सर्वत्र समान रुचि और मति के मनुष्य नहीं हैं। यहाँ भव्य भी है, अभव्य भी है, धार्मिक भी है और अधार्मिक भी हैं। सुलभबोधि भी है तो दुर्लभबोधि भी है। बिलाड़ा में दुर्लभबोधि जनों का सामना करना पड़ा। वि० सं० २०१० में आपका चौमासा बिलाड़ा में था। नगर प्रवेश के समय ही किसी श्रावक ने आपको सूचना दी थी कि कुछ लोग बाणगंगा में से मछलियाँ पकड़ कर बेचते हैं। कई बार बाहर पधारने पर मुसलमान व्यापारी सिर पर मछलियों के टोकरे लिये आपको भी मिले।

एक दिन आपश्री ने उन्हें समझाया—यह तीर्थस्थान है। यहाँ मछलियाँ पकड़ना चिरकाल से बन्द है। तुम समय का लाभ उठा कर यह निषिद्ध कार्य करते हो, यह अनुचित है। इससे यहाँ की अहिंसाप्रिय जनता को बहुत दुःख है। अतः मछलियाँ पकड़ना बन्द कर देना चाहिए।

किन्तु जिनका हृदय जीवहिंसा करते-करते पाषाण बन चुका हो उन पर ऐसी बातों का कहाँ प्रभाव पड़ने वाला है? वे बोले—हमें मछलियाँ पकड़ने से कौन रोक सकता है? स्वामीजी, अपना रास्ता लो।

मृदु भाषा में स्वामीजी ने कहा—मित्रो! रास्ता तो एक दिन तुम और हम सबको लेना है। कयामत का दिन देखना ही पड़ेगा।

मच्छीमार चले गए। चरितनायक इस हिंसाकाण्ड को सहन न कर सके। उपाय सोचने लगे।





एक दिन चरितनायक शौच-निवृत्त होकर वापिस लौट रहे थे कि एक मौलवी २-३ मुस्लिम नवयुवकों के साथ सामने आ गया। उसने कहा—'तू मछलियां मारना रुकवाना चाहता है! ले मजा चख।' और मौलवी ने आपके शरीर पर लाठियां बरसाना आरम्भ कर दिया। साथी मुनिश्री रूपचन्द्रजी कुछ आवेश में आए तो आपने उन्हें शान्त रहने का आदेश देते हुए कहा—यही परीक्षा का समय है। आक्रमणकारी का प्रतिरोध करना सन्तजनों के लिए पराजय का चिह्न है। फिर भी लाठियां बरसती रहीं। करीब बीस प्रहारों के बाद जब लाठी के तीन टुकड़े हो गए तब मौलवी को प्रहार करना बन्द करना पड़ा। मुनिश्री ने शान्त और गम्भीर भाव से यह यातना सहन की।

लोहूलुहान शरीर लिए मुनिश्री किसी प्रकार स्थानक में पहुंचे। नगर में तहलका मच गया। प्रहार-कर्त्ता का नाम पूछा गया किन्तु चरितनायक ने तथा मुनिश्री रूपचन्द्रजी ने बताने से इन्कार कर दिया। मगर प्रत्यक्ष-दर्शी एक कुम्भकार ने सारा भेद खोल दिया।

संवेगी मुनि श्रीकवीन्द्रसागरजी चरितनायक की दशा देख दयाद्रवित हो उठे। सहसा उनके मुख से निकला—'अरे जैनियो! मर मिटो! यह अत्याचार भी क्या सह्य है?,

नगर में हाहाकार मच गया। हड़ताल हो गई। स्थानक के बाहर विराट जनसमूह एकत्र हो गया। देखते ही देखते दुष्टों से बदला लो, उन्हें समाप्त करके ही दम लेंगे आदि नारे लगने लगे। ५-६ हजार लोगों ने मुस्लिम मुहल्ले को घेर लिया। पुलिस भी घटनास्थल पर जा पहुंची। मगर जोश से उफनती जनता पर नियंत्रण पाना पुलिस के लिए सम्भव न था।

स्थिति की अत्यन्त विषमता देख आहत अवस्था में भी चरितनायक को हस्तक्षेप करना पड़ा। आप अपनी पीड़ा को भूल गए और मौलवी की सम्भाव्य पीड़ा आपके हृदय को मथने लगी। आखिर मछलियों पर करुणा की वर्षा करने वाला धर्मपुरुष मानव के प्रति करुणाहीन कैसे हो सकता था?

आपने मौलवी की सुरक्षा के लिए संदेश प्रेषित किया। अधिकारियों ने कौशल से मस्जिद के पिछले द्वार से मौलवी को निकाल कर तहसील में पहुंचा दिया और उसकी सुरक्षा की व्यवस्था कर दी। जनता को ज्यों ही इस छल का पता चला कि उसने तहसील को घेर लिया। दरवाजे तोड़ डाले। गुरुदेव के अपमान का पूरा बदला लिये बिना लोग शान्त नहीं होना चाहते थे। खाली फायर किए गए, फिर भी जान की बाजी लगाकर जूझने वाले लोग इन्च भर भी नहीं हटे।

स्थिति विषम से विषमतर होती जा रही थी। जनता नियंत्रण से बाहर हो चुकी थी। भयानक हत्याकाण्ड की सम्भावना हृदय को हिला रही थी। इस स्थिति में पुलिस अधिकारी और मजिस्ट्रेट भागे-भागे चरितनायक की सेवा में पहुंचे। बोले—गुरुदेव! अनर्थ होने जा रहा है। रक्त की नदियां बह जाएंगी। आप ही इस स्थिति को संभाल सकते हैं।

दयाद्रवित चरितनायक ने किसी प्रकार जनता पर नियंत्रण स्थापित किया। लोग किंचित् शान्त हुए।

अवसर पाकर मुसलमानों के अगुवा आपकी सेवा में उपस्थित हुए। कहने लगे—'भगवन! आप दयालु हैं। हमारे बालबच्चों की जिन्दगी आपकी मुट्ठी में है। उस नालायक ने आपके ऊपर क्या, हम सब पर लाठी बरसाई है। हम शर्मिन्दा हैं। क्षमा चाहते हैं। हमारे ऊपर रहम कीजिए।' गुरुदेव ने उन्हें क्षमा का आश्वासन दिया और तीन बातें उनके सामने रखीं—

१ आज से मछलियों का पकड़ना पूरी तरह बन्द किया जाय।

२ अभी २१ बकरे अमर कर दिए जाएं।

३ मौलवी को तत्काल यहां से हटा दिया जाय, क्योंकि उसके हित में भी उसका यहां रहना उचित नहीं।

मुस्लिम नेताओं ने तीनों बातें स्वीकार की। गुरुदेव ने जनता से कहा —भाइयो! अपना जीवदया का उद्देश्य पूर्ण हो चुका है। अब मुसलमानों के प्रति किसी प्रकार का वैरभाव नहीं रखना चाहिए।

जनसमूह मुसलमानों को साथ लेकर बटेरे के चौक में पहुंचा और सभा के रूप में परिणत हो गया। वहां जनता की ओर से पुनः तीन अतिरिक्त शर्तें पेश की गईं—

१ अष्टमी और एकादशी को पशुवध सर्वथा न किया जाय।

२ हिन्दुओं के जिन दो मकानों पर अधिकार कर तकिया का रूप दे दिया गया है उन्हें तत्काल लौटाया जाय।

३ भविष्य में ऐसा दुस्साहस न करने की शपथ ली जाय।

मुस्लिम नेताओं ने कहा—गुरुदेव की शर्तें हमें स्वीकार हैं। आपकी दो शर्तों को मानने में जरा कठिनाई है।

इतना कहते ही शान्त हुई ज्वालाएं फिर भड़क उठीं। सभा ने मुसलमानों के सामाजिक बहिष्कार का फैसला किया। जिन दो मकानों को तोड़ कर तकिये बना लिये गए थे उनमें से एक में 'रामदेवजी' और दूसरे में "शिवजी" की स्थापना कर दी गई। दस मिनिट में ही यह कार्य सम्पन्न हो गया। फिर भी लोगों का जोश ठंडा नहीं हुआ। एक बड़ा दल जामामस्जिद पर हमला करने के लिए बढ़ा। चरितनायक को जब यह संवाद मिला तो आपने संदेश भेजा—मस्जिद पर हमला हुआ तो मैं अनशन कर दूंगा।

इस सन्देश से लोग शान्त हुए। तत्पश्चात् आपने लोगों को समझा-बुझा कर प्रकृतिस्थ किया।

उल्लिखित दो घटनाएं ही आपकी करुणापरायणता का परिचय देने के लिए पर्याप्त हैं। वास्तव में मुनिश्री जीवदया के प्रबल समर्थक हैं। आपका अन्तस्तल करुणा-वरुणालय है। जीवदया के लिए आप द्वारा किए गए प्रयत्नों का उल्लेख करना संभव नहीं है। आपके जीवन में अहिंसा की पूर्ण प्रतिष्ठा हुई है।

महर्षि पतंजलि ने योगशास्त्र में लिखा है— 'अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः।' अभिप्राय यह है कि अहिंसा के साधक के इर्दगिर्द हिंसक जन्तु भी वैर का त्याग करके अहिंसक बन जाते हैं। तीर्थंकर के समवसरण में सिंह और मृग जैसे जातिविरोधी जीव भी एक साथ प्रेमपूर्वक बैठते हैं। यह अहिंसा का ही लोकोत्तर प्रभाव है।

चरितनायक के जीवन में अहिंसा की प्रतिष्ठा किस कोटि तक हुई है, इसका प्रमाण हमें एक सिंह के आचरण में मिलता है।

चरितनायक को एक बार जामुंडा चौकी पर रात्रिविश्राम करना पड़ा। रात्रि का प्रथम प्रहर व्यतीत होते ही अचानक वहां एक मृगराज (नौहत्था सिंह) आ पहुंचा। किन्तु मुनिराज के साथ चार आंखें होते ही मृगराज के अन्दर का देवत्व जाग उठा और पालतू कुत्ते के समान वह वहीं बैठ गया। इससे पूर्व कई दिनों से वह प्रतिरात्रि वन्य और ग्राम्य पशुओं का वध करता रहा था। सरवा के कुंवरसाहब द्वारा बांधे गए महिष का शिकार करके भी वह साफ निकल भागा था। मगर मुनिराज के सान्निध्य में मृगराज रात्रि भर शान्त बैठा रहा।

मुनिश्री के साथ जो श्रद्धालु जन थे, उन्होंने प्रातःकाल गुरुदेव के दिव्य प्रभाव का बखान किया तो आपने फर्माया—व्यक्ति क्या चीज है? यह सब अहिंसाधर्म का ही अलौकिक प्रभाव है।

चरितनायक की अहिंसासाधना को परखने के लिए यह एक अभ्रान्त कसौटी है।



तप: प्रभाव

वि० सं० २००८ की एक विशिष्ट घटना भी उल्लेखनीय है। मादलिया ग्राम में आपका चातुर्मास्य था।



दीपावली के दूसरे दिन सध्या समय ३७ ऊटों पर सवार ६७ दस्युओं ने चारों ओर से गाव को घेर लिया। दस्यु बडे ही खूखार और साहसी थे। उसी दिन प्रात काल मुण्डाणा और सरहार गावों के करीब २० जाटों को मौत के घाट उतार दिया था। उनके शरीर के वस्त्र रक्तरजित दिखाई दे रहे थे।

भयकर डाकुओं द्वारा गाव घिरा देख लोग आतकित हो उठे। जो लोग खाते-पीते थे उन्हें मौत सामने नजर आने लगी। धन के साथ प्राणों का खतरा था। ऐसी स्थिति में लोग भाग कर चरितनायक की चरण-शरण मे आए। सबकी जिह्वा पर एक ही प्रश्न था - क्या होगा ?

चरितनायक ने सबको धैर्य बधाते हुए कहा—घबराओ मत। घबराहट किसी भी मर्ज की दवा नहीं है। धर्म के प्रताप से सब ठीक होगा। क्योंकि 'धर्मो रक्षति रक्षित' जो धर्म की रक्षा करता है, धर्म उसकी रक्षा करता है।

उधर दस्युओं के नेता को चरितनायक के विराजमान होने का पता चला तो उसने साथियों को आदेश दिया गुरुदेव (चरितनायक) मेरे पिताजी के गुरु है। जहा वे विराजमान हो वहा हमें कोई अत्याचार नहीं करना है। जल्दी प्रस्थान करो। ऐसा न हो कि गुरुदेव से कोई उपालभ सुनना पडे।

दस्युराज कल्याणसिंहजी की गुरुदेव के प्रति यह अद्भुत श्रद्धा देख किसे विस्मय न होता ! जैन एव जैनेतर जनता ने तप और अहिंसा के प्रभाव का प्रत्यक्ष देखा। सिद्धपुरुष के प्रभाव से जब जन्मजात हिंसक जन्तु भी हिंसा का त्याग कर देते है तो डाकू तो मनुष्य थे !

राष्ट्रीय भावना

सन्त जन प्राणीमात्र पर समभाव धारण करते है। निज-पर की सकीर्ण भावना उनके निकट नहीं फटकती। फिर भी वे जिस देश मे जन्म लेते है, जो देश उनका कार्यक्षेत्र होता है, उसे विश्व का एक अग मान कर वे उसके उत्थान मे योग देते ही है। अन्य राष्ट्रो की अविरोधी उदार राष्ट्रीयता सन्तजनो मे भी होती है। चरितनायक के जीवन के कार्यकलापों का मन्थन करने पर हमे उसका दर्शन हुए बिना नही रहता।

वि० स० १९८४ का समय स्वाधीनतासग्राम का समय था। समग्र देश अपनी दासतामुक्ति के लिए जूझ रहा था। मगर रियासतो से व्याप्त होने के कारण राजस्थान की चेतना मूर्छित-सी हो रही थी। राजाओं के प्रचण्ड आतक ने जनता को दबा रक्खा था। ऐसे समय मे रियासतों मे जागृति का मन्त्र फूकना साहस का काम था। किन्तु हमारे चरितनायक महान् साहसियों मे अग्रगण्य है। जिसे सत्य और न्यायसगत समझा, सारी दुनिया विरोध मे खडी हो जाय तब भी आप परवाह नही करते।

सोजतरोड—वर्षावास मे आपने राष्ट्रीय भावना से परिपूर्ण प्रवचन किए। श्रोताओं मे नूतन स्फूर्ति और प्राणो का सचार हुआ। दासता से मुक्त होने की तडफ पैदा हो गई। दूर-दूर तक आपके जोशीले व्याख्यानों की प्रसिद्धि हुई। देश के प्रथम कोटि के नेताओं के कानो तक बात पहुच गई। उससे आकृष्ट होकर महात्मा गाधी, सरदार पटेल, भूला भाई देसाई तथा मणिलाल कोठारी आपके दर्शनार्थ उपस्थित हुए। आपका प्रवचन सुनकर सभी ने सन्तोष व्यक्त किया और गुजरात पधारने की प्रार्थना की।

इस प्रकार जहा कही भी आपका पदार्पण हुआ, आपने राष्ट्रीय भावना को जागृत करने मे सुन्दर योग प्रदान किया।

आपकी राष्ट्रीयभावना धर्मसापेक्ष रहती है और वह आपके जीवन का एक अग बन चुकी है।

जोधपुर मे एक बार आप करीब १७ फुट ऊचाई से जमीन पर गिर गए। नीचे जोधपुरी पत्थरों का फर्श था। इस कारण गहरी चोट ही नही आई वरन् वाम पाद की नितम्बास्थि भी भग्न हो गई। खडा होना असभव हो गया। भयानक वेदना का प्रसग था, फिर भी आपने असाधारण धैर्य एव सहनशीलता का परिचय दिया।

गुरुभक्त सेठ सीवमचन्दजी उसी समय डाक्टरों को ले आए। डाक्टरी उपचार कराने का निश्चय किया गया। अस्पताल में प्रविष्ट कराने पर भी विचार होने लगा। मगर चरितनायक ने स्पष्ट कह दिया—शरीर शाश्वत नहीं। कभी न कभी जाने को है। इसकी मुझे चिन्ता नहीं। रहे तो भले रहे, जाए तो भले जाए। शरीर के जाने पर भी मेरा कुछ नहीं जाता। मैं विदेशी चिकित्सा नहीं कराऊंगा। डाक्टरों ने बहुतेरा विश्वास दिलाया कि किसी निषिद्ध दवा का प्रयोग नहीं किया जाएगा, किन्तु चरितनायक ने मौन धारण कर लिया। विवश होकर डाक्टरों को चला जाना पड़ा। एक देशी वैद्य का इलाज चालू किया गया और उसी से स्वास्थ्यलाभ हुआ।

इसे कहते हैं सच्ची राष्ट्रीयता!

उग्र विहार

चरितनायक के जीवन की अनेक विशेषताओं में एक बहुत बड़ी विशेषता है—उग्र विहार की। खेद है कि आज उग्र विहार का अर्थ जल्दी-जल्दी चलना समझा जाने लगा है। अगर कोई सन्त एक ही दिन में १५-२० माईल मार्ग पार कर लेता है तो उसे उग्रविहारी कहा जाता है। किन्तु यह अर्थ आगमसम्मत नहीं है। साधु को ईर्यासमिति से यतनापूर्वक, आगे की चार हाथ भूमि को भली भांति निरीक्षण करते हुए चलना चाहिए। द्रुतगति से चलने पर ईर्यासमिति का पालन नहीं होता।

तो उग्रविहार का समीचीन आशय क्या है? यह मरुधरकेसरीजी की जीवनी से जाना जा सकता है। आप किसी एक स्थान पर अधिक दिनों तक नहीं ठहरते। जहां एक मास तक ठहरा जा सकता है वहां भी प्रायः एक सप्ताह से अधिक नहीं ठहरते। ग्रामों में अक्सर दो-तीन दिन ठहरते हैं। विशेष कारण की बात अलग है पर साधारणतया शहर में भी कम ठहरना आपकी प्रकृति है। यही कारण है कि चातुर्मास के अतिरिक्त शेष आठ महीनों में आपके विहार का औसत करीब आठ सौ मील होता है। जिसमें १००-१५० ग्रामों में पर्यटन हो जाता है। वास्तव में यही उग्रविहार है।

आपके चातुर्मास्य स्थलों की सूची देखने से विदित होगा कि आप नगरों की अपेक्षा ग्रामों में चौमासा करना और विहार करना अधिक पसन्द करते हैं। आप स्वयं फर्माते हैं—

'गावों में आजकल प्रायः सन्त महात्माओं का संयोग लोगों को बड़ी ही कठिनाई से प्राप्त होता है, क्योंकि सन्त जन भी प्रायः आवश्यक साधन-सुविधाओं की सुलभताओं के कारण बड़े-बड़े शहरों में ही अधिक सन्त रहने लगे हैं। छोटी बस्तियों की ओर उनका ध्यान आकर्षित नहीं होता। गावों में बहुत कम ही सन्त पुरुष पहुंचते हैं। चातुर्मास्य जैसे चार मास का लम्बा निवास तो अत्यन्त ही दुर्लभ-सा है। फिर भी जो सन्त शुद्ध आहार पानी और खुली परिष्ठापनिका भूमि का साधन चाहते हैं, वह तो केवल गावों में ही सुलभ है। शहरों में तो वह अत्यन्त ही दुष्प्राप्य है।' मगर आपका प्रभाव बड़ा ही अद्भुत है। छोटे ग्रामों में भी आपके भक्तजनों की भीड़ लगी रहती है। जहां आप पहुंचते हैं वहीं किसी बड़े नगर का सा दृश्य खड़ा हो जाता है।

आपकी गुरुभक्ति आदर्श है। गुरुभक्ति से प्रेरित होकर आप श्रीरघुनाथजयन्ती भूधरजयन्ती, श्रीबुधमल गुरुजयन्ती आदि समारोह प्रतिवर्ष आयोजित करते हैं। लोंकाशाह जयन्ती भी सोत्साह मनाते हैं। ऐसे अवसरों पर सहस्रों नर-नारी गावों से एकत्र होते हैं और उनमें आप धार्मिकता के संस्कारों का आरोपण करते हैं।



अन्य विशेषताएं

चरितनायक की पितृपरम्परा क्षत्रियों की है जैसा कि आपके सोलंकी गोत्र से प्रतीत होता है। आपके पिताश्री भी राजकीय अधिकारी रहे और बाल्यकाल में आपका पालन-पोषण राजमाता की देखरेख में राजमहल में हुआ। इन सब घटनाओं का प्रभाव चरितनायक के व्यक्तित्व पर स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है। उनके जीवन



मे जो असाधारण तेजस्विता, निर्भीकता और स्पष्टवादिता है, वह सम्भवत इसीका परिणाम है। इसी तेजस्विता के कारण अनेक राजवी आपके आदेशो का उसी प्रकार नतमस्तक होकर पालन करते हैं जैसे विनीत शिष्य गुरु के आदेश का पालन करता है।

श्रीमन्तों का प्रभाव सन्तो पर भी देखा जाता है मगर मरुधरकेसरीजी इसके अपवाद हैं। जैसे सूर्य के तेज के समक्ष अन्य तेज फीके पड जाते हैं उसी प्रकार केसरीजी के सामने बडे-बडे तेजस्वी भी तेजोहीन हो जाते है। आप किसी के दबाव मे आना जानते नही। श्रीमन्तो की मण्डली हो, विद्वानो की सभा हो अथवा सन्तो का समूह हो, सदैव मूर्धन्य होकर ही रहते हैं। आप दूसरो के चलाए चलते नही, दूसरों को चलाते हैं। वास्तव मे सघ द्वारा प्रदत्त 'मरुधरकेसरी' विरुद आपके लिए सर्वथा उपयुक्त ही है।

'विद्वानेव विजानाति विद्वज्जनपरिश्रमम्' इस उक्ति के अनुसार आपका विद्वानो के प्रति सदैव सहानुभूति-मय व्यवहार रहता है। जो विद्वान् आपकी सेवा में उपस्थित होते हैं वे यथोचित सत्कार पाए बिना नही लौटते। यह आपकी विद्वत्ता एव विद्याप्रेम का परिचायक है।

ज्ञान के प्रचार के लिए आप सदैव प्रयत्नशील रहते हैं। अभी तक आपके उपदेश एव प्रेरणा से नि० लि० सस्थाए स्थापित की गई हैं—

(१) श्रीलौकाशाह जैन गुरुकुल, सादडी-मारवाड

(२) श्रीगौतम जैन गुरुकुल, सोजत शहर

(३) श्रीजिनेन्द्र ज्ञानमन्दिर, सिरियारी

(४) श्रीपार्श्व जैन कन्याशाला, कुशालपुर

(५) श्रीजैन स्थानकवासी कन्याशाला, नीमाज

(६) श्रीपूज्य रघुनाथ जैन पुस्तकालय, सोजत शहर

(७) श्रीजैन बुधवीर स्मारक मडल, जोधपुर

(८) श्रीजैन गोशाला, जयतारण

(९) श्रीवर्धमान आयबिल खाना सादडी, ब्यावर, सोजत, जोधपुर

इनके अतिरिक्त वाचनालय, पुस्तकालय आदि अनेक सस्थाए आपके सदुपदेश से स्थापित हुई है।

उपसहार

मरुधरकेसरी मुनि श्रीमिश्रीमलजी म० के जीवन की यह सक्षिप्त रूपरेखा है। इससे पाठक समझ सकेंगे कि आपका व्यक्तित्व अत्यन्त तेजस्वी, ओजस्वी और वर्चस्वी है जिसकी विराटता शब्दो के सागर मे नहीं समाती, जिसकी स्पृहणीयता सदा श्रद्धास्पद रही है, जिसने सुपुप्त जनमानस मे जागृति का स्वर मुखरित किया है और अपने जीवन को दिव्यता के उच्चतर सोपान पर प्रतिष्ठित किया है।

मरुधरकेसरीजी अनूठी प्रतिभा के प्रकाशमय पुज हैं। जैनदर्शन, व्याकरण, साहित्य, गणित, ज्योतिष आदि के ज्ञान के रूप मे जिनसे सहस्र-सहस्र किरणें विकीर्ण हो रही है। उन्होंने लाख पद्यो का निर्माण किया है, आशु-कवित्व उनके लिए क्रीडा है।

मरुधरकेसरीजी जीवन, जागृति और पावन प्रेरणा के चलते-फिरते 'मिशन' हैं। उन्होने श्रमणसघ के सघटन के लिए भगीरथ-प्रयास किया है, शिक्षासस्थाओ की सस्थापना में महत्त्वपूर्ण योग प्रदान किया है, ग्रामो और

नगरों में फैली वरूहाग्नि का उपशमन किया है, शान्ति, सौमनस्य और एकता की स्थापना की है और समाज का गला घोटने वाली कुरूढ़ियों के विरुद्ध सिंहनाद किया है।

आप अतीत की अनुपम गरिमा से मंडित राजस्थान के अन्तर्गत मरुधरा की वरिष्ठ विभूति हैं। उन्होंने अपने जन्म और जीवन से उसे नूतन गौरव प्रदान किया है और उसके विश्वविश्रुत यश में चार चांद लगाए हैं।

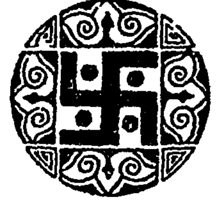
मरुधरकेसरीजी जैनसंघ-आकाश के देदीप्यमान नक्षत्र हैं, श्रमणसंघ के प्रकाशमान सूर्य हैं, आधार-स्तम्भ हैं, शोभा हैं, सजग प्रहरी हैं।

हार्दिक कामना है कि मरुधरकेसरीजी चिरजीवी होकर संघ और शासन के अभ्युदय के महान्, उत्तरदायित्व को सफलता के साथ वहन करते रहें।

०



मरुधरकेसरी और उनकी संघसेवा



चिम्मनसिंह लोढा

जैन समाज का एक इतिहास है और वह महत्वपूर्ण है। भगवान् आदिनाथ से भगवान् पार्श्वनाथ तक का इतिहास यद्यपि क्रमबद्ध नही है, किन्तु पार्श्वनाथ से महावीर तक का क्रमबद्ध मिलता है। चरम तीर्थंकर भगवान् महावीर स्वामी से आज तक का इतिहास बहुत अंशो मे स्पष्ट है तथा पट्टावलियो से या अन्य आधारो से आगे पीछे का क्रम प्राय बराबर मिल जाता है। जैन इतिहासकारो ने इस दिशा मे प्रयत्न नही किया, यह कहने का तो मैं साहस नही कर सकता, किन्तु जितना करना चाहिये, उतना नही किया। ऐतिहासिक गवेषणा के लिये विपुल धनराशि की जरूरत होती है तथा जीवन देने वाले व्यक्तियो की। यहा उस इतिहास तथा उस काल की मान्यताओ मे मै नही पड़ना चाहता। श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनो आम्नायो का प्रचार था और दोनो आम्नायो के आचार्य आज तक होते आये है। उदभट विद्वान, साहित्यकार तथा क्रियाकाण्डी सभी तरह के आचार्यो तथा सन्तो की जीवनिया मिलती है। बडे बडे राजा महाराजा भी जैनधर्मावलम्बी थे तथा उन्होने जैनधर्म की महत्वपूर्ण सेवा की है।

चीज जब पुरानी पड जाती है तो उसमे विकार पैदा होता ही है। विभिन्न युगो की विभिन्न परम्परायें। पार्श्वनाथ और महावीर की परम्पराओं मे भी कितना अन्तर? पार्श्वनाथयुग की मान्यताओ तथा परम्पराओ मे महावीर ने बहुत कुछ परिवर्तन कर दिया, यह कह दू तो भी चल सकता है। हर चीज के अच्छाई और बुराई दो पहलू हो सकते है। समय के साथ परिवर्तन अवश्यभावी है। जब किसी बात की अति हो जाती है तो उसमे परिवर्तन आवश्यक हो जाता है। तापस से सन्त हुए और सन्त से यति। धर्म के नाम पर जब यतियो का पाखण्ड अत्यधिक बढ गया तो क्रान्ति का आना स्वाभाविक हो गया।

पन्द्रहवी शताब्दी की बात है। धर्मप्राण लौंकाशाह धर्मक्षेत्र मे अवतरित हुए। लौंकाशाह का जन्म कहा हुआ तथा किस सवत् में हुआ, इस सम्बन्ध मे काफी मतभेद है। विभिन्न लेखको ने विभिन्न जन्म स्थान तथा विभिन्न जन्म-सवत् बताये हैं। हमारी धारणा यही है कि उनका जन्मस्थान अरहटवाडा था तथा जन्म सवत् १४७२। धर्मप्राण लौंकाशाह का कार्यक्षेत्र निस्सन्देह अहमदाबाद रहा है, क्योकि उस काल मे अहमदाबाद धर्म का केन्द्र-स्थान था तथा यहा यतियो का बोलबाला था। यतियों मे भी चमत्कारी यतियो की कमी नहीं थी, किन्तु धर्म अलग है और चमत्कार अलग। हमारा सम्बन्ध धर्म का था। धार्मिक दृष्टि से शिथिलाचार बेहद घर कर गया था। उसे धर्मप्राण लौंकाशाह सह न सके। उन्हे बचपन से शास्त्रवाचन का शौक था, किन्तु यतियो ने ऐसी स्थिति पैदा कर रखी थी कि गृहस्थ को शास्त्र मिल ही न सके। लौंकाशाह लिखते बडा सुन्दर थे। यह बात जब यतियो को मालूम हुई तो जिन्हें जिस शास्त्र के लिखवाने का काम पडता, वे लौंकाशाह को बुलवाते। लौंकाशाह जो चाहते थे, वही होने लगा। वे लिख कर देते और उन्हें जानने को मिलता। अनेक ग्रन्थो के लेखन का काम उन्होने किया, अत ग्रन्थो मे उपपादित धर्म के रूप का ज्ञान होना स्वाभाविक था। गम्भीर जानकारी, ज्ञान तथा मनन के पश्चात शनै शनै उन्होने जबान खोली तो धर्म के ठेकेदार आग बबूला हो गये। लौंकाशाह चालू प्रवृत्ति को किसी भी हालत मे सहन करने की स्थिति मे नही थे, अत वे प्रगट मे आये और सत्य धर्म का प्रचार प्रारम्भ किया। उनके प्रवचनो को यति तथा उनके भक्त सह न सके और हर कीमत पर उस प्रचार को रुकवाना चाहा। लौंकाशाह तो चूकि युग-पुरुष थे अत प्रलोभन, भय या आतंक किसी का उनपर प्रभाव नही पडा। वे निर्भीकतापूर्वक आगमप्ररूपित धर्म के प्रचार मे लग गये। उनके तर्कसंगत प्रवचनो का प्रभाव भी वैसा ही पडा और असख्य नरनारी उनके भक्त हो गये। यतियो के पाखण्ड और शिथिलाचार का भण्डा फूटा और

लोगों को वास्तविक धर्म के दर्शन हुए।

धर्म के नाम पर महत्वपूर्ण क्रान्ति हुई। यतियों की दूकानदारी समाप्त हुई। यही समय स्थानकवासी समाज का जन्मकाल हुआ। आगमानुरूप सन्तपरम्परा प्रारम्भ हुई जिस की शाखायें-उपशाखायें विभिन्न प्रान्तों में विभिन्न नामों से चल रहा है।

लोंकाशाह की धर्मक्रान्ति तथा संघसेवा के तौर-तरीकों की मरुधरकेसरी के जीवन पर गहरी छाप है। वे हर वर्ष कार्तिक शुक्ला पूर्णिमा को लोंकाशाह-जयन्ती का उत्सव बड़े समारोह के साथ मनवाते हैं। आसपास के क्षेत्रों से सैकड़ों स्त्री पुरुष आकर समारोह में सम्मिलित होते हैं। जयन्ती और भी स्थानों पर मनाई जाती है, किन्तु जो जोश और उत्साह यहां होता है, अन्यत्र दिखाई नहीं देता। मरुधरकेसरी स्वयं कई बार कह भी चुके कि मुझे तो प्रेरणा ही लोंकाशाहजी के जीवन से मिलती है। लोंकाशाह हमारे धर्मशासक है अतः उनकी जयन्ती मनाना हमारा धर्म है। यही भावना सर्वत्र होनी चाहिये।

मरुधरकेसरी भी धर्मप्राण लोंकाशाह की तरह क्रान्तिकारी विचारों के सन्त हैं। वे जो सोचते हैं, कर गुजरते हैं। सम्भव है अवस्था कम है, किन्तु मनोबल की कमी नहीं। उनके भक्त उनके नाम पर निछावर हैं। मरुधर-केसरी के जीवन में अनुपम ओज तथा धर्म के प्रति सच्ची निष्ठा है। धर्म के किसी भी काम में पीछे रहना, उनकी प्रकृति के विरुद्ध है।

यों तो दीक्षाकाल से ही संघसेवा की ओर उनका झुकाव रहा है, किन्तु मैं यहां उनके जीवन की संघसेवा सम्बन्धी उन घटनाओं को ही प्रस्तुत करूंगा, जिन्हें मैंने अपनी आंखों से देखा है। समय परिवर्तनशील है, अतः समय के साथ हर चीज में परिवर्तन आना ही है। स्थानकवासी समाज की साम्प्रदायिक मनोवृत्ति से दुःखी होकर धर्मवीर दुर्लभजीभाई आदि श्रावकों ने संगठन का शंखनाद फूंका। साम्प्रदायिक भावनाओं को समाप्त करने का एक ही तरीका हो सकता था और वह था संघऐक्य-श्रमणसंघ का निर्माण। दुर्लभजीभाई इस पुण्यकार्य के लिये निकल पड़े। सभी सम्प्रदायों के प्रमुख सन्तों से उन्होंने सम्पर्क साधा। वे मरुधरकेसरी की सेवा में भी गये। मरुधरकेसरी उस समय जोधपुर में विराजते थे। मरुधरकेसरी के उग्र स्वभाव के कारण हर मिलनेवाला व्यक्ति हिचकिचाता था, अतः दुर्लभजीभाई में भी इस भावना का होना स्वाभाविक था। वे मरुधरकेसरी की सेवा में पहुंचे। वन्दनापूर्वक वार्तालाप आरंभ हुआ। उस समय के कुछ शब्द आज भी कानों में गूंज रहे हैं।

दुर्लभजी भाई ने कहा—मिश्री मीठी होती है, उसमें से रस टपकता है, उसके रसास्वादन का लाभ समाज को मिलना चाहिये। साम्प्रदायिकता के कारण समाज में जो कटुता व्याप्त है, उसे मिठास से दूर करना है तथा संघ-ऐक्य का काम हाथ में लेना है।

मरुधरकेसरी—वाणी में कठोरता प्रतीत हो सकती है किन्तु हृदय में मिठास है। आप जिस पवित्र योजना को लेकर आये हैं, मैं हृदय से उसका स्वागत करता हूं। इस नश्वर शरीर से आप जो भी सेवा लेना चाहें, ले सकते हैं। संघ ऐक्य के लिये मेरी सभी सेवायें समर्पित समझिये।

मरुधरकेसरी उसी रोज से जुट पड़े। योजनानुसार सर्वप्रथम मरुधरा के श्रावकों का सम्मेलन बगड़ी नगर में आयोजित किया। सभी मारवाड़ी सम्प्रदायों के प्रतिनिधि बड़ी संख्या में उपस्थित हुए तथा श्रीसरदारमलजी छाजेड़ शाहपुरा निवासी की अध्यक्षता में सम्मेलन सम्पन्न हुआ। श्रावक जब एक राय हो गये तो सन्तों को एकत्रित करने की ठानी। अजमेर में साधुसम्मेलन करने का निश्चय हो ही चुका था, अतः वहां जाने के पूर्व आपसी विचार-विनिमय तो कर ही लेना चाहिये, इस दृष्टि से प्रवर्तक मुनि श्रीपन्नालालजी म०, वयोवृद्ध मुनिश्रीताराचन्दजी म०, सरलस्वभावी मुनिवर्य श्रीहजारीमलजी स्वामी तथा सोहनलालजी म० तपस्वी मुनिश्रीचतुर्भुजजी महाराज, वयोवृद्ध श्रीशार्दूलसिंहजी, प० मुनि श्रीछगनमलजी महाराज तथा फतेहचन्दजी म० आदि सभी से पत्रव्यवहार किया तथा मिलने का स्थान पाली तय हुआ।





स्वय मरुधरकेसरी सम्मेलन के पहले पाली पहुचे तथा श्रावको मे जोश फूंका । मरुधरमुनि-सम्मेलन का यह रूप हो सकता है, यह कल्पना ही नही हो सकती थी । एक मास पहिले से ही विचित्र चहल-पहल थी । बूढे जवान बच्चे सभी के मुह पर साधु-सम्मेलन की चर्चा । सभी लोग सम्मेलन की तैयारी म व्यस्त । कही स्थानको मे सफाई हो रही है तो कही अतिथियो के लिये मकानो की देखभाल । कही पण्डाल बनाने की तैयारी तो कही सम्मेलन के बोर्ड लगाने की । जोश फूक कर वातावरण ही धर्ममय-सा (सम्मेलनमय) बना दिया । सम्मेलन के पहले धर्मवीर दुर्लभजीभाई तथा श्री धीरजभाई पाली आये और वातावरण देखकर चकित हो गये । दुलभजीभाई ने मरुधरकेसरी से कहा— मुझे प्रसन्नता है कि आपने मेरी जोधपुर यात्रा को सफल कर दिया । आप जैसा उत्साह तथा सघप्रेम सभी सन्तो मे व्याप्त हो जाय तो समाज का कल्याण हो जाय । मुझे यहाँ की स्थिति से बडी प्रसन्नता है । इस सम्मेलन का प्रभाव अन्य प्रान्तो पर बहुत अच्छा पडेगा तथा बृहत सम्मेलन की सफलता का मार्ग प्रशस्त हो जायगा ।

मरुधरकेसरी ने यहा की व्यवस्था का तो सम्भाला ही, आने वाले सन्तो के स्वागत की भी सुन्दर योजना बनाई । युवक सन्त उत्साह के साथ जाते और सन्तो का स्वागत करते । २०-२०, ३०-३० मील दूर श्रावकों के झुण्ड जाते और सन्तो की जय-जयकार करते । पधारने वाले सन्तो के दिल भी हरे हो गये । प्रचार ऐसा हुआ कि दूर-दूर से स्वागत-समिति के पास दर्शनार्थियो के आगमन एवं आवासव्यवस्था के लिए पत्र तथा तार आने लगे । कलकत्ता, बम्बई, मद्रास, खानदेश-बरार आदि प्रदेशो से लोग पहुचने लगे । मरुधरकेसरी जमे हुए थे ही, अत उत्साह मे अभिवृद्धि होती रही । कई युवक तो आपे को भूल गये । जब देखो, मरुधरमुनि-सम्मेलन का काम या उसी की चर्चा ।

ज्यो-ज्यो सम्मेलन का समय नजदीक आता, त्यो-त्यो, लोगो के उत्साह मे वृद्धि होती ।

सन्तो का आगमन —सम्मेलन से पहले ही एक-एक करके सभी सन्त पाली पहुच गये । क्या उनका स्वागत था ! तीन-तीन, चार-चार मील तक स्वागतार्थ स्त्री-पुरुष सामने जाते, साथ मे मरुधरकेसरी होते । जय-जयकार के साथ सन्तो का नगर म प्रवेश होता । आसपास के जैन बडी सख्या मे आकर यही बस गये थे तथा बाहर से भी काफी लोग आगये थे, अत स्वागत मे अपार भीड होती थी । सभी सन्तो का ऐसा ही स्वागत हुआ, क्योकि साम्प्रदायिकता का त्याग करने के लिए ही सम्मेलन हो रहा था, अत जाने मे साम्प्रदायिक दृष्टि होने का सवाल ही नही था । जो उस समय नही पहुचे, उन्हे पश्चात्ताप करते ही देखा या सुना । लोग पाली नगर का अहोभाग्य मान रहे थे ।

आपस मे वर्षो से न मिलने वाले सन्तो के दिल भी उदार ! बिना किसी के प्रयत्न के मनोमालिन्य समाप्त । मतभेद वाले सन्त भी ऐसे मिलते, मानो इनमे कभी मतभेद था ही नही । वातावरण का प्रभाव पडता ही है । शिक्षा लेने के लिये एक सुन्दर अवसर था ।

सम्मेलन का दिन आया । प्रथम तथा अन्तिम दिन की सभा का दृश्य देखने जैसा था । समय की बलिहारी है । मगलाचरण के पश्चात् मरुधरकेसरी का प्रारम्भिक प्रवचन हुआ, जिसमे उन्होंने सम्मेलन की रूपरेखा रखी । रही सही कमी भी उन्होंने यहा पूर्ति कर दी । लोगो मे ऐसा जोश भरा कि, सम्मेलन के सिवाय कुछ सूझे ही नही । बाद मे एक-एक करके सभी प्रमुख सन्तो के प्रवचन हुए । एकता के विषय मे सभी एकमत थे ।

सघऐक्य तथा श्रमणसघ के सम्बन्ध मे सभी के एक से एक बढकर प्रवचन । बीच-बीच में नारिगो के स्थान पर जय-जयकार । ऐसे तो नेतृत्व प्रवर्तक मुनि श्रीपन्नालालजी महाराज कर रहे थे, किन्तु लगता ऐसा ही था, मानो सचालन मरुधरकेसरीजी कर रहे हो । वास्तविकता भी यही थी । मरुधरकेसरी के दिल का ही जौहर था कि सम्मेलन का यह रूप बना ! इसे कौन प्रान्तीय सम्मेलन कहता । मीटिंग में करीब पन्द्रह हजार स्त्री-पुरुष थे । छोटे से नगर मे, जहा स्थानकवासी जैनो के मुश्किल से ६०० घर होगे, इतना बडा समूह ! जैन-जैनेतर सभी अपने आपको गौरवान्वित अनुभव कर रहे थे । सभी आतिथ्य तथा सम्मेलन की सफलता के लिये तत्पर थे । मरुधरकेसरी अपने गुरुतर उत्तर-दायित्व को अनुभव कर रहे थ । प्रथम दिन की सभा के बाद सन्तमण्डल सम्मेलन सम्बन्धी काम मे लग गया । यो देखा जाय तो सन्तो के उदार प्रवचनो के पश्चात् करना शेष रह ही क्या गया था ? प्रेम से मिले, वन्दना की, साथ बैठे तथा

सभी ने एक आवाज से अजमेर-सम्मेलन का समर्थन किया। यह सब कुछ होने के बावजूद सम्मेलन तो होना ही। सम्मेलन हुआ। वातावरण का क्या कहना ? जिधर देखो अपार जनसमूह तथा जय-जयकार।

प्रस्तावों की रूपरेखा तैयार करने में भी मरुधरकेसरी का प्रमुख भाग। सभी प्रस्तावों तथा निश्चयों में एकता के दर्शन। धर्मवीर दुलभजीभाई की प्रसन्नता का पार नहीं था। यहां के वातावरण, जोश तथा उत्साह को देखकर वे गद्‌गद हो गये। कार्यवाही समाप्त हुई। अन्दर क्या किया, वह लड्डू ही था। किसी चर्चा की हवा बाहर आती भी तो ना उतनी हुई। सम्मेलन के अन्तिम दिन विशाल सभा हुई। जिधर देखो उधर ही दूर-दूर तक विराट जन-समूह दिखाई देता। प्रवर्तक मुनि श्रीपन्नालालजी महाराज ने संगठन तथा श्रमणसंघ के सम्बन्ध में हृदयस्पर्शी विचार व्यक्त किए। सभी सन्तों के दिल में प्रसन्नता थी तथा अजमेर-सम्मेलन के लिये उत्साह और जोश था। मरुधरकेसरी जब बोलते तब तो ऐसा लगता था, मानो उनके रोम-रोम में श्रमणसंघ समाया हुआ है।

इस सम्मेलन में अन्य आवश्यक कार्यवाही ना हुई, किन्तु एक निश्चय अत्यन्त महत्त्वपूर्ण था। सम्मेलन अजमेर में होने जा रहा था तथा यह क्षेत्र जाने का भी मरुधर मुनियों का है, अतः मरुधर-मुनि-सम्मेलन ने यह भी निर्णय लिया कि बाहर से पधारने वाले सन्तों का स्वागत करने तथा मार्ग की कठिनाई से राहत मिले इस दृष्टि से उन्हें लेने जावें। इस सब काम की जिम्मेदारी का वहन करने की घोषणा की। घोषणा के साथ जय-जयकार हुई और ऐसी हुई, मानो आकाश गूंज उठा हो। मरुधरसम्मेलन के तुरन्त पश्चात् तरुण मुनियों का सहयोग लेकर मरुधरकेसरीजी आगे के काम में जुट गये। कुछ ऐसा भी है कि उन्हें वेकार रहना सुहाता भी कम है।

साधु-सम्मेलन के लिये देश के सभी भागों से सन्तमण्डल अजमेर के लिये निकल पड़े। आबू, जयपुर तथा भीलवाड़ा तक स्थानकवासी सन्त पहुंचे गये और अतिथि सन्तों की सेवा में लग गये। सन्तों के पैर लोहू लुहान हो गये, किन्तु न थकाव और न विचलित हुए। सामने से आने वाले महापुरुषों के पैरों की भी यही हालत थी।

दक्षिण भारत से, पंजाब से, सौराष्ट्र और मध्यप्रदेश से, उत्तरप्रदेश और देहली से, सभी ओर से सन्त तेजी से अजमेर की ओर बढ़ रहे थे। सभी का भावभीना स्वागत राजस्थानी सन्तों ने किया और उन्हें लेकर अजमेर पहुंचे। इस स्वागत अभियान से मरुधरकेसरी की युवक सन्तमण्डली की प्रतिष्ठा में चार चांद लग गये। अजमेर में लगभग पांच सौ सन्त-सतियां तथा एक लाख से ऊपर श्रावक-श्राविकायें एकत्रित हुए। गजब का मेला था। मरुधरकेसरी ने इस महासम्मेलन में भी अपना महत्त्वपूर्ण "पार्ट" अदा किया और यशस्वी बने। स्थानकवासी समाज के इतिहास में शायद यह सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण तथा विशाल सम्मेलन था। जैनों तथा अजैनों की दृष्टि में संगठन के इस महामेले के फलस्वरूप स्थानकवासी समाज को अच्छा यश मिला।

सम्मेलन में रही कमी की पूर्ति के लिये सादड़ी मारवाड़ तथा सोजत, भीनासर में भी सम्मेलन हुए तथा वहां भी सैकड़ों सन्त तथा महासतियां तथा असंख्य नर-नारी एकत्रित हुए। संघऐक्य-श्रमणसंघ निर्माण के महत्त्व को आज कोई किसी रूप में महसूस करे, किन्तु ज्यों-ज्यों समय बीतेगा, उसका महत्त्व बढ़ेगा।

सादड़ी-सम्मेलन के समय तो मरुधरकेसरी का वही स्थान था जो मरुधर-मुनि-सम्मेलन पाली के समय था। सादड़ी मरुधरकेसरी का प्रमुख क्षेत्र है। सादड़ी संघ का एक महत्त्वपूर्ण इतिहास है। गोड़वाड़ प्रदेश भर में प्रमुख रूप से सादड़ी ही एक ऐसा शहर है, जहां स्थानकवासियों के घर हैं। धर्म-रक्षा के लिये इन्हें बड़े-बड़े कष्ट सहने पड़े, किन्तु ये विचलित नहीं हुए। मरुधरकेसरी तथा इनके गुरुओं ने समय-समय पर इन्हें साथ दिया तथा धर्म पर टिके रहने के लिए हिम्मत दिलाई।

इनके भक्त यहां बड़ी संख्या में हैं, अतः यहां साधुसम्मेलन होने का बहुत बड़ा श्रेय मरुधरकेसरी को ही है। पहले पहुंच कर आवश्यक व्यवस्था करवाने में उनका अच्छा भाग रहा। लोगों में जोश भरने की कला में तो आप सिद्धहस्त हैं ही। ऐसा जोश भरा कि लोग साधु-सम्मेलन, सेवा तथा अतिथिसत्कार के लिए पागल से हो गये। बाहर से आकर भी सैकड़ों घर बस गये तथा उनके चौके चलने लगे। कान्फ्रेन्स के अधिवेशन तीनों ही सम्मेलनों



के साथ हुए। अजमेर अधिवेशन की अध्यक्षता हेमचन्दभाई ने, सादडी-अधिवेशन की अध्यक्षता सेठ चपालालजी बांठिया ने तथा भीनासर-अधिवेशन की अध्यक्षता विनयचदभाई दुर्लभजी ने की।

मरुधरकेसरी के जीवन की अनेक विशेषताओ मे एक विशेषता यह है कि वे जो सोच लेते है, उसे पूरा करके छोडते हैं। तीन महासम्मेलनो के सिवाय एक छोटा-सा सम्मेलन सोजत मे भी हुआ और वह मरुधरकेसरी की धुन के परिणाम स्वरूप। इस धुन के धनी ने सोच लिया कि अपने दीक्षाक्षेत्र मे प्रमुख सभी सन्तो को लाना, ले आये। ऐसी धन्य धुन विरल ही होती है।

श्रमणसघ का निर्माण हुआ। बाहर से साम्प्रदायिक भावनायें समाप्त हुईं, किन्तु अन्दर कहीं-कहीं रह गईं। वह साम्प्रदायिकता निरन्तर सताती रही। कभी किसी बहाने से कोई रूठ जाता तो कभी कोई दसरा। आचार्य और उपाचार्य के पद भी रिक्त हो गये और कुछ ऐसी समस्यायें भी उपस्थित हो गईं, जिनका समाधान आवश्यक था। अत चौथे सम्मेलन की योजना बनाई गई। चौथा सम्मेलन भी अजमेर मे हुआ। आचार्य पद की चादर वहीं पर पूज्यश्री आनन्दऋषिजी म० को ओढाई गई।

सभी ऐसे आयोजनो मे हमारे इन चरितनायक का सहयोग सक्रिय एव महत्त्वपूर्ण रहा है। सघसेवा की भावना के बिना कभी सक्रिय सहयोग सम्भव नही होता।

अपने क्षेत्रों को सम्भालने मे आप जैसा पुरुषार्थ कम सन्तो मे मिलेगा। जवानी और प्रौढावस्था मे तो लम्बे तथा लगातार विहार विस्मयजनक नही है, किन्तु आज इस ७५ वर्ष की अवस्था मे भी चातुर्मास के बाद दो चार दिन से अधिक अनिवार्य परिस्थिति के सिवाय आप कहीं नहीं ठहरते। आठ माह बराबर विचरते हैं और प्राय सभी क्षेत्रों को सम्भालते है। इतनी वृद्धावस्था, आखो मे मोतिया तथा घुटनो मे बादी का दर्द और फिर लम्बा-लम्बा विहार! आठ महीनो मे इतने क्षेत्रों को शायद ही कोई सन्त सम्भालते हो। मार्ग मे बुखार आगया, गिर गये, चोट आगई, फिर भी विहार। शरीर जब तक चल सकता है, आप उसे अविश्रान्त चलाते है। खबर मिली मरुधरकेसरी गिर गये और चोट आगई। डाक्टर गया पट्टे-पट्टी बधे, दो रोज बाद पुन सम्भालने गये तो गायब, जब कि डाक्टर एक सप्ताह तक पूर्ण आराम की हिदायत कर गए। भक्त लोग कहते हैं— महाराज, आराम किया कीजिये, वे आग बबूला हो जाते है। समाज का खाता हू, उससे अधिक सेवा कर देना चाहता हू। इस तरह आठ महीनो मे कम से कम सात-आठ सौ मील का विहार कर बहुसख्यक गावो को सभाल लेते है।

धर्म की अवहेलना आपसे कतई सहन नही होती। कहीं से ऐसी खबर मिल जाय, स्वय पहुचने का प्रयत्न करेंगे या किसी को भेजेंगे तथा निराकरण की व्यवस्था करेंगे। आपके भक्तो की भक्ति भी कमाल की देखी। छोटे-छोटे दस बीस घरो के सघ और मरुधरकेसरी का चातुर्मास। यह जानते हुए कि चार महीनो मे एक दिन भी चैन नहीं मिलेगी तथा १०० ५० दर्शनार्थी स्थायी रूप से रहेंगे, भक्तिवश वे चातुर्मास कराने का प्रयत्न करते हैं। जहा तक छोटे गाव की विनती होती है, आप वही चातुर्मास करते है। जगल मे मगल वाली कहावत चरितार्थ हो जाती है। छोटे से ग्राम मे ठाठ। वक्ता प्रभावशाली हैं ही, फिर सगीत का पुट। जैनों के सिवाय, दूसरे भी बडी सख्या मे व्याख्यान मे सम्मिलित हो जाते हैं। मैने अनेक चातुर्मासो मे अजैन स्त्री-पुरुषो को अठाई तक करते देखा है।

बाहर के भक्त भी नाना प्रकार की सेवायें करते रहते है। किसी ने बाटने को पुस्तकें भेज दी तो किसी ने बैठके और पूजणी। किसी ने गरीबो के लिये कम्बलो, बूसो या चादरो की गाठें, तो किसी ने कुरते बण्डे या धोतिया। मरुधरकेसरी के चातुर्मास मे दो-चार व्यक्ति तो ऐसे मिलते ही है, जो स्थायी रूप मे वही रहते है। वे उन आई हुई चीजो को आवश्यकतामदो को देने की सेवा प्रदान कर देते हैं। चीजें अधिकाश मे ऐसे लोगों को ही देते है, जो आजीविका के लिये परिश्रम करते हुए भी आवश्यकतामद होते हैं अथवा अशक्त, विधवा या वृद्ध। इससे भी धर्म की प्रभावना होती है।

एक बार ऐसे ही एक प्रसग मे मुझे भी जाना पडा। पाकिस्तान के हमले के समय श्रीमोहनलाल सुखाडिया, मुख्यमत्री राजस्थान ने मुझे एक हजार रजाई सैनिको तथा शरणार्थियो को भेजने के लिये कहा। मरुधरकेसरी के गुरुदेव श्रीबुधमलजी महाराज की जयन्ती का निमन्त्रण मेरे पास आया हुआ था। मै गया, वहा विशाल जनसमूह देखकर बहती गगा मे नहाने की इच्छा हो गई। खडे होकर अपील की और बात की बात मे लगभग सौ रजाई के रुपये एकत्रित हो गये। सोचने का तरीका अलग अलग होता है। कोई सोचते है, यहा अपील होगी, लोगो को रुपया देना पडेगा और वे भविष्य मे आने मे सकोच करेगे। मरुधरकेसरी इस बात का कभी विचार ही नही करते। उन्हे यह विश्वास हो जाय कि काम अच्छा है तथा जाने वाला व्यक्ति प्रामाणिक है, वे अपील का समर्थन करेगे। उनका समर्थन अर्थात् धनराशि की बौछार! एक बार किसी ने उनसे कह दिया-महाराज, आप खर्च बहुत करवा देते है। मरुधरकेसरी ने उत्तर दिया-मै इसी मे उनका भला मानता हू। पहले दिया, यहाँ पाया, यहा देगे, आगे पावेगे। थोडा देनेमे अधिक मिल जाय यह सौदा क्या बुरा है?

भक्तो की भक्ति देखकर कई बार आश्चर्य होता है। एक बार मै सोजत रोड स्थानक मे मुनिश्री के पास बैठा था। एक ग्रामीण महाराज के पास आया और कहने लगा—महाराज, मैं भी अमुक योजना मे एक हजार रुपया खर्च करना चाहता हू। मुनिश्री ने कहा—तुम्हारी ऐसी स्थिति हम नही मानते। यह तो पैसे वालो का काम है। तुम्हे खर्च करना ही है तो जब तुम्हारे गाव मे आवेगे और कोई धर्म काम देखेगे तो वहा खर्च करना, अभी नही। इस प्रकार आप पात्र देखकर ही दान की प्रेरणा करते है।

मरुधरकेसरी ने सघोपयोगी अनेक सस्थायें खडी करवा दी है। उनके अनुरूप समय-समय पर सहायता भी दिलवाई, किन्तु उनका मोह कभी नही रक्खा। आवश्यकता महसूस की, उपदेश दिया, सस्था बनी और सहायता करवा दी। इन सस्थाओ मे अपना प्रभुत्व कायम करने का कभी प्रयत्न नही किया। जहा धर्मस्थानक का अभाव देखा, मर्यादा का ध्यान रखते हुए धर्म-स्थानक खडे करवा दिये।

दर्जनो ऐसे सघ है, जहा वर्षों से क्लेश था। हमारे चरित्रनायक वहा गये, समझाया और क्लेश समाप्त करवा दिया। बगडी, सादडी, राणावास, सिवाना तथा समदडी आदि अनेक स्थानो के झगडे आपने मिटाये। जहा भी गये, वहा फूट देखी तो यही कहा कि इसे खतम करो। कही आग्रह पर अडे भी तो यह शर्त रखकर ठहरे और फूट को समाप्त करने के लिये बाध्य किया। ऐसे अवसर आए कि एकता के लिए आपको अनशन भी करना पडा।

जैन धर्म का प्राण अहिंसा तत्व है। जैनधर्म की पहचान का आधार इसे कहा जा सकता है। अहिंसा जैनधर्म की देन है। आइसटाइन ने अहिंसा को जब कायरता कहा तो जैनो के सिवाय कोई सामने नही आया और राष्ट्रपिता महात्मा गाधी ने जब अहिंसा को ब्रिटिश शासन से लडने का हथियार बनाया तो सभी अहिंसा के गुण गाने लगे।

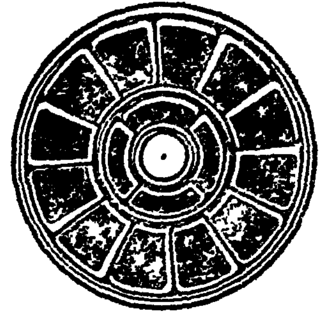
अहिंसा जैनधर्म की देन है, इसे सभी विचारको ने स्वीकार किया है। मरुधरकेसरी भी हिंसक प्रवृत्तियो के सख्त विरोधी रहे है। अहिंसा के पालन के लिए बडे-बडे सकट तक आपने झेले है। सरकार की अहिंसा विरोधी प्रवृत्तियो के विरुद्ध मरुधरकेसरीजी ने अनेक बार आवाज उठाई है। अहिंसा प्रचार सम्बन्धी जो भी योजना जब कभी मरुधरकेसरी के सामने आई और उन्होंने यदि उसकी उपयोगिता देखी, मुक्तकण्ठ से उसका समर्थन किया।

इस तरह मरुधरकेसरी का जीवन एक अजायबघर के रूप मे है। सघसेवा की भावना तो इनकी रग-रग मे समाई हुई है। हार्दिक कामना है कि मरुधरा के यह अनुपम केसरी युग-युग तक हमारे मध्य रहकर मानव जाति के अभ्युदय का पथ प्रशस्त करते रहे।



मरुधरकेसरी की संयमनिष्ठा

मुनिश्री रूपचन्द्रजी 'रजत'



मन एव इन्द्रियों को अपने वश में करने तथा प्राणियों की रक्षा करने का ही नाम सयम है। जो मनुष्य अपने मन और बुद्धि पर नियन्त्रण प्राप्त कर लेता है, वही श्रेष्ठ साधक है। आत्मविकास के क्रम में दो बातें महत्त्वपूर्ण होती है—एक तो अपने आपके दोषों का निरीक्षण-परीक्षण करना और उनके विश्लेषण द्वारा त्याग का सरल ग्रहण करना, दूसरे आध्यात्मिक रहस्य को समझकर, सम्यक्‌चारित्र को आत्मनिधि जान कर ससार के समस्त वैभव का परित्याग करना और निर्ग्रंथ होकर जिन-दीक्षा लेना। यह दृढ आस्था रखना कि जगत् मे अपने आत्मगुणों का विकास ही श्रेयस्कर है और इसी मे जीवन की सार्थकता है।

समस्त ससार इन्द्रियों का दास बना हुआ है। इस कारण प्राय प्रत्येक जीव निर्बल, दीन-हीन और पराधीन बना हुआ है। आत्मा के पराक्रम और स्वाधीनता को इन्द्रियों की दासता छीन लेती है।

आत्मा को आध्यात्मिक दृष्टि से सफल, उन्नत और शक्तिशाली बनाने के लिए इन्द्रिय-निग्रह अर्थात् सयम-निष्ठा अनिवार्य है। दिनचर्या मनुष्य की सयमनिष्ठा की कसौटी है। नियमबद्ध दिनचर्या ही प्राणी के लिए उपयोगी और कल्याणकारी सिद्ध होती है। महान् पुरुषों की दिनचर्या मे वह विशिष्टता होती है, जो साधारण प्राणियों मे नहीं पाई जाती है। इस भेद (विशिष्टता) की चर्चा करते हुए श्रुतिकार ने लिखा है—

सरसव मेरु रैन दिन, सिन्धु-बिन्दु सम लेख।
शठ-पडित चाकर धनी, तिम यह अन्तर पेख॥

यदि व्यक्ति दिनचर्या मे सयम से काम लेता है, परन्तु अपने जीवन मे विषय-भोग, कलह और प्रलाप आदि को महत्त्व देने लग जाता है तो उसकी सयम-निष्ठा अर्थहीन हो जाती है।

सयमी जीवन बडा कठिन है। सयम के लिए सभी प्रकार के बधन आवश्यक हैं, जिससे शिथिलता नहीं आने पाये। जीवन मे जो कार्य हमे शान्ति के समीप पहुचा सकें, वही सयमनिष्ठा के लक्षण हैं। दिनचर्या को नियमबद्ध करके व्यक्ति सभी आवश्यक कार्यों को उचित रूप से निबटा सकता है और अपनी साधना मे अग्रसर हो सकता है। आत्म-साधन के लिए तो नियमित दिनचर्या अनिवार्य है।

नियमित दिनचर्या हर व्यक्ति को नई प्रेरणा, नया उत्साह और नई स्फूर्ति प्रदान करती है। यहा मैं एक महान् योग-युक्तात्मा सत मुनिश्री मिश्रीमलजी महाराज की दिनचर्या की झाकी प्रस्तुत कर रहा हू—

मरुधरकेसरीजी ऐसे महान् व्यक्ति है जिन्होंने अपनी सयमनिष्ठा का आदर्श हमारे सामने प्रस्तुत किया है। आप के जीवन मे नियमों का पालन और इन्द्रियनिग्रह उच्चस्तरीय है। आप प्रतीदिन रात्रि के पिछले प्रहर में ढाई-तीन बजे जाग जाते हैं। सर्वप्रथम आप पचपरमेष्ठी महामत्र का १०८ बार स्मरण करते हैं फिर शास्त्र-स्वाध्याय मे मग्न हो अमूल्य समय का लाभ उठाते हैं। सूर्योदय के आसपास प्राचीन आध्यात्मिक सगीतबद्ध पद्यों का पठन एव

मनन आदि आवश्यक क्रिया करते हैं। तत्पश्चात् प्रार्थना मे पधार कर भक्तगणों को मगलपाठ सुनाते है। आपके वाचन की मधुरता ने सभी मुग्ध हो उठते है। शौचादि से निवृत्त होकर पुन कविता एव लेखनकार्य मे व्यस्त हो जाते हैं। तत्पश्चात् व्याख्यान आदि कार्यों मे अपना समय लगाते हैं।

आप पहर दिन के पहले विशिष्ट कारण के बिना किसी खाद्य एव पेय पदार्थ का उपयोग नही करते। इस युग मे इस प्रकार की कठोर निष्ठा का पालन बहुत कठिन है।

आप प्रतिदिन सात द्रव्यों (वस्तुओं) का ही आहार मे उपयोग करते हैं। दूध दही और छाछ आदि गृहस्थो के निजी घरो का ही काम मे लेते हैं। बाजार मे खरीदी हुई किसी वस्तु का उपयोग नहीं करते हैं। व्यजन भी आप सूखा और बहुत कम (विशेषकर ५-६ तरह का) नियमानुसार ही काम मे लेते हैं। बाजार के मिष्ठान्न भी आप काम मे नही लेते। केवल मिश्री व दूध की वस्तु ही काम मे लेते हैं।

आप सादा भोजन ही पसद करते हैं। जिस जाति-कुल मे मासादि का प्रयोग होता है, उस के घर से आहार पानी ग्रहण नही करते। इसी व्यवस्था के कारण आप प्राय राजस्थान मे ही भ्रमण करते हैं। आप अपने शरीर पर भी शुद्ध खादी के बने हुए वस्त्र ही पहनते हैं।

आप चातुर्मास के प्रारभ मे मौन का तेला अवश्य करते हैं। दिवाली पर भी मौन का तेला करते हैं, जिसमे १०-१२ हजार सूत्र गाथाओं का स्वाध्याय किया करते हैं।

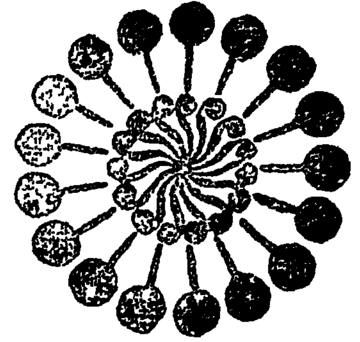
आप सध्या को प्रतिक्रमण के समय हमेशा मौन रहते हैं। रात्रि को शयन के बाद प्रार्थना के समय ही आपका मौन खुलता है। दिन में भी १२ बजे एक घटा मौन रखते हैं। हर मास मे शुक्ला एकादशी और कृष्णा प्रतिपदा को मौन किया करते हैं। आप विदेशी दवा का प्रयोग नही करते, अत्यावश्यक होने पर देशी दवा का ही उपयोग करते हैं। बिना शारीरिक कारण के दिन मे शयन नही करते। हमेशा दो विगय मे ज्यादा नही लगाते। आप प्रतिदिन दो बार के सिवाय आहार नही करते हैं। मरुधरकेसरीजी की यही दिनचर्या है।

सयम की सुरक्षा के लिए किस प्रकार आहार-विहार को नियमित रखना चाहिए, इस तथ्य को आपने भली-भाति समझा है और इसी कारण आप अपनी रसना-इन्द्रिय पर पूरा नियत्रण रखते हैं। वस्तुत आपकी सयम-निष्ठा प्रत्येक साधक के लिए अनुकरणीय है।





मरुधरकेसरी की काव्य-कला



डा० नरेन्द्र भानावत,

एम० ए०, पी-एच० डी०, साहित्यरत्न,

हिन्दी विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय,

जयपुर

मरुधरकेसरी प० मुनिश्री मिश्रीमलजी म० उन कवियो मे हैं जिनमे एक ओर सत कवि का प्रचलित रूढ परम्पराओ के प्रति विद्रोह और भक्त कवि का अपने आराध्य के प्रति स्नेह-समर्पण है तो दूसरी ओर चमत्कारप्रिय कवि का बौद्धिक विलास और इतिवृत्तकार का तथ्यनिरूपक उल्लास है। इनकी समग्र काव्यचेतना लोक-जीवन से रस-ग्रहण करती है। यही कारण है कि क्या कथा, क्या चरित्र, क्या शिल्प, सभी मे लोक-तत्व उभर कर सामने आया है। मरुधरकेसरी के व्यक्तित्व का ओज इनके प्रभावशाली पात्रो को मिला है तो 'मिश्री' की मिठास काव्यगत शिल्प मे विभिन्न राग-रागिनियो मे घुलमिल गई है।

काव्य-रचना

मरुधरकेसरी की दृष्टि जीवन के व्यापक फलक पर टिकी है, पर वह सतही नही है। अनुभव की गहराई मे डूबकर उन्होने जीवन के सत्यो का मार्मिक उद्घाटन किया है। उनकी तलस्पर्शिनी अनुभूति और तथ्यभेदिनी दृष्टि ने इतिहास के अस्थिपजर मे नवीन प्राण-चेतना फूकी है, नवल रुधिर प्रवाहित किया है। उपदेश की दुनिया मे प्रचलित लोकदृष्टान्तो, लोक-कथाओं और लोक-उपमानो के माध्यम से रस-चर्वणा की है। 'महाभारत' के कथानक मे उन्हे जीवन के विविध रूप दिखाई दिये, अच्छे और बुरे पात्र दिखाई दिये। जीवन को सपूर्ण सदर्भो मे देखने-परखने की दृष्टि से उन्होने विशालकाय 'पाण्डव यशोरसायन' की रचना की। जीवन-सयम और जीवन-विकास मे दृष्टान्तो का बडा हाथ रहता है। शास्त्रीयता से दूर हटकर विशुद्ध लोकभूमि पर मुनिश्री ने जिस 'मधुर दृष्टान्त मजूषा' की रचना की वह वर्षों के अनुभवो का सचित कोष है। मुनिश्री की दृष्टि ज्योतिषविज्ञान की ओर भी गई। जैन ज्योतिष के सार-तत्वो को उन्होने 'बुधविलास' के तरग २ मे निबद्ध किया। इसे रचनात्मक साहित्य मे न गिनकर भले ही सूचनात्मक साहित्य मे ही क्यो न लिया जाय, पर इससे कवि की जीवन-दृष्टि को जानने का तो अवसर मिलता ही है। विभिन्न चरितकाव्यो के माध्यम से मुनिश्री ने कर्मवाद, जीवनाचार, जीवनादर्श की ओर सकेत किया है।

मुनिश्री ने सौ से भी अधिक ग्रथो का प्रणयन किया है। उनकी सूची इस प्रकार है—

श्रीमरुधरकेसरीविरचित साहित्य (प्रकाशित)

१ पांडव यशोरसायन	(महाभारत)
२. मरुधरा के महान् सत	(४ चरित्र)
३ सकल्पविजय	(३५ चरित्र)
४ सच्ची माता का सपूत	(गजसिंह चरित्र)
५ नव निधान	(नव चरित्र)

६ मधुर पचामृत (५ चरित्र)
७ पतगसिंह चरित्र
८ वनन्त-भार्या मजुघोष चरित्र
९ भविष्यदत्त चरित्र
१० गोविन्दसिंह चरित्र
११. शीलवती चरित्र
१२ विनयवती चरित्र
१३ वकचूल चरित्र
१४ धमदत्त-चरित्र
१५ पुष्पवती चरित्र
१६ अपाटा ठाकुर चरित्र
१७ मदनरेखा चरित्र
१८ शीलसिंह चरित्र
१९ कयवन्नाशाह चरित्र
२० मान मुनि चरित्र
२१ क्रांतिकारी वीर लोकाशाह (हरिगीतिका)
२२ धर्मवीर लोकाशाह (राजस्थानी)
२३ धर्मप्राण लोकाशाह (गद्य)
२४ दिगम्बरमतसमीक्षा (गद्य)
२५ क्या मूर्तिपूजा शास्त्रोक्त है ? (गद्य)
२६ मूर्तिपूजा शास्त्रोक्त नहीं है (गद्य)
२७ सच्चा सपूत (गद्य)
२८ लगोट का लफन्दर (गद्य)
२९ भायलारो भीडू (गद्य)
३० टणकाई रो तोर (गद्य)
३१ मानव बनो (गद्य)
३२ अहिंसा (गद्य)
३३ आदतरा ओखद (नाटक)
३४ बुध-विलास - जैनज्योतिष (गद्य पद्य)
३५ बुध-विलास द्वितीय भाग (गुरुशिष्य सवाद) (पद्य-गद्य)
३६ बुध बावनी (पद्य)
३७ पद्यप्रबन्धपट्टावली (पद्य)
३८ श्रमणसुत्तरु (चार्ट)
३९ जैन दिल खुश बहार (भाग १-२)
४० जैन समाज सुधार (भजन)
४१. जैन सगीत सुधार (भजन)
४२ मधुर वीणा (भजन)
४३. नवरत्नलता (भजन)
४४ मिश्री के मोदक (भजन)
४५ मिश्री का कूजा (भजन)



४६ मिश्री के रवे (भजन)
४७ मधुर मलय संगीतमाला (भजन)
४८ मीठी वाणी (भजन)
४६ मोहन-मोहन संवाद (नाटक)
५० जैन मंगलमाला (भजन)
५१ अछूतों के अपमान का फल (गद्य)
५२ मधुर गायन (भजन)
५३ मधुर स्तवनवाटिका (भजन)
५४ गुरुभक्तिभजनमाला भाग १-२ (भजन)
५६. वीरदल गायन (भजन)
५५ मधुर काव्य (भजन)
५७ मधुर कविता कुंज (भजन)
५८. अमृत-गुटका (भजन)
५६ मधुर रूपमाला (भजन)
६० मधुर स्तवन संगीत (भजन)
६१ मिश्री के लड्डू भाग १, २, ३ (भजन)
६२ चम्पा भजनामृत (भजन)
६३ मधुर काव्य (द्वि० भाग) (भजन)
६४ सुन्दर-मुख चपेटिका (भजन)
६५ मधुर शिक्षा शतकाव्य (पद्य)
६६ मनोहर फूल (भजन)
६७ जिनागम संगीत भाग १, २ (शास्त्रीय पद्य संगीत)
६८. तत्वज्ञानतरंगिणी (तात्त्विक ग्रंथ)
६६ पथिकप्रबोध (भजन)
७० पार्श्वप्रभा (भजन)
७१ पार्श्वपच्चीसी (पद्य)
७२ मधुर चतुर्विंशति (भजन)
७३ पूज्य पच्चीसी (भजन)
७४ रेणु-रसविनोद (भजन)
७५ भक्तिरस भजनावली (भजन)
७६ भक्ति के पुष्प (भजन)
७७ मधुर हरियाली (भजन)
७८ चम्पक कली (भजन)
७६ मधुर मनन (भजन)
८० मधुर मंगलप्रार्थना (भजन)
८१ मधुर भजनावली (भजन)
८२ मधुर बत्तीसी (भजन)
८३ भगवान महावीर जन्म कल्याणचरित्र
८४ उपदेश बावनी (विविध विषयक छन्द)
८५ आगे ओसा (नाटक)

८६ जटपूजको ! पढो (गद्य-चर्चा)
८७ मधुर मगल (ढालें)
८८ मधुर काव्यमाला (भजन)
८९ मधुर स्तवनसुमनमाला (भजन)
९० नित्य स्मरण (भजन)
९१ दिव्य सगीत (भजन)
९२ जयन्ती गायन (भजन)
९३ श्रीमद् रघुनाथचरित्र
९४ मधुर साहित्यमाला १ (पद्य)
९५ जैन धर्म पुष्पलता (भजन)
९६ मधुर दृष्टान्तसागर (काव्य पद्य)
९७ गजब रो गोटालो
९८ गोरेगे गोटालो

अप्रकाशित साहित्य

१ विक्रमसेन चरित्र
२ मिश्री काव्यविनोद (पद्य) अनेक विषयो पर
३ हरिसिंह चरित्र
४ विमलहस चरित्र
५ वैराग्यापदेश चरित्र
६ चौबोली चरित्र
७ पवनदत्तचरित्र
८ सती लक्ष्मी चरित्र
९ महेन्द्रसिंह
१० दलथमनसिंह

काव्य-वर्गीकरण

मरुधरकेसरी की रचनाओ को मोटे तौर से दो भागो मे बाटा जा सकता है—(१) प्रबन्धकाव्य और (२) मुक्तक काव्य। प्रबन्ध काव्य को फिर दो उपवर्गों मे विभक्त कर सकते हैं (क) महाकाव्य और (ख) खण्डकाव्य। महाकाव्य मे चरित नायक की सम्पूर्ण जीवनकथा विस्तार से गाई जाती है जब कि खण्डकाव्य मे जीवन के किसी मार्मिक अश को वर्ण्य-विषय बनाया जाता है। मरुधरकेसरी की दृष्टि मे शायद यह भेद इतना स्पष्ट नही रहा है। इनके चरिताख्यान खण्डकाव्य की कोटि मे ही आयेंगे यद्यपि उनमे नायक के जीवन की पूरी कथा है। इन्हे एक शब्द मे 'कथाकाव्य' की सज्ञा दी जा सकती है। मुक्तक काव्य मे कथा की कोई धारा नही चलती। वह पूर्व-परम्परा से आबद्ध नहीं होकर अपने आप मे स्वतत्र और पूर्ण अर्थ का बोधक होता है। मुनिश्री ने मुक्तक काव्य सर्जन मे कई नये प्रयोग किये हैं।

स्थूल रूप मे मरुधरकेसरी के काव्य-वैभव को रेखा-चित्र द्वारा यो दर्शाया जा सकता है—





१

- काव्य
  - प्रबन्ध
    - महाकाव्य
      - १ पाण्डवयशो-रसायन
    - खण्ड काव्य
      - (क) चरित्रात्मक
        - १ गजसिंह चरित्र
        - २ [illegible] चरित्र
        - ३ स्थूलिभद्र चरित्र
        - ४ शीलसिंह चरित्र
      - (ख) उपदेशात्मक
        - १ स्वार्थ पर दृष्टान्त
        - २ ज्ञान, दर्शन, चारित्र तप पर व्याख्यानम्
      - (ग) [illegible]
        - १ [illegible]
  - मुक्तक
    - (क) स्तवनात्मक
      - मधुर स्तवन बत्तीसी
    - (ख) उपदेशात्मक
      - उपदेशबावनी
    - (ग) दृष्टान्तपरक
      - मधुर दृष्टान्त मंजूषा
    - (घ) कलात्मक
      - बुधविलास प्रथम तरंग (गुरु शिष्य संवाद शतक)
    - (ङ) अन्य
      - बुधविलास द्वितीय तरंग (भाषा जैन ज्योतिष सार)

१ यह वर्गीकरण प्राप्त प्रतिनिधि रचनाओ के आधार पर किया गया है ।

काव्य-विवेचन

प्रबन्धकाव्य

'पाडव यशोरसायन' मुनिश्री का बृहद् महाकाव्य है। यह जैन दृष्टि से लिखा गया 'महाभारत' है। इसमें कवि का ध्यान इतिवृत्त पर अधिक रहा है। इतना विशालकाय ग्रंथ लिख कर मुनिश्री ने पाठकों को जीवन सबधी विविध दृष्टिकोण प्रदान किए है जो पुरातन आदर्शों के अनुरूप है।

कृष्ण हिन्दी कवियों का प्रिय पात्र रहा है। भक्ति एव रीतियुगीन कवियो ने उसके सौन्दर्य-पक्ष का उद्घाटन दिल खोलकर किया है। आलोच्य कवि की दृष्टि कृष्ण के सौन्दर्य पक्ष पर न टिककर उनके शक्ति पक्ष पर अधिक केन्द्रित हुई है। यह प्रयत्न श्लाघनीय है। जैन दृष्टि से कृष्ण वासुदेव हैं। वे शक्ति के धनी हैं। उनकी यह शक्ति कस जैसे अत्याचारी शासक के उन्मूलन मे तो लगती ही है, पूतना-वध,[1] कालिया-दमन[2] मे भी उनका शक्तिरूप उभरा है। इस शक्ति के साथ-साथ करुणा-भाव भी गूथा हुआ है। नागिन की विनति और लब्धिप्रभाव से कृष्ण के सहस्र कर होने मे[3] करुणा और आश्चर्य भाव की मिली-जुली अनुभूति है।

शक्ति का यह रूप द्रौपदी की प्रतिज्ञा मे भी प्रतिबिंबित है। नारी की त्यागभावना और अन्यायी-अत्याचारी से प्रतिशोध लेने की बलवती कामना का एक ही छन्द मे वर्णन सुन्दर बन पड़ा है—

> चुनटी न राखू मुख, वसन नवीन तन,
> ओढ वा को सूस लीनो, सूवणो पिलग पे।
> काजर न आख आजू, लेवू ना तबोल मुख,
> कचुकी न डोरी कसू, शोभा हित अग पे।

---

१ पूतना राक्षसि बुलवाई, भेद को लेन गोकुल माही,
भेज दी कस उठे आई, जसोदा दे सुत घबराऊ,
मेरी गोदी में हुलराऊ।
जसोदा नहीं देत खातिर डाकिन सा लेन भई आतुर,
वशीकर छूट चल्यो जाहिर, करता पय-पान चीर डारी,
कृष्ण फिर कीनी किलकारी।
—पाडव यशोरसायन, पृ० १८०

२ गेंद की परवा नहीं है नागिन! मामा से गयो जुवे हार रे।
वासग शिर देसू मामा ने, आया छू इण स्हार रे॥
नागिन भागी नाग चेतायो, आयो वैरी बलधार रे।
वासग उठ्यो कोपे चढियो, इत पहुच्यो है मुरार रे।
इक कर मे झट गेंद उठाई, दूजा मे फण लियो धार रे।
युद्ध मच्यो दोनों मे जानो, कृष्ण किया नाग हजार रे॥ —पृ० १८३

३ सहस्र कर कर लब्धि प्रभावे, जीत्यो माधव जिणधार रे।
पकड शीस ले चल्यो कन्हैयो, नागिन करी है पुकार रे॥
कालो वदन अरु टक जहरीलो, मत मारो गिरधार रे।
पति भिक्षा अब दे दो दयालु, अर्ज करो चरणार रे॥
कृष्ण कहे नहीं मारु इसको नाथ लेवू गो इकवार रे।
वदन सुकोमल वृन्दावन मे, ऊपर रमाला चौपट सार रे॥ —पृ० १८३





भाल पै न बिंदी देऊ, वेणी ना गुथाऊ भैया,
होट रु नाखून नाही, रगू दुक रग पै ।
जोलौं दु शासन भुज, उखाडे ना पति मम,
और ना जमावे गदा-भीम उसी जघ पै ॥[1]

शक्ति के साथ-साथ प्रेम और सौन्दर्य व्यजना के लिए भी कवि ने उपयुक्त अवसर ढूढ निकाला है । रुक्मणी ने स्नानोपरान्त शृ गार क्या किया है मानो इन्द्राणी का रूप धारण कर लिया है—

स्नान कियो सखरो तब सुन्दर और अनूपम रूप सवारयो ।
माग भरी गज मोतिन से, नथ बेसर टीकि दे, अजन सारयो ॥
कुच कु भ कसे, गल हार विराजित, साटि निलाम्बर को पट टारयो ।
कटि मेखल नूपुर नीके पने निज देह शचीपन सो तब धारयो ॥[2]

हिन्दी मे सामान्यत कृष्ण और राधा के प्रेम-प्रसग को लेकर विपुल पदसाहित्य का निर्माण हुआ पर मुनिश्री ने स्वकीय प्रेम-भाव को ध्यान में रखते हुए प्रेम की पवित्रता और एकरसता की अभिव्यक्ति के लिए रुक्मणी को विशिष्ट पद दिया है । रुक्मणी कृष्ण की परिणीता पत्नी है । दोनो मे प्रगाढ प्रेम है । फूल मे सुगन्ध, शरीर मे साम, सूर्य मे किरण, चाद में चादनी, सर्प मे मणि, मुनि-मन मे करणी, केवली के मुख मे वाणी आदि की तरह कृष्ण और रुक्मणी परस्पर हिले-मिले हैं—

सुमन विर्षे जिम वास, सास पींजर रवि किरणा ।
चन्द सुधारस जाण, अहि मणि, मुनि मन जिरणा ॥
लोभी धन की राम, भव्य चाहत ज्यों तिरणा ।
उदधि मे अरविन्द, केवली मुख ज्यों निरणा ॥
काष्ठ वह्नि, हिंगलू मही, ज्यों पासे हिल-मिल रहे ।
त्यो हरि रुक्मणि मन मिल्यो, कहो अतर कैसे गहे ॥[3]

नेमिनाथ और राजमती के प्रसग मे 'बारहमासा' का वर्णन सुन्दर बन पड़ा है । नेमिनाथ के तोरण से वापस लौटने पर राजमती उनकी अनन्त प्रतीक्षा मे बेचैन है । चैत्र मास में वसन्त खिल गया है । वह पल-पल प्रिय का पथ निहारा करती है ।[4] विरह की पीडा मे नेत्रो से अश्रुधारा प्रवाहित हो रही है और ऊपर से वैशाख तप रहा है, वह कैसे धैर्य धारण करे ?[5] जेठ की गर्मी मे वह शारीरिक और मानसिक दोनो दृष्टियो से जल रही है ।[6] आषाढ मे

---

१ पाडव यशोरसायन, पृ० ३७३

२ ,, पृ० २२६

३ पाण्डव यशोरसायन, पृ० २३३-३४

४ चैत्र चहूदिश खिल रह्योजी, रंग भर राग वसत ।
पल-पल पेखू प्रेमसू जी, कथ तुम्हारो पथ जी ॥

५ खलक्या वाला नीर का जी, नयन विरह की पीर ।
ऊपर मास वैशाखरो स्वामी, किण विध धारु धीर ॥

६ जोग लीजो मत जेठ मे जी काई, वाजे लूओं वाय ।
दोनू तरफ सू जल रहीजो, कमधज म्हारी काय ॥

बादलों की घटा देखकर उसका मन-मयूर प्रिय की स्मृति में कूक उठता है।[1] इस प्रकार शेष महीनों में रो-रोकर राजुल पिंजर मात्र रह गई है। उसने संयम-पथ पर बढ़ कर ही अन्तत अपना कल्याण किया।[2]

कुल मिलाकर कहा जा सकता है कि इस विशालकाय[3] महाकाव्य में मुनिश्री ने शिल्पगत कई नये प्रयोग किये हैं। पूरा ग्रंथ गेय है और विभिन्न तर्जों में लिखा गया है।

मुनिश्री द्वारा लिखित खण्डकाव्य के मोटे तौर से तीन भाग किये जा सकते हैं। चरित्रात्मक, उपदेशात्मक और ऐतिहासिक।

चरित्रात्मक खण्डकाव्यों में राजसिंह चरित्र, चेलना सती चरित्र, स्थूलिभद्र चरित्र और शीलसिंह चरित्र उल्लेखनीय हैं। 'राजसिंह चरित्र' लोक-रूढ़ियों पर आश्रित काव्य है जिसमें राजसिंह के चरित्र को उभारा गया है। काव्य में स्थान-स्थान पर पुण्य-पाप के प्रभाव की विवेचना, कपट का प्रतिफल और कर्मवाद की मीमांसा की गई है। 'चेलना सती चरित्र' में सती चेलना को प्रेरणादायिनी के रूप में चित्रित किया गया है जो श्रेणिक जैसे राजा को भी उद्बोधना देकर सत्पथ की ओर अभिमुख करती है। नारी के अदम्य साहस, असीम धैर्य और विरति-विवेक की गाथा है यह चरित्र। 'स्थूलिभद्र चरित्र' जीवन के अनुराग और विराग दोनों पक्षों को कुशलता के साथ उद्घाटित करने वाला मार्मिक प्रेमाख्यान है। इस काव्य का सन्देश है—भोग से योग की ओर अभिमुख होना। स्थूलिभद्र कोश्या के रूप-रंग में आकृष्ट हुआ है और जब विरक्ति हुई है तो रूप के सरोवर में रह कर भी वह कमल की तरह योग और संयम-मार्ग पर आरूढ़ है। उसमें ईर्ष्या रहित संयम की वह ऊंचाई है जिसे छू सकना सहज नहीं।[4] 'शीलसिंह चरित्र' भी कथानक-रूढ़ियों पर आधारित काव्य है। इसमें शीलसिंह की वीरता, साहसिक कार्य और विरति की विवेचना है।

उपदेशात्मक खण्डकाव्यों में 'स्वार्थ पर दृष्टान्त' और 'ज्ञान दर्शन, चारित्रोपरि व्याख्यानम्' प्रमुख हैं। 'स्वार्थ पर दृष्टान्त' काव्य में नर-भाषा में बोले सिंह की स्वार्थ की चुनौती को नन्दनशाह स्वीकार करता है। नन्दनशाह के स्थान पर उनके परिवार माता,[5] पत्नी[6] आदि कोई भी सिंह-मुख के आगे जाने को तैयार नहीं होते। जीवन का यह

---

१ आयो मास आषाढ रो जी, घन चढियो घनघोर।
ओलूं आवे आपरी ओ तो, कूक रह्यो मन मोर।। पृ० ९४७

२ झुर-झुर पींजर हो गई जी, राजुल बारा मास।
समता धर संजम लियो, सती छोड़ दियो घर-वास।। पृ० ९४८

३ ९७४ पृष्ठों का यह ग्रंथ ५ खण्डों और ३०९ ढालों में विभक्त है जिसमें २९४५ गाथाएं, ४५६ दोहे, १३६ सवैये, १३१ कवित्त, ८५ चन्द्रायणा, ७२ सोरठे, ९३ पद्धरी, ३९ हरिगीतिका, ३५ शिखरिणी, ३२ मोतीदाम, ३२ छप्पय, १९ त्रोटक, १६ त्रिभंगी, ९ थियेटर, ९ शार्दूल, ६ कुंडलिया, ५ छंद और ४ द्रुतविलम्बित छंद हैं।

४ होठ करे मत होड बनी कब गींदड शेर सजोड लगे।
कंचन पीतल नाहिं बराबर, वायस हंस हिजार पगे।।
क्या जवन् रवि जोड जचे, नरराज अगारि सु भील नगे।
त्यों मतिहीन कहे 'मिश्रो', मननग ममाल सु खार जगे।। —संकल्पविजय पृ० १६६

५ सेठ कहे नीसाय रे, मरनी मेरी बलाय रे।।टेर।।
कुण-कुण मरिया पुत्र पिछाडी, देवेनी एक बताय रे।।
कई जिणारा बेटा मरिया, हुयगो कोण अन्याय रे।
मैं दुख पाऊं अबको मरणो, पुत्र आडो नहीं आय रे।।
जा-जा मुख से आचो जरदी, भल जन्म्या दुखदाय रे।
सेवा भगति कीव रती ना, हूं इण धन के लाय रे।। —संकल्पविजय, पृ० ८२





कठोर सत्य नन्दनशाह की आँखें खोल देता है और वह अनुभव करने लगता है कि यह संसार स्वार्थ का मेला है।[1] संयमपथ पर चलने मे ही जीवन की सार्थकता है। नन्दनशाह संयमी बन कर अपना उद्धार करता है। 'ज्ञानदर्शन-चारित्रोपरि व्याख्यानम्' प्रतीकात्मक काव्य है। इसमे चार मित्र-मंत्री-पुत्र, माली-पुत्र, द्विज-पुत्र और राजकुमार समरसिंह ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप के प्रतीक हैं।[2] चारो कलाकार है। एक अपने विद्या-बल से बीस कोस की सब बातें जान लेता है, दूसरा आकाश-मार्ग मे गमन कर अभीष्ट स्थल पर पहुँचने की क्षमता रखता है, तीसरा मरे हुए को पुनर्जीवित कर देता है और चौथा निर्भीक वीर की भाँति शत्रु को परास्त कर सर्वत्र विजयी बनता है। चारो परस्पर सहयोग और सद्भाव से मार्ग मे आने वाली कठिनाइयों को पार कर सिद्धि प्राप्त करते है।

सूफी प्रेमाख्यानक काव्यो मे खुदा तक पहुँचने के लिए बन्दे को चार दशाएँ—शरीयत, तरीकत, हकीकत और मारिफत-पार करनी पडती है। आलोच्य कृति मे ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप की वही स्थिति है। कुमार समरसिंह आदर्शप्रेमी है। वह प्रेमपात्र की प्राप्ति के लिए सूफी प्रेम-काव्यो के नायक की भाँति योगी बनकर नही निकलता। वह अपने बाहुबल एव पुरुषार्थ से मार्ग मे पडने वाली समस्त बाधाओं को दूर कर विजयी बनता है और अन्त मे संयम-मार्ग का पथिक बनकर आत्मोद्धार करता है। समरसिंह सर्वगुणसम्पन्न है। वह वीर नायक का मानक है। सेना मे हाथी, आकाश मे सूर्य, देवताओं मे इन्द्र, नक्षत्रो मे चाँद, मनुष्यों मे राजा, पशुओं मे सिंह, बादलो मे

---

६ जरडो बोलो रे, करडका मोरी।
कैसो कुपातर पड्यो पेट मे, आवत मौत चहे मोरी।
काई निहाल करी निरभागी, खाली जनम दे भई दोरी।
मरसी तो मरजासी मुझे क्या, मैं न मरु बनकर भोरी।
किन किन का जग नाम रहता है, दुनियां कथन करती कोरी।
आखो अदीठ होय जा जरडी, अगर अकल राखे थोरी ॥-पृ० ८४

७ पर-मौत मरु गतिया बिगरे, पति काल मरे भल आज मरे।
पतिहीन तिया कितरी जग मे, बन मूरख कोई जरे सग मे।
मुझको नहि चाह रती सुख की, परवा न करु पति के दु ख की ॥-पृ० ८६

१ देख लियो, देख लियो, देख लियो रे,
चिरताली प्रेम थारो पेख लियो रे ॥टेर॥
कपट कटारी कारी नागण सी भारी,
आज तो उघड गई पोल सब थारी,
जैसे ढोंगी जन साधु भेख लियो रे ॥चि०॥१॥
घूट थारा माजना मे मैं भी धोखो खायो,
मीठोडी बोली मे होली रूप लख पायो,
तू तो स्वारथ रो वाटियो सेकलियो रे ॥चि०॥२॥ पृ० ८६ ८७

२ मन्त्रि सुतवत् ज्ञान जाणो, श्रद्धा सूत्रजधार है,
चारित्र द्विज सुत समझ लीजे तप जु राजकुमार है।
ज्ञान दर्शन चरित तप चहु कर्म काटन की दवा,
जो अराधे शुद्ध भावे लहे शिव सुख की हवा ॥पृ० १०५-१०६

विजली, बारात मे दूल्हा और क्रोध मे फणीन्द्र के समान वीरो मे समरसिंह है ।[1]

ऐतिहासिक खण्डकाव्य के रूप मे 'पद्यमय पट्टावली' का उल्लेख किया जा सकता है । वस्तुत शास्त्रीय अर्थ मे यह खण्डकाव्य नही है पर मुनिश्री ने इसे ६ परिच्छेदो मे विभक्त कर महावीर से लेकर वर्तमान समय तक के विभिन्न सम्प्रदायो के पट्टधर आचार्यो का परिचय प्रस्तुत किया है । प्रथम परिच्छेद मे भगवान महावीर से लेकर २७ वें पट्टधर आचार्य देवर्द्धि क्षमाश्रमण तक का वर्णन है । द्वितीय परिच्छेद आठ निह्नवो से सम्बन्धित है । इसी मे देवर्द्धि क्षमाश्रमण के बाद होने वाले ७५ वें आचार्य जीवराजजी तक का पट्ट-परिचय दिया गया है । तृतीय परिच्छेद मे लवजी ऋषि की परम्परा के साथ खभात सम्प्रदाय तथा पजावी श्री अमरसिंहजी का पाटानुक्रम वर्णित है । चतुर्थ परिच्छेद दरियापुरी सम्प्रदाय के सस्थापक श्री धर्मसिंहजी महाराज से सम्बन्धित है । पचम परिच्छेद मे श्री जीवराजजी म०, श्री हुक्मीचदजी म०, श्री नानकरामजी म०, श्री स्वामीदासजी म०, श्री शीतलदास जी म०, श्री अमरसिंहजी म० और श्री नाथूरामजी म० का पाटानुक्रम वर्णित है । षष्ठ परिच्छेद धर्मोद्धारक श्री धर्मदासजी म० से सम्बन्धित है । इसमे धर्मदासजी म० की परम्परा के साथ श्री रघुनाथजी म०, श्री जयमल्लजी म०, श्री कुशलोजी म०, श्री चौथमलजी म०, लीवडी वडी सम्प्रदाय, लीवडी छोटी शाखा, आठ कोटि मोटी पक्ष, मेवाडी सम्प्रदाय, श्री मनोहरदासजी म०, उज्जैन सिंघाडा, श्री ज्ञानचदजी म०, तथा रतलाम सिंघाडा के पाटानुपाट का वर्णन है । विभिन्न छन्दो मे निवद्ध यह पद्य-पट्टावली कवि की भाषाधिकार क्षमता व ऐतिहासिक ज्ञान की परिचायिका है ।

मुक्तक काव्य

मुक्तक काव्य मे कोई सानुबन्ध कथा नही होती । वह किसी भाव विशेष को तीव्र आवेग के साथ व्यक्त करने के लिए लिखा जाता है । उसमे विस्तार की अपेक्षा गहराई अधिक होती है । मुनिश्री ने अनुभूत जीवन-सत्य को विभिन्न मुक्तक-मुक्ताओ मे प्रतिभासित किया है । उनके समस्त मुक्तक काव्य को अध्ययन की सुविधा के लिए ५ वर्गो मे बाँटा जा सकता है—स्तवनात्मक, उपदेशात्मक, दृष्टान्तात्मक, कलात्मक और ज्योतिष ।

स्तवनात्मक मुक्तक मुख्यत 'मधुर स्तवन वत्तीसी' मे सगृहीत है । इन मुक्तको मे सामान्यत तीर्थंकरो, विहरमानो, पच परमेष्ठी आदि का स्तवन किया गया है । तीर्थंकरो मे कवि २३ वें तीर्थंकर भगवान् पार्श्वनाथ से विशेष प्रभावित है । प्रबन्ध काव्य का समारभ करते हुए भी कवि ने कई स्थलो पर पार्श्वनाथ का मगलाचरण किया है । वह पार्श्वनाथ के 'परचा' से चमत्कृत है । उनमे वालक की भाँति मा के रूप मे अपने मनोरथ पूरे करने की आशा की है—

श्री पारस परचाधारी, तोरे चरणन से इकतारी ।
चिन्तामणि चित्त चिंतित आये, ज्यों बालक महितारी ॥
त्यों पुरुषादानी जिन पारस, हाजर हाथ विचारी ।
पूरे आसा बलिहारी ॥



---

१ फौज मे गयद नभ वीच मे दिनद जैसे,
सुर मे सुरेंद चद तारो वीच चमके ।
नरों मे नरिन्द पशु वीच मे मृगेन्द्र और,
चमरेंद असुरान विज्जु घन झमके ॥
कला मे कविन्द अरु ज्ञान मे जु वींद छाजे,
रोष मे फनिन्द दाता धनिंद ज्यों धमके ।
ऐसो गुणपूर सूर समर सु-वीर अहो !
नैनन की कीकी सम मन भायो सवके ।
—सकल्पविजय, पृ० ९८

भक्त के रूप में कवि भ० पार्श्वनाथ से उसी प्रकार का नैकट्य अनुभव करता है जैसा चकोरी चाँद से, शंकर पार्वती से, कृष्ण राधा से और राम सीता से—

मोहनगारो मन वस्यो, चित्त चरणों में, ज्यों चंद चकोरी जेम ।
ज्यों शंकर मन गौरजा, हरी राधा में, राम सिया संग प्रेम ॥

वह उन्हें एक पल के लिए भी विस्मृत नहीं करना चाहता । जिस प्रकार चकमक पत्थर अग्नि को, बादल बिजली को, मछली जल को, कमल सूर्य को, मधुकर मालती को और हंस मानसरोवर को नहीं त्यागता उसी प्रकार कवि अपने आराध्य से अलग नहीं होना चाहता—

चकमक अगनि ना तजै, घन ज्यों बिजरी, मच्छि निमल नीर ।
कमल रवि विसरे नहीं, भावे भोले, तरकस हदो तीर ॥
मधुकर को मन मालती, निस दिन घूमैं, मानसरोवर हंस ।
प्यारी पियू भूले नहीं, शशधर सर पै, ज्यों उत्तम निज वंस ॥
इण विधि प्रीति आपसे, अविचल म्हारी, चढती कला पिछान ।
तू मुझ जीवनवाल हो, अन्तर्यामी, विसरामी शिवथान ॥

अपनी लघुता और प्रभु की महत्ता के प्रतिपादन में भक्त को विशेष आनन्द आता है । वह निष्कपट रूप में निःशंक हो अवगुणों को बढ़ा-चढ़ा कर आराध्य के सम्मुख प्रकट करता है । मुनिश्री का भक्त मन गौतमस्वामी के चरणों में निवेदन करता है कि वह सांसारिक फंदों में फंसा हुआ है, तृष्णा के तम्बू में कसा हुआ है और ममता रूपी मेरुपर्वत से भी उसकी 'चित्त शिला' भारी है—

गोयम गुरुवर गुणधारी, हैं चरणन की बलिहारी ।
काम स्याम रामा को रसियो, फसियो, फंद फिरारी ॥
कसियो तम्बू तृष्णा कैसो, वसियो विषय मझारी ।
समल गुण दीना डारी ॥
दाम धाम निज नाम वधारण, ले लीनी मुझ त्यारी ।
है ममता मेरु से म्होटी, चित्त सिल्ला विस्तारी ॥
लगे अब कहाँ लो कारी ।

गोस्वामी तुलसीदास ने भी 'विनयपत्रिका' में अपने सम्बन्ध में ऐसे भाव व्यक्त किये हैं । यह भावना कवि की विनम्रता, शालीनता और निरभिमानता की परिचायक है ।

उपदेशात्मक मुक्तक मुख्यतः 'उपदेशबावनी' में संग्रहीत हैं । ये कुंडलिया छन्द में लिखे गये हैं । इनमें सांसारिक प्राणियों को नाम-स्मरण,[1] दया-धर्म-पालन,[2] गुरु-भक्ति, वाणी-संयम,[3] सम्यग्ज्ञान-साधना,[4] कर्मवाद,[5] स्वार्थ-त्याग

---

१ कहे 'मिश्री' अणगार प्यार-धर पारस जप ले । पृ० ६

२ कहे 'मिश्री' अणगार, दयामय धर्म अराधे ॥ पृ० ७

३ कहे 'मिश्री' अणगार बोलता जतना राखो ।
प्रथम हिया में तोल, बोल फिर बाहर भाखो ॥ पृ० ६

४ कहे 'मिश्री' अणगार भक्त मत बण रे भोलो ।
अन्तर आँख उघाड, दूध थोहर रो धोलो ॥
धोलो पुनरपि आक को, बडला रो पिण जाण ।
गाय भेंस बकरी तणो, उनकी करे, पिछाण ॥ पृ० ११

५ कहे 'मिश्री' अणगार, कठिन कर्मों रो कांटो ।
चुभियों सकें न चल्ल, अचानक काढ़ें आंटो ॥ पृ० २६

आदि की शिक्षा दी गई है। तत्त्वज्ञान को सरल और बोधगम्य बनाने के लिए व्यापार[1] हवाई यात्रा,[2] खेती,[3] स्नान[4] आदि व्यावहारिक लौकिक कार्यों को आध्यात्मिक रूप प्रदान किया गया है। समाज में व्याप्त ढोंग, पाखण्ड और कदाचार के प्रति आक्रोश प्रकट करते हुए नकली वैरागियों की खूब खबर ली है।[5] कवि की उद्बोधना है कि यदि आप 'मर्द मुछाले' हैं तो लोभ, मोह का उन्मूलन कर सच्चे आत्म वीर बनें।[6]

दृष्टान्तपरक मुक्तक काव्य में 'मधुर दृष्टान्त मंजूषा' उल्लेखनीय है। इसमें १७३ दृष्टान्त हैं जो 'कवित्त' छन्द में लिखे गये हैं। कहीं कहीं 'दोहा' छन्द में निष्कर्ष दिया गया है। जैन मत गूढ़ व गम्भीर तत्त्व-सिद्धान्त को इस प्रकार विवेचित करते रहे हैं कि वह बालक जैसे मंद बुद्धि वाले व्यक्ति के हृदय में भी उतर सके। इसके लिए प्राचीन

१, टोटो है बिन समझ रो, नर-तन रूप दुकान।
माल भर्यो जिन धर्म रो, तेजी भाव पिछान।।
तेजी भाव पिछान, करो शुभ करणी आले।
कहै 'मिश्री' अणगार, विणज में नफो कमाले।। पृ० १८

३. कहै 'मिश्री' अणगार, धर्म को एरोप्लेन है।
ड्राईवर गुरुराज, पावर-सा जैन वैन है।।
वैन चैन लाईट है, पुनि यतना दुर्बीन।
चढो सत्य के पीन से, है नभ श्रद्धाधीन।।
श्रद्धाधीन चैतन्य, दुखों की मिटै देन है।
कहै 'मिश्री' अणगार, धर्म को एरोप्लेन है।। पृ० १९

३ कहै 'मिश्री' अणगार खेत पुन्यों को पाको।
साधन मिलिया सर्व, आयो आनन्द को आको।। पृ० २०

४ कहै 'मिश्री' अणगार साच रो साबू लेलो।
शील सरोवर जाय, शिक्षा करणीरी झेलो।।
झेलो धोटो जाय रो, जासी सारो मैल।
आतम होसी ऊजलो, मिलै मुगत री शैल।।
शैल करेला, स्वच्छ, ज्ञान रो सुन्दर गेलो।
कहै 'मिश्री' अणगार, साच रो साबू लेलो।। पृ० ४७

५. कहै 'मिश्री' अणगार, भभूति खूब रमाई।
जटाजूट-सो मुकुट, तिलक, माला गल भाई।।
भाई जुगती जोग, हृदय में वटो धुतारो।
करे जुल्म हद तोड, मिमकरो मोडो न्यारो।।
न्यारो प्रभु से निपट मात कह करे लुगाई।
कहै 'मिश्री' अणगार, भभूति खूब रमाई।। पृ० ४१

६ कहै 'मिश्री' अणगार, अगर हो मरद मुछालो।
खग धार सौधर्म, मधर बनकर के चालो।।
चालो डालो लोभ पै, धोबा भर-भर धूल।
ओ अन्यायी आकरो, सकल पाप को मूल।।
मूल उखाडो मोह, भूल सम्मुख मत भालो।
कहै 'मिश्री' अणगार अगर हो मरद मुंछालो।।





गद्य में बालावबोध रूप में कई कथाएं प्राप्त होती हैं। सामान्य-व्यवहार में भी हम पद-पद पर दृष्टान्त देकर किसी बात की पुष्टि करते हैं। मुनिश्री ने लोक-जीवन और व्यवहार में प्रचलित विभिन्न दृष्टान्तों के माध्यम से कई जीवनोपयोगी धर्म और व्यवहार की बातें स्पष्ट की हैं।

'हीरा की हाटी' दृष्टान्त में बताया गया है कि मूर्ख व्यक्ति मूल्यवान् वस्तु की कीमत नहीं आंक सकता। कठिहार ने हीरे की हाटी और बावने चन्दन की मोली जलाकर नष्ट कर दिया—'चन्दन जगत चूल्हे जगी हाटी थाट भर।'[1] 'मूर्ख उडरा' दृष्टान्त में उस सेठपुत्र का वर्णन है जो प्रातःकाल धान की दुकान पर धान खाते हुए गधे को इसलिए नहीं भगाता कि सेठ की शिक्षा है 'प्रथम ग्राहक ठाली जान मत दीजे रे।' जब पेट भर धान खा चुकने के बाद गधा जाने लगता है तो वह उसकी पूँछ पकड़ कर उससे कीमत माँगने का आग्रह करता है।[2] 'अंधेरा घुस न जाय' दृष्टान्त में बहू की मूर्खता का वर्णन है जो घर में अंधेरे को न घुसने देने के लिए दरवाजे पर लाठी लेकर बैठती है और उसको पीटने के स्थान पर घर के सारे बर्तन फोड़ डालती है। सास जब दीप जलाती है तब कहीं अंधकार भागता है। कहना न होगा कि मुनिश्री ने विवेकशून्यता का अच्छा खाका खींचा है।

इन दृष्टान्तों के माध्यम से कवि ने जीवन-मूल्यों की प्रतिष्ठा की है। जीवन में उस व्यक्ति की प्रतिष्ठा है जो किसी बात पर मनन कर उसे पचाता है। जो एक कान से सुनकर दूसरे कान से या मुँह से कोई बात निकाल देता है उस व्यक्ति की कोई कीमत नहीं। 'मनन करना ही मानवता है' दृष्टान्त इसी मूल्य को प्रतिष्ठित करता है।[3] इसी प्रकार जीवन में ज्ञान और क्रिया का समान महत्व है। क्रिया के अभाव में केवल मात्र ज्ञान लूला या पंगु हो जायेगा और ज्ञान के अभाव में केवल क्रिया अंधी हो जायेगी। जीवन की सफलता व सार्थकता के लिए ज्ञान और क्रिया

---

१ मधुर दृष्टान्त मंजूषा, पृ० ५

२ धान की दुकान पर प्रात सेठ पुत्र भेज्यो,
प्रथम ग्राहक ठाली-जान मत दीजे रे।
पुत्र जाय धान के जु ढिग कर बैठो तबै,
खर खाय रह्यो धान मूरख पतीजे रे।।
पेट भर भूख चाल्यो, पूंछड़ो झाल्यो है तेह,
जावे कठे माल-तणा दाम धरलीजे रे।
लोग कहे छोड़, ना तो सिर फूट जासी,
'मिश्री' ऐसे मूढ, हठ ताण के तणीजे रे।। पृ० ५०

३ कलाकार त्रय मूर्ति हेम की बनाय नामी,
नृप की सभा में जाय, कीमत कराई है।
सचिव सुबुद्धि-खान, डार्यो कान बीच डोरो,
दूजे कान आयो, मूल्य फूटी कौड़ी नाई है।।
दूजी के निकर्यो मुख, तीसरी ठेठ पेट,
पाँच्यो डोरो जाई है।
सवा क्रोड़ सोनैये को मूल्य, 'मिश्री' मुनि कहे,
ऐसे जिनवाणी पर हेतु सोचो भाई रे।। पृ० ५७



का समाधान सन्तुलन आवश्यक है। इस जीवन-सत्य को दो मित्रों के परस्पर व्यवहार द्वारा उद्घाटित किया गया है।[1]

सामान्यतः कहा जाता है कि उदार व्यक्तियों के पास लक्ष्मी का अभाव रहता है और मक्खीचूस धनी होते हैं। प्रेमचन्द के शब्दों में 'सरस्वती की कृपा लक्ष्मी की अभक्ति है।' इसका व्यंग्य मिश्रित उत्तर देते हुए एक ओर मुनिश्री ने मक्खीचूस का हूबहू चित्र उतारा है[2] तो दूसरी ओर मक्खीचूस पर लक्ष्मी के प्रसन्न होने के कारणों की विवरणिका स्वयं लक्ष्मी के मुख से प्रस्तुत कराई है।[3]

कुल मिलाकर कहा जा सकता है कि इन दृष्टान्तपरक मुक्तकों के सर्जन में मुनिश्री लोक-जीवन को विविध पार्श्वों में देख सके हैं। अनुभव की व्यापकता का प्रमाण तो यही है कि इनमें चोर-साहूकार, वेश्या-सती, गुरु-शिष्य, मूर्ख-बुद्धिमान, जाट-जाटनी तथा परिवार के अन्य सम्बन्ध यथार्थ रूप में चित्रित हुए हैं।

कलात्मक मुक्तक काव्य के अन्तर्गत 'बुधविलास' प्रथम तरंग उल्लेखनीय कृति है। इसका अपर नाम 'गुरु-शिष्यसंवाद-शतक' है। इसमें गुरु द्वारा लौकिक व्यवहार सम्बन्धी प्रश्न पूछे गये हैं। शिष्य उनका बड़ा ही कलात्मक उत्तर देता है। यह उत्तर सामान्यतः एक ही शब्द में दिया गया है। श्लेष के कारण इसके दो या दो से अधिक अर्थ होने के कारण वह कई प्रश्नों का समाधान एक साथ कर देता है। यहाँ कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

---

1 कमावन दोय मित्र जावे हैं विदेश जब,
एक घोडे चढ चाल्यो, दूजे सीस ढोलियो।
पन्थ में निहार लोग ऐसो जो बयान कियो,
चढ्यो सो ठाकुर बोझवारो भृत्य तोलियो ।।
पनघट ढोल्यो ढार, मित्र एक सोय गयो,
दूजो नीचे सूतो पाय नौकर ही बोलियो।
दोनों समतुल्य धनी, चाकर को काम कह्यो,
'मिश्री' ज्ञान किया ऐसे युगपत हो लियो ।। पृ० २९

2 सूमडो सूज्योडो मूंडो, गीड से गडी है आँख,
मैलो है बदन, धेलो खावे न खवावे है।
भूत सो है भयानक निकेतन जूवा केरो,
फटे हैं वसन सारे, सेडो सरडावे है ।।
ऊंट की सी चाल, गाल बैठे बन्दर सम,
मक्खीचूस आणे-टाणे जावे न बुलावे है।
अरे मतिहीन लच्छी रसिक उसी पै होगी,
'मिसरी' भनत तोकूं दाय कैसे आवे है ।। पृ० ८

3 लिछमी कहत सूर जग में मरत कट,
ज्ञानी गुनियों के हम, दाय नहीं आवे हैं।
छैल जे छोगाला आला दिल के विलाले होत,
रसवाला बने काहा अन्य को लुटावे है ।।
बुद्धिवान दान के करैया सो तो राडी कहे,
चचल छिनाल सही ओपमा चढावे हैं।
इसीलिए सूम सेती जमी है हमारी तो जी,
'मिसरी' भनत सदा बन्दगी बजावे हैं ।। पृ० ८



(१) आडो अवलो चालणु, तवे न रोटी पाय।
थाभो दीसे ठींगणो, कहो चेला किण न्याय।।
उत्तर—'सीधो' नहीं।

गुरु का प्रश्न है—क्या कारण है कि आदमी आडा-टेढा चलता है ? तवे पर रोटी नहीं है ? थाभा नीचा दीखता है ?

शिष्य उत्तर देता है—मार्ग सीधो (सरल) नही है, तवे पर रोटी बनाने के लिए सीधो (आटो, सामान विशेष) नही है और थाभा भी सीधो (ऊँचो) नही है।

(२) ढोल्यो ढले न चौक मे, शाख सूखती जाय।
महल डिगे प्यासो मरे कहो चेला किण न्याय।।
उत्तर—'पायो' नहीं।

गुरु का प्रश्न है—क्या कारण है कि पलग चौक मे नही ढलता, फसल सूखती जा रही है, महल डिगता है और आदमी प्यासा है ?

शिष्य उत्तर देता है—पलग के पायो (पाया) नही है, फसल को पायो (पानी पिलायो) नही है, महल के पायो (सहारा) नही और प्यासे आदमी को पायो (पानी पिलाया) नही।

(३) टोटो पडियो माल मे, करणी निरफल जाय।
कविता फीको कवियणो, कहो चला किण न्याय।।
उत्तर—'भाव' नहीं।

गुरु का प्रश्न है—क्या कारण है कि माल मे घाटा पड रहा है, तपस्या निष्फल जा रही है और कवि की कविता अच्छी नही लगती ?

शिष्य उत्तर देता है—माल के लिए भाव (बाजार भाव) नही है, तपस्या मे भाव (शुद्ध भावना) नही है और कविता मे भाव (अच्छे विचार) नही हैं।

(४) पटवासू पदमण लडै, हाली भूखो जाय।
दर्जीडो धाकल करै, कहो चेला किण न्याय।।
उत्तर—'पोयो' नहीं।

गुरु का प्रश्न है—क्या कारण है कि स्त्री पटवा से लडती है, मजदूर भूखा रह जाता है और दर्जी अपने आदमी को फटकारता है।

शिष्य उत्तर देता है—स्त्री के पटवा से लडने मे पोयो (हार पिरोया) नही है, मजदूर के भूखा जाने में पोयो (रोटी बनी) नही है और दर्जी के फटकारने मे पोयो (सूई मे डोरा पोया) नही है।

(५) रगरेजा रुलता फिरै, घर नारी घुरकाय।
मैंदा ज्यौं मैंदी भई, कहो चेला किण न्याय।।
उत्तर—'रग नहीं'।

गुरु का प्रश्न है—क्या कारण है कि रगरेज के पास काम नही है, धर्मपत्नी प्रेम नही करती है, मेहदी मैंदा जैसी हो रही है।

शिष्य उत्तर देता है—रगरेज के काम नही करने मे रग (रगने का रग) नही है, स्त्री के प्रेम नही करने

मे रग (आनन्द) नहीं है, मेंहदी मैदा जैसी होने मे रग (मेंहदी का रग) नहीं है।

इन उपर्युक्त उदाहरणों से स्पष्ट है कि कवि ने व्यापक अनुभव, अपार बुद्धि-कौशल और शब्द शास्त्र की सूक्ष्म पकड़ से इन कलात्मक मुक्तकों की रचना की है। इन्हे लोक अनुभवों का कोष कहा जा सकता है।

अन्य मुक्तकों मे ज्योतिष, पाचवा आरा तथा जैनधर्म के सामान्य सिद्धान्तों पर लिखे गये मुक्तक गिनाये जा सकते है।

लोकतत्त्व

मरुधरकेसरी की काव्य-साधना का विशिष्ट गुण उनकी लोकतात्त्विकता है। यह लोकतत्व वस्तु और शिल्प दोनो मे समान रूप से अनुस्यूत है। मुनिश्री के कथानक लोकप्रवृत्तियो से प्रभावित है। उदाहरण के लिए गजसिंह चरित मे मुख्यत निम्नलिखित कथानकप्रवृत्तियों को देखा जा सकता है—

१ राजा के ७ रानियाँ होने पर भी उनका नि सन्तान होना।
२ बाझ का मुह न देखना।
३ बांझ के चावल खाने से पेट दुखना व मर जाना।
४ सन्तति के अभाव से दुखी होकर राजा का जगल मे जाना।
५ रात्रि का सपना आना।
६ जगल मे किसी पद्मिनी स्त्री का चरखा कातते हुए देखना।
७ पद्मिनी स्त्री का राक्षस के चगुल मे फसा होना।
८ राक्षस से बचने के लिए राजा का वापी मे गिरना।
९ पाताल मे पहुँचने पर राजा को सुर-वनिताओं का मिलना।
१० उनके द्वारा राजा को चार विशिष्ट गुटिकाएँ देना।
११ गुटिकाओं के प्रभाव से राजा का राक्षस को पराजित कर, अन्य वन्दी जनो को बन्धनमुक्त करना।
१२ बारह बेला, तेरह तेला, पाच अट्ठाया, पाच पाँचा व ग्यारह उपवास की तपस्या करने से मनोकामना पूर्ण होना।
१३ रानियों का अभिमन्त्रित आम देने से उनका पुत्रवती होना।
१४ ईर्ष्यावश पटरानी को आम न देना व शेष रानियो द्वारा परस्पर बाँट कर उसका सेवन करना।
१५ पटरानी का फेंकी हुई गुठली आदि को पीस कर खा जाना
१६ ईर्ष्यालु रानियों की सन्तानों का विकलाग और अपाहिज होना।
१७ पटरानी के (गजसिंह कुमार जैसे) रूपवान पुत्र का जन्म होना।
१८ ऐसे रूपवान पुत्र को कारणवशात् देश निकाला देना।
१९ देशनिकाल की बारहवर्षीय स्थिति मे कुमार का चार स्त्रियो से विवाह होना।
२० कुमार के प्रभाव मे सूखे बाग का हरा-भरा हो उठना, तोते का विद्याधर हो जाना, अधे को आँख मिल जाना आदि।
२१ तपस्वी की प्रभावनाशक्ति से सेना का आगे न बढना।
२२ पिता पुत्र का अन्त मे सुखद मिलन होना।
२३ श्रमण-दीक्षा अगीकृत कर आत्म-कल्याण करना।

'सकलविजय' मे सगृहीत दो कथा-काव्य भी कथानक-प्रवृत्तियो के आधार पर ही निर्मित प्रतीत होते है। 'स्वार्थ पर दृष्टान्त' आख्यान मे निम्नलिखित कथानक प्रवृत्तियाँ ढूँढी जा सकती है—

१ पूर्वभव-सखा-देव का सिंह बनकर, जगल मे रास्ता रोक, मित्र को उद्बोधन देना।
२ मित्र द्वारा परीक्षा लेने पर पिता, माता, पत्नी द्वारा सिंह-मुख मे न जाने की घोषणा करना।





३ दुनिया मे सभी को स्वार्थरत देखकर नायक का सयम ग्रहण करना ।

४ कठोर साधनामय जीवन जीते हुए अन्तत देवगति प्राप्त करना ।

ज्ञान, दर्शन, चारित्रोपरि व्याख्यान की कथानकप्ररूढियाँ भी इस प्रकार गिनायी जा सकती है—

१ मन्त्री-पुत्र, विप्र-पुत्र, खाती-पुत्र और राज-पुत्र की परस्पर मित्रता होना ।

२ कारणवश चारो का परदेश-गमन करना ।

३ चारो का किसी न किसी विद्या मे पारगत होना । मन्त्री-सुत का अपने ज्ञान-बल मे सब कुछ जानना, विप्र-पुत्र का मृत को जीवित करना, खाती-पुत्र का आकाश मे सचरण करने वाला यत्र बनाना तथा राजकुमार का सबको पराम्त कर सदैव विजयी होना ।

४. मार्ग मे भयकर राक्षस का मिलना ।

५ मित्रो का परस्पर भटक जाना ।

६ राक्षस का नित प्रति किसी न किसी मनुष्य का भक्षण करना ।

७ अपनी बारी आई जानकर किसी कन्या का चिन्तित होना ।

८ ऐसे अवसर पर किसी राजकुमार द्वारा राक्षस का बध होना ।

९ कन्या और राजकुमार का परस्पर विवाह होना ।

१० कन्या का अत्यन्त सुन्दर राजकुमारी या अप्सरा होना ।

११ नाई द्वारा राजकुमारी के बालो को लेकर प्रतिनायक को देना व उसके सौन्दर्य का वर्णन कर विप-मिश्रित आहार खिलाकर, नायक को मारकर, उसकी प्राप्ति का उपाय बताना ।

१२ बालो को देखकर प्रतिनायक का मूर्च्छित होकर गिर पडना ।

१३ धोखे से नायक को मारकर प्रतिनायक द्वारा नायिका को ले जाना ।

१४ मित्रो की सहायता मे नायक का पुनर्जीवित होना ।

१५ प्रतिनायक को परास्त कर नायिका को छुडाना ।

१६ प्रतिनायक की कन्याओं से मित्रो का विवाह करना ।

१७ नाई जैसे दुष्ट पात्रो को उनके किये का दण्ड देना ।

१८ सयम ग्रहण कर चारो मित्रो का आत्मकल्याण करना ।

उपर्युक्त कथानक-प्ररूढियो के अध्ययन से यह पता चलता है कि कवि की दृष्टि वस्तुचयन मे लोकतत्त्व पर रही है। शिल्पविधान मे भी मुनिश्री लोकतत्त्व से अनुप्रेरित होते रहे है। अलकारो का प्रयोग करते समय उनकी दृष्टि शास्त्रीय उपमानो को ढूँढने मे नहीं लगी रही। उनके प्रभावशाली जितने भी उपादान है वे लौकिक है। यथा—

१— कहे मिश्री अणगार, मूढ रा मता हजारों ।
डरे न करता पाप, बन्यों ज्यू ऊँट-नगारो ॥—(उपदेश बावनी, पृ० २७)

२— कहे 'मिश्री' अणगार, खुशामद मीठी गोली ।—(उपदेश बावनी, पृ २८)

३— कहे 'मिश्री' अणगार, मिलयो स्वारथ रो मेलो ।
अपणायतवश होय, कियो घन अघ कर भेलो ॥
मेलो हुयगो एम, शहद लिपटी जिम माखी ।
पूर्व पुण्य सब खोय, रखो बदनामी बाकी ॥—(उप० बावनी, पृ० ३७)

४— कहे 'मिश्री' अणगार, धान मे पडगी ईली ।
खा—कर कियो खराब, रह्या फोफलिया पीली —उप० बावनी, पृ० ५२

५— कहे 'मिश्री' अणगार, झूठ का दौड़े टट्टू।
फिरतों लगे न वार, जोर का जैसे लट्टू॥—(उप० बावनी, पृ० ५४)

६— भोला ने भोळप करो, भूल लगाणी नाय।
नेनी केरा बेल ज्यों, चौरासी रे माय॥—(उप० बावनी, पृ० ५७)

७— कमियो तम्बू तृष्णा केरो – वनियो विषय मजारो—(मधुर स्त० बत्तीसी, पृ० ३)

८— हूं ममता मेरु से म्होटी चित्त लिल्ला विस्तारी —(म० स्त० बत्तीसी, पृ० ३)

९— गज-गति गैल स्यारेल सी बत्तीस नार —(मधुर दृष्टान्त मंजूषा, पृ० २)

१०— गजगमनी गोरी घटी, देखे टावर नैन —(पांडव यशोरसायन, पृ० ६४२)

११— मुखड़ो घणो उदास पड़त जम दूत ज्यों रैंटों रे (नकल्पविजय, पृ० ६३)

१२— नैनन की कोरी सम मन मारो मवके (सकल्पविजय, पृ० ९८)

१३— खटमल तजे न खाट को, तजत न कूप कपोत।
स्याग गोह पुनि गोह नर, प्राणहारि जिय मौत॥
तैसे वेश्या विषय-सुख, स्थूलिभद्र लव लीन (नकल्पविजय, पृ० १५३)

लोकोक्तियों और मुहावरों के प्रयोग में भी कवि की दृष्टि लोक-जीवन पर रही है। उनके मुहावरे शास्त्रीय न होकर सहज हैं और हृदय पर सीधी चोट करते हैं। यथा—

१ डरने का क्या काम, मार दूं यम के चेंटो रे (मकल्पविजय, पृ० ६३
२ भैंसा गोल मचाई रे भोला, भैंसा रोल मचाई (म० स्तवन बत्तीसी, पृ० २०)
३ पापी पेट कुवाई रे भाई, पापी पेट कुवाई (म० स्त० बत्तीसी, पृ० २१)
४ इण पर भी नहिं हो करे हो पचों ! ले घोडा मैदान। (पांडव यशोरसायन पृ० ८)
५ मात कहे लड़ना मत लालू, राड को मुंडो मैं बालूं (पांडव यशोरसायन, पृ० २५)

शब्द-चयन में भी कवि पर्याप्त सजग रहा है। भाषावैज्ञानिक अध्ययन की दृष्टि से कवि का कृतित्व अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। 'नाण' 'रागी' 'पोयो' 'मार्गी' 'दाणो', जैसे अनेक शब्दों को कवि ने नई अर्थवत्ता दी है।

काव्यादर्श

कवि के जो जीवनादर्श हैं वे ही काव्यादर्श हैं। जीवन में वह कर्मवाद, पुरुषार्थ, पराक्रम, स्वार्थ-त्याग, संयम, निष्कपटता, ईमानदारी आदि चारित्रिक गुणों की अवतारणा करना चाहता है इन्हीं गुणों की अवधारणा के लिए यह काव्य-सृष्टि है। जीवन सुखी और समृद्ध हो। उसमें अभयकुमार-सी बुद्धि, शालिभद्र-सी ऋद्धि, शाह कैवन्ना-सा सुख-सौभाग्य, गौतमस्वामी-सी लब्धि, भरत चक्रवर्ती-सी ऋद्धि और बाहुबली-सा बल उतरे, यही कवि के आदर्श-जीवन के मूल्य हैं।[1] इन्हीं मूल्यों की प्रतिष्ठा में कवि-कर्म की सार्थकता है।

यद्यपि कवि ने कोई काव्यशास्त्रीय ग्रंथ नहीं लिखा है तथापि यथाप्रसंग काव्य-सर्जन के उद्देश्यों, उसकी भाव-क्षमता एवं शब्द-शक्ति पर विचार प्रकट किये हैं। कवि का उद्देश्य न धनोपार्जन है, न यश-अर्जन। वह जीवन में व्याप्त असद्वृत्तियों और विकारों को दूर कर सच्चे अर्थों में आत्मानन्दी बनना चाहता है।[2] जीवन में विवेक जागृत



---

१ मधुर दृष्टान्तमंजूषा, पृ० २-५
२ दुरित दलन सुरत भरन, काटन कर्म कलेश।
आत्मानंदी होन हित, मिश्री दे उपदेश॥—उपदेश बावनी, पृ० ५



कर चित्त की चतुरता का उल्लास बढाना चाहता है ।[1] इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए वह कविता को आन्तरिक शक्ति देकर प्रभावकारी बनाना चाहता है और कला का पुट देकर आकर्षक भी । इसीलिए मंगलाचरण करते समय कवि ने जो कामना प्रकट की है या शब्द-शक्ति का जो वरदान मांगा है उसमे शब्दो की कोमलता[2] और सुन्दरता के साथ-साथ उनकी प्रभावक शक्ति की भी याचना की है ।[3] कविता का प्रभाव ऐसा हो कि पाठक या श्रोता उसे पढकर या सुनकर उमगित हो उठे,[4] उसका रोम-रोम नाच उठे, वह सीधी हृदय मे पैठ जाय ।[5] अन्तरंग और बहिरंग दोनो सुन्दर और शक्तिसम्पन्न हों, यही कवि को इष्ट है । इसीलिए उसने अपनी कविता को मोतियों की लड़ी कहा है जो प्यार के साथ हृदय पर धारण की जा सके[6] और 'वान्दरवाल'[7] की तरह सबको प्रमोद दे सके, रसमय बना सके ।



---

१ गुरु-शिष्य-संवाद-शुभ, विरच्यो मन री मौज ।
'मिश्री' मुनि कहै मनुज के, चतुरपणा री चोज ।। —बुधविलास, १ पृ० ४३

२ (क) गौतम-पद-अरविन्द अलि यो मन मोद अतीव ।
वसत चहत वरदान रस, कोमल वच कमनीय ।। —पाडव यशोरसायन, पृ० २०६

(ख) नाथ आपजो निपट ही, ललित वयण को लू वे । —पाडव यशोरसायन, पृ० ६६

३ सुमता सदन भर, कुमता निकार कर,
दीनन-दयार सार, शब्दकोष सूप दो । —मधुर दृष्टान्त मंजूषा पृ० २

४ सुणतों परिषद ऊमगे, जस कवि पावे ध्रू व ।—पाडवयशोरसायन, पृ ६६

५ रची बावनी रंगधर जची सुजन हिय जास ।
नची कली-कलि सुन निपट, पची सु मनसादास ।—उपदेशबावनी, पृ ५६

६. पट्टावली मुक्ता-लरी, पहनो हिय धरि प्यार ।—पद्यमय पट्टावली, पृ० ७२

७. आ कविता री वान्दरमाल । 'संकल्पविजय' का समर्पण ।

मरुधरकेसरी के चातुर्मास: स्थलों की सूची

मुनिश्री रूपचंद जी 'रजत'



क्रम संख्या	संवत्	स्थान	क्रम संख्या	संवत्	स्थान
१	१९६९ (वैराग्य काल में)	जैतारण	२९	१९९७	बीलाड़ा
२	१९७०	[illegible]	३०	१९९८	बूसी
३	१९७१	मार्गी	३१	१९९९	बुसी-नगारन
४	१९७२	कुचामन	३२	२०००	सिंधियारी
५	१९७३	जैतारण	३३	२००१	जैतारन
६	१९७४	सोजत शहर	३४	२००२	जोधपुर
७[1]	१९७५	देवली आउवा	३५	२००३	सोजत शहर
८	१९७६	जैतारण	३६	२००४	सादड़ी (मारवाड़)
९	१९७७	जोधपुर	३७	२००५	बगड़ी-सज्जनपुर
१०	१९७८	सोजत शहर	३८	२००६	धुरडाणा
११	१९७९	जैतारण	३९	२००७	जैतारन
१२	१९८०	जोधपुर	४०	२००८	मादलिया
१३	१९८१	सहवाज	४१	२००९	सादड़ी
१४	१९८२	जैतारण	४२	२०१०	बीलाड़ा
१५	१९८३	जोधपुर	४३	२०११	सीवाणा
१६	१९८४	सोजत रोड	४४	२०१२	सहवाज
१७	१९८५	जैतारण	४५	२०१३	कुशालपुरा
१८	१९८६	सोजत शहर	४६	२०१४	सोजतशहर
१९	१९८७	बगुदा	४७	२०१५	ब्यावर
२०	१९८८	बालू आणदपुर	४८	२०१६	सादड़ी (मारवाड़)
२१	१९८९	सहवाज	४९	२०१७	मवासपुरा
२२	१९९०	बालू आणदपुर	५०	२०१८	सोजत शहर
२३	१९९१	जोधपुर	५१	२०१९	जोधपुर
२४	१९९२	सोजत शहर	५२	२०२०	नाडेगाव
२५	१९९३	टॉटोटी	५३	२०२१	कोटड़ा
२६	१९९४	जोधपुर	५४	२०२२	चावण्डिया
२७	१९९५	सोजत शहर	५५	२०२३	निवाज
२८	१९९६	केसरसिंहजी का गुड़ा	५६	२०२४	गोठन

१ प्रारम्भ के सात चातुर्मास दीक्षा की अनुमति न मिलने के कारण वैराग्य भाव में गुरुदेव के साथ रहकर किये।



मरुधरकेसरीजी म० की आज्ञा में विचरण करने वाले सन्तो और सतियो की शुभ नामावली

(क) सन्त

(१) प० मुनिश्री रूपचदजी महाराज
(२) श्री सुकन मुनिजी ,,
(३) श्री महेन्द्र मुनिजी ,,

(ख) सतियाँ

(१) श्री पानकुँवरजी
(२) श्री हुलासाजी
(३) श्री तखताजी
(४) श्री गुणवन्तीजी
(५) श्री भीलमाजी
(६) श्री झणकार कुँवरजी
(७) श्री पवनकुँवरजी ।

(१) श्री लक्ष्मी कुँवरजी
(२) श्री सज्जनकुँवरजी
(३) श्री मगनकुँवरजी
(४) श्री दाखाजी
(५) श्री सायर कुँवरजी ।

(१) श्री तेजकुँवरजी (२) श्री मनोहर कु वरजी (३) श्री धन कु वरजी ।
(१) श्री पवनकु वरजी (२) श्री वादाम कु वरजी (३) श्री कसु वाजी ।
(१) श्री प्रेम कु वरजी (२) श्री श्रीकु वरजी (३) श्री मोहनकु वरजी ।
(१) श्री रतनकुँवरजी (२) श्री छोगाजी (३) श्री जतन कु वरजी ।

श्री मणिकु वरजी म० ठाणा २ से पालनपुर मे विराजमान हैं ।

संस्मरण, श्रद्धानिवेदन, अभिनन्दन



कार्यकुशल कर्मठ सन्त

जैनधर्मदिवाकर आचार्यसम्राट्
श्री आनन्दऋषिजी महाराज

स्नेहसम्राट मरुधरकेसरी श्रीमिश्रीमलजी म० हमारे श्रमणसंघ के एक प्रतिष्ठित सन्त हैं। श्रमणसंघीय संगठन के संवर्द्धन तथा परिवर्द्धन में आपने स्तुत्य प्रयत्न किए हैं। बृहत् अजमेर साधु-सम्मेलन में सन्तों को लाने में आपका जो सहयोग रहा है, उसे कभी विस्मृत नहीं किया जा सकता। स्थानकवासी समाज के बिखरे मोतियों को एक माला में पिरोने के लिए सादड़ी-सम्मेलन में श्रमण-संघ को जो सेवाएं अर्पित कीं तथा अन्य उपसम्मेलनों में संघ को उन्नत करने में आपने सच्ची निष्ठा के साथ जो सहयोग दिया, वह श्रमणसंघ के इतिहास में सदा स्मरणीय एवं उल्लेखनीय रहेगा।

आपके जीवनपृष्ठों का मैंने निकट से अध्ययन किया है, उसके आधार पर मैं कह सकता हूं कि आप श्रमणसंघ के उत्साही संगठनप्रिय और एक कर्मठ सन्त हैं। मुझे अपने श्रमणसंघ में आप जैसे कार्य-कुशल समाज-सेवी मुनिराज को देखकर बड़ा सन्तोष होता है।

मरुधरकेसरीजी एक अच्छे व्याख्याता होने के साथ-साथ आशुकवि भी हैं। आपके अनेक काव्यग्रंथ प्रकाशित हो चुके हैं। जनता ने उनको आदर से देखा है। पद्य के अलावा आपने गद्यग्रंथ भी लिखे हैं। स्थानकवासी समाज के इतिहास की आपको अच्छी जानकारी है।

धर्मप्रचार के क्षेत्र में भी आपका योगदान प्रशंसनीय रहा है क्षेत्रों की सार सम्भाल करना, धर्मविमुख जनता में जहां उदासीनता छाई हो, वहां पहुंचकर धर्म का प्रचार करते हुए धार्मिक वातावरण तैयार करना, ये सब आपकी ऐसी विशेषताएं हैं, जो सभी श्रमणसंघीय साधु-मुनिराजों के लिए अनुकरणीय हैं।

अपने अनुभव के आधार पर मैं निःसंकोच कह सकता हूं कि आपकी श्रमणसंघ को संगठित देखने की सदा भावना रही है और उसके संवर्द्धनार्थ पूर्णतया सहयोग देने का भाव दिखलाया है।

अभिनन्दनग्रंथ समर्पित करके समाज आपकी सेवाओं के प्रति आदरभाव अभिव्यक्त कर रहा है, यह सन्तोष की बात है।

मेरी हार्दिक भावना है कि आप सम्यग्दर्शन-ज्ञान और चारित्र की आराधना करते हुए श्रमणसंघीय ऐक्य के संवर्द्धन में अधिकाधिक सहयोग देते रहेंगे, जिससे श्रमणसंघ जन-जन तक भगवान् महावीर के सिद्धान्तों का प्रचार करने में सफल बन सकेगा। शुभम्।

●

श्रीमरुधरकेसरी : मेरी दृष्टि में

उपाध्याय श्री अमर मुनि

शरीर से दुबले-पतले, लघुकाय किन्तु दृढ़ संकल्प और अद्भुत कार्यक्षमता से युक्त श्री मरुधरकेसरी का व्यक्तित्व बड़ा ही दिलचस्प और विलक्षण है।



श्रमण-सघ के सगठन-प्रसगो पर कितने ही प्रसग ऐसे आये जब मैंने उनमे एक निर्भीक कर्तृत्व और स्पष्ट वक्तृत्व को आन्दोलित होते देखा। उनकी विलक्षण सगठनशक्ति और स्फूर्तिमान साहस देखकर कई बार मैं आश्चर्य मे डूब कर रह गया।

वे दिन स्मृतियो मे ओझल नही हुए है जब सादडी जैसे छोटे से क्षेत्र मे अखिल भारतीय श्रमणसघ का पहला अधिवेशन बुलाया गया। सैकडो साधु-साध्वियो और हजारो श्रावक-श्राविकाओ के स्वागत-सत्कार और आवास आदि की सुचारु व्यवस्था मे स्थानीय श्रावकसघ ने जिस मनोबल और कार्यदक्षता का परिचय दिया उसके पीछे प्रेरक और मार्गदर्शक व्यक्तित्व कौन था? मैने जब उसकी पृष्ठभूमि मे मरुधरकेसरी के समर्थ व्यक्तित्व को खडा देखा तो सहज ही उनकी सुदक्ष कर्मठता एव तेजस्विता का एक चित्र मेरे मन पर अकित हो गया।

यह सत्य है कि व्यक्तित्व सघर्षों मे नही, निर्माण से निखरता है। उसकी तेजस्विता की सार्थकता विध्वस से नही, पुनर्निर्माण मे नापी जाती है। मरुधरकेसरी का व्यक्तित्व समाज मे विधायक व्यक्तित्व रहा है। जैन समाज मे शिक्षणप्रसार के लिए उनके प्रयत्न बडे तीव्र रहे है। सादडी का लोकाशाह जैन गुरुकुल तथा अन्य अनेक शिक्षण-सस्थाए उनकी शिक्षा-सम्बन्धी अभिरुचि एव क्रियाशीलता का उज्ज्वल प्रमाण है। इन शिक्षण सस्थाओं की फुलवारी मे जब मैंने सैकडो फूलों को धार्मिक संस्कारो की सुगन्ध लिए महकते देखा, तो हृदय एक अनिर्वचनीय उल्लास से पुलक उठा था।

वे अपनी परम्परा एव समाज के प्रति-निष्ठावान है। लोकाशाह तथा स्थानकवासी समाज के प्रति उनकी निष्ठा बडी प्रखर है। जब जब समाज पर विरोधी-प्रहार और आक्षेप हुए है, उन्होने बडी दृढता के साथ उनका उत्तर दिया है।

उनका एक कार्यक्रम मुझे बहुत ही पसन्द आया। वर्ष मे एक बार वे मरुधर प्रदेश के प्राय छोटे-छोटे गावो मे भी पहुच कर वहा की जनता मे जागृति की नई लहर पैदा कर आते हैं। जन-श्रद्धा का पौधा यथासमय सिंचन पाकर हरा-भरा और मुस्कराता रहता है। हमारा वर्तमान श्रमण वर्ग, जो बडे नगरो की ओर आकृष्ट हो रहा है, मरुधर-केसरी के इस आदर्श को अपनाये, तो उन्हे शहरो से अधिक श्रद्धा गावो मे मिल सकेगी। नगरो का श्रावकवर्ग आज पहाडो की वह तलहटी बन गया है जहा पानी बरसता बहुत है, पर सब ऊपर का ऊपर बह कर चला जाता है। गावो मे अब भी उपदेशो के पानी को अपने भीतर ही जज्ब करने वाली मनो-भूमि मिलती है।

अभी-अभी सवत्सरी के विवाद पर कुछ विचित्र मन स्थितियाँ सामने आई है। सघर्ष के इन नाजुक क्षणो मे 'मरुधरकेसरी' ने जिस सत्साहस का परिचय देकर सगठन की सुदृढता के लिए जो कदम उठाया है वह सराहनीय तथा ऐतिहासिक घटना है। उनके इस साहस का मूल्याकन मैंने उनके पारिपार्श्विक वातावरण के सदर्भ मे आका है-जब उन्ही की अपनी परम्परा के कुछ मुनिराज श्रावण मे सवत्सरी का आग्रह ले बैठे हैं, तब भी उन्होने आचार्यश्री के अनुशासन को लक्ष्य मे रख कर भाद्रपद मे सवत्सरी करने की स्पष्ट घोषणा कर दी।

युगो के सघर्ष और बलिदानो के बाद जिस सगठन का सूत्रपात हुआ वह अपने आप मे एक ऐतिहासिक घटना थी। हमारे मुनिराज अपनी मान्यताओ एव प्रतिष्ठाओं के प्रश्न को अलग रखकर जब मरुधरकेसरी की विचार-धारा मे सोचेंगे तो उन्हे सगठन की सुदृढता का नया सूत्र मिलेगा और वे इस ऐतिहासिक घटना के महत्व एव प्रभाव को क्षीण एव विखण्डित होने से बचा सकेंगे।

मुझे लगता है कि कभी-कभी मरुधरकेसरी और मैं विचारो के दो भिन्न-भिन्न किनारो पर चलते रहते हैं। पूर्व-पश्चिम का सा एक अन्तर प्रतीत होता है, पर आश्चर्य नही हो कि पूर्व-पश्चिम कभी-कभी एक दूसरे से आमने-सामने आकर मिल भी जाते है। मतभेद एक अलग चीज है, मनोभेद जैसी चीज हमारे बीच नही है, इसका हमे गौरव है।

विचार-भेद या वैषम्य और विरोध का आधार बनाकर लडना एक बौद्धिक क्षुद्रता है। मन का छोटापन है। मरुधरकेसरी के जीवन की साधिक विराटता का विचार करता हू तो लगता है कि क्यो न हमारा साधु एव श्रावक समाज उनके इस महान आदर्श से प्रेरणा ग्रहण करे और जैनपथ की श्री-समृद्धि के लिए कृतनिश्चय बनकर आगे बढे।

मरुधरकेसरी के अभिनन्दनप्रसग पर उनकी प्रेरक एव उल्लेखनीय सेवाओ तथा सद्गुणो का सादर स्मरण हो रहा है। उनका अभिनन्दन उनकी सेवाओ का अभिनन्दन है। यह 'गुणिषु प्रमोद' की प्रमोदभावना का प्रतीक है। श्रमण-सघ के सगठन तथा सवर्धन के लिये इस प्रकार के सत्प्रयत्नो की अत्यन्त उपयोगिता एव आवश्यकता है।

०

स्वामी श्रीमिश्रीमलजी म० ज्यू मू जाण पायो

प्रवतक श्री अम्बालालजी म०

कणी रा जीवन री व्याख्या करणी ने वणी पे आपाणा सही सही विचार बतावणा, म्हू खाडा री धार पे चालवा सू भी ज्यादा कठण मानू। अणी ज वास्ते म्हू कणीराइ जीवन पे केवा सूं मोको लागे जठा तक बचतो रहू। साची आखणो तो के हूदू—भाई, जो हूं सो थाणाउ छान नी है, ज्यादा कई कू।

कस्यो लवारपणो भी मनेनी सुवावे के मूडा आगे तो प्रशसारी लाम्बी चोडी टीगा हाकणी ने मन मे समझतो रेणो के ये तो बगाना री वाता है। यो सभाव वेवा सूइ म्हू कणीराई जीवन मे गेरो उतरवारी कोशिस नी करू, तो भी थोडाक जस्या लोगा रो सम्पर्क या जीवन मे बणीज ग्यो जणाने मे जाणवा री कोशिस नी कीदी तो भी वे आपो आप जगाइ ग्या। वणा थोडा व्यक्तिया मे एक नाम स्वामीजी श्रीमिश्रीमलजी म० रो भी है। अणारे साथ म्हारो सम्बन्ध बहुत पुराणो है। सघ वण्या रे पेली ने पछे आज दिन ताई घणी वार भेला रया ने वात्ता-चीता कीदी पण मैं अणारी वाता ने अणारा जीवन री कसौटा पे परखवा रो विचार कदेइ नी कीदो। पण मन अचरज यो वे के जो ये केता रया वीने कस्योइ अणीतरे सू करता भी ग्या। आरे आप मोका भी अस्या आवता गया के अणारी परीक्षा होती री। म्हू कदेइ छेटी सूं ने कदेइ नजदीक सू सेजे ही देखतो रयो ये सब दाण खरा उतरता ग्या।

सुरदा मे आया के सघ बणवाउ पेली भी आने घणाई सघर्ष करणा पड्या पण हार्या नी, सप्रदाय रो झडो ऊचो राख्यो।

सघ बणवा रे बाद जो जो वाता पैदा वी वा रो समाधान करवा मे, ने सघ री वाहवाही राखवा मे जो अणा हाथ बटायो वी सू कुण अणजाण है।

यू हरेक मनख मे थोडी-घणी कमी लादे ही है, थाडा आपणा आग्रह भी व्या करे, जणारी सोत वो नी देख सके, पण स्वामीजी रा स्वभाव मे एक बात देखी, अवसर व्हे ता-ताण लेणी ने मोको नी देख्यो तो छोड भी देणी। पण आपणा आग्रह रे पाछे समाज रो व्यापक अहित नी व्हे अणी बात रो ध्यान बराबर रहे।

अणी रो मतलब यो नी है के ये 'गगा ग्या गगादास ने जमना ग्या जमनादास' ज्यू अवसरवादी है पण अवसर रा जाण जरूर है। अवसर रो जाण नी वेणो ता मुर्खताई है।

कोई कोई, अणाने कडक मिजाज पण के, या बात अणारी बोली रा स्वभाव री है। आपाणे केणावत है 'खरी केवा वालो खोटो लागे' या बिलकुल साच है क्यू के स्वामीजी खरी-खरी बात बना लाग-लपेट साफ सुणाय दे, जीसू लोग समझे ये आटाकटक है पण असल मे बात दूसरी है। कडवी दवाई बना मादगी नी जावे ज्यूं खरी क्या विना काम भी तो नी व्हे।





मनरा साफ ने बोली रा कडवा मनख खतरनाक नी व्हा करे। खतरनाक तो वे व्हे है, जो जेंर रा तो घडा है ने अमरत रा ढाकणा है। मन में तो भाटा राखे ने ऊपर सू गोरिया ज्यू मीठा बोले। देख ने देखा तो आणा री बोली रा तेज सू समाज मे फायदाइज व्हा।

बोली रा कडक वेता थका भी स्वामीजी मने स्वभाव सू वडा नरम ने सहिष्णु लाग्या। सघ री समस्याओं रे विषे म्हाणें आपस मे नगी दाण बातचीत ने पूछताछ करवा री मोको आयो, कणी कणी वात मे म्हाणें बिचे जबर्दस्त विचार भेद भो र्‌यो, अबे भी व्हे सके, पण म्हू जाणूहू के वो मतभेद, मतभेद इज र्‌यो ने रेगा, मनभेद नी व्यो, नी वेगा।

अणा री या सहनशीलता री ने खमवारी आदत मने अणारा पूरा जीवन मे व्यापक लागी, अणीज गुणसू बीलाडा के बारणे दुष्टा रा हाथ सू मार भी खमलीदी पण चू तक नी वयो।

अबाणू व्या फागण री वात है। म्हू विचरतो थको जेतारण आयो। वठे सुणी, स्वामीजी कुशालपुरा मे एकाएक पड ग्या ने जोर की लागी। म्हारो थोडा दिन जेतारण मे रेवा रो मन हो पण स्वामीजी रे लागवारी सुणी तो वणी टेम व्यार कर दीदो। कुशालपुरे पौंच ने अणा ने देख्या लागी तो गेरी ही पण मने कई चिन्ता नी वी, क्यू के, स्वामीजी को धीरज भी गेरो हो। मैं सोच्यो धीरज देखता झट ही सब ठीक व्हे जावेला। व्यो भी यू इज, थोडा ही दना मे म्हाणो व्यार होग्यो। म्हा साजत ताईं साथ आया भेलो ही होली चोमासो कीदो। वडो आनन्द र्‌यो। साथ रॅता थका कदी भी भेद नी दिख्यो। म्हू उमर ने दिक्षा दोई तरे सू स्वामीजी सू कम हू पण स्वामीजी हमेशा वरावरी री समझने ही उचित ने सम्मान पूर्ण वेवार राखे, या अणारा मन रा मोटापा री वात है। ई मे मने दीखावट नी लागी।

मने मारवाड मे विचरता थका जाण वी के अस्या एकान्त ने छोटा-छोटा गाम जठे अवसर सत-सत्यारा दर्शन दुर्लभ व्हे, स्वामीजी पहोंच-पहोच ने वाने सम्भाले, जीसू वे धर्मध्यान री दृष्टि सू आज भी हर्या-भर्या है। अस्या बुढ़ापा मे अतरो व्यार करणो, अपणास राखने कष्ट उठाता थका हर गाम मे पहोचणो, यो शासनसेवा री साची हूम धना नी व्हा करे।

म्हू तो मानु हू के मारवाड में स्वामीजी एक जगमगाती जोत है, जो सब तरफ घूम-घूम ने सब ने उजालो देती रे। म्हारी तो तहे दिल सू या ही भावना है के ज्योतस्वरूप स्वामीजी आपणा प्रखर तेज सू जुगजुग तक सघ ने और समाज ने जगमगाता रहे ने सघ, समाज अणारा प्रकाश मे आगे सू आगे बढता रहे।

सबरो सार सोरठा मे—

> मरुधर री या ज्योत, जगमगती रेवे सदा।
> सघ करे उद्योत, ऊजालो नित पाय ने॥

०

मरुधरा के महान् सन्त ! शतश अभिवन्दन

श्री मधुकर मुनि

परम श्रद्धेय पूज्य मुनिराज मरुधरकेसरीजी श्रीमिश्रीमलजी महाराज मरुधरा के एक महान् सन्त, महापुरुष हैं।

यद्यपि मरुधरा को सजला-सुफला व शस्य-श्यामला होने का गौरव न भी मिला हो, परन्तु सन्तजनो की आकर-अवनि होने का सौभाग्य तो उसे अवश्य मिला ही है।

सुदूर अतीत की ओर न जाकर भी अगर हम निकटतम अतीत की ओर ही चलें तो भी यह बात सुदृढ़ता के साथ कह सकते हैं कि इस अवधि में भी यहां अनेक महनीय महान् सन्तजन अवतरित हुए हैं। इतिहास के स्वर्णिम पत्र उद्घाटित हैं, वे इस बात के सजग साक्षी हैं।

सन्तजन चाहे मरुधरा के हों या अन्य किसी भी वर्ग के हों, वे तो यत्र-तत्र-सर्वत्र अर्चना के अवदात आवास ही होते हैं।

मरुधरा में भी अनेक धर्म-परम्पराएं प्रचलित हैं प्रायः वे सभी धर्म-परम्पराएं सन्तजनों की विकास-भूमि बनी हैं।

दिग्दिगन्त-व्यापिनी जैनधर्म-परम्परा भी मरुधरा की एक विशिष्टतम धर्म-परम्परा है। यह जितनी विशिष्टतम है, उतनी ही उच्च उच्चतम सन्तजनों की जननी भी है।

इस परम्परा के सन्त-जनों का त्याग-वैराग्यमय जीवन सदा सर्वांगीण सुन्दर रहा है। आज भी इस परम्परा के सन्त जैनधर्म-पथ के प्रकाशस्तम्भ बने हुए हैं, जिनके अमल आलोक का आश्रय पाकर साधकजन अपनी साधना के सुपथ पर चलते चले जा रहे हैं।

एक मैं ही नहीं, समाज के सभी सहिष्णु सुधीजनों का यह डिण्डिम आघोष है कि त्याग और वैराग्य की तुलना में जैन-परम्परा के सन्तजनों के साथ साम्य रखने का अधिकार आज के युग तक अन्य किसी भी धर्म के सन्त-समाज को नहीं मिला है।

हां, तो मरुधरकेसरीजी महाराज मरुधरा के एक महान सन्त हैं। सन्त-जीवन की गुण-गरिमा आप में है, यह एक तथ्य है।

मुख-मुद्रा और अन्तस्तेज आपकी विशेषता प्रकट कर रही है। आप में अनुकम्पा की सम्पदा का समावेश है। भूत-दया और विश्वप्रेम सन्त-जीवन की सात्त्विक सम्पत्ति मानी गई है। आप में भूत-दया है और विश्व-प्रेम की भावना है। यह विश्व-प्रेम की भावना ही व्यष्टि को समष्टि की ओर ले जाती है। यद्यपि केसरीजी महाराज स्वयं में एक व्यष्टि हैं परन्तु वे समष्टि में सम्मिलित हैं। अतएव वे विघटन के नहीं किन्तु संगठन के प्रेमी हैं।

व्यवस्था करना भी आपकी एक विशेषता है। साधु-सम्मेलनों के प्रिय प्रसंगों पर सम्मिलित होने वाले सभी सदस्यों ने इस बात का अनुभव अवश्य किया है।

संकेत पाकर आपके आदेश से कोई भी व्यक्ति विमुख हो जाता हो—ऐसा कम देखने में आया है। यह आपके व्यक्तित्व का उत्कर्ष है।

आप और हम (उपप्रवर्तक श्री ब्रजलालजी म० और मधुकर मुनि) सन्निकट हैं—बहुत सन्निकट हैं। आज आप और हम श्रमण-संघ में हैं इस नाते ही यह निकटता नहीं है, यह निकटता तो पूर्वजों से सम्बन्धित है।

आप आचार्यवर श्री रघुनाथजी महाराज की सम्प्रदाय के एक सदस्य हैं तो हम पूज्यप्रवर श्री जयमल्लजी महाराज की सम्प्रदाय के सदस्य हैं। आचार्यवर श्री रघुनाथजी महाराज व पूज्यप्रवर श्री जयमल्लजी महाराज दोनों सगे गुरुभ्राता थे। हमारी सन्निकटता का यह प्रथम सोपान है।

आप के परम पूजनीय गुरुदेव श्री बुधमलजी महाराज और मेरे परमपूजनीय गुरुदेव श्री जोरावरमलजी महाराज के पारस्परिक सम्पर्क अतीव गहरे थे। हमारी सन्निकटता का यह द्वितीय सोपान है।

संयोग की बात है मुझे आपके गुरु महाराज के दर्शनों का सौभाग्य नहीं मिला परन्तु आपने मेरे पूज्य गुरुदेव के दर्शन किए हैं। आज भी जब कभी वार्ता का प्रसंग उपस्थित होता है तब यह आभास मिलता है कि अब भी आपका





स्वान्त मेरे गुरुदेव के प्रति श्रद्धावनत है।

बात प्रथम अजमेर-सम्मेलन के समय की है। यद्यपि उस समय मेरा बचपन था फिर भी मेरी स्मृति सजग है कि उस अवसर पर जब वहां मरुधरा की सभी सम्प्रदायों के मुनिराजो को एक आचार्य की अधीनता में लाने की विचारणा चल रही थी तब होने वाले मारवाडी श्रमणसघ के आचार्य पद के लिये आपकी ओर से ही स्वर्गीय स्वामीजी श्रीहजारीमलजी महाराज का नाम उपस्थित किया गया था।

मैं अधिक क्या सूचित करूं? ऐसे अनेक प्रसग हैं जिनसे हमारी यह घनिष्ठता दिन दूनी और रात चौगुनी बढती रही है और आगे भी बढती ही रहेगी।

मेरे जीवन के अनेक क्षण आपकी सत्सगति में बीते हैं। मुझे सन्तोष है आप के सन्त-जीवन से। मैं आपके प्रति श्रद्धावनत हू। मेरी ओर से इस मरुधरा के महान् तेजस्वी सन्त के लिये शतशः अभिवदन।

●

श्रद्धेय श्री मरुधरकेसरीजी म०

प० र० श्री ज्ञानमुनि

विक्रम सम्वत् २०१२ मे, श्री वर्धमान स्थानकवासी जैन श्रमणसघ का वृहत् साधु सम्मेलन भीनासर (बीकानेर) मे था। जैनधर्मदिवाकर, आचार्यसम्राट् परम श्रद्धेय गुरुदेव पूज्य श्री आत्मारामजी महाराज का आदेश पाकर श्रद्धेय तपस्वी श्रीस्वामी लालचन्द्रजी महाराज के साथ मुझे उस सम्मेलन में जाने का अवसर मिला। उसी समय समाजहितैषी, समाजसुधारक, मरुधरकेसरी श्रद्धेय श्रीमिश्रीमलजी महाराज के दर्शन करने तथा उनके सम्पर्क मे आने का सुअवसर मिला था। सम्मेलन के कारण लगभग २० दिनो तक यह सम्पर्क रहा। इन दिनों मुझे मरुधर-केसरी श्रीमिश्रीमलजी महाराज को निकट से देखने का मौका मिला। उसी के आधार पर कुछ विवेचन करने लगा हू।

मरुधरकेसरी श्रीमिश्रीमलजी महाराज एक कार्यदक्ष, कर्मठ, उदारहृदय सघहितैषी मुनिराज हैं, सम्मेलन के सचालन की इनमे विलक्षण क्षमता है। मैने देखा है कि भीनासर-सम्मेलन मे श्रमणसघ की जितनी भी बैठकें होती थी, उनका नेतृत्व प्राय मरुधरकेसरीजी म० ही किया करते थे। वैसे श्रमणसघ के उपाचार्य, प्रधानमत्री, उपाध्याय तथा मन्त्री मुनिवर भी योग्यतापूर्ण पद्धति के साथ अपना दायित्व निभा रहे थे, परन्तु मुख्य रूप से सम्मेलन का सचालन इन्हीं के हाथों में देखा जा रहा था। यही सम्मेलन की कार्य-वाही को आगे चलाते थे। एक कार्यकर्ता मे कार्य-सम्पादन की कितनी क्षमता होनी चाहिए? कितनी सूझ बूझ, दीर्घ-दर्शिता, समयसूचकता और कितनी गभीरता होनी चाहिए? आदि सभी प्रश्नो के उत्तर मरुधरकेसरीजी के जीवन से सम्प्राप्त हो जाते हैं। यदि इनके जीवन को उक्त प्रश्नो का सजीव उत्तर ही कह दे तो मेरी दृष्टि मे उपयुक्त ही दिखाई देता है।

श्रद्धेय मरुधरकेसरीजी महाराज के पवित्र जीवन मे एक खास बात और देखने मे आई। यह थी-स्थानक-वासी श्रावक तथा श्रमणजगत् को सगठित सुव्यवस्थित तथा अनुशासित देखने की महान् लालसा। वे स्थानकवासी समाज मे आचार-विचार सम्बन्धी ऐसी उत्क्रान्ति लाना चाहते हैं जिससे यह समाज सम्यग्दर्शन, ज्ञान और सम्यक् चारित्र की छाया तले अपनी जीवनयात्रा सम्पन्न करे। इनकी हार्दिक इच्छा रहती है कि प्रत्येक श्रमण विद्वान हो, क्रियापात्र हो, त्याग-वैराग्य के महापथ का पथिक हो। सामाजिक भविष्य को समुज्ज्वल बनाने मे समर्थ हो। इनकी अन्तरवीणा के यही स्वर सुनाई पडते हैं कि—साधु, साध्वी श्रावक और श्राविका सभी आचार-विचार की दृष्टि से ऊपर उठें। सभी मे धार्मिक सगठन हो, अनुशासन हो, निजी महत्वाकाक्षाओ को एक ओर रखकर सघैक्य को ही

प्रश्रय देना चाहिए। इसके संरक्षण और संवर्धन के लिए सभव और सबल प्रयत्न होने चाहिए। भीनासर सम्मेलन मे इसी स्वर को गुजाया गया था, इसे ही क्रियात्मक रूप देने के लिए इन्होंने अपनी समस्त शक्तियो का उपयोग किया और वर्तमान मे करते चले जा रहे है। यही कारण है कि आज श्रमणसंघ के सन्तो मे इनका एक महत्वपूर्ण स्थान है और समाज इनको अभिनन्दनग्रंथ भेंट करके अपनी हार्दिक निष्ठा को अभिव्यंजित करने का स्तुत्य प्रयास कर रहा है।

नाम और गुण ये दो वस्तुए है। वह शब्द जिससे किसी व्यक्ति, वस्तु या समूह का बोध हो, उसे नाम कहते है। निपुणता, विशेषता, कमाल, अच्छी सिफतो का नाम गुण है। इन दोनो को लेकर विद्वान लोगो ने चार भग-प्रकार बनाए है। जैसे कही नाम प्रशस्त है और उसके अनुसार गुण भी प्रशस्त है। कही नाम प्रशस्त है, गुण प्रशस्त नही है। कही गुण प्रशस्त है किन्तु गुण के अनुसार नाम प्रशस्त नही है। कही नाम और गुण दोनो प्रशस्त नहीं है—न अच्छा नाम है और न अच्छा गुण है। इस चतुर्भंगी को उदाहरण से समझिए—एक व्यक्ति का नाम शान्ति है, जब उसके जीवन-व्यवहार को देखते है तो उसमे शान्ति के दर्शन होते हैं, वह किसी से लडना, झगडना नहीं किसी के कुछ अनुचित कह देने पर भी व्याकुल नहीं होता, सदा शान्ति रखता है। यहा नाम भी प्रशस्त है और गुण भी प्रशस्त है। एक व्यक्ति का नाम शान्ति है, परन्तु जीवन मे शान्ति नही, क्रोध की आग मे जलता रहता है, समझाने पर भी नही समझता, बिना कुछ कहे-सुने लडने मरने को तैयार बैठा है। ऐसे व्यक्ति का नाम प्रशस्त है, परन्तु गुण प्रशस्त नहीं है। एक व्यक्ति का नाम ज्वालाप्रसाद है, प्रकृति से सहिष्णु है, शान्तिप्रिय है, जीवन के किसी क्षेत्र मे अशान्त नही होता प्रतिकूल से प्रतिकूल परिस्थिति होने पर भी शान्त है, कभी गरमी को निकट नही आने देता। ऐसा व्यक्ति नाम से अप्रशस्त है, किन्तु गुण से प्रशस्त है। एक व्यक्ति है, जिसका नाम मूर्खशिरोमणि है। लोगो के ताले तोडना, झूठी गवाहिया देना और किसी की बहिन-बेटी को बुरी दृष्टि से देखना ही उसका काम है। ऐसा व्यक्ति नाम से भी अप्रशस्त है और कार्य से भी।

उक्त चार भगो मे मनुष्यो के चार प्रकार बताने का प्रयत्न हुआ है। समस्त ससार इन चार भगो मे विभक्त हो जाता है। हमारे महामान्य सम्माननीय श्रद्धेय वन्दनीय मरुधरकेसरीजी महाराज प्रथम श्रेणी मे आते हैं। इनका नाम भी प्रशस्त है, और इनके गुण भी प्रशस्त है। जैनजगत् मे ये मरुधरकेसरी के नाम से प्रख्यात है। 'मरुधरकेसरी' कितना सुन्दर और प्रशस्त नाम है? जैसे सिंह निर्भय रहता है, भय को निकट नही आने देता और जगल का बादशाह माना जाता है वैसे ही हमारे परमश्रद्धेय मरुधरकेसरीजी म० भी बिल्कुल निर्भीक मुनिराज है। डर क्या होता है? यह इन्होंने कभी जाना नही। भीनासर-सम्मेलन मे मैने देखा है कि ये सम्मेलन की बैठको मे सिंह की तरह गरजते थे, बेधडक होकर अपनी बात कहा करते थे। जिन सतो की धाक थी, डर के मारे जिनके सामने लोगो की जबान नही खुलती थी, समय आने पर ये उन पर बरस पडते थे। इनके हृदय मे सदा समाज एव सघ के नवनिर्माण की एक बलवती तडप रही है। धन्य है स्थानकवासी जैन श्रमणसघ जिसे मरुधरकेसरी के रूप मे एक निष्काम समाजसेवी सयमप्रिय मुनिराज उपलब्ध हुआ है।

श्रद्धेय मरुधरकेसरिन्! लिखने को बहुत कुछ लिखा जा सकता है, किन्तु सक्षेप मे यदि अपनी बात निवेदन करूं तो यह मैं दृढता के साथ कह सकता हू कि आपकी सामाजिक जीवनगत विशेषताओ को अक्षरो की सीमित रेखाओ मे बाधा नही जा सकता, तथा आपने स्थानकवासी जैनजगत् पर जो उपकार किए है उनका बदला भी चुकाया नही जा सकता। "श्रीमरुधरकेसरी-अभिनन्दन-ग्रथ-प्रकाशन-समिति" आपको "अभिनन्दनग्रथ" समर्पित करके आपके पुण्य-चरणो मे जो श्रद्धासुमन समर्पित कर रही है, यह बहुत सुन्दर दूरदर्शिता तथा कृतज्ञतापूर्ण प्रयास है। मैं हृदय से इसका अभिनन्दन करता हू।





कोटि-कोटि अभिनन्दन

मुनि कन्हैयालाल 'कमल'

पूज्य मरुधरकेसरीजी महाराज मरुधरा के महान् सन्तरत्न है। आपने श्रमणजीवन की इस अर्धशताब्दी मे चतुर्विध सघ की जो सेवा की है वह इतिहास के अमर पृष्ठो पर स्वर्णिम पंक्तियो मे सर्वदा अकित रहेगी। अब तक हुए साधुसम्मेलनो मे आपने जो कार्य किया है उसके मूल्याकन मे आज मरुधरा का कण-कण मुखरित हो उठा है। सादडी और सोजत के सम्मेलन के तो आप प्रमुख सूत्रधार रहे है। वर्धमान श्रमणसघ के सगठन का बीजारोपण आप के असीम प्रयासों का ही सुफल है। आप के द्वारा लोकहित के अनेक कार्य सम्पन्न हुए है। आप की श्रुतसेवा एव सघ-सेवा अमोघ सिद्ध हुई है। आपकी ओजस्वी वाणी से सघ को जो स्फूर्त चेतना प्राप्त हुई है उसे शब्दों मे आबद्ध करना गागर मे सागर समाने जैसा प्रयत्न सिद्ध होगा।

बाल्यकाल मे अब तक अनेक बार आपके अति निकट सपर्क मे रहने के प्रसग मुझे प्राप्त हुए है। मैंने देखा है—आप उदारमना, स्पष्ट, निर्भीक वक्ता, रसमयी राजस्थानी गद्य-पद्य गीतगाथा के प्रणेता, मन्मथ-विजेता, सर्वप्रिय लोकनेता है। आप के इस लोकोत्तर व्यक्तित्व के प्रति मेरा शत-शत अभिवादन, कोटि-कोटि अभिनन्दन !

०

दिल की दिवाल पर टगे सस्मरण

हीरामुनि 'हिमकर'

महापुरुषो का गुणानुकीर्तन करना जीवन को निर्मल और पवित्र बनाने का एक साधन है। क्योंकि महापुरुष का जीवन परोपकारी होता है। दूसरो के लिए वे स्वय को अर्पित कर देते है। मरुधरकेसरी मिश्रीमल जी म० भी एक ऐसे ही महापुरुष है। उनके जीवन के अनेक सस्मरण मेरे दिल की दीवार पर सुनहरे और रगीन चित्रो की तरह टगे हुए हैं।

विक्रम स० २००४ का प्रसग है। परम श्रद्धेय सद्गुरुवर्य महास्थविर श्री ताराचन्दजी म० की आज्ञा मे मैं अपने भूतपूर्व सम्प्रदाय के सुलेखक श्रीनारायणचन्दजी महाराज एव सेवामूर्ति श्री प्रतापमलजी म० की सेवा मे था। उस वर्ष श्री नारायणचन्द्रजी म० के साथ मरुधरकेसरी मिश्रीमलजी म० का सयुक्त वर्षावास सादडी राजस्थान मे हुआ। उस समय मैंने बहुत ही नजदीक से मरुधरकेसरीजी म० को देखा। वे ऊपर से वस्तुत मिश्री की तरह कठोर थे। उनका अनुशासन गजब का था। उन्होने मुझ पर जिस तरह उस समय कडक अनुशासन किया वह प्रारम्भ मे मन को कुछ अखरता रहा। मैंने सोचा—ये महाराज तो काफी तेज स्वभाव के है। पर ज्यो-ज्यो मै उनके अत्यधिक सन्निकट होता गया त्यो-त्यो मुझे यह भी अनुभव होने लगा कि यह तो मिश्री की तरह मीठे भी हैं। ये बाहर से जितने कडक है उतने ही अन्दर से मुलायम भी हैं। कवि की भाषा मे उनका वस्तुत यही परिचय है

नालिकेरसमाकारा दृश्यन्ते हि सुहृज्जना।

मरुधरकेसरीजी का हृदय मक्खन से भी अधिक मुलायम है। जब कभी कोई दीनहीन जन उनके पास जाकर अपनी करुण कथा सुनाता है तो वे करुणा से विह्वल हो जाते है। विह्वल ही नही होते पर किसी भावुक भक्त को प्रेरणा कर उसके दु ख-दर्द को जब तक नही मिटाते तब तक उन्हें चैन नही पडता। मैंने आंखो से देखा है—सैकडो गरीब बन्धुओ को गुप्त रूप से सहायता के लिये उनको सकेत करते हुए। यदि कोई अनुदार सपन्न व्यक्ति ननुनच करता है तो उस पर केसरी की तरह गरज भी पडते है। और उनकी गभीर गर्जना के बाद अनुदार भी उदार

की श्रेणी मे बैठ जाता है। ऐसे भी अनुदार व्यक्ति देखे हैं जो मन न होते हुए भी केवल मरुधरकेसरी के आदेश को पालन करने के लिए मुक्त हाथ मे दान देने मे सकोच नही करते।

आपकी दूसरी विशेषता, जो मेरे को आकर्षित करती है, यह है कि आपक तन-मन और वचन मे स्थानकवासी जैन समाज के प्रति गहरी निष्ठा है। स्थानकवासी समाज के सिद्धान्तों के प्रति अपूर्व आस्था है। समाजोत्थान के लिए निरन्तर प्रयत्नशील रहना आपका स्वभाव है। जहाँ कहीं भी आपने चातुर्मास किया या शेप काल विराजे वहाँ के भावुक भक्तो मे भी यही भावना भरी है कि समाज के कार्य के लिए यदि तुम्हे प्राण अर्पित करना हो तो वीर सैनिक की तरह अर्पित करो। जड की उपासना नहीं किन्तु गुणो की उपासना करो। वीर लोकाशाह की तरह तुम्हे भी क्रान्ति का शखनाद फूंकना है तो उन महापुरुषो की जयन्तियाँ बडे ही उत्साह और उल्लास के साथ मनाओ।

आपका भाषण बडा ही जोशीला होता है। विषय के प्रतिपादन के साथ जब किसी भी विषय का खण्डन या मण्डन करना होता है, उस समय भाषण ऐसा जमता है जैसे श्रावण की वर्षा जमी हो। तर्क पर तर्क बरस पडते हैं।

आपका साहित्य अधिकाशत राजस्थानी भाषा मे है। आपकी राजस्थानी भाषा मुहावरेदार और प्राजल है। पाठक पढते-पढते आनन्द-विभोर हो जाता है।

मरुधरकेसरीजी का अभिनन्दन-ग्रन्थ निकाला जा रहा है, यह जानकर हार्दिक प्रसन्नता है। उनका अभिनन्दन ग्रथ होना ही चाहिये। मैं आशा करता हूँ—मरुधरकेसरीजी म० दीर्घकाल तक सयमसाधना कर जैनधर्म की प्रभावना करते रहें।

●

श्री मरुधरकेसरी का व्यक्तित्व

जैनसिद्धान्ताचार्य श्रीनानुऋषिजी म०

मरुस्थली ऋषि, महर्षि, सन्त, तपस्वी, चिन्तक और विचारको की भूमि रही है। वहाँ की मिट्टी के कण-कण से पवित्रता की सुगन्ध आती है। ऐसी मरुधरा मे मरुधरकेसरीजी का अवतार हुआ है।

आप जैन सिद्धान्तों के प्रखर विद्वान् एव ज्ञाता हैं। सस्कृत, प्राकृत, हिन्दी, गुजराती, राजस्थानी आदि भाषाओं मे पाण्डित्य प्राप्त किया है। राजस्थानी भाषा तो आपकी अपनी ही है। आपके लेख प्राय राजस्थानी भाषा में ही रहते हैं। आप न्याय, दर्शनशास्त्र, साहित्य एव इतिहास मे भी पारगत हैं। आपने खूब परिश्रम के साथ इतिहास का अवलोकन करके सन्तों की नामावली श्रमणतरु वशावली बनाकर प्रकाशित कर जैनो की परम्परा का दिग्दर्शन कराया है।

आपके उपदेश की प्रेरणा से अनेक विद्यालय तथा गोशालाएँ, स्थापित हुई है। लोकाशाह जैन गुरुकुल सादडी (मारवाड), जिनेन्द्र ज्ञानमन्दिर सिरीयारी, गौतम जैन गुरुकुल सोजत आदि अनेक सस्थाओ की स्थापनाएँ की एव उनको प्रोत्साहन दिया, सिंचन किया।

आप मरुधरा के सन्तो मे प्रसिद्ध वक्ता हैं। आपका राजस्थानी भाषा के प्रति विशेष आकर्षण है। राजस्थानी भाषा मे ही अधिकतर प्रवचन फरमाते हैं। सिंह जैसी गर्जना करते है इसलिये आपको 'मरुधरकेसरी' का विरुद प्राप्त है। राजस्थानी भाषा आपके मुखारविन्द से अच्छी लगती है। जनता मुग्ध बन जाती है और व्याख्यान मे से उठने को जी नहीं चाहता है। जनता आप की वाणी की प्यासी रहती है।





आपने प्रचुर साहित्य का सृजन किया है। अनेक ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं। समाज में आपकी साहित्यिक सेवा प्रशंसनीय है। उम्र में वृद्ध होते हुए भी आपका विहार एवं उपदेश जवानों को मात कर देता है। आत्मविश्वास एवं आत्मभावना के साथ प्रचार कार्य करते हैं।

साधुसम्मेलन के आयोजना में आपका विशेष सहयोग रहा है। अजमेर, सादड़ी, सोजत, भीनासर के सम्मेलनों में आपका विशेष योग रहा है। सभी सम्मेलनों के आप प्राण थे। आपकी विचारधारा समाज के लिये बड़ी उपयोगी सिद्ध हुई है।

आप स्थानकवासी समाज में एक योग्य विद्वान्, साहसिक, क्रान्तिकारी, मुमुक्षु, मिलनसार, सहृदय व्याख्यानी कवि, लेखक, महर्षि एवं महापुरुष हैं। आप जहाँ भी पधारते हैं वहाँ आनन्द छा जाता है। दर्शनार्थियों का ताँता-सा लग जाता है। राजा, महाराजा, जागीरदार आदि आपके प्रभाव से आकर्षित हो जाते हैं। आपको देहात बहुत प्रिय लगता है और चातुर्मास भी प्रायः वहीं कर डालते हैं जिससे देहाती जनता धर्मभावना के सन्मुख आ जाती है।

आपकी कीर्ति और नाम काफी वर्षों से सुनता था, मगर प्रत्यक्षदर्शन एवं मिलना तो प्रथमावसर सादड़ी सम्मेलन में आया। तत्पश्चात् सोजत सम्मेलन एवं ब्यावर में मिलन का अवसर इस लेखक को मिला। मरुधरकेसरीजी जैसे महान् क्रान्तिकारी संत का अभिनन्दन उनकी सेवा का अभिनन्दन है।

•

व्यक्तित्व और संयमनिष्ठा का अभिनन्दन

श्री पुखराज सीसोदिया, अध्यक्ष, श्रीस्था० जैन वीर संघ, ब्यावर

वि० संवत् २०१७ की घटना है। मैं मरुधरकेसरीजी म० के महान् व्यक्तित्व से भलीभाँति परिचित था, वे मुझे शायद न भी जानते हों। उस समय तीन भागों में विभक्त ब्यावर का श्रीसंघ एक-सूत्र में आबद्ध था। संघ ने प० र० मंत्री श्रीपुष्कर मुनिजी म० का चौमासा कराना सर्वसम्मति से निश्चित किया। उस समय मुनिश्री पदराडा में विराजमान थे। तीनों दलों के मुखिया आपकी सेवा में विनति करने गए किन्तु कारणवश उनका चौमासा ब्यावर में न होकर बाघपुरा में निश्चित हो गया। ब्यावर संघ के प्रतिनिधि निराश होकर देलवाड़ा में विराजित पूज्य श्री-मोतीलालजी म० के दर्शन करते हुए ब्यावर लौटे।

इसी अवसर पर सेठ देवराजजी सुराणा निजी कार्य से सोजत गए थे। मरुधरकेसरीजी म० वहाँ विराज-मान थे। उन्हें विदित हुआ कि मुनिश्री का चौमासा व्यापारी गाँव में होने वाला था परन्तु वह किसी कारण से स्थगित हो गया है। सुराणाजी ने मरुधरकेसरीजी म० से प्रार्थना की कि ब्यावर में किसी का चौमासा तय नहीं हुआ है। ब्यावर संघ शीघ्र आप की सेवा में प्रार्थना करने आएगा। तब तक आप कहीं चौमासे की प्रार्थना स्वीकार न करें। मुनिश्री ने फर्माया—जैसी फरसना।

सुराणाजी ब्यावर लौटे। तत्पश्चात् विजयनगर में विराजमान स्थविर मंत्री मुनि श्री पन्नालाल म० की आज्ञा प्राप्त कर तीन भागों में ब्यावर संघ के प्रमुख प्रतिनिधि सोजत गए। चौमासे की प्रार्थना की और वह स्वीकृत हो गई।

दूसरे दिन से ही ब्यावर का वातावरण दूषित होने लगा। तरह-तरह की चर्चाएँ और गलतफहमियाँ फैलने लगीं। संयोगवशात् उस समय ब्यावर में मंत्री मुनिश्री [illegible]पमलजी म० तथा मंत्री मुनि श्रीपुष्कर मुनिजी पधारे हुए थे। उनके समक्ष सारी बातें रखी गईं जो उपाचार्य श्री गणेशीलालजी म० के श्रावकों की ओर से उठाई गई थीं। तीनों तरफ के श्रावकों के समक्ष वार्ता हुई जिनमें उपाचार्यश्री के श्रावक भी सम्मिलित थे, परन्तु उपाचार्यश्रीजी के श्रावकों का मंत्री युगल के समाधान से सन्तोष नहीं हुआ। उन्होंने उपाचार्यजी म० से समाधान कराना चाहा। उपाचार्यजी विहार में थे और समय

इतना स्वल्प रह गया था कि उनसे सम्पर्क साधकर समाधान करवाना संभव नहीं था। तब आचार्य श्री आत्मारामजी म० से समाधान मांगा गया और वह मिल गया। मरुधरकेसरीजी पूर्व निश्चयानुसार चौमासे के लिए पधार गए। विरोधी वातावरण बना ही रहा बल्कि दिनोंदिन बढ़ता गया।

इस प्रकार के विरोधपूर्ण वातावरण में भी श्री मरुधरकेसरीजी की शान्ति अभग थी, समाधि अबाध थी और धैर्य अडिग था। बड़ी वीरता के साथ उन्होंने स्थिति का सामना किया। उनकी इस विशिष्टता का परिचय देना ही इस घटना के उल्लेख का प्रयोजन है।

इस घटना के साथ मैं उनके निकट आया। मैंने अनुभव किया कि उनका धैर्य अथाह है, साहस अविचल है, चारित्र उज्ज्वल है, क्रिया उच्चकोटि की है, साधना सन्तों के अनुरूप है। इसके पश्चात् ज्यों-ज्यों मैं आपके निकट आता गया त्यों-त्यों मेरी उल्लिखित धारणा पुष्ट पुष्टतर ही होती गई है।

मरुधरकेसरीजी इतने स्पष्टवक्ता हैं कि अपने भक्त से भक्त श्रावकों को उचित बात कहने में नहीं हिचकते। श्रावकों की भी आपके प्रति इतनी प्रगाढ श्रद्धा है कि वे आप के वचन को टाल नहीं सकते। आप के तेज के समक्ष सभी को प्रभिनत हो जाना पड़ता है। कच्ची-पक्की बात कहने का किसी को साहस ही नहीं होता।

वास्तव में मरुधरकेसरीजी हमारे समाज के एक महार्घ्य रत्न हैं। उनके अनूठे और असाधारण व्यक्तित्व एव संयमनिष्ठा का शत-शत अभिनन्दन!

●

गुणों के सागर

श्री अनोपचद पुनमिया

पूज्य गुरुदेव मरुधरकेसरी प० श्रीमिश्रीमलजी म० से मेरा करीब २५-३० वर्ष से निकट का परिचय रहा है। पुण्यभूमि भारतवर्ष इस ससार में ऐसे उत्कृष्ट क्रियापात्र, सगठन के अपूर्व हिमायती सतों के कारण ही सर्वोत्कृष्ट होने का दावा करता है।

आपको मैंने बहुत ही समीप से देखा है। आपका अन्तरग फूल से भी ज्यादा कोमल है। जब कभी किसी दीन दुःखी असहाय रोगग्रस्त प्राणी को देखते हैं तो उसे सहायता पहुचाने हेतु सतत प्रयत्नशील रहते हैं लेकिन जब स्वय पर भयकर से भयकर रोग आक्रमण करता है या बाहर से कोई कष्ट देता है तो आप उसे हसते हुए सहन करते हैं, तनिकमात्र भी घबराते नहीं हैं। इसका ज्वलन्त उदाहरण हमने बिलाडा में प्रत्यक्ष देखा है। जब एक कसाई मछलियों को तालाब पर मार रहा था और उनको पकड रहा था तब आपने उसको प्रेमपूर्वक समझाया कि ऐसा करना तुम्हारे अल्लाह ने भी मना किया है। इस पर वह क्रुद्ध हो उठा और आप पर लाठियों से कई एक प्रहार किये। आपने सब प्रहारों को शान्तिपूर्वक सहन किया और मन में यही चिन्तन करते रहे कि यह तो केवल शरीर को पीट रहा है, आत्मा को नहीं। आत्मा तो अजर अमर है। धन्य है भारत के इस पुनीत सत की क्षमा और दया एव सहनशीलता।

जब बिलाडा-स्थानक में पधारे तो यू तक नहीं कहा कि उस व्यक्ति ने मुझ को इसलिये पीटा है। जब यह वृत्तात बिलाडा नगर में फैला तो उस व्यक्ति की खोज की गई। उसको सामने लाया गया। उस समय गुरुदेव ने यही फरमाया कि मैं अन्न-जल तभी ग्रहण करूगा जब आप इसे क्षमा कर दो और इसको सुरक्षित स्थान पर पहुचा दो। इसे कोई हानि न हो। इस भांति आपने अपूर्व क्षमाप्रदान की जो स्थानकवासी जैन इतिहास में सदैव के लिये अजर अमर रहेगी।



आप अनुशासन एव सगठन के अपूर्व हिमायती हैं। अनुशासनरहित जीवन आप कतई पसन्द नहीं करते हैं।



इसी कारण कभी २ आपको कुछ कठोर शब्दो का भी प्रयोग करना पडता है। इसमे कुछ सज्जन आपसे रुष्ट हो जाते हैं। चाहे कोई बडे से बडा भी क्यो न हो, आप नि सकोच होकर उसे अनुशासन हेतु आदेश देने मे तनिक भी पीछे नही हटते। इसके लिये चाहे कितनी भी बाधाए आवें आप शाति के साथ सहन करने की अपूर्व शक्ति रखते हैं।

सादडी मे १६ वर्ष पूर्व जब अखिल भारतवर्षीय साधु सम्मेलन व कान्फ्रन्स का १२ वा अधिवेशन हुआ था, तब इन दोनो को सफलतापूर्वक सम्पन्न कराने का एक मात्र सर्वोच्च श्रेय आपको ही है। आपके पुण्यप्रताप से ही श्री वर्द्धमान स्थानकवासी जैन श्रमणसघ की और श्रावकसघ की प्रथम स्थापना हुई है। कइयो को इस साधुसम्मेलन को सफल होने मे बडा भारी सदेह था परतु आप अपूर्व उत्साह, प्रेम, परिश्रम, लगन के साथ इस कार्य को सफल बनाने म सलग्न हो गए। अन्त मे उसको सफल बनाकर ही सास ली।

जिस भाति एक सिह जगल मे निर्भय होकर सवत्र घूमता है और उसके अनुशासन को सभी जगल के प्राणी नतमस्तक होकर मानते है, क्योकि सिह मे अपूर्व शक्ति रही हुई है और वह जगल का राजा समझा जाता है, उसी भाति पूज्य गुरुदेव का सयमी जीवन सिह के समान है। आपके पास सम्यग्ज्ञान-दर्शन-चारित्र-तप की अपूर्व शक्ति रही हुई है। इसके आगे मिथ्यात्वी लोग नतमस्तक हो जाते हैं। कोई भी नास्तिक या विधर्मी आपसे बहस करने आता है तब उसको युक्तियुक्त प्रत्युत्तर देकर शात कर देते हैं और निरुत्तर कर देते है। वह नतमस्तक होकर ही जाता है। इसी कारण मारवाड मे आप 'मरुधरकेसरी' के नाम से पुकारे जाते है।

आपकी विहारभूमि प्राय मारवाड ही रही है। यहीं आपने अपनी ओजस्विनी सम्यक्ज्ञान-दर्शन-चारित्र से युक्त भाषा की गगा प्रवाहित की है। आपके सदुपदेश से प्रभावित होकर इस मरुधरभूमि मे कई सस्थाए खुली हैं जिनमे 'श्री लोकाशाह जैन गुरुकुल सादडी मारवाड' भी एक प्रमुख सस्था है जो गोडवाड प्रान्त मे लोकाशाह के सिद्धान्तो का प्रचार करने वाली एव अहिसा सत्य अचौर्य ब्रह्मचर्य एव अपरिग्रह की शिक्षा देने वाली एक मात्र सस्था है। विशेष क्या लिखू ? पूज्य गुरुदेव शतायु हो जिससे जैनधर्म की अधिक से अधिक प्रभावना हो।

●

श्रद्धाकुसुम-समर्पण

श्री माधोमल लोढ़ा

मुझ मे यह योग्यता नही कि किसी सतजीवन का सही सही विश्लेषण कर सकूँ। फिर भी एक श्रावक के नाते मुनिजीवन से मेरा सम्पर्क अवश्य रहा है। श्रीयुत मरुधरकेसरी श्री मिश्रीमलजी महाराज सा० मरुधर के एक जाने पहिचाने सन्त रत्न हैं। उनकी पवित्र सेवा का अवसर भी मुझे यदा-कदा मिलता रहा है। मुख्यतया सवत् २०१६ में जबकि मरुधरकेसरीजी म० सा० का चातुर्मास जोधपुर मे था, और जोधपुर श्रीसघ ने मुझे मन्त्रीत्व का कार्य सौंप रखा था—उस अवसर पर केसरीजी महाराज साहब की सेवा का सर्वोत्तम सौभाग्य मुझे मिला। मैंने जिस रूप मे मरुधरकेसरीजी को पाया वह आज भी स्मृति के रूप मे मेरे विचारो मे जमा हुआ है। मैंने अनुभव किया कि मरुधर-केसरी एक ऐसे मुनिवर है कि जिनके कठोर अनुशासन के नीचे करुणा का स्रोत भी बहता है। श्रमणसघ के सजग प्रहरी, एकता के हामी व साहस के पुज हैं। श्रमणसघ का कार्य उनके जिम्मे आया, उन्होने बहुत ही दृढता व सहनशीलता के साथ उसे सम्पूर्ण किया। मरुधरकेसरीजी म० के व्यक्तित्व और उनकी वाणी मे एक ओज है, एक आकर्षण है। मारवाडी भाषा मे स्फुरित होनेवाले इनके प्रवचन बडे रोचक एव प्रभावशाली होते हैं। अधिक विस्तार मे नही जाते हुए केवल इस आशा के साथ कि मरुधरकेसरीजी म० अपनी विशिष्ट योग्यताओं के द्वारा सघ शक्ति व एकता को बढाते हुए शासन को लाभान्वित करेंगे, मैं अपने हार्दिक श्रद्धाकुसुम समर्पित करता हूँ।

●

श्रद्धा-सुमन

श्री चम्पालाल कर्णावट

स्थानकवासी समाज का प्रत्येक प्रौढ़ व्यक्ति मरुधरकेसरीजी के शुभनाम से परिचित है। जिनवाणी का एक सेवक होने के नाते मैं महाराजश्री के शुभ नाम को तो बहुत पहिले से ही जानता था पर जब मैं जोधपुर आया व 'वीर लोंकाशाह' का साप्ताहिक बनाकर उसका सम्पादन—प्रारम्भ किया तब से निकट सम्पर्क में आया। उसके बाद तो निरन्तर सेवा का लाभ भी लेता जाता हूँ।

नवयुवकों के हृदय सम्राट्—मरुधरकेसरीजी—नवयुवकों को खूब पहचानते हैं और सामाजिक सेवाओं में नवयुवकों की टोली बनवाकर बड़े से बड़े काम करवाने में सदा सफल रहे हैं।

लोंकाशाह के परम पुजारी

सारा स्थानकवासी समाज लोंकाशाह की सही सिद्धान्तप्ररूपणा का सुफल है, अतः हम सभी उस महापुरुष के बड़े ही ऋणी हैं। मरुधरकेसरीजी ने लोंकाशाह के झंडे को अदम्य उत्साह व जोश के साथ उठाया तथा जगह-जगह इसी शुभनाम से सामाजिक एवं धार्मिक संस्थाओं को सशक्त किया। लोंकाशाह पत्र आदि तो काफी प्रसिद्धि पा चुके हैं व समाज की बहुत सेवा इन संस्थाओं के द्वारा हो चुकी है। लोंकाशाहजयन्ती जितनी उमंग व उत्साह से—मुनिश्री के तत्त्वावधान में मनाई जाती है, उतनी और कहीं नहीं।

महाराजश्री केवल अपने कल्याण की ओर ही लक्ष्य न देकर सामाजिक कल्याण की ओर भी पूरी तरह से लगने व सतत प्रेरणा देते रहे हैं। स्पष्ट वक्ता होने से कभी-कभी कई लोग उन्हें कटुक मिर्ची भी कहा करते हैं पर वे हैं—'वज्रादपि कठोराणि मृदूनि कुसुमादपि'। दीन दुःखी व असहायों के लिये करुणा के आगार हैं।

कार्यकर्त्ताओं के कद्रदान

आप कार्यकर्त्ताओं को पहचानने में बड़े विचक्षण हैं। सभी सामाजिक संस्थाओं की सहायता के लिये सदा तत्पर रहते हैं—चाहे वे किसी सम्प्रदाय से सम्बन्धित क्यों न हों।

सादड़ी का ऐतिहासिक सम्मेलन

स्थानकवासी समाज के अजमेर साधुसम्मेलन से भी यह विशालरूप में था और सभी सम्प्रदायों के आचार्यों ने अपनी-अपनी सम्प्रदायों का मोह छोड़ लोंकाशाह के एक ही झंडे के नीचे—वर्धमान श्रमणसंघ व श्रावकसंघ की स्थापना की। इस सम्मेलन की महान् सफलता का बहुत बड़ा श्रेय मरुधरकेसरीजी को है।

राजस्थानी भाषा के हिमायती

आप राजस्थानी के सदा पक्ष में रहे हैं और आज तक भी इस भाषा की सेवा में संलग्न हैं। आपने काफी साहित्य राजस्थानी भाषा में लिखा है।

साहित्यकार के रूप में आपकी सेवाओं का उल्लेख स्वतन्त्र रूप से किया जाय तो कुछ आभास पाठकों को हो सकता है। आपने अध्यात्म-चरित्र तथा ऐतिहासिक गवेषणा से सम्बन्धित काफी साहित्य लिखा जो प्रसिद्ध हो चुका है।

ओजस्वी वक्ता

जैन समाज के अनेक ख्यातिप्राप्त वक्ताओं में आपका विशिष्ट स्थान है। आपकी वाणी में ओज व प्रेरणादायक सदेश मिलता है।





औद्योगिक प्रतिष्ठान

श्री लोंकाशाह जैन उद्योगमदिर की स्थापना आपके समाज की उन्नति के लिये प्रेरणाप्रद विचारों से ही हुई थी। यह लिखते हुए मुझे अवश्य खेद होता है कि यह महत्व की योजना सफल न हो सकी व सुयोग्य कार्यकर्त्ताओ के अभाव मे बीच मे ही छोड देनी पडी।

स्वतत्रता के पुजारी

भारत के स्वातत्र्यसग्राम मे अपनी मर्यादा मे रहते हुए मुनिश्री ने सदा पूर्ण सहयोग दिया है। स्वर्गीय शेरे राजस्थान श्रीजयनारायणजी व्यास जैसे नेताओ ने आपसे प्रेरणा व समय समय पर उद्बोधन प्राप्त किया है। आपकी रचनाओ मे स्वदेशप्रेम की मदाकिनी सदा प्रवाहित है और आज भी जनहित के कार्यों मे उसी तरह उत्साहपूर्ण प्रेरणा देते हैं।

आपका 'मरुधरकेसरी' विरुद यथार्थ ही है। केसरीजी की हुकार ने समाज मे नवजीवन का सचार किया है।

आपके त्याग व वैराग्यमय जीवन पर जितना लिखा जाय थोडा ही है। मुनिश्री के चरणो में मै अपने श्रद्धा-सुमन समर्पित करता हू।

•

क्या गुरुदेव ओसवाल थे और अब भी हैं ?

श्री धरमचन्द खारीवाल

श्री मिश्रीमलजी म० उन्ही व्यक्तियो मे एक है जो जन्म से ही अपनी जाति धर्म के प्रति विशेष प्रेमी व अनुरागी थे। कहते हैं, जब वे ११ वर्ष के थे, पाली के बाजार मे एक पब्लिक मीटिंग मे किसी वक्ता के इन शब्दो पर अड पडे —"ओसवाल जो वनिया कहलावे, बडा ही निर्दयी कजूस होवे है। घीरत मे पडीयोडी माक्खी भी ले लेवे है।" आप बोल उठे "वक्ता महोदय, शब्द वापिस ले लीजिये, क्यो राई का पर्वत खडा करते हो ? यह अपमान मेरी जाति का है।" वक्ता महोदय को घुटने टेकने ही पडे व प्रत्युत्तर मे क्षमा याचना भी की। बस, अब क्या था, सितारा चमक उठा, सीना खुल गया। प्रगति का पथ सुलभ हो गया। अध्ययन मनन की ओर रुचि बढ चली।

तदुपरान्त ससारी मिश्रीमलजी वैरागी बन गये लेकिन जातीयता के भावो की उत्तरोत्तर वृद्धि होती ही रही। विना हिचकिचाये भाषणकला मे प्रवीण हो द्वितीया के चन्द्रमा की तरह प्रगति करने लगे, निर्भीक होकर। तरुण अवस्था मे ही प्रकाड व्याख्याता की सज्ञा पाली।

वर्षों गुरुचरण की सेवा करते रहे फिर विहार भी किया तथा गुरु के रूप मे जैन पताका लहरा रहे हैं। लेकिन वह जोश क्रमवत् चलता ही रहा है।

मनसा वाचा कर्मणा रात दिन इसी भावना मे ओतप्रोत रहने वाले गुरुदेव समाज व जाति के गौरव रहे हैं तथा मृत्यू पर्यन्त रहगे भी।

अभी अभी नीमाज के वर्षाकाल मे मैंने देखा कि किसी मुसलमान ने गुरुदेव को सडक पर शौचादि हेतु निकलते देख कहा कि ये तो वाणियों के महाराज हैं।

बन्दूक की गोली की नाई झट उनके मुखारविन्द से माधुर्यमय वाणी निकली कि भाई सुल्तानजी, है तो हम महाराज ओसवशीय जैन सन्त ही, पर तुम लोगो से कोई विरोध है क्या ? यह सुनते ही मियाजी लज्जित हो क्षमा मागने लग गये।

मानव में सच्चाई, नैतिकता, सहिष्णुता, परोपकारिता, निर्भीकता मधुरभाषण एवं सद्भावना का होना उतना ही जरूरी है जितना निज जाति-धर्म का मान होना अनिवार्य है।

०

कोमल और कठोर

मुथा नाथूराम कामदार, हातीवास

पूज्य गुरुदेव मरुधरकेसरी प्र० रत्न मुनि श्री १००८ श्री मिश्रीमलजी म० सा० राजस्थान के एक विद्वान, योग्य एवं आदर्श सन्त हैं। आपका स्वभाव जितना मधुर है, सिद्धान्त और साधना के आदर्शों का पालन करने समय वही कठोरतम भी हो जाता है। आप तर्कों की शंकाओं का समाधान इतने मधुर ढंग से करते हैं कि जो आपसे एक बार मिल लेता है उसके हृदय में बार-बार मिलने की कामना रहती है। आप भक्तों को सुधारने के लिए कभी-कभी कटु शब्दों का प्रयोग भी करते हैं परन्तु उनका प्रभाव अमृत के समान होता है। सामायिक आदि के नियमों का आप कठोरता से पालन करवाते हैं। फटकार का प्रभाव ऐसा होता है कि भक्त जीवन में कभी भी उस प्रकार की भूल करने का साहस नहीं करता है।

मेरा व्यक्तिगत अनुभव है कि म० सा० की दृष्टि मन के मर्म का पहिचान करती है। वे आने वाले भक्त की इच्छाओं को समझकर यथाविधि व्यवहार करते हैं। ऐसे कर्नाटककेसरी गणेशीलालजी म० खादीधारी भी थे, जिनकी परखने की दृष्टि बड़ी पैनी थी। पूज्य गुरुदेव मरुधरकेसरीजी की हमारे ऊपर पूर्ण कृपा है। आपके पूर्वजों की हम पर परम्परा से कृपा रही है, हम लोगों की पीढ़ियों में सन्तों के प्रति कितनी श्रद्धा रही है, उसे शब्दों द्वारा व्यक्त नहीं किया जा सकता है। हमारी भगवान एवं पूज्य श्री से प्रार्थना है कि इस प्रकार की कृपा सदैव बनी रहे। पूज्य श्री के आदर्श हमारा पथ-प्रदर्शन करते रहें जिससे हमारे समाज का उद्धार हो सके। पूज्य श्री से मेरा निवेदन है कि वे इसी प्रकार हमें सन्मार्ग की ओर अग्रसर करते रहें।

०

वक्ता, लेखक एवं कवि के रूप में मरुधरकेसरी

ललितकुमार जैन



गत श्रावण शुक्ला १४ को नीमाज में मरुधर के महान् सन्त, समाजोद्धारक एवं सामाजिक क्रान्ति के प्रणेता मरुधरकेसरी प्र० रत्न मुनि श्री मिश्रीमलजी म० का जन्मदिवस मनाया गया था। पाली (मारवाड) में श्री शेषमलजी के परिवार में केशरदेवी की कुक्ष से जन्म लेने वाली उस महान् विभूति ने अपने साथ ही अपने माता-पिता का नाम भी स्थानकवासी जैन इतिहास में अमर कर दिया। मारवाड में कहावत है "चावदस रा जाया अमर राज करजो रे"। वस्तुतः विरले ही पुण्यवान् प्राणियों का उस तिथि को संसार में पदार्पण होता है।

गुरुदेवश्री ने अपनी अल्प वय में ही १९७५ की अक्षय तृतीया को स्वर्गीय बुधमलजी स्वामी से मुनि-दीक्षा ग्रहण कर अक्षय तृतीया के महान् महत्त्व को चार चाँद लगा दिये। बचपन में ही विद्या-अध्ययन की धुन के कारण योग्य गुरु के सम्पर्क में शास्त्रों का अध्ययन, हिन्दी, प्राकृत, राजस्थानी, उर्दू, आदि भाषाओं का पूर्ण ज्ञान अर्जित कर समाजोद्धार के कार्य में लगने वाले महान् सन्त ने समूचे मरुधर में क्रान्ति का शंखनाद फूंक दिया।

जब बचपन के दिनों की बातें याद आती हैं तो स्मरण हो आता है कि स्वर्गीय मूर्तिपूजक ज्ञानसुन्दरजी ने स्थानकवासी समाज को चुनौती दे रखी थी। नाना भांति के आक्षेपों से परिपूर्ण ग्रंथों की रचना, जैसे पेशावपर्थी



ढूंढियों की उत्पत्ति, क्या तीर्थंकरो ने डोरा डालकर मुँहपती बाधी, श्रीमद् लोकाशाह आदि की चर्चा की जा रही थी। स्थानकवासी समाज के बडे-बडे दिग्गज मुनिराज यह सब कुछ देखकर भी केवल इसीलिए शात थे कि विरोध करने से सभवत मूर्तिपूजक समाज नाराज हो जायगा। यह कैसी विडम्बना थी। माना कि हम किसी पर आक्षेप न करें किन्तु हमारी मान्यता पर किया गया प्रहार अगर हम सहन कर ले तो उसका तात्पर्य यह होगा कि हमारी उन विरोधी विचारधाराओं को मौन स्वीकृति प्राप्त है।

समाज के इस नर-रत्न का खून खौल उठा। गुरुदेव श्री ने अश्लील और आक्षेपपूर्ण ग्रन्थो के प्रकाशकों को ललकारा। मुँहतोड उत्तर देने वाले ग्रन्थों की रचना की गयी। आखिर सूर्य की किरणो के सामने रात्रि का घोर अन्धकार टिक नही सका। मूर्तिपूजक समाज के आक्षेपपूर्ण ग्रन्थों का शास्त्रसम्मत विरोध कर उन्हे शास्त्रार्थ करने को आह्वान किया। फिर क्या था। जनता को गुमराह करने वाले ऐसे ग्रन्थो का प्रकाशन अविलम्ब बद हो गया।

गुरुदेव श्री ने अनेको ग्रथो की रचनाए की। जिनका प्रकाशन श्री बुद्धवीर जैन स्मारक मण्डल, जोधपुर के तत्वावधान मे किया गया। इन ग्रन्थो मे जीवनचरित्र, स्थानकवासी जैन मान्यताओ का शास्त्रसम्मत विवेचन, समाज पर किये आक्षेपो का उत्तर आदि अत्यन्त प्रभावशाली एव रोचक प्रकाशन है। कुछ ग्रथ अभी भी प्रकाशनाधीन हैं, जो समयानुकूल परिस्थितियो मे प्रकाशित होते जायेंगे।

वक्ता के रूप मे गुरुदेव श्री की सिंहगर्जना से मरुधर का चप्पा-चप्पा परिचित है। वाणी की ओजस्विता, सरलता और स्पष्टवादिता से श्रोतागण इतने प्रभावित है कि वे स्वय गुणानुवाद किये बिना नहीं रह सकते। आपमे विशेषता यह है कि वर्गभेद आपके पास नही है। चाहे कोई बडा से बडा पूंजीपति हो या सामान्य स्थिति का श्रावक, आपके सम्मुख सभी एक ही श्रेणी के है। एक बार का वृत्तान्त स्मरण हो आता है। गुरुदेव जोधपुर मे विराज रहे थे। तत्कालीन सघ के एक प्रमुख श्रावकजी के पास एक सज्जन गये और उन्होंने कहा—आजकल कमजोरी बहुत आ गयी है, कोई उपचार हो तो बतावे। उन्होने अण्डे का प्रयोग करने का आग्रह किया। जब यह स्थिति गुरुदेव के सम्मुख रखी गयी तो बडा दु ख हुआ। दूसरे ही दिन व्याख्यान मे उन प्रतिष्ठित एव श्रीमन्त कहे जाने वाले श्रावकजी को गुरुदेव ने ललकारा और कहा, क्या हम अण्डे के प्रयोग का प्रचार कर अपनी मान्यता का पालण कर रहे है? शर्म के मारे वे नतमस्तक अवश्य हुए किन्तु गुरुदेव श्री की स्पष्टवादिता से चिढकर उन्होने व्याख्यान मे आना बन्द कर दिया। मरुधरकेसरी की यही गर्जना रही कि मुझे किसी से राग-द्वेष नही। मैं यह चाहता हूँ कि समाज का श्रावक-समुदाय अपनी मान्यताओं के विरुद्ध आचरण न करे। चाहे वह छोटा है या बडा, मेरे लिये सब बराबर है।

स्पष्टवादी नीति के कारण ही आज श्रमणसघ के बडे-बडे मुनिराजो मे आपके प्रति अगाध श्रद्धा है। आपमे कथनी और करणी का अन्तर लेश मात्र भी नहीं है। वाणी की ओजस्विता के कारण हजारो के जनसमुदाय मे आपके प्रवचन सहज ही सुनने मे आ सकते हैं। "लोकाशाह अर्धसहस्राब्दी" के अवसर पर सोजत मे दस हजार से ज्यादा एकत्रित जनसमूह के समक्ष आपका प्रभावशाली भाषण ऐतिहासिक वस्तु बन चुका है।

सैकडो हजारो राजस्थानी, हिन्दी और उर्दू की कविताए, दोहे, सौरठे, चौपाइयाँ आपको याद है। जिन्हे सुनकर श्रोता सहज ही आश्चर्यचकित रह जाते हैं। ऐसा अनुभव होता है कि आप पर देवी सरस्वती की महान् कृपा है। व्याख्यान मे प्रसगानुसार कविता बनाकर कह देना तो आपके लिये कोई कठिन कार्य नही। अनेको कविताओ की रचनाए आपश्री ने की हैं। वीररस की कविताओं को पढकर मुर्दा दिलो मे भी जीवन का सचार हो जाता है।

एक बार सादडी चातुर्मास में गुरुदेवश्री ने गोडवाड प्रान्त मे स्थानकवासी मान्यताओं के प्रचार-प्रसार के लिए लोकाशाह गुरुकुल स्थापित करने की योजना रखी। यह तो गुरुदेव श्री की वाणी का ही प्रताप था कि एक ही दिन मे लगभग २॥ लाख रुपये की टीप कर दी गयी। आज यह गुरुकुल समूचे भारत मे अपनी सानी का एक अद्वितीय गुरुकुल है।

आपश्री की सदैव यही प्रेरणा रही कि समाज मे सगठन हो, सम्प्रदायवाद की दीवार ढह जाय और एक ही

आचार्य के अधीन रह कर नाग श्रमणवर्ग धर्म का प्रचार करे। सादडी का वृहत् साधुसम्मेलन आप की इस नीति का ही सुफल था जिसे स्थानकवासी जैन इतिहास मे स्वर्णाक्षरो से लिखा जायगा। अपनी इसी एकता की धुन मे रत गुरुदेव अनेक परिषहो को सहन करते हुए प्रतिवर्ष सैकडो छोटे-मोटे गाँवो मे वीरसदेश से आम जनता को आमन्त्रित करते रहे है जबकि अधिकाश श्रमणवर्ग शहरो की ओर विचरण ही अधिक पसन्द करते है।

शासनदेव से प्रार्थना है कि हमे मरुधरा की महान् विभूति त्यागी, तपस्वी, श्रमणश्रेष्ठ सत की जन्मजयन्ती मनाने का जीवनभर अवसर प्राप्त होता रहे। गुरुदेवश्री शतायु हो जिससे हमे उनके मुखारविन्द से जिनवाणी श्रवण का अवसर प्राप्त होता रहे।

●

आदरणीय मरुधरकेसरीजी को अभिनन्दन

श्री सुधीन्द्र गेमावत

परम श्रद्धेय, प्रातस्मरणीय मरुधरकेसरी श्री मिश्रीमलजी महाराज से मेरा साक्षात्कार वडून्दा मे एक रात्रि को हुआ था और मै जब वापस लौटा तो मुझे अपने प्रयास की सफलता की खुशी थी। आप से शल्यचिकित्सा लगवाने हेतु आशीर्वाद प्राप्त हो चुका था और जनवरी सन् १९६६ के प्रथम सप्ताह मे नीम्बाज मे जो शिविर लगा वह अपने आप मे अभूतपूर्व था। उसका उद्घाटन भी आप के आशीर्वचन से हुआ जिस समारोह की अध्यक्षता डा० एम० सी० मेहता सचालक, आयुर्वेद शल्यचिकित्सा बोर्ड, राजस्थान ने की।

वह इस वर्ष का सर्वोत्तम शिविर था और उसके बाद अब प्रतिवर्ष नीम्बाज मे यह शिविर लगता है और सहस्रो व्यक्तियो को नि शुल्क शल्यचिकित्सा (ऑपरेशन) का लाभ मिलता है। एक जैन साधु साधारणतया इन कार्यो मे रुचि नही लेता। उसका दायरा तो धर्मग्रन्थो, मन्दिरो, उत्सवो तक ही सीमित होता है। श्रद्धेय गुरुदेव, आम जनहित और जनसेवा के मामलो मे अत्यन्त रुचि लेते है और जहाँ भी जनकल्याण की बात हो अपने पूर्ण सहयोग और प्रभाव से उस कार्य को पूरा करा लेने की क्षमता रखते है।

इस एक सयोग के बाद आपकी मुझ पर असीम अनुकम्पा रही है। और आपके सान्निध्य मे एक आत्मिक शान्ति का मैने सदा अनुभव किया है। मेरे जैसे सहस्रो, लाखो लोग आपके दर्शनार्थ दूर-दूर से आते है और आपके एक सकेत पर अपना सर्वस्व अर्पण करने को तैयार रहते है। ऐसी अटूट श्रद्धा और भक्ति का एक मात्र कारण है आपका उच्च चारित्रबल, जीवनपर्यन्त त्याग एव तपस्या। आपके अमृत-वचन सुनकर मनुष्य मात्र सन्मार्ग पर चलने को प्रेरित हो उठता है। आप के लिये जाति, रग, धर्म का कोई भेदभाव नही है। अत सभी वर्गो के लोग अपना सुख-दुःख सुनाने आपके पास आते है। और आपके अनन्त प्रेम और दयाभाव से प्रेरित एव आनन्दित होकर लौटते हैं।

मैं परमपिता परमेश्वर से प्रार्थना करता हूँ कि आप सदा हमारे बीच अन्धकारमय समुद्र मे देदीप्यमान प्रकाश-स्तम्भ की तरह समाज का मार्गदर्शन करते रहे और मध्याह्न के प्रखर सूर्य की तरह अपने तपोबल और तेजस्विता से मनुष्यमात्र के मन मे कलुष, घृणा, द्वेष, लोभ, मोह-माया के अन्धकार को नष्ट करते रहे।

जिसे ऐसे अलभ्य गुरु मिल जाय, उसका जीवन सफल हो जाता है।

●





मरुहरकेसरिमुणिमिसिरिमल्लस्साऽहिणन्दण

सिरी पुप्फ भिक्खू

मंगलाचरण

णायपुत्त महावीर, सव्वन्नु सव्वदसिण ।
णमसित्ता करिस्सामि, मिस्सिमल्लाभिणन्दण ॥१॥

सबोहण – वसी ! जिण्णीयतराट्ठ ! जम्मभूसुहृणिप्पिह !
राघवकुलतिरीडोऽसि, मोलकीवसमभव ! २
भवब्भमणनिव्विण्ण ! अणासत्त ! विरत्त ! या
कायामणपिहामुत्त ! भव्वसारगतप्पग ! ३
देहभावनिगवेयव ! सासणसेवा पारग !
सिद्धिसगमसावेयत्त ! सुमेरु इव निच्चल ! ४
जोईपहुव्वअमल ! निस्सगो पवणो वि या !
निम्ममत्तसमाउत्त ! निस्सविज्जाविसारअ ! ५

दण्डओ—सस्सजमधुराधारझाणघणेसर !
माणावमाणासुरदलणमहेसर !
गामकण्टगपरीसहवालनिब्भअ !
सियझाणचिन्तणत्तसरुव अच्चुअ !
रागाइरयणीयरकसायागरवियारग !
तवतिव्वइगालसरकामणयर दाहग !
निस्सगत्तयाए णाणरज्जसासग !
काम-कोह-मोह-लोह-आइपावणासग ! ६

चउप्पई – तण्हच्चीहिम ! तण्हाकालजलुग्गम हे !
दुस्सगमणोमायगनिग्गहे अकुस भे !
अट्ठउग्गतवग्गिणमोहकट्ठभस्सीकय णे !
उद्दामघटामायगसन्तरसवाउहणे ! ७

गाहा—सरीराहारचीहारससारभोगणिप्पिह !
विसुद्धबोहपीऊसपाणपुण्णीकयासअ ! ८
विरोही जगज्जन्तुकरुणावरुणालय !
अभेई कामधेणुव्व ! अभिणन्दन्ति त जणा ९

गज्ज—पगुरुआयरियमहसरामयगामधेत्तसम्पया सम्भालिया। ते य अणुकम्पा वच्छल्लया वास वामित्ता अज्झत्तभावे थिरिक्कया। पइवरिसट्ठमासेसु परिकहियमञ्चगामेसु गामाणुगाम दूइज्जित्ता तेसु धम्मुल्लासेण सिरिजीवराय भूहर-रघुणाहायरिय-सगुरुबुहमल्लाइयाण सुमिरण करावेमि तेसु भत्तिमत्तिवीररस च ओयप्पोय करेसि, ते सासणसेवा-वियारलहरिमालाए पुणो पुणोऽभिणदण। तुमाए सञ्जेसु सन्तवीरब्भुयरस च भरिय धम्मुज्जोओ कओ। भत्तभावुगा य त कयावि न भुल्लिउ सक्का। अहो केरिसो अणुण्णासयमग्गन्वो पयईए सजोइओ। सच्च तु इण ज तइ कायव्वपरायणया नियगुरुबुहमल्लेण अट्ठिमिजपेम्माणुरागरत्ता कया। अहा सोलक्की-रघुणाइआयरियकुलसिरोमणिं ते इणमेव जुत्त। दिट्ठा परिक्खिया य तव कायञ्चया मचकरूहिं सादडीसम्मेलणे, निरिक्खिया ते आयतेयप्पहावा। दिट्ठा भीणासरे तव पयावत्ताओ

जो इवीओ णमो। जइ मुणिमओ तुज्झगुणपरिकित्तण किच्चा तुम पहाणपरिपडत्ति पयच्छन्तो ता अज्ज उवेक्खाघडा न हुन्तो। तो वि गुरुदेवेहि परिचिन्तओनि ते नत्ता नेव अभिणन्दन्ति थुणन्ति य। तवोतरिममहिमावण्णण मच्चुलोए समाइन्ति। ते सारत्तरागराग पवाणा पणच्चन्ता उल्लसिया एव मन्तित्ता भवन्ति। तेहि सद्धि अहमवि तवाहिणन्दा करेमि।

पसत्थी—फरीरचंदनिस्सेण, णामेण पुप्फभिक्खुणा।
मरहरकेसरीमिक्कू, मिस्सीमल्लाहिणंदण ॥१॥
झाण-णेत्त-ख दो वासे, वेक्कमे वच्छरे मुहे।
अम्मिणीसुक्कपक्खम्मि, तेरसी सोमवासरे ॥२॥
गुडगामम्मि सुग्गामे, ठाणे परमसोहणे।
अणेगन्तविहारम्मि, कय चित्ताहिणन्दण ॥३॥

उवसहारे—जयउ-जयउ वीरो, सव्वकल्लाणकारी।
जयउ जयउ धीरो पावसन्तावहारी।
जयउ य मरुदेसे णाणसुहवुट्टिकारी,
जयउ मिस्सिमल्लो केसरी इव विहारी ॥४॥

●

इस अभिनन्दन का अभिनन्दन

श्री सुरेशमुनि, शास्त्री,

वागजन्मवैफल्यमसह्यशल्य ।
गुणाद्भुते वस्तुनि मौनिता चेत् । —महाकवि हर्ष

सन्त किसी भी समाज अथवा राष्ट्र का एक सजग प्रहरी है। अपनी संयम-साधना के अग्नि-पथ पर आगे बढ़ता हुआ वह लोक-हित के लिए भी अपने आपको अर्पित करता चलता है। अपने वैराग्य-मूलक पुनीत-पवित्र विचारों से वह जनमानस को जगाता और "बहुजनहिताय बहुजनसुखाय" अपनी वैचारिक थाती का अभेद-अखेद भाव से लुटाता चलता है। जीवन-पथ के भूले-भटके पथिकों का वह सफल-निष्काम मार्ग-दर्शन करता है। प्यासी आत्माओं को वह अपनी वाणी का अमृत पिलाता है और इसलिए समाज तथा राष्ट्र का सतत कल्याण-साधन करता है।

और, जन-मानस को जगाना, सामाजिक उत्कर्ष अभ्युदय की प्रेरणा प्रदान करना—सन्त जीवन की यह जीविका-साधना नहीं, प्रत्युत उसकी जीवन-साधना, अध्यात्म-साधना तथा संयम-साधना का एक महत्वपूर्ण अंग है—जिसके लिए वह निरन्तर नगर-नगर, डगर-डगर घूमता है, हँसते मुस्कराते, हजार-हजार कष्टों-कठिनाइयों को झेलता है, अपमान-निन्दा के जहरीले घूंट पीकर भी, वह जन-जन को अमृत बांटता है, अपने मजबूत हाथों में ज्ञान की जलती मशाल लेकर मन-मानस का अन्धेरा मिटाता है और समाज तथा राष्ट्र के सोये भाग्य को जगाता है।



मरुधरकेसरी श्रीमिश्रीमलजी महाराज राजस्थान में स्थानकवासी जैन-समाज के एक ऐसे ही प्रबल समाज-सुधारक, निर्भीक प्रचारक, प्रतिष्ठित, यशस्वी तथा सर्वतोमुखी प्रतिभा के धनी संत है। राजस्थान की मरुधरा में उन्होंने अपने आचार-विचारमूलक ज्ञान की मन्दाकिनी प्रवाहित की है। समाज का वैचारिक एवं चारित्रिक धरातल ऊंचा उठे, समाज विकास एवं प्रगति की मंजिल पर सतत आगे बढ़े—यह उनके मन की साध रही है। और इसके लिए वे सर्वतोभावेन सक्रिय तथा प्रयत्नशील रहे हैं। समाज का नैतिक एवं शैक्षणिक स्तर ऊंचा उठाने के लिए अनेक शिक्षण-संस्थाओं के संस्थापन में उनका ठोस योगदान रहा है। सामाजिक एकीकरण तथा रूढ़िवाद के उन्मूलन के लिए भी वह जन-मानस के लिए प्रेरणा-स्रोत रहे हैं। सादड़ी, सोजत, भीनासर के सामाजिक सम्मेलनों के मंच



पर भी उन्होने अपनी कठोर कर्मठता, विलक्षण कुशलता तथा गहन सतर्कता का साकार परिचय दिया है। उनकी इन लोकोपयोगी एव सामाजिक उपलब्धियो को कैसे भुलाया जा सकता है ?

तो, लोकोपकारी प्रवृत्तिया, व्यक्तित्व की कर्मठता और जीवन की गरिमा लोक-लोचनो पर चढ ही जाती हैं, जनता के अन्तस्तल-मर्मस्थल को छू ही जाती है। जन समाज के हृदय की श्रद्धा, निष्ठा, भक्ति तथा लोकोपयोगी कार्यों के प्रति मानसिक आकर्षण की शाब्दिक अभिव्यक्ति का नाम ही तो अभिनन्दन है। इसका स्पष्टत यही तो अर्थ है कि, मरुधरकेसरीजी के प्रखर व्यक्तित्व, निर्भीक वक्तृत्व, एव कुशल कर्तृत्व ने राजस्थानी जैन-समाज का ध्यान बलात अपनी ओर आकर्षित किया है। "अभिनन्दन" और होता ही क्या है ? व्यक्ति के विलक्षण व्यक्तित्व, प्रभावशील वक्तृत्व, सक्षम कर्तृत्व तथा समाजहित के प्रयत्नो मे उनके योग-सहयोग की मुक्त-कठ से प्रशसा एव सराहना !

भारत मे सयम, त्याग, तप, सदाचार-मूलक जीवन के उच्च आदर्शों का सदा ही स्वागत-सत्कार होता आया है। यह व्यक्ति का नही, व्यक्ति के जीवन की मौलिक विशिष्टताओं तथा तत्प्रेरक सामाजिक उपलब्धियो का सम्मान है। व्यक्ति तो एक माध्यम है। "गुण-पूजा" का एक महत्त्वपूर्ण एव जीवित-जाग्रत ढग है यह एक।

राजस्थान के जैन समाज का यह परम सौभाग्य है कि, ऐसे कर्मठ, समाज-हितैषी, एव समाजसुधारक सन्त उसके बीच मे आज भी विद्यमान है। राजस्थानी दुनिया के इस जाने माने सत की सयम-साधना के पचास वर्ष की पूर्ति की हार्दिक प्रसन्नता की अभिव्यक्ति के रूप मे राजस्थानी जैनसमाज ने जो अपनी आस्था-श्रद्धा के सुमन अर्पित-समर्पित किए हैं और उनके जीवन की सामाजिक सेवाओ तथा लोकोपयोगी उपलब्धियो का सार्वजनिक अभिनन्दन किया है, यह हर्ष का विषय है। इस अभिनन्दन का अभिनन्दन। अपनी सयम-साधना के पथ पर अग्रसर होते हुए, वह जनहितकारी ध्येय की दिशा मे सतत गतिशील रहे। इस हृदय की यही मगल कामना !

•

श्रद्धा के फूल

मुनिश्री सुशीलकुमार

मरुधरकेसरीजी समाज की वह ज्योति हैं, जो सदा ही जाज्वल्यमान रही है। उनकी स्पष्टवादिता, कडकपना, गावो के प्रति मोह-ममता, कर्त्तव्यपरायणता, मरुधर देश को ही नही, पूरे ही भारत को एक देन है।

उनके सघ-सगठन का अद्वितीय कार्य इतिहास के लिए एक सुनहरा पृष्ठ है। बिखरे समाज के हीरे-पन्नो का श्रमणसघ मे गूथना एव 'श्रमणसुरतरु' का निर्माण उनके मस्तिष्क की अमूल्य देन समाज को है। मेरी तहदिली श्रद्धाजलि इसी रूप मे सदा ही उनके साथ रही है। इसी भावना के साथ ये 'श्रद्धा के फूल' प्रस्तुत हैं।

•

कलाधर महान् केसरी

प० सौभाग्य मुनि 'कुमुद'

भूमडल पर कुछ ऐसे आश्चर्यजनक व्यक्तित्व पाये जाते हैं जिनमे विरोधी तत्वो का अद्भुत मिश्रण होता है। मरुधरकेसरी श्रीमिश्रीमलजी म० सा० का व्यक्तित्व भी कुछ ऐसी विचित्रता लिये हुए है कि यकायक कोई अपने निश्चित मापदड मे उसे नहीं माप सकता।

शान्ति, क्रान्ति दोनो अपने आप मे चरम सीमाए रखती है किन्तु केसरीजी का व्यक्तित्व दोनो की अति मे

निहित है। फलतः उनमें कुछ ऐसा मधुर तथा अनोखा सम्मिश्रण उनमें पाया जाता है कि जिसका अन्यत्र पाया जाना कठिन है। शान्ति-पूर्ण ओजस्वी भाषा में कहते हुए केसरीजी का सुनकर शायद ही ऐसा कोई सोच पाए कि जिनका 'मधुगर्जन गजेन्द्र' भी है, किन्तु श्रोता कुछ समय में ही अनुभव करने लगता है कि वह हुंकार बहुत महत्त्वपूर्ण प्रयास में परिणित हो चुकी है। विशेषता यह है कि वह किसी अति में नहीं जाएगा। वस्तुतः उनका यह खट्टा-मीठा स्वभाव ही उनमें महान् रचनात्मक-शक्ति का निर्माण करता हुआ समाज में सर्जनात्मक उपलब्धियों का भंडार भर रहा है।

समाज में पैदा होने वाली प्रत्येक स्फुरणा को केसरीजी का व्यक्तित्व प्रभावित करता है। इतना ही नहीं उसे समुचित मार्ग देने की क्षमता भी रखता है। अखिल भारतीय इतिहास की समसामयिक घटनाओं में आपका महान् व्यक्तित्व स्पष्ट है व व्यापक परिस्थितियों में भी सक्षम है।

व्यक्तित्व की आन्तरिक सरलता उसका समुचित प्रभावप्रयोग है और उसकी आवश्यकता होती है बौद्धिक सरलता की। समग्र बौद्धिक निर्देशन के बिना कई प्रभावशाली व्यक्तित्व भी लड़खड़ाते, गिरते व दबते देखे गये हैं। जहाँ तक केसरीजी के व्यक्तित्व का प्रश्न है वह अच्छी तरह कहा जा सकता है कि उसके पीछे समुचित सम्यक् बौद्धिक निर्देशन सदा रहता आया है और यही कारण है कि केसरीजी का व्यक्तित्व व्यापक, व्यापकतर, व्यापकतम होता चला जा रहा है।

आपके चमत्कार की शान्ति-क्रान्ति मिश्रित प्रतिभा में ही एक ऐसा जादू है कि दर्शक स्वयं आकर्षित व प्रभावित हो जाता है। शक्ति के साथ कोमलता व हिम के समान सिद्धान्त नैतिकता का ऐसा सुन्दर समन्वय अन्यत्र मिलना कठिन है। इसीलिए मैं उन्हें 'मरुधर महान् केसरी' के रूप में देखता हूँ।

आशा ही नहीं पूर्ण विश्वास है कि अभी कई युगों तक मरुधर महान् केसरी अपनी मौलिक-कल्पनाओं को प्रकट करते हुए संघ व समाज को उन्नति की ओर बढ़ाते रहेंगे।

●

चमकते दिन के सम केसरी

श्री हीरामुनिजी 'हिमकर'

जगत में मिसरी मुनि राजते,
नगर में पुर में नित गाजते।
गरजते रहते जिम केसरी,
चढ़ गये मरु के तुम केसरी ॥

थन रहे अब तो गुरु केसरी
अमर हो दिल के तुम केसरी।
नगर में घर में चरचा मुनी,
तरन तारन हैं मिसरी गुनी ॥

करत हूँ गुन गायन आपके,
कटत हैं जिससे जड़ पाप के।
सुगुन शिष्य सुधाकर आपके,
गुगन के गुन आकर मानते ॥

मरुधरे मिसरी मुनि केसरी,
चमकते दिन के सम केसरी।
कुजड़ पूजन की जड़ काटते,
वचन वीर जिनेश सुनावते ॥

नित करो मिसरी गुण गान थे,
उतर जो जिन से भव पार थे।
हिमकरो विधि से कर वन्दना,
विनय से विनवे मुझ तारना ॥



●

गौरव-गीत

श्री रसिक मुनि

तर्ज—थारी मोह माया ने छोड

हो जिनशासन-सिनगार, सदा गुणधारी ।
गुरुदेव आपकी वारवार वलिहारी—टेर ।
"मरुधर" मे सुन्दर पाली शहर कहलावे ।
है जन्मस्थान वहा सौम्य-छटा मन भावे ॥
है मिश्रीमलजी नाम जगत मे जहारी ।
गुरुदेव आपकी वार वार वलिहारी—
थे पिता आपके सहस्रमलजी नामी ।
थे धर्मी और धनवान श्रावक गुण धामी ॥
लिया केसर कुवर की गोद जन्म सुखकारी ।
गुरुदेव आपकी वार वार वलिहारी—
नित मात पिता परिवार सभी हर्षाया ।
पुण्यवान पुत्र यह पुण्योदय से पाया ॥
मुख-मण्डल शशिवत सूरत मोहन गारी ।
गुरुदेव आपकी वार वार वलिहारी—
जव पांच वर्ष मे जननी स्वर्ग सिधाई ।
तव से दिल मे वैराग्य भावना आई ॥
मैं लेऊँ सयम वनू महाव्रत धारी ।
गुरुदेव आपकी वार वार वलिहारी—
आराध्य देव श्री वुधमल जी थे प्यारे ।
महा ज्ञानवान वे पट्काया रखवारे ॥
कर लिया सयम स्वीकार आत्महितकारी ।
गुरुदेव आपकी वार वार वलिहारी—
किया ज्ञान ध्यान महापडित वन गये ज्ञानी ।
मरुधर मे मोटा सन्त, सकल गुण खानी ॥
आगम के ज्ञाता तत्व मनन मन हारी ।
गुरुदेव आपकी वार वार वलिहारी—
हो निर्भय-वक्ता आप सुपथ वतलाओ ।
भगवान वीर का अमर सन्देश सुनाओ ॥
हो मरुधर-केसरी रटे सदा नर नारी ।
गुरुदेव आपकी वार वार वलिहारी—
शासन की वढाओ शान भारत के माही ।
युग-युग तक जीयो मगल-कामना या ही ॥
अभिनन्दन चाहे 'रसिक' मोद मन हारी ।
गुरुदेव आपकी वार वार वलिहारी—

●

जय मारवाड़ का सन्त पुनीत

श्री गणेश मुनि शास्त्री साहित्यरत्न

जय मारवाड़ का सन्त पुनीत! बोले जन जय तेरी हो विनीत!

तमसावरी निशा चीरकर, तू भानुसम प्रकटा कुल में,
खिले परिजन के आनन, ज्यों कमलदल मुकुल में,
शैशवावस्था बीत चली और तरुणाई आकर फूट पड़ी,
तभी संयम-रश्मि बरसने को, एक विराग-रेखा झट पड़ी,

बना तू करने अपनी जीत! जय मारवाड़ का सन्त पुनीत!

जलबिन्दु-सा निर्मोही बन साधना में कदम बढ़ाया,
वीर-शासन की सेवा का, सुदृढ़ संकल्प बनाया,
आये थे विघ्न कई पथ में, फिर भी न उनसे तू डरा,
धर्म-स्वप्नों ने पथ दिखाये, महाध्येय पर मेरु-सा खड़ा,

निभाता धर्म की मन्त्र-रीत! जय मारवाड़ का सन्त पुनीत!

मरुधरा की पावन धरा पर, जहाँ भी पड़े तेरे चरण,
संघ-संगठन और धर्म का होना मानों वहाँ नया वरण,
शिथिलाचार मिटाने में, फूंक दिया निज जीवन बल,
सत्य-तत्त्व बतलाने में, किंचित् रखता न मन में छल,

जय हो एकता के सुमीत! जय मारवाड़ के सन्त पुनीत!

पाण्डित्य तेरा अति श्लाघ्य, साहित्य भी तेरा है सरस,
अद्भुत तेरी यश-रेखा, तू नन्दनवन सा हरा-भरा,
तू केसरी सत्य ही 'केसरी' गिरा में अमित ओज-बल,
करता है तू अभिगुंजित, समाज हित का गीत प्रतिपल,

बनी रहती सदा सुनीत! जय मारवाड़ का सन्त पुनीत!

जन श्रुति से कड़क मिश्री, पर, अन्तर में तू नवनीत,
दयालु, कृपालु, भावुकता की, बहती त्रिवेणी अपरिमित,
सुवर्ण-जयन्ती पर हे तपस्वी, करते हम तेरा अभिनन्दन,
महके तू चहुँ दिशि-दिशि में, ज्यों धूप, मलयज-चन्दन,

रखता साधुता में सुप्रीत! जय मारवाड़ का सन्त पुनीत!

●





म्हारो पण अभिनन्दन

मदन मुनि 'पथिक'

मरुधरकेसरी मुनिराज श्रीमिश्रीमलजी म० सा० आपणी समाजरा जाण्या पिछाण्या पुरुषरत्न स्वयभू रूपसू चमक रह्या है। अठे गुसाईंजी महाराज रो दुहा चोखो फिट व्हियो—

"जेते तारे गगन मे तेते दुश्मन होय।
कृपा होय रघुनाथ की, बाल न बाका होय॥"

स्वर्गस्थ आचार्य श्री रघुनाथजी महाराज री 'दया पालो' घोषणा मुनिराज रा विराजवा सू सार्थक है। इणी तरह सू आप पर भी घणा विघ्न आया ने आई रह्या है पर अणाहीज दयालु आचार्य श्री रघुनाथजी म० सा० री कृपा सू आपरो एक रोम पण वाको नी व्हियो। वटी ज्योति ने हवा काई बिगाड सके? उल्टी वत्ती-वत्ती तेज वणे।

वद्धमान सघ ने वृद्धि सू कुण रोक सके? आपरो अन्त करण मिश्री जस्यो मधुर है। पण शब्द भी मिश्री जस्या ही कटक है। ढिलो-ढालो मीधा साधो मधु व्हे पण उण मे घणा जन्तु मर जाय। पण आप तो आपरा रूप ने श्री रघुनाथजी की कृपा सू तरास, तराम ने अस्यो वणाई दीधो जो अणी स्मृतिग्रन्थ रा रूप मे शोभे है। म्हारो पण अभिनन्दन!

•

श्रद्धांजलि

कविरत्न श्रीचन्दन मुनिजी

मरुधरा के केसरी जो, इक सितारे सघ के
है उन्हें श्री सघ प्यारा, वे हैं प्यारे सघ के,
सघ-सगठन से उन्हें है, प्रेम सच्चा जिस कदर
काश! हर इक ही मुनि को, हो मुहब्बत इस कदर।

सघ से ही जैन की ससार में इक शान है
है जुदा श्री सघ से हर—जैन का कल्याण है,
सघ का जिसने बढ़ाया-मान आगे बढ गया
उन्नति के पथ पे वह इसान आगे बढ गया।

पर, अह का त्याग करना, है भला आसान क्या?
त्यागियो को तग करता ये नहीं अभिमान क्या?
छू नहीं किन्तु गया ये, आपको मिश्री मुनि!
आप-सा दुनिया मे होगा, सयमी कोई गुणी।

सौम्यता भी, सरलता भी, वीरता भी, धीरता
है अनूठी आपके सद् ज्ञान की गम्भीरता,
लीन रहते हैं सदा, स्वाध्याय, तप मे, ध्यान में
इक अनोखा आ रहा है, आपको रस ज्ञान मे।

दूर रहते जा रहे हैं, दम्भ, छल से द्वेष से
कर लिया सबको ही वश आचरणयुत उपदेश से ।

आगमों के ज्ञान की हो, इक लगाते हैं झडी
लोग यों एकाग्र बनते, देखते फिर ना घडी ।

हम कहें भाषण इसे या मोतियों की इक लडी
तब मिलाते आप जाते, हैं कडी से ही कडी,

आप की शुभ प्रेरणाए, पूज्य जिनके साथ हैं,
सादडी, सोजत, गुरुकुल, विश्व मे विख्यात हैं ।

हैं अनेकों संस्थाए, और राजस्थान मे
आपके संकेत पर रत, हैं जो जन-कल्याण में ।

सादगी के हो पुजारी, तडक है न भडक है
त्याग की वैराग्य की पर, आप मे इक भडक है ।

आप अपने श्रावकों का, खूब रखते हैं खयाल
घूम आते हैं अब हर गाव मे हरएक साल

खूबिया कुछ और भी हो, आप श्री मे खास हैं,
मोह तज नगरों का करते, गाव मे चौमास हैं ।

क्या कहू मैं आपके जीवन की जो भी शान है
आप पर श्रीसघ को, ससार को अभिमान है,

है अभिनन्दन 'मुनि चन्दन' के द्वारा आप का
और भी जग जलवा देखे, आपके प्रताप का ।



मैं टकरा गया

मुनि रजन जैन



इस जिन्दगी मे मैं कठिन पाषाण से टकरा गया,
हा ! साथ खल-दल के गिरा मझधार मे चकरा गया ।
सच्चा सहारा आपका उस वक्त था मुझको मिला,
जिसके सुबल पर ही सुखद जीवन सुमन मेरा खिला ।
सौजन्य-शुचि पीयूष से सब आधि मेरी दूर कर ।
पुनि पूर्ण-प्रेम-प्रवाह से मेरी तमन्ना पूर कर ।।
दुर्दान्त करि-अरि हेतु श्रीमन् ! आप मरुधर केसरी ।
कर जोड अभिनन्दन करू-आई कूल मम-जीवन तरी ।।
तेरा विमल विश्वास मेरे श्वास के सग घुल रहा ।



ऐसी वरिष्ठ विभूति इस युग मे भला पाता कहा—
है मुदित करतल-विश्वको मन त्याग कर जाता नहीं।
सत्य का शिवरूप सुन्दर, ज्ञान जग को भा गया।
है मुक्त जगती पर वही जो शरण गुरु के आ गया॥
कट जाए बन्धन कर्म के इसमे भला शका कहा।
परस पारस लोह कचन, बन गया कुन्दन महा॥
इस दुर्गम भव की अटवी-मे-उपदेशवि तुम्हारा स्पन्दन है।
अतएव विभो अन्तस से मेरा प्रेमभरा अभिनन्दन है॥

मेरी श्रद्धांजलि

श्रीसुकन मुनि

मनुष्यजीवन की प्राप्ति के साथ कर्म के प्रभाव मे आशिक सदिच्छाए अव्यक्त रूप मे विद्यमान रहती हैं, वही कालान्तर मे सद्गुरु और सत्सग से विकासशील स्वरूप ले लेती हैं। मेरा जीवन भी इसी प्रकार प्रारभ होता है।

प्राय निश्चित है कि बाल्यकाल मे जीवन जिस ओर मोड लेता है, वही आगे जाकर पुष्ट होता हुआ उत्तरोत्तर सशक्त होता जाता है। आवश्यकता है, सद्गुरु की चाह, सद्गुरु का साक्षात्कार और सद्गुरु की सेवा।

मैंने अपने जीवन मे पहली बार जब गुरु के दर्शन किये तो पूर्व कर्म गतिशील न होने पर भी प्रगतिपथ पर अग्रसर होने लगा और मैं गुरुदेव की ओर आकर्षित होता ही गया। मैं पहली बार जान पाया कि सद्गुरु साक्षात् पर-ब्रह्म स्वरूप है, जो कचन से कुन्दन बनाकर निराली आभा उत्पन्न कर देते है।

मुझे गुरुभक्त एकलव्य की साधना याद हो आई जो अरण्य मे रहकर गुरु द्रोण के लाख मना करने पर भी प्रिय शिष्य बन ही गया। इसमे उसकी साधना ही एकमात्र निमित्त कारण बनी किन्तु गुरु भी यदि ऐसा हो जो परीक्षा भी ले और वरद हस्त सर पर भी धरें, तो क्या कहना!

मेरी किशोरावस्था होने पर भी मेरे पूर्व कर्मों ने जहा मुझे पहुचना चाहिए, वही पहुचा दिया। यह बात वि० स० २०१९ के लगभग की है। मुझमे वैराग्य भाव विकसित होने लगा और अन्त मे सद्गुरु पडितरत्न मरुधर-केसरी महामुनि श्री मिश्रीमलजी महाराज के चरण-कमल की सेवा प्राप्त हो गई।

वैराग्य भाव का उदय स० २०१९ के चैत्र शुक्ला पचमी को होता है और इसी वर्ष के अन्त मे फागुन शुक्ला ७ को मेरी भागवती मुनि दीक्षा भी बडी धूमधाम से थावला (पुष्कर) में सम्पन्न हो गयी। यद्यपि मेरी दीक्षा हेतु ब्यावर, बगू दा, सोजत आदि नगरो के श्रावको ने काफी प्रयास एव प्रयत्न किया किन्तु थावले के श्रीमन्त सेठ मोहनलालजी मोजतिया तथा उनकी विदुषी धर्मपत्नी कौशल्या बाई का आग्रह और सदिच्छा ही प्रबल रही और थावला गाव मानवमेदिनी से व्याप्त हो गया।

दीक्षा महोत्सव का इसी से अन्दाज लगाए कि राज्य की विविध शिक्षण सस्थाओं को पचास हजार रुपया सहायतार्थ प्रदान किया गया। यह गुरुदेव का महान प्रभाव है कि मुझ अकिंचन के हेतु श्रावकसघ कटिबद्ध हो कार्य-रत रहा और आयोजन को सफलता के साथ सम्पन्न कर पाया।

मैंने पूर्व शुभ कर्मों के प्रभाव से ही सद्गुरु की प्राप्ति हुई, जिसका संक्षिप्त वर्णन कर गया हूं। किन्तु गुरुदेव के सान्निध्य में मैं क्या से क्या हुआ ? इसकी चर्चा लोह-लेखनी से कागज पर उतारना कठिन है। इतना ही काफी होगा कि सद्गुरु के चरण छूते ही मैं लोह से स्वर्ण में बदल गया। आज मेरा जीवन जगत्जन की धरोहर है और मैं गुरु-पद-पंकज का चकोर समझा जाता हूं।

सचमुच सद्गुरु ने मुझे क्या नहीं दिया ? सब कुछ प्राप्त है और आपके चरण-कमलों में मुझे विविध विषयों की शिक्षा प्राप्त हो रही है। इस बार हमारा चातुर्मास गोंदन ग्राम में है, और एक नूतन ही विषय हमारे सामने आ गया है। गुरुदेव को धर्मप्रचार करते आज पचास वर्ष होने जा रहे हैं और आपकी आयु भी पचहत्तर से आगे पहुंच रही है। इस अवसर पर श्रावकसंघ स्वर्ण-जयन्ती का आयोजन करने जा रहे हैं। मैं किन शब्दों में अपनी श्रद्धा व्यक्त करूं, श्रद्धांजलि भेंट करूं जिनका जीवन ही मिट्टी से सोना बन गया ?

उपकार अनुपम आपका, जाने श्रमण-संसार है।
जो स्नेह-कर सिर पर धरा उसका भी बेड़ा पार है॥
जिसको न छाया आपकी, वह भटकता लाचार है।
जिसको न आश्रय आपका वह डूबता जलधार है॥
मैं क्या कहूं, क्या-क्या कहूं, इसका न मुझ को ज्ञान है।
गुरुदेव ! तुमसा अन्य अवनी पर नहीं मतिमान है॥
आपके पद-पद्म का पूजक रहूं यह चाह है।
आपसे ही मिल सकी यह सिद्धि की शुभ राह है।

मेरी श्रद्धा

श्रीमहेन्द्र मुनि

मैं अकिंचन हूं, पढ़ा लिखा भी नहीं। मेरे जीवन में जो भी प्राप्त है, वह मरुधरकेसरी की ही देन है। मैं, जब से आपके चरणों का चाकर बना हूं—सभी उपलब्धियां, सभी साधन और समस्त सुख स्वाधीन बन गये हैं।

सचमुच गुरु की कृपा से क्या नहीं है ? रंक से राजा, और राजा से महाराज यह जीवन बन गया और आगे भी अक्षय बनकर रहेगा, यह मेरा दृढ़तर अटूट विश्वास है। सचमुच यदि गुरुदेव की कृपा न होती तो मैं कहीं का न रहता और जीवन व्यर्थ चला जाता।

गुरुदेव पण्डितरत्न महामुनि श्री मिश्रीमलजी महाराज साहब ने जिसे छू लिया उसे कंचन बना दिया। विविध भावनाएं और विमल विवेक उनसे प्राप्त हो गया। आज मैं कृतकृत्य हूं। अपने जैसे जनों को मैं विश्वास दिला सकता हूं कि सद्गुरु प्राप्ति की अभिलाषा करने वाले को इस दिव्य तथा दयालु प्रतिभापुंज गुरु की शरण लेनी चाहिए।



सफल पथिक के प्रति

जैनसाध्वी उमरावकुंवर 'अर्चना'

निज को साधना के अतुल समुद्र में निमग्न कर पदार्थ को साधने वाला महान् है, स्वमुक्ति के साथ-साथ परमुक्ति की आकांक्षा को क्रियान्वित करने वाला सर्वतो महान् है।

पथ की लम्बाई साधना की अनन्तता को इंगित करती है और साधना की अनन्तता पथ की अनन्तता का [illegible] करती है।

इसलिए [illegible] है। साध्य पवित्र हो तो साधन भी पवित्र होना चाहिए, पथ पवित्र हो, लम्बा हो, तो पाथेय भी उसके अनुरूप ही होना चाहिए अन्यथा पथिक भटक जाता है।

चिन्तन का अजस्र प्रवाह चिरकाल से चला आ रहा है। यह सतत प्रवहणशीला वेगमयी स्रोतस्विनी कभी रुकी नहीं। यह [illegible] पहाड़ की उपत्यका पर कभी नहीं रुकी, यह बहती गई और अपने सुमधुर कलरव से [illegible] गुंजायित करती गई। जिन्होंने इसका पान किया वे धन्य हो गए, जिन्होंने इसके नाद को सुना वे कृतकृत्य हो गए।

उत्तराध्ययनसूत्र में श्रमण भगवान महावीर से पूछा गया भगवन्! इसमें लम्बा पथ कौन-सा है? उसका पाथेय क्या है?

भगवान ने कहा—संसार का पथ ही सबसे लम्बा पथ है उसे पार करने के लिए पाथेय है—सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र।

श्रद्धेय मरुधरकेसरीजी म० सफल पथिक हैं, पथदर्शक हैं, और पाथेय के विवेकदाता। वे मानव मन के मूर्च्छित दीपों को पुन ज्योतिर्मय बनाते हैं। और स्वयं शुभ आलोक बन प्रकाश बिखेरते हैं। जो भी इस प्रकाश में आगे आता रहेगा, वह अवश्य ही लाभान्वित होगा।

●

महान सन्त

साध्वी कंचनकुमारी

इस विश्व रूपी बाजार में अनेक प्राणी आते हैं। वे अपने कर्तव्य के द्वारा अपने जीवन में क्या करना चाहिए, किस तरह से रहना है, अपने जीवन को उन्नत कैसे बनायें, संसार में आकर दूसरों के साथ कैसा बर्ताव करना है, [illegible] की तो कल्पना भी नहीं जानते हैं। उनमें सोचने की शक्ति नहीं होती। [illegible]हीन होते हैं। [illegible] जन्म लेते हैं और यों ही चले जाते हैं। जंगली मनुष्य ऐसे ही होते हैं जिन्हें आज की भाषा में [illegible] और [illegible] कहते हैं। उनके मन में न कोई दया है, न कोई हमदर्दी है। अपने आपको पहचानने या जीवन [illegible] को समझने की तो बात ही क्या?

लेकिन कई महान सन्त इस संसार में जन्म लेते हैं जो स्वयं तरते हैं और दूसरों को तारते हैं। [illegible] दूसरों का मार्गदर्शन करते हैं। उनमें से एक महान सन्त हैं मरुधरकेसरी श्री मिश्रीमलजी [illegible]। [illegible] भक्ति भरे हृदय से श्रद्धांजलि के पुष्प भेंट करने का सौभाग्य प्राप्त कर महान हर्ष का अनुभव कर रही हूँ।

[illegible] सरल, क्षमा, संयम और शान्ति से भरपूर गंभीर एवं प्रशंसनीय है। आपके गुण बहुत हैं और मेरे पास शक्ति नहीं कि मैं आपका गुणानुवाद कर सकूँ।

●

मंगल-कामना

जैन साध्वी सुशीलाकुमारी शास्त्री,

जैनसमाज के लिए विशेषत स्थानकवासी जैनसमाज के लिए यह गौरव का विषय है कि आज उनमे 'मरुधरकेसरीजी' जैसे महान् सन्त अपनी अलौकिक सुवास से विश्व को सुवासित कर रहे हैं।

'मरुधरकेसरी' यह नाम यथार्थता को लिए हुए है। क्योकि सम्पूर्ण मरुधरा मे आप सिंह की भांति विचरण करते है। ८४ वर्ष की आयु होने पर भी यह आपकी विशेषता है कि आप अपने प्रान्त मे अभी तक भी सर्वत्र विहार करते हैं। इसके अतिरिक्त 'मिश्रीमल' यह नाम भी मधुरता को प्रकट करने के कारण सार्थक है। अपनी मिश्री जैसी मधुरता के कारण सर्वप्रिय होना ही इस नाम की सार्थकता है।

आप जैन-आगमो मे वर्णित स्थविर की तीनो उपाधियो से विभूषित हैं। वय स्थविर तथा सूत्रस्थविर होने के साथ ही विशेषरूप से दीक्षास्थविर है। विंशति वर्ष की दीक्षापर्याय वाले को दीक्षास्थविर कहा जाता है। किन्तु आपकी दीक्षा पर्याय तो इससे अढाई गुण अधिक है। यह अत्यन्त प्रसन्नता का विषय है। इसी प्रसन्नता से अभिप्रेरित होकर ही तो आज जन-जन का मन आपकी दीक्षा अर्धशताब्दी दिवस पर आपका अभिनन्दन करने के लिए तत्पर हो उठा है।

आप सगठन के अग्रदूत है। सादडी-सम्मेलन के वास्तविक सूत्रधार तो आप ही थे। अजमेर और सोजत सम्मेलनो मे भी आपका सम्पूर्ण योगदान रहा है। यह आपकी शान्तिप्रियता और एकताप्रियता का परिचायक है।

हे तेजोमूर्तिन्! सधन-निर्धन, राव-रक कोई भी आपके सम्पर्क मे आ जाय किन्तु आप उससे प्रभावित नही होते प्रत्युत अपने साम्यभाव से उसे ही प्रभावित कर देते हैं।

अगरबत्ती अपने प्रज्वलन क्षण से लेकर निरन्तर अपनी मनोहर सौरभ से चतुर्दिक् को सुवासित करती है। इसी प्रकार जीवन के दोनो (मानव और साधुजन्म के) प्रारम्भो से अब तक आप अपने महामानवीय गुणो की सुगन्ध से दिग्दिगन्त को सुवासित करते रहे हैं।

इस पुनीत अवसर पर आपको कोटि-कोटि अभिवन्दन और अभिनन्दन! आप शतायु हों, यही मगल-कामना है।

●

हार्दिक अभिनन्दन

हरिभाऊ उपाध्याय
अध्यक्ष राजस्थान साहित्य अकादमी



नैतिकता का ह्रास मानवजाति की बडी से बडी क्षति है। नैतिकता किसी भी देश की सर्वोत्तम पूजी है। इसके विकास पर राष्ट्र का विकास निर्भर है। हमारे देश में आज नैतिक मूल्यो की जितनी अवगणना हो रही है, सभवत इतनी इससे पूर्व कभी नही हुई। प्रत्येक सभ्य नागरिक के लिए स्वभावत यह चिन्ता का विषय है। ऐसे अवसर पर जो सन्त-महात्मा आगे आकर नैतिकता के विकास के लिए प्रेरणा करते है वे वस्तुत अभिनन्दनीय हैं। मरुधरकेसरी मुनि श्रीमिश्रीमलजी म० उन्ही सन्तो मे से एक है। नैतिक जागरण का शखनाद फूकते हुए वे मारवाड मे पैदल विचरण करके जनता को जागृत कर रहे है। आपका व्यक्तित्व बडा प्रभावशाली और वक्तृत्व बडा ओजस्वी है। दीक्षा-स्वर्ण-जयन्ती के शुभावसर पर हम आपका हार्दिक अभिनन्दन करते है।



गुरुदेव के चरणकमल में सादर अभिनन्दन

आर्या रोशनकुंवर, जैनप्रभाकर

धन्य मात तात जात जगत विख्यात आत, मरुधर पाली नग्र ओसवशरारी।
जाहि मे जनम पाय, पूरण वैराग्य लाय, जग छिटकाय लीनी दीक्षा जैन वेशरी ॥
तरत अनेक तार-भार मोह मच्छरता, धर्म को वृढाय क्षमा तजि वात क्लेशरी।
प्रतख चमत्कार निहारे अनेकवार-ऐसे योगीराज महा मरुधरकेसरी ॥

●

वीर प्रभु से प्रार्थना

जैनार्या जैनमती

आपने स्थानकवासी जैन समाज के ऊपर जो उपकार किया है वह कदापि भुलाया नही जा सकता, फिर भी भुलाया नही जा सकेगा। पूज्यश्री की अवस्था वृद्ध होते हुए भी कार्यप्रणालिका युवकों को लज्जित कर रही है। आप अप्रमत्त रूप से ग्राम-ग्राम विहार करके धर्मप्रचार का कार्य अविश्रान्त करते रहते हैं।

शारीरिक मानसिक कष्टो की परवाह न करते हुए भगवान् की वाणी का अमृतमय पान कराने के लिए सदैव तत्पर रहते है। आपने अत्यन्त परिश्रम से जैन-जैनेतर जनता पर असीम उपकार किया है।

हमारी सुप्तप्राय समाज मे अगर आप जैसे योग्य विद्वान और महाकवि अनेक हो तो ज्ञान, चरित्र तथा सघ का शीघ्र दिन-प्रति-दिन उदय होता रहे।

परमपिता महावीर प्रभु से प्रार्थना है कि आपको उत्तरोत्तर अधिकाधिक शक्ति प्राप्त हो ताकि जैनसमाज के ऊपर और भी उपकार करते रहे।

आप चिरजीवी हो, आयुष्मान् हो।

●

उपाधि चरितार्थ है

अचलसिंह जैन, एम० पी०

श्री मरुधरकेसरी हमारे समाज के वास्ते उत्तम देन हैं। आप दृढप्रतिज्ञ, त्यागी और वक्ता है। मुझे आपके व्याख्यान दो एक बार सुनने का अवसर प्राप्त हुआ है। आपको जो 'मरुधरकेसरी' की उपाधि दी गई है वह चरितार्थ है। मेरी यह हार्दिक इच्छा है कि श्रमणसघ को दृढ और मजबूत बनाने मे उनका पूर्ण सहयोग आवश्यक है। मुझे विश्वास है कि वे इसमे कोई कोर कसर नही रखेंगे।

●

पूज्य गुरुदेव के चरण-सरोज मे

आर्या विलमकवर जैन

आदि अन्त टीकामय भायो महाभारत को,जिव्हा जग दीनो है अनाय सुधा स्वर मे।
कीनो हैं उद्धार अति जैन अन्य जातीय को, गुरु मिश्री मुनि आय नग्र पालीपुर में॥
आवत अनेकों लोग पायपर पाने दर्श श्रावक हुलास रहे मास की चतुर में।
भाषण दे हमेसरी "मरुधरकेसरी" ने धर्मध्यान जूको बीज बोये भव्य उर में॥

•

श्रद्धा-सुमन

डॉ०दौलतसिंह कोठारी

अध्यक्ष वि० वि० अनुदान-आयोग, दिल्ली

युग-युग मे चली आ रही भारतीय सस्कृति की प्रतिष्ठा मे सन्तों, महात्माओं, ऋषियो और मुनियो का स्थान सब से ऊपर है। इन निस्पृह तपोधनों के महत्वपूर्ण योगदान के कारण ही हमारे देश की सस्कृति महान् बन सकी है। अन्य दृष्टियों मे पश्चात्पद होने पर भी भारत सास्कृतिक महत्व की दृष्टि मे आज भी विश्व मे गौरवशाली गिना जाता है। अतएव हम सन्तो के प्रति ऋणी हैं, कृतज्ञ हैं। उनका सस्तवन, अभिनन्दन और उनके प्रति श्रद्धाभिव्यजन करना स्वय हमारे ही लाभ मे है। मैं समारोह की और अभिनन्दन ग्रथ की सफलता चाहता हुआ मुनिश्री के प्रति अपनी आन्तरिक श्रद्धा व्यक्त करता हू।

•

श्रद्धांजलि-अर्पण

शोभाराम

कृषिमत्री, राजस्थान

राजस्थान वीरप्रसविनी भूमि है। वीरता के इतिहास में राजस्थान का स्थान समग्र विश्व में अनुपम है। इस तथ्य को बहुत लोग जानते हैं। परन्तु धर्म के क्षेत्र में राजस्थान का जो गौरवपूर्ण स्थान है उससे कम ही लोग परिचित हैं।

मुनी श्री मिश्रीमलजी महाराज राजस्थान के एक धर्मोपदेष्टा महापुरुष हैं। उनकी वाणी से सहस्रो मानवो ने अपने जीवन को उच्च और सात्विक बनाया है। मैं उन्हें हार्दिक श्रद्धाजलि अर्पित करता हू।

•

विशिष्ट साधक

शिवचरण माथुर

शिक्षामंत्री राजस्थान

भारतीय सस्कृति सन्तों की साधना से ही अकुरित, पल्लवित और पुष्पित हुई है। सन्तजनो की दिव्य चर्या और वाणी का इतिहास ही भारत की आध्यात्मिक सस्कृति का इतिहास है।





भारतवर्ष मे अज्ञात अतीत काल मे लेकर आधुनिक युग तक सन्तो की अनवच्छिन्न परम्परा चालू है। इन सन्तो ने जन-जीवन के विभिन्न अगो को परिमार्जन करने मे महत्त्वपूर्ण योग दिया है।

मुनि श्री मिश्रीमलजी म० उसी परम्परा मे हैं। आप एक विशिष्ट साधक है। आपने अपना समग्र जीवन स्वपरकल्याण के अर्थ ही उत्सर्ग कर दिया है। वे जनजीवन को उन्नत बनाने मे सदैव प्रयत्नशील रहे है। मै उनकी दीर्घायु की कामना करते हुए हृदय से श्रद्धांजलि अर्पित करता हू।



सराहनीय देन

दामोदरदास व्यास
गृहमत्री, राजस्थान

भारतीय सस्कृति के निर्माण मे सन्तो, ऋषियो, मुनियो का महत्त्वपूर्ण योग रहा है। यही कारण है कि यह सस्कृति अपने अनूठेपन के कारण विश्व को प्रभावित करती रही है। उसने देश को गौरव प्रदान किया है। हम उन सन्तो के ऋणी है। मरुधरकेसरी मुनिश्री मिश्रीमलजी उसी परम्परा की एक कडी के रूप मे है। विविध क्षेत्रो मे उनकी देन सराहनीय है। दीक्षा स्वर्णजयन्ती के अवसर पर मै मुनिश्री का हार्दिक अभिनन्दन करता हू।



श्रद्धा सुमन

रामप्रसाद लड्ढा
विकासमत्री, राजस्थान

राजस्थान की भूमि ने जहाँ अनेकानेक शूराग्रणी महान् पुरुषो का जन्म दिया वही उच्च से उच्च कोटि के सन्त महात्माओ को भी जन्म दिया है। सन्तो की यह परम्परा आज तक अखड रूप मे चली आ रही है, यह इस प्रदेश का सौभाग्य है। हर्ष का विषय है कि उनमे से एक वयोवृद्ध सन्त के अभिनन्दन का शुभ आयोजन किया गया है। मरुधरकेसरी मुनि मिश्रीमलजी म० की साधना सदा अभिनन्दनीय रही है। इस अवसर पर उनके प्रति श्रद्धा प्रदर्शित करनेवालो मे एक मैं भी हू।



शत-शत श्रद्धाजलियां

(राव) नारायणसिंह, मसूदा,
वनमत्री, राजस्थान

पच्चीस वर्ष के उठते यौवन मे जिसने सासारिक प्रलोभनो को ठुकरा अकिंचनता अगीकार की और त्याग-वैराग्य की राह पकडी और जो निरन्तर पचास वर्ष से स्व-पर के अभ्युदय मे निरत है और पचहत्तर वर्ष की उम्र मे भी पैदल घूम-घूम कर जनता को धर्म और नीति का पथ प्रदर्शित कर रहा है, उस महान् सन्त का अभिनन्दन करना भी एक पुण्यकृत्य है।

मरुधरकेसरी मुनि श्रीमिश्रीमलजी म० ने राजस्थान मे महत्त्वपूर्ण कार्य किया है—अपने प्रवचनो द्वारा, साहित्यसर्जना द्वारा और सम्पर्क द्वारा उनका समग्र जीवन इसी पुण्यकार्य मे व्यतीत हुआ है। इस परम अध्यवसायी सन्त को मेरी शत शत श्रद्धाजलिया समर्पित हैं।

अभिनन्दन

श्री बरकतुल्ला खा
विधिमंत्री, राजस्थान

आत्मसाधना के साथ साहित्यसृजन की प्रवृत्ति का विशिष्ट महत्त्व है। साधक साहित्यकार अपने पाठको के जीवन मे ऐसी उदात्त भावनाए जगाता है जिनसे उनका जीवन दिव्यता की दिशा मे अग्रसर होता है। वह साहित्य पाण्डित्यप्रदर्शन के लिए न होकर यदि जनसाधारण की रोजमर्रा की भाषा में हो तो उससे विशेष लाभ पहुचता है। मरुधरकेसरीजी के साहित्य मे सर्वत्र यही विशेषता परिलक्षित होती है। राजस्थानी मे आपने विपुल साहित्य की रचना की है। इनके अभिनन्दन का आयोजन वस्तुत अभिनन्दनीय है।

•

हार्दिक अभिनन्दन

श्री मथुरादास माथुर
वित्तमंत्री, राजस्थान

किसी भी अध्यात्मसाधक की साधना के विषय मे कुछ कहना या लिखना कठिन है। फिर जिन्होने उस साधना के क्षेत्र मे प्रवेश ही नही किया, उनके लिए तो और भी कठिन। तथापि ऐसे साधको के उपदेशो से सर्वसाधारण को जो लाभ मिलता है, उसके सम्बन्ध मे तो कहा ही जा सकता। है

मुनि श्रीमिश्रीमलजी म० निस्सन्देह एक महान् उपदेशक हैं, प्रखर वक्ता हैं। सफल साहित्यकार भी है। आपका वक्तृत्व और लेखन जन-जीवन को उच्च धरातल पर ले जाने वाला होता है। असख्य नर-नारी उससे प्रेरणा ग्रहण करते हैं। महान् साधक का शतश अभिनन्दन।

•

शतायु हों

प्रभा मिश्रा
उपमंत्री, राजस्थान

मुनिश्री मिश्रीमलजी म० लगातार पचास वर्षो से मरुभूमि मे पैदल भ्रमण करते हुए जन-जीवन के उन्नयन मे महत्त्वपूर्ण योग दे रहे हैं। पचहत्तर वर्ष की इस वृद्धावस्था मे भी उनका विचरण वायु-वेग की तरह अप्रतिहत गति से चल रहा है। अपने प्रभावशाली प्रवचनो द्वारा ही नही बल्कि अपनी साहित्यिक रचनाओं के द्वारा भी उन्होंने मानव-जीवन के उच्चतर आदर्शो को सर्वसाधारण के समक्ष प्रस्तुत किया है। विशेषता तो यह है कि आप जिन आदर्शो के लिए प्रेरणा देते हैं, वे आपके जीवन मे मूर्त्तरूप मे विद्यमान है। यही कारण है कि लाखो नर-नारी आपको अपना पथ-प्रदर्शक, परित्राता और उद्धारक मान कर अपने को धन्य समझते है। मुनिश्री का सयममय जीवन सर्वथा स्तुत्य है। हार्दिक कामना है कि आप शतायु होकर जनता का कल्याण करते रहे।

•



नैतिक जागरण के अग्रदूत

जगन्नाथसिंह महता

किसी भी देश की सर्वांगीण उन्नति के लिए अनिवार्य है कि उस देश की प्रजा का चरित्र उच्चकोटि का हो, उसमें नैतिकता हो और उसका दृष्टिकोण व्यापक एव उदार हो। इस आवश्यकता की पूर्ति सन्तजन प्रभावशाली ढग



मे कर सकते हैं जिनकी सख्या हमारे देश मे कम नही है। मुनिश्री मिश्रीमलजी म० राजस्थान मे नैतिक जागरण के लिए अपने प्रवचनो और निबन्धो आदि के द्वारा दीर्घकाल मे यही प्रयास करते आ रहे हैं। पैदल भ्रमण करके गाँव-गाव में जनता के नैतिक स्तर को ऊचा उठाने के उनके प्रयास सुविदित हैं। दीक्षास्वर्णजयन्ती के अवसर पर हम उनका अभिनन्दन करते हैं—दीर्घजीवन की कामना करते हैं।

●

प्रकाशपथ के नेता

सत्यप्रसन्नसिंह भडारी

जो तत्व मानव जीवन मे सर्वोत्तम है और जिसकी बदौलत समाज मे आज भी प्रशस्त भावनाए प्रभावहीन नही हुई है वह उच्च तत्व प्राणिमात्र को अपने समान मान कर व्यवहार करने वाले महान् सन्तो की ही देन है। सन्त का जीवनव्यवहार और उपदेश मानवजाति को अन्धकार से प्रकाश की ओर ले जाने वाला होता है। ससार ऐसे सन्तो का सदा ऋणी रहा है।

राजस्थान की एक विशिष्ट विभूति मरुधरकेसरी मुनि श्री मिश्रीमलजी म० भी ऐसे ही सन्तो मे से एक है। मै उनके प्रति अपनी हार्दिक श्रद्धाजलि अर्पित करता हू।

●

श्रद्धाभिव्यक्ति

टी० वी० रमणन
सचिव, राजस्थान विद्युत् बोर्ड

सन्त पुरुष मानवजाति की सर्वोत्तम विभूति है। जीवन के उच्चतम आदर्शों की उपलब्धि के लिए वे तप-त्यागमय जीवन यापन करते हैं और ससार के समक्ष सयम एव त्याग का आदर्श उपस्थित करते हैं। इससे जनसाधारण को बडी प्रेरणा मिलती है। सन्तो की यह देन बहुत मूल्यवान् है। सौभाग्य से हमारे देश मे आज भी ऐसे अनेक सन्त विद्यमान हैं जो सयम, तप और त्याग की महान् परम्परा को स्थिर रखने का पुण्य-प्रयास कर रहे हैं। वयोवृद्ध मुनि श्री मिश्रीमलजी म० भी उन्ही मे से एक महान् सन्त हैं। पचहत्तर वर्ष की वय मे भी आपका पाद-विहार सतत चालू रहता है। आपकी दीक्षा-स्वर्णजयन्ती का आयोजन उनके प्रति श्रद्धाभिव्यक्ति के लिए ही नहीं वरन् लोकजीवन को दैवी प्रेरणा प्रदान करने का भी निमित्त सिद्ध होगा। मैं हृदय से इस आयोजन की सफलता चाहता हू।

●

श्रद्धासुमन-समर्पण

बालकृष्ण जुत्सी

पवित्रता सादगी, और उच्चता भारतीय सस्कृति का मूल है। हमारे सन्तो ने हमारी सस्कृति के इन मूल्यवान् तत्वों को सदैव ही सुरक्षित रखा है और समय-समय पर विकसित भी किया है। उनके जीवन से प्रेरित होकर हम लोग भी अपनी इस महान् सस्कृति की धारा के साथ चलते हैं और बढते हैं।

मरुधरकेसरी मुनि श्री मिश्रीमलजी म० का जीवन एक तपोनिष्ठ सन्त का जीवन है। मैं उनके चरणो में अपने श्रद्धा-सुमन समर्पित करता हू।

●

कोटि-कोटि अभिनन्दन

कन्हैयालाल कोचर

जनकल्याण की तीव्र भावना से मनुष्य कितना कार्य कर सकता है, यह समझने के लिए गांधीजी का जीवन मननीय है। उन्होंने जनजीवन के किसी भी क्षेत्र को अछूता नहीं छोड़ा था। गांधीजी की यही प्रवृत्ति मरुधरकेसरी मुनि मिश्रीमलजी म० के जीवन में भी परिलक्षित होती है। पचास वर्ष के अपने मुनिजीवन में उन्होंने जो बहुमुखी प्रवृत्तियां की हैं उनका लेखा-जोखा करना भी बड़ा कठिन कार्य है। शताधिक ग्रन्थों का प्रणयन, अनेक शिक्षासंस्थाओं की स्थापना, पुस्तकालयों और वाचनालयों की प्रतिष्ठा, शराबखोरी के विरुद्ध किया गया अभियान, समाज में नैतिक मूल्यों को बढ़ावा देने के लिए किए गए उनके प्रयास, एकता और संगठन के लिए किए गए सत्याग्रह, प्रतिदिन के प्रार्थना-प्रवचन, पीड़ितों की सहायता के लिए उठाई गई बुलन्द आवाज, आदि-आदि उनके कार्यकलाप मारवाड़ की ग्रामीण जनता कदापि भुला नहीं सकती। मुनिजी आत्मसाधना के साथ लोक-कल्याण की साधना में भी सदा अग्रसर रहते हैं। उनका परहितपरायण जीवन कोटिशः अभिनन्दनीय है!

०

मुनिश्री का महत्वपूर्ण योगदान

रानी उर्मिला देवी, मसूदा

अध्यक्ष, समाज कल्याणविभाग, राज०

जन जीवन में नैतिकता की भावना का ह्रास किसी भी देश के लिए सब से बड़ा खतरा है और जब वह निरन्तर वृद्धिगत हो रहा हो तो देश के नेताओं के लिए शोचनीय स्थिति उत्पन्न हो जाती है। इस स्थिति का सामना करने में देश के सन्त, जो निस्वार्थभाव से साधना में निरत हैं, उपयोगी और प्रभावशाली कार्य कर सकते हैं। प्रसन्नता का विषय है कि मरुधरकेसरी मुनिजी इस देश में महत्त्वपूर्ण योग दे रहे हैं। धर्म, नीति, सदाचार आदि सात्विक भावों का प्रचार कर रहे हैं। मुनिश्री के इस महान् "मिशन" का मैं हृदय से अभिनन्दन करती हूं और उनकी दीर्घायु की कामना करते हैं।

०

महान् उपदेशक

बी० एन० भाटिया

लॉ सेक्रेटरी केन्द्रीय सरकार

किसी भी अध्यात्मसाधक की साधना के विषय में कुछ कहना या लिखना कठिन है फिर जिन्होंने उस साधना के क्षेत्र में प्रवेश ही नहीं किया, उनके लिए तो और भी कठिन। तथापि ऐसे साधकों के उपदेशों से सर्वसाधारण को लाभ मिलता है, उसके सम्बन्ध में तो कहा ही जा सकता है।

मुनि श्री मिश्रीमलजी म० निस्सन्देह एक महान् उपदेशक हैं, प्रखर वक्ता हैं। सफल साहित्यकार भी हैं। आपका वक्तृत्व और लेखन जन-जीवन को उच्च धरातल पर ले जाने वाला होता है। असंख्य नर-नारी उससे प्रेरणा ग्रहण करते हैं। महान् साधक का शतशः अभिनन्दन।



●



यथा नाम तथा गुण

ओंकारलाल बोहरा,

ससद सदस्य

मुनि श्रीमिश्रीमलजी म० एक तपस्वी श्रमण के रूप मे ही नही, प्रत्युत राजस्थानी साहित्य के साधनाशील सर्जक के रूप मे शतश अभिनन्दनीय हैं। राजस्थानी साहित्य की पुरातन परम्परा को अग्रसर करने मे आपका बडा हाथ है। आपने बहुसख्यक ग्रथो की रचना करके राजस्थानी साहित्य के भडार को भरपूर करने का प्रयत्न किया है। आपके साहित्य मे तप, त्याग, सयम आदि की उदात्त भावनाए ही अभिव्यक्त हुई हैं, जिनके कारण मानव का वैयक्तिक और सामाजिक जीवन ऊचा उठता है और जिनसे राष्ट्र को प्रेरणा मिलती है। आपके प्रवचन भी प्राय राजस्थानी मे होते है। निस्सन्देह मरुधरकेसरीजी मरुधरा की एक विशिष्ट विभूति हैं। उनका जीवन आदर्श है। मैं इस उदात्त सन्त के चरणो मे अपनी श्रद्धा प्रकट करता हू।

●

एक मनीषी को

मगलादेवी तलवार,

ससद सदस्य

भारतवर्ष मे सन्तो की परम्परा अत्यन्त प्राचीनकाल मे चली आ रही है। इस महान परम्परा की इस देश को जो देन है, उसका पूरी तरह आकलन कर सकना सभव नही। हमारी समग्र सस्कृति, जिसके कारण विश्व में भारतवर्ष को अद्वितीय गौरव प्राप्त है, सन्त महात्माओ की साधना का ही सुफल है। देश का सौभाग्य है कि यहा आज भी उच्च चरित्र के धनी सन्त विद्यमान हैं। मरुधरकेसरी मुनि मिश्रीमलजी भी उनमे से एक है। पचहत्तर वर्ष की वृद्धावस्था मे वे निरन्तर पदयात्रा करते हुए धर्म, अध्यात्म और नैतिकता का प्रचार कर रहे हैं। दीक्षा के पचास वर्षो की पूर्ति के अवसर पर मुनिश्री का हार्दिक अभिनन्दन !

●

सर्वजनहिताय

श्री भोलानाथ

ससद सदस्य

मरुधरकेसरी मुनि श्रीमिश्रीमलजी म० राजस्थान के उन विशिष्ट सन्तो मे से एक हैं जिनका समग्र जीवन बहुजनहिताय, बहुजनसुखाय ही नही वरन् सर्वजनहिताय, सर्वजनसुखाय व्यतीत होता है। आत्मकल्याण के साथ लोककल्याण करना सन्तो का सहज स्वभाव है। मुनिश्री ने सर्वसाधारण जनता का प्रवचनो और साहित्यसृजन द्वारा जो उपकार किया है, वह भुलाया नही जा सकता। उनकी देन महान् है। इस वृद्धावस्था मे भी वे सदैव परोपकारनिरत रहते हैं। हम हृदय मे मुनिश्री का अभिनन्दन करते हैं और कामना करते है कि वे चिरकाल तक जनता का पथ-प्रदर्शन करते रहे। एवमस्तु।

●

चिरायु हो

विश्वेश्वरनाथ भार्गव
सदस्य लोकसभा

मरुधरकेसरी मुनि श्रीमिश्रीमलजी म० राजस्थान के एक उच्चकोटि के व्यक्तित्वसम्पन्न मनीषी सन्त हैं। उनका जीवन आदर्श है। संयम साधना और तपोनिष्ठ उनके जीवन की प्रेरक शक्तियां हैं। मुनिजी ने अपने उज्ज्वल चरित्र से तो जनसाधारण के समक्ष स्पृहणीय आदर्श उपस्थित किया ही है, अपने उपदेशों से तथा स्वरचित विपुल साहित्य से भी उज्ज्वल पथ प्रदर्शित किया है। स्वर्ण जयन्ती के अवसर पर हम आपका हार्दिक अभिनन्दन करते हैं और आपकी चिरायु की कामना करते हैं।



सिंह-सी दहाड और सगठनशक्ति रूप गुरुवर

आनन्दराज सुराणा

विश्व में महामानव अवतार ले भांति-भांति के पाठ पढाते गये हैं। उनके वचन, कार्य, कर्म सदा ही अनुकरणीय रहे हैं। "करो या मरो" का सात्विक सबक जीवन पर्यन्त, बौद्धिक दृष्टि से जग को सदा ही पान कराते आये हैं।

मानवता पददलित हो अवनति की ओर मुडी कि तेजस्वी बन सदा ही प्रकाश-स्तम्भ प्रकाश दिया करते हैं।

मुझे अनेकों अवसर आपके दर्शन के हाथ लगे व आपका साहित्य भी हाथ लगता रहा है। मेरे मनन चिन्तन व अध्ययन के उपरान्त मेरे विचार ने अगर कही निष्कर्ष निकाला है तो यही कि आपकी स्मरणशक्ति, सिंह-सी दहाड व सगठन शक्ति सर्वोपरि है।

स्मरणशक्ति तो आपका जन्मजात विशेष गुण ही है। सिंह-सी दहाड में कटुता के साथ ही माधुर्य टपकता देखा है। सगठन-शक्ति के तो आप अटूट स्रोत ही है। मिसाल के तौर पर "श्रमण-सघ" ही देखिये।

अगर आपके मन व मस्तिष्क में यह भावना घर नही करती तो ऐसे श्रमणसघ का शायद ही कभी निर्माण होता। भले ही कुछ सन्तगण इससे परे हो गये पर आप तो आज भी उस हिम-प्रहरी के समान जागरूक हैं। मारवाड के बाहर विहार नही कर गाँवों की मस्ती में मस्त रहे, ममत्व को तिलाजलि दे सादडी में जो श्रीगणेश किया वह सदियों तक अनुकरणीय सबक इस विश्व को देता रहेगा ही।

आपकी सलाह मशविरा पूज्य गुरुदेव आचार्य, महामत्री, उपाध्याय व प्रवर्तक सन्त-गण ही नही मानते हैं बल्कि सारा श्रावक-समाज भी श्रद्धा से मानता है। आप अवस्था या शरीर से भले ही वृद्ध हैं पर आपका नाटा कद व देदीप्यमान चेहरा आज भी जवान-सा ही दृष्टिगोचर होता है।

शहरी कोलाहल से परे रहते हुए आपने गांवों में अपना जीवन व्यतीत करते या वर्षाकाल बिताते, जैनधर्म की आन शान एव मर्यादा सदा बढाई है।

मेरी वीर प्रभु से यही प्रार्थना है कि इन धर्मवीर व कर्मवीर योद्धा, नेता, सन्त की आयु सौ से भी परे जाय ताकि जैनशासन आपके दिव्य गुणों से सिर ऊचा कर सके।







सच्चे मणिकार, कर्षक, वणिक

डा० लक्ष्मीमल सिंघवी

श्रद्धेय मरुधरकेसरी का व्यक्तित्व हमारी भारतीय धर्म-परम्परा का एव लोकात्मकता का प्रतीक है। उनके धर्म-प्रवचन जन-जन को सुबोधगम्य भाषा मे व्यापक और गहरा प्रभाव करते हैं, उनके उपदेश अपना निर्भीक सत्यान्वेषी विशेषताओं के कारण जन-साधारण के हृदय मे समा जाते है। उनका स्वभाव मधुर करुणाचित और उनकी शिक्षा यथार्थ पर आधारित है।

धर्मगुरुओ का समाज मे आचार-विचार के सयम और निर्देशन मे बडा महत्वपूर्ण स्थान है। वे जीवन की प्रबलताओ और उदात्त आदर्शो के बीच सामजस्य का सेतु बनाते है। धर्म के माध्यम मे जीवन के उदात्तीकरण की प्रेरणा देते हैं। वे हमे आत्मशुद्ध, आत्मविकास और आत्मनिरीक्षण की ओर प्रवृत्त करते है और इस प्रकार समूचे समाज और उसकी इकाइयो को सशक्त बनाते हैं। समाज की अन्तरात्मा उनके स्वर मे जीती और जागती है। यही मुनियों की साधना का सामाजिक अत प्राण है। श्रद्धेय मुनिवर मिश्रीमलजी महाराज इसी सेवा और साधना की अन्तर-चेतना के प्रतीक है।

श्रद्धा, ज्ञान और कर्म की जीवन-त्रयी मे मरुधरकेसरीजी ने अपनी साधना और सेवा मे कई अनमोल मोती-मनके पिरोये है। वे जैन श्रमण-परपरा के अनुसार सही माने मे सद्विचारो का सफल सार्थक कर्षण और वाणिज्य करते हैं। उनका वरद हस्त मरुधर मे सुदीर्घकाल तक रहे।

●

हार्दिक कामना

सरदारमल छाजेड

मरुधरकेसरी मुनिश्री मिश्रीमलजी म० सा० की दीक्षास्वर्णजयन्ती के शुभावसर पर आयोजित अभिनन्दन-समारोह सर्वथा उचित है। मुनिश्री के दर्शन करने और पावन प्रवचन सुनने का मुझे अनेक वार पुण्यावसर प्राप्त हुआ है। आपके प्रवचन आपके व्यक्तित्व के ही अनुरूप प्रभावशाली होते हैं। मारवाड प्रदेश मे आप निरन्तर धार्मिक चेतना को जागृत रखने के लिए प्रयत्नशील रहते है। आपके सदुपदेश मे अनेक शिक्षा सस्थाए स्थापित हुई और चल रही है। साहित्यिक क्षेत्र म भी आपकी सेवाए सराहनीय हैं। मरुधरकेसरीजी म० स्थानकवासी समाज के सुदृढ स्तम्भ है। सगठन के प्रबल समर्थक है। हार्दिक कामना है कि मुनिश्री चिरकाल तक श्रमणसघ की शोभा की वृद्धि करते रहे और अपने उच्च आचार-विचार मे समाज का पथ-प्रदर्शन करते रहें।

○

कड़क मिश्री और सघ

श्री सूरजचन्द डागी

सगठन के विरोधी बहुत तडपते रहे परन्तु कडक मिश्री तो मधुर ही प्रमाणित हुई। सारे साधुमार्गी-सघ का मादरी मे बुला लिया। राजस्थान को पुन पुन धन्य बना दिया। कोलाहल-पूर्ण वातावरण मे भी अपने ढग का ऐसा निखार कि समाज उनकी शोभा गान करने लगा है अभिनन्दन समर्पित कर रहा है। यदि सगठन सुदृढ रहा तो इस कडक मिश्री मे इतनी ताकत है कि ममत्ववादी मस्तक पर लगते ही उनमें से खून के स्थान पर अमृत झरने लगे। उसी के छिडकाव से सघ की नीव मजबूत जमे।

उस पर ज्ञान-दर्शन-सुख और पुरुषार्थ के सुदर भवन निर्माण हो।

श्रद्धा-सुमन

विजान नारिल्ल,
साहित्यरत्न, बी० कॉम०, बी० ए०

विरागी ! ससार के समस्त जीवधारियो के कोमल प्राणो को आबद्ध कर देने वाले सौन्दर्य एव मोह के बधनो को तुमने तोड दिया है और अपने अलौकिक ज्ञान के नेत्रो के प्रकाश की अग्नि मे नीलकठ की तरह विश्व के आकर्षण रूप कुसुमायुध को भस्म कर दिया है !

योगी ! तुम्हारी तपस्या की अनुपम तेजपुञ्ज किरणो ने वासरवि की विविधवर्णी आलोक-रश्मिया मन्द पड जाती हैं और अस्ताचल के गिरि-शिखरो को अपने गुलाबी सौन्दर्य से अलकृत कर देने वाली जगमोहिनी सान्ध्य सुषमा धरा पर तुम्हारी तपोभूमि मे उतरने के पूर्व ही यामिनी की कालिमा मे विलीन हो जाती है ! मृत्युजय ! अनन्त बहुमूल्य मोतियो के स्वामी समुद्र की लहरें अनादिकाल से तुम्हारा यशोगान गाती हैं और मुक्ति के मार्ग को प्रशस्त करने वाली तुम्हारे चरणो की रज अमर लोक के अधिपति अपने मस्तक पर लगा कर कृतार्थ होते हैं । हे तपोधन ! उन्ही चरणो मे, मानस निकुज मे प्रस्फुटित श्रद्धा के सुमन समर्पित हैं जिन्हे स्वीकार करना।

मरुधरकेसरी अमर हो

शाह हीराचन्द सीरूमचन्द,जोधपुर

पूज्य गुरुदेव मरुधरकेसरीजी म० का अनुशासन बडा कठोर, ओजस्वी एव कडक मालूम होता है मगर आत्मकल्याण के लिए अतीव हितकारी है। पूज्य गुरुदेव के पूर्वजो की हमारे पूर्वजो पर कृपा बनी रही है, उसी प्रकार गुरुदेव की हम पर है हमारे पूर्वजो की और हमारी, गुरुदेव के पूर्वजो और गुरुदेव के प्रति कितनी और कैसी श्रद्धा-भक्ति है, शब्दो द्वारा व्यक्त नही की जा सकती। हमारी हार्दिक कामना यही है कि पूज्य गुरुदेव अमर बनें जिससे मानव-समाज का सदा पथप्रदर्शन होता रहे और कल्याण का मार्ग मिलता रहे।





प्रेरणा-स्रोत

रिखबराज कर्णावट, एडवोकेट

मरुधरकेसरीजी महाराज समाज के नवरत्नो मे से है। समाजहित मे उनकी सयमयात्रा निर्विघ्न अबाध गति से सुखशान्तिपूर्ण चलती रहे, यह सभी समाजप्रेमी व्यक्तियो की आकाक्षा है। इस आयु मे भी समाज को उद्बोधित करने की उनमे अपरिमित शक्ति है। उनके दर्शन से कर्मठ जीवन बिताने की बड़ी प्रेरणा मिलती है।



नमस्कार शतवार

जतनराज मेहता साहित्यरत्न

हृदयगत स्पन्दनो से उठकर मेरा मन-भ्रमर गुरुदेव श्रीमरुधरकेसरीजी महाराज के चरण-कमलो मे पहुच कर एक अलौकिक शान्ति का अनुभव करता है। आपके सान्निध्य मे शान्तिपथ का अनुपमेय पाथेय प्राप्त करना है। नमस्कार! शत वार नमस्कार।



एक महान् क्रान्तिकारी विचारक व स्पष्टवक्ता सत

हुकुमचन्द जैन, एडवोकेट, जोधपुर

पूज्यपाद मरुधरकेसरी श्रीमिश्रीमलजी महाराज जाने पहचाने जैन महात्मा है। उनकी मृदुता, उनकी सरलता व कठोर सत्यपूर्ण अभिभाषण से जनसमुदाय को वास्तविक मानसिक शान्ति प्राप्त होती है। उनका क्रातिकारी सत्य सोते समाज के लिए बहुत लाभकारी सिद्ध हुआ है। जोधपुर मे ही अभी हाल के प्रवास मे आपकी सत्प्रेरणा व प्रभावोत्पादक वाणी के प्रभाव से आयबिलखाता का समुचित सचालन होना प्रारभ हुआ है। आपने जैनसमाज की महती सेवा की है। आप केवल मरुधरा के ही रत्न नही, वरन् समस्त भारतवर्ष के देदीप्यमान नक्षत्रो मे है। जैनसमाज की समृद्धि व जैनधर्म के उत्थान मे आपका सहयोग बहुत रहा है। आपकी स्मरणशक्ति भी बडी विलक्षण है। महावीर भगवान् से आज तक की पट्टावली आपको कठस्थ है। मरुधरा के महारत्न का वरद हस्त जैनसमाज पर अनेको वर्षो तक छाया रहे और जैन समाज आपके रास्ते पर चलता रहे। मैं अपनी ओर से मरुधरा के महान् सत, चिंतक, एव प्रसिद्ध वक्ता श्री मिश्रीमलजी महाराज का अतस् से विधिवत् अभिनन्दन करता हू।

मरुधरकेसरी और जैनेतर जनता

विमलकुमार राका, नीमाज

मानव मे मानव के प्रति कितना प्रेम-प्यार, सवेदना और सहानुभूति होनी चाहिए, यदि इसका मूल्याकन करना हो तो हमे मरुधरकेसरीजी के दरबार मे जाना चाहिए। मानव-मानव के साथ कैसा व्यवहार करे, इसका सही निर्देशन भी उनके प्रवचनो मे किया जा सकता है।

सामारिक जीवन मे गुरुदेवश्री सत्यवादी, निर्भीक और स्पष्टवक्ता थे। सन्तश्रेणी मे आ चुकने के पश्चात् आपके इन गुणो में वृद्धि ही हुई है।

मरुधरकेसरीजी के प्रवचनो को श्रवण करने के लिए जैनो की अपेक्षा जैनेतर जनता का अपार समूह उपस्थित होता है। जहाँ जैनो के स्वल्प घर होते है वहा भी आपके श्रोताओ की सख्या विपुल होती है।

आपकी जिज्ञासावृत्ति कभी शान्त नहीं होती। व्याकरण, न्याय, भूगोल, खगोल, प्राकृत, सस्कृत, हिन्दी आदि का अध्ययन आप बढाते ही रहते हैं।

आपका अन्यमतावलम्बियो के साथ सहृदयतापूर्ण व्यवहार होता है। जहा कोई गलत बात कही जाती है चाहे स्वमत के सम्बन्ध मे या परमत के सम्बन्ध मे, चाहे किसी व्यक्ति के विषय मे या समूह के विषय मे, आपको सह्य नही होती। तत्काल मुहतोड उत्तर देते हैं। कहने वाला चाहे अमीर सेठ, मन्त्री, ठाकुर या राजा ही क्यो न हो! हिचक जैसी चीज उनके निकट नहीं फटकती। वे कहते सुने गए है—'क्यो सही कहने मे डरू, पेटभराई तो कर्म से होती है।'

फटकार लगाते समय आपने आज तक कभी विचार ही नही किया कि भक्तगण अप्रसन्न या असन्तुष्ट हो जाएगे। कोमल या कठोर, जो भी कहना हो, सामने ही कह देते हैं। असत्य के सामने मौन धारण कर लेना आपने सीखा ही नही।

जब कभी प्रभावना की जाती है तो आप जैनेतर भाइयो को कभी नही भूलते। जैसा सम्बन्ध स्वमत वालो से वैसा ही अन्यमतावलम्बियो से रखते हैं।

कुरान की आयतें, गीता के श्लोक और सत्यार्थप्रकाश आदि के उद्धरण आपके मुखारविन्द से नित्य ही टपकते सुने जाते हैं। ऐसे सैकडो वाक्य आपके कण्ठस्थ हैं। राम और कृष्ण के उदाहरण तो आपके लिए रोजमर्रा की चीज है।

अभिप्राय यह है कि गुरुदेव का हृदय अत्यन्त विशाल है। आपकी हितकामना किसी एक वर्ग तक सीमित नहीं है। आपका जीवन, चिन्तन और प्रवचन 'सर्वभूतहिताय' होता है। यही कारण है कि आप वास्तव मे समस्त जैन-जैनेतर जनता के गुरु माने जाते हैं। मरुधरा के जमीदार, जागीरदार, ठाकुर आदि सभी वर्गो की जनता हृदय से आपका सम्मान करती है, आपको गुरु मानती है। गरीब से गरीब भी आपको आत्मीय मानता है। उसे आप कभी अनुभव नही होने देते कि उसकी उपेक्षा की जा रही है। जिन ग्रामो मे आपका पदार्पण होता है, वहा सर्वसाधारण का कोई उत्सव हो, ऐसा प्रतीत होने लगता है।

प्रभावक गुरुदेव! आपका कोटि-कोटि अभिनन्दन!

०

अभिनन्दन!

राजराज भडारी, एडवोकेट

नया स्था० जैनसमाज, बाली

परमपूज्य मरुधरकेसरी मुनिश्री मिश्रीमलजी महाराज साहब की दीक्षा की अर्द्धशताब्दी के शुभ अवसर पर हम बाली नगर के स्थानकवासी जैन आपका अभिनन्दन करते हुए असीम आनन्द अनुभव करते है।

मुनिश्री से हमारा काफी लम्बी अवधि से सम्पर्क रहा है। हमे समय-समय पर आपके महान् ओजस्वी विचारो को सुनने का अवसर प्राप्त हुआ है। आपके विचारो में समीचीनता, गम्भीरता तथा परिपक्वता का आभास



स्पष्ट दृष्टिगत होता है। साधारण से साधारण व्यक्ति भी आपकी शैली, भाषा विचार, दर्शन, ज्ञान, चारित्र, आदर्श आदि से आत्मविभोर हुए बिना नही रह सकता।

आप मन वचन व कर्म से पाचो महाव्रतो का निष्ठा से पालन करते हुए सत्य मार्ग के अनुगामी है। आपने अहिंसा का प्रदीप जनजीवन मे प्रदीप्त किया है। इसी प्रकार सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य व अपरिग्रह की प्रेरणा की है। आपका जीवन त्याग व तप की सच्ची व सजीव तस्वीर है। आप अन्तरग मे वीतरागभाव की ज्योति जला रहे है, उससे हमारा मस्तक आपके चरणस्पर्श का झुक जाए, यह स्वाभाविक है।

आप विशुद्ध भावना से जैनधर्म के प्रचार हेतु अनवरत अथक प्रयत्न कर रहे है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र की पूर्णता का ज्ञान कराना ही आपका अभीष्ट ध्येय है। जहा-जहा भी आपका पदार्पण हुआ है, आपने उस क्षेत्र की जनता मे धर्म की लहर फैला दी है।

वर्तमान समय मे, जब कि जन-जीवन कई समस्याओ मे उलझा है, आर्थिक, राजनैतिक, सामाजिक, राष्ट्रीय एव अन्तर्राष्ट्रीय समस्याए दिन-प्रतिदिन बढती जा रही है, धर्म की ओर रुचि होना कठिन होता है, श्रद्धेय मरुधरकेसरी मुनिश्री ने समय के आह्वान को भलीभाति पहचाना तथा धर्म का ऐसा विश्लेषण किया है जिससे धर्म मानव-जीवन का अग बन सके।

आगामी अक्षयतृतीया के दिन आपके दीक्षापर्याय के पचास वर्ष पूर्ण होने जा रहे है। इस अवसर पर सघ की प्रमोदभावना को साकार करने के लिए हम आपका अभिनन्दन करते हैं तथा आपकी दीर्घायु की कामना करते है।



प्रणामाञ्जलि

लालचन्द जैन, जोधपुर

श्रमण संस्कृति के महान् नेता, समाजोद्धारक एकता के अग्रणी, जन-जागृति के प्रतीक, चारित्रचूडामणि बालब्रह्मचारी प० रत्न मुनिश्री मिश्रीमलजी महाराज साहब की ५० वी दीक्षा-जयन्ती पर प्रकाशित होने वाले मरुधरकेसरी अभिनन्दनग्रन्थ' की योजना अत्यन्त स्तुत्य है।

स्वनामधन्य मरुधरकेसरीजी के पावन चरणो से मरुधर का चप्पा चप्पा पुलकित होता रहा है। मस्त योगी की भाति प्रतिवर्ष सैकडो मील का उग्र विहार कर हजारो लाखो प्राणियो को प्रतिबोध द्वारा सन्मार्ग बताने वाले महामनीषी के उपकारो को लिपिबद्ध करना असम्भव कार्य है। फिर भी श्रद्धालुजनो द्वारा जो प्रयास किया जा रहा है, वह प्रशसनीय है। मैं अपनी प्रणामाजलि अर्पित करता हूँ।



अहिंसा के पुजारी के प्रति

केवलचन्द पगारिया, सोजत

महान् हर्ष का विषय है कि जैन धर्मोपदेष्टा, मरुधरकेसरी प० मुनिश्री मिश्रीमलजी म० दीक्षा के पचास वर्ष की एक लम्बी मजिल महान सफलतापूर्वक तय कर ५१ वें वर्ष मे प्रवेश करने जा रहे है। मुनिश्री के सदुपदेशो

एवं तप त्याग ने जन-जन के हृदय में एक विशिष्ट स्थान बना लिया है, और यही मात्र कारण है कि आज हजारों की संख्या में भक्तों का मुनिश्री के दर्शनों के लिये मेला-सा लगा रहता है।

पूज्य-स्वामीजी के त्यागमय जीवन से, प्रभावित होकर जैनसमाज ने दीक्षा स्वर्णजयन्ती समारोह मनाने का निश्चय किया है। इसी अवसर पर पूज्य गुरुदेव के कर-कमलों में अभिनन्दनग्रन्थ भेंट करने का आयोजन किया गया है। यह एक महान् ऐतिहासिक प्रसंग है कि सत्य एवं अहिंसा के पुजारी के त्यागमय जीवन की अर्धशताब्दी मनाई जा रही है। जिससे जन-जन में मुनिश्री के त्यागमय जीवन की अमिट छाप बनी रहे।

•

हमारे गुरुदेव

श्री पारसमल धोका,

मंत्री, श्रीरघुनाथ जैन पुस्तकालय सोजतसिटी

पूज्य गुरुदेव मरुधरकेसरी पं० रत्न श्री मिश्रीमलजी म० सा० एक उच्चकोटि के महान् योगी अध्यात्म-निष्ठ एवं दीर्घ संयमी सन्त हैं।

आप जैसे बाहर दिखकर हैं वैसे ही भीतर हैं। आप आत्मिक और सामाजिक जीवन के उत्थान में सतत संलग्न रहते हैं।

आपके नेत्रों में पवित्रतम सात्त्विक तेज और व्यवहार में सन्तजनोचित सहृदयता का प्रभाव भी फूटता रहता है। आपकी वाणी सुनने में कुछ कठोर-सी प्रतीत होती है परन्तु आपका हृदय नवनीत-सा मृदुल है। मैंने गुरुदेव को निकट से देखा है, परखा है। मेरा सम्पर्क बहुत काल से जुड़ा हुआ है।

आपका प्रभावशाली उपदेश हर व्यक्ति को अनायास ही अपनी ओर आकृष्ट कर लेता है। आपका स्नेह हमारे व हमारे नगर पर अपार रहा है।

आपके अनगार-जीवन का प्रारम्भ इसी पवित्र भूमि में हुआ है, आपके प्रेमोपहार के रूप में ही हमारे यहाँ पूज्यवर्य श्री रघुनाथ जैन पुस्तकालय की स्थापना हुई है।

आप मरुधर के एक निर्भीक निश्चल यशस्वी निडर सन्त हैं। आप समाज की निःस्वार्थ और निष्काम भाव से सेवारत होकर समाजोत्थान के पूर्ण इच्छुक हैं। मैं महान् गुरुदेव के गुणों से आकर्षित होकर चरणों में दो शब्द लिख कर अपने आपको गौरवशाली समझता हूँ।

•

श्रद्धा के फूल

फूलचन्द बोरदिया

तरुण वय में संयम ग्रहण करके और उत्तम ज्ञान-चारित्र की आराधना करके प० र० मरुधरकेसरीजी महाराज ने स्व-पर के परम कल्याण में अपना समग्र जीवन समर्पित किया है। अज्ञानान्धकार में भटकती जनता को शाश्वत शान्ति का सन्मार्ग प्रदर्शित किया है। उनके जीवन में अपूर्व तेजस्विता और कर्मठता है। संघ पर उनका महान् उपकार है। ग्राम-ग्राम में विचरण करके धर्म और नीति का प्रभावक संदेश और उपदेश देने वाले तपोधन सन्त के पावन चरणों में मेरा बार-बार वन्दन!



•



अनूठा व्यक्तित्त्व

वैद्य मोहनलाल गौड, आयुर्वेदरत्न

सयम की साकार मूर्त्ति मरुधरकेसरी मुनिश्री मिश्रीमलजी महाराज का व्यक्तित्त्व अद्‌भुत है। उसमे परस्पर विरोधी मे प्रतीत होने वाले अनेकानेक सद्‌गुणों का सुन्दर समावेश हुआ दृष्टिगोचर होता है। उनके स्वभाव मे जहा मिश्री का माधुर्य है वहा भवरोगा का समूल उन्मूलन करने के लिए वे कुटकी के समान भी है। दूसरे के प्रति अतिशय दयालु है तो स्वकीय सयमसाधना मे वज्र के समान कठोर हैं। उनकी भाषा में सुधा का पुट होता है तो कभी कभी कटुकता भी आ जाती है। किन्तु उस कटुकता में भी उनकी अनन्त करुणा का मिश्रण होता है, मगल-कामना छिपी रहती है। वे अतीव सहृदय, प्रतिभाशाली और ज्ञानी सन्त है। गोठन चातुर्मास मे आपके इन गुणो का परिचय पाकर मैं धन्य हो गया। राजस्थान भाग्यशाली है जिसे ऐसे श्रेष्ठ सन्त पावन कर रहे हैं।



मरुधरकेसरी का अभिनन्दन

कविराज प० मूलचन्द्र भट्ट

हमारे चिरपरिचित मरुधरकेसरी तपोधन महामुनि श्री मिश्रीमलजी महाराज एक आदर्श सन्त हैं।

आपके जीवन के साथ एक महान पृष्ठभूमि है। आपका जन्म ऐसे स्थान से है, जिसके इतिहास मे समाज, सस्कृति एव धर्मसाधना की एक विशाल कडी है। पाली नगर पुण्यवती पारा नगरी तथा सम्प्रति पाली है। मारवाड मे राठौड राज्य के मूल पुरुष पाली से ही अपना इतिहास प्रारम्भ करते हैं। इसके पहले चौहान, परमार, चालुक्य आदि का सदियो तक शासन रहना पाया जाता है।

सेठ सहसमलजी और केसरबाई महामुनियो की पदरजप्राप्त पाली नगर मे ही रहते थे। मरुधरकेसरी के पिता श्री सहसमलजी उदारचेता थे और केसरबाई सरल प्रकृति की महिला रही, यह दोनो महान् गुण मुनि श्री मिश्रीमलजी को विरासत मे मिले। जिस पर पूज्य गुरु की शरण २५ वर्ष के पूर्ण यौवन मे प्राप्त हो गई। पूज्य बुधमलजी महाराज साहब परम शान्त विरक्त तपस्वी तथा तप पुज पुरुष थे।

पाली नगर ऐतिहासिक एव सस्कृतियुक्त रहा है तो साहित्यिक रुचि भी यहा प्रबल रूप मे रही है। योगी-राज कवि गिर, भक्तराज पूनमचन्द, महाकवि मनोहर तथा देवकरण, महात्मा गणेशानद एव कविराज लालचन्द जैसी महान कविआत्माओ तथा विभूतियो ने जन्म लेकर 'काव्यशास्त्रविनोदेन कालो गच्छति धीमताम्' को ही प्रकट किया। हम अपने चरित्रनायक मे इन सभी गुणो को प्रचुर मात्रा मे पाते हैं।

मुनिश्री के जीवन मे क्या नही पाते ? उदारता का पितृगुण प्रत्येक प्रेमी देखता आ रहा है। सरलता व सेवापरायणता मातृदुधामृत का प्रभाव रहा। जैन-अजैन बालाओ की शिक्षा और धर्मशिक्षाशालाओ की व्यवस्था से भी प्रत्यक्ष है। बीलाडा चातुर्मास वि० स० २०१० म यवनो द्वारा किए गए प्रबल प्रहारो को सहकर भी क्षमा दे देना किस पाठक मे छुपा है ? मुनिधर्म की महान् सेवा के साथ समाजसेवा से आप विमुख नही।

महाकवियों के काव्यगुण का विकास भी आप में असीम है। आपने दीर्घकाय महाभारत आदि विविध ग्रथो की रचना कर महाकवि की प्रतिष्ठा प्राप्त की है।

तप पुज महामुनि बुधमलजी महाराज साहब से वि० स० १९७५ मे मुनिव्रत ग्रहण किये आज ५० वर्ष हो जाते है और श्रद्धालु श्रावक स्वर्णजयन्ती मनाए तथा अभिनन्दनग्रन्थ भेट करें यह परम श्रद्धा का द्योतक ही है।

मैं स्वयं मुनिवर के नगर का निकटतम परिचित हूँ। अतः अधिक कुछ कहना सत्य होने पर भी पाठक कहीं अतिशयोक्ति समझ सकते हैं। इस भय से आयोजकों से सहमत होता हुआ विराम लेता हूँ।

•

प्रकृष्ट पुण्य का परिणाम

कामदार प्रेमराज तिलेसरा

किसी पूर्वभव में कोई विशेष तपश्चर्या की होगी, धर्मक्रिया में रुचि जगाई होगी, दीन-दुखियों को दान दिया होगा, उनकी सेवा में मन पिरोया होगा अथवा अन्य साधना की होगी, जिसके फलस्वरूप श्री मरुधरकेसरीजी महाराज जैसे परमपावन सन्त के चरणों में स्थान मिला। गुरुदेव अज्ञान का निवारण करने के लिए भानु के समान हैं। आपका उपदेशामृत भवरोगों का दूर करने वाला और अमरत्व प्रदान करने वाला है। हार्दिक कामना है कि गुरुदेव की कृपा निरन्तर बनी रहे और हम अपने जीवन को सार्थक बना सकें।

•

प्रतिभापुंज मरुधरकेसरी

भैरूलाल दक, एम० एस-सी० 'पंकज'

गुरुदेव की अनन्त गुणरश्मियों का प्रकाश सर्वव्याप्त है। उनका बखान करना न तो मेरी जिह्वा की शक्ति में है, नहीं मेरे भण्डार में उपयुक्त शब्दकोष ही उपलब्ध है। फिर भी मेरा तुच्छ अनुभव आपके विशाल चरित्र को प्रकट किए बिना नहीं रह सकता।

कड़कड़ाती सर्दी और तपती गर्मी में भी राजस्थान की मरुभूमि और पहाड़ी क्षेत्रों में केसरी सिंह, निष्कपट भाव से डके की चोट सत्य का उद्घोष करते हुए विचरण करता है। यह निर्भीक सन्त-रत्न भी आत्मा की आवाज को सहज भावों में प्रकट करता है, जिस से खरापन निखरता है। सामाजिक चेतना और संघीय एकता की टीस झलकती है जो श्रोता के हृदय में स्पन्दन पैदा करती है। आशा का अटूट सम्बल लेकर यह सजग धर्मप्रहरी जब नगर-नगर ग्राम-ग्राम आगे बढ़ता है तो प्रेम से उमड़ी जनता उनकी अगवानी के लिए बड़ी संख्या में उपस्थित हो जाती है। प्रवास के समय दिनभर दर्शनार्थी भाई-बहनों का ताता लगा रहता है।

इतने पर भी इस महान् विभूति को चैन कहाँ ? न जाने कब समय मिलता होगा, छोटे-मोटे सवा सौ से अधिक ग्रंथ प्रकाशित हो चुके हैं, जिनमें अनेक काव्य और वृहत् काव्य भी हैं। डिंगल और पिंगल का समावेश करते हुए मारवाड़ी, राजस्थानी और हिन्दी भाषा में आपकी लोकप्रिय रचनाएं खूब प्रचलित हैं। ५० वर्षों की कठोर संयम-साधना में क्रियाशील आपने इतना सब कैसे किया ? वर्तमान समाज में व्याप्त अव्यवस्था और अनवस्था को देखकर आपका कोमल हृदय क्षुब्ध है। लुप्त होती जा रही गौरवशाली प्राचीन और विशुद्ध परम्पराओं को पुनः प्रकाशित करने की तीव्र अभिलाषा से आपने सत्साहित्य के द्वारा पुनर्जागरण का संकल्प किया है। नवीनतम वृहत्काव्य 'महाभारत' के कौरवों पाण्डवों के माध्यम से आपने धर्म की अधर्म पर विजय और सत्य की असत्य पर विजय के प्रमाण प्रस्तुत किये हैं। आपने "सिंहनाद" नामक एक छोटी-सी कृति में गागर में सागर भरने की कला का परिचय देते हुए जीवनोपयोगी उपदेशों का खजाना खोल दिया है। "बिगाड़ होता है" शीर्षक में सूक्ष्म दृष्टि से विनाश के कारणों का पता बताते हुए आपने लिखा है—





झूठ बिगाडे पेठने, रुठ बिगाडे खेल ।
फूट बिगाडे फौजने, तूट बिगाडे रेल ।।

इस महान् सत्तरत्न का समाज युगो तक ऋणी रहेगा । ऐमे प्रतिभापुज मरुधरकेसरीजी म० सा० के श्री-चरणो मे शत-शत वन्दन के पश्चात् मेरी यही कामना है कि पूज्यश्री चिरायु हो, आपकी यश-कीर्ति दिन दूनी रात चौगुनी बढे और समाज के बहुमुखी विकास मे आपका पूर्ण योगदान रहे ।



श्रद्धा-पुष्प

बादलचन्द काकरिया

सद्‌वक्ता सोभासदन, रक्त-शील गुणरास ।
मिश्री मुनि अनमोल मणि, करता ज्ञान प्रकाश ।।
ओसवाल वश को उजावला हुलास होय,
एकदम त्यागी-भो सजोग ज्ञान गेस को ।
शिक्षा सद पाय "बुधगुरु" हु से दीक्षा लेके,
गाय जिनवाणी रूप जाण्यों है जिनेश को ।।
भाषण विस्तार सार-भार अघताड हुए,
श्वेत रग भीनो रहे सोभित हमेश को ।
मार लीनों मार-को अपार तपताप तप-
तन को सुधार कीनो तार दीनो देश को ।।



पुष्पाञ्जलि

कृपाराम परमहस

मुनिवर की वर महर से, आनन्द रहै अपार ।
अष्टसिद्धि नवनिद्धि दे, मवरा मिटै विकार ।
मनुपयोनि आछी मिली, कर लो सुकृत काम ।
दरसण मुनिया देखना, इनमे है आराम ।।
मिसरीमल मुनिराज को, वन्दन वार हजार ।
केहरि-पदवी सत करी, धरम भुजा पर धार ।।
शरणागत रक्षक सदा, केहर-सत कृपाल ।
"कृपाराम" सत कहत हैं, झलक रयो निज भाल ।।

सूरवीर सत यही सन है सराहनीय,
धर्मशाला ध्यानी धर्म मतवाला है।
विकट समस्याओं को दूर कर दीनी सब,
पक्षपात पाले नहीं सबों सब वाला है॥
वैष्णव व जैन भाई एक निगा देवे आप,
दिव्यभाव दानी दया सन का रसाला है।
मरुधरकेसरी की जय जै पुकारे जन,
कृपाराम कहे ऐसे एक ही निराला है॥

•

गुरु स्वागत-गीत

धर्मचन्द जैन

आ तिरण तारण री जहाज, कि भवजल तारेला जी तारेला।
श्री जैन सघ सिरताज, कि भवजल तारेला जी तारेला॥ टेर॥
चदा सु ज्यादा उज्जवल है, अमृत सु ज्यादा मीठा है।
है सिंग जैसी आवाज, कि भवजल तारेला जी तारेला॥१॥
ज्ञान ध्यानसगम गुण भरिया, शम दम शील रतन का दरिया।
मरुधरकेसरीराज, कि भवजल तारेला जी तारेला॥२॥
जिनमत धाक जमाने वाला, वीर ध्वजा फहराने वाला।
जग जाहिर मुनिराज, कि भवजल तारेला जी तारेला॥३॥
आज भाग्य को चदो चमकियो, सोना री सूरजडो दमकियो।
धन्य हुआ मैं आज कि भवजल तारेला जी तारेला॥४॥
आज खुशी को पार नहीं है, धर्म की गगा अठै बही है।
हरख्यो सकल समाज, कि भवजल तारेला जी तारेला॥५॥
स्वागत गुरुवर स्वागत थारो, मरुधरा रा उजयाला थारो।
'धर्म' की राखो लाज, कि भवजल तारेला जी तारेला॥६॥

•

शत शत वन्दन

श्री प्रेमचन्द लोढा, जयपुर

त्यागी सत सत पूत होते है उनमे अहकाररहित ज्ञान-गरिमा होती है। स्वभाव मे वे एक निश्चल बालक के समान अत्यन्त निस्पृह होते है। उनका दिव्य व्यक्तित्व और मौन साधना स्वत जन-जन रूप मे मुखरित होती है। वे आत्मसाधनारत महापुरुष अधकार मे भटकने वालो के लिये एक प्रकाश-दीप होते हैं। ऐसे सयमी तपोधन श्री





मिश्रीमलजी महाराज साहब के चरणों मे मेरा शत-शत वदन हो ।

जब मैं छह वर्ष का बाल था, मुझे तपोधन वैराग्यमूर्ति, परमकारुणिक आचार्य श्री श्रीलालजी महाराज साहब के वचनामृत सुनने का सौभाग्य प्राप्त हुआ । उनकी अमृतवाणी के वे मनोवैज्ञानिक शब्द आज भी मेरे अन्तर में गूंज रहे है । इस तरह बालवय मे ही मेरा ऐसे सतो के प्रति सहज अनुराग रहा है जिनका अन्तर-बाह्य एक है । मेरे देवतुल्य स्व० पिता के लाख चाहने और सतो के सम्पर्क रखने पर भी जब उनका साया अचानक उठ गया, मेरे मे पडिताई मुखरित हो नही पाई । इस प्रपची जीवन मे जब कभी किसी दिव्यज्योति के दर्शन होते, मन मे एक अन्तर-द्वन्द्व छिड जाता । फिर भी मैं भटक जाता । इस वर्तमान भौतिक ससार मे सत्याचरण और सत्य निष्ठामय जीवन जीना कितना कष्टसाध्य है । छल दभ और बाहरी दिखावे मे हमारे जीवन का अधिकाश भाग जब खप जाता है तब हम अपने को स्वयभू मान बैठते है । जीवन की यह कैसी विडम्बना है । हमारे अन्तर मे बैठे हुए इस पिशाच को हम बाहर प्रकट नही होने देते और जब तक हम इस दैत्य (राक्षसी) जीवन से छुटकारा नही पाते, हम सतजीवन के सच्चे अनुरागी नही होते ।

पर सौभाग्य से जब कभी हमे सच्ची साधुता के दर्शन होते है, हमारे अन्तर का यह पिशाच रूप जब तिलमिला उठता है, वही हमारा वास्तविक अभिनन्दन होता है ।

सतशिरोमणि श्री मिश्रीमलजी महाराज

कविराज हेमबिहारीदास

सततत्व शताब्दियो से मानव सस्कृति को अनुप्राणित करता रहा है । सत श्रमण-साधु-मुनियो ने भारतीय सस्कृति के अमर और उत्प्रेरक तत्वो का दैनिक जीवन मे स्थान देकर अध्यात्म की मौलिक परम्परा को न केवल सुरक्षित ही रखा, अपितु, युगानुकूल नव्य-भव्य उपादानो द्वारा उसका प्रवर्द्धन भी किया । किसी भी समाज और राष्ट्र की यही एक ऐसी विरासत है जिसके आधार पर वह अपना भावी ऊर्ज्जस्वल पथ निर्माण करता है । मेरा तो दृढ विश्वास है कि राजनीति द्वारा प्राप्त स्वाधीनता की रक्षा और उत्कर्ष नैतिकतामूलक सतो के सदाचारमय जीवन के माध्यम से ही सम्भव है, करणी और कथनी को ही वे आदर्श मानते आये है और इसीलिए जन-हृदय पर सतो का अमिट स्थान बना हुआ है ।

जैनधर्म क्रातिकारियो का धर्म रहा है । द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव के अनुसार महापुरुषो द्वारा इसे वेग मिलता रहा है । महाप्राण लोकाशाह ऐसे ही क्रान्तिवीर महामना थे । आपने अपने समुज्ज्वल चारित्र के बल पर ऐसी शखध्वनि की कि उस समय का सारा जैनसमाज उनका घोर विरोधी बन गया । पर कहना उचित होगा कि लोकाशाह सत्य के अनुयायी और सद्धर्म के पोषक थे । धर्म के नाम पर परिवर्द्धित आडबरो के प्रति उनके हृदय मे स्थान न था । वे वीतराग प्रतिपादित सिद्धान्तो को मुनियो के दैनिक जीवन मे देखना चाहते थे । उनका भवभीरु मन सस्कृतिगत विकारो से त्रसित हो उठा था । इसीलिए आपने परमत्यागमूलक मार्ग का न केवल अनुसरण ही किया, बल्कि तन्मूलक परम्परा भी कायम की । इस परम्परा के सक्षम पालको ने जैन-सस्कृति को गौरवमय स्थान प्रदान किया ।

महामुनि श्री मिश्रीमलजी उसी मणिमाला के एक रत्न है, आपने कष्ट सहन कर विरोधो की पर्वाह न करते हुए जिनप्रणीत धर्म और सत्य को सामने रख कर ही औपदेशिक अमृत वाणी के माध्यम से जनता को नैतिकता की ओर आकृष्ट किया । उनका बहुमूल्य जीवन आज एक आदर्श उपस्थित करता है ।

●

चारित्रिक ऊर्जा के धनी

कमला जैन 'जीजी' एम० ए०

शैले शैले न माणिक्यं, मौक्तिकं न गजे गजे।
साधवो न हि सर्वत्र, चन्दनं न वने वने ॥

महानीतिज्ञ चाणक्य का यह कथन अक्षरशः सत्य है। प्रत्येक पर्वत पर माणिक्य नहीं होता, प्रत्येक हाथी में मुक्ता नहीं मिलती, सर्वत्र साधु उपलब्ध नहीं होते और सब वनों में चन्दन नहीं होता।

विश्व-वारिधि के असीम अन्तस्थल से अगणित रत्न निकलते हैं। और उनकी कांति जन-मानस को प्रभावित और आकर्षित करती है। किन्तु विश्व की पैनी दृष्टि उनमें से भी सर्वोत्कृष्ट, सर्वोत्तम, सर्वोपरि और अमूल्य रत्नों को चुनकर अपने वक्ष का हार बनाती है।

मरुधरकेसरी मुनिश्री मिश्रीमलजी म० भी संसार के उन जगमगाते रत्नों में से एक हैं। आपकी प्रतिभा, विद्वत्ता, निर्भयता, तथा चारित्र निष्ठा जन-जन के अन्तःकरण में अपना उच्च स्थान बना रही है। विराट व्यक्तित्व, उत्कृष्ट आचार एवं श्रेष्ठ विचारों को लेकर आप इस प्रांगण में जहाँ भी चरण रखते हैं, वहाँ जागरण की लहर दौड़ जाती है। ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार कि सिंह जहाँ भी जाता है अपना राज्य कायम कर लेता है।

आपको "मरुधरकेसरी" की उपाधि दी गई है। वह सर्वथा उपयुक्त ही है। सिंह-गर्जना के समान ही आप की ओज-पूर्ण वाणी श्रोताओं को जीवन और जगत के रहस्यों को समझाती हुई सचेत कर देती है। अद्भुत जागृति पैदा करती है। अनेकों पथभ्रष्टों के लिए पथप्रदर्शक बनती है और अधर्म तथा मिथ्यात्व के पाश में जकड़े हुओं को मुक्त करती है। आपकी वाणी में अपूर्व बल है। जो भी भाग्य का धनी आपके सम्पर्क में आता है, प्रभावित हुए बिना नहीं रहता। तभी कहा गया है—"The finest eloquence is that which gets things done"

वाणी के समान ही आपकी लेखनी को भी लौहलेखनी की संज्ञा प्राप्त है। इसके द्वारा आपने अनेकानेक विषयों का भंडार अपनी अनूठी प्रतिभापूंजी द्वारा भरा है। आपका अध्ययन अत्यन्त प्रगाढ़ और विशाल है।

आपकी कवित्वशक्ति भी अत्यन्त विलक्षण है। पद्यों का निर्माण आपके लिये क्रीडा है। अनेक पद्यमय रचनाएं तथा महाभारत के सदृश पद्यमय बृहत्काय ग्रन्थ भी आपने समाज को भेंट किया है। इस अद्भुत शक्ति ने आपको एक सफल आशुकवि के रूप में भी हमारे समक्ष उपस्थित किया है।

कि बहुना, आप आज के श्रमणसंघ की एक बहुमूल्य वरिष्ठ विभूति हैं। हार्दिक कामना है कि आप शत-जीवी हों और आपकी प्रतिभा व कीर्ति युगों तक जीवित रहे। अगणित काल तक वह विश्व की श्रद्धांजलि का पात्र बनी रहे।

●

श्रद्धा के फूल

गोवर्धनदास सोनी
एम० एल० ए०



मरुधरकेसरी मुनिश्री मिश्रीमलजी महाराज का नाम जिज्ञासु लोगों से कई बार सुना था। लोग उन्हें महान सन्त बताकर उनकी चर्चा किया करते थे।

संयोग से सन् ६७ के आम चुनाव से पहिले जनवरी मास में महाराजश्री से साक्षात्कार करने व उनके



विचार सुनने का अवसर मिला। महाराजश्री वास्तव मे महान विद्वान सन्त हैं। साथ ही विचारक एव ओजस्वी वक्ता भी। यही कारण है कि महाराज श्री का प्रवचन मानव की हृदयतन्त्री को झकृत करते हुए उसे ज्ञान के साथ देश व समाजहित की प्रेरणा देता है।

देश की दयनीय अवस्था, चारित्रिक पतन, गोवश का वध व देश की गदी राजनीति ने भी महाराजश्री के हृदय को काफी झकझोरा है। इसी कारण आप मे एक महर्षि के साथ साथ राजश्री के भी दर्शन होते हैं। हमारे देश के सन्त-ऋषियो और मुनियो का, जब भी देश पर विपत्ति आई, अन्याय व अत्याचार बढे, उसे निरस्त करने के लिये, समाज को सत्य एव कर्तव्य की प्रेरणा देने के लिये समय समय पर प्रादुर्भाव होता रहा है। उन्ही मे मरुधरकेसरी भी हैं, ऐसा मेरा दृढ विश्वास है।

●

जैन जगत की विमल विभूति

मदनलाल जैन

परम श्रद्धेय मरुधरकेसरी मुनिश्री मिश्रीमलजी महाराज साक्षात् स्नेह की मूर्ति है। आपके हृदय मे पवित्र प्रेम का अथाह सागर हिलोरें लेता रहता है। मायावी ससार के मोह जाल को त्यागकर आपने अपने खिलते यौवन, उभरती जवानी के २५ वें वर्ष मे स्वामीजी श्री बुधमलजी महाराज के चरणो मे पहुँचकर दीक्षा ग्रहण की। तब से आज जीवन के लम्बे पचास वर्षो तक समाज एव साहित्य की सेवा मे अपने को अर्पित कर दिया एव शिक्षा प्रसार के कार्य मे सलग्न रहे।

आप युगप्रवर्तक महापुरुष हैं। जैन दर्शन, व्याकरण, साहित्य, ज्योतिष, पिंगल आदि के ज्ञाता एव अनूठी प्रतिभा के धनी हैं। आशुकवित्व जिनके लिये मात्र क्रीडा है। महाभारत जैसा बृहत्काय ग्रन्थ जिनकी कवित्व शक्ति का मूर्तिमान प्रतीक है। मरुधरा के कवि समाज ने आपकी प्रतिभा से प्रभावित होकर ही आपको आशुकवि की पदवी से विभूषित किया है। आपने राजस्थानी भाषा मे प्रखर पाण्डित्य प्राप्त किया है।

मरुधरकेसरीजी सर्वजन हितैषी महापुरुष हैं। आपके दिल मे सभी के उत्थान की मगल कामना बनी रहती है। आप एक दीर्घदृष्टा अनुभवी सत हैं। जिन्होंने सदा ही जीवन में सुख और शान्ति को स्थिर रखने के लिये ममता सत्य और अहिंसा को ही परम आवश्यक बताया है। भगवान महावीर के "अहिंसा परमो धर्म" के सिद्धान्त को अपने जीवन मे पूर्णरूप से उतारा और उसका घर घर मे प्रचार किया है।

मरुधरकेसरीजी स्थानकवासी जैनसमाज के एक प्रकाश-स्तम्भ है। आपने श्रमणसघ के सगठन के लिये भागीरथ प्रयत्न किया और उसे सुदृढ बनाया। समाज की गला घोटने वाली अनेक कुरूढियो के विरुद्ध सिंहनाद किया और शुद्ध धार्मिक भावनाओ का प्रसार किया। और साधारण जनता को सन्मार्ग का दर्शन कराया।

आपने श्रमणसघ की मर्यादा मे रहकर गत पचास वर्षो मे जैन-शासन, जैन-सघ और जैन-सस्कृति की जो महान् सेवा की है वह अनेको साधको के लिये पथ-प्रदर्शक सिद्ध होगी। जैन समाज के लिये अपने सम्पूर्ण जीवन को समर्पित करने वाले कर्मठ सन्त को हार्दिक श्रद्धा एव सम्पूर्ण निष्ठा के साथ यह श्रद्धांजलि अर्पित करता हूँ और यह मगल कामना करता हू कि आप दीर्घायु हों। इति।

●

हार्दिक अभिनन्दन

मदनलाल कोटेड ब्यावर

जीवननिर्माण मे सन्तो की सगति और उनके उपदेशो का अपना महत्वपूर्ण स्थान होता है। पूज्य गुरुदेव मरुधरकेसरीजी म० सा० भी एक ऐसे सन्त है जिन्होने अपना सम्पूर्ण बहुमूल्य जीवन आध्यात्मिक भावना एव मानव कल्याण के हेतु समर्पित कर दिया। आपके उपदेशो को श्रवण कर अगणित व्यक्तियो एव परिवारो ने अपना कल्याण किया है। ऐसे महापुरुषो के सान्निध्य मे रहने का मुझे अवसर मिला है। इस मगल-कामना के साथ कि वे शतायु बन समाज का हित साधन करते रहे, मैं अपना हार्दिक अभिनन्दन एव शत शत प्रणाम समर्पित करता हू।

•

मानव हुआ कृतज्ञ

श्री दिनेशचन्द शर्मा,
सोजत उपखडाधीश

अभिमन्यू की वेदना, द्रुपद सुता की भीर,
यशो रसायन मे प्रगट, मानव मन की पीर।
अलकार बहु, छद बहु, बहु उपमा, बहु प्रास,
तारक खचित खगोल सा, यशो रसायन खास।
भाषा की मदाकिनी, श्रेष्ठ भाव अनुरूप,
छद प्रबध विचित्र, कवि मिश्री चद स्वरूप।
सत वाणी, सत आचरण, सत्य भावमर्मज्ञ,
मिश्रीमल महाराज से, मानव हुआ कृतज्ञ।

•

श्रद्धाजलि

माधवप्रसाद जैन

पूज्य श्री मरुधरकेसरीजी महाराज ने स्थानकवासी जैन समाज मे शासन सेवा का अनूठा आदर्श उपस्थित किया है। आज वयोवृद्ध होने पर भी वे उग्र विहार करते हुए जनता को सत्य और अहिंसा का अमृत पान करा रहे हैं। आपका उपकार भुलाया नही जा सकता। समाज पर आपकी छत्रछाया चिरकाल तक बनी रहे यही हार्दिक भावना।



•

पहले दोस्त आज गुरुदेव के रूप मे

पारसमल सुराणा, सोजतशहर-मैसूर

मैं और वे (मरुधरकेसरी) बालपणारा दोस्त हाँ। साथ ही पटिया ने खेलिया कूदिया, एक दिन एडो आयो कि वे मने छिटकाय साधुपणो अगीकार कर लियो। जो दोस्त हा गुरुजी बन गया। मने तो या ही बडी खुशी है कि



वे तारण तीरण बन तिर गया ने मैं हाल तक भव-जजाल ही में भटक रहियो हू। मरुधरकेसरीजी ने हाथ जोड़ वदना करू हू है। आही मारी छोटी-सी भक्ति भावना भेंट है।

•

गाढी रुचि और विश्वास

फूलचन्द लूणिया बंगलौर

पूज्य गुरुदेव श्री श्री १००८ श्री मिश्रीमलजी म० सा० का परिचय पहले पहल करीब ४२ वर्ष पहले चडावल मे हुआ था। और फिर जब २ भी मेरा मारवाड जाने का अवसर होता कहीं न कहीं दर्शन का लाभ मिल ही जाता था। वैसे गुरुदेव श्री बडे ही विद्वान् और व्याख्यान वाचस्पति है। आप मे वह आकर्षण शक्ति है कि कोई भी व किसी भी मजहब वाला क्यो न हो उसको अपने मे मिला ही लेते है। मुझे आपके सिद्धान्तो पर गाढी रुचि और विश्वास है।

•

तपे-तपाये स्वर्ण

मिश्रीमल कातरेला बंगलौर

सन्त, अनगार, महाराज, महात्मा ससार के लिये प्रकाश-स्तम्भ है। वे जगत् के भूले भटको को प्रकाश देते ही जीये और मरे है। सारा इतिहास इसी सत्य का प्रमाण है। वैसे मुझे सन्तो के सम्पर्क मे आने का बहुत अवसर मिलता है तथा उनके चरणों मे बैठ विश्राम भी लेना ही पडता है।

मैं मरुधरकेसरी श्री मिश्रीमलजी महाराज साहब के सम्पर्क मे बहुत बार आया हू। आप तपे तपाये स्वर्ण-वत् समाज के जगमगाते अनगार महात्मा है। श्रमणसघ सगठन के प्राण एव सच्चे कर्म-धर्मवीर सन्त हैं।

•

कामना

राजेन्द्र सुमन, सिगोडी

प्रणाम पूज्य श्री सुसन्त प्रणाम पुण्यधी अनन्त
प्रणाम शत प्रणाम प्रभु! मुमुक्षु और कर्म हन्त
सत्य ज्ञान-दृष्टि से विवेक यत्न-यष्टि से
सद्धर्म का किया प्रचार साधना की सृष्टि से
इस तरह बता दिया हमे सहज मुक्ति पन्थ।
शत्रु-मित्र सब से प्रीत सदा स्वरस आत्म-गीत
पचास वर्ष साधना के आपके गये हैं बीत
आपको खबर नहीं मृत्यु का भी डर नहीं

स बोध, धन्य धैर्यवन्त चिरायु आपको वरे
आप ऋद्धि-सिद्धिदा रहें हमारे मध्य मे—
'समृद्ध वर्ष यों अनन्त।"

•

गुरु गुणगान

के० मघराज जैन मयक

"मिश्री गुरु महाराज, तुमको लाखो प्रणाम।
"रूप" मुनि महाराज, तुमको लाखों प्रणाम ॥टेर॥
नवयौवन मे सयम लीना, पच महाव्रत धारण कीना।
धवल सुयश है जग मे लीना ॥१॥
शान्ति सुधाके सागर गुरुवर, दयानिधी सबके हो हितकर।
"मिश्री" मन मोहन मुनिवर ॥२॥
सब जन को उपदेश सुनाते, शाति सुधा का पान कराते।
मोक्ष मार्ग बतलाते ॥३॥
ज्ञानामृत का जल बरसाते, शुष्क चमन को हरा बनाते।
जन मन अति हरषाते ॥४॥
महक रही मरुधर फुलवारी, नमन करत है जनता सारी।
वन्दन है बारम्बार ॥५॥

•

कार्यकुशल कर्मठ सन्त

गेन्दमल देशलहरा, गुण्डरदेही

महाराज श्री की तपस्या, सयम, उच्च चारित्र साहित्यिक योग्यता, अपूर्व कवित्वशक्ति, आदि दैवी गुणों ने मुझे अत्यधिक प्रभावित किया है। एक तपोधन सन्त मुनिराज मे जो गुण एव विशेषताएँ होनी चाहियें उन सब के दर्शन आपमे होते है। आपकी रचित भावपूर्ण कविताएँ पढ़ कर मैं अत्यधिक प्रभावित हुआ हू। मैं मुनिश्री के प्रति हार्दिक श्रद्धा व्यक्त करता हूँ।

•

जीवन के अनेक पहलू

पारसमल बाफना, ब्यावर

मरुधरकेसरीजी म० का स्थानकवासी श्रमणसघ के प्रतिभा-सम्पन्न मुनिराजो मे नाम लिया जाता है। आपका जीवन प्रारम्भ मे ही विकासोन्मुखी रहा है। निरन्तर प्रगति करना, आगे बढ़ते रहना, अपनी साधना मे





प्रमाद न करना— ये आपके पावन जीवन के सहज गुण हैं।

मारवाड प्रांत मे पूज्य रघुनाथजी महाराज के सम्प्रदाय मे अनेक तेजस्वी मतो मे आपका भी उच्च स्थान है। ज्ञानसाधना के बल पर, सत्य बात पर अडिग रहने के कारण, आगम एव शास्त्रो व दर्शन ग्रथो का गम्भीर अध्ययन करने से सत्य बात ही वह अपनी मानना, प्रखर प्रतिभा और स्मरण शक्ति के बल पर, जो पाण्डित्य आपका सरस्वती देवी की कृपा से मिला है, वह वस्तुत सम्मान की वस्तु है।

आपने अनेक पुस्तके लिखी व मारवाडी भाषा मे कवितामय शैली मे जीवन चरित्र लिखे है, तथा 'श्रमण कल्पतरु' का चार्ट आपके ज्ञान का प्रकाश चमकाता है।

आपका व्यक्तित्व बडा ही अदभुत एव प्रभावशाली है। जो व्यक्ति एक बार आपके परिचय मे आगया, वह सदा के लिए आपका अनुयायी बन गया। बातचीत मे आप बडे पटु और साथ ही विनोदप्रिय भी है। समाज को मार्ग-दर्शन कराना व प्रेरणा देना, समाज की कुरीतियो व कुरूढियो को दूर करना, हिंसा को बद करना आदि कारणो से आप लोकप्रिय हैं।



क्रातिकारी वीर मरुधरकेसरीजी

मेघराज मेहता

मरुधरकेसरी प० रत्न मुनिश्री मिश्रीमलजी म० भारतप्रसिद्ध जैन साधु हैं। आपने जैन समाज के उत्थान के लिये विशेष कार्य किया है। राजस्थान मे आपके सैकडो क्षेत्र है। हर तीन साल मे आप उन सभी का दौरा करते हैं। आप हर सम्प्रदाय से मिलजुल कर रहने की भावना मे विश्वास रखते हैं। स्थानकवासी सम्प्रदाय पर अटूट श्रद्धा होने पर भी सम्प्रदायवादिता उनमे नहीं है।

आपकी साहित्यिक सेवाए प्रशसनीय है। आपके अनेक ग्रथ प्रकाशित हो चुके है और हो रहे हैं। आपके उपदेशो मे सदैव नवीनता रहती है। उम्र मे वृद्ध होते हुए भी आपके विहार और उपदेश जवानी को मात कर देते है। आप देश और समाज के उत्थान मे विश्वास रखते है।

साधुसम्मेलन के आयोजनो मे आपका विशेष सहयोग रहता है। अजमेर, सादडी, सोजत, भीनासर और द्वितीय (साधुसम्मेलन) अजमेर के सम्मेलनो की सफलता मे आपका विशेष हाथ रहा है। सादडी सम्मेलन और उसके पश्चात् के सम्मेलनो के तो आप प्राण थे। आपने आपसी विरोध को मिटाकर शाति स्थापना के सफल प्रयत्न किये। आपकी विचारधारा समाज के लिये बडी उपयोगी सिद्ध हुई।

आपकी सदैव यही भावना रहती है कि समाज मे एक ही रीति और नीति हो। इसी भावना के आधार पर समाज मे सगठन कायम रह सकता है। श्रमणसघ के तो आप प्राण हैं।

आप स्थानकवासी समाज मे एक विद्वान, क्रातिकारी, सुमधुर, मिलनसार और व्याख्यानी सत है। आपके व्याख्यानो मे बडी धूम रहती है। आपकी आज्ञा मे प्रमुख तीन सत और है। अनेक साध्वियाँ भी आपकी आज्ञा मे है।

आपके उपदेश से कई शिक्षणसस्थाओ का भी निर्माण हुआ है जैसे लोकाशाह जैन गुरुकुल सादडी, सिरयारी श्री गौतम गुरुकुल, सोजत और बिराडा आदि कई क्षेत्रो मे वाचनालय आदि भी खुले है। सादडी क्षेत्र पर तो आपकी विशेष कृपा है। व्यस्त होते हुए भी आप समय निकाल कर पधारते है। सादडी, मुन्डारा, वाली, सान्डेराव,

दुर्गी आदि क्षेत्रों में आपके उपदेशों का विशेष प्रभाव है।

आप कठिन परिश्रमी हैं। साचोर (राजस्थान) जैसे दुर्गम क्षेत्र में आप चातुर्मास कर चुके हैं। आप छोटे छोटे क्षेत्रों में विहार करना विशेष रूप से पसन्द करते हैं।

शासन देव से यही प्रार्थना है कि मरुधरकेसरी प्र० श्री मुनिश्री मिश्रीमलजी महाराज जैसे महान क्रान्तिकारी सन्त को राष्ट्र और समाज की सेवा करने के लिये विशेष बल प्रदान करें।

●

एक आदर्श महर्षिवर

वैद्य अमरचन्द जैन, बरनाला

मरुधरकेसरी जी का जीवन क्या है? अहिंसा, सत्य, संयम तप और क्षमा का साक्षात् दिव्य अलौकिक जगमगाता जीवन है। जो जन-जन में धर्म की निर्मल धारा का स्रोत बहाकर, उनके मानस को पवित्र स्वच्छ बना रहा है।

ऐसा कौनसा व्यक्ति जैन समाज में होगा जो आपके नाम, तप, त्याग और वैराग्य से परिचित न हो? आप समाज के ही नहीं भारतवर्ष के इने गिने महर्षियों में से एक हैं।

आप सद् व्याख्यान तथा सद्-ज्ञान की प्रखर ज्योति शिखा से संसार को प्रकाशित कर रहे हैं। सत्प्रकाश द्वारा आप जीवन के प्रति सच्ची निष्ठा पैदा कर सभी को सन्मार्ग पर स्थिर बना रहे हैं।

आपके त्याग, संयम और वैराग्यपूर्ण जीवन की सुमधुर सुगन्ध भारत के कण-कण को सुगन्धित कर सौम्यता और शान्ति प्रदान कर रही है। ऐसे महामानव का पथ-प्रदर्शन सुदीर्घ काल तक जन-जन को मिलता रहे।

●

मरुधरकेसरी · एक परिचय

कपूरचन्द पितलीया, सादडी

परमश्रद्धेय गुरुदेव स्थविरकुलशिरोमणि मरुधरकेसरी श्री मिश्रीमलजी महाराज जैन जगत् के युगपुरुष हैं। आपने 'दोरो जैनधर्म रो मार्ग बहणो है खांडे री धार" को समझते हुए समग्र आधिभौतिक संवेदनाओं को तिलांजलि देकर मोक्षमार्ग का अनुसरण करने वाली दीक्षा को स्वीकार किया। आप अपने जीवनपथ को ज्ञान दर्शन की ओर निरन्तर अग्रसर करते आ रहे हैं।

निरन्तर श्रमशील रहते हुए भी आप अध्ययन को अपना जीवनसाथी मानते हैं। आप इस वृद्ध अवस्था में भी प्रत्येक क्षण का उपयोग क्रिया के चिन्तन में मनन करते रहते हैं। दर्शनार्थ आने वाले श्रावक-श्राविकाओं को अपने वचनामृत से सन्तुष्ट कर शेष समय अध्ययन तथा साहित्यनिर्माण में लगाते हैं। आप प्रारम्भ से ही दृढ निश्चयी रहे हैं, तथा प्रारम्भ किये हुये कार्य को पूर्ण करने की कठिन श्रम भी करते रहे हैं। चाहे उसमें कितनी ही कठिनाइयां उपस्थित हों परन्तु समस्त बाधाओं को पारकर समाज के हित को ही लक्ष्य में रखते हुए आपका सदा आशीर्वाद एवं सहयोग बना रहता है। आपका महान् मंत्र "तिन्नाण तारियाण" आज लोकप्रिय है।





आप लोकहित के लिये भ्रमण करते हुए अपनी ज्ञानसाधना से सासारिक सुख मे लिप्त व किंकर्तव्य-विमूढ मानवो का अपने वचनामृत से अज्ञान दूर कर सच्चे मार्ग का प्रदर्शन करते है। आपके व्याख्यान सर्वदा समाज-वाद की प्रेरणा देते हैं। आप इस समय म अत्यन्त विस्तृत भ्रष्टाचार, कालाबाजार, रिश्वतखोरी आदि का निरतर बहिष्कार करते है। इसके लिये आप प्रारभ से ही शुद्ध खद्दर के वस्त्रो को धारण कर अपने तपस्वी जीवन को सच्चे कर्मयोगी की तरह यापन कर रहे है। आप विश्व मे शान्ति के सदा पुजारी रहे हैं परन्तु सर्वदा शान्ति की प्राप्ति वीरता से करने मे विश्वास रखते है।

आप नियमो का पालन साग्रह करते हैं। जैन शब्द का निर्माण 'इन्द्रियजय' से हुआ है जिसके कि यम-नियम मूर्तिमन्त उदाहरण है। सतत चिन्तन अध्ययन लेखन आदि विषयो मे इतने व्यस्त रहते हुए भी सगठन में आप पूर्ण विश्वास रखते है। सगठन मे दरार होना आपको कतई अभीष्ट नही तथा सगठन हेतु आप महान् से महान् त्याग करने का भी सतत तत्पर रहते हैं।

आपकी शारीरिक सुषमा तप के तेज से सतत दीप्त रहती है। इतना होते हुए भी आपका जीवन त्याग तपस्या एव सरलता-सादगी की साक्षात् प्रतिकृति है।

हम सर्वदा से अनुभव करते आये है कि आपका अमूल्य उपदेश मानव के समस्त दुर्गुणो को दूर करने वाला महौषधिवत् काय कर रहा है क्योकि प्रवचन मे सदा समभाव, सहिष्णुता और विश्वमैत्री की त्रिवेणी प्रवाहित होती हैं। विश्वशान्ति की साकार कल्पना की अनुभूति आपके वचनों मे मानव प्राप्त करता है।

●

श्री मिश्रीमलजी म० सा० के प्रति मेरी अभिव्यक्ति

जगदीशकुमार वैष्णव, सादडी

मेरे दृष्टिकोण से श्री मिश्रीमलजी महाराज हमारे मारवाड प्रदेश के अवतारी है। आप अनेक सद्गुणो की खान हैं, जिनका सपूर्ण वर्णन मेरी यह लेखनी सैकडो वर्षो मे भी नही कर सकती, किन्तु "अकरणान् मदकरण श्रेय" तथा वास्तव मे "महापुरुषो के कुछ गुणवर्णन भी अपने आपको पवित्र करने वाले होते हैं" की उक्ति अनुसार यथा-सामर्थ्य कुछ लिखना अपना कर्तव्य समझता हू।

इस वैज्ञानिक चकाचौंध के समय जबकि सब प्रकार के आनन्द के साधन मानव मात्र के इन्द्रिय सुखो को प्रदर्शित कर रहे है, उस समय समस्त आकाक्षाओं को रोककर अपने आपको जैनसाधु के रूप मे दीक्षित कर प्रतिवर्ष हजारो मील की पैदल यात्रा करते हुए तथा छोटे-बडे नगरो मे रहने वाले अज्ञान मे लिप्त हमारे आबालवृद्ध मानवों को अपने त्यागमय सादगी के जीवन के सारभूत अमृतमय उपदेशो का आप दान करते रहते है। आपने कई पथभ्रष्ट तथा विलुठित व्यक्तियो को केवल मात्र दर्शन देकर या साधारण उपदेश से भी इतना प्रभावित किया कि अपने समस्त जीवन के सचित दुर्गुणो को क्षण मात्र मे ही त्यागने को उद्यत हो गये। यह मैं तो आपकी सच्ची तपस्या का ही वरदान समझता हू। आपके एक बार दर्शन करने वाले व्यक्ति की सदा यही लालसा बनी रहती है कि वह आपका सान्निध्य सदासर्वदा बनाये रखे। आपने भी स्वाभाविकतया सबको सँभालते रहना अपना कर्मक्षेत्र बना रखा है जो कि हम सासारिक मानवों पर उपकार करने हेतु है।

●

मेरे हृदय मे मरुधरकेसरीजी महाराज का स्थान

कन्हैयालाल सेठ, सादडी

मरुधरकेसरीजी जैनधर्म का आलोकप्रसारण करने के लिए इस मोहमयी विश्वनगरी मे सूर्य के समान कार्य करते जा रहे है। जिस प्रकार सूर्य का प्रकाश अति प्रखर होते हुए भी प्राणीमात्र के जीवन की स्थिति को बनाये रखने के लिये अत्यन्त आवश्यकीय होता है तदनुरूप ही मर्यामुनि के प्रवचन बाहर से दीखने पर कठोर होते हुए भी इहलोक परलोक के लिये श्रेयस्कर होते है। आपकी वक्तृत्वचातुर्य के सामने अच्छे से अच्छे साहित्यक भी द्रवीभूत हो जाते हैं। आप जैनधर्म के गूढ रहस्यो को जनसाधारण के मानस मे तथा अनिविचारवान् व्यक्तियो के लिये भी समभाव से मारवाडी भाषा मे सरल बनाकर समझाने का सतत प्रयत्न करते आरहे हैं। आपने देश विदेश मे जैनतत्व के प्रचार का बहुत बडा कार्य किया है।

आपका हृदय दुखी पीडित एव आर्त जनो के प्रति फूल से भी कोमल है, जबकि आप नियम पालन करने मे वज्र से कठोर हैं। आपके दर्शन या प्रवचन सुन लेने के बाद कोई भी व्यक्ति आपसे प्रभावित होकर आकर्षित नही हो सकता हो, ऐसा प्रतीत नहीं होता। प्राय यही देखा गया है कि आपके उपदेशामृत को सुनने वाला व्यक्ति अपने जीवन मे उन बातो को प्रायोगिकरूप मे उतारने का प्रयत्न करता ही है। यह मैं आपकी तपस्या का ही ज्वलन्त प्रभाव मानता हूँ।

ढाई हजार वर्ष पूर्व या प्राचीन काल मे जिस प्रकार स्वामी महावीर या लोकाशाह ने जैनधर्म की प्रक्रियाओ को अपने जीवन मे उतार कर उनकी आध्यात्मसिद्धियो को प्राणी मात्र को दिया ठीक उसी प्रकार आज हमारे सामने कालपरपरा से तिरोहित जैनधर्म का पुन निदर्शन कराने हेतु आप महापुरुष का जीवन हमारे सम्मुख है। आप निरतर भ्रमण करते हुए जैनधर्म के ध्वज का, तथा उनके वाक्यो और सूत्रो का आलोक प्रसारित कर रहे हैं। मैं तो यहा तक भी कहने का साहस कर सकता हूँ कि इस विचित्र परिवर्तित समय में जैनधर्म के अस्तित्व को रखने के लिये आपने अपना समस्त जीवन उत्सर्ग कर दिया है। आप प्राणपण से इसी चेष्टा मे लगे रहते हैं कि विश्वशान्ति के लिये धर्म की आराधना तथा उसके नियमो का पालन येन केन रूप से बनता रहे।

•

विनम्र अभिव्यक्ति

मागीलाल भंडारी अधिष्ठाता,
सादडी गुरुकुल

पूज्य गुरुदेव श्री मरुधरकेसरीजी महाराज से भारतवर्ष का स्थानकवासी समाज बहुत अच्छी तरह परिचित है। स्थानकवासी जैन समाज ही क्या, समस्त भारतवर्ष के जैन समाज तथा मारवाड प्रान्त के जैनेतर समाज पर भी आपके प्रेम, सहिष्णुता, त्याग, वैराग्य और चारित्र आदि का अमिट प्रभाव है। आपके ओजस्वी सम्यग्ज्ञान दर्शन चारित्रादि गुणो से परिपूर्ण अमृतमय व्याख्यानो से एव काव्यरस से परिपूर्ण कविताओ के कारण जैन व जैनेतर समाज के आबालवृद्ध नर-नारी प्रभावित है।

आपका जीवन फूल से भी अधिक कोमल एव वज्र से भी अधिक कठोर है। ऐसा सम्मिश्रण इनीगिनी लोकोत्तर विभूतियो मे ही प्राप्त होता है। जब भी आपके समक्ष कोई अनाथ असहाय दीन छात्रवृत्ति का इच्छुक ब्रह्मचारी व दुखी रोगग्रस्त आ जाता है और अपने दुख से मुक्त होने की प्रार्थना करता है तब आप उसे सच्चे दिल से सान्त्वना देते है जिससे कि उसे तत्क्षण शान्ति प्राप्त हो जाती है। वह अपने दुख को विस्मरण कर देता है।





आप अनुशासन और संगठन के भी पूर्ण हिमायती हैं। इन दोनों के बिना समाज का अस्तित्व खतरे से खाली नहीं है। इसी कारण से आपकी कृपा से श्री लोंकाशाह जैन गुरुकुल सादड़ी के भव्य विशाल प्रांगण में अखिल भारतवर्षीय स्थानकवासी जैन साधु सम्मेलन सफलीभूत हुआ उसी समय करीब ३०० सन्त सती और पचास हजार श्रावक-श्राविकाएं आबालवृद्ध नर नारी समुपस्थित थे। इनको एक सूत्र में पिरोने, सम्प्रदायवाद को समाप्त करने, आचार्य पदवी को संघहितार्थ समर्पित करवाने में आपका अथक परिश्रम, अनुपम त्याग, मधुर व्यवहार संयमनिष्ठ जीवन और सब संत-सतियों का स्नेहपूर्वक समझाना ही अधिक काम आया है। इस वर्द्धमान स्थानकवासी जैन श्रमण संघ व श्रावक संघ को समस्त भारतवर्ष में स्थापित करवाने में प्रमुख भाग आप श्री ही ने लिया है। इसके लिए आपको जितना भी धन्यवाद दिया जावे उतना ही कम है। जब कभी श्रमणसंघ की कठिन समस्या मुनिराजों के सामने आ पड़ती है तब उस कठिनाई के समय आप द्वारा सहज सरल शान्ति का मार्ग प्रदर्शन कर दिया जाता है। यह आपकी अपूर्व सूझबूझ का सफल परिचायक है। इसी कारण से प्रमुख मुनिवृन्द समय-समय पर संघहितार्थ आपकी सम्मति की प्रतीक्षा किया करते हैं। आप जैन समाज को सुसंस्कृत एवं सुशिक्षित देखना चाहते हैं। आपकी मान्यता है कि साधुवर्ग और सतीवर्ग चाहे कितना भी संयमनिष्ठ चरित्रनिष्ठ विशारद क्यों न हो यदि उसके अनुयायी सच्चे सुसंस्कृत सुसभ्य विनीत न हों तो उनका संयमी जीवन अधिक दिन तक सुरक्षित रहना असंभव तो नहीं मगर दुष्कर अवश्य होगा। हमारी जैन समाज के बालक व बालिकाएं अधिक से अधिक मात्रा में सुशिक्षित होवें, धर्माध्ययन करें, विनीत बनें, जैन धर्म की विशालता को अपनावें, यह पूज्य गुरुदेव की हृदय की तमन्ना रहती है। इसी कारण आपके सदुपदेश से प्रभावित होकर कई संस्थाएं स्थापित हुईं।

स्व० प्रधानमंत्री श्री नेहरू का यह नारा कि आराम हराम है, आपने कई वर्षों से अपने जीवन में कार्यान्वित कर रखा है। आप एक क्षण भी व्यर्थ नहीं जाने देना चाहते हैं। हर समय कुछ न कुछ जनसमाज के हितार्थ विचारा करते हैं या कविता या लेख के रूप में लिखते रहते हैं। आपके अनमोल वचन गद्य, पद्य, कहानियां, कविता आदि के रूप में प्रस्फुरित हुए हैं। इनका प्रकाशन भी पूज्य रघुनाथ जैन पुस्तकालय सोजत सिटी ने और बुद्धवीर जैन स्मारक मण्डल जोधपुर ने करवाया है। जब आप विक्रमादित्यचरित्र, रामायण, महाभारत आदि रचनाओं को सुनाने बैठते हैं तो श्रोतागणों का हृदय ऐसा हो जाता है कि हम हर समय पढ़ा करें और सुना करें तो अच्छा हो। इनको पढ़े बिना या सुने बिना कहीं भी जाने की इच्छा नहीं होती है। सच्चे और सुयोग्य रचनाकार लेखक कवि की असली पहचान भी तो यही है कि श्रोतागण या पाठकगण उसकी रचना को पढ़ या सुनकर अधिक से अधिक पढ़ने सुनने को आतुर हो उठें।

पूज्य गुरुदेव को अपने मिशन में सहयोग देने हेतु विद्या-विनोदी उपप्रवर्तक श्री रूपचन्दजी म०, शान्तस्वभाव सेवाभावी श्री महेन्द्र मुनिजी म० विद्यार्थी श्रीमुकन मुनिजी म० जैसे शिष्यरत्न प्राप्त हुए हैं जो आपको प्रतिदिन प्रतिक्षण सहयोग देते रहते हैं और आपके आदर्श जीवन को अपने जीवन में उतारने के लिये सदैव सचेष्ट रहते हैं। पूज्य गुरुजनों की सेवा-सुश्रूषा करते हुए ये शिष्यगण अतीव आनन्दानुभव करते हैं।

पूज्य गुरुदेव इस मरुधरा के केसरी हैं। आपका विहार प्रायः इस मारवाड़ की धरा में हुआ है। जिस भांति सिंहगर्जना को सुनकर सियाल, लोमड़ी, हाथी, व्याघ्र आदि प्राणी रफूचक्कर हो जाते हैं इसी भांति आपकी सम्यग्-ज्ञानदर्शन से युक्त जिनवाणी की सिंहगर्जना को सुनकर मिथ्यात्व, अज्ञान, हिंसा, झूठ, चोरी, दम्भ, जड़पूजा, निर्दयता आदि तमोगुण भाग जाते हैं। जिस भांति तिमिर सूर्य के उदित होते ही स्वतः समाप्त हो जाता है तद्वत् मिथ्यात्वी देवी-देवताओं की उपासना, अज्ञानान्धकार, अनुकम्पारहित भावना स्वतः जहां जहां आपका पदार्पण हो जाता है वहां से समाप्त हो जाते हैं।

●

गुण गान

गिरधरात्मज सवाईराम शर्मा, सोजत

(तर्ज — घनश्याम तेरी वंशी हमको भी सुना देना)

बुद्धमल गुरु के शिष्यवर, मरुधर के केशरी हो,
रघुनाथ सम्प्रदाय में, मुनिवीर केशरी हो ॥ टेर ॥
मन्त्री मुनि श्री मिश्रीमल क्यों न केशरी हो,
अवतार शाह कुल में, श्री संघ केसरी हो ॥ १ ॥
नयम ले सिद्ध पद पे, अधिकार यूं जमाया,
त्यागी हो वीतरागी, जिनवीर केशरी हो ॥ २ ॥
गुरु बाल ब्रह्मचारी, वसु कर्म को विडारे,
सिद्ध अष्ट गुन को धारे, बलवान केशरी हो ॥ ३ ॥
सिद्धान्त सूत्र ज्ञाता, उद्देश के हैं दाता।
भवि जीव तत्त्व बोधक, गुनवान केशरी हो ॥ ४ ॥
उपकार भी अनेकों करते, सदा विचर के।
सत शील ज्ञान जप तप, तप-तेज केशरी हो ॥ ५ ॥
धरते चरण जे भूमि, होती पवित्र धन धन।
बलिहार इन चरण पे, मम ध्यान केशरी हो ॥ ६ ॥
दयानिधि दिवाकर गुन हैं अनन्त धारे।
अनुचर सुकवि सवाई, कवि किरत केशरी हो ॥ ७ ॥

●

श्रद्धेय मरुधरकेसरी, काव्य-काननकेसरी के चरणो मे

अम्बादान भट्ट, 'अम्ब' कुरडाया (राज०)

दोहा — जयजिनेन्द्र भवदुखहरण, मंगलकरण महान।
चारवरण-तारनतरण, अमरण सरण निधान ॥

मत्तगयन्द — जो करुनानिधि राज निरन्तर, जाहिर जाकी विभूति भलाई।
देवतरु सम "कामद-अम्ब" अघासुर हेतु हु यादवराई ॥
मदाय-लंक विध्वंसक मारुति ज्ञाननिधान सुव्यास जुन्हाई।
"मिश्री मुनीश्वर" सो कविराज, हरे मम मानस की जडताई ॥

●





मरुधरकेसरीजी म० के चरणों में श्रद्धासुमन

हरिसिंह वारहट, जोधपुर

महिमा "मिश्री" मुनीश की, पृथ्वी माहि प्रसिद्ध ।
सेवा सधिया सापरत, शीघ्र कार्य व्है सिद्ध ।।
पारस-कहै सारा पुरुष देख्या आखन दोय ।
ए "मिश्रीमुनि" है अठे, जन लीजो सह जोय ।।
लोह दूर मेलो-परो, मूरख लोह समान ।
पर मिश्री मुनि के परस, हाटक होतु महान् ।।
है जु पख हमायुसी, मिश्री अख-महान ।
झकलेत जन दिश जरा, हुवे रकताहान ।।१।।
ज्ञान मतवालो-आलो वालो जिनराय हू को,
जैन उजवालो तेज-सविता समान है ।
वर बुद्धिवालो वर सत्य-व्रत वालो सदा,
श्रीत व्यालो पीन वालो सर्वगुणखान है ।।
भापण भान वालो दुनिया को टालो दुख,
धर्म-ध्यान वालो झण्डो रोप्यो महान है ।
भगती को भालो-चमकानवालो चहु दिश—
"मिश्री" निरालो मुनि सयमी सुजान है ।।
तुम केसरी देश-मरुस्थल के, अघनासन तेज गिरा उनी है ।
किरणा नित ज्ञान हु की प्रगटा, धर्मध्यान झलान रखे धुनी हैं ।।
सतवन्त रटे अरिहन्त सदा, कर दर्शन होत खुशी दुनी है ।
मुनिओर विभाकर से भव मे सुदिवाकर जैन "मिश्री" मुनि है ।।
धर अम्बर श्वेत भये यश से, रसभापण हृत प्रजा मई हैं ।
उमडे नित ज्ञानघटाअत ही, दशहू दिश माहि छटा छई है ।।
अघ दीन दरा घट ज्ञान थटा, सुध श्रावक लोग भये सइ हैं ।
सुख सान्ति सदैव "हरिसिंहरे" मुनि मिश्रीकृपा से वणी रही है ।।

●

केसरी हमारे है

मोहवर्तसिह राठोर, 'मोवतेश'
सिविल एण्ड ए० शेसन्स जज, जोधपुर

मीठे मीठे बैन वारे धर्मज्ञान देन हारे,
शुभचित्त चैन वारे दया उर धारे हैं ।
कहे 'मोवतेश' अहो, भालहू विशाल वारे,
सार सार शास्त्रन को, मिश्री सारे हैं ।
जैन मुनि कवि महा, करत कविता बहु,
सिहनाद सम कई ग्रंथ रच डारे हैं ।
औगुन हरन वारे, तप के करन वारे,
धर्म के धरन हारे, 'केसरी' हमारे हैं ।

●

हमारे आराध्य

मोहनकुमार पूनमिया, साहित्यरत्न

हमारे आराध्य, श्रद्धेय, पूज्य गुरुदेव, मरुधरकेसरी, पडितरत्न श्री मिश्रीमलजी महाराज साधुत्व के लक्षणों मे पूर्ण तथा नपुष्ट हैं। यथार्थ मे मरुधर के केसरी ही है। निर्भीक हैं। शेर के सदृश गर्जक हैं, जिनकी दहाड से मरुधर ही क्या समस्त समाज थर्राता है। उनकी भाषा मे ओज है, उनके मानस मे स्वाभिमान है, व्यवहार मे अपनापन है। मानस स्थिर है। विचार स्थिर हैं जो अपने आप मे स्पष्ट है। सत्यवक्ता हैं। निष्कपट है। सरल हैं। केवल क्रियाकाण्डी ही नहीं है, जैसा अन्तर है वैसा बाह्य है। अन्तर्मन व बहिर्मन मे एकरूपता है। बनावट उनसे कोसो दूर है। धूर्तता उनमे रच मात्र नही है।

पडितरत्न हैं। शीघ्र कवि (आशुकवि) हैं। अजोड स्मरण-शक्तिमान् हैं। ज्ञान पुज हैं। प्रकाश पुंज है। नेत्ररुग्ण होते हुए भी साहित्यसाधक हैं। वृद्धावस्था होते हुए भी अविचल विहारी है। शान्तदान्त हैं, वक्ता हैं, गायक हैं, कार्यकर्ता हैं, नेता हैं। नेतृत्व को क्षमतावान् हैं। पद-प्रतिष्ठा का उन्हे मान है।

वे दीन दुखी के प्रति कृपालु हैं, साथ ही आत्मनिष्ठ भी हैं, सामाजिक भी हैं और राष्ट्रवादी भी है। पुरातन और नवीनतम युग की सधि-कडी हैं। वृद्ध भी हैं, युवक भी हैं, धार्मिक जनो के हृदयसम्राट है। सबके अपने हैं। पराये तो किसी के हैं ही नही। ऐसे अनूठे व्यक्तित्व के धनी गुरुदेव का शत-शत अभिनन्दन।

●

श्रमणसघ के केसरी

अमरचन्द मोदी

भारतीय सस्कृति व्यक्तिपूजा मे नही, गुणपूजा मे विश्वास करती है। सन्त भारतीय सस्कृति के प्राण हैं। सन्तो का जीवन आदर्श और पवित्र होता है। उनके दर्शन और प्रेरणा से जीवन पावन हो जाता है। भारतीय सस्कृति मे 'सन्त' विचारो का केन्द्र माना जाता है। भारत की पुण्यभूमि मे समय-समय पर सन्त पुरुषो के आगमन ने यहा की मिट्टी और हवा मे अपने जीवन से, अपने उज्ज्वल कर्म से और अपनी वाणी से जो सस्कार-बीज बोये थे, वे आज भी त्याग-तपस्या और ज्ञान के रूप मे अकुरित है। सन्त जीवन भारतीय सस्कृति का केन्द्र बिन्दु रहा है। स्थानकवासी समाज के युग पुरुषो की लम्बी परम्परा ने समाज को बहुत कुछ दिया है।

पूज्य मरुधरकेसरीजी म० स्थानकवासी जैन समाज के एक अनमोल रत्न हैं जिन्होने समाज के लिये अगणित महान् कार्य किये है। सघ ऐक्य के लिये आप हमेशा अग्रणी रहते हैं। आप प्रकाश-स्तभ की तरह विषयान्धकार मे भूले-भटके जन-मन को सत्पथ पर चलने की प्रेरणा प्रदान करते रहते है। श्रमण सघ के निर्माण मे आपका अत्यधिक योगदान रहा। आप श्रमणसघ के 'केसरी' हैं।



●

पेखो मुनि मिश्री प्रभा

पं० वालाराम 'वाल' जोधपुर

सोरठा

सद्गुरु ने सो वार, करू नमन कर जोर ने।
जिण निज विरद विचार, वर्ण बोध दीनो विमल ॥१॥

अनुपम ओ उपकार, सद्गुरुरो स्वीकार कर।
सुगुन लिखू श्रीकार मिश्री मुनि रा मोदसू ॥२॥

धरकर उर मे ध्यान, आदिनाथ अरिहन्तरो।
कायारो कल्यान, करते मरुधर—केशरी ॥३॥

सिद्धा ने सो वार, शीस नमावे स्नेहसू।
उर ज्यारो उपकार, माने मिश्री मुनि महा ॥४॥

अति उत्तम उपकार, उर मे धर आचार्यरो।
वन्दन वारम्वार, करते मरुधर—केशरी ॥५॥

आछो ओ उपकार, उपाध्याय रो है सही।
सुत्तागम रो सार, समजायो मुनि मिश्री ने ॥६॥

अधिकारी अणगार, जेते हैं इण जगत मे।
व्हाने वारम्वार, वन्दे मिश्री मुनि विमल ॥७॥

सादर और सहर्ष, पूज पञ्च—परमेष्ठि पद।
उत्तम गुण आदर्श, मिश्री मुनि मन मे मढे ॥८॥

जवर वतायो जाप, सद्गुरु श्री बुधमल अहा।
जिणरे पुण्य प्रताप, मोहे जन-मन मिश्री मुनि ॥९॥

भाव सुद्ध हो भक्ति, सद्गुरु री कीवी सरस।
इण कारण आ शक्ति, पाई मिश्री मुनि प्रवल ॥१०॥

करन आत्म कल्यान, अपनायो गुरु-ज्ञान उर।
पेखो पुण्य प्रधान, मिश्री मुनिरा जगमगे ॥११॥

निगमागमरो नाण, गुरुमुख सेती ग्रहण कर।
काया रो कल्याण, करते मरुधर केशरी ॥१२॥

सुत्तागमरो सार, सद्गुरु समजायो सही।
उणहीरे अनुसार, वाणी मुनि मिश्री वदे ॥१३॥

मुझ न करते स्नेह, सुगुरु-भक्ति तज मुक्ति से।
अति उत्तम मत एह, मन मे धरयो मिश्री मुनि ॥१४॥

काटन अरि करि क्रोध, तरकस सम निज तोद मे ।
बाण भरिस गुरु बोध, धारयो मरुधर–केशरी ॥१५॥
जा दरशनरी दौर पट-दरशन दोरे सदा ।
प्रतिपल उणरी पोर, धुनि मुनि मिश्री री घुके ॥१६॥
जगरी ममता जीत, प्रभू पारस से प्रीत कर ।
इन्द्रियजीत अतीत, वनिगे मिश्री मुनि विमल ॥१७॥
हिय मे अति हरखाय, पारस—प्रभुरा पाय ने ।
मिश्रीमल मुनिराय, पूजे प्रतिदिन प्रेमसू ॥१८॥
भेदन भव—भय भ्रान्ति, जाप शान्ति रो नित जपे ।
मिश्री मुनिरी क्रांति, पसरी याते पुहुमि पै ॥१९॥
पूरन पाले प्रेम, नित्य नेम से निरखलो ।
टाले टुक ना नेम, गुरु मिश्री गुर्नसिंधु अस ॥२०॥
क्षुधा, तृषा अरु, शीत, उष्ण आदि परिषह सहे ।
पर ना तोड़े प्रीत, महावीर से मिश्री–मुनि ॥२१॥
चार कषाय विसार, पचमहाव्रत पेखलो ।
ए मिश्री अणगार, पाले पूरन प्रेमसू ॥२२॥
मुक्ति—हेतु तज मार, सयमरे समरागणे ।
ए मिश्री अणगार, जबरा जूझे जाचलो ॥२३॥
अविचल धृति उर-धार, मार तणो मद मार के ।
त मिश्री अणगार, महि मे विचरे मोदसू ॥२४॥
जारन जग जंजार सयम ले बुध सुगुरु से ।
पार ब्रह्मसू प्यार, करते मरुधर केशरी ॥२५॥
तज तामस तलकार, उरबिच समता आदरे ।
पुरुप इसासूं प्यार, करते मरुधर केशरी ॥२६॥
मन की ममता मार, जल मे रहता जलज जिमि ।
अे मिश्री अणगार, सादर जग मे सचरे ॥२७॥
अनशन, कायाक्लेश, ऊनोदरि, भिक्षाचरि ।
"रस परिहर रु हमेश" प्रतिसलीनता तप तपै ॥२८॥
प्रायश्चित्त रु ध्यान, वियुत्सर्ग स्वाध्याय पुनि ।
वेयावच्च महान, नपै विनय तप मिश्री मुनि ॥२९॥
मन को रख मजबूत, मेरु लेख पै मारते ।
अैसे अे अवधूत, मिश्रीमल मुनिराज है ॥३०॥





शोधन आत्म—स्वकीय, दीनबन्धु, गुनसिन्धु की।
कविता अति कमनीय, करते मरुधर—केशरी ॥३१॥

घन सम अति-गम्भीर, गुरु मिश्री री सुन गिरा।
धरते मन मे धीर, चातक-से चातुर लखो ॥३२॥

सज्जन को सन्मान, करते पँ करते नहीं—
मन मे अपने मान, कबहू मरुधर—केशरी ॥३३॥

मुनि-मग की मर्याद, पाले प्रतिदिन प्रेमसू।
पँ पल भर न प्रमाद, करते मरुधर—केशरी ॥३४॥

भञ्जन-हित भव-भीर, धीर बधावे धीर ने।
गुन ऐसे गम्भीर, गुरु मिश्री मे हैं घनें ॥३५॥

देकर विद्यादान, शुचि शिष्यन की सर्वदा।
भद्रात्मा को भान, मिश्री मुनि करवा रहे ॥३६॥

महिमा लखो महान, जग मे जिनकी जलद सम।
अल्प न पँ अभिमान, करते मरुधर केशरी ॥३७॥

गिरते आ जो गोद, भव-भय से भयभीत हो।
उनको दे आमोद, मलयागिरि सम मिश्री मुनि ॥३८॥

चचल चित चार्वाक, चरपर चरपर जे करें।
मिश्री मुनि की धाक, सुन शरमाये वे सभी ॥३९॥

शरणागत को साज, सदय हृदय से सर्वदा।
मिश्रीमल मुनिराज, सुर पादप सम दे सही ॥४०॥

विमल सुधा सम वेण, दूर करे दिल देण ने।
सुण सुख पावे सेण, मिश्रीमल मुनिराजरा ॥४१॥

शील तणो शृङ्गार, अनुपम लखि के अग पर,
मन मूर्छित हो मार, गुरु मिश्री रा पद गहे ॥४२॥
जिनवाणी री जोड, क्रोड छोड, अडव न करे।
मन मे विमल मरोड, गुरु मिश्रीरे आ घणी ॥४३॥
दम्भ-तिमिर को दूर, सतत करण-हित सूर सम।
मुनि मिश्री रो नूर, जगमगात जग मे जबर ॥४४॥
करि-सम शत्रु करूर, कर्म करन चकचूर ओ।
मुनि मिश्री रो नूर, हेरो है हर्यक्ष-शम ॥४५॥
सन्तन की शुचि सेव, तन से, मन से, वचन से।
अलगो रए अहमेव, करते मरुधर—केशरी ॥४६॥

पेखो यह परतच्छ, विद्या, विनय, विवेक बल ।
श्रमण-संघ के स्वच्छ मंत्री सोहे मिश्री मुनि ।।४७।।
त्यागी त्रिगुणातीत, वीतराग-पद कंज के ।
वनिगे और वनीत, मिश्रीमल मुनिराज जे ।।४८।।
छल-छिद्र को छोर, दौर-दौर मिथ्यात्वि द्रुत ।
वनिगे भावुक भौंर, मिश्री मुनि-पद कञ्ज के ।।४९।।
दीन दुखी की दाज, देखि दया से द्रवित हो ।
मिश्रीमल मुनिराज, सुनवाये शिक्षा सदन ।।५०।।
जग मे प्राणी जेह आत्म-सरित उनको अहा,
निरखि करे है नेह, मिश्रीमल मुनिराज जे ।।५१।।
वसु विधु नभ कर वर्ष, लाल वाल शशि नादवे ।
हुई प्रकट है हर्ष, ऐसो मुनि मिश्री प्रभा ।।५२।।

•

प्रणाम अर्पण

बुद्धमल्ल सुराणा 'वपुधर'

जय जय गुरुवर ! उपगुणधाम, अर्पित शत-शत सतत प्रणाम ।
"मिश्री मुनि शुभनाम तुम्हारा, लगता है सबको अति प्यारा ।।
भाव मधुरता के शुभ धाम, अर्पित शत-शत सतत प्रणाम ।
तरुण अवस्था मे जग छोड़ा, माया-ममता से मुह मोड़ा ।।
धन्य-धन्य मुनिवर अभिराम, अर्पित शत-शत सतत प्रणाम ।
पिता शेषमलजी के प्यारे, 'केसर' अगज विश्व दुलारे ।।
ओसवंश अवनम प्रणाम, अर्पित शत-शत सतत प्रणाम ।।
गुरुवर के जो गुण गण गावें, भव सागर से वे तिर जावें ।
दुःख संकट कट जाय तमाम, अर्पित शत-शत सतत प्रणाम ।।

•

संगठन के अमर साधक

फतहसिंह, जैन
सम्पादक 'तरुण जैन'

महामना सम्प्रदायी प० रत्न श्री मिश्रीमलजी म० सा० से मेरा सम्पर्क मेरे स्वनामधन्य मूक-समाजसेवक स्व० पिता श्री बाबू पद्मसिंहजी (सम्पादक जैन पथ प्रदर्शक, वीर लोकाशाह और तरुण जैन) द्वारा ८-१० वर्ष पूर्व हुआ था। तभी से श्रद्धेय मरुधरकेसरीजी म० का असीम हार्दिक स्नेह मेरे प्रति उत्तरोत्तर बढता रहा है, जहां तक मुझे अनुभव है, आपके हृदय मे समाज के प्रति जो दर्द है, वह अन्यत्र मिलना कठिन है।



समाज के प्रागण मे आपका विशिष्ट 'व्यक्तित्व है। आप सामाजिक एव धार्मिक दृष्टिकोण से सर्वोच्चता रखते हैं।

अन्त मे मैं परम श्रद्धेय मरुधरकेसरीजी के प्रति हार्दिक मगल कामना करता हूँ। आप युग-युगों तक इसी तेजस्विता-ओजस्विता के साथ चिरजीवी रहें।

●

मरुधरकेसरी सिलोका

जोगीलाल सेवक

समरु शारदने गौतम गुण ज्ञाता, सानिधकारी करजो मुझ शाता।
मिश्री मुनि की महिमा मुख गाऊ, शब्द सुकोमल आपसू चाऊ ॥१॥
मरुधर पाली मे जन्म्या जयकारी, महता सोलकी जाति है म्हारी।
सहसमलजो तात कहाया माता केसरदे निज कूखे जाया ॥२॥
रूप अनोपम बुद्धि रा सागर पूरा पुनवंता वश उजागर।
बाल बुद्धि मे विद्या बहु सीखी, चाल चतुराई देखी में नीकी ॥३॥
सवत उन्नीसे गुणतर नामी, पाली पधार्या बुद्धमलजी स्वामी।
वाणी सुणीने वैरागी वैगा, दिक्षा लेवागा मुख से यों केगा।
स्वामी जी साथे आप सचर्या, भुवाजी आय गुरुवर सू लडिया ॥४॥
मारा टावर ने सिखा कर लाया, आछी कीनी घर ताला जडवाया।
भाखे स्वामीजो म्होतो नहीं लाया पाछा चाले तो ले जावो भाया ॥५॥
बोले वैरागी घरे पधारो म्हारे श्रावणरी आसा निवारो।
करियो झमेलो कारी नहीं लागी आखिर मे सजम लीनो वड भागी ॥६॥
बोलचाल ने थोकडा गहरा, सूत्र अठारा शिख्या गुण शहरा।
काव्य न्याय ने व्याकरण पढिया, विनय करी ने अच्छा गुण मडिया ॥७॥
वर्ष सतरा लो सेवा गुरु कीनी, भक्ति करीने आशिसों लीनी।
समत उन्नीसे पिच्यासी वर्षे, स्वर्ग सुगुरजी पधार्या हर्षे ॥८॥
विरह गुरुवर रो खमियो नहीं जावे पल पल ज्याने यादज आवे।
आखिर विचारियो ज्ञान गुणवता, सधर छातो तो करली सतवता ॥९॥
केई विगयरा त्याग कर लीना, खाना पीना सब ऊँचा घर दीना।
सात द्रव्य तो राख्या गुण जाहर, सहन परिषह गुरु बनिया ज्यो नाहर ॥१०॥
वाणी अमृतसी वर्षे एक धारा, सुणतो हरसावे नर नारी सारा।
हेतु जुगती तो स्वामी इसडो जो मेले ग्यान गगा तो घर घर रेले ॥११॥
कविता करवा में बुद्धि अनमोली मानो घट में तो शारदा बोली।
आसू कवि री पदवीजो पाया, चर्चावादी ता मोरे मन भाया ॥१२॥

नाम सुणतों ही पाखंडी धूजे, 'मिश्री' मुनि तो सिंह ज्यों गूंजे ।
रिसों वलनोडा केई आल चढावे, गुरु कृपा सूं सारा ढह जावे ।।१३।।
छोटा मोटा परवा नहीं राखे, साची वात तो चौडे ही भाखे ।
मिथ्या अधारो केई गामों ने टार्यो उग्रविहारी काज सुधार्यो ।।१४।।
गुरुकुल विद्यालय कई खुलवाया, लाखों द्रव्यों रा दान दिराया ।
उपदेश महा परचो है ऐसो, काय बन जावे मन चाहे जैसो ।।१५।।
गुरु करुणासागर ने करुणा बहु आवे गोशाला केई गामों खुलवावें ।
श्रद्धा पक्की है लाखो नहीं चूके, केई परवादी उभोडा कूके ।।१६।।
जैन धर्म रा झंडा लहराया दया धर्म रा ठाट लगाया ।
पुज्य रघुपतजी गादी दीपाई, भलो सुत जायो केशरदे माई ।।१७।।
चारों दिशा मे बाजे इक डंको, स्वमत परमत रा आणे मन मंको ।
सामी बोलन री हिम्मत नहीं होवे, निगुरा निंदक छानेजी रोवे ।।१८।।
छोटा मोटा कई ग्रंथ बनाया, स्तवन चौप्यों रा पार न पाया ।
स्वामी बुधमलजी सा माथे जी गाजे, ज्यारी गादी पे आप विराजे ।
कीरत कमला तो केल करावे, दिन-दिन स्वामीजी नाम दिपावे ।।१९।।
साधू सम्मेलन सादडी माई, भारत रा मुनिवर मिलिया सब आई ।
वाडा बन्दी तो जनता नहीं चावे, भेद गच्छों रा थयुनी दफनावे ।।२०।
नचियो समेलो अद्भुत रंग छायो मानस मन्दिर तो एकदम पलटायो ।
वीर लोकाशाह कीनी ललकारो, मूलोडा जाग्या सबही अणगारो ।।२१।।
गुरुवर हमारा कमरा कस लीनी, ममता गच्छों री सारी तज दीनी ।
मिश्री मुनिवर महनत कर भारी, प्रेम वर्षायो खिलगी फुलवारी ।।२२।।
दूजो सम्मेलन सोजत रो चगो उठे पण मुनिवर वरियो उछरगो ।
शहर विलाडे दर्शन आया, मघ मारा मे हर्ष सवाया ।।२३।।
अमावस सावन केरी छल आई, गुरुवरने दिल मे दया दर्शाई ।
मरती मछीया ने रोकी वडभागी, मारण वालो रे तामस अति जागी ।।२४।।
मारण रे काजे लाठी वर्षाई, धन धन हो मुनिवर समता अपनाई ।
शहर मारा री जनता जब हिलगी, बसी प्रेम री सारा में बजगी ।।२५।।
हिन्द आखा में होगयो हाको, नाम तो बढियो गुरुवरजी थाको ।
शर्तो मजूर होगी पल माहीं, लाभ कमायो स्वामी इत आई ।।२६।।
जैन मुनियों री शान्ति व्हे केसी चौडे दिखलाई जनता में वेमी ।
ताजुब तो पाया वड वड ओफिसर, इमडी सम्या किम राखी इण अवसर ।
लोग हजारो दर्शन ने आया, शहर विलाडे आनन्द रंग छाया ।
सूकरत में रुपिया हजारो उडिया मोनारा आखर चौमासे मंडिया ।।२८।।





वीरदल मंडल रा सेवक गुण दरिया, जिनी भल भक्ति करके तारिया ।
कितरा गुण भाखूं बुद्धि छै थोड़ी, थारा लीलाजन मैंने या जोड़ी ॥७९॥
रूप मुनि की सेवा अति भारी, सन्त रजनाजी आनन्दकारी ।
गुरु आज्ञा में रहते उपकारी, धन्य धन्य मुनिवर जाऊं बलिहारी ॥८०॥
दोय हजार वर्ष दसारो, मास कार्तिक ने पक्ष उजियारो ।
ज्ञान पंचमी बुधवारो, 'जोगी सेवग' कहे चित्ताज्ञा धारो ।
मिश्री मुनि रो जस सवायो, 'विजयमोहन' तो जोड़ बणायो ॥८१॥

मिश्रीमल-बत्तीसी

कविराज बदरीदास, एडवोकेट, जोधपुर

१— भूमि धन धन आर्यावृत, रिषि मुनियां रो राज ।
जिण धर मांही जनमिया, मिश्रीमल महाराज ॥
२— मगरा राजस्थान में, ऊगो मरुधर आज ।
पट त्यागी कीधो विनद, मिश्रीमल महाराज ॥
३— धन धन है मारवाड़, पाँ पुन री पाज ।
जिण पाली में जनमिया, मिश्रीमल महाराज ॥
४— मा केसर पितु शेषमल, ओसवाल दिन भाग ।
जाया जठ पुजाविया, मिश्रीमल महाराज ॥
५— बारापर्णे वैराग वड़, करिया ऊगति काज ।
नमस्कारि गुरु चारणा, मिश्रीमल महाराज ॥
६— जिन प्रभु जैनी धर्म ने, जगों दीधो आज ।
चौले हुआ हि ज चल रहा, मिश्रीमल महाराज ॥
७ भान कवीश्वर वीरवर, नाहर सिरताज ।
उण धरती मे अवतर्या, मिश्रीमल महाराज ॥
८— सती सूरमा ज्यां मुहद, धर्मवीर जग ताज ।
जिण धरती मे जागिया, मिश्रीमल महाराज ॥
९— वचनामृत रा वादला, गहरा करे अगाज ।
ग्यान तणी देवे गुटक, मिश्रीमल महाराज ॥
१०— वाणी बहे व्याख्यान रा, श्रीपत घम्मा गाज ।
तू पायर बण दै तुरत, मिश्रीमल महाराज ॥
११— अलग रहे आडम्बरा, तपस्या रा सिरताज ।
ज्ञानी ध्यानी अनगहर, मिश्रीमल महाराज ॥
१२— बडभागी त्यागी विहर, जाहिर पुन्न जहाज ।
चरण-कमल दरसण करा, मिश्रीमल महाराज ॥

१३— शुद्ध भाव हद सादगी, लोयण भर्या लिहाज।
निर्मल आत्मा अन निडर, मिश्रीमल महाराज॥
१४— शान्त चित्त हिय भाव शुध, समता जाति समाज।
मोटी नाविक महामुनी, मिश्रीमल महाराज॥
१५— वैर भाव वर्ते नही, किनरो ड करो अकाज।
समदृष्टी रैवे सदा, मिश्रीमल महाराज॥
१६— गर्मी सर्दी नहि गणै, समता सुख दुख साज।
विरा जुनी पैदल वहै, मिश्रीमल महाराज॥
१७— घूमे घर घर गाव प्रति, सारा तज सुखसाज।
आछ र छाछ अरोग ले मिश्रीमल महाराज॥
१८— जाणे स्वाद न जीभ रो, सूका लूका नाज।
घर घर सूं ले गोचरी, मिश्रीमल महाराज॥
१९— जनता मे जागृति करे, गाव गाव प्रति गाज।
राजस्थान रो केसरी, मिश्रीमल महाराज॥
२०— सन्त विनोबा साहसी, इणरे जिनो न आज।
सूरो रहृ पैदल वहै, मिश्रीमल महाराज॥
२१— वृद्ध वीर क्रान्ति विहद, साहस पण हद साज।
पैदल थके न पथ मे, मिश्रीमल महाराज॥
२२— प्राकृत सस्कृत पारसी, घण गुजराती गाज।
डिंगल रो दिग्गज कवी, मिश्रीमल महाराज॥
२३— कठिन व्रत कुण कर सके, इतै बुढापै आज।
साहस फूके श्रावको, मिश्रीमल महाराज॥
२४— शिष्य साथ ने श्रावको, साध्वी जैन समाज।
सारा नै ट सुधारिया, मिश्रीमल महाराज॥
२५— फूट घटा पट फेलगी, इया सु हुवे अकाज।
फूट फूट ने काढ दी, मिश्रीमल महाराज॥

निवेदन

२६— गीदड री गत व्हे गयो, सारो ई जैन समाज।
भर दो वामे वीरता, मिश्रीमल महाराज॥
२७— हिन्दू सागई हिन्द रा, डालगडा ज्यूं गाज।
नग्ना फूरो व्है निराक, मिश्रीमल महाराज॥
२८— व्यवसायी व्योपार घण, पूजीपत श्रम पाज।
दया पालना हट करो, मिश्रीमल महाराज॥
२९— फूट माहि हिन्दू फस्या, दिल मे पडी दराज।
सगठित कर भर सूरता, मिश्रीमल महाराज॥





३०— महावीर प्रभु आदि मही शूरवीर सिरताज।
अनुयाई उणरा करो, मिश्रीमल महाराज॥

३१— अहिंसा वरतो अचल पग, सबला दया न साज।
दमन करावा दुष्ट दिल, मिश्रीमल महाराज॥

३२— वैष्णव वैरागी विहद, मगता मोह समाज।
सगठित कर समझाय दो, मिश्रीमल महाराज॥

●

श्रीमरुधरसिंहाष्टकम्

दे वकीनन्दन शर्मा, शास्त्री

यो हि क्रियाज्ञानविशिष्टरूप, सच्छिष्यरत्यातो बुधपुगवस्य।
स्थितो मरौ केसरिवन्मुनीन्द्र नमामि मिश्रीं गुरुवरवरेण्यम्॥१॥

रत सदा धर्मसमाजकार्ये, जैनेन्द्रमार्गमतिक्रामति नो।
सम्मेलने मन्त्रिपदेऽभिषिक्त, नमामि मिश्रीं गुरुवरवरेण्यम्॥२॥

गोवशरक्षामभिवाञ्छति य-स्त्रिर्निहि योगैस्तद् रक्षणे मन।
बिभेति नो दण्डप्रहार-मृत्यो र्नमामि मिश्रीं गुरुवरवरेण्यम्॥३॥

कुवादद्दुश्शीलनिवारणाय फडकेति नाम्ना जगति प्रसिद्धो।
मधु इवाभाति परोपकार्ये नमामि मिश्रीं गुरुवरवरेण्यम्॥४॥

रजत-शुकुन-नामधरौ हि शिष्यौ आचारनिष्ठौ श्रुतसम्पदौ च।
ताभ्या सदा पट्टविराजमान, नमामि मिश्रीं गुरुवरवरेण्यम्॥५॥

ध्यानाद्विनश्यन्ति भवदु खपीडा डाकिन्य शाकिन्य पिशाचभूता।
अभीप्सितार्थं लभते मनुष्यो नमामि मिश्रीं गुरुवरवरेण्यम्॥६॥

स्मरामि गुरुवर तव नाम पूतम्, न कामये राज्यपद न ऋद्धिम्।
जिनेश्वराङ्घ्रौ मम प्रीतिरस्तु नमामि मिश्रीं गुरुवरवरेण्यम्॥७॥

श्रीनन्दनो यस्य पदारविन्दमहर्निशो ध्यायति दत्तचित्त।
श्रेयस्करो भव्यजनेषु भूयात नमामि मिश्रीं गुरुवरवरेण्यम्॥८॥

●

पद्यपुष्पाञ्जलि

श्री रघुवरदत्त शास्त्री, साहित्याचार्य

मरुधरकेसरीति विरुदालङ्कृताना विद्वत्कुलावतसाना
पूज्यमुनिवर्याणा श्री मिश्रीमल्लमहाराजाना
स्वर्णजयन्त्युपलक्ष्ये पद्यपुष्पाञ्जलि ।।

(१)

मरुस्थलालङ्करणेऽतिरम्ये पालीतिनाम्ना प्रथिते पुरे य ।
सहलमल्लाख्यपितुर्निकाये श्रीकेसरीमातुरलब्ध जन्म ।।

(२)

पञ्चाशताधिक्ययुते शतेऽभूच्चैकोनविंशे खलु वैक्रमेऽब्दे ।
महात्मनो यस्य जनु प्रशस्त पित्रोर्महासमदमाततान ।।

(३)

दैवयोगात्पञ्चमेऽब्दे जननीविरहे सति ।
यस्यान्त करणे जज्ञे निर्वेदस्य शुभाकुर ।।

(४)

अनेकशास्त्राध्ययनेन शैशवे विद्वन्मुनीनामुपदेशनस्तथा ।
शनै शनै वृद्धिमवाप यस्य सा समारभोगेषु विरागभावना ।।

(५)

पुण्यात्मना लोकहितानुबन्धिना कामानुरागेषु न जायते मति ।
स्वकर्मबन्धक्षयमात्रभावना यतन्त एते ननु मुक्तयेऽनिशम् ।।

(६)

वत्सरे पञ्चविंशेऽतो बुद्धमल्लमुनीश्वरात् ।
श्रामण्यदीक्षामादाय श्रमणत्वमवाप्नुवन् ।।

(७)

काव्यालङ्कृतिकोशशब्दरचनामभ्यस्य बुद्धेर्बलाद्
विद्वद्भ्यश्च परिलभ्यतत्त्वनिचय पाण्डित्यपूर्णा इमे ।
मिश्रीमल्लमहोदया मुनिवरा लोके प्रसिद्धि गता
नानापद्यविधायकाशुकवय ख्याता पुनर्भूतले ।।

(८)

तपस्विन कोविदवशमानवो न केवल बुद्धिबलोपबृहिता ।
शारीरसम्पादनशक्तितोऽप्यहो मरुस्थले केसरितामुपागता ।।

(९)

मरुधरकेसरिवर्या विहाय विषयवासनाजालम् ।
मयमवर्मपरीना निर्वाणार्थमेव प्रयतन्ते ।।





(१०)

समस्तजीवेषु दयालयोऽपि समारभोगेषु कठोरभावा ।
परोपकारेषु च मोदमाना कषायवृन्देषु निरुद्धचित्ता ॥

(११)

अय कि मार्तण्ड स तु विपुलसन्तापनिवह
सुराचार्य कि वा नहि खलु स नार्ककनिलय ।
अहो कि पञ्चास्यो नहि स पशुहिंसाप्रकृतिको
विशङ्कन्ते लोका मुनिवरमवेक्ष्येत्यमवनौ ॥

(१२)

श्रीमद्भि प्रतिभावलेन नितरा जैनीयसद्दर्शने
ज्योतिर्व्याकृतिकाव्यपिङ्गलविधौ ग्रन्था अनेके कृता ।
नानापद्यमय विधाय विपुल श्रीभारत प्रस्तुत
यद् दृष्ट्वा भवता कवित्वपटुता सर्वैरभिज्ञायते ॥

(१३)

नानाशास्त्रविचक्षणा कृतधियो वाक्पाटवालङ्कृता-
दृश्यन्ते भुवि मानवा बहुनरा शिष्यप्रदेयागमा ।
किन्तु ज्ञानसवृक्षकर्मकुशलाश्चारित्रचर्यापरा
स्वल्पा एव भवादृशा बुधवरा लक्ष्यन्त अत्राधुना ॥

(१४)

सयम्येन्द्रियवाजिनो दृढतया चित्त विशोध्यात्मन-
स्त्यक्त्वाभोगसुख स्वबुद्धिबलतो वैराग्यनिष्ठा इमे ।
दग्ध्वा कर्मतति कषायनिचय प्रोत्सार्य स्वच्छान्तरा
निर्वाणैकरसा स्वधर्मनिरता मुक्त्यै यतन्तेऽनिशम् ॥

(१५)

मान्या मानविवर्जिता ममतया मुक्ता मनोहारिणो
मर्त्यामोदमनोविनोदरसिका मात्सर्यमन्दादरा ।
माधुर्यामृतमण्डितान्तरधियो मोमुद्यमाना मुहु-
र्मोहध्वान्तदिवाकरा मरुधरासिहा महीमण्डले ॥

(१६)

परोपकारैकधिया भवद्भि श्रामण्यसघ परिनिष्ठितोऽत्र ।
अनेकशिक्षालयनिर्मितिश्च विद्यानुराग भवता व्यनक्ति ॥

(१७)

कालक्रमेणाद्य समाजमध्ये कुरीतयो भूरितरा प्ररूढा ।
तासा निरासार्थकृतप्रयत्ना स्तुत्या न केषा मुनयो जनानाम् ॥

(१८)

नाप्नोति यो वै परकार्यजात न एव साधु कथितो मुनीन्द्रै ।
सा साधुता मूर्तिमती प्रदृष्टा भवत्सु लोकै स्तयमानचित्तै ।।

(१९)

धन्यास्त एव भुवने नरपुङ्गवा ये
स्वार्थं विहाय परकार्यपरा नमन्ति ।
तेषा जनु सफलमत्र मनुष्यलोके
स्वार्थैकपूर्तिनिरतान् नृपशून् मुहुर्धिक ।।

(२०)

जाड्यान्धकारमलिनीकृतमानसाना
कस्मान्नृणा समभविष्यदिहोपकार ।
श्रीमदृशा मुनिवरा न महस्थले चेद्
विद्वद्वरा समवतारमवाग्रहीष्यन् ।।

(२१)

आजन्मधर्मपरिषेवणजातकीर्ति-
रासूर्यचन्द्रमिह लोकमलङ्करिष्णु ।
स्वर्गे क्षितौ क्षितितले वसता जनाना
चेतश्चमत्कृतिमिवाप्स्यति व समन्तात ।।

(२२)

सम्यक् चारित्रलब्ध्या विगलितकलुषा सम्यमत्कर्मचर्चा
सम्यग्दृष्टेरवाप्त्या गुणनिलनिता धर्मचर्यानुरक्ता ।
सम्यग्ज्ञालोपलम्भात्समुदितरत्नत्रयस्त्वज्जेताग एते
मिश्रीमल्लाभिधाना मुनिवरचरणा कस्य न स्युर्नमस्या ।।

(२३)

अधीतसकलागमा समुपलब्धबोधोच्चया
शुभाचरणशीलिन प्रसृतशास्त्रचर्याध्वगा ।
भवादृशमनीषिणस्त्रिचतुरा भवेयुर्यदि
जना भुवि कथ पुन कुकृतिन समे स्यु नहि ।।

(२४)

धन्येयमद्य धरणी भवदाश्रयेण
धन्या वय मुनिवराद्भुतदर्शनेन ।
धन्याऽखिलश्रमणमण्डलिका भवद्भि-
र्धन्यो भवद्भिरभवत् किल जैनसङ्घ ।।

(२५)

श्रीमत्स्वर्णजयन्त्या श्रद्धासम्भ्रममोदमानचित्त ।
साञ्जलिबन्धमह भो पद्याञ्जलि समर्पये व ।।

०





अभिनन्दनम्

कविभूषण रामचन्द्र शास्त्री, थावला

(१)

विश्वस्थप्राणिना यो वै, हिताचारपरायण ।
वरो विश्वम्भरो देव, प्रसीदतु दयापर ॥

(२)

प्रभवतु जन-वृन्दद्वेषदुर्बोधहारी,
सकलमनुजवन्द्यो ज्ञान-विज्ञानधारी ।
जयतु भुवितलेऽस्मिन् जैनसिद्धान्तसूर्य,
निखिलनिरपराधो "मिश्रिमल्लो" मुनीन्द्र ॥

(३)

जैनसिद्धान्तमार्त्तण्डो मरुमण्डलकेसरी ।
यतीन्द्र "श्रीमिश्रिमल्लो" जीयाद्वै शरदां शतम् ॥

(४)

श्रीजैनधर्मागमपारदृश्वा,
अहिंसया भासितदिव्यदेह ।
विद्या-तपोज्ञानवरिष्ठवृत्त,
"श्रीमिश्रिमल्लो" मुनिराजराज ॥

(५)

जिननयजननेता धन्यमन्त्री महात्मा,
विमलमतिविशुद्धप्रौढविज्ञानराशि ।
विबुधजनसमाजप्राप्तसम्मानवृन्द,
जयतु जगति वन्द्यो "मिश्रिमल्लो" कवीन्द्र ॥

(६)

यो लोकाञ्जिनधर्मकर्मरहितान् हिंसारताञ्छिक्षयन्,
सच्छास्त्रप्रपठनमनीषिसुजनान्नित्य मुदा वर्धयन् ।
अज्ञानान्धविमूढबुद्धि- कुपथान्सन्दर्शयन्सत्पथम्,
पूर्णज्ञानदिवाकर प्रतिदिश "श्रीमिश्रिमल्लो" ह्युदन् ॥

(७)

सेवकाना कल्पवृक्षो, वन्द्यो विश्वहितैषिणाम् ।
"श्रीमिश्रिमल्लो" दिव्यात्मा, पावक पापसन्तते ॥

●

श्री मिश्रीमल्लमहाराजजीवनचरितम्

१— ज्ञानागाधपयोधिमग्नवपुषो ज्ञानप्रभाभासुरा ।
ज्ञानश्रीनरनागिवाञ्छितप्रदा ज्ञानाखिलप्रेक्षिणः ।
ज्ञानाऽऽरामविरामविश्वविभवा स्वात्मस्वरूपस्थिता ।
नाभेयादिजिनेश्वरा शिवकरा व सन्तु मङ्गलं सदा ।

२— अज्ञानैकमहान्धकारपटलीपाटनसमर्थगामिनी ।
सुरनास्वादमगम्यानविदिना चर्चाद्विपर्चीकरा ।
नानानागविचारबाधनपरा विद्वज्जनामोदिनी ।
तीर्थाधीशजिनेश्वरास्यनिलया वाग्वादिनी स्वाच्छिदे ।

३— चारित्रनन्दनवनीदनवाग्विलासस्वात्मस्वभावविमर्शभवदात्मराजी ।
ध्यानी जिनागमपटु परवादनाय वृद्धान्यमल्लगुरुराट् जयताद्विनाय ।

४— सद्गिरमादरमनैर्विरमत्सुकीर्तेर्व्याख्याननिजरगुणो कविपद्मभाना ।
श्रीमिश्रिमल्लमहदेशमहामृगारे सवर्णयामि चरित मुनिरूपचन्द्र ।

५ स्वाहमुनिर्नरमुनिरिगनान्मशक्ति क्वायस्मुनिम गणतिनिगमागमज्ञ
दीन रजस्भवति नाम गुणानुवादे, मन्ये कृपा गुरुवरस्य ममास्तु सिद्धयै

६— श्रीमिश्रिमल्लमुनिराजगुणानुवादे, स्याद्दोषना क्वचित्तो मम मन्दबुद्धया
प्राग्नयन्तु विबुधा सुनरं सुखेन, नो नासिकाभ्रुकुटिकुचनमाविदध्यु

७— श्रीरत्नजनमिनो गिरिकूलनीशर्द्दीपोऽस्ति मेदुरनम क्षित जाम्बुनाम ।
या विश्ववैभवगणे विभवप्रधाना, यस्मिन्नितास्मनुभगा सुखिन सदैव ।

८— सा यत्र पीतपविताम्बुन्या, नगानते भारतभूरमाया ।
स्वैर्मनुष्यैरपि निन्नाद्री यां श्लाघने श्लाघ्यनमा सदैव ।

९— तत्र मनोया गिरयो महान्त रालवसना मुनयश्च शान्ता ।
सन्यश्च नार्यो पुरुषा गुणज्ञा, धान्यादिसम्पद्विपुला च यत्र ।

१०— दीर्घायुषो यौवनशालिदेहा रम्भाफलाशावपरा विशोका ।
ते निजरा या बहुरामयन्ते मन्ये ततो भारतभू प्रधाना ।

११— विद्याप्रभावे कमलानिधाने, शिक्षाप्रधाने विनयैकमूले ।
मध्यागियोग्ये मरुलिप्टपूरे, पुण्येन जन्तु लभतेऽत्र जन्म ।

१२— वर्णेश्र देशाऽस्मिन्देशमान्य पिगाक्षमातिजमहामहेभ्य ।
सगाजते व्यागनधनामा, धर्मप्रधानो गुरुदेवभक्त ।

१३— कैलाशरत्ना क्वचिदन्तराले, यत्रास्ति सा मैकतपुञ्जमाला ।
गम्यस्मनशाप्येष विचित्रमेतत् सर्वैर्मनोवाञ्छितवस्तुदायी ।





१४— तत्रास्ति पालीनगरी विशाला, नामानुकूला बहुरक्षिका च ।
धर्मप्रधाना नगरीप्रधाना व्यापारसिद्धा विदिता हरित्सु ।

१५— मन्ये च या सिन्धु नदी नदाश्च, सन्तर्जयन्तीव सरोवरेण ।
केषां न मोदाय विराजतेऽत्र का माऽलका केवलनागगम्या ।

१६— गव्यं प्रभूतं विपुलं च धान्यं, मुस्वादुमिष्टान्नमथातिशाकम् ।
स्वर्गाङ्गनाभा ललना ललामा-स्ते श्रेष्ठिनो यत्र निःशान्ति चिन्ता ।

१७— श्रीजैनधर्मः सदया विशिष्टे यत्रास्ति दैवादधुनाधिगम्य ।
तस्मिन्न केषां श्रुतिगोचरा भूत्सोलंकिवंशोऽमरधारिरेष ।

१८— वंशेऽतिपुण्ये शुभकर्मकारी जज्ञे धनी पावनवृत्तरम्य ।
श्रीमान् यशस्वी कुलवाग्जिकों भाग्यन शेषाग्रमलाभिधान ।

१९— अर्थानुकूला गुणराजयोस्मिन् प्रादुर्बभूवुर्जलधी तरंगा ।
काम्कान्न लोके कुरुते गुणौघो नैजाब्जिपद्मभ्रमराभिवृत्तीन् ।

२०— शाखीव नाऽकेऽमृतपायिनां यो दाता परेशापरिपूरकोऽभूत् ।
सोलंकिवंशे नितरां रराज पुण्यं कृतं धावति धावतीह ।

२१— श्रीकेशराख्या गृहिणी तदीया जज्ञे गुणैश्चारुतमैर्विशिष्टा ।
नामापि यस्या निखिलाभिधायं रेजे च या येन सचाव धन्या ।

२२— सा चेष्टभार्या भुवि या स्वभर्तुः स्वान्तानुगा स्याच्छुभशीलभूपा ।
भैमी नलस्य कियता न तास्ये, संस्तूयते शीलपरापरा वा ।

२३— पुण्यात्मनो सौख्यमनल्पमेतयोर्भुञ्जानयोर्मंक्षु गता हि वासरा ।
कालेन कुक्षौ शुभभाग्यशालि दधे च गर्भं गृहिणीमलस्य ।

२४— प्रासाष्ट माता समये सुखेन, सत्पुत्ररत्नं शुभयोगयोग्यम् ।
श्रुत्वा शिशोर्जन्म मुदा न पारं, लेभे पितासौ निजवंशभानुं ।

२५— जाते सुते पुण्यनभे च ताता, माता तथा बान्धवमित्रवर्गः ।
लेभे यथानन्दमहो तथा त्वं, वर्ततु के ईश शरदां शतैश्च ।

२६— हर्षाच्छिशोर्नाम चकार तातो, वित्तानुकूलं सह बान्धवैश्च ।
मिश्रीतिमल्लो महता महेन, मिष्टान्नपानाम्बरदानपूर्वम् ।

२७— केलिप्रियोप्येष प्रभावधीरो, बाल्यैर्विनोदैः सह पांशुलोलैः ।
क्रीडश्च बालैर्नितरां जहार, चेतांसि पित्रोरपि बान्धवानाम् ।

२८— दैनन्दिनं वृद्धिमवाप बाल शुक्ले शशीव प्रबलप्रभाव ।
बालोपि नालस्यदुलोचितदक्ष सर्वेषु बालेषु बभूव दक्ष ।

२९ — भाविप्रधान कि केन गोप्य शिशुर्गभस्थितिस्विव तिस्मरत्मे ।
दृष्ट्वास्य नेत्रे धिषणा विशिष्टामाश्चर्यभाज जनमे बभूव ।

३० — तस्थौस्थानतवहिर्गेजे, बालोऽप्यनार्यो विभया यशस्वी ।
तयस्य विम्ब स्वबाछया वै जग्राह नूनु पवनस्य किम् न ।

३१ — प्रातिष्ठित्स्थानमिम पिता न, विद्यार्थयेऽध्यापकपादमूले ।
उल्लेन तानेन धिया निधानो, जज्ञेऽनिशि श्रुतिमाननो हि ।

३२ — अध्यापकास्य निरीक्ष्य बुद्धि लेभेऽनिहर्षं विषयेऽखिलेऽपि ।
घने पद ना ति नन्यचित्ते चानुर्यगाम्भीर्यमुता गुणौघ ।

३३ — निस्तारमनसा दिगमनायो मदार नाम्ने निखिलस्य मिथ्या ।
स्याच्चेत् सुत नाम रथ प्रवीणा राज्य समृद्ध मुमुक्षु क्षणेन ।

३४ — वैराग्यभागाकुलता यदास्य, शान्तात्मगेह पदमादधेऽलम् ।
तावद्गुरुर्हमलाभिधानो, भाग्येन पालो समलञ्चकार ।

३५ — श्रुत्वागतिं नन्दनमस्मदप, प्राजीगमत मत्सुतमस्य मक्षु ।
हर्षो न केषां समभूदि चात्र चिन्तामणौ पाणिगते प्रयासात् ।

३६ — तस्यागतार्थं सह मधरेन, वा ताप्यमी शुद्धमना जगाम ।
कृत्वा गुरुदर्शनमात्मनोर्या मेन जनुर्धन्यतम निनाय ।

३७ — शीघ्रे मृगायेव गुरु सुराढे, राजस्व चाग्निमणिप्रभाभि ।
दत्वा गुरुधा सद्वचनैर्मन प्राणा पिबन्तस्य रसानिवार ।

३८ — वैराग्यभाव विविधविनियम्य, वाणी गुरोर्वीरस गप सम्य ।
दीक्षा ग्रहीतु मनस प्रवृत्तिस्तवत्रे त्विरा मक्षु फलस्यमत्वे ।

३९ — दीक्षार्थ वीक्ष्य मनस्तु तस्य मोहेन तुग्रा जनको बभार ।
वशस्य तेन महता विहातु रक्षा जनो वाञ्छति पुत्रमत्र ।

४० — तथापि बालो गुरुणा सहैव, स्थित्वा विहर्तुं मुदिता बभूव ।
सम्प्राप्नितात्मा भरतावनौ वा वत्तने क्वापि विशुद्धभाव ।

४१ — आनीय पुत्र निजगेहमध्ये, द्वार पिधायावसरात तान ।
वैराग्यरागाञ्चितशुद्धवृत्तेर्मति तत्ते तादृश एव चासीत् ।

४२ — सत्रा नदीयानिहटा हि तान दीक्षाकृते माव वशीचकार ।
प्रादायि चाज्ञा विनिगाजयोग, स शक्तिमान् खण्डयितु मनस्वी ।

४३ — वारापि याम्या गुरुणाद् तथैव, भाग्येन योग सुधिया भवेद्धि ।
लब्धाज्ञया वा कुहुक शिखीव, पर्जन्यरावेण समस्रनाद ।





४४— बाणाद्रिनन्देन्दुमिते हि वर्षे वैशाखमासे सितवह्निपक्षे ।
श्रीसोजताख्ये नगरे महेन, दीक्षा ग्रहीताऽशुभकर्महन्त्री ।

४५— दीक्षा च शिक्षा समकालमेव, स्वात्मीकृताऽनेन गुरुदयेन ।
राज्यञ्च पैत्र्य रिपुवाहिनीञ्च, गृह्णाति किं नो भुवि राजसूनु ।

४६— सम्कारित साधु चकार सेवा, बुद्धादिमल्लस्य गुणेस्त्रिवाऽयम् ।
सेवा गुरूणाम् सफली भवेच्चेत्-प्राप्य ततोन्यच्च किमस्ति लोके ।

४७— द्वात्रिंशसूत्राध्ययनैकदक्षो, जग्राह सार जिनभारतीयम् ।
शब्दे च तर्के परशास्त्रनाले, वेनैव सिन्धो प्रसृताऽस्य बुद्धि ।

४८— दाक्षिण्ययोगाज्जनराजिमध्ये, ख्याति सुलेभे मुनिरेष सद्य ।
ध्वान्त विनाश्यैव हरित्सु भानुर्धत्ते पद किन्न च राजमान ।

४९— व्याख्यानदाने कविताविनोदे, लोकोक्तिवादे परबोधने च ।
काप्यस्य शक्तिर्हृदये रराज, प्राग्जन्मदत्त फलतीह सर्वम् ।

५०— शुश्रूषमाणे सुगुरौ दिनानि, श्रौतार्थतत्वान्तरवुद्धिबोधे ।
यातानि कालो महता सदैव, सत्कर्मणा याति शिवाध्वहेतु ।

५१— ससार एष क्षणभगुरो हि, नित्या स्थिति कस्य न चात्र दृष्टा ।
कालस्य पन्था कुटिल करालो, नापेक्षते क समये कदाऽयम् ।

५२— पञ्चाष्टनन्देन्दुमिते हि वर्षे, निर्वाणमाच्छंद् गुरुबुद्धमल्ल ।
नाम्ना गुणै को गुरुराजमेन, वक्तु समर्थो गुरुगौरवाढ्यम् ।

५३— यातेऽव्यये वारिधिधीरभावो, मिश्रीतियोगी स्वगुणे दयालो ।
तदाटराजी गुरुता दधान सर्वाङ्गिमान्य समभून् क्षणेन ।

५४— शोका गुरूणा मनमोन्तराले, कीदृक् कय तस्य स एव वेत्ता ।
ज्ञानी यथा ज्ञानमहामाहात्म्य, जानाति नान्यो विषयी विरोध ।

५५— वैराग्यभूमिर्मुनिरेष धीमान्, मद्योतयामास समाजमध्ये ।
आस्याद्गुरोश्चारुविचारवाभा किं हेलिरश्मिनच हेलिरेप ।

५६— ध्यानक्रियाब्रह्मतप समाधियोगैश्च यास्यैर्मुनिमिष्टमल्ल ।
धन्वे विहार परितो विशेषात्, कुर्वन्न केषा विदितो बभूव ।

५७— शक्तिश्च सा कापि यया मुनीशो निर्दम्भनिर्भीविचरत्यल कौ ।
भद्राणि कार्याणि यत्राविकासै सङ्कार्यत्यत्र बहूनि योगी ।

जैना परे वैतरकार्यशैली दृष्ट्वा जहर्ष प्रकृतिर्गुणानाम् ।
ग्राह्यो गुणज्ञ मनलै सदैव, नो पक्षपातो गुणग्राम्नि पुसि ।

५६— वाणीं यदीया श्रुतमाग्पूता, नार्यो नरा वा भवभावभेत्रीम् ।
श्रुत्वा कियन्तो विरता बभूवु, सिद्धि मदा वाचि महामुनीनाम् ।

६०— उत्पातवृद्धे पुरतोऽस्य केपि वादे कदा नो जयिनो बभूवु ।
शैलप्रमाणापि घटा गजाना, का रक्तवक्त्रैणयते पुरस्तात् ।

६१— इस्येऽल्पकेगे ननु दीनवर्गे स्वीये परे वा पतपक्षपात ।
वक्ता यथार्थस्य यतोऽखिलेषु, मिश्रीतिमिष्टोपि वदुप्रवाद ।

६२— सर्वत्र सर्वेषु समानबुद्धिर्योवा भवेत् सोत्र महामनात्मा ।
भेदे जिनोक्तौ व्रत दोषपातो रक्षा ततोऽस्या मुनिभि सुकार्या ।

६३— मिथ्यान्धकारम् निजबोधदीप्त्या, सन्त्वकमाणो हरतेऽखिलानाम् ।
श्रेयो द्वयो कीर्तिकर सदैव कस्को न वाञ्छेद्धि विना सुमूढम् ।

६४— उग्र विहारी मुनिराजिचारी, वाग्मी जिनादिष्टपथप्रपाली ।
सञ्चन्मुनिश्चैप जन सुभाषी, तोष्ट्यमानो नितरा विभाति ।

६५— विद्याधन सर्वधनप्रधान, वृद्धयेति सर्वत्र मुनीश एप ।
विद्याभिवृद्धयै विमलोपदेशै प्रावोधयच्छ्रावकवर्गमादौ ।

६६— प्रोद्घाटिता येन पुरे पुरेत्र विद्यालया जीवनसारभूता ।
इत्यद्गदै पीडितजीवरागे, कल्याणहेतोर्विविधौपधौक ।

६७— धन्या जनि सैव यका जनाना दु खौघनाशाय सदोद्यतास्ति ।
जीवन्ति नश्यन्ति परे मुधात्र, सज्ञा पर हा गणनाभिकाले ।

६८— नन्दाष्टनन्देन्दु मिते च वर्षे, मासे शुभे फाल्गुनशुक्ल वह्नौ ।
पाल्यामभून्मेलनमार्यवृत्त्या, धन्वीयपट्पूज्यमुनीश्वराणाम् ।

६९— तस्मिन् गुणैस्तस्य विकृष्टचित्तै प्रादायि तस्मन्त्रिपद मुनीशै ।
सत्सम्प्रदाये रघुनाथकस्य, योग्ये रुचि कस्य भवेन्न पुंसि ।

७०— सा सादडी कस्य न कर्णमूला, व्योमोन्नत यत्र विभाति दिव्यम् ।
गुर्वादि कौल मुनिभिश्रिकीर्ति मद्योतयद्दिक्षु प्रकाशमानाम् ।

७१— सघे तया यन विभेदताऽऽसीत्तत्रापि मेल मुनिरेप चक्रे ।
शक्ते प्रभाव किल चेदृशास्ति सर्वत्र सा नो विरले च पुंसि ।

७२— गोगोष्ठदीनादिमहत्तरेभ्य सन्दापित दानमनेन भूरि ।
पद्माविरामोपि गुणैर्जनेभ्य कल्पायते य मरुदेशसिह ।

७३— सघट्टन नित्यमसौ करोति, धर्मर्द्धिहेतोर्जिनशासनस्य ।
ग्रामे पुरे श्रावकसघकस्य, सघे कलौ शक्तिरपूर्वशस्त्रम् ।





७४— धन्वे प्रचारो मुनिना ह्यकारि धर्मस्य तस्मान्मुदितो हि सघ ।
धन्वेशमिह पदमित्थमस्मै मुदा ददौ तत्र गुणा हि हेतु ।

७५— व्यस्तारि धर्मा जिनशासनीया नादस्तथाऽकारि दयापदस्या ।
प्रादायि यस्मै पशुभिश्च चाशीर्यागिभिश्चरञ्जीव स्थितिश्च त्राणै ।

७६— यो दीपयामास शिया सुभूमि , पाट गुरो श्रीरघुनाथकस्य ।
पाश्र्वे च शिष्ये विमला क्रिया वै, सद्य फलन्तीह निकारमुक्ते ।

७७— मन्ये प्रसू सा वरकेशराख्या कुक्षौ च यस्या सुत ईदृशोऽभूत् ।
यनात्र भूम्ना वृपवैजयन्ती चारोपिता शासनयूपमूर्ध्नि ।

७८— पत्युश्रमणा पुरतो दशा या दीपस्य सैवास्य पुर परेषाम् ।
जाता, प्रभावो महता सदैव सर्वत्र सर्वेषु पद विधत्ते ।

७९— ग्रन्था कियन्त कविकोविदेन, विनिर्मिता उत्तमशोधपूरा ।
आस्येऽस्ति यस्यामरभारती सा मन्ये च सिद्धि करपङ्कजेऽलम्।

८०— ध्यानस्थराजद्गुरुवुद्धमल्ल-पादाब्जरोलम्बमृगारिरेष ।
तत्पाटसिंहासनमार्यमार्य सन्दीपयत्यत्र सुखी समस्ते ।

८१— यत्कीर्तिपद्मा सुखदा मनोज्ञा, चान्द्रीव ताप हरते बहूनाम् ।
अद्यापि य कीर्तिरमाप्रसादात् सम्पूज्यते देव इवात्र पुम्भि ।

८२— सा सादडी सादरपूजिताऽभूत् सम्मेलनेनैव महामुनीनाम् ।
तत्रापि वादे मुनिरेप रेजे चक्रीव भूपेपु रणोद्यमेषु ।

८३— जैनागमेष्वन्यप्रसिद्धशास्त्रे, दक्षस्य चास्य प्रतिवादिनस्ते ।
मूका इव क्षीणप्रभाश्च शून्या के के न जाता प्रथित यशोऽस्य ।

८४— आचार्यमुख्या मुनयोऽपि चासन् गम्भीरवादस्य विप्रश्निकायाम् ।
वक्ता यथार्थ निरपेक्षतोऽभून्नान्यस्तथा केपि वदन्ति विज्ञा ।

८५— सम्प्राप्य कीर्ति मुनिमेत्तनेऽथ, देवेष्विवाचार्यगुरुर्महीयान् ।
वभ्राम भूयस्तकसिद्धयेऽल, धन्वान्नगालेषु पुरान्तरेषु ।

८६— श्रीसोजते मन्त्रिमहामुनीना निर्व्याजमाचार्यपरम्परायाम् ।
सन्दर्शयामास प्रभावमेष, शान्त्या यत सिद्धिरभूत् क्षणेन ।

८७— जैनेन्द्रप्रख्यावलिमिन्द्रशस्त्र मेघावलि वायुरिवाति गाढाम ।
दारिद्र्यशोप तरुवत्सुराणा चिच्छेद सिद्ध्य सरल निवादम् ।

८८— तद्वेपमाना अपि ये महान्तरतद्वाग्-छटाभि स्वयमेव लीना ।
अग्रे सुराणा गिरितो गति का वर्षाभिकाले प्रचलन्नदीनाम् ।

८९— तस्य मुनिर्मिष्ट महार्यनामा वीरत्ववोऽस्त्वपटुत्वभावान् ।
सम्मेलनादौ बहुधा विचार, नगजतेऽन्नकगुणानिवास ।

९०— रावीणि मूर्गीणि निजोपदेशैश्चक्रे मुनि. साधु परोपकारी ।
तेनाश्रदेशे परदेशकेतु, सिंहाभिधानेन प्रसिद्धिमेति ।

९१— नन्येन्दुनन्याब्धिमिते च वर्षे, श्रीमद्विराडागमसघकेन ।
सम्प्रार्थिताऽत्र विनयेन याता, वर्षाभिवासाय ववीन्द्रनिश्र ।

९२— स्वीकृत्य तेषा विनति महात्मा, सत्स्वागतेन पुरमाविवेश ।
व्याख्यानुराभिर्नविना मनासि, प्रातीपयल्लाकर माग्रवीण ।

९३— तत्रास्ति नाम्ना पुरि वाणगङ्गा सदान्ततोया विमलप्रवाहा ।
पाठीनरात्रिनिजकेलिलोला, सराजते यत्र निमालतीरा ।

९४— तान् हिंसतो मुस्लिमलोलडिम्भान्, गच्छन्मुनि स्थण्डिलभूमिकायाम् ।
दैवेन दृष्ट्वा करुणापयोधिस्तान् शान्तवृत्या प्रथम न्यषेधीन् ।

९५— क्रूरा प्रकृत्या यवना हि हिंस्रा बालास्तथा स्यु विनकारशका ।
नो मेनिरे वाक्मयी हसन्तो, गता यथा ज्ञानिवच प्रमाणम् ।

९६— वैदेशिक कश्चन तत्र काजी पीताङ्गवर्ष्टिनितरा विमूढ ।
पार्श्वेऽस्य जगमुस्त्वरितश्च बाला दत्सा यथा मातरमाव्रजन्तीम् ।

९७— श्रुत्वा च काजी मुनितर्जनादि, मोघेव रोद्धु भ्रशमाचुकोप ।
मूढो विचारे मुनिमेष हन्तु, व्याघ्रो यथा गा स्वयमिच्छयाऽभूत् ।

९८— स्वेक्षणश्चाशु मुने शरीरे, स यष्टिवृष्टि विदधश्चकार ।
दम्भोलिपात गिरिवन्मुनीश, सर्माटवान् कर्मप्रधानमन्ता ।

९९— प्रासादनाद्यैर्महता स्वभावश्चार्या परस्यात्मसमर्पण हि ।
छायाद्यकर्तेस्येव तरु स्वमेतुनं मूर्छितगन्धो हि तथा कुठारे ।

१००— अन्यायमेन मुनिरूपचन्द्रो, दृष्ट्वाऽऽह त सौम्य । करोपि किं त्वन् ।
वाणी सदा मिष्टमयी मुनीना, शैत्य हिमाद्रागिव राजतेऽत्र ।

१०१— तस्मिन्नपि म्लेच्छजनिस्त्वरैव, चक्रे प्रहार लगुडै नियद्रि ।
शान्ति ववेभ्यो न च रोचनेन नीतिर्यथा गृध्नुमहीपकेभ्य ।

१०२— मिश्रीमुनिर्मौनितयैव धीरो, वर्मोऽक एवागमदायभाव ।
दृष्टे प्रभूतेपि जगाद नैव, श्राद्धान् परान् वा प्रतिशान्तचेता ।

१०३— ज्ञात महानिष्टमिद जनौवै सर्वत्र वार्त्ता प्रससार सद्य ।
श्लाघ्यमाना अवनीह केषा, शोकाय नो हेल्गिनि राष्ट्रयोग ।



१०४— दुष्टो विमूढो यवनो दुरात्म पाणिङ्गतोऽभूल्लगुडप्रहारी ।
एव गलोऽसौ नगरान्तरीयैर्वेद विहायैव मुनिप्रताडी ।

१०५ — हन्तव्य एष श्रमणप्रहारी, गर्वैर्मिलित्वेति मिथा न्यगादि ।
केचित् सकोपा लगुडैस्त्वरैव, चाङ्गाभिभङ्गोऽस्य विधेय आहु ।

१०६— इत्यञ्च नान् शान्तिपदाभिलापी, क्रुद्धानहो धैर्यपदावलम्बी ।
मिश्रीति यागी मदयो न्यपेधीत् पन्था सदा शान्तिमयो मुनीनाम् ।

१०७— जिनवचनप्रमाणी योगिराट् वा परो वा, परकुशलविघाती जायते नो कदाच ।
कुमतिगवनमत्ते योगिमिश्रीर्दयावान्, समजनिशिवमार्गश्चान्यथा लभ्यते कै ।

१०८— निजचरणरताना भक्तिभाजा नराणामुपरि यदि दयालु स्तावंता तत्र हेतु ।
परमरिपुजने योऽवाच्यवादोक्तिनिघ्ने, भवति सदय नाव न मुनि कैर्न वन्द्य ।

१०९— शशिनि हिमकदम्बे चन्दने शीतता या, सुमुनिगणगतामात्तैरलम्मीति मन्ये।
कनकरजतमणीना भूषणान्यत्र पुसामथ परममुनीना भूषण शान्तिरेव ।

११०— अतिविदयप्रहारैः पीडितोप्येष योगी मधुरवचनयोगाद्बोधयामास सर्वान् ।
श्रमु-रहितकृतेस्मिन् मज्जना पात्रसिद्धिनिधनपथविचारस्त्यज्यना त्यज्यता भो ।

१११— भद्राभिवाञ्छी मुनिराह भूयो म्लेच्छैरमीभिर्यवनै ममस्तै ।
सन्धाऽञ्च तिस्र परिपालनीया कल्याणवाञ्छा ननु चेदमीषाम् ।

११२— मीना न मार्या जलहर्म्यमाजो, निष्कापनीयो यवन प्रहारी ।
कार्यास्तथाजा अमरा इदानी, तैरेकविंशा प्रतियष्टिमत्या ।

११३— वृत्त मुनीना परम पवित्र यत्ते सहन्ते स्वयमेव कष्टम् ।
नो चेत्स्थिरैव धरणि कथ स्याद् धर्मस्य पन्था हि मदोज्ज्वलोऽत्र ।

११४— इत्थ समाधानमय मुनीशो धर्मैकनिष्ठ पुरतो ममैषाम् ।
चक्रे च सर्वैर्यवनैर्मिलित्वा, सर्व च तत् स्वीकृतमेव सद्य ।

११५— हिंसापि नाभूत्नयन वृषस्य, जाता च सिद्धिर्मुनिवाक्प्रमाणा ।
देहो विनाशी ममता मुधा का, पाठोऽयमस्मान्निखिलैस्पाठि ।

११६— ये राजकीया पुरुषा प्रधाना आसन्मुनेर्वृत्तमिद समीक्ष्य ।
कर्तव्यमूढाश्चकिता बभुवु शिक्षा च शान्तेर्हृदयेषु दधु ।

११७— अङ्गाभिभङ्गेऽपि सुशान्तभावो दुष्टे मुनिश्चैव कृतापराधे ।
इत्थ ब्रुवाणाश्च मियोऽखिलास्ते, श्रद्धायिता स्वैरमथुर्यथेष्टम् ।

११८— वृतान्त एष त्वरित दिशासु, प्राजीगमद भेव दिवाकरस्य ।
श्रुत्वा हि भक्तेषु पद दधाते, माक व्यथाकारकमन्युशोकौ ।

११६— तद्वृत्तबोधाय च दर्शनाय श्राद्धा कियन्तस्त्वरित प्रचेलु ।
श्रुत्वा न किं यान्ति भटा रणाग्रे, कष्टे परीक्षा भवतीह पुंसाम् ।

१२०— वृष्टिस्तदाऽभूद् हृदिमस्त्वगत्या याऽदृष्टपूर्वा घनतारकाणाम् ।
जैपूरराज्येऽथ मुने प्रवृत्ति काम्कान्त सस्यान् विकरीचकार ।

१२१— भूपात्रदिवपालप्रधानभृत्यौ, दृष्ट्वा न चेत्थ किं तास्वृष्टि ।
कोत्र मुनिर्यस्य कृते प्रयासो, जाजायते जैनसमाजमध्ये ।

१२२— जैनेषु मिश्रीमुनिराज एव स्थान पुरासीदधुनाऽखिलेषु ।
पूज्येषु मान्येषु मुनीश्वरेषु विज्ञोऽपि भद्राय तथातिकीर्त्यै ।

१२३— यैर्वृत्तमश्रावि मुनेन्द्र हि, शान्तोदधेस्तैर्जिनवापभाणाम् ।
प्राशंसि धमा मुनिराड् विशेषाल्लोकोत्तरे पुंसि न पक्षपात ।

१२४— ततर विलाटानगरे स्वकीर्ति सस्थाप्य मिश्री गुरुगौरवाढ्य ।
वर्षाल्तिकानि विहृतिश्चकार, नैकत्रवासा मुनयो भवन्ति ।

१२५— अस्वस्थदेहेऽपि जिनेश्वराणामाज्ञानुवर्ती प्रतिपौरमेव ।
गच्छञ्जनान् धर्मपथे प्रभावी सस्थापयत्याशु निजान्यरान्वा ।

१२६— विलाडानगरदेशोऽस्वस्थोऽपि दिव्यसत्वत ।
निहन्नाशयो पाल्या यत्रासन् मुनयस्त्विमे ।

१२७— सदानन्दमना शिष्यै प्रशिष्यैश्चाप सेवित ।
स्थवीयान् शक्तिमान ज्ञानी, श्रीमच्छाट्ठूलसिंहक ।

१२८— उपाचार्यपदासीना गणेशीलालयोगिन ।
इतरेऽपि महाभागा मुनय श्रुतशालिन ।

१२९— सत्रीर्वाना व्यवस्था तै, सघस्य तत्र नामवत् ।
यत्नेनास्य मुनेस्तत्र स्थापित श्राद्धसघक ।

१३०— बालोतरामहारोहि गत्वेते मुनिपुङ्गवा ।
दिव्योपदेशदानेन स्थापितस्तत्र सघक ।

१३१— तत्रासीद्बहुभिवर्षै मिथ सघे विभेदता ।
माऽभेदि शान्तितो सार्धैरिन्द्रेणेव गिरिव्रज ।

१३२— नाकाडापार्श्वनाथेऽभूत् सघो हि मिलितस्तदा ।
तस्य प्रार्थनया तत्र जग्मुरेते तपस्विन ।

१३३— सर्वैक्ये मुनिभिस्तैस्तो दत्तोपदेशमालिका ।
रागद्वेषौ विहायैव कार्यं कार्यं प्रयत्नत ।





१३४— इत्थ सर्वत्र सघैक्यस्थापनाविषये सुधी ।
परामर्शञ्च प्रस्तावादचक्रे शासनवृद्धये ।

१३५— साचोरादिप्रदेशेषु प्रथम पदमादधे ।
प्रतिपौर प्रतिग्राम यश स्तम्भ नियोजयन् ।

१३६— श्रीक्षावनगरे रम्ये चन्द्रभूशून्यनेत्रके ।
राकाया चैत्रमासे च शुभोदयशुभावके ।

१३७— महोत्साहेन सघस्य सायघोषपुरस्सरम् ।
दीक्षाऽभूत्पूर्णमल्लस्य श्रीमन्मन्त्रिमुनिस्थितौ ।

१३८— महादीक्षा ततो जाता दाम्यानामपुरान्तरे ।
तत्रापि वरसघेन महोत्साह प्रदर्शित ।

१३९— जालोरनगरे तस्मादाययौ मन्त्रिराडयम् ।
वार्षिकपारणाहेतोस्तत्रासीद्वार्षिक तप ।

१४०— दुन्धाडानगरे चासीत्स्वामिनारायणो मुनि ।
सर्वमान्य प्रसन्नात्मा तदानी रोगपीडित ।

१४१— तन्निरामयप्रेच्छाया धन्वेणकेसरी तत ।
दुन्धाडानगरे रम्ये प्राढौकिष्ट महायशा ।

१४२— समदडीमहापुर्यां दुन्धाडायान्तथैव च ।
सघैक्यस्थापना चक्रे मुनिनाऽनेन मन्त्रिणा ।

१४३— पालीपुर्यां महापुर्यां ततोऽग्र जग्मिवान् मुनि ।
सीवाणास्यमहासघश्चाययौ तत्र भावत ।

१४४— सेवाणापौरसघेन चातुर्मासाय प्रार्थित ।
रूपेन्दुमुनिना तत्र चातुर्मासाय सस्थित ।

१४५— चातुर्मासे पुरे तत्र धर्मकार्याणि भूरिश ।
जातानि ज्ञानवृद्धिश्च भाग्येन मुनिसगम ।

१४६— सघैक्यस्थापना तत्र श्राद्धानाहूय सर्वत ।
कारिता पुष्टये तस्य द्रव्यकोशोऽपि पुष्कल ।

१४७— प्रवचनपटुचारो व्यक्तज्ञानादृगगार श्रुतकलशकहारस्तीर्थपादेशधार ।
मरुधरमृगनाथश्चातुरीसिन्धुपारो जयतु जयतु दीर्घ ज्ञातसिद्धान्तसार ।

१४८— श्रीमन्मुनीना गुणवर्णनेन, कल्याणमाला भवता जनानाम् ।
बुद्ध्येति तावच्चरित मनोज्ञ दृब्ध मया स्तात् पठना शिवाय ।

●

श्रद्धासुमन-समर्पण

शान्तिलाल व० सेठ

मरुधरकेसरी मुनिश्री मिश्रीमलजी म० राजस्थान के उन विशिष्ट सन्तों में से एक हैं जिनका समग्र जीवन बहुजनहिताय बहुजनसुखाय, ही नहीं वरन् सर्वजनहिताय, सर्वजनसुखाय व्यतीत होता है। आत्मकल्याण के साथ लोककल्याण करना सन्तों का सहज स्वभाव है। मुनिश्री ने सर्वसाधारण जनता का प्रवचनों और साहित्य सृजन द्वारा जो उपकार किया है वह भुलाया नहीं जा सकता। उनकी देन महान् है। इस वृद्धावस्था में भी वे सदैव परोपकार निरत रहते हैं। हम हृदय से मुनिश्री का अभिनन्दन करते हैं और कामना करते हैं कि वे चिरकाल तक जनता का पथप्रदर्शन करते रहें। एवमस्तु।

o



श्री धर्मदासजी महाराज

मुनिश्री रूपचंदजी 'रजत'



अहमदावाद के पास एक सरखेजा नामक ग्राम था। वहा लगभग सात सौ भावसार रंगरेज जाति के सद्-गृहस्थ रहते थे। ये सभी लोकागच्छीय जैनधर्म के अनुयायी थे। इनका जीवन बडा ही सुखमय था। ये सभी श्रीसम्पन्न एव उच्चकोटि के व्यापारी थे। कालिदास के पुत्र जीवनदास भी उसी वर्ग के सौभाग्यशाली बन्धुओं मे से थे। वे स्वभाव मे बहुत सरल, शात और उदार थे। उनके चरित्र की उच्चता एव व्यक्तित्व की गम्भीरता के कारण समाज मे उनकी बडी प्रतिष्ठा थी। उनकी पत्नी हीरादेवी सुशील एव धार्मिक प्रवृत्ति वाली थी।

वि० स० सत्तरह सौ एक की चैत्र शुक्ला एकादशी को अर्धरात्रि के समय जीवनदासजी के यहा पुत्ररत्न की प्राप्ति हुई। बच्चे का जन्म भाग्यशाली नक्षत्रो मे हुआ। नवजात शिशु का नाम 'धर्मदास' दिया गया। आपका बचपन बडे ही सुखमय वातावरण मे बीता।

आठ वर्ष की अवस्था मे धर्मदासजी ने लोकागच्छीय जैन यति की पाठशाला मे अध्ययन प्रारम्भ किया। इन यति का नाम केशवजी था। व्यावहारिक एव नैतिक अध्ययन के साथ ही आपने धार्मिक शिक्षा भी वहा प्राप्त की। आपकी बुद्धि बडी प्रखर थी एव प्रश्नो का उत्तर आप इतनी गम्भीर तर्कपूर्ण शैली मे दिया करते थे कि सुनने वाले आश्चर्यचकित रह जाते थे। दार्शनिक विषयों पर चर्चा करने की इनकी प्रवृत्ति देखकर केशवजी यति ने दर्शन के गहन तत्त्वो की व्याख्या आपको समझायी। आप सदैव दार्शनिक तत्त्वो के गूढ रहस्यो का चिन्तन किया करते थे। आपने लोकागच्छीय यति तेजसिंह से भी इस सम्बन्ध मे चर्चा की। आध्यात्मिक तथ्यो के अध्ययन, मनन और चिन्तन से इनकी रुचि परिमार्जित हो गई और परमतत्व को जानने की इच्छा प्रबल हो उठी।

सामाजिक विषयो के प्रति आपकी रुचि प्रारम्भ से ही नहीं थी। बचपन मे ही एकान्तप्रिय एव कम बोलने वाले थे। अध्ययन ने इस वैराग्य की भावना को प्रोत्साहन दिया और आपने सन्मार्ग पर चलने के लिये किसी धार्मिक सम्प्रदाय मे दीक्षा ग्रहण करने का निश्चय किया।

आप माता-पिता के बडे आज्ञाकारी थे। अत उचित अवसर देखकर धर्मदासजी ने अपने माता-पिता से विनयपूर्वक दीक्षा ग्रहण करने की आज्ञा मागी। उनके वचनो को सुनकर माता-पिता और परिवार वाले आश्चर्यचकित रह गये। उन्होने बहुत ही दयनीय स्वर मे कहा—"तुम ही तो हमारे एक मात्र जीवन के आधार हो, अन्धे की लकडी हो, यदि तुम ही हमे बेसहारा करके चले जाओगे तो हमारा क्या होगा ? इस प्रकार के शब्दो को कहते हुए सभी विलाप करने लगे। दुख और वेदना का इतना तीव्र प्रवाह बह उठा कि सभी कहना चाह कर भी कुछ नही कह सके।

धर्मदासजी के हृदय मे पूर्ण आस्था, स्थिरता एव धैर्य था। उन्होने सभी बन्धुओं को धैर्य, विनय और प्रेम से समझाया कि यह जगत् नश्वर है। मनुष्य काम, क्रोध, मद, लोभ और मोह मे पडकर धर्म और दर्शन के सत्यों को भूल जाता है। मनुष्य की यह काया भी नश्वर है और जिसने जन्म लिया है, उसे निश्चित रूप से एक दिन मृत्यु

मरुधर केसरी जी की वंशावली



नोट: पूज्य श्री धर्मदास जी महाराज आदि से अनेक शाखायें प्रशाखायें प्रवृत हुई है किन्तु केवल दो शाखाओं का ही उल्लेख किया गया है जिनका प्रत्यक्ष सम्बन्ध श्री मरुधर केसरी जी से है.

विशेष विवरण श्री मरुधर केसरी जी द्वारा निर्मित श्रमण सुरतरु में दिया गया है.



की गोद में सोना पड़ेगा। मनुष्य माया के जाल में उलझा हुआ इन सत्यों को जानता हुआ भी नहीं जानता है। अतः मनुष्य मात्र को चाहिए कि जीवन रूपी इस अमूल्य रत्न को कल्याणमार्ग की ओर अग्रसर करे।

परिवार के सामाजिक बन्धनों और आपश्री के त्यागमय भावों के बीच लगातार संघर्ष चलता रहा। उस समय श्री महाराज सा० धर्म ज्ञान एवं गुरु की खोज में प्रयत्नशील रहते थे।

इन दिनों 'पोतियाबन्ध पंथ' का प्रचार राजस्थान और गुजरात में बड़ी तेजी से हो रहा था। इस सम्प्रदाय का संस्थापक जयमाल का पुत्र प्रेमचन्द कहा जा सकता है। यह प्रेमचन्द पहिले लोकागच्छीय कुंवर यतिजी का शिष्य था और सरवरा ग्राम का रहने वाला था। किसी विशेष कारण से वि० सं० १६६० में उसने इस पंथ को छोड़कर स्वयं एक नये पंथ की स्थापना की।

साचोर, जालोर, सिरोही, मालवा, गुजरात और मेवाड़ में इसके अनुयायी विशेष रूप से बढ़ने लगे। कल्याणजी इस पंथ के पंथपति थे। अपने पंथ का प्रचार करने के लिए वे पैदल यात्राएं किया करते थे। इस पंथ में बाह्याडम्बर की ही प्रधानता है। साधु के समस्त लक्षणों का इस पंथ में अभाव ही दिखलाई देता है। इस पंथ का न तो दार्शनिक पक्ष ही पुष्ट है और न ही सिद्धान्तों की स्थिरता मिलती है। इस पंथ के अनुयायी लाल रंग के वस्त्र पहनते थे और केवल एक पात्र साथ में रखते थे। ये सिर पर चोटी रखते थे और कथाओं का वाचन करके जनसाधारण को प्रभावित करते थे।

कल्याणजी के साथ उनके बारह रत्नाकर शिष्य अपने पंथ का प्रचार करते हुए धर्मदासजी के गांव पहुंचे। कल्याणजी बड़े वाक्पटु थे और कथा का वाचन इतने मधुर एवं प्रभावशाली ढंग से किया करते थे कि सुनने वाले मुग्ध हो उठते थे। धर्मदासजी ने भी उनकी कथा श्रवण की। कथा के वाचन की शैली से आप बहुत प्रभावित हुए और कल्याणजी के पास जाकर आपने हृदयजनित वैराग्य एवं अपनी श्रद्धा प्रगट की। योग्य व्यक्ति को देखकर कल्याणजी ने इन्हें अपने पंथ में ले लिया। पंथ स्वीकार करने के पश्चात् भी आप इस पंथ के सिद्धान्त और व्यावहारिक पक्ष से सन्तुष्ट नहीं हो सके। आप सत्यमार्ग की ओर अग्रसर होने के लिये सतत् प्रयत्नशील रहा करते थे। सौभाग्य से आपको लवजी ऋषि के सम्पर्क में आने का अवसर मिला। लवजी ऋषि से आपने धर्म एवं दर्शन संबंधी चर्चा की। उन्हें दार्शनिक प्रश्नों का जो उत्तर मिला उससे हृदय को सन्तोष नहीं हुआ। कुछ समय पश्चात् अहमदाबाद में आचार्य धर्मसिंहजी से भी आपने धर्म सम्बन्धी चर्चा की परन्तु फिर भी 'मन कोरे' का अन्तर रह गया।

योग्य गुरु एवं सत्य मार्ग की खोज में घूमते हुए धर्मदासजी मालवा पहुंचे। मालवा में आपको जगन्नाथ यति के शिष्य ज्ञानिश्रेष्ठ जीवराजजी महाराज के दर्शन हुए। जीवराजजी महाराज का व्यक्तित्व बहुत ही प्रभावशाली था। वे ज्ञान के अथाह भण्डार और सौम्यता की मूर्ति थे। आप क्रियाशील एवं योग्य साधक थे। जब धर्मदासजी ने उनके दर्शन किये तो वे अध्यात्मचिन्तन में रत थे। उनके दर्शनमात्र से ही धर्मदासजी के हृदय में भावों का तूफान उठ खड़ा हुआ और श्रद्धा की लहरें उमड़ पड़ी। धर्मदासजी ने श्रद्धापूर्वक उनसे अध्यात्म चर्चा की। जीवराजजी ने ज्ञान एवं स्थिर बुद्धि से धर्मदासजी की शंकाओं का समाधान किया। वाणी के माधुर्य एवं ज्ञान की गरिमा ने धर्मदासजी की प्यासी आत्मा को शान्ति प्रदान की।

धर्मदासजी एक वर्ष और कुछ दिनों तक 'पोतियाबन्ध' पंथ के अनुयायी रहे। योग्य गुरु के मिल जाने पर उन्होंने एक पात्र और रक्त वस्त्रों वाले पोतियाबन्ध पंथ के प्रपंचों से सदैव के लिये किनारा कर लिया। जीवराजजी की कृपा से अन्धकार रूपी बादल हट गए और ज्ञान रूपी प्रकाश फैल गया।

वि० सं० सत्रह सौ उन्नीस की कार्तिक शुक्ला पंचमी के दिन बीस अन्य व्यक्तियों के साथ धर्मदासजी ने जीवराजजी से दीक्षा ग्रहण की और शुद्ध संयम व्रत को धारण कर लिया।

गुरु की आज्ञा लेकर आप प्रथम दिवस ही 'गोचरी' के लिये निकले। विरोधी लोगों ने आपके प्रति कोई रुचि नहीं दिखाई और न ही आहार-पानी आदि दिया। आप शांत एवं निर्लेप भाव से सब कुछ सहन करते रहे। घूमते-घूमते एक प्रजापति (कुम्हार) के यहां पहुंचे। उसने हास्यमिश्रित व्यंग्य से कहा—'हमारे यहां क्या रखा है?





खाने के लिये यह राख पडी है, यदि चाहो तो दे दूं।' उसने कुटिलता से महाराज की ओर देखा। सौम्यमूर्ति धर्मदासजी महाराज ने कहा - "बन्धु ! यदि तुम्हारी इच्छा राख देने की ही है तो राख दे दो।" कुम्हार ने हाथो मे राख उठा कर महाराज की ओर फेंक दी। उसमे से कुछ तो हवा के प्रवाह के साथ उड गई, शेष बची हुई राख पात्र मे लेकर आप गुरु की सेवा मे उपस्थित हुए। शात और कोमल शब्दो मे आपने गुरुदेव का सभी वृत्तान्त सुनाया अपने शिष्य के धैर्य एव आत्मविश्वास से गुरुदेव गद्‌गद् हो उठे। उन्होने कहा—"तुम बडे सौभाग्यशाली हो। प्रथम दिवस ही तुम को राख जैसी पवित्र भिक्षा मिली है। इस कलियुग मे तुम धर्मरक्षा करने मे समर्थ होगे और तुम्हारे द्वारा धर्म का प्रचार और प्रसार होगा। तुम्हारे अनुयायी बहुत अधिक सख्या मे बढेंगे। जिस प्रकार प्रत्येक परिवार मे हमे राख मिल सकती है ठीक उसी प्रकार ग्राम-ग्राम मे तुम्हे शिष्य मिलेंगे।"

श्रद्धापूर्वक गुरु की आज्ञा को शिरोधार्य कर आपने राख को पानी मे मिलाकर तीन बार पिया।

चातुर्मास्य के पश्चात् विहार कर आप एव गुरुदेव यात्रा करते हुए उज्जैन की ओर चले। वहा अचानक गुरुदेव के शरीर मे वेदना उठी। पीडा की असहनीय स्थिति और अन्त समय को नजदीक जानकर उन्होने सथारा ले लिया। मार्गशीर्ष कृष्णा एकादशी को जीवराजजी महाराज स्वर्ग सिधारे।

धर्मदासजी महाराज पर गुरुदेव की छत्र-छाया केवल इक्कीस दिन तक ही रही। इस अल्प समय तक ही गुरुसम्पर्क मे रहने के कारण ऐसी प्रसिद्धि हो गई कि आप स्वय दीक्षित थे। गुरु की कृपा से ही आपके हृदय में सत्य की प्रेरणा मिली थी एव आपने गुरुजी की पूर्ण श्रद्धा से सेवा भी की थी।

सयम, शुद्धि एव साधना के साथ धर्मदासजी महाराज ने धर्म प्रचार का कार्य तीव्र रूप से प्रारम्भ किया। धर्म का प्रचार और प्रसार करते हुए आपके मार्ग मे अनेक बाधाए आई, परन्तु आपने असीम धैर्य से उन पर विजय प्राप्त की।

धर्मप्रचार के लिये आप विविध यात्राए करते रहते थे। वि० स० सत्तरह सौ चालीस मे यात्रा करते हुए आप ग्वालियर पहुचे। ग्वालियर नगर के बाहर शीतल जलाशय के किनारे विशाल वृक्ष देखकर रात्रि में विश्राम किया। विश्राम के पश्चात् आप आध्यात्मिक चिन्तन मे लीन हो गए। दैवयोग की बात है, उसी दिन वहा का राजा शिकार खेलने के लिये अपने दल-बल सहित जगल में गया। जगल मे राजा को किसी जहरीले सर्प ने काट खाया जिससे राजा को मूर्छा आ गयी। मूर्छा की स्थिति मे राजा पृथ्वी पर गिर पडा। राजा की यह हालत देखकर उसका मन्त्री बहुत घबराया। राजा के मृत (वस्तुत मूर्छित, जिसे उन लोगो ने मृत समझ रखा था) शरीर को लेकर जब वे नगर की ओर लौट रहे थे तो उनकी दृष्टि धर्मदासजी महाराज पर पडी। मन्त्री राजा की मृत्यु से उद्विग्न तो था ही, जब उसने महाराज को ध्यानस्थ देखा तो उसका क्रोध उमड पडा। बहुत ही कटु शब्दो मे (परन्तु शीश नमाकर जैसे कि उस युग की परम्परा थी) उसने कहा—'हे सन्त ! आप आँखें खोलकर मेरी बात ध्यान से सुन लो। आपका इस नगर मे आना बहुत ही अशुभ हुआ है। सब जगह त्राहि-त्राहि मच गई है। सारी जनता राजा के विरह मे दुखी हो रही है। महाराज ! यदि तुम सच्चे साधु और ज्ञानी हो तो किसी प्रकार राजा को जीवित करो अन्यथा आपको निश्चित रूप से सोच लेना चाहिए कि आपके प्राण भी सकट मे है। निवेदन है कि आप साँप के जहर को दूरकर राजा को स्वस्थ कर दें।"

गुरुवर धर्मदासजी मन्त्री की बात को सुनते रहे। फिर उन्होने गम्भीर ओजस्वी शब्दो में कहा—"मन्त्री ! तुम अज्ञानी हो। मनुष्य को मृत्यु का भय नही करना चाहिए। मुझे मृत्यु से किंचित् मात्र भी भय नही है। परन्तु यदि तुम्हे विश्वास हो कि तुम्हारा राजा भविष्य मे शिकार न खेलने की प्रतिज्ञा करेगा और अन्य जीवो को अपने ही समान जीवन का अधिकार देगा तो उसकी चेतना लौट सकती है।" मन्त्री ने ससम्मान नतमस्तक होकर कहा—"महाराज ! ऐसा ही होगा।"

उसी समय राजा को स्वास्थ्यलाभ हो गया। उसने श्रद्धा सहित महाराज के चरणो मे सिर रख दिया। राजा ने जीवहत्या न करने की प्रतिज्ञा की।

नगर मे महाराज का भव्य स्वागत किया गया। राजा एवं प्रजा ने आचार्यश्री से वहीं चातुर्मास्य करने की बारम्बार प्रार्थना की। आचार्य श्री ने वहीं पर चातुर्मास किया और धार्मिक सिद्धान्तो पर चर्चा होती रही। इन्हीं दिनो पाच महानुभावो ने आपसे श्रमणदीक्षा ग्रहण की।

इन दिनो धर्म का खूब प्रचार और प्रसार हुआ। महाराज की वाणी मे इतना मिठास और गाम्भीर्य था कि श्रावक मुग्ध हो जाते थे। आपने वहा प्रमुख निन्नानवे (९९) शिष्य बनाये और अनेक परिवारो ने आपके सिद्धान्तो को स्वीकार कर लिया। आचार्य श्री ने वि० स० १७७२ के चैत्र शुक्ला त्रयोदशी को २२ सघाटक (सिंघाडे) स्थापित किये। धनराज, लालचन्द, हरिदास, जीवराज, (बडा) पृथ्वीराज, लघु हरि, लघु पृथ्वीराज, मूलचन्द प्रेम, खेतसी, लोकपन्न, भवानी, मूल मुनि, पुरुषोत्तम मुनि, मुकुटसी, गुरुसहाय, मनोहर, वाघसी, निमग्य और मुरारसी आदि। आचार्य श्री ने धारा नगरी मे बाईस सम्प्रदाय की स्थापना की। इस प्रकार सघ की व्यवस्था होने से प्रचार एव प्रसार मे स्थिरता आई।

महाराजश्री धर्म का प्रचार और प्रसार करते हुए गुजरात, पजाब, उत्तरप्रदेश, काठियावाड, कच्छ महाराष्ट्र और राजस्थान मे भ्रमण करते रहते थे। महाराज के अनुयायियो की सख्या बढती जा रही थी। महाराज की वाणी इतनी मधुर और प्रभावशाली थी कि उसका प्रभाव आत्मा पर पडता था, उससे रोम-रोम आप्लावित हो उठता था और आत्मा शुद्ध हो जाती थी। महाराज सदैव धर्मप्रचार और आध्यात्मिक चिन्तन मे रत रहा करते थे।

महाराज के एक शिष्य ने धारानगरी मे 'सथारा' लेने की घोषणा की। कुछ समय तक तो उस शिष्य का चित्त स्थिर रहा परन्तु बाद मे उसकी भावना अस्थिर होने लगी। उसने सघ के सामने आहार लेने की इच्छा प्रगट की। उपस्थित समुदाय ने स्थिर रहने के लिये निवेदन किया परन्तु वह स्थिर नही रह सका। सघ ने उपर्युक्त घटना की सूचना शीघ्र ही महाराज सा० को दी। महाराज सा० को इसका बहुत दुख हुआ और वे उसी समय धारा-नगरी के लिये रवाना हो गए। मार्ग मे केवल तेल के भुजिये का ही आहार कर आपश्री और अन्य सन्त धारानगरी पहुचे। आप इतने अधिक चिन्तित हो उठे थे कि आपको मार्ग मे जल ग्रहण करने की भी इच्छा नही हुई। सन्ध्या समय आचार्य धारानगरी पधारे। आपने शिष्य को सभी प्रकार से उपदेश दिया परन्तु उसका चित्त स्थिर न हो सका। तब गुरुदेव ने बडे ही गम्भीर एव शान्त स्वर मे उस स्थान पर बैठकर अपने सथारा लेने की घोषणा की।

महाराज सा० की इस घोषणा को सुनकर उपस्थित जनसमुदाय किकर्तव्यविमूढ हो गया। महाराज ने उन्हे धर्म का उपदेश दिया और जल ग्रहण करना बन्द कर दिया। उस समय गर्मी की ऋतु थी और गर्मी इतनी प्रचड थी कि मनुष्यो के प्राण सूखने जा रहे थे। परन्तु महाराजश्री के चेहरे पर वही कान्ति और भावपूर्ण मुस्कराहट थी। श्रद्धा से जनसमुदाय उमड पडा। उनके बैठने की व्यवस्था करना भी एक समस्या बन गई। महाराजश्री तीन दिन तक शान्त, स्थिर एव मौन रहे और वि० स० १७७२ की ज्येष्ठ शुक्ला एकादशी को उन्होने इस नश्वर काया को छोड दिया।

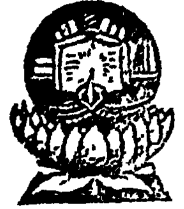
आचार्यप्रवर श्री धर्मदासजी का जीवन आदर्श जीवन था। उन्होने सत्य, अहिंसा, सयम शुद्धि, गहन चिन्तन और वीरत्व, सभी को अपने चरित्र मे समेट रखा था। जीवन भर उन्होने धर्म का प्रचार और प्रसार किया और धर्म के नाम पर ही उन्होने अपने जीवन का उत्सर्ग कर दिया।

आज भी उनके अनुयायी बडी सख्या मे विद्यमान है और उनके 'पाट' की पूजा धारानगरी मे आज तक होती है।



धन्नाजी महाराज

श्री सुकन मुनि



मारवाड के सांचोर परगने के माडवाडा ग्राम मे पोरवाड जातीय बागाजी मूथा रहते थे। उनकी गणना वहाँ के श्रेष्ठ नागरिको मे की जाती थी। उनकी पत्नी का नाम झमकुबाई था। वि० स १७०१ की चैत्र शुक्ला दशमी को उन्हे पुत्ररत्न की प्राप्ति हुई। बच्चे का नाम 'धन्ना' रखा गया। बच्चे का लालन-पालन बडे प्रेम से हुआ। धन्ना जी बचपन से ही शांत एव एकान्तसेवी थे। परिवार वालो ने उनकी बाल-प्रवृत्तियो पर ध्यान नही दिया और वे लगातार गहन चिन्तन मे व्यस्त रहने लगे।

१३ वर्ष की अवस्था तक आपने व्यावहारिक जीवन की शिक्षा ग्रहण कर ली थी। आप प्रकृति से ही बडे दयालु भावुक थे। एक दिन किसी कार्यवश आप बाहर जा रहे थे। मार्ग मे उन्होने एक सांप को लोगो द्वारा मारते देखा। इस घटना ने उनके हृदय को प्रबुद्ध कर दिया। उन्होने सोचा यह ससार नश्वर है। प्राणी मात्र जीवन लेकर कर्मों के फल को भोगता है और मृत्यु के पश्चात् फिर जीवन का यह क्रम चलता ही रहता है। उन्होने जन्म-मरण के इस चक्कर से छूटने के लिये चिन्तन प्रारम्भ किया।

जीवन और जगत् के प्रति आपके हृदय मे तीव्रतम वैराग्य था। मुक्ति का मार्ग बताने वाले किसी योग्य गुरु की आपने खोज प्रारम्भ की। उस समय राजस्थान मे पोतियाबध पथ का विशेष रूप से प्रचार हो रहा था। अपने माता-पिता की आज्ञा ग्रहण कर धन्नाजी ने उस पथ मे दीक्षा ग्रहण की। कुछ समय तक उन्ही के साथ रहकर आप ज्ञान की चर्चा करते रहे परन्तु उन्हे इस पथ के सिद्धान्त और साधना मे कोई सतुष्टि नही मिली। उनका मन स्थिर नही रह सका और वे किसी योग्य गुरु की खोज निरन्तर करते रहे।

करीब आठ वर्ष तक वे लगातार गुरु की खोज के लिये प्रयत्नशील रहे। एक दिन सौभाग्य से आपको श्रीधर्मदासजी महाराज के दर्शन हुए। उनके साथ धार्मिक चर्चा करने पर आपको परम शांति का अनुभव हुआ। वि० स १७२१ की कार्तिक शुक्ला को धन्नाजी ने धर्मदासजी से दीक्षा ग्रहण की।

धन्नाजी ने सभी प्रकार के प्रपचो का त्याग कर साधना प्रारम्भ कर दी। वे सच्चे साधक थे। उन्होने इतनी कठोर साधना की जो कल्पना से भी परे है। जेठ महीने की भयानक गर्मी मे वे नदी की तपी हुई बालू पर सो जाते थे। उनके लिये सर्दी और गर्मी की ऋतु का कोई विशेष भेद नही था। उनकी काया इस तरह से ढल गई थी ऋतुओ के परिवर्तन का उस पर कोई विशेष प्रभाव नही पडता था। वे गर्मी मे मिट्टी पर और सर्दी मे पहाडो पर इस प्रकार विश्राम करते थे मानो आराम मे सो रहे हो। सर्दी की ऋतु में भी वे केवल एक 'चादर' से काम चलाते थे। इस प्रकार का कायसयम आश्चर्य की ही वस्तु है। उन्हें भोजन मे स्वाद की इच्छा ही नही रहती थी। वे मौन रहकर अध्यात्मचिन्तन ही किया करते थे। उनकी स्मरणशक्ति विचित्र थी। उन्होने सभी सूत्रो को कठस्थ कर रखा था और उनकी बडी मार्मिक व्याख्या करते थे।

धन्नाजी महाराज का जिस प्रकार काया पर अधिकार था ठीक उसी प्रकार वाणी पर भी पूर्ण सयम था। उनकी वाणी सारगर्भित एव माधुर्य से ओतप्रोत थी। श्रावक मत्रमुग्ध से उनके उपदेशो को सुनते रहते थे। आप बडे वाक्पटु थे। समझाने का तरीका बडा मार्मिक था। आपकी भाषा बडी सरल थी और उसी भाषा मे आप जनसमुदाय

को उपदेश दिया करते थे। आपके प्रमुख पाच शिष्य हुए। वे क्रम से श्री भूधरजी, श्री मूलचन्दजी, श्री रूपचन्दजी, श्री नवलमलजी और श्री देवीचन्दजी थे। सभी शिष्य योग्य एवं गुणवान थे। सभी ने मिलकर जैनधर्म के उत्थान मे सहयोग दिया। आपके शिष्यों ने अलग-अलग क्षेत्रों मे जाकर धर्म का प्रचार किया।

वि० सं० १७८४ मे मेड़ता के बाहर [illegible] नामक तालाब के पास बनी हुई छतरियों मे आपने रात्रि विश्राम किया। रात्रि के समय आप ध्यानमग्न थे तभी आपको आन्तरिक प्रेरणा मिली। आप छतरी के बने हुए खंभे के पास खड़े होकर ध्यान मे लीन हो गये। प्रातःकाल सभी ने आपको खंभे के सहारे ध्यानमग्न देखा और चलने के लिये निवेदन किया तो आपने मुस्कराते हुए कहा कि यदि पाषाण (खंभा) चल जाएगा तो मैं भी चल जाऊंगा। धन्नाजी के इन वचनों को सुनकर सभी विस्मित हो गये। धन्नाजी महाराज ने संथारे की घोषणा करके मौन रख लिया।

दो दिन तक वे लगातार मौन रहे और तत्पश्चात् इस नश्वर काया को छोड़कर स्वर्गासीन हुए। मृत्यु के पश्चात् भी धन्नाजी की कमल के समान बड़ी आंखें खुली हुई थीं और उनके मुंह पर तपस्या का तेज झलक रहा था। राजा के दीवान खींवसी ने जब उन्हे इस स्थिति मे देखा तो बड़ा आश्चर्य हुआ। भंडारीजी ने ही उनका संस्कार किया।

आपका व्यक्तित्व प्रभावशाली था। आपने संयम की साधना उत्कृष्ट रूप से की थी। कायासंयम और वाणीसंयम आपकी विशिष्टताएं कही जा सकती है। आपके शिष्य श्रीभूधर स्वामी आदि ने धर्म का खूब प्रचार और प्रसार किया।



श्री भूधरजी महाराज

श्री रजत मुनि



मारवाड के नागौर क्षेत्र मे मुणोयत खाप के माणकचन्दजी बहुत ही विद्वान् पुरुष हुए है। उनकी पत्नी का नाम रूपादे था। वि० स० १७१२ की विजयादशमी के दिन उन्हे पुत्ररत्न की प्राप्ति हुई। परिवार मे बडा आनन्द और उत्सव मनाया गया। सभी ने मिलकर इनका नाम 'भूधर' रखा। भूधरजी बचपन से ही बहुत सुन्दर और भावुक थे। जितने ही वे सुन्दर थे उतने ही गुणी और चतुर भी थे। आपकी चाल मन को बडी ही लुभाने वाली थी और चेहरा अत्यन्त आकर्षक था। उनकी आखें सदैव लाल रहा करती थी और उनमे मादकता बरसती थी। भ्रमरो के समान श्याम रगों वाली आपकी जुल्फे सदैव लहराया करती थी।

शिक्षा के प्रति आपकी प्रारम्भ से ही रुचि थी। आपने व्यावहारिक एव सैनिक शिक्षा विशेष रूप से ग्रहण की। फौजी शिक्षा मे विशेष रुचि थी। युद्धकला मे निपुणता प्राप्त करने के कारण यौवन मे आपका फौज के ऊचे अधिकारी का पद दिया गया। आपने स्वेच्छा से सोजत नगर मे अपनी नियुक्ति करवायी। सोजत की कचहरी मे आपने सुव्यवस्थित रूप से कार्य करना प्रारम्भ कर दिया। उस समय सोजत राज्य मे अधिकतर उपद्रव होते रहते थे। डाकुओ आदि के कारण अराजकता फैलती जा रही थी। भूधरजी ने अपनी बुद्धि और बल द्वारा उन पर विजय प्राप्त कर ली। उन दिनो सोजत ही आपका प्रिय स्थान रहा। यही पर शाह दलाजी रातडिया मूथा के यहा आपका विवाह हो गया। राज्यकार्य के साथ सामाजिक कार्यो मे भी आप सदैव रुचि लिया करते थे।

वि० स १७४० के लगभग की घटना है। कटालिया ग्राम पर चौरासी डाकुओ ने ऊट पर सवार होकर हमला बोल दिया। वहा के ठाकुर के निमत्रण पर भूधरजी वहा सहायता के लिये पहुँचे। बल और बुद्धि के प्रयोग से आपने डाकुओ को पीछे हटा दिया। भूधरजी ने डाकुओ का पीछा किया और काजलवाल नामक स्थान पर फिर आपने लडाई प्रारम्भ की। इस सघर्ष मे भूधरजी की विजय हुई।

इस लडाई के बीच एक मार्मिक घटना हुई जिसने आपके हृदय मे वैराग्य उत्पन्न कर दिया। युद्ध के समय एक डाकू की तलवार से उनका घोडा घायल हो गया और उसकी गर्दन एक तरफ लटक गयी। असीम वेदना से तडफ-तडफ कर घोडे ने आपके ही सामने प्राण दे दिये। इस घटना का प्रभाव आप पर इतना गहरा पडा कि आपको हिंसा से ग्लानि और ससार से वैराग्य उत्पन्न हो गया। सोजत पहुँचकर आपने सरकारी सेवा से अवकाश प्राप्त कर धार्मिक चिन्तन प्रारम्भ कर दिया। परिवार वालो ने आपको लौकिक सुखो मे उलझाये रखने के लिये हर सभव प्रयत्न किये। परन्तु उन्हे सफलता नही मिली।

एक दिन आपने 'पोतियाबध पथ' के प्रचारको के आगमन की बात सुनी और उनसे साक्षात्कार किया। उनके सिद्धान्तो को सुनकर आपके हृदय मे इस सम्प्रदाय मे दीक्षित होने की भावना प्रबल हो उठी। आपने परिवार और वैभव के मोह को छोडकर पोतियाबध पथ को स्वीकार कर लिया।

कुछ समय तक इस पंथ के अनुयायियों के साथ रहकर भी जब आपको सन्तोष प्राप्त नहीं हुआ तो आपने शान्ति के योग्य गुरु की खोज प्रारम्भ की। मानसिक शान्ति के लिये आप यत्र-तत्र भ्रमण किया करते थे।

सौभाग्य से अचानक मारवाड़ के पादरू गाँव में आपकी भेंट आचार्य श्री धन्नाजी म० से हो गई। महाराज उन दिनों मारवाड़ में धर्म प्रचार का कार्य किया करते थे। श्री धन्नाजी म० के उपदेशों को श्रवण कर आप बहुत अधिक प्रभावित हुए और पूज्यश्री धन्नाजी से भी आध्यात्मिक चर्चा करने का अवसर आपको मिला। इस सम्प्रदाय के दर्शन और सिद्धान्त से प्रभावित होकर आपने इसमें दीक्षा ग्रहण करने की अभिलाषा व्यक्त की। वि० सं० १७५१ की फाल्गुन शुक्ला पंचमी के दिन आपने धन्नाजी म० से संयम की दीक्षा ग्रहण की। दीक्षा ग्रहण करने के पश्चात् आप सदैव आत्म चिन्तन में मग्न रहा करते थे।

आप सदैव प्रसन्नभाव से गुरु की सेवा में तत्पर रहते थे। अनेक प्रकार के कष्टों को सहन करके भी भूधरजी उग्र तपस्या किया करते थे। आपने अहिंसा पर विशेष बल दिया। उपदेशों का प्रचार इस तरह हुआ मानो किसी जलधारा का तीव्र वेग प्रवहमान हुआ हो। अनेक श्रद्धालु व्यक्ति आकर आप से विविध प्रकार के प्रश्न पूछा करते थे और आप अनूठी युक्तियों से उनकी शंकाओं का समाधान किया करते थे। बाह्याडम्बर का प्रचार करने वालों की आपने कड़ी आलोचना की। आपने तर्क एवं बुद्धि द्वारा जनता को इतना अधिक प्रभावित कर दिया कि विरोधी भी आपके चरणों में गिरने लगे।

भूधरजी महाराज का प्रभाव उन दिनों सब जगह फैल रहा था। उनकी बुद्धि की अलौकिकता प्रशंसनीय थी। वे प्रत्येक प्रश्न का उत्तर इतनी अधिक तर्कपूर्ण शैली में दिया करते थे कि सुनने वाले को उसे स्वीकार करना पड़ता था। इस प्रसंग में एक घटना का उल्लेख किया जा सकता है, वह इस प्रकार है—

जोधपुर के रघुनाथजी भंडारी बड़े बुद्धिमान् और योग्य नागरिक थे। महाराज जसवन्तसिंहजी की आप पर विशेष कृपा थी। आपकी प्रशंसा सुनकर दिल्ली के बादशाह ने आपको दिल्ली बुलाकर सैनिक उच्च अधिकारी का पद दिया। शीघ्र ही अपनी योग्यता से आप बादशाह के विश्वासपात्र एवं कृपापात्र बन गए। बादशाह ने आपको सिरपाव और दुशाला देकर सम्मानित किया।

बादशाह की प्रिय बेगम की पुत्री (शाहजादी) बहुत ही सौन्दर्य वाली थी। उसके रूप की प्रशंसा चर्चा का विषय थी। किसी कारण से राजकुमारी गर्भवती हो गई। जब विमाता को उसका पता लगा तो उसने इस घटना की चर्चा बादशाह से की। बादशाह इस घटना को सुनकर आग-बबूला हो गया। बादशाह ने क्रोधित होकर राजकुमारी से कहा—तूने मेरे सिर पर कलंक लगाया है। उस व्यक्ति का नाम बता जिसने मुझे नीचा दिखाने की गुस्ताखी की है।

राजकुमारी ने कहा—"धर्मावतार! बादशाह-ए-आलम! पिताजी! मैं कसम खाकर कहती हूँ कि मैं सदैव नेक राह पर चलती रही हूँ और पवित्रता से ही अपने महल में रहती हूँ। यह गर्भ किस तरह से हो गया है, यह तो केवल खुदा ही जानता है। यह कुदरत का शाप है जिसके षड्यन्त्र में मैं उलझा दी गयी हूँ। यथार्थ में इस तथ्य का मुझे कोई पता नहीं है।"



शहजादी के इस उत्तर से बादशाह का क्रोध और भी भड़क उठा। क्रोधित होकर बादशाह कचहरी में आया और उसने काजी, मुल्ला, ज्योतिषी और पंडितों को शीघ्र बुलवाया। उन सभी की उपस्थिति में बादशाह ने प्रश्न किया कि—"आप सभी अपने अपने धार्मिक ग्रंथों का अध्ययन करके बताओ कि बिना शारीरिक संगम के गर्भ रह सकता है या नहीं? मुझे इस प्रश्न का उत्तर बहुत ही शीघ्र चाहिए।"

ग्रंथों का अध्ययन कर सभी ने हाथ जोड़कर बादशाह से निवेदन किया—"खता माफ हो, श्रीमन्! सभी धार्मिक ग्रंथों की छानबीन से केवल इतना ही पता चलता है कि सम्भोग के बिना गर्भ नहीं रह सकता है।"



बादशाह ने उसी समय अपने दरबार को बरखास्त करके आज्ञा दी कि दुष्ट राजकुमारी को शीघ्र ही मार डाला जाय। बादशाह की क्रोधित मुद्रा देखकर किसी की हिम्मत नहीं हुई कि वे उनसे रहम के लिये निवेदन कर सकें। तभी बहुत ही नम्र स्वर में खीवसी ने कहा—"क्षमा माफ हो स्वामी! निवेदन है कि मुझे एक बार महल में जाकर राजकुमारी से मिलने की आज्ञा दी जाय।" बादशाह ने पहिले तो आनाकानी की परन्तु खीवसी ने कहा—"शीघ्र निर्णय देने से संभव है अन्याय हो जाय और आपकी बदनामी हो, अतः आप इस तथ्य पर शान्ति से विचार करें।"

बादशाह की आज्ञा लेकर खीवसी भंडारी महल में गए और साधारण पूछताछ करके वापिस लौट आए। उन्होंने बादशाह से निवेदन किया—"राजकुमारी को तब तक दंड नहीं दिया जाय जब तक कि सत्य की पुष्टि न हो जाय।" इस तथ्य के निर्णय के लिये उन्होंने बादशाह से कुछ समय मांगा। बादशाह ने उन्हें सत्य का पता लगाने के लिये अवसर दे दिया।

भंडारीजी ने फिर सभी धार्मिक विद्वानों से सम्पर्क स्थापित किया और बिना सम्भोग के ही गर्भ ठहरने के तथ्य की पुष्टि के लिये प्रमाण एकत्रित करना चाहा। सभी ने कहा—कि हमने शास्त्रों का पूर्ण मंथन कर लिया है और उसी के आधार पर निर्णय दे दिया है। परन्तु भंडारीजी को उनके उत्तर से संतोष नहीं मिला।

विशेष काम से उन्हीं दिनों भंडारीजी को इन्दौर जाना पड़ा। वे अपने दल बल सहित इन्दौर की ओर जा रहे थे। इन्दौर के पास एक पादरला नामक गांव है। वहां भूधरजी महाराज अपनी अमृत-वाणी से जैनधर्म का प्रचार कर रहे थे। भंडारीजी उधर से ही निकल रहे थे। भूधरजी की सौम्यता और गम्भीर वाणी का आप पर विशेष प्रभाव पड़ा। खींवसीजी भंडारी अपना डेरा स्थापित कर फौजी वस्त्रों में ही महाराज के पास आये और उनकी वन्दना की। तत्पश्चात् उन्होंने अपना परिचय दिया और भूधरजी के सामने यह शंका प्रस्तुत की कि क्या बिना सम्भोग के गर्भ ठहर सकता है? भण्डारीजी ने कहा कि मैंने इस तथ्य की खोज अनेक विद्वानों से की परन्तु मुझे कहीं भी संतोषप्रद उत्तर नहीं मिला। अतः आप से निवेदन है कि आप इस शंका का समाधान करें और आगमों से उसकी पुष्टि करें।

भूधरजी महाराज ने कहा—स्थानांग सूत्र के पंचम ठाणे में गर्भ के पांच प्रमुख कारण लिखे हैं। वे सत्य हैं और हमें उन पर पूर्ण श्रद्धा रखनी चाहिए। उन्होंने कहा—"जिस जल में पुरुष ने स्नान किया हो और पुरुष के वीर्य-पुद्गल उसमें तैर रहे हों वहीं पर यदि कोई स्त्री बिना वस्त्रों के स्नान करे तो उसे गर्भ ठहर जाता है। यदि कोई स्त्री खुले में बिना वस्त्रों के सो रही हो और ऊपर से वीर्य गिर पड़े तो उसमें भी गर्भ रह सकता है। यदि किसी वस्त्र पर वीर्य गिरा हुआ हो और रजयुक्त योनि का उससे स्पर्श हो जाय तो भी गर्भ ठहर सकता है। दैवयोग से भी गर्भ ठहर सकता है। इस पांचवें प्रकार को तुर्य योग कहते हैं।"

भूधरजी म० ने आगे कहा—यदि सम्भोग से गर्भ ठहरेगा तो बच्चे के शरीर में हड्डियाँ बढ़ेंगी परन्तु यदि शारीरिक सम्भोग नहीं किया गया तो बच्चे के शरीर में अस्थि नहीं होगी। भण्डारीजी ने कहा—महाराज, यदि आपका यह वचन सत्य हो जायेगा तो आपसे संयम की शिक्षा ग्रहण कर श्रावक बन जाऊंगा।

इन्दौरयात्रा से लौटकर खींवसीजी भंडारी ने सारी घटना विस्तार से बादशाह को सुनाई। बादशाह यह तथ्य सुनकर आश्चर्यचकित रह गया। उसने कहा—मुझे इसमें बहुत कम सत्य दिखाई देता है, फिर भी यदि तुम कहते हो तो मैं इसे मान लेता हूं। बादशाह ने महल में पूरी व्यवस्था कर दी। यथासमय राजकुमारी ने बच्चे का प्रसव किया। उसने महाराज के वचनों को सत्य सिद्ध कर दिया। नवजात बच्चे के शरीर में हड्डियाँ नहीं थीं और वह रुई के समान नरम ही था। जब बादशाह को यह समाचार मिला तो उसका हृदय सन्तुष्ट हो गया।

बादशाह बहुत प्रभावित हुए और उन्होंने खींवसी को कहा—"मैं भूधरजी महाराज के दर्शन करना चाहता हूं। उनका कथन पूर्ण सत्य है। ऐसी आत्माएं बहुत ही कम होती हैं। तुम ऐसे महान् व्यक्ति से मेरे मिलने की शीघ्र व्यवस्था करो। यदि यह महान् आत्मा सही समय पर मेरा मार्ग-दर्शन नहीं करती तो क्रोध में शहजादी की हत्या कर देता और यह कलंक मेरे पर उम्र भर के लिये लग जाता अतः शीघ्र ही उसे सोचकर ले आओ।"

बादशाह की आज्ञा पाकर खीवसी भंडारी ने शीघ्रता से आचार्य श्री भूधरजी की खोज प्रारम्भ की। महाराज भूधरजी के दर्शन करके भंडारीजी ने श्रद्धा से अपना सिर झुका दिया। उन्होंने निवेदन किया कि स्वयं बादशाह आपके दर्शनों के लिये व्याकुल हो रहा है, अतः आप दिल्ली की ओर विहार करने के लिये अपना कार्यक्रम बनाओ। इस प्रकार आपकी यात्रा से जैनधर्म का प्रचार और प्रसार भी हो जायेगा और हमें आपके वाणीश्रवण का सौभाग्य भी मिलेगा। जब भंडारीजी ने अनुनय विनय की तो आचार्यश्री ने आपकी बात मान ली और दिल्ली की ओर गमन किया। महाराज ने भंडारीजी को कहा कि हमारे साथ चलने से मार्ग में अनेक कष्ट होंगे अतः तुम हमसे दूर ही रहो। खीवसी ने जब इस प्रकार की आज्ञा सुनी तो वे तीन कोस आगे या पीछे दूरी से चलने लगे। इस प्रकार यात्रा करते हुए आचार्य श्रीभूधरजी महाराज भरतपुर नगर पधारे। नगर के बाहर तालाब के किनारे पर आकर आपने विश्राम किया। वहाँ के व्यक्तियों ने इनकी वेश-भूषा आदि देखकर इन पर शंका व्यक्त की और चोर समझकर इनका तिरस्कार करने लगे। उन्होंने महाराज से अनेक प्रश्न किये और पूछा कि तुम यहाँ आकर क्यों ठहरे हो ? यदि तुमने संतोषजनक कारण नहीं बतलाया तो हम राज्य में तुम्हारे आने की सूचना दे देंगे। आचार्यश्री ने कहा कि हम चोर नहीं हैं। हम धर्मप्रचार करने के लिए निकले हैं। इस पर उन्होंने म० सा० से धर्मप्रचार के उपदेशों को श्रवण करने की इच्छा प्रगट की आचार्य श्रीभूधरजी महाराज ने जब उनको आध्यात्मिक विषय पर प्रवचन दिया तो सभी उपस्थित जन समुदाय सुनकर मुग्ध हो उठा। यहा पर अनेक पल्लीवालो और अग्रवालो ने आप से शिक्षा ग्रहण की।

यात्रा करते करते आचार्यश्री भूधरजी महाराज आगरा पहुँचे। आगरा मे कुछ समय रहकर भूधरजी दिल्ली से तीन कोस दूर ठहरे। आचार्यजी पेड की छाया में विश्राम कर रहे थे तभी खीवसी भण्डारी वहा उपस्थित हुए। म० सा० ने उनसे कहा कि आज हमारे आने की खबर तुमको किस प्रकार मिल गई ? और तुम इतने शीघ्र यहा पर किस प्रकार पहुँचे ? उन्होंने कहा—,आपके डर से मैं कुछ दूरी पर चल रहा था। महाराजश्री की आज्ञा लेकर भंडारीजी बादशाह के पास गये। बादशाह ने बडी प्रसन्नता और उत्साह से श्रीभूधरजी को लाने की आज्ञा दी, महाराज भूधरजी का भव्य स्वागत किया गया। राजकुमारी भी महाराज भूधरजी के दर्शनों के लिये आई, बादशाह ने श्री भूधरजी को सब तरह से प्रसन्न किया।

आचार्यश्री ने दिल्ली में ही चातुर्मास किया। वहा महाराज के उपदेशों का सुनने के लिये सभी वर्ग के हजार बन्धु आने लगे। भूधरजी न्याययुक्त, सरल भाषा में बोलते थे। खीवसी ने उचित अवसर जानकर मरुधर की ओर चलने का निवेदन किया। भूधरजी ने चातुर्मास के पश्चात् चलना तय कर लिया। बादशाह ने आचार्यश्री की कुशल-यात्रा की व्यवस्था की। यात्रा करते हुए आपश्री वि० स १७८० मे मेडता आये। यहा पर आपश्री के गुरु धन्नाजी ने संथारे की घोषणा कर दी और वहीं उन्होंने इस नश्वर देह को त्याग दिया। वहा से यात्रा करते हुए भूधरजी कालू ग्राम पहुँचे। वहा आपने उपदेशों का प्रचार किया और अनुयायी भी बढे। आप सच्चे साधक थे और ऋतु की परवाह न करके भूधरजी तपस्या मे लीन रहा करते थे।

एक समय की बात है। महाराज गाव के बाहर ध्यानस्थ थे। एक रामा नाम का जाट ऊधर से निकल रहा था। उसने देखा कि यह महाजनो का साधु है। सभी महाजन मिलकर इसे अपार द्रव्य देंगे जिससे यह अपनी तपस्या और मंत्रो द्वारा वर्षा को रोक लेगा। इससे सभी व्यक्तियों का जीवन दुखमय हो जायेगा, अतः इसी को मार डालना चाहिए। यह सोचकर उसने आचार्यश्री के पाँव पकड कर बिछे हुए काटों की ओर खीचा। काटे पूरे अग-अग मे चुभ गए पर आचार्यश्री ने उसे कुछ नहीं कहा। फिर गुस्से मे आकर उसने अपने हाथ पकडी हुई फरसी को महाराजश्री के सिर पर दे मारा जिससे उनके सिर से खून बहने लगा। सामने से एक पुरोहित शौच जाने के लिये आया था। उसने इस कुकृत्य को देखा और बाजार मे आकर सभी को सूचना दी। महाजनो को यह सुनकर बहुत क्रोध आया। उनमें से कुछ तो आचार्यश्री की सेवा मे उपस्थित हुए और कुछ ने जाकर हवलदार से इस काड की शिकायत की। हवलदार ने उस जाट को पकड कर बुलवाया और उसे बहुत बुरी तरह से पीटना शुरु किया।



गाव के बाहर भूधरजी की स्थिति देखकर कई व्यक्ति रो पडे। सभी ने उनकी सहनशीलता की सराहना की

और स्थानक मे उनका उपचार किया गया। आचार्यश्री को जब जाट के पिटवाने की भनक पडी तो उन्हे बहुत दु:ख हुआ। उन्होने कहा कि किसी तरह से जाट को थाने से छुडवाकर लाओ, फिर मैं अन्न ग्रहण करूँगा। श्रद्धालु भक्तो ने दौडकर रावले मे और हवलदार को जाकर महाराज की प्रतिज्ञा सुनायी। सभी महाराज के वचनों को सुन कर दंग रह गये। जाट को छुडवाकर महाराज के पास मे ले जाया गया। जाट ने म० सा० के चरण पकड लिये और बार बार माफी मागी। महाराज ने कहा कि तुम्हे मास और मदिरा छोड देनी चाहिए इसी मे तुम्हारा कल्याण है। यह घटना महाराजश्री भूधरजी की सहनशीलता और दयालुता की प्रतीक है।

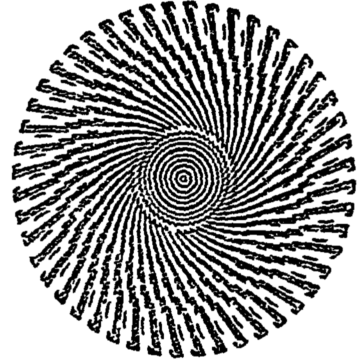
यात्रा करते हुए भूधरजी सोजत पहुँचे। वहा पर विरोधी लोगों ने मिलकर छल-युक्त आदर के साथ आप श्री को ठहरने के लिये सेरवालो की हवेली मे स्थान दिया। आपश्री ने रात्रिवास उसी हवेली मे किया। यह हवेली बडी भयानक थी और लोगो की ऐसी मान्यता थी कि इस हवेली मे ठहरा हुआ व्यक्ति प्रभात को जिन्दा नही बच सकता। रात्रि को महाराज के सामने भी वह आत्मा आई पर म० सा० ने उसे समझाया जिससे उसको शाति मिली। प्रात काल जब आपश्री को लोगों ने स्वस्थ अवस्था मे देखा तो सभी को परम आनन्द हुआ। विरोधियों ने आपश्री से क्षमायाचना की। उसी समय जोधपुर के भंडारी मीवसीजी वहा पर आए और उन्होने आदर से आपश्री के सामने सिर झुकाया। शहर के कोट के मोहल्ले मे, पहले जहा चारभुजा मन्दिर था और बाद मे उसे मस्जिद बना दिया गया था, उस स्थल पर आपश्री ने ठहर कर उपदेश दिया। उस स्थान का पट्टा स्थानक के नाम कर दिया गया।

आपने प्रमुख ९९ शिष्य बनाये थे। यह शिष्य, प्रशिष्यो की शाखा आगे चलकर खूब फैली। महाराज ने अनेक अज्ञानी मानवो को सत्य मार्ग की ओर अग्रसर किया।

●

वीरशासन की वरिष्ठ विभूति आचार्य श्री रघुनाथजी

मुनिश्री रूपचन्द्रजी 'रजत'



मारवाड के अन्तर्गत सोजतनगर प्रसिद्ध है जिसका ऐतिहासिक महत्त्व है। इस नगर मे बल्लावत (बाफणा) गोत्रीय शाह नथमल्जी थे। उनकी शीलवती पत्नी सौमादे थी। आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न और सामाजिक दृष्टि से अत्यन्त प्रतिष्ठित था उनका परिवार। शाहजी पहले रामानुज सम्प्रदाय के अनुयायी थे। एक बार सौमादे ने स्वप्न मे रामचन्द्रजी को देखा और उसके कुछ ही समय के पश्चात् एक पुत्ररत्न का प्रसव किया। स्वप्न के अनुसार पुत्र का नाम 'रघुनाथ' रक्खा गया।

नवजात शिशु बडा ही तेजस्वी, गौरवर्ण और कमल के समान नयनो से सुशोभित था। उसके मुख पर एक असाधारण आभा झलकती थी जो उसके भाग्यशाली होने की सूचना देती थी। बाल्यकाल मे ही उनकी चाल बडी मतवाली और वाणी इतनी मधुर थी कि अनायास ही प्रत्येक का मन मोह लेती थी।

सात वर्ष की उम्र मे आपके शिक्षण की सुन्दर व्यवस्था की गई। एक सुयोग्य विद्वान की विशेष व्यवस्था की गई। रघुनाथजी जन्मजात प्रतिभा के धनी थे और अतीव विनयवान् भी। अल्पकाल मे ही आपने शिक्षा प्राप्त करली। अध्ययन के प्रति आपकी रुचि बहुत गाढी थी। परिचित जन कहा करते थे - बालक बहुत होनहार है।

सोलह वर्ष की अवस्था में पिता ने आपको घर का काम-काज सम्हालने की आज्ञा दी। पिता के आदेशानुसार आप पारिवारिक कार्य मे सलग्न हुए। आपकी योग्यता देख जोधपुर-नरेश ने आप को सोजत का हाकिम नियुक्त कर दिया। काम इतनी कुशलता से सम्हाला कि देखने वाले चकित रह गए। आप की विनम्रता एव दयालुता के साथ शरीर की सुन्दरता प्रत्येक का मन मुग्ध कर लेती थी। यौवन की चचलता आपमे नही थी, था वह गाभीर्य जो सम्पर्क मे आने वालो को विस्मित कर देता था।

अचानक एक मित्र की मृत्यु ने आपके जीवन मे नया मोड ला दिया। मित्र के वियोग ने मस्तिष्क मे एक नूतन विचारधारा प्रवाहित कर दी। आप सोचने लगे—मनुष्य किस प्रकार जन्म-मरण की व्यथा से मुक्ति पा सकता है? इसका सही मार्ग कौनसा है? अपने मित्रो से भी वे यही प्रश्न किया करते—अमर होने का मूल मन्त्र क्या है? मै अमरत्वप्राप्ति की दिशा मे प्रस्थान करना चाहता हू। मित्र कहते—'अमर होना सभव नहीं है। जन्म-मरण का चक्र अनादि और अनन्त है।' मगर रघुनाथजी के हृदय मे बात बैठती नही और वे निरन्तर इसकी चर्चा करते रहते।

कुछ लोगो को उपहास करने की सूझी। उन्होने आपको सलाह दी—यदि चामुण्डा देवी को अपना सिर काटकर चढा दिया जाय तो अमरत्व प्राप्त हो सकता है। देवी ही प्रसन्न होकर अमर कर सकती है। और तो कोई मार्ग दिखाई नहीं देता।

रघुनाथजी के चित्त मे अमरत्वप्राप्ति की लिप्सा इतनी गहरी घुस गई थी कि उन्होंने यही मार्ग अपनाने की ठान ली। मित्रो को पता चला तो समझाया—'यह क्या पागलपन सवार हुआ है तुम्हारे मन मे!' उधर



विवाह की तैयारियाँ हो रही हैं, इधर तुम देवी का प्रसाद पाने के लिए सिर काट कर चढ़ा देने की तैयारी कर रहे हो।'

मित्रों की बात का रघुनाथजी के मन पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। मित्रगण उनके पिता के पास पहुंचे। पिता ने सभी तरह से समझाने-बुझाने का प्रयत्न किया, किन्तु अमर होने की स्पृहा दूर न हुई। उन्होंने पिता से कहा—'मेरा ध्यान अब चामुण्डा माता के चरणों में है। मुझे किसी ने बहकाया नहीं, मेरे ही मन में मातृचरणों में अपने आपको अर्पित करने की साध उत्पन्न हुई है। मुझे आशीर्वाद दीजिए। मैं जन्म-मरण के चक्र से मुक्ति पाना चाहता हूं।'

रघुनाथ का अटल संकल्प देख सब हताश हो गए। दैवयोग से गोचरी करते हुए आचार्य श्री भूधर स्वामी का अचानक पदार्पण हुआ। समग्र वृत्तान्त विदित कर स्वामीजी ने कहा 'बालक! किसने तुझे भ्रम में डाल दिया है? जरा सोचकर तो देख कि क्या कोई किसी को अमर बना सकता है? अपने पुरुषार्थ और साधना के द्वारा ही अमरत्व प्राप्त किया जा सकता है—यह दान में नहीं मिलता, न आत्महत्या करने से मिल सकता है। आत्मवध तो जन्म-मरण की शृंखला को सुदृढ़ करने वाला घोर पातक है! अमर होना है तो मैं तुझे मार्ग दिखा सकता हूं।'

भूधरजी स्वामी के अत्यन्त सौम्य मुख-मण्डल, स्निग्ध नेत्रों और प्रभावोत्पादक वाणी ने रघुनाथजी को तत्काल प्रभावित किया। वे स्वामीजी के साथ स्थानक पहुंचे। स्वामीजी ने आपके समक्ष अध्यात्म एवं दर्शनशास्त्र से सम्बद्ध ऐसी प्ररूपणा की कि उनका मन सन्तुष्ट हो गया। यह तत्त्वचर्चा लगातार तीन दिन तक चालू रही। अन्त में रघुनाथजी आत्मकल्याण का समीचीन मार्ग समझे और बोले — 'गुरुदेव! आपने ज्ञानांजन से मेरे नेत्र खोल दिए हैं। अब मैं आपकी चरण-शरण छोड़कर जीवित नहीं रह सकता। मुझे अपने से अलग न कीजिए। अपने चरणों में स्थान दीजिए।'

पारिवारिक जनों के अत्यधिक विरोध और निवेदन के कारण आचार्यदेव ने आपको घर लौट जाने के लिए कहा। मगर आपका हृदय तड़प उठा। अतीव दुखी होकर उन्होंने आचार्य महाराज के पैर पकड़ लिए। कहा—'गुरुदेव! आप मुझे कीचड़ में फंसने का परामर्श किस प्रकार दे सकते हैं? मेरा तो निश्चय है कि मैं लौटकर परिवार में नहीं रहूंगा।'

मगर आचार्य की आज्ञा को शिरोधार्य करके वे एक बार घर जाने को उद्यत हुए। मार्ग में सोचते जाते थे—प्रभु की लीला कैसी विचित्र है! मनुष्य बंधनों को तोड़ना चाहता है और माया के बंधन उसे उलझाना चाहते हैं।

मार्ग में ही उन्होंने निश्चय कर लिया कि मैं घर वालों को इस प्रकार समझाऊंगा कि उनका मोह छूट जाए, वे प्रसन्नतापूर्वक मुझे आत्मसाधना की अनुमति प्रदान करें। उन्होंने यही किया। माता पिता को समझाने का यत्न किया, भावी श्वसुर के सामने संसार की असारता प्रदर्शित की। मगर न वे समझे, न ये समझे। दोनों पक्ष अपने-अपने विचार पर दृढ थे। कुटुम्बी राग का त्याग न कर सके, रघुनाथजी विराग न त्याग सके। आखिर कुटुम्बियों के प्रबल आग्रह को देखकर आचार्यश्री ने रघुनाथजी से कहा—वत्स! काललब्धि अभी आई नहीं है। इस समय गृहत्याग करना उचित नहीं होगा। अवसर की प्रतीक्षा करो। माता-पिता के आग्रह का आदर करके चार वर्ष तक घर में रहने से क्या हानि है?

रघुनाथजी ने इस आग्रह को मान तो लिया मगर वे गृहसंन्यासी की भांति विरक्त रूप में रहते और अपनी साधना में व्यस्त रहते। किसी प्रकार चार वर्ष की अवधि पूरी हुई और आप गृह-कारागार से बाहर निकलने का उपाय खोजने लगे। आचार्यश्री के जोधपुर-पदार्पण का समाचार सुनकर एक दिन वे बिना किसी से कहे, पैदल, नंगे पैरों, जोधपुर की ओर चल पड़े। कितना साहस, कैसी लगन!

जोधपुर पहुँच कर आपने रियासत के दीवान से मुलाकात की । प्रभावशाली ढंग से अपनी स्थिति समझाई। इधर आचार्यश्री महाराज के समक्ष भी दीक्षा ग्रहण की प्रार्थना की । जोधपुर के राजमान्य प्रतिष्ठित गृहस्थ भंडारी खीवसीजी को तैयार कर लिया । खीवसीजी ने जोधपुर-नरेश से अनुमति मांगी । नरेश ने प्रसन्नतापूर्वक अनुमति प्रदान करते हुए कहा—तुम्हारे गुरु प्रशंसा के पात्र हैं, उच्चकोटि के संयम के धनी हैं । तुम निश्चिन्त होकर दीक्षा-समारोह का आयोजन करो । जो भी खर्च हो वह राजकीय कोष से किया जाय ।

इस प्रकार राजानुमति प्राप्त कर खीवसीजी ने दीक्षा की उच्चस्तर पर व्यवस्था की । वैरागी का जुलूस बड़ा ही भव्य, दर्शनीय और विशाल था । उस ठाठ का क्या कहना ! अद्भुत दृश्य था । एक हजार घोड़े, दो सौ हाथी और बहु-संख्यक पैदल सैनिक उस शोभा यात्रा के दृश्य को असाधारण बना रहे थे । प्रभावशाली वेश-भूषा से सुसज्जित अनेक सरदार उच्चपदाधिकारी और उनके जागीरदार सम्मिलित थे । सुन्दर, स्वस्थ, सम्पन्न तरुण आज जगत के प्रलोभनों को ठुकराकर, वाग्दत्ता भावी पत्नी के मोह को त्याग कर और समस्त भोग-उपभोगों से विमुख होकर त्याग-वैराग्य के कण्टकाकीर्ण पथ पर प्रयाण कर रहा है, इस भावना से वातावरण में अपूर्व गम्भीरता भर दी थी । भारत की चिरागत तप-त्याग की संस्कृति ने आज मानो मूर्तिमान् रूप धारण किया था । देवदुर्लभ वह दृश्य कितना स्पृहणीय था ।

नियत समय पर रघुनाथजी अपने केशों का लुंचन करके तथा हिम-धवल श्वेत वस्त्रों से मंडित होकर, साधु वेश में आचार्य श्रीभूधर स्वामी के समक्ष करबद्ध उपस्थित हुए । प्रव्रजित होने की प्रार्थना की । आचार्यश्री ने उन्हें प्रव्रज्या प्रदान की । वे मुनिमंडली में सम्मिलित हो गए ।

उपस्थित विराट जनसमूह में वैद्य गटमलजी नामक एक सज्जन थे । उस समय उन्होंने जिज्ञासा व्यक्त की—'जैनधर्म क्या है ? मैं इसका मर्म जानना चाहता हूँ ।"

गुरु की अनुमति प्राप्तकर सद्य प्रव्रजित श्री रघुनाथजी ने संक्षेप में जैनधर्म की व्याख्या करते हुए उनकी जिज्ञासा का समाधान किया । इस घटना से आपके प्रतिभा-वैभव का ओज, तेज एवं साहस का अनुमान किया जा सकता है । गटमलजी जादि अत्यन्त प्रभावित हुए और उन्होंने सम्यक्त्व ग्रहण किया । उसी समय से पाच पाच की तपश्चर्या आरम्भ कर दी और चार विगयो का त्याग कर दिया ।

सुवेर ग्राम मे आपकी बड़ी दीक्षा सम्पन्न हुई । तत्पश्चात् आप पूज्यश्री की सेवा मे रहते हुए ज्ञान-चारित्र की आराधना में लीन रहने लगे । अल्पकाल में ही आप में असाधारण तेज का प्रादुर्भाव हो गया । आगम मे कहा है —

देव-दानव-गन्धव्वा-जक्ख रक्खस-किन्नरा ।
बंभयारिं नमसंति दुक्करं जे करेंति तं ॥

दुष्कर ब्रह्मचर्य का पालन करने वाले ब्रह्मचारी के चरणों मे देव, दानव, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस और किन्नर भी मस्तक टेकते हैं । मुनि रघुनाथजी बाल ब्रह्मचारी थे । और ज्ञान तथा तपस्या के तेज से देदीप्यमान । यही कारण था कि मेड़ता में भैरव को भी आपने भक्त बना दिया ।

बात यों हुई कि मेड़ता में आप एक सूने स्थान में ठहरे । लोगों ने उस स्थान में ठहरने के लिए सावधान किया मगर आत्मबली सन्त भूत-प्रेतों से भयभीत नहीं होते । आप पूज्यश्री के साथ वहीं ठहरे । अर्द्धरात्रि मे क्रोधमय मुद्रा मे भैरवजी का आगमन हुआ । अनेक प्रकार से डराने-धमकाने का प्रयत्न किया । तब मुनि रघुनाथजी ने भैरव से कहा—'आपकी महिमा से हम अवगत हैं । जैनसूत्रों मे आप की प्रशंसा की गई है । फिर क्यों आप उत्पात मचाते हैं ? इतना कहकर आपने सानुद्वार थोकड़ा सुनाया । भैरवजी सुनकर प्रसन्न हुए और बोले—'आप ज्ञानी सन्त हैं । सुख से विश्राम कीजिए ।,





प्रात काल कौतूहलवश लोगो की भीड लग गई। सभी सतो को सकुशल देख लोग अत्यन्त चकित और प्रभावित हुए। सैकडो नये भक्त बन गए। आपके बढ़ते प्रभाव को देख स्थानीय यति जल-भुन गए। उन्होने उन सतो को सताने के प्रयत्न मे कोई कसर न रखी—यहा तक कि मूठ भी चलाई। किन्तु 'धर्मो रक्षति रक्षित' अर्थात् जो धर्म की रक्षा करता है, धर्म उसकी रक्षा करता है। किसी सन्त का बाल भी बाका न हुआ। यही नही, यतियो की कुत्सित करतूतो के कारण मुनियो के प्रभाव मे बहुत वृद्धि हुई। यतियो के साथ शास्त्रार्थ में विजय प्राप्त करके तो श्री रघुनाथजी ने अपनी प्रतिष्ठा मे चार चाद लगा लिए। वहा के अनेक प्रतिष्ठित आगेवान आपके श्रद्धालु बन गए। वही आपका चौमासा हुआ। पर्युषण पर्व की आराधना के निमित्त जोधपुर के भडारी खीवसीजी भी अपने लश्कर के साथ सेवा मे आए। भडारीजी के समक्ष मेडता-निवासियो ने मुनि श्रीरघुनाथजी की मुक्त कठ से भूरि-भूरि प्रशसा करते हुए कहा— उनकी महिमा का वर्णन करना बुद्धि से परे है। वे ज्ञान के अथाह सागर और शान्ति तथा धैर्य के प्रतीक हैं।

इस चातुर्मास मे मुनिश्री ने १२८ दिन की तीव्र तपस्या की। इसमे जहा आपकी काया कृश हो गई वहा आत्मिक तेज मे अपूर्व वृद्धि भी हुई। पारणा के दिन नगर के समस्त कारखाने बन्द रखे गए। उस समय मेडता मे जैनो के ३००० परिवार थे, अतएव उसे जैनपुरी कहा जाता था। यही श्रीजयमलजी महाराज ने दीक्षा ग्रहण कर आचार्यश्री भूधरजी का शिष्यत्व स्वीकार किया जो आगे चल कर सम्प्रदायप्रवर्तक आचार्य पद से विभूषित हुए।

श्रीरघुनाथजी महाराज ने गाव-गाव विचरण करके अपने गभीर तत्त्वज्ञान और शुद्ध सयम के बल से सहस्रो नर-नारियो को सन्मार्ग पर आरूढ किया, धर्म का प्रकाश दिया और धर्म की प्रशस्त प्रभावना की।

किन्तु यह सब सहज ही नही हो गया। उसके लिए उन्हे भीषण से भीषण कष्ट सहन करने पडे। यतियो और पोतियाबन्दो की ओर से किये गये उपसर्गों को सहना पडा। कई बार निराहार रहना पडा, बस्ती से बाहर वृक्षो की छाया मे निवास करना पडा, कटुक वचनो को सुनना पडा, अपमान और तिरस्कार के गरल को अमृत समझना पडा। विरोधियो ने छुछकार कर कुत्ते आपके पीछे छोडे, तरह तरह से परेशान किया और लक्ष्य से च्युत करने के लिए कोई उपाय शेष न रखा। मगर महात्मा रघुनाथजी इन सभी उपसर्गों को हिमालय की तरह अचल, समुद्र की तरह गभीर और पृथ्वी की तरह सर्वसह भाव से सहन करते हुए अपने पथ पर अग्रसर ही होते गए। भयानक विपत्तिया उन्हे निराश न कर सकी, उनकी प्रगति को धीमी न कर सकी और उनके विजय प्रयाण की दिशा को बदल न सकी। यही, घोर-अतिघोर विपदाओं को उन्होने आत्मबल की वृद्धि का साधन बना लिया। उनसे उनका सत्त्व और उत्साह बढा।

वि० स० १८०४ की विजयादशमी के दिन, पचोले की पारणा मे खडे-खडे वीरस्तुति का पाठ करते हुए, ८२ वर्ष की उम्र मे आचार्यश्री भूधरजी ने नश्वर शरीर का त्याग किया। तत्पश्चात् श्रीरघुनाथजी म० पर गच्छ के नेतृत्व का उत्तरदायित्व आ गया। आप आचार्य के पद पर आसीन हुए। आचार्य पद की प्राप्ति के पश्चात् भी आपकी धर्मप्रचार और आत्मसाधना का 'मिशन' यथापूर्व चलता रहा।

तेरापथ के प्रवर्तक श्री भीखमजी आपके शिष्य थे। सैद्धान्तिक मतभेद के कारण बगडी (मारवाड) मे आचार्यश्री ने आपका सघबाह्य घोषित किया और तेरह साधुओ के साथ पृथक् होकर उन्होने तेरापथ सम्प्रदाय का प्रवर्तन किया।

इस महान् ज्योतिर्धर आचार्य ने लगातार साठ वर्ष तक जिन शासन की अपूर्व सेवा की। जन-मानस मे पैठे अज्ञानान्धकार का निरसन किया। अपने दिव्य तेज से सघ की महिमा बढाई।

राजस्थान तो आपकी प्रधान विहारभूमि थी, जोधपुर, बीकानेर, जालौर, सोजत, मेडता आदि राजस्थान के विभिन्न प्रदेश आपके चरणरज से पावन हुए। मगर आपका प्रचार-क्षेत्र यही तक सीमित नही रहा। गुजरात, काठियावाड कच्छ, मेवाड, मालवा, उत्तरप्रदेश, दिल्ली, यहा तक कि जम्मू जैसे सुदूरवर्ती प्रान्तो तक

इन महापुरुष ने पदार्पण करके धर्म का उद्घोष किया। सर्वत्र जिनशासन की प्रभावना की और ज्ञानामृत की वर्षा की। इतना विस्तृत विहार-क्षेत्र आपकी धर्मप्रचार-भावना को प्रकट करता है। उस काल मे स्थानकवासी मुनियों का विहार आज की तरह सरल नही था। उस समय यतिसमाज का काफी प्रभाव था और साम्प्रदायिक दुराग्रह बहुत उग्र था। अतएव जगह-जगह प्रबल विरोध का सामना करना पड़ता था। अनेक प्रकार की कठिनाइया और मुसीबतें झेलनी पड़ती थी। आचार्य श्रीरघुनाथजी महाराज ने उन सभी को झेलते हुए भारत के अनेकानेक प्रदेशों मे धर्म-जागृति का शखनाद किया। आप अद्वितीय प्रतापशाली महापुरुष थे। आपका विशाल शिष्यपरिवार था। पाच सौ पच्चीस दीक्षाए आपने प्रदान की। आपके बाईस प्रसिद्ध, सुशील और विनीत शिष्य थे, पच्चीस प्रशिष्य, पैंसठ प्रशिष्यों के शिष्य थे। सात सौ गृहस्थों को दृढ सम्यक्त्वधारी बनाया। महाराजाओं ने आपके चरणो मे नतमस्तक होकर अपने जीवन को धन्य माना।

श्रीजैतसीजी, जयमलजी तथा कुशलजी आदि महाप्रभावशाली गुरुभ्राता थे, जो उच्चकोटि के सयमी और ज्ञानी थे।

आपकी आज्ञानुवर्तिनी सतियों की सख्या भी विपुल थी, उनमे महासती श्रीरत्नकुवरजी मुख्य थी जिनके साथ आपका विवाह होने वाला था। चरितनायक के दीक्षित होने पर आपके माता-पिता ने किसी सुयोग्य वर के साथ आपका विवाह कर देना चाहा था, परन्तु राजनीति की परम्परा मे पली इस आदर्श नारी ने दृढतापूर्वक स्पष्ट कह दिया था—इस भव मे कोई अन्य पुरुष मेरा पति नही हो सकता! मै किसी भी स्थिति मे विवाह करना स्वीकार नही करूगी। आखिर ग्यारह अन्य महिलाओं के साथ वह दीक्षित हो गई थी। उसी समय सत्तरह स्त्री-पुरुषों ने भी दीक्षा अगीकार की थी।

वास्तव मे आचार्य श्रीरघुनाथजी ने जिनशासन के उद्योत मे महत्त्वपूर्ण योग प्रदान किया है। वे जैनसघ की अमूल्य विभूति थे। स्थानकवासी सम्प्रदाय की जडे जमाने वाले प्रमुख महापुरुष थे। उनके महान् उपकारो को समाज कभी विस्मृत नही कर सकता।

अन्तिम दिनों मे पूज्यश्री ने वि० स० १८४६ मे पाली नगर मे पदार्पण किया। नही कहा जा सकता किस योगबल से अथवा विशिष्ट ज्ञान से आपने भविष्य का साक्षात्कार कर लिया था। पाली मे पधारते ही आपने सब सतो को शीघ्र आकर मिलने की सूचना भिजवा दी। स्थानीय सघ इस आकस्मिक निमत्रण की बात जान कर चकित था। लोग सोचते थे—न जाने क्या घटना घटित होने वाली है! उसके रहस्य को आचार्य श्री जानते ही थे।

आदेश पाकर सतो और सतियो का आगमन प्रारम्भ हो गया। सोजत से महासती रत्नकुवरजी भी आ पहुची। माघ कृष्णा अष्टमी के दिन आपने चतुर्विध सघ से क्षमा का आदान-प्रदान किया। सन्त-सतियो को बुलाने का रहस्य खुलने लगा। सघ रो उठा। लोगों के नेत्र अश्रु-वर्षा करने लगे और निवेदन करने लगे—अन्नदाता! अभी अवसर नहीं है। बिना अवसर का कार्य!

महान् पुरुषो की महत्ता उनके अटल सकल्प मे रहती है। पूज्यश्री का सकल्प भी सुमेरु के समान अटल था। उन्होंने सथारे का सकल्प प्रकाशित कर दिया।

एक ओर सयमी-जीवन की अद्भुत, अन्तिम और देदीप्यमान साधना चल रही थी, दूसरी ओर विषाद की सघन मेघ-माला उमड रही थी और वह दिनानुदिन सघन से सघनतर होती जा रही थी। अन्त मे माघ शुक्ला एकादशी के दिन, सत्तरह दिनों का सथारा सम्पन्न हुआ और जैन-सघ का देदीप्यमान सूर्य अस्त हो गया।

अन्तिम अवस्था मे प्रणाम करते हुए शिष्यों को उनका अन्तिम सदेश था—

"वत्स! चिन्ता न करो। वीर प्रभु के धर्म को उज्ज्वल करना। आत्मा मे समता-सुधा का निर्झर बहाना। ससार असार और शरीर अनित्य है।"



श्री बुधमलजी महाराज

ज्ञान भारिल्ल,

एम० ए०



स्थानकवासी जैन सन्तों की परम्परा में स्वामी श्रीबुधमलजी महाराज का नाम इतिहास में सदा आदर और श्रद्धा के साथ स्मरण किया जाएगा । स्वामीजी महाराज एक आदर्श त्यागी, तपस्वी, प्रभावशाली और अनासक्त सन्त थे । आपका व्यक्तित्व अत्यन्त उच्च कोटि का था और आप साधुजीवन की समग्र विशिष्टताओं से सम्पन्न थे ।

सन्तजीवन का प्रमुख लक्ष्य है—राग-द्वेष आदि कषायों को अधिक से अधिक उपशान्त करके वीतरागभाव को जागृत करना और जगत् के प्रपंच से अलिप्त रह कर आत्मस्वरूप में निष्ठा प्राप्त करना । स्वामीजी की जीवनी का पर्यालोचन करने पर यही तथ्य स्पष्ट प्रतिभासित होने लगता है । वास्तव में आप उच्च कोटि के कषायविजेता थे और साधुचर्या में सदा निरत रह कर अनासक्तभाव में विचरण करते थे । अपनी प्रतिष्ठा का प्रसार करना या होना आपको अभीष्ट नहीं था । प्रसिद्धि की कामना से योजनों दूर रहते थे । मानसम्मान की वाञ्छा नहीं थी । फिर भी आपके सद्गुणों ने, आपके निर्मल चारित्र ने, आपकी सादगी और सात्त्विकता ने, आपकी तपोनिष्ठा और अनासक्ति ने आपको जो प्रतिष्ठा, प्रख्याति और प्रसिद्धि प्रदान की, वह विरले ही महापुरुषों को प्राप्त होती है ।

स्वामीजी महाराज के जीवनकाल में, जिन्हें उनके सम्पर्क में आने का सौभाग्य प्राप्त हुआ, वे धन्य हुए । जीवनपर्यन्त स्वामीजी आत्मकल्याण के साथ जगत् का कल्याण करते रहे । किन्तु मरुधरकेसरीजी म० के रूप में अपने उत्तराधिकारी को छोड़ कर आज भी वे परम्परया महान् उपकारक हैं ।

स्वामीजी का जन्म भरतपुर में हुआ था । आपके पिता श्रीहीरालाल जी छाजेड़ (राठौड़वंशीय) गोत्रीय ओसवाल थे । यशोधना श्रीमती चम्पादेवी के उदर से आपका जन्म हुआ । वि० संवत् १९२४ की श्रावणशुक्ला १५ को अर्थात् रक्षाबन्धन पर्व के दिन आपने इस भूतल को पावन किया । आपके जन्मदिवस ने ही मानो आपके भावी जीवन की सूचना दे दी कि रक्षाबन्धन के दिन जन्म लेने वाला यह महाभाग शिशु भविष्य में संसार के सभी प्राणियों का रक्षक होगा । लोकोक्ति प्रसिद्ध है 'पूत के पांव पालने में दीख जाते हैं ।' अर्थात् बालक के शैशव से ही उसके भविष्यत् जीवन की सूचना मिल जाती है । किन्तु आपके भावी जीवन की सूचना प्रकृति ने जन्म होने के साथ ही प्रदान कर दी । वास्तव में प्रकृति के रहस्य इतने निगूढ होते हैं कि उन्हें बड़े-बड़े सुधीजन भी नहीं समझ पाते ।

किसने कल्पना की होगी कि रक्षाबन्धन के दिन जन्म ग्रहण करने वाला यह बालक षट्काया को रक्षा प्रदान करने वाला बनेगा । मगर चौदह वर्ष बीतते ही जो रहस्य छिपा हुआ था वह प्रकाश में आ गया । श्रीबुधमलजी के अन्तःकरण में वैराग्य की उत्ताल तरंगें तरंगित होने लगी । संसार का कोई भी प्रलोभन उन्हें अपनी ओर आकर्षित करने में समर्थ नहीं हो सका । विरक्ति के बीज हृदय-क्षेत्र में पनपने लगे और वे किसी सुयोग्य पथ-प्रदर्शक की बाट जोहने लगे । सौभाग्य से आपको विरक्तात्मा स्वामी श्रीमानमलजी महाराज का सान्निध्य प्राप्त हो गया । स्वामी मानमलजी महाराज उस समय बड़े तेजस्वी और ओजस्वी सन्त थे और उच्च श्रेणी के संयमपरायण सन्तों में से थे । स्वामीजी के सत्समागम से श्रीबुधमलजी को अपने जीवन की सही दिशा प्राप्त हुई । आपके विचारों में नूतन स्फूर्ति आई । जीवन का उच्चतर लक्ष्य निश्चित हो गया ।

सत्त्वशाली पुरुषों का मङ्गल स्थल होता है। वि० संवत् १९३९ में, एक वर्ष के पश्चात् ही १५ वर्ष की आयु में आपने भागवती जिनदीक्षा अंगीकार कर ली। आपके दीक्षासमारोह का सौभाग्य ब्यावर नगर को प्राप्त हुआ जो धर्मवृद्धि और शासन प्रभावना के कार्यों में सदा अग्रसर रहा है।

स्वामी श्री मानमलजी महाराज पूज्य श्री रघुनाथजी म० के सम्प्रदाय के एक रत्न थे। आपके शिष्यत्व को अंगीकार करके श्रीबुधमलजी महाराज संयमसाधना में प्रवृत्त हुए और ज्ञान तथा चारित्र की आराधना करने लगे।

उन दिनों विविध भाषाओं के अध्ययन की अपेक्षा आगमों के और उनके मर्म को समझने के लिए चाबी के समान थोकड़ों के अध्ययन को विशेष महत्त्व दिया जाता था। तदनुसार आपने भी थोकड़ों के तथा जिनागमों के अभ्यास पर बल दिया और उसे समझने के उद्देश्य से व्याकरण तथा साहित्य का भी अध्ययन किया।

इस प्रकार ज्ञान और चारित्र से सम्पन्न होकर आप स्वपर के श्रेयस् में अपना समय यापन करने लगे। शास्त्रमर्यादा के अनुसार विचरण करते हुए आपने जन समाज का महान् उपकार किया। अपने जीवनव्यवहार से तो आप जनता के समक्ष उत्तम आदर्श उपस्थित करते ही थे, प्रवचनों द्वारा भी उद्बोधन देते थे। आपका प्रवचन बड़ा ही मार्मिक होता था। श्रोताओं के अन्तस्तल तक पहुंच कर उसे स्पर्श करता था। उसमें अद्भुत प्रभावशक्ति थी। इन विशेषताओं के साथ आपके व्याख्यानों की एक विशेषता थी—रोचकता। श्रोता गहरी रुचि के साथ उसे श्रवण करते थे। गहन से गहन और नीरस से नीरस विषय भी आपकी मनोहर शैली के कारण सरल, सरस और रुचिकर बन जाता था। श्रोता कभी ऊबता नहीं था। इच्छा होती—आपके प्रवचन-पीयूष का पान करते ही रहें!

आपके प्रवचनों का प्रभाव तत्काल पड़ता दिखाई देता था। आपकी देशना ने कितने ही लोगों के जीवन को मोड़ दिया। न जाने कितने पथभ्रष्टों को सुपथ पर लगाया। अगणित अन्धकार में ठोकरें खाने वालों को दिव्य प्रकाश दिखलाया। भाषा आपकी सरल सुबोध राजस्थानी थी। श्रमण परम्परा के सन्तों ने कभी भाषा के प्रति किसी प्रकार का ममत्व या आग्रह नहीं रखा। उन्होंने सदैव इस सिद्धान्त का अनुसरण किया—'भाव अनूठा चाहिए भाषा कोऊ होइ।' श्रमण जिस प्रदेश में गए यथासंभव उसी प्रदेश की भाषा को उन्होंने अपनाया और अधिक से अधिक जनता को कल्याण का मार्ग समझाया। स्वामी बुधमलजी म० का मुख्य विहारस्थल राजस्थान रहा और इस कारण आपकी प्रवचनभाषा भी राजस्थानी ही रही। स्वामीजी ने यद्यपि राजस्थान से बाहर गुजरात और मध्यप्रदेश तक भ्रमण किया था और वहां भी धर्म का उद्योत किया था, मगर आपका अधिकांश समय राजस्थान में ही व्यतीत हुआ।

स्वामीजी का जीवन तप और त्याग का निदर्शन था। समय-समय पर आप उपवास, बेला, तेला आदि तप करते ही रहते थे। आपने इक्कीस बार अठाइया की और एक पक्ष तक की भी उग्र तपश्चर्या की। यों आपका समग्र जीवन ही तपोमय था। हाथ से कते-बुने रेजे की एक ही चादर तन पर रखते थे, चाहे शीतकाल की कड़कड़ाती सर्दी पड़ती हो या ग्रीष्म का ताप हो! तन पर आपकी ममता न थी। संयम-साधना में जिस प्रकार वह सहायक बना रहे, बस उतनी ही सहायता वे उसकी करते थे।

आगमों के अध्ययन-अध्यापन के अतिरिक्त आप आगमों की प्रतिलिपियां करके भी श्रुतसेवा किया करते थे। आपकी हस्तलिपि बहुत सुन्दर थी। आपके द्वारा लिखित अनेक शास्त्रों की प्रतियां आज भी मौजूद हैं जो आप की ज्ञानाराधना की साक्षी दे रही हैं।

स्वामीजी प्रकृति से अतीव सौम्य और शान्त थे। उत्तेजना के प्रसंगों पर भी कभी उत्तेजित नहीं होते थे। भाषा का प्रयोग कम करते थे। आपकी भाषा नपी-तुली होती, हित-मित होती और कटुकता तो उसमें कभी आती ही नहीं। यही कारण था कि आपकी वाणी में अत्यन्त ही आदेयता और चमत्कृति थी। वचनसिद्ध सन्त के रूप में उनकी ख्याति दूर-दूर तक फैल गई थी।



रत्नत्रय के साधक आपके तीन शिष्य हुए--(१) श्रीजसवन्तमलजी, श्रीपूनमचन्दजी और मरुधरकेसरी मुनि श्री मिश्रीमलजी म०।

इनमें से श्रीजसवन्तमलजी म० तथा श्रीपूनमचन्दजी म० आपकी विद्यमानता में ही स्वर्गवासी हो चुके थे।

स्वामीजी महाराज ने ८८ वर्ष तक निर्दोष संयम का पालन किया। ९६ वर्ष की आयु पाई। वि० सं० १९८५ की माघ कृष्णा प्रतिपदा के दिन बुसाना (राजस्थान) में नश्वर शरीर का परित्याग कर स्वर्गलोक के लिए प्रयाण किया। अन्तिम समय में पाँच दिन का संथारा आया। आपके स्वर्गवास से स्थानकवासी जैन समाज की एक महान क्षति हुई। समाज का एक तेजस्वी रत्न अस्त हो गया।

स्वामीजी जैसे अपने गुरुदेव के प्रति समर्पित भक्ति रखते थे उसी प्रकार आपके शिष्य मरुधरकेसरीजी महाराज की आपके प्रति अप्रतिम आस्था, श्रद्धा और भक्ति थी। स्वर्गवास के समय मरुधरकेसरीजी म० ने ही अधिक भार से आपकी अन्तिम आराधना में सहयोग दिया।

स्वामी बुधमलजी महाराज ने [illegible] प्रकट कर दी। उन्होंने अपने जीवन के अन्तिम क्षण तक ज्ञान, दर्शन और चारित्र के द्वारा समाज का उपकार किया और मरुधरकेसरी जैसा ओजस्वी, तेजस्वी और यशस्वी उत्तराधिकारी तैयार कर अपने जीवन के पश्चात भी जन-समाज का महान् कल्याण किया।

आपके जीवन की अनेक घटनाएँ श्रीमरुधरकेसरीजी म० के जीवनचरित्र के अन्तर्गत आ चुकी हैं, अतएव उनका पृथक् उल्लेख नहीं किया गया है।

o

लौंकाशाह : व्यक्तित्व और विचार



कुं० लालचंद्र नाहटा 'तरुण'

भस्मग्रह—श्रीकल्पसूत्र[1] में उल्लेख है कि शक्रेंद्र ने श्री महावीर स्वामी से पूछा—भगवन् ! आपके निर्वाण के समय आपके जन्मनक्षत्र (उत्तरफाल्गुनी) पर संक्रांत हुए भस्मग्रह का क्या प्रभाव होगा ? भगवान् ने उत्तर दिया—इन्द्र ! इस ग्रह के फलस्वरूप २००० वर्ष तक साधु-साध्वियों का उदय, पूजा, सम्मान नहीं होगा । अर्थात् धर्म की अवनति होगी । जब भस्मग्रह दूर होगा तभी सच्चे साधु-साध्वियों का पूजा-सम्मान होगा ।

भगवान् की भविष्यवाणी अक्षरशः ठीक निकली । दो हजार वर्ष तक धर्म की क्रमिक अवनति हुई । यद्यपि बीच-बीच में स्थिति सम्हालने के लिये छुटपुट प्रयत्न भी हुए किन्तु वे व्यापक नहीं हो सके, केवल साहित्यक्षेत्र में प्रज्वलित हुए और बुझ गये । दो हजार वर्ष की अन्तिम शताब्दियों तक तो परिस्थितियां अत्यन्त गंभीर हो गईं । श्रमणवर्ग में शिथिलाचार का बोलबाला हो गया । उनके आचार-विचार गृहस्थों में भी निकृष्ट हो गये । इधर गृहस्थों में भी तरह तरह के आडम्बरों का प्रादुर्भाव हो गया । धर्म का मूल भुला दिया गया और धर्म की लाश को ही धर्म माना जाने लगा । धर्म के चमकते सूर्य को ग्रहण लग गया । त्याग और वैराग्य पर आधारित धर्म में विलासिता और आडम्बर का घुन लग गया । तप, त्याग, अहिंसा और संयम के स्थान पर परिग्रह और बाह्य क्रियाकांडों का जोर हो गया । चैत्यवाद का विकार सर्वत्र व्याप्त हो गया । प्रत्येक क्रिया की प्रतिक्रिया होती है, कृष्ण के बाद शुक्ल और शुक्ल के पश्चात् कृष्ण-पक्ष आता ही है । आखिर एक दिन धर्म का सूर्य उदय होता है और पाखंड का अंधकार खंड-खंड होता ही है । प्रकृति के इसी अटल नियमानुसार जैनधर्म में जब विकार-तिमिर अत्यंत घना हो गया तब लोंकाशाह रूपी भास्कर का उदय हुआ ।

जन्म और बाल्यकाल—राजस्थान के सिरोही राज्य में, सिरोही नगर से लगभग १८ मील उत्तर में अरठवाडा नामक एक छोटा-सा गांव है । पहले इसे अर्हन्तवाडा अथवा अरहटवाडा के नाम से पुकारा जाता था । पन्द्रहवीं शताब्दी में यह अच्छा नगर और व्यापार का केंद्र था । वर्तमान में, प्राचीनकाल के खंडहर, भग्नावशेष इसके गौरवशाली इतिहास का स्मरण कराते हैं । इसी गांव[2] के सुप्रसिद्ध, धर्मपरायण सेठ हेमाशाह की धर्मपत्नी गंगाबाई की कुक्षि से

---

१ जं रयणिं च णं समणे भगवं महावीरे जाव सव्वदुक्खप्पहीणे तं रयणिं च णं खुद्दाए भासरासी नाम महग्गहे दो-वाससहस्सट्ठिई समणस्स भगवओ महावीरस्स जम्मनक्खत्तं संकंते । जप्पभिई च णं से खुद्दाए भासरासी महग्गहे दो वाससहस्सट्ठिई समणस्स भगवओ महावीरस्स जम्मनक्खत्तं संकंते, तप्पभिइं च णं समणाणं निग्गंथाणं निग्गंथीण य नो उदिए पूआ सक्कारे पवत्तई । जया णं से खुद्दाए जाव जम्मनक्खत्ताओ विइक्कंते भविस्सई तया णं समणाणं निग्गंथाणं निग्गंथीण य उदिए पूआ सक्कारे भविस्सइ ।

—श्री कल्पसूत्र श्री जैनदिवाकरजी द्वारा संपादित, पृष्ठ १५९-६०

२ लोंकाशाह के जन्मस्थान के विषय में कुछ मतभेद हैं यथा—

(१) दिगंबर श्री रत्ननंदी स्वामी भद्रबाहु चरित्र पृ० ६० पर लिखते हैं कि लोंकाशाह का जन्म पाटन में हुआ था ।



(२) इन्हीं का अनुकरण करते हुए वि० स० १६७७ मे हुए दि० श्री सुमतिकीर्तिजी ने भी जन्मस्थान पाटन ही बताया है।

(३) लो० गच्छीय यति केशवजी २४ कडी का शिलोका मे लिखते हैं—

'इण कालई सोरष्ट्र धरा मई नागवेश लटिनी तट गामई
हरिचद श्रेष्टि तिहा वसई, मउघी बाई घरणी शील लसई ॥१०॥'

इन्होने लोकाशाह का जन्मस्थान सौराष्ट्र का नागवेश ग्राम बताया है व माता पिता का नाम मउघी बाई व हरिचद सेठ बताया है।

(४) कच्छी मुनि श्री नागेन्द्रचद्र जी —

एह अवसर पोसालिया गढ जालोर मझार,
ताडपत्र जीरण थया कुलगुरु करे विचार ॥४०॥
लु को महतो तहा वसे अक्षर सु दर तास,
आगम लिखवा सू पिया लिखे शुद्ध सुविलास ॥४०॥

इसमे उनका जन्मस्थान जालोर बताया गया है।

(५) इनके अतिरिक्त कुछ सम्माननीय लेखक—श्री वा० मो० शाह, आचार्य श्री अमोलक ऋषिजी म० एव श्री सतबालजी उन्हें अहमदाबादवासी बताते हैं।

(६) तपागच्छीय यति कातिविजय जी (स० १६३६) लिखते हैं—

—आ महात्मानो जन्म अरहटवाडाना ओसवाल गृहस्थ चौधरी अटयना सेठ हेमाभाईनी पवित्र पतिव्रतपरायण भार्या गगानी कुक्षि थीं सवत १४८२ चौदा सो व्यासी ना कार्तिक शुद्ध पूनम ने दिवसे थयो। प्रभुवीर पट्टावली, पृष्ठ १६१

स्वामी मणिलाल जी म० ने स्वय ने भी पट्टावली मे उक्त मत का समर्थन किया है।

(७) श्री मरुधरकेसरी मिश्रीमलजी म० सा० ने भी अरहटवाडा को ही लोकाशाह का जन्मस्थान माना है। धर्मवीर लोकाशाह पृष्ठ ११-१४

(८) सिरोही राज्य के अरहटवाडा ग्राम की चर्चा अभय जैन ग्रथालय बीकानेर की स्थविरावली प्रति न ७५८८ पत्र ५ मे भी हुई है, किन्तु वहा लोंकाशाह को नहीं, माणो जी को अरहटवाडावासी बताया है और उनकी दीक्षा का उल्लेख भी किया गया है—जिनवाणी वर्ष २४ अक ६ एव पुस्तक १५ भाग २

इससे भी सिद्ध होता है कि लोकाशाह या लोकागच्छ के साथ अरहटवाडा का सबध रहा है।

उक्त मतों के अनुसार लोकाशाह के जन्मस्थान के विषय मे (१) पाटन (२) नागवेश (३) जालोर (४) अहमदाबाद (५) अरहटवाडा। पाच स्थानों का वर्णन मिलता है।

जहा तक जालोर का प्रश्न है, श्री वा० मो० शाह को उपलब्ध कुछ पन्नों के अतिरिक्त किसी भी लोकागच्छीय अथवा विरोधी साहित्य मे, किसी भी पट्टावली मे, कहीं भी उसका उल्लेख नहीं पाया जाता है। यह सभव है कि लोंकाशाह युवावस्था मे कभी जालोर गये हो। वहा भी कुछ समय तक श्रुतसेवा की हो। अत उन्हें जालोर का किसी लेखक ने लिख दिया हो। परतु इस मत का समर्थन भी अन्य प्रमाणो से नहीं होता। इसी प्रकार नागवेश का समर्थन भी अन्यत्र कहीं नहीं मिलता। स्वय लोकागच्छीय यति भानुचद्रजी भी इसे सही नहीं मानते। पाटन अहमदाबाद का ही उपनाम था अत पाटन और अहमदाबाद मे कोई विरोध नहीं है। रहा अहमदाबाद, सो अहमदाबाद

विक्रम संवत्' १४८२ की कार्तिक शुक्ला पूर्णिमा की शुभ्र ज्योत्स्नामयी दुग्धधवल निर्मल निशा मे लोकाशाह का जन्म हुआ।

बालक का नाम लोकचन्द्र रखा गया। शुक्ल-पक्ष के रजनी-पति की तरह बालक वृद्धि को प्राप्त होने लगा। पाच वर्ष की अवस्था मे बालक का पाठशाला म प्रविष्ट कराया गया। बालक पूर्व सस्कारो के कारण प्रारभ से ही तीव्र मेधावी था। उनकी अपूर्व धारणाशक्ति से अध्यापकगण भी चकित रह जाते थे। अपनी विलक्षण बुद्धि के कारण लोकचन्द्र स्वल्प समय मे ही व्यावहारिक शिक्षण में पारगत हो गया। हेमाभाई एव गगाबाई स्वय धर्मप्रेमी थे। उनके घर का वातावरण सस्कारिता शुचिता एव धार्मिकता से व्याप्त था। अत लोकचन्द्र पर इनका गहरा प्रभाव पडा।

तो लोंकाशाह का कर्मक्षेत्र भी था और धर्मक्षेत्र भी। उनके जीवन का अधिकाश और महत्त्वपूर्ण भाग अहमदाबाद में ही बीता था अत उन्हे इसी दृष्टि से अहमदाबाद का मान लिया गया हो तो कोई आश्चर्य और आपत्ति नहीं। इसके अतिरिक्त जन्म ही अहमदाबाद मे हुआ हो ऐसा कोई प्राचीन उल्लेख उपलब्ध नहीं होता जैसा अरहटवाडा के विषय मे होता है। स० १६३६ मे हुए काति विजयजी के लेखन से भी इसकी पुष्टि होती है।

(६) अभी ७ प्रकाशित लुका ना सद्दहिआ ५८ बोल की भाषा भी राजस्थानी प्रभावित गुजराती है। यदि उनका जन्म सौराष्ट्र, गुजरात, मे ही होता, तो उनकी भाषा शुद्ध गुजराती होती, यदि उनका जन्म और कर्मक्षेत्र दोनों राजस्थान मे होते तो भाषा शुद्ध राजस्थानी होती। परतु भाषा सिरोही जैसे दोनो राज्यों के सीमात पर स्थित जिलों की सी है जिससे उनका जन्मस्थान अरहटवाडा होना अधिक सम्भव लगता है। तथा भाषा में गुजराती प्रभाव से उनका चिरकाल तक अहमदाबाद रहना भी सिद्ध होता है।

श्री मरुधरकेसरी जी म० ने भी जैतारण कुरडाया जैसलमेर आदि भडारो के लोकाशाह सबधी साहित्य के अवलोकन के पश्चात् अरहटवाडा को ही लोंकाशाह का जन्मस्थान माना है।

उपरोक्त सभी मतों पर विचार करने के पश्चात् अरहटवाडा ही लोकाशाह का जन्मस्थल सिद्ध होता है।

१ इसी प्रकार जन्मसवत के विषय मे भी मतभेद हैं यथा—

(१) पडित मुनिश्री लावण्यसमयजी (वि० स० १५४३)

"सइ उगणीस वरिस थया पणयालीस प्रसिद्ध।
त्यार पछी लुकु हुई असमजस तीणई किद्ध ॥३॥"
—सिद्धान्तचौपाई

श्री महावीर स्वामी से १६४५ वर्ष बाद अर्थात् वि० स० १६७५ मे इन्होने लोकाशाह का जन्म बताया है।

(२) मुनिश्री बीका उत्सूत्रनिराकरण बत्तीसी में—

"वीर जिणेसर मुक्ति गया सइ ओगणीस वरस जव थया,
पणयालीस अधिक माजनई प्रागवाट पहलई साजनई।"

आप भी लोंकाशाह का जन्म उपरोक्त मतानुसार स० १४७५ मे मानते हैं।

(३) लोकागच्छीय यति केशवजी २८ कडी का शिलोका मे—

"पुत्र सगुण थयो लखु हरखि, गत चउदे सत सितर वर्षि।"

आपका मत है कि लोकाशाह का जन्म वि० स० १४७७ में हुआ था।





प्रारभ मे ही उसके सस्कार निर्मल, प्रवृत्ति धार्मिकता की थी। सामायिक प्रतिक्रमण स्वाध्याय गुरुवदन प्रवचनश्रवण आदि का सयोग मिलते रहने से उसकी धार्मिक भावनायें प्रतिदिन बढने लगी। लोकचद्र की स्मरणशक्ति भी इतनी तीव्र थी कि एक बार सुना हुआ व्याख्यान उन्हे पूरा याद हो जाता था। इस प्रकार कुछ ही काल मे लोकचद्र ने अपना शिक्षण सपूर्ण कर लिया।

गृहस्थ जीवन - जब लोकचद्र किशोर हुए तो हेमाशाह ने अपने कारोबार का उत्तरदायित्व लोकचद्र को सौंप दिया। सतोष वृत्ति, न्यायनीति, सत्यता, प्रामाणिकता एव उदारता से लोकचद्र का कारोबार जम गया और अधिकाधिक विस्तृत होता गया, उनकी कीर्ति चारो ओर फैल गयी। लोकचद्र वाक्चातुर्य, कार्यकौशल एव भाषणमाधुर्य से ग्राहकों का मन जीत लेते थे। लोग उन्हे प्रेम से लोकाशाह कहने लगे। उन्हें अपने व्यापार के निमित्त दूर २ तक जाना पडता था। एक बार जब वे सिरोही गये तो वहा के नगरसेठ ओधवजी शाह से परिचय हुआ। ओधवजी शाह मानव-मन के पारखी थे। वे लोकाशाह की कुशाग्र बुद्धि और तेजस्विता से अत्यन्त प्रभावित हुए। दूसरे ही दिन वे अरहटवाडा आये और अपनी कन्या सुदर्शना की सगाई लोकाशाह के साथ कर दी तथा कुछ समय पश्चात् विवाह भी हो गया। विवाह के तीन साल बाद लोकाशाह के पुत्र हुआ जिसका नाम पूनमचद रखा गया। पौत्र प्राप्ति के पश्चात् हेमाशाह और गगाबाई निवृत्तिमय जीवन व्यतीत करने लगे।

अहमदाबाद प्रवास—कुछ समय पश्चात् उनके माता पिता का स्वर्गवास हो गया। इसी समय अनावृष्टि आदि कारणो से अकाल की स्थिति भी उत्पन्न हो गयी, एव तत्कालीन छोटे २ राज्यों के आपसी वैर के कारण चोरी, डकैती आदि से वहा का जनजीवन भी असुरक्षित हो गया। अत लोकाशाह परिवार सहित अहमदाबाद आकर बस गये और वहा पर जवाहरात का व्यापार प्रारभ किया।

विलक्षण प्रज्ञा के धनी तो थे ही लोकाशाह, स्वल्प समय मे ही जवाहरात के व्यापार मे परख मे वे पारगत हो गये। एक बार मुहम्मदशाह बादशाह के दरबार मे सूरत का एक जौहरी दो मोती लेकर आया जिसकी परख के लिये बादशाह ने नगर के सभी प्रमुख जौहरियो को बुलाया। सभी ने दोनो का सच्चा और मूल्यवान बताया किन्तु

---

(४) लोंकागच्छीय यति भानुचद (वि० स० १५७८) दयाधर्म चोपाई मे—

"चौदसय व्यासी वइसाखइ वद चौदस नाम लु को राखइ।
आठ वरिसनो लु को थयो सा दुगर परलोकई गयो।।४।।"

ये लोंकाशाह का जन्म स० १४८२ मानते हैं।

(५) तपागच्छीय यति कातिविजय जी (स० १६३६)

'आ महात्मानो जन्म अरहटवाटाना ओसवाल गृहस्थ चौधरी अटकना सेठ हेमाभाई नी पवित्र पतिव्रतपरायण भार्या गगा बाई नी कुक्षि थी सवत १४८२ चौदा सो व्यासी ना कार्तिक शुद्ध पूनम ने दिवसे थयो।"

ये भी लोंकाशाह का जन्म स० १४८२ मानते हैं।

(६) इनके अतिरिक्त लोंकाशाह के जीवन पर विशिष्ट प्रकाश डालने वाले श्री सतबालजी एव श्री स्वामी मणिलालजी आदि भी उनका समय सवत १४८२ ही स्थिर करते हैं।

हमे भी यही मत उपयुक्त लगता है, कारण यति भानुचद्रजी लोंकाशाह के ही अनुयायी थे और उनके कुछ समय (८० वर्ष) बाद ही उन्होंने लोंकाशाह का चरित्र लिखा है, तथा यति कातिविजय जी ने यही लिखा है।

श्री सतबालजी द्वारा लिखित 'क्रातिनो युगसृष्टा' एव श्री मरुधरकेसरीजी द्वारा लिखित 'धर्मवीर लोंकाशाह' के आधार पर।

लोंकाशाह ने एक को मूल्यवान् और दूसरे को खोटा बताया। परीक्षा किये जाने पर लोंकाशाह की बात सत्य सिद्ध हुई, तब बादशाह बहुत प्रभावित हुआ और प्रसन्न होकर लोंकाशाह को अपना कोषाध्यक्ष नियुक्त किया। बहुत समय तक उन्होंने बड़ी योग्यता से अपने पद का निर्वाह किया। वे बादशाह को सदैव सच्ची सम्मति दिया करते थे। गरीबों की सहायता करना तो उनका दैनिक कार्य था ही।

अनासक्त—एक महान् राजकर्मचारी होते हुए भी लोंकाशाह राजकीय दावपेंच एवं छल-प्रपंच से सदा दूर रहे। दया और दान, सत्य और सरलता से उनका जीवन ओतप्रोत था। लोंकाशाह जब कभी चिन्तन-मनन को बैठते तो वे विचार किया करते थे कि आखिर जीवन का ध्येय क्या है? लक्ष्य क्या है? उद्देश्य क्या है? धर्म का वास्तविक स्वरूप क्या है? सन्त और धार्मिकों की वर्तमान दशा क्या है? क्या खाने-पीने और लोकव्यवहार चलाने में ही जीवन की इतिश्री है? नहीं। इन तुच्छ कार्यों से जीवन को न बिताकर जीवन का सदुपयोग अन्य महत्वपूर्ण कार्यों में करना है। धर्म और दर्शन जीवन और जगत् की गहन गंभीर गुत्थियों पर चिन्तन-मनन में उन्हें बहुधा घंटों बीत जाते।

तत्कालीन परिस्थिति—जैसा कि प्रारम्भ में लिखा जा चुका है, उस समय तथाकथित साधुसमाज में शिथिलाचार भयंकर रूप से व्याप्त हो गया था। इसका वर्णन हरिभद्रसूरि ने संबोधप्रकरण में तथा जिनचन्द्रसूरि ने संघपट्टक में या किया है—ये साधु प्रातःकाल सूर्योदय होते ही खाते हैं, बार-बार खाते हैं, माल-मलीदा और मिष्ठान उड़ाते हैं, शय्या जोड़ा वाहन शस्त्र और तांबा आदि के पात्र अपने पास रखते हैं, इत्र फुलेल लगाते हैं, तेल की मालिश करवाते हैं, स्त्री-प्रसंग भी शर्ताबद्ध रखते हैं, शालाओं और घरों में स्थानक बनवाते हैं, अमुक गांव अमुक घर मेरा है ऐसे अखाड़े जमाते हैं, प्रवचन के बहाने विकथा किया करते हैं, भिक्षा के लिये गृहस्थों के घर नहीं जाकर उपाश्रय में मंगाते हैं, खरीद बिक्री के कार्य करते हैं, छोटे बच्चों को चेला बनाने के लिए खरीदते बेचते हैं। औषधोपचार एवं मारण मोहन उच्चाटन आदि भी किया करते हैं। ये साधु नहीं किन्तु पेट भरने की टोलियां हैं।

यह वर्णन तो आठवीं शताब्दी का है। किन्तु संघपट्टक के वर्णन से यह प्रमाणित होता है कि स्थिति दिन पर दिन अधिकाधिक बिगड़ती गयी। अब विचार कीजिये कि लोंकाशाह के समय तक तो परिस्थितियां कितनी गंभीर हो गयी थीं?

यति लोग भिन्न भिन्न उपायों से भक्तों को अपने बाड़ों में बंद रखते थे। दूसरे यतियों से उनका संपर्क नहीं होने देते थे तथा अपना शिथिलाचार की पोल खुल जाने के भय से उन्होंने श्रावकों के लिये शास्त्रपठन भी निषिद्ध करार दिया था। अर्थात् श्रावकों के जीवन पर यतियों का शिकंजा दृढ़ता से कसा हुआ था। न वे दूसरे धर्माचार्यों से चर्चा कर सकते थे, न ही शास्त्र पढ़ सकते थे। बस जो कुछ भी ये शिथिलाचारी यति कहें उसे 'बाबा वाक्यं प्रमाणं' करके श्रावक लोग शिरोधार्य करें इसके सिवा कोई चारा न था उस समय। लोंकाशाह जैसे तीव्र मेधावी और महा विचक्षण पुरुष ऐसी स्थिति कैसे सहन कर सकते थे? अधिकारवाद की इस शृंखला को छिन्न-भिन्न करने का लोंकाशाह ने दृढ़ निश्चय किया। परन्तु सैकड़ों वर्षों से स्थापित, आचारहीन मुनिसम्राटों द्वारा संरक्षित अंधविश्वासों के इस महादुर्ग को भूमिसात् कर देना सरल नहीं था।

सत्यान्वेषण—लोंकाशाह ने अपने असाधारण भाषाज्ञान और आगमज्ञान को और भी आगे बढ़ाने का संकल्प किया। आगमों की प्राप्ति और अनुसंधान के लिए वे प्रयत्नशील रहने लगे। वे अपने विचारों एवं उपलब्ध ग्रंथों को लिखने लगे। अक्षर तो उनके सुंदर थे ही। अकस्मात् ही उनको एक दिन मनवांछित संयोग मिल गया। एक दिन ज्ञानजी यति उनके घर भिक्षार्थ आये। जब वे भिक्षा लेकर वापस जाने लगे तो उनकी दृष्टि लोंकाशाह द्वारा लिखित कुछ पन्नों पर पड़ी। आश्चर्यविमुग्ध हो गये यति श्री, लोंकाशाह के अक्षरों को देख कर बोले ओहो! इतने सुंदर! इतने सुवाच्य अक्षर! क्या ही अच्छा होता यदि जीर्ण शीर्ण आगमों की प्रतिलिपि इन सुंदर अक्षरों में हो जाती। यतिजी ने लोंकाशाह को उपाश्रय में आकर मिलने को कहा।





इधर मुहम्मदशाह बादशाह को विषप्रयोग से मार दिया गया था। इसकी लोकाशाह पर तीव्र प्रतिक्रिया हुई। पहले ही वे जल-कमलवत् जीवन तो बिता ही रहे थे, अब उन्होंने नौकरी त्याग कर नये बादशाह कुतुबशाह द्वारा दिये गये बड़े-बड़े भौतिक प्रलोभनों को अस्वीकार कर निवृत्तमय जीवन बिताने का निश्चय किया। इसके बाद मिल गया ज्ञानजी यति का संयोग। ज्ञानजी यति ने उपाश्रय में लोकाशाह के समक्ष समस्त आगमों की प्रतिलिपि का प्रस्ताव किया। लोकाशाह को तो मुँहमांगी मुराद मिली, उन्होंने यतिश्री का प्रस्ताव तुरन्त स्वीकार कर लिया। शास्त्रों की वे दो दो प्रतिलिपियां करने लगे—एक अपने लिये, एक यति श्री के लिये। अन्य लेखकों का भी सहयोग लिया। इस प्रकार उनको कई वर्षों तक शास्त्रों के चिन्तन-मनन और स्वाध्याय का अवसर मिला। मनन साधनों में स्नान कर उनका अध्ययन निखर गया। उनके जीवन का प्याला ज्ञान के मानरस से परिपूर्ण हो छलकने लगा।

लोकाशाह ने अपने साधना-शिविर से बाहर की ओर देखा-चारों ओर धर्म के नाम पर शैतानियत का साम्राज्य छाया हुआ था। उनकी भावना विद्रोही हो उठी। उस समय भस्मक ग्रह का प्रभाव भी समाप्त हो रहा था। एक दिन उन्हें ऐसा आभास हुआ मानो कोई कह रहा हो—ओ महान क्रांतिकार! उठ, उठ। निराश होने का कोई कारण नहीं है, शिथिलाचारियों के पापों का घटा भर गया है, उसे फोड़ दे अब समय आ गया है। ऐसी अंतर्ध्वनि सुनते ही उनके दिल में नया उत्साह, नयी चेतना, नयी ज्योति जागृत हो गयी।

क्रांतिनाद—अब लोकाशाह ने प्रवचन देना प्रारंभ कर दिया। प्रवचन क्या थे क्रांतिनाद थे। उन्होंने कहा अंधे होकर शैतानियत के पीछे दौड़ने वाला! आंखें खोल कर देखो! किसी भी विचार को किसी भी पथ को बुद्धि की कसौटी पर कस कर ही ग्रहण करो। जहां हिंसा है वहां धर्म नहीं हो सकता। आगमसाहित्य में मूर्तिपूजा का विधान कहीं नहीं है। शास्त्रों के पठन-पाठन का सब का अधिकार है। रूढ़ियों और अंधविश्वासों को तोड़ना जैनत्व है। सच्चा धर्म आडंबरयुक्त क्रियाकांडों में नहीं किन्तु आन्तरिक गुणों के विकास में है। वर्तमान यतियों का आचार विचार निकृष्ट, हीन, गया गुजरा एवं आगमविरुद्ध है। इन मुख्य मुख्य शीर्षकों की व्याख्या जब लोकाशाह विभिन्न नयनिक्षेपों, आगमप्रमाणों, युक्तियों, तर्कों, एवं हेतु-दृष्टान्तों के साथ करते तो जनता अत्यन्त प्रभावित होती थी।

अंधविश्वास की उस अंधेरी दुनिया में लोकाशाह के बुद्धिवाद की गर्जना प्रलयकालीन बिजली की तरह कौंध गयी। जनता चौंकी, स्वार्थांध धर्माधिकारी घबराए। उन्होंने देखा उनके दुर्धर्ष दुर्ग में एक नर-नाहर कहीं से आ घुसा है और उनके गुरुडम के गढ़ की दीवारें उनकी दहाड़ से डगमगा रही हैं। इससे तत्कालीन रूढ़िवादियों में भगदड़ प्रारम्भ हो गयी। पुरातन पंथी कठमुल्लों के खेमे में खलबली मच गयी। उन्होंने अणहलपुर पाटन से प्रभावशाली सेठ श्री लखमसी शाह को लोकाशाह को समझाने-बुझाने भेजा। लखमसी शाह को पहले लोकाशाह के विरुद्ध खूब बरगलाकर एवं तर्कास्त्र से सज्जित कर भेजा। जब लखमसी शाह आये तो लोकाशाह स्वाध्याय में तल्लीन थे।

दोनों के बीच मूर्तिपूजा आदि विषयों पर लम्बी चर्चा हुई। लोकाशाह ने आगम प्रमाणों से अपने विचारों को प्रमाणित किया। उनकी सबल युक्तियां सुन कर लखमसी अत्यन्त प्रभावित हुए। तत्पश्चात् लखमसी शाह लोकाशाह के अनुयायी हो गये[1] और दोनों ने मिल कर शुद्ध जैनधर्म का सफल प्रचार किया।

---

१ लुंकइ वात प्रकासी इसि, तेहनु सीस हुइ लखमसी।
तिणई बोल उथाप्या घणा, ते सघला जिनशासन तणा ॥११॥
लावण्यसमय कृत सिद्धांत चौपाई (सं० १५४३)

(क) तेहवई शिष्य मिलई लखमसी, तेहनी बुद्धि हीं आयी खिसी।
टालई जिन प्रतिमा नई मान दया दया करि टालई दान ॥३॥
(खरतरगच्छीय उपाध्याय कमलसंयम कृत सिद्धांतसारोद्धार चौपाई)

घातप्रत्याघात—लोंकाशाह का प्रचार प्रचंड वेग से जब बढने लगा तो कुछ दुराग्रही व्यक्तियों ने उसका प्रतिवाद किया किन्तु लोंकाशाह ने, आगम प्रमाणों एवं युक्तियों से सबको निरस्त कर दिया। कुछ नमूने उस समय की भाषा में देखिये—

पूर्वपक्ष[1]—जु दयाई धर्म, तु चारित्रीउ नदी काई उतरई ?

लोंकाशाह—जउ नदी उतरई धर्म हुई, तउ बहू बहूनि न उतरई।

श्रीवीतरागे तु नदी उतरवानो सरया बोली। तथा श्री समवायागनई एकवीस में समवाये। तथा दशाश्रुत मध्ये एहवा कह्या जे—जतो मासस्स तउ उदकलेवे दारमाणे सबले। इहां तउ इम कह्यु। जे महीनाना मध्ये त्रिणि लेप लगाडई ते न बल्ड। बरसदीमसाही दस लेप लगाडई ते सबलू। तु हवई जुओ नई नदी उतरई धर्म, तु श्री वीतरागे जिसो अधिको नदी उतरई तेहनई सबलउ का कहई ? तथा जे प्रमक्तंव्य छई ते बहू बहू कीजई। अनई-बल करीनई अनुमोदीई। अनई नदी तु बहु बहु उतरवी नही। जनई उतरिया पछी अनुमोदई पणि नही। ज विराधना हुई हुई ते निदई गहई। तथा साधुनई विहार करतउ केहउ वरिसई तरा केहउ मासउ तथा केहउ रुइ दिवसि पेत्र विशेषउ तथा देश विशेषइ नदी, नावी तथा न उतरिउनुं काई साधु नदी अणऊतरि आनउ पश्चात्ताप तउ न करइ। पणि प्रतिमानउ पूजणहार केहई वई मासि केहई कई दिवसि कारण विशेषइ प्रतिमा पूजी न सकई तु पश्चात्ताप करइ इम चीतवई जे माहरइ पोतइ पाप जे मइ प्रतिमा न पूजाणी। पणि साधु नदी अणउतरइ इम न चीतवइ जे - "माहरइ पोतइ पाप जे नदी न ऊतराणी।" जि को प्रतिमा ऊपरि नदी नु दृष्टांत माडई छइ ते सूत्रविरुद्ध दीसई छई। ते ऐतला अपिछे प्रतिमा ना पूजणहारनइ प्रतिमानी पूजा अनुमोदणनइ वातइ छई। अनई साधू नई नदी नु उत्तार निंदवानइ वातइ छइ। तथा हवइ जेगइ वातइ नदी छइ ते प्रीछवा। नदी अशक्य परिहार छइ। अनई अनाकुटि छइ ते अनाकुटि श्री समवायाग मध्ये एक वीससइ समवाइ छई। विवेकी हुइ ते विचारी जोजे।

टीका और निर्युक्तियों के विषय में लोंकाशाह ने कहा—"तथा केतलाएक इम कहई छइ जे अम्हारइ वृत्ति टीका चूर्णि निर्युक्ति आपइ सहू प्रमाण।" ते डाहू हुइ ते विचारी जोज्यो। ज सिद्धातनई मिलइ ते प्रमाण। अनइ जे सिद्धातविरुद्ध हुई ते किम प्रमाण थाइ। वृत्ति टीकामाहि घणा अधिकार छई ते लिखीइ छइ-जे साधू चारित्रीओ चक्रवर्तिना कटक चूर्ण करइ। उत्तराध्ययननी वृत्ति चूर्णि मध्ये। तथा चारित्रीओ पचक्र माहि काल करइ तु डाभ ना पूतला करवा कह्या छइ ते लिखीइ छइ-दुन्नि अ दिवड्ढ खित्त दब्भमया पूतला य कायव्वा, समखित्तमि अ इक्को, अवड्ढ आभई न कायव्वो ॥२॥ आवश्यक निर्युक्ति परिठावणिया समिति माहि। तथा बृहत्कल्प नी वृत्तिमध्ये पणि पूतला करवा कह्या।

ते वृत्ति चूर्णि किम मनाइ ? डाहू हुइ ते विचारी जोज्ये। एह सत्तावनव बोल ॥५७॥

अन्तिम अट्ठावनवें बोल मे लोंकाशाह कहते है—जे अनता मोक्ष पुहता। वर्तमान कालइ मोक्ष जे मोक्ष पुहचइ छइ। अनइ अनागत कालइ अनता मोक्ष पहुचस्यइ।—सूत्रपाठ—जीवदयाइ करी मोक्ष पुहता। अर्थ स्पष्ट है।

(ख) लखमसी ते तिहा छई कारभारी, सा० लुका नो थयो सहचारी।
अमारि राजिमा उपदेश करी दया धर्म छई सहुथी खरो ॥१२॥
लोंकागच्छीय यति भानुचद्र कृत दयाधर्म चौपाई।

(ग) हिव सोरठई लीवडी ग्राम कामदार वडो लखमशी नाम।
लुका गुरु नो ग्रही उपदेश धर्म पसार्यो देश विदेश ॥१६॥
(लोंकागच्छीय केशव ऋषि कृत लोंकाशाह को सिलोको)

(घ) तस अनुवई हुउओ लखमसीह जिणवर तणी तीण लोपी लीह।
चउप्पदी कीधउ सिद्धात सता ससार अनत ॥३॥
(मुनि बीका कृत असूत्रनिराकरण बत्तीसी)।

१. प० दलसुख भाई मालवणिया द्वारा प्रकाशित 'लुका न सद्दहिआ अट्ठावन बोल विवरण' मे का छठा बोल।





लोंकाशाह ने मूर्तिपूजा के पक्ष मे दी जाने वाली युक्तियों का तो सफलतापूर्वक खडन किया ही था, किन्तु उस समय के यतियो मे व्याप्त भयकर शिथिलाचार एव अनागमिक प्रथाओ पर भी भरपूर प्रहार किया था। ऐसी ही ५८ बातो का वर्णन लुंका ना सद्दहिया ५८ बाल विवरण के अन्त मे किया गया जैसे—दीक्षा लेकर नाम फिराना, वासक्षेप डालना, ग्रघोल करना, ज्योतिषप्रयोग, औषधि बनाकर देना, मुखवस्त्रिका कानो मे गिराने के लिये छेद बढाना, उठावना करना, प्रतिमा की प्रतिष्ठा करना, झूला करना, ओघा फेरना, देवद्रव्य रखना, पर्युषण पर्व का प्रतिक्रमण चौथ का करना, आदि।

प्रचार-प्रसार—अहमदाबाद उस समय व्यापार का एव आवागमन का केन्द्र था। तीर्थयात्री भी वहा होकर जाया करते थे, अत यहा पर मनुष्यों का आवागमन प्राय बना ही रहता था। लोंकाशाह की कीर्ति उस समय दिग्-दिगन्तव्यापिनी हो रही थी। अत जो भी श्रावक अहमदाबाद आते वे लोंकाशाह के प्रवचन सुनने (श्रद्धावश, कुतूहलवश अथवा ईर्ष्यावश भी) अवश्य आते और जो भी एक बार उनका उपदेश सुन लेते वे उनके ही हो जाते।[1] एक बार अरहटवाडा सूरत आदि स्थानो के चार बडे २ सघ शत्रु जय की यात्रा को जाते हुए अहमदाबाद आये और कुतूहलवश लोंकाशाह के पास उपदेश श्रवण को चले गये। लोंकाशाह की अमोघ युक्तियो एव प्रमाणो से प्रभावित होकर उन्होने अपनी यात्रा स्थगित कर दी और लोंकाशाह की धर्मयात्रा मे शामिल हो गये।[2] अब तक लोंकाशाह ने किसी को दीक्षा नही दी थी न स्वय ने ही ली थी। अब लोंकाशाह के उपदेशों से प्रेरित होकर भाणाजी, जगमालजी, सर्वोजी, दयालजी आदि ४५ व्यक्तियो ने लोंकाशाह से प्रार्थना की—हमें दीक्षा लेकर प्रचार करने की अनुमति दीजिये। लोंकाशाह ने कहा—मै तो स्वय गृहस्थ हू, यदि आपको दीक्षा लेनी है तो किसी शुद्धाचारी के पास दीक्षा लो। आखिर ज्ञानजी ऋषि के पास उनकी दीक्षा हुई।[3]

लोंकाशाह की दीक्षा - लोंकाशाह की दीक्षा के विषय मे विद्वानो मे गहरा मतभेद है। अधिकाश विद्वानो का मत है कि उन्होंने स्वय न दीक्षा नही ली, किन्तु तपागच्छीय यति कातिविजयजी, स्वामी मणिलालजी म०, शास्त्रोद्धारक पूज्यश्री अमोलकऋषिजी म० का मत है कि उन्होने दीक्षा ली थी। मरुधरकेसरी श्रीमिश्रीमलजी म० को शाह जी की दीक्षा का उल्लेख कल्याणजी भसाली जैसलमेर वालो के सस्कृतमय पट्ठे मे, जयतारण के गुजराती उपाश्रय के भडार मे प्राप्त पुराने पन्नों से, एव ज्ञानसागरजी यति द्वारा रचित धर्मपरीक्षा नाटक मे मिला है। तदनुसार उन्होने स० १५३८ की मगसर सुदि ५ को दीक्षा ली।

बलिदान—दीक्षा के उपरात उनका प्रचार और अधिक बढ गया। उनके दिन दुगुने रात चौगुने बढते हुए प्रचड प्रताप से प्रतिक्रियावादियो का सिंहासन डोल उठा। उनके मस्तिष्क का सतुलन समाप्त हो गया। उनके हृदय मे ईर्ष्याद्वेष की अग्नि भभक उठी। उन्होने षड्यत्र रचकर तेले के पारने पर उन्हें विषमिश्रित आहार बहरा दिया। विष का आभास होने पर भी उन्होने समता बनाये रखी और समाधिपूर्वक स० १५४६ मे स्वर्गवासी हुए।[4]

अहिंसा के अवतार, सत्य के पुजारी, ज्ञान के देवता, क्राति के युगसृष्टा धर्मप्राण श्री लोंकाशाह धर्म के दीवानो द्वारा अधविश्वास की बलिवेदी पर बलिदान कर दिये गये। प्रत्येक महामानव को—चाहे ईसा हो या सुकरात मीरा हो या गाधी प्रतिक्रियावादी लोग ऐसी ही गति किया करते है। किन्तु इससे उनका उद्देश्य पूरा नही होता।

---

१ दया धर्मी थयो बहु लोग। एहविमिलयो भाणा नो सयोग।

— लो० गच्छीय यति भानुचद्रकृत दयाधर्मचोपाई

२ 'पट्टावलीपराग' मे इस घटना का वर्णन यो है—'तेणे समय मारवाडथी एक सघ सेत्रुजानी जात्राइ जाई तेमा आठ सघ मुखि छे, भाणा भीमा जगमाल सखा प्रमुख ते पाटण आव्या ते लोंकाशाहनो नवीन धर्मप्रवोध सांभलवा आव्या, तेणे प्रबोध दई सिद्धात ओलखाव्यो तेणे पोसाली धर्म, देहरो प्रतिमापूजा मुकी, साध थया।

३ 'धर्मवीर लोंकाशाह' (म० के० श्री मिश्रीमलजी म०) पृष्ठ ५८

४ धर्मवीर लोंकाशाह

लोंकाशाह के बलिदान से उनकी ज्योति बुझी नहीं अपितु अधिकाधिक प्रज्वलित होती गयी। आज भी लाखों आदमी उनके द्वारा प्रचारित सिद्धान्तों को मानते हैं।

लोंकाशाह के समकर्मी — पन्द्रहवीं शताब्दी तक प्रायः संसार के सभी धर्मों में विकार अत्यधिक बढ़ गये थे। ईसाई धर्म में पोप का शिकंजा यूरोपीय जनता पर बुरी तरह कस गया था। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में चर्च का हस्तक्षेप बुरी तरह व्याप्त हो गया था। कुंठाओं और अंधविश्वासों से जनजीवन ग्रस्त हो गया था। पोप व पादरी पैसे लेकर स्वर्ग के टिकिट दिया करते थे। पोप और चर्च के विरुद्ध एक शब्द भी कहने वाले का शिरच्छेद कर दिया जाता था। लोंकाशाह के कुछ ही समय पश्चात् जर्मनी के एक महान् सुधारक मार्टिन लूथर हुए, जिन्होंने इस पोपशाही के विरुद्ध आवाज उठाया। उन्होंने भी मूर्तिपूजा को अस्वीकार कर दिया। एक अंग्रेज लेखिका लिखती है—

About A D. 1452 Lonka sect arose and was followed by Sthanakwasi, sect, dates coincid strictly with the Luther and Puritan movement in Europe (Heart of Jainism)

हिन्दू समाज की हालत भी कम खराब नहीं थी। लोंकाशाह के बाद उसमें भी कई क्रान्तिकारी हुए जिन्होंने मूर्तिपूजा का बहिष्कार कर धर्म में सुधार किया। इनमें कबीर, दादू, सिक्खमत प्रवर्तक नानक, रामचरणजी महाराज, राजा राममोहन राय, स्वामी दयानन्द आदि हुए, दिगम्बर जैन समाज में मूर्तिपूजा को अस्वीकार करने वाले तारण स्वामी हुए।

इसी प्रकार बौद्ध सम्प्रदाय में भी विकृतियाँ घर कर गयी थीं, किन्तु उसमें लोंकाशाह और मार्टिन लूथर जैसे समर्थ क्रान्तिकारी नहीं होने से भारतवर्ष से उसका नामोनिशान ही मिट गया।

इस प्रकार हम देखते हैं कि लोंकाशाह समाज में धर्मक्रान्ति की सर्वप्रथम वीणा बजाने वाले थे, सत्य का शंख सबसे पहले फूंकने वाले थे। शताब्दियों से फैली विकट अन्धकारमयी रजनी में सुषुप्त जनमानस को क्रान्तिज्योति का सर्वप्रथम दर्शन कराने वाले थे।

लोंकाशाह पर आक्षेप—लोंकाशाह के धर्म प्रचार से जिन स्वार्थी व्यक्तियों के स्वार्थ पर आघात हुआ वे उन पर विभिन्न प्रकार के निराधार आक्षेप किया करते हैं।

जहाँ तक उनके लहिया होने की बात है, यह सर्वथा निस्सार है क्योंकि कोई व्यक्ति पैसे लेकर कोई काम करता है तो उसकी दृष्टि में फिर वह आजीविका ही मुख्य रहती है। लोंकाशाह ने जो प्रचार किया उससे तो उनकी उस तथाकथित आजीविका पर ही कुठाराघात होता था। पैसा लेकर काम करने वाला अपनी आमदनी पर आघात का काम कभी नहीं करेगा। हाँ, वे श्रुतसेवा की दृष्टि से अवश्य लिखते होंगे जिससे द्वेषवश पहले लहिये जैसा और बाद लहिया ही लिखा जाने लगा होगा। जहाँ तक उन पर अज्ञानता का आरोप है वह सरासर ही मिथ्या है। शताब्दियों से धर्म अन्धविश्वासों में मन्त्रशक्ति, तन्त्रशक्ति, औषधशक्ति, धनबल, जनबल, राज्यबल, एवं ज्ञानबल आदि सुसम्पन्न सूरि-सम्राटों से उन्हीं के घर में घुस कर टक्कर लेना और विजयदुंदुभि बजाना क्या किसी साधारण या अल्पज्ञानी से संभव है। कदापि नहीं। "लुंकाशाह लहिया [illegible]' प्रकाशित होने के बाद इस विषय में मूर्तिपूजक विद्वानों का भी भ्रम विध्वस्त हो गया है। उन्हें भी स्वीकार करना ही पड़ा कि—

'ऐवा उल्लेखो मळे छे के लोंकाशाह लहिया हता, पण आ हस्तप्रत एक बाबत स्पष्ट करी आपे छे के तेओ श्रमण लहिया हता नहि, अनेकों शास्त्रानु अवगाहन तेमणे कर्युं हतु। अहीं आपेला मूळपाठो प्राय शुद्ध छे अने प्राकृत जाणकारे ते उतारेला होय एम स्पष्ट जणाय छे, एटले लहिया-मात्र नकल करनार-ऐवा अर्थथी नहिं विशेष अर्थमा लोंकाशाह लहिया हशे' आ उद्गार स्वर लोंकाशाहना स्वभाव विषे, तेमना ज्ञान विषे पण ए बाबतमा अत्यार ऐतिहासिक दृष्टिए लगभग अप्राप्य वर्तन छे — आ कृतिमाथी घणु जाणवानु मळे छे। अनेक मूल आगमो निर्युक्ति चूर्णि अने वृत्तिमाथी साक्षीपाठो आप्या छे ते तेमनु गाम्भीर्य अवगाहन बतावे छ।"



लोकाशाह ने अपने मत के समर्थन मे जिन युक्तियो आगमप्रमाणो एव टीकाओ आदि के साक्षी पाठो को उपस्थित किया है उनमे उनके पाण्डित्य, अद्भुत तर्कशक्ति एव प्राकृतादि भाषाओ पर उनके अधिकार एव उनके गभीर शास्त्रज्ञान का पता चलता है।

रही मुसलमानो के प्रभाव की बात सो कुछ व्यक्तियो को जहा मूर्तिपूजा का विरोध दीखता है वही उनको मुसलमान नजर आने लगते है। परतु यह उनका दृष्टिदोष और मतिविभ्रम ही है।

लोकाशाह के पास मूर्तिपूजा के विरोध मे गहन चिन्तन, सबल आधार और प्रबल युक्तिया थी जिनका उत्तर विरोधियो से न बन पडा। इनके सद्भाव मे यह आरोप, आरोपकर्त्ताओ के ओछेपन का प्रतीक बनकर रह गया है।

हमारा कर्त्तव्य—लोकाशाह ने जिस अद्वितीय अनुपम क्राति का सर्जन किया, हमारा कर्त्तव्य है कि हम उस क्राति की मशाल को जलाये रखे। उन्होने जिन रूढियो का, बुराइयों का विरोध किया यदि वे हम मे हो तो हम उनको दूर करे। श्रीमालवणिया जी उनके विषय मे एक महत्वपूर्ण कृति को प्रकाश मे लाये इसके लिये उन्हे धन्यवाद है। अन्य विद्वानो को भी लोकाशाह के जीवन एव साहित्य के विषय मे अधिक शोध-खोज करनी चाहिये ताकि हम अधिक प्रकाश को प्राप्त कर सकें।

०



द्वितीय खण्ड



- धर्म
- दर्शन
- अध्यात्म

धर्मतत्त्व का विश्लेषण

पं० चैनसुखदास जैन न्यायतीर्थ,

आचार्य, दि० जैन संस्कृत कॉलेज, जयपुर



भारतीय वाङ्मय में धर्म शब्द के व्यवहार ने काफी स्थान रोक रखा है। वह कहां नहीं है? आध्यात्मिक और दार्शनिक साहित्य में तो वह ओतप्रोत है ही, किन्तु आश्चर्य की बात तो यह है कि ज्योतिष एवं आयुर्वेद आदि विद्याओं के विभागों में भी किसी न किसी रूप में वह उलझा पड़ा है। ज्योतिष शास्त्रों में प्रतिकूल ग्रहों के बुरे असर को निष्फल करने के लिये विभिन्न धार्मिक क्रियाकाण्डों का वर्णन है। इसी तरह आयुर्वेद में भी रोगों को दूर करने के लिए अनेक धार्मिक विधि-विधानों का आश्रय लिया गया है। राजनीति भी अनेक बार धर्म के आधार के बिना नहीं चलती। क्योंकि उसमें भी युद्ध में विजय पाने के हेतु मंत्रादि की साधनाओं के विधानों की कमी नहीं है। इस तरह धर्म का प्रभाव अथवा आतंक हमें हर जगह देखने को मिलता है।

धर्म शब्द का अर्थ और प्रयोग

अमरकोषकार धर्म शब्द के कई अर्थ करते हैं। उन्होंने इसका लिंगभेद भी स्वीकार किया है। पुण्यवाचक धर्म शब्द को वे पुल्लिंग और नपुंसकलिंग मानते हैं।[1] उन्होंने धर्म का अर्थ पुण्य, यमराज, न्याय, स्वभाव, आचार और सोमरस का पीनेवाला माना है।[2] विश्वलोचन कोष के कर्ता आचार्य श्रीधर[3] पुण्य, न्याय, स्वभाव, उपमा, यमराज आचार, वेदान्त, यज्ञ, योग, धनुष, अहिंसा और सोमरस का पीने वाला धर्म शब्द का अर्थ करते हैं। इनमें पुण्यवाची शब्द पुल्लिंग और नपुंसकलिंग एवं अवशिष्ट पुल्लिंग है। यजुर्वेद में भी धर्म शब्द का प्रयोग नपुंसकलिंग में हुआ है। इस प्रकार धर्म शब्द के अनेक अर्थ होते हुए भी हमें यहां उस धर्म शब्द से प्रयोजन है, जिसका अर्थ है स्वभाव तथा मनुष्य का आचरण। ऋग्वेद और यजुर्वेद में उस शब्द का कई स्थानों पर प्रयोग मिलता है। ईशावास्योपनिषद्,[4] केनोपनिषद्,[5]

---

१ स्याद् धर्ममस्त्रियां पुण्यश्रेयसी सुकृतं वृषः। -अमरकोष प्र० काण्ड, २४

२ धर्माः पुण्ययमन्यायस्वभावाचारसोमपाः। —अमरकोष तृतीय काण्ड, श्लोक १३९

३ धर्मः स्यादस्त्रियां पुण्ये धर्मो न्यायस्वभावयोः।
उपमायां यमाचारे वेदान्तेऽपि धनुष्यपि ॥ १ ॥
यागे योगेऽप्यहिंसायां सोमपेऽपि प्रचक्ष्मते। —विश्वलोचनकोष मान्त द्वितीय

४ हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।
तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये ॥ १५ ॥—ईशावास्योपनिषद्

५ ओं आप्यायन्तु ममाङ्गानि वाक् प्राणश्चक्षुः श्रोत्रमथो बलमिन्द्रियाणि च सर्वाणि। सर्वं ब्रह्मोपनिषदं माहं ब्रह्म निराकुर्यां मा मा ब्रह्म निराकरोत्, अनिराकरणमस्त्वनिराकरणं मेऽस्तु। तदात्मनि निरते य उपनिषत्सु धर्मास्ते मयि सन्तु, ते मयि सन्तु। —केनोपनिषद् शान्तिपाठ



कठोपनिषद्[1] और श्वेताश्वतरोपनिषद्[2] आदि महत्त्वपूर्ण ग्रन्थो मे इसका अनेक स्थानो पर उल्लेख मिलेगा। इन ग्रन्थो मे भक्ति के अर्थ मे भी धर्म शब्द आया है। मीमासा आदि सभी दर्शनसूत्रो मे इसका बहुतायत से प्रयोग हुआ है। धर्मसूत्रो और स्मृतिग्रथो का तो प्रधानतया विषय यही है। रामायण, महाभारत और गीता तो इससे अत्यन्त प्रभावित है ही। जैन और बौद्ध साहित्य भी इस शब्द के व्यवहार से भरा पडा है। कहना यह है कि समूचा भारतीय वाङ्मय धर्म तत्व के प्रतिपादन, इसकी विभिन्न व्याख्याओ और विविध परिभाषाओ मे भरा पडा है।

धर्म की आवश्यकता कब और क्यो हुई ?

कोई समय था जब मनुष्य मे जिज्ञासा का उदय नही था। पशुओ की तरह उसका जीवन भी सघर्षविहीन था। उसकी इच्छायें अत्यत सीमित थी और प्रकृति ही उन्हें स्वत पूरी कर देती थी। लाखो वर्षो तक उसकी यही स्थिति रही, किन्तु युगपरिवर्तन हुआ और मनुष्य की इस स्थिति ने पलटा खाया। पहले वह वर्त्तमान ही में तन्मय था। न उसे भविष्य की चिन्ता थी और न भूत का विचार। अब वह आने वाले कल के विषय मे भी सोचने लगा। उसकी जिज्ञासायें बढने लगी, प्रकृति भी पहले की तरह उसके अनुकूल न रही, इसीलिये भविष्य की चिन्ता ने उसमे सग्रह की भावना भी उत्पन्न कर दी और उसके जीवन मे सघर्ष का जन्म हुआ। जीवन मे अनेक अभाव उसे खटकने लगे और इन अभावो की पूर्ति को ही वह मानव-जीवन का उद्देश्य मानने लगा। उसके सामने जीवन की सुविधाओ का प्रश्न तो था ही, जिसे भारतीय मनीषियो ने 'काम' कहा है, किन्तु उससे भी अधिक महत्वपूर्ण प्रश्न अर्थ, अर्थात् धन का था। बहुत दिनो तक अकेला काम ही पुरुष का प्रयोजन बना रहा। अब अर्थ भी उसके साथ हो गया और इसी तरह काफी अर्से तक इन दो पुरुषार्थो के बीच यह मनुष्य जूझता रहा। तब तक धर्म की उत्पत्ति नही हुई थी, पर अब उसे धर्म की आवश्यकता का भी अनुभव होने लगा। अभावो की पूर्ति के लिये जो सघर्ष हुआ उसके लिये हिंसा, झूठ आदि का आश्रय लेना पडा। किन्तु ये चीजें सभी के लिये प्रतिकूल थी, इसलिए इनका निषेध करना जरूरी माना गया और यही मनुष्य का धर्मतत्व कहलाया।

धर्म की विविध परिभाषायें और व्याख्यायें

धर्म की उत्पत्ति के बाद विभिन्न विद्वानो ने उसकी विभिन्न व्याख्याये की। पूर्वमीमासादर्शन के निर्माता महर्षि जैमिनि ने अपने द्वादशाध्यायात्मक मीमासादर्शन मे धर्म-जिज्ञासा को सबसे अधिक महत्त्व दिया और अपने दर्शनसूत्र को 'अथातो धर्मजिज्ञासा' इस सूत्र से प्रारम्भ किया। वे धर्म का लक्षण करते हुये इससे अगले सूत्र मे कहते है कि "चोदनालक्षणार्थो धर्म"। इस लक्षण से ज्ञात होता है कि वे धर्म के विषय मे एक मात्र वेद को ही प्रमाण मानते है। "वेद्वाद् धर्मो हि निर्बभौ" इत्यादि वाक्य भी इसी बात का अनुमोदन करते है। मनुस्मृति भी "वेदोऽखिलो धर्ममूलम्" कहकर इसका समर्थन करती है। यद्यपि वह वेद जानने वालो की स्मृति, शील और आचार को भी धर्म कहती है। धर्म का यह लक्षण बिलकुल स्पष्ट है। किन्तु वैशेषिकसूत्रकार महर्षि कणाद अपने वैशेषिक सूत्रग्रन्थ मे धर्म का लक्षण इससे अधिक स्पष्ट करते हुए कहते है कि "यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धि स धर्म" अर्थात् जिससे लोकाभ्युदय और मुक्ति की प्राप्ति हो वह धर्म है। जैमिनि की तरह यह भी धर्म को कम महत्व नही देते और अपने वैशेषिक-दर्शन की रचना केवल धर्म की व्याख्या करने के उद्देश्य से ही करते है। तभी तो इस दर्शन का पहला सूत्र 'अथातो धर्मं व्याख्यास्याम' के रूप मे प्रकट होता है। इन दोनो ही दर्शनो मे धर्म की जिज्ञासा अथवा व्याख्या को असाधारण महत्व दिया गया है। आचार्य कणाद ने धर्म की व्याख्या अधिक व्यापक और मनोग्राह्य की है। साथ ही आत्मा के

---

१ अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मादन्यत्रास्मात्कृताकृतात्।
अन्यत्र भूताच्च भव्याच्च यत्तत्पश्यसि तद्वद ।। १४ ।।—कठोपनिषद्

२ स वृक्षकालाकृतिभि परोऽन्यो यस्मात्प्रपञ्च परिवर्ततेऽयम्।
धर्मावह पापनुद भगेश ज्ञात्वात्मस्थममृत विश्वधाम ।। ६ ।।
—श्वेताश्वतरोपनिषद षष्ठ अध्याय

चरम पुरुषार्थ मोक्ष की ओर भी उनका लक्ष्य है। इसके विपरीत जैमिनि मोक्ष का अस्तित्व ही स्वीकार नहीं करते, यद्यपि वे परलोक को अवश्य मानते हैं फिर भी मीमांसाकार का चरम पुरुषार्थ मुक्ति नहीं अपितु स्वर्ग है और वह केवल यज्ञ से प्राप्त होता है। इस दर्शन में यज्ञ धर्म का पर्यायवाची बन गया है। जितना महत्व धर्म को इन दोनों दर्शनों ने दिया है उतना महत्व वेदान्तदर्शन के प्रणेता महर्षि व्यास नहीं देना चाहते। यह बात नहीं है कि इन्होंने अपने वेदान्तसूत्र में धर्म शब्द का प्रयोग न किया हो, किन्तु वे धर्म की अपेक्षा ब्रह्म को अधिक महत्व देते हैं और उनके दर्शन का प्रयोजन धर्मव्याख्या नहीं अपितु ब्रह्मजिज्ञासा है। वह दर्शन धर्म और वेदान्त में भेद नहीं मानता और यही कारण है कि वेदान्त शब्दकोषों में धर्म शब्द का पर्यायवाची मान लिया गया है।

सांख्यदर्शनकार मुनि कपिल धर्म की अपेक्षा ज्ञान को अधिक महत्व देते हैं। यद्यपि वे धर्म को ऊर्ध्वगति का कारण मानते हैं[1], किन्तु इस दर्शन में जो महत्ता ज्ञान को दी गई है वह धर्म को नहीं। अपवर्ग अर्थात् मुक्ति धर्म से नहीं अपितु ज्ञान से मिलती है। बुद्धि के सात्त्विक रूप चार हैं — धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्य। इनमें धर्म का लक्षण दया, दान, यम और नियम माना गया है। किन्तु ये सामाजिक सुखों के कारण हैं, मुक्ति के नहीं। इस दर्शन ने यज्ञादि धर्मों को अविशुद्धि, क्षय और अतिशय युक्त मानकर उनकी हेयता बतलाई है। गीता भी यही कहती है —

ते त भुक्त्वा स्वर्गलोक विशाल,
क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोक विशन्ति।
एव त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना,
गतागत कामकामा लभन्ते॥

अर्थात् वे उस विशाल स्वर्ग का भोग कर पुण्य क्षीण होने पर मनुष्य-लोक को प्राप्त होते हैं। इस प्रकार स्वर्ग के साधन रूप तीनों वेदों में कहे हुए सकाम कर्म के आश्रित हुए और भोगों की कामना वाले पुरुष बारम्बार आना-जाना करते रहते हैं अर्थात् पुण्य के प्रभाव से स्वर्ग में जाते हैं और पुण्य क्षीण होने पर पुनः मर्त्य लोक में आ जाते हैं।

न्यायदर्शन में यद्यपि धर्म शब्द की व्याख्या नहीं मिलती, फिर भी धर्म शब्द का प्रयोग यहाँ मिलता है। इस दर्शन का उद्देश्य लोगों को केवल आन्वीक्षिकी (तर्क) विद्या के तत्त्व को समझाना था, धर्म की व्याख्या करना नहीं। इसलिए इस ओर इसने ध्यान नहीं दिया। न्यायसूत्रों में जो स्थान-स्थान पर धर्म शब्द का प्रयोग हुआ है वह दूसरे अर्थों से सम्बन्धित है।

पातञ्जल योगदर्शन में कई स्थानों पर धर्म शब्द का प्रयोग हुआ है, किन्तु इस दर्शन का लक्ष्य धर्म तत्त्व की व्याख्या करना नहीं अपितु योगतत्त्व को समझाना है। यहाँ मुख्यता योग की है, धर्म की नहीं। यहाँ योग को इतना महत्त्व दिया गया है कि कोषकारों ने योग को भी धर्म शब्द का एक पर्यायवाची मान लिया।

जैनदर्शन के तत्त्वार्थसूत्र नामक प्रधान ग्रन्थ में कहीं भी धर्म तत्त्व का लक्षण नहीं मिलता। वहाँ धर्म द्रव्य और अधर्म द्रव्य का उल्लेख अवश्य मिलता है, किन्तु उनका मतलब है जीव और पुद्गलों की क्रमशः गति और स्थिति का माध्यम। इस धर्मतत्त्व से इन दोनों द्रव्यों का कोई सम्बन्ध नहीं है। इस सूत्रग्रन्थ का प्रधान उद्देश्य मोक्षमार्ग का विवेचन करना है, धर्मतत्त्व की व्याख्या करना नहीं। फिर भी इस ग्रन्थ में उत्तम क्षमादि धर्म के दस भेदों को अवश्य गिनाया गया है। पर जैनों के दूसरे आगम-ग्रन्थों में धर्म की विस्तृत और विशद व्याख्या मिलती है। जैनों के प्रख्यात तार्किक विद्वान् आचार्य समन्तभद्र अपने रत्नकरण्डश्रावकाचार नामक ग्रन्थ में सबसे पहले धर्म शब्द की निरुक्ति करते हैं "संसारदुःखतः सत्त्वान् यो धरत्युत्तमे सुखे" अर्थात् जो जीवों को संसार के दुःखों से हटाकर उत्तम सुख में धारण करता



१ धर्मेण गमनमूर्ध्वं गमनमधस्ताद् भवत्यधर्मेण।
ज्ञानेन चापवर्गो विपर्ययादिष्यते बन्धः।—सांख्यकारिका, ४४



है, वह धर्म है। इसके बाद वे कहते है कि—"सद्दृष्टिज्ञानवृत्तानि धर्मं धर्मेश्वरा विदु" और तीर्थंकारों ने सच्ची श्रद्धा, सच्चे ज्ञान और सच्चे चरित्र को ही धर्म कहा है। इनमे भी पहले जैनो के महान् आचार्य कुन्दकुन्द वस्तु (आत्मा) के स्वभाव को ही धर्म कहते हैं। 'धम्मो वत्थुसहावो'। अर्थात् आत्मादि पदार्थों का स्वभाव ही धर्म है। जैनों के प्राचीन सूत्रों मे धर्म के विषय मे लिखा है कि —

धम्मो मंगलमुक्किट्ठं अहिंसा संजमो तवो।
देवा वि तं नमंसंति जस्स धम्मे सया मणो॥

अर्थात् धर्म ही उत्कृष्ट मंगल है। जिसका मन उस धर्म मे लगा रहता है, देव भी सदा उसे प्रणाम करते हैं।

बौद्धधर्म के 'धम्मपद' नामक ग्रन्थ मे धर्म के नाना रूपों का वर्णन किया गया है। इसमे सबसे अधिक मनुष्य के आचरण पर जोर दिया गया है। इसमे यमक वर्ग आदि २६ वर्गों मे धर्मतत्त्व का विस्तृत विवेचन है। बौद्ध साहित्य मे धर्म की कोई खास परिभाषा या लक्षण दृष्टिगोचर नहीं हुआ अपितु वहा उसके विभिन्न रूपों का विस्तृत वर्णन है। इस ग्रन्थ मे कहा गया है कि —

नहि वेरेन वेरानि सम्मन्ती ध कदाचन।
अवेरेन च सम्मन्ति एसो धम्मो सनातनो॥

अर्थात् वैर से वैर कभी नष्ट नहीं होता, किन्तु अवैर से वैर का नाश होता है। यही सनातन धर्म है।

धर्मों की विभिन्नता

दुनिया मे इस समय करीब आठ सौ धर्म हैं। जिनमे ग्यारह धर्म ऐतिहासिकता, साहित्य और सख्या आदि अनेक दृष्टियो से उल्लेखनीय है। चाहे कुछ भी हो, धर्मों की उस विभिन्नता मे भी मनुष्य मे विवेक और सहृदयता हो तो समन्वय और एकता को हृदयगम कर सर्वधर्मसमभाव के तत्त्व को समझा जा सकता है। तो भी इसमे कोई शक नहीं है कि धर्मो की विभिन्नताओ ने धर्म के विषय मे मानव के मन मे व्यामोह पैदा कर दिया है और धर्मतत्त्व विवादो का कारण बन गया है। किसी धर्मतत्त्व के गवेषी विद्वान् ने ठीक ही कहा है—

श्रुतिर्विभिन्ना स्मृतिर्विभिन्ना,
नैको मुनिर्यस्य वच प्रमाणम्।
धर्मस्य तत्त्व निहित गुहायाम्,
महाजनो येन गत स पन्था।

धर्मतत्त्व के प्रतिपादन के विषय मे श्रुति अर्थात् वेद एकमत नहीं है। वह विभिन्नताओ से भरी पडी हैं। और यही बात स्मृतियों के विषय मे भी है। कोई एक मुनि नहीं है जिसका वचन प्रमाण माना जाय। इसलिये यही कहना ठीक है कि धर्मतत्त्व गुहा म छिपा हुआ है। इस विषय मे वही रास्ता पकडना चाहिए जिससे महाजन (महापुरुष) गया हो।

कठोपनिषद्[1] की द्वितीय वल्ली के बारहवें पद और मुण्डकोपनिषद[2] के प्रथम खण्ड के आठवें सूक्त एव

---

१ त दुर्दर्शं गूढमनुप्रविष्ट गुहाहित गह्वरेष्ठ पुराणम।
अध्यात्मयोगाधिगमेन देव मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति॥ १२॥

—कठोपनिषद्, द्वितीय वल्ली

२ सप्त प्राणा प्रभवन्ति तस्मात् सप्तार्चिष समिध सप्त होमा।
सप्त इमे लोका येषु चरन्ति प्राणा गुहाशया निहिता सप्त सप्त॥ ८॥

—मुण्डकोपनिषद्, प्रथमखण्ड

श्वेताश्वतरोपनिषद्[3] के अध्ययन से यह भी पता चलता है कि ऊपर के पद्य में गुहा का अर्थ हृदय है। धर्म का सम्बन्ध भी हृदय से ही है और बड़े लोगों ने धर्म को प्राप्त करने के लिए अपने हृदय को ही टटोला है तथा उसी के द्वारा उसे प्राप्त करने की चेष्टा करके वे सफल हुए हैं। दया, सहानुभूति, परदुःखकातरता आदि धर्म के लक्षण भी हृदय से ही सम्बन्ध रखते हैं। इससे हम कह सकते हैं कि चाहे श्रुति, स्मृति और विभिन्न मुनियों के वचनों में कितना ही विरोध क्यों न हो, उसका समझना और पाना उतना निगूढ़ नहीं है जितना साधारणतया माना जाता है।

धर्म जीवन के लिए अनिवार्य

धर्म के विषय में चाहे कितने ही मतभेद क्यों न हों, फिर भी वह जीवन के लिये अनिवार्य है। धर्म के बिना मानवजीवन की कोई कीमत नहीं है। किन्तु अवश्य ही इस धर्म का अर्थ है नैतिकता और सदाचार। प्राणरहित शरीर की तरह उस जीवन का कोई मूल्य नहीं है जिसमें धर्म अथवा नैतिकता नहीं रहती। अगर जीवन में धर्म का प्रकाश न हो तो वह अन्धा है और वह अपने लिये भी भारस्वरूप है एवं दूसरे के लिये भी। मनुष्य में से पशुता के निष्कासन का श्रेय धर्म को ही है। धर्म ही मनुष्य में सामाजिकता लाता है किन्तु थोथे क्रियाकाण्ड के नाम से जिस धर्म को बहुत से लोग पकड़े बैठे हैं उसे धर्म मानना एक आत्मवंचना है और वह मनुष्य को कभी वास्तविकता की ओर नहीं ले जा सकता।

धर्म मनुष्य की दैवी वृत्ति है। यह वृत्ति ही उसमें दया, दान, संतोष, करुणा, अनुकम्पा क्षमा, अहिंसा आदि अनेक गुणों को उत्पन्न करती है। जितने-जितने अंशों में जहां-जहां धर्म की प्रतिष्ठा है वहां-वहां शान्ति, सुख और वैभव का विलास देखने को मिलेगा।

धर्म की प्रशंसा में एक प्राचीन जैन महर्षि आचार्य गुणभद्र कहते हैं —

> धर्मो वसेन्मनसि यावदलं स तावद्,-
> हन्ता न हन्तुरपि पश्य गतेऽथ तस्मिन्।
> दृष्टा परस्परहतिर्जनकात्मजानाम्,-
> रक्षा ततोऽस्य जगतः खलु धर्म एव।

अर्थात् जब तक मनुष्य के मन में धर्म रहता है तब तक वह मारने वाले को भी नहीं मारता। किन्तु देखा, जब उसके मन में से धर्म निकल कर चला जाता है तब औरों की कौन कहे, पिता पुत्र को मार डालता है और पुत्र पिता को, अतः यह निश्चित है कि जगत् की रक्षा का कारण धर्म ही है। इससे यह कहा जा सकता है कि सफल और सुव्यवस्थित जीवन बिताने के लिये धर्म अनिवार्य है।

धर्म और एकान्त बाह्याचार

यद्यपि धर्म जीवन के लिये अनिवार्य है, किन्तु उसका स्वरूप एकान्त बाह्याचार कभी नहीं है। 'आचार प्रथमो धर्मः' अर्थात् आचार ही सर्वप्रथम धर्म है। शास्त्र के इस वाक्य को लोगों ने इस तरह पकड़ा कि यथार्थ आचार उनकी पकड़ में न आया। आचार तो मनुष्य को उठाने का प्रयत्न है। यह प्रयत्न मनुष्य में न हो तो उसके जीवित रहने पर भी उसकी मानवता मर जाती है। मनुष्य वह नहीं है जो हमें दीख रहा है, वह तो केवल उसका बाह्य रूप है। मनुष्यत्व को ढूंढ़ना हो तो हमें उसके सत् प्रयत्नों में ढूंढ़ना होगा। पर उसके वे प्रयत्न केवल बाह्य न होंगे, क्योंकि उनमें धोखा होना सम्भव है। आचार में मनुष्य के उन क्षेमकर प्रयत्नों की गणना है जो अन्तर्मुख हों। जगत् में अधिकांश मनुष्य मानवता से बहिर्भूत हैं, चाहे वे कितने ही बड़े आचारी साधु, नेता अथवा शास्त्रप्रणेता क्यों



३, अणोरणीयान्महतो महीयानात्मा गुहायां निहितोऽस्य जन्तोः
तमक्रतुं पश्यति वीतशोको धातुः प्रसादान्महिमानमीशम् ॥ २० ॥
— श्वेताश्वतरोपनिषद् तृतीय अध्याय



न हों। यदि बहुत समीप जाकर उनका अध्ययन करें तो हमें निराशा के अतिरिक्त और कुछ नहीं मिलेगा। यह मनुष्य का बुद्धिभ्रम है कि वह एकान्त बाह्याचार को धर्म मानता है। पर अब यह इसका फैला हुआ अर्थ बन गया है और बहुत से मनुष्य इससे चिपटे पड़े हैं। एकान्त बाह्याचार मे न वास्तविक श्रद्धा रहती है और न सच्चा ज्ञान। जो श्रद्धा और ज्ञान इस सदाचार मे है उसे अंधविश्वास और अज्ञान कहते हैं। यह इतना निष्फल और असह्य हो जाता है कि इसे न मनुष्य का हृदय छूता है और न मस्तिष्क। तब फिर वह उसे क्यों करता है? इसका उत्तर है कि वह परम्परा का पुजारी है, गतानुगतिक है, रूढियों के विरोध मे उठकर वह क्यों नई आफत मोल ले? मल-घट की तरह वह पापों से भरा पूरा रहने पर भी अपने बाह्याचार के बल पर दूसरों से अपने को ऊंचा समझता है, उनसे घृणा करता है और इस तरह अभिमान के सिर पर बैठकर वह अपने को एक भिन्न वर्गीय समझने की धृष्टता करता है।

आचारतत्त्व मे खाने-पीने, नहाने-धोने, उठने-बैठने आदि क्रियाओं का समावेश करना हो तो पहले इनका एकान्त आग्रह छोड़ना होगा। निराग्रहपूर्वक कायिक शुद्धि के लिये जहा तक इनकी आवश्यकता का सबध है इन्हें स्वीकार किया जा सकता है। पर इन्हें आचार जैसा महामहिमाशाली नाम देना तो मुर्दे को जीवित कहने के बराबर है। इन बाह्य क्रियाओं से आचार मे भी कभी सजीवता नहीं आती। इसीलिये महावीर और बुद्ध ने स्थान-स्थान पर इनकी नि सारता बतलाई है और कहा है कि हृदय को शुद्ध रखो, अहंकार को छोड़ो, समभाव धारण करो, सहानुभूति, क्षमा, शान्ति, शम, दम, आदि को जीवन मे उतारो। यही आचारतत्त्व के मूलावयव हैं।

सदाचार और धर्म मे कोई भेद नहीं है। सदाचार से जीवन भौतिकता से हटकर आध्यात्मिकता की ओर अग्रसर होता है। सदाचार स्वय ही आध्यात्मिकता है। इससे जीवन मे स्फूर्ति और चैतन्य आता है। सदाचारी मनुष्य पर जगत् के घात-प्रतिघात का कोई असर नहीं होता। वह प्रलय की बात सुनकर भी क्षुब्ध न होगा। कोई भी सम्प्रदाय तभी विजयी हो सकता है जब उसमे आचारवान् मनुष्यों का बाहुल्य हो। भूतकाल मे जो महात्मा हो गये हैं वे भी आचार-व्यवस्था के बल पर ही मानव को ठीक रास्ते पर लाने मे सफल हो सके थे। हमें इसका ताजा उदाहरण देखना हो तो महात्मा गाधी के जीवन मे देख सकते हैं।

आचार की तेजस्विता बातें बनाने से नहीं, उन्हें जीवन मे उतारने से आती है और वह तेजस्विता जब उत्पन्न हो जाती है तब तो ऐसे महात्माओं के पैरों मे गिरकर सम्राट् भी अपने को धन्य मानता है, किन्तु तेजस्विता बाह्याचारियों के जीवन मे कदापि नहीं आती। आचार अथवा आचरण के नाम से हमारे देश मे आज जो कुछ प्रचलित है उसने राष्ट्र की प्रगति मे बहुत कुछ बाधा पहुचाई है। इसने राष्ट्र के प्राण निकाल कर हमें निर्जीव बना दिया है। इस बाह्याचार के एकान्त आग्रह ने ही हमारे देश मे करोड़ों अछूत पैदा किये और इसी की राक्षसी संस्कृति और कृपा से करोड़ो भारतवासियों को ऐसे धर्मों मे परिवर्तित होने को बाध्य होना पड़ा जो उनकी संस्कृति और सभ्यता के बिल्कुल प्रतिकूल थे। और दु ख तो यह है कि आज भी यह स्थिति बदली नहीं है। इस बाह्याचार ने सचमुच हमारे जीवन को कलाहीन बना दिया है।

जीवनकला और धर्म

कला शब्द से हम बहुत परिचित है। नृत्यकला, गानकला, वाद्यकला आदि शब्दों का प्रयोग हम बहुत बार करते है। पुरुष की बहत्तर और स्त्री की चौसठ कलाओं के बारे मे भी हमने सुना है किन्तु जीवनकला, मृत्युकला आदि शब्दों से हम परिचित नहीं हैं। यथार्थ यह है कि कोई सब कलाओं को जानकर भी यदि जीवन-कला को न जाने अर्थात् अपने जीवन को कलामय न बनावे तो उसका कला-ज्ञान व्यर्थ है। वह उसके लिए भार स्वरूप है, किन्तु किसी का जीवन कलामय तभी कहला सकता है जब उसके जीवन मे धर्म उतरे।

हम कैसे जीवें? जीवन की उचित विधि क्या है? किस क्रम से जीने से हमारे जीवन मे उपयोगिता है? आदि अनेक प्रश्न, यदि हममे विवेक हो तो, हमारे मन मे जरूर उठेंगे। कोई प्रश्न बिना उत्तर का नहीं होता, इसलिये

इन प्रश्नों का भी महत्त्व है। इनके उत्तर में ही जीवनकला की परिभाषा है।

धर्म हमें बतलाता है कि इस तरह जीने की आदत डालनी चाहिये जिससे हमारे अन्तःकरण में अशान्ति, क्षोभ, असन्तोष जैसी कोई चीज पैदा न हो। क्योंकि यह सब जीवन-रस को नष्ट करने वाली है। जीवन-रस वह वस्तु है जो आत्मा की खुराक बनकर उसको पोषण देता है। जगत् में ऐसा क्यों होता है कि मनुष्य जीवन के सारे बाह्य साधनों को पाकर भी अपने आपको दुःखी कहता सुना जाता है? इसका कारण ढूंढना होगा। महाशासक को भी शान्ति नहीं है। कुबेरोपम विभूति का स्वामी भी सुख के लिये तड़प रहा है। सब कुछ होते हुये भी उनके पास क्या नहीं है जिससे उन्हें बेचैनी हो रही है? इस सारे विमर्श का एक यही उत्तर है कि रंकों की तरह उन्हें भी अभाव सता रहे हैं। उनके पक्ष में इतना अधिक और है कि उनके अभाव मोटे, विशाल, बृहत्तम हैं, इससे उनके दुःख का परिमाण भी बढ़ जाता है। हम दूर से महाशालियों को सुखी देखने का विभ्रम करते-रहते हैं, सम्राट, धनकुबेर एवं वैभवशाली को बहुत नजदीक से नहीं देखते। यदि देखें तो निःसन्देह हमारा यह भ्रम दूर हो जायेगा कि उनका, अभावों का अभाव है और वे सारे दुःखों पर विजय पाये हुए हैं। सच तो यह है कि वे केवल देखने भर के सुखी हैं। वरना तो उनमें और साधारणजन में कोई अन्तर नहीं है। ऐसे कई वैभव के भार से लदे हुये लोग हमें मिल सकते हैं जो अपने अन्तर में अनेक दुःखों को लिये बैठे हैं जिनसे उनके सारे सुख के साधन व्यर्थ हो जाते हैं। जो अपनी व्यापक सन्तोषवृत्ति द्वारा सारे अभावों को निःशेष करने की कला को नहीं जानता वह सुखी कैसे हो सकता है? वह तो पृथ्वी का चक्रवर्ती स्वर्ग इन्द्र या और कोई भी हो, अशान्त, असन्तुष्ट, क्षुब्ध एवं दुःखी ही रहेगा। इससे हमें इस परिणाम पर पहुँचना चाहिये कि कोई भी अपने को जीवन-कला से ही सुखी बना सकता है, बाह्य साधनों से नहीं, और इसका अर्थ है जीवन में धर्म का उतारना।

यह एक आश्चर्यजनक तथ्य है कि अधिकांश मनुष्य जीवन-विधि से अपरिचित हैं। उनके मन में यह प्रश्न ही नहीं उठता कि वे कैसे जीयें? जो कुछ प्रवाहित हो रहा है उससे भिन्न जीवन की उपयोगिता उनके सामने नहीं आती। पदार्थोपभोग ही ऐसे लोगों के जीवन का उद्देश्य है। उनकी इच्छा का किसी के साथ संघर्ष न हो और यदि हो तो वे उसे परास्त कर आगे बढ़ जायें, इतना भर वे चाहते हैं। पर यह क्या सम्भव है? उनकी यह चाह ही उनके जीवन में संकट लाती है, जिसका अर्थ है उनके मानस में धर्म नहीं है।

जीवन की विधि यही है कि हम परिस्थितियों का समर्पित न हो जायें। जब तक परिस्थितियां हम पर शासन करती रहेंगी तब तक जीवन-कला हमारे हाथ न लगेगी। परिस्थितियों को अपने काबू में रखने के लिए हम में शक्ति सग्रह हो तो हम प्रतिकूल को अनुकूल बना सकते हैं। पर यह शक्ति बाहर से आने वाली शक्ति नहीं है। यह तो हमारा ही जाग्रत चैतन्य है जो बड़े-बड़े भौतिक शक्तिधारियों को परास्त कर देता है। प्रतिकूल को अनुकूल अनुभव करने लगना जीवनविधि का आत्मभूत अंग है। जो प्रतिकूल हमारे बाह्य प्रयत्नों से, हमारी आत्मशान्ति को बिना विघ्न किये, अनुकूल बन सके, वह सफर अध्यवसाय हमारे जीवन रस को नष्ट नहीं करता। पर जो प्रतिकूलता प्रयत्न (बाह्य) निरस्य नहीं है उसका उपचार तो हमें अपना चैतन्यबल जाग्रत करके ही करना होगा। मैत्री, प्रमोद, कारुण्य और माध्यस्थ्य भावनाओं के मनन अभ्यास से हम अपना चैतन्यबल जाग्रत कर सकते हैं। प्रतिकूलता का यह उपचार अधिक स्वास्थ्यप्रद होगा। किन्तु इन सबका यह अर्थ कदापि नहीं है कि मनुष्य अकर्मण्य होकर बैठ जाय, प्रवृत्तियों से घबराने लगे और पाषाण की तरह निश्चेष्ट होकर पड़ा रहे। समझने की बात केवल इतनी ही है कि संसार संघर्षमय है, प्रतिक्रियाशील है, प्रतिकूलताएं यहाँ अधिक टकराती हैं। उनकी चिकित्सा यही है कि मनुष्य उनकी बिना परवाह किये उन पर शासन करता हुआ अपनी सारी शान्ति और धैर्य को अपने में समेट कर चलता रहे, न उनमें उसे हर्ष हो और न विषाद। वह रोना और हंसना दोनों भूल जाये! मनुष्य यदि इस ढंग से जीने का अभ्यासी हो जाये तो उसमें निरुत्साह, निराशा एवं नीरसता जैसी वृत्तियां कभी उत्पन्न न हों। हर्ष, विषाद, हंसना, रोना, सफलता, विफलता आदि द्वन्द्व ऐसे हैं कि किसी एक ने हमें पकड़ा तो दूसरा भी अवश्य पकड़ेगा। इन द्वन्द्वों की पकड़ ही जीवन को कष्टमय बनाने में साधक है। धर्म हमें बतलाता है कि यह द्वन्द्व बाधक है और इनके द्वारा मनुष्य अपनी मन शान्ति को व्यतीत न होने दे।





कला, अशिव को शिव और असुन्दर को सुन्दर बनाती है। अव्यवस्थित और विकीर्ण को व्यवस्थित और केन्द्रित करना ही कला का काम है। कला रस-प्रवाहिनी होती है। जैसे हर एक गाना, हर एक बजाना और हर एक नाचना कला नही है वैसे ही प्रत्येक जीवन कलामय नही कहला सकता। गाना, बजाना और नाचना आदि को कलामय बनाने के लिये हमे इनमे रहने वाली अव्यवस्था, अक्रम एव अनौचित्य को दूर करना पडता है। हमारे जिस प्रक्रम से इनमे रसोत्पादन आये वही हम करते हैं। रसोत्पादकता की सफलता ही कला की सफलता है। जीवन के सम्बन्ध मे भी यही बात है। यदि वह अव्यवस्थित अनुचितोपयुक्त एव रसहीन है तो उसमे कला का अभाव है। उसे कलामय बनाने के लिये उसकी ये बुराइया दूर करनी होगी। हम यह जान लें कि जीवन को रसहीन बनाने वाला असयम है। असयम दूर हो तो जीवन व्यवस्थित हो जाता है और उसके फलस्वरूप उसमे रसोत्पादकता भी आ जाती है। यही तो जीवन की कलात्मकता है। जो विलासी एव विपयापेक्षी है और जगत् की नानाविध एपणाओ के द्वारा सताये हुए है उनका जीवन कलामय नही है। अनित्य को नित्य और अपावन को पावन, दुःख को सुख और अस्व को स्व मानने के भ्रम मे पडना जीवन की कलात्मकता को नष्ट करना है। इसी का दूसरा नाम अधर्म है।

अहिंसा और धर्म

यहा यह नही भूलना चाहिये कि अहिंसा और धर्म न केवल एक दूसरे से पूरक हैं अपितु एक दूसरे के लक्षण है। यही कारण है कि ससार का ऐसा कोई धर्म नही है जिसमे अहिंसा की महत्ता का उल्लेख न मिलता हो। धर्म का मूल स्रोत अहिंसा है, इसलिये प्रत्येक धर्म ने अपने को प्रतिष्ठित एव गौरवान्वित करने के लिये अहिंसा को किसी न किसी रूप मे अवश्य स्वीकार किया है। अहिंसा इतना व्यापक धर्मतत्त्व है कि कोई भी सम्प्रदाय इससे पृथक् रहकर धर्म कहलाने का अधिकारी नहीं हो सकता। आचार्य समन्तभद्र ने ठीक ही कहा है कि —

"अहिंसा भूतानाम् जगति विदित ब्रह्म परमम्।

"अहिंसा परमो धर्म, हिंसा सर्वत्र गर्हिता।" व्यास का यह वचन भी कम महत्वपूर्ण नही। अहिंसा प्राणी की स्वाभाविक आकाक्षा है। जगल के भयकर पशु भी अनेक अशो मे अहिंसक रहकर ही जीवित रह सकते हैं। सिंह भी अपने बच्चो से प्रेम करता है और उनकी रक्षा करने के लिये हर तरह का प्रयत्न करता है। दुनिया के इतिहास का अध्ययन करने से भलीभाति ज्ञात होता है कि ससार के सभी देशो के साहित्य अहिंसा की प्रतिष्ठा से अनुप्राणित है।

यूनान के सत पीथागोरस ने अहिंसा की महत्त का जो वर्णन किया है उसे पढकर ऐसा कौन है जो दयार्द्र न हो? ससार के सभी सतो ने अहिंसा की आवश्यकता पर जोर दिया। भारतीय सस्कृति मे तो अहिंसा को सर्वादरणीय स्थान प्राप्त हुआ है। जैन और बौद्ध साहित्य का अध्ययन करने से पता चलता है कि इस देश के मनीषियो ने अहिंसा की विस्तृत व्याख्यायें की है और उसे जीवन मे उतारने की मानव को हर प्रकार की प्रेरणा दी है। जैनशास्त्रो मे हिंसा व अहिंसा की सूक्ष्मातिसूक्ष्म व्याख्यायें हमे आश्चर्यचकित कर देती हैं। उसकी अहिंसा का विस्तार कीट, पतग, वनस्पति और पौधो तक पहुँचा है। अहिंसा का इतना गहन वर्णन शायद ही कही पर मिलता हो। इससे हम कह सकते हैं कि अहिंसा और धर्म का अभेद सम्बन्ध है।

धर्म के दस भेद

धर्म के दस भेद जैनो की तरह बौद्धो, ईसाइयो और हिन्दुओ ने भी माने हैं। बौद्धो के दस धर्म ये है — (१) अधिकारी मनुष्य को दान देना (२) सदाचार की शिक्षाओ के अनुकूल अपना जीवन बिताना (३) सद्विचारो की उत्पत्ति तथा वृद्धि मे सदा तत्पर रहना (४) सेवा को ही अपना उद्देश्य बना कर दूसरो की सेवा मे लगना (५) अपने माता-पिता और अपने से बडे लोगो की रोगादिक कष्टो मे सेवा शुश्रूषा और सदा उनका आदर-सत्कार करना (६) अपने गुणो का लाभ दूसरो को भी देना (७) दूसरो के गुणो को ग्रहण करना (८) न्यायपथ पर चलने वाले

सिद्धान्तों को सुनना (९) न्यायमार्ग पर चलने वाले सिद्धान्तों का अन्य लोगों को भी उपदेश देना (१०) अपने धर्म सम्बन्धी विश्वास को सदा निर्मल और शुद्ध रखना।

ईसाइयों के दस धर्म

(१) तुम अपने लिए कुराई की हुई मूर्ति मत बनाओ। न तो स्वर्ग में ऊपर को जो है उनकी, न पृथ्वी पर नीचे है उनकी। तुम मेरे सामने और किसी को ईश्वर मत मानो। (२) इन मूर्तियों के सामने मस्तक मत नमाओ (३) अपने स्वामी ईश्वर का नाम व्यर्थ मत लो, क्योंकि ईश्वर का नाम जो लोग व्यर्थ लेते हैं उनको ईश्वर निरपराध नहीं समझता (४) पवित्र दिन को याद रखो। इसको पवित्र ही रखो, ६ दिन तक परिश्रम करो और अपना पूरा, काम करो, परन्तु सातवां दिन तुम्हारे ईश्वर का पवित्र दिन है। इस दिन तुम कोई काम मत करो। न तो तुम, न तुम्हारे लड़के न लड़की, न नौकर न नौकरानी, न तेरी मवेशी और न तुम्हारे घर के अतिथि इस दिन काम करें। क्योंकि ईश्वर ने छः दिन में सम्पूर्ण स्वर्ग, पृथ्वी, समुद्र और जो कुछ भी वस्तुएं हैं उन सबको बनाया और सातवें दिन आराम किया। अतः ईश्वर ने सप्ताह के दिन को बरकत दी और पवित्र कर दिया (५) तुम्हारे माता-पिता का आदर करो ताकि पृथ्वी पर जो दिन तुमको ईश्वर ने दिये हैं उनकी वृद्धि हो। (६) किसी को मारो मत (हत्या मत करो) (७) व्यभिचार मत करो। (८) चोरी मत करो। (९) अपने पड़ोसी के विरुद्ध झूठी गवाही मत दो (१०) अपने पड़ोसी के घर को छीनने का लालच मत करो। न उनकी स्त्री के विषय में, न उसके नौकरों के विषय में, न नौकरानी के विषय में, न उनके बैल या गधों के विषय में, और न किसी भी वस्तु के विषय में जो तुम्हारे पड़ोसी की है, उसी भी छीनने का विचार करो।

हिन्दुओं के दस धर्म

(१) धैर्य धारण करना, (२) सहनशील होना, (३) मन को वश में करना, (४) बिना दिये किसी की चीज न लेना (५) लोभ न करना (६) इन्द्रियों को वश में करना, (७) बुद्धि का उपयोग करना (८) ज्ञान बढ़ाते रहना, (९) सच बोलना और (१०) क्रोध न करना।

जैनों के दस धर्म

(१) क्षमा-कैसी भी परिस्थिति में, मन में क्रोध के भाव न उत्पन्न होने देना। (२) मार्दव-जाति, कुल, शक्ति, वैभव विद्या इत्यादि का कभी अभिमान न करना (३) आर्जव-छल, कपट, विश्वासघात, दगाबाजी आदि न करना। (४) शौच-मन में आसक्ति न रखना, लोभ, लालच, तृष्णा आदि के प्रभाव को रोकना। (५) सत्य-झूठ न बोलना, हर एक के साथ हित, मित और प्रिय शब्दों का प्रयोग करना। (६) संयम-मन और इन्द्रियों को वश में करना (७) तप-इच्छाओं का विस्तार न होने देना और ध्यान एवं अध्ययन में अपने को लगाना। (८) त्याग-इसके पास जो कुछ है, शक्ति के अनुसार उसका दीनों, अनाथों और असहायों में वितरण करना (९) आकिंचन्य- परिग्रह का सचय न करना, क्योंकि यही सब पापों की जड़ है। (१०) ब्रह्मचर्य- सम्पूर्ण स्त्री तथा पुरुषों को माता, बहन, भाई आदि की तरह समझना।



धर्मों की यह दस की संख्या सबमें समान क्यों है, यह ऐतिहासिक गवेषणा का विषय है।

क्या धर्म भारस्वरूप है ?

नाना रूपों में धर्म की महत्ता का अनुभव होने पर भी कभी-कभी लोग यह कहते सुने गये हैं कि धर्म मनुष्य के लिये एक बोझा है। पर उनका यह कहना गलत है। धर्म का स्वरूप तो हल्का है। वह स्वयं हल्का होकर ही तो प्राणी को ऊपर उठाता है। प्राणी का जड़ से विमुख और आत्मा के अभिमुख होना ही उसका ऊपर उठना है। जो भारी होगा वह गिरेगा और दूसरों को भी गिराएगा। धर्म भारी हो तो उसका पतनशील होना निश्चित है। तब वह अभ्युदयाभिमुख न होकर पतनाभिमुख होगा और अपने आश्रित को भी गिरायेगा। इसीलिए यह मानना चाहिये कि जो अनुष्ठान के समय बोझा-सा मालूम पड़े वह धर्म नहीं है। उससे मनुष्य कभी न उठेगा।



जो नित्य है, जो कालातीत और क्षेत्रातीत है, जिसे पात्र की भी अपेक्षा नहीं है, न जिसके लिये किसी प्रकार की योग्यता ही अपेक्षित है, वह धर्म कभी किसी के लिये भारस्वरूप नहीं हो सकता, पर इसे पाने के लिये मनुष्य जो विधि-विधान करता है, वह यदि युगानुसारी न हो तो वह उसको थका देता है। अत इस यथार्थ धर्म की प्राप्ति के लिये साधना को बदलते रहने की जरूरत है। यदि मनुष्य ऐसा करने लगे तो उसे धर्म कभी भारस्वरूप ज्ञात नहीं होगा।

जैसे सुख के साधन परिवर्तित एवं युगानुसारी होते हैं वैसे धर्म के साधन भी बदलते रहते हैं। पर मनुष्य जितना जल्दी सुख को पहिचानता है उतना जल्दी धर्म को नहीं पहचानता और न उसको आवश्यक ही समझता है। इसलिये सुख के साधनों को बदलने में किसी की सलाह लेने की जरूरत नहीं होती, वह इस विषय में अपने आप ही प्रबुद्ध है। गर्मी बीत जाने पर जाडा लगे तो वह किसी के पास कब यह पूछने जाता है कि कहो मुझे जाडा लग रहा है, लिहाफ ओढूं या नहीं? किन्तु अहिंसादि नित्य धर्म पाने के साधनों को अपनाने में मनुष्य इतना स्वतन्त्र नहीं है। इसलिये शास्त्रों की शरण लेनी पडती है। पर शास्त्र तो भूतकाल के विधानों से भरे पडे हैं। वर्तमान में उन साधनों का क्या उपयोग हो सकता है? गर्मी के धमधम के पश्चात् अतुलित शीत बरसाने वाली हेमन्त ऋतु के समय किस काम के हैं? हमारे देश में धर्म के प्राय नब्बे प्रतिशत अंश केवल चौके, खाने-पीने, नहाने-धोने, किसी को न छूने आदि में उलझे पडे हैं और अवशिष्ट दस अंश नानाविध क्रियाकाण्ड ने रोक रखे हैं। बेचारे यथार्थ धर्म के हिस्से में तो निश्चित रूप से एक भी अंश नहीं आता, इसलिये यह मृतप्राय-सा हो रहा है। परम्पराओं ने उसका गला घोट रखा है। खाने पीने में धर्म का इतना दखल है कि कई उच्चकुलाभिमानी स्थिति-पालक नर-नारी तो सुबह से शाम तक केवल चौके की चिन्ता में ही व्यस्त रहते हैं। रसोई में कोई न चला जाय, किसी की छाया भी वहा न पड जाय, इस बात के लिये वे इतने सतर्क रहते हैं कि इसकी तुलना में अपनी अन्यान्य बडी-बडी हानियों की भी चिन्ता नहीं करते। जिस देश में युद्ध के समय विदेशी आक्रमणकारियों के भयंकर तात्कालिक आक्रमण की आशंका बनी रहने पर भी फौज की दाल-बाटी के लिये धर्म के ठेकेदारों के द्वारा न्यारे-न्यारे चूल्हे जलवाये जाते हों उस देश में यदि शांति के समय चौके के लिये सारा धर्म-सर्वस्व अर्पण कर दिया जाय तो क्या आश्चर्य है? इस बात को समझाना न होगा कि जब बाहरी दिखावे में ही मनुष्य संतोष पा लेता है, चाहे वह कृत्रिम ही क्यों न हो, तो उसे आभ्यन्तर का यथार्थ पाने की उत्सुकता प्राय नहीं होती। धर्म के सम्बन्ध में भी यह बात हम सोलहों आना देखते हैं। उसका फल यह हुआ कि मनुष्य यथार्थ धर्म से दूर हटता गया और बाह्याचार के व्यवहार में ही अपने को भुला दिया। अज्ञानावस्था में यह व्यवहार भार-स्वरूप अनुभव नहीं हुआ पर ज्यों ही आखें खुली, बाह्याडम्बर भार की तरह सताने लगा और मनुष्य को इसके प्रति घृणा हो गई। इस अंधश्रद्धा को दूर करने का एक ही मार्ग है कि हम धर्म के साधनों को युगानुसारी बनावें। ऐसा करने से धर्म के नष्ट होने की आशंका करने का कोई कारण नहीं है। सब धर्मप्रवर्तकों एवं आचार्यों ने ऐसा किया है। धर्म को समझने के लिये हमें उनके भेदों की ओर ध्यान देना चाहिये। मोटे रूप से धर्म के तीन भेद हैं — नित्य धर्म, युगानुसारी धर्म और आपद्धर्म।

इनमें पहला अपरिवर्तनीय और दूसरे दोनों परिवर्तनीय हैं। युगानुसारी और आपद्धर्म धर्म के साधनों के नाम हैं। आयुर्वै घृतम्— घी ही आयु है, 'अन्नं प्राणा' — अन्न ही प्राण है, धन वै प्राणा — धन ही प्राण है, आदि की तरह उपचारकल्पना से धर्म के साधनों को भी धर्म कह दिया गया है। ऐसा कहने की प्राचीन शास्त्रकारों की आदत थी। वस्तुत मूल साध्य तो नित्य धर्म ही है। इसी को पाने के लिये उन दोनों की आवश्यकता है। नहीं तो ये निरर्थक और निर्जीव ही हैं। इन भेदों का सक्षेप इस प्रकार है —

नित्य धर्म अहिंसा, सत्य, अस्तेय आदि है, क्योंकि ये त्रिकालाबाधित हैं और काल तथा क्षेत्र की सीमा का भी इन पर कोई असर नहीं पडता। इनमें धर्म शब्द का व्यवहार भी मुख्य वृत्ति से होता है। यही प्राप्तव्य और यथार्थ धर्म है।

युगानुसारी धर्म —उपासना की बाह्य विधियाँ, खानपान के नियम, विवाहादि सारे संस्कार और अन्य सभी

क्रियाकाण्ड युगानुसारी धर्म है, अर्थात् ये स्वतः धर्म नहीं किन्तु धर्म के साधन हैं। हमारे वेश-भूषा, रहन-सहन, व्यापार और शासन के तरीके एवं शिक्षापद्धति आदि सभी परिवर्तनीय हैं। प्रत्येक युग की आचार-संहितायें भिन्न-भिन्न होती हैं। इनमें परिवर्तन होना आवश्यक है। यह माना कि धर्म शाश्वत है, पर उसके साधन शाश्वत कैसे हो सकते हैं ? साधनों पर परिस्थितियों का प्रभाव अनिवार्य है। यदि हम इस ओर ध्यान नहीं देंगे तो धर्म सर्वथा उपेक्षा का कारण बन जायेगा, जैसा कि आज हो रहा है। धर्म को युगानुसारी बनाये बिना हम उससे राष्ट्रीयता का सम्बन्ध नहीं जोड सकते। कोई धर्म राष्ट्रीय बन कर ही विश्वजनीन बन सकता है। धर्म का सम्बन्ध यदि मानवता से जोडना हो तो उसके साधनों पर आग्रह करना मूर्खता होगी। इसमें परिवर्तन स्वीकार किये बिना काम नहीं चल सकता, नहीं तो धर्म भारस्वरूप हो जायगा। राष्ट्र-धर्म, समाज-धर्म आदि युगानुसारी धर्म के भेद हैं।

आपद्धर्म — यह तात्कालिक आवश्यकता की पूर्ति के लिये है। इसके बाद इसका परित्याग कर देना ही उचित है। यदि स्वार्थ के आग्रहवश फिर भी उसका उपयोग करते रहें तो यह यथार्थ धर्म के विरुद्ध पडेगा। इसमें जो नियमोल्लंघन होता है उसका कारण मनुष्य की अशक्ति है। सभी सम्प्रदायों के शास्त्रों में आपद्धर्म के उदाहरण मिलते हैं। मनुष्य को इसका निर्णय अपने विवेक के द्वारा ही करना चाहिये कि वह कैसे संकट के समय क्या करे, क्योंकि धर्म को परखने की कसौटी तो विवेक ही है। विवेक हो तो किसी के भी दुरुपयोग होने की आशंका नहीं होती है।

धर्मों का यह स्थूल विभाग है। मनुष्य इनको समझे तो धर्म को अपनाने के सम्बन्ध में उसमें गलती न होगी, और न यह उसे बोझा ही मालूम पड़ेगा। अपने आपके लिये यह समझता हुआ भी कि मैं धर्म का सेवन कर रहा हूँ, मनुष्य अपने को न समझे तो समझना चाहिये कि उसका वह धर्म-सेवन अधर्म ही है, नहीं तो उसका विपरीत फल क्यों हो रहा है ? जो धर्म व्यक्ति, समाज, अथवा राष्ट्र का उत्थान नहीं कर सकता, अथवा उसके उत्थान में बाधा उपस्थित कर देता है, वह किसी परिभाषा के अनुसार धर्म नहीं कहला सकता। धर्म का सर्वोत्तम एवं अनन्य फल मानव की स्वतन्त्रता है। यह स्वतन्त्रता केवल पारलौकिक ही नहीं ऐहलौकिक भी है। यह फल जहां दृष्टिगोचर हो रहा है समझो कि वहाँ धर्म भी है। इसके विपरीत जहाँ सब ओर केवल परतन्त्रता ही दिखाई पडे तो समझना चाहिये कि वहाँ एकांश में भी धर्म नहीं है। व्यक्ति, समाज अथवा राष्ट्र में धर्म के अस्तित्व को परखने की कसौटी यही है। इस कसौटी का उपयोग कर जो अपना चैतन्य जाग्रत करते हैं उन्हें यथार्थ धर्म का प्रकाश दिखाई देता है। इसलिये उनको धर्म के साधन भारात्मक मालूम होने लगते हैं।

•



अनेकान्त

स्व० मुनिश्री श्रीमलजी



प्रत्येक दर्शन एव धर्म का एक विशिष्ट मौलिक सिद्धान्त होता है, जिसके आधार पर उसके विचारो का महल खडा होता है। जैनदर्शन एव जैनधर्म भी एक स्वतन्त्र और मौलिक दर्शन तथा धर्म है। उसका भी अपना सिद्धान्त है, अपनी दृष्टि है, अपना मौलिक चिन्तन है। और उसका मौलिक रूप आगम एव दर्शनसाहित्य के पृष्ठो पर अकित है।

भगवतीसूत्र मे उल्लेख मिलता है कि श्रमण भगवान् महावीर को केवलज्ञान होने के पूर्व दस स्वप्न आये थे। उनमे एक स्वप्न का वर्णन करते हुए आगम मे लिखा है—"एग च ण मह चित्तविचित्तपक्खग पुसकाइलग सुविणे पासित्ताण पडिबुद्धे" अर्थात् एक महान् चित्र-विचित्र पख वाले पुस्कोकिल को देखकर प्रतिबुद्ध हुए।

इस स्वप्न का क्या फल मिलेगा, इसका उल्लेख करते हुए बताया गया है— "जण्ण समणे भगव महावीरे एग मह चित्तविचित्त जाव पडिबुद्धे तण्ण समणे भगव महावीरे विचित्त ससमय- परसमइय दुवालसग गणिपिडग आघवेहिति पन्नवेहिति परूवेहिति।" अर्थात् श्रमण भगवान् महावीर ने स्वप्न मे एक चित्र-विचित्र पखवाले पुस्कोकिल को देखा है, उसका फल यह है कि वे स्व-पर—सिद्धान्त का प्रतिपादन करने वाले विचित्र द्वादशाग का उपदेश देगे।

प्रस्तुत पाठ का पारायण करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि आगमकार ने अनेकान्त सिद्धान्त का कितने सुन्दर एव व्यवस्थित ढग से वर्णन किया है। यह चित्र-विचित्र पख वाला पुस्कोकिल अनेकात या स्याद्वाद का प्रतीक है। श्रमण भगवान् महावीर ने जिस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया वह एक वर्ण के पख वाला कोकिल नही, विभिन्न रगो के पखो वाला है। जहाँ एक ही वर्ण के पख होते है, वहा अनेकात नही, एकान्तवाद होता है।

एकान्त और अनेकान्तवाद मे यही मौलिक भेद है कि एकान्तवादी वस्तु के स्वरूप को एक ही दृष्टि से देखता है। अनेकान्तवादी उसके स्वरूप को एक दृष्टि से ही नही, विभिन्न दृष्टियो से देखता है। वस्तु एक रगवाली नही, विभिन्न रगो मे सयुक्त है। अत उसे किसी एक विशेष रग की मानना और उसमे स्थित अन्य रगो का अपलाप करना सत्य का तिरस्कार करना है। इसलिए एकान्तवाद सत्य नही, मिथ्या है। वह वस्तुस्वरूप को जानने की परिपूर्ण एव सही दृष्टि नहीं है। वस्तु के यथार्थ स्वरूप को जानने-समझने की सही दृष्टि है अनेकान्त या स्याद्वाद।

जैनविचारणा की भाति जैन साधना का भी प्राण अनेकान्तदृष्टि है। अनेकान्त की नीव पर ही समस्त विचार और आचार का भव्य भवन खडा है। इसलिए यह जानना आवश्यक हो जाता है कि अनेकान्तदृष्टि का मूल आधार क्या है? आगम साहित्य एव अनेकान्तवाद का अनुशीलन-परिशीलन करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि अनेकान्तदृष्टि सत्य पर स्थित है। प्रत्येक व्यक्ति सत्य का साक्षात्कार करना चाहता है परन्तु उसकी दृष्टि मे अन्तर रहता है। हम देखते है कि तथागत बुद्ध भी सत्य को जानना चाहते थे। परन्तु सत्य को देखने की उनकी दृष्टि दूसरी थी। आचार्य शकर ने भी वेदो एव उपनिषदो के आधार पर सत्य को समझने का प्रयत्न किया है। अन्य दार्शनिको एव विचारको ने भी सत्य को परखने का प्रयास किया। परन्तु सत्य को देखने की सबकी दृष्टि एकागी रही है। श्रमण भगवान् महावीर की दृष्टि इन सबमे भिन्न थी। उन्होंने सत्य को एक दृष्टि से, एक अपेक्षा से नहीं, प्रत्युत अनेकान्त-मयी दृष्टि से देखा। इसलिए भगवान् महावीर की सत्यप्रतिपादनशैली का नाम अनेकान्तवाद पडा। उसके मूल मे दो

बातें हैं—पूर्णता और यथार्थता। जो तत्त्व पूर्ण है और पूर्ण होकर भी यथार्थरूपेण परिलक्षित होता है, वही सत्य है।

प्रत्येक व्यक्ति को वस्तु का पूर्णरूपेण त्रिकालाबाधित यथार्थ दर्शन हो सके, यह संभव नहीं है। उसके त्रिकालाबाधित पूर्ण स्वरूप का साक्षात्कार पूर्ण पुरुष ही कर सकते हैं, साधारण व्यक्ति नहीं। पूर्ण पुरुष भी अपने ज्ञान से वस्तु के पूर्ण एवं यथार्थ स्वरूप को देख सकते हैं, परन्तु उसे वाणी के द्वारा प्रकाशित नहीं कर सकते। इसलिए देश, काल, परिस्थिति, भाषा एवं शैली आदि की विचित्रता के कारण पूर्ण पुरुषों के कथन में भी शाब्दिक भेद दिखाई दे सकता है। जैसे भगवान् महावीर एक स्थान पर कहते हैं—'एगे आया'—आत्मा एक है। और अपने उपदेश में दूसरे स्थान पर कहते हैं 'अणेगे आया' अर्थात् आत्मा अनेक है। शाब्दिक दृष्टि से दोनों कथनों में अन्तर दिखाई देता है परन्तु सैद्धान्तिक दृष्टि से इनमें कोई विरोध नहीं है, केवल भेद है, अतः इन दोनों में सत्यता है।

यथार्थता की दृष्टि से देखते हैं तो आत्मा का एकत्व और अनेकत्व दोनों यथार्थ हैं परन्तु दोनों में से किसी भी एक कथन में पूर्णता नहीं है। शुद्ध स्वरूप की दृष्टि से सब आत्माएं एक समान प्रदेशों से युक्त हैं एवं अनन्तज्ञान दर्शन युक्त, चैतन्य का अस्तित्व लिए हुए हैं। इस सामान्य की अपेक्षा से आत्मा एक है। परन्तु व्यक्ति की दृष्टि से सबका अस्तित्व भिन्न भिन्न है। इसलिए आत्मा अनेक है। द्रव्य की दृष्टि से आत्मद्रव्य एक है परन्तु प्रदेशों एवं पर्यायों की दृष्टि से एक नहीं, अनेक है। दोनों दृष्टियां यथार्थ होते हुए भी पृथक्-पृथक् रूप में अपूर्ण हैं। इसलिए उनमें शाब्दिक भेद दृष्टिगोचर होता है।

जब पूर्ण पुरुष भी वस्तु के पूर्ण रूप को वाणी के द्वारा प्रकट नहीं कर सकते, तब अपूर्ण व्यक्ति यथार्थवादी होने पर भी वस्तु के पूर्ण रूप को प्रकट करने की क्षमता रखते हों, ऐसा कभी हो नहीं सकता है। जब वे वस्तु के एक-एक अंश को भिन्न-भिन्न रूप से प्रकट करते हैं तब दूसरों द्वारा विभिन्न दृष्टियों से देखे एवं प्रकाशित किये गए वस्तु के स्वरूप में भेद होना स्वाभाविक है। उसका यह अर्थ नहीं है कि उनकी दृष्टि में यथार्थता नहीं है। यथार्थता होने पर भी उसमें पूर्णता नहीं है। इसी कारण उनकी विभिन्न दृष्टियां परस्पर टकराती हैं, और फलस्वरूप संघर्ष होता है। इस प्रकार के टकराव एवं संघर्ष को दूर करने के लिए भगवान् महावीर ने विश्व को अनेकान्तदृष्टि दी। अनेकान्त दृष्टि अपूर्ण अंशों को जोड़कर वस्तु के पूर्ण स्वरूप का अंकन करने की एक कला है। वह समग्र सत्य को हमारे समक्ष प्रस्तुत करती है।

वस्तु अपने आप में पूर्ण है, एक है, अखण्ड है, परन्तु वह अनन्त धर्मों से युक्त है जिसे आगमिक भाषा में 'गुण' और 'पर्याय' कहते हैं। वस्तु में स्थित समस्त गुणों और पर्यायों को पूर्ण पुरुष—सर्वज्ञ ही युगपत् देख सकते हैं, अपूर्ण व्यक्ति नहीं। परन्तु जैसा कि पहले कहा जा चुका है, इस अनन्तधर्मात्मक वस्तु का 'युगपत्' प्रतिपादन शक्य नहीं है। सत्य अनन्त है और शब्द का सामर्थ्य सीमित है, असीम नहीं।

वस्तु द्रव्य-पर्यायात्मक है। उसमें उत्पत्ति, विनाश एवं स्थिति तीनों धर्म युगपत् स्थित हैं। आगम एवं दार्शनिक साहित्य में इनके लिए क्रमशः उत्पाद, व्यय, और ध्रौव्य शब्दों का प्रयोग किया है।

तत्त्वार्थसूत्र में सत् की व्याख्या करते हुए कहा है—"उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्" अर्थात् सत् वह है, जो उत्पाद व्यय, और ध्रौव्य से युक्त है। इसी विचार को आगे इन शब्दों में अभिव्यक्त किया—"गुण-पर्यायवद् द्रव्यम्"— अर्थात् द्रव्य गुण और पर्याय से संयुक्त है। उत्तराध्ययनसूत्र में भी कहा है— द्रव्य गुणों का आश्रय है, और गुण द्रव्य के आश्रित रहते हैं। किन्तु पर्याय द्रव्य और गुण उभय के आश्रित होता है।

गुणाणमासओ दव्व एगदव्वस्सिया गुणा ।
लक्खणं पज्जवाणं तु उभओ अस्सिया भवे ॥

इसमें ध्रौव्य के स्थान पर गुण शब्द का प्रयोग किया है और उत्पाद एवं व्यय के स्थान पर पर्याय शब्द का। इसमें उत्पाद और व्यय परिवर्तन के प्रतीक हैं और ध्रौव्य स्थिति या नित्यता का संसूचक है। गुण नित्यता





का बोधक है और पर्याय अनित्यता का। यह तो स्पष्ट है कि प्रत्येक वस्तु के दो रूप होते हैं—नित्यता-अनित्यता, एकता-अनेकता, स्थायित्व-परिवर्तनशीलता, सदृशता-विसदृशता आदि। इनमे प्रथम पक्ष ध्रौव्य गुण का समूचक है और उत्तर पक्ष उत्पाद और व्यय-पर्याय का परिचायक है।

वस्तु के स्थायित्व मे एकरूपता रहती है, समानता रहती है, स्थिरता रहती है, और परिवर्तन में वस्तु के पूर्व रूप का विनाश एव उत्तर रूप की उत्पत्ति होती है। वस्तु के परिवर्तन मे व्यय और उत्पाद के होते हुए भी न तो वस्तु का सर्वथा नाश होता है न पूर्णरूपेण नए रूप मे उत्पादन ही होता है। जैसे स्वर्णकार स्वर्ण के कगण को तोडकर हार बनाता है। इसमे कगण का नाश होता है और हार की उत्पत्ति होती है। परन्तु इस व्यय और उत्पाद दोनो मे स्वर्ण का स्थायित्व बना रहता है। इसी तरह वस्तु के उत्पाद एव व्यय के समय में मूल स्वरूप की स्थिरता रहती है। उसका न तो कभी विनाश होता है और न उत्पाद। वस्तु की जो यह स्थिरता है, एकरूपता है, उसी को आगमिक भाषा मे ध्रौव्य-नित्यता कहते है, इसी को तत्वार्थसूत्रकार ने 'तद्भावाव्यय' कहा है।

भगवतीसूत्र मे प्रश्न किया गया है—भगवन्! परमाणु पुद्गल शाश्वत है या अशाश्वत? भगवान् महावीर कहते हैं—हे गौतम! द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा से परमाणु पुद्गल शाश्वत नित्य है। और वर्ण पर्यायो से लेकर स्पर्श पर्यायो की अपेक्षा से अर्थात् पर्यायार्थिक नयदृष्टि से वह अशाश्वत अनित्य है, अस्थिर है, क्षणिक है। इसका स्पष्ट अभिप्राय यह हुआ कि वस्तु द्रव्य की अपेक्षा से नित्य है और पर्याय की अपेक्षा से अनित्य।

द्रव्य और सत् एक है, इसलिए जो लक्षण द्रव्य का है वही सत् का है। इस प्रकार जैनदर्शन द्रव्य या सत् को न तो एकान्त रूप से नित्य मानता है और न एकान्त रूप से अनित्य। वह उसे नित्यानित्य स्वीकार करता है। वह गुण की अपेक्षा नित्य है और पर्याय की अपेक्षा से अनित्य है।

जैन दर्शन वस्तु मे उत्पाद और व्यय मानता है। परन्तु वह वास्तव मे मूल वस्तु का व्यय या उत्पाद नही, प्रत्युत वस्तु की पर्यायो का व्यय और उत्पाद है। जैन परम्परा मे उत्पाद एव व्यय की व्याख्या इस प्रकार की गई है "स्वजाति का परित्याग किए बिना पर्यायान्तर का ग्रहण करना उत्पाद है और स्वजाति को बिना छोडे पर्याय के पूर्व भाव का विगम होना व्यय है। उदाहरण के लिए मिट्टी का पिण्ड स्वजाति का परित्याग किए बिना घट रूप पर्यायान्तर को ग्रहण करता है, यह उसका उत्पाद है। और घट की आकृति मे परिणत होते ही मिट्टी-पिण्ड की आकृति का नाश हो जाता है, यह व्यय है और पिण्ड एव घट रूप दोनो अवस्थाओ मे जो मिट्टी का अन्वय है, वह ध्रौव्य है। यहाँ जो मिट्टी का उदाहरण दिया गया है, वह केवल वस्तु के स्वरूप को समझने के लिए दिया गया है क्योकि मृत्तिका कोई द्रव्य नही, पुद्गलद्रव्य का पर्याय है, अतएव जैनदर्शन उसे एकान्त नित्य नही मानता। परमाणु पुद्गल नित्य है, वह सदा परमाणुरूप मे रहेगा। परन्तु मिट्टी, पानी वस्त्र आदि पर्याय है और इनमे परिवर्तन होता रहता है। मिट्टी रूप मे दिखाई देने वाले परमाणु वस्त्र के या वनस्पति के रूप मे भी परिवर्तित हो सकते है, परन्तु परमाणु द्रव्य का कभी नाश नही होता।

निष्कर्ष यह रहा कि वस्तु मे नित्यत्व-अनित्यत्व, एकत्व-अनेकत्व, आदि अनेक धर्म है और उनको हम एक एक अपेक्षा से समझ सकते है। इस अपेक्षादृष्टि को जैनदर्शन मे नय कहते है। नय मे वस्तु के स्वरूप को देखने-परखने की समस्त दृष्टियो एव दर्शनो का समावेश हो जाता है। जैसे द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा से हम वस्तु के नित्यत्व स्वरूप को देखते है और उसे नित्य कहते है, और पर्यायार्थिक नय की दृष्टि मे हम उसके पर्यायो को परिवर्तित होते हुए देखकर अनित्य कहते है। दोनो दृष्टिया यथार्थ भी है और दोनो मे सत्यांश भी है। हम दोनो को तब तक असत्य नही कह सकते, जब तक दोनो मिलकर चलती है। एक नय अपनी दृष्टि से वस्तु स्वरूप का अवलोकन करता है, परन्तु दूसरे नय का तिरस्कार करके उसे असत्य या मिथ्या नही कहता है, तो वह सम्यक्नय है और उस नय से या उस दृष्टि से वस्तुस्वरूप को देखने वाला दर्शन भी सम्यग्दर्शन है।

नयवाद मे जितने भी एकान्तवादी दर्शन हैं। उन सबका समावेश हो सकता है क्योकि वे वस्तु के स्वरूप

सो अपनी दृष्टि से देखते हैं और उनकी दृष्टि से सत्यांश हैं। परन्तु वे अपनी दृष्टि को सत्य और दूसरों की दृष्टि को एकान्त मिथ्या कहने लगते हैं तब वे स्वयं मिथ्या हो जाते हैं। इनमें परस्पर संघर्ष शुरू हो जाता है। जैसे द्रव्य की अपेक्षा से आत्मा नित्य है। इसको मानने वाला विचारक यह आग्रह रखता है कि आत्मा नित्य ही है, वह अनित्य नहीं है। स्थितवाद की दृष्टि से अनित्यवाद का सिद्धान्त पूर्णतः गलत है। इस एकान्त आग्रह के कारण वह नय मिथ्यानय हो जाता है। इसे हम नयाभास कहते हैं और इस प्रकार के दर्शन को मिथ्यादर्शन कहते हैं। इनमें सत्यांश होते हुए भी पूर्ण सत्य का आग्रह, दूसरे सत्यांशों का अस्वीकार और अपनी दृष्टि के व्यामोह का जो विकार है, वह इन्हें मिथ्यात्व में परिवर्तित कर देता है।

इस तरह विचारकों एवं दार्शनिकों ने सत्य के विभिन्न सत्यांशों या छोटे-छोटे सत्य के पूर्ण रूप को देखने के स्थान में एक अंश को ही पूर्ण सत्य समझ लिया, और अपने-अपने दर्शन की धारा में बंद कर लिया। वे अपने से भिन्न दर्शन के स्वरूप को ठुकराने लगे। परिणामस्वरूप मिथ्यावादी परस्पर कीचड़ उछालने लगे। तब दार्शनिक क्षेत्र में संघर्ष शुरू हुआ और सब दार्शनिक एवं विचारक अपने माने हुए सत्यांशों को पूर्णतः सत्य और दूसरे के अभिमत सत्यांशों को पूर्णतः असत्य सिद्ध करने के लिए तर्क-वितर्क एवं खण्डन-मण्डन लेकर वाग्युद्ध के मैदान में उतर पड़े।

इस संघर्ष को, इस वाद-विवाद को शान्त करने के लिए श्रमण भगवान महावीर ने एकान्त के स्थान में अनेकान्त की दृष्टि प्रदान की। उन्होंने नित्य-अनित्य आदि पक्षों को लेकर झगड़ने वाले दार्शनिकों को स्पष्ट भाषा में कहा कि तुम सब एक-एक पहलू को पकड़ रहे हो। तुम्हारा एकान्तवाद गलत है, भूल से भरा हुआ है। वस्तुतः वस्तु न एकान्त नित्य है और न एकान्त अनित्य। इसी तरह वह एक भी है और अनेक भी है। वस्तु अनन्त—अनन्त धर्मों से युक्त है। इसलिए उसके एक स्वरूप को या एक ही धर्म को ग्रहण करना सत्य का तिरस्कार करना है। इस तरह सत्य को समझने के लिए भगवान् महावीर ने अनेकान्त दृष्टि दी और उसे अभिव्यक्त करने के लिए स्याद्वाद की भाषा दी।

अनेकान्त और स्याद्वाद एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। इसी कारण साधारण व्यक्ति दोनों को एक समझ लेते हैं। वास्तव में एक पर्याय होते हुए भी दोनों में थोड़ा-सा अन्तर है। अनेकान्त वस्तु के स्वरूप को देखने की विचारपद्धति है और स्याद्वाद देखे हुए उस स्वरूप का अभिव्यक्त करने की भाषापद्धति है। अनेकान्त दार्शनिक दृष्टि है और स्याद्वाद उसकी भाषा। अनेकान्तवाद में सभी दर्शनों का समावेश होता है और स्याद्वाद उस सिद्धान्त का प्रकाशक है।

अनेकान्त का आधार नयवाद है। नय का तात्पर्य है—वस्तु के स्वरूप को सापेक्ष दृष्टि से समझना, वस्तु के विभिन्न अनन्त धर्मों को अनेक दृष्टियों एवं अपेक्षाओं से समझना। जैसे फल में आकार भी है, रूप भी है, रस भी है, गन्ध भी है, स्पर्श भी है और भी अनेक धर्म हैं। किन्तु जब हम आकार की दृष्टि से देखते हैं तो हमें वह गोल, तिकोना या किसी अन्य आकार वाला प्रतीत होगा। रस की दृष्टि से देखने पर खट्टा-मीठा आदि प्रतीत होगा। इसी तरह अन्य धर्मों की दृष्टि से देखने पर वह वैसा ही दिखाई देगा। ये सब दृष्टिया नयवाद में समाविष्ट हो जाती हैं।

स्याद्वाद का आधार है सप्तभंगीवाद। वस्तुगत धर्म सापेक्ष हैं, इसलिए उनका निरूपण भी सापेक्ष ही होगा। स्याद्वाद जहाँ वस्तु का निरूपण करता है वहाँ सप्तभंगीवाद वस्तुगत अनन्त धर्मों में से प्रत्येक धर्म का निरूपण करने की प्रक्रिया को प्रस्तुत करता है। इसके लिए जैनदर्शन में सप्तभंग बताए हैं, इसी कारण इसे सप्तभंगी कहते हैं। वे इस प्रकार हैं—

(१) स्याद् अस्ति, (२) स्याद् नास्ति, (३) स्याद् अस्ति-नास्ति, (४) स्याद् अवक्तव्य, (५) स्याद् अस्ति और अवक्तव्य, (६) स्याद् नास्ति और अवक्तव्य, (७) स्याद् अस्ति, नास्ति और अवक्तव्य।

ये सात भंग अस्तित्व धर्म को लेकर हैं। इस प्रकार अन्य धर्मों के आश्रय से भी सप्तभंगी बन सकती है।



इनमे प्रथम भग विधेयात्मक विचार के आधार पर निर्मित है। इसमे वस्तु के अस्तित्व का विधेयात्मक ढग मे प्रतिपादन किया गया है।

द्वितीय भग का आधार निषेध है। इस मे वस्तु के अस्तित्व रूप का निषेध की भाषा मे विवेचन किया गया है। प्रथम मे अस्तित्व की स्थापना की गई है, और इसमे उसका निषेध किया गया है।

तृतीय भग विधि और निषेध का क्रमश प्रतिपादन करता है। यह प्रथम और द्वितीय भग के सयोग मे बना है।

चतुर्थ भग विधि और निषेध का युगपत् प्रतिपादन करता है। दोनो का युगपत् प्रतिपादन करना वाणी के सामर्थ्य से बाहर है। अत इसे अवक्तव्य कहा गया है।

पञ्चम भग विधि और अवक्तव्य दोनो का प्रतिपादन करता है। यह प्रथम और चतुर्थ के सयोग से बना है।

षष्ठ भग निषेध और अवक्तव्य का विवेचन है। यह द्वितीय और चतुर्थ के सयोग मे बना है।

सप्तम भग विधि, निषेध, और अवक्तव्य का प्रतिपादक है। यह तृतीय और चतुर्थ भग के सयोग मे बना है।

जब हम आगम और दर्शनशास्त्र का अध्ययन करते है, तो यह स्पष्ट हो जाता है कि उस युग मे ये प्रश्न चर्चा के महत्त्वपूर्ण विषय थे। कोई विचारक वस्तु के अस्तित्वरूप को प्रधानता देता था और उसी को सत्य मानता था। कोई उसके निषेध रूप को प्रधानता देकर उसका प्रतिपादन करता था।

यह हम स्पष्ट कर चुके है कि मूल रूप मे वस्तु मे विरोधी प्रतीत होने वाले धर्म विद्यमान है। इनका अपेक्षा से विवेचन करना स्याद्वाद है। जैसे हम कहते हैं कि मनुष्य मनुष्य रूप से है। उसी समय इनका विरोधी पक्ष हमारे सामने उभर आता है कि मनुष्य पशु रूप मे नही है। वह मनुष्य रूप मे अस्ति है, और पशु रूप से नास्ति।

अभिप्राय यह है कि किसी भी वस्तु मे जो अस्तित्व है वह निरपेक्ष नहीं वरन् उसके अपने स्वरूप की अपेक्षा से है और अपने स्वरूप मे सत् वस्तु पररूप की अपेक्षा से असत् भी हैं। इसके बाद तृतीय पक्ष को हम उभय के स्वीकार रूप में कह सकते हैं—वस्तु सत् भी है असत् भी है। यह पक्ष स्वरूप-पररूप दोनों की क्रमिक अपेक्षा से है।

प्रथम के दो भगो मे वस्तु का एक-एक रूप सामने आता है परन्तु तीसरे भग मे दो रूप है। उसमे उभय पक्ष को स्वीकार किया गया है। अगर हमसे पूछा जाय कि वस्तु सत् है या असत् ? तो हमारा उत्तर यही होगा कि वस्तु स्वरूप मे सत् और पररूप से असत् है। यही तीसरा भग है। इसी कारण जैनविचारको ने सदसत् के क्रमपूर्वक कथन को तृतीय भग मे रखा। 'स्याद् अवक्तव्य' नामक चतुर्थ भग मे उभय के युगपत् प्रतिपादन को स्वीकार किया। इसका अभिप्राय यह है कि सत्ता और असत्ता दोनो धर्म अपेक्षाभेद से विद्यमान है परन्तु इनका एक साथ प्रतिपादन नही हो सकता, क्योंकि शब्दकोश मे ऐसा कोई शब्द ही नही है और न हो सकता है जो युगपत् दोनो का वाचक हो। ऐसी स्थिति मे विवश होकर हमे वस्तु को अवक्तव्य ही कहना पडता है।

अन्तिम तीन भग सयोगज होने से सुगम हैं। वस्तु का और वस्तुगत धर्म का विश्लेषण करने की यह एक अनूठी पद्धति है जो हमे सत्य की ओर ले जाती है और परस्पर विरोधी प्रतीत होने वाले पक्षो मे समन्वय स्थापित करने की सुन्दरतम कला का निदर्शन कराती है। यह जैन विचारको की अनुपम सूझ एव अनुपम देन है।

स्याद्वाद मे वस्तु के स्वरूप का निश्चित बोध होता है। यहाँ स्यात् का अर्थ शायद नही, अपेक्षा है। जब हम कहते है—आत्मा स्याद् अस्ति, तो इसका यह अर्थ नहीं है कि शायद आत्मा है, परन्तु इसका अभिप्राय यह है कि आत्मा अपने चैतन्य स्वरूप की अपेक्षा से है। इसी तरह स्यात् नास्ति का तात्पर्य यह है कि पररूप अथवा जडता की

अपेक्षा से आत्मा नहीं है। तीसरे पक्ष में चैतन्यस्वरूप की अपेक्षा से आत्मा है और पररूप अर्थात् जडता की अपेक्षा से नहीं है। उभय पक्ष के युगपत् कथन की अपेक्षा से आत्मा अवक्तव्य है। इस प्रकार भगवान् महावीर के कथन में संशय को स्थान नहीं है। सर्वत्र वस्तु का निश्चयात्मक बोध होता है।

इतने लम्बे विवेचन से यह स्पष्ट हो गया कि अस्ति, नास्ति, अस्ति-नास्ति और अवक्तव्य ये चारों भंग मौलिक हैं। शेष भंग अस्ति-नास्ति के संयोग से बने हैं। इन सात भंगों में समस्त अपेक्षाओं का समावेश हो जाता है।

इस तरह दार्शनिक क्षेत्र में चलने वाले संघर्षों को समाप्त करने के लिए भगवान् महावीर ने विश्व को अनेकान्त एवं स्याद्वाद की भाषा में वस्तु स्वरूप को समझाया। जीव की नित्यता-अनित्यता की तरह, जब उनके सामने यह प्रश्न आया—नारक शाश्वत है या अशाश्वत है? इसके समाधान में भी उन्होंने स्याद्वाद की भाषा का प्रयोग करते हुए स्पष्ट कहा—वह शाश्वत भी है और अशाश्वत भी।

यह कैसे हो सकता है?

अव्युच्छित्ति-द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा नारक शाश्वत है और व्युच्छित्ति-पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा से अशाश्वत है। जिस प्रकार जीवसामान्य को द्रव्य की अपेक्षा से नित्य और नारक आदि गति रूप पर्याय की अपेक्षा से अनित्य कहा, उसी तरह नारकादि जीवों को जीव द्रव्य की अपेक्षा से नित्य और नारकत्व आदि पर्यायों की अपेक्षा से अनित्य कहा है।

भगवतीसूत्र श० ९, उ० ६ सूत्र ३८७ में जीव नित्य है या अनित्य, इस विषय को स्पष्ट करते हुए भगवान् महावीर जमाली को समझा रहे हैं—हे जमाली! जीव शाश्वत है, नित्य है, ध्रुव है, अक्षय है। क्योंकि भूत, भविष्य एवं वर्तमान तीनों कालों में ऐसा कोई क्षण नहीं जिस समय जीव का अस्तित्व नहीं रहा हो।

हे जमाली! जीव अशाश्वत है, क्योंकि वह नरक भव का त्याग करके तिर्यंच योनि में उत्पन्न होता है, तिर्यंच भव से निकल कर मनुष्य बनता है, मनुष्य से देवगति को प्राप्त करता है। इस प्रकार विभिन्न अवस्थाओं में परिवर्तित होने के कारण वह अनित्य है।

नित्यता-अनित्यता की तरह भगवान् से प्रश्न किया गया—जीव सान्त है या अनन्त?

उत्तर दिया गया—जीव सान्त भी है और अनन्त भी है। द्रव्यदृष्टि से जीव द्रव्य एक है। अतः वह सान्त है। क्षेत्र की अपेक्षा से जीव असंख्यात प्रदेश से युक्त है, इसलिए वह सान्त है। काल की अपेक्षा से जीव सदा-सर्वदा से है और सर्वदा रहेगा, इसलिए वह अनन्त है। भाव की अपेक्षा से जीव के अनन्त ज्ञान-पर्याय हैं, अनन्त दर्शनपर्याय हैं, अनन्त चारित्रपर्याय हैं, अनन्त अगुरुलघुपर्याय हैं, इस कारण वह अनन्त है। इस प्रकार द्रव्य और क्षेत्र की अपेक्षा से जीव ससीम है, इसलिए वह सान्त है। काल और भाव की अपेक्षा से वह असीम है, अतः अनन्त है।

इस प्रकार सोमिल के प्रश्नों का उत्तर देते हुए भगवान् महावीर कहते हैं—हे सोमिल! द्रव्यदृष्टि से मैं एक हूँ। ज्ञान और दर्शन की अपेक्षा से मैं एक नहीं, दो हूँ। कभी नहीं बदलने वाले आत्मप्रदेशों की दृष्टि से मैं अक्षय हूँ, अव्यय हूँ, अवस्थित हूँ। और परिवर्तनशील उपयोग की अपेक्षा से मैं अनेक रूप हूँ।

इसके अतिरिक्त अस्ति और नास्ति के सम्बन्ध में भी संघर्ष चलता था। एक विचार कहता 'सर्वमस्ति' सब सत् है, दूसरा कहता 'सर्वं नास्ति'— सब असत् है। परन्तु भगवान् महावीर ने दोनों के अस्तित्व को स्वीकार किया। उन्होंने अस्ति और नास्ति दोनों का परिणमनशील माना। और स्याद्वाद की भाषा में कहा कि अस्ति और नास्ति दोनों सापेक्ष हैं। घटत्व की दृष्टि से घट को हम सत् कहते हैं और पटत्व की अपेक्षा से असत् कहते हैं। पट पटत्व की अपेक्षा से सत् है और घटत्व की अपेक्षा असत् है। इसलिए सब वस्तुओं में अस्तित्व भी है और नास्तित्व भी है।



भगवती सूत्र श० ७ उ० १० सूत्र ३०४ मे भगवान् महावीर ने कहा—"हम अस्ति को नास्ति नही कहते और नास्ति को अस्ति नही कहते। जो पदार्थ जिस अपेक्षा से है, उसे अस्तित्व कहते हैं और जो नही है, उसे नास्ति रूप कहते हैं।

इस प्रकार भगवान महावीर ने अनेकान्त एव स्याद्वाद के द्वारा वस्तु के यथार्थ एव सत्य स्वरूप को समझा कर दार्शनिक सघर्षों को समाप्त करने का प्रयत्न किया और इस बात पर जोर दिया कि सघर्षों का समाप्त करने का अमोघ उपाय अनेकान्त है। एकान्त आग्रह असत्य पर अवलम्बित होने के साथ-साथ सघर्षों की जड है, वैमनस्य, राग द्वेष, एव वैर-विरोध को बढाने वाला है। अत पूर्ण सत्य को जानने-देखने एव पूर्ण शान्ति को प्राप्त करने का मार्ग अनेकान्त ही है।

आज भी हम सैद्धान्तिक चर्चा के समय अनेकान्त को सामने रखते है। अपने आपको अनेकान्तवादी कहने एव मानने मे गौरवानुभूति करते हैं। परन्तु जब जीवन-व्यवहार की ओर देखते हैं तो अनेकान्तवाद से बहुत ही दूर नजर आते है। प्रत्येक जैन विचारक के लिए यह आवश्यक है कि वह अपने जीवन में इस बात का अवलोकन करे कि उसने अपने जीवन मे अनेकात एव स्याद्वाद को कितना उतारा है।

प्रत्येक जैन, भले ही वह दिगम्बर हो, श्वेताम्बर मूर्तिपूजक हो, स्थानकवासी हो या तेरहपथी हो, अपने आपको अनेकान्तवादी मानता है। प्रत्येक सम्प्रदाय अपने आपको अनेकान्तवाद का उपासक मानता है। फिर भी प्रत्येक सम्प्रदाय अपने आप को सम्यग्दृष्टि और अपने से भिन्न सम्प्रदाय को मिथ्यादृष्टि कहने मे सकोच नही करता और विचारभेद को लेकर कभी-कभी एक दूसरे से सघर्ष करता है।

यह सत्य है कि जैनेतर दर्शनो की मान्यता मे भी सत्याश है। परन्तु उनके विचारो मे एकान्तवाद का आग्रह होने के कारण वे पूर्ण सत्य को समझ नही पाते। इसलिए उनमे सघर्ष होता है। और इस एकान्तवाद के कारण ही हम उन्हे मिथ्यादृष्टि कहते हैं परन्तु अनेकान्त के उपासकों मे भी विचारभेद को लेकर सघर्ष होते हो और वे एक दूसरे को मिथ्यात्वी समझते हो, यह कितने दुख एव आश्चर्य की बात है। यदि अनेकातवाद मे तू-तू-मैं-मैं को पनपने का अवकाश है, और वहाँ भी मिथ्यात्व रह सकता है, तब फिर पूर्ण शान्ति कहा मिलेगी और सम्यक्त्व का उदय कहा होगा? जहाँ अनेकान्त है वहाँ सघर्ष एव मिथ्यात्व सभव ही नही है। यदि अनेकान्तवादियो मे भी पारस्परिक सघर्ष होता है, तो समझना चाहिये कि उन्होने अनेकान्त को न तो पूरी तरह समझा है और न जीवन मे उतारा है। वे अनेकान्त के स्वर मे एकान्तवाद का पोषण करते है, जिससे मन मे वैर-विरोध, ईर्ष्या, मत्सर एव प्रतिशोध की भावना जागृत होती है और परिणामस्वरूप हिंसा की ज्वाला भभक उठती है। धर्म के नाम पर होने वाले साम्प्रदायिक सघर्षो का मूल कारण एकान्तवाद का आग्रह है।

•



जैनदर्शन का व्यावहारिक पक्ष अनेकान्तवाद

प्रो० भागचन्द्र भागेन्दु,

एम० ए०, शास्त्री, काव्यतीर्थ,
अध्यक्ष संस्कृत विभाग,
महात्मा गांधी स्मारक महाविद्यालय, इटारसी

दर्शन-शास्त्र के इतिहास में 'जैनदर्शन' या "आर्हतदर्शन" वस्तुवादी एवं बहुत्ववादी है। इसके अनुसार संसार में अनेक वस्तुयें हैं। प्रत्येक वस्तु में अनेक धर्म-पक्ष होते हैं। आचार्य गुणरत्न ने "अनन्त-धर्मात्मक वस्तु"[1] कह कर वस्तु के अनन्त धर्मों की ओर संकेत किया है। किन्तु मनुष्य का ज्ञान अपूर्ण है, अतः वह एक ही समय में और एक साथ उन सभी धर्मों को, वस्तु के विविध पक्षों या स्वरूपों को नहीं जान सकता। भारतीय दर्शन व्यक्तित्व के विकास हेतु समुचित अवसर प्रदान करता है। जैनदर्शन में भी व्यक्तित्व के पूर्ण विकास पर्यन्त विविध प्रकारीय परियोजनायें (प्रक्रियायें) परिलक्षित होती हैं। प्रथमतः श्रावक को ११ प्रतिमाओं के रूप में और तत्पश्चात् १४ गुणस्थानों के रूप में। ग्यारह प्रतिमायें तो विद्यार्थी के क्रमिक अध्ययन की ग्यारह कक्षाओं के तुल्य हैं, जिनमें श्रावक अपने व्यक्तित्व को क्रमशः उच्च धरातल पर प्रतिष्ठित करता जाता है और १४ गुणस्थान आध्यात्मिक विकास के लिए सोपान की भांति हैं।

व्यक्तित्व के परिपूर्ण विकास के पूर्व जैन-दर्शन के अनुसार व्यक्ति का ज्ञान अपूर्ण एवं आंशिक होता है किन्तु परिपूर्ण विकास के पश्चात् वही ज्ञान परिपूर्ण और परिपक्व हो जाता है। ऐसे महामानवों को जैन दर्शन में 'जिन'[2] संज्ञा प्राप्त है। ये 'केवल-ज्ञान' सम्पन्न होते हैं "और केवलज्ञान" द्वारा वस्तु के समस्त धर्मों-पक्षों को एक साथ जानते हैं।

भारत में जितने भी धार्मिक सम्प्रदाय विकसित हुए, उनमें अहिंसा का उतना महत्व किसी ने नहीं दिया, जितना जैनधर्म ने दिया है। बौद्धधर्म में फिर भी अहिंसा की एक सीमा है कि—स्वयं किसी का वध न करो, किन्तु जैनों की अहिंसा पूर्णतः निस्सीम है। स्वयं हिंसा करना, दूसरों से हिंसा करवाना या अन्य किसी भी तरह से हिंसा में योग देना, जैनधर्म के विपरीत है। जैनधर्म केवल शारीरिक अहिंसा तक ही सीमित नहीं, वरन् वह बौद्धिक अहिंसा को भी अनिवार्य मानता है। यह बौद्धिक अहिंसा ही जैनदर्शन का 'स्याद्वाद' या 'अनेकान्तवाद' है। यह विश्व के दर्शनों में अनूठी वस्तु है। इसके महत्व को देशी-विदेशी सभी दार्शनिकों ने उच्च स्वर में स्वीकार किया है।

आज विश्व में अशान्ति का मूल कारण यही है कि एक मत या वाद को मानने वाले लोग अपने से भिन्न

---

१ पूरी व्याख्या के लिए देखिए—षड्दर्शनसमुच्चय, पृ० ५५ तथा उसपर आचार्य गुणरत्न की टीका।

२ (अ) डा० हर्मन याकोबी – जैनसूत्राज्, प्रथम भाग (भद्रबाहुकृत कल्पसूत्र)

(ब) मिसेस स्टीवेनसन—हार्ट ऑफ जैनिज्म, चतुर्थ अध्याय।



मत या वाद को मानने वाले लोगो को आख बन्द कर गलत समझते है । लोग अपने प्रतिपक्षियों के प्रति असहिष्णु हो गये है । ऐसी स्थिति मे भी यह सत्य है कि—कोई भी मत सोलह आन सत्य एव सोलह आने असत्य नही है । वस्तु एक ओर मे जैसी दिखाई पडती है, दूसरी ओर से भी वैसी ही दिखाई नही पडती । अत बिना विवेक के किसी भी मान्यता या मत को सर्वथा खण्डित करने का कार्य हिंसा का कार्य है । सत्य को पहचानने के अनेक मार्ग हैं, सत्य के मार्ग पर आरूढ व्यक्ति का दुराग्रह और हठधर्मी समाप्त हो जाती है । सत्यान्वेषक की दृष्टि उदार होती है । समन्वय, सह अस्तित्व और सहिष्णुता ये एक ही तत्त्व के नामान्तर हैं । जनसाधारण को जीव-हिंसा मे बचाने के लिए जैन-दर्शन ने अहिंसा का उपदेश दिया, किन्तु चिन्तकों और विचारकों को हिंसामय प्रवृत्तियो से विरत करने के लिए 'अनेकान्तवाद' का सिद्धान्त प्रस्तुत किया ।

जैनदर्शन का कथन है कि दर्शन नाना रूपिणी सत्ता के अश मात्र का विवेचन करने मे अपना महत्व रखते हैं । उनमे आपस मे किसी प्रकार के मतभेद के लिए स्थान नही है । इस उदार चित्तवृत्ति तथा विशाल-हृदयता के कारण जैन तत्त्वज्ञान का किसी भी दर्शन से विरोध नहीं है । जैनदर्शन युक्तिपूर्ण तथ्यों को ग्रहण करने का सदैव सदेश प्रस्तुत करता है, उसका व्यक्तिविशेष मे कोई आग्रह नही, बल्कि वह तो सिद्धान्त की उदात्तप्रवृत्ति पर बल देता है । आचार्य हरिभद्र का कथन इसी तथ्य की पुष्टि करता है—

> पक्षपातो न मे वीरे, न द्वेष कपिलादिषु ।
> युक्तिमद् वचन यस्य, तस्य कार्य परिग्रह ॥

भगवान महावीर के प्रति न तो मेरा विशेष अनुराग है, और न ही साख्यदर्शन के प्रवर्त्तक कपिल आदि से कोई द्वेष ही है, जिसका कथन युक्तिपूर्ण हो, उसे स्वीकार करना चाहिये ।

इतनी उदारता सभवत अन्य दर्शनो मे नही दिखाई पडती । इस उदारता का मुख्य आधार है—अनेकान्तवाद । अनेकान्तवाद का दार्शनिक आधार यह है कि प्रत्येक वस्तु अनन्तगुण, पर्याय और धर्मों का अखण्ड पिण्ड है । वस्तु को तुम जिस दृष्टिकोण से देख रहे हो, वस्तु उतनी ही नहीं है । उसमे अनन्त दृष्टिकोणो से देखे जाने की क्षमता है । उसका विराट स्वरूप अनन्त धर्मात्मक है । तुम्हे जो दृष्टिकोण विरोधी मालूम पडे, उस पर ईमानदारी से विचार करो तो उसका विषयभूत धर्म वस्तु मे विद्यमान प्रतीत होगा । चित्त से पक्षपात की दुरभिसधि निकालो और दूसरे के दृष्टिकोण के विषय को भी सहिष्णुतापूर्वक खोजो, वह भी वहा लहरा रहा है ।

भारतीय सस्कृति के विशेषज्ञ मनीषी डा० दिनकर का स्पष्ट अभिमत है कि 'अनेकान्त का अनुसन्धान भारत की अहिंसासाधना का चरम उत्कर्ष है, और सारा ससार इसे जितना ही शीघ्र अपनायेगा, विश्व मे शान्ति उतनी ही शीघ्र स्थापित होगी ।'[1]

आचार्य सिद्धसेन दिवाकर ने सन्मतिप्रकरण (३-४७) मे अनेकान्त को एक ऐसे समुद्र की भाति निरूपित किया है जिसमे सभी वाद विलीन होते है ।

अमेरिका के प्रसिद्ध विद्वान प्रोफेसर डा० आर्चीब्राह्म अनेकान्तवाद के महत्त्व पर प्रकाश डालते हुए लिखते हैं—

"अनेकान्त जैनदर्शन का वह महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त है, जिसका पाश्चात्य अथवा हिन्दू दार्शनिको ने समुचित मूल्याकन नही किया है । यह अपने तत्वज्ञान के द्वारा ससार का बडा उपकार कर सकता है ।"[2]

---

१ दिनकर, डा० रामधारीसिंह—सस्कृति के चार अध्याय ।

२ जैन, स्व० डा० कामताप्रसाद, विश्व को जैनधर्म की देन, पृष्ठ १६ से उद्धृत—
The Anekant is an important principle of Jain Logic not commonly asserted by the Western or Hindu logician, which promises much for world peace through Metaphysical harmony

भारतीय दर्शन के गम्भीर गवेषक डा० सी० डी० शर्मा अपने ग्रन्थ 'भारतीय दर्शन' में स्याद्वाद के सम्बन्ध में अपने विचार व्यक्त करते हैं।

"स्याद्वाद, जिसको सप्त-भंगीनय भी कहते हैं, ज्ञानप्राप्ति के संदर्भ में सापेक्षता का सिद्धान्त है। स्यात शब्द का शाब्दिक अर्थ है सम्भावित, शायद, हो सकता है। और इसीलिये यदा कदा स्याद्वाद का अनुवाद "सम्भावना का सिद्धान्त" (Theory of Probability) अथवा 'हो सकता की मान्यता (Doctrine of the may be) किया जाता है, किन्तु 'स्याद्वाद' शब्द यहां सम्भावना के शाब्दिक अर्थ में नहीं ग्रहण किया गया है। क्योंकि सम्भावना में सन्देहवाद (Scepticism) को स्थान प्राप्त है, जब कि जैनदर्शन में 'सन्देहवाद' का कोई स्थान नहीं है।

कभी कभी 'स्यात्' शब्द का अनुवाद 'किसी तरह' (Some-how) किया जाता, है किन्तु इस शब्द में 'अज्ञेयवाद' (Agnosticism) की गन्ध निहित है, जब कि जैनदर्शन कदापि अज्ञेयवाद नहीं है।

यहां जैनदर्शन में 'स्यात्' शब्द का प्रयोग सापेक्षता के अर्थ में हुआ है और स्याद्वाद का समुचित अनुवाद सापेक्षता का सिद्धान्त" (Theory of Relativity) है।[1]

जैनदर्शन के प्रतिष्ठापक आचार्य उमास्वामी के 'तत्वार्थ-सूत्र' के प्रथम अध्याय का द्वितीय सूत्र "तत्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनं" है। वस्तुतः तत्वों पर यथार्थ श्रद्धा स्याद्वाद के बिना नहीं हो सकती। स्याद्वाद ही एक ऐसी दार्शनिक प्रणाली है, जो तत्व के यथार्थ स्वरूप का बोध कराती है। हम पहले ही कह चुके हैं कि प्रत्येक तत्व या पदार्थ अनन्त गुणों का भंडार है, उन अनन्त गुणों में वे गुण भी सम्मिलित हैं, जो परस्पर विरोधी हैं फिर भी एक ही देश और काल में एक साथ पाये जाते हैं। उन विरोधी तथा भिन्न गुणों को विचार-जगत् में परस्पर न टकराने देकर उनका सुन्दरीत्या सामञ्जस्य या समन्वय कर देना ही स्याद्वाद, सापेक्षवाद या अनेकान्तवाद है।

अनेकान्तवाद और स्याद्वाद

चिन्तन की अहिंसामयी प्रक्रिया का नाम 'अनेकान्त' है और उक्त प्रकारीय चिन्तन की 'अभिव्यक्ति की शैली' स्याद्वाद है। अर्थात् अनेकान्तवाद का सम्बन्ध मनुष्य के विचारों से है, किन्तु स्याद्वाद उस विचार को व्यक्त करने योग्य अहिंसामय भाषा की खोज करता है।

अनेकान्तवाद शब्द के तीन शब्दांश हैं—अनेक, अन्त और वाद। अनेक=नाना अन्त=वस्तुधर्म, वाद=मान्यता। एक वस्तु में विभिन्न धर्मों=स्वभावों (विरोधी और अविरोधी) की मान्यता का नाम अनेकान्तवाद है।

अनेकान्तवाद, एक वस्तु में परस्पर विरोधी और अविरोधी धर्मों का विधाता है। वह वस्तु को नानाधर्मा-

---

१. शर्मा, डा० सी० डी० इण्डियन फिलासफी
Syadvada which is also called "Sapta Bhanginaya" is the theory of relativity of knowledge The word Syat literally means probable, perhaps, may be Ant Syadvad is sometimes translated as the theory of probability or the doctrine of the may be But it is not in the literal sense of probability that the word 'Syat' is used here probability suggests scepticism and Jainism is not scepticism

Sometimes the word 'Syat' is translated as 'some how' But this too smacks of angnosticism and Jainism again is not agnosticism

The word 'Syat' is used here in the sense of the relative and the current translation of 'Syadvad' is the theory of relativity of knowledge





रूप बतलाकर ही चरितार्थ हो जाता है। जहां अनेकान्तवाद हमारी बुद्धि को वस्तु के समस्त धर्मों की ओर समग्र रूप से खींचता है, वहां स्याद्वाद वस्तु के एक धर्म का ही प्रधान रूप में बोध कराने में समर्थ है। नाना धर्मात्मक वस्तु हमारे लिये किस प्रकार उपयोगी हो सकती है, यह बात स्याद्वाद बतलाता है। संक्षेप में कहा जा सकता है कि अनेकान्तवाद का फल विधानात्मक और स्याद्वाद का फल उपयोगात्मक है। यह भी कहा जा सकता है कि अनेकान्तवाद का फल स्याद्वाद है। अनेकान्तवाद की मान्यता ने ही स्याद्वाद की मान्यता को जन्म दिया है। क्योंकि जहां नाना धर्मों का विधान नहीं है, वहां दृष्टिभेद की कल्पना हो ही कैसे सकती है।

स्याद्वाद और सप्तभंगीवाद

सप्तभंगीवाद जैनदर्शन के स्याद्वाद' का विश्लेषण है। जैन आचार्यों ने स्याद्वाद को सात रूपों में विभक्त कर समझाने का सफल प्रयास किया है। इन सात रूपों को ही 'सप्तभंग' कहते हैं। प्रश्न हो सकता है कि यह सप्तभंगी क्या है और उसका क्या उपयोग है? इसका उत्तर स्याद्वादमंजरी के रचयिता आचार्य मल्लिषेण के शब्दों में निम्न प्रकार है—

"सप्तभिः प्रकारैः वचनविन्यासः सप्तभंगीति गीयते।"[1]

(विश्व की प्रत्येक वस्तु के स्वरूपकथन में सात प्रकार के वचनों का प्रयोग किया जा सकता है, यही 'सप्तभंगी' है।)

सप्तभंगी की परिभाषा करते हुए कहा गया है कि —

"प्रश्नवशादेकस्मिन् वस्तुन्यविरोधेन विधि-प्रतिषेधविकल्पना सप्तभंगी"[2]

(प्रश्न उठने पर एक वस्तु में अविरोध भाव से एक धर्म-विषयक जो विधि और निषेध की कल्पना की जाती है, उसे सप्तभंगी कहते हैं।)

भंग का अर्थ है—विकल्प, प्रकार या भेद। किसी भी एक वस्तु के किसी भी एक धर्म के विषय में सात प्रकार से ही विवेचन संभव होने से इसे 'सप्त भंगीवाद' कहते हैं।

अनेकान्त, स्याद्वाद और सप्तभंगी

अनेकान्त दृष्टि का ध्वनितार्थ यह है कि प्रत्येक वस्तु में सामान्य रूप से, और विशेष रूप से भिन्नता की और अभिन्नता की दृष्टि से नित्यत्व की अपेक्षा से और अनित्यत्व की अपेक्षा से तथा सद्रूप से और असद्रूप से अनन्त धर्म होते हैं। अनेकान्त दृष्टि का प्रयोजन यही प्रकट करना है कि "प्रत्येक धर्म अपने प्रतिपक्षी धर्म के साथ वस्तु में रहता है"। परन्तु सप्तभंगी की उपयोगिता इस बात में है कि वह वस्तुगत अनेक धर्मों की दोषहीन भाषा में अपेक्षा का विश्लेषण करे।

उपर्युक्त प्रतिपादन का अभिप्राय यह है कि—अनेकान्त, अनन्त धर्मात्मक वस्तु स्वरूप की एक दृष्टि है, और स्याद्वाद तथा सप्तभंगी उस मूल ज्ञानात्मक दृष्टि को अभिव्यक्त करने की अपेक्षासूचक एक वचनपद्धति है। अनेकान्त एक लक्ष्य है और सप्तभंगी एवं स्याद्वाद एक साधन है, उसे समझने का प्रकार है। अनेकान्त का क्षेत्र व्यापक है जबकि स्याद्वाद का प्रतिपाद्य व्याप्य है, दोनों में व्याप्य-व्यापक भाव सम्बन्ध है।

स्यात् शब्द के विभिन्न अर्थ

'स्यात्' पद संस्कृत की 'अस्-भुवि' धातु से बना है। स्यात् का ही बिगड़ा हुआ हिन्दी में 'शायद' मिलता है।

---

१ आचार्य मल्लिषेण-स्याद्वादमंजरी डॉ० जगदीशचन्द्र जैन सम्पादित, (बम्बई, १९३५ ई०) कारिका २३—टीका
२ आचार्य अकलंकदेव तत्वार्थराजवार्तिक सूत्र १—६ टीका।

"हो सकता है", "Perhaps, May be, Probable" के अर्थ में इसका प्रयोग होता है। कुछ विद्वान इसका अर्थ "Some-how" 'किसी तरह' भी करते हैं। किन्तु जैनदर्शन में इसका प्रयोग इनमें से किसी भी अर्थ में नहीं हुआ है।

भारत की पुरातन भाषाओं-पाली और प्राकृत में 'स्यात्' पद का रूप 'सिया' उपलब्ध होता है। वहां यह वस्तु के सुनिश्चित भेदों के साथ प्रयुक्त दिखाई पड़ता है।

'स्यात्' शब्द का पारिभाषिक प्रयोग

जैनदर्शन में 'स्यात्' शब्द का प्रयोग एक विशेष अर्थ में किया गया है। इसका अर्थ है—सापेक्ष, कथंचित्, सापेक्षता का सिद्धान्त। 'स्यात्' व्याकरणात्मक व्युत्पत्ति के अनुसार 'अस्' धातु का विधिलिङ् लकार, अन्य पुरुष, एक वचन का रूप है जिसका अर्थ होता है 'ऐसा हो' या एक सम्भावना यह भी है। जैनदर्शन में इसे सापेक्ष विधान का वाचक अव्यय बनाकर अपनी अनेकान्त विचार-शैली को प्रकट करने का साधन बनाया गया है। इसे अनिश्चयबोधक समझना कदापि युक्तिसंगत नहीं है। पाश्चात्य विद्वानों ने भी इसका उल्लेख और विश्लेषण 'सापेक्षता का सिद्धान्त" (Theory of Relativity" के नाम से किया है।)

स्याद्वादमञ्जरीकार आचार्य मल्लिषेण 'स्यादित्यव्ययम् अनेकान्त द्योतकम् ततः स्याद्वादः अनेकान्तवादः इति यावत्'[1] कहकर अनेकान्त के प्रतिपादन में 'स्यात्' पद का महत्त्व स्वीकार करते हैं। आचार्य हेमचन्द्रसूरि भी 'स्यात्' को अनेकान्तबोधक मानते हैं।[2]

आचार्य अकलंक देव लघीयस्त्रय टीका में 'अनेकान्तात्मकार्थकथनं स्याद्वादः' उल्लेख कर यह स्पष्ट करते हैं कि विद्यमान अनेक धर्मों का सापेक्ष दृष्टि से प्रतिपादन 'स्याद्वाद' है।

'स्यात्' और 'कथंचित्' ये दोनों शब्द एक अर्थ के बोधक हैं। 'कथंचित्' शब्द का अर्थ है—किसी प्रकार। 'स्यात्' शब्द का भी यही अर्थ समझना चाहिये। किसी प्रकार के अर्थात् दृष्टि विशेष से या किसी विशेष अभिप्राय से—इस प्रकार की मान्यता का ही नाम 'स्याद्वाद' है।

स्व० प्रो० महेन्द्रकुमारजी न्यायाचार्य ने 'स्यात्' शब्द के प्रयोग का विश्लेषण करते हुए उल्लेख किया है कि —

" कोई ऐसा शब्द नहीं है जो वस्तु के पूर्ण रूप का स्पर्श कर सके। हर शब्द एक निश्चित दृष्टिकोण से प्रयुक्त होता है और अपने विवक्षित धर्म का कथन करता है। इस तरह, जब शब्दों में स्वभावतः विवक्षानुसार अमुक धर्म का प्रतिपादन करने की शक्ति है, तब तक यह आवश्यक हो जाता है अविवक्षित शेष धर्मों की सूचना के लिए एक 'प्रतीक' अवश्य हो, जो वक्ता और श्रोता को भूलने न दे। 'स्यात्' शब्द यही कार्य करता है, वह श्रोता को विवक्षित धर्म का, प्रधानता से, ज्ञान कराके भी अविवक्षित धर्मों के अस्तित्व का द्योतन करता है।

'स्यात्' शब्द जिस धर्म के साथ प्रयुक्त होता है, उसकी स्थिति कमजोर न करके वस्तु में रहने वाले तत्प्रतिपक्षी धर्म की सूचना देता है।[3]

स्याद्वाद का प्रयोग

प्रत्येक शब्द के दो वाच्य होते हैं—विधि और निषेध, प्रत्येक विधि के साथ निषेध है और प्रत्येक निषेध के साथ विधि है। एकान्त रूप में न कोई विधि है और न कोई निषेध। प्रत्येक वस्तु का विवेचन द्रव्य, क्षेत्र, काल और



---

१ स्याद्वादमञ्जरी, कारिका ५ टीका।
२ अन्ययोगव्यवच्छेदिका, कारिका २८।
३ जैनदर्शन, प्रथम संस्करण, काशी १९५५ ई०, पृ० ६८।



भाव की अपेक्षा से किया जाता है। विवेचन के पूर्व विवेच्य वस्तु के साथ 'स्यात्' पद का प्रयोग आवश्यक है। गौण अथवा प्रधान विवक्षा की सूचना इस पद के माध्यम से प्राप्त होती है।[1]

'स्यात्' शब्द के साथ किसी वस्तु का विश्लेपण अधिक से अधिक ७ प्रकार से हो सकता है। प्रयास करने पर भी ७ से अधिक प्रणालियों से विवेचन सभव नही है। वे सात प्रकार या भग अग्रलिखित हैं

(१) स्याद् अस्ति
(२) स्याद् नास्ति
(३) स्यादस्ति नास्ति
(४) स्याद् अवक्तव्य
(५) स्याद् अस्ति अवक्तव्य
(६) स्याद् नास्ति अवक्तव्य
(७) स्याद् अस्ति नास्ति अवक्तव्य।

इस पद्धति मे मूल भग तीन ही है। पहला दूसरा और चौथा, अर्थात् अस्ति, नास्ति और अवक्तव्य। उक्त सात भगो मे से तीन द्विसयोगी और त्रिसयोगी है।

उदाहरणार्थ —

(१) स्याद् अस्ति	लौकिक प्रयोग	=	नमक
(२) स्याद् नास्ति	" "	=	मिर्च
(३) स्याद् अवक्तव्य	" "	=	जीरा

देखिये, सर्व प्रथम तो इन तीनों वस्तुओं का पृथक् पृथक् उपयोग हो सकता है, तत्पश्चात् एक को दूसरे मे मिश्रित करके उपयोग कर सकते हैं और अन्त मे तीनो को एक साथ मिलाकर काम मे ला सकते हैं। जैसे —

(१) नमक, (२) मिर्च, (३) जीरा, (४) नमक मिर्च, (५) नमक जीरा, (६) मिर्च जीरा, (७) नमक, मिर्च, जीरा,

उपर्युक्त ७ भगो या प्रणालियो से वस्तु की विवेचना सभव है। उससे अधिक से नही।

विवेचन

(१) स्याद् अस्ति

पदार्थ कथचित् सत् है। उदाहरणार्थ एक घडे का विवेचन करना है। घट के अनन्त धर्मों मे एक सत् (Existence) अस्तित्व है। प्रश्न हो सकता है कि वह अस्तित्व किस अपेक्षा से है? इसी का उत्तर स्याद्वाद या अनेकान्तवाद की पद्धति से पहले प्रकार मे प्राप्त होता है।

---

१ इस सदर्भ मे देखिये —आचार्य अकलकदेव का 'लघीयस्त्रय' जहा उन्होने उल्लेख किया है कि वक्ता और श्रोता यदि शब्दशक्ति और वस्तु के स्वरूप के विवेचन मे निपुण हैं, तो 'स्यात्' पद के प्रयोग की आवश्यकता नहीं होती। उसके अभाव मे भी अनेकान्त का प्रकाशन हो जाता है —
अप्रयुक्तोऽपि सर्वत्र, स्यात्कारोऽर्थात्प्रतीयते।
विधौ निषेधेऽप्यन्यत्र, कुशलश्चेत्प्रयोजक ॥

घट का अस्तित्व कथंचित् 'स्यात्' है, 'स्यात् अस्ति घट' अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा यह घड़ा है। यह घड़े के अस्तित्व की विधि है, अत यह विधि भग है। परन्तु यह अस्तित्व की विधि स्व की अपेक्षा है, पर की अपेक्षा से नहीं है, क्योंकि—

'सर्वमस्ति स्वरूपेण, पररूपेण नास्ति च'

यह पंक्ति 'स्याद् अस्ति' इस कथनपद्धति की विवेचिका है।

यदि स्वपर्याय से भिन्न पर स्वरूप से भी घड़े का अस्तित्व हो तो घड़ा एक घड़ा ही क्यों रहे ? वह विश्व-रूप क्यों न हो जावे ? और वैसी स्थिति में उसमें घट-व्यवसाय के अतिरिक्त वस्त्र आदि के क्रिया-कलापों का समावेश हो जाना चाहिये और वैसा हो सकना संभव नहीं है। अतएव यह स्पष्ट है कि घड़े की सत्ता किसी एक अपेक्षा से है, सब अपेक्षाओं से नहीं।

(२) स्याद् नास्ति

दूसरी बार जब उसी का कथन होगा तो यह कहा जावेगा कि पूर्व में जिस घट का प्रतिपादन हुआ है, उसका यदि उससे छोटे या उससे बड़े घड़े की दृष्टि में रख कर अथवा सोने, पीतल या कपड़े को दृष्टि में रखकर प्रतिपादन किया जाय कि पूर्व स्थिति के अनुरूप क्या यह घड़ा है, तो उत्तर होगा—'स्याद्नास्ति घट'

यहां घट की सत्ता का निषेध पर-द्रव्य, पर-क्षेत्र, पर-काल और पर-भाव की अपेक्षा से किया गया है। अत. घट कथंचित् नहीं है, घट से भिन्न वस्त्र, सोने, चांदी आदि की—परचतुष्टय की अपेक्षा से घट नहीं है।

(३) स्याद् अस्ति-नास्ति

पदार्थ कथंचित् सत् असत् उभय रूप है। पूर्व वर्णित घड़े का स्पष्ट रूप यह है कि "घड़ा तो है, किन्तु सोने, पीतल या कपड़े की अपेक्षा वह नहीं है।"

यहां पर स्व की अपेक्षा सत्ता का और पर की अपेक्षा असत्ता का, अर्थात् दोनों का किन्तु क्रमश कथन किया गया है।

प्रथम और द्वितीय विवेचन-पद्धति क्रमश विधि और निषेध का स्वतंत्र रूप से पृथक् पृथक् प्रतिपादन करती हैं, जब कि यह तीसरी पद्धति विधि-निषेध दोनों का किन्तु क्रमश उल्लेख करती है।

'स्याद् अस्ति नास्ति घट ।' स्वकीय द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा घड़ा है, किन्तु पर द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा से घड़ा नहीं है।

(४) स्याद् अवक्तव्य



अवक्तव्य का अर्थ है कहा नहीं जा सकना। जब एक ही समय में विधि और निषेध दोनों की विवक्षा होती है, तब दोनों को एक ही समय में एक साथ व्यक्त करने वाला कोई शब्द न होने से उसे 'अवक्तव्य' कहते हैं।

शब्द की क्षमता सीमित होती है। जब वस्तु के विधि पक्ष का विश्लेषण होता है, तो निषेध पक्ष उपेक्षित हो जाता है, और जब निषेध पक्ष का प्रतिपादन किया जाता है, तो विधिपक्ष गौण हो जाता है, यदि वस्तु के विधिनिषेध पक्षों का पृथक् पृथक् या क्रमश एक साथ प्रतिपादन करना हो तो पूर्ववर्णित तीन विवेचनपद्धतियों में क्रमश (१) अस्ति, (२) नास्ति, (३) अस्ति नास्ति शब्दों के द्वारा काम चल जाता है, परन्तु विधिनिषेध की एक साथ अभिव्यक्ति में कठिनाई है, जिसे 'अवक्तव्य' शब्द के द्वारा हल किया गया है।

इस पद्धति से यह भी ध्वनित होता है कि वस्तु के युगपद् अस्तित्व नास्तित्व का वाचक कोई शब्द नहीं है।

इसलिये विधिनिषेध का युगपत् कथन असंभव है। परन्तु स्मरणीय है कि वह अवक्तव्यत्व सर्वथा सर्वतोभावेन नही है। अत 'स्याद् अवक्तव्य' पद से विदित होता है कि घडे के सबन्ध मे पूर्व वर्णित जो तीन दृष्टिकोण है, वे एक साथ कहे नही जा सकते। यह है 'स्याद् घट अवक्तव्य'।

(५) स्याद् अस्ति अवक्तव्य

कथचित् सत् है किन्तु अवक्तव्य। इसका अभिप्राय है—घट है, और अवक्तव्य भी है। किसी विशेष दृष्टि से घडे को लाल कह सकते है, किन्तु जब दृष्टि का स्पष्ट निर्देश न हो, तो घडे के रग का वर्णन असम्भव हो जाता है, अत. अपने स्वरूप से घडा है तो, किन्तु उसका रूप स्पष्ट न होने के कारण उसका प्रतिपादन नही कर सकते।

(६) स्यात् नास्ति अवक्तव्य

कथचित् असत् है किन्तु अवक्तव्य। यहा पर प्रथम समय मे निषेध और द्वितीय समय मे एक साथ-युगपत् विधि-निषेध की विवक्षा होने से 'स्यात् नास्ति घट अवक्तव्यश्च' घडा नही है, और वह अवक्तव्य है, ऐसा कहा जाता है।

(७) स्यादस्ति, नास्ति, अवक्तव्यश्च

पदार्थ कथचित् सत् है, कथचित् असत् है, साथ ही उभय दृष्टिकोणो का युगपत् प्रतिपादन सभव नही है। किसी दृष्टि से घट है, किसी दूसरे पदार्थ की विवक्षा से घट नही है, और परस्पर विरोधी इन दोनों धर्मों का एक साथ निरूपण करना सभव नही है।

उपरिविवेचित सातो वचन-पद्धतिया अपनी अपनी सार्थकता रखती है, तथापि अलग अलग रूप मे वस्तु-स्थिति के एक अश को ही प्रकट करती है, उसके सपूर्ण स्वरूप को नही। इसीलिए जैनदर्शन इस बात पर बल देता है कि पूर्वविवेचित सात वचन-पद्धतियो मे से प्रतिपादनकर्ता अपने अभिप्राय के अनुसार चाहे जिस वचन-पद्धति का उपयोग करे, परन्तु उसके पूर्व 'स्यात्' शब्द अवश्य सयुक्त करे, जिससे यह सुस्पष्ट ज्ञात होता रहे कि वस्तुस्थिति मे अन्य सम्भावनायें भी है। अत प्रतिपादनकर्ता का कथन सापेक्ष रूप से ग्रहण किया जावे।

ऊपर प्रतिपादित भिन्न भिन्न दृष्टियो से विचार करने पर ज्ञात होता है कि एक ही वस्तु के अनेक धर्मस्वरूप या पक्ष होते है। प्रत्येक वस्तु एक दृष्टि से भावात्मक है तो दूसरी दृष्टि से अभावात्मक किसी वस्तु के सम्बन्ध मे हम जो विचार करते हैं, उसकी सत्यता हमारी विशेष दृष्टि पर निर्भर करती है। यह ध्यान रखना आवश्यक है कि विचार सीमित ज्ञान तथा हमारे हुआ करते है। हमे यह नही सोचना चाहिये कि किसी विषय सबधी कोई एक मत ही एकान्त सत्य है, दूसराअभिमत भी सत्य हो सकता है।

जैन तीर्थंकरो ने मानव की अहकारमूलक प्रवृत्ति और उसके स्वार्थी वासनामय मानस का स्पष्ट दर्शन कर उन तत्वो की ओर प्रारभ से ध्यान आकृष्ट किया है, जिससे मानव की दृष्टि का एकागीपन दूर हो और उसमे अनेका-गिता का समावेश हो, वह अपनी दृष्टि की तरह सामनेवाले मनुष्य की दृष्टि का भी सम्मान करना सीखे, उसके प्रति सहिष्णु बने। दृष्टि मे इस प्रकार के भावों का समावेश हो जाने से उसकी भाषा परिवर्तित हो जाती है, उसमे स्वमत की हठाग्रहिता हटकर समन्वय की प्रवृत्ति आ जाती है। उसकी भाषा मे दूसरों के तिरस्कार का भाव न होकर उनके अभिप्राय, विवक्षा और अपेक्षादृष्टि को समझने की क्षमता आ जाती है। यही स्थिति उसकी मानसिक शुद्धि अर्थात स्याद्वादमय वाणी के स्वीकरण की है और वैसी स्थिति में मानव का आचारव्यवहार पूर्णत 'मनस्येक वचस्येक कर्मण्येकम्' के अनुरूप हो जाता है।

अनेकान्तवाद और स्याद्वाद को पूर्णतः समझने में अनेक वैदिक और बौद्ध, प्राचीन और अर्वाचीन पाश्चात्य और पौर्वात्य विद्वानों को बहुत भ्रम हुआ है। उनके अनेक कारण रहे हैं, परन्तु अब उन मतों या आलोचनाओं का विस्तारपूर्वक निराकरण हो चुका है और अनेकान्तवाद के सार्वभौम रूप को सभी विद्वान् एक स्वर से स्वीकार करते हैं।

स्याद्वाद या अनेकान्तवाद सिद्धान्त से यह स्पष्ट है कि जैनों की दृष्टि कितनी उदार है। जैन अन्यान्य दार्शनिक विचारों को सागर नहीं समझते, प्रत्युत अन्य दृष्टियों से उन्हें भी सत्य मानते हैं। हाँ, वे किसी एक दर्शन की हठोक्ति को नहीं मानते क्योंकि ऐसी हठोक्तियों में 'एकान्तवाद' (Fallacy of exclusive particularity) का दोष होना स्वाभाविक है। वर्तमान में अमेरिका के नव्य वस्तुवादियों ने इस 'एकान्तवाद' का घोर विरोध किया है।[1]

भारतीय दर्शन के गम्भीर गवेषक विद्वानों का यह अभिमत अत्यन्त सुविचारित है कि "इस एकान्तवाद के दोष से मुक्त होने की जैसी युक्ति जैनों ने निकाली है, वैसी किसी अन्य प्राच्य या पाश्चात्य दार्शनिक ने नहीं।[2]"

जैनदर्शन का यह सिद्धान्त अनेक प्रकार से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इसके सूक्ष्म अध्ययन तथा मनन की नितान्त आवश्यकता है। समन्वय, सहिष्णुता और सह-अस्तित्व आदि की भावनाओं से ओतप्रोत इस अत्यन्त व्यावहारिक सिद्धान्त के आधार पर आचार्यप्रवर श्रीसमन्तभद्र स्वामी ने अब से लगभग १७ सौ वर्ष पूर्व भगवान् महावीर के जैनशासन को सर्वप्रकारीय आपत्तियों का निवारक, शाश्वत तथा सर्वाभ्युदयकारी तीर्थ के रूप में स्मरण किया है—

सर्वापदामन्तकरं निरन्तम् सर्वोदयं तीर्थमिदं तवैव।[3]

आज जबकि सम्पूर्ण विश्व बारूद के ढेर पर बैठा हो और एटम बमों 'Atom Bombs' के जोर पर ऐंठा हो, तब इस प्रकार के अनेकान्तात्मक विचारों के अनुशीलन से अन्धविश्वास, साम्प्रदायिक संकीर्णता और असहिष्णुता आदि कुप्रवृत्तियाँ नष्ट हो सकती हैं और मानव लोककल्याणवादी हो सकता है।

●



१ देखिये दि न्यु रियलिज्म, पृ० १४—१५

२ देखिये डा० सतीशचन्द्र चट्टोपाध्याय और डा० धीरेन्द्रमोहनदत्त कृत 'भारतीय दर्शन' पटना, पृष्ठ ५४

३ आचार्य समन्तभद्र 'युक्त्यनुशासन' कारिका ६१

जैनदर्शन की वैज्ञानिक पृष्ठभूमि

प्रो० निहालचन्द्र जैन
एम० एस-सी०
मडावरा (झांसी)



(१) धर्म और विज्ञान के समन्वय की आवश्यकता

आज के इस वैज्ञानिक युग मे बुद्धिजीवी मानव अपने को निरन्तर शक्तिशाली बनाने का प्रयास कर रहा है और वह उन्ही सत्यो एव तथ्यो को मान्यता दे रहा है, जो प्रयोग-परीक्षण (Experimental verification) की कसौटी पर खरे उतर रहे है। इसके बावजूद वह अपने भीतर एक शून्यता (vaccume) और अशान्ति का गहन अधकार पा रहा है। लगता है, शक्ति-उपलब्धि मे शान्ति खोता जा रहा है। इससे एक तथ्य सामने अवश्य आया है कि जिन्होने मात्र विज्ञान की खोज की, वे शक्तिशाली हो गये पर अशान्त और विपन्नता मे डूबे हुए हैं। और जिन्होंने मात्र धर्म का अनुसधान किया, वे शान्त हो गये पर अशक्त और पिछडे है। ऐसा मानव या राष्ट्र जो अपने को शक्ति और शान्ति मे अखण्ड रूप से प्रवर्तमान रखना चाहता है, उसे विज्ञान और धर्म, दोनो की शरण लेनी होगी, क्योंकि एक की भी कमी से मानव की साधना और राष्ट्र की सस्कृति अधूरी रह जायेगी। इतिहास इसका साक्षी है कि ऐसी शक्ति, जो शान्ति से अछूती रही, क्रूरता और सहारकता के विकृति रूप मे पनपी और मानव का उससे कुछ शुभ नही हो पाया।

विज्ञान ने जहाँ मानव को ज्ञान (knowledge) से भरा, वहाँ धर्म की रिक्तता मे वह विवेक-शून्य हुआ। और फिर विवेकरहित ज्ञान ने अणुबम्ब और उद्जन बम्बो का निर्माण कर मानवसस्कृति पर कुठाराघात किया, जिसका दोषारोपण विज्ञान पर थोपा गया। मानव ज्ञान की आवश्यकता के साथ विवेक की अनिवार्यता भुला बैठा। परिणाम मे विवेकशून्य ज्ञान से उसमे गति (speed) तो भरी लेकिन वेग (velocity) उत्पन्न नही किया और बिना वेग के वह दिशा-भ्रष्ट हो मात्र भटकता रहा। लक्ष्य की सिद्धि मात्र गति करने से नही मिल सकती, उसके लिए तो एक खास दिशा मे जाना होगा।

मानव ने धर्म (अन्तस् की चेतना) के विस्मरण-मूल्य पर शक्ति की होड मे सघर्ष खरीदा है, जो मात्र विज्ञान रूपी करघे मे मौत का कफन बुनने जैसा ही है

एतएव धर्म और विज्ञान मे समन्वय लाने की अनिवार्य आवश्यकता है। यद्यपि विज्ञान का विषय उन प्रयोगो का अध्ययन और निरीक्षण है। जो प्रकृति की गतिविधियो से सम्बद्ध हैं, जबकि दर्शन वहाँ से शुरू होता है जहाँ विज्ञान अपनी अन्तिम पराकाष्ठा पर पहुँच जाता है। फिर भी सत्य हर पहलू से सत्य होता है और इसलिए धर्म या दर्शन के सत्य भी किसी भी तराजू के पलडे से तौले जा सकते हैं। यह विश्लेषण, सिद्धान्तो के प्रति अधिक आस्था पैदा करे बस यही इसका उद्देश्य है।

(२) जैनदर्शन का परमाणुवाद और आधुनिक विज्ञान की मान्यता

जैनदर्शन ससार की रचना छह द्रव्यो (जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल) से हुई मानता

है। इनमें से केवल पुद्गल द्रव्य (matter and energy) मूर्तिक या रूपी है शेष अमूर्तिक। मुख्य रूप से यह संसार जीव और पुद्गल का सम्मिश्रण है, शेष चार द्रव्य इनके सहायक हैं।

चूँकि भौतिक विज्ञान मूर्तिक पुद्गल द्रव्य से ही सम्बन्ध रखता है, इसलिए यहाँ पुद्गल द्रव्य (परमाणुवाद) की चर्चा दर्शन और विज्ञान की पृष्ठभूमि में करेंगे।

'पुद्गल' दो पदों से मिलकर बना हुआ है। पहला पुद् जिसका अर्थ है मिलना (Combination) और दूसरा गल—जिसका अर्थ गलना या विनाश (Disintegration) से है। इस घटना को इस प्रकार समझाया गया है कि एक स्कन्ध (Molecule) दूसरे स्निग्ध या रूक्ष स्कन्ध से मिलकर अधिक रूक्ष या स्निग्ध गुणयुत स्कन्ध उत्पन्न करेगा। इसी प्रकार एक स्कन्ध में से कुछ स्निग्ध या रूक्ष स्कन्ध निकल जाने से कम स्निग्ध या रूक्ष गुणयुक्त स्कन्ध प्राप्त होगा।

वैज्ञानिक-पारिभाषिक शब्दों में स्निग्ध और रूक्ष परमाणुओं से तात्पर्य अविभाज्य धनात्मक विद्युन्मय कण (Positive charged particle) और ऋणात्मक विद्युन्मय कण (Negative charged particle) ही है। इन्हीं दोनों प्रकार के कणों से मिलकर उदासीन (Neutral) परमाणु (Atom) बनता है जिन्हें क्रमशः प्रोटॉन और इलेक्ट्रॉन (Electron) नाम से पुकारा जाता है। इनके अलावा न्यूट्रान उदासीन कण भी परमाणु में अपना स्थान रखता है।

परमाणु की रचना में इलेक्ट्रॉन (Electron), नाभि (Nucleus) के चारों ओर बाह्य परिधियों में तीव्रगति से घूमते रहते हैं। परमाणुओं के बीच इलेक्ट्रॉनों की सहभागिता (Co-valency) और विद्युत-संयोजकता (Electrovalency) से जो बन्धता (Combination) होती है वह ठीक जैनदर्शन के सिद्धान्त से मेल खाती है।[1] इसके अनुसार दो ऐसे ही परमाणु मिलकर किसी यौगिक के स्कन्ध बनेंगे जिनके बाह्य कक्ष में इलेक्ट्रॉनों (रूक्षता के अविभागी प्रतिच्छेद) की संख्या समान नहीं होती तथा दो अधिक गुण वालों के साथ ही बन्ध होता है। चाहे यह बन्ध स्निग्ध-स्निग्ध या रूक्ष-रूक्ष अथवा स्निग्ध-रूक्ष का हो।

उदाहरणार्थ—साधारण नमक, सोडियम और क्लोरीन परमाणुओं से मिलकर बना होता है जिनके बाह्य-कक्ष में क्रमशः एक और सात इलेक्ट्रॉन होते हैं। परन्तु अरगॉन (Argon), क्रिप्टॉन (Krypton), जेनॉन जैसी अक्रियाशील गैसों के परमाणु जिनके बाह्य-कक्ष में आठ आठ इलेक्ट्रॉन होते हैं कभी भी आपस में बन्धता को प्राप्त नहीं होते हैं।

१९वीं सदी के प्रारम्भ में डाल्टन ने अपने परमाणविक सिद्धान्त (Daltons' Atomic theory) में यह कहा था कि एक तत्व के परमाणु दूसरे तत्व के परमाणुओं में नहीं बदले जा सकते, लेकिन जैनदर्शन के अनुसार पुद्गल द्रव्य (जिसके अन्तर्गत विज्ञान सम्मत १०२ तत्व हैं) अपने द्रव्य-लक्षण के अनुसार एक तत्व की पर्याय (Modification) में दूसरे तत्व की पर्याय धारण कर सकता है। इस तथ्य की पुष्टि आधुनिक भौतिक विज्ञान के रेडियोधर्मी घटना (Radio-activity) ने कर दी है। जिसके अनुसार यूरेनियम अथवा एक्टिनियम धातु के अणु अपनी कई शृंखलाओं को पार करने के बाद सीसा (Lead) के अणु में परिवर्तित हो जाते हैं। खानों में प्राप्त होने वाली विविध धातुएँ और हीरा (Diamoud) आदि इसी सिद्धान्त से एक रूप से दूसरे रूप में उसी पृथ्वी के गर्भ-गृह में पड़े बदलते रहते हैं।

परन्तु पुद्गल द्रव्य का सूक्ष्मतम अविभाज्य कण परमाणु अविनाशी है, शब्द रहित है, एक प्रदेशी तथा



---

१ गुण साम्ये सदृशानाम् ॥३५॥ द्व्यधिकादिगुणानां तु ॥३६॥ बन्धेऽधिकौ पारिणामिकौ च ॥
—तत्वा० सूत्र अ० ५

मूर्तिक है। परमाणु-ध्रुवता की पुष्टि डाल्टन के परमाणुवाद के अन्तिम नियम तथा उर्जा-अविनश्वरता के सिद्धान्त (Principle of conservation of energy) ने की है। जिसके अनुसार द्रव्य न तो पैदा किया जा सकता और न ही नष्ट, परन्तु उसके रूप मे ही परिवर्तन आ सकता है। अर्थात् सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड की विविध उर्जाओ का मान हमेशा एक ही रहता है।

पुद्गल द्रव्य की अन्य कुछ और विशेषताए है जिनको विज्ञान के आलोक मे अध्ययन कर सकते है—

(१) पुद्गल द्रव्य मे स्पर्श, रस, गन्ध, और वर्ण ये चार गुण पाये जाते है।
(२) पुद्गल-परमाणु गतिशील, सक्रिय तथा अनन्त शक्ति वाला होता है।
(३) शब्द, बन्ध, सूक्ष्मता, स्थूलता, संस्थान (आकार), भेद, अधकार, छाया, आताप, और उद्योत ये सब पुद्गल द्रव्य के पर्याय है।

(i) पुद्गल-परमाणु की गतिशीलता —पुद्गल के एक परमाणु मे एक समय मे (Absolute unit of time) १४ राजू गमन करने की जो शक्ति बतलायी है उसमे इसकी गतिशीलता का प्रमाण मिलता है। इतना तो वैज्ञानिको ने अपने प्रयोगो द्वारा बतला दिया कि प्रकाश-पिण्डों (Quantam) का वेग १८६००० मील प्रति सेकेण्ड है। ये प्रकाश पिण्ड जो कि प्रकाशीय-कणो (Photons) के खजाने हैं, पुद्गल के रूप हैं। विद्युत्-चुम्बकीय तरंगो, प्रकाशकिरणो, ताप-किरणो आदि के गमन का तरग-सिद्धान्त (Wave theory) इस बात का द्योतक है कि पुद्गल परमाणु तीव्रतम गति रखता है और अन्त मे परमाणु रचना मे इलेक्ट्रानो का अपने बाह्य कक्षों मे तीव्रतम गति से हमेशा घूमते रहना इस बात की पुष्टि का सबल-प्रमाण है।

(ii) पुद्गल अनन्त शक्ति का खजाना —आइन्स्टोइन के सहति-उर्जासूत्र (mass-energy relation) [$E=mc^2$ जहाँ $E=$ उर्जा, $m=$ सहति, $c=$प्रकाश-वेग] ने यह स्पष्ट कर दिया कि वस्तु की मात्रा को उर्जा मे परिवर्तित किया जा सकता है। एक ग्राम यूरेनियम धातु जब शक्ति मे परिवर्तित होती है तो उससे उतनी ही शक्ति प्राप्त होती है जितनी ३ हजार टन कोयला जलाने से मिल सकती है। इसी प्रकार Annihilation Phenomenon द्वारा यह देख लिया गया कि शक्ति को सहति मे बदला जा सकता है। डॉ भाभा ने अपनी Cosmic Rays की थ्योरी मे यह बतलाया है कि निश्चित सहति वाले प्रकाशीय कण (Photon), अ-कणों (a-particles) से मिलकर बनते है जो कि शक्ति के रूप मे होते है।

इसी प्रकार जब एक शक्ति, दूसरी शक्ति के रूप मे परिवर्तित होती है तो परिणाम मे भारी अतिरिक्त उर्जा निकलती है। जो इस बात का प्रमाण है कि पुद्गल अनन्त शक्ति रखता है।

(iii) बन्ध —पुद्गल परमाणुओ के बन्ध की प्रक्रिया पहिले ही बता आये हैं। आगे कर्म सिद्धान्त में कार्मण वर्गणा रूप पुद्गल परमाणु, जीव के साथ कैसे बन्ध को प्राप्त होते हैं, बतायेंगे।

(iv) शब्द —वैशेषिक दर्शन का मत था कि शब्द (ध्वनि) आकाश द्रव्य का गुण है। परन्तु आधुनिक प्रयोगो ने जैनदर्शन के सिद्धान्त का समर्थन करते हुए सिद्ध कर दिया है कि यह पुद्गल द्रव्य की पर्याय है क्योकि ध्वनि को ग्रामोफोन या टेपरिकार्डर द्वारा बांधा जा सकता है। संग्राहक (Receiver) द्वारा पकडा जा सकता है। वायरलेस द्वारा भेजा जा सकता है। यह परावर्तित होकर प्रतिध्वनि (Echo) उत्पन्न करता है। तथा हवा के माध्यम से अनुप्रस्थ और अनुदैर्घ्य तरगो में गमन करता है। गमन करने का अनुनाद नली (Resonance-tube) द्वारा ज्ञात किया जा सकता है। चूंकि इसे मूर्तिक कर्णेन्द्रियाँ ग्रहण करती है इसलिए, भले ही आँखो से वह न दिखे, मूर्तिक ही है। इस प्रकार स्कन्धों के परस्पर स्पर्श से उत्पन्न शब्द पुद्गल की ही पर्याय है।

(v) छाया — जिस प्रकार ध्वनि को रोका या पकडा जा सकता है उसी प्रकार छाया को भी तरगो के माध्यम मे एक स्थान मे दूसरे स्थान को भेजकर टेलीविजन द्वारा पकडा जा सकता है। जिसमे वस्तु की प्रतिच्छाया

(Image) पर्दे पर बनती है। इन प्रतिच्छायाओं के देखने से यह बात स्वयंसिद्ध हो जाती है कि आकार भी पुद्गल का एक रूप है।

(vi) तम या अन्धकार —यह केवल प्रकाश का अभाव ही नहीं जैसा कि कणाद आदि दार्शनिकों ने स्वीकार किया है, बल्कि पृथक् पदार्थ है। क्योंकि प्रकाश की अनुपस्थिति में भी अन्धकार में से Ultravisible, Infrared और Cosmic rays आदि जैसी किरणें गुजरती रहती हैं जो फोटोग्राफिक प्लेट पर अपना प्रभाव डालती हैं। इसलिए विज्ञान इसको पुद्गल का एक विशेष रूप स्वीकारता है।

(vii) प्रकाश और आताप —प्रकाश प्रकाशीय पिण्डों (Optical Quauta) के रूप में गमन करता है। ये प्रकाशीय पिण्ड फोटॉन कणों के समूह होते हैं जो निश्चित शक्ति वाले प्रकाशीय-कण होते हैं। यही Photon कणों के रूप में बराबर प्रकाश ऊर्जा का विकिरण करते रहते हैं।

इसी प्रकार ताप, विकिरण-तरंगों (Radiation) के रूप में उच्च तापक्रम वाली वस्तुओं से निम्न तापक्रम वाली वस्तुओं में गमन करता रहता है। ताप की मात्रा भी प्रयोगों द्वारा कैलरी में नापी जा सकती है। इस प्रकार प्रकाश और आताप पुद्गल द्रव्य की पर्याय है।

(२) वैज्ञानिक पृष्ठभूमि पर कर्म-सिद्धान्त का स्पष्टीकरण

प्रत्येक द्रव्य का अपना कार्य होता है जिसे जैनदर्शन के अनुसार उपग्रह या उपकार कहते हैं। यह उपकार पुद्गल-द्रव्य अपने स्वयं में या अन्य पुद्गल द्रव्यों के साथ करता है तथा जीव द्रव्य के प्रति भी करता है।

पुद्गल द्रव्य को २३ वर्गणाओं (Classifications) में रखा जाता है।[1] इन वर्गणाओं में से कार्मण वर्गणा भी है जिसका अर्थ ऐसे पुद्गल परमाणुओं से है जो जीव द्रव्य के परिणमन के अनुसार (कभी शरीर, कभी मन, कभी वचन और कभी श्वासोच्छ्वास के रूप में) अपना स्वयं का परिणमन करते हुए जीव द्रव्य का उपकार करते हैं। इन कार्मण वर्गणा रूप पुद्गल परमाणुओं का जीव द्रव्य के साथ संयोग होने की प्रक्रिया वैज्ञानिक आधार से यों समझ सकते हैं —

यह सम्पूर्ण लोकाकाश इन कार्मण वर्गणा रूप पुद्गल परमाणुओं से ठीक इसी प्रकार भरा पड़ा है जिस प्रकार सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में विद्युत्-चुम्बकीय तरंगें (Electromagnetic waves)। ये परमाणु बहुत ही सूक्ष्मतम होने से लगातार तरंगरूप में गमन करते हुए मान सकते हैं। यदि तरंग लम्बाई—इनकी वारम्वारता (Frequency) n तथा c प्रकाश के वेग के द्वारा दर्शायें तो $(c=n\lambda)$ से प्रकाश वेग से तरंगों के रूप में लोकाकाश के एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश की ओर गमन करते रहते हैं। इनकी कम्पन-शक्ति बहुत ही उच्च, यहां तक कि x—Rays की कम्पन-शक्ति ($१०^{१३}$ से $१०^{१५}$ कि० साईकिल प्रति से०) से करोड़ों गुनी ज्यादा होती है।

अब एक खास वारम्वारता की विद्युत्चुम्बकीय तरंगों को एक ग्राहक द्वारा पकड़ने के लिए उसमें एक ऐसे ऑसिलेटर का उपयोग किया जाता है कि वह उन्हीं वारम्वारता पर कार्य कर रहा हो। इस विद्युतीय साम्यावस्था (Electrical resonance) के सिद्धान्त से वे आकाश में व्याप्त तरंगें ग्राहक द्वारा आसानी से ग्रहण कर ली जाती हैं।

ठीक यही घटना आत्मा में कार्मण-स्कन्धों के आकर्षित होने में होती है। विचारों या भावों के अनुसार मन, वाणी या शारीरिक क्रियाओं द्वारा आत्मा के प्रदेशों में कम्पन उत्पन्न होते हैं जिसे जैनदर्शन में 'योग' संज्ञा दी गई है अर्थात् योग शक्ति से आत्मा में पूर्व से उपस्थित कर्म रूप पुद्गल परमाणुओं (जो आत्मा के प्रदेशों में एकक्षेत्रावगाही



---

१ शरीरवाङ्मनःप्राणापानाः पुद्गलानाम् ॥ तत्वार्थसूत्र अ० ५, १९ ॥



होकर पूर्व से प्रवर्तमान थे) मे कम्पन होता है। इन कम्पनो की वारम्बारता की न्यूनाधिकता कषायो की ऋजुता या घनी सक्लेशता के अनुसार होती है। शुभ या अशुभ परिणामो से विभिन्न तरग लम्बाइयो की तरगें आत्मा के प्रदेशो से उत्पन्न होती रहती है और इस प्रकार की कम्पनक्रिया से इसे एक ओसिलेटर की भाँति मान सकते है, जो लोकाकाश मे उपस्थित उन्ही तरग लम्बाई के लिए साम्य (Tunned or resonance) समझा जा सकता है। ऐसी स्थिति मे (भाव कर्मो के माध्यम से ठीक उसी प्रकार की तरगें आत्मा के प्रदेशो से एक क्षेत्रावगाही सम्बन्ध स्थापित कर लेती है। और आत्मा को अपने स्वभाव गुण के कारण विकृत कर नयी नयी तरगें पुन आत्मा मे उत्पन्न करती है। इस तरह यह स्वचालित ओसिलेटर (Self Oscillated Oscillator) की भाँति व्यवहार कर नयी नयी तरगो को हमेशा खीचता रहता है। इसे जैनदर्शन मे आस्रव नाम से कहा है।

लेकिन एक बात अवश्य ध्यान देने की है कि ये पुद्गल परमाणु आत्म-प्रदेशो मे एक क्षेत्रावगाही सम्बन्ध ही स्थापित करते हैं न कि वे दोनो एक दूसरे मे परिवर्तित हो जाते है। ऐसे सम्बन्ध के बावजूद भी जीव, जीव रहता है और पुद्गल के परमाणु अपने परमाणुओं मे ही। दोनो अपने मौलिक गुणो (Fundamental Properties) को एक समय के लिए भी नही छोडते। जैनदर्शन मे इस एकक्षेत्रावगाही सम्बन्ध को ही बन्ध कहा है।

यदि आत्मा के प्रदेशो मे परमाणुओ की कम्पन-प्रक्रिया ढीली पडने लगे, जो कि योगो की सरलता से ही सम्भव हो सकती है, तो बाहर से उसी अनुपात मे कार्मण परमाणु कम आयेंगे अर्थात् आकर्षण-क्रिया हीन होगी अर्थात् सवर होगा। जब नयी तरगो के माध्यम से पुद्गल परमाणुओ का आना बन्द हो जाता है तो पहिले से बैठे हुए कार्मण परमाणु Damped Oscillation करके निकलते रहेंगे। अर्थात् प्रतिक्षण निर्जरा होगी। और एक समय ऐसा आयेगा जब प्राप्तक का ओसिलेटर कार्य करना बन्द कर देगा। निर्विकल्पता की उस स्थिति मे योगो की प्रवृत्ति एकदम बद हो जायेगी और सचित कर्म शेष न रहने पर फिर प्रदेशो की कम्पन-क्रिया का प्रश्न ही नही उठेगा अर्थात् कर्मो की निर्जरा हो जायेगी। सम्पूर्ण कर्मो की निर्जीर्णावस्था ही मोक्ष कहलाती है।

इस प्रकार तरग सिद्धान्त के विद्युतीय साम्यावस्था (Electrical resonance) की घटना से शेष पाच तत्व (आस्रव, बध, सवर, निर्जरा और मोक्ष) समझाये जा सकते है।

कर्मों की बध अवस्था के अलावा अन्य नौ अवस्थायें होती है, जैसे — उत्कर्षण, अपकर्षण, सत्ता, उदय उदीरणा, सक्रमण, उपशम, निधत्ति और निकाचना, जिन्हे करण कहते हैं। इनका स्पष्टीकरण उपर्युक्त सिद्धान्त से दिया जा सकता है।

(४) आकाश और काल द्रव्य की रूपरेखा

[१] जिसमे अस्तित्व हो वही द्रव्य है और जो उत्पाद, व्यय एव ध्रौव्य सहित होता है वही अस्तित्व वाला कहा जाता है। दूसरे शब्दो मे हम यह भी कह सकते हैं कि जिसमे गुण (जो निरन्तर द्रव्य के साथ रहे और द्रव्य के रूप-परिवर्तन के समय भी द्रव्य से पृथक् न होता हो) और पर्याय पाई जावे उसे द्रव्य कहते है। [२] द्रव्य की परिभाषा के अनुसार "काल" भी द्रव्य सिद्ध होता है जिसका अविभाज्य कण या परमाणु "समय" कहलाता है।

काल द्रव्य अनन्त समय वाला होता है। व्यवहार मे आने वाला समय उस निश्चय काल द्रव्य की पर्याय है जो लोकाकाश के प्रत्येक प्रदेश पर स्थित है तथा ये कालाणु आपस मे नही मिलते है।

---

१ सद् द्रव्यलक्षणम् ॥२९॥ उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्त सत् ॥३०॥ गुणपर्ययवद् द्रव्यम् ॥३८॥ तत्वार्थ सू० अ० ५-२ कालश्च ॥३९॥

2. Minko four Dimention theory

$$(dx)^2+(dy)^2+(dz)^2+(ict)^2=0$$

इस काल द्रव्य का मुख्य कार्य पुद्गलों मे परिणमन उत्पन्न करना है। व्यवहार काल की अपेक्षा यह हमेशा उपजता तथा विनशता है परन्तु द्रव्य रूप निश्चय काल की अपेक्षा अविनाशी है।

मिन्को के चतुर्थआयाम सिद्धान्त (Four-dimensional theory) ने आधुनिक विज्ञान को नयी दिशा-दृष्टि दी है और मिन्को ने अपने क्रान्तिकारी विचारों एवं सिद्धान्तो मे इस बात की पुष्टि कर दी है कि वस्तु के परिवर्तन मे उसकी लम्बाई, चौडाई और ऊँचाई के साथ एक चौथा पद समय भी है जिसको छोडा नहीं जा सकता। अर्थात् पदार्थ के रूप मे अन्तर डालने वाला मात्र आकृति ही का परिवर्तन नही बल्कि उसके साथ समय भी परिवर्तन मे सहायक होता है। मिन्को का यह सिद्धान्त जैनदर्शन के कालद्रव्य-सिद्धान्त से बिलकुल मेल खा रहा है।

आइन्स्टाइन ने अपने आपेक्षिक-सिद्धान्त (Theory of Relativity) मे गणित-सिद्धान्तो के आधार पर यह सिद्ध कर दिया कि किसी वस्तु के समय-पद को बदल दिया जाय तो वह वर्तमान मे भी अतीत या भविष्य का स्वरूप ग्रहण कर सकती है।

इसी प्रकार उसने व्यवहार काल के ऊपर अपने सिद्धान्तों का निरूपण करते हुए लिखा कि यदि दो एक-सी घडी, जो वैज्ञानिक ढग से निर्मित की हुई माइक्रोसेकेण्ड मे भी समय को बतलाती हो, को लेकर उनमे से एक तो ध्वनि के वेग से कई गुने तीव्र गति से चलने वाले वायुयान मे और दूसरी को विराम स्थिति वाले वायुयान मे रखें, तो पहिले वायुयान की घडी, दूसरे वायुयान की घडी से तेज चलती हुई नजर आयेगी।

ये सब तथ्य इस बात के प्रमाण हैं कि वस्तु के परिणमन मे काल अपना सक्रिय सहयोग देता है।

आकाश द्रव्य (Space, Medium of Location of Soul, Matter and Energies etc)

[1]जो सब जीवों को, धर्म, अधर्म एव काल को अवकाश देता है वह आकाश कहलाता है। परन्तु यह जीवादि द्रव्यो के गमन और स्थिति मे सहायक नही होता। लोक में असख्यात (Countless) प्रदेश (Absolute-Units of Space) ही होते है जिनमे अनन्तानन्त (Infinite in number) जीव और उनसे अनन्तगुणे पुद्गल परमाणु तथा आकाश-प्रदेश के प्रमाण कालाणु तथा असख्य प्रदेशी धर्म और अधर्म द्रव्य अवस्थित है।

इससे यह शका उठ सकती है कि असख्यात प्रदेशी आकाश मे ये सब किस तरह अवकाश पा लेते है ?

इसका समाधान तत्वार्थ सूत्र अ० ५ का १६वाँ सूत्र "प्रदेश-सहार विसर्पाभ्या प्रदीपवत्" करता है।

जैसे एक कोठरी मे अनेको दीपकों का प्रकाश व एक तहखाने मे अनेको उपकरणो से उत्पन्न शब्द अवगाहना पा लेते है ठीक उसी प्रकार प्रदेशो के सकोच और विस्तार गुण के द्वारा भी जीव व अन्य द्रव्य लोकाकाश के असख्यात प्रदेशों मे टिके रहते है।

इस प्रकार जैनदर्शन के कतिपय सिद्धान्तो का अवलोकन आधुनिक विज्ञान की पृष्ठभूमि मे करने पर इनकी शाश्वतता एव सत्यता का सहज भान हो जाता है। युग ऐसे विश्लेषण की अपेक्षा करता है जो धर्म-दर्शन और विज्ञान मे तालमेल बैठा सके।



---

१ सव्वेसिं जीवाणं सेसाणं तहय पोग्गलाणं च।
जं देदि विवरमखिलं त लोए हवदि आयासं ॥ —पचास्तिकाय
आकाशस्यावगाह ॥१८॥ तत्वा० सू० अ० ५

जैनदर्शन और विज्ञान

श्री महावीरसिंह मुडिया,
एम० एस-सी०
उदयपुर



जैनदर्शन एक प्राचीन वैज्ञानिक दर्शन है। निस्सन्देह विज्ञान-जगत् मे हो रहे नित-नूतन आविष्कारो तथा अनेक वैज्ञानिक मान्यताओ का अभूतपूर्व वणन जैन शास्त्रो मे किया गया है। यही नही, 'अनेक ऐसी जटिल समस्याएँ, जिनके बारे मे आज के वैज्ञानिक प्राय हतप्रभ हैं, उनका अनूठा समाधान भी कई जगह पर जैन आगमो मे प्राप्त होता है। वनस्पति मे जीव है, यह मान्यता जैनदर्शन की बहुत पुरानी है। वैज्ञानिक लोग इस बात को मानने के लिए तब तक तैयार नही हुए जब तक कि श्री जगदीशचन्द्र बसु ने अपने यन्त्रो के द्वारा यह पूर्ण रूप मे सिद्ध नही कर दिया। इसी प्रकार पानी मे भी कीडे (germs) है और इसलिये जैन साधु कच्चे पानी का उपयोग नही करते है, इसे वैज्ञानिको ने माइक्रोस्कोप के आविष्कार के बाद ही मान्यता दी। वास्तविकता तो यह है कि जैनदर्शन का यदि वैज्ञानिक रूप से गभीर अध्ययन किया जाए तो विज्ञान-जगत् को अभूतपूर्व लाभ तो होगा ही, साथ ही वैज्ञानिको की अनेक समस्याएँ, जिन्हे वे दिन-रात प्रयोग कर सुलझाने मे लगे है, स्वत ही हल हो जाएँगी।

जैनदर्शन और परमाणुवाद —जैनदर्शन मे परमाणुवाद पर विस्तृत वर्णन किया गया है। आश्चर्य तो यह है कि जैनदर्शन मे जिस परमाणु का वर्णन आया है, वह आज के परमाणु से भी अत्यन्त सूक्ष्म है। जैनदर्शन के अनुसार वैज्ञानिको के परमाणु (Atom) से भी छोटा कण, जो अविभाज्य है, अच्छेद्य, अभेद्य, अदाह्य, और अग्राह्य है, किसी भी उपचार, उपाय या उपाधि से जिसका भाग नही हो सकता, किसी तीक्ष्णातितीक्ष्ण शस्त्र से जिसका विभाजन नही हो सकता, जो अग्नि मे जलता नही, जिसकी न लम्बाई है, न चौडाई है और न गहराई है, ऐसे इकाई रूप को परमाणु माना गया है। सूक्ष्मता के कारण वह परमाणु स्वय ही आदि, स्वय ही मध्य और स्वय ही अन्त है।

आधुनिक विज्ञान ने परमाणु के भीतर भी कई कणो को खोज निकाला है, जो कि परमाणु की बनावट जानने मे बडे सहायक हुए हैं। तात्पर्य यह है कि वैज्ञानिक लोग जिस छोटे कण को परमाणु समझ बैठे थे, अब वे ही उससे भी छोटे छोटे कण, यानि इलेक्ट्रान, प्रोटान, न्यूट्रान, मेसोन, पोजीट्रान, न्यूट्रिनो आदि अत्यन्त सूक्ष्म कणो का पता लगाने मे समर्थ हुए है। उपर्युक्त कण भी जैनदर्शन के परमाणु से बडे हैं। स्पष्ट है कि आगे आने वाले आविष्कार जैनदर्शन के परमाणु की यथार्थता को पुष्ट कर सकेंगे। वैज्ञानिक प्रगति बडी तेजी से हो रही है और अब तक परमाणु के भीतर इस प्रकार ३३ कणो का पता लगा लिया गया है। यह विश्वासपूर्वक साधिकार कहा जा सकता है कि सूक्ष्म से सूक्ष्म कण के अस्तित्व का पता भी विज्ञान प्राप्त कर सकेगा।

जैन शास्त्रो मे परमाणु की गति के सम्बन्ध मे बताया गया है—"परमाणु एक समय मे कम से कम एक आकाश-प्रदेश का अतिक्रमण कर सकता है और अधिक से अधिक एक ही समय मे चतुर्दश रज्ज्वात्मक लोक के पूर्व चरमान्त से पश्चिम चरमान्त या उत्तर चरमान्त से दक्षिण चरमान्त तक पहुँच सकता है। 'समय' एक जैन पारिभाषिक शब्द है। परमाणु की तरह वह काल का अन्तिम टुकडा है। स्थूल रूप से यह कहा जा सकता है कि आँखो के पलक के एक बार उठने या गिरने मात्र मे असख्य समय व्यतीत हो जाते है। इस एक समय मे परमाणु चतुर्दश रज्ज्वात्मक सारे विश्व का भ्रमण करता है। यदि एक हजार मन लोहे के गोले को इस अनन्त आकाश मे छोडा जाए और वह गोला छ महीने तक गिरता ही जाए, इस अवधि मे जितने आकाश-देश का अवगाहन गोला करता है, वह एक रज्जू

है। यह ब्रह्माण्ड ऐसे चौदह रज्जुओं का है। अत एक समय मे इस छोर से उस छोर तक पहुँचने वाला परमाणु अत्यन्त तीव्र गति करता है।

आधुनिक विज्ञान ने भी अणु और परमाणु की गति को खोज निकाला है। एक इलेक्ट्रान अपने कक्ष मे १३०० मील प्रति सेकेण्ड की रफ्तार से गति करता है। प्रकाश की गति १,८६००० मील प्रति सेकेण्ड है। हीरे आदि ठोस पदार्थ मे अणुओं (Molecules) की गति प्रतिघण्टा ६६० मील है। सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक अलबर्ट आइन्स्टीन के अनुसार प्रकाश की गति अन्तिम है अर्थात् कोई भी कण १,८६००० मील प्रतिसेकेण्ड की गति से अधिक नही कर सकता है। काफी समय तक वैज्ञानिक जगत् मे यह मान्यता थी और आइन्स्टीन का यह निर्णय सर्वमान्य हो गया था। प्लाज्मा कणो पर शोध के फलस्वरूप अब यह गति अन्तिम नही मानी जाने लगी है। प्लाज्मा कणो को प्रकाश की गति से भी अधिक गति प्रदान की गई है। बहुत सम्भव है आने वाले नये आविष्कारो के फलस्वरूप वैज्ञानिक अभी तक प्राप्त तथ्यो से भी आगे बढने मे सफल हो सकेंगे।

जैनदर्शन के अनुसार थोडे से परमाणु एक विस्तृत आकाशखण्ड को घेर लेते है और कभी-कभी वे परमाणु घनीभूत होकर बहुत छोटे से आकाश-देश मे समा जाते हैं। पदार्थ की सूक्ष्म परिणति के सम्बन्ध मे वैज्ञानिको की पहुँच इस पराकाष्ठा तक तो नही हुई है, किन्तु आये दिन ऐसे निविड पदार्थो का पता चल रहा है, जो परमाणु की सूक्ष्म परिणति के सम्बन्ध मे जैन दार्शनिको द्वारा कही गई बातो की पुष्टि करते हैं। एक एक स्क्वायर फीट लकडी के टुकडे मे और उतने ही बडे लोहे के टुकडे के वजन मे काफी अन्तर होता है। इस विस्तृत आकाश मे ऐसे भी ग्रहपिण्ड देखे गये हैं जो प्लेटिनम धातु से भी दोहजार गुना सघन हैं। इन आकाशीय पिण्डो मे से कुछ पिण्डो मे तो पदार्थ इतनी सघनता से भरा है कि एक क्यूबिक इच मे २७ मन वजन होता है। सबसे छोटा तारा जो हाल ही मे खोजा गया है, उसके एक क्यूबिक इच मे १६७४० मन वजन होता है।

जैनदर्शन के अनुसार छोटे से छोटे एक बालू कण मे अनन्त परमाणु होते हैं। वह एक स्कन्ध कहलाता है। स्कन्ध द्विप्रदेशात्मक अर्थात् दो परमाणुओं का भी हो सकता है। तात्पर्य यह हुआ कि किसी भी स्कन्ध का यदि तोडा ही जाता रहा तो एक स्कन्ध असख्य स्कन्धो मे बँट जाएगा। विज्ञान के क्षेत्र मे भी माना गया है कि एक बूंद पानी के अन्दर ५० लाख स्कन्ध होते हैं तथा इससे भी अधिक हो सकते हैं।

सहस्रो वर्ष पूर्व प्रतिपादित जैनदर्शन का परमाणुवाद आज भी बिल्कुल नया लगता है। आज के इस यन्त्रप्रधान युग मे जब परमाणुवाद एक पहेली बना हुआ है, तो उस युग मे जब प्रयोगशालाएँ और यान्त्रिक साधन नहीं थे, जैनदार्शनिको ने परमाणु की सूक्ष्मता का जो वर्णन किया है, निश्चय ही अद्वितीय है।

यह पृथ्वी-लोक —मानवमस्तिष्क मे पृथ्वी हमेशा ही एक रहस्य बन कर रही है। पृथ्वी कब बनी, इसका नाश कब होगा और अभी क्या अवस्था है, आदि प्रश्नो को मनुष्य सुलझाता रहा है। मनुष्य का ज्ञान ज्यो-ज्यो आगे बढता गया, पहले की कल्पनाएँ उसके लिए निरर्थक होती गईं। प्राचीन हिन्दू धर्मावलम्बियो का विश्वास था कि पृथ्वी ईश्वर की कला है और शेषनाग के मस्तक पर टिकी हुई है। यूनानियो का विश्वास था कि पृथ्वी बारह खम्भो पर टिकी हुई है। आकार के बारे मे भी नाना प्रकार के मत थे। किसी ने पृथ्वी को थल के समान माना तो किसी ने खरबूजे के समान।

आधुनिक विज्ञान में भी पृथ्वी की उत्पत्ति के बारे में यह माना गया है कि कम से कम दो अरब वर्ष पूर्व एक तारा आकाश मे चलता हुआ सूर्य के पास आया। जिस प्रकार हमारी पृथ्वी पर सूर्य और चन्द्र ज्वार पैदा करते हैं उसी प्रकार उस तारे ने भी सूर्य की सतह पर ज्वार पैदा किये होंगे और एक भयकर लहर सूर्य की समूची सतह पर फैल गई। ज्यो ज्यो वह तारा निकट आया वह लहर एक ऊँचे पर्वत का रूप लेती गई। कालान्तर मे पर्वत के टुकडे टुकडे हो गये और ये छोटे टुकडे अपने सूर्य के चारो ओर घूमने लगे। ये ही हमारे छोटे और बडे ग्रह हैं जिनमें पृथ्वी भी एक है।





पृथ्वी के भविष्य के बारे में विज्ञान का मत है कि धीरे धीरे पृथ्वी की परिक्रमा-गति भी मन्थर होती जा रही है। अभी पृथ्वी को धुरी की परिक्रमा करने में २४ घंटे लगते हैं किन्तु पहले कभी वह तीन-चार घंटे में ही अपनी परिक्रमा समाप्त कर लेती थी। उस समय दो घंटे के दिन और दो घंटे की रात होती थी। एक लम्बी अवधि के बाद पृथ्वी की गति इतनी मन्द हो जायगी कि २४ घंटों का अहोरात्र, १४०० घंटों का हो जायगा। गति के साथ पृथ्वी की उष्णता भी कम होती जायगी और कल्पनातीत भयंकर शीत में पृथ्वी पर से प्राणीमात्र का लोप हो जायगा। यह भी हो सकता है कि कभी यह सारी पृथ्वी अणु अणु होकर अनन्त शून्य में विलीन हो जाए।

पृथ्वी की उत्पत्ति विनाश आदि के सम्बन्ध में जैनदर्शन में माना गया है कि विश्व की अनेक पृथ्वियों में से हमारी यह पृथ्वी (तिर्यक्लोक) एक है। इससे ऊपर भी अनन्त आकाश में पृथक् २ अनेक पृथ्वियाँ हैं और नीचे भी अनेक पृथ्वियाँ हैं। इस प्रकार यह चतुर्दश रज्ज्वात्मक समस्त विश्व है। यह शाश्वत है और अनेक द्वीपात्मक व अनेक समुद्रात्मक यह हमारी पृथ्वी भी उसकी एक शाश्वत इकाई है। सारांश यह हुआ कि पृथ्वी न कभी बनी, और न इसका कोई अन्त है। न यह सूर्य से टूटी और न चन्द्रमा इससे अलग हुआ। पृथ्वी अनादि काल से है अनन्त काल तक रहेगी। जैनदर्शन का यह अभिमत तर्क एवं बुद्धि-संगत है। पृथ्वी की उत्पत्ति के सम्बन्ध में जो नाना प्रकार के विचार हैं वे काल्पनिक ही लगते हैं।

पृथ्वी की रचना के सम्बन्ध में पुरातत्ववेत्ता व भूगर्भशास्त्री, पर्वत, खान एवं भूगर्भ की रासायनिक प्रक्रियाओं के यथार्थ प्रमाणों से उसकी उत्पत्ति और विनाश की जो कल्पना करते हैं, जैन पदार्थविज्ञान के अनुसार उसका उल्लेख अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी कालक्रम में लिया जा सकता है। अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी का अर्थ है ह्रास व विकास का एक सुदीर्घ कालचक्र। यह कालचक्र सख्यातीत वर्षों में पूरा होता है। उत्सर्पिणी के आधे कालचक्र में पृथ्वी की सारी क्रियाएँ क्रमशः निर्माण की ओर बढ़ती हैं और अवसर्पिणी के आधे कालचक्र में क्रमशः ध्वस की ओर। इस प्रकार एक कालचक्र सम्पन्न होता है। यह कालचक्र हमारे क्षेत्र की तरह विश्व के अन्य सभी क्षेत्रों में नहीं होता। प्रकृति के इतिहास में होने वाले इस अध्यायपरिवर्तन को प्रलय और सृष्टि कहा जाता है। जैन विचारधारा के अनुसार प्रलय का अर्थ आत्यन्तिक नाश नहीं, वरं ध्वस की अन्तिम मर्यादा है। बहुत कुछ सम्भव है कि ध्वस और निर्माण के भूदेह पर और भूगर्भ में होने वाले परिवर्तन ही नवीन विज्ञान की पृथ्वी की उत्पत्ति व विनाश सम्बन्धी कल्पनाओं के हेतु हों।

वैज्ञानिक आज इस तथ्य की खोज में जुटे हैं कि अन्य ग्रहों पर भी जीव हैं अथवा नहीं? नाना प्रकार के यन्त्रों के द्वारा अध्ययन किया जा रहा है कि मगलग्रह पर मनुष्य का निवास सम्भव है या नहीं? किसी भी अनहोनी घटना से यह भी माना जाता है कि जिस प्रकार आज इस पृथ्वी के निवासी अन्तरिक्ष में नये नये राकेट छोड़कर पहुँचने की कोशिश कर रहे हैं, उसी प्रकार सम्भवतः इस पृथ्वी पर भी बाहर से कभी इसी प्रकार के अन्तरिक्ष यान में बैठकर अन्य निवासी आए हों। जैनदर्शन का स्पष्ट अभिमत है और वह मानता है कि हमारी पृथ्वी की तरह इस विश्व में अनेक पृथ्वियाँ हैं। इस प्रकार जैन पदार्थविज्ञान युग के इस नवीन चिन्तन में नाना प्रकार के रहस्यों को प्रकट करने में विविध प्रकार के योगदान कर सकता है।

धर्मद्रव्य और ईथर —भगवान् महावीर ने बताया—"धर्मद्रव्य एक है। वह लोकव्याप्त है, शाश्वत है। वर्णशून्य है, गन्धशून्य है, रसशून्य है, स्पर्शशून्य है। वह जीव और अणु की गतिक्रिया में सहायक है। जीवों का आगमन, गमन, बोलना, उन्मेष, मानसिक वाचिक कायिक व अन्य प्रवृत्तियाँ भी धर्मास्तिकाय से होती हैं।"

पंचास्तिकाय में श्रीकुन्दकुन्दाचार्य लिखते हैं—'धर्मास्तिकाय न स्वयं चलती है और न किसी को चलाती है। वह तो केवल गतिशील जीव व पुद्गल की प्रसाधन है। मछलियों के लिए जल जैसे गति में अनुग्रहशील है, उसी प्रकार जीव और पुद्गलों के लिये धर्मद्रव्य है।" रेल के लिए पटरी की सहायता जिस प्रकार अनिवार्यतः अपेक्षित है, उसी तरह गतिशील जीव व पुद्गल की गति में धर्मद्रव्य की अनिवार्य अपेक्षा है। पटरी रेल को चलने के लिए प्रेरित

नहीं करती, फिर भी रेल के चलने में उसकी सहायक रहती है। जीव और पुद्गल की गति में यही सम्बन्ध धर्मद्रव्य का है।

उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्व वैज्ञानिकों में ईथर का कोई स्थान नहीं था। इस ओर वैज्ञानिकों का ध्यान तब तक नहीं गया था। फिर प्रश्न सामने आया—सूर्य, ग्रह और तारों के बीच जो इतना शून्य प्रदेश पड़ा है, प्रकाश किरणें कैसे एक स्थान से दूसरे स्थान तक जाती हैं? उनकी गति का माध्यम क्या है? बिना माध्यम यह असम्भव माना गया कि प्रकाश, जो एक भारवान् वस्तु है, एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र तक पहुँच सके। परिणामस्वरूप ईथर की कल्पना की गई। माना गया—ईथर तारों ग्रहों और दूसरे आकाशीय पिण्डों की खाली जगह में नहीं भरा है, अपितु अत्यन्त सूक्ष्म परमाणु के भिन्न देश में भी व्याप्त है। आइन्स्टीन के अनुसार ईथर अभौतिक, अपारमाणविक लोकव्याप्त, नहीं देखा जा सकने वाला एक अखण्ड द्रव्य है। ईथर की गति मालूम करने के लिए अनेकों प्रयोग हुए और अन्तिम निष्कर्ष यह निकला कि ईथर में कोई गति नहीं है। वह नितान्त निष्क्रिय है। ऐसा लगता है कि आज से सहस्रों वर्ष पूर्व, जब कि विज्ञान का प्रादुर्भाव ही नहीं हुआ था, जैन-दार्शनिकों ने सृष्टि के इस सूक्ष्मतम तत्त्व का प्रामाणिकता के साथ निरूपण कर दिया था।

स्याद्वाद और सापेक्षवाद —स्याद्वाद जैनदर्शन की अनोखी देन है। स्याद्वाद के अनुसार वस्तु अनन्त-धर्मात्मक है। अर्थात् वस्तु अनन्तगुण व विशेषताओं को धारण करने वाली है। जिस प्रकार एक घड़े के विषय में यह कहा जा सकता है कि यह मिट्टी का है, राजस्थान में बना है, ग्रीष्मऋतु में बना है, उसी समय दूसरा व्यक्ति यह कहता है —यह सोने का घड़ा नहीं है, मध्यप्रदेश का नहीं है, यह हेमन्त ऋतु में नहीं बना है। यहाँ "है" व "नहीं है" देश काल सापेक्ष हैं। 'अस्ति, नास्ति' की बात जैसे स्याद्वाद में मिलती है उसी प्रकार सापेक्षवाद में पायी जाती है। यदि किसी वस्तु का भार १०० पौंड है सापेक्षवाद कहता है यह है भी और नहीं भी। क्योंकि भूमध्य रेखा पर यह १०० पौंड है तो दक्षिणी ध्रुव पर १०२ पौंड है।

स्याद्वाद और सापेक्षवाद में कई प्रसंग समान ही दिखाई देते हैं। एक नीहारिका में होने वाला विस्फोट, एक लाख प्रकाशवर्ष दूर स्थित हमारी पृथ्वी पर एक लाख वर्ष बाद मालूम पड़ेगा, क्योंकि प्रकाश को हम तक पहुँचने में एक लाख वर्ष लगे और हमें ऐसा मालूम पड़ेगा कि यह घटना अभी ही हुई है। संयोग से यदि उस नीहारिका का कोई प्राणी हमसे मिले तो इस घटना के विषय में दोनों के निर्णय विपरीत होंगे, पर अपने अपने क्षेत्र की अपेक्षा से दोनों निर्णय सही हैं। सापेक्षवाद के अधिष्ठाता आइन्स्टीन कहते हैं—"हम केवल आपेक्षिक सत्य को ही जान सकते हैं, सम्पूर्ण सत्य तो सर्वज्ञ के द्वारा ही ज्ञात है।" गति और स्थिति आपेक्षिक धर्म है। एक जहाज जो स्थिर है, वह पृथ्वी की अपेक्षा स्थिर है लेकिन पृथ्वी सूर्य की अपेक्षा से गति में है और जहाज भी फिर गतिशील है। सूर्य भी यदि गतिशून्य हो जाए तो भी ग्रह दूरस्थ नीहारिकाओं की अपेक्षा से गतिशील होंगे। तात्पर्य यह है कि सापेक्षवाद के अनुसार प्रत्येक ग्रह व पदार्थ चर भी है। और स्थिर भी है स्याद्वाद कहता है, परमाणु नित्य भी है और अनित्य भी, सदा शाश्वत भी है और अशाश्वत भी।

स्याद्वाद और सापेक्षवाद दोनों ही सिद्धान्त अपने अपने क्षेत्र में सरल भी है और कठिन भी है। स्याद्वाद की जटिलता विश्वप्रसिद्ध है। शंकराचार्य ने स्याद्वाद को संशयवाद कहा है। सापेक्षवाद का सिद्धान्त भी गणित की गुत्थियों से भरा पड़ा है और विश्व के केवल सौ वैज्ञानिक ही इसे समझ पाए हैं। आज सापेक्षवाद वैज्ञानिक जगत् में बीसवीं सदी का महान् आविष्कार मान लिया गया है। यही सिद्धान्त स्याद्वाद के क्षेत्र में आज से सहस्रों वर्ष पूर्व व्यवस्थित रूप से जैनदर्शन में प्रतिपादित किया गया है।



जैनदर्शन का मूलाधार



डा० कुन्दनलाल जैन,
एम० ए०, पी-एच० डी०

प्रत्येक दर्शन मे इहलोक और परलोक आदि के विषय मे तात्त्विक अनुशीलन एव परिशीलन करने के पश्चात् उसके मूलभूत तत्वो की स्थापना की गई है। प्रसिद्ध षड्दर्शनयोग, न्याय, वैशेषिक, साख्य, मीमासा और वेदान्त मे यही बात प्रत्यक्ष होती है। जैनदर्शन मे भी, इसी प्रकार, उसके मूल तत्वो को आधार मानकर, उनका सविस्तार विवेचन किया गया है।

जहा अन्य दर्शनो मे इन तत्वो की सख्या चौबीस तक परिगणित की गई है, वहा जैन दर्शन मे केवल दो तत्व ही मूल तत्वो के रूप मे स्वीकार किए गए है। वे तत्व है जीव और अजीव। वस्तुत यह दो तत्व ही जैन-दर्शन के मूलाधार है। इन्ही तत्वो के पारस्परिक समन्वय, आदान-प्रदान से सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का रूप प्रत्यक्ष होता है।

जब तक जीव तत्व का अजीव तत्व से सम्बन्ध बना रहता है तब तक वह जीवात्मा या ससारी जीव के नाम से अभिहित होता है, किन्तु ज्योही आत्यन्तिक रूप से जीव तत्व से अजीव तत्व का सम्बन्ध टूट जाता है तभी वह शुद्धात्मा, परमात्मा या मुक्तात्मा कहलाने लगता है। मुक्तात्मा हो जाने पर फिर कभी उसका अजीव से सम्बन्ध होने की सभावना नही होती है। जीव की यही वह अवस्था है जो उसका चरम लक्ष्य होती है और इसी अवस्था को प्राप्त करने के लिए जीवात्मा सदैव प्रयत्नशील रहता है। इन अवस्थाओ को ही दृष्टि में रखते हुए जैन-दर्शन मे जीव के दो भेद परिकल्पित किए गए है —ससारी जीव और मुक्त जीव।

जीव या आत्मा के स्वरूप का विश्लेषण करते हुए अपने ग्रन्थ 'द्रव्यसग्रह' मे आचार्य श्रीनेमिचन्द्र ने लिखा है:

> तिक्काले चदुपाणा इन्दिअ बालमायु आणपाणो य।
> ववहारा सो जीवो णिच्चयणयदो दु चेदणा जस्स॥

अर्थात् व्यावहारिक दृष्टि से तीनो कालो मे जिसके इन्द्रिय, बल (मनोबल, वचोबल और कायबल) आयु और श्वासोच्छ्वास—ये चार प्राण पाये जाते है, किन्तु निश्चयात्मक दृष्टि से जिसमें चेतना (उपयोग-ज्ञान दर्शनादि) पाई जाती है वह जीव कहलाता है।

इसी जीव की विशेषताएँ बताते हुए कहा गया है —

> जीवो उवओगमओ अमुत्ति कत्ता सदेहपरिमाणो।
> भोत्ता ससारत्थो सिद्धो सो विस्सोड्ढगई॥

जीव उपयोगमय (ज्ञानदर्शनयुक्त), अमूर्त, स्वकर्मो का कर्ता, अपनी देह के परिमाण वाला, कर्मफल का भोग करने वाला, होता है। कर्मरहित विशुद्ध अवस्था प्राप्त करने पर वह नियम से ऊर्ध्वगति वाला होता है।

जीव (आत्मा) ज्ञानदर्शनमय तथा सूक्ष्म होने के कारण अमूर्त्त है । उसका कोई रूप नही होता, इसीलिए इन्द्रियातीत (अगोचर) होता है । किन्तु जब तक रागद्वेषादि कषाय रूप परिणामों के कारण अजीव (पुद्गल) शरीर से उसका सम्बन्ध है, तब तक यह शरीरधारी होने से मूर्त्त (स्पर्श गन्धादि गुणवाला) रहता है । दूसरे शब्दो मे शुद्धावस्था मे वह अमूर्त्त (अचाक्षुष) और अशुद्धावस्था मे मूर्त्त (चाक्षुष) होता है । आत्मा मे संकोच-प्रसारण की शक्ति होती है अत वह सूक्ष्म एव स्थूल शरीरो में प्रवेश करके तत्तद्शरीर के परिमाण वाला होने मे समर्थ होता है। वह स्वकर्मों का कर्ता और उनके फल का भोक्ता भी है । किन्तु जब कषाय रूप परिणामो के भार से हल्का हो जाता है, तब ऊर्ध्वगमन करके सिद्धावस्था को प्राप्त कर लेता है। जिस प्रकार मिट्टी से सनी हुई तूमडी मिट्टी के भार के कारण जल मे डूब जाती है, परन्तु ज्यो ही उसका मिट्टी का भार हल्का हो जाता है वह ऊर्ध्वगति से पानी के ऊपर आ जाती है, क्योंकि यह उसका स्वभाव है। उसी प्रकार जीवात्मा भी कर्मों के भार से भारी होने के कारण ससार रूपी जलोदधि मे डूबा रहता है, परन्तु कर्मों का भार हल्का हो जाने पर (शुद्धावस्था मे) वह भी ऊर्ध्वगति करता हुआ सिद्धावस्था को प्राप्त करके शुद्ध अथवा मुक्त जीव बन जाता है ।

ससारी जीव इन्द्रियसम्पन्न होता है अत इन्द्रियो की दृष्टि से भी उसका वर्गीकरण किया जा सकता है । इन्द्रियाँ पाच होती है —स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और कर्ण । इन्द्रियो का यह क्रम वस्तुत बडा वैज्ञानिक है । कर्णेन्द्रिय वाला अवश्य ही पाचो इन्द्रियो का स्वामी होता है, चक्षुरिन्द्रिय वाला चार इन्द्रियो वाला होगा । उसके कर्णेन्द्रिय नही होगी । इसी प्रकार अन्य इन्द्रियों के विषय मे भी समझना चाहिये । अत इन्द्रियो की दृष्टि से ससारी जीव पाच प्रकार का ही हो सकता है ।

(१) एकेन्द्रिय जीव (इनके केवल स्पर्शन इन्द्रिय ही होती, अन्य इन्द्रिया नही—जैसे पेड पौधे आदि । इसे स्थावर जीव की सज्ञा दी गई है ।) (२) द्वीन्द्रिय जीव (३) त्रीन्द्रिय जीव (४) चतुरिन्द्रिय जीव (५) पञ्चेन्द्रिय जीव । इन चार प्रकार के जीवो को त्रस जीव कहा जाता है । पञ्चेन्द्रिय जीवो मे भी कुछ ऐसे होते है, जो मन वाले होते हैं, वे समनस्क या सज्ञी जीव कहलाते हैं, किन्तु कुछ जीव बिना मन के भी होते है, वे अमनस्क या असज्ञी जीव कहलाते हैं ।

जैन-दर्शन में इस जीव तत्त्व का विवेचन बडे विस्तार के साथ किया गया है । अनेको ग्रन्थ केवल इसी तत्व को लेकर लिखे गए उपलब्ध होते हैं । विस्तृत जानकारी के लिए जिज्ञासुओ का गोम्मटसार जीवकाण्ड, समयसार, प्रवचनसार जैसे अध्यात्म ग्रन्थों का अनुशीलन करना चाहिये । इस लघुकलेवर सक्षिप्त निबन्ध मे विस्तृत विवेचन सभव नही है ।

अजीव तत्व जीव तत्व से विपरीत स्वरूपवाला है । आत्मा के गुणो से विहीन जितने भी पदार्थ अस्तित्व मे है वे सब अजीव तत्त्व के अन्तर्गत आते हैं । धर्म, अधर्म, आकाश और पुद्गल भी अजीव ही है, किन्तु ये सब द्रव्य रूप हैं । इनमें धर्म द्रव्य जीव और अजीव को गति करने मे और अधर्म द्रव्य उन्हे स्थिर होने मे सहायक होता है । आकाश द्रव्य सबको स्थान देने का कार्य करता है । किन्तु धर्म, अधर्म, आकाश और पुद्गल मे (यद्यपि ये सभी अजीव हैं) थोडा अन्तर होता है । पुद्गल द्रव्य स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण सहित होने के कारण रूपी होता है, जबकि धर्म अधर्म और आकाश नित्य एव स्पर्शादि गुणों से रहित होते हैं । इनमे पुद्गलद्रव्य का ही जीवात्मा से अनित्य सम्बन्ध होता है । दर्शन की भाषा मे जीवात्मा से सम्बन्ध करने वाले पुद्गलो को कार्माण या कर्मवर्गणा या कर्म कहते हैं । इन कर्मो का कार्य है आत्मा के स्वाभाविक गुणो पर आवरण डालना । इसी आवरण मे पड जाने पर जीवात्मा अपने शुद्ध रूप को विस्मरण करके ससार मे परिभ्रमण करता है, आवागमन करता है । इन कर्मो से सम्बन्धित सिद्धान्त को जैन दर्शन मे 'कर्मवाद' की सज्ञा दी गई है । यह 'कर्मवाद' गीता के कर्मयोग से बिल्कुल भिन्न है । इस कर्मवाद का भी बडा व्यापक विशद विवेचन जैन ग्रन्थो मे उपलब्ध है । देखिए गोम्मटसार कर्मकाण्ड, कम्मपयडी, कर्मग्रन्थ आदि ।



जब आत्मा मे इन पौद्गलिक कर्मो का आना प्रारम्भ हो जाता है, तब इस आगमन को दार्शनिक भाषा मे 'आस्रव' तत्व की सज्ञा दी जाती है । इस के कारण ही जीव और अजीव तत्वों का सम्बन्ध होता है और जब तक यह



सम्बन्ध बना रहता है तब तक जीव ससारावस्था मे ही रहता है।

'आश्रव' के कारण आते हुए कर्म आत्मा से चिपटते जाते हैं-बन्धते जाते है और आत्मा इन कर्मों के बन्धन मे निश्चित कालस्थिति तक बधा रहता है। इसी बन्धन का नाम है 'बन्ध' तत्व।

किन्तु जब जीवात्मा अपनी साधना द्वारा कर्मो के आगमन को रोकने का प्रयास करता है तो उस रुकने का नाम है 'सवर'। किन्तु वह 'सवर' तत्व आत्मा के साथ बन्धे हुए कर्मो का क्षय करने मे समर्थ नही होता। पूर्वबद्ध कर्मो का अभाव करने के लिए तपश्चर्या की आवश्यकता होती है और तपस्या द्वारा ही उन कर्मो का शनै शनै अभाव होता है।

निर्जरा करते करते जब कर्मो का आत्यन्तिक अभाव या विनाश हो जाता है तब आत्मा बन्धन से मुक्ति प्राप्त करता है। इस अवस्था का नाम है 'मोक्ष'। मोक्ष की प्राप्ति ही जीवन का चरम लक्ष्य है। यही परम पुरुषार्थ है।

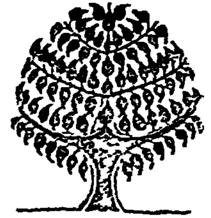
इस प्रकार ये—जीव, अजीव, आश्रव, बन्ध, सवर, निर्जरा और मोक्ष—जैन-दर्शन मे सप्ततत्व कहे जाते हैं।

'जीवाजीवाश्रवबन्धसवरनिर्जरामोक्षास्तत्वम्' (तत्वार्थसूत्र)

इनमे जीव और अजीव ही मुख्य तत्व हैं, शेष तत्व उन दोनो के ही सम्बन्धित रूप है। अत यही तत्व जैन-दर्शन के मूलाधार कहे जाते है। जैन दर्शनकारो ने इन्ही को आधार मानकर उनका बडा विशद व्यापक विवेचन किया है। वस्तुत इन्ही तत्वो के ज्ञान द्वारा सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का रहस्य प्रत्यक्ष हो सकता है।

जैनदर्शन की द्रव्य-व्यवस्था

पं० जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर'



जैनदर्शन में द्रव्य के मूल भेद छह प्रतिपादित हुए हैं, जिनके नाम हैं-जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल। इन छहों द्रव्यों में जीवद्रव्य चेतनामय (चेतन) और शेष चेतनारहित अचेतन हैं। पुद्गलद्रव्य मूर्तिक और शेष अमूर्तिक हैं, काल द्रव्यप्रदेशप्रचय से रहित होने के कारण अकाय है और शेष प्रदेश-प्रचय से युक्त होने के कारण अस्तिकाय कहे जाते हैं। परमाणुरूप पुद्गल द्रव्य यद्यपि एक प्रदेशी है, परन्तु नाना स्कन्धों का कारण तथा उनमें मिलकर स्कन्धरूप हो जाने के कारण उपचार से 'सकाय' कहा जाता है।[1] जीव और पुद्गल सक्रिय हैं, शेष सर्व निष्क्रिय हैं, ये ही दोनों द्रव्य कथंचित् विभाव रूप भी परिणमते हैं, शेष सब सदा स्वाभाविक परिणमन को ही लिये रहते हैं। धर्म अधर्म, आकाश ये तीन द्रव्य संख्या में एक-एक ही हैं, काल द्रव्य असंख्यात हैं, जीव द्रव्य अनन्त है और पुद्गलद्रव्य अनन्तानन्त हैं। जीव, पुद्गल दोनों द्रव्यों में संकोच विस्तार संभव है, शेष द्रव्यों में वह नहीं होता अथवा उनकी संभावना नहीं। आकाश अखण्ड एक द्रव्य होते हुए भी उसके दो भेद कहे जाते हैं-लोकाकाश और अलोकाकाश आकाश के जिस बहुमध्य प्रदेश में जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और काल ये पांच द्रव्य 'अवलोकित' होते हैं उसे लोकाकाश और शेष को 'अलोकाकाश' कहते हैं। धर्म और अधर्म दो द्रव्य सदा सारे लोकाकाश को व्याप्त कर स्थिर रहते हैं, जब कि दूसरे द्रव्यों की स्थिति वैसी नहीं। कालाणुरूप कालद्रव्य तो लोकाकाश के एक-एक प्रदेश में स्थिर है और इसलिये लोकाकाश के जितने प्रदेश हैं उतने ही कालद्रव्य हैं। एक जीव की अपेक्षा जीव लोक के एक असंख्यातवें भाग से लेकर दो आदि असंख्येय भागों में व्याप्त होता है और लोकपूर्ण-समुद्घात के समय सारे लोकाकाश को व्याप्त कर तिष्ठता है। नाना जीवों की अपेक्षा सारा लोकाकाश जीवों से भरा है। पुद्गल द्रव्य के अणु और स्कन्ध दो भेद हैं। अणु का अवगाह्य-क्षेत्र आकाश का एक प्रदेश है, द्व्यणुकादिरूप स्कन्धों का अवगाह्य-क्षेत्र लोकाकाश के द्विप्रदेशादिकों में है।

द्रव्य का लक्षण सत् है, और सत् उसे कहते हैं जो प्रतिक्षण ध्रौव्योत्पत्तिव्ययात्मक हो अर्थात् उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य से युक्त हो। जीवद्रव्य का लक्षण उपयोग है, जो ज्ञान-दर्शन के भेद से दो प्रकार का है और इसलिये जीव द्रव्य को 'ज्ञानदर्शनलक्षण' भी कहा जाता है। जीवों के संसारी और मुक्त ऐसे दो भेद हैं। संसारी जीव त्रस, और 'स्थावर' के भेद से दो भेदों में विभक्त हैं, जिनमें पृथ्वी, अप्, तेज, वायु, और वनस्पतिकाय के एकेन्द्रिय जीव 'स्थावर कहलाते और शेष द्वीन्द्रियादि जीव 'त्रस' कहे जाते हैं। त्रस जीवों का निवासस्थान लोक के मध्यवर्तिनी त्रसनाडी है और स्थावर जीव त्रसनाडी और उससे बाहर सारे ही लोक में निवास करते हैं।

जो स्पर्श-रस-गन्ध वर्ण गुण वाले होते हैं उन्हें 'पुद्गल' कहते हैं। स्पर्श के कोमल, कठोर, गुरु, लघु, शीत, उष्ण, स्निग्ध और रूक्ष ऐसे आठ, रस के तिक्त (चरपरा), कटुक, अम्ल, मधुर और कषायला ऐसे पांच, गन्ध के सुगन्ध दुर्गन्ध ऐसे दो, और वर्ण के नील, पीत, शुक्ल, कृष्ण और रक्त ऐसे पांच मूलभेद हैं। शब्द, बन्ध, सौक्ष्म्य, स्थौल्य, संस्थान, भेद तम, छाया, आतप और उद्योत वालों को भी 'पुद्गल' कहा जाता है अथवा यों कहिये कि पुद्गल के इन दस विशेषों अथवा पर्यायों में से जिस किसी से भी कोई विशिष्ट अथवा युक्त है वह पुद्गल है।

गतिरूप परिणत हुए जीवों तथा पुद्गलों को जो उनके गमन में उस प्रकार सहायक-उपकारक होता है जिस

---

१ एय-पदेसो वि अणूणाणा-खधप्पदेसदो होदि।
बहुदेसो उवयारा तेण य काओ भणंति सव्वण्हू ॥ (द्रव्यसंग्रह, २६)



प्रकार जल मछलियों के चलने में, परन्तु गमन न करनेवालों को उनके गमन में प्रेरक नहीं है, उसे धर्मद्रव्य कहते हैं। अधर्मद्रव्य[2] उसका नाम है जो स्थिति रूप परिणत हुए जीवों तथा पुद्गलों को उनके ठहरने में उस प्रकार सहकारी-उपकारी होता है जिस प्रकार पथिकों को ठहरने में वृक्षादि की छाया, परन्तु चलते हुए को ठहरने की प्रेरणा नहीं करता और न उन्हें बलपूर्वक ठहराता है। जो जीवादिक द्रव्यों को अपने में अवगाह-अवकाश-दान देने की योग्यता रखता है उसे आकाश द्रव्य[3] कहते हैं, जिसके लोक-अलोक के विभाग में दो भेद ऊपर बतलाये जा चुके हैं। जो द्रव्यों के परिवर्तन रूप है —उनके परिवर्तन में सहकारी है—उसे कालद्रव्य[4] कहते हैं। कालद्रव्य के भी दो भेद हैं—एक निश्चय काल और दूसरा व्यवहार काल। लोकाकाश के प्रत्येक प्रदेश में जो अनादि-निधन एक-एक कालाणु स्थित हैं और जिसका वर्तना लक्षण है, जो जीव पुद्गलादि द्रव्यों को उनके प्रतिक्षण उत्पाद व्यय-ध्रौव्यात्मक सत्रूप वर्तन में सहायक अथवा स्व-सत्तानुभूति में कारण है— उसे निश्चय काल द्रव्य कहते हैं। व्यवहार कालद्रव्य उसका नाम है जो समय (क्षण), पल, घडी, घंटा मुहूर्त, पहर, दिन, रात्रि, सप्ताह, पक्ष, मास, ऋतु, अयन, वर्ष आदि के भेद को लिए हुए आदि-अन्त-सहित है, निश्चय कालद्रव्य के पर्यायरूप है और जिसके परिणाम, क्रिया, परत्व, अपरत्व ये चार लक्षण हैं। द्रव्य में अपनी जाति को न छोडते हुए जो स्वाभाविक या प्रायोगिक स्थूल परिवर्तन-पर्याय में पर्यायान्तर होता है उसे 'परिणाम' कहते हैं। बाह्य तथा आभ्यन्तर कारणों से द्रव्य में जो परिस्पन्दात्मक-परिणाम होता है उसका नाम 'क्रिया' है। कालकृत बडापन को 'परत्व' और छोटापन को 'अपरत्व' कहते हैं।

इस प्रकार जैन-दर्शन की द्रव्यव्यवस्था और उसके अन्तर्गत छहों द्रव्यों का यह संक्षिप्त सार है, विशेष तथा विस्तृत परिचय के लिए तत्वार्थ-सूत्र की तत्वार्थ-राजवार्तिकादि टीकाओं तथा दूसरे आगम-ग्रन्थों को देखना चाहिये।

०

---

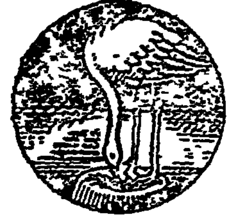
१ गइ-परिणयाण धम्मो पुग्गल-जीवाण गमण-सहयारी।
तोयं जह मच्छाण अच्छता णेव सो णेई ॥ (द्रव्यसंग्रह)

२. ठाण-जुदाण अधम्मो पुग्गल-जीवाण ठाण-सहयारी।
छाया जह पहियाण गच्छता णेव सो धरई ॥१८॥ (द्रव्यसंग्रह)

३ अवगास-दान जोग्ग जीवादीण वियाण आयास ॥१६॥ (द्रव्यसंग्रह)

४ दव्व-परिवट्टरूवो जो सो कालो हवेइ, ववहारो।
परिणामादीलक्खो, वट्टणलक्खो य परमट्ठो ॥२१॥ (द्रव्यसंग्रह)

सम्प्रदाय या धर्म ?



सौभाग्यमल जैन

भारतवर्ष धार्मिक वृत्तिवाला देश है, तथापि जनसाधारण मे धर्म तथा सम्प्रदाय का भेद स्पष्ट नही है। यही नहीं अपितु जनसाधारण सम्प्रदाय को ही धर्म मानता रहता है। देश के विद्वद्वर्ग मे धर्म तथा सम्प्रदाय का भेद स्पष्ट हो सकता था किन्तु अनाग्रही विचारणा के अभाव के कारण यह वर्ग भी स्पष्ट नही कर पाता। वास्तव मे धर्म तथा सम्प्रदाय मे महान अन्तर है। धर्म उदार तथा विशाल दृष्टिकोण अपनाता है जब कि सम्प्रदाय अथवा पथ सकुचित दृष्टिकोण। सम्प्रदायवादी या पथवादी मनुष्य केवल उस सम्प्रदाय अथवा पथ के अनुयायी को ही स्वर्ग तथा मोक्ष मे प्रवेश का अधिकारी मानता है जब कि धार्मिक मनोवृत्ति के निकट प्रत्येक सज्जन, साधुमना व्यक्ति के लिये स्वर्ग तथा मोक्ष का द्वार खुला है। भारतीय स्वतन्त्रता के पश्चात् जब सघशासन ने "धर्मनिरपेक्ष नीति" की घोषणा की तब से यह प्रश्न राजनीतिक क्षेत्र मे भी बहुचर्चित रहा है। धर्मनिरपेक्ष नीति की व्याख्या इस गलत तरीके पर हुई है कि जनसाधारण मे यह भ्रान्त धारणा गहराई से बैठ गई है कि भारतीय शासन अधार्मिक राज्य है अथवा उसका धर्म या धार्मिक सिद्धान्तो से कोई सबध नहीं है। जहा तक मै समझता हू, यह तात्पर्य नही था। धर्मनिरपेक्ष नीति का उद्देश्य केवल यह था कि शासन किसी सम्प्रदाय विशेष को प्रश्रय नही देगा। न उसका प्रचार करेगा। वास्तविक रूप मे नीति का नाम यदि "सम्प्रदाय-निरपेक्ष नीति" रखा जाता तो अधिक उपयुक्त रहता। विश्व मे सम्प्रदायो के नाम पर जो रक्तपात पूर्व काल मे हुआ है वह इस नीति के निर्माताओं की दृष्टि मे था। किसी सम्प्रदाय विशेष को प्रश्रय देने का अर्थ यह होता कि शासन उक्त सम्प्रदाय विशेष का हामी है। इस कारण इस नीति को अपनाना उचित था। जैसा ऊपर निर्देश किया गया है, धर्म तथा सम्प्रदाय मे आकाश-पाताल का अन्तर है। भारतीय शासन का धार्मिक सिद्धान्तो से कोई विरोध नही हो सकता। आखिर धर्म क्या है ? मेरे मत मे जिन सिद्धान्तो से मनुष्य का जीवन उदार, उन्नत, सामाजिक जीवन बन सके, नैतिकता के उन उच्चतम नियमों का नाम "धर्म" है। किन्तु धर्मनिरपेक्ष नीति के कारण उत्पन्न भ्रान्त धारणा ने केवल २० वर्ष के अल्पकाल मे ही भारतीय जन-जीवन मे नैतिकता, सदाचार का जो अवमूल्यन किया है वह विचारकवर्ग के लिये अत्यन्त विचारणीय प्रश्न है। भारतीय जनजीवन मे आध्यात्मिकता के स्थान पर भौतिकतावादी विचारो का प्रभाव स्पष्ट है। गत आम चुनाव के पूर्व तथा पश्चात् दो वर्ष मे जो घटनाए देश में, लोकसभा, विधानसभाओ मे घटी उनको दृष्टिगत रखते हुए यह सोचने को विवश होना पडता है कि क्या भारतीयो मे सार्वजनिक प्रश्नो, समस्याओ को हल कराने का यही एक तरीका शेष रह गया है ? हमारे जन-जीवन मे चाहे व्यक्तिगत प्रश्न हो, चाहे सार्वजनिक प्रश्न हो, सहनशीलता की कमी, सात्विकता की कमी होती जा रही है। इस पृष्ठभूमि मे यह आवश्यक है कि हम सम्प्रदाय तथा धर्म का भेद स्पष्ट समझें तथा यह भी निश्चय करें कि जैनधर्म एक सम्प्रदाय है अथवा धर्म है ?

विशाल जैन साहित्य के महत्वपूर्ण तथा प्राचीनतम ग्रथ आचाराग सूत्र मे भगवान महावीर ने यह सद्घोषणा की है कि —

से बेमि-जे अईया, जे य पडुप्पण्णा, जे य आगमिस्सा अरिहता भगवतो, ते सव्वे एवमाइक्खति,एव भासति, एव पण्णविति, एव परूविति — सव्वे पाणा, सव्वे भूया, सव्वे जीवा, सव्वे सत्ता न हतव्वा, न अज्जावेयव्वा, न परिघित्तव्वा, न परियावेयव्वा, न उद्दवेयव्वा। एस धम्मे सुद्धे निइए सासए, समिच्च लोय खेयन्नेहि पवेइय तजहा-उट्ठिएसु वा अणुट्ठिएसु वा, उवट्ठिएसु वा अणुवट्ठिएसु वा, उवरयदडेसु वा अणुवरयदडेसु वा, सोवहिएसु वा, अणोवहिएसु वा सजोगरएसु वा



असजोगरएसु वा, तच्च चेय, तहा चेय अस्सि चेय पवुच्चइ ।

अर्थात् भूतकालीन, वर्तमान कालीन तथा भावी तीर्थंकर यही प्रतिपादित करते है कि सभी प्राणी, सभी भूत, सभी जीव, सभी सत्त्व को दण्डादि से नही मारना चाहिये उन पर आज्ञा नहीं चलाना चाहिये, उनको दास की भांति अपने अधिकार मे नही रखना चाहिये, उन्हे शारीरिक मानसिक सताप नही देना चाहिये और उन्हे प्राणो से रहित नहीं करना चाहिये । यही धर्म शुद्ध है, नित्य है, शाश्वत है । ससार के दु खो को जानकर जगत-हितकारी भगवान ने सयम मे तत्पर अथवा अतत्पर, उपस्थित, अनुपस्थित, मुनि, गृहस्थ, रागी, त्यागी, भोगी, योगी को समान भाव से यह उपदेश दिया है, यह सत्य है यह तथ्य है और ऐसा धर्म जिनप्रवचन मे कहा गया है ।

इस प्रकार से प्राणी मात्र को अभयदाता, आत्मस्वातन्त्र्य धर्म किसी भी दृष्टिकोण से सम्प्रदाय नही हो सकता । वह धर्म शब्द मे निहित उच्च तथा महान् विचारो से समन्वित होने के कारण "धर्म" है । यह सर्वविदित है कि "धर्म" शब्द अनेकार्थी है। विभिन्न सदर्भो मे विभिन्न अर्थ का द्योतक है। यहा जिस अर्थ का सदर्भ है यह कर्त्तव्य अथवा आचार-सहिता का द्योतक है । एक प्राचीन आचार्य ने जैनधर्म की व्याख्या निम्न श्लोक मे अत्यन्त सक्षिप्त किन्तु महत्त्व-पूर्ण की है—

स्याद्वादो वर्तते यस्मिन्, पक्षपातो न विद्यते ।
नास्त्यन्यपीडन किंचित् जैनधर्म स उच्यते ।।

जिस दर्शन मे स्याद्वाद हो, अनेकाती दृष्टिकोण अपनाया जाता हो, विभिन्न धर्म, दर्शनो के प्रति समन्वयात्मक दृष्टि रखी जाती हो, जिसमे किसी के प्रति पक्षपात न हो, जिसमे किसी प्राणी को पीडा न पहुचाने का विधान हो उसको जैनधर्म कहते है । यह सर्वविदित है कि विश्व मे विभिन्न वादो की प्ररूपणा करने वाले कई धर्म विद्यमान है । उन विभिन्न वादो मे एकागी सत्य (Partial Truth) का अस्तित्व जैनधर्म मानता है । यदि उन आशिक सत्यो को एकत्र कर लिया जावे, उनमे समन्वय कर लिया जाये तो सत्य का साक्षात्कार हो सकता है । इस प्रकार जैनधर्मानुसार विश्व मे प्रचलित विभिन्न धर्मो के प्रति उदार विचार रखना आवश्यक है । यह सुनिश्चित है कि भगवान महावीर के समय विभिन्न वादो के विस्तार मे ३६३ मतो का प्रचलन था । भगवान महावीर ने विभिन्न मतो के दृष्टिकोण से उन सबके प्रति अनेकाती दृष्टिकोण अपनाया, तथा अपना मतव्य समन्वयात्मक रूप मे प्रकट किया । उस शैली को स्याद्वाद कहा जाता है । यह सत्य है कि जैनागम मे स्याद्वाद के विचार बीज रूप मे सक्षिप्त विद्यमान थे । पश्चात्-वर्ती जैनाचार्यो ने उन बीज रूपी विचारो को पुष्पित, पल्लवित करके स्याद्वाद पर विशाल साहित्य की रचना की और स्पष्ट रूप से घोषणा की कि—

पक्षपातो न मे वीरे, न द्वेप कपिलादिषु ।
युक्तिमद्वचन यस्य, तस्य कार्य परिग्रह ।।

उक्त जैन आचार्य ने घोषणा की कि उनका महावीर के प्रति कोई पक्षपात नही है, न कपिल आदि मुनियो के प्रति द्वेप ही है । जिसका वचन युक्तिपुरस्सर होगा उसको अगीकार करने मे हिचक नही है "पन्ना समिक्खए तत्त" तत्व की समीक्षा प्रज्ञा द्वारा (बुद्धिपूर्वक) की जानी चाहिये । इसी विचारसरणि के अनुरूप जैनाचार्यो ने तत्कालीन प्रचलित भारतीय दर्शनो मे विभिन्न नयो के दृष्टिकोण से 'आशिक' सत्य का दर्शन किया जैसा कि महान् साहित्यकार समदर्शी विचारो के जनक जैनाचार्य हरिभद्र सूरि के "षड्दर्शनसमुच्चय" के पृष्ठ १५७ पर टीकाकार ने अकित किया है कि—

बौद्धदर्शन	ऋजुसूत्रनय
वेदान्त साख्य मीमासा	सग्रहनय

चार्वाक	व्यवहारनय
न्याय वैशेषिक	नैगमनय
शब्द-ब्रह्मवादी	शब्दनय

यही नहीं, आचार्य श्रीसिद्धसेन दिवाकर ने तो यहां तक प्रतिपादित करने में हिचकिचाहट नहीं की कि जैनधर्म "मिथ्यादर्शनसमूहो" है। स्पष्टवादिता की यह चरम सीमा है। तात्पर्य यह है कि विभिन्न वादों में आंशिक सत्य होने के कारण वे मिथ्या दर्शन हैं क्योंकि वह एकांगी दृष्टिकोण रखकर केवल उसी को समग्र सत्य के रूप में प्रस्तुत करते हैं और अपने से भिन्न वाद को असत्य मानते हैं। जैनधर्म समस्त वादों के प्रति उदार विचार रखकर अनेकान्ती दृष्टिकोण अपनाता है। आचार्य श्री सिद्धसेन इसी कारण उसको मिथ्या दर्शनों का समूह कहते हैं। वास्तविकता यह है कि वैदिक रूप से अन्य प्राचीन ग्रंथों में भी कहा गया है कि "एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति" एक ही सत्य को विभिन्न रूप में विप्र (विद्वान) कहते हैं। यह बात तो तत्त्वनिरूपण की बात हुई। किन्तु जैनाचार्यों ने इसे व्यावहारिक रूप भी प्रदान किया। पाठक जानते हैं कि जैनधर्म में "नवकार मंत्र" का अत्यन्त महत्त्व है। वास्तव में यह नमस्कार का मन्त्र है जिसमें आध्यात्मिक पूर्णता को प्राप्त सिद्ध आदि का तथा मुक्तिमार्ग के पथिक साधकों को नमस्कार किया गया है। इस मंत्र में जैन दृष्टि कितनी उदार हो गई है, इस तरफ बहुत कम विद्वानों का ध्यान गया है। इस मन्त्र में अरिहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय के पश्चात् "लोक के समस्त साधुजनों" को नमस्कार अर्पित किया गया है। पूर्व में ४ पद विशिष्ट अवस्था के द्योतक हैं जो प्राथमिक सीढ़ी "साधुता" के विकास क्रम से प्राप्त होती है। प्राथमिक इकाई साधु है। 'साधु' से विश्व के समस्त साधुजनों को सम्मिलित कर लिया जाना जैन धर्म की विशालता का ज्वलन्त प्रमाण है। यहां साधक भगवान ने विशेष चिह्न लिंग धारक जैन साधु को ही मान्यता नहीं दी। यही नहीं, जो साधुतायुक्त आत्मा है उन सबको नमस्कार करके अपना सम्मान व्यक्त किया है। एक जैनाचार्य ने बहुत सुन्दर ढंग से अन्य धर्मों द्वारा मान्य देवता (ब्रह्मा, विष्णु, महेश) को भी नमस्कार किया है। उक्त जैनाचार्य ने एक श्लोक में यह प्रतिपादित किया है कि मैं ब्रह्मा विष्णु हरि, महेश, जिन, सबको नमस्कार करता हूं, केवल वह ऐसे हों कि जिनमें भव भ्रमण 'आवा-गमन' के बीज रूप राग, द्वेष समूल नष्ट हो गये हों। यह सर्वविदित है कि जैन धर्मान्तर्गत मुक्ति आत्मा की उच्चतम अवस्था का नाम है जहां अनन्तवीर्य, अनन्त सुख, अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन प्रकट होता है, जहां पर जाकर आत्मा का भवभ्रमण समाप्त हो जाता है। मुक्तिपथ के पथिक को अपने जीवन में पूर्ण आध्यात्मिक जीवन व्यतीत करना होता है। तब वह आत्मा का साक्षात्कार करके मुक्त होता है। जैनधर्म की मान्यता के अनुसार मुक्त १५ प्रकार से हो सकते हैं जिसमें यह स्पष्ट बताया गया है कि जैनधर्म के अनुयायी हों या जैनधर्म के अनुयायी न हों अर्थात् जैनधर्म द्वारा मान्य लिंग धारण करते हों या न करते हों, मुक्त हो सकते हैं। 'तीर्थसिद्धा अतीर्थसिद्धा, स्वलिंगसिद्धा अन्य लिंगसिद्धा, आदि। यही नहीं, यह भी आवश्यक नहीं कि वह श्रमणवेश में ही हो, गृहस्थ के वेश में भी हो सकता है।

भगवान् महावीर के अनुयायियों में राजा-महाराजा जैसे आभिजात्य वर्ग के लोग, विभिन्न प्रकार के व्यव-सायी, मध्यमवर्ग के लोग, चांडाल जैसे निम्न जाति के लोग, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र वर्ण के लोग भी सम्मिलित थे। यही नहीं, तत्कालीन विभिन्न परम्पराओं के जैसे परिव्राजक सन्यासी आदि भी भगवान के अनुयायियों में सम्मिलित थे। यह सब भगवान महावीर की उदार, स्याद्वादमय समन्वयकारी वृत्ति का परिणाम था। वास्तव में अनेकान्ती दृष्टिकोण अथवा स्याद्वादमय भाषा भगवान् की अहिंसानीति का ही एक अंग था। भगवान् ने जहां आचार में अहिंसकता का उपदेश दिया वहां विचारों में अनेकान्ती दृष्टिकोण का तथा वाणी में स्याद्वाद का उपदेश दिया। जहां तक आचारगत अहिंसा का सम्बन्ध है, इस देश के ही नहीं अपितु विश्व के ख्यातिप्राप्त विद्वानों ने भी यह स्वीकार किया है कि "अहिंसा" की जो सूक्ष्म व्याख्या तथा जितना विचार जैनधर्म में किया गया है उतना किसी भी धर्म में नहीं किया गया। अहिंसा से तात्पर्य केवल प्राणिवध को रोकना नहीं है अपितु मन, वचन, काया से किसी भी प्राणी को दुःख देना, सताना, दास बनाना सामाजिक अथवा आर्थिक शोषण करना यह सब हिंसा मान कर उसका निषेध किया गया है। यही नहीं, जहां-जहां जीव की सम्भावना हो सकती है, चेतनत्व की सम्भावना है, उस-उस स्थान पर भी अहिंसा का पालन आवश्यक माना गया। अहिंसा केवल एक नकारात्मक सिद्धान्त नहीं है अपितु उसका विधेयात्मक स्वरूप





बता कर उसको जीवन मे उतारने का उपदेश भी दिया गया है। अहिंसा का इतना विशाल दृष्टिकोण देकर भगवान् महावीर ने प्राणिमात्र का उपकार किया है। इस देश मे यत्र-तत्र अहिंसक वृत्ति के जो दर्शन होते हैं वह उस महान् पुरुष के उन प्रयत्नो के परिणाम हैं जो उन्होंने देश भर मे घूम-घूम कर लगभग २५०० वर्ष पूर्व किये थे। वास्तव मे जैनधर्म, धर्म है, सम्प्रदाय नही। केवल मानवधर्म नही अपितु प्राणिमात्र का धर्म है। विश्व-धर्म है। आवश्यकता इस बात की है कि "अहिंसा" के नाम पर जो इस लम्बे काल मे भ्रान्त धारणाए बन गई है, उनका निराकरण करके उसको वैज्ञानिक स्वरूप दिया जावे। मेरा यह निश्चित विश्वास है कि यदि जैन समाज अथवा समन्वयवादी दृष्टिकोण-सम्पन्न देश के प्रबुद्ध वर्ग ने इस दिशा मे सक्रिय प्रयत्न किया तो विश्व का बहुत बडा उपकार होगा। दुर्भाग्य यह कि आज के परस्पर राग, द्वेष, असहिष्णुता के इस युग मे अहिंसक, सात्त्विक विचारो का अभाव होता जा रहा है। उसी का परिणाम यह है जो हमे देश के जनजीवन मे यत्र तत्र सर्वत्र परिलक्षित हो रहा है। इस युग के महान् क्रान्तिकारी सन्त महात्मा गाधी ने अहिंसा का प्रयोग सामूहिक तथा राजनीतिक प्रश्नो को सुलझाने मे किया। गाधीजी ने जीवन के कई क्षेत्रो मे अहिंसा का प्रयोग किया। पशुबल, शस्त्रबल के प्रतीकार के रूप मे भी उसका प्रयोग किया तथा सफलता प्राप्त की। आज गाधीजी के आध्यात्मिक उत्तराधिकारी सन्त विनोबा उसका प्रयोग कर रहे हैं। किन्तु अभी पर्याप्त सफलता नही मिल सकी। आज बडी निराशाजनक स्थिति है। आज प्राणीमात्र की बात तो दूर है किन्तु मनुष्य-मनुष्य के बीच भी स्नेह, प्रेम, सौहार्द, सज्जनता की कडी नही है। अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर बडा देश, कमजोर देश को दबाकर गुलाम बनाना चाहता है। व्यक्तिगत जीवन मे भी सबल, निर्बल का शोषण कर रहा है। इन्सानियत कराह रही है। देश मे आज के युग मे भगवान महावीर की वाणी उनके उपदेश, अहिंसा की अत्यन्त आवश्यकता है। स्थिति बडी विषम है। कोई मार्ग नजर नही आता है जैसा कि उर्दू के एक कवि ने कहा है—

"इक रह गई थी मजहबे इन्सानियत की बात।
यह बात भी बा फजले खुदा, जुर्म हो गई।

यन्त्र-युग में जड़-चेतन-विज्ञान



लक्ष्मीचन्द्र जैन 'सरोज'

एम० ए०, बी-एड साहित्यरत्न

आधुनिक मानव जीविकोपार्जन की समस्या में इतना अधिक व्यस्त हो गया है कि धर्म और दर्शन साहित्य और संस्कृति, शरीर और आत्मा, जड़ और चेतन जैसे सार्वभौमिक सार्वकालिक मूल्यों का मान लेने के लिए भी वह समय का अभाव व्यक्त करने लगा है। विविध वैज्ञानिक आविष्कारों के कारण आज के आदमी का जीवन अतीव यान्त्रिक और व्यस्तता से परिपूर्ण सा हो गया है। चूंकि विविध व्यवसायों के बावजूद भी बेकारी मंहगाई-व्यस्तता बढ़ती जा रही है, अतएव आज का मानव दिन-रात यन्त्र सदृश कार्य करके भी सुख, शान्ति, सन्तोष और समृद्धि की सांस नहीं ले पा रहा है।

आज का आदमी 'कामायनी' के कवि जयशंकरप्रसाद के शब्दों में कहना चाहता है—

> प्रकृत शक्ति यन्त्रों से तुमने सबकी छीनी।
> शोषण कर जीवनी बना दी जर्जर झीनी॥

आधुनिक यन्त्रवादी युग में मानव-शरीर की तुलना यन्त्र से की जाती है। यह अकारण नहीं है, क्योंकि वास्तव में मानव-शरीर है तो एक यन्त्र ही, इसके समर्थक अनेक वैद्य-चिकित्सक हैं, जो शरीर को नाड़ी-स्नायु-शिरा-हड्डी का पिंड मानते हैं। इसके अतिरिक्त मानव-शरीर और यन्त्र में कतिपय समानताएं-असमानताएं भी हैं।

समानता की दृष्टि से कहा जा सकेगा कि दोनों कार्य करते हैं, दोनों गतिशील हैं, दोनों की गति-शक्ति क्षीण होती है, दोनों के लिए गति और रति (विराम और अनुराग) अपेक्षित हैं। दोनों शक्ति की पुनः प्राप्ति में विश्वास रखते हैं। इस विषय में विभिन्नता उल्लेखनीय यह है कि मानव-शरीर जहाँ अपनी शक्ति हवा, पानी, भोजन, वंशानुक्रम, वातावरण, विश्राम, स्वच्छन्दता, सुन्दरता से पाता है वहां यन्त्र अपनी शक्ति के लिए कोयला, तेल, सफाई, परिश्रमी चालक, कुशल मिस्त्री पर निर्भर है। विकार-ग्रस्त होने पर मानवशरीर जैसे यन्त्र की भांति विश्राम चाहता है वैसे यन्त्र भी मानव शरीर की भांति क्रमशः अपनी अर्जित शक्ति से वंचित और जर्जरित क्षीण होता जाता है।

असमानता की दृष्टि से कहा जा सकेगा—(१) मानव विचारक है। वह आगा-पीछा सोच-विचार कर कार्य करता है। इसलिए वह एक सी परिस्थिति होने पर भी यन्त्र जैसा एक-सा काम नहीं कर सकता है। (२) मनुष्य में यन्त्र के समान लगातार काम करने की क्षमता स्वभावतः नहीं है। इतने पर भी वह यन्त्रवत् कार्य करने लगे तो न केवल उसका नैतिक जीवन ही नीरस-असामाजिक-अव्यावहारिक होगा बल्कि शीघ्र थककर असमय ही दम तोड़ देगा और दुनिया से चल बसेगा।

आधुनिक आदमी की अतीव यान्त्रिकता अथवा अस्तव्यस्तता को देखकर मुझे यन्त्रवादी प्रकृतिवादी की स्मृति हो आती है।[1] इस विचारधारा के अनुसार पुद्गल और गति से निर्मित निष्प्राण यन्त्र ही जगत् है। इस दृष्टि से मनुष्य भी एक ऐसा यन्त्र है जो बाह्य प्रभावों से निर्देशित होता है। विस्मय की बात तो यह है कि यन्त्रवादी प्रकृतिवाद

---

१ रूसी प्रकृतिवाद के दर्शनशास्त्र के तीन तत्त्व हैं। (१) पदार्थविज्ञान प्रकृतिवाद (२) यन्त्रवादी प्रकृतिवाद (३) जीवविज्ञान प्रकृतिवाद। शक्ति-प्रगति-प्रकृति को भी प्रकृतिवाद का तत्व माना गया।



के विचारक एक ओर मनुष्य के चेतनत्व मे विश्वास नही करते हैं और दूसरी ओर वे मानते है कि मनुष्य मे एकांगी शक्ति का अस्तित्व है जिसके आधार पर वह मौलिक वस्तु का निर्माण करता है। ये आध्यात्मिक ध्येय-प्रयोजन को कोरी मृगतृष्णा मानते है और इन्ही जैसी भावनाओ की नीव के आधार पर उस व्यवहारी मनोविज्ञान का जन्म हुआ, जो मानसिक क्रियाओ को बाह्य क्रियाओ की उत्तेजना कहता है और मानव को गतिशील यन्त्र मानता है।

यन्त्रवादी प्रकृतिवाद ने भले ही जड और चेतन के विज्ञान को, विशिष्ट ज्ञान को, भुला दिया हो पर उन दोनो मे जो मौलिक भेद है, उसे अतीत के धर्माचार्यों की भाँति आधुनिक मनोवैज्ञानिको ने भी किन्ही अशो मे स्वीकार कर लिया है।

दुनिया दुरगी है। द्विनयात्मक है, द्विधामूलक है। दुनिया के स्वभाव से हमे विदित होता है कि उसके सृजन और सरक्षण के तत्त्व जड और चेतन है। उन दोनो मे एक दूसरे से उतना ही अन्तर है जितना कि शक्य और सम्भव है। ये दोनो तत्त्व बाह्यदृष्टि से एक-दूसरे से दूध और पानी जैसे मिल भी क्यो न जायें, वरसो तक साथ ही क्यो न रहे पर अन्ततोगत्वा है ये भिन्न ही, अभिन्न तो कदापि नही। यदि ये दोनो अभिन्न होते तो इनके नाम-गुण पृथक्-पृथक् नहीं होते और उनका एक दूसरे मे अन्तर्भाव या समावेश कब का ही हो गया होता। पर हुआ नही और हो भी नही सकता।

उल्लिखित अभीष्ट सत्य एव तथ्य को धार्मिक और मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से समझ लेना समुचित और श्रेयस्कर होगा।

धार्मिक दृष्टिकोण

(१) चूकि शरीर स्वय कोई कार्य नही करता है और उसे कार्य करने के लिए प्रेरणा देने वाली आत्मा है तथा आत्मा के अभाव मे शरीर निष्क्रिय और नगण्य हो जाता है, अतएव शरीर जड है और आत्मा चेतन।

(२) वह मूर्ति, जिसे मनुष्य जन्म और जीवन देता है, जिसकी प्रतिष्ठा करता है, मन्दिर की वेदी पर स्थापित कर मान्यता देता है, जिसे अपने अन्तर की श्रद्धा का सम्बल मानता है, जड है, पर उसे नगण्य से सर्वस्व घोषित करने वाला मनुष्य चेतन है। मूर्ति और मनुष्य मे आकार-प्रकार विषयक समानता होने पर भी आकाश-पाताल जैसा भेद है, अतएव मनुष्य मूर्ति नही है और मूर्ति मनुष्य नही है।

(३) वह लेखनी, जिससे लेखक निवन्ध लिखता है और ज्ञान की दिशा मे पाठको को अपने साथ ले चलता है, जड है—अचेतन है। लेखनी मे बुद्धि नही। बुद्धि तो लेखनी का प्रयोग करने वाले लेखक मे है। अगर लेखक मे बौद्धिक क्षमता अथवा विचार-शक्ति अथवा भावनामयी सौन्दर्यानुभूति नही होती तो न निवन्ध लिखा जाता और न पाठक लेखक के साथ ही चलता। लेखक चेतन है और लेखनी जड है।

(४) घर के चूल्हे मे अभी जो लकडी जल रही है, वह कभी पेड पर थी। इसमे अणुभर सन्देह नही, पर पेड जहा आज भी अकड लिये शान से खडा है वहा चूल्हे की लकडी जलकर कोयला बन रही और कोयला राख का रूप धारण कर रहा है, चूँकि पेड बढ रहा है, हरा-भरा है। अतएव वह चेतन है और लकडी बढी नही, अतएव अचेतन है।

(५) पुस्तक, शिक्षक की जीवन-सगिनी है। पुस्तक, शिक्षक और शिक्षार्थी के लिये शिक्षा का माध्यम बनी है पर इतने पर भी शिक्षक और पुस्तक मे अथवा विद्यार्थी और पुस्तक मे काफी अन्तर है। शिक्षक और विद्यार्थी के ज्ञान मे न्यूनाधिकता के दर्शन होते हैं पर वे एक पुस्तक से अनेको पुस्तकें तैयार कर सकते हैं। परन्तु पुस्तक के शब्द,

उसकी पूर्णसत्ता, उसमें पूर्वीभूत भावना सीमित है। अत शिक्षक और विद्यार्थी चेतन हैं पर उन्हे बाह्य चेतना देने वाली पुस्तक जड है।

(६) जैसे शिक्षक को पुस्तक प्रिय है वैसे ही योद्धा को तलवार प्रिय है। तलवार से योद्धा का बल बढता है, तलवार के प्रयोग से योद्धा अपने विपक्षी को धराशायी कर सकता है पर इतने पर भी शक्ति योद्धा मे है, तलवार में नहीं। चूंकि योद्धा को अपनी शक्ति का ज्ञान है पर तलवार को नहीं, अत योद्धा चेतन है और तलवार जड है।

(७) वक्ता बोलता है और श्रोता सुनता है वक्ता और श्रोता के मध्य शब्द ज्ञान के माध्यम बने हैं। ज्ञान की बात जो अनुभवजन्य है और व्यवहारजन्य है वह वक्ता और श्रोता के हृदय और बुद्धि मे सीमित होकर भी असीमित है। यद्यपि, वक्ता और श्रोता शब्दों के प्रयोग को जानते है पर शब्द न वक्ता को जानते हैं और न श्रोता को तथा न अपने प्रभाव को ही। अतएव शब्द जड हैं पर वक्ता और श्रोता चेतन है।

मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण

(१) भौतिक पदार्थ स्वय कार्य नहीं करता है। मनुष्य की शक्ति से वह क्रियाशील होता है। मोटर चलाने के लिए मनुष्य चालक (Driver) चाहिये अन्यथा वह स्वय तो टस से मस भी नही हो सकती है। पर चींटी अपने आप चलती है। आकार-प्रकार से बडी होने पर भी मोटर जड है, अचेतन है और चींटी छोटी होने पर भी चेतन है, सवेदनशील है।

(२) प्राणियो का व्यवहार बाहरी वातावरण से कभी-कभी प्रभावित होता है पर पूर्ण रूप से वह उसपर उतना निर्भर नहीं जितना कि आन्तरिक प्रतिक्रिया पर। बिजली के बटन को ऊपर-नीचे कर दो तो तत्काल बिजली बुझ या जल जायेगी पर मनुष्य के सबध मे यह बात नहीं कि गुलाबजामुन देखते ही भूख लग जावेगी अथवा वह अपमानजनक बात को सुनते ही जल से भुन जावेगा। बिजली यान्त्रिक है, उसमे व्यवहार को ग्रहण करने की क्षमता नहीं है, अतएव वह जड है। पर मनुष्य तो व्यवहारविद् है वह चेतन है, सवेदनशील है, अत चेतन है। मनुष्य बाहर से किसी सहज प्रभावानुसार नहीं बल्कि अन्तरग से ही सूचना ग्रहण करता है।

(३) हम जिस दिशा मे पत्थर फेंकेंगे, वह उसी दिशा मे चला जावेगा, क्योकि वह जड है, उसकी गति निश्चित है पर मनुष्य सहसा शेर को निकट देखकर भाग सकता है, बेहोश हो सकता है, पेड पर चढकर अथवा अग्नि जलाकर आत्मरक्षा कर सकता है। यानी, वह चेतन है, उसका अन्तस्तल विविध कार्यकलापों का स्रोत है। वह बलवान होकर किसी भी द्वन्द्व युद्ध के लिए ललकार सकता है।

(४) प्रात काल होने की सूचना देने वाली, कलरवकारी चहचहाने वाली चिडिया भविष्य के लिए भोजन का प्रबन्ध करती हैं क्योंकि वे चेतन है, ज्ञानमय हैं, उनमे जीवन की भावना है, पर रेलगाडी का इजन आगे आने के लिए अपने कोयले और पानी का कोई प्रबन्ध नहीं करता है, क्योंकि वह अचेतन है, जड है।

(५) पाच वर्ष का बालक आरम्भ मे जैसा लिखता है वैसा ही वह आगे नहीं लिखता रहता है। उसके व्यवहार और आचरण की भाति क्रमश दिनोदिन उसकी लेखनकला का विकास होता है पर हवाई जहाज का इजन ज्यो का त्यो निश्चित दिशा मे निश्चित मात्रा मे निश्चित समय तक कार्य करता है। इस अन्तर का कारण भी बालक का चेतन होना और इजन का अचेतन होना है।

(६) जड पदार्थों मे जब तक शक्ति रहती है, वे कार्यशील बने रहते हैं, पर चेतन प्रेरक शक्ति के होने पर भी रुक सकते हैं। घडी मे चाबी दे दें तो वह चौबीस अथवा छत्तीस घटे बखूबी अवश्य चलती रहेगी पर गाय बालक को मारने के लिए दौडे तो वह दौडने की क्षमता होने हुए भी पडौसी के घर मे घुस जावेगा या सुरक्षित स्थान मे पहुँचते ही दम लेने लगेगा। इसका भी मूलभूत कारण यह है कि घडी जड है और बालक चेतन है।





(७) जड मे विकास नही होता है, चेतन में विकास होता है। जन्म के समय जिस बालक के मस्तक का वजन ३५० ग्राम होता है उसी बालक का मस्तिष्क, किशोरावस्था मे १२६० ग्राम वजन वाला हो जाता है पर कपडा सीने की मशीन, भले ही वह ऊपा हो या रीता, आदि से अन्त तक वजन की दृष्टि से ज्यो की त्यो बनी रहती है। इसका भी रहस्य बालक के चेतन और मशीन के जड होने का परिचायक है।

निश्चित निष्कर्ष

पूर्वोक्त एक से अधिक उदाहरणो के आधार पर यह सहज हो ज्ञात किया जा सकता है कि जड और चेतन में जो मौलिक अन्तर है उसे जीवन (Life) शब्द द्वारा सहज ही जाना जा सकता है। जीवन का अस्तित्व गतिशीलता परिणमनशीलता, सुदूरदर्शिता, आत्म-रक्षा, परिवार-रक्षा, जाति-रक्षा, धर्म-रक्षा, समाज और देश-रक्षा जैसे तत्त्वो से जाना जा सकता है।

(१) यन्त्र मे जीवन नही है, जीवधारी मे है। जीवधारी जीवी (Organism) है। यद्यपि वह इकाई की भाति काम करता है तथापि उसका प्रत्येक भाग यो काम करता है, जैसे वह जानता हो कि दूसरे भाग किस प्रकार काम कर रहे हैं। जीव या देही अथवा जीवात्मा, अपने अगो का सम्मिलित रूप मात्र नही है, वह अतीन्द्रिय चेतन है। इसके विरुद्ध यत्र जड है, वह पुरजो का पिड है, एक भी पुरजा न होने पर निष्क्रिय हो जाता है।

(२) सरटी० पर्सीनन के शब्दो मे "प्रत्येकस्तर पर प्राणी मे अनेकता मे एकता (unity in denersity) की उपलब्धि होती है। पर यन्त्र की स्थिति इससे विपरीत है। वह अनेक पृथक-पृथक अगो का समूह है। उसका एक अग दूसरे अग की क्रिया से नितान्त अनभिज्ञ रहता है। इसका मूलभूत कारण यन्त्र मे जीवनदायिनी चेतना शक्ति का अभाव है।

(३) प्राणधारी मे भोजन के पाचन द्वारा स्व-शरीर की वृद्धि करने की क्षमता है तथा अपनी जाति की रक्षा की योग्यता है। वह मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण मे वशानुक्रम और वातावरण की सम्मिलित अथवा गुणित प्रतिकृति है। उसमे सजीवता, सरलता, सुबोधता जैसे सद्गुण है पर यन्त्र मे ऐसा कुछ भी नही है। और जब वह स्वय ही घट-बढ नही सकता है तब वह दूसरो को क्या घटावेगा-बढावेगा ? उसके वशानुक्रम का तो सवाल ही नही पर बाह्य वातावरण से अवश्य उसकी जीवनोपयोगी शक्ति मे न्यूनाधिकता सभव है और यह व्यवस्था भी उसके स्वामी पर निर्भर है।

(४) प्राणधारी शरीरी जीव स्वशासित है, स्वनियन्त्रित है, वह अन्तरात्मा से आदेश भी प्राप्त करता है। वह एक ऐसा खिलाडी है, जो सभी क्रियाओ-प्रतिक्रियाओ, विधि-निषेधो को करने के लिए स्वतन्त्र है। इससे विरुद्ध यन्त्र है, जो दूसरो के द्वारा शासित है, दूसरा व्यक्ति जिसका नियामक है, सचालक है। यन्त्र वह गेंद है जो पूर्वोल्लिखित खिलाडी के हाथो की कठपुतली बनी है।

(५) जीवधारी का जीवन G W T Patric के शब्दो मे आत्मसयोजन, आत्मपोषण, आत्मरक्षा और आत्मशाश्वतता का द्योतक है परन्तु यन्त्र मे समायोजन, पोषण, रक्षा और शाश्वतता जैसा एक भी गुण नही है।

(६) जीवधारी के पास इन्द्रिया हैं। उनके प्रयोगो की अपनी सीमायें व शक्तिया हैं। जीवात्मा के पास मन और मस्तिष्क है, उसका सन्देशवाहक व्यवहार है जो उसकी और दूसरो की क्रिया-प्रतिक्रिया पर आधारित है पर यन्त्र मे ऐसी कोई व्यवस्था नही है।

(७) जीवात्मा अनुभव करता है। वह ज्ञान-सवेदन-चेष्टा लिये है (भले वह चीटी या अमीबा भी क्यो न हो) और अपने अस्तित्व की घोषणा करता है। जीव आत्मरक्षा और विश्वशान्ति के लिए भी प्रयत्नशील रहता है पर

यन्त्र के पास अनुभवमूलक दृष्टि नहीं। (वह चाहे रेल का इंजन अथवा पुतलीघर का भीमकाय लोहयन्त्र भी क्यों न हो, पर उसमें ज्ञान-अनुभव-चेष्टा न होने से अस्तित्व की घोषणा करने की क्षमता नहीं है।)

अध्ययन और अनुभव बतलाता है कि जड और चेतन का ताना-बाना इतना जटिल बन रहा है कि अणु सी आकस्मिक विभिन्नतायें-समानतायें एक दूसरे के लिये जीवन-संघर्ष और वरिष्ठ अतिजीवित रहने की चेतनावाहक बनी है। जड और चेतन में, यन्त्र और मनुष्य में हम सजग दृष्टिकोण लिये सतत भेद किये रहें और समझते-समझाते रहें।

"मनुष्य ने यन्त्र को बनाया। यन्त्र ने मनुष्य को नहीं बनाया। जो यन्त्र है वह मनुष्य नहीं और जो मनुष्य है वह यन्त्र नहीं।'

आज इतना ही मुझे प्रस्तुत प्रसंग मे लिखना है।



लोकस्वरूप : समीक्षा



श्री रिखबराज कर्णावट,
एडवोकेट,
जोधपुर,

कोई भी ऐसा व्यक्ति नही है जिसके हृदय मे यह जानने की आकांक्षा न रही हो कि विश्व मे दृष्टिगोचर होनेवाली ये वस्तुए किस प्रकार अस्तित्व मे आई ? यह सूरज, यह चन्द्रमा, ये तारे, यह आसमान, ये पहाड़, ये नदिया, ये बड़े-बड़े समुद्र, झीलें, बाग बगीचे, पेड-पौधे, पशु-पक्षी, स्त्री-पुरुष, क्या स्वत अपने आप ही सयोगवश अस्तित्व मे आगये या कोई ऐसा हेतु है जिसके प्रभाव से किसी प्रक्रिया द्वारा इन सब का आविर्भाव हुआ है ?

अत्यन्त प्राचीन समय मे भी मनुष्यो का ध्यान इन बातो की तरफ आकर्षित हुआ था और उनमे से जो विशेष प्रज्ञावान् पुरुष थे, उन्होने ज्ञान की साधना कर उपर्युक्त प्रश्न का उत्तर खोजने के प्रयत्न किये और वे अपने अनुभवो का निचोड अपनी भावी पीढियो को देते गये। उनमे से अनेको ने इस विश्व को रचने वाले की कल्पना की और उस तथाकथित रचयिता को ईश्वर की सज्ञा दी। क्रिश्चियन मतानुसार सृष्टि की रचना यहोवा परमेश्वर ने छ दिन मे की, और अन्त मे आदम को भूमि की मिट्टी मे रच कर उसमे जीवन का साँस फूंक दिया। आदम को नीद मे डाल दिया, और इसकी पसली निकाल कर उसे नारी बना दिया। उन दोनो की पुत्र-पुत्रिया बढती गईं। ईश्वर ने पशु-पक्षी भी बनाये और वे भी बढते गये और इस तरह सृष्टि का निर्माण होता गया। मुस्लिम मतानुसार भी खुदा ने मिट्टी से आदम को बनाकर उसको हुक्म दिया कि 'हो' और वह हो गया। पारसी धर्म के अनुसार अहूर मज्द ने तमाम वस्तुए पैदा की। वैदिक धर्म मे भी पुराणो मे सृष्टि का कर्ता ईश्वर को माना गया। सृष्टि की रचना कब और कैसे हुई, इस बारे मे अनेक प्रकार की कल्पनाए पुराणो मे भी की गई है। इन कल्पनाओ और मान्यताओ से साधारण लोगो को भले सन्तोष हुआ हो किन्तु विचारशील लोगों का समाधान नही हुआ, क्योकि इन कल्पनाओ मे दार्शनिक और वैज्ञानिक दृष्टिकोण को कोई स्थान नही है। अतएव उन कल्पनाओं पर प्रकाश न डालकर यहाँ हम भिन्न-भिन्न दार्शनिको के विचारो पर ही दृष्टिपात करेंगे। पहले पाश्चात्य प्राचीन तथा अर्वाचीन दार्शनिको के और तदनन्तर भारतीय दार्शनिको के विचारो की सक्षिप्त रूपरेखा प्रस्तुत की जाएगी।

यूनान के दार्शनिको की विश्वसमस्या

पाश्चात्य ससार मे यूनानी दार्शनिको ने ही सबसे पहले विश्व स्वरूप की समस्या का समाधान ढूंढने मे दिलचस्पी ली। जिस तरह बच्चे खिलौने किस वस्तु के बने है, यह जानने के लिए खिलौने को तोडते है, ठीक उसी प्रकार विश्व जिन उपादानो से बना है, उनका पता लगाने मे ये दार्शनिक लग गये। वे केवल कल्पना के आकाश मे उडने वाले न थे बल्कि अपनी समस्या का समाधान वैज्ञानिक आधार पर ढूंढना चाहते थे। थेल (Thales) नामक यूनानी दार्शनिक ने, (जो ईसा से लगभग छ सौ वर्ष पूर्व हुआ था) विश्व का मूल उपादानकारण जल बताया। उसने देखा कि पानी जम कर ठोस बर्फ के रूप मे आ सकता है और वाष्प के रूप मे भी बदल सकता है। इससे उसने अनुमान लगाया कि कडी से कडी चट्टाने व हल्की से हल्की हवा पानी से निर्मित है और समय पाकर पानी मे परिणत हो जायेगी। इस दार्शनिक के पश्चात् ही यूनान के एक अन्य दार्शनिक अनक्सीमण्डर (Anaximander) ने कहा कि भूतो के जिन स्थूल सान्त रूप को हम देखते है मूल तत्त्व को उनसे अत्यन्त सूक्ष्म होना चाहिये। उसने इसका नाम 'अनन्त' 'अनिश्चित' रखा। इस अनन्त मे उसने गति मानी और यह माना कि गति के कारण अनन्त शनै शनै टुकडो

मे बिखर कर इस विश्व के भिन्न-भिन्न पदार्थों के रूप मे प्रकट हुआ है। इसी 'अनन्त' मे आग, हवा, पानी आदि तत्व बने है।

किन्तु उनके बाद एक अन्य दार्शनिक अनक्सीमिन (Anaximines) ने उपरोक्त विचारको के साथ सह-मति प्रकट नही की और कहा कि मूल तत्व हवा है जिससे सम्पूर्ण विश्व का प्रादुर्भाव हुआ है। मनुष्य और पशु-पक्षी भी वायु से ही श्वास लेते है और वायु के ही कारण जीवित रहते है। बादल, पानी, पृथ्वी, पत्थर इन सबकी उत्पत्ति वायु से हुई है। यहाँ यह ध्यान देने की बात है कि यूनान के इन दार्शनिको ने यह प्रश्न नही पूछा कि इन्हे किसने बनाया ? उनका प्रश्न था—ये कैसे बने ?

पाश्चात्य दर्शन के विकास मे इन लोगो का चिन्तन पहला प्रयास था। इन दार्शनिको के बाद अगले विकास मे हम विचारको को सूक्ष्म तर्क-वितर्क की ओर रमते देखते हैं। पिथागोरस (Pythagoras) जैसे दार्शनिक इसी मार्ग पर आगे बढते नजर आते है। पिथागोरस स्थूल प्रकृति को छोडकर आकृति की ओर दौडता है। उसका कहना है कि महाभूत मूल तत्व नहीं है। मूलतत्व आकृति या आकार है। वीणा के तार की लम्बाई और स्वर का सम्बन्ध बतलाकर उसने बताया कि अगुली से दबाकर जितनी लम्बाई या आकार का हम प्रयोग करते है उसी के अनुसार स्वर निकलता है। आकार यानि आकृति संख्या मे प्रकट की जा सकती है। इसलिए सभी चीजें संख्याएं है और यह सम्पूर्ण विश्व सख्याओ से बना हुआ है। इन दार्शनिकों ने मूल तत्व का परिवर्तन होना मान कर उससे विश्व-रचना की समस्या सुलझाने की कोशिश की।

हेराक्लितु (Heraclitus) नामक दार्शनिक ने मूल तत्व अग्नि को बताया। क्योंकि अग्नि सतत परि-वर्तनशील रहती है। उसका कथन था कि ससार मे कुछ भी स्थायी नही है। नदी मे दूसरी बार डुबकी लगा कर आप उसी पानी मे नहीं नहा सकते।

इसके विपरीत एलिया के जेनोफन्स (Xenophanes) नामक दार्शनिक की यह मान्यता थी की समूचा विश्व एक सार वस्तु है जो परिवर्तनशील और गतिमान नही है। दूसरे दार्शनिक परमेनिद् (Parmendes) ने इसी बात को दुहराते हुए बताया कि जगत एक अक्षर अविनाशी तत्व वस्तु है। गति या दूसरे परिवर्तन, जो हमे दिखाई देते हैं, भ्रम है। एलिया के एक अन्य दार्शनिक जेनो (Zeno) ने यह साबित करने का प्रयत्न किया कि जो लोग परिवर्तन को सिद्ध करने का प्रयत्न करते है वे अपना स्वयं का प्रतीकार करते है। यह दार्शनिक भी एलिया के उप-रोक्त दार्शनिको की भाति स्थिर अद्वैतवादी था।

हेराक्लितु और एलिया के उपरोक्त विचारो और थेल आदि दार्शनिको के अनुभव से लाभ उठाकर एम्पे-डोक्ल (Empedocles) नामक दार्शनिक ने अग्नि, वायु, जल, पृथ्वी ये चार बीज स्थिर कर दिये और बताया कि इन बीजो मे असंख्यात कण (Particles) भरे हुए है। इन सब के सयोग और वियोग से सभी पदार्थ बनते और बिगडते है। इस विचारधारा ने परमाणुवादियो के लिए एक रास्ता खोल दिया। परमाणुवादियों मे उस समय लेउकिप्पू (Leucippus) और उनका प्रसिद्ध शिष्य डेमोक्रेतु (Democritius) हुए है। डेमोक्रेतु चरम परिवर्तन को नही मानता। उसका कहना था कि जो परिवर्तन दिख रहा है वह वस्तुओ की निरन्तर गति से हुआ है। उसका कहना था कि मूल तत्व एक है जिसको वह परमाणु कहता है। सभी परमाणु एक आकार के नही होते, उनके बने पिण्डो के आकारो मे भेद है। ये परमाणु निरन्तर हरकत करते रहते है और हरकत करते रहने से उनका दूसरो से सयोग होता है तथा इस तरह से जगत तथा दूसरे पिण्डो का निर्माण होता है।



अफलातूं (Plato) की विचारधारा (४२७ से ३४७ ई० पू०)

लोकस्वरूप सबधी ये सभी सिद्धान्त यूनान के प्रसिद्ध दार्शनिक अफलातू (Plato) को संतुष्ट नहीं कर सके। वह अपने गुरु सुकरात की इस बात से सहमत था कि ठीक और से प्रयत्न करने पर ज्ञान सम्भव है। साथ ही हेराक्लितु की



राय से भी सहमत था कि इन्द्रियगम्य वस्तुए सदा बदलती है और उनमे सत्य पर नही पहुँचा जा सकता। वह एलिया-तिको की भाति एक परिवर्तनशील जगत् को मानता था और उसने परमाणुवादियो के बहुत्ववाद का भी समर्थन किया। इन सब के सम्मिश्रण से इस परिणाम पर पहुचा कि ज्ञान का विषय इस जगत् की दिखती हुई चीजे नही बल्कि एक इन्द्रिय-अगोचर पदार्थ विज्ञान (Idea) है जो पिथागोरस की आकृति से मिलता था। वह सामान्य का पक्षपाती था। उसका कथन था कि विश्व मे जितने पदार्थ है वे वस्तुत सत्य नही है, असली विज्ञान [Idea] की अपूर्ण प्रतिलिपि मात्र है। विश्व मे जितने अश्व दिखाई पडते है वे सब अश्व के विज्ञान (Idea) की प्रतिलिपियाँ है। अश्व दिखलाई पडते है पर अश्वता (सामान्य) को कोई नही देख सकता। यह सामान्य अनादि अगोचर मूल स्वरूप है और नित्य तत्त्व है। एक मूल तत्त्व की अनेको प्रतिलिपिया सम्भव है। जिस तरह मूर्ति के सामान्य (Idea) से उस आकृति की अनेको मूर्तिया पत्थरो पर अकित की जा सकती हैं। अफलातू (Plato) की मान्यता के अनुसार सामान्य तत्त्वो यानि मूल स्वरूपो का इस लोक से परे अन्य लोक है जहाँ पर ये मूल तत्त्व (Ideas) क्रमश व्यवस्थित है। उनमे पूर्ण शिव (Perfect god) का विज्ञान सर्वोच्च है। चूकि सासारिक वस्तुए उन विज्ञानो की प्रतिलिपिया है और वे प्रतिलिपिया भौतिक तत्त्वो का आधार लिए हुए हैं, इसलिए अफलातूं ने भौतिक तत्त्वो का अस्तित्व भी अनादि काल से माना है। विज्ञान (Idea) और भौतिक तत्त्वो को साथ लाने के लिए अफलातूं ने एक विधाता 'देमिउर्ग' (Demiurge) की कल्पना की है जिसको उसने मूर्तिकार की उपमा दी है। विधाता मानवमूर्तिकार की भाति विज्ञानजगत् (मानसिक दुनियाँ-World of Ideas) मे मौजूद नमूने (मूल स्वरूप-सामान्य-Ideas) के अनुसार भौतिक विश्व को बनाता है। भौतिक तत्त्व अपूर्ण होने से विज्ञान की शुद्ध प्रतिलिपियाँ पैदा होने मे बाधा पडती है, इस कारण इस विश्व मे कमियाँ नजर आती हैं। अफलातू ने इन्द्रियगम्य प्रत्यक्ष जगत् से अलग बुद्धिगम्य विज्ञान-जगत् को वास्तविक जगत् बताया है।

अरस्तू (Aristotle-३८४-३२२ ई० पू०)

अफलातू के बाद उसका शिष्य अरस्तू (Aristotle) एक महान् दार्शनिक के रूप मे ससार के समक्ष आया। वह अफलातूं के विज्ञान (Ideas) को तो मानता था किन्तु विज्ञान-जगत् की जरूरत को स्वीकार नही करता था। उसकी मान्यता थी कि विज्ञान (Ideas) जिसे वह आकृति कहता था, भौतिक तत्त्वो (Matters) मे मौजूद है। उदाहरण के लिये एक वट वृक्ष को लीजिये। इसके बीज मे वट वृक्ष की आकृति समाई हुई रहती है। इसी प्रकार वट वृक्ष मे लकडी के तख्तो की आकृति समाई हुई है और लकडी के तख्तो मे Furniture की आकृति है। इन हरेक मे बीज मे, वृक्ष मे, लकडी के तख्ते मे और Furniture मे भौतिक तत्त्व और आकृतियाँ समाई हुई हैं। इन सब वस्तुओं के मूल मे वट वृक्ष की आकृति (मूल-स्वरूप) रही हुई है, वह अपरिवर्तनीय है। केवल भौतिक तत्त्व भिन्न-भिन्न आकृतियो मे बदलकर उपरोक्त वस्तुओं के रूप मे हमारे समक्ष आया। भौतिक तत्त्व सदा आकृति पाने की चेष्टा मे रहता है। भौतिक तत्त्व और आकृति अनादि काल से है। इनको किसी ने पैदा नही किया और ये सदा शाश्वत रहेंगे। भौतिक तत्त्वो की आकृति लेने की प्रक्रिया से इस विश्व मे उत्पन्न हुई सब वस्तुए समझाई जा सकती है। इस विश्व के स्वरूप को समझने के लिये हम मूर्तिकार द्वारा मूर्ति बनाने के उदाहरण को लेते हैं। अफलातू का मूर्तिकार मूर्ति के सगमरमर से भिन्न स्वतन्त्र है। किन्तु अरस्तू का मूर्तिकार सगमरमर पर निर्भर है। पूर्ण मूर्ति का विज्ञान अरस्तू के अनुसार सगमरमर मे रहा हुआ है जो स्वरूप सगमरमर प्राप्त करता है। अरस्तू के विचार से विधाता नही है तो भी सभी वस्तुओ का खिचाव पूर्ण विकसित विज्ञान-ईश्वर की ओर है। अरस्तू की मान्यता है कि प्रत्येक वस्तु चार कारणो से बनती है —

(१) विज्ञान कारण (Formal cause) —मूर्तिकार के मन मे मूर्ति के स्वरूप का विचार।

(२) उपादान कारण (Material cause) —सगमरमर या भौतिक तत्त्व जिससे मूर्ति की रचना की जाने को है।

(३) निमित्त कारण (Efficient cause) —वे औजार आदि जो मूर्ति के निर्माण मे सहायक हो।

(४) अन्तिम कारण (Final cause) —जिस उद्देश्य के लिये मूर्ति निर्मित की गई हो।

अरस्तू का कहना है कि भौतिक तत्वों और आकृति के मिलने से गति पैदा होती है। और जब कभी भौतिक तत्व आकृति धारण करने में रुकावट पैदा करता है तो गल्तियाँ, बुराइयाँ और कमियाँ हम देखते हैं। वैसे भौतिक तत्व आकृति धारण करने में सहायक रहते हैं। अरस्तू की दुनिया केवल यांत्रिक पैदाइश नहीं है किंतु कुछ बनने के उद्देश्य से प्रस्फुटित है। इस प्रक्रिया के अंतिम रूप को अरस्तू 'विश्व का अचल चालक' के नाम से सम्बोधित करता है। यह भौतिक तत्व नहीं है न किसी की पैदाइश या कारण है। हम इस अचल चालक का अनुभव नहीं कर सकते लेकिन विचार कर सकते हैं। अरस्तू का कहना है कि बिना आकृति के भौतिक वस्तु की कल्पना और बिना भौतिक वस्तु के आकृति की कल्पना एक असीम कल्पना है जिसका अनुभव हमें नहीं हो सकता। विश्व की वस्तुएं टेबल, कुर्सियाँ, मनुष्य, आकाश, तारे आदि भौतिक तत्व और आकृति दोनों के मेल से बनी हैं।

इस प्रकार अरस्तू ने विश्व के स्वरूप को समझाने का प्रयत्न किया है।

एपिक्युरीय भौतिकवाद व स्तोइको का शारीरिक वाद

अरस्तू के समय यूनानी राज्य का पतन हो गया था, इस कारण इसके दर्शन की भी आगे प्रगति नहीं हुई। एपिकुर (Epicurus) नामक दार्शनिक ने, जो भोगवाद का संस्थापक था, डेमोक्रेतु (Democritus) के परमाणुवाद के आधार पर अपने दर्शन का निर्माण किया। उसके अनुसार विश्व की सब वस्तुएं शरीर हैं जो छोटे बड़े भिन्न प्रकार के अणुओं से बना है और यह विश्व स्वभावतः इस रूप में बन गया है। इसी काल के स्तोइको (Stoicos) का दर्शन विश्व-स्वरूप के सम्बन्ध में अरस्तू से कुछ मिलता-जुलता था। वे भी विश्व को भौतिक तत्व और आकृति अथवा शक्ति इन दो तत्वों से बना हुआ मानते थे। उनका कहना था कि भौतिक तत्वों के बिना शक्ति नहीं और शक्ति के बिना भौतिक तत्व नहीं मिल सकते। इसलिये भौतिक तत्व को सर्वत्र शक्ति (ईश्वर) से व्याप्त मानना चाहिये। अतः छुद्र से छुद्र वस्तु भी शक्ति का अंश है। इस प्रकार ईश्वर सब का पिता है।

ईसाई धर्मवादी दार्शनिकों के विचार

इसके पश्चात् ईसाई धर्म के विचारकों ने अपने धर्म में यूनानी दर्शन का मेल बिठाकर यह बताया कि विज्ञान-आकृति-शक्ति (Idea, Form, Force) यह ईश्वर के मस्तिष्क में थे और भौतिक तत्वों को ईश्वर ने शून्य से पैदा किया था और इस तरह सृष्टि अपने स्वरूप में आई। इस मत के प्रणेता अगस्तिन (Augustine) का यह भी कहना था कि विज्ञान (Ideas) दैविक होने से पुनः ईश्वर में मिलना चाहते हैं किन्तु भौतिक तत्व उन्हें रोकने का प्रयत्न करता है। ईश्वर द्वारा सृष्टि की उत्पत्ति के विचार को इसी भांति कुछ जोड़-तोड़ के साथ ईसाईधर्मवादी दार्शनिक कहते रहे।

नवीन यूरोप के जागरण के पश्चात् की दार्शनिक धारा

फ्रान्सिस बेकन —सोलहवीं सदी में फ्रान्सिस बेकन ने धर्म को दर्शन से अलग रूप में समझाने की कोशिश की। उसने विश्व के स्वरूप को पूर्ण समझाने की कोशिश तो नहीं की किन्तु वैज्ञानिक रूप से विश्व-स्वरूप को समझने का रास्ता खोल दिया। बेकन के मतानुसार इस विश्व में केवल शरीर (Individual bodies) है जो निश्चित नियमों के नियन्त्रण में हैं। इन नियमों को समझने से विश्व-स्वरूप की समस्या की गुत्थी सुलझ सकती है।

देकार्त (Descartes, १५९६–१६५०) —देकार्त ने यान्त्रिक तरीके से प्रकृति की प्रक्रिया को समझाया, 'मैं सोचता हूँ इसलिए मैं हूँ।" यह स्पष्ट और असंदिग्ध है इसलिये यह सच है। स्पष्ट और असंदिग्ध विचार होने से देकार्त ने ईश्वर को भी सत्य मान लिया। जगत् को ईश्वरनिर्मित माना। आत्मा और शरीर (Mind and body) को इसने भिन्न-भिन्न माना और यह कहा कि भगवान की दिव्य सहायता से आत्मा शरीर की गति को



संचालित कर सकती है। ईश्वर के काम के बारे में दकार्त का कहना है कि ईश्वर ने प्रकृति में जो गति पैदा की उसे जारी रखने के लिये ईश्वर को अब भी सक्रिय रहना पड़ता है।

स्पिनोजा (Spinoza १६३२-१६७७) —किन्तु स्पिनोजा ने ईश्वर को एक परम तत्व के रूप में माना है और उसी को विश्व सम्बोधित किया है। उसका कहना है कि एक सान्त वस्तु अपनी सत्ता के लिये अगणित तत्वों पर निर्भर है और इनमें से भी प्रत्येक तत्व दूसरे अनगिनती तत्वों पर निर्भर है। इस तरह कोई ऐसा तत्व अवश्य होना चाहिये जो स्वयंसिद्ध, स्वयं अपना आधार हो। ऐसा तत्व स्वयं प्रकृति या ईश्वर है जो अनन्त और पूर्ण है। हरेक अन्तिम शक्ति ईश्वर का गुण है। मनुष्य इन गुणों में दो गुणों को जानता है – विस्तार (Extension) और चिन्तन (Thought)। ये दोनों गुण अपने आप में स्वतंत्र हैं। परन्तु एक ही परम तत्व ईश्वर के दो भिन्न-भिन्न रूप हैं। इस प्रकार स्पिनोजा के अनुसार सम्पूर्ण विश्व एक तत्व है जिसे वह परमात्मा या प्रकृति के नाम से पुकारता है।

जोन लाक (Johan Lock, १६३२-१७०४) —इस दार्शनिक ने दकार्त के विचार को कुछ परिवर्तन के साथ स्वीकार किया है। उसका कथन है कि जगत् द्रव्यों से निर्मित है जो शक्तियों और गुणों के आधार हैं, और जिनमें क्रियाएं निहित रहती हैं और निस्सृत होती हैं। द्रव्य गुणों और क्रियाओं के कारण और आधार हैं। द्रव्य दो तरह के हैं—शरीर और आत्मा। शरीर द्रव्य के विशेषणप्रपन्न याने विस्तार (Extension) कठोरता (Solidity) अभेद्यता (Impenetrability), ये प्रसर (Space) में भरे हैं। आत्मा एक वास्तविक सत्ता है जिसके विशेषण प्रत्यक्ष या विचार शक्ति और संकल्प या शरीर को गतिमान करने की शक्ति है। इन गुणों को हम विमर्श (Reflexion) द्वारा जान सकते हैं। आत्मा, मन और शरीर एक दूसरे पर प्रभाव डालते रहते हैं। उदाहरण के लिये शरीर मन पर प्रभाव डालता है जिससे हम रंग, शब्द,स्पर्श आदि को अनुभव करते हैं। लाक का सिद्धान्त द्वैतवादी है। उसके कथनानुसार आत्मा और शरीर दोनों भिन्न-भिन्न प्रकार के द्रव्य हैं जिससे विश्व का निर्माण होता रहता है।

वर्कले (Barkeley १६८५-१७५३) —वर्कले भौतिक तत्व के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करता था। उसका कहना था कि मुख्य या गौण गुणों के सम्बन्ध में हमारे विचार या वेदनाएं हैं, वे किन्हीं वास्तविक बाह्य तत्वों की प्रतिबिम्ब नहीं है। वे सिर्फ मानसिक वेदनाएं हैं। वर्कले के अनुसार सत्य के तत्व हैं भगवान, उसकी बनाई आत्मा और भिन्न-भिन्न विचार, जो उसकी आज्ञानुसार विशेष अवस्थाओं में पैदा होते हैं। वर्कले का कहना है कि मेरे मनस में संवेदनों(Sensations)या प्रत्ययों(Ideas) का कोई कारण होना चाहिये। और यह कारण कोई सक्रिय द्रव्य होना चाहिये, क्योंकि यह कारण भौतिक द्रव्य नहीं हो सकता, अतएव यह अमूर्त सक्रिय द्रव्य या स्प्रिट होना चाहिये। स्प्रिट एक है, अविभाज्य है, सक्रिय है। हम स्वयं स्प्रिट को नहीं देख सकते किन्तु उसके द्वारा उत्पन्न कार्यों (Effects) को ही देख सकते हैं। फिर भी हमें आत्मा या स्प्रिट का और मनस् की क्रियाओं (संकल्प करना, प्यार करना, घृणा करना आदि) का, जिस अर्थ में भी हम उन्हें समझते हों, बोध होता है। इस प्रकार वर्कले ने दकार्त, स्पिनोजा और लाक द्वारा बताये गये भौतिक विश्व को स्वीकार नहीं किया। उसकी मान्यतानुसार जो कुछ भी अस्तित्व में है वे मनस् में रहे हुए प्रत्यय हैं। उसका कथन था यदि वे मेरे मनस् में नहीं हैं तो आपके मनस् में है, परात्मा के मनस् में हैं, वे निस्सन्देह भौतिक (Material) दृष्टिगोचर होते हैं किन्तु वास्तव में ऐसा नहीं है।

ह्यूम (Hume १७११-१७७६) —इस दार्शनिक ने यह महसूस किया कि वर्कले पर्याप्त आगे नहीं जा सका। हमको केवल द्रव्य का ही विचार नहीं छोड़ना चाहिये बल्कि ईश्वर का विचार (Idea) छोड़ देना चाहिये, जिसके मनस् में सब प्रत्ययों का होना माना है। ह्यूम का कथन है कि द्रव्य (Substance) की धारणा निरर्थक है, चाहे उसे मनस् पर उपयोजित किया जाय या पुद्गल पर। मनस द्रुत गति से एक के बाद एक आने वाले अविच्छिन्न प्रभाव युक्त विभिन्न प्रत्ययों की राशि है। इन्द्रियजन्य अनुभव के अतिरिक्त ज्ञानप्राप्ति का साधन ह्यूम ने स्वीकार नहीं किया, और इसी कारण आत्मा व ईश्वर की सत्ता भी उसने स्वीकार नहीं की। ह्यूम के संदेहवाद से यह स्वाभाविक था कि लोगों को कोई सतोषकारक समाधान नहीं दिखा।

लाइब्निट्ज (Leibnitz १६४६-१७१६)—यह जर्मन दार्शनिक आत्मकणवाद (Monadism) का प्रवर्तक था। इसके अनुसार ऐसा कोई द्रव्य नहीं है जो क्रिया नहीं करता हो। अतः पदार्थ का मुख्य विशेषण प्रसार (Extention) न होकर ओज (Force) है। लाइब्निट्ज के दर्शन में प्रकृति की गतिहीन व्याख्या की जगह गतिशील (dynamic) या ऊर्जस्वी (energetic) व्याख्या की गई है। ओज यान्त्रिक जगत् का उद्गम है। चूंकि अनेक वस्तुओं की सत्ता होती है, अतएव प्रकृति में एक ओज न होकर असीमसंख्यक ओज हैं, जिनमें से हर एक विशिष्ट पृथक् द्रव्य होता है, जिसकी इकाई मोनड (Monad) कहलाती है। पदार्थजगत असीमसंख्यक गतिशील इकाइयों या अभौतिक, अप्रपंचित, निरवयव ओज की इकाइयों से निर्मित है। हरेक मोनड में प्रत्यक्ष या उपक्षेप (Representation) शक्ति होती है, वह सारे विश्व का प्रत्यक्ष, अभिव्यक्ति और उपक्षेप करता है। इस अर्थ में वह स्वयं एक सूक्ष्म विश्व है। वह विश्व का जीवित दर्पण है या समाहारित जगत् है। मोनड सीमित होता है, वह अलग-अलग होता है और उसके बाहर उससे अन्य मोनड भी होते हैं। मोनड जितनी ऊँची श्रेणी का होगा वह जगत् के उतने भाग की उतनी ही स्पष्ट प्रत्यक्ष अभिव्यक्ति करेगा। इससे यह नतीजा निकाला कि 'विश्व में होने वाली प्रत्येक घटना की अनुभूति प्रत्येक को होती है। जो सब कुछ देखता है वह हरेक विशिष्ट वस्तु में हर जगह होने वाली चीज को देख सकता है। वह वर्तमान में प्रसार (Space) और काल में उन दूरस्थ चीजों को भी देख सकता है, जो हुई हैं और होंगी।

लाइब्निट्ज के कथनानुसार सभी आत्मकण (Monad) विकास में एक से नहीं हैं। कुछ का विकास अत्यन्त अल्प है, कुछ का विकास इनसे ऊँचा और कुछ का बहुत ऊँचा है। जीवित प्राणियों में आत्मा (Queen Monad) होता है जो सब दूसरे मोनडों का पथप्रदर्शक है। सबसे ऊँचा मोनड चरम विकास को प्राप्त ईश्वर है। उसकी चेतना गंभीर, अत्यन्त और पूर्ण अनन्त सक्रिय है। मनस् ईश्वर का बिलकुल स्पष्ट प्रत्यय (Idea) नहीं बन सकता, क्योंकि ईश्वर सबसे बड़ा मोनड है और मनुष्य सीमित है। पूर्ण मनस् को एक पूर्ण मनस् ही पूरी तरह समझ सकता है। ईश्वर की धारणा बुद्धि से परे है किन्तु बुद्धि के विपरीत नहीं है। मोनड एक दूसरे पर प्रभाव नहीं डालते किन्तु सर्वोच्च मोनड ईश्वर इस नियम का अपवाद है। उसने एक तरह अपने में से इन आत्मकणों को पैदा किया। आत्मकण अपनी क्रियाओं के सम्बन्ध में जो आपस में सहयोग करते दीख पड़ते हैं वह "पहले से स्थापित समन्वय (Harmony) के कारण है।" लाइब्निट्ज अविच्छिन्नता (Continuity) के सिद्धान्त को मानता है जिसका आवश्यक परिणाम है कि मोनड में वह चीज नहीं हो सकती जो उसमें सदा से नहीं हो। मोनड विकास की विभिन्न अवस्थाओं से गुजरता है जिससे उसकी पूर्वनिर्मित चीजों का प्रादुर्भाव होता रहता है। आदम के वीर्य और ईव के गर्भ में सारी मानवजाति पूर्वनिर्मित थी। जिस व्यक्ति का आज विकास हो चुका है वह कल बीज रूप पूर्वनिर्मित था। भविष्य की अवस्थाएं पहले की अवस्थाओं में पूर्वनिर्मित रहती हैं। ईश्वर ने विश्व को इस प्रकार व्यवस्थित कर दिया है कि उसके हस्तक्षेप के बिना विश्व का सचालन होता रहता है।

इमेनुअल कान्ट (Immanuel Kant १७२४-१८०४)—हाब्ज, स्पिनोजा, दकार्त, लाइब्निट्ज आदि के दर्शनों में या तो भौतिक तत्त्वों को ही मूल तत्त्व होने पर जोर दिया गया है अथवा प्रकृति की उपेक्षा करके विज्ञान (चेतना) को ही एक मात्र परम तत्त्व कहा गया है। जर्मनी के सुविख्यात दार्शनिक कान्ट के दर्शन का मुख्य उद्देश्य था ह्यूम के सदेहवाद और पुरानी रूढ़ि को सीमित करना तथा भौतिकवाद, अनीश्वरवाद को नष्ट करना। उसने ईसाइयत की तंग चहारदीवारी को बढ़ाकर ईश्वर, धर्म, स्वातन्त्र्य तथा आत्मा के अमरत्व आदि धर्मों के मौलिक सिद्धान्तों की रक्षा करनी चाही। इन्हीं को लेकर उसने अपने प्रकट तर्क के ताने-बाने बुने। उसका कथन था कि मानवबुद्धि बहुत दूर जा सकती है, किन्तु उसकी गति अनन्त तक नहीं हो सकती। ईश्वर और परलोक मानव के तजुर्बे के बाहर की चीजें हैं। इसलिये इनके बारे में कोई तर्क-वितर्क नहीं किया जा सकता है, बल्कि उन्हें श्रद्धावश माना जाता है। सैद्धान्तिक तौर से वह श्रद्धा भले ही कमजोर मालूम पड़ती हो, लेकिन व्यवहारमूलक (Practical) होने से वह काफी प्रबल है। ईश्वर तथा परलोक में विश्वास, समाज और व्यक्ति में शान्ति और संयम का प्रचार करते हैं। कान्ट का कहना है कि जो ज्ञान हमें मिलता है वह वास्तविक पदार्थों का उपदर्शक नहीं होता। यह है कान्ट का सन्देहवाद। तजुर्बे और प्रयोग से ज्ञान आने की बात कह कर वह प्रयोगवादी-सा मालूम पड़ता है। बाहरी



बातो की बिना परवाह किये अपने अनुभवो के चिन्तन से अपने स्वभाव के अनुसार ग्रहण करना बुद्धिवाद है। कान्ट ने अपने मतलब के लिये प्रयोगवाद, सदेहवाद, बुद्धिवाद तीनो का प्रयोग किया है। आत्मा के सम्बन्ध मे उसने कहा कि हम साक्षात्कार नही कर सकते किन्तु उसके अस्तित्व पर मनन कर सकते है। आत्मा को इन्द्रियो की सहायता से नही जान सकते क्योकि वह सीमातीत और इन्द्रियागोचर है। वस्तुसार (Nomeva) भी अज्ञेय है किन्तु वह है अवश्य।

वस्तुसार, अमर आत्मा, कर्मस्वातत्र्य, ईश्वर यदि हमारी समझ के विषय नही है तो उससे उनका न होना साबित नही होता।

शुद्ध बुद्धि लिखने के बाद व्यावहारिक बुद्धि लिखकर कान्ट ने अपने अनुभवशील ज्ञान के सिद्धात पर लीपा-पोती की है। इस प्रकार कान्ट ने दो प्रकार के विश्व बतलाये है— एक अनुभव के आधार पर जिसे उसने फिनोमेनल वर्ल्ड (Phenomenal World) कहा और दूसरा बुद्धि और तर्क के आधार पर (Noumenal World) है। एक शुद्ध वैज्ञानिक, दूसरा व्यावहारिक जगत् है।

फिक्टे (Fichta १७६५-१८१४) —कान्ट ने बहुत प्रयत्न से वस्तुसार को समाज की सीमा के पार बुद्धि-अगम्य साबित किया था, किन्तु जर्मनी के एक अन्य दार्शनिक फिक्टे ने कहा कि वस्तुसार भी मन से परे की चीज नही। विश्व मे प्रत्येक वस्तु एक सजीव प्रवाह है। फिक्टे का विचार Ego को लेकर प्रारम्भ हुआ जिसे वह स्वतत्र और स्वय निर्माणकर्ता के रूप मे देखता है और उसे "परमात्मा" कहता है। परमात्मा ने अपने को ज्ञाता (आत्म) और ज्ञेय (विषय) के रूप मे विभक्त किया। क्योकि आत्मा के आचारिक विकास के लिये ऐसे बाधा डालने वाले पदार्थो कि जरूरत है, जिनको कि आत्मा अपने आचारिक प्रयत्न से पार करे। इन्ही कारणो से परमात्मा को अनेक आत्माओ मे भी विभक्त होना पडता है। विश्व की समस्त भौतिक दिखने वाली वस्तुए इसी परमात्मा से उत्पन्न हुई है।

हेगेल (Hegel, १७७०-१८३१) —आधुनिक युग मे भौतिकवादी दर्शन का जो नया प्रवाह आरम्भ हुआ, हेगेल के दर्शन के रूप मे चरम सीमा पर पहुँचा। उसके दर्शन के विकास मे अफलातू, अरस्तू, स्पिनोजा, कान्ट का हाथ है। कान्ट से उसने लिया कि मन सारे विश्व का निर्माता है और हमारे वैयक्तिक मन विश्व-मन के अश हैं। स्पिनोजा से उसने यह लिया कि आत्मिक और भौतिक तत्व उसी एक अनादि तत्व के दो रूप है। अफलातूं से उसने यह लिया कि सामान्य विज्ञानो (Ideas) का ही वास्तविक जगत् है, भौतिक जगत् उसी आत्मिक जगत् की प्रतिच्छाया है। हेगेल ने अरस्तू के आत्मिक विकास को भी रोना चाहा। हेगेल की देन है "द्वन्द्वात्मक विकास" (Dialectical Evolution)। उसके अनुसार विश्व निरन्तर होते विकासो का प्रवाह है। परमात्मतत्व (Absolute) विश्व के विकास का परिणाम है। वस्तु आगे बढते-घटते अपने विरोधी रूप मे बदल जाती है। इन दोनो का द्वन्द्व चलता है, फिर दोनो का समन्वय एक तीसरी चीज मे होता है। इनमे पहली बात वाद (Thesis) दूसरी प्रतिवाद (Anti-thesis) और तीसरी सवाद (Synthesis) कहलाती है। उदाहरण के लिये परमेनिद् ने कहा - मूल तत्व स्थिर है, यह वाद हुआ। हेराक्लितु ने कहा कि वह निरन्तर परिवर्तनशील है यह प्रतिवाद हुआ। परमाणुवादियो ने कहा यह न तो स्थिर ही है न परिवर्तनशील ही, बल्कि दोनो है, यह सवाद हुआ। हेगेल के अनुसार जगत् सदा बनाया जा रहा है। वह विश्व मे परिवर्तन की बात करता है किन्तु वास्तविक परिवतन को वह एक तरह से इन्कार करता है। क्योकि उसके कथनानुसार जो भविष्य मे होने वाला है वह पहले से ही मौजूद है। इस परम तत्त्व की एकता मे वह विश्व की विचित्रताओ को खपा देना चाहता है।

स्पेन्सर (Spencer, १८२०-१९०३) —स्पेन्सर ने अपने दर्शन के सिद्धातो को डारविन आदि Biologists के सिद्धातो पर विकसित किया है। उसका कहना है कि हम सीमित वस्तु को जान सकते है। परमतत्त्व को जानना हमारी शक्ति से बाहर है। उसके अनुसार परम तत्त्व अज्ञेय है जो परस्पर विरोधी बडे समुदायो मे अपने को प्रकाशित करता है, वह है अन्तर और बाह्य, आत्मा और अनात्मा, मन और भौतिक तत्त्व। उसका कहना है कि विकास के

प्रभाव मे हम भिन्न-भिन्न रूप देखते है। जैसे मानवशरीर-हाथ, भुजाएँ, हृदय, फेफडे, पाव आदि पिण्डो मे एक व्यवस्थित रूप मे एकीकृत निर्माण मे आता है। इनमे सब पिंड आने अलग-अलग काम करते रहते हैं। इसके विपरीत वही शरीर विनाश मे विभाजित होता है और भौतिक तत्त्वों को विनाश तितर-बितर कर देता है। स्पेन्सर मानव को इन्द्रियो की दुनियाँ तक ही सीमित रखना चाहता है। फिर भी अज्ञेय जगत् को इसलिये स्वीकार करता है कि विज्ञान पर प्रभाव डालने वाले कारण कहीं होने चाहिये, और उन्ही को अज्ञेय नाम से उसने सम्बोधित किया है।

मार्क्स (Marx, १८१८–१८८३) —यह भौतिकवादी दार्शनिक था। हेगेल के दर्शन परिवर्तनवाद यानि गतिवाद का सस्कार करके मार्क्स ने अपने दर्शन की स्थापना की। उसकी मान्यता है कि भौतिक तत्त्व प्राणी मे पहले मौजूद थे। प्राणी बाद की उपज है। मन प्राणी की भी पिछली अवस्था मे पैदा हुआ है। इस तरह साफ है कि मन भौतिकतत्त्व की उपज है किन्तु मन स्वय भौतिक तत्त्व नहीं है। मार्क्स के अनुसार मूल भौतिकतत्त्वो से परमाणु, अणु, गुच्छक, फिर आरम्भिक निर्जीव क्षुद्र पिण्ड, तथा जीव-अजीव के बीच के विरस(Virus) और बैक्टीरिया जैसे एक सेल वाले अत्यन्त सूक्ष्म सत्व बने। एक सेल वाले प्राणियो मे क्रमश विकास होते-होते अस्थि-रहित, अस्थिधारी, स्तनधारी जीव यहाँ तक कि कुछ लाख वर्ष पहले मनुष्य आ उपस्थित हुआ। इस तरह मानवजाति और सारा विश्व प्रकृति की उपज है। प्रकृति ही मनुष्य की आवश्यकता की पूर्ति करती है। भौतिक उपज-खाना, कपडा आदि तथा उन उपज के साधनो पर ही मानव-समाज कायम है।

"महान् मानसिक सस्कृति' "दिव्य चिन्तन" चाहे कैसे ही बडे-बडे शब्दो का इस्तेमाल कीजिये, है वह सभी भौतिक उपज की करतूतें।

> ना कुछ देखा भाव-भजन मे ना कुछ देखा पोथी मे।
> कहे कबीर सुनो भाई सन्तो, जो देखा सो रोटी मे॥

मार्क्स की इन मान्यताओ ने आध्यात्मिक क्षेत्र के ईश्वर को गायब कर दिया और इस विश्व को भौतिक तत्त्वो के विकास का परिणाम बताया।

जेम्स (Jemes, १८४२–१९१०) —जेम्स के दिल मे साईंस के प्रयत्नो, उसकी गवेषणाओ और सच्चाइयो के प्रति बहुत प्रेम था। अमेरिका का यह दार्शनिक मस्तिष्क की कल्पनाओ को महत्त्व नही देता था। इसका विश्वास था कि किसी भी सिद्धान्त की जाच उसके परिणामो से करनी चाहिये। जेम्स दर्शन के दर्शन को प्रभाववाद(Pragmatism) कहते है। इसके अनुसार सच्चा ज्ञान वह है जिसकी हम परीक्षा कर सकें। जो प्रयोग या अनुभव से सिद्ध है वही वस्तु सत् है। इसके दर्शन के अनुसार ईश्वर का मानना युक्तिसगत नहीं है, फिर भी वह ईश्वर को विश्व का एक शक्तिशाली अग मानता है। आत्मा को वह वास्तविक नहीं मानता है और कहता है कि वास्तविकता एक अग मे हमारी वेदनाओ (Sensation) का निरन्तर चला आता प्रभाव है, जो आते और विलीन होते जाते है। किन्तु आते कहाँ से हैं, हम नहीं जानते।

बेर्गसा (Bergson, १८५९–१९४१) —इस फ्रेंच दार्शनिक के अनुसार असली तत्त्व न भौतिक है न मन यानि विज्ञान, बल्कि दोनो से भिन्न अनुभय है। उससे भौतिक तत्त्व तथा मन दोना उत्पन्न होते है। ये मूल तत्त्व सदा परिवर्तनशील हैं। बेर्गसा के दर्शन को "परिवर्तन का दर्शन" या "सृजनात्मक विकास" कहा जाता है। साईंस इस हिलते-चलते विश्व का केवल एक अश हमे बतलाता है। अश समूचा विश्व नहीं हो सकता। एक भिन्न हुआ या एक कटा हुआ अश निर्जीव और अवास्तविक होता है। बेर्गसा का कथन है कि विश्व एक सृजनात्मक विकास की क्रिया है, जिसमे नये-नये पदार्थ प्रस्फुटित होते रहते है।

बरट्रेंड रसल (Bertrand Russell, जन्म १८७२ ई०) —यह अग्रेज दार्शनिक मानता है कि मूल तत्त्व न विज्ञान (मन) है, न भौतिक तत्त्व। दोनो से अलग "अनुभय तत्त्व" है, जो तत्त्वो की एक जाति है। जगत्





अनेक या असख्य तत्वो का समूह है। यह अपने दर्शन को सख्या की भाषा मे यानि लोम-विलोम भाषा मे प्रकट करता है। जिसे हम रात और दिन दोनो कह सकते हैं। स्वय रसल ने अपने दर्शन को तार्किक परमाणुवाद अनुभयवाद, अद्वैतवाद, द्वैतवाद, वस्तुवाद कहा है। कही-कही रसल हमारे सारे अनुभवो का विश्लेषण प्रकृति के मूल तत्त्व परमाणुओ के रूप मे करता है।

भारतीय दर्शनो में विश्व-स्वरूप

पाश्चात्य विद्वानों के अनुसार लोक-स्वरूप के भिन्न-भिन्न पहलू हमने देखे। अब भारतीय दर्शनशास्त्रियों के अनुसार जगत् का स्वरूप देखें। भारतीय दर्शनों मे चार्वाक के अतिरिक्त सभी मोक्ष को जीवन का अन्तिम लक्ष्य मानते है। यद्यपि भिन्न-भिन्न दर्शनो मे मोक्ष के भिन्न-भिन्न अर्थ है। सभी दर्शन प्राय सृष्टि-क्रम को अनादि मानते हैं। वर्तमान सृष्टि के पहले अनेक सृष्टियाँ हुई है तथा अनेक प्रलय भी हुए है। सृष्टि और प्रलय का क्रम अनादि है। अनादि विश्व की विशालता की दृष्टि से भारतीय विद्वानो ने पृथ्वी को अत्यन्त नगण्य माना है। अनन्त आकाश मे पृथ्वी एक विन्दु मात्र है। जीवन मानो काल-समुद्र मे एक छोटी सी लहर है। काल-चक्र के साथ-साथ सभ्यता का विकास और विनाश, उत्थान और पतन होता ही रहता है। आइये, अब हम भिन्न-भिन्न भारतीय दर्शन-शास्त्रियों की विश्व-स्वरूप की मान्यता को देखें।

चार्वाक दर्शन —विश्व के मूल तत्वो के सम्बन्ध मे चार्वाक का मत उनके प्रमाण सम्बन्धी विचारो पर अवलम्बित है। उनके अनुसार प्रत्यक्ष ही एक मात्र प्रमाण है। इसलिये वह ईश्वर, आत्मा, स्वर्ग, अदृष्ट आदि को नही मानते। चार्वाक केवल जड को ही एक मात्र तत्व मानते हैं। जड-जगत् के निर्माण के सम्बन्ध मे अनेक भारतीय दार्शनिको का मत है कि आकाश, वायु, अग्नि, जल तथा पृथ्वी इन पच भूतो से जगत् बनता है। किन्तु चार्वाक आकाश के अस्तित्व को नही मानते क्योकि आकाश का ज्ञान अनुमान से होता है, प्रत्यक्ष मे नही। अत वे केवल चार तत्वो से ही ससार की उत्पत्ति मानते है। उनके कथनानुसार प्राणियो का जन्म तत्त्वों के सहयोग मे होता है। मृत्यु उनका बिखरना है। चैतन्य को वे शरीर का गुण मानते है। वे जगत् के किसी सृष्टा की कल्पना भी अनावश्यक मानते है। जड तत्त्वो के सम्मिश्रण से ससार की उत्पत्ति होती है।

महर्षि कणाद का वैशेषिक दर्शन —ससार के सभी कार्य-द्रव्य चार प्रकार के परमाणुओं (पृथ्वी, जल, तेज और वायु) से बनते हैं। परमाणुओ के सयोग और विभाग यो ही नही हुआ करते। वे कर्मफल के अनुसार प्रेरित होते है। इनके अनुसार परमाणुओ की गति का सूत्रधार ईश्वर है, जो जीवो के अदृष्ट के अनुसार कर्मफल का भोग कराने के लिये परमाणु की क्रियाओ को प्रवर्तित करता है।

वैशेषिक का परमाणुवाद जगत् के उस भाग के बारे मे है जो अनित्य है। नित्य पदार्थों (आकाश, दिक्, काल मन, आत्मा और भौतिक परमाणु) की न तो सृष्टि होती है, न विनाश। जगत् मे जो क्रम देखने मे आता है उसकी उपपत्ति के बारे मे उनका कहना है कि जगत् मे परमाणुओ के सयोगजन्य भौतिक कार्य द्रव्य भी हैं और शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि और अहकार से युक्त जीवात्मक भी है। ये दिक् काल, और आकाश मे अवस्थित कार्य व काल की शृखला मे बधे हुए हैं। जीवात्मा अपनी बुद्धि ज्ञान और कर्म के अनुसार सुख और दुख का फल प्राप्त करते है। सृष्टि और सहार का कर्ता परमेश्वर है। उसी की इच्छा से सृष्टि और प्रलय होता है। इसलिये किसी सृष्टि को प्रथम सृष्टि नहीं कहा जा सकता। प्रलय के समय केवल चार भूतो के परमाणु, पाँच नित्य द्रव्य (दिक्, काल, आकाश, मन और आत्मा) तथा जीवात्माओ के सस्कार बच जाते है, जिनसे फिर अगली सृष्टि की रचना होती है। सृष्टि का यही स्वरूप न्यायदर्शन के प्रणेता महर्षि गौतम भी मानते है और जीवात्मा की स्वतन्त्र सत्ता भी स्वीकार करते हैं। जीवात्माओ को कर्मफल भोग कराने तथा अन्तत उन्हें अपना स्वरूपज्ञान कराने के निमित्त ही ईश्वर सृष्टि की रचना या उसका सहार करता है।

साख्य दर्शन (महर्षि कपिल का) —इस दर्शन के अनुसार प्रकृति और पुरुष के सयोग से सृष्टि होती है। प्रकृति जड है, अत अकेली सृष्टि नही कर सकती। प्रकृति की क्रिया पुरुष के चैतन्य से निरूपित होती है तभी सृष्टि

का उद्गम होता है। जैसे अन्धा और लगड़ा एक दूसरे की सहायता से जगल पार कर सकते हैं, वैसे ही प्रकृति और पुरुष परस्पर मिल कर सृष्टि के कार्य को सम्पादित कर सकते हैं। प्रकृति और पुरुष का सयोग होने पर सत्, रज और तम तीनो गुणो की साम्य अवस्था मे विकार उत्पन्न हो जाता है, तीनो गुणो का पृथक्करण व सयोजन होता है और फलस्वरूप नाना प्रकार के सासारिक विषय उत्पन्न होते हैं। सांख्यमतानुसार सृष्टि के क्रम मे सबसे पहले "महत्" या बुद्धि का प्रादुर्भाव होता है। यह प्रकृति का प्रथम विकार है। प्रकृति का दूसरा विकार है अहकार, यह महत् तत्त्व का परिणाम है। अहकार तीन प्रकार का माना जाता है — (१) सात्त्विक, (२) राजस, (३) तामस। सात्त्विक अहकार से एकादश इन्द्रियो की उत्पत्ति होती है (पाच ज्ञानेन्द्रिया, पाँच कर्मेन्द्रिया और मन) तामस अहकार से पाँच तन्मात्राओ (शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गध) की उत्पत्ति होती है। राजस अहकार, सात्त्विक अहकार व तामस अहकार का सहायक होता है। पच तन्मात्राओ से पच महाभूतो का आविर्भाव होता है

(१) शब्द से आकाश।

(२) स्पर्श और शब्द के योग से वायु।

(३) रूप, स्पर्श और शब्द के योग से तेज या अग्नि।

(४) रस, शब्द, स्पर्श और रूप के योग से जल।

(५) गध, शब्द, स्पर्श, रूप और रस के योग से पृथ्वी की उत्पत्ति होती है जिसमें ये पाँचो गुण पाये जाते हैं।

इस प्रकार सृष्टि इन तत्त्वो का खेल है जो प्रकृति से आरम्भ होता है, और पच महाभूतो से समाप्त होता है। ससार परमाणुओ के अन्धाधुन्ध सहयोग का फल नही है बल्कि एक विशेष प्रयोजन से सृष्टि होती है, ताकि पुरुषो को उनका धर्माधर्म या सुख-दुख का भोग करना सम्भव हो। योग-दर्शन करीब-करीब उपर्युक्त लोकस्वरूप के विवेचन से सहमत है।

मीमासादर्शन :—प्रत्यक्ष ज्ञान की सत्यता के आधार पर मीमासा जगत् और उसके समस्त विषयो को सत्य मानती है। प्रत्यक्ष विषयो के सिवाय यह नरक, स्वर्ग, आत्मा आदि के अस्तित्व को भी अन्य प्रमाणो के आधार पर मानती है। आत्मा और परमाणु नित्य अविनाशी पदार्थ है। कर्म के नियमानुसार सृष्टि की रचना होती है। ससार इन तत्त्वो से बना है —

(१) ज्ञानेन्द्रिय व कर्मेन्द्रिय, जो सुख-दुखभोग के साधन है।

(२) शरीर या भोगायतन जिसमे जीवात्मा अपने-अपने पूर्व कर्मो का भोग करते है।

(३) बाह्य वस्तुए जो भोग के विषय है।

कुछ मीमासक वैशेषिको की तरह परमाणुवाद मानते है, किन्तु मीमासा मत मे परमाणु ईश्वर द्वारा सचालित नहीं होते। कर्म के नियमानुसार ही परिवर्तित होते हैं। इनके अनुसार जितने जीव हैं उतने ही आत्मा। जीवात्मा बन्धन मे आते है और उनसे मोक्ष भी पा लेते है। ये ईश्वर को जगत्कर्ता नही मानते।

वेदान्तदर्शन :—बादरायण का अनुसरण करते हुए शकर और रामानुज दोनो इस विषय मे सहमत हैं कि अचेतन तत्त्व से जगत् की सृष्टि नहीं हो सकती। उनके अनुसार ईश्वर सर्वव्यापी है, विश्वव्यापी भी है और विश्वातीत भी है। वेदान्त साहित्य मे ब्रह्म को मूल तत्त्व (Ultimate reality) माना है। सृष्टि उसी ब्रह्म की शक्ति से प्रकट हुई है। माया ब्रह्म की प्रकृति और शक्ति है। इसी माया के द्वारा मायावी ईश्वर वैचित्र्यपूर्ण सृष्टि की लीला दिखलाते है। इसी लीला को अज्ञानी सत्य समझ लेते हैं। माया हम लोगो के लिये भ्रम का कारण है। इसी भ्रम के कारण जगत् के आधार ब्रह्म का स्वरूप छिप जाता है, और ससार के रूप मे दिखलाई पडता है। जब शकर प्रकृति को माया





कहते हैं तब उनका मतलब रचनात्मक शक्ति से है। शंकर अद्वैत वेदांत को मानते हैं। ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य किसी वस्तु की सत्ता अद्वैतवादी नहीं मानते —"ब्रह्म सत्य जगन्मिथ्या"। जो पदार्थ सतत, समभाव से विद्यमान रहे वह सत्य कहलाता है। इस परिभाषा के अनुसार जगत् की सत्यता अद्वैतवादियों को मान्य नहीं, क्योंकि जगत् सदा परिवर्तनशील है। जगत् की पारमार्थिक स्थिति न होने पर भी व्यावहारिकी सत्ता है। आचार्य शंकर ने ब्रह्म को जगत् का उपादान कारण बतलाया है, वे कर्म का तिरस्कार नहीं करते, प्रत्युत चित्तशुद्धि के लिये फलकामनाहीन निष्काम कर्म के अनुष्ठान पर जोर देते हैं। अद्वैत मत में जीव स्वभावत एक है, परन्तु देहादि उपाधियों के कारण वह नाना प्रतीत होता है। रामानुज मत में जीव अनन्त हैं, वे एक दूसरे से नितान्त पृथक् हैं। अद्वैत वेदान्त के अनुसार मुक्त आत्मा ब्रह्म के साथ अभिन्न रूप हो जाता है, परन्तु विशिष्टाद्वैत (रामानुज) के अनुसार वह ईश्वर के समान है। ईश्वर के साथ उसका एकात्म्य नहीं हो जाता। वह ब्रह्म के स्वरूप तथा गुण को अवश्य पा लेता है परन्तु ब्रह्म के साथ मिलकर एक नहीं होता। मुक्त जीव में सर्वज्ञता आ जाती है, परन्तु सर्वकर्तृत्व गुण ईश्वर में ही साथ रहता है। जीव में अविद्या के आश्रित होने की योग्यता सदा बनी रहती है।

सृष्टि का विकास क्रम से हुआ, इस सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न कल्पनाएं की गई हैं। परन्तु शंकराचार्य उसको अधिक महत्व नहीं देते। भिन्न भिन्न श्रुतियों में सृष्टिविषयक भिन्न-भिन्न वर्णन पाये जाते हैं। पुराणों में भी अनेक तरह की कल्पनाओं का सहारा लेकर अनेक कल्पनाएं की गई हैं। शंकराचार्य ने सृष्टि का मूल तत्व शुद्ध, सत् चित्त को ही माना है। जगत् के क्रमिक विकास की उपमा मनुष्य की तीन अवस्थाओं से दी गई है — (१) सुषुप्तावस्था, (२) स्वप्नावस्था, (३) जाग्रतावस्था। सुषुप्तावस्था का ब्रह्म ईश्वर है। स्वप्नावस्था का ब्रह्म हिरण्यगर्भ है, जाग्रतावस्था का ब्रह्म वैश्वानर है। ये अवस्थाएं क्रम से जान पडती हैं, तथापि ये एक ही साथ हैं ऐसा माना जा सकता है। क्योंकि शुद्ध चैतन्य का कभी लोप नहीं होता।

बौद्धदर्शन —महात्मा बुद्ध ने आत्मा और जगत् के मूल तत्व के अनुसधान करने में अपना समय नहीं लगाया। उन्होंने दुःख-निरोध की समस्या पर ही अधिक बल दिया। बुद्ध संसार में दिखने वाली सब वस्तुओं को सत्य मानते हैं। उनका कहना है कि किसी कारण के बिना किसी भी घटना का आविर्भाव नहीं हो सकता। ये नियम किसी चेतन-शक्ति के द्वारा परिचालित नहीं होते किन्तु स्वयं चालित होते हैं। सामग्री (समग्र कारणों के समूह) से ही कार्य उत्पन्न होता है, जैसे मन, चक्षु, विषय का रूप, आलोक आदि के सहयोग से रूपज्ञान हो जाता है। इस नियम को प्रतीत्य समुत्पाद कहते हैं। प्रतीत्य समुत्पाद में कर्मवाद की स्थापना होती है। वर्तमान जीवन पूर्ववर्ती जीवन के कर्मों का फल है और साथ ही वर्तमान जीवन का भविष्य के जीवन से भी सम्बन्ध है। प्रतीत्य समुत्पाद से सांसारिक वस्तुओं की अनित्यता भी प्रमाणित होती है। बुद्ध सभी वस्तुओं को परिवर्तनशील तथा नाशवान् मानते हैं, इसलिये बुद्ध ने क्षणिकवाद और अनित्यवाद का प्रतिपादन किया।

प्रतीत्य समुत्पाद के कारण ही बुद्ध परिवर्तनशील दृष्ट धर्मों के अतिरिक्त किसी अदृष्ट स्थायी द्रव्य को नहीं मानते, अत वे आत्मा को भी नहीं मानते। फिर भी बुद्ध ने पूर्व जन्म को माना है और दीपक की ज्योति का दृष्टांत दिया है। एक ज्योति से दूसरी ज्योति को प्रकाशित किया जा सकता है, किन्तु दोनों ज्योतियां एक नहीं समझी जाती। बुद्ध के अनुसार मनुष्य पांच प्रकार के परिवर्तनशील तत्वों का संग्रह है जिसे पंच स्कंध कहते हैं। पहला स्कंध है रूप, जिसके अंतर्गत आकार, रंग, आदि आते हैं। दूसरा स्कंध है वेदनाओं का, जिसके अन्दर सुख-दुःख आते हैं। तीसरा स्कंध संज्ञा अर्थात् नानाविध ज्ञानों का है। चौथा स्कंध संस्कार है, जिसके अन्तर्गत पूर्व कर्मों के कारण जो प्रवृत्तियां उत्पन्न होती हैं वे आती हैं। पांचवा स्कंध विज्ञान यानि चेतना है। इन पाँचों स्कंधों की समष्टि का ही नाम मनुष्य माना है। आत्मा नाम का कोई स्कंध नहीं माना है, किन्तु पीछे जाकर बौद्धदर्शन में नये विचारों का समावेश हुआ है और आत्मा का भी अस्तित्व स्वीकार किया गया है। और यह कारण बताया गया है कि महात्मा बुद्ध ने मुक्ति बताई है, यदि आत्मा नहीं है तो मुक्ति (निर्वाण) प्राप्ति किसकी होगी ?

जैन दर्शन—अब तक हमने पाश्चात्य और अजैन भारतीय दार्शनिकों के लोकस्वरूप सम्बन्धी विचार देखे।

अब इस सम्बन्ध मे जैन दार्शनिकों की विचारधारा देखें।

जैन दार्शनिकों ने लोक के सम्बन्ध में अपने मन्तव्य को प्रस्तुत करने के लिये चार अपेक्षायें प्रस्तुत की हैं —

(१) द्रव्य, (२) क्षेत्र, (३) काल और (४) भाव।

द्रव्य अपेक्षा के द्वारा उन्होंने यह लोक किन वस्तुओं मय है, यह प्रकट किया है। क्षेत्र के द्वारा उन्होंने इस लोक की लम्बाई चौड़ाई और ऊंचाई बतलाई है। काल के द्वारा लोक की आदि-अनादिता के सम्बन्ध मे अपने विचार प्रकट किये हैं। तथा भाव के द्वारा उन्होंने यह बतलाया है कि लोकगत द्रव्यों का स्वभाव क्या है और इनमे परिवर्तन कैसे होता है?

द्रव्य की अपेक्षा—द्रव्य की अपेक्षा से जैन दार्शनिकों का मत है कि आकाश एक सबसे बड़ा द्रव्य है और वह असीम है। उसके एक बहुत लघु क्षेत्र मे जहा पर धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, पुद्गल और जीव ये चार अस्तिकाय विद्यमान हैं, वह (उस आकाश समेत) लोक कहलाता है।

जैनधर्मप्रवर्तकों के अनुसार आकाश, धर्म, अधर्म, जीव और पुद्गल ये पाचो अस्तिकाय हैं, क्योंकि ये सभी छोटे-छोटे अत्यन्त सूक्ष्म व अविभाज्य प्रदेशों की राशि रूप हैं। गणना के अनुसार धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और आकाशास्तिकाय एक-एक अखड द्रव्य हैं तथा जीव और पुद्गल सख्या मे अनन्त हैं।

क्षेत्र की अपेक्षा से यह लोक असख्य योजन लम्बा, चौड़ा और ऊंचा है, जिसमे पृथ्वी, जल, अग्नि और वनस्पति बहुत सीमित क्षेत्र मे है तथा लोक का अधिकाश भाग मुख्यत वायुपूरित है।

काल की अपेक्षा—काल की अपेक्षा से ये पाचो ही द्रव्य अनादि हैं, अर्थात् न कभी स्वत उत्पन्न हुए और न कभी किसी ईश्वर या ऐसे ही किसी तत्व के द्वारा उत्पन्न किये गये हैं। जिस प्रकार यह लोक आदि रहित है उसी प्रकार अन्त रहित भी है, अर्थात् यह न कभी स्वत नष्ट होगा, न अन्य के द्वारा नष्ट किया जा सकेगा।

लोक की सर्वथा नवीन उत्पत्ति और सर्वथा विनाश दोनो ही असम्भव इसलिये हैं कि यदि सर्वथा नवीन उत्पत्ति मानी जाती है तो उसके लिये प्रश्न यह पैदा होता है कि लोक का उपादान द्रव्य क्या रहा होगा? यदि अन्य उपादान द्रव्य को स्वीकार किया जाता है तो उस अन्य उपादान द्रव्य के रूप में ही सही, लोक अनादि सिद्ध हो जायगा यदि लोक की उत्पत्ति के लिये उपादान द्रव्य स्वीकार नहीं किया जाता तो बिना उपादान शून्य मे किसी पदार्थ की उत्पत्ति सम्भव नहीं है।

ईश्वर से लोक की उत्पत्ति नहीं मानने के लिये जैन दार्शनिक यह तर्क देते हैं कि ईश्वर ने यदि इसे सर्वथा नवीन बनाया तो उपादान द्रव्यों को लेकर बनाया या शून्य मे ही निर्मित किया? यदि उपादान द्रव्यों से बनाया तो उन उपादान द्रव्यों की अपेक्षा लोक अनादि सिद्ध हो गया। ईश्वर चाहे कितना ही शक्तिमान् क्यों न मान लिया जाय, अभाव मे किसी पदार्थ को निर्मित नहीं कर सकता। सर्वथा असत् का उत्पाद और सत् का विनाश कदापि सभव नहीं है। प्राचीन दर्शन और अर्वाचीन विज्ञान, दोनो एक स्वर से इस सिद्धान्त को स्वीकार करते हैं। जिसे हम उत्पाद और विनाश कहते हैं, वह वास्तव मे पदार्थों का एक अवस्था से दूसरी अवस्था मे पलटना मात्र है। शून्य का अस्तित्व में आ जाना अथवा किसी विद्यमान पदार्थ का शून्य रूप में हो जाना सभव नहीं है। कुम्हार घट बनाता है तो मिट्टी के पिण्ड की आवश्यकता होती है और घट जब नष्ट हो जाता है तो वह कपालो का रूप धारण कर लेता है। वस्तुत घट का उत्पाद और विनाश मिट्टी के रूपान्तरो के अतिरिक्त और क्या है? मिट्टी अपने पिण्ड-पर्याय को त्याग कर घट के रूप मे आती है और घट के रूप को त्याग कर कपाल रूप को धारण कर लेती है। प्रत्येक रूपान्तर मे मिट्टी अपने रूप मे स्थायी है। यही प्रक्रिया जगत् के समस्त पदार्थों पर लागू होती है और समस्त पदार्थराशि ही लोक है। इस प्रकार जैन दर्शन मूलभूत द्रव्यों का अनादि—अनन्त अखडित अस्तित्व स्वीकार करता हुआ भी अवस्थाओं का





परिवर्तन मान्य करता है। अतएव द्रव्यदृष्टि से लोक नित्य और पर्याय दृष्टि मे अनित्य है।

पर्यायो के परिवर्तन के लिए किसी निगूढ रहस्यमयी एव कल्पनातीत शक्ति की आवश्यकता नही है। वह प्राकृतिक कारणो एव मानवीय आदि प्रयत्नो से होता रहता है। आज भी परिवर्तन का अप्रतिहत प्रवाह चल रहा है और सदैव चालू रहेगा।

यह एक ऐसा बुद्धि एव तर्क से सगत दृष्टिकोण है जिसका विरोध नही किया जा सकता। इस सबध मे आगे विशेप प्रकाश डाला जायेगा।

भाव की अपेक्षा—भाव के अनुसार, जैसा कि पहले कहा है, गुण और पदार्थ दोनो ही ग्रहण किये जाते हैं। पाचो द्रव्यो के गुण क्रमश इस प्रकार हैं—धर्मास्तिकाय का स्वभाव गतिमान् जीवो और पुद्गलो की गति मे सहायता देना है। अधर्मास्तिकाय स्थिर होने वाले जीवो और पुद्गलो की स्थिति मे सहायता देता है। आकाशास्तिकाय स्थान (अवकाश) प्रदान करता है। जीवास्तिकाय का स्वभाव ज्ञान और दर्शनमय है। अर्थात् द्रव्यो मे रही हुई एकता को और भिन्नता को जानना और देखना वह उसका गुण है। अशुद्ध दशा मे पदार्थों के प्रति मोहित होना और उनकी प्राप्ति के लिये वीर्य का प्रयोग करना आदि और भी गुण माने गये हैं। पुद्गलास्तिकाय का स्वभाव वर्ण, गध, रस और स्पर्श है।

इन पाचो अस्तिकायो मे पर्यायो का परिवर्तन इस प्रकार माना गया है—

धर्मास्तिकाय कभी किसी क्षेत्र मे कुछ जीवो और पुद्गलो की गति मे सहायता देता है तो वही दूसरे क्षण उन जीवो और पुद्गलो से अन्य जीवो और पुद्गलो को सहायता देता है। इसी प्रकार अधर्मास्तिकाय के सम्बन्ध मे भी माना गया है। अन्तर यही है कि धर्मास्तिकाय गति मे सहायता देता है जब कि अधर्मास्तिकाय स्थिति मे सहायता देता है।

लोक मे व्याप्त जीव और पुद्गल जब एक स्थान को छोड कर अन्य स्थान मे जाते हैं तो आकाश के साथ उनका सयोग-वियोग होता है। अर्थात् वे आकाश के जिन प्रदेशो से सयुक्त थे, उनसे वियुक्त हो जाते हैं और जिनसे वियुक्त थे, उनसे सयुक्त हो जाते हैं। सयोग-वियोग रूप अवस्थाओ का यह परिणमन आकाश का पर्यायपरिवर्तन है।

जीवास्तिकाय मे पर्याय बदलने का क्रम यह है कि कभी वह दर्शन उपयोग में रहता है तो कभी ज्ञान उपयोग मे रहता है। अर्थात् वह कभी सब पदार्थों मे रही हुई एकता को जानता है तो कभी पदार्थों मे रही हुई भिन्नता को। इसी प्रकार अन्यान्य रूपो मे भी उसके पर्यायो का परिवर्तन होता है।

पुद्गलास्तिकाय मे वर्ण की अपेक्षा काले से नीले मे, नीले मे लाल मे, लाल से पीले में, इस प्रकार कभी क्रमबद्ध तो कभी क्रमरहित बदलने की क्रिया होती रहती है। गध की अपेक्षा सुगध से दुर्गंध मे और दुर्गंध से सुगध मे परिवर्तन की क्रिया चलती है। इसी प्रकार रस और स्पर्श की पर्यायो का परिवर्तन होता रहता है।

पाचो द्रव्यो के सामान्यत गुण और पर्याय बतलाए जा चुके हैं, परन्तु इन पाचो द्रव्यो मे धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय दोनो को मुख्यतया हमारे लिये अनुमानगम्य बतलाया गया है। आकाश का भी ज्ञान यद्यपि उन दोनो की अपेक्षा कुछ शीघ्र होता है परन्तु वह भी अनुमानगम्य ही है। अब जो शेष जीवास्तिकाय और पुद्गलास्तिकाय हैं, वे भी जब शुद्ध स्वभाव मे तथा शुद्ध पर्याय मे रहते है तब तक दूसरे सामान्य लोगो के लिए प्रत्यक्षगम्य नही माने गये हैं।

जैन दार्शनिको के अनुसार जीव की शुद्ध दशा सिद्ध दशा मानी गई है, जो कि देहरहित, इन्द्रियरहित और कर्ममुक्त अवस्था है। जीव की अशुद्ध दशा ससार-दशा है जो देह, इन्द्रिय और कर्म सहित होती है। जीव की शुद्ध दशा एक रूप ही होती है किन्तु अशुद्ध दशा के प्रकार विभिन्न हैं। उन प्रकारो को जैनदर्शन मे विभिन्न रीतियो से बाट कर बताया है। उनमे से एक रीति के अनुसार १२ प्रकार हैं—

१. पृथ्वीकाय - खान आदि मे रहने वाली वह मिट्टी जो बढती हो।

२ अप्काय ऐसा जल जिसको अग्नि आदि का सम्पर्क न हुआ हो।

३ तेजस्काय : सघर्ष आदि से उत्पन्न होने वाली अग्नि।

४ वायुकाय हवा।

५ वनस्पति वृक्ष, पौधे, झाडिया, लतायें, बेलें, हरा घास, शाक, धान्य।

६ द्वीन्द्रिय जिनको स्पर्शेन्द्रिय और जिह्वा इन्द्रिय मिली हो।

७ त्रीन्द्रिय जिनको स्पर्शेन्द्रिय, जिह्वेन्द्रिय और सू घने वाली नासिका इन्द्रिय मिली हो।

८ चतुरिन्द्रिय जिनको स्पर्शेन्द्रिय, जिह्वेन्द्रिय, नासिकाइन्द्रिय और रूप को पहिचानने वाली चक्षु इन्द्रिय हो।

९ नारक नरक भूमि मे रहने वाले पाच इन्द्रियो से युक्त अति दु खी जीव।

१० तिर्यचपचेन्द्रिय - पशु-पक्षी, मछली, सर्प, नेवले आदि।

११ मनुष्य।

१२ देव - देव स्थानो आदि मे रहने वाले जीव।

पिछले चारो प्रकार के जीव पाच इन्द्रियो से युक्त होते हैं। सुनने वाली इन्द्रिय पाचवी इन्द्रिय है। कुछ लोगो ने द्वीन्द्रिय से लेकर पिछले जीव-प्रकारो मे ही जीवत्व माना है। परन्तु जैन दार्शनिको के अनुसार पृथ्वीकाय से लेकर वनस्पतिकाय तक के पाच प्रकारो मे भी जीवत्व विद्यमान है। यद्यपि उनका जीवत्व मनुष्य आदि के जीवन की तरह नही है, फिर भी अनुमान एव आगम के आधार पर उनमे भी जीवत्व है, ऐसा जाना जा सकता है। वनस्पति मे जीवत्व होना भारतीय वैज्ञानिक श्री जगदीशचन्द्र वसु ने सिद्ध किया है, जिसे वैज्ञानिको द्वारा निर्विवाद स्वीकार कर लिया गया है। हवा, पानी, अग्नि आदि पदार्थो को अकेले मे या सामूहिक रूप मे कई दार्शनिको ने इस लोक के मूल तत्व के रूप मे माना है और शेष द्वीन्द्रिय आदि जीवो की उत्पत्ति इन्ही से बाद मे हुई, ऐसा कहा है। किन्तु जैन मतानुसार उपरोक्त बारह ही प्रकार के जीव अनादि काल से हैं और अपने ही शुभाशुभ पुरुषार्थ के द्वारा शुभाशुभ कर्म उपार्जन करके उनके निमित्त से इन विभिन्न प्रकारो मे अनादि काल से परिभ्रमण करते हैं। ये प्रकार भविष्य मे भी सदा विद्यमान रहेंगे। इनमे से प्रयत्न करते-२ कुछ जीव विकसित दशा को प्राप्त कर लेते है। मानव जैसा विकसित प्राणी भी कर्मोदय से पृथ्वीकाय आदि अविकसित रूप म जन्म ले लेता है। विकासशील जीव अपने पुरुषार्थ की प्रबलता से विशुद्ध दशा प्राप्त कर लेता है। अशुद्ध दशा का कारण कर्म है। कर्म का अर्थ यहा कार्य या आचरण नही, वरन् पुद्गलास्तिकाय के अन्तर्गत एक विशिष्ट प्रकार का भौतिक द्रव्य है जिसे जैनदर्शन मे कार्मणवर्गणा कहते हैं। कार्मण-वर्गणा के यह पुद्गल अत्यन्त सूक्ष्म और सर्वत्र व्याप्त है। राग-द्वेष आदि की सहायता पाकर वे जीवप्रदेशो के साथ ऐसे बद्ध हो जाते हैं जैसे दूध और पानी।

ये कर्म आत्मा के साथ आन्तरिक राग-द्वेष आदि निमित्तो से जुडते हैं। अध्यवसाय अर्थात् विचार जैसे भी शुभ या अशुभ हो, उसी प्रकार के शुभ या अशुभ कर्म आत्मा के साथ जुडते हैं। वे इस जगत के पौद्गलिक सुखो की प्राप्ति मे तथा दुखो मे निमित्त बनते है।

जो विचार कर्मबंध मे निमित्त बनते है, वे मूलत आत्मा के गुण होने पर भी बाह्य पुद्गलो को लेकर होते है। जब तक विचार बाह्य पुद्गलो का लेकर बनते हैं तब तक वे नवीन कर्मबंध को उत्पन्न करते रहते हैं। जो विचार बाह्य पुद्गलो के निमित्त से नही बनते उनके कारण आत्मा के साथ कर्म-पुद्गलो का सम्बन्ध भी नहीं होता। जिन





विचारो से आत्मा के साथ कर्मपुद्गलो का सम्बन्ध होता है, जैन दार्शनिको ने उन्हे 'लेश्या' कहा है।

राग-द्वेष आदि आन्तरिक कारणो मे कर्मपुद्गलो का वन्ध होता है और वद्ध कर्मपुद्गल जब अपना फल प्रदान करते हैं तव राग-द्वेष उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार यह दुतरफा कार्यकारणभाव अनादिकाल से चला आ रहा है। इस प्रकार जीव की अशुद्ध दशा वनी रहती है। जिस समय जीव अपने आन्तरिक कारणो को दूर करके वाह्य कारणो को हटाता जाता है तव वह क्रमश अनन्त होकर शुद्ध दशा को पहुच जाता है।

पुद्गलास्तिकाय की शुद्ध दशा और अशुद्ध दशा दोनो का ही परिवर्तन अनादि काल से माना गया है। और यह परिवर्तन किसी समय रुक कर मात्र शुद्ध या अशुद्ध दशा ही रह जायगी ऐसा भी नही माना है। अर्थात् परमाणु अन्य परमाणुओ के साथ सयुक्त होकर सदा के लिये स्कध रूप मे ही रहे, ऐसा कभी नही होगा और परमाणु स्कध से पृथक् होकर सदा के लिये परमाणु रूप मे ही रहे, ऐसा भी नही होगा।

पुद्गलो मे यह जो परिवर्तन वताया गया है, जैनदर्शन के अनुसार उसके तीन कारण होते हैं —

१ स्वत —अर्थात् विना किसी चैतन्य शक्ति के भी इन मे सयोग-वियोग चलता रहता है।

२ परत —कभी जीव के प्रयोग से भी पुद्गलो मे परिवर्तन होता है।

३ उभयत —कभी पुद्गल और जीव दोनो की शक्ति से पुद्गलो मे परिवर्तन आता है।

जीव और पुद्गल के सम्बन्ध मे जैन दार्शनिको ने जो कुछ वताया है उससे पता यह चलता है कि इस विश्व मे मुख्य रूप से परिवर्तनशील ये दो ही पदार्थ है और विश्व की जितनी रचना दिखाई देती है उसमे इन्ही दो तत्त्वो की प्रधानता है। ईश्वर द्वारा लोक यानि विश्व का निर्माण या सचालन किये जाने की वात जैनदर्शन कतई नही मानता।

जैन दार्शनिको के अनुसार, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, यह लोक धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, जीवास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय, आकाशास्तिकाय और काल, इन छ द्रव्यो का समूह है, जो अनादि और अनन्त हैं। धर्मास्तिकाय आदि द्रव्य, द्रव्य रूप से ध्रुव हैं और पर्याय रूप से उत्पत्ति-विनाशशील हैं। द्रव्यो के पर्यायो की प्रतिक्षण उत्पत्ति व प्रतिक्षण विनाश होने पर भी द्रव्य अश कायम रहता है। यही जैनदर्शन के स्याद्वाद का रहस्य है। जैन-दर्शनानुसार कोई भी पदार्थ सर्वथा नित्य नही है, किन्तु द्रव्यरूप से नित्य और पर्यायरूप से अनित्य (विनाशशील) है। स्याद्वाद के सिद्धात से जैनदर्शन ने पर्याय की दृष्टि से वौद्धदर्शन को और द्रव्य की दृष्टि से साख्यदर्शन को अपने में अन्तर्भूत कर लिया है।

जैनदर्शन के लोकस्वरूप के विषय मे जो थोडा-सा विवेचन दिया है उससे प्रतीत होगा कि जैनदर्शन सर्वांगसम्पूर्ण दर्शन है। वह तर्क एव वुद्धि से सगत है और उसके पीछे विज्ञान का समर्थन है।

डाक्टर एल० पी० टेसीटोरी (इटालियन विद्वान्) का कथन है कि "जैनधर्म वहुत ऊची पक्ति का है। इसके मुख्य तत्त्व विज्ञान के आधार पर खडे हुए हैं। ज्यो-ज्यो पदार्थविज्ञान वढता जाता है त्यो-त्यो वह जैनधर्म के सिद्धातो को सुदृढ कर रहा है।'

अजाक्षर सरकार एम० ए० वी० एल० लिखते हैं कि "जैनदर्शन मे जीवन-तत्व की जैसी विस्तृत आलोचना है, वैसी किसी भी दर्शन मे नही है।" इग्लेण्ड के प्रसिद्ध साहित्यकार ज्याजं वर्नार्डशा ने तो जैन-सिद्धातो और दर्शन के प्रति अपना अगाढ प्रेम प्रदर्शित करने हेतु यहाँ तक कह दिया कि वे मृत्यु के वाद जैन परिवार मे जन्म लेना चाहते है। महात्मा गाधी के पुत्र स्व० देवदास द्वारा इसका कारण पूछने पर वर्नार्डशा ने कहा कि "जैनधर्म में ईश्वर या

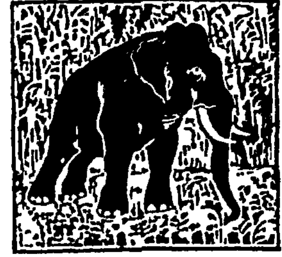
परमात्मा का परवाना किसी एक व्यक्ति को नहीं दिया गया है। जगत् का कोई भी विशिष्ट योग्यता वाला मनुष्य स्वात्मा की उत्क्रान्ति करके परमात्मा बन सकता है। दूसरी बात यह है कि इसमें परमात्मपद की प्राप्ति के लिये व्यवस्थित एवं क्रमिक साधना-मार्ग बताया गया है जो वैज्ञानिक भी है। ऐसा व्यवस्थित सक्रिय और वैज्ञानिक साधना-मार्ग अन्यत्र नहीं है।"

इस प्रकार विद्वानों की सम्मति में जैनदर्शन अत्यन्त उच्च कोटि का दर्शन है। लोक संबंधी इस विज्ञान-सम्मत विवेचना से ही इस तथ्य का आभास मिल सकता है।

●



जैनदर्शन में मानस विचार



राजकुमार जैन,

एच० पी० ए०, दर्शनायुर्वेदाचार्य,

अन्य दर्शनो की भाति जैनदर्शन मे भी मनोव्यापार या चित्तवृत्ति की अत्यन्त समुचित व्यवस्था की गई है। मानस विचार मे जैनदर्शन ने बिल्कुल ही स्वतन्त्र मौलिक और स्पष्ट दृष्टिकोण अपनाया है। तदनुसार मन का सम्बन्ध शरीर से उतना नही है जितना आत्मा से है। मन की सत्ता स्वतन्त्ररूपेण नही है। वह एक स्वतन्त्र पदार्थ या तत्त्व नही है। वह तो आत्मा की ही एक विशेष शक्ति है। उसकी प्रवृत्ति भी स्वतन्त्र नही है, वह पूर्णत कर्मनिर्गत सापेक्ष है अत मन के स्वरूप एव प्रवृत्ति का ज्ञान आत्मा व कर्मज्ञान सापेक्ष है। क्योकि मन का सम्बन्ध इन्ही दो पदार्थो से विशेष है। शरीर से मन के सम्बन्ध का जहा तक प्रश्न है, वह पूर्णत आत्मा पर आधारित है। आत्मा का मूल गुण है चैतन्य। अत चैतन्ययुक्त शरीर मे ही मन की अभिव्यक्ति सम्भावित है। आत्मशून्य शरीर मे चेतना एव मन का पूर्णत अभाव रहता है। इसी भाति शरीर रहित आत्मिक स्थिति मे भी मनोव्यापार नही होता। अत शरीरयुक्त आत्मा अथवा आत्मयुक्त शरीर मे ही मन प्रवृत्ति बोधगम्य है।

स्पष्ट देखा जाता है कि शरीर पर मन एव मन पर शरीर का प्रभाव होता है। इसमे दोनो की ही प्रवृत्ति अन्योन्याश्रित की भाति प्रतीत होती है। इसके अतिरिक्त दोनो का विकृतिजन्य प्रभाव भी एक दूसरे पर परिलक्षित होता है। अत शरीर के साथ भी आत्मा की ही भाति मन का घनिष्ठतम सम्बन्ध अपेक्षित लगता है। जैन आगमो मे इस तथ्य को अत्यन्त ही समुचित रूपेण सुस्पष्ट किया गया है। जैनदर्शन मे मन दो प्रकार का माना गया है—एक चेतन या भावमन और दूसरा पौद्गलिक या द्रव्यमन। चेतन मन ज्ञानात्मक होता है। उसके द्वारा वस्तु के यथार्थ स्वरूप का ज्ञान होता है। किन्तु इसमे सहयोगी होता है पौद्गलिक मन, जो मनोवर्गणा के पुद्गलो से निर्मित है। उसके अभाव मे ज्ञानात्मक मन अपने कार्य मे प्रवृत्त नही हो सकता। क्योकि पौद्गलिक मन वस्तु के स्वरूप को ग्रहण करता है और तत्सयोजित चेतन मन उस वस्तु को उपलब्ध करता है। अत कहना न होगा कि दोनो के सयोग से ही समस्त मानसिक व्यापार सचालित होता है। दोनो मे से किसी एक का भी अभाव मानसिक क्रिया प्रतिपादन मे बाधक बन जाता है। अपने अपने स्थान पर दोनो की ही अपेक्षा, आवश्यकता एव महत्ता है। पौद्गलिक मन चेतन मन का सहयोगी है, किन्तु उसके करण या औजार के रूप मे।

ज्ञानात्मक मन चेतन होता है। वस्तुत वह आत्मा की ही एक शक्ति है। उसकी उत्पत्ति निर्माण अथवा अभिव्यक्ति पौद्गलिक परमाणुओ द्वारा सम्भावित नही है। क्योकि पौद्गलिक वस्तु से उत्पन्न वस्तु पौद्गलिक ही होगी। अत ज्ञानात्मक चेतन मन पौद्गलिक नही कहा जा सकता। वस्तु के स्वाभाविक गुण तज्जनित अन्य वस्तु मे भी विद्यमान रहते है। वस्तु का स्वरूपान्तर हो जाता है, उसके मूलगुणो मे न्यूनाधिक्य सम्भावित है, किन्तु वह गुण वस्तु से पृथक् नही किया जा सकता। दो या अधिक वस्तुओ का सयोग एक अन्य वस्तु का निर्मापक हो सकता है। उस अन्य वस्तु के गुण भी उपादानभूत वस्तुओं के गुणो से ही निर्मित होते है। ऐसी स्थिति में पौद्गलिक परमाणु द्वारा चेतन मन की निर्मिति असम्भावित है। क्योकि न तो भावमन का विघटन किया जा सकता है और न ही उसमे पौद्गलिकत्व पाया जाता है।

पूर्व मे स्पष्ट किया जा चुका है कि ज्ञानात्मक चेतन मन को वस्तु के यथार्थ ज्ञान के लिए पौद्गलिक मन

सहयोगी के रूप में कार्य करता है। हमारा मानस चिन्तन में प्रवृत्त होता है और उसे पौद्गलिक मन के द्वारा पुद्गलो (वस्तुओं) का ग्रहण करना ही पड़ता है। अन्यथा उसकी प्रवृत्ति असम्भावित है। मानव द्वारा प्रतिपादित चिन्तन कार्य में जिस प्रकार के भावों का समावेश होता है, उसी प्रकार के पुद्गलों को द्रव्य मन (पौद्गलिक मन) ग्रहण करने में प्रवृत्त होता है। अनिष्ट भावो का चिन्तन अनिष्ट द्रव्यो के ग्रहण का कारण एव इष्ट भावों का चिन्तन इष्ट द्रव्यों के ग्रहण का कारण होता है। परिणामस्वरूप मानसिक भाव रूप में परिणत हुए अनिष्ट पुद्गलो से शरीर की हानि होती है और मन रूप मे परिणत इष्ट पुद्गलो से शरीर को लाभ होता है। इसी तथ्य को निम्न शब्दो मे स्पष्ट किया गया है—

'मनस्त्वपरिणतानिष्ट-पुद्गलनिचयरूप द्रव्यमन अनिष्टचिन्ताप्रवर्तनेन जीवस्य देहदौर्बल्याद्यापत्त्या हृन्निरुद्धवायुवद् उपघात जनयति, तदेव च शुभपुद्गलपिण्डरूप तस्यानुकूलचिन्ताजनकत्वेन हर्षाद्यभिनिर्वृत्त्या भेषजवदनुग्रह विधत्ते इति ।

—विशेषावश्यक भाष्य वृ० गाथा २२०

इस प्रकार शरीर पर मन का प्रभाव पड़ता है और शरीर मानसिक क्रियाओं के परिणाम की अभिव्यक्ति का साधन बन जाता है। मानस भावों का प्रवर्तन अनिष्ट शरीर के बाह्य अवयवो को अभिभूत करता है, जिनके द्वारा अन्तर्मन की स्थिति का आभास होता है। यद्यपि शरीर पर प्रभाव उसके सजातीय पुद्गलो द्वारा ही होता है, तथापि उन पुद्गलों का ग्रहण मानसिक प्रवृत्ति पर निर्भर है। इसलिए इस प्रक्रिया को हम शरीर पर मानसिक प्रभाव कह सकते हैं। देखने की शक्ति ज्ञान है। ज्ञान आत्मा का गुण है। फिर भी आख के बिना मनुष्य देख नहीं सकता। आख मे विकृति होने पर दर्शनक्रिया का विनाश हो जाता है। उपचार द्वारा विकृति दूर करने पर पुन दर्शनक्रिया प्रारम्भ हो जाती है। यही बात मन और मस्तिष्क की क्रिया के विषय मे है। इसी प्रकार साधनभूत शरीर के द्वारा सम्पादित भौतिक क्रियाओं से मन प्रभावित होता है।

इन्द्रियाँ, मन और ज्ञान

इन्द्रियां और मन विविध ज्ञान के साधन हैं। जब तक आत्मा की शक्तियों का पूरी तरह विकास नहीं हुआ और वह स्वय अर्थ-ग्रहण मे समर्थ नहीं बन पाता है, तब तक ससार के समस्त भौतिक विषयो का ज्ञान इन्द्रिय और मन के द्वारा होता है। जैनशास्त्र मे ज्ञान की जो व्यवस्था की गई है, उसके अनुसार उसका विभाजन पचविध रूपेण किया गया है, यथा—मतिज्ञान, श्रुत ज्ञान, अवधिज्ञान, मन पर्यंयज्ञान एव केवलज्ञान। इनमे से केवल मतिज्ञान एव श्रुतज्ञान ये दो ही इन्द्रिय और मनजनित होते हैं। शेष समस्त ज्ञान अतीन्द्रिय होते हैं। यद्यपि मतिज्ञान और श्रुत-ज्ञान दोनो ही इन्द्रिय और मन से होते है तथापि दोनो मे भिन्नता है। मति द्वारा इन्द्रिय और मन की सहायता मात्र से अर्थ का ज्ञान होता है। इसमे दर्शन या श्रवण मे प्रतीति मात्र होती है जो मतिमूलक है। इससे आगे की स्थिति श्रुतज्ञान का विषय है। अर्थात् श्रुत को शब्द या सकेत की भी अपेक्षा रहती है। किसी वस्तु का ज्ञान जब उसको देखने मात्र से होता है—वह मतिज्ञान है और जहाँ उसी वस्तु का ज्ञान तद्बोधक शब्द या सकेत द्वारा होता है—वह श्रुतज्ञान है। सामान्यत यह कहा जा सकता है कि मतिज्ञान के पश्चात् शब्द और अर्थ के वाच्य-वाचकभाव के आधार पर होने वाला ज्ञान श्रुतज्ञान है। प्रथम इन्द्रियो द्वारा मतिज्ञान होता है, 'घट' को देखने मात्र से जो ज्ञान होता है वह मतिज्ञान है और तत्पूर्वक 'घट' शब्द या सकेत के द्वारा जो घट ज्ञान होता है वह श्रुत है। इसी तथ्य का स्पष्टीकरण ग्रन्थो मे निम्न प्रकार से किया गया है—

"मतिज्ञानप्रवृत्त श्रुतग्रन्थसम्बन्धिन वा घटादिशब्दमनुसृत्य वाच्यवाचकभावेन सयोज्य 'घटो घट' इत्याद्यन्तर्जल्पाकारमन्तः शब्दोल्लेखान्वितमिन्द्रियादिनिमित्त यज्ज्ञानमुदेति तत् श्रुतज्ञानमिति।"

—विशेषावश्यक भाष्य वृ० गाथा १००

इसी प्रकार —"श्रुत पुन श्रुतज्ञानमभिधिगम्य वस्तूच्यते, विषये विषयिण उपचारात्"

—तत्वानुशासन २।११





उपर्युक्त क्रमानुसार वस्तु के स्वरूप ज्ञान में इन्द्रिय और मन की सापेक्ष वृत्ति रही है। वस्तुतस्तु इन्द्रिया प्रतिनियत अर्थग्राही हैं, किन्तु मन सर्वार्थग्राही है।[1] पाच इन्द्रियों-स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र के पाच ही विषय हैं -- स्पर्श, रस, गन्ध, रूप और शब्द। अत प्रत्येक इन्द्रिय अपने ही विषय को ग्रहण करती है। मन समस्त इन्द्रियों के सभी विषयों को ग्रहण करता है। इसके अतिरिक्त मन का मुख्य विषय श्रुत है। यथा "श्रुतमनिन्द्रियस्य"

—तत्वार्थसूत्र २।२२

'पुस्तक' शब्द सुनते ही अथवा पढते ही मन को 'पुस्तक' वस्तु का ज्ञान हो जाता है। मन को शब्द-सस्पृष्ट वस्तु की उपलब्धि होती है। इन्द्रिय को पुस्तक देखने पर पुस्तक वस्तु मात्र का ज्ञान होता है और 'पुस्तक' शब्द सुनने पर श्रोत्र को उस शब्द मात्र का ज्ञान होता है। किन्तु पुस्तक का 'पुस्तक' यह वाच्यार्थ है - यह ज्ञान इन्द्रिय को नही होता। इन्द्रियो मे मात्र विषय की उपलब्धि-अवग्रहण शक्ति होती है, उसमे ईहा-गुण-दोपविचारणा, परीक्षा या तर्क शक्ति नही होती। मन मे ईहापोह शक्ति होती है। 'नन्दीसूत्र' मे इसी विषय का विवेचन किया है—

(क) "जस्स ण नत्थि ईहा, अपोहो, मग्गणा, गवेसणा, चिन्ता, वीमसा से ण असण्णित्ति लब्भई —४१।

(ख) "जस्स ण अत्थि ईहा, अपोहो, मग्गणा, गवेसणा, चिन्ता, वीमसा, से ण सण्णीति लब्भई—४०॥

अर्थात् जिसके इच्छा, ऊहापोह, विचार, गवेषणा, चिन्तन और मीमासा नही है वह असज्ञी कहलाता है और जिसके उपरोक्त समस्त बातें होती है वह सज्ञी (समनस्क) कहलाता है।

इससे स्पष्ट है कि इन्द्रिय मति और श्रुत दोनो मे वार्तमानिक बोध कराती है। वह सम्बद्ध विषय को जानती है। मन-ईहा-गुण-दोपविचारणा के अन्वय-व्यतिरेकी धर्मो के परामर्शपूर्वक ज्ञान मे तत्समय त्रैकालिक रूपेण अवस्थित रहता है।

नैयायिको के मतानुसार मन इन्द्रिय मे पृथक होता है। साख्य मतानुसार मन का इन्द्रियो मे ही अन्तर्भाव किया गया है। किन्तु जैनदर्शन मे मन को अन-इन्द्रिय माना गया है। कथन का अभिप्राय यह है कि मन इन्द्रिय की भाति मात्र प्रतिनियत अर्थग्राही नही है। अत वह इन्द्रिय नही हो सकता, तथापि वह इन्द्रियों को उन्ही के माध्यम से जानता है, अत कथचित् इन्द्रियत्वेन (स्याद्वाद सिद्धान्तानुसार) वह इन्द्रिय भी कहा जा सकता है। शक्त्यपेक्षया वह इन्द्रिय नही है और इन्द्रिय-सापेक्षता की दृष्टि से उसमे भी इन्द्रियत्व विद्यमान है।

इस प्रकार जैनदर्शन मे दोनो व्यापार एव मन स्थिति विवेचन भी उतना ही व्यापक रूप से किया गया है, जितना कि अन्य मतो मे। इन्द्रियो को ज्ञान का बाह्य साधन मानकर वास्तविक ज्ञान का प्रतिपादक मन को ही माना गया है।

●

---

१ सर्वार्थग्रहण मन, प्रमाणमीमासा-आचार्य हेमचन्द्र।

जैन कर्म-सिद्धान्त का मूलमंत्र : स्वावलंबन



श्री शिखरचन्द्र कोचर,
बी० ए०, एल–एल० बी०

जैनधर्म के अनुमार प्रत्येक आत्मा कर्म करने तथा उमका फल भोगने मे पूर्णरूपेण स्वतत्र है। कहा भी है कि—

स्वय कर्म करोत्यात्मा, स्वय तत्फलमश्नुते।
स्वय भ्रमति समारे, स्वय तस्माद्विमुच्यते ॥

अर्थात्, आत्मा स्वय कर्म करती है, और स्वय उसका फल भोगती है। वह स्वय ममार मे भ्रमण करती है और स्वय भव-भ्रमण से मुक्ति प्राप्त करती है।

पूज्य आचार्य श्री अमितगतिजी ने लिखा है कि—

स्वय कृत कर्म यदात्मना पुरा, फल तदीय लभते शुभाशुभम्।
परेण दत्त यदि लभ्यते स्फुट, स्वय कृत कर्म निरर्थक तदा ॥
निजार्जित कर्म विहाय देहिनो, न कोऽपि कस्यापि ददाति किंचन।
विचारयन्नेवमनन्यमानस, परो ददातीति विमुञ्च शेमुषीम् ॥

अर्थात् आत्मा जैसे कर्म करती है, उसके अनुसार उसे शुभाशुभ फल प्राप्त होते हैं। यदि उसे अन्य-कृत कर्मों के फल की प्राप्ति मानी जावे तो स्वय-कृत कर्म निरर्थक हो जाते हैं। वास्तव मे स्वयकृत कर्मों के अतिरिक्त कोई किसी को फल-प्रदान करने में समर्थ नहीं है। इस बात को भलीभाति समझकर अन्य द्वारा फल-प्राप्ति की आशा का परित्याग कर देना चाहिए।

जैन-सिद्धान्त के अनुसार आत्मा पर से कर्मों का आवरण दूर हो जाने पर वह सिद्धावस्था को प्राप्त करती है, और वह जन्म-मरण के बधन से सदा के लिए मुक्त हो जाती है। कहा भी है —

दग्धे बीजे यथात्यत, प्रादुर्भवति नाकुर।
कर्म-बीजे तथा दग्धे, न रोहति भवाकुर ॥

अर्थात्, जिस प्रकार बीज के जल जाने पर अकुर उत्पन्न नही होता, उसी प्रकार कर्म रूपी बीज के जल जाने पर भव-रूपी अकुर उत्पन्न नही हो सकता।

इसी कारण से जैन-मान्यतानुसार आत्मा के परमात्मा बन जाने के पश्चात उसका अवतरण नही हो सकता। इसे दूसरे शब्दों में यो कहा जा सकता है कि जैन-धर्म परमात्मा का अवतार होना स्वीकार नही करता।

जैन-धर्म के सर्वोच्च मत्र "नमोकार मत्र" मे जिन पाँच परमेष्ठियो को वदन किया गया है, वे ईश्वर के अवतार अथवा दैवी-शक्ति सपन्न व्यक्ति नही हैं, किन्तु उनकी आत्माएँ भी साधारण आत्माओं जैसी थीं, अथवा हैं। अन्तर केवल इतना ही है कि उन्होंने दृढ निष्ठापूर्वक आत्मा के गुणों का विकास किया, अथवा कर रहे हैं, जबकि



साधारण आत्माओ मे वे गुण प्रसुप्त पडे हैं। जैन-मतानुसार किसी आत्मा को परमात्म-दशा प्राप्ति के लिए किसी वाह्य सहायता की आवश्यकता नही है। उस आत्मा को स्वय ही अपने गुणो का क्रमश विकास करते रहने की आवश्यकता है। भगवान् महावीर पर अनेक घोर उपसर्ग आने पर उन्होने सवका वीरतापूर्वक सामना किया। देवराज इन्द्र ने उनकी सेवा करने के लिए उनसे प्रार्थना की, किन्तु उन्होने उस प्रार्थना को यह कर अस्वीकार कर दिया कि तीर्थंकर-पद की प्राप्ति किसी अन्य व्यक्ति की सहायता से नही, अपितु अपने वल पर ही होती है। जैन-सिद्धान्तानुसार जाति जन्म से नही, किन्तु कर्म से होती है। भगवान् महावीर का कथन है कि—



"कम्मुणा वम्भणो होई, कम्मुणा होइ खत्तिओ,
कम्मुणा वइसो होइ, कम्मुणा होइ सुद्दओ।"

किसी भी जाति का स्त्री या पुरुष अपने पुरुषार्थ मे अपने कर्मो का ह्रास तथा आत्मिक गुणो का विकास करता हुआ परमात्मा वन सकता है। इस प्रकार जैन-कर्मसिद्धान्त हमे जिस पुरुषार्थ एव स्वावलम्वन का अनुपम पाठ पढाता है, वह अन्यत्र अत्यत दुर्लभ है।

●

जैनदर्शन में ईश्वर

श्री ज्ञानमुनिजी



ईश्वर शब्द अनेक अर्थों मे व्यवहृत होता है। प्राकृत के 'पाइअ-सद्द-महण्णवो' नामक कोष मे ईश्वर शब्द के निम्नोक्त अर्थ दिए गए हैं --

(१) परमेश्वर, प्रभु, (२) महादेव, शिव, (३) स्वामी, पति, (४) नायक, मुखिया, (५) देवताओ का एक आवास, वेलधर-देवो का आवास विशेष, (६) एक पातालकलश (७) आढ्य, धनी, (८) ऐश्वर्यशाली, वैभवी, (९) युवराज, (१०) माण्डलिक, सामन्त राजा, (११) मत्री, (१२) इन्द्र विशेष, भूतवादि-निकाय का इन्द्र, (१३) पातालविशेष, (१४) एक राजा का नाम, (१५) एक जैन मुनि, (१६) यक्षविशेष ।

बनारस ज्ञानमण्डल लिमिटेड, द्वारा प्रकाशित 'वृहत् हिन्दी कोष' मे ईश्वर शब्द-स्वामी, राजा, धनी या बडा व्यक्ति, पति, जगन्नियन्ता, परमेश्वर, आत्मा, एक सवत्सर, शिव, कामदेव, पारा, पीतल, रामानुजी वैष्णवो के अनुसार तीन पदार्थों मे से एक, ऐश्वर्ययुक्त, शक्तिमान, समर्थ, इन अर्थों मे प्रयुक्त बताया गया है ।

इस तरह ईश्वर शब्द अनेक अर्थों का परिचायक है । पर दार्शनिक दृष्टि से जब 'ईश्वर' शब्द के सम्बध मे विचार करते हैं तो यह मानना पडता है कि वह वैदिक दर्शन का अपना एक पारिभाषिक शब्द है । वैदिक दर्शन के अनुसार उस परम शक्ति का नाम ईश्वर है, जो इस जगत की निर्मात्री है, भाग्यविधात्री है, कर्मफलप्रदात्री है, एक है, सर्वव्यापक है, और नित्य है । वैदिक दर्शन का विश्वास है कि ससार के कार्य-चक्र की बागडोर ईश्वर के हाथ में है । ससार के समस्त स्पन्दन उसी की प्रेरणा से हो रहे हैं, वह ईश्वर सर्वशक्तिमान् है, जो चाहे कर सकता है, कर्तव्य को अकर्तव्य और अकर्तव्य को कर्तव्य बना देना उसके लिए साधारण-सी बात है ।[1] सारा ससार उसकी इच्छा का खेल है ।

वैदिक दर्शन की मान्यता है कि अज्ञ होने के कारण जीव अपने सुख-दुःख का स्वय स्वामी नही है ।[2] इसका स्वर्ग या नरक मे जाना ईश्वर की इच्छा पर निर्भर है । मनुष्य कुछ नही कर सकता । जीव जीव है, ईश्वर ईश्वर है । भक्ति, धर्म आदि अनुष्ठानो से जीव ईश्वर कदापि नही बन सकता । ईश्वर और जीव के बीच मे जो फौलादी दीवार खडी है, वह कभी समाप्त नहीं की जा सकती । इस के अलावा, वैदिक दर्शन कहता है—ससार मे जब अधर्म बढ जाता है, पाप सर्वत्र अपना शासन जमा लेता है, तो पापियो का नाश करने के लिये तथा धर्म की सस्थापना करने के लिए ईश्वर किसी न किसी रूप मे अवतार धारण करता है, भगवान से इन्सान बनता है । यही तथ्य भगवद्गीता के शब्दो मे इस प्रकार है —

---

१ कर्तुमकर्तुमन्यथा कर्तुं समर्थ ईश्वर ।

२ अज्ञो जन्तुरनीशोऽयमात्मन सुखदु खयो ।
ईश्वरप्रेरितो गच्छेत्, स्वर्ग वा श्वभ्रमेव वा ॥ —महाभारत



यदा यदा हि धर्मस्य, ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य, तदात्मान सृजाम्यहम् । —अध्याय ४/७ ।

अर्थात् - हे अर्जुन ! जब धर्म की हानि होती है और अधर्म की वृद्धि होती है तब मै (श्री कृष्ण) अवतार धारण करता हूँ ।

परित्राणाय साधूना, विनाशाय च दुष्कृताम् ।
धर्मसस्थापनार्थाय, सम्भवामि युगे-युगे ॥—अध्याय ४/८

अर्थात् साधुओ के परित्राण-सरक्षण के लिए, दुष्ट कर्म करने वालो का विनाश करने के लिए, तथा धर्म की स्थापना के लिए मै युग-युग मे प्रकट होता हूँ ।

उपर्युक्त पक्तिया वैदिक दर्शन द्वारा मान्य ईश्वर के स्वरूप का सक्षेप मे परिचय करा रही है । परन्तु जैनदर्शन का परिशीलन करने से पता चलता है कि उसमे परमात्मा के अर्थ मे ईश्वर शब्द का कही प्रयोग नही मिलता है। जैनदर्शन मे परमात्मा के लिए ईश्वर शब्द का प्रयोग न करके सिद्ध, बुद्ध, पारगत, परम्परगत, उन्मुक्त-कर्म-कवच, अजर, अमर, असग, निस्तीर्ण-सर्वदुःख, जाति-जरा मरण बन्धन-विमुक्त[1] आदि शब्दो का व्यवहार मिलता है । ये सब शब्द पर्यायवाचक है । सिद्ध कृतकृत्य को कहते है । केवलज्ञान के द्वारा विश्व को जानने वाले बुद्ध कहलाते है । ससार रूपी समुद्र से पार हुए को पारगत कहा जाता है । सर्वप्रथम सम्यग्दर्शन की प्राप्ति, पुन सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति, तदनन्तर सम्यक्चारित्र की प्राप्ति, इस परम्परा द्वारा जिसने मोक्ष को प्राप्त किया है उसे परम्परागत कहते है। सर्व प्रकार के कर्मों से रहित उन्मुक्त-कर्म-कवच, जरा आदि अवस्थाओ से रहित अजर, आयुष्कर्म से रहित अमर, सर्व प्रकार के क्लेशो से रहित असग, सब प्रकार के दुःखो से रहित निस्तीर्ण-सर्व-दुःख, और जन्म तथा मृत्यु के बन्धन से विमुक्त जाति-जरा-मरण-बन्धन-विमुक्त कहलाते है ।

इसके अलावा, जैनसाहित्य मे ईश्वर के प्रतिबोधक सर्वदुःखप्रहीण, मुक्तात्मा आदि शब्द भी देखने मे आते है । सर्वदुःख-प्रहीण का अर्थ स्पष्ट ही है। मुक्तात्मा का विवेचन करते हुए भगवान महावीर ने आचारागसूत्र मे फरमाया है —

"मुक्तात्मा का स्वरूप बताने के लिये कोई भी शब्द समर्थ नही है, तर्क की वहा गति नही होती है । बुद्धि वहा तक जा नहीं सकती है । उसकी कल्पना नही की जा सकती है । वह मुक्तात्मा सकल कर्मरहित है, सम्पूर्ण ज्ञानमय दशा मे विराजमान है । वह न लम्बा है, न छोटा है, न गोल है, न त्रिकोण है, न चौरस है, न मण्डलाकार है, न काला है, न नीला है, न लाल है । वह पीला और सफेद भी नही है । सुगध और दुर्गन्ध वाला नही है । तीक्ष्ण और कटुक नही है । कसैला, खट्टा और मीठा नही है । वह न कठोर है, न सुकुमार है, न हल्का है, न भारी है, न शीत है, न उष्ण है, न स्निग्ध है, न पुरुष है, न नपुसक है । वह ज्ञाता है, परिज्ञाता है, उसकी उपमा नही है, वह अरूपी है, अवर्णनीय है, शब्दो द्वारा उसका वर्णन नही किया जा सकता है । मुक्तात्मा शब्द, रूप, रस, गन्ध, और स्पर्शस्वरूप भी नही है ।[2]

जैनदर्शन मे मुक्तात्मा के अर्थ मे ईश्वर शब्द का व्यवहार नही किया जाता है। वैदिकदर्शन द्वारा माने गए ईश्वर का ईश्वरत्व (जगत्-कर्तृत्व आदि) जैनदर्शन को स्वीकार भी नही है। सभव है, इसीलिए वैदिक दर्शन ने जैन-

---

१ सिद्ध त्ति य बुद्धत्ति य, पारगयत्ति य परपरगय त्ति य ।
उम्मुक्क-कम्म-कवया, अजरा अमरा असगा य ॥
णिच्छिण्णसव्वदुक्खा जाइ-जरा-मरण-बधण-विमुक्का ।
अव्वाबाह सुख अणुहोंति सासय सिद्धा ।

२ आचाराग सूत्र प्रथम, श्रुतस्कध, अ० ५ उ० ६

दर्शन को अनीश्वरवादी दर्शन घोषित किया है। परन्तु जैनदर्शन के अनीश्वरवाद या निरीश्वरवाद का यह अर्थ नही समझ लेना चाहिए कि जैनदर्शन ईश्वर को मानता ही नही है। जैनदर्शन ईश्वर को मानता है, पर अपने ढग से। वस्तुत ईश्वर का जितना शुद्ध, सात्त्विक और प्रामाणिक रूप जैनदर्शन ने दार्शनिक जगत् के सन्मुख प्रस्तुत किया है, उतना तो अन्य किसी दार्शनिक ने आज तक किया ही नही है। जैनदर्शन ने ईश्वर सम्बन्धी इतना गभीर और सूक्ष्म चिन्तन किया है कि कुछ कहते नही बनता। यह सत्य है कि जैनदर्शन वैदिक दर्शन की तरह ईश्वर को जगत का कर्ता, भाग्यविधाता, कर्मफलदाता तथा ससार का सर्वेसर्वा नही मानता है। जैनदर्शन का विश्वास है कि ईश्वर सत्स्वरूप है, ज्ञानस्वरूप है, आनन्द-स्वरूप है, वीतराग है, सर्वज्ञ है, सर्वदर्शी है। उसका दृश्य या अदृश्य जगत के विषय मे प्रत्यक्ष या परोक्ष कोई हस्तक्षेप नही है। वह जगत का निर्माता नही है, भाग्य का विधाता नही है, कर्म-फल का प्रदाता नही है तथा वह अवतार लेकर मनुष्य या किसी अन्य पशु आदि के रूप मे ससार मे आता भी नही है।

आज के अध्यात्मजगत मे ईश्वर के सम्बन्ध मे जो विचार पाए जाते है सक्षेप मे उनके तीन विभाग किए जा सकते है। वे विभाग इस प्रकार है —

ईश्वर एक है, अनादि है, सर्वव्यापक है, सच्चिदानन्द है, घट-घट का ज्ञाता है, सर्वशक्तिमान है, जगत का निर्माता है, भाग्य का विधाता है, कर्मफल का प्रदाता है, ससार मे जो कुछ हो रहा है वह सब ईश्वर के सकेत से हो रहा है, उसकी इच्छा के बिना वृक्ष का पत्ता भी हिल नही सकता, वह ससार का सर्वेसर्वा है। ईश्वर पापियो का नाश करने के लिए तथा धार्मिक लोगो का उद्धार करने के लिए कभी न कभी किसी न किसी रूप मे ससार मे जन्म लेता है, बैकुण्ठधाम से नीचे उतरता है, और अपनी लीला दिखाकर वापिस बैकुण्ठधाम मे जा विराजता है। वह सदा स्मरणीय है, नमस्करणीय है।

ईश्वर का यह एक रूप है जिसे आज हमारे सनातन धर्मी भाई मानते है। वैदिक धर्म को मानने वाले लोग दो वर्गों में विभक्त है। एक वर्ग तो सनातनधर्मी कहते है और दूसरा वर्ग आर्य समाज के नाम से पुकारा जाता है। ईश्वर सम्बन्धी उक्त मान्यता सनातन धर्मियो की है। ईश्वर का दूसरा रूप यह है —

ईश्वर एक है, अनादि है, सर्वव्यापक है, सच्चिदानन्द है, घट-घट का ज्ञाता है, सर्वशक्तिमान है, ससार का निर्माता है। जीव कर्म करने मे स्वतत्र है, इसमे ईश्वर का कोई दखल नही है। जीव अच्छा करे या बुरा, जैसा भी कर्म चाहे, कर सकता है, वह उस की इच्छा पर निर्भर है। ईश्वर का उस पर कोई नियत्रण या अकुश नही है। पर जीवो को उनके शुभाशुभ कर्मो का फल ईश्वर देता है। अपनी लीला दिखाने के लिए, पापियो का नाश करने के लिए या धर्मियो का उद्धार करने के लिए ईश्वर अवतार धारण नही करता, भगवान से मनुष्य या पशु नही बनता। वह सदा स्मरणीय है, नमस्करणीय है।

यह ईश्वर का दूसरा रूप है। या ईश्वर को मानने का यह दूसरा ढग है, जिसे आजकल आर्यसमाजी स्वीकार करते है। ईश्वर का तीसरा रूप निम्नोक्त है —

ईश्वर एक नही है, अनादि नही है, सर्वव्यापक नही है, सच्चिदानन्द है, घट-घट का ज्ञाता है, अनन्त शक्तिमान है। जगत का निर्माता नही है, भाग्य का विधाता नही है, कर्मफल का प्रदाता नही है, ससार के किसी धन्धे मे उसका कोई हस्तक्षेप नही है। जीव कर्म करने मे स्वतत्र है ईश्वर जीव को कर्म करने मे प्रेरणा नही देता, उसे निषिद्ध भी नही करता। जो कर्म करता है, उसका फल उसे स्वत ही मिल जाता है, आत्मा पर लगे कर्म-परमाणु ही कर्मकर्ता प्राणी को स्वय अपना फल देते है। ईश्वर का उनके साथ प्रत्यक्ष या परोक्ष कोई सम्बन्ध नही है। कर्म-फल पाने के लिए जीव को ईश्वर के द्वार नही खटखटाने पड़ते, जीव सर्वथा स्वतत्र है। किसी भी दृष्टि से वह ईश्वर के अधीन नही है, ईश्वर अवतार भी धारण नही करता है। वह किसी को मारता नही है और किसी को जिलाता भी नही है। सक्षेप मे—





राम किसी को मारे नहीं, मारे सो नहीं राम,
आप ही आप मर जाएगा, करके खोटा काम ।

जीव अपने भाग्य का स्वय निर्माता है। स्वर्ग, नरक मनुष्य की अपनी सद्-असद् वृत्तिया के परिणाम हैं। अपनी नैया को पार करने वाला भी जीव स्वय है और उसे डुबोने वाला भी वह स्वय ही है। इसमे ईश्वर का कोई सम्बध नही है। इतना होने पर भी ईश्वर अध्यात्म जीवन का सर्वोपरि लक्ष्य है, ध्येय है, अहिंसा, सयम, तप की मगलमय अध्यात्म साधना द्वारा जीव ने स्वय को ईश्वरीय रूप मे प्रकट किया है। कर्मो के आवरण को हटाकर जीव स्वय ईश्वर बन जाता है। आत्मा और ईश्वर मे कोई मूलभूत पार्थक्य नही है। दोनो सजातीय है, अन्तर केवल विकास का है। ईश्वर नमस्करणीय है, सस्मरणीय है।

यह ईश्वर का तीसरा रूप है। ईश्वर के इस रूप को जैनदर्शन स्वीकार करता है। जैनदर्शन ने सिद्ध, बुद्ध आदि पदो से जिस परमोच्च अध्यात्मशक्ति की ओर सकेत किया है, ईश्वर का तीसरा रूप उसी मे समाविष्ट हो जाता है। शब्दकृत भेद को छोड कर अर्थकृत कोई अन्तर नही है। इस प्रकार जैनदर्शन मनुष्य के समक्ष अनन्त आध्यात्मिक विकास प्रस्तुत करता है।

ईश्वर शब्द की ऐतिहासिक अर्थविचारणा पर विचार करते हुए मालूम होता है कि वैदिक दर्शन के यौवनकाल मे ईश्वर शब्द एक विशेष अर्थ मे रूढ था, उस समय जगत्कर्तृत्व आदि विविध शक्तियो की धारिका महाशक्ति को ईश्वर के नाम से व्यवहृत किया जाता था, किन्तु अन्तिम कुछ शताब्दियो से ईश्वर शब्द सामान्य रूप से परमात्मा का निर्देशक बन गया है। इसीलिए आज कही ईश्वर शब्द का जब उच्चारण किया जाता है तो उसमे मनुष्य को सामान्य रूप मे परमात्मा का बोध होता है। ईश्वर शब्द से किसी जगत्निर्मात्री, भाग्यविधात्री, कर्मफलप्रदात्री या ससार की सर्वेसर्वा शक्ति का बोध नही होता है। साधारणतया उससे श्रोता परमात्मा, प्रभु, अजर, अमर या एक परमोच्च शक्ति का ज्ञान प्राप्त करता है जो सर्वथा निर्विकार है, जन्म मरण के प्रपच से अलग है, जिसका स्मरण करने से आत्मा परमशान्ति को प्राप्त करता है, तथा उसके ऐहिक और पारलौकिक क्लेश दूर होते हैं। जैनदर्शन, जो कभी अनीश्वरवादी कहा जाता था, और जिस ने ईश्वर शब्द को कभी अपनाया नही था, आज उसी के अनुयायी अपने को ईश्वरवादी कहने व मानने मे जरा सकोच नही करते है। कारण स्पष्ट है कि ईश्वर शब्द आज वैदिक परम्परा का ही अपना पारिभाषिक शब्द नही रहा है, अब तो सभी अध्यात्म-परम्पराए उसे परमात्मा का पर्यायवाचक मानकर स्वीकार करने लग गयी है। आज जैन सन्तो के व्याख्यानो मे —

ईश्वर से करते जाना प्यार, ओ नादान मुसाफिर,
जीवन की कर ले नय्या पार, ओ नादान मुसाफिर।

यह गीत सानन्द सुने जाते है, सुनाए जाते है। सकीर्णता की चहारदीवारी से निकल कर यदि स्वस्थ हृदय से चिन्तन करें तो सभी मतभेद समाप्त या समाहित होते एक क्षण नही लगता। जैनदर्शन तो अनेकान्तवाद-प्रधान दर्शन है। वह सकीर्णता से पृथक् रह कर उपयोगी तत्व को अपना लेता है। इसीलिए जैनजगत मे ईश्वर शब्द का व्यवहार आज दृष्टिगोचर हो रहा है। पर एक बात सदा ध्यान मे रखनी चाहिए कि ईश्वर शब्द सामान्यतया परमात्मा का, सिद्ध प्रभु का ससूचक समझना चाहिए। वैदिकदर्शन-सम्मत ईश्वर के लिए जैन साहित्य मे कोई स्थान नहीं है। जैनागमो मे परमात्मतत्व को लेकर कहा-कहा वर्णन मिलता है तथा किस-किस रूप मे मिलता है? इस प्रश्न का समाधान प्राप्त करने की इच्छा रखने वाले सज्जनो को जैनधर्मदिवाकर आचार्यप्रवर पूज्य गुरुदेव श्री आत्मारामजी महाराज द्वारा लिखित "जैनागमो मे परमात्मवाद" नामक पुस्तक का अध्ययन करना चाहिए। जैनदर्शन के ईश्वर जगत्-कर्तृत्व आदि से क्यो इन्कार करता है? यह समझने के लिए इन पक्तियो के लेखक की "भगवान महावीर के पाच सिद्धान्त" या "प्रश्नो के उत्तर" (दो खण्ड) पुस्तक पढना चाहिए।[1]

१ उक्त पुस्तकें श्री आत्माराम जैन प्रकाशक समिति, जैनस्थानक, लुधियाना से प्राप्त की जा सकती हैं।

जैनागमों में अष्ट प्रवचनमाताएं

मुनिश्री कन्हैयालालजी "कमल"



पांच समिति और तीन गुप्ति

(१) ईर्या-समिति[१]

(२) भाषा समिति[२]

(३) एषणा-समिति[३]

(४) आदान-भाण्ड-मात्र-निक्षेपणा-समिति[४]

(५) उच्चार-प्रस्रवण-श्लेष्म-सिंघाण-जल्ल-परिष्ठापनिका-समिति[५]

(६) मन-गुप्ति

(७) वचन-गुप्ति

---

१ (क) 'स्त्रीरूप-विरतिसमिति' भी ईर्यासमिति का एक नाम है क्योंकि यह चक्षु इन्द्रिय की यतना है। प्रश्न० सू० २७

(ख) 'पूर्वरत-पूर्वक्रीडित-विरतिसमिति' भी ईर्यासमिति का ही एक नाम प्रतीत होता है क्योंकि चारित्र ईर्यासमिति का एक आलम्बन है। पूर्वरत-पूर्वक्रीडितविरतिसमिति ब्रह्मव्रत का एक भेद है और ब्रह्मव्रत सामायिक चारित्र का एक भेद है। अतएव यह ईर्यासमिति का ही एक नाम हो सकता है। प्रश्न० सू० २६

२ (क) इसका एक नाम 'अनुविचिन्त्य समिति' है। प्रश्न० सूत्र० २५

(ख) 'स्त्रीकथाविरतिसमिति' भी भाषासमिति का नाम है।

३ (क) इस का एक नाम 'अवग्रहसमिति' है। प्रश्न० सूत्र० २६

(ख) निर्दोष उपाश्रय की प्राप्ति भी एषणासमिति का विषय है अत "विविक्तवाससमिति" भी इस का नाम है। प्रश्न० सूत्र० २६

(ग) आहारसमिति भी इसका नाम है, क्योंकि आहार एषणा द्वारा प्राप्त होता है। प्रश्न० सू० २६

(घ) 'साधारणपिण्डपात्रसमिति' भी एषणासमिति का नाम है। प्रश्न० सू०। २६

(ङ) 'असंसक्तवासवसति समिति' भी एषणासमिति का नाम है।

(च) 'प्रणीत-आहारविरति' परिभोगैषणा समिति का विषय है अतएव यह एषणा समिति का ही एक नाम है।

४ (क) अति संक्षिप्त नाम—'आदान-समिति'। उत्त० अ० २४, गाथा २।

(ख) संक्षिप्त नाम—'आदान-निक्षेपणा-समिति'।—तत्वा० अ० ९, सू० ५

५ (क) संक्षिप्त नाम—'उच्चार-समिति'। यहा नाम के एक अंश का ग्रहण करके पूरे नाम के ग्रहण करने का संकेत है।—उत्त० अ० २४, गाथा २।

(ख) संक्षिप्त नाम—'उत्सर्ग-समिति'। तत्वा० अ० ९, सू० ५

(८) काय-गुप्ति[1]

प्रवचनमाता की सार्थक सज्ञा —

इन अष्ट प्रवचनमाताओ मे सपूर्ण द्वादशागी समाविष्ट है,[2] इसलिए इनकी 'प्रवचनमाता' सज्ञा है। और इस सज्ञा की सार्थकता सिद्ध करने के लिए यह हेतु दिया गया है कि—"ये प्रवचनमाताए चारित्ररूपा है। चारित्र, ज्ञान दर्शन के विना नहीं होता है।[3] द्वादशागी मे ज्ञान, दर्शन और चारित्र का ही विस्तृत वर्णन है,[4] अत द्वादशागी प्रवचनमाता का ही विराट् रूप है।"

जिस प्रकार माता की कुक्षि मे शिशु सूक्ष्म रूप मे स्थित रहता है और वही शिशु जन्म के पश्चात् क्रमश बढता हुआ माता पिता के समान विशाल शरीर वाला हो जाता है। शिशु के उस विकसित शरीर को देखकर भी हम यह सहसा मान लेते है कि यह एक दिन इस माता की कुक्षि मे सूक्ष्म रूप मे स्थित था, इसी प्रकार इतना विशाल जिनप्रवचन इन अष्ट प्रवचनमाताओ मे समाविष्ट है।

माता की गरिमा जितनी लौकिक जीवन मे है,[5] आध्यात्मिक जीवन मे उतनी ही इन अष्ट प्रवचन-माताओ की है। वास्तव मे ये अष्ट प्रवचन-माताएँ अध्यात्मजगत् की जगदम्बा हैं और जिन भगवान् जगत्पितामह।[6] इह लौकिक जीवन मे मानव पर माता का जितना उपकार है,[7] उससे अनन्त गुण अधिक आध्यात्मिक जीवन मे इन अष्ट प्रवचन-माताओ का है। इस तथ्य की अनुभूति का अधिकारी मुमुक्षु मानव ही है। इसलिए प्रस्तुत प्रबन्ध मे मुमुक्षु साधक का ही परिलक्षित कर समस्त विधि-निषेध प्रस्तुत किए गए है।

---

१ (क) सम० ८ वा समवाय, सू० २

(ख) अट्ठ पवयणमायाओ, समिई गुत्ती तहेव य।
पचेव य समिइओ, तओ गुत्ती उ आहिया ॥
इरियाभासेसणादाणे, उच्चारे समिईसु य।
मणगुत्ती वयगुत्ती, कायगुत्ती य अट्ठमा ॥—उत्त० अ० २४, गाथा १, २

(ग) मातरोऽष्टौ प्रकीर्तिता ।– योग० प्र० प्रका० २ श्लोक ४५।

२ दुवालसग जिणक्खाय, माय जत्थ उ पवयण।—उत्त०अ० २४, गाथा ३
यत्र यास्वष्टासु मातृषु द्वादशाङ्ग जिनाख्यात प्रवचन श्रुत चारित्र वा 'माय' इति मात—सपूर्णत्वेन सस्थितम्।
—लक्ष्मीवल्लभी टीका।

३ नत्थि चरित्त सम्मत्तविहूण—उत्त० अ० २८, गाथा २९
नादसणिस्स नाण,—उत्त० अ० २८, गाथा २९।

४ यतो हि सर्वा एता अष्टावमी चारित्ररूपा चारित्र हि ज्ञान-दर्शन विना न भवति, ज्ञान-दर्शन-चारित्रेभ्योऽतिरिक्त द्वादशाङ्ग न भवति, तस्माद द्वादशाङ्गयष्टासु मातृषु स्थिता, तेनैतासा प्रवचन-जननीसज्ञा।
— लक्ष्मीवल्लभी टीका।

५ (क) "देव य गुरु जणणी"
जननी-माता देव, गुरु के तुल्य है—उपा० अ० ३, सू० १३१

(ख) जननी जन्मभूमिश्च, स्वर्गादपि गरीयसी॥

६ "जगनाहो जगबधू, जयइ जगप्पियामहो भयव।—नदी० स्थ० गाथा १

७ तिण्ह दुप्पडियार समणाउसो! त जहा—अम्मापिउणो, भट्टिस्स, धम्मायरियस्स। सपातो वि य ण केइ पुरिसे अम्मापियर सयपाग-सहस्सपागेहिं तिल्लेहिं अब्भगेत्ता सुरभिणा गधुट्टएण उव्वट्टित्ता तिहिं उदगेहिं मज्जावित्ता सव्वालकारविभूसिय करेत्ता मणुन्न थालीपागसुद्ध अट्ठारसवजणाउल भोयण भोयावेत्ता जावज्जीव पिट्ठि-वडेसियाए परिवहेज्जा, तेणावि तस्स अम्मापिउस्स दुप्पडियार भवइ।
—स्था० अ० ३, उ० १, सू० १३५

समिति और गुप्ति सज्ञा

ईर्यासमिति आदि पाच की समिति सज्ञा है[1] और मनगुप्ति आदि तीन की गुप्ति सज्ञा है[2] किन्तु इन आठ की 'समिति सज्ञा' भी है।[3] सर्वविरत मुमुक्षु सयत की चारित्र मे जो सम्यक् प्रवृत्ति होती है उसे 'समिति' कहते है।[4] तथा उसी मुमुक्षु की जो शुभ योगो मे प्रवृत्ति होती है उसे भी 'समिति' कहते है।[5] मुमुक्षु का अशुभ योगो से सर्वथा निवृत्त होना "गुप्ति" कहा जाता है।[6] इस प्रकार इन अष्ट प्रवचन माताओ की समिति और गुप्ति सज्ञा भी आगम-साहित्य मे प्रसिद्ध है।

पांच समिति और तीन गुप्ति की आधारभूमि

श्रमण-परम्परा के आदि पुरुष भगवान् आदिनाथ के सान्निध्य मे कुछ साधक श्रमण अध्यात्म-आराधना का अभ्यास करने लगे। वे श्रमण सरल थे किन्तु सुज्ञ न थे अत भगवान् उन्हे कदम कदम पर सावधान करते, शिक्षा देते और प्रत्येक कार्य विवेकपूर्वक करने के लिए प्रेरित करते।

एक दिन एक श्रमण भिक्षा के लिए चला। गत तीन दिनो से वह तपश्चर्या कर रहा था, आज उसे भोजन लेना था। वह तेज कदमो से चला क्योकि क्षुधा की वेदना से व्याकुल था अत भगवान् के बोध-पाठ को वह भूल गया।

कुछ समय बीता। श्रमण भिक्षा लेकर चला आ रहा था। तब भी उस के चरण चचल थे, वह चाहता था स्वस्थान पर शीघ्र पहुचूँ, देर होने पर यह खाद्य और पेय उष्ण न रहेगे।

भगवान् यह सब कुछ देख रहे थे। वे जानते थे, इस युग के मानव तैल बुद्धि नही हैं फिर भी उस श्रमण को भगवान् ने कहा—आयुष्मन् ! तुम्हे प्रत्येक कार्य विवेकपूर्वक करने के लिए कहा गया है, याद है न ? विस्मृत तो नही हुए ?

भन्ते ! याद है विस्मृत नही हुआ।

आयुष्मन् ! अभी तुम भिक्षा के लिए गए और आए कितने तेज चल रहे थे ?

---

१ पच समिईओ पण्णत्ताओ, त जहा-ईरियासमिई-जाव-पारिट्ठावणियासमिई।
—स्था० अ० ५, उ० ३, सू० ४५७
— सम० अ० ५, सू० ७

२ तओ गुत्तीओ पण्णत्ताओ, त जहा मणगुत्ती-जाव-कायगुत्ती।
— स्था० अ० ३, उ० १, सू० १२६
— सम० अ० ३, सू० २

३ (क) अट्ठ समिईओ पण्णत्ताओ, त जहा—ईरिया-समिई-जाव-कायसमिई। —स्था० अ० ८, सू० ६०३
(ख) एयाओ अट्ठसमिईओ, समासेण वियाहिया। —उत्त० अ० २४, गाथा २६३

४ एयाओ पच समिईओ, चरणस्स य पवत्तणे। —उत्त० अ० २४, गाथा ३२६

५ सम्यग् इति प्रवृत्ति समिति,
मनस कुशलताया समिति, वाचोऽकुशलत्वनिरोधे समिति, कायस्य स्थानादिषु समितिरिति।
—स्था० अ० ८, सू० ६०३ की टीका।

६ (क) गुत्ती नियत्तणे वुत्ता, असुभत्थेसु सव्वसो। —उत्त० अ० २४, गाथा २६
(ख) गोपन गुप्ति —मन प्रभृतीना कुशलाना प्रवर्तनमकुशलाना च निवर्त्तनमिति।
(ग) "सम्यग्योगनिग्रहो गुप्ति"—तत्त्वा० अ० ६, सू० ४

७ "पुरिमा उज्जुजड्डा उ"—उत्त० अ० २३।





हां भते ! एक ओर क्षुधा सता रही थी दूसरी ओर खाद्य एव पेय शीतल होते जा रहे थे, इसलिए भगवन्, मैं जल्दी-जल्दी गया और जल्दी-जल्दी आया हू ।

आयुष्मन् ! यह श्रमण-चर्या नही है। साधक श्रमण को इतना तेज नही चलना चाहिए ।

भते ! आप ने तेज न चलने के लिए तो आज ही कहा है, पहले तो कभी कहा नही था।

आयुष्मन् ! पहले तू गृहस्थ था, पाप कर्मा से अविरत था। अब तू प्रव्रजित हो गया है, सर्व सावद्य कार्यों से विरत रहने की तूने प्रतिज्ञा ली है। गृहस्थचर्या भिन्न है आयुष्मन् !

तब श्रमण ने सविनय प्रश्न किये—

भते ! मैं कैसे चलूं ? और कैसे खडा होऊँ ?

भते ! मैं कैसे बैठूं ? और कैसे सोऊँ ?

भते ! मैं कैसे खाऊँ-पीऊँ ? और कैसे बोलूं ?[1]

जिससे मै पापकर्म से लिप्त न होऊँ ?

आयुष्मन् ! तू यतना से चल और यतना से खडा हो,

आयुष्मन् ! तू यतना मे बैठ और यतना मे सो,

आयुष्मन् ! तू यतना से खा-पी और यतना से बोल ।[2]

इस प्रकार तू पाप कर्म से लिप्त नही होगा ।

ईर्या समिति के ६ निक्षेप

(१) नाम ईर्या, (२) स्थापना ईर्या, (३) द्रव्य ईर्या, (४) क्षेत्र ईर्या, (५) काल ईर्या, (६) भाव ईर्या ।

(१) नाम-ईर्या—किसी व्यक्ति या वस्तु का 'ईर्या' नाम हो वह 'नाम ईर्या' निक्षेप है।

(२) स्थापना-ईर्या —चलते हुए व्यक्ति की प्रतिकृति या फोटो ।

(३) द्रव्य-ईर्या—तीन प्रकार की है —सचित्त, अचित्त और मिश्र ।
- (क) सचित्त ईर्या—वायु का या पुरुष आदि का चलना।
- (ख) अचित्त ईर्या—परमाणु आदि पुद्गल द्रव्यो का चलना ।
- (ग) मिश्र ईर्या—रथ आदि का चलना।

(४) क्षेत्र-ईर्या किसी क्षेत्र—प्रदेश मे किसी व्यक्ति आदि का चलना ।

(५) काल-ईर्या – किसी काल मे किसी व्यक्ति आदि का चलना ।

(६) भाव-ईर्या—दो प्रकार की है —(१) चरण ईर्या, (२) सयम ईर्या ।

चरण ईर्या—

(क) श्रमण का—निर्दोष चलना ।[3]

---

१ कह चरे कह चिट्ठे, कहमासे कह सए ।
कह भुजतो भासतो, पावकम्म न बधइ ॥—दश० अ० ४, गाथा ७

२ जय चरे जय चिट्ठे, जयमासे जय सए ।
जय भुजतो भासतो, पावकम्म न बधइ ॥—दश० अ० ४ गाथा ८

३ आचा० श्रुत० २, अ० ३, उद्दे० १, निर्युक्ति गाथा ३०५, ३०६

निम्नलिखित आगमोक्त निर्देशो के अनुसार चलने वाले श्रमण का चलना ही निर्दोष चलना माना गया है।

(१) श्रमण को चलते समय असम्भ्रान्त रहना चाहिए, क्योकि भ्रान्त अवस्था मे चित्त अशान्त रहता है अत चलते समय जीवरक्षा नही कर सकता।

(२) श्रमण को अमूर्छित-आसक्ति रहित होकर चलना चाहिए, क्योकि आसक्त व्यक्ति का मन किसी अभिलषित वस्तु मे लगा रहता है अत वह जीवरक्षा मे उपयोग नही लगा सकता।

(३) श्रमण को मन्द गति से चलना चाहिए, क्योकि शीघ्र गति से चलने वाला जीवरक्षा करता हुआ नही चल सकता।

(४) श्रमण को चलते समय 'अनुद्विग्न'—प्रशान्त रहना चाहिए, क्योकि—उद्विग्न अवस्था मे व्यक्ति भयभीत रहता है अत वह विवेकपूर्वक नहीं चल सकता।

(५) श्रमण को 'अव्याक्षिप्तचित्त' से चलना चाहिए, क्योकि—विक्षिप्त, चित्त-चचल चित्त-वाला व्यक्ति मार्ग पर दृष्टि रख कर नहीं चल सकता।[1]

(६) श्रमण को दौडते हुए नही चलना चाहिए, क्योकि दौडने वाला जीवो को बचाता हुआ नहीं चल सकता।

श्रमण धीर और साहसी होता है अत उसका दौडना व्यावहारिक दृष्टि से भी अच्छा नही माना जाता, क्योकि अधीर या भयभीत व्यक्ति ही प्राय दौडते है।

(७) श्रमण को चलते समय बातें नहीं करनी चाहिए, क्योकि जब मन बातचीत करने मे लगा रहता है तब वह जीवरक्षा करने मे दत्तचित्त नही हो सकता।

(८) श्रमण को चलते समय हँसना भी नहीं चाहिए, क्योकि हँसते हुए मार्ग पर दृष्टि रख कर नहीं चल सकता। इसी प्रकार गाते हुए, खाते हुए या ऐसी ही कोई अन्य क्रिया करते हुए नही चलना चाहिए।[2]

(९) श्रमण को गवाक्ष, गली, स्नानगृह आदि पर दृष्टि डालते हुए नही चलना चाहिए, क्योकि गवाक्ष आदि की ओर देखते हुए चलने वाला रास्ते के जीव-जन्तुओं को नही देख सकता। गवाक्ष आदि की ओर देखते हुए चलने से श्रमण की साधुता के सबध मे शका उत्पन्न होती है। अत श्रमण को मार्ग पर दृष्टि रखते हुए ही चलना चाहिए।[3]

(१०) श्रमण को क्रुद्ध होकर नही चलना चाहिए, क्योकि क्रुद्ध मानव का मन अशान्त होता है अत वह विवेकपूर्वक नही चल सकता।[4]

(११) श्रमण चलते समय अपने साथी श्रमणादि को पहाड पर, समभूभाग पर या सरोवर आदि के किनारे पर चरते हुए पशु तथा पक्षी आदि की ओर अगुली निर्देश करके या हाथ लम्बा करके न दिखावे। ऐसा करने से पशु-पक्षी भयभीत होते है।

(१२) श्रमण चलते समय अपने साथी श्रमणादि को पहाड पर बने किले आदि की ओर सकेत करके न दिखावे ऐसा करने से किले आदि के रक्षको को श्रमण के प्रति गुप्तचर होने की आशका होती है।



१ दश० अ० ५, उद्दे० १, गाया १, २
२ दश० अ० ५, उद्दे० १, गाथा १४
३. दश० अ० ५, उद्दे० १, गाथा १५
४ दश० अ० ८, गाथा २५



(१३) श्रमण को मनहर शब्द सुनते हुए नही चलना चाहिए।

(१४) श्रमण को मनहर रूप देखते हुए नही चलना चाहिए।

(१५) श्रमण को चलते समय सुगन्ध या दुर्गन्ध के सम्बन्ध मे राग-द्वेष भरे सकल्प करते हुए नही चलना चाहिए। सुगन्ध के सम्बन्ध मे—"अहा, कैसी मनहर गन्ध आ रही है, सुगन्ध का आनन्द लेता हुआ धीमे धीमे चलूं" ऐसे विचारो से आसक्ति बढती है।

दुर्गन्ध के सम्बन्ध मे—"अरे, कैसी दुर्गन्ध आ रही है, नाक फट रहा है, दम घुट रहा है" इस प्रकार के घृणा भरे सकल्पो से पुद्गलपरिणति का विवेक नष्ट हो जाता है।

अत सुगन्ध आते समय मन्द गति से और दुर्गन्ध आते समय द्रुत गति से श्रमण को नही चलना चाहिए। अपितु दोना स्थानो पर स्वाभाविक गति से चलना चाहिए।

(१६) श्रमण को मनहर रसास्वादन करते हुए नही चलना चाहिए।

(१७) श्रमण को सुखद स्पर्श का सवेदन करते हुए नही चलना चाहिए।

(ख) सयम ईर्या – सत्तरह प्रकार के सयम का विवेकपूर्वक पालन करते हुए चलना।[1]

१ ईर्यासमिति

ज्ञान, दर्शन और चारित्र की प्राप्ति या वृद्धि के लिए उपयुक्त अवसर मे युगपरिमाण भूमि[2] (चार हाथ प्रमाण) को एकाग्र चित्त मे देखते हुए प्रशस्त-पथ मे यतनापूर्वक (जीवरक्षार्थ प्रयत्न करते हुए) गमनागमन करना ईर्यासमिति है।[3]

ईर्यासमिति की विशुद्ध आराधना के लिए मुमुक्षु साधक को आलम्बन, काल, मार्ग और यतना का विवेक करना अत्यावश्यक है, क्योकि ये चार ईर्यासमिति की विशुद्धि के हेतु है।[4]

(क) आलम्बन

ईर्यासमिति के आलम्बन ज्ञान-दर्शन-चारित्र है। जिस प्रकार स्थविर आलम्बन से बिना किसी असुविधा के अभिलषित ऊँचाई पर पहुँच सकता है। उसी प्रकार साधक भी ज्ञान-दर्शन चारित्र के आलम्बन से उग्र एव कठिन परीषह सहे बिना सर्वोच्च शिवपद प्राप्त कर सकता है। क्योकि ज्ञानादि की आध्यात्मिक शक्ति का सम्बल ही दुरूह शिवपथ पर साधक को अग्रसर करता है।

अधा और पगु भी आलम्बन के बल से इष्ट स्थान पर पहुच सकता है। पक्षी पखो के आलम्बन से गगन-गामी होता है। सामान्यतया पत्नी को पति का, शिष्य को गुरु का, भृत्य को स्वामी का, पथिक को साथी का, शिशु का माता का, समाज को नेता का और भक्त को भगवान् का आलम्बन ही जीवनयापन व जीवननिर्माण मे उपयोगी होता है।

यहा आलम्बन का अर्थ सहारा तो है ही, उद्देश्य और लक्ष्य अर्थ भी यहा सगत है। साधक-जीवन मे जितनी आवश्यक क्रियाएँ है उनका प्रधान लक्ष्य रत्नत्रय की प्राप्ति या वृद्धि है। गौण लक्ष्य अनेक है और वे प्रत्येक

---

१ आचा० श्रुत० २, अ० ३, उद्दे० १, निर्युक्ति गाथा ३०७

२ "जुगमित्त च खेत्तओ"—उत्त० अ० २४, गाथा ७, पद २

३ उत्त० अ० २४, गाथा ७

४ "चउकारणपरिसुद्ध"

क्रिया से निरन्तर होते हैं जो साधकजीवन में दिन-रात किये जाते हैं। अभिप्राय यह है कि श्रमण आहार करता है तो उसका प्रधान लक्ष्य संयम की अभिवृद्धि है और गौण लक्ष्य उदरपूर्ति है। यहां यह विस्मय की बात है कि गौण लक्ष्य की सिद्धि सर्वप्रथम होती है और प्रधानलक्ष्य की सिद्धि तत्पश्चात्। इसी प्रकार साधक की प्रत्येक आवश्यक क्रिया के सम्बन्ध में समझना चाहिए। जिस क्रिया द्वारा ज्ञान-दर्शन-चारित्र की प्राप्ति या अभिवृद्धि न हो उस क्रिया के लिए साधक श्रमण न तो चलना फिरना कदम उठाना है और न उस क्रिया के करने में अपना एक क्षण लगाना है।

साधक जीवन में यदा-कदा ऐसे प्रसङ्ग भी उपस्थित होते हैं जब साधक अपने प्रधान लक्ष्य की सिद्धि के लिए अर्थात्—रत्नत्रय की प्राप्ति या वृद्धि के लिए उत्सर्ग मार्ग का परित्याग कर अपवादमार्ग का आश्रय ले लेता है।

यथा—
१ ज्ञान की प्राप्ति के लिए,
२ दर्शन की प्राप्ति के लिए
३ चारित्र की प्राप्ति के लिए,
४ आचार्य या उपाध्याय की मृत्यु होने पर,
५ आचार्य या उपाध्याय की सेवा के लिए अन्यत्र जाना आवश्यक होने पर।

उत्सर्ग मार्ग में वर्षावास में अन्यत्र जाना सर्वथा निषिद्ध है किन्तु आपवादिक स्थिति में ऊपर लिखे कारणों से वर्षावास में श्रमण-श्रमणियां अन्यत्र जा सकते हैं।[2]

(१) किसी आचार्य को कुछ ऐसा ज्ञान याद है जो अन्य किसी को याद नहीं है। वे भक्तप्रत्याख्यान करना चाहते हैं पर उससे पूर्व वे किसी योग्य पात्र को अपना [illegible] ज्ञान देना चाहते हैं। योग्य पात्र किसी दूरवर्ती क्षेत्र में वर्षावास किये हुए है। संघ ने उस योग्य पात्र को आचार्य का संदेश पहुंचाया। वह श्रमण आचार्य का संदेश पहुंचते ही वर्षावास में ज्ञानोपार्जन के लिए चल पड़ा। यह है ईर्यासमिति का ज्ञान आलम्बन।

(२) किसी विशिष्ट व्यक्ति की श्रद्धा सुदृढ़ करने के लिए या अर्हत् शासन की स्थापना के लिए वादलब्धि-सम्पन्न श्रमण को संघ या आचार्य का आदेश यदि वर्षावास में भी आवे तो मुनि को दर्शनविशुद्धि के लिए विहार करना पड़ता है। यह है ईर्यासमिति का दर्शन आलम्बन।

(३) वर्षावासस्थित श्रमण को यह अनुभव हो कि—"यहां उन्मत्त स्त्रियों का उपद्रव है या तेजस्वी पुत्र की प्राप्ति के लिए श्रमण का चारित्र से विचलित करने वाली कुछ विशिष्ट वर्ग की स्त्रियां हैं, अतः यहां रहने पर मेरा चारित्र सुरक्षित नहीं रहेगा"—ऐसी स्थिति में श्रमण वर्षावास में ही विहार कर सकता है। यह है ईर्यासमिति का चारित्र आलम्बन।

यहां ईर्यासमिति का प्रधान लक्ष्य ज्ञानादि की प्राप्ति, गुरुजनों के अनुशासन में रहना और गुरुजनों की सेवा करना है। वर्षाकाल में उत्पन्न हुए जीवजन्तु, वनस्पति और अंकुर आदि की रक्षा यहां गौण है। प्रधान लक्ष्य की सिद्धि होने पर गौण लक्ष्य की सिद्धि हो या न हो अथवा गौण लक्ष्य की उपेक्षा कर दी जाय—यहां यह अभिप्राय नहीं है। यहां केवल प्राथमिकता देने की विचारणा है। प्रधान लक्ष्य की सिद्धि के लिए प्रयत्न करते हुए जीवरक्षा के लिए भी सतत प्रयत्नशील रहना साधक का कर्तव्य है। साधक के सजग रहने पर भी यदि जीव-जन्तुओं की हिंसा हो जाए तो वह केवल "द्रव्यहिंसा" ही मानी जाएगी।



१ आचारांग श्रुत० २, अ० ३, उद्दे० १, सू० १११
२ स्थाना० अ० ५, उद्दे० २ सूत्र ४१२

साधक श्रमण के चलने के चार मुख्य उद्देश्य —

(१) स्वाध्याय तथा ध्यान के लिए स्वाध्यायभूमि (विहारभूमि) या ध्यानभूमि तक पहुचने के लिए साधक श्रमण चलता है।[1]

(२) आहार, पानी, वस्त्र, पात्र, और वसति आदि एषणीय पदार्थों की एषणा के लिए साधक श्रमण चलता है।[2]

(३) आवश्यक शारीरिक क्रिया (मल-मूत्रादि विसर्जन के लिए उच्चार-प्रश्रवणादि के परिष्ठापनार्थ निश्चित भूमि तक साधक श्रमण चलता है।[3]

(४) एक ग्राम से दूसरे ग्राम जाने के लिए साधक श्रमण चलता है।[4]

मुमुक्षु श्रमण निरुद्देश्य नही चलता, वह जब कही जाना चाहता है तो अपने स्थविर गुरुजनो या साथी श्रमणो का आवश्यक कार्य सम्बन्धी विवरण बताकर जाता है।[5]

उपाश्रय से बाहर जाते समय वह उच्चस्वर से "आवस्सिया" और उपाश्रय मे प्रवेश करते समय "णिसीहिया" का तीन-तीन बार उच्चारण करता है। यह उसकी समाचारी-आचरण-पद्धति है।[6] यह है ईर्या समिति का आलम्बन।

(ख) काल

अब ईर्यासमिति के काल के सम्बन्ध मे विचार प्रस्तुत किए जा रहे है। यहा काल का विभाजन दो भागो मे किया गया है। ये दो विभाग है—दिन और रात। ईर्यासमिति का पालन दिन मे हो सकता है,[7] रात्रि मे नही। दिन मे सभी साधक श्रमण-श्रमणिया देख कर चल सकते है। सूक्ष्म-स्थूल जीव-जन्तुओ को बचाकर चल सकते है और इस प्रकार वे स्व-रक्षा और पर-रक्षा करते हुए सयम का पालन कर सकते है।

साधक श्रमण-श्रमणियो को रात्रि मे नही चलना चाहिए, यदि एक गाँव से दूसरे गाँव जाते समय कदाचित् मार्ग मे सूर्यास्त हो जाए तो वही ठहर जाना चाहिए। भूमि सम हो या विषम, इसकी चिन्ता नहीं करनी चाहिए। कदाचित् रात्रि मे वहाँ श्वापद या सर्प आदि का भय हो तो समभाव से सहन करना चाहिए।[8] रात्रि मे एक ग्राम से दूसरे ग्राम जाना या भिक्षा के लिए जाना सर्वथा निषिद्ध है। केवल शारीरिक आवश्यक क्रिया के लिए उच्चार-प्रश्रवणादि भूमि तक, स्वाध्याय के लिए स्वाध्याय भूमि तक तथा ध्यान के लिए ध्यान करने योग्य किसी स्थान तक रात्रि मे साधक श्रमण जा सकता है किन्तु रजोहरण से प्रमार्जन करते हुए ही जा सकता है, किन्तु बिना प्रमार्जन किए उसे एक कदम भी नही चलना चाहिए।

---

१. आचा० श्रुत०, अ० ८, सू० ६०, १६३, १६४

२ आचा० श्रुत० २, अ० १, उद्दे० १, सूत्र० ४

३ आचा० श्रुत० २, अ० १, उद्दे० १, सूत्र० ४

४ आचा० श्रुत० २, अ० १, उद्दे० १, सूत्र० ४

५ कल्पसूत्र० सूत्र ६१

६ उत्त० अ० २६, गाथा २

७ उत्त० अ० २४, गाथा ५

८ (क) बृह० उद्दे० १, सूत्र० ४७

(ख) जत्थऽत्थमिए अणाउले, समविसमाई मुणिऽहियासए।
चरगा अदुवा वि भेरवा, अदुवा तत्थ सरीसिवा सिया ॥

—सूत्र० श्रुत० १, अ० २, उद्दे० २, गाथा १४

विकाल

विकाल सन्ध्या समय को कहते हैं। सन्ध्या में भी चलने का निषेध है, क्योंकि सन्ध्या वेला प्रतिक्रमण का काल है। श्रमण को सभी क्रियाएँ निश्चित समय पर करनी चाहिए। अत: सूर्यास्त के समय और सूर्योदय के समय ग्रामानुग्राम आदि के लिए गमनागमन नहीं करना चाहिए।

वर्षा, हेमन्त और ग्रीष्म

प्रमुख ऋतु-विभागों के अनुसार एक वर्ष के तीन विभाग हैं। वर्षाकाल के चार मास हैं —श्रावण, भाद्रपद, आश्विन और कार्तिक। इन चार मासों में श्रमण-श्रमणियों का ग्रामानुग्राम विहार नहीं करना चाहिए। यह आगमोक्त विधान है।[1]

वर्षाकाल के दो विभाग हैं —प्रावृट् और वर्षा। प्रावृट् के भी दो विभाग हैं —प्रथम प्रावृट् और द्वितीय प्रावृट्। प्रथम प्रावृट् में ग्रामानुग्राम विहार करने का सर्वथा निषेध है[2], क्योंकि प्रथम प्रावृट् में सूक्ष्म-स्थूल जीवों की अधिक उत्पत्ति हो जाती है। नदी नाले कर्दम और काई से मार्ग अवरुद्ध हो जाते हैं। किन्तु श्रमण-श्रमणियाँ आगमोक्त पाँच कारण उपस्थित होने पर आत्मरक्षा के लिए प्रथम प्रावृट् में भी वर्षावास क्षेत्र को छोड़कर अन्यत्र जा सकते हैं। यथा-

(१) अराजकता फैलने पर या सुरक्षाव्यवस्था समीचीन न होने पर।

(२) दुष्काल होने पर या भिक्षा दुर्लभ होने पर।

(३) किसी के व्यथा पहुँचाने पर।

(४) बाढ़ आने पर।

(५) अनार्यों का उपद्रव होने पर।[3]

यहाँ ईर्यासमिति का प्रमुख उद्देश्य "आत्मरक्षा" है क्योंकि आत्मरक्षा के बिना ज्ञान दर्शन-चारित्र की प्राप्ति या अभिवृद्धि नहीं होती। पररक्षा अर्थात् प्रावृट् काल में उत्पन्न हुए नाना प्रकार के जीव-जन्तुओं की रक्षा यहाँ गौण है।

वर्षाकाल के तीन विभाग भी माने गए हैं। यथा—जघन्य, मध्य और उत्कृष्ट।

(१) जघन्य वर्षाकाल—भाद्रपद शुक्ला पंचमी से कार्तिक पूर्णिमा पर्यन्त ७० दिन का।

(२) मध्यम वर्षाकाल— इसके ग्यारह विकल्प हैं। कार्तिक पूर्णिमा से आषाढ़ पूर्णिमा तक व्यतिक्रम से जघन्य वर्षाकाल के ७० दिनों में ५-५ बढ़ाने पर १२० दिनों तक ग्यारह विकल्प होते हैं।

(३) उत्कृष्ट वर्षाकाल— ६ मास का। प्रथम प्रावृट् का एक आषाढ़ मास, वर्षावास के चार मास, यदि कार्तिक पूर्णिमा के पश्चात् भी वर्षा होती रहे तो एक मार्गशीर्ष मास मिलाने पर वर्षावास के ६



---

१ जे भिक्खू वासावासं पज्जोसवियंसि दूइज्जइ, दूइज्जतं वा साइज्जइ।—निशीथ उद्दे० १०, सूत्र ६४१

२ अभिधान०—'पाउस' शब्द।

३ (क) नो कप्पइ निग्गंथाण वा, निग्गंथीण वा पढमपाउसंसि गामाणुगामं दूइज्जित्तए।
(ख) पंचहिं ठाणेहिं कप्पइ, तं जहा—(१) भयंसि वा, (२) दुब्भिक्खंसि वा, (३) पव्वहेज्जे वा णं कोइ, (४) दओघंसि वा एज्जमाणंसि, (५) महया वा अणारिएसु।
—स्थाना० अ० ५, उद्दे २, सूत्र ४१२



मास होते है। इस प्रकार उत्कृष्ट ६ मास पर्यन्त के वर्षावास मे श्रमण-श्रमणियो को ग्रामानुग्राम विहार नही करना चाहिए।[1]

प्रथम समवसरण और द्वितीय समवसरण

एक वर्ष के ये दो विभाग समवसरण शब्द से बने हुए हैं। समवसरण शब्द गमनागमन अर्थ का सूचक है। प्रथम समवसरण—वर्षावास काल को कहते हैं और द्वितीय समवसरण—हेमन्त और ग्रीष्म के ८ मास को कहते हैं। प्रथम समवसरण मे ग्रामानुग्राम विहार का निषेध है और द्वितीय समवसरण मे ग्रामानुग्राम विहार करने का विधान है।[2]

वर्षावास और ऋतुबद्ध काल

एक वर्ष के ये दो विभाग भी आगमो मे उपलब्ध है - वर्षावासकाल के चार मास और ऋतुबद्ध काल के आठ मास। हेमन्त आदि चार ऋतुओ से आठ मास विभाजित है इसलिए यह ऋतुबद्ध काल है।[3] यदि आपवादिक स्थिति न हो तो ऋतुबद्ध काल मे श्रमण एक स्थान मे उत्कृष्ट एक मास तथा श्रमणियाँ एक स्थान में उत्कृष्ट दो मास ठहर कर अवश्य विहार कर देते हैं।[4] ग्रामानुग्राम विहार के नौ कल्प (विभाग) है। आठ मास के आठ कल्प और नौवाँ चार मास का वर्षावासकल्प है।[5]

मार्ग

मार्ग दो प्रकार के होते है —द्रव्यमार्ग और भावमार्ग।

द्रव्यमार्ग तीन प्रकार के होते है — (१) स्थलमार्ग (२) जलमार्ग और (३) नभमार्ग।

स्थलमार्ग दो प्रकार के होते है —सम और विषम। सभी स्थलचर प्राणी सम मार्ग पर ही चलना चाहते है। सम मार्ग के अभाव मे या भय तथा त्वरावश उन्हे विषम मार्ग पर चलना पडता है। साधक श्रमण-श्रमणियो के लिए भी सम मार्ग पर ही चलने का विधान है, किन्तु विशेष हेतु से उन्हे विषम मार्ग पर भी चलना पडता है।

विषम मार्ग पर चलते समय या चढते-उतरते समय सहारे की अपेक्षा हो तो दण्ड अथवा किसी पथिक के हाथ आदि का सहारा लिया जा सकता है क्योकि विषम मार्ग मे गिरने पर आत्म-विराधना और अन्य जीवो की विराधना होने की सभावना रहती ही है।

प्रकारान्तर से मार्ग तीन प्रकार के —है

(१) सक्रमण मार्ग, (२) स्थलमार्ग, (३) नोस्थलमार्ग।

१ सङ्क्रमणमार्ग—पुलपर होकर जाने वाला मार्ग।

२ स्थलमार्ग—दो प्रकार का होता है-सम और विषम।

३ नोस्थल मार्ग—चार प्रकार का होता है—

(१) पाषाणशिलाओ पर बहने वाले जल मे होकर जाने वाला मार्ग।

(२) बालू-रेती पर बहने वाले जल मे होकर जाने वाला मार्ग।

---

१ निशीथ० उद्दे १०, सूत्र० ६४१

२ बृहत्कल्प उद्दे० ३, सूत्र० १७ और १८ मे 'प्रथम, समवसरण' और 'द्वितीय समवसरण' शब्दो का प्रयोग हुआ है।

३ आचा० श्रुत०२, अ० २, उद्दे० २, सूत्र०७८ और७६ मे 'ऋतु बद्धकाल तथा 'वर्षाकाल' शब्दों का प्रयोग हुआहै।

४ बृहत्कल्प० उद्दे० १, सूत्र० ३७

५ कल्प० सूत्र०

(३) सचित्त पृथ्वी पर बहने वाले जल मे हो कर जाने वाला मार्ग।

(४) पङ्कमिश्रित जल मे होकर जाने वाला मार्ग।

उन्मार्ग का परित्याग

मानव सदा मार्ग पर ही चलना चाहता है, उन्मार्ग पर[1] नहीं। यदि पथ विस्मृत हो जाए, दिग्मूढ हो जाए या विषम विप्लव हो जाए तो उसे उन्मार्ग पर चलना पडता है। श्रमण-श्रमणियाँ भी पथ पर ही चलते हैं, किन्तु पूर्वोक्त कारणों से उन्हे यदा-कदा उत्पथ भी चलना पडता है।[2]

संक्षिप्तमार्ग और लम्बा मार्ग

साधारण मानव हो या साधक श्रमण, सभी संक्षिप्तमार्ग (पगदडी) से जाना चाहते है। अल्प समय मे अभीष्ट स्थान तक पहुचने की इच्छा होना मानव का स्वभाव है, किन्तु संक्षिप्तमार्ग मे कुछ कठिनाइया होती हैं।

संक्षिप्तमार्ग प्राय विषम होते हैं, दुर्गम होते है या उनमे श्वापदो तथा लुटेरो का भय होता है। यदि संक्षिप्त मार्ग मे अकुर, बीज या घास हो, खेत या खड्डे हो, कर्दम या काटे हो, पर्वत-पहाड या झाड-झखाड हो, विषम हो या बीहड वन हो, क्रुद्ध साड या श्वापद हो, उन्मत्त मनुष्य या महिष हो, शूकर या श्वान कुछ खा रहे हो, कुक्कुट या कपोत दाने चुग रहे हो अथवा ऐसी ही कोई अन्य बाधा हो तो श्रमण-श्रमणियो को उस मार्ग से नही जाना चाहिए। यदि संक्षिप्त मार्ग के अतिरिक्त अन्य कोई मार्ग न हो तो विवेकपूर्वक अपनी या अन्य प्राणियो की रक्षा करते हुए उसी संक्षिप्त मार्ग से श्रमण-श्रमणिया जा सकते हैं। ऐसे लम्बे मार्ग से जाना भी निषिद्ध है जो अटवी मे होकर जाता है और अनेक दिन चलने के पश्चात समाप्त होता हो। जो लम्बा मार्ग सम विशाल तथा निरापद हो उसी से साधको को जाना चाहिए।

सुमार्ग और कुमार्ग

भाव मार्ग दो प्रकार के हैं —सुमार्ग और कुमार्ग। यह दोनो सन्मार्ग और असन्मार्ग और प्रशस्त मार्ग अप्रशस्त मार्ग भी कहे जाते हैं।

सुमार्ग वह है जिस पर चलने से ज्ञान-दर्शन-चारित्र की प्राप्ति या वृद्धि होती है।

कुमार्ग वह है जिस पर चलने से ज्ञान-दर्शन-चारित्र की हानि होती है।

वेश्याओ की वीथी मे होकर या समीप होकर जाने-आने से चारित्र की हानि होती।[3] द्यूतगृह के समीप होकर जाने-आने से जनसाधारण मे आशङ्का पैदा होती है। राज-प्रासाद या अन्त पुर के समीप होकर जाने-आने से तथा सेनाशिविरों[4] के या गुप्त मन्त्रणाकक्ष के समीप[5] होकर जाने-आने मे श्रमण-श्रमणियो के प्रति गुप्तचर होने की आशका हो जाती है अत कायिक क्लेश होना सभव है। जिस मार्ग मे जाने-आने मे मानसिक, वाचिक या कायिक क्लेश हो उस मार्ग से जाना-आना सर्वथा निषिद्ध है।[6]



---

१ मार्ग छोडकर चलना।

२. (क) आचा० श्रुत० २, अ० ३, उद्दे० ३, सूत्र १३०
(ख) "उप्पहं परिवज्जए"

३ दश० अ० ५, उद्दे १, गाथा ९, १०

४ निशीथ० उद्दे० ९, सूत्र ११

५ दश० अ० ५, उद्दे० १, गाथा १६ का पूर्वार्द्ध।

६ दश० अ० ५, उद्दे० १, गाथा १ का उत्तरार्द्ध।



भावमार्ग का अभिप्राय है आचरण करना। सर्वज्ञ या बहुश्रुतविहित विधि-विधानानुसार चलना सुमार्ग पर चलना और इससे विपरीत चलना कुमार्ग पर चलना है। जिस प्रकार लौकिक जीवन मे जाति, कुल और समाज की तथा ग्राम, नगर और राष्ट्र की मर्यादाओ का पालन करना सन्मार्ग पर चलना है और मर्यादाओ को भग करना असन्मार्ग पर चलना है, उसी प्रकार कुल, गण और सघ की मर्यादाओ का पालन करना प्रशस्त पथ पर चलना है और मर्यादाओ का भग करना अप्रशस्त पथ पर चलना है।

जलमार्ग

मनुष्य स्थलचर प्राणी है इसलिए उसका स्थल-भूमि पर चलना स्वाभाविक है, जल मे चलना अस्वाभाविक। अत विना विशेष हेतु के वह जलमार्ग से जाना नही चाहता।

साधक श्रमण भी मानव है, साथ ही अहिंसा महाव्रत का पालक भी। जैनदर्शनप्रतिपादित प्राणी-विज्ञान के अनुसार पानी के एक विन्दु मे असख्य जीव है। उन असख्य जीवो की हिंसा करता हुआ जैन श्रमण जलमार्ग से कैसे जा सकता है ? जब जैन श्रमण सजीव (सचित्त) पानी का स्पर्श भी नही कर सकता तो फिर वह पानी मे कैसे चल सकता है ?

ये प्रश्न तर्कसगत हैं और जैनागमो मे इनका समाधान भी तर्कसगत ही मिलता है। समाधान इस प्रकार है —

साधारण मानव के समान साधक श्रमण भी विशेष कारण होने पर जलमार्ग से जा सकता है जैनागमो मे जिन विशेष कारणो का उल्लेख है वे इस प्रकार है —

(१) वर्षा हो रही हो, पानी वह रहा हो और उस समय श्रमण-श्रमणियो को यदि शौच के लिए गाँव से बाहर कुछ दूरी तक जाना आवश्यक हो तो वे जा सकते हैं।

इस विधान की पृष्ठभूमि मे श्रमण की स्वास्थ्यरक्षा का विचार प्रधान है और जल के जीवो की रक्षा का विचार गौण। यद्यपि जैनदर्शन ने स्वास्थ्यरक्षा और जीवरक्षा दोनो का महत्वपूर्ण माना है किन्तु स्वास्थ्यरक्षा को प्राथमिकता देने का हेतु यह है कि मल-मूत्र के वेग का अवरोध करने मे श्रमण अस्वस्थ हो जाएगा और उसकी सयम-आराधना अवरुद्ध हो जाएगी। औषधोपचार के निमित्त से भी अनेक दोष लगेंगे। मल-मूत्र का वेग रोकने से श्रमण का मरण भी सभव है। इस प्रकार का मरण प्राय असमाधिमरण ही होता है, इसलिए जैनदर्शन का उपरोक्त विधान महत्वपूर्ण है।

"साधक असमाधिमरण से न मरे" जैनदर्शन का सर्वोपरि लक्ष्य है क्योकि असमाधिमरण से भव-भ्रमण की वृद्धि होती। भव-भ्रमण की वृद्धि से हिंसा आदि अनेक पापकर्मों की वृद्धि होती है। इस भव-परम्परा मे होने वाली जीव-हिंसा से बचने के लिए वर्तमान मे हो रही जल-जीवो की हिंसा नगण्य मानी गई है।

श्रमण जब जल मे चलता है तब जल के जीवो की हिंसा करने के सकल्प से नही चलता है। वह तो केवल अन्य मार्ग के अभाव मे जल में होकर जा रहा है।

श्रमण यद्यपि यह जानता है कि जल मे चलने पर जीवो की हिंसा अवश्य होगी किन्तु उस जीवहिंसा से बचने का कोई उपाय उसके पास नही है अत वह विवश होकर जल मे चल रहा है। यह हिंसा द्रव्यहिंसा है और इस की शुद्धि केवल प्रतिक्रमण द्वारा हो जाती है। इस प्रकार की द्रव्यहिंसा से कर्मबन्ध भी नही होता क्योंकि यह हिंसा कषायपूर्वक नही हुई है। जिस प्रकार काँच पर पडी हुई मिट्टी अल्प प्रयत्न से दूर हो जाती है उसी प्रकार यह द्रव्य-कर्म-रज भी केवल प्रतिक्रमण द्वारा परिमार्जित हो जाती है।

(२) श्रमण या श्रमणियाँ भिक्षा के लिए गए हो और भिक्षा लेकर लौटते समय यदि मार्ग मे वर्षा आ जाए तो कुछ समय तक कही पर रुक कर वर्षा बन्द होने की प्रतीक्षा करनी चाहिए। यदि वर्षा बन्द न हो तो सायकाल से पूर्व उन्हे उपाश्रय मे पहुँच जाना चाहिए।

इस विधान की आधारभूमि मे व्यवहार-रक्षा प्रधान है और जीव-रक्षा गौण है। रात्रि मे उपाश्रय के बाहर रहने से श्रमण या श्रमणी के प्रति अन्य श्रमण-श्रमणियो का अनेक प्रकार की आशकाएँ हो सकती है। बाहर रहने वाले श्रमण या श्रमणियो की सयम-साधना मे अनेक बाधाएँ उपस्थित हो सकती है। यद्यपि जीवरक्षा भी सयम साधना है किन्तु यहाँ जीवरक्षा से भी अधिक महत्त्वपूर्ण व्यवहार-रक्षा है। व्यवहार-रक्षा के सामने जीवरक्षा इतनी नगण्य अवश्य हो गई है कि उसके लिए एक रात्रि उपाश्रय के बाहर नही रहा जा सकता और उसके लिए लोकापवाद या ऐसा ही कोई अन्य परीषह सहा नही जा सकता।

जल-प्रवाह को पार करना

(क) श्रमण-श्रमणियाँ एक गाँव से दूसरे गाँव जाते समय यदि मार्ग मे ऐडी, पिण्डली, घुटना या जघा जितना गहरा जल-प्रवाह आ जाए तो पैर से लेकर मस्तक पर्यन्त शरीर का प्रमार्जन करके, एक पैर जल मे और एक पैर ऊपर उठा कर पानी निथारते हुए क्रमश यतनापूर्वक जल-प्रवाह को पार करें।

(ख) जलप्रवाह को पार करते समय एक श्रमण दूसरे श्रमण के हाथ मे हाथ का, पैर मे पैर का, शरीर से शरीर का स्पर्श न करें।

इसी प्रकार श्रमणियाँ भी परस्पर स्पर्श न करें।

(ग) जलप्रवाह को पार करते समय श्रमण-श्रमणियाँ शीत सलिल की सुखद स्पर्शानुभूति के लिए गहरे पानी मे डुबकियाँ न लगावें किन्तु जिस तरफ अल्प प्रवाह हो उस तरफ से पार करें।

(घ) जलप्रवाह को पार करने पर शरीर जब तक गीला रहे तब तक किनारे पर शान्त भाव से स्थिर रहे।

(ङ) गीले शरीर को कपडे आदि से पोछ कर सुखाने का प्रयत्न न करें। जब शरीर का गीलापन स्वत समाप्त हो जावे तब प्रमार्जन करके आगे विहार करें।

पकिल पथ

श्रमण-श्रमणियाँ ग्रामानुग्राम विहार कर रहे है, मार्ग मे कुछ दूरी तक कीचड मे चलने से पैर कीचड मे सन गए है। पैरो के कीचड को दूर करने के लिए श्रमण न उन्मार्ग मे चले और न घास मे पैर साफ करे अपितु घास रहित मार्ग मे जावे।

नौका आरोहण का विधान



(क) श्रमण या श्रमणियाँ ग्रामानुग्राम विहार कर रहे हो और मार्ग मे नौका द्वारा पार होने योग्य नदी आदि का प्रवाह आ गया हो तो नौका मे बैठने से पूर्व नौका के सम्बन्ध मे पूरी जानकारी करनी चाहिए।

(१) श्रमण के लिए नौका खरीदी गई हो।

(२) श्रमण के लिए नौका उधार ली गई हो।

(३) श्रमण के लिए नौका के बदले नौका ली हो।

(४) श्रमण के लिए नौका जल से स्थल पर या स्थल से जल पर लाई गई हो।

(५) श्रमण के लिए पानी उलीचकर नौका खाली की गई हो।

(६) श्रमण के लिए कीचड मे फसी हुई नौका बाहर निकाली गई हो तो इस प्रकार की नौका



चाहे प्रवाह के सन्मुख अनुकूल या तिरछी जाने वाली हो और योजन, अर्ध योजन या न्यूनाधिक जाने वाली हो, श्रमण-श्रमणियाँ इस प्रकार की नौका में न बैठें। श्रमण-श्रमणियाँ नौका में बैठने से पहले यह जान ले कि—नौका गृहस्थों के लिए नदी के उस पार जाने वाली है तो अपने उपकरणों को अच्छी तरह व्यवस्थित कर लें पश्चात् शरीर का प्रमार्जन करके सागारिक भक्तप्रत्याख्यान (नदी के उस पार पहुँचने तक चार प्रकार के आहार का त्याग) करे, एक पैर जल में और एक पैर ऊपर उठाकर पानी नितार कर रखते हुए क्रमश विवेकपूर्वक नौका पर बैठे।

नौका में अग्रभाग, पृष्ठ भाग या मध्य भाग से न बैठें अपितु जहाँ से चढने की व्यवस्था हो वहाँ से चढकर बैठें।

नौका के पार्श्व भाग को पकडकर किसी ओर अगुली से सकेत न करें और न शरीर को ऊँचा-नीचा करके देखें।

(ख) नौका पर आरुढ श्रमण को नाविक निम्न प्रकार के वाक्य कहे तो श्रमण उनके वाक्यों पर ध्यान न दे अपितु मौन रहे—

(१) हे आयुष्मान् श्रमण! आप इस नौका को आगे खीचें या पीछे खीचें। अथवा नौका को चलावें या नौका का रस्सा खीचें।

(२) यदि आप नौका को आगे-पीछे खीचने में असमर्थ है तो केवल नौका की रस्सी लादे।

(३) डाड, पाटिया, वास या वरले से नौका चलावें।

(४) नौका के पानी को हाथ पैर से पात्र में या किसी और उपकरण से उलीचें (निकाल दें)।

(५) नौका के छिद्र को हाथ, पैर, भुजा, जघा, पेट या किसी शरीर के अवयव से, वस्त्र से, मिट्टी से, कुश से या कमलपत्र से ढँक दो।

(६) हे श्रमण! इस छत्र-यावत्-चर्मछेदक को लो, इन नाना प्रकार के शस्त्रों को धारण करो या इस बालक को पानी पिलाओ।

(ग) (१) नौका पर आरुढ श्रमण या श्रमणिया नौका के छिद्र से पानी आता देखकर या आते हुए उस पानी में नौका डगमगाती देखकर किसी से यह नही कहे कि—आयुष्मन्! छिद्र से पानी आ रहा है और उससे नौका डगमगा रही है।

(२) नौका के छिद्र में से पानी आता देखकर श्रमण या श्रमणिया न मन से घबरावे और न घबरा कर कुछ वाक्य कहे, अपितु शरीर का मोह त्याग कर शान्त एव स्वस्थ मन से आत्म-रमण करते हुए समाधिस्थ हो जावें।

(घ) (१) नौकारुढ एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति से कहे कि "आयुष्मन्! इस श्रमण से नौका में भार अधिक हो गया है अत इसे इस प्रवाह में फैंक दो" इस प्रकार के वाक्य सुनकर श्रमण यदि वस्त्रधारी हो तो सारे वस्त्र उतार कर सिर पर धर ले या अत्यल्प वस्त्र पहन ले।

(२) इतने पर भी यदि वे क्रूर व्यक्ति न मानें और भुजाएँ पकडकर फैंकने लगें तो मुनि उनसे इस प्रकार कहे —

आयुष्मन्! मुझे न फैंको, मैं स्वय ही पानी में उतर रहा हूँ। इतना कहने पर भी यदि वे पानी में फैंक दें तो श्रमण को उनका अनिष्ट न सोचना चाहिए, न अप्रसन्न होना चाहिए

और न अशान्त होना चाहिए, अपितु स्वस्थ चित्त से तैरते हुए उस पार पहुंच जाना चाहिए।

(३) पानी मे तैरते हुए किसी दूसरे के हाथ से हाथ का, पैर से पैर का —यावत्— शरीर से शरीर का स्पर्श न होने दें।

(४) पानी मे तैरते हुए न डुबकियाँ लगावे और न नाक कान या मुँह मे पानी का प्रवेश होने दे।

(५) तैरते हुए यदि थकान आ जाए तो अधिक भार वाले उपकरणों को त्याग देना चाहिए।

(६) किनारे पहुँचने पर गीले शरीर को रगडना मसलना या कपडे से पोंछ कर सुखाना तथा अग्नि से तपाना नहीं चाहिए।

(७) गीला शरीर स्वत सूख जाने पर ग्रामानुग्राम विहार करना चाहिए।

(ड) (१) जहाँ गहरा पानी हो और उस पार जाने के लिए नौका न हो तो तैर कर ही उस पार पहुँचना चाहिए।

(२) तैरते हुए आवश्यकता से अधिक हाथ पैर न पटकने चाहिए।

महानदियो को पार करना

(क) श्रमण या श्रमणियों को निर्दिष्ट पाँच महानदियाँ एक मास मे दो या तीन बार पार नही करनी चाहिए अर्थात् विशेष प्रयोजन हो तो एक मास मे केवल एक बार महानदी को पार कर सकते हैं। वे ये हैं—गगा, यमुना, सरयू, कोशिका और मही। इन महानदियों मे से किसी महा नदी का पानी कहीं पर इतना अल्प हो कि एक पैर जल मे और एक पैर ऊपर उठाकर पानी नितार कर रखता हुआ श्रमण उस पार पहुँच सके तो एक मास मे दो या तीन बार भी पार कर सकते हैं।

नदी पार करने के प्रमुख कारण

(१) जिस गाँव मे या जिस स्थान पर श्रमण ठहरे हुए हो वहाँ निर्दोष भिक्षा प्राप्त न होती हो।
(२) श्रमण जिस गाँव जाना चाहते हो वहाँ के लिए स्थलमार्ग सर्वथा न हो।
(३) श्रमण जहाँ ठहरे हुए हो वहाँ बस्ती न हो।
(४) स्थलमार्ग से जाने मे जहाँ सिंह आदि श्वापदो का भय हो।
(५) स्थलमार्ग से जाने मे जहाँ चोरो का भय हो।
(६) दुर्भिक्ष वाले प्रान्त से सुभिक्ष वाले प्रान्त मे जाना चाहते हो।
(७) अराजकता वाले प्रान्त से शान्ति वाले प्रदेश मे जाना चाहते हो।
(८) अनार्य आदि के उपद्रव वाले प्रान्त से शान्तिवाले प्रदेश मे जाना चाहते हो।
(९) सर्पविष या विसूचिका आदि की औषधि के लिए जाना आवश्यक हो।
(१०) कुल (एक आचार्य के शिष्य) के लिए कोई अत्यावश्यक कार्य हो।
(११) धार्मिक उपकरणों के लिए जाना आवश्यक हो।

नौका द्वारा नदी पार करने के हेतु

(१) पूर्वोक्त हेतुओ से नदी पार करना आवश्यक हो किन्तु नदी मे मगरमच्छ का भय हो।
(२) नदी मे पानी अधिक हो या डूबने का भय हो तो नौका मे बैठकर नदी पार करना चाहिए।[1]



---

१ निशीथभाष्य सूत्र० ४७, गाथा ४२५४



भ० महावीर का नौकारोहण

"भ० महावीर ने सुरभिपुर से थूणाक सन्निवेश पधारते हुए मार्ग मे गगानदी को नौका द्वारा पार किया।"[1] यह भगवान् के द्वितीय वर्षावास के पूर्व का वर्णन है। भगवान् उस समय छद्मस्थ थे। इस घटना को स्थानकवासी विद्वानो ने अमान्य नही घोषित किया है।[2] अत यहा इस सवध मे कुछ उद्भूत प्रश्नो की विचारणा आवश्यक है।

१ भ० महावीर का थूणाक सन्निवेश की ओर पधारने का हेतु क्या था ?

२ न पधारते तो क्या होता ?

३ नौका द्वारा होने वाली जीवविराधना मे होने वाला आश्रव और भ० महावीर।

विना प्रयोजन नौका मे वैठना निषिद्ध है।[3] इसलिए यहा यह विचार करना आवश्यक है कि—

भ० महावीर के नौकारोहण का हेतु क्या था ?

ग्रामानुग्राम विहार ही यदि नौकारोहण का हेतु माना जाय तो यह हेतु ऐसा नही है जिसे अनिवार्य माना जाय।

सुदष्ट देव द्वारा जो उपसग हुआ था वह तो अन्यत्र भी हो सकता था।

नौकारोहण के हेतु वे ही है जो नदी पार करने के हेतु है।[4] भ० महावीर ने जब गगा नदी पार की थी[5] तब उनमे का एक भी हेतु उनके सामने नही था। फिर भी उन्होने गगा नदी नौका द्वारा पार की है।

दो योजन की दूरी तक यदि स्थलमार्ग मिल जाए तो नौका द्वारा नदी पार करना निषिद्ध है।[6] पर इस दूरी के सवध मे तो तब सोचा जाए जब जाने का कोई अनिवार्य हेतु हो।

(२) भ० महावीर थूणाक सन्निवेश की ओर न पधारते तो उन्हे कभी कोई हानि होती। उनके निजी लाभ का तो कही कोई प्रश्न ही नही था क्योकि वे वीतराग थे। यदि वे भव्य जनो के हित के लिए पधारे तो हमारे सामने यह एक उदाहरण योग्य प्रसग है।

भ० महावीर ने जब गगानदी नौका द्वारा पार की थी उस समय वे छद्मस्थ थे फिर भी उन्हे लगने वाली सभी क्रियाएँ साम्परायिक नही थी—यह निश्चित है। इसलिए इस प्रसग को प्रमाद रूप नही कह सकते क्योकि छद्मस्थ अवस्था मे भी भगवान अप्रमत्त थे। नौका द्वारा गगा नदी पार करना—उत्सर्ग मार्ग नही है यह तो स्पष्ट है। अपवाद मार्गों में यह किस प्रकार का अपवाद मार्ग है जिसे भगवान ने अपापरूप कह कर[7] स्वय आचरण किया और श्रमणो के लिए विधान किया।[8]

---

१ आवश्य० चू० प्र० भा० प० २८२

२ स्व० दिवाकरजी म० लिखित-भगवान् महावीर का आदर्श जीवन, पृष्ठ २३६-२४३

३ निशीथ० उद्दे० १८, सूत्र १

४ निशीथ० उद्दे० १२, सूत्र ४२। भाष्य गाथा ४२५४

५ निशीथ उद्दे० १२, सूत्र ४२। भाष्य गाथा ४२१८

६ निशीथ० उद्दे० १२, सूत्र ४२। भाष्य गाथा ४२४७

७ आचा० श्रुत० १, अ० ६, उद्दे० ४, गाथा १५

८. आचा० श्रुत० २, अ० ३, उद्दे २, सूत्र ११८ ११९

विहार क्षेत्र

पूर्व में अगदेश की राजधानी चपानगरी[1] और मगधदेश की राजधानी राजगृह[2] पर्यन्त ।

पश्चिम में थूणा नगरी[3] पर्यन्त ।

दक्षिण मे कौशाम्बी नगरी[4] पर्यन्त ।

उत्तर मे कुणाल देश (श्रावस्ती नगरी)[5] पर्यन्त ।

इन चार दिशाओ मे चारो राजधानियो की सीमाओ तक जैन श्रमण-श्रमणियो के लिए विहार करने का विधान है और इन सीमाओ से बाहर विहार करने का निषेध है ।

इस विधान का तात्पर्य यह है कि जैन श्रमण-श्रमणिया केवल आर्य क्षेत्र मे ही विहार करें। अनार्य क्षेत्र मे विहार करने मे उनकी सयमसाधना मे अनेक विघ्न-बाधायें आती हैं ।

यदि ज्ञान-दर्शन चारित्र की वृद्धि के लिए इन सीमाओ से बाहर जाना उचित प्रतीत हो तो जा सकते है ।[6]

इस आगमोक्त विधान से आधुनिक विद्वानो की यह धारणा बनती जा रही है कि जैन श्रमण-श्रमणियो का विहारक्षेत्र सर्वदा सीमित रहा है।

भगवान् महावीर एक बार लाट देश के वज्रभूमि और सुब्रभूमि नाम के दोनो प्रान्तो मे पधारे थे । यद्यपि लाढ देश विहार के अयोग्य माना गया है फिर भी भगवान् वहा पधारे और जितने परीषह हुए उन्हे वे समभाव से

---

१ (क) औप० सू० १ तथा स्थाना० अ० १०, सू० ७१८

(ख) ज्ञाता० श्रुत० १, अ० ८

(ग) महाभारत के वनपर्व, शान्तिपर्व और अनुशासनपर्व मे जिस 'चम्पानगरी' का उल्लेख है वह इस अग देश की राजधानी चम्पा से भिन्न है ।

(घ) वर्तमान मे विहार के भागलपुर जिले मे चम्पापुर नाम का गाव ही प्राचीन चम्पा है ।

२ (क) ज्ञाता श्रु० २, अ० १ तथा स्थाना० अ० १०, सू० ७१८

(ख) मगध का उल्लेख महाभारत के सभापर्व आदि अनेक पर्वो मे है ।

(ग) राजगृह का महाभारत के आदिपर्व मे भी वर्णन हैं ।

(घ) वर्तमान मे विहार प्रान्त के दक्षिणी भाग मे यह राजगिर नाम से पहचाना जाता हैं । यह पटना से ७ मील और नालन्दा से ८ मील है ।

३ थूणा नगरी किस देश की राजधानी है—यह जानने के लिए प्रयत्न होना चाहिए । उपलब्ध आगमसाहित्य से इस सबन्ध मे कोई जानकारी प्राप्त नहीं होती है ।

४ (क) कौशाम्बी नगरी वत्स देश की राजधानी थी । प्रज्ञा० पद १

(ख) महाभारत के सभापर्व मे यह जनपद पूर्व में माना गया है । सभव है यह वत्स देश आगमोक्त वत्स देश से भिन्न है ।

(ग) वर्तमान मे—कोशम नाम से यह प्रसिद्ध है जो इलाहाबाद से ३० या ३१ मील की दूरी पर यमुना के किनारे है ।—देखिए तीर्थंकर महावीर पृ० २३ का टिप्पण ।

५ (क) कुणाल देश की राजधानी श्रावस्ती है । प्रज्ञा० पद १

६ (क) बृह० उद्दे० १, सूत्र ५१





सहन करते रहे। यह लाढ देश अनार्य जनपदो मे माना गया है।[1]

आगमोक्त चार सीमाओं से बाहर अतीत मे अनेक श्रमण गए थे। जैन रामायण आदि कथाग्रन्थों में ऐसे अनेक उल्लेख मिलते है।

आर्य जनपद और उनकी राजधानिया

१	मगध	राजगृह
२	अग	चम्पा
३	वग[2]	ताम्रलिप्ती[3]
४	कलिग[4]	काचन पुर
५	काशी[5]	वाराणसी[6]
६	कोशल[7]	साकेत (अयोध्या)[8]
७	कुरु[9]	गजपुर[10]

---

१ (ख) आचा० श्रुत० १, अ० ८, गाथा
अनार्य जनपद लाढ बगाल का वह भाग जो गगा के पश्चिम मे स्थित है। उसमे तमलुक, मिदनापुर तथा हुगली और बर्दवान जिले सम्मिलित थे। मुर्शिदाबाद जिले का कुछ भाग उसकी उत्तरी सीमा मे था। तीर्थंकर महावीर पृ० २११, १२१ का टिप्पण।

२ वग-भारत का प्रसिद्ध पूर्वी जनपद है।

३ देखिए—भग० श० ३, उद्दे० १

४ कलिग पूर्वी समुद्र तट पर एक जनपद।

५ मध्य देश मे यह एक जनपद था। —पाणि० पृ० ७४

६ (क) काशी जनपद की वाराणसी राजधानी थी। —पाणि० पृ० ७४ तथा ज्ञाता० अ० ५ और ज्ञाता० अ० ८

७ (क) कोशल-मध्य देश मे यह एक जनपद था।—पाणि० पृ० ७४
(ख) महाभारतकाल मे कोशल के दो विभाग थे, जो दक्षिण और उत्तर मे विभक्त थे।—भीष्म पर्व।

८ (क) देखिए—भरत चक्री वर्णन-जबू०।
(ख) इसका एक नाम 'विनीता' भी है—जबू०।
(ग) यह महाभारतकाल मे भी इक्ष्वाकुवशी राजाओं की राजधानी थी। देखिए आदि पर्व।
(घ) अयोध्या का साकेत नाम बहुत प्राचीन है। देखिए—स्थाना० अ० १०, सूत्र० ७१८

९. (क) सरस्वती और दृशद्वती नामक नदियो के मध्य का प्रदेश कुरु या कुरुक्षेत्र कहा जाता था।
—महाभारत वनपर्व।
(ख) देखिए—ज्ञाता० अ० ८

१० (क) कुरु-जनपद की राजधानी हस्तिनापुर है।—ज्ञाता० अ० ८
(ख) कुरु जनपद की राजधानी हस्तिनापुर है। महाभारत आदिपर्व।
(ग) आधुनिक विद्वान् मेरठ से २९ मील उत्तर पूर्व मे और बिजनौर से दक्षिण-पश्चिम मे इसकी स्थिति मानते हैं।
(घ) हस्तिनापुर का ही अपरनाम 'गजपुर' है।—प्रज्ञा० पद० १

८ कुशावर्त[1]	सौरिकपुर[2]
९ पचाल[3]	कापिल्यपुर[4]
१० जागल[5]	अहिछत्रा[6]
११ सौराष्ट्र[7]	द्वारका[8]
१२ विदेह[9]	मिथिला[10]
१३ वत्स[11]	कौशाम्बी[12]
१४ शाण्डिल्य	नन्दिपुर[13]

---

१ कुशावर्त—महाभारत काल मे इस नाम का एक तीर्थ था।—अनुशासनपर्व।

२ (क) शौरिकपुर और शौरीपुर दोनों एक हैं या भिन्न भिन्न, इस सम्बन्ध मे निश्चित कुछ नहीं कहा जा सकता।
   (ख) देखिए—विपाक अ० ८ और उत्त० अ० २२, गाथा० ३

३ (क) पचाल-पचाल क्षत्रियों के सन्निवेश का जो स्थान था वह 'पचाल' कहा जाता था।—पाणि० पृ० ४२५
   (ख) पचाल और कुरुपचाल इन दो जनपदों का उल्लेख महाभारत के भीष्म पर्व मे है।
   (ग) पचाल जनपद को वर्तमान मे पजाब कहते हैं।

४ (क) कपिलपुर मे भगवान् महावीर का इक्कीसवा वर्षावास हुआ था।—उपा० अ० ६
   (ख) कपिलपुर दक्षिण पचाल की राजधानी थी।—महाभारत आदि पर्व।

५ (क) जागल-निर्जल जनपद—महाभारत भीष्म पर्व।
   (ख) 'कुरुजागल' नाम से भी यह जनपद प्रसिद्ध है।

६ (क) अहिच्छत्र-उत्तर पचालवर्ती राज्य, इसकी राजधानी अहिच्छत्रा थी—महाभारत आदि पर्व।
   (ख) जैनागमों के अनुसार जागल जनपद की राजधानी अहिच्छत्रा है।

७ (क) सौराष्ट्र-गुजरात और काठियावाड का सम्मिलित जनपद।
   (ख) सोरठ-सौराष्ट्र रैवतकगिरि के समीप का जनपद।

८ (क) सौराष्ट्र की राजधानी द्वारका के द्वारकावती या द्वारावती नाम भी थे। इसके चारों दिशाओं मे चार पर्वत थे। इस महापुरी के पचास द्वार थे।—महाभारत सभापर्व।
   (ख) द्वारका के विस्तृत वर्णन के लिए—देखिए अन्तकृत प्र० वर्ग० अ० १
   (ग) वर्तमान मे यह नगरी समुद्र मे विलुप्त मानी जाती है।

९ (क) विदेह जनपद का दूसरा नाम 'मिथिला' जनपद था। मिथिला के राजा निमि देहाभिमान से रहित थे इस इसलिए वे 'विदेह' नाम से विख्यात हुए। सारा जनपद भी 'विदेह' नाम से प्रसिद्ध हो गया था।—उत्त० अ० ९ तथा महाभा० आदि पर्व।
   (ख) वर्तमान मे तिरहुत का प्राचीन नाम 'मिथिला' एव 'विदेह' है।

१० मिथिला-पूर्वोत्तर भारत का एक प्राचीन जनपद भ० मल्लिनाथ की यह जन्मभूमि है।

११ वत्स-पूर्वी भारत का एक जनपद। महाभा० सभापर्व।

१२. (क) कौशाम्बी का वर्णन देखिए—विपा० अ० ५
   (ख) प्राचीन भारत की दस राजधानियों मे एक कौशाम्बी नाम की राजधानी।—देखिए स्था० अ० १० सू० ७१८

१३ शाण्डिल्य जनपद और उसकी नन्दिपुर राजधानी कहा थी, इसका निर्णय करने के लिए हमारे पास कोई साधन नहीं है।





१५	मलय[1]	भद्दिलपुर[2]
१६	वच्छ	वैराटपुर[3]
१७	वरण	अच्छापुरी[4]
१८	दशाण[5]	मृत्तिकावती[6]
१९	चेदि[7]	शौक्तिकावती[8]
२०	सिन्धु सौवीर[9]	वीतभयपत्तन[10]
२१	सूरसेन[11]	मथुरा[12]
२२	भग[13]	पापा[14]

---

१ मलय-दक्षिण में मलय पर्वत के समीप का एक जनपद ।

२ भद्दिलपुर का वर्णन देखिए अत० अ० ८ १०३,

३ विराट नगर मत्स्य देश की राजधानी थी ।— देखिए महाभा० विराटपर्व । प्राकृत मे मत्स्य का मच्छरूप होता है । सभव है लिपिदोष से मच्छ के स्थान मे वच्छ लिखा गया हो । अन्यथा आर्य जनपदों में वच्छ नाम के दो जनपद हो जाते हैं । जो सकलनशैली से उचित प्रतीत नहीं होते ।

४ वरण जनपद और उसकी राजधानी अच्छापुरी की भौगोलिक स्थिति जानने के लिए प्रयत्न अपेक्षित है ।

५ (क) दशार्ण जनपद के दो विभाग थे । पूर्वी भाग मे छत्तीसगढ का कुछ भाग और पश्चिमी भाग मे पूर्वी मालवा और भोपाल की रियासत सम्मिलित थी ।

(ख) हिंदी शब्दसागर के अनुसार विन्ध्यपर्वत के पूर्व-दक्षिण की ओर स्थित उस प्रदेश का प्राचीन नाम 'दशार्ण' है ।

(ग) मेघदूत के अनुसार इस जनपद की राजधानी विदिशा-आधुनिक 'भेलसा' थी ।

(घ) जैन कथाग्रन्थों के अनुसार इस जनपद की राजधानी 'दशार्णपुर' थी । भ० महावीर के समय में यहा का राजा 'दशार्णभद्र' था । वह भ० महावीर के समीप दीक्षित हुआ था ।

६ मृत्तिकावती-यह दशार्ण जनपद की राजधानी थी ।—देखिए प्रज्ञा० पद० १

७ (क) चेदि-एक प्राचीन जनपद था, वहा का अधिपति शिशुपाल था ।—महाभा० आदि पर्व ।

(ख) चेदि और वत्स ये दोनों जनपद पास पास मे थे ।—पाणि० पृ० ५७

८ (क) शौक्तिकावती-चेदि जनपद की राजधानी थी ।—प्रज्ञा० पद० १

(ख) शुक्तिमती नाम भी इस नगरी का है ।—देखिए ज्ञाता० अ० १६

(ग) शुक्तिमती नाम की नदी के समीप शिशुपाल की राजधानी थी । —देखिए महाभा० आदि पर्व ।

९ (क) सिन्धुसौवीर दो जनपदों का सयुक्त नाम है ।—देखिए-पाणि० पृ० ५७

(ख) सिंधु नदी के पूर्वी किनारे की तरफ पजाब में फैला हुआ प्राचीन सिंधु जनपद था ।

(ग) वर्तमान सिंध प्रात का पुराना नाम सौवीर जनपद है ।—देखिए पाणि० पृ० ५०

१० (प) वीतभयपत्तन सिन्धु और सौवीर इन दो जनपदो की सयुक्त राजधानी थी ।

११ (श) शूरसेन एक प्राचीन जनपद है । वर्तमान मे मथुरा के आसपास का प्रदेश जो व्रजमण्डल के नाम से प्रसिद्ध है वह प्राचीन शूरसेन जनपद है ।

१२ (क) मथुरा का एक नाम शूरसेनपुर भी है ।—देखिए महाभा० सभापर्व ।

(ख) मथुरा भारत की प्रमुख दस राजधानियों मे से एक राजधानी है ।—स्थाना० अ० १०, सू० ७१८

१३ भग-जनपद आधुनिक बिहार के समीप का जनपद है ।

१४ पावा-भगवान् महावीर की निर्वाणभूमि जो आजकल बिहार प्रान्त में पावापुरी नाम से प्रसिद्ध है ।

२३ पुरिवर्त	मासा[1]
२४ कुणाल[2]	श्रावस्ती[3]
२५ लाट[4]	कोटीवर्ष[5]
२६ केकयार्ध[6]	श्वेताम्बिका[7]

आकाशमार्ग

श्रमण जब आकाशमार्ग मे इष्ट स्थान पर पहुचना चाहता है तब वह वायुयान (आकाशगामी विमान) आदि किसी साधन का उपयोग नही करता है अपितु केवल लब्धि-बल का ही उपयोग करता है। वह लब्धि चारणलब्धि के नाम से प्रसिद्ध है। इस तपोजन्य चारणलब्धि के दो प्रमुख भेद हैं —विद्या-चारण और जघाचारण।

चारणलब्धिसम्पन्न श्रमण की आकाशगामिनी गति देवगति के समान तीव्र हो जाती है। महर्धिक देव तीन चुटकी बजावे जितनी देर मे जम्बूद्वीप की तीन परिक्रमाए कर लेता है। विद्याचारण श्रमण भी इतनी तीव्र गति से आकाश मे गमनागमन कर सकता है।

निरन्तर षष्ठभक्त तप करते-करते आकाशगामिनी विद्या द्वारा आकाश मे गमनागमन का सामर्थ्य जब श्रमण को प्राप्त हो जाता है तब वह विद्याचरण कहलाता है।

तिरछी दिशा मे वह एक उडान मे मानुषोत्तर पर्वत पर और दूसरी उडान में नन्दीश्वर द्वीप पहुच जाता है। तथा लौटते समय एक ही उडान मे स्वस्थान पर पहुच जाता है।

ऊर्ध्वदिशा मे विद्याचारण एक उडान मे नन्दन वन (मेरुपर्वत पर) और दूसरी उडान मे पडक वन (मेरु-पर्वत पर) पहुच जाता है। लौटते समय एक उडान मे स्वस्थान पर पहुच जाता है।

जघाचारण लब्धि निरन्तर अष्टमभक्त तप करते करते प्राप्त होती है। विद्याचारण से जघाचारण की आकाशगामिनी शक्ति अधिक होती है। महर्धिक देव तीन चुटकी बजावे जितनी देर मे जम्बूद्वीप की इक्कीस परिक्रमाए

---

१ पुरिवर्त-जनपद और मासा राजधानी की भौगोलिक स्थिति जानने के लिए प्रयत्न अपेक्षित है।

२ कुणाल जनपद का उल्लेख—देखिए ज्ञाता० अ० ८

३ श्रावस्ती-इस समय 'सहेत महेत' के भग्नावशेषों के नाम से प्रसिद्ध है। यह स्थान उत्तरप्रदेश के गोंडा और बहराइच जनपदों की सीमा पर स्थित है। महेत महेत उत्तर पूर्वी रेलवे की गोंडा-गोरखपुर लाइन पर बलरामपुर स्टेशन से बहराइच जाने वाली सडक इसके पास से जाती है। और इस स्थान से छोटी सडक खडहरों तक पहुच जाती है।

४ वर्तमान मे लाट जनपद की भौगोलिक स्थिति उत्तरी बगाल है। अनार्य जनपद लाढ आर्य जनपद लाट से भिन्न है।

५ दिनाजपुर जिले मे स्थित बानगढ का प्राचीन नाम कोटिवर्ष था।—देखिए तीर्थंकर महावीर पृ० २११

६ (क) केकयार्ध-केकय जनपद का उपनिवेश था। केकय जनपद झेलम, शाहपुर और गुजरात प्रदेश का पुराना नाम है। -देखिए पाणि० पृ० ६७

(ख) केकय जनपद व्यास और सतलज के बीच का भू भाग है।—देखिए महाभा० भीष्मपर्व।
केकय जनपद के सबध में ये दो मत हैं। वास्तव मे केकय जनपद की भौगोलिक स्थिति शोध का विषय है।

७ श्वेताम्बिका-सावत्थी के समीप थी। यह सावत्थी कुणाल जनपद की राजधानी श्रावस्ती से भिन्न है या वही है? यह ज्ञातव्य है।





कर लेता है। जघाचारण श्रमण भी इतनी ही तीव्र गति से आकाश मे गमनागमन कर सकता है।

तिरछी दिशा मे जघाचारण एक उडान मे रुचकवर द्वीप पहुच जाता है तथा लौटते समय एक उडान मे नन्दीश्वर द्वीप और दूसरी उडान मे स्वस्थान पहुच जाता है।

ऊर्ध्व दिशा मे जघाचारण एक उडान मे पडक वन (मेरुपर्वत पर) पहुच जाता है। लौटते समय एक उडान मे नन्दन वन और दूसरी उडान मे स्वस्थान पहुच जाता है।

विद्याचारण का गमन दो उत्पात (उडान) से होता है और आगमन एक उत्पात से होता है।

जघाचारण का गमन एक उत्पात मे होता है और आगमन दो उत्पात से होता है। यह इन लब्धियो का स्वभाव है।

चारण लब्धि के अन्य अनेक भेद हैं। यथा—

१ जल-चारण-जलकायिक जीवो की हिंसा न करता हुआ जो जल पर पृथ्वी पर चलने के समान चलता है।

२ जघा-चारण-पृथ्वी से चार अगुल ऊपर आकाश मे पृथ्वी पर चलने के समान चलता है।

३ फल-चारण-फलो के जीवो की हिंसा न करता हुआ फलो पर पृथ्वी पर चलने के समान चलता है।

४ पुष्प-चारण-पुष्पो के जीवो की हिंसा न करता हुआ पुष्पो पर पृथ्वी पर चलने के समान चलता है।

५ पत्र-चारण-पत्तो के जीवो की हिंसा न करता हुआ पत्तो पर पृथ्वी पर चलने के समान चलता है।

६ श्रेणी-चारण-चार सौ योजन ऊची निषध और नीलवत पर्वत-श्रेणी पर ऊपर या नीचे चलता है।

७ अग्निशिखा-चारण-अग्नि कायिक जीवो की हिंसा न करते हुए अग्निशिखाओ पर चलता है।

८ धूम चारण-ऊपर या तिरछे जाते हुए धूम का आलम्बन करके चलता है।

९ नीहार-चारण-जलकायिक जीवो की हिंसा न करते हुए हिमकणो के साथ जो गति करता है।

१० अवश्याय-चारण-जलकायिक जीवो की हिंसा न करते हुए ओसकणो का अवलम्बन लेकर जो चलता है।

११ मेघ-चारण-जलकायिक जीवो की हिंसा न करते हुए जो मेघ के साथ गति करता है।

१२ वारिधारा-चारण-जलकायिक जीवो की हिंसा न करता हुआ जो आकाश से गिरती हुई जल-धारा का अवलम्बन लेकर चलता है।

१३ मर्कटतन्तु-चारण मकडी के तन्तु का अवलम्नन लेकर जो आकाश मे गमनागमन करता है।

१४ ज्योति-रश्मि-चारण-चन्द्रादि ग्रहो या नक्षत्रो की रश्मियो का अवलम्बन लेकर जो आकाश मे गमनागमन करता है।

१५ वायु-चारण-वायु के अनुकूल या प्रतिकूल जो आकाश मे गमनागमन करता है।[1]

चारण लब्धि सम्पन्न श्रमण सत्रह हजार योजन ऊपर उठकर तिरछी गति करता है। आधुनिक अन्तरिक्ष विज्ञान के अनुसार जहा आक्सिजन (प्राण वायु) का अभाव है वहा भी चारण लब्धि सम्पन्न श्रमण गमनागमन करने मे समर्थ होता है।

लब्धिप्रयोग प्रमाद-कार्य है अत लब्धि-प्रयोग करने वाले को लब्धि-प्रयोग के पश्चात् आत्मशुद्धि के लिए आलोचना-प्रतिक्रमण आदि करना आवश्यक होता है अन्यथा वह भगवान् की आज्ञा का आराधक नही माना जाता है।

---

१. अभिधान० राजेन्द्र चारण शब्द।

विद्याचारण और जंघाचारण तिर्छी दिशा में या ऊर्ध्व दिशा में जब जाता है तब चैत्य वंदन के लिए ही जाता है। चैत्य क्या है ? इस विषय में मतभेद है। स्थानकवासी परम्परा की मान्यता के अनुसार यहाँ चैत्य का अर्थ ज्ञानी साधक श्रमण होता है। चैत्यवासी परम्परा के अनुसार चैत्य का अर्थ—जिन स्मारक होता है। वंदन के संबंध में दोनों परम्पराएं एक मत हैं। वंदन विनय है। विनय आभ्यन्तर तप है। तप निर्जरा का हेतु है। वन्दन विनय तप द्वारा निर्जरा करने के लिए चारण श्रमण को लब्धि प्रयोग रूप (प्रमाद) आश्रव करना पड़ता है।

अधिक निर्जरा प्राप्त हो तो अल्प आश्रव वाले कुछ कार्य, जिनकी शुद्धि सामान्य प्रायश्चित्त से हो सकती हो, अकरणीय कोटि के नहीं माने जाते हैं। अपितु करणीय कार्य से भी अधिक उन कार्यों को महत्व का माना जाता है। यह स्थानकवासी मान्यतासम्मत विचारधारा है। एक ओर वायुकाय की रक्षा के लिए सतत जागरूक रहना तथा दूसरी ओर साक्षात् लाखों योजनों तक अति तीव्रतम उड़ान से चैत्य वन्दन के लिए जाना ऐसी विसंगतियों का अनेकान्त से सापेक्ष समन्वय का गौरवपूर्ण स्थान देकर जैन-दृष्टि की विशालता जिन महानों ने बनाई है उनके चरणों में हमारा शतशत वन्दन, अभिनन्दन।

वक्रिय लब्धि से भावितात्मा (उत्कृष्ट चारित्र पालने वाला श्रमण) अनगार अनन्त आकाश में उड़ानें भरता है तब अनेक प्रकार के आश्चर्यकारक रूप बनाता है। उनकी एक लंबी सूची इस प्रकार है—

१ डोरी बाँधी हुई पटिरा लेकर चलने वाले व्यक्ति का रूप बनाकर श्रमण आकाश में उड़ानें भरता है।
२ सोने की पेटी, रत्नों की पेटी, वज्र (हीरे) की पेटी, वस्त्र की पेटी और आभूषणों की पेटी लेकर चलने वाले व्यक्ति का रूप बनाकर श्रमण आकाश में उड़ानें भरता है।
३ बांस की या घास की चटाई, चर्मरज्जु से भरी हुई खाट, कंबल का आसन लेकर चलने वाले व्यक्ति का रूप बना कर श्रमण आकाश में उड़ानें भरता है।
४ लोहा, तांबा, कलई, सीसा, हिरण्य, स्वर्ण और वज्र (हीरा) का भार लेकर चलने वाले व्यक्ति का रूप बनाकर श्रमण आकाश में उड़ानें भरता है।
५ वल्गुलि (जो बड़ आदि वृक्षों पर औंधा लटकता है) के समान पैर ऊपर और मस्तक नीचे रख कर श्रमण आकाश में उड़ानें भरता है।
६ यज्ञोपवीत पहने हुए ब्राह्मण जैसा रूप बनाकर श्रमण आकाश में उड़ानें भरता है।
७ जलौका जिस प्रकार पानी में गमन करती है उसी प्रकार श्रमण आकाश में गमन करता है।
८ बीजंबीजक[1] पक्षी (जो घोड़े के समान सामने के दोनों पैरों को पेट की ओर मोड़ कर उड़ता है) के समान श्रमण आकाश में उड़ानें भरता है।
९ बिडालक पक्षी (जो एक वृक्ष से दूसरे वृक्ष पर और दूसरे वृक्ष से तीसरे वृक्ष पर छलांग मार कर उड़ता है) के समान श्रमण छलांग मारते हुए आकाश में उड़ता है।
१० जीवंजीवक[2] पक्षी (घोड़े के समान सामने के दोनों पैरों को पेट की ओर मोड़ कर उड़ता है) के समान श्रमण आकाश में उड़ानें भरता है।
११ हंस (जो मानसरोवर के एक किनारे से दूसरे किनारे उड़ता रहता है) के समान श्रमण आकाश में उड़ानें भरता है।
१२ समुद्रकाक (जो एक तरंग से दूसरे तरंग तक जाता है) के समान श्रमण आकाश में उड़ानें भरता है।
१३ चक्र लेकर चलने वाले व्यक्ति के समान श्रमण आकाश में चलता है।
१४ छत्र लेकर चलने वाले व्यक्ति के समान श्रमण आकाश में चलता है।
१५ चामर लेकर चलने वाले व्यक्ति के समान श्रमण आकाश में चलता है।



१, २ बीजं बीजक पक्षी और जीव जीवक पक्षी भिन्न भिन्न हैं। देखिये भग० श० १३, उ० ६, पृ० ३३६



१६ रत्न, वज्र, वैडूर्य-यावत्-रिष्ट रत्न हाथ मे लेकर चलने वाले व्यक्ति के समान श्रमण आकाश मे चलता है।

१७ उत्पल, पद्म-यावत्-सहस्रपत्र हाथ मे लेकर चलने वाले व्यक्ति के समान श्रमण आकाश मे चलता है।

१८ कमलनाल तोडता हुआ व्यक्ति जिस प्रकार सरोवर मे नौका द्वारा गति करता है इसी प्रकार श्रमण आकाश मे गति करता है।

१९ मृणालिका (जो हवा के झोके मे कभी पानी मे डूबती है और कभी ऊपर उठती है) के समान श्रमण आकाश मे गति करता है।

२० श्याम, अतिश्याम-यावत्-मेघवर्ण रमणीय एव दर्शनीय वन का रूप धारण करके श्रमण आकाश में गति करता है।

२१ चतुष्कोण, समतट सुशोभित प्राकार वाली एव शुकसमूह के सुमधुर कलरव वाली पुष्करिणी वापिका के समान रूप धारण करके श्रमण आकाश मे गति करता है।[1]

वैक्रिय-लब्धि मे उक्त रूप धारण करके आकाश मे गमन करने का सामर्थ्य श्रमण मे रहता है किन्तु वह धारण करता नहीं है। यदि सघ-हित के लिए प्रभावोत्पादन के लिए एव जिनप्रवचन के प्रति जनसमूह या विशिष्ट व्यक्तियों को आकर्षित करने के लिए श्रमण को अनेक आश्चर्यजनक रूप धारण करने पडे तो वह लक्ष्यसिद्धि के पश्चात् आलोचना प्रतिक्रमण आदि करके आत्मशुद्धि कर लेता है।

कतिपय भावित आत्मा अनगार जब लब्धिसम्पन्न हो जाते हैं तब वे ऐसा सोचने लगते हैं कि—अब हमारी साधना पूर्ण हो गई है, अत हम इस विशिष्ट शक्ति से बहुत कुछ कर सकते है। यह अकुरित अह उन भावित आत्मा अनगारो की आध्यात्मिक प्रगति को अवरुद्ध कर देता है और शनै शनै कठोर तप-साधना से उन्हें विरत कर सयम से विमुख कर देता है। वे अपनी महत्वाकाक्षाओं की पूर्ति के लिए अथवा सामान्य सुख सुविधा के लिए लब्धि का प्रयोग करते हुए नहीं सकुचाते।

लब्धि-प्रयोग करने वाले अनगार मायावी माने गये हैं, क्योंकि वे लब्धि-प्रयोग से विविध प्रकार के आश्चर्य-जनक रूप एव गगन मे गमनागमन आदि क्रियाएँ दिखाकर व्यक्ति विशेष को या जनसमूह को प्रभावित करते हैं।

दस श्रमणधर्मो मे तृतीय श्रमणधर्म 'आर्जव' है। आर्जव अर्थात् सरलता। सरलता साधु का धर्म है। माया अधर्म है। अत श्रमण को लब्धिप्रयोग का प्रायश्चित्त करना पडता है।

परिवर्तित वेष भाषा आदि से जिस प्रकार लौकिक जीवन मे मायावी लोग जनता को प्रभावित कर अपना स्वार्थ सिद्ध करते है, इसी प्रकार आध्यात्मिक जीवन मे श्रमण भी यदि लब्धिप्रयोग से परिवर्तित वेष-भाषा द्वारा जनता को प्रभावित कर इष्टसिद्धि करता है तो वह मायावी ही है।

आगमो मे मायावी और अमायावी के जीवन की झलक दिखाते हुए कहा गया है कि—"मायावी मनुष्य (अनगार) प्रणीत (स्निग्ध घृत आदि का) आहार करता है। और वह जिह्वा लोलुप होकर बारबार स्निग्ध आहार करता है तो उसे कभी कभी वमन भी हो जाता है। अत अस्थि एव मज्जा उसकी घन हो जाती है। मास और रक्त उसके अल्प परिमाण मे बनते हैं। भुक्त आहार के स्थूल पुद्गलो का परिणमन श्रोत्रेन्द्रिय-यावत्-स्पर्शेन्द्रिय रूप में, अस्थि एव अस्थि-मज्जा के रूप म, केश, श्मश्रु, रोम, नख, वीर्य और रक्त के रूप मे होता है।

अमायावी मनुष्य (अनगार) रूक्ष आहार करता है और वह नीरसभोजी इतना अल्प आहार करता है कि वमन तो उसे होता ही नहीं। अत अस्थि एव मज्जा उसके प्रतनु (अल्प) बनते है। मास और रक्त उसके घन हो जाते

---

१ देखिये भग० श० २३, उद्दे ९, पृ० ३३६

हैं। मुक्त आहार के स्थूल पुद्गलों का परिणमन उच्चार-प्रस्रवण रूप में यावत् रक्त रूप में होता है। इसलिए मायावी अनगार लब्धि प्रयोग करता है और अमायावी अनगार लब्धिप्रयोग नहीं करता है।[1]

आगमकथाओं में वैक्रिय लब्धिसम्पन्न आषाढभूति अनगार की कथा मायावी तथा अमायावी अनगार का प्रस्तुत उदाहरण है।

वह आहारप्राप्ति जैसे साधारण कार्य के लिए लब्धिप्रयोग करता है और इस तुच्छ तृष्णावश ही उसका पतन होता है। एक दिन संयम से विमुख हो वह नट बन जाता है। यह है उसके मायावी जीवन का चित्रण।

वही आषाढभूति जब अध्यात्मचिन्तन में रत हो मायावी जीवन से मुक्त हो जाता है तो एक दिन केवलज्ञान भी प्राप्त कर लेता है। यह है उसके अमायावी जीवन की संक्षिप्त रूपरेखा।

यतना

यतना का अर्थ है प्रत्येक क्रिया को विवेकपूर्वक करना। यतना के चार प्रकार हैं —

(१) द्रव्ययतना	(२) क्षेत्रयतना
(३) कालयतना	(४) भावयतना

(१) द्रव्ययतना—दिन में आँखों से देख कर चलना। रात्रि में रजोहरण से प्रमार्जन करके चलना।

(२) क्षेत्रयतना—चार हाथ प्रमाण क्षेत्र को देखते हुए चलना।

(३) कालयतना—जितने समय तक चलना उतने समय तक विवेकपूर्वक चलना।

(४) भावयतना—सदा उपयोगपूर्वक चलना।[2]

भावयतना से श्रमण के संयम की रक्षा होती है। संयम की रक्षा का अर्थ है स्वयं श्रमण की रक्षा और अन्य प्राणियों की रक्षा। श्रमण के भाव-विचार-संयम में विचलित न हों यही भावयतना है। वाचिक और कायिक क्रियाओं का महत्त्व श्रमण के मानसिक भावों के साथ है अतः श्रमण को आगमोक्त उन सब नियमों का पालन करना चाहिए जो आत्म-आराधना में सहायक हों और आत्म-विराधना न होने देते हों। यहां भावयतना के लिए आगमोक्त विधान प्रस्तुत हैं—

श्रमण को इन निर्दिष्ट स्थानों में नहीं जाना चाहिए —

१ जहां राजा की मृत्यु के पश्चात् नया राजा पाट पर न बैठा हो

२. जिस गणराज्य में अशान्ति हो

३ जहां युवराज का राज्याभिषेक न हुआ हो

४ जहां दो राजाओं का शासन हो

५ जहां समीपवर्ती राज्य विरोधी राज्य हो

६ जहां राजा के विरुद्ध प्रजा हो

इन स्थानों में जाने में श्रमण को अनेक परीषह होते हैं।[3]



---

१ भग० श० ३, उद्दे० ४

१ उत्त० अ० २४, गाथा ७

१ आचा० श्रुत० २, अ० ३, उद्दे० १, सूत्र ११६



निर्दिष्ट स्थानों मे होने वाले शब्द सुनने के लिए श्रमण को नही जाना चाहिए —

१ प्राकार परिखा आदि स्थानों मे होने वाले शब्द
२ नदी, तालाब या सरोवर आदि स्थानो मे होने वाले शब्द
३ कच्छ मे होने वाले शब्द
४ वृक्ष पर होने वाले शब्द
५ वन मे होने वाले शब्द
६ वन-दुर्ग मे होने वाले शब्द
७ पर्वत पर होने वाले शब्द
८ पवत-दुर्ग मे होने वाले शब्द
९ ग्राम-यावत्-राजधानी मे होने वाले शब्द
१० आश्रम आदि मे होने वाले शब्द
११ आराम आदि मे होने वाले शब्द
१२ देव कुल, सभा या प्रपा आदि मे होने वाले शब्द
१३ अट्टालिका, चरिका, द्वार या गोपुर पर होने वाले शब्द
१४ तिराहे चौराहे आदि मार्गो पर होने वाले शब्द
१५ महिषशाला आदि विविध पशुशालाओं मे होने वाले शब्द
१६ कपिंजल आदि पक्षियो की पक्षिशाला-चिड़िया घर मे होने वाले शब्द
१७ महिष आदि पशुओ मे होने वाले युद्ध के शब्द
१८ कपिंजल आदि पक्षियो के युद्ध के शब्द
१९ लग्नमण्डप मे होने वाले शब्द
२० अश्व-गज आदि के यूथ मे होने वाले शब्द
२१ धर्मकथा के अतिरिक्त शेष कथास्थानो मे होने वाले शब्द
२२ तोल-माप होने वाले स्थानो मे होने वाले शब्द
२३ नाट्य मे होने वाले शब्द
२४ कलह मे होने वाला शब्द
२५ जिस राज्य मे श्रमण सस्थित है उस राज्य मे होने वाले युद्ध के शब्द
२६ पर-राज्य मे होने वाले युद्ध के शब्द
२७ दो परस्पर विरोधी राज्यो के युद्ध के शब्द
२८ परस्पर विरोध के शब्द
२९ वधस्थान पर ले जाई जाने वाली बालिका का या वधस्थान पर ले जाए जाने वाले पुरुष का शब्द
३० अनेक शकटो के शब्द
३१ अनेक रथो के शब्द
३२ अनेक म्लेच्छो के शब्द

३३ अनेक अटवी के शब्द

३४ महोत्सवों में होने वाले शब्द

३५ महाभोज में होने वाले शब्द

३६ इहलौकिक मनुष्यों के शब्द

३७ पारलौकिक देवों के शब्द

३८ श्रुत शब्द

३९ अश्रुत शब्द

४० इष्ट, कान्त, प्रिय शब्द

४१ स्त्रियों के रुदन-क्रन्दन, कोलाहल, गायन और हँसने के शब्द

इन शब्दों के सुनने से राग-द्वेष की वृद्धि होती है। संयम में मन स्थिर नहीं रहता अतः इस प्रकार के शब्द सुनने के लिए श्रमण को कहीं नहीं जाना चाहिए।[1]

ऊपर जितने शब्द-स्थान कहे हैं उनमें से वाद्य स्थानों के अतिरिक्त शेष सभी स्थानों में दृश्य देखने के लिए भी श्रमण को नहीं जाना चाहिए।

पथिक प्रश्न

(क) आचार्य उपाध्याय या रत्नाधिक आदि के साथ साधु या प्रवर्तिनी आदि के साथ साध्वियाँ ग्रामानुग्राम विहार करते हुए मार्ग में एक दूसरे के हाथ से हाथ का, पैर से पैर का या शरीर से शरीर का स्पर्श न करते हुए चलें। अर्थात् पूज्य गुरुजनों का अविनय न हो इस प्रकार चलें।

(ख) आचार्य उपाध्याय या रत्नाधिक आदि के साथ श्रमणों को तथा प्रवर्तिनी आदि के साथ श्रमणियों को ग्रामानुग्राम विहार करते हुए मार्ग में पथिक मिलें और "आयुष्मन् श्रमण" ! (आयुष्मती श्रमणियो) आप कौन हैं? कहाँ से आए हैं और कहाँ जाएँगे? इत्यादि प्रश्न करें तो जो रत्नाधिक (दीक्षा में बड़ा) हो उसे ही उत्तर देना चाहिए।

(ग) रत्नाधिक जब उत्तर दे रहे हों उस समय अन्य किसी श्रमण (श्रमणी) को बीच में नहीं बोलना चाहिए।

(घ) वे पथिक पूछें—आपने इधर किसी मनुष्य या स्त्री को, बैल आदि पशुओं को, तीतर आदि पक्षियों को, उरग आदि सरीसृपों को, कूर्म आदि जलचरों को देखा हो तो दिखाइए या कहिए।

श्रमण-श्रमणियाँ इस प्रकार के प्रश्नों को सुन कर मौन रहें। न उन्हें दिखावें न उन्हें कुछ कहें और न उन्हें उत्तर देने का आश्वासन दें। यदि किसी प्राणी को पीड़ा होने की संभावना हो तो जानते हुए भी "हम नहीं जानते" ऐसा कहें।

इस विधान का प्रमुख उद्देश्य प्राणी-रक्षा है। पथिक के इन विशेष प्रश्नों का उत्तर श्रमण दे या न दे, यह एक समस्या है। इसका सर्वसम्मत समाधान किसी भी परम्परा के आगम-साहित्य में नहीं मिलता। यहाँ समाधान के दो पक्ष दिए गए हैं। प्रथम पक्ष है —सर्वथा मौन रहना। इसका आशय यह है कि—श्रमण छद्मस्थ है अतः पथिक



---

१ आचा० श्रुत० २, अ० ११, सूत्र १६८, १६९



के पूछने का आशय क्या है ? यह वह नही जान सकता। पथिक ने प्रश्न का उद्देश्य भी बता दिया और वह उद्देश्य भी हिंसा का नही है फिर भी वह उद्देश्य सरल हृदय मे बताया गया है या मायापूर्वक ? यह निश्चय नही होता अत मौन रहना ही सर्वथा उचित है।

द्वितीय पक्ष है —"जानते हुए भी नही जानता हू" ऐसा कहना। इस पक्ष के समर्थक हैं टीकाकार आचार्य। इस पक्ष के दो विभाग हैं —प्रथम पक्ष वह है जो मौन रखने का समर्थक है। उनका कहना है—"जानता हुआ भी मै नही जानता हू" यह कथन अतथ्य है अत श्रमणमर्यादा के विरुद्ध है।

द्वितीय पक्ष का कहना है —अतथ्य होते हुए भी असत्य नही है, क्योकि जिन प्राणियो के सबध मे पथिक पूछ रहा है उनका हित मान कर ही श्रमण अतथ्य कह रहा है। वास्तव में सत्य असत्य तो मानव के सकल्प हैं। शब्द जड है, वे स्वय न सत्य है और न असत्य। कषायपूर्वक कहा हुआ सत्य जब आगम की परिभाषा के अनुसार असत्य माना जा सकता है तब प्राणिमात्र के हित के सकल्प से कहे हुए अतथ्य को सत्य न मानने का क्या कारण है ?

दोनों पक्षों के समर्थन के लिए हेतु हैं, युक्तिया है और प्रमाण है, फिर भी "परम सत्य तो वही है जो जिन भगवान् ने कहा है।"

(ड) पथिक पूछें—हे आयुष्मन् श्रमण ! मार्ग मे कही जलज, कद, मूल, त्वचा, पत्र-पुष्प, फल, बीज, वनस्पति, जलाशय या अग्नि आदि देखें हो तो दिखावें या कहे।

(च) पथिक पूछें—हे आयुष्मन् श्रमण ! मार्ग मे कही खेतो या खलियानो मे धान्य देखा हो तो दिखावें या कहे।

श्रमण-श्रमणिया इस प्रकार के प्रश्न सुनकर मौन रहे। श्रमण-श्रमणियो को आरभजा हिंसा का निमित्त नही बनना चाहिए। इन विधानो की पृष्ठभूमि मे यही भावना है।

(छ) पथिक पूछें—हे आयुष्मन् श्रमण ! मार्ग मे कही सेना का पडाव है ? सैनिक देखे है ? सैनिको की वेषभूषा कैसी है ? इत्यादि के सम्बन्ध मे बताइए।

श्रमण-श्रमणिया इस प्रकार के प्रश्न सुनकर मौन रहे क्योंकि उनका जीवन आध्यात्मिक है। वे ऐसे प्रश्नो का उत्तर देकर सकट मे क्यो पड़ें ? सेना सबधी जानकारी देने से अनेक प्रकार के उपसर्ग होने की सभावना रहती है। इसलिए यह विधान किया गया है।

(ज) पथिक पूछें —हे आयुष्मन् श्रमण ! आगे कौन-सा गाव-यावत्-राजधानी आएगी ? अथवा-अमुक गाव-यावत्-राजधानी को कौन-सा मार्ग जायेगा ?

श्रमण श्रमणिया इस प्रकार के प्रश्नो का उत्तर न दें। जानते हुए भी मौन रहे क्योकि न जाने मार्ग पूछने का उद्देश्य क्या है ? उद्देश्य बताने वाले ने जो उद्देश्य बताया है वह कपटपूर्वक बताया है या सरलतापूर्वक ? छद्मस्थ को इन तथ्यो का ज्ञान नही होता। इसलिए मौन रहने का विधान किया गया है।

प्रस्तुत अभिनदनग्रन्थ के लिए अष्ट प्रवचनमाता पर निबन्ध लिखने का मैंने सकल्प किया था किन्तु ईर्या-समिति पर लिखे हुए पृष्ठों की पर्याप्त सख्या देख कर आगे लिखना मुझे स्थगित करना पडा क्योकि पूरा निबन्ध इतना विशालकाय बनता कि उसके लिए अनुमानत ग्रन्थ का आधा भाग आवश्यक होता। चरणानुयोग के प्रकाशन का कार्यभार अधिक रहने से इतना लिखना मेरे लिए शक्य भी नही था और इतने बडे निबन्ध को ग्रन्थ मे स्थान मिलना भी सभव नही था, अत इतना लिखकर ही विराम लेता हूँ।

●

नैतिक उत्थान एवं धर्मशासन



प्रो० अनत लूनिया

वर्तमान भौतिकवादी युग में नैतिकता का अवमूल्यन हुआ है। छल, माया, कपट से ग्रस्त इस विश्व में, सच्चाई, ईमानदारी एवं परदुःखकातरता का स्थान झूठ, बेईमानी एवं स्वार्थपरायणता ने ले लिया। भाई-भाई, पिता-पुत्र, और बहन-भाई के स्नेह-सूत्र टूटते जा रहे हैं। नैतिक पतन अपनी चरमसीमा पर है। मानवता एक खोखला आदर्श मात्र रह गया है एवं मानवीय भावनायें समाप्त हो चली हैं। तीर्थंकरों एवं महापुरुषों का यह देश भी "सादा जीवन उच्च विचार" के आदर्श से हटकर भौतिकवाद के चक्कर में पड़ गया है। आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक एवं सभी क्षेत्रों में मनुष्य का पतन हुआ है। स्वार्थ, दुराग्रह, असभ्यता, संकीर्णता, भ्रष्टाचार, इत्यादि प्रवृत्तियाँ बढ़ चली हैं। भगवान महावीर के संदेश "जीओ और जीने दो" के स्थान पर 'न जीओ एवं न जीने दो' का महत्व दिया जाने लगा है।

इन परिस्थितियों से छुटकारा पाने का प्रयत्न व्यक्ति, समाज, राष्ट्र एवं विश्व के कल्याण के लिये अत्यन्त आवश्यक है। नैतिक उत्थान के परिणामस्वरूप, रागबंधन और द्वेष बंधन से छुटकारा पाकर मुक्ति प्राप्त की जा सकती है। अध्यात्मवाद के मार्ग से मानवीय कमजोरियों पर नियंत्रण किया जा सकता है। धर्म, साधना, तप, एवं ज्ञान से अनैतिकता को समाप्त किया जा सकता है। व्यक्ति-व्यक्ति के सम्बन्ध, समाज-समाज के सम्बन्ध एवं राष्ट्र-राष्ट्र के सम्बन्ध नैतिकता की नींव पर ही दृढ़ हो सकते हैं। अब्राहिम लिंकन, भगवान सेन और महात्मा गांधी नैतिकता को व्यक्तिगत जीवन में लाने में सफल रहे। कबीर, रैदास, रामकृष्ण परमहंस, विवेकानन्द आदि ने नैतिक मूल्यों को समाज में प्रतिष्ठित करने का भरसक प्रयास किया। गांधी नेहरू एवं शास्त्री ने तो राष्ट्रीय प्रवृत्तियों के संचालन एवं शासन में भी नैतिकता लाने का प्रयत्न किया है। वास्तव में इन विभूतियों के पश्चात् तो नैतिकता की आधारभूमि के निर्माण का कार्य और भी बढ़ गया है। आधुनिक विश्व के कई दार्शनिक समय-समय पर हमारा ध्यान इस ओर बढ़ने के लिये खींचते रहे हैं। बर्ट्रेंड रसेल, डा० राधा कृष्णन इत्यादि महानुभाव आज भी नैतिकता का झंडा बुलंद किये हुये हैं।

अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि नैतिक उत्थान का सबसे मुख्य तत्व क्या है? मनीषियों एवं विचारकों ने धर्म को नैतिक उत्थान का सर्वश्रेष्ठ माध्यम माना है।—उनके अनुसार धर्म के अभाव में ही आज विश्व अंधकार में डूबा हुआ है। वर्तमान अनैतिकता का प्रमुख कारण भी धर्मशिक्षा एवं सिद्धान्तों का लोप माना गया है। आर्थिक एवं व्यवहारवादी संस्कृति ने यांत्रिक जगत् में मानवता को आत्मशून्य कार्यकुशलता के यंत्रजाल के रूप में ढाल दिया है। अब नैतिक प्रगति के लिये एक ऐसे आध्यात्मिक दृष्टिकोण की आवश्यकता है, जिसके अन्दर न केवल अर्थशास्त्र और राजनैतिक आदेशपूर्ण जीवन हो अपितु आत्मा की गूढ़ आवश्यकताओं के लिये भी स्थान हो। किसी समाज के वास्तविक स्तर का पता उसकी रूढ़ियों से उतना नहीं चलता जितना कि उसके आत्मिक मूल्यों और मन की सज्जा से। धर्म, सभ्यता का आन्तरिक पक्ष है। यह समाज रूपी शरीर की आत्मा है। विज्ञान का उपयोग, आर्थिक समझौते और राजनीतिक कार्य एवं संगठन, इस विश्व को, बाह्य रूप से ही संगठित कर सकते हैं परन्तु, सुदृढ एवं स्थिर विचारों एवं आदर्शों की कड़ियाँ ही, इसे सुदृढ़ता प्रदान कर सकती हैं। धर्म मानव समाज के पुनर्निर्माण में सक्रिय सहयोग दे सकता है। मनुष्य शरीर, मन और आत्मा का सम्मिश्रण होता है। उसके इन तत्वों को भी पोषक पदार्थ चाहिये। भोजन और व्यायाम शरीर को चुस्त रखता है। विज्ञान और आलोचना द्वारा मन को सज्ञान रखा जा सकता है। परन्तु आत्मा की प्रबुद्धता धर्म पर ही आधारित है। धर्म ही सत्य, प्रेम, चरित्र, त्याग, दया, नम्रता,



विवेक, सयम, ब्रह्मचर्य अहिंसा, सत्प्रेरणा, शान्ति एव साहस का स्रोत है। ये विशेषतायें मानव को अनैतिकता से नैतिकता की ओर प्रेरित करती है। इन्ही की सहायता से व्यक्ति छल, कपट, क्रोध, अहकार, माया, अविवेक, असयम, इत्यादि बधनो से बचता है।

आज धर्मशासन की आवश्यकता है। इसके अन्तर्गत रचनात्मक प्रवृत्तियो का विकास आवश्यक है। आज विश्व का स्वरूप बदल रहा है। पूर्व और पश्चिम के विचारो मे शृखलाबद्ध परिवर्तन पैदा हो रहे हैं। विश्व के राष्ट्र अधिकाधिक परस्पर सबद्ध होते जा रहे है। सभ्यतायें और सस्कृतियाँ अपना रूप परिवर्तन कर रही हैं। ऐसे समय बुद्धि और आत्मा मे एकता स्थापित करने की आवश्यकता है। पृथ्वी पर ईश्वर के सर्वोत्कृष्ट रूप मानव मे भी परिवर्तन की आवश्यकता है। इन सभी के लिए आध्यात्मिक पुनरुत्थान जरूरी है।

जैनधर्म एक रचनात्मक धर्म है। यह रूढिवादी, सकीर्ण एव थोथी कल्पनाओं के स्थान पर आदर्श विचारो को साकार रूप प्रदान करता है। जैनधर्म का तत्वज्ञान अनेकात पर आधारित है और उसका आचार अहिंसा पर प्रतिष्ठापित। जैनधर्म कोई पारस्परिक विचारो ऐहिक व पारलौकिक मान्यताओ पर अधश्रद्धा, रखकर चलने वाला सम्प्रदाय नही है। वह मूलत एक विशुद्ध वैज्ञानिक धर्म है। इसका विकास एव प्रसार वैज्ञानिक ढग से हुआ है। अहिंसा एव अनेकात के सर्वांगीण विवेचन पर प्रतिष्ठित है। यह आत्मा की शुद्धि एव मुक्ति पर विश्वास करता है। भगवान महावीर ने सूत्रकृताग मे बतलाया है।—

"निव्वाणसेट्ठा जह सव्वधम्मा"

अर्थात् सभी धर्मों का अन्तिम ध्येय मुक्ति है। जैनधर्म निर्वाण-प्राप्ति को धर्मसाधना का अन्तिम साध्य मानता है और इसी उद्देश्य की सिद्धि के निमित्त उसने मोक्ष का विधान किया है। जैनधर्म ने सम्यक्ज्ञान, सम्यक्-दर्शन एव सम्यक् चारित्र की सीढियो पर चलकर मोक्षप्राप्ति के लिये पथ निर्माण किया है। इन तीन सिद्धान्तो की प्राप्ति मोक्षप्राप्ति का तरीका है।

जैनधर्म की सबसे बडी देन है अहिंसा। भगवान ऋषभदेव से भगवान महावीर तक २४ तीर्थंकरो ने इसी का उपदेश दिया। आज अहिंसा का यही सिद्धान्त व्यक्ति समाज एव मानव मात्र के लिये आदर्श बन गया है। व्यक्ति समाज एव राष्ट्र की सुरक्षा, शोषणहीन विश्व की कल्पना एव न्याय व समानता के मानवीय सिद्धान्त अहिंसा ही की देन है। भगवान महावीर ने फर्माया था—

"सव्वे जीवा न हन्तव्वा"

अर्थात् किसी जीव की हिंसा न करो। किसी को मत सताओ एव न किसी के पराधीन बनो और न किसी को पराधीन बनाओ। जैनधर्म की अहिंसा का तात्पर्य कायरता से नहीं लिया जा सकता। यह हिंसा पर प्रेम की विजय चाहता है। आध्यात्मिक जीवन का विकास ही वह बल है जो पडौसी को प्रेम करने की क्षमता प्रदान करता है। प्रेम का अर्थ स्वाभाविक कोमलता से नही है, जो प्रत्येक व्यक्ति मे उसकी शरीररचना के अनुसार कम या अधिक होता है। अपितु विवेक और धर्मनिष्ठा पर आधारित आत्मा का एक अधिक व्यापक सिद्धान्त है।

जैनधर्म धार्मिक सहिष्णुता का सदेश देता है। धार्मिक असहिष्णुता के कारण इस विश्व ने बडे दुख उठाये है और रक्त बहाया है। इतना ही नही, समय-समय पर राजनीतिक असहिष्णुता ने भी धार्मिक जामा ओढकर महत्वपूर्ण आकाक्षाएँ कीं। कई बार दर्प आत्म-प्रशस्ति घृणा और अत्याचारो ने मानवता का गला घोट दिया। जैनधर्म ने पीडित विश्व को सहिष्णुता का पाठ पढाकर मानव मात्र की बहुमूल्य सेवा की। अन्य धर्मों के साथ भी बढते हुये जैनधर्म ने एकता का पाठ पढाया। उसने धर्मनिरपेक्षता के सिद्धान्त को व्यावहारिक रूप दिया।

जैनधर्म ने नैतिकता के एक अन्य पक्ष को भी महत्वपूर्ण स्थान दिया। "स्थानाग सूत्र" मे भगवान महावीर ने धर्म के दो पक्ष बतलाये हैं।

(१) श्रुत और (२) चारित्र

श्रुत का अर्थ ज्ञान और चारित्र का अर्थ सदाचार है। ज्ञान के विभिन्न पक्ष हमें प्रकाश देते हैं और सदाचार निर्वाण का पथ प्रशस्त करता है। कर्म के बन्धनों को तोड़ने के लिये ज्ञान और चारित्र दोनों की ही आवश्यकता है। भगवान महावीर फरमाते हैं कि अहिंसा, संयम और तप ही धर्म का स्वरूप है। जैनधर्म संयम को भी अत्यधिक महत्त्व देता है। उसने त्याग और तपस्या को भी प्रमुखता प्रदान की। इन्हीं की सहायता से असीमित आवश्यकताओं पर नियन्त्रण लगा कर माया छल और कपट से मनुष्य मात्र को बचाता है। भगवान ऋषभदेव ने भी सदाचार से प्रीति करने का आदेश दिया।

जैनधर्म असत्यत्याग का उपदेश देता है। भगवान पार्श्वनाथ ने असत्य को त्यागने का अनुरोध कई बार अपने अनुयायियों से किया। भगवान महावीर ने कहा है – झूठ मत बोलो।

नैतिकता का मनुष्य के आचार-विचार से भी सम्बन्ध है। मनुष्य का आचार-विचार बहुत हद तक उसकी इन्द्रियों से सचालित होता है। जैनधर्म पाँचों इन्द्रियों पर विजयप्राप्ति का मार्ग बतलाता है, जिससे मानवीय आचार-विचार अनैतिकता की ओर नहीं जावें। भगवान महावीर मन पर नियन्त्रण हेतु मन का निग्रह करने को फरमाते हैं। क्रोध को छोड़ने का उनका उपदेश आवेश में भी मानसिक सन्तुलन स्थिर रखता है। लोभ की प्रवृत्तियों से रक्षा करने में जैनधर्म सहायक सिद्ध हुआ है। मान, माया और लोभ के सम्बन्ध में भगवान महावीर का फर्माना है कि—

"क्रोध प्रीति का नाश करता है, मान विनय का, माया मित्रता का और लोभ सभी सद्‌गुणों का नाश करता है।" (दशवैकालिक सूत्र० अ० ८ गा० ३८, ३६)

दशवैकालिक सूत्र में आगे कहा गया है कि शान्ति से क्रोध को, मृदुता से मान को, सरलता से माया को और सन्तोष से लोभ को जीतना चाहिये। भगवान महावीर ने धर्म के सार ब्रह्मचर्य पर जोर दिया है। उत्तराध्ययन अ० १२ गा० ४६, ४८ में कहा गया है कि धर्म मेरा जलाशय है, ब्रह्मचर्य मेरा शान्ति-तीर्थ है। इसी प्रकार गाथा ४७ कहती है कि धर्महीन नीति जगत् के लिये अभिशाप है।

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि नैतिक उत्थान के लिये धर्मशासन की यथोचित आवश्यकता है। ज्ञान, दर्शन और चारित्र की त्रिवेणीधारा मुक्ति का पथ प्रशस्त कर रही है। जीवन के मूलभूत दोषों जैसे हिंसा, असत्य परिग्रह आदि की समाप्ति करने में जैनधर्म महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुआ है। तीर्थंकरों से लेकर वर्तमान जैन विद्वानों ने धर्म के अनुशासन से अन्धकार में प्रकाश फैलाने का प्रयत्न किया। जैनधर्म का सबसे महत्त्वपूर्ण पर्व पर्युषण पर्व आज भी नैतिकता की ज्योति जगाने में व्यक्ति समाज और राष्ट्र पर प्रभाव डालता है। क्षमायाचना के स्वर एवं प्रेम और मिलन, मन, वचन और काया को शुद्ध रखते हैं। जीवन में सत्प्रेरणा, विवेक, संयम, साहस जाग्रत रखते हैं। क्षमा, विनय, सरलता, त्याग की उपलब्धि, छल, कपट, लोभ, अनाचार, भ्रष्टाचार, एवं घूसखोरी की समाप्ति में सहायक हो सकती है।

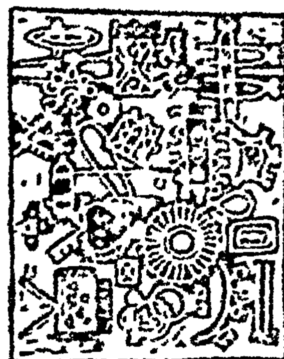
हम नये युग के उषाकाल में हैं। हममें आशा की उत्तेजना है। सभ्यता के विकास एवं मानवता की रक्षा करने के लिये हमें नैतिक उन्नति के लिये प्रयास करने हैं। यदि हम विश्वबंधुत्व की कल्पना को साकार देखना चाहते हैं और समस्त विश्व में सुख, शान्ति और समृद्धि का विस्तार चाहते हैं तो युग की पुकार को ध्यान में रखकर धर्म-शासन को महत्ता प्रदान करनी ही होगी। धर्मशासन ही उत्थान की कसौटी एवं विश्वकल्याण की चरमसीमा होगी।

●



भावनायोग-एक मीमांसा

मुनिश्री गुलाबचन्द्र 'निर्मोही'



भगवान महावीर ने कहा—जो एक को जान लेता है, वह सबको जान लेता है। जो सबको जान लेता है, वही एक को जानता है।[1] उपनिषद् की भाषा में जो आत्मा को जान लेता है, उसके लिए सब ज्ञात हो जाता है।[2] किन्तु प्रश्न होता है कि जो आत्मा अदृश्य है, उसे कैसे जाना जाए? भगवान महावीर की वाणी में समाहित यह है कि जिसे शब्द, रूप, गंध, रस और स्पर्श भलीभांति ज्ञात होते हैं।[3] आत्मोपलब्धि का साधन है—चित्त-निरोध। महर्षि पतंजलि ने विषयवती प्रवृत्ति को स्थिति का साधन माना है।[4] इन्द्रियों के जो विषय हैं, उन्हें सब जानते हैं किन्तु साधना की भाषा में ज्ञेय का बोध होता है—ज्ञान और हेय का अर्थ होता है—परित्याग। किसी भी वस्तु का परित्याग और त्याग तभी हो सकता है, जब उसका स्वरूप भलीभांति जान लिया जाए। वस्तु का विषय क्या है। रूप का स्वाद क्या है? उसका क्या गुण है? प्रकाश कहाँ से आता है? कैसे आता है? आदि प्रश्नों पर विचार करने से जब चित्त स्थिर होता है, तब चित्तवृत्ति रूप-विषयगामी हो जाती है। इसी प्रकार अन्य इन्द्रियों के विषयों में भी स्थिर, केन्द्रित किया जाता है। इस अभ्यास से इन्द्रियों के विषयों का सूक्ष्म ज्ञान प्राप्त होता है। शरीर के आवरण क्षीण होते हैं। अभ्यास से दूरदर्शन व दूरश्रवण आदि की शक्तियाँ विकसित होती हैं।

पुनः प्रश्न होता है कि शक्तियों का स्रोत क्या है? इसका समाधान पाने के लिए भारतीय मनीषियों ने तर्क की अपेक्षा श्रद्धा और बहिर्दर्शन की अपेक्षा अन्तर्दर्शन को अधिक महत्त्व दिया है। तर्क और बहिर्दर्शन जहाँ समाप्त होते हैं वहाँ अन्तर्दर्शन का आरम्भ होता है। जहाँ शरीर, वाणी और मन की प्रवृत्तियाँ रुकती हैं, वहाँ अन्तर्दर्शन प्रवृत्त होता है। जहाँ इन्द्रियाँ अपने विषयों से विरत होती हैं, वहाँ अन्तर्दर्शन प्रस्फुटित होता है। यह अन्तर्दर्शन ही सत्य की उपलब्धि का साधन है। जिसको यह प्राप्त हुआ, उसकी भाषा में सत्य है—आत्मा।

तत्त्ववाद की परिधि में जो इस विषय में है, वह सब सत्य है। असत्य वही है जो नहीं है। सत्य या अस्तित्व की उपलब्धि का जो साधन है, वह भी सत्य है। स्वत्व की दृष्टि से आत्मा सत्य है। उसकी उपलब्धि का जो साधन

---

१ आचारांग १।३।४।७४
जे एगं जाणइ से सव्वं जाणइ। जे सव्वं जाणइ से एगं जाणइ।

२. बृहदारण्यक २।४।६
आत्मनि विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति

३. आचारांग १।३।१।४
जस्सिमे सद्दा य रूवा य रसा य गंधा य फासा य अभिसमन्नागया भवंति से आयवं।

४ पातंजलयोगदर्शन १।३५
विषयवती वा प्रवृत्तिरुत्पन्ना मनसः स्थितिनिबन्धिनी।

है, वह भी सत्य है। पदार्थोपलब्धि का साधन ज्ञान और आत्मोपलब्धि का साधन धर्म है। जैन आचार्य इसे मोक्षमार्ग, पतंजलि योग आत्मलीनता तथा बौद्धाचार्य इसे विशुद्धिमार्ग कहते हैं। शब्दार्थ में तीनों कुछ भिन्न हैं किन्तु फलितार्थ में अभिन्न। चित्तवृत्तियों की एकाग्रता के बिना न मोक्षमार्ग उपलभ्य है, न आत्मलीनता होती है और न विशुद्धमार्ग मिलता है। चित्त एकाग्र बनता है तभी ये सब बनते हैं। पतंजलि की भाषा में चित्तवृत्तियों का जो निरोध होता है वह योग है।[1] जैनों की भाषा में शरीर, वाणी और मन का जो सर्वसंवर है—वह योग है।[2] उमास्वाति ने सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र को मोक्षमार्ग कहा है।[3] उसी को आचार्य हेमचन्द्र ने योग कहा है।[4] हरिभद्र सूरि के अभिमत में धर्ममात्र योग है। योग वह है—जो मोक्ष से योग-सम्बन्ध का हेतु हो। धर्म मोक्ष का साधन है। इसलिए धर्म का जितना परिशुद्ध व्यापार है—वह सब योग है।[5] यह निश्चयदृष्टि है। व्यवहारदृष्टि से योग स्थान, आसन आदि एकाग्रता के विशेष प्रयोग को कहा जाता है।

योग शब्द जैन आगमों में व्यवहृत है। समाधियोग, ध्यानयोग, भावनायोग आदि शब्द अनेक बार प्रयुक्त हुए हैं। जैन आचार्यों ने इस सम्बन्ध में समाधितन्त्र, ध्यानशतक, शान्तसुधारस आदि अनेक ग्रंथ भी लिखे हैं। प्रस्तुत निबन्ध में मुख्यतः भावनायोग की ही चर्चा की गई है।

भावना के प्रारम्भ में प्राचीन जीवन का विघटन और नये जीवन का निर्माण करना होता है। इस प्रक्रिया में भावना का बहुत बड़ा उपयोग होता है। जिन चेष्टाओं और संकल्पों के द्वारा मानसिक विचारों को भावित या वासित किया जाता है, उन्हें भावनायोग कहते हैं।[6] महर्षि पतंजलि ने भावना और जप में अभेद का निरूपण किया है।[7] भगवान महावीर ने कहा—जिसकी आत्मा भावनायोग से शुद्ध है, वह जल में नौका के समान है। वह तट को प्राप्त कर सब दुःखों से मुक्त हो जाता है।[8]

भावना के अनेक प्रकार हैं। ज्ञान, दर्शन, चारित्र, भक्ति आदि जिन-जिन चेष्टाओं व अभ्यासों से मानस को भावित किया जाता है, वे सब भावनाएँ हैं, अर्थात् भावनाएँ असंख्य हैं।[9] फिर भी उनके कई वर्गीकरण मिलते हैं।

---

१ पातंजलयोग सूत्र १।२
योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः

२. उत्तराध्ययन २९

३ तत्वार्थ सूत्र १।१।
सम्यग्दर्शनज्ञान चारित्राणि मोक्षमार्गः

४ अभिधानचिन्तामणि १।७७
मोक्षोपायो योगो ज्ञानश्रद्धानचरणात्मकः

५ योगविंशिका १ व्याख्या

६ पासणाहचरियं पृ० ४६०
भाविज्जइ वासिज्जइ जीए जीवो विसुद्धचेट्ठाए सा भावणत्ति वुच्चइ

७ पातंजलयोगसूत्र १।२८
तज्जपस्तदर्थभावनम्

८ सूत्रकृतांग १।१५।५
भावणाजोगसुद्धप्पा जले नावा व आहिया।
नावा व तीरसपन्ना सव्वदुक्खा तिउट्टइ ॥

९ पासणाहचरियं पृ० ४६०





पाँच महाव्रत की पच्चीस भावनाएँ है।[1] ये भावनाएं महाव्रतो की स्थिरता के लिए हैं।[2] प्रत्येक महाव्रत की पाच-पाँच भावनाएँ हैं। आगमो मे इनका वर्णन आचाराग, समवायाग और प्रश्नव्याकरण मे मिलता है, किन्तु उनके क्रम तथा नामों मे एकरूपता न होकर विभेद है। जैसे —आचाराग के अनुसार—[3]

अहिंसा महाव्रत

(१) ईर्यासमिति
(२) मनपरिज्ञा
(३) वचनपरिज्ञा
(४) आदान-निक्षेपसमिति
(५) आलोकित-पान-भोजन

सत्य महाव्रत

(१) अनुवीचिभाषण
(२) क्रोधप्रत्याख्यान
(३) लोभप्रत्याख्यान
(४) अभय (भय-प्रत्याख्यान)
(५) हास्यप्रत्याख्यान

अचौर्य महाव्रत—

(१) अनुवीचिमितावग्रह याचन
(२) अनुज्ञापित पान-भोजन
(३) अवग्रह का अवधारण
(४) अभीक्ष्ण-अवग्रह-याचन
(५) सार्धमिक के पास से अवग्रह-याचन

ब्रह्मचर्य महाव्रत

(१) स्त्रियों मे कथा का वर्जन
(२) स्त्रियो के अग-प्रत्यगो के अवलोकन का वर्जन
(३) पूर्व-भुक्त-भोग की स्मृति का वर्जन
(४) अतिमात्र और प्रणीत पान-भोजन का वर्जन
(५) स्त्री आदि मे ससक्त शयनासन का वर्जन

---

१ उत्तराध्ययन ३१।१७
पणवीसभावणाहिं उद्देसेसु दसाइणं।
जे भिक्खू जयई निच्च से न अच्छइ मण्डले ॥

२ तत्वार्थसूत्र ७।३
तत्स्यैर्यार्थं भावना पच पच।

३ आचाराग २।३।१५।४०२

अपरिग्रह महाव्रत

(१) मनोज्ञ और अमनोज्ञ शब्द में समभाव
(२) मनोज्ञ और अमनोज्ञ रूप में समभाव
(३) मनोज्ञ और अमनोज्ञ गन्ध में समभाव
(४) मनोज्ञ और अमनोज्ञ रस में समभाव
(५) मनोज्ञ और अमनोज्ञ स्पर्श में समभाव

समवायांग के अनुसार महाव्रतों की भावनाओं का वर्गीकरण[1] —

अहिंसा महाव्रत —

(१) ईर्यासमिति
(२) मनोगुप्ति
(३) वचनगुप्ति
(४) आलोकित भाजन-भोजन
(५) आदान-भंडमात्रनिक्षेपणा समिति

सत्य महाव्रत

(१) अनुवीचिभाषणता — विचारपूर्वक बोलना
(२) क्रोधविवेक — क्रोध का प्रत्याख्यान
(३) लोभविवेक — लोभ का त्याग
(४) भयविवेक — भय का त्याग
(५) हास्यविवेक — हास्य का त्याग

अचौर्य महाव्रत

(१) अवग्रहानुज्ञापना
(२) अवग्रहसीमापरिज्ञान
(३) स्वयं ही अवग्रह की अनुग्रहणता
(४) साधर्मिकों के अवग्रह की याचना तथा परिभोग
(५) साधारण भोजन को आचार्य आदि को बताकर परिभोग करना

ब्रह्मचर्य महाव्रत

(१) स्त्री, पशु और नपुंसक से संसक्त शयन और आसन का वर्जन करना
(२) स्त्री-कथा का विवर्जन करना
(३) स्त्रियों की इन्द्रियों के अवलोकन का वर्जन करना
(४) पूर्वभुक्त तथा पूर्वरतित कामभोगों का स्मरण नहीं करना
(५) प्रणीत आहार का विवर्जन करना

अपरिग्रह महाव्रत

(१) श्रोत्रेन्द्रिय-रागोपरति
(२) चक्षुरिन्द्रिय-रागोपरति



---

१ समवायांग २५

(३) घ्राणेन्द्रियरागोपरति
(४) रसनेन्द्रियरागोपरति
(५) स्पर्शेन्द्रियरागोपरति

प्रश्नव्याकरण के अनुसार महाव्रतों की भावनाओं का वर्गीकरण[1]—

अहिंसा महाव्रत—

(१) ईर्यासमिति
(२) अपाप मन
(३) अपाप वचन
(४) एषणा समिति
(५) आदान-निक्षेप समिति

सत्य महाव्रत

(१) अनुवीचि भाषण
(२) क्रोध प्रत्याख्यान
(३) लोभ प्रत्याख्यान
(४) अभय (भय प्रत्याख्यान)
(५) हास्य प्रत्याख्यान

अचौर्य महाव्रत—

(१) विविक्त वास-वसति
(२) अभीक्ष्ण अवग्रह-याचन
(३) शय्या समिति
(४) साधारण पिंड मात्र लाभ
(५) विनय प्रयोग

ब्रह्मचर्य महाव्रत—

(१) असंसक्तवास-वसति
(२) स्त्रीजन में कथा वर्जन
(३) स्त्री के अंग-प्रत्यंग और चेष्टाओं के अवलोकन का वर्जन
(४) पूर्वभुक्त भोग की स्मृति का वर्जन
(५) प्रणीत रस भोजन का वर्जन

अपरिग्रह महाव्रत

(१) श्रोत्र और मनोज्ञ शब्द में समभाव
(२) चक्षु और मनोज्ञ-अमनोज्ञ रूप में समभाव
(३) घ्राण और मनोज्ञ-अमनोज्ञ गंध में समभाव
(४) रसन और मनोज्ञ रस में समभाव

1 प्रश्नव्याकरण (संवरद्वार)

(५) मनोज्ञ और अमनोज्ञ स्पर्श में समभाव

उपरोक्त तीनों वर्गीकरणों में आचारांग और प्रश्नव्याकरण के वर्गीकरणों में अपेक्षाकृत कुछ साम्य है। समवायांग का वर्गीकरण नाम और क्रम दोनों ही दृष्टियों में कुछ भिन्न है।

आगमोत्तर साहित्य में सर्वप्रथम आचार्य कुन्दकुन्द ने षट्प्राभृत ग्रंथ में पच्चीस भावनाओं का एक वर्गीकरण दिया है, जो इस प्रकार है[1]—

अहिंसा महाव्रत

(१) वचनगुप्ति
(२) मनगुप्ति
(३) ईर्यागुप्ति
(४) सुदान-निक्षेप
(५) अवलोकित पान-भोजन

सत्य महाव्रत

(१) अक्रोध
(२) अभय
(३) अहास्य
(४) अलोभ
(५) अमोह

यहाँ अनुवीचि भाषण के स्थान पर अमोह भावना का उल्लेख हुआ है। टीकाकार ने भगवान गौतम का एक श्लोक उद्धृत करते हुए इसका अर्थ भी अनुवीचि भाषणकुशलता ही लिया है।[2] अनुवीचि भाषणता से तात्पर्य है—"वीची वाग्लहरी तामनुकृत्य या भाषा वर्तते सानुवीची भाषा-जिनसूत्रानुसारिणी भाषा, अनुवीची भाषा पूर्वाचार्य-सूत्रपरिपाटीमनुल्लंघ्य भाषणीयमित्यर्थः।" पूर्वाचार्य और सूत्रानुसारिणी भाषा। श्वेताम्बर परम्परा में अनुवीचि-भाषणता का अर्थ प्रायः 'अनुविचिन्त्य भाषण' विचारपूर्वक बोलना ही किया गया है। किन्तु तत्त्वार्थराजवार्तिक में

---

१ चारित्र प्राभृत ३१-३५
वयगुत्ती मणगुत्ती इरिया समिदी सुदाणणिक्खेवो।
अवलोय भोयणाए हिंसाए भावणा होंति॥
कोहभयहासलोहा मोहा विवरीय भावणा चेव।
विदियस्स भावणाए ए पंचेव य तहा होंति॥
सुण्णायारनिवासो विमोचितवास जं परोधं च।
एसणसुद्धि सउत्त साहम्मी संविसंवादो॥
महिलालोयण पुव्वरइसरण ससत्त वसहि विकहाहि।
पुट्ठि रसेहिं विरओ भावण पंचावि तुरियम्मि॥
अपरिग्गह समणुण्णेसु सद्दफरिसरसरूवगंधेसु।
रायद्दोसाईणं परिहारो भावणा होंति॥

२ चारित्र प्राभृत ३२ (टीका)
अकोहणो अलोहो य भयहस्सविवज्जिदो।
अणुवीची भासकुसलो विदिय वदमस्सिदो॥





दोनो ही अर्थो का ग्रहण किया है।[1]

अचौर्य महाव्रत

(१) शून्यागार निवास
(२) विमोचितावास
(३) पर-उपरोध न करना
(४) एषणा शुद्धि
(५) सार्धर्मि अविसवाद (सार्धर्मिको के साथ विसवाद न करना)

ये पाँचो भावनाएँ श्वेताम्वर परम्परा से सर्वथा भिन्न हैं।

ब्रह्मचर्य महाव्रत

(१) महिला अवलोकन विरति
(२) पूर्वभुक्त का स्मरण न करना
(३) ससक्त वसति विरति
(४) स्त्रीरागकथा विरति
(५) पौष्टिक रस विरति

आचार्य उमास्वाति ने तत्वार्थ मे जो भावनाविषयक वर्गीकरण दिया है उसमे ब्रह्मचर्य महाव्रत की भावनाएँ उक्त भावनाओ से भिन्न है। वे इस प्रकार है।[2]—

(१) स्त्री-रागकथावर्जन
(२) मनोहर अगनिरीक्षणविरति
(३) पूर्वरतानुस्मरण परित्याग
(४) वृष्येष्ट रस परित्याग
(५) स्वशरीरसस्कार त्याग

अपरिग्रह महाव्रत

(१) मनोज्ञ और अमनोज्ञ शब्द मे रागद्वेष का वर्जन
(२) मनोज्ञ और अमनोज्ञ रूप मे रागद्वेष का वर्जन
(३) मनोज्ञ और अमनोज्ञ रस मे रागद्वेष का वर्जन
(४) मनोज्ञ और अमनोज्ञ गध मे रागद्वेष का वर्जन
(५) मनोज्ञ और अमनोज्ञ स्पर्श मे रागद्वेष का वर्जन

नामभेद और क्रमभेद होते हुए भी आगमोक्त और आगमोत्तर सभी वर्गीकरणो का प्रतिपाद्य एक है। धर्म्य और शुक्ल ध्यान की चार-चार अनुप्रेक्षाएँ हैं।[3] वे मिलित रूप मे आठ भावनाएँ है —

---

१ तत्वार्थराजवार्तिक ७।५
अनुवीचिभाषणम् अनुलोमभाषणमित्यर्थ विचार्य भाषणमनुवीचिभाषणमिति वा

२ तत्वार्थसूत्र ७।७
स्त्रीरागकथाश्रवणतन्मनोहरागनिरीक्षणपूर्वरतानुस्मरणवृष्येष्टरसस्वशरीरसस्कारत्यागा पच।

३ स्थानाग ४।१।२४७

धर्म्यध्यान की चार अनुप्रेक्षाएँ

(१) एकत्वानुप्रेक्षा—मै अकेला हूँ।
(२) अनित्यानुप्रेक्षा—सब सयोग अनित्य है।
(३) अशरणानुप्रेक्षा—दूसरा कोई त्राण नही है।
(४) ससारानुप्रेक्षा—जीव ससार मे परिभ्रमण कर रहा है।

धर्म्यध्यान के लिए श्रद्धा, स्वाध्याय और भावना अपेक्षित है, यह उसकी अनुप्रेक्षाओ मे फलित है।

शुक्लध्यान की चार अनुप्रेक्षाएँ

(१) अनन्तवृत्ति-अनुप्रेक्षा—भव परम्परा अनादि है।
(२) विपरिणामानुप्रेक्षा—सब पदार्थ परिणमनशील हैं।
(३) अशुभानुप्रेक्षा—ससार के सब सयोग अशुभ हैं।
(४) अपायानुप्रेक्षा—आस्रव बन्धन के हेतु हैं।

शुक्लध्यान के लिए आत्मा के स्वभाव का अवगाहन और भावना अपेक्षित है, यह उसमे और अनुप्रेक्षाओ मे ज्ञात होता है।

महाव्रतो की भावनाओ व धर्म्य तथा शुक्लध्यान की अनुप्रेक्षाओ के वर्गीकरण आगमकालीन हैं। उत्तरवर्ती साहित्य मे दो वर्गीकरण और प्राप्त होते है। एक बारह भावनाओ का तथा दूसरा चार भावनाओ का। इन दोनो वर्गीकरणो की सोलह भावनाओ का प्रकीर्णरूप तो आगमो मे भी मिलता है किन्तु इनका वर्गीकृत रूप उत्तरकाल मे ही हुआ है। विक्रम की दूसरी शताब्दी मे आचार्य कुन्दकुन्द ने "बारस अणुवेक्खा" की रचना की। इसमे बारह भावनाओ का वर्गीकरण दिया गया है, जिसे सर्वप्रथम ही मानना चाहिए। वह इस प्रकार है[1] —

(१) अनित्य
(२) अशरण
(३) एकत्व
(४) अन्यत्व
(५) ससार
(६) लोक
(७) अशुचि
(८) आस्रव
(९) सवर
(१०) निर्जरा
(११) धर्म
(१२) बोधिदुर्लभ

चार भावनाओ का वर्गीकरण सर्वप्रथम उमास्वाति ने किया था। वह इस प्रकार है[2] —

(१) मैत्री
(२) प्रमोद
(३) कारुण्य
(४) माध्यस्थ्य

बारह भावनाओ के वर्गीकरण मे उत्तरवर्ती साहित्य मे क्रमभेद है। उमास्वाति ने तत्वार्थसूत्र और प्रश-



१ बारस अणुवेक्खा २
अद्धुवमसरणमेगत्तमण्णससारलोगमसुचित्त।
आसवसवरणिज्जरधम्म बोहिं च चितेज्जा॥

२ तत्वार्थसूत्र ७।११
मैत्रीप्रमोदकारुण्यमाध्यस्थ्यानि च सत्वगुणाधिकक्लिश्यमानाविनेयेषु॥



मरतिप्रकरण मे बारह भावनाओ का जो वर्गीकरण दिया है, वे उक्त वर्गीकरण से भिन्न होते हुए परस्पर भी भिन्न हैं। तत्वार्थसूत्र का वर्गीकरण इस प्रकार है[1] —

(१) अनित्य	(७) आस्रव
(२) अशरण	(८) सवर
(३) ससार	(९) निर्जरा
(४) एकत्व	(१०) लोक
(५) अन्यत्व	(११) बोधिदुर्लभ
(६) अशुचि	(१२) धर्म

तत्वार्थ और प्रशमरतिप्रकरण का रचनाकाल विक्रम की तीसरी शताब्दी है। प्रशमरतिप्रकरण का भावना-विषयक वर्गीकरण इस प्रकार है[2] —

(१) अनित्य	(७) आस्रव
(२) अशरण	(८) सवर
(३) एकत्व	(९) निर्जरा
(४) अन्यत्व	(१०) लोक
(५) अशुचि	(११) धर्म
(६) ससार	(१२) बोधिदुर्लभ

विक्रम की पाचवी शताब्दी मे श्रीमद् वट्टकेर ने मूलाचार की रचना की। उसमे भावनाविषयक वर्गीकरण आचार्य कुन्दकुन्द की बारस अणुवेक्खा के अनुरूप है[3] —

विक्रम की ग्यारहवी शताब्दी मे आचार्य नेमिचन्द्र हुए। उन्होंने बृहद्द्रव्य-सग्रह मे भावनाविषयक एक वर्गीकरण दिया है, जो ठीक तत्वार्थसूत्र के समान है।[4] इसी शताब्दी में श्रीमत्सोमदेव सूरि ने यशस्तिलकचम्पू महाकाव्य की रचना की। उसमे बारह भावनाओ का भी वर्णन किया है। इस वर्णन में पूर्वोक्त वर्गीकरणो की अपेक्षा कुछ क्रमभेद है। वह इस प्रकार है[5] —

---

१ तत्वार्थसूत्र ९।७
अनित्याशरणससारैकत्वान्यत्वाशुचित्वास्रवसवरनिर्जरालोकबोधिदुर्लभधर्मस्वाख्याततत्वानुचिन्तनमनुप्रेक्षा

२ प्रशमरतिप्रकरण ८।१४९, १५०
भावयितव्यमनित्यत्वमशरणत्व तथैकतान्यत्वे।
अशुचित्व ससार कर्मास्रवसवरविधिश्च ॥
निर्जरणलोकविस्तर-धर्मस्वाख्याततत्त्वचिन्ताश्च।
बोधे सुदुर्लभत्व च भावना द्वादश विशुद्धा ॥

३ मूलाचार ८।२
अद्धुवमसरणमेगत्तमण्णससारलोगमसुचित्त।
आसवसवरणिज्जर धम्म बोधि च चिंतेज्जा ॥

४ बृहद्द्रव्य सग्रह ३५ (वृत्ति)
अध्रुवाशरणससारैकत्वान्यत्वाशुचित्वास्रवसवरनिर्जरालोकबोधिदुर्लभधर्मानुचिन्तनमनुप्रेक्षा

५ यशस्तिलकचपू २।१०५–१५७

(१) अनित्य	(७) आस्रव
(२) अशरण	(८) सवर
(३) ससार	(९) लोक
(४) एकत्व	(१०) निर्जरा
(५) अन्यत्व	(११) धर्म
(६) अशुचि	(१२) बोधिदुर्लभ

विक्रम की बारहवीं शताब्दी मे आचार्य शुभचन्द्र हुए। उन्होने योग के विभिन्न पहलुओ, बारह भावना, पाच महाव्रत, कषायविजय, आसन, प्राणायाम, आज्ञाविचय, विपाकविचय, सस्थान, पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ, शुक्लध्यान आदि पर विस्तार से प्रकाश डाला है। ज्ञानार्णव इस विषय मे उनका प्रसिद्ध ग्रथ है। इसमे भी भावनाविषयक वर्गीकरण मे क्रमभेद है। वह इस प्रकार है[1] —

(१) अनित्य	(७) आस्रव
(२) अशरण	(८) सवर
(३) ससार	(९) निर्जरा
(४) एकत्व	(१०) धर्म
(५) अन्यत्व	(११) लोक
(६) अशुचि	(१२) बोधिदुर्लभ

इसी शताब्दी के लगभग स्वामी कार्तिकेय ने "कार्तिकेयानुप्रेक्षा" ग्रथ की रचना की। इसमे केवल भावनाओं का ही सविस्तार वर्णन है जो ठीक तत्वार्थसूत्र के अनुरूप है।[2]

विक्रम की इसी शताब्दी में आचार्य हेमचन्द्र हुए। उन्होंने योग विषय पर 'योगशास्त्र" नामक ग्रथ लिखा। इसमे भी बारह भावनाओ का एक वर्गीकरण है जो "ज्ञानार्णव" के अनुरूप ही है।"[3]

विक्रम की सत्रहवीं शताब्दी मे उपाध्याय विनयविजयजी ने "शान्तसुधारस" की रचना की। यह संस्कृत भाषा का एक उत्कृष्ट सगीत-काव्य है। इसमें सोलह भावनाओं पर विविध रागनियो मे सोलह गीतिकाएँ हैं। इस काव्य मे बारह भावनाओं का वर्गीकरण ठीक ज्ञानार्णव या योगशास्त्र के अनुरूप है।[4]

---

१ ज्ञानार्णव २

२ कार्तिकेयानुप्रेक्षा २–३

अद्धुवअसरणभणिया ससारामेगमण्णमसुइत्त।
आसव-सवर-णामा णिज्जर-लोयाणुपेहाओ॥
इय जाणिऊण भावह दुल्लह-धम्माणु भावणा णिच्च।
मण-वय-काय-सुद्धी एदा दस दोय भणिया हु॥

३ योगशास्त्र ४।५५, ५६

सा स्यान्निर्ममत्वेन तत्कृते भावना श्रयेत्।
अनित्यतामशरण भवमेकत्वमन्यताम्॥
अशौचमाश्रवविधि सवर कर्मनिर्जराम्।
धर्मस्वाख्याततता लोक द्वादशीं बोधिभावनाम्॥

४ शान्तसुधारस १।७, ८ (श्लोक)

अनित्यताशरणते भवमेकत्वमन्यताम्।
अशौचमास्रव चात्मन् ! सवर परिभावय॥





विक्रम की इक्कीसवीं शताब्दी में आचार्यश्री तुलसी ने योगविषयक "मनोनुशासन" ग्रंथ का प्रणयन किया। इसमें बारह भावनाओं का वर्गीकरण है जो ठीक "शान्तसुधारस" से मिलता है।[3]

इस विषय पर आज तक जो ग्रंथ लिखे गए उनमें से कुछ एक का ऊपर उल्लेख किया गया है। प्रश्न होता है—बारह भावनाओं में यह क्रमभेद क्यों है? इसका स्पष्ट और निश्चित समाधान तो नहीं मिल पाता, किन्तु इतना अवश्य कहा जा सकता है कि आगमों में बारह भावनाओं का वर्गीकरण न होना ही इसका मूल कारण है। बारह भावनाओं का जो प्रकीर्ण रूप आगमों में मिला, उसे उत्तरवर्ती आचार्यों ने अपनी स्वतन्त्र दृष्टि से वर्गीकृत किया। आचार्य कुन्दकुन्द, उमास्वाति, सोमदेव सूरि, शुभचन्द्र आदि ने जिन ग्रंथों का प्रणयन किया, उनके बीच सैकड़ों वर्षों का अन्तर है। संभवत उत्तरवर्ती आचार्यों ने पूर्ववर्ती आचार्यों द्वारा किए गए वर्गीकरणों को न देखा हो अथवा आगमोक्त न होने से अपने स्वतन्त्र वर्गीकरण किए हों।

आचार्य कुन्दकुन्द और श्रीमद्‌वट्टकेर में लगभग तीन शताब्दी का अन्तर होते हुए भी भावनाओं के वर्गीकरण में एकरूपता है। आचार्य कुन्दकुन्द जैन परम्परा में एक सुप्रसिद्ध आचार्य हो चुके हैं। भावनाविषयक वर्गीकरण भी सर्वप्रथम उन्होंने ही किया है। अत संभव है कि श्रीमद्‌वट्टकेर ने मूलाचार में भावनाविषयक वर्गीकरण के लिए कुन्द-कुन्द को ही प्रमाण माना हो।

उमास्वाति, नेमिचन्द्र और स्वामीकार्तिकेय में काल का व्यवधान अधिक होते हुए भी भावनाओं के वर्गीकरणों में समरूपता है। तत्वार्थसूत्र के अध्ययन-अध्यापन का क्रम जैन परम्परा में बहुत प्राचीन है। जैनदर्शन में प्रवेश पाने के लिए उसे द्वार के रूप में माना जाता है। यद्यपि आचार्य नेमिचन्द्र और स्वामी कार्तिकेय ने अपने ग्रंथों में कहीं भी तत्वार्थसूत्र या उमास्वाति का उल्लेख नहीं किया है किन्तु सम्भव है, उन्होंने इसका आधार तत्वार्थसूत्र से ही लिया हो। इसमें असंगति भी नहीं लगती क्योंकि आचार्य कुन्दकुन्द की "वारस अणुवेक्खा" उतनी प्रसिद्ध नहीं है जितना कि तत्वार्थसूत्र। और यह पहले कहा जा चुका है कि उमास्वाति और नेमिचन्द्र व कार्तिकेय में लगभग आठ-नौ शताब्दियों का कालान्तर था। प्रश्न होता है कि उमास्वाति ने ही अपने दो ग्रंथों में दो प्रकार के वर्गीकरण क्यों किए? इसके समाधान में तो यही कहना अधिक उपयुक्त होगा कि तत्वार्थ की रचना सूत्ररूप में है और प्रशमरति प्रकरण पद्यात्मक है। सम्भव है प्रशमरति प्रकरण में छन्दोभंग के भय से उन्होंने क्रमभेद किया हो। तत्वार्थसूत्र की रचना पहले हो चुकी थी अत बाद में उसमें परिवर्तन संभव न हुआ हो। परिवर्तन का अधिक आग्रह भी नहीं रहा होगा क्योंकि यह पहले स्पष्ट हो चुका कि बारह भावनाओं का कोई एक निश्चित वर्गीकरण आगमों में नहीं मिलता है। उत्तरवर्ती साहित्य में तो केवल उसका प्रकीर्ण रूप ही संगृहीत है।

आचार्य शुभचन्द्र, आचार्य हेमचन्द्र, उपाध्याय विनयविजय और आचार्य तुलसी द्वारा किए गए वर्गीकरणों में एकरूपता है। इसका कारण यह हो सकता है कि आचार्य हेमचन्द्र का योगशास्त्र आचार्य शुभचन्द्र के ज्ञानार्णव से बहुत प्रभावित है। ज्ञानार्णव का अध्ययन करने के पश्चात् यदि योगशास्त्र पढा जाए तो यह महसूस होगा कि सम्पूर्ण योगशास्त्र पर ज्ञानार्णव छाया हुआ है। ऐसे अनेक स्थल हैं जहाँ शब्दसाम्य और उक्तिसाम्य के साथ-साथ उदाहरण और अनुप्रास में भी साम्य है। श्रीगोपालदास पटेल ने लिखा है—"दोनों ग्रंथों का विषय निरूपण देखते हुए ऐसा ही लगता है कि हेमाचार्य का योगशास्त्र बहुत व्यवस्थित और संक्षिप्त है। जबकि ज्ञानार्णव शास्त्रग्रंथ की अपेक्षा उपदेश-ग्रंथ अधिक है और इस कारण उसका निरूपण जरा शिथिल है। अर्थात् ज्ञानार्णव को ही अधिक व्यवस्थित

कर्मणो निर्जरा धर्मसुकृता लोकपद्धतिम्।
बोधिदुर्लभतामेतां भावयन् मुच्यसे भवात्॥

३ मनोनुशासन ३।२२
अनित्याशरणभवैकत्वान्यत्वाशौचास्रवसंवरनिर्जराधर्मलोकसंस्थानबोधिदुर्लभता।

और संक्षिप्त करके योगशास्त्र रचा गया होगा, ऐसा जान पड़ता है।[1]

इस अभिमत की ओर इंगित करते हुए श्री पटेल ने अपने उपोद्घात[2] में लिखा है—

"हेमचन्द्राचार्य के अन्य शास्त्रीय ग्रन्थों के विषय में भी उनके समय में खूब आक्षेप किए गए थे कि इनमें तुम्हारा नया क्या है? इस आक्षेप का जवाब उन्होंने 'प्रमाणमीमांसा' के प्रारम्भ में इस प्रकार दिया है—"पाणिनि, पिंगल, कणाद, अक्षपाद आदि आचार्यों ने जब अपने व्याकरणादि सूत्र लिखे तब उनके पहले उस-उस विषय के दूसरे सूत्र थे ही। तो फिर उनको भी तुम किसलिए उन सूत्रों के कर्त्ता कहते हो? वस्तुस्थिति ही ऐसी है कि ये सभी विद्याएँ अनादि हैं परन्तु उनका संक्षेप किया जाता है या विस्तार किया जाता है। इस अपेक्षा से वे नई-नई होती हैं और तब उन लोगों को उनका कर्त्ता कहा जाता है।"[3] इस उत्तर से यह भलीभांति प्रमाणित होता है कि उनके कुछ ग्रंथ पूर्वग्रंथों के सुव्यवस्थित संक्षेप-विस्तार रूप हैं और इसमें वे कोई दोष नहीं समझते। अतः योगशास्त्र को भी ज्ञानार्णव का संक्षेपीकरण या अनुकरण कहा जाय तो कोई आश्चर्य नहीं होगा। ग्रंथसाम्य के साथ ही भावनाविषयक वर्गीकरण में भी साम्य सम्भव है।

आचार्य हेमचन्द्र का उल्लेख जैन परम्परा के दिग्गज विद्वानों की कोटि में होता है। दर्शन, न्याय, व्याकरण योग, काव्य आदि विभिन्न विषयों में उनकी लेखनी का असंदिग्ध और अप्रतिहत प्रभाव मिलता है। इसी प्रभाव के कारण सम्भव है उपाध्याय विनयविजयजी ने अपने भावनाविषयक वर्गीकरण में उनका अनुसरण किया हो।

उपाध्याय विनयविजयजी द्वारा प्रणीत 'शान्तसुधारस' संस्कृत भाषा का सुमधुर गेय काव्य है। श्रमण-परम्परा में इसके कण्ठीकरण और पुनरावर्तन का एक अनूठा क्रम है। अधिकांश जैन इसे कण्ठस्थ करते हैं। इसका सह स्वाध्याय आत्मप्रवेशी के लिए अत्यन्त प्रेरक होता है। इस काव्य का अत्यधिक प्रचलन होने के कारण ही मनोनुशासन में भावनाविषयक वर्गीकरण के लिए आचार्यश्री तुलसी ने इसका आधार लिया हो तो कोई आश्चर्य नहीं। मनोनुशासन योगविषयक सद्य प्रणीत ग्रन्थ है। अतः इसके पश्चात् भावना विषयक अन्य वर्गीकरण उपलब्ध नहीं होता।

बारह भावनाओं के वर्गीकरणों में क्रमभेद होते हुए भी आर्षदृष्टि से उनमें किसी प्रकार का भेद नहीं है। आगमों में उनका प्रकीर्ण रूप इस प्रकार है—

अनित्य भावना

धीर पुरुष को मुहूर्त भर भी प्रमाद नहीं करना चाहिए। अवस्था बीती जा रही है। यौवन चला जा रहा है। रात्रियाँ दौड़ी जा रही हैं। मनुष्यों के भोग भी नित्य नहीं हैं। वे मनुष्य को प्राप्त कर उसे वैसे ही छोड़ देते हैं, जैसे क्षीण-फल वाले वृक्ष को पक्षी।[4]

---

१ योगशास्त्र (गुजराती) का उपोद्घात पृ० ४०।

२ योगशास्त्र (गुजराती) का उपोद्घात पृ० ७।

३ प्रमाणमीमांसा

पाणिनि-पिंगल-कणादाक्षपादादिभ्योऽपि पूर्वं कानि किमीयानि वा व्याकरणादिसूत्राणीत्येतदपि पर्यनुयुङ्क्ष्व। अनादय एवैता विद्या संक्षेपविस्तरविवक्षया नवनवीभवन्ति तत्तत्कर्तृकाश्च उच्यन्ते।

४ आचारांग १।२।१।६०-६२

इच्चेवं समुट्ठिए अहो विहाराए। अंतरं च खलु इमं संपेहाए धीरे मुहुत्तमवि णो पमायए। वओ अच्चेइ जोव्वणं व।

उत्तराध्ययन १३-३१

अच्चेइ कालो तूरन्ति राइओ न यावि भोगा पुरिसाण निच्चा।

उविच्च भोगा पुरिसं चयन्ति दुमं जहा खीणफलं व पक्खी॥





अशरण भावना

सगे-सबन्धी त्राण नही हैं। जब मैं अपने द्वारा किए गए कर्मों से छेदा जाता हूँ तब माता, पिता, पुत्र, वधू, भ्राता, पत्नी और औरस पुत्र ये सभी मेरी रक्षा करने में समर्थ नही होते।[1]

ससार भावना

इस जन्म-मरण के चक्र मे सुख नही है। मैंने सभी जन्मो मे दु खमय वेदना का अनुभव किया है। कहीं निमिष मात्र भी सुख नही है।[2]

एकत्व भावना

आदमी अकेला जन्मता है और अकेला मरता है। उसकी सज्ञा, विज्ञान, और वेदना भी व्यक्तिगत होती है। स्त्रिया, पुत्र, मित्र और बान्धव जीवित व्यक्ति के साथ जीते हैं, किन्तु वे मृत के पीछे नही दौडते। पुत्र अपने पिता को बडे दुख के साथ श्मशान ले जाते हैं और इसी प्रकार पिता भी अपने पुत्रो को और बन्धुओं को श्मशान ले जाता है।[3]

अन्यत्व भावना

काम-भोग मुझ से भिन्न हैं और मैं उनसे भिन्न हूँ। पदार्थ मुझसे भिन्न है और मै उनसे भिन्न हू।[4]

अशौच भावना

यह शरीर अपवित्र है, पित्त, फोडा, फुन्सी, हैजा और विविध प्रकार के शीघ्रघाती रोग इस शरीर का स्पर्श

---

१ आचाराग १।२।१।२०-२१
जेहिं वा सद्धिं सवसति ते वा ण एगया णियगा त पुव्वि परिहरति। सो वा ते णियगे पच्छा परिहरेज्जा। नाल ते तव ताणाए वा, सरणाए वा। तुमपि तेसिं नाल ताणाए वा सरणाए वा।
उत्तराध्ययन ६-३

माया पिया ण्हुसा भाया भज्जा पुत्ता य ओरसा।
नाल ते मम ताणाय लुप्पन्तस्स सकम्मुणा॥

२ उत्तराध्ययन १६-७४

सव्वभवेसु अस्साया वेयणा वेइया मए।
निमेसन्तरमित्तपि ज साया नत्थि वेयणा॥

३ सूत्रकृताग २
अन्नस्स दुक्ख अन्नो न परियाइयइ अन्नेण कड अन्नो न पडिसवेदेइ पत्तेय जायइ पत्तेय मरइ पत्तेय चयइ पत्तेय उववज्जइ पत्तेय झझा पत्तेय सन्ना पत्तेय मन्ना एव विन्नू वेयणा।
उत्तराध्ययन १८।१४-१५

दाराणि य सुया चेव मित्ता य तह बन्धवा। जीवन्तमणुजीवन्ति, मय नाणुव्वयन्ति य॥
नीहरन्ति मय पुत्ता पियर परम दुक्खिया। पियरो वि तहा पुत्ते, बन्ध राय तव चरे॥

४ सूत्रकृताग २।१।१३
पुरिसे वा एगया पुव्वि कामभोगे विप्पजहइ, कामभोगा वा एगया पुव्वि पुरिस विप्पजहन्ति। अन्ने खलु कामभोगा अन्नो अहमसि।

करते हैं, जिनसे यह शरीर शक्तिहीन और विनष्ट हो जाता है ।[1]

आस्रव भावना

आस्रव कर्म-बन्धन का हेतु है । ये हेतु ऊपर भी है, नीचे भी हैं और मध्य मे भी है ।[2]

संवर भावना

नाले को बन्द कर देने मे जिस प्रकार तालाव मे पानी आना रुक जाता है उसी प्रकार समभाव की साधना मे सावद्य योग की विरति होती है । प्राण-वध, मृषावाद, अदत्त ग्रहण, मैथुन, परिग्रह और रात्रि भोजन मे विरत जीव अनास्रव होता है । पाच समितियो से समित, तीन गुप्तियो से गुप्त, अकषाय, जितेन्द्रिय, अगौरव (गर्व रहित) और नि शल्य जीव अनास्रव होता है ।[3]

निर्जरा भावना

तालाब मे भरे हुए जल को उलीच-उलीच कर बाहर निकाल देने मे जिस प्रकार महातालाब सूख जाता है, उसी प्रकार पूर्व सचित कर्मों को तपस्या द्वारा निर्जीर्ण करने पर आत्मा कर्ममुक्त बन जाती है ।[4]

लोक भावना

जो लोकदर्शी है, वह लोक के अधोभाग को भी जानता है, ऊर्ध्व भाग को भी जानता है और तिर्यग् भाग को भी जानता है ।[5]

बोधिदुर्लभ भावना

लोगो ! क्यो नही जाग रहे हो ! जीवन बीता जा रहा है । इस ससार मे प्राणियो के लिए चार परम अग

---

१ उत्तराध्ययन १०-२७

अरई गण्ड विसूइया आयका विविहा फुसति ते ।
विवडइ विद्धसइ ते सरीय समय गोयम ! मा पमायए ॥

२ आचाराग १।५।६।११७

उड्ढ सोता अहे सोता, तिरिय सोता वियाहिया ।
एते सोया वियक्खाया जेहिं सगति पासहा ॥

३ उत्तराध्ययन ३०।२-३

पाणवहमुसावाया अदत्तमेहुणपरिग्गहा विरओ ।
राईभोयणविरओ जीवो भवई अणासवो ॥
पच समिओ तिगुत्तो अकसाओ जिइन्दिओ ।
अगारवो य निस्सल्लो जीवो होई अणासवो ॥

४. उत्तराध्ययन ३०।५-६

जहा महातलायस्य सन्निरुद्धे जलागमे ।
उस्सिचणाए तवणाए कमेण सोसणा भवे ॥
एव तु सजयस्सावि पावकम्मनिरासवे ।
भवकोडीसचिय कम्म तवसा निज्जरिज्जइ ॥

५ आचाराग १।२।५-१२५

आययचक्खू लोगविपस्सी-लोगस्स अहोभाग जाणइ, उड्ढ भाग जाणइ, तिरिय भाग जाणइ ।



दुर्लभ हैं—मनुष्यत्व, श्रुति, श्रद्धा और सयम मे पराक्रम ।[1]

धर्म भावना

धर्म जीवन का पाथेय है । यात्री के पास पाथेय होने से उसकी यात्रा सुखपूर्वक सपन्न होती है । इसी प्रकार जिसके पास धर्म का पाथेय होता है, उसकी जीवन-यात्राए सुख से सम्पन्न होती हैं ।[2]

अनित्य, अशुचि आदि शब्दो का प्रयोग महर्षि पतजलि ने भी अपने योगदर्शन मे किया है ।[3] वेद, पुराण और उपनिषदो मे इन शब्दो का पूर्णत अभाव है । उत्तरवर्ती ग्रथो मे इस प्रकार के शब्द प्रयुक्त हुए हैं । पतजलि ने अपने योगदर्शन में ऐसे अनेक शब्दो का प्रयोग किया है जो वैदिक साहित्य के पारिभाषिक शब्दो से भिन्न हैं और श्रमणो के पारिभाषिक शब्दो से अभिन्न हैं । इससे यह फलित होता है कि पतजलि की दृष्टि मे श्रमणो की साधना-पद्धति प्रतिविम्बित थी । पातजल योगदर्शन का रचनाकाल जैन आगमो से उत्तरवर्ती है । मौर्य साम्राज्य का अस्तित्व ई० पू० ३२२ से ई० पू० १८५ तक माना जाता है । मौर्य वश का अन्तिम राजा बृहद्रथ था । वह ई० पू० १८५ मे अपने सेनापति पुष्यमित्र द्वारा मारा गया । महर्षि पातजलि पुष्यमित्र के समकालीन थे । इस तथ्य के आधार पर उनका अस्तित्वकाल ई० पू० दूसरी शताब्दी है । उत्तराध्ययनसूत्र (जिसमे भगवान महावीर की अन्तिम वाणी का सकलन है) इससे पूर्ववर्ती है । अत. यह स्पष्ट होता है कि वैदिक ग्रथो पर जैन आगम साहित्य का प्रभाव रहा है ।

तत्वार्थसूत्र मे चार भावनाओ का जो एक और वर्गीकरण मिलता है उसका आगमो मे प्रकीर्ण रूप इस प्रकार है—

मैत्री भावना

सब जीव मेरे मित्र है । इस प्रकार सबके साथ मैत्री का चिन्तन करना मैत्री अनुप्रेक्षा है ।[4]

---

१ सूत्रकृताग १।१।२-१

सबुज्झह किं न बुज्झह सबोही खलु पेच्च दुल्लहा ।
नो हूवणमन्ति राइओ नो सुलभ पुणरावि जीविय ॥

उत्तराध्ययन ३।१

चत्तारि परमगाणि दुल्लहाणीह जन्तुणो ।
माणुसत्त सुई सद्धा सजममि य वीरिय ॥

२ उत्तराध्ययन १६।१८-२१

अद्धाण जो महन्त तु अपाहेओ पवज्जई ।
गच्छन्तो सो दुही होइ छुहातण्हाए पीडिओ ॥
एव धम्म अकाऊण जो गच्छइ पर भव ।
गच्छन्तो सो दुही होइ वाही-रोगेहिं पीडिओ ॥
अद्धाण जो महन्त तु सपाहेओ पवज्जई ।
गच्छन्तो सो सुही होइ छुहातण्हाविवज्जिओ ॥
एव धम्म पि काऊण जो गच्छइ पर भव ।
गच्छन्तो सो सुही होइ अप्पकम्मे अवेयणे ॥

३ पातजल योगसूत्र २।५

अनित्याशुचिदु खानात्मसु-नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या ।

४ उत्तराध्ययन ६।२

मेत्तिं भूएसु कप्पए

प्रमोद भावना

तुम्हारा आर्जव आश्चर्यकारी है और आश्चर्यकारी है तुम्हारा मार्दव। उत्तम है तुम्हारी क्षमा और उत्तम है तुम्हारी मुक्ति।[1]

कारुण्य भावना

बन्धन से मुक्ति का प्रयत्न और चिन्तन।[2]

माध्यस्थ्य भावना

समझाने बुझाने पर भी सामने वाला व्यक्ति दोष का त्याग न करे, उस स्थिति में उत्तेजित न होना, किन्तु योग्यता की विचित्रता का चिन्तन करना।[3]

महर्षि पतञ्जलि ने भी अपने योगदर्शन में चार भावनाओं का एक वर्गीकरण प्रस्तुत किया है, जो ठीक उपरोक्त वर्गीकरण से मिलता है।[4] पतञ्जलि ने इसे चित्तप्रसादन और निर्मलता का हेतु माना है।

चार अन्य भावनाओं का एक वर्गीकरण ध्यानशतक में उपलब्ध होता है।[5] इनके द्वारा पूर्वाभ्यास करने पर साधक ध्यान की योग्यता प्राप्त कर सकता है। विक्रम की पाँचवीं शताब्दी में आचार्य भद्रबाहु ने ध्यानशतक की रचना की। इसी प्रकार का एक वर्गीकरण आदिपुराण में मिलता है।[6] विक्रम की नवमी शताब्दी में आचार्य जिनसेन ने इसकी रचना की। वह इस प्रकार है—

(१) ज्ञान भावना
(२) दर्शन भावना
(३) चारित्र भावना
(४) वैराग्य भावना

---

१ उत्तराध्ययन ९।५७

अहो ते अज्जवं साहु अहो ते साहु मद्दवं।
अहो ते उत्तमा खन्ती अहो ते मुत्ति उत्तमा॥

२. उत्तराध्ययन १३।१९

तीसे य जाईइ उ पावियाए वुच्छामु सोवागनिवेसणेसु।
सव्वस्स लोगस्स दुगंछणिज्जा इहं तु कम्माइं पुरेकडाइं॥

३ उत्तराध्ययन १३।३३

न तुज्झ भोगे चइऊण बुद्धी गिद्धो सि आरम्भपरिग्गहेसु।
मोहं कओ एत्तिउ विप्पलावो गच्छामि रायं आमन्तिओसि॥

४ पातञ्जलयोगसूत्र १।३३
मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम्।

५ ध्यानशतक ३०

पुव्वकयब्भासो भावणाहि झाणस्स जोग्गयमुवेइ।
ताओ य नाण-दंसण-चरित्त-वेरग्ग जणियाओ॥

६ आदिपुराण २१।९५

भावनाभिरसंमूढो मुनिर्ध्यानस्थिरो भवेत्।
ज्ञानदर्शनचारित्र-वैराग्योपगताश्च ता॥





ज्ञान भावना

इससे मन का धारण-अशुभ व्यापार का निरोध और शोधन होता है इस प्रकार सुस्थिर मति मे तत्वातत्व के विवेकपूर्वक यह ध्यान मे योगभूत होती है। शास्त्रो का अध्ययन, जिज्ञासा, पदार्थ के स्वरूप का चिन्तन, कण्ठीकरण तथा धर्मोपदेश ये सब ज्ञान भावना के प्रकार है।[1]

दर्शन भावना

इससे दर्शन की विशुद्धि होती है। शका, काक्षा आदि दोप दूर होते है। प्रशम और स्थैर्य गुणो की प्राप्ति होती है व चित्त अभ्रात होता है। सवेग, अमूढता, अगर्व, अनुकम्पा, आदि इसके प्रकार हैं।[2]

चारित्र भावना

इसमे नए कर्मो का अनादान-अग्रहण, पुराने कर्मो का निर्जरण और शुभ का ग्रहण होता है। इसमे ध्यान सुलमता मे होता है। पाच समिति और तीन गुप्ति का पालन तथा परीपहो को महना इस के प्रकार है।[3]

वैराग्य भावना

इसमे व्यक्ति जगत के स्वभाव को जान लेता है। तथा निस्सग, निर्भय और आशसारहित होकर ध्यान मे सुस्थिर होता है।[4]

---

१ ध्यानशतक ३१

नाणे णिच्चब्भासो कुणइ मणो धारण विसुद्धि च।
नाणगुणमुणियसारो तो झाइ सुनिच्चलमईओ॥

आदिपुराण २१।९६

वाचनापृच्छने सानुप्रेक्षण परिवर्तनम्।
सद्धर्मदर्शन चेति ज्ञातव्या ज्ञानभावना॥

२ ध्यानशतक ३२

सकाइदोसरहिओ पसमथेज्जाइ गुणगणोवेओ।
होइ असमूढमणो दसणसुद्धीए झाणमि॥

आदिपुराण २१-९७

सवेगप्रशमस्थैर्यमसमूढत्वमस्मय। आस्तिक्यमनुकम्पेति ज्ञेया सम्यक्त्वभावना॥

३ ध्यानशतक ३३

नवकम्मणायाण पोराणविणिज्जर सुभायाण।
चारित्तभावणाए झाणममत्तेण य समेइ॥

आदिपुराण २१-९८

ईर्यादिविपया यत्ना मनोवाक्कायगुप्तय.।
परीपहसहिष्णुत्वमिति चारित्रभावना.॥

४ ध्यानशतक ३४

सुविदियजगस्सभावो निस्सगो निब्भओ निरासो य।
वेरग्गभावियमणो झाणमि सुनिच्चलो होई॥

आदिपुराण २१-९९

विपयेष्वनभिष्वग कायतत्वानुचिन्तनम्।
जगत्स्वभावचिन्तेति वैराग्यस्थैर्यभावना॥

आचार्य जिनसेन ने इन चारो भावनाओं को मुनि के लिए ज्ञान और चारित्र की सम्पदा मे स्थिरीकरण का हेतु माना है।[1]

साधक मुमुक्षु कैवल्य प्राप्ति के लिए साधना करता है। विभिन्न प्रकार की तपस्या और भावना से आत्मा को भावित करता हुआ वह क्रमश अपने गन्तव्य के प्रति गतिशील होता है। प्रतिमा (कायोत्सर्ग की विशेष विधि) व जिनकल्प (साधना की उत्कृष्ट विधि) को स्वीकार करने वाले भिक्षु के लिए पाच भावनाए है।[2]

(१) तप भावना
(२) सत्व भावना
(३) सूत्र भावना
(४) एकत्व भावना
(५) बल भावना

भिक्षु इन भावनाओं से अपनी आत्मा को भावित करता है। ये पाच भावनाए पाच तुलाओं के तुल्य हैं। इनसे अपनी आत्मा को तोल कर ही वह प्रतिमा या जिनकल्प स्वीकार करता है।

तप भावना

इसमे क्षुधा पर विजय पाने का अभ्यास किया जाता है।[3] वह परम साधक क्षुधा पर विजय प्राप्त करता हुआ इतना अभ्यास कर लेता है कि छ महीनो तक कुछ न खाने पर भी भूख से पीडित नही होता। उसका मन आर्त नहीं होता और शरीर मे भी ग्लानि उत्पन्न नही होती।[4]

सत्व भावना

इसमे भय और निद्रा पर विजय पाने का अभ्यास किया जाता है।[5] इसके क्रमिक अभ्यास के लिए मुनि उपाश्रय, उसके बाहरी भाग, चतुष्क, शून्यगृह और श्मशान इन पाच स्थानो मे कायोत्सर्ग करता है।[6]

रात्रि के समय जब सब साधु सो जाते हैं तब मुनि अकेला उठ कर निद्रा और भय पर विजय पाने के लिए

---

१ आदिपुराण २१।१००

एव भावयतो ह्यस्य ज्ञानचर्यादिसपदि।
तत्वज्ञस्य विरागस्य भवेदव्यग्रता धिय ॥

२ मनोनुशासन ७।१
तप सत्वसूत्रैकत्वबलभेदात् पचधा भावना प्रतिमा जिनकल्प वा प्रतिपद्यमानस्य ॥

३ मनोनुशासन ७।२
तपसा क्षुधाजय

४ मनोनुशासन ७-३
षण्मासयावद् न बाध्यते क्षुधया ॥

५. मनोनुशासन ७।४
सत्वभावनया भय निद्राश्च पराजयते ॥

६ मनोनुशासन ७।५
उपाश्रयतद्बहिश्चतुष्कशून्यगृहश्मशानेष्विति स्थानभेदात्पचधा ॥





उपाश्रय में कायोत्सर्ग करना है—यह पहली तप भावना है।[1]

पहला अभ्यास परिपक्व होने पर उपाश्रय से बाहर किसी एकान्त स्थान में कायोत्सर्ग करना दूसरी तप भावना है।[2]

इस प्रकार अभ्यास का विकास होते होते जब मुनि चौराहे, शून्य घर या श्मशान में कायोत्सर्ग करने लगता है यह क्रमश तीसरी, चौथी और पांचवीं तप भावना है।[3]

सूत्र भावना

इससे समय का ज्ञान होता है।[4] सूत्र के परावर्तन (स्मरण) के अनुसार काल के सूक्ष्म भेदों का ज्ञान हो जाए, इस प्रकार सूत्रों का परिचित करने का अभ्यास किया जाता है। श्वास-उच्छ्वास की मात्रा के साथ उनका उच्चारण होता है।[5]

एकत्व भावना

इससे देह और उपकरणों से अपनी आत्मा को भिन्न रूप में भावित कर निर्ममता का अभ्यास किया जाता है।[6]

बल भावना

इससे परीषहों पर विजय प्राप्त की जाती है।[7] बल दो प्रकार का होता है - शारीरिक और मानसिक।[8] इन दोनों प्रकार के बलों द्वारा मनोबल इतना परिष्कृत किया जाता है, जिससे मुनि परीषहों व उपसर्गों के उत्पन्न होने पर भी विचलित नहीं होता।[9]

---

१ मनोनुशासन ७।६

रात्रौ सुप्तेषु सर्वसाधुषु नयनिद्राजयार्थमुपाश्रय एव कायोत्सर्गकरण प्रथमा ॥

२ मनोनुशासन ७।७

क्वचिदुपाश्रयाद् बहिस्तथाकायोत्सर्गकरण द्वितीया ॥

३ मनोनुशासन ७।८

चतुष्कशून्यगृहश्मशानेषु कायोत्सर्गकरण परा ॥

४ मनोनुशासन ७।९

सूत्रभावनया कालज्ञानम् ॥

५ मनोनुशासन ७।१०

सूत्रपरावर्तनानुसारेण उच्छ्वासप्राणादय सर्वे कालभेदा अवगता स्युस्तया सूत्रपरिचय ।

६ मनोनुशासन ७।११

एकत्वभावनया देहोपकरणादिभ्यो भिन्नमात्मान भावयन् भवति निरभिष्वग ॥

७ मनोनुशासन ७।१२

बलभावनया परीषहाणां जय ॥

८ मनोनुशासन ७।१३

- बल शारीर मानस च ॥

९ मनोनुशासन ७।१४

तत्र मानस तथा परिवर्धित यथा परीषहैरुपसर्गैश्च नोत्पद्यते बाधा ॥

प्रतिमाधारी व जिनकल्पी मुनि इन भावनाओं में अपने आपको पूर्णतः भावित करते हैं। किन्तु यथाशक्ति दूसरे भिक्षु व गृहस्थ भी अपने आपको भावित कर सकते हैं।[7]

इस प्रकार भावना विषयक विभिन्न वर्गीकरण हमें उपलब्ध होते हैं। आगम तथा उत्तरवर्ती ग्रंथों में संक्लिष्ट भावनाओं के भी अनेक वर्गीकरण हैं किन्तु यहाँ केवल असंक्लिष्ट भावनाओं का ही कथन किया गया है। क्योंकि असंक्लिष्ट भावना-योग ही मुक्ति का मार्ग है।



---

७ मनोनुशासनम् ७-१५

यथाशक्ति चैतां परेषामपि ॥

पर्याप्ति-योग

मुनिश्री नथमलजी (निकाय-सचिव)



जैन तत्व-विद्या के अनुसार हमारे जीवन के छह शक्ति-स्रोत (पर्याप्तियां) और दस शक्तिकेन्द्र (प्राण) हैं।

छह शक्ति-स्रोत

१, आहार पर्याप्ति
२ शरीर पर्याप्ति
३ इन्द्रिय पर्याप्ति
४ श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति
५ भाषा पर्याप्ति
३ मन पर्याप्ति

दस शक्ति-केन्द्र

१ श्रोत्रेन्द्रिय प्राण	६ मनोवल-प्राण
२ चक्षु इन्द्रिय प्राण	७ वचनवल-प्राण
३. घ्राणेन्द्रिय प्राण	८ कायवल-प्राण
४ रसनेन्द्रिय प्राण	९ श्वासोच्छ्वाम प्राण
५ स्पर्शनेन्द्रिय प्राण	१० आयुष्य प्राण

इनमे परस्पर कार्य-कारण का भाव प्रतीत होता है। शक्ति-स्रोत कारण हैं और शक्ति-केन्द्र उनके कार्य है। सख्याविस्तार को सक्षेप मे लाने पर दोनों की सख्या समान हो जाती है।

शक्ति-स्रोत	शक्ति-केन्द्र
आहार पर्याप्ति	आयुष्य प्राण
शरीर पर्याप्ति	कायवल-प्राण
इन्द्रिय पर्याप्ति	इन्द्रिय-प्राण
श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति	श्वासोच्छ्वास-प्राण
भाषा पर्याप्ति	वचनवल-प्राण
मन पर्याप्ति	मनोवल-प्राण

ये शक्ति-स्रोत और शक्ति-केन्द्र न तो चेतन की विशुद्ध अवस्था मे होते हैं और न अचेतन मे होते हैं। ये चेतन और अचेतन के सयोग मे उत्पन्न होते हैं। हम जितने प्राणी हैं, वे सव चेतन और अचेतन (पुद्गल) के सयोग की अवस्था मे हैं। हमारे विशुद्ध चैतन्य का उदय नही हुआ है, इसलिए हम केवल चैतन्य की भूमिका मे अवस्थित नही

है। हम अनुभव-शक्ति व ज्ञान-शक्ति से सम्पन्न हैं, इसलिए हम केवल अचेतन की भूमिका मे भी नही है। हम चैतन्य और अचैतन्य की सयुक्त भूमिका मे हैं।

ये शक्ति-स्रोत और शक्ति-केन्द्र ही जीव और निर्जीव तत्व के बीच व्यावर्तक (भेद डालने वाले) है। जिन मे आहार करने, शरीर-रचना, इन्द्रिय-रचना व श्वास लेने की शक्ति है वे जीव हैं और जिनमे ये शक्तिया नही है, वे निर्जीव है।

भाषा-शक्ति व चिन्तन-शक्ति जीव के लक्षण नही है, किन्तु वे विकास-क्रम के अग्रिम सोपान हैं।

ये शक्ति-स्रोत जीवन के आरंभ काल मे ही निष्पन्न हो जाते हैं। इनकी क्रियाशीलता ही प्राणी का जीवन है। प्रश्न होता है कि जीवन का साध्य क्या है? जीवन का कोई एक निश्चित साध्य है, ऐसा प्रतीत नही होता। जीवन जब प्रबुद्ध होता है, तब उसका साध्य होता है मुक्ति। मुक्ति के दो साधन है—शोधन और निरोध। विस्तार मे इनके बारह प्रकार हो जाते हैं—

१ आहार-शुद्धि	७ श्वासोच्छ्‌वास शुद्धि
२ आहार निरोध	८ श्वासोच्छ्‌वास-निरोध
३ शरीर-शुद्धि	९ वाक्-शुद्धि
४ शरीर-निरोध	१० वाक् निरोध
५ इन्द्रिय-शुद्धि	११ मन-शुद्धि
६ इन्द्रिय-निरोध	१२ मन-निरोध

प्रथम भूमिका शोधन की है। शुद्धि जब अपने चरम बिन्दु पर पहुच जाती है तब निरोध की भूमिका का प्रारम्भ हो जाता है।

आहार-शुद्धि के उपाय

१ हिताहार
२ मिताहार
३ सात्विकाहार

हिताहार—जो आहार समधातुओं को प्रकृति मे स्थापित करता है और विषम धातुओं को सम करता है, उसका नाम हिताहार है। प्रकृति के अनुकूल भोजन करना, विरुद्ध वस्तुए न खाना, विकृत वस्तुए न खाना आदि-आदि।

मिताहार—परिमित भोजन करना। भोजन की निश्चित मात्रा का निर्देश करना कठिन है। जितना खाने पर एक घण्टा बाद भी पेट पर भार न हो, पानी पीने पर पेट फटना न हो, वह मित-भोजन है।

सात्विकाहार—मादक व उत्तेजक वस्तुओं का वर्जन, शरीर, इन्द्रिय व मन की प्रसन्नता व लाघव मे बाधा न पडे वैसा भोजन।

काय-शुद्धि के उपाय

कायोत्सर्ग, आसन, मूलबन्ध, उड्डीयानबन्ध, जालन्धरबन्ध, व्यायाम, प्राणायाम और निर्लेपता।

कायोत्सर्ग का अर्थ है शरीर की चचलता का विसर्जन। काय-शुद्धि के उपयुक्त आसनो का वर्णन आसन-प्रकरण मे किया गया है।

जालधर—ठुड्डी को कण्ठकूप मे स्थापित करने को जालधरबन्ध कहा जाता है।

सर्वांगासन, हलासन तथा मत्स्यासन की एक मुद्रा मे यह अपने आप हो जाता है। मानसिक विकास के लिए यह बहुत उपयोगी है। इसमे कण्ठमणि (थाइरायड ग्लैण्ड) पर उचित दबाव पडता है। आधुनिक शरीर-शास्त्रियो





के अनुसार कण्ठमणि ही शरीर मे रक्त-ताप तथा प्रेम,ईर्ष्या, द्वेष और आदि वृत्तियो को उत्पन्न करता है। यह हमारे शरीर की नियामक ग्रथि है। इस पर जालधरबन्ध के द्वारा हम नियत्रण रख सकते है और अनेक उपयोगी रसो का स्राव कर सकते है।

व्यायाम—हाथ, पैर या किसी भी अवयव को इच्छानुसार सिकोडते हैं, फैलाते है, उसका नाम व्यायाम है।

प्राणायाम—श्वास का सकोच और विस्तार। इसके ३ अग हैं—(१) पूरक, (२) रेचक, (३) कुम्भक। श्वास भरने को पूरक, बाहर निकालने को रेचक और रोकने को कुम्भक कहा जाता है। श्वास बाहर रोका जाता है, उसे बहि कुम्भक और भीतर रोका जाता है, उसे अन्त कुम्भक कहा जाता है।

प्राणायाम के अनेक प्रकार है किन्तु वायुशुद्धि के लिए सर्वाधिक उपयोगी और सर्वाधिक निर्दोष अनुलोम-विलोम प्राणायाम है।

अनुलोम-विलोम प्राणायाम—दाए हाथ के अगूठे से दाएँ नथुने को बदकर बाए नथुने से श्वास लें और दाए नथुने से उसका रेचन करें। दाए हाथ की अनामिका और कनिष्ठा इन दो उगलियो से बाए नथुन को बन्दकर दाए नथुने से श्वास लें और बाए नथुने से उसका रेचन करें। प्रारभ मे ऐसी ८-१० आवृत्तिया की जा सकती है, फिर धीमे-धीमे ३० तक बढाई जा सकती हैं।

प्राणायाम की कालमात्रा इस प्रकार होती है

पूरक	सोलह मात्रा
रेचक	बत्तीस मात्रा
कुम्भक	आठ मात्रा

सुकुम्भक अनुलोम-विलोम प्राणायाम—प्राणायाम की द्वितीय भूमिका मे कुम्भक किया जाना चाहिए। कुम्भक का काल-मान ऊपर बताया गया है।

समूल-बन्ध अनुलोम-विलोम प्राणायाम—इस प्रक्रिया मे अनुलोम-विलोम प्राणायाम के साथ मूलबन्ध और जुड जाता है।

सोड्डीयान अनुलोम-विलोम प्राणायाम—इस प्रक्रिया मे कुम्भक और मूलबन्ध सहित अनुलोम-विलोम प्राणायाम के साथ उड्डीयानबन्ध और जुड जाता है।

निर्लेपता—विषयो की आसक्ति से शरीर की अशुद्धि होती है। विषय विकार के हेतु बनते है और विकार से कायिक दोष उत्पन्न होते है। अनासक्त (निर्लेप) व्यक्ति सहज भाव से कायिक दोषो से बच जाता है।

इन्द्रियशुद्धि के उपाय—१ इन्द्रियो का सम्यक्-योग २ प्रतिसलीनता।

इन्द्रियो की प्रवृत्ति के तीन प्रकार हैं—अयोग, अतियोग और योग। इन्द्रियो की सर्वथा प्रवृत्ति न करना अयोग है। उनकी मर्यादा से अधिक प्रवृत्ति करना अतियोग है। ये दोनो इन्द्रिय-दोष उत्पन्न करते हैं। इन्द्रियो की उचित प्रवृत्ति करना योग है।

इन्द्रिया ज्ञान के साधन है। वे विषयों के प्रति व्यापृत होती हैं, यह उनकी स्वाभाविक प्रवृत्ति है। यह शक्य नहीं कि आख हो और वह रूप या वर्ण को न देखे। यह शक्य नही कि कान हो और वह शब्द न सुने। यह शक्य नही कि घ्राण हो और उसे गन्ध की अनुभूति न हो। यह शक्य नही कि रसना हो और उसे रस की अनुभूति न हो। यह शक्य नही कि स्पर्शन हो और उसे स्पर्श की अनुभूति न हो। इन्द्रियो के योग का सबध हमारे स्वास्थ्य से है, जबकि उनके सम्यग्-योग का सबध हमारी साधना से है। साधक को आख प्राप्त है, इसलिए वह रूप को देखता है

पर उसके साथ कल्पनाओं का योग नहीं करना। दर्शन और विकार एक नहीं है। इन्द्रियों के द्वारा दृश्य जगत् का ज्ञान करना ऐन्द्रियिक ज्ञान है। वह ज्ञान कल्पना से मिश्रित हो राग-द्वेष में जुड़ जाता है तब वह ऐन्द्रियिक विकार हो जाता है। सम्यग् योग का अर्थ है, वर्तमान में प्राप्त विषयों को जानना, उनके साथ अतीत की स्मृति और भविष्य की कल्पनाओं को न जोड़ना—केवल रूप को देखना, केवल शब्द सुनना, केवल गंध, रस और स्पर्श की अनुभूति करना।

इन्द्रिय-शुद्धि का दूसरा उपाय प्रतिसंलीनता है। इन्द्रिय शुद्धि की प्रथम भूमिका में विषय और इन्द्रियों के संबंध की शुद्धि का अभ्यास किया जाता है और द्वितीय भूमिका में विषयों से सम्पर्क-विच्छेद का अभ्यास किया जाता है। आंख बंद कर लेना—यह रूप के साथ चक्षु का संबंध-विच्छेद है। कान बंद कर लेना—यह शब्द के साथ श्रोत्र का संबंध-विच्छेद है। नाक को बंद कर लेना—यह गंध के साथ घ्राण का संबंध विच्छेद है। स्पर्श नहीं करना—यह स्पर्श के साथ स्पर्शन का संबंध-विच्छेद है। इन्द्रियों का बहिर्गमन में प्रयोग न करना, उन्हें अपने-अपने क्षेत्रों में ही सीमित रखना प्रतिसंलीनता है।

इन्द्रियों की बाह्यलीनता समाप्त कर उनमें अन्तर्लीनता उत्पन्न करना, यह भी प्रतिसंलीनता है। यह आकर्षण के विकर्षण का सिद्धान्त है। अन्तर के प्रति आकर्षण कम होगा तो बाह्य के प्रति आकर्षण अधिक होगा। बाह्य के प्रति आकर्षण कम होगा तो अन्तर के प्रति आकर्षण बढ़ जाएगा। आकर्षण की दो भूमिकाएं हैं बाह्य और अन्तरंग। इन्द्रियों की शक्ति अन्तरंग आकर्षण की ओर मुड़ जाए तो अन्तरंग शक्ति का स्रोत खुल जाता है। दोनों भूमिकाओं का तुलनात्मक रूप निम्न यंत्र से स्पष्ट हो जाएगा—

बाह्याकर्षण	अन्तर-आकर्षण
बाह्यध्वनि	अन्तर-ध्वनि
बाह्यदर्शन	अन्तर-दर्शन
बाह्यरस	अन्तर-रस
बाह्यस्पर्श	अन्तःस्पर्श
बाह्यगंध	अन्तर-गंध

हमारी चेतना अशब्द, अरूप, अरस, अस्पर्श और अगंध है।

हम अन्तर्ध्वनि के प्रति आकर्षण उत्पन्न कर शुद्ध चेतना की भूमिका में नहीं पहुंच जाते हैं। इस प्रयत्न में हम केवल स्थूल से सूक्ष्म जगत् तक पहुंच पाते हैं। हमारे सूक्ष्म शरीर के साथ भी शब्द, रूप, रस, गंध और स्पर्श का संबंध होता है। उसी के प्रति एकाग्र होकर हम अपनी इन्द्रिय-शक्ति का नया आयाम प्राप्त करते हैं।

श्वासोच्छ्वास शुद्धि के उपाय

१ प्राणायाम, २ समतालश्वास, ३ दीर्घश्वास, ४ कायोत्सर्ग

इस प्रकरण में भस्त्रिका आदि अनेक प्राणायामों के नाम सुझाए जा सकते हैं, फिर भी श्वास-शुद्धि के लिए अनुलोम-विलोम प्राणायाम को ही अधिक उपयोगी मानता हूं। श्वास के दोष विषम और ह्रस्व श्वास से उत्पन्न होते हैं और वे मन को चंचल बनाते हैं। मन की स्थिरता के लिए श्वास को विशुद्ध बनाना नितान्त आवश्यक है। भावना की भाषा में, जैसा कि मैं समझ पाया हूं श्वास और मन का गहरा संबंध है। श्वास की चंचलता मन की चंचलता को जन्म देती है और मन की चंचलता फिर श्वास को चंचल बनाती है। इस क्रम से स्थिरता कम होती चली जाती है। अतः मन की शुद्धि के लिए श्वास की शुद्धि बहुत आवश्यक है।



समताल श्वास—जितनी मात्रा में पहला श्वास लिया गया, उतनी ही मात्रा में दूसरा, तीसरा, इस प्रकार ताल-बद्ध श्वास लेना समताल श्वास होता है।

दीर्घश्वास—लम्बा श्वास लेना।

वाक्-शुद्धि के उपाय — १ प्रलम्ब नाद का अभ्यास, २ सत्यपरक प्रयोग ।

वाक् मनपरिष्कृत होकर ही प्रगट होती है । मन की सरलता होती है, तब वाणी शुद्ध रहती है । मन की कुटिलता होने पर वह भी अशुद्ध हो जाती है। जिस साधक का मन सरल और पवित्र होता है, उसे वाक्-सिद्धि प्राप्त होती है । वह जो कहता है, वही हो जाता है। वाणी मे यह शक्ति उसकी मानसिक पवित्रता से प्राप्त होती है ।

ओ, अर्ह, सोहम् आदि मत्राक्षरो का दीर्घ उच्चारण करने से मन, वाणी के साथ जुड जाता है । मन का योग पाकर वाणी शक्तिशाली हो जाती है । वह वायुमण्डल मे तीव्र कम्पन पैदा कर देती है । उसमे अनिष्ट परमाणु दूर हो जाते है और इष्ट परमाणुओ का परिपार्श्व बन जाता है ।

दीर्घोच्चारण का अभ्यास दो मिनट से प्रारभ कर १५ मिनट तक बढाना चाहिए। प्रति सप्ताह दो मिनट बढाया जा सकता है । इस अभ्यास मे मन को समस्याओ से मुक्त और सरल रखना आवश्यक है ।

मन की शुद्धि के उपाय

१ दृढ सकल्प २ एकाग्र सन्निवेशन

दृढ सकल्प—हमारे मन मे कामनाए उठती रहती है। उन कामनाओ मे कार्यरूप मे बदलने की क्षमता होती है, इसीलिए उन्हे सकल्प कहा जाता है । समुद्र मे उर्मियो की भाति सकल्प हमारे मन मे उत्पन्न होते हैं और विलीन हो जाते हैं । वे अस्थिर सकल्प होते है । उनसे हमे कोई लाभ प्राप्त नही होता । स्थिर सकल्प कार्यरूप मे परिवर्तित हुए बिना विलीन नही होता । वह दीर्घकाल तक टिका रहता है । उसे भावनात्मक रूप देने—बराबर उसकी पुनरावृत्ति करने मे वह रूढ बन जाता है । दृढ सकल्प मे कार्यरूप मे परिणत होने की क्षमता पैदा होती है । उसके द्वारा हम मन के स्वभाव को बदल सकते है। बुरे विचारो को छोडने व अच्छे विचारो की आदत डालने मे दृढ सकल्प हमारी बहुत सहायता करता है ।

एकाग्रसन्निवेशन

एकाग्रता मन की विरोधावस्था नहीं है । यह उसकी किसी एक विषय मे निरोधावस्था है। अनेक भागो मे जाते हुए प्रवाह को एक मार्ग मे मोड देना है । नदी का प्रवाह जब अनेक भागो मे बहता है, तब वह क्षीण हो जाता है । एक प्रवाह मे जो शक्ति होती है, वह विभक्त प्रवाहो मे नही हो सकती । सूर्य की बिखरी रश्मियो मे वह शक्ति नही होती, जो केन्द्रित किरणो मे होती है। मन का प्रवाह भी एक आलम्बन की ओर निरन्तर बहता है तब उसमे अकल्पित शक्ति आ जाती है। एकाग्रता के क्षेत्र मे मन की शान्ति और स्थिरता का अर्थ है चिन्तन प्रवाह को एक ही दिशा मे प्रवाहित करना। मन के एकाग्र प्रवाह की अनेक पद्धतिया है । उनमे से कुछेक पद्धतियो को मै यहा प्रस्तुत करना चाहूगा ।

१ द्रष्टा की स्थिति—मन की चचलता को रोकने का यत्न मत कीजिए। वह जहा जैसे जाता है, उसे देखते रहिए। उस समय दृश्य या ज्ञेय मन को ही बना लीजिए। इस प्रकार तटस्थ द्रष्टा के रूप मे जागरूक रहकर आप मन का अध्ययन ही नही कर पाएगे, किन्तु उस पर अपना प्रभुत्व भी स्थापित कर लेंगे ।

२ विकल्पों की उपेक्षा—आपके मन मे जो विकल्प उठते है, उनकी उपेक्षा कीजिए, जो प्रश्न उठते है, उनके उत्तर मत दीजिए । जैसे प्रश्न करनेवाला व्यक्ति उपेक्षा पाकर (उत्तर न पाकर) मौन हो जाता है, वैसे ही मन भी उपेक्षा पा कर (प्रश्नो के उत्तर न पाकर) शान्त हो जाता है ।

३ अप्रयत्न—मन को स्थिर करने का बलात् प्रयत्न मत कीजिए। अप्रयत्न से मन सहज ही शान्त हो जाता है । शरीर को स्थिर और श्वास को मद कीजिए। जैसे-जैसे शरीर स्थिर और श्वास मद होगा, वैसे-वैसे मन अपने आप शान्त हो जाएगा ।

४ श्वास-योग—मन का श्वास की गति के साथ योग कीजिए। श्वास के आने-जाने के क्रम पर ध्यान

लगाइए, श्वास की गिनती कीजिए, मन अपने आप श्वास में लीन हो जाएगा।

५ आकृति-आलम्बन—अपने आराध्य की आकृति का मानसिक चित्रण बनाइए। पहले देश-काल और बाह्य-वातावरण के साथ उस आराध्य की आकृति की कल्पना कीजिए फिर उसे मानसिक चित्र में बदल दीजिए। वह चित्र बहुत स्पष्ट और प्राणवान् जैसा कीजिए।

यदि प्रारंभ में ऐसा करना कठिन लगे तो दृश्य आकृतियों पर मन को स्थापित कीजिए और साथ-साथ मानसिक चित्रण बनाने का अभ्यास भी करते रहिए।

६ शब्द-आलम्बन—इष्ट मंत्रों में मन को लगाइए। मन का प्रवाह शब्द की दिशा में प्रवाहित होकर अन्य विकल्पों से शून्य हो जाता है।

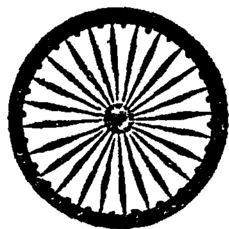
७. दृढ़-इच्छा-शक्ति—इच्छा-शक्ति भावों से उत्पन्न होती है। भावों की प्रबलता का नाम ही इच्छा-शक्ति है। भावों को इच्छा-शक्ति के रूप में बदलने का साधन है, स्वत सूचना (ओटोसजैशन)। मन को सूचना देने से भावों में उत्तेजना आरम्भ होती है, और वही इच्छाशक्ति के रूप में परिणत हो जाती है। इच्छाशक्ति के विकास का निरन्तर अभ्यास करने से वह दृढ़ हो जाती है। दृढ़ इच्छा-शक्ति में मन की एकाग्रता सहज ही सध जाती है।

●



भाषा और शब्द

मुनिश्री मिश्रीमलजी "मधुकर"



मानव जाति के सास्कृतिक विकास मे भाषा का स्थान बहुत महत्वपूर्ण है। भाषा विचारो के आदान-प्रदान का असाधारण माध्यम है। कल्पना कीजिए, कदाचित् मनुष्य को भाषा का साधन प्राप्त न होता तो उसकी क्या स्थिति होती ? न उसे वैचारिक समृद्धि उपलब्ध होती, न आज जैसा ज्ञान-विज्ञान प्राप्त होता, यहाँ तक कि समाज-रचना भी सभव न होती और मानव-जीवन पशुजीवन के सदृश ही होता। अतएव असदिग्ध रूप मे कहा जा सकता है कि मानवीय अभ्युदय मे भाषा का स्थान अद्वितीय है। व्यक्त भाषा ने मानव को जागृत चेतना प्रदान की है।

सिंह गर्जना करता है, घोडा हिन-हिनाता है, गाय रभाती है, कुत्ता भोकता है, पक्षी चहचहाते है और इसे हम श्रुतिगोचर करते है। अतएव गर्जना, रभाना आदि भी भाषा की परिधि मे है किन्तु यह निरर्थक भाषा है, वर्णात्मक नही। यहा हम सार्थक भाषा के विषय मे ही विचार करेंगे।

भाषा शब्दो से बनती है और शब्द वर्णात्मक है अतएव भाषा के तात्विक एव मौलिक विचार के लिए वर्ण-विचार भी अनिवार्य है। जैसे उपाग और अग शरीर से अभिन्न हैं उसी प्रकार वर्ण और शब्द भाषा से अभिन्न हैं।

चिरतन काल से भारतीय दार्शनिक शब्द के विषय मे विचार करते आ रहे है। अनेक दार्शनिको ने शब्द-विचार मे गहरे गोते लगाए है। शब्द क्या है ? उसका मूल उपादान क्या है ? वह किस प्रकार उत्पन्न या अभिव्यक्त होता है ? उत्पन्न या अभिव्यक्त शब्द किस प्रकार श्रोता को कर्णगोचर होता है ? इत्यादि प्रश्नो पर भारत के दर्शन-शास्त्रो मे हमे गभीर विचार मिलते है।

शब्दविषयक मान्यताए

कणाद आदि कतिपय दार्शनिक शब्द को द्रव्य न मानकर आकाश का गुण मानते है। सास्यदर्शन उसे आकाश का जनक अथवा आविर्भावक स्वीकार करता है। मीमासादर्शन की मान्यता है कि शब्द की उत्पत्ति ही नहीं होती, वह नित्य और व्यापक है। आकाश की भाति उसकी सर्वत्र सर्वदा सत्ता है। जब व्यजक निमित्त मिलते है तब वह हमारे श्रवण मे आता है, अन्यथा नही।

भर्तृहरि जैसे वैयाकरणो की मान्यता के अनुसार समस्त विश्व शब्दमय है। जगत् मे जो कुछ है, शब्द ही है। शब्द के अतिरिक्त किसी दूसरे पदार्थ-वाच्य की वास्तविक सत्ता नही है। शब्द का ही विविध अर्थो के रूप मे प्रतिभास होता है।

जैनदर्शन का अभिमत

जैनदर्शनानुसार शब्द पुद्गल द्रव्य के अन्तर्गत है। वह भाषा-वर्गणा के पुद्गलो का पर्याय है। पुद्गल-द्रव्य मूर्तिक होता है अत शब्द भी मूर्तिक है। रूप रस गध और स्पर्श ये सभी पुद्गलधर्म उसमे विद्यमान हैं। उत्तराध्ययन सूत्र मे कहा है —

> सद्दधयार-उज्जोओ, पहा छायाऽऽतवत्ति वा।
> वण्ण-रस गध फासा, पुग्गलाण तु लक्खण ॥
>
> —उत्तरा० २८, १२

(क) शब्द की पौद्गलिकता का निषेध करने के लिए निम्नलिखित युक्तियां दी जाती हैं शब्द आकाश का गुण है, अतएव शब्द का आधार आकाश द्रव्य है। आकाश स्पर्श से रहित है, इस कारण उसका गुण शब्द भी स्पर्श रहित होना चाहिए। जब शब्द में स्पर्श नहीं हो सकता तो उसे पौद्गलिक स्वीकार करना भी तर्क संगत नहीं।

(ख) पुद्गल रूपी होता है मगर शब्द रूपी नहीं है, क्योंकि उसका प्रवेश सघन वस्तु में भी देखा जाता है। वह स्थगित-कपाट अपवरक के भीतर प्रवेश कर जाता है और उसमें बाहर निकलता है। जैसे रूपी घट दीवाल में प्रवेश नहीं कर सकता उसी प्रकार शब्द यदि रूपी होता तो वह भी प्रवेश न कर पाता।

(ग) घट बनने से पहले उसका पूर्वरूप-मृत्तिका दिखाई देता है और घट नष्ट होने के पश्चात् उसका उत्तर रूप कपालसमूह दृष्टिगोचर होता है। इसी प्रकार प्रत्येक पौद्गलिक पदार्थ का पूर्ववर्ती और परवर्ती रूप देखा जाता है। किन्तु शब्द का न पूर्ववर्ती रूप उपलब्ध होता है और न परवर्ती। अतः शब्द पुद्गल नहीं माना जा सकता।

(घ) प्रत्येक पौद्गलिक पदार्थ दूसरे पौद्गलिक पदार्थ में किसी न किसी प्रकार की प्रेरणा उत्पन्न करता है। शब्द पुद्गल होता तो वह भी अन्य पौद्गलिक पदार्थों में प्रेरणा उत्पन्न करता किन्तु ऐसा देखा नहीं जाता। ऐसी स्थिति में शब्द को पुद्गलरूप स्वीकार करना समीचीन प्रतीत नहीं होता।

(क) जैन दार्शनिकों ने इन युक्तियों पर भलीभांति विचार किया है। उनका कथन है कि शब्द का आधार आकाश मानना ही भ्रमपूर्ण है। शब्द का आधार तो वस्तुतः पुद्गल भाषावर्गणा है और उसमें स्पर्श होता ही है। यह सच है कि शब्द में रहे हुए स्पर्श का हमें प्रत्यक्ष प्रतिभास नहीं होता, तथापि इसमें स्पर्श का अभाव नहीं माना जा सकता। हमारा इन्द्रिय-प्रत्यक्ष अत्यंत स्थूल होता है। वह परमाणु का साक्षात्कार नहीं कर सकता फिर भी उसकी सत्ता अनुमान प्रमाण के आधार पर निर्विवाद स्वीकार की जाती है। इसी प्रकार शब्द के स्पर्श का निर्णय भी अनुमान के आधार पर किया जा सकता है। वायु का रुख अनुकूल होता है तो दूरी पर प्रयुक्त शब्द भी स्पष्ट कर्णगोचर होता है। वायु का रुख प्रतिकूल होने पर समीप में बोला गया शब्द भी स्पष्ट सुनाई नहीं देता। इसका एक मात्र कारण यही है कि प्रतिकूल वायु शब्द के प्रसार में प्रतिबंध उपस्थित करती है जबकि अनुकूल वायु उसके संचार में सहायक होती है। शब्द स्पर्शहीन होता तो वायु उसके संचार को प्रभावित कर ही नहीं पाती।

(ख) बाहर प्रयुक्त शब्द का बंद द्वार वाले कमरे में और बंद द्वारवाले कमरे में प्रयुक्त शब्द का बाहर सुनाई देना सघन वस्तु में प्रवेश करना नहीं कहा जा सकता, क्योंकि वहां विद्यमान सूक्ष्म छिद्रों में होकर ही शब्द का प्रवेश-निर्गम होता है। इसीसे खुले में जैसा स्पष्ट सुनाई देता है वैसा बंद किवाड़ों में होकर सुनाई नहीं देता।

(ग) विद्युत् और इन्द्रधनुष आदि दृष्टिगोचर होने के कारण पौद्गलिक तो है मगर उत्पत्ति से पहले उनका पूर्वरूप और नष्ट हो जाने के पश्चात् उत्तरकालीन रूप दिखाई नहीं देता। इसी प्रकार शब्द का पूर्व-उत्तर पर्याय यदि दृष्टिगोचर न हो तो भी उसे पौद्गलिक ही स्वीकार करना चाहिए।

(घ) शब्द यदि पौद्गलिक होता तो दूसरे पदार्थों को प्रेरित करता, यह युक्ति भी समीचीन नहीं कही जा सकती। यह नियम स्थूल पुद्गलों में ही देखा जाता है। गंध तथा रजकण जैसे सूक्ष्म पुद्गल दूसरे पुद्गलों को प्रेरित नहीं करते फिर भी उनकी पौद्गलिकता अव्याहत है। शब्द सूक्ष्म होने के कारण अन्य पुद्गलों को प्रेरित नहीं करता है।

शब्द की वाचक शक्ति

वस्तु चाहे चेतन हो या जड़, मूर्तिक हो या अमूर्तिक, उसमें अनंत शक्तियां विद्यमान रहती हैं। दीपक में पदार्थों को प्रकाशित करने का नैसर्गिक सामर्थ्य है, इसी प्रकार शब्द में पदार्थ का बोध कराने की शक्ति स्वभावतः विद्यमान है। किन्तु यहां ज्ञातव्य यह है कि शब्द की अर्थबोधक शक्ति नियत या सीमित नहीं है, बल्कि प्रत्येक शब्द में विश्व के समस्त पदार्थों का प्रतिपादन करने की शक्ति विद्यमान है। 'घट' शब्द जैसे कलश वस्तु का वाचक है उसी प्रकार वस्त्र का वाचक हो सकता है, मेज कुर्सी कलम पुस्तक आदि का भी वाचक हो सकता है किन्तु मानव ने शब्द





के इस वाचक-सामर्थ्य को सकेत के द्वारा सीमित कर दिया है। अतएव शब्द समस्त पदार्थों का वाचक होने की शक्ति से सम्पन्न होने पर भी मानव समाज द्वारा निर्धारित सकेतप्रणाली के अनुरूप ही अपने वाच्य का प्रतिपादक होता है।

सकेत की आवश्यकता

शब्द के व्यापक सामर्थ्य को यदि सकेत द्वारा नियत न किया जाय तो वह वक्ता के अभीष्ट निर्धारित अर्थ का प्रतिपादक न होकर श्रोता की इच्छानुसार किसी भी अर्थ का वाचक हो जाएगा और उस अवस्था में शब्द के प्रयोग का उद्देश्य ही नष्ट हो जाएगा। गाय मगवाने की इच्छा से वक्ता कहेगा "गो लाओ।" यदि गो शब्द जगत् के सभी पदार्थों का वाचक है तो श्रोता अपनी इच्छा से किसी भी पदार्थ को ले आएगा। ऐसी अव्यवस्थित दशा में भाषा का प्रयोग निरर्थक ही सिद्ध होगा। इस अव्यवस्था से बचने के लिए शब्द की वाचकत्व-शक्ति सकेतद्वारा निर्धारित कर दी गई है। पूर्व परम्परा से जो शब्द जिस अर्थ के वाचक रूप में रूढ है उसी के अनुसार वह अर्थ का उद्बोधक होता है। हाँ, सकेत नये भी बनाए जाते हैं। उन नवीन सकेतों का अनुसरण करके शब्द नवीन अर्थ का बोधक हो जाता है। पिछले कुछ समय में ऐसे सैकडो शब्द गढे गये हैं और जो विज्ञजन उन सकेतों से परिचित हो चुके हैं वे उन सकेतो के अनुसार शब्दप्रयोग करते हैं। पचास वर्ष पहले अग्रेजी शब्द Police के लिए हिन्दी भाषा में 'पुलिस' शब्द ही व्यवहृत होता था, आज उसके स्थान पर "आरक्षी" शब्द का प्रयोग प्रचलित हो गया है। इसी प्रकार के बहुसख्यक दूसरे शब्दों का भी प्रचलन हुआ है।

अभिप्राय यह कि शब्द अपनी स्वाभाविक अर्थप्रतिपादन शक्ति और सकेत से पदार्थों का वाचक होता है।

नयदृष्टि

मगर जैनदर्शन का शब्दार्थ-विचार उससे भी आगे चलता है। उसने विभिन्न दृष्टियों के आधार पर उसका सूक्ष्म विश्लेषण किया है। मुख्य रूप से तीन दृष्टिकोण हमारे समक्ष प्रस्तुत किये हैं। शब्दनय की मान्यता के अनुसार लिंग काल पुरुष और वचन आदि के भेद से एक ही शब्द का अर्थ भिन्न हो जाता है।

समभिरूढ नय शब्दभेद से ही अर्थभेद स्वीकार करता है, चाहे लिंगादि का भेद हो अथवा न हो। इस नय की दृष्टि से कोई भी दो शब्द एकार्थक नहीं हो सकते क्योंकि उनकी व्युत्पत्ति पृथक्-पृथक् होती है। राजा नृपति और भूपति जैसे एकार्थक समझे जाने वाले शब्द वास्तव में एकार्थक नहीं हैं। इन शब्दों की बनावट पर ध्यान दिया जाय तो इस दृष्टिकोण की वास्तविकता सहज ही समझ में आ सकती है। छत्र, चामर, सिंहासन आदि राज्य-चिह्नों से सुशोभित होने वाला पुरुष 'राजा' कहा जा सकता है। मानवप्रजा का पालन-पोषण करने वाला 'नृपति' और भूमि की रक्षा करने वाला 'भूपति' कहलाता है।

तीसरा दृष्टिकोण एवभूत नय कहलाता है। यह सबसे सूक्ष्म दृष्टिकोण है जो क्रिया के भेद से ही शब्द के वाच्य में भिन्नता स्वीकार करता है। किसी व्यक्ति को तभी भिक्षु कहा जा सकता है जब वह भिक्षावृत्ति कर रहा है। तभी मुनि कहा जा सकता है जब मनन क्रिया कर रहा हो और तभी साधु कहा जा सकता है जब स्वपर का कार्य कर रहा हो। भिक्षा करते समय वह मुनि नहीं कहा जा सकता और मनन करते समय भिक्षु नहीं कहा जा सकता।

शब्द का ग्रहण—

श्रोत्रइन्द्रिय शब्द को ग्रहण करती है। वक्ता द्वारा उत्सृष्ट शब्द-पुद्गल श्रोता के कर्णकुहर को जब भर देते हैं तब श्रोत्रइन्द्रिय शब्द को ग्रहण करती है। किन्तु श्रोत्रइन्द्रिय मात्र करण है, शब्द को ग्रहण करने में कर्त्ता नहीं है। शब्द के वाच्य अर्थ की प्रतीति तो आत्मा को ही होती है।

शब्द का सचार

वक्ता के द्वारा बोले हुए शब्द को श्रोता किस प्रकार श्रवण करता है? शब्द कितनी दूर तक जा सकता है?

किस वेग से जाता है ? इत्यादि प्रश्नों का विशद उत्तर जैन शास्त्रों में मिलता है।

बतलाया जा चुका है कि शब्द भाषावर्गणा के परमाणुओं से बनते हैं। भाषावर्गणा के परमाणु सम्पूर्ण लोक में व्याप्त हैं। जब वक्ता बोलने को उद्यत होता है तो उन पुद्गलों को ग्रहण करता है, उन्हें शब्द रूप में परिणत करता है और फिर उन्हें बाहर निकालता है। उनका वेग इतना तीव्र होता है कि एक ही समय में वे लोक के अंत तक जा पहुंचते हैं। इस वेग की तीव्रता का हम अनुमान तक नहीं कर सकते।

जैसे पृथ्वी पर राजमार्ग, पथ या पगडंडियाँ बनी हैं और पथिक उनका अनुसरण करके चलते हैं इसी प्रकार आकाश में भी उसके प्रदेशों की श्रेणियां हैं। ये श्रेणियां पूर्व-पश्चिम उत्तर-दक्षिण ऊपर तथा नीचे इस प्रकार छहों दिशाओं में विद्यमान हैं। इन्हीं श्रेणियों में होकर शब्द गति करता है और सिर्फ चार समयों (काल के सूक्ष्मतम अंशों) में सम्पूर्ण लोक में व्याप्त हो जाता है।

मिश्र और वासित शब्द

श्रोता यदि समश्रेणी में स्थित होता है तो वक्ता द्वारा प्रयुक्त भाषा को अथवा वाद्य आदि के शब्दों को मिश्र रूप में सुनता है और यदि विश्रेणी में स्थित हो तो वासित शब्दों को ही श्रवण कर सकता है। वक्ता द्वारा प्रयुक्त कोरे शब्द ही श्रोता को श्रुतिगोचर नहीं हो सकते।

मिश्र एवं वासित शब्द क्या हैं, यह जान लेना आवश्यक है। जब वक्ता भाषाद्रव्यों का निसर्ग करता है अर्थात् ग्रहण किये हुए भाषा द्रव्यों को शब्द रूप में परिणत करके उनका त्याग करता है तो आकाश में फैलते हुए वे शब्द आकाश में व्याप्त अन्यान्य भाषा-पुद्गलों को भी शब्द के रूप में परिणत करते चलते हैं। इस प्रकार उनका रूप मिला-जुला हो जाता है अर्थात् वक्ता द्वारा त्यक्त पुद्गल और उनके संयोग से शब्द रूप में परिणत हुए अन्य पुद्गल मिश्रित हो जाते हैं, ऐसे पुद्गल मिश्र शब्द कहलाते हैं। ये मिश्र शब्द समश्रेणी में ही गति करते हैं। यही कारण है कि समश्रेणी में स्थित श्रोता मिश्र शब्दों को ही सुनता है।

वक्ता द्वारा प्रयुक्त शब्द-पुद्गलों के सम्पर्क से आकाश में व्याप्त जो अन्य भाषाजातीय पुद्गल शब्द रूप में परिणत हो जाते हैं, जिनमें प्रयुक्त शब्द बिल्कुल नहीं होते—वे वासित शब्द कहलाते हैं। विश्रेणी में स्थित श्रोता इन शब्दों को ही सुन पाता है क्योंकि वक्ता द्वारा त्यागे गये पुद्गल विश्रेणी में जाते नहीं हैं। उनका संचार समश्रेणी में ही होता है।

प्रश्न हो सकता है कि शब्द एक ही समय में श्रेणी के अनुसार लोक के चरम भाग तक पहुंच जाता है, दूसरे समय में विदिशा में जाता है और चौथे समय में समस्त लोक में व्याप्त हो जाता है तो विदिशा में स्थित श्रोता भी मिश्रशब्द क्यों नहीं सुन सकता ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि जैनदर्शन के अनुसार भाषा जिस समय बोली जाती है उसी समय में वह भाषा कहलाती है। उस एक समय के पश्चात् भाषा अभाषा हो जाती है।[1] इस प्रकार विश्रेणी में जो शब्द सुनाई देता है वह प्रथम समयवर्ती न होने के कारण मूल शब्द नहीं है। मूल शब्द ने अन्य भाषा-जातीय पुद्गलों को शब्द-परिणत कर दिया है, अतएव वह वासित शब्द है और वही विदिशा में सुनाई देता है। भरे हुए सरोवर में पत्थर या अन्य कोई भारी वस्तु डाली जाय तो उसके चारों ओर एक लहर उत्पन्न होती है। वह लहर दूसरी लहरों को उत्पन्न करती है और लहरों का प्रवाह सरोवर के अंत तक पहुंच जाता है। इसी प्रकार वक्ता द्वारा उच्चारित शब्दद्रव्य आगे बढ़ते हुए आकाश में स्थित अन्यान्य भाषाद्रव्यों को शब्द रूप में परिणत करते हुए लोक के अंत तक पहुंचते हैं। वहां पहुंचने पर शब्दों की सुनाई देने की योग्यता समाप्त हो जाती है।

भाषा द्रव्यों का ग्रहण और निसर्ग

प्रज्ञापना सूत्र में जीव के द्वारा ग्रहण किये जाने वाले भाषा-द्रव्यों का विशद और सूक्ष्म प्रतिपादन किया



---

१ भाष्यमाणैव भाषा, भाषा-समयानन्तर भाषाऽभाषा।



गया है। यहा सक्षेप मे उमका उल्लेख करेंगे। इससे विदित होगा कि जैनदर्शन का शब्दविचार विश्व के समस्त दर्शनो मे अनूठा परिपूर्ण और वैज्ञानिक विचारधारा के अनुरूप है। प्रश्नोत्तर इस प्रकार है—

प्रश्न—जीव स्थित-अचल भाषाद्रव्यो को ग्रहण करता है अथवा चल द्रव्यो को ?

उत्तर—स्थित द्रव्यो को ग्रहण करता है, चल द्रव्यों को नही।

प्रश्न—स्थित द्रव्यो को द्रव्य से क्षेत्र से काल से अथवा भाव से ग्रहण करता है ?

उत्तर—द्रव्य से भी, क्षेत्र से भी, काल से भी, भाव से भी।

प्रश्न—द्रव्य से एक प्रदेशी, द्विप्रदेशी, सख्यात प्रदेशी, असख्यात प्रदेशी या अनत प्रदेशी द्रव्यो को ग्रहण करता है ?

उत्तर—असख्यात प्रदेशी तक के भाषाद्रव्य सूक्ष्म होने के कारण ग्रहण नही किये जा सकते, अनत प्रदेशी द्रव्यों को ही जीव ग्रहण कर सकता है।

प्रश्न - आकाश के कितने प्रदेशो मे अवगाढ द्रव्य ग्रहण किये जा सकते है ?

उत्तर—जो भाषाद्रव्य आकाश के असख्यात प्रदेशो मे अवगाढ होते है उन्ही को जीव ग्रहण कर सकता है।

प्रश्न—कितने समय की स्थिति वाले द्रव्य ग्रहण किये जा सकते हैं ?

उत्तर—एक समय की, दो समयो की यहा तक कि असख्यात समयो की स्थिति वाले द्रव्य ग्रहण किये जाते हैं।

प्रश्न—भाव से क्या वर्णवान्, रसवान्, गन्धवान् और स्पर्शवान् भाषा-द्रव्य ग्रहण किये जाते है ?

उत्तर—हाँ, ग्रहण किये जाने वाले द्रव्यो मे कोई एक वर्णवाले होते है, किसी मे दो, किसी मे तीन, किसी मे चार और किसी मे पाचो वर्ण होते है। किन्तु इन सब द्रव्यो का समूह नियमत पचवर्ण ही होता है। यही नियम रस और गध के सबध मे समझना चाहिए।

हा, एक स्पर्श किसी भी पुद्गल द्रव्य मे नही होता। छोटे से छोटा पुद्गल अणु है और उसमे भी दो स्पर्श अवश्य होते है अतएव दो स्पर्शो वाले, तीन स्पर्शो वाले तथा चार स्पर्शों वाले भाषा-द्रव्यो को ही जीव ग्रहण करता है।

जीव उन्ही भाषा-द्रव्यों को ग्रहण करता है जो उसके साथ स्पृष्ट ही नही बल्कि एक क्षेत्रावगाढ होते हैं। अभिप्राय यह है कि जिन आत्मप्रदेशो मे जो भाषाद्रव्य स्थित हैं उन आत्मप्रदेशो से उन्ही भाषाद्रव्यों को ग्रहण करता है, व्यवहित द्रव्यो को ग्रहण नही करता।

जब जीव मे भाषण करने का सकल्प उत्पन्न होता है तब वह पूर्वोक्त प्रकार से भाषा-द्रव्यो को ग्रहण करता है। भाषाद्रव्यो का यह ग्रहण सान्तर अर्थात् समय का व्यवधान करके भी हो सकता है और निरतर अर्थात् लगातार भी होता है। सान्तर ग्रहण मे एक समय से लेकर असख्यात समयो तक का अन्तर पड सकता है। अगर जीव निरतर भाषा द्रव्यो को ग्रहण करे तो कम से कम दो समय तक और अधिक से अधिक असख्य समयो तक लगातार ग्रहण करता रहता है।

गृहीत भाषाद्रव्यों को जीव धारण करके नही रखता किन्तु जिस समय मे ग्रहण करता है उसके बाद दूसरे ही समय मे शब्द के रूप मे परिणत करके उन्हे त्याग देता है। इस प्रकार पूर्व-पूर्व समय मे ग्रहण और उत्तर-उत्तर समय मे त्याग करता रहता है। ग्रहण और त्याग की इस प्रक्रिया को इस प्रकार समझा जा सकता है—

प्रथम समय	द्वितीय स०	तृतीय स०	चतुर्थ स०	पचम स०	षष्ठ स०
ग्रहण	ग्रहण	ग्रहण	ग्रहण	ग्रहण	०
०	निसर्ग	निसर्ग	निसर्ग	निसर्ग	निसर्ग

स्पष्ट है कि प्रथम समय मे भाषा द्रव्यो का सिर्फ ग्रहण ही होता है और अतिम समय मे सिर्फ निसर्ग ही होता है। मध्य के समयो मे ग्रहण और निसर्ग दोनो चालू रहते हैं किन्तु जैसा कि कहा जा चुका है प्रथम समय मे गृहीत पुद्गलो का दूसरे समय मे, दूसरे समय मे गृहीत पुद्गलो का तीसरे समय मे, इसी प्रकार आगे के समयो मे ग्रहण और निसर्ग होता रहता है। जिस समय जो भाषा-द्रव्य ग्रहण किये जाते है उसी समय उनका निसर्ग नहीं किया जा सकता।

निसर्ग के दो प्रकार

वक्ता दो प्रकार के होते हैं—तीव्र प्रयत्नवान् और मद प्रयत्नवान्। निरोग, बलवान् एव गहरी लगन वाला वक्ता तीव्र प्रयत्नवाला कहलाता है और जो इससे विपरीत हो वह मद प्रयत्न वाला। तीव्र प्रयत्नवाला वक्ता भाषा-द्रव्यों को ग्रहण एव निसर्ग सबधी प्रयत्न के द्वारा खण्ड-खण्ड करके त्यागता है। उसके द्वारा त्यक्त भाषाद्रव्य सूक्ष्म और बहुत होने के कारण बहुसख्यक द्रव्यों को शब्द रूप मे वासित करते है और अनत गुण वृद्धि को प्राप्त होते हुए छहो दिशाओ मे लोकान्त तक जा पहुचते हैं। इसके विपरीत मद प्रयत्नवाला वक्ता जैसे पूर्व मे थे वैसे ही अखडित भाषाद्रव्यो को भाषा रूप मे परिणत करके त्यागता है। ये भाषाद्रव्य असख्यात अवगाहन-वर्गणाओ तक ही जाते है और विनष्ट हो जाते हैं अर्थात् शब्द रूप परिणति को त्याग देते हैं। ये सख्यात योजनो से आगे नही पहुचते।

तीव्र प्रयत्न वाले वक्ता के द्वारा भाषा द्रव्यों का जो भेदन किया जाता है वह पाँच प्रकार का होता है—

१ खण्डभेद—लोहे के टुकडे टुकडे कर देने के समान।
२ प्रतरभेद—अभ्रक के तह पृथक्-पृथक् करने के समान।
३ चूर्णिका भेद—चूरा-चूरा कर देना।
४ अनुतटिका भेद—ईख के छिलके को हटाने के समान।
५. उत्करिका भेद—किसी वस्तु को रगडकर पीस देने के समान।[1]

औदारिक वैक्रिय और आहारक शरीर वाला जीव कायिक प्रयत्न के द्वारा भाषा द्रव्यो को ग्रहण करता है और वाचनिक प्रयत्न के द्वारा उनका त्याग करता है।

जैनागमो मे भाषा की सत्यता असत्यता आदि के सबध मे भी अत्यत सूक्ष्म और मौलिक विचार प्रस्तुत किये गये हैं किन्तु उनका सबध धर्म-नीतिशास्त्र के साथ है, दर्शनशास्त्र के साथ नहीं। अतएव यहाँ उनका विचार नहीं किया गया है।

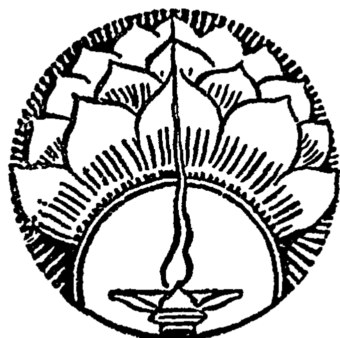


१ प्रज्ञापना सूत्र, भाषा पद, विशेषावश्यक भाष्य, तथा निर्ग्रन्थ-प्रवचन भाष्य।

'जैन आगमों में वनस्पतिविज्ञान'

श्री कन्हैयालाल लोढा,

बी० ए०, केकडी,



प्रारम्भिक —जैनदर्शन एक मौलिक दर्शन है और विश्व के अन्य दर्शनो से अपने मे अनेक विशेषताएँ रखता है। आज से सहस्रो वर्ष पूर्व जब वर्तमान युग के समान न वैज्ञानिक यत्र थे और न प्रयोगशालाएँ, उस समय इसने अनेक ऐसे विलक्षण सूत्रो व सिद्धान्तो का निरूपण किया जो तत्कालीन किसी भी अन्य दर्शन मे विद्यमान नही थे। वे सूत्र इतने मम व अर्थगाभीर्य लिए हुए थे कि अन्य दर्शनो के विद्वान् उनके अन्तस्तल तक नही पहुँच पाते थे। फलत उनकी ओर से उन सूत्रो का विरोध व खडन होता रहता था और यह खडन तब तक चलता रहा जब तक कि विज्ञान ने विकसित होकर उन सूत्रो का रहस्योद्घाटन कर उनकी सत्यता को प्रत्यक्ष प्रमाणित न कर दिया। उदाहरणार्थ 'स्याद्वाद' सिद्धान्त को ही लीजिये। जैनदर्शन प्रत्येक पदाथ को अनन्त गुणात्मक मानता है और उन गुणो मे परस्पर विरोधी गुणो को भी स्थान देता है। अन्य दर्शनकार दो विरोधी गुण एक साथ रह सके इससे सहमत नही थे परन्तु विज्ञान के 'द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के विरोधी समागम' (Unity of opposition) के सिद्धान्त ने आज इसे सत्य प्रमाणित कर दिया है। दूसरा उदाहरण लीजिये—जैनदशन पृथ्वी, जल, अग्नि, हवा आदि को अलग-अलग तत्व स्वीकार न कर समस्त पार्थिव या भौतिक द्रव्यो का एक ही उपादान तत्व 'पुद्गल-परमाणु' मानता है। अन्य दर्शनकार इससे सहमत नही थे परन्तु आज विज्ञान-जगत् मे यह सिद्ध हो गया है। यही बात जैनदर्शन के कर्म-सिद्धान्त, ग्रन्थिभेद, लेश्या आदि अन्य विलक्षण सिद्धान्तो के विषय मे कही जा सकती है।

जैनदर्शन के विलक्षण सिद्धान्तो मे 'वनस्पतिविज्ञान' भी एक है। जैनदर्शन वनस्पति को सजीव कहकर ही विराम नही लेता अपितु उसमे आहार, भय, मैथुन, परिग्रह, क्रोध, मान, माया, लोभ आदि वृत्तियो या प्रवृत्तियो का भी सविस्तार वर्णन करता है और आज उसकी सच्चाई विज्ञान से सिद्ध है। मैं इस विषय मे पाठको का ध्यान इस ओर आकृष्ट करना चाहता हूँ कि सर्वसाधारण जन वनस्पति को चल-फिर, बोल न सकने के कारण प्रथम तो सजीव मानने को तैयार ही नही हो सकते, यदि सजीव मान भी लें तो उसमे माया, मैथुन, परिग्रह आदि प्रवृत्तियो की विद्यमानता को तो स्वीकार कर ही नही सकते, क्योंकि उनका इन्द्रिय और बुद्धिज्ञान इसका समर्थन करने मे असमर्थ है। इस प्रकार जो ज्ञान मानव की इन्द्रियो और बुद्धि के साधारण ज्ञान की सीमा से परे हो उसका निरूपण वही कर सकता है जिसे अतिशय अर्थात् अतीन्द्रिय ज्ञान हो।

हर्ष की बात है कि आज विज्ञान ने मानव की ऐन्द्रियिक व बौद्धिक शक्ति मे असीम वृद्धि करने वाले यत्रो का निर्माण कर लिया है। फलत आज का मानव पदार्थों के उन रहस्यो को भी समझने मे सक्षम होता जा रहा है जो उसकी इन्द्रियो की सामान्य शक्ति की परिधि या पहुँच मे परे हैं। अब वह अतीन्द्रिय ज्ञानियो द्वारा प्रतिपादित वनस्पतिविषयक सूत्रो को यत्रो के माध्यम से किसी सीमा तक निरखने, परखने व समझने मे समर्थ है। प्रस्तुत निबध का क्षेत्र भी यही विषय है।

प्रश्न उपस्थित होता है कि आगम मे प्ररूपित विषय सर्वज्ञप्रणीत होने से स्वत प्रमाण है फिर उन्हे विज्ञान से प्रमाणित करने मे क्या लाभ है?

उत्तर में यह निवेदन है कि प्रथम तो प्रमाण के क्षेत्र मे प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमा और आगम इन चार प्रमाणो मे सबमे सबल प्रमाण प्रत्यक्ष ही है और विज्ञान किसी भी सिद्धान्त को प्रयोगशाला मे प्रत्यक्ष प्रमाणित होने पर ही अपने यहाँ स्थान देता है। अत किसी सिद्धान्त को विज्ञानसम्मत सिद्ध करना, प्रत्यक्ष प्रमाण से प्रमाणित करना है। इस प्रकार आगम प्रमाण को विज्ञान सम्मत सिद्ध करने से उसे प्रत्यक्ष प्रमाण का वल मिलता है और वह सबल बनता है। उसकी सत्यता सर्वसाधारण के लिए भी असदिग्ध हो जाती है। इससे आगमप्रणेता के प्रति श्रद्धा-भाव का उद्भव होता है। इनके अतिरिक्त मेरी ऐसी मान्यता है कि सम्यक्ज्ञान के समान ही सम्यक् विज्ञान भी साधना का सोपान या सहायक बन सकता है। कारण कि विज्ञान का उद्देश्य भी 'सत्य' का उद्घाटन करना है और धर्म या आत्मज्ञान का उद्देश्य भी सत्य का अनुभव करना है। अत दोनो का उद्देश्य एक ही है और वह है सत्योपलब्धि। सत्य धर्म है, सत्य ईश्वर है, यह अध्यात्मक्षेत्र मे भी मान्य है। अत सत्य की ओर आगे बढाने वाला 'विज्ञान' धर्म या आत्मज्ञान का विरोधी हो, यह सभव नहीं लगता है, प्रत्युत विज्ञान आत्मज्ञान मे पूरक व सहायक हो सकता है, यह अधिक सगत प्रतीत होता है।

इसी प्रसग मे यह शका उठायी जा सकती है कि विज्ञान के विकास ने प्रलयकारी विश्वयुद्ध का वातावरण व खतरा उत्पन्न कर दिया है अत यह कथन उचित प्रतीत नही होता कि विज्ञान आध्यात्मिक साधना में सहायक हो सकता है।

इस विषय में यदि यह कहा जाय तो अनुपयुक्त न होगा कि वर्तमान मे विज्ञान से जो विश्वयुद्ध का खतरा नजर आ रहा है इसका कारण विज्ञान का विकास नही है अपितु आध्यात्मिक विकास की प्रगति का धीमापन है। अत आज के युग की प्राथमिक आवश्यकता है आध्यात्मिक विकास की, न कि विज्ञान के विकास को अवरुद्ध करने की। इस तथ्य को विश्व के दो महान् देश रूस और अमेरिका ने समझ लिया है। आज दोनो ही देशो मे भौतिक-विज्ञान के विकास के साथ पुनर्जन्म परामनोविज्ञान, टेलीपैथी आदि अध्यात्म से सबधित सिद्धान्तो का जितना वैज्ञानिक अनुसधान हो रहा है, अध्यात्म-प्रधान देश मे उसका शताश भी नही हो रहा है। लक्षणो से ऐसा लगता है कि वह समय शीघ्र ही आने वाला है जब भौतिक विज्ञान, आध्यात्मिक ज्ञान से अनुप्राणित होकर एक नये ही विलक्षण मगलकारी रूप मे प्रकट होगा। इस विषय मे विश्वविख्यात विद्वान् विनोबा भावे का यह विचार द्रष्टव्य है कि 'विज्ञान् आत्मज्ञान के अतर्गत ही है उसका विरोधी नहीं, वह आत्मज्ञान का ही एक भाग है, वह अदर आत्मज्ञान के रूप मे प्रकट होता है तो बाहर विश्वज्ञान के रूप मे। अन्तत वह (आत्मज्ञान और विज्ञान) एक ही है।"[1]

सच तो यह है कि विज्ञान अभी विकास की प्रारम्भिक अवस्था मे है और वह अभी अपना विस्तार भौतिक क्षेत्र तक ही कर पाया है परन्तु अब उसकी कुछ शाखाएँ आध्यात्मिक क्षेत्र की ओर बढने लगी हैं, परामनोविज्ञान, पुनर्जन्म का अन्वेषण, आध्यात्मिक चिकित्सा (Sophrology) आदि इसके दिशासकेत हैं। अत जब विज्ञान का प्रवेश आध्यात्मिक क्षेत्र मे हो जायेगा तब भौतिक विज्ञान और आत्मज्ञान का विरोध मिटकर सामञ्जस्य हो जायेगा तथा दोनो परस्पर पूरक व सहचर बनकर प्रगति-पथ पर आगे बढने लगेंगे।



जैनागमविशेषज्ञो के लिए आत्मज्ञान और विज्ञान का एक क्षेत्र के अतर्गत रहना कोई नवीन या आश्चर्य-जनक बात नहीं है क्योंकि वे इस बात से पूर्वत ही परिचित हैं कि अध्यात्मप्रधान जैनधर्म के प्रवर्तक तीर्थंकरो ने परमाणुवाद के सूत्रो की निम्न स्तर पर रचना की है वहाँ तक आज का भौतिक (परमाणु) विज्ञान अभी तक भी नहीं पहुँच पाया है। इससे स्पष्ट प्रकट है कि अगर वे तत्वज्ञ 'तीर्थंकर' परमाणुविज्ञान को साधक के लिए आवश्यक न समझते तो अपने प्रवचनो मे उसका इतना विशद विवेचन कदापि न करते।

स्थिति यह है कि ज्ञान हो चाहे विज्ञान, जैनधर्म की दृष्टि मे वह स्वय मे हेय उपादेय अथवा सम्यक्-असम्यक् नहीं है अपितु उसका सम्यक्त्व, असम्यक्त्व उसके उपयोगकर्ता की सम्यक्-असम्यक् दृष्टि पर निर्भर करता है। एक ही विषय का ज्ञान सम्यग्दृष्टि के सम्यग्ज्ञान रूप और मिथ्यादृष्टि के असम्यक्ज्ञान रूप मे प्रकट होता है। चाहे ज्ञान हो या

---

१ भूदान-यज्ञ, १८ अगस्त १९६७ पृष्ठ ४४७।



विज्ञान, सम्यक्त्व होने पर ही साधना के क्षेत्र मे स्थान पाता है। असम्यक् होने पर तो विज्ञान ही नही ज्ञान भी अहितकर होता है।

इसी विषय पर दूसरी दृष्टि से विचारने से ज्ञात होता है कि सासारिक प्राणियो का जीवन न केवल भौतिक है, और न केवल आध्यात्मिक, प्रत्युत दोनो प्रकार का है। अत प्राणी के विकास या मुक्ति हेतु दोनो ही पक्षो पर प्रकाश डालना आवश्यक होता है। जैन आगमकारो से यह तथ्य छिपा नही था। उन्होने साधना के विकासक्रम का विवेचन करते हुए उक्त दोनो ही पक्षो के ज्ञान पर यथोचित प्रकाश डाला। आगम मे निरूपित वनस्पतिविषयक वर्णन भी इसी ज्ञान का एक भाग है।

यह भी प्रश्न उपस्थित किया जा सकता है कि आगमो मे वनस्पति के विषय का इतना विशद विवेचन क्यो किया गया? इससे साधनाक्षेत्र मे क्या लाभ?

इस विषय मे सक्षेप मे यही कहा जा सकता है कि आगम मे पृथ्वी, जल, वनस्पति आदि स्थावर जीवो पर सज्ञा, कषाय, लेश्या, उपयोग आदि जिन पचासो द्वारो (प्रकारो) से प्रकाश डाला गया, उन्ही द्वारो से द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय आदि अन्य समस्त जीवो पर भी प्रकाश डाला गया है। इस वर्णन के तुलनात्मक अध्ययन से प्राणी के विकास-क्रम और कर्मफल-प्राप्ति के समझने मे सहायता मिलती है तथा उनकी हिंसा के पाप से बचने मे भी सहायता मिलती है, जिसका साधना के क्षेत्र मे बडा महत्त्व व उपयोगी स्थान है।

जैनागमो मे वनस्पतिविषयक विपुल विलक्षण विवेचन सूत्रात्मक भाषा मे किया गया है, उसे समक्ष रखते हुए, उसका वैज्ञानिक विश्लेषण व समर्थन करना ही प्रस्तुत लेख का विषय है। इस प्रसग मे यह ज्ञातव्य है कि जैन आगमो मे वनस्पतिविषयक जो गूढ सूत्र आये है उनका आधुनिक विज्ञान की शाखा 'वनस्पतिविज्ञान' व उसकी उप-शाखाएँ भ्रूणविज्ञान (एम्ब्रियालाजी) आदि जैसा रहस्योद्घाटन कर रही हैं वह जैन ही नही जैनेतर जनता के लिए भी आश्चर्यजनक, रोचक, कौतूहलकारक तथा उपयोगी है। प्रस्तुत निबंध के पढने पर पाठक स्वय भी चमत्कृत हो इस सत्यता का अनुभव कर सकेंगे।

जैनदर्शन

जैनदर्शन विश्व का वर्गीकरण दो तत्वो मे करता है—"जीवा चेव अजीवा य एस लोए वियाहिए।"[1] अर्थात् लोक मे जीव और अजीव ये दो ही मुख्य तत्त्व है। विश्व की समस्त वस्तुएँ इन्ही दो तत्वो के मिश्रण के विविध-रूप व परिणाम हैं।

जीव तत्त्व के मुख्यत दो भेद कहे है—"ससारसमावन्नगा तसा चेव[2] थावरा चेव।" अर्थात् ससारी जीव दो प्रकार के है—त्रस और स्थावर। जो जीव चलते-फिरते है वे त्रस और जो जीव स्थिर रहते हैं वे स्थावर कहे जाते है। स्थावर जीवो के पाँच भेद है—

'पच थावरकाया पण्णत्ता तजहा—इदे थावरकाए, बभे थावरकाए, सिप्पे थावरकाए, समती थावरकाए, पायावच्चे थावरकाए।"[3]

पृथ्वी स्थावरकाय, जल स्थावरकाय, अग्नि स्थावरकाय, वायु-स्थावरकाय, और वनस्पति स्थावरकाय, ये स्थावरकाय के पाँच भेद हैं।

स्थावर के इन पाँच भेदो मे से इस निबन्ध का क्षेत्र केवल 'वनस्पतिकाय' के विवेचन तक ही सीमित है।

---

१ उत्तराध्ययन अ० ३६ गा० २

२ स्थानाग स्थान २ उ० १ सू० ५७

३ स्थानाग स्थान ५।३९४

साधारण जन, चलने-फिरने व बोलने न करने से वनस्पति सजीव है, इसके प्रति भी सन्देहशील होते हैं। अतः सर्वप्रथम वनस्पति की सजीवता पर वैज्ञानिक दृष्टि से विचार किया जाता है।

सजीवता

विज्ञान-जगत में वनस्पति को सजीव सिद्ध करने वाले वैज्ञानिकों में सर्वप्रथम नाम श्रीजगदीशचन्द्र बसु का आता है। उन्होंने सन् १९२० ई० में वनस्पति में चेतना अभिव्यक्त करने वाले ऐसे यन्त्रों की रचना की जो पौधों की गति-विधि को एक करोड़ गुणे बड़े रूप में दिखाते थे। साथ ही इनसे समय का बोध भी एक सैकेण्ड के सहस्रवें भाग तक होता था। ये यन्त्र स्वयंलेखी थे। इनसे पौधों की गतिविधि की क्रिया, प्रतिक्रिया, प्रक्रिया, स्वतः अंकित होती थी। इन यन्त्रों से उन्होंने स्पष्ट रूप से यह सिद्ध कर दिखाया कि वनस्पतियों और प्राणियों के तन्तुओं पर नींद, ताप, वायु, आहार आदि का प्रभाव बहुत कुछ एक तरह का ही पड़ता है।[1]

एक बार बसु जब पेरिस में वनस्पति को सचेतन सिद्ध करने वाले प्रयोग दिखा रहे थे, उस समय इन्होंने पौधे पर 'पोटासियम साइनाइड' विष का प्रयोग किया। यह विष इतना तीव्र होता है कि इसकी तिल भर जितनी-सी मात्रा मुँह में रखने से मनुष्य की तत्काल मृत्यु हो जाती है। परन्तु वहाँ उस विष के प्रयोग से पौधा मुरझाने के स्थान पर प्रसन्न हो गया। यह बात उन्होंने उपस्थित दर्शकों के समक्ष प्रत्यक्ष कर दी। बसु विचार में पड़ गये। परन्तु बसु को अपने सिद्धान्त की सच्चाई पर दृढ़ विश्वास था। अतः अनुमान से जान लिया कि यह विष न होकर कोई अन्य स्वादिष्ट भोज्य पदार्थ ही हो सकता है। अतः आपने तथाकथित उस अत्यन्त घातक विष को सबके समक्ष खा लिया और बतला दिया कि दवाखाने से आया हुआ यह विष विष नहीं चीनी है। दवाखाने से यह विष देने वाला व्यक्ति भी वहाँ दर्शकों में उपस्थित था। उसने उक्त तथ्य स्वीकार किया और विष के बदले चीनी देने के कारण का स्पष्टीकरण करते हुए कहा—'मुझे ज्ञात नहीं था कि विष का उपयोग इस प्रयोग में होने वाला है तथा यह सन्देह हो गया था कि विष-लेना व्यक्ति आत्मघात करना चाहता है, इसीलिए विष के बदले उसी वर्णवाली यह चीनी दी थी।'

बसु ने यह भी सिद्ध किया कि जीवित प्राणियों में पाये जाने वाले (१) सचेतनता (Irritability), (२) स्पंदनशीलता (Movement) (३) शारीरिक गठन (Organisation) (४) भोजन (Food) (५) वर्धन (Growth) (६) श्वसन (Respiration), (७) प्रजनन (Reproduction), अनुकूलन (Adoptation) (९) निस्सर्जन (Excretion), (१०) मरण (Death) आदि समस्त विशेष गुण वनस्पतियों में विद्यमान हैं। ये गुण निर्जीव पदार्थों में नहीं पाये जाते हैं, अतः वनस्पति निर्जीव पदार्थ न होकर सजीव है। आज विज्ञान-जगत् में वनस्पति विज्ञान, जीवविज्ञान की प्रमुख शाखा बन गयी है। आगे वनस्पति जीवों में पाये जाने वाले उपरोक्त विशेष गुणों पर क्रमशः प्रकाश डाला जा रहा है—

(१) सचेतनता—जीवित पदार्थों का प्रथम प्रमुख गुण है सचेतनता अर्थात् अनुभव या संवेदन करने की शक्ति। इस गुण के कारण ही जीव बाहरी वस्तुओं के प्रभाव का अनुभव करता है तथा उनके प्रति उचित क्रिया या प्रतिक्रिया करता है। वनस्पति में भी सचेतनता उसी प्रकार विद्यमान है जिस प्रकार पशु-पक्षी, मनुष्य आदि अन्य प्राणियों में। प्यासे पौधे को जल मिलते ही वह उसे पीने लगता है। उसके जलपान की इस क्रिया की आवाज पौधे के पास बैठे व्यक्ति को स्पष्ट सुनाई देती है। पौधों को जल मिलने पर उनके मुरझाये हुए फूल पुनः खिल उठते हैं, कुम्हलाये हुए पत्ते हरे हो जाते हैं।

प्रकाश, पानी, पवन, पृथ्वी की आकर्षण शक्ति, परिस्थिति-परिवर्तन, ताप आदि उत्तेजकों का प्रभाव वनस्पति पर विभिन्न प्रकार से पड़ता है। वनस्पतिविज्ञान में प्रकाश के प्रभाव को हिलियोट्रापिज्म (Heliotropism)



१. नवनीत फरवरी १९५७ पृ० ३५

पानी के प्रभाव को हाइड्रोट्रापिज्म (Hydrotropism) और पृथ्वी की आकर्षण शक्ति के प्रभाव को जियोट्रापिज्म (Geotropism) कहते हैं। प्रयोगों से इन उत्तेजकों के प्रभावों के प्रति वनस्पति की क्रिया-प्रतिक्रिया स्पष्ट देखी जा सकती है।

हिलियोट्रापिज्म —प्रकाश का प्रभाव वनस्पति के अलग-अलग अगों पर अलग-अलग प्रकार मे पड़ता है। तना प्रकाश की ओर बढता है, जडें प्रकाश से विरुद्ध दशा मे बढती हैं, पत्तिया अपने को प्रकाश-किरणों से समकोण पर रखने का यत्न करती हैं।

प्रयोग १ —पौधे लगे गमले को एक अधेरे कमरे मे रख दिया जाय और कमरे की खिडकी को थोडा-सा खोल दिया जाय तो कुछ ही दिनों मे यह दिखाई देगा कि पौधों के सिरे उसी ओर मुड गये हैं जिधर से प्रकाश आ रहा है।

प्रयोग २ —एक अकुरित चने को एक आलपिन द्वारा एक बोतल के कार्क मे जड-नीचे की ओर लटकती रखकर लगा दिया जाय। इस बोतल को उलट कर ऐसे बक्स मे बद कर दिया जाय जिसके ऊपर से कुछ छेदो द्वारा प्रकाश आता हो। इस स्थिति मे चने की जड ऊपर की ओर प्रकाश की तरफ होगी। कुछ दिनों के पश्चात् आपको ज्ञात होगा वह जड अपने आप ही मुड गई है और प्रकाश आने की विरुद्ध दिशा मे बढने लगी है।

पौधो की इसी प्रकृति के कारण उनके तने सदा भूमि मे ऊपर प्रकाश की ओर व जडें जमीन के अदर प्रकाश से विरुद्ध अधकार की दिशा मे बढती है।

हाइड्रोट्रापिज्म—जिधर जल की मात्रा अधिक मिलती है, जडें उधर ही मुड जाती हैं। यदि किसी पौधे को एक ओर जल से सीचा जाय और दूसरी ओर सूखा ही रहने दिया जाय तो पौधों का बहुत बडा भाग मुडकर जलवाले भाग की ओर बढने लगेगा।

जियोट्रापिज्म—जिस प्रकार मनुष्य पृथ्वी की गुरुत्वाकर्षण शक्ति से परिचित होने से पैर पृथ्वी की ओर और सिर अतरिक्ष की ओर रखता है, इसी प्रकार वृक्ष भी गुरुत्वाकर्षण शक्ति के प्रभाव से परिचित होते हैं। वे अपने पैर (जडें) धरती की ओर और धड (तना) अन्तरिक्ष की ओर रखते है। उदाहरण के लिए किसी पर्वत की ढलान वाली भूमि पर उगे हुए चीड, देवदारु आदि के किसी वृक्ष को देखिए। वह वृक्ष ढलानवाली सतह के साथ ९०° का कोण कदापि न बनायेगा अर्थात् वहाँ भी धरती की सतह के साथ ९०° का कोण बनाता हुआ सीधा ही खडा होगा। दूसरा उदाहरण लीजिये—एक पौधे युक्त गमले को खडे की बजाय आडा लिटा दीजिये। कुछ दिनों में आप देखेंगे कि पौधे का तना घुमाव लेता हुआ धरती से समकोण (९०°) बनाता हुआ सीधा ऊपर जा रहा है।

जिस प्रकार मनुष्य को जल, ताप आदि की अत्यधिक व अत्यल्प मात्रा असह्य होती है, उसी प्रकार वनस्पति को भी असह्य होती है। पौधा अधिक जल मे गल जाता तथा जल के अभाव मे सूख जाता है। अधिक धूप मे जल जाता तथा अधिक शीत मे ठिठुर कर ठूँठ बन जाता है। यही नही, वनस्पति मे आहार, भय, मैथुन, परिग्रह, क्रोध, मान, माया, लोभ, हर्ष शोक, निद्रा आदि चेतनत्व के अभिव्यजक सब गुण पाये जाते हैं। इनका विशेष वर्णन अगले प्रकरणो मे किया जायेगा।

स्पदनशीलता (Movement) जीव अपनी आतरिक शक्ति तथा प्रेरणा से स्पदन, हलन-चलन व गति करते है। जीव की इन्ही गतिविधियो को जीव-विज्ञान मे गति कहा जाता है। यह गति दो प्रकार की होती है—एक स्थान से दूसरे स्थान तक जाना व शरीर के अग-उपागों में स्पदन व सचरण होना। चर जीवो मे दोनो प्रकार की गतियाँ पाई जाती है। साधारणत वनस्पतियाँ अपने स्थान पर ही स्थिर रहती है। उनमें गति तने, पत्र, पुष्प आदि की वृद्धि के रूप मे या सवेदन से होने वाली हलन-चलन के रूप मे देखी जाती है। छुई-मुई के पौधे को छूते ही उसमे हलचल प्रारम्भ हो जाती है। उसकी पत्तियाँ सट जाती हैं व टहनियाँ झुक जाती हैं। सूर्यमुखी फूल सदा सूर्य की ओर मुँह किए रहता है और सूर्य के घूमने के साथ-साथ अपना मुह भी घुमाता रहता है। कमलिनी की कलियाँ सूर्यास्त के

समय स्वत बद हो जाती है और सूर्योदय होने पर पुन खिल उठती हैं। सनड्यू और वीनस-फ्लाइ-ट्रैप के पौवे अपने फूलो पर कीट-पतगो के बैठने ही उन्हे अपने नागपाश मे बाँध लेते हैं। इस शिकार-क्रिया की फुर्ती इतनी चामत्कारिक होती है कि एक सैकिण्ड के शताश मे ही खेल खत्म हो जाता है।"[1]

शारीरिक गठन (Organisation)—जीवधारियो के शरीर का गठन किसी विशेष व निश्चित आकार-प्रकार और रूप रग का होता है। एक ही जाति के जीव-जन्तु रूप व आकार मे एक से होते हैं। निर्जीव वस्तुओ मे यह बात नहीं होती है। उदाहरणार्थ निर्जीव पदार्थ कागज को लीजिये। वह किसी भी आकार-प्रकार, रूप-रग का व छोटा-बडा हो सकता है परन्तु सजीव कुत्ता न तो चीता के बराबर बडा ही और न चीटी के बराबर छोटा ही हो सकता है। साथ ही कुत्तो के शरीर का गठन व आकृति एक-सी व अन्य प्राणियो से भिन्न होती है। इसी प्रकार वनस्पतियाँ भी अपना निश्चित प्रकार शारीरिक गठन, रूप व आकार रखती हैं अर्थात् एक जाति की वनस्पति का रूप, पत्ते, फल, फूल आदि का गठन एकसा होता है।

भोजन और उसका स्वीकरण (Food and its assimilation)—प्रत्येक जीव शारीरिक शक्ति, वृद्धि व क्षतिपूर्ति के लिए भोजन करता है। भक्षित पदार्थों को शारीरिक तत्वो के रूप मे परिणमन कर उसे शरीर का अग बना लेने की क्रिया को स्वीकरण या अगीकरण कहते हैं। यह क्रिया जीवधारी मे ही पाई जाती है, जड वस्तु मे नही। वनस्पति में यह क्रिया प्रत्यक्ष देखी जाती है। वह मिट्टी, पानी, पवन आदि से भोजन ग्रहण कर शक्ति प्राप्त करती व अगों को पुष्ट करती है। यही नही, अन्य प्राणियो के समान वनस्पतियाँ भी दुग्धाहारी, निरामिषाहारी, मांसाहारी आदि कई प्रकार की होती हैं। इसका विशेष वर्णन 'आहार के प्रकार' प्रकरण मे देखने को मिलेगा।

प्रवर्धन (Growth)—जीवित पदार्थों के शरीर मे वृद्धि होती है। पशु-पक्षी आदि जीवो के बच्चे बढकर बडे होते हैं। यह वृद्धि आन्तरिक होती है। इस वृद्धि मे समय, आकार व आयतन की अधिकतम सीमा निश्चित होती है। यह गुण जड पदार्थों मे नहीं पाया जाता है, केवल जीवित प्राणियों मे ही पाया जाता है। वनस्पतियो मे भी यह गुण विद्यमान है। वटवृक्ष का एक नन्हा-सा बीज अपनी आतरिक शक्ति से बढकर विशाल वृक्ष बन जाता है। उसके फल, फूल, पत्ते एक निश्चित सीमा तक ही बढते हैं। उसके फल बटर न तो लौकी जैसे लम्बे ही होते है और न पैठे जैसे मोटे ही।

श्वसन (Respiration)—जैनदर्शन के समान विज्ञान की भी यह मान्यता है कि विश्व के समस्त सजीव प्राणियों मे श्वसन क्रिया विद्यमान है। इस विषय मे वैज्ञानिको का कथन है कि जीवित प्राणियो मे सतत क्रिया चलती रहती है। इस क्रिया के लिए शक्ति की आवश्यकता होती है। जीवो को इस शक्ति की प्राप्ति उनके द्वारा ग्रहण किए आहार के उत्पन्न आक्सीकरण मे होती है। आक्सीकरण के परिणामस्वरूप कार्बन डाइ-आक्साइड बनती है। यह एक विषैली गैस है जिसे शरीर से बाहर निकालना अत्यावश्यक है। जीवित रहने के लिए आक्सीजन प्राप्त करना व इससे उत्पन्न कार्बनडाइ आक्साइड बाहर निकालना नितान्त आवश्यक है। प्राणी हवा से आक्सीजन प्राप्त करने के लिए श्वास लेता है और उच्छ्वास के रूप मे कार्बन डाइ-आक्साइड शरीर मे बाहर फेंकता है। जीव-विज्ञानशास्त्र मे इसी श्वासोच्छ्वास प्रक्रिया को श्वसन कहा जाता है। सब जीवो मे यह क्रिया श्वसन-सस्थान (फेफडे, गलफडे आदि) द्वारा होती है और वनस्पति मे पत्तो आदि द्वारा होती है। हवा या जल के अभाव मे अन्य प्राणियो के समान वनस्पति मे भी श्वसनक्रिया मे अवरोध उत्पन्न होने पर मुरझा कर मर जाती है। वनस्पति मे श्वसन-क्रिया होती है, इसे निम्नांकित प्रयोगो से देखा जा सकता है।

प्रयोग १ —कांच के एक जार मे कोई पौधा रखिये। उसे किसी बडे बेलजार से ढकिए। बेलजार के अन्दर एक कांच के गिलास में चूने का साफ पानी भर कर रख दीजिए। बेलजार को काले कपडे मे ढककर रात भर पडा रहने दीजिए। प्रात चूने के पानी को हिलाकर देखेंगे तो वह दूधिया होगा। इसके दूधिया होने का कारण पौधे



१ विज्ञान लोक, अप्रैल १९६२ पृ० १४



के उच्छ्वास द्वारा छोड़ी गई कार्बन-डाई-आक्साइड गैस ही है।

प्रयोग २ —शीशे की चौड़े मुंह वाली बोतल में थोड़े से अंकुरित चने भरकर डाट इस प्रकार बंद कर दीजिये कि हवा उसमें न जा सके। उसे अन्धेरे में रख दीजिये। इसी प्रकार की दूसरी बोतल में कुछ अंकुरित चनों को पानी में उबालने के बाद भरकर उसी प्रकार रख दीजिये। दूसरे दिन पहली बोतल को खोलकर उसमें जलता हुआ पलीता छोड़िये। पलीता तुरन्त बुझ जायेगा। दूसरी बोतल में भी ऐसा ही कीजिये। इसमें पलीता जलता रहेगा। इसका कारण यह है कि पहली बोतल में जो अंकुरित चने थे, वे जीवित थे। अत उनकी श्वासोच्छ्वास क्रिया द्वारा कार्बन-डाई-आक्साइड गैस उत्पन्न हुई और इसी गैस की विद्यमानता से उसमें पलीता बुझ गया। दूसरी बोतल में जो अंकुरित चने थे वे उबाले जाने से मृत हो गये थे। इसलिए उनसे श्वासोच्छ्वास नहीं हुआ और कार्बनडाई-आक्साइड गैस पैदा नहीं हुई। इसीलिए पलीता जलता रहा। इससे सिद्ध होता है कि जीवित पौधों में श्वासोच्छ्वास क्रिया होती है, मृत में नहीं। यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि जैनागमों में उबलने से वनस्पति का मृत या निर्जीव हो जाना बतलाया गया है जो जीव-विज्ञान विषयक उपर्युक्त प्रयोगों से प्रत्यक्ष प्रमाणित होता है।

उत्पादन या प्रजनन (Reproduction) जीवधारियों में अपनी जाति को स्थायी रखने के लिए प्रजनन की शक्ति होती है। पक्षी अंडे देकर तथा पशु अपनी ही आकृति-प्रकृति के बच्चे पैदा करके अपनी जाति की वंश-परम्परा को बनाये रखते हैं। इसी प्रकार वनस्पति भी अपने बीज से अपने ही समान नये पौधों को जन्म देकर अपनी वंश-परम्परा को बनाये रखती है। इतना ही नहीं, अन्य प्राणियों के समान इनमें सम्भोग व गर्भाधान भी होता है। आज इस विषय का ज्ञान इतना अधिक विस्तृत हो गया है कि वनस्पति-विज्ञान में भ्रूण-विज्ञान नामक एक नई शाखा ही खुल गई है।

अनुकूलन (Adoptation) जीवधारियों में अपने आपको परिस्थिति के अनुकूल ढालने की अनुपम क्षमता होती है। घास में रहनेवाले जन्तुओं का रंग हरा या उसी घास के रंग का तथा मिट्टी में रहने वाले जन्तुओं का रंग मटमैला या उसी मिट्टी के रंग का होता है, जिससे वे जन्तु अपने को शत्रुओं से छिपाकर जीवन निर्वाह व रक्षा कर सकें। गिरगिट तो प्रकृति के अनुरूप रंग बदलने में विख्यात ही है। पौधों में भी यह अनुकूलन क्रिया होती है। रेगिस्तान के पौधों की पत्तियाँ सजल स्थानों के पौधों की अपेक्षा छोटी होती हैं, जिससे उनके द्वारा भाप बनकर कम पानी उड़े और वे कम पानी में जीवन-यापन कर सकें।

विसर्जन (Excretion) जीवों की शारीरिक प्रक्रियाओं के परिणामस्वरूप यूरिया, यूरिक अम्ल, कार्बन-डाई-आक्साइड आदि अनेक दूषित व मल पदार्थ बनते हैं। इनको शरीर से बाहर निकालने की क्रिया को विसर्जन या नीहार कहा जाता है। पशु-पक्षियों में यह क्रिया गुर्दा, त्वचा, फेफड़ों, आंतों आदि द्वारा होती है। पौधों में यह क्रिया पत्तियों द्वारा वमन, स्वेदन व झड़ने के रूप में होती है।

मृत्यु (Death) जीवित पदार्थ कुछ समय तक तीव्र वृद्धि करते हैं। फिर वृद्धि धीमी पड़ जाती या रुक जाती है और अन्त में वे मर जाते हैं। यहाँ मर जाने का अर्थ है जीवन-क्रियाओं का सदा के लिए बंद हो जाना। जीवों की अधिकतम आयु निश्चित होती है। वनस्पति भी जन्म लेती, बढ़ती व जीवन-क्रिया बन्द हो जाने पर मुरझाकर मर जाती है।

सजीवता-निर्देशक उपर्युक्त लक्षणम्—चेतनता, स्पंदनशीलता शरीर निर्माण, भोजन, श्वसन, प्रजनन, अनुकूलन, विसर्जन और मरण-केवल जीव-धारियों में ही पाये जाते हैं। निर्जीव पदार्थों में इनमें से एक भी नहीं पाया जाता है। इनमें केवल एक गुण या लक्षण की उपलब्धि या अभिव्यक्ति ही सजीवता का ज्वलन्त प्रमाण होता है। उपर्युक्त प्रमाणों से यह प्रत्यक्ष सिद्ध है कि वनस्पति में सजीवता-प्रदर्शक उक्त सभी लक्षण या गुण विद्यमान हैं। अत वनस्पति की सजीवता में सन्देह को स्थान नहीं रह जाता है।

जैनदर्शन की समानता —जैन आगमों में वनस्पतिविषयक विभिन्न वर्गीकरणों द्वारा जो वर्णन आया

है उनमें और उपर्युक्त वैज्ञानिक विवेचन में पर्याप्त समानता है, यथा-वनस्पति में चार पर्याप्तियाँ कही गई हैं —

तेसि णं भंते! जीवाणं कइ पज्जत्तीओ पण्णत्ताओ? चत्तारि पज्जत्तीओ पण्णत्ताओ, तंजहा-आहारपज्जत्ती, सरीरपज्जत्ती, इंदियपज्जत्ती, आणापाणुपज्जत्ती। — जीवाभिगम

अर्थात् पृथ्वीकाय के समान वनस्पतिकाय जीवों में भी आहार, शरीर, इन्द्रिय और श्वासोच्छ्वास ये चार पर्याप्तियाँ होती हैं। अभिप्राय यह है कि वनस्पतिकाय के जीव उत्पन्न होते ही सर्वप्रथम आहार करते हैं। आहार से शरीर का गठन व वर्धन होता है। शरीर के गठन से इन्द्रिय का प्रादुर्भाव होता है जिससे प्राणी में संवेदन-स्पंदन आदि क्रियाएँ होती हैं। पश्चात् जीवनक्रम व्यवस्थित चलाते रहने के लिए श्वासोच्छ्वास क्रिया प्रारम्भ होती है। इस प्रकार पर्याप्ति के कथन में सचेतनता के चार लक्षण आहारपर्याप्ति में आहार, शरीरपर्याप्ति में शारीरिक गठन एवं वर्धन, इन्द्रिय-पर्याप्ति में संवेदन व स्पंदनशीलता तथा श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति में श्वसन क्रिया रूप में विज्ञान-जगत् में कथित सजीवता के ६ लक्षण समाहित हो जाते हैं। जैन आगमों में वनस्पति के चार प्राण-स्पर्शेन्द्रिय, काय, श्वासोच्छ्वास और आयुष्य—कहे हैं। इसमें कथित आयुष्य प्राण की अन्तिम स्थिति ही विज्ञान में कथित "मरण" है। भगवतीसूत्र शतक १९ उ० ३ सू० ८ में वनस्पति गृहीत आहार के निस्सार पदार्थ का विसर्जन या नीहार करती है, यह स्पष्ट उल्लेख है। प्रजनन, मैथुनसंज्ञा तथा अनुकूलन की प्रवृत्ति मति-श्रुत ज्ञान की द्योतक है। मैथुन-संज्ञा और मति-श्रुत ज्ञान जैनागम वनस्पति में मानते हैं। इन सब का विशेष वर्णन आगे प्रसंगानुसार प्रकरणों में मिलेगा। आशय यह है कि जैनागमों में विज्ञान-जगत् में कथित वनस्पति की सजीवता के सभी लक्षणों का विशद वर्णन मिलता है।

उपर्युक्त वनस्पतिविषयक 'जैनागमों में आए सूत्रों' एवं "वैज्ञानिक विवेचन" के तुलनात्मक अध्ययन से यह स्पष्ट प्रकट हो जाता है कि वनस्पति को सजीव सिद्ध करने वाले जो तथ्य विज्ञानजगत् में अन्वेषणा से अभी सामने आए हैं, उनके बीज जैन-आगमों में पूर्व से ही विद्यमान हैं। जैनागमकार उनसे सहस्रों वर्ष पूर्व ही परिचित थे।

वनस्पतिकाय के भेद

"वणस्सइकाइया दुविहा पण्णत्ता, तंजहा-सुहुमवणस्सइकाइया य बायरवणस्सइकाइया य।"

—पन्नवणा प्रथम पद, सूत्र १३

अर्थात् वनस्पति काय के दो भेद हैं सूक्ष्म वनस्पतिकाय, बादर वनस्पति काय।

बायरवणस्सइकाइया दुविहा पण्णत्ता तंजहा-पत्तेयसरीरबायर-वणस्सइकाइया य, साहारणसरीरबायरवणस्सइ-काइया य। से किं तं पत्तेयसरीरबायरवणस्सइकाइया? पत्तेयसरीरबायरवणस्सइकाइया दुवालसविहा पण्णत्ता, तंजहा-रुक्खा, गुच्छा, गुम्मा, लता य वल्ली य पव्वगा, चेव तण-वलय-हरिय-ओसहि-जलरुह-कुहणा य बोद्धव्वा।

— पन्नवणा पद प्रथम

बादर वनस्पतिकाय दो प्रकार की है, यथा —प्रत्येक शरीर बादर वनस्पतिकाय और साधारण शरीर बादर वनस्पतिकाय प्रत्येकशरीर बादर वनस्पतिकाय के १२ भेद कहे हैं— (१) वृक्ष (२) गुच्छ (३) गुल्म (४) लता (५) वल्ली (६) पर्व (७) तृण (८) वलय (९) हरित (१०) औषधि (११) जलरुह (१२) कुहन।

आधुनिक वनस्पतिविज्ञान भी वनस्पति के उपर्युक्त वर्गीकरण को प्रायः पूरा का पूरा स्वीकार करता है। यही नहीं, पन्नवणासूत्र में उक्त प्रकरण में आये इन वनस्पतियों के उपभेदों को भी स्वीकार करता है। विस्तार के भय से यहाँ संक्षेप में ही उल्लेख किया जा रहा है।

प्रत्येकशरीरी जीव उन्हें कहा जाता है जो एक शरीर का स्वामी एक ही जीव हो अर्थात् प्रत्येक जीव का अपना शरीर पृथक्-पृथक् होता है, यथा —"जह सगलसरिसवाण, सिलेसमिस्साण वट्टिआवट्टा। पत्तेयसरीराण तह होंति सरीरसंघाया।

— पन्नावणा प्रथम पद





जैसे अनेक सरसत्र के दानो को गुड मे मिलाकर उसका लड्डू बनावें। वह लड्डू एक पिण्ड रूप मे रहता है। इसमे सरसो के सब दाने पृथक्-पृथक् रहते है, वैसे ही बाह्य मे एक ही पिण्ड रूप मे दीखने पर भी जो जीव अपना शरीर या व्यक्तित्व पृथक्-पृथक् रखते है वे प्रत्येकशरीरी कहलाते हैं। ये प्रत्येकशरीरी वनस्पतिकायिक जीव अनेक प्रकार के है। पूरे पौधे मे रहनेवाला एक जीव भी प्रत्येकशरीरी है और उसके भाग मूल, स्कध, शाखा, पत्र, पुष्प व फल मे व इनके विभिन्न भागो मे सयुक्त रूप मे रहनेवाले भी प्रत्येकशरीरी हैं। ये सख्या मे एक, दो, सख्यात, असख्यात, अनन्त हो सकते हैं। एक बार स्व० बाबू छोटेलालजी ने एक मडली सहित श्रीजगदीशचन्द्र बसु की प्रयोगशाला से इसका समाधान चाहा कि वृक्ष के पत्ते, फल, फूल, बीज आदि मे भी अलग-अलग जीव है या नही ? अनुसधानशाला मे यत्रो के माध्यम से पत्र-पुष्प आदि मे पृथक्-पृथक् जीव प्रमाणित किए थे। पौधे के अतिरिक्त पुष्प मे भी अपना पृथक्-पृथक् जीव है, यह निम्नाकित प्रयोग से सिद्ध होता है —

"एक तुरन्त के तोडे डठल सहित सफेद गुलाब को या अन्य किसी फूल को लाल पानी मे डठल डुबाकर रखिये। थोडी देर मे फूल की पखुडियो पर लाल रग जगह-जगह दिखलाई देगा।"[1]

उपर्युक्त प्रयोग से स्पष्ट प्रकट होता है कि यदि फूल में अपना पृथक् जीव न होता तो वह पौधे मे टूटने पर मृत हो गया होता और लाल रग का जलपान न कर सकता। फूल ही नही प्रत्येक बीज भी सजीव होता है। कहा भी है —

जोणिभूए बीए जीवो वक्कमइ सो व अन्नो वा।
जोवि य मूले जीवो, सो वि हु पत्ते पढमयाए॥ —पन्नवणा प्रथम पद सूत्र १४

अर्थात् योनिभूत बीज ही उत्पन्न होते हैं। जो बीज छेदन-भेदन करने व भूने जाने से निर्जीव हो गये है वे उत्पन्न नही होते हैं। जो, गेहू, मक्का, ज्वार, बाजरा, आदि अनाज के दाने योनिभूत बीज ही हैं और सचित्त(सजीव) हैं, जैन साधु इन जीवो को किसी प्रकार का कष्ट या सताप न हो एतदर्थ छूते भी नही है। आधुनिक वनस्पतिविज्ञान इन्हें जीव स्वीकार करता है। खाद्य-विशेषज्ञ डा० पिंगले का कथन है—"अनाज भी एक जीवित प्राणी है और उसकी सुरक्षा आदमी की तरह ही करनी चाहिये।"[2]

आगे आगमकार साधारण वनस्पतिकाय या निगोद जीवो का वर्णन करते हुए कहते हैं —

सुहुमा आणागिज्झा चक्खुफास न ते एति।
एगस्स दोण्ह तिण्ह व, सखेज्जा ण णपासउ सक्का। दीसति सरीराइ णिगोअजीवाणताण।
—पन्नणा, प्रथम पद

अर्थात् साधारण वनस्पतिकाय या निगोद के जीव इतने सूक्ष्म हैं कि वे चक्षु से अग्राह्य हैं और देखने मे नही आते है। तथा बादर निगोद के भी एक, दो, तीन, सख्यात व असख्यात जीवो का शरीरपिण्ड नही देखा जा सकता है परन्तु अनत जीवो का शरीरपिण्ड ही देखा जा सकता है।

जस्स मूलस्स भग्गस्स समो भगो पदीसइ। अणतजीवे उ से मूले जे आवण्ण तहाविहा। साहारणसरीर-बायर-वणस्सइकाइया अणेगविहा पण्णत्ता, तजहा-अवए, पणए, सेवाले, लोहिणी, णिहूस्थिभगाय।
—पन्नवणा, प्रथम पद

एत्थ ण बायरवणस्सइकाइयाण पज्जत्तगाण गणा पण्णत्ता, उववाएण, सव्वलोए, समुग्घाएण सव्वलोए,
—पन्नवणा, द्वितीय पद

---

१ प्रारभिक जीवविज्ञान पृ० १९७
२ नवभारत टाइम्स १२ अगस्त १९६७

अर्थात् जिस वनस्पति का मूल, स्कंध, शाखा, पत्ता, पुष्प व फल में से किसी को तोड़कर टुकड़ा करने से चक्राकार-गोलाकार समविभाग दिखाई दे वह अनन्तजीवधारी साधारण वनस्पतिकाय है। इसके अवक, पणक, शैवाल आदि अनेक प्रकार हैं। बादर वनस्पतिकाय भी सम्पूर्ण लोक में उत्पन्न होती है।

उपर्युक्त आगम-वचन से यह स्पष्ट है कि वनस्पति सम्पूर्ण विश्व के लोकाकाश में विद्यमान है। साधारण वनस्पतिकाय जीव अत्यन्त सूक्ष्म व शरीरधारी हैं तथा शैवाल, पणक, किण्व, अवक, कुहण आदि भी वनस्पतिकाय जीव हैं।

यहां प्रथम वनस्पति विश्व में सर्वत्र विद्यमान है, जैनदर्शन के इस सूत्र को लेते हैं। इस विषय में "आकाश में पौधे" शीर्षक वाला निम्नांकित उदाहरण द्रष्टव्य है —

यूनिवर्सिटी आफ कैलिफोर्निया, बर्कले अमरीका की एक विशाल संगोष्ठी में विख्यात औद्योगिक प्रतिष्ठान 'इलेक्ट्रो आप्टिकल सिस्टम' के डा० फ्रेड एम० जान्सन ने एक मौलिक शोधप्रबन्ध में पढ़ा है —"दूर अन्तरिक्ष में फैले धूलिकणों की बाबत यह आम धारणा है कि वे ग्रेफाइट अथवा बर्फ के बने हैं" अब बहुत सही नहीं मालूम देती। स्पेक्ट्रम-परीक्षा के आधार पर मेरी राय है कि ये कण क्लोरोफिल से बने हैं। सभी पेड़ पौधों का वह पदार्थ, जो उन्हें हरा रंग प्रदान करता है, क्लोरोफिल ही है।"[1]

सूक्ष्मवनस्पतिकाय के विषय में आगमों में आता है कि उस पर किसी भी पदार्थ का मारण, छेदन-भेदन, शीत-ताप का प्रभाव नहीं पड़ता है, इसी सिद्धान्त का समर्थक उद्धरण पठनीय है —

"अमरीका की अन्तरिक्ष-प्रयोगशालाओं द्वारा किये गये प्रयोगों से यह सिद्ध हुआ है कि प्लैवोबेक्टिन जीवाणु अति सूक्ष्म व अद्भुत प्राणी हैं क्योंकि न इनमें जन्म है, न मृत्यु है, न विकास है, न नाश। इन्हें जीवित रहने के लिए न भोजन की आवश्यकता है, न वायु की। वे बिना किसी यान के अन्तर्ग्रहीय यात्राएं कर सकते हैं। "फ्लैवोबेक्टिन" जीवाणुओं पर अधिक ताप और शीत का भी कोई प्रभाव नहीं पड़ता। ये अवातजीवी हैं। इनका भोजन साम्वीर है।"[2] जैनागमों में इसी से मिलता-जुलता वर्णन सूक्ष्म स्थावर व निगोद के जीवों का आता है। केवल विचारणीय है तो जन्म-मरण न होने का विषय है।

इसे समझने के लिए दर्शन में वर्णित एक विलक्षण तथ्य को ध्यान में लाना होगा और वह तथ्य यह है कि जैनदर्शन निगोद के शरीर के जन्म-मरण से निगोद के जीवों का जन्म-मरण नहीं मानता है अपितु उस शरीर के ज्यों के त्यों विद्यमान रहते हुए भी उस शरीर में स्थित अनन्त जीवों का जन्म-मरण निरन्तर होता रहता मानता है। इस दृष्टि से यदि वैज्ञानिकों को इन सूक्ष्मतम जीवों के शरीर नष्ट होते नजर न आये हों और इसलिए उनका जन्म-मरण न माना हो तो इसमें जैनागमों से कोई असंगति नहीं होती, प्रत्युत समर्थन ही होता है। वैज्ञानिकों द्वारा इन जीवों को एक ओर तो अनाहारी मानना और दूसरी ओर साम्वीय आहारी मानना जैनदर्शन की इस मान्यता को पुष्ट करने वाला है कि सूक्ष्म-निगोद के जीव आहारी हैं।



जैनागमों में निरूपित सूक्ष्म स्थावर जीवों की तुलना बैक्टेरिया जीवों से की जा सकती है। बैक्टेरिया जीवों के विषय में वैज्ञानिकों का कथन है कि "ये कीटाणु इतने छोटे होते हैं कि सूक्ष्म-दर्शक-यन्त्र से भी इनका पता लगाना कठिन है। संसार में कोई जगह ऐसी नहीं जहाँ ये न हों। ये कीटाणु हर किस्म के पानी में, हवा में, हर ऊंचाई पर, जमीन की गहराई तक, मरे हुए या जीवित जानवरों में और पौधों के अन्दर पाये जाते हैं। बहुत से कीटाणु तो हरएक ताप-क्रम पर रह सकते हैं।"[3] यह कथन जैनागमों में सूक्ष्म स्थावर जीवों के आये हुए विवेचन से

---

१ नवनीत अगस्त ६७, पृ० २१

२ नवनीत जून १९६३, पृ० ५९-६०

३ कृषि-शास्त्र पृ० १२५

मिलता है। बैक्टेरिया प्राणी आकृति-प्रकृति के अनुसार कितने ही प्रकार के हैं। इन में से सूक्ष्म गोलाकार आकृति के कीटाणु जिन्हें कोकाई (Cocai) कहते हैं[1] तथा चक्करदार आकृति के कीटाणु जिन्हें स्पाइरल (Spiral) कहते हैं।[2] सूक्ष्म या निगोद वनस्पतिकाय में गर्भित हो सकते हैं।

पन्नवणा-जीवाभिगम आदि आगमों में सेवाल-कुहण, काई-फफूंदी आदि को भी वनस्पतिकायिक जीव माना है। उनमें से कुछेक का नीचे संकेत रूप में विवेचन कर यह दिखाया जायगा कि सूत्रकारों का उक्त प्रतिपादन पूर्णत विज्ञ सम्मत है

प्रथम पणक जाति की वनस्पति का ही लिया जाता है—"पणक-मार्द्रेष्टक भूमि-कुड्योद्भवा कालिका"[3] अर्थात् ईंट भूमि, भीत की नमी में उत्पन्न हुई कालिमा-काई-पणक वनस्पति है। इस विषय में वनस्पतिविज्ञान का कथन है कि "दीवारों पर तथा नमी वाले स्थानों पर हरी-सी काई होती है वह फ्यूनरिया (Funaria) जाति की वनस्पति है।"

कुहण-आहारकाञ्जिकादिगतपुष्पिका।"[4] अर्थात् खाद्य पदार्थ व कांजी आदि में उत्पन्न हुई फफूदी (कुहण) कुहण जाति की वनस्पति है। "किण्व वर्षाकालोद्भवछत्राणि।"[5] वर्षा-काल में उत्पन्न छत्री-कुकुरमुत्ता किण्व वनस्पति है। अर्थात् जैनागम में अचार पर छाई जाने वाली काली-सी फफूंदी, १-२ दिन की बासी रोटी पर जमने वाला सफेद या काली रुई का सा पदार्थ, सड़ी-गली वस्तुओं पर आने वाली पुई को कुहण वनस्पति कहा है। वर्तमान वनस्पतिविज्ञान भी इन सब पदार्थों पर आने वाली पुई या फफूंदी को फन्गी (Fungi) वनस्पति मानता है।[7] तथा किण्व-कुकुरमुत्ता-खोप को भी फफूदी जाति की ही वनस्पति मानता है।[8]

"शैवालमुदकगतहरितवर्णा।[9] अर्थात् जल में रही हरे वर्ण वाली शैवाल भी वनस्पति है तथा "कवक शृङ्गाद्भववाङ्कुरा जटाकार।"[10] अर्थात् सींगों पर जटाकार अकुरित वनस्पति "कवक" कही जाती है। वर्तमान विज्ञान भी इन दोनों को तथा पन्नवणा सूत्र में पेड़ के तने व छाल में उत्पन्न वनस्पति को एलगी (Algae) जाति की वनस्पति मानता है। पशुओं के सींग आदि पर उत्पन्न होने वाली वनस्पतियों में सिगवियों-टिक्ली, जुकजोग्ला, हायड्रा विरिडस आदि मुख्य हैं।[11]

जैनदर्शन खमीर व मनुष्य के शरीर में भी निगोद जीव मानता है। आधुनिक कीटाणुवाद के जनक लुईपाश्चर ने खमीर को एक वानस्पतिक जीवकोष सिद्ध किया है। खमीर के पौधे की शारीरिक रचना अन्य वानस्पतिक जीवकोषों जैसी होती है। वह या तो गोलाकार होता है या अंडाकार। वजन में एक ग्राम का दस अरबवा हिस्सा होता है। खमीर का पौधा मिठास का बड़ा शौकीन होता है इसलिए फूलों के मकरंदों में तथा अंगूर-मेव के छिलकों पर सफेदी की जो हल्की-सी परत छायी रहती है वह खमीर के पौधों का जंगल ही होता है।

खमीर अनेक जाति का होता है। इसकी एक जाति मनुष्य की त्वचा पर भी उग आती है। उसे अंग्रेजी में यीस्ट कहा जाता है।"[12]

"ग्रीष्म ऋतु में आटे के खट्टा हो जाने, शर्बत के खट्टे पड़ जाने में भी एक सेल वाली फफूदी ही कारण है। पेनिसिलिन जैसी दवाएं भी फफूदी ही से बनती है।"[13]

आशय यह है कि जीवाभिगम व पन्नवणा सूत्र में साधारण-निगोद वनस्पतिकाय की ऐसी जातियों का उल्लेख मिलता है जो न तो चक्षुओं से दिखाई ही देती है और न बुद्धि जिन्हें वनस्पति मानने को ही तैयार होती है उन्हें

---

१ २ कृषि शास्त्र पृ० १२६

३ ४ ६ ९ १० आशाधर, अनगार धर्मामृत टीका

४ ७ ८ ११ देखिये हा० कृषि शास्त्र पृ० १२०-१२५।

१२ नवनीत मई ६० पृ० ३३

१३ प्रा० कृषि-शास्त्र पृ० १२५

आज वनस्पति-विज्ञान ठीक उसी प्रकार की वनस्पति मानता है जैसा कि आगमों में उसका निरूपण है। यह इस बात की साक्षी है कि इन सूत्रों के प्रणेता निश्चय ही सत्यद्रष्टा थे। विद्वान् इसे अपने शोध का विषय बनाकर आश्चर्यकारी परिणाम सामने ला सकते हैं।

संज्ञा

जैनदर्शन वनस्पति को मात्र सजीव स्वरूप की इति श्री नहीं कर देता है अपितु उसकी प्रकृति, प्रवृत्ति, प्रसूति का पचासों प्रकार से वर्गीकरण कर विस्तार से प्रकाश डालता है। जीवों में संज्ञाएं (इच्छाएं) होती हैं। अतः आगमों में संज्ञाओं का समाधीकरण करते हुए कहा गया है :—

> चत्तारि सण्णाओ पण्णत्ताओ तंजहा-आहारसण्णा, भयसण्णा, मेहुणसण्णा, परिग्गहसण्णा।
>
> —स्थानांग, स्थान ४ उ० ४ सूत्र ३

अर्थात् संज्ञाएं चार होती हैं, यथा —आहार-संज्ञा, भय-संज्ञा, मैथुन-संज्ञा, परिग्रह-संज्ञा। आगम में संसार के समस्त प्राणियों में उक्त चारों ही संज्ञाएं मानी गई हैं। वनस्पति भी इसका अपवाद नहीं है। प्रकृत में सर्वप्रथम वनस्पति की "आहार संज्ञा" का विवेचन किया जाता है।

आहार संज्ञा—साधारणतः इस बात से सब लोग परिचित हैं कि पौधे बढ़ते हैं परन्तु यह बात बहुत कम व्यक्ति जानते हैं कि पौधे की यह वृद्धि उसी प्रकार भोजन से होती है जिस प्रकार हमारे शरीर की वृद्धि भोजन से होती है। प्रत्यक्ष ही देखा जाता है कि पौधों का खाद, जल, वायु, प्रकाश आदि आहार मिलना बन्द हो जाने पर वे मुरझाते तथा सूखने लगते हैं।

जैनागमों में वनस्पति के आहारविषयक विविध पक्षों पर पर्याप्त प्रकाश डाला गया है। वनस्पति किस प्रकार का आहार करती है, उसका वर्णन करते हुए कहा गया है —

> "ओसन्न कारणं पडुच्च वण्णओ काल, नील जाव सुक्किलाइं, गंधओ सुब्भिगंधाइं, दुब्भिगंधाइं, रसओ तित्त जाव महुराइं, फासओ कक्खड मउय जाव निद्ध लुक्खाइं, तेसिं पोराणे वण्णगुणे जाव फासगुणे विपरिणामइत्ता, परिपीलइत्ता, परिसाडइत्ता, परिविद्धंसइत्ता, अन्ने अपुव्वे वण्णगुणे, गंधगुणे जाव फास गुणे उप्पाएत्ता आतसरीरखेत्तोगाढे, पोग्गले सव्वप्पणयाए आहारमाहारेंति।"
>
> —जीवाभिगम, प्रथम प्रतिपत्ति, सूत्र १३

अर्थात् वनस्पतिकायिक जीव स्वाभाविक कारण रूप से काला, नीला आदि सब वर्णों का, सुगन्ध-दुर्गन्ध का, तिक्त, कटु, मधुर आदि सब रसों का, कठोर, कोमल, रूक्ष, स्निग्ध आदि सब स्पर्श वाले पदार्थों का आहार ग्रहण करते हैं। ग्रहण किए हुए आहार के पूर्व के पुद्गलों के वर्ण, गंध, रस, स्पर्श का नवीन वर्ण, गंध, रस, स्पर्श में परिणमन करते हैं तथा सब आत्म प्रदेशों से आहार करते हैं।

आगमवर्णित उपर्युक्त तथ्य आज वनस्पति-विज्ञान-अनुसंधानशालाओं में किए गये प्रयोगों से प्रकट में आया है। प्रयोगों से यह ज्ञात हुआ है कि वनस्पति अपनी पत्तियों द्वारा हवा के साथ कार्बन डाइ-ऑक्साइड का आहार ग्रहण करती है, उसे वह प्रकाश संश्लेषण (Photosynthesis) क्रिया द्वारा ग्लूकोज (शक्कर) में परिणत करती है। फिर ग्लूकोज का कुछ भाग स्टार्च में व कुछ भाग कार्बोहाइड्रेट में परिणत होता है तथा शेष भाग जड़ों द्वारा प्राप्त किए पदार्थों को अनेक तत्त्वों में बदल देता है। उनमें से कुछ हैं—ऑक्सीजन, नत्रजन, हाइड्रोजन, सल्फर, फास्फोरस, कैल्शियम, पोटाशियम, मेगनेशियम, आयरन आदि। इनमें से ऑक्सीजन और हाइड्रोजन पानी के परिवर्तित रूप हैं, इसी प्रकार अन्य तत्त्व भी दूसरे पदार्थों के रूपान्तर हैं। तात्पर्य यह है कि वनस्पति में भोजन को विविध तरह से ग्रहण करने एवं उसका विश्लेषण करने की विलक्षण शक्ति है। इसी शक्ति से मिट्टी में सोडियम और पोटाशियम समसात्रा में मिले होने पर भी जड़ें सोडियम की अपेक्षा पोटाशियम को अधिक मात्रा में लेती हैं। जड़ें फास्फोरिक एसिड जैसे कठोर पदार्थ को-जो जल में भी कठिनाई से घुलता है-भी भोजन में ग्रहण करती हैं। काले व





लाल वर्ण का गोबर-मेगनी खाद, पीले वर्ण का सल्फर, श्वेतवर्ण का सुपरफास्फेट, हरे वर्ण का पत्तियो का खाद वनस्पति का आहार बनकर विविध वर्ण, गध, रस, स्पर्श मे परिणत होता है। पौधे इसी से पुष्ट तथा तुष्ट होते है।

वर्तमान मे प्राय सभी नगरपालिकाए मनुष्य के मल का खाद बनाती हैं और वह दुर्गंधित खाद पौधो को दिया जाता है तो वही खाद खरबूजे के पौधे के तने मे कठोर व रूक्ष स्पर्श मे, फूलो मे विविध वर्णो मे, फलो मे खट्टे, मीठे, कडवे आदि विविध रसो मे रूपान्तरित हो जाता है। तात्पर्य यह है कि वनस्पति मे आहार के पुद्‌गलो को विविध वर्ण, गध, रस व स्पर्श मे परिणमन करने की विलक्षण शक्ति है।

इसी प्रसग मे श्रीगौतम स्वामी भ० महावीर से पूछते है—

कम्हा ण भते ! वणस्सइकाइया आहारेंति कम्हा परिणामेंति ? गोयमा ! मूला मूलजीवफुडा, पुढवीजीव-पडिबद्धा तम्हा आहारेंति, तम्हा परिणामेंति, कदा कदजीवफुडा मूलजीवपडिबद्धा तम्हा आहारेंति, तम्हा परिणामेंति एव जाव बीया जीवफुडा फलजीवपडिबद्धा तम्हा आहारेंति तम्हा परिणामेंति। —भगवती शतक ७ उ० ३ सू० ३

हे भगवन् ! वनस्पतिकायिक जीव कैसे आहार करते हैं ? तथा किये हुए आहार को किस प्रकार परिणमन करते हैं ? भगवान फरमाते हैं—गौतम ! मूल को मूल जीव स्पर्शे हुए हैं परन्तु पृथ्वीजीव से प्रतिबद्ध हैं इसलिए मूल (जड) के जीव पृथ्वीकाय का आहार करते है और उसे शरीर में परिणमाते हैं। इसी प्रकार आहार में से कुछ आहार कन्द के जीव आकर्षित करते है। कन्द मे से स्कन्ध (तना) के जीव, स्कन्ध मे से शाखा के जीव, शाखा मे से प्रतिशाखा के जीव, प्रतिशाखा मे से पत्ते और फूल, फूल मे से फल और फल मे से बीज के जीव आकर्षित करते है और शरीर मे परिणमाते है।[1]

वनस्पति की आहार ग्रहण व उसे परिणमन करने की आगम मे प्रतिपादित उपर्युक्त प्रक्रिया का उद्‌घाटन वर्तमान मे विज्ञान के प्रयोगो ने कर दिया है। वनस्पति के आहारग्रहण का विवेचन आधुनिक वनस्पतिविज्ञानवेत्ता इस प्रकार करते हैं —

"मूल रोम मिट्टी के कणो से चिपटे रहते है और उन कणो मे मौजूद खनिज पदार्थों के पतले विलयन के सम्पर्क मे आते हैं। खनिजो का विलयन अन्त रसाकर्षण द्वारा मूल रोमो के भीतर पहुचता है। मूल रोमो की कोशिकाओ मे पदार्थों के गाढे विलयन सदा मौजूद रहते हैं। इन कोशिकाओ के बाहर मिट्टी के खनिज पदार्थों के बहुत पतले विलयन (घोल) रहते है। कोशिकाओ की दीवालें अर्धप्रवेश्य झिल्लियों का कार्य करती हैं। अन्दर का गाढा विलयन बाहर के पतले विलयन को रसाकर्षण के नियमानुसार अपनी ओर खीचता है जो अत रसाकर्षण द्वारा कोशिकाओ के भीतर पहुचता है। मूल रोमो की कोशिकाओं मे इस पतले विलयन के पहुच जाने से वहा का विलयन थोडा पतला हो जाता है। इसके पास ही अन्दर की कोशिका विलयन इसकी अपेक्षा गाढा रहता है। अत मूल रोम से पानी और पतला विलयन अन्दर की कोशिका मे रसाकर्षण द्वारा चला जाता है। अब इस अन्दर की कोशिका का विलयन इसके पास की अन्दर की दूसरी कोशिका के विलयन से पतला हो जाता है और फलस्वरूप यह विलयन अन्दरवाली दूसरी कोशिका मे चला जाता है। इस प्रकार कोर्टेक्स की एक कोशिका से दूसरी कोशिका में रसाकर्षण द्वारा पानी और पतला विलयन पहुचता जाता है और अन्त में जाइलम नलियो में पहुचता है। इन नलियो द्वारा फिर यह ऊपर तने और पत्तियो में पहुचता है। इस प्रकार कोशिकाओ के अन्दर, बाहर का पानी तथा खनिज पदार्थो का पतला विलयन रसाकर्षण क्रिया द्वारा पहुचकर तुरन्त तने की ओर आगे बढता जाता है और शाखा, प्रशाखा और फूल में होता हुआ फल तक पहुचता है।"[2]

---

१ आचार्यश्री अमोलक ऋषिजीकृत अनुवाद पृ० ८९८

२ प्रा० जीवविज्ञान।

उपर्युक्त कथन का तुलनात्मक अध्ययन यह सिद्ध करता है कि वनस्पति के आहार की क्रिया व परिणमन-विषयक विवेचन में वर्तमान वनस्पतिविज्ञान व आगमनिरूपित कथन में पूर्ण साम्य है।

वनस्पति के खाद्य पदार्थों का वर्णन आगम में इस प्रकार है —

"ते ण भन्ते ! जीवा किमाहारमाहारेंति ? गोयमा ! दव्वओ ण अणतपदेसियाइ दव्वाइ एव जहा पन्नवणाए पढमे आहारुद्देसए जाव-सव्वप्पणयाए आहारमाहारेंति। ते ण भन्ते ! जीवा जमाहारमाहारेंति त चिज्जति, ज नो आहारेंति त नो चिज्जति, चिन्ने वा से उद्दाइ पलिसप्पति वा ? हता गोयमा ! ते ण जीवा जमाहारेंति त चिज्जति ज नो जाव-पलिसप्पति वा। —भगवती शतक १६, उ० ३, सूत्र ७-८

हे भगवन् ! वे (पृथ्वी, जल वनस्पति कायिक) जीव कैसा आहार करते हैं ?

हे गौतम ! वे द्रव्य से अनन्त प्रदेशवाले पुद्गलो का आहार करते हैं। विशेष वर्णन पन्नवणा के प्रथम आहार उद्देशक के अनुसार समझना यावत् सर्व आत्मप्रदेशो द्वारा आहार ग्रहण करते हैं।

फिर गौतम स्वामी पूछते है—हे भगवन् ! क्या वे जीव जो आहार करते हैं उसका "चय" होता है, जिनका आहार नही करते हैं उनका चय नहीं होता है ? तथा जिन आहारो का चय होता है, वे आहार असारभाग रूप से बाहर निकलते है और सार भाग शरीर-इन्द्रिय रूप परिणमता है ? भगवान फरमाते हैं—हे गौतम ! हा, वे जीव जिन पदार्थो का आहार करते हैं उनका "चय" करते हैं, जिन पदार्थों का आहार नही करते हैं उनका चय नही करते हैं तथा जिन आहारो का चय किया है उसका सार भाग शरीर-इन्द्रिय रूप परिणमता है और असार भाग का नीहार या विसर्जन हो जाता है।"[1]

यहाँ सूत्र में आया 'चिज्जति" शब्द विशेष उल्लेखनीय है। "चिज्जति" शब्द चय अर्थ का द्योतक है। चय का अभिप्राय है अभीष्ट पदार्थों को चुनकर सचय करना। इस सूत्र का तात्पर्य यह है कि वनस्पति अपने ससर्ग में आए सभी पदार्थों को भोजन रूप में ग्रहण नहीं करती है अपितु उनमे से आहार योग्य पदार्थो का ही चयन कर उनका ग्रहण या सचय करती है। आहार के अयोग्य पदार्थों का चयन या सचय नही करती है—उन्हें छोड देती है। वनस्पति की इस विलक्षण चयशक्ति को वनस्पतिविशेषज्ञ भी स्वीकार करते हैं। उन्होंने प्रयोग द्वारा सिद्ध किया कि यदि मिट्टी मे सोडियम और पोटाशियम दोनो ही पदार्थ सममात्रा मे मिले हों तब भी वनस्पति सोडियम की अपेक्षा अपने रुचिकर भोज्य पदार्थ पोटाशियम का ही अधिक सचय करती है।

आगम के उपर्युक्त कथन मे से यह पहले दिखाया जा चुका है कि वनस्पति विविध द्रव्यो के स्कधो का आहार करती है। उस आहार का सार भाग शरीर रूप परिणमता है तथा शेष रहा हुआ निस्सार भाग दूषित मल के रूप मे शरीर से बाहर निकलता है। मलविसर्जन की यह क्रिया वनस्पति में उत्स्वेदन के रूप मे होती है। इसके विषय मे कहा है —"जिस प्रकार लोग अपने शरीर मे पसीने के रूप में पानी निकालते हैं, उसी प्रकार पत्तियों की सतह से पानी वाष्प बनकर उडा करता है। वृक्ष जडो द्वारा मिट्टी मे पानी सोखते है और जाइलम नलियो द्वारा उसे पत्तियों की सतह तक पहुचाते हैं। जहा से वह वाष्प बनकर उड जाता है।"[2] तात्पर्य यह है कि आज जीव-विज्ञान ने आगम-प्रतिपादित इस सिद्धान्त का पूर्ण समर्थन कर दिया है कि वनस्पति आहार करती है। उसे शरीर रूप परिणमन करती है तथा उसके शेष रहे वर्ज्य पदार्थ मल का विसर्जन या नीहार करती है।



वनस्पति किस ऋतु मे अधिक और किस ऋतु में कम आहार करती है, आगम मे इसका विवेचन इस प्रकार आया है —

1 भगवती सूत्र खण्ड ४, पृ० ८१ (प० बेचरदासजी के अर्थ का हिन्दी अनुवाद)

2 प्रा० जीव विज्ञान



वणस्सइकाइयाण भंते ! किं काल सव्वप्पाहारगा वा, सव्वमहाहारगा व भवंति ? गोयमा ! पाउस-वरिसार-त्तेसु ण एत्थ ण वणस्सइकाइया सव्वमहाहारगा भवंति, तयाणतरं च ण सरए, तयाणतरं च ण हेमंते, तयाणतरं च ण वसंते, तयाणतरं च ण गिम्हासु ण वणस्सइकाइया सव्वप्पाहारगा भवंति ।

—भगवती शतक ७ उ० ३ सूत्र १

हे भगवन् ! वनस्पति किस समय अधिकतम आहार करती है और किस समय अल्पतम आहार करती है ? भगवान् फरमाते है—हे गौतम ! पावस व वर्षा ऋतु में वनस्पतिकायिक जीव सबसे अधिक आहार करते हैं। तदनन्तर अनुक्रम से शरद्, हेमन्त, वसन्त व ग्रीष्म ऋतु में अल्प से अल्प आहार करते हैं।

आधुनिक वनस्पतिविज्ञानवेत्ताओं का कथन है कि वर्षा ऋतु में जल की अधिकता से वनस्पति के खाद्य पदार्थों से घोल व विलयन अधिक होता है और जडों द्वारा आहार ग्रहण की अधिक मात्रा विलयन की सुलभता पर निर्भर करती है। अतः आहार के विलयन की अनुकूलता व सुलभता होने से वर्षा ऋतु में वनस्पति अन्य ऋतुओं की अपेक्षा अधिक आहार करती है तथा ग्रीष्म ऋतु में जल की अत्यधिक कमी होने से आहार का घोल या विलयन अत्यल्प बनता है। अतः ग्रीष्म ऋतु में वनस्पति अत्यल्प आहार करती है।

आगम के उपर्युक्त तथ्य को स्वीकार करने पर सहज ही जो प्रश्न उठ सकता है उसे उठाते हुए गणधर गौतम श्रीमहावीर प्रभु से पूछते है —"जइ ण भंते ! गिम्हासु वणस्सइकाइया सव्वप्पाहारगा भवन्ति कम्हा ण भंते ! गिम्हासु बहवे वणस्सइकाइया पत्तिया, पुप्फिया, फलिया हरियगरेरिज्जमाणा सिरीए अतीव अतीव उवसोभेमाणा उव-सोभेमाणा चिट्ठ ति ? गोयमा ! गिम्हासु ण बहवे उसिणजोणिया जीवा य पोग्गला य वणस्सइकाइयत्ताए विउक्कमंति चयन्ति उववज्जन्ति। एव खलु गोयमा ! गिम्हासु बहवे वणस्सइकाया पत्तिया, पुप्फिया जाव चिट्ठन्ति ।"

—भगवती शतक ७ उ० ३ सू० २

हे भगवन् ! जब वनस्पतिकाय के जीव ग्रीष्म ऋतु में अत्यल्प आहार करते हैं तब फिर क्या कारण है कि ग्रीष्म ऋतु में बहुत सी वनस्पतियां अधिक फलती, फूलती व हरीतिमा को प्राप्त होकर अपनी शोभा को बढाती हैं ? हे गौतम ! ग्रीष्म ऋतु में (गर्मी की अनुकूलता के कारण) बहुत से उष्णयोनिभूत जीव व पुद्गल वनस्पतिकाय रूप उपजते है, अधिकता से उपजते है, विशेष रूप से बढते है, इसी कारण से ग्रीष्म ऋतु में बहुत से वनस्पतिकायिक पत्र, पुष्प आदि हरीतिमायुक्त होते हैं।"[1]

आगम के उपर्युक्त कथन की पुष्टि वनस्पति-विज्ञान-विशेषज्ञों द्वारा वनस्पति के आहार-संग्रह, प्रजनन आदि पर किए गए प्रयोगों से प्राप्त परिणामों से होती है। उन विशेषज्ञों का कथन है कि जब वर्षाकाल में आहार के विलयन की सुविधा व सुलभता अधिक होती है तब पौधे खूब ठूंस-ठूंस कर आहार करते ही नहीं, भरते भी हैं। उसमें से जितना आहार पौधों की वर्तमान आवश्यकता से अधिक होता है वह उनकी जडों, कन्दों व स्कन्धों में जमा हो जाता है तथा वसन्त व ग्रीष्म ऋतु में तापमान की वृद्धि से उत्पन्न उष्णता की समीचीनता से पौधों में सर्जन व प्रजनन शक्ति सक्रिय हो जाती है जिससे पौधे फलते-फूलते व हरीतिमा को प्राप्त होते हैं। उस समय उसी पूर्वसंचित आहार से पौधों को पोषण प्राप्त होता है। परिणामस्वरूप पौधे के अन्य अंग तो फलते-फूलते व हरे-भरे होते हैं परन्तु जड, कन्द, स्कन्ध पूर्व की अपेक्षा अधिक दुबले-पतले हो जाते हैं। इसका कारण पौधे की जड, कन्द आदि में संचित आहार के पुद्गलों का उष्णता व प्रजनन क्रिया के कारण विक्रमण[2] अर्थात् चलायमान होकर पौधे के अन्य अंगों में पोषण-रूप परिणत होना ही है।

तात्पर्य यह है कि जैन आगम के इस कथन का वर्तमान विज्ञान पूर्ण समर्थन करता है कि ग्रीष्म ऋतु में

---

१ भगवती सूत्र तृतीय खंड, पृ० १२ (प० बेचरदासजी कृत अनुवाद का हिन्दी रूपांतर)

२ मुनिश्री अमोलकऋषिजी ने विक्रमण का अर्थ चलायमान होना लिया है, यह अधिक उपयुक्त लगता है।

पौधों के अधिक फलने-फूलने व हरीतिमा से अपनी शोभा बढ़ाने का कारण उष्णता से पुद्गलों का चलायमान व प्रजनन शक्ति का सक्रिय होना है।

इसी प्रसंग में प्रश्न उपस्थित होता है कि वनस्पतिकायिक जीव अपना आहार किस अंग से करते हैं? इस विषय में निम्नांकित कथन द्रष्टव्य है—

भन्ते! किं आदिं आहारेंति मज्झे आहारेंति पज्जवसाणे आहारेंति? गोयमा! आदिंपि आहारेंति मज्झेवि आहारेंति पज्जवसाणे वि आहारेंति।

—जीवाभिगम प्रथम प्रतिपत्ति

हे भगवन्! वनस्पतिकायिक जीव क्या आदि से आहार करते हैं? क्या मध्य से आहार करते हैं? क्या पर्यवसान से आहार करते हैं? भगवान् फरमाते हैं—हे गौतम! वनस्पतिकायिक जीव आदि (जड़ कन्द) से आहार करते हैं मध्य (तना, शाखा, प्रशाखा आदि) से आहार करते हैं तथा अन्त (फूल-पत्ते आदि) से आहार करते हैं।

इसी प्रसंग में आगे कहा गया है कि वनस्पति "सव्वप्पणयाए आहारमाहारेंति"—सब प्रदेशों से आहार करती है। इससे यह फलित होता है कि आगमकार, वनस्पतिकायिक जीवों द्वारा जड़, कन्द, स्कंध, शाखा, प्रशाखा, फूल, पत्ते आदि सारे शरीर से आहार करना मानते हैं।

वनस्पतिविज्ञान में भी इसका स्पष्ट व विस्तृत विवेचन है कि वनस्पति अपने सारे शरीर से आहार करती है। वनस्पति अपने मूल रोमों द्वारा खनिज पदार्थों का विलयन व जल आदि तरल पदार्थों का आहार करती है। स्कंध, शाखा, प्रशाखा, पत्तों आदि अन्य अंगों के पर्णशाद द्वारा प्रकाश में बाहरी वातावरण से कार्बन-डाई-आक्साइड आदि अन्य गैसों का आहार करती है। वनस्पति द्वारा प्रत्येक अंग से आहार लेने की प्रक्रिया का वनस्पति-शास्त्र में विस्तार से वर्णन है। तात्पर्य यह है कि वनस्पति अपने सब अंगों से, सारे शरीर से, आहार करती है। यह बात वनस्पतिविज्ञान में शोध का विषय न रहकर सिद्धान्त स्वीकार कर ली गई है।

जैन-शास्त्रों में सामान्यतः आहार तीन प्रकार के कहे गये हैं, यथा—(१) प्रक्षेपाहार, (२) रोमाहार, (३) ओजाहार। इनकी व्याख्या इस प्रकार की गई है —

सरीरेणोयाहारो, तयाइ फासेण लोम आहारो।
पक्खेवाहारो पुण कवलिओ होइ नायव्वो॥

—चतुर्थ समग्र, गा० टी० ७ (भा० पृ० १०८)

अर्थात् शरीर द्वारा लिया जाने वाला आहार ओजाहार है। त्वचा के रोमों के द्वारा स्पर्शपूर्वक लिया जाने वाला आहार रोमाहार है तथा कवल (ग्रास) रूप से मुख द्वारा लिया जाने वाला आहार प्रक्षेपाहार है।[1] इनमें से वनस्पति में दो आहार—ओजाहार और रोमाहार ही माने गये हैं।[2] आधुनिक विज्ञान भी वनस्पति में दो प्रकार की आहारक्रिया मानता है—ऐसीमिलेशन और आसमासिस। ऐसीमिलेशन की ओजाहार से और आसमोसिस की रोमाहार से तुलना की जा सकती है। वनस्पतिविज्ञान में आहार की इन दोनों क्रियाओं पर हजारों ग्रंथ लिखे हुए हैं। इन क्रियाओं का संक्षेप में इस प्रकार समझा जा सकता है—

ओजाहार—आहार की इस क्रिया में पौधे अपनी पत्तियों, शाखाओं आदि शरीर के समस्त हरे भाग (पर्णशाद) द्वारा वायुमंडल में से कार्बनडाई-आक्साइड आदि गैसों को सोखते हैं। फिर वे शोषित पदार्थ स्टोमटा द्वारा जड़ों से आये भोजन के तरलीय भाग में घुल जाते हैं। तदनन्तर प्रकाश-संश्लेषण क्रिया द्वारा इसमें रासायनिक प्रक्रिया होती है जिससे शक्कर बनती है। इसी शक्कर का कुछ भाग स्टार्च में व कुछ भाग कार्बोहाइड्रेट में बदल जाता है व कुछ भाग प्रोटीन बनता है।



---

१ भगवती सूत्र प्रथम खंड, पृ० ६४ (पं० बेचरदासजी कृत अनुवाद का हिन्दी रूपांतर)

२ देखिये—पन्नवणा पद २८ उ० १



रोमाहार—आहार की इस क्रिया मे पौधे मूल (जड) रोमो द्वारा जमीन से जल तथा सोडियम, फासफोरिस एसिड, पोटास आदि खनिज पदार्थों का घोल सोखते हैं। वह घोल जाइलम नलियों द्वारा तने की तरफ जाता है जहा वह पौधे के ओजाहस द्वारा लिये गये कार्बन-डाई-आक्साइड आदि पदार्थों मे मिलता है। फिर इन दोनों आहार की प्रक्रियाओ द्वारा तैयार किए पदार्थों का मिश्रण रासायनिक प्रक्रिया द्वारा स्टार्च, प्रोटीन आदि भोज्य सामग्री का रूप ले लेता है। यही भोज्य-सामग्री वनस्पति का पोषण व सवर्धन करती है। इस प्रकार वनस्पति रोमाहार और ओजाहार इन दोनो ही क्रियाओ से भोजन-सामग्री जुटाकर अपना जीवन-सचालन करती है।

आगम मे भोज्य पदार्थों का वर्गीकरण करते हुए कहा है—

उरालियसरीरा जाव मणुस्सा सचित्ताहारावि, अचित्ताहारावि, मीसाहाराविं।

—पन्नवणा पद २८ उ० १ सूत्र २

औदारिक शरीर वाले मनुष्य पर्यंत जीव सचित्त, अचित्त और मिश्र, तीनो प्रकार का आहार करते हैं। इससे स्पष्ट है कि औदारिक शरीरधारी वनस्पति भी उक्त तीनो प्रकार का आहार करती है। पौधे जडो द्वारा, फास्फोरस, कैलसियम, सोडियम आदि निर्जीव खनिज पदार्थों का आहार लेते है, यह अचित्त आहार है। मिश्र आहार अचित्त (निर्जीव) और सचित्त (सजीव) इन दोनो पदार्थों के मिश्रण मे बना होता है। जड द्वारा लिए जाने वाले घुले विलयन प्राय मिश्र आहार ही होते है। वनस्पति द्वारा किया जाने वाला दुग्धाहार भी इसी श्रेणी का है। वनस्पतिविशेषज्ञो का कथन है कि "जिस प्रकार गाय, भैंस, बकरी आदि के दूध का आहार लेने मे मनुष्यो के शरीर का पोषण होता है, इसी प्रकार वनस्पतियो मे भी दूध मे पोषण होता है। नारियल का दूध पेडो मे वही काम करता है जो साधारण दूध पशु-शावको के लिए करता है। जिस प्रकार शावक के शरीर मे जाकर दूध मासपेशियो मे परिवर्तित हो जाता है, ठीक उसी प्रकार यह दूध पौधो मे जाकर काष्ठ आदि मे परिवर्तित हो जाता है और उनके ठोस भाग का पोषण और वर्द्धन करता है।[1] अमेरिका के कार्नेल विश्वविद्यालय के कृषिविभाग ने इस पर विशेष प्रयोग किए हैं। नारियल का दूध गाजर के पौधो को दिया गया। फलस्वरूप वे कद मे बीसो गुने अधिक बढ गये। अन्य पौधे भी औसत मे अधिक ऊचे हुए। जगली चेस्टनट, अग्रेजी अखरोट, मेवे आदि के दूधो के प्रयोगो का प्रभाव भी आश्चर्यजनक देखा गया। इन दूधो मे पौधो का विकास बडी शीघ्रता से होता है।"[2]

सजीव प्राणियो का आहार सचित्ताहार कहा जाता है। इस विषय पर प्रकाश डालते हुए आगम मे कहा है—

गोयमा! पुव्वभाव पण्णवण पडुच्च एव चेव, पडुप्पण्णभावपण्णवण पडुच्च णियमा एगिदियसरीराइ आहारेंति।

— पन्नवणा पद २८ उ० १

भगवान् फरमाते है—गौतम! पृथ्वी, पानी आदि स्थावरकायिक जीव पूर्वभावे अर्थात् आहार रूप परिणत होने के पूर्व की अपेक्षा एकेन्द्रिय मे लेकर पचेन्द्रिय तक का आहार करते हैं और वर्तमान की अपेक्षा अर्थात् पुद्गलो के आहार रूप परिणत होने की अपेक्षा एकेन्द्रिय का आहार करते हैं। दूसरे शब्दो मे स्थावरकाय वनस्पति भी एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चउइन्द्रिय एव पचेन्द्रिय जीवो का आहार करती है।

एकेन्द्रिय के पाच भेद हैं—पृथ्वी, पानी, पावक, पवन, वनस्पति। वनस्पति अपनी जडो से सजीव पृथ्वी व पानी का, पत्तो, शाखाओ आदि से उष्मा व वायु का आहार लेती है। यही नही वनस्पति वनस्पति का भी आहार करती है। ऐसी वनस्पतियाँ परोपजीवी (Perasites) वनस्पतियाँ कहलाती है। ये दो प्रकार की होती हैं, पूर्ण-पराश्रयी व अर्द्ध-पराश्रयी। पूर्ण-पराश्रयी वनस्पति वह है जो अन्य पौधो पर उगती है और अपना पूरा का पूरा भोजन उन वनस्पतियो से ही ग्रहण करती है। ये जिन वृक्षो पर उगती है उनमे अपनी पतली जडें घुसा देती है और उनका शोषण कर अपना भोजन बनाती हैं। अमरबेल ऐसी ही पूर्ण-पराश्रयी वनस्पति है। अर्द्ध-पराश्रयी वनस्पतिया

---

१ नवनीत अगस्त १९५७, पृ० ५२

२ नवनीत अप्रैल १९६२, पृ० ७५

वे हैं जो उगती तो दूसरे वृक्षों पर हैं परन्तु वे कुछ भोजन तो अपनी पत्तियों द्वारा हवा में से लेती हैं और कुछ भोजन अपनी जड़ें उन वृक्षों से लेती हैं जिन पर वे उगती हैं। चंदन, विसकम, बांदा लोरेन्थस, मिसलेटो आदि अर्धपराश्रयी वनस्पतियां हैं।

यह तो हुआ वनस्पति द्वारा किया जाने वाला एकेन्द्रिय-आहार का रूप। इसके अतिरिक्त वनस्पतियां बेइन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चउरिन्द्रिय जीवों का आहार भी करती हैं। दूसरे शब्दों में कहें तो वनस्पतियां हिलने-चलने जीव-जन्तुओं, कीट-पतंगों, पशु-पक्षियों व मानवों का आहार भी करती हैं। वनस्पति-विज्ञान में ऐसी वनस्पतियों को मांसाहारी वनस्पतियां कहा है। इनके विस्तृत वर्णन से वनस्पति शास्त्र भरे पड़े हैं।

मांसाहारी-वनस्पतियां—इनके सर्वाधिक जंगल आस्ट्रेलिया में हैं। इन जंगलों को पार करते हुए मनुष्य इन विचित्र वृक्षों को देखने के लिए ज्यों ही इनके पास जाते हैं, इन वृक्षों की डालियां और लताएं इन्हें अपनी लपेट में जकड़ लेती हैं जिनसे छुटकारा पाना सहज कार्य नहीं है। फलतः मनुष्य रोता, चिल्लाता, पुकारता है और अंत में दम तोड़ देता है।

आस्ट्रेलिया के दक्षिणी भाग में 'होरिन्टिल स्वृद्ध' नामक वृक्ष होता है। यह आगन्तुक पशु-पक्षी व मनुष्य को अपने क्रूर पंजों का शिकार बना लेता है। यहां तक कि यदि कोई घुड़सवार भी इसके पास से गुजरे तो यह उसे भी अपना आहार बना लेता है।[1]

कीट-भक्षी-पौधे—ये पौधे कीड़े-मकोड़े पकड़ कर खाते हैं। युट्रीकुलेरियड (Utricularied) इसी जाति का पौधा है। यह उत्तरी अमेरिका, आस्ट्रेलिया, दक्षिणी अफ्रीका, न्यूजीलैण्ड तथा कुछ अन्य देशों में पाया जाता है। यह हमारे यहां भी मिलता है। यह पानी का पौधा है और स्थिर पानी में उगता है। इसकी पत्तियां सुई के आकार की होती हैं और पानी पर तैरा करती हैं। पत्तियों के बीच में छोटे-छोटे हरे रंग के गुब्बारे के आकार के फूले रहते हैं। पौधा इन्हीं गुब्बारों से कीड़ों को पकड़ता है। प्रत्येक गुब्बारा पानी से भरा रहता है और उसके मुंह पर एक छोटा-सा छेद रहता है। उस छेद पर एक कपाट रहता है जो केवल अन्दर की ओर ही खुलता है। कपाट पर बाहर की ओर सख्त बाल होते हैं। ये बाल सचेतन होते हैं और इनमें हमारी त्वचा की भांति स्पर्श अनुभव करने की शक्ति होती है। जब कोई कीड़ा पानी में तैरता-तैरता गुब्बारे के पास पहुंचता है और कपाट के बालों को छूता है तो तुरन्त कपाट अन्दर की ओर खुल जाता है जिससे कीड़ा गुब्बारे के भीतर गिर जाता है। कीड़े के भीतर पड़ते-पड़ते ही कपाट फिर ऊपर उठकर गुब्बारे का मुंह बन्द कर देता है। इस प्रकार बेचारा कीड़ा गुब्बारे में बन्द हो जाता है। गुब्बारे के भीतर दीवारों से एक रस निकलता है जो कीड़े के मांस को घुला देता है। इस घोल को गुब्बारे के भीतर की दीवारें ये सोख लेती हैं।[2]

“बटर-वार्ट पौधा भी कीड़ों को पकड़ने व खाने की कला में बड़ा प्रवीण होता है। बटरवार्ट फूल बहुत सुन्दर होते हैं और इसके सम्पर्क में आने वाला बेचारा कीट यह कल्पना भी नहीं कर पाता कि इतने रंग-बिरंगे सुन्दर फूलों वाला यह पौधा प्राणघातक भी हो सकता है। इस पौधे का पत्ता पूर्ण रूप से बिछा हुआ होता है। उस पर एक चिपचिपा लेप रहता है। यह लेप स्वाद में मीठा होता है। परन्तु यह मीठा रस ही कीड़ों के लिए मारक विष है। जब कीड़ा इसके रंग-बिरंगे सुन्दर फूलों से आकृष्ट हो इसके पत्ते के पास आता है और पत्ते को छू जाता है तो वह चिपचिपा पदार्थ उस कीट को मजबूती से पकड़ व जकड़ लेता है। फिर ज्यों-ज्यों कीड़ा अपने को छुड़ाने का प्रयत्न करता है त्यों-त्यों पत्ता ऊपर और अन्दर की ओर मुड़ता जाता है और कीड़ा एक जीवित समाधि में बंद हो जाता है। फिर पौधा उसे अपने अंदर पचा लेता है।”[3]



१. नवनीत जुलाई १९६९
२. प्रा० जीवविज्ञान भाग २, पृ० २२
३. नवनीत मई ६२, पृ० ८२



मानव-भक्षी वृक्ष — "अफ्रीका महाद्वीप तथा मेडागास्कर द्वीप के सघन जगलो मे कहीं-कहीं मानवभक्षी वृक्ष मिलते हैं, जो मनुष्यों और जगली जानवरो को अपना शिकार बनाते हैं। कहा जाता है कि एक मनुष्य-भक्षी वृक्ष की ऊँचाई २५ फुट तक होती है। इस विशाल और भयानक लगने वाले वृक्ष की अनेक शाखाओं के अग्र भाग मे थाली के आकार के बडे फूल लगे रहते हैं। ये शाखाए १-२ फुट लबे काटो से भरी रहती है।

जब भी अधेरे मे कोई जानवर या मनुष्य असावधान होकर उस वृक्ष के पास मे गुजरता है तब वृक्ष की कांटेदार शाखाए अपने शिकार को चारो ओर मे घेर लेती है। काटे शरीर में घुसकर खून चूस लेते हैं और बाहर निकल जाते है। तब वृक्ष की शाखाए निर्जीव शरीर को छोड देती है। शिकार का खून चूस लेने पर फूलो का आकार बढ जाता है, किन्तु कई दिनों बाद वे फिर असली हालत मे आजाते हैं। इस प्रकार वृक्ष के नीचे ककालो का ढेर लग जाता है। कुछ वर्ष पूर्व साइकिल के द्वारा विश्व-भ्रमण करने वाले श्री मिश्रीलाल जायसवाल ने युगाण्डा के भयानक जगल में मनुष्य-भक्षी वृक्ष की शाखाओ मे फसे हुए एक बारहसिंघे को स्वय अपनी आखो से देखा था।"[1]

रैन हैटट्रम्पट, नेपन्थीज, जीन्सलापोर्टिया, वीनसफ्लाई ट्रैप, ड्रामरा, पिचर प्लान्ट आदि अन्य मासाहारी पौधे भी कीटो का शिकार करने व उन्हे पकडने मे वडे निष्णात होते है।

तात्पर्य यह है कि आज से ढाई हजार वर्ष पूर्व जिस काल मे विश्व के अन्य दार्शनिक व विचारक वनस्पति को सजीव मानने मे ही ननु-नच करते थे उस काल मे जैनदर्शन ने वनस्पति को न केवल असदिग्ध रूप मे सजीव ही स्वीकार किया अपितु इस पर पचासो दृष्टियो मे प्रकाश भी डाला। इनमें मे एक दृष्टि आहार के प्रकार व पदार्थो पर भी डाली गई। इसमे वनस्पति द्वारा आहार-ग्रहण क्रिया, आहार-परिणमन प्रक्रिया, नीहार, ओजाहार-रोमाहार तथा वनस्पति के एकेन्द्रिय होने पर भी पचेन्द्रिय जीवों तक का भोजन करना आदि के निरूपक सूत्र सर्वथा मौलिक व निराले ही थे। ये सूत्र विज्ञान के विकास के पूर्व विद्वानों को आश्चर्यजनक व कल्पनाप्रसूत लगते थे। परन्तु आज ये ही सूत्र विज्ञानजगत् मे प्रयोगों से परिपुष्ट व प्रत्यक्ष प्रमाणित होकर आगमप्रणेताओ के अतीन्द्रिय ज्ञानी होने की उद्घोषणा कर रहे हैं।

भय सज्ञा — भय दो रूपो मे व्यक्त होता है—(१) आगत आपत्ति से भयभीत होना, डरना, कापना, रोओं का खडा होना आदि (२) आपत्ति से बचने के लिए सुरक्षा का प्रबन्ध करना। सुरक्षा की भावना का उद्गमस्थल भय ही है।

वनस्पति मे 'भय' के दोनो ही रूप स्पष्ट अभिव्यक्त होते है। जिस प्रकार मनुष्य आपत्ति या प्रतिकूल परिस्थिति आते ही भयभीत हो जाता है और उसके निवारण या प्रतिरोध के लिए सुरक्षात्मक प्रयत्न करता है, उसी प्रकार वनस्पतिया भी आपत्ति आते ही भयभीत हो जाती है और रक्षात्मक प्रयत्न करती है। श्री जगदीशचन्द्र बसु ने यत्रो की सहायता से स्पष्ट दिखाया कि वनस्पति के किसी अग पर प्रहार होते ही या सहार का खतरा उपस्थित होते ही वह थर-थर कापने लगती है—उसके रोए खडे हो जाते है। छुई-मुई वनस्पति पर तो भय का प्रभाव बिना यत्रो के भी देखा जा सकता है। उसके किसी अग को अगुली छू जाय तो वह भयभीत हो जाती है और रक्षा के लिए सारे शरीर की पत्तियो को सिकोड कर अपने सब अग ढक लेती है। कश्मीर मे 'जवागल' नामक वनस्पति होती है यह हथेली पर रखते ही ज्वर-पीडित मनुष्य की तरह कापने लगती है।

जिस प्रकार मनुष्य अपने शत्रुओ से बचने के लिए विविध उपाय काम मे लेता है, ठीक उसी प्रकार पौधे भी अपने शत्रुओं से बचने के लिए विविध उपाय काम मे लेते है। बिच्छू जाति का पौधा अपनी रक्षा पत्तियो के रोओं से करता है। इन पौधो को छूने व खतरा पहुचाने वाले व्यक्ति की खाल मे ये रोए चुभकर एक प्रकार का विष फेकते हैं जो जलन पैदा करता है। उससे असह्य पीडा होती है। फलत व्यक्ति उसे छोड देता है और पौधा खतरे मे छुटकारा पा जाता

---

१ साप्ताहिक हिन्दुस्तान १७ जून १९६२, पृ० ५२

है।[1] चमचमी नामक वनस्पति को—जो प्राय तालाब के किनारे होती है—छूने से छूने वाले व्यक्ति के सारे शरीर में झुरझुरी चलने लगती है। अतः व्यक्ति इससे दूर ही रहते है और यह मनुष्य से परे रहती है। 'काक-तुरई' अपनी रक्षा दुर्गन्ध से करती है। इसे छू लेने से बहुत समय तक हाथ से दुर्गन्ध नहीं जाती है। इसलिए इसे छूना कोई पसंद नहीं करता है। हाथी सूंड़ के पौधे तो इतने तीक्ष्ण होते है कि स्पर्श मात्र से ही ऐसा अनुभव होता है मानो किसी ने सुइयाँ ही चुभो दी हो। साथ ही जलन भी इतनी पैदा करते है कि मनुष्य की तो क्या बात, पशु भी उनके निकट जाने का साहस नहीं कर पाते है।

जाल का पौधा अपनी रक्षा चिकनाई से करता है। यह चिकनाई एक लसदार द्रव की होती है और सारे पौधे पर छाई रहती है। हानिकारक कीड़े जब पौधे पर चढ़ते है तो उनके पाँव सतह पर छाई कोमल-सी चिकनी तह में फँस जाते हैं। इस संकट से मुक्ति पाने के लिए वे कीड़े पौधे को हानि पहुँचाये बिना ही रफूचक्कर हो जाते हैं।[2]

विषैली गैस द्वारा अपनी रक्षा करने वाला पौधा है 'उपस'। यह जावा के भीतरी भागों में घने जंगलों में झाड़ियों की जाति के पौधों के रूप में मिलता है। वनस्पति-शास्त्र में इसे 'एंटियारिस-टोक्सिकारिया' कहा जाता है। इसमें से रबर जैसा लसदार द्रव निकलता है जो पोटैशियम साइनाइड के समान अत्यन्त विषैला होता है। यह जहरीली गैस भी छोड़ता है जिससे चारों ओर का वायुमंडल विषाक्त हो जाता है। इसका दुष्प्रभाव पन्द्रह मील तक पड़ता है। मनुष्य इसे दूर से ही नमस्कार कर निकल जाते है। इन पेड़ों के विषाक्त प्रभाव से इनके आस-पास पशु-पक्षियों के शवों के ढेर व हड्डियों के ढेर से लगे रहते है। इस प्रकार ये पौधे अपने विषाक्त रस या गन्ध से अपनी रक्षा करते है। [illegible] के बोटानिकल-गार्डन मे आज भी ऐसे वृक्ष मिलते है।

जिस प्रकार पक्षी अपने बच्चों की सुरक्षा की दृष्टि से अपना घोंसला झूलने वाली स्थिति मे बनाते है, उसी प्रकार कुछ वृक्ष अपनी सुरक्षा हेतु हमेशा टीलों के कगार मे झूलने वाली स्थिति मे उत्पन्न होते है। "थानी-बन" ऐसे ही वृक्ष है। ये अफ्रीका के वन प्रान्तों के भीतरी भागों मे पाये जाते है। इन्हे वहा के निवासी "थुचान" कहते है। इसकी आकृति छतरीदार व आकर्षक होती है। ये अपने तने व डालियों पर भूमि की ओर मुह किए पाँच-पाँच इंच के लम्बे व मजबूत काँटे रखते है। इन काँटों की संख्या इतनी अधिक होती है कि तना व डालें पूरी तरह इनसे ढकी रहती है। इन्हे किसी प्रकार की हानि पहुँचाने का प्रयत्न करने वाले को इनके शूल जैसे काँटों का सामना करना होता है। अतः ये काँटों से अपनी सुरक्षा करते है।

पौधे केवल अपनी रक्षा के लिए ही नहीं अपितु अपनी सन्तान की रक्षा के लिए भी प्रयत्न करते देखे जाते है। 'लिनेरिया' इसी प्रकार का पौधा है। यह पथरीली चट्टानों मे उगता व पनपता है। चट्टानों के बीच कहीं छोटा सा छेद अथवा दरार-सी जगह मिलते ही वह उसमें अपनी जड़ें जमा लेता है और बाहर निकल कर चट्टान की दीवार पर अपना शरीर झुकाये स्वयं को जीवित रखता है। पर मात्र जीवित रहने से ही उसका स्वभावसिद्ध कार्य समाप्त नहीं हो जाता। अन्यान्य पौधों की भाँति उसके लिए भी यह आवश्यक है कि वंश-वृद्धि करे और सीधी खड़ी पथरीली दीवार पर वंश-वृद्धि करना कोई आसान काम नहीं है। लिनेरिया अपने इस कार्य को आश्चर्यजनक ढंग से सम्पन्न करता है। इसके लिए सबसे पहले मधुमक्खियों की बाट जोहनी पड़ती है। मधुमक्खियाँ इसके फूलों का पराग स्त्रीकेसर के साथ मिलाकर गर्भाधान करने मे समर्थ होती है। मधुमक्खियों को आकृष्ट करने के लिए इसे अपने फूलों की बहार दिखलानी पड़ती है और मधुमक्खियों की प्रतीक्षा मे चट्टान की दीवार से फूल कहीं सड़ न जायँ, यह सोचकर लिनेरिया अपने फूलों को यथासम्भव दीवार से अलग रखता है। देखा गया है कि लिनेरिया की जो शाखा दीवार से दूर होती है, उसी पर अधिकतर पुष्प खिलते है। बीज तैयार हो जाने पर पौधे के सामने यह समस्या आ जाती है कि वह उन बीजों को कहाँ डाले क्योंकि चट्टान की दीवार मे पौधों के बीज न ठहर सकते है,



१ नवनीत जुलाई ५७, पृ० ७६

२ कादंबिनी फरवरी ६७, पृ० ८५



न पनप सकते हैं। अतः वह अपनी सहज बुद्धि का सहारा लेता है। गर्भाधान की क्रिया ज्यों ही समाप्त होती है त्यो ही वह फिर दीवार की ओर झुकना शुरू कर देता है और दीवार के सहारे तब तक आगे बढ़ता है जब तक कि उसे बीजो को गिराने के लिए छेद या खाली जगह न मिल जाय। छेद मिलते ही वह उसके भीतर घुसकर अपने बीज डाल देता है। इस प्रकार बीजो को उगने व पनपने के लिए सुरक्षित स्थान पर रख निर्भय व निश्चिन्त हो जाता है।[1]

अभिप्राय यह है कि वर्तमान वनस्पतिविज्ञान जैनागमों में प्रतिपादित इस तथ्य का समर्थन करता है कि अन्य प्राणियो के समान वनस्पति भी भयाक्रान्त होती है और अपनी सन्तान की रक्षा के लिए विविध एवं विचित्र उपायो का सहारा लेती हैं।

मैथुनसंज्ञा —आगमो मे मनुष्य, पशु, पक्षी आदि के समान वनस्पति मे भी मैथुनसंज्ञा मानी है। आज के वनस्पतिविज्ञान ने न केवल इसे स्वीकार ही किया है अपितु इस विषय को एक अलग शाखा का रूप दे दिया है वह है "भ्रूण-विज्ञान"। भ्रूण-विज्ञान का सम्बन्ध वनस्पति की "मैथुनक्रिया" गर्भाधान व भ्रूण व बीज बनने आदि से है। भारतीय वैज्ञानिक प्रो० पंचानन माहेश्वरी विश्व के वनस्पतिभ्रूण वैज्ञानिकों में अग्रणी हैं। आपने प्रयोगो द्वारा आश्चर्यजनक तथ्य प्रकट किए हैं। पुष्पी पौधो के लगभग ८२ कुलो के पौधो में भ्रूण-परिवर्धन जो गया उनके अथक परिश्रम की साक्षी है।

वनस्पति-विज्ञान मे पौधो मे मैथुनक्रिया का विशद वर्णन है, उसे संक्षेप मे इस प्रकार समझा जा सकता है—

फूल ही वनस्पति के गर्भाधान व प्रजनन का मुख्य स्थान है। फूल मे मुख्य ५ भाग होते हैं—(१) पुष्प-वृन्त (Pedicel) —फूल का डंठल (२) बाह्य दलपुंज (Calycse)—इसमें स्थित पत्तियां फूल के सब से नीचे या बाहर की ओर रहती हैं व फूल के भीतरी भागों की रक्षा करती हैं (३) दल पुंज (Carolla)—इसमे स्थित पत्तियाँ या कलियां चित्ताकर्षक चटकीले रंग की होती हैं। ये फूल के जननांगो की रक्षा करती तथा अपनी सुन्दरता से कीट-पतंगों को आकृष्ट कर परागण कार्य मे सहायता करती हैं (४) पुमंग-पुंकेसर (Androecium)—यह पुष्प का नर-जनन अंग होता है, यह चटकीली कलियो के भीतर की ओर होता है। इसके दो भाग होते है पुंतन्तु और पराग कोश। पुंतन्तु परागकोश को ऊपर उठाये रखते हैं। परागकोश मे पराग कक्ष होते है जिनके फटने पर अगणित पराग-कण बाहर निकलते है। (५) जायांग-गर्भकेसर (Gynaecium)—यह फूलों के बीचो-बीच होता है। इसके तीन भाग होते है—(१) अंडाशय (Overy), (२) वर्तिका (Style), (३) वर्तिकाग्र (Stigma)। जायांग का निचला चौड़ा व चपटा भाग अंडाशय कहलाता है। यह फूल का सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण भाग है। इसी मे बीजाण्ड-भ्रूणधानी आदि होते है। इसी से एक लंबी नली निकलती है जिसे वर्तिका या योनिनली कहते हैं। उसके सिरे पर एक गोल घुंडी सदृश रचना होती है जिसे वर्तिकाग्र या योनिछत्र कहते है।

पुंकेसर के परागकणो का स्त्रीकेसर के योनिछत्र मे सम्मिलन, संगम या संयोजन ही वनस्पति की प्रजनन-क्रिया है। परागकण योनिछत्र पर आकर गिरते है और योनिनली मे होते हुए अंडाशय-गर्भाशय मे चले जाते है, वहा फल और बीज बनते है।

वनस्पतिविज्ञान मे परागकोश से परागकण का योनिछत्र तक पहुंचने की क्रिया को सेचन (Polination) कहा जाता है। यह दो प्रकार की होती है—स्व-सेचन और पर-सेचन। जब किसी फूल का परागकण उसी फूल के योनिछत्र तक पहुचता है तो वह स्वसेचन कहलाता है, जैसा कृष्णकोली, सूर्यमुखी आदि फूलो मे होता है। जब किसी फूल का परागकण दूसरे फूल के योनिछत्र पर पहुचता है तो उसे पहुंचने मे वायु, कीट-पतंग, जानवर, जल आदि अन्य माध्यमो की आवश्यकता होती है। यह पर-सेचन कहलाता है। वायु-सेचन, गेहूँ, जौ आदि मे, कीटसेचन-सुन्दर-सुगंधित

१ नवनीत जुलाई १९५७ पृ० ५३

फूलों मे, जलसेचन वेलिसनेरिया आदि जल मे लगे पौधो मे तथा जन्तुओं द्वारा सेचन-कदव आदि पेडो के फूलो मे होता है।

गर्भाधान —सेचन क्रिया द्वारा परागकण योनिनली के मार्ग से गर्भाशय (Overy) मे पहुचते हैं। वहा प्रत्येक परागकण एक रजकण मे जुडता है। परागकण और रजकण का यह मिलन ही गर्भाधान है। गर्भाधान के फलस्वरूप बीजो की उत्पत्ति होती है। गर्भाशय मे जितने रजकण होते हैं उनमे जितने मे परागकणो द्वारा गर्भ स्थिति हो जाती है उतने ही बीज गर्भाशय मे पैदा होते है।

यदि परागकणो या रजकणो से मिलन न हो तो बीज नही बन सकते। फूल तीन प्रकार के होते हैं नरलिंगी, मादालिंगी व उभयलिंगी। पपीता खरबूजा, रेडा, लौकी आदि मे नरलिंगी और मादालिंगी फूल अलग-अलग मे होते हैं और मादा फल पैदा करने वाले पेड अलग होते है। इस प्रकार के फूलो मे गर्भाधान परसेचन से ही होता है। यही कारण है कि पपीते के बगीचे मे मादावृक्षो के साथ यदि कोई नरवृक्ष न हो तो वे फलते ही नही है। गुलाव, धतूरा, सरसो, सेम आदि उभयलिंगी हैं। इनमे एक ही फूल मे पुंकेसर तथा स्त्रीकेसर दोनो ही मिलते हैं।

मैथुन या गर्भाधान की यह क्रिया केवल फूल देने वाली वनस्पतियो मे ही नही अपितु बिना फूल देने वाली वनस्पतियो मे भी होती है। ऐसी वनस्पतियाँ मुख्यत तीन प्रकार की हैं—थैलोफाइटा,ब्रायोफाइटा और टेरीडोफाइटा। थैलोफाइटा में सैवाल, काई तथा फफूदी मुख्य हैं। सैवाल मे नरयुग्मक और स्त्रीयुग्मक का सायुज्य होता है, फफूदी मे धन तथा ऋण अणुओ का। ब्रायोफाइटा मे नर और नारी के अग अलग-अलग होते है। इन्ही के मिलन से स्पोरेनिजियम द्वारा प्रजनन होता है। टेरीडोफाइटा मे भी इसी से मिलती-जुलती प्रक्रिया से प्रजनन होता है।

तात्पर्य यह है कि फूल और बिना फूल वाली सब ही जातियो की वनस्पति मे मैथुन व प्रजननक्रिया विद्यमान है आज यह वनस्पतिविज्ञान मे निर्विवाद मान्य है। इससे जैनागम मे प्रतिपादित इस सिद्धान्त की पुष्टि होती है कि वनस्पति मे मैथुन सज्ञा है।

परिग्रह सज्ञा —"मुच्छा परिग्गहो वुत्तो।" — दश० अध्ययन ६ गाथा २१

अर्थात् पदार्थों मे मूर्च्छा या ममत्व भाव रखना, एव उनका सग्रह करना 'परिग्रह' है। वनस्पति मे परिग्रहवृत्ति भोजन-सग्रह रूप मे पाई जाती है। इस विषय के विज्ञान-जगत् मे महत्वपूर्ण तथ्य सामने आए हैं जो द्रष्टव्य है।

वैज्ञानिक समर्थन — (१) पतझड के दिनो मे जब पेडो की पत्तियाँ झडकर गिर जाती हैं तब उनके भोजन बनाने का कार्य रुका रहता है। उस समय यदि पेडो के पास पहले से इकट्ठा किया हुआ भोजन न हो तो वे उन दिनो अपना जीवन धारण न कर सकें। ऐसे अवसरो के लिए बडे पेडो के तनो मे भोजन एकत्रित रहता है जिसके द्वारा वे जीवित रहते है। इसी प्रकार बहुत-सी ऐसी प्रतिकूल परिस्थितियाँ आती हैं जिनमे पेडो को अपना जीवन सुरक्षित रखने के लिए अपने किसी भाग मे विशेष रूप से भोजन इकट्ठा करना पडता है।

(२) एक दूसरा कार्य, जो एकत्रित भोजन द्वारा पेड करते हैं, वह है प्रजनन कार्यो का सम्पादन करना। फूलो का विकसित करने तथा फल और बीज पैदा करने के लिए पेडो को बहुत ऊर्जा की आवश्यकता पडती है जो उन्हे सग्रहीत भोजन द्वारा प्राप्त होती है। पेड बीजो मे भोजन एकत्रित करते है जो बीजो के अकुरण-काल मे उनकी आवश्यकता पूर्ति करता है।

(३) बीजो के अतिरिक्त तने तथा जड मे विशेष रूप मे भोजन सग्रहीत कर पेड उनके द्वारा वर्धी प्रजनन का कार्य करते हैं।

(४) जडो तथा तने के अतिरिक्त पेड प्राय पत्तियो मे भी अपना भोजन एकत्रित करते हैं। वद गोभी मे पत्तियो मे भोजन इकट्ठा रहता है जिसके कारण वे मोटी हो जाती हैं। प्याज की गाँठ के भीतर भी पत्तियो मे ही भोजन एकत्रित रहता है जिसके सबब से पत्तियाँ मोटी तथा फूली हुई रहती हैं।





पेड़ों के बीजो के सग्रहीत भोजन मे स्टार्च, चर्बी तथा प्रोटीन तीनो प्रकार के पदार्थ मिलते हैं। जड़ तथा तना के सग्रहीत भोजनो मे स्टार्च विशेष रूप मे मिलता है। चर्बी भी कुछ मात्रा रहती है किन्तु प्रोटीन बहुत ही कम पायी जाती है। इस प्रकार हमे मालूम हुआ है कि पेड़ बीज, जड़, तना और पत्तियों मे भोजन सग्रहीत करते है।[1]

बीज मे भोजनसामग्री सग्रह करने वाले पौधो मे नारियल को लिया जा सकता है। यह अपने भीतर इतनी पर्याप्त मात्रा में भोजन-सामग्री सग्रहीत रखता है कि इसका पौधा जब तक गोले की तीन आंखो मे से एक को फाड़कर अपनी जड़ जमीन मे नही जमा लेता है, तब तक उसके भोजन के लिए गोले का सफेद, नरम, पौष्टिक गूदा विद्यमान रहता है। अखरोट, बादाम, सेम, मटर के पौधे भी अपनी सतान के लिए पौष्टिक खाद्यसामग्री सग्रह कर पैतृक सपत्ति के रूप मे अपने बीज मे छोड़ जाते है। यह पैतृक धन छिलको के नाते सुरक्षित रहता है। एक भी फूलने वाला पौधा ऐसा नही है जो अपने बच्चे के लिए बीज रूप मे पर्याप्त भोजनसामग्री इकट्ठी न कर लेता हो।[2]

तने मे खाद्य पदार्थ सग्रह करने वाली वनस्पतियो के अनेक प्रकार है, यथा — (१) कुकविला-ग्लाडू, अनन्नास, रामबाण आदि (२) राइजाम-अदरक-हल्दी आदि (३) घुइयां-बंडा, जमीकद, धनकद आदि (४) ट्यूबर-आलू, सतावर, डेहलिया आदि। ये पौधे भोजन-सामग्री अपने तने मे विभिन्न प्रकार से सचय करते है। इनके तने भूमि के अन्तर्गत जड़रूप मे रहते हैं।

पत्तियो मे भोजन-सामग्री सग्रह करने वाली वनस्पतियों मे प्याज, बदगोभी आदि है। अनेक जाति के पौधो की पुरानी पत्तियाँ झड़ने के पूर्व ही नवीन पत्ते पैदा करने वाली कली मे वह सब सामग्री सग्रह करके रखती है। जिससे समय आने पर पत्ती उपयोग कर अपने को विकसित कर सके।

फूलो मे भोजन-सामग्री सग्रह करने वाली वनस्पतियो मे नागफनी जाति के काटेदार पौधे मुख्य हैं।

मनुष्यो की ही भाति कुछ पौधे सुरक्षा की दृष्टि से अपनी सग्रहीत सपत्ति को भूमि मे छिपा देते है। गाजर, मूली, शलजम, शकरकद आदि इस प्रकार की वनस्पतिया है। परन्तु उनका भूमिगत भाग उनकी जड न होकर तना ही होता है। उन पर आंखे होती है वे उनके बीज व सतानें है और आंखो के आसपास के चारो ओर का भाग पौधो के द्वारा इनके लिए सचय की हुई भोजनसामग्री है। उसका सेवन करके ये सताने-नये पौधे उसी प्रकार जीते व बढ़ते हैं, जिस प्रकार बालक माता का दूध पीकर जीते व बढ़ते है। ये आंखे ही इनकी सताने है, यह इसी से सिद्ध हो जाता है कि आलू या अदरक के जिस टुकडे को बोया जा सकता है उसमे यदि आंख विद्यमान है तो वह टुकडा नवीन पौधे का रूप ले लेता है, अन्यथा नष्ट हो जाता है।

कृपण व्यक्तियो के समान चलघनिया आदि कुछ वनस्पतिया भी कृपण होती है जो अपने लिए कुछ भी खर्च न कर सब कुछ अपनी सतान के लिए ही छोड जाती हैं तथा जिस प्रकार सभी मनुष्य अपने व अपनी सतान के लिए समान रूप से सग्रह नही कर पाते है, इसी प्रकार सब वनस्पतिया भी समान रूप से सग्रह नही कर पाती है। पीपल, पोस्ता, चना, मूंग आदि वनस्पतिया सतान के लिए बहुत ही कम भोजनसामग्री का सग्रह छोड जाती है। अत इनके पौधे बीज से बाहर निकलते ही शीघ्र हरे हो जाते है और भोजन-प्राप्ति के लिए स्वय परिश्रम करने लगते हैं। जिस प्रकार कुछ व्यक्ति बडे निर्धन होते है वे अपनी सतान के लिए कुछ भी नही छोड जाते हैं, उसी प्रकार दूब आदि के पौधे बडे निर्धन होते हैं और सतान के लिए कुछ नही जोडते व छोडते है। ऐसे पौधे अपनी वश-वृद्धि के लिए एक विशेष रीति काम मे लेते हैं। ये अपने तने भूमि पर फैलाते हुए बढते है। इस प्रकार नवीन पौधे भोजन-सामग्री के भडार के अभाव मे भी अपना पोषण बिना अधिक श्रम किये कर लेते हैं।

अभिप्राय यह है कि, वनस्पति-विज्ञान ने प्रयोगो द्वारा यह प्रमाणित कर दिया है कि मानव के समान ही

१ प्रा० जीव विज्ञान।

२ नवनीत अप्रैल १९५२, पृ० २६

वनस्पति में भी परिग्रहसंज्ञा विद्यमान है और वह अपने संचित व भावी संतान की सुरक्षा, सुविधा के लिए सामग्री व शक्ति संचित करती है।

कषाय

जैन-ग्रन्थों में प्रयुक्त 'कषाय' शब्द अपना विशेष पारिभाषिक अर्थ रखता है, यथा —

> सुह-दुक्खं सुबहुसस्सं कम्मक्खेत्तं कसेदि जीवस्स।
> संसारदूरमेरं तेण कसाओत्ति णं वेंति॥ —गो० जी० २८२, धवला १-१-८

जीव के सुख-दुःख रूप अनेक प्रकार के धान्य को उत्पन्न करने वाले तथा जिसकी संसार रूप मर्यादा अत्यन्त दूर है, ऐसे कर्म रूप क्षेत्र का कर्षण करता फल देने योग्य बनाता है, उसे 'कषाय' कहते हैं।

आत्मा का कर्म-बन्ध करने वाला कर्म है। कर्म की उत्पत्ति का कारण राग-द्वेष रूप परिणाम-भाव है। अतः राग-द्वेषात्मक परिणाम ही कर्षण रूप कषाय है। कषाय के चार भेद हैं।

चत्तारि कसाया पण्णत्ता, तंजहा कोह-कसाए, माण-कसाए, माया-कसाए, लोभ-कसाए, एवं नेरइयाणं जाव वेमाणियाणं॥

—स्थानांग श्रु० १ अ० ४ उ० १ सू० १८

कषाय चार हैं—क्रोध, मान, माया, और लोभ। ये चारों ही कषाय नारक जीवों से लेकर वैमानिक देवों तक अर्थात् सब संसारी जीवों में पाये जाते हैं। अतः वनस्पति में भी कषाय के ये चारों ही भेद माने गये हैं।

क्रोध कषाय—जिस प्रकार मनुष्य, पशु आदि अन्य प्राणी कुपित व कम्पित होते हैं उसी प्रकार वनस्पतियाँ भी कुपित व कम्पित होती हैं। "सूडान और वेस्ट इंडीज में एक ऐसा वृक्ष पाया जाता है, जिसमें से बड़ी अद्भुत प्रकार की राग-रागनियाँ निकलती रहती हैं और रात में उन्हीं वृक्षों से ऐसा गाना रोना आरम्भ होता है कि कभी-कभी यात्री यह समझ बैठता है कि निकट ही कहीं कोई ऐसा परिवार है, जिसमें कोई मर गया है और सब बैठे रो रहे हैं, सिसक रहे हैं।"[1]

क्रोध का एक रूप 'क्षोभ' है। जिस प्रकार बर्रे आदि मक्खियों के छत्ते के पास कोई व्यक्ति पहुँच जाये तो वे मक्खियाँ रुष्ट होकर उस व्यक्ति को डंक मारने लगती हैं। उनके डंक मारने से तीव्र पीड़ा होती है जो तीन-चार दिन तक चलती रहती है, इसी प्रकार बर्मा और न्यू साउथ वेल्स में एक ऐसा वृक्ष देखा जाता है जो अपने पास आने वाले व्यक्ति को डंक मारता है। इसे 'डंक की गांठ' या 'डंक मारने वाला वृक्ष' कहा जाता है।

इन वृक्षों पर इनके आकार-प्रकार के अनुसार बड़े नुकीले और तेज धारदार कांटे होते हैं। इसके अलावा इस वृक्ष की चोटी, १२ इंच लम्बी, खुरदरी और पान के आकार की पत्तियाँ होती हैं और उन पत्तियों पर लम्बे बाल के समान रोएँ होते हैं। अगर कोई व्यक्ति इसके पास पहुँच जावे, तो वे पत्तियाँ उस व्यक्ति से चिपक जाती हैं और डंक मारने लगती हैं। इनके डंक मारने से बड़ी मर्मान्तक पीड़ा होती है यदि तुरन्त कोई दवा न दी जावे तो यह पीड़ा लगातार चार दिन तक चलती है।[2]

कलह-संघर्ष भी क्रोध या कोप का ही एक रूप है। वनस्पतियाँ भी अपनी रक्षा व स्वार्थ हेतु संघर्ष करती हैं। यथा—"सभी पौधे अपनी विपरीत परिस्थितियों में संघर्ष करके जीवन-रक्षा करते हैं। जहाँ सहायता मिल सकती है वहाँ वे पारस्परिक सहायता करते और एक दूसरे का आश्रय लेते हैं। जहाँ सहायता सहज में नहीं मिलती वहाँ लता वृक्ष के सहारे पनपती है, एक से दूसरा पौधा पोषण पाता है। जहाँ सहायता सहज में नहीं मिलती वहाँ बरबस ली



---

१ नवनीत जून १९६६, पृ० ८७
२ नवनीत जुलाई १९६२, पृ० ७०



जाती है। आत्म-रक्षा के लिए आपस मे रगडा-झगडा भी होता है—एक दूसरे का वे नाश भी करते हैं।"[1]

मान—जैनदर्शन मनुष्य के समान वनस्पति मे भी मान कषाय मानता है। समवायाग सूत्र मे मान के रूपों का वर्णन करते हुए कहा है —

"माणे, मदे, दप्पे, थमे, अत्तुक्कोसे, गव्वे, परपरिवाए, उक्कोसे, अवक्कासे, उन्नए, उन्नामे"—समवायाग—५२

अर्थात् मान, मद, दर्प, स्तम्भ, आत्मोत्कर्ष, गर्व, परपरिवाद, उत्कर्ष, अपकर्ष, उन्नत और उन्नाम, ये ग्यारह मान के अभिधान हैं। सक्षेप मे कहा जाय तो धन-धान्य आदि पर-पदार्थों व गुणो मे अहत्व भाव होना ही 'मान' है, जैसे धन होने से अपनको धनी मानना, विद्या मे अपने को विद्वान् मानना आदि। मानी व्यक्ति की सम्पत्ति मे अहत्व बुद्धि होती है। अत सम्पत्ति के विस्तार मे अपना विस्तार व उत्कर्ष मानता है। यही कारण है कि मानी प्राणी मे तन धन, जन आदि सपत्ति के विस्तार की बडी भूख होती है। सपत्ति के विस्तार मे उसके अहकार का पोषण होता है और फिर यह अहकार गर्व, मद, उन्मत्तता आदि रूप धारण करता है। मान के ये रूप वनस्पति मे भी पाये जाते हैं।

जिस प्रकार मनुष्य धन से सम्पन्न होता है तो गर्व से फूला नहीं समाता है उसी प्रकार पौधे भी फूलों मे सम्पन्न होते है तो प्रफुल्लित हो फूले नही समाते हैं। और गर्व मे उन्मुक्त हवा मे झूलने लगते हैं। उनकी यह उन्मत्तता उनके अग-प्रत्यग मे फूट पडती है। श्री जगदीशचन्द्र बसु ने यत्रो की सहायता से सिद्ध किया कि मनुष्य की भाँति पौधे भी अनुकूल भोजन-सामग्री पाकर एव मधुर सगीत सुनकर हर्ष से उन्मत हो जाते हैं और इन्हें और प्रतिकूल पाकर मुरझाने लगते हैं।

उत्कर्ष मान का ही एक रूप है और उत्कर्ष की यह उपलब्धि धन, जन आदि सपत्ति के विस्तार से होती है। मनुष्य मे विस्तार की यह भूख कई रूपो में प्रगट होती है। उनमे मुख्य है वैयक्तिक व पारिवारिक रूप। मनुष्य वैयक्तिक उत्कर्ष के लिए अपने बल, बुद्धि, विद्या, धन-धान्य आदि का विस्तार करता है और पारिवारिक उत्कर्ष के लिए वश-वृद्धि करता है। इसी प्रकार वनस्पति में भी विस्तारवृत्ति के वैयक्तिक और पारिवारिक ये दोनों रूप देखे जाते हैं। वृक्ष का अपने शरीर व शरीर सबधी विस्तार वैयक्तिक उत्कर्ष का रूप है व अपनी जाति या वश का विस्तार पारिवारिक उत्कर्ष का रूप है।

वनस्पति अपना वैयक्तिक उत्कर्ष भोजन-सग्रह के रूप मे सपत्ति जुटाकर करती है। मूली, गाजर आदि कई पौधे जब अपनी जड मे पर्याप्त भोजन सग्रह कर लेते हैं तो फूलकर कुप्पा हो जाते हैं। घुइया आदि पौधे अपने तने मे भोजन-सग्रह होने पर गर्वोन्मत्त हो जाते है। वदगोभी आदि पौधे अपने पत्तों मे भोजन का भडार भरकर अहकार का पोषण करते है। नागफनी आदि पौधे फूलो में भोजनसामग्री जमा कर फूले नही समाते हैं। तात्पर्य यह है कि वनस्पतिया अपनी जडे, तने, पत्ते, फूल आदि अगों मे खाद्य सपत्ति का सचय होने पर उन्मत हो झूमने लगती हैं।

वनस्पति अपने वश के विस्तार या उत्कर्ष के लिए भी पूर्ण प्रयत्नशील रहती है। जिस प्रकार जीव-जन्तु प्रजनन द्वारा अपनी जाति या वश का विस्तार करते हैं, इसी प्रकार वनस्पतिया अपने वश का शीघ्रता से विस्तार कर अपना उत्कर्ष देखना चाहती है। उदाहरणार्थ 'आधाशीशी का डोडा' वनस्पति को ही लीजिये। एक समय था जब इसका डोडा बडी कठिनाई से मिलता था। और बडा महगा बिकता था। परन्तु कुछ समय पूर्व इसने अपने वश का विस्तार करना प्रारभ किया और अल्प काल मे ही अपने जगल के जगल खडे कर लिए। इसका यह विस्तार विस्मय-कारी था। जहा कही भी इसे यत्किंचित् भी खाली जमीन मिली, इसने अपनी जडें जमायी और फैलकर उस पर अपना ऐसा साम्राज्य स्थापित किया जिसमे मानव भी प्रवेश करते हुए हिचकता था।

राजस्थान के अनेक भूभागों का तो यह हाल था कि उनमें स्थित पर्वत, खेत, पडत भूमि आदि पर जहाँ कही भी दृष्टि पडती थी यह वनस्पति अपने विस्तार के गर्व मे उन्मत्त हो झूमती दिखाई देती थी।

---

१ नवनीत जुलाई १९५७, पृ० ५२

जीव-जन्तु के समान वनस्पतियां भी अपने वंश-वृद्धि के लिए विविध व विलक्षण उपाय काम मे लेती हैं। अनेक वनस्पतियों के बीजो के पंख होते हैं जिनसे वे उड़कर दूर-दूर पड़कर वंश का विस्तार करते हैं। ब्राजील के वृक्ष 'हुराक्रेपिटान्स' की तो अपने वंश-विस्तार की विधि बड़ी विचित्र है। इसके टेनिस बाल जितने बड़े फल का शुष्क काष्ठ सरीखा आवरण अचानक फूटता है। फूटने की ध्वनि आधा मील दूर तक सुनाई देती है और फलो मे से पके बीज उछलकर दूर दूर तक पहुंचते हैं।

विस्तार के भूखे वृक्षो मे से 'वट' भी एक है। यह अपनी डालियो से शाखाएं फेंकता है जो भूमि पर अपने पैर जमाकर तने व जड का रूप ले लेती हैं। इस प्रकार बरगद अपना विस्तार करता हुआ आगे से आगे बढ़ता जाता है। कलकत्ते के बोटेनिकल बाग मे बड़े बरगद के ५०० तने हैं। बरगद का यह राई से भी छोटा बीज आज ३००० फुट की परिधि मे विस्तार कर अपने उत्कर्ष का प्रदर्शन कर रहा है।

"मैनग्रोज" वनस्पति भी विस्तारवादी प्रकृति की है। "पृथ्वी के तेवीस अक्षांश से लेकर अट्ठाईस अक्षांश तक भूमध्यरेखा के उत्तर-दक्षिण दोनो ओर समुद्र के किनारे पर 'मैनग्रोज' वृक्षों के जंगल के जंगल फैले हुए हैं और बराबर समुद्र की ओर बढ़ते चलते हैं। ये फ्लोरिडा के समुद्रतट पर हजारो वर्ग मील मे फैले हुए हैं। प्रशान्त महासागर के किनारे-किनारे इनका बहुत विस्तार है। इनकी जड़ें ऊपरी तने और शाखाओं से रस्सी की तरह लटकती हैं और ज्वार द्वारा छोड़ी गई कीचड मिट्टी मे घुसती जाती हैं। ये जडें लबी होती हैं और इन पर खड़ा पेड़ वैसा ही लगता है जैसे कोई व्यक्ति दो लबे-लबे बांसो मे पायदान लगाकर लबे-लबे डग भरता हो।"[1]

माया —आगम मे माया के नामो का वर्णन करते हुए कहा है—

"माया उवही, नियडी, वलए गहणे, णूमे, कक्के, दंभे, कूडे, झिमे, किब्बिसे, आयरणया, गूहणया, वंचणया, पलिकुंचणया, सातिजोगे।"—समवायांग ५२

माया, उपधि, निकृति, वलय, गहन, नूम, कल्क, दंभ, कूट, जिह्म, किल्बिषिक, आचरणता, गूहनता, वंचनता परिकुंचनता और सातियोग ये माया के नाम हैं। हिन्दी भाषा मे माया के लिए कपट, कुटिलता, कृत्रिमता, धोखा, धूर्तता, छल, वंचना, जिह्म, निकृति आदि शब्दो का प्रयोग होता है।

वनस्पतिविज्ञान के नवीन अनुसंधान ने यह सिद्ध कर दिया है कि अन्य प्राणियो के समान वनस्पति में भी माया प्रकृति पायी जाती है। जिस प्रकार मायावी पुरुष पहले तो मिष्ट वचन व शिष्ट व्यवहार से दूसरे पुरुष को अपने प्रेम-पाश मे फांस लेता है और फिर धोखा देकर उसका सर्वस्व छीन लेता है, इसी प्रकार वनस्पतियां भी दूसरो को अपने मायाजाल मे फांसने मे निपुण होती हैं। ऐसी ही वनस्पतियो मे से कुछ के उदाहरण यहाँ प्रस्तुत किए जा रहे हैं।

मलाया मे 'फिगस क्वी जिनोमा' नामक विशाल वृक्ष पाया जाता है। यह अंजीर-जाति का वृक्ष होता है। यह बड़ा मायावी होता है। पहले यह अपने पडोसी पेड़-पौधो को बड़े प्रेम से गले लगाता है। फिर उनका रस चूसकर लकड़ियों को फेंक देता है। यहाँ के निवासी इन वृक्षों को देव रूप मानते हैं।

मायावी मनुष्य बड़े कुटिल होते हैं। वे बाहरी व्यवहार से तो बडे सीधे-सादे भोले-भाले लगते हैं परन्तु जो उनके चंगुल में फँस जाता है उसे दुरन्त दुःख भोगना पडता है, इसी प्रकार की कुछ वनस्पतियाँ भी हैं। उनमे से एक 'जीमस लार्पोटिया' भी है। यह न्यूसाउथवेल्स तथा क्वीस लैण्ड के घने वनों मे पायी जाती है। इसके दैत्याकार वृक्ष की ऊंचाई ८०-६० फुट होती है। इसके पत्ते हृदय के आकार के तथा एक फुट से भी अधिक लम्बे होते हैं। इन पत्तों मे भूरे रंग के रोएंदार जहरीले कांटे होते हैं। देखने मे ये वृक्ष बड़े सीधे-सादे लगते हैं। परन्तु भूल से कोई पशु-पक्षी या मनुष्य इन पत्तो से छू भी जाय तो उसे कुछ दिन तक मर्मांतक वेदना सहन करनी पडती है। इसीलिए इनको वहाँ के निवासी 'टच मी नाट' मुझे मत छूओ, इस नाम से पुकारते हैं।



---

1 नवनीत, अक्टूबर १९६२



कपट व्यवहार मे 'वीनस फ्लाई ट्रैप' (Venus fly trop) पौधा भी कम निपुण नही है। यह कपट कपाटो के सहारे करता है। यह विशेषतया अमेरिका मे होता है तथा नमी व दलदल वाले स्थानों पर उगता है। इसका पत्रदल बीच लम्बाई मे दो भागो मे विभाजित रहता है। ये दोनों भाग कपाट की भांति अन्दर की ओर मुड़कर बन्द हो सकते है। पत्रदल के प्रत्येक अर्ध भाग की ऊपरी सतह पर तीन लम्बे बाल होते है जो बहुत ही संवेदनशील होते हैं। किसी बाल को जरा सा छूने पर ही पत्रदल के दोनों अर्ध भाग शीघ्रता से अन्दर की ओर कपाट की भांति बंद हो जाते है। पत्ती की ऊपरी सतह मे लाल रंग की बहुत-सी छोटी-छोटी ग्रन्थियां होती है। जब कोई कीड़ा पत्ती की बाल से छू जाता है तो पत्ती बन्द हो जाती है और कीड़ा उसमे कैद हो जाता है। फिर पत्ती की सतह पर स्थित ग्रन्थियो से एक प्रकार का पाचक रस निकलता है जो कीड़े के मांस को पचाकर विलयन के रूप मे बदल देता है। यह विलयन फिर पत्ती के रोओ द्वारा चूस लिया जाता है।

धूर्तता भी माया का ही एक रूप है। मनुष्यों के समान कुछ पौधे भी अपना स्वार्थ सिद्ध करने मे धूर्तता से काम लेते है। पश्चिमी द्वीप समूह और अर्जेन्टाइना मे विशेष जाति के वृक्ष पाये जाते है, जिन्हें वहां के निवासी 'क्लारो फाम ट्री' कहते है। ये वृक्ष बड़े धूर्त होते हैं। पहले तो ये सुरीली लोरियां जैसे ध्वनि निकालते है जिसमे शिकार मस्त होकर सो जाता है। फिर ये वृक्ष उस सोये हुए व्यक्ति का खून पिशाच की भांति चूस लेते है।[1]

जिस प्रकार कुछ मनुष्य पहले तो भोले-भाले बनकर किसी के यहा जम जाते है, फिर धीरे-धीरे आश्रयदाता के व्यवसाय को छीनकर स्वय उसमे कमाने लगते है। उनके इस कपटपूर्ण कार्य के परिणाम स्वरूप बेचारा आश्रयदाता तो कगाल हो जाता है और वे स्वय फलने-फूलने लगते हैं। इसी प्रकार कुछ पौधे भी कपटपूर्ण व्यवहार करने मे बड़े निष्णात होते है। उनमे से 'अमरबेल' भी एक है। यह भारत मे प्रायः सर्वत्र पायी जाती है। यह देखने मे बड़ी सुन्दर, स्पर्श मे बड़ी मुलायम होती है। इस प्रकार यह अपने रग-रूप से बड़ी ही भोली व भाली-भाली लगती है। यह स्नेह तो इतना दीखाती है कि जिस वृक्ष का सग करती है उससे लिपट ही जाती है। परन्तु फिर यह धीरे-धीरे 'मुह मे राम बगल मे छुरी' कहावत चरितार्थ करती है। यह अपनी शाखाओं का जाल-जिसे मायाजाल ही कहना चाहिए—चारो ओर फैलाती है और उनके द्वारा अपने आश्रयदाता वृक्ष का सर्वस्व हड़पकर उसे कगाल व ककाल बनाकर ही छोड़ती है।

मलेशिया के क्वींस लैण्ड प्रान्त मे अमरबेल जैसी ही एक अन्य बेल होती है। यह बड़ी प्राण-घातक होती है। यह बेल जिस वृक्ष पर चढती है, छ मास के भीतर उस पर अपना जाल बिछा देती है जिससे वह वृक्ष सूख जाता है। जब उस वृक्ष पर चूसने व लूटने को कुछ भी शेष नही रहता है तो अपना माया-जाल दूसरे वृक्ष पर फैलाने के लिए इधर-उधर अपने चरण बढाती है।

अपनी माया मे फँसाकर जीव-जन्तुओं का शिकार व आहार करने मे नपेन्थाज या घटपर्णी वनस्पति भी कम नही है। यह आस्ट्रेलिया, बोरनिया, लका व भारत के आसाम के वनो मे मिलती है। अमेरिका मे भी इसकी कई जातियां पायी जाती है। यह कीचड़ व दलदली भूमि मे होती है। इसका पौधा छोटा होता है तथा तना जमीन पर रेंगता हुआ आगे बढता है। इस तने मे से शाखाएँ निकलती है जो ऊपर की ओर उठी रहती हैं। इन शाखाओ पर मोटी, चीकनी व लम्बी पत्तियां होती है। पत्तियो की लम्बाई तीन फुट से भी अधिक तक होती है। प्रत्येक पत्ती का सिरा पतला होकर धागे के रूप मे हो जाता है। यह धागा किसी दूसरे पेड़ या किसी अन्य वस्तु के चारो ओर लिपट जाता है। इस धागे मे लटका हुआ एक खोखले घड़े-सा फूल होता है। घड़े का मुह सदा ऊपर की ओर रहता है तथा उसके मुह पर एक ढक्कन होता है। मुह के पास से एक मीठा रस निकलकर उसके चारो ओर लगा रहता है। पौधा अपने इसी रस से या कभी-कभी अपनी गध से कीड़े-मकोड़ो को आकृष्ट करता है। बेचारा कीड़ा स्वाद व गध के वशीभूत हो फूल के मुहद्वार तक पहुँच जाता है। घड़े की मुंह की सतह अन्दर की ओर बहुत चीकनी व फिसलनदार

---

१ नवनीत जुलाई ६६, पृ० ५३

होती है। इस कारण कीडा जैसे ही घडे के मुँह पर बैठता है फिसलकर घडे के भीतर-जिसे मौत का कुआ ही कहना चाहिये-गिर जाता है और अपने को एक पेटी मे, जिसका कुछ भाग पाचक तरल पदार्थ मे भरा रहता है, बन्द पाता है। कीडा ऊपर की ओर आने का यत्न करता है तो नीचे की ओर झुके हुए नुकीले बाल उसके इस यत्न को निष्फल कर देते हैं। कीडा मृत्यु-कूप के तरल पदार्थ मे गोते खाने लगता है और प्राण दे देता है। फिर यह तरल पदार्थ उसे पचाकर पौधे का भोजन बना देता है।

सनड्यू या ड्रासरा (Sundew or Drasara) वनस्पति भी धोखेबाज वनस्पतियो मे से एक है। ऐसे तो इसका पौधा प्राय ससार के प्रत्येक महाद्वीप मे पाया जाता है परन्तु भारत के चटगाँव व पूर्वी बगाल के जगलो मे विशेष पाया जाता है। इसके फूल नही, पत्तियाँ चित्ताकर्षक होती है। यह पौधा कुछ इच ही ऊँचा होता है और इस पर पत्तियो के गुच्छे निकले रहते हैं जिन्हे टेंटेकिल (Tantacles) कहते हैं। प्रत्येक टेंटेकिल मे एक छोटा डठल होता है जिसके सिरे पर एक फूली हुई घुडी रहती है। घुडी मे से लाल गुलाबी रग का गाढा-सा रस निकलकर घुडी के चारो ओर की पत्तियो पर फैल जाता है। जो धूप मे दूर से ही ओस कणो के समान बहुत तेज चमकता है। कुछ कीडे तो मात्र इस चमक से ही और कुछ इसकी गध से आकृष्ट होकर इसके पास आते है और घुडी पर बैठते हैं। ये कीडे घुडी पर बैठते ही रस मे चिपक जाते हैं। जैसे जैसे कीडा अपने को छुडाने का प्रयत्न करता है वह और भी अधिक चिपकता जाता है। साथ ही पत्ती के बीच का भाग दबकर प्याले की तरह हो जाता है। टेंटेकिल मुडकर कीडे को इसी प्याले मे डाल देता है। अन्य टेंटेकिल भी साथ ही मुडकर अपनी अपनी घुडियो द्वारा कीडे को प्याले मे दबोचते हैं। इस प्रकार कीडा इस प्याले में कैद हो जाता है। फिर टेंटेकिल की घुडियो से एक प्रकार का रस निकलता है जो कीडे के पाच्य भाग को घुला देता है। इसी विलयन को फिर टेंटेकिल चूसकर पौधे का आहार बना देते है। टेंटेकिल वापिस सीधे खडे हो जाते है। और कीडे का जो भाग पचने से बच जाता है, वह पत्ती से झडकर नीचे गिर जाता है।

आशय यह है कि वनस्पतियाँ भी माया-जाल रचने मे मनुष्य की भाति विविध उपाय काम में लेती है।

लोभ —राग, आकर्षण या आसक्ति को लोभ कहा गया है। आगम में लोभ के रूप इस प्रकार कहे हैं—

लोभे, इच्छा, मुच्छा, कखा, गेही, तिण्हा, भिज्जा, अभिज्जा, कामासा, भोगासा, जीवियासा, मरणासा, नदी, रागे ॥

समवायाग—५२

अर्थात् लोभ, इच्छा, मूर्च्छा, काक्षा, गृद्धता, तृष्णा, भिद्या, अभिद्या, कामाशा भोगाशा, जीविताशा, मरणाशा, नदी और राग, ये लोभ के रूप हैं। आगम मे लोभ के ये रूप अन्य प्राणियो के समान वनस्पति मे भी माने हैं। इस विषय मे डॉ० श्री जगदीशचन्द्र बसु ने यत्रो व प्रयोगो की सहायता से यह सिद्ध कर दिखाया कि वनस्पति मे इच्छा, तृष्णा, कामना, ममता आदि रागात्मक वृत्तियाँ विद्यमान हैं। प्रयोगो से यह ज्ञात हुआ है कि यूकलिप्टिस का पौधा अपनी भोगेच्छा की पूर्ति हेतु अपनी जडें उसी ओर आगे बढाता है जिस ओर उसका भोज्य पदार्थ जल होता है। फिर वह जल चाहे सैकडो फुट दूर ही क्यो न हो व मार्ग मे कितनी ही बाधाए क्यो न आवें।

इच्छा भी लोभ का ही एक रूप है। जिस प्रकार मनुष्य इच्छा-पूर्ति हेतु प्रयत्नशील होते है, उसी प्रकार वनस्पतियाँ भी अपनी इच्छा-पूर्ति हेतु प्रयत्नशील होती हैं। विश्वविख्यात विज्ञानवेत्ता 'डार्विन' का कथन है कि इतना तो निस्सदेह मानना ही पडेगा कि जडें कहीं ऊपर की ओर चलती हैं तो कहीं नीचे की ओर, कहीं झुकती हैं तो कहीं हटती है। खतरे की आशका होने पर मुडकर आगे बढती है। इसका अर्थ यह हुआ कि पौधा अपने भोजन की इच्छा-पूर्ति के लिए सोच-विचार पूर्वक अपनी जडो को धरती के भीतर आगे बढाने का प्रयत्न करता है।[1]

तृष्णा भी लोभ का ही एक अग है। जिस प्रकार लोभी व्यक्ति तृष्णा के वश हो वस्तुओ का सग्रह करता



१, नवनीत, जुलाई ५७ पृ० ५२



है, इसी प्रकार वनस्पतियाँ भी तृष्णा के वश हो भोजन-संग्रह करती हैं। इस विषय में वनस्पतिविज्ञान-विशेषज्ञों का कथन है कि पौधों की वे आदतें हैं जिनमें वसंत ऋतु में नई पत्तियाँ फूटती हैं। वनस्पतिविज्ञान से अनभिज्ञ व्यक्ति समझते हैं कि ये पत्तियाँ शुरू में वसंत ऋतु में ही बनती होंगी परन्तु सच तो यह है कि पुरानी पत्तियों के गिरने से पहले ही उनका स्थान ग्रहण करने वाली पत्तियाँ बन जाती हैं। गर्मी भर मेहनत कर पौधे पत्ती पैदा करने वाली कली में सब सामग्री जमा करके रखते हैं जिससे उचित ऋतु आने पर नयी पत्तियाँ बन सकें।[1]

जैसे कुछ मनुष्यों में अपने अथवा अपनी संतान के भविष्य की सुरक्षा के लिए धन-संग्रह करने रूप लोभ-भावना होती है, इसी प्रकार कुछ वनस्पतियों में अपने या अपनी संतान के भविष्य की सुरक्षा के लिए खाद्य-पदार्थ संग्रह करने की लोभ-भावना होती है। पहले परिग्रह-प्रकरण में बताया जा चुका है कि पौधे जड़ों, तनों, कलियों, फूलों, बीजों, आदि में खाद्य-सामग्री संग्रह करते हैं। वनस्पति की यह संग्रहवृत्ति उसके लोभ या तृष्णा भाव की ही परिचायक है। प्राणी के लोभ या संग्रहवृत्ति का एक रूप बचत करना भी है। पौधे भी बचत करना खूब जानते हैं। जंगली गाजर, शलजम और चुकन्दर की जड़ें इसका प्रत्यक्ष प्रमाण हैं और कुछेक पौधों में तो यह जड़ प्रति साल मोटी होती जाती है क्योंकि अपनी आमदनी में से कुछ न कुछ बचाकर ये पौधे अपनी जड़ में जमा कर लेते हैं।

जिस प्रकार कुछ व्यक्ति अपनी बचत को सुरक्षित रखने के लिए जमीन में गाड़ देते हैं, इसी प्रकार पौधे भी जो कुछ वे बचाते हैं वह जमीन के नीचे कंद के रूप में जमा कर देते हैं। आलू-शकरकन्द आदि ऐसे ही चतुर पौधे हैं। सब से बड़े मजे की बात यह है कि संसार भर में अच्छी नस्ल के सभी पौधे इसी प्रकार अपनी भोज्य सामग्री चतुराई से जमीन के अन्दर सुरक्षित रखते हैं अगली फसल या नवीन पौधे के लिए।

जिस प्रकार मनुष्य की लोभ या संचय वृत्ति का एक कारण यह भी है कि भविष्य में विवाह, बीमारी, मौसर आदि अवसरों पर जरूरत पड़ने के समय खुलकर खर्च कर सकें, कुछ पौधों में भी यही बात लागू होती है। घी-कुंवार जाति के पौधे फूलने से पहले वर्षों तक बढ़ते रहते हैं और अपनी जड़ों में भविष्य के लिए आवश्यक सामग्री का संचय करते हैं। इस कार्य में इन पौधों को अत्यन्त सावधानी व धैर्य का परिचय देना पड़ता है। बाद में फल पैदा करने के लिए जब एकाएक शक्ति की आवश्यकता पड़ती है तो वे अपनी संचित शक्ति का आसानी से उपयोग कर लेते हैं। शक्तिसंचय में काफी समय लगता है और इसी से ये पौधे शीघ्र नहीं फूलते। वही प्रसिद्ध कहावत है कि घीकुंवार वर्षों में एक बार फूलता है।[2]

जैसे कुछ मनुष्य लोभ के वशीभूत हो, जिस हांडी में खाते हैं उसी में छेद करने वाले होते हैं अर्थात् जिनसे पलते हैं उन्हीं का व्यवसाय व संपत्ति छीनने वाले होते हैं। परिणाम-स्वरूप पालक याचक बन जाता है और याचक पालक। इसी प्रकार की कुछ वनस्पतियां भी ऐसी होती हैं जो अपने आश्रयदाता पालक को हटाकर स्वयं ही वहां जम जाती हैं। पीपल, बरगद आदि में यह प्रकृति विशेष देखी जाती है। कलकत्ता के 'बोटानिकल गार्डन' में एक बरगद का पौधा ताड़ के वृक्ष पर याचक के रूप में उगा। धीरे धीरे उसने ताड़ को बर्बाद कर उसके स्थान पर अपना आसन जमा लिया। आज उस स्थान पर ताड़ का पेड़ नहीं, बरगद का पेड़ है।

आलू, बैंगन, आदि पौधों में, लगनेवाला गठवा रोग भी और कुछ नहीं, एक वनस्पति द्वारा डाला गया डाका है। यह वनस्पति अपनी जड़ें जमीन के अन्दर दूसरे पौधे के पास पहुँचाती है और उसकी पोषण-सामग्री का शोषण कर स्वयं पुष्ट बनती है।

तात्पर्य यह है कि वनस्पति में भोगेच्छा, कांक्षा, संग्रहवृत्ति, शोषण आदि लोभ के रूप विद्यमान हैं।

---

१ नवनीत, जुलाई ६७, पृ० ५२

१ नवनीत जुलाई ५७

उपयोग

'उपयोग' शब्द जैनागम में इसके विशेष पारिभाषिक अर्थ में प्रयुक्त होता है जिसके अन्तराल में ज्ञान और दर्शन समाहित हैं। उपयोग का वर्णन पन्नवणा सूत्र में इस प्रकार है—

कतिविहे णं भंते ! उवओगे पण्णत्ते ? गोयमा ! दुविहे उवओगे पण्णत्ते तंजहा-सागारोवओगे य, अणागारोवओगे य ॥ —पन्नवणासूत्र, पद २९ सू०१

गौतम गणधर श्री महावीर प्रभु से पूछते हैं—भगवन् ! उपयोग कितने प्रकार के हैं ? भगवान् फरमाते हैं-गौतम ! उपयोग दो प्रकार के हैं—साकार उपयोग (ज्ञान) और अनाकार उपयोग (दर्शन)।

पुढविकाइयाणं भंते ! सागारोवओगे कतिविहे पण्णत्ते ? गोयमा ! दुविहे पण्णत्ते तंजहा-मतिअण्णाण-सागारोवओगे, सुयअण्णाण-सागारोवओगे एवं जाव वणप्फइकाइयाणं।—पन्नवणा, पद २९ सूत्र ३

प्रश्न—हे भगवन् ! पृथ्वीकाय में साकार उपयोग कितने प्रकार का है ?

उत्तर—गौतम ! पृथ्वीकाय से लेकर वनस्पतिकाय पर्यन्त मति अज्ञान और श्रुत अज्ञान यह दो प्रकार का साकारोपयोग है। अज्ञान से प्रकृत में अभिप्राय ज्ञान रहित अवस्था न होकर असम्यक् या असमीचीन ज्ञान से है। जैनदर्शन ने सम्यग्दृष्टि प्राणियों को छोड़कर शेष सभी में अज्ञानरूप असम्यक्ज्ञान ही माना है।

मति-श्रुत ज्ञान—जिसके द्वारा पदार्थ का स्वरूप जाना जाय उसे ज्ञान कहते हैं। जैनदर्शन वनस्पति में ज्ञान के केवल दो भेद मतिज्ञान और श्रुतज्ञान मानता है। पदार्थ के अभिमुख होने पर अर्थात् पदार्थ की उपस्थिति में इन्द्रिय और मन के माध्यम से होने वाला सामान्य-विशेष अवबोध मति और श्रुत ज्ञान कहा जाता है। इन दोनों में घनिष्ठ संबंध है, यथा—

जत्थ आभिणिबोहियनाणं तत्थ सुयनाणं, जत्थ सुयनाणं तत्थाभिणिबोहियनाणं, दो वि एयाइं अण्णमण्णमणुगयाइं। —नंदी सूत्र २४-

अर्थात् जहाँ मतिज्ञान है वहाँ श्रुतज्ञान है। जहाँ श्रुतज्ञान है वहाँ मतिज्ञान है। दोनों एक दूसरे के अनुगत है तथा साथ-साथ रहते हैं। अतः प्रकृत में इन दोनों ज्ञानों का समुच्चय ही वर्णन किया जाता है।

आधुनिक विज्ञानवेत्ता वनस्पति में सुख दुख का वेदन करने, अपना हिताहित सोचने, स्मृति से लाभ उठाने, सूझ-बूझ से काम लेने की शक्तियाँ मानते हैं। जैनदर्शन के अनुसार इन शक्तियों का अन्तर्भाव मतिश्रुत ज्ञान में ही होता है। इस विषय में वनस्पति-वैज्ञानिकों के निम्नांकित उद्धरण व मन्तव्य हैं—

श्री जगदीशचन्द्र बसु ने अपने प्रयोगों से यह सिद्ध कर दिया है कि पौधे त्वचा के सहारे अपने वे सब काम कर लेते हैं जो हम अपनी पाँचों ज्ञानेन्द्रियों से करते हैं। इतना ही नहीं, वे समय पर भोजन करते हैं, समय पर आराम करते हैं, समय पर सोते हैं और समय पर जागते हैं।

हंगेरी के प्रसिद्ध वैज्ञानिक राउल फ्रांचे ने बुडापेस्ट के विख्यात पत्र 'पेस्टर लाउड' में लिखा है कि पौधों में सोचने-समझने की शक्ति वर्तमान है। उनके कथनानुसार पौधों में दूरदर्शिता और बुद्धिमानी आश्चर्यजनक रीति से विकसित हुई है। कोई भी व्यक्ति ध्यानपूर्वक पौधों की जीवनचर्या का निरीक्षण करता जाये, तो उनकी बुद्धिमत्ता देखकर उसे चकित रह जाना पड़े।[1]

"बगीचों, कोठियों की दीवारों तथा जालियों से लिपटी हुई सेम, तोरई, मटर आदि की बेलें आप अक्सर देखते ही होंगे। इसे सिर्फ कहावत ही न समझें बल्कि सचाई है कि ये बेलें आपकी उंगली पकड़ते कलाई भी पकड़ लेंगी। कुछ बेलें तो चन्द मिनटों में ही आपको नर्म-नर्म हथकड़ियाँ पहिनाना शुरू कर देंगी। मार्के की बात है कि इनके लिपटने की वृत्ताकार गति सदैव ही घड़ी की तरह बायीं से दायीं दिशा को रहती है।



---

१ नवनीत जुलाई १९५७



सनड्यू या फूल इतना नाजुकमिजाज है कि स्पर्श की तो बात ही क्या, वर्षा की एक बूंद, और उससे भी बढकर हवा के एक झोंके मे ही असर दिखा देता है। इस हद दर्जे की नजाकत के बावजूद भी नन्हे-नन्हे जीवो के शिकार मे वह एक और कमाल दिखाता है। उसे धोखा देने की नीयत से रजकण जैसी चीज उसके ऊपर रखकर आप उसे एक दो बार ही बहका सकेंगे, लेकिन बार-बार आपकी वह काठ की हडिया नहीं चढ सकेगी। फूल काफी होशियार है और असल शिकार न आने तक वह अपना तमाशा आप को फिर नही दिखायेगा।[१]

'यूकलिप्टस' की दूरदर्शिता तो प्रसिद्ध ही है। यह पेड कही भी उगे, अपनी जड को फैलाकर पानी के उद्गम-स्थान तक ले जायगा-चाहे पानी उस स्थान से कितनी ही दूर क्या न हो। यूकलिप्टस के एक पेड के सम्बन्ध मे आंखो-देखी घटना है। वह जहाँ पर उगा था, उससे थोडी दूर पर एक नहर थी। वह पेड अपनी जडो को फैलाते-फैलाते नहर की ओर ५० फुट तक तो निर्विघ्न ले गया, फिर रास्ते मे उसे एक दीवार मिली, जिसके भीतर उसकी वह जड प्रवेश नही कर सकती थी। पर हताश नही हुआ। उसने दीवार के ऊपर ही अपनी जड फैलानी शुरू कर दी। अन्त मे, उसे दीवार मे कई फुट ऊपर एक छेद मिला। तुरन्त छेद के भीतर वह प्रवेश कर गया और भीतर ही भीतर तब तक फैलता गया, जब तक कि नहर तक पहुँच नही गया।

पौधो की बुद्धिमानी यही तक सीमित नही रहती। वे राजनीतिक और सामाजिक नियमो मे भी पूर्णरूपेण अभिज्ञ है और अपने जीवन मे उन्हे अपनाते भी है। उनके जीवन का सूक्ष्म निरीक्षण करते ही यह बात स्पष्ट हो जाती है।[२]

कुछ पौधो मे अन्त प्रेरणा या सहजज्ञान की अद्भुत शक्ति होती है। इसी शक्ति से उन्हे बिना किसी बाहरी साधन-प्रकाश, तापमान व पृथ्वी के घूर्णन के भी सही समय का पता चल जाता है। उदाहरणार्थ-सेम की पत्तियाँ दिन को खुल जाती है और रात का बन्द हो जाती है। उसका यह कार्य घडी के कांटे की तरह बिलकुल ठीक वक्त पर होता है। जब कोई पौधा ठीक से बढता नही या ठीक ढग से फल नही देता है तो इसका कारण 'जैविक घडी' मे ढूढा जा सकता है।[३] भारतीय कृषिअनुसधान परिषद् के पौधाशरीर-विज्ञान विभाग के वर्तमान अध्यक्ष डॉ० गिरिराज किशोर सिरोही के उपर्युक्त कथन से स्पष्ट यह ध्वनित होता है कि जिस प्रकार मनुष्य के अनेक रोगो का कारण अन्त करण की विकृति होती है, उसी प्रकार वनस्पति की रुग्णावस्था का कारण भी उसके सहज ज्ञान या अन्त प्रेरक शक्ति की विकृति मे विद्यमान रहता है।

वनस्पति मे व्यक्त होने वाला यह अन्त प्रेरणा रूप मति-श्रुत-ज्ञान किसी-किसी वनस्पति मे इतना उच्च-स्तरीय होता है कि जिसे जानकर पचइन्द्रियधारी, अपने को अत्यधिक विकसित मानने वाला मानव भी दातो तले अगुली दबाने लगता है। दिक्, काल व भविष्य सूचक ऐसे ही विलक्षण ज्ञानधारी वनस्पतियो मे से कुछ के उदाहरण नीचे दिये जा रहे है।

'डार्विन का कहना है कि उद्भिजो के दिमाग नही है।" इतनी बात तो प्रत्यक्ष है ही कि जडें कही झुकती है, कही हटती है, कही जरा ऊपर की ओर चल पडती है, तो कभी फिर नीचे की ओर जाती हैं और इसका अर्थ हुआ कि धरती के भीतर जडें काफी सोच-विचार के साथ अपने भोजन की तलाश करती है। शोधो से यह प्रमाणित हो चुका है कि जड का रेशा बहुत फूक-फूक कर कदम रखता है। जहाँ खतरे की आशका हुई वहाँ से हट जाता है, कडी जमीन पाकर मुड जाता है तथा नमी और जल पाकर चाव से आगे बढता है।[४]

---

१ विज्ञान लोक अप्रैल १९६२, पृ० १३-१४

२ नवनीत जुलाई १९५७, पृ० ४

३ दिनमान ६ अगस्त १९६७, पृ० २८-२९

४ नवनीत जुलाई ५७, पृ ५२

यहाँ ज्ञातव्य यह है कि जैन-आगम वनस्पति मे मति-श्रुत ज्ञान तो मानते हैं परन्तु उसमे मन-मस्तिष्क नही मानते हैं। यह बात सामान्य विचार से बडी अटपटी-सी लगती है परन्तु विकासवाद के प्रतिपादक प्रसिद्ध विद्वान् 'डार्विन' के उपर्युक्त इस मन्तव्य से कि उद्भिजो के दिमाग नहीं होता है फिर भी वे बडी सूझ-बूझ पूर्वक कदम उठाते हैं, जैनागमो की उक्त मान्यता का पूर्ण समर्थन हो जाता है।

इस प्रकार जैनागमो मे प्रतिपादित इस सिद्धान्त का कि वनस्पति मे मति-श्रुत ज्ञान है—विज्ञान पूर्णरूपेण समर्थन करता है। अब वनस्पति मे अनाकार उपयोग (दर्शन) के विषय पर विचार किया जाता है—

पुढविक्काइयाण भंते ! अणागारोवओगे कतिविहे पण्णत्ते ? गोयमा ! एगे अचक्खुदसणअणागारोवओगे पण्णत्ते, एँव जाव वणप्फइकाइयाण। — पन्नवणा पद २९ सूत्र ४

भगवन् ! पृथ्वीकाय मे अनाकार उपयोग कितने है ? गौतम ! पृथ्वीकाय मे वनस्पतिकाय पर्यन्त एक ही 'अचक्षुदर्शन' होता है।

अचक्षुदर्शन—देखने की शक्ति को दर्शन कहा जाता है। अचक्षुदर्शन से अभिप्रेत है चक्षु इन्द्रिय के बिना भी स्पर्शन आदि अन्य इन्द्रियो के माध्यम से वस्तु एव उनके आकार-प्रकार को देखना। वनस्पति मे एक ही इन्द्रिय स्पर्शन होती है। अत वनस्पति को यह दर्शन केवल स्पर्शेन्द्रिय से ही होता है। इस विषय मे वैज्ञानिको के मन्तव्य कौतूहलजनक है तथा जैनआगम से कितने मेल खाते हैं, यह ज्ञातव्य है, यथा—

एक जर्मन वनस्पति-विज्ञानवेत्ता ने वृक्षो की देखने की शक्ति का पता लगाया है। आँखो का मुख्य कार्य होता है बाहर के जगत् के ज्ञान को भीतर पहुँचा देना। पेडो मे यह काम उनकी त्वचा करती है। इनकी त्वचा के ऊपरी भाग पर जो बिन्दु सदृश छोटे-छोटे कोश होते हैं, उनमे से बहुतो मे एक प्रकार का तरल पदार्थ भरा रहता है। इसी तरल पदार्थ की सहायता से वृक्ष बाहरी पदार्थों की उपस्थिति का अनुभव करते हैं।[1]

आशय यह है कि वैज्ञानिक वनस्पति मे उनकी त्वचा (स्पर्शेन्द्रिय) से देखने की शक्ति को स्वीकार करते हैं और वनस्पति मे यह शक्ति उसी प्रकार अधिक तीव्र होती है जिस प्रकार मानव की किसी इन्द्रिय की शक्ति का नाश हो जाने पर उसकी अन्य इन्द्रियो मे अधिक क्षमता आ जाती है। उदाहरणार्थ आँखो के चले जाने पर अंधे व्यक्ति की श्रवण आदि इन्द्रियों की शक्ति तीव्र हो जाती है।

लेश्या

"कषायानुरंजिता योगप्रवृत्ति लेश्या।"[2] अर्थात् कषाय युक्त मन, वचन, काय की प्रवृत्ति को लेश्या कहा गया है। लेश्या के छ भेद हैं—(१) कृष्ण लेश्या (२) नील लेश्या (३) कापोत लेश्या (४) तेजो लेश्या (५) पद्म लेश्या (६) शुक्ल लेश्या।

एगिदियाण ! कइ लेस्साओ पण्णत्ताओ ? गोयमा ! चत्तारि लेस्साओ पण्णत्ताओ, तजहा-कण्हलेस्सा। जाव तेउलेस्सा। पुढविकाइयाण भंते ! कइ लेस्साओ पण्णत्ताओ ! गोयमा ! एव चेव, आउ-वणस्सइकाइयाणवि —पन्नवणा पद १७ उ० २

अर्थात् एकेन्द्रिय पृथ्वी, जल और वनस्पतिकाय मे कृष्ण, नील, कापोत और तेजस् ये चार लेश्याएँ पायी जाती हैं।

लक्षण के रूप मे कहे तो लेश्याएँ शुभ-अशुभ वृत्तियों व प्रवृत्ति की द्योतक है।[3] अशुभ वृत्तिया क्रूरता के



१ नवनीत दिसम्बर १९६२
२ धवला टीका प्रथम खड प्रथम पुस्तक
३ भगवती सूत्र, खड २ पृ० ६१ के अन्तर्गत (प० बेचरदासजी कृत अनुवाद)



रूप मे व शुभ वृत्तिया दयालुता के रूप मे व्यक्त होती है। कृष्ण लेश्या-अशुभतम (क्रूरतम) वृत्ति की, नील लेश्या अशुभतर (क्रूरतर) वृत्ति की, कापोत लेश्या-अशुभ (क्रूर) वृत्ति की, तेजोलेश्या शुभ वृत्ति की, पद्मलेश्या-शुभतर वृत्ति की, शुक्ल लेश्या-शुभतम वृत्ति की परिचायक है। लेश्याओ के अन्तर्हित वृत्तियों, उनकी तरतमता व पारस्परिक सम्बन्ध समझने के लिए थर्मामीटर-तापक्रम का उदाहरण लिया जा सकता है। जिस प्रकार तापमापक मे उष्णता से पारा चढता है तथा शीतलता से पारा उतरता है तथा पारे का यह उतार-चढाव तापमान की न्यूनाधिकता के साथ घटता-बढता रहता है, इसी प्रकार प्राणी की वृत्तियो की उष्णता-अशुभत्व (क्रूरत्व) की वृद्धि मे लेश्या रूप पारा चढता जाता है तथा वृत्तियो की शीतलता-शुभता (दयालुता) की वृद्धि से लेश्या का पारा उतरता जाता है। लेश्याओ के पारे का यह उतार-चढाव वृत्तियों के शुभाशुभ अशो की वृद्धि-ह्रास के साथ सदा घटता बढता रहता है। परन्तु जिस प्रकार मानवशरीर का तापमान एक निश्चित सीमा ९४° से १०८° के बीच ही मे रहता है, इसमे ऊँचा-नीचा नही जाता है तथा प्रत्येक स्थान, समय आदि की निम्नतम व उच्चतम तापमान की सीमा निश्चित होती है, उसी प्रकार लेश्याओ के उतार-चढाव की भी प्रत्येक वर्ग के प्राणियो की, निम्नतम व उच्चतम निश्चित सीमा होती है। वनस्पति-काय के जीवो में यह सीमा कृष्णलेश्या से लेकर तेजोलेश्या तक है अर्थात् वनस्पति मे वृत्तियों का उतार-चढाव कृष्ण, नील, कापोत और तेजोलेश्या के बीच चलता रहता है। परन्तु जिस प्राणी मे जिस वृत्ति की अधिकता या मुख्यता होती है उसे उसी वृत्ति या लेश्या वाला कहा जाता है। उक्त चारो लेश्याओ मे से किस लेश्या की प्रधानता किस वनस्पति मे स्पष्टत मिलती है, यह नीचे दिखाया जाता है—

कृष्णलेश्या —यह अशुभतम वृत्ति, प्रवृत्ति व प्रकृति मुख्यत मानव, पशु, पक्षी आदि पचेन्द्रिय जीवो का भक्षण करने वाली होरिजिटल स्क्रब आदि वनस्पतियो मे देखी जाती है। ये अपने क्रूरतम भावो से सदैव शिकार की ताक मे रहती हैं। जैसे ही कोई भूला-भटका अपरिचित पशु-पक्षी या मनुष्य इनके पास पहुँचता है, ये उस पर टूट पडती है। उसे अपने पजे मे ऐसा फसा लेती हैं कि बहुत प्रयत्न करने पर भी वह छूट नही पाता है। अन्त मे ये उसका रक्त चूसकर ही छोडती हैं। ऐसी वनस्पतिया अफ्रीका महाद्वीप, तस्मानिया, मेडागास्कर द्वीप मे विशेषत पायी जाती हैं।

नीललेश्या —यह अशुभतर-क्रूरतर वृत्ति मुख्यत कीट-मक्षी यूट्रीकुलेरिया, बटर-वार्ट, सनड्यू आदि वनस्पतियों मे पायी जाती है। जैसे ही कोई कीडा इनके फूलो पर बैठता है, ये उसे अपनी कलियो के कपाट लगा कारागार मे बद कर लेती है व अपना आहार बना लेती है।

कापोतलेश्या :—यह अशुभ-क्रूर वृत्ति मुख्यत कटीले, विषैले दुर्गंधित पौधों मे पायी जाती है। ये वनस्पतियाँ आगन्तुक को काँटे चुभोकर, दुर्गंध व विष फैलाकर परेशान करती है। ऐसे वनस्पतियों मे 'टच मी नाट' काक तुरई, चमचमी आदि को लिया जा सकता है।

इस लेश्याप्रकरण मे ऊपर जिन वनस्पतियों का नामोल्लेख किया गया है, इनकी प्रवृत्तियों की विलक्षणता का वर्णन इस निबन्ध के अन्य प्रकरणो मे आ चुका है।

तेजोलेश्या —यह शुभ वृत्ति मधुर जल, सरस फल, सुरभित फूल वाली वनस्पतियों में मुख्यत पायी जाती है। मेडागास्कर मे नारियल के पत्तो के आकार का एक 'जलवृक्ष' पाया जाता है। यह यात्रियों को पीने के लिए पर्याप्त मात्रा मे जल देता है। यह तीस फुट तक ऊँचा होता है। इसकी पत्तियाँ परो के आकार की चौडी होती हैं। प्रत्येक पत्ती के डठल के अन्त मे कटोरा-सा बना होता है जिसमे जल भरा रहता है। यात्री उसमे एक छेद बनाता है जिससे जल निकलने लगता है। इस प्रकार यात्री को छ सात डठल मे लगभग एक किलोग्राम जल मिल जाता है जिसे पीकर यात्री अपनी प्यास बुझा लेता है।

मेडागास्कर के रेतीले प्रात मे एक दूसरे प्रकार का झाडीदार पौधा होता है जिसकी जडो मे जल जमा रहता है। यह जल बडा ही स्वच्छ, शीतल, स्वादिष्ट व स्वास्थ्यवर्धक होता है। अनेक प्यासे यात्री इससे प्यास बुझा-

कर अपनी जान बचाते है।

"इण्डोनेशिया के सुमात्रा द्वीप मे एक ऐसा वृक्ष होता है जो जल बरसाता है। अत वहाँ के निवासी इसे जलवर्षक वृक्ष कहते हैं। दोपहर के समय जब सूर्य की किरणें काफी तेजी से चमकती हैं, तब यह पेड हवा के द्वारा भाप ग्रहण करता है। कुछ देर बाद यह भाप एकत्र होकर जल के रूप मे बरसने लगती है। पेड के नीचे थोडी देर मे अच्छा खासा घडा भर जाता है।"[1]

"दक्षिणी अमेरिका के ब्राजील देश के घने जगलो मे एक विशेष प्रकार का वृक्ष पाया जाता है जिसके तने मे छेद कर देने से दूध के समान सफेद तरल पदार्थ निकलने लगता है। पीने मे यह तरल पदार्थ गाय के दूध के समान मीठा और पौष्टिक होता है। इसलिए वहाँ के जगली लोग बडे चाव से पीते हैं। बडे तडके उठकर लोग अपने-अपने बर्तन लेकर पेड के पास पहुँच जाते हैं और तने मे छेद करके पात्र को तरल पदार्थ से भर लेते हैं।

आशय यह है कि आगम में वनस्पति मे वर्णित लेश्याएँ प्रत्यक्ष देखी जा सकती है।

अन्य विशेषताए

आयु —आगमो मे वनस्पतिकाय की आयु के विषय मे कहा है—

ठिती जहन्नेण अतोमुहुत्त, उक्कोसेण दस वासमहस्साइ—जीवाभिगम प्र० प्रतिपत्ति। अर्थात् वनस्पति की आयु जघन्य अन्तर्मुहूर्त व उत्कृष्ट दस हजार वर्ष कही है।

एरीजोना विश्वविद्यालय के प्रसिद्ध वनस्पतिविज्ञानविशेषज्ञ डा० एडमड शुमा ने कैलिफोर्निया के इन्यो नेशनल जगल में एक ऐसा पेड ढूँढा है जिसकी आयु का अनुमान ४६०० वर्ष के लगभग लगाया गया है।

"सयुक्त राज्य अमेरिका के इसी कैलिफोर्निया प्रदेश मे बडे-बडे 'डगलस फर' नामक वृक्ष पाये जाते हैं, जिनकी ऊँचाई ३०० से ४०० फुट तक होती है। किसी किसी डगलस फर के तने का व्यास ५० फुट से अधिक है। इनमे कुछ वृक्ष ८-९ हजार वर्ष की आयु के है। इनकी विशालता का अनुमान इसी से लगाया जा सकता है कि यदि किसी एक वृक्ष के तने को खोखला कर दिया जाय तो उसमे २०० से भी अधिक बालक बैठकर आसानी से पढ सकते है। वहाँ सडक बनाते समय मार्ग मे बाधा डालने वाले डगलस फर के वृक्षो को गिराया नही जाता है, केवल उनके तनो को खोखला कर सडक आर-पार निकाल दी जाती है। इजीनियरो का कथन है कि एक डगलस वृक्ष की लकडी से यदि दियासलाई की तीलियाँ बनाई जाय तो वे ससार के कुल दो अरब से भी अधिक मनुष्यो के उपयोग के लिए एक वर्ष तक पर्याप्त होगी।"[2]

निद्रा

कर्मग्रथ मे तेरह जीवस्थानो मे दर्शनावरणीय कर्म की चार-पाँच प्रकृतियो का उदय माना है।[3] इन तेरह जीव स्थानो मे एकेन्द्रिय जीव वनस्पति आदि भी हैं व पाँच प्रकृतियो मे निद्रा भी एक है। अत वनस्पति मे निद्रा लेना माना गया है। और कहा भी है—

'छउमत्थेण भते! मणूसे निद्दाएज्ज वा, पयलाएज्ज वा? हता निद्दाएज्ज वा, पयलाएज्ज वा।
—भगवती श० ५ उ० ८ सूत्र ७



गौतम गणधर पूछते हैं—भगवन्! क्या छद्मस्थ मनुष्य निद्रा या ऊघ लेते हैं? भगवान् फरमाते हैं कि केवली को छोडकर शेष सब जीव निद्रा लेते हैं। अभिप्राय यह है कि वनस्पति निद्रा लेती है। इस विषय मे वैज्ञानिक हिरण्य-

---

१ सा० हिन्दुस्तान १७ जून १९६०

२ सा० हिन्दुस्तान १७ जून १९६०

३ षष्ठ कर्मग्रथ, गाथा ३५



मय बोस का कथन है—"जैसे जीवित (चलते-फिरते) प्राणी परिश्रम के बाद रात में सोकर थकावट दूर करते हैं वैसे ही पेड़-पौधे भी रात को सोते है।"

"मद्रास में खजूर का एक ऐसा वृक्ष है जो प्रातः काल में ऊपर को उठने लगता है और दोपहर तक सोता है। मध्याह्न के बाद फिर खड़ा होने लगता है और आधी रात तक पूर्णरूपेण खड़ा हो जाता है।"

संस्थान —जैनागमों में वनस्पतिकाय का अनेक प्रकार के संस्थान (आकार) वाली कहा है, यथा-

'अणित्थंत्थसंठिया'—जीवाभिगम प्रथम प्रतिपत्ति, सूत्र १८.

इन अनेकविध संस्थानों में एक वामन भी है। मनुष्य के समान वनस्पतियों में भी कुछ पौधे बौने होते हैं। जापान के एक उद्यान में एक विशेष प्रकार के पेड़ का पेड़ लगा है जो पाँच सौ वर्ष पुराना होने पर भी केवल ३ फुट ऊँचा है। यह वृक्ष एक बड़े गमले में उगाया गया है।[1] अमेरिका के न्यूयार्क नगर में रहने वाले प्रेसिडेन्ट मि० जान एडम की स्त्री ने १४६ वर्ष पूर्व अपने ही ग्राम में गुलाब का पौधा लगाया था जो अब तक फूल देता है।

उद्योत नामकर्म —जैनागमों में वनस्पति में उद्योतनाम कर्म का उदय माना है। अर्थात् वनस्पति को प्रकाशमान भी माना है। ऐसे वृक्ष आज भी यत्र-तत्र मिलते हैं जो प्रकाशयुक्त होते है। अमेरिका के नियाडो प्रान्त की बस्ती में सात फीट ऊँचा वृक्ष है, जिसे 'गाको' कहते हैं। यह एक मीठा गहरा रोशनी देता है जिसमें बारीक से बारीक अक्षर पढ़े जा सकते हैं।

सागरीय वनस्पतियाँ —आगमों में जल में जन्म लेने वाली वनस्पतियों का विस्तार से वर्णन है। वनस्पति-विशेषज्ञों ने शोध करके पता चलाया है कि "धरती पर जितने घने जगल हैं समुद्र में उनसे कम घने जगल नहीं है। यह बात अजीब सी लगती है, लेकिन सत्य है। समुद्र में पर्वत है, घाटियाँ है और सकरी नहरें हैं। वहाँ पौधों के अनेक समूह हैं, पर ये आज भी अपनी पुरानी ही अवस्था में है। इनकी जड़ें नहीं है। और इनमें पुनरुत्पादन बीज द्वारा नहीं होता, लेकिन अपवाद रूप में कुछ पौधे ऐसे भी है - ईलग्रास (Eelgrass) ऐसा ही उदाहरण है।"[2]

वनस्पति की निर्जीवता .—जैनग्रन्थों में वनस्पति जिन कारणों से निर्जीव होती है वे इस प्रकार है—

सुक्कं पक्कं तत्तं अंबिल लवणेण मिस्सअं दव्वं।
जं जंतेण य छिण्णं तं सव्वं फासुअं भणिअं॥

अर्थात् वनस्पति सुखाने, पकाने, तपाने, खटाई तथा लवण मिलाने, यन्त्र द्वारा छेदने से प्रासुक (जीवरहित) हो जाती है। आधुनिक वैज्ञानिक भी वनस्पति को निर्जीव करने के लिए उबालना आदि उपर्युक्त क्रियाओं या उपायों का ही उपयोग करते हैं। इस प्रकार उपर्युक्त गाथा में विहित तथ्य को प्रमाणित करते हैं।

उपसंहार

वर्तमान युग में विज्ञान का बोलबाला है और प्रत्येक सिद्धान्त की प्रामाणिकता विज्ञान के प्रकाश में निरखी-परखी जाती है। दर्शन भी इसका अपवाद नहीं है। आज वही दार्शनिक सिद्धान्त जगत् में प्रतिष्ठा पाता है जो शास्त्र-सम्मत तो हो ही, साथ ही विज्ञानसम्मत भी हो। इस बात का लक्ष्य में रखकर प्रस्तुत निबन्ध में वनस्पति-विषयक विश्लेपण किया गया है।

यह विश्लेपण आगम और विज्ञान इन दोनों पर विविध विवक्षाओं से तुलनात्मक तथा विवेचनात्मक दृष्टियों को लिए हुए है। तुलनात्मक दृष्टियों से आगम और विज्ञान में समता तथा विवेचनात्मक दृष्टि से आगम की महत्ता स्पष्ट प्रकट होती है।

---

१ सा० हिन्दुस्तान १७ जून १९६२
२ विज्ञानलोक जुलाई ६६

आगमों में निरूपित निगूढ सूत्रों की सत्यता अद्यतन विज्ञान से प्रमाणित होने से सहज ही हृदय में यह भाव स्फुरित व स्फुटित होता है कि इन सूत्रों के प्रणेता निश्चय ही अतीन्द्रिय ज्ञानी थे, अन्यथा भौतिक प्रयोगशालाओं व यांत्रिक साधनों से शून्य उस युग में वे इनका प्रणयन न कर पाते। वनस्पतिविज्ञान के समान ही जैनागमों में निरूपित परमाणुवाद, कर्म-सिद्धान्त आदि भी विज्ञानसम्मत तो हैं ही, साथ ही अत्यन्त कल्याणकारी भी हैं। शास्त्र-प्रणेताओं के इस ज्ञान-दान की महान् देन के आभार से मस्तक उनके चरणों में स्वत झुक जाता है।

ऊपर वनस्पति-विषयक जिन सूत्रों को विज्ञानसम्मत सिद्ध किया गया है उनमें से एक भी विश्व के अन्य किसी दर्शन ग्रन्थ में नहीं मिलता है तथा वे विज्ञान के जन्म के पूर्व असंभव समझे जाते थे। इन सूत्रों की रचना जैन आगमकारों ने भौतिक विज्ञान के जन्म से हजारों वर्ष पूर्व की थी। अत यह कहा जाय तो अत्युक्ति या अतिशयोक्ति न होगी कि वनस्पतिविज्ञान के सूत्रों के मूलप्रणेता जैनागमकार ही थे।

निबन्ध की सीमा से निबद्ध होने से मैंने प्रस्तुत निबन्ध में प्रयुक्त सूत्रों का विश्लेषण व विवेचन अति संक्षिप्त व सांकेतिक रूप में किया है परन्तु इनका विस्तृत विवेचन व विश्लेषण भी अत्यन्त अपेक्षित है।



जैन खगोलवि-ज्ञान

पं० मिलापचंद कटारिया

विद्याभूषण,



आसमान मे चमकने वाले सूर्य चद्रमा तारे कौन हैं ? और इनका स्वरूप जैनधर्म मे कैसा बताया है ? ये हमारी इस पृथ्वी से कितने ऊँचे हैं ? इनका आकार कैसा है? लबाई चौडाई इनकी कितनी है ? इनकी कितनी सख्या है ? ये चलते है ? या स्थिर ? और इनके द्वारा किस तरह से रात्रि-दिन बनते है ? इत्यादि वर्णन जैसा भी जैनशास्त्रो मे पाया जाता है उसकी भी जानकारी न केवल सामान्य जैनो को किन्तु कितने ही जैनविद्वानो को भी नही है और न उनको इतना अवकाश है जो वे इस विषय के सस्कृत-प्राकृत के बडे-२ जैन ग्रथो का अध्ययन-मननकर इस विषय को अच्छी तरह हृदयगम कर सकें। इसलिये इच्छा हुई कि इस दिशा मे कुछ ज्ञान की सामग्री प्रस्तुत की जावे उसीके फलस्वरूप यह लेख लिखा जा रहा है ।

जैनशास्त्रों मे सूर्य चद्रादिको के विमान लिखे है । ये विमान चमकदार पार्थिव परमाणुओ से बने है । इनमे भिन्न २ रगो की प्रभा निकलती है । सूर्य से तपे हुये सोने जैसी, चद्रमा से सफेद रग की, राहु-केतु से काले रग की, शुक्र से नई चमेली जैसी, बृहस्पति से मोती की सीप जैसी, बुध से अर्जुनमय, शनि से तप्त सुवर्णसदृश और मगल से लाल रग की प्रभा निकलती है । किन्ही की प्रभा गहरी है और किन्ही की हलकी । सूर्य चद्रमा, ग्रह, नक्षत्र और तारे ये इनकी ५ किस्म हैं और ये ज्योतिष्क कहलाते हैं ।

ठोस गोल चीज जिसकी गोलाई गेंद जैसी हो उसके दो खड करने पर उनमे से एक खड को ऊपर इस प्रकार स्थापन करें कि गोल भाग नीचे की तरफ रहे और समतल भाग ऊपर को रहे, ठीक ऐसा ही आकार इन ज्योतिष्को का समझना चाहिये । ये सब ऊपर को थाली जैसे गोल होने के कारण जितनी इनकी चौडाई है उतनी ही इनकी लबाई है । चद्रमा की चौडाई एक योजन के ६१ भागो मे ५६ भाग प्रमाण है । सूर्य की चौडाई एक योजन के ६१ भागो मे ४८ भाग प्रमाण है । शुक्र की १ कोश, बृहस्पति की कुछ कम १ कोश । बुध-मगल-शनि की आधा-२ कोश की चौडाई है । तारो की चौडाई किन्ही की पावकोश, किन्ही की आधकोश, किन्ही की पौन तथा एक कोश की है । किंतु कहीं यह भी लिखा मिलता है कि—कोई भी तारा आध कोश से अधिक विस्तार का नही होता है । और न कोई भी ज्योतिष्क पाव कोश से कम विस्तार का होता है ।

मोटाई का हिसाब प्राय ऐसा है कि—जिसकी जितनी चौडाई है उससे आधी उसकी मोटाई होती है । किंतु राजवार्तिक—श्लोकवार्तिक आदि शास्त्रो ने शुक्र-बृहस्पति-बुध-शनि-मगल और राहु की मोटाई ढाई सौ धनुष की ही लिखी है । प्रसगोपात्त यहा हम क्षेत्रमान का भी कथन कर देते है—

यवधान्य के मध्य की जितनी चौडाई हो उतने माप का एक उत्सेधागुल होता है । ऐसे २४ अगुलो का एक हाथ, चार हाथ का १ धनुष्य, दो हजार धनुषो का १ कोश और ४ कोशो का १ योजन होता है । यह उत्सेध योजन कहलाता है । इससे पाच सौ गुण एक प्रमाण योजन होता है ।

ऊपर सूर्यादि का माप प्रमाण योजन से बताया है। उत्सेध की अपेक्षा वह माप पाचसौ गुण अधिक होगा। श्लोकवार्तिक में लिखा है कि —

"अष्टचत्वारिंशद्योजनैकषष्टिभागत्वात् प्रमाणयोजनापेक्षया, सातिरेकत्रिनवतियोजनशतत्रयप्रमाणत्वादुत्सेधयोजनापेक्षया।"

—मूल मुद्रित पृ० ३७८

अर्थ – सूर्य का विस्तार जो एक योजन के ६१ भागों में ४८ भाग प्रमाण बताया वह प्रमाण योजन की अपेक्षा से बताया है। उत्सेध की अपेक्षा से उसका विस्तार कुछ अधिक ३९३ योजनों (१५७२ कोस) का होता है।

सिद्धांतसार में प्रमाणयोजन को उत्सेध योजन से चारसौ गुणा माना है न कि पाच सौ गुणा। अतः उनके अनुसार लोकप्रकाश नामक श्वेताम्बर ग्रंथ में सूर्य का विस्तार इस प्रकार बताया है—

शतानि द्वादशैकोनषष्टि क्रोशास्तथोपरि ।
चापा द्वात्रिंशत् त्रिहस्तो त्र्यंगुलाश्च साधिका ॥
तनायत सूर्यबिंबमुत्सेधांगुलमानत ॥

अर्थ – १२५९ कोस, ३२ धनुष, ३ हाथ और साधिक ३ अंगुल इतना विस्तार उत्सेधांगुल की अपेक्षा से सूर्य-बिंब का समझना चाहिए।

ऊपर चद्रमा का विस्तार एक योजन के ६१ भागों में ५६ भाग प्रमाण बता आये हैं। यह विस्तार पूर्णचंद्र का है। किंतु चद्रमा घटता बढ़ता भी दिखाई देता है। उसका कारण यह है कि—चद्रमा के नीचे राहु का विमान विचरता रहता है। यानी राहु के विमान के ध्वजदड से ४ प्रमाणांगुल (उत्सेध की अपेक्षा कुछ अधिक ८३ हाथ) ऊपर चद्रमा विचरता है। राहु के विमान का वर्ण श्याम है अतः उसकी ओट में चद्रमा का अंश आजाने से वह अंश हमको दिखाई नहीं देता है। सदा राहु की गति चद्रमा की गति के समान नहीं है। इसलिये वह चद्रमा से जितना आगे पीछे रह जाता है तदनुसार चद्रमा हमको इस भूतल पर घटबढ़ दीखता है। दोनों की गति में अतर कुछ ऐसे ढग का रहता है जिससे कृष्णपक्ष में चद्रमा का सोलहवा भाग (१६ कलाओं) में प्रतिदिन एक एक भाग ढकता रहता है और शुक्ल पक्ष में प्रतिदिन एक एक भाग प्रगट होता रहता है। सिद्धान्तसारदीपक ग्रंथ में लिखा है कि—

शुक्ल पक्ष में राहु की गति चद्रमा से सदैव धीमी रहती है और कृष्ण पक्ष में सदैव तेज रहती है। इसलिये दोनों पक्षों में चद्रमा घटता बढ़ता नजर आता है। फलितार्थ इसका यह हुआ कि कृष्णपक्ष के अत में जब चद्रमा १६ भागों में से १५ भाग प्रमाण राहु की ओट में छुप जाता है तो शुक्लपक्ष में चद्रमा की गति से राहु की गति धीमी होने से शुक्लपक्ष की प्रतिपदा से चद्रमा ज्यों २ ज्यों ज्यों राहु से आगे निकलता जाता है, त्यों त्यों ही वह हर दिन सोलह भागों में एक-एक भाग अधिक २ बढ़ता हुआ नजर आता है। पद्रहवें दिन वह इतने आगे निकल जाता है कि उसके नीचे राहु की ओट रहती ही नहीं। वह दिन पूनम की तिथि का होता है। उस दिन चद्रमा हमें पूर्णरूप से दिखाई देता है। फिर इसके अनतर जब कृष्णपक्ष शुरू होता है तो राहु की गति चद्रमा की गति से तेज हो जाने के कारण चद्रमा शनैः २ पीछे रहता है। और ज्यों ज्यों ही राहु आगे आगे बढ़ता जाता है त्यों त्यों ही चद्रमा हर दिन सोलह भागों से एक एक भाग ढकता हुआ चला जाता है इससे वह हमें प्रतिदिन कम कम नजर आने लगता है। अमावस को चद्रमा के १५ भाग राहु से आच्छादित हो जाने पर भी उसका एक भाग फिर भी अनावृत ही रहता है और सूर्यास्त के वक्त में ही चद्रमा भी उस दिन अपने अस्तस्थान पर पहुच जाने के कारण उसका वह अनावरण एक भाग भी हमको अमावस की रात्रि में नजर नहीं आता है। यह स्थिति तो नित्य राहु की वजह से होती है। किंतु दूसरा पर्व राहु और होता है, वह भी श्याम होता है जिसकी वजह से चद्रग्रहण होता है। पूनम के दिन जब नित्य राहु चद्र के नीचे नहीं रहता तो कभी-२ उस दिन पर्वराहु चद्रमा के नीचे आजाता है। वह जितना कुछ आगे पीछे होता है उसी माफिक चद्रग्रहण हमें दिखाई देता है। इसी तरह श्यामवर्ण का एक केतु नामक ज्योतिष्क भी होता है। वह भी कभी २ अमावस के दिन





सूर्य के नीचे आजाता है जिससे सूर्यग्रहण होता है। त्रिलोकसार गाथा ३३९ मे चन्द्र को राहुग्रस्त और सूर्य को केतु-ग्रस्त ही होता बताया है। किन्तु भक्तामरस्तोत्र (मानतुंगकृत) के श्लोक न० १७-१८ में क्रमश सूर्यचन्द्र दोनो को राहु ग्रस्त ही होना बताया है। श्वे० सग्रहणी सूत्र मे लिखा है कि—राहु के समान कभी कभी केतु से भी ग्रहण होना है। चद्रग्रहण सदा पूर्णिमा को और सूर्यग्रहण सदा अमावस को होता है। सूर्य और चद्रग्रहण कम से कम छह मासो मे एक बार और अधिक से अधिक चद्रग्रहण ४२ मासो म एक बार और सूर्यग्रहण ४८ वर्षो में एक बार होता है।

धरातल से ज्योतिष्को की ऊचाई

इस धरातल से ७९० योजन की ऊचाई पर तारे हैं। उनमे दस योजन ऊपर सूर्य है। सूर्य से ८० योजन ऊपर चद्रमा है अर्थात् पृथ्वी से ३५ लाख २० हजार मील की ऊचाई पर चन्द्रमा है। चद्रमा से ४ योजन ऊपर नक्षत्र है। ग्रहो की सख्या ८८ मे से बुध का स्थान नक्षत्रो से ४ योजन ऊपर है। बुध से आगे शुक्र, बृहस्पति, मगल और शनि ये क्रमश तीन तीन योजन ऊपर-२ है। राहु-केतु का स्थान चद्र-सूर्य से नीचे है। शेष ८१ ग्रहो का स्थान बुध और और शनि के अतराल में है। इस प्रकार ज्योतिष्क पटल इस धरातल से ७९० योजनो की दूरी से प्रारभ होकर ९०० योजनो पर्यंत स्थित है अर्थात् ऊपर ७९० योजनो बाद ११० योजनो तक ज्योतिष्को का सद्भाव पाया जाता है। और उन सबका तिर्यक् अवस्थान प्राय एक राजूप्रमाण त्रसनाली में है। किंतु इसमे इतना विशेष समझना कि—जबूद्वीपस्थ मेरु के इर्दगिर्द ११२१ योजनो तक किसी भी ज्योतिष्क का सद्भाव नही है। बल्कि सूर्य-चद्र तो हमेशा जबूद्वीप मे मेरु से कम से कम ४४८२० योजन दूर रहकर ही घूमते है। जिस ज्योतिष्क की धरातल से जितनी ऊचाई बताई है वह धरातल से सदा उतना ही ऊचा रहता है जैसे सूर्य की ऊचाई पृथ्वी से ८०० योजन ऊपर बताई है तो वह उदयास्त के वक्त भी पृथ्वी से उतना ही ऊचा रहता है। दूर रहने की वजह से अपने को नीचा पृथ्वी से लगा हुआ दिखाई देता है।

ऊपर सूर्य से चद्रमादि की जो ऊचाई बताई है उससे यह नही समझना कि चद्रमादि सूर्य की सीध मे इतने ऊचे है। जब परस्पर मे इनकी समानगति नही है तो वे सदा एक सीध मे कैसे रह सकते हैं? कदाचित् कोई कभी एक सीध में भी आजाये तो आजाये पर इस सीध की अपेक्षा यहा एक मे दूसरे की ऊचाई बताने की विवक्षा नही है। यहा तात्पर्य ऐसा समझना कि—जो ज्योतिष्क आकाश की जिस सतह मे घूमता है यह सतह अमुक ज्योतिष्क मे उतनी ऊची है। जैसे चद्रमा से ४ योजन ऊपर नक्षत्र बताये तो इसका अर्थ यह हुआ कि आकाश की जिस सतह मे नक्षत्र विचरते हैं वह सतह चद्रमा की विचरने की सतह से ४ योजन ऊपर है। यह ध्यान मे रखना कि जिनका स्थान जितनी ऊचाई पर बताया है वे सब आकाश मे उस स्थान मे एक ही सतह में विचरते है।

यह नियम है कि जिस द्वीप मे जितने चद्रमा होते है उनमे मे प्रत्येक चद्रमा के साथ निम्नलिखित ज्योतिष्क भी अवश्य होते हैं। यह उसका परिवार कहलाता है—

"१ सूर्य, २७ नक्षत्र, ८८ ग्रह और ६६९७५ कोडाकोडी तारे" यहा कोडाकोडी मे मतलब है ६६९७५ क्रोड को एक क्रोड से गुणा करने पर प्राप्त होने वाली सख्या। वह सख्या प्रचलित के अनुसार ६६ शख, ९७ पद्म ५० नील होती है। जबूद्वीप में २ चद्रमा होने मे ज्योतिष्को की उक्त सख्या जबूद्वीप मे दूनी समझना चाहिये। जबूद्वीप में जब कभी एक चद्रमा जहा अपने समस्त सूर्यादि परिवार के साथ, आकाश की गोलाई मे विद्यमान होगा, उसी वक्त आकाश की गोलाई मे सामने दूसरा चद्रमा भी अपने सूर्यादि परिवार के साथ विद्यमान रहेगा। जबूद्वीप मे जिस समय एक सूर्य अभ्यतर की प्रथम वीथी मे विचरेगा, उसी समय ठीक उसी के सामने दूसरा सूर्य भी उसी प्रथम वीथी मे (आकाश की गोलाई को वीथी कहते है) विचरेगा। उस वक्त दोनो सूर्यो के बीच ९९६४० योजनो का अतर रहेगा। वह इस तरह कि अभ्यतर की प्रथम वीथी जबूद्वीप की अतिम सीमा से १८० योजन भीतर है। अत दोनों तरफ का १८०-१८० मिलाने पर ३६० योजन हुए जिन्हे एक लाख योजन प्रमाण जबूद्वीप मे मे कम करने पर ९९६४० योजनो की दूरी अभ्यतर की प्रथम वीथी स्थित दोनो सूर्यों के बीच जाननी चाहिये।

ज्योतिष्कों का आधार ।

ये पृथ्वी के ऊपर स्थित ज्योतिष्क घनवात के आधार पर ठहरे हुये हैं। घनवात गाढ़ी पवन का नाम है। अपने यहाँ जो पवन है वह तो पतली है जिसे तनुवात कहते हैं। किन्तु ज्यों ज्यों ऊपर को जाइये त्यों त्यों पवन में गाढ़ापन का अंश बढ़ता हुआ मिलेगा। प्रत्यक्ष में देखते हैं कि—जब पतंग नीचे को रहता है, तब तक वह गोता खाता रहता है यानी डगमग अस्थिर रहता है। वही ऊपर जाने पर स्थिर-सा हो जाता है। और जो घनवात है वह तनुवात पर ठहरी हुई है। तनुवात को आधार की जरूरत नहीं।

ज्योतिष्कों का गमन

जैन शास्त्रों में पृथ्वी का भ्रमण नहीं माना है। ज्योतिष्कों का भ्रमण माना है। ये जम्बूद्वीप में मेरुपर्वत के इर्द-गिर्द मेरु से ११२१ योजन दूर रहकर गोलाकार घूमते हैं। मेरु से इतनी दूरी पर ही नाराचक्र घूमते हैं। सूर्य चन्द्रादि तो मेरु से चारों ओर ४४८२० योजन दूर रहकर घूमते हैं। इनमें चन्द्रमा सबसे मंदगति वाला है और सूर्य, ग्रह, नक्षत्र, और तारे ये सब चन्द्रमा से उत्तरोत्तर शीघ्र गति वाले हैं। किन्तु ग्रहों में राहु की गति चन्द्रमा से भी कभी-२ धीमी होती है। जैसा कि ऊपर लिखा जा चुका है। यह एक अपवाद लिखा है। वर्ना सबसे मंद गति चन्द्रमा की है और सबसे तेज गति तारों की है। भगवती सूत्र (टीकाकार) में कहा है कि 'ग्रहों की गति परस्पर में न्यूनाधिक है। बुध की गति सभी ग्रहों से मंद है। उससे शुक्र-मंगल-बृहस्पति और शनि इनकी उत्तरोत्तर शीघ्रगति है।"

चन्द्रमा, सूर्य और ग्रह एक साल किसी वीथी में घूम रहे हैं फिर वे दूसरी वीथी में और फिर तीसरी में, इस प्रकार नियत के क्रम-२ वीथियों में घूमा करते हैं। ऐसा भ्रमण अन्य ज्योतिष्कों का नहीं है। जिन आकाशमार्ग में गमनागमन हुआ जाता है उन वीथी कहलाती है इन्हीं को मण्डल भी कहते हैं। चन्द्र-सूर्य जब मेरु को बीच में रखकर उसके इर्दगिर्द एक पूरा चक्कर लगाते हैं तब वह एक मण्डल या एक वीथी होता है। फिर दूसरी दफे कुछ आगे बढ़ कर जब पूरा चक्कर लगाते हैं तब वह दूसरा मण्डल होता है। इस प्रकार जितने मण्डल हैं वह उतनी ही बार मेरु के चक्कर लगाता है और कुछ-२ आगे बढ़ता हुआ अन्तिम मण्डलों में चलता है। जब वह अन्तिम मण्डल पर पहुंच जाता है तो उसी क्रम से वापिस फिर पीछे को आते-२ पूर्ववत् उसी प्रथम मण्डल में आ जाता है। सूर्य की गमन करने की कुल वीथियें (मण्डल) १८४ हैं। और चन्द्रमा की १५ वीथियें हैं। सूर्य की प्रत्येक वीथी में दो दो योजन का अन्तराल रहता है तथा चन्द्रमा की प्रत्येक वीथी में ३५ $\frac{30}{61}$ योजनों का अन्तर रहता है। सूर्य की ६५ वीथियें जम्बूद्वीप में हैं और ११९ लवण समुद्र में हैं। तथा चन्द्रमा की ५ वीथियें जम्बूद्वीप में हैं और १० लवण समुद्र में हैं। सूर्य चन्द्र की प्रथम वीथी जम्बूद्वीप की अन्तिम सीमा से १८० योजन भीतर है। और दोनों की आखिर की वीथी समुद्रतट से ३३० योजन परे है। दोनों का दक्षिण उत्तर का गमन-क्षेत्र कुल ५१० योजनों का होता है। यह गमन क्षेत्र वीथियों की चौड़ाई और उनके अन्तरालों को जोड़ने पर निकलता है। प्रत्येक वीथी की चौड़ाई सूर्य-चन्द्र के बिम्ब प्रमाण है। इस गमन क्षेत्र में इनके जाने आने को ही दक्षिणायन-उत्तरायन कहते हैं। जम्बूद्वीप में दो सूर्य और दो चन्द्रमा हैं। प्रत्येक वीथी में दो सूर्य घूमते हैं और दो चन्द्रमा घूमते हैं। किन्तु चन्द्रमा की वीथी सूर्य की वीथी से जुदी है। सूर्य से यह ८० योजन ऊपर को है और उसमें ही दो चन्द्रमा घूमते हैं। प्रत्येक वीथी के घेरे में एक सूर्य जहाँ से चलना शुरू करता है वहाँ तक आने में उसे ६० मुहूर्त (२ अहोरात्र) लगते हैं। और इसी काम में एक चन्द्रमा को ६२ $\frac{23}{221}$ मुहूर्त लगते हैं। प्रत्येक अपनी-२ वीथी में दो सूर्य और दो चन्द्रमा परिभ्रमण करते हैं और वे दोनों बिल्कुल आमने सामने रहकर भ्रमण करते हैं। जब एक सूर्य या एक चन्द्रमा चलता हुआ किसी एक वीथी के आधे घेरे को पूरा करता है तब ही शेष आधे घेरे को सामने का दूसरा सूर्य या चन्द्रमा चलकर पूरा कर देता है। जिस स्थान से आज हम को जो सूर्य उदय होता दिखता है उस स्थान पर वही सूर्य पुनः ६० मुहूर्त में आवेगा किन्तु हमें ३० मुहूर्त में ही आता हुआ नजर आता है वह सूर्य दूसरा है। जम्बूद्वीप में दो सूर्यों के उदयास्त की व्याख्या इस प्रकार है—

जम्बूद्वीप की एक लाख योजनों की चौड़ाई के ३ भाग किये जाय। तब अगल बगल के दो भागों में आमने





सामने के दो सूर्यो से दिन रहता है तब उसी वक्त बिचले भाग में पूर्व-पश्चिम विदेह में रात होती है। और बिचले भाग मे आमने सामने के दोनो सूर्यो से पूर्व व पश्चिम विदेह मे दिन रहता है तब अगल बगल दोनो भागो मे (जबूद्वीप के दक्षिण और उत्तर भाग मे) रात होती है। जब निषधपर्वत पर पूर्व दिशा मे सूर्य उदय होता है तब उस वक्त जबूद्वीप के दक्षिण भाग मे दिन हो जाता है। इसी वक्त इसी सूर्य का सामने वाला सूर्य नील पर्वत पर पश्चिम दिशा मे उदय होकर उसमे जबूद्वीप के उत्तर भाग मे दिन हो जाता है। तब उस वक्त पूर्व विदेह और पश्चिम विदेह मे रात्रि हो जाती है। जब निषधगिरि के पूर्व सिरे पर उदय होने वाला सूर्य चलकर निषध के पश्चिम सिरे पर आ जाता है तब वह जबूद्वीप के दक्षिण भाग के लिये अस्त होकर वहा रात्रि हो जाती है। और उसी सूर्य का उसी वक्त पश्चिम विदेह मे उदय माना जाकर वहा दिन हो जाता है। तथा इसी तरह जो दूसरा सूर्य नीलगिरि के पश्चिम शिरे पर उदय हुआ था वह चलकर जब नीलगिरि के पूर्वीय शिरे पर आता है तब वह जबूद्वीप के उत्तरीय भाग के लिये अस्त होकर वहा भी रात्रि हो जाती है। और उसी सूर्य का उसी वक्त पूर्व विदेह मे उदय माना जाकर वहा दिन हो जाता है। यह ध्यान मे रखना कि ऐसा सम रात्रिदिन के वक्त होता है। पूर्व विदेह मे उदय होने वाला दूसरा सूर्य जब नीलगिरि से चल कर निषध पर आता है तो वही दूसरा सूर्य भरतक्षेत्र मे दूसरे दिन उदय होता है। न कि पूर्व दिन मे भरत मे अस्त होने वाला सूर्य। वह तो भरत मे तीसरे दिन उदय होगा। क्योंकि जिस दिन जो सूर्य भरत मे अस्त होता है उस दिन की रात्रि मे वह पश्चिम विदेह मे रहता है। उसके दूसरे दिन वह ऐरावत मे रहता है और दूसरे दिन की रात्रि मे वह पूर्व विदेह मे रहता है। वही सूर्य फिर तीसरे दिन भरत मे प्रकाश करता है। इसी रीति से ऐरावत क्षेत्र का अस्त हुआ सूर्य पुन तीसरे दिन ऐरावत मे प्रकाश करता है। एक सूर्य आधे विदेह को ही प्रकाशित करता है। बीच मे पडे मेरु से विदेह के दो भाग माने जाते हैं। पूर्व दिशा की ओर के एक भाग को पूर्व-विदेह और पश्चिम दिशा की ओर के भाग को पश्चिम विदेह कहते है। दोनो भागो मे दो सूर्य का प्रकाश रहता है। निषध और नील पर्वत के बीच मे विदेह क्षेत्र स्थित है। निषध से नील तक जाने मे सूर्य का उतना ही समय लगता है जितना निषध या नील के पूर्व शिरे से पश्चिम शिरे तक जाने मे लगता है। क्योकि जबूद्वीप के कुल १९० भागोमेसे ६४ भागो मे बीच का अकेला एक विदेह क्षेत्र है। और शेष ६३-६३ भागो दोनो तरफ के दक्षिण-उत्तर के सब कुलाचल और क्षेत्र है।

तत्वार्थसूत्र के श्री अकलकदेवकृत भाष्य मे मेरु को सब क्षेत्रो मे उत्तर मे बताते हुये इस विषय मे निम्न प्रकार प्रतिपादन किया है—

"पूर्वविदेहे हि सविता नीलादुदेति, निषधेऽस्तमुपैति। तत्र प्राङ्नील, प्रत्यङ्निषध, अपाक् समुद्र मेरुरुदक्। अपरविदेहे तु निषधे उदय नीलेऽस्तमय इति। तत्र प्राङ् निषध, प्रत्यङ् नील अपाक् समुद्र, उदङ् मेरु। उदवकुरुषु गधमादनादुदयो माल्यवत्यस्तमय। तत्र गधमादन प्राक्, माल्यवान् प्रत्यक्, नील अपाक्, मेरु उदक्। देवकुरुषु सौमनसादुदय, विद्युत्प्रभेऽस्तमय। तत्र सौमनस प्राक्, विद्युत्प्रभ प्रत्यक्, निषधोऽपाक्, मेरुरुदगिति।"

—अध्याय ३ सूत्र १० की व्याख्या

अर्थ—पूर्व विदेह में सूर्य नीलकुलाचल पर उदय होता है। निषध पर अस्त होता है। वहा पूर्व मे नीलाचल है, पश्चिम मे निषध है। दक्षिण मे समुद्र और उत्तर मे मेरु है। पश्चिम विदेह मे सूर्य निषध पर उदय होता है नील पर अस्त होता है। वहाँ पूर्व मे निषध है, पश्चिम मे नील है, दक्षिण मे समुद्र, और उत्तर मे मेरु है। उत्तर-कुरु मे गधमादन पर सूर्य उदय होता है, माल्यवान् पर अस्त होता है। वहा पूर्व मे गधमादन है, पश्चिम मे माल्यवान् है, दक्षिण मे नील और उत्तर मे मेरु है। देवकुरु मे सूर्य सोमनस पर्वत पर उदय होता है, विद्युत्प्रभ पर अस्त होता है। वहा सोमनस पूर्व मे है, पश्चिम मे विद्युत्प्रभ है, दक्षिण मे निषध और उत्तर मे मेरु है। इस प्रकार सब स्थानो से मेरु उत्तर की तरफ रहता है। माल्यवान्, सोमनस, विद्युत्प्रभ, और गधमादन ये ४ गजदत पर्वतो के नाम हैं और इनका स्थान क्रमश मेरु की ईशानादि विदिशाओ मे है। गधमादन और माल्यवान् के बीच उत्तरकुरुक्षेत्र व सोमनस और विद्युत्प्रभ के बीच देवकुरु क्षेत्र है।

लोकप्रकाश (श्वेतांबर) ग्रंथ के १८ वें सर्ग में लिखा है कि—

पूर्वापरविदेहेषु निशीथेऽर्हज्जनिर्यदा ।
भरतैरावतक्षेत्रे मध्याह्न स्यात्तदा यत ॥२४४॥

अर्थ—पूर्वपश्चिम विदेहों में अर्द्ध रात्रि में जब तीर्थंकर का जन्म होता है तब भरत-ऐरावत क्षेत्र में मध्याह्न होता है।

सूर्य की गमन करने की कुल १८४ वीथियें हैं। प्रत्येक वीथी में दो योजन का अन्तराल है। कुल अंतराल १८३ हैं। प्रत्येक वीथी में दो सूर्य आमने सामने चलते हैं। किसी एक वीथी में चलकर दूसरी वीथी में आने में दोनों सूर्यों को एक अहोरात्र (३० मुहूर्त) सम्मिलित काल लगता है। इस तरह एक अयन के १८३ दिन होते हैं। दो अयनों के ३६६ दिनों का एक सूर्य-वर्ष कहलाता है। अभ्यंतर की प्रथम वीथी से लेकर ६३वीं वीथी में तिष्ठता सूर्य भरत-क्षेत्र में निषधपर्वत पर उदय होता दीखता है। ६४वीं ६५वीं वीथीयों में तिष्ठता सूर्य हरिक्षेत्र पर उदय होता दिखता है। और शेष ११९ वीथियों में तिष्ठता सूर्य भारतवासियों को लवणसमुद्र पर उदय होता दिखता है। प्रथम वीथी स्थित सूर्य निषधपर्वत के उत्तरतट से १४६२१ $\frac{४७}{३६६}$ योजन ओली तरफ (दक्षिण की ओर) आने पर भरतक्षेत्र के अयोध्यावासियों को उदय होता नजर आता है। और निषधपर्वत के दक्षिणतट में करीब ५५७५ योजन परे जाने पर अस्त होता नजर आता है। ये वीथियें ज्यों ज्यों दक्षिण से उत्तर को गई हैं त्यों त्यों ही वे गोलाई में उत्तरोत्तर कम होती गई हैं। तथापि इन सब में प्रत्येक को अपनी गति से पूर्ण करने में एक सूर्य को ६० मुहूर्त से न अधिक समय लगता है न कम। ऐसा नियम है। अत कहा जा सकता है कि सूर्य जब दक्षिण से उत्तर को जाने लगता है तब उसकी चाल प्रत्येक वीथी में क्रमश धीमी होती जाती है और उत्तर से दक्षिण की ओर जाते वक्त उसकी चाल उत्तरोत्तर तेज होती जाती है। वीथियों में सब से कम गोलाई वाली अभ्यंतर की वीथी है। इसकी गोलाई ३१५०८९ योजनों की है। इसमें ६० का भाग देने से सूर्य की एक मुहूर्त की गति ५२५१ $\frac{२९}{६०}$ योजन प्रमाण निकलती है। इसको सवा से गुणा करने पर उतने प्रमाण सूर्य की एक घंटे की गति होगी। यह गति सूर्य की अभ्यंतर की प्रथम वीथी में जाननी चाहिए। आगे की वीथियों में उत्तरोत्तर गति बढ़ती जाती है। अंतिम १८४ वीं वीथी की गोलाई ३१८३१४ योजनों की है और उसमें सूर्य की एक मुहूर्त की गति ५३०५ $\frac{१४}{६०}$ योजनों की होती है।

चंद्रमा की कुल १५ ही वीथियें हैं और प्रत्येक वीथी में ३५ $\frac{३०}{६१}\frac{४}{७}$ योजनों का अंतराल है। ये वीथियें भी दक्षिण से उत्तर की तरफ ज्यों ज्यों जाती गई हैं त्यों त्यों ही वे उत्तरोत्तर गोलाई में कम होती आई है। चंद्रमा की प्रथम वीथी और अंतिम वीथी सूर्य की प्रथम वीथी और अंतिम वीथी के ठीक ८० योजन ऊपर सीध में है। इसलिये सूर्य की इन दो वीथियों की गोलाई जितने योजनों की बनाई उतनी ही चंद्रमा की भी इन दो वीथियों की समझनी चाहिये। चंद्रमा प्रत्येक वीथी को चाहे वह कितनी भी छोटी बड़ी हो एक से दूसरी पर जाने में उसे ६२ $\frac{२३}{२२१}$ मुहूर्त लगते हैं कम अधिक नहीं। अत वह भी सूर्य की तरह दक्षिण से उत्तर में आते वक्त उत्तरोत्तर मंदगति में और उत्तर से दक्षिण में जाते हुये उत्तरोत्तर तीव्रगति से गमन करता है।



यों तो जंबूद्वीप में सभी ज्योतिष्क गमनशील हैं किन्तु इसमें भी एक अपवाद है। इस द्वीप में कुछ (३६) तारे ऐसे भी हैं जो गमन नहीं करते हैं। उन्हें ध्रुवतारे कहते हैं। (त्रिलोकसार गाथा ३४७)।

श्वे० तत्त्वार्थाधिगम भाष्य में लिखा है कि—ध्रुवतारा की गति मेरु की प्रदक्षिणा रूप में नहीं है। वह अपने ही स्थान पर घूमता रहता है। यथा—

"तस्यैव स्थाने स ध्रुव परिभ्राम्यति न तु मेरो प्रादक्षिण्येन गतिं प्रतिपद्यते। तथाहि तदद्यापि ध्रुवतारा-चक्रमानानात्तरदिक्क परिवर्तमानमुपलभ्यते प्रत्यक्षप्रमाणेनैव।" (४ थे अध्याय के १४वें सूत्र का भाष्य)

नक्षत्रों का गमन

जिस प्रकार सूर्य चंद्रमा एक से दूसरी और दूसरी से तीसरी आदि वीथियों में भ्रमण करते हैं उसी प्रकार



नक्षत्र भ्रमण नही करते है। जिन नक्षत्रो की जो खास एक वीथी नियत है वे उसी मे सदा भ्रमण किया करते है ऐसी वीथियें सब नक्षत्रो की कुल ८ है। उनमे २ वीथी जम्बूद्वीप मे हैं और ६ लवण समुद्र मे हैं। प्रथम वीथी से अतिम वीथी उत्तर दक्षिण मे ५१० योजन दूर है। नक्षत्रो की प्रथम वीथी चद्रमा की प्रथम वीथी के ऊपर है और ८ वीं वीथी चद्रमा की अतिम १५ वीं वीथी के ऊपर है। नक्षत्रो की शेष २ री से ७ वी वीथी क्रम मे चद्रमा की ३ री, सातवी, छठवी, आठवी दसवी, ११ वी वीथी के ऊपर है। नक्षत्रो की प्रथम वीथी मे १२ नक्षत्र घूमते है, उनके नाम --

अभिजित्, श्रवण, धनिष्ठा शतभिषा, पूर्वाभिषा, पूर्वाभाद्रपदा, उत्तराभाद्रपदा, रेवती, अश्विनी, स्वाति, पूर्वाफाल्गुणी, भरणी।

तीसरी वीथी मे—मघा, पुनर्वसु ये २ नक्षत्र घूमते हैं। सातवी वीथी मे रोहिणी, चित्रा, ये २ नक्षत्र घूमते हैं, छठवी मे कृत्तिका, आठवी मे विशाखा, दसवी मे अनुराधा, और ११ वी मे ज्येष्ठा सदा भ्रमण किया करता है। १५ वी वीथी मे ८ नक्षत्र भ्रमण करते हैं उनके नाम—

हस्त, मूल, पूर्वाषाढ, उत्तराषाढ, मृगशीर्षा, आर्द्रा, पुष्य और अश्लेषा। जो नक्षत्र जिस वीथी मे घूमता है वह अपनी चाल से उस वीथी को ५९ $\frac{३६५}{३६७}$ मुहूर्तो मे पूर्ण कर लेता है अर्थात् पूरा एक चक्कर लगा लेता है।

प्रकाश और अधकार

कोई कहते हैं—"सूर्य जब, मेरु की आड मे आ जाता है तब वह हमें अस्त होता नजर आता है। और आड से निकलते वक्त उदय होता नजर आता है। परन्तु ऐसी जैन-मान्यता नहीं है। क्योकि मेरु उत्तर दिशा मे है और सूर्य का उदयास्त पूर्व-पश्चिम दिशा मे होता है। दूसरी बात यह है कि मेरु की चौडाई जैनागम में दस हजार योजनों से अधिक नहीं लिखी है। इसको तो सूर्य अपनी गति मे करीब दो मुहूर्त से कम मे ही लाघ सकता है। ऐसी अवस्था मे मेरु की आड की बात बनती नही है।

कोई कहते हैं—"पृथ्वी नारगी की तरह गोल है और सूर्य उसके नीचे ऊपर चक्कर लगाता है अत उसकी आड मे आने से सूर्य अस्त और आड से निकलने पर उदय होता है। जिससे उदयास्त के वक्त सूर्य पृथ्वी से निकलता व उसमे प्रवेश होता नजर आता है। और इसी से उदयास्त के वक्त सूर्य का पाव आधा आदि हिस्सा भी दृष्टिगोचर होता है। एक दम पूरा मडल दिखाई नही देता है।"

किन्तु इस प्रकार की भी जैन मान्यता नहीं है, इसका कारण यह है कि—यद्यपि सूर्य पृथ्वी से आठ सौ योजन ऊचा है यथापि वह उदयास्त के वक्त हमसे बहुत दूर रहने के कारण पृथ्वी से लगा हुआ प्रतीत होता है और दूर होने से पहिले उसका आगे का भाग नजर आता है, बाद में फिर पिछला भाग भी दिखने लगता है उसी से हमको उस के पाव आध आदि हिस्सा दीखने का भ्रम हो जाता है।

तथा हम यह भी सर्वथा नही कहते कि पृथ्वी बिल्कुल दर्पण के समान सपाट ही है, उसमे भी कालादिवश से ऊचाई नीचाई हुई है। यह बात आचार्य श्री विद्यानद स्वामी ने श्लोकवार्तिक के निम्न वाक्यो में प्रगट की है—

"न च वय दर्पणसमतलामेव भूमि भाषामहे प्रतीतिविरोधात् तस्या कालादिवशादुपचयापचयसिद्धेर्निम्नोन्नताकारसद्भावात् तत एव नोदयास्तमययो सूर्यादेर्बिंबार्द्धदर्शन विरुध्यते। भूमिसलग्नतया वा सूर्यादिप्रतीतिर्न ससाध्या, दूरादिभूमेस्तथाविधदर्शनजननशक्तिसद्भावात्।"

(अध्याय ४ सूत्र १३)

अर्थ—हम जैन यह भी नही कहते कि पृथ्वी दर्पण के समान समतल ही है। समतल कहना प्रतीति के विरुद्ध है। कालादि के वश से घटावढी होकर पृथ्वी मे ऊचानीचापन देखा जाता है। इसलिये उदयास्त के वक्त सूर्यादि का आधा बिंब दिखाई देने मे कोई आपत्ति नही है। और विपक्षी का यह कहना कि "पृथ्वी नारगीवत् गोल न होती तो

उदयास्त के वक्त सूर्यादि का भूमि से लगा हुआ दृष्टि में आना सम्भव नहीं था" उचित नहीं है। वैसा तो भूमि में दूरी होने और इस की वीच पृथ्वी से लगी हुई नजर आवे ऐसी नेत्रशक्ति होने से भी हो सकता है।

इस प्रकार शास्त्रों में किसी पदार्थ की आड से बारहा सूर्य का उदयास्त नहीं है। किन्तु समतल भूमि में जहां तक सूर्य का प्रकाश फैलता है। उसी दूरी से सूर्य का उदयास्त समझना चाहिये। जब सूर्य अभ्यन्तर की प्रथम वीथी में होता है तब उस का कुछ प्रकाश पूर्व से पश्चिम में ९४५२६ ४२/६० योजनों तक फैलता है। उसमें से आधा आगे की ओर आधा पीछे का रहता है। यानी साधिक ४७२६३ योजनों की दूरी पर भरत क्षेत्र के ज्योतिषवासियों को वह पूर्व दिशा में उदय होता नजर आता है और उतनी ही दूरी पर वह पश्चिम में अस्त होता नजर आता है। निषधाचल के जिस स्थान पर सूर्य का उदयास्त होता है वह स्थान भी अयोध्या से उतना ही दूर है। इसी अपेक्षा से भरतक्षेत्र के वासी सूर्य का उदयास्त निषध पर्वत पर बताते हैं। उतना ही प्रकाश सामने के दूसरे सूर्य का रहता है। दोनों तरफ अन्तराल में अंधकार रहता है। ज्यों ज्यों सूर्य आगे चलता जावेगा उसका प्रकाश भी उसके साथ आगे २ बढ़ता जावेगा और पीछे अंधकार होता जावेगा। इस वीथी की परिधि ३१५०८९ योजनों की है। उसमें से आमने सामने के दोनों सूर्यों का ताप १८९०५३ ४/१० योजनों का है। तथा एक तरफ के अन्तराल में ६३०१७ ८/१० योजनों का अंधकार रहता है। दोनों तरफ के अंधकार का प्रमाण १२६०३५ ६/१० योजनों का होता है। कुल ताप (प्रकाश) और तम (अंधकार) का जोड़ ३१५०८९ योजनों का होता है जो कि अभ्यन्तर प्रथम वीथी की परिधि (घेरा) होती है। इस वीथी में सूर्य के गमन करने पर जम्बूद्वीप में प्राय सर्वत्र १८ मुहूर्तों का दिन और १२ मुहूर्तों की रात्रि होती है। इस वीथी में स्थित सूर्य का ऊपर दक्षिण ताप मेरु के मध्य से लेकर लवण समुद्र के छठे भाग तक फैला रहता है। ऊपर की ओर ताप एक सौ योजन और नीचे का १८०० योजन तक रहता है। यह वीथी मेरु के मध्य से ४४८२० योजनों की दूरी पर है। इस वीथी से ज्यों ज्यों उत्तर की तरफ जाते हैं त्यों ही आकाश प्रदेशों की चौड़ाई उत्तरोत्तर कम होती जायेगी और दक्षिण की तरफ चौड़ाई बढ़ती जायेगी। अतः जो ताप प्रथम वीथी स्थित सूर्य का प्रथम वीथी में बताया है वह ताप भी उस वक्त उत्तर की तरफ के आकाश प्रदेशों की चौड़ाई में उतना नहीं बताया है किन्तु उत्तरोत्तर घटता बताया है। और दक्षिण तरफ के आकाश प्रदेशों की चौड़ाई में उत्तरोत्तर बढ़ता बताया है। इसका कारण शायद यह हो कि चौड़ाई का मोड़ जहां जहां कम दूरी पर हुआ है वहां वहां ताप कम फैला है। और जहां जहां मोड़ अधिक दूरी पर हुआ है वहां वहां ताप अधिक फैला है।

और जब सूर्य अन्तिम बाह्यवीथी में विचरता है तब वहां दोनों तरफ के सूर्यों का ताप १२७३२६ योजनों का रहता है। और दोनों तरफ का अंधकार १९०९८९ योजन प्रमाण रहता है। प्रकारान्तर से यों समझिये कि प्रथम वीथी में जब सूर्य विचरता है तब उस प्रथम वीथी को आदि लेकर सभी वीथियों की अपनी-अपनी परिधियों के १० भागों में से ६ भागों में ताप रहता है और ४ भागों में अंधकार रहता है। तथा जब सूर्य अन्तिम बाह्य वीथी में विचरता है तब उसमें और उसके सभी वीथियों की परिधियों में १० भागों में से ४ भागों में ताप व ६ भागों में अंधकार रहता है। मध्य की शेष वीथियों में से जिस किसी वीथी में सूर्य के विचरते वक्त अन्य सब वीथियों में ताप प्रमाण कितना है? यह जानने के लिये उन वीथियों की परिधियों में ६० का भाग देने पर जो लब्धि आवे उसको सूर्य के विचरने वाली वीथी के दिनमान के मुहूर्तों से गुणा करने पर जो संख्या हो उतने योजनों का उनमें ताप प्रमाण समझना चाहिये। इससे प्रगट होता है कि सर्वाभ्यन्तर से बाह्यपथ की ओर जाते समय सूर्य का क्रमानुसार ही ताप उत्तरोत्तर घटता जाता है और बाह्यपथ से अभ्यन्तर पथ की ओर आते समय ताप उत्तरोत्तर बढ़ता हुआ जाता है। अन्तिम बाह्य वीथी में सूर्य के विचरते वक्त प्राय जम्बूद्वीप में दिनमान १२ मुहूर्त का और रात्रि-मान १८ मुहूर्त का होता है। यह सब से छोटा दिन और सबसे बड़ी रात—माघ मास में होती है। तथा १८ मुहूर्त का बड़ा दिन और १२ मुहूर्त की छोटी रात आषाढ़ मास में होती है। वैशाख और कार्तिक में १५-१५ मुहूर्तों का समरात्रि दिन होता है। उस समय सूर्य मध्यम वीथी में विचरता है। और उस समय सभी वीथियों में ताप और तम का प्रमाण समान भागों में रहता है। अभ्यन्तर की प्रथम वीथी से बाह्य का अन्तिम वीथी में जाने में सूर्य को १८३ दिन लगते हैं। इसी को दक्षिणायन कहते हैं। इससे उल्टे बाह्य से अभ्यन्तर में आने में इसी तरह सूर्य को





१८३ दिन लगते है। उसे उत्तरायण कहते है। दक्षिणायन मे क्रमश: दिन घटता है, और उत्तरायण मे क्रमश दिन बढता है । यह घटाबढी ६ मुहूर्त तक होती है। १८३ दिनों मे ६ मुहूर्त की हानि-वृद्धि हो तो एक दिन मे कितनी हो ऐसे त्रैराशिक करने से २ मुहूर्त का ६१ वा भाग प्रमाण काल की प्रतिदिन हानि-वृद्धि होगी । अर्थात् ३०॥ दिन मे १ मुहूर्त दिन घटे बढेगा। यानी श्रावण मे १८ मुहूर्त का, भाद्रपद मे १७ मुहूर्त का आगे माघ मास तक प्रति मास एक एक मुहूर्त दिन घटना समझ लेना। इस प्रकार दक्षिणायन मे दिनमान घटता जाता है । इससे आगे उत्तरायण चलता है। उससे श्रावण मास तक प्रतिमास इसी क्रम से दिनमान बढता जाता है। जैसे फाल्गुन मे १३ मुहूर्त का, चैत्र मे १४ का इत्यादि। प्राय ३० मुहूर्त का अहोरात्र होता है ऐसा नियम है इसलिये जब जितना दिनमान होगा तब ही शेष मुहूर्तो की रात्रि होगी।

यहाँ हम यह भी स्पष्ट कर देते हैं कि—हमारे यहाँ दिन होगा तो विदेह क्षेत्र मे रात्रि होगी और विदेह मे रात्रि होगी तो हमारे यहा दिन होगा, किन्तु इसका अर्थ यह नही है कि—हमारे यहा सूर्यास्त होते ही विदेह मे सूर्योदय होने लग जाय या वहा सूर्योदय होते ही यहा सूर्यास्त होने लग जावे। ऐसा तो समरात्रि दिन के वक्त हो सकता है। विषम रात्रि दिन मे तो ऐसा नही हो सकता है। क्योंकि जब १८ मुहूर्त का दिन और १२ मुहूर्त की रात्रि होती है तब भरत क्षेत्र मे सूर्यास्त होने के ३ मुहूर्त पहिले ही पश्चिम विदेह म सूर्योदय हो जायेगा। और पूर्व विदेह मे सूर्यास्त के ३ मुहूर्त पूर्व ही भरत मे सूर्योदय हो जायेगा। मतलब कि उस वक्त भरत मे जो दिन का अतिम ३ मुहूर्तात्मक भाग है वही पश्चिम विदेह मे दिन का ३ मुहूर्तात्मक प्रारम्भिक भाग है। तथा पूर्व विदेह मे जो दिन का अतिम ३ मुहूर्तात्मक भाग है वही भरत मे दिनका ३ मुहूर्तात्मक प्रारभिक भाग है। और जब १८ मुहूर्त का दिन होता है तब सूर्यास्त के तीन मुहूर्त बाद मे पश्चिम विदेह मे सूर्योदय होता है। और पूर्व विदेह मे सूर्यास्त के ३ मुहूर्त बाद मे भरत मे सूर्योदय होता है। कारण कि दिनमान और रात्रि मान मे जो काल का अतर है उसमे दिनमान जितना अधिक होगा उसका आधा समय पूर्वक्षेत्र मे सूर्यास्त का शेष रहते ही उत्तर (अगले) क्षेत्र मे सूर्योदय हो जायेगा। तथा जितना अधिक रात्रिमान होगा उसका आधा समय पूर्व क्षेत्र मे सूर्यास्त के बाद उत्तर क्षेत्र मे सूर्योदय होगा।

शुक्ल-कृष्णपक्ष

जिस पखवाडे मे सूर्यास्त के बाद प्रतिरात्रि उत्तरोत्तर बढते हुए एक एक मुहूर्त तक चन्द्रमा दिखाई देता है, और फिर अस्त हो जाता है वह शुक्लपक्ष कहलाता है। और जिस पखवाडे में सूर्यास्त के बाद प्रतिरात्रि उत्तरोत्तर बढते हुए एक एक मुहूर्त तक चन्द्रमा का उदय नही होता बाद मे उदय होकर सारी रात्रि तक चन्द्रमा दिखता रहता है वह कृष्णपक्ष कहलाता है। ऐसा चन्द्रसूर्य की समानगति न होने के कारण से होता है। हमेशा चन्द्रमा सूर्य से धीमी गति चलता है। चलते २ हर अमावस को चन्द्रसूर्य साथ हो जाते हैं। इसीलिये अमावस का पर्याय नाम सूर्येन्दुसगम भी है। उस दिन दोनों साथ साथ अस्त होते है। दूसरे दिन शुक्लपक्ष की प्रतिपदा को चन्द्रमा अपनी चाल से सूर्य से इतना पीछे रह जाता है कि उस दिन जहा उसे अस्त होना है वहाँ वह सूर्यास्त के १ मुहूर्त बाद मे पहुँचता है इसलिये शुक्ल प्रतिपदा को सूर्यास्त के १ मुहूर्त बाद तक चन्द्र दिखता रहता है। फिर अस्त हो जाता है। आगे द्वितीया को २ मुहूर्त, तृतीया को ३ मुहूर्त बढते बढते पूर्णिमा को सूर्यास्त के १५ मुहूर्त बाद तक चन्द्र दर्शन होता रहता है। समरात्रि दिन में रात्रि १५ मुहूर्त की होती है। अत तब पूर्णिमा को सारी रात्रि मे चन्द्रमा की चाँदनी रहती है। उस दिन जिस वक्त पश्चिम म सूर्यास्त होता है उसी वक्त पूर्व दिशा मे चन्द्रमा अपने उदय स्थान से आकर उदय हो जाता है। आगे कृष्ण प्रतिपदा को चन्द्रमा चाल मे इतना पीछे रह जाता है कि सूर्यास्त के मुहूर्त बाद में चन्द्रमा अपने उदय स्थान पर आकर उदय होता है । इसीलिये कृष्ण प्रतिपदा को चन्द्रमा का उदय सूर्यास्त के १ मुहूर्त बाद होता है। आगे द्वितीया को २ मुहूर्त बाद, तृतीया को ३ मुहूर्त बाद, इत्यादि प्रतिदिन एक एक मुहूर्त बढते २ चतुर्दशी को सूर्यास्त के १४ मुहूर्त बाद चन्द्रोदय होता है। आगे अमावस को सूर्यास्त के वक्त ही चन्द्रमा भी अपने अस्त स्थान पर पहुँच कर अस्त होकर सूर्य चन्द्र दोनों साथ साथ हो जाते है। चूकि चन्द्रमा की सूर्य से मदगति होने के कारण उस रात्रि के अन्त मे चन्द्रमा के अपने उदयस्थान पर पहुँचने के पहिले ही सूर्य आगे चलकर उदय हो जाता है इससे अमावस की सारी रात्रि मे चन्द्रदर्शन नही होता है। इस प्रकार यह सूर्य के निमित्त से कमज्यादा समय तक चन्द्रदर्शन होना जानना

चाहिये । लिख के शून्य में चन्द्रमा के छोटे बड़े आकार का होना राहु के निमित्त से बनाया है—यह इन दोनो कथनों में खास अन्तर समझना चाहिये ।

भूगोल-खगोल के विषय में कुछ विशिष्ट ज्ञातव्य बातें हमने "जैन-निबंध रत्नावली" पुस्तक में भी ग्रथित की हैं—देखो पृ २८४ पर "भरतैरावत में वृद्धि-ह्रास किसका है ?" शीर्षक निबंध तथा पृ० २९१ पर—"उपलब्ध जैन ग्रंथों में ज्योतिष-चक्र की व्यवस्था" शीर्षक निबंध ।

भारतीय वर्ष मास तिथि नक्षत्रादि की गणना सूर्य चन्द्र तारों की चाल पर आधारित है जब कि अन्य मतों की कैलेण्डर (Calander) पचांग पद्धति काल्पनिक है अत वह ऋतुओं से भी मेल नहीं खाती । प्रसंगोपात्त भूभ्रमण के विषय में भी कुछ समीक्षात्मक विचार नीचे प्रस्तुत किये जाते हैं —

भू-भ्रमण मान्यता की सदोषता

जैन-जैनेतर-पौर्वात्य एव पाश्चात्य सभी के धर्मग्रथों (आगम, पिटक, वेद, बाईबिल, कुरान आदि) में पृथ्वी को स्थिर और सूर्य को चर माना है किन्तु जब ज्योतिष और गणित पद्धतियों में विकास का युग आया तब इस विषय में तार्किक दृष्टि से ऊहापोह होने लगा । वराहमिहिर, ब्रह्मगुप्त, श्रीधर, लल्ल, भास्कर तथा महावीर आदि प्रसिद्ध गणिताचार्य इस विषय में धर्मग्रंथों की मान्यता के ही समर्थन में रहे पर इस बीच आर्यभट्ट (वि० स० ५३३) आदि कुछ गणिताचार्यों ने पृथ्वी को चर बताया । भारतवर्ष में वह युग भी इस विषय के खडन-मडन का रहा ।

भू-स्थिर वादियों के जोरदार तर्क (प्रश्न) निम्नांकित थे —

१—अगर पृथ्वी चल है तो पक्षी सुबह अपने घोंसलों को छोडकर शाम वहीं वापिस कैसे आ जाते हैं ?

२—आकाश में फेंके जाने वाले बाण विलीन क्यों नहीं हो जाते ? आकाश में फेंकी गई वस्तु विषम-गति-शील और दिशान्तर क्यों नहीं हो जाती ?

३—पृथ्वी की गति का मद होना इसमें कारण माना जाय तो एक दिन-रात में इस विस्तृत पृथ्वी का पूरा भ्रमण कैसे हो जायेगा ?

इसके विपरीत अगर पृथ्वी का तीव्र वेग से घूमना मानते हो तो इससे उस पर इतनी प्रचड वायु चलेगी कि जिससे महल, मकान, वृक्ष, पर्वतादि की चोटियां, ध्वजाए आदि सब छिन्न-भिन्न हो जायेंगे । अत पृथ्वी का भ्रमण किसी भी तरह सिद्ध नहीं होता ।

४—पृथ्वी समान रूप से गति करती हुई वर्ष भर में सूर्य का एक पूरा चक्कर लगाती है तो ऋतुओं का परिवर्तन कैसे सभव है ?

५—अगर पृथ्वी चलती है तो ध्रुवतारा उत्तर की ओर ही सदा एक स्थान पर ही क्यों दिखाई देता है ? पृथ्वी के साधारण दैनिक भ्रमण से प्रतिदिन सूर्य पूर्व से पश्चिम में जाता हुआ दिखता रहे और पृथ्वी के दैनिक-वार्षिक भ्रमण से भी ध्रुवतारा ज्यों का त्यों स्थिर खडा रहे यह कैसे माना जाय ?

इन प्रश्नों और तर्कों का कोई समुचित उत्तर भू-भ्रमणवादियों के पास नहीं ।

इसके सिवा भू-भ्रमण प्रत्यक्ष-बाधित भी है क्योंकि सब देश काल में सर्व प्राणियों को पृथ्वी की स्थिरता का ही अनुभव होता है । अनुमान से भी भू-भ्रमण का कोई निश्चय नहीं होता क्योंकि उस प्रकार का कोई अविनाभावी हेतु नहीं देखा जाता । (विशेष जानने के लिए—"पी० एल० ज्योग्राफी" ग्रंथ द्रष्टव्य है) ।

इस तरह भू-स्थिरता का सिद्धांत सुदीर्घ काल तक मान्य और प्रचलित रहा किन्तु पाश्चात्य देशों में सर्व-प्रथम १६ वीं सदी में कोपरनिकस ने पृथ्वी को चर और सूर्य को स्थिर बताया । गेलिलिओ ने भी विभिन्न प्रमाणों से





इसकी पुष्टि की किन्तु पोप लोगों ने इसे बाइबिल का अपमान बताया। परिणाम स्वरूप गेलिलिओ आदि को राजकीय दण्ड भोगने पड़े। फिर भी यह मान्यता नये नये सिद्धांतों की खोजों से उत्तरोत्तर बढ़ती रही और पश्चिम को लांघकर यह पूर्व में भी प्रचलित हो गई एवं राज-मान्यता के साथ विद्यालयों में पाठ्य-विषय भी बन गई।

इस प्रकार भूभ्रमण का सिद्धांत काफी लोकप्रिय हो गया और सूर्य-भ्रमण का सिद्धांत प्राचीन ग्रंथों का विषय रह गया।

फिर भी बहुत से ऐसे पाश्चात्य विचारक विद्वान् भी होते रहे हैं जिन्होंने भू-स्थिरता को ही मान्य किया है। हेनरी फास्टर ने सन् १९४८ में एक लेख में लिखा है कि "विलियम एडगल ने ५० वर्षों के महान् प्रयत्न के बाद यह निर्णय प्रकट किया कि पृथ्वी थाली के समान चपटी है और इसके चारों ओर सूर्य भ्रमण करता है।"

इसी तरह जे० मेकडानल्ड ने भी सन् १९४९ में अपने विस्तृत लेख में यह लिखा है कि सूर्य गति करता है। और जो यह मानते हैं कि -पृथ्वी अपनी धुरी पर १ हजार मील प्रति घंटे की गति से गमन करती है वह हास्यास्पद है।

आधुनिक वैज्ञानिकों से अभी भू-स्थिरवादियों के पूर्वोक्त प्रश्नों का ही यथोचित समाधान नहीं हो रहा है कि—सापेक्षवाद सामने आ उपस्थित हुआ जिसके प्रस्तुतकर्ता इस २० वीं ईस्वी सदी के विश्व-प्रसिद्ध गणितज्ञ वैज्ञानिक आईन्स्टीन हैं। उन्होंने बताया है कि —"गति व स्थिति केवल सापेक्ष-धर्म हैं। 'प्रकृति' कुछ ऐसी है कि किसी भी ग्रह-पिण्ड की वास्तविक गति किसी भी प्रयोग द्वारा निश्चित रूप से नहीं बताई जा सकती। पृथ्वी की अपेक्षा से सूर्य चलता है या सूर्य की अपेक्षा से पृथ्वी चलती है। दोनों सिद्धान्त अपनी अपनी जगह ठीक हैं फिर भी पहला सिद्धांत कुछ जटिल है और दूसरा सिद्धांत सरल है।

इस तरह भू-भ्रमणवाद पर जो बल दिया जा रहा है वह सिर्फ सामान्य जनता की सुविधा की दृष्टि से है। अतः यह सुविधावाद भी एक तरह से सापेक्षिक ही है।

आईन्स्टीन के सापेक्षवाद ने वैज्ञानिकों के एकान्ताग्रह को झकझोर दिया है और अब वे यह कहने को बाध्य हो गए हैं कि—

सूर्य चलता है या पृथ्वी, यह विवाद महत्वहीन और निरर्थक है। दोनों में से कुछ भी माना जा सकता है। कोई बाधा नहीं। प्रकृति अनंत धर्मात्मक होने से अति सूक्ष्म है अतः वास्तविकता का साक्षात्कार करना असंभव-सा है।

●

जैनागमों में गृहस्थाचार

पंडित जयकुमार,

काव्यतीर्थ, शास्त्री, नीमच



जैनागम में गृहस्थ-आचार से अभिप्राय जैन धर्म ग्रंथों में वर्णित श्रावक अथवा श्रमणोपासक के आचरण से है। न जाने कब कौन जीवात्मा काल-लब्धि के योग से श्रमण-साधु बन कर मुक्ति-श्री का वरण करने में समर्थ हो जाए। विचार के इस धरातल को ध्यान में रखने के कारण ही जैनाचार्यों द्वारा देशना की दृष्टि से सर्वप्रथम मुनि-धर्म का प्रतिपादन किया जाता रहा, तदनन्तर श्रावकधर्म का और फिर श्रावकधर्म अथवा गृहस्थ-आचार स्वयं भी अनगार के आचरण का एक अंग ही है।

जैनागम एक रिकार्ड

जैनागम एक रिकार्ड है। जैसे रिकार्ड गायक की सगीतमयी आरोह-अवरोहमयी स्वर-लहरी से सुपरिचित कराता है, वैसे ही महर्षियों के मुखारविन्द द्वारा उच्चरित अथवा सकलित-लिपिबद्ध सन्देश भी उनके भाषणों-धर्मग्रन्थों के माध्यम से परम्परागत सत्य एवं तथ्य का साक्षात्कार कराता है।

प्रस्तुत प्रसंग में तो दो मत हो ही नहीं सकते हैं कि मानव-जीवन में आचरण का महत्व सर्वाधिक है। जैसे फूल में सुगन्ध का, मणि में कान्ति का, दीप में ज्योति का, दूध में धवलता का, घी में स्निग्धता का महत्व है वैसे ही जीवन में आचरण का। मनु के शब्दों में आचरण या आचार सभी धर्मग्रंथों में सर्वोपरि है। आचार प्रथम धर्म है और मनुष्यों के लिए अतीव श्रेयस्कर है।[1] बर्क के शब्दों में आचरण दृष्टान्त ही मानवजाति की पाठशाला है। आचार के आधार पर ही शिक्षा का महल सुस्थिर, सुदीर्घजीवी और समुन्नत होगा।

जैनागमों की दृष्टि से आचरण को सुधारने के लिये मिथ्यात्व का निरास करना अतीव आवश्यक है। दूसरे शब्दों में मिथ्या आचरण (व्यवहार) को सम्यक् आचरण (चारित्र) के रूप में परिणत करने पर ही जीवात्मा को स्वानुभूति संभव है, अन्य किसी प्रकार नहीं। मिथ्या आचरण से अभिप्राय कुदेव, कुगुरु और कुशास्त्र को मान्यता देने का है और सम्यक् आचरण से आशय सुदेव, सुगुरु और सुशास्त्र पर अपनी अखण्ड अपार आस्था बनाये रखने का है। पहला झूठा एवं निष्फल है, दूसरा सच्चा एवं सफल है। यदि हम गृहस्थों के आचरण के सम्बन्ध में स्वामी समन्त-भद्राचार्य से परामर्श चाहें तो वे अपने अमर ग्रन्थ 'रत्नकरण्डश्रावकाचार' का उद्धरण प्रस्तुत कर कहेंगे—

> सकल विकल चरण तत्सकल सर्वसगविरतानाम्।
> अनगाराणा विकल सागाराणा ससगानाम्॥
> गृहिणा त्रेधा तिष्ठत्यणुगुणशिक्षाव्रतात्मक चरणम्।
> पचत्रिचतुर्भेद त्रय यथासख्यमाख्यातम्॥

चारित्र के दो भेद हैं—(१) सकल (२) विकल। सकलचारित्र अपरिग्रही मुनिजनों के होता है और विकलचारित्र मर्यादित परिग्रही गृहस्थों के होता है। गृहस्थों का चारित्र तीन प्रकार का है—(१) अणुव्रत (२)

---

१ सर्वागमानामाचार प्रथम परिकल्प्यते,
आचार प्रथमो धर्मो नृणां श्रेयस्करो महान्॥



गुणव्रत और (३) शिक्षाव्रत । इनमे से अणुव्रत के पाच, गुणव्रत के तीन और शिक्षाव्रत के चार भेद होते हैं ।

पडितप्रवर आशाधर जी से गृहस्थ-आचार के विषय मे पूछें तो वे 'सागारधर्मामृत' के आधार पर कहेंगे —

सम्यक्त्वममलममलान्यणुगुणशिक्षाव्रतानि मरणान्ते ।
सल्लेखना च विधिना पूर्ण सागारधर्मोऽयम् ।

उल्लिखित पक्तियो मे सम्यक्त्व शब्द सर्वप्रथम है। अणुव्रत, गुणव्रत, शिक्षाव्रत और अन्त मे सल्लेखना सहित मरण, गृहस्थ का धर्म या कर्तव्य है । सम्यक्त्व से अभिप्राय उस जीवत्व भाव की श्रद्धा प्राप्त करना है जो कल था, आज है और अनागत मे रहेगा । धर्म के आचार्यों की भाषा मे परम पारिणामिक भाव पर आस्था रखना गृहस्थ का कर्तव्य है । यह गृहस्थ-धर्म की सर्वप्रथम वह भावभूमि है जिस पर आस्था न रखने से मुनिधर्म भी पुण्यवन्ध का कारण होकर लगभग निष्फल सा हो जाता है । सम्यक्त्वमूलक परमपारिणामिक भावानुभूति बिना अनन्त अखण्ड ज्ञायक स्वभाव की प्रतीति सम्भव नही है ।

सब व्यवहार क्रिया का ज्ञान, भयो अनन्ती वार प्रधान ।
निपट कठिन अपनी पहिचान, ताके पावत होत कल्याण ।।

यह कहकर भूधरदासजी ने परमपारिणामिक भाव पाने की प्रेरणा दी ।

सम्यक श्रद्धा धारि पुनि, सेवहु सम्यक ज्ञान ।
स्वपर अर्थ बहुधर्म जुत, जो प्रगटावन भान ।।

यह लिखकर दौलतरामजी ने भी आत्मानुभूति के लिये प्रेरित किया । सम्यक्त्व का या परमपारिणामिक भावानुभूति का महत्व गृहस्थ अथवा मुनि के लिये उतना अधिक है, जितना भी शक्य और सभव है ।

अहिंसा और सत्य का समर्थक

अणुव्रत से तात्पर्य अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह, इन व्रतो का अपूर्णतया, एक देश पालन करने का है । दूसरे शब्दो मे हिंसा, झूठ, चोरी, अब्रह्मचर्य और परिग्रह, इन पाचो पापो से लोक-जीवन मे यथासभव बच कर रहने का है ।

'प्रमत्तयोगात्प्राणव्यपरोपण हिंसा'—तत्वार्थ सूत्र । प्रमादपूर्वक कषायो के सबंध से प्राण-घात करना हिंसा है । चूंकि गृहस्थ को सासारिक जीवन बिताना है, अतएव वह पूर्णतया अहिंसक जीवन व्यतीत करने मे असमर्थ है । गृहस्थ की इस अक्षमता को ध्यान मे रखते हुये भगवान् ने उसे सकल्पी हिंसा से पूर्णतया और आरम्भी, उद्यमी, विरोधी हिंसा से यथासम्भव बचने की सलाह दी है । इस आधार पर कहा जा सकेगा कि उद्योग के निमित्त और शत्रु से अपने को बचाने के लिये परिस्थिति विशेष मे जीवन-यात्रा के लिये गृहस्थ आरम्भी हिंसा का त्यागी नही होता । पर गृहस्थ को निरुद्देश्य त्रस और स्थावर जीवो के घात से तो बचना ही है ।[1] इस हेतु वह अनावश्यक रूप से न अन्न का सचय करेगा और न धन का, कोयला लाख बनवाना, वन कटवाना, मद्य-मास-मधु का क्रय विक्रय करना जैसे हिंसामूलक कार्य वह कदापि नही करेगा । अच्छा सच्चा अहिंसाणुव्रती न तो अभक्ष्य वस्तु का भक्षण करेगा और न बिल्ली, कुत्ता, तीतर-मुर्गी जैसे मासभोजी जीवो को पालेगा । वह जहा लोक-प्रचलित बाईस अभक्ष्यो से बचेगा, वहा शराब और मछली के तेल से बनी विदेशी दवाइया भी नही सेवन करेगा । इतना ही नही बल्कि बहुत दिनो के बने अरिष्ट, आसव, आचार-मुरब्बा, मिष्टान्न पक्वान्न को भी ग्रहण नही करेगा ।

---

१ त्रसघात कबहु नाहि करि है, विरथा न थावर सहरहि है ।

यों वह एक ओर अपने को हिंसा से बचाएगा और दूसरी ओर अपने जीवन तथा स्वास्थ्य की भी रक्षा करेगा। इसी दिशा में वह यथासंभव एकाशन-उपवास भी पर्व के अवसर पर आत्मशुद्धि की दृष्टि से करेगा और आचार्य उमास्वामी के शब्दों में अहिंसाव्रत की पांच भावनायें ध्यान में रखेगा।[1] दूसरे शब्दों में वह अधिकाधिक अहिंसक जीवन बितावेगा तथा अहिंसाव्रत के अतिचारों से भी अपने को सतर्क होकर बचावेगा।[2]

वह वचनों का सावधानी से प्रयोग करेगा, मनोनिग्रह करेगा, आगे निर्जीव जमीन देखकर चलेगा, जीव-रहित भूमि पर ही सतर्कता पूर्वक वस्तु को रखेगा तथा देख-शोध कर ही दिन में भोजन-पानी ग्रहण करेगा। मनु के शब्दों में 'दिवाचरेभ्यो नमः' कहकर उनके अनुरूप अपने जीवन को ढालेगा।

पूर्वोक्त पांचों भावनाओं को बढ़ाने के लिये वह उचित स्थान में जाने से किसी को रोकेगा नहीं। वह किसी को थप्पड़-डंडा-बेंत मारेगा नहीं। वह किसी के नाक-कान छेदेगा नहीं। वह न तो अधीनस्थ पशुओं-पुरुषों पर शक्ति से अधिक भार-लाद लादेगा और न उनके भोजन पानी में किसी प्रकार की बाधा ही पहुंचावेगा।

जैन श्रावक सत्यभाषी होगा। उसका सत्य हित-मित-प्रिय होगा। वह अप्रिय-असत्य से बचेगा और प्राण-रक्षा के निमित्त परिस्थिति विशेष में असत्य बोलकर भी अहिंसाधर्म का पालन करना अंगीकार करेगा। उदाहरण के लिये, कोई शिकारी गृहस्थ से पूछेगा कि पक्षी मरा है या जीवित? तो वह जीवित पक्षी को देखकर भी शिकारी उसे मार न डाले, इस विचार से पक्षी को मरा कह कर उसकी प्राणरक्षा करने का प्रयत्न करेगा।

सत्यव्रत का पालन करने के लिये जैन गृहस्थ क्रोध और लोभ, भय और हास्य का त्याग करेगा और निश्छल होकर निर्दोष वचन कहेगा। वह धर्मराज की भांति न तो 'नरो वा कुंजरो वा' कहेगा और 'न अजैर्यष्टव्यम्' के सन्दर्भ में 'अज' का अर्थ बकरा करेगा। उसका मनन-चिन्तन-भाषण सुस्पष्ट होगा।

अपने सत्य आचरण को बढ़ाने के लिये गृहस्थ न तो किसी को मिथ्या उपदेश देगा और न किसी की गुप्त बात को प्रकट ही करेगा। वह न कूट दस्तावेज बनावेगा और न किसी की धरोहर का अपहरण करेगा। वह संकेत द्वारा किसी का अभिप्राय जानकर भी प्रकट नहीं करेगा। दूसरे शब्दों में जैनगृहस्थ यथासंभव अहिंसा और सत्य का समर्थक होगा।

अचौर्य और ब्रह्मचर्य का उपासक

चोरी का त्याग करके, लोभ कषाय को क्रम से कम करने का प्रयत्न जैनगृहस्थ करेगा। वह किसी की गिरी-पड़ी-रखी वस्तु को अपने लिये अंगीकार नहीं करेगा। निर्गुणवादी सन्त कबीर के शब्दों में वह स्वयं भले ही ठगा जावेगा परन्तु दूसरों को नहीं ठगेगा,[3] वह स्वयं दुखी हो लेगा पर दूसरों को दुख पहुचाने का विचार स्वप्न में भी नहीं करेगा। वह न भाव की चोरी करेगा और न द्रव्य (धन-वस्तु) की। वह न भ्रष्टाचारी होगा और न रिश्वतखोर या रिश्वतदाता भी। उसका जीवन आरसी सा निर्मल और गुलाब-सा सुवासित होगा।

वह जहां सुरक्षित स्थान में रहेगा, वहां दूसरों को भी रहने से रोकेगा नहीं। वह शास्त्रों के अनुरूप ही भोजन-पानी ग्रहण करेगा। अपने सहधर्मी बन्धुओं में विसंवाद नहीं बढ़ावेगा। वह सदाशय और सहृदयता का एक केन्द्र ही होगा। अचौर्य व्रत की उपासना करने के लिये वह न तो चोर को चोरी करने की प्रेरणा देगा और न चुराई हुई वस्तु को ही खरीदेगा। शासन की आज्ञा के विरुद्ध वह आचरण नहीं करेगा और लेन-देन के बाट-तराजू कम-बढ़ नहीं रखेगा। वह बहुमूल्य वस्तु में अल्प मूल्य की वस्तु मिलाकर नहीं बेचेगा।



---

१ वाङ्मनोगुप्तीर्यादाननिक्षेपणसमित्यालोकितपानभोजनानि पञ्च।

२ बन्धवधच्छेदातिभारारोपणान्नपाननिरोधाः।

३ कबिरा आप ठगाइये और न ठगिये कोय।
आप ठगे सुख ऊपजै और ठगे दुख होय॥



जैनगृहस्थ यथाशक्य ब्रह्मचर्य की उपासना करेगा । वह अपनी स्त्री मे ही सन्तुष्ट होकर रहेगा और अन्य स्त्रियो को छत्रपति शिवाजी और धनुर्धारी अर्जुन की भाति अपनी मा बहिन-बहू-बेटी ही समझेगा । दूसरे शब्दो मे वह अन्य स्त्रिया का विषय की दृष्टि से त्यागी होगा । 'सहवास मे अनेकानेक जीवो की हानि-हत्या होती है ।' इस वचन को ध्यान मे रखकर वह अपनी स्त्री से भी अत्यधिक काम-वासना की पूर्ति के लिये लालसा नही बढावेगा ।

ब्रह्मचर्य व्रत का सुगमतापूर्वक पालन हो सके, इसी लिये वह स्त्रियो मे राग बढाने वाली न तो बातें करेगा-सुनेगा, न चलचित्र देखेगा, न अश्लील उपन्यास ही पढेगा । वह न स्त्रियो के मनोहर अगो को देखेगा और न पिछले भोगो का स्मरण ही करेगा । काम के वेग को रोकने के लिए न केवल गरिष्ठ राजसी और निकृष्ट तामसी भोजन का ही परित्याग करेगा अपितु शरीर की सज्जा भी ऐसी नही करेगा, जो उसके अथवा अन्यजना के ब्रह्मचर्य व्रत के पालन मे बाधक हो ।

जितने भी साधक पराजित हुये, वे प्राय स्त्री के क्षेत्र मे हुये । इस बात को ध्यान मे रखकर वह यथासभव उनसे बच कर ही रहेगा और ब्रह्मचयव्रत की आराधना के लिये पडित द्यानतरायजी के शब्दो मे 'ससार मे विप-बेल नारी तजि गये जोगीश्वरा' भी कहने मे नही चूकेगा । इस प्रकार जैन गृहस्थ ब्रह्मचर्यव्रत का मर्यादानुसार पालन करेगा ।[1]

अपरिग्रह का आराधक

इच्छाये असीमित है । आकाश की तरह अनन्त है । उनका पूर्ण होना सभव नही है । यह विचार कर जैन श्रावक अपनी इच्छाओ को यथासभव कम से कम कर लेगा और स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और कर्ण-इन पाचो इन्द्रियो सबधी आसक्ति को बढाने वाली वस्तुओ और बातो को अतीव सीमित कर लेगा । इन इन्द्रियों पर नियन्त्रण रखने के लिये वह एक ओर भोगोपभोग विषयक सामग्री कम करेगा और दूसरी ओर उपलब्ध सामग्री मे अत्यधिक राग-भाव नही बढावेगा । राग कम करने के लिये, प्रतिदिन-प्रतिक्षण सावधान रहने के लिये वह भोजन-पानी, वस्त्र-सुगन्ध, घी-तेल आदि के प्रयोगो के सम्बन्ध मे निश्चित नियम बनाकर पालन करेगा ।

अपरिग्रह का आरम्भिक आराधक होने के नाते जैन गृहस्थ परिग्रह-परिमाण अणुव्रत का धारक बनेगा । वह सीमित परिग्रही बनेगा । वह खेत और घर दुकान और व्यवसाय को सीमित रखेगा । वह न तो मर्यादा से आगे चादी-सोना-रुपया बढावेगा और न गाय-भैंस, हाथी-घोडे जैसे पशु बढावेगा तथा न गेहू-चना-दालें-शक्कर आदि की मात्रा बढावेगा । वह जहा नौकर-नौकरानी सीमित सख्या मे रखेगा, वहा वस्त्र और बर्तन आदि के प्रमाण का भी उल्लघन नही करेगा ।[2]

यो अपनी इच्छाओ और आवश्यकताओ को कम से कम करके जब जैन गृहस्थ अपरिग्रह की आराधना करने लगेगा तब वह देश और काल तथा समाज को भी प्रभावित किये बिना नही रहेगा । उसका यह आचरण समाज मे समता लाने वाला और विषमता मिटाने वाला सिद्ध होता है ।

दिग्व्रत और देशव्रत तथा अनर्थ दण्डव्रताचारी

गुणव्रत के तीन भेद हैं—(१) दिग्व्रत (२) देशव्रत (३) अनर्थदण्ड विरमण व्रत । इन्हे सच्चा श्रमणोपासक बखूबी समझेगा । वह सूक्ष्म पापो से निवृत्ति के लिये दशो दिशाओ मे आने-जाने का परिमाण कर लेगा और दिग्व्रतधारी बनेगा तथा जीवन-पर्यन्त अपनी मर्यादा नही छोडेगा । स्वीकृत दिग्व्रत के क्षेत्र मे क्रमश कमी करता जाएगा । घडी-

---

१ वह न तो अन्य जनों के विवाहो मे उलझेगा और न व्यभिचारिणी स्त्रियों से अनुचित सम्बन्ध ही रखेगा । वह न निश्चित अगों के सिवाय अन्य अगो से काम-सेवन करेगा और न काम-सेवन की अत्यधिक लालसा रखेगा ।

२ क्षेत्रवास्तुहिरण्यस्वर्णधनधान्यदासीदासकुप्यप्रमाणातिक्रम ।

घटा, दिन-महीना आदि की दृष्टि से भी नगर-मुहल्ला तक ही आवेगा-जावेगा और देशव्रत-का पालन करेगा। इस स्वीकृत मर्यादा को न तो भूलेगा और न उसके बाहर की वस्तुयें मगावेगा। न व्यक्तियो को भेजेगा, न सकेतो द्वारा ही आने का मनोभाव दूसरो पर प्रकट करेगा। वह प्रयोजनरहित पापवर्धक क्रियाओ का त्याग करके अनर्थदण्ड विरमण व्रतधारी बनेगा अर्थात् वह न किसी को पाप का उपदेश देगा और न हिंसा के साधन देगा तथा न दूसरे का बुरा ही विचारेगा। न वह राग-द्वेपवर्धक खोटे शास्त्र पढेगा और न बिना प्रयोजन इधर-उधर घूमेगा। न निरद्देश्य पृथ्वी को खोदेगा न जल का अपव्यय करेगा। वह न तो कभी अशिष्ट वचन कहेगा और न शारीरिक कुचेष्टा करेगा। वह न वाचाल बनेगा और न मन-वचन काय को मनमानी करने देगा। वह भोग-उपभोग के पदार्थों का अधिक सग्रह नही करेगा।

पूर्वोक्त तीनो व्रतो के सम्यक्रीत्या आचरण के द्वारा जैनगृहस्थ उस सयम की ओर उन्मुख होगा, जिसके सम्बन्ध मे आचार्य आदि युग-युग से कहते आ रहे हैं कि 'सयम के बिना एक घडी भी न बीते।'

शिक्षाव्रतधारी

मुनियो के व्रतो का पालन करने की प्रेरणा देने वाले शिक्षाव्रत ४ है—(१) सामायिक (२) प्रोपधोपवास (३) भोगोपभोगपरिमाण (४) अतिथिसविभाग व्रत। चारों ही सार्थक सज्ञा वाले हैं।

सामायिक शब्द सम-आय-इक से मिल कर बना। जिस का आशय समभाव की प्राप्ति की साधना मे है। प्रत्येक जैन गृहस्थ के लिये सामायिक करना अतीव आवश्यक है। वह कम से कम दो घडी के लिये, ४८ मिनट के लिये तो अवश्य ही अहिंसक जीवन बिताये। इतने समय तक वह न केवल पापो से ही बचे अपितु विघ्न आने पर भी भयभीत न हो। सामायिक करने वाला गृहस्थ इसके छह अगो को कदापि नही भूलेगा। वह समता, वन्दना, प्रतिक्रमण-स्वाध्याय, कायोत्सर्ग और स्तुति पर जागरूक होकर दृष्टि रखेगा। आचार्य समन्तभद्र ने सामायिक मे स्थित गृहस्थ की उपमा राख मे दबे अगार से दी है। सामायिकधारी गृहस्थ को सवस्त्र मुनि भी कह दें तो कोई अतिशयोक्ति नही होगी। सामायिक करने से गृहस्थ न केवल पापो से ही बचता है बल्कि आत्मिक सुखानुभूति भी पाता है।

जैन गृहस्थ प्रोपध (एकाशन) करेगा, उपवास करेगा तथा प्रोपधोपवास भी अर्थात् पहले दिन एकाशन, दूसरे दिन उपवास तथा तीसरे दिन पुन एकाशन भी करेगा। प्रोपधोपवास के दिनो मे वह ससार के कार्यों से उदासीन रहेगा और एकान्त शान्तिपूर्ण स्थान मे रहेगा। वह अजन-मजन, स्नान-उबटन, तेल फुलेल से जहा बचेगा वहा सिनेमा, नाटक, आदि से भी बचेगा। वह देखी-शोधी भूमि पर मल-मूत्र त्याग करेगा। सभी वस्तुओ को सावधानी से रखेगा-उठावेगा। भूख से व्याकुल होकर भी धार्मिक क्रियाओ मे उत्साहित रहेगा।

भोग और उपभोग की वस्तुओं की मर्यादा करके उन्हे ही जैनगृहस्थ ग्रहण करेगा, शेप को त्याग देगा। त्यागी हुई वस्तु का स्पर्श हो जाने पर या मिल जाने पर वह स्वीकृत वस्तु को भी भोजन मे नहीं लेगा।



अपने और दूसरो के उपकार के लिये दान[1] देना भी गृहस्थ का कर्तव्य है। विधि, द्रव्य, दातृ और पात्र-विशेष की अपेक्षा दान के फल मे विशेपता होती है। यह विचार कर जैन गृहस्थ अतिथिसविभाग व्रत का पालन करेगा। वह मुनि या श्रावक के लिये भोजन देकर ही स्वय भोजन करेगा। एक कवि के शब्दो मे उसकी प्रवृत्ति यों होगी—

मुनि आवन बिरिया जोवे। तब जोग अशन मुख लेवे॥

जब जैन गृहस्थ प्रसन्न मुखमुद्रा लिये समुचित पात्र को दान देगा तो उसकी उदारता मे भारतीय सस्कृति बढेगी। तीर्थंकरो को जिन लोगो ने दान दिया, उनके यहा देवताओ ने पाच आश्चर्य प्रकट किये।

---

१ अनुग्रहार्थं स्वस्यातिसर्गो दानम्।



समाधिमरण का इच्छुक

गृहस्थ प्राण-त्याग के समय सल्लेखना अथवा समाधिमरण को प्रीतिपूर्वक स्वीकार करे। वह इहलोक-परलोक सबधी किसी भी प्रयोजन की इच्छा न करे और कषायो को तथा शरीर को कृश-क्षीण करे। पर क्यो? इसलिये कि वह अन्तिम समय मे समाधिमरणपूर्वक अपने प्राणो को वैसे ही छोड सके, जैसे साप केंचुली को छोड देता है अथवा हम पुराने कपडे को छोड देते हैं। अन्तिम समय मे समाधिपूर्वक मरण से चारो गतियो मे भ्रमण करने से वचकर मुक्ति प्राप्त की जा सकती है।

अन्ते समाहिमरण चउगइदुक्ख णिवारेई।

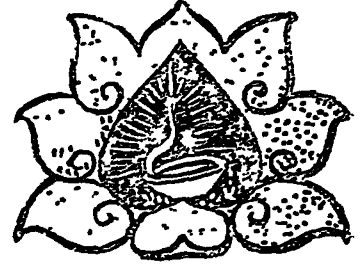
इस स्वर्णसूत्र को दृष्टिपथ मे रखता हुआ जैन गृहस्थ समाधि के समय न तो मन-वचन-काय की अन्यथा प्रवृत्ति ही करेगा और न समाधि दशा में अनादर रखेगा अथवा न स्मरणीय पाठों को दुखी होकर भुला ही बैठेगा। वह सल्लेखना या समाधिमरण को स्वीकार करने के बाद—न जीवन की इच्छा करेगा न मृत्यु की, न मित्रो का स्मरण करेगा न अतीत के भोगो का भी ध्यान रखेगा तथा न आगे के लिये भी विषयो की इच्छा करेगा। ऐसा करने से उसके प्राण सहज स्वाभाविक रूप से छूटेंगे, वह जैनधर्म के बीजभूत वीतरागता के रहस्य को भी समझ सकेगा।

सक्षेप मे जैनागमो मे जो गृहस्थ के आचार का वर्णन मिलता है, वह बहुत ही उच्च कोटि का है। उसकी भाव-भूमि बड़ी ही मनोहारी है। उसमे आहार-विहार और निहार पर नियन्त्रण है, अन्तरग और बहिरग दोनो ही दृष्टियो से त्याग की कामना है, लोक और परलोक की दृष्टियो से उसमे वैराग्य की भावना है। जैन गृहस्थ का जीवन जैनमुनि के जीवन की पूर्व भूमिका है। जैन धर्म जनधर्म है, अतएव जैनाचार प्रत्येक प्राणी का कल्याण करने मे सक्षम है।

●

उपासक का आचार

पं० जम्बूप्रसाद शास्त्री



जो सत्-श्रद्धा सद्-विवेक और सद्-आचरण रूप क्रिया करता है वही श्रावक कहलाने का पात्र हो सकता है। आस्तिक्य गुण को धारण कर सर्वप्रथम आत्मा के अस्तित्व, तथा यह चैतन्य स्वभाव वाला, अविनाशी और अनन्त गुणों का समूह है, इसकी सुख शान्ति इसी के पास है, आदि आत्मविषयक बातों पर श्रद्धान करना, पुनर्जन्म पर आस्था, कर्मों का आगमन, उनका आत्म-प्रदेशों से बन्ध, उनका रुकना और उनकी निर्जरा तथा अंतिम परिणाम मोक्ष किस तरह होना है, आदि का आगमानुकूल श्रद्धान करना, सत्श्रद्धा में आता है।

विवेक सद्ज्ञान को कहते हैं जिसके प्राप्त कर लेने से आत्म-दर्शन हो जाता है। स्वानुभूत्यावरण कर्म का क्षयोपशम हो जब आत्म-बोध होता है तो साधक आत्मा का उन्नति के पथ पर ले जाता है। हित की प्राप्ति और अहित का परिहार विवेक से ही होता है। जैसे दीपक अंधकार में डूबे मार्ग को प्रशस्त करता है ठीक उसी भांति विवेकी आत्मोन्नति के मार्ग में बढ़ता है।

जिस प्रकार औषधि का परिज्ञान मात्र, रोगी को रोग-मुक्त नहीं कर सकता परन्तु उसका सेवन आवश्यकीय होता है, इसी प्रकार आत्मकल्याण के लिए सन्मार्ग पर चलना भी अनिवार्य है। कहा है—

> शास्त्राण्यधीत्यापि भवन्ति मूर्खा,
> यस्तु क्रियावान् पुरुष स विद्वान्।

अर्थात् शास्त्र को पढ़कर भी बहुत से मूर्ख होते हैं किन्तु जो क्रियावान् है वही विद्वान् है। इसीलिए आचरण की प्रमुखता है। यही कारण है कि सदाचरणसम्पन्न श्रावक ही प्रशंसनीय होता है। शेष कौटुम्बिक व्यवधानों में फंसे और शास्त्रोक्त आचरण न करने वाले गृहस्थ श्रावक कहलाने के योग्य नहीं हैं।

सत्कर्तव्य की आवश्यकता क्यों है? इस प्रश्न पर थोड़ा विचार करें।

प्रत्येक प्राणी सुख चाहता है और दुख से डरता है। 'जे त्रिभुवन में जीव अनन्त, सुख चाहें दुखते भयवन्त।' वास्तव में यह उद्देश्य प्रत्येक प्राणी मात्र का है। जिस प्रकार 'उपयोगो लक्षणम्' जीव का लक्षण उपयोग है, यह सभी संसारी और मुक्त जीवों में घटित होता है उसी प्रकार सुख की चाह और दुख की अचाह, यह संसारी प्राणी मात्र की अभिलाषा है और यही जीव मात्र की समानता का बोध कराती है। इसी हेतु की प्राप्ति के लिए सत्कर्तव्य की आवश्यकता होती है, जो सदुपदेश के श्रवण और सद्विवेक की सहकारिता से मिलता है। लेकिन व्यवहार में हम करते कुछ हैं और चाहते कुछ हैं—

> पुण्यस्य फलमिच्छन्ति, पुण्य नेच्छन्ति मानवा ।
> पापफल च नेच्छन्ति, पाप कुर्वन्ति यत्नत ।।



यह सर्वविदित है कि पुण्य का फल इन्द्रिय-सुख और महानता आदि तथा पाप का फल दुख एव तिरस्कृत अवस्था है। परन्तु यह प्राणी पुण्य के फल को चाह कर भी पुण्य नही करता और पाप के दुख रूप फल को न चाह कर भी यत्नपूर्वक पाप करता है। इस विपरीतता मे जाता हुआ मनुष्य कैसे सुखी हो सकता है ?

पुण्य और पाप क्या है ? यह भी ज्ञातव्य है। 'सुह असुहभावजुत्ता, पुण्ण पाव हवन्ति खलु जीवा।' अर्थात् शुभ और अशुभ परिणाम सहित यह जीव पुण्य और पाप रूप प्रवृत्ति वाला होता है। पाप शब्द की व्याख्या मे कहा है—

'पाति रक्षति आत्मान शुभादिति पापम्। अर्थात् जो आत्मा को शुभ से दूर करे वह पाप है। पाप ऐसा शत्रु है जो आत्मा के साथ छायावत् चलता है। जिस व्यक्ति को आत्मा से प्रेम नही वही आत्मा के हित की उपेक्षा करता हुआ पापाचरण करता है। आत्मा का समझने वाला आत्मस्नेही पाप नही किया करता। ससार मे जितने भी दुख देखने मे आ रहे है, वे सब पाप के फल है। वे पाप प्रधानत हिंसा, झूठ, चोरी अब्रह्मचर्य और परिग्रह के भेद से पाच प्रकार के है। यद्यपि अभक्ष्यभक्षण, रात्रिभोजन और सप्त व्यसन सेवन भी पाप है तथापि उन पापो का समावेश इन्ही पाच मे हो जाता है।

पुण्य की व्याख्या मे कहा है कि—'पुनात्यात्मान पूयतेऽनेनेति वा पुण्यम्' अर्थात् जो आत्मा को पवित्र करे वह पुण्य है। इसलिए जो गृहस्थ समर्थ होकर भी नित्य जिनेन्द्र भगवान् की उपासना, आराधना, स्तुति आदि नही करता है और जो मुनि आदि सुपात्रो को दान नही देता है उसका गृहस्थाश्रम भवसागर मे पाषाण-नौका के समान है जो उसे डुबाकर नष्ट कर देता है।

जो मूलोत्तर गुणों से सहित पच परमेष्ठी के चरणो की शरण वाला है, योग्यतानुसार षट्कर्म जिसका प्रधान कार्य है, ऐसा ज्ञान-अमृतपिपासु श्रावक ही उत्तम है।

अहिंसाणुव्रत सत्याणुव्रत, अचौर्याणुव्रत, ब्रह्मचर्याणुव्रत और परिग्रहपरिमाणव्रत, इन पच अणुव्रतो को धारण करना तथा मद्य, मास एव मधु का त्याग, ये अष्ट मूलगुण श्री समन्तभद्राचार्य के कथनानुसार है। यद्यपि कोई कोई पच उदम्बर फल के त्याग के साथ तीन मकारो के त्याग को भी अष्टमूलगुण मानते है, लेकिन मेरी अपनी आस्था उपर्युक्त मूलगुणो मे ही है।

जब पच अणुव्रतो मे दिग्व्रत, देशव्रत और अनर्थदण्डव्रत ये तीन गुणव्रत तथा सामायिक, पोषधोपवास, भोगोपभोग—परिमाण और अतिथि-सविभाग ये चार शिक्षाव्रत सम्मिलित हो जाते है तो श्रावक के १२ व्रत कहलाने लगते है। इनका पालन करते हुए अतिम समय निरतिचार सल्लेखना धारण करना गृहस्थ का श्रावकाचार है। बारह व्रतो का समीचीन रूप से पालन करने के लिए भूमिका रूप मे गृहस्थ मे निम्न विशेषताए जरूरी है—

(१) न्याय पूर्वक धन का कमाना—क्योंकि अन्यायपूर्वक कमाया हुआ धन एक तो ठहरता नही और दूसरे उससे जो भोजनादि किया जाता है उसके प्रभाव से बुद्धि धार्मिक नही बन सकती।

(२) अपने से अधिक गुणो वाले व्यक्ति का सम्मान करना।

(३) सत्यभाषी प्रकृति वाला होना।

(४) परस्पर मे विरोध रहित धर्म, अर्थ और काम पुरुषार्थो का सेवन करना।

(५) योग्य धार्मिक कुलवधू का होना।

(६) योग्य स्थान (आलय) का होना।

(७) लज्जावान् होना।

(८) योग्य आहार-विहार करने वाला हो।

(९) सत्संगति करने वाला हो ।

(१०) बुद्धिमान् हो (११) कृतज्ञ हो। (१२) धार्मिक विधि-विधानों को हमेशा प्रेमपूर्वक सुनने वाला हो। (१४) पापों से हमेशा डरने वाला हो। (१५) दयावान हो, आदि।

ये उपर्युक्त बातें जिस गृहस्थ में होती हैं वही निर्दोष श्रावकाचार का पालन कर सकता है। आत्मकल्याणेच्छुकों को इन गुणों को धारण करना चाहिए।

इसके अतिरिक्त विशिष्ट साधना के लिए श्रावक के ग्यारह दर्जे होते हैं जिन्हें ग्यारह 'प्रतिमाओं' के नाम से कहा गया है। इन दर्शन, व्रत, सामायिक, प्रोषध, सचित्तत्याग, रात्रिभोजनत्याग, ब्रह्मचर्य, आरम्भत्याग-परिग्रहत्याग, अनुमतित्याग और उद्दिष्टत्याग प्रतिमाओं का पालन करने वाला क्रम से उच्च-उच्चतर श्रेणियों पर चढ़ता हुआ उत्तम श्रावक की श्रेणी पर पहुँचकर मुनि के समान ही आचरण करने वाला हो जाता है। इसलिए श्रावकों को अपने योग्य जितना भी व्रत आचरण हो सके, पालन करते हुए मनुष्यजन्म को सफल करना चाहिए।

जिस मनुष्यभव के लिए इन्द्रादिक महान् देव भी लालायित रहते हैं, यदि सौभाग्य से वह प्राप्त हो गया तो उसे व्यर्थ नहीं खो देना चाहिए। उसमें भी यह उत्तम कुल, जिनवाणी का श्रवण, तत्त्वविचार की बुद्धि, नीरोगता और सम्पन्नता आदि ऐसी बातें प्राप्त हुई जो बिना पूर्वोपार्जित पुण्य के नहीं हो सकती। अतः पुरुषार्थ-पूर्वक आत्मोन्नति द्वारा इस सामग्री को सफल करना चाहिए। क्योंकि मोक्षप्राप्ति में पुरुषार्थ की प्रधानता का प्रतिपादन करते हुए श्री अकलंक देव ने तत्त्वार्थराजवार्तिक (अध्याय १ सूत्र ३) में कहा है—मोक्ष जाने का कोई काल नियत नहीं है। जब भी यह आत्मा योग्य पुरुषार्थ करता है तो द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अनुकूलता मिलने पर इसकी मुक्ति हो सकती है।

यह राग रूपी आग जीव को हमेशा से जलाती आ रही है। इसे समता रूपी जल से शान्त करना चाहिए। विषय और कषाय रूप प्रवृत्ति जीव ने अनादि काल से रक्खी, अब उसे त्याग करके आत्म-स्वरूप की प्राप्ति करनी चाहिए। भोगों की तृष्णा जब देवों व चक्रवर्ती के सुखों को भोगने पर भी पूरी नहीं हुई तब इस स्वल्पकालिक जन्म में क्या तृप्ति होगी? समुद्र भर जल पीकर जिसकी प्यास नहीं बुझी क्या वह तृण के ऊपर स्थित जल-बिन्दु के पीने से बुझ सकती है? कदापि नहीं। इस प्रकार अपने मन में निश्चय कर भोगों की लालसा को छोड़ना चाहिए।

आर्त-रौद्र जैसे खोटे ध्यान, जो कि नरक और तिर्यंच गति के कारण हैं, छोड़कर मोक्ष के कारणभूत धर्म-ध्यान का चिन्तन करना चाहिए। यद्यपि गृहस्थ धर्मध्यान की चरम पराकाष्ठा तक नहीं पहुँच सकता तथापि पञ्चपरमेष्ठी के मन्त्रों का जाप व स्मरण रूप ध्यान तो नित्य कर ही सकता है।

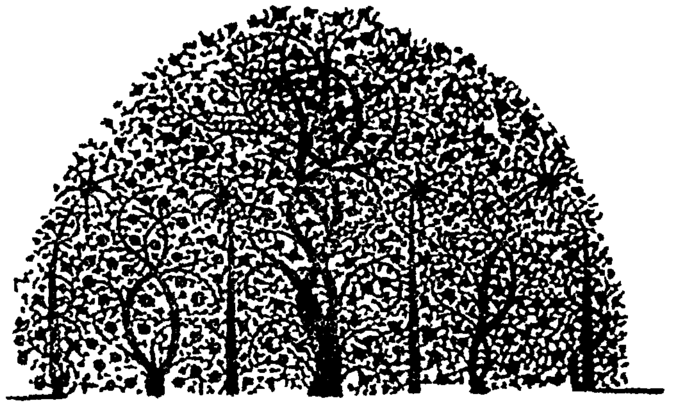
सबके प्रति सद्भावना रखना श्रावक का परम कर्तव्य है, क्योंकि जिनवाणी में बन्ध और मोक्ष सुन्दर भावना पर ही निर्भर है। यदि ऐसा न होता तो इस जीव जन्तुओं से भरे संसार में अहिंसात्मक प्रवृत्ति न बनती और न मुक्ति-प्राप्ति की सम्भावना ही हो सकती थी। इसलिए मन वचन काय की शुभ प्रवृत्ति को, जो पुण्य का कारण है, करते हुए शुद्धोपयोग की ओर लक्ष्य रखना चाहिए, जो मुक्ति का साक्षात् कारण है।

मनुष्य स्वयं अपने भाग्य का निर्माता होता है। जैसा शुभ या अशुभ आचरण वह करता है वही कर्म बनकर भाग्य रूप में परिणत होकर फल देता है। यह विशेष जानने की बात है कि मनुष्य कर्म करने में तो स्वतन्त्र होता है परन्तु उसके फल भोगने में परतन्त्र। इसलिए आत्मस्नेही को सत्-कर्म करना चाहिए।



अतिचार-रहस्य

पं० हीरालाल सिद्धान्तशास्त्री,



देव, गुरु, संघ, आत्मा आदि की साक्षी-पूर्वक जो हिंसादि पापों का — बुरे कार्यों का - परित्याग किया जाता है, उसे व्रत कहते हैं। पाँचों पापों का यदि एक देश, आंशिक या स्थूल त्याग किया जाता है, तो उसे अणुव्रत कहते हैं और यदि सर्वदेश त्याग किया जाता है, तो उसे महाव्रत कहते हैं। यतः पाप पाँच होते हैं, अतः उनके त्याग रूप अणुव्रत और महाव्रत भी पाँच-पाँच ही होते हैं। इस व्यवस्था के अनुसार महाव्रतों के धारक मुनि और अणुव्रतों के धारक श्रावक कहलाते हैं। पाँचों अणुव्रत श्रावक के शेष व्रतों के, तथा पाँचों महाव्रत मुनियों के शेष व्रतों के मूल आधार हैं, अतएव उन्हें मूलव्रत या मूलगुण के नाम से भी कहा जाता है। मूलव्रतों या मूलगुणों की रक्षा के लिए जो अन्य व्रतादि धारण किये जाते हैं, उन्हें उत्तर गुण कहा जाता है। इस व्यवस्था के अनुसार मूल में श्रावक के पाँच मूल गुण और सात उत्तर गुण बताये गये हैं। कुछ आचार्यों ने उत्तर गुणों की "शीलव्रत" संज्ञा भी दी है। कालान्तर में श्रावक के मूलगुणों की संख्या पाँच से बढ़कर आठ हो गई, अर्थात् पाँचों पापों के त्याग के साथ मद्य, मांस और मधु इन तीन मकारों के सेवन का त्याग करने को आठ मूलगुण माना जाने लगा। तत्पश्चात् पाँच पापों का स्थान पाँच उदुम्बर फलों ने ले लिया और एक नये प्रकार के आठ मूलगुण माने जाने लगे। इस प्रकार पाँचों अणुव्रतों की गणना उत्तर गुणों में की जाने लगी और सात के स्थान पर बारह उत्तर गुण या उत्तर व्रत श्रावकों के माने जाने लगे। किन्तु यह परिवर्तन श्वेताम्बर परम्परा में दृष्टिगोचर नहीं होता।

साधुओं के पाँचों पापों का सर्वथा त्याग नव कोटि से अर्थात् मन, वचन, काय और कृत, कारित, अनुमोदना से होता है, अतएव उनके व्रतों में किसी प्रकार के अतिचार के लिए स्थान नहीं रहता है। पर श्रावकों के प्रथम तो सर्व पापों का सर्वथा त्याग संभव ही नहीं है। दूसरे हर एक व्यक्ति नव कोटि से स्थूल भी पापों का त्याग नहीं कर सकता है। तीसरे प्रत्येक व्यक्ति के चारों ओर का वातावरण भी भिन्न-भिन्न प्रकार का रहता है। इन सब बाह्य कारणों से, तथा संज्वलन और नोकषायों के तीव्र उदय से उसके व्रतों में कुछ न कुछ दोष लगता रहता है। अतएव व्रत की अपेक्षा रखते हुए भी प्रमादादि, तथा बाह्य परिस्थिति-जनित कारणों से गृहीत व्रतों में दोष लगने का, व्रत के आंशिक रूप से खण्डित होने का और स्वीकृत व्रत की मर्यादा के उल्लंघन का नाम ही शास्त्रकारों ने 'अतिचार' रखा है। यथा-

'सापेक्षस्य व्रते हि स्यादतिचारोऽशभंजनम्।

—सागारधर्मामृत अ० ४ श्लो० १८

जब अप्रत्याख्यानावरण कषाय का तीव्र उदय आता है, तो व्रत जड़-मूल से ही खण्डित हो जाता है। उसके लिए आचार्यों ने 'अनाचार" नाम का प्रयोग किया है। यदि किसी व्रत के लिए १०० अंक मान लिये जावें, तो एक से लेकर ९९ अंक तक का व्रत-खण्डन अतिचार की सीमा के भीतर आता है। क्योंकि व्रत-धारक की एक प्रतिशत

अपेक्षा व्रत-धारण में कमी हुई है। यदि वह एक प्रतिशत व्रत-सापेक्षता भी न रहे और व्रत शत-प्रतिशत खण्डित हो जावे, तो उसे अनाचार कहते हैं।। अनेक आचार्यों ने इसी दृष्टि को लक्ष्य में रख करके अतिचारों की व्याख्या की है। किन्तु कुछ आचार्यों ने अतिचार और अनाचार इन दो के स्थान पर अतिक्रम, व्यतिक्रम, अतिचार और अनाचार ऐसे चार विभाग किये हैं। उन्होंने मन के भीतर व्रत-सम्बन्धी शुद्धि की हानि को अतिक्रम, व्रत की रक्षा करने वाली शील-बाढ़ के उल्लंघन को व्यतिक्रम, विषयों में प्रवृत्ति करने को अतिचार और विषय-सेवन में अति आसक्ति को अनाचार कहा है। जैसा कि आ० अमितगति ने कहा है—

> क्षतिं मनःशुद्धिविधेरतिक्रमं व्यतिक्रमं शीलवृतेर्विलंघनम्।
> प्रभोऽतिचारं विषयेषु वर्तनं वदन्त्यनाचारमिहातिसक्तताम्॥
>
> — सामायिक श्लोक

इस व्यवस्था के अनुसार १ से लेकर ३३ अंश तक के व्रत-भंग को अतिक्रम, ३४ से लेकर ६६ अंश तक के व्रत-भंग को व्यतिक्रम, ६७ से लेकर ९९ अंश तक के व्रत-भंग को अतिचार और शत-प्रतिशत व्रत-भंग को अनाचार समझना चाहिए।

परन्तु प्रायश्चित्त-शास्त्रों के प्रणेताओं ने उक्त चार के साथ 'आभोग' को बढ़ा करके व्रत-भंग के पाँच विभाग किये हैं। उनके मत से एक बार व्रत खण्डित करके भी पुनः व्रत में वापिस आ जाने का नाम अनाचार है और व्रत खण्डित होने के बाद निःशङ्क होकर उत्कट अभिलाषा के साथ विषय-सेवन करने का नाम 'आभोग' है। किसी-किसी प्रायश्चित्त-शास्त्रकार ने अनाचार के स्थान पर 'छन्नभंग' नाम दिया है।

प्रायश्चित्त-शास्त्रकारों के मत से १ अंश से लेकर २५ अंश तक के व्रत-भंग को अतिक्रम, २६ से लेकर ५० अंश तक के व्रत-भंग को व्यतिक्रम, ५१ से लेकर ७५ अंश तक के व्रत-भंग को अतिचार, ७६ से लेकर ९९ अंश तक के व्रत-भंग को अनाचार और शत-प्रतिशत व्रत-भंग को आभोग समझना चाहिए।

श्रावक के जो बारह व्रत बतलाये गये हैं उनमें से प्रत्येक व्रत के पाँच-पाँच अतिचार बतलाये गये हैं। जैसा कि तत्त्वार्थाधिगमसूत्र अ० ७ के सू० २४ से सिद्ध है—

> "व्रत-शीलेषु पंच पंच यथाक्रमम्।"

ऐसी दशा में स्वभावतः यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि प्रत्येक व्रत के पाँच-पाँच ही अतिचार क्यों बतलाये गये हैं? तत्त्वार्थसूत्र की उपलब्ध समस्त दिगम्बर और श्वेताम्बर टीकाओं के भीतर इस प्रश्न का कोई उत्तर दृष्टि-गोचर नहीं होता। जिन-जिन श्रावकाचारों में अतिचारों का निरूपण किया है उनमें, तथा उनकी टीकाओं में भी इस प्रश्न का कोई समाधान नहीं मिलता है। पर इस प्रश्न के समाधान का संकेत मिलता है प्रायश्चित्त-विषयक ग्रन्थों में—जहाँ पर कि अतिक्रम, व्यतिक्रम, अतिचार, अनाचार और आभोग के रूप में व्रत-भंग के पाँच प्रकार बतलाये गये हैं।

कुछ वर्ष पूर्व अजमेर के बीस पंथ धड़े के शास्त्र-भंडार में जो 'जीतसार-समुच्चय' नामक ग्रंथ उपलब्ध हुआ है, उसके अन्त में 'हेमनाभ' नाम का एक प्रकरण दिया गया है। इसके भीतर भरत के प्रश्नों का ऋषभदेव के द्वारा उत्तर दिलाया गया है। वहाँ पर प्रस्तुत अतिचारों की चर्चा इस प्रकार से की गई है—

> दृग्-व्रत-गुण-शिक्षाणां पञ्च पञ्चैकशो मलाः।
> अतिक्रमादिभेदेन पञ्चषष्टिश्च सन्तते॥

अर्थात् सम्यग्दर्शन, पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत इन तेरह व्रतों में से प्रत्येक व्रत के अतिक्रम आदि के भेद से पाँच-पाँच मल या दोष होते हैं अतएव सर्व मलों की संख्या (१३ × ५ = ६५) पैंसठ हो जाती है।





इसके आगे सातवें आदि श्लोकों में अतिक्रम-व्यतिक्रम आदि पाँचों भेदों का स्वरूप देकर कहा गया है—

त्रयोदश-व्रतेषु स्युर्मानस-शुद्धिहानित ।
त्रयोदशातिचारास्ते विनश्यन्त्यात्मनिन्दनात् ।।१०।।
त्रयोदश-व्रताना स्वप्रतिपक्षाभिलाषिणाम् ।
त्रयोदशातिचारास्ते शुद्धयन्ति स्वान्तनिग्रहात् ।।११।।
त्रयोदश-व्रताना तु क्रियाऽऽलस्यं प्रकुर्वत ।
त्रयोदशातिचारा स्युस्तत्त्यागान्निर्मलो गृही ।।१२ ।।
त्रयोदश व्रताना तु छन्न भग वितन्वत ।
त्रयोदशातिचारा स्यु शुद्धयन्ते योगदण्डनात् ।।१३।।
त्रयोदश-व्रताना तु साभोग-व्रतभंजनात ।
त्रयोदशातिचारा स्युश्छन्न शुद्धिरधिकान्नयात् ।।१४।।

अर्थात् उक्त तेरह व्रतो में मानस-शुद्धि की हानिरूप व्यतिक्रम से जो तेरह अतिचार लगते हैं, वे अपनी निन्दा से दूर हो जाते है । तेरह व्रतो के स्व-प्रतिपक्षरूप विषयो की अभिलाषा से जो व्यतिक्रम-जनित तेरह अतिचार लगते है, वे मन के निग्रह करने से शुद्ध हो जाते है । तेरह व्रतों के आचरण रूप क्रिया मे आलस्य करने से तेरह अतिचार लगते हैं, उनके त्याग करने से गृहस्थ निर्मल या शुद्ध हो जाता है । तेरह व्रतो के अनाचार रूप छन्न भग को करने से जो तेरह अतिचार लगते है, वे मन-वचन-काय रूप तीनों योगो के निग्रह से शुद्ध हो जाते है । तेरह व्रतो के आभोग-जनित व्रत-भग से जो तेरह अतिचार उत्पन्न होते है, वे प्रायश्चित्त-वर्णित नय-मार्ग से शुद्ध होते है ।।१०—१४।।

इस विवेचन से सिद्ध है कि प्रत्येक व्रत के पाँच-पाँच अतिचारों मे से एक-एक अतिचार अतिक्रम-जनित है, एक-एक व्यतिक्रम-जनित है, एक-एक अतिचार-जनित है, एक-एक अनाचार-जनित है और एक-एक आभोग-जनित है । उक्त सन्दर्भ मे दूसरी बात यह भी प्रकट होती है कि प्रत्येक अतिचार की शुद्धि का प्रकार भी भिन्न-भिन्न ही है । इससे यह निष्कर्ष निकला कि यत व्रत-भग के प्रकार पाँच हैं, अत तज्जनित दोष या अतिचार भी पाँच ही हो सकते हैं ।

प्रायश्चित्तचूलिका के टीकाकार ने भी उक्त प्रकार से ही व्रत-सम्बन्धी दोषो के पाँच-पाँच भेद किये है । यथा-

"सर्वेऽपि व्रत दोषा पञ्चपञ्चिभेदा भवति । तद्यथा-अतिक्रमो व्यतिक्रमोऽतिचारोऽनाचारो आभोग इति । एषामर्थश्चायमभिधीयते जरद्-गवन्यायेन । यथा-कश्चिद् जरद्-गव महाशस्यसमृद्धि-सम्पन्न क्षेत्र समवलोक्य तत्सीम-समीपप्रदेशे समवस्थितस्तत्प्रति स्पृहा सविधत्ते सोऽतिक्रम । पुनर्विवरोदरान्तरास्य सप्रवेश्य ग्रासमेक समाददामीत्यभिलाषकालुष्यमस्य व्यतिक्रम । पुनरपि तद्-वृत्ति-समुल्लघनमस्यातिचार । पुनरपि क्षेत्रमध्यमधिगम्य ग्रासमेक समादाय पुनरस्यापसरणमनाचार । भूयोऽपि नि शकित क्षेत्रमध्य प्रविश्य यथेष्ट सभक्षण क्षेत्रप्रभुणा प्रचण्डदण्डताडनखलीकार आभोगकार आभोग इति । एव व्रतादिष्वपि योज्यम् ।

—प्रायश्चित्तचूलिका० श्लो० १४६ टीका

भावार्थ—प्रत्येक व्रत के दोष अतिक्रम आदि के भेद से पाँच प्रकार के होते है । इन पाँचो का अर्थ एक बूढे बैल से दृष्टान्त-द्वारा स्पष्ट किया गया है । कोई बूढा बैल धान्य के हरे-भरे किसी खेत को देखकर उसके समीप बैठा हुआ उसे खाने की मन मे इच्छा करता है, यह अतिक्रम दोष है । पुन वह बैठा-बैठा ही बाड के किसी छिद्र से भीतर मुख डालकर एक ग्रास धान्य खाने की अभिलाषा करे तो यह व्यतिक्रम दोष है । अपने स्थान से उठकर और खेत की बाड को तोडकर भीतर घुसने का प्रयत्न करना अतिचार नाम का दोष है । पुन खेत मे पहुँचकर एक ग्रास घास या धान्य को खाकर वापिस लौट आवे, तो यह अनाचार नाम का दोष है । किन्तु जब वह नि शक होकर और खेत के

भीतर घुस यथेच्छ घास खाता है और खेत के स्वामी-द्वारा डण्डों से पीटे जानेपर भी घास खाना नहीं छोड़ता तो आभोग नाम का दोष है। जिस प्रकार अतिक्रमादि दोषों को बूढ़े बैल के ऊपर घटाया गया है, उसी प्रकार से व्रतों के ऊपर भी लगा लेना चाहिए।

इस विवेचन से यह बात बिलकुल स्पष्ट हो जाती है कि अतिक्रमादि पाँच प्रकार के दोषों को ध्यान में रखकर ही प्रत्येक व्रत के पाँच-पाँच अतिचार बतलाये गये हैं।

श्रावकधर्म का वर्णन करने वाले जितने भी ग्रंथ हैं उनमें से व्रतों के अतिचारों का वर्णन उपासकदशांग-सूत्र और तत्त्वार्थसूत्र में ही सर्व प्रथम दृष्टिगोचर होता है। तथा श्रावकाचारों में से सर्वप्रथम रत्नकरण्डश्रावकाचार में अतिचारों का वर्णन पाया जाता है। जब तत्त्वार्थसूत्र-वर्णित अतिचारों का उपासकदशांगसूत्र से—जो श्वेताम्बरों द्वारा सर्वमान्य है—तुलना करते हैं, तो यह निःसंकोच कहा जा सकता है कि एक का दूसरे पर प्रभाव ही नहीं है, अपितु एक ने दूसरे के अतिचारों का अपनी भाषा में अनुवाद किया है। यदि दोनों के अतिचारों में कहीं अन्तर है तो केवल भोगोपभोग-परिमाण व्रत के अतिचारों में है। उपासकदशासूत्र में इस व्रत के अतिचार दो प्रकार से बतलाए हैं—भोगतः और कर्मतः। भोग की अपेक्षा वे ही पाँच अतिचार बतलाये गये हैं जो तत्त्वार्थसूत्र में दिये गये हैं। कर्म की अपेक्षा उपासकदशासूत्र में पन्द्रह अतिचार कहे गये हैं जो कि खर-कर्म के नाम से प्रसिद्ध हैं और पं० आशाधरजी ने सागारधर्मामृत में जिनका उल्लेख किया है।

यहाँ यह प्रश्न किया जा सकता है कि उपासकदशा में कर्म की अपेक्षा जो पन्द्रह अतिचार बतलाये गये हैं, उन्हें तत्त्वार्थसूत्रकार ने क्यों नहीं बतलाया? मेरी समझ से इसका कारण यह प्रतीत होता है कि तत्त्वार्थसूत्रकार 'व्रत-शीलेषु पञ्च-पञ्च यथाक्रमम्' इस प्रतिज्ञा से बंधे हुए थे, इसलिए उन्होंने व्रत के पाँच-पाँच ही अतिचार बताये। पर उपासकदशाकार ने इस प्रकार की कोई प्रतिज्ञा अतिचारों के वर्णन करने के पूर्व नहीं की है। अतः वे पाँच से अधिक भी अतिचारों के वर्णन करने के लिए स्वतन्त्र रहे हैं।

तत्त्वार्थसूत्र और रत्नकरण्डश्रावकाचार-वर्णित अतिचारों का जब तुलनात्मक दृष्टि से मिलान करते हैं, तो कुछ व्रतों के अतिचार में एक खास भेद नजर आता है। उनमें से दो स्थल खास तौर से उल्लेखनीय हैं—एक परिग्रह-परिमाण व्रत और दूसरा भोगोपभोगपरिमाणव्रत। तत्त्वार्थसूत्र में परिग्रहपरिमाणव्रत के जो अतिचार बताये गये हैं, उनमें पाँच की एक निश्चित संख्या का अतिक्रमण होता है। तथा भोगोपभोगव्रत के जो अतिचार बताये गये हैं, वे केवल भोग पर ही घटित होते हैं, उपभोग पर नहीं, जबकि व्रत के नामानुसार उनका दोनों पर ही घटित होना आवश्यक है। रत्नकरण्ड के कर्त्ता स्वामी समन्तभद्र जैसे तार्किक व्यक्ति के हृदय में उक्त बात खटकी और इसीलिए उक्त दोनों ही व्रतों के एक नये ही प्रकार के पाँच-पाँच अतिचारों का निरूपण किया जो कि उपर्युक्त दोनों आपत्तियों से रहित हैं।

यहाँ पर सम्यग्दर्शन, बारह व्रत और सल्लेखना के अतिचारों का अतिक्रम, व्यतिक्रम, अतिचार, अनाचार और आभोग इन पाँच प्रकार के दोषों में वर्गीकरण किया जाता है—

	१	२	३	४	५
व्रतनाम	अतिक्रम	व्यतिक्रम	अतिचार	अनाचार	आभोग
सम्यग्दर्शन	शंका	कांक्षा	विचिकित्सा	अन्यदृष्टिप्रशंसा	अन्यदृष्टिसंस्तव
अहिंसाणुव्रत	बन्धन	पीडन	छेदन	अतिभारारोपण	अन्न-पाननिरोध
सत्याणुव्रत	विवाद	रहोऽभ्याख्यान	पैशुन्य	कूटलेखकरण	न्यासापहार
अचौर्याणुव्रत	विरुद्धराज्यातिक्रम	सदृशसम्मिश्रण	हीनाधिकविनिमान	चौरप्रयोग	चौरार्थादान
ब्रह्मचर्याणुव्रत	अन्यविवाहकरण	अनंगक्रीडा	विटत्व	विपुलतृषा	इत्वरिकागमन
परिग्रहपरिमाणव्रत	विस्मय	अतिलोभ	अतिवाहन	अतिभारारोपण	अतिसंग्रह



दिग्व्रत	ऊर्ध्वव्यतिक्रम	अधोव्यतिक्रम	तिर्यग्व्यतिक्रम	अवधिविस्मरण	क्षेत्रवृद्धि
देशव्रत	रूपानुपात	शब्दानुपात	पुद्गलक्षेप	आनयन	प्रेष्य-प्रयोग
अनर्थदण्डव्रत	कन्दर्प	कौत्कुच्य	मौखर्य	असमीक्ष्याधिकरण	अतिप्रसाधन
सामायिक	मनोदुःप्रणिधान	वचोदुःप्रणिधान	कायदुःप्रणिधान	अनादर	विस्मरण
प्रोषधोपवास	अदृष्टमृष्टग्रहण	अ० मृ० विसर्ग	अ० मृ० आस्तरण	अनादर	विस्मरण
भोगोपभोग	विषय-विषतोऽनुप्रेक्षा	अनुस्मृति	अतिलौल्य	अतितृषा	अतिअनुभव
अतिथिसंविभाग	हरित-पिधान	हरित-निधान	मात्सर्य	अनादर	विस्मरण
सल्लेखना	भय	मित्रानुराग	जीविताशंसा	मरणाशंसा	निदान

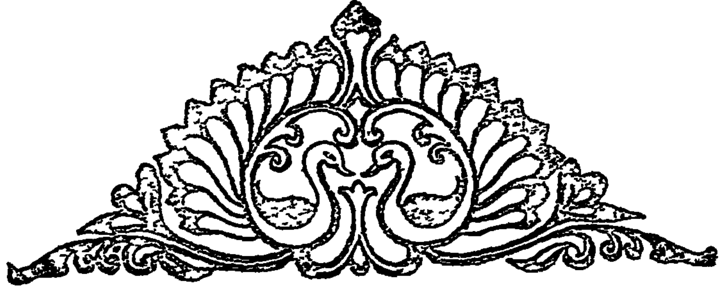
उपर्युक्त वर्गीकरण रत्नकरण्ड-वर्णित अतिचारों को लक्ष्य मे रखकर किया गया है, क्योंकि ये अतिचार सबमे अधिक युक्ति-संगत प्रतीत होते है। तथा भोगोपभोग व्रत के अतिचारों मे जो विसंगति ऊपर बताई गई है, वह भी रत्नकरण्ड के अतिचारों मे नही रहती है।

सारे लेख का सार यह है कि सभी अतिचारों को एक सा न समझना चाहिए, किन्तु प्रत्येक व्रत के अतिचारों मे व्रतभंग-सम्बन्धी तर-तमता है, उनके फल मे और उनकी शुद्धि मे भी तर-तमता-गत भेद है, भले ही उन्हे अतिचार, मल या दोष जैसे किसी भी सामान्य शब्द से कहा गया हो।

●

राम से नाम बड़ा

श्री हरिभाऊ उपाध्याय,
अध्यक्ष राजस्थान साहित्य अकादमी,



यह कहावत कई बार सुनी थी। इसकी एक कथा भी प्रसिद्ध है। भगवान् राम ने जब सुना कि नल-नील समुद्र पर पुल बना रहे हैं तो उन्हें बड़ा आश्चर्य हुआ और जब यह मालूम हुआ कि वे एक पत्थर पर 'रा' और दूसरे पर 'म' लिख देते हैं तो दोनों पत्थर समुद्र में तैरने लगते हैं और इस तरह पुल बनता जा रहा है, राम की उत्सुकता बढ़ी और वे खुद देखने गये। उनके मन में हुआ कि जब मेरे नाम से पत्थर तिर जाते हैं तो मेरे लिए तो यह बहुत ही सरल है। उन्होंने एक पत्थर अपने हाथ में लिया, खुद उसे समुद्र में डाला तो वह धम से डूब गया। अब तो रामचन्द्रजी के विस्मय का पार न रहा। कहने लगे-यह क्या बात है—मैंने खुद पत्थर डाला तो डूब गया—मेरे नाम से पत्थर तैर रहे हैं। तब किसी ने बताया—यह नाम की महिमा है। आपका नाम आप से भी बड़ा है। व्यक्ति तो शरीर रहने तक ही रहता है, परन्तु नाम सदा चलता है। व्यक्ति का प्रभाव सीमित है, नाम के प्रताप की कोई इति ही नहीं है।

मुझे इसका प्रत्यक्ष अनुभव हुआ। कई बार लेख मेरे लिखे थे, वे महात्माजी के नाम से छपे। या तो उन्होंने अपने विचार सुना दिये और मैंने उन्हें लेखनी में उतार दिया—या मैंने लेख लिखे और उन्हें पसंद आ गया तो वह उन्हीं के नाम से छपा। यदि उनके नीचे मेरा नाम लिख दिया जाता तो उनका मूल्य गिर जाता। यह प्रभाव व्यक्ति का नहीं, व्यक्तित्व का, नाम का है। व्यक्ति के नाम के साथ उसका भूत, वर्तमान, भविष्य, उसकी सब शक्तियाँ, सारा प्रभाव, पुण्य, प्रताप, इतिहास, जुड़ा हुआ रहता है। अतः यह निर्विवाद है कि व्यक्ति से उसका नाम बड़ा है।

व्यक्ति तो हमारा तभी तक सहायक हो सकता है जब तक वह जीवित रहता है, परन्तु उसका नाम तो अनन्त काल तक हमारी सहायता करता है, हमारा सहारा रहता है, यह प्रत्यक्ष है। इसी प्रभाव में नामस्मरण का रहस्य छिपा हुआ है।

प्रायः सभी धर्मों और देशों में नामस्मरण की महिमा गाई गई है। नामस्मरण प्रार्थना-उपासना का एक महत्त्वपूर्ण अंग है। जन-साधारण प्रार्थना का मतलब समझते हैं—भगवान् से कुछ मांगना। अधिकांश अशिक्षित लोग तो सभी तरह की अपनी कामना-पूर्ति के लिए प्रार्थना करते हैं। प्रार्थना में यह तो गृहीत ही करके चला जाता है कि कोई अव्यक्त चेतनशक्ति है। ऐसा भी माना जाता है कि वह मनोवांछित फल देती है। कई लोगों को ऐसा अनुभव भी होता है। किन्तु अधिक अनुभवी और समझदार लोग मानते और कहते हैं कि भगवान् जैसे से छोटी-बड़ी साधारण चीज मांगना, जो मनुष्य अपने ही प्रयत्न से प्राप्त कर सकता है, उचित नहीं है। किसी बड़े राजा-महाराजा या प्रधान-मंत्री से जाकर दो-रोटी मांगना जैसे हास्यास्पद है, वैसे ही यह भी है। अतः उन्होंने यह मर्यादा बताई कि जो वस्तु अपने बल-बूते के बाहर हो, या हम प्रयत्न करके थक गये हैं, तब विशेष शक्ति या प्रकाश पाने के लिए भगवान् से प्रार्थना करना उचित है। सीधे कोई वस्तु मांगने की अपेक्षा, उसे प्राप्त करने की शक्ति या साधन मांगना उचित है। स्वयं कोई बनी बनाई वस्तु हमारे हाथ में लाकर नहीं दे देना। अतः कोई वस्तु मांगना निकृष्ट और शक्ति या साधन या अवसर मांगना उत्कृष्ट मांग मानी जाती है।



जब हम मागने निकले है तो किसी न किसी रूप मे दीनता तो आ ही जाती है। दीनता का परिणाम है स्वाभिमान का ह्रास। जीवात्मा परमात्मा का अंग है, इसलिए उससे छोटा है परन्तु चिनगारी तो उसी की है। हाथ पसारने का अर्थ है उस चिनगारी को भुला देना और केवल अपने अल्पत्व को याद रखना। यह अधूरी चेतना है। जहाँ हम अल्प हैं वहीं हम चेतन-कण भी है, यह पूर्ण बोध है। अतः क्या प्रार्थना की कोई ऐसी विधि नही हो सकती, जिसमे न अभिमान रहे, न हीनता ? ऐसे प्रश्न या शका मेरे मन मे उठते रहे। अपने को सदैव अल्प, दीन, हीन, पतित, पापात्मा मानने की कल्पना मेरे गले नहीं उतरती थी। अपनी कमियो और दोषों की खोज के सिलसिले मे मन की एक ऐसी अवस्था जरूर आ जाती है, जब हमारे गुण-चरित्र हमारी निगाहों से ओझल हो जाती हैं और केवल दोष ही बडी मात्रा मे दिखाई देते है। चित्त-शुद्धि की अवस्था मे आप से यह कहे बिना रहा ही नही जाता—'मो सम कौन कुटिल खल कामी' या 'पापोऽहं, पापकर्माऽहम्' पापात्मा पाप सम्भव आदि। परन्तु यह सहज अवस्था नही है। इसे आदर्श मानकर नही चला जा सकता। मन मे सवाल उठा कि भगवान् से मागने के बजाय क्या उसके स्मरण-मात्र से उस अभाव की पूर्ति नही हो सकती ? उसका स्मरण हमारी इस बात का द्योतक नही है कि हमारा कोई अभाव है ? और यदि भगवान् या परमात्मा नामक कोई शक्ति है तो क्या हमारा स्मरण ही हमारे अभाव की पूर्ति के लिए काफी नही है ? बच्चा सिर्फ मा मा चिल्लाता है, उसमे बोलने बतलाने की शक्ति नही है, तो क्या मा अपना नाम सुनकर ही उसके अभाव की पूर्ति के लिए नही दौड पडती ? इस उत्तर मे मुझे समाधान मिला। एक चरण याद आया— 'अनबोलत मेरी बिथा जानी।''

फिर मैंने पुराने स्तुति-स्तोत्र देखना शुरू किया—कि देखें शकराचार्य ने, तुलसीदास ने भगवान् से क्या मागा है ? शकराचार्य ने तो केवल भगवान् का भिन्न रूपो मे, देवी-देवताओं के माध्यम से, गुणगान ही किया है। अलबत्ता तुलसी ने मागा है—पर हृदय मे केवल रामभक्ति हो, अर्थात् ऐहिक वस्तु किसी ने भी नही मागी। तुलसी से भी शकर की स्थिति मुझे ज्यादा सही मालूम हुई। तुलसी भूल गये कि मैं परमात्मा का अश हूँ, उन्होंने इतना ही याद रखा कि मैं उनका एक भक्त हूँ। जब कि शकराचार्य के मन मे यह चेतना जाग्रत रही दिखती है कि मैं ब्रह्म हूँ। जब उन्होने देवी-देवताओ की स्तुतियाँ की हैं—स्तोत्र बनाये हैं तो उनमे अल्पता का भाव तो था, परन्तु किसी से कुछ मागा नही, केवल उनके गुणो का स्मरण किया, यह उनकी अद्वैत—धारणा का प्रभाव है। भक्त और ज्ञानी मे कौन बडा है, कौन सही है—यह कहना तो कठिन है, परन्तु इसमे कोई शक नही कि शक्ति भक्ति मे है, ज्ञान मे नही, परन्तु प्रकाश ज्ञान मे है, भक्ति मे नही। मनुष्य को शक्ति और प्रकाश दोनो की आवश्यकता है। भक्ति का सम्बन्ध भावना से है, जबकि प्रकाश का ज्ञान से। मानवजीवन मे भावना ही मुख्य बल है, जो ज्ञान की सहायता से उसके दिखाये प्रकाश-पथ मे दौडता हुआ अपने गन्तव्य स्थान को पहुँच जाता है। भक्ति और ज्ञान का जोडा मुझे 'अन्ध-पगु' न्याय की तरह लगता है।

इस विवेचन से हम नतीजे पर पहुँचते हैं कि प्रार्थना मे उत्तम वस्तु तो नामस्मरण है, परन्तु यदि किसी से मागे बिना नही रहा जाता तो तुलसी की तरह 'राम चरण रति देहु'—यही मागने योग्य है, और कुछ नही। और कुछ मागना पुरुषार्थ-हीनता है और कदाचित् वह मिल जाय परन्तु मनुष्य नामधारी के लिए वह कोई गौरव की वस्तु नहीं जान पडता।

●

जैनसिद्धान्त में कारणकार्य-व्यवस्था

पं० अजितकुमार शास्त्री,

दिल्ली,



यह दृश्यमान जगत अनादि काल से विद्यमान है और अनन्त काल तक विद्यमान रहेगा। अतएव यह अकृत्रिम है, किसी के द्वारा किसी विशेष समय में बनाया नहीं गया है तथा यह अविनश्वर भी है, यानी कभी भी यह जगत किसी भी शक्ति के द्वारा न नष्ट हुआ, न कभी नष्ट होगा।

ऐसा क्यों है ? इस प्रश्न का बहुत सुन्दर उत्तर श्रीकुन्दकुन्द आचार्य ने पञ्चास्तिकाय ग्रन्थ में दिया है—

सत्ता सव्वपयत्था, सविस्सरूवा अणंतपज्जाया।
भंगुप्पादधुवत्ता, सप्पडिवक्खा हवदि एक्का ॥ ८ ॥

इसका संक्षिप्त अभिप्राय इतना ही है कि इस जगत की महासत्ता समस्त पदार्थों में रहने वाली है। वह सत्ता विश्व के प्रत्येक पदार्थ में है, वह सत्ता अनन्त पर्यायरूप है, वह सत्ता उत्पाद व्यय ध्रौव्यरूप है, वह सत्ता अपने प्रतिपक्ष सहित है यानी प्रत्येक पदार्थवर्तिनी एवं प्रत्येक पर्यायवर्तिनी तथा प्रत्येक गुणवर्तिनी अवान्तरसत्ताओं सहित है, ऐसे पाँच विशेषणमयी वह महासत्ता एक है।

इसी गाथा के अनुरूप श्री उमास्वाति आचार्य ने तत्त्वार्थसूत्र के पाँचवें अध्याय में दो सूत्र लिखे हैं—सद् द्रव्यलक्षणम्। २९। (सत्ता द्रव्य का लक्षण है), उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत् ॥ ३० ॥ (सत्ता उत्पाद व्यय ध्रौव्यसहित होती है।)

इसके अनुसार जगत का प्रत्येक द्रव्य अपनी सत्ता रखता है अत जगत के सभी पदार्थ सत हैं, एक भी पदार्थ असत् नहीं है।

तथा पदार्थ-द्रव्य या वस्तु का यह एक स्वाभाविक नियम है कि सत् पदार्थ कभी असत् (नष्ट) नहीं हो सकता। विज्ञान के इस मूल नियम को श्री समन्तभद्र आचार्य ने स्वयम्भूस्तोत्र में श्री सुमतिनाथ तीर्थंकर की स्तुति करते हुए निम्नलिखित रूप में उल्लेख किया है—

"नैवासतो जन्म सतो न नाशो, दीपस्तम पुद्गलभावतोऽस्ति ॥ २४ ॥

यानी—"असत् (सत्तारहित) पदार्थ कभी उत्पन्न नहीं होता और सत् पदार्थ का कभी नाश नहीं होता।"

इस अमर नियम को आचार्य दृष्टान्त द्वारा समझाते हैं कि दीपक जलने पर जो अन्धकार का नाश देखा जाता है या दीपक के बुझ जाने पर जो अन्धकार हुआ दीख पडता है, उसमें मूल पदार्थ पुद्गल द्रव्य का न तो नवीन उत्पाद हुआ है क्योंकि वह तो पहले से ही विद्यमान है और न वह नष्ट हुआ है क्योंकि वह दीपक बुझ जाने के



पश्चात् तथा अन्धकार नष्ट हो जाने के पश्चात् भी विद्यमान रहता है। अन्धकार और प्रकाश तो उस मूल द्रव्य पुद्गल की भिन्न-भिन्न दो पर्यायें (अवस्थायें-दशायें) है।"[1]

इस कारण जगत के सभी पदार्थ अकृत्रिम हैं, अनादि हैं और अविनश्वर या अपनी सत्ता से अनन्त (अन्त रहित अस्तित्ववाले) है।

मूल पदार्थ, जिसको जैनागम 'द्रव्य' शब्द से उल्लेख करता है, उस मूल पदार्थ रूप द्रव्य का लक्षण बतलाते हुए पचास्तिकाय ग्रन्थ बतलाता है—

दव्व सल्लक्खणिय, उप्पादव्वयधुवत्तसजुत्त।
गुणपज्जयासय वा, ज त भण्णति सव्वण्हू ॥ १० ॥

अर्थ—जो सत्ता लक्षण वाला है, उत्पाद व्यय ध्रौव्य से सहित है, गुणो और पर्यायो का आश्रय है उसे सर्वज्ञ द्रव्य कहते है।

श्री कुन्दकुन्द आचार्य ने इस गाथा मे क्षणिकवाद, नित्यवाद का तथा गुण की स्वतन्त्रता या पृथक्ता बतलाने वाले बौद्ध, वैशेषिक, वेदान्त आदि दर्शनो की अधूरी यानी-एकान्तवादिनी मान्यता का निरास करते हुए द्रव्य वस्तु या पदार्थ का यथार्थ सर्वांगीण अनेकान्तमय लक्षण बतला दिया है। द्रव्य के लक्षण को सम्पुष्ट करते हुए आचार्य लिखते है—

पज्जयविजुद दव्व, दव्वविजुत्ता य पज्जया णत्थि।
दोण्ह अणण्णभूद, भाव समणा परूविंत्ति ॥ १२ ॥

अर्थ—पर्याय (परिणमन) के विना द्रव्य नही होता और द्रव्य के विना पर्याय नही होती। द्रव्य और उसके पर्याय दोनो अनन्यभूत है (एक रूप है भिन्न-भिन्न या अन्य-अन्य नही है।) ऐसी सत्ता (अस्तित्व) या पदार्थ श्रमण भगवान महावीर कहते है।

इसी प्रकार गुण और द्रव्य की एकता के विषय में बतलाया है—

दव्वेण विणा ण गुणा, गुणेहिं दव्व विणा ण सभवदि।
अव्वदिरित्तो भावो, दव्वगुणाण हवदि तम्हा ॥ १३ ॥

अर्थ—द्रव्य के विना गुण नही होते और गुणो के विना द्रव्य नही होता, इस कारण द्रव्य और गुणो की अभिन्नता है।

इन दो गाथाओ के अनुरूप तत्वार्थसूत्र के पाचवे अध्याय का सूत्र "गुणपर्ययवद् द्रव्यम्" है। इस कथन का अभिप्राय यह है कि जगत का प्रत्येक पदार्थ गुणपर्यायमय है। यानी-प्रत्येक द्रव्य मे अनन्त गुण होते हैं और अनन्त पर्याय होती है। अपने समस्त (अनन्त) गुण सहभावी रूप से सदा द्रव्य के साथ रहते हैं और क्रम-क्रम से प्रतिक्षण द्रव्य की पर्याय बदलती रहती है।

यहा इतना और समझ लेना आवश्यक है कि पर्यायपरिवर्तन केवल द्रव्य का ही नहीं होता किन्तु उसके सहभावी (सदा साथ रहने वाले) प्रत्येक गुण की भी पर्याय पलटती रहती है। इस कारण यह भी अटल स्वाभाविक नियम है कि विना पर्याय के कोई गुण नही होता और विना गुण के उसकी पर्याय नही होती। इस तरह गुण और पर्याय का भी परस्पर अविनाभावी (एक के विना दूसरे का न होना) सम्बन्ध है।

द्रव्य गुण पर्याय के इस वास्तविक नियम को निम्नलिखित उदाहरणो से अवगत कर लेना चाहिये।

---

१ अधिक स्पष्टीकरण के लिए देखिये —स्याद्वादमजरी, श्लोक ५ टीका।

जैसे ससारी आत्मा मनुष्य, पशु, देव, नारक पर्याय अपने सासारिक भ्रमण मे जन्म-मरण द्वारा बदलता रहता है अथवा मनुष्य शरीरधारी आत्मा शिशु, किशोर, यौवन, प्रौढ वृद्ध पर्याय रूप पलटा करता है परन्तु उन सभी पर्यायो मे आत्मा वही एक रहता है।

सोना हार, अगूठी, कगण, भुजबन्द आदि अनेक पर्यायो मे बदलता रहता है परन्तु वह सदा सोने रूप मे बना रहता है।

आत्मा का ज्ञानगुण प्रतिक्षण विभिन्न ज्ञेय पदार्थों को विभिन्न रूप मे जानते हुए पर्याय बदलता रहता है परन्तु वह ज्ञानगुण रहता सदा एक रूप ही है।

आम का रूप गुण हरा, पीला, लाल आदि पर्यायो मे बदलता रहता है परन्तु वह रूप गुण रहता सदा रूप ही है, अन्य गुण नही बन जाता।

इस तरह दो बातें सिद्ध होती है-१-द्रव्य अपने सामान्य स्वरूप मे अविनाशी या ध्रुव है, गुण भी अपने स्वरूप मे ध्रुव है। २-परन्तु द्रव्य की या गुण की पर्याय प्रतिक्षण बदलती रहती है। पहली पर्याय नष्ट होती है, उसका स्थान नई पर्याय उत्पन्न होकर ले लेती है। इस कारण द्रव्य तथा उसके आश्रित रहने वाले समस्तगुण अपने सामान्यरूप मे ध्रौव्य (स्थायी-अविनश्वर, अपरिवर्तित) रूप हैं तथा द्रव्य और गुण अपनी अपनी विशेष-विशेष पर्याय रूप मे उत्पाद-व्यय (उत्पत्ति और नाश) मय भी हैं। यह सामान्य रूप मे जगत के पदार्थों की व्यवस्था है।

द्रव्यों के भेद —जगतवर्ती समस्त अनन्तानन्त पदार्थों को मूल दो भेदो मे विभक्त किया जा सकता है—चेतन और अचेतन। जानने देखने वाला (चैतन्यमय) पदार्थ चेतन है जिसका प्रसिद्ध नाम जीव या आत्मा है। चैतन्य से शून्य (न जानने, न देखने वाला) पदार्थ अचेतन है जिसका प्रसिद्ध नाम अजीव या जड है।

जीव या आत्मा के मूल दो भेद है— (१) ससारी, (२) मुक्त। कर्मवश ससार की चार गतियो या चौरासी लाख योनियो मे भ्रमण करने वाले अनन्त जीव ससारी हैं और कर्म-बन्धन, जन्म-मरण से छूटे हुए अनन्त मुक्त जीव हैं।

अजीव के भी मूल दो भेद है-(१) मूर्त, (२) अमूर्त। इन्द्रियो द्वारा ग्रहण होने वाला (जानने योग्य) पदार्थ मूर्त है जिसका प्रसिद्ध नाम पुद्गल है। इन्द्रिय-अगोचर (रूप-रस, रस, गन्ध, स्पर्श, इन चार गुणो से रहित) अमूर्त द्रव्य है।

पुद्गल द्रव्य अपनी मूल शुद्ध अवस्था मे अखड परमाणु (जर्रा-ऐटम) रूप है। अपनी अशुद्ध अवस्था मे वह अनेक परमाणुओ से मिलकर बने हुए विविध प्रकार के स्कन्धो के रूप मे होता है। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, प्रकाश, अन्धकार, छाया, धूप, शब्द आदि सब पुद्गल स्कन्धो की पर्याय हैं। ससारी जीवो का शरीर भी पौद्गलिक है।

अमूर्त जड द्रव्य चार प्रकार के हैं—धर्म, अधर्म, आकाश, काल।

समस्त सक्रिय-चलने वाले जीव और पुद्गल पदार्थों का उदासीन रूप मे सहायता करने वाला त्रिलोकव्यापी धर्म द्रव्य है। ठहरने वाले अनन्त पदार्थो को उनकी स्थिरता मे उदासीन रूप से सहायता करने वाला त्रिलोकव्यापी एक अखडद्रव्य अधर्म है। समस्त अनन्तानन्त द्रव्यो को रहने के लिये स्थान देने वाला लोक-अलोकव्यापी एक अखड द्रव्य आकाश है। और प्रत्येक पदार्थ को प्रतिक्षण पर्याय-परिवर्तन मे उदासीन सहायक काल द्रव्य है। काल द्रव्य अणु के बराबर है। अत असख्य अणुरूप काल द्रव्य लोकाकाश के प्रत्येक प्रदेश पर विद्यमान हैं।

इस तरह यह सामान्य और सक्षेप रूप के द्रव्यों का विवरण है।



सामान्य कार्यकारणभाव

पीछे बताया जा चुका है कि प्रत्येक पदार्थ या द्रव्य सत्रूप है और सत् उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य रूप है। एव प्रत्येक पदार्थ शब्दान्तर मे गुणपर्यायमय है। इस तरह प्रत्येक पदार्थ सदा अपने सामान्य स्वरूप मे स्थिर रहता हुआ



भी प्रति-समय क्रम से अपनी नवीन-नवीन पर्याय भी पलटता रहता है। इस तरह पर्यायो का परिणमन रूप कार्य जगत मे प्रतिक्षण हुआ करता है, कभी भी क्षण भर के लिये वह रुकता नहीं है।

इस पर्यायपरिणमन रूप कार्य मे दो प्रकार के कारण प्रयुक्त होते है—(१)उपादान कारण,(२)निमित्त कारण। इनमे से उपादान कारण उसको कहते है जो स्वय कार्यरूप परिणत होता है, जैसे कि घडा रूप कार्य बनने मे मिट्टी घडे का रूप धारण करती है इसलिये वह घडे का उपादान कारण है। इस तरह जगत का प्रत्येक पदार्थ अपनेपर्यायपरिणमन मे स्वय उपादान कारण होता है।

उपादान कारण के सिवाय जो अन्य पदार्थ उस कार्य के होने मे सहायता करते हैं, जिनकी सहायता बिना वह काय हो नही सकता, वे निमित्तकारण कहलाते है।

ऊपर बतलाये गये जगत के मूल पदार्थ छह है—जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल। इनमे से धर्म अधर्म, आकाश और काल ये चार शुद्ध द्रव्य है, इनमे कभी किसी अन्य पदार्थ का मिश्रण नही होता, अत इन चारो द्रव्यो का सदा (अनादि काल से अनन्तकाल तक) शुद्ध परिणमन होता रहता है। किन्तु जीव और पुद्गल द्रव्य का परस्पर मिश्रण के रूप मे अशुद्ध परिणमन तथा अमिश्रण रूप मे शुद्ध परिणमन होता है।

शुद्ध द्रव्यो का परिणमन

शुद्ध द्रव्यो के परिणमन रूप कार्य मे उपादान कारण तो वे शुद्ध द्रव्य स्वय होते ही है परन्तु उनके उस शुद्ध परिणमनकार्य मे अन्य द्रव्य भी निमित्त रूप से उदासीन रूप मे सहायक कारण हुआ करते हैं।

जगद्वर्ती समस्त क्रियाशील (एक स्थान से अन्य स्थान पर आने-जाने आदि रूप क्रिया करने वाले) जीवो तथा पुद्गल द्रव्यो की उनकी गतिरूप क्रिया मे उदासीन रूप से सहायता करने वाला धर्म द्रव्य है। धर्म द्रव्य त्रिलोकव्यापी एक अखण्ड अरूपी द्रव्य है। वह किसी भी द्रव्य को प्रेरणा करके यानी बलपूर्वक चलाता नही है किन्तु जब कोई पुद्गल या जीव एक स्थान से स्थानान्तर मे गमन करता है तब उसके गमन मे वह सहायता करता है। जिस तरह तालाब मे भरा हुआ जल तालाब मे रहने वाली मछलियो को चलने-फिरने मे सहायता करता है।

चलने-फिरने की शक्ति स्वय मछलियो मे है। वे अपनी इच्छा से इधर-उधर चलती फिरती हैं परन्तु तालाब का ठहरा हुआ भी जल उनके चलने में सहायक होता है। यदि वह जल न हो तो मछली चलने-फिरने की शक्ति रहते हुए चल-फिर नहीं सकती। सूखी जमीन पर यदि मछली को रख दिया जाय तो वह जहा की तहा पडी रहेगी, चल-फिर न सकेगी। इसलिये जल मछली के चलने मे उदासीन निमित्तकारण है। इसी प्रकार जीवो, पुद्गल-परमाणुओं तथा स्कन्धो मे स्वय चलने-फिरने आदि क्रिया करने की शक्ति है, परन्तु धर्म द्रव्य की सहायता मिलने पर ही वे गति करते हैं, अत धमद्रव्य समस्त क्रियाशील जीवो तथा पुद्गलो को उदासीन (निरपेक्ष-अप्रेरक) रूप से गति मे सहायक होता है।

अष्ट कर्मजाल को छिन्नभिन्न करके मध्यलोक का मुक्त जीव जब स्वभाव से ऊर्ध्वगमन करता है तब त्रिलोक-व्यापी धमद्रव्य उन मुक्त जीवों के ऊर्ध्वगमन मे सहायता करता है। धर्म द्रव्य अलोकाकाश मे नही होता, अत मुक्त जीव का ऊर्ध्वगमन भी सात राजू तक ऊपर जाकर लोकशिखर पर ही अवरुद्ध हो जाता है। अलोकाकाश मे उनका गमन नही होने पाता।

नियमसार ग्रन्थ मे इस विषय मे लिखा है—

> जीवाण पुग्गलाण, गमण जाणेहि जाव धम्मत्थी।
> धम्मत्थिकाअभावे तत्तो परदो ण गच्छति ॥ १८ ॥

अर्थ—जीवों का तथा पुद्गलो का गमन वहीं तक होता है जहां तक धर्मास्तिकाय होता है। उससे बाहर (लोकाकाश के बाहर) धर्म द्रव्य न होने से जीव पुदगल नहीं जा सकते।

श्री उमास्वामि आचार्य ने तत्वार्थसूत्र मे लिखा है—

धर्मास्तिकायाभावात्। १०। यानी-लोक के आगे धर्मद्रव्य न होने से मुक्त जीव उससे ऊपर नहीं जाते, या नहीं जा सकते।

अभिप्राय यह है कि मुक्त जीवों मे लोक से बाहर भी ऊर्ध्वगमन करने की शक्ति विद्यमान है परन्तु धर्मद्रव्य की सहायता अलोकाकाश मे न मिलने के कारण मुक्त जीवो का ऊर्ध्वगमन लोकाकाश मे बाहर नहीं होने पाता।

इस तरह धर्मद्रव्य शुद्ध तथा अशुद्ध जीवों और पुद्गलों के गमन मे निमित्त कारण है।

इसी प्रकार पुद्गल का शुद्ध परमाणु भी जो अत्यन्त तीव्र गति मे एक समय मे १४ राजू तक तथा अत्यन्त मन्दगति से एक समय मे आकाश के एक प्रदेश से साथ वाले दूसरे प्रदेश पर गमन करता है, एव मध्यम गति से अनेक प्रकार गमन करता है, उस मे भी धर्मद्रव्य सहायता करता है।

अधर्म द्रव्य

अधर्म द्रव्य भी एक अखण्ड अमूर्तिक समस्त लोकव्यापक द्रव्य है। यह द्रव्य अन्य समस्त जीवपुद्गल द्रव्यों को अपने-अपने स्थान पर ठहरने मे उदासीन रूप मे सहायता करता है। तीनों लोकों से बाहर कोई भी द्रव्य स्थित नहीं है, इसका मूल कारण यही है कि वहां पर अधर्म द्रव्य नहीं है।

जैसे धर्म द्रव्य किसी को प्रेरणा करके नहीं चलाता है इसी प्रकार अधर्म द्रव्य किसी चलते हुए द्रव्य को बलपूर्वक (जबरदस्ती) ठहराता नहीं है। यदि कोई चलता हुआ द्रव्य ठहरता है तो उसकी उदासीन रूप से सहायता करता है। यदि अधर्म द्रव्य न हो तो बहिरंग नैमित्तिक सहायता न मिलने से कोई भी गतिशील पदार्थ ठहर नहीं सकता।

धर्म अधर्म द्रव्य के कारण लोकाकाश और अलोकाकाश का विभाग होता है।

आकाश द्रव्य

जो समस्त द्रव्यों को रहने का स्थान देता है वह आकाश द्रव्य है। वैसे प्रत्येक पदार्थ अपने-अपने प्रदेशों मे रहता है परन्तु उनको रहने के लिये बाहरी, नैमित्तिक सहायता आकाश द्रव्य की प्राप्त होती है। आकाश द्रव्य न हो तो किसी पदार्थ को रहने का स्थान न मिले।

आकाश एक, अखण्ड सर्वव्यापक, अमूर्त द्रव्य है। जितने आकाश मे जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, और काल द्रव्य रहते हैं। उतने ३४३ घनराजू प्रमाण आकाश को लोकाकाश कहते है और उससे बाहर के अनन्त राजू प्रमाण आकाश को अलोकाकाश कहते हैं। अलोकाकाश मे आकाश के सिवाय अन्य कोई द्रव्य नहीं है। इस तरह आकाश द्रव्य समस्त द्रव्यों को अवगाह (निवास) का निमित्त कारण है।

कालद्रव्य

जो प्रत्येक द्रव्य की क्रमिक पर्याय परिणमन मे बहिरंग, उदासीन, निमित्तरूप से सहायता करता है वह काल द्रव्य अणु के बराबर अमूर्तिक द्रव्य है। अलोकाकाश के पर्याय परिणमन मे भी लोकाकाशवर्ती ही कालद्रव्य निमित्त रूप मे सहायता करता है।

प्रत्येक द्रव्य मे स्वभावत प्रतिक्षण पर्यायपरिणमन करने की उपादानशक्ति होती है परन्तु उस परिणमन में काल द्रव्य की नैमित्तिक सहायता अनिवार्य आवश्यक है। तदनुसार यदि काल द्रव्य न हो तो किसी भी द्रव्य की पर्याय



का परिणमन न हो सके। पंचास्तिकाय (गाथा १०० की टीका) में भी अमृतचन्द्र सूरि ने लिखा है—

"जीवपुद्गलानां परिणामस्तु बहिरङ्गनिमित्तभूतद्रव्यकालसद्भावे सति संभूतत्वात् द्रव्यकालसम्भूत इत्यभिधीयते।"

अर्थ- जीव पुद्गलों का परिणमन बहिरंग निमित्तभूत द्रव्यकाल के होने पर होता है इस कारण प्रतीयमान जीव पुद्गलों का परिणमन काल द्रव्य से होता कहा जाता है।

आशय यह है कि जीवों एवं पुद्गलों के परिणमन में वे स्वयं उपादान कारण हैं और कालद्रव्य उनमें निमित्त कारण है।

तत्त्वार्थसूत्र के पांचवें अध्याय के 'वर्तनापरिणामक्रियाः परत्वापरत्वे च कालस्य' सूत्र की व्याख्या करते हुए श्रीपूज्यपाद आचार्य ने सर्वार्थसिद्धि ग्रन्थ में लिखा है—

"धर्मादीनां द्रव्याणां स्वपर्यायनिर्वृत्तिं प्रति स्वात्मनैव वर्तमानानां बाह्योपग्रहाद्विना तद्वृत्त्यभावात् तत्प्रवर्तनोपलक्षितः कालः।"

अर्थात्-अपनी पर्याय के परिणमन में स्वयं (उपादान शक्ति से) प्रवृत्ति करने वाले धर्म, अधर्म, आकाश, पुद्गल, मुक्त, तथा संसारी जीवों का परिणमन बाहरी निमित्त कारण की सहायता के बिना नहीं हो सकता। इस परिणमन में सहायक काल द्रव्य है।

अभिप्राय यह है कि कालद्रव्य प्रत्येक शुद्ध एवं अशुद्ध द्रव्य के पर्याय परिणमन में निमित्त कारण अवश्य होता है।

इस तरह समस्त शुद्ध द्रव्य अपने प्रति क्षण होने वाले पर्याय परिणमन में जहां स्वयं उपादान कारण होते हैं, वहाँ अन्य द्रव्य उनमें उदासीन सहायक रूप से निमित्त कारण होते हैं।

पुद्गल द्रव्य

जीव, धर्म, अधर्म, आकाश, काल, ये पांच द्रव्य रूप, रस, गंध, स्पर्श इन चार गुणों से रहित होने के कारण अमूर्त होते हैं, अतएव ये इन्द्रियों द्वारा अगोचर होते हैं— इन्द्रियों से नहीं जाने जा सकते। इसी प्रकार ये अखण्ड पदार्थ होते हैं, इनका कभी भी किसी तरह से कोई विभाग नहीं होता।

परन्तु पुद्गल द्रव्य में ये दोनों बातें नहीं होतीं। पुद्गल द्रव्य में रूप, रस, गन्ध, स्पर्श ये चार गुण होते हैं, अतः पुद्गल मूर्त द्रव्य है, इन्द्रियों से जानने में आता है तथा तत्त्वार्थसूत्र के 'अणवः स्कन्धाश्च' सूत्र के अनुसार पुद्गल द्रव्य अणु (परमाणु) तथा स्कन्ध रूप से दो प्रकार का होता है। शुद्ध पुद्गल परमाणु (सबसे छोटा टुकड़ा, जिसका और टुकड़ा न हो सके) अखण्ड होता है। परन्तु दो या दो से अधिक ३-४-५ आदि संख्यात, असंख्यात, अनन्त परमाणु परस्पर में मिलकर जो स्कन्ध बन जाते हैं, वे अनेक तरह के (२३ प्रकार की वर्गणा रूप) पुद्गल द्रव्य विभिन्न प्रकार के निमित्तों से कभी टूटते हैं, गलकर छोटे-बड़े टुकड़े बनते हैं, कभी उनमें और दूसरे स्कन्ध मिलकर वे बड़े हो जाते हैं, इस तरह की पूरण और गलन शक्तिवाला होने से इस मूर्त द्रव्य का नाम 'पुद्गल' है। अंग्रेजी भाषा में इसे (Matter) मेटर कहते हैं।

हमको जितने भी पदार्थ नेत्रों से दीख पड़ते हैं, सूंघने में आते हैं, छूने में आते हैं, जीभ द्वारा चखने में आते हैं या कानों से सुनाई देते हैं, वे सब पुद्गल पदार्थ हैं। जीवों के रहने का घर अर्थात् शरीर भी पुद्गल स्कन्ध है। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु भी स्थावर जीवों का शरीर है। उनके आश्रित जीव स्वरूप से पृथक् है।

शुद्ध पुद्गल परमाणु तो अतिसूक्ष्म होने से इन्द्रिय-अगोचर होता ही है परन्तु पुद्गल स्कन्धों में भी बहुत स्कन्ध ऐसे सूक्ष्म होते हैं जो नेत्र आदि इन्द्रियों द्वारा जानने में नहीं आते और बहुत से स्कन्ध स्थूल होते हैं जो कि इन्द्रियों से जाने जाते हैं। उन इन्द्रियगोचर स्कन्धों में भी दो प्रकार हैं (१) कुछ स्कन्ध अन्न फल आदि तो ऐसे हैं जो स्पर्शन (त्वचा) रसना (जीभ), घ्राण (नाक), नेत्र और कान, इन पांचों इन्द्रियों द्वारा छूने, चखने, सूंघने, दिखने

सुनने मे आते हैं परन्तु वायु आदि कुछ ऐसे स्कन्ध होते है जो दिखाई नही देते परन्तु छूने मे आते हैं। शब्द रूप पुद्गल स्कन्ध ऐसे होते हैं जो सुनने मे आते हैं, जिनका स्पर्श-इन्द्रिय पर आघात भी होता है परन्तु आँखो से दिखाई नही देते। प्रकाश और अन्धकार रूप पुद्गल स्कन्ध आँखो से दिखाई तो देते है परन्तु नाक, कान, जीभ इन्द्रिय द्वारा नही जाने जाते। धूप और चाँदनी रूप परिणत होने वाले पुद्गल स्कन्ध शीत, गर्म रूप से छूने मे तथा देखने मे आते हैं परन्तु उनको पकडकर न तो स्थानान्तर किया जा सकता है, न अन्य इन्द्रियाँ उनको जान सकती हैं।

इस तरह पुद्गल द्रव्य अनेक प्रकार का है। पुद्गल द्रव्य के विविध प्रकार के परिणमन विविध प्रकार के निमित्त कारणो द्वारा हुआ करते हैं। आक्सीजन और हाइड्रोजन गैसो के मिल जाने से पानी बन जाता है। पानी को अतिठंडी वायु का या ऐमोनिया गैस का निमित्त मिलने से बर्फ बन जाती है। अग्नि की तथा सूर्य किरणो की गर्मी के निमित्त से पानी भाप बन जाता है, भाप से बादल बन जाते है, पार्थिव लकडी तथा सोना, चाँदी, लोहा आदि पार्थिव धातुएँ अग्नि के निमित्त से जलकर राख हो जाती है, समस्त धातुएँ पिघलकर अन्य आकार-प्रकारो मे परिणत होती है। इनमे भी अग्नि निमित्त कारण होती है।

पृथ्वी के भीतर विभिन्न स्थानो पर जो विभिन्न प्रकार के कंकड, पत्थर, मिट्टी, गन्धक, कोयला, लोहा, सोना, चादी, रत्न, ताबा, रागा, तेल आदि बनते रहते है, उनके भी भिन्न-भिन्न प्रकार के निमित्त कारण होते है।

भिन्न-भिन्न स्थान की पृथ्वी मे विभिन्न प्रकार के स्कन्धो के निमित्त से विभिन्न प्रकार की उपादान शक्ति होती है अत रत्न, सोना, चाँदी, लोहा, तेल, ताबा, लाल, सफेद पत्थर आदि पदार्थ सब जगह उत्पन्न न होकर विशेष-विशेष स्थानो पर ही उत्पन्न होते है।

जल के मीठे, खारे, खट्टे, सुगन्धित, दुर्गन्धित, बर्फ, गैस, भाप आदि जो परिणमन होते हैं उनके भी विभिन्न प्रकार के प्राकृतिक निमित्त कारण है और मनुष्य भी वैसे कारण मिलाकर बर्फ, भाप, बिजली आदि बनाकर विभिन्न प्रकार से उनका उपयोग या प्रयोग करता है।

इसी प्रकार विभिन्न प्रकार के निमित्त कारणो से वायु भी विभिन्न प्रकार की गैसो मे परिणत हो जाती है। विभिन्न विभिन्न कारणो से स्वच्छ वायु भी सुगन्धित, दुर्गन्धित हो जाती है।

मोटरकार पैट्रोल, मोबिल आयल, तथा टायर ट्यूबो मे भरी हुई वायु आदि निमित्त कारणो से चलती है। और दिशा और सडक आदि पर चलाने वाला चालक-ड्राइवर रूप प्रेरक निमित्त कारण भी मोटर के चलने मे सहायक है। यदि निमित्त कारणो मे से एक भी कारण की कमी रहेगी तो मोटर न चल सकेगी। पैट्रोल समाप्त हो जाए या टायर की हवा निकल जाए तो मोटर का चलना बन्द हो जाता है।

मोटरकार के निमित्त से उसका चालक अल्प समय मे दूर देश की यात्रा कर लेता है। साईकिल अपनी उपादान शक्ति से तभी चल सकती है जब उसके पहियो मे हवा भरी हो और उसको चलाने वाला चालक हो। चालक के निमित्त से साईकिल चलती है और साईकिल के निमित्त से उसका सवार मनुष्य चलता है। नाव के निमित्त से मल्लाह नदी पार हो जाता है और मल्लाह के निमित्त से नाव नदी मे चलती है।

आटा रूप उपादान कारण से रोटी तभी बनती है जबकि रसोइया, चकला, बेलन, तवा, अग्नि, लकडी, कोयला आदि निमित्त कारणो की योजना हो। यदि एक भी निमित्त कारण की कमी होगी तो उपादान कारण आटा रोटी न बन सकेगा।

इसी कारण श्रीविद्यानन्द आचार्य ने कहा है—'सामग्रीजनिका कार्यस्य नैकं कारणम्' अर्थात् उपादान कारण के साथ समस्त आवश्यक निमित्त कारण सामग्री से ही सभी कार्य होता है, केवल एक ही कारण से कार्य नही होता।



इस तरह पुद्गल द्रव्य के विविध प्रकार के परिणमन मे विविध प्रकार के निमित्त कारण सहायक होते है।

जीव द्रव्य

पुद्गल द्रव्य की तरह जीव द्रव्य के भी दो प्रकार के परिणमन होते है—(१) शुद्ध परिणमन करने वाले मुक्त जीव है, वे अनन्तज्ञानी, अनन्तसुखी, अजर, अमर, अजन्मा होते है। (२) कर्मबद्ध, ससार मे जन्म मरण करते हुए भ्रमण करने वाले ससारी जीव अशुद्ध जीव है।

आत्मा का स्वभाव शान्त निराकुल शुद्ध बुद्ध चैतन्य रूप है, आत्मा न कभी मरता है, न जन्म लेता है परन्तु अपने राग द्वेष काम क्रोध आदि अशुद्ध परिणमन द्वारा अपनी योगशक्ति (मन वचन काय की हलन-चलन रूप प्रवृत्ति) द्वारा पौद्गलिक कार्माण वर्गणाओं को अपनी ओर आकर्षित करता है। वे कार्माण वर्गणाएँ आकर्षित होकर आत्मा के प्रदेशों मे दूध-पानी की तरह से मिलकर आत्मा के राग द्वेष क्रोध आदि कषाय भावों मे कर्म रूप बन जाती है और वे कर्म ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र, अन्तराय रूप हो जाते हैं। उन कर्मों के निमित्त से आत्मा का ज्ञान, दर्शन, निराकुलता, शान्त, स्वच्छ भाव विकृत हो जाते है। इस कारण वह जन्म-मरण करता है और नरक, पशु, मनुष्य, देव गति तथा चौरासी लाख योनियो मे भ्रमण करता रहता है।

इस तरह आत्मा के राग-द्वेष आदि भावों के निमित्त से पौद्गलिक कार्माण वर्गणाएँ ज्ञानावरण आदि द्रव्य-कर्म रूप बनती है और उन कर्मों के उदय निमित्त से आत्मा मे अज्ञान (अल्पज्ञान तथा आत्म-अनुभव से शून्य कुज्ञान), मिथ्यात्व, असयम (राग, द्वेष, क्रोध, लोभ, माया मान, कामवासना, भय, घृणा आदि दुर्भाव) के विकृत भाव होते हैं। इस तरह द्रव्यकर्म (ज्ञानावरण मोहनीय आदि कर्म) से भावकर्म यानी आत्मा के रागद्वेष अज्ञान आदि विकृत भाव एव जन्म-मरण होता है और उन विकार भावरूप भावबन्ध के निमित्त से द्रव्यबन्ध होता है। श्रीकुन्दकुन्द आचार्य ने समयसार मे लिखा है—

> जीवपरिणामहेदु कम्मत्त पुग्गला परिणमति।
> पुग्गलकम्मणिमित्त, तहेव जीवो वि परिणमइ ॥८०॥

अर्थ—जीव के राग द्वेषादि परिणामो के निमित्त से पुद्गल कर्मरूप परिणमन होते है और पौद्गलिक कर्मों के निमित्त से जीव भी रागद्वेष आदि विकार रूप परिणमन करता है।

इस तरह परस्पर निमित्त-नैमित्तिक भाव से आत्मा और कर्मों का सम्बन्ध अनादि काल से चला आ रहा है।

जिस तरह शराब, जड पदार्थ है परन्तु उस जड शराब को पी लेने पर अमूर्तिक आत्मा का ज्ञान, सुध-बुध बिगड जाती है, इसी तरह पुद्गल कर्मों के निमित्त से आत्मा के गुण विकृत हो जाते हैं।

जन्म-मरण

जैसे ज्ञानावरण कर्म के निमित्त से आत्मा का ज्ञान बहुत हीन हो जाता है, दर्शनमोहनीय कर्म के उदय के निमित्त से आत्मा का सम्यग्दर्शन गुण मिथ्यात्वरूप हो जाता है, चारित्रमोहनीय कर्म के निमित्त से आत्मा का सच्चारित्र गुण असयम या कुचारित्र बन जाता है, इसी तरह आयु कर्म के उदय के निमित्त से आत्मा का किसी नये शरीर मे जन्म होता है उस भव मे वह आयु कर्म के कारण जीता रहता है, जब आयु कर्म की समाप्ति हो जाती है तब आत्मा का उस भाव से मरण हो जाता है। नये आयुकर्म के निमित्त से आत्मा दूसरे शरीर मे जन्म लेता है।

कोई भी जीव नरक निगोद के दुख नही भोगना चाहता परन्तु नरक निगोद मे ले जाने वाला गतिनामकर्म आत्मा को बलपूर्वक नरक निगोद मे ले जाता है। इस तरह आयुकर्म और नामकर्म के निमित्त से ससारी जीव का ससारभ्रमण या जन्म-मरण होता रहता है।

सुख-दुख

सातावेदनीय के निमित्त से संसारी जीव को इन्द्रिय सुख की सामग्री मिलती है और असाता वेदनीय के निमित्त से भूख, प्यास, रोग, चिन्ता, व्याकुलता आदि अनेक तरह के दुख मिलते हैं।

पारस्परिक सुख-दुख

संसार में आत्मा राग और द्वेष भाव से किसी को (माता पिता पुत्र स्त्री भाई मित्र आदि को) अपना हितकारी मानकर उनसे प्रीति करता है, वे भी उससे प्रेम करते हैं, एक दूसरे को सुख देते हैं। इसी तरह गुरु-शिष्य, सेवक स्वामी आदि भी राग भाव से एक दूसरे को सुख देकर परस्पर उपकार करते हैं। द्वेषभाव से पिता पुत्र, भाई-भाई तथा अन्य व्यक्ति भी एक दूसरे के शत्रु बनकर परस्पर में दुख देते हैं। इस तरह धन, उपकार अपकार, हानिलाभ आदि निमित्त कारणों से संसारी जीव राग द्वेष करते हुए परस्पर सुख-दुख देते हैं।

पुरुषवेद कर्म के उदय से स्त्री के साथ रमण करने की कामना जाग्रत होती है। स्त्रीवेद के उदय से पुरुष के साथ कामक्रीडा करने की भावना पैदा होती है। भय कर्म के उदय के निमित्त से आत्मा भयभीत होता है।

क्रोध अभिमान माया लोभ कषायों में से जब जिस कषाय के उदय का निमित्त मिलता है, अन्तरग बहिरग निमित्त कारण मिलते हैं उस समय आत्मा के परिणाम क्रोध आदि रूप हो जाते हैं। यदि उस समय आयुकर्म का बंध हो तो उस प्रशस्त या अप्रशस्त कषाय के अनुसार शुभ या अशुभ आयु कर्म का बंध हो जाता है।

दान, लाभ, भोग, उपभोग, वीर्य अन्तरायकर्म के उदय के निमित्त से तथा बहिरग कारणों के निमित्त से आत्मा को दान करने में, विविध प्रकार के लाभ होने में, भोग्य-उपभोग्य पदार्थों के भोग-उपभोग में और शक्ति के प्रकट होने में विघ्न-बाधा उत्पन्न होती है।

कभी ऐसा भी अवसर आता है कि किसी कर्म के उदय के समय यदि बहिरग निमित्त कारण न हों तो कर्म का उदय अपनी प्रकृति और शक्ति के अनुसार आत्मा को फल नही दे पाता। जिस तरह नरक में यदि साता वेदनीय कर्म का उदय हो तो वहाँ सुख के बाहरी निमित्त कारण विद्यमान न होने से साता वेदनीय कर्म सुख प्रदान नही कर पाता। देवगति में बाहरी दुख-सामग्री का निमित्त न होने से असातावेदनीय कर्म का उदय निष्फल रहता है।

कर्मबन्ध हो जाने के पश्चात् भी आत्मा के अच्छे या बुरे अथवा शुद्ध भावों के निमित्त से बाँधे हुए कर्मों की प्रकृति, स्थिति, अनुभाग में वृद्धि, हानि, परिवर्तन, निश्चित समय से पहले फल देने आदि की घटना घटित हो जाती है, जिसे कर्मग्रंथों में उत्कर्षण, अपकर्षण, संक्रमण, उदीरणा आदि नामों से कहा गया है। इस तरह अन्तरग बहिरग कारणों के निमित्तों से कर्मों का खेल भी विचित्र प्रकार का आत्मा के साथ हुआ करता है।

कर्म-मोचन

कर्मबद्ध भव्य जीव सदा संसारी ही नही बना रहता। वह अनुकूल सुअवसर पाकर संसार से मुक्त होने के लिये जो आध्यात्मिक कार्य करता है उसके लिये भी निमित्त कारणों की अपेक्षा होती है। तत्त्वार्थसूत्र का प्रथम सूत्र है—

सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः ।१-१। (सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र मोक्षमार्ग है। मुक्ति प्राप्त करने का उपाय है।)

इस आगमविधान के अनुसार मुक्ति का मूल कारण सम्यग्दर्शन (शुद्ध आत्मतत्त्व की श्रद्धा, रुचि, अनुभूति) है। वह सम्यग्दर्शन तब होता है जब कि सद्गुरु का उपदेश या अर्हन्त भगवान की वाणी सुनने का बाहरी निमित्त भव्य जीव को मिले (जिसको देशनालब्धि कहते हैं) तथा दर्शनमोहनीय कर्म का क्षय, उपशम आदि अन्तरग निमित्त कारण भी मिले। नियमसार में श्रीकुन्दकुन्द आचार्य ने बतलाया है—





सम्मतस्स णिमित्त जिणसुत्त तस्स जाणया पुरिसा।
अतरहेऊ भणिया दसणमोहस्स खयपहुदी॥

अर्थ—सम्यग्दर्शन उत्पन्न होने का (बहिरग) निमित्त कारण जिनवाणी का सुनना तथा उसका सुनाने वाले एव उसके ज्ञाता पुरुष (आचार्य उपाध्याय साधु या अर्हन्त भगवान) हैं। अन्तरग निमित्त कारण दर्शनमोहनीय कर्म का क्षय आदि हैं।

सम्यग्ज्ञान होने का निमित्त कारण सम्यग्दर्शन है तथा शास्त्र, उपाध्याय, अध्यापक आदि भी हैं।

सम्यक्चारित्र का निमित्तकारण निर्ग्रन्थ मुनिदीक्षा तथा प्रत्याख्यानावरण कषाय का क्षयोपशम, मुनिसघ आदि हैं।

इनके सिवाय मोक्ष के निमित्त कारण मनुष्य आयु, वज्रऋषभनाराच सहनन, मुनिदीक्षा के योग्य सत्कुल में जन्म, कर्मभूमि, दु षमसुषमा काल, शुक्लध्यान आदि भी है। इन समस्त निमित्त कारणो तथा उपादान कारण के बिना मिले मोक्ष की सिद्धि नहीं होती। यदि इन निमित्त कारणो मे से एक भी कारण की कमी रहेगी तो मोक्ष भी नही होगा।

निमित्त कारणो के भेद

निमित्त कारण प्रेरक, उदासीन, बलाधायक आदि अनेक प्रकार के होते हैं। जो उपादान कारण को बलपूर्वक अपनी प्रवृत्ति के अनुरूप परिणमाते हैं वे प्रेरक निमित्त कारण होते हैं। जैसे भोजन बनाने मे रसोइया प्रेरक निमित्त कारण है। वह अपनी इच्छानुसार आटे की रोटी, बाटी, पूडी-कचौडी, परामठा, हलुवा आदि के रूप मे परिणमाता है। पानी की प्रबल बाढ मनुष्यो को, पशुओ को तथा वृक्ष आदि को जबरदस्ती बहा ले जाती है।

धर्म, अधर्म, काल, आकाश-प्रकाश आदि उदासीन कारण होते हैं, जो कि उपादान कारण को बलपूर्वक नही परिणमाते।

जिन पदार्थों से कार्य होने मे उपादान को बल प्राप्त होता है वे बलाधायक निमित्त कारण होते हैं, जैसे लगडे मनुष्य को चलने मे लाठी सहारा देती है, नेत्रो की हीन ज्योति वाले मनुष्य को देखने मे उपनेत्र (ऐनक, चश्मा) बल प्रदान करता है।

इनके सिवाय असख्य प्रकार के अभावात्मक निमित्त कारण भी होते हैं। जिन पदार्थों के सद्‌भाव मे कार्य नही हो सकता उन पदार्थों का अभाव होना कार्य होने मे आवश्यक निमित्त कारण है। जैसे कि विद्यार्थी के पढने मे ज्वर, उदरपीडा, भयानक सिर की पीडा, नेत्र दुखना, कुष्ठ, जलोदर आदि असख्य प्रकार के भयानक रोगो का अभाव, जलप्लावन, बाट, भूकम्प, वज्रपात, काली आंधी, राजक्रान्ति, अग्निकाड आदि असख्य प्राकृतिक बाधक कारणो का अभाव होना आवश्यक है। वह जहाँ पढता है वहाँ सर्प, सिंह, भेडिया, चीता, बाघ आदि हिंसक जीवो आदि असख्य बाधक कारणो का अभाव होना भी परम आवश्यक है। यदि ये बाधक निमित्त कारण वहाँ पर हो तो कोई भी पठन-पाठन आदि कार्य शान्तिपूर्वक वहाँ पर नहीं हो सकता।

जिस समय उपादान कारण और समस्त भावरूप तथा अभाव रूप निमित्त कारण मिल जाते हैं, उसी समय कार्यसिद्धि होती है।

हमारा जीवन

आत्मा यद्यपि द्रव्यदृष्टि से अजर-अमर अविनाशी है परन्तु ससार मे प्रत्येक पर्याय मे उसे जीवित रहने को श्वास लेने के लिये वायु, पीने के लिये जल, भूख मिटाने के लिये भोजन, रहने के लिये स्थान, प्रकाश, अन्धकार, गर्मी आदि जीवन-उपयोगी पदार्थों का निमित्त मिलना आवश्यक है। मछली आदि जलचर जीवो को जलाशय (तालाब नदी, समुद्र आदि) मिलना आवश्यक है। गाय, घोडा, कुत्ता, सिंह, हिरण आदि थलचर जीवो को अपने जीवन के लिये सूखी पृथ्वी का मिलना आवश्यक है, नभचर पक्षियो के लिये मुक्त आकाश की आवश्यकता है, मनुष्य को भी

वायु, जल, भोजन प्रकाश, आवश्यक गर्मी अपने जीवन के लिये अत्यन्त आवश्यक है। यदि पदार्थों का निमित्त संसारी जीवों को न मिले तो वे जीवित नहीं रह सकते।

लब्ध्यपर्याप्तक निगोदिया जीव को अपर्याप्तिकर्म के उदय के निमित्त से एक श्वास होने जितने छोटे से काल में १८ बार जन्म-मरण करना पड़ता है

दृश्यमान निमित्त-उपादान कारण

प्रायः सभी बच्चे उत्पन्न होते समय भोले-भाले होते हैं परन्तु उनको जैसे-जैसे अच्छे-बुरे, शिक्षित-अशिक्षित, दुर्जन सज्जन, सदाचारी, माता-पिता भाई-बहिनों का निमित्त मिलता है, उनके गुण और स्वभाव वैसे हो जाते हैं। पाठशालाओं स्कूलों और कालिजों में पढ़ने वाले विद्यार्थियों को जैसे अच्छे-बुरे सहपाठियों की संगति का निमित्त मिलता है उसी तरह के वे सदाचारी या दुराचारी बन जाते हैं।

इसका अभिप्राय यही है कि मनुष्य में अनेक प्रकार की उपादान-शक्ति है, उसमें सद्गुणी शिक्षित सज्जन बनने की भी शक्ति है और दुर्गुणी चोर लुच्चा बदमाश गुण्डा दुष्ट बनने की भी उपादान-शक्ति है। किन्तु जैसे निमित्त कारण मिलते हैं उस तरह की उसकी सद्गुणमयी या दुर्गुणमयी शक्ति का विकास हो जाता है और वह उस प्रकार का बन जाता है।

आटे में अनेक प्रकार की उपादान-शक्ति है जिसके कारण वह रोटी, पूड़ी कचौड़ी आदि बन सकता है। वही आटा शरीर का मैल छुड़ाने का उबटन भी बन सकता है, अग्नि से जल भी सकता है हवा से उड़ भी सकता है। वह मिट्टी बालू भी बन सकता है। [illegible] यदि उसको कुशल रसोइया का निमित्त मिले तो वह उसका अच्छा भोजन बन सकता है, आग में पड़ जायेगा तो अग्नि के निमित्त से राख भी बन सकता है, आंधी का निमित्त मिले तो वह उड़ सकता है और धूल मिट्टी बालू में पड़ जाय तो उस निमित्त से वह धूल मिट्टी रूप भी बन सकता है

इस तरह उपादान कारणों को जैसे निमित्त कारणों का सहयोग मिलता है उपादान उसी प्रकार परिणमन करता है।

सामग्री

इसके सिवाय एक बात यह भी है कि एक कार्य के लिये अनेक निमित्त कारणों की आवश्यकता होती है। उन सब निमित्त कारणों या सामग्री के मिलने पर ही ठीक कार्य होता है। यदि निमित्त की कमी होगी तो वैसा ठीक कार्य न हो पायेगा।

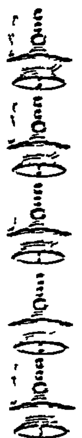
जैसे आटा रूप उपादान कारण से भोजन-कार्य होने के लिये सिर्फ रसोइया का निमित्त कारण होने से कार्य नहीं हो सकता, उसके लिये जल, घी, नमक, खांड आदि कुछ और भी उपादान कारण मिलने चाहिये तथा बर्तन, तवा, अग्नि आदि अन्य निमित्त कारणों की भी योजना करनी पड़ेगी, तभी आटे से रोटी बाटी, पूड़ी, हलुवा आदि कार्य हो सकेगा।

यदि अन्य निमित्त कारण हों, अग्नि न हो तब भी रोटी न बनेगी। अग्नि रसोइया आदि निमित्त कारण सभी हों परन्तु तवा न हो तब भी सुन्दर पतली रोटी न बन सकेगी।

पढ़ने के लिये विद्यार्थी को अध्यापक, पुस्तक, कागज, दैनिक भोजन आदि अनेक निमित्त कारण मिलने चाहिये। यदि उनमें से किसी भी कारण की कमी रहेगी तो विद्यार्थी ठीक तरह से न पढ़ सकेगा [illegible] इस तरह स्पष्ट है कि कार्य होने के लिये उपादान तथा पूर्ण निमित्त-कारण-सामग्री आवश्यक होती है।

एक निमित्त से विभिन्न प्रकार के कार्य

साधारण जनता के आवागमन के एक स्थान पर किसी सुन्दरी युवती का मृतक शव पड़ा हुआ है। सुनसान





वेश्या मरी हुई पड़ी थी। एक चोर, एक कामातुर पुरुष, एक साधु और एक कुत्ता उसको देखने के लिये उसके पास खड़े हो गये। वेश्या को मरा हुआ देखकर चोर ने विचार किया कि इसके शरीर पर कीमती वस्त्र आभूषण हैं, यदि यह एकान्त स्थान मे होती तो मुझे अनायास बहुत धनलाभ होता। कामातुर पुरुष ने मन मे विचार किया कि यदि यह जीवित होती तो मैं इसके साथ कामक्रीडा करता। कुत्ते ने विचार किया कि यहाँ पर यदि मनुष्य न होते तो मैं इसका मासभक्षण करके अपनी भूख शान्त करता। साधु ने वेश्या को देखकर विचार किया—मनुष्यभव पाकर इसने तप त्याग धर्म नही किया। विषयभोगो मे निरत रहकर इसने मनुष्यजन्म का लाभ नही उठाया।

यहाँ प्रश्न यह है कि एक ही निमित्त (मृतक वेश्या) से चार उपादान कारणो (उसे देखने वाले जीवों) मे विभिन्न प्रकार के चार कार्य या विचार क्यो हुए? इसका उत्तर यह है कि मृतक वेश्या को देखने वाले चारो जीवो के विचारो (उपादान कारणो) के लिये वहाँ निमित्त चार थे। चोर के लिये निमित्त कारण वेश्या द्वारा पहने हुए मूल्यवान वस्त्र आभूषण थे। कामातुर मनुष्य के लिये वेश्या का सुन्दर शरीर निमित्त कारण था। साधु के विराग-भाव के लिये वेश्या का मनुष्य भव था। कुत्ते के लिये निमित्त कारण वेश्या का मासल शरीर था। इस तरह जीवो के लिये मृतक वेश्या-शरीर के विभिन्न चार निमित्त कारण थे।

निमित्त मिलने पर भी कार्य का न होना

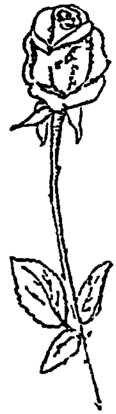
भगवान ऋषभनाथ के निमित्त से उनका पौत्र (पोता) मरीचिकुमार मिथ्यादृष्टि क्यो बना रहा? एक कामातुर रानी की अनेक प्रकार की कामोत्तेजक चेष्टाओ का निमित्त मिलने पर भी सुदर्शन सेठ के मन मे कामवासना जाग्रत क्यो न हुई? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि दोनों के उपादान कारण उस प्रकार की कार्यसिद्धि के योग्य न थे। तथा अन्य निमित्त कारण भी न थे। मरीचिकुमार को अन्तरग निमित्त कारण (मिथ्यात्व कर्म का उपशम) उपलब्ध न था अत उसका उपादान (आत्मा) सम्यक्त्वप्राप्ति का कार्य प्राप्त न कर सका।

सुदर्शन सेठ आत्मध्यान-निमग्न थे। उस समय उनके पुरुषवेद का उदय न था इस कारण वे भी अन्तरग निमित्त कारण के अभाव मे कामातुर न हुए। उनका उपादान कारण (आत्मा) कामवासनामय न था।

साराश यह है कि कोई भी कार्य तब ही होता है जब उसके अनुकूल उपादान कारण तथा उसके लिये सब तरह के (अन्तरग, बहिरग, बलाधायक, प्रेरक आदि) निमित्त कारण मिल जावें। यदि उन कारणो मे से एक भी कारण की कमी रहती है तो कार्यसिद्धि नही होती।

●

जैनागम में प्रयुक्त निश्चय और व्यवहार शब्दों का अर्थाख्यान



पं० वंशीधर जैन,
व्याकरणाचार्य, बीना (म० प्र०)

समूचे जैनागम को चार भागों में विभक्त किया गया है—प्रथमानुयोग (धर्मकथानुयोग), चरणानुयोग, करणानुयोग और द्रव्यानुयोग। प्रथमानुयोग वह है जिसमें अध्यात्म को लक्ष्य में रखकर महापुरुषों के जीवनचरित्र के आधार पर पाप, पुण्य और धर्म का दिग्दर्शन कराया गया है, चरणानुयोग वह है जिसमें अध्यात्म को लक्ष्य में रखकर पाप, पुण्य और धर्म की व्यवस्थाओं का निर्देश किया गया है, करणानुयोग वह है जिसमें जीवों की पाप, पुण्य और धर्मरूप परिणतियों तथा उनके कारणों का विवेचन किया गया है और द्रव्यानुयोग वह है जिसमें विश्व की सम्पूर्ण वस्तुओं के पृथक्-पृथक् अस्तित्व को प्रमाण आदि द्वारा सिद्ध करते हुए उनके परिणमनों का निर्धारण किया गया है। इनमें से चरणानुयोग, करणानुयोग और द्रव्यानुयोग में आवश्यकतानुसार विविध अर्थों में निश्चय और व्यवहार शब्दों का बहुतायत के साथ प्रयोग हुआ है, इसलिए उन दोनों शब्दों का वहां कौन-सा अर्थ ग्राह्य है? इस विषय पर यहां विचार किया जा रहा है।

निश्चय और व्यवहार शब्दों का व्युत्पत्त्यर्थ

निश्चय और व्यवहार दोनों शब्दों में से निश्चय शब्द तो 'निस्' उपसर्गपूर्वक चयनार्थक 'चिञ्' धातु से 'अच्' प्रत्यय होकर निष्पन्न हुआ है और व्यवहार शब्द 'वि' तथा 'अव' उपसर्गपूर्वक हरणार्थक 'हृञ्' धातु से 'ण' प्रत्यय होकर निष्पन्न हुआ है। इस प्रकार इन व्युत्पत्तियों के अनुसार वस्तु में संभवनीय परस्परविरुद्ध धर्मयुगलों में एक-एक धर्म तो निश्चय शब्द का तथा एक-एक धर्म व्यवहार शब्द का अर्थ समझना चाहिये। वस्तु में संभवनीय परस्परविरुद्ध धर्मों के वे युगल निम्न प्रकार संग्रहीत किये जा सकते हैं—

अखण्डरूपता-खण्डरूपता, एकरूपता-नानारूपता, तद्रूपता-अतद्रूपता, भावरूपता-अभावरूपता, नित्यरूपता-अनित्यरूपता, स्वाश्रयरूपता-पराश्रयरूपता, संग्रहरूपता-विस्ताररूपता, सामान्यरूपता-विशेषरूपता, अन्वयरूपता-व्यतिरेकरूपता, द्रव्यरूपता-पर्यायरूपता, गुणरूपता-पर्यायरूपता, स्वभावरूपता-विभावरूपता, उद्देश्यरूपता-विधेयरूपता, साध्यरूपता-साधनरूपता, कार्यरूपता-कारणरूपता, उपादानरूपता-निमित्तरूपता, साक्षाद्रूपता-परम्परारूपता आदि। इनमें पूर्व-पूर्व धर्म तो वस्तु का निश्चय धर्म और उत्तर-उत्तर धर्म वस्तु का व्यवहार धर्म समझना चाहिये।

यहां पर सर्वप्रथम हम यह विवेचन करने जा रहे हैं कि चरणानुयोग में प्रयुक्त निश्चय और व्यवहार शब्दों के क्या-क्या अर्थ आगम में ग्रहण किया गया है?



चरणानुयोग मे निश्चय और व्यवहार शब्दो का अर्थ

जैन सस्कृति के अध्यात्म का प्रधान और अन्तिम उद्देश्य जीवो द्वारा सासारिक बन्धनो से छुटकारा पाकर आत्मस्वातन्त्र्य प्राप्त कर लेना ही जैनागम मे बतलाया गया है । जीवो द्वारा सासारिक बन्धनो से छुटकारा पा लेने का नाम मोक्ष है[1] और इस मोक्ष का प्राप्त करने का जो उपाय हो सकता है उसे मोक्षमार्ग जानना चाहिये । जैनागम में मोक्ष-मार्ग को सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र के रूप मे प्रतिपादित किया गया है ।[2] सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र को आगम मे निश्चय और व्यवहार के भेद से दो-दो भेद रूप बतलाया गया है ।[3] इस तरह मोक्ष-मार्ग वहा पर दो भेद रूप बतला दिया गया है—एक निश्चय मोक्ष-मार्ग और दूसरा व्यवहार मोक्ष-मार्ग ।[4] साथ ही इतना स्पष्ट कर दिया गया है कि निश्चय मोक्ष-मार्ग तो मोक्ष का साक्षात् कारण है और व्यवहार मोक्ष-मार्ग परपरया, अर्थात् निश्चय मोक्षमार्ग का कारण होकर कारण है ।[5]

श्रद्धेय पण्डित दौलतरामजी ने छह ढाला मे तीसरी ढाल के प्रारम्भ मे इस विषय को बहुत ही सुन्दरता के साथ सारगर्भित दो पद्यो द्वारा स्पष्ट रूप से प्रतिपादित किया है । वे पद्य ये है—

"आतम को हित है सुख, सो सुख आकुलता विन कहिये ।
आकुलता शिव माँहि न, तातैं शिवमग लाग्यौ चहिये ।।
सम्यग्दर्शन ज्ञानचरण शिवमग सो दुविध विचारो ।
जो सत्यारथ रूप सो निश्चय, कारण सो ववहारो ।।१।।
पर द्रव्यन तैं भिन्न आप मे रुचि सम्यक्त्व भला है ।
आप रूप को जानपनो सो सम्यग्ज्ञान कला है ।।
आप रूप मे लीन रहे थिर सम्यक् चारित सोई ।
अब ववहार मोखमग सुनिये हेतु नियत को होई ।।२।।

---

१. बन्धहेत्वभावनिर्जराभ्या कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षो मोक्ष ।।१०-२।। (तत्वार्थसूत्र)

२ सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्ग ।।१-१।। (तत्वार्थसूत्र)
सम्मत्तणाणजुत्त चारित्त रागदोसपरिहरण । मोक्खस्स हवदि मग्गो भव्वाण लद्धबुद्धीण ।।१०६।।
(पचास्तिकाय)

३. धम्मादी सद्दहण सम्मत्त णाणमगपुव्वगद । चेट्ठा तव हि चरिया ववहारो मोक्खमग्गोत्ति ।।१६०।।
(पचास्तिकाय मे व्यवहार मोक्ष-मार्ग)
णिच्छयणयेण भणिदो तिहि तेहिं समाहिदो हु जो ।
अप्पा ण कुणदि किंचिवि अण्ण ण मुयदि सो मोक्खमग्गोत्ति ।।१६१।। (पचास्तिकाय मे निश्चय मोक्ष-मार्ग)

४ निश्चयव्यवहारमोक्षकारणे सति मोक्षकार्य सभवति । (पचास्तिकाय गाथा १६० की टीका मे आचार्य जयसेन)

५ निश्चयव्यवहारयो साध्यसाधनभावत्वात् । (पचास्तिकाय गाथा १६० की टीका मे आचार्य अमृतचन्द्र)
निश्चयमोक्षमार्गसाधनभावेन पूर्वोद्दिष्टव्यवहारमोक्षमार्गनिर्देशोऽयम् ।
(पचास्तिकाय गाथा १६२ की टीका मे आचार्य अमृतचन्द्र)
व्यवहारमोक्षमार्गसाध्यभावेन निश्चयमोक्षमार्गोपन्यासोऽयम् ।
(पचास्तिकाय गाथा १६३ की टीका मे आचार्य अमृतचन्द्र)
साधको व्यवहारमोक्षमार्ग साध्यो निश्चयमोक्षमार्ग (परमात्मप्रकाश टीका पृष्ठ-१४२)
एव निश्चयव्यवहाराभ्या साध्यसाधनभावेन तीर्थगुरुदेवतास्वरूप ज्ञातव्यम् ।
(परमात्मप्रकाश श्लोक ७ की टीका)

प्रथम पद्य में पण्डितजी ने कहा है कि आत्मा का हित सुख है, सुख आकुलता के अभाव में उत्पन्न होता है और आकुलता का अभाव मोक्ष में है अत: जीवों को मोक्ष के मार्ग में प्रवृत्त होना चाहिये। मोक्ष का मार्ग सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूप है। ये तीनों निश्चय रूप भी होते हैं और व्यवहार रूप भी होते हैं अत. मोक्षमार्ग भी निश्चय और व्यवहार के भेद से दो प्रकार का हो जाता है। इनमें से सम्यग्दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूप निश्चय मोक्षमार्ग तो मोक्ष का सीधा कारण है तथा सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूप व्यवहार मोक्ष-मार्ग इस निश्चय मोक्षमार्ग का कारण होकर मोक्ष का कारण है अर्थात् परंपरया कारण है।

द्वितीय पद्य में पण्डित जी ने कहा है कि समस्त चेतन-अचेतन पर-द्रव्यों की ओर से मुड़कर अपने आत्म-स्वरूप की ओर जीव की अभिरुचि (उन्मुखता) होना निश्चय सम्यग्दर्शन है, उससे अपने आत्मस्वरूप का ज्ञान हो जाना निश्चय सम्यग्ज्ञान है और बुद्धिपूर्वक तथा अबुद्धिपूर्वक होने वाली कषायजन्य पाप और पुण्यरूप समस्त प्रकार की प्रवृत्तियों से निवृत्ति पाकर उसका अपने आत्मस्वरूप में लीन हो जाना निश्चय सम्यक्चारित्र है।

द्वितीय पद्य के अन्तिम चरण में यद्यपि पण्डित जी ने कहा है कि आगे छहढाला में निश्चय-सम्यग्दर्शनादि रूप उक्त निश्चय मोक्षमार्ग के कारणभूत व्यवहार सम्यग्दर्शनादि रूप व्यवहार मोक्षमार्ग का विवेचन किया जायगा। इस तरह छहढाला में किये गये विवेचन के अनुसार व्यवहार मोक्षमार्ग रूप सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र का पृथक्-पृथक् जो स्वरूप निर्णीत होता है उसका कथन यहां पर किया जाता है।

व्यवहारसम्यग्दर्शन का स्वरूप

छहढाला में जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष ये सात तत्त्व कहे गये हैं और कहा गया है कि इनके प्रति जीवों के अन्त:करण में श्रद्धा अर्थात् इनके स्वरूपादि की वास्तविकता के सम्बन्ध में ज्ञान की दृढ़ता यानी आस्तिक्य भाव जागृत हो जाने का नाम व्यवहारसम्यग्दर्शन है। इसके आधार पर ही जीवों को निश्चय-सम्यग्दर्शन की उपलब्धि होती है।

आचार्य उमास्वामी ने तत्त्वार्थसूत्र में और स्वामी समन्तभद्र ने रत्नकरण्डश्रावकाचार में सम्यग्दर्शन का जो स्वरूप बतलाया है उसे व्यवहार सम्यग्दर्शन का ही स्वरूप समझना चाहिये। आचार्य उमास्वामी के तत्त्वार्थसूत्र के अनुसार उपर्युक्त सात तत्त्वों के श्रद्धान का नाम सम्यग्दर्शन है।[1] और स्वामी समन्तभद्र के रत्नकरण्डश्रावकाचार के अनुसार परमार्थ अर्थात् वीतरागता के आदर्श देवों, परमार्थ अर्थात् वीतरागता के पोषक शास्त्रों और परमार्थ अर्थात् वीतरागता के मार्ग में प्रवृत्त गुरुओं के प्रति जीवों के अन्त:करण में श्रद्धान का जागरण हो जाना सम्यग्दर्शन है।[2]

यद्यपि तत्त्वार्थसूत्र और रत्नकरण्डश्रावकाचार में निबद्ध सम्यग्दर्शन के उक्त लक्षणों में परस्पर भेद दिखाई देता है परन्तु तत्त्वत: उनमें भेद नहीं है, क्योंकि स्वामी समन्तभद्र द्वारा रत्नकरण्डश्रावकाचार में प्रतिपादित लक्षण से भी निष्कर्ष के रूप में जीवों के अन्त:करण में उक्त सात तत्त्वों के प्रति आस्तिक्य भाव की जागृति हो जाना ही सम्यग्दर्शन का स्वरूप निश्चित होता है।

व्यवहारसम्यग्ज्ञान का स्वरूप

वीतरागता के पोषक अथवा सात तत्त्वों के यथावस्थित स्वरूप के प्रतिपादक आगम का श्रवण, पठन, पाठन, अभ्यास, चिन्तन, मनन और उपदेश यह सब व्यवहारसम्यग्ज्ञान है। इस प्रकार के सम्यग्ज्ञान से जीवों को समस्त वस्तुओं के और विशेषकर आत्मा के स्वत: सिद्ध स्वरूप का बोध होता है। जैसे आत्मा का स्वत: सिद्ध स्वरूप ज्ञायक-पना अर्थात् समस्त पदार्थों का देखने-जानने की शक्ति रूप है। इसके आधार पर ही आत्मा का अनादि, अनिधन,



1 तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम् ॥१-२॥, जीवाजीवास्रवबन्धसंवरनिर्जरामोक्षास्तत्त्वम् ॥१-४॥

2 श्रद्धानं परमार्थानामाप्तागमतपोभृताम्। त्रिमूढापोढमष्टाङ्गं सम्यग्दर्शनमस्मयम् ॥४॥

स्वाश्रित और अखण्ड (स्वरूप के साथ तादात्म्य को लिए हुए) स्वतंत्र अस्तित्व सिद्ध होता है। आत्मा के इस स्वरूप को समझने के लिये उपर्युक्त प्रकार के आगम का श्रवण, पठन, पाठन, अभ्यास, चिन्तन, मनन और उपदेश सहायक होता है।

विचार कर देखा जावे तो सम्यग्दर्शन प्राप्त होने से पूर्व ही जीवों को इस प्रकार के सम्यक् (वीतरागता के पोषक) आगमज्ञान की सम्प्राप्ति आवश्यक है इसलिये यद्यपि मोक्षमार्ग मे सम्यग्दर्शन के पूर्व ही सम्यग्ज्ञान का स्थान मिलना चाहिये परन्तु वहा इसको जो सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र के मध्य स्थान दिया गया है इसका एक कारण तो यह है कि जीव को सम्यग्दर्शन प्राप्त हो जाने पर ही उक्त प्रकार के ज्ञान का सम्यक्पना (सार्थकत्व) माना जा सकता है और दूसरा कारण यह है कि उक्त ज्ञान की उपयोगिता मध्यदीपक न्याय से सम्यग्दर्शन की तरह सम्यक्-चारित्र पर आरूढ होने के लिये भी आवश्यक है।

व्यवहारसम्यक्चारित्र का स्वरूप

बुद्धिपूर्वक और अबुद्धिपूर्वक होने वाली समस्त कषायजन्य पाप और पुण्यमय प्रवृत्तियो से निवृत्ति पाकर अपने आत्मस्वरूप मे लीन होने रूप निश्चय सम्यक्चारित्र की प्राप्ति के लिये यथाशक्ति अणुव्रत, महाव्रत, समिति, गुप्ति, धर्म और तप आदि क्रियाओ मे जीव की प्रवृत्ति होना व्यवहारसम्यक्चारित्र है।

निश्चय सम्यक्चारित्र का अपर नाम यथाख्यातचारित्र है। इसे वीतराग चारित्र और करणानुयोग की दृष्टि मे औपशमिक तथा क्षायिक चारित्र भी कहा जाता है[1]। इन की प्राप्ति जीवो को उपशम श्रेणी चढकर ११वें गुणस्थान मे पहुचने पर औपशमिक चारित्र के रूप मे अथवा क्षपक श्रेणी चढकर १२वें गुणस्थान मे पहुचने पर क्षायिक चारित्र के रूप मे होती है परन्तु ११ वें गुणस्थान के औपशमिक चारित्र और १२ वें गुणस्थान के क्षायिक चारित्र मे इतना अन्तर है कि उपशम श्रेणी चढकर ११वें गुणस्थान मे पहुचने वाला जीव अन्तर्मुहूर्त के अल्पकाल मे ही पतन की ओर मुड जाता है। अत जहा उसका औपशमिक चारित्र तत्काल समाप्त हो जाता है वहा क्षपक श्रेणी चढ कर १२वें गुणस्थान मे पहुचने वाले जीव का क्षायिक चारित्र स्थायी रहता है और वह जीव पतन की ओर न मुड कर अन्तर्मुहूर्त के अल्पकाल मे ही १२वें गुणस्थान से १३वें गुणस्थान मे पहुच कर सर्वज्ञता को प्राप्त कर लेता है। इसी निश्चय चारित्र की प्राप्ति के लिये चतुर्थ गुणस्थान का अविरतसम्यग्दृष्टि जीव पाचवें गुणस्थान मे अणुव्रत धारण करता है तथा और भी आगे बढ कर छठे गुणस्थान मे महाव्रत भी धारण करता है। इतना ही नहीं, घोर तपश्चरण करके आगे बढता हुआ वह जीव सातवें गुणस्थान मे शुद्धोपयोग की भूमिका को प्राप्त हो कर आत्मपरिणामो की उत्तरोत्तर बढती हुई यथायोग्य विशुद्धि के आधार पर उपशम श्रेणी या क्षपक श्रेणी माडता है। इस तरह कहना चाहिये कि जब तक उस जीव को उपर्युक्त निश्चयसम्यक्चारित्र की प्राप्ति नही हो जाती है तब तक वह पाचवें और छठे गुणस्थानो मे तो बुद्धिपूर्वक और सातवें से लेकर१० वें तक के गुणस्थानो मे अबुद्धिपूर्वक उपर्युक्त व्यवहार-चारित्र की पालना मे ही लगा रहता है। इस व्यवहारचारित्र का भी अपर नाम सरागचारित्र और करणानुयोग की दृष्टि मे क्षायोपशमिक चारित्र है।

यद्यपि अणुव्रत और महाव्रत तथा समिति, गुप्ति, धर्म, एव तपश्चरण आदि क्रियाएं पूर्वोक्त सम्यग्दर्शन मे रहित कोई-कोई मिथ्यादृष्टि जीव भी करने लगते है। इतना ही नही, इन क्रियाओ को सलग्नता के साथ करने से वे यथासभव स्वर्ग में जन्म धारण करके नवें ग्रैवेयक तक भी पहुच जाते हैं, परन्तु यह बात ध्यान में रखने योग्य है कि इन क्रियाओ की निश्चय सम्यक्चरित्र की प्राप्ति पूर्वक मोक्षप्राप्ति रूप सार्थकता सम्यग्दर्शन के आधार पर ही हुआ करती है अन्यथा नहीं, क्योकि जीव जब तक मिथ्यादृष्टि बना रहता है तब तक उस को अप्रत्याख्यानावरण और

---

१ चारित्त खलु धम्मो धम्मो जो सो समोत्ति णिद्दिट्ठो।
मोहक्खोहविहीणो परिणामो अप्पणो हि समो ॥७॥
(प्रवचनसार)

प्रत्याख्यानावरण कषायों का क्षयोपशम होना असंभव है क्योंकि अणुव्रत और महाव्रत आदि रूप व्यवहार सम्यक्चारित्र यथायोग्य इन कषायों का आगम में बतलायी गयी प्रक्रिया के अनुसार क्षयोपशम होने पर ही उत्पन्न होता है।[1]

इस विवेचन से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि चरणानुयोग में सम्यग्दर्शनादि रूप निश्चय और व्यवहार के भेद से दो प्रकार के मोक्षमार्ग का कथन मिलता है उसका आशय निश्चय मोक्षमार्ग को तो मोक्ष का साक्षात् कारण बतलाना है तथा व्यवहार मोक्षमार्ग को मोक्ष का परम्परा अर्थात् निश्चय मोक्षमार्ग का कारण होकर कारण बतलाना है। विचार कर देखा जावे तो यह आशय मोक्षमार्ग शब्द के साथ लगे हुए निश्चय और व्यवहार शब्दों से ही ध्वनित होता है। इसी प्रकार निश्चय मोक्षमार्ग स्वरूप निश्चय सम्यग्दर्शन, निश्चय सम्यग्ज्ञान और निश्चय सम्यक्चारित्र को तो कार्यरूप तथा व्यवहार मोक्षमार्ग स्वरूप व्यवहार सम्यग्दर्शन, व्यवहार सम्यग्ज्ञान और व्यवहार सम्यक्चारित्रको उन निश्चय मोक्षमार्ग स्वरूप सम्यग्दर्शनादि का कारण रूप बतलाना भी उसी का आशय है। यहां पर भी यदि विचार करके देखा जावे तो यह आशय भी सम्यग्दर्शन आदि शब्दों के साथ लगे हुए निश्चय और व्यवहार शब्दों से ही ध्वनित होता है। इस तरह ज्ञात होता है कि चरणानुयोग के प्रकृत प्रसंग में मोक्षमार्ग शब्द के साथ लगे हुए निश्चय और व्यवहार शब्दों का क्रम से कारण की साक्षाद्रूपता और परम्परारूपता ही अर्थ होता है तथा सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र शब्दों के साथ लगे हुए निश्चय और व्यवहार शब्दों का क्रम से निश्चय रूप और व्यवहार रूप सम्यग्दर्शनादिक की कार्यरूपता और कारणरूपता ही अर्थ होता है। इस तरह यह विवेचन हमें इस निष्कर्ष पर पहुंचा देता है कि मोक्षप्राप्ति के लिये जीव को मोक्ष के साक्षात् कारणभूत निश्चयसम्यग्दर्शन, निश्चयसम्यग्ज्ञान और निश्चयसम्यक्चारित्र की तथा परम्परया कारणभूत व्यवहारसम्यग्दर्शन, व्यवहारसम्यग्ज्ञान और व्यवहारसम्यक्चारित्र की अनिवार्य आवश्यकता है। ऐसी स्थिति में जो व्यक्ति निश्चय मोक्षमार्ग रूप निश्चयसम्यग्दर्शनादिक की प्राप्ति के बिना केवल व्यवहार मोक्षमार्ग रूप व्यवहार सम्यग्दर्शनादिक से ही मोक्षप्राप्ति कर लेना चाहते हैं, वे गलती पर हैं कारण कि उपर्युक्त विवेचन के अनुसार उन्हें अपने मोक्षप्राप्ति रूप उद्देश्य में सफलता मिलना असंभव है। इसी तरह जो व्यक्ति ऐसा कहते हैं कि "जब निश्चय मोक्षमार्ग के बिना मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती है तो निश्चय मोक्षमार्ग की प्राप्ति का ही जीव को प्रयत्न करना चाहिये, व्यवहार मोक्षमार्ग के ऊपर ध्यान देने की कुछ भी आवश्यकता नहीं है", तो वे व्यक्ति भी गलती पर हैं क्योंकि ऊपर के विवेचन से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि जीव को व्यवहारमोक्षमार्ग पर आरूढ हुए बिना निश्चय मोक्षमार्ग की प्राप्ति होना असंभव है। यह बात पूर्व में ही स्पष्ट की जा चुकी है कि मोक्षमार्ग के अंगभूत निश्चयसम्यक्चारित्र की प्राप्ति जीव को औपशमिक रूप में तो उपशम श्रेणी माड कर ११ वें गुणस्थान में पहुंचने पर ही होती है और क्षायिक रूप में क्षपक श्रेणी माड कर १२ वें गुणस्थान में पहुंचने पर ही होती है। इस प्रकार कहना चाहिये कि जब तक जीव उपशम या क्षपक श्रेणी माडकर ११ वें अथवा १२ वें गुणस्थान में नहीं पहुंच जाता है तब तक अर्थात् १० वें गुणस्थान तक उस के व्यवहार सम्यक्चारित्र, जिसे सरागचारित्र या करणानुयोग की दृष्टि से क्षायोपशमिकचारित्र कहा जाता है, हो रहा करता है।

इससे यह मान्यता खण्डित हो जाती है कि "व्यवहारसम्यक्चारित्र को धारण किये बिना ही निश्चयसम्यक्चारित्र की उपलब्धि जीव को संभव है", कारण कि अविरत सम्यग्दृष्टि जीव यथायोग्य गुणस्थान क्रम से बढ़ता हुआ ही ११ वें या १२ वें गुणस्थान में पहुंच कर निश्चयसम्यक्चारित्र को उपलब्ध कर सकता है और यह बात स्पष्ट की जा चुकी है कि १० वें गुणस्थान तक व्यवहारसम्यक्चारित्र ही सरागचारित्र या यों कहिये कि क्षायोपशमिक चारित्र के रूप में रहा करता है।



---

१ पच्चक्खाणुदयादो संजमभावो ण होदि णवरिं तु ।
थोववदो होदि तदो देसवदो होदि पंचमओ ॥३०॥
संजलणणोकसायाणुदयादो संजमो हवे जम्हा ।
मलजणणपमादो वि य तम्हा हु पमत्तविरदो सो ॥३१॥

(गोम्मटसार जीवकाण्ड)



उपर्युक्त कथन से एक यह मान्यता भी खण्डित हो जाती है कि "जिस जीव को निश्चयसम्यकचारित्र की प्राप्ति हो जाती है उसके व्यवहारचारित्र हो ही जाता है।" कारण कि पूर्वोक्त प्रकार से व्यवहारसम्यक्चारित्र का अभाव हो जाने पर ही निश्चय सम्यक्चारित्र की प्राप्ति जीव को होती है। क्या कोई व्यक्ति इस बात का स्वीकार करेगा कि क्षायोपशमिक चारित्र रूप सरागचारित्र या व्यवहारचारित्र का सद्भाव रहते हुए भी जीव मे औपशमिक या क्षायिक रूप वीतरागचारित्र, यथाख्यातचारित्र या निश्चयचारित्र रह सकता है ? अर्थात् कोई भी व्यक्ति इस बात का स्वीकार नही करेगा और यही कारण है कि आचार्य अमृतचन्द्र ने समयसार गाथा ३०७ की टीका मे व्यवहाराचार[1] सूत्र का उद्धरण देकर व्यवहारसम्यक्चारित्र को तब तक अमृतकुम्भ कहा है जब तक जीव को निश्चयसम्यकचारित्र की प्राप्ति नही हो जाती है और भगवान कुन्दकुन्द ने उसी व्यवहारसम्यक्चारित्र को तब विषकुम्भ की उपमा दे दी है जब जीव को निश्चयसम्यक्चारित्र की उपलब्धि हो जाती है।[2] इस तरह यह बात निर्णीत हो जाती है कि जब तक जीव को निश्चय सम्यक्चारित्र की प्राप्ति नही हो जाती है तब तक मोक्षप्राप्ति के उद्देश से परपरया मोक्ष के कारणभूत व्यवहारसम्यक्चारित्र की नियम से उपयोगिता है लेकिन तभी तक व्यवहारसम्यक्चारित्र की उपयोगिता है जब तक जीव को निश्चयसम्यक्चारित्र की प्राप्ति नही हो जाती है, आगे नही।

अब आगे इस बात पर विचार किया जाता है कि आगम मे निश्चय मोक्षमार्ग को जो भूतार्थ, सद्भूत, वास्तविक या सत्यार्थ आदि नामो से पुकारा जाता है और व्यवहार मोक्षमार्ग को जो अभूतार्थ, असद्भूत, अवास्तविक या असत्यार्थ आदि नामो से पुकारा जाता है तो इससे आगम का अभिप्राय क्या है ?

आगम मे निश्चय मोक्षमार्ग को जो भूतार्थ आदि नामो से पुकारा जाता है इसमे आगम का अभिप्राय इतना ही लेना चाहिये कि निश्चय मोक्षमार्ग मे इससे साक्षात् कारणता का बोध हो जाता है और चूँकि मोक्ष की साक्षात् कारणता का व्यवहार मोक्षमार्ग मे अभाव पाया जाता है कारण कि उसमे तो परपरया ही कारणता पायी जाती है अत उसे अभूतार्थ आदि नामो से पुकारा जाता है, लेकिन इसका यह अर्थ कदापि नही लेना चाहिये कि "व्यवहार मोक्षमार्ग की मोक्ष की प्राप्ति मे कुछ भी उपयोगिता नही है वह तो वहा पर सर्वथा अकिंचित्कर ही है", कारण कि पूर्वोक्त प्रकार से व्यवहार मोक्षमार्ग मोक्षप्राप्ति मे परपरया कारण नियम से होता है। इस तरह व्यवहार मोक्षमार्ग मे मोक्षप्राप्ति की साक्षात कारणता का अभाव रहने से जहा अभूतार्थता आदि धर्म सिद्ध होते हैं वहा उसमे मोक्षप्राप्ति की परम्परया कारणता का सद्भाव रहने से भूतार्थता आदि धर्म भी सिद्ध होते है। इस तरह कहना चाहिये कि निश्चय मोक्षमार्ग तो सर्वथा भूतार्थ आदि है क्योकि उसमें मोक्ष की साक्षात् कारणता विद्यमान है और व्यवहार मोक्षमार्ग कथचित् भूतार्थ आदि है क्योकि उसमे मोक्ष की परम्परया कारणता विद्यमान है और कथचित् अभूतार्थ आदि भी है क्योंकि उसमे मोक्ष की साक्षात् कारणता का अभाव है। इस तरह इसे सर्वथा अभूतार्थ तो नही माना जा सकता है कारण कि जब पूर्वोक्त प्रकार से व्यवहारसम्यक्चारित्र का सद्भाव १० वें गुणस्थान तक मानना अनिवार्य है, ११ वें और १२ वे गुणस्थान मे ही निश्चय सम्यक् चारित्र की उपलब्धि जीव को हो सकती है तो इसे मोक्ष का सर्वथा अकारण कैसे माना जा सकता है ? जिससे कि इसे सर्वथा अभूतार्थ आदि माना जा सके।

इस कथन का तात्पर्य यह है कि मोक्षप्राप्ति के साक्षात् कारणभूत निश्चय मोक्षमार्ग की प्राप्ति किसी भी जीव को व्यवहार मोक्षमार्ग को अपनाये बिना सभव नही है। अर्थात् निश्चय मोक्षमार्ग की प्राप्ति के लिये

---

१ अपडिकमण अपरिसरण अप्पडिहारो अधारणा चेव। अणियत्ती य अणिंदाऽगरहाऽसोहीय विसकुभो ॥१॥
पडिकमण परिसरण परिहारो धारणा णियत्ती य। णिंदा गरुहा सोही अट्ठविहो अमयकुभो दु ॥२॥
(व्यवहाराचार सूत्र)

२. पडिकमण पडिसरण परिहारो धारणा णियत्ती य। णिंदा गरहा सोही अट्ठविहो होई विसकुभो ॥३०६॥
अपडिकमण अपडिसरण अप्पडिहारो अधारणा चेव। अणियत्ती य अणिंदाऽगरहाऽसोही अमयकुभो ॥३०७॥
(समयसार)

प्रत्येक जीव को हर हालत में व्यवहार मोक्षमार्ग को अपनाना ही होगा ।

इतना स्पष्टीकरण हो जाने के बाद जो व्यक्ति व्यवहार मोक्षमार्ग को संसार का कारण मानते हैं वे बहुत भारी भूल करते हैं क्योंकि संसार के मुख्य कारण तो मोहनीय कर्म के उदय में होने वाले मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र ही हैं तथा व्यवहार अर्थात् क्षायोपशमिक मोक्षमार्ग में देशघाती प्रकृतियों का उदय विद्यमान रहता है वह यद्यपि संसार का कारण होता है लेकिन उसमें (क्षायोपशमिक मोक्ष मार्ग में) जितना अंश यथाविधि उपशम या क्षय के रूप में सर्वघाती कर्म के उदयाभाव रूप रहा करता है वह कभी संसार का कारण नहीं होता है ।[1] यही कारण है कि देशघाती प्रकृति के प्रभाव से ऐसा जीव मर कर उत्तम गति में ही जन्म लिया करता है[2] और परम्परया उस देशघाती प्रकृति के प्रभाव को समाप्त करके मोक्ष भी प्राप्त कर लेता है ।[3]

निश्चय मोक्षमार्ग की सर्वथा भूतार्थता और व्यवहार मोक्षमार्ग की कथंचित् भूतार्थता और कथंचित् अभूतार्थता की सिद्धि में एक तर्क यह भी है कि निश्चय मोक्षमार्ग सर्वथा बन्ध का अकारण है जबकि व्यवहार मोक्ष-मार्ग पूर्वोक्त प्रकार से कथंचित् बन्ध का अकारण है और कथंचित् बन्ध का कारण भी है अतः मुक्ति का सर्वथा कारण होने से निश्चय मोक्षमार्ग को सर्वथा भूतार्थ आदि कहना उचित है और कथंचित् बन्ध का कारण तथा कथंचित् बन्ध का अकारण होने से जब व्यवहार मोक्षमार्ग में कथंचित् संसार की कारणता और कथंचित् मुक्ति की कारणता सिद्ध हो जाती है तो एक प्रकार से उसे मुक्ति की कथंचित् अकारणता के आधार पर कथंचित् अवास्तविक या अभूतार्थ आदि मानना तथा मुक्ति की कथंचित् कारणता के आधार पर कथंचित् वास्तविक या भूतार्थ आदि मानना ही उचित है । उसे सर्वथा अभूतार्थ मानना तो बिल्कुल अनुचित है क्योंकि सर्वथा अभूतार्थता तो संसार के सर्वथा कारणभूत या मोक्ष के सर्वथा अकारणभूत मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र में सिद्ध होती है । यदि व्यवहार अर्थात् क्षायोपशमिक मोक्षमार्ग में सर्वथा अभूतार्थता स्वीकार की जायगी तो फिर उसका मिथ्यादर्शनादि की अपेक्षा भेद ही क्या रह जायगा ? अर्थात् कुछ भेद नहीं रह जायगा ।

करणानुयोग में निश्चय और व्यवहार शब्दों का अर्थ

इस लेख के आरम्भ में हम कह आये हैं कि करणानुयोग वह है जिसमें जीवों की पाप, पुण्य, और धर्म-मय परिणतियों तथा उनके कारणों का विश्लेषण किया गया है और आगे चल कर एक स्थान पर हम यह भी कह आये हैं कि आत्मा का स्वभाव ज्ञायकपना अर्थात् विश्व के समस्त पदार्थों को देखने-जानने की शक्ति रूप है । प्रकृत में जो कुछ विवेचन किया जाता है वह सब इसके आधार पर ही किया जाता है ।

उपर्युक्त प्रकार ज्ञायकपना आत्मा का स्वतः सिद्ध स्वभाव है । इसलिये इस आधार पर एक तो आत्मा का स्वतन्त्र और अनादि-निधन अस्तित्व सिद्ध होता है, दूसरे जिस प्रकार आकाश अपने स्वतः सिद्ध अवगाहक स्वभाव के आधार पर विश्व की सम्पूर्ण वस्तुओं को अपने उदर में एक साथ हमेशा समाये हुए रह रहा है उसी प्रकार आत्मा को भी अपने स्वतः सिद्ध ज्ञायक स्वभाव के आधार पर विश्व की सम्पूर्ण वस्तुओं को एक साथ हमेशा देखने-जानते रहना चाहिये, परन्तु जो जीव अनादि काल से संसार परिभ्रमण करते हुए अभी भी उसी चक्र में फंसे हुए हैं उन्होंने अनादि



---

१ येनांशेन सुदृष्टिस्तेनांशेनास्य बन्धनं नास्ति । येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्य बन्धनं भवति ॥२१२॥
येनांशेन ज्ञानं तेनांशेनास्य बन्धनं नास्ति । येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्य बन्धनं भवति ॥२१३॥
येनांशेन चरित्रं तेनांशेनास्य बन्धनं नास्ति । येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्य बन्धनं भवति ॥२१४॥
(पुरुषार्थसिद्ध्युपाय)

२ धम्मेण परिणदप्पा अप्पा जदि सुद्धसंपयोगजुदो । पावदि णिव्वाणसुहं सुहोवजुत्तो व सग्गसुहं ॥११॥
असुहोदयेण आदा कुणरो तिरियो भवीय णेरइयो । दुक्खसहस्सेहिं सदा अभिंधुदो भमइ अच्चंतं ॥१२॥
(प्रवचनसार)

३ असमग्रं भावयतो रत्नत्रयमस्ति कर्मबन्धो यः । स विपक्षकृतोऽवश्यं मोक्षोपायो न बन्धनोपायः ॥२११॥
(पुरुषार्थसिद्ध्युपाय)



काल से अभी तक न तो कभी विश्व की सम्पूर्ण वस्तुओं को एक साथ देखा-जाना है और न वे अभी भी उन्हें एक साथ देख जान पा रहे हैं। इतना ही नहीं, इन संसारी जीवों में एक तो तरतम भाव से ज्ञान की मात्रा अल्प ही पायी जाती है दूसरे जितनी मात्रा में इनमें ज्ञान पाया जाता है वह भी इन्द्रियादिक अन्य साधनों की अधीनता में ही हुआ करता है। एक बात और है कि ये संसारी जीव पदार्थों को देखने-जानने के पश्चात् उन जाने हुए पदार्थों में इष्टपने या अनिष्टपने की कल्पना रूप मोह किया करते हैं और तब वे इष्ट कल्पना के विषयभूत पदार्थों में प्रीतिरूप राग तथा अनिष्ट कल्पना के विषयभूत पदार्थों में अप्रीति (घृणा) रूप द्वेष सतत किया करते हैं जिसका परिणाम यह होता है कि उन्हें सतत इष्ट कल्पना के विषयभूत पदार्थों की प्राप्ति में और अनिष्ट कल्पना के विषयभूत पदार्थों की अप्राप्ति में तो हर्ष हुआ करता है तथा अनिष्ट कल्पना के विषयभूत पदार्थों की प्राप्ति में और इष्ट कल्पना के विषयभूत पदार्थों की अप्राप्ति में विषाद हुआ करता है। यदि किन्हीं-किन्हीं जीवों को इस प्रकार से हर्ष और विषाद न भी हो, तो भी ऐसे जीव भी जब शरीर की अधीनता में ही रह रहे हैं और उनका अपना शरीर भी किन्हीं दूसरे पदार्थों की अधीनता स्वीकार किये हुए है तो ऐसी स्थिति में शरीर के लिये उपयोगी आवश्यक पदार्थों की प्राप्ति व अप्राप्ति में अथवा शरीर के लिये पीडाकारक पदार्थों की अप्राप्ति व प्राप्ति में उन्हें भी क्रम से सुख व दुःख का संवेदन हुआ करता है। इसके अतिरिक्त सभी संसारी जीव अनादि काल से अभी तक कभी देव, कभी मनुष्य, कभी तिर्यंच और कभी नारक भी हुए हैं। कभी एकेन्द्रिय, कभी द्वीन्द्रिय, कभी त्रीन्द्रिय, कभी चतुरिन्द्रिय और कभी पंचेन्द्रिय भी हुए हैं। इसी तरह कभी मनरहित असंज्ञी और कभी मनसहित संज्ञी भी हुए हैं। इन्होंने कभी पृथ्वी का, कभी जल का, कभी तेज का, कभी वायु का और कभी वनस्पति का भी शरीर धारण किया है। हम यह भी देखते हैं कि एक ही श्रेणी के जीवों के शरीरों में भी परस्पर विलक्षणता पायी जाती है। साथ ही कोई जीव लोक में प्रभावशाली देखे जाते हैं और कोई जीव प्रभावहीन भी देखे जाते हैं। एक जीव में उच्चता का और एक जीव में नीचता का भी व्यवहार लोक में देखा जाता है। इसी प्रकार प्रत्येक जीव को जन्म-मरण भी धारण करना पड़ रहा है।

यह सब क्यों हो रहा है? इसका समाधान आगम-ग्रन्थों में इस प्रकार किया गया है कि प्रत्येक संसारी जीव अपने स्वतः सिद्ध जानने-देखने के स्वभाव को न छोड़ते हुए भी अनादि काल से स्वर्ण-पाषाण की तरह पौद्गलिक कर्मों के साथ सम्बद्ध (मिश्रित) यानी एकक्षेत्रावगाही रूप से एकमेकपने को प्राप्त हो रहा है।[1] ये कर्म ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय के भेद से आठ प्रकार के आगम में बतलाये गये हैं।[2] आगम में यह भी बतलाया गया है कि ज्ञानावरण कर्म का कार्य जीव की जानने की शक्ति को आवृत करना है, दर्शनावरण कर्म का कार्य जीव की देखने की शक्ति को आवृत करना है, वेदनीय कर्म का कार्य जीव को पर पदार्थों के आधार पर यथायोग्य सुख और दुःख का संवेदन कराना है, मोहनीय कर्म का कार्य जीव को पर-पदार्थों के आधार पर मोही, रागी और द्वेषी बना कर उचित-अनुचित के भेद से रहित प्रवृत्तियों में व्यवहृत कराना है, आयु कर्म का कार्य जीव को प्राप्त शरीर में सीमित काल तक रोक रखना है, नाम कर्म का कार्य जीव को मनुष्यादि रूपता प्राप्त कराना है, गोत्र कर्म का कार्य कुल, शरीर और आचरण आदि के आधार पर जीव में उच्चता-नीचता का व्यवहार कराना है और अन्तराय कर्म का कार्य जीव की स्वावलम्बन शक्ति का घात करना है।[3]

करणानुयोग की व्याख्या यह है कि इन सब प्रकार के कर्मों को जीव हमेशा अपने विकारी भावों (परिणामों)

---

१ पयडी सील सहावो जीवंगाण अणाइ संबंधो। कणयोवले मलं वा ताणत्थित्तं सयं सिद्धं ॥२॥
(गो० कर्मकाण्ड)

२ णाणस्स दंसणस्स य आवरणं वेयणीय मोहणियं। आउगणाम गोदंतरायमिदि अट्ठपयडीओ ॥८॥
(गो० कर्मकाण्ड)

३ किस कर्म का क्या कार्य है? इसकी सामान्य जानकारी के लिये गोम्मटसार कर्मकाण्ड की गाथा १० से गाथा ३३ तक देखना चाहिये।

द्वारा बांधना[1] है और तब ये कर्म जीव के साथ बंध कर उसमे सीमित काल के लिये अपनी सत्ता बना लेते है तथा अन्त मे उदय मे आकर अर्थात् जीव को अपना फलानुभव करा कर ये कर्म तो निर्जरित हो जाते है[2] लेकिन उस फलानुभवन मे प्रभावित होकर अपने मे उत्पन्न विकारी भावो द्वारा वह जीव दूसरे इसी तरह के नवीन कर्मो मे पुन बध जाता है। ये कर्म उदय मे आकर अपना फलानुभवन जिस रूप मे जीव को कराते है वह जीव का औदयिक भाव कहलाता है[3] क्योकि जीव का उस रूप भाव उस कर्म का उदय होने पर ही होता है। अन्यथा नही। कदाचित् कोई जीव अपने मे सत्ता को प्राप्त यथायोग्य किसी कर्म को अपने पुरुषार्थ द्वारा इस तरह शक्तिहीन बना देता है कि वह कर्म अपनी फलदानशक्ति को सुरक्षित रखते हुए भी जीव को एक अन्तर्मुहूर्त के लिये फल देने मे असमर्थ हो जाता है, कर्म की इस अवस्था का नाम उपशम है और इसके होने पर जीव की जो अवस्था होती है उसे जीव का औपशमिक भाव कहते है।[4] कदाचित् कोई जीव अपने पुरुषार्थ द्वारा कर्म को सर्वथा शक्तिहीन बना देता है जिससे वह कर्म उस जीव से अपना सम्बन्ध सर्वथा समूल विच्छिन्न कर लेता है। कर्म की इस अवस्था का नाम क्षय है और इसके होने पर जीव की जो अवस्था होती है उसे जीव का क्षायिक भाव कहते है।[5] इसी प्रकार कदाचित् कोई जीव अपना पुरुषार्थ इस तरह करता है कि कर्म के कुछ अश (देशघाती रूप) तो उदय रूप रहें, कुछ अश (सर्वघाती रूप) उदयाभावी क्षय रूप हो जावें और कुछ अश (सर्वघाती रूप) सदवस्था रूप उपशम की स्थिति को प्राप्त हो जावें तो इसका नाम कर्म की क्षयोपशम अवस्था है और इसके होने पर जीव की जो अवस्था होती है उसे जीव का क्षायोपशमिक भाव कहते है[6]। क्षायोपशमिक भाव का अपर नाम मिश्र भाव भी है।

इस प्रकार कहना चाहिये कि कर्मो के यथायोग्य उदय, उपशम, क्षय और क्षयोपशम होने पर जीव की अवस्थायें भी क्रमश औदयिक, औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिक रूप हो जाया करती है[7] अब इनमे यदि कारणता की व्यवस्था की जाय तो कहा जा सकता है-जीव की इन औदयिकादि अवस्थाओ की उत्पत्ति मे कर्म तो अपनी उदयादि अवस्थाओ के आधार पर व्यवहार कारण होता है और जीव स्वय निश्चय कारण है। जैसा कि नयचक्र की निम्नलिखित गाथा से स्पष्ट होता है -

"बंधे च मोक्खहेऊ अण्णो ववहारदो य णायव्वो।
णिच्छयदो पुण जीवो भणिदो खलु सव्वदरसीहिं ॥२३५॥

अर्थात् बन्ध और मोक्ष मे अन्य अर्थात् कर्म अपनी यथायोग्य उदय, उपशम, क्षय और क्षयोपशम रूप अवस्थाओ के आधार पर व्यवहार रूप से कारण होता है और जीव निश्चय रूप से कारण होता है।

यहाँ पर "कर्म व्यवहार रूप से कारण होता है" इसका अभिप्राय यह है कि कर्म निमित्त या सहायक रूप से कारण होता है और "जीव निश्चय रूप से कारण होता है" इसका अभिप्राय यह है कि जीव उपादान रूप से कारण होता है। इस प्रकार कहना चाहिये कि उक्त गाथा द्वारा कर्म से जीव के बन्ध और मोक्ष की उत्पत्ति के प्रति यथा-



---

१ जीवपरिणामहेदु कम्मत्त पुग्गला परिणमति। पुग्गलकम्मणिमित्त तहेव जीवोऽपि परिणमइ ॥८०॥ (समयसार)

२ विपाकोऽनुभव ॥८-२१॥ स यथानाम ॥८-२२॥ ततश्च निर्जरा ॥८-२३॥ (तत्त्वार्थ सूत्र)

३ कर्मणामुदयाद्य स्याद् भावो जीवस्य ससृतौ। नाम्नाप्यौदयिकोऽन्वर्थात्पर बन्धाधिकारवान् ॥२-९७॥ (पचाध्यायी)

४ कर्मणा प्रत्यनीकाना पाकस्योपशमात्स्वत। यो भाव प्राणिना स स्यादौपशमिकसज्ञक ॥२-९६८॥ (पचाध्यायी)

५ यथास्व प्रत्यनीकानां कर्मणा सर्वत क्षयात्। जातो य क्षायिको भाव शुद्ध स्वभाविकोऽस्य स ॥२-९६९॥ (पचाध्यायी)

६ यो भाव सर्वतो घातिस्पर्धकानुदयोद्भव। क्षायोपशमिक स स्यादुदयाद्देशघातिनाम् ॥२-९६६॥ (पचाध्यायी)

७ तत्रौपशमिको नाम भाव स्यात् क्षायिकोऽपि च। क्षायोपशमिकश्चेति भावोऽप्यौदयिकोऽस्तु नु ॥ ॥९६२॥ (पचाध्यायी)



योग्य उदय, उपशम, क्षय और क्षयोपशम के आधार पर निमित्त कारणता का सद्भाव सिद्ध होता है तथा जीव स्वयं में अपने उस बन्ध और मोक्ष के प्रति उपादान कारणता का सद्भाव सिद्ध होता है। इसका तात्पर्य यह है कि जब कर्म की उदय, उपशम, क्षय अथवा क्षयोपशम रूप अवस्थाएं होती है तब जीव अपनी योग्यता के अनुसार क्रमश औदयिक औपशमिक, क्षायिक अथवा क्षायोपशमिक अवस्थाओं के रूप में अपनी परिणति बना लेता है। यानी जीव इन औदयिकादि परिणतियो के रूप मे परिणत हो जाया करता है, कर्म तो अपनी उदयादि अवस्थाओ के आधार पर आत्मा की उन अवस्थाओ की उत्पत्ति मे सहायक मात्र हुआ करता है।[1] अर्थात् कर्म की कोई परिणति वहां पर जीव की परिणति बन जाती हो – ऐसी बात नही है।

"उपादीयत अनेन" इस विग्रह के आधार पर 'उप' उपसर्ग पूर्वक आदानार्थक "आ" उपसर्ग विशिष्ट 'दा' धातु से कर्ता के अर्थ मे 'ल्युट्' प्रत्यय होकर उपादान शब्द निष्पन्न हुआ है। जिसका अर्थ यह होता है कि जो कार्य रूप परिणत हो उसे उपादान कहते है।[2] इसी प्रकार "निमेद्यति" इस विग्रह के आधार पर 'नि' उपसर्ग पूर्वक स्नेहार्थक 'मिद्' धातु से कर्ता के अर्थ मे 'क्त' प्रत्यय होकर निमित्त शब्द निष्पन्न हुआ है। मित्र शब्द भी इसी स्नेहार्थक 'मिद्' धातु मे 'क्र' प्रत्यय होकर निष्पन्न हुआ है। इस तरह कहना चाहिये कि जो मित्र के समान उपादान का स्नेहन करे अर्थात् उपादान को उसकी अपनी परिणति मे मित्र के समान सहयोग प्रदान करे वह निमित्त कहलाता है।

यद्यपि यहा पर यह बात ध्यान देने योग्य है कि उपादान स्वय के कार्य रूप परिणत होने के कारण "स्वाश्रितो निश्चय"[3] इस आगमवाक्य के अनुसार उसे कार्य का निश्चय कारण मानना उचित है और कार्यरूप परिणत न होकर उपादान को उसकी अपनी कार्यरूप परिणति मे सहयोग मात्र देने के कारण "पराश्रितो व्यवहार"[4] इस आगम वाक्य के अनुसार निमित्त को कार्य का व्यवहारकारण मानना उचित है, परन्तु साथ ही यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि उपादान और निमित्त दोनो कारणो मे निश्चयकारणता और व्यवहारकारणता का अन्तर रहते हुए भी कार्य की उत्पत्ति मे दोनो ही कारण उपयोगी सिद्ध होते हैं। इसलिये जिस प्रकार उपादान कारण को निश्चय कारण के रूप मे भूतार्थ, सद्भूत, वास्तविक या सत्यार्थ कहा जाता है उसी प्रकार निमित्तकारण को भी व्यवहार कारण के रूप मे भूतार्थ, सद्भूत, वास्तविक या सत्यार्थ कहा जाना अयुक्त नही है क्योंकि जिस प्रकार उपादान का कार्यरूप परिणत होना वास्तविक है उसी प्रकार निमित्त का उपादान की कार्यरूप परिणति मे सहायक होना भी वास्तविक है। इतनी बात अवश्य है कि चूंकि निमित्त उपादान की तरह कार्यरूप परिणत नही होता अत इस दृष्टि से उसमे यदि अभूतार्थता आदि धर्मो का सद्भाव माना जाय तो यह भी असगत नही है। इस प्रकार कहना चाहिये कि उपादान चूंकि कार्यरूप परिणत होता है इसलिये सर्वथा भूतार्थ आदि है और निमित्त चूकि कार्यरूप परिणत नही होता इसलिये तो कथचित् अभूतार्थ आदि है लेकिन उपादान की कार्यरूप परिणति मे सहायक होता है अत कथचित् भूतार्थ आदि भी है। अत जो व्यक्ति निमित्त को कार्योत्पत्ति मे सर्वथा अकिंचित्कर मानकर उसे सर्वथा अभूतार्थ आदि मान लेना चाहते है उनका यह प्रयास गलत ही है।

अनुभव मे यह बात आती है कि उपादान की कार्यपरिणति मे निमित्त के सहयोग की अनिवार्य रूप मे सर्वदा अपेक्षा रहा करती है और प्रत्यक्ष देखने मे आता है कि जब तक उपादान को आवश्यकतानुसार स्वाभाविक रूप से अथवा पुरुषकृत प्रयत्न द्वारा निमित्त का सहयोग प्राप्त नही होता है तब तक उपादान कार्यरूप परिणत नही होता है। इसका अभिप्राय यह है कि निमित्त उपादान मे कार्योत्पत्ति के लिये उसकी कार्योत्पत्ति न हो सकने रूप असामर्थ्य

---

१ परिणममानस्य चितश्चिदात्मकैः स्वयमपि स्वकैर्भावैः।
भवति हि निमित्तमात्रं पौद्गलिकं कर्म तस्यापि ॥१३॥ (पुरुषार्थसिद्ध्युपाय)

२ समयसार गाथा ८६ की टीका मे आचार्य अमृतचन्द्र द्वारा "य परिणमति स कर्ता" आदि पद्यों द्वारा यही आशय व्यक्त किया गया है।

३ ४ देखो समयसार गाथा २७३ की समयसार टीका।

का नियम से भेदन करने वाला है। आगम में भी इस बात को स्पष्ट स्वीकार किया गया है कि निमित्त कार्योत्पत्ति में यदि उपादान की कार्योत्पत्ति न हो सकने रूप असामर्थ्य का भेदन नहीं करता है तो फिर उसे निमित्त कहना ही असत्य होगा।[1] इसलिये जो महानुभाव कहते हैं कि "कार्य तो उपादान स्वयं अपनी सामर्थ्य से ही उत्पन्न कर लेता है उसमें उसको निमित्त के सहयोग की बिल्कुल अपेक्षा नहीं रहा करती है, वह तो वहां पर सर्वथा अकिंचित्कर ही बना रहता है," तो उनका ऐसा कहना गलत ही है। साथ ही जो व्यक्ति व्यवहारविमूढ होकर ऐसा कहते हैं कि "निमित्त अपने रूप का समर्पण कार्य में करता है" तो उनका ऐसा कहना भी गलत है। कारण कि निमित्त यदि कार्य में अपना रूप समर्पित करने लग जाय तो फिर निमित्त में उपादान की अपेक्षा अन्तर ही क्या रह जायगा? अर्थात् ऐसी स्थिति में निमित्त स्वयं ही उपादान बन जायगा और तब उसे निमित्त कहना ही असंगत होगा। वेदान्त और चार्वाक दर्शनों में यही बात बतलायी गयी है कि वेदान्त के मतानुसार चित् से अचित् की उत्पत्ति होती है और चार्वाक के मतानुसार अचित् से चित् की उत्पत्ति होती है अर्थात् वेदान्त चित् को अचित् का और चार्वाक अचित् को चित् का उपादान कारण मानते हैं। जैनदर्शन इन दोनों ही मान्यताओं का खण्डन करता है कारण कि जैनदर्शन का यह सिद्धान्त है कि एक द्रव्य कभी दूसरे द्रव्यरूप परिणत नहीं होता और न कभी एक द्रव्य के गुणधर्म ही किसी अन्य द्रव्य में संक्रमित होते हैं।[2] लेकिन वेदान्त और चार्वाक की उक्त मान्यताओं का खण्डन करता हुआ भी जैनदर्शन चित् को अचित् की परिणति में तथा अचित् को चित् की परिणति में निमित्त कारण अवश्य मानता है।[3] यही कारण है कि आचार्य कुन्दकुन्द ने समयसार में इन दोनों बातों का विस्तार से विवेचन किया है। अर्थात् समयसार में स्थान-स्थान पर यही बात देखने को मिलती है कि उसमें जहां एक वस्तु में दूसरी वस्तु की उपादानकारणता के सद्भाव का दृढता के साथ निषेध किया गया है वहाँ उतनी ही दृढता के साथ एक वस्तु में दूसरी वस्तु की निमित्तकारणता का समर्थन भी किया गया है और यह बात हम पूर्व में स्पष्ट ही कर चुके हैं कि निमित्तकारणता उपादानकारणता के रूप में अभूतार्थ, असद्भूत, अवास्तविक और असत्यार्थ होते हुए भी स्वयं अपने रूप में तो वह भूतार्थ, सद्भूत, वास्तविक और सत्यार्थ ही है। यही कारण है कि आचार्य विद्यानन्द ने तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक में तत्त्वार्थसूत्र के प्रथम अध्याय के सूत्र ७ की व्याख्या करते हुए वार्तिक श्लोक १३ के अन्तर्गत पृष्ठ ५१ पर सहकारी (निमित्त) कारण की उपादान की कार्यपरिणति में सहकारिता रूप से पारमार्थिकता (वास्तविकता) का स्पष्ट रूप से स्वीकार किया है।[4]

यहां पर उपादान कारणता और निमित्त कारणता के स्वरूप का, उनकी क्रम से निश्चयरूपता और व्यवहाररूपता का एवं दोनों की अपने-अपने रूप में वास्तविकता का जो विश्लेषण किया गया है, उसका प्रकृत में उपयोग यह है कि जीव की पूर्वोक्त औदयिक, औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिक परिणतियों के प्रति कर्म में

---

१ तदसामर्थ्यमखण्डयदकिंचित्करं किं सहकारिकारणं स्यात्?
(आप्तमीमांसा कारिका १० की अष्टशती टीका)

२ जो जम्हि गुणे दव्वे सो अण्णम्हि दु ण संकमदि दव्वे ॥ (समयसार गाथा १०३ का पूर्वार्द्ध)

३ जीवकृतं परिणामं निमित्तमात्रं प्रपद्य पुनरन्ये। स्वयमेव परिणमन्तेऽत्र पुद्गलाः कर्मभावेन ॥१२॥
परिणममानस्य चितश्चिदात्मकैः स्वयमपि स्वकैर्भावैः।
भवति हि निमित्तमात्रं पौद्गलिकं कर्म तस्यापि ॥१३॥ (पुरुषार्थसिद्ध्युपाय)

४ जीवपरिणामहेदुं कम्मत्तं पुग्गला परिणमंति। पुग्गलकम्मणिमित्तं तहेव जीवो वि परिणमइ ॥८०॥
ण वि कुव्वइ कम्मगुणे जीवो कम्मं तहेव जीवगुणे। अण्णोण्णणिमित्तेण दु परिणामं जाण दोण्हं पि ॥८१॥
(समयसार)

५ क्रमभुवो पर्याययोरेकद्रव्यप्रत्यासत्तेरुपादानोपादेयत्वस्य वचनात् न चैवंविधः कार्यकारणभावः सिद्धान्तविरुद्धः। सहकारिकारणेन कार्यस्य कथं तत्स्यादेकद्रव्यप्रत्यासत्तेरभावादिति चेत्? कालप्रत्यासत्तिविशेषात् तत्सिद्धिः। यदनन्तरं हि यदवश्यं भवति तत्तस्य कारणमितरत्कार्यमिति प्रतीतम्। तदेव व्यवहारनयसमाश्रयणे कार्यकारणभावो द्विष्ठः सम्बन्धः संयोग-समवायादिवत् प्रतीतिसिद्धत्वात् पारमार्थिक एव, न पुनः कल्पनारोपितः सर्वथाप्यनवद्यत्वात्।





जो उदयादिक के आधार पर कारणता विद्यमान है वह तो व्यवहार रूप से अर्थात् निमित्तरूप से है और जीव स्वय मे उन औदयिकादि परिणतियो के प्रति जो कारणतायें विद्यमान हैं वह निश्चयरूप से अर्थात् उपादान रूप से है तथा साथ ही ये दोनो ही कारणतायें अपने-अपने रूप मे भूतार्थ, सद्भूत, वास्तविक और सत्यार्थ ही हैं क्योंकि जिस प्रकार उक्त औदयिकादि परिणतियो के प्रति जीव स्वय की उपादानकारणता पूर्वोक्त प्रकार से कल्पनारोपित नही है उसी प्रकार जीव की उन औदयिकादि परिणतियो के प्रति अपनी उदयादि परिणतियों के आधार पर सहयोगी होने के कारण कर्म में विद्यमान निमित्तकारणता भी कल्पनारोपित नही है। इतना अवश्य है कि चूकि उपादान कारण होने के सबब जीव ही कार्यरूप परिणत होता है इसलिये उपादान कारणता तो सर्वथा भूतार्थ आदि है, लेकिन निमित्त कारण होने के सबब चूकि कर्म स्वय कार्यरूप परिणत नही होता इसलिये तो वह कथचित् अभूतार्थ आदि है फिर भी उपादान भूत जीव की कार्यभूत औदयिकादि परिणतियो में अपनी उदयादिपरिणतियों के आधार पर सहायक अवश्य होता है अत वह सहायकपने की अपेक्षा कथचित् भूतार्थ आदि भी है।

यहा पर इतना अवश्य ध्यान रखना चाहिये कि जीव की औदयिकादि परिणतियो के प्रति जो कर्मनिष्ठ निमित्तकारणता है वह उसकी उदयादि परिणतियो को छोडकर और कुछ नहीं है अर्थात् कर्म का उदय, उपशम, क्षय और क्षयोपशम रूपसे परिणत होना ही जीव की औदयिक, औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिक परिणतियो के प्रति कर्म की क्रमश निमित्तकारणता है। ऐसा नही समझना चाहिये कि कर्म की उदयादिक परिणतिया अलग है और जीव की औदयिकादि परिणतियो के प्रति उसमें (कर्म मे) विद्यमान निमित्तकारणता अलग है। इसीलिये यदि इस तरह से विचार किया जाय तो कर्म की उदयादिक परिणतिया उसकी अपनी स्वाश्रित या स्वात्मभूत परिणतिया होने के कारण जहा "स्वाश्रितो निश्चय" इस आगमवाक्य के आधार पर उसके निश्चय धर्म हैं वहा कर्म की वे ही परिणतिया जीव की औदयिकादि परिणतियो के प्रति यथायोग्य रूप में निमित्तकारणता का रूप धारण कर लेने से "पराश्रितो व्यवहार" इस आगम वाक्य के आधार पर निमित्तकारणता के रूप मे उसके व्यवहार धर्म भी है। अब ऐसी हालत मे भी यदि निमित्तकारणता की भूतार्थता आदि के विषय मे विचार किया जाय तो यही निष्कर्ष निकलता है कि जीव की औदयिकादि परिणतियो के प्रति कर्म मे विद्यमान निमित्तकारणता जहा उस कर्म की उदयादि परिणतियो के रूप मे भूतार्थ, सद्भूत, वास्तविक या सत्यार्थ धर्म है वही उसका कर्म मे उदयादि परिणतियो से पृथक् स्वतत्र अस्तित्व न रहने के कारण वह कर्म का अभूतार्थ, असद्भूत, अवास्तविक या असत्यार्थ धर्म भी है। इस तरह से भी जीव की औदयिकादि परिणतियों के प्रति कर्मनिष्ठ निमित्तकारणता उस कर्म का कथचित् वास्तविक और कथचित् अवास्तिक धर्म ही सिद्ध होती है। गधे के सीग की तरह उसे सर्वथा अभूतार्थ आदि के रूप मे कदापि नही माना जा सकता है।

इस कथन का निचोड यह है कि जीव की जो औदयिक, औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिक रूप परिणतिया हुआ करती हैं वे सब परिणतिया जीव की अपनी ही परिणतिया हैं इसलिये जीव इन परिणतियों का उपादान कारण या निश्चय कारण होता है। साथ ही ये सभी परिणतिया क्रमश कर्म के उदय, उपशम, क्षय और क्षयोपशम के होने पर ही होती हैं इसलिये कर्म जीव की इन औदयिकादि परिणतियों का अपनी उदयादिक परिणतियो के आधार पर निमित्तकरण या व्यवहार कारण होता है। चूकि कर्म के उदयादिक के अभाव मे जीव की ये औदयिकादि परिणतिया कदापि नही होती हैं अत कर्म को जीव की इन परिणतियो मे अकिंचित्कर या निरुपयोगी मानना मिथ्या है और चूंकि कर्म की कोई परिणति कदापि जीव की परिणति नही बनती है इसलिए कर्म को जीव की औदयिकादि परिणतियो का उपादान कारण या निश्चय कारण मानना भी मिथ्या है।

इस प्रकार अब तक के विवेचन मे यह बात अच्छी तरह समझ मे आ जानी चाहिये कि चरणानुयोग के प्रकरण में मोक्षकार्य की दृष्टि से जो निश्चय मोक्ष मार्ग और व्यवहार मोक्ष मार्ग का कथन किया गया है वह कथन निश्चय और व्यवहार शब्दो के आधार पर क्रमश निश्चय मोक्ष मार्ग मे मोक्ष की साक्षात् कारणता के और व्यवहार मोक्ष मार्ग मे मोक्ष की परपरया कारणता के अस्तित्व का ही बोध कराता है। इसी प्रकार वहीं पर जो निश्चय सम्यग्दर्शन, निश्चय सम्यग्ज्ञान और निश्चय सम्यक्चारित्र का तथा व्यवहार सम्यग्दर्शन, व्यवहार सम्यग्ज्ञान, और व्यवहार

सम्यक्चारित्र का कथन किया गया है वह कथन भी निश्चय और व्यवहार शब्दों के आधार पर क्रमश निश्चय सम्यग्दर्शनादि में तो कार्यता के और व्यवहार सम्यग्दर्शनादिक मे कारणता के अस्तित्व का ही बोध कराता है । इसके अतिरिक्त करणानुयोग के प्रकरण मे जीव के बन्ध और मोक्षरूप अथवा जीव की औदयिकादि परिणति रूप कार्य की दृष्टि से जो समयसार की उपर्युक्त ३३५ वीं गाथा के अनुसार निश्चय कारण और व्यवहार कारणों के रूप मे दो कारणों का कथन किया गया है वह कथन निश्चय शब्द के आधार पर जीव स्वय मे उपादान कारणता के और व्यवहार शब्द के आधार पर कर्म मे यथायोग्य उदयादि रूप मे निमित्तकारणता के अस्तित्व का ही बोध कराता है । अब आगे हम इस विषय पर विचार करना चाहते हैं कि द्रव्यानुयोग मे निश्चय और व्यवहार शब्दो का क्या अर्थ ग्रहण किया गया है ।

द्रव्यानुयोग मे निश्चय और व्यवहार शब्दों का अर्थ

लेख के प्रारम्भ मे हमने यह भी कहा है कि द्रव्यानुयोग वह है जिसमे विश्व की सपूर्ण वस्तुओ के पृथक्-पृथक् अस्तित्व को बतलानेवाले स्वत सिद्ध स्वरूप एव उनके परिणमनो का विवेचन किया गया है । यहा प्रकृत विषय पर इसी को आधार बनाकर विचार किया जा रहा है ।

जैनागम मे बतलाया गया है कि पृथक्-पृथक् अपनी-अपनी स्वतन्त्र सद्रूपता ही वस्तु का लक्षण है । प्रत्येक वस्तु की यह सद्रूपता स्वतन्त्र तभी मानी जा सकती है जबकि वह स्वत सिद्ध हो, अत कहना चाहिये कि प्रत्येक वस्तु की अपनी-अपनी सद्रूपता स्वत सिद्ध है और जब प्रत्येक वस्तु की सद्रूपता स्वत सिद्ध है तो इस आधार पर प्रत्येक वस्तु मे निम्नलिखित चार विशेषतायें अनायास हो जाती हैं ।

प्रत्येक वस्तु अनादि है (अनादि काल से रहती आ रही है), अनिधन है (अनन्त काल तक रहने वाली है), स्वाश्रित है, (स्वावलम्बनपूर्ण है) और अखण्ड है (अपने-अपने स्वरूप के साथ तादात्म्य को लिये हुए है ।) इस विषय को पचाध्यायी मे निम्नलिखित प्रकार से स्पष्ट किया गया है-

> 'तत्त्व सल्लाक्षणिक सन्मात्र वा यत स्वत सिद्धम् ।
> तस्मादनादि-निधन स्वसहाय निर्विकल्प च ॥८॥"

इस प्रकार विश्व में अपनी-अपनी पृथक्-पृथक् स्वत सिद्ध सद्रूपता को प्राप्त सपूर्ण वस्तुओ की सख्या अनन्तानन्त है । इनमे भी जीवो की सख्या अनन्तानन्त है, पुद्गल जीवो की सख्या से भी अनन्तानन्त गुणे है, काल असख्यात है और धर्म, अधर्म तथा आकाश एक-एक है ।[1] इस प्रकार ये सभी अनन्तानन्त वस्तुयें सामान्यरूप से जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल नाम के छह द्रव्य प्रकारो मे समाविष्ट होती है ।[2]

प्रत्येक वस्तु मे अपने-अपने पृथक् पृथक् अनन्तधर्म विद्यमान हैं । इन्हे गुण या स्वभाव भी कहते हैं ।[3] वस्तु का जो एक गुण है वह उसका कभी अन्य गुण नहीं हो सकता है । इस तरह प्रत्येक वस्तु मे गुणो की सख्या अनन्त ही सिद्ध होती है ।[4]

---

१ जीवद्रव्याणि तावदनन्तानन्तानि, पुद्गलद्रव्याणि च ततोऽप्यनन्तानन्तानि-अणुस्कन्धभेदेन भिन्नानि, धर्माधर्माकाशानि त्रीणि, कालाश्चासख्येया. । (सर्वार्थसिद्धि टीका-१- ३६)

२ अजीवकाया धर्माधर्माकाशपुद्गला ॥५-१॥ द्रव्याणि ॥५-२ जीवाश्च ॥५-३॥, कालश्च ॥५-३९॥
(तत्त्वार्थसूत्र)

३ शक्तिर्लक्ष्म विशेषो धर्मो रूप गुण स्वभावश्च ।
प्रकृति शील चाकृतिरेकार्थवाचका अमी शब्दा ॥१-४८॥ (पचाध्यायी)

४ देशस्यैका शक्तिर्या काचित्सा न शक्तिरन्या स्यात् ।
क्रमतो वितर्क्यमाणा सन्त्यनन्ताश्च शक्तयो व्यक्ता ॥१-४९॥
एव य कोऽपि गुण सोऽपि च न स्यात्तदन्यरूपो वा ।
स्वयमुच्छलन्ति तदिमा मिथो विभिन्नाश्च शक्तयोऽनन्ता ॥१-५२॥ (पचाध्यायी)



प्रत्येक वस्तु और प्रत्येक वस्तु का प्रत्येक गुण परिणमन शील है[1] इस प्रकार सभी वस्तुओ की निम्न प्रकार स्थिति निश्चत होती है।

"वस्तु की आकृति (प्रदेशवत्ता रूप द्रव्यरूपता), वस्तु की प्रकृति (स्वभाववत्ता रूप गुणरूपता और वस्तु की तथा वस्तु के प्रत्येक गुण की विकृति (परिणामवत्तारूप पर्यायरूपता)।"

इस तरह कहना चाहिये कि द्रव्यानुयोग मे द्रव्यरूपता के साथ-साथ वस्तु की अनन्त द्रव्यपर्यायों तथा वस्तु के अनन्त गुणो और उन गुणो मे मे प्रत्येक गुण की अनन्तगुणपर्यायो के रूप मे वस्तु का जैनागम मे विश्लेपण किया गया है।[2]

प्रत्येक वस्तु की अपनी-अपनी उक्त प्रकार की द्रव्यरूपता और गुणरूपता दोनों ही शाश्वत (स्थायी) है तथा पर्यायरूपता समय, आवलि, मुहूर्त, घडी, दिन, सप्ताह, पक्ष, मास और वर्ष आदि के रूप मे विभक्त होकर अशाश्वत (अस्थायी) है। इस तरह प्रत्येक वस्तु को जैनागम मे सत् मानते हुए भी उस सत्ता को उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यात्मक स्वीकार किया गया है।[3] अर्थात् जैनागम मे प्रत्येक वस्तु मे द्रव्य पर्यायों और गुण पर्यायों के रूप में तो उत्पाद तथा व्यय और द्रव्यत्व और गुणत्व के रूप मे ध्रौव्य का सद्भाव स्वीकार किया गया है।

परिणमन करते हुए भी प्रत्येक वस्तु की द्रव्यरूपता, गुणरूपता और पर्यायरूपता प्रतिनियत है। अर्थात् परिणमन मे वस्तु न तो अपने अस्तित्व (सद्रूपता) को छोडती है और न ही एक वस्तु की अपनी द्रव्यरूपता, गुणरूपता तथा पर्यायरूपता कभी अन्य वस्तु की द्रव्यरूपता, गुणरूपता तथा पर्यायरूपता बन सकती है। इसका अभिप्राय यह हुआ कि परिणमन करते हुए भी वस्तु न तो कभी सर्वथा नष्ट हो सकती है और न वह कभी अन्य वस्तु रूप भी परिणमती है।

इस प्रकार जीव परिणमन करते हुए भी एक तो कभी सर्वथा नष्ट नही हो सकता है और न ही वह कभी अन्य द्रव्यरूप परिणत हो सकता है, वह हमेशा से जीव ही रहा आया है, जीव ही है और जीव ही रहेगा। यही व्यवस्था पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल इन सभी द्रव्यो मे समझना चाहिये। इतना ही नही, एक जीव कभी दूसरे

---

१ वस्त्वस्ति स्वत सिद्ध यथा तथा तत्स्वतश्च परिणामि। (पचाध्यायी १-८९ का पूर्वार्द्ध)
वस्तु यथा परिणामि तथैव परिणामिनो गुणाश्चापि। (पचाध्यायी १-११२ पूर्वार्द्ध)

२ अत्थो खलु दव्वमयो दव्वाणि गुणप्पगाणि भणिदाणि। तेहिं पुणो पज्जाया पज्जयमूढा हि परसमया ॥१॥
(प्रवचनसार ज्ञेयतत्वाधिकार)
इह हि किल य कश्चन परिच्छिद्यमान पदार्थ स सर्व एव विस्तारायतसामान्यसमुदायात्मना द्रव्येणाभिनिर्वृत्तत्वाद् द्रव्यमय । द्रव्याणि तु पुनरेकाश्रयविस्तारायतविशेषात्मकैर्गुणैरभिनिर्वृत्तत्वात्-गुणात्मकानि । पर्यायास्तु पुनरायतविशेषात्मका उक्तलक्षणैर्द्रव्यैरपि गुणैरप्यभिनिर्वृत्तत्वाद् द्रव्यात्मका अपि गुणात्मका अपि ।
(प्रवचनसार ज्ञेयतत्वाधिकार गाथा १ की टीका मे आचार्य अमृतचन्द्र)

३ सद् द्रव्यलक्षणम् ॥५-२९॥ उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्त सत् ॥५-३०॥ (तत्वार्थसूत्र)
वस्त्वस्ति स्वत सिद्ध यथा तथा तत्स्वतश्च परिणामि।
तस्मादुत्पादस्थितिभगमय तत्सदेतदिह नियमात् ॥१-८९॥
जैनाना मतमेतन्नित्यानित्यात्मक यथा वस्तु।
ज्ञेयास्तथा गुणा अपि नित्यानित्यात्मकास्तदेकत्वात् ॥१-१०८॥
ज्ञान परिणमति यथा घटस्य चाकारत पटाकृत्या।
किं ज्ञानत्व नष्ट न नष्टमिति चेत्कथ न नित्य स्यात् ॥१-११०॥
वस्तु यथा परिणामि तथैव परिणामिनो गुणाश्चापि।
तस्मादुत्पादव्ययद्वयमपि भवति हि गुणाना तु ॥१-११२॥ (पचाध्यायी)

जीव रूप परिणत नहीं होता, एक पुद्गलाणु कभी दूसरा पुद्गलाणु नहीं बनता और एक कालाणु कभी दूसरा कालाणु नहीं हो जाता। इतना अवश्य है कि सभी वस्तुयें यथायोग्य एक-दूसरी वस्तु के साथ संयुक्त होकर ही रह रही है।[1] इसके अतिरिक्त जीवों और पुद्गलों में ऐसी स्वतःसिद्ध (स्वाभाविक) वैभाविकी शक्ति नाम की विशेषता विद्यमान है[2] कि जिसके आधार पर सभी जीव अनादि काल से यथायोग्य पुद्गलों के साथ संबद्ध (मिश्रित) यानी एक क्षेत्रावगाही रूप में एकमेकपने को प्राप्त रहे हैं। उनमें से बहुत से जीवों ने यद्यपि पुद्गलों के साथ विद्यमान अपनी अनादिकालीन इस बद्धता (मिश्रण) को समाप्त कर दिया है, परन्तु उनसे अनन्तगुणे जीव अभी भी उसी बद्धावस्था में रह रहे हैं।[3] बहुत से पुद्गल अपने में विद्यमान उपर्युक्त वैभाविकी शक्ति के आधार पर अनादिकाल से जीवों के साथ तो सम्बद्ध हो ही रहे हैं, साथ ही बहुत से पुद्गल एक-दूसरे पुद्गलों के साथ भी इसी तरह सम्बद्ध होकर रह रहे हैं।

जिन जीवों ने पुद्गलों के साथ अनादिकाल से विद्यमान अपनी बद्धस्थिति को समूल समाप्त कर दिया है वे अब कभी पुनः पुद्गलों के साथ बद्ध नहीं होंगे परन्तु पुद्गल एक बार जीव के साथ अथवा अन्य पुद्गलों के साथ विद्यमान अपनी बद्धस्थिति को समूल समाप्त करके भी पुनः उस योग्य बन जाया करते हैं। यही कारण है कि वे यथायोग्य जीवों, पुद्गलाणुओं और पुद्गल स्कन्धों के साथ हमेशा ही बँधते और बिछुड़ते रहते हैं।

जिस प्रकार वस्तु परिणमन करते हुए भी कभी अपने द्रव्यत्व को नष्ट नहीं होने देती है और न कभी अन्य द्रव्यरूप ही परिणत होती है, इसी प्रकार प्रत्येक वस्तु का प्रत्येक गुण परिणमन करते हुए भी न तो अपने गुणत्व को कभी सर्वथा नष्ट होने देता है और न वह कभी उस वस्तु के अन्य गुण रूप अथवा अन्य वस्तु के गुण रूप ही परिणत हो सकता है। इसी प्रकार प्रत्येक वस्तु की अथवा प्रत्येक वस्तु के प्रत्येक गुण की प्रत्येक पर्याय यद्यपि उत्पाद और व्यय रूपता को धारण किये हुए है परन्तु इन सभी पर्यायों में भी यह व्यवस्था बनी हुई है कि एक वस्तु की कोई भी पर्याय केवल उसी वस्तु की पर्याय होती है व एक गुण की भी कोई पर्याय केवल उसी गुण की पर्याय होती है। इस प्रकार कहना चाहिये कि प्रत्येक वस्तु की द्रव्यरूपता, गुणरूपता और पर्यायरूपता ये तीनों ही उपर्युक्त प्रकार से सतत प्रतिनियतता को ही धारण किये हुए हैं।[4]

प्रत्येक वस्तु में यथासंभव जो भी द्रव्यपरिणमन होते हैं वे सभी नियम से स्वपर-प्रत्यय ही हुआ करते हैं लेकिन प्रत्येक वस्तु में जो गुणपरिणमन होते हैं उनमें से कुछ तो स्वप्रत्यय होते हैं और कुछ स्वपरप्रत्यय होते हैं। इस प्रकार सामान्यरूप से यह बात निश्चित हो जाती है कि परिणमन दो प्रकार से होते हैं। उनमें से एक प्रकार तो

---

१ सर्वत्रापि धर्माधर्माकाशकालपुद्गलजीवद्रव्यात्मनि लोके ये यावन्तः केचनाप्यर्थास्ते सर्व एव स्वकीयद्रव्यान्तर्मग्नानन्तस्वधर्मचक्रचुम्बिनोऽपि परस्परमचुम्बिनोऽत्यन्तप्रत्यासत्तावपि नित्यमेव स्वरूपादापतन्तः पररूपेणापरिणमनादविनष्टानन्तव्यक्तित्वात्टंकोत्कीर्णा इव तिष्ठन्तः समस्तविरुद्धाविरुद्धकार्यहेतुतया शश्वदेव विश्वमनुगृह्णन्तो नियतमेकत्वनिश्चयगतत्वेनैव सौन्दर्यमापद्यन्ते (प्रकारान्तरेण सर्वसंकरादिदोषापत्तेः।

(समयसार गाथा ३ की टीका में आचार्य अमृतचन्द्र)

अण्णोण्णं पविसंता दिंता ओगासमण्णमण्णस्स।
मेलंता वि य णिच्चं सगसगभावं ण विजहंति ॥७॥ (पंचास्तिकाय)

२ अयस्कान्तोपलाकृष्ट-सूचीवत्तद्द्वयोः पृथक्।
अस्ति वैभाविकी शक्तिर्मिथो बन्धाधिकारिणी ॥२-४५॥ (पंचाध्यायी)

३ एगणिगोदसरीरे जीवा दव्वप्पमाणदो दिट्ठा।
सिद्धेहिं अणंतगुणा सव्वेण वितीदकालेण ॥१९५॥ (जीवकाण्ड)

४ जो जम्हि गुणे दव्वे सो अण्णम्हि ण संकमदि दव्वे। (समयसार गाथा १०३ का पूर्वार्द्ध)
ण वि परिणमइ गिह्णइ उप्पज्जइ ण परदव्वपज्जाए। णाणी जाणंतो वि हु पुग्गलकम्मं अणेयविहं ॥७६॥
इसके आगे गाथा ७७, ७८ और ७९ में भी यह बात देखें—(समयसार)





स्वप्रत्यय का है और दूसरा प्रकार स्वपरप्रत्यय का है।[1] यह बात निश्चित ही समझना चाहिये कि वस्तु का कोई भी द्रव्यपरिणमन अथवा गुणपरिणमन परप्रत्यय नहीं होता है।[2]

प्रत्येक वस्तु में जो गुण का परिणमन उस वस्तु की अपनी परिणमन शक्ति के आधार पर पर की अपेक्षा के बिना ही केवल स्वतः होता है वह स्वप्रत्यय परिणमन कहलाता है और प्रत्येक वस्तु में जो द्रव्य या गुण का परिणमन उस वस्तु की अपनी परिणमन शक्ति के आधार पर पर वस्तु का सहयोग मिलने पर होता है वह स्वपरप्रत्यय परिणमन कहलाता है।

प्रत्येक वस्तु के अगुरुलघु गुण के अविभागप्रतिच्छेदों में अनन्त भाग हानि, असंख्यात भाग हानि, संख्यात भाग हानि, संख्यात गुण हानि, असंख्यात गुण हानि और अनन्त गुण हानि के रूप में तथा इसके अनन्तर अनन्त भागवृद्धि, असंख्यात भागवृद्धि, संख्यात भाग वृद्धि, संख्यात गुणवृद्धि, असंख्यात गुणवृद्धि और अनन्त गुणवृद्धि इस प्रकार षट्स्थानपतित हानि और वृद्धिरूप में जो परिणमन समय-समय के विभागपूर्वक सतत हुआ करता है इसे तो स्वप्रत्यय[3] परिणमन जानना चाहिये। इसके अलावा प्रत्येक वस्तु में होने वाले शेष सभी गुणपरिणमन और सभी द्रव्यपरिणमन स्वपरप्रत्यय[4] ही हुआ करते हैं। ये सभी परिणमन यथायोग्य व्यवहार काल के समय, आवली, घड़ी, मुहूर्त, दिन, सप्ताह, पक्ष, मास और वर्ष आदि विभागों में विभक्त किये जा सकते हैं।

यद्यपि वेदान्त और चार्वाक जैसे दर्शनों में पर प्रत्यय परिणमनों को भी स्वीकार किया गया है जैसा पूर्व में हम बतला आये हैं कि वेदान्त दर्शन में चित् को अचित् का उपादान मान लिया गया है और चार्वाक दर्शन में अचित् को चित् का उपादान मान लिया गया है परन्तु जैनदर्शन में चूंकि पर-प्रत्यय परिणमन का सर्वथा निषेध कर दिया गया है और जो अनुभव सिद्ध भी है इसलिये वस्तु में पर प्रत्यय परिणमन मानने वाले वेदान्त आदि दर्शनों की इन मान्यताओं का वहां पर (जैनदर्शन में) खण्डन किया गया है और यही कारण है जैन मान्यता के अनुसार जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल द्रव्यों की जितनी संख्या विश्व में निर्धारित की गयी है वह नियत है उसमें कभी घटा-बढ़ी नहीं हो सकती है।

प्रत्येक वस्तु के अगुरुलघु गुण के अविभागप्रतिच्छेदों के आधार पर होने वाले षट्स्थानपतित हानि-वृद्धि-रूप स्वप्रत्यय गुण परिणमनों का संकेत ऊपर हम कर चुके हैं। वस्तु के स्वपरप्रत्यय द्रव्यपरिणमनों और गुणपरिणमनों का विवरण निम्न प्रकार जानना चाहिये।

जीव का शरीर के छोटे-बड़े आकार के अनुसार जो छोटा-बड़ा आकार यथा समय बनता रहता है तथा जीव की नर-नारकादि पर्यायों के रूप में पर्यायें बनती रहती हैं ये सभी या इसी प्रकार के प्रत्येक वस्तु में अन्य वस्तु के यथायोग्य संयोग या मिश्रण से होने वाले सभी द्रव्यपरिणाम स्वपर प्रत्यय द्रव्यपरिणमन कहलाते हैं। इसी प्रकार आत्मा

---

1 द्विविध उत्पाद स्वनिमित्त परप्रत्ययश्च। (सर्वार्थसिद्धि टीका ५-२)
नोट—यहां पर पर-प्रत्यय से तात्पर्य स्वपरप्रत्यय का ही आगमानुसार ग्रहण किया गया है।

2 देखो समयसार गाथा ११६ से १२० व १२१ से १२५ तक

3 स्वनिमित्तस्तावदनन्तानामगुरुलघुगुणानामागमप्रामाण्यादभ्युपगम्यमानानां षट्स्थानपतितया वृद्धया हान्या च प्रवर्तमानानां स्वभावादेतेषामुत्पादो व्ययश्च। (सर्वार्थसिद्धि ५-७)

4 स्वश्च परश्च स्वपरौ, स्वपरौ प्रत्ययौ ययोस्तौ स्वपरप्रत्ययौ। उत्पादश्च विगमश्च उत्पादविगमौ, स्वपरप्रत्ययौ उत्पादविगमौ येषां ते स्वपरप्रत्ययोत्पादविगमाः। के पुनस्ते? पर्यायाः। द्रव्यक्षेत्रकालभावलक्षणो बाह्य प्रत्ययः तस्मिन् सत्यपि स्वयमतत्परिणामोऽर्थो न पर्यायान्तरमास्कन्दति। तत्समर्थश्च स्व प्रत्ययः। तावुभौ सम्भूय भावानामुत्पादविगमयोर्हेतू भवत, नान्यतरापाये, कुशूलस्थमाष पच्यमानोत्कस्थघोटकमाषवत्।
(तत्वार्थराजवार्तिक ५-२)

की ज्ञानशक्ति का पदार्थ को जानने रूप परिणमन आत्मा की उस ज्ञानशक्ति मे विद्यमान परिणमन करने की योग्यता के आधार पर उस उस पदार्थ का योग मिलने पर ही हुआ करता है। यह आत्म-वस्तु का स्वपरप्रत्यय गुणपरिणमन है। इसी प्रकार सर्वत्र जानना चाहिये।

आत्मा की ज्ञानशक्ति के पदार्थ को जानने रूप परिणमन मे पदार्थ तो सर्वत्र कारण होता है। वह ज्ञानशक्ति चाहे मतिज्ञानरूप हो अथवा चाहे श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान या केवलज्ञानरूप हो। अर्थात् इन पाचो ज्ञानो में से कोई भी ज्ञान पदार्थ के अभाव मे कदापि पदार्थज्ञान रूप परिणमन नहीं कर सकता है। यही कारण है केवलज्ञान की शक्ति विश्व मे विद्यमान सभी पदार्थो से अनन्तगुणी[1] होकर भी सर्वज्ञ उसके द्वारा केवल उन्ही पदार्थो को जानता है जो अपनी सद्रूपता को धारण किये हुए है। इसका अभिप्राय यही है कि बिना पदार्थ का सहयोग मिले केवलज्ञान का परिणमन पदार्थ को जानने रूप नहीं हो सकता है। इस प्रकार केवलज्ञानशक्ति का पदार्थज्ञान रूप परिणमन पदार्थाधीन ही सिद्ध होता है। मतिज्ञान, और श्रुतज्ञान तो पदार्थ के साथ-साथ यथायोग्य पाच पौद्गलिक इन्द्रियो तथा छठे मन की सहायता से ही उत्पन्न हुआ करते है। इस प्रकार यह बात सिद्ध हो जाती है कि आत्मा की ज्ञानशक्ति के पदार्थ को जानने रूप परिणमन मे स्वगत योग्यता के साथ-साथ पदार्थो तथा आवश्यकतानुसार इन्द्रियो और मन की कारणता भी रहा करती है। इतना ही नहीं, मतिज्ञान मे प्रकाश भी यथायोग्य कारण हुआ करता है और श्रुतज्ञान मे शब्द भी कारण हुआ करते हैं।

यहाँ पर विचारणीय बात यह है कि पदार्थज्ञानरूप परिणमन मे आत्मा की ज्ञानशक्ति मे रहने वाली कारणता भिन्न प्रकार की है, पदार्थो मे रहने वाली कारणता भिन्न प्रकार की है तथा इन्द्रियों मे, मन मे और प्रकाश मे रहने वाली कारणता भिन्न-भिन्न प्रकार की है। इसी तरह श्रुतज्ञान मे शब्द की कारणता भी भिन्न प्रकार की है। अर्थात् आत्मा की ज्ञानशक्ति की जो कारणता है वह उपादानरूप है क्योंकि वह ज्ञानशक्ति ही पदार्थज्ञानरूप परिणत होती है। पदार्थो मे, मन मे, इन्द्रियो मे, प्रकाश मे और शब्द मे जो कारणता है वह निमित्त रूप है क्योंकि ये सब स्वयं पदार्थज्ञानरूप परिणमन न करते हुए आत्मा की ज्ञानशक्ति के पदार्थज्ञानरूप परिणमन मे सहायक होते हैं। इनमे भी आत्मा की ज्ञानशक्ति के पदार्थज्ञानरूप परिणमन मे पदार्थ अवलम्बन रूप मे निमित्त होता है अर्थात् पदार्थ जब आत्मप्रदेशो पर दर्पण की तरह प्रतिबिम्बित होता है तभी आत्मा की ज्ञानशक्ति का पदार्थज्ञानरूप परिणमन होता है, अन्यथा नहीं। इन्द्रिया और मन करणरूप मे निमित्त होते है। प्रकाश की विद्यमानता ही निमित्त हुआ करती है। श्रुतज्ञान मे शब्द श्रवणपूर्वक निमित्त होते हैं।

पूर्व मे हम इस बात का कथन कर आये है कि कार्य के प्रति कार्य से अभिन्न वस्तु मे विद्यमान उपादान-कारणता स्वाश्रित धर्म होने के कारण "स्वाश्रितो निश्चय" इस आगमवाक्य के अनुसार निश्चय रूप है और उसी कार्य के प्रति कार्य से भिन्न वस्तु मे विद्यमान निमित्तकारणता "पराश्रितो व्यवहार" इस आगमवाक्य के अनुसार व्यवहार रूप है।

पूर्व मे हम यह भी कह आये हैं कि जिसमे निश्चयरूपता रहा करती है वह सर्वथा वास्तविक, भूतार्थ, सद्भूत या सत्यार्थ हुआ करता है और जिसमे व्यवहाररूपता रहा करती है वह कथंचित् वास्तविक आदि होता है और कथंचित् अवास्तविक आदि भी होता है। इस प्रकार उपादान कारण चूंकि निश्चय रूप कारण है इसलिये उसे सर्वथा वास्तविक होना ही चाहिये और यह सर्वथा वास्तविकता उपादान कारण मे इस तरह सिद्ध होती है कि कार्य जब तक

१ तिविह जहण्णाणंत वग्ग सला दल छिदीमणादिपद। जीवो पोग्गल काला सेढी आगास तप्पदर ॥६९॥
धम्माधम्मागुरुलघु इगजीवस्सागुरुलघुस्स होंति तदो। सुहमाणि अपुण्णणाणे अवरे अविभागपडिच्छेदा ॥७०॥
अवरा खाइय लद्धी वग्गसलागा तदो सगद्धछिदी। अट्ठसग छप्पण सुरिय तदिय विदियादि मूल च ॥७१॥
सइयादिमूल वग्गे केवलमत पमाणजेट्ठमेण। वर खइय लद्धिणाम सवग्ग सला हवे ठाणं ॥७२॥
(त्रिलोकसार द्विरूपवर्गधारा प्रकरण)





रहता है तब तक कार्य मे उपादान की अपेक्षा रहा करती है, इसलिये वह सर्वथा वास्तविक आदि है लेकिन निमित्त की अपेक्षा तभी तक रहती है जब तक कार्य उत्पन्न नहीं हो जाता। कार्य के उत्पन्न हो जाने पर निमित्त की अपेक्षा समाप्त हो जाती है अतः जब तक कार्य मे उसकी अपेक्षा है तब तक निमित्त का उस अपेक्षा के रूप मे वास्तविक ही कहा जायगा और कार्य के उत्पन्न होने पर चूँकि उसकी अपेक्षा समाप्त हो जाती है अतः तब उसे इस दृष्टि से अवास्तविक ही कहा जायगा। दूसरी बात यह है कि निमित्त तो कार्योत्पत्ति मे सहायक ही होता है अतः इस दृष्टि से तो वह वास्तविक ही होगा और चूँकि वह कार्यरूप परिणत नहीं होता अतः इस दृष्टि से वह अवास्तविक ही होगा, यह हम पूर्व मे स्पष्ट कर ही चुके है।

इस तरह उपादान मे तो सर्वथा वास्तविकता और निमित्त मे कथचित् वास्तविकता तथा कथचित् अवास्तविकता रहने के कारण उपादान तो कार्य मे निश्चयकारण होता है और निमित्त व्यवहार होता है।

इसी प्रकार प्रत्येक वस्तु मे जो अनन्त धर्म विद्यमान है उनमे से प्रत्येक धर्म की सत्ता उस वस्तु मे अपने अपने विरोधी धर्म की असत्ता के साथ ही रहा करती है। जैसे 'आत्मा चित् है" इसमे जिस प्रकार आत्मा मे चित्स्वरूप का सद्भाव सिद्ध होता है उसी प्रकार उसमे अचिद्रूपता का अभाव भी सिद्ध होता है। अतः कहना चाहिये कि आत्मा मे चिद्रूपता का सद्भाव और अचिद्रूपता का अभाव इन दोनो धर्मो मे से चिद्रूपता का सद्भाव आत्मा का स्वरूपपरक धर्म होने से स्वाश्रित धर्म होने के कारण निश्चय धर्म है व अचिद्रूपता का अभाव स्वरूपपरक धर्म न होने से पराश्रित धर्म होने के कारण व्यवहार धर्म है। ये दोनो ही भावात्मक और अभावात्मक धर्म आत्मा मे अपनी-अपनी सत्ता जमाकर बैठे है। यही कारण है कि जैनागम मे यह सिद्धान्त स्वीकार किया गया है कि प्रत्येक वस्तु मे प्रत्येक प्रकार की सत्ता अपनी प्रतिपक्षभूत असत्ता के साथ ही रहती है।[1] यदि ऐसा नहीं माना जायगा अर्थात् आत्मा मे चिद्रूपता के सद्भाव के साथ अचिद्रूपता का अभाव नही माना जायगा तो फिर चिद्रूप आत्मा का अचिद्रूप पुद्गलादि द्रव्यो से साथ वास्तविक भेद सिद्ध नहीं हो सकेगा। इसलिये जिस प्रकार आत्मा मे चिद्रूपता का सद्भाव वास्तविक है इसी प्रकार उसमे अचिद्रूपता का अभाव भी वास्तविक ही है। इतनी बात अवश्य है कि चिद्रूपता का सद्भाव अपनी स्वाश्रयता के कारण जहाँ सर्वथा वास्तविक है वहा अचिद्रूपता का अभाव पराश्रयता के कारण कथचित् वास्तविक है और कथचित् अवास्तविक भी है। इसका कारण यह है कि जिस प्रकार आत्मा मे चिद्रूपता का सद्भाव एक और अखण्ड धर्म है उस प्रकार अचिद्रूपता का अभाव एक और अखण्ड धर्म नही है, क्योकि पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल इन सभी अचिद्रूप वस्तुओ की अचिद्रूपता भिन्न-भिन्न है। इसलिये इनमे से प्रत्येक की अचिद्रूपता का अभाव भी आत्मा मे भिन्न-भिन्न ही होगा। इस तरह आत्मा मे नाना अचिद्रूपताओ के अभाव भी नाना सिद्ध हो जाते है और तब अचिद्रूपता भी सखण्ड व नानारूप सिद्ध हो जाती है। नानारूपता और खण्डरूपता को व्यवहार धर्म व एकरूपता और अखण्डरूपता को निश्चय धर्म इन दोनो शब्दो की व्युत्पत्ति के आधार पर हम पूर्व मे प्रतिपादित कर ही चुके है।

भावरूपता को निश्चय शब्द का प्रतिपाद्य और अभावरूपता को व्यवहार शब्द का प्रतिपाद्य मानने मे एक कारण यह भी है कि प्रत्येक वस्तु का भावरूप धर्म अपने वैशिष्ट्य के कारण उस वस्तु की स्वतन्त्रता का निर्णायक होता है, अभावरूप धर्म नही। इसका कारण यह है कि अभावरूप धर्म तो नाना वस्तुओ मे भी समानता लिये हुये पाये जाते है। जैसे जीव मे पुद्गलद्रव्य-अचिद्रूपता का जैसा अभाव है वैसा ही पुद्गलद्रव्य की अचिद्रूपता का अभाव आकाशादि वस्तुओ मे भी है अन्यथा आकाशादि वस्तुओ से पुद्गलद्रव्य से भेद करना असभव हो जायगा। अथवा यो कहे कि पुद्गलादि अचिद्रूप वस्तुओ की अचिद्रूपता का जैसे अभाव एक जीव मे है वैसा ही अभाव अन्य जीवो मे भी है तो इस तरह नाना जीवो मे परस्पर पार्थक्य सिद्ध करना असभव हो जायगा। इसलिये मानना पडता है कि प्रत्येक वस्तु का भावरूप धर्म ही उस वस्तु की स्वतन्त्रता का निर्णायक होता है अभावरूप धर्म नहीं। इस तरह भावरूप धर्म को निश्चय धर्म तथा अभावरूप धर्म का व्यवहार धर्म कहना ही उचित है।

---

१ किंचैवम्भूतापि च सत्ता न स्यान्निरकुशा किन्तु। सप्रतिपक्षा भवति हि स्वप्रतिपक्षेण नेतरेणेह ॥१-१५॥ (पचाध्यायी)

अनन्तानन्त जीवो, अनन्तानन्त पुद्गलों, असंख्यात कालद्रव्यों तथा एक धर्म, एक अधर्म और एक आकाश इन सबका अपना-अपना पृथक्-पृथक् भावरूप धर्म ही इन सब वस्तुओं के पृथक्-पृथक् अस्तित्व को सुरक्षित रक्खे हुए है। अन्यथा जीवों की अनन्तता, पुद्गलों की अनन्तता और कालद्रव्यों की असंख्यातता भंग हो जायगी। इतना ही नहीं, सम्पूर्ण वस्तुओं में एकत्व का प्रस्थापन हो कर संपूर्ण जगत् अद्वैतता के सांचे में ढल जायगा। एक बात और है। अभाव को जैनदर्शन में भावान्तर स्वभाव माना गया है, भाव को अभावान्तर स्वभाव नहीं। इसका भी कारण यह है कि सत्तात्मक (भावात्मक) धर्म के आधार पर ही वस्तु की स्वतन्त्रता का भान हो सकता है असत्तात्मक (अभावात्मक) धर्म वस्तु की स्वतन्त्रता का भान कराने में कदापि सहायक नहीं हो सकता है। ये सब कारण हैं जिनके आधार पर हमें प्रत्येक वस्तु के भावात्मक धर्म को निश्चय धर्म और अभावात्मक धर्म को व्यवहार धर्म ही स्वीकार करना पड़ता है। यह सब निश्चय और व्यवहार की व्यवस्था वस्तु के नित्यत्व-अनित्यत्व, तत्त्व-अतत्त्व, अभेद-भेद, एकत्व अनेकत्व आदि वस्तु धर्मों के विषय में भी समझ लेना चाहिये। इस विषय को पंचाध्यायी ग्रन्थ में अध्याय प्रथम के श्लोक १५ से श्लोक २२ तक विस्तार से स्पष्ट किया है।

ऊपर के कथन से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि जिस प्रकार वस्तु के निश्चय धर्म को निश्चय रूप से अर्थात् सर्वथा रूप से वास्तविक माना जाता है उसी प्रकार वस्तु के व्यवहारधर्म को व्यवहाररूप से अर्थात् कथंचित् रूप से वास्तविक मानना ही उचित है। गधे के सींग की तरह सर्वथा अवास्तविक, कल्पित या मिथ्या मानना उचित नहीं है।

इन सब निश्चय-व्यवहार धर्मों के अलावा भी यदि निश्चय-व्यवहार धर्मों के विषय में विचार किया जाय तो कहा जा सकता है कि जहां द्रव्यानुयोग की दृष्टि से उपर्युक्त प्रकार से विधिरूप धर्म और निषेधरूप धर्म व्यवहार-धर्म माना जाता है वहां करणानुयोग की दृष्टि से निषेधरूप धर्म निश्चयधर्म और विधिरूप धर्म व्यवहारधर्म कहा जाने योग्य है। जैसे मुक्ति संसार का अभाव रूप धर्म है लेकिन पराश्रितता का अभावरूप धर्म होकर भी आत्मा की स्वतंत्रतारूप स्वाश्रयता का बोधक होने से निश्चय धर्म है तथा संसार आत्मा की परतन्त्रतारूप पराश्रितता का बोधक होने के कारण भावरूप धर्म होकर भी व्यवहार है। इसी प्रकार उद्देश्यरूपता-विधेयरूपता, कार्यरूपता-कारणरूपता, साध्यरूपता-साधनरूपता आदि परस्पर विरोधी धर्मयुगलों में भी निश्चय और व्यवहार की व्यवस्था बैठा लेना चाहिये। लब्धि और उपयोग, स्वभाव और विभाव, द्रव्य और पर्याय, गुण और पर्याय, अन्वय और व्यतिरेक, अन्तरंग और बाह्य आदि के विकल्पों में भी पूर्व-पूर्व का धर्म निश्चयरूप और उत्तर-उत्तर का धर्म व्यवहाररूप ही होता है। किस धर्म को वस्तु का निश्चयधर्म माना जाय और किस धर्म को वस्तु का व्यवहारधर्म माना जाय, इसका निर्णय हमें सर्वत्र निश्चय और व्यवहार शब्दों के व्युत्पत्त्यर्थों के आधार पर प्रकरणानुसार ही कर लेना चाहिये। लेकिन सर्वत्र इस बात का ध्यान रखना ही चाहिये कि वे तो निश्चय धर्म हैं जो अपने-अपने ढंग से सर्वथा वास्तविक हैं और वे ही व्यवहार धर्म हैं जो अपने-अपने ढंग से कथंचित् वास्तविक और कथंचित् अवास्तविक हैं। इस तरह जो भी सर्वथा अवास्तविक धर्म हो उसे व्यवहारधर्म कहना असंगत, मिथ्या या कल्पनारूप ही है। इसीलिये जो व्यक्ति सर्वथा अवास्तविक धर्मों को ही व्यवहार धर्म के रूप में समझ बैठे हैं वे महान् भ्रम के शिकार हो रहे हैं। इसी तरह जिन लोगों ने व्यवहारधर्म को भी सर्वथा वास्तविक धर्म मान रखा है वे भी महान् भ्रम के शिकार हो रहे हैं।

लोक में भी व्यवहारधर्म को कथंचित् वास्तविक मानना अत्यन्त आवश्यक है। जैसे "यह शरीर मेरा है" 'यह मकान मेरा है", "यह द्रव्य मेरा है", "ये मेरे स्वजन हैं", "मैं अमुक समाज का व्यक्ति हूं" और "अमुक ग्राम या देश का रहने वाला हूं" इत्यादि व्यवहार यदि सर्वथा अवास्तविक ही हैं तो लोक की और अध्यात्म की संपूर्ण व्यवस्था ही छिन्न-भिन्न हो जायगी क्योंकि फिर तो सर्वत्र अराजकता फैल जायगी व अधार्मिकता का ही बोलबाला हो जायगा। विवेकी पुरुषों की तो कल्पना करके रूह कांपने लग सकती है।



यहां पर यह भी ध्यान रखना चाहिये-एक स्थान पर वस्तु का जो व्यवहारधर्म है वह दूसरे स्थान पर निश्चयधर्म हो सकता है परन्तु ऐसे भी निश्चयधर्म होते हैं जो सर्वथा निश्चय होकर ही रहते हैं जैसे पुद्गलाणुओं के मिश्रण से बनी हुई मिट्टीरूप स्कन्धपर्याय व्यवहारधर्म है परन्तु वही मिट्टी घटोत्पत्ति में निश्चयरूपता को प्राप्त



हो जाती है। यही कारण है कि मिट्टी रूप स्कन्धपर्याय को द्रव्य के रूप में यदि कहा जाय तो वह अशुद्ध द्रव्य ही कहा जायगा। इस तरह केवल अणुरूप पुद्गल द्रव्य ही ऐसा है जिसे एकान्त (सर्वथा) वास्तविक या शुद्ध द्रव्य कहा जा सकता है। यह व्यवस्था सर्वत्र लागू कर लेना चाहिये।

इस तरह हम पुन कह देना चाहते हैं कि सर्वथा वास्तविकता का होना निश्चय की कसौटी है, कथंचित् वास्तविकता और कथंचित् अवास्तविकता का होना व्यवहार की कसौटी है तथा सर्वथा अवास्तविकता का होना मिथ्या-रूपता की कसौटी है।

विषय का उपसहार

अध्यात्म के प्रकरण मे जो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूप मोक्षमार्ग का विवेचन किया गया है और उसमे जो निश्चयसम्यग्दर्शन निश्चयसम्यग्ज्ञान और निश्चयसम्यक्चारित्र को निश्चयमोक्षमार्ग तथा व्यवहारसम्य-ग्दर्शन, व्यवहारसम्यग्ज्ञान और व्यवहारसम्यक्चारित्र को व्यवहारमोक्षमार्ग कहा गया है, इनके विषय मे इस तरह निश्चय-व्यवहार का विभाजन करना चाहिये कि किस मे किस तरह से स्वाश्रयता या अभेदरूपता पायी जाती है और किसमे किस तरह से पराश्रयता या भेदरूपता पायी जाती है। इस प्रकार यह निर्णीत होता है कि औपशमिक सम्यग्दर्शन और क्षायिक सम्यग्दर्शन तथा औपशमिक सम्यक्चारित्र और क्षायिक सम्यक् चारित्र ये सभी निश्चयधर्म की कोटि मे आते हैं। यह बात दूसरी है कि औपशमिक सम्यग्दर्शन और औपशमिक सम्यक्चारित्र अशाश्वत (अन्तर्मुहूर्तस्थायी) है जबकि क्षायिक सम्यग्-दर्शन और क्षायिक सम्यक्चारित्र शाश्वत (स्थायी) हैं। इन सब को निश्चयधर्म इसलिये कहा जाता है कि ये सभी उस-उस कर्म के उपशम या क्षय से उत्पन्न होने के कारण सर्वथा आत्माश्रित धर्म सिद्ध होते हैं। क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन और क्षायोपशमिक सम्यक्चारित्र ये दोनो व्यवहारधर्म की कोटि मे आते हैं। इनको व्यवहारधर्म कहने का कारण यह है कि ये दोनो उस-उस कर्म के क्षयोपशम से पैदा होते हैं अर्थात् इनकी उत्पत्ति मे उस-उस कर्म की सर्वघाती प्रकृतियो के वर्तमान मे उदय आने वाले निषेको का उदयाभावी क्षय, आगामी काल मे उदय आने वाले निषेको का सदवस्थारूप उपशम तथा देशघाती प्रकृति का उदय, इस तरह कर्म का उदयाश, उपशमाश और क्षयाश तीनो ही कारण होते हैं। ऐसी स्थिति मे इनमे जहा कर्म के उपशम और क्षय की अपेक्षा आत्माश्रितता पायी जाती है वहा कर्म के उदय की अपेक्षा पराश्रितता भी पायी जाती है। इस तरह इनमे जहा ससार की कारणता का अभाव पाया जाता है वही ससार की कारणता का सद्भाव भी पाया जाता है अथवा यो कहिये कि जहा इनमे मोक्ष की कारणता का सद्भाव पाया जाता है वही मोक्ष की कारणता का अभाव भी पाया जाता है।

व्यवहार या क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन की स्थिति जीव के चौथे गुणस्थान से सप्तगुणस्थान तक ही सभव है, औपशमिक रूप निश्चयसम्यग्दर्शन की स्थिति चौथे से सातवें तक तथा उपशमश्रेणी के सातवें, आठवें, नौवें और दशवें गुणस्थानो मे एव उपशान्त नामक ११वे गुणस्थान मे सभव है तथा क्षायिक रूप निश्चयसम्यग्दर्शन की स्थिति चौथे से सातवें तक तथा उपशमश्रेणी के सातवें, आठवें, नौवें और दशवें गुण स्थानो मे एव ११वे उपशान्त नामक गुणस्थान मे भी सभव है इसके अतिरिक्त क्षपकश्रेणी के सातवें, आठवें, नौवें और दशवें गुणस्थानो में तथा क्षीणमोह नामक १२वें गुणस्थान मे एव उसके आगे सर्वत्र नियम से क्षायिक सम्यग्दर्शन विद्यमान रहता है। चौथे गुणस्थान से पूर्व प्रथम गुणस्थान मे मिथ्यात्व के रूप मे, द्वितीय गुणस्थान मे सासादन अर्थात् अनन्तानुबन्धी कषाय के उदय से उत्पन्न औदयिकभाव के रूप मे तथा तृतीय गुणस्थान मे सम्यग्मिथ्यात्व (मिश्रभाव) के रूप मे सम्यग्दर्शन का सर्वथा अभाव रहा करता है अर्थात् इन गुणस्थानो मे निश्चय और व्यवहार दोनो ही प्रकार के सम्यग्दर्शन नही रहा करते हैं।

व्यवहार या क्षायोपशमिक चारित्र या यो कहिये कि सराग चारित्र नियम से पाचवें से लेकर दशवें गुण-स्थान तक रहा करता है, ११वें गुणस्थान मे नियम से औपशमिकरूप निश्चयचारित्र, वीतरागचारित्र या यथाख्यातचारित्र रहा करता है और १२वें गुणस्थान से लेकर आगे १४वें गुणस्थान के अन्त तक क्षायिकरूप निश्चय चारित्र वीतरागचारित्र या यथाख्यातचारित्र रहा करता है। आगे मोक्ष मे चूँकि आत्मस्वरूप मे कारणरूपता समाप्त होकर कार्यरूपता का प्रादुर्भाव हो जाता है अत वहा पर चारित्र की स्थिति को आगम मे अस्वीकृत कर दिया गया

है।[1] यहाँ पर इतनी विशेषता और ध्यान देना चाहिये कि यद्यपि निश्चयसम्यक्चारित्र, आत्मरमण, वीतरागता और स्वात्मानन्द की दृष्टि से १२वें गुणस्थान के प्रारम्भ में जीव को उपलब्ध हो जाता है परन्तु यह सब उसका भावात्मक रूप है, द्रव्यात्मक दृष्टि से अभी उसकी (निश्चय सम्यक्चारित्र की) पूर्णता शेष रह जाती है, क्योंकि अभी भी उसके कर्मों के साथ बद्धता बनी हुई है साथ ही निश्चय सम्यग्ज्ञान की पूर्णता और पूर्ण आत्माश्रयता के रूप में कमी भी [illegible] बना रहता है। इसके अलावा नामकर्मनिमित्तक योग भी आत्मा में हुआ करता है। तेरहवें गुणस्थान की आदि में यद्यपि समस्त ज्ञानावरण, समस्त दर्शनावरण और समस्त अन्तराय कर्म का सर्वथा क्षय हो जाने से निश्चयसम्यग्ज्ञान की पूर्णता हो जाती है फिर भी द्रव्यात्मक रूप से निश्चयसम्यक्चारित्र अभी भी अधूरा बना रहता है। यद्यपि योग का निरोध हो जाने पर नामकर्मनिमित्तक योग समाप्त हो जाता है फिर भी अघाती कर्म अभी भी [illegible] रहा करते हैं। इन अघाती कर्मों का अभाव १४वें गुणस्थान के अन्त समय में ही समाप्त होता है अतः उसी समय आत्मा भी द्रव्यात्मक रूप से पूर्ण स्वावलम्बी बनता है यही निश्चयसम्यक्चारित्र की पूर्णता है और इसके होने पर आत्मा भी तदनन्तर पूर्ण स्वाश्रयरूप मुक्ति को प्राप्त हो जाता है।[2]

ऊपर पाँचवें गुणस्थान से दसवें गुणस्थान तक व्यवहारसम्यक्चारित्र का और ११वें से लेकर चौदहवें गुणस्थान तक निश्चयसम्यक्चारित्र का सद्भाव बतला आए हैं। इससे यह भी सिद्ध हो जाता है कि प्रथम से लेकर चतुर्थ गुणस्थान तक व्यवहारसम्यक्चारित्र का अभाव ही पाया जाता है।

इसी प्रकार यदि स्वाश्रयता और पूर्णता को ही निश्चय सम्यग्ज्ञान की कसौटी माना जाय, तो फिर सम्भव नहीं है तो [illegible] केवलज्ञान ही निश्चयसम्यग्ज्ञान की कोटि में आता है इस पराश्रयता और अपूर्णता के आधार पर मति, श्रुत, अवधि और मनःपर्यय ये चारों ही ज्ञान क्षायोपशमिक होने के कारण व्यवहारसम्यग्ज्ञान की कोटि में ही आ जाते हैं। ऐसी स्थिति में व्यवहारसम्यग्ज्ञान की स्थिति चतुर्थ गुणस्थान से लेकर १२वें गुणस्थान तक सिद्ध होती है व तेरहवें गुणस्थान व उसके आगे ही निश्चयसम्यग्ज्ञान का सद्भाव सिद्ध होता है।[3] चतुर्थ गुणस्थान से पूर्व का ज्ञान मिथ्याज्ञान ही सिद्ध होता है।

इस विवेचन का सार यह है कि प्रथम से तृतीय गुणस्थान तक मोक्षमार्ग का सर्वथा अभाव है क्योंकि वहाँ तक का ज्ञान, दर्शन और चारित्र मिथ्या ही हुआ करते हैं अतः वे संसार के ही कारण होते हैं। व्यवहारसम्यग्ज्ञानरूप मोक्षमार्ग चतुर्थ गुणस्थान से प्रारम्भ हो जाता है और १२वें गुणस्थान तक रहता है व तेरहवें गुणस्थान में निश्चय सम्यग्ज्ञान हो जाता है और वह आगे भी रहता है। व्यवहार सम्यग्दर्शन भी चतुर्थ गुणस्थान में उत्पन्न होकर सातवें गुणस्थान तक रहता है उसके आगे निश्चय सम्यग्दर्शन ही रहा करता है परन्तु किसी जीव के निश्चयसम्यग्दर्शन की प्राप्ति चतुर्थ गुणस्थान में भी हो जाती है, किसी को पाँचवें में, किसी को छठे में और किसी को सातवें में भी होती है। इस तरह निश्चय सम्यग्दर्शन का सद्भाव चौथे से सातवें तक के गुणस्थान तक भी संभव हो जाता है। व्यवहारसम्यक्चारित्र की प्राप्ति पाँचवें गुणस्थान में होती है उसका सद्भाव १०वें गुणस्थान तक रहता है ११वें गुणस्थान में व आगे निश्चयसम्यक्चारित्र ही रहता है तथा उसकी पूर्णता चतुर्दश गुणस्थान के अन्त समय में होती है। पाँचवें गुणस्थान से पूर्व व्यवहारसम्यक्चारित्र भी नहीं रहता है।

विषय का उपसंहार करते हुए हमने ऊपर यद्यपि निश्चय और व्यवहार का विभाजन मार्गणा की दृष्टि से [illegible] कि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की दृष्टि में स्पष्ट किया है परन्तु लेख में शास्त्र की दृष्टि से चरणानुयोग, करणानुयोग और द्रव्यानुयोग इन सभी अनुयोगों के आधार पर विस्तार से किया है। साथ

1 देखो—तत्त्वार्थसूत्र अध्याय १० के सूत्र ३ व ४ की श्लोकवार्तिक टीका

2 देखो—तत्त्वार्थसूत्र अध्याय १ के सूत्र १ की श्लोकवार्तिक टीका में वार्तिक श्लोक ६३ से वार्तिक श्लोक ६७ तक व उसका भाष्य।

3 देखो—तत्त्वार्थसूत्र अध्याय १ सूत्र १ की श्लोकवार्तिक टीका में वार्तिक श्लोक ६३, ६४, ६५।

ही लौकिक दृष्टि से भी संक्षिप्त रूप से किया है। इसलिये इसके सम्बन्ध में विस्तार न करके अब इस बात पर विचार करते हैं कि जब आगम में 'निश्चयनय' और 'व्यवहारनय' शब्दों का भी सर्वत्र बहुलता से प्रयोग मिलता है तो इनका अर्थ और प्रयोजन क्या है ?

निश्चयनय और व्यवहारनय का अर्थ और प्रयोजन

नयों को जैनागम में प्रमाण का अंश स्वीकार किया है।[1] जैनागम में यह भी बतलाया गया है कि वस्तु-तत्त्व को समझने के लिये जो साधकतम (करणरूप) साधन हो उसे प्रमाण समझना चाहिये।[2] इसके साथ ही वहाँ पर यह भी स्पष्ट कर दिया गया है कि वस्तुतत्त्व को समझने का साधकतम (करणरूप) साधन ज्ञान ही हो सकता है अतः ज्ञान ही को प्रमाण जानना चाहिये।[3] इस तरह चूँकि वस्तुतत्त्व को समझने का साधनभूत ज्ञान ही पूर्वोक्त प्रकार से प्रमाण होता है और प्रमाण का अंश ही नय होता है अतः इसके अनुसार यह निर्णीत होता है कि जो वस्तुतत्त्व के अंश को समझने का साधनभूत ज्ञान हो उसे नय कहना चाहिये।[4]

प्रमाणरूप ज्ञान जैनागम में पाँच बतलाये गये हैं—मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान।[5] इनमें से मतिज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान ये चारों ही ज्ञान वस्तु का ज्ञान कराते हैं और इनमें से भी केवलज्ञान तो वस्तु का सर्वात्मना ज्ञान कराता है तथा मतिज्ञान, अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान एकदेशात्मना वस्तु का ज्ञान कराते हैं। श्रुतज्ञान की वस्तु का ज्ञान कराने की प्रक्रिया इन चारों ज्ञानों से भिन्न प्रकार की है। अर्थात् श्रुतज्ञान वस्तु का यद्यपि सर्वात्मना ज्ञान कराता है, परन्तु केवलज्ञान से वस्तु का ज्ञान सर्वात्मना होता है वह युगपत् प्रत्यक्षरूप से होता है और श्रुतज्ञान से जो वस्तु का सर्वात्मना ज्ञान होता है वह क्रमशः एक-एक अंश के ग्रहणपूर्वक परोक्ष रूप से होता है। इस तरह कहना चाहिये कि श्रुतज्ञान द्वारा वस्तु के एक-एक अंश का क्रमशः पृथक्-पृथक् ही ग्रहण होता है इसलिये श्रुतज्ञान में नयों की व्यवस्था को अनायास स्थान प्राप्त हो जाता है और यही कारण है कि आगम से श्रुतज्ञान में ही नयों की व्यवस्था का प्रतिपादन किया गया है तथा मतिज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान में नयव्यवस्था का निषेध किया गया है।[6]

उपर्युक्त कथन का अभिप्राय यह है कि वस्तु के एक-एक अंश का पृथक्-पृथक् रूप में क्रमशः बोध होने का नाम नय है। ऐसा बोध श्रुतज्ञान को छोड़ कर मतिज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान में तो संभव नहीं है। श्रुतज्ञान में कैसे संभव होता है ? इसका समाधान यह है कि श्रुतज्ञान की उत्पत्ति वचन के आधार पर ही हुआ करती

---

१ नाप्रमाणं प्रमाणं वा नयो ज्ञानात्मको मतः। स्यात्प्रमाणैकदेशस्तु सर्वथाप्यविरोधतः ॥ (तत्त्वा० श्लो० १-६ वा० २१)

२ प्रकर्षेण संशयादिव्यवच्छेदेन मीयते परिच्छिद्यते वस्तुतत्त्वं येन तत्प्रमाणम् (प्रमेयरत्नमाला १-१ की टीका)

३ स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मकं ज्ञानं प्रमाणम् ॥१।१॥,
हिताहितप्राप्तिपरिहारसमर्थं हि प्रमाणं ततो ज्ञानमेव तत् ॥१-२॥ (परीक्षामुख।)

४ स्वार्थैकदेशनिर्णीतिलक्षणो हि नयः स्मृतः ॥१-६॥, (तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक १-६ वा० ४)

५ मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलानि ज्ञानम् ॥१-९॥, तत्प्रमाणे ॥१-१०॥, आद्ये परोक्षम् ॥१-११॥
प्रत्यक्षमन्यत् ॥१-१२॥ (तत्त्वार्थसूत्र)

६ मतेरवधितो वापि मनःपर्ययतोऽपि वा। ज्ञातस्यार्थस्य नांशेऽस्ति नयानां वर्तनं ननु ॥
निःशेषदेशकालार्थागोचरत्वविनिश्चयात्। तस्येतिभाषितं कैश्चिद्युक्तमेव तथेष्टितः ॥
त्रिकालगोचराशेषपदार्थांशेषु वृत्तितः। केवलज्ञानमूलत्वमपि तेषां न युज्यते ॥
परोक्षाकारतावृत्तेः स्पष्टत्वात्केवलस्य तु। श्रुतमूला नया सिद्धा वक्ष्यमाणाः प्रमाणवत् ॥
(तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक १-६ वा० २४, २५, २६, २७)

है और चूंकि वचन नाना होता है अत नाना वचन के आधार पर उत्पन्न होने वाला जो श्रुतज्ञान रूपी बोध है उसमे भी नानता की सिद्धि हो जाती है। इस प्रकार श्रुतज्ञान मे नय व्यवस्था भी सिद्ध हो जाती है।[1]

वचन मे नानता की सिद्धि अनुभवसिद्ध है कारण कि वाक्यो के समूहरूप महावाक्य मे समाविष्ट जितने वाक्य हो उनका उच्चारण या लेखन क्रम से ही होता है। इसी तरह प्रत्येक वाक्य मे जितने पद हो उनका भी उच्चारण या या लेखन क्रम से होता है और प्रत्येक पद में जितने अक्षर हो उनका भी उच्चारण या लेखन क्रमश होता है। यही कारण है कि निरर्थक अक्षरो के समूह का नाम शब्द कहलाता है, अर्थात् शब्द यदि विभक्त्यन्त हो जावे तो वह पद कहलाने लगता है।[2] पद दो प्रकार के होते है एक सज्ञापद और दूसरा क्रियापद। इन दोनो के योग से वाक्य बनता है।[3] दो आदि वाक्यो के योग से महावाक्य बनता है।[4] इसी प्रकार दो आदि महावाक्यो के योग से भी महावाक्य की निष्पत्ति होती है।

सब से बडा महावाक्य ग्रन्थ होता है, ग्रन्थ के अन्तर्गत अध्याय आदि के रूप मे भी महावाक्य होते है। एक एक अध्याय भी कई कई महावाक्यो का समुदाय होता है। एक-एक महावाक्य मे दो आदि अनेक वाक्य होते है और एक-एक वाक्य मे दो आदि अनेक पद होते है। इस प्रकार वचन रूप श्रुत का रूप पद से लेकर बडे से बडे महावाक्य तक हो जाता है। जैनागम का सब से बडा महावाक्य द्वादशाग रूप है इसके १२ अन्तर्भेद हैं १२ वें अन्तर्भेद दृष्टिवाद के मुख्य पाच भेद हैं और फिर इनके भी अनेक उपभेद है। ये सब भेद वचनरूप श्रुत के है तथा इनके श्रवण या पाठ से जो वस्तुतत्त्व का बोध श्रोता या पाठक को हुआ करता है वह ज्ञानरूपश्रुत कहलाता है। ज्ञानरूपश्रुत अर्थात् वचन के आधार पर जो बोध श्रोता या पाठक को हुआ करता है उसे आगम मे स्वार्थश्रुत भी कहा गया है और वही पर उस वचनरूपश्रुत या वचन को परार्थश्रुत भी कहा गया है। मतिज्ञान, अवधिज्ञान, मन पर्ययज्ञान और केवलज्ञान ये चारो ही ज्ञान चूंकि ज्ञानरूप ही हुआ करते है अत अपनी ज्ञानरूपता के कारण से चारो ज्ञान स्वार्थ प्रमाण रूप हुआ करते है। इस तरह कहना चाहिये कि प्रमाण दो तरह का होता है—एक स्वार्थरूप और दूसरा परार्थ रूप। जो प्रमाण ज्ञानरूप हो उसे स्वार्थ प्रमाण और जो प्रमाण वचन रूप हो उसे परार्थ-प्रमाण जानना चाहिये। इस प्रकार मति, अवधि, मन -पर्यय और केवल ये चारो प्रमाण तो अपनी ज्ञानरूपता के कारण स्वार्थ प्रमाण रूप ही होते हैं और श्रुत प्रमाण अपनी ज्ञानरूपता के कारण तो स्वार्थप्रमाणरूप होता है तथा अपनी वचनरूपता के कारण वह परार्थप्रमाणरूप भी होता है।[6]

जो वचन वक्ता या लेखक के अभिप्राय रूप वस्तुतत्त्व का पूर्णरूप से प्रतिपादन करता है वह तो प्रमाण रूप

---

१ नीयते गम्यते येन श्रुतार्थांशो नयो हि स ॥ (तत्त्वा० श्लो० १-३३ वा० ६)

२ सुप्तिङन्त । पदम् ॥१-४-१४॥ (पाणिनीय अष्टाध्यायी)

३ पदाना परस्परसापेक्षाणा निरपेक्ष समुदायो वाक्यम् । (अष्टशती मे अकलकदेव आप्तमी० का० १०३)

४ वाक्योच्चयो महावाक्यम् । (साहित्यदर्पण २-१) । यहाँ पर 'वाक्योच्चय' पद का विशेषण इसकी टीका मे "योग्यताकाक्षासत्तियुक्त" दिया गया है इस तरह महावाक्य का लक्षण निम्न प्रकार हो जाता है—

'परस्परसापेक्षाणा वाक्याना निरपेक्ष समुदायो महावाक्यम्"

इस लक्षण के आधार पर ही गोम्मटसार जीवकाण्ड मे श्रुतमार्गणाप्रकरण मे गिनाये गये श्रुत के बीस भेदों मे से आदि के अक्षर, पद और सघात (वाक्य) से आगे जितने भेद गिनाये गये हैं वे सब यहाँ वाक्य के भेद समझना चाहिये।

५ महावाक्यों के योग से जो महावाक्य बनता है उसका लक्षण निम्न प्रकार जानना चाहिये-परस्पर सापेक्ष महावाक्यों के निरपेक्ष समुदाय का नाम भी महावाक्य है। (लेखक)

६ प्रमाण द्विविध स्वार्थं परार्थं च । तत्र स्वार्थं प्रमाण श्रुतवर्ज्यम् । श्रुत पुन स्वार्थं भवति परार्थं च । ज्ञानात्मक स्वार्थं वचनात्मक परार्थम् । तद्विकल्पा नया ॥ (सर्वार्थसिद्धि १-६)





होता है और जो वचन वक्ता या लेखक के अभिप्राय रूप वस्तुतत्व के एक देश (अंश) का प्रतिपादन करता है वह नय रूप होता है।[1] इस तरह पद, यदि वाक्य से सम्बद्ध हो तो वह नयरूप होगा और पद तभी नयरूप होगा जबकि वह वाक्य से सम्बद्ध होगा। स्वतंत्र पद प्रमाण रूप तो होगा ही नही लेकिन अर्थांश के भी प्रतिपादन मे असमर्थ रहने के कारण वह नयरूप भी नहीं होगा। वाक्य यदि अपनी स्वतंत्र हालत मे वक्ता या लेखक के पूर्ण अभिप्राय का प्रतिपादन करता है तो वह प्रमाण रूप होगा और यदि किसी महावाक्य का अवयव होकर वक्ता या लेखक के अभिप्राय के एक देश का प्रतिपादन करता है तो वह नय रूप होगा। यही व्यवस्था वाक्यों के समूह रूप महावाक्यों के और महावाक्यों के समूह रूप महावाक्यो मे भी जानना चाहिये। लेख विस्तार के भय से यहा पर इन सब बातो पर विशेष प्रकाश नही डाला जा रहा है।

जैनागम मे नयो की व्यवस्था विविध प्रकार से की गयी है उनमे एक प्रकार तो नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ और एवंभूत नाम के सात नयों का है[2], दूसरा प्रकार द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नाम के दो नयों का[3] है और तीसरा प्रकार निश्चय तथा व्यवहार नाम के दो नयों का है।[4] नयों का इन प्रकारो के अलावा एक प्रकार वह भी है जिसमे वचन के सभी प्रकारो का समावेश हो जाता है। इसे हम लोकसंग्राहक नयों का प्रकार कहना उचित समझते है। इस सम्बन्ध मे गोम्मटसार कर्मकाण्ड की निम्नलिखित गाथा ध्यान देने योग्य है —

जावदिया वयणपहा तावदिया चेव होंति णयवादा ।
जावदिया णयवादा तावदिया चेव होंति परसमया ।। ८९४ ।।

अर्थात् -जितने वचन बोलने के मार्ग है उतने ही नयवाद है और जितने नयवाद है उतने ही परसमय है।

नयो के इन सब प्रकारो का विवेचन यहा हमे नही करना है। प्रकृत प्रसग तो निश्चयनय और व्यवहार-नय का है अत इन्ही दो नयो पर ही हम यहा प्रकाश डाल रहे है।

सर्वप्रथम यहा पर इस बात को समझना है कि उपर्युक्त पदादि महावाक्य पर्यन्त वचन दो प्रकार का होता है—एक तो वस्तुतत्त्व को सत्य (यथावस्थित) रूप मे प्रतिपादित करने वाला वचन और दूसरा वस्तुतत्त्व को असत्य (जैसा नही है वैसा) रूप मे प्रतिपादित करने वाला वचन। इनमे से वस्तुतत्व को सत्य रूप मे प्रतिपादित करने वाला वचन सकलादेशी प्रमाण रूप होता है और वस्तुतत्व के एक देश को सत्य रूप मे प्रतिपादित करने वाला वचन विकलादेशी नयरूप होता है। इसी प्रकार वस्तुतत्व को असत्य रूप मे प्रतिपादित करने वाला वचन प्रमाणाभास और नयाभास के भेद से दो प्रकार का होता है। जो वचन अवस्तु को वस्तुरूप मे प्रतिपादित करता हो वह भी प्रमाणाभास रूप होता है तथा जो वचन वस्तु के एक अ श को सपूर्ण वस्तु रूप मे प्रतिपादित करता हो, वह वचन भी प्रमाणाभास रूप होता है। इसी प्रकार जो वचन वस्तु के अश को दूसरे अश रूप मे प्रतिपादित करता हो वह वचन नयाभास रूप होता है।

जैनागम मे वस्तु को अनेकान्तात्मक माना गया है अर्थात् जैनागम मे बतलाया गया है कि प्रत्येक वस्तु अनन्तधर्मात्मक है और वस्तु के वे अनन्त धर्म वस्तु मे जो रह रहे हैं सो उनका वह रहना विरोधी धर्म के साथ हो रहा है। जैसे प्रत्येक वस्तु मे भाव रूप अश रह रहा है तो उसका विरोधी अभाव रूप अश भी उसमे रह रहा

---

१ सकलादेश प्रमाणाधीनो विकलादेशो नयाधीन इति। (सर्वार्थ सिद्धि १-६)

२ नैगमसग्रहव्यवहारर्जुसूत्रशब्दसमभिरूढैवम्भूता नया ।।१-३३।। (तत्त्वार्थसूत्र)

३ नयो द्विविध । द्रव्यार्थिक पर्यायार्थिकश्च। (सर्वार्थसिद्धि १-६)
(नय) द्वेधा द्रव्यार्थिक पर्यायार्थिकश्चेति। द्रव्य सामान्यमुत्सर्ग अनुवृत्तिरित्यर्थ, तद्विषयो द्रव्यार्थिक। पर्यायो विशेषोऽपवादो व्यावृत्तिरित्यर्थ तद्विषय, पर्यायार्थिक। (सर्वार्थ सिद्धि १-३३)

४ पुनरप्यध्यात्मभाषया नया उच्यन्ते। तावन्मूलनयौ द्वौ निश्चयो व्यवहारश्च। तत्र निश्चयोऽभेदविषयो व्यवहारो भेदविषय। (आलापपद्धति)

है। इसी प्रकार प्रत्येक वस्तु में नित्यत्व धर्म रहता है तो उसका विरोधी अनित्यत्व धर्म भी उसमें रह रहा है। इस विषय का आवश्यकतानुसार स्पष्टीकरण पूर्व में किया गया है। पूर्व में हम यह भी बतला आये हैं कि प्रत्येक वस्तु के विद्यमान परस्पर विरोधी इन दो धर्मों में से एक धर्म निश्चय रूप होता है और एक धर्म व्यवहार रूप होता है। इस आधार पर वस्तुतत्त्व के प्रतिपादन में यह बात निर्णीत होती है कि जो वचन वस्तुतत्त्व के निश्चय और व्यवहार रूप उभय धर्मों का प्रतिपादन करता है वह वचन प्रमाण रूप है जैसे "वस्तु नित्यानित्य है" यह वचन वस्तु के नित्य और अनित्य उभय धर्मों का प्रतिपादन करता है इसलिये प्रमाणरूप है। जो वचन वस्तु के विद्यमान मात्र निश्चय रूप धर्म का प्रतिपादन करता है वह वचन निश्चय नय रूप है जैसे "प्रत्येक वस्तु अपनी अपनी परिणति का उपादान कारण है" यह वचन वस्तु में विद्यमान उपादानकारणता रूप निश्चय धर्म का प्रतिपादन करता है इसलिये निश्चय नय रूप है। जो वचन वस्तु के व्यवहारधर्म का व्यवहारधर्म रूप से प्रतिपादन करता है वह वचन व्यवहार नयरूप है जैसे "मिट्टी अग्नि की परिणति में और अग्नि मिट्टी की परिणति में निमित्त कारण होती है" यह वचन मिट्टी के अग्नि की परिणति की और अग्नि में मिट्टी की परिणति की विद्यमान निमित्त-कारणता रूप व्यवहार धर्म का प्रतिपादन करता है इसलिये व्यवहार नयरूप है। जो वचन अवस्तु को वस्तु रूप से प्रतिपादित करता है वह वचन प्रमाणाभास है जैसे "खरविषाण होता है" यह वचन सर्वथा असद्भूत वस्तु का प्रतिपादन करता है इसलिये प्रमाणाभास है। जो वचन एक वस्तु को अन्य वस्तु रूप प्रतिपादन करता है वह वचन भी प्रमाणाभास है जैसे [illegible] यह वचन अचेतन को चेतन रूप प्रतिपादित करता है इसलिये प्रमाणाभास है। इसी प्रकार जो वचन वस्तु के एक अंश को वस्तु रूप से प्रतिपादन करता है वह भी प्रमाणाभास है जैसे वस्तु को सर्वथा नित्य या सर्वथा अनित्य मानना आदि। सर्वथा नित्यात्मक या सर्वथा अनित्यात्मक [illegible] वचन [illegible] प्रमाणाभास है। [illegible] वचन नयाभास कहे हैं ऐसा जानना चाहिए। [illegible] वस्तु [illegible] निश्चयाभास रूप से प्रतिपादन करने वाला है वह निश्चय नयाभास है जैसे [illegible] यह वचन निश्चय नयाभास है क्योंकि [illegible] में निमित्त कारणता व्यवहार कारण होने से [illegible] नहीं है। इस तरह इन वाक्यों में निमित्तकारणता रूप व्यवहार-कारणता का उपादान कारण रूप में निश्चय कारण रूप प्रतिपादित किया गया है इसलिये ये दोनों वाक्य निश्चया-नयाभास हैं। इसी प्रकार [illegible] अनित्य स्वीकार करते चैतन्य के नाश से आत्मा को नित्य रूप प्रतिपादन करना व्यवहारनयाभास है। आत्मा और चैतन्य में सर्वथा अभेद मानना भी निश्चयनयाभास है।

इस प्रकार प्रमाण और प्रमाणाभास तथा नय और नयाभास के रूप में जितना विवेचन किया गया है वह सब वचन रूप श्रुत के सम्बन्ध में किया गया है। ज्ञानरूप श्रुत के सम्बन्ध में कहा जा सकता है कि इनसे होने वाला बोध भी इसी रूप में प्रमाण और प्रमाणाभास तथा नय और नयाभास रूप ही होता है। इसलिये यहाँ पर उसका विवेचन अलग से नहीं किया जा रहा है।

ऊपर के कथन से यह बात स्पष्ट होती है कि वचनरूप प्रमाणश्रुत और नयश्रुत का पदार्थ के साथ प्रति-पादक-प्रतिपाद्य सम्बन्ध रहता है और ज्ञानरूप प्रमाणश्रुत और नयश्रुत का पदार्थ के साथ ज्ञाप्य-ज्ञापक भाव रूप सम्बन्ध पाया जाता है। अर्थात् वचन रूप प्रमाणश्रुत और नयश्रुत क्रमशः वस्तु और वस्तु के अंशों के प्रतिपादक होते हैं तथा वस्तु और वस्तु के अंश क्रमशः उनके द्वारा प्रतिपाद्य होते हैं। इसी प्रकार ज्ञानरूप प्रमाणश्रुत और नयश्रुत क्रमशः वस्तु और वस्तु के अंशों के ज्ञापक होते हैं तथा वस्तु और वस्तु के अंश क्रमशः उनके ज्ञाप्य होते हैं। इस प्रकार पूर्व में जितना व्याकरणानुशासन आदि की दृष्टि से निश्चय और व्यवहार रूप अर्थों का व्याख्यान किया गया है उसमें जितना निश्चय रूप अर्थ है उसका उसी रूप से प्रतिपादन करने वाला वचन रूप निश्चय नय होता है और उसका उसी रूप में ग्रहण करने वाला ज्ञान रूप निश्चय नय होता है। इसी प्रकार उसमें जितना व्यवहार रूप अर्थ है उसका उसी



रूप में प्रतिपादन करने वाला वचनरूप व्यवहारनय होता है और उसका उसी रूप मे वोध कराने वाला ज्ञानरूप व्यवहारनय होता है । इस बात को लक्ष्य मे रखकर ही सर्वत्र हमे वस्तु तत्व का निर्णय करने का प्रयत्न करना चाहिये ।

इसका तात्पर्य यह है कि जब ऐसा आगम मे बतलाया गया है कि मोक्षमार्ग दो प्रकार का है एक निश्चय-मोक्षमार्ग और दूसरा व्यवहारमोक्षमार्ग, तो दोनों ही मोक्षमार्गो की वास्तविकता को मान कर नय प्रक्रिया से इस वात का निर्णय करना चाहिये कि निश्चयमोक्षमार्ग तो मोक्ष का साक्षात् कारण होता है और व्यवहारमोक्षमार्ग पर-परया कारण होता है जैसा कि पूर्व मे प्रतिपादित किया गया है । इस तरह मोक्षमार्ग की स्वतत्र-स्वतत्र दो भेदरूपता के प्रसग के भय से जिनको व्यवहारमोक्षमार्ग को अकिंचित्कर मानने का सहारा लेना पडता है उन्हें उस सहारे की फिर आवश्यकता नही लेनी पडेगी । इसी प्रकार आत्मा की परिणति को जव औदयिक, औपशमिक, क्षायिक या क्षायोपशमिक नाम से पुकारा जाता है तो नयात्मक दृष्टिकोण रहने मे उसका अर्थ यही होता है कि आत्मा की उक्त, औदयिकादि परिणतियो मे कर्म की उदयादि परिणतिया निमित्त कारण हुआ करती हैं । यदि कर्म की उदयादि-परिणतिया आत्मा की औदयिकादि परिणतियोंकी उत्पत्ति मे निमित्त कारण नही होने पर उन्हे आत्मा की औदयिकादि परिणतियो मे निमित्तकारण कहा जाता है तो फिर यह कथन तो असत्य ही हो सकता है । इसको व्यवहार नय का कथन किसी भी हालत में नही कहा जा सकता है । इसे व्यवहार नय तभी कहा जा सकता है जब कि कर्म की उदया-दिक परिणतियो मे आत्मा की औदयिकादि परिणतियो की निमित्तकारणता का सद्भाव माना जायगा और उपादान कारण ही कार्यरूप परिणत होता है निमित्त कारण नही, क्योंकि उपादान कारण का कार्य ही कार्यरूप परिणत होना है निमित्त-कारण का कार्य तो उपादान को कार्य रूप परिणत होने मे केवल सहायता देने का ही रहता है इसलिये किसी को ऐसा भय करने की आवश्यकता नही कि "यदि कार्य मे निमित्त कारण की निमित्त कारणता को वास्त-विक मान लिया जाना है तो निमित्त कारण ही कार्य वन जायेगा ।" इसी प्रकार सर्वत्र समझ लेना चाहिये ।

आचार्य कुन्दकुन्द ने समयसार ग्रन्थ मे आत्मा को स्वतन्त्र और अनादि-निधन वस्तु सिद्ध करने के लिये सर्वप्रथम उस के स्वत सिद्ध ज्ञायक स्वभाव का प्रतिपादन किया है लेकिन जब आत्मा अनादिकाल से अपने उक्त स्वभाव मे स्थिर न रह कर विकारी बन रहा है तो इसके लिये उन्होंने आत्मा की पुद्गल कर्म के साथ बद्धता को भी स्वीकार किया है । अर्थात् जिस प्रकार आत्मा के स्वभाव ज्ञायक भाव को आचार्य कुन्दकुन्द स्वत सिद्ध मानते हैं उस प्रकार वे आत्मा के विकार को स्वत सिद्ध नही मानते हैं । इस बात को वतलाने के लिये सर्वप्रथम उन्होंने शुद्धनय और व्यवहारनय का आश्रय लिया है । इससे आचार्य कुन्दकुन्द यह दिखलाना चाहते हैं कि यदि आत्मा को स्वतत्र और अनादि-निधन वस्तु के रूप मे जानना है तो आत्मा के स्वत सिद्ध स्वरूप को वतलाने वाले शुद्ध नय का अवलम्बन लेना होगा, कारण कि वस्तु के स्वत सिद्ध स्वरूप का प्रतिपादक शुद्धनय है अथवा यो कहिये कि वस्तु के स्वत सिद्ध स्वरूप का प्रतिपादन करना ही शुद्ध नय है । इसी तरह यदि आत्मा की अनादि काल से चली आ रही विकारी ससार रूप अवस्था को समझना है तो इसका ज्ञान शुद्ध नय से तो होगा नही, कारण कि वह तो वस्तु के स्वत सिद्ध स्वरूप का ही ज्ञापक होता है जबकि आत्मा की विकारी ससार रूप अवस्था उस की स्वत सिद्ध अवस्था न होकर कर्मोदयजन्य अवस्था है इसलिये इसको समझने के लिये व्यवहार नय का ही अवलम्बन लेना होगा कारण कि वस्तु के पराश्रितस्वरूप का प्रतिपादक व्यवहार नय है अथवा यो कहिये कि वस्तु के पराश्रित धर्म का प्रतिपादन करना ही व्यवहारनय है । इस के भी अतिरिक्त यदि आत्मा की ससार रूप विकारी अवस्था की समाप्ति कर के उत्पन्न होनेवाली मोक्ष रूप अवस्था को समझना है तो इसका भी ज्ञान शुद्ध-नय मे नही होगा कारण कि यह अवस्थायी आत्मा की स्वत. सिद्ध अवस्था न होकर कर्म के उपशम, क्षय और क्षयोपशमजन्य अवस्था है इसलिये इसको समझने के लिये भी वस्तु के पराश्रित धर्म के प्रतिपादक व्यवहार नय का अवलम्बन लेना होगा ।

अब प्रश्न उठता है कि आत्मा की ससार और मोक्ष दोनो ही प्रकार की अवस्थाये जब क्रमश कर्म के उदय से जन्य और कर्म के उपशम, क्षय तथा क्षयोपशम से जन्य हैं यानी आत्मा की ससार रूप अवस्था मे कर्म का उदय

कारण है और मोक्षरूप अवस्था मे कर्म का उपशम, क्षय और क्षयोपशम यथायोग्य साक्षात और परम्परया कारण है तो क्या कर्म के ये उदय, उपशम, क्षय और क्षयोपशम आत्मा मे तद्रूप परिणमन की योग्यता के अभाव मे आत्मा को ससारी या मुक्त बना सकते हैं ? इस विषय मे आचार्य कुन्दकुन्द का कहना है कि वस्तु मे स्वगत योग्यता के अभाव में अन्य कोई भी कारण उस को किसी रूप परिणमन कराने में असमर्थ ही रहा करता है। यही कारण है कि जैनागम में आत्मा की ससार रूप अवस्था का कारण आत्मा की स्वत सिद्ध वैभाविकी शक्ति को तथा आत्मा की मोक्षरूप अवस्था का कारण आत्मा की स्वत सिद्ध भव्यत्व शक्ति को भी स्वीकार किया गया है । इस तरह यह बात निर्णीत होती है कि यथायोग्य कर्म का उदय होने पर आत्मा अपनी वैभाविकी शक्ति के आधार पर ससारी बना हुआ है और कर्म का उपशम अथवा क्षयोपशम होते हुए अन्त मे सर्वथा क्षय हो जाने पर आत्मा अपनी भव्यत्व शक्ति के आधार पर मोक्ष रूप अवस्था को भी प्राप्त कर लेगा।

इस से यह निष्कर्ष निकल आता है कि आत्मा के ससार मे उसकी वैभाविकी शक्ति और कर्म का उदय ये दोनो कारण हैं तथा आत्मा के मोक्ष मे उसकी भव्यत्व शक्ति और कर्म का यथायोग्य उपशम, क्षयोपशम और क्षय कारण है। अब यदि ससार के दोनो कारणो के विषय मे यह विचार किया जाय कि ससार के दोनो कारणों मे से कौन किस रूप में कारण होता है और मोक्ष के दोनो कारणो में से कौन किस रूप मे कारण होता है ? तो आत्मा के ससार मे कारणभूत उसकी वैभाविकी शक्ति उसके ससार मे तथा आत्मा के मोक्ष मे कारणभूत उसकी भव्यत्व शक्ति उसके मोक्ष मे उपादान कारण है कारण कि ये शक्तिया ही व्यक्त होकर क्रमश ससार और मोक्षरूपता को प्राप्त होती हैं । इसी प्रकार आत्मा के ससार मे कारणभूत कर्म का उदय आत्मा के ससार मे व आत्मा के मोक्ष मे कारणभूत कर्म का उपशम, क्षय और क्षयोपशम आत्मा के मोक्ष मे निमित्त कारण हैं। कारण कि कर्म का उदय आत्मा के ससार रूप से और कर्म का उपशम, क्षय व क्षयोपशम आत्मा के मोक्ष रूप मे कदापि परिणत नहीं होते केवल आत्मा के उस परिणमन मे सहयोग मात्र दिया करते हैं क्योकि कर्म के उदय का सहयोग न मिलने पर आत्मा की वैभाविकी शक्ति ससार रूप परिणत नही हो सकती है और कर्म के उपशम, क्षय और क्षयोपशम का सहयोग न मिलने पर आत्मा की भव्यत्व शक्ति भी मोक्ष रूप परिणत नहीं हो सकती है।

इस तरह उपर्युक्त निमित्त और उपादान दोनो कारणो मे से उपादानकारण को तो स्वाश्रयता के आधार पर निश्चय कारण कहना योग्य है और निमित्त कारण को पराश्रयता के आधार पर व्यवहार कारण कहना योग्य है। यह सब विषय पूर्व में विस्तारपूर्वक स्पष्ट किया जा चुका है । अब यदि इन दोनो ही कारणताओ के प्रतिपादन करने या बोध करने की दृष्टि से विचार किया जाय तो कहा जा सकता है कि उपादान कारणता रूप निश्चय कारणता प्रतिपाद्य-प्रतिपादक भाव के आधार पर निश्चय नयरूप वचन तथा ज्ञाप्य-ज्ञापक भाव के आधार पर निश्चय नय रूप ज्ञान का विषय होती है और निमित्तकारणतारूप व्यवहारकारणता प्रतिपाद्य-प्रतिपादक भाव के आधार पर व्यवहार नय रूप वचन का तथा ज्ञाप्य ज्ञापक भाव के आधार पर व्यवहारनय रूप ज्ञान का विषय होती है । इस तरह आचार्य कुन्दकुन्द ने समयसार मे शुद्धनय और व्यवहार नय के विकल्पो के समान निश्चय नय और व्यवहारनय के विकल्पो का भी समावेश किया है।

आगम मे निश्चय नय के भी शुद्धनिश्चयनय और अशुद्धनिश्चयनय इस तरह दो भेद कर दिये गये हैं। इनमें से आत्मा का विकाररहित शुद्ध स्वरूप स्वाश्रितपने की दृष्टि से शुद्धनिश्चयनय का विषय होता है और आत्मा का विकारी अशुद्ध स्वरूप भी स्वाश्रितपने की दृष्टि से अशुद्धनिश्चयनय का विषय होता है । आत्मा के इसी स्वरूप को यदि पराश्रितपने की दृष्टि से देखा जाय तो फिर यह व्यवहारनय का विषय हो जाता है। व्यवहार नय के भी आगम मे दो भेद किये गये हैं—एक सद्भूत व्यवहारनय और दूसरा असद्भूत व्यवहार नय । सद्भूत व्यवहारनय भी दो प्रकार का है— एक अनुपचरित सद्भूत व्यवहारनय और दूसरा उपचरित सद्भूत व्यवहारनय । इसी प्रकार असद्भूत व्यवहारनय भी दो प्रकार का है—एक अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनय और दूसरा उपचरित असद्भूत व्यवहारनय। इस विषय को आलापपद्धति में निम्नप्रकार निबद्ध किया गया है—





"तावन्मूलनयौ द्वौ निश्चयो व्यवहारश्च । तत्र निश्चयोऽभेदविषयो व्यवहारो भेदविषयः । तत्र निश्चयो द्विविध — शुद्धनिश्चयोऽशुद्धनिश्चयश्च । तत्र निरुपाधिकगुणगुण्यभेदविषयकः शुद्धनिश्चयो यथा केवलज्ञानादयो जीव । सोपाधिकः (गुणगुण्यभेद) विषयोऽशुद्धनिश्चय । यथा मतिज्ञानादयो जीव । व्यवहारो द्विविध सद्भूतव्यवहारोऽसद्भूतव्यवहारश्च । तत्रैकवस्तुविषय सद्भूतव्यवहार, भिन्नवस्तुविषयोऽसद्भूतव्यवहार । तत्र सद्भूतव्यवहारो द्विविध उपचरितानुपचरितभेदात् । तत्र सोपाधिगुणगुणिनोर्भेदविषय उपचरित सद्भूतव्यवहारो यथा जीवस्य मतिज्ञानादयो गुणा । निरुपाधिगुणगुणिनोर्भेदविषयानुपचरितसद्भूतव्यवहारो यथा जीवस्य केवलज्ञानादयो गुणा । असद्भूतव्यवहारो द्विविध -उपचरितानुपचरितभेदात् । तत्र संश्लेषरहितवस्तुसम्बन्धविषय उपचरितासद्भूतव्यवहारो यथा देवदत्तस्य धनम् । संश्लेषसहितवस्तुसम्बन्धविषयोऽनुपचरितासद्भूतव्यवहारो यथा-जीवस्य शरीरम् ।" इसका अर्थ ऊपर स्पष्ट है ।

इस तरह नयों के स्वरूप को यथावत् प्रकार समझने की अत्यन्त आवश्यकता है कारण कि संपूर्ण वस्तु-तत्त्व को समझने का साधन अल्पज्ञ प्राणियों के लिये नय व्यवस्था ही है ।

इस नय-व्यवस्था को लौकिक दृष्टान्त द्वारा इस तरह समझा जा सकता है कि "कुम्भकार ने दण्ड और चक्र के सहयोग से मिट्टी से घडा बनाया" ऐसा वाक्य यदि बोला जाता है तो इसका अभिप्राय निम्न प्रकार होता है—

यह संपूर्ण वाक्य वक्ता के संपूर्ण अर्थ का यदि निरपेक्षरूप से बोधक है तो उसे अपने वर्तमान रूप मे प्रमाणवचन और इससे होने वाले बोध को प्रमाणज्ञान ही कहा जायगा । इस वाक्य के संपूर्ण अर्थ मे इतने अर्थ गर्भित है—

अभेददृष्टि से मिट्टी और घट मे जो अभेद का बोध होता है वह निश्चयनय है, कार्यकारण-भाव की दृष्टि से जो भेद का बोध होता है वह सद्भूतव्यवहारनय है, मिट्टी की घट रूप परिणति रूप उत्पाद में मिट्टी मे जो उपादान-कारणता का बोध होता है वह भी निश्चयनय है, वहीं पर कुम्भकार मे जो निमित्तकारणता का बोध होता है वह अनुपचरित असद्भूत व्यवहार नय है कारण कि कुम्भकार मिट्टी की घट रूप परिणति मे साक्षात् निमित्त कारण है, वहीं पर चक्र मे जो निमित्त कारणता का बोध होता है वह उपचरितअसद्भूतव्यवहारनय है क्योंकि मिट्टी की घट रूप परिणति मे परपरया अर्थात् कुम्भकार का सहयोगी होकर ही चक्र निमित्त कारण होता है, और वहीं पर दण्ड मे जो निमित्त कारणता का बोध होता है, वह उपचरितोपचरितअसद्भूतव्यवहारनय है क्योंकि मिट्टी की घट रूप परिणति मे दण्डनिष्ठ निमित्त कारणता दो परपराओं मे अनुस्यूत है अर्थात् दण्ड चक्र का सहयोगी होता है, चक्र कुम्भकार का सहयोगी होता है और तब कुम्भकार मिट्टी का सहयोगी होता है ।

इस तरह यह बात अच्छी तरह समझ मे आ जानी चाहिये कि चाहे निश्चयनय हो, अथवा चाहे व्यवहार-नय हो, इसमें भी चाहे सद्भूतव्यवहार नय हो अथवा चाहे असद्भूत व्यवहार नय हो और इसमें भी चाहे अनुपचरितअसद्भूतव्यवहारनय हो या उपचरितअसद्भूतव्यवहारनय हो और अथवा चाहे उपचरितोपचरित-असद्भूतव्यवहारनय हो—ये सभी नय अपने-अपने ढग से सद्भूतता प्राप्त वस्तत्वों को ही विषय करते हैं। इसलिये ऐसा नहीं समझना चाहिये कि निश्चयनय का विषय ही सद्भूत होता है तथा व्यवहार नय का विषय सर्वथा असद्भूत ही होता है । इतना अवश्य है कि निश्चयनय सर्वथा सद्भूत विषय को ग्रहण करता है लेकिन चाहे सद्भूत व्यवहारनय हो अथवा चाहे असद्भूत व्यवहारनय हो दोनों ही कथंचित् सद्भूत विषय को ही ग्रहण करते है । कोई भी व्यवहार नय न तो सर्वथा असद्भूत विषय को ग्रहण करता है और न सर्वथा सद्भूत विषय को ही ग्रहण करता है क्योंकि सर्वथा असद्भूत वस्तु गधे की सीग की तरह सर्वथा अभावात्मक हो जाने से वह नय अथवा प्रमाण किसी का भी विषय नहीं होती है । सर्वथा सद्भूत वस्तु तो निश्चयनय का ही विषय होती है व्यवहार-नय का नहीं । अन्त मे इतना ध्यान और रखना चाहिये कि व्यवहार नय का विषय भी अभेद और स्वाश्रयता की दृष्टि से निश्चयनय का विषय हो जाता है और निश्चयनय का विषय भी भेद और पराश्रयता की दृष्टि से व्यवहारनय का

विषय हो जाता है। जैसा कि पचाध्यायी मे कहा है—

"इदमत्र समाधान व्यवहारस्य च न यस्य यद्वाच्यम्"
सर्वविकल्पाभावे तदेव निश्चयनयस्य यद् ? वाच्यम् ॥ ६४३ ॥

अर्थात् जो व्यवहार नय का विषय है वही सपूर्ण विकल्पो का अभाव होने पर निश्चयनय का विषय हो जाता है।

तात्पर्य यह है कि सपूर्ण नय पृथक्-पृथक् एक-एक दृष्टि है और वस्तु अनन्त धर्मात्मक एव अनेकान्तात्मक है अत सभी अविरुद्ध है।



जैन-संस्कृति का प्राण-तत्त्व संयम-योग

सुरेश मुनि,

शास्त्री, साहित्यरत्न



सयम की मौलिकता

जैन-सस्कृति सयम, अध्यात्म तथा जीवन-शुद्धि की सस्कृति है। सयम उसमे कुछ ऐसा गुथा हुआ-सा, सिला हुआ-सा, रमा हुआ-सा है कि यदि सयम को ऊपर मे अलग कर दिया जाय, तो जैन सस्कृति कुछ रहती ही नही है और जैन-सस्कृति से अलग सयम का कोई मूल्य-महत्व नही। तप से भी सयम श्रेष्ठ है। सयम नही, तो तप भी तप नही—यह जैन-सस्कृति का मूल मन्तव्य है। सयम-मूलक तप ही तप है। इस दृष्टि से सयम को जैन-सस्कृति का प्राणतत्व—आत्मा कह दिया जाय, तो कोई अत्युक्ति न होगी।

जैन-सस्कृति की मूल परम्परा के दृष्टिकोण मे सयम को धर्म का प्रधानतम अग माना गया है—जो सीधे तौर पर मोक्ष का प्रमुख कारण है। जैन-सस्कृति के महान् उन्नायक श्रमण भगवान् महावीर से जब धर्म की व्याख्या के सम्बन्ध मे पूछा गया, तो उन्होने अपने स्पष्ट-गम्भीर स्वर मे कहा-अहिंसा, सयम और तप-यही धर्म का स्वरूप है—

"धम्मो मगलमुक्किट्ठ, अहिंसा सजमो तवो।"

—दशवैकालिक, १।१

कलिकल-सर्वज्ञ आचार्य हेमचन्द्र के पास एक जिज्ञासु साधक पहुचा और बोला—आचार्यवर, आप जैन-सस्कृति के महान् दृष्टा एव सृष्टा हैं। जैन-वाड्मय का कही पार नही है, और मेरी बुद्धि भी इतनी स्फीत नही है कि मैं उसकी गहराई मे पैठ कर उसके मर्म-स्थल तक पहुच सकूं। अत जैन-सस्कृति का मर्म जानने की कामना मन में सजो कर ही मैं श्रीचरणो तक पहुचा हू। कृपया, बतलाइए—सक्षेप मे, जैन-सस्कृति का सारतत्त्व-निचोड क्या है?

आचार्य हेमचन्द्र ने उस जिज्ञासु की बात को ध्यान-पूर्वक सुना और अपने अत्यन्त मृदुल-मधुर स्वर मे कहा—वत्स! आश्रव-असयम ससार की अधेरी गलियो मे भटकने का कारण है और सवर—सयम, मोक्ष अर्थात् बन्धन-मुक्ति का साधन है। बस, सक्षेप मे जैन-सस्कृति का सारतत्त्व इतना ही है, शेष समस्त वाड्मय इसी तत्त्व-दृष्टि का विस्तार है—

आस्रवो भवहेतु स्यात्, सवरो मोक्षकारणम्।
इतीयमार्हती दृष्टिरन्यदस्या प्रपञ्चनम्॥

—वीतरागस्तोत्र,

मनुष्य की महत्ता क्यों और किसलिए!

भारत के महापुरुषो, तीर्थंकरो, ऋषियो और आचार्यो ने समवेत स्वर मे मनुष्य की महत्ता-महिमा एव

गौरव-गरिमा का गान किया है। इस पर विचार-प्रश्न होता है कि, मनुष्य-जीवन की इस गौरव-गाथा का अन्तर मूलाधार क्या है? मनुष्य की अन्तरात्मा में ऐसी क्या विशेषता अन्तर्निहित है, जिसके कारण यह जीवन महत्त्वपूर्ण तथा सर्वोत्कृष्ट जाना-माना जाता है? क्या सप्तधातु के इस मिट्टी के पिण्ड के कारण? मनोरम इन्द्रियों, ऐश्वर्य-भोग एवं वैभव-विलास के कारण? उत्तर में एक बार नहीं, हजार बार नकार कहना होगा। मनुष्य का शरीर पाकर भी जिसने मानव का-सा जीवन नहीं पाया, उसने कुछ नहीं पाया। और, जिसने मानव-तन के साथ मानव-मन भी पाया, उसने सब कुछ पाया, वह कृतकार्य हो गया।

स्पष्ट, इसका अर्थ हुआ कि, मनुष्य केवल मरणधर्मा, हाड-मांस का पुतला नहीं है। वह उससे बहुत बडी चीज है। मनुष्य जितना बडा है, उतना ही बडा उसका व्यक्तित्व है और उतना ही बडा दायित्व एवं दृष्टिकोण भी। आध्यात्मिक उत्कर्ष, संयम के उच्च आदर्शों की जितनी भी भावनाएं तथा उच्च भूमिकाएं हैं, उन सब का स्रोत मनुष्य की ओर ही प्रवाहित होता है। अहिंसा, सत्य, दया, करुणा, क्षमा और कर्तव्य की धाराएं हैं, उन सब का उदय-उद्गम तथा पारम्परिक मनुष्य-जीवन में ही संभव है। मानव की महत्ता का मूल मानदण्ड अन्तर्जागरण, संयमभावना एवं अध्यात्म-उत्कर्ष, इसी भूमिका पर ही टिका हुआ है। जिसमें जितना अधिक संयम, उसमें उतना ही अधिक मनुष्यत्व। इस विशाल-विराट जगतीतल पर मानव-जीवन ही एक ऐसा स्वर्णिम अवसर है जहां अन्तर्विवेक का प्रकाश प्राप्त किया जा सकता है। इस जीवन में ही संयम-साधना की धूनी रमायी जा सकती है। मनुष्य को क्या बनना चाहिये, क्या करना चाहिए और जीवन को किस सांचे, ढांचे में ढालना चाहिए यह उच्च विचार, संयम, अन्तर्जागरण तथा अध्यात्म-विकास की समस्त भूमिकाएं और संयम-साधना की पगडंडियां इस मनुष्य-जीवन में ही पार की जा सकती हैं। यह मनुष्य-जीवन ही है, जहां अनन्त-काल से माथे पर पड़ी मोह-ममता की धूल को उड़ा, साफ किया जा सकता है। मनुष्य-जीवन ही है, जहां विकार-वासनाओं से लड़कर आत्मा पर पड़े समस्त कर्म-बन्धन तोड़े जा सकते हैं। यह मानव-जीवन ही है, जहां इन्द्रिय, तन, बुद्धि और मन को साधकर उनसे संयम-साधना का मौलिक उद्देश्य पूर्ण किया जा सकता है। यदि यह अवसर हाथ से निकल गया तो फिर पश्चात्ताप के अतिरिक्त और कुछ पल्ले पड़ने वाला नहीं। यही जैन-संस्कृति की प्राण-चेतना है। जैन-संस्कृति के ज्योतिर्धर मार्ग-विधायकों ने एक दिन ऊर्ध्वबाहु होकर उद्घोषणा की थी — मानव! इस जीवन को पाकर विकार-वासनाओं तथा कर्म-शत्रुओं से युद्ध कर। बाह्य युद्ध से तुझे क्या? यदि इस बार भी अवसर चूक गए तो फिर आत्म-युद्ध के लिए इस जीवन का मिलना अत्यन्त कठिन है:—

"इमेण चेव जुज्झाहि, किं ते जुज्झेण बज्झओ !
जुज्झारिहं खलु दुल्लहं।"

—आचारांग, १।५।३

और भी,

"संबुज्झह किं न बुज्झह संबोही खलु पेच्च दुल्लहा।
नो हूवणमंति राइओ, नो सुलभं पुणरावि जीवियं॥"

—मनुष्यो जागो, जागो! अरे तुम जागते क्यों नहीं? यहां नहीं जागे तो परलोक में अन्तर्जागरण की प्राप्ति दुर्लभ है। बीती रातें और जीवन की घड़ियां कभी लौटकर नहीं आतीं। मनुष्य-जीवन का पुनर्वार मिलना आसान नहीं।

और भी,

'पुव्वकम्मखयट्ठाए, इमं देहं समुद्धरे।'

—उत्तराध्ययन, ६।१४

—पूर्वसंचित कर्मों को क्षीण करने के लिए ही इस जीवन को धारण करना चाहिए।

इस सन्दर्भ में जैन-संस्कृति के इस मूल तथ्य को एक क्षण के लिए भी नहीं भूलना चाहिए कि जीवन





कुछ, करने के लिए है, यो ही गवाने, मिटाने और खपाने के लिए नही है। मनुष्य इस चिन्तामणि रत्न से, इस अनमोल जीवन मे बडे-से-बडे साध्य—जो अन्यत्र दुर्लभ एव दुष्प्राप्य है—प्राप्त कर सकता है, यदि वह उसे साज ले, परिष्कृत कर ले, सयम तथा मर्यादा के साचे मे ढाल ले। जैन-सस्कृति मानव-मात्र से यही अपेक्षा रखती है कि, उसका जीवन सयम की पवित्र भावना मे कसा हो, सधा हो, नियन्त्रित हो। सयम की इस अमूल्य थाती की उपलब्धि के लिए, सयम-साधना की उच्च-उदात्त भावनाओ को आत्मसात् करने के लिए मानव-जीवन एक स्वर्णिम अवसर है, एक दुर्लभ 'चास' है। अत अत्यन्त दुर्लभ तथा बिजली की चमक के समान चचल मनुष्य-जन्म को पाकर जो व्यक्ति सयम-साधना म प्रमाद करता है, वह कापुरुष है, सत्पुरुष नही —

"त तह दुल्लह लभ, विज्जुलयाचचल मणुस्सत्त।
लद्धूण जो पमायइ, सो कापुरिसो न सप्पुरिसो॥"

—आचार्य मलयगिरि

जैन-सस्कृति का महान् आघोष

मनुष्य के मन, बुद्धि, इन्द्रिय तथा शरीर के प्रवाह को सयम की दिशा मे मोडने के लिए और किंकर्तव्य की भावना जगाने के लिए एक दिन मानव की अन्तरात्मा को झकझोरते हुए जैन-सस्कृति के मनीषी विचारकों ने महान् उद्घोष किया था मानव! तेरे जीवन पर, तेरी आत्मा पर तेरा अधिकार नही है! उन पर अधिकार और किसी का है, दूसरो का है, तेरे विरोधियो तथा शत्रुओ का है! तेरे ऊपर, तेरे घर पर, अधिकार जमाने वाले क्रोध, मान, माया, लोभ, असयम तेरे मित्र नहीं, प्रत्युत अन्तरग शत्रु है! इन अन्तरग शत्रुओ ने ही तेरी आत्म-शक्ति को, तेरी इन्द्रियो, तेरे मन, बुद्धि और तेरे शरीर, तेरे जीवन के कण-कण को चचल एव अशान्त बनाया हुआ है, बेभान कर रखा है! इन्ही विकारवासनाओं एव असयम-मूलक भावनाओ के कूडे-कर्कट के नीचे ही तो दबा हुआ है तेरी आत्मा का शुद्ध स्वरूप! इन्ही विकार-वासनाओं ने तो छीन ली है तेरी आत्म-शान्ति, ज्ञान, दर्शन एव चारित्र की अमूल्य आत्म-निधि! इन असयम पोषक विकारो के मैल ने ही तो विकृत-गदला किया हुआ है स्फटिक के समान तेरे आत्म-स्वरूप को! इन्ही असयम की कामनाओ के कुहरे ने तो धुधला बना दिया है तेरे मन-मानस के दर्पण को! असयम से पराजित यह तेरी आत्मा, कषाय और इन्द्रिया-यही अन्तरग शत्रु हैं तेरे। असयम मे रची-पची आत्मा, अपना जितना अनर्थ कर बैठती है, उतना अनर्थ सिर काटने वाला शत्रु भी नहीं कर सकता —

"एगप्पा अजिए सत्तू, कसाया इदियाणि य॥

—उत्तरा०, २३।३८

'न त अरी कठछेत्ता करेइ, ज से करे अप्पणिया दुरप्पा॥

—उत्तरा०, २०।४८

उपर्युक्त अध्यात्म-विचारो के प्रकाश मे, जैन-सस्कृति के ज्योतिर्धर-चिन्तको ने मानव की अन्तरात्मा को आत्म-मनन, आत्म-दमन एव आत्म-सयमन की प्रबल प्रेरणा प्रदान करते हुए एक दिन यही उद्घोष किया था—पुरुष! यह जीवन पाकर तुझे अपने आपका दमन एव सयमन करना चाहिए। पर अपने आप का दमन करना है अत्यन्त कठिन! किन्तु जो, अपने आपका दमन कर लेता है, वह इस लोक तथा परलोक मे-उभयत्र सुखी होता है —

अप्पा चेव दमेयव्वो, अप्पा हु खलु दुद्दमो।
अप्पा दतो सुही होई, अस्सि लोए परत्थ य॥

—उत्तरा०, १।१५

और भी,

अप्पा हु खलु सयय रक्खियव्वो,
सव्विदिएहि सुसमाहिएहि!

अरक्खिओ जाइपहं उवेइ,
सुरक्खिओ सव्व-दुक्खाण मुच्चइ ॥
—दशवै०, द्वितीय चूलिका गा० १६

साधक को अपनी समाहित-साधित इन्द्रियों के द्वारा असंयम से सतत अपनी आत्मा की रक्षा करनी चाहिए। अरक्षित आत्मा कुपथ पर चलकर संसार में भटकती है और सुरक्षित आत्मा प्रशस्त-पथ पर चलकर सब दुःखों से मुक्त हो जाती है।

संयम का अर्थ क्या ?

चित्रकार जब किसी भी चित्र का निर्माण करता है, तो उस के लिए उसे सर्व-प्रथम रेखाएँ खींचनी होती है। उन रेखाओं के आधार पर ही वह चित्र का निर्माण करता है। रेखाओं का आधार पाए बिना चित्र का सर्वांग-सुन्दर एवं सुगठित सृजन नहीं हो सकता। ठीक यही स्थिति जीवन के सम्बन्ध में भी है। मानव-जीवन का सुव्यवस्थित, सुगठित विकासात्मक एवं साधनात्मक निर्माण करने के लिए भी, उसे रेखाओं पर ढालना आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य है। वह रेखाएँ हैं मर्यादा की, संयम की, आत्म-विवेक की। जैन-संस्कृति की भाषा में इन अध्यात्म-मर्यादाओं तथा सीमाओं की स्वीकृति का नाम है — संयम।

'संयम' का विशद-व्यापक अर्थ है-अपने ऊपर, अपने द्वारा अपना नियंत्रण। सम्+यम=विवेक-पूर्वक अपनी इच्छाओं, तृष्णा-मूलक लालसाओं तथा पार्थिव कामनाओं का नियमन करना। जीवन में नैतिकता आध्यात्मिकता, आन्तरिक ओज एवं वर्चस्व लाने का नाम है संयम। संयम का अर्थ है कि, मनुष्य अपने इस जीवन में विकार-वासनाओं, इच्छाओं तथा भौतिक एषणाओं से परहेज करे, बुराइयों से दूर रहे। मनुष्य अपने शरीर, इन्द्रिय और मन का स्वयं संरक्षक बने। जीवन का यह एक स्पष्ट-प्रत्यक्ष तथ्य है कि आँख, नाक, कान, जिह्वा आदि जितनी भी इन्द्रियाँ हैं, वह सब अपना-अपना रस लूटने के लिए इधर-उधर लपकती हैं। आत्म-तत्त्व इन इन्द्रियों की ललक-लालसाओं एवं मन के विषय-विकारों में खोया-खोया न फिरे, इसके लिए जीवन में संयम अनिवार्य है, अपरिहार्य है। संयम का उदार अर्थ है—अपने तन पर, अपने मन पर, अपनी इन्द्रियों पर, उनकी कामनाओं-लालसाओं पर, उनकी गलत दौड़-धूप पर अपना आधिपत्य स्थापित करना, उन पर विजय प्राप्त कर लेना। जीवन का सार्वभौम एवं सर्वतोमुखी विकास बिना इस आधिपत्य के हो नहीं सकता। अतः जैन-संस्कृति का एक अमर गायक अपने संयत स्वर में गा रहा है। यदि तू संसार से भय खाता और मोक्ष-प्राप्ति की आकांक्षा रखता है, तो इन्द्रियों को जीतने के लिए, उन पर अपना आधिपत्य जमाने के लिए अपने प्रबल पुरुषार्थ का काम में ला —

"बिभेषि यदि संसारात्, मोक्षप्राप्तिं च काङ्क्षसि ।
तदेन्द्रियजयं कर्तुं, स्फोरय स्फारपौरुषम् ॥
—उपाध्याय यशोविजय, ज्ञानसार, इन्द्रिय-जयाष्टक श्लो० १

जैन-संस्कृति के मूर्धन्य तत्त्व-द्रष्टा आचार्यों का कहना है कि, ये इन्द्रियाँ जीवन में प्रकाश भी फेंकती हैं और अन्धकार एवं धुआँ भी फेंकती हैं, ये जीवन में अमृत का संचार भी करती हैं और विष का प्रसार भी करती हैं। ये जीवन का उद्धार भी करती हैं और संहार भी करती हैं। ये इन्द्रियाँ जीवन में स्वर्ग का अवतरण भी करती हैं और नरक का सृजन भी करती हैं। संयत एवं नियंत्रित इन्द्रियाँ स्वर्ग का निर्माण करती हैं, तो असंयत तथा अनियंत्रित इन्द्रियाँ नरक का सृजन करती हैं —

"इन्द्रियाण्येव तत्सर्वं, यत्स्वर्गनरकावुभौ !
निगृहीत-विसृष्टानि, स्वर्गाय नरकाय च ॥"

और मनुष्य के पास है भी क्या ? मन, वाणी तथा शरीर यह तीन ही तो साधन हैं उसके पास, जीवन का बनाव-बिगाड़ करने के लिए। वह इन तीनों साधनों का सदुपयोग भी कर सकता है और दुरुपयोग भी कर





सकता है। इनके द्वारा वह अमृत भी पी सकता है और विष भी पी सकता है। ये तो साधन है—जैसा उपयोग किया जाएगा वैसा ये अपना चमत्कार दिखला देंगे। प्रकाश और अन्धकार अथवा अमृत तथा विष—यह सब तो मनुष्य की अपनी बुद्धि तथा योग्यता पर निर्भर है। जो व्यक्ति सयम, विवेक, विचार से काम नहीं लेता है, मन में सयम का सकल्प नही रखता, वाणी पर सयम की लगाम नही लगाता, और शरीर की चेष्टाओ पर भी कोई विवेक अथवा सयम का अकुश नही लगाता उसके लिए ये मन, वाणी और शरीर अन्धकार तथा विष भरने वाले बन जाते हैं जीवन मे। और, जो व्यक्ति मन मे सयम का शुभ सकल्प रखता है, वाणी को भी सयत रखता है और शरीर की चेष्टाओ-क्रियाओ पर भी सयम तथा नियन्त्रण का अकुश लगा लेता है, उस सयमशील साधक के लिए वे ही मन, वाणी और शरीर प्रकाश देने वाले, बन्धन खोलने वाले, गुणकारी साधन बन जाते है —

मणो य वायकाओ य, तिविहो जोगसगहो।
ते अजुत्तस्स दोसाय, जुत्तस्स उ गुणावहा॥

—बृहत्कल्प, ४४४६

और भी,

हत्थसजए, पायसजए, वायसजए, सजइदिए।

—दशवैकालिक, १० । ५

साधक! तू अपने हाथो को सयत रख, पैरो को सयत रख, अपनी वाणी को सयत रख और अपनी इन्द्रियो को सयत रख!

और भी,

इन्द्रियर्यो न जितो सो, धीराण धुरि गण्यते।"

—ज्ञानसार, इन्द्रियजयाष्टक

—जो इन्द्रियो के द्वारा नही जीता गया—इन्द्रियो के अधीन नही हुआ, वस्तुत वही धीर—बुद्धिमान् पुरुष है।

प्रवृत्ति एव निवृत्ति का सन्तुलन ही संयम का मूलभूत अर्थ है!

जैन-सस्कृति के मूलभूत दृष्टिकोण से जीवन का अर्थ निष्क्रियता एव जडता नही है। जीवन का अर्थ है क्रियाशीलता, गतिशीलता। गति-विहीन जीवन, जीवन नहीं है, जीवन की लाश है। मुर्दे की तरह निष्क्रिय पडे रहना अपने-आप मे कोई धर्म नही है। कोई भी व्यक्ति घोडे पर चढता है, तो चलने के लिए चढता है। इसलिए नही चढता कि वही जाम हो जाए। वह घोडे पर चढता है और उसे गति देता है, चलाता है। साथ ही, उसकी लगाम भी हाथ मे थाम लेता है। जहा तक उसे चलना है, चलने की आवश्यकता है, उसे चलाता है, और जहा आवश्यकता खडा होने की होती है, वह उसे खडा कर लेता है उसकी लगाम खींचकर। वहा गति है, प्रवृत्ति है घोडे पर चढकर चलना और यति-निवृत्ति है, आवश्यकता पडने पर झट से लगाम खीच कर उसे खडा कर लेना। प्रवृत्ति एव निवृत्ति के इस सन्तुलन मे ही जीवन का वास्तविक विकास है। जीवननिर्माण की यही सही दिशा है। जैन-सस्कृति का यह महान् स्वर आज भी हमारे कानो मे गूज रहा है कि, "साधक एक ओर से निवृत्ति करे और दूसरी ओर प्रवृत्ति करे। असयम से निवृत्त हो और सयम मे प्रवृत्त हो —

"एगओ विरइ कुज्जा, एगओ य पवत्तण।
असजमे नियत्ति च, सजमे य पवत्तण॥"

—उत्तरा०, ३१ । २

सयम-साधना जीवन का एक सार्वभौम तत्व है। सयम का अर्थ है आत्म-शक्ति बटोरना और उस शक्ति का उद्देश्य है-जीवन का सर्वांगीण विकास करना। इस सम्बन्ध मे, श्रमण भगवान महावीर ने कछुए का एक

सुन्दर रूपक समाज के सामने रखा है। इन्होंने कहा है कि, जब कछुआ चलता है, तो अपने अंग-प्रत्यंगों को खोलकर चलता है। किन्तु जहां जरा भी भय या खतरा होता है, तो तत्काल वह अपने सब अंगों को अन्दर सिकोड़-सकोच लेता है, छिपा लेता है। खतरा टला, तो पल-भर में फिर फैला-निकाल लेता है, बाहर अपने अंगों को। इसी प्रकार साधक भी अपनी संयम-यात्रा के मार्ग पर सतर्कता, सावधानी और विवेक के साथ चले। जब आवश्यक हो अपनी इन्द्रियों से, मन से, तन से काम ले और जहां संयम-विराधना का भय हो, जहां बाह्य-जगत् में कहीं तन, मन, इन्द्रियों के भटक, भटक और बहक जाने का प्रसंग आ जाए, वहां कछुए की भांति अपने अंगों—तन, मन, इन्द्रियों को आत्म-ज्ञान से अन्दर में ही गोपन करके रखे—

"जहा कुम्मे सअंगाइ, सए देहे समाहरे।
एवं पावाइ मेहावी, अज्झप्पेण समाहरे॥

— सूत्रकृतांग, १।८।१६

जीवन की गाड़ी चलाने की मनाही नहीं

जैन-संस्कृति की सुन्दरतम अध्यात्म-परम्परा के अनुसार जीवन यात्रा की गाड़ी को चलाने की मनाही नहीं है! प्रत्येक व्यक्ति को जीवन की यह गाड़ी मिली है, तो इसे चलाने का अधिकार भी इसके साथ ही मिला है। जैन-संस्कृति का इस सम्बन्ध में संकेत केवल इतना ही है कि जीवन-यात्रा पर अग्रसर होते हुए, जीवन की गाड़ी को चलाते हुए बेभान-अज्ञान तथा अविवेकी न बनो। नशे की हालत में गाड़ी को बेतहाशा दौड़ाते मत चलो। सत-सन्निष्ठ एवं विवेक-बुद्धि को सदा-सर्वदा जागृत, जागृत एवं विवेक-युक्त रखो, ताकि जीवन कहीं गड्ढे में न गिर जाए, इधर-उधर किसी से टकरा न जाए, कोई तुम्हारी गाड़ी के आगे आकर कुचल न जाए। जीवन की गति न एकदम उन्मुक्त, मर्यादा-हीन, एवं उच्छृंखल ही होनी चाहिए और न एकदम गति-शून्य तथा निष्क्रिय ही होनी चाहिए।

जैन-संस्कृति के महान् सन्देशवाहक भगवान महावीर के पास एक जिज्ञासु साधक पहुंचा। वन्दन किया और विनत मुद्रा में प्रश्न किया—भन्ते! जीवन-पथ पर हम चलते हैं, तो भी पाप लगता है, खड़े होते हैं—तो भी पाप घेर लेता है, बैठते हैं तो भी पाप दबा लेता है, सोते हैं तो भी पाप पिंड नहीं छोड़ता, खाते हैं तब भी पाप हो जाता है। जीवन की प्रत्येक प्रवृत्ति एवं क्रिया पर पाप की काली छाया बुरी तरह छायी हुई है। जीवन का प्रत्येक स्पन्दन पाप से सना है। जीवन की समस्त क्रियाएं-चेष्टाएं पापमय हैं! तो प्रभो! हम कैसे चलें, कैसे खड़े हों, कैसे बैठें, कैसे सोएं, खाएं-पिएं और कैसे बोलें-जिससे पाप हमें न छू सके? भगवन्! क्या ऐसा भी उपाय है जिससे जीवन-यात्रा में इस पाप से छुटकारा मिल सके?

"कहं चरे कहं चिट्ठे, कहमासे कहं सए।
कहं भुंजन्तो भासन्तो, पाव-कम्मं न बंधइ॥

—दशवैकालिक, ४।७

तो, भगवान् महावीर ने अपनी धीर-गम्भीर मुद्रा में इस साधक के मन के लिए समाधानात्मक मार्ग-दर्शन करते हुए कहा—वत्स! निराश मत होओ। जीवन की ये सारी प्रवृत्तियां तथा क्रियाएं—जिनमें तुमने पाप-ही-पाप देखा है—धर्म का रूप ले सकती हैं, पाप-विमुक्त हो सकती हैं यदि तुम जीवन की एक कला का अभ्यास कर लो। इस कला के आते ही जीवन की समस्त चेष्टाएं-प्रवृत्तियां उज्ज्वल-समुज्ज्वल आत्म-स्वरूप की ओर मुड़ जाती हैं और वह कला है संयम की, अन्तर्विवेक की, सतत सावधानता की! संयम से चलो, संयम से खड़े होओ, संयम से बैठो, संयम से सोओ, संयम से खाओ, और संयम से बोलो! जीवन के प्रत्येक स्पन्दन को संयम एवं विवेक के प्रकाश से जोड़ दो, तो पाप का अन्धकार जीवन में आ ही नहीं सकता—पाप-कर्म तुम्हारी आत्मा को छू नहीं सकता, पाप का बन्धन हो नहीं सकता! क्योंकि, पाप किसी क्रिया अथवा प्रवृत्ति में नहीं रहा हुआ है। पाप रहता है असंयम में, अविवेक में, असत्यता में—



"जयं चरे जयं चिट्ठे, जयमासे जयं सोए।
जयं भुंजतो भासतो, पावकम्मं न बंधइ ॥
—दशवैकालिक, ४।८

जीवन के सारथि बनो

जैन-संस्कृति की मूल परम्परा की भाषा मे, इन्द्रिय, मन और शरीर का जीतने का अर्थ उन्हे मारना, उनके साथ अन्याय करना नही, प्रत्युत उन्हे सयम एव त्याग के प्रशस्त पथ पर चलाकर ठीक ढग से साधना है और साधना उनसे मनचाहा अध्यात्म-उत्कर्ष का सर्वोच्च-सर्वोपरि काम लेना है। जैसे सारथि घोडो को साधता है, रथ का ठीक ढग से चलाने के लिए उन्हे तैयार करता है और फिर रथ मे जोडकर उनकी बागडोर अपने मजबूत हाथो मे मजबूती से थामता है, उनसे मनचाहा काम लेता है—उनको जिधर चाहता है, चलाता है, जहा चाहता है, मोडता है, जैसी गति से चाहता है, वैसे ही गति से काम लेता है और जहा रोकना होता है वहा से बागडोर खीचकर उन्हे रोक लेता है, इसी प्रकार मानव शरीर भी एक रथ है। आत्मा उसका सारथि है। इन्द्रिया घोडे है और मन बागडोर। आत्म-साधक उन सबको साधकर इनसे यथेच्छ साधना का काम ले, इनको अपने इशारे पर चलाए,—जैन-संस्कृति यही सयम-साधना की कला सिखलाने की प्राणचेतना प्रदान करती है। मानव अपने आप मे खोया खोया, बिखरा-बिखरा न रहे, किन्तु सयम-पथ की ठीक दिशा मे गति-प्रगति करे, मनुष्य की अन्तरात्मा को जैन-सस्कृति यहा बोध-परिबोध कराना चाहती है। आखें जिधर चाहे उधर न दौड सकें, रूप रग पर न लुभा सकें, जो चाहें, वह न देख सकें, प्रत्युत साधक जो देखना चाहे, वही आँखें देखें और जो वह न देखना चाहे, न देखें। कान जो सुनना चाहे, वह न सुन सकें, साधक की अन्तरात्मा जो सुनना चाहे, वही कान सुनें, जो वह न सुनना चाहे, वह न सुनें। साधक जिस रस का आस्वादन करना चाहे, वही रसना आस्वाद करे और जो वह न चाहे, रसना उस ओर न जा सके। नाक जो चाहे, वह न सूंघ सके प्रत्युत साधक जो चाहे वही नाक सूंघे और जो वह न चाहे, वह न सूघ सके, मन जो चाहे, उछलकूद न मचा सके, जो चाहे, वह न सोच सके, इधर-उधर के व्यर्थ के सकल्प-विकल्पो के भ्रम-जाल मे न उलझे, प्रत्युत साधक अपने मन से जो सोचना चाहे, वही मन सोचे, और जो वह न सोचना चाहे, मन भूल कर भी उसे न सोच सके। शरीर से जो भी साधना का कार्य साधक लेना चाहे, वही शरीर चेष्टा करे—अपनी मनचाही शरीर भी न कर सके—सयम का मूल तात्पर्य यही तो है।

जैन-सस्कृति की मूल प्रेरणा यही है कि साधक अपने मन, इन्द्रिय तथा शरीर का अधिपति तथा स्वामी बन कर रहे—उनका दास, नौकर अथवा गुलाम बनकर नही। स्वामी का यह कार्य नही कि वह अपने नौकरो के इशारे पर चले, उनके नचाये नाचे, उनकी गुलामी करे। नौकर इधर-उधर खट-पट, गट-बट करते रहे, हुडदग मचाते रहे, तोड-फोड करते रहे, अराजकता फैलाते रहे और स्वामी टुकुर-टुकुर देखता रहे, बैठा-बैठा आसू बहाता रहे यह स्वामी का स्वामित्व नही है। स्वामी का अर्थ है कि वह अपने नौकरो को आज्ञा दे, उन्हे अपनी आख के इशारे पर चलाए, उनसे यथेष्ट काम ले, उन्हे पूर्णत अपने अनुशासन मे रखे, अपना पूर्ण आधिपत्य रखे उन पर। ये इन्द्रिया, यह मन, यह शरीर भी तो नौकर ही है न आत्मा के! इनका स्वामी आत्मा उन्हे गलत दिशा मे जाने से रोके, गलत काम करने से मना करे और उचित कार्य करने की प्रेरणा दे—उनसे कार्य कराए। उनका शासक बने— उनके ऊपर अपना अनुशासन चलाए, जिससे आखें जहा जाना चाहे, न जा सकें, कान जिधर चाहे, न दौड सकें, जिह्वा जो चाहे न बोल सके, जो चाहे वह न चख सके। हाथ-पाव भी अपनी मनमानी करने पर न उतर आए। आत्मा के सकेत की ओर ही नाक इन्द्रिया, मन और हाथ-पाव गति-यति करें। ये सब नौकर तो तभी ठीक ठीक क्रिया करेंगे, जब साधक का उन पर कडा पहरा होगा! प्रत्येक इन्द्रिय पर, मन पर, शरीर पर अपना पहरा बैठा देने पर ये साधक की आत्मा को चकमा न दे सकेंगे, धोखे मे न डाल सकेंगे, प्रत्युत अपनी चिर-अभ्यस्त उच्छृंखलता एव स्वच्छन्दता का परित्याग कर साधक की प्रबुद्ध आत्मा के अनुशासन मे चलने के लिए विवश हो जाएगे। सयमशील साधक अपनी आखो पर, अपने कानो पर, अपनी रसना पर, अपनी नाक पर, अपने हाथ-पाव पर, अपने मन पर, अपने जीवन की समस्त गति-विधियो पर अपना शासन चलाता है, उन पर अपने आधिपत्य तथा स्वामित्व का वर्चस्व सस्थापित करता है। शासन की बागडोर वह प्रतिक्षण अपने

हाथ में रखता है—जैसे पीलवान अपने हाथ में अंकुश लिये रहता है। जब हाथी उन्मत्त होकर इधर-उधर भागने का यत्न करता है, उन्मार्ग पर चलता है, तो वह तत्काल उस पर अंकुश लगाता है। अंकुश का प्रहार होते ही हाथी काबू में आ जाता है, नियन्त्रित हो जाता है, ठीक-ठीक चलने लगता है। इसी प्रकार जब इन्द्रियाँ, मन और शरीर सन्मार्ग—साधना-पथ से इधर-उधर बहकने-भटकने का यत्न करते हैं, तो संयमी साधक भी उन पर संयम, आत्म-विवेक, ज्ञान-विचार का अंकुश लगाता है, उन्हें अपने नियन्त्रण में ले आता है, जिससे वे सब अपनी-अपनी सीमा-मर्यादा में रहकर ठीक-ठीक कार्य करने लगते हैं। जैन-संस्कृति के वरिष्ठ विधायकों की संयम के सम्बन्ध में यही मूलभूत दृष्टि है कि तुम अपने शासक आप बनो। अपने भाग्य-विधाता और जीवन-निर्माता बनकर स्वयं अपने जीवन का निर्माण करो। आत्म-ज्ञान एवं जीवन-विज्ञान की यही सही पगडंडी है।

o



पथ का सम्बल : रत्नत्रय

साध्वी उमरावकुंवरजी 'अर्चना'
जैनसिद्धान्ताचार्य



प्रत्येक मननशील मानव के समक्ष एक ही मुख्य प्रश्न रहता है कि आत्मोन्नति कैसे करें ? अनादि काल से मानव इस उन्नति-कामना को सजोए हुए है।

लेकिन देखना यह है कि उसके पास पर्याप्त मनोबल, निर्भयता, आशा, उत्साह, साहस, धैर्य आदि, जो आत्मोन्नति के लिए अनिवार्य हैं, हैं या नहीं ? इन साधनों के बिना वह उन्नति-पथ की ओर अग्रसर हो नहीं सकता। साथ ही उसकी बुद्धि में जागरूकता, प्रगल्भता, विवेक और दूरदर्शिता होनी चाहिए। बुद्धि ही मानव का विलक्षण बल है—'प्रज्ञाना बलं ह्येव निष्प्रज्ञस्य बलेन किम् ?' इसी दीपक से मनुष्य को संसार में सब कुछ दिखाई पड़ता है—'बुद्धिर्दीपकला लोके यया सर्वं प्रकाशते।' अतएव बुद्धि निर्बल, निष्क्रिय और मलिन होगी तो मनुष्य लक्ष्यच्युत हो जाएगा।

मन्दबुद्धि या दुष्टबुद्धि भी कहीं उन्नति कर सकता है ? जिसे सूझ-बूझ नहीं होती वह मतिहीन साथ ही गतिहीन भी हो जाता है।

प्रज्ञाशील पुरुषों ने आत्मोन्नति के इच्छुकों को तीन साधन अनिवार्यरूपेण अपनाने का निर्देश किया है। तत्त्वार्थसूत्र में कहा है—

'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः।' सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, और सम्यक्चारित्र, ये तीन मुक्ति पथ के परम साधन हैं। इन के सहयोग के बिना साधक की उद्देश्यपूर्ति असंभव है।

अंग्रेजी के प्रसिद्ध कवि टेनीसन ने भी एक स्थान पर लिखा है—आत्मज्ञान, आत्मविश्वास और आत्मसंयम केवल ये तीन ही जीवन को परमशक्तिसंपन्न बना देते हैं।

आत्मविश्वास

आत्मविश्वास का मुख्य उद्देश्य है आत्मक्षुद्रता का निराकरण। आत्मविश्वास के बिना मनुष्य एक कदम भी प्रगतिपथ की ओर नहीं बढ़ सकता। आत्मविश्वास के बिना आत्मा बलवान नहीं हो सकता। एक भक्त का यह सुदृढ़ संकल्प होना चाहिए—आत्मा ऐसी बलशालिनी बन जाए कि मन-मेरु कभी विचलित न हो। विशालकाय पर्वत आकर मेरी राह रोकें और भीम-प्रवाहिनी वेगवती नदियाँ पथ की बाधक बनें अथवा गर्जना के साथ सागर हिलोरें ले रहा हो उसके बीच में मेरी नौका डगमगा रही हो ऐसी भयानक अवस्था में भी आत्मविश्वास डिगने न पाये।

आत्मविश्वास के अभाव में मानव पशुवत् हो जाता है। मन के लंगड़े को स्वर्ग के असंख्य देव भी नहीं उठा सकते और आत्मा की अपरिमित शक्ति में विश्वास रखने वाला व्यक्ति असंख्य देवों को अपने सामने झुका सकता

है। आत्मविश्वासी कहीं भटकता नहीं, कहीं अटकता नहीं, पथभ्रष्ट होता नहीं। वह अपनी उद्देश्यपूर्ति के लिए साहस का सम्बल लिए प्रतिक्षण प्रयत्नशील बना रहता है। उसे अपनी आत्मा की अजेय शक्ति और अमरता पर पूर्ण विश्वास होता है।

—स एव धन्यो विपदि स्वरूप न विमुंचति

वही धन्य है, जो विपत्ति मे अपने स्वरूप को नहीं छोडता है। श्री तिलक महोदय लिखते हैं—"कठिनाइया हमारे साथ अनेक उपकार करती हैं। वे हमारे अन्दर साहस भरती हैं और हमे सब प्रकार से योग्य बनाती हैं। अतएव वीरो, इन से डरो नहीं, इन्हें प्रसन्नता से गले लगाओ" चाहे आकाश सिर पर गिर पडे, चाहे हिमालय पर्वत मार्ग रोक कर खड़ा हो जाए चाहे मृत्यु सामने आ जाए, परन्तु फिर भी मन डगे।

मनुष्य जैसा सोचता है वैसा ही बन जाता है। अत उन्नति के इच्छुक व्यक्ति को महापुरुषो की जीवनियो का अवलोकन करना चाहिए।

मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीराम का वन मे सच्चा साथी सिवाय आत्मविश्वास के कौन था ? उनके सामने कितने विकट कार्य थे ?

"विजेतव्या लका, चरणतरणीयो जलनिधि ,
विपक्ष पौलस्त्यो रणभुवि सहायाश्च कपय ।
तथाप्येको राम सकलमवधीद्राक्षसकुल,
क्रियासिद्धि सत्त्वे भवति, महता नोपकरणे।"

लंका को जीतना था, समुद्र को पैदल पार करना था, रावण जैसा विरोधी था, और उस रणभूमि मे वानर ही सहायक थे। फिर भी अकेले राम ने राक्षसकुल का संहार कर डाला। महापुरुषो की कार्यसिद्धि साधनो पर नहीं उनके आत्मबल पर निर्भर रहती है।

प्राय लोग अपने दुर्बल अंग का ही ध्यान रखते है किन्तु प्रबल पक्ष-दिशता-मे विश्वास नहीं करते। यही आत्महीनता का कारण है। इस से मनुष्य को अपने आत्मिक बल की अनुभूति नहीं होती और उसका मन बाहरी परि-स्थितियो से परास्त, पराधीन हो जाता है। योगवासिष्ठ मे कहा है—

"मैं ब्रह्म नहीं हू" इस दृढ सकल्प मे मन बन्धन मे पड जाता है – "नाह ब्रह्मेति सकल्पात्सुदृढाद् बध्यते मन।" अपने प्रति अविश्वास या मिथ्या विश्वास होने से मनुष्य मे विद्यमान शक्ति भी पलायन कर जाती है। 'जागत ही सोवत रहै तेहि को सकै जगाई ? अपने ही को खोकर कोई क्या कमाएगा ?'

आत्मसमर्पण करने वाला भी कहीं विजयी होता है? यात्रियो को लेकर एक जहाज समुद्र पार जा रहा था। दुर्भाग्य से भयानक तूफान आ गया। नाविको ने यात्रियो को बचाने का शक्ति-भर प्रयत्न किया मगर वे सफल नहीं हो सके। अन्त मे जहाज दुर्घटनाग्रस्त हो गया। देखते-देखते सागर के वक्षस्थल पर लाशें तैरने लगी। नाविक तैर कर किनारे पहुच गये। उस समय का दृश्य अत्यन्त करुणाजनक था। आठ-दस वर्ष का बालक निर्भीकता से, चेहरे पर मुस्कराहट लिए, हाथ पैर मार रहा था और समुद्र तैरकर किनारे लगने का बडे साहस के साथ प्रयत्न कर रहा था। छोटे बच्चे का आत्मविश्वास और अपूर्व साहस निकटवर्ती व्यन्तर देव ने देखा और सहसा उपहासपूर्वक कहा—अरे बच्चे, निरर्थक क्यो हैरान हो रहा है ? जब जहाज के सभी यात्री असीम सागर के उदर मे समा गये है तो तेरी क्या बिसात है ? छोड अपना व्यर्थ का प्रयास! बच्चे ने अत्यन्त दृढता से कहा—आप अपना काम करें, मै अपना काम कर रहा हू। बिना मागे सलाह देना क्या उचित है? देव ने दुबारा समझाने की कोशिश की पर बच्चे ने अपना साहस नहीं छोडा। उसने दृढतापूर्वक कहा—जब मरना ही है तो वीरों की मौत क्यो न मरु!





बच्चे का अद्भुत साहस देख कर देव ने प्रसन्नता से बच्चे को इच्छित स्थान पर ले जाकर छोड़ दिया। आत्म-विश्वासी के उन्नति-पथ में विकट से विकट परिस्थितियाँ भी बाधक नहीं बन सकती। पत्थर की चट्टान जो कमजोरों की राह का रोड़ा होती है, शक्तिशालियों के लिये सफलता की सीढ़ी बन जाती है। टालस्टाय ने कहा है—"विश्वास जीवन की शक्ति है।" जर्मी टेलर ने कहा—

विश्वास सारे वरदानों का आधार है। विश्वास तूफानी सागर में हम को सेना है, पर्वतों को डिगा देना है, सागर लाघ जाता है। विश्वास एक कोमल पुष्प नहीं है जो साधारण वायु के झोंके से कुम्हला जाय। यह हिमालय के समान अडिग है। उन्नति-सदन का यह प्रथम सोपान है।

आत्मज्ञान

आत्मोन्नति का दूसरा साधन आत्मज्ञान है। अन्तर्ज्ञान या आत्मज्ञान का सरल अर्थ है अपने को पहचानना, अपनी आत्मशक्ति की यथार्थ जानकारी होना। जब तक मानव वस्तु के गुण-दोष की जानकारी से अवगत नहीं हो जाता है, वह दोषों से बच कर गुणों को अपना नहीं सकता। पुरखे यदि घर में धन गाड़ जाए और हमें पता न हो तो हम उस गुप्त धन का लाभ नहीं उठा सकते। जीवन में जो दैवी तत्त्व हैं उन से अनभिज्ञ रहने पर भी ऐसा ही होता है। अपनी सद्वृत्तियों को जानने का अर्थ है, उन्हें जगा लेना, पकड़ लेना। इससे आत्मशान्ति का अनुभव और जीवन के लक्ष्य का ज्ञान होता है। जब तक हमें अपने लक्ष्य का ज्ञान नहीं होता है तब तक किया जाने वाला उग्र क्रियाकाण्ड सार्थक नहीं होता। आप एक कागज लेते हैं, सुन्दर अक्षरों में और सजे हुए शब्दों में अपने घनिष्ठ मित्र को लक्ष्य कर अपने हृदयगत भावों को अभिव्यक्ति करते हैं। कई प्रकार की सुन्दर उपमाएं देकर हृदय का समस्त स्नेह उड़ेल देते हैं। तत्पश्चात् उसे लिफाफे में बन्द करके लैटर बाक्स में डाल देते हैं। क्या पत्र आपके मित्र को मिल जायगा? मित्र कहाँ है, इसका आपको ज्ञान नहीं है तो क्या बिना पते का पत्र मित्र तक पहुच सकेगा? इसी प्रकार यदि हम में आत्मज्ञान का अभाव है तो अपना लक्ष्य कायम नहीं कर सकेंगे और फिर निर्दिष्ट स्थान पर न पहुच कर बीच ही में भटक जायेंगे। इसलिए सर्वप्रथम आत्मज्ञान की आवश्यकता है।

आत्मा का स्वरूप ज्ञान है। आत्मा एक अखण्ड द्रव्य है, स्वतन्त्र सत्ताधारी अरूपी चिन्मय द्रव्य है। ज्ञान-शक्ति प्रत्येक आत्मा में अखण्ड रूप से और अपने आप में परिपूर्ण रूप से परिव्याप्त है।

> नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि, नैनं दहति पावक ,
> न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुत ।
> अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च ।
> नित्य सर्वगत स्थाणुरचलोऽय सनातन ।—गीता

आत्मा को न तो शस्त्र काट सकते हैं, न आग जला सकती है न इसे पानी गला सकता है। न वायु सुखा सकता है। वह आत्मा न कभी कटने वाला है, न कभी जलने वाला, न भीगने वाला और न सूखने वाला है। वह नित्य, सर्वव्यापी, स्थिर, अचल, एव सनातन है। इस प्रकार की अनुभूति प्राप्त कर लेना ही तत्वज्ञान है। तत्त्व-ज्ञान से अनभिज्ञ साधक की साधना छार का लीपना है। दीपक में तेल भी है, बाती भी है, मगर जलाया नहीं तो क्या उस ज्योतिहीन दीपक से अन्धकार नष्ट हो सकेगा? कदापि नहीं।

ज्ञानाभाव में साधक का साधना रूपी शरीर ज्योतिहीन दीपक के समान है। 'ज्ञान जगल्लोचनम्' ज्ञान ही ऐसी आग है जो जगत में घटने वाली त्रैकालिक घटनाओं को देख सकता है।

धर्मद्रोही का मन मुर्दा, पापी का मन रोगी, लोभी व स्वार्थी का मन प्रमादशील और ज्ञानी का मन स्वस्थ होता है। मलिन दर्पण में मुख का प्रतिबिम्ब प्रतिभासित नहीं हो सकता, इसी प्रकार काम, क्रोध, मद, लोभ, अज्ञान आदि मल से सने हुए अन्तःकरण में सत्य की अनुभूति नहीं हो सकती। ज्ञानी का ही हृदय स्वच्छ रह सकता है और हृदय की स्वच्छता ही सब से बड़ी स्वच्छता है, क्योंकि इस स्वच्छता में परमात्मा प्रतिबिम्बित होता है। अतएव

आत्मा के उत्थान के लिए आत्मज्ञान की परम आवश्यकता है। भजनानन्द ने ठीक ही कहा है—जैसे स्वप्न में काटे गये सिर का दुःख बिना जागे दूर नहीं होता, इसी प्रकार इस संसार का दुःख बिना आत्मज्ञान हुए दूर नहीं होता।

आत्मसंयम

आत्मोत्थान का तीसरा साधन आत्मसंयम है। संयम का सीधा अर्थ है आत्मनिग्रह। प्रकृति में सब कुछ नियमबद्ध है, अतएव मानव-जीवन को भी नियमित, मर्यादित होना चाहिए, तभी वह स्वस्थ और चैतन्य रह सकता है। अनियन्त्रित जीवन से स्वाभाविक शक्तियों की प्रतिष्ठा नहीं हो सकती। मनुष्य जब अपनी इन्द्रियों को अपने अधिकार में रखता है अर्थात् जब उसका भौतिक जीवन उसके आध्यात्मिक जीवन के नियन्त्रण में रहता है, तभी वह स्वाधीन और शक्तिमान् होता है।

सब से शक्तिशाली व्यक्ति वही है जो अपने को अपने अनुशासन में रखता है। संयम से ही आत्मबल, मनोबल, शारीरिक बल दृढ़ होते हैं। अन्तर्द्वन्द्व मिटता है, मनोवेग और वासनाओं का दमन होता है और चित्त की एकाग्रता बढ़ती है।

संयमो हि महामन्त्रस्त्राता सर्वत्र देहिनः ।

इस लोक और परलोक में सब प्राणियों का रक्षण करने वाला संयम ही है और इसीलिए वह महामन्त्र कहलाता है।

आत्मसंयम के बिना विचार की रचना करना भी निरर्थक है। विश्वास हो, ज्ञान भी हो, पर चलने की ताकत न हो तो सब व्यर्थ है। आत्मा का दमन करना ही विशुद्धि है, इसी को संयम और आचार कहते हैं। विश्वास को ज्ञान में ढालने दो, ज्ञान को क्रिया में उतरने दो, तभी विकास हो सकेगा। विश्वास, ज्ञान, और संयम यह त्रिपुटी कितनी पवित्र है! इसकी पवित्रता को जीवन के कण-कण में रमने दो। फिर देखो तुम क्या थे और क्या हो गये। ये तीन रत्न ही आत्मा की वास्तविक विभूति हैं।

संयम का मूल स्वच्छता है और वह तीन प्रकार की है। मन की, वाणी की और कर्म की। मन की स्वच्छता इस प्रकार रह सकती है—

१ क्रोध न करना, शान्ति रखना
२ मान न करना, नम्रता रखना।
३ कपट न करना, सरलता रखना।
४ लोभ न करना, सन्तोष रखना।
५ किसी की निन्दा व अपमान न करना।
६ किसी का बुरा न सोचना।

मन की स्वच्छता का अर्थ है—मन में किसी के प्रति राग, द्वेष, ईर्ष्या और बुरे विचार न रखना।

वाणी की पवित्रता के लिए वाणी का संयम आवश्यक है। वाणी की पवित्रता का उपाय है—

१ वाक्संयम २ अल्प भाषण ३ प्रिय एवं सत्य भाषण ४ मधुर भाषण, मृदु एवं कोमल भाषण।

मानव कर्मशील है। वह कुछ न कुछ कर्म करता ही है। परन्तु उसके कर्म में पवित्रता होनी चाहिए। और कर्तव्य की पवित्रता इस प्रकार रह सकती है—

१ निष्काम-भाव पूर्वक कर्म करना।
२ कर्म के फल के प्रति आसक्ति न रखना।
३ शुद्ध विधि-पूर्वक कर्तव्य पालना।





४ विवेक पूर्वक क्रिया करना।

इस प्रकार संयमपूर्वक कर्तव्य पालन करने से ही जीवन की उन्नति हो सकती है। कर्तव्यशून्य के विषय में कहा जाता है—जो कर्तव्य पालन न करके कोरी बातें ही बनाना हो वह व्यक्ति उस उद्यान के समान है जिस में फूलों के स्थान पर व्यर्थ की घास-फूस उगी हुई हो।

आत्मसंयम मानव का भूषण है। यह उस की उच्चता का लक्षण है। उसकी सभ्यता का प्रमाण है। यह एक ऐसा मन्त्र है जिसका सहारा लेते ही जीवन की समस्त वेदना शान्त हो जाती है।

असंयम के परिणाम इष्ट नहीं होते। मानव का सारा इतिहास पुकार-पुकार कर कहता है कि असंयम से बचो, अगणित फांसियां जेलखाने, युद्ध, दंगे, तथा जीवन की शत-शत असफलताएं पुकार-पुकार कर कहती हैं इससे बचो। इस प्रकार जिस का जीवन आत्मविश्वास, आत्मज्ञान और आत्मसंयम से हीन है वह बांस के समान स्वयं के नाश का हेतु स्वयं ही बन जाता है। इसके विपरीत, जो इस रत्नत्रयी से सम्पन्न है उसमें ईश्वरत्व की अमित और अमिट ज्योति प्रकट हो जाती है।

तप, तापस-परम्परा और महातपस्वी महावीर

मुनिश्री सुशील कुमारजी,



भगवान महावीर के काल की धार्मिक परम्पराओं में तापस-परम्परा का विशिष्ट महत्त्व है। यद्यपि यह परम्परा चिरकाल से विद्यमान थी, किन्तु भगवान ने अज्ञानमार्ग का खण्डन करते हुए परमपद की प्राप्ति के लिए तप को अनिवार्य साधन घोषित कर इस परम्परा को एक नया ऐतिहासिक मोड़ दिया।

भारत के इतिहास में सांस्कृतिक मान्यता के रूप में तप का माहात्म्य प्रारम्भ से ही रहा है। तप से जहाँ ऐहिक सुखों का चरमोत्कर्ष सहज सुलभ है, वहाँ कर्मबन्धन से विमुक्ति भी तप से ही सम्भव है। चाहे इन्द्र के सिंहासन की प्राप्ति की कामना हो अथवा आत्मा के अनन्तानन्द को उपलब्ध करने की साध, दोनों तप से ही प्राप्त हो सकती हैं। तप का प्रभाव एवं माहात्म्य भारतीय धार्मिक विचारधारा में इतना माना गया है कि सारे संसार की भौतिक समृद्धि, स्वर्ग के सभी सुख, ब्रह्मलोक के आनन्द-विहार, सुरपुर के दिव्यधाम एवं आत्मा का परमपद केवल इसी से सुलभ है। स्वर्ग और वरदान, मुक्ति और मुक्ति तप के चारों ओर घूम रहे हैं। श्रमण व ब्राह्मण दोनों का जीवन तप पर आधारित रहा है। ब्राह्मणों ने जब सन्यास को वरण किया तो उसमें तप-आराधन की एवं ब्रह्मचर्य की प्रतिज्ञा की थी। और श्रमण-जीवन का तो प्रारम्भ ही तपस्या से होता है।

किन्तु, तप के नाम पर भी इस देश में कम पाखण्ड नहीं हुए। देहपीड़ा और कायक्लेश, अज्ञानक्रिया व मिथ्याप्रपंच, झूठी प्रतिष्ठा और सामाजिक दोष, तप के नाम पर तथा तप की ही आड़ में पनपते व पलते रहे हैं।

भगवान महावीर दीर्घतपस्वी महापुरुष थे। किन्तु, वह तप को जितना महत्त्वपूर्ण मानते थे, उतना ही जोर तप के प्रति ज्ञानमय दृष्टि की स्थापना पर देते थे। विवेक और संयम तथा समता और वैराग्य के द्वारा जब साधक देहासक्ति का उत्सर्ग आत्मशोधन की ओर करता है, तब इच्छानिरोध एवं अन्ननिरोध स्वतः होने लगते हैं और वह शनैः शनैः भौतिक परवशता से स्वतन्त्रता की ओर उन्मुख हो जाता है। वह एक दृढ़ इच्छाशक्ति एवं निष्ठा से समन्वित तेजस्वी पुरुष का काम है।

भगवान महावीर ने तप का विस्तृत विवेचन किया है, जिसमें तप के द्वारा पनपने वाले पाखण्ड एवं तप के द्वारा आत्मसिद्धि दोनों का ही विशद विश्लेषण है। वैचारिक शून्यता के नाते तप को केन्द्रबिन्दु बनाकर किस-किस प्रकार की परम्पराएं उस युग में चल रही थीं, उनका भी जैनशास्त्रों में सविस्तार वर्णन है।

तप के माध्यम से अज्ञान पर ज्ञान की प्रतिष्ठा भगवान महावीर की एक विशिष्ट देन है। उन्होंने स्वयं अपने जीवन में १३ वर्ष की तपोमय साधना द्वारा केवलज्ञान प्राप्त कर इस सत्य का प्रतिपादन किया कि तप में विवेक आवश्यक है और उसी के द्वारा परमतत्त्व प्राप्त हो सकता है।

वस्तुतः भगवान के युग के कई तापस अत्यन्त क्लिष्ट तप करने पर भी परमसिद्धि न पा सके वे तप-पथ पर अग्रसर होते हुए भी अज्ञानावृत थे। औपपातिक सूत्र में गंगा के तट पर बसे कुछ ऐसे वानप्रस्थ तापसों का जिक्र आया है, जिन्हें 'दक्षिणकूलक' या और 'उत्तरकूलक' संज्ञा से सम्बोधित किया गया है अर्थात् गंगा के दक्षिणी और उत्तरी तट पर



रहने वाले। इन तापसो की अनेक श्रेणिया एव भेदोपभेद हैं । कुछ तापस शिकार करते थे और मासाहारी भी थे। कुछ जल पी कर, वायुसेवन कर, केवल कन्दमूल, वृक्ष की छाल, पत्र, मेवाल, पुष्प अथवा बीज खाकर निर्वाह करते थे। इनके स्नान के भी विविध प्रकार थे। यथा कई बार गोता लगाकर स्नान करने वाले, क्षणमात्र मे स्नान कर लेने वाले, मिट्टी घिसकर शरीर साफ करने वाले और बिना स्नान भोजन न करने वाले आदि। कुछ तापस समुद्रतट अथवा वृक्ष के नीचे या जल मे रहते थे।

इसी श्रेणी के एक बहुचर्चित हस्तितापस के रूप मे एक हाथी मारकर वर्ष भर उस पर निर्वाह करने की परम्परा थी और मुनि आर्द्रक से हुए शास्त्रार्थ के अनुसार उन्होंने दावा किया था कि वर्ष मे अपने लिए केवल एक जीव मारने के कारण वे निर्दोष हैं।

औपपातिक के अतिरिक्त अन्य शास्त्रो मे भी उस युग के कुछ तापसो का उल्लेख आया है। जैसे चक्र धारण करने वाले, चण्डी के भक्त, साख्यमत के अनुयायी, दाढी रखने वाले, भिक्षा पर जीवन-निवाह करने वाले, पानी मे ही कल्याण मानने वाले तथा मिट्टी से शुद्धि करने वाले आदि-आदि।

सूत्रकृताग मे आर्द्रककुमार से विभिन्न धर्मावलम्बियो के मिलने का उल्लेख है।

जैन साहित्य के समान बौद्ध साहित्य में भी विविध श्रमण-ब्राह्मणो के तप की चर्चा है, जिनसे उस युग की धार्मिक सकुलता एव जटिलता का आभास होता है।

अन्धकार से प्रकाश की ओर

ऐसे समय भगवान महावीर ने मानवता को अज्ञान के अन्धकार से हटाकर ज्ञानरूपी प्रकाश की ओर उन्मुख करने का प्रयास किया। अज्ञान-तप का खण्डन करते हुए उन्होने कहा कि विवेक-विचार के बिना यह निरर्थक है। विवेकरहित तापस इसी कारण योगभ्रष्ट और तपोभ्रष्ट हो जाते थे। उन्हें कुछ सिद्धिया तो प्राप्त हो जाती थी, परन्तु वे परमतत्व की प्राप्ति मे वचित रहते थे जो तप का चरमलक्ष्य है।

दीर्घकालिक कठोर साधना के १३ वें वर्ष में शुद्ध ज्ञान की प्राप्ति कर भगवान ने तप के द्वारा परमतत्व की प्राप्ति का आदर्श प्रस्तुत किया। इस दौरान उन्होंने ६ मास तक के अनेक तप किये तथा विविध स्थानों पर तप के वास्तविक स्वरूप का प्रतिपादन करते हुए अनेक ऐतिहासिक दृष्टान्त अपने आचरण द्वारा प्रस्तुत किये।

सकल्प

३० वर्ष की अवस्था मे भगवान महावीर ने ग्रहत्याग करते हुए सकल्प किया था कि '१२ वर्ष, मे जब तक मुझे केवल-ज्ञान न होगा, इस शरीर की सेवा-सुश्रूषा नहीं करूगा, देव-मनुष्य या पक्षियो द्वारा आये कष्टों को समभाव से सहन करूगा तथा मन में किंचित् उद्वेग न आने दूगा।

इस प्रतिज्ञा के साथ भगवान साधना-पथ पर अग्रसर हुए। वह सदा ध्यानमग्न रहते और किसी जीव को जरा-सी भी तकलीफ नही होने देते थे। सासारिक पदार्थों के प्रति ममत्व से वह परे थे और अपने व पराये का भाव उनमें किंचित् नही था। सर्वप्रथम वह एक आश्रम मे ठहरे, किन्तु आश्रमवासियो के व्यवहार मे ऊबकर उन्होने उस स्थान का भी परित्याग करने का निश्चय किया। तब उन्होंने ये ५ प्रण किये-अप्रीतिकारक स्थान मे कभी नही रहूगा, सदा ध्यान मे लीन रहूगा, मौन रखू गा, हाथ मे भोजन करूगा और गृहस्थो का विनय नही करू गा। अपना प्रथम चातुर्मास भगवान ने १५-१५ दिन के ८ अर्द्धमास-तप द्वारा व्यतीत किया।

प्रथम और द्वितीय वर्षावास मे भगवान को अनेक यन्त्रणाओ का सामना करना पडा, पर वे जरा भी विचलित न हुए। तृतीय चातुर्मास मे गोशाला नामक एक समकालीन साधु भगवान की तेजस्विता से प्रभावित होकर इनके पास शिष्य की तरह रहने लगा। कर्मो का क्षय करने मे विलम्ब न हो, इस उद्देश्य से भगवान ने अपरिचित क्षेत्र की

ओर विहार करना अधिक उपयुक्त समझा, वह राढ देश गये जो उस समय अनार्य प्रदेश गिना जाता था। आर्य देश से आते देखकर अनार्यों ने उन्हें विविध यातनाएं दीं, किन्तु, सब कष्टों को उन्होंने स्वस्वभाव से समतापूर्वक सहन किया।

छठे चातुर्मास के पूर्व भगवान ने जब कूपिय सन्निवेश से वैशाली की ओर विहार किया तो गोशालक ने उनके साथ चलने से इन्कार करते हुए कहा कि "आप न तो मेरी रक्षा करते हैं और न आपके साथ रहने से मुझे सुख है। आपके साथ कष्ट भी सहना पड़ता है तथा भोजन की चिन्ता बनी रहती है।" तदनन्तर गोशाला राजगृह नगरी की ओर गया और भगवान् वैशाली की ओर।

इसी बीच भगवान् से अलग रहकर गोशाल को अनेकानेक कष्ट झेलने पड़े। भगवान् को खोजते हुए ६ मास पश्चात् शालीशीर्ष में वह पुनः उनसे आ मिला और उनके साथ रहने लगा। शालीशीर्ष से भगवान् ने भद्रिका नगरी की ओर विहार किया और छठा चातुर्मास वहीं व्यतीत किया। वहां चातुर्मासिक तप में योगासनों द्वारा वह निरन्तर आत्मचिन्तन में ही मग्न रहते। तदनन्तर उन्होंने मगध भूमि की ओर विहार किया, जहां आलभिया नगरी में उन्होंने सातवां चातुर्मास किया। आठवां वर्षावास उन्होंने राजगृह में किया तथा वहाँ भी तप के द्वारा आत्मचिन्तन में निमग्न रहे और अनेक प्रकार के तप-अनुष्ठान किये।

कर्मक्षय

भगवान् ने अनुभव किया कि अनेक क्लिष्ट कर्म अभी उनसे चिपके हैं। उन्होंने पुनः अनार्य देश में जाने की ठानी ताकि वहां कोई परिचित न मिले और वे कर्मों के पूर्ण क्षय में सफल हो सकें। इस उद्देश्य से वह राढ देश की शुभ्र भूमि में चले गये। ठहरने का स्थान न मिलने के कारण वह वृक्ष के नीचे या खण्डहर में ही रुककर साधना में लीन रहते। इस प्रकार घूमते हुए उन्होंने नवां चातुर्मास-काल पूर्ण किया। उन्हें अनार्यों से कई यन्त्रणाएं सहनी पड़तीं, किन्तु, क्षमाशील भगवान् के मन में तनिक भी आवेग उत्पन्न न होता। कर्मों का क्षय होते देखकर उन्होंने अलौकिक आनन्द का अनुभव किया और उनकी मुखाकृति कान्तिमान होकर खिल उठी।

६ मास तक अनार्य देश में विचरण कर भगवान् आर्य देश में लौट आये। दसवां चातुर्मास आपने श्रावस्ती में और ११वां वैशाली में किया। इस वर्षावास में अनेक प्रकार के तप करने के साथ उन्होंने कई योग-क्रियाओं की सिद्धि भी की।

तदनन्तर कौशाम्बी जाकर आपने भिक्षा सम्बन्धी यह कठोर अभिग्रह धारण किया कि 'भिक्षा का समय व्यतीत होने पर सिर से मुण्डित, पैरों में बेड़ी पहने दासीपन को प्राप्त, ३ दिन से उपवासी, हंसती और रोती हुई किसी राजकुमारी से उड़द के बाकुले के रूप में भिक्षा मिले तो लेना अन्यथा नहीं लेना। श्रम के पश्चात् चन्दना नामक इतिहासप्रसिद्ध युवती, जो राजकुमारी से दासी में परिणत हो चुकी थी, उड़द के बाकुले लिये उक्त दशा में भगवान् को प्रसन्नवदना दिखाई पड़ी और उसने भगवान् से वह अन्न ग्रहण करने की प्रार्थना की। उसके अभिग्रह में कमी देखकर भगवान् लौट ही रहे थे कि चन्दना की आंखों में निराशा के आंसू आ गये। तब भगवान् ने अपना अभिग्रह पूर्ण जानकर ६ मास में ५ दिन शेष रहने पर चन्दना के हाथों से पारणा किया। यह चन्दना कालान्तर में भगवान् की प्रथम साध्वी बनी और चारित्रधर्म का पालन कर मोक्ष को प्राप्त हुई।

भगवान ने १२ वां चातुर्मास चम्पानगरी के बाहर उद्यान में ध्यानारूढ रहकर किया।

सर्वज्ञ केवली

इस प्रकार अनेक कठोर अभिग्रहों का निर्वाह करते तथा भीषण उपसर्ग सहन करते हुए भगवान् ने करीब साढ़े १२ वर्षों की छद्मस्थ तपश्चर्या में ३५० दिन भोजन किया और शेष दिन निर्जल उपवास के रूप में व्यतीत किये।





जब तप का १३ वां वर्ष चल रहा था तो ग्रीष्मकाल के दूसरे महीने और चौथे पक्ष में वैशाख शुक्ल के १० वें दिन उज्जुवालुका नदी के उत्तरी तट पर एक खेत में शालवृक्ष के नीचे गोदोहिका आसन पर ४ घातिकर्मों का क्षय हो जाने पर भगवान् को केवलज्ञान और केवल दर्शन की प्राप्ति हुई। तब श्रमण भगवान् अर्हत् अर्थात् पूजनीय हुए और राग द्वेषविजेता सर्वज्ञ-केवली बने।

इस प्रकार भगवान् महावीर की तप-परम्परा शुरू हुई। इसकी विशिष्टता यह थी कि तप उनके लिए आत्मोपलब्धि का साधन था, साध्य नहीं। उनके तपोमय जीवन में अनेक प्रकार के अनुष्ठान, विविध योगासन एवविभिन्न योगक्रियाओं के दृष्टान्त मिलते हैं, जिनके द्वारा उन्होंने एक पुद्गल पर निर्निमेष दृष्टि को टिकाये रखने का अभ्यास किया था।

कोई भी साधक जब आत्मसाक्षात्कार के लिए उद्यत होता है तो इस भौतिक देह में से आत्मतत्व की पृथकता का आभास करता है। धीरे-धीरे जब चिन्तन के द्वारा ऐसी प्रतीति हो जाती है कि मैं जडस्वरूप नहीं, वरन् चैतन्यस्वरूप हू तो उसकी पृथक् अनुभूति का साक्षात् करने और उसे पूर्ण रूप से पा जाने के लिए साधक ज्ञान के द्वारा वैशिष्ट्य को स्वीकार करता है। एक-एक भूतत्व के बन्धन से अलग होकर वह आत्मतत्व को कसौटी पर कसकर देखता है तथा जो राग-द्वेषात्मक ग्रन्थियां आत्मा को जड के साथ बाधती हैं, उन्हें वह ज्ञान एव तप के प्रहार द्वारा तोड देता है।

सासारिक व्यक्ति प्राय मानते हैं कि अन्न ही प्राण है—"अन्न वै प्राणा"। किन्तु आत्मवेत्ता पुरुष अन्न को छोड कर आत्मा की उपासना करता है ताकि अन्न के बिना शरीर की अपेक्षा आत्मा की अनुभूति हो सके। अन्न, जल, वायु और अग्नि की पराधीनता से मुक्ति, भूतजगत में रहते हुए भी जीवयोनि की हिंसा से विरत होने तथा पुरातन जन्म-जन्मान्तरों से सम्बद्ध कर्माणुओं का क्षय करने के लिए भगवान् महावीर ने तप को सबसे अधिक महत्व दिया है।

उत्तराध्ययन सूत्र मे आत्मशुद्धि के लिए तप करने का आदेश दिया है। अन्तगड सूत्र मे उन ९० दीर्घतपस्वी महान् आत्माओं की कथा है, जिन्होंने तप के द्वारा आत्मसिद्धि प्राप्त की। ज्ञातासूत्र मे धर्मरुचि अनगार की कठोर तपस्या का वर्णन किया गया है। किन्तु, समग्र जैन वाङ्मय में तप को आत्मोपलब्धि के साधन के रूप में स्वीकार किया गया है, कर्मकाण्ड आडम्बर अथवा प्रदर्शन के रूप मे नहीं।

तप का सार्वभौम माहात्म्य

तप शक्ति, भक्ति और मुक्ति तीनो का केन्द्रबिन्दु है। यह वह शक्ति है, जिसके द्वारा कोई महान सम्भावना वास्तविक रूप धारण करती है। कष्टसहन की पराकाष्ठा से तप का सृजन होता है और यह तप तभी सोद्देश्य है जब इसके द्वारा हम आत्मा के परमतत्व को पा सकें।

ससार के सभी धर्मों में तप का महत्वपूर्ण स्थान है। महात्मा जरथुस्त्र ने १५ वर्ष तक, ईसा ने १८ वर्ष तक और हजरत मूसा ने भी कई वर्ष तक तप के माध्यम से सिद्धि को पाने का प्रयास किया। समूचा बौद्ध वाङ्मय तप के आख्यानों से भरा पडा है। चीन का ताओ धर्म, ताओत्जे जिसके प्रवर्तक थे, कठोर तप का पक्षपाती है। मुसलमानो में रोजे, यहूदियों में तपोनुष्ठान और वैदिक धर्म मे चान्द्रायण आदि अनेक तप-परम्पराए आज भी विद्यमान हैं।

किन्तु, भगवान महावीर यह मानते थे कि जब तक ज्ञानपूर्वक तप नहीं किया जायेगा, तब तक इससे वास्तविक लाभ नहीं हो सकता। विवेक और समता से प्रेरित होकर आत्मसिद्धि के लिए नियमित तप का पालन जिस साधक ने भी किया, उसने परमसिद्धि का अवश्य प्राप्त किया है। परन्तु, जब तक तप के पीछे मानापमान की भावना, कर्मकाण्ड का आग्रह और केवल देह को कष्ट देने की लालसा बनी रहेगी, तब तक इससे वास्तविक लाभ नहीं हो सकता।

भगवान् महावीर तप के अन्यतम शोधक थे। जिस पैनी दृष्टि से उन्होंने तप का विशद विश्लेषण किया है, मानवजाति उससे लाभ उठाये, यही कामना है।

●

समाधि-मरण

श्री सुरेशमुनि शास्त्री,
साहित्यरत्न



मृत्यु एक अनिवार्य तथ्य

जगत् में जीवन है और जीवन के साथ मृत्यु। मृत्यु जीवन के आगे है, पीछे है, अगल-बगल है, चारों ओर है—सर्वत्र व्याप्त है। और जीवन है कि इस मृत्यु के सागर में कमल के फूल की भाँति खिला हुआ है।

जीवन जब नहीं रहता तो मृत्यु होती है, मरण होता है। मृत्यु आती है तो थल का विशालतम जन्तु हाथी भी भू पर गिरता है, न फिर मरता है। वह उठ भी नहीं सकता। उठने की शक्ति भी नहीं होती उसमें और न इच्छा ही होती है। जल में हाथी से कई गुना बड़ा जन्तु होता है ह्वेल। वह भी मृत्यु के विरुद्ध हाथी से अधिक सफलता प्राप्त नहीं कर सकता। जब मृत्यु आती है तो उसे भी मरना होता है, आगे के लिए चलना होता है। जंगल का राजा सिंह है। उसकी एक ही दहाड़ से सचमुच का—जंगल गूंज उठता है और जंगल का प्रत्येक जन्तु थर-थर काँपने लगता है। वह भी तीस-चालीस वर्ष से अधिक मृत्यु को दूर नहीं रख सकता। और तो और, मनुष्य है जो ह्वेल का शिकार करता है, सिंह को पिंजरे में डालता है, हाथी को पालता है, इशारे पर नचाता है। पर, वही मनुष्य एक दिन मृत्यु का ग्रास बन जाता है। मनुष्य ही क्या, स्वर्ग का अधिपति इन्द्र भी, एक दिन अपना सब कुछ परित्याग कर मृत्यु के मुख में समा जाता है। प्राणिमात्र मृत्यु के मुख का ग्रास है।

तो, यह एक निश्चित, स्पष्ट एवं प्रखर सत्य है कि मृत्यु दुर्निवार ही नहीं, अनिवार्य है, वह रोके रुक नहीं सकती। टाले टल नहीं सकती। जीवन के साथ ही व्यक्ति मृत्यु का वारण्ट लेकर आता है। अतः उसे यहाँ रहना नहीं, चलना है, जरूर चलना है। चन्द गिनती के दिन इस दुनिया की सराय में रह लेना है और फिर उठकर आगे की राह पकड़नी है। रहने का नाम जीवन है और चलने का नाम मरण।

जीना भी एक कला मरना भी एक कला

जीवन और मरण के इस सन्दर्भ में, मनुष्य का चिन्तनशील मन इस प्रश्न का समाधान माँगता है कि, क्या ऐसा भी कोई कारगर उपाय है, जिससे हम जीवन के मोर्चे में भी पूरे उतर सकें और मरण के काँटे पर भी खरे उतर सकें? यानी किस ढंग से जिएं और किस ढंग से मरें—जिससे जीवन का मूल्य भी मिले और मरण का शूल भी न चुभे। जीवन और मरण—दोनों ही हमारे लिए वरदान बन सकें।

जैन-संस्कृति अध्यात्म-संस्कृति है, यम-नियम-संयम की संस्कृति है, तप त्याग-विराग की संस्कृति है। यहाँ प्रत्येक बात इसी काँटे पर तुलती है। जैन-संस्कृति की दृष्टि में जीवन भी एक कला है और मरण भी एक कला है। जो व्यक्ति जीवन-मरण की उभय-कला में पारंगत है, निपुण है, वही जीवन का अमर कलाकार है। जैन संस्कृति जीने की कला भी सिखलाती है और मरने की कला भी बतलाती है। जैन-संस्कृति का जय-घोष है "जीने के ढंग से जिओ, मरने के ढंग से मरो, तो तुम्हारे दोनों हाथ लड्डू हैं—जीवन पर भी नियंत्रण और मरण पर भी नियंत्रण—



यहा भी जय और आगे भी जय—यहा भी मगल और आगे भी मगल ।

यो, जीना भी अपने-आप मे कोई महत्वपूर्ण नही और मरण का भी अपने-आप मे कोई मौलिक मूल्य नही। जीवन और मरण का यह मेल तो अनन्त-काल से चलता ही रहा है। क्या मूल्य महत्त्व रहा, इस जीवन-मरण के अनन्त चक्र का ? अत कर्तव्य के लिए जीना है, कर्तव्य के लिए मरना है । सयम के लिए जीना है और सयम के-साधना के पथ पर अचल-अविचल भाव से चलते-चलते ही मरना है । तप, त्याग, विराग, अहिंसा और सत्य की साधना के लिए जीना है, और जीवन की इन्ही साधना-पथ की उच्च भूमिकाओं की छाया मे हसते-मुस्कराते-प्रसन्न-भाव मे आगे चलना है। आत्मा के बोध-परिबोध तथा शोध-परिशोध के लिए रहना है और आत्मा के सस्कार-परिष्कार तथा मार्जन-शोधन करते हुए ही आगे चल देना है । आत्म-पोषण तथा विकार-शोषण के लिए साधनामय जीवन जीना है और इसी आत्म-साधना मे रत-निरत रहकर आगे की मजिल पर कूच कर जाना है।

यह जीवन-मरण तो एक खेल है और तुम खिलाडी हो । जीवन के खेल को भी बाकेपन से, कलात्मक ढग से खेलो और मरण के खेल को भी शान से, ठाठ मे खेलो । न जीवन से चिपको और न मरण से डरो । जिसे न जीवन की आसक्ति और न मरण की आकाक्षा, जीने की स्पृहा और न मरण का भय—वस्तुत उसका जीना ही जीना है और उसका मरण ही सच्चा मरण-समाधि-मरण है ।

अणिस्सिओ इह लोए, परलोए वि अणिस्सिओ ।
जीविय नाभिकखेज्जा, मरण नो वि पत्थए ।

समाधि-मरण की अर्थ-भावना

"समाधि और मरण ' इन दो शब्दो का मेल है—समाधि-मरण । समाधि का अर्थ है—चित्त की एकाग्रता, मन की शान्त-स्थिर वृत्ति और मरण का अर्थ है देह का परित्याग, शारीरिक ममत्व का परिहार । मरण को निकट आया देखकर, अथवा किसी आकस्मिक जीवन-सकट के क्षणो में अनशन-पूर्वक देह-ममत्व तथा उपधि-जीवन की साधन-सामग्री का परित्याग करना ही समाधिमरण का मूलार्थ है । साधक की अन्तरात्मा बोल उठती है-आहार, उपधि देह-सब का मैं मन-वचन-काय से त्याग करता हू —

'आहारमुवहि देह,
सव्व तिविहेण वोसिरिअ ।"

—सथारपइन्ना, ७

इतना ही नही, वह जाग्रत साधक तो अपने-आपको, अपनी अन्तरात्मा को संसार के समस्त पापोंसे विरत कर लेता है । उसके तन का रोम-रोम, मन का कण-कण तथा जीवन का क्षण-क्षण बोल उठता है—भते । हिंसा असत्य, चोरी, मैथुन, परिग्रह, क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष, कलह, अभ्याख्यान—मिथ्यादोषारोपण, पैशुन्य रति-अरति, पर-परिवाद, मायामृषा, मिथ्यात्व शल्य—ये अट्ठारह पाप-स्थान मोक्ष के मार्ग मे विघ्नरूप हैं, बाधक है। इतना ही नही, दुर्गति के कारण भी हैं । अतएव मैं मन, वचन, शरीर से इन सभी पाप-स्थानो का परित्याग करता हू —

पाणाइवायमलिअ, चोरिक्क मेहुण दविणमुच्छं ।
कोह माण, माय, लोह, पिज्ज तहा दोस ।।
कलहं अब्भक्खाण, पेसुन्न रइ-अरइ-समाउत्त ।
परपरिवाय माया-मोस मिच्छत्तसल्ल च ।।
वोसिरसु इमाइ, मुक्खमग्गससग्गविग्घभूआइ ।
दुग्गइ-निबधणाइ, अट्ठारस पावठाणाइ ।।

—सथारपइन्ना, ८-९-१०

तो, यह प्रश्न तथ्य सूर्य के प्रकाश की भांति उजागर एवं स्पष्ट है कि जब साधक जीवन की अन्तिम वेला में अथवा किसी आसन्न मरणान्त अवस्था में इधर-उधर के विक्षेप-विकल्प, माया-ममता, वैभव-विलास एवं लालसाओं से पृथक् होकर अपनी स्वीकृत साधना, आत्म-मन्थन के प्रति एकरूप हो जाता है, और समस्त पाप-ताप-सन्ताप, समग्र आसक्ति-प्रीति से विमुक्त होकर अनशन-पूर्वक देहाध्यास एवं शरीर के मोह-ममत्व का परित्याग कर देता है, तो साधक-जीवन की उस उच्च, पुनीत एवं विशुद्ध स्थिति का नाम है समाधि-मरण। साधना की उस अन्तर्मुख स्थिति में साधक परिवार, घर-बार, जड़-चेतन सभी पदार्थों से-आसक्ति-आकर्षण के धागे पूर्णतः विच्छिन्न कर लेता है। आत्मा, मन, प्राण—अपनी समग्र शक्ति का उस समत्वभावना के साथ एकनिष्ठ तथा एकरस कर देता है। उसे न इस लोक का मोह रहता है, और न ही अगली दुनिया का प्रलोभन आकर्षण शेष रहता है। सब ओर से सिमट कर वह तो आत्मा की विशुद्ध परिणति में रमण करता है। विशुद्ध चरित्र-आत्म-भाव में आत्मा के रमण करने का नाम ही तो समाधि-मरण का तात्त्विक मर्म है

"अप्पा खलु संथारो, हवई विसुद्धचरित्तम्मि ।"

वस्तुतः उस विशुद्ध आत्म स्थिति में साधक समरस-योगी, समत्व-योगी, ध्यान-योगी बन जाता है और उसके अन्तर से यही ध्वनि निकलती है:—

'एगोऽहं नत्थि मे कोइ, नाहमन्नस्स कस्सइ।
एवमदीणमणसो, अप्पाणमणुसासइ।।
एगो मे सासओ अप्पा, नाणदंसणसंजुओ।
सेसा मे बाहिरा भावा, सव्वे संजोगलक्खणा।।
संजोगमूला जीवेण, पत्ता दुक्खपरम्परा।
तम्हा संजोगसंबंधं, सव्वं तिविहेण वोसिरिअं।

—संथारपइन्ना,

—साधक अपनी आत्मा को सीखता है कि, मैं अकेला हूँ, मेरा कोई नहीं है, और मैं भी किसी दूसरे का नहीं हूँ।

ज्ञान, दर्शन, चारित्र से सम्पन्न मेरा आत्मा ही शाश्वत है, सत्य सनातन है, आत्मा के अतिरिक्त अन्य सब पदार्थ संयोगमात्र से मिले हैं।

और, मैंने आत्मा ने आज तक जो भी दुःख भोगे हैं, वह सब इन पदार्थों के संयोग के कारण ही भोगे हैं। अतः मैं उस संयोग-सम्बन्ध का मन-वचन-तन से परित्याग करता हूँ।

समाधि-मरण का मूल दृष्टि-बिन्दु



मृत्यु के आ उपस्थित होने से पूर्व ही, अपनी स्वतन्त्र इच्छा से, सज्ञान अवस्था में संसार का त्याग-परित्याग करने के लिए उद्यत हो जाना वस्तुतः आत्म-शौर्य का लक्षण है। यों तो त्याग और निवृत्ति जीवन में अवश्यम्भावी है। हम त्याग नहीं करेंगे, तो मृत्यु हमसे छुड़ा देगी। हम यहां से नहीं हटेंगे, मृत्यु हमें धक्का मार कर परे कर देगी। संसार में ऐसा होता आया है, ऐसा हो रहा है, ऐसा होता रहेगा। किसी सराय, पराये घर को स्वयं छोड़ देने और कान पकड़कर निकाले जाने में क्या अन्तर नहीं है? परिणाम एक ही है—पर घर का त्याग, सराय का छोड़ना। किन्तु इस परिणाम को जैनसंस्कृति की वरिष्ठ—श्रेष्ठ विचार-परम्परा ने कितना लोक-मंगलकारी, आत्म-हितावह एवं सुखप्रद बना दिया है—समाधिमरण की अध्यात्म-साधना के द्वारा?

और भी स्पष्ट भाषा में कहना चाहूँ तो, यह जानते हुए भी कि, जीवन में कूच का डंका एक दिन बजता ही है, तो हम पचास-साठ, अथवा सत्तर-अस्सी वर्ष के जीवन से स्वयं बोरी-बिस्तर बांधकर पहले से ही उद्यत रहें, तैयारी



करें अथवा तब तक बैठे रहें जब तक कोई हमें घसीटकर आगे फेंक न दे ? यह एक विचारणीय प्रश्न खड़ा है, मानव-जीवन के चौराहे पर और सहस्र मुख होकर माग रहा है अपना समुचित समाधान। जो व्यक्ति इस प्रतीक्षा में बैठा रहता है कि, कोई आकर उसे बाहर धक्का देकर निकाले, वह परले सिरे का ढीठ होगा, दुराग्रही होगा, अड़ियल होगा दूरदर्शी अथवा बुद्धिमान् तो वह कदापि नहीं होगा वास्तव में !

समाधि-मरण, को सयम, तप, त्याग, का रूप देने वाले जैन-सस्कृति के वरिष्ठ विधायकों ने इस तथ्य को हृदयगम तथा स्वीकार कर लिया था कि—यहाँ से चलना तो है—आज नहीं तो कल और कल नहीं तो परसों ! जब चलना ही है, जब कूच की भेरी बजनी ही है, तब यह कहा की बुद्धिमत्ता तथा कौशल है कि, पीछे से कोड़ा या हण्टर ही लगे, तब चलें—स्वय अपने-आप हिलने, उठने, चलने का नाम ही न लें।

समाधि-मरण की स्थिति विवश होकर ससार का त्याग परित्याग करना नहीं, प्रत्युत सज्ञान अवस्था में आन्तरिक प्रसन्न एव स्वतत्र इच्छा से, जीवन का सिरा निकटतम आया जानकर, ससार की आसक्ति, शारीरिक ममता, पारिवारिक मोह तथा सुख-भोग के जाल-जजाल की जड को सदा सर्वदा के लिए काट देना है। यह भयभीत होकर ससार से पलायन करना नहीं, प्रत्युत दृढ साहस, आत्म-शौर्य तथा स्वतत्र इच्छा-पूर्वक जिन्दगी की मजिल पर चलना है, मुक्ति-पथ का यह एक स्वतत्र अभियान है ! पडाव को घर बनाकर बैठे रहना नहीं, प्रत्युत एक पडाव से दूसरे पडाव को चलने के लिए प्रसन्न-भाव से कटिबद्ध होना है ! जो चीज होनी ही है, वह यदि हमारी स्वतत्र इच्छा से हो, इसमें कितना आनन्द तथा उल्लास है ? जब ससार छूटना ही है, तो वह हमारी आन्तरिक इच्छा से ही क्यों न छूटे ? यदि लाख प्रयास करने पर कोई इस विश्व-मच पर जमा रहता, तब तो इससे चिपटे रहने का विचार ठीक भी था। किन्तु, जब यह असम्भव—नितान्त असम्भव है, तब क्यों न वह कार्य स्वय आनन्दात्मक स्थिति में किया जाए ! तप, सयम, शान्ति तथा समाधि के परम लाभ से फिर वचित क्यों रहा जाए ? समाधि-मरण की उच्च उज्ज्वल परम्परा की पृष्ठ भूमि में यही जीवन का सर्वोपरि दृष्टिबिन्दु अन्तर्निहित है !

एव नाणेण चरणेण, दसणेण तवेण य !
भावणाहि य सुद्धाहि, सम्म भावेत्तु अप्पय ॥
बहुयाणि उ वासाणि, सामण्णमणुपालिया !
मासिएण उ भत्तेण, सिद्धि पत्तो अणुत्तर !

—उत्तरा०, १९।९४-९५

और, समाधि-मरण की यह उच्च स्थिति तात्कालिक एव आकस्मिक नहीं है और न यह स्थिति एकदम अधिगत की ही जा सकती है। साधक का यह दृष्टिबिन्दु साधना के उपाकाल से ही प्रारम्भ हो जाता है ! और साधना की परिपक्वता के साथ-साथ यह मनोभाव हृदय की भाव-भूमि में गहरी जड पकडता जाता है ! समाधि-मरण वस्तुत साधक के अन्तर्मन की चिर-पोषित साध की मगल-पूर्ति अथवा पूर्णाहुति है ! जीवन-पर्यन्त साय-प्रात भक्ति-भाव तथा अध्यात्म-रस में भाव-विभोर होकर प्रभु-चरणों में वह यही तो भावना-उद्भावना करता रहा है—हे त्रिलोक बन्धु जिन देव, आपकी चरण-शरण से मेरे दु खों का क्षय, कर्मों का क्षय, समाधि-मरण तथा बोधि की प्राप्ति हो —

"दुक्खखओ कम्मखओ, समाहिमरण च बोहिलाहो य।
मम होउ तिजगबधव तव जिणवर चरणसरणेण ॥

समाधि-मरण-मृत्यु को एक महान चुनौती

जैन-सस्कृति की मौलिक विचारपरम्परा के अनुसार "समाधि-मरण" एक जीवित-जागृत जीवन का अमर प्रतीक है। वास्तव में, साधक की जाग्रत अन्तरात्मा की मृत्यु को यह एक चुनौती है—निर्भीक ललकार है। मृत्यु

को सन्निकट-सम्मुख आया देखकर साधक अपने वज्र स्वर में बोल उठता है-ऐ मौत ! आ, तेरा स्वागत है, प्रसन्न-भाव से स्वागत है । इस जीवन के मोर्चे पर मैं एक धर्म-युद्ध का सेनानी बन कर अपनी इन्द्रियो, मन और जीवन के विचारो से निरन्तर लड़ा हूँ । अहिंसा, सत्य, क्षमा, शील, सन्तोष की धर्म-साधना के मार्ग पर मैं एक साधक के रूप मे चला हू और मानव-जीवन के स्वर्णिम अवसर का मैंने पूरा-पूरा लाभ उठाया है । आत्म-साधना के नाम पर बहुत-कुछ कर लिया है, अब शेष कार्य आगे की मंजिल मे करेंगे—अगले पड़ाव पर चलकर हम फिर अपनी ज्ञान और धर्म, त्याग-वैराग्य की पूर्ति करेंगे। जीवन का तो हमने पूरा-पूरा लाभ उठाया ही है, अब मन की प्रसन्नधारा तथा जीवन के मधुर क्षणों मे तेरा स्वागत करके तुझसे लाभ उठाएंगे—तेरे आगे झुकेंगे नहीं, तुझे ही अपने आगे झुकाएंगे । तेरा पंजा हमें डरा नहीं सकता, दबा नहीं सकता । हमारा पग तो क्या, एक रोम भी लड़खड़ा गड़बड़ा नहीं सकता । हम साधक है, साधना मे रत हैं हम ! तेरे आने से पहले साधना का मार्ग बहुत-कुछ तय कर लिया है ! तेरे आने पर भी हम त्याग विराग, तप ध्यान की साधना मे रत हैं और जीवन की अन्तिम सास तक हम अपनी इस आत्म-साधना मे मस्त-मग्न रहेंगे ! उठ, तू अपना काम कर, हम अपना काम करेंगे । तू आश्चर्य दृष्टि से देखेगी और हम अपनी साधना की मस्ती में झूमेंगे—चेहरे से ही नहीं, अन्तरात्मा से, मन से, रोम-रोम से हम मुस्कराएंगे—अपने जीवन की सफलता और तेरे आगमन की खुशियां मनाएंगे । ऐ मौत आ, हम तेरा भी जश्न (उत्सव) मनाएंगे । न हम जीवन के लिए गिड़गिड़ाएंगे और न भयभीत होकर तेरे आगे जीने के लिए गिड़गिड़ाएंगे । हम तो अपने सच्चे स्वरूप, त्याग-निष्ठा से तुझे भी हक्का-बक्का बनाएंगे और अन्तर्मन की प्रसन्न-मस्त लहरों मे झूम-झूमकर अपनी आत्म-मस्ती का वही अपना चिर-परिचित आत्म-संगीत दोहराएंगे —

> "देह विनाशी, मैं अविनाशी, अपनी गति पकरेंगे ।
> नाशी जासी मैं थिरवासी, चोखे ह्वै निरखेंगे ।
> अब हम अमर भये न मरेंगे ।।"

शायराना रंगत में भी उसका दिल या झूम उठता है —

> "मरने की दुआएं क्यों मांगू-जीने की तमन्ना कौन करे ?
> यह दुनिया हो या वोह दुनिया, अब ख्वाहिशे-दुनिया कौन करे ?
> दुनिया ने हमें छोड़ा जब्बी, हम छोड़ न दें क्यों दुनिया को ?
> दुनिया को समझ कर बैठे हैं, अब दुनिया-दुनिया कौन करे ?"

साधक ही जीवन का आनन्द लूटता है

जीवन के अन्तिम चरण मे "समाधिमरण" की भाव-भूमि पर दृढ़ भाव से पड़ा आत्म-साधक ही वस्तुतः जीवन का सच्चा आनन्द लूटता है ! और साफ-साफ भाषा में कहूं, तो साधक जीवन का तो आनन्द लूटता ही है, वह समाधि-भाव, त्याग-विराग, एवं संयम-तप की साधना में लीन-तल्लीन रहकर मृत्यु की घड़ियों मे भी वास्तविक आनन्द की अनुभूति का रसास्वादन करता है ! उसका जागरूक तथा चिन्तनशील मन सोचता है—जब बरबस एक दिन सब कुछ छोड़ना ही है तो फिर अपनी स्वतन्त्र इच्छा से प्रसन्न-भाव की तरंग मे संसार के मोह, शरीर की ममता, और जीवन-मरण की आसक्ति के जाल को मूलतः उच्छिन्न करके त्याग-तप की मस्ती का मजा क्यों न लूटें ? समाधि-मरण के मस्त मधुर क्षणों मे साधक इसी समाधि-भाव और आत्म-मस्ती के सच्चे आनन्द का उपभोग करता है, सुख-चैन की वंशी बजाता है । मृत्यु के आने पर दुःख का काटा चुभ ही नहीं पाता । जीवन में दुःख सारा मोह-ममता तथा आसक्ति का ही तो है। और अपने अन्तस्तल से इस मोह-ममता तथा भोगाकांक्षा के कांटे को पहले ही निकाल फेंकता है। अपने अन्तर्जगत् की भाव-भूमि में से ममता-तृष्णा के वह सब विष-दन्त उखाड़ डालता है और जीवन की निर्द्वन्द्व-निर्मम स्थिति मे आत्म-समाधि के अक्षय-अनुपम आनन्द का साक्षात्कार करता है। जीवन-मरण के प्रति निरीह-अनासक्त रहकर आनन्द के झूले पर झूलता है ।



आखिर तो संसार छोड़ना ही पड़ता है । हर कोई छोड़ता ही है । पर, समाधि-शान्ति के क्षणो मे रमण



करने वाला साधक तो जीते-जी ही 'मरण' का मजा लूटता है और पल्ला झाड़कर दुनिया से मुंह मोड़ने तथा काया के पिंजरे को छोड़ने के लिए प्रसन्नतापूर्वक उद्यत, कटिबद्ध हो जाता है। मरण-वेला में भी साधना-समाधि के रंग में गहरा डूब जाता है। बात भी ठीक है। मृत्युरूपी कल्पवृक्ष के उपस्थित होने पर जिसने आत्म-हित का साधन न किया, वह जन्म के कीचड़ में फंसा हुआ बाद में भला क्या करेगा?

"मृत्युकल्पद्रुमे प्राप्ते, येनात्मार्थो न साधित ।
निमग्नो जन्म-जम्बाले, स पश्चात्किं करिष्यति ?"

—आचार्य समन्तभद्र, रत्नकरण्डश्रावकाचार

मोह-ग्रस्त अज्ञानी व्यक्ति मृत्यु को सामने आया देखकर त्रास खाता है, गिड़गिड़ाता है, रोता है, आंसू बहाता है, परन्तु त्यागी, विरक्त, ज्ञानी साधक मृत्यु के आने पर भी हर्ष-विभोर हो उठता है। आनन्द की मस्ती में झूम जाता है! वह मृत्यु से डरे और लड़खड़ाए भी क्या? डरेगा वह, जिसने अन्धकार में जीवन गुजारा है! रोएगा वह, जिसने जिन्दगी का दीवाला निकाला है। गिड़गिड़ाएगा वह, जिसका चित्त संसार की मोह-ममता में आसक्त है। जो अपना जीवन प्रकाश में लेकर चला है, जो पग-पग पर सतर्क होकर साधना के मार्ग पर चला है, जिसने जीवन में त्याग, विराग, संयम, तप, धर्म-भावना भक्ति और ज्ञान की भरपूर कमाई की है, जीवन को आत्म-ऐश्वर्य से समृद्ध बनाया है, वह तो मृत्यु को देखकर भी प्रसन्नता से नाच उठता है, मुदित-मुग्ध हो जाता है उसका मन—

"संसारासक्तचित्तानां, मृत्युर्भीत्यै भवेन्नृणाम् ।
मोदायते पुनः सोऽपि, ज्ञान-वैराग्य-वासिनाम् ।।"

—समन्तभद्र, रत्नकरण्डश्रावकाचार

"समाधि-मरण" आत्म-हत्या नहीं, आत्म-संजीवन है

जैन-संस्कृति का जीवन के सम्बन्ध में यह तथ्य-पूर्ण विचार रहा है कि, मानव-जीवन एक अमूल्य थाती है। आत्म-उत्कर्ष एवं जीवनविकास की सर्वोच्च परिणति के लिए यह अमूल्य-अलभ्य एवं स्वर्णिम अवसर है। मनुष्य को जीवन जीने के लिए मिला है। अतः जिओ, आनन्दपूर्वक जिओ, पूरा जीवन जिओ। उच्च आदर्शों के लिए, यम-नियम-संयम तथा त्याग-विराग तप के अनुष्ठान के लिए जीवन के कण-कण और क्षण-क्षण का उपयोग करो! समग्र जीवन जीने का तुम्हारा जन्मसिद्ध अधिकार है। मरने की जल्दी मत करो। जल्दी मरकर लेना भी क्या है? यों ही मरने से हाथ भी क्या आता है? जहर की पुड़िया लेकर, पर्वत-शिखर अथवा किसी मीनार से छलांग लगाकर, नदी, नाले, कूप, अग्नि-कुण्ड में कूदकर, गले में फांसी लगाकर जीवन को होम देना, समाप्त कर देना अपने आप में धर्म नहीं, अधर्म है, कोरा अधर्म है, एक महान पाप है।

किन्तु, मरण-वेला अथवा धर्म-संकट के आने पर धर्म की शरण ले लेना, आत्मनिष्ठा एवं धार्मिक आस्था के साथ अनशनपूर्वक देह का त्याग कर देना, संसार की ममता, मूर्च्छा का परित्याग कर देना अपने आप में धर्म है, एकान्त धर्म है, शाश्वत धर्म है। वह अपने आपमें हत्या नहीं, प्रत्युत एक उज्ज्वल समुज्ज्वल त्यागनिष्ठा का प्रतीक है। और इसीलिए वह साधकजीवन के लिए स्पृहणीय अथ च अभीष्ट है।

कुछ विचारकों को साधनामय जीवन के प्रतीक स्वरूप इस समाधिमरण की भावना में से आत्महत्या की बू आती है। उनकी दृष्टि में यह शरीर के प्रति अन्याय एवं बलात्कार है, आत्म-पीड़न तथा आत्महनन है। किन्तु गहराई से विचार करने पर उनका यह विचार नितान्त भ्रामक एवं अतात्त्विक ही प्रतीत होगा। जैनसंस्कृति के महान उन्नायकों की तो यह स्पष्ट घोषणा है कि आत्महत्या महापाप है, एक अविचारपूर्ण एवं जघन्य कर्म है। परहत्या की भाँति आत्महत्या भी कोरा अधर्म है, नरक की राह है। आत्महत्या करना जीवन से पलायन करना है, भागना है। आत्मघाती कोरी भावनाओं के लोक में संचरण करता है। वह जीवन के यथार्थ की ओर खुली आंखों से नहीं

देखता। साधक तो न जीवन की आकांक्षा करता है और न मरने की कामना करता है। वह जीवन और मरण दोनों में ही आसक्ति नहीं रखता —

"जीवियं नाभिकंखेज्जा मरणं नो वि पत्थए।
दुहओ वि न सज्जेज्जा, जीविए मरणे तहा॥

—आचारांग, १।८।८।४

भला जीवन-मरण के प्रति जिस संस्कृति की यह प्रशस्त प्रेरणा एवं दिव्य धारणा रही है, वह समाधिमरण के माध्यम से आत्म-हत्या का विधान कैसे कर सकती है? समाधिमरण की पृष्ठभूमि में आत्म-घात का कोई कारण भी तो दृष्टिगोचर नहीं होता। जिस व्यक्ति ने जीवन में कोई बड़ा अपराध किया हो, बलात्कार किया हो, दूसरे का घात किया हो, जिसकी प्रतिष्ठा तथा व्यक्तित्व पर सार्वजनिक धब्बा लग गया हो, महत्त्वाकांक्षाओं पर तुषारापात होने के कारण जो जीवन में पूर्णतः निराश-हताश हो गया हो, वह आत्म-हत्या कर बैठता है। अतिशय महत्त्वाकांक्षी, अत्यन्त परिग्रही तथा विकट क्रूर व्यक्ति भी आत्म-घात के कगार पर पहुंच जाते हैं। तुच्छ स्वार्थों की अतिशय लालसा की पूर्ति न होने तथा दरिद्रता के भार को न ढो सकने के कारण भी मनुष्य आत्म-हत्या के तट पर आ खड़ा होता है। उसकी मानसिक वेदना इतनी दुःसह होती है कि उसमें भार का बोझ एक पल को ढोते नहीं बनता।

समाधि-मरण' की परम पुनीत साधना-परम्परा के मूल में तो उपर्युक्त कारणों में से एक भी कारण उपलब्ध नहीं होता। वह स्वयं पाप से अपराधी नहीं होता। वह तो अपराधों की जड़ को ही काट देता है। वहाँ जीवन अथवा भविष्य के प्रति निराशा नहीं होती। वहाँ तो साधक के अन्तर्मन में प्रतिक्षण आशा का प्रकाश जगमगाता है। उसके मानस-लोक के ऊपर आतुरता नहीं, प्रत्युत समरसता व्याप्त रही होती है। वह जीवन का भार नहीं ढोता, किन्तु जीवन का स्वतन्त्र एवं शान्तिपूर्ण स्थिति स्वतन्त्र जीने के ढंग से जीता है। वह मरने की जल्दी में भी नहीं होता। वह तो जीवन और मरण के बीच के क्षणों पर आनन्द में रमता है।

यह ठीक है कि "समाधि मरण" में कायक्लेश की उग्रता तो अवश्य होती है। शारीरिक कष्ट तो अपने-आप ही प्रतीत होता है उस में। किन्तु, यह कष्ट भी आत्मा का कष्ट मिटाने, भावी जीवन को सुखमय बनाने की दृष्टि से महाफलदायी है —

'देहदुक्खमहाफलं"। —दशवैकालिक, ८

वस्तुतः भावी आत्म-सुख की उपलब्धि की लीनता में वर्तमान दुःख भूल जाता है, वह उस दुःख को भी अपने आत्म-विवेक से सुख रूप में परिणत कर लेता है। उसका दैहिक कष्ट भी अध्यात्म दृष्टि के कारण संयम-त्याग-तप का रूप पकड़ लेता है। जैसे वैद्य अथवा डाक्टर के द्वारा किया जाने वाला व्रणच्छेद – फोड़े का आपरेशन पीड़ाकारी होते हुए भी आरोग्य का निमित्त होने से निर्दोष होता है वैसे ही संयम एवं धर्म के हेतु की जाने वाली प्रवृत्ति भी निर्दोष होती है —

"संजमहेऊ जोगो, पउज्जमाणो अदोसवं होइ।
जह आरोग्गणिमित्तं, गंडच्छेदो व विज्जस्स॥

—बृह० भा० ३९५१

"समाधि-मरण' की धर्म-साधना अथवा दैहिक पीड़ा सहने के लिए नहीं, प्रत्युत मरण का राग मिटाने के लिए प्रसन्न एवं स्वतन्त्र मनोभाव से की जाती है, अतः वह एकान्त धर्मरूप है, संयम रूप है, त्याग रूप है। भला कोई फोड़े का आपरेशन उसकी पीड़ा सहने के लिए सहन करता है? फोड़े की पीड़ा मिटाना तथा सुख-शान्ति प्राप्त करना ही वहाँ व्यक्ति का एक मात्र उद्देश्य होता है—अतः वह पीड़ा और दुःख भी सुख रूप ही है —





भरणपडियारभूआ एसा, एव च ण मरणणिमित्ता।
जह गडच्छेअकिरिआ, णो आयविराहणारुवा॥

—द० औ० नि० च० १

और फिर, "समाधि-मरण" की साधना मे अन्तर्लीन साधक तथा आत्मघाती विराधक की जीवन-धारा, भावना, दृष्टि तथा लक्ष्यबिन्दु मे तो आकाश-पाताल का-सा अन्तर होता है। "समाधिमरण" की वेला मे साधना की अध्यात्म-दृष्टि तथा अन्तर्भावना इतनी निर्मल एव विशुद्ध होती है कि त्याग-तप एव विशुद्ध आत्म-परिणति के द्वारा वहा साधक की आत्मा का मैल कटता-छटता है, अन्तर्जीवन प्रति-क्षण उज्ज्वल निर्मल होने लगता है, इधर-उधर के समस्त विकल्पो तथा समस्त सम्बन्ध बन्धनो से विमुक्त होता है। गहरी आत्म-समाधि की भाषा मे साधक सोचता है-मै विशुद्ध स्वरूप ही हू। शेष अन्य पर है, पराये है। यह विशुद्ध आत्म निष्ठा मोह की जटिल ग्रन्थि को खोलती चलती है। सचमुच उस स्थिति मे साधक शरीर, उपधि, ससार, वैभव-ऐश्वर्य से पूर्णत निर्मोह हो गया होता है। अत "समाधिमरण" विशुद्ध आत्म-योग है, विशुद्ध-सयम-योग है, सर्वथा शुद्ध ध्यान-योग है—वीतराग परिणति की पराकाष्ठा है यह।

इसके विपरीत, आत्म-हत्या करने वाले व्यक्ति की मन-स्थिति परिस्थिति गहरे-घने मोह की होती है। आर्त एव रौद्र परिणति के कारण वह क्रूर कर्मो का बन्धन अपने ऊपर डाल लेता है। वहा तो जीवन की, ससार की, एकान्त आसक्ति ही आसक्ति है। समाधिमरण मे आत्म-स्वरूप का दिव्य प्रकाश है, तो आत्म-हत्या मे मोह-ममता का गहन अन्धकार है। समाधिमरण आत्म-जीवन है, सद्गति का कारण है, तो आत्मघात जीवन का विनाश है, सद्वृत्तियों का पूर्णत ह्रास है, दुर्गति का विधायक है। समाधिमरण आत्म सजीवन है, तो आत्महत्या आत्म-पीडन है। समाधि-मरण अमृत है तो आत्महत्या हलाहल विष है। समाधिमरण अपने बल, वीर्य, धृति तथा पुरुषार्थ का मोक्ष-अभियान के लिए अधिक से अधिक सदुपयोग है, तो आत्महत्या जीवन की समस्त शक्तियो का एक साथ दुरुपयोग है।

समाधि-मरण साधनामय जीवन का एक सफल परीक्षण

सक्षेप मे, 'समाधिमरण" धर्म-प्राण साधक के जीवन का एक सफल परीक्षण है। साधक-सिंह की यह अपनी देह पर विजय है, इन्द्रियो पर विजय है, मन पर विजय है, आसक्तिमूलक समस्त विकार-वासनाओं पर विजय है। आत्मा पर विजय है, इस लोक पर विजय है, परलोक पर विजय है। साधनामय जीवन का यह एक वीरतापूर्ण मुक्ति-अभियान है। साधक की दृष्टि मे यह मृत्यु नही मृत्यु के प्रति एक विजय-अभियान है, एक नए जीवन का आह्वान है। मृत्यु को भी जीवन के रूप मे परिवर्तित करने की एक धर्म-यात्रा है। शायरी की भाषा मे यह तो साधक के लिए मौत मे भी जिन्दगी का पैगाम है। भाव विभोर होकर साधक का रोम-रोम गा उठता है —

"मुबारक जिन्दगी के वास्ते दुनिया को मर मिटना।
हमे तो मौत मे भी जिन्दगी मालूम देती है॥
मौत जिसको कह रहे वो जिन्दगी का नाम है।
मौत से डरना-डराना कायरों का काम है॥

●

जैनदर्शन में नीतिशास्त्र

श्रुतिशील शर्मा

एम० ए० शास्त्री, तर्कशिरोमणि



'दृश् दर्शने"—धातु से निष्पन्न हुए दर्शन शब्द का अर्थ बहुत व्यापक है। व्यापक इस दृष्टि से कि उसमें प्रायः सभी प्रकार के ज्ञानों का समावेश हो जाता है। इसलिए प्राचीन दार्शनिक परिभाषा में सभी ज्ञान विज्ञानों को दर्शन कहा गया है। 'दर्शन' का वास्तविक अर्थ है "तत्त्वतत्त्व का साक्षात्कार।" मनुष्य सामारिक विषय-वासनाओं से असन्तुष्ट होकर एक ऐसे तत्त्व की शरण में जाना चाहता है, जहाँ उसे शाश्वत सुख की प्राप्ति हो। इसी असन्तुष्ट भावना एवं शाश्वत सुख-प्राप्ति की अभिलाषा ने दर्शन को जन्म दिया। यही आगे जाकर एक पृथक् शास्त्र बन गया। इस शास्त्र में मनविषयक, आचारविषयक आदि सभी ज्ञानों का समावेश होता था, पर आगे जाकर जब इन विषयों पर पृथक् पृथक् रूप से चिन्तन विचार किया जाने लगा, तो इस दर्शनशास्त्र की शाखायें भी विभिन्न हो गई। मन सम्बन्धी बातों का विचार मनोविज्ञान के अन्तर्गत किया जाने लगा, आत्मा-परमात्मा सम्बन्धी बातों का विचार अध्यात्मशास्त्र (Metaphysics) के अन्तर्गत होने लगा, इसी प्रकार आचार या व्यवहार का विचार आचारशास्त्र के अन्तर्गत होने लगा। यही आचारशास्त्र दार्शनिक परिभाषा में "नीतिशास्त्र" कहा जाता है, अंग्रेजी में इसके लिए "ईथिक्स" (Ethics) शब्द है। प्रायः हर धर्म या दर्शन के अन्दर इस शास्त्र का अपना प्रधान स्थान होता है, अथवा यह कहना अधिक उपयुक्त होगा कि इस शास्त्र के बिना किसी दर्शन का खड़ा करना बिना नींव के महल खड़ा करने के समान है। अतः जिस धर्म में यह शास्त्र जितना विस्तार होगा, उतना ही वह धर्म दृढमूल होगा।

जैन दार्शनिक इस तथ्य से भलीभाँति परिचित थे, इसीलिए इस शास्त्र पर उन्होंने अत्यधिक जोर दिया। विशेषतः जैन और बौद्धदर्शन में आचारशास्त्र का बहुत वर्णन है। जैन का अध्यात्मवाद भी नीतिशास्त्र से प्रभावित है। डॉ० राधाकृष्णन् अपने ग्रन्थ में लिखते हैं—

In metaphysics Jainism is opposed to all theories which do not emphasis ethical responsibilities[1]

मनुष्य के स्वतन्त्र कर्तृत्व में नीतिशास्त्र का अपना एक महत्वपूर्ण हिस्सा है। मनुष्य हर तरह के कर्म करने के लिए स्वतन्त्र है। स्पष्ट शब्दों में हम यह कह सकते हैं कि जैनदर्शन के अनुसार मनुष्य अपने भाग्य का स्वयं निर्माता है, भाग्य मनुष्य का निर्माता नहीं। परमात्मा के द्वारा ससार की उत्पत्ति अथवा प्रकृति के अन्दर से ससार का विकास अथवा इस ससार के विनाश आदि सिद्धान्तों पर जैन दार्शनिकों ने इसी कारण खण्डनात्मक टीका की है कि यह सभी विषय भाग्यवाद पर ही निर्भर रहते हैं। जैननीतिशास्त्र के अनुसार मनुष्य का एक मात्र उद्देश्य दुःखों से मुक्ति पाना ही है। जिन पदार्थों से दुःख की निवृत्ति नहीं होती, जैननीतिशास्त्र की दृष्टि से उन पदार्थों का कोई मूल्य नहीं। यह प्रकृति अथवा परमात्मा मनुष्यों के दुःखों का निवारण नहीं कर सकते, इसीलिए जैननीतिशास्त्र में इनका कोई महत्व नहीं।[2] इस ससार में कोई गरीब है, दुःखी है तो कोई धनी है, सुखी है, इस प्रकार ससार में

१ Indian Philosophy Ist Vol P 317

२ सूत्रकृताग—१।१।३।५-६



विभिन्नता दृष्टिगोचर होती है अतः यह मानना कि किसी बुद्धियुक्त तत्व ने पंच महाभूतो को उत्पन्न करके इस विभिन्नता से युक्त ससार को उत्पन्न किया, नीतिशास्त्र की दृष्टि से बिल्कुल निरर्थक है।[1] यदि यह कहा जाए कि आत्मा तो उदासीन है, अतः इस ससार की विभिन्नता मे आत्मा का कोई सम्बन्ध नहीं, तो इस प्रकार के कल्पनाजन्य सिद्धान्तो मे नैतिक सिद्धान्तो का मूल्य ही क्या रह जाता है ?[2] उदाहरणार्थ —प्रश्न है कि एक मनुष्य उत्तम कर्म क्यो करे ? उत्तर है पुण्य के लिए। पुण्य का प्रलोभन ही मनुष्य को उत्तम कर्म करने के लिए प्रेरित करता है। फिर प्रश्न उठता है कि पुण्य का प्रयोजन क्या है ? उत्तर मिलता है -सुख की प्राप्ति। सुख की प्राप्ति के लिए पुण्य के सचयार्थ मनुष्य उत्तम कर्म करने की तरफ प्रेरित होता है। पर यदि आत्मा का सुख या दुःख मे कोई प्रयोजन ही न हो अथवा कहा जाये कि सुख दुःख दोनो मे वह उदासीन है तो दुःखो मे मुक्त होने का वह प्रयत्न ही क्यो करे और उस अवस्था मे वह पुण्य सचय के लिए उत्तम कर्मो की तरफ प्रेरित ही क्यो हो ? और तब नैतिक सिद्धान्तो का मूल्य ही क्या रह जाएगा ?

नीतिशास्त्र के सिद्धान्तो पर दूसरा आक्रमण जिसने किया है, वह है भाग्यवाद। प्रश्न उठता है कि यदि यह ससार परमात्मा ने बनाया है तो वह इतना पक्षपाती क्यो है कि एक आदमी तो सुखो मे लोट रहा है जब कि दूसरा जिन्दगी भर दुःखो का बोझ लादे येन-केन प्रकारेण जी रहा है। इसका उत्तर भाग्यवादी देते हैं कि यह तो अपना अपना भाग्य है। पर इस भाग्यवाद मे नैतिक सिद्धान्त बेकार हो जाते है। यदि भाग्य ही मनुष्य के सुख-दुःखो का निर्णायक है, तो मनुष्य कर्मो को करने का प्रयत्न क्यो करे ? यदि भाग्य मे होगा, तो बिना कर्म किए ही सुख मिल जाएगा। भाग्य मे नही होगा, तो हजार प्रयत्नो के बावजूद भी वह सुख मिलने वाला नही है, तो फिर मनुष्यो के प्रयत्नो की नैतिक दृष्टया कीमत ही क्या रही ?[3] पर नीतिशास्त्र मे कर्मो का बडा भारी महत्व है। नीतिशास्त्र के अनुसार कोई भी मनुष्य अपने कर्मो के आधार पर अपने को बना या बिगाड सकता है।[4] इस विषय मे डॉ० राधाकृष्णन् के विचार मननीय है—

The fatalist Theory (भाग्यवादी सिद्धान्त) that all things are fixed by nature, obviously leaves no room for individual effort Ethical values require that the individual can make or unmake himself in the world and the soul has a self identity, which it preserves even in the ultimate condition[5]

जैननीतिशास्त्र कर्मवादी है, भाग्यवादी नही। उसके अनुसार कोई भी मनुष्य अपने कर्मो के आधार पर 'अर्हत्' बन सकता है। मनुष्य के अन्दर योग्यता रहती है, ज्ञान रहता है, पर वह अज्ञान से ढका रहता है, यही दुःखो का कारण है। अतः यदि इन दुःखो मे कोई मुक्ति पाना चाहे तो उसे चाहिए कि वह प्रथम अपनी आत्मशक्ति से इन सासारिक विषयो पर विजय प्राप्त करे। जब आत्मा अपने को गिराने वाले दुर्गुणो से ऊपर उठ जाती है, तब वह उस स्थान पर पहुच जाती है कि जहा मुक्तात्मायें रहती है। मनुष्य की अन्तरात्मा का उत्तम मार्ग मे प्रेरित करना ही मुक्ति का एकमात्र उपाय है। ये कर्म ही है जो मनुष्यो को उन्नत अथवा अवनत करते हैं।

कर्म सिद्धान्त

जैनशास्त्रो मे कर्म-सिद्धान्त पर बडे विस्तार से विवेचना की गई है। जीव अपने कर्मो के गुणदोष के आधार पर ही देव, नारक, मनुष्य या जानवर बनता है। जब मनुष्य के पिछले कर्मो का विनाश हो जाता है और

---

१ सूत्रकृताग—१।१।१।७-१०, ११-१२, २।१।१६।१७
२ उपर्युक्त—१।१।१।१३
३ उपर्युक्त—१।१।२।१-५
४ उपर्युक्त—१।१।३।१।१
५ Indian Philosophy, I Vol P 312

तरह कर्म भी निरुद्ध हो जाते हैं, तब जीव निष्कर्म होकर मुक्तात्मा बन जाता है। पर इस स्थिति तक पहुंचने के लिए ही जीव को नैतिकता की आवश्यकता होती है। जैनागमों में आठ तरह के कर्मों का वर्णन है, जिनमें से चार घातिक कर्म हैं जो आत्मिक गुणों का विनाश करते हैं—

(१) ज्ञानावरणीय—यह कर्म सत्यज्ञान को ढक कर मनुष्यों को अज्ञान की ओर प्रेरित करता है। सत्य का मुख हमेशा ढका रहता है, उस उसे कोई-कोई ही जान पाता है। ईशोपनिषद् के ऋषि का कथन है—

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।
तत्त्वं पूषन् अपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये॥

"हे पूषा देव! सत्य का मुख मोह के ढक्कन से ढंका हुआ है, उस उसे तू हटा दे, ताकि हम सत्यधर्म का दर्शन कर सकें।" वस्तुतः यह ज्ञानावरणीय कर्म ही वह जाने का ढक्कन है, जिससे सत्यतत्त्व ढका हुआ है।

(२) दर्शनावरणीय—यह कर्म सत्यदर्शन को रोककर मनुष्यों को भ्रान्ति युक्त एवं असत्यमार्ग का दर्शन कराता है। निद्रा आदि प्रमाद इसी दर्शनावरणीय कर्म का परिणाम है। इस कर्म से प्रेरित होकर जीव इस संसार में इधर उधर भटकता रहता है।

(३) अन्तराय—यह कर्म सुख और दुःख का उत्पादक है। आत्मा वस्तुतः अनन्त वीर्यमय है, आनन्दमय है। उपनिषद् का ऋषि कहता है—"आनन्दात् एव इमानि भूतानि जायन्ते, आनन्देन जातानि जीवन्ति, आनन्दं एव प्रयन्ति अभिसंविशन्ति" अर्थात् ये सब प्राणी आनन्द से ही उत्पन्न होते हैं, आनन्द से ही जीवित रहते हैं और अन्त में आनन्द में ही लीन हो जाते हैं। इस प्रकार आत्मा का स्वभाव आनन्दमय ही है, पर जब वह इन कर्मों से प्रभावित होता है, तब वह अपने मूल स्वभाव को छोड़कर सुख और दुःख का अनुभव करने लगता है। पर जब वह उस अन्तिम तत्त्व का दर्शन कर लेता है, तब वह वीतराग होकर इन सुख-दुःखों से ऊपर उठकर अपने मूल स्वभाव आनन्दमयता का दर्शन करने लगता है और उसकी अनन्तशक्ति प्रकट हो जाती है।

(४) मोहनीय—आत्मा के प्रत्येक सत्य श्रद्धा एवं उत्तम व्यवहार की तरफ ही होते हैं, पर कुछ कर्म ऐसे भी होते हैं, जो इसे उसकी श्रद्धा और सद्व्यवहार के मार्ग से भटका देते हैं, ऐसे कर्मों को जैनागम में "मोहनीय" कहा गया है।

चार अघातिक कर्म भी जीव में नाना प्रकार के विकार उत्पन्न करते हैं किन्तु घातिक कर्मों की तरह नहीं, अतएव यहां उनका उल्लेख नहीं किया जाता है।

इस प्रकार इन आठ तरह के कर्मों के कारण आत्मा इस संसार में अनेक प्रकार के सुख-दुःखों को भोगता है। इन्हीं कर्मों के विपाक के विनाश एवं भविष्यत् कर्मों के निरोध के लिए नीतिशास्त्र की आवश्यकता होती है। डॉ० राधाकृष्णन् के शब्दों में—

The apparatus of morality is necessary to bring about the reformation of man's nature and prevent the formation of new karma[1]

नैतिक सिद्धान्तों का आचरण करके मनुष्य इन कर्मों से छूट सकता है। मनुष्य कर्मबन्ध के कारणभूत जो कर्म करता है, उन कर्मों को जैनागम में "आस्रव" कहा है। "द्रव्यसंग्रह" के टीकाकार श्री नेमिचन्द्र के अनुसार ये आस्रव भावास्रव और कर्मास्रव या द्रव्यास्रव रूप में दो प्रकार के हैं। मनुष्य जो कुछ सोचता है, वह भी एक तरह की मानसिक क्रिया ही है। इस मानसिक क्रिया के परिणामस्वरूप जो कर्म आत्मा के साथ बद्ध होते हैं वे "भावास्रव" कहलाते हैं। कर्मपरमाणुओं का आत्मा में आना द्रव्यास्रव या कर्मास्रव है। इस प्रकार आस्रव निरन्तर होता रहता है। जिन कर्मों का फल भोग लिया जाता है, वे नष्ट हो जाते हैं। इसे जैन परिभाषा में "निर्जरा" कहते हैं। मनुष्य

१ Indian Philosophy. I Vol P 325





यदि चाहे तो मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मन पर्यायज्ञान और केवलज्ञान इन पाच प्रकार के सत्यज्ञानो की महायता से आस्रव-कर्मों का निरोध कर सकता है और इस प्रकार कर्म के बधनो से छूटकर निर्वाण का अधिकारी बन सकता है। श्री उमास्वाति कृत "तत्वार्थसूत्र" मे इन पाच प्रकार के ज्ञानो की विवेचना विस्तार मे की गई है।

यदि मनुष्य इन सासारिक दुखो से मुक्ति पाना चाहता है, तो उसे चाहिए कि वह "त्रिरत्न" का आचरण करे। वे "त्रिरत्न" ये है—

(१) सत्य तत्त्व मे विश्वास
(२) सत्य का ज्ञान
(३) शुद्ध चरित्र

इसी "त्रिरत्न" को 'पचास्तिकाय' के रचयिता ने सत्यमार्ग, सत्यज्ञान और सत्यचरित्र के शब्दो मे व्यक्त किया है। "वास्तविक तत्व की सत्ता मे श्रद्धा रखना ही सत्यमार्ग है। तात्त्विक प्रकृति का सशयातीत ज्ञान ही सत्यज्ञान है और सासारिक विषयो की ओर से उदासीन होकर ऐषणाओ से रहित होना ही सत्यचारित्र्य है।"[1] ये तीनो मिलकर एक ही मार्ग को प्रकाशित करते हैं।

छान्दोग्योपनिषद् मे महर्षि याज्ञवल्क्य कहते है—"भूमा वै सुख नाल्पे सुखमस्ति।" सासारिक दु खो से मुक्त कराकर भूमा सुख या शाश्वत आनन्द को प्राप्त करना ही दर्शनो का मुख्य उद्देश्य है। यही उद्देश्य जैनदार्शनिको के सामने भी था। पर इस दर्शन की विशेषता यह है कि जहा अन्य दर्शनो ने अध्यात्मशास्त्र पर ज्यादा जोर दिया, वहा जैनदर्शन ने नीतिशास्त्र के सिद्धान्तो पर भी उतना ही बल दिया है। जैनदार्शनिक इस बात से अच्छी तरह परिचित थे कि नि श्रेयस् का लाभ मनुष्य के अभ्युदय पर ही निर्भर है। सरल शब्दो मे यह कहा जा सकता है कि वह मनुष्य, जिसका इहलोक बिगडा हुआ है, निर्वाण का अधिकारी कभी भी नही हो सकता। और यह लोक सदाचार और सद्-व्यवहार से ही सुधर सकता है। इसी कारण दूरदर्शी जैनदार्शनिको ने आचारशास्त्र पर ज्यादा जोर दिया।

पाच महाव्रत

जैनदर्शन के अनुसार पाच महाव्रतो का विस्तार ही समग्र नीतिशास्त्र का मूलाधार है। वे पाच महाव्रत इस प्रकार हैं—

(१) अहिंसा—यह अहिंसा न हिंसा के रूप मे केवल निषेधात्मक ही नही है, उसका एक विधेयात्मक रूप भी है और वह है—"सब प्राणियो के प्रति दया करना।"

(२) सत्याचरण—कायेन, मनसा और वाचा कभी भी असत्याचरण न करना।
(३) सम्मान्य व्यवहार—कभी चोरी न करना, दूसरो को कष्ट न देना आदि।
(४) वाणी, विचार और कर्मो मे अव्यभिचारिता।
(५) ममता, मूर्च्छा, आसक्ति का परित्याग।

इन्ही पाँच महाव्रतो को योगदर्शन मे पाच यम के नाम से कहा गया है—"तत्राहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्या-परिग्रहा यमा।" इस प्रकार मानसिक शान्ति प्राप्त कराने वाले सभी कर्म जैनदर्शन के अनुसार विधेय हैं।

जैनागम के अनुसार हिंसा सबसे बडा पाप है और सब प्राणियो के प्रति दयाभाव ही सबसे बडा पुण्य है। सबके प्रति दया करना ही परमात्मा की सच्ची भक्ति है। अग्रेज कवि कालेरिज के शब्दो मे—

He prayeth well, who loveth well
Both man, bird and beast

---

१ पचास्तिकाय पृ० ११५

He prayeth best, who loveth best
All things both great and small
(Coleridge)

जैनधर्म का नीतिशास्त्र बौद्धधर्म की अपेक्षा ज्यादा कठोर है । जैनदार्शनिको के अनुसार "सन्तोष ही सर्वोत्तम शिव" (highest good) है और सुख की लालसा ही पाप का मूल है ।[1] इसलिए मनुष्य को चाहिए कि वह सुख और दुःख से उदासीन रहे । वह बाह्य पदार्थो पर निर्भर न रहकर उनसे स्वतत्र रहे । "जो मनुष्य बाह्य पदार्थो की अभिलाषा करता है, वह सुख और दुःख का अनुभव करता है और अपनी आत्मा पर अपना अधिकार गवा बैठता है । उस पर कामनायें या ऐषणायें शासन करने लगती हैं और बाह्य पदार्थ ही उसके चरित्र के निर्णायक बन जाते है ।[2] इसलिए मनुष्य को चाहिए कि वह बाह्य पदार्थो पर निर्भर न रहे ।

जैनदर्शन या धर्म रूढिवादी नहीं है, वह अपने धर्म के प्रति हठवादी नहीं है । वह यह नही कहता कि अमुक प्रकार के वेष के धारक ही निर्वाण के अधिकारी हो सकते हैं । इसके विपरीत वह कहता है कि किसी भी पथ का अनुयायी नीतिशास्त्र या आचारशास्त्र के नियमों का सम्यक् पालन करके निर्वाण का अधिकारी बन सकता है । अपने ग्रन्थ "सम्बोधसत्तरी" मे रत्नशेखर कहते हैं—"भले ही कोई श्वेताम्बर हो, दिगम्बर हो, बौद्ध हो या किसी भी धर्म का अनुयायी, जो अपनी आत्मा का साक्षात्कार कर लेता है, सब प्राणियों को अपने समान समझ लेता है, वह निर्वाण प्राप्त कर सकता है ।"

इसी प्रकार जैनधर्म वर्णव्यवस्था का विरोधी नहीं है । पर यहा पर भी वर्ण का निर्णायक नीतिशास्त्र ही है । "मनुष्य अपने ही कर्मो से ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र बनता है जो कर्मो को अनासक्तभाव से करता है, उसे ही हम ब्राह्मण कहते हैं ।[3] जैन परिभाषा के अनुसार ब्राह्मण एक सम्मान्य पदवी है, जो एक उत्तम कर्म करनेवाले ब्राह्मणेतर को भी दी जा सकती है ।[4] वंशाभिमान पाप का कारण होता है ।" (सूत्रकृताग)

इस प्रकार जैनदर्शन मे नीतिशास्त्र बहुत ऊचे स्तर पर स्थापित है और जैनदार्शनिको ने इसे अपने दर्शन का आधार माना है ।

०



१ आचाराग सूत्र २२ पृ० ४८
२ पचास्तिकाय पृ० १६३
३ Sacred Book of the East XIV P 140
४. Ibid XXII P. XXX

जैनागमों के तीन प्रेरक प्रसंग



मुनिश्री चन्दनमलजी,
साहित्य-निकाय व्यवस्थापक

किसी भी नगर में प्रवेश पाने के जैसे पूर्व आदि दिशाओं में चार मुख्य दरवाजे रखे जाते हैं, वैसे ही द्वादशांगी रूप जिन-वाणी का आह्वान करने के लिये द्रव्यानुयोग, चरणकरणानुयोग गणितानुयोग, और धर्मकथानुयोग, ये चार सिंहद्वार माने गये हैं। इन अनुयोगों का यथार्थ मनन करने में ही आर्हतीज्ञान-गंगा हृदयांगण में प्रवाहित हो सकती है। यह तो सर्वविदित है ही कि जैनागमों का निर्माण केवल अध्यात्म-तत्त्व को हृदयगम करने के लिये ही हुआ है। यहां धर्म को उत्कृष्ट मंगल माना है। अहिंसा को "सर्वभूत-क्षेमकरी" कह कर पुकारा है, सत्य को "भगवान्" शब्द से सम्बोधा है और ब्रह्मचर्य को "व्रतराज" कहकर सम्मानित किया है। प्रकाशपुञ्जमयी इस दिव्यवाणी के चारों तरफ वैराग्य की किरणें फूटती हैं। अनागतिन की रेखायें अंकित हुई हैं और सहज शांति का प्रसार हुआ है, यहां मिलते भोगों को न चाहने वाले को त्यागी कहा गया है, मायी को 'मिथ्यादृष्टि' व अमायी को 'सम्यग्दृष्टि' की संज्ञा दी गई है। भोगों को 'अनर्थों की खान' तथा लोभ को 'सर्वविनाशक' कहा गया है।

अहा! क्षीर-समुद्र का पानी कहीं से भी, कभी भी पीकर देखिये, वह तो प्रतिक्षण अनुपम मधुरिमा को लिये हुए ही है। आगमों के कुछ एक स्थल तो इतने मार्मिक और अनूठे हैं कि उनकी गरिमा का अन्दाज लगाना भी कठिन-सा प्रतीत होता है। कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं -

(१)

भगवान महावीर के दस एकावतारी श्रमणोपासकों में आनंद गाथापति को प्रथम स्थान प्राप्त हुआ है। कोट्यधीश होते हुए भी उसने असाधारण धर्म-साधना की। वह कृशकाय होकर पोषधशाला में अन्तिम मारणांतिक-संलेखना में संलग्न था तब उसने क्षयोपशम की विशेष उज्ज्वलता से विशिष्ट अवधिज्ञान प्राप्त किया। उसके द्वारा वह पूर्व, पश्चिम और उत्तर दिशा में, लवण समुद्र को पांच सौ योजन तक, उत्तर में लघुहिमवन्त वर्षधर पर्वत तक, ऊर्ध्व-लोक में सौधर्म देवलोक तक और अधोलोक में रत्नप्रभा पृथ्वी के चौरासी हजार वर्ष की स्थितिवाले "लोलुयच्चुय" नामक नरकावास का जानता-देखता था।

इधर भगवान महावीर वहां पधारे और उनके ज्येष्ठ अन्तेवासी इन्द्रभूति (गौतम स्वामी) छट्ठ भक्त के पारणे में भिक्षा के लिये 'वाणिज' ग्राम में पधारे। माधुकरी लेकर जब वापिस आ रहे थे तब बहुत से लोगों के मुंह से आपने आनन्द की मारणांतिक संलेखना की बात सुनी। कृपासागर गौतम ने उसे दर्शन देने की कृपा की। भगवान गौतम को आते देखकर आनन्द अत्यन्त आनंदित हुआ। वन्दन-नमस्कार करता हुआ कहने लगा—भन्ते! मैं उदार तप के द्वारा कृश एवं चलने-फिरने में असमर्थ हूँ। यदि आप मेरे समीप पधारने की कृपा करें तो मैं आपके चरणकमलों का मस्तक द्वारा अभिनन्दन कर सकूं। गौतम स्वामी समीप गये। आनन्द ने सविधि वन्दना की और पूछा—गृहस्था-श्रम में रहते हुए क्या गृहस्थ को अवधिज्ञान प्राप्त हो सकता है?

गौतम—हां! हो सकता है।

आनन्द—भन्ते ! मुझे अवधिज्ञान प्राप्त हुआ है। उससे मैं पूर्व आदि मे लवण समुद्र मे पाच सौ योजन तक, उत्तर मे क्षुल्लहिमवन्त वर्षधर पर्वत तक, ऊर्ध्वलोक मे सौधर्म देवलोक तक और अधोलोक में रत्नप्रभा पृथ्वी के चौरासी हजार वर्ष की स्थितिवाले 'लोलुयच्चुय' नामक नरकावास को जानता-देखता हू।

गौतम—आनन्द ! गृहस्थ को, गृहस्थाश्रम मे अवधिज्ञान हो सकता है किन्तु इतना विस्तृत नहीं हो सकता। अत इस मिथ्याकथन के लिये तू आलोचना व प्रायश्चित्त कर।

आनन्द—भगवन् ! क्या जैन शासन मे यथार्थ, सत्य, तथ्य निरूपण का भी प्रायश्चित्त है ?

गौतम—नहीं, बिल्कुल नही।

आनन्द—तो फिर भगवन् ! आपही इस कथन के लिये आलोचना व प्रायश्चित्त करें।

आनन्द के इस कथन पर गौतम शकित, काक्षित और विचिकित्सासमापन्न हुए और वहा से भगवान महावीर के पास आये, आनन्द सम्बन्धी घटना सुनाई और पूछा—भगवन् ! इस कथन मे आनन्द को प्रायश्चित्त लेना होगा या मुझे ?

भगवान ने कहा—गौतम ! आनन्द का कथन सत्य है अत तू उसका प्रायश्चित्त कर और अपनी भूल के लिये उनसे क्षमा-याचना कर।

गौतम ने उस कथन को विनयपूर्वक स्वीकार किया, आलोचना की और आनन्द के पास जाकर अपनी गल्ती स्वीकार करते हुए क्षमा-याचना की।

उपर्युक्त घटना जैनो मे आबाल-वृद्ध प्रसिद्ध है। लेकिन इस घटना को गम्भीरता से यदि हम जाचें तो एक अद्भुत भावना का रहस्य प्रस्फुटित होता है। गौतम कोई ऐसे-वैसे साधारण मुनि नही थे, वे चौदह हजार सतो मे प्रथम थे, चतुर्ज्ञानी तथा सर्वाक्षरसन्निपाती थे। उतने बडे गौतम स्वामी का एक श्रावक के सामने अपनी गल्ती स्वीकार करने जाना, क्षमा मागना कोई सामान्य घटना नही है। विदित होता है कि गौतम मे गर्व का लेश भी नही था और माया की छाया भी नही थी। सयोग आने पर भी सरल सरल हृदय वाले गौतम अपनी भूल की स्वीकृति मे बिल्कुल नही हिचकिचाये। क्या ऐसी सरलता आजके साधु-वर्ग मे है ? क्या अपनी भूल की स्वीकृति मे वह इतना साहस का परिचय दे सकता है ? यह चिन्तनीय प्रश्न है।[1]

(२)

भगवान पार्श्वनाथ की परम्परा मे कालास्यवेषिक पुत्र नाम के एक मुनि थे। एक समय वे भगवान महावीर के स्थविरो के पास गये और कहने लगे—

१ स्थविर ! आप सामायिक नही जानते और उसका अर्थ नही जानते।
२ स्थविर ! आप प्रत्याख्यान नही जानते और उसका अर्थ नहीं जानते।
३ स्थविर ! आप सयम नही जानते और उसका अर्थ नहीं जानते।
४ स्थविर ! आप सवर नही जानते और उसका अर्थ नही जानते।
५ स्थविर ! आप विवेक नही जानते और उसका अर्थ नही जानते।
६ स्थविर ! आप व्युत्सर्ग नही जानते और उसका अर्थ नही जानते।

प्रत्युत्तर मे स्थविरो ने कहा—आर्य ! हम सामायिक जानते है और आर्य ! उसका अर्थ भी जानते है। आर्य ! हम प्रत्याख्यान भी जानते है और आर्य ! उसका अर्थ भी जानते है। आर्य ! हम सयम भी जानते है और आर्य ! उसका अर्थ भी जानते है। आर्य ! हम सवर भी जानते है और आर्य ! उसका अर्थ भी जानते है। आर्य !

१ उपासकदशा अध्ययन—१

हम विवेक भी जानते है और आर्य ! उसका अर्थ भी जानते है। आर्य ! हम व्युत्सर्ग भी जानते है और आर्य ! उसका अर्थ भी जानते हैं।

कालास्यवैशिक पुत्र अनगार ने कहा—यदि आर्य ! आप सामायिक और उसका अर्थ जानते हैं तो कहिये सामायिक क्या है और उसका अर्थ क्या है ?

स्थविरो ने कहा—आर्य ! हमारी आत्मा सामायिक है और हमारी आत्मा सामायिक का अर्थ है। आर्य ! हमारी आत्मा प्रत्याख्यान है और हमारी आत्मा प्रत्याख्यान का अर्थ है। आर्य ! हमारी आत्मा सयम है और हमारी आत्मा सयम का अर्थ है। आर्य ! हमारी आत्मा सवर है और हमारी आत्मा सवर का अर्थ है। आर्य ! हमारी आत्मा विवेक है और हमारी आत्मा विवेक का अर्थ है। आर्य ! हमारी आत्मा व्युत्सर्ग है और हमारी आत्मा व्युत्सर्ग का अर्थ है। इन प्रश्नोत्तरो की एक निष्पत्ति हुई। कालास्यवैशिक पुत्र मुनि स्थवरो के पास चातुर्यामिक धर्म की परम्परा से पचयामिक धर्मपरम्परा मे प्रविष्ट हो गये।

प्रश्नकर्ता कालास्यवैशिक पुत्र मुनि—इतर सम्प्रदाय के थे। वे बडे आवेग के साथ प्रश्न पूछने आये और स्थविर ! आप यह नही जानते, यह नही जानते, यह नही जानते, इन वाक्यो की झडी लगादी और बारह प्रश्न पूछ डाले। लेकिन गम्भीर ज्ञानी भगवान स्थविरो ने बडी शाति के साथ मार्मिक समाधान दिया और आर्य' ! ऐसा मृदु सम्बोधन किया कि प्रश्न पूछने वाला पानी-पानी हो गया और अन्त मे उसका साथी बन गया।

उपर्युक्त वर्णन क्या जैन मुनियो को चुनौती नही दे रहा है ? क्या हम दूसरो के कुटिल आक्षेपो को शान्ति से समाहित करना सीखेंगे ? अहा ! उत्तर भी कितने मार्मिक है जिनमे सब कुछ आत्मा मे ही अन्तर्हित कर दिया है फिर झगडा रह ही कहा जाता है।[1]

(३)

भगवान महावीर 'कृतङ्गला' नगरी मे विराजमान थे। उस नगरी के समीप ही श्रावस्ती नगरी थी। वहा गदभालि का शिष्य कात्यायन गोत्री स्कन्धक परिव्राजक बसता था। वह इतिहास निघटु सहित सागोपाग चार वेदो का ज्ञाता था।

उसी श्रावस्ती मे वैशालिक श्रावक पिंगल नामक निर्ग्रन्थ विहार कर रहा था। उसने एक दिन स्कन्धक परिव्राजक के पास जाकर पूछा—मागध !

१ लोक स-अन्त है या अनन्त ?
२ जीव स-अन्त है या अनन्त ?
३ सिद्धि स-अन्त है या अनन्त ?
४ सिद्ध स-अन्त है या अनन्त ?
५ किस मरण से मरता हुआ जीव ससार को बढाता है और किस मरण से घटाता है ?

इन प्रश्नो को सुनकर स्कन्धक शकित हुआ। उनका समाधान करने मे अपने आपको असमर्थ पाता वह मौन रहा। पिंगल ने फिर दूसरी-तीसरी बार पूछा लेकिन वह वैसे ही मौन रहा।

इधर श्रावस्ती के बहुत लोग भगवान महावीर के दर्शनार्थ जा रहे है। स्कन्धक ने भी भगवान का कृतङ्गला मे आगमन जानकर उन प्रश्नो के समाधान के लिये वहा जाने का निश्चय किया। वह त्रिदण्ड आदि वेश-भूषा सहित वहा से चल पडा। और कृतङ्गला नगरी के छत्रपलास उद्यान के पास आ पहुँचा।

इधर भगवान महावीर ने गौतम से कहा—गौतम, आज तू अपने पूर्वभव के मित्र स्कन्धक को देखेगा।

---

१ भगवती शतक १-३-६

गौतम ने कहा—भन्ते ! कब कैसे और कितनी देर में देखूंगा ? भगवान ने सब विस्तृत वर्णन सुनाते हुए कहा कि वह बहुत नजदीक आ चुका है, तू उसे आज ही देखेगा। फिर गौतम ने पूछा—भन्ते ! क्या वह आपके पास साधुत्व लेने में भी समर्थ होगा ?

भगवान ने कहा—हां ! ऐसा होगा।

इतने में स्कन्धक वहां आता हुआ दिखाई दिया। भगवान गौतम स्कन्धक को समीप जाते देखकर तत्काल खड़े हुए, शीघ्र सामने गये और उसके पास आकर कहने लगे—

स्कन्धक ! स्वागत है।
स्कन्धक ! सुस्वागत है।
स्कन्धक ! अन्वागत है।
स्कन्धक ! स्वागत-अन्वागत है।

स्कन्धक ! तुमसे पिंगल निर्ग्रन्थ ने—लोक स-अन्त है या अनन्त ? जीव स-अनन्त है या अनन्त ? सिद्धि स-अन्त है या अनन्त ? सिद्ध स-अन्त है या अनन्त ? किस मरण से मरता हुआ जीव संसार को बढ़ाता है और किस मरण से घटाता है ? ये प्रश्न पूछे।

स्कन्धक—हां, भन्ते ! पूछे।

फिर वे दोनों भगवान महावीर के पास चले गये।

वर्तमान वातावरण में यह विचित्र-सा लगने वाला प्रसंग बड़ी चिन्तन-सामग्री प्रस्तुत करता है। पहली बात, स्कन्धक परिव्राजक जैन मुनि नहीं था, जैन भाषा में सम्यग्दृष्टि भी नहीं था, उस स्थिति में, उसके सामने जाकर गौतम स्वामी का स्वागत-सुस्वागत करना क्या उचित था ? उन्होंने ऐसा किया तब भगवान महावीर ने उन्हें क्यों नहीं टोका ?

आज के कट्टर सम्प्रदायवादियों के लिये यह बहुत आपत्ति का विषय बन सकता है लेकिन व्यवहार-निर्वहण कहां तक और कितना आवश्यक है यह गहरा परामर्शनीय विषय है।[1]

•



१ भगवती शतक-२ उ १

जैन आगमों में कल्पनिरूपण



देवेन्द्रमुनि शास्त्री,

साहित्यरत्न

कल्प की परिभाषा

कल्प का अर्थ है — नीति, आचार, मर्यादा, विधि अथवा सामाचारी। उमास्वाति कहते हैं—जो ज्ञान, शील, तप का उपग्रह करता है और दोषों का निग्रह करता है वह निश्चय दृष्टि से कल्प है और शेष अकल्प है।[1] कल्पसूत्र की टीका के अनुसार श्रमणों का आचार कल्प है।[2] कल्प के आगम [illegible] नियुक्ति और चूर्णि साहित्य में अनेक भेद-प्रभेद निरूपित हैं। उन सभी की यहाँ चर्चा न कर [illegible] दस कल्पों पर ही विचार किया जा रहा है। वे दस कल्प इस प्रकार हैं—

(१) आचेलक्य, (२) औद्देशिक, (३) शय्यातर, (४) राजपिण्ड, (५) कृतिकर्म, (६) व्रत, (७) ज्येष्ठ, (८) प्रतिक्रमण, (९) मासकल्प, (१०) पर्युषणा-कल्प।[3]

आचेलक्य

'चेल' शब्द का अर्थ वस्त्र है। न चेल-अचेल है। 'अ' शब्द का एक अर्थ अल्प भी है।[4] [illegible] अनुदरा कन्या। आचारांग के टीकाकार ने ईषत् (अल्प) [illegible] में नञ् समास मानकर अचेल का अर्थ [illegible] किया है।[5]

---

१ यज्ज्ञानशीलतपसामुपग्रहं, निग्रहं च दोषाणाम्।
कल्पयति निश्चये यत्तत्कल्प्यमकल्प्यमवशेषम्॥ (प्रशमरतिप्रकरण १४३)

२ कल्पशब्देन साधूनामाचारोऽत्र प्रकथ्यते।
—पर्युषणाकल्पसूत्रम्, केशरमुनि

३ (क) आचेलक्कुद्देसिय, सिज्जायर-रायपिंड-किइकम्मे।
वय जेट्ठ-पडिक्कमणे, मास पज्जोसवणकप्पे॥
—आवश्यकनिर्युक्ति-मलयगिरिवृत्ति, १२१

(ख) निशीथ भाष्य, गा० ५९३३ भा० ४, पृ० १८७, सन्मतिज्ञानपीठ, आगरा

(ग) बृहत्कल्पभाष्य गाथा ६३, ६४

(घ) भगवती आराधना, पृ १८१, गा० ४२७

(ङ) कल्पसूत्र कल्पलता, समयसुन्दर गणि गाथा १, पृ० २ मे उद्धृत, तथा अन्य कल्पसूत्र की टीकाओं मे भी।

४ आप्टेज् संस्कृत इंगलिश डिक्शनरी—भाग-१ पृष्ठ १

५. अचेल — अल्पचेल।—आचाराग टीका पत्र २२१-२

उत्तराध्ययन[1] और कल्पसूत्र[2] की टीकाओं में भी यही अर्थ है।

श्रमणसंस्कृति के श्रमणों के दो कल्प हैं—जिनकल्प और स्थविरकल्प। निर्युक्ति और भाष्य के अनुसार जिनकल्पी श्रमण वह होता है जो वज्र-ऋषभनाराच-संहनन वाला हो, तथा कम से कम नव पूर्व की तृतीय आचारवस्तु का पाठी हो और अधिक से अधिक कुछ कम दश पूर्व तक श्रुतपाठी हो।[3] जिनकल्पिक श्रमण भी पूर्व स्थविरकल्पी ही होता है। स्थविरकल्पिक श्रमण ही जिनकल्प को स्वीकारता है।

जिनकल्पिक श्रमण 'नग्न' निष्प्रतिकर्म और विविध अभिग्रहधारी होते हैं। उनके दो प्रकार हैं—

(१) पाणिपात्र—हाथ में भोजन करने वाले।

(२) पात्रधारी—पात्र में भोजन करने वाले।[4]

पाणिपात्र जिनकल्पिक श्रमण भी उपधि की दृष्टि से चार प्रकार के होते हैं। कितने ही श्रमण (१) मुख-वस्त्रिका, (२) और रजोहरण ये दो उपधि रखते हैं कितने ही श्रमण मुखवस्त्रिका, रजोहरण और एक चद्दर रखते हैं। कितने ही मुखवस्त्रिका, रजोहरण, और दो चद्दर रखते हैं और कितने ही मुखवस्त्रिका, रजोहरण, तथा तीन चद्दर रखते हैं।

पात्रधारी जिनकल्पिक श्रमण भी उक्त दो, तीन, चार, और पाँच उपकरणों के अतिरिक्त सात प्रकार के पात्रनिर्योग रखने से क्रमशः, नौ, दस, ग्यारह और बारह प्रकार की उपधि से उनके भी चार भेद होते हैं। इस प्रकार जिनकल्पिक श्रमणों के मुख्य दो और उत्तर भेद आठ होते हैं।[5]

---

१ लघुत्वजीर्णत्वादिना चेलानि वस्त्राण्यस्येत्येवमचलेक।

—उत्तराध्ययन बृहद्वृत्ति पत्र ३५९।१

२ (क) श्वेतमानोपेतवस्त्रधारित्वेन अचेलकत्वमपि

—कल्पसूत्र-सुबोधिका, टीका पृ २ विन०

(ख) 'अचेलत्व' श्री आदिनाथ-महावीरसाधूना वस्त्र मानप्रमाणसहित, जीर्णप्राय, धवल च कल्पते। श्री अजि-तादि-द्वाविंशतितीर्थंकरसाधूना पञ्चवर्णम्।

—कल्पसूत्र-कल्पलता प० २।१ समयसुन्दर

(ग) 'अचेलत्वम्' मानोपेत धवलवस्त्र धारयन्ति,

—कल्पद्रुमकलिका १, पृ० ७।१

३ विशेषावश्यकभाष्य भाषातर भाग १, पृ० १७ —(आगमोदय समिति आवृत्ति १)

४ जिणकप्पिया उ दुविधा, पाणीपाता पडिग्गहधरा य।
पाउरणमपाउरणा, एक्केक्का ते भवे दुविधा॥

—निशीथभाष्य गा० १३९० भा० २, पृ० १८८

जिणकप्पिया दुविधा भवति-पाणिपात्रभोजिन प्रतिग्रहधारिणश्च। एक्केका दुविवा दट्ठव्वा सपाउरणा इयरे य।

—वही १३९०

५ जिणकप्पे उवहीविभागो इमो-दुग-तिग-चउक्क-पणग, णव दस एक्कारस एव बारसग। एते अट्ठ विकप्पा, जिणकप्पे होंति उवहिस्स—निशीथभाष्य गा० १३९१
पाणिपडिग्गहियस्स पाउरणवज्जियस्स जहण्णोवही दुविधो—रयहरण मुहपोत्तिया य। तस्सेव सपाउरणस्स एगकप्पग्ग-हणे तिविहो, दुकप्पगहणे चउव्विहो, तिकप्पगहणे पचविहो। पडिग्गहधारिस्स, अणाउरणस्स मुहपोत्तिय—रजो-





आगमानुसार स्थविरकल्पिक श्रमण के भी उपधि की दृष्टि से अनेक भेद किये जा सकते हैं। कितने ही श्रमण तीन वस्त्र और एक पात्र रखते थे। कितने ही श्रमण दो पात्र और एक वस्त्र रखते थे। और कितने ही श्रमण एक पात्र और एक वस्त्र रखते थे।

उपर्युक्त चर्चा का सार यह है कि जिनकल्पिक हो या स्थविरकल्पिक, वे कम से कम मुखवस्त्रिका और रजोहरण ये दो उपकरण तो रखते ही हैं। अतः यहाँ पर आचेलक्य धर्म का अर्थ वस्त्रों का सर्वथा अभाव नहीं किन्तु अल्प मूल्य वाले प्रमाणोपेत जीर्ण-शीर्ण वस्त्रधारण करना है।

'कल्पसमर्थन' में कहा है कि प्रथम और अन्तिम तीर्थंकर का धर्म अचेलक है और बावीस तीर्थंकरों का सचेलक और अचेलक दोनों प्रकार का है।[1] इसका अर्थ यह है कि, भगवान् ऋषभदेव और महावीर के श्रमण के लिए यह विधान है कि वे श्वेत और प्रमाणोपेत वस्त्र रखें पर बावीस तीर्थंकरों के श्रमण के लिए प्रस्तुत विधान नहीं है।[2] वे अतीव विवेकनिष्ठ और जागरूक साधक थे अतः बहुमूल्य रंगबिरंगे अधिक वस्त्र भी रख सकते थे किन्तु उन बढ़िया वस्त्रों के प्रति आसक्ति नही थी।

उत्तराध्ययन सूत्र में भगवान् पार्श्वनाथ के श्रमण केशीकुमार और भगवान् महावीर के प्रधान अन्तेवासी गणधर गौतम का मधुर संवाद है। केशीकुमार श्रमण ने गौतम से जिज्ञासा प्रस्तुत की, कि भगवान् महावीर का धर्म अचेलक है और पार्श्वनाथ का सचेलक है क्या इस लिंगभेद को देखकर आप के मानस में शंका नहीं होती।[3] समाधान

हरण पादणिज्जोगसहितो णवविहो, जहण्णओ। तस्सेव एगकप्पग्गहणे दसविहो। दुकप्पग्गहणे एक्कारसविधो। तिकप्पग्गहणे बारसविधो। पच्छद्ध कंठ।—वही १३६१

अहवा दुग य णवर, उवकरणे, होति दुण्णि तु विकप्पा।
पाउरण वज्जिताण, विसुद्ध जिणकप्पियाण तु॥

—वही गा० १३६२

जे पावरणवज्जिया ते विसुद्धजिणकप्पिया भवति। तेसिं दुविध एव उवही भवति। दुविधो णवविधो वा।—१३६२

अविसुद्ध—जिणकप्पियाण इमो-पत्त पत्ताबंधो पायट्ठवण च पादकेसरिया।
पडलाइ रयत्ताण, च गोच्छओ पायणिज्जोगो॥
तिण्णेव य पच्छागा, रयहरण चेव होति मुहपोत्ती।
एसो दुवालसविधो, उवधी जिणकप्पियाण तु॥

—निशीथसूत्र, सभाष्य-चूर्णि द्वि० उ० द्वि० भा० पृ० १८८-१८९, सन्मति ज्ञानपीठ

१ आचेलुक्को धम्मो, पुरिमस्स य पच्छिमस्स य जिणस्स।
मज्झिमगाण जिणाण होइ सचेलो अचेलो य॥

—कल्पसमर्थन, गा० ३, पृ० १

२ (क) "अचेलत्व" श्रीआदिनाथमहावीरसाधूना वस्त्र मानप्रमाणसहित जीर्णप्राय धवल च कल्पते। श्रीअजितादि २२ तीर्थंकरसाधूना तु पञ्चवर्णम्।—कल्पसूत्र-कल्पलता पृ० २।१

(ख) कल्पार्थबोधिनी पृ० १

३ अचेलगो य जो धम्मो, जो इमो सतरुत्तरो।
देसिओ वद्धमाणेण, पासेण य महामुणी॥

एगकज्जपवन्नाण, विसेसे किं नु कारण।
लिंगे दुविहे मेहावी, कह विप्पच्चओ न ते॥

—उत्तराध्ययन अ० २३, गाथा २९–३०

करते हुए गौतम ने कहा—विनवर! विज्ञान से जानकर ही धर्मसाधनों की आज्ञा प्रदान की गई है। लोक में प्रतीति के लिए ही वस्त्रादि उपकरणों की आवश्यकता है। वस्तुत दोनो तीर्थंकरो की प्रतिज्ञा मोक्ष के सद्भूत साधन ज्ञान, दर्शन और चारित्र रूप ही है। इसमें कोई अन्तर नहीं है।[1]

आगमानुसार सभी तीर्थंकर देवदूष्य वस्त्र के साथ प्रव्रज्या ग्रहण करते है। कुछ समय तक वे देवदूष्य वस्त्र को रखते है।[2] भगवान् महावीर ने भी एक वर्ष तक देवदूष्य वस्त्र को रखा था। उसके बाद वे पूर्ण अचेलक बने थे।[3]

बावीस परीषहों मे छट्ठा परीषह अचेल है।[4] इसका भी अर्थ है—वस्त्रो के जीर्ण होने पर श्रमण यह चिन्ता न करे कि, मैं वस्त्र रहित हो जाऊँगा। अथवा यह भी विचार न करे कि अच्छा हुआ वस्त्र जीर्ण हो गये है और अब मैं नये वस्त्रों से सचेलक हो जाऊँगा। सचेल और अचेल दोनो ही अवस्था मे श्रमण खिन्न न हो।[5]

हाँ, तो आचेलक्य कल्प का सक्षेप में अर्थ हुआ अल्प, प्रमाणोपेत एव श्वेत वस्त्रधारण करने की मर्यादा।

---

१ केसिमेव बुवाण तु गोयमो इणमब्बवी।
विन्नाणेण समागम्म, धम्मसाहणमिच्छिय ॥
पच्चयत्थ च लोगस्स, नाणाविहविगप्पण।
जत्तत्थ गहणत्थ च, लोगे लिंगपओयण ॥
अह भवे पइन्ना उ, मोक्खसब्भूयसाहणा।
नाण च दसण चेव, चरित्त चेव निच्छए ॥
—उत्तराध्ययन २३। ३१ से ३३

२ (क) जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति, कल्पसूत्र
(ख) कल्पसूत्र
(ग) तहवि गहिएगवत्था, सवत्थतित्थोवरा सणत्थति।
अभिनिक्खमति सव्वे तम्मि चुएऽचेलया होंति ॥
—विशेषावश्यक भाष्य गा० १५८६
(घ) सव्वेवि एगदूसेण निग्गया,
(ङ) सत्तरिय स्थानक
(च) त्रिषष्टिशलाका पुरुषचरित्र

३. णो चेविमेण वत्थेण पिहिस्सामि तसि हेमते से पारए आवकहाए, एय खु अणुधम्मिय तस्स सवच्छर साहिय मास ज न रिक्कासि वत्थग भगव अचेलए तओ, 'चाइ त वोसिज्ज वत्यमणगारे—आचाराग १।६।१

४ भगवती सूत्रशतक ८, उद्देशक ८, पृ १६२
(ख) उत्तराध्ययन अ २
(ग) समवायाङ्ग २२
(घ) तत्वार्थसूत्र अ० ६

५. (क) परिजुण्णेहि वत्थेहि, होक्खामि त्ति अचेलए।
अदुवा सचेलए होक्ख, इइ भिक्खू न चिंतए ॥
एगया अचेलए होई, सचेले या वि एगया।
एय धम्महिय णच्चा, णाणी णो परिदेवए ॥
—उत्तरा० २।१२–१३
(ख) प्रवचनसारोद्धार वृत्ति पत्र १६२





औद्देशिक

औद्देशिक कल्प का अर्थ है श्रमण को दान देने के उद्देश्य से, परिव्राजक, श्रमण, निर्ग्रन्थ आदि सभी को उद्देश्य कर निर्मित अशन-पान भवन आदि ।[1] वह श्रमण के लिए अग्राह्य और अभोग्य है। यदि श्रमण को यह ज्ञात हो जाय तो वह कह दे कि यह अशनादि मुझे नहीं कल्पता ।[2] प्रथम और अन्तिम तीर्थंकरों के श्रमणों के लिए यह विधान है कि एक श्रमण को उद्देश्य करके निर्मित आहार आदि न उसे ग्रहण करना कल्पता है और न अन्य श्रमणों को ही ग्रहण करना कल्पता है किन्तु बावीस तीर्थंकरों के श्रमण जिस श्रमण को उद्देश्य कर आहार आदि निर्मित किया गया हो वह उसे ग्रहण करना नहीं कल्पता, पर शेष श्रमणों के लिए वह ग्राह्य हो सकता है ।[3]

दशवैकालिक,[4] प्रश्न व्याकरण,[5] सूत्रकृताङ्ग,[6] उत्तराध्ययन,[7] आचाराङ्ग[8] और भगवती,[9] आदि आगमों में अनेक स्थलों पर औद्देशिक आहार आदि ग्रहण करने का निषेध है, क्योंकि औद्देशिक आहार आदि ग्रहण करने से त्रस और स्थावर जीवों की हिंसा का अनुमोदन होता है ।[10]

---

१ (क) उद्दिस्स कज्जइ त उद्देसिय, साधुनिमित्त आरम्भोत्ति वुत्त भवति ।

– दशवैकालिक अगस्त्यसिंह चूर्णि

(ख) "उद्देसिय ति उद्देशन साध्वाद्याश्रित्य दानारम्भस्येत्युद्देश तत्र भवमौद्देशिक ।

—दशवैकालिक-हारिभद्रीयावृत्ति ११६

२ असण पाणग वा वि, खाइम साइम तहा ।
ज जाणेज्ज सुणेज्ज वा, समणट्ठा पगड इम ॥
त भवे भत्तपाण तु, सजयाण अकप्पिय ।
देंतिय पडियाइक्खे, न मे कप्पई तारिस ॥

—दशवै० अ० ५ उ० १ गा० ५१–५२

३ (क) सघाद्दुद्देसेण ओघाईहिं, समणाइ अहिगच्च ।
कडमिह सव्वेसि चिय न कप्पई पुरिमचरिमाण ॥
मज्झिमगाण तु इम, ज कडमुद्दिस्स तस्स चेवत्ति ।
नो कप्पइ सेसाण उ कप्पइ त एस मेरत्ति ॥

—कल्पसमर्थन गा० ४–५ प० १

(ख) "औद्देशिकम्" एकस्य साधोर्निमित्त कृत आहारपानीय च आधाकर्मादिय सर्वेषा साधूना न कल्पते । द्वाविंशतितीर्थंकरसाधूना तु यस्य साधोर्निमित्त कृत भवेत्, तस्यैव साधोस्तद् आहारपानीय न कल्पते, अन्येषा तु कल्पते ।—कल्पसूत्र कल्पद्रुमकलिका

(ग) कल्पसूत्र कल्पलता, टीका—प० २।१

(घ) कल्पसूत्र-कल्पार्थबोधिनी

४ दशवैकालिक–५-१, ५५।६, ४८-४६।८, २३।१०४

५ प्रश्नव्याकरण, सवर, द्वार १, ५,

६ सूत्रकृताङ्ग, १।६।१४

७ उत्तराध्ययन २०।४७

८ आचाराग अ० २, उद्दे० ६,

९ भगवतीशतक १, उद्दे० ९

१० जे नियाग ममायति, कीयमुद्देसियाहड ।
वह ते समणुजाणति, इइ वुत्त महेसिणा ।—दशवैकालिक ६।४८

शय्यातर पिण्ड

श्रमण को शय्या (वसति-उपाश्रय) देकर संसार-समुद्र को तैरने वाला गृहस्थ शय्यातर है।[1] अर्थात्, वह गृहपति जिसके मकान में श्रमण ठहरे हुए हों।[2] निशीथभाष्य के अभिमतानुसार स्वयं गृहपति या उसके द्वारा निर्दिष्ट कोई भी अन्य व्यक्ति शय्यातर होता है।[3] शय्यातर कब होता है? इस पर आचार्यों के विभिन्न मत हैं।[33] निशीथ भाष्य और चूर्णि में उन सभी मतों का निर्देश किया गया है, तथा भाष्यकार ने अपना स्पष्ट मत इस प्रकार दिया है—"श्रमण जिस स्थान में रात्रि रहे सोए और आवश्यक कार्य करे उसका अधिपति शय्यातर होता है।[4]

शय्यातर के अशन, पान, खाद्य, स्वाद्य, वस्त्र, पात्र आदि अग्राह्य हैं और तृण, राख, पाट, बाजोट आदि ग्राह्य हैं।[5] सूत्रकृताङ्ग में शय्यातर के स्थान में—'सागारिक पिण्ड' लिखा है।[7] पर उसका अर्थ भी टीकाकार ने

---

१ तम्ह दत्तहीए साहुणो ठिता ते वि सारगिलउ तरंति, तेण सेज्जादाणेण भवसमुद्द तरति त्ति सिज्जन्तरो।
—निशीथभाष्य पृ १३१

२ (क) सेज्जा वसती, स पुण सेज्जादाणेण संसार तरति, सेज्जातरो तस्स भिक्खा सेज्जातरपिंडो।
—दशवैकालिक अगस्त्यसिंह चूर्णि,

(ख) आश्रयोऽभिधीयते, तेण उ तस्स य दाणेण साहूण संसार तरतीति सेज्जातरो तस्स पिंडो, भिक्खत्ति वुत्त भवइ—दशवैकालिक जिनदास चूर्णि पृ० ११३

(ग) शय्या-वसतिस्तया तरति संसार इति शय्यातरः साधुवसतिदाता तत्पिण्डः।
—दशवैकालिकहारिभद्रीया वृत्ति ११७

३ सेज्जातरो पभू वा पभुसंदिट्ठो व होति कातव्वो।
—निशीथभाष्य गा० ११४४

४ निशीथ भाष्य गा० ११४६–४७ चूर्णि

५ जत्थ रातीठिता तत्थेव सुत्ता तत्थेव चरिमा-वस्सय कय तो सेज्जातरो भवति।
—निशीथ भाष्य गा० ११४८ चूर्णि

६ दुविह चउव्विह छव्विह, अट्ठविहो होति बारसविधो वा।
सेज्जातरस्स पिण्डो, तव्वतिरित्तो अपिंडो उ॥
दुविह चउव्विह छव्विह च एगगाहाए वक्खाणेति – आधारोवधि दुविधो, विदु अण्ण पाण ओहुवग्गहिओ। असणादि चउरो ओहे, उवग्गहे छव्विओ एसो।
आहारो उवकरण च एस दुविहो। वे दुया चउरो त्ति, सो इमो-अण्ण पाण ओहिय उ वग्गहिए य, एसो छव्विहो।
इमो अट्ठविहा—

असणे पाणे वत्थे, पाते सूयादिगा य चउरट्ठा।

असणादी वत्थादी, सूयादि चउक्कगा तिण्णि॥

असणे पाणे वत्थे, पादे सुनी आदि जेसि ते सूतीयादिगा-सूती पिप्पलगो नखरदनी कण्णसोहणय इमो बारसविहो असणाइया चत्तारि, वत्थाइया चत्तारि, सूतियादिया चत्तारि, एते तिण्णि चउक्का बारस भवति।
इमो पुणो अपिण्डो—

तण-डगल-छार, मल्लग, सेज्जा-संथार-पीढ-लेवादी

सेज्जातरपिंडेसो, ण होति सेहोव सोवधि उ॥

लेवादी, आदि सद्दातो, कुडमुहादि, एसो सव्वो सेज्जातरपिण्डो ण भवति। जति सेज्जायरस्स पुत्तो धूया वा वत्थ-पायसहिता पव्वएज्जा सो सेज्जातरपिण्डो ण भवति।—निशीथ भाष्य, गा० ११५१-५४ चूर्णि

७ सागारिय च पिंड च, त विज्ज परिजाणिया। —सूत्रकृताङ्ग १।९।१६





शय्यातर पिण्ड किया है।[1]

राजपिण्ड

मूर्धाभिषिक्त अर्थात् जिसका राज्याभिषेक हुआ हो वह राजा कहलाता है उसका भोजन राजपिण्ड है।[2] जिनदासगणि महत्तर के अभिमतानुसार सेनापति, अमात्य, पुरोहित, श्रेष्ठी, और सार्थवाह सहित जो राजा राज्य का उपभोग करता है, उसका पिण्ड ग्रहण नहीं करना चाहिये। अन्य राजाओं के लिए नियम नहीं है। यदि दोष की सभावना है तो ग्रहण नहीं करना चाहिए और निर्दोष है तो ग्रहण किया जा सकता है।[3]

राजपिण्ड का तात्पर्य राजकीय भोजन है राजकीय भोजनसरस मधुर व मादक होता है। जिसके सेवन से रसलोलुपता बढ़ने की सभावना रहती है। वह सरस आहार सर्वत्र सभव नहीं, रसलोलुप मुनि कहीं अनेषणीय आहार गहण न करे अत राजपिण्ड का निषेध किया है। एषणा शुद्धि ही प्रस्तुत विधान की आत्मा है।[4] यदि कोई इस विधान का विस्मृत करके राजपिण्ड को ग्रहण करता है या राजपिण्ड का उपयोग करता है तो श्रमण को चातुर्मासिक प्रायश्चित्त आता है।[5] राजपिण्ड के निषेध के पीछे अन्य तथ्य रहे हुए हैं[6], जिनका उल्लेख निशीथभाष्य और चूर्णि मे किया गया है। राजभवन मे प्राय सेनापति आदि का आवागमन रहता है। कभी शीघ्रतादि के कारण

---

१ सागारिक "शय्यातरस्तस्य पिण्डम्-आहार।

—सूत्रकृताङ्ग १।६।१६ टीका प० १८१

२ (क) मुद्धाभिसित्तस्स रण्णो भिक्खा रायपिण्डो।

—दशवैकालिक अगस्त्यसिंह चूर्णि

(ख) मुद्धाभिसित्तरण्णो पिण्ड -राजपिण्ड।

—दशवैकालिक जिनदास चूर्णि ११२-१३

(ग) मुदिसाइगुणो राया अट्ठविहो तस्स होइ पिंडुत्ति।
पुरिमेअराण एसो वाघायाईहिं पडिकुट्ठो॥

—कल्पदर्शनम् गा० ६ पृ० १

(घ) "राजपिण्ड" राजा-छत्रधर, तस्य पिंड.।

—कल्पसूत्र कल्पलता ४ पृ० २ समयसुन्दर

(ङ) 'रायपिण्ड' त्ति राजपिण्ड, तत्र राजा-छत्रधर सेनापति-पुरोहित-श्रेष्ठच-मात्य सार्थवाहरूपै पञ्चभिर्ल-क्षणैर्युतो मूर्द्धाभिषिक्तस्तस्य अशनादिचतुर्विध आहारो वस्त्र पात्र कंबल रजोहरण चैत्यष्टविध पिण्ड '

—कल्पार्थबोधिनी ४ पृ० २

३ निशीथभाष्य गा० २४८७, चूर्णि

४. (क) अतो सो रायपिंडो गेहिपडिसेहणत्थ एषणा रक्खणत्थ च न कप्पइ।

—दशवैकालिक जिनदास चूर्णि पृ० ११२-६३

(ख) एषणा रक्खणाए एतेसिं अणातिण्णो।

—दशवै० अगस्त्यसिंह चूर्णि।

५ जे भिक्खू रायपिण्ड गेण्हइ गेण्हत वा सातिज्जाति जे भिक्खू रायपिंड भुजइ भुजत वा सातिज्जति।

—निशीथ ६।१।२

६ (क) निर्गच्छदागच्छत्सामन्तादिभि स्वाध्यायस्य अपशकुनबुद्धचा शरीरादेश्च व्याघातसम्भवात्सरवाद्यलोभ-लघुत्व-निन्दादिबहुदोपसम्भवाच्च " —कल्पार्थबोधिनी कल्प ४ पृ० २

(ख) ईसरपभिईहिं तहिं, वाघाओ खद्धलोहु दाराण।
दसण सगो गरहा, इअरेसिं न अप्पमायाओ॥—कल्पसमर्थन १०।१

श्रमण के चोट लगने की और पात्रादि फूटने की सम्भावना रहती है।[1] वे अपशकुन भी समझ सकते हैं अतः राजपिण्ड को अनाचार माना है।[2]

महावीर और श्री ऋषभदेव के श्रमणों के लिए ही राजपिंड का निषेध है पर बावीस तीर्थंकरों के श्रमणों के लिए नहीं।[3] राजपिण्ड में चार प्रकार के आहार, वस्त्र, पात्र, कम्बल, रजोहरण ये आठ वस्तुएँ ग्रहण की गई हैं और आठों अग्राह्य मानी हैं।[4]

कृतिकर्म

कृतिकर्म का अर्थ है अपने से संयमादि में ज्येष्ठ व सद्गुणों में श्रेष्ठ श्रमणों का खड़े होकर हृदय से स्वागत करना। उन्हें सम्मान देना। उनकी हितशिक्षाओं को श्रद्धा से नतमस्तक होकर स्वीकार करना।[5]

चौबीस ही तीर्थंकरों के श्रमण अपने से चारित्र में ज्येष्ठ श्रमणों का वन्दन—नमस्कार करते हैं। यह कल्प सार्वकालिक है।[6]

---

१ निशीथ भाष्य गा० २५०३-२५१०

२ सन्निही गिहिमत्ते य, रायपिंडे किमिच्छए।
संवाहणा दंतपहोयणा य, संपुच्छणा देहपलोयणा य॥
— दशवैकालिक ३।३

३ (क) श्रीआदिनाथमहावीरसाधूनां न कल्पते अजितादि २२ तीर्थंकरसाधूनां तु कल्पते।
—कल्पलता टीका

(ख) कल्पद्रुमकलिका पृ० ३

४ असणाईया चउरो वत्थं तह पत्त पायपुंछणए।
निवपिंडम्मि न कप्पई पुरिमतिमजिणजईण तु॥
—कल्पसमर्थन गा० ११ प० ३

५ (क) किइकम्मं दुविधं-अब्भुट्ठाणं वंदणं च। तं दुविहं पि इमोवि "जहारुहं करेति इमो वि जहारुहं। अहवा-किइकम्मं सव्वाहिं संजतीहिं अज्जदिक्खियस्स वि संजतस्स कायव्वं दो वि तुल्लमिच्छंति। इमस्स वि पंच महव्वयाणि। जो पढमं पंचमहव्वयारूढो सो जिट्ठो सामाइए वा ठविओ।
—निशीथ चूर्णि द्वि० भा० पृ० १८७-८८

(ख) किइकम्मंपि य दुविहं, अब्भुट्ठाणं तहेव वंदणयं।
समणेहिं समणीहि य, जहारिहं होइ कायव्वं॥
—कल्पसमर्थन गा० १२ प० २

(ग) कृतकर्म वंदनकं चतुर्विंशतितीर्थंकराणामपि लघुनाधुना वृद्धसाधु वन्दनीयो वन्दनकानि देयानि॥
—कल्पसूत्र कल्पलता प० २

(घ) कियकम्मे। कृतकर्म-लघुना साधुना वृद्धस्य साधोश्चरणयोर्वन्दनकानि दातव्यानि।
—कल्पद्रुम कलिका टीका पा० ३

(ङ) कल्पार्थबोधिनी टीका।

६ सव्वाहिं संजईहिं, किइकम्मं संजयाण कायव्वं।
पुरिसुत्तमुत्ति धम्मो सव्वजिणाणंपि तित्थेसु॥
—कल्पसमर्थन गा० १३





व्रत

व्रत का अर्थ विरति है।[1] विरति असत् प्रवृत्ति की होती है। अकरण, निवृत्ति, उपरम और विरति ये एकार्थक शब्द है।[2] व्रत शब्द का प्रयोग निवृत्ति और प्रवृत्ति दोनो ही अर्थो मे होता है। जैसे—

"वृषलान्न व्रतयति" अर्थात् वह शूद्र के अन्न का परिहार करता है। "पयो व्रतयति" अर्थात् पय पीता है, इसके अतिरिक्त अन्य कुछ भी नही खाता। इसी तरह असत् प्रवृत्ति का परिहार और सत् मे प्रवृत्ति इन दोनो अर्थो मे व्रत शब्द का प्रयोग हुआ है।[3] भगवान् श्री महावीर और ऋषभदेव के श्रमण पाँच महाव्रत रूप धर्म का पालन करते है और अन्य बावीस तीर्थंकरो के श्रमण चार यामो का। इसका क्या रहस्य है? यह प्रश्न भगवान् पार्श्वनाथ की परम्परा के अन्तिम प्रतिनिधि केशीकुमार श्रमण के मन को कचोट रहा था। उन्होने गौतमगणधर से पूछा।[4] गौतम ने समाधान करते हुए कहा—

विज्ञवर! प्रथम तीर्थंकर के श्रमण ऋजु जड होते हैं। अन्तिम तीर्थंकर के श्रमण वक्रजड होते है और मध्य के तीर्थंकरो के श्रमण ऋजुप्राज्ञ होते है। प्रथम तीर्थंकर के मुनि कठिनता से समझते हैं और अन्तिम तीर्थंकर के शिष्यो को धर्मपालन करना कठिन होता है किन्तु मध्यवर्ती श्रमणो के लिए समझना और पालना सुलभ होता है।[5]

चातुर्याम और पचयाम का जो भेद है वह बहिर्दृष्टि से है न कि अन्तर्दृष्टि से। मध्यवर्ती श्रमण परिग्रह-त्याग मे ही चतुर्थव्रत का समावेश कर लेते थे। कञ्चन और कान्ता दोनो का वे अन्योन्याश्रय सम्बन्ध समझते थे।[6] कुछ आधुनिक चिन्तको ने लिखा है कि वे कान्तामुक्त थे, पर उनकी यह कल्पना अनागमिक है।

ज्येष्ठ

जैनधर्म गुणप्रधान होने पर भी पुरुषज्येष्ठ है। शतवर्ष दीक्षिता साध्वी भी अद्यदीक्षित श्रमण को भक्ति-भावना से नमन करती है।[7]

ज्येष्ठ कल्प का दूसरा अर्थ है—बावीस तीर्थंकरो के समय श्रमणो के सामायिक चारित्र ही होता है पर

---

१ हिंसानृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहेभ्यो विरतिर्व्रतम्।
—तत्वार्थसूत्र ७।१

२ अकरण निवृत्तिरुपरमो विरतिरित्यनर्थान्तरम्।
—तत्वार्थसूत्र ७।१ भाष्य

३ तत्वार्थसूत्र ७।१ भाष्य की टीका

४ उत्तराध्ययन अ० २३, गाथा २३-२४

५ उत्तरा० अ० २३ गाथा २५-२७

६ पचवओ खलु धम्मो, पुरिमस्स य पच्छिमस्स य जिणस्स।
मज्झिमगाण जिणाण, चउव्वओ होइ विन्नेओ॥
नो अपरिग्गहियाए, इत्थीए जोण होइ परिभोगो।
ता तव्विरई इच्चिअ, अबभविरइत्ति पन्नाण॥
—कल्पसमर्थनम्, गा० १४-१५ प० २

७ वरिससयदिक्खिआए, अज्जाए अज्जदिक्खिओ साहू।
अभिगमणवदणनम—सणेण विणएण सो पुज्जो॥—कल्पलता टीका मे उद्धृत

प्रथम और अन्तिम तीर्थंकर के समय श्रमणों के सामायिक चारित्र के साथ ही छेदोपस्थापनिक चारित्र भी होता है। उसके आधार से ही श्रमण श्रेष्ठ या कनिष्ठ होता है। आज के युग में सामायिक चारित्र के ग्रहण को लघुदीक्षा और छेदोपस्थापनिक चारित्र के ग्रहण को बड़ी दीक्षा कहते हैं।[1]

ज्येष्ठ कल्प का तीसरा अर्थ है कि पिता, पुत्र, राजा, मंत्री, सेठ, मुनीम, माता, पुत्री आदि एक ही साथ प्रव्रज्या ग्रहण करें या पिता, राजा, सेठ, माता आदि ने प्रथम सामायिक चारित्र आदि ग्रहण कर लिया है और फिर पिता आदि के अन्तर्मानस में प्रव्रज्या लेने की भावना उद्बुद्ध होती है, तो चार छह माह तक उसे छेदोपस्थापनिक चारित्र न दे। प्रथम पिता आदि को चारित्र देकर ज्येष्ठ बनाये।[2]

प्रतिक्रमण

प्रतिक्रमण जैनधर्म की साधना का आवश्यक अंग है। प्रतिक्रमण का अर्थ है प्रमादवश शुभ योग से च्युत होकर अशुभ योग को प्राप्त करने के पश्चात् पुनः शुभ योग को प्राप्त करना।[3] मन, वचन और तन से कृत कारित और अनुमोदित पापों की निवृत्ति के लिए आलोचना करना, पश्चात्ताप करना, निन्दा करना, अशुद्धता का त्याग कर शुद्धता प्राप्त करना। हिंसा, झूठ, चोरी, मैथुन और परिग्रह रूप जिन पाप कर्मों का निर्ग्रन्थ श्रमणों के लिए निषेध किया गया है, उनका यदि सेवन हो गया तो प्रतिक्रमण करना चाहिए। जिन शुभ कृत्यों का आचरण करना श्रमण के लिए आवश्यक है यदि उनका आचरण न किया गया हो तो भी प्रतिक्रमण करना चाहिए। बावीस तीर्थंकरों के समय के साधक अतीव विवेकनिष्ठ एवं जागरूक थे, अतः वे दोष लगने पर ही प्रतिक्रमण करते थे।[4]

कुछ आचार्यों का अभिमत है कि दैवसिक, रात्रिक, पाक्षिक, चातुर्मासिक, और सांवत्सरिक इन पाँच प्रतिक्रमणों में से बावीस तीर्थंकरों के समय दैवसिक, और रात्रिक ये दो ही प्रतिक्रमण होते थे।[5] शेष नहीं। जिनदास गणि महत्तर ने स्पष्ट कहा है कि प्रथम और अन्तिम तीर्थंकर के समय नियमित रूप से उभयकालिक प्रतिक्रमण करने का विधान है और बाकी दोष लगने पर ईर्यापथ आदि के रूप में तत्काल प्रतिक्रमण का विधान है। बावीस तीर्थं-

---

१ (क) उवट्ठावणाइ जिट्ठो, विन्नेओ पुरिमपच्छिमजिणाण।
पव्वज्जाए उ तहा, मज्झिमगाण निरइयारो॥
—कल्पसमर्थनम्, गा १७ प० २

(ख) श्री आदीश्वर-महावीरयो साधूनां दीक्षाद्वयं भवति, एका लघ्वी दीक्षा, अपरा बृहती दीक्षा भवति। लघुत्वम् वृद्धत्वं च बृहद्दीक्षया गण्यते। द्वाविंशतितीर्थंकरसाधूनां तु दीक्षायां भवन्त्यां सत्यामेव लघुत्वम् वृद्धत्वं गण्यते एष ज्येष्ठकल्प उच्यते। —कल्पद्रुमकलिका टीका प० २-३

२ सह प्रव्रजिताना पितापुत्र-मातासुता-नृपामात्यादीना समकमेव षड्जीवनिकायाध्ययनयोगोद्वहनादियोग्यताप्राप्तानां स्तोकान्तरिताना वा किञ्चिद्विलम्बेनापि पित्रादीनामेव प्रथममुपस्थापना विधेया।
—कल्पसूत्रकल्पार्थबोधिनी टीका पा० २

३ देखिए आवश्यक एक जीवनदृष्टि १ निबन्ध टिप्पण।

४ सपडिक्कमणो धम्मो, पुरिमस्स य पच्छिमस्स य जिणस्स।
मज्झिमयाण जिणाण, कारणजाए पडिक्कमण॥
—आवश्यक निर्युक्ति गा० १२४४

५ देवसिय, राइय, पक्खिय, चउमासिय, वच्छरिय नामाओ।
दुण्ह पण पडिक्कमणा, मज्झिमगाण तु पढमा॥
—सप्ततिस्थानक





करो के शासनकाल मे दोष लगते ही शुद्धि कर ली जाती थी, उभयकाल नियमेन प्रतिक्रमण का विधान नहीं था।[1]

मासकल्प

श्रमण एक स्थान पर स्थिर हो कर न रहे।[2] भारण्डपक्षी की तरह अप्रमत्त होकर ग्रामानुग्राम विहार करे।[3] विहार की दृष्टि से काल को दो भागो मे विभक्त किया गया है।[4] वर्षाकाल और ऋतुबद्ध काल, वर्षाकाल मे श्रमण चार माह तक एक स्थान पर स्थिर रह सकता है और ऋतुबद्ध काल मे एक माह तक। वर्षाकाल का समय एक स्थान पर स्थिर रहने का उत्कृष्ट समय है। अत उसे सवत्सर कहा है।[5] बृहत्कल्पभाष्य मे वर्षावास का परम-प्रमाण चार माह बताया हैं।[6] और शेषकाल का परम-प्रमाण एक माह।[7] जिस स्थान पर श्रमण उत्कृष्ट काल रह चुका हो, अर्थात् जिस स्थान मे वर्षाऋतु मे वर्षावास किया हो उस स्थान मे दो चातुर्मास्य अन्यत्र किये बिना चनुर्मास्य न करे और जिस स्थान पर मासकल्प किया हो उस स्थान पर दो मास अन्यत्र बिताये बिना न रहे। यद्यपि गाथा में तृतीय बार का स्पष्ट उल्लेख नही है। किन्तु स्थविर अगस्त्यसिंह के अभिमतानुसार चकार के द्वारा वह प्रतिपादित है।[8]

भगवान ऋषभदेव और महावीर के श्रमणो के लिए ही मासकल्प का विधान है। शेष बावीस तीर्थंकरो के लिए नही। वे चाहे तो दीर्घकाल तक भी एक स्थान पर रह सकते हैं और चाहें तो शीघ्र ही एक स्थान से दूसरे स्थान पर प्रस्थान कर जाते हैं।

पर्युषणाकल्प

"परि" उपसर्गपूर्वक वस् धातु से "अन" प्रत्यय लगकर पर्युषण शब्द बना हैं, जिसका अर्थ है आत्मा के समीप रहना। परभाव से हटकर स्वभाव में रमण करना। आत्ममज्जन, आत्मरमण, या आत्मस्थ होना। यह

---

१ पुरिमपच्छिमएहिं उभओ कालं पडिक्कमितव्वं इरियावहियमागतेहिं उच्चारपासवण-आहारादीण वा विवेग काऊण, पदोसपच्चूसेसु, अतियारो होतु वा मा वा तहावस्स पडिक्कमितव्वं एतेहिं चेव ठाणेहिं। मज्झिमगाण तित्थे जदि अतियारो-अत्थि तो दिवसो होतु रत्ती वा, पुव्वण्हो अवरण्हो मज्झण्हो, पुव्वत्तावरत्त वा अड्ढरत्तो वा ताहे चेव पडिक्कमन्ति। नत्थि तो न पडिक्कमन्ति, जेण ते असढा पण्णावन्ता परिभाणगा न य पमादबहुला, तेण तेसिं एव भवति।—आवश्यकचूर्णि, जिनदास

२ कप्पइ निग्गथाण वा निग्गथीण वा, हेमत-गिम्हासु चारए।

—बृहत्कल्पभाष्य का० ११३६

३ भारड पक्खी व चरेऽप्पमत्तो —उत्तराध्ययन अ० ४ गा० ६

४ सवच्छर इति कालपरिमाण। त पुण एह बारसमासिग सवज्झति किन्तु वरिसारत्ता चातुर्मासित स एव जेट्ठोग्गहो।—दशवैकालिक, अगस्त्यसिंह चूर्णि।

५ बृहत्कल्पभाष्य भाग १।३६

६ बृहत्कल्पभाष्य भाग १।६।७।८

७ सवच्छर चावि पर पमाण, बीय च वास न तहिं वसेज्जा।
सुत्तस्स मग्गेण चरेज्ज भिक्खू, सुत्तस्स अत्थो जह आणवेइ॥—दशवैकालिक, द्वितीयचूलिका गा० ११

८ बितिय च वास-बितिय ततो अणतर च सद्देण ततियमवि जतो भणित तद्गुण, दुगणेण अपरिहरित्ता ण वट्टति ततिय च परिहरिऊण चउत्थे होज्जा।—दशवै० अगस्त्यसिंह चूर्णि

पुनीत पर्व आषाढी पूर्णिमा से उनपचास और पचासवें दिन मनाया जाता है।[1] जिसे संवत्सरी महापर्व कहते हैं।

पर्युषणा कल्प का दूसरा अर्थ है एक स्थान पर निवास करना। वह सालंबन और निरालंबन रूप दो प्रकार का है। सालंबन का अर्थ है—सकारण और निरालंबन का अर्थ है बिना कारण। निरालंबन के भी जघन्य और उत्कृष्ट रूप दो भेद हैं।[2]

पर्युषणा के पर्यायवाची शब्द इस प्रकार बतलाये गये हैं—(१) परियाय ववत्थवणा (२) पज्जोसमणा (३) पागइया (४) परिवसना (५) पज्जुसणा (६) वासावास (७) पढमसमोसरण (८) ठवणा और (९) जेट्ठोग्गह।[3]

यद्यपि ये सब नाम एकार्थक हैं तथापि व्युत्पत्तिभेद के आधार पर उनमे किंचित् अर्थभेद भी है।[4] पर्युषणा के वर्षों की गणना के आधार से दीक्षापर्याय की ज्येष्ठता-कनिष्ठता गिनी जाती है, अतएव पर्युषणा दीक्षापर्याय की व्यवस्था का कारण है।[5] वर्षावास में भिन्न प्रकार के द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव सम्बन्धी पर्यायो का आचरण किया जाता है। इस कारण इसका दूसरा नाम "पज्जोसमणा" है। गृहस्थ आदि सभी के लिए समान होने से यह 'कल्प' 'पागइया' कहलाता है।[6]

---

१ (क) पुरिमन्तिमतित्थगराण, मासकप्पो ठिओ मुणेयव्वो।
मज्झिमगाण जिणाण, अट्ठियओ एस विन्नेओ॥
—कल्पसमर्थनम् गा० १६ प० २

(ख) 'मासकल्प' श्रीआदिनाथमहावीरसाधुभि शेषकाले अष्टमासेषु मासकल्प क्रियते। द्वाविंशतितीर्थंकर-साधुभिस्तु न मासकल्प क्रियते। —कल्पसूत्र कल्पलता टीका

(ग) कल्पसूत्र सुबोधिका टीका व्याख्यान—कल्पद्रुम कलिका प० ३।२

२ (क) समणे भगव महावीरे वासाणं सवीसईराइ मासे विइक्कते सत्तरि राइदिएहिं वासावास पज्जोसवेइ।
—समवायाङ्ग ७ वा समवाय

(ख) तेण कालेण तेण समएण समणे भगव महावीरे वासाण सवीसइराए मासे विइक्कते वासवास पज्जोसवेइ।
—कल्पसूत्र २२४ पृ० ६६ पुण्य

३ (क) कल्पसूत्र कल्पार्थबोधिनी टी० प० ३।१

(ख) कल्पसूत्र सुबोधिका टीका

४. (क) पज्जोसवणाए अक्खराइ, होंति उ इमाइ गोण्णाइ।
परियायवत्थवणा, पज्जोसवणा, य पागइता॥३१३८
परिवसणा पज्जुसणा पज्जोसवणा य वासवासो य।
पढम समोसरण ति य, ठवणा 'जेट्ठोग्गहेगट्ठा॥ ३१३९
पज्जोसवण त्ति एतेसि अक्खराणि इमाणि एगट्ठिताणि गोण्णणामाणि अट्ठ भवति। त जहा—परियायवत्थवणा पज्जोसवणा य, परिवसणा, पज्जुसणा वासावासो, पढमसमोसरणं, ठवणा, जेट्ठोग्गहो त्ति एते एगट्ठिता।
—निशीथसूत्र सभाष्य चूर्णि, तृतीय भा० प० १२५-१२६, ज्ञानपीठ, आगरा

(ख) कल्पसूत्र निर्युक्ति, गा० ११२

५ (क) एतेसिं इमो अत्थो-जम्हा पज्जोसवणादिवसे पव्वज्जापरियागो व्यपदिश्यते-व्यवस्थाप्यते सखा—'एत्तिया वरिसा मम उवट्ठावियस्स त्ति तम्हा परियायवत्थवणा भण्णति—निशीथसूत्र सभाष्यचूर्णि ३।१२५

(ख) कल्पसूत्र निर्युक्ति एव, चूर्णि १।२१८५ पुण्यविजयजी द्वारा सम्पादित

६ (क) जम्हा उडुबद्धिया दव्व-खेत्त-काल-भावा पज्जाया, एत्थ परिसमता ओसविज्जति-परित्यजन्तीत्यर्थ, अण्णे य दव्वादिया वरिसकालपायोग्गा घेत्तु आयरिज्जति, तम्हा पज्जोसवणा भण्णति 'पागय' त्ति सव्वलोगपसिद्धेण पागतभिधाणेण पज्जोसवणा भण्णति।—निशीथसूत्र सभाष्य चूर्णि ३।१२५-२६

(ख) कल्पसूत्र निर्युक्ति एव चूर्णि १।२६।८५





इस कल्प मे एक स्थान पर चार मास तक निवास किया जाता है, अतएव यह वासवास-वर्षावास कहा गया है।[1] कोई विशेष कारण न हो तो प्रावृट् मे ही चातुर्मास व्यतीत करने योग्य क्षेत्र मे प्रवेश किया जाता है, अतएव उसे 'पढमसमोसरण कहते है।[2] ऋतुबद्धकाल की अपेक्षा इसकी मर्यादाएँ भिन्न होती हैं अतएव यह 'ठवणा' है।[3] ऋतुबद्धकाल में एक-एक मास का क्षेत्रावग्रह होता है किन्तु वर्षाकाल मे चार मास का अतएव इसे जेट्ठोग्गह—जेष्ठावग्रह कहते हैं।[4]

अगर साधु आषाढी पूर्णिमा तक नियत स्थान पर आ पहुँचा हो और वर्षावास की जाहिरात कर दी हो तो श्रावण कृष्णा पचमी से ही वर्षावास आरम्भ हो जाता है। उपयुक्त क्षेत्र न मिलने पर श्रावण कृष्ण दशमी का, फिर भी योग्य क्षेत्र की प्राप्ति न हो तो श्रावण मास की पचदशमी (अमावस्या) को वर्षावास आरम्भ करना चाहिए।

इतने पर भी सुयोग्य क्षेत्र न मिले तो पाँच-पाँच दिन बढाते हुए अन्तत भाद्रपद शुक्ला पचमी तक तो आरम्भ कर देना अनिवार्य माना गया है। इस समय तक भी उपयुक्त क्षेत्र प्राप्त न हुआ हो तो अन्तत वृक्ष के नीचे ही पर्युषणाकल्प करना चाहिए। पर इस तिथि का किसी भी स्थिति मे उल्लघन नही करना चाहिए।[5]

पचमी, दशमी और पचदशमी इन पर्वों मे ही पर्युषणा कल्प करना चाहिए, अपर्व में नहीं। इस प्रकार का सामान्य विधान होने पर भी विशिष्ट कारण से आर्यकालक ने चतुर्थी तिथि मे पर्युषणा की प्रवृत्ति की थी, मगर इसे

---

१ जम्हा एगखेत्ते चत्तारि मासा-परिवसतीति तम्हा परिवसणा भण्णति।
—निशीथ सभाष्य चूर्णि ३।१२५

(ख) कल्पसूत्र निर्युक्ति ८५

२ उदुवद्धिया वास समीवातो जम्हा पगरिसेण ओसति सव्वदिसासु परिमाण-परिच्छिन्न तम्हा पज्जुसणा भण्णति पज्जोसवणा इति गतार्थ।—निशीथ सभाष्य चूर्णि ३।१२५-१२६

(ख) कल्पसूत्र निर्युक्ति पृ० ८५

(ग) प्रथम आद्य बहुण समवातो समोसरण ते य दो समोसरणा-एग वासासु वितय उदुबद्धे। जतो पज्जोसवणा तो वरिस आढप्पति अतो पढम समोसरण भण्णति।—निशीय, सूत्रभाष्य चूर्णि ३।१२६

(घ) कल्पचूर्णि वृ ८५

३ वासकप्पातो जम्हा अण्णा वासकप्पमेहा ठविज्जति तम्हा ठवणा भण्णति
—निशीथ वही ३।१२६

४ (क) जम्हा उडुवद्धे एक्क मास खेत्तोग्गाहो भवति, वासावासासु चत्तारि मासा, तम्हा उडुवद्धियाओ वासे उग्गहो जेट्ठो भवति। एषा व्यजनतो नानात्वं, नत्वर्थत।—निशीयसूत्र-सभाष्यचूर्णि ३।१२६

(ख) कल्पसूत्र चूर्णि ८५

५ (क) एत्थ तु पणग पणग कारणिय, जा सवीसतीमासो।
सुद्धदसमीठियाण व, आसाढीपुण्णि-मोसरण॥
कल्पसूत्र निर्युक्ति गा० १६

(ख) आसाढपुण्णिमाए ठियाण जति तणडगलादीणि गहियाणि पज्जोसवणाकप्पो य कहितो तो सावण बहुलपचमीए पज्जोसवेंति। असति खेत्ते सावणबहुलदसमिए असति खेत्ते सावण बहुलस्स पण्णरसीय, एव पच पच ओसारेंतेण जाव असति भद्दवतसुद्धपचमीए, अतो परेण ण वट्टति अतिक्कामेतु। आसाढपुण्णिमातो आढत्त मग्गताण जाव भद्दवय जोण्हस्स पचमीए एत्थतरे जति ण लद्ध ताहे जति रुक्खहेट्ठे ठितो तो वि पज्जोसवेतव्व एतेसु पव्वेसु जहा लभेण पज्जोसवेयव्व, अप्पव्वे ण वट्टति।
—कल्पसूत्र चूर्णि० पृ ८६ पुण्यविजयजी, सपा०

मासकल्प नियम नहीं समझना चाहिए ।[1]

वर्षावास में भी विशेष कारण से श्रमण विहार कर सकता है । स्थानांग में पाँच कारणों का निर्देश किया गया है । वे कारण ये हैं—(१) ज्ञान के लिए, (२) दर्शन के लिए, (३) चारित्र के लिए, (४) आचार्य और उपाध्याय के काल करने पर, (५) आचार्य उपाध्याय आदि के वैयावृत्य के लिए ।[2]

भाष्य चूर्णि और टीका साहित्य में कुछ अन्य भी कारण वर्षावास में विहार करने के बताये हैं—जैसे कि "दुष्काल के कारण भिक्षा की उपलब्धि न होने से, राजप्रकोप होने से, रोग आदि उत्पन्न होने से, जीवोत्पत्ति का आधिक्य होने से, आदि-आदि ।[3]

वर्षावास समाप्त होने पर श्रमण को विहार करना चाहिए । किन्तु यदि वर्षा का आधिक्य हो, वर्षा से मार्ग दुर्गम व पंकिल हो गये हों, शरीर अस्वस्थ हो, बीमारी आदि कोई कारण हो तो वह अधिक भी ठहर सकता है ।[4]

---

१ कल्पसूत्र चूर्णि पृ० ८९

२ कप्पइ पंचहिं ठाणेहिं णिग्गंथाण णिग्गंथीण पढमपाउसंसि गामाणुगामं दूइज्जित्तए तं० णाणट्ठयाए, दंसणट्ठयाए चरित्तट्ठयाए, आयरिय उवज्झाया वा से विसुंभेज्जा आयरियउवज्झायाण वा बहिया वेयावच्चकरणाए ।

—स्थानाङ्ग सूत्र ५ वां स्थान

३. (क) तत्थ अपत्ते इमे कारणा —

राया कुद्धे सप्पे, अगणिगिलाणे य थंडिलस्सऽसती, एएहिं कारणेहिं अपत्ते होइ णिग्गमणं ॥३१५८

राया दुट्ठो, सप्पो वा वसहिं पविट्ठो, कुंथूहिं वा वसही संसत्ता, अगणिणा वा वसही दड्ढा, गिलाणस्स पडिचरणट्ठा णिग्गच्छ वा ओसहहेउं, थंडिलस्स वा असतीते, एतेहिं कारणेहिं अप्पत्ते चउपाडिवए णिग्गमणं भवति । अहवा इमे कारणा—

काइयभूमी सज्झाए, य संसत्त कुल्लंते भिक्खे ।
एएहिं कारणेहिं, अप्पत्ते होति णिग्गमणं ॥ ३१५९

काइयभूमी संसत्ता, सज्झाए वा संसत्ता, कुल्लंत वा भिक्खं जातं, आयपरसमुत्थेहिं वा दोसेहिं मोहोदओ जाओ, असिवं वा उप्पण्णं एतेहिं कारणेहिं अप्पत्ते णिग्गमणं भवति ।

—सभाष्य निशीथ चूर्णि तृ० भा० पृ १३२-१३३

(ख) कल्पसमर्थनम् गा० २४-२५ पत्र २

(ग) कल्पसूत्र-कल्पलता, व्याख्यान १ पत्र २-३

४ चउप्पाडिवए अइक्कंते णिग्गमो इमेहिं कारणेहिं—

वासं न उवरमती, पथा वा दुग्गमा सचिक्खिल्ला ।
एएहिं कारणेहिं अइक्कंते होइ णिग्गमणं ॥३१६०

अइक्कंते वासाकाले वासं णोवरमइ, पथो वा दुग्गमो, अइजलेण सचिक्खल्लो य, एवमाइएहिं कारणेहिं चउपाडिवए अइक्कंते णिग्गमणं ण भवति । ३१६०

अहवाइमे कारणा—

असिवे ओमोयरिए रायदुट्ठे भए व गेलण्णे ।
एतेहिं कारणेहिं, अइक्कते होयऽणिग्गमणं ॥ ३१६१

बाहिं असिवं ओमं वा, बाहिं वा रायदुट्ठं, बोहिगादिभयं वा आगाढं, अगाढकारणेण वा ण णिग्गच्छति ।
एतेहिं कारणेहिं चउपाडिवए अतिक्कंते अणिग्गमणं भवति ।३१६१

—निशीथसूत्र, सभाष्य चूर्णि तृ० भा०

(ख) कल्पसमर्थनम् गा० २६, पृ २

(ग) कल्पसूत्र, कल्पलता प० ३।१ समयसुन्दर ।





वर्षावास के लिए भी वही क्षेत्र उत्तम माना जाता है जहाँ पर तेरह गुण हो। वे गुण इस प्रकार है—(१)जहाँ पर विशेष कीचड न हो (२)अधिक जीवों की उत्पत्ति न हो (३) शौच स्थल-निर्दोष हो, (४) रहने का स्थान शान्तिप्रद हो (५) गोरस की अधिकता हो। (६) जन समूह विशाल और भद्र हो, (७) गुज्ञ वैद्य हो, (८) औषध सुलभ हो, (९) गृहस्थ वर्ग धन धान्यादि से समृद्ध हो, (१०) राजा धार्मिक हो, (११) श्रमण ब्राह्मण का अपमान न होता हो, (१२) भिक्षा सुलभ हो, (१३) और जहाँ पर स्वाध्याय योग्य स्थान हो।[1]

भगवान् ऋषभदेव और महावीर के श्रमणों के लिए वर्षावास-पर्युषणा का अनिवार्य विधान है, शेष बाईस तीर्थंकरों के श्रमणो के लिए नही। वे वर्षा आदि के कारण से ठहरते भी थे और कारणाभाव मे विहार भी करते थे।[2]

इन दस कल्पों मे (१) आचेलक्य (२) औद्देशिक (३) प्रतिक्रमण (४) राजपिण्ड (५) मासकल्प (६) पर्युषणा कल्प ये छह कल्प अस्थिर है।[3] और (१)शय्यातर पिण्ड (२) चतुर्य महाव्रत रूप धर्म,(३) पुरुष जेष्ठ, (४) और कृतिकर्म ये चार कल्प अवस्थित है, और चौवीस ही तीर्थंकरों के शासन मे होते हैं।[4]

जिज्ञासा हो सकती है कि सभी तीर्थंकरो के श्रमणो का लक्ष्य मोक्ष है तो फिर प्रथम अन्तिम और बावीस तीर्थंकरो के श्रमणो के आचार कल्प मे यह अन्तर क्यों है ? अस्थिर और अवस्थित कल्प क्यों हैं।

समाधान है—प्रथम तीर्थंकर के श्रमण जड और सरल होते थे। अजित आदि बावीस तीर्थंकरो के श्रमण विज्ञ और सरल होते थे। महावीर के श्रमण जड और वक्र होते है अत मोक्षमार्ग एक होने पर भी आचार कल्प मे अन्तर किया गया है।

---

१ (क) चिक्खल पाण थंडिल, वसही गोरस जणाउले विज्जे।
ओसह निचयाऽहिवई, पासडा भिक्ख सज्झाए॥
—कल्पसमर्थनम् गा० ३६, पृ० ३

(ख) कल्पसूत्र कल्पलता पृ० ५ मे उद्धृत

(ग) कल्पसूत्र कल्पद्रुम कलिका पृ० ५ मे भी उद्धृत

२ दोसासइ मज्झिमगा, अच्छंति अ जाव पुव्वकोडीवि।
इहरा उ न मासपि हु, एव खु विदेहजिणकप्पो॥
—कल्पसमर्थनम् गा० २८ पृ० २

३ (क) शेषेषु चाचेलक्यादिषु षट्सु अस्थितास्तत्कल्पोऽस्थितकल्प उक्त च—
ठिय अट्ठितो य कप्पो, आचेलक्काइएसु ठाणेसु।
सव्वेसु ठिया पढमो, चउठिय छसु अट्ठिया बीओ॥
—आवश्यक निर्युक्ति, मलयगिरि वृत्ति मे १२१

(ख) आचेलक्कुद्देसिय, पडिकमणे रायपिंड मासेसु।
पज्जुसणाकप्पम्मि य, अट्ठियकप्पो मुणेयव्वो॥
—कल्पसमर्थनम् गा० २९ पृ० २

४ (क) सेज्जायर पिंडमि, चाउज्जामे य पुरिसजेट्ठे य।
किइकम्मस्स य करणे, चत्तारि अवट्ठिया कप्पा॥
—आवश्यक मलयगिरि वृत्ति मे उद्धृत प० १२१

(ख) सिज्जायरपिंडमि य, चाउज्जामे य पुरिसजिट्ठे अ।
किइकम्मस्स य करणे, ठियकप्पो मज्झिमाणपि॥
—कल्पसमर्थनम् गा० ३० पृ ३

(ग) कल्पद्रुमकलिका व्या० १ प० ३

पूर्वाचार्यों ने कल्प का महत्व प्रतिपादन करते हुए इसे तृतीय वैद्य की औषध के समान सभी के लिए हितावह बतलाया है।[1] कल्प एक ऐसी अनमोल रसायन है जो दोष लगने पर भी और दोषमुक्त-अवस्था में भी ग्राह्य है। दोष लगा है तो शुद्धि हो जाती है और दोष नहीं लगा है तो जागृति रहने से भूल की धूल नहीं लगती।

कल्प मानव को श्रेय की ओर ले जानेवाला आध्यात्मिक उपक्रम है। आत्मशुद्धि का अमोघ उपाय है। जीवन को निर्मल बनाने की एक कला है। इसके पालन से नये प्रकाश की आभा जगमगा सकती है, और अन्धकार विलीन हो सकता है।

●



१ वाहिमवणेइ भावे, कुणइ अभावे तयं तु पढमंति।
विइयमवणेइ न कुणइ, तइयं तु रसायणं होइ॥
एवं एसो कप्पो दोसा-भावेऽवि कज्जमाणो अ।
सुंदरभावाओ खलु, चारित्तरसायणं होइ॥
एवं कप्पविभागो, तइउरोसहनायओ गुणेयव्वो।
भावत्यजुओ इत्य उ, सव्वत्यवि कारणं एयं॥
—कल्पसमर्थन, गा० ३१ से ३३, पृ० ३

समन्तभद्र की जैनदर्शन को देन

श्री दरबारीलाल कोठिया,

एम० ए०, न्यायाचार्य, शास्त्राचार्य,

प्राध्यापक—काशी हिन्दू विश्वविद्यालय



आ० कुन्दकुन्द और गृद्धपिच्छ (उमास्वाति) के पश्चात् जैन वाङ्मय को जिस मनीषी ने सर्वाधिक प्रभावित किया और यशोभाजन हुआ वह स्वामी समन्तभद्र है । ये साहित्य और शिलालेखो मे विशिष्ट सम्मान के प्रदर्शक 'स्वामी' पद से विभूषित मिलते हैं। इनका यशोगान शिलालेखो तथा वाङ्मय के मूर्धन्य ग्रन्थकारो के ग्रन्थो मे बहुलतया उपलब्ध है । अकलकदेव ने[1] स्याद्वादतीर्थ का प्रभावक और स्याद्वादमार्ग का परिपालक, विद्यानन्द ने[2] स्याद्वादमार्गाग्रणी, वादिराज ने[3] सर्वज्ञका प्रदर्शक, मलयगिरि ने[4] आद्यस्तुतिकार तथा शिलालेखो ने[5] 'वीरशासन की सहस्र गुणी वृद्धि करने वाला, श्रुतकेवलि-सन्तानोन्नायक', 'समन्तविद्यानिधि', 'शास्त्रकर्त्ता' एव 'कलिकाल-गणधर' कहकर उनका कीर्तिगान किया है । यथार्थ मे जब तत्वनिर्णय ऐकान्तिक होने लगा और उसे उतना ही माना जाने लगा तथा आर्हत-परम्परा ऋषभादि तीर्थंकरो द्वारा प्रतिपादित तत्त्वव्यवस्थापक स्याद्वादन्याय को भूलने लगी, तो महान् आचार्य ने उसे उज्जीवित एव प्रभावित किया । अत ऐसे शासन-प्रभावक और तत्वज्ञान-प्रसारक मूर्धन्य मनीषी का विद्वानो द्वारा गुणगान हो तो कोई आश्चर्य नही ।

इनका विस्तृत परिचय और समयादि का निर्णय प्रसिद्ध इतिहासवेत्ता पण्डित जुगलकिशोर जी मुख्तार ने 'स्वामी समन्तभद्र' नामक इतिहास-ग्रन्थ में दिया है। वह इतना प्रमाण-पूर्ण, अविकल और शोधात्मक है कि ४२ वर्ष बाद भी उसमे सशोधन, परिवर्तन की गुजाइश प्रतीत नही होती, वह आज भी बिल्कुल नया और चिन्तन पूर्ण है। अतएव यहा समन्तभद्र के परिचयादि के सम्बन्ध मे कुछ न कहकर उनकी उपलब्धियो पर प्रकाश डालने का प्रयास करेंगे ।

समन्तभद्र से पूर्व का युग

जैन अनुश्रुति के अनुसार जैनधर्म के प्रवर्तक क्रमश काल के अन्तराल को लिए चौबीस तीर्थंकर हुए हैं। इनमें प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव, बाईसवें अरिष्ट नेमि, तेईसवें पार्श्वनाथ और चौबीसवे वर्द्धमान-महावीर तो ऐतिहासिक

---

१ (क) तीर्थं सर्वपदार्थतत्त्वविषयस्याद्वादपुण्योदधेर्भव्यानामकलङ्कभावकृतये प्राभावि काले कलौ ।
येनाचार्यसमन्तभद्रयतिना तस्मै नम सन्ततम्

(ख) भव्यैकलोकनयन परिपालयन्त
स्याद्वादवर्त्म परिणौमि समन्तभद्रम् ।

—अष्टशती आरम्भिक मगल पद्य २ तथा समाप्तिश्लोक ?

२. अष्टसहस्री, समाप्ति मङ्गल-पद्य १, पृ० २९५

३ पार्श्वनाथचरित १-२२

४ आवश्यक सूत्र-टीका

५ स्वामी समन्तभद्र पृ० ४६, ४७, ५० जुगलकिशोर मुख्तार

और लोक प्रसिद्ध भी है। इन तीर्थंकरों के द्वारा जो उपदेश दिया गया वह 'द्वादशांग' कहा गया है। जैसे बुद्ध के उपदेश को 'त्रिपिटक' कहा जाता है। वह 'द्वादशांग' श्रुत दो भागों में विभक्त है—(१) अंग प्रविष्ट और (२) अंगबाह्य। यह भेद प्रवक्ता विशेष के कारण है। जो श्रुत तीर्थंकरों तथा उनके प्रधान एवं साक्षात् शिष्यों द्वारा उक्त है वह अङ्गप्रविष्ट है। तथा जो इसके आधार से उत्तरवर्ती आचार्य-प्रवक्ताओं द्वारा रचा गया वह अङ्गबाह्य है। अङ्गप्रविष्ट और अङ्गबाह्य के भी क्रमशः बारह और चउदह भेद हैं। अङ्गप्रविष्ट के बारह भेदों में एक दृष्टिवाद है जो बारहवां श्रुत है। इस बारहवें दृष्टिवाद श्रुत में[1] विभिन्न वादियों की एकान्त दृष्टियों एवं मान्यताओं के निरूपण और समीक्षा के साथ उनका स्याद्वादन्याय से समन्वय किया गया है। इस तथ्य को समन्तभद्र ने[2] अपनी कृतियों में 'स्याद्वादिनो नाथ तवैव युक्तम्' जैसे पद—प्रयोगों द्वारा व्यक्त किया है और सभी तीर्थंकरों को स्याद्वादी (स्याद्वाद-प्रतिपादक) कहा है। भट्ट अकलङ्क देव ने[3] भी उन्हें स्याद्वाद का प्रवक्ता तथा उनके शासन उपदेश को स्याद्वाद के अमोघ लाञ्छन से चिह्नित बतलाया है।

आगमों तथा षट्खण्डागम में यद्यपि स्याद्वाद की स्वतन्त्र चर्चा एवं प्ररूपणा नहीं मिलती, फिर भी सिद्धान्त प्रतिपादन 'स्यात्' (सिया अथवा सिय) शब्द का लिए हुए अवश्य उपलब्ध होता है। उदाहरणार्थ मनुष्यों को पर्याप्तक तथा अपर्याप्तक दोनों बतलाते हुए कहा गया है कि 'सिया पज्जत्ता, सिया अपज्जत्ता' अर्थात् मनुष्य स्यात् पर्याप्तक है, स्यात् अपर्याप्तक। भगवती (१४, ४, ५१०) में एक प्रश्न का उत्तर देते हुए प्रतिपादन किया है कि "गोयमा! सिय सासए सिय असासए।" अर्थात् हे गौतम! पुद्गल परमाणु स्यात्—द्रव्यदृष्टि से शाश्वत है और स्यात्—रूपादि पर्यायों की अपेक्षा से अशाश्वत है। इसी प्रकार आगम में कुछ दूसरे विषयों का भी निरूपण मिलता है। आ० कुन्दकुन्द ने आगम के इन दो (विधि और निषेध अथवा सत् और असत्) वचन-प्रकारों में पांच वचन-प्रकार और मिला कर सात वचन प्रकारों से वस्तु (द्रव्य) प्ररूपण का स्पष्ट उल्लेख किया है। यथा—

> सिय अत्थि णत्थि उहय अव्वत्तव्वं पुणो य तत्तिदयं।
> दव्वं खु सत्तभंगं आदेसवसेण संभवदि॥
>
> —पंचास्तिकाय गा० १४

'स्यादस्ति द्रव्यं स्यान्नास्ति द्रव्यं स्यादुभयं स्यादवक्तव्यं स्यादस्त्यवक्तव्यं स्यान्नास्त्यवक्तव्यं स्यादस्तिनास्त्यवक्तव्यम्।' अर्थात् स्यात् द्रव्य है, स्यात् द्रव्य नहीं है, स्यात् उभय है, स्यात् अवक्तव्य है, स्यात् है और अवक्तव्य है, स्यात् नहीं है और अवक्तव्य है, स्यात् है और नहीं है तथा अवक्तव्य है। इन सात भङ्गों का यहां उल्लेख हुआ है और उन्हें लेकर आदेशवशात् (नयविवक्षानुसार) द्रव्य-निरूपण करने की सूचना की है। कुन्दकुन्द ने[4] यह भी प्रतिपादन किया है कि यदि सद्रूप ही हो तो उसका विनाश नहीं

---

१ 'एषां दृष्टिशतानां त्रयाणां षष्ट्युत्तराणां प्ररूपणं निग्रहश्च क्रियते।'
वीरसेन, धवला पुस्तक १ पृ० १०८।

२ बन्धश्च मोक्षश्च तयोश्च हेतू बद्धश्च मुक्तश्च फलं च मुक्तेः।
स्याद्वादिनो नाथ तवैव युक्तं नैकान्तदृष्टेस्त्वमतोऽसि शास्ता॥ स्वयम्भूस्तो० श्लो० १४।

३ (क) धर्मतीर्थंकरेभ्योऽस्तु स्याद्वादिभ्यो नमो नमः।
ऋषभादिमहावीरान्तेभ्यः स्वात्मोपलब्धये॥
—लघीय० १।१

(ख) श्रीमत्परमगम्भीरस्याद्वादामोघलाञ्छनम्।
जीयात् त्रैलोक्यनाथस्य शासनं जिनशासनम्॥
—प्रमाणस० १।१

४ पञ्चास्तिका० गा० १५, १६





हो सकता और यदि असद्रूप ही हो तो उसका उत्पाद सम्भव नही है और चूंकि यह देखा जाता है कि जीव मनुष्य पर्याप्त से नष्ट, देवपर्याय से उत्पन्न तथा जीव सामान्य से ध्रुव रहने से वह उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य स्वरूप है। इससे प्रतीत होता है कि कुन्दकुन्द के समय मे जैनवाङ्मय मे दर्शन का रूप तो आने लगा था, पर उसका अभी विकास नही हो सका था। आ० गृद्धपिच्छ के तत्त्वार्थसूत्र मे कुन्दकुन्द द्वारा प्रदर्शित दर्शन के रूप मे कुछ वृद्धि मिलती है। एक तो उन्होने प्राकृत मे सिद्धान्त प्रतिपादन की पद्धति को संस्कृत-गद्यसूत्रो मे बदल दिया। दूसरे, उपपत्तिपूर्वक सिद्धान्तो का निरूपण आरम्भ किया। तीसरे, आगम-प्रतिपादित ज्ञान मार्गणागत मत्यादि ज्ञानो को प्रमाण सज्ञा दी तथा उन्हें प्रत्यक्ष और परोक्ष इन दो भेदो मे विभक्त किया। चौथे, दर्शनान्तरो मे प्रथक् प्रमाण रूप मे स्वीकृत स्मृति, प्रत्यभिज्ञान और अनुमान को मतिज्ञान कहकर उनका 'आद्ये परोक्षम्' (त० सूत्र १/११) सूत्रद्वारा परोक्ष प्रमाण मे ही अन्तर्भाव किया। पाचवें, नैगमादिनयो को अर्थाधिगम का उपाय बताया। इस प्रकार उन्होंने कितना ही नया चिन्तन प्रारम्भ किया। इतना होने पर भी दर्शन मे उन एकान्तवादो, सघर्षों और अनिश्चयो का तार्किक समाधान अभी तक नही आ पाया था, जो उस समय की चर्चा के विषय थे।

तत्कालीन स्थिति

विक्रम की दूसरी-तीसरी शताब्दी का समय भारतवर्ष के इतिहास मे दार्शनिक क्रान्ति का समय रहा है। इस समय विभिन्न दर्शनो मे अनेक क्रान्तिकारी विद्वान् हुए है। श्रमण और वैदिक दोनो परम्पराओ मे अश्वघोष, मातृचेट, नागार्जुन, कणाद, गौतम, जैमिनि जैसे प्रतिद्वन्द्वी विद्वानो का आविर्भाव हुआ और ये सभी दार्शनिक अपने मण्डन तथा दूसरे के खण्डन मे लग गये। शास्त्रार्थों की बाढ-सी आ गई। सद्वाद-असद्वाद, शाश्वतवाद-अशाश्वतवाद, अद्वैतवाद-द्वैतवाद और अवक्तव्यवाद-वक्तव्यवाद इन चार[1] विरोधी युगलो को लेकर तत्व की मुख्यचर्चा होती थी और उनका चार कोटियो से विचार किया जाता था। तथा वादियो का अपनी इष्ट एक-एक कोटि (पक्ष) को ही मानने का आग्रह रहता था। इस खीचतान के कारण अनिश्चय (अज्ञान) वादी सजय के[2] अनुयायी तत्व को अनिश्चित ही बतलाते थे। उपर्युक्त युगलो मे लगने वाली चार कोटिया इस प्रकार होती थी—

१. सदसद्वाद

१ तत्व सत् है।
२ तत्व असत् है।
३ तत्व उभय है
४ तत्व अनुभय (अवक्तव्य) है

२ शाश्वत-अशाश्वतवद

१ तत्व शाश्वत है
२ तत्व अशाश्वत है
३ तत्व उभय है
४ तत्व अनुभय है

---

१. सदेकनित्यवक्तव्यास्तद्विपक्षाश्च ये नया।
सर्वथेति प्रदुष्यन्ति पुष्यन्ति स्यादितीह ते॥

—स्वयम्भूस्तो० श्लोक १०१, समन्तभद्र

२ दीर्घनिकाय सामञ्ञ फलसुत्त मे सजय का मत 'अमरा-विक्षेपवाद' के रूप मे मिलता है। अमरा एक प्रकार की मछली का नाम है। उसके समान विक्षेप (अस्थिरता) का होना—मानना 'अमरा विक्षेपवाद' है।

३ द्वैत-अद्वैतवाद

१ तत्व द्वैत है
२ तत्व अद्वैत है
३ तत्व उभय है
४ तत्व अनुभय है

४ वक्तव्यावक्तव्यवाद

१ तत्व वक्तव्य है
२ तत्व अवक्तव्य है
३ तत्व उभय है
४ तत्व अनुभय है

समन्तभद्र की देन

समन्तभद्र ने प्रतिपादन किया कि तत्व इन चार ही कोटियों में समाप्त नहीं है, अपितु सात कोटियों में वह पूर्ण होता है।[1] उन्होंने बतलाया कि तत्व अनेकान्त रूप है[2]—एकान्तरूप नहीं और अनेकान्त विरोधी दो धर्मों (सत्-असत्, शाश्वत-अशाश्वत, एक-अनेक आदि, के युगल के आश्रय से प्रकाश में आने वाले वस्तुगत सात धर्मों का समुच्चय है।[3] ऐसे ऐसे-से अनन्त सप्तधर्म-समुच्चय विराट् अनेकान्तात्मक तत्व-सागर में अनन्त लहरों की तरह लहरा रहे हैं और इसी से उसमें अनन्त सप्त कोटियां (सप्तभङ्गियां) भरी पड़ी हैं। हां, द्रष्टा को सजग और समदृष्टि होना चाहिए। उसे यह ध्यान रहे कि वह जब तत्व को अमुक एक कोटि में कहे या देखे-जाने तो यह समझे कि तत्व (वस्तु) में वह धर्म अमुक अपेक्षा से रहता हुआ भी उसमें विद्यमान अन्य शेष धर्मों का

---

१. स्याद्वाद सर्वथैकान्तत्यागात् किंवृत्तचिद्विधिः ।
सप्तभङ्गनयापेक्षो हेयादेयविशेषकः ॥

—आप्तमी० का० १०४ ।

२ (अ) तत्वं त्वनेकान्तमशेषरूपम् ।

युक्त्यनु० का० ४६ ।

(आ) एकान्तदृष्टिप्रतिषेधि तत्त्वं प्रमाणसिद्धं तदतत्स्वभावम् ।

—स्वयम्भूस्तो० ४१ ।

(इ) न सच्च नासच्च न दृष्टमेकमात्मान्तरं सर्वनिषेधगम्यम् ।
दृष्टं विमिश्रं तदुपाधिभेदात् स्वप्नेऽपि नैतत्त्वदृषेः परेषाम् ॥

— युक्त्यनुशा० का० २२ ।

३ (क) विधिर्निषेधोऽनभिलाप्यता च त्रिरेकशस्त्रिर्द्विश एक एव ।
त्रयो विकल्पास्तव सप्तधाऽमी स्याच्छब्द-नेयाः सकलेऽर्थभेदे ॥

युक्त्यनु० का० ४५ ।

(ख) विधेयं वार्यं चानुभयमुभयं मिश्रमपि तत्
विशेषैः प्रत्येकं नियमविषयैश्चापरिमितैः ।
सदान्योन्यापेक्षैः सकलभुवनज्येष्ठगुरुणा
त्वया गीतं तत्वं बहुनयविवक्षेतरवशात् ॥

—स्वयम्भूस्तो० का० ११८ ।





निषेधक नहीं है। केवल वह विवक्षावश मुख्य और अविवक्षावश अन्य धर्म गौण है।[1] इसे ठीक तरह समझने और कहने के लिए उन्होंने प्रत्येक कोटि (भङ्ग वचन प्रकार) के साथ 'स्यात्' निपात-पद लगाने की सिफारिश की[2] और 'स्यात्' का अर्थ 'कथञ्चित्'—किसी एक दृष्टि—किसी एक अपेक्षा बतलाया।[3] साथ ही उन्होंने प्रत्येक कोटि की निर्णयात्मकता को प्रकट करने के लिए प्रत्येक वाक्य के साथ 'एव' कार पद का प्रयोग भी निर्दिष्ट किया,[4] जिससे उस कोटि की वास्तविकता—निश्चयात्मकता प्रमाणित हो, काल्पनिकता या सांवृतिकता नहीं। तत्त्व प्रतिपादन की इन सात कोटियों को उन्होंने एक नया नाम भी दिया। वह नाम है भङ्गिनी प्रक्रिया[5] - सप्तभङ्गी अथवा सप्तभङ्गनय।[6] समन्तभद्र की वह परिष्कृत सप्तभङ्गी इस प्रकार प्रस्तुत हुई—

सदसद्वाद

१ स्यात् सद्रूप ही तत्त्व है।

२ स्यात् असद्रूप ही तत्त्व है।

३ स्यात् उभयरूप ही तत्त्व है।

४ स्यात् अनुभय (अवक्तव्य) रूप ही तत्त्व है।

५ स्यात् सद् और अवक्तव्य रूप ही तत्त्व है।

६ स्यात् असद् और अवक्तव्यरूप ही तत्त्व है।

७ स्यात् सद् और असद् तथा अवक्तव्य रूप ही तत्त्व है।

इस सप्तभङ्गी में प्रथम भङ्ग स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की अपेक्षा से, द्वितीय परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की अपेक्षा से, तृतीय दोनों की सम्मिलित अपेक्षाओं से, चतुर्थ दोनों को एक साथ कहने की अपेक्षा से, पञ्चम प्रथम-चतुर्थ के

---

१ (क) विधिर्निषेधश्च कथञ्चिदिष्टौ
विवक्षया मुख्यगुणव्यवस्था।
—स्वयम्भूस्तो० का० २५

(ख) विवक्षितो मुख्य इतीष्यतेऽन्योगुणोऽविवक्षो न निरात्मकस्ते।
—वही, का० ५३

(ग) वाक्येष्वनेकान्तद्योती गम्य प्रति विशेषणम्।
स्यान्निपातोऽर्थयोगित्वात्तव केवलिनामपि॥
—आप्तमी० का० १०३

२ (आ) तद्द्योतन स्याद् गुणतो निपात।
—युक्त्यनु० ४३

३. स्याद्वाद सर्वथैकान्तत्यागात् किंवृत्तचिद्विधि।
—आप्तमी० का० १०४

४ (क) यदेवकारोपहित पद तदस्वार्थत स्वार्थमवच्छिनत्ति।
—युक्त्यनु० का० ४१

(ख) अनुक्त-तुल्य यदनेवकार व्यावृत्यभावान्नियम-द्वयेऽपि।
—वही, का० ४२

५ प्रक्रिया भङ्गिनीमेना नयैर्नयविशारद
आप्तमी० का० २३।

६ सप्तभङ्गनयापेक्ष ।
वही, का० १०४।

सर्वाश में, षष्ठ द्वितीय-चतुर्थ के भेद से और सप्तम तृतीय-चतुर्थ के मिश्र रूप से विवक्षित हैं[1] और प्रत्येक भङ्ग का प्रयोजन पृथक्-पृथक्[2] है। जैसे कि समन्तभद्र के निम्न प्रतिपादन से प्रकट है।

सदेव सर्वं को नेच्छेत् स्वरूपादिचतुष्टयात्।
असदेव विपर्यासान्न चेन्न व्यवतिष्ठते ॥
क्रमार्पित-द्वयात् द्वैत सहावाच्यमशक्तित ।
अवक्तव्योत्तरा शेषास्त्रयो भङ्गा स्वहेतुत ॥
धर्मे धर्मेऽन्य एवार्थो धर्मिणोऽनन्तधर्मिण ।
अङ्गित्वेऽन्यतमान्तस्य शेषान्ताना तदङ्गता ॥

—आप्तमी० का० १५, १६, २२

समन्तभद्र ने सदसद्वाद की तरह अद्वैत-द्वैतवाद, शाश्वत-अशाश्वतवाद, वक्तव्य-अवक्तव्यवाद, अन्यता-अनन्यतावाद, अपेक्षा-अनपेक्षावाद, हेतु-अहेतुवाद, विज्ञान-बहिरर्थवाद, दैव-पुरुषार्थवाद, पाप-पुण्यवाद और बन्ध-मोक्ष कारणवाद इन एकान्त वादो पर भी विचार किया तथा उक्त प्रकार से उनमे भी सप्तभङ्गी (सप्तकोटियो) की योजना करके स्याद्वाद की स्थापना की।[3] इस तरह विचारको को उन्होने विचार की एक नयी दृष्टि (स्याद्वाद-दृष्टि— तत्व-विचार की पद्धति) देकर तत्कालीन विचार-सघर्ष एव खींचतान को मिटाने मे महत्त्वपूर्ण योगदान किया। साथ ही दर्शन के लिए जिन उपादानो की आवश्यकता होती है उनका भी उन्होने सृजन किया तथा आर्हत दर्शन को अन्य दर्शनो के समकक्ष ही नही, उसे गौरवपूर्ण भी बनाया।

जिन उपादानो की उन्होने सृष्टि करके उन्हे जैनदर्शन को प्रदान किया वे इस प्रकार है—

१ प्रमाण का तत्त्वज्ञान अथवा स्वपरावभासि लक्षण।[4]
२ प्रमाण के अक्रमभावि और क्रमभावि भेदो की परिकल्पना।[5]
३. प्रमाण के साक्षात् और परम्परा फलो का निरूपण।[6]
४ प्रमाण का विषय।[7]
५ नयका स्वरूप।[8]
६ हेतु का स्वरूप।[9]
७ स्याद्वाद का स्वरूप।[10]

---

१ कथञ्चित्ते सदेवेष्ट कथञ्चिदसदेव तत्।
तथोभयमवाच्य च नययोगान्न सर्वथा ॥
—आप्तमी० का० १४

२. अवक्तव्योत्तरा शेषास्त्रयोभङ्गा स्वहेतुत ।
— वही, का० १६

३ आप्तमी० का० २३, ११३
४ वही, का० १०१ तथा स्वयम्भूस्तो० का० ६३
५ आप्तमी० का० १०१
६ वही, का० १०२
७ वही, का० १०७
८, ९ वही, का० १०६
१० वही, का० १०४





८ वाच्य का स्वरूप ।[१]

६ वाचक का स्वरूप ।[२]

१० अभाव का वस्तु धर्म निरूपण एव भावान्तर कथन ।[३]

११ तत्व का अनेकान्त रूप प्रतिपादन ।[४]

१२ अनेकान्त का स्वरूप ।[५]

१३ अनेकान्त मे भी अनेकान्त की योजना ।[६]

१४ जैनदर्शन मे अवस्तु का स्वरूप ।[७]

१५ स्यात् निपात का स्वरूप ।[८]

१६ अनुमान से सर्वज्ञ की सिद्धि ।[९]

१७ युक्ति पूर्वक स्याद्वाद की व्याख्या ।[१०]

१८ आप्त का तार्किक स्वरूप ।[११]

१९ वस्तु (द्रव्य-प्रमेय) का स्वरूप ।[१२]

जैन न्याय के इन उपकरणो का उपस्थापन अथवा विकास करने के कारण ही मनीषीगण ने समन्तभद्र को जैनन्याय का आद्य-प्रवर्त्तक कहा है[१३]

कृतिया

समन्तभद्र की ५ कृतिया उपलब्ध है—

१ देवागम—इसे आप्तमीमासा भी कहते हैं । इसमे दस परिच्छेद और ११४ कारिकाएँ हैं। यह समन्तभद्र की सबसे अधिक लोकप्रसिद्ध और प्रभावपूर्ण रचना है ।

२ स्वयम्भूस्तोत्र—इसमे चौबीस तीर्थंकरो का दार्शनिक शैली मे गुणस्तवन है और १४६ श्लोक हैं जो बहुत गम्भीर और दुरूह हैं ।

---

१ वही, का० १११, ११२
२ वही, का० १०९
३ भवत्यभावोऽपि च वस्तुधर्म
भावान्तर भाववदर्हतस्ते
—युक्त्यनु० का० ५९
४ युक्त्यनु० का० २३
५ आप्तमी० का० १०७, १०८
६ स्वयम्भूस्तो० का० १०३
७. आप्तमी० का० ४८, १०५
८ स्वयम्भू० का० १०२
९ आप्तमी० का० ५
१० वही, का० ११३
११ वही, का० ४, ५, ६
१२ वही, का० १०७
१३ जैनदर्शन (मासिक)—स्याद्वाद अक वर्ष २, अक ४-५ पृ० १७०।

३. युक्त्यनुशासन—यह ६४ पद्यों की अत्यन्त गम्भीर और जटिल दार्शनिक कृति है। इसमें वीरजिन की स्तुति की गई है।

४ जिन-शतक—इसे 'स्तुति-विद्या' भी कहते हैं। इसमें ११६ पद्यों के द्वारा चौबीस तीर्थंकरों की स्तुति प्रस्तुत की गई है। यह आलंकारिक अपूर्व काव्य-रचना है।

५ रत्नकरण्डक श्रावकाचार - यह उपासकाचार विषयक १५० पद्यों की अत्यन्त प्राचीन और लोकप्रिय महत्व की कृति है।

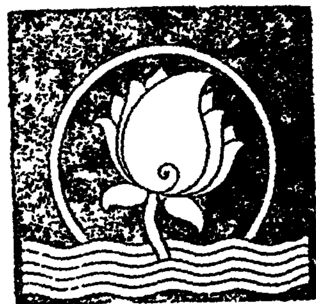
इनमें आदि की तीन दार्शनिक, चौथी काव्य और पाँचवी धार्मिक, (आचार-विषयक) कृतिया हैं। इनके अतिरिक्त भी समन्तभद्र की जीवसिद्धि जैसी कुछ कृतियों के उल्लेख मिलते हैं, पर वे अनुपलब्ध हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि समन्तभद्र की जैनदर्शन को अपूर्व देन है। इसी से सम्भवत उत्तरवर्ती ग्रन्थकारों द्वारा उन्हें बहुमान दिया गया है और उनके प्रतिपादन को प्रमाणवाक्य मानकर उन्हें अपने ग्रन्थों मे उद्धृत करके अपने कथन को प्रमाणित एव समर्थित किया है।



मुनियों व योगियों के अद्भुत अनुभव

श्री सौभाग्य मुनि 'कुमुद'



समग्र भारतीय अध्यात्मसाधना का चरम लक्ष्य पारमात्मिक भाव की उपलब्धि है। आर्यों की आत्मा मे सम्पूर्ण आनन्दमूलक जो आस्था है, वह साधक को निरन्तर आगे बढ़ने हेतु प्रेरित करती रहती है।

आत्मपरक समस्त वाङ्मय का यह स्पष्ट उद्घोष है कि कर्म विघ्न और विकृति, ये आत्मस्वभाव नही हैं। जो आत्मस्वभाव है वह इन से परे, अनिर्वचनीय सम्पूर्ण अविनाशी आनन्द से ओतप्रोत है। वह आत्मस्वभाव अभिन्न होते हुए भी सहज-अनायास व्यक्त नही होता। उसे पाने के लिये वैभाविक शक्तियों से संघर्ष कर उन्हें आत्यन्तिक रूप मे समाप्त करना पडता है। तभी आत्मा अपने ज्ञान दर्शन सुख और वीर्य रूप सम्पूर्ण स्वभाव-वैभव को प्राप्त कर पाता है।

ऐसी ही दृढ मान्यताओं के आधार पर आर्य साधकों की साधनाए खडी होती हैं तथा श्रद्धा और अनुभव के सहारे आगे बढती हैं। प्राचीन ऋषि महर्षि व लोकोत्तम महापुरुषो ने दीर्घ साधनाए करके सत्य का साक्षात्कार किया और उनकी व्याख्याए प्रस्तुत की जो कई धर्मों व पंथों के रूप मे आज विद्यमान है।

लक्ष्य एक होते हुए भी प्रक्रियाओं मे जो भिन्नता है वह देश काल तथा अधिकारी व अनुभव की दृष्टि से समझना चाहिये।

उन विभिन्न प्रक्रियाओं को, जिनमे से कई प्रसिद्ध तथा कई गुप्त हैं, अपनाकर साधक जब साधना के क्षेत्र मे आगे बढता है तो उसे कई तरह के अनुभव होते हैं। वे अनुभव बडे विभिन्न तथा आश्चर्यपूर्ण हैं। सामान्यतया उनको दो भागों मे बाट सकते हैं—

(१) वे अनुभव जो अध्यात्मसाधना मे सहायक बनकर साधक के उत्साह को बढाते है।

(२) वे अनुभव जो साधक को आकर्षित करके चमत्कृत कर देते हैं। अपरिपक्व साधक उन चमत्कारों मे उलझ कर साधनापथ से च्युत हो जाया करते हैं।

अध्यात्मसाधना के क्षेत्र मे जैनधर्मानुसार प्रत्येक साधक को अपना लक्ष्य पाने के लिए चौदह भूमिकाए पार करनी होती है। जिन्हे चौदह गुणस्थान कहते हैं।

यों तो लक्ष्य पाने तक साधक मे योग्यता तथा अनुभवों की दृष्टि से अनेक परिवर्तन होते हैं किन्तु जो परिवर्तन प्रमुख तथा ग्राह्य है उनकी दृष्टि से ही यह विभाग है।

जैनेन्द्र (आर्हत) साधना करने वाला एक सफल साधक प्रारम्भ से अन्त तक अपने अन्तर-बाह्य परिवर्तनों को प्रत्यक्ष अनुभव करता है, कर्म प्रकृतियों के क्षय और उपशम को समझता भी है और उनकी आत्मदृष्ट्या विवेचना भी करता है।

इसके कई उदाहरण शास्त्रों में और अन्यत्र उपलब्ध होते हैं। तीर्थंकर अपने भोगावली (उदय में आने वाले) कर्म और उनकी स्थिति को पहले ही पहचान लेते हैं। फिर भी वे क्रमशः उदय में आने वाले कर्मों को भोग कर निर्जीर्ण करते हैं।

अनादि मिथ्यात्व से निकल कर सम्यक्त्व में विचरण करने वाली आत्मा को अपूर्व आनन्द का साक्षात् अनुभव होता है, यद्यपि ऐसे अनुभव सूक्ष्म व अनुभवगम्य हैं किन्तु आत्मा से परे नहीं हैं। महान् आध्यात्मिक महर्षि आनन्दघनजी ने ऐसे ही अनुपम आनन्द का अनुभव प्रकट करते हुए कहा —

'अब हम अमर भये न मरेंगे'

पार्थिव जीवन में अमरता की दिव्यज्योति कर्मक्षय परम्परा के अनुभव बिना प्रकट हो नहीं सकती।

साधक को उच्च भूमिका में जाने पर ही ऐसा अनुभव होता हो ऐसी बात नहीं, साधारणतया सम्यक्त्व (सत्य) लाभ होते-होते भी कोई विरक्त अनुभव होने लगता है। श्रीमद्रायचन्द्र ने कहा —

दर्शन मोह व्यतीत थयो, उपज्यो बोध ज्यो
देहभिन्न केवल चैतन्यनु ज्ञान जो ।

भेदविज्ञान का प्रारम्भिक अनुभव भी नवीन साधक के लिये अनुपम ही होता है।

धैर्यपूर्वक साधना में गतिमान होने पर अनुभवों का नया-नया खजाना खुलता रहता है। एक जगह उपासक आनन्द ने इन्द्रभूति गौतम को बताया कि मुझे विशिष्ट अवधिज्ञान है। किन्तु श्री इन्द्रभूति का विश्वास नहीं हुआ कि एक गृहस्थ श्रावक को भी इतना उच्च ज्ञानानुभव हो सकता है। अन्त में श्रमण भगवान् महावीर ने आनन्द की बात का समर्थन किया तब कहीं श्री गौतम का समाधान मिला।

जैनेन्द्र पद्धति का साधक क्रमशः अवधि (समस्त साक्षात् पदार्थों को जान लेना), मनःपर्याय (मन के स्वरूप का प्रत्यक्ष करना), केवलज्ञान (त्रैकालिक भावकालिक समस्त अभिव्यक्तियों का सर्वथा साक्षात्कार होना) के महान अनुभव पा लेता है। इसके अतिरिक्त तेजोलेश्या (अग्निमयी दृष्टि), आहारकशरीर सिद्धि (समाधान प्राप्ति का साधन विशिष्ट शरीर), वैक्रिय शरीर (विविध प्रकार की आकृतियाँ बनाने की क्षमता), जंघाचारण, विद्याचारण आदि गगनगामिनी विद्याएँ आदि कई प्रकार की लब्धियों को भी प्राप्त कर लेता है, जिनका प्रयोग संयम की विराधना (संयम में हानि) कहलाता है। मुनियों के अनेक ज्ञानानुभव तथा लब्धियों के प्रयोगों की बातें शास्त्रों और चरित्रों में उपलब्ध होती हैं।

महर्षि पतंजलि ने भी अपने योगसूत्र में ऐसे कई अनुभवों की बातें कही हैं, जो बड़े विचित्र लगते हैं।

(१) ऋतम्भराबुद्धि[1] (सुनी हुई और अनुमानित सर्वश्रेष्ठ से भी अधिक बताने वाली बुद्धि)।

(२) अध्यात्मप्रसाद[2] (निर्विचार समाधि में प्राप्त होने वाला अन्तर का अनुभव)।

स्वरूपावस्थान[3] (निर्बीजसमाधि-ऋतम्भरा के संस्कारों का भी मिट जाना) जैसे उच्चतम आध्यात्मिक अनुभवों के साथ महर्षि ने कहा कि योगी साधक को अन्तर्धानसिद्धि, अतिवक्रसिद्धि, सवितृसिद्धि, परशरीरप्रवेश, उत्क्रान्ति, गगनगमन, अणिमा, महिमा, लघिमा, गरिमा आदि-आदि अनेकानेक ऐसी सिद्धियाँ-ऋद्धियाँ भी प्राप्त हो जाया करती हैं जो अत्यन्त आश्चर्यजनक हैं।



---

१ श्रुतानुमानप्रज्ञाभ्यामन्यविषया विशेषार्थत्वात् (योगसूत्र)

२ निर्विचारवैशारद्येऽध्यात्मप्रसाद (योगसूत्र)

३ तस्यापि निरोधे सर्वनिरोधान्निर्बीजः समाधि (योगसूत्र)



इसमे कोई सदेह नही कि महर्षि पतजलि ने भी ऋद्धियो और सिद्धियो को हेय ही माना है। उन्होने कहा कि साध्य[1] के सिद्ध होने से पूर्व कई लालच आते है। न तो उनमे उलझना चाहिये और न उनका अभिमान ही करना चाहिये, अन्यथा पुन महादु ख आ सकता है।

जैनेन्द्र साधना तथा योगसूत्रीय प्रक्रिया के अनुभव विचित्र अवश्य लगते है किन्तु रहस्यपूर्णता आध्यात्मिक अनुभवो की एक और ऐसी विशेषता है जो अत्यन्त अनिर्वचनीय तथा दुरूह है। रहस्यमय विचित्र अनुभव के बीज स्मृतियो मे भी पाये जाते हैं। एक जगह उल्लेख है कि[2] चन्द्रमडल मे आकर एक स्त्री ने दो को खाया, तदनन्तर तीसरा पैदा होता है वह अजर-अमर होता है।

एक जगह ऐसा कहा गया-नाभिदेश[3] में एक जलता हुआ सूर्य है और तालमूल मे अमृतमय चन्द्रमा नित्य स्थित है। अधोमुख चन्द्र वर्षता है और ऊर्ध्वमुख सूर्य ग्रहण करता है। वहा पर जिसके द्वारा अमृत पाया जा सके उस कारण को जानना चाहिये।

तनिक सोचिये उपर्युक्त अनुभवपूर्ण निर्देश के सत्य रहस्य को अनायास कौन पा सकता है?

रहस्यमय राजयोग और हठयोग के अनेक अनुभवो का चित्रण हमे योगियो व सतो की अनुभववाणियो मे भी मिलता है। प्रसिद्ध योगी गोरखनाथ का एक पद देखिये —

देह मे महादेव विराजे, गुपत गुणेसा सहलाणी।
सिव सगति देवी हाजर बोले—पाथर पूजे नर कहा जाणी ।।
पर वस फोड एक गगा खल की चहु दिस पाणी पाणी।
उस परबत पर दोय मछली बैठी जिसमे नीर घण जाणी ।।
चाच नईं ज्याके पांख नईं वो झूल रई जल ताणीं।
सच वचना सू चढी सिखर गढ बोले अनहद वाणी।
मछद्रि परताप जती गोरख बोलिया छांणिया दूध ने पाणी ।।

—(गोरखवाणी)

सत कबीरदासजी ने भी ऐसे अनुभवो का कई भजनो मे वर्णन किया है। एक दोहे मे ही जो अकल कला का खेल बना दिया वह कम आश्चर्यपूर्ण नही है। वह दोहा है—

धरता गगन के अन्तरे, चद सूर के मेल।
जो जोगी गुरु मुख लहे तउ अकल कला का खेल ।।

ऐसे ही गोस्वामी तुलसीदासजी, पलटूदासजी, सत रेदासजी, ईसरदासजी, बालकदासजी, केसोदासजी आदि अनेक भक्तो, सतो के पदों, भजनो व वाणियो मे ऐसे रहस्यमय अद्भुत अनुभवो का चमत्कारपूर्ण वर्णन पाया जाता है।

---

१ स्थान्युपनिमन्त्रणे सगस्मयाऽकरण पुनरनिष्टप्रसगात् (योगसूत्र)

२. एका स्त्री भुज्यते द्वाभ्यामागता चन्द्रमडले।
तृतीयो य' पुनस्ताभ्या, स भवेदजरामर ।।

३. नाभिदेशे च सत्येको भास्करो दहनात्मक।
अमृतात्मा स्थितो नित्य तालमूले च चन्द्रमा।
वर्षत्यधोमुखश्चन्द्र ग्रहणात्यूर्ध्वमुखो रवि।
ज्ञातव्य कारण तत्र येन पीयूषमाप्यते ।।

अद्भुत अनुभवों को अपने ढंग से वाणी का रूप देने की एक लम्बी परम्परा रही है जो अब तक विद्यमान है। किन्तु आश्चर्य इस बात का है कि युग के इतने महान् परिवर्तनों में भी इनके स्वरूप में कोई कमी नहीं आई। वह ज्यों का त्यों विद्यमान है।

प्रसिद्ध योगीराज चतुरसिंहजी के गुरु राजर्षि गुमानसिंहजी अधिक प्राचीन नहीं हैं किन्तु उनके ग्रन्थ 'मोक्ष-भवन' में आध्यात्मिक अनुभवों का जो रहस्यपूर्ण[1] वर्णन है वह प्राचीन किसी योगी की वाणी से कम नहीं है।

अनुपम अनुभवों की इस अविच्छिन्न परम्परा के द्वारा यह तो ज्ञात हो ही जाता है कि अध्यात्मचिन्तन, मनन ध्यान योग और समाधि में व्यस्त होने वाला एक ऐसा अन्तर्जगत अवश्य है जिसे साधारण तथा स्थूलबुद्धि-व्यक्ति समझ ही नहीं सकता।

आश्चर्यपूर्ण विचित्र अनुभवों से परिपूर्ण इस अध्यात्मजगत और इसके सिद्धान्तों को हम एक साथ काल्पनिक तो कह ही नहीं सकते क्योंकि गहराई में जाकर छानबीन किये बिना किसी बात के विषय में निर्णय देना अनधिकारचेष्टा है।

आजकल समाचारपत्रों में महर्षि महेश की ध्यानसाधना की बड़ी चर्चा है जिससे पश्चिम के बीटल्स और कई विद्वान प्रभावित होकर भारत में योगसाधना हेतु आ रहे हैं। आध्यात्मिक क्षेत्र की यह एक और चमत्कारपूर्ण विजय है जो सिद्ध करती है कि योगियों के अनुभवों में मात्र कल्पना नहीं है अपितु वास्तविकता है।

हम देखते हैं कि प्रत्येक जीवित शानदार परम्परा के मूल में कुछ ठोस तत्त्व होते हैं जिनके आधार पर वह फलती-फूलती है, मात्र कल्पना के ढेर पर खड़ी परम्पराएं टिक नहीं पातीं।

अध्यात्मानुभव की विशाल परम्परा जो अब तक टिकी है तो इसके मूल में अवश्य सत्य है। अन्यथा वे सन्त-महात्मा ऋषि-महर्षि, जो समस्त सुख-सुविधाओं को ठुकराकर समस्त कामनाओं को समाप्त कर आत्मशोधन में प्रवृत्त होते हैं, कभी इनका प्रमाण-निरूपण नहीं करते।

यह तो हम सोच ही नहीं सकते कि तनिक पाप का भी महान प्रायश्चित करने वाले सन्त मुनि महात्मा नितान्त कपोलकल्पित गप्पें लगाते रहे और बताते रहे। अतः मुनियों व योगियों के अद्भुत अनुभवों में सत्यता की पूर्ण चमक है। फिर भी आज का युग विज्ञान का युग है। इस क्षेत्र में अनुसन्धान चल रहे हैं। मनोविज्ञान की तरफ भी कई परीक्षण हुए और कुछ नये तथ्य सामने आये हैं। और भी परीक्षण किये जा रहे हैं।

क्या ही अच्छा हो आज के वैज्ञानिक इन अद्भुत अनुभवों के गुप्त खजाने को भी वस्तुतः विज्ञान की चाबियों से खोलने का यत्न करें। यह एक महान प्रशंसनीय प्रयास होगा किन्तु क्या यह महान प्रयास निर्द्वन्द्व विशुद्ध अध्यात्ममुखी दृष्टि प्राप्त किये बिना सफल हो सकेगा? यह एक ऐसा प्रश्न है जो समस्या रखने के साथ-साथ ही मस्तिष्क में उभर रहा है।

o

---

१. त्रिकूट बीच आयके सुरत्त चश्म खोलय, अवाज तीन जायके अनहद्द हुत्त टोलय ।
सुनाग द्वार देखके हुलस्य जीवको हुय, भजो सुमत्त देवदत्त अन्न नित्त सोभय ।।
अनोम देस आय वे त्रिकूट मट्ट सोमय, अगम्म धाम देखके प्रचण्ड सुर सोमय ।।
अखण्ड जोति है वहा सु दीप मालवो नय ।
अनेक वृक्ष पात जात पुष्प सौरभ देखय, सुगन्ध धन्न बाग मे फलादि जुत्त व्हे रय ।।
क्षियत्त नीर झोकदे परत्त नाद वृन्द य ।
सुधा सु घूंट पीवय हरखक जुत्त रहे हम, सिद्ध हुरत पाय के अनरक दार गोमम ।।
—(मोक्ष भवन)



आत्म-परमात्मवाद

प्रो० जयन्तीप्रसाद जैन
एम० ए०, शास्त्री



बृहदारण्यक उपनिषद् मे याज्ञवल्क्य-मैत्रेयी संवाद मे कहा गया है— "अरे मैत्रेयी, पत्युः कामाय प्रियाः प्रिया न भवन्ति, आत्मनस्तु कामाय प्रिया प्रिया भवन्ति।" "पुत्राणा कामाय पुत्रा प्रिया न भवन्ति, आत्मनस्तु कामाय ।" पति के सुख के लिए पत्नी को पति प्रिय नहीं होता अपितु अपने सुख के लिए होता है। पुत्र के सुख के लिए पुत्र, माता के सुख के लिए माता, लोगों के सुख के लिए लोग, देवो के सुख के लिए देव प्रिय नहीं होते किन्तु ये सब आत्म-सुख के कारण ही प्रिय होते है। अतः आत्मा का दर्शन, श्रवण, मनन एव निदिध्यासन करना चाहिए।

वस्तुत श्रेयोमार्ग की प्राप्त्यभिलाषा आत्मा मे ही है। जैसा कि आचार्य अकलकदेव ने "राजवार्तिक" प्रथमाध्याय, प्रथमाह्निक मे कहा भी है—"श्रेयोमार्गप्रतिपित्सात आत्म-द्रव्यप्रसिद्धे ।" अनात्म को सुख-दुःख का परिचय भी क्या? अत उसे निजी सकल्प मे व्याप्त होने वाला तत्त्व कहा गया है। यशस्तिलक चम्पूकार आचार्य सोमदेव ने उसके विशेषण दिये है —

> "ज्ञाता दृष्टा महान् सूक्ष्म, कृतिभुक्त्यो स्वय प्रभु ।
> भोगायतनमात्रोय, स्वभावादूर्ध्वग पुमान् ॥"
>
> (षष्ठाश्वास, १०४ श्लोक)

आचार्य नेमिचन्द्र ने लिखा है—

> "जीवो उवओगमओ, अमुत्ति कत्ता सदेह-परिमाणो ।
> भोत्ता ससारत्थो सिद्धो सो विस्ससोड्ढगई ॥"
>
> (द्रव्यसग्रह, २ गाथा)

पचास्तिकाय मे आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं—

> "जीवोत्ति हवदि चेदा, उवओगविसेसिदो पहू कत्ता ।
> भोत्ता य देहमत्तो, णहि मुत्तो कम्मसजुत्तो ॥२७॥"

भाव सबका एक ही है कि आत्मा चेतन, उपयोगवान, प्रभु, कर्त्ता, भोक्ता, देहमात्र, मूर्ति रहित, एव कर्मसयुक्त है। स्वभावात् ऊर्ध्वगामी भी है।

गीता मे इसी के लिए निम्न विशेषण दिये गये है—

> "न जायते वा म्रियते कदाचिन्नाय भूत्वा भविता पुनश्च ।
> अजोऽव्यय शाश्वतोऽय पुराणो, न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥"

तथा

"नैन छिन्दन्ति शस्त्राणि, नैन दहति पावक ।
न चैन क्लेदयन्त्यापो, न शोषयति मारुत ॥"

वह अज, अमर, अविनाशी, शाश्वत, चिरकालीन एव सदा विद्यमान तत्त्व है । शरीर के नाश मे भी अ-प्रणष्ट है। शस्त्र, अग्नि, जल एव वायु की भी पहुच से दूर है।

शरीरस्थ एव स्वानुभूति-गम्य इस आत्मा की प्रशसा मे अनेक कवियो की सूक्तिया सुप्रचलित है। यथा—

"प्रीतम पतिया तब लिखू, जब तुम होउ विदेश ।
तन मे, मन मे, नैन मे, ताको कहा सदेश ॥"

तुलना कीजिए—

"आपकी याद मे, खत औ किताबत कैसी ?
मस्तीए कुल हू मैं हाजत नहीं मयखाने की ॥"

तथा

"करें हम किस की पूजा और लगायें किसको चन्दन हम ।
सनम हम, दैर हम, बुतखाना हम, बुत हम, बिरहमन हम ॥

पर इसका यह अर्थ भी नहीं कि दुनिया को बिल्कुल भुला दिया जाय।

"नेमी गोयम कि अज आलम जुदा बाश ।
बहर कारे कि बाशी, बाखुदा बाश ॥"

अर्थात्

सैर कर, और दूर से
गुल देख इस गुलजार के
पर बना अपने गले का
इन को मत जिन्हार हार ॥
(स्वामी रामतीर्थ के उपदेशो मे)

अनेक दर्शनकारो ने इसकी सिद्धि का प्रयास किया है। भौतिकवादियो को समझाते हुए आचार्य विद्यानन्द अपने 'श्लोकवार्तिक" में लिखते हैं—

"स्वसवेदनत सिद्ध सदात्मा बाधवर्जितात् ।
तस्य क्ष्मादिविवर्तात्मन्यात्मयनुपपत्तित ॥१०२॥"

अर्थात् आत्मा को जड का परिणाम मानने पर स्वसवेदन ज्ञान सिद्ध नहीं होगा। आत्माकी उसी ज्ञान से सिद्धि है। भूत-घट पटादि पदार्थो मे स्वसवेदन नही है।

स्वसवेदनमप्यस्य बहि करणवर्जनात् ।
अहकारास्पद स्पष्टमबाधमनुभूयते ॥१०३॥

बाह्य पाचो इन्द्रियो से रहित मैं-मैं इस निर्बाध प्रतीतिस्वरूप स्वसवेदन प्रत्यक्ष से आत्मा का अनुभव होता है। आचार्य शकर ने लिखा है—

"सर्वो हि आत्मास्तित्व प्रत्येति, न नाहमस्मीति ।
यदि नात्मत्वप्रसिद्धि स्यात्, लोको नाहमस्मीति प्रतीयात् ।
(ब्राह्म सूत्र, शाकरभाष्य, १-१-१)



ऐसा कोई नहीं है जो विश्वास करे "मैं नहीं हूं"। यदि आत्मा का अस्तित्व नहीं होता तो सबको अपने अनस्तित्व का ही सीधा ज्ञान होता। वैशेषिक दर्शनकार कहते हैं —

'अहमिति प्रत्यगात्मनि भावात् परत्राभावादर्थान्तरप्रत्यक्ष ॥१४॥

(अ० ३, आ० २)

"मैं हूं" इस प्रकार आत्मा में अनुभूति होना और पर पदार्थ में न होना यह आत्मा का मानसिक प्रत्यक्ष है।

न्यायसूत्रकार के मत में भी आत्मा इन्द्रियों से भिन्न है। हम एक वस्तु को आंखों से देखते हैं। रुचिकर होने से उसे अपने हाथ से छूते हैं। इस प्रक्रिया में हम वस्तु को एक ही समझते हैं। दो इन्द्रियों से साध्य इस अनुभव में यदि आत्मा इन्द्रिय रूप होता तो वस्तु कैसे पहचानी जाती कि वही है।

(न्यायसूत्र ३-१।१।३)

दाहिने हाथ से छुए गये पदार्थ को बाएं हाथ से छूने पर उसकी एकता का खण्डन नहीं होता। (३-१-७)

एक इन्द्रिय का प्रभाव दूसरी इन्द्रिय पर पड़ता है। वृक्ष पर लटकते हुए आम को आंख देखती है पर जीभ में पानी टपकने लगता है। यदि आत्मा इन्द्रियात्मक होता तो यह बात न होती। इसका कारण पूर्वकाल में आस्वादित आम का स्मरण ही है।

इससे स्पष्ट हो जाता है कि इन्द्रियां स्वयं कर्ता नहीं वरन करण हैं। विभिन्न इन्द्रियों द्वारा रूप रस आदि का अनुभव करने वाला तत्व एक ही है और वही आत्मा है। (३-१-१०)

चक्षु इन्द्रिय के नष्ट होने पर भी पहले उसके द्वारा अनुभूत पदार्थ का स्मरण होता है। इससे भी यही सिद्ध होता है कि जानने वाला इन्द्रियों से भिन्न आत्मा ही है।

अनेक आधुनिक पाश्चात्य विद्वान् भी आत्मतत्त्व की सत्ता आत्मरचना एवं विशेषताओं की ओर उन्मुख हो रहे हैं। पुनर्जन्मादि की शतश प्रामाणिक घटनाएं इस ओर सहायक सिद्ध हो सकती हैं।

प्रो फे० स्पर्डी के मत में 'मैं' एक अध्यात्म सत्ता है। एक अन्य वैज्ञानिक के अनुसार "यदि हम सबका इस जीवन में ही अन्त होता है तो प्रकृति की शक्ति का व्यर्थ अपव्यय मानना चाहिए। पर यह असम्भव है।" एक कहते हैं—"परिस्थिति से उत्पन्न अनुभवों को भौतिकवादियों के यन्त्रों अथवा गणितज्ञों के मापों द्वारा नापना असंभव है। आसू एवं पसीना निकलने के नियम तक तो अभी स्पष्ट नहीं है।"

पृथ्वी पर गिरने वाले तारकाओं द्वारा जीवन का बीज हमारे पास पहुचा-यह कैसे सभव है? क्या प्रोटोप्लाजम में इतनी शक्ति है कि तारकाओं द्वारा पृथ्वी पर पहुचने तक उसमें जीवन अवशिष्ट रहा होगा? अथवा हजारों मील प्रति सैकड उड़ने वाले मृत परमाणु अपना ज्ञान दूसरे परमाणुओं में डाल सकते होंगे? जब कि एक विद्यार्थी गुरु से बीस वर्ष पढ़ कर भी किसी बात को भूल सकता है। वस्तुत भौतिक-विज्ञान की पहुंच के बाहर भी पदार्थों का अस्तित्व है। हैकल एवं हक्सले का युग अब प्रभावक नहीं रहा है। शुद्ध यान्त्रिक क्रियाओं से व्यास, कालिदास, होमर, हेमचन्द्र एवं रवीन्द्र का जन्म असंभव ही है।

मस्तिष्क शास्त्र के जन्मदाता "गाल" के अनुसार देखने, सुनने, स्पर्श करने, प्रेम, विचार अथवा स्मरण करने वाली एक ही वस्तु होनी चाहिए। उसके पास भौतिक साधन अवश्य अनेक होंगे। यही तो उपनिषत्कारों के इस वचन में भी सिद्ध हुआ है कि—

एष हि द्रष्टा, स्प्रष्टा श्रोता, घ्राता, रसयिता मन्ता, बोद्धा, कर्ता विज्ञानात्मा पुरुष।"

सत्य ही है रथ की गति देखकर सारथि का अनुमान होता है तो इन्द्रियों की प्रवृत्ति देखकर आत्मा का अनुमान क्यों न हो?

"प्रवृत्त्याद्यनुमेयोऽयं रथ-गत्येव सारथि ।"

परन्तु वह सारथि शब्द, रूप, रस, स्पर्श एवं गंध रहित होने से इन्द्रिय-गोचर नहीं है। अनिर्दिष्ट संस्थान एवं चेतना गुणमय है।

'अरसमरूवमगंधं, अव्वत्तं चेदणागुणमसद्दं ।"
जाण अलिंगग्गहणं, जीवमणिद्दिट्ठसंठाणं ।"
(आ० कुन्दकुन्द, समयसार, जीवाजीवाधिकार ४६ ।)

[२]

राज-प्रश्नीय-सूत्र मे प्रदेशी राजा और केशीकुमार के संवाद से आत्म-तत्त्व पर अच्छा प्रकाश पडता है। वह इस प्रकार है।

प्रदेशी—भगवन् ! आपका मानना है कि जीव एवं शरीर भिन्न २ हैं। परन्तु यह बात मेरी समझ मे नहीं आती। देखिये, मेरे बाबा बड़े अधार्मिक थे। अपनी प्रजा का पालन पोषण ठीक तरह नहीं करते थे। आपके कथनानुसार वे मर कर नरक मे गये है। उनके बाबा का मैं लाडला पोता था। अब यदि मेरे बाबा नरक से आकर मुझे उपदेश दें कि देखो बेटा, तुम अधर्म कृत्य न करना, नहीं तो मेरी तरह तुम्हें भी नरक की यातनाए भोगनी पडेगी तो मैं समझू कि परलोक है तथा जीव और शरीर भिन्न-भिन्न है। लेकिन मेरे बाबा अभी तक तो नरक से आये नहीं हैं अत शरीर को छोडकर आत्मा कोई अन्य वस्तु नहीं है।

केशीकुमार—देखिये, मैं आपसे एक प्रश्न पूछता हू। कल्पना कीजिए, आपकी सूर्यकान्ता रानी नहा धोकर, वस्त्राभूषणादि से सुसज्जित होकर किसी परपुरुष से संलग्न हो जाय और आप उनको देख लें तो आप उस पुरुष को क्या दण्ड देंगे ?

प्रदेशी—मैं उनके हाथ पाव कटवा कर, शूली पर चढाकर मरवा डालूगा।

केशीकुमार—यदि वह पुरुष आपसे कहे कि महाराज, आप थोडी देर ठहर जाइये। मैं जरा अपने मित्रगण से यह कह आऊ कि तुम भी इस तरह का कुकृत्य करोगे तो तुम्हें भी मेरी ही भांति दण्ड भुगतना होगा, तो क्या आप उसे क्षण भर के लिए चले जाने की आज्ञा देंगे ?

प्रदेशी—नहीं भगवन्।
केशी—क्यो ?
प्रदेशी—क्योंकि वह पुरुष अपराधी है।
केशी—बस, इसी प्रकार तुम्हारे बाबा नरक से आना चाहते है—पर कई कारणो से आने मे असमर्थ हैं।

[आ]

प्रदेशी—भगवन् ! मेरी एक दादी थी। वह श्रमणो की उपासिका और अत्यन्त धार्मिक थी। आपके कथनानुसार वह मरकर देवलोक मे गई है। वह मुझे अत्यन्त प्रेम करती थी। अब यदि वह आकर मुझे धार्मिक कृत्य करने का उपदेश दे तो मैं समझूं कि परलोक है।

केशी—कल्पना करो, तुम स्नानादि कर मदिर जा रहे हो। मार्ग मे शौचालय मे बैठा कोई मनुष्य क्षण भर के लिए तुम्हे बुलाये-तो क्या तुम उसके पास चले जाओगे ?

प्रदेशी—नहीं महाराज।
केशी—क्यो ?
प्रदेशी—भगवन् ! वह स्थान अपवित्र है।





केशी—बस, इसी प्रकार तुम्हारी दादी देवलोक से इस अपवित्र स्थान मे इच्छा होने पर कई कारणो से नहीं आ सकती।

[८]

प्रदेशी—भगवन्! एक दिन मैं अनेक गणनायक, दण्डनायक आदि से परिवेष्टित होकर सभा-मण्डप में बैठा था। इतने मे नगर-रक्षक एक चोर को पकड़ कर लाये। मैंने उसे जीवित अवस्था मे ही लोहे की कोठी मे डाल-कर ऊपर से खूब जोर से ढक्कन बंद कर दिया और विश्वस्त पुरुष नियुक्त कर दिये। कोठी का स्वयं जाकर देखा। उसका ढक्कन खुलवाया। उसमे कोई छिद्र आदि न था। फिर भी चोर का जीव कोठी से बाहर कैसे निकल गया? अतएव जीव शरीर से भिन्न नहीं है।

केशी—कल्पना कीजिए-किसी पर्वत पर कोई भवन बना हुआ है। उसमे कहीं कोई छिद्र नहीं जिससे भीतर का शब्द बाहर जा सके। उसके द्वार भी निश्छिद्र है। उस भवन मे बैठकर यदि कोई पुरुष भेरी बजाये तो क्या उसका शब्द बाहर जायेगा?

प्रदेशी—जी हा, जायेगा।

केशी—बस उसी तरह कोठी से चोर का जीव बाहर जा सकता है। क्योंकि वह अप्रतिहतगति है। शिला पर्वत आदि को भेद सकता है।

[९]

प्रदेशी—भगवन्! एक दिन मैं अनेक गणनायक आदि के साथ सभा-मण्डप मे बैठा हुआ था। इतने मे एक चोर पकड कर लाया गया। मैंने उसे जीवन से रहित करा दिया और उसे एक लोहे के मटके मे डाल दिया। ऊपर ढक्कन लगा दिया। अब कुछ दिनो बाद देखता हू कि वह मटका कीड़ों से भर गया है। उसमे कोई छिद्र न था। अत जीव-शरीर भिन्न नहीं है।

केशी—क्या तुमने कभी लोहे को धौंकनी से तपाया जाता हुआ देखा है?

प्रदेशी—भगवन्, देखा है।

केशी—जिस प्रकार उस लोहखण्ड मे अग्नि प्रविष्ट हो जाती है उसी प्रकार जीव भी अन्दर पहुच जाते है। जीव की गति किसी से रोकी नहीं जा सकती।

[उ]

प्रदेशी—मैं एक और उदाहरण देता हू। कोई तरुण पुरुष पाच बाण छोड सकता है। परन्तु जब वह बालक था तो उसमे इतनी शक्ति नही थी। यदि तब भी इतनी ही शक्ति रहती तो दोनो को पृथक् समझा जा सकता था।

केशी—मैं आपसे पूछता हू कि कोई तरुण नये धनुष् और डोरी को लेकर पाच बाण छोड सकता है किन्तु जीर्ण धनुष से एक भी नही। ऐसा क्यो?

प्रदेशी—भगवन्! उसके उपकरणो-साधनो की कमी है।

केशी—बस, इसी प्रकार बाल्यकाल मे उपकरण-इन्द्रियो मे पर्याप्त शक्ति नहीं है।

[ऊ]

प्रदेशी—मैं एक अन्य दृष्टान्त देता हू। कोई तरुण लोह के महान् भार को वहन कर सकता है लेकिन वह जर्जर-देह हो जाने पर नही। यदि दोनो अवस्थाओं मे एक ही जीव होता तो वृद्धावस्था मे भी उस महान् भार को

उठाने में समर्थ होता था। अतः जीव-शरीर अभिन्न हैं।

केशी—देखिये, कोई मजदूर अपनी नई बहंगी से महान् भार को उठाकर ले जा सकता है, जीर्ण शीर्ण से नहीं। उसी प्रकार जीर्ण शक्ति होने पर युवावस्था की भांति बलपूर्वक कार्य नहीं हो सकता।

[ग]

प्रदेशी—मैं एक दूसरी बात कहता हूं। मेरे पास एक चोर लाया गया। पहले तो मैंने उसे जीवित अवस्था में तोला। पश्चात् उसके अंग-प्रत्यंग का भंग किये बिना ही, जीवन से वंचित करके तोला परन्तु तोल में कोई अन्तर नहीं था। शरीर से जीव भिन्न होता और वह चला गया होता तो तोल में अन्तर पड़ता। इसलिए मैं जीव और शरीर को एक ही मानता हूं।

केशी—क्या तुमने कभी किसी चमड़े की थैली को हवा से भरा है? जैसे वायु सहित एवं रहित थैली की तोल में कोई अन्तर नहीं पड़ता उसी प्रकार जीव की विद्यमानता-अविद्यमानता से शरीर के वजन में अन्तर नहीं पड़ता। जीव अगुरुलघु है।

[घ]

प्रदेशी—महाराज! यदि जीव है तो वह दिखाई क्यों नहीं देता? मैंने एक चोर के दो तीन चार और बहुत टुकड़े करके चारों ओर से उलट पलट कर देखा, मगर मुझे तो कहीं जीव दिखाई नहीं दिया।

केशी—प्रदेशी, तुम लकड़हारे से भी बढ़कर मूढ़ हो। सुनो, कुछ लकड़हारे जंगल में गये। साथ में उन्होंने अग्नि और अग्निपात्र भी ले लिए। जब वे एक निर्जन स्थान में पहुंचे तो उन्होंने अपने एक साथी से कहा—तुम इस अग्निपात्र से अग्नि लेकर भोजन तैयार करना। अग्नि बुझ जाय तो इस काष्ठ से अग्नि निकाल लेना। उनके जाने के कुछ समय पश्चात् वह भोजन बनाने को उद्यत हुआ पर अग्नि बुझ चुकी थी। अतएव उसने काष्ठ को चारों ओर से घुमा फिरा कर देखा, लेकिन काष्ठ में अग्नि दिखाई नहीं दी। वह कटिवस्त्र बांध कर परशु हाथ में लेकर तैयार हो गया। काष्ठ के दो टुकड़े किये। चारों ओर देखा पर आग कहीं न थी। उसने काष्ठ-खण्डों के और भी छोटे छोटे टुकड़े किये पर फिर भी आग का कोई चिह्न न था। अन्त में थक कर उसने परशु को एक ओर डाल दिया और कटिबन्धन उतार लिया। अब वह पुरुष गाल पर हाथ रखकर चिन्तामग्न हो बैठ गया। भोजन नहीं बना। साथी आये। उसने सब हाल कह सुनाया। उनमें से एक कुशल पुरुष बोला-चिन्ता न करो, मैं सब तैयार कर दूंगा। उसने परशु उठाया, एक शर बनाया, उससे अरणि को मथा, अग्नि उत्पन्न की और भोजन तैयार कर लिया। अभिप्राय यह है कि जैसे अरणि में विद्यमान अग्नि दृष्टिगोचर नहीं होती उसी प्रकार शरीर में विद्यमान आत्मा भी दृष्टिगोचर नहीं होती।

[ङ]

प्रदेशी—भगवन् आप कुशल हैं, दक्ष हैं, यदि करतलगत आमलकवत् जीव को प्रत्यक्ष दिखा सकें तो मैं जानूं कि जीव पृथक् वस्तु है।

(इतने में जोर से हवा चली, घास तृण हिलने लगे)

केशी—जानते हो, इन घास तृण आदि को कौन हिला रहा है।

प्रदेशी—भगवन्, ये हवा से हिल रहे हैं।

केशी—क्या तुम इस हवा के रूप को देख सकते हो?

परदेशी—नहीं।

केशी—जब तुम हवा के रूप को भी नहीं देख सकते तो मैं जीव कैसे दिखा सकता हूं। इस संवाद से आत्मा के विविध पक्षों पर अच्छा प्रकाश पड़ता है।





इसीलिए आत्मवादीदर्शन उसको जानने का उपदेश देते हैं --

'अपने को जानो।'

"जुस्तजूकुन, जुस्तजूकुन, जुस्तजू, दर दरे गुदवी कि वेरू नेस्त ओ।" अत्यधिक खोज करो और उसे अपने भीतर देखो, वह बाहर नहीं है।

(३)

यह आत्मा अपने कालुष्यों का नाश कर शुद्ध निज-स्वरूपमय परमात्मत्व प्राप्त कर सकता है। आचार्य सोमदेव ने यशस्तिलक के पचमाश्वास में कहा है—

"मलकलुषतायात रत्न विशुद्ध्यति यत्नतो—
भवति कनक तत्पाषाणे यथा स कृतक्रिय ॥
कुशलमतिभि कैश्चिद्बुधन्यैस्तथाप्तनयाश्रितै
अयमपि गलत्क्लेशाभोग क्रियते पुमान् ॥"

जैसे यत्न के द्वारा रत्न विशुद्ध रूप धारण कर लेता है, कनक पाषाण शुद्ध काचन का रूप प्राप्त कर लेता है उसी प्रकार कुशल पुरुष भी नयों के द्वारा आत्मा को पूर्ण सुखी एव परम शुद्ध बना लिया करते है।

कर्तृत्व न होने से अनेक ईश्वरों मे विवाद का प्रश्न ही नहीं है।

शुद्ध आत्मा ही परमात्मा है। भक्त से भगवान, सेवक से स्वामी, उपासक से उपास्य, आत्मा से परमात्मा, अपवित्र से पवित्र, पतित से पावन एव भूमिस्थ से सिंहासनासीन होना ही आत्मा का वास्तविक लक्ष्य है। एतदर्थ मोह, अज्ञान, माया, अथवा मिथ्यात्व का नाश आवश्यक है। कर्मों—सचित, प्रारब्ध एव क्रियमाण, बध, उदय, सत्ता, उत्कर्षण, अपकर्षण सक्रमण, आदि रूपो का नाश कर स्वपरिणति प्राप्त करती है। मिथ्यात्व, अविरति, कषाय, लोभ, द्वेष, मोह, काम, क्रोध, राग अथवा अविद्या, तृष्णा के क्षय बिना यह स्थिति सभव नहीं है।

बौद्धधर्म की यह बात समझ मे नही आती कि दुख है पर कोई दुखित नहीं है। क्रिया है पर कारक नहीं हैं। निवृत्ति है पर निवृत्त पुरुष नहीं है। मार्ग है पर गमक नहीं है।

"दुक्खमेव हि, न कोवि दुक्खितो।
कारको न, किरिया वि विज्जति ॥
अत्थि निब्बुत्ति, न निब्बुता पुमान्।,
मग्गमत्थि, गमको न विज्जति ॥"

आत्मा, महात्मा, परमात्मा रूप विकास की तीन स्थितियों के लिए वेदान्त एव जैनदर्शन मे प्रोक्त तीन तीन भावनाए विशेष महत्त्व की हैं।

वेदान्तीय भावनाए निम्न प्रकार हैं—

(१) तस्यैवाहम्
(२) तवैवाहम्
(३) त्वमेवाहम्

प्रथम भावना का अर्थ है—मैं उसी का हू। "वह-जो कोई मूलतत्व अभी मेरे सामने नही है। भक्त यह सोचता है कि मेरा यह दृश्यमान व्यक्तित्व कुछ है। बाह्य पदार्थ, सम्बन्ध, अधिकार, प्रयोजन, मेरे नहीं हैं। मैं उसी का हू जो अनन्त, अव्यय, सर्व-व्यापक, चेतन, अनादि एव अरूप है।" इस दशा मे भक्त ब्रह्म को अपने से बहुत दूर समझ कर उसकी चर्चा अन्य पुरुषो से करता है। यह विकास की प्रथम श्रेणी है। यहा भक्त ब्रह्म से अपने को जोडने का प्रयत्न प्रारभ करता है। अपनी जीवनचर्या में उसी की अनुकूलता लाता उसी की प्रसन्नता का ध्यान रखता है। श्रुटि

होने पर प्रायश्चित्त करता एवं भविष्य की सावधानी रखना है। अपनी कामनाएं कम कर उसी के ध्यान कीर्तन, जप स्मरण, कथन एवं चर्चा में निमग्न रहना है। अपनी इंद्रिया, शरीर भाव एवं कार्यों को उसी की अनुरक्ति का साधन बनाना है। ऐसा पुरुष संन्यासी नहीं हो सकता। वह सांसारिक पुरुषों में ऊंचे धरातल पर होता है-निर्लिप्त लोकसेवक सुख दुःख में हर्ष-विषाद-हीन। उसी की कृपा का विश्वासी। इसके पश्चात् दूसरी भावना आती है।

तवैवाहम्—मैं तेरा ही हू। यहा परोक्ष स्मरण प्रत्यक्ष दर्शन का स्थान ले लेता है। आवरण हटता है। प्रसन्नता बढती है।

भावक की दृष्टि मे आठों घडी चौसठ पहर ब्रह्म ही सन्मुख है। उसमे नई स्फूर्ति, निर्मलता, पावित्र्य एवं चेतन की धारा बहने लगती है। पहली भावना में उसकी दशा उस दलाल के समान थी जो विदेश मे अपने स्वामी के व्यक्तित्व से अपना व्यक्तित्व सूचित करता था। यहा वह स्वामी के सामने ही खडा है। फिर तीसरी भावना आती है—

त्वमेवाहम्—मैं तू ही हू। यह वह साधक है जिसकी प्रिय से अत्यन्त घनिष्ठता है। प्रेमी एवं प्रेमपात्र भीतर से एक हो गये हैं। वह स्वामी के परम विश्वास से सर्वत्र स्वाधीन विचरता है। वैर से रहित। अनन्य। इस दशा मे बाधा, दण्ड, ताडन, अपमान एवं प्रताडनाए उसे दूषित नहीं बना पाती। पचभूत स्वाधीन हो जाते हैं। वह प्रिय से अभिन्न जो है।

जैनधर्म मे यह तीन भावनाए निम्न प्रकार हैं।

दासोऽहम्—स्थूल अर्थ है मैं दास हू। सासारिक माया-प्रपचो से वचित पुरुष जब अनेक प्रकार से अपने को दुःखी पाता है, चेष्टाए करते रहने पर भी धन, स्त्री, पुत्रादि से उसे तृप्ति नहीं होती, भौतिक आकर्षण उसे पतन-कारक प्रतीत होने हैं—तब उसके अन्तर मे एक विचित्र द्वन्द्वमय वेदना का अनुभव होता है। विह्वल हो—पदार्थो मे अरुचि पा वह भीतर पैठने का प्रयत्न करता है। वह अपनी अवस्था का निदान करना चाहता है। अपने को असमर्थ असहाय एवं अस्वाधीन अनुभव करता है। तब कहता है—दासोऽहम्। प्रभो! मैं तेरा दास हू। तत्पश्चात् वह एक चरण आगे बढता है और दासोऽह मे वह अपने को यो आत्मा का सेवक समझने लगता है। कहता है—अब मैं तेरा दास नहीं हू और इस भावना से वह गभीर, सौम्य, शान्त, अनासक्त अन्तर्दृष्टि, शम, दम, शील, सयम, स्वाध्याय एव अनुभव-मग्न बन जाता है। सम्पद्-विपद्, योग-वियोग, एवं रति विरति-विरक्त। उसका पर्दा पतला पड जाता है। अब द्वितीय स्थिति आती है—

सोऽहम्—"दा" समाप्त हो चुका है। वही मैं हू जिसे पूज रहा था। जो बनना चाहता था। वह सब कुछ मेरी आत्मा का ही तो निज-स्वरूप है। मेरे अधिकार उसी के बराबर हैं। मेरी वस्तु मेरे पास है। तब मैं किस की आशा करू? वह प्रकाशो का प्रकाश मैं हू।

कोई शारीरिक कर्म-बुरा या भला, कोई मानसिक कर्म-पुण्य या पाप मुझे छू नहीं सकते। यश या अपयश, निन्दा या प्रशसा, मुझे मलिन नहीं बना सकते। अपार अनन्त हू मैं। निर्बाध, निर्भय, स्वाधीन! मैं वही हू—जो हू।

यदि दासोऽहं की भावना वाला पुरुष पार पहुचने को तत्पर है तो सोऽहं ध्याता वह है जो किनारे लग रहा है। एक ही छलाग मे पार पहुचने को है—जीवनमुक्त। आत्म-साम्राज्य का उत्तराधिकारी युवराज।

अहम्। जब 'स' भी अस्त हो चुका है। पहली भावना मधुर एवं विशुद्ध है तो दूसरी मधुरतर एवं विशुद्धतर और अहम् यह भावना मधुरतम तथा विशुद्ध तम। निजानन्द-रस लीन। अवर्णनीय।

ईश्वर का अकर्तृत्व—ईश्वर जगत् का कर्ता नहीं है। जगत् स्वयसिद्ध अनादि अनन्त है। यशस्तिलक के द्वितीयाश्वास मे आचार्य सोमदेव कहते हैं—इस ससार मे ज्ञान अथवा इच्छाशक्ति द्वारा इस लोक का निर्माण करने वाला कोई नहीं है। अन्यथा घटादि आदि के निर्माण कारणो के सदा रहने और ईश्वर की नित्य इच्छाशक्ति के वर्तमान रहने से ये वस्तुए सदा उत्पन्न होती हुई दिखाई देनी चाहिए। यदि ईश्वर परमाणुसमूह को सयुक्त करके पृथ्वी आदि





बनाता है तो गृह-निर्माण के लिए राज, मिस्त्री, बढई आदि की क्या आवश्यकता है। (यग० १।३९)

"कर्ता न तावदिह कोऽपि धियेच्छया वा।
दृष्टोऽन्यथा कट कृतावपिस प्रसग ॥
कार्यं किमत्र सदनादिषु तक्षकाद्यै—
राहृत्य चेत् त्रिभुवन पुरुष करोति ॥"

यदि ईश्वर उपादान कारण है तो रचना तत्सदृश ही होनी थी।

शुद्ध, निर्विकार, निराकार एव निर्दोष। यदि प्रेरक निमित्तकारण है तो वह ससार मे होने वाले अपराधो का उत्तरदायी होने से बच नही सकता। उदासीन निमित्त है तो पापो को टुकुर-टुकुर देखता रहेगा।

न्यायदर्शन मे कर्तृत्वसाधक एक प्रसिद्ध अनुमान है। "उर्वीपर्वततरतन्वादिक बुद्धिमद्धेतुक, कार्यत्वात्, घटवत् ॥"

पृथ्वी आदि सभी पदार्थ किसी बुद्धिमान् के बनाये हुए है, क्योकि ये कार्य है। जो जो कार्य होते है वे बुद्धिमान् के बनाये होते हैं जैसे घर। पर इस हेतु से कर्तृत्व सिद्ध नही होता।

कार्यत्व के चार अर्थ हो सकते है —

(१) सावयवत्व, (२) असत् पदार्थों के साथ अपने कारणो का समवाय। (३) "किया गया" (कृत-बुद्धि) ऐसे ज्ञान का विषय होना (३) विकारीपन। प्रथम पक्ष सावयवत्व अर्थात् प्रदेश वाला मानने से कार्यत्व हेतु मे आकाश के साथ अनैकान्तिक दोष आता है। क्यो कि वह प्रदेश वाला होने पर भी कार्य नही है। यदि दूसरा पक्ष अपने कारणो मे कार्य का समवाय सम्बन्ध माना जाय तो उस सम्बन्ध के नित्य होने से शरीर आदि अनित्य कार्यो में उसकी सभावना है। यदि पृथ्वी आदि को नित्य मानकर उनमे समवाय सम्बन्ध स्वीकार भी किया जाय तो पृथ्वी आदि कार्य नही हो सकते। इसलिए यह हेतु असभव ठहरता है। तीसरे पक्ष मे (कृत-बुद्धित्वका विषय) कूप आदि खोदने पर आकाश निकल आया इस प्रकार की बुद्धि होती है अत अनैकान्तिक दोष है। चौथे पक्ष विकारीपन मे ईश्वर मे अनित्यता आ जायगी। क्यो कि जब वह कार्य करेगा तो उसमे परिणमन अथवा विकार अवश्य आयेगा। अत यह कार्यत्व हेतु अकिंचित्कर है।

अन्वय एव व्यतिरेक न मिलने से ईश्वर एव सृष्टि मे कार्य-कारण सम्बन्ध नही है। क्योंकि ईश्वर का सृष्टि के साथ व्यतिरेक नही बनता। इसके लिए किसी क्षेत्र अथवा काल मे उसका अभाव सिद्ध करना होगा। (प्रमेय-कमलमार्तण्ड—प्रभाचन्द्र, आप्तपरीक्षा", विद्यानद)

वस्तुत जगत सनातन है। अनादि अनन्त। छह द्रव्यो से परिपूर्ण। निष्क्रियता अथवा कूटस्थता से रहित है। फिर भी पुद्गल का अनन्त परमाणु समूह और उसकी परिणमन-शक्ति एकसी बनी रहती है। पौद्गलिक कर्मो से पराधीन जीव ही स्वप्रयोजनवश पदार्थों का सचालक बनता है। द्रव्यो का स्वभाव भी स्वय परिणमन का है। द्रव्य और उसके गुण अपरिवर्तनीय हैं। जगत क्यो, कहा, कैसे और कब बना ये प्रश्न तर्कसगत उत्तर नही पाते। इस सम्बन्ध मे 'दी रिडिल आफ दी यूनीवर्स' मे बडा सुन्दर वर्णन है।

आचार्य हेमचन्द्र ने अपनी अन्ययोगव्यवच्छेदद्वात्रिंशिका मे ठीक ही लिखा है—

"कर्तास्ति कश्चिज्जगत स चैक स सर्वग स स्ववश स नित्य ।
इमा कुहेवाकविडम्बना स्युस्तेषा न येषामनुशासकस्त्वम् ॥"

●

श्रमण-परम्परा और गणतंत्र

डा० बद्रीप्रसाद पंचोली

एम० ए०, पी-एच० डी०,

मदनगंज, किशनगढ़



गणतन्त्र केवल कुछ सिद्धान्तों को आधार बनाकर चलने वाले राजनैतिक-संस्थान का नाम नहीं है। यह जीवन की एक उत्कृष्ट पद्धति है जो उसके प्रत्येक सदस्य में अनिवार्य रूप में विकसित होती है। ऐसा न होने पर गणतन्त्र भीड़तन्त्र रह जाता है। गणतन्त्र व्यक्ति-तन्त्र का अगला विकास है और उसका सम्बन्ध लोक कल्याण के लिए आत्मविसर्जन करने वाले लोगों के गण या समूह से होता है। गणतन्त्र का आधार गण नहीं तन्त्र है। गण का तन्त्र ही गणतन्त्र है और षष्ठी तत्पुरुष के रूप में प्रस्तुत इस शब्द में समास के नियमों के अनुसार भी दूसरा पद ही प्रधान है और प्रथम पद उसका विशेषण। यह विशेषण व्यक्ति-तन्त्र से इस नवीन प्रकार के तन्त्र को पृथक् करता है। तन्त्र क्या है? यह बात समझ लेने पर गणतन्त्र का अभिप्राय और उसका व्यक्ति-तन्त्र से अन्तर समझ में आ जायेगा।

तन्त्र शब्द संस्कृत की तनु और त्रैङ् धातुओं से विकसित हुआ है। तनु धातु तनादिगण में विस्तार अर्थवाची और चुरादिगण में श्रद्धा एवं उपकार अर्थवाची है। इसी तरह त्रैङ् धातु पालन या रक्षा करने के अर्थ में प्रयुक्त होती है। तन्त्र शब्द की व्युत्पत्ति तनु धातु में बहुलार्थक 'त्र' प्रत्यय जुड़ने से भी होनी संभव है। इस रूप में यह शब्द राष्ट्र (रा या राज् धातु में त्र जुड़ कर बनने वाला शब्द) और चरित्र (चर् धातु में त्र प्रत्यय-पूर्वक बनने वाला शब्द) का सहोदर माना जा सकता है। अर्थ-निगमन की इन सारी व्युत्पत्ति-परक संभावनाओं के आधार पर तन्त्र शब्द के अर्थ इस प्रकार सामने आते हैं—अत्यधिक विस्तार करना, तनन-पूर्वक अपनी रक्षा करना, श्रद्धा-सम्पन्न होना, उपकार में लगना, श्रद्धा उपकार आदि के रूप में या इनके माध्यम से आत्म-तनन करना आदि। यहां तन्त्र शब्द के साथ कर्म-विज्ञान और शक्तिविज्ञान के व्यंजक तन्तु (या सप्ततन्तु-यज्ञ-अर्थवाची) शब्द को स्मृति का विषय बना लेना उचित होगा। तन्त्र शब्द देवपूजा-संगतिकरण-दान-अर्थवाची यज्ञ शब्द का समानार्थक भी रह चुका है और तान्त्रिकों ने इसे इसी रूप में अपनी साधना की सूचना देने वाला स्वीकार किया है।

तन्त्र में तनन किसका किया जाय और तनन की सीमाएं क्या हों? इन प्रश्नों के उत्तर के लिए सप्ततन्तु शब्द पर ध्यान केन्द्रित करना होगा जो यज्ञ का पर्यायवाची शब्द है। हमारा जीवन तीन स्तरों पर क्रियारत रहता है। भौतिक-स्तर पर पंचतत्वों से निर्मित शरीर है जो मृत्यु के उपरान्त भी बना रहता है, परन्तु उसमें किसी प्रकार की सत्ता विद्यमान नहीं रहती। उसको प्रेरित करने वाली शक्ति को देवता कहा जाता है। देवराज इन्द्र को क्रतु द्वारा देवों को प्रेरित करके अलंकृत करने वाला कहा गया है—यो जात एव प्रथमो मनस्वान् देवो देवान् क्रतुना पर्यभूषत्।[1] कर्म-सामर्थ्य को क्रतु कहा जाता है। देवगण इन्द्र की शक्ति से ही पंचतत्व-निर्मित शरीर का संचालन करते हैं। इस प्रकार इन्द्र शरीर की केन्द्रभूता देवशक्ति की संज्ञा है। वह पांच रूपों में पंचतत्वों को चेतना का विषय बनाता है और इस रूप में उसके ये रूप इन्द्रिय नाम से जाने जाते हैं। इनकी वैदिक परम्परा में देव संज्ञा है। देवता और भी हैं, परन्तु व्यावहारिक जीवन में पंचदेव लोक और वेद की दृष्टि से प्रतिष्ठा-लाभ कर चुके हैं। यह जीवन का अधिदेव-स्तर है। इससे भी सूक्ष्म जीवन का आध्यात्मिक-स्तर है जिसमें ससीम-जीवन असीमता की सीमाओं को छू लेता है। जीवन उस गति का नाम है जिसे प्राणी प्रकृति की सीमाओं को तोड़ कर अपने असीम स्वरूप की प्राप्ति के लिए करता है। इस

---

१ ऋग्वेद २।१२।१



गति द्वारा व्यक्ति की चेतना का क्रमश विस्तार होता चलता है। इसी विस्तार को तन्त्र शब्द द्वारा सकेतित मानना चाहिए। भूत-निर्मित शरीर गति करने मे असमर्थ है। गति करने वाले पाँच इन्द्रिय-सज्ञक प्राण होते हैं। दृश्यजगत् मे इनकी दर्शन, स्पर्शन, श्रवण, स्वदन, घ्राणन आदि की सीमाए हैं जिन्हे छन्द कहा जाता है। आत्मा का काम छन्दों का बन्धन तोडकर लयानुगत होना है। तनन की चरमसीमा आत्मा के साम तक है जहा सभी प्रकार के बधन समाप्त हो जाते हैं।

जैसे शरीर मे भूतसृष्टि को देवगण प्रेरित करते रहते हैं उसी तरह ब्रह्माण्ड मे भी देवगण भूतो को अधिष्ठान बना कर कार्यरत रहते हैं। वस्तुत शरीर ब्रह्माण्ड का सक्षिप्त सस्करणमात्र है। 'यत्पिण्डे तद् ब्रह्माण्डे' सूत्र मे इस बात को भली प्रकार समझा जा सकता है। शरीरगत प्राणो को ब्रह्माण्डीय-प्राणो से शक्ति मिलती है। इसीसे उनका विस्तार सभव है। ब्रह्माण्ड के दिव्य-प्राणो मे आत्म-तनन के लिए शरीर मे शक्ति सचित करने की प्रक्रिया का नाम ही श्रम है। आश्रम और श्रमण परम्पराओ मे श्रम का यही रूप स्वीकार किया गया है। तत्र-साधना अनिवार्य रूप से श्रम को आधार मानकर चलती है। इस प्रकार आश्रम और श्रमण दोनो प्रकार की जीवन-परम्पराओ का तन्त्र से साध्य-साधन सम्बन्ध है। गणतन्त्र का आधार भी वही हो सकता है जो इन श्रम-केन्द्रित व्यवस्थाओ का रहा है। अत श्रम गणतन्त्र का भी आधार है। उसका स्वरूप समझना गणतन्त्र की आधारभूमि को निर्मित करने की ओर पहला कदम माना जाना चाहिए।

अथर्ववेद के भूमिसूक्त मे तप को राष्ट्र के धारक सात तत्वों मे परिगणित किया गया है। वहा तप श्रम का अर्थवाची है। अथर्ववेद मे ही श्रम को किसी भी लौकिक या पारलौकिक सिद्धि, समृद्धि या शक्ति के समान बहुमूल्य कहा गया है[1] और श्रम की गणना ऋत, सत्य जैसी आध्यात्मिक विभूतियो और राज्य, धर्म एव कर्म जैसी पार्थिव शक्तियो के साथ की गई है।[2] ऋग्वेद के अनुसार श्रम के बिना देवता भी सहायता नहीं करते—न ऋते श्रान्तस्य सख्याय देवा ।[3] श्रम से देवत्व, अमरत्व और इन्द्रत्व की प्राप्ति होती है।[4] जीवन की समर्पित गति का नाम ही श्रम है। गति कभी निरुद्देश्य नही होती। ऊपर बताया जा चुका है कि जीवन की गति भौतिक सीमाओ को तोड़ कर आत्मा के असीम स्वरूप का साक्षात्कार करने की दिशा मे होती है। 'स्व' अपनी छन्दित अवस्था मे तनन करता हुआ परमावस्था को प्राप्त कर ले—यही जीवन की गति है। 'स्व' से 'परम' की ओर जाने वाला मार्ग 'पर' मे होकर गुजरता है और इस मार्ग पर चलने वाला 'पर' शक्ति का साक्षात्कार करता हुआ अपनी यात्रा को फलीभूत पाता है। 'स्व' क्या है? सु + अ से 'स्व' शब्द बनता है। विपर्ययपूर्वक यह 'असु' हो जाता है जो प्राण की एक सज्ञा है। 'असु' की प्रधानता के कारण 'स्व' की छन्दोबद्ध स्थिति का नाम असुर भी है। परमावस्था की सिद्धि हो जाने पर असुर देवत्व मे परिणत हो जाता है। असुरो को देवों का विरोधी इसीलिए समझा जाता है। शतवर्षीय परमायु मे व्याप्त होने से असुरो को सौ अथवा निनानवे पुरो के अधिवासी कहा जाता है। इन्द्र इन पुरो को स्वय या अन्य देवो के साथ मिल कर तोड देता है। आसुर अवस्था मे चेतना प्रच्छन्न बनी रहती है और इसीलिए इस अवस्था को असत्-रूपा, तमोमयी या मर्त्यप्राया कहा जाता है जिससे छुटकारा पाने के लिए स्तोता प्रार्थना करता है—

असतो मा सद् गमय। तमसो मा ज्योतिर्गमय। मृत्योर्मा अमृत गमय।

प्रथम छन्दित अवस्था से सम्बद्ध होने के कारण असुरो को देवों के अग्रज के रूप मे स्वीकार किया गया है और प्रजापति की सन्तान माना जाता है।[5] जीवन ही देवासुर सग्राम है। पुराणो मे सदैव वर्णन किया जाता रहा है

---

१ अथर्ववेद ११।६।१७

२ अथर्ववेद ११।६।१७,८,६,६

३ ऋग्वेद ४।३४।४

४ ऋग्वेद ३।६०।२,१।११०।३,३।६०।३,१।११०।४

५ शतपथ ब्रा० १।२।३

कि पराजित होने पर म्रियमाण असुरों के शरीर में से एक दिव्य-ज्योति निकल कर विजेता देव में प्रविष्ट हो जाती है। असुर-अधिष्ठित ब्रह्म् के परमतत्व में विसर्जन होने से 'सोऽहम्' की अनुभूति होने लगती है और यही स्वाराज्य की स्थिति है जिसके लिए प्रयत्नशील होने की बात वेदों में कही गई है—स्वाराज्ये यतेमहि।[1] स्वतन्त्रता या 'स्व के तनन' का उद्देश्य स्वाराज्य संसिद्धि है। स्व का पर में होकर परम की ओर चलने वाली यात्रा का नाम ही स्वतन्त्रता है, जो श्रम की अपर संज्ञा है और इसका उद्देश्य स्वाराज्य है—स्व का दीप्तिमान् होकर परम में विलय।[2]

वैदिक परम्परा के मानने वालों के लिए श्रम का सुनिश्चित समायोजन आश्रम व्यवस्था में हुआ है। जब तक जीवन में श्रम की ऐसी योजना चलती रही तब तक आश्रमव्यवस्था के स्थान पर कोई अन्य व्यवस्था प्रवर्तित नहीं हुई परन्तु ज्योंही इस व्यवस्था में श्रम की प्रतिष्ठा समाप्त हुई त्योंही श्रम की ओर मानव की सहज प्रवृत्ति को ध्यान में रखते हुए नई व्यवस्था का समाज में प्रवर्तन हुआ जिसे श्रमण-व्यवस्था कहा जाता है। यद्यपि श्रमण परम्परा को निवृत्ति-परक माना जाता है और आश्रम-व्यवस्था को पूर्णतया प्रवृत्तिमार्गी मान कर उससे श्रमण-परम्परा को विपरीत मान लिया जाता है, परन्तु न तो आश्रम-व्यवस्था पूरी तरह प्रवृत्तिमार्गी है और न श्रमण-परम्परा पूरी तरह से निवृत्तिमार्गी है। प्रवृत्ति और निवृत्ति की पृथक्-पृथक् रूप में अवस्थिति हो भी नहीं सकती। श्रमणवाद में यह कहा गया कि सच्चा श्रमण वही है जो अपने श्रम का पर्यवसान 'शम' में कर दे।[3] श्रम का शम-पर्यवसायीकरण ही आश्रम व्यवस्था का उद्देश्य था। डा० मंगलदेव शास्त्री श्रमण और वैदिक परम्पराओं को एक दूसरे का पूरक कहते हैं।[4] ऊपर बताई गई समानता को देखते हुए तो इन्हें पूरक कहने के स्थान पर परस्पर अभिन्न ही कहना अधिक उपयुक्त होगा। दोनों व्यवस्थाओं में अन्तर उद्देश्य में न होकर अन्य दृष्टि से है। वह यह है कि वैदिक परम्परा में ब्रह्मचर्य के उपरान्त गृहस्थ आश्रम में प्रवेश करना अनिवार्य माना गया था। 'प्रजातन्तु मा व्यवच्छेत्सीः'—यह ऋषियों का आदेश था। श्रमण-परम्परा में इसे स्वतन्त्र विकल्प माना गया कि कोई चाहे तो सामाजिक हितकामना की दृष्टि से और आध्यात्मिक-श्रम की साधना के लिए आजीवन पंचमहाव्रतों की साधना कर सकता है और इसके लिए वह गृहस्थ आश्रम से मुक्ति लेने का अधिकारी है। यह कार्य साधना का कठोर मार्ग था और हर किसी के वश की बात नहीं थी। इसलिए साधारण लोगों के लिए अणुव्रतों की व्यवस्था रखी गई। इस बात की ओर भी ध्यान दिया गया कि महाव्रती मुनियों से अणुव्रती साधारण साधकों का समय-समय पर मिलन होता रहे। इसके लिए मुनियों को गोचरी-वृत्ति अपनाने की जिम्मेदारी लेनी पड़ी। गोचरीवृत्ति ही जैन और बौद्ध धर्मानुयायियों के आध्यात्मिक-गणराज्य के रूप में संगठित होने का आधार ज्ञात होता है। इस वृत्ति को किसी भी गणतंत्र की भावात्मक आधारभूमि निर्मित करने के लिए अपनाया जाना संभव है।

गोचरीवृत्ति के विषय में सबसे प्रामाणिक जानकारी जैन-परम्परा में मिलती है जिसमें आज भी मुनियों की गोचरी के लिए अभ्यर्थना करने की प्रथा प्रचलित है। बौद्धधर्म में आर्यों के गोचर में लीन साधकों का आदरपूर्वक स्मरण किया जाता है—आर्याणां गोचरे रता।[5] इसी तरह वैदिक-परम्परा में भी वेदानुयायी को गोचर्या अपनाने के लिए कहा गया है—गोचर्यां नैगमश्चरेत्।[6] गोचरी वैदिक-परम्परा में प्रचलित गोमेध से अभिन्न ज्ञात होती है। वाल्मीकि ने अश्वमेध के लिए अश्वचर्या शब्द का प्रयोग किया है।[7] इसी तरह गोमेध का पर्याय गोचरी या गोचर्या को



---

१ ऋग्वेद ५।६६।६
२. डा० बद्रीप्रसाद पंचोली-राष्ट्र-रक्षा विचार और व्यवहार, विश्वज्योति, मार्च १९६६
३ डा० फतहसिंह—वैदिक-समाजशास्त्र में यज्ञ की कल्पना, पृ० २६
४ डा० मंगलदेव शास्त्री-भारतीय संस्कृति का विकास-वैदिक धारा, पृ० १९८
५ धम्मपद २।२
६ श्रीमद्भागवतपुराण ११।१८।२९
७ रामायण, बालकाण्ड ३९।६



समझना चाहिए। यज् और मेधृ धातुओं का एक अर्थ मेल करना है। अत इनमे उत्पन्न यज्ञ और मेध शब्द समानार्थक है और सामूहिक-आचरण की व्यजना करते हैं। अश्वमेध, गोमेध और पुरुषमेध शब्दो मे प्रयुक्त अश्व, गो और पुरुष शब्द समाज-सगठन की विशिष्ट परम्पराओ के लिए प्रयुक्त पारिभाषिक सज्ञाए है। पुरुषयज्ञ की समाजशास्त्रीय व्याख्या डा० फतहसिंह न अपने 'वैदिक समाजशास्त्र मूलाधार' तथा 'वैदिक-समाजशास्त्र में यज्ञ की कल्पना' नामक ग्रन्थो मे की है। गोमेध पर इन पक्तियो के लेखक ने अपने अनेक लेखों मे विचार प्रकट किये है। इन सभी यज्ञों का सम्बन्ध आचरण मे है। परवर्ती काल मे यज्ञ के स्थान पर आचरण के अर्थ मे धर्म सज्ञा का प्रयोग हुआ है।

ऋग्वेद मे गो मूल प्रकृति का नाम है।[1] यद्यपि सृजक गो एक ही है और वह उस यक्ष से अभिन्न है जिसे ब्रह्म कहा जाता है।[2] परन्तु सृजन की विविध प्रवृत्तियो के रूप मे वह अनेक नामो से जानी जाती है। एक होते हुए भी वह अपने एक रूप मे देवमाता है, दूसरे से देवस्वसा और तीसरे से देवदुहिता।[3] कामधेनु पृश्नि, बृहती, वशा, ब्रह्मगवी, विराज, वासवी, सौम्या ऐन्द्री, पारमेष्ठिनी, बार्हस्पत्या, स्वायम्भुवी आदि नामो से गो के स्वरूप पर यथेष्ट प्रकाश पडता है। अदिति, ब्रह्मगवी, वशा आदि नामो मे वेदो मे उल्लिखित महाधेनु ही तान्त्रिको की महात्रिपुरसुन्दरी, शाक्तो की महाविद्या, महालक्ष्मी अथवा महाकाली तथा वैष्णवो की उद्भव-स्थिति-सहार-कारिणी श्रीदेवी (जिसके सीता, राधा आदि विविध रूप है।) जैन परम्परा मे चक्रेश्वरी देवी और बौद्ध-परम्परा मे तारा अथवा मजुश्री, जिसको बहुधा पुरुषरूप मे भी चित्रित किया जाता है, भी उसी आदिशक्ति या महाधेनु के रूप ज्ञात होते है। इस आदिशक्ति का वात्सल्य ही इस जगत् के रूप म व्यक्त हो रहा है। इस सृजक धेनु को अन्य सृजक-शक्तियो की जननी अद्वितीय उषा कहा गया है[4] जिसका वत्स सूर्य है।[5] ऋत के सदन मे वह एक धेनु सृष्टि के बीज रूप अग्नि की परिचर्या करती रहती है।[6] अपने अन्य धेनु रूपो के साथ वह एक धेनु ही सबका पालन करती है।[7] वह सृजक देव की सामर्थ्य ही नही, वरन् उसमे अभिन्न भी है।[8] वाक्रूपिणी सृजकशक्ति के वात्सल्य का उल्लेख बृहदारण्यकोपनिषद् मे मिलता है—

वाच धेनुमुपासीत तस्यादचत्वार स्तना स्वाहाकारो वषट्कारो हन्तकार स्वधाकारस्तया दी स्तनौ देवा उपजीवन्ति स्वाहाकार वषट्कार च हन्तकार मनुष्या स्वधाकार पितरस्तस्या प्राण ऋषभो मन वत्स।[9]

इस कथन मे स्पष्ट है कि देव, पिता तथा मनुष्यो को जन्म देकर इस महाधेनु ने अपने वात्सल्य का विषय बनाया। असुर या प्राणो का असत् रूप इन तीनो मे पहले का है। यज्ञ रूप जगत् के द्वारा देवो ने असुरो पर विजय प्राप्त की।[10] असत् प्राणो का सत् रूप ही जगत् है। सृजन का प्रारम्भ महाधेनु के वात्सल्य-प्रदर्शन से होता है। सौम्या गो के नाम से सुज्ञात यह शक्ति ही परम-वत्सला होने पर सबका पोषण करने वाली कामधेनु कही जाती है। डा० वासुदेवशरण अग्रवाल के अनुसार यह विश्वधायस् धेनु है जिसका काम ही दूध देना है और विश्व ही उससे तृप्त होने वाला वत्स है।[11]

---

१ ऋग्वेद मे गोतत्त्व राज० वि० विद्यालय का शोध प्रबन्ध, १९६४ पचोली
२ एको गौरेक एक ऋषिरेक धामैकधाशिष। यक्ष पृथिव्यामेकवृदेकर्तुर्नातिरिच्यते। अथर्ववेद ८।२६
३. माता रुद्राणा दुहिता वसूना स्वसादित्यानाममृतस्य नाभि। ऋग्वेद १०१।१५
४ गवा जनित्री—ऋ० १।१२४।५, माता गवाम्-ऋ० ४।५२।२, ३
५ ऋ० ३।५८।१ तथा १।११३।२
६ ऋग्वेद ३।७।२
७ ऋ० ३।३८।७
८ इमा या गाव स जनास इन्द्र — ऋ० ६।२८।५
९ बृहदारण्यकोपनिषद् ५।८।१
१० ताण्ड्य महाब्राह्मण १६।२।२,३
११ वैदिक विज्ञान और भारतीय सस्कृति, भूमिका, पृ० १९

वेद भारतीय जीवन मे व्याप्त विचारो और विश्वासो का आधार है। डा० वासुदेवशरण अग्रवाल के अनुसार उसी मधुमय उत्स मे भारतीय अध्यात्मशास्त्र के निर्झर प्रवाहित हुए है।[1] वेद मे प्रतीकात्मक शैली का आश्रय लेकर सृष्टि के रहस्यो पर प्रकाश डाला गया है। वहा अनन्त और अनादि प्रकृति का गो व ब्रह्माण्ड को वत्स मान कर सृष्टि-प्रक्रिया का जो वर्णन किया है उसको आधार मानकर परवर्ती काल मे समाज मे गो प्रतीक की प्रतिष्ठा समाज मे दो तरह से हुई। प्रथमत वात्सल्य प्राप्ति के हेतु गोतत्त्व की उपासना प्रारम्भ हुई। द्वितीयत गो व वत्स का सम्बन्ध सामाजिक जीवन की एक विशिष्ट परम्परा का द्योतक बन गया और उसके अनुकरण पर विशिष्ट समाजतत्र का विकास हुआ।[2] वही समाजतत्र गणतन्त्र-परम्परा का मूल है।

बौद्धग्रन्थ चुल्लनिद्देस में अश्वव्रतिको और गोव्रतिको का उल्लेख मिलता है। इनका विशेषतया गोव्रतिको का जैन और बौद्ध जीवन-साधनाओं पर प्रभाव पड़ा। महाभारत मे पशुप्राय गोधर्म का उल्लेख भी मिलता है।[3] इसका तात्पर्य मुक्तभोग ज्ञात होता है। इसका गोव्रत या गोचरी से दूर का भी सम्बन्ध नही है। गोधर्म का सम्बन्ध गोपशु को प्रतीक मानकर उसकी तरह आचरण करने से ज्ञात होता है जबकि गोचरीवृत्ति का विकास शब्द-प्रतीक गो से वैदिक-परम्परा के अनुसार हुआ है। गोचरीवृत्ति का आधार वात्सल्य है जो वैदिक वाक्-रूप गो का प्रमुख धर्म है और जिसका एक अश पशु-गो मे भी मिलता है। भक्ति सम्प्रदाय मे भक्तो के शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और मधुर—ये ५ प्रकार के स्वभाव माने गये है। वात्सल्य की श्रेष्ठता इससे सिद्ध है कि उसे अमृतमय-मधुमय-जीवन की पृष्ठभूमि माना गया है। मधुमय-जीवन के लिए यत्नशील साधक मधुकरीवृत्ति अपनाकर नृमेध सम्पन्न करता है जिसके द्वारा उसमे नेतृबुद्धि का विकास होता है। इसके पूर्व प्रज्ञाबल की ससिद्धि के लिए साधक को गोचरीवृत्ति अपनाना आवश्यक है।

महाभारत मे कहा गया है कि नित्य जहा तहा सो जाना, जो कुछ मिले खा लेना, और जो कुछ मिले पहन लेना—यह गोव्रत है। गोव्रती विप्र स्वाध्याय और वेदाभ्यास करते हुए कृशकाय होकर प्राण त्यागकर स्वर्ग को जीत कर उन्नत लोको मे निवास करते हैं।[4] अश्वचर्या का सम्बन्ध विजेता क्षत्रियो से रहा है जबकि पुरुषमेध का सम्बन्ध सामाजिक-सगठन के सूत्रधार सन्यासियो से। गोमेध या गोचर्या का सम्बन्ध समाज के प्रज्ञाबल के धनी परिव्राजकों और कर्मबल के धनी गृहस्थो—दोनो से रहा है। मनु ने गृहस्थ जीवन छोडकर भी गृहस्थो से सम्बन्ध बनाये रखने वाले सन्यासियो को 'वेदसन्यासी' की पृथक् सज्ञा से अभिहित किया है।[5] ये गृहस्थो मे रहते हुए उनके कल्याण के लिए प्रयत्नशील रहते थे। गोचर्या अपनाने वाले साधक को एक साथ दो उत्तरदायित्व निभाने पडते हैं। वह सूर्य रूप गो के सर्वोत्तम प्रतिनिधि विज्ञानमयकोश की शक्ति के प्रति अपने मन को वत्स बनाकर साधना भी करता है और दूसरी ओर व्यावहारिक जीवन-रत, किन्तु श्रेयोमार्ग के लिए प्रयत्नशील सद्गृहस्थो के लिए गोवत् आचरण करता हुआ वात्सल्य प्रदान करता है।[6]

श्रम करता हुआ साधक श्रम के सूक्ष्म रूप शम या शमी मे स्थित होता है। भक्ति-परम्परा मे यही स्थिति शान्तिरति ज्ञात होती है जिससे शान्ताभक्ति का विकास होता है। इसी शम या शमी मे गो का प्रादुर्भाव होता है—शम्या गोजागार।[7] डा० फतहसिंह के अनुसार स्थूल शरीर की शक्ति श्रम है। उसका सूक्ष्म रूप प्राणमय कोश मे



१ उरुज्योति, भूमिका, पृ० क

२ वात्सल्यधर्म—बद्रीप्रसाद पचोली, कल्याण-धर्मांक, पृ० ३८५-९४

३ महाभारत, आदिपर्व १०४।२६, नीलकठ का अर्थ—'प्रकाश मैथुन'

४ यत्र तत्र शयो नित्य येन केनचिदाशित । येन केनचिदाच्छन्न स गोव्रत इहोच्यते ।
अत्र गोव्रतिनो विप्रा स्वाध्यायाम्नायकर्शिता । त्यक्तप्राणा जितस्वर्गा निवसन्ति महर्षय ।
—महाभारत, उद्योगपर्व ९९।१४,१३

५ मनुस्मृति ६।८५

६ गोचरीवृत्ति-पचोली, वेदवाणी, १९।१

७ ऋ० १०।३१।१०

वाणी के रूप में और [illegible] है और प्राणमयकोश में [illegible] रहती है। [illegible] होता है। [illegible] वात्सल्य [illegible] होता है। [illegible] है और उसकी सत्ता भी [illegible] ही जाती है। इन्द्र [illegible] है। [illegible] ऋग्वेद में [illegible] इन्द्र की स्तुति [illegible] है। [illegible] साधारण गृहस्थ के लिए [illegible] समाज का [illegible] होता है, उसी की सत्ता [illegible] है।

भारत में [illegible] पुरुष के लिए [illegible] आदि विशेषण भी प्रयुक्त होते रहे हैं। [illegible] इस प्रकार [illegible] है। जब [illegible] जीवन में [illegible] वात्सल्य प्रदान करती है और [illegible] लेता है। उसकी [illegible] परम ध्येय है। इस स्थिति को बुद्ध ने [illegible] और जैन-आचार्यों ने [illegible] दुःखान्त, परमानन्द, [illegible] आदि [illegible] से संबोधित किया है।[4] [illegible] कहा जाता है। [illegible] स्वराज्य परमेष्ठी प्रजापति की सत्ता है।[5] इस यज्ञ में [illegible] विष्णु की उपासना की जाती है।[6] समाज की [illegible] शक्ति का नाम ही विष्णु है। स्वाराज्य-सिद्धि को प्राप्त करने वाले लोग समाज [illegible] में [illegible] हो जाते हैं और इसीलिए उन्हें विष्णु का अवतार कहने की परम्परा चली आई है। [illegible] इसीलिए विष्णु के अवतार कहे गये हैं। विष्णु के हृदय पर श्रीवत्स अंकित माना जाता है। [illegible] के प्रति उनकी वत्सलता का सूचक है। ऋषभदेव के [illegible] उनकी महती सिद्धि का सूचक है। परवर्ती जैन तीर्थंकर ऋषभदेव की [illegible] सार्वकालीन बनकर धर्मप्राण जनता को वात्सल्य प्रदान करते रहे हैं।

बछड़े के स्वर में मातृवियोग की पीड़ा, अभाव की [illegible] वेदना, [illegible], विश्वास और कारुणिकता की समुचित अभिव्यक्ति होती है। संगीत में जो [illegible] में स्थान पा गया है।[7] साधक को [illegible] के लिए अन्तर में [illegible] वेदनानुभूति और [illegible] जगानी होगी।

---

१ वैदिक समाजशास्त्र में यज्ञ की कल्पना, पृ० २६
२. विश्व आर्यभूमि —डा०पचोली, वैदिकधर्म पारडी • अगस्त १६६६
३ उत्तररामचरित ४।१८ यहां यह विशेषण वसिष्ट के लिए प्रयुक्त हुआ है।
४ ताण्ड्यमहाब्राह्मण १६।१३।१
५, वही १६।१३।३
६ गोवत्स-डा० पचोली, टंकारापत्रिका वर्ष ६ अक ७
७ शब्दकल्पद्रुम, प्र० खड, पु० २८७ पर ऋषभस्वर को ऋषभ या चातक के समान बताया गया है। चातक जैसी वेदना वत्स के स्वर मे होती है। अत वत्स जैसा स्वर ही ऋषभस्वर कहा गया होगा।

वत्सवत् आचरण का आधार श्रद्धा है। सत्यपरक श्रद्धा ही जीवन को यज्ञ बनाती है।[1] वत्सवत् साधना करके महा-धेनु का वात्सल्य पाने पर साधक स्वयं अन्य लोगों पर वात्सल्य प्रकट करने का अधिकारी बन जाता है। साधना की सभी पद्धतियों में सिद्धपुरुषों को ऐसा ही सम्मान दिया गया है। ये सिद्ध पुरुष सामान्य लोगों को उत्तम मार्ग पर चलने की प्रेरणा देते हुए लोकहित में लगे रहते हैं। गोस्थानीय सिद्धपुरुषों का वत्सस्थानीय समान्य नागरिकों से मिलन गोसव या गोमेध का स्वरूप प्रस्तुत करता है। गोसव में स० शब्द षु-प्रसवैश्वर्ययो अथवा षुञ्-अभिषवे धातु से व्युत्पन्न है और इस प्रकार गोसव का अर्थ है—गौओं का प्रसव, गौओं के ऐश्वर्य से युक्त होना, गौओं का दोहन करना। यहा गो का अर्थ सिद्धपुरुष लेने पर गोसव का अर्थ स्पष्ट हो जाता है। गोसव में सिद्धपुरुष रूप गो का प्रसव होने पर द्विजन्मा (द्विज)साधक प्रादुर्भूत होता है। वही उनमें ज्ञान का दोहन करता है और उनके साहचर्य में ऐश्वर्य से युक्त होता है।

विष्णु के परमपद में भूरिशृंगा गौओं का निवास है।[2] मन्त्र के इस भाव की रूप-समृद्धि के लिए गोसव के प्रतीक रूप में १०००० गौएं एकत्र की जाती हैं और साधनासमाप्ति के बाद उनको दान कर दिया जाता है।[3] ये गौएं प्रतिव्यक्ति एक के हिसाब से दी जाती होंगी। यज्ञ में इनको १०००० विद्वानों (गोस्थानीय सिद्धपुरुषों) को दुग्धादि प्रदान करने के लिए एकत्र किया जाता होगा और बाद में इनको उन्हें ही देकर यजमान आत्मदक्षिण हो जाता था।[4] आगन्तुकों की संगति का लाभ करता हुआ जब यजमान अपने प्रशासनिक पदों आदि को भुला कर सामाजिक चेतना के साथ तादात्म्य अनुभव करने लगता है तभी उसे आत्मदक्षिण की स्थिति को प्राप्त माना जाता है। इस निरभिमानता के फलस्वरूप उसे विद्वत्समाज का वात्सल्य प्राप्त होता है। इस प्रकार विष्णु की उपासना करते हुए समाज के प्रबुद्धवर्ग का वात्सल्य पाकर उत्कृष्ट सामाजिक संगठन में बंध जाना ही गोसव का उद्देश्य ज्ञात होता है जिसे परवर्ती गोचर्या अपनाने वाले लोगों ने अपना कर गणतन्त्र की आधारभूमि तैयार की है।

सव शब्द संगति-अर्थवाची मेध और यज्ञ का पर्यायवाची है[5] और जैन और बौद्ध संघों को वैदिक यज्ञ-परक सामाजिक-संगठनों का युगानुसार परवर्तित रूप मानना चाहिए। ये आध्यात्मिक गणतन्त्र के रूप में विकसित हुए थे और आध्यात्मिक गणतन्त्र के प्रवर्तक के रूप में ही वर्द्धमान महावीर और बुद्ध की चिरस्थायिनी कीर्ति है।[6] बुद्ध का एक नाम ऋषभ भी है।[7] उनकी यह संज्ञा गोचरीवृत्ति अपनाने से ही प्रचलित हुई है। उन्होंने आर्यों के गोचर में लीन होने की बात कही है।[8] जैनसंघ में भी साधना का उद्देश्य गोचर-पद की प्राप्ति ही माना गया था।[9] जैनसंघ में तपःपूत जीवन बिताने वाले सिद्धों-मुनियों और श्रद्धापरक जीवन में विश्वास करने वाले श्रावकों के सम्मिलन की व्यवस्था भी है। संवत्सरी, पर्युषण आदि पर्वों में ऐसे सम्मिलन की व्यवस्था की गई है। इन्हीं के कारण जैन-समाज संगठित है। जैन-संघ में साधना का उद्देश्य है रत्नत्रय की समिद्धि-दर्शन, चारित्र्य और ज्ञान में पूर्णता या सम्यक्त्व प्राप्त करना। वात्सल्य इनमें सम्यक्-चारित्र्य का समानार्थवाची है।[10]

---

१ ऐतरेय ब्राह्मण ३२-१० यज्ञ का आधार श्रद्धा और सत्य का मिथुन माना गया है।
२ यत्र गावः भूरिशृंगा अयासः —ऋ० १।१५४।६
३ ताण्ड्यमहाब्राह्मण १६।१३।६
४ गोचरीवृत्ति-पचोली-वेदवाणी (बनारस) वर्ष १६ अंक १-२
५ वही।
६ महावीर द्वारा प्रचारित आध्यात्मिक गणराज्य और उसकी परम्परा—पचोली, मुनिहजारीमलस्मृति-ग्रन्थ —पृ० ६४६-५३
७ धम्मपद ३६-४०
८ धम्मपद २-२
९ समाधितन्त्र ९७-९८
१० जैनधर्म में वात्सल्य—पचोली, स्मारिका (जयपुर) १९६६



सम्यक्त्व के आठ अंगों-निःशंकित, निःकांक्षित, निर्विचिकित्सा, अमूढदृष्टि, उपगूहन, स्थितिकरण, वात्सल्य और प्रभावना[1] में से, पहले चार पर विचार करते समय हमारा ध्यान [illegible] पर रहा जाता है। इनमें प्रथम चार तो निषेधात्मक हैं। उपगूहन या आत्मगोपन भी अपने आप में विशेष महत्त्व का नहीं है। जैनाचार्यों ने [illegible] को ही विशेष महत्त्व दिया है। इनमें से स्थितिकरण, जिसे गीता में स्थितप्रज्ञता कहा गया है, [illegible] में से प्रथम सम्यक्-दर्शन है और तृतीय प्रभावना सम्यक्-ज्ञान से अभिन्न है। वात्सल्य सम्यक्-चारित्र का नाम है। जो व्यक्ति उन्मार्गगामी लोगों को और स्वयं को कुमार्ग से हटाकर सन्मार्ग में स्थिर कर देता है, वही सम्यग्दृष्टि को अपने जीवन का अंग बनाता है।[2] सम्यग्दृष्टि से युक्त होने पर व्यक्ति धर्मिकों के प्रति [illegible], प्रियवचन-पूर्वक परम श्रद्धा से उनके आचरण का अनुसरण करता है और वही वात्सल्य का अधिकारी बन जाता है—

जो धम्मिएसु भत्तो अणुचरणं कुणदि परमसद्धाए ।
पियवयणं जंपंतो वच्छल्लं तस्स भव्वस्स ॥[3]

धर्म के दस भेदों का अनुसरण करते हुए आत्मा को [illegible] करने का नाम ही प्रभावना है।[4] तीन रत्नों या आदर्श जीवन की स्थितियों में से प्रथम को साधना का प्रारम्भ माना जा सकता है। द्वितीय साधना का वास्तविक भाग है और तृतीय सिद्धावस्था के निकट पहुँचने की स्थिति है। स्पष्ट है कि वात्सल्य का अधिकारी बनना जैन-जीवन-साधना का प्रधान लक्ष्य है।

ऊपर वात्सल्य का अधिकारी बनने के लिए जिन बातों की ओर ध्यान दिलाया गया है वे मुख्य रूप से चार हैं। भक्ति, प्रियवचन, श्रद्धा और सदनुकूल आचरण। प्रियवचन को इनमें प्रधान स्थान दिया जा सकता है। वत्स शब्द की निरुक्ति—'वदति इति वत्सः' भी इस बात को प्रकट करती है कि वत्स बनने के लिए प्रियवचन प्रथम योग्यता है। स्वर्गीय जयशंकरप्रसाद के अनुसार वाक्संयम विश्व-मैत्री की पहली सीढ़ी है।[5] सत्यव्रत पर विचार प्रकट करते हुए जैनाचार्यों ने सत्य को प्रियता के साथ जोड़ कर राग-द्वेष से रहित, हिंसारहित, [illegible] धर्मगर्भित वचन बोलने पर जोर दिया है। मनीषी लोगों ने मौन को सर्वोत्तम भाषण माना है। उपनिषदों में ब्रह्मज्ञानी व्यक्ति के साथ तूष्णीभाव का सम्बन्ध माना गया है। अतः [illegible] मात्र नहीं है, वरन् प्रियवचन की साधना का एक अंग है। ऐसे व्यक्ति मूक तो किसी रहस्यात्मक ज्ञान [illegible] न कर पाने के कारण रह जाते हैं। प्रियवचन से जीव के [illegible] हो जाती है। ऋग्वेद में बात का दर्शन है कि हृदय के भाव जब बुद्धि से प्रकाशित होते हैं तब विद्वान् ऋत-धारा से स्वयं को स्फुरित अनुभव करने लगता है।[6] जो यत्नशील तेजस्वी व्यक्ति तथा परिष्कृत बुद्धि वाले सत्पुरुष अपनी आत्मा को सन्तुष्ट करते हैं वे वस्तुतः प्रियस्तोत्र का ही पाठ करते हैं।[7] मन का दमन करके उसके अनुकूल वाणी का प्रयोग करना ही वत्स का वत्सत्व है।[8] सब उनके लिए वाणी (गो) से ब्रह्मतेज और पुष्टियों का दोहन करता है।[9] इन कथनों से एक बात की ओर ध्यान गये बिना नहीं रहता, वह यह है कि साधक को [illegible] के लिए निरन्तर यत्नशील रहना ही

---

१ कुन्दकुन्दाचार्य—चारित्रपाहुड ७
२ समयसार (कुन्दकुन्द) २३४
३ कार्तिकेयानुप्रेक्षा ४२०
४ कार्तिकेयानुप्रेक्षा ४२१
५ अजातशत्रु १।२
६ ऋग्वेद ८।६।८
७. ऋग्वेद ८।६।१८
८ ऋग्वेद ८।११।७
९ ऋ० ८।६।१९

प्रियवचन माना जाता [illegible] । [illegible] हुई [illegible] देना प्रियवचन [illegible] । [illegible] नहीं [illegible] बोलना चाहिए । [illegible] व्यक्ति अपने [illegible] ;—

[illegible] चरिदेहि [illegible]हिया होंति[1]

[illegible] ।

[illegible] है । [illegible] होती है [illegible] [2] यद्यपि प्रियवचन की साधना में प्रथम स्थान [illegible] , [illegible] बनाती है—[illegible] गुणैर्गुणो बलात्मात् ।[3] [illegible] है—

त्व नाथ दु[illegible]जनवत्सल हे शरण्य कारुण्यपुण्यवसते वशिना वरेण्य ।

[illegible] विधाय दु[illegible] ॥[4]

[illegible] दिया गया है । भगवन्मेया [illegible] प्रयुक्त हुए हैं । साधु पुरुषों की सगति में [illegible] पूछो हाट ।[5] [illegible] परम्पराओं की तरह [illegible] प्राप्त किया गया [illegible] ।[6] [illegible] । [illegible] दाता के दान और [illegible] है ।

[illegible] बीज कहा है— श्रद्धा बीज [illegible] ।[7] [illegible] उपासना करने [illegible] गया है ।[8] [illegible] क्षमा का श्रेष्ठ पर-[illegible] बाण से कमकवच [illegible] ।[9] [illegible] उत्तम ही तप [illegible] है ।[10]

---

१ भगवती आराधना ३६६

२ भगवती आराधना ३/१

३ भक्तामर स्तोत्र (मानतुगाचार्य), ६

४ कल्याणमन्दिर स्तोत्र (सिद्धसेन दिवाकर), ३९

५ भगवती आराधना ३२१

६ हेमचन्द्र सिद्धसेन दिवाकर—जैन साहित्य और इतिहास—नाथूराम प्रेमी, पृ० ४४५

७ सुत्तनिपात, उरगवग्ग, कसिभारद्वाज सुत्त

८ ऋग्वेद १०।१५१

९ उत्तराध्ययनसूत्र ९।२०।२२

१० उत्तराध्ययनसूत्र १२-४३



इस प्रकार प्रियवचन, भक्ति, श्रद्धा, शुद्धाचरण के द्वारा वत्स बनकर वात्सल्य प्राप्त करना जैन दृष्टिकोण से जीवन का परम लक्ष्य है।[1] जैनधर्म मे ईश्वर (पृथक्) की सत्ता नही मानी गयी। इसलिए प्रश्न होता है कि जैन-साधक वात्सल्य किसका चाहता है? इस विषय मे यही कहना है कि जैनमत आत्मा की सिद्धावस्था को मानता है। परम-भाव मे स्थित पचपरमेष्ठियो की सत्ता भी मानी गई है। इसलिए बाह्य रूप मे परमेष्ठियो से और आध्यात्मिक दृष्टि से शरीरान्तर्गत प्राणादि आत्मा की दिव्यशक्तियो से वात्सल्य की कामना की जाती है। समकालीन जीवन मे साधक मुनि ही वत्सल होकर सद्गृहस्थियो को वात्सल्य प्रदान करते हैं। इसीलिए उनकी जीवनचर्या का गोचरीवृत्ति आवश्यक अग बन जाती है।

यति और मुनि परिव्राजक का जीवन बिताते हुए भी समाज के कल्याण मे गोचरीवृत्ति द्वारा लीन रहते हैं। वे समाज के प्रज्ञाबल के प्रतीक हैं। सासारिक विषय वासनाओ से निर्लिप्त बुद्धि व्यक्ति के विवेक को जागृत करने मे जो कार्य करती है वही कार्य समाज मे गोचर्या अपनाने वाले यति, मुनि और सन्यासियो का होता है। उनके पास साधना का बल होता है, जीवन का व्यापक अनुभव होता है और सबसे अधिक होती है लोकहित के लिए अपनी समस्त क्षमताओ का उपयोग करने की तीव्र लालसा। साधना के क्षेत्र मे वह भी वत्स होता है, परन्तु व्यवहार मे वह स्वय वत्सक बन कर समाज के योगक्षेम का वाहक बन जाता है। आचार्य अमृतचन्द्र के अनुसार सद्धर्मविलासी मुनि को निरन्तर अहिंसा मे, शिवसुखलक्ष्मी की प्राप्ति मे सहायक धर्म मे व सधर्मी बन्धुओ मे वात्सल्य का अवलम्बन लेना चाहिए। और ऐसा ही करने के लिए श्रावकों को प्रेरणा देनी चाहिए—

अनवरतमहिंसायां शिवसुखलक्ष्मीनिबन्धने धर्मे।
सर्वेष्वपि च सधर्मिष्वपि परमं वात्सल्यमालम्ब्यम् ॥[2]

स्वामी समन्तभद्र के अनुसार साधर्मियो के साथ निश्छल, सरल व्यवहार करना व उनका यथायोग्य उपयोग ही वात्सल्य है।[3] इन कथनो का यही तात्पर्य ज्ञात होता है कि श्रावक विनयशीलता, श्रद्धा और भक्ति के द्वारा वत्स-वत् आचरण करे और सिद्धिसम्पदा के कारण मुनि साधर्मियों को धार्मिक प्रोत्साहन आदि के निमित्त वैसे ही वात्सल्य प्रदान करे जैसे वह स्वय आध्यात्मिक साधना के द्वारा प्राप्त करता रहा है। वीतराग होते हुए भी विनयशील श्रावको के प्रति गोचरीवृत्ति का अवलम्बन लेकर वह आध्यात्मिक-कृषि मे योगदान करता हुआ सघ के उत्तरदायित्व को भी निभाता है। जैन सघ मे व्यवस्था के अनुसार सारे भारत को कुछ क्षेत्रीय इकाइयो मे बाटा गया है। मुनि ऐसे किसी क्षेत्र का गणधर भी होता है। इसीलिए उसके लिए गोचरीवृत्ति को अपनाना आवश्यक होता है। मुनि का साथ आर्यिका-सघ की साधिकाए भी देती हैं। बौद्ध और जैन दोनों परम्पराओं मे सघ को बडा महत्व मिलने का कारण इन दोनो के अनुयायियो का आध्यात्मिक गणराज्य के रूप मे किया गया सगठन है। बौद्धसघ की कार्य-प्रणाली का उल्लेख बौद्ध ग्रथो मे मिलता है। जैन-परम्परा मे भी सघ की कार्य-प्रक्रिया का वही रूप था। ज्ञप्ति, अनुश्रावण, और धारणा द्वारा सम्मतिग्रहण, छन्दग्रहण आदि की व्यवस्था जैनसघ मे भी थी। परन्तु जहा बौद्धसघ मे स्थविर और स्थविराए ही सम्मिलित थे वहा जैनसघ के सदस्य मुनि और आर्यिकाओ के अतिरिक्त श्रावक-श्राविकाए भी सम्मिलित थे। इसलिए इसमे वात्सल्य के आधार पर साधनामार्ग अधिक सुकर हो गया था।

जैन-परम्परा मे सघ की महत्ता इससे समझी जा सकती है कि उसे गुणो का क्रीडासदन[4] परस्फूर्ति प्रदान करने वाला[5] तथा पापापहारी कहा गया है। प्राचीन भारत मे अनेक गणराज्य स्थापित हुए थे। उनके गठन का

---

१ जैनधर्म मे वात्सल्य—पचोली
२ पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय २९
३ रत्नकरण्डकश्रावकाचार १७
४ सोमप्रभाचार्य विरचित सूक्तिमुक्तावली, श्लोक २३
५ सूक्तिमुक्तावली, श्लोक २२

[illegible]

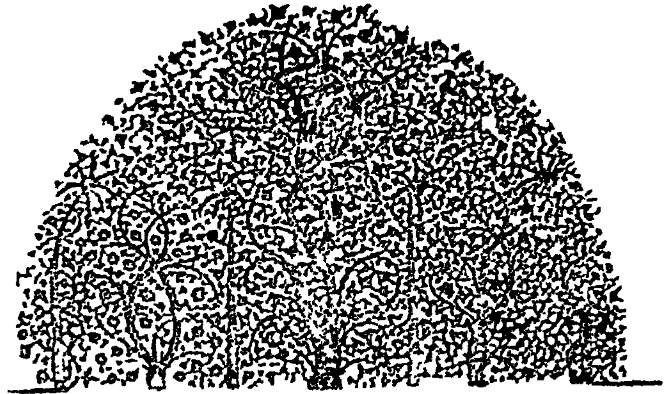
[illegible]

[illegible]

१ ऋग्वेद ७।६६।६

गीतोक्त स्वभाव

राव नारायणसिंह मसूदा



आधुनिक भारत ने गीता को अपना प्रधान धर्मग्रन्थ मान लिया है। चाहे हमारे युगप्रवर्तक गांधीजी की प्रेरणा से हो अथवा तिलक, ज्ञानेश्वर एवं शंकराचार्य की मूल परम्परा के कारण। इसलिए यह और भी आवश्यक हो जाता है कि गीताकथित संकेतों में हम जीवनरहस्य की गहराइयों में गोता लगाने की क्षमता रखें। प्रत्येक धर्म-ग्रन्थ एवं दर्शनशास्त्र जीवन के रहस्य की खोज एवं अनुभूति ही है और प्रत्येक वैयक्तिक अनुभव जहाँ अपने आपमें एक सुषुप्तप्राय दर्शन बन कर वैयक्तिक जीवन प्रवाह के साथ बहता है, परम्परागत धर्मशास्त्र एवं दर्शन के साथ वही संयुक्त होकर एक जागृत वैयक्तिक दर्शन भी बन सकता है। इस प्रकार का संयोग ही प्राचीन धर्म एवं दर्शन का बुद्धिसंयुक्त मण्डनात्मक विवेचन एवं अनुसंधान कहलायेगा।

इसी प्रकार का प्रयत्न गीता के कुछ संकेतपाठों में करना सदैव उचित है। इसी सन्दर्भ में हमारे सामने अठारहवें अध्याय में "स्वभाव" शब्द का प्रयोग निम्न गीतोक्त पाठ में प्रस्तुत है —

"स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्विषम्'

इस स्वभाव का अर्थ क्या ? जबकि यह कहा गया है कि स्वभाव की रेखा पर चलता हुआ मनुष्य त्रुटि-शील नहीं। निश्चय ही यह स्वभाव प्राकृतधर्म स्वभाव नहीं हो सकता क्योंकि तब तो मनुष्य 'आहारनिद्राभयमैथुनं च' के साथ केवल पशु की समानता ही लेकर रह जाता है। मनुष्य में बुद्धिगम्य विवेक है और उसका प्रत्येक कार्य विवेकसंगत होना आवश्यक है। जहाँ बुद्धि और विवेक का समन्वय नहीं होता वहीं वह प्राकृत-बुद्धि लेकर आसक्ति दोष ग्रहण करता है जिसे हम खराब आदत के रूप में पहिचानते हैं। यहाँ द्वितीय अध्याय का यह कथन —

"ध्यायतो विषयान्पुंसः संगस्तेषूपजायते।
संगात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते॥
क्रोधाद् भवति संमोहः संमोहात्स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति॥"

मनन योग्य है, जिसमें यह सुस्पष्ट संकेत है कि केवल विषयविशेष के अन्दर आसक्त चित्त इन्द्रियों के अनुकूल प्रवाहित अविरल जीवनधारा में विक्षेप उत्पन्न कर देता है जिससे मानस एवं क्रिया का संतुलन बिगड़ कर सुखमय सरल कार्यगति विक्षुब्ध हो जाती है। गीता में ही यह संकेत भी है—"अशान्तस्य कुतः सुखम्"। चित्तविक्षेप ही अशांति का कारण बनता है। चित्तविक्षेप के साथ सरल स्वभाव कायम रह नहीं सकता।

स्वभाव शब्द का जहाँ प्रयोग होता है, अधिकांश वह अच्छी-बुरी आदत में मिला दिया जाता है। इसलिए गीता के उपर्युक्त कथन में जो 'स्वभाव' सांकेतिक है उसको समझने के लिए गीता के कलेवर में ही गोता लगाना पड़ेगा।

काफी मनन के बाद अन्तिम अध्याय मे जाकर इस गीतोक्ति मे इस शब्द का प्रयोग सुस्पष्ट मार्गदर्शन के रूप में पाया जाता है। इसका अर्थ ढूढने के लिए हमें उसी अध्याय मे आगे के श्लोकों की तरफ ध्यान देना पडेगा जहा कहा है —

> यदहङ्कारमाश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे ।
> मिथ्यैष व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति ॥
> स्वे स्वे कर्मण्यभिरत संसिद्धि लभते नर ।
> स्वकर्मनिरत सिद्धि यथा विन्दति तच्छृणु ॥
> श्रेयान्स्वधर्मो विगुण परधर्मात्स्वनुष्ठितात् ।
> स्वभावनियत कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ॥
> सहज कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत् ।
> सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृता ॥

इनमे सकेत मे यह स्पष्ट हो जाता है कि जहा अर्जुन के स्वभाव का प्रश्न है, उसके कुलाचारप्रेरित क्षत्रिय स्वभाव मे सतत्व है और आगे की युद्ध की उपस्थित परिस्थिति मे उसका सयोग है। उसी को लेकर कृष्ण ने दूसरे ही अध्याय मे सकेत करना प्रारम्भ कर दिया है। जिसका साराश यही है कि संस्कारजनित स्वभाव मे परिस्थिति जो उत्पन्न की गई है उसका सविवेक सामना करना ही एकाकी निस्तरण है। वहा झूठा त्याग, हृदयदौर्बल्य अथवा और कोई आसक्ति अथवा परम्परादास का बहाना नही चल सकता। अपनी प्रकृति के अनुसार जिस स्थिति मे जो मनुष्य बैठा है उसी मे वह ध्रुव कर्म का निश्चय कर अनासक्त भाव एव स्थितप्रज्ञ बनकर चल सकता है और इस प्रकार चल कर ही वह अपने असली स्वभाव को प्राप्त कर सकता है। जब तक जीवनरहस्य का पूरा ज्ञान प्राप्त न हो जाये, जब तक गीतोक्त 'बुद्धियोग' का पूरा सयोग न बैठ जाये, तब तक स्वकर्म को, जो जातिसिद्ध अथवा अन्य प्रकार से सिद्ध हो—छोडकर नया मार्ग डालने की उलझन मे मनुष्य सर्वथा मार्गविहीन बन सकता है। यदि नया मार्ग बनाने की हम मे क्षमता नही है तो कथित मार्ग पर चलने मे कभी आपत्ति नही होनी चाहिए और नया मार्ग बनाने की झूठी क्षमता की ढिठाई मे अपने आपको खो देना भी नितान्त मूर्खता के अतिरिक्त कुछ नही हो सकता।

इन सकेतो के साथ गीता का पाठ कभी-कभी स्थितिपालकता का समर्थन-सा जचने लगता है परन्तु जहा अपने-अपने कर्म मे अपनी-अपनी प्रवृत्ति को समझकर लगे होते हुए भी गीता के द्वितीय अध्याय के —

> "यामिमा पुष्पिता वाच प्रवदन्त्यविपश्चित ।
> वेदवादरता पार्थ नान्यदस्तीति वादिन ॥
> कामात्मान स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम् ।
> क्रियाविशेषबहुला भोगैश्वर्यगति प्रति ॥
> भोगैश्वर्यप्रसक्ताना तयापहृतचेतसाम् ।
> व्यवसायात्मिका बुद्धि समाधौ न विधीयते ॥
> त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन ।
> निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान् ॥"

सकेत सामने आते है तो यह स्पष्ट हो जाता है कि गीता केवल बने बनाये मार्ग पर ही अंधविश्वास लेकर चलने को नही कहती। और जब स्थान-स्थान पर बुद्धियुक्त होने की बात कहती है तो वह निश्चय ही इसी बात का सकेत करती है कि परम्पराप्राप्त मार्ग को तो केवल सहूलियत के लिए पकडना चाहिए किन्तु जो पथ पर अग्रसर होते हुए जीवन की प्रत्येक दिनचर्या मे से बुद्धियुक्त मथन सहित अनुभूति की आधारशिला पर सदैव विवेकशील जीवन की सार्थकता का अर्थ ढूढता रहता है, वही कुशलकर्मा मानव है—योग कर्मसु कौशलम्।





इस प्रकार अप्रमत्त होने की विधि बताकर गीता स्वभाव की नियति की ओर संकेत करती है और अततोगत्वा उस स्वभाव की प्राप्ति का पूरा अध्याय प्रति अध्याय मे बहता हुआ एक मार्ग बनाती है जहा कर्म की ध्रुवता प्रतिपादित है, व्यष्टि एव समष्टि का विवेचन है, त्रिगुणभाव का वर्णन है, क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ का विवेक प्रतिस्थापित है और अच्छी और बुरी प्रवृत्ति की ओर सकेत है। इन सब अध्यायो की भाषा म समकालीन वातावरण की छाप हो सकती है जहा चतुर्वर्ण अथवा ऐसे ही प्रचलित शब्दो का या विचारो का प्रयोग किया गया हो परन्तु अर्थ की ध्रुवता युगान्तर के लिए अक्षुण्ण है, इसमे मुझे कोई सशय नही।

यह स्वभाव शब्द का प्रयोग एक पूरी जीवनयापन-शैली, साधना और जीवनदर्शन की ओर सकेत करने वाला है और इस स्वभाव का अनायास ही पूर्ण सकेत आठवें अध्याय के श्लोक ३ मे मिल जाता है जहा सुस्पष्ट शब्दो मे—"स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते।" स्वभाव शरीर का धर्म है, धर्म ही नही सविवेक धर्म है, सविचार धर्म है, सव्यवहार धर्म है और यह जब प्राप्त हो जाता है तो जीवन का अविरल प्रवाह सागोपाग सतुलन के साथ चलता है। यह सतुलन जो व्यक्तिश शरीर, मन और बुद्धि मे स्थापित होता है और उसके साथ ही परिस्थिति अथवा परिवेश के अवलोकन मे।

इस स्वभाव को प्राप्त करने के लिए गीता मे स्थान-स्थान पर "इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्य तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता" आदि शब्द आये है जिनमे इस बात का सुस्पष्ट सकेत है कि इन्द्रियो की सहज एव नैसर्गिक आवश्यकता के अनुकूल बर्ताव करते हुए चलने मे कोई बच नही सकता और इस प्रकार से चलते हुए कोई विभ्रात भी हो नही सकता। यही व्यावहारिकता का प्रथम सूत्र है और यहा इस बात का सुस्पष्ट ज्ञान है कि—"भोजन प्राणरक्षणाय" जहा स्वाभाविक धर्म है वहा 'भोजन स्वादाय' सारी विकृति को स्थापित करने वाला बन जाता है।

इस प्रकार से स्वभाव का प्राप्त करने के लिए गीता ने एक बडा ही व्यावहारिक ज्ञान प्रतिपादित किया है जो स्वय एक आचरणीय धर्म बन जाता है। कर्म की ध्रुवता को बताकर अपने स्वधर्म के अनुसार प्रस्तुत परिस्थिति का सामना करने का गीता मे एक विलक्षण उपदेश है। स्वधर्म विगुण भी श्रेयस्कर है क्योकि वह एक जाना हुआ परीक्षित जीवनमार्ग है और परधर्म, क्योकि परीक्षित नही, भयानक हो सकता है। इस उपदेश के साथ गीता ने कर्म करने का अधिकार व्यक्ति का बताया है परन्तु उसके फल का चिन्तन पहले से ही करना कर्म म बाधक बताया है। इसलिए फल की तरफ से निश्चित होकर स्वधर्म की साक्षी के साथ कुशलतापूर्वक कर्म करना ही गीता का योग है—'योग कर्मसु कौशलम्।' इस प्रकार के कर्मयोग के लिए नश्वर क्या वस्तु है जो परिस्थिति के साथ बदलती जाय और अनश्वर क्या है, जिसे लेकर व्यक्ति काम करता जाय, इस प्रकार का सागोपाग उपदेश द्वि० अध्याय मे सन्निहित है। इसी प्रकार का कर्मयोग गीता का योग है जिसमे कर्त्तव्य विवेक और कर्मकुशलता स्थापित हो जाती है।

सन्तुलित आहार-विहार द्वारा (जैसा कि विशेषत छठे अध्याय म कहा गया है) शरीरक्रिया में एक पूर्ण सतुलन जमाने का उपदेश है कि जिससे कर्मयोग का पूर्ण विवेक स्थापित हो। इसके बाद मनोनिग्रह का उपदेश है जो अनासक्ति द्वारा, कर्मविवेक द्वारा तथा अभ्यास द्वारा स्थापित करने का है और उसके बाद बुद्धि का वह सतुलन प्राप्त करने का विधान है जो अधिभूत, आधिदैव, अध्यात्म और अधियज्ञ आदि के विवेक से स्थापित होने वाला है। शरीर की नश्वर भौतिकता उस पर स्थापित शरीर का जीवत्व जो पुरुषभाव मे अन्दर स्थापित है और इन्द्रियो मे विकीर्ण है (समष्टि मे व्यष्टि) तथा जिसका प्रसार जीव मात्र मे है और जो एक यज्ञमय चक्र मे अधियज्ञ रूप से स्थापित है (जिसका कि सकेत तृतीय अध्याय मे किया गया है) इसी प्रकार की बुद्धि की स्थापिति ही गीता का बुद्धियोग है। यहा यदि "अधियज्ञ" को हम वेदात का "क्रतु" कहे और बुद्धियोग लिए हुए विवेक को "अध्यात्म" या "ऋत" कहे तो अतिशयोक्ति नही होगी। कहने का तात्पर्य यह है कि शरीर मन और बुद्धि का पूर्ण सतुलन स्थापित करने का महान उपदेश एव उसकी विधि गीता के क्रमवार अध्यायो मे चली है जिसमे वैयक्तिक शरीर सतुलित होकर पूर्ण सतुलन प्राप्त कर परिस्थिति के साथ ऐसा मेल बढाने कि जीवन की धारा सरल एव अविरल बहती रहे

और वह विवेक प्राप्त हो कि जहां—

"यो मा पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति" इस प्रकार का व्यष्टि मे समष्टि दर्शन रहे। इस विवेक के लिए ही गीता में व्यवहार्य धर्म के साथ अपने अन्दर एवं बाहर के "पुरुष पर' के लिए भक्तिभावपूर्वक समर्पण भाव प्रतिपादित किया है और आखिर कह दिया है कि—"सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेक शरण व्रज"। यह "माम्' हमारा अन्तर्निहित जीवन-सत्य है जो गीता का "पुरुष पर" कहा जा सकता है। यही वह है जिसके लिए कहा है—

"ईश्वरः सर्वभूताना हृद्देशेऽर्जुन ! तिष्ठति।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥

इसको समझने के लिए गीता ने प्रतीकोपासना की ओर संकेत किया है जिसमे चौथे अध्याय का अवतार-रहस्य छुआ है तो ग्यारहवें अध्याय का विराट दर्शन भी तथा पन्द्रहवें अध्याय का पुरुषोत्तम योग। और यह स्पष्ट संकेत किया है कि भूमाभाव मे स्थित शरीर भूमाभाव मे ही प्रेरणा ले सकता है और इसलिए सूक्ष्म तत्व का भी सत्य-शिव-सुन्दरम् गुणमय भूमा स्वरूप देकर उनके प्रति भक्ति और समर्पण बुद्धि स्थापित कर व्यक्ति अपने स्वभाव को प्राप्त कर सकता है—

"क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम्।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःख देहवद्भिरवाप्यते॥"

अन्त मे जहा स्वभाव शब्द गीता मे प्रयुक्त होता है, गीता के सारे संदर्भ मे उसे समझने का प्रयत्न करते हुए मुझे यही समझ मे आता है कि आत्मसन्तुलनपूर्वक परिस्थिति के साथ पूरी तरह सन्तुलित होकर जो बुद्धियोग सहित जीवन प्रवाहित होता है, वही स्वभाव को प्राप्त करा सकता है और स्वभाव की प्राप्ति ही मौलिक अध्यात्म के साथ सम्पर्क की स्थापित है। जिससे पुरुष मे पूर्णत्व स्थापित हो सकता है और जीवन का रहस्य उद्घाटित हो हो सकता है। यह स्वभावप्राप्ति ही 'ब्राह्मी स्थिति" कही जा सकती है। यही स्थितप्रज्ञ अवस्था कही जा सकती है और सारे जीवन की साधना का फल हो सकती है।

अन्त मे, यह भी कहे बिना नहीं रह सकता कि गीता ने सुस्पष्ट रूप मे स्थितिपालकता, अंधविश्वास एवं हठयोग आदि की कलाबाजी से दूर रहने का काफी संकेत दिया है। हमारे सम्मुख जब यह वाक्य आता है—

'नात्मान अवसादेत्" अर्थात् अपने आपको वृथा क्लेश न दिया जाय क्योंकि शरीर तोडने से ज्ञान नहीं मिलता।

यह इस बात का स्पष्ट संकेत है कि स्वभाव-नियत स्वधर्म का आश्रय लेकर एक सरल सतर्क और व्यवहारगम्य जीवन बनाने मे ही पूर्ण ज्ञान और सिद्धि प्राप्त हो सकती है। गीता का ज्ञान कोई बहुत पारदर्शी अप्राप्य आदर्श नहीं, वह तो स्वभावनियत जीवन का सुचारु वाहक स्वधर्म मात्र है।



●

छद्दव्वसरूवं-मूलं-टीगा

सुमित्त-भिक्खू



गाहाओ—जस्स सम्मण्णाणमि, पमेया पडिभासिया ।
गुरुपरमप्पसाया उ, तप्पाए पणमेमि ह ॥१॥
सियावायसुसिद्धन्ते, सम्मण्णाण पमाणअ ।
तेण विसिट्ठसामण्णा, जाणियव्वा पमेअआ ॥२॥
सव्वे पयइसिद्धा य, अओ सुट्ठु पभासइ ।
सियावायस्स मन्तव्वे, सरूव वत्थुयाण उ ॥३॥

दव्वलक्खण—सद्दव्वलक्खणमुप्पायवयधोव्व इलक्कइ ।
ण ठायइ हिययम्मि, जिणवाणिमणोवम ॥४॥
अणाइ अणन्ता दव्वा, लक्खणतिण्णि सजुया ।
ससगुणपज्जाएसु, मेर धारित्तु ते ठिया ॥५॥

छद्दव्वणामाइ—धम्माधम्मा आगास, कालो पुग्गलजन्तवो ।
एयाइ उ छद्दव्वाइ, सहावम्मि निए थिरा ॥६॥

दव्वसामण्णसरूव—सव्वाणत्थकियावित्ती, साहइयरूवम्मि य ।
सव्वे सकज्ज कुव्वन्ति, कूडत्थ णत्थि कपि वि ॥७॥
णत्थि अकिरिय कपि, लब्भइ साहिया किया ।
ससगुणपज्जाएसु, दव्वन्ति य णिरन्तर ॥८॥
सहभावी गुणो सम्म कमसो पज्जवा गुणो ।
नियगुणपज्जवेसु च, ठिया सव्वे णिरन्तर ॥९॥

गुणलक्खण—सव्वे गुणा उ एएसु सहभावी य गासया ।
तह दव्वसिया सन्ति, णत्थि कोवि परग्गुणो ॥१०॥

सामण्णगुणा(अज्जा)—अत्थित्त वत्थुत्त, अगुरुलहुत्त तहेव दव्वत्त ।
पमेअपएसवत्त, सामण्णगुणा उ वुच्चन्ति ॥११॥

विसेसगुणा—जीवो णाणसरूवो य, अजीवा सेस पच वि ।
णिच्छएणवगन्तव्व, जडत्त तेसि लक्खण ॥१२॥
रूवी पुग्गल दव्व, सेसा पच अरूविणो ।
वण्णगन्धरसो फासो, एएसु च न विज्जए ॥१३॥

धम्माधम्मा आगास, दव्वमिक्किक्कमाहिय ।
तेणाइ तिण्णि दव्वाइ, एगाणेगसरूवया ॥१४॥
पुट्ठा य गणओ णिच्च, असंखेज्ज पमाणया ।
लोगागासपएसेसु, रयणगमिव्व ते ठिया ॥१५॥

पएसलक्खणा — अविभागी परमाणू, आगासस्स य जेत्तिय ।
खेत्तयमवगाहेइ, पएसे से पवुच्चइ ॥१६॥
जीवदव्वमणन्ता उ, ते य सव्वे पिहप्पिहा ।
सन्ति एत्थ उ संदेहो, सव्वे जीवा उ सारिसा ॥१७॥

पंचत्थिकाया — अगासो केवल कालो, अत्थिकाया उ पंचवि ।
जो पएसेहिं संजुत्तो, सो काओ त्ति पवुच्चइ ॥१८॥

पंचत्थिकायपएससंखा — धम्माधम्माण जीवाण, पएसा उ असंखया ।
लोगालोगागासस्स, पएसा हु अणन्तया ॥१९॥
जो संजोगी विजोगी य, सव्वासखो अणन्तओ ।
काओ अन्नो एगट्ठो, अपएसित्ति साहिओ ॥२०॥ जुम्म॥

आगासदव्वं — लोगालोगागासस्स, पएसा उ अणन्तगा ।
गुणोऽवगाहणासाण, सत्ती साहाविगा सया ॥२१॥
केवि भणन्ति आगास, पयईपहाण तहा ।
णिक्कियसक्किय दव्वाइ, वोच्छामो गुणेहि से ॥२२॥
धम्मे अधम्मे आगासगम्मि, न लब्भए धम्मगुणो य केणु ।
सन्ता सहाणेगवियारजुत्ता, जीवा तहा पुग्गलमेव दोउ ॥२३॥

उवादाणणिमित्तकारणं — सत्ती य उवादाण, णिमित्त वज्झकारण ।
कज्जसिद्धी उ वेहिं पि, भेयभाव मणे ठवे ॥२४॥
णिमित्तणेमित्तियभावमाई,
णाणापगारा जे अणाभावा ।
अणाइणिहणा सव्वाण भावा,
परप्पर साहइया करेन्ति ॥२५॥

धम्मदव्वोवगारो — जीवपुग्गलगमणे, धम्मो उवयरेइ उ ।
मच्छस्स ठाइगमणम्मि, सहगारी जल जहा ॥२६॥

अहम्मदव्वुवगारो — ठिईए देइ साहेज्ज, जडाण चेयणाण य ।
अधम्मदव्व पत्थिस्स, वच्छच्छाया जहा सुहा ॥२७॥

कालदव्वुवगारो — कालदव्व दुहा वुत्त, णिच्छओ ववहारओ ।
णिच्छओ वट्टकालागु, इयरो खणलवाइ य ॥२८॥
सव्वदव्वपरिणामणे, कालो अत्थि उ कारण ।
परिवट्टणचिंधेण, जायइ तण्णिवारण ॥२९॥



आगासदव्वुवयारो—[illegible] ज [illegible], [illegible] ।
[illegible]णमोगागं, [illegible] ॥३०॥

पुग्गलदव्वपिरोसगुणलक्खण-[illegible] ।
[illegible], [illegible] ॥३१॥
अट्ठफासा [illegible], [illegible] ।
[illegible], आणिज्जन्ति उ पुग्गला ॥३२॥
परिणमणासहाण, [illegible] ।
[illegible] अण्णाणं, [illegible] ॥३३॥
[illegible] [illegible] ।
अणि [illegible] परमाणू, [illegible] ॥३४॥
[illegible], [illegible] आउणा ।
[illegible], [illegible] ॥३५॥
अणेगगुण[illegible], [illegible] ।
[illegible] ॥३६॥

विसेसो—[illegible], [illegible] ।
[illegible], गुणविसिट्ठ [illegible] ॥३७॥
धम्मम्मि [illegible], अहम्मे [illegible] ।
[illegible]गुणो, [illegible] ॥३८॥
[illegible], [illegible] ।
[illegible], आगासेण [illegible] ॥३९॥
दव्वेसु गुणा [illegible], गुणो [illegible] ।
सामण्णो उ गुणो [illegible] विसेसओ ॥४०॥

चउप्पई-उवसहारो—ण य अत्थिस [illegible],
ण य परमट्ठाय [illegible] ।
[illegible] ण [illegible],
जिणउवएसण [illegible] ॥
लोगागासम्मि य [illegible] ।
[illegible] ॥
ठिइया णियणियगुणपज्जवेसु ।
अण्णम्मि कम्मि णहि इय मुणेसु ॥४१॥

पसत्थी—फइरेन्दुपसिस्सेण सुमित्तेण तु भिक्खुणा ।
पुप्फभिक्खुसुसिस्सेण, एसो गंथो विणिम्मिओ ॥४२॥
अणेगन्तविहारम्मि, गुरुगामम्मि सुट्ठिए ।
कत्तियअमावासाए, किण्हम्मि वुहवासरे ॥४३॥
४ २ ० २
मणा-णागु-रा-दो वासे, विक्कमे वच्छरे सुहे ।
भव्वाणमुवयारट्ठ, जाव लोगो त्ति अच्छउ ॥

छद्दव्वसरूवटीगा।

[सासणवइ-सासणपहुमहावीर-जिणं पणमिउं सिरिगुरुमहप्पहरिवदसणसूरिणेमजिनराचिन्तणगमगं किच्चा छद्दव्वसरूवस्स सरलपाइयभासाए टीगं कहेमि]।

इमम्मि लोगे जाणि वत्थूणि ते वि दिट्ठादिट्ठरूवत्था ते सव्वे छच्चेव। जहा-जीव-पुग्गल-धम्माधम्मकालागासा। एए दव्वा संति।

तं दव्वं जं सव्वुप्पत्तिवयधुव्वजुत्तं हवइ जम्मि सवाजम्मगुणाओ, गुणपज्जवसमत्ती, सजाईअव्वयविगुणा-विज्जमाणा सया पत्ती। जहा सुवण्णस्स पज्जित्तीए कुण्डल घडाविय, ता तस्स कुण्डलपज्जवमुप्पाओ, मुद्दिया-पज्जवाभावो वओ, सुवण्णत्तं सव्वत्थ विज्जमाणं धुवत्तं। दव्वस्सेग लक्खणमिणवि जं 'गुणसमूहो दव्वं' जहा—

अत्थित्त[1]-वत्थुत्त[2]-दव्वत्त[3]-पमेयत्त[4]-अगुरु[5]-लहुत्त-पएसवत्ताइ-सामण्णगुणा-चेयणाफरिसरसगन्धवण्णाइ विसेस-गुणसमूहो।

दव्वसमुदाविनाभावी तस्स य सव्वावत्थासु विज्जइत्ति गुणो।

जस्स चेयणागुणस्स अत्थि मो हवइ तं जीवदव्वं ति वुच्चइ। जहा देव-णारय-माणुस-साण-मज्जारि-कीड-पयंग-मक्खिय-भमराइ-तिरिच्छाइ। (जस्स आयाए (soul) अइ ए य 'रूह' त्ति जाणन्ति।) एवं मोत्तूण सव्वाइ-सामण्णदव्वाइं अजीवाइं।

जीवा दुविहा पण्णत्ता तंजहा-संसारिणो सिद्धा य। सिद्धा ते जे अट्ठकम्म-पावपुण्णाइ जाव सव्वरहिया णाणिणो सुहा सदाणंदा पज्जवत्थ पत्ता, जे य कयावि संसारचक्के पुणो जम्मग्गहणं ण कुणन्ति, जओ जम्मकम्म-णाणीहिं संसारपरंपरा-वन्धणा कुणिन्ता तेसिं सव्वहा णिज्जरा जाओ वजा।

ते संसारिणो जे सम्मादंसणाइरयणसयाए सम्मगमणं कुव्वन्ति। एए जीवा जाव कम्मणिज्जरणं ण कुणेज्जा ताव संसारिणो त्ति वुच्चन्ति, कयाइ य देवाईए, कयाइ णिरए, कयाइ मणुस्से, कयाइ तिरिक्खजोणीए य गच्छन्ति। दुविहा संसारिणो जीवा पण्णत्ता तंजहा-तसा चेव थावरा चेव।

ते तसा वुच्चन्ति जे चलन्ति-सरन्ति-खायन्ति-पियन्ति अहवा दु-तिण्णि-चउ-पचिन्दियसहिया (फासरस-घाण-चक्खु-सोत्ताइ पंचिन्दियाइ सन्नत्ताओ सद्दरूवरसगन्धफासा) जहा लट-पिवीलिया-मच्छिया-पसु पक्खी-मणुस्साइ। तसा चउविहा-बेन्दिया, तेइन्दिया, चउरिन्दिया, पंचिन्दिया। जेसिं फास-सरीर जीहा य दुण्णिन्दियाइ ते बेइन्दिया। जाण फास-रसण-घाणिया तिण्णि ते तेइन्दिया। जाण फासणरसणघाणक्ख-चक्खू ते चउरिन्दिया। जेसिं पंच वि इन्दियाइ ते पंचि-न्दिया जीवा वुच्चन्ति। पंचिन्दिया दुविहा पण्णत्ता सण्णी, असण्णिणो।

---

1. जस्सत्तिणिमित्तेण दव्वं कयाइ ण णस्सइ तमत्थित्तगुणं त्ति।
2. जस्सत्तीए दव्वेऽत्थकिरिया तं वत्थुत्तं, जहा घडस्सत्थकियाजलधारणमत्थि।
3. जाए सत्तीए दव्वं सया पज्जवे परिवत्तेइ तं दव्वत्तं।
4. जेण दव्वं कस्सावि णाणविसओ तं पमेयत्तं।
5. जेण निमित्तेण दव्वदव्वत्तं सएव थिरमेगरूवं चिट्ठइ, अहवा दव्वमेगमण्णदव्वरूवे न परिणमइ तहा एगस्स दव्वस्साऽणेगाऽणन्ता वा गुणा पुढो होऊण ण विखिरिज्ज तमगुरुलहुत्तमाइक्खन्ति।
6. जस्सत्तिणिमित्तेण दव्वस्स कोऽवि आगारपागारोऽवस्सं सा पएसवत्तगुणो त्ति।



जेसिं पचिन्दियजीवाण मणो सहियाहियवियारो ते सन्निणो अन्न असन्निणो । दुतियचउरिंदिया असण्णिणो विगलिंदिया वि वुच्चन्ति ।

पचिन्दिया चउविहा पण्णत्ता, तजहा-देवमणुस्स-णारयतिरिक्खा ।

आरियमिलिक्खुभेएण मणुस्सा वि दुविहा होन्ति । आरिया आरियखेत्तेसु, मिलिच्छा मिलिच्छखडेसु वसन्ति ।

देवा चउविहा पण्णत्ता, तजहा-भुवणवासि-णो जे पायाले वसन्ति । वाणमन्तरा जे इमीमे पुढवीए रुक्ख-पव्वयाइसु वसन्ति । जोइसिया सूरिअ-चदगहणक्खत्तताराओ । जेसिं विमाणाइ सुमेरु-पव्वयस्स सव्वओ समन्ता परिभ-मन्ति । कप्पवासिणो जे बारस देवलोयणवगेवेज्जगपचणुत्तरविमाणेसु णिवसन्ति ।

सत्तविहा णेरइया-एयाए पुढवीए हेट्ठा सत्त णरया सन्ति । तासु एए जीवा वसन्ति । अहोणिसिं परोप्पर-मारण-मरण-पिट्टण-तज्जण-तालण-छेयण-भेयण-जलणाइदसविह खेत्तवेयणदुह पच्चणुभवमाणा विहरन्ति । अम्हारिस भोयणपाण ण लब्भइ । सागरोवमपज्जन्त मारीरमाणसाइ दुक्खाइ महेन्ति । ण तेसिं खणमेत्त पि सुह लब्भइ ।

तिरिक्खा पचविहा-जलयर, थलयर, णहयर, उरपरिसप्प, भुयपरिसप्पा य । जे जले परिवमन्ति ते जलयरा मीणमगराइ । जे थले चलन्ति ते थलयरा, जहा-धेणूमहिसअस्साइ । जे आगासे उड्डेंति ते खहयरा जहा-कावोय-साम-लियाइ सव्वे खेचरा । उरओ परिसप्पन्तित्ति उरपरिसप्पा, भुयासएण भमिरा णेउलमूसयाइ भुयपरिसप्पा ।

ते थावरा जे उप्पज्जन्ति, वड्ढन्ति, मरन्ति, पर सयमेगठाणाओ बीय ठाण ण गन्तु सक्का । अत्था एगिंदिय-जीवा जेसिमेग फासिंदिय मरीरमेत्त भवइ । थावरा पचविहा पण्णत्ता त जहा-पुढविकाइया, आउ०, तेउ०, वाउ०, वणप्फ-इकाइया ।

पुढवी एव जेसिं सरीर ते पुढवीकाइया । एव आउ-तेउ-वाउकाइया वि अवगन्तव्वा । वणप्फइफल-फुल्ल-वेलि-रुक्ख-पत्ताइ एव, जेसिं सरीर ते वणप्फइकाइया जीवा वुच्चन्ति । एए पचविहा थावरा, तसकाइया य छज्जीवणि-काया वुच्चन्ति । एए सव्वे चेयणा-जुत्ता जहा-जहा सुहासुह(पुण्ण-पाव)कम्माइ कुणन्ति तहा-तहा फलपरिणाम लहन्ति । कयाइ पावकरणेण सहेन्ति णिरयदुह, कयाइ पुण्णपयावेण भुजन्ति सग्गसुह । एव सव्वे जीवा अणाइकालेण एयम्मि परिवत्तणसीलससारे सुहदुहप्पडाइ सहन्ता परिभमन्ति, भमिस्सन्ति य जाव जाव मोक्खोवाय कट्टु कम्ममुत्ता ण होन्तु ।

अजीवदव्व —जम्मि फास-रस गन्ध-वण्णा एए चउगुणा होज्जा त पुग्गलदव्व ति वुच्चइ । इगलिसे 'matter' उर्दूए 'माद्दा' ति कहेन्ति ।

अट्ठविहे फासगुणे-लहुअगरुअकक्खडसूमाललुक्ख-णिद्धसीओण्हे । अंबिल्लमहुरकडुअकसायतित्ता पच रसा । सुगन्धदुगन्धा गन्धा । नीलपीयकसिणरत्तसेया पचवण्णा ।

पुग्गलदव्वे (जडपयत्थे) उवरुत्तचउमुक्खगुणा अवस्स लब्भन्ति । जहा सयवत्तपुप्फे फासो सूमालो, रसो कडुओ, गन्धो सुगन्धो, वण्णो रत्तो त्ति। एवामेव पच्चेअपुग्गले एए चउगुणा लब्भन्ति । जत्थेगो गुणो तत्थ तिण्णि गुणा अवस्स होन्ति ।

पुग्गलदव्वमणुखन्धभेएण दुविह । पुग्गलमव्वलहुखण्डो जस्स पुणो खण्डो न होइ सो अणू परमाणु त्ति वा वुच्चइ । 'Atom' जर्रा ति इगलिसुर्दूसु । दुतिअ अणेगपरमाणुपिण्डो खधो त्ति भण्णइ ।

खधा छव्विहा पण्णत्ता, त जहा-थूलथूले, थूले, थूलसुहुमे, सुहुमथूले, सुहुमे, सुहुमसुहुमे ।
थूलथूले —पुग्गलखन्धे जे भिण्णे समाणे पुणो तहेव न मिलइ, जहा पत्थरकट्ठमिच्चाइ ।
थूलपुग्गले—जे भिण्णे वि मिलइ, जहा पाणीय, दुद्ध, तइल्ल, घयमिच्चाइ ।
थूलसुहुमे—जे दिट्ठिपहमागच्छइ किन्तु ण गिण्हिज्जइ, जहा-छाया, आयव, चदिया ।
सुहुमथूले—जे दिट्ठिगोयरे न भवइ किन्तु फासरसणणक्कण्णेहिं णज्जइ । जहा-वाउ-सद्दाइ ।

जे पुग्गला णाणावग्गाइ अट्ठप्फासत्ते परिणया ते सुहुमबायरत्ति वुच्चन्ति ।
दु-ति-चउप्पएसिय परमाणूत्ते य सुहुम-सुहुम-पुग्गला होन्ति ।

जड-अचेयणमिणं पुग्गलदव्वं, जम्मि चेयणागुणाण-चिन्तणवियारणबोहणसत्ती णत्थि । परसत्तणिमित्तमजाएण वुड्ढी-मिस्सण-सङ्घ-विणास-वड्ढ-वडुणाइ आयारपरिणमणं अत्थि ।

"सदन्धयारउज्जोअ, पहाछायाउतवे इ य' पज्जवाणमवत्थाओ ।

जीवपुग्गलचलणे सहायगं धम्मदव्वं त्ति । इओ आगासे (तिसु लोएसु) सव्वत्थ वावि अमुत्तिअखण्डदव्वमत्थि लोगागासे ठिया जीवपुग्गला चलन्ति ता तात उदासीणत्तेण सहायगमेत्त अत्थि । सयं पेरगं होऊण ण कयावि पवत्थ चालेइ । जहा जले मच्छो चलइ ता तस्स चलणे जलं सहायगं । जइ सो ण चलेज्ज तो णीरं सयं चालेऊण ण चलावेइ । जो पयत्थो जीवपुग्गलाण ठिइए सहायगो तमधम्मदव्वं ति । दव्वमिणं जाव अत्थि । एयंपि सयं वि पेरिऊण ण ठवेइ । जहा पहिओ सेन्दाए चलन्तो मग्गे वच्छच्छायाए ठाऊण लहइ तो ठाइ । एवमेसो पयत्थो वि जीवपुग्गलठावणे उदासीणसत्तेण सहायगो । जइ एसो लोए ण हुन्तो ता सव्वे पयत्था चलन्ता चेव अच्छन्ता ।

जो पयत्थो सव्वपयत्थाण परिणमणावत्थापरिवत्तणकारणभूओ सहायगो तं कालदव्वं त्ति आहिअं । दव्वमेयं तिसु लोएसु लोगागासे रयणरासिव्व खण्ड-खण्डरूवेण अत्थि । अस्स खण्डाइ कालाणु त्ति । णत्थि कावि लोगागास-पएसा तव्विरहिओ । एसो वि अमुत्तपयत्था । गणणाए असंखिज्जो एसो णिच्छयकालो त्ति ।

आगासेगपएसाओ (सव्वसुहुमासो पएसो त्ति वुच्चइ) बिइयपएसगमणे जेत्तिओ कालो लग्गइ सो समओत्ति ।

एगम समयपरिणामेण आवलियलवघडियाइसागरमुहुत्तदिवसरत्तिपक्खमासवरिसाइ होंति । एएसिं सव्वेसिं ववहारो कालो त्ति वुच्चइ । एसो ववहारकालो णिच्छयकालस्स पज्जवमेत्तो ।

जं दव्वं जीवपुग्गलाइ पयत्थाणमोगाहं (ठाणं) देइ तमागासदव्वं ति । एसो पयत्थो वि अमुत्तसव्वव्वावी अखण्डरूवो य । अस्स जेत्तियभागे एसो लोओ ठिओ तमागासमेव लोगागासं ति कहेइ । तस्सविहिट्ठियसपएसागासं अलोगागासं ति वेन्ति । लोगागासे छ वि दव्वाइ ठियाइ । अलोगागासे आगासमेत्तं । तत्थ णत्थि कावि अण्णो पयत्थो त्ति ।

जीवधम्माधम्मागासकाला एए पंच अमुत्त सरूवपयत्था, ण दिट्ठिगोयरा अम्हाण, एएसु पुग्गलदव्वमेव मुत्त-सागारं त्ति । जीवपुग्गलधम्माधम्मागासा पंचपयत्था अत्थिकाया (पएससमूहरूवा), अहवा एएसिमणेगपएसा होंति । परं कालो णत्थि अत्थिकाओ त्ति । अस्स पएसा पुहा-पुहा सन्ति । जेवि कालाणू केणावि कालगुणा मिलित्ता एगकाओ (समूहरूवा) ण हवइ ।

इय सगुरुसहकुलिन्दुमहूसीपसिस्स-सुयागमसमप्पाइगणेदेसविहारिणेगभासाविसारयपुप्फभिक्खुसमक्कमलभसल-सुमित्तभिक्खुकया छद्दव्वसरूवटीगा समत्ता ।



विदेशों में शाकाहार

महेन्द्र राजा जैन

एम० ए०, डिप० लिप एस० सी०,

एफ० एल० ए० (लदन)



आज से करीब १२ वर्ष पूर्व जब मैं लदन जाने की योजना बना रहा था तो बनारस मे मेरे अधिकाश मित्रो ने पुस्तको एव समाचारपत्रो से प्राप्त अपने ज्ञान के आधार पर इगलैंड के विषय मे मुझे जो कुछ बतलाया था, उससे मेरे मन मे कुछ भय-सा समा गया था। मै सोचने लगा था कि शायद मैं परिस्थितिवश वहा शाकाहारी न रह सकूँ। पर लदन मे करीब ७ वर्ष और अफ्रीका मे ४ वर्ष तथा लगभग ३२ देशो की यात्रा करने के बाद मुझे यह कहने मे जरा भी झिझक नही कि कोई भी शाकाहारी व्यक्ति विदेशो मे बडी आसानी से, बिना किसी परेशानी के रह सकता है। आवश्यकता यदि है तो केवल आत्मनियत्रण की।

मैं शुरू से ही शाकाहारी हूँ। इसका कारण यह नही है कि मेरा जन्म जैन घराने मे होने के कारण मुझे बचपन से ही शाकाकारी रहना पडा। किशोरावस्था तक आते ही उक्त कारण से शाकाहारी रहना पडा हो पर अब मेरे शाकाहारी बने रहने का एक मात्र कारण यह कहा जा सकता है कि मैं मांस खाना उचित नही समझता। मेरा हृदय यह स्वीकार नही करता कि दूसरो का जीवन मेरे आहार का साधन बने।

बम्बई से जब रवाना हुआ तो पहले ही दिन जहाज पर शाकाहारी भोजन की समस्या सामने आई। इसके पूर्व मैंने कभी किसी भी मार्ग से विदेशयात्रा नही की थी। अत मुझे यह पता नही था कि जहाज का टिकट बुक कराते समय या सीट रिजर्व कराते समय इस बात की सूचना भी दे दी जाती है कि भोजन की व्यवस्था शाकाहारी हो या मासाहारी हो।

दुर्भाग्य से मैं जिस कपनी के जहाज मे सफर कर रहा था वह फ्रासीसी थी। उसके सभी कर्मचारी भी केवल फ्रासीसी भाषा मे ही बातचीत करते थे। अत उन्हें समझाना बहुत कठिन था कि मैं शाकाहारी हू। भोजन के समय जब मे डाइनिंग हाल में गया तो वेटर को किसी प्रकार इशारे से यह समझा दिया कि मैं मास नही खाता। वेटर ने जिस ढग से हावभाव प्रदर्शित किये, उससे ऐसा प्रतीत हुआ कि वह मेरी बात अच्छी तरह समझ गया है।

वह थोडी ही देर मे मेरे लिए एक प्लेट मे खाना ले आया। प्लेट मे जितनी वस्तुए थी, उनमे से एक को छोडकर बाकी सभी मेरे उपयुक्त थी। एक पीली-सी चीज जो देखने मे बेसन की बनी-सी जान पडती थी, मेरे लिए समस्या बन गई। काफी सोचने-समझने पर भी मै यह निर्णय नही कर पाया कि यह क्या वस्तु हो सकती है।

इसी उलझन मे पडे हुए मैंने प्लेट की अन्य वस्तुए तो खा ली और उस पीली-सी वस्तु के विषय मे सोचता रहा। अत मे यह सोचकर कि उसे पहले चख कर देख लेना चाहिए, मैंने उसका थोडा-सा अश चम्मच मे लिया ही था कि मन मे ख्याल आया कि बगल मे बैठे हुए सज्जन से इस सबध मे पूछ लेना चाहिए। मैंने जब उनसे पूछा तो उन्होने बतलाया—आमलेट।

उस दिन पहली बार मुझे यह मालूम हुआ कि यूरोप में अडा शाकाहारी भोजन मे शामिल किया जाता है। इसके बाद जहाज मे ही एक और नया अनुभव हुआ।

आमलेट से बचने के बाद मैं जहाज के काउन्टर पर प्रतिदिन "नो मीट, नो एग" कहकर वेटर को बतला दिया करता था कि मुझे मास एवं अडे के अतिरिक्त बाकी वस्तुएं दे दी जाए। एक दिन जब मैंने ऐसा कहकर रोज के समान अपनी प्लेट आगे बढाई तो उसने आलू एवं मटर के साथ बड़े से मछली का एक बडा टुकडा प्लेट मे रख दिया। मै भौंचक सा रह गया और वेटर की ओर गुस्से मे देखने लगा। वेटर मेरे क्रोध का कारण नहीं समझ पाया। जब मैंने मछली के टुकडे की ओर इशारा किया तो वह मेरी नासमझी पर हसता हुआ बोला, "नो मीट, नो एग, फिश, फिश" अर्थात् "यह मास या अडा नहीं, मछली है।"

मैं भला उसे क्या जवाब देता। वस्तुत दोष मेरा ही था जो मैंने मछली को भी मास मे शामिल कर लिया था। उस दिन के बाद से मैं जब तक जहाज पर रहा, वेटर से "नो मीट, नो फिश, नो एग" कहकर काम चलाता रहा।

जहाज मे तो किसी प्रकार काम चल गया, पर मार्सेलीज मे जब जहाज छोडा तो फिर वही परेशानी उपस्थित हुई। मार्सेलीज मे हमे ट्रेन द्वारा पेरिस होते हुए कैले पहुचना था। वहाँ से जहाज द्वारा डोवर और डोवर से लदन। मार्सेलीज मे हमे दिन भर ठहरना था और शाम की ट्रेन मे पेरिस के लिए रवाना होना था।

मार्सेलीज मे दो-तीन रेस्ट्रा मे जाकर हमने पता लगाया कि वहा किसी को अग्रेजी का ज्ञान है या नही। पर वहाँ कोई यह भी नहीं समझ सका कि मैं क्या पूछ रहा हू। लाचार होकर मैं अपने एक साथी सरदारजी के साथ एक रेस्ट्राँ मे गया और वहाँ 'मेनू' पढकर हम यह देखने लगे कि उसमे अग्रेजी का कोई शब्द है या नही। पर फ्रासीसी लिपि भी हम लोगो के लिए रहस्यमयी थी। वैसे फ्रासीसी और अग्रेजी लिपि मे कोई अतर नही, पर फ्रासीसी लिखावट हम लोगों के लिए नई थी।

सरदारजी ने तो किसी प्रकार अपने लिए आर्डर दे दिया (वे मासाहारी थे) और मैं रेस्ट्रा मे खाना खा रहे अन्य लोगो की प्लेट देखने लगा। उनकी प्लेटो मे आलू, मटर, गोभी आदि कई सब्जियाँ थी। मैंने वेट्रेस को बुलाकर उन वस्तुओं की ओर इशारा कर दिया और इस प्रकार एक परेशानी से मुक्ति मिली।

लदन मे मेरे खाने का प्रबध कालेज की कैन्टीन मे ही हो गया था। पहले करीब ७-८ माह (अर्थात् जब तक मै कालेज में रहा) मुझे कोई परेशानी नहीं हुई। लेकिन जब कालेज छोडा तो बाहर खाना खाने की परेशानी सामने आई।

कुछ मित्रो ने सलाह दी कि यदि मै 'सेल्फ सर्विस' रेस्ट्रा मे जाया करूँ तो कोई परेशानी नहीं होगी। 'सेल्फ सर्विस' रेस्ट्रा मे पकाई हुई वस्तुएँ अलग-अलग प्लेटो मे रखी रहती है तथा ग्राहक को जो वस्तु पसद हो उसे उठाकर अपनी ट्रे मे रखना जाता है। अत मे जब वह अपनी पसद की सभी वस्तुएँ ले चुकता है, तब काउन्टर के किनारे पर आकर उनका मूल्य चुका देता है।

सेल्फ सर्विस रेस्ट्रॉ मेरे लिए मुंहमागा वरदान सिद्ध हुए। यहाँ न वस्तुए छूने की आवश्यकता थी, न उनका नाम जानने की और न किसी से कुछ पूछने की। मै वहा जाकर अपनी ट्रे मे भुने हुए आलू, मटर, फलिया, टमाटर का सूप, उबली हुई सब्जी आदि कई वस्तुए ले लिया करता था। उनका मूल्य भी अधिक नही होता था तथा वे पूर्णत सतोषजनक भी थीं।

कालेज मे मै जब पढता था तो वहाँ कैंटीन मे कभी-कभी अपने यहाँ की आलू-चाप जैसी एक टिकिया भी मिलती थी। उसका नाम 'चीज-केक' था। 'चीज' को हमलोग वैसे पनीर के नाम से जानते है पर यह उसका सही पर्यायार्थ नहीं। 'चीज' दूध से बनाया एक पदार्थ होता है तथा चीज-केक उसी पदार्थ से बनाई जाती है।

यह वस्तु मुझे बहुत पसद थी। सेल्फ सर्विस रेस्ट्रा मे भी जब मुझे एक प्लेट मे रखी हुई यह वस्तु दिखी





तो बहुत खुशी हुई और मैं प्राय प्रतिदिन इसे खाने लगा। वहाँ खाते हुए मुझे लगभग तीन माह हो चुके थे और वहा के खाने से मुझे कोई शिकायत नही थी।

एक दिन जब मैं वहा 'चीज-केक' खा रहा था तो उसे काटते समय उसके अदर पतली-पतली दो-तीन सीकें-सी दिखी। मैं समझ नही पाया कि उसके अदर ये सीकें कैसे आई तथा क्या हो सकती हैं। सहसा मेरा ध्यान लगभग ३ वर्ष पूर्व की एक घटना की ओर गया जब मैं बनारस मे एक बार अपने एक बगाली मित्र के यहा गया था तथा उनके यहा आगन मे इसी प्रकार की छोटी-छोटी सीकें-सी देखी थी जिनके विषय मे उन्होने बाद मे बतलाया था कि वे मछली के काटे हैं।

मेरे हृदय को एक धक्का-सा लगा और मै सदेह मे पड गया। बाद मे वेट्रैस से पूछने पर पता चला कि पिछले तीन माह मे जिस वस्तु को 'चीज-केक' समझकर खाता आ रहा था, वह वास्तव मे फिश-केक थी।

'चीज-केक' और 'फिश-केक' मे कोई विशेष अतर नही होता। आकार-प्रकार, स्पर्श मे दोनो एक सी ही होती हैं। पर यह तो उन्हे बनाने वाले की कुशलता थी कि एक साल तक कालेज मे 'चीज-केक' और तीन माह तक रेस्ट्रा मे 'फिश-केक' खाते रहने पर भी मैं दोनो का अतर नही समझ सका।

इसके बाद तो मैं खाने-पीने के मामले मे और भी सतर्क हो गया, फिर भी काफी सचेत रहने के बावजूद कुछ ऐसे अवसर आए जब कुछ न कुछ गलती हो ही गई।

एक बार लदन विश्वविद्यालय के 'स्कूल आफ ओरियटल एण्ड अफ्रीकन स्टडीज' के पुस्तकालय मे कुछ कार्य-वश जाना पडा जहा निश्चित समय से कुछ अधिक देर हो गई और वही खाना खाने का समय हो गया। वहा पूछने पर पता चला कि कालेज मे ही कैण्टीन है जहा कालेज कर्मचारियो एव विद्यार्थियो को सुलभ मूल्य मे अच्छा खाना मिल जाता है। चूकि उस कालेज मे भारतीय छात्र भी काफी सख्या मे है अत भारतीय ढग के खाने का भी वहा प्रबध रहता है।

कैण्टीन मे पहुचने पर पता चला कि वहाँ सेल्फ सर्विस व्यवस्था है। डबल रोटी (ब्रेड), मक्खन, दूध आदि तो मैंने स्वय ही ले लिया पर शाक के लिए वेट्रैस से कहना पडा कि मैं शाकाहारी हूँ। उसने बतलाया कि उस दिन वहा मास की कोई वस्तु नही थी अत सभी लोगो के लिए एक शाक थी। ऐसा कहते हुए उसने एक ही गहरी प्लेट मे शाक दे दी।

ट्रे मे सभी सामान लेकर मै जब टेबिल पर खाना खाने बैठा तो देखा कि शाक मे बडे-बडे बिना कटे पूरे आलू एव गोभी के टुकडे थे। खाते-खाते एकाएक एक लम्बे गोल आलू पर ध्यान अटक गया। उसका आकार प्रकार सामान्यत अन्य आलुओ से भिन्न था अत मेरा मन उसे तुरन्त ही आलू मानने को तैयार नही हुआ। जब सोचते-सोचते थक गया और किसी निष्कर्ष पर नही पहुच सका तो पास मे बैठे एक व्यक्ति से उस विषय मे पूछा। उसने बतलाया कि यह आलू नही वरन पूरा उबला हुआ अडा था तथा वहा इस प्रकार शाक सब्जी मे अडे डालने की प्रथा है।

इग्लैड मे २-३ वर्ष तक रहते हुए मैं वहा के खान-पान से बहुत कुछ परिचित हो चुका था। अब पहले जैसी मुश्किल नही होती थी। पर एक बार जब कान के आपरेशन के सिलसिले मे दो सप्ताह तक अस्पताल मे रहना पडा तो फिर मुश्किल पडी।

ब्रिटेन मे 'नेशनल हैल्थ सर्विस' योजना लागू रहने के कारण अस्पतालो मे सभी प्रकार की नि शुल्क व्यवस्था रहती है। खाना भी वहा नि शुल्क मिलता है। अत पहले ही दिन मैंने अपने वार्ड की 'सिस्टर' को अपने शाकाहारी होने तथा मास, मछली, अडे से परहेज की सूचना दे दी। इसके परिणाम स्वरूप मेरे लिए कुछ चीजें अलग से पकाई

जाने लगीं पर कुछ वस्तुएं ऐसी भी थीं जो सभी मरीजों के लिए समान रूप से बनती थीं और मैं भी उनमें से कुछ अपने लिए ले लेता था।

ऐसी वस्तुओं में हमें सबसे पहले सूप मिलता था जो प्रायः विविध प्रकार की शाक सब्जियों से बनाया जाता है। एक बार जब मैं 'सूप' पी चुका तो एक साथी मरीज ने उत्सुकतावश कहा कि जब आप शाकाहारी हैं तो आपने यह सूप कैसे पी लिया। यह सुनकर मैं चौंका पर बाद में शीघ्र ही अपनी गलती का पता चल गया।

इंग्लैंड में कई चीजें ऐसी हैं जिनके नाम बड़े विचित्र होते हैं और मूल शब्दार्थ से उनका कोई संबंध नहीं होता। यथा खाने-पीने की वस्तुओं में एक अमेरिकी चीज 'हाट डाग्स' (Hot Dogs) नामक है। जिसका शब्दार्थ होता है "गरम कुत्ते" पर गरम या ठंडे कुत्तों से भी उसका कोई संबंध नहीं है।

इसी प्रकार सूपों में "आक्सटेल" (OXTAIL) नामक एक सूप होता है जिसके संबंध में मेरी उक्त-धारणा थी। यह सूप मैं पहले भी कई बार पी चुका था। पर उस दिन साथी मरीज ने बतलाया कि 'आक्सटेल सूप' नाम पूर्णतः सार्थक है (आक्सटेल सूप याने बैल की पूछ का शोरबा) क्योंकि वह बैल की पूछ से ही बनाया जाता है।

सूप के मामले में इसी प्रकार राटरडम (हालैंड) के एक रेस्त्रां में भी गड़बड़ हो गई। वहां टमाटर के शोरबे का आर्डर देने पर जो सूप सामने आया, उसमें छोटी-छोटी गोलियां पड़ी हुई थीं। चखने पर उस सूप का स्वाद भी कुछ नया-सा लगा तो पूछने पर पता चला कि हालैंड में टमाटर के सूप में मांस के भुने या तले हुए टुकड़े भी डाल देने की प्रथा है।

दारेस्सलाम (पूर्वी अफ्रीका) में भी इसी प्रकार खाने के मामले में जो एक घटना हुई, वह जल्दी नहीं भुलाई जा सकती। वहां यूनिवर्सिटी कालेज में सीनियर छात्रों की विदाई के उपलक्ष्य में आयोजित एक पार्टी में मुझे भी बुलाया गया। कैंटीन की व्यवस्थापिका से मैंने पहले ही कह दिया था कि चूंकि मैं शाकाहारी हूं अतः मेरे लिए वे विशेष व्यवस्था कर दें। उन्होंने यह कह कर आश्वासन दिया कि पार्टी में वे मेरे साथ ही रहेंगी और बतला देंगी कि क्या क्या चीजें मेरे उपयुक्त हैं।

पार्टी में यूरोपीय ढंग की सेल्फ सर्विस व्यवस्था थी। बड़ी-बड़ी प्लेटों में चीजें सामने रखी हुई थीं और लोग इच्छानुसार चीजें लेकर अपनी प्लेटों में रखते जाते थे। मैंने भी एक खाली प्लेट लेकर चीजें रखना शुरू कीं। उबली हुई मटर, आलू आदि कई चीजें मेरे लिए उपयुक्त थीं। व्यवस्थापिका मेरे साथ ही थी अतः मैं और भी निश्चिन्त था। जो जो वस्तुएं मैं ले रहा था, उन्हें वह बड़े गौर से देख रही थी। और सब चीजें लेने के बाद मैंने गोभी के टुकड़े भी लिए जो दही में मिलाए गए जान पड़ते थे।

सब चीजें लेकर मैं टेबिल पर आ गया और खाने के लिए ज्यों ही गोभी का पहला टुकड़ा मुंह में डाला, उसे चखते ही उल्टी-सी होने लगी। लगभग १०-१५ मिनट तक पानी से कुल्ले करते रहने के बाद भी मुंह से वह स्वाद नहीं गया जिसके कारण उल्टी का अनुभव हो रहा था। मैं तो कुछ समझ ही नहीं पा रहा था कि उन गोभी के टुकड़ों में ऐसी क्या बात थी कि यह स्थिति हो गई। व्यवस्थापिका भी मेरी हालत देख कर अलग परेशान थी। बाद में पता चला कि जिस चीज को मैं गोभी के टुकड़े समझे हुआ था, वे वास्तव में साफ किये हुए केकड़े (Lobster) थे। जिनपर से चमड़ा (छिलका) उतार दिया गया था। और इसी कारण वे देखने में गोभी के फूल जैसे लग रहे थे।



निश्चयनय और व्यवहारनय

पं० कुन्दनलाल

न्यायतीर्थ, शास्त्री



समस्त संसार के जीवधारियों का रात दिन का प्रयत्न एक मात्र सुखप्राप्ति के उद्देश्य से प्रेरित है। विद्याप्राप्ति, व्यापार-उद्योग, मनोरंजन के नाना प्रकार के साधन, भोगोपभोग के नित नये साधनों का आविष्कार आखिर क्यों? सब का एकमात्र उद्देश्य स्थायी सुखप्राप्ति की इच्छा ही है। परन्तु वह स्थायी सुख मिलता नहीं। इसीलिये विचारशील मनीषियों ने अथक तत्त्वमीमांसा के द्वारा स्थायी सुखप्राप्ति का जो लक्षण व उपाय खोजा उसे एक महान् दार्शनिक कवि अपनी इन चार पंक्तियों में बड़े सुन्दर ढंग से बतलाते हैं—

आतम को हित है सुख, सो सुख आकुलता बिन कहिये।
आकुलता शिव माहि न, तातें शिव मग लाग्यो चहिये॥
सम्यग्दर्शन ज्ञान चरित शिव-मग सो दुविध विचारो।
जो सत्यारथ रूप सुनिश्चय, कारन सो व्यवहारो॥१॥

प्रत्येक जीवात्मा का वाछित-अभिलषित-एक मात्र इष्ट सुख है। और उस की परिभाषा है आकुलता-व्याकुलता का सर्वथा अभाव। आकुलता का अभाव, आत्मा की शक्ति का नाश करने वाले, आत्मा को विकृत एवं मलीन करने वाले ज्ञानावरणादि समस्त शुभाशुभ कर्मों का संवर निर्जरा के द्वारा सर्वथा नाश रूप मोक्ष में है। इस लिये सुख चाहने वाले मुमुक्षु जीवों को मोक्षमार्ग में लगना चाहिये। वह मोक्ष का मार्ग सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान-सम्यक्-चारित्र रूप है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र रूप मोक्षमार्ग दो प्रकार का है। निश्चयमोक्षमार्ग और व्यवहारमोक्षमार्ग। जो वास्तविक श्रद्धा ज्ञान आत्मरमणरूप आत्मपरणति है वह निश्चय मोक्षमार्ग है और उस निश्चयमोक्षमार्ग की प्राप्ति में जो कारणरूप है वह श्रद्धा ज्ञान और आत्मा की संसार के विषय भोगों से विरक्ति रूप परिणति व्यवहारमोक्षमार्ग है।

संसार के क्षणिक ऐन्द्रिय सुखों के लिये लोग दिन-रात पचते हैं, अर्थोपार्जन करते हैं, और पूरा जीवन व्यतीत कर देते हैं किन्तु उसका फल आखिर क्या मिलता है? क्षणिक शांति और उसके बाद अनन्त अशांति। पर जिस सुख को पा लेने के बाद दुख की हवा भी छू नहीं सकती उसकी प्राप्ति के कारणभूत तत्त्वज्ञान की प्राप्ति की ओर हमारी रुचि ही नहीं। शाश्वत सुख पाने के लिए उस तत्त्वज्ञान को जानना होगा। उस की कुंजी निश्चय और व्यवहारनय का ज्ञान ही है। इसलिये सबसे पहले इन नयों का ही स्वरूप समझना है। वस्तुतत्व को समझने के लिये नयवाद स्याद्वाद-अनेकान्तवाद रूप दृष्टि जैनधर्म की दर्शन के क्षेत्र में अपूर्व देन है। महान दार्शनिक आचार्यप्रवर अमृतचन्द्र सूरि अपने "पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय" ग्रन्थ में अनेकान्त को नमस्कार करते हुए स्तुति करते हैं—

परमागमस्य बीजं निषिद्धजात्यन्ध सिन्धुरविधानम्।
सकलनयविलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम्॥

जैसे जन्म के अन्धे पुरुष हाथी के पृथक्-पृथक् अवयवों का स्पर्श करके उनमें हाथी के शरीर का आकार निश्चय करने में परस्पर वाद-विवाद करते हुए भी यथार्थ निश्चय नहीं कर सकते, परन्तु नेत्रवान् पुरुष उनके विवाद को क्षण मात्र में दूर कर देता है, इसी प्रकार अज्ञानी लोग वस्तु के अनेक अंग (धर्म-स्वरूप) अपनी बुद्धि से, भिन्न-भिन्न रीति से निश्चय करते हुए भी सम्यग्ज्ञान के बिना सर्वांग वस्तु को न जान कर परस्पर विवाद करते हैं और इसी से संसार में भटकते होते हैं। प्रत्येक वस्तु के अनेक पहलू होते हैं, अतः समस्त पहलुओं को जाने बिना विरोध दूर हो ही नहीं सकता। क्योंकि पदार्थ में अनेक गुण हैं और भिन्न-भिन्न लोग उन्हें अलग-अलग ग्रहण कर लेते हैं। पर भूल यह करते हैं कि अपने माने हुए सिवाय अन्य गुणों की सत्ता स्वीकार नहीं करते। इसी कारण झगड़ा होता है कि यदि उन सब के मस्तक में यह विचार जम कर जाय कि मैंने पदार्थ में यह गुण माना दूसरों ने दूसरे गुण माने हैं और पदार्थ में वे सब गुण हैं, इसलिये अपेक्षा भेद से ठीक है तो सब में सामञ्जस्य बैठ जायगा और मतभेद-विरोध का अन्त हो जायगा। इसी विशेषता के कारण आचार्यों ने अनेकान्त की महत्ता स्वीकार कर उसकी स्तुति की है।

"अनेकान्त' शब्द का अर्थ है—एक से अधिक अन्त" अर्थात् धर्म। अर्थात् पदार्थ में केवल एक गुण-स्वभाव अथवा धर्म नहीं, बहुत से गुण रहते हैं। वस्तु के अनेक धर्म एक साथ ज्ञान के द्वारा जाने जाते हैं परन्तु दूसरे को समझाने का साधन शब्द है और शब्द एक समय में एक धर्म को कहने की ही शक्ति रखता है, एक साथ समस्त गुण धर्मों को नहीं कह सकता। इसलिये उन अनन्त धर्मों को बतलाने की पद्धति का नाम स्याद्वाद है। इसी का दूसरा नाम सापेक्ष-वाद या नयवाद है। "स्यात्" का अर्थ "किसी अपेक्षा से" यह है और "वाद" का अर्थ कहना है अर्थात् एक अपेक्षा से एक धर्म की मुख्यता करके ऐसा कहा गया है और दूसरी अपेक्षा से यह नहीं कहा जायगा, वह दूसरी तरह कहा जायगा।

इसीलिये नय का सिद्धान्त (आगम) में यह लक्षण किया है कि—"वक्ता ने अनेक धर्मात्मक वस्तु के जिस धर्म की मुख्यता से शब्द कहा है उसके उसी अभिप्राय को जानने वाले ज्ञान को नय कहते हैं। यह भावनय का लक्षण है और वह धर्म तथा उस धर्म के वाचक शब्द को द्रव्यनय कहते हैं। इसी को कार्तिकेय स्वामी ने इस प्रकार कहा है —

लोयाण ववहारं धम्मविवक्खाइ जो पसाहेदि।
सुयणाणस्स वियप्पो सो वि णओ लिंगसंभूदो ॥

धर्म विविक्षा से (कहने वाले की कहने की इच्छा से) लोक व्यवहार के साधक लिंग (हेतु) से उत्पन्न श्रुत ज्ञान के विकल्प को नय कहते हैं।

जो जाणिज्जइ जीवो इंदियवावारकायचिट्ठाहिं।
तं अणुमाणं भण्णदि तं पि णयं बहुविहं जाण ॥

जीव का इन्द्रिय व्यापार और कायचेष्टा के द्वारा जानना अनुमान कहलाता है। यह अनुमान भी नय ही है। क्योंकि अनुमान प्रमाण को भी श्रुतज्ञान ही माना है।

सो चिय इक्को धम्मो वाचय सद्दो वि तस्स धम्मस्स।
तं जाणदि जं णाणं ते तिण्णि वि णयविसेसा य ॥

वस्तु का एक धर्म, उस धर्म का वाचक शब्द और उस धर्म को जानने वाला ज्ञान, ये तीनों नय विशेष हैं। नयचक्र में श्री देवसेन स्वामी कहते हैं —

जं णाणीण वियप्पं सुयभेयं वत्थु अंससंगहणं।
तं इह णयं पउत्तं णाणी पुण तेण णाणेहिं ॥



पूज्यपाद स्वामी ने सर्वार्थसिद्धि में कहा है —

"वस्तुन्यनेकान्तात्मन्यविरोधेन हेत्वर्पणात् साध्यविशेष-याथात्म्यप्रापणप्रवण प्रयोगो नय ।" अर्थात् जो प्रयोग अनेकान्त स्वरूप वस्तु मे अविरुद्ध हेतु अर्पणा मे साध्य विशेष की यथार्थता प्राप्त करने मे समर्थ है उसको नय कहते हैं। इन सब का भाव वही है जो ऊपर लिखा जा चुका है। "जो इतर धर्मों की अपेक्षा सहित हैं वे सुनय है और जो इतरधर्मों से निरपेक्ष है वे कुनय है। उनसे पदार्थ की सिद्धि नही होती।"[1]

श्रीदेवसेन स्वामी ने नयो की प्रशसा मे बहुत कुछ कहा है परन्तु सब का साराश एक गाथा में इस प्रकार है—

जे णयदिट्ठिविहूणा, ताण ण वत्थू सहावउवलद्धी ।
वत्थुसहावविहूणा सम्मादिट्ठी कह होंति ॥१॥

अर्थात् जो पुरुष नयदृष्टि से रहित हैं उनको वस्तु स्वभाव का यथार्थ ज्ञान नहीं होता, और वस्तु स्वभाव के यथार्थ ज्ञान के बिना वे सम्यग्दृष्टि किसी प्रकार नहीं हो सकते। इस प्रकार नयज्ञान के बिना जैनागम का रहस्य नही जाना जा सकता।

जैनाचार्यो ने नयवाद का विवेचन अत्यन्त सूक्ष्म, विशद और व्यापक रूप मे किया है। विविध प्रकारो से नय के भेद-प्रभेदो का निरूपण किया गया है। सिद्धसेन दिवाकर ने अपने सन्मतिप्रकरण में कहा है—

जावइया वयणपहा तावइया चेव होंति णयवाया

अर्थात् जितने वचन के मार्ग है उतने ही नयवाद हैं। इस प्रकार नयो की सख्या निर्धारित नही हो सकती। तथापि विभिन्न दृष्टिकोणो मे नयो के भेदो का कथन किया गया है। यहाँ हम नयों के कतिपय भेदो पर प्रकाश डालेंगे।

नय के मूल दो भेद है। एक निश्चयनय और दूसरा व्यवहारनय। व्यवहारनय का दूसरा नाम उपनय भी है। "आगम म निश्चयनय को भूतार्थ और व्यवहारनय को अभूतार्थ कहते है।[2]" अर्थात् जो पदार्थ जैसा है उसको वैसा ही जानना या कहना यह निश्चयनय है। यह पदार्थ के यथार्थ स्वरूप को कहता और जानता है इसीलिए इसे भूतार्थ—वास्तविक तत्त्व को विषय करने वाला-कहते है। व्यवहारनय वस्तु के परनिमित्तक स्वरूप को कहता या जानता है इसलिये वह अभूतार्थ है। जैसे घृत के निमित्त मे किसी घट को घी का घडा कहना। घडा मिट्टी, पीतल या चादी आदि का होता है पर उसमे घी रखा होने से अन्य अनेक घडो मे से उसे जल्दी मे ढूढ कर लाने का व्यवहार चलाने को कहा गया कि "घी का घडा लाओ।" यह व्यवहार अभूतार्थ है। अभूतार्थ का अर्थ झूठा नही है। किन्तु वह स्वरूप है जो स्वाभाविक सिद्ध अथवा निरपेक्ष न होकर परसापेक्ष हो।

निश्चय नय के दो भेद हैं। एक द्रव्यार्थिक और दूसरा पर्यायार्थिक। जो विशेष स्वरूप से अविनाभावी सामान्य स्वरस-द्रव्य को नाना युक्तियो के बल से सिद्ध करता है उसे द्रव्यार्थिकनय कहते है।[3] द्रव्य का अर्थ सामान्य है, तात्पर्य यह है कि वस्तु मे सामान्य और विशेष दोनो धर्म रहते है। उनमे विशेष स्वरूपो को गौण करके जो सामान्य मात्र को

---

१ मिथ्यासमूहो मिथ्याचेन्न मिथ्यैकान्ततास्ति न ।
निरपेक्षा नया मिथ्या सापेक्षा वस्तुतोऽर्थकृत् ॥१०८॥
—आप्तमीमासा—स्वामी समन्तभद्र

२ निश्चयमिह भूतार्थं व्यवहार वर्णयन्त्यभूतार्थम् ।

३ जो साहदि सामण्ण अविणाभूद विसेसरूवेहिं ।
णाणाजुत्तिबलादो दव्वत्थो सो णओ होदि ॥ —स्वामी कार्तिकेय

मुख्यता से ग्रहण करता है उसे द्रव्यार्थिकनय कहते हैं। इसके विपरीत पर्यायार्थिक नय है। पर्याय नाम विशेष का है इसलिये जो नय वस्तु के सामान्य स्वरूप को गौण करके विशेष को ही मुख्यता से ग्रहण करता है उसे पर्यायार्थिकनय कहते हैं। जीव द्रव्य है। इसके नर-नारक देव तिर्यंच, मिथ्यादृष्टि सम्यग्दृष्टि, संसारी और मुक्त आदि अनेक पर्याय हैं।

द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नयों के दो-दो भेद हैं। अध्यात्मद्रव्यार्थिक और शास्त्रीयद्रव्यार्थिक तथा अध्यात्मपर्यायार्थिक और शास्त्रीयपर्यायार्थिक। इनमें आध्यात्मिक द्रव्यार्थिक नय के १० भेद और शास्त्रीय द्रव्यार्थिक के तीन भेद हैं—नैगम, संग्रह, और व्यवहार। इनमें से नैगमनय के ३, संग्रह के २ और व्यवहार के २ भेद होने से शास्त्रीयद्रव्यार्थिकनय के ७ भेद होते हैं। आध्यात्मिक व्यवहारनय के ६ भेद हैं। शास्त्रीयपर्यायार्थिक के १ ऋजुसूत्र २ शब्द ३ समभिरूढ और ४ एवंभूत इस प्रकार भेद चार हैं। इनमें ऋजुसूत्र नय के २ भेद हैं, शेष के एक एक इस प्रकार शास्त्रीयपर्यायार्थिक ५ भेद हुए। इस तरह आध्यात्मिक के १६ और शास्त्रीय नय के १२ भेद मिलाने से कुल निश्चयनय के २८ भेद हुए।

(१) जो कर्मबन्धयुक्त संसारी जीव को सिद्ध समान शुद्ध ग्रहण करे उसे कर्मोपाधिनिरपेक्ष शुद्ध-द्रव्यार्थिक नय कहते हैं। जैसे संसारी जीव सिद्ध सदृश शुद्ध बुद्ध ज्ञायक रूप है।

(२) जो उत्पाद व्यय को गौण करके केवल सत्ता-ध्रौव्य मात्र को ग्रहण करे उसे सत्ता ग्राहक–शुद्ध द्रव्या–र्थिक नय कहते हैं। जैसे द्रव्य नित्य है।

(३) गुण-गुणी और पर्याय-पर्यायी में भेद न करके, जो द्रव्य को गुणपर्याय से अभिन्न ग्रहण करे उसे भेद-विकल्पनिरपेक्ष शुद्ध द्रव्यार्थिक नय कहते हैं। जैसे द्रव्य अपने गुण पर्याय से अभिन्न है।

(४) जो जीव में क्रोधादिक भावों को ग्रहण करे उसे कर्मोपाधिसापेक्ष अशुद्ध द्रव्यार्थिक नय कहते हैं जैसे जीव क्रोधी, मानी मायावी, लोभी है आदि कहना।

(५) जो उत्पाद व्यय मिश्रित सत्ता को ग्रहण करे उसे उत्पाद-व्ययसापेक्ष अशुद्ध द्रव्यार्थिक नय कहते हैं। जैसे द्रव्य एक समय में उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य युक्त है।

(६) जो द्रव्य को गुणगुणी आदि भेद सहित ग्रहण करे उसे भेदकल्पना-सापेक्ष-अशुद्ध द्रव्यार्थिक नय कहते हैं। जैसे दर्शन, ज्ञान आदि जीव के गुण हैं।

(७) जो समस्त गुण पर्यायों में द्रव्य को अन्वय रूप ग्रहण करे उसे अन्वय द्रव्यार्थिक नय कहते हैं। जैसे द्रव्य गुण-पर्याय स्वरूप है।

(८) जो स्वद्रव्यादि चतुष्टय की अपेक्षा से द्रव्य को सत् स्वरूप ग्रहण करे उसे स्व-द्रव्यादि-ग्राहक-द्रव्या-र्थिक नय कहते हैं। जैसे स्वचतुष्टय की अपेक्षा द्रव्य 'है" कहना।

(९) जो पर द्रव्यादि चतुष्टय की अपेक्षा द्रव्य को असत् रूप ग्रहण करे उसे परद्रव्यादिग्राहकद्रव्यार्थिक नय कहते हैं। जैसे परद्रव्यादि चतुष्टय की अपेक्षा द्रव्य "नहीं" है।

(१०) जो शुद्धाशुद्धोपचार रहित द्रव्य के परमभाव को ग्रहण करे उसे परमभावग्राही-द्रव्यार्थिक नय कहते हैं।

पर्यायार्थिकनय के ६ भेद

(११) जो अनादिनिधन चन्द्र सूर्यादि पर्यायों को ग्रहण करे उसे अनादि नित्यपर्यायार्थिक नय कहते हैं। जैसे मेरु पुद्गल की नित्य पर्याय है।





(१२) जो कर्मक्षय से उत्पन्न और कारणभाव से अविनाशी पर्याय को ग्रहण करे उसे सादि नित्य-पर्यायार्थिक नय कहते है। जैसे जीव की सिद्धपर्याय नित्य है।

(१३) जो सत्ता को गौण करके उत्पादव्यय भाव को ग्रहण करे उसे अनित्य-शुद्धपर्यायार्थिक नय कहते है।

(१४) जो पर्याय को एक समय मे उत्पाद व्यय और ध्रौव्य स्वभावयुक्त ग्रहण करे उसे अनित्य-अशुद्ध-पर्यायार्थिक नय कहते है। जैसे पर्याय एक समय मे उत्पादव्ययध्रौव्यरूप है।

(१५) जो ससारी जीवो की पर्याय को सिद्ध सदृश शुद्ध रूप ग्रहण करे उसे कर्मोपाधिनिरपेक्ष अनित्य-शुद्ध पर्यायार्थिक नय कहते हैं। जैसे ससारी जीव की पर्याय सिद्धसदृश शुद्ध है।

(१६) जो ससारी जीवो की चतुर्गति सम्बन्धी अनित्य अशुद्ध पर्याय को ग्रहण करे उसे कर्मोपाधि-सापेक्ष अनित्य-शुद्ध पर्यायार्थिक नय कहते है। जैसे ससारी जीव पैदा होते है और मरते हैं।

शास्त्रीय नय के १२ भेद

(१७) जहा भूत मे वर्तमान का आरोप किया जाय उसे भूतनैगमनय कहते हैं। जैसे आज दिवाली के रोज भगवान् महावीर मोक्ष गये।

(१८) जहा भविष्यकाल का भूतकाल के समान कथन किया जाय उसे भावीनैगम नय कहते हैं। जैसे अर्हन्तो का कहना कि वे सिद्ध ही हैं।

(१९) जिस कार्य को आरभ कर दिया जाय और एक देश वह कार्य तैयार भी हो जाय, पर पूरा तैयार नही हो फिर भी उसे तैयार हो गया, ऐसा कहना वर्तमाननैगमनय है। जैसे कोई आदमी भोजन बनाने के लिए सामग्री तैयार कर रहा है अथवा आधा भोजन तैयार हो गया, किसी ने पूछा भोजन बन गया तो कहना बन गया।

(२०) सत्व सामान्य की अपेक्षा से सब द्रव्यों का जो एक रूप ग्रहण करे उसे सामान्यसग्रहनय कहते है। जैसे द्रव्य सत् की अपेक्षा एक है।

(२१) जो एक जाति विशेष की अपेक्षा से अनेक पदार्थों को एकरूप ग्रहण करता है उसे विशेषसग्रहनय कहते हैं। जैसे चेतना की अपेक्षा समस्त जीव एक है।

(२१) जो सामान्य सग्रहनय के विषय को भेद रूप करता है उसे शुद्धव्यवहारनय कहते है, जैसे द्रव्य के दो भेद है—जीव द्रव्य और अजीव द्रव्य।

(२३) जो विशेष सग्रहनय के विषय मे भेद करे उसे अशुद्धव्यवहारनय कहते है, जैसे जीव दो प्रकार के हैं—ससारी और मुक्त।

(२४) जो एक समयवर्ती सूक्ष्म अर्थपर्याय को ग्रहण करता है उसको सूक्ष्मऋजुसूत्रनय कहते हैं। जैसे सब शब्द क्षणिक हैं।

(२५) अनेक समयवर्ती स्थूल पर्याय को जो विषय करे उसे स्थूलऋजुसूत्रनय कहते हैं। जैसे मनुष्यादि पर्याय आयुपर्यन्त रहती है।

(२६) एक पर्याय मे भिन्न लिंगादि की स्थिति को जो नही मानना उसे शब्दनय कहते हैं।

(२७) एक शब्द के अनेक वाच्य है उनमे से एक मुख्य वाच्य को किसी एक पदार्थ मे देख उसमें आरूढ हो, उस पदार्थ के अन्य क्रिया रूप परिणत होने पर भी उस पदार्थ को अपना वाच्य मानना समभिरूढ नय का विषय है। जैसे

गो शब्द के भूमि किरण वाणी आदि ११ अर्थ हैं। इनमें से एक अर्थ गतिमत्व है, वह गतिमत्व मनुष्य, हाथी, घोड़ा, बैल इत्यादि अनेक पदार्थों में पाया जाता है किन्तु गाय बैल पदार्थ में ही आरूढ़ होकर उन गाय बैलों को सोने-उठने-बैठने आदि सभी अवस्थाओं में गो शब्द का वाच्य मानना समभिरूढ़ नय का विषय है।

(२८) जिस क्रिया का वाचक जो शब्द उसी क्रिया परिणत पदार्थ को ग्रहण करे उसे एवंभूतनय कहते हैं। जैसे गौ जिस काल में गमन करे उस काल में ही उसे गौ कहे, अन्य क्रिया करते हुए गौ न कहे, यही एवंभूत नय है।

शब्द, समभिरूढ़ और एवंभूत ये तीनों नय शब्द की प्रधानता से होते हैं, इस कारण इन्हें शब्दनय कहते हैं। नैगम, संग्रह, व्यवहार और ऋजुसूत्र, ये चारों नय अर्थ की प्रधानता लेकर हैं इसलिये इन को अर्थनय कहते हैं।

व्यवहारनय के निम्न ८ भेद

व्यवहारनय के मूल में ३ भेद हैं—सद्भूत, असद्भूत और उपचरित व्यवहारनय। इनमें सद्भूत के दो असद्भूत के तीन और उपचरित के तीन भेद हैं। विस्तार से इनका स्वरूप इस प्रकार है—

(१) एक द्रव्य में गुण-गुणी, पर्याय-पर्यायी, कारक-कारकवान्, स्वभाव-स्वभाववान् इत्यादि भेद रूप कल्पना करना शुद्धसद्भूतव्यवहारनय है।

(२) आत्म द्रव्य का बहुप्रदेश रूप कल्पना करना अशुद्धसद्भूतव्यवहारनय है।

(३) सजात्यसद्भूत व्यवहारनय ४ विजात्यसद्भूत व्यवहारनय ५ स्वजातिविजात्यसद्भूत व्यवहार-नय। इन तीनों में प्रत्येक के ६-६ भेद होते हैं।

१ द्रव्य में द्रव्य का समारोप २ द्रव्य में गुण का समारोप ३ द्रव्य में पर्याय का समारोप ४ गुण में गुण का समारोप ५ गुण में द्रव्य का समारोप ६ गुण में पर्याय का समारोप ७ पर्याय में पर्याय का समारोप ८ पर्याय में गुण का समारोप ९ पर्याय में द्रव्य का समारोप। जैसे चन्द्रमा के प्रतिबिम्ब को चन्द्रमा कहना यह सजाति पर्याय में सजाति पर्याय का समारोप है (७) मतिज्ञान को मूर्त स्वरूप कहना विजातीय गुण में विजातीय गुण का समारोप है (८) जीव अजीव रूप ज्ञेय को ज्ञान का विषय होने से ज्ञान कहना सजातिविजाति द्रव्य में सजातीय विजातीय गुण का समारोप है। (९) परमाणु को बहु प्रदेशी कहना यह जाति-द्रव्य में सजाति विभावपर्याय का समारोप है। (३) इसी प्रकार शेष उदाहरण समझना चाहिये।

असद्भूत व्यवहार मिथ्या है, यह शंका निर्मूल है। संसार का व्यवहार इस नय के बिना चल नहीं सकता। यह बात अनुभव सिद्ध है कि किसी पुरुष ने अपने लड़के से कहा कि "घी का घड़ा लाओ" तब वह शब्द सुनते ही लड़का तुरन्त घी से भरा मिट्टी अथवा अन्य धातु का घड़ा उठा लाता है। यह नय मिथ्या होता तो उस लड़के को उपर्युक्त अर्थज्ञान कैसे होता?

मुख्य पदार्थ का अनुभव होने पर प्रयोजन और निमित्त के वश से जिसकी प्रवृत्ति हो उसे उपचरितासद्भूत व्यवहारनय कहते हैं। प्रयोजन का अर्थ व्यवहार सिद्धि है और निमित्त का अर्थ विषय-विषयी, परिणाम-परिणामी कार्य-कारण सम्बन्ध है।

(६) मित्र-पुत्रादि बन्धु वर्ग मेरे हैं, यह कल्पना सजात्युपचरितासद्भूत व्यवहारनय है।

(७) आभरण स्वर्णरत्नादिक मेरे हैं, यह कल्पना विजात्युपचरितासद्भूत व्यवहारनय है।

(८) देश राज्य दुर्गादिक मेरे हैं, यह कल्पनामिश्रोपचरितासद्भूत व्यवहारनय है।

इस प्रकार निश्चय के २८ भेदों में व्यवहारनय के ८ भेद मिलायें तो नय के सब भेद ३६ होते हैं।



व्यवहार के बिना अज्ञानी प्राणी मोक्ष की सीढ़ी स्वरूप निश्चयमार्ग को पा नहीं सकता। इसलिये जब तक पूर्ण व्यवहारनिवृत्ति कर आत्मतत्व में तल्लीनता न हो तब तक व्यवहार-अशुभ से निवृत्तिरूप शुभ प्रवृत्ति का मार्ग श्रावक तथा मुनि को पालना श्रेयस्कर है।

आचार्यों ने दोनों नयों की आवश्यकता एक पद्य में दृष्टान्तपूर्वक यों बतलाई है—

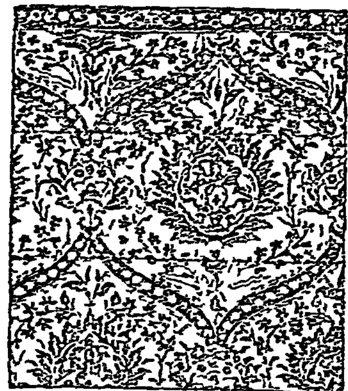
एकेना-आकर्षनी श्लथयन्ती वस्तुतत्वमितरेण।
अन्तेव जयति जैनीनीतिर्मन्थाननेत्रमिव गोपी ॥

जिस प्रकार दहीबिलोने वाली ग्वालिन मथानी की रस्सी को एक हाथ से खींचती है, दूसरे से ढीली कर देती है और दोनों क्रियाओं से दही से मक्खन निकाल लेती है, उसी प्रकार जिन वाणी का मर्मज्ञ सच्चा साधक व्यवहार-नय से या निश्चयनय से पदार्थ को ग्रहण कर दूसरे प्रतिपक्षी नय को सर्वथा छोड़ नहीं देता, ढीला कर देता है—गौण कर देता है, तभी वह तत्व के पूर्ण रहस्य को प्राप्त कर परमात्मपद को प्राप्त करता है।

वीरसंघ की विभूतियां :

राजस्थान के जैनवीर और प्रशासक

डा० कैलाशचन्द जैन,
एम० ए०, पी-एच० डी०, डी-लिट्,
विक्रम विश्वविद्यालय, उज्जैन



राजस्थान मे अनेक जैनवीर और कुशल प्रशासक हो गये हैं। उन्होंने राजाओं के प्रति सच्ची स्वामिभक्ति दिखलाई और जनता की सेवा की। लोगों के सम्मुख उच्च नैतिक आदर्श रखे। लड़ाइयों और युद्धों मे अपनी शूरवीरता का अद्भुत परिचय दिया। राज्यों मे व्यवस्थित शासन-प्रबन्ध की स्थापना की। कला और संस्कृति को समृद्ध किया। कलापूर्ण भव्य मन्दिरों का निर्माण किया और उनमे मूर्तियों की प्रतिष्ठा की। विद्वानो को प्रोत्साहन दिया एवं साहित्य और शिक्षा की उन्नति के लिए ग्रथालयों और विद्यालयों की स्थापना की। उनकी संख्या बहुत अधिक है। संक्षिप्त निबन्ध में उन सबका उल्लेख नहीं किया जा सकता, अतएव यहा उन्ही की चर्चा की जाएगी जिनके नाम विशेष उल्लेखनीय हैं।

विमल :—विमल[1] ग्यारहवी सदी का एक चतुर राजनीतिज्ञ था। वह अपनी सैनिक योग्यता के कारण गुजरात के राजा भीम का मन्त्री बन गया। संभवत अपने स्वामी के साथ वह महमूद गजनी से भी लडा। प्रबन्धों के अनुसार उसने बारह सामतों को भी हराया। यह उल्लेख पौराणिक नहीं है किन्तु इसमे सत्य अवश्य है। ये महमूद गजनी के सामत व सेनापति हो सकते हैं। उसने सौराष्ट्र व कच्छ को फिर से अपने स्वामी का दिलाया, जो मुस्लिम आक्रमण का लाभ उठाकर स्वतंत्र हो गये थे। उसने अपने स्वामी भीम को आबू के समीप चन्द्रावती के राजा धधुक को हराने मे सहायता दी। विमल की इस सेवा के बदले मे भीम ने उसे आबू का गवर्नर बना दिया। कुछ समय पश्चात् विमल ने धधुक और भीम को समझा बुझाकर दोनो मे सुलह करा दिया। भीम ने धधुक को उसका राज्य लौटा दिया किन्तु विमल को पहिले की भांति अपने प्रतिनिधि के रूप मे चन्द्रावती मे रखा। विमल धार्मिक प्रकृति का भी था और उसने आबू मे बहुत शानदार जैन-मंदिर बनवाया।

उदयन —उदयन का जन्म मारवाड मे जालोर मे हुआ था। वह श्रीमाल जाति का था। बडे होने पर वह जालोर छोड कर कर्णावती मे जाकर बस गया। धीरे-धीरे भाग्योदय होने लगा और वह समृद्ध हो गया। उसकी यश और कीर्ति बढने लगी और जयसिंह सिद्धराज ने उसको स्तभतीर्थ का राज्यपाल नियुक्त कर दिया। वह पक्का जैनभक्त भी था। उसने हेमचन्द्र सूरि के पिता चाचिग को अपने पुत्र को दीक्षा देने को प्रेरित किया। जब कुमारपाल अपने चाचा के कोप मे अपनी प्राणरक्षा के लिए भ्रमण कर रहा था, उदयन ने ही उसको शरण दी और अंत मे राजगद्दी दिलाने मे भी सहायता दी। कुमारपाल ने उसे सोरठ के राजा से लडने को भेजा जिसमे वह वीरगति को प्राप्त हुआ। मृत्यु के पहिले उसने विमलाचल और भृगुकच्छ मे जैनमन्दिर बनाने का दृढ संकल्प किया था जिसको उसके पुत्रो ने पूरा किया।[2]

---

१ विमलचरित्र, पुरातन प्रबन्ध संग्रह, पृ० ८१-८७

२ प्रबन्ध चिंतामणि, पृ० ६७-६८, पृ० १०४-१०५



वस्तुपाल —वस्तुपाल[1] तेरहवी शताब्दी मे धवलक और धोलका के वाघेल राजा वीरधवल का प्रधानमंत्री था। वह एक कुशल शासक ही नही किन्तु कला व साहित्य का भी प्रेमी था। पहिले वह गुजरात के राजा भीमदेव का अधिकारी था किन्तु १२२० ई० मे उसने आबू के राजा वीरधवल की सेवा को स्वीकार कर लिया।[2] उसको स्तभतीर्थ या केम्बे का गवर्नर नियुक्त किया गया जहा उसने वडी कुशलता से शासन किया। उसने भ्रष्टाचार को दूर कर लोगो का नैतिक स्तर ऊचा किया।[3] वह एक योग्य सैनिक भी था। जब लाट प्रदेश के राजा सग्र ने स्तभतीर्थ पर आक्रमण किया तो उसने उसे पराजित किया। दक्षिण के देवगिरि के राजा सिहण और मारवाड के चार राजाओ ने मिल कर वीरधवल के राज्य पर आक्रमण किया किन्तु उसने अपने स्वामी और आक्रमणकारियो मे समझौता करवा दिया। उसने वनस्थली (वन्थली, जूनागढ) को विजय किया। जब वीरधवल की रानी के भ्राता सांगन और चामुंड ने कर देने से इनकार किया तो उसने उन पर भी आक्रमण किया। वीरधवल ने उसको कच्छ मे भद्रेश्वर के प्रतिहार राजा भीमसिंह पर भी आक्रमण करने को भेजा किन्तु अत मे दोनो में सधि हो गई। उसके पश्चात् वीरधवल ने गोधरा के राजा घूघुल को जीतने का भी सकल्प किया और उसके लिए वस्तुपाल ने अपने भाई तेजपाल को भेजा। उसने घूघुल को जीता और उसे वदी वनाया।[4]

जब देहली के सुलतान मोजदीन ने वीरधवल पर आक्रमण किया तो वस्तुपाल ने वडे चातुर्य से उसको पीछे हटने को वाध्य किया। मोजदीन वास्तव मे देहली का सुलतान अल्तमश था। सुलतान की माता को तीर्थयात्रा मक्का जाते हुए समुद्री डाकुओ ने लूट लिया किन्तु वस्तुपाल ने लूटी हुई वस्तुयें डाकुओ से छीन कर वापिस उसकी माता को लौटाई और उसके साथ वडी भद्रता से व्यवहार किया। मक्का से वापिस लौटने पर वह वस्तुपाल को अपने साथ देहली ले गई और सुल्तान से मिलवाया।[5] सुल्तान ने वस्तुपाल को वीरधवल के साथ मित्रता रखने का वादा किया और इस प्रकार राज्य को भलीभाति सुरक्षित किया।

वस्तुपाल धार्मिक स्वभाव का भी था। उसने शत्रुजय व गिरनार की तेरह बार तीर्थ यात्राए की। उसने स्थान-स्थान पर मदिर, मठ, धर्मशालाए और औषधालय वनवाये।[6] उसके द्वारा आबू मे वनवाया हुआ लूणवसही मदिर प्रसिद्ध है। वह धार्मिक मामलो मे उदार था और सब धर्मो का आदर करता था। उसके कार्य केवल जैनियो तक ही सीमित नही थे किन्तु सबके लिए थे। उसने शैव मन्दिर और यहा तक कि मस्जिद भी वनवाई।[7]

वस्तुपाल साहित्यप्रेमी भी था और उसने अतुल धन राशि खर्च करके अणहिलवाड, स्तभतीर्थ और भृगुकच्छ मे शास्त्रभण्डार स्थापित किये।[8] उसका स्वय का ग्रथभण्डार वडा समृद्ध था और उसमे महत्त्वपूर्ण ग्रथो की प्रतिया भी थी।[9] वह विद्वानो के प्रति वडा उदार था और जैन व जैनेतर विद्वानो मे किसी प्रकार का अन्तर नही करता था। वह स्वय भी कवि था और उसने आदिनाथ स्तोत्र, नेमिनाथ स्तोत्र, अबिकास्तोत्र, नरनारायणनद, सूक्तिया आदि लिखी है। दरवार मे विद्वान लोग राजा की अपेक्षा उसके व्यक्तित्व से अधिक प्रभावित थे क्योकि वही उनकी योग्यता का वास्तविक पारखी था।

---

१ वस्तुपाल चरित्र, १
२ नरनारायणनन्द, १४, ३५
३ कीर्ति कौमुदी, ४ १६
४ प्रवन्धकोश, पृ० १०३, १०४, १०७
५ प्रवन्ध कोश, पृ० ११६, प्रवन्ध चिंतामणि, पृ० १०३
६ विविध तीर्थ कल्प, पृ० ७८, प्रवन्ध कोश पृ० १३०
७ प्रवन्धकोश, प० १२६
८ वही
९ वस्तुपाल चारित्र, प० ८०

जोधपुर के वीर-शासक

तेजा गदहिया :—मध्यकाल में राजस्थान में जैनों ने भिन्न-भिन्न राज्यों में मंत्री, सैनिक व शासक के रूप में महत्त्वपूर्ण कार्य किये हैं। जोधपुर राज्य में तेजा गदहिया का नाम प्रसिद्ध है। वह मालदेव का एक स्वामिभक्त योद्धा था। १५४४ ई० में शेरशाह ने विशाल सेना के साथ जोधपुर पर आक्रमण किया और युद्ध में मालदेव को हराया। उसने जोधपुर पर अधिकार कर हमजा को वहाँ का शासक नियुक्त किया। ओसवाल वंशावली[1] से पता चलता है कि तेजा गदहिया ने हमजा को मृत्यु के घाट उतारकर जोधपुर को फिर से मालदेव को लौटाया। इससे उसकी बहादुरी और स्वामिभक्ति प्रकट होती है।

मुहणोत जयमल और उसका पुत्र नैणसी :—मुहणोत जयमल एक योद्धा और दयालु व्यक्ति था। मुगल सम्राट् ने जालोर और साचोर गजसिंह को दिये जिन्होंने मुहणोत जयमल को वहाँ का गवर्नर बनाया। उसने सुचारु रूप से शासन सँभाला। जब मराठों ने साचोर पर आक्रमण किया तो उसने उनको बुरी तरह से हराया। १६३० ई० के अकाल के अवसर पर उसने लोगों में मुफ्त अनाज बाँटकर उनके प्राणों की रक्षा की। उसका पुत्र मुहणोत नैणसी भी एक कुशल शासक और इतिहासकार था। उसने लाग व बेगार को हटाकर शासनप्रबन्ध में महत्त्वपूर्ण सुधार किये। वह जसवंतसिंह का दीवान था। उसने प्रसिद्ध 'मुहणोत नैणसी री ख्यात' लिखी है जो इतिहास के लिए उपयोगी ग्रन्थ है।

रतनसिंह भंडारी :—रतनसिंह भंडारी ने अपने स्वामी राठौड़ राजा अभयसिंह की सच्चाई से सेवा की। १७३० ई० में मुगल सम्राट् ने अभयसिंह को अजमेर और गुजरात का गवर्नर नियुक्त किया। अभयसिंह ने इन दोनों प्रान्तों के शासन की देखभाल का भार रतनसिंह भंडारी को सौंपा। उस समय मुगलसत्ता पतन अवस्था में थी। एक तरफ मराठा मुगलसाम्राज्य पर आक्रमण कर रहे थे और दूसरी ओर प्रान्तों में गवर्नरों के उपद्रव हो रहे थे। रतनसिंह भंडारी को मराठों के साथ युद्ध करने पड़े और साथ में गवर्नर के उपद्रव को भी दबाना पड़ा। रतनसिंह भंडारी के समय पिलूजी दामदे के नेतृत्व में मराठों ने गुजरात पर आक्रमण किया किन्तु उसने बड़ी चतुराई से प्रान्त की रक्षा की। उसको दामजी मराठे के साथ भी लड़ना पड़ा। वीरमगाम भी उसके समय एक समस्या के रूप में बना रहा। १७३७ ई० में मुहम्मदशाह ने अभयसिंह को हटाकर मोमिन खाँ को गुजरात का वाइसराय नियुक्त करने का आदेश दिया। उसने मोमिनखाँ का बड़ा विरोध किया तथा बड़े कौशल से उसमें और मराठों में मेल नहीं होने दिया। अन्त में मोमिनखाँ से उसने समझौता किया। उसे अतुल धनराशि दी और उसने अहमदाबाद से अपना अधिकार त्याग दिया। बीकानेर में जोरावरसिंह की मृत्यु के बाद १७४५ ई० में गजसिंह और अमरसिंह में युद्ध हुआ। रतनसिंह भंडारी को अमरसिंह का पक्ष लेने के लिए भेजा गया और युद्ध में लड़ते हुए वीरगति को प्राप्त हुए।[2]

धनराज :—जब जोधपुर के महाराजा विजयसिंह ने १७८७ ई० में मराठों से अजमेर जीत लिया तो उसने धनराज को अजमेर का गवर्नर बनाया। चार साल पश्चात् मराठों ने फिर से मारवाड़ पर आक्रमण किया। मेड़ता और पाटन में भयानक युद्ध हुआ जिसमें राठौड़ों की हार हुई। इस समय मराठों के सेनापति डीबोइने ने अजमेर पर आक्रमण कर घेर लिया। धनराज ने बहादुरी से उनका सामना किया। विजयसिंह ने उसे अजमेर को शत्रुओं को सुपुर्द करने का आदेश दिया। आदेश पाकर वह असमंजस में पड़ गया। अजमेर को शत्रुओं को समर्पित करना ही वह अपनी मानहानि मानता था तथा साथ में स्वामी के आदेश का उल्लंघन करना भी ठीक नहीं समझता था। उसने अपने जीवन का अन्त करना उचित समझा। उसके पास हीरे की अँगूठी थी। उसको पीसकर वह निगल गया। उसने कहा, 'महाराजा को कहना कि मेरी लाश पर ही मराठा अजमेर में प्रविष्ट हो सकते हैं' और इस प्रकार उसने अपनी वीरता तथा स्वामिभक्ति का परिचय दिया।



---

१ अनेकान्त, ७, पृ० २४६

२ सम डिस्टिंग्विश्ड् जैन्स, पृ० ६०-६३ और जोधपुर राज्य का इतिहास, पृ० ६३८-४१।



शमशेरसिंह बहादुर —शमशेरसिंह बहादुर भी महाराजा विजयसिंह के सेनापति थे। उन्होंने अनेक युद्धों मे भाग लिया और अपनी शूरवीरता का परिचय दिया। इस पर प्रसन्न होकर विजयसिंह ने १७९२ ई० मे उसे राव-राजा की उपाधि दी और २९००० की जागीर दी।[1]

इन्द्रराज सिंघी —जयपुर के राजा जगत्सिंह ने धोकलसिंह का पक्ष लेकर विशाल सेना के साथ मारवाड पर आक्रमण कर दिया। बीकानेर के महाराजा सूरतसिंह, पिंडारी अमीर खाँ और अन्य सरदारो ने भी आक्रमणकारी का साथ दिया। उन्होंने मारोठ, मेडता, परवतसर, नागौर, पाली, सोजत आदि पर अधिकार कर लिया। यहाँ तक कि जोधपुर नगर पर भी इनका अधिकार हो गया। केवल दुर्ग पर महाराजा का अधिकार रहा। ऐसी परिस्थिति मे सिंघी इन्द्रराज दुर्ग के गुप्त मार्ग से अपने साथियो सहित बाहर निकला। मेडता मे आकर उसने नई सेना एकत्रित की। उसने पिंडारियो के नेता अमीर खाँ को एक लाख रुपये की रिश्वत देकर अपने पक्ष मे कर लिया। वह सेना लेकर जयपुर पर आक्रमण करने को रवाना हुआ। जब जगत्सिंह को पता चला तो उसने राय शिवलाल के नेतृत्व मे जयपुर की रक्षा को सेना भेजी। अमीरखाँ और सिंघी इन्द्रराज ने इस सेना को टोंक के पास फागी नामक स्थान पर बुरी तरह से हराया। जब जगत्सिंह को इसका समाचार मिला तो उसने घेरा हटा लिया और जयपुर को रवाना हो गया।

सिंघी इन्द्रराज के जोधपुर लौटने पर मानसिंह ने उसका बडा सम्मान किया और उसको मुख्यमंत्री बना दिया। इसके पश्चात् सिंघी इन्द्रराज को बीकानेर पर आक्रमण करने को भेजा गया और बीकानेर महाराजा को चार लाख रुपये सधि करके देने पडे। उसने अपने स्वामी को अमीरखाँ के षड्यन्त्रो से भी बचाया किन्तु अमीरखा के पठानो ने सिंघी का वध कर दिया। मृत्यु उपरान्त उसकी सेवाओ से प्रभावित होकर महाराजा ने उसके पुत्र फतहराज को दीवानगी तथा २५ हजार की जागीर दी।[2]

बीकानेर के वीर-शासक

नागराज —बीकानेर के जैनशासकों मे नागराज का नाम बहुत प्रसिद्ध है। वह जैत्रसिंह का स्वामिभक्त अधिकारी था। जब जोधपुर के राठौर राजा मालदेव ने बीकानेर को विजय करने की सोची तो जैत्रसिंह ने नागराज को शेरशाह के पास सहायता के लिए भेजा। जैत्रसिंह मालदेव के साथ लडता हुआ मारा गया और बीकानेर पर मालदेव का अधिकार हो गया। नागराज ने शेरशाह को मालदेव पर आक्रमण के लिए उकसाया। युद्ध होने पर मालदेव बुरी तरह से हारा और जैत्रसिंह के पुत्र कल्याणसिंह ने परिस्थिति का लाभ उठाकर फिर से बीकानेर पर अपना अधिकार कर लिया।

कर्मचन्द्र बच्छावत —कर्मचन्द्र बच्छावत उच्चकोटि का राजनीतिज्ञ, सेनापति और धार्मिक प्रवृत्ति का पुरुष था। वह रायसिंह का मुख्यमंत्री था। जब जोधपुर के राठौड अभयसिंह ने बीकानेर पर आक्रमण किया तो उसने अपने स्वामी को सधि की राय दी क्योंकि उस समय राज्य युद्ध के लिए तैयार न था। जब नागौर के मिर्जा इब्राहिम ने बीकानेर पर आक्रमण किया तो उसने उसको भगा दिया। उसके प्रयत्नो से बीकानेर राज्य की सीमा बढी।

कर्मचन्द्र बच्छावत ने जैनधर्म के उत्थान मे योगदान दिया। उसने तीर्थयात्रा-सघ निकाले। १५५५ ई० मे बडी धूमधाम से उसने जिनचन्द्रसूरि का नगर प्रवेश मनाया। १५७८ ई० मे अकाल के अवसर पर लोगों मे मुफ्त अनाज वितरण कर उनके प्राणो की रक्षा की। उसने बहुत-सी मूर्तियाँ मुसलमानो द्वारा नष्ट होने से बचाई और उन्हें बीकानेर के चिन्तामणि के मन्दिर मे सुरक्षित रख दी। उसके प्रभाव के कारण ही अकबर के मन मे जैनधर्म के प्रति

---

१ ओसवाल जाति का इतिहास, पृ० ५५

२ वही पृ० ५९-६३

यहां उत्पन्न हुई और १५९२ ई० में उसने जिनचन्द्रसूरि को स्वमतीर्थ ने लाहौर में आमंत्रित किया।

कर्मचन्द्र दूरदर्शी भी था। जब उसने रायसिंह की फिजूल खर्ची के कारण राज्य का खजाना खाली होते देखा तो राजा को समझाने का भी प्रयत्न किया। इसका विपरीत प्रभाव पड़ा। उसके शत्रुओं ने भी राजा के कान भर दिये। रायसिंह ने कर्मचन्द्र को बन्दी बनाकर वध करने का षड्यन्त्र किया। किसी भांति पता चलने पर वह बीकानेर छोड़कर देहली चला गया जहां सम्राट् अकबर ने उसके साथ अच्छा व्यवहार किया।[1]

अमरचन्द सुराणा —अमरचन्द सुराणा सूरतसिंह के समय दीवान रहा और इसका सबसे महत्वपूर्ण कार्य था सामन्तों के विद्रोह को कुचलना। उसने भट्टियों के सुल्तान जब्ताखां को हराकर किले पर अधिकार किया। उसने ठाकुर नाहरसिंह और पूर्णसिंह पर आक्रमण कर उनको बंदी बनाया। १८१५ में वह चूरू के राजा शिवसिंह से लड़ने भेजा गया। शिवसिंह ने आत्महत्या करली और अमरसिंह ने चूरू पर अपने स्वामी का आधिपत्य स्थापित कर दिया। महाराजा सूरतसिंह ने उसकी सेवाओं से प्रसन्न होकर उसे विशेष सम्मान दिया। उसके शत्रु इसको सहन न कर सके और उसके विरुद्ध षड्यन्त्र किया। महाराजा को बहकाया गया कि वह आपके खिलाफ पिंडारियों के नेता अमीरखां से मिल गया है।[2]

उदयपुर के वीर-शासक

आशाशाह और मेहता चीलजी —उदयपुर राज्य में भी अनेक जैन सैनिक, सेनापति व शासक हुए हैं। उनमें आशाशाह भी था जो कुंभलमेर का किलेदार था। जब पन्ना धाय उदयसिंह को बनवीर के पंजे से छुड़ाकर आशाशाह के पास रक्षा के लिए आई तो उसने उसको शरण दी। इस बात को गुप्त रखने के लिए वह उदयसिंह को अपना भतीजा पुकारने लगा। जब उदयसिंह बड़ा हुआ तो उसने कुछ सरदारों की सहायता से उसे राज्य गद्दी पर बिठाया और राजवंश को नष्ट होने से बचाया।[3] इस समय एक अन्य राज्य के अधिकारी मेहता चीलजी ने भी स्वामिभक्ति का परिचय दिया। यद्यपि वह बनवीर के अधीन चित्तौड़ का किलेदार था, उसने दुर्ग की सब गुप्त बातें उदयसिंह को बताई जब उसने आक्रमण किया।[4]

भामाशाह —भामाशाह ने भी स्वामिभक्ति का एक उच्च उदाहरण सामने रखा। जब महाराणा को सम्राट अकबर से लड़ने के लिए धन की आवश्यकता पड़ी तो उसने अपनी समस्त सम्पत्ति महाराणा को समर्पित करदी। इसके द्वारा महाराणा बिखरी हुई सेना एकत्रित कर सके और अकबर के साथ फिर से युद्ध चालू कर सके। इस सहायता के परिणाम स्वरूप महाराणा ने चित्तौड़, अजमेर व माण्डलगढ़ को छोड़ कर समस्त मेवाड़ को पुनः हस्तगत कर दिया।[5]

संघवी दयालदास —संघवी दयालदास महाराणा राजसिंह का दीवान था। जब १६७९ में औरंगजेब ने मेवाड़ पर आक्रमण किया तो उसने अद्भुत शूरवीरता का परिचय दिया। वह धार्मिक प्रकृति का भी था। अपने व्यक्तित्व के प्रभाव से महाराणा से आदेश निकलवाकर उसने जैन मंदिरों व उपाश्रयों के आस पास पशुहिंसा को बन्द करवा दिया। उसने राजसमंद के समीप पहाड़ी पर दुर्ग के आकार के जैन मंदिर का निर्माण करवाया।[6]



---

१. ओसवाल जाति का इतिहास, पृ १००-१०४। कर्मचन्द्रवंश-प्रबन्ध और कर्मचन्द्रवंशोत्कीर्तनकाव्यम्।
२ सम डिस्टिंगविशड् जैन्स्, पृ० ७१-७८
३ ओसवाल जाति का इतिहास, पृ० ७०-७१
४ वही, पृ० ७१-७२
५ उदयपुर राज्य का इतिहास, १३०४-०५ और वीरविनोद, पृ० २५१
६ वही,



मेहता अगरचन्द —अठारहवी सदी मे मेहता अगरचन्द मेवाड के एक सफल राजनीतिज्ञ हुए हैं। इस समय मेवाड पर मराठों के लगातार आक्रमण हो रहे थे। महाराणा और सरदारो के बीच मनमुटाव था। ऐसी परिस्थिति मे मेहता अगरचन्द को दीवान बनाया गया। सर्वप्रथम मेहताजी ने महाराणा और सरदारो के बीच समझौता करा कर राज्य मे शान्ति व एकता स्थापित की। जब रत्नसिंह ने सिंधिया और सामंतो से मिलकर महाराणा के विरुद्ध षड्यन्त्र किया, तब मेहता अगरचन्द ने ही उनको बचाया। रामपुरा के चूडावतों के शरण देने पर जब ग्वालियर के सिंधिया ने महाराणा पर आक्रमण किया तो मेहताजी के प्रयत्नो से ही महाराणा को पूर्ण सफलता मिली। गवर्नर के रूप मे इन्होने माडलगढ का शासन-प्रबन्ध भी बड़े सुचारु रूप से किया। इन्होने तालाब बनवाये और दुर्ग की मरम्मत की।[1]

मेहता देवीचन्द —महाराणा भीमसिंह के समय मेहता देवीचन्द भी कुशल प्रशासक हुए है। कुछ दबाव के कारण महाराणा भीमसिंह माडलगढ का दुर्ग झाला जालिमसिंह को देने को तैयार हो गये थे। देवीसिंह ने महाराणा के आदेश पर ध्यान न देकर अपना अधिकार बनाये रखा क्योकि उसे भय था कि मांडलगढ सैनिक दृष्टि से महत्वपूर्ण स्थान है और जालिमसिंह युद्ध की तैयारी कर रहा है। देवीचन्द ने झाला पर आक्रमण कर सीमा पर से उसकी सेना को हटाया। महाराणा इस पर उससे प्रसन्न हुए।[2]

जयपुर के वीर-शासक

जयपुर राज्य के इतिहास मे भी जैनियो का स्थान बहुत महत्वपूर्ण है। करीब पचास जैनियो ने राज्य का कार्य मन्त्री के रूप मे किया है और राज्य की महान् सेवा की है। इनमे कुछ के नाम अधिक प्रसिद्ध हैं।

विमलदास —विमलदास महाराजा रामसिंह प्रथम (१६६८-१६९० ई०) और बिशनसिंह का दीवान था। वह एक योद्धा भी था और लालसोट की लडाई मे मारा गया था। उसकी यादगार मे एक छत्री भी बनी हुई है।

रामचन्द्र —विमलदास के पश्चात् उसका पुत्र रामचन्द्र प्रधानमन्त्री हुआ और उसने बिशनसिंह और उसके उत्तराधिकारी सवाई जयसिंह के अधीन कार्य किया। १७०७ ई० मे मुगलसम्राट् बहादुरशाह ने आमेर पर आक्रमण किया और उस पर अपना अधिकार कर लिया। उसने सैयद हुसेन को वहा का गवर्नर नियुक्त किया। जयसिंह ने अपने मन्त्री रामचन्द्र का साथ लेकर मेवाड के महाराणा के यहा शरण ली। तत्पश्चात रामचन्द्र ने सेना को भली भाति सगठित करके आमेर पर आक्रमण किया और हुसेन खा को आमेर छोडने के लिए बाध्य कर दिया। इस प्रकार से आमेर को शत्रु के पजो से मुक्त किया और सवाई जयसिंह का आधिपत्य फिर से स्थापित किया। इस पर महाराजा सवाई जयसिंह बडे प्रसन्न हुए। उन्होने इस सेवा के बदले मे उन्हे भूमि दान दी और उनका नाम सिक्को पर 'बन्दे दीवान रामचन्द्र' लिखा जाने लगा। रामचन्द्र न्याय के लिए भी प्रसिद्ध थे, जब जोधपुर और जयपुर के महाराजाओ मे साभर के विभाजन के बारे मे झगडे होने की सभावना थी तो दोनो ने रामचन्द्र को मध्यस्थ नियुक्त किया और उसका निर्णय दोनो को मान्य हुआ।[3]

कृपाराम और विजयराम छाबडा —सवाई जयसिंह के समय अन्य जो स्वामिभक्त सेवक था, वह कृपाराम था। वह देहली में राजदूत था। सवाई जयसिंह के प्रतिद्वन्द्वी विजयसिंह ने जयसिंह के विरुद्ध मुगल सम्राट और उसके वजीर कमरुद्दीन को अपने पक्ष मे किया और पांच करोड रुपये और पांच हजार घोडे देने का वादा किया। सब

---

१ वही, पृ०१३११ और ओसवाल जाति का इतिहास पृ० ७७-८२

२ ओसवाल जाति का इतिहास, पृ०८७ ८८ और उदयपुर राज्य का इतिहास, पृ० १३१३-१६

३ वीरवाणी, प्रथम जिल्द, पृ० ६८-८३ और राजपूताने का इतिहास, पृ० ६१५-१६

कृपाराम को इस षड्यंत्र का पता दाऊदखा के द्वारा चल गया और उसने अपने स्वामी को सचेत कर कर दिया। इस पर वह कृपाराम से बहुत प्रसन्न हुआ और उसको मनोहरपुर का ग्राम दिया।[1] विजयराम छावडा भी सवाई जयसिंह का मंत्री रहा है। सवाई जयसिंह की बहन मुगलसम्राट बहादुरशाह से ब्याही जा रही थी। विजयसिंह छावडा के प्रयत्नों से उसका विवाह बूदी के राजा बुधसिंह हाडा से हुआ। बाद में इसने मुगलसम्राट बहादुरशाह और सवाई जयसिंह मे समझौता भी करवा दिया।

हरिसिंह —हरिसिंह एक कुशल प्रशासक था। सवाई जयसिंह को मुगलो से शेखावाटी इजारे के रूप मे मिली थी। इस कारण १७२६ व १७२७ मे उसने कर एकत्रित करने को हरिसिंह को नियुक्त किया। इस क्षेत्र पर कयामखानी नवाबो का अधिकार चला आ रहा था। उन्होंने कर देने मे मना कर दिया और चारो ओर उपद्रव होने लगे। हरिसिंह ने सेना की सहायता से उपद्रवो को दबा दिया और शेखावाटी में जयसिंह की सत्ता की स्थापना की।

रामचन्द्र —रामचन्द्र भी एक चतुर राजनीतिज्ञ था। कृष्णकुमारी के विवाह के प्रश्न को लेकर जयपुर व जोधपुर के राजाओं मे झगडा होने की सभावना थी किन्तु रामचन्द्र के प्रयत्नो से वह टला। जब जोधपुर के राठौडो और अमीरखा ने जयपुर पर आक्रमण करने का सकल्प किया, तो रामचन्द्र की समझदारी से ही स्वामी और नगर की रक्षा हो सकी।

शिवाजीलाल—शिवाजीलाल भी एक योग्य राज्य अधिकारी था। महाराजा प्रतापसिंह के समय मे कर-व्यवस्था ठीक ढग से नहीं थी और उसमे अनेक अनियमिततायें थी। शिवाजीलाल ने व्यवस्थित शासन-प्रबन्ध स्थापित कर उनको दूर किया और आय के बहुत से साधन जुटाये। उसने नमक का प्रबन्ध भी ठीक ढग से किया। महाराजा ने उसको राठौडों और पिंडारियो से युद्धो में लडने को भी भेजा और उसने अपनी शूरवीरता दिखलाई।

इसके बदले मे महाराजा ने उसे खिताब दिये।

झूंताराम सघी —उन्नीसवीं सदी मे सघी झूंताराम[2] भी एक प्रसिद्ध मत्री हो गया है। जयपुर दरबार मे उसका इतना प्रभाव था कि कर्नल टाड ने उसको झूंता दरबार और बनियाराज कहा है। कर्नल टाड के विचार पक्षपात पूर्ण हैं। झूंताराम के प्रभाव के कारण जयपुर ने ब्रिटिश समझौते को स्वीकार नहीं किया क्योंकि वह भविष्य के परिणाम को जानता था। अन्त मे ब्रिटिश शासन ने सामोद के ठाकुर बैरीसाल को अपने पक्ष मे फोड लिया। बैरीसाल और झूंताराम में आपसी शत्रुता चली आ रही थी। बाद मे अगरेजो और बैरीसाल ने षड्यत्रो के द्वारा इस का पतन किया।

•



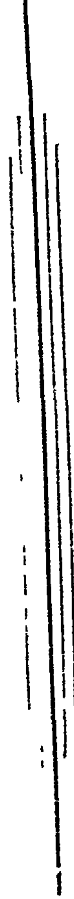
१ एनल्स एण्ड ए टिक्विटीज आफ राजस्थान, पृ० ५६२

२ रिपोर्ट आन पचायन सिवाना, पृ०६-१०। ए रिपोर्ट ओन दी लैंड रीन्योरज एण्ड स्पेशल पावर्स आफ सर्टेन् ठिकानेदारास् आफ दी जयपुर स्टेट, पृ० ४५-४६

३ जयपुर स्टेट ट्राइल्स



तृतीय खण्ड



संस्कृति • कला • इतिहास

श्रमण-संस्कृति तथा जैनधर्म



डॉ० देवेन्द्रकुमार

शास्त्री, एम ए, पी-एच डी

भारतवर्ष की प्राचीनतम संस्कृतियों मे श्रमण-संस्कृति का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण योग रहा है। विभिन्न देशो और कालों मे यह विशिष्ट नामो मे व्यवहृत रही है। यद्यपि इतिहास के विद्वान् तथा मनीषी इसकी प्राचीनता लगभग तीन सहस्र वर्ष ही स्वीकार करते है किन्तु वैदिक साहित्य, जैन आगम-साहित्य तथा अन्य देशों के साहित्य एव परम्परा मे यह स्पष्ट हो जाता है कि वैदिक युग के पूर्व आर्हत संस्कृति का प्रसार भलीभाँति इस देश मे व्याप्त था। वेदो मे हमें जिस यज्ञपरायण संस्कृति के दर्शन होते हैं वह वेद और ब्रह्म को सर्वश्रेष्ठ घोषित करती है और ब्रह्म की प्राप्ति के लिए यजन-कर्म को परम पुरुषार्थ निरूपित करती है। परन्तु इस मान्यता का वेद-काल मे और उसके बाद भी घोर विरोध हुआ। वैदिक काल के पहले से ही ब्राह्मण संस्कृति तथा सृष्टिकर्तृत्वविरोधी व्रात्य तथा साध्य श्रेणी के लोग आर्हत संस्कृति के प्रसारक थे। ये ईश्वर को सृष्टि का कर्त्ता नही मानते थे। इनका विश्वास था कि सृष्टि प्राकृतिक नियमो से बनी है। प्रकृति के नियमों को भलीभाँति जान कर मनुष्य भी नये संसार की रचना कर सकता है। मनुष्य की शक्ति सब से बडी शक्ति है। वह समस्त शक्तियो मे श्रेष्ठ है। कहा जाता है कि साध्यों ने सरस्वती और सिन्धु के सगम पर विज्ञान-भवन स्थापित कर सूर्य का निर्माण किया था। उस विज्ञान-भवन मे बैठ कर समस्त ब्रह्माण्ड का साक्षात्कार किया था[1]। आर्हत लोग कर्म मे विश्वास रखते थे और यही उनके सृष्टिकर्त्ता ईश्वर को न मानने का मूल कारण था। आर्हत लोग मुख्य रूप से क्षत्रिय थे। राजनीति की भाँति वे धार्मिक प्रवृत्तियो मे विशेष रुचि रखते थे और समय पडने पर वाद-विवादो मे भी भाग लेते थे। वे "अर्हत्" के उपासक थे। उनके देवस्थान पृथक् थे और पूजा अवैदिक थी। इस आर्हत परम्परा की पुष्टि श्रीमद्भागवत पद्मपुराण, विष्णुपुराण, स्कन्दपुराण और शिवपुराण आदि पौराणिक ग्रन्थो मे होती है। इनमे जैनधर्म की उत्पत्ति के सम्बन्ध मे भी अनेक आख्यान उपलब्ध होते हैं।[2] यथार्थ मे आर्हत धर्म जिस परम्परा का प्रतिनिधित्व करता है वही वेदो, उपनिषदो, जैनागम तथा पुराण-साहित्य मे यत्किंचित् परिवर्तन के साथ स्पष्ट रूप से झिलमिलाती हुई लक्षित होती है। निश्चय ही तीर्थंकर पार्श्वनाथ के समय तक जैनधर्म के लिए "आर्हत" शब्द ही प्रचलित था। बौद्ध पालि ग्रन्थो मे तथा अशोक के शिलालेखों में "निग्गठ" शब्द का प्रयोग मिलता है। निग्गठ या निर्ग्रन्थ शब्द जैनो का पारिभाषिक शब्द है, जिसका अर्थ है—भीतरी (काम, क्रोध, मोह आदि) और बाहरी परिग्रह से रहित श्रमण अथवा साधु। इण्डो-ग्रीक और इण्डो-सीथियन के समय मे यह धर्म "श्रमण-धर्म" के नाम से प्रचलित था। मेगस्थनीज ने मुख्य रूप मे ब्राह्मण और श्रमण दार्शनिको का उल्लेख किया है[3]। पिछले दो दशको मे जैनधर्म की प्राचीनता के सम्बन्ध मे कई प्रमाण उपलब्ध हुए हैं जिनसे पता

---

१ देखिए, देवदत्त शास्त्री द्वारा लिखित—चिन्तन के नये चरण, पृ० ६८।

२ श्रीमद्भागवत ५।३।२०, पद्मपुराण १३।३५०, विष्णुपुराण १७-१८ अ०, स्कन्दपुराण—३६-३७-३८ अ० और शिवपुराण ५।४-५।

३ एन्शियेन्ट इण्डिया एज डिस्क्राइब्ड बाइ मेगस्थनीज एण्ड अरॅयन, पृ० ९७-९८।



चलता है कि वेदो के युग मे और उसके पूर्व जैनधर्म इस देश मे प्रचलित था। वैदिक काल मे यह "आर्हत" धर्म के नाम से प्रसिद्ध था। आर्हत लोग "अर्हत्" के उपासक थे। वे वेद और ब्राह्मणो को नही मानते थे। वेद और ब्राह्मणा को मानने वाले तथा यज्ञ-कर्म करने वाले "वार्हत कहे जाते थे। वार्हत 'बृहती" के भक्त थे। बृहती वेद को कहते थे। वैदिक यजन-कर्म को ही वे सर्वश्रेष्ठ मानते थे। वेदो में कई स्थानो पर आर्हत और वार्हत लोगो का उल्लेख हुआ है तथा "अर्हन्" को विश्व की रक्षा करने वाला एव श्रेष्ठ कहा गया है।[1] शतपथब्राह्मण मे अर्हन् को आह्वान किया गया है और कई स्थानो पर उन्हें श्रेष्ठ कहा गया है।[2] यद्यपि ऋषभ और वृषभ शब्दो का वैदिक साहित्य मे कई स्थानो पर उल्लेख हुआ है पर ब्राह्मण साहित्य मे वे भिन्न अर्थो मे प्रयुक्त हुए है। कही उनका अर्थ बैल या सांड है तो कही मेघ और अग्नि तथा कही विश्वामित्र के पुत्र और कही बलदायक एव कही दिवगनो के राजा भी हैं। अधिकतर स्थलो में "वृषभ" को कामनापूरक एव कामनाओ की वर्षा करने वाला कहा गया है। सायण के अनुसार "वृषभ" का अर्थ कामनाओ की वर्षा करने वाला तथा "अर्हन्" का अर्थ योग्य है। किन्तु ऋग्वेद मे दो स्थलो पर स्पष्ट रूप से "वृषभ" परमात्मा के रूप मे वर्णित है। ऋग्वेद में वृषभ को कही-कही रुद्र के तुल्य और कही-कही अग्नि के सन्दर्भ मे वर्णिन किया गया है।[3] इसी प्रकार "अरिष्टनेमि" का अर्थ हानिरहित नेमि वाला, त्रिपुरवासी असुर, पुरुजित्सुत और श्रौतों का पिता कहा गया है। किन्तु शतपथब्राह्मण मे अरिष्ट का अर्थ अहिंसक है और "अरिष्टनेमि" का अर्थ अहिंसा की धुरी अर्थात अहिंसा के प्रवर्तक है। अर्हन्, वृषभ और ऋषभ को वैदिक साहित्य मे प्रशस्त कहा गया है। वृष को धर्मरूप ही माना गया है। जैनागमो मे ऋषभदेव धर्म के आदि प्रवर्तक कहे गये हैं। अन्य देश-विदेशो की मान्यताओ एव उनकी आचार-विचार पद्धति से इसकी पुष्टि होती है। कही यह वृषभ "धर्मध्वज" के रूप मे, कही कृषि-देवता के रूप मे और कही "वृषभध्वज" के रूप मे पूजे जाते हैं। कही यह आदिनाथ है तो कही आदि धर्मप्रवर्तक और कही परमपुरुष के रूप मे वर्णित हैं। बृहस्पति की भांति अरिष्टनेमि की भी सस्तुति की गई है।[4]

वैदिक युग मे पणि और व्रात्य आर्हत धर्म को मानने वाले थे। पणि भारतवर्ष के आदिम व्यापारी थे। वे अत्यन्त समृद्ध और सम्पन्न थे। धन मे ही नही ज्ञान मे भी बढे-चढे थे। इसलिए यज्ञपरायण सस्कृति को नही मानते थे। वे ब्राह्मणो को हवि, दक्षिणा-दान नही देते थे। देश का लगभग सभी व्यापार उनके हाथों में था। वे कारवा बना कर अरब और उत्तरी अफ्रीका को जाते थे। बाद मे चीन तथा अन्य देशो मे भी पणि लोगो ने व्यापारिक सबध स्थापित कर लिये थे। पणि या पणिक ही आगे चल कर वणिक् बन गये जो आज बनिया रूप मे जाने जाते है।

व्रात्य आर्य तथा क्षत्रिय थे। इन्हे अब्राह्मण-क्षत्रिय कहा गया है। ये ब्रह्म-ब्राह्मण तथा यज्ञ-विधान आदि को नही मानते थे। किन्हीं विद्वानों के अनुसार ये दलित और हीनवर्ग के थे—यह ठीक प्रतीत नही होता। क्योकि पचविंशब्राह्मण में (१७-१ मे) व्रात्यो के लिए यज्ञ का विधान किया गया है। वस्तुत व्रात्य लोग व्रतो को मानते थे। अर्हन्तो (सन्तो) की उपासना करते थे और प्राकृत बोलते थे। उनके सन्त और योद्धा ब्राह्मण सूत्रो के अनुसार ब्राह्मण और क्षत्रिय थे[5]। अथर्ववेद मे "व्रात्य" का अर्थ घूमने वाला साधु है। व्रात्यकाण्ड मे पूर्ण ब्रह्मचारी को "व्रात्य" कहा गया है[6]। इससे भी व्रतो की पूजा करने वालो की पुष्टि होती है। अथर्ववेद मे व्रात्य की भांति "महावृष" भी एक जाति कही

---

१ ऋग्वेद २।३३।१०, २।३।१,३, ७।१८।२२, १०।२।२,९९ ७।
तथा—१०।८५।४, ऐब्रा० ५।२।२, शा १५।४, १८।२,२३।१, ऐ० ४।१०।

२ ३।४।१।३-६, तै० २।८।६।६, तैब्रा० ४।५।७, ५।४।१० आदि।

३ ऋग्वेद ४।५८।३, ४।५।१, १०।१६६।१।

४ स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवा स्वस्ति न पूषा विश्ववेदा ।
स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमि स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु ॥ —ऋग्वेद १।८९।६

५ मैक्डानल और कीथ वैदिक इण्डैक्स, दूसरी जिल्द, १९५८, पृ० ३४३।

६ सूर्यकान्त वैदिक कोश, वाराणसेय हिन्दू विश्वविद्यालय, १९६३।

गई है[1]। महावृष लोग आर्य जाति के कहे गये हैं। जो भी हो, इससे यह पता लग जाता है कि वैदिक काल मे ब्राह्मण-विरोधी जातियाँ भी थीं जो प्राकृतिक नियमों से सृष्टि का वर्तन-प्रवर्तन मानती थीं। वस्तुत यह अध्यात्मवादी परम्परा थी जो आत्मा को सर्वश्रेष्ठ मानती थी और यह कहती थी कि जब आत्मा ही सर्वोपरि है तो अलग से ब्रह्म या ईश्वर को मानने की क्या आवश्यकता रह जाती है? यद्यपि वैदिक युग मे ब्राह्मण जाति की प्रधानता थी पर उस समय साध्यों का पूरे समाज पर पूर्ण प्रभाव और नियन्त्रण कहा जाता है। प्राग्वैदिक साध्यों को देवद्रोही कहा जाता था। ये संसार की रचना प्राकृतिक नियमों से मानते थे[2]। परन्तु प्रत्येक युग-युग मे समय-समय पर संघर्ष हुए। और उस संघर्ष का परिणाम ब्रह्मवाद की स्थापना मे परिलक्षित हुआ।[3] ज्यो-ज्यो युग पलटते गये त्यो-त्यों यह अन्तर अधिक बढ़ता गया और विभिन्न सम्प्रदाय एव धार्मिक विचार-क्रान्तियो का जन्म तथा विकास होता गया। इस प्रकार यह एक ही परंपरा विभिन्न केन्द्रो मे विकासशील रही है। और सामाजिक तथा राजनैतिक कारणो से इसके विविध रूप कहे जा सकते हैं। *परन्तु आर्हत और बार्हत दोनो ही एक परम्परा के दो प्रारंभिक मुख्य केन्द्र-बिन्दु हैं जिनके चिह्न आज भी परिलक्षित होते है।*

भारतीय धर्म और संस्कृति के इतिहास मे आर्हत धर्म एव श्रमण-संस्कृति का महत्वपूर्ण योग रहा है। सहस्र शताब्दियो से प्रचलित इस धर्म और संस्कृति ने देश-विदेशों के हार्द को प्रभावित किया है जिसके चिह्न आज भी विविध रूपों में लक्षित होते हैं। सहस्रों वर्षों से भारत और बेबीलोन, ईरान, एजटिक, अफ्रीका आदि देशों मे व्यावसायिक और सांस्कृतिक संबंध बने हुए हैं। इन देशों में धर्म और संस्कृति का प्रचार करने वाले अधिकतर श्रमण साधु और बौद्ध भिक्षु थे। मैगस्थनीज ने अपनी भारतयात्रा के समय में दो प्रकार के दार्शनिको का उल्लेख किया है। ब्राह्मण और श्रमण इस युग के प्रमुख दार्शनिक थे।[4] इस युग मे श्रमणो को बहुत आदर दिया जाता था। कालब्रुक ने जैन सम्प्रदाय पर विचार करते हुए मैगस्थनीज द्वारा उल्लिखित श्रमण सम्बन्धी अनुच्छेद को उद्धृत किया है और बताया है कि जिन और बुद्ध के धार्मिक सिद्धान्तो की तुलना मे अन्धविश्वासी हिन्दू लोगो का धर्म और सम्थान आधुनिक है[5]। मेगस्थनीज ने श्रमणो के सम्बन्ध मे जो विवरण दिया है उसमे कहा गया है कि वे वन में रहते थे। सभी प्रकार के व्यसनों से अलग थे। राजा लोग उनको बहुत मानते थे और देवता की भाँति उनकी स्तुति एव पूजा करते थे[6]। रामायण में उल्लिखित श्रमणो से भी इसकी पुष्टि हो जाती है। टीकाकार भूषण ने श्रमणो को दिगम्बर कहा है[7]। सम्भव है कि उस समय दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनो प्रकार के साधु रहते हो और वस्त्र के रूप मे वल्कल परिधानो को धारण करते हो जैसा कि मेगस्थनीज ने लिखा है। ब्राह्मण-साहित्य मे भी श्रमणो का उल्लेख मिलता है[8]। किन्तु इस पर अधिकतर विद्वान् मौन हैं।

रामायण की टीका मे जिन वातवसन मुनियों का उल्लेख किया है वे ऋग्वेद मे वर्णित वातरशन मुनि ही ज्ञात होते है। उनका विवरण उक्त वर्णन से मेल भी खाता है।[9] केशी मुनि भी वातरशन की श्रेणी के थे।[10] वातरशन

---

१ अथर्ववेद ५-२२, ४-५, ८।

२ देवदत्त शास्त्री चिन्तन के नये चरण, पृ० ९७-९८।

३ वही, पृ० ९९।

४ एन्शियेन्ट इण्डिया एज डिस्क्राइब्ड बाय मैगस्थनीज एण्ड एरियन, कलकत्ता, १९२६, पृ० ९७-९८।

५ ट्रान्सलेशन आव द फ्रेग्मेन्ट्स आव द इण्डिया आव मेगस्थनीज, बान, १८४६, पृ० १०५।

६ वही, पृ० १०१-१०२।

७ "नाथवन्त दासा शूद्रादय इति यावत् श्रमणा दिगम्बरा" श्रमणा वातवसना इति निघण्टु.। यद्वा "चतुर्थमाश्रम प्राप्ता श्रमणा नाम ते स्मृता" इति स्मृति"।—गोविन्दराजीयरामायणभूषण।

८ श० १४।७।१।२२, तैआ० २।७।१।

९ "वातरशना वातरशनस्य पुत्रा मुनय अतीन्द्रियार्थदर्शिनो जूतिवातजूतिप्रभृतय पिशगा पिशगानि कपिलवर्णानि मला मलिनानि वल्कलरूपाणि वासांसि वसते आच्छादयन्ति।"—सायण भाष्य, १०।१३६।२।

१० वही, १०।१३५।७।





मुनि उत्कृष्ट कोटि के मुनि थे जो निर्ग्रन्थ साधु थे। ज्ञान, ध्यान और तप में ये सबसे बड़े माने जाते थे। बाहुबली ने भी इसी प्रकार की तपश्चर्या की थी। तप ही इनकी एक मात्र चर्या रह गई थी। ब्राह्मण साहित्य में मुख्य रूप से तैत्तिरीय आरण्यक में इनका विस्तृत उल्लेख मिलता है। कई स्थलो पर इनकी स्तुति की गई है[1]। इस प्रकार जैनधर्म आर्हत और श्रमण नाम से प्राचीन काल में प्रचलित रहा है। अर्हन् के उपासक आर्हत कहे गये है जो आगे चल कर जिन के अनुयायी जैन हो गये। किन्तु यह श्रमण शब्द बराबर प्रचलित रहा है। और महावीर को श्रमण कहते देख कर बुद्ध को मानने वाले गौतमबुद्ध को "महाश्रमण" कहने लगे[2]। परन्तु जैन परम्परा में "श्रमण" शब्द अपने मूल रूप में आज तक सुरक्षित है[3]। वस्तुत ब्राह्मण साहित्य के अध्ययन से यह निश्चित हो जाता है कि श्रमणों की अपनी परम्परा रही है जो पुराणकाल तक और तब से अब तक अविच्छिन्न रूप में प्रवाहित है। श्री मद्भागवत में मेरुदेवी (मरुदेवी) तथा नाभि राजा के पुत्र भगवान् ऋषभदेव वातरशन श्रमणों के धर्मप्रवर्तक कहे गये है[4] और उन्हे "योगेश्वर" कहा गया है[5]। इसी प्रकार अन्य पुराणो में भी आर्हत धर्म का उल्लेख मिलता है जिसे कहीं-कहीं जैनधर्म कहा गया है। पद्म-पुराण, विष्णुपुराण, स्कन्द और शिव पुराणो से आर्हत परम्परा की पुष्टि होती है। इन पुराणो में जैनधर्म की उत्पत्ति तथा विकास के सबध में कई आख्यान भी मिलते हैं। मत्स्यपुराण में स्पष्ट रूप से उल्लिखित है कि जिनधर्म वेदबाह्य है जो वेदो को नही मानता[6]। इससे यह तो पता लग ही जाता है कि जिस युग में वेदों की सृष्टि हुई थी उस समय आर्हत लोग वेदविरोधी थे और तभी से वेदविरोधी धर्म के रूप मे उनका स्मरण एव उल्लेख किया जाता रहा। क्योंकि किसी वैचारिक क्रान्ति के सन्दर्भ में ही अपने आप को पुराना मानने वाले इस प्रकार का नाम देते आये है। किन्तु इससे जैनधर्म की प्राचीनता पर और भी प्रकाश पड़ता है। सक्षेप में, तीर्थंकर पार्श्वनाथ के समय तक यह आर्हत धर्म के नाम से ही प्रचलित था। बौद्धग्रन्थों तथा अशोक के शिलालेखो मे यह "निग्गठ" के नाम से प्रसिद्ध रहा और इण्डो ग्रीक तथा इण्डो-सीथियन के युग में "श्रमण" धर्म के नाम से देश-विदेशो में प्रचलित रहा। पुराण-काल में यह जिन या जैनधर्म के नाम से विख्यात हुआ और तब से यह इसी नाम से सुप्रसिद्ध है। जैनागम तथा शास्त्रों में इसके जिनशासन, जैनतीर्थ, स्याद्वादी, स्याद्वादवादी, अनेकान्तवादी, आर्हत और जैन आदि नाम मिलते है। देश के विभिन्न प्रान्तों में समय-समय पर यह भिन्न नामो से प्रचलित रहा है। जिस समय दक्षिण में भक्ति-आन्दोलन जोर पकड़ रहा था उस समय वहाँ पर यह भव्यधर्म के नाम से प्रसिद्ध था। पजाब में यह "भावादास" के नाम से प्रचलित रहा[7]। तथा "सरा-वग-धर्म" के नाम से आज भी राजस्थान में प्रचलित है। गुजरात में और दक्षिण में यह अलग-अलग नामो से प्रचलित रहा है। और इस प्रकार आर्हत, वातवसन या वातरशन श्रमण से लेकर जिनधर्म और जैनधर्म तक की एक बृहत् तथा अत्यन्त प्राचीन परम्परा प्राप्त होती है।

जैन पुरातत्व में भी अनेक ऐतिहासिक तथ्य प्राप्त होते है जो इस धर्म की प्राचीनता पर प्रकाश डालते है। यद्यपि मोहन-जोदड़ो और हड़प्पा की खुदाई में प्राप्त मूर्तियों के सबध में अभी तक निश्चय रूप से नही कहा जा सका

---

१ तैआ० १।२१।३,२३।२,२४।४,३१।२७,१।

२ सम्बुद्ध करुणाकूर्च सर्वदर्शी महाबल।
विश्वबोधो धर्मकाय सगुप्तोऽर्हन्सुनिश्चित ॥
व्यायामो द्वादशाख्यश्च वीतरागः सुभाषित।
सर्वार्थसिद्धस्तु महाश्रमण कलिशासन ॥ त्रिकाण्डशेष, १,१०-११।

३ मुमुक्षु श्रमणो यति।—अभिधानचिन्तामणि, १,७५।

४ "नाभे प्रियचिकीर्षया तदवरोधायने मेरुदेव्यां धर्मान् दर्शयितुकामो वातरशनाना श्रमणानामृषीणामूर्ध्वमन्थिना शुक्लया तनुवावततार।"—श्रीमद्भागवत, ५।३।२०

५ "भगवान् ऋषभदेवो योगेश्वर प्रहस्यात्मयोगमायया स्ववर्षमजनाभ नामाभ्यवर्षत्।" वही, ५।४।३

६ गत्वाऽथ मोहयामास रजिपुत्रान् बृहस्पति.।
जिनधर्मं समास्थाय वेदबाह्यं स वेदवित् ॥ मत्स्यपुराण, २४।४७

७ डॉ० ज्योतिप्रसाद जैन जैनिज्म द ओल्डेस्ट लिविंग रिलीजन, पृ० ६२।

है कि वे जिन हैं या शिव, किन्तु कालीबंगा के उत्खनन से यह रहस्य स्पष्ट हो जाता है कि उस युग में भी जैनधर्म का प्रचार उत्तर-पश्चिम भारत में रहा है। उपलब्ध जैनमूर्तियाँ ई० पू० ३०० तक प्राचीन कही जाती हैं। मौर्यकालीन कुछ मूर्तियाँ पटना संग्रहालय में सुरक्षित हैं[1]। इसी प्रकार लगभग प्रथम ई० पू० से जैन चित्रकला के स्पष्ट निदर्शन मिलने लगते हैं। पुरातन शिलालिपि में वीर नि० ८४ का सर्वप्राचीन संवत्सूचक लेख मिलता है। मथुरा के जैनलेख तो अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं जिनके आधार पर डा० हर्मन जेकोबी ने जैनागमों की प्राचीनता सिद्ध की है[2]। संसार की प्राचीन लिपि एवं कला की भाँति श्रमण संस्कृति एवं कला में सूक्ष्म भावों का अंकन करने के लिये प्रतीक शैली की परम्परा प्रचलित रही है। मूर्तिनिर्माण में, चैत्य या मन्दिरों की रचना में, सिद्ध-यन्त्रों तथा चित्रों की कला में यह प्रतीक शैली अत्यन्त रहस्यमय रूप में अभिव्यक्त हुई है। यही नहीं, जैन साहित्य में भी यह परम्परा सुरक्षित है। यदि इसका भलीभाँति अध्ययन किया जाये तो इसकी प्राचीनता के अन्य प्रमाण भी स्पष्ट रूप में मिल सकते हैं। शिलालेखों में प्राप्त प्रमाणों के आधार पर अब तीर्थंकर नेमिनाथ की ऐतिहासिकता भी निश्चित हो गई है। क्योंकि प्रभास-पट्टन का एक प्राचीन ताम्रपत्र प्राप्त हुआ है जिसका अनुवाद डा० प्राणनाथ विद्यालंकार ने किया है। उसमें बेबीलोन के राजा नेबुचन्दनेजर के द्वारा सौराष्ट्र के गिरिनार पर्वत पर स्थित नेमि मन्दिर के जीर्णोद्धार का उल्लेख है। बेबीलोन के राजा नेबुचन्दनेजर प्रथम का समय ११४० ई० पू० और द्वितीय का ६०४-५६१ ई० पू० के लगभग कहा जाता है। उस राजा ने अपने देश की उस आय को, जो उसे नाविकों से कर-द्वारा प्राप्त होती थी वह जूनागढ़ के गिरिनार पर्वत पर स्थित अरिष्टनेमि की पूजा के लिए प्रदान की थी[3]। इसी प्रकार अन्य बौद्धयात्रियों के उल्लेखों ने भी जैनधर्म की प्राचीनता पर प्रकाश पड़ता है। यूनान और मिश्र के दार्शनिकों ने भी श्रमण सन्तों का उल्लेख किया है और उनका प्रभाव स्वीकार किया है।

जैनधर्म के मुख्य चार सिद्धान्त कहे जा सकते हैं—अहिंसा, आत्मा का अस्तित्व एवं पुनर्जन्म, कर्मवाद तथा स्याद्वाद। अहिंसा एक व्यापक तथा सर्वमान्य सिद्धान्त है। जैनधर्म का यह मूलभूत सिद्धान्त है। "अहिंसा परमो धर्मः यतो धर्मस्ततो जयः"। श्रमणसंस्कृति का यह प्राणतत्व है। इसमें व्यक्ति और समाज की संजीवनी शक्ति निहित है। वस्तुतः मानव का मूल धर्म अहिंसा है। अहिंसा व्यक्ति की भीरुता, शिथिलता या समाज के भय का परिणाम न होकर मोह की अनासक्ति और सच्चरित्र एवं शील की राष्ट्रव्यापिनी शक्ति है जो प्रेम और शान्ति को जन्म देती है। जिससे करुणा तथा दया का संचार होता है। और जो समाजकल्याण के लिए अमोघ शक्ति है। इसलिए अहिंसा हमें कायर और डरपोक नहीं बनाती। वह हमें मोह और क्षुद्र स्वार्थों को जीतने के लिए प्रेरित तथा उत्साहित करती है। उसमें क्षात्रधर्म का दर्प एवं तेज है। जैनों ने व्यवहार में ऐसी अहिंसा का सर्वथा विरोध किया है जो डर के मारे अपने या दूसरे के प्राण लेने का पाठ सिखाती हो। जैनधर्म के सभी तीर्थंकर क्षत्रिय एवं राजपुत्र थे। अधिकतर तीर्थंकर इक्ष्वाकु वंश में उत्पन्न हुए थे। अपने जीवन में उन्होंने कई युद्ध किये थे। चन्द्रगुप्त मौर्य, सम्प्रति, खारवेल, अमोघवर्ष, चेटक, श्रेणिक, शिवकोटि तथा कलचुरि, गंग और राष्ट्रकूटवंश के अनेक राजा जैन थे। चन्द्रगुप्त, बिम्बसार, अजातशत्रु, उदयन, महापद्म, बिन्दुसार और अशोक को जैन तथा बौद्ध परम्पराएं अपना मतावलम्बी मानती हैं। जो भी हो। इससे स्पष्ट है कि ज्ञात-अज्ञात न जाने कितने सम्राट् और राजा हुए जिन्होंने युद्ध और अहिंसा का सफलता से संचालन किया था।

जैन-शास्त्रों में हिंसा के संकल्पी, विरोधी, आरम्भी और उद्यमी ये चार भेद किए गए हैं। ये हिंसा के स्थूल भेद हैं। इनका मूल है—प्रमादपूर्वक कार्य न करना, सावधानी रखना।[4] और यही आगे चलकर द्रव्य रूप और भाव रूप भेदों से



---

१ मुनि कान्तिसागर श्रमण संस्कृति और कला, १९५२, पृ० २४।

२. वही, पृ० ८०।

३ देखिए, "अनेकान्त" वर्ष ११, किरण १ में प्रकाशित बाबू जयभगवान, बी० ए० एडवोकेट का "मोहनजोदडो-कालीन और आधुनिक जैन-संस्कृति" शीर्षक लेख, पृ० ४८।

४ प्रमत्तयोगात्प्राणव्यपरोपणं हिंसा।—तत्त्वार्थसूत्र, ७।८।



हिंसा मुख्य रूप से दो कोटियो मे विभक्त हो जाती है। आचार्य कुन्दकुन्द ने भाव पक्ष की मुख्यता को लेकर स्पष्ट रूप से कहा है कि जीव का घात हो या नही, यदि असावधानी से प्रवृत्ति की गई है तो निश्चय से वह हिंसा है। और सावधानी से प्रवृत्ति करने वाले से यदि कदाचित् प्राणो का घात भी हो जाये तो उसे हिंसा के निमित्त से बन्ध नही होता।[1] वस्तुत अच्छे और बुरे भावो पर जीवन की नीव टिकी हुई है। जीव को जैसा अन्न और जल मिलता है वैसा ही उसका निर्माण होता है। भाव और प्रवृत्ति जीवन मे अन्न और जल की भाँति पोषक तत्त्व हैं जिनसे धर्म की सरचना होती है, धर्म का विग्रह जन्म लेता है।

अहिंसा का सभी धर्मो मे महत्त्व वर्णित है। भारतीय सस्कृति तो मूलत अहिंसानिष्ठ रही है। वाल्मीकि ने भी अपनी रामायण मे अहिंसा का आचरण करने वाले मुनियो को पूज्य तथा श्रेष्ठ कहा है[2]। वस्तुत अहिंसा की उपस्कारक श्रमण-सस्कृति थी जिसने सूक्ष्म से सूक्ष्म अहिंसा का निरूपण एव निर्वचन किया है और समस्त धर्मरूपो को अहिंसा की व्यापक व्याख्या मे समाहित कर लिया। यदि हम विभिन्न सम्प्रदायो एव धर्मो का इतिहास देखें तो स्पष्ट हो जाएगा कि किसी न किसी रूप मे सभी हिंसा का प्रत्याख्यान करते रहे पर किसी न किसी रूप मे सभी धर्म मानने वाले हिंसा को करते रहे और अपने प्रमाण मे "वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति" तथा यह धर्म की हिंसा है—कह कर अपने को बचाते रहे। किंतु जैनधर्म ही एक ऐसा धर्म है जिसने किसी भी रूप मे हिंसा को मान्य नही स्वीकार किया और उसके विभिन्न स्तरो का सागोपाग विवेचन किया। आज भी यह जाति अहिंसानिष्ठ एव आचारप्रधान देखी जाती है। यथार्थ मे यह तप, त्याग एव आचारप्रधान सस्कृति है जो अनेक आघातो को सह कर भी आज ज्यो की त्यो स्थिर है।

जैनधर्म आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार करता है। यह शुद्धरूप मे आत्मा को शुद्ध, बुद्ध तथा निरजन मानता है। परन्तु अनेक जन्मो के कर्मो से आबद्ध होने के कारण आत्मा अशुद्ध एव मैली होने से ससार के परावर्तनो मे भटक रही है। यद्यपि इसमे अनत शक्ति और गुण विद्यमान है और इतनी क्षमता है कि अपनी निवृत्तिप्रधान क्रिया से स्वय मुक्त हो सकती है किन्तु कर्मों के तिमिर-जाल मे उलझी होने से मुक्त होने मे समर्थ नही हो रही है। इसलिए कर्म-बन्धन मे मुक्त होने का नाम ही मुक्ति है। इसके लिए किसी परमात्मा के आने की आवश्यकता नही है कि वह अपने स्थान से नीचे उतर कर हमारी सहायता करने के लिए यहा आए, बल्कि आत्मा मे वह परम शक्ति विद्यमान है कि वह नर से नारायण, आत्मा से परमात्मा बन सकती है। यदि उसमे यह शक्ति विद्यमान नही है तो ससार की कोई ऐसी शक्ति नहीं है जो उसे ईश्वरत्व प्रदान कर सके। उसमे स्वय शक्ति का वह प्रकाश है। तभी तो वह अपनी ज्योति को ऊर्ध्वगामी बना सकता है। इसी रूप में जैनधर्म आत्मा को स्वीकार करता है। और यह तो सद्वाद का सिद्धान्त है कि जो विद्यमान है, जिसका अस्तित्व है वह कभी अभावरूप नही हो सकता और सद्भाव का कभी विनाश नही होता। इसलिये कर्म-बन्धनों को काटने का अर्थ है उनसे अलग हो जाना, जडत्व को सर्वथा छोडकर आत्मा के यथार्थ को, पूर्ण चेतन रूप को प्राप्त कर लेना।

अहिंसा की भाति कर्मवाद और स्याद्वाद भी जैनधर्म के मौलिक सिद्धान्त है। जैनधर्म के अनुसार कर्म एक स्वतत्र द्रव्य है। आत्मा के साथ मिल कर चलनशील होने पर यह विभिन्न भावों की सृष्टि करता है। यह अपनी

---

१ मरदु व जियदु व जीवो अयदाचारस्स णिच्छिदा हिंसा।
पयदस्स णत्थि बन्धो हिंसामत्तेण समिदस्स॥ प्रवचनसार, ३।१७

२ धर्मे रता सत्पुरुषैं समेतास्तेजस्विनो दानगुणप्रधाना।
अहिंसका वीतमलाश्च लोके भवन्ति पूज्या मुनय प्रधाना॥ वाल्मीकि-रामायण, १०९।३६

तथा—अहिंसासत्यमस्तेय शौचमिन्द्रियनिग्रह।
एतत् सामासिक धर्मं चातुर्वर्ण्येऽब्रवीन्मनु॥
यन्नूनमश्या गति मित्रस्य यायां पथा।
अस्य प्रियस्य शर्मण्यहिंसानस्य सश्चिरे॥ ऋग्वेद, ५।६४।३

क्रियाओं से जीव को समक्त करके रखना है और पूरी तरह से उस पर छा जाता है। इसलिए आत्मा के प्रदेशों में जो परिस्पन्दन होता है उनमें कार्मण वर्गणाओं का योग रहता है। अतएव पुनर्जन्म की प्रक्रिया कर्मों के अनुसार सम्पादित होती रहती है। गौतम बुद्ध भी कर्मानुसार पुनर्जन्म को स्वीकार करते हैं। कर्म अनन्त परमाणुओं का स्कन्ध कहा जाता है। यह समूचे लोक में व्याप्त रहता है। जिस प्रकार बीज के दग्ध हो जाने पर फिर वृक्ष उत्पन्न नहीं होता उसी प्रकार जन्म देने वाला कर्म संसार का बीज है और उसका आत्यन्तिक क्षय या दग्ध हो जाने पर फिर पुनर्जन्म नहीं होता। कर्म से ही आत्मा में विकृति उत्पन्न होती है। इस विकृति को दूर करने के लिए जिनशासन में ज्ञान, ध्यान और तप का आचरण मुख्य बतलाया है। तीर्थंकर महावीर ने भी अहिंसा की मुख्य प्रेरक शक्ति को संयम कहा है। संयम एक आन्तरिक साधना है जो भीतरी शुद्धि पर अधिक बल देती है और सशुद्धि को प्रकट करती है।

विज्ञान की भांति कर्म का भी अपना ज्ञान-विज्ञान है जिसके अनुसार यह कर्म स्कन्ध रूप (परमाणुसमूह) होने पर भी दृष्टिगोचर नहीं होता। परन्तु रज के सूक्ष्मतम कणों के समान सम्पूर्ण लोक में व्याप्त रहता है। और इसलिए कर्मवाद में ईश्वर का कोई स्थान नहीं है। कर्म ही ईश्वर के स्थान पर माना जा सकता है। यद्यपि संसार के कार्य किसी न किसी कारण से उद्भूत होते हैं पर जिनका कारण प्रतीत नहीं होता, जो विभिन्न विषमताओं के जनक हैं और जिनका स्पष्ट अनुभव होता है वे सब किसी अलौकिक शक्ति से उत्पन्न न होकर कर्मों से उत्सृष्ट होते हैं। संसार की विभिन्न विषमताओं का कारण कर्म है। कर्म ही मूलभूत विषमताओं का मूल है। कर्म जन्म-जन्मान्तरों के चक्र के रूप में विभिन्न मानसिक प्रक्रियाओं की सृष्टि करता रहता है। और इस प्रकार जैनधर्म का कर्मवाद ईश्वर का स्थान ग्रहण कर लेता है। जैनधर्म में कर्मों के विभिन्न भेदों तथा विविध अवस्थाओं का गणित के आधार पर विस्तृत एवं सूक्ष्म विवेचन मिलता है। और कर्मों से अलग होने का उपाय तप कहा गया है। जिस समय में जिस प्रकार का तप सम्पादित हो जाता है वह अशुद्ध तथा विकृत भाव अलग हो जाता है। इसे ही पारिभाषिक शब्दावली में 'निर्जरा' कहते हैं[1]। और जहां न इन्द्रियां हैं, न उपसर्ग (मिलने वाला कष्ट) है, न मोह है, न आश्चर्य, न निद्रा, न प्यास और न भूख ही है वहां निर्वाण होता है[2]। वास्तव में निर्वाण वही स्थिति है जिसमें सुख-दुःख की अनुभूति नहीं होती, केवल अतीन्द्रिय निराबाध अलौकिक आनन्द प्राप्त होता है।

स्याद्वाद जैनों का दार्शनिक सिद्धान्त है। इसमें विभिन्न दृष्टिकोणों से पदार्थ की सत्यता का व्याख्यान किया जाता है। वस्तुतः जड़ और चेतन सभी में अनेक धर्म विद्यमान हैं। उन सब का एक-साथ कथन नहीं किया जा सकता। विवक्षा के अनुसार एक समय में किसी एक की मुख्यता लेकर कथन किया जाता है। उसको दार्शनिक शब्दावली में "कथंचित्"—अपेक्षा से कहा जाता है जिसका दूसरा नाम अपेक्षावाद भी है। अपेक्षावाद का यह सिद्धान्त दार्शनिक मतवादों के आग्रह को शिथिल करता है और जीवन का यथार्थ दृष्टिकोण भिन्न-भिन्न रूपों में हमारे सामने प्रस्तुत करता है। अपेक्षाओं के आधार पर किया जाने वाला कथन किन्हीं दृष्टिकोणों (नयों) की अपेक्षा रखता है। जैनागमों में सात दृष्टिकोणों को सात भंगिमाओं के साथ प्रस्तुत किया गया है। जो इन दृष्टिकोणों को समझे बिना स्याद्वाद को समझने का प्रयत्न करते हैं उन्हें यह संशयवाद जान पड़ता है। यथार्थ में स्याद्वाद संशयवाद न होकर समन्वयवाद कहा जा सकता है जिसमें विभिन्न धर्मों की दृष्टि को कथंचित् रूप में, किसी अपेक्षा से व्यवहार में या निश्चय में सत्य स्वीकार किया गया है। स्वयं तीर्थंकर महावीर स्वामी वैर-विरोध को हिंसा मानते थे। वे सत्य को सत्य के रूप में ही देखना और कहना चाहते थे। इसलिए उन्होंने वस्त्रों का त्याग किया, मनुष्य की वास्तविक अवस्था प्राप्त कर आध्यात्मिक उत्क्रान्ति की और सब में समताभाव का प्रचार किया। यह वैर-विरोधमूलक समन्वयवादिनी



---

१ जह कालेण तवेण य भुत्तरस कम्मपुग्गल जेण ।
भावेण सडदि णेया तस्सडण चेदि णिज्जरा दुविहा ।। द्रव्यसंग्रह, ३६

२ णवि इंदियउवसग्गा णवि मोहो विम्हियो ण णिद्दा य ।
ण य तिण्हा णेव छुहा तत्थेव य होइ णिव्वाण ।।—नियमसार, १८०



वह दृष्टि थी जो अनेक केन्द्रविन्दुओ पर एक वस्तु का विचार कर उसकी वास्तविकता को परखती थी। क्योकि सत्य अखण्ड होता है। शब्दो के सीमित घेरे मे उसके अनन्त गुणो की व्याख्या सभव नही है। किन्तु उसके केन्द्र मे व्याप्त मुख्य विन्दुओ को अलग अलग तथा समाहार रूप मे समझ कर उसकी अखण्डता का वोध किया जा सकता है। जब तक वस्तु के अनन्त तथा विभिन्न अवयवो का एव उसके रूपो का ज्ञान नही होता तव तक न तो विश्लेषण ही किया जा सकता है और न उसका सामासिक कथन ही किया जा सकता है। इस प्रकार स्याद्वाद सत्य तक पहुचने की वह पद्धति है जो जीवन को आत्मा के आन्तरिक व्यापारो से जोडती है और जिसमे वाहरी तथा भीतरी जीवन की एक प्रणाली समाहित है जो विविध दृष्टियो को एक केन्द्र मे स्थापित कर वस्तु की सत्यता का निर्वचन करती है। सच यह कि वस्तु को किसी धर्म विशेष के साथ मानना ऐकान्तिक है। और इस एकान्त का परिहार अनेकान्त के विना सभव नही जान पडता। विभिन्न नयो एव दृष्टिकोणो से एक ही वस्तु को समझने पर उसकी सचाई समझ में आती है। आचार्य समन्तभद्र ने 'आप्त-मीमासा मे' यहा तक कह दिया है कि निरपेक्ष नय मिथ्या होते हैं और सापेक्ष नय वस्तु को सिद्ध करने वाले होते है। जीवन का यह दृष्टिकोण सापेक्षिक एकान्तवाद या अनेकान्तवाद से प्राप्त हो सकता है जो जैनधर्म के मूलभूत रहस्य को प्रकट करता है।

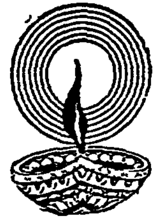
तीर्थंकर महावीर के लिए स्याद्वाद कोई नया सिद्धान्त नही था। यह तो बहुत पहले से ही चला आ रहा था। वैदिक युग मे विभिन्न दार्शनिक मतवाद थे। ऋग्वेद से पता लगता है कि साध्यो का मूल सिद्धान्त सद्वाद, असद्वाद, सदसद्वाद, व्योमवाद, अपरवाद, रजोवाद, अम्भवाद, आदर्शवाद, अहोरात्रवाद और सशयवाद इन दस सिद्धान्तो पर आधारित था[1]। सदसद्वाद का सिद्धान्त वहुत ही व्यापक रहा है। दार्शनिक जगत् मे किसी ने सत् और किसी ने असत् पक्ष को ग्रहण कर विविध वादो को जन्म दिया। किन्तु जिनमत उन सभी वादो का विचार अनेकान्त तथा स्याद्वाद के सिद्धान्त की व्यावहारिक एव पारमार्थिक कसौटी पर करता है। समन्वय की यह पद्धति सैद्धान्तिक रूप मे विश्व के किसी भी धर्म एव दर्शन मे अभिलक्षित नही होती। वस्तुत यह सिद्धान्त प्राग्वैदिक युग से आज तक अप्रतिहत रूप मे अवस्थित है। यद्यपि पिछली कई शताब्दियो मे इसका डट कर विरोध किया गया पर इस वैज्ञानिक युग मे आकर यह फिर से सुस्थिर हो गया है। यथार्थ मे समय, काल, गति और परिमाण आदि के लिए सापेक्ष दृष्टिकोण को अपनाना आवश्यक ही नहीं अनिवार्य भी है। वस्तु के विविध रूपो, गुणो तथा कार्यो को समझने के लिए किसी एक को मुख्य तथा गौण रूप मे देखना ही पडता है। फिर, वस्तु की सभी कोटियो का एक-साथ निर्वचन हो नही सकता। इस प्रकार श्रमण-सस्कृति के साथ इस देश मे जिस धर्म और दर्शन का शत सहस्राब्दियो से प्रचलन होता आ रहा है वह जिनधर्म या जैनधर्म है। और हजारो ही नही लाखो तथा करोडो वर्षों के जीवन में कदाचित् ही किसी युग मे इस सनातन आचार-विचार पद्धति मे यत्किंचित् अन्तर आया हो। इसी से इसकी गौरव-गरिमा स्वयमेव सिद्ध है और भविष्य मे भी इसके उज्ज्वल रूप मे कुछ अन्तर नही आ सकेगा।

●

---

१ देवदत्त शास्त्री चिन्तन के नये चरण, १९६०, पृ० ९८।

जैन-संस्कृति-सरोज की पाँच पंखुड़ियाँ



पारसमल 'प्रसून'

एम ए, साहित्यरत्न

यदि अमेरिका को अपने धन-वैभव पर गर्व है, रूस को अपनी वैज्ञानिक शक्ति पर नाज है, इगलैंड को अपनी जन-शक्ति पर घमंड है और फ्रांस को अपनी विलासिता, चमक-दमक पर अभिमान है तो कहना न होगा कि उससे भी ज्यादा गर्व है भारत को अपनी आध्यात्मिकता पर, नैतिकता पर।

पुण्यभूमि भारत धर्मभूमि है। यहाँ के पुनीत वातावरण मे हमेशा 'भोग से त्याग की ओर', 'प्रेय से श्रेय की ओर' और 'राग से विराग की ओर' के निनाद गुजायमान रहे हैं। यहाँ जीवन का सार खान-पान और गान-तान नहीं रहा है। यहाँ का उद्देश्य है त्याग, तप और कष्टसहिष्णुता। यहा त्याग का महत्त्व सर्वोच्च प्रतिपादित किया गया है। महाधिपति, चक्रवर्ती सम्राटो के गर्वित शिर नत हुए हैं त्यागी के चरण-कमलों मे। पराक्रमी अर्जुन, बलधारी भीम से ज्यादा गुण-गौरव-गाथा मुखरित है धर्मधारी युधिष्ठिर की। हमने आत्मा का महत्त्व हमेशा शरीर से ऊँचा समझा। शरीरपोषण आत्मशोषण है। आत्म-तेज के समक्ष कोई तेज नही। इस आत्मिक शक्ति, त्याग-विभूति, आध्यात्मिक उन्नति, नैतिक जागृति के सर्वोच्च, अमल, विमल, अनिंद्य स्वरूप का अगर हमे दर्शन करना है तो आइये, हम जैन-संस्कृति का स्वरूप समझें।

जैन-संस्कृति अर्थात् श्रमण-संस्कृति विश्व मे अजेय और अनन्य है। इसकी अनुपम वरीयता किसे अमान्य होगी? पूर्ण विकासप्राप्त जैन-संस्कृति-सरोज की सुवास इतस्तत सर्वत्र सुवासित है। उसी सरोज की पाँच पखुडियाँ प्रस्फुटित है यहाँ।

प्रथम पंखुड़ी—अहिंसा

"वैर किसी के लिये नहीं है, प्रीति सभी के लिये समान।"

प्रेम-शुद्ध निश्छल, सात्त्विक प्रेम का पुनीत झरना बहाया है जैन-संस्कृति ने। अहिंसा का जितना गहन, विराट् व विस्मयकारी आह्लादपूर्ण स्वरूप जैन-संस्कृति ने दिया, वह अद्भुत ही है। यहाँ अहिंसा एकागी या सकुचित न हो अपने सपूर्ण रूपो मे निखरी है। हिंसा का अर्थ मात्र शारीरिक हिंसा ही नहीं है, प्रत्युत मन-वचन से पीडा पहुँचाना भी हिंसा है। अहिंसा की नव कोटियाँ हैं। और प्राणी की परिभाषा मनुष्य या पशु-पक्षी तक ही अटक कर भटक नहीं गई है। इसकी विस्तृत परिधि मे आते है एकेन्द्रिय से लेकर पचेन्द्रिय तक समग्र चराचर जीव। कीडी से कुजर ही क्या, पर पृथ्वी-काय से लेकर वनस्पति-काय तक के कंकर से फूल तक के जीव—सभी को अभय-दान दिया गया है भगवती अहिंसा के द्वारा, क्योकि—

"सव्वे जीवा वि इच्छन्ति, जीविउ न मरिज्जिउ।"

प्राण किसे अप्रिय है? जीवन सबको इष्ट है। विकलेन्द्रिय व अज्ञानी भी सुखेच्छुक हैं। अत जैन-संस्कृति का यह महान् उद्घोष है, "आत्मन प्रतिकूलानि परेषा न समाचरेत्।" जो हमे अप्रिय है, अरुचिकर है, उसका आचरण अन्य के प्रति मत करो। कितना पावन व मनभावन सदेश है! जिसकी प्रतिध्वनि अगर भारत मे "अहिंसा परमो



धर्म." के स्वरो मे गूंजी तो पश्चिम से आवाज आई—"जीओ और जीने दो।"

जैन-संस्कृति के इस अहिंसा-सुधाकर की एक कला को ही अंगीकृत कर विश्ववंद्य बापू ने महान् शक्तिशाली अंग्रेजी साम्राज्य से सफल टक्कर ले इतिहास के पृष्ठो में एक नई महत्त्वपूर्ण, शानदार कहानी अंकित की।

लोकमान्य तिलक भारतीय स्वाधीनता-संग्राम के अमर सेनानी की यह उक्ति क्या कम उल्लेखनीय होगी—"जैन धर्म ने अहिंसा का सर्वोच्च उदाहरण प्रस्तुत किया"।

जैन संस्कृति की इस उच्च अहिंसा के ये कुछ चित्र कितने भव्य होंगे।

भगवान नेमिनाथ २२वें तीर्थंकर निर्दोष, निरीह, मूक पशुओ के करुण चीत्कार से द्रवित हो तोरण से मुह मोड गये। शृङ्गार क्षेत्र से विमुख हो धर्म-जगत् मे प्रवेश करना युवक नेमिनाथ के जीवन की एक कितनी महान् क्रान्तिकारी घटना है।

२३वें तीर्थंकर भगवान् पार्श्वनाथ ने तो बाल-वय मे कमठ को प्रेम से समझाया कि इस तपस्या मे क्या है? देखो, काष्ठ मे सर्प-सर्पिणी जल रहे है। उन्होने जलता नाग बचाया।

और चरम तीर्थंकर महावीर ने अहिंसा के बल से विष को अमृत मे बदल दिया था। चडकौशिक की कथा अहिंसा के चमत्कार की बोलती गाथा है।

मुनि मेतार्य ने मुर्गे की रक्षा मे अपनी जान की बलि दे दी। कितने शुभ रूप हैं ये अहिंसा के! पर जैनधर्म की अहिंसा कायरो का शस्त्र नही, प्रत्युत वीरो का भूषण रही है। डरपोक होकर अन्याय व अत्याचार सहन करना हिंसा ही है। शान्ति का बिगुल बजाते भी यदि जबरदस्ती हम पर युद्ध थोपा जाय तो उसका डटकर मुकाबला किया गया है। चेडा-कोणिक का युद्ध, वरुण नाग नटुआ का युद्ध-जौहर आज भी जैनागमों के पृष्ठो पर चमक रहे है।

"सर्वे भवन्तु सुखिन" की मंगल-भावना को अपने मे संजोये विश्वशान्तिदायिनी यह अहिंसा जैनधर्म की एक वह अमूल्य देन है जो आज के युद्ध-जर्जर, भयाक्रान्त, विक्षुब्ध विश्व मे शान्ति व आनन्द सरसा सकती है।

(२) दूसरी पखुडी—मानव का अनन्य महत्त्व

"विहग सुन्दर, सुमन सुन्दर, पर मानव तुम हो सुन्दरतम।"

जैन-संस्कृति मानव के अनन्य महत्त्व को प्रदर्शित करती है। मनुष्य इस विश्व की सर्वश्रेष्ठ कृति है। वह अनत शक्ति का पुज है। अतुलित आनद का स्रोत है। चराचर जगत् का सम्राट् है। उसकी मुट्ठी मे हीरा है, पर उसे भान नही, अत वह अपने को कगाल माने बैठा है। अनत ज्ञान का सूर्य कर्म-बादलो से आच्छादित है। नर-नाहर का बच्चा भटक कर भुण्ड मे चला गया है। मानव बेभान हो प्रकृति, देवशक्ति, तन्त्र-मन्त्र, जादू-टोना आदि के चक्र मे उलझ जाता है।

जैन-संस्कृति ने समझाया —

अरे मानव! तू सर्वशक्तिमान् है। तेरी आत्मा अपने सत्कृत्यो से आश्रव को रोक, सवर व निर्जरा की साधना कर, मोक्ष-पद को प्राप्त कर, जीव से शिव, नर से नारायण, आत्मा से परमात्मा बनने मे सर्वथा सक्षम है।" मानव की इस महान् शक्ति की स्थापना जैन-संस्कृति की एक नितात क्रान्तिकारी देन है।

पर मानव का महत्त्व अपने सदाचार से है। लिंग, वय, जाति या जन्म से नही। साधना के क्षेत्र में हर आत्मा समान है। मानव की महत्ता का मापदण्ड जाति-कुल नही, पर सद्धर्म है। जातिवाद तो एक ढकोसला है। ब्राह्मण, शूद्र, वैश्य आदि वर्ण या जाति से नहीं होता है। वर्ण-भेद जन्म से नही होता। जो जैसा अच्छा या बुरा कर्म करता है वह वैसा ही ऊँचा-नीचा हो जाता है।

"जाति पाति पूछे नहिं कोई, हरि को भजे सो हरि का होई" यह ४००-५०० वर्ष पूर्व की ही उक्ति है। और

"दिल मे दिल को जोडो, छूआछूत को छोडो", यह तो अभी की ही पुकार है। पर जैन-सस्कृति का यह वज्र-आघोष तो शताब्दियो पूर्व का है

"कम्मुणा बभणो होइ, कम्मुणा होइ खत्तियो ।
वइसो कम्मुणा होइ, सुद्दो हवइ कम्मुणा ।।"

कितना दिव्य साम्यवाद है यहाँ ! मानव-मानव मे कोई फरक नही।

मानव-मानव मे क्या फरक ? फिर वह नर हो या नारी। नारी यो कहने को सदा पूज्य रही है। "यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता "—पर वास्तव मे नारी अवज्ञा ही रही है। धार्मिक जगत् मे तो उसका प्रवेश निषिद्ध ! कोई कोई तो नारी को नरक की अर्गला तक कहते हैं—"द्वार किमेक नरकस्य ? नारी।"

पर जैन-सस्कृति—साम्यवाद की शुभ्र ध्वजा लहराने वाली सस्कृति ने नारी का महत्त्व प्रतिष्ठित किया। साधनाक्षेत्र मे सबको समान अधिकार है। यहाँ नर व नारी का महत्त्व नही, पर राग-द्वेष-विजय का महत्त्व है। गुणवती नारी भी सर्वश्रेष्ठ पद को प्राप्त कर सकती है। उसका नाम अग्रिम पक्ति मे सबसे ऊपर अकित रहता है।

नारी का भव्य स्वरूप देखिये

जयन्ती राजकुमारिका के भगवान् महावीर से सविनय, निर्भय, निर्द्वन्द्व भाव से पूछे गये ज्ञान-विज्ञान से भरे प्रश्न आज भी भगवती सूत्र मे चमकते हैं।

दशवैकालिक सूत्र मे राजीमती ने पथभ्रष्ट बने रथनेमि को कितनी आत्मशक्ति से समझाकर पुन पतन से उत्थान की ओर मोडा ? नारी को कौन अबला कहेगा ?

भगवान् ऋषभदेव की दो पुत्रियाँ ब्राह्मी और सुन्दरी ने अपने गर्वित भाई बाहुबलि को किस प्रकार प्रेम से समझाया है ? "म्हारा वीरा, गज थकी ऊतरो, गज चढिया केवल न होय" की मधुर उक्ति मे भगिनी का सलौना स्नेह, नारी का प्रेम व कर्त्तव्य झलक रहा है।

उत्तराध्ययन के १४वें अध्याय मे उल्लेख है—कमलावती रानी ने राजा को समझा-बुझा कर सत्यमार्ग पर आरूढ किया है। नारी वास्तव मे अर्द्धांगिनी होती है।

अन्तकृत सूत्र मे मगधसम्राट् श्रेणिक की महारानियाँ महाकाली, सुकाली आदि के प्रचण्ड विकट तपक्रम का वाचन आज भी पर्यूषण पर्व में किया जाता है। यह बताता है कि फूल-सी कोमल राजरानी भी साधना के क्षेत्र में वज्र सी सुदृढ बन सकती है। नारी कोमल भी है और कठोर भी।

ये उदाहरण सुस्पष्ट करते हैं कि जैन सस्कृति ने नारी के गौरव को मडित कर यह स्पष्ट सिद्ध किया है कि "नारी, तुम केवल श्रद्धा हो।"

और जैन-सस्कृति ने समाज के तिरस्कृत, दीन-हीन, घृणित शूद्रो को भी नया रूप दिया। इनके लिये भी यहाँ द्वार खुला था। धर्म-दरबार मे क्या ऊच नीच ? यहाँ तो साधना का महत्त्व है। श्री हरिकेशी मुनि, मेतार्य स्वामी के उदाहरण यह स्पष्ट सिद्ध करते हैं कि कीचड में कमल होते हैं। साधारण भी अपनी शक्ति प्रदर्शन कर असाधारण बन सकता है। गुदडी के लाल भी बहुमूल्य होते हैं। वन्य कुसुम भी सुवास फैलायेगा ही। कस्तूरी काली व कुरूप क्यो न हो, पर काटे से तुलेगी।

तो जैन-सस्कृति ने विश्व को दिया कि मानव नगण्य व जघन्य नही है। हर मानव मे साम्य है। प्रत्येक प्राणी अपने सत्पुरुषार्थ से सर्वोच्च पद भी प्राप्त कर सकता है।

तृतीय पंखुडी—बाहर नहीं, अंदर की ओर

"विज्ञान तुम्हारे झूठे हैं, सच्चा है केवल आत्मज्ञान"। बाहरी चमक-दमक, भौतिक चकाचौंध मे अन्धे बने मानव को जैन-सस्कृति ने सर्व महत्त्वपूर्ण बात बताई, "बाहर नही, अन्दर की ओर झांको !" शरीर तक ही अटक कर न





रह जाओ। यह क्षणिक है। नश्वर है। इसके अन्दर विराजमान आत्मदेव को पहचानो ! अरे मानव, तू कहाँ सुख समझ बैठा है? इस कार, बगला, सोना, चादी, पुत्र-कलत्र मे सुख नही पर सुखाभास है। इनका स्वाद मधुलिप्त खड्ग की भाति है। प्रारम्भिक क्षणिक सुख की समाप्ति सर्वनाश मे होगी। सुख की खोज बाहर व्यर्थ है। कस्तूरी के मृग की खुशबू वन की झाडियो मे न होकर उसकी नाभि में ही है। वैसे ही सुख का अक्षय स्रोत अन्तरतम में प्रवाहित होता है। "बहिर्मुखी प्रवृत्ति से विलग हो अतर का अवलोकन" जैन सस्कृति की एक जबरदस्त देन है।

कौन हमारे मित्र व कौन हमारे शत्रु ? हम बाहर समझ बैठे है। यही तो भ्रम है, भूल है। हम ही सब-कुछ है। जैन सस्कृति की स्वर-लहरी कितनी उद्बोधक है

"अप्पा कत्ता विकत्ता य दुहाण य सुहाण य।
अप्पा मित्तममित्त च, दुप्पट्ठिअ सुपट्ठिओ ॥"

यह आत्मा ही सुख-दुख का कर्त्ता व भोक्ता है। मित्र भी और शत्रु भी। यही तो वैतरणी नदी व कूट-शाल्मलि वृक्ष है। और यही स्वर्ग की कामधेनु तथा नदन वन है।

बाह्य शत्रु क्या अर्थ रखते है ? इन हजार शत्रुओ को जीतना भी व्यर्थ है यदि आत्मा का वश नही किया। अपने आभ्यतर कषायादि शत्रुओ को ही हमे जीतना चाहिए। देखिये, श्रेष्ठ विजय कौनसी है

"जो सहस्स सहस्साण सगामे दुज्जए जिणे।
एग जिणेज्ज अप्पाण, एस से परमो जओ ॥"

आत्मविजय ही तो वीर की कसौटी है। इस एक को जीतना अर्थात् सबको जीतना है। इस विजय के पश्चात् क्या शेष रह जाता है ? यह विजय मोक्ष का राजमार्ग है। इस विजय के साधन-शस्त्र है—सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र।

"सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्ग ।"

सच्ची श्रद्धा, विश्वास और उससे उत्पन्न विमल निर्मल सद्ज्ञान और फिर "ज्ञानक्रियाभ्याम् मोक्ष" के अनुसार अहिंसादि पच महाव्रतो का सम्यक् पालन अर्थात् सम्यक् चारित्र-बस, ये तीनो मिलकर ही तो बनते हैं मोक्षधाम की सीधी सडक। और इसपर बेधडक हो चलकर हम मोक्ष मजिल को पहुचकर अरिहत सिद्ध बनकर सर्वश्रेष्ठ विजेता बन सकते है।

इस विजय का सलक्ष्य जैन धर्म की अनुपम और अनन्य देन है।

चतुर्थ पखुडी—कर्मवाद

"बोओगे जैसा बीज, तरु वैसा लहरायेगा।"

मानव जब दुःखी अवस्था मे अत्यन्त निराश व हताश हो जाता है तब इस महान् अमा के घनीभूत अधकार मे आशा व उल्लास की एक नई रोशनी बन आती है जैन-सस्कृति। उसका यह उद्घोष कितना आशाप्रद है।

"जैसी करणी वैसी भरणी"। "जो जस करइ सो तस फल चाखा"। मनुष्य को अपने शुभाशुभ कर्म अवश्य ही भोग्य होते हैं। दुख या सुख, जो कुछ भी हमे प्राप्त होता है, यह हमारी ही करणी है।

यह कर्मवाद मानव के स्वय के महत्त्व का सूचक है। इस आत्मा को ईश्वर या परमात्मा नाम की कोई अदृश्य शक्ति नियन्त्रित नही करती है, बल्कि मानव स्वय ही अपने भाग्य का प्रेरक, उद्बोधक है। वही अपनी जीवन-नैया का केवट है। डूबना या तिरना उसके अपने हाथ मे ही है। अपना मन ही बधन या मोक्ष का कारण है।

जैन-सस्कृति का यह अटल विधान है कि कृतकर्म भोगे बिना छुटकारा सम्भव नही। कर्म किसी को नही छोडता—चाहे राजा हो या रक। इसकी शक्ति अप्रतिहत है। अनियन्त्रित है, सवशक्तिमान् सर्वोच्च पदधारी तीर्थंकर तक

को इस कर्म ने नहीं छोड़ा। त्रिपृष्ठ वासुदेव के भव में अपने सेवक के कानों में सन्तप्त शीशे के डलवाने के द्वारा भगवान् महावीर के कानों में भी कीलें ठोकी गईं। आदिनाथ के भाग्य बेचारे बैलों को १२ घंटे भूखा-प्यासा रहना पड़ा था, उसके फलस्वरूप भगवान् ऋषभदेव को साधु बनने के अनन्तर १२ मास तक निराहार रहना पड़ा।

और भी कई उदाहरण हैं जैसे चन्दना की राजकुमारी का शिरमुंडन व कारावास, चक्रवर्ती के कर-द्वय का काटा जाना, अंजना का पति-विछोह व रुदन, खंधक ऋषि की खाल उतारना, गजसुकुमार के सिर पर अंगारों की पाल आदि कर्म की प्रबलता की घोषणा करते हैं।

अत: जैन-संस्कृति समझाती है कि मानव शुभ कर्मों का ही सृजन करे। पुण्य प्रवृत्तियां प्रशस्य होती हैं। निर्जरा संवर की करणी उसे निखारने वाली है। पापास्रव सर्वथा हेय है। हम यदि सुख में हों तो फूलें नहीं, दुःख में रोयें-तड़पें नहीं। बल्कि सम विषम अवस्था में मध्यस्थ रहें। यही तो जीवन का महान् सार है। आगत कष्ट-बाधा को शान्तिपूर्वक सहन करना, '६' के अंक की तरह बनना—जैन-संस्कृति की यह कितनी प्राणवान्, आशापूर्ण देन है।

पंचम पंखुड़ी—अपरिग्रहवाद

"जग पीड़ित है अति दुःख से, जग पीड़ित है अति सुख से।
मानव-जग में बंट जाये, सुख दुःख से औ' दुःख सुख से॥"

संग्रह अशान्ति का अग्रदूत है। किसी वस्तु के प्रति आकर्षण लोभ का चिह्न है। लोभ अथवा परिग्रह कभी समाप्त नहीं होता। क्योंकि 'इच्छा हु आगाससमा अणंतिया।" संसार में पदार्थ तो स्वल्प ही हैं और तृष्णा अनन्त है। एक इच्छा की पूर्ति का अर्थ होता है दूसरी लालसा की जागृति। और 'जहा लाहो तहा लोहो'। जैसे-जैसे लाभ बढ़ेगा, वैसे-वैसे तृष्णा भी बढ़ेगी। परिग्रह तृष्णा की अग्नि में घृत या ईंधन का काम करेगा।

इस परिग्रह ने—ममत्व भाव ने विश्व-इतिहास में क्या कारनामे बनाये हैं। प्रीति का नाशक यह लोभ आज घर, समाज और संसार में विग्रह का कारण बना है। विश्व अशान्त है। आज का संसार सुखी कहां? वर्ग-संघर्ष का दौर है। शोषक व शोषित की टक्कर है। इस बढ़ते परिग्रह के विरोध में रूस, फ्रांस, चीन आदि में सशस्त्र, रक्तमय क्रांतियां हुई हैं। कार्ल मार्क्स का साम्यवाद इस रोग की दवा नहीं है—क्योंकि हिंसा से हिंसा शान्त नहीं हो सकती। खून का धब्बा पानी से ही साफ होगा।

तो ऐसी विकट, विषम बीमारी की एक अचूक दवा दी है जैन संस्कृति ने और वह है—'अपरिग्रहवाद'। पदार्थ पर स्वामित्व के अधिकार का त्याग करना ही पूर्ण शान्ति का मार्ग है। अपने को संपत्ति का स्वामी नहीं वरन् ट्रस्टी समझो! आसक्ति भाव को हटाओ! क्योंकि 'मुच्छा परिग्गहो वुत्तो" या "मूर्च्छा परिग्रह है।" वस्तु के प्रति आसक्ति या ममत्वभाव ही परिग्रह है। मन की भावना का महत्त्व ज्यादा है। भरत चक्रवर्ती विपुल वैभव के बीच भी निर्लिप्त भाव से रहते थे, जल में कमल की तरह।

अत: जैन-संस्कृति का महान् नाद रहा है—"संग्रह नहीं वरन् वितरण।" "असंविभागी न हु तस्स मोक्खो।" —विभाग नहीं करने वाले के वास्ते मोक्ष का द्वार ही बंद है।

जैन-संस्कृति की आधारशिला ही अपरिग्रह है। जैन श्रमण कानी कौड़ी भी पास नहीं रखते। उनके वस्त्र, आहार याचित, सीमित व परिमित होते हैं। परिग्रह को पाप का जनक कहा है। लोभ को सर्वाधिक शक्तिशाली रूपाय बताया गया है।

तीर्थंकर दीक्षित होने के पूर्व वर्षी दान देते हैं और दुनिया को क्रियात्मक रूप से समझाते हैं—"शतहस्त समाहर सहस्रहस्त संकिर" अर्थात् सौ हाथ से कमा और हजार हाथ से वितरित कर।

तृष्णा का अन्त भला कैसे हो? दो माशा स्वर्ण की इच्छा बढ़ती-बढ़ती अनंत समग्र साम्राज्य-याचना तक भी परिसमाप्त नहीं हुई? अन्त में कपिल को आत्मज्ञान हुआ। सर्वपरिग्रह के बंधन से विमुक्त हो केवली बने और अपरिग्रह का एक जीवन्त उदाहरण प्रस्तुत किया।



आनद आदि श्रावक ऐश्वर्य के सागर मे लीन होते भी ममत्वहीन थे। सपत्ति का अर्जन लाभ या लोभ के लिये नही करते, पर बहुजनहिताय—विश्वकल्याण का सलक्ष्य था उनका। जीवन की उत्तर अवस्था मे वे बिल्कुल निर्मोही हो जाते थे।

तुगियापुरी नगरी के श्रावको के विषय मे शास्त्रीय उल्लेख है

"उस्सिहफलिहा, अवगुयदुवारा"—उनके द्वार अतिथियो के स्वागत-सत्कार के लिए प्रतिपल खुले रहते थे।

अहिंसा के मूलमत्र से अभिषिक्त, हृदय की उदार भावना से परिपूरित, यह शुभ मगलमय अपरिग्रह कितना भव्य है। शायद आज के इस आणविक होड एव उद्जन बम के युग मे विश्वशाति की एकमात्र यही सुराह है। आवश्यकता है जैन-सस्कृति की, इस मगलमय स्वरलहरी को समझने की व तदनुसार आचरण करने की। यथार्थ ही है

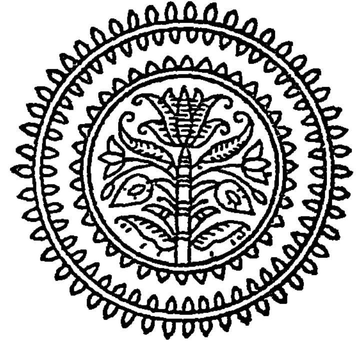
He is richest who has the least

अब यह सुस्पष्ट है कि यदि मनुष्य, मानवता और ससार की सुरक्षा एव उन्नति का कोई मार्ग है तो उसका दर्शन हमे यह शुभ जैन-सस्कृति ही करवाती है। कई एक विशिष्टताओ को अपने मे समाहित किये इस अद्भुत जैन-सस्कृति को अनन्य कहना एक निर्विवाद सुस्पष्ट तथ्य है।

अत मे इस मगल आशा के साथ विराम लेता हूँ कि जैन-सस्कृति की अमल-धवल ज्योत्स्ना विश्व को आनद-अमृत-सिन्धु म नहलायेगी।

●

श्रमण-संस्कृति और लोकतन्त्र



रामावतार शर्मा
राजनीति विभाग,
श्रमजीवी कालेज (विद्यापीठ),
उदयपुर।

भारतीय संस्कृति का प्रवाह एक विशाल नदी की भांति है जो राह की छोटी-मोटी नदियों को अपने मे समोकर—मोक्ष रूपी समुद्र मे जा मिलती है। भारत अनादि काल से ही संस्कृति के क्षेत्र मे विश्वगुरु रहा है। इसके आंचल मे विभिन्न संस्कृतियों का जन्म और विकास हुआ है। सैन्धव, वैदिक, श्रमण संस्कृतियाँ विशेष उल्लेखनीय हैं। यहां हम केवल श्रमण संस्कृति मे लोकतंत्री-जीवन के विभिन्न तत्त्वो का अध्ययन करेंगे। यदि धर्म सामाजिक जीवन का नियमन करता है तो संस्कृति उस पर नियंत्रण करती है। श्रमण-संस्कृति का विकास ऐतिहासिकों के मतानुसार भारत मे इसलिए हुआ कि इसके पूर्व वैदिक धर्म में हिंसापूर्ण यज्ञों का प्राबल्य हो गया था। हिंसापरक वैदिक यज्ञ और बुद्ध तथा महावीर की अहिंसा—दो मूलत श्रमण-संस्कृति के स्रोत माने गये हैं।

हिंसा तथा वर्णव्यवस्था का विरोध

भारत मे जितनी प्रकार की संस्कृतियो का विकास हुआ है उनमे अहिंसावाद को उतना महत्त्व किसी ने भी नही दिया जितना कि श्रमण-संस्कृति मे और विशेषत जैनधर्म मे दिया गया है। बुद्धदेव से कोई ढाई सौ वर्ष पूर्व हम जैन तीर्थंकर श्री पार्श्वनाथ को अहिंसा का विमल उपदेश सुनाते पाते हैं। पार्श्वनाथ के उपदेश को चातुर्याम संवर संवाद कहते थे। ये चातुर्याम संवर थे—

१ हिंसा का त्याग, २ असत्य का त्याग, ३ स्तेन का त्याग और ४ परिग्रह का त्याग। उल्लेखनीय बात यह है कि पार्श्वनाथ के पूर्व अहिंसा केवल तपस्वियो के आचरण का क्षेत्र मानी जाती थी किन्तु मुनि पार्श्वनाथ ने उसे सत्य, अस्तेय और अपरिग्रह के साथ जोडकर सर्वसाधारण के आचरण के लिए उपयोगी बना दिया। पार्श्वनाथ ने संघ की स्थापना की और संघो के द्वारा जनता मे अहिंसा का प्रचार करना आरंभ कर दिया।

इतिहास मे एक ऐसा भी समय आता है जब कि हिंसा और अहिंसा मे संघर्ष चला है। ब्राह्मणो ने हिंसा का पक्ष लिया। सम्भवत समाज मे उनका स्थान यज्ञो की वजह से अक्षुण्ण बना हुआ था और यज्ञो के प्रति आन्दोलन ब्राह्मणों ने वर्णव्यवस्था के विरोध मे समझा। परन्तु श्रमण-संस्कृति ने वर्णव्यवस्था को भी स्वीकार नहीं किया। यह घटना भी संभवत आकस्मिक ही रही होगी कि बौद्ध और जैनधर्म के प्रवर्तक क्षत्रिय वर्ण के थे, उन्होंने ब्राह्मणवाद की कटु आलोचना की, क्योंकि धर्म को साधन मानकर पुरोहितो का वर्ग अपने सुखो की वृद्धि कर रहा था और जनता पर उल्टे रौब भी जमाता था। परिणामस्वरूप श्रमण-संस्कृति की सबसे बडी देन यह भी है कि समाज मे कोई भी वर्ण-व्यवस्था स्वीकार न की जावे। सभी प्राणिमात्र समान हैं। समानता की यह देन ही लोकतंत्र का मूल आधार है।

लोकतंत्र की व्याख्या करते हुए पाश्चात्य विद्वान् लार्ड ब्राइस ने कहा है कि लोकतंत्र केवल मात्र शासन-पद्धति ही नहीं है। समाज और धर्म का भी रूप है—क्योंकि आदर्श लोकतंत्र के लिए आवश्यक है कि समाज मे ऊंच-नीच का



भाव न हो और औसत स्तर का नागरिक इतना समझदार हो कि वह अपने कर्तव्य के प्रति जागरूक हो, समाज का सगठन और सिद्धान्त दोनो ही की दृष्टि से विशालहृदयी होना चाहिए। यह ध्रुव सत्य है कि कितना ही जनतत्र-वादी राज्य क्यो न हो यदि समाज मे समानता, सहिष्णुता, और सज्जनता नही है तो वह अन्ततागत्वा असफल ही होगा। किसी भी प्रकार की मदान्धता, कट्टरता और हिंसा की प्रवृत्ति लोकतत्र की जडो को खोखला कर देगी।

बौद्धिक अहिंसा

बौद्धिक अहिंसा पर जोर जैनमत ने स्याद्वाद के द्वारा दिया है। मुनियो की वाणी मे हम सर्वत्र एक तरह की चौकसी और सतर्कता देखते है कि जब वह किसी मत का खडन करते है तब भी उनके तर्क हिंसा से भीगे नही होते हैं। उनमे वह निर्ममता नही होती जो हठी विद्वान् का लक्षण मानी जाती है।

सत्य किसे मिलता है और किसे नही, यह विवाद का विषय है, मगर एक बात व्यावहारिक मालूम पडती है कि जो आदमी सत्य की राह पर चलता है वह हठ नही करता, किसी बात की जिद नही पकडता और दूसरो को चुप करने के लिए जोर-जोर से बोलने नही लगता है। कभी-कभी ऐसा समझ लिया जाता है कि विनम्र व्यक्ति सशयवादी है। किन्तु वह सशयवादी नही होता। विरोधी मत के विषय मे यह भाव लेकर जरूर चलता है कि क्या आश्चर्य, सत्य का एक पहलू उसे भी दिखाई पडा हो। और यही बात विरोधी मत के बारे मे उसे अहिंसक बना देती है। वर्तमान युग में स्याद्वाद का अत होता जा रहा है। यह गुण लोकतत्र के लिए अत्यन्त आवश्यक है। लोकतत्र के लिए यह आवश्यक तत्त्व भी है।

लोकतत्र की बुनियाद स्याद्वाद पर ही आधारित है। लोकतान्त्रिक जीवन की झाकी इस घटना से प्राप्त हो सकती है कि एक बार सऊदी अरब का शाह इगलैण्ड गया। इगलैण्ड की सम्राज्ञी ने परम्परागत पद्धति से शाह का स्वागत करते हुए प्रधानमत्री से परिचय कराया और उसके तुरन्त बाद ही अपने वाम-अग पर आसीन विरोधी दल के नेता का परिचय कराया। शाह ने सरल ढग से उत्तर दिया कि महारानी, यह आपकी ही उदारता है कि वफादार प्रधानमत्री के साथ ही आप विरोधी दल के नेता को भी सम्मान देती है। हमारे यहा सरकारविरोधी नेता के लिए केवल कारागार और फासी के तख्ते है। बात मे कितना बल है, यह लोकतत्र के जीवन की विशेषता पर बल देता है कि स्याद्वाद लोकतत्र का अभिन्न अग है।

जैन धर्म मे उदारता

जैन सुदूर प्राचीन काल मे जिस तरह त्यागीसघ मे जाति, लिंग आदि के भेद की अपेक्षा न करके सबको स्थान देते आये हैं, उसी तरह वे सदा अपने धर्मस्थानो मे जन्म से जैन नही ऐसे व्यक्तियों को समझाकर अथवा परिचय बढाकर तथा अन्य शिष्ट रीति से ले जाने मे गौरव मानते है। कोई भी विदेशी हो या विधर्मी, और चाहे जिस वर्ग का पुरुष हो या नारी, कोई सत्ताधारी हो या वैभवशाली, चाहे पारसी हो या मुसलमान, कोई शासकहो या ठाकुर या भील या अन्य कोई, पर जो भी सत्ता, सम्पत्ति और विद्या मे उच्च समझा जाता हो उसे अपने धर्मस्थानो मे किसी भी प्रकार ले जाने मे जैन लोग जैनधर्म की प्रभावना मानते हैं और यदि ऐसा व्यक्ति स्वय ही जैन स्थानो पर जाने की इच्छा प्रदर्शित करता है तब जैन गृहस्थो और व्यक्तियो की खुशी का कोई ठिकाना नही रहता, और यह स्थिति अभी तक सामान्य रूप से चली आ रही है। ऐसे समय मे कोई त्यागी या गृहस्थ जैन यह नही समझता कि मदिर और उपाश्रय मे आने वाला व्यक्ति राम का उपासक है या कृष्ण का, या खुदा अथवा अन्य किसी देवी देवता का। उसके मन मे तो केवल यही होता है कि भले ही वह किसी पथ का मानने वाला हो, चाहे वह मासभक्षी हो या मद्यपान करने वाला, यदि वह स्वय या अन्य की प्रेरणा से जैन धर्मस्थानो मे एक बार भी आता है तो कुछ न कुछ प्रेरणा और बोध ग्रहण ही करेगा, कुछ न कुछ सीखेगा ही। यह उदारता चाहे ज्ञानमूलक हो या निर्बलतामूलक, पर इसका पोषण और उत्ते-जन करना हर तरह से उचित समझा जाता है। यही चारित्र श्रमण-सस्कृति की देन है। उदारता लोकतत्र का महत्त्वपूर्ण तत्त्व है।

श्रमण-संस्कृति में त्रिरत्न

सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र यद्यपि हिन्दुओं के भक्तियोग, ज्ञानयोग और कर्मयोग से ही मिलते-जुलते हैं, किन्तु थोडा भेद अवश्य है। हिन्दु-धर्म मे ज्ञान, कर्म और भक्ति मे से कोई भी एक मार्ग मुक्ति के लिए यथेष्ट समझा जाता है किन्तु श्रमण-सस्कृति मे मोक्षलाभ के लिए सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र—तीनो को आवश्यक माना जाता है।

त्रिरत्न मे पहला स्थान सम्यग्दर्शन का आता है जिसके लिए यह आवश्यक है कि मनुष्य तीन प्रकार की मूढताए और आठ प्रकार के अहकारो को विल्कुल छोड दे। तीन प्रकार की मूढताए हैं, लोक-मूढता, देव-मूढता और पाखडी मूढता। नदियो मे स्नान करने से पवित्र होना, देवी देवताओ मे विश्वास और ऐसे सभी अन्ध विश्वास श्रमण-सस्कृति मे त्याज्य हैं। इन त्रिरत्नो का प्रभाव लोकतत्र के लिए वास्तव मे बहुत महत्त्वपूर्ण है। जो मनुष्य विवेकपूर्ण होगा वही अन्धविश्वास और सभी मूढताओ से ऊपर उठकर सुज्ञ नागरिक बन सकेगा। अन्धविश्वासी मनुष्य भेड की भाति कहा गया है जो कि लकीर का फकीर बन अपनी आत्मा का हनन करता है। ऐसे व्यक्तियो से वाह्य लोकतत्र के लिए खतरा है क्योकि तानाशाही के लिए ऐसा मूढवर्ग बहुत उपयोगी होता है।

प्रत्येक जैन गृहस्थ को पचव्रत लेने पडते हैं, जिनके नाम हैं—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह। गृहस्थो के लिए जो व्रत परिमित रक्खे गये है, श्रमणो पर वे ही व्रत अत्यन्त कठोरता से लागू किये जाते है, क्योकि उन्हे छूट की आवश्यकता नही है। उन्हे प्राणपण से इन व्रतो के पूर्ण पालन का प्रयास करना चाहिए। श्रमण-सस्कृति के पचव्रत लोकतान्त्रिक जीवन के महत्त्वपूर्ण और अविच्छिन्न अग मान जा सकते है।

राजतत्र व प्रजातत्र

उपर्युक्त वर्णन मे श्रमणसस्कृति के लोकतत्र के विभिन्न तत्त्वो पर प्रकाश डाला गया है। अब प्राचीन साहित्य के आधार पर प्रजातत्र के व्यवहार-पक्ष पर भी विचारविनिमय करना युक्तिसगत होगा। प्राचीन ग्रन्थो मे राजा शब्द के व्युत्पत्त्यर्थ का सम्यक् निरूपण किया गया है। वहा समझाया गया है कि प्रजा रञ्जन करना, उसे समृद्धिशील बनाकर प्रसन्न करना ही राजा का मुख्य कर्तव्य था। कालिदास ने भी रघुवश मे रघु के लिए यही भाव व्यक्त किया है। प्राचीन भारत के राजा अपने कर्तव्यो के पालन मे कोई बात उठा न रखते थे। लोकाराधन के लिए राम ने अपनी प्रिय पत्नी सीता को भी त्याग दिया था। प्राचीन साहित्य के अध्ययन से ज्ञात होता है कि समाज ने अराजकता को दूर करने तथा सुख, सम्पत्ति एव शान्तिपूर्ण जीवन के लिए राजा का नियन्त्रण स्वीकार किया। परन्तु राजा निरकुश नही बन सकता था। वह प्रजा का रक्षण करने के लिए नियुक्त किया जाता था और उसे इस कार्य के लिए कृषि की आमदनी का छठवा हिस्सा तथा व्यापार की आमदनी का दसवा भाग वेतन के रूप में दिया जाता था। उसे अपना कर्तव्य न निभाने पर पदच्युत भी किया जा सकता था।

दो प्रकार के राजा



प्राचीन भारत मे राजा दो प्रकार के रहते थे वशक्रमागत व निर्वाचित। वेद, ब्राह्मण, महाभारत, पुराण आदि प्राचीन ग्रन्थो मे राजाओ के वशक्रम का उल्लेख है। रामायण, महाभारत, पुराण आदि मे उनकी वशावलिया भी दी गई हैं, जिनसे पता चलता है कि राजाओ के अधिकार वशक्रमागत ही रहते थे। किन्तु ऋग्वेद, अथर्ववेद तथा जैन व बौद्ध साहित्य मे प्रजा के प्रतिनिधियो की एक समिति होती थी जिसके द्वारा निर्वाचन हुआ करता था। कुछ ऐतिहासिको का मत है कि मन्त्रिमडल का नाम ही सभा था।

वैदिक काल के पश्चात् भी राजा के चुनाव का सिद्धान्त कार्यरूप मे लाया जाता था। ब्राह्मण-ग्रन्थो मे आये राज्याभिषेक के वर्णन को पढने मे चुनाव के सिद्धान्त का पता लग जाता है। इस काल मे समिति का स्थान पौर जनपद ने ले लिया था। यह सभा पौरजानपद इसलिए कहलाती थी कि नगरो व ग्रामो के प्रतिनिधि इसके सदस्य हुआ करते थे।



वाल्मीकीय रामायण के अयोध्याकाड से पता चलता है कि राम को राजतिलक करने मे पूर्व राजा दशरथ को पौरजानपद की सम्मति लेनी पडी थी । राजा दशरथ की मृत्यु के बाद नये राजा के चुनाव के लिए पौरजानपद की बैठक हुई थी ।

इन प्रमाणो से स्पष्ट है कि प्राचीन भारत मे राजा के चुनने का सिद्धान्त भी वर्तमान था और तत्पश्चात् पौरजानपद द्वारा होने लगा । इसका मतलब यह कदापि नही है कि आधुनिक काल मे भारत के राष्ट्रपति या अमेरिका के प्रेसिडेण्ट के समान ही राजा का चुनाव होता था तथा उस पद के लिए दो-तीन प्रतिस्पर्धी रहा करते थे, जिनमे से बहुमत प्राप्त करने वाला विजयी कहलाता था । आजकल प्रजातत्र के नाम पर चलनेवाली राजनैतिक दलबन्दी प्राचीन भारत मे नही थी । राजा के चुनाव से तो उसका कोई सम्बन्ध नही था । साधारणत राजा वशक्रमागत ही रहता था । उसके उत्तरदायित्व व कर्त्तव्यो का स्पष्टीकरण कर दिया जाता था । जो राजा अपने उत्तरदायित्व को समझकर कर्त्तव्यों का पालन नही करता था वह समिति या पौरजानपद के द्वारा राजपद से च्युत किया जाता था तथा अन्य योग्य व्यक्ति राजा बनाया जाता था, जो कि साधारणत राजकुल का ही होता था । इसके अतिरिक्त प्रत्येक राजा को अपने पुत्र का राज्याभिषेक करते समय समिति, पौरजानपद आदि से स्वीकृति प्राप्त कर लेनी पडती थी । इस प्रकार राजपद का कार्य सुचारु रूप से चलता था ।

स्थानीय शासन

आधुनिक लोकतत्र के सिद्धान्त मे स्थानीय शासन पर अत्यधिक बल दिया गया है । प्राचीन भारत मे स्थानीय शासन का प्रारभ ग्रामो से होता था । ग्राम के शासन-सचालन मे सरकारी व गैर-सरकारी ऐसे दो प्रकार के कर्मचारियो का हाथ रहता था । गाव मे पटेल व व्यापारी सरकार की ओर से रहते थे और ग्रामपचायत जनता की ओर से रहती थी । कदाचित् उन दोनो सरकारी कर्मचारियो को भी पचायत मे रहना पडता था । गाव का मुखिया ग्रामीण कहलाता था । महावग्ग, कुलावक जातक, खरस्तर जातक, उमेतोभट्टजातक आदि मे ग्रामीण का उल्लेख है, जिनके अनुसार वह कर वसूल करता था तथा चोर तथा दुश्चरित्र व्यक्तियो को गिरफ्तार करता था । इसे ग्राम सम्बन्धी देख-रेख करनी पडती थी ।

ग्राम-पचायत

भारत की ग्रामपचायत सस्था भी बहुत प्राचीन है । अग्रेजी साम्राज्य के प्रारभ से पूर्व तक यह एक जीवित सस्था थी । इस सस्था के ऊपर अग्रेजी शासनकाल मे प्रशासनिक अधिकार समाप्त हो जाने पर भी अधिकाश सामाजिक व पारिवारिक झगडो के निवटारे के लिए बराबर पचायतो का योगदान रहा है । ग्राम के वयोवृद्ध व अनुभवी लोग उसके सदस्य रहते थे । ग्राम सम्बन्धी सब बातें उसी मे तय कर ली जाती थी । उसको न्याय करने का अधिकार भी प्राप्त था । श्रमण-साहित्य में कितने ही स्थलों पर ग्रामपचायत का उल्लेख आता है । शिला-लेखो मे उसके सर्वोपरि कर्मचारियों को ग्रामाधिप, ग्रामणी, ग्रामकूट, ग्रामपति, पट्टलकि आदि कहा गया है । जातक साहित्य मे उसे ग्रामभोजक नाम से उल्लिखित किया गया है । उसकी सहायता के लिए दो-तीन सदस्यो की एक छोटी-सी उपसमिति रहती थी, जिसे बडी पचायत के सामने जवाबदेह होना पडता था । अधिकार के स्थान पर साधारणतया वशक्रमागत थे । कभी-कभी एक से अधिक भी उपसमितिया रहती थी ।

पचायत की भावना

प्राचीन जीवन के—सामाजिक, आर्थिक व राजनीतिक जीवन के विकास मे पचायतभावना का अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण स्थान था । इसीलिए प्राचीन भारत का सार्वजनिक जीवन सुखी था । पचायत की भावना समाज मे इतनी प्रबल हो गई थी कि सार्वजनिक जीवन का प्रत्येक पहलू उसी के द्वारा सचालित होता था । हर प्रकार के सार्वजनिक कार्य के सचालन के लिए पचायती प्रथा थी । आजकल भी इस प्रथा का बिगडा हुआ स्वरूप जाति पचायतो के रूप मे

दिखाई देता है। ऊचे से ऊचे और नीचे से नीचे व्यक्ति का सामाजिक जीवन जाति-पचायतो द्वारा ही सचालित होता है।

वर्तमान भारत के सविधान-निर्माता भारत भूमि की परम्पराओं मे गहरी बैठी हुई पचायत भावना की अवहेलना नहीं कर सके, फलस्वरूप सविधान में पचायतो के गठन की व्यवस्था हो गई और आधुनिक काल की महत्त्व-पूर्ण लोकतन्त्र की इकाई का पुनर्गठन किया गया।

नागरिक जीवन

समाज के आर्थिक जीवन का सचालन श्रेणी, पूग, निगम आदि सस्थाओ द्वारा होता था। इनसे भिन्न-भिन्न व्यापार व उद्योग-धन्धो को करने वालो के सगठित जीवन का पता लगता है। ये सस्थाएँ बहुत प्राचीन थी। बौद्ध साहित्य, रामायण स्मृत्यादि से इनके अस्तित्व का पता लगता है। इन्हें बहुत से अधिकार भी प्राप्त थे। इस सम्बन्ध में मनु, याज्ञवल्क्य, बृहस्पति आदि स्मृतियो से तथा नासिक, जुन्नार आदि के प्राचीन शिला-लेखो से बहुत कुछ मालूम होता है। ये सस्थाए न केवल आर्थिक जीवन को सगठित करती थी, अपितु राजनैतिक दृष्टि से स्वतत्रता का वातावरण निर्मित करके समाज का सस्कृति के मार्ग में भी अग्रसर करती थी। इन सब सस्थाओ के अपने न्यायालय भी होते थे, जिनमें साधारणत जमीन-जायदाद आदि के दीवानी झगडे तय होते थे। बडे-बडे सम्राटो ने बाद में दीवानी पर भी अपना अधिकार जमाना शुरू कर दिया, फलत श्रेणी, पूग, ग्रामपचायत आदि के अधिकारो मे कुछ कमी अवश्य आती चली गई।

बौद्ध साहित्य में सघ

बौद्ध साहित्य में सघो का उल्लेख है, यहा इन्हे गण कहा गया है। अवदान-शतक (२।१०३) में वर्णन आता है कि मध्यप्रदेश से कुछ वणिक् दक्षिण में गये और वहा के राजा से मिले। राजा ने उनसे पूछा कि तुम्हारे यहा शासन कैसा होता है? इसपर इन्होंने कहा कि हे देव! कुछ देश गणाधीन है व कुछ राजाधीन हैं। शाक्य, कौलिय, लिच्छवी, विदेह, मल्ल, मोरिय, बुलिय, भग्ग आदि सघो का भी बौद्ध साहित्य में उल्लेख है। इन सघो की एक सभा रहती थी जिसकी बैठक एक बडे भवन में होती थी। इस भवन का सथागार कहते थे। इसी में राजा का चुनाव होता था। उसके हाथ मे सब शासनसूत्र रहते थे। वह राजा उक्त सभा का प्रधान रहता था जिसका चुनाव कदाचित् प्रतिवर्ष हुआ करता था। राजा शब्द पदवी मात्र का सूचक था। बौद्ध साहित्य मे सघ के अन्य कर्मचारियो का भी उल्लेख आया है, जैसे उपराजा, सेनापति, भाण्डागारिक आदि। इन सघो की सभा के महत्त्वपूर्ण निश्चय पुस्तक रूप मे सुरक्षित रखे जाते थे। न्याय का कार्य करने के लिए विनिच्चय महामात, वोहारिक सूत्रधार, अष्टकुलक आदि न्यायाधीश थे।



उपर्युक्त वर्णन से विदित होता है कि श्रमण-सस्कृति और साहित्य ने लोकतान्त्रिक सिद्धान्त को भली प्रकार सींचा है। सस्कृति के नैतिक सिद्धान्त लोकतन्त्र की नींव को सुदृढ करते हुए दिखाई देते है तथा प्राचीन भारत में लोक-तन्त्री शासनप्रणाली को पर्याप्त मात्रा मे विकसित होने दिया है। जनसाधारण मे पर्याप्त राजनीतिक विचारो की जाग्रति का प्रमाण श्रमण-साहित्य मे पूरी तरह से उपलब्ध है। जो राजनीतिक सिद्धान्त आधुनिक समझे जाते है तथा जिन पर यूनान, इगलैण्ड, फ्रास और अमेरिका की छाप लगी हुई है, जिनके प्रवर्तक हौब्स, लॉक, रूसो इत्यादि माने जाते हैं, वे सब प्राचीन भारत को ज्ञात थे। राजा का निर्वाचन, सभासमिति व पौरजानपद, मन्त्रिमडल, सघ-शासन आदि के बारे मे जो कुछ भी प्राचीन साहित्य उपलब्ध है उससे भारत में विकसित लोकतत्र की समस्याओ का आश्चर्यजनक विकास होना ज्ञात होता है।



संदर्भ ग्रन्थ—

१ भारतीय सस्कृति—लेखक श्री गौरीशकर भट्ट ।
२ सस्कृति के चार अध्याय—श्री दिनकर ।
३ भारतीय सस्कृति का इतिहास—दिनेशचन्द्र भारद्वाज ।
४ भारतीय सस्कृति—शिवदत्त ज्ञानी ।
५ भारत का सास्कृतिक इतिहास—हरिदत्त वेदालकार ।
६ रामायण—वाल्मीकि-कृत, अयोध्याकाण्ड ।
७ महाभारत (अग्रेजी)—श्री राजगोपालाचार्य ।
८ कार्पोरेट लाइफ इन एशियण्ट इण्डिया—डा० रमेशचन्द्र मजूमदार ।
९ ए हिस्ट्री आफ इण्डियन पोलिटिकल आइडियाज़—डा० यू० एन० घोशाले ।
१० हिन्दु पोलिटी—डा० जायसवाल ।
११ भारतीय सभ्यता तथा सस्कृति का विकास—वी० एल० लूनिया ।
१२ माडन डेमोक्रेसीज़—लार्ड ब्राइस ।
१३ महावीर जयन्ती स्मारिका—वार्षिक (१९६४) जयपुर ।
१४ सुधर्मा—मासिक विभिन्न अक ।
१५ ज्ञानोदय—विभिन्न अक ।
१६ ग्रामर आफ पोलिटिक्स (अग्रेजी)—लास्की ।
१७ पोलिटिकल साइन्स (अग्रेजी)—गेटेल ।
१८ राजनीति सार (हिन्दी)—अप्पादुराई ।
१९ रघुवश (हिन्दी अनुवाद)—कालिदास ।
२०. मोडर्न इण्डियन पोलिटिकल थॉट—डा० वी० पी० वर्मा ।
२१ श्रमणोपासक—विभिन्न अक ।

o

भारतीय सांस्कृतिक परम्परा की एक कड़ी : श्रमणसंस्कृति

वैद्यरत्न प० सुन्दरलाल जैन
तिलक फार्मेसी, इटारसी

भारतवर्ष में अनेक संस्कृतियाँ प्रचलित हैं किन्तु विविधता होते हुए भी उनमें भारतीयत्व की गहरी छाप है। अतः भारतीयता के नाते समस्त संस्कृतियाँ एक हैं। 'भारतीय संस्कृति' शब्द का उच्चारण करने से भारत की समस्त संस्कृतियाँ उसमें अन्तर्भूत हो जाती हैं। फिर भी प्रत्येक संस्कृति का अपना पृथक्-पृथक् अस्तित्व एवं महत्त्व है। भारतवर्ष में प्रचलित समस्त संस्कृतियों का स्वरूपविभाजन सापेक्षतः दो रूपों में किया जा सकता है—सामाजिक एवं धार्मिक। संस्कृति का सामाजिक रूप वह है जो विविध कलाओं, विज्ञान, अनुसंधान, एवं आविष्कारों से निरन्तर परिपुष्ट एवं समृद्ध होता रहता है। इससे भिन्न संस्कृति का धार्मिक स्वरूप लोककल्याण की भावना से परिपूर्ण एवं लोकोत्तर सुखोपलब्धि का साधन होता है। संस्कृति के इस आध्यात्मिक पक्ष का साकार रूप है—श्रमण-संस्कृति, जिसमें अलौकिक भौतिक व क्षणिक सुखों के लिये न कोई स्थान है और न कोई मान्यता। श्रमण-संस्कृति निवृत्ति-प्रधान है किन्तु उसका उद्देश्य प्रवृत्ति-मात्र को निर्मूल करने का नहीं। संस्कृति में वही प्रवृत्ति हेय है जो आसक्ति के बिना कभी सम्भव ही नहीं। यथा कामवासना, वैयक्तिक परिग्रह, लोभ, मोह आदि। इस प्रकार के कामाचार आदि अनैतिक तत्त्व समाज में दूषित वातावरण की स्थिति उत्पन्न कर देते हैं और समाज के प्रकृत स्वरूप को विकृत कर देते हैं। अतः एतद्विध कुपथ से बचने के लिए यह संस्कृति मानवता की रक्षा और भलाई के लिये निरन्तर प्रयत्नशील एवं अग्रसर रहती है। श्रमण-संस्कृति का क्षेत्र सदैव व्यापक रहा है। रूढ़िगत मान्यताओं एवं परम्पराओं का इसमें लेशमात्र भी स्थान नहीं है। प्राणिमात्र की आत्मकल्याणाभिमुख प्रवृत्ति ही इसका मुख्य ध्येय रहा है।

आत्मकल्याण-सम्बन्धी ठोस सिद्धान्तों का न केवल प्रतिपादन अपितु उन्हें क्रियात्मक स्वरूप प्रदान करना ही श्रमण-संस्कृति की मूल परम्परा रही है, ताकि उसे जीवन में उतार कर आत्मकल्याण का साधन बनाया जा सके।

आध्यात्मिक एवं आत्मवादी होने के कारण श्रमण-संस्कृति ने भारतीय जन-जीवन को अमूल्य देन दी है। निवृत्तिपरक उद्देश्यों के लिये तथा इस परिवर्तनशील संसार से आत्मा की मुक्ति के लिये जितना जोर श्रमण-संस्कृति ने दिया उतना अन्य किसी संस्कृति ने नहीं दिया। श्रमण के लिये आत्म-मुक्ति प्रधान लक्ष्य है, अन्य कार्य गौण हैं। अतः श्रमण-संस्कृति में आत्मतत्त्व एवं मोक्षतत्त्व सदैव मुख्य विचारणीय विषय रहे हैं। वस्तुतः ये दोनों ही तत्त्व एक-दूसरे के पूरक रहे हैं। मोक्ष की सिद्धि आत्मतत्त्व के अस्तित्व में है। आत्मा का मुख्य लक्ष्य है—मोक्षप्राप्ति। तदर्थ आत्मा को मोक्षाभिमुख प्रेरित करना आवश्यक है। अतः इसके लिये आरम्भ से ही दो श्रेणियाँ चली आ रही हैं—कर्म का परित्याग कर मोक्ष-प्राप्ति और सत्कर्म करते-करते आत्मशुद्धिपूर्वक मोक्ष-प्राप्ति। ये दोनों ही श्रेणियाँ क्रमशः निवृत्ति एवं प्रवृत्तिमूलक हैं। दोनों का उद्देश्य एक ही है—निष्कर्म बन जाना। भेद है केवल अनुष्ठान या प्रक्रिया में। प्रथम अनुष्ठान है कर्म का पूर्णतः परित्याग और द्वितीय अनुष्ठान है, कर्मशोधनपूर्वक उसका क्षय। कर्मपरित्याग (संन्यास) अनुष्ठान लक्ष्याभिमुख द्रुतगामी है और कर्म-क्षय लक्ष्याभिमुख मन्दगतिपूर्वक होता है।

जैन धर्म और श्रमण-संस्कृति के सम्बन्ध का जहाँ तक प्रश्न है, वह निर्मूल है। दो वस्तुओं का पारस्परिक सम्बन्ध केवल वहीं होता है जहाँ दोनों वस्तुएँ भिन्न हों। यहाँ श्रमण-संस्कृति जैन धर्म से कोई भिन्न वस्तु नहीं है,

अपितु उसका ही विशेप अग है । श्रमण-सस्कृति को जैन धर्म से पृथक् नही किया जा सकता, जैन धर्म के कारण ही उसे इतना महत्त्व एव गौरव प्राप्त है ।

श्रमण-धर्म किसी व्यक्ति, समाज या राष्ट्र-विशेप की सम्पत्ति नही है । प्राणिमात्र उसके सैद्धान्तिक एव क्रियात्मक पक्ष की समाराधना का अधिकारी है । आत्म-साधन ही श्रमण-धर्म का मूलोद्देश्य है, जिसके लिये प्रवृत्ति के असत् अश का त्याग और सत् अश के साधन का अवलम्बन लेना तथा क्षमता व वैराग्य-वृत्ति के अनुरूप निवृत्ति की ओर अग्रसर रहना चाहिये ।[1] अभिप्राय यह है कि प्रवृत्ति की भी निवृत्ति मे ही आत्यन्तिक परिणति कर अत मे मोक्षाभिमुख होना श्रमणधर्म का प्रमुख लक्ष्य है । इस प्रकार श्रमणधर्म मूलरूपेण निवृ`त्तिपरक ही सिद्ध होता है । यह निवर्तक धर्म व्यक्तिगामी है और वह आत्म-साक्षात्कार की उत्कृष्ट वृत्ति में से उत्पन्न होने के कारण मुमुक्षु एव जिज्ञासु को आत्मतत्त्व के चिन्तन के लिये अनेक जिज्ञासाओ से परिपूर्ण बना देता है । आत्मतत्त्व के विपय मे एतद्विध जिज्ञासाएँ एकान्तचिन्तन, ध्यान, तप और असगतापूर्ण, सत्यमय जीवन के अभाव मे समाधान-योग्य नही हैं ।

एतद्विध वास्तविकतापूर्ण, सत्यमय जीवन विशिष्ट व्यक्तियो के लिये ही सम्भावित है । उन व्यक्तियो के लिये भौतिक सुख नगण्य एव तुच्छ प्रतीत होते हैं, सासारिक आकर्पण उन्हे ससार मे बाँधने मे असमर्थ रहते है और वे गृहस्थाश्रम के बधन से मुक्त रहते हैं । श्रमणधर्म के अनुसार मुमुक्षु व्यक्तियों के लिये मुख्य कर्त्तव्य एक ही रहता है और वह है—आत्मसाक्षात्कार-हेतु आत्मशुद्धि एव कर्मनिर्जरा मे प्रतिरोध या रुकावट उत्पन्न करने वाली इच्छाओ के समूल विनाश के लिये सतत प्रयत्नशील रहकर लक्ष्य की प्राप्ति करना ।[2]

जैसा कि उपर्युक्त प्रकरण मे स्पष्ट किया जा चुका है, श्रमण-सस्कृति ने आत्मा और मोक्ष इन दो तत्त्वो के विपय मे मुख्य दृष्टिकोण अपनाया है । यही कारण है कि वह सदैव आत्मदर्शी रहती है । शरीर के भरण-पोपण एव रक्षण की उपेक्षा यद्यपि सम्भव नही है, किन्तु उसका दृष्टिकोण मात्र देहलक्ष्यी नही रहा है । वस्तुत देखा जाय तो आत्म-साधन के समक्ष शरीर-साधन अत्यन्त निकृष्ट एव महत्त्वहीन है । जैन धर्म ने सदैव ऐसे सिद्धातों का प्रतिपादन एव पोपण किया है जो आत्मा को ऊँचा उठाने मे सहायक हैं । आत्मतत्त्व, मोक्षतत्त्व एव इनसे सम्बन्धित अन्यविपयों मे जैन दशन का जितना व्यापक दृष्टिकोण रहा है, उतना किसी भी अन्य धर्म या दर्शन का नही है ।

श्रमण का श्रामण्य भी इसी मे निहित है कि वह प्रथम आत्मदर्शी बने ।[3] इसके अभाव मे उसका श्रमणधर्म ही खण्डित हो जाता है । एक व्यक्ति जब तक श्रमणधर्म के मूल तत्त्वो को अपने जीवन मे पूर्णरूपेण नही उतार लेता तब तक न तो उसमे श्रामण्य ही रहेगा और न वह श्रमण कहलाने का अधिकारी है ।[4]

"श्रमणस्य भाव श्रामण्यम्" ससार के प्रति मोह या ममत्वभाव का त्याग अथवा ससार से पूर्णत सन्यास ग्रहण करना ही श्रामण्य कहलाता है । एतद्विध श्रामण्य से युक्त व्यक्ति ही श्रमण कहलाता है । श्रमण पचमहाव्रतो का पालक एव सासारिक वृत्तियो का परित्याग करने वाला होता है । वह निष्कर्म भाव की साधना से पूर्ण एव एकाग्रचित्तेन आत्म-साधना (चिन्तन) मे लीन होता है । आडम्बरपूर्ण व्यावहारिकता के लिये उसके जीवन मे कोई स्थान नही रहता । बाह्य जगत् उसके लिये अधकाराच्छन्न हो जाता है । किन्तु उसका अतस्तल आत्म-ज्योतिपुज से ज्योतिमान रहता है, जिससे वह ससार के समस्त भावो को अविच्छिन्न रूप से देख सकता है । केवलज्ञान उसकी समस्त सीमाओं को तोडकर उसे त्रिकालदर्शी बना देता है । यही उसके श्रामण्य की चरम सीमा है । तदनन्तर उसकी अभीष्ट-प्राप्ति के लिए कोई व्यवधान की समुपस्थिति सम्भाव्य नही ।

---

१ असुहादो विणिवित्ती सुहे पवित्ती य जाण चारित्त—आचार्य नेमिचन्द्र ।

२. कामे कमाही कमियं खु दुक्खं—दशवैकालिकसूत्र ।

३. पुरिसा ! अत्ताणमेव अभिनिगिज्झ, एव दुक्खा पमोक्खसि—आचारागसूत्र ।

४. गुणेहि साहू अगुणेहिऽसाहू, गिण्हाहि साहूगुण मुचऽसाहू ।

श्रमण के जीवन में संयम एवं तपश्चरण का अधिक महत्त्व है।[१] संयमपूर्ण जीवन उसे सांसारिक वृत्तियों की ओर अभिमुख होने से रोकता है, और तपश्चरण उसकी कर्मनिर्जरा में सहायक होता है। संयम के अभाव में वह तपश्चरण की ओर अभिमुख नहीं हो सकता और तपश्चरण के बिना कर्मबन्धन से उसकी मुक्ति असम्भावित है। ऐसी स्थिति में उसका मोक्षप्राप्ति-हेतु आत्म-साधना का ध्येय अपूर्ण ही रह जाता है। अतः यह सुनिश्चित है कि संयमधर्म तपश्चरण का पूरक है। "इच्छानिरोधस्तप" तप की इस परिभाषा से यह तथ्य स्वतः ही उद्भासित हो जाता है कि संयम और तप परस्पर-सम्बद्ध हैं। इच्छाओं का निरोध करना ही संयम है, और तत्प्राप्तिध्येन विहित क्रियाविशेष ही तपश्चरण है। संसार में समस्त इच्छाएँ-वासनाएँ इन्द्रियजनित होती हैं। ये इच्छाएँ एवं वासनाएँ भौतिक व सांसारिक क्षणिक सुखों की प्राप्ति के लिये अभिव्यक्त होती हैं। इन इच्छाओं एवं वासनाओं को रोककर संसार के प्रति विमुखता, इन्द्रियों को अपने आधीन करना एवं चित्तवृत्ति की एकाग्रता ही संयम है।[२] एतद्विध संयम का चरम विकास मुनित्व-काल में सम्भावित है। श्रमण-परम्परा के अनुसार आपेक्षिक दृष्टि से यद्यपि गृहस्थ को निम्न एवं श्रमण को उच्च स्थान प्राप्त है, किन्तु साधना के क्षेत्र में निम्नोच्च की कल्पना को प्रश्रय नहीं दिया गया है। वहाँ संयम की ही प्रधानता है। इस विषय में उत्तराध्ययन में भगवान् महावीर के वचन द्रष्टव्य हैं—कई गृहत्यागी भिक्षुओं की अपेक्षा कुछ गृहस्थों का संयम और उनकी अपेक्षा साधनाशील संयमी मुनियों का संयम प्रधान है।[३] श्रमण-परम्परा कोरे वेषपरिवर्तन को महत्त्व नहीं देती है। जिसने भोग तो छोड़ा, आसक्ति नहीं छोड़ी, वह न भोगी है न त्यागी है। भोगी इसलिये नहीं है कि भोग नहीं भोगता, त्यागी इसलिये नहीं कि वह आसक्ति का त्याग नहीं कर सका। पराधीन होकर भोग-त्याग करने वाला व्यक्ति त्यागी या श्रमण नहीं है। त्यागी या श्रमण वह है जो स्वाधीन भावनापूर्वक भोग से दूर रहता है।[४]

अपने विशिष्टाचरण एवं त्यागभावना के कारण श्रमण सदैव गृहस्थ की अपेक्षा उच्च माना गया है। अतिचाररहित व्रतों का पालन ही उसका वैशिष्ट्य है। मनसा, वाचा, कर्मणा पाँच महाव्रतों का पालन ही उसकी आत्मा की शुद्धि एवं निर्मलता का परिचायक होता है, जिससे आत्मा सांसारिक कर्मबन्धन से रहित होकर निरन्तर मुक्ति की ओर अग्रसर होती है। यही श्रामण्य है, एवं श्रमण-संस्कृति का मूल है। जैन धर्म के अतिरिक्त इसकी अवस्थिति नहीं है। अतः अन्य संस्कृतियों में इस संस्कृति का स्वतन्त्र अस्तित्व एवं महत्त्व है। जैन धर्म के अपने मूलभूत सिद्धान्तों एवं संस्कृतिपरक विशेषताओं के कारण ही श्रमण-संस्कृति का भारतीय संस्कृति में महत्त्वपूर्ण स्थान बनाने में समर्थ हो सका है।

卐



---

१ धम्मो मंगलमुक्किट्ठं अहिंसा संजमो तवो—दशवैकालिक।

२ आस च छंदं च विगिंच धीरे—आचारांगसूत्र।

३ संति एगेहिं भिक्खूहिं गारत्था संजमुत्तरा।

४ वत्थगंधमलंकारं इत्थीओ सयणाणि य।
अच्छंदा जे न भुंजंति न से चाइत्ति वुच्चइ।
जे य कंते पिए भोए लद्धे वि पिट्ठिकुव्वइ।
साहीणे चयइ भोगे से हु चाइत्ति वुच्चइ।।

प्राग् ऐतिहासिक भारतीय संस्कृति और वैदिक संस्कृति का समन्वय



रिषभदास रॉका

भारतीय प्राचीन सस्कृति अत्यन्त गौरवमयी और उन्नत होते हुए भी उसका सम्यक् परिचय पाने मे अनेक कठिनाइयाँ है। भारत मे व्यवस्थित इतिहास लिखने की प्राचीन काल मे प्रथा नही थी। प्रारम्भ मे तो लिखने का रिवाज ही नही था इसलिये प्राचीनकाल मे साहित्य पाठान्तर के रूप मे पाया जाता है। यह प्राचीन साहित्य जो वेद के रूप मे मिलता है उसका निर्माण भी बहुत बाद मे हुआ था और लेखन उसके भी बहुत बाद मे।

प्रारम्भ मे तो ऋचाएँ ऋषि-मुनि अपने शिष्यो को मुखोद्गत कराते थे और उनका पठन होता था। इसलिये प्रारम्भ मे भारतीय सस्कृति को अन्य प्राचीन सस्कृतियो से अर्वाचीन समझा जाता था। इसमे यह भी कारण रहा हो कि प्राचीन इतिहास की खोज का काम प्रारम्भ मे अधिकतर विदेशियो ने ही किया था, जिनकी भारतीयो के प्रति उपेक्षा थी। वे प्राचीन भारतीयो की सस्कृति का प्रारम्भ वेदकाल के बाद मे मानते थे, क्योकि प्राचीन साहित्य मे वेद की गणना से इन्कार नही किया जा सकता था। पर कुछ वर्ष पहले प्राय सभी इतिहासज्ञ भारतीय सस्कृति का प्रारम्भ आर्यो के आगमन के बाद और वेदो के निर्माण के बाद ही मानते थे। पर मोहनजोदडो, हडप्पा तथा अन्य स्थानो की खुदाई ने इतिहासज्ञो को पुनर्विचार करने को बाध्य किया और अब यह माना जाने लगा है कि आर्यों के आगमन के पहले भारत मे विकसित और सुसस्कृत लोग बसते थे।

वेदपूर्व भारतीय सस्कृति

आर्यों के भारत मे आगमन के पहले जो सस्कृति थी उसकी खोज होने लगी है और अनेक विद्वान् इस बात को मानने लगे है कि वह श्रमण या आर्हत सस्कृति होनी चाहिये जो यज्ञपरायण वैदिक सस्कृति से भिन्न थी। डा० रामधारीसिंह 'दिनकर' ने 'सस्कृति के चार अध्याय' मे लिखा है कि "यह मानना युक्ति-युक्त है कि श्रमणसस्था भारत मे आर्यो के आगमन से पूर्व विद्यमान थी और ब्राह्मण इस सस्था को हेय समझते थे। यह श्रमण-ब्राह्मण सघर्ष बौद्धो के पूर्व भी था। क्योकि पाणिनि ने, जिनका समय ईसा से सात सौ वर्ष पूर्व माना जाता है, श्रमण-ब्राह्मण सघर्ष का उल्लेख 'शाश्वतिक विरोध' के उदाहरण के रूप मे किया है। वे आगे चलकर लिखते है,— 'पौराणिक हिन्दु-धर्म निगम और आगम दोनो पर आधारित माना जाता है। निगम वैदिक प्रधान आगम हैं। प्राग्वैदिक काल से आती हुई वैदिकेतर धार्मिक परम्परा का वाचक है। 'जैनियो के प्रमुख धार्मिक ग्रन्थो का आज भी आगम नाम से ही उल्लेख किया जाता है। बौद्ध धर्म की स्थापना भगवान् बुद्ध ने की, जिनका काल आज से पच्चीस सौ वर्ष पूर्व माना जाता है। इसलिये बौद्धो के पहले भारत मे श्रमणसस्कृति थी और उसके जैन होने की सभावना ही अधिक है। बौद्धधर्म के २५० वर्ष पहले जैनियो के तीर्थंकर पार्श्वनाथ हुए थे। उनका तथा उससे भी प्राचीन काल मे जिनका उल्लेख मिलता है, वे अरिष्टनेमि तथा ऋषभदेव जैनियो के उपास्य देव तीर्थंकर थे। इसलिये अधिक सभव यही लगता है कि प्राग् ऐतिहासिक काल मे यहाँ जो श्रमण-सस्कृति हो वह जैन सस्कृति से मिलती-जुलती या जैन-सस्कृति ही रही हो। यो जैनियो की अनुश्रुतियो से भी

मकीन मिलता है कि उनका धर्म अत्यन्त प्राचीन काल से चला आ रहा है। उत्खनन मे मिली वस्तुओ के अतिरिक्त मानव-वस्त्रास्त्र, भाषा, धार्मिक विचार, साहित्य और उपास्य देव आदि साधनो का भी शोधको ने उपयोग किया जिससे शोधकर्ता इस निर्णय पर पहुँच गये हैं कि वैदिक संस्कृति के पूर्व यहाँ जो आर्येतर जातियाँ बसती थी उनके धार्मिक रीति-रिवाज और विचार सुसंस्कृत थे और उनका रहन-सहन और बर्ताव सभ्यतापूर्ण था। आर्येतरो की नागरिक सभ्यता थी। उनके मकान सभी सुखसुविधाओ से युक्त थे। गृहनिर्माण तथा स्थापत्य कला में उनकी अच्छी प्रगति थी।

प्राग्वैदिक और वैदिक संस्कृति मे भेद

अब हमे यह देखना होगा कि उस समय की वैदिक संस्कृति और ब्राह्मण संस्कृति मे किन किन-बातो मे मतभेद था? वेदो मे जिस यज्ञप्रधान संस्कृति के दर्शन होते हैं उसमे वह वेद और ब्रह्म को सर्वश्रेष्ठ घोषित करती है और ब्रह्मप्राप्ति के लिये यजनकर्म को परम पुरुषार्थ निरूपित करती है। यज्ञप्रधान वैदिक संस्कृति का वेदकाल तथा उसके पूर्व भी विरोध दिखाई देता है। व्रात्य और साध्य लोग आर्हत संस्कृति को माननेवाले थे। वे ईश्वर को सृष्टिकर्ता नहीं मानते थे। उनका विश्वास था कि सृष्टि प्राकृतिक नियमो से बँधी हुई है। प्रकृति के नियमो के ज्ञान से मनुष्य नये संसार की रचना कर सकता है। मानव की शक्ति ही सबसे बडी शक्ति है और वह समस्त शक्तियो मे श्रेष्ठ कहा जाता है। श्री देवदत्त शास्त्री ने 'चिन्तन के नये चरण' मे लिखा है कि "साध्यो ने सरस्वती और सिन्धु के संगम पर विज्ञान-भवन स्थापित कर सूर्य का निर्माण किया था। विज्ञान-भवन मे बैठकर समस्त ब्रह्माण्ड का साक्षात्कार किया था। डा० देवेन्द्रकुमार ने लिखा है कि 'आर्हतो का कर्म मे विश्वास होने से ईश्वर को सृष्टिकर्ता नही मानने का कारण था। ये आर्हत मुख्य रूप से क्षत्रिय थे। राजनीति के साथ-साथ धार्मिक कामो मे भी उनकी रुचि थी। समय आने पर वे धार्मिक वाद-विवादो मे भी भाग लेते थे। वे 'अर्हत्' के उपासक थे। उनके देव-स्थान पृथक् थे और पूजा अवैदिक थी। आर्हत परम्परा की पुष्टि श्रीमद्भागवत, पद्मपुराण, विष्णुपुराण, स्कन्दपुराण, और शिवपुराण आदि पौराणिक ग्रन्थो से होती है। इनमे जैन धर्म की उत्पत्ति के विषय मे भी अनेक आख्यान उपलब्ध हैं। यथार्थ मे आर्हत धर्म जिस परम्परा का प्रतिनिधित्व करता है वही वेदो, उपनिषदो, जैनागम महाभारत और पुराण साहित्य मे कुछ परिवर्तन के साथ स्पष्ट रूप से दिखाई देता है। तीर्थंकर पार्श्वनाथ के समय तक जैन धर्म के लिए आर्हत शब्द ही प्रचलित था।

"वैसे जैनशास्त्रो मे भी ऐसा उल्लेख मिलता है कि धर्म का हरेक तीर्थंकर के तीर्थ मे देश, काल, परिस्थिति के अनुरूप परिवर्तन पाया जाता है। जैसा कि तीर्थंकर पार्श्वनाथ के समय मे चार याम वाला धर्म था। उसे भगवान् महावीर ने पचव्रतो मे विकसित किया। मूलरूप मे अर्हत्-संस्कृति अहिंसा, समता-प्रधान तथा कर्म-प्रधान थी, जब कि आर्य भौतिक सुखो को प्राप्त कर वर्तमान जीवन को सुखी बनाने वाले प्रवृत्तिमूलक विचारो के तथा यज्ञो के उपासक थे। उनपर निवृत्तिपरायण और अहिंसक संस्कृति का प्रभाव पडा और श्रमण-सस्कृति ने भी वैदिक स्कृति मे कई बातें ग्रहण की। यज्ञो मे पशु-हिंसा बन्द होकर दोनो संस्कृतियो का समन्वय हुआ। वह हमे उपनिषद तथा महाभारत-काल मे देखने को मिलता है। श्रमण-संस्कृति पुनर्जन्म को मानती थी और वह आध्यात्मिकता-प्रधान थी।"

आर्हतो के उपास्य ऋषभदेव को आर्यो ने अपने यहाँ पूज्य पुरुषो मे स्थान दिया। वेद मे उसका उल्लेख मिलता है पर जब दोनो संस्कृतियो का समन्वय हुआ तब तो उन्होंने ब्राह्मणो के २४ अवतारो मे स्थान पा लिया। ऋषभदेव श्रमणो की तरह ब्राह्मणो मे भी पूज्य और आदरणीय बने। वैसे ऋषभदेव आर्यो के आगमन के बहुत पहले हुए हो, ऐसा लगता है। क्योकि मोहनजोदडो मे कायोत्सर्ग मुद्रा मे जो ध्यानमूर्तियाँ मिली है उनमे बैल का चिह्न पाया जाता है। ऋषभदेव की तरह शकर का प्रतीकचिह्न भी बैल ही है। दोना ही साधना मे योग को प्राधान्य देनेवाले थे। इसीलिये कई लेखको ने दोनो की तुलना कर उन्हे एक बनाने का प्रयत्न किया है। वे दोनो एक हो या भिन्न, पर निवृत्ति-प्रधान और योग को प्राधान्य देनेवाले थे। अध्यात्म, सादगी, सयम, पुनर्जन्म को माननेवाले, तथा पशुयज्ञो के विरोधक थे। डा० मगलदेव शास्त्री ने भारतीय संस्कृति की दोनो विचारधाराओ को युग्म कहा है। वे कहते हैं—





"भारतीय समाज मे एक द्वन्द्व तो कर्म और सन्यास को लेकर है, दूसरा प्रवृत्ति और निवृत्ति को मध्य लेकर है और तीसरा स्वर्ग और नरक की कल्पनाओ को लेकर। अत्यन्त प्राचीन काल से भारत की मानसिकता दो धाराओ में विभक्त रही है। एक धारा कहती है कि जीवन सत्य है और हमारा कर्तव्य है कि हम बाधाओ पर विजय प्राप्त करके जीवन मे जयलाभ करें एव मानव-बन्धुओ का उपकार करते हुए यज्ञादि से देवताओ को भी प्रसन्न करे, जिससे हम इस और उस, दोनो लोको मे सुख और आनन्द प्राप्त कर सकें। किन्तु दूसरी धारा की शिक्षा यह है कि जीवन नाशवान् है। हम जो भी करें किन्तु, हमे रोग और शोक से छुटकारा नही मिल सकता, न मृत्यु से हम भाग सकते हैं। हमारे आनन्द की स्थिति वह थी, जब हमने जन्म लिया था। जन्म के कारण ही वासनाओ की जजीर मे पडे है। अतएव, हमारा श्रेष्ठ धर्म यह है कि हम उन सुखो को पीठ दे दे जो हमें ललचाकर ससार मे बाँधते हैं। इस धारा के अनुसार मनुष्य को घर-बार छोडकर सन्यास ले लेना चाहिये — और देह-दडनपूर्वक वह मार्ग पकडना चाहिये जिससे आवागमन छूट जाय।

अनुमान यह है कि कर्म और सन्यास मे से कर्म तथा प्रवृत्ति और निवृत्ति मे से प्रवृत्ति के सिद्धान्त, प्रमुख रूप से वैदिक हैं तथा सन्यास और निवृत्ति के सिद्धान्त अधिकाश मे प्राग्-वैदिक मान्यताओ से पुष्ट हुए होगे। किन्तु भारतीय अध्यात्मशास्त्र और दर्शन पर जितना प्रभाव सन्यास और निवृत्ति का है, उतना प्रभाव कर्म और प्रवृत्ति के सिद्धान्तों का नहीं है। इसमे आश्चर्य की कोई बात नहीं है। ऋग्वेद के आधार पर यह मानना युक्तिसगत है कि आर्य पराक्रमी मनुष्य थे। पराक्रमी मनुष्य सन्यास की अपेक्षा कर्म को अधिक महत्त्व देता है, दु खो से भाग खडा होने के बदले वह डटकर उसका सामना करता है। आर्यो का यह स्वभाव कई दशाओ मे बिलकुल अक्षुण्ण रह गया है। विशेषत योरोप मे उनकी पराक्रमशीलता पर अधिक आँच नहीं आई। किन्तु, कई देशो की स्थानीय सस्कृति और परिस्थितियो ने आर्यो के भीतर पस्ती डाल दी एव उनके मन को निवृत्ति-प्रेमी बना दिया। भारत की प्राग्वैदिक सस्कृति ने आर्यों की वैदिक सस्कृति के चारो ओर अपना विशाल जाल फैला दिया, उसे देखते हुए यह सूक्ति काफी समीचीन लगती है कि "भारतीय सस्कृति के बीच वैदिक सस्कृति समुद्र मे टापू के समान है।"

वैदिको की प्रार्थनाओ से भी यह बात स्पष्ट होती है। वे मानते थे कि "सारी सृष्टि किसी एक ही प्रच्छन्न शक्ति से चालित और ठहरी हुई है। उस शक्ति की आराधना कर मनुष्य जो भी चाहे प्राप्त कर सकता है। उनकी प्रार्थनाएँ लम्बी आयु, स्वस्थ शरीर, विजय, आनन्द और समृद्धि के लिये की जाती थी। कुछ हम यहाँ देते हैं

हम सौ वर्ष तक जियें।
हम सौ वर्ष तक अपने ज्ञान को बढाते रहें।
हम सौ वर्ष तक पुष्टि और दृढ़ता को प्राप्त करें।
हम सौ वर्ष तक आनन्दमय जीवन व्यतीत करें।

हम सौ वर्ष तक अदीन होकर रहें।

जो स्वय उद्योग करता है, इन्द्र उसकी सहायता करते हैं।
जो श्रम नहीं करता है, देवता उसके साथ मित्रता नहीं करते।
भगवन् ! जीवन-यात्रा मे हमें समुन्नत कीजिये।
हम सदा प्रसन्नचित्त रहते हुए उदीयमान सूर्य को देखें।

ओ मेरे आराध्य देव !
आप तेजस्वरूप हैं, मुझ में तेज को धारण कीजिये।
आप वीर्यरूप हैं, मुझे वीर्यवान् कीजिये।
आप बलरूप हैं, मुझे बलवान् बनाइये।
आप ओजरूप हैं, मुझे ओजस्वी बनाइये।

वैदिक तथा आगमिक संघर्ष

वैदिक और आगमिक तत्वों में संघर्ष वेदों के समय भी चलता होगा, इसमें सन्देह नहीं है। आगम हिंसा के विरुद्ध थे और यज्ञों में हिंसा होती थी। आगे चलकर दोनों संस्कृतियों में समन्वय हुआ जिससे अहिंसक यज्ञ होने लगा। गीता, महाभारत, भागवत तथा उपनिषदों में दोनों संस्कृतियों का समन्वय पाया जाता है। दोनों संस्कृतियों के समन्वय में यदुकुल तथा श्रीकृष्ण का हिस्सा महत्त्वपूर्ण है।

संभव यह हो सकता है कि महाभारत की हिंसा ने भारतीयों में हिंसा के दुष्परिणाम की जानकारी करा दी हो और उनका अहिंसा की ओर अधिक झुकाव हुआ हो। कई इतिहासज्ञों का मानना है कि आर्यों का उत्साह और प्रवृत्तिमार्गी दृष्टिकोण महाभारत के पूर्व तक अक्षुण्ण रहा हो। बाद में अहिंसा के प्रति आकर्षण बढ़ा हो। और यह श्रद्धा निर्माण हो गयी हो कि यज्ञ में हिंसा सद्धर्म नहीं हो सकती। जीवन का ध्येय सांस्कृतिक समन्वय के बाद नाना रिद्धि वित्त नहीं किन्तु मोक्ष माना जाने लगा हो।

समन्वय का प्रारंभ

प्राचीन साहित्य में आर्हत और बार्हत शब्द संस्कृति की दो धाराओं के लिए पाये जाते हैं। आर्हत लोग अर्हत् के उपासक थे और बार्हत थे वेद और ब्राह्मणों को माननेवाले यज्ञ के उपासक। 'बृहती' वेद को कहते हैं। उसके भक्त बार्हत थे। वे वैदिक यजन-कर्म को ही सर्वश्रेष्ठ मानते थे। अर्हत् शब्द ऋग्वेद में आया है और अर्हत् को-विश्व की रक्षा करनेवाले को श्रेष्ठ कहा गया है। इससे तथा ऋषभ के ऋग्वेद में उल्लेख से लगता है कि समन्वय की प्रक्रिया ऋग्वेद-काल से शुरू हुई थी पर उसका पूर्ण विकसित स्वरूप हम पाते हैं महाभारत या उपनिषद्काल में। वृषभ और ऋषभ शब्द भिन्न-भिन्न अर्थों में प्रयुक्त हुए हैं। मेघ, बैल, साँड, और अग्नि के रूप में उनका उल्लेख मिलता है तो कई स्थानों में कामनाओं की पूर्ति करनेवाला या कामनाओं की वर्षा करने वाला माना गया है। किन्तु ऋग्वेद में वे जगत् परमात्मा के रूप में वर्णित हैं। उसे रुद्र रूप में भी वर्णित किया गया है। इसलिए शिव या रुद्र के रूप में ऋषभ को मानने और शिव तथा ऋषभ एक ही हैं, इस बात को भी समर्थन मिलता है। अर्हत्, वृषभ को वैदिक साहित्य में प्रशस्त भी कहा गया है। जैनागमों में ऋषभदेव को धर्म का आदिप्रवर्तक कहा है तो भागवत में ऋषभदेव के अवतार का उद्देश्य वातरशना, श्रमण, ऋषियों के धर्म को प्रकट करना बताया गया है।

भारतीय संस्कृति की श्रमण और ब्राह्मण दोनों धाराओं में जिनका समान रूप में आदर है, वे हैं ऋषभदेव। दोनों ही धारा वाले उन्हें पूज्य मानते हैं। आदर देते हैं। जैनियों के वे आदि तीर्थंकर हैं तो हिन्दुओं के विष्णु के साक्षात् अवतार। शिवपुराण में भी अट्ठाईस योगावतारों में उन्हें गिनाया गया है।

अर्हत् के उपासक

आर्हत धर्म के माननेवालों में व्रात्य और पणि हों, ऐसा प्राचीन साहित्य के अध्ययन से लगता है। पणि भारत के व्यापारी थे जो अत्यन्त समृद्ध और सम्पन्न थे। वे केवल धनी ही नहीं थे पर ज्ञान-विज्ञान में भी उन्होंने काफी प्रगति की थी। वे देश-विदेश में व्यापार करते थे तथा अरब-अफ्रीका तक व्यापार के लिए जाते थे। वे यज्ञ-परायण संस्कृति को नहीं मानते थे और ब्राह्मणों को दान-दक्षिणा भी नहीं देते थे। संभव यह भी है कि पणि से पणिक और आगे चलकर 'वणिक' बन गये हों—जो आज के बनियों के रूप में पहचाने जाते हैं। पणि वैश्य या व्यवसायी थे।

आर्हत सन्तों या अर्हतों के उपासक थे। व्रात्य को घूमनेवाला साधु भी कहा गया है। वे अध्यात्मवादी परम्परा को मानते थे जिसमें आत्मा को ही सर्वश्रेष्ठ माना गया है, ब्रह्म या ईश्वर को नहीं मानते थे। उनकी मान्यता थी कि आत्मा ही पुरुषार्थ से परमात्मा बन सकती है।





ऋषभ शब्द की तरह ऋग्वेद मे वातरशना शब्द का भी उल्लेख आता है और दोनो का सबध भी है।

मुनयो वातरशना पिशगा वसते मला ।।
वातस्यानु ध्राजिं यन्ति यद्देवासो अविक्षत ।।
उन्मदिता मौनयेन वाता आतस्थिम वयम् ।।
शरीरे दस्माक मर्ता सो अभि पश्यथ ।।

वेदो की गाथाओ के विषय मे विद्वानो के अनेक प्रयत्न करने पर भी निस्सदेह अर्थ बैठाना सभव नहीं हो पाया है तथापि सायण-भाष्य की सहायता से इस ऋचा का डा० हीरालाल जैन ने यह अर्थ किया है —"अतीद्रियार्थदर्शी वातरशना मुनि मल धारण करते है, जिससे पिंगलवर्ण दिखायी देते हैं। जब वे वायु की गति को प्राणोपासना द्वारा धारण कर लेते है, अर्थात् रोक लेते है तब वे अपने तप की महिमा मे देदीप्यमान होकर देवता-स्वरूप को प्राप्त हो जाते है। सार्वलौकिक व्यवहार को छोडकर हम मौनवृत्ति से उन्मत्तवत् उत्कृष्ट आनन्द सहित वायु भाव को – अशरीरी ध्यान वृत्ति को प्राप्त हो जाते हैं। और तुम साधारण मनुष्य हमारे बाह्य शरीर मात्र को देख पाते हो। हमारे सच्चे आभ्यतर स्वरूप को नही।' ऐसा वातरशना मुनि प्रकट करते हैं। वेद की उक्त ऋचाओ के साथ 'केशी' की स्तुति की गयी है।

केश्यग्निं केशी विष केशी बिभर्ति रोदसी।
केशी विश्व स्वर्दृशे केशीद ज्योतिरुच्यते ।।

ऋग्वेद, १०। १३६। १

केशी, अग्नि, स्वर्ग और पृथ्वी धारण करता है। केशी समस्त विश्व के तत्त्वो के दर्शन कराता है। केशी ही प्रकाशमान 'ज्ञान'—ज्योति, 'केवलज्ञानी' कहलाता है।

केशी की यह स्तुति उक्त वातरशना मुनि के वर्णन आदि मे की गयी है, जिससे प्रतीत होता है कि केशी वातरशना मुनियो मे प्रधान है। ऐसा डा० हीरालाल जैन ने अनुमान निकाला है। वह उचित ही लगता है।

दोनों सस्कृतियों के समन्वय : ऋषभदेव

इसमे ऋग्वेद के वातरशना मुनि और भागवत मे उल्लिखित वातरशना श्रमण ऋषि की सहज मे यह तुलना की जा सकती है। उनके अधिनायक ऋषभदेवचरित्र का जैन साहित्य मे जैसा वर्णन मिलता है लगभग वैसा ही भागवत में मिलता है। इससे कई विद्वानो ने यह अनुमान निकाला है कि जैन समाज मे ऋषभ की जडें गहरी जमने के बाद जैन कथानक को भागवत मे अपनाया गया हो। पर प्रज्ञाचक्षु प० सुखलालजी का अभिमत इस विषय मे भिन्न है। वे कहते है कि ऋषभदेव की मान्यता, पूजा, उपासना की यशोगाथा जैन परम्परा की तरह जैनेतर परम्परा मे भी कम या अधिक मात्रा मे एक या दूसरी तरह अवश्य चालू थी। इसलिए यह भी सभव है कि जिन सस्कृत, प्राकृत पुराणो मे ऋषभदेव के सम्बन्ध में भी कुछ न कुछ अवश्य लिखा हुआ होगा, जो वर्तमान भागवत मे लिया गया है। सारी आर्य जाति मे समान रूप से ऋषभदेव की न्यूनाधिक मान्यता अति प्राचीन काल से चली आयी है। ऋषभ सारी आर्य प्रजा के देव हैं, इस विषय मे मुझे लेशमात्र भी शका नही है।

भगवान ऋषभदेव के कुटिल केशो की परम्परा, जो वेद ऋचाओ मे केशी नाम से वातरशना मुनियो का वर्णन तथा भागवत मे वर्णन है, उससे मिलती हुई है। क्योकि जैन परम्परा मे ऋषभदेव की मूर्तियो पर कुटिल केशो की परम्परा प्राचीन काल से चली आयी है और आज भी अक्षुण्ण है। सभी तीर्थकरो की मूर्तियो मे सिर्फ ऋषभदेव की मूर्ति पर ही कुटिल केशो का रूप दिखाया जाता है और वह उनका विशेष लक्षण है। केशरियानाथ यह ऋषभ देव का नामान्तर है। केसर, केश और जटा एक ही अर्थ के वाचक हैं। सिंह भी अपने केशो के कारण केसरी कहलाता है। केशरियानाथ पर केशर चढाने की प्रथा प्रचलित हुई हो पर ऋषभदेव का केसरियानाथ यह नाम उनके

केशों के कारण प्रचलित हुआ हो यह अधिक युक्तिसंगत मालूम देता है। केसरिया की पूजा हिन्दू तथा आदिवासी भी कालिया बाबा के नाम से करते हैं।

जैनियों के साहित्य में ऋषभदेव की जटाओं का वर्णन मिलता है। इस प्रकार ऋग्वेद के केशी और वातरशना मुनि भागवत के ऋषभ और वातरशना श्रमण ऋषि एवं केशरियानाथ ऋषभ तीर्थंकर और उनका निर्ग्रंथ सम्प्रदाय एक ही सिद्ध होता है, क्योंकि ऋषभ और केशी का एक स्थान पर वैदिक ऋचा में उल्लेख आया है। जिससे यह अनुमान निकलता है कि वातरशना मुनियों के निर्ग्रन्थ साधुओं तथा मुनियों के नायक केशी मुनि ऋषभदेव हैं। इससे जैनधर्म की प्राचीन परम्परा पर महत्त्वपूर्ण प्रकाश पड़ता है।

कई विद्वान् वेदों का रचनाकाल ईसा से पूर्व पांच हजार वर्ष से भी अधिक मानते हैं तो कुछ का कहना है कि वर्तमान वेदों की रचना ईसा से १५०० साल पहले हुई। इससे यह मानना पड़ता है कि जैनधर्म उससे प्राचीन है। क्योंकि वेदों की रचना से पूर्व ऋषभदेव हुए होंगे तभी उनका उल्लेख उसमें मिलता है।

मोहन-जो-दड़ो की खुदाई ने उपर्युक्त प्राचीनता के विषय में और भी अधिक समर्थन दिया है। वहां जो कायोत्सर्गयुक्त ध्यानस्थ मूर्तियां मिली हैं और बैल के चित्र खुदे हुए मिलते हैं उससे प्राचीनता की कड़ी वहां तक जुड़ सकती है। उनका योगी होना इस बात से भी सिद्ध होता है कि अवधूत पन्थ में बगाल प्रान्त के कुछ लोग हैं जिनकी संख्या अधिक नहीं है, पर वे ऋषभ को एक अवधूत परम त्यागी मानकर उनकी उपासना करते हैं और उनके द्वारा प्रतिपादित कठिन व्रतों का पालन करते हैं। उससे पर में आगे बढ़े हुए साधक ऋषभदेव को आदर्श मानकर उनके जीवन का अनुकरण करते हैं। यह आदर्श शरीर के विषय में निर्मोहिता सिद्ध करता है। यहां तक कि शरीर में कीड़ा लग जाय तो साधक उसे फेंकता नहीं बल्कि कीड़े का शरीर अर्पण करने में उसे विशेष प्रसन्नता का अनुभव होता है।

ऋषभदेव केवल भारतीय जैन, वैदिक, हिन्दू या योग परम्परा के उपास्य देव ही नहीं हैं पर भारत के बाहर भी उनका प्रसार होना चाहिये, ऐसा सायप्रस में हुई खुदाई में ऋषभदेव की जो कांस्य मूर्ति मिली उससे पता चलता है। रेफिटनेंट कर्नल विलफोर्ड ने एशियाटिक रिसर्चेज वाल्यूम-३ में लिखा है कि भारत और इजिप्त के साथ प्राचीनकाल में सम्पर्क था। उन्होंने नई खोजों की पार्श्वभूमि में हिन्दुओं के भौगोलिक क्षेत्र की जांच की अत्यन्त आवश्यकता बतलाई है। उनका कहना ठीक था, क्योंकि सायप्रस की प्राचीन खुदाई में श्री ऋषभदेव की कांस्यमूर्ति मिली है।

और भी खोजों से पता चलता है कि इजिप्त, सुमेरियन आदि संस्कृतियों में श्रमण संस्कृति का प्रभाव था और इन प्राचीन संस्कृतियों का अध्ययन करने से पता चलता है कि वे कुछ अंशों में जैनियों से मिलती जुलती रही हैं।

प्राचीन जैन संस्कृति का स्वरूप

फिर प्रश्न यह खड़ा होता है कि जैन धर्म का आज का जो रूप है वैसा ही प्राचीन काल में था या आज के जैन धर्म से कुछ अलग था? भारत या पास-पड़ोस पर जिस संस्कृति का प्रभाव पड़ा था उस संस्कृति का रूप कैसा था? भारतवर्ष में प्रचलित प्राचीन धर्म दो विभागों में बट सकते हैं। एक तो निवृत्तिपर दूसरे प्रवृत्तिपर। प्रवृत्तिधर्म में चार आश्रम थे और निवृत्तिधर्म एक आश्रम पर अधिक भार देता है। उसमें आत्मकल्याण के लिये केवल संन्यास को ही प्राधान्य दिया है। उसमें ब्रह्मचर्य और गृहस्थ आश्रम को स्थान न हो ऐसा नहीं, पर निवृत्तिधर्म में जाति, आयु का विशेष विचार न कर, चाहे जिस जाति और चाहे जिस उम्र के स्त्री-पुरुष के लिये समान रूप से त्याग और संन्यास का उपदेश दिया जाता है। यदि कोई गृहस्थाश्रम करना पड़ता है तो निवृत्तिधर्म के अनुसार लाचारी ही मानी जाती है। पर प्रवृत्तिधर्म के अनुसार आश्रम के क्रम से प्रवृत्ति और निवृत्ति को स्वीकार किया जाना इष्ट समझा जाता है। ब्रह्मचर्याश्रम से सीधा संन्यासप्रवेश प्रवृत्तिधर्म में वर्ज्य समझा जाता है। लेकिन निवृत्तिपरक धर्म में कोई बाल या कुमार अवस्था में भी संन्यास ले तो वह धर्म्य समझा जाएगा।

जैन समाज की दो तीन हजार वर्ष की परम्परा, जैन साहित्य, तथा जैन मानस का अवलोकन करने पर





मालूम होगा कि धर्म निवृत्तिप्रधान ही है। लेकिन पडित सुखलालजी का मानना है कि जैन धर्म के मूल उद्गम मे निवृत्तिप्रधान स्वरूप को नही पर प्रवृत्तिप्रधान स्वरूप को ही स्थान था।

सारी जैन परम्परा ऋषभदेव को वर्तमान युग के निर्माता आदिपुरुष के रूप मे जानती है। उनका मार्गदर्शक, कर्मयोगी, और पूर्ण पुरुष के रूप मे मानती है, पूजती है। उनका चरित्र जैन परम्परा की तरह ब्राह्मण परम्परा मे भी मिलता है। जैन परम्परा की मान्यता ब्राह्मण परम्परा की पुष्टि करती है। ऋषभदेव के जीवन की जैनो के द्वारा वर्णित अनेकानेक घटनाओ से अनुमान होता है कि प्राचीनकाल मे जैन धर्म का रूप प्रवृत्तिमूलक होना चाहिये और यही कारण है कि प्रवृत्तिप्रधान वैदिक परम्परा ने उस परम्परा को अपनाया। वैदिक सस्कृति मे जो विचार थे उसमे अध्यात्म, सयम, योग, पुनर्जन्म, कैवल्य आदि बातो का प्रभाव श्रमण सस्कृति ने डाला और उनसे यज्ञ तथा इहलोक के सुखो पर जोर देनेवाली सस्कृति ने श्रमणसस्कृति के विचारो को अपनाया हो। और ऋषभदेव भी उनके पूज्य और आदरणीय बने हो। प्राचीन श्रमण सस्कृति और वैदिक सस्कृति के समन्वयकाल की यह घटना होनी चाहिये। उपनिषत्काल मे वैदिक और श्रमणसस्कृति का समन्वय दिखाई देता है।

इस समन्वयात्मक सस्कृति मे आगे चलकर आयी हुई विकृति को दूर करने का काम पार्श्व, महावीर, बुद्ध आदि ने किया और जैनधर्म प्रमुख रूप से निवृत्तिप्रधान बनकर दोनो धाराए बिलकुल अलग अलग चली। इसका विश्लेषण करना आवश्यक होने पर भी वह समयक्रम के अनुसार आगे का विषय है। लेकिन प्रागऐतिहासिक काल में श्रमणसस्कृति और उस सस्कृति के नायक ऋषभदेव ने वैदिक सस्कृति पर प्रभाव डाला था और वैदिक धर्म और श्रमणसस्कृति के समन्वय से उपनिषद्, भारत, भागवत आदि ग्रथो की रचना हुई। उनमे इस समन्वय के स्पष्ट दर्शन होते है।

भगवान् ऋषभदेव ने अपने पुत्रो को जो उपदेश दिया था वह श्रीमद् भागवत मे इस प्रकार है —

हे पुत्रो! जो दुखदायी विषयभोग, विष्टा खानेवाले कुत्ते, सूअर आदि प्राणियो को मिलते रहते है, उन विषयभोगो के लिए ससार मे यह मनुष्यदेह धारण करने योग्य नही है। इस मानवदेह से तो अन्त करण की शुद्धि करके अनन्त महासुख की प्राप्ति का प्रयत्न करना चाहिए। विद्वान् कहते है कि सर्वत्र सम चित्त वाले, शान्त, क्रोधरहित और सदाचारी महापुरुष की सेवा मोक्ष का द्वार है। परम पुरुष रूप परमात्मा मे परम प्रेम ही जिसका ध्येय है, जितनी अपने शरीर के निर्वाह के लिए आवश्यक हो उतनी प्राप्ति का प्रयास करे उसे ही महापुरुष समझना चाहिए।

हे पुत्रो! मनुष्य इद्रियो को सुख पहुचाने हेतु जब कोई कर्म करता है तब वह प्रमादी होकर अवश्य ही पापकर्म करता है। जब तक अज्ञान के कारण मन की हार हुई होती है और देहादि के अहभाव से कर्म करने मे ही वृत्ति रहती है, वहा तक मनुष्य आत्मतत्व जानने की इच्छा नही रखता। अविद्या से आत्मस्वरूप ढक जाने से जो कर्म मन को वश मे करता है, और फिर से कर्म करने के लिए आसक्त करता है। इसलिए जहा तक आत्मस्वरूप में उसकी प्रीति नही होती, वहा तक पुरुष देह के सबध से मुक्त नही होता।

हे पुत्रो! मनुष्य चाहे जितना विद्वान् हो या विवेकी हो, पर जहा तक वह प्रमादवश इद्रियो के आधीन होकर उनका अनुसरण करता है, वहा तक मैथुनसुख जिसमे प्रधान है, ऐसे गृहसस्कार मे फसकर, वह विविध ताप भोगता रहता है। विद्वान् कहते है—जब स्त्री-पुरुष दाम्पत्यभाव को लेकर मिलते हैं, तब उनको यह दपतीभाव दूसरी हृदय-ग्रथि के रूप मे बन जाता है। उसका घर, क्षेत्र, पुत्र, धन आदि मे "मैं मेरा" भाव उत्पन्न हो जाता है। अत हृदय की यह ग्रथि जिन-जिन कर्मो मे बधी हुई या दृढ हुई उन कर्मो को शिथिल किया जाय तभी दपतीभाव से निवृत्ति होकर सभी बन्धनो के कारणभूत अहकार को त्यागकर मुक्त हुआ जा सकता है।

हे पुत्रो! इस अहकार का त्याग निम्न पच्चीस साधनो के द्वारा हो सकता है विवेकी गुरु तथा परमात्मा के विषय मे भक्ति और तत्परता। तृष्णा का त्याग। सुख-दुख आदि द्वन्द्वो को सहन करना। इस लोक मे तथा इसी प्रकार परलोक मे सर्वत्र दुख ही है, ऐसा ज्ञान। तत्व और अतत्व की जिज्ञासा। तप, काम्यकर्म का त्याग। ईश्वर मे कर्मो का समर्पण। भगवत्कथा। भक्तो का नित्य सग। भगवान् के गुणो का कीर्तन। प्राणिमात्र के प्रति वैरबुद्धि का परि-

त्याग। सर्वत्र समभाव। बाह्य और आभ्यन्तर इन्द्रियों का जय। शरीर तथा गृह पर अहं ममत्व का त्याग। अध्यात्म-योग। अध्यात्म शास्त्रों का अभ्यास। एकान्त प्रदेश का सेवन। प्राण-इन्द्रिय-मन का जय। श्रद्धा, ब्रह्मचर्य। नित्य अप्रमाद। कर्तव्यों का अत्याग। वाक्-संयम। सर्वत्र परमात्मा की भावनायुक्त अनुभवज्ञान और धैर्यपूर्वक प्रयत्न-विवेक-पूर्वक योग-समाधि।

हे पुत्रो! इस प्रकार के अप्रमादीपन से कर्मों के निवासस्थान रूप तथा अविद्या से प्राप्त हुई हृदय की मोह रूपी गाठ के बन्धन को शास्त्रों के आदेशानुसार तोड देने के बाद उन उपायों से विराम लेना चाहिए। पिता, गुरु, राजा अपने पुत्रों, शिष्यों तथा प्रजा को मोह रहित होकर वैसा ही उपदेश देना चाहिए। कारण कि लोक-व्यवहार में पडा हुआ मनुष्य स्वत अपने कल्याण-साधन से रहित होकर, कामभोग की अत्यन्त अभिलाषा रखता हुआ, विषयो की इच्छा रखकर, काम्य-कर्मों में लिप्त रहता है। उसे कर्म करवाने के लिये उपदेश की आवश्यकता नही होती। इसलिये उसे काम्यकर्मो को करने का उपदेश देकर ससार के गड्ढे में डालकर क्या परमार्थ सिद्ध होगा? जो मृत्युरूप भी ससार में फसे मनुष्यो को नहीं छुटा सकता वह गुरु होकर भी गुरु नही है, स्वजन होकर भी स्वजन नहीं है। वह पिता माता, देव या पति भी नहीं है।

हे पुत्रो! तुम मेरे शुद्ध, सत्त्वगुणमय हृदय से उत्पन्न हुए हो। इससे तुम अपने इस बडे भाई भरत की निष्कपट भाव से सेवा करना। ऐसा करने से तुम्हे परमात्मा की सेवा करने जैसा और प्रजा का पालन समझा जाएगा। तुम ईर्ष्या, मत्सर रहित पवित्र होकर सब स्थावर-जगम प्राणियो को मेरा निवास रूप मानकर क्षण-क्षण मे उन्हे आदर देना क्योकि प्राणिमात्र को इसी भाति सम्मान देना ही परमात्मा का पूजन है। मन, वाणी, दृष्टि तथा अन्य सभी इन्द्रिय-व्यापारों का परम फल यही है कि, इन सबमे परमात्मा की आराधना की जा सकती है। इस प्रकार सभी प्रवृत्तियों को परमात्मा मे अर्पण करनेवाला पुरुष आराधना के बिना मोहरूपी कालपाश से मुक्त होने मे समर्थ नही होता।

जिस अहिंसा पर श्रमण या आर्हत सस्कृति ने अत्यधिक जोर दिया उस अहिंसा के विषय मे महाभारत मे जो श्लोक मिलते है उनमे से कुछ ये है —

> अभय सर्वभूतेभ्यो दत्वा यश्चरते मुनि।
> न तस्य सर्वभूतेभ्यो भयमुत्पद्यते क्वचित्॥

जो मुनि सर्वभूतो को अभय देकर विचरता है, उसे किसी भी प्राणी से कही भी भय नही उत्पन्न होता।

> यथा नागपदेऽन्यानि पदानि पदगामिनाम्।
> सर्वाण्येवापिधीयन्ते पदजातानि कौंजरे॥
> एव सर्वमहिंसाया धर्मार्थमपिधीयते।
> अमृत स नित्य वसति यो हिंसा न प्रपद्यते॥

जैसे महानाग-हाथी के पदचिह्न मे पैरो से चलनेवाले अन्य सर्व प्राणियो के पदचिह्न समा जाते हैं, उसी प्रकार सब धर्म और अर्थ एक मे—अहिंसामे—सन्निविष्ट है। जो पुरुष प्राणीहिंसा नही करता, वह नित्य अमृत होकर निवास करता है—जन्म-मृत्यु के बन्धन से मुक्त हो जाता है।

> सर्वाणि भूतानि सुखे रमन्ते
> सर्वाणि दु खस्य भृश त्रसन्ते।
> तेषा भयोत्पादनजातखेद
> कुर्यान्न कर्माणि हि श्रद्दधान॥

सर्व प्राणी सुख मे आनन्दित होते हैं। सर्व प्राणी दु ख मे अति त्रस्त होते हैं। अत प्राणियो को भय उत्पन्न करने मे खेद का अनुभव करता हुआ श्रद्धालु पुरुष भयोत्पादक कर्म न करें।





दान हि भूताभयदक्षिणाया
सर्वाणि दानान्यधितिष्ठतीह ।
तीक्ष्णां तनु य प्रथम जहाति
सोऽत्यन्तमाप्नोत्यभय प्रजाम्य ॥

ससार मे प्राणियों का अभय की दक्षिणा का दान देना सब दानों से बढ़कर है । जो पहले ही हिंसा का त्याग कर देता है, वह सब प्राणियो से अभय होकर मोक्ष प्राप्त करता है ।

यदन्यैर्विहित नेच्छेदात्मन कर्म पूरुष ।
न तत् परेषु कुर्वीत जानन्नप्रियमात्मन ॥

जिस अन्यकृत व्यवहार को मनुष्य अपने लिए नही चाहता वह व्यवहार, वह दूसरो के प्रति भी न करे । वह जाने कि जो व्यवहार अपने को अप्रिय है, वह दूसरों को प्रिय कैसे होगा ।

जीवित य स्वय चेच्छेत कथ सोऽन्य प्रघातयेत् ।
यद् यदात्मनि चेच्छेत तत् परस्यापि चिन्तयेत् ॥

जो स्वय जीना चाहता है, वह दूसरो की घात कैसे कर सकता है ? मनुष्य अपने लिए जो चाहे वही दूसरे के लिए भी साचे ।

योऽभय सर्वभूताना स प्राप्नोत्यभय पदम् ।

जो सर्व भूतों को अभय देनेवाला होता है, वह अभय-पद को प्राप्त कर लेता है ।

यस्मादुद्विजते लोक सर्वो मृत्युमुखादिव ।
वाक्क्रूराद् दण्डपरुषात् स प्राप्नोति महद् भयम् ॥

जो वाक्क्रूर, दण्डक्रूर होता है और जिसमे सर्वलोक वैसे ही उद्वेग को प्राप्त होने है जैसे मृत्यु के मुख से, वह पुरुष महान् भय को प्राप्त होता है ।

यस्मान्नोद्विजते भूत जातु किञ्चित् कथञ्चन ।
अभय सर्वभूतेभ्य स प्राप्नोति सदा मुने ॥

जिसमे कोई भी भूत किसी प्रकार किंचित् भी उद्वेग को प्राप्त नही होता वह सदा सर्व भूतों से अभय प्राप्त कर लेता है ।

अव्यवस्थितमर्यादैर्विमूढैर्नास्तिकैर्नरै ।
सशयात्मभिरव्यक्तैर्हिंसा समनुवर्णिता ॥

जो पुरुष मर्यादा मे अनवस्थित हैं, विमूढ है, नास्तिक है, जिनकी आत्मा मे सशय है एव जिनकी कही प्रसिद्धि नही है, ऐसे लोगो द्वारा ही हिंसा अनुमोदित है ।

अहिंसा सर्वभूतानामेतत् कृत्यतम मतम् ।
एतत् पदमनुद्विग्न वरिष्ठम् धर्मलक्षणम् ॥

सब प्राणियो की अहिसा ही सर्वोत्तम कर्तव्य है—ज्ञानियो ने ऐसा माना है । यह पद उद्वेग रहित, वरिष्ठ और धर्म का लक्षण है ।

शरण्य सर्वभूताना विश्वास्य सर्वजन्तुषु ।
अनुद्वेगकरो लोके न चाप्युद्विजते सदा ॥

अहिंसक सर्व प्राणियो का शरणभूत होता है । वह सबका विश्वासपात्र होता है । वह लोक मे प्राणियों को उद्वेजित नही करता और न कभी किसी से उद्विग्न होता है ।

न हि प्राणात् प्रियतर लोके किंचन विद्यते ।
तस्माद् दया नर कुर्याद् यथाऽऽत्मनि तथा परे ॥

लोक में प्राणों से बढ़कर प्रिय वस्तु दूसरी नहीं है। अतः मनुष्य जैसे अपने ऊपर दया चाहता है, उसी तरह दूसरों पर भी दया करे।

प्राणदानात् पर दान न भूत न भविष्यति ।
न ह्यात्मन प्रियतर किंचिदस्तीह निश्चितम् ॥

प्राण-दान से बढ़कर दूसरा कोई दान न हुआ है और न होगा। यह निश्चित है कि प्राणों से प्रियतर वस्तु दूसरी कोई नहीं है।

अहिंसा परमो धर्मस्तथाऽहिंसा परो दम ।
अहिंसा परम दानमहिंसा परम तप ॥

अहिंसा ही परम धर्म है, अहिंसा ही परम दम है, अहिंसा ही परम दान है और अहिंसा ही परम तप है।

अहिंसा परमो यज्ञस्तथाऽहिंसा पर फलम् ।
अहिंसा परम मित्रमहिंसा परम सुखम् ॥

अहिंसा ही परम यज्ञ है, अहिंसा ही परम फल है। अहिंसा ही परम मित्र है और अहिंसा ही परम सुख है।

हम समन्वय की दृष्टि से महाभारत का काल सबसे श्रेष्ठ मानते हैं, जिस काल में जैनों के तीर्थंकर नेमिनाथ हुए थे और हिन्दुओं के अवतार श्रीकृष्ण। नेमिनाथ ने अहिंसा से द्रवित होकर संसार त्याग किया था। जैन शास्त्रों में उन्हें श्री कृष्ण का गुरु बताया गया है। बौद्ध विद्वान् धर्मानन्द नेमिनाथ को आंगिरस बताते हैं जो श्रीकृष्ण के गुरु थे। इसमें तो सदेह है ही नहीं कि अरिष्टनेमि यादवकुल के थे और श्रीकृष्ण के निकट सम्बन्धी। श्रीकृष्ण को भले ही वैदिक या ब्राह्मण संस्कृति ने बाद में अपनी संस्कृति का महान् पुरुष माना हो पर वे वैदिकों के देव इन्द्र के उपासक नहीं थे बल्कि इन्द्र-पूजा के विरोधी थे। यह सब होते हुए भी श्रीकृष्ण ने समन्वय को अपनाया था। इसलिये वे भी दोनों संस्कृतियों में आदरणीय बने। ब्राह्मण या हिन्दु संस्कृति ने उन्हें अवतार माना है और श्रमण संस्कृति उन्हें अपना भावी तीर्थंकर कहती है।

इस प्रकार भारतीय प्राग् ऐतिहासिक संस्कृति और वैदिक संस्कृति का समन्वय हुआ।



श्रमण-संस्कृति का केन्द्र : श्रावस्ती



डा० हरीन्द्रभूषण जैन.

एम ए, पी एच.डी साहित्याचार्य,

विक्रमविश्वविद्यालय, उज्जैन

परिचय तथा इतिहास—

उत्तर प्रदेश मे उत्तर-पूर्वी रेलवे की गोंडा-गोरखपुर लाइन पर स्थित बलरामपुर नगर से पश्चिम की ओर ११ मील की दूरी पर कुछ खण्डहरों के ढेर है। यह स्थान आजकल 'सहेठ-महेठ' नाम से जाना जाता है। १८६३ ईस्वी मे श्री कनिंघम महोदय ने उस स्थान की खोजकर यह सिद्ध किया कि यह स्थान ही जैन और बौद्ध धर्मो मे श्रद्धा और आदर के साथ स्मरण की जाने वाली 'श्रावस्ती' है। तब से लेकर इस स्थान के सबध मे अनेक खोजें हुई और अब थोडा-सा भी सदेह नही रहा कि वर्तमान 'सहेठ-महेठ' ही प्राचीन श्रावस्ती है। 'सहेठ-महेठ' का कुछ भाग उत्तरप्रदेश के गोंडा जिले मे तथा कुछ भाग बहराइच जिले मे है। बलरामपुर से बहराइच जाने वाली मुख्य सड़कें 'सहेठ-महेठ' होकर जाती हैं। इस सडक पर चलने वाली गवर्नमेंट-रोडवेज की बसों द्वारा सरलता से श्रावस्ती पहुचा जा सकता है।

प्राचीन भारतीय साहित्य मे इस नगरी के अनेक नाम उपलब्ध होते है—श्रावस्ती, श्रावस्ति, शरावती, धर्मपत्तन, धर्मपुरी, चम्पकपुरी, चन्द्रिकापुरी कुणाल आदि। इसका सबसे प्रमुख एव प्राचीन नाम श्रावस्ती है। वाल्मीकि रामायण के अनुसार राम ने भरत को राज्य देकर वन जाने की इच्छा प्रकट की किन्तु भरत ने राज्य की निन्दा करते हुए राम से निवेदन किया कि वे अयोध्या का राज्य लव और कुश को प्रदान करे। तदनुसार कुश को दक्षिण-कोशल का और लव को उत्तर-कोशल का राज्य दिया गया। इसके पश्चात् लव ने जिस नगरी को राजधानी के निमित्त बसाया उसका नाम 'श्रावस्ती' प्रसिद्ध हुआ।

> "कोशलेपु कुश वीरमुत्तरेषु तथा लवम्। अभिषिच्य महात्मानावुभौ राम कुशीलवौ।
>
> — वाल्मीकि रामायण, उत्तरकाड, १०७-१७
>
> "श्रावस्तीति पुरी रम्या श्राविता च लवस्य ह।" — वही उत्तरका० १०८-५

कालिदास ने रघुवश मे इसी घटना का उल्लेख करते हुए लिखा है कि राम ने, अपने मधुर वचनो से सज्जनो की आखो से आसू की धार बहाने वाले लव को 'शरावती' का राजा बनाया।

> "स निवेश्य कुशावत्या रिपुनागाड्कुश कुशम्। शरावत्या सता सूक्तैर्जनिताश्रुलवं लवम्।
>
> — रघुवश, १५-९७

शरावती, श्रावस्ती का ही अपभ्रश प्रतीत होता है। सभव है कालिदास के समय मे यह नगरी शरावती कहलाती हो। 'धर्मपत्तन' और 'धर्मपुरी' इन दो नामो की सूचना व्ही० एस० आप्टे के 'सस्कृत-अग्रेजी-शब्दकोष' मे प्राप्त होती है। 'चम्पकपुरी' और 'चन्द्रिकापुरी' श्रावस्ती के ये दो प्राचीन नाम, आर्क्यॉलाजी विभाग, इण्डिया द्वारा प्रकाशित 'श्रावस्ती' नामक पुस्तिका (पृ० २) मे प्राप्त है।

जैनागम पन्नवणा (प्रज्ञापना) मे आर्य क्षेत्र के रूप मे जिन २५½ देशो का वर्णन है उनमे श्रावस्ती का कुणाल नाम से उल्लेख किया गया है (प्राकृत साहित्य का इतिहास, डा० जगदीशचन्द्र जैन, पृ० ११४ फुट नोट)

श्रावस्ती नगर का वर्तमान 'सहेठ-महेठ' नाम कैसे पड़ा, यह जानना कठिन है। श्रावस्ती का पाली नाम है 'सावत्थी' और यह अधिक संभव है कि सावत्थी शब्द परिवर्तित होते होते 'सहेठ' बन गया हो और सहेठ के अनुरूप पर ही बना 'महेठ' शब्द उसके साथ प्रयुक्त होने लगा हो। प्रायः यह ग्रामीण प्रवृत्ति देखी जाती है कि वे किसी नाम के साथ उसका विकृत रूप भी प्रयोग करने लगते हैं। जैसे रोटी-वोटी, पानी-वानी आदि।

यह नगरी भगवान् महावीर और महात्मा बुद्ध, दोनों से ही अधिक प्राचीन है। रामायण के अनुसार इसे राम के पुत्र लव ने बसाया था और महाभारत के अनुसार इसका निर्माण 'श्रावस्त' नाम के राजा ने किया था अतः यह 'श्रावस्ती' नाम से प्रसिद्ध हुई। पुराणों में अनेक स्थानों पर इसका उल्लेख 'उत्तर कोशल' की राजधानी के रूप में पाया जाता है।

ईसा पूर्व छठी शताब्दी से पूर्व का श्रावस्ती का इतिहास अन्धकार में है। इसके पश्चात् महावीर तथा बुद्ध, दोनों ने समान रूप से श्रावस्ती को गौरवान्वित किया। उस काल में प्रसेनजित श्रावस्ती के राजा थे। जैनशास्त्रों में इन्हें जैन तथा बौद्ध शास्त्रों में इन्हें बौद्ध कहा गया है। जैन शास्त्रों के अनुसार इनका नाम 'जितशत्रु' था।

महावीर एवं बुद्ध के पश्चात् तृतीय शताब्दी ईसापूर्व में मौर्य-सम्राट् अशोक से पूर्व तक का श्रावस्ती का इतिहास पुनः अज्ञात है। अशोक ने पूरे भारतवर्ष के बौद्धतीर्थों की यात्रा के प्रसंग में जेतवन तथा श्रावस्ती की भी यात्रा की थी। ह्वेनसांग (Hiuen Tsang) के अनुसार अशोक ने जेतवन के पूर्वी दरवाजे के दाहिनी और बाईं ओर ७०-७० फीट ऊंचे दो स्तम्भ स्थापित किए थे। इनमें से एक स्तम्भ के ऊपर चक्र तथा दूसरे स्तम्भ के ऊपर बैल का चिह्न था। अशोक के समय में श्रावस्ती अत्यन्त उन्नत अवस्था में थी।

कुषाण राजाओं के काल में श्रावस्ती का पुनरुद्धार हुआ। उस समय यह स्थान बौद्धों के सर्वास्तिवाद सम्प्रदाय का गढ़ था। कुषाण काल में यहां अनेक स्तूप तथा बुद्ध की प्रतिमाएं स्थापित की गईं।

गुप्तकाल ब्राह्मण धर्म के अभ्युदय का काल था अतः श्रावस्ती की विशेष प्रगति तो नहीं हुई फिर भी यहां का जेतवन बुद्धतीर्थ के रूप में प्रसिद्ध रहा। इस काल में यहां कुछ टूटे-फूटे बौद्धमन्दिरों को हिन्दूमन्दिरों के रूप में परिणत किया गया है। यही कारण है कि यहां के खण्डहरों में कुछ पक्की मिट्टी के ऐसे टुकड़े प्राप्त हुए हैं जिनमें रामायण की कथा के दृश्य अंकित हैं। फाह्यान के समय में यहां विक्रमादित्य नाम के राजा का राज्य था जो सम्भवतः कोई गुप्तवंश का विक्रमादित्य विरुदधारी राजा होगा।

राजा हर्ष (ईस्वी ६०६-६४७) के शासनकाल में चीनी यात्री ह्वेनसांग ने भी श्रावस्ती की यात्रा की। उसने वहां पर सुदत्त और अंगुलिमाल के स्तूप, प्रजापति भिक्षुणी का विहार, अशोक के दो स्तम्भ और एक बुद्ध-मन्दिर देखा था। उस समय तक श्रावस्ती में बौद्ध धर्म का पर्याप्त प्रभाव घट गया था।

ह्वेनसांग के पश्चात् श्रावस्ती का कोई प्रामाणिक इतिहास उपलब्ध नहीं है। दण्डी के दशकुमारचरित में (८ वीं शताब्दी) धर्मवर्धन को श्रावस्ती का राजा बताया गया है।

जैनधर्म की तीर्थस्थली—

श्रावस्ती अत्यन्त प्राचीन काल से जैनधर्म और जैनसंस्कृति की पुण्यस्थली रही है। यह तीसरे तीर्थंकर सम्भवनाथ और आठवें तीर्थंकर चन्द्रप्रभ की जन्मभूमि होने से जैनों का पवित्र तीर्थ तो है ही, साथ ही भगवान् महावीर ने भी अपने शासन से इस नगरी को पवित्र किया था। कल्पसूत्र में, भगवान् महावीर ने जिन जिन नगरों में चातुर्मास बिताये उनके उल्लेख हैं। उनमें श्रावस्ती में भी उनके चातुर्मास करने का उल्लेख है। (प्राकृत साहित्य का इतिहास—लेखक डा० जगदीशचन्द्र, पृ० ५५६)





जैनागमो मे यत्र तत्र श्रावस्ती के उल्लेख प्राप्त होते हैं। वहाँ इसे श्रावस्ती और श्रावस्ति दोनो रूपो मे उल्लिखित किया गया है। स्थानाङ्ग के दसवें अध्ययन मे जिन दस राजधानियो के नाम गिनाये गये हैं उनमे श्रावस्ती भी एक है। इसका यह अर्थ हुआ कि यहाँ पर अवश्य शक्तिशाली जैन राजाओ का राज्य रहा होगा।

भगवतीसूत्र मे, श्रावस्ती के वैशालिक श्रमण (महावीर के श्रावक) पिंगल और स्कदक परिव्राजक के बीच लोक आदि के सबध मे प्रश्नोत्तर होने का उल्लेख है। (वही पृ० ६७)

प्रथम छेदसूत्र निसीह (निशीथ) के अनुसार श्रावस्ती उन १० अभिषिक्त राजधानिया मे से एक थी जहाँ राजाओ का अभिषेक किया जाता था। (वही पृ० १८१)

पन्नवणा (प्रज्ञापना) नाम के उपाङ्ग मे आर्य क्षेत्र के जिन २५½ देशो का उल्लेख है उनमे श्रावस्ती का कुणाल नाम से उल्लेख किया गया है। (वही-पृ० ११४-फुटनोट)

आवश्यक चूर्णि मे महावीर के केवलज्ञान होने के १३ वर्ष पश्चात् श्रावस्ती मे भयकर बाढ आने का उल्लेख है। (वही० पृ० २५४)

जैन पुराणो मे भी अनेक स्थानो पर श्रावस्ती के उल्लेख मिलते हैं। यह सब इस बात के प्रमाण हैं कि प्राचीन काल मे श्रावस्ती जैन सस्कृति का समृद्ध केन्द्र रही है।

तीर्थङ्कर सभवनाथ की जन्म-भूमि होने के कारण यहाँ, प्राचीन काल से शोभनाथ मन्दिर है। शोभनाथ यह सभवत, सभवनाथ का ही परिवर्तित रूप है। तीर्थंकर चन्द्रप्रभ की जन्मभूमि होने के कारण किसी जैन राजा ने उसे चन्द्रिकापुरी नाम दिया होगा।

"जैमिनी भारत" नाम की एक मध्यकालीन रचना मे 'ध्वज' अन्त वाले ऐसे अनेक राजाओ का वर्णन है जिनकी राजधानी चन्द्रिकापुरी थी। इनमे सबसे अतिम राजा का नाम सुहृद्ध्वज' था जिसके विषय मे माना जाता है कि उसने सुलतान महमूद गजनी और उसके सेनापति सालार मसूद के साथ ११वी शताब्दी के प्रारम्भ मे युद्ध किया था। उसने तथा उसके परिवार के लोगो ने श्रावस्ती मे जैनधर्म की अत्यधिक उन्नति एव प्रभावना की थी। शोभनाथ मन्दिर के ध्वसावशेषो मे उपलब्ध जैन तीर्थङ्करो की मूर्तियाँ अधिकतर इसी काल की है।

(श्रावस्ती, आर्क्येलाजी विभाग, इण्डिया, पृष्ठ ११)

'सहेठ-महेठ' यह नाम, श्रावस्ती मे स्थित खण्डहरो के दो ढेरो के लिए सयुक्त रूप मे प्रयुक्त हुआ है। प्रथम खण्डहरो का ढेर सहेठ है जो बौद्ध साहित्य मे सुप्रसिद्ध विहार 'जैतवन' के नाम से वर्णित है। इस स्थान से लगभग आधा मील दूर, दूसरा खण्डहरो का ढेर महेठ है। यही प्राचीन श्रावस्ती है। इसका क्षेत्रफल सहेठ की अपेक्षा बडा है। यह अचिरावती नदी (राप्ती) के दाहिनी ओर स्थित है। अचिरावती यहाँ से कुछ फर्लांग दूर पर बहती है। इस नगर के चारो ओर मिट्टी का सुदृढ प्राकार था जिसके ऊपर ईंटो की दीवाल थी जो अभी भी ध्वस्त अवस्था मे विद्यमान है। इस प्राकार का पूरा घेर सवा तीन मील का है और इसमे भीतर प्रवेश करने के लिए चार मुख्य दरवाजे है।

शोभनाथ दरवाजे मे प्रवेश करने के पश्चात् सामने जो इमारत दिखाई पडती है वह शोभनाथ का मन्दिर है। यह एक ऊचे टीले पर स्थित है। उस स्थान को लोग जैन तीर्थंकर सभवनाथ का जन्मस्थान मानकर पूजते हैं। मध्य-काल मे मुसलमान शासको ने इस स्थान को अपनी सस्कृति के अनुकूल रूप देने का प्रयास किया और इस पर कुछ गुम्बज जैसा आकार भी बनाया।

इसके थोडे नीचे की ओर एक और जैन मन्दिर है जो पर्याप्त ध्वस्त अवस्था मे है। इसमे अनेक काल की बनावटें स्पष्टत प्रतीत होती हैं। इसके पूर्व की ओर एक आयताकार पक्का बराण्डा है जिसका क्षेत्रफल ५६ फीट

(पूर्व-पश्चिम)+४९ फीट (उत्तर-दक्षिण) और जो ईंटों की दीवाल मे घिरा है। इसके पीछे की ओर की दीवाल मे अनेक आले हैं जिनमे अनेक तीर्थंकरो की मूर्तियाँ प्रतिष्ठित थी, जिनमे कुछ नीचे पडी हुई प्राप्त हुई हैं। इस वराण्डा के उत्तर-पश्चिम तथा दक्षिण-पश्चिम कोनो की ओर दो आयताकार कमरा के अवशेष पडे हैं जिनका भूमिभाग वराण्डा के समान ही पक्का है। वराण्डा मे प्रवेश करने के लिए पूर्व की ओर सीढिया है।

वराण्डे के उत्तर-पश्चिम कोने की ओर वाले कमरे मे, प्रथम तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव की अत्यन्त मनोज्ञ प्रतिमा प्राप्त हुई है। यह प्रतिमा अत्यन्त प्रशान्त पद्मासन मुद्रा मे स्थित है। यह एक छोटे आसन पर बैठी हुई है जिसकी दोनों ओर दो लेटे हुए सिंह है और जिनके बीच मे प्रथम तीर्थंकर का चिह्न बैल, अति मनोज्ञ स्थिति मे बैठा है। दो सिंहो के बीच मे छोटे से निर्भय बैल की मधुर मूर्ति मानो यह कहती-सी प्रतीत होती है कि भगवान् ऋषभदेव के साम्राज्य मे प्राणिमात्र अपने स्वाभाविक वैर को भी भूलकर पूर्ण अहिंसा धर्म का पालन करते हैं। सिंहो की मुद्रा और आसन दर्शनीय है। सिंह जैसे हिंस्र पशु को एक कोहनी भूमि मे टेककर तथा दूसरे हाथ को ठोडी से लगाए हुए विश्राम मुद्रा मे चित्रित किया है। सिंह की ऐसी विलक्षण प्रशान्त मुद्रा अत्यन्त दुर्लभ है।

मूर्ति के पूरे सिर पर बालो का गुच्छ दिखाई देता है कि जिसकी दो लटें दोनो कानो का सहारा लेकर कन्धे तक लटक आई हैं। मूर्ति के दोनो ओर दो इन्द्र चवर ढोर रहे हैं। मूर्ति के ऊपर तीन छत्र हैं जिनके दोनो ओर दो हाथी हैं। दोनो हाथियों के ऊपर, नीचे तथा बगल मे चौबीस तीर्थंकरो की छोटी छोटी मूर्तिया है जिनमे मूर्ति के बाईं ओर के ऊपर कोने मे एक मूर्ति टूट गई है। मूर्ति के आगे निकले हुए अग प्राय घिस गए हैं।

महेठ के प्राकार के भीतर शोभनाथ मन्दिर के अतिरिक्त 'पक्कीकुटी' और 'कच्ची कुटी' नाम से दो टीले और हैं जिनके सबध मे अभी तक स्पष्ट रूप मे कुछ भी निर्णय नही हो पाया है कि ये स्थान वास्तव मे क्या है? कनिंघम महोदय पक्कीकुटी को अगुलिमाल का स्तूप होने का अनुमान करते है जिन्हे चीनी यात्रियो (हुएन-त्साग तथा फाह्यान) ने देखा था। होए महोदय (Hoey) इसे राजा प्रसेनजित् द्वारा महात्मा बुद्ध के निवास एव उपदेश के लिए बनवाये गए भवन (Hall of law) के रूप मे सोचते हैं। कच्ची कुटी को अनाथपिण्डिक के स्तूप के रूप मे अनुमान किया जाता है।

इस सबध मे मेरा निवेदन है कि महेठ की ये दोनो कुटियाँ जैन मन्दिर ही होने चाहिएँ जो सुरक्षा के अभाव मे ध्वस्त होकर आज टीले के रूप मे दिखाई पड रहे है। श्रावस्ती, जैन और बौद्ध दोनो सस्कृतियो का केन्द्र रही है। बौद्धधर्म एव सस्कृति का प्रत्यक्ष सबध जेतवन मे है जो श्रावस्ती से लगभग आधा मील दूरी पर स्थित है। यह सम्पूर्ण स्थान मात्र बौद्ध स्मारको से भरा पडा है। जिस प्रकार जेतवन बौद्ध सस्कृति का केन्द्र था और उसमे जिस प्रकार अनेक बौद्ध स्तूप, विहार और मन्दिर स्थित थे, उसी प्रकार श्रावस्ती जैन सस्कृति का केन्द्र होना चाहिए और इसमे जितने भी ध्वसावशेष पाए जाते हैं वे सभी जैनसस्कृति के अवशेष होने चाहिए। यदि श्रावस्ती (महेठ) के सबध मे और खुदाई तथा अनुसधान किये जायें तो मेरा विश्वास है कि पूरी श्रावस्ती मे अनेक जैनसस्कृति स्थान उपलब्ध होगे। भगवान् महावीर के समय से लेकर जैनसस्कृति से प्रगाढ रूप मे सबधित श्रावस्ती मे मात्र एक ही प्राचीन जैन मन्दिर हो ऐसा सभव नही है।

जेतवन मे एक गधकुटी नाम का स्थान है। कहा जाता है कि इसे अनाथपिंडिक ने महात्मा बुद्ध के व्यक्तिगत उपयोग के लिए बनवाया था। 'गधकुटी' यह शब्द जैन-सस्कृति से घनिष्ठ सबध रखता है। तीर्थंकरो के उपदेश के समय देवता लोग गधकुटी का निर्माण करते हैं। बौद्ध-सस्कृति मे यह शब्द नितान्त अपरिचित एव अप्रचलित है। मेरा विचार है कि भगवान् महावीर के आगमन पर श्रावस्ती मे जिस गधकुटी का निर्माण हुआ होगा, उस स्थान की परम्परा कुछ काल तक वहाँ रही होगी। पश्चात् उस स्थान के, श्रावस्ती मे नष्ट-भ्रष्ट हो जाने से अथवा अन्य किसी कारण से वह शब्द जेतवन मे महात्मा बुद्ध से सबधित किसी स्थान के लिए प्रयुक्त होने लगा होगा जो आज भी प्रयुक्त होता चला आ रहा है।





ऊपर कहा जा चुका है कि चीनी यात्री ह्वेनत्सांग ने सम्राट् अशोक द्वारा स्थापित दो स्तंभ यहाँ देखे थे जिनमें एक स्तंभ पर धर्मचक्र तथा दूसरे पर बैल की मूर्ति स्थापित थी। जैनशास्त्रों में अशोक को जैनधर्म का अनुयायी कहा गया है। राजाओं की यह नीति प्रायः रही है कि वे सभी धर्मों का आदर करते थे। मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि एक स्तंभपर धर्मचक्र बौद्धधर्म का तथा दूसरे स्तंभ पर बैल जैनधर्म का प्रतीक हो, क्योंकि बैल प्रथम तीर्थंकर का चिह्न है। सोमनाथ के जैनमन्दिर से जो ऋषभदेव की मूर्ति प्राप्त हुई है उस पर बैल का सुस्पष्ट चिह्न है।

'श्रावस्ती' यह नाम भी हमें जैनत्व की ओर संकेत करता है। संभव है यह 'श्रमणवसति' अथवा 'श्रावकवसति' शब्द का अपभ्रंश हो। श्रमण अर्थात् जैनसाधु तथा श्रावक अर्थात् जैन गृहस्थ है। वसति का अर्थ है निवासस्थान। दक्षिण में आज भी 'वसति' शब्द का प्रयोग जैनमन्दिर के अर्थ में होता है, जैसे चन्द्रगुप्तवसति अर्थात् सम्राट् चन्द्रगुप्त के द्वारा निर्मित जैनमन्दिर।

बौद्ध-संस्कृति का केन्द्र—

श्रावस्ती का जेतवन (सहेठ) ही बौद्धसंस्कृति का केन्द्र था। यह प्राचीन नगर की सीमा से बाहर स्थित है। इसका क्षेत्रफल १५०० फीट × ७०० फीट के लगभग है। यहाँ अनेक बौद्ध स्मारक ध्वस्त अवस्था में पड़े हैं जिनमें विशाखा द्वारा निर्मित पूर्वाराम, गंधकुटी, कोसम्बकुटी, बोधिवृक्ष, अनेक स्तूप, चैत्य एवं विहार मुख्य हैं।

बौद्ध साहित्य में जेतवन-विहार के निर्माण की बड़ी मनोरंजक कथा उपलब्ध है। बुद्ध के समय में श्रावस्ती में सुदत्त नाम का एक धनी एवं उदार व्यापारी था। अपनी उदारता के कारण वह 'अनाथपिण्डिक' के नाम से प्रसिद्ध था। अनाथपिण्डिक का अर्थ अनाथों को भोजन देने वाला। सुदत्त सबसे पहले राजगृह में महात्मा बुद्ध से मिला और उनका अनुयायी बन गया। उसने बुद्ध को श्रावस्ती आने का निमंत्रण दिया किन्तु उस समय श्रावस्ती में बौद्ध साधुओं के ठहरने योग्य किसी विहार के न होने से बुद्ध ने उस निमंत्रण को अस्वीकार कर दिया। सुदत्त ने उसी समय श्रावस्ती में एक विहार बनवाने का संकल्प किया। बुद्ध का शिष्य सारिपुत्र, विहारनिर्माण के कार्य में सहायता देने के लिए सुदत्त के साथ श्रावस्ती आया। उस समय श्रावस्ती में विहार-निर्माण के योग्य स्थान, राजा प्रसेनजित के पुत्र राजकुमार जेत का उपवन था जो 'जेतवन' के नाम से प्रसिद्ध था। सारिपुत्र ने कुमार जेत से जब अपना उपवन बौद्ध-विहार बनाने के लिए मांगा तो उसने उसके मूल्य के रूप में उतनी सुवर्ण-मुद्रायें मांगी जितनी कि जेतवन में बिछाई जा सकती थी। सुदत्त ने पूरे जेतवन को सुवर्ण मुद्राओं से ढकना प्रारम्भ किया। जब थोड़ी सी जगह छोड़कर पूरे उपवन में सुवर्ण-मुद्रायें बिछ गईं तो कुमार जेत ने सुदत्त को उस स्थान पर मुद्रायें बिछाने से मना किया और उपवन में बिछी हुई समस्त मुद्राओं के धन से उस बिना मुद्रा वाले स्थान पर एक मन्दिर का निर्माण कर उसे बुद्ध को समर्पित कर दिया। सुदत्त ने पुनः और अठारह करोड़ सुवर्णमुद्राओं के धन से जेतवन में विहार के योग्य अनेक स्थानों का निर्माण कराया। कहा जाता है कि जो सुवर्ण-मुद्रायें जेतवन में बिछाई गई थीं, उनकी संख्या भी अठारह करोड़ थी। श्रावस्ती की इस घटना का सुन्दर चित्रण, द्वितीय शताब्दी ईसापूर्व के एक भरहुत के प्रस्तर-खण्ड में अंकित है जिसमें राजकुमार जेत, अनाथपिण्डिक, बैलगाडी से सुवर्ण-मुद्रायें तथा जमीन पर सुवर्ण-मुद्राओं का बिछाया जाना आदि बड़ी सुन्दर रीति से दिखाये गए हैं। इसी प्रकार का एक चित्रण बोधगया के एक अन्य प्रस्तरखण्ड में भी अंकित है। भरहुत के प्रस्तरखंड में नीचे यह अंकित है—अनाथपिण्डिक, करोड़ों स्वर्ण-मुद्राओं द्वारा खरीदे गए जेतवन का दान कर रहे हैं।

महात्मा बुद्ध ने बुद्धत्वप्राप्ति के पश्चात् तृतीय वर्षाकाल के चार महीनों (वर्षावास) को जेतवन में बिताया और इसके बाद वे प्रायः यहाँ आने-जाने लगे। बौद्ध-साहित्य में प्राप्त उल्लेखों के अनुसार बुद्ध ने जेतवन में चौबीस वर्षाकाल बिताये। बुद्धवंश की अट्ठकथा के अनुसार बुद्ध स्थायी रूप से श्रावस्ती में रहने लगे थे। वे कभी जेतवन-विहार में और कभी पूर्वाराम-विहार में ठहरते थे। (हिन्दू सभ्यता, राधाकुमुद मुकर्जी, पृ० २४६)

श्रावस्ती में महात्मा बुद्ध के जीवन [illegible] अनेक आश्चर्यकारी घटनायें हुई जिनमें अंगुलिमाल डाकू के [illegible] । [illegible] घटना बुद्ध के [illegible] अंगुलिमाल डाकू जिसे पकड़ना [illegible] । बुद्ध आगे मिले और तत्काल उसके [illegible] । राजा प्रसेनजित जब बुद्ध के पास आए तब वह वहाँ बैठा [illegible], भयभीत [illegible] । तब बुद्ध ने उन्हें आश्वस्त किया । राजा ने [illegible] वा, हे राजन्, मेरे पास अपने तीन चीवर [illegible] । ([illegible] २-८६ [illegible] ३१ ६६)

[illegible] श्रावस्ती आठ प्रशस्त बौद्ध तीर्थों में से एक माना जाता है । [illegible] में श्रावस्ती [illegible] पांच [illegible] में से एक बताया गया है ।

[illegible] जैनधर्म और बौद्ध धर्म, ये दो शाखायें [illegible] । श्रावस्ती [illegible] केन्द्र रही है ।

[illegible] का विकास किया जा रहा है । वहाँ नवीन जैन तथा बौद्ध [illegible] बौद्ध धर्मशालायें भी वहाँ स्थित हैं । हम [illegible], श्रावस्ती [illegible] विकास करें जिससे कि वह अपने [illegible] ।

०

भारतीय संस्कृति की वैज्ञानिक विचार-पद्धति



डा० मंगलदेव शास्त्री

एम ए, डी फिल् (आक्सन)

भू० पू० उपकुलपति संस्कृतविश्वविद्यालय, वाराणसी

भारतीय संस्कृति के स्वरूप, परम्परा और विकास के प्रश्न पर जिन विद्वानों ने गम्भीर विचार किया है वे इसी परिणाम पर पहुंचे हैं कि भारतीय संस्कृति की समष्टि-दृष्टिमूलक तथा सहानुभूतिपूर्ण विचार-धारा के आधार पर ही भारतीय समाज की परम्परागत संकीर्ण साम्प्रदायिक भावनाओं में ऐसी क्रान्ति लायी जा सकती है, जिसमें विग्रह, विघटन, साम्प्रदायिकता, विचार-संकीर्णता, पश्चाद्गामिता तथा अन्धरूढ़िवाद के स्थान में क्रमशः संग्रह, संघटन, असाम्प्रदायिकता, विचार-औदार्य आदर्शवादिता तथा प्रगतिवाद की भावनाओं को देश में स्थापित किया जा सकता है।

इस लेख में हम मुख्य रूप से उस नवीन वैज्ञानिक प्रक्रिया के स्वरूप को दिखाना चाहते हैं, जिसके द्वारा ही भारतीय परम्परा से प्राप्त और विभिन्न सम्प्रदायों तथा वर्गों से सम्बद्ध विस्तृत साहित्य और लम्बे इतिहास का एक धारावाहिक जीवित परम्परा के रूप में अध्ययन किया जा सकता है।

उक्त वैज्ञानिक प्रक्रिया के स्वरूप और महत्त्व को स्पष्टतया समझने के लिए आवश्यक है कि पहले हम उस परम्परागत साम्प्रदायिक विचार-पद्धति को समझ लें, जो चिरकाल से भारतवर्ष के विद्वानों में प्रायेण चली आ रही है, और जिसके प्रभाव के कारण ही अब भी हमको देश और राष्ट्र की गम्भीर समस्याओं के विषय में खुले हृदय से विचार करने में कठिनता प्रतीत होती है।

साम्प्रदायिक विचार-पद्धति

साम्प्रदायिक विचार-पद्धति का मौलिक आधार एकमात्र शब्द-प्रमाण की प्रधानता ही है।

शब्द-प्रमाण अपनी उचित सीमा के अन्दर सब को मानना पड़ता है। हमारे प्रतिदिन के जीवन में शब्द-प्रमाण का, अपने-अपने विषयों के विशेषज्ञ वैद्य, डाक्टर आदि की बात का कितना महत्त्व है, यह किससे छिपा है? अनुभवी विशिष्ट विद्वानों या लेखकों की बातों या शब्दों में अपने विचारों की पुष्टि या समर्थन पाकर हम कितने प्रसन्न होते हैं! ऐसे ही विशेषज्ञों को, जिन्होंने अपने अनुभव और परीक्षण से किसी तत्त्व को साक्षात् किया है, प्राचीन शास्त्रों की परिभाषा में आप्त[1] कहा जाता था, और उनके ही कथन को वास्तव में शब्द-प्रमाण[2] कहना और मानना चाहिये।

परन्तु ज्योंही शब्द-प्रमाण अपनी सीमा के बाहर चला जाता है, प्रत्यक्ष अनुभव और परीक्षण के मौलिक आधार से विच्युत हो कर जब केवल मान्यता और अन्ध-विश्वास पर स्थित हो जाता है, तो वह ऐसी विचार-पद्धति का जनक होता है, जो प्रायेण न केवल अपने ही को धोखा देती है, किन्तु संसार को भी व्यामोह में डालने वाली होती है।

---

१ अनुभवेन वस्तुतत्त्वस्य कार्त्स्न्येन याथार्थ्यज्ञानवान् आप्त।

२. देखिये "आप्तोपदेश. शब्द" (न्यायसूत्र १।१।७)।

धार्मिक क्षेत्र में एक बार बुद्धिवाद, प्रत्यक्षानुभव तथा अन्य प्रमाणों से निरपेक्ष शब्द-प्रमाण के मान लेने पर, लोगों में साम्प्रदायिकता के संकीर्ण भावों का आ जाना अनिवार्य हो जाता है। भारतवर्ष की साम्प्रदायिक परम्परा में इसी दृष्टि का, शब्दैकप्रमाणवादिता का, चिरकाल से साम्राज्य रहा है। "शब्दप्रमाणका वयम् यच्छब्द आह तदस्माकं प्रमाणम्" (अर्थात् हम तो केवल शब्द को प्रमाण मानने वाले हैं। हमारे लिए तो जो शास्त्र में लिखा है वही प्रमाण है) व्याकरण-महाभाष्यकार पतञ्जलि के इन शब्दों के अनुसार ही प्रायः हमारे साम्प्रदायिकों के विचार चिरकाल से चले आ रहे हैं।

"मनुष्या वा ऋषिषूत्क्रामत्सु देवानब्रुवन्-को न ऋषिर्भविष्यतीति।
तेभ्य एतं तर्कमृषिं प्रायच्छन्।" (निरुक्त, परिशिष्ट)

(अर्थात् ग्रन्थ या धर्म को बतलाने वाले ऋषियों के काल के समाप्त होने पर, मनुष्यों ने देवों से पूछा कि अब हमारा ऋषि या मार्गदर्शक कौन होगा? तब देवों ने मनुष्यों को तर्क-रूपी ऋषि को दिया।) इस प्रकार निरुक्त जैसे वेद-विषयक महत्त्व के ग्रन्थ द्वारा तर्क या परीक्षण को सत्यान्वेषण में प्रमुख स्थान देने पर भी, वेदान्तसूत्र[1] का यही कहना है कि तर्क का कोई ठिकाना नहीं है, शब्द-प्रमाण के पीछे पीछे ही तर्क को चलना चाहिए। धर्मशास्त्रों[2] में भी इसी बात पर बल दिया गया है कि अपनी अपनी मान्यता के शास्त्रों के अविरोध से ही तर्क द्वारा अनुसन्धान करना चाहिये।

अपने वैयक्तिक तर्क को कुतर्कणा के मार्ग से बचाने के लिए ऊपर के सिद्धान्त के मानने में वास्तव में कोई आपत्ति नहीं की जा सकती। परन्तु जब कुछ लोग स्वार्थ या अन्धविश्वास के कारण अपने सम्प्रदाय की मान्य पुस्तकों के मानव-कल्याण की दृष्टि से मौलिक अभिप्राय को न समझ कर उनके शब्दों को ही पकड़ने लगते हैं, उसी समय से साम्प्रदायिक सहिष्णुता के स्थान में साम्प्रदायिक असहिष्णुता, संकीर्णता और दुराग्रह का दुष्प्रभाव जनता में फैलने लगता है।

ऐसे ही कारणों से संकीर्ण साम्प्रदायिक भावनाओं का प्रसार देश में चिरकाल से चला आ रहा है। सहस्रों ग्रन्थ इसी दृष्टि से लिखे गये हैं। हमारे धर्मशास्त्र, पुराण, यहाँ तक कि दार्शनिक ग्रन्थ भी, संकीर्ण साम्प्रदायिक भावनाओं से अस्पृष्ट नहीं रहे हैं। साम्प्रदायिक विचार-पद्धति का तात्पर्य वास्तविक सत्य के अन्वेषण में उतना नहीं होता, जितना कि अपनी मान्यताओं की (अथवा मान्य पुस्तकों की) पुष्टि में या दूसरे सम्प्रदायों के खण्डन में होता है। यही इस पद्धति का सबसे बड़ा दोष है।

शब्दैकप्रमाणवादिता-मूलक साम्प्रदायिक विचार-पद्धति मूल में बहुत-कुछ निर्दोष होते हुए भी, शनैः शनैः सत्यपरायणता और सत्यान्वेषण की प्रवृत्ति से हटते-हटते प्रायेण अबुद्धिपूर्वक कितनी दूर चली जाती है, यही हम नीचे दिखाना चाहते हैं।

भारतवर्ष में उपर्युक्त साम्प्रदायिक विचार-पद्धति के इतिहास और विकास पर ध्यान देने से प्रतीत होगा कि उससे उत्पन्न विचार-प्रवृत्तियों को स्थूल रूप से हम तीन रूपों में दिखा सकते हैं—(१) एकवाक्यता या समन्वय की प्रवृत्ति, (२) अर्थान्तर या व्याख्याभेद की प्रवृत्ति और (३) प्रक्षिप्तवाद की प्रवृत्ति। इनको क्रमशः हम नीचे स्पष्ट करेंगे।



१ तर्काप्रतिष्ठानात् (वेदान्तसूत्र २।१।११)।
२ आर्षं धर्मोपदेशं च वेदशास्त्राविरोधिना। यस्तर्केणानुसंधत्ते स धर्मं वेद नेतरः। (मनु० १२-१०६)



एकवाक्यता या समन्वय की प्रवृत्ति

सिद्धान्त-रूप मे सत्य की रक्षा करते हुए, परस्पर सहिष्णुता के आधार पर, विरोध मे अविरोध की स्थापना के लिए प्रयुक्त एकवाक्यता या समन्वय की प्रवृत्ति की उपयोगिता या उपादेयता को कौन स्वीकार नहीं करेगा? भारतीय सस्कृति की विचारधारा स्वय इसी प्रवृत्ति का एक उत्कृष्ट निदर्शन है।

परन्तु साम्प्रदायिक विचार-पद्धति मे समुद्भूत जिस एकवाक्यता या समन्वय की प्रवृत्ति से यहाँ हमारा अभिप्राय है, वह उक्त प्रकार की प्रवृत्ति से बहुत-कुछ भिन्न है। यहाँ हमारा अभिप्राय प्रायेण मीमासा-पद्धति-मूलक उस एकवाक्यता या समन्वय की प्रवृत्ति से है, जिसका उपयोग भारतवर्ष में अपने-अपने सम्प्रदाय-सबद्ध साहित्य में पाये जाने वाले परस्पर-विरुद्ध या विरुद्ध रूप में प्रतीत होने वाले मतो में, किसी प्रकार से सकोच या विस्तार के द्वारा अविरोध, एकवाक्यता या समन्वय को स्थापित करने के लिए किया जाता रहा है।

प्रायेण साम्प्रदायिक सघर्ष के वातावरण मे ही इस प्रवृत्ति का उदय नहीं तो विस्तार तो अवश्य ही हुआ था।

साम्प्रदायिक सघर्ष के दिनो मे विरोधियो के आक्षेपो के कारण प्राय इसका प्रयत्न किया जाता है कि अपने-अपने सप्रदाय मे ही जो अवान्तर विरुद्ध मत पाये जाते है, उनमे किसी प्रकार अविरोध स्थापित किया जाए।

अपनी सीमा के अन्दर यह प्रवृत्ति सर्वथा समुचित हो सकती है। किसी भी बुद्धिमान् व्यक्ति के लेखो या वचनों मे जो विरोध दिखाई देता है, वह प्रायेण आपातत ही होता है और उसमे अविरोध स्थापित करना समुचित माना जा सकता है।

परन्तु काल के भेद से या व्यक्तियों के भेद से पाये जाने वाले विचारो के भेद मे आवश्यक रूप से आग्रह-पूर्वक एकवाक्यता या समन्वय के स्थापित करने का प्रयत्न करना स्पष्टत उपर्युक्त प्रवृत्ति की उचित सीमा का अतिक्रमण माना जाएगा।

भारतवर्ष में इस प्रकार औचित्य के अतिक्रमण की कहाँ तक चेष्टा की जाती रही है, इसको हम दो-चार निदर्शनो द्वारा दिखाना चाहते है।

विभिन्न कालो मे और विभिन्न विचारको द्वारा प्रतिपादित मतो के सग्रह-रूप उपनिषदो मे यह स्वभावत सभव है कि विश्व के मूल-तत्त्व के विषय में मुनियो के विचारों मे परस्पर थोडी-बहुत विभिन्नता पायी जाए। इसलिये यह स्वाभाविक ही है कि एक जगह उस मूलतत्त्व को ब्रह्म के रूप मे, अन्यत्र प्राण या आकाशादि के रूप मे वर्णन किया गया है। इस प्रकार का दार्शनिक मतभेद ससार मे सब जगह और सब कालो मे पाया जाता है। ऐसा होने पर भी, वेदान्त-सूत्र (उत्तर मीमासा) की रचना का मुख्य उद्देश्य यही है कि किसी प्रकार उपनिषदो के अन्तर्गत विभिन्न मतो मे एकवाक्यता दिखायी जा सके।

इसी प्रकार धर्मशास्त्रो और कर्मकाण्डो मे पाये जाने वाले परस्पर विरोधो या विभिन्नताओं का समाधान, कालभेद से होने वाली स्वाभाविक परिवर्तनशीलता के आधार पर न मान कर, प्रायेण उक्त प्रवृत्ति के द्वारा ही दिखाने का प्रयत्न किया जाता रहा है।

तथाकथित आस्तिक दर्शनो मे जो परस्पर विरोध पाया जाता है, उसका समाधान भी प्रायेण उक्त प्रवृत्ति के द्वारा ही किया जाता है।

अपने-अपने सम्प्रदायों मे शब्द-प्रमाण के रूप मे अभ्युपगत सिद्धान्तो की दृष्टि से प्राचीन साहित्य में पायी जाने वाली तद्विरुद्ध बातो के समाधान के लिये साम्प्रदायिकों का यही सबसे पहला उपाय है। इतिहास में उनके अपने

सिद्धान्तों के विरुद्ध घटनाएँ हुई हैं, उनको तो यथासम्भव वे मानेंगे ही नहीं। कालभेद से विचारों में परिवर्तन होता रहता है, इसको भी प्रायः नहीं मान सकते। इन्हीं कारणों से विदेशी जातियों के लाखों की संख्या में, इतिहास-प्रसिद्ध भारतीयकरण को, अथवा इतिहास से सिद्ध दूर-देशान्तरों के लिए भारतीयों की समुद्र-यात्रा को हमारे साम्प्रदायिक धर्म-शास्त्री कोई महत्त्व नहीं देते। प्रचलित धर्मशास्त्रीय सिद्धान्तों के विरुद्ध विधवा-विवाह, क्षत्रिय का सन्यास ग्रहण, ब्रह्म-विद्योपदेश या वर्णान्तरिवर्तन जैसी कोई बात यदि प्राचीन ग्रन्थों में उल्लिखित मिल जाती है तो उसका समाधान भी ये साम्प्रदायिक विद्वान किसी प्रकार उपर्युक्त समन्वय-वाद की प्रवृत्ति के द्वारा ही करते हैं।

ऐतिहासिक बुद्धि के अभाव और विचार-स्वातन्त्र्य के सिद्धान्त को न मानने के साथ-साथ, उक्त एकवाक्यता या समन्वय की प्रवृत्ति का एक बड़ा दोष यह भी है कि वह प्रायः अपने-अपने सम्प्रदाय में ही सीमित रहती है। यदि साम्प्रदायिक भावना से रहित होकर इस प्रवृत्ति का उपयोग विभिन्न सम्प्रदायों के परस्पर समन्वय के लिए किया गया होता, तो यह कहीं अधिक उपयोगी सिद्ध होती और भारतीय संस्कृति के पास तक हमें ला सकती। परन्तु संकुचित उपयोग के कारण इससे साम्प्रदायिकता को ही बल मिलता रहा है।

जैसा हम ऊपर कह चुके हैं, भारतीय संस्कृति की विचार-धारा भी एकवाक्यता या समन्वय की प्रवृत्ति को मानती है। परन्तु उसका दृष्टिकोण, संकुचित न हो कर, परम उदार है। इसका कारण उसकी वैज्ञानिक विचार-पद्धति ही है, जिसका निर्देश हम आगे चलकर करेंगे।

एकवाक्यता या समन्वय की प्रवृत्ति से साम्प्रदायिकों का सब जगह काम नहीं चलता इसीलिए विवश होकर उन्हें अर्थान्तर या व्याख्या-भेद की प्रवृत्ति का आश्रय लेना पड़ता है। उसी के स्वरूप को हम नीचे दिखाते हैं।

अर्थान्तर या व्याख्या-भेद की प्रवृत्ति

एकवाक्यता या समन्वय की प्रवृत्ति के साथ-साथ साम्प्रदायिक विचार-पद्धति की दूसरी प्रवृत्ति शब्दों, वाक्यों या सम्पूर्ण ग्रन्थों के ही अर्थान्तर या व्याख्यान्तर करने की है। भारतवर्ष में यह प्रवृत्ति भी पराकाष्ठा तक पहुँची हुई मिलती है।

इस प्रवृत्ति का आरम्भ हमें ब्राह्मण-ग्रन्थों के काल में ही मिलता है। उपनिषदों में भी यह प्रवृत्ति दिखायी देती है। किसी भी मन्त्र या ऋचा की व्याख्या कई प्रकार से की जा सकती है और इस प्रकार उससे अपने अभिप्राय या मत की पुष्टि की जा सकती है, प्रायः ऐसा मानकर ही वैदिक मन्त्रों या ऋचाओं के उद्धरण इन ग्रन्थों में दिये गये हैं।

यह प्रवृत्ति धीरे-धीरे बढ़ती गयी। अन्त में तो पूरे पूरे ग्रन्थों की अपने-अपने मत के अनुसार व्याख्या करने का रिवाज सा हो गया। इसका सबसे अधिक निदर्शन प्रस्थानत्रयी (उपनिषद्, वेदान्तसूत्र और भगवद्गीता) की विभिन्न साम्प्रदायिक व्याख्याएं हैं। शंकर, रामानुज, मध्व आदि साम्प्रदायिक आचार्यों की इन ग्रन्थों पर व्याख्याएं तो प्रसिद्ध ही हैं। इधर नवीन साम्प्रदायिक विद्वानों ने अपनी-अपनी व्याख्याएं लिखी हैं।



अपने अपने सिद्धान्तों को शब्द-प्रमाण-मूलक सिद्ध करने के लिए साम्प्रदायिक विद्वानों का बराबर यही प्रयत्न रहा है कि किसी न किसी प्रकार अपने पाण्डित्य के बल पर प्रामाणिक ग्रन्थों की अपने अनुसार व्याख्या करके अपने सिद्धान्त की पुष्टि की जाए।

आजकल तो यह प्रवृत्ति उपहास की सीमा तक पहुंच गयी है। वेद के मन्त्रों को कामदुघ मान कर, उनमें से अपने-अपने अभीष्ट अर्थ को निकालने की चेष्टा की जाती है। आधुनिक जगत् का कोई विज्ञान या आविष्कार ऐसा न होगा, जिसको वेद में सिद्ध करने का प्रयत्न न किया जाता हो। रेल और तार का तो वेद में निकालना साधारण सी बात है। परन्तु आश्चर्य की बात तो यह है कि दूसरों द्वारा आविष्कृत विज्ञानादि की पुष्टि में ही ऐसा किया जाता है। ये वैदिक विद्वान स्वोपज्ञ-रूप में कोई नया विज्ञान या आविष्कार वेद में नहीं निकाल पाते।

इन साम्प्रदायिक विद्वानो की कृपा से वेद भानमती का पिटारा बन गया है। हाथ डालते ही मनचाही वस्तु उसमे से निकाली जा सकती है। वेद के अनेक स्थलो मे जहा एक पक्ष मृतकश्राद्ध, अवतारवाद, मूर्तिपूजा, यज्ञो मे पशुबलि, वेद मे इतिहास आदि की पुष्टि करता है, वहा दूसरा पक्ष उन्ही स्थलो से तद्विपरीत अर्थ निकालने का प्रयत्न करता है। एक पक्ष मे स्वीकृत 'देवो को' जिनके मानने पर सारा वैदिक कर्मकाण्ड निर्भर है, दूसरा पक्ष 'विद्वानो' के अर्थ मे लेता है। इस दृष्टि से वेद और वैदिक साहित्य म 'देव ' पितर,' 'मास' जैसे शब्दो का भी अर्थ अनिश्चित ही रह जाता है। यदि वास्तव मे ऐसा ही है, तब तो प्रश्न किया जा सकता है कि वेदो का महत्त्व ही क्या रह जाता है?

एक बार सन् १९४० के लगभग वेदो के एक प्रसिद्ध विद्वान ने हमारे सभापतित्व मे दिये गये भाषण मे 'माटेग्यू-चेम्सफोर्ड रिफार्म' के अनुसार जो धारासभाए आदि भारतवर्ष मे चलाई गयी थी उनके स्वरूप को वेदो के प्रमाणो से सिद्ध करके दिखला दिया था। हमारा विश्वास है कि वही विद्वान् वर्तमान भारतीय सविधान को अथवा किसी अन्य सविधान को भी उसी सरलता से वेदो के आधार पर सिद्ध कर सकेंगे।

हम नही कह सकते कि इस प्रकार, वर्तमान को प्राचीन काल मे आरोपित करने की प्रवृत्ति पर निर्भर, मनमाने अर्थ मान्य ग्रन्थो पर लादने से हम उनका मान बढाते है या उनको उपहासास्पद बनाते हैं।

कुछ भी हो, यह स्पष्ट है कि साम्प्रदायिको की उपर्युक्त अर्थान्तर करने की उपहासास्पद प्रवृत्ति का मूल न तो इतना शब्द-प्रमाणवादिता मे या सत्यान्वेषण की भावना मे होता है, जितना कि "घट भित्त्वा पट छित्वा" के अनुसार सत्यार्थ का बलि भी दे कर अपने पक्ष की पुष्टि मे होता है।

परन्तु अर्थान्तर करने की भी सीमा है। अनेक स्थलो मे अर्थान्तर करने से भी साम्प्रदायिको का काम नही चलता। वहा उन्हे प्रक्षिप्तवाद का आश्रय लेना पडता है। उसी का स्पष्टीकरण हम नीचे देते है —

प्रक्षिप्तवाद की प्रवृत्ति

मुख्य रूप से शब्द-प्रमाण को ही मान कर चलने वाले साम्प्रदायिक लोग, जब अपनी मान्यता की कोटि के ग्रन्थो मे ऐसे स्थल पाते है, जिनकी न तो अपने सिद्धान्तो से एकवाक्यता दिखायी जा सकती है, और न व्याख्यान्तर ही किया जा सकता है, उस दशा मे वे उन स्थलो को बिना किसी सकोच के आसानी से, प्रक्षिप्त (पीछे से मिलाया गया) कह देते है।

इसमे सन्देह नही कि ग्रन्थो मे, विशेषत प्राचीन ग्रन्थो मे, वास्तविक रूप मे भी प्रक्षेपो का होना सम्भव है। परन्तु इनका क्षेत्र तथा प्रकार भी परिमित ही होता है। वैज्ञानिक पद्धति के आधार पर अनेक प्रकार के साक्ष्य से ही ऐसे वास्तविक प्रक्षेपो का निर्णय किया जा सकता है। केवल अपने सिद्धान्त के विरोध के कारण ही किसी स्थल को प्रक्षिप्त कह देना, सत्य की हत्या के साथ-साथ, दुस्साहस भी है। प्रक्षिप्तवाद की प्रवृत्ति के विशेष उदाहरणो के देने की आवश्यकता नही है। फिर भी दो-चार उदाहरण देना यहाँ अनुचित न होगा।

मृतक-श्राद्ध, अवतारवाद, देवमदिरो मे मूर्तिपूजा, वैदिक कर्मकाण्ड मे पशु-बलि आदि को न मानने वाले साम्प्रदायिक लोग जब मनुस्मृति जैसे ग्रन्थो मे मृतक-श्राद्ध, भगवद्गीता मे अवतारवाद, वाल्मीकि रामायण मे देवमन्दिरों मे मूर्तिपूजा या इसी प्रकार की अन्य पौराणिक धर्म की बाते, तथा श्रौतसूत्रो और ब्राह्मण ग्रन्थो मे यज्ञ मे पशु-बलि के प्रतिपादक स्पष्ट स्थलो को पाते है, तब उनको प्रक्षिप्त कह कर ही किसी प्रकार विरोधियो से अपने प्राणो की रक्षा करते हैं। ये लोग कभी-कभी ऐसे ग्रन्थो के, तथाकथित प्रक्षिप्ताशो से रहित, 'विशुद्ध' सस्करणो के प्रकाशन का भी साहस करते है।

उपर्युक्त प्रक्षिप्तवाद से मिलती-जुलती ही साम्प्रदायिक विचार-पद्धति की कुछ अन्य प्रवृत्तिया भी हैं, जिनका सक्षेप से निर्देशन करना यहां अनुचित न होगा।

सांप्रदायिक विचार-पद्धति की अन्य प्रवृत्तियां

साम्प्रदायिक विचार-धारा शब्द-प्रमाण के प्रामाण्यवाद पर निर्भर है, यह हम ऊपर बता चुके हैं। इसी कारण साम्प्रदायिक लोग देश में परम्परा से प्राप्त धार्मिक साहित्य में या तो प्रामाणिकता की दृष्टि से तर-तम भाव की कल्पना करते हैं या उनको अप्रामाणिक ही कहते हैं।

उदाहरणार्थ, पुराण-उपपुराणों का बड़ा विस्तृत साहित्य भारतीय परम्परा से चला आया है। वर्तमान पौराणिक हिन्दू-धर्म के स्वरूप और विकास को समझने के लिए उनको एक अर्थ में हम धार्मिक विश्वकोश कह सकते हैं। ऐतिहासिक सामग्री की दृष्टि से भी उनका अद्वितीय महत्व है। देश और विदेश के विद्वान् अब उनके महत्त्व को मुक्त-कण्ठ से स्वीकार करने लगे हैं।

ऐसा होने पर भी कुछ साम्प्रदायिक दृष्टि के लोग उनकी निन्दा करते हुए नहीं थकते, उनको सर्वथा हेय ही समझते हैं।

इसी प्रकार धार्मिक साहित्य में स्वतः प्रमाण और परतः प्रमाण की कल्पना भी शब्द-प्रमाणवादी साम्प्रदायिकों की अनैतिहासिक मनोवृत्ति का ही परिणाम है।

सच्ची निर्दोष साम्प्रदायिक निष्ठा के आधार पर किसी ग्रन्थ विशेष में पवित्रता और श्रद्धा की भावना दूसरी बात है। वह क्षम्य नहीं, प्रशंसनीय भी हो सकती है। परन्तु उसी श्रद्धा के आवेग के कारण परम्परा से प्राप्त किसी विस्तृत साहित्य के प्रति विरोध और असहिष्णुता की भावना किसी प्रकार क्षम्य नहीं कही जा सकती।

संकीर्ण साम्प्रदायिक मनोवृत्ति की एक दूसरी असहिष्णुता की प्रवृत्ति और भी अधिक अक्षम्य होती है। इसका निदर्शन हमको नवीन वैज्ञानिक पद्धति और उससे प्रवर्तित विज्ञानों और आविष्कारों के प्रति उनकी स्पष्ट या अस्पष्ट असहानुभूति से मिलता है।

जहां तक भौतिक विज्ञानों या आविष्कारों का सम्बन्ध है, यह प्रवृत्ति दो रूपों में प्रकट होती है। यदि उनके विषय में गुण-पक्ष और दोष-पक्ष दोनों हो सकते हैं, तब तो उनके दोष-पक्ष पर ही बल दिया जाता है। केवल गुण-पक्ष के होने पर, गुण-पक्ष को लेकर यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया जाता है कि उन विज्ञानों या आविष्कारों का उल्लेख हमारे प्राचीन ग्रन्थों में भी पाया जाता है।

परन्तु जो नूतन विज्ञान और आविष्कार भौतिक नहीं हैं, उनके विषय में तो संप्रदायवादियों का प्राय यही कहना होता है कि वे वैज्ञानिकता के आभास से ही रहित हैं। १९वीं और २०वीं शताब्दियों ने भाषा-विज्ञान, मानव जाति विज्ञान, पुरातत्त्व विज्ञान, पुराणविज्ञान, मनोविज्ञान, आदि अनेक नवीन विज्ञानों को जन्म दिया है। इन विज्ञानों से अनेक प्राचीन धारणाओं को धक्का लगा है। प्राय इनके प्रति साम्प्रदायिकों में तीव्र विरोध भावना पायी जाती है। ऐसे साम्प्रदायिक विद्वानों की कमी नहीं है, जो साम्प्रदायिक मंच पर, जहां धर्म-सदाचार का ही उपदेश होना चाहिये, इन नवीन विज्ञानों की हंसी उड़ाते हुए उनका खण्डन करते हैं। कभी-कभी वे यह भी कहते सुने जाते हैं कि इन 'तथाकथित' विज्ञानों के चलाने में पाश्चात्य विद्वानों का एक भयानक षड्यन्त्र है, जिसका अन्तरभिप्राय केवल अपने देश के पारम्परिक विश्वासों और धारणाओं को धक्का पहुंचाना ही है।



वास्तव में संकीर्ण साम्प्रदायिक मनोवृत्ति के लिये, चाहे वह पश्चिम की हो या पूर्व की, ऐसी अनुदार भावना सर्वथा स्वाभाविक ही होती है।

ऊपर के प्रतिपादन से स्पष्ट हो गया कि मुख्यतः ऐतिहासिक दृष्टि के न होने से, और अनुभव तथा परीक्षण आदि में निरपेक्ष शब्द-प्रमाण को ही प्रधान पद देने से साम्प्रदायिक विचार-पद्धति, सत्यान्वेषण के स्थान में, उलटे

अनर्थ की सपादिका बन जाती है। उसमे एक ओर सत्य की हत्या का और दूसरी ओर विचार-स्वातंत्र्य के सर्वथा प्रतिपेध का भय उपस्थित हो जाता है।

उसका एक बडा दोप यह भी है कि वह अपनी दृष्टि सदा अपने ही सप्रदाय के ग्रन्थो मे परिमित या वद्ध रखती हुई, न केवल अपने से भिन्न सप्रदाय के ग्रन्थो के विपय मे किन्तु देश की लम्बी परम्परा के विभिन्न स्तरो से सबद्ध विशाल साहित्य आदि के विपय मे भी प्राय उपेक्षा ही दिखाती है।

ऐसे ही कारणो से भारतीय सस्कृति की विचार-धारा के लिए, जिसका सम्बन्ध भारत के समस्त साहित्य और इतिहास से ही है, सकुचित साम्प्रदायिक विचार-पद्धति को छोड कर, वैज्ञानिक विचार-पद्धति का ही अवलम्बन आवश्यक हो जाता है। उसी के स्वरूप और महत्त्व को हम सक्षेप मे नीचे दिखाना चाहते है।

वैज्ञानिक विचार-पद्धति

वैज्ञानिक पद्धति का मुख्य आधार उसकी तुलनात्मक और ऐतिहासिक प्रक्रिया है। किसी विपय के स्वरूप को उपपत्ति और युक्ति के सहित समझने के लिए हमे उसके इतिहास और विकास के साथ-साथ उसकी वर्तमान आपेक्षिक परिस्थिति को भी ठीक-ठीक जानना आवश्यक होता है।

इसलिए व्यापक दृष्टि से भारतीय सस्कृति के स्वरूप, स्वभाव और विकास को, उसकी अत्यत प्राचीन काल से आने वाली धारावाहिक जीवित परम्परा को, ठीक-ठीक समझने के लिए उसके इतिहास को जानने की अत्यन्त आवश्यकता है। इसके लिए सत्य के अन्वेपण मे तत्पर, किसी प्रकार के पूर्वाग्रह तथा पक्षपात से रहित, विवेचनात्मक व्यापक ऐतिहासिक बुद्धि की आवश्यकता है। इस ऐतिहासिक बुद्धि के परिपाक के लिए अन्य प्राचीन परम्परागत सस्कृतियो के परिविज्ञान के साथ-साथ भापाज्ञान, मानवजातिविज्ञान, पुराणविज्ञान आदि नवीन विज्ञानो के सिद्धान्तो को भी जानने की अपेक्षा होती है।

भारतीय सस्कृति की कोई ऐतिहासिक विकासात्मक परम्परा है, यह दिखाने के लिए हमे अनिवार्य रूप से उसकी प्रगतिशीलता के सिद्धान्त को मानना आवश्यक हो जाता है। प्रगतिशीलता के सिद्धान्त को मान लेने पर ऐतिहासिक शोध मे साम्प्रदायिक विचार-पद्धति और उसकी पूर्वोक्त प्रवृत्तियो के लिए कोई स्थान ही नही रहता। सत्यान्वेपण की भावना से प्रवृत्त ऐतिहासिक का कर्तव्य है कि वह सब प्रकार के पूर्वग्रह और पक्षपात से रहित हो कर भारतीय सस्कृति के विभिन्न कालो की वस्तु-स्थिति का निरूपण करे। इसलिए उसको प्रयत्न करना पडता है कि उसकी विवेचना पर किसी साम्प्रदायिक झुकाव का, किसी प्रकार का अनुचित प्रभाव न पडे और वह प्रत्येक काल के साथ न्याय कर सके। ऐसी अवस्था मे न तो उसे बलात् कृत्रिम एकवाक्यता या समन्वय की, और न प्रक्षिप्तवाद के आश्रयण की अपेक्षा होती है। वह किसी भी वस्तु-स्थिति को अच्छे या बुरे रूपान्तर मे दिखाना अपनी न्याय-बुद्धि के विपरीत ही समझता है।

एक काल को दूसरे काल मे अध्ययन या आरोप करने की प्रवृत्ति अबुद्धि-पूर्वक साम्प्रदायिको के अतिरिक्त अन्य लोगो मे भी देखी जाती है। उदाहरणार्थ, वेदमन्त्रो की व्याख्या मे आजकल यह प्रवृत्ति प्राय देखी जाती है। सच्चे ऐतिहासिक को उस प्रवृत्ति की ओर से अपने को सदा सचेत रखना पडता है।

भारतवर्ष मे हम लोगो की प्रायेण यही प्रवृत्ति रही है कि हम बडे बडे धार्मिक आन्दोलनो को, अवतारी महापुरुषो को और बडी-बडी ऐतिहासिक घटनाओ को पूर्वापर परिस्थितियो से असबद्ध तथा असपृक्त अथवा आकस्मिक घटना के रूप मे ही देखते है। उदाहरणार्थ, भगवान् कृष्ण के अवतार के विषय मे हमे इतने से ही सन्तोप हो जाता है कि कस आदि पापियो के सहार के लिए ही वह अवतार हुआ था। देश की धार्मिक, सास्कृतिक, आर्थिक, राजनीतिक आदि पूर्ववर्ती परिस्थिति मे उस अवतार की आवश्यकता को हम नही ढूढते। न यह जानना चाहते हैं कि देश की

परवर्ती परिस्थितियों पर उसका चिरस्थायी अथवा अचिरस्थायी क्या प्रभाव पड़ा। परन्तु वैज्ञानिक पद्धति के अनुसरण में हमें इन सब बातों का उत्तर देना आवश्यक हो जाता है।

जैसे भौतिक जगत् में आंधी के आने से पहले वायुमण्डल की एक विशेष अवस्था होती है और आंधी भी उसी अवस्था के कारण ही आती है। साथ ही, आंधी स्वयं समाप्त हो जाने पर वायु-मण्डल में अपने विशेष प्रभाव को छोड़ जाती है। इसी प्रकार महान् आन्दोलनों और अवतारी महापुरुषों की पूर्ववर्ती और परवर्ती परिस्थितियों में कार्य-कारण भाव की परम्परा रहती है। वैज्ञानिक पद्धति का कर्तव्य है कि वह इसका पता लगाए और उसका निरूपण करे।

वास्तव में, किसी भी इतिहास के समान ही, भारतीय संस्कृति का इतिहास भी इसी प्रकार की कार्यकारण-भाव की परम्पराओं से निर्मित है। हमारा कर्तव्य है कि हम वैज्ञानिक पद्धति के अवलम्बन से इस परम्परा की धारा का अध्ययन करें।

भारतीय संस्कृति के लम्बे इतिहास में कालभेद से जो विभिन्न स्तर पाये जाते हैं, हमारा कर्तव्य है कि हम न केवल उनके परस्पर सम्बन्ध का ही, किन्तु प्रत्येक स्तर की पूर्वावस्था और अनन्तरावस्था का, उन-उन त्रुटियों का, जिनके कारण एक स्तर के पश्चात् अगले स्तर का आना आवश्यक होता गया, पता लगावें, और इस प्रकार प्रवाह-वाहिक जीवित परम्परा के रूप में भारतीय संस्कृति को हम समझ सकें। उपर्युक्त प्रकार के अध्ययन के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि भारतीय संस्कृति के विभिन्न कालों के साथ हमारी न केवल ममत्व की या तादात्म्य की ही भावना हो, किन्तु सहानुभूति भी हो।



पालि वाङ्मय में निगण्ठ और निगण्ठ नातपुत्त



अणुव्रतपरामर्शक मुनिश्री नगराजजी

आगमो मे जहा बुद्ध के नामोल्लेख की भी अल्पता है, वहाँ त्रिपिटको मे महावीर-सम्बन्धी घटना-प्रसगो की बहुलता है। वहा उन्हे 'निगण्ठ नातपुत्त'[1] कहा गया है। 'निगण्ठ' शब्द सामान्यत जैन भिक्षु का सूचक है। 'नातपुत्त' शब्द भगवान् महावीर के लिए आगम-साहित्य मे भी प्रयुक्त है।[2] वे घटना-प्रसग कहाँ तक यथार्थ हैं, इस चिन्तन मे यदि हम न जायें तो निस्सन्देह कहा जा सकता है कि वे बहुत ही सरस, रोचक और प्रेरक है। दोनो धर्म-सघो के पारस्परिक सम्बन्धो, सिद्धान्तो व धारणाओ पर वे पूरा प्रकाश डालते है।

महावीर और बुद्ध का एक-दूसरे से कभी साक्षात् हुआ, ऐसा कोई उल्लेख नही मिलता। एक समय में एक ही नगर के विभिन्न उद्यानो मे वे रहे, ऐसे अनेक उल्लेख अवश्य मिलते है। गृहपति उपालि के चर्चा-प्रसग व असिबधक पुत्र ग्रामणी के चर्चा-प्रसग पर दोनो धर्मनायक नालन्दा मे थे। सिंह सेनापति के चर्चा-प्रसग पर दोनो वैशाली मे थे। अभय राजकुमार की चर्चा मे दोनो के राजगृह मे होने का उल्लेख है। महासकुलुदायी सुत्तन्त मे तो सातो धर्मनायको का एक ही वर्षावास राजगृह मे होने का उल्लेख है। 'दिव्यशक्ति-प्रदर्शन' के घटना-प्रसग पर सातो धर्मनायको के एक साथ राजगृह मे होने का उल्लेख है।[3]

साम्प्रदायिक सकीर्णता (Odium Theologicium)

त्रिपिटको मे आये सभी समुल्लेख भाव-भाषा से बुद्ध की श्रेष्ठता और महावीर की न्यूनता व्यक्त करते हैं। जातकट्ठकथा,[4] धम्मपद-अट्ठकथा[5] के कुछ प्रसग इस साम्प्रदायिक सकीर्णता (Odium theologicium) के उत्कृष्ट उदाहरण हैं। एक प्रसग ऐसा भी है, जो सामान्य अवलोकन मे बहुत निम्न श्रेणी का लगता है पर मूलत वह वैसा नही है। महावीर के निर्वाण-सवाद को लेकर पहुचने वाले भिक्षु चुन्द समणुद्देश को बुद्ध के पास ले जाते हुए आनन्द कहते हैं—"अत्थि खो इद, आवुसो चुन्द, कथापाभत भगवन्त दस्सनाय" अर्थात्, आवुस चुन्द ! भगवान् के दर्शन मे यह सवाद कथाप्राभृत (उपहार) होगा। सामान्यत यह लगना ही है कि महावीर का निधन-सवाद पाकर आनन्द को कितना हर्ष हुआ है और उसने उसे उपहार-रूप माना है। मैंने अपने एक प्राक्तन निबन्ध मे उसकी तथारूप आलोचना भी

---

१. कहीं-कहीं निगण्ठ नाथपुत्त और निगण्ठ नाटपुत्त भी है।

२ दशवैकालिक सूत्र, ६, २०।

३ देखें इसी निबन्ध मे क्रमश प्रसग सख्या २, ६, १, ३, १३, और १७।

४ इस निबन्ध में प्रसग सख्या ३४, ३५, ३६।

५ इस निबन्ध मे प्रसग सख्या १७, १८, ४०।

की है ।[1] पर सारिपुत्र के मृत्यु-सवाद को लेकर भी वही चुन्द आनन्द के पास आता है, वहाँ पर भी आनन्द कहते है—"अत्थि खो, आवुस चुन्द कथापाभत दस्सनाय" ।[2] इससे प्रमाणित होता है कि वह बौद्ध-परम्परा की या उस युग की उक्ति मात्र है । इसमे कुत्सा अभिव्यक्त नहीं होती ।

प्रसंगो की समग्रता

प्रस्तुत लेख मे त्रिपिटक-साहित्य के उन समुल्लेखो का परिचय दिया गया है, जिनमे किसी न किसी रूप मे महावीर का सम्बन्ध आता है । साथ-साथ वे समुल्लेख भी ले लिये गये है, जो निर्ग्रन्थ-सम्प्रदाय के सबध से है । डा० हर्मन जेकोबी ने 'जैन सूत्रो' की भूमिका[3] मे त्रिपिटको मे आये महावीर व निर्ग्रन्थो-सबधी समुल्लेखो का समीक्षात्मक सकलन प्रस्तुत किया है । वे समुल्लेख ११ है । डा० जेकोबी की धारणा मे तब तक की प्रकाशित सामग्री का वह समग्र सकलन है । प्रस्तुत प्रकरण मे वे समुल्लेख ११ की अपेक्षा ५१ हो गये है । इन नवीन प्रसगो मे से कुछ उन ग्रन्थो के हो सकते हैं, जो उस समय तक प्रकाशित न हुए हो, पर कुछ समुल्लेख ऐसे भी है, जो डा० जेकोबी की निगाह से बच रहे थे । क्योकि एक ही ग्रन्थ के कुछ समुल्लेख डा० जेकोबी के सकलन मे आये है और कुछ नही । डा० मलालशेखर[4] ने भी 'निगण्ठ नातपुत्त' शब्द पर जो सन्दर्भ सकलित किये हैं, वे भी परिपूर्ण नही है ।

प्रस्तुत सकलन सम्बन्धित विषय का समग्र सकलन है ही, यह कह देना तो कठिन होगा, पर इस प्रयत्न मे इतनी जागरूकता अवश्य बरती गई है कि त्रिपिटको मे से कोई भी प्रसग विलग न रह जाये । अट्ठकथाओ व इतर ग्रथो के प्रसग भी यथासभव इस सकलन मे ले लिये गये है । कहा जा सकता है, प्रस्तुत लेख 'बौद्ध साहित्य मे निगण्ठ नातपुत्त' विषयक प्रसगो का भरा-पूरा और प्रामाणिक आकलन बन गया है, जो सम्बन्धित विषय के पाठको व गवेषको के लिए महत्त्वपूर्ण और उपयोगी सिद्ध होगा ।

वर्गीकरण

प्रसग मूल रूप से प्रकीर्ण हैं । प्रस्तुत आकलन मे उन्हे तीन विभागो मे बाटा गया है । १ चर्चा-प्रसग, २ घटना-प्रसग, ३ उल्लेख-प्रसग । इन प्रसगो की सख्या क्रमश १३, ८ और ३० है । यहा इन समुल्लेखो के सदर्भ व सक्षिप्त परिचय दिये गये है तथा यथास्थान सक्षिप्त समीक्षा भी की गई है ।

चर्चा-प्रसग



१ सिह सेनापति

यह प्रकरण विनयपिटक[5] का है । निगण्ठ नातपुत्त का श्रावक व लिच्छवियो का सेनापति सिह बुद्ध से वैशाली मे चर्चा करता है व उनका अनुयायी बन जाता है ।

---

१ भिक्षुस्मृतिग्रथ, 'पाली वाङ्मय मे भगवान महावीर' शीर्षक लेख श्री जैन श्वेताम्बर तेरापथी महासभा, कलकत्ता १९६०, खण्ड २, पृ० ६ से १० ।

२ सयुत्त निकाय, चुन्द सुत्त, ४५-२-३

३ S B E vol XLV, Introduction, pp XIV-XXIII

४ Dictionary of Pali proper Names, vol II, pp 61-65

५ विनयपिटक, महावग्ग, भैषज्य खन्धक, ६-४-८ के आधार पर ।



समीक्षा

सिंह सेनापति और तथाप्रकार के उदन्त का आगम-साहित्य मे कहीं आभास नही मिलता। महावीर के किसी अनुयायी का बुद्ध की शरण मे आ जाना और बुद्ध के किसी अनुयायी का महावीर की शरण मे आ जाना, कोई अद्भुत व असम्भव बात नही है, पर जैन परम्परा मे इस घटना का यत्किचित् भी समुल्लेख होता तो वह पूर्णतया ही ऐतिहासिक रूप ले लेती। असभव की कोटि मे मानने का तो अब भी कोई आधार नही है।

गुजराती साहित्यकार श्री जयभिक्खु ने अपने उपन्यास 'नरकेसरी'[१] मे सिंह सेनापति को महावीर के परम अनुयायी चेटक होने की सभावना व्यक्त की है, पर वह यथार्थ नही है। बौद्ध परम्परा में चेटक का कही नामोल्लेख नही है, न उस प्रकार के किसी अन्य जीवनवृत्त की भी झाकी वहा मिलती है। जैन परम्परा के अनुसार वह वैशाली गणतत्र का अधिपति (राजा) था[२] और उसके अधीन ९ मल्लकी ९ लिच्छवी, काशी-कोशल के १८ गणराजा थे।[३] अत सिंह सेनापति के रूप मे उसे देखने का कोई आधार नही मिलता। डा० ज्योतिप्रसाद का कहना है—"महाराजा चेटक के दश पुत्र थे, जिनमे ज्येष्ठ पुत्र सिंह अथवा सिंहभद्र वज्जीगण के प्रसिद्ध सेनापति थे।[४]

सिंह सेनापति का विस्तृत वर्णन बौद्ध साहित्य मे भी नही मिलता। इस घटना-प्रसग के अतिरिक्त उसका नामोल्लेख अगुत्तरनिकाय[५] मे बुद्ध से की गई दान-सबधी चर्चा मे आता है या थेरीगाथा[६] मे सिंहा भिक्खुणी के पितृव्य के रूप मे आता है।

उक्त प्रकरण मे महावीर को क्रियावादी व्यक्त किया गया है। क्रियावाद शब्द उस समय मे बहुत व्यापक अर्थ का वाची रहा है। क्रियावाद, अक्रियावाद, अज्ञानवाद और विनयवाद के ३६३ भेद जैन परम्परा मे माने गये हैं।[७] पर क्रियावाद और अक्रियावाद के इन भेदो मे महावीर का अभिमत नही है। वे सब पर-मत की चर्चाएं हैं। महावीर को जो क्रियावादी कहा गया है, अपेक्षा-भेद से यह भी यथार्थ माना जा सकता है। इसका आधार सूत्रकृताग में मिलता है। वहा बताया गया है कि जो आत्मा को जानता है, जो लोक को जानता है, जो गति और अन्तंगति को जानता है, जो नित्य-अनित्य, जन्म-मरण और प्राणियो के गति-क्रम को जानता है, जो तत्त्वो की वेदना को जानता है, जो आश्रव और सवर को जानता है, जो दु ख को तथा निर्जरा को जानता है, वही क्रियावाद को यथार्थ रूप से कह सकता है।[८] जो इन तत्त्वो को जानता है अर्थात् स्वीकार करता है, वही क्रियावादी है।[९]

---

१ पृ० २३४।

२ वेसालिए नयरीए चेडगस्य रन्नो-निरयावलिकासूत्र, १६-२।

३ नवमल्लई नवलेच्छई कासी कोसलगा अट्ठारस वि गणरायाणो।

—निरयावलिकासूत्र, प्र० आगमोदय समिति, पत्र १७-२।

४ भारतीय इतिहास—एक दृष्टि पृ० ५६।

५ अगुत्तर निकाय, ३-३८, ४-६९।

६ गाथा ७७-८१।

७. सूत्रकृताग सूत्र श्रु० १, गा० १, निर्युक्ति गाथा ११९-१२१

८ अत्ताण जो जाणति जो य लोग, गइ च जो जाणइ णागइ च।
जो सासय जाण असासय च, जाति च मरण च जणोववाय।
अहो वि सत्ताण विउट्टण च, जो आसव जाणति सवर च।
दुक्ख च जो जाणति निज्जर च, सो भासिउमरिहई किरियवाद॥

—सूत्रकृताग सूत्र, श्रु० १, अ० १२, गा० २०-२१।

९ 'यश्चैतान् पदार्थान् 'जानाति' अभ्युपगच्छति स परमार्थत क्रियावाद जानाति।'

—सूत्रकृताग वृत्ति, श्रु० १, अ० १२, गा० २१

वस्तुत तो महावीर अनेकान्तवादी थे। उनका दर्शन तो आहनु विज्जाचरण पमोक्ख"[1] की उक्ति में व्यक्त होता है। जिसका हार्द है, ज्ञान और क्रिया की युगपत् स्थिति में ही मोक्ष की सभावना है।

उक्त प्रसग में बुद्ध ने भी तो मनो-दुश्चरित, मन -सुचरित आदि के अपेक्षा-भेद से स्वय को क्रियावादी और अक्रियावादी दोनो ही बताने का प्रयत्न किया है।

बौद्ध भिक्षु और भिक्षुणियो के लिए मासाहार का स्पष्ट विधान इसी घटना-प्रसग से बना है। अदृष्ट, अश्रुत व अपरिशकित मास को बुद्ध ने ग्राह्य कहा है। निगण्ठों ने यहा उद्दिष्ट मास का विरोध किया है। आर्द्रककुमार प्रकरण[2] में भी उद्दिष्ट मास को गर्हास्पद कहा है।

२ गृहपति उपालि

मज्झिमनिकाय[3] के इस प्रसग मे निगण्ठ नातपुत्त का साधु दीर्घ तपस्वी निर्ग्रन्थ व श्रावक गृहपति उपालि नालन्दा मे बुद्ध से चर्चा करते हैं। अन्त मे गृहपति उपालि बुद्ध का शरणागत उपासक बन जाता है।

समीक्षा

उपालि नामक कोई वरिष्ठ उपासक महावीर का था, ऐसा आगम साहित्य मे कही नहीं मिलता है। जैन भिक्षु इतर भिक्षुओं के प्रति कुशल-प्रश्न करे, ऐसी भी परम्परा नहीं है। दीर्घ तपस्वी निर्ग्रन्थ और बुद्ध के बीच हुए वार्तालाप और सम्बोधन आदि मे यह भी प्रतिबिम्बित होता है कि बुद्ध युवा हैं और दीर्घ तपस्वी निर्ग्रन्थ वयोवृद्ध। इससे महावीर का ज्येष्ठ होना और बुद्ध का छोटा होना भी पुष्ट होता है।

'दण्ड' और 'कर्म' की चर्चा मे दोनो ही शब्द एक-दूसरे के पर्यायवाची हैं। दण्ड शब्द का उपयोग आगमो में भी इसी अर्थ मे मिल जाता है।[4] 'मन -कर्म' आदि का जैन परम्परा मे कोई विरोध नहीं है। महावीर के मत को एकान्त रूप से कायिक-कर्म-प्रधान बतलाना न्याय नहीं है। पाप-पुण्य के विचार मे जैन पद्धति के अनुसार मन वचन और काय—इन तीनो की ही सापेक्षता है। मन -कर्म की मान्यता के पोषक अनेक आधार जैन परम्परा मे प्रसिद्ध हैं। प्रसन्नचन्द्र राजर्षि का मनोद्वन्द्व, तण्डुल मत्स्य की मानसिक हिंसा, स्कन्दक मुनि का अपने प्राग्भव में काचर (फल-विशेष) का छीलना आदि इसके ज्वलन्त उदाहरण हैं।

डा० जेकोबी ने उपालि के घटना-प्रसग पर समीक्षा करते हुए लिखा है—"महावीर का कायिक पाप को बडा बताना आगम-सम्मत ही है। सूत्रकृताग २, ४ तथा २, ६ मे इस अभिमत की पुष्टि मिलती है।[5] डा० जेकोबी की यह समीक्षा यथार्थ नहीं है कि क्योंकि वहा जो कहा गया है, उसका हार्द इससे अधिक नहीं है। काय-दण्ड भी एक पाप-बन्ध का निमित्त है, और उपहास मनोदण्ड की एकान्तवादिता का किया गया है। इस प्रसग मे निर्ग्रन्थ को शीत-जल का परित्यागी व उष्णजलसेवी बताया है, जो जैन साधुओं की क्रिया से सुसगत ही है।

---

१ सूत्रकृतांग सूत्र, श्रु० १, अ० १२, गा० ११।

२ थूल उरब्भ इह मारियाण, उद्दिट्ठभत्त च पगप्पएत्ता। सूत्रकृताग सूत्र, श्रु० २, उ० ६, गा० ३७।

३ मज्झिमनिकाय, उपालि सुत्तन्त, २-१-६।

४ स्थानाग स्था० ३, सू० १२६, आवश्यक सूत्र चतुर्थ अध्ययन।

५ SBE vol XLV, Introduction, p XVII



३ अभय राजकुमार

मज्झिमनिकाय[1] के इस प्रसग मे निगण्ठ नातपुत्त के आदेशानुसार अभय राजकुमार बुद्ध से राजगृह मे चर्चा करता है और बुद्ध का शरणागत उपासक बन जाता है।

समीक्षा

अभय राजकुमार का वर्णन दोनो ही परम्पराओ मे विशद रूप से मिलता है। बौद्ध परम्परा जहाँ मानती है कि वह जैन से बौद्ध बना, जैन परम्परा के अनुसार तो महावीर के संघ मे दीक्षित हुआ और वही भिक्षु पर्याय मे उसका निधन हुआ।

'अपदान' मे भी अभय और महावीर के इसी घटना-प्रसग का उल्लेख हुआ है।[2] वहा अभय राजकुमार अपने अतीत जीवन की गाथा मे महावीर से विलग होकर बुद्ध की शरण मे जाने की बात कहता है। उल्लेखनीय यह है कि बुद्ध की स्तुति मे भी वह वहा 'कित्तयित्वा जिनवर, कित्तितो होमि सब्बदा' ही कहता है।

४ निर्ग्रन्थो का तप

मज्झिमनिकाय[3] के इस प्रसग मे बुद्ध ने निगण्ठो के साथ तपश्चर्या के विषय मे हुए अपने वार्तालाप को महानाम शाक्य को सुनाया है।

समीक्षा

यहा सर्वज्ञता और कठोर तपश्चर्या का जो दिग्दर्शन कराया गया है, वह जैन मान्यता मे प्रतिकूल नहीं है। अन्य वितर्क तो साम्प्रदायिक पद्धति के है ही।

५ कर्म-चर्चा

यह प्रकरण भी मज्झिम निकाय[4] का है। इसमे निगण्ठो के साथ 'कर्म-सिद्धान्त' के विषय मे हुई बुद्ध की चर्चा का विस्तृत विवेचन है।

समीक्षा

उक्त प्रकरण में सर्वज्ञता और कठोर तपश्चर्या का वर्णन तो लगभग वैसा ही है, जैसा चुलदुक्खक्खन्धक सुत्तन्त मे किया गया है। इस प्रसग की नवीन चर्चा वेदनीय अवेदनीय कर्म की है। सभी प्रश्नो का उत्तर निगण्ठो से निषेध की भाषा मे दिलाया गया है। वस्तुस्थिति यह है कि जैन कर्मवाद मे निकाचित कर्मावस्था की अपेक्षा से तो उक्त निषेध यथार्थ माने जा सकते हैं, किन्तु अन्य उद्वर्तन, अपवर्तन, उदीरण, सक्रमण आदि कर्मावस्थाओं की अपेक्षाओं मे अधिकाश निषेध अयथार्थ प्रमाणित होते है।[5]

६ असिबन्धकपुत्र ग्रामणी

यह प्रसग सयुत्तनिकाय[6] का है। इसमे निगण्ठ नातपुत्त का श्रावक असिबन्धकपुत्र ग्रामणी के साथ बुद्ध चर्चा करते है और अन्त मे उसे अपना उपासक बना लेते हैं।

---

१ मज्झिमनिकाय, अभयराजकुमार सुत्तन्त, २-१-८।
२. अपदान, ५४-४-२१६ से २२१।
३ मज्झिमनिकाय, चुलदुक्खक्खन्ध सुत्तन्त, १-२-४।
४ मज्झिमनिकाय, देवदह सुत्तन्त, ३-१-१।
५ देखें कर्मावस्था के भेद-प्रभेद, स्थानाग सूत्र, स्था० ४।
६ सयुत्तनिकाय, सखसुत्त, ४०-८।

समीक्षा

आगम साहित्य में असिबन्धकपुत्र ग्रामणी नाम का कोई व्यक्ति नहीं मिलता। त्रिपिटक साहित्य में भी 'ग्रामणी संयुत्त' के अतिरिक्त और कहीं इसकी चर्चा विशेषतः नहीं मिलती। 'ग्राम का अगुआ' इस अर्थ में इसे ग्रामणी कहा गया है।

अहिंसा, सत्य आदि चार यमों की चर्चा यहाँ की गई है। बुद्ध ने इनका खण्डन किया है, पर यथार्थ में वाक्-चातुर्य से अधिक वह कुछ नहीं। वस्तुतः तो बुद्ध स्वयं अहिंसा, सत्य आदि को इसी प्रकरण में उपादेय बतलाते हैं। पंचशील में भी चार शील चतुर्याम धर्म रूप ही तो हैं।[1] प्रस्तुत प्रकरण में मैत्री, करुणा आदि चार भावनाओं का समुल्लेख हुआ है, जो पातञ्जल योगदर्शन[2] तथा जैन परम्परा[3] में भी अभिहित हैं।

७ नालन्दा में दुर्भिक्ष

यह प्रसंग भी संयुत्तनिकाय[4] का है। इसमें निगण्ठ नातपुत्त की सलाह से असिबन्धकपुत्र ग्रामणी बुद्ध के साथ चर्चा करते हैं। यह चर्चा नालन्दा में तब होती है, जब वहा बहुत बड़ा दुर्भिक्ष था।

समीक्षा

आगम साहित्य में नालन्दा की दुर्भिक्ष-स्थिति का कोई उल्लेख नहीं है।

प्रस्तुत प्रकरण से इतना तो स्पष्ट होता ही है कि महावीर और बुद्ध एक ही काल में अपनी-अपनी भिक्षु-परिषद् सहित नालन्दा में थे।

८ चित्र गृहपति

संयुत्तनिकाय[5] के इस प्रसंग में बुद्ध का उपासक शिष्य चित्र गृहपति निगण्ठ नातपुत्त से कुछ प्रश्नोत्तर करता है।

समीक्षा

अवितर्क अविचार समाधि का उल्लेख शुक्ल ध्यान के द्वितीय चरण के रूप में जैन दर्शन[6] में आता है। चित्र गृहपति मच्छिकासण्ड ग्राम का निवासी व कोषाध्यक्ष था।[7] धर्म-कथा में वह बहुत कुशल था। इसने अहक, कामभू, गोदत्त, अचेल काश्यप आदि अनेक लोगों से चर्चा की थी।[8] बुद्ध ने उसे धर्म-कथिकों में अग्रगण्य कहा।[9]

---

१. 'यो पाण नातिपातेति मुसावाद न भासति, लोके अदिन्न नादियति परदार न गच्छति।
सुरामेरयपान च यो नरो नानुयुञ्जति, पहाय पञ्च वेरानि सीलवा इति वुच्चति।'
—अंगुत्तरनिकाय, पचकनिपात, ५। १८।१७९।

२ समाधिपाद, १।३३।

३. शान्तसुधारस भावना १३ से १६।

४. संयुत्तनिकाय, कुलसुत्त, ४०-१-९।

५ संयुत्तनिकाय, निगण्ठसुत्त, ३९-८।

६ जैनसिद्धान्त दीपिका, ५। ३४।

७ Dictianary of Pali Proper Names, vol I p 865

८ संयुत्तनिकाय, सलायतन सुत्त, चित्तसयुत्त।

९ अंगुत्तरनिकाय, एतदग्गवग्ग सुत्त।





९ कुतूहलशाला सुत्त

यह प्रसग भी सयुत्त निकाय[1] का है। वत्स-गोत्र परिव्राजक बुद्ध से मृत श्रावको की गति के विषय में प्रश्न उपस्थित करता है और बताता है कि निगठ नातपुत्र प्रभृति छहो धर्मनायक अपने मृत श्रावको के विषय मे किये गये प्रश्न का सही उत्तर देते थे।

समीक्षा

जैन धारणा के अनुसार मृत की गति को जान लेना बहुत साधारण बात है। महावीर तो कैवल्य-सम्पन्न थे। मृत की गति तो अवधिज्ञान से भी जानी जा सकती है।

१० अभय लिच्छवी

यह प्रसग अगुत्तरनिकाय[2] का है। वैशाली मे अभय लिच्छवी व पण्डित कुमार लिच्छवी बुद्ध के शिष्य आयुष्मान् आनन्द के पास आते है। अभय लिच्छवी के अनुसार निगठ नातपुत्त सर्वज्ञ, सर्वदर्शी है, और तपस्या से कर्म-निर्जरा व दु ख-क्षय का निरूपण करते है। इस विषय मे वह बुद्ध का अभिमत पूछता है।

समीक्षा

अभय लिच्छवी का उल्लेख प्रस्तुत प्रकरण के अतिरिक्त साल्ह सुत्त[3] मे भी आता है। वहा भी वह साल्ह लिच्छवी के साथ बुद्ध से चर्चा करने के लिये प्रस्तुत होता है। यहाँ यह स्वय प्रश्न करता है, वहाँ उसका सहवर्ती साल्ह लिच्छवी। अगुत्तरनिकाय के अंग्रेजी अनुवाद मे डा० वुडवर्ड ने अभय लिच्छवी और अभय राजकुमार को एक ही मान लिया है।[4] पर वस्तुत ये दोनो ही व्यक्ति पृथक्-पृथक् है। अभय राजकुमार राजगृह का निवासी तथा राजा बिम्बिसार का पुत्र है जबकि अभय लिच्छवी वैशाली का कोई क्षत्रिय कुमार है।

प्रस्तुत प्रकरण मे तप-विषयक जो चर्चा की है, वह जैन धारणा के सर्वथा अनुकूल ही है। 'निर्जरा' शब्द का उपयोग बहुत यथार्थ है।

११ लोक सान्त-अनन्त

अगुत्तर निकाय[5] के इस प्रसग मे बुद्ध के पास आकर दो ब्राह्मण पूरणकाश्यप व निगण्ठ नातपुत्त के लोक की सान्तता-अनन्तता विषयक सिद्धान्तो की चर्चा करते है।

समीक्षा

उक्त प्रकरण मे दो लोकायतिक पूरण काश्यप और निगठ नातपुत्त के लोकसिद्धान्त की चर्चा करते हैं। उस चर्चा मे सान्तता और अनन्तता का मतभेद भी व्यक्त होता है, पर उक्त प्रकरण मे एक मौलिक असगति यह है कि लोक सम्बन्धी धारणा मे दोनो का मतभेद भी बताया जाता है और दोनो की धारणा समान रूप से अनन्त भी बताई जाती है। दोनो की धारणाओ मे लोक अनन्त है, तो मतभेद कैसा ? इसी प्रकरण के अंग्रेजी अनुवाद मे ई० एम०

---

१ सयुत्तनिकाय, कुतूहलशाला सुत्त, ४२-६।
२ अगुत्तरनिकाय, तिकनिपात, ७४ (हिन्दी अनुवाद) पृ० २२७-२२८।
३ अगुत्तर निकाय, चतुक्क निपात, महावग्ग, साल्ह सुत्त ४-२०-१९६।
४ The Book of Gradual Sayings, vol I p 200
५ सुत्तपिटके, अगुत्तर निकाय पालि, नवक-निपातो, महावग्गो, लोकायतिक सुत्त, ९-४-७।

हेर पूरण काश्यप का लोक सान्त और निगण्ठ नातपुत्त का लोक अनन्त बतलाते है ।[1] अनुवादक ने एक पाठान्तर के आधार पर ऐसा किया है । पर वह भी सही नहीं लगता । एक दूसरा पाठान्तर, जो अनुवादक ने टिप्पण में दिया है, उसमें पूरण काश्यप के साथ 'अनन्त' और निगण्ठ नातपुत्त के साथ 'अन्तवन्त' पाठ है ।[2] वह सही लगता है, क्योंकि महावीर की लोक सम्बन्धी धारणा के वह नितान्त अनुकूल बैठता है । महावीर ने लोक को सान्त और अलोक को अनत माना है ।[3] वैसे महावीर ने द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा से लोक की पृथक्-पृथक् व्याख्या की है । अर्थात्—

द्रव्य की अपेक्षा लोक—सान्त ।
क्षेत्र की अपेक्षा लोक—सान्त ।
काल की अपेक्षा लोक—अनन्त ।
भाव की अपेक्षा लोक—अनन्त ।[4]

दो लोकायतिकों की लोक-चर्चा क्षेत्रिक अपेक्षा से ही प्रतीत होती है, अत "खेत्तओ लोए सअते" यह आगम-पाठ अगुत्तरनिकाय के दूसरे पाठान्तर की पुष्टि कर देता है ।

इस प्रश्न को बुद्ध ने बिना अपना मन्तव्य व्यक्त किये ही टाला है । वस्तुस्थिति यह है कि बुद्ध ने इसे तथा इस प्रकार के अनेकों प्रश्नो का मज्झिमनिकाय आदि मे 'अव्याकृत' कहा है ।[5]

१२ वप्प–जैन श्रावक

यह समुल्लेख अगुत्तर निकाय[6] का है । इसके अनुसार निगण्ठ नातपुत्त का श्रावक वप्प शाक्य पहले बुद्ध के प्रमुख शिष्य आयुष्मान् महामौद्गल्यायन के साथ और बाद मे बुद्ध के साथ चर्चा करता है और उनका उपासक बन जाता है ।

समीक्षा

वप्प शाक्य राजा था और स्वय बुद्ध का चूलपिता (पितृव्य) था ।[7] हालाकि जैन परम्परा मे इस सम्बन्ध मे कोई उल्लेख नहीं है । उल्लेखनीय बात यह है कि बुद्ध ने जो कुछ वप्प को समझाया है, लगभग वह सब निर्ग्रन्थ-धर्मगत ही है । आस्रव, निर्जरा आदि शब्दों के प्रयोग भी ज्यों के त्यों हुए ह ।

श्रीमती राइस डेविड्स ने पचवर्गीय वप्प और इस शाक्य वप्प के एक होने की सम्भावना व्यक्त की है ।[8] पर यह नितान्त असम्भव है । दोनो वप्प कपिलवस्तु के थे, पर एक वशिष्ठ गोत्री ब्राह्मण था और दूसरा शाक्यवशीय क्षत्रिय । पचवर्गीय वप्प बुद्ध से बहुत पूर्व दीक्षित हो चुका था । बुद्ध के बोधि-लाभ के पश्चात् अपने साथियो सहित वह अर्हत्-पद को प्राप्त हुआ ।[9]

---

१ The Book of Gradual Syings, vol IV pp २८७-२८८
२ Ilaid, p २८८ fn.
३ भगवतीसूत्र, ११-१०-४२१ ।
४ वही, २-१-९० ।
५ मज्झिमनिकाय, चूलमालूक्य सुत्त, ६३, दीघनिकाय पोट्ठपाद सुत्त, १।९ ।
६ सुत्तपिटके, अगुत्तर निकाय पालि, चतुक्क निपात, महावग्गो, वप्पसुत्त, ४-२०-५ (हिन्दी अनुवाद) १८८-१९२ ।
७ अगुत्तर निकाय, अट्ठकथा, खण्ड २, पृ ५५९ ।
८ "It is quite in the range of possibility that the vappa in Sutta 195 is one of those faire friends in whome the Sakyamuni sought fellow helpers"
—The Book of Gradual Sayings, vol II Introduction, p XIII
९ विनयपिटक, महावग्ग, महाखन्धक ।





बुद्ध के पितृव्य का निर्ग्रन्थ-धर्म में होना महावीर की ज्येष्ठता और निर्ग्रन्थ-धर्म की व्यापकता का भी परिचायक है। बुद्ध के विचारों में निग्रन्थ-धर्म का यत्किंचित् प्रभाव आने का भी यह एक निमित्त हो सकता है।

१३ सकुल-उदायी

मज्झिमनिकाय[1] में वर्णित इस प्रसग मे सकुल-उदायी परिव्राजक बुद्ध के साथ निगठ नातपुत्त की सर्वज्ञता की चर्चा करता है।

समीक्षा

इस प्रकरण मे 'कर्म-चर्चा' प्रकरण की तरह सर्वज्ञता की ही कुछ प्रकारभेद से चर्चा है।

घटना-प्रसग

१४ निर्वाण-सवाद (१)

मज्झिमनिकाय[2] के इस प्रसग मे निगठ नातपुत्त के पावा मे निर्वाण प्राप्त होने के सन्देश को चुन्द समणुद्देश सामगाम मे बुद्ध के पास पहुचाता है।

१५ निर्वाण-सवाद (२)

दीघनिकाय[3] के इस प्रसग मे भी वैसे ही निगण्ठ नातपुत्त के निर्वाण का सम्वाद चुन्द बुद्ध के पास पहुचाता है।

१६ निर्वाण-चर्चा

दीघनिकाय[4] के ही इस प्रसग मे निगण्ठ नातपुत्त के निर्वाण की चर्चा पावा में जाने पर आयुष्मान् सारिपुत्र अपने उपदेश मे करते हैं।

समीक्षा

उक्त तीनो प्रकरणो की आत्मा एक है और उनके ऊपर का ढाचा कुछ भिन्न है। प्रथम प्रकरण मे बुद्ध इस सवाद-श्रवण के बाद आनन्द को उपदेश करते हैं और दूसरे मे चुन्द को, दोनो उपदेशो का शब्दविन्यास कुछ भिन्न है, पर झुकाव एक ही है। पहले और दूसरे मे यह सवाद बुद्ध सामगाम मे सुनते है और वही उपदेश करते हैं। तीसरे प्रकरण मे सारिपुत्र पावा मे भिक्षुओं को महावीर-निर्वाण की बात कह कर उपदेश करते हैं। कुछ एक लेखकों ने माना है कि इन प्रकरणो मे विरोधाभास है, अत ये प्रामाणिक नही होने चाहिए। वस्तुस्थिति यह है—इतिहास किसी भी शास्त्र के समुल्लेख को अक्षरश मानकर नहीं चला करता। किसी भी समुल्लेख का मूल हार्द यदि असदिग्ध है तो इतिहास ले लेता है। सच बात तो यह है कि तीनो प्रकरणो के अन्तर परस्पर विरोधी हो, ऐसी बात भी नही है। पहले प्रकरण मे उपदेश-पात्र आनन्द को और दूसरे प्रकरण मे चुन्द का जो बताया गया है, उसके अनेक बुद्धि-गम्य कारण हो

---

१ मज्झिम निकाय, चूलसकुलदायि सुत्तन्त, २-३-९।

२ मज्झिम निकाय, सामगाम सुत्तन्त, ३-१-४।

३ दीघनिकाय, पासादिक सुत्त, ३।६।

४ दीघनिकाय, सगीति-पर्याय-सुत्त, ३।१८।

सकते हैं। हो सकता है, दोनों ने वह उपदेश एक साथ ही श्रवण किया हो और संकलनकारों ने अपनी-अपनी बुद्धि से एक-एक को महत्त्व दे दिया हो। हो सकता है, यह किंचित् कालान्तर में बुद्ध ने दोनों को पृथक्-पृथक् उपदेश दिया हो। तीसरा प्रकरण अपने आप में स्वतन्त्र है ही तथा वह तो प्रत्युत पहले दो प्रकरणों का और पुष्टिकारक बन जाता है। पावा में यह घटना घटित हुई थी, अत पावा में आने पर सारिपुत्र का इस घटना को याद करना नितान्त स्वाभाविक ही हो सकता है।

भगवान् महावीर के निर्वाण प्रसग पर अनुयायियों में मत-भेद की चर्चा तीनों ही प्रकरणों में की गई है। जैन परम्परा इस बात की कोई स्पष्ट साक्षी नहीं देती। हो सकता है, भगवान् महावीर के उत्तराधिकारित्व के विषय में परस्पर चिन्तन चला हो। इन्द्रभूति (गौतम स्वामी) प्रथम गणधर थे। सामान्यतया उत्तराधिकार उन्हें मिलना चाहिए था। पर वह पचम गणधर सुधर्मा स्वामी को यह कह कर मिला कि केवली तीर्थंकरों के उत्तराधिकारी नहीं बनते। सम्भव है, यह चिन्तन भी उस निष्कर्ष से निकला हो। यह भी असम्भव तो नहीं माना जा सकता कि गौतम स्वामी के अनुयायी साधुओं और सुधर्मा स्वामी के अनुयायी साधुओं में इसी विषय पर यत्किंचित् विवाद न हुआ हो। इसकी तनिक-सी झलक हमें इस बात से भी मिलती है कि श्वेताम्बर परम्पराओं में भगवान् महावीर का प्रथम पट्टधर सुधर्मा स्वामी को माना जाता है, जब कि दिगम्बर-परम्पराओं में गौतम स्वामी को भगवान् महावीर का प्रथम पट्टधर माना जाता है। बौद्ध प्रकरणों में जो 'श्वेतवस्त्रधारी' शब्द आया है वह भी 'अचेल' और 'सचेल' निर्ग्रन्थों के संघर्ष को इंगित करता है।[1] हो सकता है, बौद्धों ने उक्त तीनों प्रकरणों को बहुत बढ़ावा दे दिया हो। एक सम्प्रदाय की तनिक-सी घटना को प्रतिस्पर्धी सम्प्रदाय के लोग अतिरंजित करके ही बहुधा व्यक्त करते हैं। श्री धर्मानन्द कौशाम्बी ने जैन आगमों में वर्णित गोशालक के न्यूनतासूचक वर्णन को बहुत ही अतिरंजित माना है।[2]

१७ निगंठ नातपुत्त की मृत्यु का कारण

जब उपालि गृहपति बुद्ध का उपासक बन गया, तब बुद्ध के गुणोत्कीर्तन की गाथाएं सुनकर निगण्ठ नातपुत्त के मुंह से गर्म खून गिर गया। वहां से उन्हें पावा ले गये और वहां वे कालगत हो गये।

समीक्षा

जैन कथावस्तु में तो इस प्रकार की घटना का उल्लेख है ही नहीं। मूल मज्झिमनिकाय के उपालि सुत्त में भी इस घटना को महावीर की मृत्यु से नहीं जोड़ा गया है। यह नितान्त अट्ठकथा का ही परिवर्द्धन है। जैन उल्लेख के अनुसार महावीर राजगृह से विहार कर पावा जाते हैं। वहां वे वर्षावास करते हैं और कार्तिक अमावस्या को निर्वाण प्राप्त करते हैं। इतनी प्रबल अस्वस्थता उनको रही होती, तो अवश्य उसका कहीं उल्लेख मिलता, इस अवधि में उनकी अस्वस्थता का कहीं उल्लेख नहीं है।

१८ दिव्य-शक्तिप्रदर्शन

यह प्रसग विनयपिटक[3] तथा धम्मपद-अट्ठकथा[4] का है। निगण्ठ नातपुत्त आदि छहों तीर्थंकरों की असफलता व बुद्ध के शिष्य पिण्डोल भारद्वाज की दिव्य-शक्ति-प्रयोग की घटना का विवेचन किया गया है।



---

१ उक्त समाधान आनुमानिक है, किन्तु जो संकेत इससे उभरे हैं, हो सकता है, गहराई में जाने से श्वेताम्बर और दिगम्बर के भेद का मूल भी यहीं कहीं निकल जाये। शोधशील विचारकों के लिए यह ध्यातव्य है।

२ देखें, पार्श्वनाथ का चातुर्याम धर्म।

३ विनयपिटक, चुल्लवग्ग, ५-१-१०।

४ धम्मपद-अट्ठकथा, ४-२।

समीक्षा

यह सारा उदन्त अतिशयोक्ति भरा है। पिण्डोल भारद्वाज का चन्दन पात्र के लिए ऋद्धि-प्रातिहार्य का दिखलाना बुद्ध के द्वारा गर्ह्य बताया गया है। यह कल्पना भी कैसे की जा सकती है कि निगण्ठ नातपुत्त उस चन्दन पात्र को लेने के लिए ललचाये होंगे और इस कौतुक में प्रयत्नशील हुए होंगे? जैन परम्परा[1] में तो किसी भी ऋद्धि-प्रदर्शन का सर्वथा वर्जन है। लगता है, पिटकों में जहाँ भी इतर तैर्थिकों की न्यूनता व्यक्त करने का प्रसंग होता है, वहीं निगंठ नातपुत्त, पूरणकाश्यप आदि सारे नाम दुहरा दिये जाते हैं।

१९ छः बुद्ध

संयुत्तनिकाय अट्ठकथा[2] के इस घटना-प्रसंग में श्रावस्ती के राजा द्वारा निगंठ नातपुत्त आदि छहों धर्माचार्यों के बुद्धत्व की परीक्षा करने का तथा उनका तिरस्कार करने का उल्लेख है।

समीक्षा

एक अतिरंजित कथा के अतिरिक्त इस अट्ठकथा का कोई महत्त्व नहीं लगता।

२० मृगार श्रेष्ठी

धम्मपद-अट्ठकथा[3] में आये हुए इस प्रसंग में निगण्ठों के श्रावक मृगार श्रेष्ठी का उसकी पुत्रवधू विशाखा द्वारा बुद्ध का उपासक बनाने की कथा है।

समीक्षा

यह सारा प्रसंग धम्मपद-अट्ठकथा का है, अतः अतिरंजित होना तो सहज है ही। आगमों में किसी भी मृगार नामक गृहपति के निगण्ठ होने का उल्लेख नहीं मिलता। मूल त्रिपिटकों में भी उक्त घटना-प्रसंग का कोई विवरण नहीं है।

२१ गरहदिन्न और सिरीगुत्त

धम्मपद-अट्ठकथा[4] के इस प्रसंग में निगण्ठ नातपुत्त के श्रावक गरहदिन्न और बुद्ध के श्रावक सिरीगुत्त की कथा है।

समीक्षा

लगता है, साम्प्रदायिक मनोभावों से अनेक कथाएं गढ़ी जाती रही हैं। उनमें से एक यह भी है। ठीक इसी प्रकार की एक कथा[5] जैन-परंपरा में भी प्रचलित है।

अन्य धर्मों के संबन्ध से भी इस प्रकार के अनेकों कथानक दोनों परंपराओं में मिलते हैं तथा इन दोनों परंपराओं के संबन्ध में इतर धर्मों में भी ऐसे ही कथानक मिलते हैं। लगता है, कोई युग ही आया था, जिसमें ऐसे कथानक गढ़ने की होड़ लगी थी।

---

१ प्रश्नोत्तर तत्त्वबोध, गोशालाधिकार, पृ० १९० ।

२ संयुत्तनिकाय-अट्ठकथा, ३-१-१ ।

३ धम्मपद-अट्ठकथा, ४-४ ।

४ धम्मपद-अट्ठकथा, ४-१-२ ।

५ राजा श्रेणिक और रानी चेलणा की कथा ।

मिलिन्द-प्रश्न में कहा गया है—गरहदिन्न के घर बुद्ध के धर्मोपदेश करते समय ८४००० लोगों को स्रोता-पत्तिफल मिला।[1] यह भी प्रस्तुत कथानक की अयथार्थता का एक प्रमाण है।

उल्लेख-प्रसंग

२२ श्रामण्यफल

दीघनिकाय[2] के इस प्रसंग में मगधराज अजातशत्रु राजगृह में गौतम बुद्ध के दर्शनार्थ जाता है। बुद्ध से श्रामण्य-फल पूछता है। यह पूछे जाने पर कि क्या यह प्रश्न औरों को पूछा गया था, अजातशत्रु निगंठ नातपुत्त प्रभृति छः धर्माचार्यों का उल्लेख करता है।

समीक्षा

इस सारे प्रकरण का अभिप्राय अन्य सारे धर्म-नायकों की न्यूनता बतलाकर गौतम बुद्ध की श्रेष्ठता बतलाना है। महावीर को चातुर्याम धर्म का निरूपक बतलाना इस बात की ओर संकेत करता है कि बौद्ध भिक्षु पार्श्वनाथ की परम्परा से सम्पृक्त रहे हैं और महावीर के धर्म को भी उन्होंने उसी रूप में देखा है, जबकि वह पंचशिक्षात्मक था।[3]

चार याम जो यहाँ बताये गये हैं, वे यथार्थ नहीं हैं। तथाप्रकार की व्रत-परिकल्पना और भी किसी नाम से जैन परम्परा में नहीं मिलती। इतना अवश्य कहा जा सकता है कि शीतोदक-वर्जन आदि के रूप में यह चार निषेध जैन परम्परा से विरुद्ध नहीं हैं।

कन्दरक-सुत्त[4] में और ग्रामणी-संयुत्त[5] में प्राणातिपात, अदत्तादान, कामेसुमिच्छाचार व मुसावाद से निवृत्त होने का उल्लेख है, पर वहाँ चतुर्याम शब्द का प्रयोग नहीं है।

महावीर का नाम अजातशत्रु को किस मंत्री ने सुझाया, यह उक्त प्रसंग में नहीं है। पर महायान परंपरा के सामञ्ञफलसुत्त के अनुसार उक्त सुझाव अभयकुमार ने दिया था।

यहाँ अन्य सभी धर्म-नायकों को चिर-प्रव्रजित और वयोऽनुप्राप्त कहा गया है, पर बुद्ध के लिए जीवक ने इन विशेषणों का प्रयोग नहीं किया है। इससे सूचित होता है, इन सबकी अपेक्षा से बुद्ध तरुण थे।

२३ बुद्ध धर्माचार्यों में कनिष्ठ

यह प्रसंग संयुत्तनिकाय[6] का है। श्रावस्ती का राजा प्रसेनजित् कौशल बुद्ध से प्रश्न करता है कि निगंठ नात-पुत्त प्रभृति छहों धर्मनायकों की अपेक्षा अल्पवयस्क और सद्य प्रव्रजित होने पर भी वे सम्यक् सम्बोधि-प्राप्ति का दावा कैसे करते हैं? बुद्ध के अनुसार भिक्षु को छोटा समझ कर उसकी अवज्ञा नहीं करनी चाहिए।



---

१ मिलिन्द प्रश्न, ३५०।

२ दीघनिकाय, सामञ्ञफल सुत्त, १-२।

३ चाउज्जामो य जो धम्मो, जो इमो पंचसिक्खिओ। देसिओ वद्धमाणेण, पासेण य महामुणी॥
—उत्तराध्ययन सूत्र, अ० २३, गा० २३।

४ मज्झिम निकाय, ७६ तथा प्रकरण में सम्बन्धित प्रसंगसंख्या १३।

५ इसी प्रकरण में सम्बन्धित संख्या ६।

६ संयुत्तनिकाय, दहरसुत्त, ३-१-१।

समीक्षा

सब धर्म-नायको मे बुद्ध की कनिष्ठता का यह एक ज्वलन्त प्रमाण है। महावीर और बुद्ध की समसामयिकता के निर्णय मे डा० जेकोबी आदि ने इस प्रसग को छुआ तक नही है। यह उन्हे सुलभ हुआ होता, तो सभवत वे भी महावीर की ज्येष्ठता निर्विवाद सिद्ध करते।

२४ सभिय परिव्राजक

यह प्रसग सुत्तनिपात[1] का है। सभिय परिव्राजक निगठ नातपुत्र आदि छहो धर्माचार्यो को प्रश्न करता है। वे वयस्क और चिर-प्रव्रजित होने पर भी उसके प्रश्न का उत्तर नही देते। गौतम बुद्ध ने उनकी अपेक्षा आयु मे कनिष्ठ और प्रव्रज्या मे नवीन होने पर भी उसके प्रश्नो का उत्तर दिया। वह बुद्ध के पास प्रव्रजित हो अर्हत् हुआ।

समीक्षा

उक्त प्रसग महावीर की ज्येष्ठना का अनन्य प्रमाण है। यहाँ बुद्ध की अपेक्षा सभी धर्म-नायको को 'जिण्ण, वुड्ढा, महल्लका, अद्धगता, वयो अनुपत्ता, थेरा, रत्तञ्ञू चिर पब्बजिता' अर्थात् 'जीर्ण, वृद्ध, वयस्क, चिरजीवी, अवस्था-प्राप्त, स्थविर, अनुभवी, चिर प्रव्रजित' कहा गया है। यह समुल्लेख सुत्तनिपात का है, इस दृष्टि से भी अधिक प्राचीन और अधिक प्रामाणिक है।

२५ सुभद्र परिव्राजक

दीघनिकाय[2] के इस प्रसग मे परिनिर्वाण के दिन सुभद्र परिव्राजक बुद्ध के पास जाता है और निगठ नातपुत्त आदि छ धर्माचार्यो के विषय मे प्रश्न उपस्थित करता है।

समीक्षा

यहाँ बुद्ध की अन्तिम अवस्था तक महावीर के वर्तमान होने की बात निकलती है, पर यह यथार्थ नही है, क्योकि ऐसे प्रश्न बहुत बार ढर्रे के रूप मे भी हुआ करते है और यह प्रश्न तो छहो नाम साथ बोल देने के ढर्रे रूप ही हुआ है, यहा तक कि राजा मिलिन्द के साक्षात्कार के सबन्ध मे भी इन्ही छ नामो का उल्लेख हुआ है,[3] जब कि राजा मिलिन्द का बुद्ध-निर्वाण के ५०० वर्ष पश्चात् होना बताया गया है।[4] यह इससे भी स्पष्ट है कि उक्त नामो मे मक्खली गोशालक और पूरणकाश्यप के नाम भी आये है, जो कि सर्वसम्मत रूप से बुद्ध से पूर्व ही निधन-प्राप्त हो चुके थे। इस प्रकार उक्त प्रसग बुद्ध की ज्येष्ठता का निर्णायक प्रमाण नही बन सकता।

२६ राजगृह मे सातो धर्मनायक

मज्झिमनिकाय[5] के इस प्रसग मे राजगृह मे सकुल उदायी परिव्राजक के साथ बुद्ध का वार्तालाप होता है। निगठ नातपुत्त आदि छ धर्मनायको की न्यूनता बताई गई है।

समीक्षा

इस उदन्त मे उल्लेखनीय अभिव्यक्ति यही है कि सातो धर्मनायको का एक साथ राजगृह मे वर्षावास बताया गया है।

---

१ सुत्तनिपात, महावग्ग, सभिय सुत्त।

२ दीघनिकाय, महापरिनिब्बान सुत्त, २-३।

३ मिलिन्द-पञ्हो।

४ वही।

५. मज्झिम निकाय, महासकुलदायि सुत्तन्त, २-३-७।

२७ निगठ उपोसथ

यह प्रसग अगुत्तरनिकाय[1] का है। बुद्ध की प्रमुख उपासिका विशाखा मृगार माता श्रावस्ती मे बुद्ध से 'उपोसथ' के विषय मे प्रश्नोत्तर करती है। बुद्ध तीन प्रकार के उपोसथों का वर्णन करते हैं—गोपाल उपोसथ, निर्ग्रन्थ उपोसथ और आर्य उपोसथ।

समीक्षा

जैनश्रावक के बारह व्रतो मे ग्यारहवा 'पौषधव्रत' है। प्रस्तुत प्रकरण मे उसका विकृत ही चित्रण हुआ है और विकृत ही समीक्षा हुई है। पूर्व-पश्चिम आदि दिशाओ मे १०० योजन उपरान्त पाप न करना, 'छट्ठ दिग्विरति व्रत' का सूचक है। इसमें कुछ की हिंसा और कुछ की दया का दोष बताना अयथार्थ है। 'यथावश्य विरमण' का अर्थ कुछ जीवो की हिंसा व कुछ जीवो की दया नहीं होता।

पौषध-व्रत मे असत्य और चौर्य का दोष भी बताया गया, पर यह वाग्-विरोध मात्र है। यथार्थ मे पौषध का अभिप्राय है—एक अहोरात्र के लिए निर्ग्रन्थ-जीवन जीना। उसमे भी इतना विशेष कि वह अहोरात्र श्रावक निर्जल और निराहार बिताये। बुद्ध ने स्वय जिस तीसरी कोटि के उपोसथ का प्ररूपण किया है, उसकी भावना मे और निर्ग्रन्थ-उपोसथ की भावना मे मुख्यत कोई अन्तर प्रतीत नहीं होता। उन्होने आर्य-उपोसथ मे एकाहारी रहने की बात कही है और निर्ग्रन्थ-उपोसथ मे निराहारी रहने की बात है। बुद्ध ने भी तो उपोसथ की भावना यही मानी है कि उपासक एक अहोरात्र के लिए अर्हत्-जीवन जीए। उसमें हिंसा, असत्य, अदत्त, आदि के अहोरात्रिक त्याग बतलाये है। यदि जैन उपोसथ मे हिंसा, असत्य, अदत्त आदि के दोष आयेंगे तो फिर बौद्ध-उपोसथ मे क्यो नही आयेंगे? बौद्ध उपासक भी तो अहोरात्र के पश्चात् माता को माता और पिता को पिता मानता है तथा अपने धन आदि का उपभोग-परिभोग आदि करता है। जब कि अहोरात्र के लिए अर्हत्-जीवन जीते समय उस सब व्यवहार का वर्जन हो गया था।

२८ छ अभिजातियो मे निर्ग्रन्थ

अगुत्तरनिकाय[2] के इस प्रकरण मे पूरणकाश्यप द्वारा प्रतिपादित छ अभिजातियो के विषय मे आयुष्मान् आनन्द बुद्ध से वार्तालाप करते हैं। निग्रन्थो को लोहित अभिजाति मे रखा गया है।

समीक्षा

छ अभिजातिया यहा पूरणकाश्यप के नाम से बताई गई हैं, पर मूलत ये गोशालक द्वारा निरूपित है। दीघनिकाय के सामञ्ञफल सुत्त मे, सयुत्तनिकाय के खन्धवग्ग मे और मज्झिम निकाय के सन्दक सुत्त मे इन्हे गोशालक द्वारा ही निरूपित बताया गया है। पूरण काश्यप के नाम से उनको प्रस्तुत प्रकरण के अतिरिक्त और कही नही बताया गया है। तीन समुल्लेख जब समान रूप से मिलते है तो इस चतुर्थ समुल्लेख के सम्बन्ध मे यथार्थता यही लगती है कि शास्त्र-सकलयिताओ की भूल ही से ऐसा हुआ है।

२९ सच्चक निगठ पुत्र

मज्झिम निकाय[3] के इस प्रकरण मे वैशाली मे बुद्ध के साथ हुई सच्चक निगण्ठपुत्र की चर्चा का वर्णन है।



---

१ अगुत्तरनिकाय, तिकनिपात, ७०।

२ अगुत्तरनिकाय, ६-६-५७।

३ मज्झिमनिकाय, अट्ठकथा १-४५०।



समीक्षा

जैन परम्परा मे इस नाम का कोई व्यक्ति नही मिलता । बुद्ध ने इसे सम्बोधन मे सर्वत्र ही 'अग्निवैश्यायन' कहा है । यह इसका गोत्र था । महावीर को भी पिटक साहित्य मे कुछ-एक स्थलो पर 'अग्निवैश्यायन' कहा गया है ।[1]

हो सकता है, पिटकों के सकलन-काल में निगठपुत्र के अग्निवैश्यायन नाम का विपर्यास महावीर के साथ हो गया हो । डा० जेकोबी का कहना है, सुधर्मा के अग्निवैश्यायन होने के कारण यह विपर्यास हुआ है ।[2] 'निगठ नातपुत्र' और 'निगठपुत्र' के नाम साम्य मे इस विपर्यास की अधिक सभवता लगती है ।

३० अनाश्वासिक ब्रह्मचर्य-व्रत

यह प्रकरण मज्झिम निकाय[3] का है । इसमे बुद्ध के शिष्य आयुष्मान् आनन्द सन्दक परिव्राजक के साथ चार अब्रह्मचर्यवास और चार अनाश्वासिक ब्रह्मचर्यवास के विषय मे चर्चा करता है । निगठ नातपुत्त का उल्लेख सर्वज्ञ, सर्व-दर्शी शास्ता के रूप मे किया गया है ।

समीक्षा

यहाँ अजितकेशकम्बल आदि चार को अब्रह्मचर्यवास मे माना है । अब्रह्मचर्यवास का अभिप्राय है – असन्यास, महावीर को अनाश्वासिक ब्रह्मचर्यवास मे माना है अर्थात् वह सन्यास तो है, पर निर्वाण का आश्वासन देने वाला नही, कुल मिलाकर यह तो कहा ही जा सकता है, बुद्ध की दृष्टि मे निगठ नातपुत्त अन्य धर्मनायकों की अपेक्षा तो श्रेष्ठ ही थे ।

३१ विभिन्न मतो के देव

सयुत्तनिकाय[4] के प्रस्तुत प्रकरण मे छ देवपुत्र राजगृह मे बुद्ध के पास आकर निगठ नाथपुत्र प्रभृति छ धर्माचार्यो की स्तुति करते हैं ।

समीक्षा

देवो के धर्म-चर्चा मे रस लेने का उल्लेख आगमो मे भी यत्र-तत्र मिलता है । कुण्डकोलिक से चर्चा करने वाला देव गोशालक की धर्म-प्रज्ञप्ति को मानने वाला था, जब कि कुण्डकोलिक महावीर की धर्म-प्रज्ञप्ति में विश्वास करता था । शकडालपुत्र को सन्देश देने वाला देव महावीर का अनुयायी प्रतीत होता है, जबकि तब तक शकडालपुत्र गोशालक का अनुयायी था ।[5]

३२ पिंगलकोच्छ ब्राह्मण

मज्झिम निकाय[6] के इस प्रसग मे श्रावस्ती मे बुद्ध के पास आकर पिंगल-कोच्छ ब्राह्मण निगठ नातपुत्त आदि छ तीर्थंकरो के सबन्ध मे प्रश्न पूछता है ।

---

१ दीघनिकाय, सामञ्ञफल सुत्त ।
२ S B E vol, XIV, Introduction, p XXI
३ मज्झिमनिकाय, सन्दक सुत्तन्त, २-३-६ ।
४ सयुत्तनिकाय, नाना तित्थिय सुत्त, २-३-१० ।
५ उपासकदशाग सूत्र, अ० ७ ।
६ मज्झिमनिकाय, चूल सारोपम सुत्तन्त, १-३-१० ।

समीक्षा

यह बुद्ध की अपनी विशेष शैली रही है कि उलझन भरे प्रश्नों को वे बड़ी चतुरता से टाल देते थे। अनेक स्थलों पर उन्होंने ऐसा किया है।

३३ जटिल सुत्त

यह प्रकरण संयुत्तनिकाय[1] का है। श्रावस्ती के राजा प्रसेनजित् कोशल के गुप्तचर जटिल, निगठ परिव्राजक आदि की वेषभूषा में बुद्ध के पास से गुजरते हैं और इनके विषय में राजा बुद्ध से प्रश्न पूछता है।

समीक्षा

यह प्रसंग तात्कालिक राज-व्यवस्था का बहुत ही गूढ परिचय देता है। गुप्तचर विभिन्न मतों के साधु बन-कर गुप्तचरता करते, यह एक अद्भुत सी बात है।

३४ धम्मिक उपासक

सुत्तनिपात[2] के इस प्रकरण में पांच सौ उपासकों-सहित धम्मिक उपासक बुद्ध की स्तुति करते हुए कहता है—"जितने भी वादी तैर्थिक, आजीवक और निर्ग्रन्थ हैं, वे सब प्रज्ञा में आपको वैसे ही नहीं पा सकते जैसे कि शीघ्र चलने वाले को खड़ा रहने वाला।

समीक्षा

यहाँ बुद्ध की प्रशंसा में निगठों का उल्लेख मात्र किया गया है। सुत्तनिपात अट्ठकथा के अनुसार ये पांच-सौ बौद्ध उपासक आकाशगामिनी विद्या के धारक थे व 'अनागामी' थे।

३५ महाबोधिकुमार

जातक-अट्ठकथा[3] के इस प्रसंग में निगठ नातपुत्त आदि पांच धर्मनायकों का पूर्वजन्म में वाराणसी के राजा ब्रह्मदत्त के पांच मिथ्यादृष्टि अमात्यों के रूप में होने का उल्लेख है।

समीक्षा

यह महाबोधि जातक तथा इस प्रकार के अन्य कथानक यही अभिव्यक्त करते हैं कि बौद्धों ने अपने प्रति-पक्षियों को हीन व तुच्छ प्रमाणित करने के लिए अनेकों अनगढ कथानक रचे हैं।

३६ मयूर और काक

जातक-अट्ठकथा[4] के इस कथानक में बुद्ध और निगठ नातपुत्त को पूर्वजन्म में क्रमश: मयूर और काक बनाया गया है।

समीक्षा

कथा नितान्त आक्षेपात्मक और गर्हा-सूचक है तथा परिपूर्ण साम्प्रदायिक मनोभावों से गढी हुई है। यह कथा मूल त्रिपिटकों की नहीं है, इसलिए इसका अधिक महत्त्व नहीं है। मूल जातक में भी गुणी की वर्तमानता में अव-



---

१ संयुत्तनिकाय, जटिल सुत्त, ३-२-१।

२. सुत्तनिपात (हिन्दी अनुवाद) चूलवग्ग, धम्मिक सुत्त, पृ० ७५, ७७।

३. जातक-अट्ठकथा, महाबोधि जातक, ५२८, (हिन्दी अनुवाद) पृ० ३१२ से ३३०।

४ जातक-अट्ठकथा, बावेरु जातक, ३३९ (हिन्दी अनुवाद) भा० ३, पृ० २८९ से २९१।



गुणी की पूजा का उल्लेख है। यह उदन्त जातक-अर्थकथा का है, इसलिए भी काल्पनिक कथानक से अधिक इसका कोई महत्त्व नही दीख पडता।

३७ मासाहार-चर्चा

यह भी जातक अट्ठकथा[1] का प्रसग है। सिंह सेनापति द्वारा वुद्ध को मासाहार करवाने पर जब निगठ नातपुत्त ने वुद्ध की आलोचना की,[2] तव वुद्ध ने पूर्वजन्म के कथानक द्वारा वताया कि पूर्वजन्म मे भी निगठ नातपुत्त मेरा आलोचक था।

समीक्षा

विनयपिटक और अगुत्तरनिकाय मे जहाँ सिंह सेनापति की इस घटना का उल्लेख है, वहाँ चौराहो पर मासाहार की निन्दा करने के प्रसग में निगठ नातपुत्त का नाम न होकर केवल निगठों का ही नामोल्लेख है। लगता है, अट्ठकथाकार ने जातक गाथाओ के साथ पूर्वजन्म की घटना को जोडने के लिए निगठ नातपुत्त को ही नगर-चर्चा का पात्र वना दिया है। अन्य अट्ठकथाओ की तरह इस अट्ठकथा का भी काल्पनिक कथानक से अधिक महत्त्व नही लगता।

३८ चार प्रकार के लोग

अगुत्तरनिकाय[3] के इस प्रकरण में 'अपने को तपाने वाले व दूसरो को कष्ट देने वाले' के आधार पर चार प्रकार के लोगो का प्रतिपादन किया गया है। 'अपने को तपाने वाले' लोगो के अन्तर्गत निर्ग्रन्थो की आचार-क्रिया का विवेचन किया गया है।

समीक्षा

इस प्रसग मे नामग्राह निर्ग्रन्थो का उल्लेख नहीं है, पर आचार वहुत कुछ निर्ग्रन्थो का ही वताया गया है। कुछ एक आचार तो दशवैकालिक सूत्र से शब्दश मिलते है। इस प्रथम भग मे निर्ग्रन्थो के अतिरिक्त आजीवक तथा पूरणकाश्यप के अनुयायियो के भी कुछ नियम वताये गये हैं, ऐसा प्रतीत होता है। "न वह मास खाता है, न वह मछली खाता है, न वह सुरा पीता है, न वह मेरय पीता है"—यह आचार भी निर्ग्रन्थ आचार के सलग्न ही वताया गया है। जैन साधुओं के मासाहार के विपक्ष मे यह एक अच्छा प्रमाण वन सकता है।

३९ निर्ग्रन्थो के पाच दोष

अगुत्तरनिकाय[4] के इस प्रकरण मे वुद्ध ने निर्ग्रन्थो के पाच दोष वताये है—जीव-हिंसा, चोरी, असत्य, अब्रह्मचर्य व सुरा-पान।

समीक्षा

यह उल्लेख 'उपसम्पदावर्ग' का है। इसमे आजीवक, जटिलक, परिव्राजक आदि के लिए भी ये ही पाच वाते कही गई है।

---

१ जातक, तेलोवाद जातक, स० २४६।

२ देखें, प्रसग सख्या १।

३ अगुत्तर निकाय (हिन्दी अनुवाद) भा० २, पृ० १९७ से १९९।

४ अगुत्तरनिकाय (हिन्दी अनुवाद) भा० २, पृ० ४५२।

४० वस्त्रधारी निर्ग्रन्थ

यह प्रसग धम्मपद-अट्ठकथा[1] का है। इसमे वस्त्रधारी निर्ग्रन्थो को अचेलक भिक्षु की अपेक्षा बौद्ध भिक्षुओ द्वारा अच्छा माना गया है तथा बुद्ध के साथ इस विषय मे वार्तालाप होता है।

समीक्षा

इस घटना प्रसग मे निगठो के वस्त्र-धारण की चर्चा है, पर यह स्पष्ट नही होता कि किस प्रकार का वस्त्र वे धारण करते थे और उसका क्या प्रयोजन था? पर इससे इतना तो स्पष्ट होता ही है कि बौद्ध परपरा को सचेलक और अचेलक दोनो ही प्रकार के निगठो का परिचय है।

४१ मौद्गल्यायन का वध

धम्मपद-अट्ठकथा[2] के इस प्रसग मे आयुष्मान् मौद्गल्यायन का वध करने वाले पाच सौ तैर्थिको (निगठो) को राजा अजातशत्रु भूमि मे जीवित गड़वा देता है।

समीक्षा

यह वृत्तान्त दो स्थानो मे उपलब्ध होता है—जातकट्ठकथा और धम्मपद-अट्ठकथा। जातकट्ठकथा मे मौद्गल्यायन के वध-प्रसग मे निगठो का उल्लेख है और धम्मपद-अट्ठकथा में तैर्थिको का। यथार्थ दोनो ही नही लगते। निगठो व तैर्थिको को गर्हित करने का ही मात्र उपक्रम लगता है।

डा० मलालसेकर ने Dictionary of pali proper names[3] मे तथा एच० जी० ए० वान सेय्स्ट ने Encyclopaedia of buddhism[4] मे लिखा है—"अजातशत्रु ने ५०० निगठो का वध करवाया, इसलिए ही निगठो का अभिप्राय अजात-शत्रु के प्रति अच्छा नही रहा।" यह लिखना यथार्थ नही है। वस्तुस्थिति तो यह है कि बौद्ध-परम्परा अजातशत्रु की बहुत स्थलो पर उपेक्षा करती है, जब कि जैन परपरा मुख्यतया उसे सम्मानित स्थान देती है। अजातशत्रु निगठो का वध कराये, यह जरा भी सभव नही लगता।

४२ मिलिन्दप्रश्न

यह प्रकरण मिलिन्दपञ्हो[5] का है। सागलनगर के राजा मिलिन्द[6] को उनके अमात्य निगठ नातपुत्त आदि छह धर्माचार्यो से वार्तालाप करने का निवेदन करते है।

समीक्षा

राजा मिलिन्द बुद्ध-निर्वाण के ५०० वर्ष पश्चात् हुआ, ऐसा बताया गया है।[7] यहा भी बुद्ध के अतिरिक्त छहो धर्मनायको के नाम गिनाये गये है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि बौद्ध साहित्य मे ऐसी एक प्रथा ही रही है कि निगठ, आजीवक प्रभृति भिक्षुओ के सबन्ध मे भी कुछ कहना हो, तो उनके प्रवर्तक निगठ नातपुत्त, मक्खलि गोशालक



---

१ धम्मपद-अट्ठकथा, २२-८।

२ धम्मपद-अट्ठकथा, १०।७।

३ vol I, p ३५

४ p 320

५ मिलिन्द प्रश्न, अनु० भिक्षु जगदीश काश्यप, पृ० ४ से ६।

६ मिनान्दर (Minander) इदोग्रीक सम्राट् ही राजा मिलिन्द था, जिसकी राजधानी सागल (वतमान स्यालकोट) थी, ऐसा विद्वानो का अभिमत है। देखें, मिलिन्द प्रश्न (हिन्दी अनुवाद) पृ ४।

७ मिलिन्द प्रश्न, अनु० भिक्षु जगदीश काश्यप, पृ० ४।



के नाम से ही कह दिया जाये। निगठ नातपुत्त की वर्तमानता मे भी जहा-जहा उनका नाम आया है, अनेक स्थलो पर घटना का सबन्ध निगठ भिक्षुओ से ही हो सकता है। इसी घटना-प्रसग पर भिक्षु जगदीश काश्यप का कहना है—"मालूम होता है, इन (छहो तीर्थंकरो) की अपनी-अपनी गद्दिया इन्ही नामो से चलती होगी। जैसे भारतवर्ष मे 'शकराचार्य' की गद्दी अभी तक बनी है। किन्तु इन गद्दियो का कब आरम्भ हुआ और कब अत — इसका पता नहीं।"[1] शकराचार्य की तरह एक ही नाम से इन सबकी गद्दिया चलती हो, इसका तो कोई आधार नही है, पर उन मतो के सबध मे यह एक कहने की पद्धति— Stock-Phrase रही है, ऐसा अवश्य लगता है।

४३ लका मे निर्ग्रन्थ

यह प्रकरण महावश[2] का है। लका के राजा पाण्डुकाभय ने अपने नगर मे जोतिय निगठ, गिरि निगण्ठ, कुम्भण्ड निगठ आदि के लिए घर, देवालय आदि बनवाये।

समीक्षा

इस समुल्लेख से यह झलक मिलती है कि निर्ग्रन्थ-धर्म समुद्र पार विदेशो मे भी गया था। पाण्डुकाभय (ई० पू० ३७०-३००) राजा सम्राट् अशोक से भी लगभग १०० वर्ष पूर्व होता है। महेन्द्र और सघमित्रा से बहुत पूर्व की यह घटना है। जैन साहित्य मे इन निगठो की कोई चर्चा नही है। उक्त घटना-प्रसग से यह भी स्पष्ट नही होता कि ये निगठ गृही थे या भिक्षुक। जोतिय निगठ को महावश टीका मे नगरवर्धकि कहा गया है।

४४ वैशाली मे महामारी

यह प्रकरण महावस्तु[3] का है। एक बार जब वैशाली मे यक्षो द्वारा महामारी फैलायी गई, तब उन्होने पूरण-काश्यप, निर्ग्रन्थ ज्ञातपुत्र आदि छहो को एक-एक करके वैशाली मे बुलाया। तब भी महामारी शान्त न हुई। अन्त मे बुद्ध को वैशाली में बुलाने पर महामारी शान्त हुई।

समीक्षा

कथा सारी की सारी बुद्ध की श्लाघा में गढी गई है। जहा बुद्ध रहते है, वहा महामारी आदि रोग नही रहते, इस विषय में जैन परम्परा की मान्यता है—जहा जिन रहते है, वहा चारो दिशाओ में पच्चीस-पच्चीस योजन तथा ऊर्ध्व और अधो दिशा में साढे बारह योजन तक ईति, महामारी, स्वचक्र-भय, परचक्रभय, अतिवृष्टि, अनावृष्टि, दुर्भिक्ष, उत्पात आदि नही होते।[4]

४५ नमो बुद्धस्स, नमो अरहन्तानं

यह कथा-प्रसग धम्मपद-अट्ठकथा[5] का है। गुल्ली-डण्डा खेलते समय 'नमो बुद्धस्स' और 'नमो अरहन्तान' बोलने वाले दो बालको की कथा है।

समीक्षा

नमो बुद्धस्स और नमो अरहन्तान का शब्द-प्रयोग तुलनात्मक अध्ययन के लिए बहुत ही रोचक हो जाता है। दोनो परम्पराओ का वन्दन सूक्त बहुत ही समान शैली से प्रसूत हुआ है। 'सम्यग्-दृष्टि' और 'मिथ्या-दृष्टि' के शब्द-

---

१ वही, बोधिनी, पृ० ६।
२ महावश, परिच्छेद १०, श्लो० ७७-७९ व ९१ से १०२
३ महावस्तु, 253 301, *Mahavastu*, Tr by J J Jones, vol 1, pp 208 to 249
४ समवायांग सूत्र, समवाय ३४।
५ धम्मपद अट्ठकथा, २१। ५।

प्रयोग भी दोनो परम्पराओं की समान धारणाओं के सूचक है। जैन परम्परा भी उक्त अभिप्राय मे 'सम्यग्-दृष्टि' और 'मिथ्या-दृष्टि' का प्रयोग करती है।

प्रस्तुत घटना-प्रसग का शेष महत्त्व एक दन्त कथा के रूप मे ही रह जाता है।

४६ निर्ग्रन्थों को दान

धम्मपद-अट्ठकथा[1] के इस प्रकरण के अनुसार सारिपुत्र का मामा प्रतिमास एक सहस्र मुद्राए व्यय कर निर्ग्रन्थों को दान करता था।

समीक्षा

धम्मपद-अट्ठकथा के रचयिता ने धम्मपद की प्रत्येक गाथा पर कोई एक कथा लिख देना आवश्यक ही समझा है, ऐसा लगता है। बहुत सम्भव है, इस हेतु उन्हें बहुत सारी कथाए अपनी ओर से ही गढ देनी पडी हो। निर्ग्रन्थ अपने लिए पकाया व अपने लिए खरीदा अन्न, वस्त्र आदि ग्रहण नही करते। इस स्थिति मे यह कथा-वस्तु सदिग्ध ही रह जाती है।

सारिपुत्र के मामा को यहां निर्ग्रन्थ-उपासक माना गया है। बुद्ध के चाचा निर्ग्रन्थ-उपासक थे ही। इससे इतना तो प्रतीत होता ही है कि निर्ग्रन्थ-धर्म और बौद्ध-धर्म अनेक परिवारो मे घुले-मिले ही चलते थे।

लगता है, दोनों परम्पराओ की दान-विषयक धारणा बहुत कुछ समान रही है। अपने-अपने भिक्षुओ का दिया गया दान ही दोनो परम्पराओं मे सुपात्र-दान माना है। फिर भी निर्ग्रन्थो को देने मे ब्रह्मलोक ही मिले, ऐसा कोई विशेष उल्लेख निर्ग्रन्थ-परम्परा मे नही मिलता।

४७ नालक परिव्राजक

महावस्तु[2] के इस प्रसग मे नालक परिव्राजक एक-एक कर निर्ग्रन्थ ज्ञातिपुत्र आदि छहो धर्माचार्यों के पास जाकर तत्त्व-चर्चा करता है और अन्त मे बुद्ध से अपनी जिज्ञासा का समाधान पाता है।

समीक्षा

यह प्रसग महायान-परम्परा का है। हीनयान-परम्परा मे भी नालकसुत्त[3] मे यही कथा-प्रसग उपलब्ध होता है, वहा बुद्ध के अतिरिक्त अन्य धर्मनायको का उल्लेख नही है।

४८ जिन-श्रावकों के साथ

यह प्रसग भी महावस्तु[4] का है। प्रव्रजित होने के पश्चात् बुद्ध क्रमश आराड कालाम और उद्रक रामपुत्र के पास गये। वे अपने जिन-श्रावकों को "त्याग करो, त्याग करो" का उपदेश देते थे।

समीक्षा

यहां 'जिन-श्रावक' शब्द का प्रयोग आराड कालाम, उद्रक रामपुत्र व उनके अनुयायिओ का निगण्ठ धर्मी होना सूचित करता है। यह प्रकरण महावस्तु ग्रन्थ का है, जो महायान का प्रमुख ग्रन्थ है। पालि त्रिपिटको मे जिस



---

१ धम्मपद-अट्ठकथा, ८-७
२ Mahavastu, Tr by J J Jones vol III pp 379-388
३ सुत्तनिपात, ३७
४ Mahavastu, Tr by J J Jones, vol II, pp 114-117



अभिप्राय में 'निगण्ठ' शब्द आता है, उसी अर्थ मे सस्कृत त्रिपिटको मे 'जिन-श्रावक' शब्द आता है ।[1]

इस प्रसग से यह तो विशेष रूप से स्पष्ट होता ही है कि बुद्ध ने 'जिन-श्रावको' के साथ रहकर बहुत कुछ सीखा व पाया ।

४९ भद्रा कुडलकेशा

धम्मपद-अट्ठकथा[2] तथा थेरीगाथा-अट्ठकथा[3], दोनो मे यह प्रसग मिलता है । राजगृह के श्रेष्ठी की कन्या भद्रा सत्युक चोर को प्राण-दण्ड देने से बचाकर उसके साथ विवाह करती है । एक बार चोर पति के द्वारा लुटे जाने की स्थिति होने पर उसे पर्वत से नीचे गिराकर भद्रा स्वय श्वेतवस्त्रधारी निगठों के सघ मे प्रव्रजित हो जाती है और बाद मे सारिपुत्र द्वारा वाद-विवाद मे हार जाने पर बुद्ध की शिष्या हो जाती है ।

समीक्षा

प्रसग बहुत ही सरस व घटनात्मक है । बुद्ध की प्रमुख शिष्या का पहले निगण्ठ-सघ मे दीक्षित होना, एक विशेष बात है । केश-लुचन व श्वेतवस्त्रधारी निगण्ठो का उल्लेख ऐतिहासिक महत्त्व का है ।

५० ज्योतिर्विद् निगठ

चीनी धम्मपद-अट्ठकथा[4] के इस प्रकरण मे गगा-तट पर रहने वाले ब्रह्मचारी ज्योतिर्विद् निगठ और उसके पाँच सौ अनुयायिओ का सद्य बोधि-प्राप्त बुद्ध के पास प्रव्रजित होने का उल्लेख है ।

समीक्षा

जैन कथा साहित्य मे इस प्रकार के घटना-प्रसग का कोई उल्लेख नही है । यह घटना इतना अवश्य व्यक्त करती है कि बुद्ध के बोधि-लाभ से पूर्व भी निगण्ठ लोक बडे-बडे समुदायो मे विद्यमान थे । जैन कथा-साहित्य मे ऐसे प्रसग बहुत अल्प हैं, जिनमे बौद्ध-भिक्षु निगण्ठ-शासन मे प्रवेश करते हैं, जबकि बौद्ध कथा-साहित्य मे प्रस्तुत प्रकार के कथाप्रसगो की बहुलता है । इससे निगण्ठों की पूर्ववर्तिता स्पष्ट व्यक्त होती है । बुद्ध से महावीर के ज्येष्ठ होने का भी यह एक स्पष्ट आधार बनता है ।

५१ धूलि-धूसरित निगठ

चीनी धम्मपद-अट्ठकथा[5] के इस प्रकरण मे पाँच सौ ब्राह्मणो का गगा के किनारे रहने वाले एक धूलि-धूसरित निगण्ठ के पास ज्ञान-प्राप्ति के लिए जाते समय यक्ष द्वारा प्रेरित होकर बुद्ध के पास श्रमण बनने का उल्लेख है ।

●

---

१. cf Mahavastu, Tr by J J. Jones, vol II, p 114

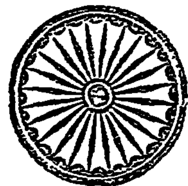
२ धम्मपद-अट्ठकथा ८। ३

३ थेरीगाथा-अट्ठकथा, पृ० ९९

४ चीनी धम्मपद अट्ठकथा के आधार पर S Beal Dhammapada (tr from Chinese), Susil Gupta (India) Ltd Calcutta, 1952, pp 103-4

५ वही, पृ० ५४

द्वितीय कल्कियुग के तीन क्रान्तिकारी सन्त



डा० ज्योतिप्रसाद जैन

एम ए, एल-एल बी, पी-एच डी, लखनऊ

महावीर-निर्वाण सवत् (प्रारंभ ईसापूर्व ५२७) के द्वितीय सहस्राब्द की अन्तिम शताब्दी, भारतवर्ष के ही नहीं सम्पूर्ण सभ्य विश्व के इतिहास में एक अत्यन्त घटनापूर्ण शताब्दी सिद्ध हुई।

प्राचीन जैन अनुश्रुतियो के अनुसार यह द्वितीय कल्कि का युग था। दूसरी शती ई० में हुए यतिवृषभाचार्यकृत तिलोयपण्णत्ति में कथन हुआ है कि भ० महावीर के निर्वाणोपरान्त के प्रत्येक सहस्राब्द के अन्त में एक कल्कि होता रहेगा[1]। ७८३ ई० में रचित जिनसूरि पुन्नाट के हरिवंशपुराण में भी यही कथन किया गया है।[2] महानिशीथसूत्र में भी कल्कि का उल्लेख हुआ है।[3] इन तीनो ही आधारों में कल्कि को एक विधर्मी धर्मविध्वंसक महादुराचारी एव अत्यन्त अत्याचारी शासक के रूप में चित्रित किया गया है।[4] प्रथम कल्कि का (५वीं शती ई० में) एक ऐतिहासिक व्यक्ति के रूप में भी चीन्हने का कतिपय विद्वानो ने प्रयत्न किया है।[5] उपर्युक्त अनुश्रुतियों में यह भी सर्वत्र पाया जाता है कि कल्कि के धर्म-विरोधी अत्याचारो के उपरान्त धर्मराज्य की स्थापना होती है।

हमें तो ऐसा लगता है कि भगवान् महावीर की श्रमणपरंपरा में जो भी आचार्य कल्किविषयक इस भविष्य-वाणी का सर्वप्रथम पुरस्कर्ता रहा वह तत्कालीन ज्ञात विश्व के मानव-इतिहास का अच्छा अध्येता था और इतिहास दर्शन का उसने गंभीर मनन किया था। उस काल की शैली में अनेक तथ्य प्रतीकों के रूप में व्यक्त किये जाते थे और 'कल्कि' भी एक प्राय सार्वदेशीय एव सार्वकालिक सत्य का प्रतीक है। भारतवर्ष के तथा अन्यत्र के भी मानवजाति के इतिहास में यह सहज ही स्पष्ट हो जाता है कि प्रत्येक सहस्राब्द के अन्त के लगभग कतिपय धर्मविरोधी, अनीतिपूर्ण विहितमार्गों में विकृतियां उत्पन्न करनेवाली और जनता की शान्ति एव सुख का विघात करनेवाली आसुरी या दानवी शक्तियों का प्राबल्य हो जाता है। ये शक्तियां किसी एक या अनेक अत्याचारी शासकों या शासनव्यवस्था के रूप में उस काल में प्रकट होती हैं। उनके अथवा काल के प्रभाव से सामाजिक और धार्मिक क्षेत्रों में भी जो व्यक्ति या वर्ग सत्ताधारी होते हैं उनमें भी शिथिलाचार और अनैतिकता का बोलबाला हो जाता है।

और यह दुर्योग कुछ काल के लिए देश और जाति को झझोडकर रख देता है। सर्वत्र कुत्सितता, अशान्ति, अनीति, अधार्मिकता, उच्छृ खलता एव पतनोन्मुखता दृष्टिगोचर होने लगती है। सौभाग्य से ऐसी स्थिति सदैव बनी नहीं रह सकती। जब वह अतिरेक के निकट पहुच जाती है तो उसी में से पुनर्निर्माण के, शान्ति, व्यवस्था एव नैतिकता की पुन स्थापना के तथा धार्मिक पुनरुत्थान के अकुर भी प्रगट होने लगते हैं। राजनैतिक, सामाजिक, धार्मिक आदि प्राय सभी क्षेत्रों में छोटी बड़ी क्रान्तियां होती हैं, आन्दोलन होते हैं और परिवर्तन होते हैं। एक बार फिर सुकाल

---

१ एव वस्स-सहस्से पुह क्क्की हवेइ एक्केको।

२ मुक्तिम् गते महावीरे प्रतिवर्षसहस्रकम्।
एकैको जायते कल्की जिनधर्मविरोधक ॥

३ होही—मिच्छदिट्ठी क्क्की णाम रायाणो।

४. तिलोयपण्णत्ति, चतुर्थ महाधिकार, गा० ९४, ९९, १००-१०४, हरिवंश सर्ग ६०, श्लो० ४५२, प्रबन्धपरिजात (पं० कल्याणविजय)।

५. जैन हितैषी, भा० १३, अ० १२ में डा० के० पी० जायसवाल, और डा० के० बी० पाठक के लेख, ना० रा० प्रेमी-जैनसाहित्य और इतिहास प्र० स०, पृ० ८, १९, २०-२१।



आता है और अपेक्षाकृत अधिक कालपर्यन्त बना रहता है। क्रिया-प्रतिक्रिया के रूप में ये दोनों स्थितियां एक के अनन्तर एक आती रहती हैं। जितनी तीव्र क्रिया होती है उतनी ही तीव्र और उतनी ही अधिक देश एवं कालव्यापी उसकी प्रतिक्रिया होती है।

धर्म और अधर्म के सुप्रसिद्ध संघर्ष के प्रतीक महाभारत युद्ध[1] के लगभग एक सहस्र वर्ष पश्चात्, छठी-५वीं शती ईसापूर्व एक ऐसा युग था जिसमें यूनान और ईरान, फिलिस्तीन और चीन, तथा भारत के श्रमणों एवं ब्राह्मणों में इस प्रकार उस काल के प्रायः सम्पूर्ण सभ्य विश्व में ज्ञान जागृति, तत्वचिन्तन और धार्मिक क्रान्ति की एक अत्यन्त प्रबल अभूतपूर्व लहर व्याप्त हो गई थी। ऐसी जबरदस्त एवं व्यापक प्रतिक्रिया प्रायः सायोगिक तो होती ही है किन्तु जिन परिस्थितियों ने उसे जन्म और प्रेरणा दी वे भी अत्यन्त भीषण ही रही होंगी, इसमें कोई सन्देह नहीं है, भले ही इतिहास के आलोक में वे भली प्रकार स्पष्ट न हो पाई हों। अतएव भ० महावीर के समय को कल्कि संबंधी काल-गणना का, दूसरे शब्दों में उक्त आवधिक महाक्रान्तिकारी युगों की गणना का आधार बनाना सर्वथा संगत ही सिद्ध हुआ है। ५वीं शती के अन्त के लगभग गुप्त सम्राटों के स्वर्णयुग का अन्त और विधर्मी बर्बर हूणों के भीषण विध्वंसक आक्रमण तथा उक्त विनाश एवं पतन में से अद्भुत नवीन निर्मापक तत्त्व उस युग का प्रथम कल्कि-युग होना भली प्रकार चरितार्थ करते हैं। उसके एक सहस्र वर्ष उपरान्त, १५वीं शती ई० में फिर प्रायः वैसी ही परिस्थितियां थीं—यह द्वितीय कलियुग जो था।

इसी शताब्दी के मध्य के लगभग, १४५३ ई० में तुर्क मुसलमानों ने यूरोपीय ईसाईजगत् के ऊपर निर्णायक विजय प्राप्त की और कुस्तुन्तुनिया पर पूर्णतया अधिकार कर लिया। परिणाम-स्वरूप अनेक यूनानी, रोमन और ईसाई विद्वान अपने पोथीपत्रे लेकर अपने उक्त सर्वमहान् केन्द्र से भाग गये और यूरोप के विभिन्न देशों में फैल गये। सम्पूर्ण यूरोप में ज्ञानजागृति (रेनेसान्स) की एक अपूर्व एवं अत्यन्त वेगवान् लहर व्याप्त हो गई। इस ज्ञानजागृति के फल-स्वरूप धर्मसुधार के प्रबल आन्दोलन चल पड़े, विभिन्न यूरोपीय देशों में राष्ट्रीय राजसत्ताएं सुसंगठित होने लगीं। यूरोपीय इतिहास के अन्धकारपूर्ण युग का अन्त हुआ और उसके आधुनिक प्रगतिगामी युग का प्रारंभ हुआ।

अब सम्पूर्ण मध्य एशिया मुसलमान बन चुका था। बर्बर मंगोल भी इस्लाम धर्म स्वीकार कर चुके थे। तुर्कों की शक्ति बढ़ रही थी। ईरान और चीन में भी पुनः जागृति हो रही थी। और मुगल बाबर के रूप में एक ऐसी नवीन शक्ति का उदय भी इसी शताब्दी के अंतिम पाद में हो चुका था जो आगामी दो शताब्दियों में ही विकसित होकर विश्व को चमत्कृत करनेवाली थी।

१२वीं शती ई० के अन्त के लगभग मुहम्मद बिन साम शिहाबुद्दीन गौरी ने दिल्ली और अजमेर के चौहान नरेश पृथ्वीराज को तथा कन्नौज और वाराणसी के गहड़वाल राजा जयचन्द को पराजित करके भारतवर्ष के प्राचीन 'मध्यप्रदेश' में जिसे अब हिन्दुस्तान कहा जाने लगा था, मुस्लिम शासन स्थापित कर दिया था। अगले डेढ़ सौ वर्षों में दिल्ली के क्रमशः गुलाम, खिलजी एवं तुगलुक वंशी सुल्तानों के प्रयत्न से इस देश में इस्लाम और उसके राजनैतिक प्रभुत्व का द्रुतवेग से प्रसार हुआ जिसने अटक से कटक और कश्मीर से कन्याकुमारी पर्यन्त देश के बहुभाग को आच्छादित कर लिया। ये नवागत मुसलमान बर्बर विदेशी थे, धन और राज्य के लोभ तथा इस्लाम के प्रचार और कुफ्र के विनाश की भावना में उन्मत्त थे। उनके रोमांचकारी अत्याचार और उनकी अमानुषिक क्रूरता भारतवर्ष के लिए सर्वथा नवीन वस्तुएं थीं। न्यायपूर्ण धर्मयुद्धों के आदी भारतीय वीर इन नृशंस धर्मान्ध बर्बरों की उस पैशाचिकता को समझ ही न पाये जिसमें आत्मसमर्पण करने वाले या युद्ध में बन्दी हो जाने वाले योद्धाओं को बरबस मुसलमान बना लिया जाता, अन्यथा भीषण यातनाएं दे-देकर उनकी निर्मम हत्या कर दी जाती थी, भागते हुए शत्रुओं का पीछा करके उनका संहार कर दिया जाता था, निहत्थी प्रजा पर लूटमार आदि भयंकर अत्याचार किये जाते थे, स्त्रियों की लाज लूटना और

---

१ आधुनिक भारतीय इतिहासकार इस युद्ध की तिथि ईसापूर्व १५वीं शती में निश्चित करते हैं, देखिये भा० वि० भवन बंबई से प्रकाशित 'दी वैदिक एज'।

असहाय बच्चों, स्त्रियों एवं वृद्धों का भी वध कर देना एक खेल था। खड़ी खेती को उजाड़ देना, गावों को भस्म कर देना, विशाल नगरों और दुर्गों का विनाश करना, धर्मायतनों और देवमंदिरों का विध्वंस करना, देवमूर्तियों को तोड़ना, ग्रन्थों को जला डालना, साधुओं, मुनियों, त्यागियों और तपस्वियों को भी पीड़ा देना, इत्यादि साधारण बातें थीं। इस तूफानी आंधी के सम्मुख भारतीय जीवन एकदम स्तंभित हो गया, उसके राजनैतिक एवं सांस्कृतिक शक्ति-स्रोत एकबारगी शुष्कप्राय हो गये और सर्व प्रकार की नैतिक दुर्बलताएं जड़ पकड़ने लगीं। १५वीं-१६वीं शती तक प्राय यही वस्तुस्थिति बनी रही। इसमें भी संदेह नहीं कि १४वीं शती में ही मुसलमानों की केन्द्रीय शक्ति का द्रुतगति से ह्रास होने लगा था, यहां तक कि १५वीं शताब्दी में दिल्ली के सैयद (१४१४-१४५० ई०) और लोदी (१४५१-१५२६ ई०) वंशी सुल्तानों का अधिकार प्राय वर्तमान पूर्वी पंजाब, दिल्ली और पश्चिमी उत्तरप्रदेश तक ही सीमित रह गया था। कश्मीर, सिंध, गुजरात, मालवा, दक्खन बंगाल-बिहार, पूर्वी उत्तरप्रदेश आदि में दिल्ली राज्य के प्रान्तीय शासक (सूबेदार) ही स्वतंत्र सुल्तान बन बैठे थे। राजस्थान के मेवाड़ आदि कई स्वतन्त्र राजपूत राज्य, ग्वालियर के तोमर राजा और दक्षिणापथ में विजयनगर के सम्राट गैरमुस्लिम शक्तियों में प्रमुख थे और उक्त राज्यों में ही धर्मायतनों और धर्मात्माओं की कुछ सुरक्षा थी। किन्तु क्योंकि ये अनेक मुसलमान एवं राजपूत राज्य निरन्तर परस्पर युद्धों में संलग्न रहते थे, शान्ति और सुरक्षा कहीं भी अधिक काल तक स्थायी रह ही नहीं पाती थी। १४वीं शती ई० के अन्त में मध्य एशिया के नृशंस तुर्क सम्राट तैमूरलंग के तूफानी आक्रमण ने तो विघटन की इन प्रवृत्तियों के लिए द्वार उन्मुक्त कर दिया।

अस्तु, १५वीं शती ई० में दिल्ली में १४१४ से १४५० तक चार सैयद सुल्तानों ने नाममात्र का शासन किया। तदुपरान्त लोदी वंश का अधिकार हुआ और बहलोल लोदी (१४५१-१४८८) ने दिल्ली राज्य की शान्ति और विस्तार में वृद्धि करने का कुछ सफल प्रयत्न किया। उसका पुत्र एवं उत्तराधिकारी सिकन्दर लोदी (१४८९-१५१७) इस वंश का सर्वाधिक सुयोग्य शासक समझा जाता है किन्तु वह कट्टर मुसलमान था और अन्य सभी धर्मों के प्रति असहिष्णु था। मथुरा आदि तीर्थस्थानों के अनेक मंदिर और मूर्तियां भी उसने तोड़ी और धार्मिक अत्याचार भी किए। उसके समय में आगरा प्रदेश में एक भीषण भूकम्प भी आया था। उसका उत्तराधिकारी एक निकम्मा, मूर्ख, निर्दयी और अत्याचारी शासक था। उसी के समय ग्वालियर के जैनधर्मसहिष्णु स्वतन्त्र तोमर राज्य का अन्त हुआ। बंगाल में स्वतन्त्र मुस्लिम शासन था और वहां गृहकलह गुप्त हत्याओं, षड्यन्त्रों तथा प्रजा पर किए जाने वाले अत्याचारों का बोलबाला था। जौनपुर के शर्की सुल्तानों ने भी हिन्दुओं और जैनों पर जुल्म किए ही थे और अनेक मन्दिरों एवं मूर्तियों को तोड़कर मस्जिदें बनवाईं। उस राज्य का अन्त बहलोल लोदी ने १४७९ ई० में कर दिया था। मालवा के सुल्तान भी अन्य सुल्तानों के प्रतिरूप थे, १५०१ के बीच होने वाले दो सुल्तान अपेक्षाकृत नृशासक थे किन्तु नासिरुद्दीन (१५०२-१२) जो स्वयं अपने पिता की विष द्वारा हत्या करके सुल्तान बना था, अत्यन्त निर्दय एवं दुराचारी था। गुजरात का सुल्तान अहमदशाह (१४११-४१) शक्तिशाली था किन्तु हिन्दुओं और जैन मंदिरों को तोड़ना, उन पर अत्याचार और जोर जुल्म करना, इस्लाम का प्रचार एवं मुसलमानों की संख्या बढ़ाने का प्रयत्न करना, अन्य अधिकांश तत्कालीन सुल्तानों की भांति उसका भी खब्त था। उसके उत्तराधिकारी फीरोज खां ने तो मंदिरों और मूर्तियों के विरुद्ध विशेष रूप से जिहाद बोला। तदुपरान्त महमूद बेगड़ा (१४५९-१५११)) भी इस दिशा में अपवाद नहीं था। कश्मीर में मूर्तिभंजक उपनाम से प्रसिद्ध अत्यन्त अत्याचारी सिकन्दर के पश्चात् जैनुल आबदीन (१४१७-६७) का सुशासन रहा, किन्तु उसके उपरान्त फिर अयोग्य एवं अत्याचारी शासकों का शासन रहा। दक्षिण के बहमनी राज्य का इतिहास तो हिन्दु, जैन आदि गैरमुस्लिमों के रक्त से ही लिखा गया है। मुहम्मदशाह प्र० (१३५८-७३) अत्यन्त नृशंस हत्यारा था, नरसंहार में उसे आनन्द आता था। इस नरपशु ने पांच लाख गैरमुस्लिम प्रजा की हत्या की-कराई बताई जाती है। सुल्तान फिरोज (१३९७-१४२२) इस दिशा में उससे भी आगे बढ़ गया। उसके समय में भयंकर अकाल भी पड़ा। अलाउद्दीन द्वि० (१४३५-५७) बड़ा शराबी एवं विषयासक्त था। हुमायूं (१४५७-६१) इतना भारी हत्यारा था कि अपने उन्मुक्त जुल्मों के कारण वह 'जालिम' नाम से पुकारा जाने लगा। मुहम्मद तृ० (१४६३-८२) के समय में भी अनेक मन्दिर-मूर्तियां नष्ट की गईं और उनके अभिभावकों का संहार किया गया।



इस प्रकार राजस्थान के दो-तिहाई से अधिक भाग पर इन नृशंस धर्मविध्वंसक विधर्मी शासकों का शासन था जो उस काल में उस देश के गैरमुस्लिमों, हिन्दुओं और जैनों के विरुद्ध एक अविच्छिन्न जिहाद था। किन्तु प्रजा का अधिकांश भाग इन्हीं गैरमुस्लिमों का था, उन्हीं पर अनेक रूपों एवं अंशों में इन मुस्लिम शासकों को निर्भर रहना पड़ता था और उनके सामूहिक विद्रोह से स्वयं अपनी सुरक्षा खतरे में पड़ जाती है, यह भय भी बराबर बना रहता था। यह कारण ही ऐसे थे जो मुसलमान शासकों के अत्याचारों को किसी हद तक सीमाबद्ध रखते थे। देश के शेष भाग में दक्षिण के विजयनगर साम्राज्य में तथा राजस्थान, उत्तरीय पहाड़ी प्रदेशों, ग्वालियर आदि के राजपूत राज्यों में अवश्य ही स्थिति भिन्न थी, किन्तु उन प्रायः सभी राज्यों को इन पड़ोसी मुसलमानों के साथ निरन्तर युद्धों में व्यस्त रहना पड़ रहा था। युद्धजनित संकट को उनकी प्रजाओं को भी भोगना पड़ रहा था। ऐसी परिस्थिति में धर्म और संस्कृति की ओर ध्यान देने का किसे अवकाश था? तथापि धर्मप्राण गृहस्थ सन्त और साधु, भट्टारक और यति, विद्वान और कलाकार जितना उनसे बनता, यत्र-तत्र जैसे-तैसे धर्म की रक्षा करते और संस्कृति का संरक्षण करते।

ऐसे अशान्त अरक्षित एवं अत्यन्त विरोधी वातावरण में विभिन्न प्रकार की आचार-विचार सम्बन्धी विकृतियों, शिथिलाचारों, कूपमण्डूकताओं, रूढ़िवादिता एवं अन्धविश्वासों का समाज में पनपते रहना स्वाभाविक ही था। सामान्यतया सम्पूर्ण गैरमुस्लिम भारतीय समाज की यही दशा थी। जैन जगत् उसका अपवाद नहीं था। दक्षिणापथ तो रामानुजाचार्य के श्रीवैष्णव और बासव के लिंगायतों (वीरशैवों) के तीव्र साम्प्रदायिक विद्वेष का आखेट बनकर विगत दो शताब्दियों में अपनी शक्ति, संख्या और प्रभाव की भारी क्षति उठा चुका था। १४ वीं शती के उत्तरार्ध और १५ वीं के पूर्वार्ध में विजयनगर-सम्राटों के सहिष्णु शासन में उसने कुछ समय के लिए कथंचित् सुखशान्ति की साँस ली थी किन्तु १५ वीं शती के उत्तरार्ध में कई कारणों से विजयनगर में भी प्रतिकूल परिवर्तन दृष्टिगोचर होने लगा था। उत्तरापथ में मुसलमानों के ही अत्याचार पर्याप्त थे। दिगम्बर परम्परा में इस काल में भट्टारकीय प्रथा रूढ़ हो चुकी थी। भट्टारक वस्त्रधारी बन मन्दिरों और मठों में रहते थे, सम्पत्ति का दान लेते थे और संरक्षण करते थे। अपने अपने प्रभावक्षेत्रों में श्रावकों पर मनमाना शासन करते थे। मुनिमार्ग विच्छिन्न हो गया था—सच्चे निर्ग्रन्थ दिगम्बर मुनि दृष्टिगोचर ही नहीं होते थे। अपने साथ साथ श्रावकों के आचार-विचार को शिथिल बनाने में भी ये भट्टारक स्वरचित साहित्य तथा अपने उपदेशों-आदेशों द्वारा प्रयत्नशील थे। पूजा, प्रतिष्ठा आदि में आडम्बर बढ़ता जाता था, व्रतानुष्ठानों का जोर बढ़ता जा रहा था और व्रतसमापन के रूप में बड़े-बड़े खर्चीले उद्यापन कराए जाने लगे थे जिनका अधिकांश लाभ भट्टारकों या उनकी संस्थाओं को ही प्राप्त होता था। एक ओर मुसलमान सुल्तान और उनके सूबेदार, फौजदार, जागीरदार, सेनानायक आदि मन्दिरों और मूर्तियों को तोड़ने की या भ्रष्ट करने की, और नवमंदिर एवं मूर्तिनिर्माण पर प्रतिबंध लगाने की होड़ लगाए हुए थे तो दूसरी ओर भट्टारक लोग नवीन मन्दिरों और मूर्तियों के निर्माण करने की होड़ लगाए हुए थे। अकेले दिल्ली पट्टाधीश भट्टारक जिनचन्द्र (१४५०-१५२८ ई०) ने राजस्थानान्तर्गत मुड़ासा नगर के सेठ जीवराज पापड़ीवाल से मूर्तिभंजक सुल्तान सिकन्दर लोदी के शासनकाल में ही (विशेषकर १४९१ ई० में) असंख्य जिन प्रतिमाओं की प्रतिष्ठा कराई थी जिन्हें छकड़ों में भर-भर कर उत्तर और मध्य भारत के अनगिनत स्थानों में वितरित किया गया। जन साधारण श्रावक श्राविकाओं में अशिक्षा की वृद्धि थी। जातिपाँति के भेद और अनेक अन्धविश्वास एवं कुरीतियाँ रूढ़ होती जा रही थीं। पड़ोसी हिन्दु सम्प्रदायों का भी प्रभाव अत्यधिक पड़ रहा था। जैन धर्म की सहज सादगी, आध्यात्मिकता, परीक्षाप्रधानता, सदाचारप्रवणता वस्तुतः उसकी मौलिकता ही नष्ट होती जा रही थी और प्रायः बहुत कुछ ऐसी ही दशा श्वेताम्बर सम्प्रदाय के साधु एवं श्रावक समाज की थी। उनमें भी अनेक साधु मठाधीश बनने, विहित मार्ग के विपरीत आचरण करने, पूजादिक के आडम्बर का पोषण करने और आचार विचार के शैथिल्य एवं विकृति को प्रश्रय देने में दिगम्बर भट्टारकों से भी बाजी मार ले गये थे। श्रीपूज्यों और कुलगुरुओं की संख्या तो इस दिशा में अतिरेक को प्राप्त कर गई थी।[1] श्वेताम्बर श्रावक-श्राविकाओं के आगमादि प्राचीन धर्मशास्त्रों के पठन-पाठन पर भी कड़ा प्रतिबन्ध यतियों ने लगाया हुआ था[2]। मुनि कल्याणविजयजी तो उस

१ पट्टावलीपरागसंग्रह (पं० कल्याणविजयगणीकृत) पृ० ३८०-३८२।

२ वही पृ० ३८७।

काल में चले 'शिथिलाचार के निरंकुश वेग' का उल्लेख करते हुए यहां तक कहते हैं कि 'उस समय कतिपय यति ही शिथिलाचारी नहीं हुए थे अपितु सारा जैन समुदाय ही बिगड़ चुका था—अधिकांश यतिवर्ग की स्थिति यहां तक बिगड़ चुकी थी कि क्रियोद्धार के बिना विशुद्ध जैन श्रमणाचार का अस्तित्व रहना मुश्किल था। उस काल में यदि कोई जिज्ञासु श्रावक किसी यति से विनयपूर्वक भी कोई शंका करता अथवा साधुओं के आगमविपरीत आचरण पर कोई आक्षेप कर बैठता तो यति महाराज से बुरी तरह फटकारा जाता और नाना अपशब्द सुनता।[2] यतियों में एक प्रकार की धड़ेबन्दी चल पड़ी थी। धर्म के नाम पर उनकी दुकानदारी चल रही थी और श्रावक उनके विवश आसामी मात्र थे। राजनैतिक आर्थिक एवं अन्य नानाविध भौतिक परिस्थितियों से त्रस्त उस काल का गरीब श्रावकसमुदाय एक प्रकार से अपने धर्मगुरुओं के अत्याचारों का भी शिकार बना हुआ था।

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि उपर्युक्त विभिन्न एवं विविध सन्मार्गविरोधी, प्रगति-अवरोधक एवं सुखशान्ति की अपहर्त्री दानवी शक्तियों के रूप में ही १५वीं शती ई० में द्वितीय कल्कि प्रकट हुआ था। उनकी उस काल में विद्यमानता का इससे बड़ा और क्या प्रमाण होगा? और उक्त कल्कि रूपी परिस्थितिसमूह में से ही कल्किपुत्र के धर्मराज्य का उदय होना था, जो १६वीं शती में स्थापित होने वाले सूरी एवं तदनन्तर मुगलशासन के रूप में राजनैतिक क्षेत्र में तथा सुधारक आन्दोलनों और वैचारिक या धार्मिक क्रान्तियों के रूप में सामाजिक एवं धार्मिक क्षेत्रों में हुआ हो। इस प्रकार की विचारक्रान्ति के लिए वह युग सर्वथा उपयुक्त था। यूरोप आदि के रेनेसान्स और रिफार्मेशन की बात पहले कह आए हैं। भारतवर्ष के जैनेतर जगत् में रामानन्द और वल्लभाचार्य, कबीर और नानक, सुन्दरदास और दादू, ज्ञानदेव नामदेव और तुकाराम, विद्यापति और चैतन्य, जो सब ही उस शताब्दी को स्पर्श करते हैं अथवा उसके आसपास हुए, उसी व्यापक विचारक्रान्ति या सुधार आन्दोलन के पुरस्कर्ता थे और इष्ट कल्कि के धर्मात्मा पुत्र का प्रतिनिधित्व करते थे। जैन जगत् में भी यह क्रान्ति होना ही था। उसके स्थितिपालक वर्ग में भी दोनों ही सम्प्रदायों में कतिपय विद्वान् एवं प्रभावक आचार्य तथा कई विद्वान् ग्रन्थकार, सुधारक एवं साहित्यकार उदित हुए और लोंकाशाह, कडुवाशाह, तारणस्वामी प्रभृति कई महान् क्रान्तिकारी भी प्रकट हुए जिनके द्वारा स्थापित नवीन सम्प्रदाय और आम्नाय आज पर्यन्त चले आते हैं।

यह है वह दैविध्य एवं वैचित्र्यपूर्ण पृष्ठभूमि जिसके परिप्रेक्ष्य में जैन जगत् के द्वितीय कल्कि के इन धर्मरक्षक धर्मपुत्र त्रयी लोंकाशाह, कडुवाशाह एवं तारणस्वामी का तथा उनके द्वारा की गई विचारक्रान्ति का मूल्यांकन करना चाहिए।

लोंकाशाह की ऐतिहासिकता असन्दिग्ध है, किन्तु उनके जीवन से सम्बन्धित कतिपय तथ्यों में कुछ मतभेद है। पूरी छानबीन एवं प्रामाणिकता के साथ उनका जीवनवृत्त अभी स्थिर नहीं हो पाया है। उनका जन्म एक धार्मिक श्रीमान् कुल में हुआ था। पिता का नाम डूगर और माता का चूडा था, किन्तु एक अन्य स्रोत में हरिश्चन्द्र और मूंगीबाई वर्णित किया गया है। जन्मस्थान कहीं सौराष्ट्र का लींबडी ग्राम, कहीं नागनेरा नदवर्ती एक ग्राम, कहीं अरहटवाड़ा और कहीं अहमदाबाद बताया है। लोंकाशाह की जन्मतिथि १४१५ ई० बताई जाती है। किन्हीं स्रोतों में १४२० ई० बताई गई है। इसी प्रकार मृत्युतिथि भी १४७५, १४७६ और १४७७ ई० के रूप में भिन्न भिन्न बताई जाती है।[3] पिता और माता की मृत्यु हो जाने के कारण १६ वर्ष की आयु के लगभग लोंकाशाह गुजरात की राजधानी



---

१ निबन्धनिचय, पृ० २२४-२२५, पट्टावलीपरागसंग्रह, पृ० ४६७-४६८, ४८१-४८२ भी इस सम्बन्ध में द्रष्टव्य हैं।

२ वही, पृ० ३६०।

३ इन मतभेदों के निराकरण के लिए मरुधरकेसरी मुनिश्री मिश्रीमलजी म० की 'धर्मवीर लोंकाशाह' पुस्तक द्रष्टव्य है। उसके कतिपय अंश इस प्रकार हैं—(सम्पादक)

सिरोही शहर से ८-१० कोस उत्तर दिशा में अरहटवाड़ा नाम का एक गांव था। वह सिरोही राज्य का एक बड़ा बाजार था। नाना प्रकार के धान्य और व्यापारिक वस्तुओं का यहां अच्छा संग्रह और खरीद-फरोख्त होने के कारण सम्भवतः इसका नाम अरहटवाड़ा पड़ गया—वर्तमान में एक छोटा-सा गांव 'अटवारा' नाम से वहां



अहमदाबाद मे आ बसे। कोई कहता है कि वह एक बडे साहूकार थे, तो कोई कहता है कि वह अहमदाबाद मे नाणावट का व्यापार करते थे। कुछ अन्य उन्हे एक राजकर्मचारी प्रदर्शित करते है तो कुछ मात्र एक साधारण लहिया (शास्त्र-लिपिक) ही। उन्होंने विवाह किया था नही और उनके कोई सन्तान हुई या नही, इस विषय मे अनुश्रुतिया मौन हैं। इतने प्राय सर्वमत है कि वह एक धर्मात्मा व्यक्ति थे, गृहस्थ श्रावक का आचारविचार निष्ठापूर्वक पालते थे, साथ ही भारी जिज्ञासु थे और आगमसाहित्य का अध्ययन करके धर्म का वास्तविक स्वरूप जानने के लिए बडे उत्सुक थे। किन्तु यतियो द्वारा श्रावको के स्वाध्याय पर कडा प्रतिबन्ध लगाया हुआ था, इसी से विवश थे। सयोग से ज्ञानचद्र सूरि नामक एक यति ने उनके लेखन की स्वच्छता एव सुन्दरता से प्रभावित होकर उन्हे शास्त्रो की प्रतिलिपिया बनाने का कार्य सौंप दिया। लोंकाशाह ने इस सुयोग का पूरा लाभ उठाया और प्राय सभी उपलब्ध आगमो तथा तत्सबधित बहुत से साहित्य का अध्ययन कर लिया और अनेक सूत्रग्रन्थो की एक-एक प्रतिलिपि अपने उपयोग के लिए भी बनाकर रखली। वे विचारशील थे ही और बुद्धि भी प्रखर थी, अत आगमिक साहित्य के निरन्तर विवेकपूर्ण पठन-चिन्तवन से शास्त्रमर्मज्ञ भी बन गये। आगमो मे वर्णित धर्म के तथा यतियो के आचार-विचार के स्वरूप मे और उस काल के यतियो के आचार-विचार, शिथिलाचार, मूर्तिपूजा के नाम से वृद्धिगत आडम्बर, समाज मे प्रविष्ट अनेक विकृतियो एव कुरीतियो मे उन्हे आकाश-पाताल का अन्तर दिखाई दिया। यतियो के सम्मुख वह अपनी शकाए रखने लगे किन्तु प्रत्युत्तर मे प्राय सर्वत्र उन यतियो द्वारा फटकारे गये, हतोत्साहित किये गये। उनके कोप के भाजन बने। अतएव १४५१ ई० के लगभग वह यतियो का खुला विरोध और आन्दोलन करने लगे, जिसके लिए उन्हें अधिक लाछित, अपमानित, तिरस्कृत एव बहिष्कृत होना पडा, यहा तक कि उन्हें अहमदाबाद छोडकर लीबडी जाना पडा। वहा उनके फुफेरे भाई अथवा मित्र लखमसी एक सम्पन्न एव प्रतिष्ठित व्यक्ति थे और राज्य की ओर से कामदार के पद पर नियुक्त थे। लोंकाशाह के विचारो को सुनकर लखमसी शीघ्र ही उनके पक्ष मे आगये और फिर अन्त तक उनके मत के प्रचार मे उत्साह के साथ अपना सहयोग देते रहे। शनै शनै अनेक व्यक्ति लोंकाशाह के मत मे आगये। इस विषय मे भी मतभेद है कि लोंकाशाह अन्त तक गृहस्थ अवस्था मे ही रहे अथवा कि जीवन के अंतिम वर्षों मे उन्होने साधुवेष ग्रहण कर लिया था? उनका निधन हुआ उसी वर्ष उन्होने भाणजी को अपना शिष्य बनाया और उत्तराधिकारी नियुक्त किया। भाणजी ऋषि ने साधु वेष ग्रहण किया और उन्ही से लोंकागच्छ की साधुपरपरा एव पट्टपरपरा चली। लोंकाशाह ने मदिरो के निर्माण और मूर्तिपूजा का निषेध किया। श्वे० यतियो की चर्या से भिन्न एक पृथक् साधुमार्ग की स्थापना की, उपलब्ध आगमसूत्रो मे से केवल ३२ को ही मान्य किया, शेष को अमान्य। उनके देवलोकगमन के पश्चात् उनके मत का प्रसार द्रुतवेग से होता गया। आगे चलकर एक साधु ने उनके और सब मन्तव्य तो मान्य रखे किन्तु मूर्तिपूजा का विरोध नही किया अतएव लोंकागच्छीय मूर्तिपूजक यतियो की परपरा चली।

रह गया है।—वहा ज्ञाति मे अग्रसर चौधरी (नगरसेठ) हेमाभाई नाम के एक गृहस्थ रहते थे। गगाबाई उनकी गृहिणी थी जो पतिव्रतपरायणा धर्मभक्त थी। काल पाकर हेमाभाई को पुत्रजन्म के समाचार मिले। हमारे चरित-नायक लोकचन्द्र का जन्म स० १४७२ मे कार्तिक शुक्ला पूर्णिमा को हुआ था।

लोकचन्द्र छोटी उम्र के होने पर भी व्यापारकला मे कुशल होने के कारण आसपास के स्थानो में व्यापार के लिए जाया करते थे। सिरोही तो उन्हें बार-बार जाना पडता था। एक दिन सिरोही के रईस ओसवाल कुलभूषण ओधवजी शाह ने उन्हें एक जौहरी की दुकान पर मोती की परीक्षा करते देखा।—

दूसरे दिन अरहटवाडे आए और हेमाशाह के घर उतरे। ओधवजी ने अपनी हार्दिक आकाक्षा प्रकट करते हुए कहा—चौधरीजी, मैं अपनी एकमात्र कन्या सुदर्शना का विवाह-सम्बन्ध आप के पुत्र के साथ करने के लिए आया हू।—माघ सुदी पचमी स० १४८७ को लोंकाशाह का विवाह सुदर्शना देवी के साथ सानन्द सम्पन्न हुआ।—धर्मवीर लोंकाशाह पृ ११-१५

शाहजी अपने उद्देश्य की पूर्ति होती देख परम हर्षित हो स्वय भी वि० स० १५३८ मगसर सुदी ५ को ज्ञानजी ऋषिजी महाराज के शिष्य सोमसेनजी के पास दीक्षित होगए। ३५ व्यक्ति आपके साथ और भी शिष्य रूप में दीक्षित हुए।—वही, पृ० ५९

किन्तु लोंकागच्छीय साधुओं का बहुभाग साधुमार्गी ही रहा और कालान्तर मे स्थानकवासी सम्प्रदाय के नाम से प्रसिद्ध हुआ। १७वीं शती के मध्य के लगभग उसका ढूंढक या ढूढिया नाम भी पडा, शनै शनै यह सम्प्रदाय २२ टोलो या या उपसम्प्रदायों मे भी विभक्त हुआ और १८वीं शती के मध्य के लगभग स्थानकवासी सम्प्रदाय मे से ही भीखमजी का तेरापंथी सम्प्रदाय उत्पन्न हुआ। इन भेदो-प्रभेदो के बावजूद लोंकाशाह का मत विस्तारप्राप्त होता गया। इनके साधुओं और श्रावकों को श्वे० यतियो और उनके भक्तो के कटु विरोध सहन करने पडे, वे मामलो मुकदमो में भी खींचे गये, उन्हें कभी कभी जाति-बहिष्कार भी सहने पडे। स्वय लोंकाशाह को लुका, लुकट, लुम्पक, लहिया आदि अपमानकारक उपनाम दिये गये। किन्तु उस सन्त द्वारा १५वीं शताब्दी में जिस विचारक्रान्ति का सूत्रपात हुआ था उसी के परिणामस्वरूप आज सम्पूर्ण श्वेताम्बर समाज का आधे से अधिक भाग लोंकाशाह की साधुमार्गी परम्परा का अनुसर्ता है। गुजरात और पजाब तो उसके प्रमुख गढ रहे हैं, अन्यत्र भी प्राय सर्वत्र उसके थोडे बहुत अनुयायी पाये जाते हैं। इस परम्परा के साधुओं की सबसे बडी विशेषता यह रही है कि वे जनसाधारण के अति निकट सम्पर्क मे आते रहे हैं। जैन अजैन, बडी जातियों के लोग, नगरवासी ही नही, छोटे से छोटे ग्रामो के निवासी भी उनका लाभ उठाते रहे हैं।

कडुवाशाह भी सद्गृहस्थ थे। गुजरात के नडुलाई नामक ग्राम मे १४३८ ई० मे वीसानागर जातीय कानजी की धर्मपत्नी कनकादे की कुक्षि से उनका जन्म हुआ। प्रारम्भ मे वह वैष्णव रहे प्रतीत होते हैं और बाल्यावस्था मे ही एक कवि के रूप मे प्रसिद्ध होने लगे थे। एक अचलगच्छीय श्रावक के प्रभाव से यह जिनभक्त हो गये। साधुसमागम की रुचि बढी और जिज्ञासा ने धर्म के शास्त्रोक्त स्वरूप को जानने का अवसर दिया। हरिकीर्ति नामक एक उदार विचारो वाले यतिजी की कृपा से कडुवाशाह को दशवैकालिक आदि आगमो के पढने का सुयोग प्राप्त हुआ। तत्कालीन श्वेताम्बर यतियो के आचार-विचार को देखकर इनके हृदय मे भी अनेक शकाए उत्पन्न हुई। गुरु ने उनका समाधान भी किया और अधिकाश शकाओं को उचित भी बताया। कडुवाशाह ने साधुदीक्षा लेकर सच्चे यति का उदाहरण प्रस्तुत करने की इच्छा प्रकट की, किन्तु गुरु के परामर्श से वह विचार त्याग दिया और गृहस्थ 'सवरी' के रूप मे ही अपने विचारो का प्रचार करना प्रारम्भ किया। उन्होंने तत्कालीन यतियो की खुली आलोचना की और साधुसंस्था एव साधुमार्ग का ही विरोध किया। मदिरो और मूर्तियो के विषय मे वह तटस्थ रहे, न विरोध ही किया और न विशेष समर्थन ही। मूल आगमो को पढने और उनके अनुसार धर्माचरण करने का ही गृहस्थो को उपदेश दिया। कडुवाशाह ने उत्तरी भारत का भ्रमण भी बहुत किया और सर्वत्र अपने मत का प्रचार किया। अनेक स्त्रीपुरुष यत्र तत्र उनके अनुयायी हो गये। १५०६ ई० मे ६८ वर्ष की आयु मे कडुवाशाह का निधन हुआ और उनके उपरान्त उनके गृहस्थ 'सवरी' शिष्यो की परपरा कई सौ वर्ष तक चलती रही—गुजरात आदि की ओर उनके अनुयायी शायद अब भी कुछ पाये जाते हैं। इस परपरा के सब ही गुरु 'शाह' कहलाये।

तारणस्वामी का जन्म १४४८ ई० मे हुआ। बुन्देलखण्ड के अन्तर्गत पुहुपावती नामक स्थान मे इनका जन्म हुआ था। इनके पिता गढाशाव सम्पन्न और प्रतिष्ठित व्यक्ति थे। दिल्ली के सुल्तान बहलोल लोदी (१४५१-१४८८ ई०) ने उन्हे एक राजकीय पद पर नियुक्त किया हुआ था। तारणस्वामी बाल्यावस्था मे ही विरक्तचित्त थे और साधुसगति मे इनको रस मिलता था। उनका पितृकुल दिगम्बरधर्मानुयायी था और उसी के सस्कार उनके हृदय पर पडे थे। तत्कालीन भट्टारको की प्रवृत्तियो को देखकर यह क्षुब्ध होते थे। शायद यह भी अनुभव करते थे कि यह युग और यह क्षेत्र सच्चे दिगम्बर मुनियो की अवस्थिति के लिए उपयुक्त नही था। आये दिन मदिरो और देवमूर्तियो की तोडफोड, विध्वस और अविनय देखकर, विशेषकर सिकन्दर लोदी (१४८८-१५१७ ई०) के समय मे, इन्होंने मूर्तिपूजा और मदिरनिर्माण का भी विरोध किया। जनसाधारण के निकट सम्पर्क मे आकर सीधीसादी मधुक्कडी भाषा में इन्होंने धर्म का उपदेश दिया और जनता को नैतिक सबल प्रदान किया। तारणतरणश्रावकाचार, तारणत्रिवेणी, ज्ञानसमुच्चयसार, ममलपाहुड, त्रिभगीसार, सुन्नस्वभाव, सिद्धस्वभाव, पडितपूजा, छद्मस्थवाणी, नाममाला, कमलबत्तीसी आदि अनेक ग्रन्थो की सरल मधुक्कडी भाषा मे ही इन्होंने रचना की। यह क्षुल्लक के वेष मे रहते थे। बुन्देलखण्ड और मध्यभारत मे इनके अनेक अनुयायी बने जिनके अनेक वशज अबतक तारणपथी अपरनाम समैया जैनियो के रूप मे चले आते हैं। १५१५ ई० में तारणस्वामी का निधन हुआ। ग्वालियर के निकट मल्हारगढ मे इनकी समाधि बनी है जिसे





निशियाजी भी कहते हैं। इस पथ के अनुयायियों का यही परम तीर्थस्थान है। तारणस्वामी के ग्रन्थ यहां विराजमान है। इनकी कोई पट्टपरंपरा नही चली किन्तु गृहस्थ त्यागी ब्रह्मचारियों के रूप मे शिष्यपरंपरा चलती रही है।

इस प्रकार इन तीनों ही सन्तो ने द्वितीय कलियुग अर्थात् १५वी शती में जन्म लिया और उसके उत्तरार्ध मे विभिन्न क्षेत्रो मे अपने क्रान्तिकारी विचारों का प्रचार किया, धर्मसंस्था का संशोधन करने का प्रयत्न किया, यतियो और भट्टारको के शिथिलाचार और अनाचार का तीव्र विरोध किया, पूजापाठादि के आडम्बर का अनौचित्य प्रदर्शित किया, लोकसंग्रह—जनसम्पर्क द्वारा सामान्यातिसामान्य जनता को मान्यता दी और धर्ममार्ग मे लगाये रखने का प्रयत्न किया। उन सन्तो द्वारा पुरस्कृत क्रान्ति का महत्त्व इसी बात से स्पष्ट है कि वह मात्र सामयिक नहीं थी वरन् नवीन पथों के रूप मे फैल जाने और सैकड़ों वर्षों पर्यन्त बनी रहने की क्षमता से युक्त थी।



इतिहास में जैन साहित्य का स्थान

स्व० जयभगवान जैन
एडवोकेट पानीपत

१ भारतीय इतिहास की सामग्री

यह भारतभूमि, जहां हम लोग रहते हैं, उपनिवेशों की तरह कोई नवीन बस्ती नहीं है। यह दुनिया की बहुत पुरानी बस्ती है। यह अपनी भौगोलिक स्थिति के कारण सदा सौम्य, सुन्दर प्रकृति का निवासस्थान बनी रही है। यहां प्रकृति षट्ऋतु-चक्र में घूम-घूम कर सदा नई सजधज के साथ नाचती रही है। यहां प्रकृति हजारों कण्ठों से कूज-कूज कर सदा मीठी और सुरीली तान से गाती रही है। यहां प्रकृति अपने गाढ़ अञ्चल को खोल खोल कर सदा अपूर्व भण्डारों को लुटाती रही है। इस नैसर्गिक रूप के कारण यह सदा दिलों को लुभाती और खैंचती रही है, दूर-दूर से लोगों को अपने पास-पास बुलाती रही है।

अतीत काल के धुंधले प्रभात से जहां तक निगाह काम देती है, यह सदा अनेक जातियों के मिलन का स्थान बनी रही है। यह सदा अनेक संस्कृतियों का केन्द्रस्थान बनी रही है, यह सदा अनेक विचारधाराओं का सङ्गमस्थान बनी रही है। यह सदा अनेक क्रान्तियोंका उद्गमस्थान बनी रही है। यह अपने प्रमुख शासकों के अनुरूप सदा अनेक नामधारी बनी रही है। यह इक्ष्वाकुवंशीय भरतकालमें 'भारतवर्ष', वैन्य पृथुकालमें 'पृथिवी', वैदिक आर्यकालमें 'आर्यावर्त', ब्रह्मवादियों के काल में 'ब्रह्मावर्त', यवनकालमें 'हिन्दुस्थान' और ब्रिटिशकालमें 'इंडिया' के नाम से प्रसिद्ध हुई है।

इसका इतिहासका काल बहुत लम्बा है। जहां यह एक छोर पर महाप्रलय कालसे जा मिलता है, वहां यह दूसरे छोर पर आधुनिक काल से आ मिलता है। इस लम्बे कालमें जिन जिन युगोंका यहां उदय हुआ, जिन-जिन लोगों का यहां अवतरण हुआ, जिन जिन सभ्यताओं का यहां विकास हुआ, उनकी विभूतियोंके बहुत से स्मारक भूगर्भमें दब-दब कर आज पुरातत्त्व की वस्तु बन गए हैं। उनकी बहुत सी स्मृतियां दिलों में बस बस कर आज यहां की रिवायतें और अनुश्रुतियां बन गई हैं। उनके बहुतसे ऐतिह्य जबानों पर चल चल कर आज यहांकी लोकोक्तियां और पौराणिक कथाएं बन गए हैं। उनकी बहुत सी रीति-नीतियां जीवन में रम-रम कर आज यहां के रसम-रिवाज बन गई हैं। उनके बहुतसे आचार विचार व्यवस्थित हो-होकर आज यहांके धर्म और दर्शन बन गए हैं। उनकी बहुतसी विभूतियां, बहुतसी कृतियां, बहुतसी विद्यायें लिपिबद्ध हो होकर आज यहांके साहित्य की मूल सामग्री बन गई हैं। पत्थरों और धातुओंमें खुद खुदकर आज यहां के शिलालेख और सिक्के बनी हुई हैं।

भारतीय इतिहास को शृंखलाबद्ध करने के लिए जरूरी है कि उसकी निम्न प्रकार की सब ही सामग्री को यथोचित रूप से संग्रहित किया जाये —

१ पुरातात्त्विक वस्तुएं (Archeological Finds)
२ रिवायतें और अनुश्रुतियां (Traditions)
३ लोकोक्तियां और पौराणिक कथाएं (Myths and Legends)



४ रीति रिवाज (Customs and usges)
५ धार्मिक प्रथाएं और दार्शनिक सिद्धान्त (Religious Beliefs & Practices).
६ वैदिक, पौराणिक, जैन और बौद्ध साहित्य (Literature)
७ शिलालेख और टिकडे, ताम्रपत्र और सिक्के ।

इस स्थल पर यह कहना अनावश्यक न होगा कि भारत का इतिहास बनाने के लिए जहा इसकी उपर्युक्त सामग्री बडी महत्त्वशाली है, वहा ईरान, असीरिया, बेबीलान, फिलस्तीन, अरब, मिश्र और चीन आदि देशो की ऐतिहासिक गवेषणायें, जिनके साथ कि इसका घनिष्ठ सास्कृतिक और व्यापारिक सम्बन्ध रहा है, अथवा मैगस्थनीज, हैरोडेटज, स्ट्रेबो, फाहियान, हुआनसाग, इत्सिग, अलबरूनी, इब्नेबतूता प्रभृति विदेशी यात्रियो के उल्लेख, जो भारत के सम्बन्ध में लिखे गए है, कम महत्त्व की चीज नही है ।

भारतीय इतिहास के साथ अन्याय

जैसा कि पहले बताया जा चुका है, भारत की प्राचीन सस्कृति अपनी सत्ता और स्थिरता, अपनी गहराई और विभूति, अपने विकास और उत्थान के लिए दो प्रभावो की ऋणी है—श्रमण और ब्राह्मण । इनमें श्रमण-प्रभावो के प्रतिनिधि आज ज्यादातर शैव, शाक्त, जैन और बौद्ध लोग हैं, और ब्राह्मणिक प्रभावो के प्रतिनिधि आज ज्यादातर वैदिकधर्म-अनुयायी हैं । इसलिए भारतकी सस्कृतिके और इसके इतिहासको समझने के लिए जरूरी है कि इन पाचो ही वर्गोंके साहित्य और कलाका सिलसिलेवार परिशीलन किया जाय, और पाचोकी ही अनुश्रुतियो, पौराणिककथाओ, मान्यताओ और प्रथाओका समन्वय और एकीकरण किया जाय । इनमें से किसी एक को छोडकर भारतीय इतिहासको बनाना इतिहासके साथ अन्याय करना है । ऐसा इतिहास भारतीय इतिहास कहलानेका अधिकारी नहीं हो सकता । वह भारत का केवल एकजातीय व साम्प्रदायिक इतिहास ही कहा जा सकता है । ऐसे इतिहास में हम भारत का सर्वांग दर्शन नही कर सकते । वह एकागी वृत्त है, एक अधूरी कहानी है ।

परन्तु खेद है कि भारतीय इतिहास बनानेके लिए आजतक जितना साहित्य और कलाका परिशीलन हुआ है, वह अधिकतर ब्राह्मणिक कृतियो का ही हुआ है, और उन ही के आधारो मे प्राप्त भारत की प्राचीन अनुश्रुतियो और पौराणिक उपाख्यानो का सग्रह किया गया है । ब्राह्मणेतर धर्मों के साहित्य और अनुश्रुतियों का, जैन आदि उपर्युक्त वर्गो की अपनी पुरानी स्थितिपालकता (Conservatism) के कारण—कि दूसरेको अपने तथ्य बताना, अपने ग्रन्थ दिखाना पाप है—प्रथम तो कोई परीक्षण ही न हुआ, और यदि इधर-उधर से सामग्री प्राप्त करके इनका कोई परीक्षण हुआ भी है, तो वह अव्यवस्थित होने के कारण बहुत अधूरा हुआ है । इसमें भी विद्वानो को पुरानी ब्राह्मणिक धारणायें सदा आडे आती रही है । इसका यह दुष्परिणाम हुआ है कि भारत के पुराने धर्मों की सत्ता से ही इन्कार कर दिया गया है । उन्हें केवल वैदिक धर्मकी ही शाखा मान लिया गया है । भारतीय इतिहास का आरम्भ वैदिक आर्यो से किया गया है, और भारतीय सस्कृति,, भाषा, भूषा, वस्त्राभरण, अस्त्र-शस्त्र, वाहन, व्यसन, व्यवसाय, नगर, ग्राम आदिका मूलाधार ब्राह्मणिक सस्कृति को ठहरा दिया गया है ।

३ ब्राह्मणेतर साहित्य का इतिहास मे स्थान

इस इतिहास का अध्ययन करने मे ऐसा प्रतीत होता है, मानो वैदिक आर्यो से पहले भारतवर्ष की न कोई अपनी बस्ती थी, न अपनी कोई सस्कृति । यदि कोई बस्ती व सस्कृति थी तो वह जगली भील लोगो अथवा असभ्य क्रूरकर्मा द्रविड लोगो की थी । परन्तु अब ज्यो-ज्यो शैव, शाक्त, जैन और बौद्ध साहित्य का प्रकाशन होने लगा है, और साथ साथ में पुरातत्व की नित्य नई खोजो का भी पता लगने लगा है, ब्राह्मणिक साहित्य का ऐतिहासिक दृष्टि से मन्थन होने लगा है, त्यों-त्यो सब ही इतिहासज्ञ अपनी पुरानी धारणा को छोडकर एक स्वर से कहने लगे है कि भारतीय इतिहास का उपर्युक्त निष्कर्ष नितान्त असत्य है । ऐसा निष्कर्ष न केवल ब्राह्मणेतर अनुश्रुतियो के विरुद्ध है बल्कि स्वय ब्राह्मणिक अनुश्रुतियो के भी विरुद्ध है ।

इस सच्चाई का पता लगाने के लिए जितना प्रोत्साहन भारत के विशाल साहित्य से मिला है उससे भी अधिक सिन्ध कांठे के मोहनजोदडो और पञ्जाबमें रावी कांठे के हडप्पा के प्राचीन ध्वंसावशेषों से प्राप्त पुरातत्व सामग्री से मिला है।[1]

४ जैन साहित्य की विशेषता

हिन्दू साहित्य और कला में इन ब्राह्मणिक और श्रमण प्रभावों का ऐसा सम्मिश्रण हुआ है कि उन्हें आज पृथक् पृथक् करना और उनके मूल्य को अलग-अलग आँकना बहुत मुश्किल है, परन्तु जैनों का साहित्य और कला कई बातों में ब्राह्मणिक प्रभावों की छाप पड़ने पर भी बराबर प्राचीन श्रमण संस्कृति को अपनाये हुए है, विशुद्ध रूप में कायम रखे हुए है। इसलिए भारतीय इतिहास में श्रमण लोगों के आचार-विचार के मूल और महत्त्व को आँकने के लिए यह अधिक सहायक है।

१ महावीर से पहले के सारे साहित्य में श्रमण संस्कृति को सदा दबाने की, छुपाने की कोशिश की गई है। यदि कहीं उसका उल्लेख भी किया है तो वह सहज प्रासंगिक है। उसमें हमेशा उसे एक गौण स्थान दिया गया है, उसके साथ हमेशा एक अजनबीपन का सलूक किया गया है, उसके प्रति हमेशा अजानकारी और अचम्भे का भाव प्रकट किया गया है। इससे साफ प्रकट है कि श्रमण संस्कृति ब्राह्मणों की चीज नहीं है। इसकी जानकारी के लिए ब्राह्मणिक साहित्य को टटोलना ऐसा ही है जैसा कि हिन्दू वेदान्त में जिन-प्रतिमाको खोजना। हाँ, महावीर से पीछे के साहित्य में अवश्य महावीर का बहुत गहरा प्रभाव पड़ा है, जिसके कारण मध्यकालीन हिन्दू साहित्य श्रमण संस्कृतिके प्रभावों से ओतप्रोत है।

२ ब्राह्मणों की दृष्टि सदा आधिदैविक रही है, इसलिए उनके साहित्य और कला की दृष्टि भी सदा काल्पनिक बनी रही है। इसमें सब ही पौराणिक व्यक्तियों को सदा कल्पना का लिए हुए अमानुषिक दिव्य रूप में जाहिर किया गया है। इसके विपरीत श्रमणों की दृष्टि सदा आध्यात्मिक रही है मानुषिक रही है। इसी वास्ते उनके साहित्य और कला की दृष्टि भी वास्तविक (Reality) बनी रही है। यही कारण है कि उनके साहित्य और कला में सब ही पौराणिक व्यक्तियों का ऐतिहासिक अर्थाख्यान लिए हुए मानुषिक रूप में प्रकट किया गया है, जिससे वह बहुत सुगम है।

३ जैन साहित्यके समस्त ग्रन्थ अपने रचना-कालसे प्राय उसी रूपमें चले आ रहे हैं। उनमें पीछे से किसी तरह की बढ़ोतरी और घटोतरी नहीं की गई है। इसलिए वह साहित्य ऐतिहासिक दृष्टि से अधिक प्रामाणिक है।

४ हिन्दू साहित्य ने उन्हें महापुरुष बतलाया है, जिन्होंने बाहरी शान्ति, कौटुम्बिक मर्यादा, सामाजिक व्यवस्था, राष्ट्रीय संगठन का बनाने बढ़ने और कायम रखनेमें अत्यन्त कौशल और पुरुषार्थ दिखाया। इसके विप-

---

१ (अ) "Hitherto it has been commonly supposed that the pre-Aryan peoples of India were on an altogether lower plane of civilisation than their conquerer, , mentally, physically, socially and religiously their inferiority to their conquerers was taken for granted, and little or no credit was given them for the achievement of Indian civilisation that the Indus people of the 4th and 3rd millenia B C were in possession of a highly developed culture, in which no vestige of Indo-Aryan influence is to be found " Sir Jhon Marshall "Mohanjadaro and Indus Civilisation" Vol I, 1931—preface pp V-X
(आ) R B Ram Pershad Chanda—"Memories of the Archeological Survey of India' No 41—1924 pp 25-33
(इ) A P Banerji Shastri—"The Asura India" Patna, 1926, pp. i-xviii





रीत जैन साहित्य के महापुरुष वे है जिन्होंने मनुष्यको अपने प्रचारबल से सर्वोच्च आदर्श दिया है, अपने ज्ञानबल से सबसे बडा सत्य दिया है और अपने आचार-बलसे अक्षय मुक्तका मार्ग दिया है।

५ इतिहास को मथन करके यदि कोई तत्व जीवनोपयोगी निकाला जा सकता है तो वह है स्याद्वाद, जैन साहित्यकी अपूर्व देन। बिना आदशके विधान निष्फल है और बिना विधानके आदर्श कल्पना है। दोनो एक दूसरे के सहयोगी है। बिना निश्चय सकल व्यवहार निरर्थक भवभ्रमण है और बिना व्यवहार सकल निश्चय निरा एक ख्याल है। बिना आदर्श सकल विधान एक निरर्थक भार है और बिना विधान सकल आदर्श निरा एक स्वप्न है। इन दोनो मे सहयोग होना नितान्त आवश्यक है। जब कभी किसी जाति और सम्प्रदाय ने एकान्त मे काम लिया है, एक को छोड दूसरे को अपनाया है, तब ही उस जाति और सम्प्रदाय ने अपने को भूलो मे डाला है, मुसीबतो में फँसाया है, दुखो मे अपना अन्त किया है। इसलिए 'एकान्त सर्वंत्र वर्जयेत्' भारतीय सस्कृति का निचोड है। यह तत्व ही ज्ञातृपुत्र भगवान महावीर के स्याद्वाददर्शन की आधारशिला है। वीर-दर्शन क्या है, गोया भारतीय सस्कृति का सार है, भारतीय विचार-धाराओ का सगम है, भारतीय मान्यताओ की व्यवस्था है। जो विचार भारतमे विकसित हुआ है, उसने जरूर वीर-दर्शन मे स्थान पाया है। जिसने वीर-दर्शन मे स्थान नही पाया है, वह भारत का विचार भी नहीं है। इसलिए भारतीय विचारधाराओका स्थान जानने के लिए जैन साहित्य का जानना बहुत जरूरी है। वैदिक साहित्य के आध्यात्मिक और पौराणिक प्रकरणो को ठीक-ठीक समझने के लिए जैन साहित्यकी अनुश्रुतियो और मान्यताओ से परिचित होना बहुत जरूरी है।

६ जैन साहित्यमे देवताओ से अधिक महत्व मनुष्यत्व को दिया गया है। वह तप के प्रभावसे ऋद्धि-सिद्धिकी प्राप्ति कर सकता है। देवता मनुष्योका कुछ भी नही करते बल्कि मनुष्य ही अपने व्रत तपके प्रभावसे देवताओंको कुछ भी करनेके लिए बाधित कर देते है। देवता जन धर्मोपदेश सुननके लिए तरसते हैं तथा तीर्थंकरोकी परिषद में आते है। वे योगियो के अनुचर है।

७ जैन साहित्य मे देव, शास्त्र, गुरु व धर्म के जिन आध्यात्मिक आदर्शों को उनके लक्षणो के रूपमे ग्रहण किया गया है, वह इसकी ही एक विशेषता है, क्योंकि अन्य किसी भी साहित्य मे उनको इस रूपमे नही माना गया है।

८ जैन साहित्यमे कर्मकाण्डकी अपेक्षा सदाचारको महत्ता दी गई है। स्वकृत अच्छे बुरे कर्मोका फल अवश्य भोगना पडता है। कोई भी शक्ति इस फल को टालने मे समर्थ नही। इसलिए ब्राह्मण-मान्य हिंसात्मक यज्ञोका कडा विरोध किया गया है और अहिंसाको ही जीवनका आदर्श माना है।

९ जैन साहित्यके अनुसार यह जगत अकृत्रिम तथा अनादिनिधन है। यह पुरुषाकार है। यह सागर है, दुखमय है तथा महा विस्तीर्ण है। यह परिवर्तनशील है, इसलिए समय समय पर स्वय प्रलय व सृष्टि को प्राप्त होता रहता है। इसमे भोगभूमि व कर्मभूमि रूप दो रचनाएँ होती है। पहिले भोगभूमि रहती है, पीछे कर्मभूमि आती है। भोगभूमि मे अराजकता रहनेसे वह विराट होती है पीछे आवश्यकता पडने पर राज्य शासनव्यवस्था की जाती है। वही ब्रह्मा की सृष्टि कही गई है। ब्राह्मणो की भाति जगत के निर्माण को सृष्टि नही माना गया है।

१० जैन साहित्यमे ब्राह्मणमान्य वर्ण-व्यवस्था का विरोध किया गया है। इसकी वर्ण व्यवस्था जन्मानुसार न होकर गुण कर्मके अनुसार होती है। इसमे पहले तीन ही वर्णोकी व्यवस्था की गई थी। पीछेसे धर्मानुरागी विवेकवान व्यक्तियो के लिये ब्राह्मण वर्ण की व्यवस्था भी कर दी गई थी।

११ तार्क्ष्य, अरिष्टनेमि, पार्श्वनाथ नागवशी थे। वैदिक साहित्यमे जिन व्रात्य व यति जनो का उल्लेख निन्दापरक किया गया है, वे जैन साहित्यकी विभूति है। व्रती होने से व्रात्य और मोक्षमार्गमे यत्नशील होनेसे यति, इस प्रकार जैन साधुओकी ही ये सज्ञाए हैं, जिनका अधिकतर वास पश्चिमी व पूर्वी सागर पर रहता था। विहार देश मे रैवत पर्वत व पार्श्वनाथ हिल इसी कारणसे प्रसिद्ध है।

जैन व वैदिक साहित्य के अन्तर को निम्न प्रकार रखा जा सकता है —

जैन	वैदिक
१ आध्यात्मिक वास्तविक दृष्टि	आधिदैविक काल्पनिक दृष्टि
२ पारमार्थिक सुख का उद्देश्य	इहलौकिक सुख का उद्देश्य
३ मोक्ष पुरुषार्थ	धर्म अर्थ काम पुरुषार्थ
४ अनेकान्त शैली	एकान्त शैली
५ महापुरुष व पुरुषार्थवाद	अवतारवाद, देवतावाद व देवेन्द्रावाद
६ सदाचार व अहिंसावाद	क्रियाकाण्ड व हिंसक यज्ञवाद
७ स्वतः सिद्ध सृष्टिवाद	ईश्वरकृत सृष्टिवाद
८ गुण-कर्मकृत वर्णव्यवस्था	जन्मकृत वर्णव्यवस्था
९ शूद्रों व स्त्रियों की प्रशंसा	शूद्रों व स्त्रियों की निन्दा
१० समस्त भाषाएँ	केवल संस्कृतभाषा
११ सभी जाति व वर्ग के नेतृत्व	केवल ब्राह्मण नेतृत्व

५ जैन साहित्य का विस्तार

जैन साहित्यका विस्तार बहुत बड़ा है। जहा जैन धर्मकी दृष्टि विश्वव्यापी और अनेकान्तात्मक है, कि विश्व को विविध पहलुओंसे देखनेवाली है, जीवनकी सभी भावनाओं और आवश्यकताओं को निहारने वाली है, वहा इसका सृजन किया हुआ साहित्य भी विश्वव्यापी और अनेक प्रकारका है। यह निरा पारमार्थिक ही नहीं है लौकिक भी है, यह निरा धार्मिक ही नहीं है व्यावहारिक भी है, निरा दार्शनिक ही नहीं है वैज्ञानिक भी है। साहित्यका कोई विषय ऐसा नहीं, जो इसमे स्थान पाने से बाकी रहा हो, कोई उपयोगी विषय ऐसा नहीं, जो इसमे प्रकाश पाने से अछूता रहा हो।[1]

जहां जैन मान्यताके अनुसार सर्वज्ञ अर्हन्तकी भारती दुनिया की सब ही विद्याओंसे परिपूर्ण है, वहा इसके आधार पर निर्मित होने वाला साहित्य भी स्वभावत सब ही विद्याओं से परिपूर्ण है। इसमे न्याय, दर्शन, योग, आचार, पुराण, इतिहास, कथा, व्याख्यान, जीवनी, स्तुति, नीति रीति, विधि विधान, स्तोत्र, काव्य, नाटक, चम्पू, छन्द, अलकार निरुक्त, शिक्षा, कोष, व्याकरण, भूगोल, ज्योतिष, गणित, फलित, मन्त्र, तन्त्र, शकुन, सामुद्रिक अष्टाग, आयुर्वेद, नाडी प्राण विद्या, वनस्पति विद्या, मृग पक्षी विद्या, वास्तु कला, मूर्ति कला, चित्र कला, सगीत और वादित्र कला आदि सभी विद्याओं का समावेश हुआ है। इसलिए यदि जैन भारती को विश्वभारती कहे तो इसमे कोई अतिशयोक्ति नहीं है।[2]

---

१ "There is scarcely any province of Indian Literature in which the gains have not been able to hold their own "
Dr Winter Nitz—'Hist of Indian Lit' Vol II, p 483

२ "The Jains have extended their activities beyond the sphere of their own religious Literature to a far greater extent than the Budhist have done, and they have memorable achievements in the secular sciences to their credit in Philosophy, grammer, lexicography, poetries, mathematics, astronomy, astrology and even in the science of politics In one way or other there is always same connection even of these perofane works with religion
Dr Winter Nitz—'Hist of Indian Lit'—Vol II, 1933 pp 594-595





जैन साहित्य मौलिक कृत्यो के अतिरिक्त टीका, वृत्ति, चूर्णि, भाष्य और वार्तिकोंसे भी भरपूर है। इसमें गाथा, श्लोक, सूत्र, सब ही भारतीय लेखनपद्धतियोंको अपनाया गया है।

जहा जैन धर्म विश्वका कल्याणकारी और प्राणी मात्रका उद्धारक रहा है, वहा इसके प्रवचन और लेखनकी भाषा भी विश्वव्यापिनी रही है। इसने कभी किसी विशेष भाषासे मोह नही किया। यह सदा आम जनताकी बोलचाल की भाषाओको अपने सन्देशका माध्यम बनाता रहा। यह जिन जिन देशोमे गया, जिन जिन कालोमें से गुजरा, उन्हें उन्ही की प्रचलित बोलियोमे ज्ञान देता चला गया। इसीलिए इसका साहित्य प्राकृत, संस्कृत, मागधी, शौरसेनी, महाराष्ट्री, गुजराती, राजस्थानी, हिन्दी, तामिल, तेलगू, कन्नडी आदि भारतके उत्तर और दक्षिणकी, पूर्व और पश्चिमकी सब ही पुरानी और नई भाषाओमे लिखा गया है।

जहा जैन धर्म वर्ण और जातिके भेदभाव रहित सब ही को अपनी शरणम लाता रहा है, सब ही को अपनी शिक्षा-दीक्षा देता रहा है, सब ही को अपने श्रावक श्राविका मुनि आर्या के चतुर्विध सघमे दाखिल करता रहा है, वहा इसके लेखक और कलाकार भी सब ही जातियो, सब ही वर्णो, सब ही आश्रमो वाले बने रहे है। यति, मुनि, भट्टारक, श्रावक, राजा, मन्त्री, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र सब ही इसके साहित्य का उद्धार करते रहे हैं।

जैसा कि जैन इतिहाससे प्रगट है, जैन धर्म सदा क्षत्रिय कुलोका धर्म बना रहा है। यह सदा राजघरानो से उगता रहा और राजघरानोमे पलता रहा है। प्रागैतिहासिक काल के सिवाय भगवान् महावीरके कालमें भी इसे पूर्वी और मध्य भारत के मगध, अवन्ती, सिन्धु, कौशल, मथुरा, काशी आदि देशोके सब ही प्रमुख राजवश, अमात्यवर्ग और श्रेष्ठिजनोका आश्रय पाने का गौरव प्राप्त रहा है। वीर-उपरान्त कालमे भी इसे मगध, उडीसा, गुजरात, राजस्थान और दक्षिणके सब ही—शिशुनाग, नन्द, मौर्य, ऐर, खारवेल, राठौर, परमार, चौहान, गङ्ग, कदम्ब, राष्ट्रकूट, चालुक्य, होयसल आदि प्रमुख राजवशो, अमात्यवर्ग और श्रेष्ठि जनोका आश्रय प्राप्त रहा है। यह सदा धूलधूसरित वीर तपस्वियोके परिभ्रमण द्वारा सब ही दिशाओके दूर दूर देशो, दूर दूर नगरो और ग्रामोमे फैलता रहा है। वीर-उपरान्त कालमे भी यह दिगम्बर और श्वेताम्बर श्रमणोके अनेको सघ, गण और गच्छो की अध्यक्षतामे भारतके कोने कोनेमें फैला है। इसी लिए आज जैन साहित्य और कलाकी अगणित कृतिया तारा-राशिकी तरह भारतके सभी भागोमे फैली हुई है।

●

मुगल सम्राट् और जैनधर्म



श्री दिगम्बरदास जैन

एडवोकेट, सहारनपुर

बाबर (१५२६-१५३० ई०) मुगल वंश का पहला बादशाह हुआ है। उसने दौलतखाँ लोदी और इब्राहिम लोदी को हराकर मेवाड के राणा सांगा से लोहा लिया। बाबर हारता जाता था[1]। पानीपत की रणभूमि में कई दिन तक युद्ध हुआ। वह धर्मात्मा और ईश्वरभक्त था। उसने अपनी विजय के लिये भगवान् से प्रार्थना की और प्रायश्चित्त रूप मे मदिरा का, जिसके पीने का वह बहुत अभ्यासी था, सदा के लिये त्याग कर दिया। राणा साँगा बडा वीर और योद्धा था। बडी योग्यता से लडा, परन्तु आपसी फूट और बाबर की विशाल तथा सगठित सेना के कारण उसकी विजय हुई। बाबर चन्देरी की ओर बढा। उस समय वहाँ का राजा वहा न था। रानी ही तलवार हाथ मे ले चण्डी देवी के समान बाबर की सेना पर टूट पडी और इतनी अधिक मार-काट की कि बाबर ने उसकी वीरता देखकर लडाई बन्द करदी और कहा —"बाबर स्त्रियों से नहीं लडता। भारत की स्त्रियाँ कितनी वीर और देशभक्त होती हैं इसका परिचय आपने दे दिया। अब आप मेरी बेटी के समान हैं। स्वतन्त्रता से राज्य करो। जब भी मेरी सहायता की आवश्यकता हो याद करना।"

बाबर बडा बलवान् था। दो पहलवानों को अपनी दोनों बगलों में दबाकर किले की दीवार पर दौड लगाया करता था। वह बडा उदार स्वभाव का था। अपराधियों को गलती स्वीकार करने पर क्षमा कर देता था। बडा धर्मात्मा और अहिंसाप्रेमी था। उसका पुत्र हुमायूँ बीमार हो गया, अनेक उपाय करने पर भी अच्छा न हुआ तो उसने हुमायूँ के पलंग के ३ चक्कर काटकर परमात्मा से प्रार्थना की कि मेरा पुत्र अच्छा हो जाए चाहे मेरा जीवन समाप्त हो जाए। बाबर की मृत्यु हो गई और हुमायूँ अच्छा हो गया।

बाबर स्वयं विद्वान् था। उसने बाबरनामा, आत्मकथा और तुर्की दिवान आदि अनेक ग्रन्थ लिखे। वह विद्वानों का आदर करता था। बाबर अहिंसा तथा अन्य धर्मवालों का कितना सत्कार करता था, उसकी वसियत से मालूम होता है, जो हुमायूँ के नाम पर है। उसने लिखा है —'ऐ मेरे पुत्र! भारत मे अनेक धर्मों के लोग रहते हैं। सब धर्मों का सत्कार करना तुम्हें लाजिम है। गौवध को समाप्त करो क्योंकि इसके बगैर तुम भारतवासियों के हृदय को नहीं जीत सकते। ऐसा करने से देश के लोग तुम्हारे वफादार रहेंगे।'[2]

महाचन्द एक बहुत बडे जैन-कवि बाबर के समय हुए। बाबर इनका बडा सम्मान करता था। इन्होंने इसके राज्य-काल में सोलहवें तीर्थंकर श्रीशान्तिनाथ भगवान् पर ५५ हजार ३०० श्लोक प्रमाण ग्रन्थ की रचना की जो आज भी धर्मपुरा देहली के जैन मन्दिर में सुरक्षित है।[3]

साहू साधनप्रसाद एक जैन सेठ थे, जिनका बाबर पर बहुत प्रभाव था। इन्होंने बाबर की आज्ञा से एक दिगम्बर जैन मन्दिर बनवाया।[4]

---

१ उर्दू मिलाप, नई देहली २०-८-६७ पृ० १२

२ 'तेज' देहली ३१-५-६७ पृ० ५

३-४ देहली जैन डाइरेक्टरी पृ० ८



सेठ नेमीदास सेठ तोसड राय के ज्येष्ठ पुत्र थे। इन्होंने बाबर के राज्य में सोने, हीरे, मूँगे की ऋषभदेव, शीतलनाथ, विमलनाथ, नमिनाथ, नेमिनाथ और पार्श्वनाथ आदि जैन तीर्थंकरों की प्रतिमाएं बनवा कर जैन मन्दिरों में स्थापित की। पंचकल्याणक उत्सव और पूजाएं कराईं, बाजारों में विशाल रथोत्सव निकलवाए।

यशकीर्त्ति एक बहुत बड़े जैन त्यागी हुए जिन्होंने बाबर के गवर्नर मुन्नरक शाह के जैन मन्त्री हेमराज के अनुरोध पर पाण्डवपुराण और हरिवंशपुराण रचे।[1]

राणा सांगा पर जैनाचार्य धर्मरत्न सूरि का बड़ा प्रभाव पड़ा। उनका हाथी-घोड़ों, गाजेबाजों से स्वागत करता था। उनके उपदेश से राजा ने सदा के लिये मांस-मदिरा का त्याग कर दिया था। जैन मन्दिरों को बड़े-बड़े दान दिये। यह बहुत बलवान् योद्धा राणा था। अनेक घमासान युद्ध जीते। युद्धों में छाती पर अस्सी घाव लगे। एक हाथ कट गया, एक आँख चली गई, फिर भी जब बाबर ने उसके देश पर आक्रमण किया तो स्वयं युद्ध के लिये तलवार उठाई और इतनी मारकाट की कि मुगल सेना के छक्के छूट गये। राणा सांगा मांसत्यागी और अहिंसाधर्मी था फिर भी देशसेवा के लिये सदा उसकी तलवार म्यान से बाहर रहती थी। इसने कई बार बाबर को हराया। तातारी सेना इसके नाम से कांपती थी। एक बार इसने बाबर को एक तंग रास्ते में रोक लिया,[2] वह चाहता तो बाबर को जान से मार देता। परन्तु उसकी बेबसी को देखकर वीर राजपूत ने उसकी सेना को तो मार भगाया परन्तु बाबर को छोड़ दिया। बाबर ने अपनी फौज को इकट्ठा करके बेखबरी में धोखे से आक्रमण कर दिया जिसके कारण राणा सांगा को फिर उससे लोहा लेना पड़ा। राणा सांगा की सेना के कुछ आदमी बाबर में मिल गये। ऐसा विश्वासघात देखकर भी अहिंसाधर्मी राणा घबराया नहीं। इसके मन्त्री उस समय लड़ना उचित नहीं समझते थे। राणा सांगा को रजामन्द न देखकर दुराचारी मन्त्रियों ने राणा को विष दे दिया।[3] इस प्रकार मुगल राज्य की स्थापना भारत में हो गई।

तारण स्वामी के पिता देहली के सम्राट् बहलोलखाँ लोदी के ऊँचे अधिकारी थे। इन्होंने अनेक जैन धार्मिक ग्रंथ रचे और बाबर के राज्य में जैनधर्म का खूब प्रचार किया। लाखों हिन्दू और मुसलमान जैन बन गये।[4]

गुरु नानकदेव बाबर के ही समय हुए, जो सिक्खों के प्रथम गुरु हुए हैं। ये अहिंसा के बड़े प्रचारक हुए हैं, इन्होंने कहा —

जे रत लगे कपड़े, जामा होए पलीत।
जो रत पीवे मानुषा तिन क्या नर्मल चित्त॥

—बाबा नानक वार मास मांझ महल्ला १ पृ० १४०

गुरुजी ने यहाँ तक कहा है कि ६८ तीर्थों की यात्रा में भी वह फल प्राप्त नहीं होता जो अहिंसा और दया पालने से होता है —

अडसठ तीरथ सफल पुन, जीवन दया प्रधान।
जिसनू देवे दया कर, सोई पुरुष सुजान॥

—मांझ महल्ला ५ बारामाह (माघ माह)

गुरु नानक देव ने पशुओं को अपने पुत्र के समान प्रिय बताते हुये कहा कि पशुओं में भी मनुष्यों के समान जान और आत्मा है इसलिये उनको मारना और कष्ट देना उचित नहीं—

किया बकरी किया गाये, किया अपना जाया।
सबका लहू एक है, गुरु नानक ने फरमाया॥[5]

---

१ प्रशस्तिसंग्रह (शोलापुर) भाग द्वितीय प्रस्तावना पृ० १७।
२-३ साप्ताहिक 'हिन्दू' जालंधर बलिदान अंक २३ जून १९६३ पृ० ४७।
४ विस्तार के लिये Jain Antiquary भाग १२ पृ० ५९-६१
५ विस्तार के लिये हमारा 'शान्ति के अग्रदूत श्री वर्धमान महावीर' पृ० ६७-६८

हुमायूँ (१५३०-१५४०) के राज्य में जैनियों के धार्मिक कार्यों में कोई बाधा न थी। जैन मन्दिर बने। नग्न दि० जैन साधुओं का विहार बिना रोक-टोक होता था। रथोत्सव ठाठ से निकलते थे। यह जीवहिंसा और पशुबलि पसन्द नहीं करता था।[1] जैन ग्रन्थ लिखे जाते थे। सेठ का कूचा देहली दि० जैन मन्दिर में न० ३५६ पर एक गुटका है जो हुमायू के राज्यकाल में पोष सुदी ३ वि० स० १५९० में देहली के पास सोनीपत जिला करनाल में लिखा गया था।[2] इसी के राज्यकाल में १५३३ ई० में धर्मदास नामक श्रावक ने धनदत्तचरित्र की रचना की।[3] मलयकीर्तिजी ने हुमायू के राज्यकाल में १६ वें तीर्थंकर श्री शान्तिनाथ जी की विशाल मूर्ति का निर्माण करवाया।[4] श्वेताम्बर जैनाचार्य पद्मसुन्दरजी के गुरु पद्ममेरुजी का हुमायूँ ने बड़ा सम्मान किया था। इन्होंने हुमायू के राज्य में अनेक ग्रन्थ रचे।

गुजरात के बादशाह बहादुरशाह ने चन्द्रगिरि पर आक्रमण कर दिया। वहां की रानी बड़ी वीरता से लड़ी और सहायता के लिये हुमायूँ को राखी भेजी। उस समय हुमायू बंगाल में शेरशाह सूरि से लड़ रहा था, परन्तु राखी पहुँचते ही उसे याद आ गया कि मेरे पिता ने चन्द्रगिरि की रानी को अपनी बेटी बनाया था। मेरी बहन ने आपत्ति के समय याद किया है। वह शेरशाह जैसे भयानक शत्रु के मुकाबले के लिये अपने सेनापति हैदर मिर्जा को छोटी सेना सौंप कर स्वयं चन्द्रगिरि की रानी की सहायता के लिये चल दिया। बरसात का मौसिम खराब रास्ता, दूर का फासला, आने में कुछ दिन लग गये। इतने में बहादुरशाह ने चन्द्रगिरि के किले पर कब्जा कर लिया। रानी ने अपने सतीत्व की रक्षा के लिये अनेक वीर महिलाओं के साथ दहकती चिता में कूद वीरगति प्राप्त की। हुमायू पहुँचा, परन्तु उसे यह जानकर बड़ा दुःख हुआ कि अपनी हिन्दू बहन को न बचा सका। उसने युद्ध करके बहादुरशाह को निकाल दिया और चन्द्रगिरि को स्वतन्त्र करवा और रानी के वारिस को ही गद्दी पर बैठाया।

हुमायूँ अपनी बात का धनी और बड़ा दयालु था। एक बार शेरशाह सूरि ने उसे घेर लिया। अपनी जान बचाने का कोई दूसरा रास्ता न मिलने पर उसने अपना घोड़ा गंगा में डाल दिया। पानी अधिक था, वह डूबने को ही था कि एक भिस्ती ने अपनी मशक से उसकी जान बचाई। उसके बदले में उसने उसे एक दिन का देहली का राज्य दिया। भिस्ती ने चमड़े का सिक्का चालू कर दिया। हुमायूँ ने सोने-चांदी के बदले वह सब सिक्के ले लिये। हुमायू गोमांस का त्यागी था। एक दिन एक नया नौकर भूल से गोमांस उसके भोजन में ले आया। उस दिन उसने भोजन नहीं किया और नौकर को भारी दण्ड दिया।[5]

शेरशाह सूरी (१५४० से १५५५ ई०) का असली नाम फरीद था। वह एक दिन जंगल में जा रहा था। एक शेर ने उसपर आक्रमण कर दिया। इसने बड़ी वीरता से उसपर विजय प्राप्त कर ली थी। उस दिन से ही उसका नाम शेरखाँ पड़ गया[6] और जब वह बादशाह हुआ तो शेरशाह कहलाने लगा। जिस ग्राम में चोरी, डकैती आदि होती उस स्थान के मुखिया और शासक को भी उतना ही दण्ड देता था जितना अपराधी को। इसीलिये इसके राज्य में चोरी आदि नहीं होती थी। लोग खुले किवाड़ सोते थे। जनता के आराम के लिये उसने कलकत्ते से पेशावर तक एक बड़ी सड़क सबसे पहले बनवाई[7] जिसको आजकल जी० टी० रोड (ग्रान्ड ट्रन्क रोड) कहते हैं। इसके दोनों ओर वृक्ष लगवाये, सरायें बनवाईं, और कुए खुदवाये।

यह बड़ा दानी था, पौने दो लाख स्वर्ग मुद्राए हर साल मन्दिरों, मसजिदों और स्कूलों को दान देता था। इसके राज्य में जाति-पांति का भेद-भाव न था।[8] योग्यता के अनुसार पद मिलता था। हिन्दू और जैन बड़े-बड़े पदों



---

१ Romance of Cow (Bombay Humanitarian League) पृ० २७

२ विस्तार के लिये 'सन्मति सन्देश' देहली (फरवरी १९६७) पृ० ३५।

३ विस्तार के लिये 'अनेकान्त' अंक ५ पृ० ५० तथा भट्टारक सम्प्रदाय पृ० २४१।

४ भट्टारक सम्प्रदाय (शोलापुर) पृ० २५६

५ 'कल्याण' गोरखपुर २०-१०-१९४५ पृ० ७१५।

६-७ सामाजिक शिक्षा (पंजाब शिक्षा विभाग, सातवीं कक्षा) पृ० ८३-८६।

८ सामाजिक शिक्षा (पंजाब शिक्षा विभाग, सातवीं कक्षा) पृ० ८३-८६।

पर नियुक्त थे। राजा टोडरमल जैन था, अहिंसा धर्म भली प्रकार पालता था, उसको मालगुजारी दी तथा एक सेना का सेनापति बना रखा था।

इसके राज्य में जैनधर्म खूब फूला-फला था।[1] सूरि राज के समय श्रीचन्द्र, माणिकचन्द्र, देवाचार्य, क्षेमकीर्ति आदि अनेक प्रसिद्ध दिगम्बर, त्यागी और सन्त हुए जिनका राज्य में सम्मान था। इसी समय फ्रेंच यात्री Bernier तथा Tavernier ने भारत-भ्रमण किया। इन्होंने जैन नग्न साधुओं को बिना किसी रोकटोक के बड़े-बड़े शहरों और बाजारों में चलते-फिरते पाया।[2] जैन नग्न साधुओं के दर्शन न केवल पुरुष बल्कि नवयुवक तथा सुन्दर से सुन्दर स्त्रियाँ तक भी बड़ी श्रद्धा एवं भक्ति से करती थीं। जैन मुनियों ने अपने मन और इन्द्रियों पर इतनी विजय प्राप्त कर रखी थी कि उनसे बातचीत करके इनके हृदय में कोई विकार उत्पन्न न होता था।[3] स्वयं शेरशाह के ऊँचे अधिकारी मलिक मोहम्मद जायसी ने अपने पद्मावत (२१६०) नामक ग्रन्थ में जैन मुनियों को दूसरे साधुओं से अधिक सत्कारयोग्य बताया। सम्राट् सिकन्दरसूरि (Sikandar Suri) ने जैन गुरु विशालकीर्तिजी का सम्मान किया।[4] मार्कोपोलो (Marco Polo) का कहना है कुछ योगी बिल्कुल नग्न रहते थे। कारण यह बताया कि वह इस संसार में नग्न उत्पन्न हुए और संसारी वस्तुएं वह ग्रहण करना नहीं चाहते।[5]

शेरशाह सूरि ने फरमान जारी कर रखा था कि जनता की बहुत अधिक संख्या के धर्म का आदर करना राज्य का कर्त्तव्य है। इसलिये गोवध बन्द किया जाता है। जो ऐसा नहीं करेगा उसको कठोर दण्ड दिया जायगा।[6]

अकबर (१५५६-१६०५ ई०) शेरशाह की शक्ति के सामने एक बार हुमायू को भी भागना पड़ा। उसने जोधपुर के राजा मालदेव से सहायता मांगी परन्तु शेरशाह सूरि के भय से उसने इन्कार कर दिया। हुमायू की बेगम हमीदा खातून गर्भवती थी। हुमायू ने कई राजाओं को अपनी बेगम के बच्चा होने के समय तक शरण देने को कहा लेकिन कोई तैयार नहीं हुआ। आखिर हुमायू बेगम सहित अमरकोट (सिंध प्रान्त) पहुंचा। वहाँ का राजा जैन था। सिंध में प्रथम तीर्थंकर श्री ऋषभ देव के समय से जैनधर्मी सम्राटों और जैन धर्म का प्रभाव था। मोहम्मद बिन कासिम के आक्रमणों के समय सिंध का राजा ताहरसेन था। हुमायूँ ने अमरकोट के राजा को कहा। एक जैन राजा शरण में आये हुए को कैसे इनकार कर सकता है? उसने हमीदा खातून को अपने महलों में रख लिया। अहिंसाधर्मी, मांसत्यागी, शुद्ध आचार-विचारों का प्रभाव बेगम पर पड़ा। माता के संस्कारों का प्रभाव गर्भ में ही बच्चे पर पड़ना आरम्भ हो जाता है। अभिमन्यु ने चक्रव्यूह भेदने की विद्या जब अर्जुन अपनी स्त्री को बता रहा था, गर्भ में ही सीख ली थी। इन्हीं गर्भ के संस्कारों के कारण अकबर का जैन गुरुओं और अहिंसा सिद्धान्तों पर गहरा और अटल विश्वास रहा। उसने सदा के लिये मांस का त्याग कर दिया। साल में लगभग छः महीने जैनियों के पवित्र पर्वों और त्यौहारों के समय अपने समस्त राज्य में जीव-वध बन्द कर दिया था और इस कानून के न पालने वालों को बड़ा कठोर दण्ड दिया जाता था।[7]

हीरविजय सूरि उस समय के एक बहुत बड़े सन्त थे। प्रो० राम स्वामी आयगर के अनुसार अकबर जैनधर्म में श्रद्धा रखता था। उसे जब हीरविजय सूरि की मान्यता ज्ञात हुई तो उसने गुजरात के सूबेदार साहबसिंह को उन्हें बुलाने को लिखा। मुनिराज अनेक प्रकार की सवारियों का राज्य की ओर से प्रबन्ध होने पर भी गुजरात से आगरा पैदल आये। क्योंकि जैन मुनि किसी प्रकार की सवारी का प्रयोग नहीं करते। अकबर ने शाही शान से उनका स्वागत किया और उनके

१-२ 'वीर' देहली (१-३-१९३२ ई०) पृ० १५५

३ Dr Bernier's Travels in Mugal Empire, p 317.

४ Saletor, Karnatak Historical Review IV p 78-81

५ Yiel's Marcopolo, Vol II p 566

६ दैनिक उर्दू 'मिलाप' देहली, (१४-१२-१९६६) पृ० ३।

७ विस्तार के लिये हमारा 'वर्द्धमान महावीर' पृ० ४९० से ४९३ तक।

उपदेश से जैनधर्मी बन गया था ।[1] अकबर ने इनको जगद्गुरु की पदवी दी थी ।[2]

शान्तिचन्द्र जैन मुनि का अकबर पर बड़ा प्रभाव था । ईद से एक दिन पहले इन्होंने अकबर से कहा—"आज मैं यहां से जाऊंगा ।" अकबर ने कारण पूछा । मुनिराज ने कहा कि कल यहां हजारों नहीं लाखों जीवों का वध होगा । फिर इन्होंने कुरान शरीफ की आयतें दिखाईं कि कुरबानी का मांस खुदा को नहीं पहुंचता बल्कि परहेजगारी पहुंचती है ।[3] रोटी और सब्जी खाने से भी रोजा कबूल हो जाता है । अकबर ने मौलवियों से पूछा । उनका सन्तुष्टिजनक उत्तर न पाकर अकबर ने अपने राज्य में मुनादी करादी कि ईद के दिन कोई जीव-वध न हो ।[4] अकबर ने १५८९ ई० में शान्तिचन्द्रजी को जीवहिंसा बन्द करने का फरमान दिया ।[5]

भानुचन्द्र जैन आचार्य पर अकबर की बड़ी श्रद्धा थी । एक दिन अकबर के सिर में बहुत दर्द था । अनेक उपाय करने पर भी आराम न हुआ तो उसने भानुचन्द्र को बुलाया और दर्द दूर करने को कहा । आचार्य महाराज ने कहा—"मैं कोई वैद्य या हकीम नहीं हूं ।" अकबर ने कहा—'आप सत्यवादी हैं । आपका शब्द झूठ नहीं हो सकता । केवल इतना कह दें— दर्द जाता रहे ।' अकबर को आचार्य ने कहा "आपका दर्द अवश्य जाता रहेगा ।" अकबर की पूर्ण श्रद्धा और भानुचन्द्रजी के चरित्र के प्रभाव से अकबर का दर्द मिट गया ।[6] इस खुशी में दरबारियों ने ५०० गायें वध करने को मंगवाईं । अकबर को पता चला तो कहा—"मेरा कष्ट दूर हो और दूसरों की जान निकले यह कहां का न्याय है ?" तुरन्त सब गायों को अभयदान दिया ।[7]

विजयसिंह सूरि को अकबर ने लाहौर बुलवाया और उनका ३६३ विद्वानों से इस विषय पर वाद-विवाद कराया कि ईश्वर कर्त्ता-हर्त्ता नहीं है और उनके बुद्धिमत्ता तर्क से प्रभावित होकर इनको 'सवाई' की पदवी प्रदान की ।[8]

अबुल फजल न केवल अरबी और फारसी का विद्वान् था, वह संस्कृत और हिन्दी का भी अच्छा विद्वान् था । उसने जैन-ग्रन्थों का स्वाध्याय और जैन तत्त्वों का मनन किस गहराई से किया, इसका अनुमान उसकी लिखी पुस्तक आइना-ए-अकबरी से आसानी से लग जाता है, जिसमें उसने लगभग ५० पृष्ठ जैनधर्म के सिद्धान्तों और उनके महत्त्व तथा आवश्यकता पर लिखे ।[9] और बताया कि अकबर पर दिगम्बर जैन नग्न मुनियों का अधिक प्रभाव था ।[10] उसका कहना है कि अकबर ने राजाज्ञा द्वारा काश्मीर की झीलों से मछलियों का शिकार करना बन्द कर दिया था । जैन तीर्थों से यात्रा-कर लेना बन्द कर दिया था । प्रत्येक जैन पर्व, दस लक्षण, अठाई आदि तथा हर पंचमी, अष्टमी, चतुर्दशी आदि जैन त्योहार, सब मिलाकर साल में छह मास जीव हिंसा कानून द्वारा बन्द कर दी थी ।[11] अकबर ने मांस-भक्षण त्याग दिया था और जनता को कहता था—

यह उचित नहीं कि मनुष्य अपने उदर को पशुओं की कबर बनावे । कसाई आदि जीवहिंसा करनेवाले



---

१. Bhandarkar Commemoration Vol I P 26
२ 'अकबर और जैनधर्म' (श्रीआत्मानन्द जैन ट्रैक्ट सोसायटी अम्बाला शहर) पृ० ८-१० ।
३ कुरान शरीफ, पारा १६, हज सुरा, रुकू ५ आयत ३८ ।
४ 'सूरीश्वर और सम्राट्' पृ० १४४ ।
५. अकबर और जैनधर्म, पृ० ५० ।
६-७ 'सूरीश्वर और सम्राट्' पृ० १४६ ।
८ अकबर और जैनधर्म पृ० १० ।
९. अनुवाद हिन्दी जैन सदेश शोधाक १०-१०-६३ पृ० २१८-२२३ ।
१०. Ayna-i-Akbari Vol III (Lucknow) P 519.
११ S N Banarji's Religion of Akbar, P 81



शहर से बाहर रहते है तो मासभक्षियों को आबादी मे रहने का क्या अधिकार है ? जो मास नही त्याग सकते वह मेरे शरीर का मास खा लिया करें, मेरा शरीर इतना बडा हो जाए । मै स्वय मास का त्याग करता हूँ ।[१]

टोडरमल का जन्म उत्तरप्रदेश के जिला सीतापुर के ग्राम लहरपुर मे हुआ था । वे बडे धर्मात्मा और अहिंसाधर्म का पालन करते हुए भी तलवार के धनी थे । भूमिकर (मालगुजारी) के उन्होने ऐसे नियम बनाये जिनका मुगलो एव अग्रेजो ने उपयोग मे लिया था तथा उनकी छाप आज तक मौजूद है । वह भगवान् की पूजा किये बिना कोई काम तथा भोजन भी नही करते थे । डा० कस्तूरचन्द कासलीवाल तथा प० अनूपचन्द न्यायतीर्थ के शब्दो मे टोडरमल जैन-धर्मानुयायी थे ।[२] इनका पुत्र गोवीदास भी जैन था । श्री महावीर अतिशय क्षेत्र मे प्रकाशित राजस्थान के जैन शास्त्रभडारो की ग्रथसूची के चौथे भाग की भूमिका मे दि० जैन मन्दिर पाटोदी के शास्त्रभडार मे नयविलास कृत ज्ञानराशि टीका की प्रशस्ति मे लिखा है कि यह टीका मुगलसम्राट् अकबर के राजमन्त्री टोडरमल के पुत्र गोवीदास के पठनार्थ लिखी गई । जिससे सिद्ध होता है कि राजा टोडरमलजी के समान उनका पुत्र भी जैनधर्मी था ।[३]

टोडरमल जैन कवि राजमल के बडे सहायक थे ।[४]

बीरबल कितना बुद्धिमान और हाजिरजवाब था, यह अकबर बीरबल के चुटकुलो एव लतीफो मे भली प्रकार सिद्ध है । बीरबल बुडिया तहसील जगाधरी का रहने वाला था । वह भी जैनी था । उनके बुडिया के महल के खण्डहर आज तक मौजूद है जो आज भी रगमहल के नाम से प्रसिद्ध है, जिनको हमने स्वय देखा है । उनमे लकडी और लोहा नही लगा फिर भी बहुत सुन्दर और मजबूत है ।

भारमल साँभर के राजा थे । वे जैनधर्मी थे । उन्होने लाखो स्वर्णमुद्राओ का दान किया और जैनधर्म की प्रभावना मे करोडो रुपये खर्च किये । उसकी अपनी टकसाल थी । अकबर का मुकुटधारी राजकुमार सलीम उसके दरबार मे मिलने जाया करता था और सूचना भेजकर इस बात की प्रतीक्षा मे रहता था कि वह इसको मिलने के लिये बुलावे । राजा भारमल का सम्मान अकबर के समान था । इसकी प्रत्येक दिन की आय एक लाख स्वर्णमुद्राओ से अधिक थी । पचास हजार स्वर्णमुद्राए तो प्रतिदिन यह अकबर के खजाने मे जमा कराया करता था । अकबर पर इसका बडा प्रभाव था । इसने स्वय और अकबर से जैनधर्म की प्रभावनाओ के अनेक काम करवाये ।[५]

राजमल एक जैन महाकवि थे, जिन्होने अकबर के लिये अनेक आध्यात्मिक ग्रन्थ लिखे । उनके प्रभाव से अकबर का जीवन ही बदल गया और वह जैन सिद्धान्तो का आचरण करने लगा ।

प० बनारसीदास भी अकबर के दरबार के महाकवि थे । समयसार नाटक जैसे महान् उपयोगी ग्रन्थ रचे । पगडी बेचने का काम करते थे । उनकी प्रतिज्ञा थी कि एक आना रुपये से अधिक लाभ नही लेंगे और १ रुपये से अधिक एक दिन मे नही कमायेगे । अकबर ने उनके व्रत की परीक्षा करने के हेतु आज्ञा दी कि कल मेरे दरबार मे सब पगडी बाध कर आयें । पडितजी जिनेन्द्र भगवान् की पूजा आदि से निवट कर १० बजे दूकान पर जाते और चार बजे दूकान बद कर देते थे । इसलिये सुबह से ही उनकी दूकान पर भीड लग गई परन्तु वह समय पर आये और (१६) सोलह पगडी बेचकर दूकान बद करने लगे । लोगो ने कहा—"चाहे जो दाम ले लो, पगडी दे दो । कल दरबार मे बिना पगडी नही जाया जा सकता ।" तब उन्होने बाकी पगडिया बिना लाभ के बेच दी । अगले दिन हजारो पगडिया देखकर अक-

---

१ Ayna-i-Akbari Vol III p 330
२ सन्मति सन्देश, देहली (फरवरी १९६३) पृ० २३-२४ ।
३ सन्मति सन्देश, देहली (फरवरी १९६३) पृ० २४-२५ ।
४ Todarmal under the imperial service of Akbar was Digambar Jain He patronised Jain poet Rajmal—Jambu Swamicharit (Bombay) P 7-8
५ For details Jain Antiquary Vol XII, P. 57

बर ने कहा—"पं० बनारसीदास ने बड़ा लाभ उठाया होगा।" लोगों ने बताया कि ७६ पगड़िया बेचने के बाद उन्होंने बिना नफा लिये पगड़िया बेचीं तो वह पण्डितजी के परिग्रहपरिमाण व्रत और सन्तोष को देखकर चकित रह गया। अकबर के दरबार में कविसम्मेलन हुआ करते थे। एक बार कविता की समस्या थी—"सो आस करो सु अकब्बर की"। पण्डितजी ने अपनी यह कविता पढ़ी—

जिया बहुत वेश धरे जग मे, छवि भागई आन दिगम्बर की।
जब चिंतामणि घर मे प्रकटो, तब कौन जतन्न अडम्बर की॥
जिन तारण तरण सेय लियो, परवाह नहीं सुजब्बर की।
जिन आस नहीं परमेश्वर की, सो आस करे सु अकब्बर की॥

अन्तिम कड़ी सुनते ही सारे दरबार में हलचल मच गई। सबका विश्वास था कि पण्डित जी को कठोर दण्ड दिया जावेगा। परन्तु अकबर पण्डित जी की सच्चाई और निर्भयता से बड़ा प्रसन्न हुआ और कहा—मांगो क्या मांगते हो? पण्डित जी ने कहा—जो मेरे पास है मैं उसी में सन्तुष्ट हूं। अकबर ने बहुत जोर दिया तो पण्डित जी ने कहा—कृपा कर दरबार में आने से मुझे मुक्ति दें। अकबर ने कहा—मेरे दरबार में आने को तो बहुत बड़े-बड़े आदमी इच्छुक हैं। पण्डित जी ने कहा—वह इन्द्रियसुख चाहते हैं और मुझे आध्यात्मिक सुख में आनन्द आता है जिसमें यहां आने के कारण बाधा पड़ जाती है। अकबर और सब दरबारी पण्डित जी के त्याग से चकित हो गये। अकबर ने कहा—आप से पाबंदी उठाई जाती है, परन्तु फिर भी जब-जब समय मिले अवश्य आते रहना।

सेठ शान्तिदास अहमदनगर के नगरसेठ थे। उन्होंने अकबर की आज्ञा से अनेक जैन मन्दिर करोड़ों रुपयों की लागत से बनवाये। इनका अकबर पर बड़ा प्रभाव था।[1] बाजारों में रथ उत्सव निकलवाये।

गोस्वामी तुलसीदास हिन्दी रामायण के प्रसिद्ध लेखक थे। पण्डित बनारसीदास की आध्यात्मिक प्रशंसा सुनकर गोस्वामीजी पं० जी से मिलने गये और अपनी रामायण की एक प्रति उन्हें भेंट की। पं० बनारसीदास ने पार्श्वनाथ की स्तुति की प्रति गोस्वामी जी को भेंट की जिसका उनपर बड़ा प्रभाव पड़ा। यह पं० बनारसीदास के आत्मबल का प्रभाव है कि गोस्वामीजी ने जैन-सिद्धान्तों का आदर करते हुए अहिंसा (दया) को धर्म की जड़ कहा—

"दया धर्म का मूल है, पाप मूल अभिमान।
तुलसी दया न छोड़िये, जब तक घट में प्राण॥

जैन कर्मफिलॉसफी की प्रशंसा करते हुए गोस्वामी ने कहा—

'सकल पदारथ हैं जग माही, कर्महीन नर पावत नांही।

रहीम भी एक महाकवि था। अरबी, फारसी के समान हिन्दी और संस्कृत का भी विद्वान् था। पं० बनारसीदास का इसपर भी इतना अधिक प्रभाव पड़ा कि अनेक आध्यात्मिक सिद्धान्तों पर दोहे लिखे।

पं० रूपचन्द भी अकबर के समय हुए। बड़े प्रसिद्ध कवि थे। जैनधर्मी थे।

कबीर साहब भी इसी समय हुए। जैन-सिद्धान्तों का इनपर कितना प्रभाव था, यह इनके दोहों से सिद्ध है।

(१) दुर्बल को न सताइये, जाकी मोटी हाय।
मुई खाल की स्वास से, लोह भस्म हो जाय॥ (अहिंसा)



1 सन्मतिसंदेश (मार्च १९६१) पृ० १०४।

(२) कबिरा तेरी झोपडी है गठकटो के पास।
जैसा करें वैसा भरें, तू क्यों हुआ उदास ।। (कर्मसिद्धात)

सहारन-वीर अकबर के खजाची थे। यह जैन थे। इनकी सेवा एव ईमानदारी से प्रभावित होकर अकबर ने उनको जागीर मे बहुत-सी भूमि दी जिसमे उन्होंने नगर बसाया जो उनके नाम पर सहारनपुर कहलाया है।[1] सहारनवीर जिनेन्द्र भगवान् के भक्त थे। यही कारण है कि सहारनपुर में १२ जैन-मन्दिर हैं।

तानसेन ससार का एक बडा प्रसिद्ध सगीतज्ञ था, जिसके गान मे जादू का असर था। अकबर के दरबार का सर्वोत्तम गवैया था।

ब्रह्मगुलाल जैनधर्मी था। स्वाग भरने मे समस्त ससार मे केवल एक ही था। एक बार चन्दवार के राजा कीर्तिसिन्धु ने उसे शेर का स्वाग दिखाने को कहा। उसने कहा—"इस भेप मे मनुष्य तक की प्राणहत्या होने का भय है।" उन्होने तीन खून माफ कर दिये। ब्रह्मगुलाल ने ऐसा उत्तम भेप बनाया कि सब उसे असली शेर समझकर भागने लगे। राजकुमार ने कहा—"यह शेर कहाँ ? किसी को खाता तो है नही, यह शेर नही, गीदड है।" जबान का घाव तलवार के घाव से अधिक दु खदाई होता है। उसने राजकुमार पर ऐसा झपट्टा मारा कि राजकुमार मर गया। राजा को बडा दु ख हुआ, परन्तु वचन दे रखा था, चुप रहा। दूसरी बार उसे दि० नग्न मुनि का भेप धारण करने को कहा गया, उन्होने ऐसा भेप बनाया कि उसके वैराग्य और उपदेश का सब पर बहुत प्रभाव पडा। वह जगल मे जाने लगे तो लोगो ने कहा कि यह तो स्वाग है, समाप्त हो गया। ब्रह्मगुलाल ने कहा—"मुनिभेप ऐसा भेप नही जो एक बार धारण करके छोड दिया जाय। उसको सदा के लिये घरबार छोडते देख राजा को भी वैराग्य आ गया। वह भी जैनमुनि हो गया और ब्रह्मगुलाल के समान तप करने लगा।

पन्ना धाय जिसने महाराणा उदयसिंह की जान बचाने के लिये अपने प्रिय इकलौते पुत्र को बलिदान किया जैनधर्मी थी।

आशाशाह जिन्होंने अपनी जान जोखिम मे डालकर महाराणा उदयसिंह को शरण दी और बनवीर जैसे बलवान् तथा क्रूर सम्राट् से भयानक युद्ध करके, विजय प्राप्त कर उदयसिंह को सिंहासनारूढ किया, जैनधर्मी था।

भामाशाह अहिंसा धर्म का अनुयायी जैनधर्मी कितना योद्धा था। महाराणा प्रताप जैसे महायोद्धा वीर ने उसे अपना सेनापति बना रखा था। इस जैन देशभक्त ने अपनी अपार सम्पत्ति देशरक्षा के लिये महाराणा प्रताप को भेंट दी। इन सबके विस्तार के लिये हमारा लिखा 'वर्द्धमान महावीर' पृ० ४८१-४८५ देखो।

महाराणा उदयसिंह, महाराणा प्रताप आदि-आदि इतने जैनधर्मप्रेमी अकबर के समय हुए हैं कि चार-चार लाइन भी एक-एक के सम्बन्ध मे लिखें तो हजार पृष्ठो मे भी न आवें। हम श्रीऋषभदेव से लेकर आजतक का सचित्र इतिहास लिख रहे है उसमें अधिक वर्णन करेंगे। यहाँ केवल एक सत्यवादी की कथा देते हैं।

रघुपतिसिंह महाराणा प्रताप का वीर सरदार था। अकबर की सेना की इसने इतनी मारकाट की कि अकबर को उसके मारने या पकड लाने के लिये बहुत बडा पुरस्कार घोषित करना पडा। रघुपति का इकलौता पुत्र सख्त बीमार हो गया। स्त्री ने खबर भेजी पुत्र का मुह देखना हो तो तुरन्त आ जाओ। रघुपति के घर पर पहरा था

१ The City of Saharanpur was founded by a Digamber Jain Shri Saharanbir Singha who got the locality in Jagir from Akbar His son Gulabrai migrated to Delhi, when he built a Jain temple in Kucha Sukhanand—C F No 280 in the list of Muhammadan and Hindu Manuments quoted in Ratandeep Kiran II (Rajeshwarbhawan Green Park) Vol I, P 50

फिर भी वह मर गया। मुगल सिपाही ने रोका तो उसने कहा कि मैं अपने बीमार पुत्र को देखने आया हूँ अभी वापिस आऊँगा तब मुझे पकड़ कर मुगल सम्राट से पुरस्कार प्राप्त करना। सैनिक को यह सुनकर अपने पुत्र की याद हो आई और पुत्रप्रेम का स्मरण कर उसे जाने दे दी। रघुपति स्त्री और पुत्र से मिला। पुत्र बहुत बीमार था और कुछ समय का ही मेहमान था फिर भी वह वापिस जाने लगा। स्त्री ने रोका तो उसने कहा –'मैंने मुगल सैनिक को वचन दिया है कि मैं वापिस आ रहा हूँ अतः लाचार हूँ।" उसने सैनिक से कहा—'मैं आ गया हूँ, मुझे पकड़ कर पुरस्कार प्राप्त करो" सैनिक रघुपति की सचाई और वीरता से बड़ा प्रभावित हुआ और उसने उसे छोड़ दिया।[1] किसी ने यह बात अकबर से कह दी तो बजाय क्रोधित होने के उसने सेनापति को पुरस्कार से सम्मानित करते हुये कहा कि यह मेरे लिये गर्व की बात है कि मेरे कर्मचारी दया, अहिंसा, प्रेम और सत्य का आदर करते हैं।

अकबर के समय में एक रुपये में गेहूँ १८५ रतल, चावल ११० रतल, जौ २७७½ से ३७ रतल, दूध ८९ रतल, ज्वार २२२ रतल, बाजरा २७७½ रतल, नमक १३१ रतल, चीनी १८ रतल, और गेहूँ का आटा १४८ रतल मिलता था।[2]

अकबर के फरमान (१) १५ जून सन् १५८४ को जैनाचार्य हीरविजयजी को दिया कि पर्युषण (भाद्रपद मास में होने वाले पर्व) के दिनों में जैन आबादी के किसी भाग में किसी भी पशु की हत्या न की जावे। (२) १५९२ को, जिसके द्वारा मुगल साम्राज्य के सब जैन तीर्थस्थान जैनियों के सुपुर्द किये जाते हैं ताकि वहां किसी प्राणी की हत्या न हो। (३) अकबर का फरमान ५-६-१५९३ कि गौ वध न किया जावे। शिकार न खेला जावे। विस्तार के लिये 'कल्याण' गोरखपुर, अक्टूबर १९५१ पृ० २३५ देखिए।

महावीर-निर्वाण-दिन मनाने के लिये दीवाली को अपने किले की ऊंची मीनार पर चढ़कर एक बहुत बड़ा दीपक, जिसमें ३॥ मन तेल डाला जाता था, स्वयं अपने हाथों से जलाकर उसे प्रणाम करता था। गरीबों को मिठाई और गरम कपड़े इस पवित्र अवसर पर बांटता था। फिर सारे नगर में दीपक जलते थे।[3]

वी० ए० स्मिथ ने 'जैन टीचर आफ अकबर' प्रथम भाग पेज ३८६ पर लिखा है कि जैन साधुओं ने निःसंदेह अकबर को वर्षों तक अपने धर्म की शिक्षा दी जिसके प्रभाव से उसने जैन प्रभावना के इतने आचरण किये कि लोग यह समझने लगे कि अकबर बादशाह जैनी हो गया। पोर्तुगीज पादरी Pinheiro अकबर के राज्यकाल में भारत आया था। अकबर के आचरणों और आज्ञाओं को देखकर उसने अपने बादशाह को ३ सितम्बर १५९५ को एक पत्र लिखा कि अकबर जैनधर्मानुयायी है—'He (Akbar) follows Jainism' प्रमाण तथा अकबर के सम्बन्ध में अधिक जानने के लिये हमारा "शान्ति के अग्रदूत श्रीवर्धमान महावीर' देखें।

जहांगीर—(१६०५ से १६२८) जैनसाधुओं का बड़ा सत्कार करता था। जैनाचार्य श्रीजिनसिंह के ज्ञान और चारित्र से प्रभावित होकर इसने उनको 'युगप्रधान' (समाज में सबसे महान्) पदवी प्रदान की थी।[4] इसने जैन आचार्य हीरविजय सूरि, श्री विजयसेन और श्री जिनचन्द्र जी का बड़ा सम्मान किया।[5] जैन तीर्थों और इनके निकट



---

१ विस्तार के लिए 'उर्दू मिलाप देहली (७-१२-६७) पृ० १३।

२ W.H Marel in his article "The Value of money the Court of Akbar" in Journal of Royal Asiatic Society 1918 P.P. 375 to 385 A V Smith also gave the rates in his 'Akbar' P 390 which are almost the same

३ बनारसीविलास (बम्बई संस्करण) प्रस्तावना।

४ New Indian Antiquary Vol I, P 520

५ जे० के० नरीमान सम्पादक 'बम्बई क्रानिकल' उर्दू दैनिक मिलाप कृष्ण न० अगस्त १९२५ पृ० ७७।



जीवहिंसा न करने के आज्ञापत्र निकाले।[१] दस लक्षण जैन पर्व में तो निरन्तर दस दिन तक समस्त राज्य में हर प्रकार की हिंसा बंद करदी थी।[२] जैन त्योहारों और पवित्र धार्मिक दिनों में हत्या बंद रहने का एक फरमान जहांगीर ने १६०८ ई० में प० विवेकहर्ष को दिया था।[३] जहांगीर बड़ा दयालु और अहिंसाप्रेमी था।[४] अकबर ने जितने दिन पशु-वध न होने के बना रखे थे, जहांगीर ने उन दिनों में बढ़ोतरी कर दी थी।

प० बनारसीदास जैन आध्यात्मिक कवि थे। उनके विरुद्ध एक दरबारी ने जहांगीर से शिकायत की वह अपने जिनेन्द्र भगवान् के सिवाय और किसी को नमस्कार नहीं करते। जहांगीर ने उनको नमस्कार करने को कहा तो उन्होंने कहा—

जाके परभाव आगे भागे पर-भाव सब
नगर नवल सुख सागर की सीम है।
सवर का रूप धरै, साधै शिव-राह ऐसो,
ज्ञानी पातशाह ताको मेरी तसलीम है।

यह दोहा सुनकर जहांगीर बहुत प्रसन्न हुआ और उसने कहा—"आपको मुझे नमस्कार, वंदना या तसलीम करने की आवश्यकता नहीं।"[५]

भगवतीदास जैनजगत् के सुविख्यात कविवर जहांगीर के ही समय हुए। यह बुड़िया जिला अम्बाला के निवासी थे और देहली के भट्टारक श्री महेन्द्रसेन के शिष्य थे। इन्होंने जहांगीर के समय संस्कृत और हिन्दी में अनेक ग्रंथों की रचना की।[६]

हीरानन्द देहली के निकट जहानाबाद के जैन विद्वान् थे। इन्होंने जहांगीर के राज्य में पचास्तिकाय-टीका लिखी और समवसरणस्तोत्र, द्रव्यसंग्रह और एकीभावना आदि अनेक रचनाएं की।[७]

सेठ शान्तिदास ने शत्रुंजयजी में शान्तिनाथ तीर्थंकर का एक विशाल मन्दिर बनवाया।[८] अहमदाबाद गजटियर के अनुसार शान्तिनाथ का यह मन्दिर ऐतिहासिक है।[९]

अर्जुनदेव सिखों के पांचवें गुरु जहांगीर के समय में हुए। इन्होंने 'श्री सुखमणी साहब' एक बड़ा उपयोगी ग्रन्थ रचा जिसके आरम्भ में उन्होंने लिखा "एक ओंकार सत्य गुरु प्रसाद" जिसका अर्थ देहली के प्रसिद्ध हिन्दूधर्मी मासिक पत्रिका "मार्तण्ड" ने मार्च १९६३ के पृ० ६ पर यह किया—"ओम् भगवान का नाम है जो सच्चे गुरु की उपासना से प्राप्त होता है। जो जन्म-मरण और आवागमन के दुःखों से डरते हैं उन्हें सच्चे साधु की शरण लेना चाहिये।" गुरु महाराज राग-द्वेष त्याग कर ब्रह्म (आत्मिक) ज्ञानप्राप्ति की शिक्षा देते हुए कहते हैं—

"ब्रह्मज्ञानी सदा निर्लेप। जैसे जल मांही कमल अलेप।।

---

१ Jahangır forbıdden hunting, fishing and other slautering of anımals durıng the ten days of Parushan ın hıs reıgn—Alfred Master I C S, Vırnırvanday ın London (W.J M) P 4

२-३-४ 'कल्याण' गोरखपुर १९४५ पृ० २०४, २२५, २२६।

५ सन्मतिसंदेश, जनवरी १९६७, पृ० ३२।

६ देहली जैन डाइरेक्टरी पृ० १०।

७ विस्तार के लिये सन्मतिसंदेश (मई १९६६) पृ० २६।

८ Epıgraphıca Indıa Vol II

९ Accordıng to Ahmedabad Gazetteer Vol III 1879, thıs Jaın temple of Shantıdas ıs Hıstorıcal one most beautıful and worthseeıng—Bombay Prant Ke Jaın Smarak P. 43

गुरु गोविन्दसिंह सिक्खों के दसवें गुरु थे। इन्होंने दशम ग्रंथ साहब की रचना की। जिसमें इन्होंने लिखा है कि जैनधर्म के स्थापक अर्हन्त देव (ऋषभदेव) थे। इस ग्रंथ के श्लोक हमारे लेख में जो 'वाइस आफ अहिंसा' १९५७ के ऋषभदेव अंक में छपे हैं, देखें।

ऐतिहासिक प्रमाणों से सिद्ध है कि जहांगीर के राज्य में जैनमंदिर बने। लाहौर में सोलहवें तीर्थंकर श्री शान्तिनाथ का मंदिर इतना सुन्दर था कि जहाँगीर भी आकृष्ट हुए बिना न रह सके। विस्तार के लिये (अहिंसावाणी १९५६, पृ० २८७)। जैनधर्म के अनेक प्रसिद्ध ग्रंथ और उनकी टीकाएं लिखी गई। नग्न जैनमुनियों का विहार बिना किसी रोक-टोक के होता रहा। जैन रथयात्राउत्सव और अनेक जैनधर्म की प्रभावना के कार्य होते रहे जिनमें राज्य की ओर से सहयोग दिया जाता रहा।

शाहजहां (१६२८-१६५८ ई०) जैनियों की सचाई, ईमानदारी और अहिंसामय आचरण से बड़ा प्रभावित था। इसने हिसार (पंजाब) के जैन सेठ दीपचन्द को हिसार से देहली बुलवाया। रहने के लिये ४-५ बीघे भूमि तथा जामा, चादर, जोडा कलगी, खिल्लत आदि प्रदान कर उनका बड़ा सम्मान किया। उन्हें अपने राज्य का प्रधान खजाची बनाया। उन्होंने जैनमन्दिर बनवाने की आज्ञा मांगी तो मंदिर के लिये बिना मूल्य भूमि दी और जैनमन्दिर के बनवाने में बड़ा सहयोग दिया। शाहजहां का एक सेनापति जैन था, जो जिनेन्द्र भगवान् का इतना भक्त और उपासक था कि लड़ाइयों में भी भगवान् का प्रतिबिम्ब साथ रखता था और फौजी कार्य आरम्भ करने से पहिले उसकी पूजा करता था। उसकी वीरता से प्रसन्न होकर शाहजहां ने लाल किले के सामने स्वयं भूमिदान देकर २३ वें तीर्थंकर श्री पार्श्वनाथ भगवान् का जैनमंदिर बनवाने की आज्ञा दी जो लाल किले के सामने लाल मंदिर कहलाता है और आज भी देखने योग्य है।[1] इसमें पार्श्वनाथ की १६६१ ई० की प्रतिष्ठित मूर्ति है।[2] शाहजहां भी जैन महाकवि पं० बनारसीदास का बड़ा सम्मान करता था।[3] शाहजहां के राज्यकाल में जैन विद्वान् शालिवाहन ने आगरा में हरिवंशपुराण की रचना की।[4] शाहजहां के राज्य में ही देहली दरवाजे के निकट दि० जैन मन्दिर का निर्माण हुआ।[5] सन् १६३५ ई० में जैन महाकवि पं० रूपचन्द ने पाठ समवसरण की रचना की थी।[6] शाहजहां के पंचहजारी उमराव और जाफर खां के दीवान (मन्त्री) अभयराज जैन थे। इनके पुत्र जगजीवन एक महाकवि थे जिन्होंने अनेक जैनग्रंथों और कविताओं की रचना की।[7]

शाहजहां के राज्यकाल में दि० जैन नग्न साधुओं का आगमन और विहार हर स्थान पर बिना किसी रोक-टोक के होता था।[8] श्री जी० के० नारीमान सम्पादक 'बम्बई क्रानिकल' के अनुसार शाहजहां ने जीवहिंसा रोकने और जैनधर्म की प्रभावना के फरमान अकबर और जहांगीर से भी अधिक उपयोगी घोषित किये थे।[9] सेठ शान्तिदास ने अहमदाबाद में १६३८ ई० में करोड़ों रुपयों की लागत से ऐसा सुन्दर विशाल देखनेयोग्य अतिशयपूर्ण शान्तिनाथ भगवान् का जैनमंदिर बनवाया जो आज चिन्तामणि मंदिर कहलाता है।[10]

औरंगजेब ने, जब वह राजकुमार था, लगभग १६४६ ई० में इस ऐतिहासिक जैनमन्दिर को मसजिद में

१-२. विस्तार के लिये 'नवभारत टाइम्स' देहली, १०-८-१९५२ पृ० ३।
३ बनारसीविलास (बम्बई संस्करण) प्रस्तावना।
४ जैन सिद्धान्त भास्कर, वर्ष ६ पृ० १२६।
५ Delhi Jain Directory (Jain Sabha Delhi) P 10
६ List of Mohemadan and Hindu Monuments Vol I
७ जैन ग्रंथ प्रशस्तिसंग्रह पृ० १५।
८ वीर देहली (१-३-१९३२) अंक ६ पृ० १५५।
९ उर्दू दैनिक मिलाप, देहली, कृष्ण नं० अगस्त १९३६, पृ० ३६।
१० Archaeological Survey of India Report Vol XVI Cousing





बदल दिया तो जैनियों ने शाहजहा को शिकायत की तो वह औरंगजेब से नाराज हुआ और उसके इस कार्य की निन्दा करते हुए फिर से पहले के समान आकर्षक मन्दिर बनाने की आज्ञा दी और उसके बनवाने का सब खर्च शाही खजाने से किया गया और उसमे पार्श्वनाथ भगवान् की मूर्ति अपनी आज्ञा से विराजमान कराई।[१]

शाहजहा को हीरों की बडी परख थी। बढिया से बढिया हीरे, जवाहरात, मोती-पन्ने उसके खजाने मे थे। उसने सात मन बढिया हीरे, जवाहरात, लाल, जमुरद, मोती और ४० मन सोने से एक तख्त ७३ करोड रुपयो मे राज्य के सर्वोत्तम कलाकारो द्वारा रात-दिन परिश्रम करवा कर सात साल मे मोर की शक्ल के समान बनवाया। मोर को फारसी मे ताऊस कहते हैं। इसलिये उस मोर के समान शक्ल वाले तख्त को तख्त-ए-ताऊस कहते है।[२]

राजा जुझारसिंह शाहजहा के समय बुन्देलखण्ड का राजा था जो जैनधर्मी और बडा वीर था। उसकी वीरता से खुश होकर शाहजहा ने उसे दक्षिण का शासक बना दिया था और खिलअत भी प्रदान की थी। उनका विश्वास था कि न्याय वह है जिसको प्रजा न्याय कहे। इसलिये वह सदा प्रजा का ख्याल रखता था।[३]

लोगो का अनुमान है कि आगरा का रोजा ताजमहल शाहजहाँ का बनवाया हुआ है परन्तु अनेक विद्वानों की नई खोजों से यह विश्वास हो गया है कि वह एक राजपूत राजा का महल था। आपकी जानकारी के लिये हम केवल श्री पी० एन० ओक के लेख का उद्धरण देते हैं। उनके अपने शब्दो मे—

"New direct three fold evidence is available to prove conclusively that the famous Taj Mahal is infact nothing more and nothing less than a Hindu palace —

(i) Shahjahan's "Badshah Nama"—a court chronicle, written at his own command, Mulla Abdul Hamid Laheri unambiguously admit on Page 403 of its Vol I Mansingh's Manzil (Palace) was chosen for Mumtaz's burial"

(II) Mr Narul Hasan Siddiqui's book "The City Of Taj" says on page 31 that it was Man Singh's Palace which Jai Singh was made to hand over for Mumtaz's Burial in exchange of which, says the book, he was given a lofty edifice by Shahjahan

(III) French "Tavernier" who was a visitor to Shahjahan's Court has recorded on Page 14 of his Travels in India translated by Dr V Ball, Published by Macmillan & Co London (1889) the cost of the scaffolding was more of the entire work (of manusoleum) Had Shahjahan built the edifice, the cost of Scaffolding would have formed an infinitesinal part of entire expenditure But since he took over a ready lofty Palace all he had to do was to errect a costly scaffolding[४]

औरंगजेब (१६५८-१७०७ ई०) यह सत्य है कि वह बहुत मुतासिब (कट्टर) था। ऐसा करने से उसने इस्लाम की सच्ची सेवा करने के स्थान पर अपने राज्य को कमजोर बना लिया परन्तु अपनी सचाई, ईमानदारी और

१ Bombay Prant Ke Smarak P. 6
२. दैनिक 'उर्दू मिलाप' देहली (१२-६-६५) पृ० ३।
३ नौनिधि (प्रेमचन्द) सरस्वती प्रेस, वाराणसी, पृ० ३।
४ For details see Organiser, Delhi, June 11, 1967 P 6

चरित्रबल के कारण जैनधर्म इस भयानक समय में भी फूलता-फलता रहा।[1] डा० बर्नियर औरंगजेब के राज्यकाल में भारत आया। उसका कहना है कि "मैंने नग्न मुनियों को बड़े शहरों में विहार करते देखा। स्त्रियां व लड़कियां तक उनके बिना किसी रोकटोक के दर्शन करती थीं।[2] उनके राज्यकाल में रथ-यात्राएं निकलीं, जैनमंदिर बने, जैन धार्मिक-ग्रंथों की रचनाएं हुईं। जैन मुनियों और जैन विद्वानों का औरंगजेब सत्कार करता था। जी० के० नारीमान, सम्पादक 'बम्बई क्रानिकल' के शब्दों में औरंगजेब ने जैनियों के तीर्थस्थानों पर हर प्रकार की जीवहिंसा न किये जाने के फरमान जारी कर रखे थे।

सेठ शान्तिदास जौहरी अहमदनगर का जैनधर्मी और जिनेन्द्र भगवान् का श्रद्धालु उपासक था। वह नगर-सेठ था। औरंगजेब ने उसे अपना दरबारी बनाया था।[3]

अरुण मणिजी जैन आचार्य ने उनके समय १६५६ ई० में दूसरे तीर्थंकर अजितनाथ की जीवनी—अजितनाथ पुराण की रचना की।[4]

जगतराम एक बहुत बड़े जैन विद्वान् थे। वह कवि भी थे। उन्होंने भी उनके राज्यकाल में अनेक आध्यात्मिक ग्रंथों की रचनाएं कीं।[5]

पं० बनारसीदास जी का औरंगजेब ने विशेष सत्कार किया था। उन्होंने भी उनके राज्यकाल में अनेक आध्यात्मिक ग्रंथों की रचनाएं की थीं।

पं० विनोदीलाल ने उनके राज्यकाल में जैन मुनि श्री विश्वभूषण जी से भक्तामर की संस्कृतटीका वि० सं० १७४६ में रची थी। उसमें उन्होंने आंखों देखा हाल लिखा कि औरंगजेब के राज्य में जैनियों को जिनेन्द्रभक्ति (मूर्ति-पूजन) आदि क्रियाओं की स्वतन्त्रता थी।[6]

औरंगजेब के समय १६८६ में चांदखेड़ी जिला कोटा (राजस्थान) में भगवान् महावीर का मन्दिर बनाया गया। पंचकल्याणक पूजा हुई। रथयात्रा निकली। प्रतिबिम्ब की स्थापना हुई।[7] प्रो० रामास्वामी आयंगर के शब्दों में जैनियों के चरित्र, त्याग, विद्या और ज्ञान इतना अनुपम था कि उन्होंने अल्लाउद्दीन खिलजी और औरंगजेब जैसे पक्के मुसलमान बादशाहों से भी सम्मान प्राप्त किया था।[8]

---

१ Although Aurangzeb was famous for his despotism the profound learning and vigarous feelings to do good to mankind at large, the Jain saints so much affected the heart of the despotic emperor that he was inclind to entertain and honour their chiefs

२ I have seen them (Naked Saints) walk start naked through a large town, women and girls looking at them without any more emotion, females often bring them alms with devotion—Dr Benior's Travels the Mugal Empire p 317

३ Aurangzeb oppointed Johari Shantidas, Jain, jeweller of Gujarat as one of his Darbari—Der Jainis Mus P 67

४ अरुणमणिकृत अजितपुराण श्लो० ४०-४१।

५ विस्तार के लिये 'अनेकान्त' (१६६४) पृ० १३३।

६ विनोदीलाल कृत भक्तामर स्तोत्र श्लोक ३६, ४०, ४२।

७ Jainism in Rajasthan, P 36

८ Jainacharyas by their charactor, attainment and scholarship commended the respect of even Mohammaden sovereigns like Allauddin Khilji and Aurang Padasha (Aurangzeb)—Studies in South Indian Jainism Vol II, P 132





लालकिले के सामने लाल जैन मदिर के नौबतखाने मे प्रतिदिन नगाडा बजा करता था। शाहजहाँ को तो उसमे कोई आपत्ति न थी लेकिन औरगजेब मुतासब था। उसने यह कहकर कि इसके शोर से सरकारी काम मे बाधा होती है नगाडा बन्द करने की आज्ञा दे दी। उसकी आज्ञा के अनुसार नगाडा नही बजाया गया तो भी नगाडा बराबर बजता रहा। पता चलने पर औरगजेब स्वय जैन मन्दिर मे आए और स्वय अपनी आँखो से बिना बजाये अपने आप नगाडा बजते देखकर चकित रह गये। तुरन्त अपना पहला हुक्म वापिस लेकर सदा के लिये जैन मदिर मे नगाडा बजाने की आज्ञा दे दी।[1]

गुरु अर्जुनदेव ने ग्रथ साहब की रचना इसी समय की। इनको मुसलमान बनने को कहा। इनके इन्कार पर इनके नगे शरीर पर भडभूजे की भट्टी से गर्म रेत डलवा कर अत्यन्त भारी कष्ट दिया। धन्य है इस वीर को, दो दिन के जीवन की लालसा मे धर्म नही छोडा।

गुरु तेग बहादुर से कश्मीर के ब्राह्मणो ने फरियाद की कि शेर अफगान खाँ जबरदस्ती हमे मुसलमान बनाना चाहता है। उन्होने कहा कि समय एक महापुरुष की बलि चाहता है। उनके पुत्र गोविन्दसिंह ने कहा कि आप से अधिक महापुरुष इस समय कौन है ? गुरुजी ने कहा "उसे कह दो कि गुरुजी मुसलमान हो जायेंगे तो हम सब हो जायेंगे।" औरगजेब ने गुरुजी को देहली बुलाया। वीर तेगबहादुर मृत्युदण्ड भुगतने को तैयार हो गये मगर धर्म न छोडा। इनकी याद मे ही चादनी चौक देहली का गुरुद्वारा आज तक शीशगज कहलाता है। इसने सरहन्द के नवाब द्वारा गुरु गोविन्दसिंह के दो पुत्र फतेहसिंह और जोरावरसिंह को जीवित दीवार मे चुनवा दिया परन्तु वे वीर बालक अपने पिता और पितामह के समान धर्म पर सुदृढ रहे। सियालकोट के वीर बालक हकीकत राय का सर काट दिया परन्तु वह धर्म पर स्थिर रहा। यह अत्याचार और महापुरुषो का बलिदान कब खाली जा सकता है ? परिणाम यह हुआ कि जनता मे उसके विरुद्ध नफरत पैदा हो गई और मुगल साम्राज्य समाप्त-सा ही हो गया।

बहादुरशाह (१७०७ से १७१२ ई०) के समय अनेक जैन मदिर बने, रथयात्रा उत्सव निकले। जैनियो को धार्मिक कार्यों मे कोई बाधा नही आई। इसके बाद एक साल जहाँदार शाह ने १७१२-१७१३ ई० तक राज्य किया।

फरुख बहादुर (१७१३ से १७१८ ई०) के शाही खजाची घासीराम जैन थे, जिन्होने देहली मे कूचा घासी-राम बसाया। इन्होने जैनधर्म की प्रभावना की। रामचन्द्र छावडा ने जैनमदिर बनवाया। १७८६ ई० में श्वेताम्बर जैनमदिर का निर्माण हुआ।

मोहम्मद शाह (१७१९ से १७४८ ई०) अहिंसाधर्मी था और जैनियो को बडा आदर करता था। इसके राज्यकाल मे १७४६ मे जैन विद्वान प० रामचन्द्र ने आदि—(ऋषभदेव) पुराण की प्रतिलिपि लिखी जो आज भी धर्म-पुरा देहली के पचायती दि० जैनमन्दिर मे सुरक्षित है। मोहम्मद शाह के शाही खजाची हिसार (पजाब) के राजा हरसुखराय ने धर्मपुरा मे एक बडा सुन्दर जैनमन्दिर बनवाया जिसकी वेदी के सन्मुख सिंहयुगल की पच्चीकारी का काम आगरे के ताजमहल से भी अधिक बारीक और उत्तम है। सिंहो की मूछो के बाल अलग-अलग पत्थरो से अकित करने का कार्य तो नि सदेह ही उत्तम है। राजा हरसुखराय और उनके पुत्र सेठ सुगनचन्द ने अनेक स्थानो पर ५७ जैनमन्दिर बनवाये।[2]

सहारनपुर मे मोहम्मद शाह का स्थानीय नवाब—मोहल्ला सध्यान मे मसजिद बनवा रहा था और मना करने पर भी न माना। मोहल्ले के लोग बादशाह से मिले। उसने आज्ञा दी कि मसजिद के स्थान पर पार्श्वनाथ का दि०

---

१ नवभारत टाइम्स देहली, ता० १०-८-१९५९ पृ० ३।

२ विस्तार के लिये 'अनेकान्त' अप्रैल, १९३९।

जैनमंदिर सरकारी खर्च पर बनेगा। चुनांचे मोहल्ला मस्थान का मंदिर ऐतिहासिक मंदिर है और मुगल सम्राट् के खर्च से बना, आज भी देखने योग्य है।[1]

छत्रसाल बुंदेलखंड के नरेश जैनधर्मी थे। बड़े योद्धा और अहिंसाप्रेमी थे। उनको ९५ साल का बूढ़ा जानकर मोहम्मद शाह ने उन पर आक्रमण कर दिया। इस उम्र में जैन सम्राट् कब पीछे रह सकता था? बीमार तथा बूढ़े होने पर भी सेना के साथ रणभूमि में पहुँचे और इस वीरता से लड़े कि सम्राट् का सेनापति मुहम्मद खाँ मैदान छोड़कर भागा। और उन्होंने उसका पीछा करके घेर लिया, यह विश्वास दिलाकर कि फिर आपके देश पर आक्रमण नहीं करूँगा, जैन सम्राट् से सन्धि करनी पड़ी।[2]

अहमदशाह (१७४८-१७५४ ई०) के समय अनेक जैनमंदिर बने, रथयात्रा उत्सव देहली आदि अनेक स्थानों पर हुआ।[3] १७५१ में जयपुरनरेश के मंत्री रतनचन्द्र छाबड़ा ने जैनमंदिर बनवाया।

आलमगीर द्वितीय (१७५४ से १७५९ ई०) के शासनकाल में ईरान के करोड़पति व्यापारी सरमद, ठट्ठा (सिंध) आए। ठट्ठा में उनकी भेंट जैन मुनि श्री अभयचन्दजी से हुई जिनके चारित्र और उपदेश से प्रभावित होकर वह करोड़ों की सम्पत्ति गरीबों में बाँटकर जैनधर्मानुयायी हो गये। जैन शास्त्रों का स्वाध्याय करने से उन्हें सत्य का पता चल गया और समस्त सांसारिक वस्तुएँ त्यागकर नग्न दि० जैन साधु हो गये। आलमगीर ने कहा कि तुम जैनधर्म त्यागकर फिर इस्लाम स्वीकार कर लो वरना तुम्हारी जीवित ही खाल खिंचवा दी जायगी। सरमद ने कहा – शरीर तो एक दिन नष्ट होना ही है। फिर इसके साथ कब तक? अनादि काल से शरीर ही शरीर मिलते रहे हैं। इस भावना से कि वह दिन आवे, मैं जन्म-मरण और शारीरिक परतंत्रता से मुक्त हो जाऊँ, मैंने जैनधर्म धारा है। फिर शरीर का मोह? ऐसे पवित्र और अविनाशी सुख के द्वार को कैसे छोड़ दूँ? आलमगीर ने क्रोध में आकर जीवित ही उनके शरीर की खाल खींचने की आज्ञा दी। धन्य है इस अहिंसा और त्याग की सच्ची मूर्ति को कि जल्लाद उसके जीवित शरीर की खाल उतार रहा था परन्तु सरमद के चेहरे पर मुस्कुराहट थी।[4]

अभयचन्द्र जैनाचार्य की वाणी में वह जादू था कि सैकड़ों अजैन उनके उपदेश से प्रभावित होकर जैन हो गये। यह उनके ही उपदेश का फल था कि एक विदेशी यहूदी अपनी आत्मा की शक्ति को शरीर से भिन्न जानकर करोड़ों की सम्पत्ति और हर प्रकार की सांसारिक भोगसामग्री प्राप्त होने पर भी स्वयं इच्छा से त्यागकर साधु हो गये और उनकी दृढ़ श्रद्धा प्राप्त की कि जीवन बलिदान कर दिया परन्तु जैनधर्म न छोड़ा। जीवित शरीर की खाल खींचे जाने पर 'सी' तक नहीं की। दुःख तो अपने मन से है। जिसे विश्वास हो गया यह वस्तु मेरी नहीं, उसे उसके नष्ट होने का क्या दुःख? यही निज-पर का भेद सम्यग्दर्शन है जिसकी प्राप्ति के बिना मोक्ष असम्भव है।

बहुत ही संक्षेप में, अनेक महत्त्वपूर्ण घटनाओं एवं अनेक महापुरुषों का वर्णन न करने पर भी लेख लम्बा हो गया। जिसके लिए हम पाठकों से क्षमायाचना करते हैं।

•



---

1 विस्तार के लिये 'सन्मतिसंदेश', मई १९६०।

2 'धर्मयुग' (बम्बई), १८ अप्रैल १९६५, पृ० ४०।

3 देहली रथ यात्रा।

4. श्री विश्वम्भरनाथ पाण्डे, सम्पादक 'विश्ववाणी', इलाहाबाद 'सन्मति सन्देश' (अप्रैल १९६३ ई०) पृ० ५-६।

मालव भूमि के दो आचार्य : कालिदास और वात्स्यायन

पद्मभूषण डा० सूर्यनारायण व्यास
उज्जैन



संस्कृत साहित्य-रसिकों के लिए कामशास्त्र के अप्रतिम विद्वान् आचार्य वात्स्यायन का नाम सुविदित ही है। उनका ग्रन्थ कामसूत्र अपने विषय का सर्वश्रेष्ठ एवं मार्मिक है। उसकी समता की कोई अन्य रचना कामशास्त्र पर नहीं हुई है। यह रचना वैज्ञानिक है। मानव-मनोविज्ञान का जिस सूक्ष्मता और गहराई से लेखक ने अध्ययन किया है और सूत्रों मे उसका जैसा निचोड प्रस्तुत किया है वह सर्वथा अप्रतिम ही है। वात्स्यायन ने और ग्रन्थ भी निर्मित किए है। किन्तु उसकी महत्त्वपूर्ण तथा अमरकृति कामसूत्र ही है। वैसे कामसूत्र के पूर्व भी उक्त विषय पर ग्रन्थ लिखे गये है। कामसूत्र मे उनका उल्लेख भी किया गया है, पर आज वे ग्रन्थ या तो अप्राप्य है या लुप्त हो गये हैं। वात्स्यायन कहा का निवासी था, उसका कार्यक्षेत्र कहा था, यह विद्वानो में विवाद का विषय बना हुआ है। कुछ समय पूर्व बिहार के एक विद्वान ने लिखा था, सम्भवत यह पश्चिम भारत का निवासी था। उसे अवती की राजनगरी उज्जैन का निवासी बतलाया था।

अवश्य ही कुछ शुग-विक्रम काल गुप्त एव परमार प्रभुत्व मे अवती विद्या एव वैभव की दृष्टि से सर्वाधिक समृद्ध रही है। ज्ञान-विज्ञान की प्रचण्ड-धारा वहा प्रवाहित होती रही है। अनेक विषयो का अवती मे प्रणयन हुआ है। भारतीय-साहित्य-सस्कृति को अवन्ती की अमर देन रही है।

बेक्ट्रिया और उत्तर-पश्चिम भारत से सबसे बडे बन्दरगाह भृगुकच्छ तक जाने वाले व्यापार के समस्त राजमार्ग उज्जैन से होकर ही निकलते थे। इस कारण उज्जैन उत्तरी भारत के प्रसिद्ध नगरो से सम्बन्धित रहा है। इस कारण भी उसकी सम्पन्नता और समुन्नति स्वाभाविक थी। ऐसे ऐश्वर्य-सम्पन्न नगर मे विलासोपभोग, रसिकता का रहना स्वाभाविक ही है। वात्स्यायन ने जिन लोगों का अपने ग्रन्थ मे विस्तार में वर्णन किया है, वह तत्कालीन उज्जैन के अनुकूल ही है। अवश्य ही उज्जैन का जनजीवन रस-विलासितामय रहा है। विलासोन्माद मे उसने कभी कभी अपने शौर्य और पौरुष को भी एकान्त मे ढकेल दिया था, यह शूद्रक के नाटक से प्रतीत होता है कि उसमे जिस राज्यक्रान्ति का सकेत दिया है उसकी पृष्ठभूमि मे विलासिता ही रही है। बाण, कालिदास तथा जैन-साहित्य की कालक कथा से भी इसका समर्थन होता है। कालिदास के काव्य के निम्न उद्धरणो से भी यही ध्वनित होता है —

य पण्यस्त्रीरतिपरिमलगोरिभिर्नगराणाम्।
सुरतग्लानिमगानुकूल शिप्रावात.॥

तथा

दशपुरवधूनेत्रकौतूहलानि, आदि।

अवन्ती की परम सुन्दरी वसन्तसेना तो साहित्य मे भी अमर बनी हुई है, यद्यपि वह वेश्या थी, किन्तु उसका कला के अतिरिक्त पण्य-स्त्री का रूप नहीं है। वह राज के जैसे सम्पन्न का शिकार न बन दरिद्र-चारुदत्त के चरणो मे न्यौछावर हो गई और एक राज्यक्रान्ति का कारण बन जाती है, इसी प्रकार पद्म प्राकृतक और पाद जैसे

भागों में भी यहाँ की विलासिता का चित्र दिखाई देता है। वात्स्यायन ने मालव प्रदेश की मनोवृत्ति, रहन-सहन, वेष-भूषा का जो चित्र अंकित किया है उससे विदित होता है कि वह प्रदेश के अन्तरंग से सुपरिचित था।

वात्स्यायन ने कालिदास की चर्चा की है और कवि सुबन्धु ने वात्स्यायन का उल्लेख किया है। इसलिए कालिदास, सुबन्धु पूर्ववर्ती हैं स्पष्ट ही द्वितीय चन्द्रगुप्त के ये पूर्व हुए हैं। कुछ विद्वान् वात्स्यायन के कामसूत्र की रचना को इसकी सदी के मध्य की रचना मानते हैं। कामसूत्र में जिस सामाजिक स्थिति का चित्रण किया है वह भी यही प्रमाणित करता है। इसी आचार्य का न्यायसूत्र भाष्य भी है। एक अन्य स्थल में पुरुष-सामुद्रिक ग्रन्थ लिखित करने का भी उल्लेख मिलता है। वाचस्पति तथा हेमचन्द्र ने वात्स्यायन को 'पक्षिल स्वामी' नाम से भी ज्ञापित किया है, सर्वदर्शन-संग्रह में भी यही नाम बतलाया है।

वात्स्यायन ने पातञ्जलि और कौटिल्य के उद्धरण दिये हैं, इससे तीसरी सदी का प्रतीत होता है।

पक्षिल स्वामी नाम के कारण कुछ लोगों ने द्रविड़ समझने की सम्भावना मानी है। द्रविड़ों के आहार-विहार की भी कामसूत्र में चर्चा हुई है किन्तु वात्स्यायन ने सभी प्रान्तों के मानव स्वभाव का, रहन-सहन का वर्णन किया है, अन्यथा सार्वदेशिक विषय का वर्णन कैसे कर सकता था।

वात्स्यायन ने जिस प्रकार से नागरक और कलाओं का वर्णन किया है उससे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि वह मालव नागरक का निवासी होना चाहिए। उसने नागरक के महत्त्व का प्रतिपादन किया है। जिस प्रकार वात्स्यायन के विधानों पर कौटिल्य का अत्यधिक प्रभाव परिलक्षित होता है, उसी प्रकार पातञ्जलि के महाकाव्य के उद्धरणों का उपयोग करने के कारण यह प्रतीत होता है कि ई०पू० १५० वर्ष के पश्चात् निकटवर्ती काल में रहा है। दूसरे भास के नाटकों में जिस तरह के समाज का चित्र अंकित हुआ है वात्स्यायन में भी वैसे ही मिलता है। वात्स्यायन ने अविमारक की कथा का उल्लेख किया है। इसलिए भास के परवर्ती काल में होना चाहिए। कालिदास ने भी स्पष्ट ही भास का उल्लेख किया है। एक स्थान पर वात्स्यायन ने यह कहा है कि शकुन्तला की तरह अन्य कुमारिकाओं की बात कहकर अपनी पसन्दगी के अनुरूप किस प्रकार मुग्ध बन सकती आदि।

(पश्यान्य आदिमनागजातीया कन्या) शकुन्तलाया स्वबुध्या
भर्तारं प्राप्य संप्रयुक्ता मोदन्तेस्म नास्वात्या निदर्शयेत् (पृ० २७८)

इससे विदित होता है कि जिस प्रकार अविमारक-प्रणेता भास से वह परिचित है, उसी प्रकार शाकुंतल निर्माता कालिदास से भी वह परिचित है। शकुन्तला का वृत्त महाभारत में प्रसिद्ध है, किन्तु अविमारक का भी उसी प्रकार है। परन्तु दोनों ही नाटक रूप में जनप्रिय बनकर प्रभावक अधिक बने हैं।

कालिदास और वात्स्यायन का अवश्य ही अधिक सम्बन्ध होना चाहिए, कालिदास ने रघुवंश में कामासक्त अग्निवर्ण की विलासिता का जैसा वर्णन किया है, ठीक वैसी ही व्याख्या कामसूत्र में प्राप्त होती है। यही नहीं शब्द-प्रयोगों में भी साम्य है। सोलहवें श्लोक में कवि ने जिस 'सधाम' शब्द का प्रयोग किया है, उसी का विशेष प्रतिसधाम (कामसूत्र ३-७) तथा इसी अर्थ में प्रयोग वात्स्यायन ने किया है और उसी सर्ग के ३१वें श्लोक में भी देखिए—

मित्रकृत्यमपदिश्य पार्श्ववर्ती ।
प्रस्थितं तमनवस्थितं प्रिया । (१९-३१ रघु)

वात्स्यायन ने भी अपने प्रेमी को जो विरक्त बन रहा है किस प्रकार पहचाना जाय, उसका उल्लेख करते हुए लिखा है—

मित्रकुटममपदिश्य अन्यत्र शेते । (३२३)





इसी प्रकार अज और इदुमति के विवाह का वर्णन करते हुए कालिदास ने कहा है—

आसीद्वर' कटकितप्रकोष्ठ ।
स्विन्नागुलि सवव्रत्ते कुमारी ।

अर्थात् जब अज ने इदुमति का पाणिग्रहण किया तब अज के हाथो मे रोमाच हो उठा, और इन्दुमति की अगुलिया पसीनें से भर गयी थी ।

वात्स्यायन ने ऐसे ही प्रसग पर वही शब्द प्रयुक्त किये है—

कन्या तु प्रथमसमागमे स्विन्नागुलिवन्नत मुखी च भवति पुरुषस्तु रोमाचितो भवति

दूसरी जगह कालिदास ने इसी बात को थोडा पलट कर कहा है—

रोमोद्गम प्रादुरभूदुमाया ।
स्विन्नागुलि पुगवकेतुरासीत् ।। (कुमार सभव)

कामसूत्र निर्माता ने महाकवि के स्वाभाविक-मनोवैज्ञानिक वर्णन को सामने रख कर ही अपनी व्याख्या वर्णित की होगी । यदि कवि ने वात्स्यायन की व्याख्या को लक्ष्य में रख कर यह पयोग किया होता तो रघुवश और कुमारसभव में विभिन्नता नही करता । इससे यही स्पष्ट होता है कि वात्स्यायन ही पर महाकवि का प्रभाव है ।

और भी देखिए—कालिदास की शकुतला का यह श्लोक बहुत प्रसिद्ध है—

शुश्रूषस्व गुरून् कुरु प्रियसखीवृत्ति सपत्नीजने ।
भर्तुर्विप्रकृतापि रोषणतया मास्म प्रतीपगम ।।

शाकुन्तल के इस श्लोक के प्रथम, तृतीय और चतुर्थ चरण की सूचनाओ का वात्स्यायन ने अपने सूत्रो में स्पष्ट उपयोग किया है, जो सर्वथा समानार्थक है । श्लोक के प्रथम दो चरणो का भाव ग्रहण किया है और तीसरे चरण का तो शब्दश उपयोग किया है । वात्स्यायन का वह सूत्र इस प्रकार है—

श्वश्रूश्वशुरपरिचर्या तत्पारतन्त्र्यमनुत्तरवादिता
भोगेष्वनुत्सेक, परिजने दाक्षिण्य । (कामसूत्र पृ० २३०)

तीसरे प्रकरण के भार्याधिकरण स्तम्भ मे कामसूत्रकार ने सपत्नी के सम्बन्ध में लिखा है—

नायकापचारेषु किंचित् कलुषिता नात्यर्थं निर्वदेत्। साधिक्षेपवचनत्वेन ।
मित्रजनमध्यस्थमेकाकिन वाप्युपालभेत नच मूलकारिकास्यात् । (पृ० २२७)

शाकुन्तल के पचम अक में एक स्थान पर दुष्यन्त ने कहा है—

नागरिकवृत्या सज्ञापयैनाम् ।

ठीक उसी प्रकार और इसी अर्थ मे कामसूत्र मे 'नागरकवृत्तम्' विचरण प्रस्तुत किया है ।

शाकुन्तल के प्रथम अक की कुछ बातो का वात्स्यायन के 'कन्याविस्रभ प्रकरण' से बहुत अधिक साम्य है ।

"जिस समय किसी तरुणी को यह पता चल जाये कि कोई युवक उसका प्रणय प्राप्त करने को उत्सुक है, तब वह दोनों ओर की परिचिता सखियो द्वारा सदेश व्यवहार आरम्भ करे । उस समय निम्न मुखी बन मदस्मित करे, सखी द्वारा अतिशयोक्ति करने पर रोष प्रकट करे, झगड पडे, तब सखी कहे कि 'उसी न तो कहा था ।' और जब

नवो एक ओर निराश भाव तथा प्रियतम से सम्भाषण का अवसर मिले, तब कुछ न बोले और प्रिय के अत्यधिक आग्रह पर कहे कि 'नाथ मैं ऐसी बात कभी नहीं कह सकती' उस समय तिरछी नजरों से देखती जाए, तथा मदस्मित करे' (कामसूत्र १६४)।

मानो यह प्रियंवदा और अनसूया से ही विवाद चल रहा है, तथा दुष्यन्त के साथ इसकी परिणति हो रही है, यह कालिदास के शाकुन्तल को देख कर ही लिखा गया हो।

वात्स्यायन प्रथम शती का है। वह अपने समय की अवन्ती (उज्जयिनी) को मालव देश में मानता है। अर्थात् प्रथम शती में अवन्ती को मालव समझा जाता था। जो लोग यह मानते हैं कि मालव पंजाब से आए और ५-६ठी शती में इस प्रदेश को मालव कहा गया है उनको वात्स्यायन का यह कथन कि—

आवन्तिका उज्जयिनी-देशजा त एव अपरमालव्या (कामसूत्र १२७) आवन्तिक-उज्जयिनी में देशोत्पन्न जो लोग हैं वे ही अपर-मालव हैं।

वात्स्यायन के अनेक उल्लेखों से, समाज के विचारकों से यही ज्ञात होता है कि वह मालव का था। सम्भवतः शुंग काल के अन्तिम काल में रहा है।

शुंग के अन्तिम राजाओं के चरित्र-पतन आदि का इस पर उनका असर हुआ होना चाहिए, क्योंकि ऐसे नरेशों की उसमें आलोचना की है। और सद-गायन का महत्त्व दिया है। सम्भवतः शुंगोत्तर-मालव-राज्य का नागरिक रहा था। नागरिक जीवन के वर्णन से भी यही प्रतीत होता है, वात्स्यायन ने देश की भौगोलिक और सामाजिक स्थिति का जैसा वर्णन किया है ठीक वैसा कालिदास के काव्यों और नाटकों से मिलता है। जिस युग के नागरिकों का सुखमय, कला-विलासपूर्ण जीवन वात्स्यायन ने देखा है अथवा चित्रित किया है, कालिदास के साहित्य में उससे कोई अन्तर नहीं प्रतीत होता।

वासवदत्ता के निर्माता सुबन्धु ने वात्स्यायन का उल्लेख किया है। सुबन्धु स्पष्ट ही चन्द्रगुप्त द्वितीय के पूर्व हुआ है। उसके उल्लेख तथा कालिदास के अन्तर साम्य रखने वाले उद्धरणों से स्पष्ट है कि वात्स्यायन गुप्त काल के पूर्ववर्ती हैं और कालिदास से सुपरिचित होने से उनका प्रथम शती में होना स्वाभाविक है। भास एवं कौटिल्य से प्रभावित होने से लगता यह इनके पश्चात् काल में मालव में रहा है।

आन्ध्र-सम्राट् कुन्तल शातकर्णि के विषय में वात्स्यायन ने एक उद्धरण दिया है—

कर्तर्या कुन्तलः शातकर्णिः शातवाहनो महादेवीं मलयवतीं जघान (कामसूत्र १४६)

डा० जायसवाल के मतानुसार इस शातकर्णी पर खारवेल ने ई०स० पूर्व १७१ में आक्रमण किया था, (ज० बि० ओरि० रिस० सो० [illegible] पृ० [illegible])

कुन्तल ई० स० के आरम्भ में उत्पन्न हुआ था, इस प्रमाण के आधार पर वात्स्यायन प्रथम शती या इसके लगभग रहता है और कुन्तलेश्वर दौत्यम् से सम्बन्धित-कालिदास भी इसी काल में स्थिर होता है।

वात्स्यायन ने ठीक इसी प्रकार के वर्णाश्रम धर्म का स्वरूप बतलाया है जिस तरह कालिदास ने अपने साहित्य में वर्णन किया है।



कालिदास पाटलिपुत्र और मगध को विशेष कोई महत्त्व नहीं देता। वात्स्यायन ने भी देश के विभिन्न भागों, रीति रिवाजों का वर्णन किया है, परन्तु मगध का महत्त्व नहीं दिया है। यह बतलाया है कि जिस समय मगध का महत्त्व विनष्ट हो गया था शुंग-शक्ति प्रबल हो गई थी, तथा विदिशा में राजधानी बन गई थी, उसी समय कालिदास और वात्स्यायन के साहित्य का सृजन हुआ है।



वात्स्यायन ने नागरिक जीवन का वैभव-विलासितापूर्ण, सुखी, एव कलामय जीवन अंकित किया है, भास-अश्वघोष कालिदास मे भी ऐसा ही चित्र मिलता है, सुधाधौत-धवल-प्रासाद, रम्य-चित्र-कलांकित दीवारें, कलापूर्ण स्तम्भ, धरणी तल, कलाकण, मनोरम उद्यान, लताकुंज, सुरभित सुमन, सुन्दर स्नानगृह, शीत-समीर के लिए स-चदनाम्बु-व्यजन, विश्राम गृह, रहस्यमय-विलास स्थान अन्त पुर की रचना का वर्णन वासवदत्ता, चारुदत्त अश्वघोष, कालिदास की मालविका और मेघदूत ऋतुसंहार मे इतना साम्य रखता है कि समकालीन वर्णन हो, तथा तत्कालीन सुखी-समाज का प्रत्यक्ष अनुभव कर उन्होंने साहित्यरचना की है। नागरिकों की दिनचर्या का वर्णन देखकर चारुदत्त का ही चित्र प्रत्यक्ष हो जाता है। अग्निमित्र और मेघदूत के विलासी यक्ष के साथ तुलना कर सकते हैं, शरीर प्रसाधन, सुरभित लेपन, केश-संस्कार, धूप, सुरभित सुमनमाला, नयनो मे कज्जल, पैरो मे अलक्तक, अधरो पर अरुण-राग-रंजन, करांगुलीय, आदि का साम्य चारुदत्त, यक्ष, नन्द के प्रासाद के अन्त.पुर में रूप-रमणियां के प्रसाधन रंग-विलास से सहज की जा सकती है। कुंकुम-केशर चर्चित-कलेवर कालिदास के लग्न कुंकुम केशराश के समान ही प्रतीत होता है। वात्स्यायन की तरह ही प्रथम-शती मे विरचित 'ललित-विस्तर' मे भी सुरभित-साधनो के प्रयोग, अनुलेपन, स्नानीय-सुरभित द्रव्य, फेनिल पदार्थों का प्रयोग, नख, स्तन, अधरो को रंगानुरंजित करने की विधियो का जैसा वर्णन भास, वात्स्यायन, ललित-विस्तर मे हुआ है, वह विशेष मनोहारिता के साथ कालिदास के साहित्य मे सुलभ होता है। पशु-पक्षियो के पालन की प्रवृत्ति, नृत्य, संगीत, वादन, नाट्य अभिनय, गोष्ठी आदि भी ठीक उसी प्रकार है, जैसे कालिदास ने वर्णित की है। शिलालेखो मे प्रमाणित होता है कि वात्स्यायन के समय सु-संस्कृत-समाज की व्यवहार भाषा संस्कृत रही है, और जनसाधारण की प्राकृत, यह शाकुंतल एव मालविका के पात्रो के प्रयोग से प्रमाणित है।

वात्स्यायन ने उस समय के समाज मे गोष्ठी-प्रथा का प्रचलन बतलाया है, भास के आदिनाटक और दूसरे नाटको मे भी ऐसे वर्णन हुए हैं। कालिदास के साहित्य मे यह स्थिति सहज देखी जा सकती है। कालिदास ने मनोरंजन के लिए कथा कहानियो को महत्त्व दिया है, 'उदयन कथा कोविद ग्रामवृद्धान' 'पात्र गोष्ठि' आदि यही बतलाती हैं। इसी तरह उद्यान-भोज, वन परम्परा, मदनोत्सव, वसंतोत्सव, अशोकोत्सव, कौमुदी महोत्सव, आदि की चर्चा समानरूप से भास, कालिदास, वात्स्यायन में प्राप्त होती है। नागरिक जीवन के इन वर्णनों में सुखी समाज, वैभव विलासिता का जो रूप वर्णित है, वह प्रमाणित करता है कि तत्कालीन साहित्य-स्रष्टा-वर्ग भारत के अतीत काल और स्थान विशेष की प्रवृत्ति से प्रभावित है। 'प्रिय शिष्या ललिते कलाविधौ' का रूप मालविका मे स्पष्ट है। वात्स्यायन की सुन्दरी लावण्यवती सुसज्जित-शृंगारित-सालंकृत-नारी का रूप यक्षपत्नी और मालविका मे दिखाई देता है। पति के प्रवास विरहकाल में पाल के व्यवहारो का वर्णन—भास और वैदिक—परम्परा में प्राप्त है वही वात्स्यायन मे मिलता है, और यक्षिणी की स्थिति को कालिदास द्वारा उद्धृत अलका मे भी अनुभव कर सकते हैं और हमारे समक्ष एक सरीखा चित्र प्रस्तुत हो जाता है।

वात्स्यायन के समय में भी जनसाधारण में प्राय एक पत्नी की प्रथा रही है। 'एक चरित्र' शब्द से यही लक्षित है। वात्स्यायन के धनिक-जन प्राय बहुदारप्रिय रहे हैं। राजाओ की भी यही स्थिति रही थी। ललितविस्तर के शुद्धोधन की भी कई पत्निया थीं, उनमें श्रेष्ठ मायादेवी थी। कालिदास के 'बहुवल्लभा राजान से इसका साम्य है। यद्यपि वात्स्यायन ने प्रणय के लिए 'परदार-प्रणय' का प्रसंग प्रस्तुत किया है किन्तु वात्स्यायन नागरिको के पतन का पुरस्कर्ता नही है। वह शील और मर्यादा का उपदेशक भी है। निरंकुशता को उसने तिरस्करणीय बतलाया है। कालिदास के 'अनिर्वचनीय परकलत्रम्' से वह सहमत है।

वात्स्यायन ने नारी के कलाशिक्षण को महत्त्व दिया है, जिस प्रकार गणदास से मालविका कला-शिक्षा लेती है। कुलीन कलाकारो को सत्परिवारों मे, राज्य के अन्त पुरो मे प्रवेश मिलता था।

कामसूत्रप्रणेता ने जिन स्त्रियो को तापसी, साध्वी के रूप मे रहने की सूचना की है, उनमें बुद्ध, श्रमण, क्षपण, और ब्राह्मण-साध्वी का उल्लेख है और इन्हे नागरिक नारियो मे कम सम्बन्ध रखने की सूचना है। वात्स्यायन

ने इसका कारण यह बतलाया है कि इन भिक्षुणियों के द्वारा प्रणय-सदेश-व्यवहार होता था। मालविकाग्निमित्र की 'कौशिकी' इसका प्रमाण है। मालतीमाधव में तो बहुत स्पष्ट रूप में यही स्थिति है। वात्स्यायन और कालिदास इस स्थिति से पर्याप्त परिचित थे।

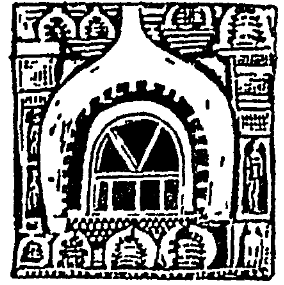
वात्स्यायन के समय चित्रकला का विकास पर्याप्त हो गया था। दीवार, पट्ट फलक आदि पर चित्रांकन होता था। चित्र-कथाएँ अंकित की जाती थी। चदन दास के घर पर चाणक्य के गुप्तचरों ने यम-पट्ट का दर्शन किया था। मुद्राराक्षस में वर्णन हुआ है, रगपेटी, कुमारियों को देने का उल्लेख है। चारुदत्त के वर्णन में, रग, रग-पात्र, भित्ति-चित्रों की चर्चा है। वात्स्यायन ने रग, और चित्रों की चर्चा के विषय में रस, भाव, आदि की सुन्दर व्याख्या की है। कालिदास का दुष्यन्त चित्रकार और चित्रप्रेमी है। राजभवन में चित्रांकन का शाकुन्तल में तथा मालविका के चित्र-रूप का सुन्दर वर्णन हुआ है। प्रतिकृति-रचनाम्य से स्पष्ट विदित होता है कि पुरुषों और युवतियों के चित्रों का विवाह से पूर्व राज-परिवारों में आदान-प्रदान होता था। इस प्रकार कालिदास और वात्स्यायन में अद्भुत साम्य है। दोनों ही समान वातावरण और स्थिति से अनुप्राणित प्रेरित-प्रभावित हैं। कालिदास-भास आदि मालव भूमि से ही सम्बन्धित हैं, यह उनकी अनुराग-भूमि और कार्यक्षेत्र रहा है। इसमें मतभेद का अवसर नहीं है। ऐसी अवस्था में वात्स्यायन में जो प्रत्येक पहलू में रस-रूपना दिखाई देती है, वह इसी प्रदेश में उनके अस्तित्व का समर्थन करने वाली है। चतुर्भाणी के पद्म-प्राभृतक और पादताडितक के रस-विलास वैभव का जो प्रत्यक्ष-चित्र अवन्ती के वातावरण में ओतप्रोत था वह प्रमाणित करता है कि वात्स्यायन के कामसूत्र-प्रणयन के लिए इससे सुन्दर, सर्वथा अनुकूल एव प्रेरक वातावरण अन्यत्र मिलना सुलभ नहीं हो सकता था।

०



आचार्य सोमदेव[1]

पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री
आचार्य, स्याद्वाद जैन महाविद्यालय, वाराणसी



सोमदेव के दो ग्रन्थ उपलब्ध है—यशस्तिलक[2] और नीतिवाक्यामृत ।[3] प्रथम को 'यशोधरमहाराजचरित' भी कहते है । इसके आठ अध्यायो मे, जिन्हे आश्वास कहा गया है, गद्य तथा पद्य मे महाराज यशोधर की करुण कथा वर्णित है । दूसरा ग्रन्थ राजनीति से सम्बद्ध है । इसमे ३२ अध्याय है तथा सूत्रो द्वारा विविध विषयो की चर्चा की गई है । ऐसा प्रतीत होता है कि नीतिवाक्यामृत यशस्तिलक के पश्चात् रचा गया है ।

सोमदेव ने यशस्तिलक[4] के अन्त मे अपने सम्बन्ध मे स्पष्ट सूचना दी है । वह देवसघ के अनुयायी थे और यशोदेव के प्रशिष्य तथा नेमिदेव के शिष्य थे । नीतिवाक्यामृत की प्रशस्ति बतलाती है कि सोमदेव महेन्द्र देव के छोटे भाई थे और 'स्याद्वादाचलसिंह' 'तार्किकचक्रवर्ती' 'वादीभपञ्चानन' 'वाक्कल्लोलपयोनिधि' और 'कविकुलराज' उनकी उपाधिया थी। तथा सोमदेव ने 'यशोधरमहाराजचरित' षण्णवतिप्रकरण' 'महेन्द्र-मातली सजल्प' और 'युक्तिचिन्तामणिसूत्र' नामक ग्रन्थो की रचना की थी । इनमे से अन्तिम ग्रन्थ के नाम के सम्बन्ध मे कुछ सन्देह है क्योकि पाटन के जैन भण्डार मे, सवत् १२९० मे लिखी हुई नीतिवाक्यामृत की एक प्रति मे उसका नाम 'युक्तिचिन्तामणिस्तव' दिया है ।

सोमदेव आगे कहते[5] है कि शक सम्वत् ८८१ मे (९५९ ई०) सिद्धार्थसवत्सर मे चैत्र मास की मदन त्रयोदशी के दिन यशस्तिलक रचा गया । उस समय कृष्णराजदेव, पाड्य, सिंहल, चोल, चेर आदि राजाओ को जीतकर मेलपाटी मे अपना राज्य फैला रहा था । सोमदेव का यह कथन ऐतिहासिक सत्य की दृष्टि से उल्लेखनीय है क्योकि महान् राष्ट्रकूटसम्राट् कृष्णराज तृतीय के करहाड दानपत्रादि मे इसका समर्थन होता है । यह दानपत्र सोमदेव के यशस्तिलक की समाप्ति मे कुछ ही सप्ताह पूर्व ९५९ ईस्वी की ९ मार्च को मेलपाटी मे जारी किया गया था । सोमदेव की तरह इस शिलालेख मे भी कृष्णराज तृतीय को चोल, चेर, पाड्य, सिंहल तथा अन्य देशो का विजेता लिखा है तथा यह भी लिखा है कि उसने रामेश्वर मे एक विजयस्तम्भ स्थापित किया ।

यह लिखना मनोरजक होगा कि पुष्पदन्त ने भी अपने अपभ्रश भाषा के महान् काव्य महापुराण मे कृष्णराज तृतीय के मेलपाटीशिविर का उल्लेख किया है । जिस वर्ष मे (९५९ ई०) सोमदेव का यशस्तिलक पूर्ण हुआ, उसी वर्ष मे महापुराण का आरम्भ हुआ । और ९६५ ई० मे वह पूर्ण हुआ ।

---

१ प्रो० कृष्णकान्त हन्दिक्की के 'यशस्तिलक एण्ड इण्डियन कल्चर' के आधार पर लिखित—'लेखक'

२ निर्णयसागर प्रेस बम्बई मे मुद्रित ।

३ माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला बम्बई से प्रकाशित ।

४ 'श्रीमानस्ति सदेवसघतिलको देवो यश पूर्वक, शिष्यस्तस्य बभूव सद्गुणनिधि श्री नेमिदेवाह्वय ।
तस्याश्चर्यतप स्थितेस्त्रिनवतेर्जेतुर्महावादिनां, शिष्योऽभूदिह सोमदेव इति यस्तस्यैष काव्यक्रम' ।।

५ 'शकनृपकालातीतसवत्सरशतेष्वष्टस्वेकाशीत्यधिकेषु गतेषु (अकत ८८१)
सिद्धार्थसवत्सरान्तर्गतचैत्रमासमदनत्रयोदश्यां—मेल्पाटी प्रवर्धमान राज्यप्रभावे श्रीकृष्णराजदेवे सति' ।

महापुराण मे पुष्पदन्त लिखते हैं—

> तं पहमि पुराणु पसिद्ध णामु, सिद्धत्थवरिसि भुवणाहिरामु ।
> उवद्धजूडु भूभंग भीसु, तोडेप्पिणु चोडहो तणउ सीसु ।
> भुवणेक्करामु रायाहिराउ, जहि अच्छइ तुडिगु महाणुभाउ ।
> तं दीणदिण्णधणकणयपयरु, महि परिभमंतु मेपाडिणयरु ।

अर्थात्—सिद्धार्थ वर्ष मे महापुराण का प्रारम्भ हुआ। उस समय राजाधिराज 'तुडिग' जिसे टिप्पण मे कृष्ण-राज कहा है, चोल युवराज का सिर काट डालने के बाद मेलपाडि मे वर्तमान था। टिप्पण मे मेपाडि को मेलपाटीय-नगर लिखा है जो मेलपाटी है।

पुष्पदन्त ने मेलपाटी नगर को आनन्द मे मग्न लिखा है और लिखा है कि वहा गरीबो को धन-सोना दिया जाता था। यह अनुमान करना स्वाभाविक है कि उस वर्ष मेलपाटी मे कृष्णराज तृतीय अपने दक्षिणविजय का उत्सव मना रहा था और इस उत्सव के कारण नगर सानन्द में मग्न था। दक्षिण भारत के इतिहास में ९५९ ई० का वर्ष असंदिग्ध रूप से राजनैतिक और सांस्कृतिक महत्त्व का था। क्योकि इस वर्ष दक्षिण में राष्ट्रकूट आधिपत्य की पूर्णता ही नहीं देखी बल्कि भारतीय साहित्य के दो स्मरणीय ग्रन्थो का आरम्भ और समाप्ति भी देखी।

यद्यपि सोमदेव कृष्णराज तृतीय का समकालीन था किन्तु उसका ग्रन्थ राष्ट्रकूटो की राजधानी मान्यखेट मे नहीं रचा गया। बल्कि एक अप्रसिद्ध स्थान गगाधारा मे रचा गया। यह गगाधारा सम्भवत कृष्णराज[1] के करद राजा चालुक्य सामन्त अरिकेसरी के बड़े पुत्र वागराज की राजधानी थी।

'वागराज' नाम के पढ़ने मे कुछ सन्देह है। यद्यपि यशस्तिलक की मुद्रित प्रति मे और एक अन्य मुलिखित प्रति मे 'वागराज' ही पढा जाता है। किन्तु किन्ही प्रतियो मे वाद्यराज पढा जाता है। और प० नाथूराम प्रेमी ने एक प्रति मे 'वाद्यगराज' पढ़ा है। शुद्ध नाम वद्दिग प्रतीत होता है, वाड्यगज और वाद्यगराज उसी का सस्कृत रूप है।

पुराने हैदराबाद राज्य के परभनी नामक स्थान मे एक ताम्रपत्र पर सस्कृत मे अकित शिलालेख मिला है। उसने सोमदेव की यशस्तिलक की रचना के सात वर्ष पश्चात् की केवल झलक ही नहीं दी, किन्तु जिनके राज्य मे रहकर सोमदेव ने अपनी रचना की थी उन चालुक्य सामन्तो की वशावली भी दी है। राष्ट्रकूटो के इन करदाताओ की वशावली ई० स० ९४१ तक तो हमें ९४१ ई० में जैन कवि पम्प के द्वारा रचे गये कन्नड भाषा के ग्रन्थ 'भारत' से ज्ञात है। इस शिलालेख से ई० ९६६ तक ज्ञात हो जाती है। यह तालिका नीचे लिखे अनुसार सकलित की जा सकती है—

युद्धमल्ल प्रथम, अरिकेसरिन् प्रथम, नरसिंह प्रथम (भद्रदेव), युद्धमल्ल द्वितीय, वद्दिग प्रथम, युद्धमल्ल तृतीय, नरसिंह द्वितीय, अरिकेसरिन् द्वितीय (इसने एक राष्ट्रकूट राजकन्या लोकाम्बिका से विवाह किया), भद्रदेव, अरिकेसरिन् तृतीय, वद्दिग द्वितीय (वाद्यग) अरिकेसरिन् चतुर्थ।



इनमे से अरिकेसरिन् द्वितीय पम्प कवि का आश्रयदाता था और वद्दिग द्वितीय अथवा वाड्यग के राज्य मे सोमदेव ने अपनी प्रसिद्ध रचना की थी जैसा कि ग्रन्थ के अन्त मे लिखा है। उक्त ताम्रपत्र मे शक सवत् ८८८ अथवा ९६६ ई० मे अरिकेसरिन चतुर्थ के पुत्र वाड्यग के द्वारा सोमनाथ को एक गाव दान मे देने का उल्लेख है। यह दान वुरुपाटक नाम की अपनी राजधानी मे वाड्यग के द्वारा बनवाये गये एक जैन मन्दिर की, जिसका नाम शुभधाम जिनालय था, मरम्मत और सुरक्षा के लिए दिया गया था। उस गाव का नाम 'वनिकटु पुलु' था।

१ श्रीकृष्णराजदेवे सति तत्पादपद्मोपजीविन —चालुक्यकुलजन्मन सामन्तचूडामणे श्रीमदरिकेसरिण प्रथमपुत्रस्य श्रीमद्वागराजप्रवर्धमानवसुधारया विनिर्मापितमिदं काव्यमिति ।



उक्त उल्लेख से यह स्पष्ट है कि ९६६ ई० मे सोमदेव शुभधाम जिनालय में अधिकारी थे और शान्तिपूर्वक अपने साहित्यिक कार्य मे सलग्न थे। जैसा कि शिलालेख मे उन्हे यशोधरचरित के साथ साथ एक अब तक अनजाने ग्रन्थ स्याद्वादोपनिषद् का कर्त्ता लिखने मे प्रतीत होता है। यह भी लिखा है कि समकालीन विद्वान् सोमदेव का बहुत सन्मान करते थे और राजा तथा सामन्त उनके चरणो मे आदरपूर्वक सिर झुकाते थे।

किन्तु इस सम्बन्ध मे एक बात उल्लेखनीय है शिलालेख मे कम से कम दो बातें ऐसी हैं जो भ्रम पैदा करती है। प्रथम तो सोमदेव के दादा गुरु यशोदेव को गौड सघ का अनुयायी बतलाया है। किन्तु ऊपर हम देख आये है कि सोमदेव ने स्वय यशोदेव को देवसघ का अनुयायी बतलाया है। दूसरे, अरिकेसरि चतुर्थ की राजधानी (लें) बुलपाटक बतलाई है, जिसके विषय मे निश्चित रीति से कुछ भी ज्ञात नही है। यद्यपि यह पुराने हैदराबाद राज्य में किसी जगह हो सकती है।

यह विचारणीय है कि अब तक हमे जोला प्रदेश पर शासन करने वाले तीन चालुक्य सामन्तों की राजधानी के नाम ज्ञात हो सके हैं। प्रसिद्ध कन्नड कवि पम्प का आश्रयदाता अरिकेसरी द्वितीय पुर्लीगेरे से राज्य करता था। सोमदेव के लेखानुसार वाद्दग गगधारा से राज्य करता था। और उसका पुत्र अरिकेसरी चतुर्थ कहता है कि (लें) बुलपाटक उसकी राजधानी थी। यह भी उल्लेखनीय है कि जैसे सोमदेव ने वाद्दग के पिता अरिकेसरी को कृष्णराज का करदाता बतलाया है वैसे ही प्रस्तुत शिलालेख वाद्दग के पुत्र अरिकेसरी को बिलकुल उसी रूप मे उसी प्रदेश का करद सामन्त बतलाया है।

जब कि सोमदेव कृष्णराज तृतीय और वाद्दग के समकालीन थे, यह स्पष्ट नही होता कि इन दोनों मे से कोई एक उनका आश्रयदाता था या नही। सम्भवत सोमदेव का कोई आश्रयदाता नही था। सोमदेव एक जैनाचार्य थे। उन्होने बडे आदर के साथ अपने गुरु का उल्लेख किया है। इसके सिवाय वह एक राजनीतिक विचारक थे और अपने नीतिवाक्यामृत मे उन्होने राज्य को नमस्कार किया है किसी राजा को नही। फिर भी यह निश्चित है कि वह राज-दरबार के जीवन मे सुपरिचित थे और उन्होने राष्ट्रकूटों की राजधानी में कुछ समय बिताया होगा। उन्होंने यशस्ति-लक के तीसरे आश्वास मे राजसभा का जिस बारीकी से वर्णन किया है, गगधारा जैसे प्रदेश के क्षुद्र जागीरदार से उसका सम्बन्ध नही जोडा जा सकता। वह तो किसी ऐसे साम्राज्य के लिए ही उपयुक्त हो सकता है, जो दूसरे देशों के राजदूतों का स्वागत तथा दुराग्रही राजाओ के विरुद्ध युद्ध-घोषणा करता है तथा अपनी इच्छानुसार हिन्दुस्तान के विभिन्न भागो से सैन्यदल बुला सकता है। नीतिवाक्यामृत के रचयिता सोमदेव राष्ट्रकूट साम्राज्य के एक स्वदेशाभि-मानी नागरिक थे। उन्होंने राज्यकार्यपद्धति के सिद्धान्तों और राज्यहित पर बहुत ध्यान दिया है। तथा अपनी महान् कृति मे युद्ध और शान्ति पर प्रभाव डालनेवाली शासकीय समस्याओं पर प्रकाश डालने के सिवाय राजसभा का अच्छा चित्र खींचा है।

पूर्ववर्ती शताब्दियो की तरह दसवी शती का समय सस्कृत, प्राकृत और कन्नड जैन-साहित्य की उन्नति का काल था। यदि हम सोमदेव के काल की सीमा बाधना चाहे तो बिना किसी बाधा के कृष्णराज तृतीय के राज्यकाल ९३९ से ९६८ई० तक के साथ उसकी अवधि बैठाई जा सकती है। इस काल के विद्वत्ता और साहित्य के इतिवृत्त मे हमे अनेक विशिष्ट नामो का परिचय मिलता है। ९४१ ई० मे प्रसिद्ध कन्नड कवि पम्प न दो काव्य लिखे —एक आदिपुराण, जिसमे प्रथम जैन तीर्थंकर का इतिवृत्त वर्णित है, और दूसरा विक्रमार्जुनविजय, जिसमे महाभारत की अथवा वस्तुत अर्जुन की कथा है। ई० ९५० के लगभग इस शताब्दी के दूसरे महान कन्नड कवि पोन्न ने कृष्णराज तृतीय के सरक्षण मे 'शान्ति पुराण' लिखा जिसमे सोलहवें तीर्थंकर शान्तिनाथ का पौराणिक इतिवृत्त वर्णित है। कृष्णराज ने कवि पोन्न को उसकी कन्नडी और सस्कृत दोनो भाषाओ मे प्रवीणता के लिए 'उभयभाषाकविचक्रवर्ती की प्रतिष्ठासूचक उपाधि प्रदान की थी। कृष्णराज तृतीय के राज्य के ठीक आरम्भकाल में इन्द्रनन्दि ने सस्कृत मे ज्वालामालिनीकल्प नामक ग्रन्थ लिखा था। यह ग्रन्थ ९३९ ई० मे मान्यखेट मे रचा गया था और इसमें कृष्णराज का उल्लेख है। सोमदेव के अति निकट

समकालीनों में से हमारी भेंट दो विशिष्ट व्यक्तियों से होती है। उनमें एक हैं पुष्पदन्त और दूसरे हैं मुजायवादी धंघल भट्ट। इनमें से हम पुष्पदन्त का उल्लेख कर चुके हैं। पुष्पदन्त ने ई० ९५९ में कृष्णराज तृतीय के मंत्री भरत की संरक्षता में अपना महापुराण आरम्भ किया था और भरत के पुत्र तथा उत्तराधिकारी नन्न की संरक्षकता में दो ग्रन्थ लिखे थे—एक 'जसहरचरिउ' जिसमें सोमदेव के यशस्तिलक की तरह यशोधर की कथा है, और दूसरा 'नायकुमारचरिउ' अथवा नागकुमार की कथा।

पुष्पदन्त ने अपभ्रंश में लिखा है। अब तक की खोज के फलस्वरूप वह अपभ्रंश भाषा में सब से प्रमुख जैन कवियों में से है। उसका विलक्षण साहित्यिक व्यासंग दसवीं शती में अपभ्रंश साहित्य को अभ्युन्नत दशा का साक्षी है। ९८८ ई० में हरिषेण ने अपभ्रंश भाषा में अपनी धर्मपरीक्षा लिखी है, उसमें उसने अपभ्रंश भाषा के तीन विशिष्ट कवियों का उल्लेख किया है—पुष्पदन्त, स्वयंभु और चतुर्मुख। तथा पुष्पदन्त स्वयं भी महापुराण[1] (१-९) में स्वयंभु और चतुर्मुख का उल्लेख करता है। स्वयंभु की दो रचनाएं – पउमचरिउ और रिट्ठणेमिचरिउ उपलब्ध हैं। उसका पुत्र त्रिभुवन स्वयंभु भी कवि था और उसने अपने पिता की कृतियों को पूरा किया है। स्वयंभु का समय आठवीं अथवा नौवीं शताब्दी स्थिर किया जा सकता है क्योंकि उसने अपने पउमचरिउ में पद्मचरित के रचयिता रविषेण (७वीं शती) का उल्लेख किया है और पुष्पदन्त ने स्वयंभु का उल्लेख किया है। चतुर्मुख स्वयंभु से प्राचीन है क्योंकि स्वयंभु ने अपने रिट्ठणेमिचरिउ में तथा अन्य ग्रन्थ में चतुर्मुख का निर्देश किया है। यह बात भी उल्लेखनीय है कि स्वयंभु ने अपनी स्वयंभु-छन्द नामक छन्दशास्त्र की एक अन्य पुस्तक में अपभ्रंश भाषा के अन्य अनेक कवियों को उदाहरण के रूप में उपस्थित किया है। इससे स्पष्ट है कि सोमदेव के समय में और उससे पहले अपभ्रंश भाषा की एक सुव्यवस्थित साहित्यिक परम्परा थी। और यह निस्सन्देह है कि अपभ्रंश साहित्य के फैलते हुए प्रवाह के प्रभाव से सोमदेव कुछ प्रभावित थे, क्योंकि उन्होंने अपने यशस्तिलक के कुछ पद्यों में अपभ्रंश भाषा के विभिन्न छंदों का उपयोग बड़ी चतुराई से किया है। एक ऐसे लेखक के लिए, जिसने सुबन्धु और बाण की शैली में उच्च कोटि की साहित्यिक संस्कृत लिखने का उपक्रम किया है, संस्कृत कविता में अपभ्रंश छन्द का उपयोग करना एक नवीन प्रयोग है। किन्तु यह बतलाता है कि सोमदेव के साहित्यिक साधनों की परिधि विस्तृत थी और तत्कालीन देशी भाषा के साहित्य में उनकी अभिरुचि थी।

सोमदेव और पुष्पदन्त की रचनाओं में विभिन्नता होते हुए भी कभी कभी वे दोनों एक ही साहित्यिक सामग्री का उपयोग करते हुए प्रतीत होते हैं। इसका उदाहरण यशोधर की कथा स्वयं है। तथा जब कि सोमदेव ने जमदग्नि और दो पक्षियों की कथा तथा वसुभूति और भद्रमित्र की कथा को यशस्तिलक के छठे और सातवें आश्वास में स्वतंत्र कथा के रूप में दिया है, पुष्पदन्त के महापुराण में ये कथाएं धार्मिक और पौराणिक जैन कथाओं की एक विस्तृत योजना का भाग हैं।

मुजायवादी धंघल भट्ट का परिचय हमें गंगराज मारसिंह (९६३ ई०) के कूडलूर दानपत्र से मिलता है। मारसिंह कृष्णराज तृतीय का करद सामन्त था। उसने वादी घंघल भट्ट को एक गांव दान में दिया था। उसी का दानपत्र में उल्लेख है। इस लेख में वादी घंघल भट्ट के प्रभाव और योग्यता का वर्णन है। वह लोकायत सांख्य और बौद्ध-दर्शन में तथा वेदार्थविचार में दक्ष था तथा जैन सिद्धान्तों का मर्मज्ञ और एक श्रेष्ठ कवि था। गंग नरेश बूतुग द्वितीय, कृष्णराज तृतीय और राष्ट्रकूटों की राजधानी से उसका घनिष्ठ सम्बन्ध था। साहित्यविद्या में उसकी निर्दोष व्याख्यान-निपुणता को देखकर गंगा गांगेय राज (बू) उसका शिष्य बन गया था। वल्लभराज की राजधानी के विद्वानों ने उसकी राजनीति-विद्या से प्रभावित होकर उसका सम्मान किया था। यह वल्लभराज कृष्णराज तृतीय ही प्रतीत होता है, क्योंकि करहाड दानपत्र में इसे वल्लभनरेन्द्रदेव लिखा है, और पुष्पदन्त के ग्रन्थों में वल्लभ नरेन्द्र और वल्लभराज लिखा है। उक्त लेख में कृष्णराज का स्पष्ट उल्लेख है। लिखा है कि कृष्णराज देव ने अपने सामन्तों के साथ वादी घंघल भट्ट का सम्मान किया क्योंकि उसने भट्ट की सलाह पर चल कर देशों को जीता था।

१ चउमुहु सयभु सिरिहरिसु दोणु, णालोइउ कइ ईसाणु बाणु।

इससे यह प्रकट होता है कि जब कि सोमदेव राजनीति के सिद्धान्तो में ही लीन था तब वादी घघल भट्ट एक व्यावहारिक राजनीतिज्ञ था और राष्ट्रकूट सम्राट् के राजनीतिक परामर्शदाता के रूप मे कार्य करता था। अस्तु,

कहा जाता है कि दो प्रमुख जैन कवि वादिराज और वादीभसिंह सोमदेव के शिष्य थे। श्रुतिसागर सूरि ने यशस्तिलक की टीका मे एक वाक्य[1] उद्धृत किया है जिसमे सोमदेव के द्वारा यह कहा गया है कि वादीभसिंह भी मेरा शिष्य है और वादिराज भी मेरा शिष्य है। किन्तु सोमदेव के दोनो उपलब्ध ग्रन्थो मे यह कथन नही पाया जाता तथा न तो वादिराज और न वादीभसिंह ही अपने किसी ग्रन्थ मे यह लिखते है कि सोमदेव हमारे गुरु हैं। पार्श्वनाथचरित के अन्त मे वादिराज कहते हैं कि मेरे गुरु मतिसागर है। इसके सिवाय वादिराज नन्दिसघ के थे जबकि सोमदेव देवसघ के थे। इसी तरह वादीभसिंह ने गद्यचिन्तामणि के प्रारम्भ मे अपने गुरु पुष्पदन्त के प्रति गहरी कृतज्ञता प्रकट की है। किन्तु कालक्रम के अनुसार वादिराज और वादीभसिंह का सोमदेव के शिष्य होना असभव नही है क्योकि वादिराज ने स्वय पश्चिमीय चालुक्य नरेश जयसिंह द्वितीय के राज्य में शक सम्वत् ९४७ (१०२५ ई०) मे अपने पार्श्वनाथचरित की रचना का निर्देश किया है। अब रहे वादीभसिंह, सो जयसिंह द्वितीय के १०३६ ई० के वेलगाव दानपत्र मे वादीभसिंह और वादिराज दोनो का निर्देश है। तथा वादीभसिंह के क्षत्रचूडामणि नामक काव्य के अन्त मे 'राजराज'[2] नरेन्द्र का निर्देश है। यह निर्देश अवश्य ही महान् चोल नरेश राजराज का है जिसने ९८५ से १०१४ तक राज्य किया है। इस तरह से यह सिद्ध है कि वादिराज और वादीभसिंह ग्यारहवी शती के प्रथम चरण मे हुए है। अब यदि श्रुतसागर के कथन को सच मान लिया जाय तो कहना होगा कि वे दोनों बचपन मे श्रुतसागर के शिष्य रहे है। किन्तु फिर भी यह बात विचित्र है कि वे दोनो अपने पूर्वगुरु सोमदेव के विषय मे एकदम चुप हैं।

युगनिर्माता सोमदेव

सोमदेव एक युगनिर्माता थे। उनके बाद भारत के विभिन्न भागों मे जितना जैन-साहित्य रचा गया, उसमें प्राय उनका अनुसरण पाया जाता है। सोमदेव के पूवर्जों में, नौवी शती के आरम्भ से लेकर दसवीं शती के पूर्व भाग तक हमे जो उल्लेखनीय नाम मिलते है, वे हैं—

वीरसेन (धवला और जयधवला टीका के रचयिता), जिनसेन (जयधवला को पूर्ण करने वाले और आदिपुराण आदि ग्रन्थो के रचयिता), गुणभद्र (उत्तरपुराण और आत्मानुशासन के रचयिता), जैन वैयाकरण शाकटायन, विद्यानन्द (अष्टसहस्री, तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक वगैरह के रचयिता), सिद्धर्षि (उपमितिभवप्रपञ्चकथा के रचयिता), और हरिषेण (बृहत्कथा कोश के रचयिता) तथा अन्य। सोमदेव के निकटतम उत्तराधिकारियो मे, दसवी शती के अन्तिम चरण मे लेकर ग्यारहवी शती के प्रथम चरण तक, हम जिन उल्लेखयोग्य व्यक्तियो से मिलते हैं वे हैं कन्नड ग्रन्थकार—जैसे चामुण्डराय, (जिन्होने गद्य मे चामुण्डरायपुराण लिखा), रन्न (जिसने अजितपुराण और गदायुद्ध लिखा), और नागवर्मा (बाण की कादम्बरी के कन्नडी अनुवादक), सैद्धान्तिक ग्रन्थकार जैसे नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती (जिन्होंने प्राकृत मे गोमट्टसार, द्रव्यसग्रह तथा अन्य ग्रन्थ लिखे), दार्शनिक साहित्य के रचयिता—जैसे न्यायकुमुद चन्द्र और प्रमेयकमलमार्तण्ड के रचयिता प्रभाचन्द, तथा कवि और विद्वान् जैसे, वादिराज[3] (जिन्होने पार्श्वनाथचरित, काकुत्स्थ चरित और यशोधरचरित लिखा, वादीभसिंह (गद्यचिन्तामणि और क्षत्रचूडामणि के रचयिता), धनपाल (तिलकमजरी के रचयिता), अमितगति (सुभाषितरत्नसदोह, धर्मपरीक्षा आदि के रचयिता, असग (वर्धमानचरित के रचयिता,) महासेन (प्रद्युम्नचरित के रचयिता), वीरनन्दि (चन्द्रप्रभचरित के रचयिता), और सम्भवत कनकामर (जिसने अपभ्र श मे करकण्डु चरिउ लिखा), तथा अन्य ग्रन्थकार जैसे—वैयाकरण दयापाल (रूपसिद्धि का लेखक और वादिराज का समकालीन)।

---

१ 'वादीभसिंहोऽपि मदीयशिष्य श्रीवादिराजोऽपि मदीयशिष्य' इत्युक्तत्वाच्च।

२ राजता राजराजोऽय राजराजो महोदयै।
तेजसा वपुषा शूर क्षत्रचूडामणिर्गुणै।

३ वादिराज दार्शनिक भी थे। अकलक के न्यायविनिश्चय पर इन्होंने टीका लिखी है जो मुद्रित हो चुकी है—ले०।

यद्यपि सोमदेव ने जैन धार्मिक साहित्य को ठोस सामग्री प्रदान की है, किन्तु उनकी साहित्यिक महत्ता और क्रियाशीलता इस संकुचित सीमा में आबद्ध नहीं है और सम्पूर्ण संस्कृत साहित्य के सम्बन्ध से ही उनके कार्य का मूल्य आंका जा सकता है। वह भारतीय साहित्य के इतिहास में सर्वोच्च प्रतिभाशाली पुरुषों में से हैं। और उनकी अपूर्व कृति यशस्तिलक उनकी कल्पना और बुद्धिचातुर्य के विभिन्न रूपों पर प्रकाश डालती है। वह गद्य और पद्य दोनों के सिद्धहस्त लेखक हैं, स्मृति के आगार होने के साथ ही साथ अत्यन्त व्युत्पन्न और जैन-सिद्धान्तों के अधिकारी विद्वान् हैं। समकालीन दर्शनों के एक चतुर आलोचक हैं। शासनकला के मर्मज्ञ हैं और इस दृष्टि से उनका यशस्तिलक और नीतिवाक्यामृत एक-दूसरे के पूरक हैं। वह प्राचीन लोककथाओं और धार्मिक कहानियों के सफल संग्राहक हैं और समयानुसार नाटकीय बातचीत में अपना चातुर्य प्रदर्शित करते हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं है कि संस्कृतसाहित्य में सोमदेव का स्थान अद्वितीय है।

यद्यपि यह सत्य है कि सोमदेव के इस यश का आधार उनका यशस्तिलक और नीतिवाक्यामृत है किन्तु आदि में वह एक जैन तत्त्वज्ञानी थे और लगभग आधा यशस्तिलक तथा सम्भवतः उनके अनुपलब्ध ग्रन्थ जैन सिद्धान्तों के वर्णन और संरक्षण से ओतप्रोत हैं। वह स्वयं इस तथ्य को स्वीकार करते हैं और हमें विश्वास करना पड़ता है कि उनकी कविता उनके दर्शनशास्त्र-अभ्यास की परम्परा उपज है। यशस्तिलक के आरम्भ में एक पद्य[1] द्वारा वे प्रकट करते हैं कि जैसे गाय घास खाकर दूध देती है वैसे ही जन्म से शुष्क तर्कशास्त्र का अभ्यास करनेवाली मेरी बुद्धि ने काव्यामृत की सूक्तियों को जन्म दिया है। यथार्थ में सोमदेव का वास्तविक व्यवसाय तर्क था। उनकी प्रतिष्ठासूचक तार्किकचक्रवर्ती और वादिपञ्चानन उपाधियां बतलाती हैं कि अपने समय के अनेक तार्किकों की तरह ही सोमदेव की शक्ति का बहुभाग प्रभावशाली प्रतिवादियों का खण्डन करने में हुआ था। वास्तव में वह समय ही ऐसा था, जैसा कि उस समय के जैन विद्वानों और ग्रन्थकारों के पाये जानेवाले वादिराज, वादीभसिंह, वादी घरट्ट, वादीभधवल, परवादिमल्ल, वादिकोलाहल आदि विचित्र किन्तु सार्थक नामों से स्पष्ट है। चीनी यात्री इत्सिंग ने ईसा की सातवीं शती के अन्त के लगभग भारत में प्रचलित शिक्षा का जो विवरण दिया है उससे भी उक्त बात का समर्थन होता है।

नीतिवाक्यामृत की प्रशस्ति सोमदेव की तार्किकता का समर्थन करती है और इस बात की घोषणा करती है कि समस्त वादियों में वह श्रेष्ठ थे। उदाहरण के लिए, प्रशस्ति के एक पद्य[2] में एक प्रतिवादी से यह पूछा गया है कि जब तू तर्क में अकलंक नहीं है, सैद्धान्तिक उक्तियों में हंस सिद्धान्तदेव नहीं है और वचनविलास में पूज्यपाद नहीं है तो सोमदेव के साथ तू वाद करने का साहस कैसे करता है। प्रशस्ति के अन्तिम पद्य में कहा है कि सोमदेव की सिंह-गर्जना को सुनकर प्रतिवादी रूपी हाथियों के हृदय थर्रा उठते थे और बृहस्पति भी उसके साथ शास्त्रार्थ करने में असमर्थ था।

यद्यपि इस आत्मप्रशंसा और गुणगान को लोकाचार कहा जा सकता है फिर भी यह सोमदेव के बौद्धिक साधनों को प्रकट करता है। सोमदेव का यह कथन कि मैंने बचपन से तर्कशास्त्र का अभ्यास किया है, बतलाता है कि उन्होंने तर्क, अध्यात्म और सम्बद्ध विषयों के विद्यार्थी के रूप में अपना जीवन प्रारम्भ किया। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि कविता को उन्होंने बाद में अपनाया। किन्तु कविता के प्रति उनका प्रेम बिल्कुल यथार्थ था और स्पष्ट रूप से यह मानना पड़ा कि कविता पिशाचनी है। यशस्तिलक के प्रारम्भ में उन्होंने लिखा है—

निद्रां विदूरयसि शास्त्ररसं रुणत्सि सर्वेन्द्रियार्थसमर्थविधिं विधत्से ।
चेतश्च विभ्रमयसे कविते पिशाचि लोकस्तथापि सुकृती त्वदनुग्रहेण ॥



---

१ आजन्मसमभ्यस्ताच्छुष्कात्तर्कात्तृणादिव ममास्याः ।
मतिसुरभेरभवदिदं सूक्तिपयः सुकृतिनां पुण्यैः ॥

२ सकलसमयतर्के नाकलङ्कोऽसि वादी, न भवसि समयोक्तौ हंससिद्धान्तदेवः ।
न च वचनविलासे पूज्यपादोऽसि तत्त्वं, वदसि कथमिदानीं सोमदेवेन सार्धम् ॥



'हे पिशाचनी कविते ! तू निद्रा को दूर भगा देती है, शास्त्रो के रसास्वादन को रोकती है, इन्द्रियो को दुर्बल कर देती है और मन को भ्रम मे डालती है। फिर भी जिस पर तेरी कृपा हो जाती है वह मनुष्य भाग्यशाली है।'

तर्क और कविता का सयोग जैसा कि सोमदेव मे पाया जाता है, भारतीय साहित्य के इतिहास के लिए कोई एकदम अद्भुत घटना नही है । इस प्रकार की प्रवृत्ति का अत्युत्तम उदाहरण नैपधचरित और खण्डनखण्डखाद्य का रचयिता कवि श्रीहर्ष है। अपेक्षाकृत कम प्रसिद्ध कवियो मे भी यदाकदा इस प्रकार की प्रवृत्ति देखी जाती है। उदाहरण के लिये हम त्रैलोक्य को उपस्थित कर सकते हैं । त्रैलोक्य कवि बारहवी शती के पूर्वार्द्ध मे कश्मीर मे जन्मा था। मखक ने श्रीकण्ठचरित मे उसका उल्लेख करते हुए तुतातित अथवा कुमारिल से उसकी तुलना की है और उसे तर्क-काठिन्य मे दृढ तथा कविता मे प्रौढ बतलाया है।

बिना किसी बाधा के इस बात को सच माना जा सकता है कि यशस्तिलक को सोमदेव ने उस समय रचा है जब उसकी कवित्वशक्ति पूर्ण रूप से परिपक्व हो चुकी थी । सोमदेव ने अपनी इस अपूर्व कृति के सम्बन्ध मे कुछ ऐसी बातें कही है जिनकी सूक्ष्म छानबीन होना आवश्यक है ।

प्रथम, वह लिखता है—

'असहायमनादर्शं रत्न रत्नाकरादिव । मत्त काव्यमिद जात सता हृदयमण्डनम् ।

अर्थात् जैसे समुद्र से रत्न उत्पन्न होता है वैसे ही बिना किसी की सहायता के और बिना किसी आदर्श को सामने रखते हुए मैंने इस काव्य को जन्म दिया है।

यहा यह बतला देना अनुचित न होगा कि अपनी कृति की मौलिकता का दावा सोमदेव के इस विचार के अनुरूप है कि कवि को केवल अपने प्रयत्नो का ही भरोसा रखना चाहिये और न तो दूसरो की नकल करनी चाहिये और न कुछ दूसरो से उधार ही लेना चाहिये । वह लिखता है—

कृत्वा कृती पूर्वकृता पुरस्तात् प्रत्यादर ता पुनरीक्षमाणा ।
तथैव जल्पेदथ योऽन्यथा वा स काव्यचौरोऽस्तु स पातकी च ।। (१-१३)

अर्थात् जो कवि अपने सामने अपने पूर्ववर्ती ग्रन्थकारो की कृतियो को रखकर बार-बार उनका अवलोकन करता है, वह उसी रूप मे अपनी रचना करे अथवा उससे भिन्न रूप मे करे, वह काव्यचोर और पापी है।

किन्तु जो कवि दूसरो की कृतियो को नही देखता, उसकी उक्तिया यदि कदाचित् अन्य कवियो की उक्तियो के समान होती है तो इससे उसके कवित्व मे कोई हीनता नही आती ।

कृति परेषामविलोकमानस्तदुक्तिवक्तापि कविर्न हीन । (१-१२)

इसमे सन्देह नही है कि सोमदेव का यह सिद्धान्त कि 'कवि को केवल आत्मनिर्भर होना चाहिए' थोडा अत्युक्तिपूर्ण है किन्तु इतना निश्चित है कि उसने अपनी इस विश्वकोष रूप कृति की रचना केवल अपने ही प्रयत्नो से की है। अस्तु,

दूसरे, सोमदेव कहता है कि जिसे इस ग्रन्थ को पढने की उत्सुकता है वह यदि इसे पढेगा तो उसे कवित्वमय उक्तियाँ, अवसर के योग्य सूक्तिया और समस्त शास्त्रो की युक्तिया मिलेंगी। यथा—

उक्तय कविताकान्ता सूक्तयोऽवसरोचिता ।
युक्तय सर्वशास्त्रान्तास्तस्य यस्यात्र कौतुकम् ।। (१-१५)

उक्त कथन कोरा अहकार नही है। कविता सम्बन्धी विशेषताओ को अलग रखकर भी यदि देखा जावे तो

इसमें कोई संदेह नहीं है कि यशस्तिलक विभिन्न दर्शनों और विविध शास्त्रों की युक्तियों का भंडार है और ग्रन्थ का यह रूप साहित्य पर लिखनेवालों द्वारा तथा स्वयं सोमदेव के द्वारा अपनाये गये व्युत्पत्ति के सिद्धान्त के अनुरूप है। सोमदेव कहते हैं —

> किंचित् काव्य श्रवणमधुरं वर्णनोदीर्णवर्णं ।
> किंचित् वाच्यौचितपरिचयं हृच्चमत्कारकारि ॥
> अत्रासूयेत् क इह सुकृती किन्तु युक्तं तदुक्तं ।
> यद् व्युत्पत्त्यै सकलविषये स्वस्य चान्यस्य च स्यात् ॥ (१-१६)

अर्थात्—कुछ काव्य तो कानों को प्रिय और वर्णनों से ओतप्रोत होते हैं, कुछ काव्य अर्थ से परिपूर्ण होते हुए हृदय को आश्चर्यचकित करने वाले होते हैं। । कौन बुद्धिमान् इस प्रकार के काव्यों की निन्दा करेगा ? किन्तु ठीक और उचित काव्य तो वही है जो सब विषयों में स्वयं ग्रन्थकार तथा अन्य पाठकों के लिए व्युत्पत्तिकारक होता है।

सोमदेव के द्वारा निर्दिष्ट व्युत्पत्ति के दो रूप हैं । कवि की व्युत्पत्ति से मतलब है विद्वत्ता की शैली में उसका शिक्षण और यह विचार, साहित्यशास्त्र पर लिखने वाले उन अत्यधिक ग्रन्थकारों में, जो शक्ति अथवा प्रतिभा को दृढ़ करने वाले पूरक अनुशासन के रूप व्युत्पत्ति के महत्त्व पर जोर देते हैं, पाया जाता है। किन्तु कवि मयूरक अपने औचित्यविचारचर्चा में व्युत्पत्ति अथवा पाण्डित्य पर जोर देता है । कुछ ग्रन्थकार जैसे मम्मट और विशेष रूप से राजशेखर, जिसका अनुसरण अनन्तर काव्यानुशासन के रचयिता हेमचन्द्र और वाग्भट्ट ने तथा कविकण्ठाभरण में क्षेमेन्द्र ने किया है, स्पष्ट रूप से शिक्षा की उन विभिन्न शाखाओं का निर्देश करते हैं, जिन सब का, अथवा उनमें से कुछ का ज्ञान कवि को होना ही चाहिये। इस दृष्टि से विचार करने पर सोमदेव का यह कथन कि उसका काव्य समस्त शास्त्रों का भण्डार है, ग्रन्थ में वर्णित विषयों की परीक्षा करने से बहुत कुछ प्रमाणित होता है। और काव्यसाहित्य में ऐसे ग्रंथ बहुत थोड़े हैं जिन्होंने व्युत्पत्ति की परिभाषा को उतनी परिपूर्णता से निबाहा है जितना सोमदेव के यशस्तिलक ने।

दूसरे की व्युत्पत्ति से आशय यह है कि काव्य के पढ़नेवालों को शास्त्रीय विषयों का ज्ञान प्राप्त हो, क्योंकि काव्य को विद्वत्तापूर्ण विचारधाराओं के एक प्रकार के प्रस्तावित रूप में देखा जाता है। व्युत्पत्ति के इस रूप की दृष्टि से सोमदेव का दृष्टिकोण भामह के मत से मिलता है । भामह ने अपने काव्यालंकार (५०७) में लिखा है "प्रायः[1] शास्त्र दुर्बोध होते हैं और अल्पबुद्धि लोग उससे डरते हैं। किन्तु जैसे लोग पहले शहद को चाटकर कड़वी औषधि पी जाते हैं वैसे ही यदि उन शास्त्रों में स्वादिष्ट काव्यरस मिला दिया जावे तो अल्पबुद्धि लोग भी उससे लाभ उठा सकते हैं। दूसरे शब्दों में, जो लोग शास्त्रीय गोली को उसके असली रूप में निगलने में असमर्थ हैं उनके लाभ के लिये उसे कविता की मिठास में पाक देना चाहिये। कविता के द्वारा शास्त्रों के कठिन विषयों को आनन्ददायक और सरल बनाया जा सकता है। और अपने काव्य में उनका वर्णन करके कवि ऐसा कर सकता है । तदनुसार भामह का कहना है कि ऐसा कोई शब्द नहीं है, ऐसा कोई अर्थ नहीं है, ऐसा कोई न्याय नहीं है, और ऐसी कोई कला नहीं है, जो काव्य का अंग न हो सकती हो। अहो, कवि का भार महान् है।" इस तरह यह स्पष्ट है कि यह विचार कि काव्य को अपने पाठकों के लिए शिक्षा का एक माध्यम होना चाहिये, दसवीं शती के बहुत पहले से प्रचलित है । और इसमें कोई सन्देह नहीं है कि इस विचार ने सोमदेव के यशस्तिलक की रचना को बहुत प्रभावित किया है।

सोमदेव का कहना है कि कविता में परिवर्तन करने की अद्भुत शक्ति है। वह लिखते हैं—

> त एव कवयो लोके येषां वचनगोचरः ।
> सपूर्वोऽपूर्वतामर्थो यात्यपूर्वः सपूर्वताम् ॥ (१-२५)



---

१ 'प्रायेण दुर्बोधतया शास्त्राद् बिभ्यत्यमेधसः ।
स्वादुकाव्यरसोन्मिश्रं शास्त्रमप्युपयुञ्जते ॥
प्रथमालीढमधवः पिबन्ति कटुभेषजम् ॥'



वास्तव में वे ही कवि कवि हैं, जिनके वचन प्रसिद्ध को अप्रसिद्ध और अप्रसिद्ध अर्थ को प्रसिद्ध बनाते हैं।

सोमदेव और भी कहते है—

ता एव सुकवेर्वाचस्तिरश्चामपि या श्रुता ।
भवत्यानन्दनिष्यन्दामन्दरोमाञ्चहेतव ॥ (१-२६)

अर्थात् सुकवियो के वचन सुनकर पशु-पक्षी भी आनन्द से रोमाञ्चित हो जाते हैं।

सोमदेव ने कवियो की दृष्टि से कितने ही पद्यो मे कविता के गुण-दोषो का विचार किया है। वह लिखते हैं—

अबुधेऽप्युक्तियुक्तिज्ञे कवीनामुत्सवो महान् ।
गुणा किं न सुवर्णस्य व्यज्यन्ते निकषोपले ॥ (१-२८)

कवि लोग ऐसे व्यक्ति को पाकर परम प्रसन्न होते हैं जो विद्वान् न होते हुए भी उक्ति के रहस्य को समझता है। दूसरे शब्दो मे कविता के गुण-ग्रहण के लिए विद्वत्ता का होना आवश्यक नही है। उदाहरण के लिये, सुवर्ण के गुण क्या कसौटी पर व्यक्त नही होते ?

अवक्ताऽपि स्वय लोक काम काव्यपरीक्षक ।
रसपाकानभिज्ञोऽपि भोक्ता वेत्ति न किं रसम् ॥ (१-२९)

जो लोग कवि नही है वे भी काव्य के परीक्षक हो सकते हैं। क्या मिष्ठान्न को खाने वाला मिष्ठान्न बनाना न जानने पर भी मिष्ठान्न के स्वाद को नही जान लेता ?

वृथा वक्तु श्रम सर्वो निर्विचारे नरेश्वरे ।
प्राज्यभोज्यविधि क. स्यात्तृणास्वादिनि देहिनि ॥ (१-३०)

विचाररहित राजा के सामने कवि का समस्त श्रम व्यर्थ होता है। घास खानेवाले पशु के सामने उत्तमोत्तम भोजन रखने से क्या लाभ है।

अगनावद् गिरो गण्या प्रायेणान्यपरिग्रहात् ।
स्वय विचारशून्यो हि प्रसिद्धया रज्यते जन ॥ (१-३२)

जैसे स्त्री के सौन्दर्य का तभी आदर होता है जब कोई उसका पाणि-ग्रहण कर लेता है, वैसे ही कवि की वाणी का आदर भी लोग तभी करते है जब दूसरे उसका आदर करते है । क्योकि विचाररहित जनता प्रसिद्धि से ही अनुरक्त होती है।

काव्यकथासु त एव हि कर्तव्या साक्षिण समुद्रसमा ।
गुणगणमन्तर्निदधति दोषमल ये बहिश्च कुर्वन्ति ॥ (१-३६)

अर्थात् जैसे समुद्र रत्नो को अपने भीतर रखता है और कूडा-कर्कट बाहर फेंक देता है वैसे ही जो गुणसमूह को ग्रहण करते है, दोषो को बाहर ही छोड देते है, ऐसे समुद्र के समान सज्जनो को ही काव्यचर्चाओ मे निर्णायक बनाना चाहिये।

गुणेषु ये दोषमनीषयान्धा दोषान् गुणीकर्तुमथेशते वा ।
श्रोतुं कवीना वचन न तेऽर्हा सरस्वतीद्रोहिषु कोऽधिकार ॥ (१-३८)

जो बुद्धिदोष के कारण गुणो के विषय मे अन्धे हैं और दोषो को गुण प्रमाणित करने की चेष्टा करते है, वे कवियो के वचन सुनने के योग्य नही हैं, क्योंकि जो सरस्वती के शत्रु हैं उन्हे उसके अध्ययन का क्या अधिकार है ?

अयं कविर्नैष कवि किमत्र हेतुप्रयुक्ति कृतिभिर्विधेया ।
श्रोत्रं मनश्चात्र यत समर्थं वागर्थयो स्वपरिरूपणाय ॥ (१-३९)

'यह कवि है' अथवा 'यह कवि नहीं है' इसमें तर्क-वितर्क करने में क्या प्रयोजन है ? क्योंकि शब्द और अर्थ के यथार्थ स्वरूप को समझने के लिए श्रोत्र और मन हैं। वे ही इसका निर्धारण कर देंगे कि अमुक व्यक्ति कवि है या नहीं।

सोमदेव ने संस्कृत भाषा के भण्डार और संस्थापन के साधनों को परिपूर्ण करने का अद्भुत कार्य किया है और वह उच्चकोटि के साहित्यिक ग्रन्थकारों की श्रेणी में बैठने का अधिकार रखते हैं। किन्तु संस्कृत गद्य और पद्य रचना में जैन साहित्य में प्रयुक्त होनेवाले प्रयोगों के प्रभाव से वह अपने को अछूता नहीं रख सके। इसका ज्वलन्त उदाहरण 'पति' के स्थान में 'इमै' का प्रयोग है। प्राकृत रूप का प्रयोग कुछ अन्य जैन संस्कृत ग्रन्थकारों की कृतियों में भी पाया जाता है। अनेक स्थानों में सोमदेव ने 'देवभाजन' लिखा है, यह प्रयोग भी उच्चकोटि के साहित्य में प्रयुक्त होनेवाले प्रयोगों से स्पष्ट ही मेल नहीं खाता। व्याकरण सम्बन्धी एक गम्भीर भूल नीचे के पद्य में मिलती है—

सुरपतिवधूहासोल्लासश्रिय श्रयदाकृति ।
प्रथमसमये चन्द्रोद्योतस्तवास्तु मुदे सदा ॥ (३-८८०)

यहाँ पर 'श्रयत्' यद्यपि वह बहुव्रीहि समास का अंग बना हुआ है, 'श्रियम्' को अनुशासित करता है। यशस्तिलक निर्णयसागरी संस्करण के सम्पादक ने 'उपश्रयत्' पढ़ने का सुझाव दिया है। किन्तु केवल मुद्रित प्रति में ही नहीं बल्कि मैंने जिन तीन प्रतियों को देखा उनमें भी उक्त अशुद्ध रूप ही मिलता है।

रचना की शिथिलता का एक उदाहरण पद्य ७-१३० में 'कीनाशकेलि अनवाप्तविषय' पद है। टीकाकार ने दोनों पदों के बीच में 'प्रति' शब्द का अध्याहार करके वाक्यार्थ का व्याख्यान इस प्रकार किया है—'कीनाशकेलि यमक्रीडा प्रति अनवाप्तविषय अप्राप्तबुद्धय शारन्ध्रग नायार्थान्वय'। यद्यपि इस प्रकार के व्यतिक्रम कतिपय क्वचित् ही हैं तथापि ग्रन्थ की विशालता का विचार करते हुए उपेक्षणीय हैं।

अन्ततः सोमदेव की बहुत-सी उत्कृष्ट विशेषताओं में से एक विशेषता यह है कि वह दुर्लभ और अप्रसिद्ध शब्दों का प्रयोग बहुतायत से करते हैं। उनके द्वारा प्रयुक्त ऐसे अधिकांश शब्द संस्कृत साहित्य में अन्यत्र नहीं पाये जाते। शब्दकोष पर प्रस्तुत ने यशस्तिलक को संस्कृतशब्दकोशनिर्माणशास्त्र का असाधारण रूप में लाभदायक उद्गम स्थान बना दिया है। किन्तु क्लिष्ट शब्दों का प्रयोग कभी-कभी ग्रन्थ को पाण्डित्य प्रदर्शित करनेवाला बना देता है। परन्तु यह निःसन्देह है कि सोमदेव शब्दों का आडंबर नहीं है। वस्तुतः वह एक विद्वान् अन्वेषक है, जिसने लुप्तप्राय शब्दों को प्रयोग में लाने का प्रयत्न किया है जैसा कि पाँचवें आश्वास के अन्त में इसने लिखा है —

"अरालकालव्यालेन ये लीढा साम्प्रत तु ते ।
शब्दा श्रीसोमदेवेन प्रोत्थाप्यन्ते किमद्भुतम् ॥"

अर्थात् कुटिल कालरूपी अजगर जिन शब्दों को चाट कर गया, सोमदेव के द्वारा वे शब्द अब पुनः जीवित किये जाते हैं। इसमें आश्चर्य ही क्या है।

इस प्रकार जहाँ सोमदेव चिरकाल से विस्मृति के गर्भ में विलीन शब्दों को पुनर्जीवित करने का दावा करते हैं, वहाँ यह भी कहते हैं कि उन्होंने शास्त्र रूपी समुद्र के तल में चिरकाल से निमग्न शब्दरूपी रत्नों का उद्धार करके सरस्वती के लिये एक बहुमूल्य आभूषण तैयार किया है —



उद्धृत्य शास्त्रजलधेर्नितले निमग्नैं पर्यागतैरिव चिरादभिधानरत्नैं ।
या सोमदेवविदुषा विहिता विभूषा वाग्देवता वहतु सम्प्रति तामनर्घाम् ॥



इस पद्य मे सोमदेव ने स्पष्ट रूप से उन अप्रसिद्ध शब्दो और शास्त्रीय पारिभाषिक सम्बन्धो का उल्लेख किया है, जिनका उन्होने अपने काव्य मे उपयोग किया है। यथार्थ मे, और मुख्यरूप से उत्तर काल मे यह काव्य साहित्य का एक लक्षण था। किन्तु इस दृष्टि से भी सोमदेव अपने समय के अन्य किसी भी ग्रन्थकार से आगे बढ गये है।

भवभूति की तरह सोमदेव भी कभी-कभी अपनी सामर्थ्य पर अत्यधिक आत्मविश्वास प्रदर्शित करते है और ऐसा दावा करते है मानो कवित्व पर उनका एकाधिकार है। यथा —

"मया वागर्थसभारे भुक्ते सारस्वते रसे।
कवयोऽन्ये भविष्यन्ति नूनमुच्छिष्टभोजना।"

एक अन्य स्थान पर वह कहते है कि यदि कवित्व और सासारिक ज्ञान मे प्रवीण साधु पुरुष हैं तो वे सोमदेव कवि की सूक्तियो का सम्यक् रूप से अभ्यास करें। पद्य इस प्रकार है—

"लोकवित्वे कवित्वे वा यदि चातुर्यचञ्चव।
सोमदेवकवे सूक्ती समभ्यस्यन्तु साधव॥" (३, ५१३)

यह पद्य बतलाता है कि सोमदेव स्वय एक निष्णात कवि और लोकज्ञ थे और यह बात उनके यशस्तिलक से प्रकट है। सोमदेव को कवि और लोकवित् मानना उनका सर्वोत्कृष्ट अभिनन्दन है, क्योकि आदिपुराण के रचयिता जिनसेन के समय मे भी किसी को कवि और लोकवित् कहना उत्कृष्ट अभिनन्दन माना जाता था, और यह इस बात से स्पष्ट है कि जिनसेन ने अपने आदिपुराण के प्रारम्भ मे धवला टीका के सम्माननीय रचयिता अपने गुरु वीरसेन को कवि और लोकवित् कहा है—यथा —

"लोकवित्व कवित्व च स्थित भट्टारके द्वयम्।
वाग्मिता वाग्मिनो यस्य वाचा वाचस्पतेरपि॥" (१-५६)

यशस्तिलक की रचना से लगभग आधी शताब्दी पूर्व सिद्धर्षि ने अपने महान् रूपकमय कथाग्रन्थ उपमितिभव-प्रपञ्च कथा की रचना की थी।

किन्तु यह उल्लेखनीय है कि यशस्तिलक के आरम्भिक पद्य मे सोमदेव ने अपने ग्रन्थ के विषय मे अति विनम्र निवेदन किया है। वह कहते[1] है कि वर्तमान मे ऐसी कोई वस्तु नही है जिसे सर्वज्ञतुल्य पुरातन कवियो ने न देखा हो। फिर भी जब कोई आधुनिक कुशाग्रबुद्धि भी कवि उनके सदृश कथन करता है तो यह एक आश्चर्य ही है। अपने काव्य के विषय मे वह लिखते है कि यह काव्य दुर्जनो के लिये विनोदकारक होगा और विद्वानो के लिये बुद्धिदायक होगा। किन्तु मध्यस्थ लोग इसके विषय मे चुप नही रह सकेंगे। उन्हे आशा है कि जैसे मिष्ठ रस का अत्यधिक सेवन करने वालो को नीम की पत्तिया आनन्ददायक लगती है वैसे ही सुकवियों के माधुर्यपूर्ण प्रबन्धो के अत्यधिक सेवन से जिनकी जडता अत्यधिक वृद्धिगत हो गई है उनकी रुचि मेरे सदृश कवियो की उक्तियो की ओर होगी।[2]

एक ग्रन्थकार के रूप मे सोमदेव का सर्वत्र प्रभाव होते हुए भी, जैन धार्मिक साहित्य की परिधि मे बाहर विचारधारा के किसी भी विभाग पर उसका प्रभाव क्वचित् ही प्रतीत होता है। अजैन विद्वानो ने पूरी तरह से उनकी

---

१ सर्वज्ञकल्पै कविभिः पुरातनैरवीक्षित वस्तु किमस्ति सप्रति।
ऐदयुगीनस्तु कुशाग्रधीरपि प्रवक्ति यत् तत्सदृश स विस्मय॥१,२।

२ दुर्जनाना विनोदाय बुधाना मतिजन्मने।
मध्यस्थाना न मौनाय मन्ये काव्यमिद भवेत्॥
सुकविकथामाधुर्यप्रबन्धसेवातिवृद्धजाड्यानाम्।
पिचुमन्दकन्दलीष्विव भवतु रुचिर्मद्विधेषितषु बुधानाम्॥

उपेक्षा की है। और आधुनिक शोधकों के उनकी ओर आकृष्ट होने के कारण ही उनकी साहित्यिक पूर्वस्थिति का परिचय मिल सका है। उनके यशस्तिलक के लिये एक जैन श्रुतिसागर सूरि ही टीकाकार मिला, जिसने १६वी शताब्दी मे अपनी टीका बनाई। उनके नीतिवाक्यामृत पर एक बिना नाम की टीका है, जिसका समय भी ज्ञात नही है। फिर भी यह टीका प्राचीन स्मृतिकारों और नीतिकारों के उद्धरणों से भरी हुई है। उसका रचयिता कोई अजैन था क्योंकि उसने टीका के प्रारम्भ मे हरि का नमस्कार किया।

धार्मिक पक्षपात और साम्प्रदायिक सकीर्णता के द्वारा एक प्रतिभासम्पन्न ग्रन्थकार की महान् कृति के प्रति कैसी उपेक्षा बरती जा सकती है, इस पर सोमदेव का साहित्यिक भाग्य एक दुःखपूर्ण भाष्य है। किन्तु, जैसा कि हम देखेंगे सोमदेव स्वय इस प्रकार के रग मे रगे हुए थे और उन्हे कठिनता से ही यह आशा होगी कि मेरे सहधर्मियों के दायरे के बाहर मेरी कृति को अपनाया जायेगा। जहा तक जैन सिद्धान्तों के वर्णन का मसला है, सोमदेव सदा एक अधिकारी लेखक के रूप मे स्वीकार किये गए हैं। और यह बात उल्लेखनीय है कि श्रुतिसागर सूरि ने कुदकुन्द के भावपाहुड की टीका मे जो कतिपय श्लोक उद्धृत[1] किये है, उनमे सोमदेव की गणना जैनधर्म के महान् गुरुओं मे की गई है।

नियमसार पर पद्मप्रभ की टीका, अनगारधर्मामृत पर आशाधर की टीका, योगीन्दु देव के परमात्मप्रकाश पर ब्रह्मदेव की टीका और कुन्दकुन्द के प्राभृतों पर श्रुतिसागर सूरि की टीका आदि उत्तरकालीन जैन साहित्य मे यशस्तिलक के पद्य उद्धरण के रूप मे प्राय पाये जाते है। यशस्तिलक का नीचे उद्धृत पद्य थोडे से पाठ भेद के साथ शिवकोटि की रत्नमाला मे पाया जाता है। प्राचीन शिवकोटि से यह शिवकोटि भिन्न है। वह पद्य इस प्रकार है—

सर्व एव हि जैनाना प्रमाण लौकिको विधि ।
यत्र सम्यक्त्वहानिर्न यत्र न व्रतदूषणम् ॥ (८, ३४)

यशस्तिलक के नीचे वाले तीन श्लोक शुभचन्द्र के ज्ञानार्णव मे पाये जाते हैं—

ज्ञानहीने क्रिया पुसि पर नारभते फलम् ।
तरोश्छायेव कि लभ्या फलश्रीर्नष्टदृष्टिभि ॥
ज्ञान पगौ क्रिया चान्धे नि श्रद्धे नार्थकृद् द्वयम् ।
ततो ज्ञान क्रिया श्रद्धा त्रय तत्पदकारणम् ॥
हत ज्ञान क्रियाशून्य हता चाज्ञानिन क्रिया ।
धावन्नप्यन्धको नष्ट पश्यन्नपि च पगुल ॥ (६-१)

यहा यह बतला देना आवश्यक है कि तीसरा श्लोक सोमदेव का नही है। किन्तु 'उक्त च' करके उद्धृत है। यशस्तिलक का एक और श्लोक ज्ञानार्णव मे 'उक्त च ग्रन्थान्तरे' करके उद्धृत है। श्लोक इस प्रकार है—

मूढत्रय मदश्चाष्टौ तथानायतनानि षट् ।
अष्टौ शकादयश्चेति दृग्दोषा पञ्चविंशति ॥ (६-२१)

सोमदेव का आगे का पद्य सर्वदर्शनसमुच्चय के जैन दर्शन वाले परिच्छेद मे बिना किसी नाम के उद्धृत है—



---

१ अकलको महाप्राज्ञ सोमदेवो विदावर । प्रभाचन्द्रो नेमिचन्द्र इत्यादि मुनिसत्तमै ।
यच्छास्त्र रचित नून तदेवादेयमर्थकै । विसघै रचित नैव प्रमाण सात्त्वपि स्फुटम् ॥

कर्त्ता न तावदिह कोऽपि धियेच्छया वा ।
दृष्टोऽन्यथा कटकृतावपि स प्रसग ।
कार्यं किमत्र सदनादिषु तक्षकाद्यै-
राहृत्य चेत् त्रिभुवन पुरुष करोति ।। (२,१३९)

एक श्लोक जो यशस्तिलक के पाचवें आश्वास के अन्त म पृष्ठ २५७ पर पाया जाता है, परीक्षामुख सूत्र पर अनन्तवीर्य की टीका मे नीचे लिखे रूप से उद्धृत है—

तथा चोक्तम्—
तदहर्जस्तनेहातो रक्षोदृष्टेर्भवस्मृते ।
भूतानन्वयनात् सिद्ध प्रकृतिज्ञ सनातन ।। इति

सी० पी० और बरार के सस्कृत और प्राकृत ग्रन्थो की हस्तलिखित प्रतियो की सूची मे श्रीहीरालाल ने लिखा है कि "स्तोत्रचतुष्टयटीका मे विद्यानन्द ने सोमदेव सूरि के 'ध्यानपद्धति' से उद्धरण लिये है और बारबार उसका निर्देश किया है। सम्भवत यह उनकी कोई अन्य रचना है।" किन्तु यह भी सभव है कि यह ध्यानपद्धति कोई स्वतत्र ग्रन्थ न हो और यशस्तिलक के आठवे आश्वास मे जो ध्यानविधि बतलाई है उसी ने यह रूप ले लिया हो।

एक कवि के रूप मे, काव्यसाहित्य को सोमदेव का दान, माघ कवि का योग्य उत्तराधिकारी होने के उनके दावे को न्याय्य ठहराने के लिए काफी ठोस है। सोमदेव की कविता की सूक्ष्म परीक्षा अन्यत्र की जायगी और यह देखा जायेगा कि सोमदेव केवल काव्य मे प्रचलित विषयो का ही व्यवहार नही करते किन्तु काव्यसाहित्य मे साधारणतया व्यवहृत न होनेवाले विषयो का ही व्यवहार करके सस्कृत कविता के समृद्ध कोश मे वृद्धि भी करते हैं। वह राजदरबार के सुपरिचित विविध चित्र अकित करते है जो अन्यत्र नही पाये जाते, और उनकी यथार्थता का स्पष्ट कारण यह है कि वे व्यक्तिगत निरीक्षण और अनुभव के आधार पर, चित्रित किये गये है। उन्होने जीवन के अन्य रूपो का भी सुन्दर चित्रण किया है और बालजीवन, श्मशानभूमि और देवी चण्डमारी का वर्णन करनेवाले पद्य उनके सर्वोत्तम उल्लेखनीय पद्यो मे सम्मिलित किये जा सकते है।

पशुओ के प्रति सोमदेव की दृष्टि बहुत ही सहानुभूतिपूर्ण है। और पशुजीवन पर उनके कुछ पद्य सस्कृतसाहित्य मे अनुपम है। उन्होने जैनधर्म के सिद्धान्तो का वर्णन काव्यात्मक शैली मे किया है और बारह अनुप्रेक्षा सम्बन्धी उनके पद्य साहित्य को उनकी बहुमूल्य देन हैं। सस्कृत पद्यो मे प्राकृत गाथा के छन्दो का उपयोग भी एक उल्लेखनीय प्रयोग है। और इस सम्बन्ध मे सोमदेव ने पद्यो को गायन के योग्य बनाने का प्रयत्न किया है। पूर्ववर्ती होने के कारण सभव है यह प्रयत्न जयदेव के गीतगोविन्द की रचना मे प्रेरक हुआ हो।

सम्भवत यशस्तिलक का वह पद्यभाग सबसे अधिक आनन्ददायक है, जिसमे राजमत्रियो के दोषो का वर्णन है। और प्रस्तुत भाग सस्कृत कविता मे राजनैतिक आक्षेपात्मक कवितानिर्माण के लिए क्रमबद्ध रूप मे किया गया प्रथम प्रयत्न है। उसे देखकर क्षेमेन्द्र की इसी प्रकार की कविता का स्मरण हो आता है। क्षेमेन्द्र ने अपनी नर्ममाला मे कायस्थ अथवा काश्मीर की दफ्तरो मे काम करनेवाली जाति की अच्छी खबर ली है। क्षेमेन्द्र की लेखनी यद्यपि हल्की है किन्तु उसकी रचना ठोस वर्णनो से परिपूर्ण है और सोमदेव के प्रस्तुत पद्यो की अपेक्षा उसका क्षेत्र विस्तृत है। क्षेमेन्द्र की कृति का उद्देश्य मन-बहलाव की अपेक्षा प्राय ज्ञानोन्नति है। किन्तु ऐतिहासिक दृष्टि से दोनो ही ग्रन्थकारो का निरूपण महत्त्वपूर्ण है क्योकि दोनो ने ही अपने समय की कुछ बुराइयो पर प्रकाश डाला है। इसकी अपेक्षा यह कहा जा सकता है कि सोमदेव ने सस्कृत कविता म एक नये विषय को समाविष्ट किया, जिसे बाद मे क्षेमेन्द्र ने विस्तृत वर्णन के साथ पुष्ट किया।

सोमदेव कोई बडे भारी शैली कवि नही है, कही-कहीं वह कृत्रिम हो जाते है और वाक्यप्रपच मे फसकर विचारो की पुनरुक्ति करते हैं। किन्तु उनकी कविता समकालीन जीवन के प्रवाह से प्राय स्पन्दित है। और काव्य-

ों के वर्णन के कारण भी ग्रन्थ के [illegible] जैन संस्कृत कवियों में उनका स्थान सर्वोच्च है। उसके सिवाय उन्होंने [illegible] भी कुछ उत्तम [illegible] सुन्दर पद्य भी प्रस्तुत कर दिया है। यहाँ हम एक उल्लेखनीय पद्य देते जिसमें बुराई के बदले में भलाई करने का सर्वोच्च विचार अंकित किया गया है —

> अज्ञानभावादथवा प्रमादाद्वा कुर्वीत चेत् कोऽपि जनः प्रमादम् ।
> तथापि सद्भिः प्रियमेव चिन्त्यं न मथ्यमानेऽप्यमृते विषं हि ॥

'अज्ञान के कारण दुर्बुद्धि से यदि कोई मनुष्य दुर्जनता भी करता है, फिर भी सज्जनों को भलाई ही करने का विचार करना चाहिए। क्योंकि मथन करने पर भी अमृत अमृत ही रहता है विष नहीं होता।'

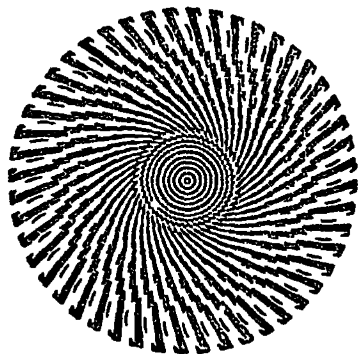
यह ठीक है कि भारतीय साहित्य में [illegible] यह विचार नया नहीं है। उदाहरण के लिए हम पर प्राचीन बौद्ध-[illegible] उल्लिखित [illegible] है — [illegible] नहीं है। फिर भी यह जैन [illegible] सारगर्भित [illegible] कर लिया है। सोमदेव के [illegible] 'सर्वसत्त्वेषु मैत्री' का भी [illegible] उल्लेख किया गया है।

o

अभय जैनग्रन्थालय में सुरक्षित राजस्थानी भाषा के प्राचीन पट्टे, परवाने और पत्र

अगरचन्द नाहटा

बीकानेर



जैनधर्म का प्रचार राजस्थान मे २-२।। हजार वर्षो से क्रमश वढता चला आ रहा है । जैन आचार्यो, विद्वानो ने राजस्थान के गाव-गाव मे घूमकर भगवान् महावीर की वाणी का प्रचार किया । राजाओ से लेकर रक तक सभी वर्ग के लोग जैनधर्म के प्रति आकर्षित हुये और यहा तक प्रभावित हुये कि लाखो व्यक्तियो ने हमेशा के लिये जैनधर्म स्वीकार कर लिया । ओसवाल, श्रीमाल, पोरवाड, खडेलवाल, अग्रवाल आदि अनेक जातियो की स्थापना हुई और एक-एक जाति के अनेक गोत्र हो गये । इसी तरह जैन मुनियो के अनेक सघ, गच्छ और शाखायें राजस्थान के ग्राम-नगरो के नामो से प्रसिद्ध हुई । अनेक राजाओ ने भी जैनधर्म स्वीकार किया । उन्होंने जैनमन्दिर बनवाये और आचार्यो को अपना गुरु माना । राजाओ के अधिकाश मत्री, कोषाध्यक्ष आदि जैन ही थे । समय-समय पर उनके द्वारा वहुत वडी धर्म-प्रभावना हुई । आचार्यों एव मुनियो को राजाओ से वडा सन्मान मिला । उन्हे कई गावो की जागीरें मिली । राजाओ के दिये हुये पट्टे, परवानो की सख्या वहुत वडी है । अनेक गच्छ राजस्थान मे हैं । उनके श्रीपूज्यो एव यतियो आदि को राजाओ ने समय-समय पर भक्तिपूर्वक पत्र भी लिखे । वे पट्टे, परवाने एव पत्र अधिकाश जैन उपाश्रयो, श्रीपूज्यो के ठिकानो और जैन-ज्ञानभण्डारो मे मिलते हैं । अव वे अधिकाश काम के नही रहे इसलिये पहले तो जिनके पास ऐसे कागजात थे उन्हें वडा सुरक्षित रखा जाता था और किसी को दिखलाया भी नही जाता था किन्तु अब वे यो ही नष्ट कर दिये गये या रद्दी मे वेच दिये गये, इस कारण वे पुराने कागजात अव प्राप्त नहीं होते । जहा कही वे पडे हैं उनकी खोज, सग्रह एव सरक्षण का भी प्रयत्न नही किया जा रहा है । ऐसी स्थिति मे थोडे दिनो मे ही वे सब समाप्त हो जायेगे ।

करीव ३७ वर्ष पूर्व हमने प्राचीन भडारो का अवलोकन करने के साथ-साथ हस्तलिखित प्रतियो आदि सामग्री के सग्रह का कार्य प्रारम्भ किया तो १६वी से लेकर २०वी शताब्दी तक के हजारो पत्र जो निकम्मे समझकर कूडे-कचरे मे डाल दिये गये थे, हमे मिले और वे हमारे अभय जैनग्रन्थालय की अमूल्य निधि है । सम समय पर उनमे से कुछ पत्रो की नकल ग्रन्थो एव लेखों मे हम प्रकाशित भी करते रहे हैं । कई पत्र सस्कृत मे है और कई राजस्थानी भाषा मे । उनमे से यहा राजस्थानी भाषा के पत्रो को ही प्रकाशित किया जा रहा है ।

हमारे सग्रहालय के पत्र अनेक प्रकार के हैं । अनेक व्यक्तियो के लिखे हुये हैं । कई पट्टे परवानों के रूप मे है और कई आपसी पत्र-व्यवहार के रूप मे । सवमे पहला पत्र सवत् १६०५ के आसपास का खरतरगच्छ के आचार्य जिनमाणिक्यसूरिजी को बीकानेर से दयातिलक आदि का लिखा हुआ है । यह पत्र सस्कृत मे विस्तृत समाचारो से परिपूर्ण है । प्रारम्भ का अश वहुत कुछ नष्ट हो गया है । इसे 'राजस्थान भारती' मे प्रकाशित किया जा चुका है । ऐसे सस्कृत-पत्र १३वी शताब्दी से मिलने लगते हैं । पाटण के जैनभडार मे ताडपत्र पर लिखे हुये ऐसे ही कुछ पत्रो के अश मुनि जिनविजयजी को मिले थे । विज्ञप्ति-त्रिवेणी नामक ग्रन्थ की भूमिका मे मुनिजी ने उनका उल्लेख किया है । गद्य और पद्यमय सस्कृत मे लिखे हुये ऐसे सैकडो पत्र साहित्य और इतिहास इन दोनो दृष्टियो से मूल्यवान् हैं । १५वीं

शताब्दी से १८वीं शताब्दी तक के ऐसे विज्ञप्ति लेखों का संग्रह मुनि जिनविजयजी ने संवत् २०१६ में प्रकाशित किया था। प्रारम्भ में विज्ञप्ति महालेख और विज्ञप्तित्रिवेणी नामक दो विस्तृत पत्र हैं। फिर अन्य ७८ विज्ञप्ति पत्र प्रकाशित किये गये हैं।

राजस्थानी भाषा में टीकाओं और बालावबोध के रूप में १५वीं-१६वीं शताब्दी में गद्य रचनायें लिखी जाने लगीं। १७वीं शताब्दी में राजस्थानी गद्य में ख्यातें भी लिखी जाना प्रारम्भ हुईं। १८वीं तक तो काफी राजस्थानी गद्य जैनों द्वारा लिखा गया। शिलालेखों में राजस्थानी गद्य का प्रयोग मिलता है। पट्टे, परवाने और पत्र तो राज्यों की संख्या में लिखे गये जिनमें से कुछ का संग्रह बीकानेर के पुरालेख विभाग ने किया गया है।

हमारे अभय जैनग्रन्थालय में राजस्थानी भाषा में लिखा हुआ जोधपुर के महाराजा सूरजसिंहजी और गजसिंहजी का एक विशिष्ट आदेशपत्र संवत् १६६४ का है जो युगप्रधान जिनचन्द्र सूरिजी को लिखा गया है। इस मूल परवाने की नकल हमारे संग्रह में है। उसमें नीचे लिखा गया है कि मूल परवाना उपाध्याय समयचन्दजी गणि के पास जोधपुर में है। इसके बाद सं० १६६६, १७०४, १७१६, आदि के अनेक परवाने हैं। उनमें से कुछ की नकल यहां प्रकाशित की जा रही है। महाराणाओं की सहीवाले परवाने और महाराजा के खुद के लिखे हुये खास रुक्के भी हमारे संग्रह में हैं। जोधपुर, बीकानेर, जैसलमेर आदि कई राज्यों के इनके पत्रों का संग्रह है।

मेवाड़ी भाषा में महाराणा प्रताप का हीरविजयसूरि को दिया हुआ पत्र संवत् १६३५ का बतलाया जाता है। मूल पत्र तो हमारे देखने में नहीं आया, उसकी एक नकल जैनानंद पुस्तकालय, पालीताना से मुझे प्राप्त हुई। वह महाराणा प्रताप स्मारक के उद्घाटन के अवसर पर प्रकाशित होने वाले स्मृति ग्रन्थ में कुसुम मेहता को भेज दिया गया है।

उपरोक्त संवत १६६४ के परवाने की नकल इस प्रकार है।

श्री परमेश्वरजी

श्री दुवानी सही

जोधपुर महाराजा के परवाने

स्वस्ति श्री महाराजाधिराज महाराजा श्री सूरजसिंहजी कु० श्री गजसिंहजी वचनात् युगप्रधान श्रीजिनचन्द्र सूरिजी नुं दया करे हुवो दीधो छु श्री जोधनेर मौजा निवाणै मेड़तै जैतारण आसाणं रे देश माहे री सगली छै तठी माहे बाग बगीचा बाड़ी मांड बगावना कोई मारै कोई नु गुन्हैगार होसी मिती माह वदि ६ संवत १६६४ दुवे श्री मुख। प्र। भण्डारी गोविन्ददासजी। ला। जोधनेर। ओ मूल परवानो उ० समयचन्दजी गणि पास है। श्री जोधपुर में लिखियौ प्रत नकल छै।

/ / × ×

स्वस्ति श्री उमेद नगर शुभ सोथाना श्री राजमानाय महाराजाधिराज महाराजा श्रीअजीतसिंहजी महाराज कुमार श्रीअभैसिंह देव पुगराजी साहिब श्रीहरिचन्द्र सूरीजी चेला श्री वेणीदासजी दीनी सुप्रसादा वाचना। अप्रंच आगे नायारा गुढा था सो आप ऊंठों से देवगढ पधारीजा सो आपरे फिरंग अर मालम पिण आवरै मारे पिण आशा था सो अबे आप समाचार राजबै पाछा राज सोजत पधारजाज्यो। मालमा न फिर दीठ हुआ देई ने आप लारे लेता पधारज्यो। आपरो लेणा देणा ने शिकार हौसी सो मुं आपने म्हारे देसूं। आप किसी बात री चिन्ता फिकर राखसो नहीं और आपने मारी तरफ सूं गाम पाच ५) पाच आरे भेंट करसा। प्रथम तो गाव सेनाणा दूसरो गाम भावी तीसरो गाम दादाई चौथा गाम डुंदो पाचमा गाम अटाटा। ये पाचोंई गाम आपरै भेंट कर देसूं और आपरी माही सुभानत री वरव टो ने जा मुं आपरो दीजा जासूं और सबै रोटी मिल्ले तो उणथी राटी आपने देई ने राखूं। मारो धन ने आपरो धन रवे जठा ताई खाया पाछा जासे। और आपरै आगरो आवन पावन आपरी बैठक दरीखाना री जामा री बैठक है सो मावत है आगा सूं आप



पावो हो जिण मुजब पाया जावोगा । आप समुद्र ने छोडी ने नाडा माथ कु जाय विराजिया छो । आप चूंडावतां रा ठिकाणा सूं पार नही पाडोगा । सोई बरस जाता मारा ठिकाणा सूं पार पाडोगा चूंडावता रा ठिकाणा सूं पार नहीं पाडोगा । आप कोई बात री मन मे चिंता फिकर राखो मती । आप बीच नें म्हा बीच श्रीमुरलीधरजी छै, श्री माताजी छै । आपरो हुकम माथै छै और गुरदेव तो बडा छै म्हारा ठिकाणा माहे आज दिन सुधी गुरुदेव रो प्रताप छै । और मारै गुरु गाईन छो सेवग ऊपरै कृपा महरवानगी करे ने वेगा पधारसी और घणे काई लिखूं थोडी लिखिया जादा जाणसी । आपने मे रोटीक दीधी सो साजत छै । म्हारी राजी खुशी सूं म्हारी अकल हुसीयारी सूं दोनूंई वाप बेटा मीली ने खातरी रो पटो तीन मोरासाही कर दीधो सो सावत छै । मारै गुराजी री रोटी माहे जो कोई मारा वस रो वसी जो कोई मारा गुरदेवारी री रोटी माहे कसर पाडोगा नही । जो कोई मारी कर दीधी रोटी माह मारा वस रो वसीज कोई कसर पाडेगा जीनै गौ मारीया की हत्या लागसै । जी ने गवायन गाल लागसै कोई कामेती फौजदार कोटवाल जो कई लोपगी, जीने श्री मुरलीधरजी पूगसे, जीने श्री माताजी पूगसे । म्हरो वस ने गुराजी रो वश रैवै जा सुधी पाल्या जासेज । कोई श्रोगटा नु थापन करेस, जीणरी मा नैन ऊपर गधो चढसी । हीदु ने गउ, मुसलमान कु सूअर मारीया पाप लागसे । सूरज चन्द्रमा तपै जा सूधी पाल्या जावसी । राजा अजितसिंघ रो ऊपरलो लिखियो नही छै सवत् १७६७ ना बरषे मीगसर सुद ११ सुकर दसकत कुंवर अभैसिंघ रा छै । आ खोतरी खुद जोधपुर गढ नी छै मुकाम कोट हुवै श्रीमुख ॥ श्री ॥ श्री ॥ श्री ॥

× × × ×

स्वस्ति श्री सिध श्रीजोधपुर महाराजाधिराज महाराजा श्रीविजैसिंघजी देवेपु गुराजी साहेव श्री वेणीदासजी चेलाजी महाराज श्रीमयाचद वेवगढ ग्गेलागण मालम वेसी । अठा रा समाचार भला है । आपरा सदा सर्वदा आरोग्य चाहीजै । तो छोरू नें परम सुख होय अठा सूं सूर्यमल भडारी ने मीयानो लेई ने मेलीयो है सो गुरुदेव । सेवक ऊपरे कृपा करि ने मीयाना मे विराज के अठे म्हारो सरीर आराम नहीं है सो गुरुदेव जाणसी । प्रथम तो मने ताव घणा आवै छै दूसरो उकासो सास घणो चढै है ती हे जजाल गणा आवै है । मुं घणो दुखी छुं । गुरुदेव आराम करै तो ठीक है । नही तर तो मारी जीवारी आस है नही । आगै ही आप उप पाच सात वखत कागद मेलिया सो गुरुदेव पदारिया नही, इसी तो कुसमानो गुरुदेव रो सेवक ऊपर जाण्यो नहीं । आप पेल पने मुं सोजत पधारीया सो जदी सेवक गुरुदेव नें पचमुखी हनूमान जत्र के वास्ते अरज कीधी सो हाल तक सेवक रे आयो नहीं, सो इसी भूल तो गुरुदेव ने चावे नही । गुरुदेव रे तो मा जिस्या सेवक घणा छै पण एक सेवक तो मुज छु । आप आपने राजा अजीतसिंघजी महर वड उया आपने पटो करी ने बकस्या सो पटो सावत छै । आपरी लाग मारा ठिकाणा मे परपरा सूं चली आवै सो सावत छै । फेर म्हारी तरफ सूं दादा साहेव रो वगीचो मटोहर मे जमी भेट कर देसूं । आप चूंडावत(का ठि)काणा सूं पार नही पडेगा । आपनै वारखबर नही पडै है, पिण पाछे जातां आप पिछतावोला और घणी काई लिखूं वो गुरुदेव ने पूगै है पण मानणो तो गुरुदेव रै हाथ है बोलवो तो मोर के हाते है बरसवो तो इन्द्र के हाते है । इतरी वात मे गुर(सा)री समज लेसी, मारे तो गुरुदेव रो ढाल रा जीतरो जोर छै । मारे ठेकाणा मे है आछो पुन्य प्रताप गुरुदेव री छै । मारे ठुकराण रे पीण मेलो रो चाली छै । घणा उपाय कीधा पण कणरोई उपाय लागो नही । पाच सात हजार रपयाई कुलवान हुया देव सारी सजाई लेना पधारसी, भूल राखसी नही । मने सजाई री मालम पडे नही सो जाणसी और आप रावत जस ने दो चार वचन कागद भेजा सोई आपर पुछडे कागद को समाचार लखा नही सो आपरे लखा थी इणा ने कोई समाचार सो इणा ने रीस लागी, जीणी सु असारा सु द्वेष गये सो मारो काई करै गुरुदेव राजी तो मगलाई राजी । सवत् १८४६ चैत्र सुदि १३ बुधे । द० लखमीचन्द पोकरणा ना छै । मुकाम जोजावरडवे श्रीमुख चेलाजी महाजने लेता पधारसी । दप ओछत्र मारा हाथ सु वेसी । गुरुदेव पर भरोसो छै । मेता मुलतानमल रो पगे लागणो मालम वेसी । आछा रेसी ने वे सी ॥ श्री ॥ श्री ॥

× × + +

श्री दीवाण वचनात श्री बीकानेर रे माहाजन खरतरगच्छ आम्रठकीय छै । जिके जती उपासर माहे आगे छै सु मास १ माटे विहार करसी पछै रहण पावे नही पडावु जती आमी सु दिन ७ रहसी पछै विहार करसी वखण

पचखण गछ री रीत करसी नवो जती चौमास आसी सु रहसी हुवे पछे जाटनी ने जती मुमनमेर विनेमेर रो मराडो चैत वदि १ वाड रहसी सीनो रहण पावे नहि।

स १६६६ मगसेर सुदि १० सु सूं ही मतिरावटगछ री हुवे छै ते भटारक आचारज री हुवे छै ते करसी हजर रहण पावे नही।

/ / × ×

श्रीरामोजयति

सही

स्वस्ति श्री महाराजाधिराज माहाराजा श्री करनसिंहजी वचनात् श्रीगराजी मया कर भटारकीया अचारजीया खरतरगछ विरुवाइना सु मेला कीया उ ज्यो लागे मेला हारना तिन हारस्यै नै महाजन आप माहे एक हुवा छै नै जतीया री भारन्ड छै मास १६ताई भटारकीया अचारजीया आप माहे मरचो करसै श्री बीकानेर माहे आस्यै कदास आप मते मरचे नही ता-मास नाला पछै फिरो बीकानेर आसी तेनु माहाजन माननी दिना एक मेला हुई ने वेडै उपासरै माना ही महाजन पहरा रासस्यै नै पछै दिन १० महाजन नगरा ही लाटै उपासरै जास्यै ता पछै वडै उपासरै ज्यो जात नाई मेला हुवना तिन हुस्यैडनर ञण पावै नही ईरै वात री कोई डमप करै सु रूपीया ११००) ईकवीस मै नावण देसी। आरन्ड श्री बीकानेर रे महाजन नगरा ही मेला हुई नै थापी छै। समत १६९६ मीगसर सुदि १० सोमवार मुकाम मुठे। कुचरा देहरे रे भटारकीया आज नाई, जा हक नै रहनी तीव रहस्यै।

सही—

स्वस्ति श्रीमहाराजाधिराजा श्री करणसिहजी वचनात् स्वान गोपाल्दा जोग सुप्रसाद वाचजो तीथा उपासरो वडो भटारकी महाजना रो छै सु भटारकीया दीन छै सु खोरह देजो महाजन भटारकी नु स्वग य छै सवत १७०५ वैसाख वद ५ मु० श्री अवरंगाबाद।

× / / ×

स्वस्ति श्रीमहाराजाधिराज महाराज श्री करणसिंहजी वचनात् भट्टारकीये अचारजिया आप(स) मे असरचो हुतो सु आचरिजी महाजन पावे आरी ही सु टरे तिनम परवानो लिख दीन्हो छै—

देहरै चांदासटै मानव कीरै—रे जिनम रा मास।

१ सोनव ५॥ भटारकीया लिस्यै
सोनव ५॥ अचारजीये करिस्यै
। सोनव १ भादवा सुदि १ री करसी
। सोनव १
। मनव १ चोवरी वेलरामी

× / × ×

श्री परमेसरजी सच छै

स्वस्ति श्रीमहाराजाधिराज महाराज श्री रायसिघजी वचनात पा माहासिघ हर की मदान दिसे सुप्रसाद वाचजे अठारा समाचार भला छै था हा रा दे जो अप्रांच ॥ भटारक जिणचद सुरजी गजनी उपाध्या सुमत विजै पडत रतनसी हजुर आय फिरी याद करी जु म्हानै महर मै रहण न दै उपासरा म्हारा थीरा दीया नु आगै था सु परवानो मीहर नुरी रिसाय मेल्यो थो सु ये अमल न दीयो नु कीमै बारनै ही मैर्जा कोई उपासरो सव रायो छै जु ईणा रे हवाले





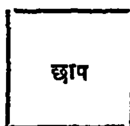
की जौ फेर हजुर फरीयाद नावै सु कीजो सरावक या नु माने सु या नु मान जो वानु मानै सुवा नु मान जो या रा उपासरा मैं अैरो नारा उपासरा वैर है और कोई आयस मैं जोरे ज्याजती करण नु पावै मीती काती सुद ७ सवत १७१६ दुवै। श्री मुख मु काम जा हा ना वाद—

रजुदफत्र रजुद फत्र पा महासींघ

इस पत्र मे उल्लिखित महाराजाधिराज रायसिंह कौन थे ? यह विचारणीय है। क्योकि इसमे जो सवत १७१६ मुकाम जहानावाद का उल्लेख है उस समय वीकानेर महाराजा रायसिंह तो विद्यमान थे ही नही। अन्य किसी रायसिंह को महाराजाधिराज का पद भी उस समय प्राप्त था या नही, विचारणीय है। पत्र उसी समय का लिखा हुआ है। उसके पीछे की ओर 'रजुदफत्र, और 'पा माहासिंघ' लिखा हुआ है।

भट्टारक जिनचन्द्रसूरिजी वीकानेर गद्दी के श्री पूज्यजी उस समय विद्यमान थे। और भी खरतरगच्छ की किसी शाखा मे अन्य जिनचन्द्रसूरि भी हो सकते है।

× × × ×



स्वस्ति श्री महाराजाधिराज महाराजा श्री अनूपसिंहजी वचना महाजन खरतरा ओसवाल जोग्य सुप्रसाद वाचजोजी तथा श्रीपूज्यजी श्री वीकानेर चौमासे छै सो थे घणी सेवा भगत करजो, काण कुरव राखजो।

स० १७५२ आपाढ सुदि १ मुकाम गढ सागर।

महाराजा अनूपसिंहजी के एक परवाने की नकल मैंने 'राजस्थान भारती' मे प्रकाशित की है। वह परवाना नाजर आणदराम को दिया गया है। उससे तत्कालीन शासन-व्यवस्था आदि के सवन्ध मे वहुत ही महत्त्वपूर्ण जानकारी मिलती है, महाराजा ने इसे स० १७४९ मिगसर वदी १३ को आदूणी मुकाम मे लिखाकर भेजा है।

महाराजा अनूपसिंहजी के लिखे हुये दो सस्कृतपत्र और जिनचन्द्रसूरिजी के महाराजा को दिये हुये तीन सस्कृत पत्र भी हमारे सग्रह मे हैं।

नाजर आणदराम के दिये हुये सस्कृत और राजस्थानी भापा के पत्र भी हमारे सग्रह मे है।

× × × ×

श्री वीकानेर रा माडईया लिखावतु रिणी रा माडईया जोग तथा पुज्य श्री जिनसुखसूरजी री छतडी पादका रे पूजा नु टका १५। अखरे पन्द्रै चलु यितीया देज्यो म्हे थानु मुकाते मा मुजरै भर देसा। स १७८३ मगसर सुद ४ हुता चलु देजाइ।

उपासरै भटारका रै देजो।

महाराजा सुजानसिंहजी के दिये हुये जिनसुखसूरिजी के २ पत्रो की नकल 'वीकानेर जैन लेख सग्रह' जैन सिद्धान्त भास्कर, और 'धर्मवन्दन ग्रन्थावली' आदि मे छप चुके हैं।

नाजर आणद-राम ने स० १७७९ मिगसर सुदि १ वुधवार को जिनसुखसूरिजी को पत्र दिया था। उसमे सस्कृत के साथ-साथ राजस्थानी भापा में भी निम्नोक्त समाचार लिखे हुए है—

उपराच उपाध्याय श्री भागचन्दजी ने साहजहनावाद रो आदेश छै सु हिंडो कै साल आदेश श्री बीकानेर रो

देस्यो। जी जा महरवानगी म्हा ऊपर करस्यो जी, अर जती नैणसीजी आप बने छै, सु एक वार उहा नै अठै म्हेलस्योजी।

सवत १८०० के फागण वदि १० को नाजर आणदराम ने जिनभक्ति सूरिजी को पत्र दिया है। वह उस समय की बोली मे लिखा हुआ है।

श्री परमेश्वरजी सत्य छै

स्वस्ति श्रीभुजनगर शुभस्थाने पूजि परम पूजि सरब ओपमा विराजमान सतक्रिया सावधान जंगम युगप्रधान पूजि भट्टारकजी श्री १०५ श्री जिनलाभसूरजी सूरि सुरान चरण कमलान नागोर थी सदा सेवग आज्ञाकारी सिघवी फतैचन्द लिखित वदणा परे लागणो अवधारजोजी। अठारा समाचार श्रीपूजजी कृपा सु भला छै। आपरा सदा आरोग्य चाहीजैजी। आप वडा छो पूजि छो। सेवग सु सदा कृपा भाव हेत राखो छो। तिण थी विशेष रखावजोजी। सेवग लायक काम चाकरी होय सो कृपाकर लिखाया करावज्योजी। अपरच वणारस श्रीनैणसीजी आपरै हजूर आया छै सु अरज करसी—श्रीराजाधिराजजी फुरमायो छै नैणसीजी नै उपाध्याय पदवी दिरावजो सु आप कृपा करनै इणानै उपाध्याय पदवी देनै सीख दिरावज्योजी। नैणसीजी सारी वाता लायक छै। पडित छै। सु आप कृपा फुरमावस्यो हीजजी। वाहला कागद कृपा भाव कर दीरावा करावजो।

सवत् १८०४ रा फागुण वदि ५।

"पूजि भटारकजी श्री १०८ श्री जिनलाभ सूरिजी चरण कमलान"

× × × ×

श्री परमेसरजी सत्य छै

स्वस्ति श्री भटारक सिरी पूज श्री जिनलाभसूरिजी जोग्य राजाधिराज श्री बखतसिंघजी लिखावत नमस्कार वाचजो। तथा वणारस नैणसीजी राज कनै आया छै सो माहा जोग्य छै पडित छै इणानै उपाध्याय पद दिरायनै सीख दिराज्यो सवत् १८०४ रा फागुण वदि १३।

× × × ×

इस पत्र के अंत मे एक महत्त्वपूर्ण निर्देश है कि आप मेरे को जो पत्र लिखावे वह पावरी भाषा मे ही लिखावें संस्कृत मे नही। इसलिए इस पत्र की नकल नीचे दी जा रही है।

स्वस्ति श्रीसर्व ओपमान लायक परमसुखदायक सर्व गच्छा सिर नायक सेवका मनभावक। अनेक ओपमा विराजमान पूज्य श्री पूज्यजी श्री श्री श्री श्री श्री जिनभक्तिसूरजी चरण कु मला नू आज्ञाकारी सदा सेवग नाजर आणदराम लिखत आदेस वनणा घणै मान अवधारज्योजी। अठारा समाचार श्री पूज्यजी री कृपा सूं भला छै। श्रीपूज्यजी सदा आराग्य चाहीजै। अप्रच श्री पूज्यजी वडा छो म्हारै श्रीपूज्यजी उप्रान और कोई वात न छै सेवग आपरो जाण सदा कृपाभाव राखो छो तिण सूं विशेष राखज्योजी। अप्रच कृपा पत्र १ आपरो माह सुदि १३ री मिति रो आयो। वाचीया सूं आपरै दरसण जीया री सी सुख हुवौजी। अप्र च आप लिखियो जु जप जाप सुमरण वेला म्हे थानूं याद करा छो सू आप आपरो सेवग जाण म्हानूं कृपा राखो छो सू आप वडा छो। आपनू आहिज चाहीजैजी। और अबर कै चौमासे रो आप किसी तैड रो विचार राखो छो तै री ख्योरो लिख मेल्ज्यो ज्यू म्हाई खबर पडे अर म्हा ने तो आप सदा आपरो सेवा हीज मे जाण तारस्योजी। अठै सरीखो काम काज हुवै सु घणो लिखना रहिज्यो और म्हानू आप कागद पतर लिखावो सू पावरी भाषा हीज मे लिखाया करज्यो संस्कृत मे मती लिखावज्योजी। छाडड ता कागद सदा देज्योजी। सवत् १८०० वर्षे मिती फागुण वदि १० दिन।



खरतरगच्छ के आचार्यो ने राजाओं को जो पत्र लिखे उनमें से एक पत्र का आवश्यक अंश नीचे दिया जा



रहा है। यह पत्र नवहर से भ० जिनगुप्तसूरिजी ने बीकानेर के महाराजा सुजानसिंह को दिया था। इसके अन्त के दुहे में महाराजा की विजय का महत्त्वपूर्ण उल्लेख है—

अपरच श्री महाराजजी री प्रीति पत्र आयो। वाचो मन राची साची प्रीति जाणि सुख पायो। श्रीमहाराजा जी नै शुभ आशीर्वचन करता सदा सर्वदा श्री महाराजजी री चढती प्रताप उदै अभ्युदय चाहा छा। आप पिण पूर्व प्रतीति प्रीति रीति धरी छौ तिण थी विशेखै धरवी मोटा धरणीश्वर छउ

दोहा—वैरी साधि चलाई चित, फते करी इक फाल।
महाराज आए महल, सुनि हम भए खुस्याल ॥

छाप

महाराजाधिराज महाराज श्री जोरावरसिंहजी वचनात् राठौड भीयासिंहजी कुशलसिंहजी मुहता रघुनाथ योग्य सुप्रसाद वाचजो तिथा सरसैं में जती अमरसीजी छै सु थानै काम काज कहै सु कर दीज्ये ऊपर घणी राखजो। फागुण सुदि ४ स० १७९६।

× × × ×

श्रीलक्ष्मीनारायण
जीभगतराज
राजेश्वर माहारा
जा शिरोमण माहा
राजाधिराज मा
हाराज कुंवार श्री
राजसिंह स्य मुद्रका

श्रीरामजी

स्वस्ति श्रीजगम जुगप्रधान भट्टारक श्री जिणचद सूरिजी सूरेश्वरान माहाराजाधिराज म्हाराज म्हाराज कुवार श्री राजसिंघजी लिखावतु नीमस्कार वाचजो अठारा समाचार श्रीजे रे तेज प्रताप कर भला छै थांहरा सदा भला चाहिजै अप्रन थे म्हारे पूज्य छो था सनाय और कोई बात न छै सदा म्हासु कृपा राखो छो जिण सु विसेष रखाजो। और थे चौमासे उतरीया सताब बीकानेर आव जो म्हा नु थासु मीलण री चाहा छै अठारी हकीकत सारी गुरुजी तेजमाल नाहटै समगुप्र रै कागद मु जाणजा। सवत् १८४० मिती कार्ती बद १ मुकाम गाव।
देसणोक ——s——s——s——s——s——

१ जगमे जुगेप्रधन जिणचद सूरजी सूरेश्वरात

× × × ×

स्वस्ति श्रीराजराजेश्वर महाराजाधिराज महाराजा शिरोमणि महाराजा श्री सूरतसिंहजी महाराज कुंवर श्री रतनसिंहजी वचनात खरतरा रे उपासरे री गीव म पयचदीयो बाजो बाजवण रा पग्वाणा बहदुरसिंघजी री अरज गु नार दीयो थो तै ऊपर खरतरा करना श्री दरबार मे अरज कीवी या रो बाजो बाजो आगे कदे ही बाज्यो नही हमार थें

नवी रीत करी छै तै उपर श्री दरबार मुं आ फुरमाई आगै सदा मद मरजाद चली आवै छै ते रीत हुमी परवाणी पायचदीया नुं बहादरसिघजी अरज मुं मिती पोह वद ५ रो कर दियो छै नु उ परवाणो हमै रद छै आगै सुं तपा पायचदीया लौंका खरतरा कवला री नीव मे वाजा नौब झाग्र वजावण पावै नही अर परवाणो एक इण ही भात कवलै गच्छ नु कर दियो छै सवत् १८६० मिती पोह वद १२। मुकाम पाय तख्त श्री बीकानेर कोट दाखल।

× × × ×

श्री व्रजराज स
हाय महाराजाधिरा
जा महारावलजी श्री
गर्जासघ जी कस्य
मुद्रिका

सिद्ध श्री माहाराजाधिराज महारावलजी श्री गजसिघजी वचनात् गुरा सदासुखजी दिसी वदणा वाचजो तथा हकीकत मारी प्रोहत सेवाराम ना फुरमाय मेल्यो छै सो कहे सै अठै वार हेत आवो तो था रो कुरब कायदा उठ ज्याइ रहेसी फेर टटा रे रुपीया देसा हकीकत मारी सेवाराम कहे सै सवत् १८८४ रा मिती मेघर सुदि ५

× × × ×

दसकत खास

श्री पूजजी नुं म्हारो नमस्कार वदना वाचजो उपरच म्हारै फुरमायो सु आ काम कियो छै सु फेर तो म्हाँ विराजता पस्मातर रे श्रीपूजजी टवै रस्ते न बुरामा इणै मे कसर न जाणसी वडै महाराजजी रुको लिख दियो छै ते मुजब ही मरजाद रहसी इणै मे कसर न पडसी म्हारा वचन छै थे म्हाहरा सुभचितक छो पीढीया सुं लगाय था सवाय और न छै। चिन्तामणजी महावीरजी सनातन—गवाड मे सदामद जुं वाजै छै तै मुजब वाजसी म्हा विराजता कसर न पडती स १८८६ मिती जेठ बदी २।

× × × ×

दसकत खास मु० हीदुमल दोसी सुप्रसा (द) वचै अप्रच ठाकुर वीरीसाल नै देसणोक सु लपेट लायो पछै श्री ठाकुरजी रै दस्सण नै गयो जारा ठाकुर नै ल रै हाथी रै खुवासी मै चाढो तो ही पैट री मैल गयी नही पछै मागनै बगनी ठाकुर नै अमरावता नै राजी वाजी कर विदा किया साठ हजार रुपीया लीया सु था उठै मारी सुणी हुसी। श्रीमाता जी रै मट मे बैस सौंस स्वल कीया हीदु मुसलमान रै सुन हुवै छै सु मारा तीरा अमरावता रो हाथ ठाकुर झालो ठाकुर रा हाथ अमरावता झालो इसी सुन कर विदा हुवा साझ नै जाय पकड लीया पछै एक एक नै वाढता गया इसी केता गया हजूर ईयाद करै छै था मुं एकता करसी थे केता मारै कोट री छाया तीन वार पडै छै सु वा छाया केय जारा देवीसीघ ठकराणै री, दवै इसी कही उ वा छाया कोट मुं वार आसी जारा ठीक पडसी सु आकर गयो हमे पुगल गयो छै। पूगल वाली जैसलमेर गयो छै सु हमैं हुवै सू ठीक पडसी ईयै देखता तो ठाकुराव जैसलमेर रो रावल रुदेरा एक छै। लारलो कुवय मारी रा त्या की छै दीसै तो इसी छै। दुजा समाचार मारा मु० मुलचन्द रैवा मुनसी मानीराम रावाकिसनै रै कागदा मुं जाणसी कुवरपदै रो चाकर छै सात पीढी रो चाकर छै साम धरमी चाकरै छै सु जैसलमेरो हुकम मगाय देपैल्कै जु न हुवै सवत् १८८७ मीती सावण सुद ५ भादवा सुद दुज नै डेरा दाखल हुवा ताकीदी सुं उथला आवै सु करे अठै मोटो काम





तौ थारै समाचार आया जाव करमां पुगल रो कम तौ पैली करसा जेज रो काम न छै थारी चाकरी छै। मजो तो पेल को वदलो लीयो सुं छै। १ रु को खा स।

श्री दीवान वचनात् वडे उपासरै रे श्रीपुजजी श्री १०८ श्री सोभागसूरजी ने गुरु पदवी देय दीवी छै सु वडे उपासरे री पीढी सुं मरजाद रा परवाणा वा छाप रा कागद सीव रात्रा सामग्री रा धरणे रा कर दिया छै तिके परवाणा मुजब सही छै और नया मरजाद मों वाध दिवी छै। वडे उपासरे री साव सावी मे चुक पड जावे उव रो दुसमण मा म् अरज करै ते सुणे नही श्रीपूज्य श्री उवा नै दड प्रायच्छित देर सुध कर लेसी। कदाच श्रीपूजजी री इच्छा नहीं मानसी आप सुन्दा वेमना फर उवा नै परस्पर समझासी समभया लागसी नही तो उत्र दरवार सुँ अरज करासी अै साधसाध्वी म्हारी इच्या मे नही चालै छै आप मुराद वेवै छै ताग दरवार मुँ वानै वढाय सिजा देसी तारवा श्रीपूजजी नै कवासी अम आपरी इच्या उलगा नहीं ओलगा तो जिन इच्यारो लोपी हुवा तारा अरज कर छोडासी और साध साध्वी सहर मे अगान रा मीदर करासी व गाव मे करासी तारै श्रीदरवार रो हुकम छै फेरू अरज करावण रो काम नहीं मास १३ शुचनण वेसर धूप दीप रो दीया जासी जिके दिन सुं मिदर कराया जिके दिन दिन सुं लेखो कर दिराय देजी और वडे उपासरे री सीरणी री मरजाद वाध दीवी छै सा राज रौदा मवारी वा० लणयत सुं डरनो वा ओर ओर गुन वालो मुनदो महुकार और दीकोड दुजी उपासरै शरणै जाय वैठसी ते नै श्रीदरवार सुं वा० लैणायत न उठासी, उठागी ते नै दरवार सिजा देसी और श्री वीकानेर रो वसीवान सहुकार वा० दुजी पटवा श्रीपूज कीया छै तेनै न मानसी जो कोई मानसी वारा श्रीदरवार और किसी नै वी पुरो मानणो सावित हुय जासी तो वानै सिजा दी जासी इयै मरजाद मेटण री कोई चाकर अरज करसी तो परम हरामखोर हुसी इयै मे कसर नही पडसी म्हारो वचन छै। द० मुहतो लीलाधर स० १८९७ मीती माघ सुद १३।

× × × ×

स्वस्ति श्रीमहाराजाधिराज राज राजेश्वर नरेन्द्र शिरोमणि श्री सिरदारसिहजी वचनात् श्री वीकानेर रा साहुकार परदेस मे छै, तिका समसुता दिसी सुप्रसाद वचे अपरच भट्टारक श्रीपूजजी पूजजी श्री जिनहस सूरिजी नै भट्टारक श्री पूजजी श्री जिनमुगत सूरिजी रा श्राव मान्या हुवै तो थे इया नै मानजो नही तो कुँही मानण रो मुद्दो नही सवत् १९१२ मिती काती वद १४ मुकाम पाय तखत श्री वीकानेर कोट दारना—

महाराजाओ के स्वय के लिखे हुये कई खास रुके हमारे सग्रह मे हैं जिनमे से ज्ञानसारजी को महाराजा सूरतसिंहजी के लिखे हुये कुछ पत्रो की नकलें हमारे 'ज्ञानसार ग्रन्थावली' मे दी गई है। ऐसे महत्त्वपूर्ण पत्र बहुत से हैं और इनमे तत्कालीन राजकीय स्थिति का इतना महत्त्वपूर्ण पता चलता है जो अन्य किसी साधन से नही चल सकता। आपसी पत्र-व्यवहार मे दिल खोलकर वास्तविक समाचार लिखे जाते है इसलिये ऐतिहासिक दृष्टि से उनका सर्वाधिक मूल्य है। जैनाचार्य अपने आज्ञानुवर्ती मुनियो-यतियों को आदेशपत्र भेजते थे कि अमुक जगह चौमासा करने के लिये पहुचो और उन यतियो के आचार्यों एव बडे-छोटे मुनियो श्रावको के लिखे हुये समाचार पत्र भी बडे महत्त्व के है, जो सैंकडो की सख्या मे हमारे सग्रह मे है।

गोपाचल की मध्यकालीन साहित्य-कला साधना



डॉ० राजाराम जैन

एम० ए०, पी-एच० डी०, आरा

गोपाचल भारतीय संस्कृति एवं साहित्य का प्रमुख केन्द्र रहा है। जैनसंस्कृति, साहित्य एवं कला की दृष्टि से भी उसका सुदूर अतीत तो स्वर्णिम रहा है किन्तु उसका मध्यकाल और विशेषतः १५-१६ वीं सदी का काल विशेष महत्त्वपूर्ण रहा है। इस युग में कई विशाल एवं उत्तुंग जैन मन्दिर, अगणित जैन मूर्तियाँ तथा अनेक स्वाध्याय-शालाएँ बनीं तथा विशाल मौलिक एवं टीका-साहित्य का सृजन हुआ। प्राचीन ग्रन्थों का पुनरुद्धार, उनकी प्रतिलिपि-कार्य तथा उनके संरक्षण की दृष्टि से तो यह काल अभूतपूर्व ही कहा जा सकता है। गोपाचल के नगरसेठों[1] ने भी एक ओर जहाँ राज्य की आर्थिक समृद्धि में अपना महान् योगदान किया, वहीं राजनीति के क्षेत्र में भी युगानुरूपी आदर्श सहयोग दिया। तत्कालीन नरेश अपने उनको मन्त्रिमण्डल में जैनों को महत्त्वपूर्ण स्थान देते रहे। इनके साथ-साथ ही जैन-साहित्य, साहित्यकारों एवं कलाकारों को अपने यहाँ प्रश्रय देकर इन नगरसेठों ने जो अनुपम कार्य किये एवं गोपाचल को तीर्थस्वरूप बना दिया, गोपाचल (ग्वालियर) का कण-कण आज भी उनके प्रति अपनी कृतज्ञता का भाव प्रदर्शित करता हुआ प्रतीत हो रहा है। किन्तु यहाँ इन सभी तथ्यों की चर्चा सम्भव नहीं, क्योंकि वे एक विशाल ग्रन्थ का आकार ले सकते हैं। अतः मात्र साहित्य-प्रणयन, लेखन, संरक्षण तथा प्रसंगवश जैन-कला सम्बन्धी कुछ कार्यों की ही यहाँ संक्षिप्त चर्चा की जा रही है।

राजनैतिक एवं आर्थिक दृष्टि से शान्त वातावरण होने के साथ साथ तात्कालिक राजाओं की साहित्य एवं कला के प्रति सुरुचि, पुरस्कार, उनकी धार्मिक सहिष्णुता एवं उदारता आदि ही साहित्य एवं कला के विकास के प्रमुख कारण हैं। गोपाचल में सौभाग्य से उक्त सभी संयोग एक के बाद एक जुटते गये। इस विशिष्ट सौम्य वातावरण को देखकर एक फारसी कवि ने गोपाचल को "भारत का शीराज"[2] तक कह दिया था। महाकवि रइधू ने भी अपने ग्रन्थों के प्रशस्तिखण्डों में अनेकों बार उसे 'कुबेर नगरी', 'इन्द्रपुरी', 'महाकवि', 'महापण्डित' एवं 'गुरुणा गुरु' की उपाधि से विभूषित किया है।

तोमरवंश की गोपाचल-शाखा के नौ राजाओं[3] ने गोपाचल में सन् १३९८ ई० से १५२० ई० तक शासन किया। इनमें से तीसरे शासक विक्रमदेव (अपरनाम वीरमदेव—१४०२-१४२४ ई०) के काल में गोपाचल में सांस्कृतिक एवं साहित्यिक वातावरण की विशेष सृष्टि हुई तथा जैन-कवियों को राजकीय सम्मान एवं संरक्षण प्राप्त हुआ। ऐसे कवियों में महाकवि नयचन्द्रसूरि एवं भट्टारक गुणकीर्ति प्रमुख थे। महाकवि रइधू का यह उदयकाल था। कविता के क्षेत्र में वे अपने चरण बढ़ा रहे थे।

---

१ नगर सेठों के विशेष परिचय के लिये मेरे द्वारा लिखित सिंघी स्मृतिग्रन्थ कलकत्ता (१९६१ ई०) मुनिश्री हजारीमल स्मृतिग्रन्थ ब्यावर (१९६५) एवं मध्यप्रदेशसन्देश ग्वालियर (जुलाई १९६५) में प्रकाशित मेरे विस्तृत शोध-निबन्ध पढ़ें।

२ मानसिंह और मानकुतूहल (ग्वालियर, १९५३) पृ० १५६।

३ तोमरवंशी सभी राजाओं के विस्तृत परिचय के लिये मेरे द्वारा लिखित विस्तृत शोध निबन्ध मध्यप्रदेश सन्देश (१९६६) में पढ़िये।



महाकवि नयचन्द्र सूरि अपने समय के प्रमुख कवि एव सट्टककार थे। उनकी दो कृतियाँ विशेष महत्त्वपूर्ण है—हम्मीर महाकाव्य[1] एव रम्भामजरी[2] सट्टक। हम्मीर 'महाकाव्य' वीररस प्रधान महाकाव्य है जिसमे १४ सर्ग एव विविध प्रकार के छन्दो, अलकारो एव रसो से समन्वित १५७२ श्लोक हैं। इसकी भाषा सस्कृत है। इसके प्रणयन मे राजा विक्रमदेव की प्रेरणा ही प्रमुख कारण है। नयचन्द्र सूरि की कवि-प्रतिभा को उकसाने के हेतु उन्होने एक बार भरे दरबार मे कहा—"पूर्व कवियो के समान काव्यो की रचना आजकल सम्भव नही।"[3] विक्रम की यह बात महाकवि को लग गई, अत कवि ने 'हम्मीर महाकाव्य' का प्रणयन किया। कवि ने स्वय लिखा है—"विक्रम की बात सुनकर मै शृगार, वीर एव अद्भुत रस मे युक्त प्रस्तुत काव्य लिख रहा हूँ।"[4]

'हम्मीर महाकाव्य' राजा हम्मीरदेव के रणशौर्य एव और वीरमृत्यु की तेजस्विनी काव्यकथा है जिसे पढकर आज भी बाहुएँ फडक उठती हैं। जिस समय यह काव्य लिखा गया था वह युद्धो का काल था। सर्वत्र छोटी बडी बातो अथवा कामिनी, काचन या राज्यलिप्सा को लेकर आपस मे कलह ठन जाती थी। विक्रम के राज्य की शान्ति एव समृद्धि की ओर भी दिल्ली एव मालवा के मुहम्मदशाह के सेनापति इकबाल खा एव खिजखा की आँखें गडी रहती थी। अवसर पाकर वे हमले बोल दिया करते थे जिसमे शान्तिप्रेमी विक्रम को तलवार उठाकर अपना पुरुषार्थ दिखाना पडता था। यद्यपि विजय उसी के हाथ मे रहती थी किन्तु कभी-कभी उसके मन मे विजयप्राप्ति के प्रति आशका होने लगती थी। सघर्ष एव निराशा की उन घडियो में सम्भवत 'हम्मीर महाकाव्य' ही उसे प्रेरणा, उत्साह एव स्फूर्ति प्रदान करता रहा हो, तो इसमे कोई आश्चर्य नही। नयचन्द्र सूरि एव राजा विक्रम का यह घनिष्ठ सम्बन्ध कालिदास एव विक्रमादित्य, भामाशाह एव महाराणा प्रताप तथा चन्दवरदाई एव पृथ्वीराज चौहान के युग का स्मरण कराता है।

नयचन्द्र सूरि की दूसरी रचना रम्भामजरी सट्टक है। इसमे प्राप्त कथानक के अनुसार राजा जैत्रचन्द्र की सात रानियाँ थी। उनके अतिरिक्त उसका प्रेम लाटनरेश देवराज की पुत्री रम्भा से हो गया जो आगे चलकर विवाह के रूप मे परिणत हो गया।

महान् सट्टककार राजशेखर (९-१० वी सदी) के अनुसार "सट्टक में अक, प्रवेशक एव विष्कम्भक नही होते[5]। इनके अतिरिक्त सट्टक नाटिका का अनुकरण करती है। हाँ, सट्टक आद्यन्त प्राकृत भाषानिबद्ध होती है।" इनके अतिरिक्त सट्टक की अन्य विशेषताओ मे से इसका नायक राजा होता है जो स्वभावत स्त्रैण होता है। वह लुक-छिप कर नायिका से प्रेमव्यापार करता है और पट्टरानी को धोखा देकर उसके साथ विवाह कर लेता है। इसमे शृगाररस प्रधान होता है। समस्त कथानक चार जवनिकान्तरो मे विभक्त होता है।[6]

सट्टक की उक्त सभी विशेषताएँ 'रम्भामजरी' में उपलब्ध नही होती। चार जवनिकान्तरो म से प्रस्तुत रचना मे कुल तीन जवनिकान्तर ही उपलब्ध है। प्रथम मे राजा जैत्रचन्द्र का रम्भा के साथ विवाह एव दूसरी तथा तीसरी जवनिका मे उनके प्रेमव्यापार का वर्णन है। इन तीनो जवनिकाओ मे नाटक के फल का वर्णन एव भरतवाक्य अनुपलब्ध है। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि अन्तिम चतुर्थ जवनिका नष्ट हो गई।

---

१ निर्णयसागर० बम्बई (१८७९ ई०) से प्रकाशित।

२. निर्णयसागर० बम्बई (१८८९) से प्रकाशित।

३-४ काव्य पूर्वकवेर्न काव्यसदृश कश्चिद्विधाताधुने—
त्युक्ते तोमरवीरमक्षितिपते. सामाजिकं ससदि।
तद्भ्रूचापलकेलिदोलितमना शृगारवीराद्भुत,
चक्रे काव्यमिद हमीरनृपतेर्नव्य नयेन्दु कवि ॥ हम्मीरकाव्य १४।४३

५ कर्पूरमजरी (Edited by N G Suru, Bombay, 1960) १।६

६ प्राकृत भाषा और साहित्य (दिल्ली, प्र० स०) पृ० १२१

नयचन्द्र ने पूर्वोक्त उक्तियों के अन्त में इसे 'नाटिका'[1] कहा है। जब कि नट एवं सूत्रधार के माध्यम से इसने इसे 'सट्टक'[2] कहा है। इसी प्रकार इसमें प्राकृत के साथ संस्कृत का मिश्रण भी बहुलता से प्राप्त है। नट, रानी कमलसेना, रम्भा, प्रतिहारी, विदूषक और चेटी प्राकृत में वार्तालाप करते हैं तथा इनके पद्य-प्रयोग भी प्राकृत में हैं, हाँ चेटी संस्कृत-पद्य का प्रयोग करती है। दूसरी ओर सूत्रधार, राजा, नारायणदास एवं मगधपाठक अपना वार्तालाप संस्कृत में करते हैं किन्तु पद्य में संस्कृत एवं प्राकृत दोनों का ही प्रयोग करते हैं। इतना ही नहीं इसका एक प्रतिहारी तो संस्कृत प्राकृत के साथ-साथ मराठी[3] का भी प्रयोग करता है।

उक्त विभिन्नताओं को देखने से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि नयचन्द्र ने सट्टक एवं नाटक में कोई विशेष भेदभाव नहीं माना। वे लकीर के फकीर न थे। युग के अनुसार उन्होंने जो उचित समझा, वही किया। 'पुराणमित्येव न साधु सर्वं' वाली उक्ति नयचन्द्र पर पूर्णतया लागू होती है। वस्तुतः सट्टक के क्षेत्र में कवि का यह एक नया क्रान्तिकारी प्रयोग था और प्राचीनता से नवीनता का समन्वय अथवा निर्वाह ही उनकी अपनी मौलिक विशेषता थी। इसकी भाषा अति प्रौढ़ है। इसमें प्रयुक्त संस्कृत के अंशों को पढ़ते समय कादम्बरी के लम्बे-लम्बे समासान्त पदों का बरबस स्मरण आ जाता है।

सूत्रधार के माध्यम से नयचन्द्र ने अपना जो परिचय दिया है, उससे यह स्पष्ट विदित है कि वे सरस्वती के वरद पुत्र एवं पारगत विद्वान थे। इसका उन्हें गर्व भी था।[4] राजशेखर की कर्पूरमञ्जरी नामक सट्टक को भी उन्होंने नगण्य समझा।[5] नयचन्द्र को अपने पाण्डित्य पर गर्व करने की प्रेरणा सम्भवतः महाकवि पुष्पदन्त से मिली होगी, क्योंकि उस समय गोपाचल में पुष्पदन्त के महापुराण एवं जसहरचरिउ का पठन-पाठन बड़ा लोकप्रिय था। पुष्पदन्त ने अपनी विद्वत्ता का परिचय देते हुए अपने को "अभिमानमेरु"[6] 'अभिमानचिह्न'[7] जैसे विशेषणों से विभूषित किया है। तथा सरस्वती को उन्होंने चुनौती दी है कि मेरे बिना तुझे कहाँ आश्रय मिलेगा?[8] नयचन्द्र ने इतनी मुखरता के साथ तो अपना गर्व व्यक्त नहीं किया है किन्तु अपने रम्भामञ्जरी में उन्होंने अपना जैसा परिचय दिया है उसमें पुष्पदन्त के जैसे गर्व की ध्वनि अवश्य ही सुनाई दे जाती है।

---

१ "समाप्ता रम्भामञ्जरीनाम नाटिका"।

२ नट —ता किं पओजणविसेस पडिवज्जिय इम सट्टयप्पबन्धप्पारम्भो। रम्भा० १।१८
सूत्रधार —इम त परिणेदि अट्ठमनिय एयम्मि सट्टे वरे। रम्भा० १।१९

३ जया पेखिजा समराङ्गणी रेणुरवातु। तरी परिम्मना सुप्राचे पिवउप्रतापु। जरि नयनविषयू वेन्नावेणी दडु। तरि माझाज्जाना भ्रमरश्रेणीदडु। जरि दृग्गोचरी आना विमान भालु। तरि अर्धचंद्र मडलु भइला ऊर्णायु जालु।
सुरमटु जागु शशाङ्कदेयनाचे मटलु। कल्पद्रुम जैसे सर्वलोक आशा विश्रामु
रम्भा १।१२ पृ० ११

४ छन्नामा सुकवित्तनुनिउणस्सो जो सारदादेवया—
दिन्नण्णोट्ठवरप्पसायवसउ रायाण जो रजगो।
जो पुव्वाग कईण पयपढिओ एयस्स सो कारगो,
विक्खाओ नयचन्दणामसुकई णीसेसविज्जाणिही॥ रम्भा० १।१२ तथा १।१५-१८

५ कप्पूरमञ्जरीए कह रम्भामञ्जरी न अहियपरा।
कप्पूरउ न रंभा रभाओ जेण कप्पूरो॥ रम्भा० १।१८

६ त सुणेवि भणइ अहिमाणमेरु॥ महापुराण १।३।१२

७ वयसजुत्ति उत्तमसत्ति वियलियसकि अहिमाण कि। जसहर० ४।३१।३

८ कं यास्यस्यभिमानरत्ननिलय श्री पुष्पदन्त विना॥ महापुराण स० ४५ एव
पण्णहो मदिरि णिवसन्तु, सतु अहिमाणमेरु गुणगणमहतु॥ णायकुमारचरिउ १।२।२





विक्रमदेव स्वय तो साहित्य-रसिक था ही । उसके मन्त्रिमडल का एक प्रमुख सदस्य कुशराज जैन[1] भी कम साहित्य-रसिक न था । उसका कलाप्रेम इसीसे जाना जा सकता था कि उसने गोपाचल मे एक विशाल उत्तुग चन्द्रप्रभ जिनालय[2] का निर्माण कराया था । यद्यपि वह स्वय साहित्यकार न था, किन्तु साहित्यकारो के प्रति दृढ आस्थावान्, श्रद्धालु, भक्त एव उनका आश्रयदाता था । उसके आश्रय मे रहकर पद्मनाभ कायस्थ ने सस्कृत-भाषा-निबद्ध 'यशोधरचरित' नामक एक काव्य लिखा था । महाराज यशोधर का चरित जैन-साहित्य मे अहिंसा-सस्कृति का प्रतीक एक आदर्श उज्ज्वल चरित माना जाता है जिस पर लगभग १०० छोटी-बडी रचनाएँ विविध भारतीय भाषाओ मे विविध कालो मे लिखी गई । उन्ही मे से एक उक्त 'यशोधरचरित' भी है ।

पद्मनाभ कायस्थ कृत यशोधरचरित का दूसरा नाम 'दयासुन्दर काव्य' है । इसमे ९ सर्ग एव कुल १४६१ श्लोक है (यथा-सर्ग १ श्लोक १४९, २-७९, ३-१५३, ४-२३४, ५-१७९, ६-१८०, ७-१७४, ८-१६१, ९-१०९, एव प्रशस्ति श्लोक १३) । अन्त्य प्रशस्तिखण्ड के दस पद्यो मे कुशराज का विस्तृत परिचय दिया गया है ।

ग्रन्थकार स्वय कायस्थ था किन्तु उसके गुरु जैन भट्टारक गुणकीर्त्ति (वि० स० १४६८-७३) थे । उन्ही के उपदेश से उसने उक्त ग्रन्थ लिखा था ।[3] कई भक्तो ने उसकी मुक्तकण्ठ से प्रशसा भी की थी ।[4]

भट्टारक गुणकीर्त्ति एक साधक तपस्वी विद्वान् थे । उनकी स्वतन्त्र रचनाओ का तो पता नही चल सका, किन्तु अन्य प्रमाणो के आधार पर यह सुनिश्चित है कि उनके अनुज एव शिष्य भट्टारक यश कीर्त्ति, महाकवि रइधू प्रभृति द्वारा रचित विशाल साहित्य उन्ही की प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष प्रेरणा का सत्फल है । सन् १४१६ ई० मे उन्होंने एक जैन मूर्त्ति[5] की स्थापना भी कराई थी ।

क्षत्रिय (विक्रम) जैन (नयचन्द्र एव कुशराज) एव कायस्थ (पद्मनाभ) यह जातियो एव सम्प्रदायो का अद्भुत समन्वय है । सुदूर पश्चिम एव दक्षिण मे ऐसे उदाहरण अवश्य मिलते थे लेकिन उत्तर-भारत मे ग्वालियर का तोमरवश सम्भवत प्रथम राजवश था, जिसने धर्मनिरपेक्षबुद्धि मे राज्यशासन किया तथा व्यक्ति की शक्ति, प्रतिभा एव बुद्धिगुण के आधार पर सभी की शक्ति का यथोचित सम्मान एव सदुपयोग किया । तोमरवश मे सर्वधर्म-समन्वय

---

१ ज्ञाता श्रीकुशराज एव सकलक्ष्मापालचूडामणि ।
श्रीमत्तोमरवीरमस्य विदितो विश्वासपात्र महान् ।।
मन्त्री मन्त्रविचक्षण क्षणमय क्षीणारिपक्ष क्षणात् ।
क्षोण्यामीक्षण-रक्षण-क्षममति-र्जैनेन्द्र-पूजारत ।।
येनैतत्समकालमेव रुचिर भव्य च काव्य तया ।
साधु श्रीकुशराजकेन सुधिया कीर्त्तिश्चिरस्थापकम् ।
(दयासुन्दराभिधान काव्य अन्त्यप्रशस्ति श्लोक ६)
(यह ग्रन्थ अप्रकाशित है और जैन सिद्धान्त भवन आरा मे सुरक्षित है) दे० पृ० ५३ ख

२ स्वर्गस्पर्द्धि समृद्धिकोऽतिविमलच्चैत्यालय कारितो ।
लोकाना हृदयगमोबहुधनैश्चन्द्र प्रभस्य प्रभो· ।। वही० अन्त्यप्रशस्ति श्लोक ८

३ उपदेशेन ग्रन्थोऽय गणकीर्त्तिमहामुने ।
कायस्थपद्मनाभेन रचित पूर्वसूत्रत ।। वही० अन्त्यप्रशस्ति श्लोक १३

४ सतोष जैसवालेन सतुष्टेन प्रमोदिना ।
अतिश्लाघितो ग्रन्थोऽयमर्थसग्रहकारिणा ।। वही० ९।१०८
साधोर्विजयसिंहस्य जैसवालान्वयस्य च ।
सुतेन पृथ्वीराजेन ग्रन्थोऽयमनुमोदित ।। वही० ९।१०९

५ दे० भट्टारक सम्प्रदाय (शोलापुर, १९५८) लेखाक ५५६ ।

का प्रारम्भ विक्रम ने किया जो उत्तरोत्तर वृद्धिगत होता रहा। यदि उसके समय में राजनैतिक उथल-पुथल न होती तो कला एवं साहित्य के क्षेत्र में जो कार्य होता वह अभूतपूर्व होता।

यह तो हुआ मौलिक साहित्य का संक्षिप्त परिचय। इसके साथ-साथ विक्रमकाल में प्राचीन जीर्ण-शीर्ण ग्रन्थों की सुरक्षा एवं प्रतिलिपि का महत्त्वपूर्ण कार्य भी होता रहा। ऐसे ग्रन्थों में 'छक्कम्मोवएस', 'तत्त्वदीपिका' एवं 'पंचास्तिकाय' प्रमुख हैं।

'छक्कम्मोवएस (षट्कर्मोपदेश)' अपभ्रंश की एक महत्त्वपूर्ण रचना है जिसमें १४ सन्धियाँ हैं जिनमें देवपूजा, गुरूपासना, स्वाध्याय, संयम, तप एवं दान—इन छह नित्यकर्मों का दृष्टान्त रूप कथा-कहानियों सहित सुन्दर उपदेश है।

उक्त रचना के लेखक अमरकीर्ति ने इसकी रचना वि०सं० १२४७ में गुजरात के महीकाठा प्रदेश के गोद्दहय (गोधरा) नगर में की थी। कवि नागरवंशी चर्चिणी और गुणपाल नामक माता-पिता के पुत्र थे। परवर्ती काल में वे माथुरसंघ के मुनि हो गये थे जिसकी परम्परा उन्होंने अमितगति से लेकर वर्णित की है। अपने भ्राता अम्बाप्रसाद की प्रेरणा से उन्होंने काव्यरचना की थी। अमरकीर्ति ने वि० सं० १२४४ में 'नेमिनाह चरिउ' की भी रचना की थी। 'छक्कम्मोवएस' की प्रशस्ति के अनुसार उन्होंने महावीरचरिउ, यशोधरचरिउ, धर्मचरित्रटिप्पण, सुभाषितरत्ननिधि, धर्मोपदेशचूडामणि एवं ध्यानप्रदीप आदि ग्रन्थ लिखे थे।[1]

उक्त 'छक्कम्मोवएस' की प्रतिलिपि का कार्य वि० सं० १४७६ आषाढ सुदी ५ बुधवार को किसी पण्डित रामचन्द्र ने सम्पन्न किया था।[2]

इसी प्रकार आचार्य कुन्दकुन्दकृत 'प्रवचनसार' पर अमृतचन्द्राचार्य द्वारा लिखित 'तत्त्वदीपिका टीका'[3] की प्रतिलिपि का कार्य वि० सं० १४६६ में एवं भट्टारक गुणकीर्ति की प्रेरणा से एक अग्रवाल साध्वी देवश्री ने आचार्य कुन्दकुन्द कृत 'पंचास्तिकाय'[4] की एक प्रतिलिपि कराई थी।

प्रतिलिपिकार्य के साथ-साथ विक्रमकाल में टीका-साहित्य भी लिखा गया जिसमें आचार्य देवसेनकृत 'तत्त्वसार टीका' पर पं० कमलकीर्ति द्वारा लिखित एक नवीन टीका प्रमुख है।

विक्रम के बाद गोपाचल की राजगद्दी पर गणपतिपुत्र राजा डूंगरसिंह आसीन हुए तथा उनके बाद उनके पुत्र राजा कीर्तिसिंह। इन दोनों का राज्यकाल क्रमशः १४८१-१५१० एवं १५१०-१५३५ वि० सं० के लगभग माना जाता है। यह काल गोपाचल के स्वर्णकाल का वस्तुतः यौवनकाल था। ये दोनों पिता-पुत्र जैनधर्म संस्कृति एवं साहित्य के परम श्रद्धालु भक्त थे। इसका एक ज्वलन्त प्रमाण यही है कि इन दोनों के राज्यकाल में लगभग ३३ वर्षों तक गोपाचल दुर्ग में जैनमूर्तियों का निरन्तर निर्माण होता रहा।[5] यदि निष्पक्ष दृष्टि से गोपाचल का मध्यकालीन इतिहास लिखा जाय तो उसका प्रायः अधिकांश भाग जैनधर्म, समाज, साहित्य एवं संस्कृति का इतिहास होगा।

डूंगरसिंह[6] जब राजगद्दी पर बैठा तब सम्भवतः उसने प्रथम बार यह अनुभव किया था कि राजसिंहासन गुलाब के फूलों की शैय्या नहीं है। उसके समय में शत्रुओं ने चतुर्दिक आक्रमण जारी कर दिये थे। मालवा के हुशंगशाह



१ ना० प्र० पत्रिका ५०।३-४।

२ प्रशस्तिसंग्रह (जयपुर, १९५०) पृ० १७३-८।

३ जैनग्रन्थ प्रशस्तिसंग्रह भा० १ (दिल्ली १९५४), पृ० भूमिका-४।

४ भट्टारक सम्प्रदाय, लेखांक ५५६।

५ Archaeology of Gwalior (1934) Page 17

६ डूंगरसिंह पर मेरा विस्तृत शोध-निबन्ध "मध्यप्रदेश-सन्देश" (१९६६ ई०) में पढ़िये।



एव दिल्ली के मल्लू इकवाल ने उसे चैन से सास नही लेने दी। किन्तु डूँगरसिंह ने अपने शौर्य, पराक्रम एव कुशल सूझ-बूझ से सभी शत्रुओ के छक्के छुडा दिये थे। इगलैंड की महारानी एलिजावेथ के राजमुकुट मे आजकल जो बहुमूल्य कोहिनूर हीरा लगा है उसे महाराज डूगरसिंह ने उक्त हुशगशाह, जिसके पास हीरा, मोती, माणिक आदि का अमूल्य सग्रह था, से छीनकर अपने खजाने मे सुरक्षित किया था जो दुर्भाग्य से तोमरवश के अन्तिम राजा विक्रमादित्य के हाथो छिनकर हुमायू के राजमुकुट मे जा लगा और कालक्रम से सात समुद्र पार जा पहुचा। अस्तु, इस प्रकार उसने राज्य की सीमाए सुरक्षित कर आन्तरिक शान्ति के लिये जो कुछ किया तथा सभ्यता, सस्कृति एव साहित्य के निर्माण-विकास मे जो योगदान दिया, उसे देखकर सम्राट् अशोक एव चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के राज्यकाल का स्मरण हो आता है। इन सम्राटो के "बहुजनहिताय बहुजनसुखाय" किये गये कार्यों की परम्परा डूँगरसिंह के राज्यकाल मे स्पष्ट देखी जा सकती है। उसे भारतीय इतिहास एव सस्कृति का अच्छा ज्ञान था। राजा वीसलदेव, महामात्य वस्तुपाल एव तेजपाल एव सारग साहू के कार्यो के प्रति वह नतमस्तक था। 'नरवर' के सुप्रसिद्ध दुर्ग मे तोमर वशावली के इतिहास की सुरक्षा के हेतु निर्मित 'जयस्तम्भ' भी इसका एक ज्वलन्त प्रमाण है।

महाराज डूँगरसिंह की कवि-प्रतिभा के सम्बन्ध मे सागोपाग जानकारी प्राप्त करने के साधन अनुपलब्ध हैं। हाँ, इतना अवश्य है कि उसने साहित्यकारो को मुकुट का मणि माना था। उसके समय मे भट्टारक यश कीर्त्ति, महाकवि रइधू, विवुध श्रीधर, थलू कायस्थ प्रभृति विद्वान् हुए जिनका उसने जी खोलकर सम्मान किया। महाकवि रइधू के प्रति उसकी अगाध श्रद्धा थी, अत उन्हें अपने राजमहल मे रहकर ही साहित्य-साधना करने की सविनय प्रार्थना की थी। कवि ने उसे स्वीकार भी कर लिया था।[1] यही कारण है कि कवि ने २५ से भी अधिक मौलिक प्रवन्ध एव खण्डकाव्यो की रचनाए की। उसी की प्रेरणा से गोपाचल दुर्ग मे अगणित छोटी-बडी कलापूर्ण जैन मूर्त्तियो का निर्माण हुआ।[2] एक विशाल आदिनाथ की मूर्त्ति पर उनके द्वारा प्रतिष्ठा कराये जाने का उल्लेख भी प्राप्त हुआ है।[3] कवि ने अपने सभी ग्रन्थो मे राजा डूँगरसिंह एव उनके पुत्र कीर्त्तिसिंह[4] के सुन्दर कार्यो का मूल्याकन किया है जिससे जैनकला एव सस्कृति के साथ-साथ गोपाचल के तोमरकालीन इतिहास पर कई प्रामाणिक तथ्य प्राप्त होते हैं।

भट्टारक यश कीर्ति इस युग के महान आध्यात्मिक सन्त एव प्रेरक तथा सर्जक साहित्यकार थे। ये भट्टारक गुणकीर्त्ति के शिष्य एव अनुज भ्राता थे।[5] साहित्य के क्षेत्र मे गोपाचल मे यश कीर्ति का वही स्थान था जो हिन्दी-साहित्य के क्षेत्र मे भारतेन्दु वावू हरिश्चन्द्र का, जो स्वय तो साहित्य प्रणयन करते ही थे साथ ही उदीयमान प्रतिभाओ को हर प्रकार की सहायता प्रदान करके उन्हे साहित्य लेखन मे प्रशिक्षित करते थे।

यश कीर्त्ति ने अपने जीवनकाल मे पाण्डवपुराण, हरिवशपुराण, आदित्यवार कथा (अपर नाम रविव्रत कथा), जिनरात्रि कथा नामक ग्रन्थो की रचना की थी। पाण्डवपुराण की रचना वि० स० १४९७-९८ के लगभग की थी, जिसे उन्होने सम्भवत दिल्ली के सुलतान मुवारिकशाह के राजस्वमत्री एव वील्हासाहु के पुत्र श्री हेमराज अग्रवाल के लिये लिखा था। यह ग्रन्थ अपभ्रश भाषा मे है जिसमे ३४ सन्धियाँ है। इसकी समाप्ति कवि ने कार्तिक शुक्ला अष्टमी वुधवार वि० स० १४९७ मे की थी।[6]

---

१ रइधू ग्रन्थावली भा० प्र० १।३९

२ गोपाचल-दुर्ग मे निर्मित जैन-मूर्त्तियों के इतिहास के सम्बन्ध मे मेरा विस्तृत शोध-निवन्ध महावीर जैन विद्यालय वम्वई के स्वर्णजयन्ती स्मारक ग्रन्थ (१९६६-६७) मे पढें।

३ Journal of Asiatic Society of Bengal XXXI P 404

४ कीर्त्तिसिंह (अपरनाम करणसिंह) पर मेरा शोध-निवन्ध 'मध्यप्रदेश-सन्देश' (१९६७) मे देखिए।

५ रइधू ग्रन्थावली भाग ५ भूमिका।

६ जैन ग्रन्थ प्रशस्ति सग्रह भाग २ (सपा० प० परमानन्द जी) दिल्ली, १९६३ भूमिका पृ० ८१-८२।

इनकी दूसरी रचना का नाम 'हरिवंशपुराण'[1] है जिसे उन्होंने योगिनीपुरी के दिवढा साहु के लिये बनाया था। इस ग्रन्थ की रचना भाद्रमास की शुक्ला एकादशी गुरुवार वि० सं० १५०० में जलाल खाँ के राज्य में स्थित इन्द्रपुर नामक नगर में समाप्त हुई थी। इस रचना में १२ सन्धियाँ एवं २६७ कडवक हैं। इसमें पद्धडिया-छन्द के साथ-साथ हेला, दुवइ, वस्तुबन्ध एवं दोहा प्रभृति छन्दों की विविधता दर्शनीय है। प्रत्येक सन्धि के प्रारम्भ में मंगलश्लोक संस्कृत भाषा में उपलब्ध हैं जिनमें अनुष्टुप, वसन्ततिलका, शार्दूलविक्रीडित आदि प्रमुख हैं।

कवि की तीसरी रचना "रविव्रत कथा" है जिसका अपर नाम आदित्यवार कथा है। इसमें रविवासरीय व्रत के महत्त्व पर प्रकाश डाला गया है।[2]

यश:कीर्तिकृत 'चन्दप्पहचरिउ' नामक एक ग्रन्थ की चर्चा आती है किन्तु उसका कृतित्व विवादास्पद है।[3]

यश:कीर्ति ने नवलेखन के साथ-साथ प्राचीन जीर्ण-शीर्ण ग्रन्थों के पुनरुद्धार सम्बन्धी कार्य भी किये। उन्होंने गोपाचल के निकटवर्ती 'कुमर' नामक जिनालय में बैठकर महाकवि स्वयम्भू (८वीं सदी) कृत जीर्ण-शीर्ण एवं त्रुटित पउमचरिउ एवं हरिवंसपुराण की प्राचीनतम प्रति की प्रतिलिपि कर उसका उद्धार किया था।[4] इन ग्रन्थों में से 'पउमचरिउ' का प्रकाशन हो चुका है। महापण्डित राहुल सांकृत्यायन का मत है कि गोस्वामी तुलसीदासकृत रामचरितमानस में उक्त 'पउमचरिउ' की प्रेरणा ही नहीं बल्कि कहीं-कहीं उसके अपभ्रंश पद्यों का अनुवाद भी प्राप्त है।[5] महाकवि पुष्पदन्त (दसवीं सदी) के महापुराण एवं जसहरचरिउ का पारायण भी सम्भवतः यहाँ उस समय प्रारम्भ हो गया था।

पं० विबुध श्रीधर[6] इस काल के तीसरे प्रमुख विद्वान् थे जिन्हें संस्कृत, प्राकृत एवं अपभ्रंश पर समानाधिकार था। उन्होंने संस्कृत-भाषा में भविष्यदत्तचरित एवं अपभ्रंश में 'सुकुमालचरित' नामक ग्रन्थों की रचना की थी। भविष्यदत्तचरित के माध्यम से कवि ने मध्यकालीन समुद्रयात्रा एवं व्यापारिक सार्थवाहों के आयात-निर्यात पर सुन्दर प्रकाश डाला है। उसके प्रणयन में यश:कीर्ति की प्रेरणा ही मूल कारण था।

एक अन्य कवि श्री नेमिचन्द्र भी उसी समय हुए जिन्होंने 'द्विसन्धान काव्य'[7] पर एक सुन्दर टीका ग्रन्थ लिखा था। उसकी कुछ प्रतिलिपियाँ भी उस समय की गई जो प्रचार की दृष्टि से अन्य नगरों के शास्त्रागारों में प्रेषित की गईं।

राजा डूँगरसिंह के समय में ही एक और प्रशंसनीय व्यक्ति हुआ जो सौन साधक था और जो संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश एवं हिन्दी का अच्छा ज्ञाता था। उसका नाम था थल्हू कायस्थ। उसकी स्वतन्त्र रचना तो देखने में नहीं आ सकी किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि उसने कुछ लिखा अवश्य था। वह पं० विबुध श्रीधर का साहित्यिक सहायक (Literary Assitt) लेखक एवं प्रतिलिपिकर्ता था। इस दृष्टि से भी साहित्य सेवा में उसका कम योगदान नहीं।

राजा डूगरसिंह का काल जैनसाहित्य एवं जैनकला के चरम विकास का काल तो है ही, इनके समय में



---

१ सरस्वती भंडार जैनमन्दिर इन्दौर की हस्तलिखित प्राचीन प्रति के आधार पर।
२. जैन ग्र०, प्र०सं० भाग २ पृ० ८२ भूमिका।
३ अपभ्रंश साहित्य (दिल्ली प्र० सं०) पृ० २३८-३९।
४. भारती (अग० १९५५) में प्रकाशित राहुल सांकृत्यायन का लेख देखें तथा भट्टारक सम्प्रदाय लेखांक ५५८-५५९।
५ हिन्दी काव्यधारा (सपा० राहुल सांकृत्यायन) भूमिका।
६ मध्यप्रदेशीय भाषा पृ० १४०।
७ राजस्थान के जैनशास्त्रभंडारों की सूची (चतुर्थ भाग) पृ० १७२।



कई भट्टारकीय गद्दियों की स्थापनाएँ भी की गईं। ग्वालियर में ही भट्टारक पट्ट की स्थापना की गई थी जिस अवसर पर भट्टारक सकलकीर्ति ने "पुण्याहवाचना" नामक मंत्रग्रन्थ का समारोहपूर्वक आयन्त पाठ किया था।[1]

इसी समय सुवर्णाचल (सोनागिर) में भी एक भट्टारकीय गद्दी की स्थापना भ० कमलकीर्त्ति (वि० सं० १५०६ १०) के शिष्य भट्टारक शुभचन्द्र[2] (वि० सं० १५३०) ने की थी।

डूंगरसिंह के उत्तराधिकारी पुत्र कीर्त्तिसिंह की चर्चा पूर्व में ही हो चुकी है। उसके कार्यों का वर्गीकरण कुछ जटिल है। वस्तुतः उसके कार्य अपने पिता डूंगरसिंह के अधूरे कार्यों के पूरक ही रहे हैं। महाकवि रइधू ने उसके समय में 'सावयचरिउ'[3] एवं सम्भवतः 'पुण्णासवकहा'[4] की रचना की थी। उसके पूर्वलिखित 'सिरिवाल चरिउ'[5] एवं हेमचन्द्राचार्यकृत 'शब्दानुशासन की वृत्ति'[6] की प्रतिलिपि (वि० सं० १५२७ के लगभग) भी इसी के राज्यकाल में सम्पन्न हुई। इसी प्रकार वि० सं० १५२१ आषाढ सुदि ६ सोमवार के दिन भट्टारक गुणभद्र के आम्नाय में 'ज्ञानार्णव'[7] (शुभचन्द्र) की एवं मुनिराज नेत्रनन्दि को समर्पित करने हेतु वि०सं० १५२१ ज्येष्ठ शुक्ल १० बुधवार को 'पउमचरिय'[8] नामक ग्रन्थों की प्रतिलिपियाँ कराई गईं। जैनमूर्तियाँ तो इस काल में अगणित बनीं ही, जिनका उल्लेख पूर्व में किया जा चुका है।

राजा कीर्त्तिसिंह के बाद जैन-साहित्य एवं कला के विकास की दृष्टि से राजा मानसिंह तोमर का काल (वि० सं० १५४३-१५७६) महत्त्वपूर्ण है। वह संगीतज्ञ तथा साहित्यकार तो था ही, भवन-निर्माण कला का भी बड़ा प्रेमी था। उसके द्वारा निर्मित मानमन्दिर, गूजरीमहल एवं मोतीझील गोपाचल की भवन-निर्माण कला के अद्भुत नमूने हैं। संगीत के क्षेत्र में उसे कई राग एवं रागनियों का जनक माना जाता है। इस विषय पर उसके द्वारा लिखित 'मानकुतूहल' नामक संगीतग्रन्थ विश्व के अद्भुत ग्रन्थों में से एक माना जाता है जिसका अनुवाद फारसी आदि कई विदेशी भाषाओं में हो चुका है।

मानसिंह तोमर के काल में जो मौलिक साहित्य का प्रणयन हुआ वह प्रायः हिन्दी में है। ऐसे ग्रन्थों में कवि परिमलकृत श्रीपालचरित[9], एवं चतुरुमलकृत नेमीश्वरगीत प्रमुख हैं। श्रीपालचरित जैन-साहित्य का अत्यन्त लोकप्रिय आख्यान है, जो विभिन्न कालों में विविध भाषाओं में लिखा जाता रहा। परिमल का श्रीपालचरित महाकवि रइधू के 'सिरिवालचरिउ' से पूर्णतया प्रभावित है। कहीं-कहीं तो रइधू के कई पद्यों का हिन्दी अनुवाद भी कर लिया गया है। उदाहरणार्थ :—

रइधू[10]—जहिं साहसु तहिं सिद्धि।
परिमल[11]—जहँ साहस तहँ सिद्धि।
रइधू—तहु कच्चरु सुमिट्ठु।
परिमल—तसु काचरा सुमीठ।

---

१ राजस्थान के जैनशास्त्रभंडारों की ग्रन्थ सूची भाग २, पृ० ३९।
२ रइधू ग्रन्थावली भा० १ (भूमिका)।
३-५ रइधू ग्रन्थावली भाग ५ भूमिका।
६ राजस्थान के जैनशास्त्रभण्डारों की ग्रन्थसूची भाग ४ पृ० २६५।
७ भट्टारक सम्प्रदाय लेखांक-५६७।
८ भट्टारक सम्प्रदाय लेखांक-२५५।
९ दि० जैन पुस्तकालय सूरत (१९५९) से प्रकाशित।
१० रइधू-ग्रन्थावली भाग २।
११ श्रीपालचरित पद्य-१६९३-१७०१।

रइधू — वासु पियावइ नीर।
परिमल — तास पिवाऊ नीर।
रइधू — सो मइ कहव न दिट्ठु।
परिमल — सो मैं कहूँ न दीठ।
रइधू — सो तहि काइ करेइ।
परिमल — सो तसु काय करेय।

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि अत्यल्प परिवर्तनों के अतिरिक्त परिमल के 'श्रीपालचरित' का प्रणयन रइधू के 'सिरिवालचरिउ' के साँचे में ही ढाला गया है।

उक्त नेमीश्वरगीत की रचना वि० सं० १५७१ में हुई थी जो अभी तक अप्रकाशित है।[1]

'छिताई चरित' इस समय की सुप्रसिद्ध लोकगाथा मानी जाती है। इसका लेखक नारायणसिंह (जैनेतर) था किन्तु बीच में ही उसकी मृत्यु हो जाने से उसके उत्तरार्द्ध की समाप्ति सिंघई खेमचन्द्र की प्रेरणा से देवीसुत देवचन्द्र ने की थी। ये खेमचन्द्र जैन थे तथा महाकवि रइधू के साहित्य के बड़े प्रेमी भक्तों में से एक थे। उक्त छिताई चरित नयचन्द्रसूरि-कृत हम्मीरकाव्य से पूर्णतया प्रभावित है।

मानसिंह तोमर के राज्यकाल में सम्पन्न हुए प्राचीन ग्रन्थों सम्बन्धी प्रतिलिपि-कार्यों में से कवि अमरकीर्त्ति-कृत छक्कम्मोवएस (वि० सं० १५५८, चैत्र सुदी १०, सोमवार श्लेषा नक्षत्र), वि० सं० १५५८ श्रा० शु० १२ को नागकुमार पंचमी (त्रुटित—?) तथा वि० सं० १५५१ में महाकवि रइधूकृत 'पउमचरिउ' की प्रतिलिपियाँ की गईं।

जैनमूर्तियों का निर्माण इस काल में अधिक नहीं हुआ। हाँ, वि० सं० १५४८ वैशाख सुदी पंचमी को भ० गुणभद्र के आम्नाय में एक चौबीसी मूर्ति की प्रतिष्ठा सम्पन्न हुई थी।

यह तो हुआ तोमरकालीन गोपाचल की जैन-साहित्य एवं कला-साधना। इसके बाद भी वहाँ यह कार्य-परम्परा चलती रही। यद्यपि राजवंश की समाप्ति के बाद वहाँ की राजनैतिक स्थिति काफी अस्थिर हो गई अतः साहित्य-सृजन एवं मूर्ति-निर्माण की गति मंद पड़ गई। फिर भी छुट-फुट साहित्य लेखन का कार्य चलता रहा और अगले ३-४ सौ वर्षों में जो कुछ कार्य हुआ उसमें ब्रह्मगुलालकृत त्रेपन क्रिया (हिन्दी, वि० सं० १६६५), लालजीतकृत अकृत्रिमजिनचैत्यालयपूजा (हिन्दी, वि० सं० १८८२) आदि प्रसिद्ध हैं। इसी प्रकार प्रतिलिपि के कार्यों में नरसेनकृत सिरिवालचरिउ (अपभ्रंश, वि० सं० १५२३) ब्रह्मगम्भीर सागर द्वारा लिखित हरिवंश पुराण (जिनसेन विरचित) एवं पंचकल्याणक विधान (सुरेन्द्रभूषणकृत,) रविव्रत कथा (हिन्दी, सुरेन्द्रकीर्तिकृत) एवं पद्मनन्दि पंचविंशतिका प्रमुख हैं।

इस प्रकार गोपाचल में मध्यकालीन जैन-साहित्य एवं कला के लिये विक्रमदेव तोमर का काल उदयकाल, डूंगरसिंह एवं कीर्तिसिंह का काल मध्यकाल (अथवा यौवनकाल) एवं राजा मानसिंह का काल अन्तकाल माना जा सकता है। इन १७८ (वि० सं० १४०७-१५७६) वर्षों के शासनकाल में गोपाचल में जो कार्यकलाप हुए, संक्षेप में उनके कुछ नमूने मात्र ही यहाँ प्रस्तुत किए गए हैं। इन्हीं के आधार पर यह स्पष्ट जाना जा सकता है कि गोपाचल मध्यकालीन जैनसाहित्य-साधना का प्रमुख केन्द्र था एवं गोपाचल के लिये महाकवि रइधू द्वारा प्रयुक्त 'तीर्थ', '[illegible]' एवं 'गुरु' के विशेषण उपयुक्त ही थे।



१ प्रशस्ति संग्रह (जयपुर) पृ० २३१।

कुवलयमाला में वर्णित ७२ कलाएं : एक अध्ययन



प्रेमसुमन जैन,

एम० ए०, शास्त्री,
शोध-स्नातक—हिन्दू विश्वविद्यालय,
वाराणसी।

उद्योतनसूरिकृत कुवलयमाला वहा ८ वी शताब्दी की एक महत्त्वपूर्ण रचना है। कथा और साहित्यिक दृष्टि से वह जितनी महत्त्व की है, उससे अधिक भाषा-विज्ञान तथा सांस्कृतिक सामग्री की दृष्टि से महत्त्व की है। सामुद्रिक यात्रा, वाणिज्य एव व्यापार, ललितकला और शिल्प-विज्ञान, शिक्षा एव साहित्य तथा इतिहास आदि सांस्कृतिक विधाओं की इससे पुष्टि ही नहीं होती, बल्कि प्राचीन भारतीय संस्कृति के अध्याय में कुवलयमाला की विविध सामग्री बहुत कुछ अपना सम्बन्ध जोडती भी है।

प्रस्तुत निबन्ध में यद्यपि कुवलयमाला में वर्णित शिक्षा और साहित्य-विषयक समग्र सामग्री को प्रस्तुत करने का विचार था, किन्तु वह अपने आप में इतनी विस्तृत और विविध है कि उसका वर्गीकरण करना ही उचित लगा। और इसलिए यहाँ, अध्ययनीय विषय के अन्तर्गत जिन ७२ कलाओं का उल्लेख है, उनकी समीक्षा ही प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है। द्रष्टव्य है, स्वय ग्रथकार ने इन कलाओं का व्यावहारिक जीवन मे कितना उपयोग कराया है।

प्राचीन भारत मे अध्ययनीय विषयो के अन्तर्गत उन्ही बातों को सिखाया जाता था जिनका दैनिक जीवन एव मानसिक विकास के उत्थान मे उपयोग होता था। उन सब बातों को कला के नाम से अभिहित किया गया है।

कर्म-कुशलता ही कला है। कला और मनुष्य का सम्बन्ध अविभाज्य है। मानव के द्वारा कला की प्रतिष्ठा हुई है और कला के द्वारा मानव ने आत्मचैतन्य एव आत्मगौरव प्राप्त किया है। कला के द्वारा ही मानव-जीवन मे माधुर्य और सौन्दर्य भावना का जन्म हुआ। कर्त्तव्य-कर्म सुन्दर और मधुर[1] बना।

भारतीय साहित्य मे कलाए

अध्ययनीय विषयों के अन्तर्गत पुरुषो एव स्त्रियो के लिए कलाओं के परिज्ञान का उल्लेख प्राय प्रत्येक भारतीय साहित्य मे मिलता है। 'कला' शब्द का प्रयोग शायद सबसे पहले भरत के नाट्यशास्त्र मे ही मिलता है।[2] पीछे कामसूत्र, ग्रन्थान्तर, शुक्रनीति आदि मे इसका वर्णन किया गया है।[3]

प्रमुखत १ रामायण २ महाभारत (१४-८९-३) ३ शुक्रनीति ४ वाक्यप्रदीप ५ कलाविलास-क्षेमेन्द्र ६. दशकुमार-चरित्र ७ ब्रह्माण्डपुराण ८ भागवतपुराण की टीका ९ महिम्नस्तोत्र टीका १० शृङ्गारप्रकाश ११ काव्यादर्श १२. शैवतनय १३ सप्तशती टीका १४ सौभाग्यभास्कर आदि हिन्दू ग्रथो मे कला के उल्लेख प्राप्त होते हैं। प्राय

---

१ हिन्दी साहित्य कोश, पृ० १९९।

२ 'न तज्ज्ञान न तच्छिल्प न सा विद्या न सा कला-नाट्यशास्त्र, प्र० अ० श्लोक ११६।

३ हिन्दी विश्वकोश, खण्ड २, पृ० ३७८।

सभी मे ६४ कलाएं ही वर्णित है। केवल क्षेमेन्द्र ने कलाविलास मे कला के भेद प्रभेदो की चर्चा की है और उनकी संख्या १०० से भी अधिक गिनायी है।[1]

बौद्धग्रंथों मे ललितविस्तर (पृ० १५६) मे प्रमुख रूप से विविध कलाओ का वर्णन है। इसमे कलाओ की संख्या ८६ गिनायी गई है। दिव्यावदान मे (पृ० ५८, १०० एव ३९१) भी कलाओं के उल्लेख हैं।

जैन साहित्य में जहाँ कहीं भी अध्ययनीय विषयो की चर्चा हुई है वहाँ पर कलाओ का वर्णन विस्तार से हुआ है। १. ज्ञाताधर्मकथा २. समवायागसूत्र ३. औपपातिक सूत्र ४. राजप्रश्नीय सूत्र[2] ५. कल्पसूत्र ६. विपाकसूत्र ७. अगशास्त्र ८. पृथ्वीचन्द्र चरित ९. समराइच्चकहा १०. कुवलयमाला ११. प्रबन्धकोश १२. प्राकृतसूक्तरत्नमाला[3] आदि ग्रथो मे ७२ कलाओं एव जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति आदि मे ६४ कलाओ का उल्लेख मिलता है। हरिभद्रसूरि ने यद्यपि ८६ कलाए गिनायी हैं, परन्तु जैन-साहित्य में सामान्य रूप से पुरुषों के लिए ७२ 'बावत्तरिकलापंडियावि पुरिसा' एव स्त्रियों के लिए ६४ कलाओं का विधान किया गया है। णायकुमारचरिउ एव यशस्तिलकचम्पू आदि कुछ ग्रथो मे यद्यपि कलाओं की संख्या नहीं गिनायी गयी फिर भी प्राय सभी कलाओ का प्रकारान्तर से वर्णन किया गया है।[4]

कुवलयमाला की ७२ कलाएं

प्राय हर जगह कलाओं का वर्णन राजकुमारों के विद्याभ्यास के समय किया गया है। उद्योतनसूरि ने भी इसी अवसर को उपयुक्त चुना है। कुवलयमाला मे जब कुवलयचन्द्र अपना अध्ययन समाप्त कर आचार्य के साथ राजधानी वापिस लौटते हैं तो उनके पिता महाराजा दृढवर्मन आचार्य से पूछते है—'उवज्झाय, किं अभिगओ कला-कलावो कुमारेण ण वा।[5]'

प्रथम तो आचार्य ने यह कहकर कि 'कुमार ने एक भी कला को ग्रहण नहीं किया' राजा को विस्मय मे डाल दिया। किन्तु बाद मे 'स्वयंवरा[6] कलाओं ने स्वय कुमार को ग्रहण कर लिया है' कहकर राजा को हर्षित कर दिया और उनके पुन पूछने पर निम्न ७२ कलाओं का आचार्य ने परिचय दिया —

१ आलेक्खं (आलेख्य) २ णट्ट (नाट्य) ३ जोइस (ज्योतिष) ४ गणिय (गणित) ५ गुणा य रयणाण (रत्नपरीक्षा) ६ वायरण (व्याकरण) ७ वेय-सुइ (वेद-श्रुति) ८ गधव्व (गान्धर्वकला) ९ गध-जुत्ती (गन्ध-युक्ति) १० मल्ल (माल्य) ११ जोगो (योग) १२ वरिसगुणा (वर्षा या वर्ष का परिज्ञान) १३ होरा १४ हेतुसत्थ (न्याय-शास्त्र) १५ छद (छन्द ज्ञान) १६ वित्ति (वृत्ति) १७ णिरुत्त (निरुक्त) १८ सुमिणय-सत्थ (स्वप्नशास्त्र) १९ सउण-णाण (शकुनज्ञान) २० आउज्जाण २१ तुरयाण लक्खण (अश्वलक्षण) २२ हत्थीण लक्खण (गजलक्षण) २३ वत्थु (वस्तुपरीक्षा) २४. वट्टा (पट्टा) २५ वेड्डे (क्रीडा) २६ गुहागम (पातालसिद्धि) २७ इदजाल (इन्द्रजाल) २८ दतकय (हाथीदात की कला) २९ तबकम्म (तांबे की कला) ३० लेप्पय-कम्माइ (लेप्यकर्म) ३१ विणिओगे (विनियोग) ३२ कव्व (काव्य) ३३ पत्तच्छेज्ज (पत्रछेद) ३४ फुल्लविही (फूल उगाने की कला) ३५. वलक्कम्म (नमस्कार की कला) ३६ धाउव्वाओ (धातुवाद) ३७ अक्खवाइया (पासा खेलने की कला) ३८ तताइ (तत्रादि) ३९ पुप्फ (पुष्पकला) ४० सक्कडी (शक्टी) ४१ अक्खरसमय (शब्दशास्त्र) ४२ णिघटू (निघटु) ४३ रामायण ४४ भारताइ (महाभारत)



---

१. भारत कोश, भाग ३ —सुरेशचन्द्र बन्द्योपाध्याय।
२ जैन आगमसाहित्य मे भारतीय समाज, पृ० २९६।
३ पाइयसद्दमहण्णव, पृ० २३०।
४ णायकुमारचरिउ, यशस्तिलकचम्पू।
५ कुवलयमाला पृ० २१ प० २०।
६ वही २१-२६।



४५ कालायसकम्म (कृष्ण-लोहकर्म) ४६ सुवण्णकम्म (सुवर्णकम) ४७ चित्तकला-जुत्तीओ (चित्रकला) ४८ जूय (धूत) ४९ जतप्पओगो (यन्त्रप्रयोग) ५० वाणिज्ज (व्यापार) ५१ मालाइत्तण (माली) ५२ वत्थकम्म (वस्त्र बनाने की कला) ५३ आलकारियकम्म (आभूषणकला) ५४ उयणिसय (मुगटनी कला) ५५ पण्णयर-तत (प्रश्नोत्तर तन्त्र) ५६ सव्वेणाडय (सर्वनाटक) ५७ जोगा (योग) ५८ कहा-णिवध (कथा-निवन्ध) ५९ धणुव्वेओ (धनुर्वेद) ६० देसीओ ६१ सूव-सत्थ (पाकशास्त्र) ६२ आरुहिय (आरोहण) ६३ लोगवत्ता (लोकवार्ता) ६४ ओमोवणि (अवस्वापिनी निद्रा) ६५ तालुग्घाडणी ६६ मायाओ (मायाकपट) ६७ मूलकम्म (मूलकर्म) ६८ लावय-कुक्कुड-जुद्ध ६९ सयण (शयन) ७० आसनो (आसन) ७१ कालेदाण दक्खिण्णया एव ७२ मउयत्तण महुरहा (मधुर बोलने की कला)।[1]

वर्गीकरण

उपर्युक्त ७२ कलाओ का वर्गीकरण प्राकृत कुवलयमाला के गुजराती अनुवादक आचार्य हेमसागर सूरि ने अपनी सुविधानुसार किया है। किन्तु इनमे से कुछ कलाए ऐसी है जिनका भेदकर उन्हे अलग अलग किया जाना चाहिए और कुछ कलाओ को एक कला के अन्तगत ही समाहित होना चाहिए था।

उक्त वर्गीकरण मे न० २४ 'वट्टा' एव न० २५ 'खेड्ड' को दो भिन्न कलाए माना गया है किन्तु वट्टा-खेड्ड' एक ही कला का नाम है, जिसका अर्थ है वस्त्रक्रीडा अर्थात् सूती, ऊनी, रेशमी और तसर वस्त्रो की कलात्मक जानकारी अथवा वस्त्रो द्वारा नाना प्रकार की क्रीडा करने की कला। आचार्य हरिभद्र ने कलाओ के प्रसग मे ८१ वें न० पर 'वत्थखेड्ड' नामक कला का उल्लेख किया है।[2]

इसी तरह ३९ 'पुप्फ' एव ४० 'सकडी' इन दोनो कलाओ को भी 'पुप्फसयडी' (पुष्पशकटी) नाम से एक कला ही मानना चाहिए। इसका अर्थ है—पुष्पो द्वारा गाडी को सजाना या पुष्पो मे गाडी बनाना। भागवत पुराण की व्याख्या मे उल्लिखित कलाओ के अन्तर्गत ४९वें न० पर 'पुष्पशकटिका-निर्मितविज्ञानम्' नाम से इसका उल्लेख हुआ है और फिर अन्यत्र कही 'पुष्प' और 'शकटी' के अलग-अलग उल्लेख भी तो नहीं मिलते।

इसी प्रकार ११ 'जोग' एव ५७ जोगा नाम से योग का ग्रथ मे दो वार प्रयोग जरूर है, किन्तु किसी एक 'जोग' का ही 'योग-दर्शन' अर्थ किया जा सकता है। अच्छा यही होगा कि ५६ 'सव्वे णाडयजोगा' को एक ही कला माना जाय।

उक्त छहो कलाओ का तीन मे अन्तर्भाव कर देने से ७२ कलाओं मे ३ कलाओ की कमी का प्रश्न उठ सकता है, किन्तु अन्य तीन कलाओ को जोड देने से उक्त सख्या पूरी हो जाती है। वे कलाए इसी प्रसग मे हैं।

४५ 'कालायसकम्म' के बाद और ४६ 'सुवण्णकम्म' के पूर्व 'सेक्कणिण्णओ' शब्द का प्रयोग हुआ है।[3] यह शब्द किसी कलाविशेष का नाम ही होना चाहिए। यद्यपि 'सेवक' का काफी प्रयत्न के बाद भी अर्थनिर्णय नहीं हो सका फिर भी शीघ्र निर्णय ले लेने की दक्षता अथवा सीके आदि बनाने की कला से इसका सम्बन्ध जोडा जा सकता है। बगाल मे सीके बनाने की कला आज भी मशहूर है। उद्योतनसूरि ने 'सेवक' शब्द सम्भवत नया प्रयुक्त किया है।

इसी प्रकार ५१ मालाइत्तण के बाद एव ५२ वत्थकम्म के पूर्व 'खारो' शब्द का प्रयोग ग्रन्थ मे हुआ है।[4] इसका भी सम्बन्ध किसी कला से हो सकता है। 'खार' का अर्थ डाह शब्द के साथ 'क्षार बनाने की भट्टी' एव तत

---

१ 'आलेक्ख णट्ट जोइस———कुमारम्मि॥'—कुवलयमाला पृ० १-१०।

२ समराइच्चकहा अष्टम भव, पृ० ७३३।

३ कालायसकम्म सेक्कणिण्णओ तह सुवण्णकम्म च। कुव० २२-६।

४ वाणिज्ज मालाइत्तण च खारो य वत्थकम्म च। वही २२-७।

शब्द के साथ 'क्षारीकरण औषधि बनाने की विद्या' किया गया है।[1] अत 'क्षारविद्या' नाम की कला का यह उल्लेख होना चाहिये।

६८ 'लावय-कुक्कुड जुद्ध' को दो कलाओ मे विभक्त किया जा सकता है—लावय-जुद्ध (पक्षी-युद्ध) एव कुक्कुड-जुद्ध (कुक्कुट-युद्ध)। अन्य ग्रन्थो मे भी इनके इसी प्रकार उल्लेख हैं।[2]

विशिष्ट कलाओं का परिचय

७२ कलाओ के उक्त वर्गीकरण मे अधिकाश कलाओ का अर्थ स्पष्ट है। किन्तु कुछ कलाए ऐसी हैं जिनका अर्थ पूर्णतया समझ मे नहीं आता। और वह तब तक नहीं आ सकता जब तक तत्कालीन परिवेश को ध्यान में रखकर न सोचा जाय। कलाओ के अर्थनिश्चय मे कुछ मतभेद भी हो सकता है, कुछ नवीनता भी। निम्नकलाओ का वैशिष्ट्य द्रष्टव्य है

२० आयुज्जाण इससे आपातत आयुधज्ञान का बोध हो सकता है किन्तु इसका वास्तविक शब्दार्थ है आतोद्यज्ञान। अर्थात् विविध वाद्यो का ज्ञान, सगीतकला।

चार प्रकार के वाद्य-वादित्रो को आतोद्य कहते है 'चतुर्विधमिद वाद्यवादित्रातोद्यनामकम्'।[3]

२३ वत्थु इसका अर्थ विद्वान् अनुवादक ने 'वस्तुपरीक्षा' किया परन्तु वास्तुकला से इसका सम्बन्ध होना चाहिए। क्योकि कलाओ के इस वर्णन मे अन्यत्र कही वास्तुकला का उल्लेख नहीं है, जबकि ७२ कलाओ मे वह सबसे प्रमुख कला मानी गयी है। अगशास्त्र एव समरादित्यकथा मे क्रमश 'वत्थुविज्जा'[4] एव 'वत्थुणाव'[5] का उल्लेख हुआ है, जिनका अर्थ है—गृहनिर्माण को जानने एव बनाने की कला। अत उक्त 'वत्थु' को स्थापत्यकला से ही सम्बन्धित होना चाहिए।

२८ दतकय हाथीदात की कला। किन्तु 'दन्तरजन' की कला भी इसका अर्थ हो सकता है। क्योकि इसके पूर्व भागवतपुराण की व्याख्या मे इसका ८वीं कला के रूप मे उल्लेख हुआ है।[6]

३१ विणिओगे उद्योतनसूरि ने कला के रूप मे इस शब्द का नया प्रयोग किया है। प्राचीन भारत मे प्रचलित नियोग प्रथा से तो इसका सम्बन्ध नही हो सकता। विणिओग का अर्थ उपयोग या ज्ञान किया गया है।[7] सम्भवत यह विशिष्ट प्रकार के ज्ञान रखने की कला हो। किन्तु इससे उपयुक्त इसका अर्थ 'प्रशासन-कला' करना चाहिए। क्योकि 'विणिओग' का अर्थ—आज्ञा, हुक्म आदि भी मिलता है।[8] 'नियोजित करना' अर्थ भी प्रशासन से सम्बन्ध रखता है।

३५ अल्लकम्म • अल्ल का शाब्दिक अर्थ कोशकार ने 'अह्न 'किया है, जिसका अर्थ दिन या दिवस भी होता है।[9] अत इससे हम 'दैनिक-व्यवहार की कला' का भी अर्थ ग्रहण कर सकते हैं। अनुवादक ने शायद इसी अभि-



---

१ पाइअसद्दमहण्णवो, पृ० २७५।
२ समरादित्य कथा, अगशास्त्र, आदि।
३ अमरकोश, १-५।
४ अगशास्त्र पृ०
५ समरादित्य कथा अष्टम भव, पृ० ७३४।
६ भागवतपुराण।
७ अर्धमागधी कोश भाग ५, पृ० ५५०।
८ अर्धमागधीकोश भाग २, पृ० ६३९।
९ पाइअसद्दमहण्णव, पृ० ७४।

प्राय मे इसका अर्थ 'नमस्कार की कला' किया है किन्तु यदि 'अद्' का अर्थ 'आर्द्र' किया जाय तो सहज ही उक्त कला सिंचनकर्म से सम्बन्धित हो जाती है। ३४-पुष्पविधि कला के बाद इसका उल्लेख भी 'सिंचनकम' का ही समर्थन करता है।

३७ अक्खाइया इसका अर्थ, आख्यायिका के अर्थ में कहानी लिखने या कहने की कला किया जा सकता है। अन्य ग्रन्थों मे भी इसका यही अर्थ है। अनुवादक ने 'पासा फेंकने की क्रिया' इसका अर्थ किया है।

४५ कालायसकम्म कृष्ण लोहे को आग मे गलाकर उससे शस्त्र आदि बनाने की कला। आजकल लोहार इस कार्य को करते है।

५१ मालाइत्तण ' पुष्पों के हार आदि गूंथने की कला। माली का कार्य।

५४ उवणिसयं ' इसका अर्थ उपनिश्रय हो सकता है किन्तु औपनिषदक अर्थ करना अधिक संगत है। उपनिषद् विद्या का अर्थ रहस्यविद्या है। ऐसी विद्या, जिसे गुरु अपने विशिष्ट शिष्य को ही पढाते थे और जिसको गोपन रखने की शिष्य को प्रतिज्ञा करनी पडती थी। अनुवादक ने इसका अर्थ 'कुटनी कला' किया है।

६४ ओसोवणि अवस्वापिनी विद्या, जिसके प्रभाव से दूसरे को गाढ निद्राधीन किया जा सके ऐसी विद्या। देवानन्दा ब्राह्मणी को अवस्वापिनी विद्या से सुलाकर हरिणेगमेषी ने महावीर का गर्भहरण किया था।[1] अनुवादक ने 'अवस्वापिनी निद्रा' इसका अर्थ किया है। निद्रा की जगह विद्या कहना अधिक संगत है।

६७ मूलकम्म प्राथमिक उपचार का ज्ञान। समरादित्यकथा मे एक घायल व्यक्ति का औषधिवलय से उपचार करने को 'मूलकम' कहा गया है।[2]

इस तरह उक्त विवेचन के बाद भी ये कलाएं अभी भी अधिक गवेषणा की अपेक्षा रखती हैं।

अन्तर्भाव

उद्योतनसूरि ने जिन पूर्वोक्त ७२ कलाओं का उल्लेख किया है उनमे बहुत कुछ ऐसी कलाओं के भी नाम हैं, जो बहत्तर और चौसठ तथा हरिभद्र द्वारा प्रणीत ८९ कलाओं के अन्तर्गत भी नही आते। और जिन नामो का अन्य ग्रन्थों मे वर्णित कलाओं से साम्य है, उनके अन्तर्गत उद्योतनसूरि ने समस्त कलाओं का समावेश करने की भरसक कोशिश की है। इससे एक ओर ग्रन्थकार ने जहाँ परम्परा का निर्वाह किया है, वहा दूसरी ओर अपनी मौलिकता का विस्तृत करने का क्षेत्र भी तैयार किया है।

कुवलयमाला मे नृत्य के अन्तर्गत—गीत, वादित्र, स्वरगत, पुष्करगत और समताल का, रत्नपरीक्षा के अन्तर्गत—मणिशिक्षा, हिरण्यवाद, सुवर्णवाद, मणिवाद का, ज्योतिष के अन्तर्गत चन्द्रचरित, सूर्यचरित, राहुचरित, ग्रहचरित कलाओं का, छन्द के अन्तर्गत—आर्या, प्रहेलिका, गाथा, गीति और श्लोक का, गज और अश्वकला के अन्तर्गत गो, कुक्कुट और मेषलक्षण कलाओ का, वस्तुपरीक्षा या वास्तुकला के अन्तर्गत—चक्र, छत्र, दण्ड, असि और मणिलक्षण कला का अथवा नगरमान, वास्तुमान, स्कन्धावार-निवेशन, नगर-निवेश, वास्तुनिवेश आदि कलाओ का[3], देशीभाषा ज्ञान के अन्तर्गत प्राकृत, संस्कृत, पैशाचिक एवं अपभ्रंश भाषा के ज्ञान की कलाओं का[4], लावककुक्कुड युद्ध कला के अन्तर्गत पक्षियों की युद्धकला के अतिरिक्त बाहु, दण्ड, मुष्टि एवं अस्थि-युद्ध कलाओ का भी अन्तर्भाव किया गया है।[5]

---

१ कल्पसूत्र २,२७ पृ० ४४ अ। ज्ञातृधर्मकथा १६, पृ० १८६।

२ समरादित्य कथा, छठा भव।

३ समराइच्चकहा की ८९ कलाओ मे से।

४ कल्पसूत्र की ७२ कलाओ मे से।

५ समरादित्यकथा अ० भ० पृ० ७३४।

साम्य-वैदम्य

कल्पसूत्र आदि ग्रन्थो मे वर्णित कलाओ के नामो का कुवलयमाला मे वर्णित कलाओ के नामो मे जो साम्य है, वह इस प्रकार है

कल्पसूत्र की ज्योतिष, व्याकरण, निरुक्ति, निघटु, इन्द्रजाल, पातालसिद्धि (गुहागय), देशभाषा, योगाग और शकुनज्ञान इन ९ कलाओ का, अगसाम्य की गणित, आलेख्य, काव्य, नृत्य, द्यूत, वस्त्रविधि, पत्रच्छेद, अश्वलक्षण, गज-लक्षण और धनुर्वेद, इन १० कलाओ का,[1] पृथ्वीचन्द्रचरित की नाटक, आरोहण, प्रत्युत्तर एव वाणिज्य इन ८ कलाओ का तथा समराइच्चकहा की होरा, शयनविधि, धातुवाद, वस्त्रक्रीडा एव सुवर्णकर्म इन ५ कलाओ के नाम उद्योतनसूरि ने ज्यो के त्यो कुवलयमाला की ७२ कलाओ के अन्तर्गत दिये है। अन्य कलाओ को उन्होने अपनी सुविधानुसार नाम दिये है।

वेद-श्रुति, गान्धर्व, सागर, योग, वर्षा का ज्ञान, न्यायशास्त्र, श्रुति, स्वप्नशास्त्र, दत-क्रय, तक्षक, लेपनकर्म, विनियोग, अलक्कम्म, अम्यासिरा, पुप्फ सकटी, कालायनकम्म, मेक्कणिण्णओ, खारो उपनिषद, सूपशास्त्र, लोकवार्ता, अवस्थापिना विद्या, नालुपाडणी, मायाकर्म, मूलकर्म और कालेदाण दक्खिण्णया कुवलयमाला की इस प्रकार की कलाए है, जिनका अन्तर्भाव जैन-साहित्य मे वर्णित ७२ कलाओ की सख्या मे सम्भव नहीं है। ये कलाए उद्योतनसूरि की अपनी मौलिक उद्भावनाएँ हैं।

यह बात विचारणीय है कि कुवलयमाला की उक्त ७२ कलाओ मे कही भी युद्धकला का उल्लेख नही है, जोकि एक प्रधान कला थी और जिसके कई भेद-प्रभेदो का भी अन्य जैन-ग्रथो ने उल्लेख किया है। अलबत्ता धनुर्वेद का उल्लेख उन्होने किया है। सम्भवत इसका कारण कुवलयमाला का ही कथानक हो, जिसमे कही भी युद्ध का विशेष महत्त्व व वर्णन देखने को नहीं मिलता। उद्योतनसूरि ने प्राय ऐसी कलाओ का निर्देश नहीं किया जिनका वर्णन करना ग्रन्थ मे उन्हे अपेक्षित नहीं था।

व्यावहारिक पक्ष

अध्ययनीय विषयो के अन्तर्गत विभिन्न कलाओ का समावेश कर देना ही काफी नहीं होता, बल्कि उन कलाओ का वास्तविक महत्त्व तो तब है, जब वे जीवन के व्यावहारिक पक्ष मे उपयोगी हो। उनका रचनात्मक कार्यो मे प्रयोग हो।

उद्योतनसूरि ने कुवलयमाला मे उक्त कलाओ का उल्लेख करके ही नहीं छोड दिया, बल्कि ग्रन्थ मे जगह-जगह उनका प्रयोग कर उनकी सम्यक् व्याख्या भी की है। जिस कला का जहाँ वे वर्णन करने लगे है वहा उन्होने तद्-विषयक विविध और विस्तृत सामग्री प्रस्तुत कर ही विश्राम लिया है। उदाहरणार्थ कुछ कलाओ के वर्णनात्मक प्रयोग यहा प्रस्तुत हैं—

नृत्य — कुवलयमाला म कई जगह नृत्य का उल्लेख है। किसी गाव मे यदि नृत्य करने वालो का दल पहुँचता था तो पूरे गाव को निमन्त्रण दिया जाता था। लोग बहुत भारी सख्या मे नृत्य देखने पहुचते थे। चडसोम अपनी पत्नी को बहिन के पास छोडकर नृत्य देखने गया।[2] क्योकि रगशाला मे अतीव सुन्दर सैकडो युवक-युवतियो का जमघट होता था।[3]



1 समवायाग और औपपातिक सूत्र की कलाओं से भी उक्त नामो का साम्य है।
2. कुवलयमाला, पृ० ४६-१८।
3 वही, पक्ति १७।



ज्योतिष इस विषयक ता अपार सामग्री ग्रथकार ने प्रस्तुत की है। नक्षत्र विद्या, राशिफल,[१] जन्मोत्सवसमयविचार, विवाह का लग्न विचार[२] आदि सबका विस्तृत वर्णन है। उदाहरणार्थ 'सवच्छरेण भणिय, देव, जहाणवेसि त्ति, णिसुणेसु सवच्छरो, एग आणदो, उदूसरअ-समओ, मासो कत्तिओ, तिही विजया, वारो बुहस्स, णक्खत्त हत्थो, रासी कण्णो, मुहुम्मो जोगो, सोम-गह णिग्गिविग्ग लग्ग, उच्च-ट्ठाणट्ठिया सव्वे वि गहा।[३]

व्याकरण मठो मे व्याकरण पढाने का अलग विभाग था। जहा 'पयइ-पच्चय-लोवागम-वण्ण-विनासादेस-समासोवसग्ग-मग्गणाणिउण वागरण वक्खाणिज्जइ त्ति।[४]
ग्रथकार ने इस प्रसग मे साख्य, योगादि सभी दर्शनो के मन्तव्यों की सम्यक् चर्चा की है।

तुरगलक्षण अश्वो के विषय मे जो जानकारी उद्योतनसूरि ने प्रस्तुत की है अन्यत्र कही एक जगह नही मिलती। कुवलयमाला मे १८ प्रकार के घोडो की जातियो का वर्णन है 'तुरयाण ताव अट्ठारस जाईओ[५]।'

धातुवाद कुवलयमाला मे धातुवाद का विस्तृत वर्णन है।[६] प्राचीन भारत मे धातुवाद द्वारा स्वर्ण सिद्ध किया जाता था। यह एक रासायनिक प्रक्रिया थी। धन कमाने के लिए लोग इसको सीखते थे 'धाउव्वाय धमिलोत्ति तेण ते किं पि सिक्खिविया[७]।' किन्तु सभी को इसमे सफलता नही मिलती थी।

चित्रकला वस्त्रचित्रो एव भित्तिचित्रो का फुटकर तो उल्लेख ग्रथकार ने किया ही है,[८] किन्तु एक जगह जितना विस्तृत चित्रो का वर्णन किया है, उतना अन्यत्र कही एक स्थान पर देखने को नही मिलता। कुवलयचन्द्र को ससार-चक्र का ज्ञान कराने के लिए एक उपाध्याय स्वचित्रित चित्रपट को दिखाता है। 'कुमार, मए चित्तवडो लिहिओ, त ता पेच्छह कि सुन्दरो कि वा ण व।' कुमार को अत मे चित्रपट देखकर कहना पडता है—

'दिट्ठ च मए त पुहइए णत्थि ज तत्थ ण लिहिय।
ज च तत्थ णत्थि त णत्थि पुहईए वि॥'[९]

वाणिज्य कुवलयमाला का सम्पूर्ण कथानक वाणिज्य के उपकरणो द्वारा ही गतिशील हुआ है। वाणिज्य के विविध अगो—८४ प्रकार के बाजार[१०] व्यापारियो की मण्डिया, उनकी व्यवस्था,[११] सामुद्रिक यात्राएँ,[१२] देश-विदेशो से वस्तुविनिमय,[१३] धनार्जन के विविध उपाय[१४] आदि का विस्तृत वर्णन ग्रथ मे हुआ है।

---

१ वही पृ० १९-१३।
२ वही, १७०,५-१५।
३ वही, १९,४-६।
४ वही, १५०,२६।
५ कुवलयमाला, २३-२२।
६ वही, १९५, पूरा पृ०।
७ वही, १९१ २४।
८ वही, २३३, ६-२३।
९ वही, १८५, १५।
१० कुवलयमाला, पृ० ८।
११. वही, १५२-५३।
१२ वही, ६७ आदि।
१३ वही ६६।
१४ वही, १९१-१-१३।

देशीभाषापरिज्ञान — इस कला का उल्लेख कर उद्योतनसूरि ने अपने भाषा विषयक विस्तृत ज्ञान को प्रस्तुत करने का क्षेत्र बना लिया है। संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश और पैशाची भाषाओं का उल्लेख उन्होंने किया ही है।[1] ग्रामीणों की बोलियों[2], शबरों की भाषा[3] एवं १८ देशी बोलियों का भी विस्तृत वर्णन उन्होंने प्रस्तुत किया है।[4] इस विषय में डा० ए० एन० उपाध्ये का महत्त्वपूर्ण निबन्ध द्रष्टव्य है।

इस प्रकार उक्त कुछ कलाओं के सन्दर्भ एक ओर उनके व्यावहारिक उपयोग को सिद्ध करते हैं, दूसरी ओर इनसे यह भी स्पष्ट होता है कि कुवलयमाला न केवल अपने समय की बल्कि सम्पूर्ण भारतीय साहित्य में सांस्कृतिक महत्त्व की दृष्टि से अपना एक विशिष्ट स्थान रखती है।

७२ कलाओं के इस अध्ययन को कुवलयमाला जैसे विशाल एवं समृद्ध ग्रंथ के सन्दर्भ में एक नगण्य-सा प्रयत्न ही कहा जायेगा। फिर भी इससे इतना तो स्पष्ट है कि उद्योतनसूरि ने इन कलाओं में ज्ञान के सभी अंगों को समाविष्ट कर दिया है और उन्हें अर्थवत्ता भी प्रदान की है।

•



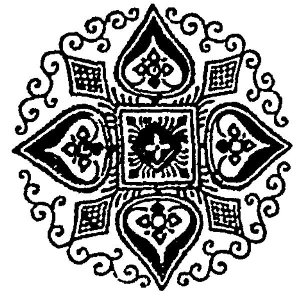
---

१ कुवलयमाला, ७१, १-८।
२ कुव० ६३ १२४।
३ वही, १२८-११८।
४ वही, १५०-५३।

चित्रकला में अभिव्यंजनवाद

प्रोफेसर परमानन्द चोयल,

उदयपुर



अभिव्यजनवादी कला का जन्म भावानुभूति के मूल मे होता है। भावात्मकता मानव की स्वभावजन्य प्रकृति है अत इस कला का उद्गम सीधे मानव-हृदय मे मानना चाहिये जहाँ बाहरी दृश्य के हर बिम्ब का ऐसा घात-प्रतिघात होता है कि उफन-उफन कर यह भाव-स्रोत अतर मे बाहर बहने लगता है। यह आदि मानव से चली आई प्रवृत्ति है। अत इस कला का वाद के रूप मे सबध २० वी सदी के जर्मन कलाकारो मे ही नही है वरन् आदि मानव की कहानी मे भी है। आधी लम्बाई की भयातुर बालक व मानव की आकृतियाँ, दुखी, तरुण, दर्द पैदा करने वाले फूलो के गुच्छे इस चित्र की भारी भरकम आकृतियाँ ये सब बिना मेहनत के थोडे मे काले-सफेद स्थानीय रगो मे उनी-गिनी रेखाओं द्वारा बनाये जा सकते है। मोटे, तीखे तेज, बेसिलसिलेदार धब्बों मे पुती ये ग्रामीण फूहड आकृतियाँ यथार्थ रूपों को प्रस्तुत नही करती वरन् इनमे झलकता है पददलित भावना की अभिव्यक्ति का प्रयत्न। अत्यधिक दुख को व्यक्त करने का यह सहज साधन है। वास्तव मे यह अभिव्यजनमात्र ही नही है—यह एक नये सत्य की परिभाषा है। अभिव्यजनवाद कला का एक नया मोड है जिसने हमारे देखने का तरीका ही बदल दिया-वस्तु को एक नये सिरे मे देखने की जिज्ञासा जगा दी।

व्यक्ति-वैचित्र्य के कारण यह सत्य मानव की स्वय की अनुभूति के अनुसार अलग-अलग हो सकता है अतएव ढग अनेक है पर लक्ष्य एक। अभिव्यजनवाद को शैली विशेष मे बाध देना उसकी विशाल परिधि को सीमित करना है। शैली से कही ऊपर इसका स्थान जीवन के प्रति एक दृष्टिकोण प्रस्तुत करना है। ससार को यह अतर से देखने की प्रक्रिया है।

यदि इतिहास को टटोलें तो अभिव्यजनवादी कला के तत्त्व प्रागैतिहासिक, पुरातत्त्व, बाद की प्राचीन कला, मध्यकालीन एव १७ वी शती की कला मे देखने को मिलते हैं। बेराक[1] काल की कला मे गाथिक[2] से उत्पन्न कलाधारा है और अभिव्यजनवादी बेराक से प्रस्फुटित। इसका उद्गम सीधे आदि मानव की कला मे माना जाना चाहिये जिसमे भय के तत्त्व मुख्य है। अभिव्यजनवाद की सामग्री अधिकतर 'पेराडॉक्सिकल म्यूज़ियम[3]' (ParadoXical museum) से ली गई है जिसमे अधिकतर ऐशिया, बिजटाइन, रोमन अद्भुत आकृतिया, कोलम्बिया के पूर्व काल की कला, नीग्रो तथा दक्षिणी सागर की मूर्तिया व कृत्रिम चेहरे आदि शामिल है। इनकी कला मे कल्पना का अद्भुत चमत्कार है। इसमे पिछडी जातियो एव प्रातीय व ग्रामीण कला को प्रथम स्थान दिया जाता है। इसके अतिरिक्त अभिव्यजनवादी कला ने जर्मन के व स्विस के ड्यूरर, क्रॉच, ग्रुनिवाल्ड, उर्स, ग्राफ तथा मेनुअल ड्यूगा इटली के क्रिवेली, तुरा

---

१ (Barouque) १६०० से लेकर १८०० तक की यूरोप की प्रसिद्ध कलाशैली।

२ (Gothic) ११५० से १४०० तक की यूरोपीय कला की शैली जिसका वास्तु से अधिक सबध है। यह जर्मन शब्द है जिसको पहले घृणा के रूप मे प्रयोग किया गया था बाद मे शैली की सशक्तता के कारण यह आदर का नाम बन गया।

३ प्राचीन कला सबधी सग्रहालय। इस तरह की कला मे जादुई तत्त्वों की व अनोखी कल्पना की अधिकता होती है।

रोमा एवं न्यूबा मिन्नेली, स्पेन में वाल्टेम्बील, एल ग्रीको, गोया आदि कलाकारों ने प्रेरणा ली है। जेरिको[1] के अस्पताल में बनाए पागलों के चेहरे तथा उन लोगों के चेहरे जो फांसी के तख्तों पर लटकने मरणासन्न थे सब इस कला की सीमा में आते हैं।

१९ वीं शती के मध्य में यूरोप में प्रभाववाद आंदोलन ने कला की दृष्टि को विस्तृत करना शुरू कर दिया था। कलाकार परीक्षण पर परीक्षण कर अभिव्यक्ति का एक नया मार्ग ढूँढ रहे थे। फलस्वरूप फ्रांस में १९ वीं शती अन्त तक, प्रभाववाद (Neo-Impressionism), संश्लेषवाद (Synthetism), नबीवाद[2] (Nabism), फाविज्म (Fauvism)[3] आदि कई कलाधाराएं बह उठीं। २० वीं शती के आरम्भ होते ही हर देश कलासृजन के प्रति चैतन्य हो गया। पिकासो व ब्रॉक के उर्वर मस्तिष्क में घनवाद (Cubism) की उत्पत्ति हुई जिससे कला में एक नई ही क्रान्ति उत्पन्न हो गई, अभिव्यक्ति का एक नया माध्यम खुल गया, परम्परा के बंधन टूट गये और कलाकार मुक्त पंछी सा खुले आकाश में उड़ान भरने के स्वप्न देखने लगा। इसी समय कला-क्षेत्र में आन्दोलन के रूप में अभिव्यंजनवाद के भी बीज प्रस्फुटित होने लगे।

घनवाद व अभिव्यंजनवाद के बीच का भेद केवल कृत्रिम धारणा है। फाविज्म की उत्पत्ति फ्रांस में हुई पर जिस कलाकार में इसके तत्त्व मौजूद थे वह वान गॉग था—डच कलाकार। उसमें सब लक्षण विद्यमान थे—तेजी से ब्रुश चलाना, यथार्थ रंग भरना, रेखाओं का स्वतंत्र चुनाव करना, सीधी ड्राइंग बनाना तथा घेरेदार व घुमावदार आकृतियों के प्रति लगाव दर्शाना आदि। अभिव्यंजनवादी चित्र की दर्शक पर मौलिक प्रतिक्रिया होनी चाहिये। फावी (Fauve) को यदि हम मिश्रित स्कूल गिनें तो अभिव्यंजनवाद को भी उसी श्रेणी में रखना होगा।

यदि घनवाद से उत्पन्न नवीन उत्तम विधि हमारे सम्मुख न आती व फावीवाद (Fauvism) के रंग नहीं आते तो अभिव्यंजनवाद कदाचित् एक प्रकार का प्रतीकवाद ही रह जाता। इस दृष्टि से घनवाद, व फावीवाद व अभिव्यंजनवाद एक समान ही हैं। नीग्रो तथा दक्षिणी सागर की प्रतिमाओं का फावी व घनवाद दोनों पर ही गहरा असर पड़ा था। १९०७ में ही हेनरी मातिस अमिश्रित स्वच्छ रंगों में चित्रण कर रहा था। मुंच[4] व बुलार्ड[5] इससे भी पूर्व इसी ढंग से रचना कर चुके थे—पॉल सिग्नेक[6] में भी यही बात देखने को मिलती है अतः इसके निर्माण में कई शैलियों का मिश्रण है। जर्मन कलाकारों ने फ्रांस के फावियों से प्रेरणा ली और इस शैली का विकास अपने यहाँ उन्होंने अपने ही ढंग से किया—भयानक तेजी से, उग्रता लिये हुये एक अल्हड़ आदिवासी के समान। ड्रिसडेन (जर्मनी) के अभिव्यंजनवादी फावी के ही समान थे। उन्होंने रंगों की लय पर नाटकीय ढंग से जोर दिया। जितने ही इस प्रवृत्ति में वे घुसते गये उतनी ही दर्दनाक एवं निर्दय विकृति[7] (Distortion) उनकी आकृतियों (Forms) की होती गई। इधर फ्रांस में यही प्रवृत्ति पिकासो के 'ब्ल्यू पीरियड' तथा मोदिग्लियानी, रूओ आदि के चित्रों में भी दिखाई देती है। वान गॉग के ये शब्द कि "मैं लाल पीले रंग से अपनी वासना को अभिव्यक्त करना चाहता हूँ"। अभिव्यंजनवादी कला का आदर्श माने जा सकते हैं। इसके बाद रंग आकृति पर आधृत नहीं रहे। वस्तु से इतर उनका अपना ही निजत्व हो गया। बिना दृश्यात्मक रूपों के ही भावाभिव्यंजना संभव होने लगी। इस संदर्भ में पिकासो का यह दृष्टिकोण कि 'कला में मानसिक

---

१ फ्रांस का 'रोमांटिक' शैली का कलाकार।

२. कला में दार्शनिकता का आरोप देकर उपदेश देनेवाले कलाकारों की विशेष धारा।

३ हेनरी मॉतिस द्वारा प्रतिपादित धारा जिसके कलाकारों को शुरू में जंगली पशु कहा गया था।

४ (Munch) जर्मन का अभिव्यंजनवाद के आरम्भ होने से पूर्व का कलाकार।

५ (Vullard) नेबी कलाधारा का कलाकार (फ्रांस)।

६ (Paul signae) न्यो प्रभाववाद का फ्रांस का कलाकार।

७ यथार्थ रूपों का कला में सदा से चित्रकार के मानसिक रूपों के अनुसार रूपान्तर होता चला आया है। कला में distortion इसी का प्रतिफल है।





आकृति की अधिक अपेक्षा है बनिस्वत भौतिक आकृति के' कितना सत्य है। गोगा ने प्रभाववाद का दोष बताते हुए जब अपने विचार प्रस्तुत किये तो उनमे भी यही ध्वनि सुनाई देती है। उमने कहा 'प्रभाववाद ने केवल दृश्यात्मक क्षेत्र की खोज की, विचारो का रहस्यात्मक केन्द्र उसकी परिसीमा से अछूता ही रहा। सगीत के समान चित्रकला मे भी कथात्मकता के बजाय सकेतात्मकता द्वारा बहुत कुछ दर्शाया जा सकता है। हेफ्टमेन के मतानुसार कलाकार को चाहिये कि दृश्यात्मक जगत् को अदृश्यात्मक रूपो मे प्रस्तुत करे। विचार व रचना पूर्णतया मौलिक, स्वेच्छाकारी व अनुभूतिपूर्ण होनी चाहिये जिसमे किसी प्रकार के तौर-तरीको की रुकावट न आवे। उसकी रचना मे कलाकार का व्यक्तित्व व आतरिकता झलके। इन विचारो का अभिव्यजनवाद पर बेहद असर पडा। चाहे दृश्य चित्र हो अथवा व्यक्तिचित्र या वस्तुचित्र (Still-Life) अभिव्यजनवादी चित्र मे कलाकार का उत्पीडन अथवा बौखलाहट झलकेगी ही।

अभिव्यजनवादी धारा मे इतने तकनीक (Technique) दिखाई देते है जितने कि चितेरे। यद्यपि इन चित्रकारो के अकन के कोई समान नियम नही हैं फिर भी लगता है कि भावात्मक दृष्टि से ये सभी एक सूत्र मे बधे हैं। स्वभावजन्य आवेश अथवा अन्य आंतरिक अस्थिरता का अभिव्यजनवाद पर काफी प्रभाव पडा है। ये कलाकार गहरे अधेरे मे जैसे अतर की वेदना से छटपटा रहे हो। उनके रहस्य के उद्घाटन को प्रतिक्षण उनकी तूलिका फडकती रहती है। अतर के उद्वेलन मे उन्हे प्रकृति व जीवन एक भुलावा देनेवाला नाट्य सा दिखता है। कलाकार इसी अतिरेक-स्थिति मे रचना करते है जिसके कारण बाह्य रूपो के अनुरूप उनकी रचना नही हो पाती। ऐसा लगता है जैसे कलाकार तद्रा मे खो गया है और उसकी कला, जो आतरिक उत्पीडन की उत्तेजना का प्रतिफल है, उसका माध्यम बन गई है।

अभिव्यजनवादी कला-सृजन के चरम आवेश मे आनन्द की उपलब्धि होती है। बौद्धिक रचना करते-करते भी अभिव्यजनवादी कलाकार अन्त में हृदय-तरगो मे डोलने लगता है। चाहे वे कितनी क्षुद्र क्यो न हो उसकी कला मे उसके आतरिक भावो की मार्मिकता अवश्य होती है।

उसकी रेखाए फावी से अधिक चचल व भावानुवर्ती होती हैं। वे रूढ व कठोर हो सकती है—काल्पनिक एव अनियत्रित, शात व आनन्दपूर्ण, पर उनमे एक प्रकार की तीव्रता, असमजसता एव टीस अवश्य होती है। रग कलाकार की मानसिक स्थिति से पैदा होते है। चित्र अक्सर गहरे काले व भूरे से आरम्भ होते है फिर एकाएक केनवास की इस गम्भीर धुधली पृष्ठभूमि का आवरण फोड, लाल, पीले, बेजनी, हरे, नीले रग उभर पडते हैं। इन रगो का प्रयोग ऐसा दिखता है मानो खूब वेग से मन की घुमडन के साथ-साथ किया गया हो। गहरे चमकीले रगो मे खूब विरोधाभास होता है।

२० वी सदी मे एक साथ ही कई स्थानो मे अभिव्यजनवादी प्रवृत्ति उभर पडी। जर्मनी, फ्रास, स्केन्डनेविया फ्लेंडर्स, आस्ट्रीया, हॉलेण्ड व एशिया मे यह आन्दोलन प्रसारित हुआ और एक विशेष शैली का इसने दर्शन कराया। पूरे उत्तर व मध्य यूरोप मे शीघ्र ही यह शैली फैल गई। फिर मेक्सिको के राइवेरा, ओरोस्को, टॉमियो, सिक्विरो, स्टेट के बेन, डिकूनिंग आदि कलाकारो मे इसके लक्षण दिखने लगे। ब्राजील के पोर्तिनारी व सेगाल आदि मे भी इसका प्रभाव फैल गया। भारत की लोककला मे एव आरम्भिक राजस्थानी कला मे भी यही तत्त्व देखने को मिलते है। २०वी शती मे अमृत शेरगिल शैलेन मुकर्जी, प्राणनाथ मागो, गुजराल, रामकुमार आदि के चित्रो मे यत्र-तत्र ऐसे लक्षण देखने को मिलते हैं।

अभिव्यजनवाद मे नॉर्डिक की करुणा, स्लेव की रहस्यात्मकता, फ्लेमिश की मासलता, ज्यूइश का उत्पीडन एव जर्मनी की हर प्रकार की स्थूलता की झलक मिलती है। इस आदोलन की उत्पत्ति व प्रसार मे जर्मनी का गहरा हाथ है। इसकी सस्कृति के प्रति नास्तिकता, भेदाभेद की कमी एव सर्वत्र व्याप्त सौंदर्य के निश्चित मानो पर प्रहार करने की वृत्ति के कारण कुछ लेटिन मूल के कलाकार इस आदोलन मे अश्रद्धा रखते थे। इनमे पिकासो व रूआ आदि मुख्य है। इतने विघटन, धार्मिक अनियत्रण व अनात्मीयता के होने पर भी अभिव्यजनवाद ने कलाक्षेत्र मे अनुपम उदाहरण पेश किये है। प्रकृति व समाज के बीच अभिव्यजनवादी कलाकार प्रागैतिहासिक व आदि मानव सा निर्दोष व भोलाभाला दिखाई देता है।

जर्मनी के बेकमेन को छोड़कर अभिव्यजनवाद की वास्तविक प्रतिभा नोल्दे, किर्चनर, हेकल, शिमिड्ट, रोट-लुफ एव दूसरे गुट[1] के मार्क, मेके केन्डिनिस्की आदि कलाकारो मे दिखती है। इन कलाकारो ने इस रचनाप्रवृत्ति को अधिक विषयात्मक बनाया। शुद्ध आकृति (pure form) की अपेक्षा ने कई वैयक्तिक शैलियां उत्पन्न कर दी। इसके बाद अभिव्यजनवाद को शैलीविशेष कह देना उचित नहीं जचता। देखा गया है कि केन्डिनिस्की, फनिगर तथा जोलस्की आदि की कला मे तात्विक अन्तर न होने पर भी अकनविधि मे आशातीत भिन्नता है। उस समय बहुत से कलाकार अभिव्यजनवादी थे परन्तु ब्ल्यू राइडर के गुट के कलाकारो की प्रवृत्ति वस्तुनिरपेक्षता (abstraction) की ओर अधिक होने लगी।[2] इनकी स्थापना १९१३ मे हो गई थी। इसी मे वस्तु निरपेक्ष अभिव्यजनवाद (Abstract Expressionism) की व्युत्पत्ति हुई। केन्डिनिस्की की स्वयभू अमूर्त आकृतियो का तथा पॉल क्ली की काव्यात्मक एव प्लास्टिक शैली का अभिव्यजनवाद पर ऐसा प्रभाव पडा कि आज भी कलाकारो के बीच इसके बीज विद्यमान है।

पेरिस, ड्रिसडेन व म्यूनिक की कला मे रगचेतना अधिक उग्र हो गई। कुछ समय बाद इसने अमूर्तवाद घन-वाद व अयथार्थ कला की ओर ध्यान बँट गया।

पहले महायुद्ध के पूर्व जर्मनी मे फ्रास के कई प्रसिद्ध कलाकार प्रदर्शन कर अपना प्रभाव जर्मनकला पर डाल चुके थे। जर्मनकला में इससे काफी जाग्रति आ गई थी। अभिव्यजनवाद की देन घनवाद व अतियथार्थवाद (Surrealism) ने किसी भाति कम नहीं है। मानवस्वतत्रता मे भी जर्मन कलाकारो ने काफी हाथ बटाया है। मेकेक मार्क की १९१४-१९१६ मे पहले महायुद्ध मे मृत्यु हो गई। फ्रास मे भी द्यूशम, विलो आदि युद्ध के कारण १९१८ व २५ में मारे गये। जर्मन मे राष्ट्रीय नीति के कारण जर्मनकला को अत्यन्त क्षति पहुँचाई गई। जर्मन अभिव्यजनवादियो के चित्र दीवारो से उखाड फेंके गये। उन्हें नष्ट कर दिया गया। चित्रकारो ने रचना करनी छोड दी। उनके प्रदर्शन बद कर दिये गये। नोल्डे व रोटलुफ को चित्र बनाने का निषेध कर दिया गया। म्यूजियम पर ताले ठोक दिये गये। १९३७ की प्रदर्शनी मे अन्य अभिव्यजनात्मक रचनाए नही रक्खी गईं। १९३८ मे ल्यूसिक, रुआ, पिकासो व ब्रॉक के म्यूजियम मे सग्रहीत चित्र बेचने की सरकार ने बोली लगा दी। एक प्रेस ने अभिव्यजनवादियो को घोर चेतावनी दी। किर्चनर यद्यपि उस समय स्विस मे सुरक्षित था फिर भी उसके मस्तिष्क पर इनका इतना भय छाया कि उसने आत्महत्या करली। डिक्स को कैद कर लिया गया। दूसरे कालाकर जर्मनी छोड भागे। पॉल क्ली स्विटजरलेण्ड लौट आया। केन्डिनिस्की फ्रास चला गया। बेक मेन ने एम्सटरडम में शरण ली। कोकेश्का भागकर इग्लेण्ड जा पहुँचा। ८९ वर्ष का बूढा क्रिस्टन रल्फ तथा बार्लेश मूर्तिकार गरीबी व भूख से तडप-तडपकर मर गये। कई जर्मन व आस्ट्रियन कलाकार आत्मिक मूल्यों की रक्षा करते-करते मर गये। जेम्स अरनेस्ट व विल्हम आदि फ्रास की पुलिस द्वारा १९३९ के पोनी युद्ध मे कैद कर लिये गये। जर्मनी के कलाकार जो जा नही सके थे, शर्म के मारे छिपे छिपे फिर रहे थे। उनके चित्रो की गैलरी बद कर दी गई थी। चित्रो के व्यापारी भी भाग गये थे। आलोचक भी खिसक गये थे। पॉल वेस्थीम मेक्सिको चला गया था। कर्न आइन्स्टाइन, जिसके नाम वारन्ट था, अपनी अतडियाँ फाड नदी में डूब मरा। १९३२ मे हरवर्थ वाल्डन ने मास्को के लिये विजा लिया पर किसी ने नहीं जाना कि वह गया या नही।

दूसरे महायुद्ध में जर्मन की कला नष्ट हो गई। अधिकतर कलाकारो के स्टूडियो बम से विध्वस्त हो गये। सग्रहकर्त्ताओं की सामग्री नष्ट हो गई फिर भी जर्मन अभिव्यजनवादियो ने इसमे अपनी आस्था नहीं छोडी। बर्लिन के अभिव्यजनवादियो को देशनिकाला दे दिया गया। लिबरमेन के साथ भी यही बर्ताव किया गया।

युद्ध की प्रतिक्रिया ने यो इस आदोलन को खतम कर दिया पर चूकि यह प्रवृत्ति मानवप्रवृत्ति है—आदि प्रवृत्ति है इसलिये नष्ट नही हो सकी। अभिव्यजनवाद हर काल मे हर देश मे जिंदा रहेगा। यह एक अतर-



१ जर्मन मे अभिव्यजनवाद का पहला आन्दोलन 'दि बृज ग्रुप' के नाम पर तथा दूसरा आदोलन 'दि ब्लू राइडर' के नाम पर चला।

२ केन्डिनिस्की को अभिव्यजनवाद में वस्तुनिरपेक्षता अथवा अमूर्तवाद लाने का श्रेय है।



राष्ट्रीय आदोलन है। वस्तु-रूपात्मकता व निरपेक्षता के बीच का झीना पर्दा इसने उठा दिया। जेकमन, पोलक, गोर्की गोट्लिन, न्यूमेन, क्लाइव, टिकूनिंग, ट्वारकाड, साम, फेंसिस आदि कलाकार युद्ध के बाद भी इसको जीवित रखने मे सलग्न रहे। इजराइल के कलाकार अरिखा, जापानी कलाकार सुगाई, के सातो, कितो, इमाड व जाओ-यू-की की कृतियो मे भी यही भावना भरी है। आस्ट्रिया के हुण्डर्टनासर जर्मन के बूनिंग, इटली के दोवा व मुर्री, स्पेन के टपिस व सूर्या आदि की कला मे शैली-विभिन्नता होने पर भी अभिव्यजना की पराकाष्ठा दिखाई देती है। इनकी रुचि अमूर्त भावाभिव्यक्ति की ओर अधिक है। आद्रे मेसन के भयानक युद्ध के चित्र भी इसी सीमा मे आते है। अभिव्यजनवादी कलाकार वस्तु मे सार देखने का यत्न करता है। एक अमरीकी कलाकार ने इस कला पर इस प्रकार अपने विचार प्रस्तुत किये है—"यदि चित्र में भावनाए व्यक्त करने की क्षमता न हो तो उसके विधान की कोई कीमत नही है। चित्र रेखाओ, रगो व आकृतियो का सतुलित सयोजन मात्र है, यह कह देना नीरस बात है। अभिव्यजनवाद क्या है—एक तरह की स्वच्छदता, रूढि के प्रति विद्रोह। हमारी सौंदर्यात्मक भावनाओ को इससे गति व स्वतत्रता मिलती है अभिव्यजनवाद भौतिक जगत् की कमियो को दूर करता है तथा आदमी को कैद विशेष से छुटकारा दिलाता है।"

अभिव्यजनवाद मे आत्मिक अनुभूति की मुख्यता रहती है, भौतिक सौंदर्य की अभिव्यक्ति गौण। इस कला मे आकस्मिकता या निराशा का प्रभाव नही पडता। यह प्राचीन कला, आदिवासियो की कला व ग्रामीण कला की ओर हमारा ध्यान आकर्षित करती है।

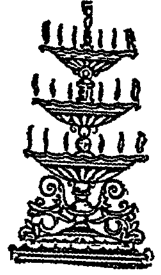
अभिव्यजनवाद जर्मन व बेल्जियम मे मृतप्राय हो गया पर विश्वकला के रूप मे यह अब भी विद्यमान है। जो स्वप्निल जगत् में घूमना चाहते है, जो स्वत चलित दुनिया से लडना चाहते है, जो आजादी चाहते है उनके लिये अभिव्यजनवाद एक नया ससार पैदा करता है।

●

धार्मिकता और राष्ट्रीयता में समन्वय

दयाचन्द जैन साहित्याचार्य,

सागर



मानव विश्व में बुद्धिमान् एव सुन्दर आकृतिवाला प्राणी है । उसका जन्म राष्ट्र मे होता है, जीवननिर्वाह समाज में होता है और विकास आत्मा मे होता है । व्यक्ति समाज का मूलाधार एव महत्त्वपूर्ण इकाई है । अत व्यक्ति के विकास मे समाज का, समाज के विकास मे राष्ट्र का और राष्ट्र के विकास मे विश्व का विकास होना स्वत सिद्ध है । मानव के जीवन की यात्रा राष्ट्रीय तत्त्वों पर और आत्मा का विकास धार्मिक तत्त्वो पर निर्भर है । राष्ट्रीय तत्त्वो और धार्मिक तत्त्वों के सहयोग के बिना मानव का सर्वांगीण विकास होना असम्भव है ।

मानव के पतन मे समाज का पतन और समाज के पतन मे राष्ट्र का पतन होने मे जरा भी विलम्ब नही होता । व्यक्ति, समाज और राष्ट्र का पतन एक साथ ही होता है । इसी प्रकार विकास भी एक साथ होता है । क्योकि प्रत्येक मानव समाज और देश का अग है । जिस प्रकार शरीर का कोई भी अग विकृत हो जाने के साथ ही शरीर विकृत हो जाता है उसी प्रकार समाज या राष्ट्र के किसी भी सदस्य (नागरिक) के विकृत हो जाने से समाज या राष्ट्र का विकृत होना स्वाभाविक है ।

पण्डितप्रवर श्रीआशाधर जी ने गृहस्थ या नागरिक के चौदह कर्त्तव्यो मे 'आर्यसमिति' इस शब्द से मानव को सभ्यसमाज का सदस्य घोषित किया है । राजनीति के वेत्ता अरस्तू ने लिखा है कि "मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है एव बिना समाज के वह एक क्षण भी नही रह सकता ।"

व्यक्ति का विकास धार्मिकता और राष्ट्रीयता के बिना नहीं हो सकता और व्यक्ति के विकास के बिना समाज एव राष्ट्र का विकास नही हो सकता, यत समाज तथा राष्ट्र के निर्माण का मूलाधार व्यक्ति है । जब मानव अशिक्षित, असभ्य, अशान्त, अधर्मी अनुशासनहीन और कर्तव्यहीन हो जाता है तब उसके पतन मे, धार्मिकता और राष्ट्रीयता के उचित सामजस्य का अभाव ही मुख्य कारण होता है ।

सर्वोदय सिद्धान्त के अनुसार मानव का सर्वांगीण विकास होना मानवता है । मानव को अपने पूर्ण विकास के लिये एक हाथ मे धार्मिकता और दूसरे हाथ में राष्ट्रीयता को लेकर, दोनो का समन्वय करते हुए पुरुषार्थ करना आवश्यक है । धार्मिक तत्त्वों के बिना राष्ट्रीयता और राष्ट्रीय तत्त्वों के बिना धार्मिकता विकसित नही हो सकती है । जीवन मे यथायोग्य दोनो का सहयोग ही कार्यकारी हो सकता है ।

जिस प्रकार राष्ट्रीयता के उत्थान के लिये अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह—इन पाच प्रमुख धर्मसिद्धान्तो की आवश्यकता है उसी प्रकार धार्मिकता के उत्थान के लिये राजनीति, न्याय, अनुशासन, शिक्षा, सस्कृति, कला, व्यापार, सैनिक शिक्षा, कृषि, शिल्पकला, स्वास्थ्यरक्षा, पशुरक्षा, वनस्पतिरक्षा, सहकारिता, राष्ट्रनिर्माण, विज्ञान समाजव्यवस्था आदि राष्ट्रीय तत्त्व भी अत्यावश्यक है । बुद्धिजीवी मानव उक्त तत्त्वो का स्याद्वादशैली से यथायोग्य समीकरण करता हुआ अपना सर्वांगीण विकास करता है । धार्मिक तत्त्व अथवा राष्ट्रीय तत्त्व एकागीरूप मे अथवा दोनो परस्पर निरपेक्ष रूप मे मानवजीवन का प्राय उत्थान करने मे समर्थ नही है । यदि धर्मतत्त्व निश्चयमार्ग है तो राष्ट्रीयतत्त्व व्यवहारमार्ग है, अत मानवजीवन को शुद्ध आदर्श तथा उन्नत बनाने के लिये दोनो मार्गो का समन्वय करना आवश्यक है ।

मानव का स्थितिकरण

पुराण और इतिहास ग्रंथ कहते है कि इस अवसर्पिणी (ह्रास) काल के अतिप्राचीन प्रारम्भिक विभाग की प्रसिद्धि 'भोगयुग' के नाम से थी। इसको इतिहासकारो के शब्दो मे पाषाणयुग से भी पूर्व का युग कहा जा सकता है। इस युग मे मानव, वस्त्राग-भोजनाग आदि दश प्रकार के कल्पवृक्षो के द्वारा विविध जीवनोपयोगी वस्तुओं को प्राप्त कर सुखशान्तिपूर्ण स्वतन्त्र जीवन व्यतीत करता था। भोगयुग समाप्त हो जाने पर कल्पवृक्ष भी लुप्त हो गये थे। तत्पश्चात् कर्मयुग के प्रारम्भकाल मे मानवो का जीवन असहाय, अव्यवस्थित तथा सकटमय हो गया। उस विचित्र परिस्थिति मे क्रमश अवतरित प्रतिश्रुति आदि चौदह मनु (कुलकर) महापुरुषो ने आवश्यक धार्मिक तथा लौकिक कर्त-व्यो का निर्देश कर मानवो के जीवन को व्यवस्थित, शान्त और निर्वाहयोग्य बनाया। उस समय जब मानवो को सबसे प्रथम भूख-प्यास के रोगो ने सताया तब किंकर्त्तव्यविमूढ मानव दुखित होते हुए श्रीऋषभनाथ के निकट गये। उन्होने स्वय उत्पन्न इक्षु (गन्ना) के रसपान द्वारा सर्वप्रथम भूख-प्यास को शान्त करने का समाधान किया। पश्चात् सेव, अनार आदि फलो का अन्वेषण कर शाकाहार द्वारा क्षुधा शान्त करने का आदेश दिया। प्रेमपूर्वक व्यवहार, रहन-सहन भूषा और भाषा का प्रयोग दर्शाया। यह स्थितिकरण आज तक परम्परया चला आ रहा है।

वशो की स्थापना

मानव का जीवन व्यवस्थित और शान्त हो जाने के पश्चात् विवाह की प्रथा का श्रीगणेश हुआ। जब मानव की सन्तान बढने लगी तब श्रीऋषभदेव ने व्यक्तियो के सगठन को कुटुम्ब या वश के नाम से स्थापित किया। सर्व-प्रथम श्रीऋषभदेव के वश की प्रसिद्धि 'इक्ष्वाकुवश' के नाम से हुई थी, क्योकि श्रीऋषभनाथ ने सर्वप्रथम जनता के कष्टो को दूर करने के लिये इक्षु-वनस्पति का अन्वेषण किया था, अत श्रीऋषभदेव का स्मरण इक्ष्वाकु नाम से किया गया और उनका वश 'इक्ष्वाकुवश' नाम मे प्रसिद्ध हुआ। धर्मग्रथो में प्रमाण है कि "इक्षु इति शब्द अकतीति अथवा इक्षुमाकरोतीति इक्ष्वाकु" (अहिंसावाणी ऋषभ वि० पृ० ३०)। इस वश का दूसरा नाम सूर्यवश भी प्रसिद्ध हुआ था। पश्चात् श्रीऋषभदेव ने कुरुवश की स्थापना कर राजा सोमप्रभ को उसका नायक बनाया। हरिवश का नायक राजा हरि को, नाथवश का नायक राजा अकम्पन को, और उग्रवश का नायक राजा काश्यप को घोषित किया। इन प्रधान-वशो की शाखा-प्रशाखारूप अन्य वश भी समयानुसार स्थापित होते रहे हैं। उनकी परम्परा आज भी प्रचलित है।

सर्वोदय समाज की स्थापना

वशो की वृद्धि हो जाने से मानवो की समीचीन व्यवस्था सम्पन्न करने के लिये समाज का निर्माण होता है। सर्वप्रथम तीर्थंकर ऋषभनाथ ने वशो का सगठन कर सर्वोदय समाज की स्थापना की। समाज के प्रत्येक सदस्य को मैत्रीभाव, सहयोग और समान व्यवहार करने का उपदेश दिया। मानवो की सख्या मे उत्तरोत्तर वृद्धि होने से तत्काल उपस्थित अनेक जटिल समस्याओ का समाधान किया गया। जैसे भोजननिर्माणविधि, वनस्पति का उपयोग, पशुपालन, वर्तननिर्माण, गृहनिर्माण, जलाशयनिर्माण आदि लौकिक सभ्यता तथा स्वस्थता, नागरिक कर्त्तव्य, कुलाचार, सस्कृति आदि धर्मतत्त्वो के उपदेश मे मानव-जीवन की यात्रा को सरल, शान्त तथा पवित्र बनाया गया। अतएव कृतज्ञ जनता ने श्रीऋषभदेव को "प्रजापति" पद से विभूषित किया।

मानवजीवन को शुद्ध, सुसस्कृत और सुशिक्षित बनाने के लिये विविध सस्कारो की रचना की गई और समाज में उनको प्रचलित किया गया। इसके अतिरिक्त समयोपयोगी अन्य आवश्यक साधनो एव क्रियाओ का निर्माण किया गया जिससे कि समाज का सर्वांगीण विकास हुआ था। अनेक शताब्दियो के व्यतीत होने पर वह समाज विकृत हो गया है। अब इस युग मे पुन सर्वोदय समाज की आवश्यकता है। राष्ट्र के नेता इस दिशा मे प्रयत्नशील है।

राष्ट्रो की स्थापना

समाज की रचना होते ही राष्ट्र की आवश्यकता होती है अत प्राचीन काल मे श्रीऋषभदेव ने वृद्धिगत

समाजों का सगठन कर राष्ट्रों की स्थापना की । मानवसमाज का 'राष्ट्र' एक बड़ा सगठन है । इसमें समाज की सभी शक्तियों का तथा सभी वर्गों का एकीकरण किया जाता है । राष्ट्र की पूर्ण उन्नति के लिये प्रत्येक नागरिक में राष्ट्रीयता का विकास होना आवश्यक है ।

राष्ट्र की परिभाषा

"पशुधान्यहिरण्यसम्पदा राजते इति राष्ट्रम् ।"

(नीतिवाक्यामृत, जनपदसमुद्देशसूत्र-१)

अर्थात्-पशु, अन्न तथा सुवर्ण आदि सम्पत्तियों से शोभायमान क्षेत्र को राष्ट्र कहते हैं । 'भर्तुर्दण्डकोशवृद्धि दिशतीति देश' (नीति० जन० सू० २) अर्थात् जो क्षेत्र स्वामी को सैन्य और कोष की वृद्धि देता है उसको देश कहते हैं ।

"जनस्य वर्णाश्रमलक्षणस्य द्रव्योत्पत्तेर्वा पद स्थानमिति जनपद" (नीति० जन० सू० ४) अर्थात्–जो स्थान, क्षत्रिय आदि वर्णों मे और ब्रह्मचर्य आदि चार आश्रमो मे विद्यमान मानवो का निवासस्थान हो तथा धन का उत्पत्ति-स्थान हो उसे जनपद कहते हैं । यह राष्ट्र का समन्वयात्मक लक्षण है । इसमे राष्ट्र को, धार्मिक तथा राष्ट्रीय तत्त्वो से परिपूर्ण मानवो का निवासस्थान कहा गया है ।

अयोध्यानगरी का निर्माण

श्रीनाभिराज प्रारम्भिक कर्मयुग के अन्तिम कुलकर (मनु) थे । उनकी पत्नी श्रीमरुदेवी की कुक्षि मे जब प्रथम तीर्थंकर श्रीऋषभनाथ ने अवतार लिया तब भारत के उत्तर मे विशाल अयोध्यानगरी की रचना की गई और उसमें देवसमाज तथा मानवसमाज ने मिलकर ऋषभदेव का जन्मोत्सव मनाया । इस नगरी के मानवो के पास कोई आयुध (शस्त्र) नही थे, वे परस्पर मित्रता से रहते थे इसलिये इस नगरी का सार्थक नाम 'अयोध्या' रखा गया । श्री ऋषभदेव, अपने पिता के उत्तराधिकारी, इस नगरी के प्रथम शासक थे और सकल कलाओं के महान् शिक्षक थे ।

उदीयमान उस कर्मयुग मे मानवो के निवासगृह, शिक्षा आदि सकल व्यवस्थाओ को सम्पन्न करने के लिये श्रीऋषभदेव ने आर्यक्षेत्र मे नगर, देश एव राष्ट्रों की व्यवस्था की । उनमे सर्वप्रथम भारत था जिसका नामकरण स्वकीय ज्येष्ठ पुत्र भरत चक्रवर्ती के नाम से किया गया ।

तन्नाम्ना भारत वर्षमिति ह्यासीज्जनास्पदम् ।
हिमाद्रेरासमुद्राच्च क्षेत्र चक्रभृतामिदम् ॥१५९॥ आदिपुराण पर्व १५

अर्थात्–श्रीऋषभदेव के ज्येष्ठ पुत्र प्रथम चक्री भरत के नाम से, आर्यजनो के रहने का स्थान यह भारतवर्ष प्रसिद्ध हुआ है जो हिमालय से लेकर दक्षिणादि दिशाओं मे तीनों ओर समुद्र से वेष्टित है । यह चक्रवर्तियो का क्षेत्र है ।

अग्नीध्रसूनोर्नाभेस्तु ऋषभोऽभूत्सुतो द्विज ।
ऋषभाद् भरतो जज्ञे वीर पुत्रशताद्वर ॥३९॥
हिमाह्व दक्षिण वर्ष भरताय पिता ददौ ।
तस्मात्तु भारत वर्ष तस्य नाम्ना महात्मन ॥४१॥—मार्कण्डेयपुराण अ० ५०

अर्थात्—नाभिराज के पुत्र ऋषभदेव हुए और ऋषभदेव के पुत्र भरत अपने शत भ्राताओ मे ज्येष्ठ थे । ऋषभदेव ने हिमालय के दक्षिण का क्षेत्र भरत को दिया । इस कारण उस वीर के नाम से देश का नाम 'भारतवर्ष' प्रसिद्ध हुआ ।





नाभे पुत्रश्च ऋषभ, ऋषभाद् भरतोऽभवत् ।
तस्य नाम्ना त्विद वर्षं, भारत चेति कीर्त्यते ॥५७॥
—विष्णुपुराण द्वि० अश अ० १

तत्पश्चात् श्रीऋषभदेव ने अनेक देशो की स्थापना की । जिनमें कुछ प्रसिद्ध नाम उल्लेखनीय है—सुकोशल, कुरुजागल, अग, वग पुड्र, उण्ड, अश्मक, रम्यक, कुरु, काशी, कलिंग, समुद्रक, काश्मीर उशीनर, आवत, वत्स, पञ्चाल, मालव, दशार्ण, कच्छ, मगध विदर्भ, करहाट महाराष्ट्र सुराष्ट्र, आभीर, कोकण, वनवास, आन्ध्र, कर्णाट, कोशल चोल, केरल, दारु, अभिसार, सौवीर, शूरसेन, अपरान्त, विदेह, सिन्धु, गान्धार, यवन, चेदि, पल्लव, कम्बोज, आरट, वाल्मीक, तुरुष्क, शक, मरु, केकय इत्यादि। अहिंसावाणी ऋषभ वि० पृ० १०

नगरी या नगरो के कुछ नाम – मथुरा माया काशी काञ्ची श्रावस्ती कोशाम्बी वाराणसी चन्द्रपुरी काकन्दीपुर भद्रिलपुर सिंहपुर चम्पापुर कम्पिलापुरी रत्नपुर हस्तिनागपुर नागपुर मिथिला राजगृही सौरीपुर कुण्डलपुर ताल पुरिमतालपुर इत्यादि ।

समय की गति के अनुसार इस आर्यक्षेत्र मे अनेको देशो, नगरो तथा ग्रामो की रचना होती रही और प्राचीन देशो नगरो आदि का विध्वस भी होता गया । यत इस विश्व की दशा परिवर्तनशील है । वर्तमान मे वे देश-नगर आदि परिवर्तितरूप मे है, और अनेको का अस्तित्व भी नही पाया जाता है । उन मे से कुछ के नाम वही है, कुछ परिवर्तित है और कुछ विनष्ट हो गये हैं ।

राष्ट्रो की राष्ट्रीयता

राष्ट्रो की स्थापना होने पर उनमे राष्ट्रीयता का होना भी राष्ट्र की सत्ता, उन्नति और शान्तिपूर्ण व्यवस्था के लिये अत्यावश्यक है। यह राष्ट्रीयता राष्ट्र का प्राण है । नीतिवाक्यामृत मे कहा गया है—"अन्योऽन्यरक्षक खन्याकरद्रव्यनागधनवान् नातिवृद्धनातिहीनग्रामो बहुसारविचित्रधान्यहिरण्यपण्योत्पत्तेरदेवमातृक पशुमनुष्यहित श्रेणिशूद्रकर्षकप्राय इति जनपदस्य गुणा" (जनपदसमुद्देश–सू०८)

अर्थात्—राष्ट्र के गुण (राष्ट्रीयता) इस प्रकार हैं (१) राजा देश का रक्षक और देश राजा का रक्षक हो । (२) सुवर्ण आदि धातुओ की तथा गन्धक, नमक आदि द्रव्यो की खानो से युक्त हो । (३) रुपया आदि धन तथा हाथी आदि पशुधन से परिपूर्ण हो । (४) न अत्यधिक और न अति कम जनसख्यापूर्ण ग्रामो तथा नगरो से शोभित हो । (५) उत्तम पदार्थ, अन्न-सुवर्ण और व्यापार योग्य वस्तुओ से परिपूर्ण हो । (६) मेघजल की अपेक्षाहीन कृषिवाला हो अर्थात् रहट, विद्युत्पम्प आदि यन्त्रो से कृषिकार्य वाला हो, (७) मानव तथा पशुओ को सुखदायक हो । (८) कलाकार, कारीगर, श्रमिक, कृषक और विद्वान् व्यक्तियों मे शोभित हो ।

राज्य की परिभाषा

राष्ट्र की एकता, व्यवस्था, रक्षा और उन्नति का न्यायनीतिपूर्ण राज्य एक प्रबल आधार है । राज्य सार्वभौम होता है । "राज्ञ पृथ्वीपालनोचित कर्म राज्यम्" (नीतिवा पृ० ६३ सू०४)

अर्थात्–राजा के पृथ्वी की सुरक्षा एव उन्नति के योग्य कर्म (सन्धि विग्रह यान आसन सश्रय द्वैधीभाव) को राज्य कहते हैं । श्रीऋषभनाथ ने राज्य का आविष्कार करते हुए स्वय राष्ट्र का शासक बनकर सर्वप्रथम न्यायपूर्ण राज्य का आदर्श उपस्थित किया था। उन्होंने अपने राज्य मे सुरक्षा शान्ति न्यायविधि (कानून), स्वास्थ्य, शिक्षा, उद्योग, आवागमन, व्यापार, समाजकल्याण, पशुपालन, वनस्पतिविज्ञान आदि के आविष्कार द्वारा कृतयुग का वातावरण प्रारम्भ कर दिया था। इसके अतिरिक्त उन्होने समाज मे शासन करने योग्य मानवो को क्षत्रियवर्ग, अर्थविद्या एव कृषिकला मे प्रवीण मानवो को वैश्यवर्ग और श्रम तथा शिल्पकला में प्रवीण मानवो को प्रजावर्ग के नाम से विभाजित कर उनको अपने कर्त्तव्यो पर नियुक्त कर दिया था। अपना राज्यकाल

समाप्त कर ऋषभदेव ने उत्तरभारत का राज्य श्रीभरत चक्री को और दक्षिणभारत का राज्य श्री बाहुबलि को दे दिया था। चक्रेश भरत ने धार्मिक क्रियाकाण्ड एव शिक्षा देने मे प्रवीण विद्वान् व्यक्तियो को ब्राह्मणवर्ग के रूप मे घोषित किया और उनको धर्मशिक्षण के कार्य मे नियुक्त किया। राष्ट्र की यह श्रेष्ठ शासनव्यवस्था ही सतयुगी राज्य अथवा रामराज्य के नाम से विश्व मे विख्यात हो गई। वह राजपरम्परा आज तक चली आ रही है।

धार्मिकता का आविष्कार

राष्ट्र मे राष्ट्रीयता का आविष्कार करने के साथ ही सम्राट् ऋषभनाथ ने लोककल्याण एव आत्मकल्याण के लिये धार्मिक तत्त्वो का प्रचार किया। यत आत्मशुद्धि के लिये धर्मतत्त्वो का ज्ञान एव आचरण करना अत्यावश्यक है। धर्म का लक्षण है—

धर्म प्राणिदया सत्य क्षान्ति शौच वितृष्णता।
ज्ञानवैराग्यसम्पत्तिरधर्मस्तद्विपर्यय ॥१॥ आदिपुराण पर्व १०

अर्थात्—जीवदया, सत्य, क्षमा, मन शुद्धि, अपरिग्रह तथा ज्ञान और वैराग्य को धर्म कहते है। इससे विपरीत हिंसा, असत्य, राग, द्वेष, मोह आदि को अधर्म (पाप) कहते हैं। व्यक्तिगत आत्मशुद्धि का कारण होने से राज्य मे शान्ति एव नैतिक सभ्यता के लिए भी धर्मतत्त्वो की महती आवश्यकता है। अहिंसा सत्य अचौर्य ब्रह्मचर्य अपरिग्रह ये पच अणुव्रत अथवा पचशील रूप सिद्धान्त राष्ट्रीय एव अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और आध्यात्मिक उन्नति का मूल कारण हैं। वर्तमान की विश्वशांति, नि शस्त्रीकरण आदि अनेक समस्याओ का हल उक्त सिद्धान्त मे निहित है। आवश्यकता जनमानस मे इनके विकास करने की है। धार्मिकता के विस्तृत भेद इस प्रकार है १ अहिंसा २ सत्य ३ अचौर्य ४ ब्रह्मचर्य ५ अपरिग्रह ६ आत्मविश्वास ७ तत्त्वविज्ञान ८ सम्यक्चारित्र ९ क्षान्ति १० विनय ११ निष्कपटता १२ योगशुद्धि १३ सयम १४ तप—इच्छानिरोध १५ त्याग—दान १६ समताभाव १७ दर्शनविशुद्धि १८ व्रताचरण १९ स्वाध्याय २० विरागता २१ धर्मात्मा का सरक्षण २२ गुणीजनभक्ति २३ शास्त्रभक्ति २४ प्रायश्चित्त २५ प्रतिक्रमण २६ धार्मिक प्रचार २७ विश्वबन्धुत्व इत्यादि।

राष्ट्रीयता के विकास के साधन

असिर्मसि कृषिविद्या वाणिज्य शिल्पमेव वा।
कर्माणीमानि षोढा स्यु प्रजाजीवनहेतवे ॥ —आदिपुराण

अर्थात्—कर्मयुग के प्रारम्भकाल मे सम्राट् ऋषभनाथ ने प्रजा के जीवनसरक्षण के लिये छह प्रमुख साधनो का सर्वप्रथम आविष्कार किया था—(१) असि (२) मसि (३) कृषि (४) विद्या (५) वाणिज्य ६ शिल्पकला।

१ असि

सैनिक शिक्षा, व्यायाम, शस्त्रास्त्रसचालन, विविध खेल, आसनप्रयोग, प्राणायाम, धनुर्विद्या, अश्ववाहन, गजवाहन, रथवाहन, राष्ट्र की सुरक्षा के अन्य साधन आदि।



२ मसि

अ इ उ आदि ब्राह्मीलिपि, वर्तमान मे भारत की राष्ट्रभाषा हिन्दी की नागरीलिपि का लेखन, राज्यकार्यलेखन, शास्त्रलेखन, पत्र तथा विद्याओ का लेखन, चित्र तथा प्राकृतिक दृश्यो का लेखन, गणित की राशि एक से परार्ध तक मान, उन्मान, अवमान, प्रतिमान, बीजगणित, रेखागणित आदि गणितविद्या का लेखन।

इसके अतिरिक्त अठारह महालिपियो का लेखन—१ हसलिपि २ भूतलिपि ३ यक्षलिपि ४ यावनी ५ तुरकी ६ किरी ७ द्राविडी ८ सैन्धवी ९ मालवी १० नडी ११ नागरी १२ लाटी १३ पारसी १४ अनिमित्ति १५ चाणाकी १६ मीलदेवा १७ गक्समी १८ उड्डी। अथवा १ लाटी २ गौडी ३ डाहली ४ कानडी ५ गुजरी ६ सौरहठी ७ मरहठी ८ कौंकणी ९ खुरासानी १० मागधी ११ सिंहली १२ हाडी १३ कीडी १४ हम्मीरी १५ पारसी १६ मसी १७ मालवी १८ महायोधी—अहिंसावाणी ऋषभ वि० पृ० ८८।

३ कृषिविज्ञान

हल आदि कृषि के साधनो का प्रयोग, क्षेत्र की सुरक्षा, बैल आदि पशुओं का उपयोग, बीज का वपन, अन्न का उत्पादन, इक्षु का उत्पादन, फल, शाक आदि वनस्पतियों का उत्पादन, उद्यानो का निर्माण, कूप तथा जलाशयो का निर्माण, लतागृह इत्यादि।

४ विद्या (कला) का आविष्कार

पुरुष की बहत्तर कलाओ का पुरुषसमाज में प्रचार एव प्रसार होने से राष्ट्र की उन्नति होती है। लेखन, गणित आदि से लेकर शकुनिरुत पर्यन्त बहत्तर कलाए हैं।

श्रीआदिनाथपुराण के अनुसार कुमारी ब्राह्मी और सुन्दरी ने अपने पिता ऋषभदेव से नारियो की चौसठ-कलाओ का शिक्षण प्राप्त कर महिला समाज में उनका प्रचार किया था। वर्तमान युग मे भी नारियो को सुशिक्षित बनाना आवश्यक है यत नारीसमाज, मानवसमाज का प्रमुख अग एव मर्मभाग है।

५ वाणिज्यकर्म

राष्ट्र तथा समाज की दरिद्रता को दूर करने के लिये और मानव के जीवननिर्वाह के लिये अर्थ की आवश्यकता होती है तथा अर्थ की पूर्ति या आर्थिक उन्नति प्राय वाणिज्य एव व्यापार से होती है। अत गृहस्थ को न्यायपूर्वक व्यापार तथा वाणिज्य करना चाहिये। राजकीय मुद्रा (सिक्का) व्यापार का एक सरल माध्यम है, मापतौल के साधन भी माध्यम है। अत शासन के अनुकूल उनका उचित व्यवहार और प्रयोग करना आवश्यक है।

६ शिल्पकर्म

राष्ट्र की उचित व्यवस्था और मानवसमाज के जीवनव्यवहार के लिये शिल्पकर्म की आवश्यकता है। शिल्पकला अनेक प्रकार की होती है, जैसे कुम्हार की कला, लोहार की कला, रथकारकला, चित्रकला, वस्त्रकला, नाई की कला, गृहनिर्माणकला, मूर्तिकला, कुटीर उद्योग इत्यादि। वर्तमान मे वैज्ञानिक कला, तथा यन्त्रों का भी आश्चर्यजनक आविष्कार हुआ है जो प्राचीन शिल्पकला का ही विकास है। इससे राष्ट्र तथा समाज की उन्नति होती है।

धार्मिकता के विकास के साधन

कर्मयुग मे जिस प्रकार राष्ट्रीय लौकिक उन्नति के लिये असि मसि आदि छह कर्म कहे गये हैं उसी प्रकार आध्यात्मिक उन्नति के लिये भी भ० ऋषभदेव आदि तीर्थंकरो द्वारा छह साधन—षट्कर्म दर्शाये गये हैं। वे इस प्रकार हैं—

देवपूजा गुरूपास्ति स्वाध्याय सयमस्तप ।
दान चेति गृहस्थाना षट्कर्माणि दिने दिने ॥

अर्थात्—(१) जीवन्मुक्त आत्मा (अरिहन्त) एव परमात्मा (सिद्ध) के गुणो का श्रद्धापूर्वक स्मरण करना। (२) सच्चरित्र आचार्य, उपाध्याय, साधु तथा विद्वान् गुरुओं की सगति मे रहकर शिक्षा और सदाचार प्राप्त करना। (३) स्वाध्याय (शिक्षाप्रद ग्रथों का अध्ययन) करना तथा लेख कविता पुस्तक आदि के रूप मे साहित्य का निर्माण करना (४) सयम अर्थात् इन्द्रियों तथा मन पर विजय प्राप्त करने का अभ्यास करना और समस्त प्राणियो की सुरक्षा का यथाशक्ति प्रयत्न करना। (५) तप-क्रोध, मद, छल, तृष्णा इन चार विकारो को त्यागकर बढती हुई इच्छाओ को रोकने के लिये अनशन एकाशन रसत्याग आदि नियमों की साधना करना। (६) दान या त्याग-द्रव्य क्षेत्र, काल, भाव के अनुसार आवश्यक खाद्य वस्तु, ज्ञानप्राप्ति के साधन ग्रथ आदि, रोगविनाश के साधन औषध आदि, प्राणिरक्षा के साधन गृह

वस्त्र इत्यादि का त्याग करना) परोपकार करना, सेवा करना आत्मकल्याण के लिए धार्मिक कर्तव्यों का पालन करना।

धार्मिक तत्त्वों के साथ राष्ट्रीय तत्त्वों का समन्वय

राष्ट्र में राज्य का सचालक राजा या शासक होता है। राजा वह है जो धार्मिक एव राष्ट्रीय भावों का निर्विरोध समीकरण कर मानवसमाज एव प्राणिमात्र को निर्भय, सुखी, शान्त और व्यवस्थित कर दे, अपने राज्य को न्यायपूर्ण रामराज्य बना दे। राजा का लक्षण इस प्रकार कहा गया है—

"प्रतिपन्नप्रथमाश्रम परे ब्रह्मणि निष्णातमतिरुपासितगुरुकुल सम्यग्विद्यायामधीती कौमारवयोलकुर्वन् क्षत्रपुत्रो भवति ब्रह्मा" —नीतिवाक्यामृत

अर्थात्—ब्रह्मचर्याश्रमप्रविष्ट, ईश्वरभक्त, ब्रह्मचारी, गुरुकुल का उपासक, सकलराजविद्याकुशल, युवराज, क्षत्रियपुत्र राजा ब्रह्मा के समान गौरवशाली कहा जाता है। यदि शासक की आत्मा मे धर्म तत्त्व और राष्ट्रीय तत्त्व की समीकरण रूप भावना है तो प्रजा मे भी यही महत्त्वपूर्ण भावना रहती है जिससे राष्ट्र मे और अन्तर्राष्ट्र मे शान्ति तथा न्याय का शासन जीवित रहता है। धर्ममूलक शासन ही रामराज्य के नाम से प्रसिद्ध है। वर्तमान मे राष्ट्र के नेताओं को इधर ध्यान देना चाहिए।

प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव कर्मयुग के प्रथम समन्वयवादी शासक थे। इस विषय में महर्षि समन्तभद्राचार्य का कथन है—

प्रजापतिर्य प्रथम जिजीविषु शशास कृष्यादिषु कर्मसु प्रजा।
प्रबुद्धतत्त्व पुनरद्भुतोदयो, ममत्वतो निर्विविदे विदावर ॥२॥
—बृहत्स्वयम्भूस्तोत्र, श्लोक २

अर्थात्—प्राणिजीवन के सरक्षक जिन ऋषभदेव ने प्रजा के लिये कृषि आदि षट्कर्म का उपदेश दिया, पश्चात् विवेकबुद्धि से विश्व के तत्त्वों का परिज्ञान प्राप्त कर क्षणिक वैभव से मोह का त्याग कर दिया था।

सोलहवें तीर्थंकर श्रीशान्तिनाथ का समन्वयवाद इस भाति है—

चक्रेण य शत्रुभयकरेण जित्वा नृप सर्वनरेन्द्रचक्रम्।
समाधिचक्रेण पुनर्जिगाय महोदयो दुर्जयमोहचक्रम् ॥७७॥
— बृहत्स्वयम्भूस्तोत्र, श्लो० ७७

साराश—भगवान् शान्तिनाथ ने शत्रुओं को भयप्रद शासनचक्र से विरोधी राजसमूह को जीतने के पश्चात् आत्मध्यान रूपी चक्र से साधारण जनों के लिये अजेय मोहरूप चक्र को जीत लिया था।

इस प्रकार चौबीसो तीर्थंकरो के जीवन मे धर्मतत्त्व और राष्ट्रीय तत्त्व का, जीवन और मुक्ति का या प्रवृत्ति और निवृत्ति का समन्वय चमत्कारप्रद सिद्ध होता है।

जैन साहित्य मे गृहस्थ के लिए जो मगलकामना या शान्तिप्रार्थना करना आवश्यक कहा गया है उसके कुछ श्लोकों पर दृष्टिपात कीजिये—

सम्पूजकाना प्रतिपालकाना, यतीन्द्रसामान्यतपोधनानाम्।
देशस्य राष्ट्रस्य पुरस्य राज्ञ करोतु शान्ति भगवान् जिनेन्द्र ॥६॥
—शान्तिपाठ श्लोक, ६

अर्थात्—परमात्मा के आराधकों को, नेताओं, शासकों, सरक्षकों को, आचार्य एव साधुजनों को, जीवन मे शान्ति प्राप्त हो तथा राष्ट्र, देश, नगर को एव उनके राजा को सुख-शान्ति प्राप्त हो।



क्षेम सर्वप्रजाना प्रभवतु बलवान्धार्मिको भूमिपाल'
काले काले च सम्यक् विकिरतु मघवा व्याधयो यान्तु नाशम् ।
दुर्भिक्ष चौरमारी क्षणमपि जगता मास्म भूज्जीवलोके
जैनेन्द्र धर्मचक्र प्रभवतु सतत सर्वसौख्यप्रदायि ॥७॥ शा० पा०

जिनेन्द्र अर्चा के प्रभाव से विश्व के मानवो का कल्याण हो, शासकवर्ग न्यायी, धार्मिक एव प्रबल हो, समय पर उचित जलवृष्टि हो, रोगो का नाश हो, राष्ट्रो मे दुर्भिक्ष चोरी डकैती कभी न हो, सक्रामक रोग प्लेग, कालरा आदि का प्रसार न हो और विश्व मे शान्तिप्रद अहिंसा सत्य आदि सिद्धान्तो का चक्र सदैव चलता रहे ।

प्रध्वस्तघातिकर्माण केवलज्ञानभास्करा ।
कुर्वन्तु जगत शान्ति वृषभाद्या जिनेश्वरा ॥८॥ शा० पा०

अर्थात्—कर्ममलरहित, केवलज्ञान से तेजस्वी, ऋषभदेव आदि चौबीस तीर्थंकर विश्व को शान्ति प्रदान करें।

धार्मिकता और राष्ट्रीयता के सामजस्य के विषय मे वैदिकग्रन्थो का समर्थन निम्न प्रकार है—

प्रहृष्टमुदितो लोकस्तुष्ट पुष्ट सुधार्मिक । निरामयो ह्यरोगश्च दुर्भिक्षभयवर्जित ॥
नगराणि च राष्ट्राणि धनधान्ययुतानि च । नित्य प्रमुदिता सर्वे यथा कृतयुगे तथा ॥
—मूलरामायण श्लो० ९०-९३

साराश—श्रीरामचन्द्र के राज्य मे मानव हृष्ट-पुष्ट सन्तुष्ट धर्मात्मा मानसिक तथा शारीरिक रोगो से रहित और अकाल के भय से रहित थे । ग्राम, नगर और राष्ट्र धनधान्य आदि से परिपूर्ण थे । सब प्राणी सत्ययुग के समान त्रेतायुग मे भी आनन्दित थे ।

शीलेन हि त्रयो लोका शक्या जेतु न सशय ।
न हि किञ्चिदसाध्य वै, लोके शीलवता भवेत् ॥१५॥
एकरात्रेण मान्धाता, त्र्यहेण जनमेजय ।
सप्तरात्रेण नाभाग पृथिवी प्रतिपेदिरे ॥१६॥
एते हि पार्थिवास्सर्वे, शीलवन्तो दयान्विता ।
अस्तेषा गुणक्रीता, वसुधा स्वयममागता ॥१७॥
—महाभारत-शीलनिरूपणाध्याय

भावार्थ—शील (श्रेष्ठ स्वभाव, अहिंसा, आदि) से तीन लोक के राज्य पर भी विजय प्राप्त हो सकती है, इसमे कोई सन्देह नही है । शीलवान् पुरुषो को लोक मे कोई वस्तु या कार्य असाध्य नही है। राजा मान्धाता ने एक दिन मे, जनमेजय राजा ने तीन दिन मे और नाभाग नृप ने सात दिन मे पृथिवी का राज्य प्राप्त कर लिया था । ये सब राजा शीलवान् और दयालु थे इसलिये अपने गुणो के द्वारा उन्होने पृथ्वी का राज्य विशेष प्रयत्न के बिना ही प्राप्त कर लिया था ।

प्रजाना विनयाधानाद् रक्षणाद् भरणादपि । स पिता पितरस्तासा, केवल जन्महेतव ॥
स्थित्यैदण्डयतो दण्डयान् परिणेतु प्रसूतये । अप्यर्थकामौ तस्यास्ता धर्म एव मनीषिण ॥
—रघुवश प्र० स० श्लो० २४-२५

अर्थात्—प्रजा का नम्रता सदाचार आदि की शिक्षा देने मे, आपत्तियो मे रक्षा करने मे और अन्न-जल आदि के द्वारा पालन करने मे राजा दिलीप ही वास्तव मे प्रजा का पिता था । प्रजा के पिता तो केवल जन्मदाता ही थे ।

मानवजन की रक्षा के लिये अपराधियों को अनुरूप दण्ड देने वाले, तथा केवल पुत्रोत्पत्ति के लिये विवाह करने वाले, विद्वान् राजा दिलीप के अर्थ और काम पुरुषार्थ धर्मपूरक ही हुए थे अर्थात् महाराज दिलीप का राज्य धर्मपूरक था। यह ही रामराज्य का प्रथम चरण है।

राष्ट्रपिता म० गांधी के जीवन में धार्मिकता और राष्ट्रीयता का गहरा समन्वय था। देखिये उन महात्मा के महान् विचार—'अगर मुझमें स्वदेशी भावना है तो धर्म के विषय में मैं अपने पूर्वजों के धर्म पर ही डटा रहूँगा। इसी से अपनी पड़ोसी धार्मिक परिस्थिति का उपयोग करता हूँ। अगर मुझे उसमें कोई खामी दिखाई दे तो उसे दूर करके मुझे अपने धर्म की सेवा करनी चाहिये। राजनीतिक क्षेत्र में भी मुझे देशी संस्थाओं का ही उपयोग करना चाहिये। अगर आदमी स्वदेशी भावना के अनुसार आचरण करे तो दुनिया में सतयुग उतर आ जायगा।

—आत्मकथा, परिशिष्ट ग

राजनीति ने म० गान्धी को अहिंसा के प्रयोग एवं प्रचार के लिये ही प्रश्रय और व्यापक क्षेत्र प्रदान किये हैं अतः उन्होंने अपने प्रधान आदर्श अहिंसा की सिद्धि के लिये ही राजनीति में प्रवेश किया था। इसमें उनका कोई दूसरा लगाव नहीं था।

"जब तक धार्मिकता का उदय नहीं होता तब तक देश का विकास, आन्तरिक रक्षा एवं निर्भयता नहीं हो सकती। राष्ट्र में धार्मिकता का निर्माण आवश्यक ही नहीं अनिवार्य है।"

—विनोबा भावे, प्रार्थनाप्रवचन, इंदौर, दि० ८-१-५६

"भारत के अन्य देशों की शिक्षा का लक्ष्य उद्देश्य हो सकता है किन्तु ऋषि-मुनियों की आध्यात्मिकता की ओर ले जाना ही यहां की शिक्षा का प्रधान उद्देश्य रहा है और यही होना भी चाहिये।'

—डा० सर राधाकृष्णन, भाषण, कलकत्ता ३०-९-४८

"मतभेदों को दूर करने के लिये युद्ध करना या युद्ध बढ़ाना मानवता के हित में नहीं। आज देश देश के बीच का अन्तर समाप्त हो गया है और उन्नतिशील समाज में ही आज के राष्ट्र की सुरक्षा है।"

—अमेरिकी राष्ट्रपति आइजन हावर, देहली दिसम्बर सन् ५९

धार्मिक तत्त्वों की राष्ट्रीय क्षेत्र में उपयोगिता

जिन उपयोगी धार्मिक तत्त्वों ने भारतीय राष्ट्रीयता को उन्नत करने में तथा भारतीय स्वतन्त्रता को प्राप्त कराने में सहयोग और आश्रय प्रदान किया वे इस प्रकार हैं—(१) अहिंसा (२) क्षमा (३) त्याग (४) सत्याग्रह (५) राष्ट्र अनुराग (६) स्वावलम्बन (७) ब्रह्मचर्य (८) अचौर्य (९) निर्भयता (१०) विश्वप्रेम (११) हिंसा-जनित विदेशी वस्तु का त्याग (१२) अनशन (१३) भ्रातृप्रेम (१४) मनन (१५) सदाचरण (१६) सेवा, (१७) साम्यवाद (१८) न्याय (१९) नैतिक शिक्षा (२०) अपरिग्रह (२१) स्याद्वाद (२२) विनय (२३) वस्तुविज्ञान (२४) आत्मविश्वास (२५) निष्पक्षता (२६) पंच अणुव्रत अथवा पंचशील।

समन्वयशील शासनपरम्परा

पुराण और इतिहास कहते हैं कि इस वसुन्धरा पर दस बीस नहीं किन्तु सैकड़ों राजा, सम्राट् चक्रवर्ती आदि शासक अपना अमर यश छोड़ गये हैं जिन्होंने धार्मिकता और राजनीति का सर्वोच्च सामञ्जस्य कर रामराज्य का आदर्श उपस्थित किया था। उनमें कुछ चमकते हुए हीरे इस प्रकार हैं।

श्री ऋषभनाथ से श्री महावीर पर्यन्त चौबीस तीर्थङ्कर, भरत आदि १२ चक्रवर्ती, रामचन्द्र आदि नव बलभद्र, लक्ष्मण आदि नव नारायण, श्री बाहुबली आदि २४ कामदेव प्रभृति महापुरुष। म० महावीर तथा महात्मा बुद्ध के समय के प्रभावित शासकगण के कुछ देदीप्यमान नक्षत्र ये हैं —

लिच्छविवंशीय जैनवीर—राजा चेटक, सेनापति सिंह। इक्ष्वाकुवंशी गौतमस्वामी गणेश। सूर्यवंशी—राजा दशरथ आदि। शिशुनागवंशी—श्रेणिक, बिम्बसार, अभयकुमार, कूणिक आदि। मौर्यवंशी—सम्राट् चन्द्रगुप्त, अशोक, सम्प्रति आदि। चेदिवंशी—सम्राट् खारवेल, सम्राट् महामेघवाहन। आन्ध्रवंशी—सम्राट् विक्रमादित्य, सातकर्णी, हाल



चालुक्यवंशी - कीर्ति वर्मा, विजयादित्य आदि १६ महाराजा । राठौरवंशी—सम्राट् - अमोघवर्ष, साहसतुंग, कृष्ण-राज आदि ६ नृप। सोलंकी वीर— भीम, कर्ण, सिद्धराज, कुमारपाल आदि। परिहारवंशी—राजा भोज, तोमर कीर्ति-सिंह ग्वालियर। परमारवंशी—राजा भोज, शुभचन्द्र, यशोवर्मा। बुन्देल वीर—महाराज छत्रसाल आदि। ब्रह्मक्षत्रवंशी महाराज चामुण्डराय आदि। राजस्थान के वीर—दानवीर भामाशाह, विमलशाह तोलाशाह, कर्माशाह, आशाशाह, दयालदान, करमचन्द्र आदि। (वीर-जैनवीरांक, वर्ष ११)

आधुनिक समस्याओं का समन्वयात्मक समाधान

वर्तमान राष्ट्रों के समक्ष आज कुछ जटिल समस्याएं है जिनका पूर्ण समाधान करने में सभी राष्ट्र उलझे हुए हैं। अभी तक उनका कोई समुचित समाधान नहीं प्राप्त हो रहा है। विश्व की और विशेषतया भारतीय समस्याओं का समाधान धर्म-तत्त्वों और राष्ट्रीय तत्त्वों के उचित समन्वय से ही सम्भव है। किन्तु इस तथ्य को भुलाया जा रहा है। आधुनिक लोग विज्ञान को वरदान मानकर उसी के सहारे इन समस्याओं को सुलझाने का प्रयत्न करते है किन्तु जिस विज्ञान ने समस्याओं को उलझाया है वही कैसे सुलझा सकता है? हम यहां कुछ समस्याएं और उनका समन्वयात्मक समाधान प्रस्तुत कर रहे है जिससे हमारा आशय अधिक स्पष्टता से समझा जा सकता है—

क्रम	राष्ट्रीय समस्याएं	समन्वयात्मक समाधान
१.	जनसंख्यावृद्धिनिरोध	ब्रह्मचर्यव्रत, संयम, शृंगारत्याग, परिवारनियोजन।
२	अन्नोत्पादन	शाकाहार, शुद्धाहार, एकाशन, उपवास, कृषिकला, यन्त्रप्रयोग, वनस्पति उत्पादन, पशुरक्षण आदि।
३	देशरक्षा	पराक्रम, मैत्रीभाव, पंचशील, शान्तिसेना, सैनिकशिक्षा।
४	सुवर्णनियंत्रण	परिग्रहपरिमाण, सन्तोष, आभूषणशृंगारत्यागादि।
५	विश्वयुद्धशान्ति	अहिंसा, सत्य, निःशस्त्रीकरण, मदलोभत्याग, आदि।
३	साम्प्रदायिकतानिरोध	अनेकान्तवाद, स्याद्वाद, समता, क्षमा, सहयोग।
७	समाजसुधार	साम्यभाव, सर्वोदय, धार्मिकशिक्षा, मित्रता, सेवा।
८	दहेजप्रथानिरोध	आदर्श धार्मिक विवाह, सामूहिक विवाह सहयोगादि।
९.	चोरी डकैतीनिरोध	अचौर्याणुव्रत, शिक्षा, उद्योग, सन्तोष, समाजवाद।
१०	भ्रष्टाचार, घूसखोरी निरोध	सदाचार, सत्य सन्तोष, सेवा, अनुशासन, न्यायादि।
११	गुण्डाशाही निरोध	सदाचार, मूलगुणसेवा, व्यसनत्याग, दया, शासनसहयोग।
१२	मांसाहार-मद्यनिषेध	शाकाहार, मूलगुणसेवा, व्यसनत्याग, उच्चविचार, दया।
१३	बेकारी, गरीबी निरोध	अर्थशिक्षण, कुटीरउद्योग, हस्तकला, क्राफ्ट, समयोपयोग, मितव्ययिता।

उपसंहार

कला बहत्तर पुरुष की तामें दो सरदार।
एक जीव की जीविका दूजे जीव उद्धार ॥१॥ —कविवर द्यानतराय

आत्मा की उन्नति धार्मिक तत्त्वों से और जीवन की उन्नति राष्ट्रीय तत्त्वों से होती है। ये दोनों विधाएं सब कलाओं में श्रेष्ठ हैं। धार्मिकता और राष्ट्रीयता की उन्नति एकांगी पुरुषार्थ से सम्भव नहीं है। उक्त दोनों तत्त्वों का समन्वयरूप पौरुष ही उन्नति का प्रबल साधन है। उसी की जीवन में आवश्यकता है। वह सर्वांगीण पुरुषार्थ ही व्यक्ति, समाज और विश्व के विकास, तथा उत्कर्ष का नेता है।

●

परोपकार की भूमिकाएं



ले० डॉ० इंद्रचंद्र शास्त्री,
एम ए, पी-एच डी वेदान्तवारिधि, शास्त्राचार्य,
दिल्ली

दूसरों के साथ हमारा सम्बन्ध तीन श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है — १ हिंसामूलक, २ विनिमयमूलक, ३ प्रेममूलक। हिंसामूलक सम्बन्ध में हमारा ध्यान अपने अधिकार और दूसरों के कर्तव्य पर रहता है। दोनों की व्याख्या हम अपने स्वार्थ एवं निरंकुश अहंकार की तृप्ति को लक्ष्य में रखकर करते हैं। इसका कोई शाश्वत या तटस्थ आधार नहीं होता। राजनीति में सैनिक-विजय को अधिकार का न्यायपूर्ण आधार माना गया है। बताने की आवश्यकता नहीं है कि इस विजय का कारण केवल रणकौशल या वीरता नहीं होता। मिथ्या प्रचार, छल-कपट, विश्वास-घात, विषप्रयोग, आर्थिक एवं चाटुकारितापूर्ण प्रलोभन, सभी इसके अन्तर्गत हैं। यहां हार जाना ही सबसे बड़ा अपराध तथा पाप है। युद्धों का इतिहास यह बताता है कि सारा दोष पराजित पर मढ़ दिया गया। प्रत्येक विजेता राम बन गया और पराजित रावण।

सामाजिक सम्बन्ध का दूसरा रूप विनिमय है। जब एक व्यक्ति यह देखता है कि वह बल-प्रयोग द्वारा स्वार्थ सिद्ध नहीं कर सकता तो दूसरे के साथ समझौता करता है। दोनों विनिमय द्वारा एक-दूसरे की स्वार्थपूर्ति करते हैं। प्रथम प्रकार में प्रतिदान के लिए स्थान नहीं है। किन्तु यहां यह आवश्यक है। फिर भी दृष्टि अधिकार पर रहती है। कोई पक्ष दूसरे की विवशता से लाभ उठाने में नहीं हिचकिचाता। जब कोई वस्तु दुर्लभ हो जाती है तो व्यापारी अधिकाधिक लाभ उठाना अपना अधिकार मानता है। इतना ही नहीं कृत्रिम अभाव खड़ा करने का प्रयत्न भी करता है। इन सब बातों को व्यापारकौशल कहता है। इसमें और चोर में इतना ही अन्तर रहता है कि वह राजदण्ड से बच जाता है और चोर नहीं बच पाता। इस बचाव के लिए राजनीतिक अधिकारियों को प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में रिश्वत देना व्यापार की नैतिकसंहिता में अपराध नहीं माना जाता।

अधिकतर विनिमय-मूलक सम्बन्ध का पर्यवसान हिंसा में होता है। कहीं प्रत्यक्ष हिंसा होने लगती है और कहीं अप्रत्यक्ष। धनवान संकटग्रस्त मजदूर को ऋण देने के लिए उसका घर गिरवी रख लेता है। सूद की अत्यधिक दर होने पर भी वह दावा करता है कि मैंने संकट में गरीब की सहायता की। परिस्थितिवश मजदूर समय पर ऋण नहीं चुका पाता। व्यापारी उसके घर को नीलाम कर देता है और उसके बाल-बच्चे भीख मांगने एवं सर्दी में ठिठुरने के लिए विवश हो जाते हैं। धनवान इस व्यवहार को अन्याय या हिंसा नहीं मानता। क्योंकि कानून उस पर औचित्य की मोहर लगा देता है।

एक बात और है। वस्तु अपने आप में मूल्यांकन का आधार नहीं होती। इसका आधार एक ओर हमारी आवश्यकता और दूसरी ओर वस्तु की दुर्लभता होती है। जहां स्वाभाविक आवश्यकता नहीं होती वहां कृत्रिम आवश्यकता उत्पन्न की जाती है। इसके लिए विलासिता, जिह्वालोलुपता, अहंकार आदि वृत्तियों को उभारा जाता है। इसी प्रकार स्वाभाविक दुर्लभता न होने पर कृत्रिम दुर्लभता उत्पन्न की जाती है।

ये सब हिंसात्मक उपाय विनिमय-मूलक सम्बन्ध के अवश्यम्भावी परिणाम हैं। कहीं-कहीं विनिमय प्रेम में परिणत हो जाता है। वहां दोनों पक्ष अपने स्वार्थ के साथ दूसरे के स्वार्थ का भी ध्यान रखते हैं। और इसकी मात्रा ज्यों-ज्यों बढ़ती है, विनिमय प्रेम में बदलता जाता है। मालिक और नौकर का सम्बन्ध प्रारम्भ में विनिमयमूलक होता है,



किन्तु यदि दोनो एक-दूसरे की आवश्यकता एव सुखदुख का ध्यान रखते है तो वह प्रेम का रूप ले लेता है। ऐसी स्थिति मे दोनो की दृष्टि अपने-अपने अधिकार को छोडकर वर्त्तव्य पर रहने लगती है। वहाँ स्वामी और सेवक, छोटे और वडे की भावना समाप्तप्राय हो जाती है।

तीसरा प्रकार प्रेममूलक सम्वन्धो का है। इनमे व्यक्ति का ध्यान अपने कर्त्तव्य और दूसरे के अधिकार पर रहता है। वह अधिक से अधिक देना चाहता है, किन्तु वदले मे कुछ नही मांगता। प्रेमपात्र का सुख ही उसका सुख हो जाता है और प्रेमपात्र की प्रसन्नता उसकी प्रसन्नता वन जाती है। हिंसा एव विनिमयमूलक सवधो मे पद-पद पर कटुता एव समस्याए खडी होती रहती है। किन्तु यहाँ वे अपने आप समाधान खोज लेती है। इतना ही नही कष्ट भी सुख देने लगते है। उलझनें मनोरजन वन जाती है और सघर्ष क्रीडा का रूप ले लेता है।

जव हमारा आकर्षण व्यक्ति के प्रति होता है तो उसे प्रेम कहा जाता है। और जव दूसरे की आवश्यकता, सकट या अभाव को ध्यान में रखकर कुछ किया जाता है तो उसे परोपकार कहते हैं। हमे प्रेमपात्र का सहवास अच्छा लगता है। अधिकतर प्रयत्न इसी सुख को लक्ष्य मे रखकर किए जाते है, किन्तु परोपकार में यह इच्छा भी नही रहती।

वौद्धो की महायान शाखा में परोपकार के स्थान पर करुणा शब्द आया है। वहा इसकी तीन श्रेणिया वताई गई हैं।

(१) स्वार्थमूला—जहा प्रेम या सहायता का आधार वास्तविक या सभावित स्वार्थपूर्ति होता है, उसे स्वार्थमूला करुणा कहा जाता है। माता-पिता सतान का पालन इस आशा से करते है कि वह उन्हें भविष्य मे सुख देगी। पति-पत्नी आदि का सवध भी प्रारभ मे इसी प्रकार का होता है।

(२) सहेतुकी—इसका अर्थ है वैयक्तिक स्वार्थ न होने पर भी दूसरे को कष्ट मे देखकर उसकी सहायता करना। हम किसी व्यक्ति को रोग, अभाव या अन्य कष्ट के कारण दुखी अवस्था मे देखते है। उसका साक्षात्कार हमारी चेतना मे एक प्रकार की व्याकुलता उत्पन्न कर देता है और इस वेचैनी को दूर करने के लिए हम उसकी यथाशक्ति सहायता करते हैं। हम यह अनुभव करते है कि हमारा प्रयत्न किसी के कष्ट को दूर या न्यून करने मे सहायक सिद्ध हुआ। यह अनुभूति सात्विक सुख प्रदान करती है। इस करुणा या उपकारवृत्ति का जन्म दूसरे के कष्ट से होता है। इसीलिए इसे सहेतुकी कहा जाता है।

(३) अहेतुकी—जहा परोपकार का आधार न कोई स्वार्थ होता है और न दूसरे का कष्ट, उसे अहेतुकी करुणा कहा जाता है। इसकी उपमा वादलो से दी जाती है। वे सर्वत्र वरसते हैं। इस वात का विवेक नही करते कि यह सूखी मरुभूमि है, हरा-भरा वन या समुद्र। वरसना उनका स्वभाव होता है। भगवान् बुद्ध की करुणा इसी प्रकार की वताई गई है। दूसरो के उद्धार के लिए प्रयत्न करना उनका स्वभाव होता है। इसके लिए वे पात्रापात्र का विवेक नही करते।

वौद्ध साधना मे दस पारमिताए वताई गई हैं। पारमिता का अर्थ है उत्कृष्टता। वोधिसत्व अर्थात् वह व्यक्ति जिसके मन मे बुद्ध वनने की भावना जाग उठी है, अपने जीवन मे गुणो का सचय करता है। प्रत्येक गुण अपनी चरम अवस्था मे पहुचकर पारमिता वन जाता है। सवसे पहली दानपारमिता है। इसकी तीन शर्तें है —

(१) वोधिसत्व अपना सर्वस्व दूसरो के हित मे लगा देता है, अपने लिए कुछ नही रखता। धनसपत्ति ही नही अपने शरीर एव सुख को भी दूसरो का कष्ट मिटाने के लिए अर्पित कर देता है। बुद्ध के लिए कहा जाता है कि वोधि प्राप्त कर लेने पर उनमे सासारिक दु खो से छुटकारा प्राप्त करने की योग्यता आ जाती है। निर्वाण द्वारा वे समस्त वधनो से मुक्त हो सकते हैं। फिर भी उस निष्क्रिय अवस्था को स्वीकार नहीं करते। उनके मन मे यह भावना जाग्रत होती है कि जव तक दूसरे प्राणी दु ख भोग रहे हैं, मै सुखी कैसे हो सकता हूँ। दूसरो के दु ख को ही वे अपना दु ख मान लेते है और उसके लिए निर्वाण को स्थगित कर देते है और जानवूझकर जन्म-मरण के चक्र मे पडे रहते हैं।

(२) दान-पारमिता की दूसरी शर्त है बदले में कुछ न चाहना। वहां देना ही स्वार्थ बन जाता है।

(३) तीसरी शर्त है क्षेत्र की असीमता। बोधिसत्व अपना सर्वस्व अर्पित करते समय क्षेत्र की मर्यादा नहीं रखता। प्रत्येक प्राणी उसके दान का अधिकारी होता है।

दानपारमिता के इसी रूप को शून्य-भावना कहा जाता है। जहां साधक अपने-आपको शून्य में मिला देता है। वेदान्त में यही तथ्य दूसरे शब्दों में उपस्थित किया जाता है। वहां स्व इतना विस्तृत हो जाता है कि पर कुछ नहीं रहता। स्व और पर का भेद समाप्त हो जाता है। ऐसी स्थिति में अर्पण का प्रश्न ही नहीं होता। केवल इतना ही अन्तर है कि समस्त प्रवृत्तियों का केन्द्रबिंदु संकुचित 'स्व' न होकर सर्वग्राही 'स्व' हो जाता है।

भर्तृहरि ने मनुष्यों को चार कोटियों में विभक्त किया है—

१ सत्पुरुष—वे लोग, जो स्वार्थ छोड़कर दूसरे का हितसाधन करते हैं।

२ सामान्यजन—जो स्वार्थ को क्षति न पहुंचाते हुए परहित-साधन करते हैं।

३ मानव-राक्षस — जो स्वार्थ के लिए दूसरे को हानि पहुंचाते हैं।

४ पशु-राक्षस जो बिना स्वार्थ के दूसरे को हानि पहुंचाते हैं।

भर्तृहरि ने चौथी कोटि के लिए कोई नाम नहीं दिया। ऐसे व्यक्तियों के लिए 'ते के न जानीमहे' कहकर छोड़ दिया है।

उपर्युक्त चार कोटियों में से प्रथम दो परोपकार में आती हैं और अन्तिम दो स्वार्थ या पर-पीडन में। इनके साथ एक कोटि और जोड़ी जा सकती है और वह उन लोगों की है, जो स्वयं हानि उठाकर भी दूसरों को हानि पहुंचाना चाहते हैं, उसे 'उन्मत्त-राक्षस' कहा जायेगा।

अहिंसा की दृष्टि से परोपकार की भूमिकाएं

अहिंसा या हिंसा के आधार पर भी परोपकार की कई श्रेणियां हो सकती हैं। हिंसा के तीन आधार हैं—

(क) स्वार्थवृत्ति—किसी स्वार्थ से प्रेरित होकर दूसरे को हानि पहुंचाना।

(ख) क्रूरता—स्वार्थ न होने पर भी दूसरे को हानि पहुंचाना।

(ग) अपराध—हिंस्य का अपराधी या निरपराध होना।

(१) हिंसा की दृष्टि से निम्नतम भूमिका उन व्यक्तियों की है जो स्वयं हानि उठाकर भी दूसरे को हानि पहुंचाना चाहते हैं। उनकी वृत्तियां इतनी क्रूर होती हैं कि दूसरे को कष्ट में देखकर आनन्द आता है। वे निजी स्वार्थ के न होने पर भी दूसरे को हानि पहुंचाना चाहते हैं। इतना ही नहीं, उसके लिए हानि उठाने को भी तैयार रहते हैं। क्रोध या द्वेषबुद्धि उनकी चेतना को अभिभूत कर लेती है। ऐसे व्यक्तियों को विक्षिप्त या उन्मत्त कहा जायगा। उनकी विवेकशक्ति सर्वथा लुप्त हो जाती है। दूसरे की हानि तो दूर रही, वे अपनी हानि भी नहीं देखते।

(२) दूसरी कोटि उन व्यक्तियों की है जो प्रयोजन न होने पर भी दूसरे को हानि पहुंचाना चाहते हैं किन्तु उसके लिए स्वयं हानि उठाने को तैयार नहीं हैं। ऐसे व्यक्तियों में क्रूर-वृत्ति होने पर भी चेतना का सर्वथा लोप नहीं होता। दूसरे को कष्ट देकर उनका मनोरंजन होता है किन्तु उसके लिए स्वयं कष्ट नहीं उठाना चाहते।

(३) तीसरी कोटि उन व्यक्तियों की है जो दूसरे को बिना स्वार्थ हानि नहीं पहुंचाते किन्तु स्वार्थ के लिए निरपराध होने पर भी हानि पहुंचाने में नहीं झिझकते। ऐसे व्यक्ति प्रायः अर्थलोलुप होते हैं। उनकी चेतना पर लोभ-वृत्ति छाई रहती है। प्रत्येक प्रवृत्ति में उसी की प्रेरणा रहती है।





(४) चौथी कोटि उन व्यक्तियो की है जो स्वार्थ या प्रयोजन होने पर भी निरपराध को हानि नही पहुचाते किन्तु अपराध का बदला लेना अपना कर्त्तव्य समझते हैं। जैन दृष्टि मे यह भूमिका श्रावक की है जो सभ्य नागरिक होता है।

(५) पाचवी कोटि उन व्यक्तियो की है जो अपराधी को भी क्षमा कर देते है।

(६) छठी कोटि उनकी है जो अपराधी के कल्याण की कामना करते हैं किन्तु उसके लिए स्वय हानि उठाने को या स्वार्थ छोडने को तैयार नही होते।

(७) सातवी कोटि उनकी है जो स्वय हानि उठाकर भी दूसरे का कल्याण करना चाहते है।

स्वार्थ एव परोपकार तथा उसके तारतम्य का निणय नीचे लिखे चार तत्वो से होता है

(१) क्षेत्र की व्यापकता

(२) त्याग-वृत्ति

(३) उद्देश्य की पवित्रता

(४) परिणाम की मगलमयता

१ क्षेत्र की व्यापकता

पर-हित का क्षेत्र जितना व्यापक होगा परोपकार मे उतनी ही उत्कृष्टता आती जायगी। जब वही क्षेत्र बढते-बढते अखिल विश्व तक पहुच जाता है, तो परमार्थ बन जाता है। इसका प्रारभ कुटुम्ब मे होता है, अर्थात् व्यक्ति जब निजी सुख-दु ख एव इच्छाओ को भूल कर उन्हे अपने परिवार के सुख-दु ख के साथ मिला देता है, परिवार के सुख मे सुखी तथा उसके दु ख मे दु खी होने लगता है, यह परार्थ की ओर पहला कदम है। मानवशास्त्रियो का कथन है कि मनुष्य मे इतनी भी परोपकार वृत्ति न होती तो वह कभी का नष्ट हो गया होता। उसने यह पाठ जीवन एव अस्तित्व के रक्षण के लिए सघर्ष करते हुए सीखा है। अत त्यागवृत्ति के स्थान पर स्वार्थ की भावना अधिक है।

परिवार से आगे बढकर मनुष्य वश या कुल तक जाता है। पुरानी असभ्य जातियो मे अपने वश या कुल तक तो परस्पर परोपकार एव सहानुभूति की भावना रहती थी, परन्तु उस परिधि से बाहर उत्पीडन की। परिणाम-स्वरूप विभिन्न कुलो मे परस्पर युद्ध होते रहते थे और विजेता कुल विजित कुल को समाप्त कर देता था। इस प्रकार का परोपकार कुल-धर्म होने पर भी आध्यात्मिक धर्म या पुण्य की कोटि मे नही आता, क्योंकि वह क्षेत्र की दृष्टि से सकुचित तथा परिणाम की दृष्टि मे अमगल है।

कुलो मे आगे बढकर मनुष्य ने जाति, धर्म, राष्ट्र या ऐसी अन्य परिधियों तक परोपकारी और उनके बाहर स्वार्थी बनकर रहना सीखा। यहूदी धर्म म पाप और पुण्य की परिभाषा भी इसी प्रकार है। एक यहूदी यदि दूसरे यहूदी पर अत्याचार करता है, तो वह पाप है, किन्तु उस परिधि के बाहर किसी को लूटना-मारना, स्त्रियो पर बलात्कार करना या अन्य किसी प्रकार अत्याचार करना पाप नही है। ईसाई तथा मुसलमान धर्मों ने सिद्धान्त रूप मे तो विश्व-बधुत्व को आदर्श माना, किन्तु व्यवहार मे अपने-अपने धर्म की परिधि से बाहर अत्याचार करने मे पाप नही माना। आर्यो ने भी प्रारम्भ मे भारत के आदिवासियो के साथ ऐसा ही व्यवहार किया। भारत मे धर्म की परिधि का प्रभाव अभी तक विद्यमान है। राष्ट्रीय परिधियों का प्रभाव तो सारे विश्व को घेरे हुए है और वही विभिन्न राष्ट्रो मे गुटबदी, परस्पर भय एव युद्ध की विभीषिका का कारण बना हुआ है।

क्षेत्र की दृष्टि से परोपकार का सर्वोत्कृष्ट रूप विश्व-मैत्री है। उपनिषदो ने समस्त चराचर-जगत का आधार-भूत एक तत्त्व बताया और प्रत्येक व्यक्ति से कहा—तू वही है (तत्त्वमसि)। इस प्रकार सार्वभौम एकता का सदेश दिया। बौद्ध एव जैन-परपरा ने उसी तत्त्व को विश्व-मैत्री के रूप में उपस्थित किया। ईसामसीह का जो सदेश पर्वतीय प्रवचन

(Sermon on the mount) में लिखा है, वह भी इसी कोटि का है। बुद्ध, महावीर, ईसामसीह आदि कुछ विरले पुरुषों ने इस महान् आदर्श को जीवन में कर भी बताया।

ज्यों-ज्यों विकास के साथ परोपकार श्रेष्ठ तथा उदात्त होता जाता है। किन्तु स्वार्थ निम्न से निम्नतर होता जाता है। प्राचीन समय में तैमूरलंग, नादिरशाह आदि बहुत से आततायियों ने व्यापक रूप से लूटमार की और विश्व के लिए समस्या बने। जब व्यक्ति की पाशविक वृत्ति को धर्म का समर्थन मिल जाता है, तो वह और भी क्रूर हो जाती है। धर्म-युद्ध के नाम से संसार में जो अत्याचार हुए हैं वे इसका उदाहरण हैं। यहाँ स्वार्थ का अभिप्राय जानने की आवश्यकता है। जहाँ तक भौतिक आवश्यकताओं या साधारण आकांक्षाओं की पूर्ति का प्रश्न है, उन्हें स्वार्थ कहा जा सकता है। किन्तु जब व्यक्ति की उद्दाम लिप्सा सब सीमाओं को पार कर उच्छृंखल बन जाती है, जब वह केवल अपना आतंक जमाने, दूसरों पर प्रभुत्व स्थापित करने, दूसरों के न्यायोचित अधिकार को छीनने के लिए अत्याचार करता है तो वह स्वार्थ की सीमा में नहीं रहता और भर्तृहरि द्वारा प्रतिपादित चौथी कोटि में आता है। अमेरिका ने हिरोशिमा तथा नागासाकी पर अणु-बम गिराकर जो लाखों निर्दोष व्यक्तियों को भस्म कर डाला उसे भी इसी कोटि में रखा जायेगा। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिज्ञों का मत है कि जापान उससे पहले ही पराजय स्वीकार कर चुका था, किन्तु अमरीकी वैज्ञानिक और राजनीतिज्ञ अपने नए आविष्कार का प्रयोग करना चाहते थे, उसके लिए उन्होंने एक पराजित राष्ट्र को चुना जिसके जीवन का उनकी दृष्टि में कोई मूल्य न था।

त्यागवृत्ति

परोपकार का दूसरा तत्त्व त्याग-वृत्ति है। अपने सुख तथा स्वार्थ को छोड़ने की भावना जितनी प्रबल होगी, परोपकार उतना ही उच्च कोटि का माना जायेगा। विभिन्न धर्मों में त्याग का उपदेश दिया गया है। साथ ही फल का प्रलोभन भी। इस जन्म में दान देने से अगले जन्म में सैकड़ों गुना धन प्राप्त होगा। इस जन्म में काम-भोगों का त्याग करने से स्वर्ग में अप्सराएं मिलेंगी। इस्लाम में बताया गया है—इस जन्म में मदिरापान न करने से बहिश्त मिलेगा, जहाँ शराब की नदियां बह रही हैं। शंकराचार्य ने इस प्रकार के त्याग को वणिक्-वृत्ति कहा है। वह एक प्रकार का व्यापार है, जहाँ थोड़ी पूंजी लगाकर अधिक पूंजी प्राप्त करने की आशा की जाती है। परोपकार में त्याग के लिए त्याग किया जाता है। वह अपने-आप में सुख है। उसमें सात्त्विक आनंद की वृद्धि होती है। मनुष्य दूसरे के लिए त्याग करते-करते जब चरम सीमा पर पहुंच जाता है, तब 'स्व' कुछ नहीं रहता, सब कुछ 'पर' हो जाता है। इसी को सूफी परंपरा में 'खुदपरस्ती', वेदान्त में 'ब्रह्मलय', बौद्ध दर्शन में 'शून्यविलय' तथा जैन दर्शन में 'मोहनाश' कहा गया है।

इसके विपरीत वैयक्तिक सुख की भावना जितनी उग्र होगी, स्वार्थ उतना ही निम्नकोटि का होता जायेगा। इस रचना के कई मापदंड हैं।

जो व्यक्ति सामाजिक, राजकीय तथा धार्मिक सभी प्रकार के प्रतिबंधों को तोड़कर स्वार्थ-साधन करता है, अर्थात् जो सामाजिक दृष्टि से दुराचारी, राजकीय विधि के अनुसार अपराधी तथा धर्मशास्त्र के अनुसार पापी भी है, वह निम्नतम कोटि पर है। बहुत से व्यक्ति राजकीय नियमों को तो नहीं तोड़ते, किन्तु सामाजिक एवं धार्मिक कर्त्तव्यों का भंग करते हैं। राजकीय कानून का समर्थन प्राप्त होने के कारण वे अपने को अपराधी नहीं मानते, फिर भी दुराचारी एवं पापी तो हैं ही। दूसरी ओर कुछ व्यक्ति अपराधी होने पर भी अत्याचार एवं पाप की दृष्टि से अपेक्षाकृत उच्चस्तर पर होते हैं। चरित्र की दृष्टि से राजकीय एवं सामाजिक विधान की अपेक्षा धर्म का अधिक महत्त्व है। जो व्यक्ति धर्म के शाश्वत नियमों का उल्लंघन करता है, वह निम्नतम कोटि पर है। किन्तु यहां यह समझ लेना चाहिए कि धार्मिक नियमों का अर्थ साम्प्रदायिक नियम नहीं है। साम्प्रदायिक नियमों का निर्माण मनुष्य अपने संगठन के लिए स्वयं करता है और धार्मिक नियम शाश्वत होते हैं। योगसूत्र में उन्हें देश, काल एवं परिस्थिति की परिधि से परे सार्वभौम कहा गया है। साम्प्रदायिक मर्यादाएं मुख्यतया सामाजिक नियमों की कोटि में आती हैं।

सामाजिक तथा राजकीय नियमों का उल्लंघन भी चरित्रविकास की दृष्टि से हेय है। किन्तु उसमें निर्णायक तत्त्व उद्देश्य है। बहुत से सामाजिक नियम या रूढ़ियां जन्म-काल में उपयोगी होने पर भी धीरे-धीरे निर्जीव हो जाती





है और विकास मे बाधाए उपस्थित करने लगती हैं। बहुत से राजकीय नियम भी इसी प्रकार के होते है। ऐसे नियमो का उल्लघन पाप के स्थान पर धर्म हो सकता है। अत सामाजिक या राजकीय नियमो का पालन सापेक्ष है। अर्थात् उनका पालन करते समय उन्हे स्वमगल तथा परमगल की कसौटी पर परखने की आवश्यकता है। यदि वे उनमें सहायक हो तो स्वीकार करने योग्य हैं, अन्यथा हेय। इसके विपरीत धार्मिक नियम शाश्वत है। उनका आधार तात्कालिक स्वार्थ नही होता।

३ लक्ष्य-शुद्धि

परोपकार का तीसरा तत्त्व लक्ष्य-शुद्धि है। अर्थात् दूसरे की भलाई करते समय लक्ष्य जितना पवित्र और आध्यात्मिक होगा, परोपकार उतना ही उच्च कोटि का माना जायगा। धन-प्राप्ति, वासनापूर्ति या अन्य प्रकार की भौतिक कामना के लिए दूसरे की सहायता करना परोपकार की कोटि मे नही आता। ये सब स्वार्थ के अन्तर्गत हैं। उनमें भी लक्ष्य जितना हिंसा, वासना या अन्य पापवृत्तियो वाला होगा, उतना ही स्वार्थ निम्न कोटि का होगा। व्यक्ति जब भौतिक कामनाओ से ऊपर उठकर, केवल सात्विक इच्छाओं से प्रेरित होकर पर-हित करता है वही से परोपकार प्रारभ होता है।

व्यक्ति को परोपकार एव परमार्थ की ओर प्रेरित करने के लिए धर्मसस्था ने विविध प्रकार के प्रलोभन दिए है। इसी प्रकार स्वार्थवृत्ति को दूर करने के लिए भय बताए है। कहा गया है—जो तपस्या द्वारा कामभोगो पर नियत्रण करता है, उसे चक्रवर्ती का राज्य या स्वर्ग का ऐश्वर्य प्राप्त होता है। इसी प्रकार हिंसा, झूठ, चोरी तथा दुराचार आदि के कारण इस जन्म मे विविध प्रकार के रोग उत्पन्न होते है तथा दूसरे जन्म मे नरक एव पशुयोनि के कष्ट भोगने पड़ते है। इस प्रकार भय या कामना-पूर्ति के लक्ष्य से प्रेरित होकर जो पर-हित या धर्म-साधन किया जाता है, वह लक्ष्यशुद्धि की दृष्टि से निम्नकोटि का ही माना जायगा।

४ परिणाम की मगलमयता

परोपकार का चौथा तत्त्व परिणाम की मगलमयता है। इस दृष्टि से सर्वोत्तम रूप वह होगा जो सभी के लिए मगलमय है। जो आदि मे मगल है, मध्य मे मगल है और अन्त मे मगल है—ऐसा परोपकार परमार्थ हो जाता है।

इस तत्त्व मे क्षेत्र, भावना या लक्ष्य की अपेक्षा समझ या विवेक की अधिक आवश्यकता होती है। पिछली तीनो बातो के होने पर भी यदि करने वाले मे विवेक नहीं है, तो उसका कार्य परोपकार के स्थान पर पर-पीडन बन जाता है। धार्मिक एव सामाजिक सगठनो मे इस प्रकार का अविवेक सर्वत्र पाया जाता है। धर्म के नाम पर विविध प्रकार के आडम्बर किए जाते है और समझा जाता है कि उनसे धर्म का उत्कर्ष होगा। किन्तु उन्ही आडम्बरो के कारण धर्म की आत्मा घुट कर मर जाती है। उसके अन्दर रहा हुआ 'शिव' समाप्त हो जाता है और केवल शव बाकी रहता है। अत इस बात की आवश्यकता है कि हमारी दृष्टि इस लक्ष्य से न हटने पाये कि धर्म मगलमय है। पुराने सस्कार और अहकार, अस्मिता, मोह आदि विकारो के कारण वह दृष्टि से ओझल न हो।

महाकवि रवीद्र ने गीताजलि मे प्रश्नोत्तर के रूप मे कहा है—'दीपक क्यो बुझ गया ?
मैंने उसे अपनी चादर मे ढँक दिया और वह बुझ गया।'
वास्तव मे हम धर्म के दीप पर अस्मिता की चादर डाल देते है और प्रकाश का स्रोत समाप्त हो जाता है।
गीताजलि मे दूसरा प्रश्न किया गया है—
'फूल क्यो मुरझा गया ?
मैंने उसे तोडकर अपनी छाती से चिपका लिया, अत फूल मुरझा गया।'

महापुरुषों की तपस्या एवं साधना-रूपी खाद प्राप्त करके धर्म-रूपी पुष्प खिलता है और चारों ओर सुगंध फैलाने लगता है। आवश्यकता इस बात की है कि हम त्याग और तपस्या के बल से इस लता को सींचते रहें, फूल अपने आप खिला रहेगा। कुछ दिन सुगंध फैलाकर उसकी पंखुड़ियां भूमि पर जाएंगी और नये अंकुरों को जन्म देंगी। इस प्रकार सारा प्रदेश पुष्पों से भर जायेगा और उनकी सुगंध दूर-दूर तक फैलने लगेगी। किन्तु अहंकार के मिथ्या अभिनिवेश से प्रेरित होकर स्वार्थी मानव इसे तोड़कर अपनी छाती से चिपका लेता है। न स्वयं सुगंध लेता है, न दूसरों को लेने देता है। दीपक के प्रकाश और फूल की सुगंध पर एकाधिपत्य की भावना मंगलमय सिद्ध नहीं हुई। यदि धार्मिक संगठनों का उद्देश्य लता का सींचना है, तो उनकी उपयोगिता समझ में आ सकती है, किन्तु यदि वे फूल को तोड़ने का प्रयत्न करते हैं, तो रस-रक्षक के स्थान पर धर्म भक्षक बन जाते हैं।

परिणाम की असामञ्जस्यता का एक और रूप भी धार्मिक इतिहास में मिलता है। सहस्राब्दियों से एक सम्प्रदाय दूसरे सम्प्रदाय का अपना अनुयायी बनाने के लिए प्रयत्न करता आ रहा है। इसके लिए षड्यन्त्र, सैनिक आक्रमण, प्रलोभन आदि समस्त उपायों का आश्रय लेता रहा है। प्रत्येक संगठन का यह दावा होता है कि वह मिथ्यात्व नास्तिकता के मार्ग पर चलने वालों को धर्म के मार्ग पर ला रहा है और इस प्रकार परोपकार के मार्ग पर चल रहा है। किन्तु दूसरे को धर्म-पथ पर लाना तो दूर रहा, स्वयं पाप-पथ पर चल पड़ता है। दूसरों को मोक्ष और स्वर्ग का सुख देना चाहता है और इसके लिए उन्हें इस लोक के सुखों से बलपूर्वक वंचित कर देता है। वास्तव में वहां धर्म की आड़ लेकर उद्दाम अहंकार तथा क्रूर वृत्तियों की पुष्टि की जाती है। यह अविवेक के कारण होता है और परिणाम मंगलमय नहीं है।

बौद्ध-परम्परा में भगवान् बुद्ध के तीन काय अर्थात् शरीर माने गए हैं। सर्वप्रथम सम्भोगकाय है, इसका अर्थ है स्थूल शरीर, जिसके द्वारा वे खाना-पीना, उठना-बैठना आदि क्रियाएँ करते हैं। दूसरा धर्मकाय है। इसका अर्थ है वह संगठन जिसके द्वारा वे धर्मप्रचार करते हैं। भिक्षुसंघ तथा शास्त्र इस कोटि में आते हैं। तीसरा निर्माणकाय है। इसका अर्थ है वे तत्त्व जिन्हें वे विश्व में प्रकाश के रूप में छोड़ जाते हैं। सर्वसाधारण यह भूल जाता है कि उनका प्रतिपादक कौन था तथा उनका किस परम्परा के साथ संबंध है। केवल उनसे प्रकाश प्राप्त करके अपने पथ का निश्चय करता है। वे उस सुगंध के समान होते हैं जिनके लिए हम नहीं जानते कि किस उद्यान से आ रही है अथवा किस फूल की है। परोपकार की दृष्टि से धर्मसंस्था का उच्चतम रूप तृतीय काय में मिलता है।

परमार्थ के दो रूप

ऊपर मुख्य रूप से स्वार्थ एवं परोपकार की चर्चा की गई है। यथास्थान यह भी बताया गया है कि परोपकार ही अपनी चरम सीमा को प्राप्त करने पर परमार्थ बन जाता है। उपनिषदों में ईश्वर का विराट् के रूप में वर्णन किया गया है, जो विश्व का नामान्तर है। विश्व की सेवा ही परमात्मा की सेवा है। बुद्ध ने कहा है— 'माता जिस प्रकार अपने इकलौते पुत्र से प्रेम करती है, इसी प्रकार उत्कट प्रेम समस्त विश्व में फैला दो। जैनदर्शन में भी राग और द्वेष की सीमाएं मिटाने पर बल दिया गया है। इस प्रकार हम देखते हैं कि सभी धर्मों में परोपकार ही समस्त परिधियों को पार कर लेने पर परमार्थ बन जाता है।

बौद्धों की महायानपरम्परा में साधना का लक्ष्य, अशुभ वासना का क्षय और शुभवासना का विकास बताया गया है। परिणामस्वरूप प्रवृत्तिमात्र का निरोध नहीं होता। किन्तु अशुभ प्रवृत्ति रोककर शुभ प्रवृत्ति का विकास किया जाता है। विविध प्रवृत्तियों की पराकाष्ठा के रूप में दस पारमिताएं बताई गई हैं, जिनका अभ्यास बोधिसत्व करते हैं। ईसाई-परम्परा भी इसी मार्ग का समर्थन करती है। भगवद्गीता में निवृत्ति-मार्ग सांख्य अर्थात् ज्ञान-योग की अपेक्षा से है और प्रवृत्ति-मार्ग कर्म-योग एवं भक्ति योग की अपेक्षा से। दोनों मार्ग व्यक्ति की मनोवृत्ति पर अवलंबित हैं। जिसकी जिधर अभिरुचि हो, वह उसे अपना सकता है। दोनों ही परम मंगलमय माने गए हैं। साथ ही यह भी कहा गया है—'तयोस्तु कर्मसंन्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते' अर्थात् निवृत्ति की अपेक्षा प्रवृत्ति श्रेष्ठ है। वैष्णव परम्परा





मे कहा गया है— परमात्मा की भक्ति मुक्ति से भी बडी है। (भक्तिमुक्तेर्गरीयसी)। तुलसीदास का कथन है सिया-राममय सब जग जानी, करहु प्रणाम जोरि जुगपानी' अर्थात् मै समस्त विश्व को सीता और राम के रूप मे देखता हू और प्रत्येक व्यक्ति को हाथ जोडकर प्रणाम करता हू। इससे प्रतीत होता है कि भक्ति-मार्ग विश्व को भगवान् से भिन्न नही मानता। जनता को ही जनार्दन मानकर भक्ति का सदेश देता है।

जैनपरम्परा इस तथ्य को अहिंसा अथवा जीवरक्षा के रूप मे उपस्थित करती है। उसका कथन है कि मनुष्य ही नही पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु तथा वनस्पतियो मे भी जीव है। उन्हे किसी प्रकार का आघात पहुचाना हिंसा या पाप है। अहिंसा के लिए उन सबके प्रति प्रेम एव मित्रता आवश्यक है। जैनधर्म इसे चरित्र की उच्च भूमिका के रूप मे प्रस्तुत करता है। यहा परोपकार के विधिपक्ष को छोडकर निषेधपक्ष पर बल दिया गया है। बौद्धो की हीन-यान शाखा मे भी प्रवृत्ति की अपेक्षा निवृत्ति पर अधिक बल है। अद्वैत वेदात तथा साख्यदर्शन मे भी दुःखाभाव को सुख बताया गया है।

न्याय-दर्शन मे मोक्ष का क्रम बताते हुए कहा है—तत्त्वज्ञान से मिथ्याज्ञान का नाश होता है, मिथ्याज्ञान के नाश से दोष का नाश, दोष के नाश से प्रवृत्ति का नाश, प्रवृत्ति के नाश से जन्म का नाश और जन्म के नाश से दुःख का नाश और दुःख का नाश ही 'मोक्ष' है।

उपर्युक्त परम्पराओ मे प्रवृत्ति की अपेक्षा निवृत्ति पर अधिक बल है। हम इसकी विस्तृत चर्चा मे न जाकर इतना ही कहना चाहते हैं कि परोपकार का नैश्चयिक रूप निवृत्ति ही है। किन्तु उससे पहले प्रवृत्ति की साधना आवश्यक है। जो व्यक्ति अपने लिए समस्त प्रवृत्तियाँ करता है और दूसरे का प्रश्न आने पर निवृत्ति का उपदेश देता है वह सत्य से दूर चला जाता है। जैनधर्म मे समता को नैतिकता का आधार माना गया है। इसका अर्थ है हम अपने लिए जिस व्यवहार या वस्तु को आवश्यक मानते हैं, दूसरे के लिए भी उस आवश्यकता की अनुभूति करें। जो व्यक्ति उच्चतम साधना द्वारा अपने शरीर का मोह छोड चुका है उससे यह आशा नही की जाती कि वह दूसरे की प्राणरक्षा करे। किन्तु जो अपने लिए सब कुछ करता है और दूसरे का प्रश्न आने पर निवृत्ति का उपदेश देने लगता है वह वैषम्य का पोषक होने के कारण धर्म से दूर चला जाता है। प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनो परोपकार की भूमिकाए हैं। साधक को किस समय किसका आश्रय लेना चाहिए यह उसकी जीवनस्थिति पर निर्भर है।

●

धर्म-निरपेक्षता

डा० सुशीलचंद्र दिवाकर,
एम ए, बी काम, एल-एल बी, पी-एच डी
प्रोफेसर [illegible], जबलपुर (म० प्र०)



इस भौतिकवादी युग में मानव ने अध्यात्म का [illegible] सर्वांगीण प्रगति का बीड़ा उठाया है। धर्म की दुहाई देकर जनता को [illegible] की सब चुनौती दी जा रही है। उनकी पारलौकिकता का अन्त होने जाता है। किन्तु उनकी [illegible] हमने [illegible] धर्म का ही [illegible]। धर्म के नाम पर किए गए उनके कुकर्मों के कारण ही धर्म को [illegible] की दृष्टि से देखा जाने लगा। मध्ययुग का इतिहास धर्म की ओट में किए गए युद्धों और हत्याकांडों से भरा पड़ा है ही, किन्तु आधुनिक युग में भी इतना बड़ा और क्या प्रमाण हो सकता है कि धर्म की दुहाई देकर [illegible]। [illegible] कार्ल मार्क्स और लेनिन ने उसके खिलाफ बगावत कर दी और विश्व को [illegible] प्रदान किया। श्री फ्यूलप मिलर ने इस पर लिखा है —

"Religion to ... Marx had been the opium of the people and to Lenin it was ... and spiritual ... in which the slaves of capital drown their human perception and their demands for any life worthy of a human being [1]"

किन्तु क्या यह उचित होगा कि कुछ स्वार्थी व्यक्तियों की अशुद्धि के कारण हम धर्म का परित्याग कर बैठें? भारत में [illegible]। श्री [illegible] के शब्दों में धर्म का त्याग भारत में असम्भव है। क्योंकि [illegible]। सर्वप्रथम हमें धर्म का अर्थ और [illegible] समझ लेना है। तब ही धर्म के प्रति हमारी उचित [illegible] हो सकती है और हम धर्म का उपयोग मानवीय [illegible] के बदले उन्नति में कर सकते हैं। [illegible] विद्वान् [illegible] ने कहा है कि धर्म सुख का कारण है [illegible] अपने [illegible] का विनाशक नहीं होता। अतएव [illegible] धर्म से विमुख नहीं होना चाहिये। [illegible] युग में [illegible] जनता में [illegible] है। यदि धर्म भी सुख देता है तो वह राजकार्य को बहुत ही सरल बना सकता है। लार्ड [illegible] धर्म पर प्रकाश डालते हैं—

"Religion was intended to bring peace on earth and good-will towards man, whatever tends to hatred and persecution, however correct in the leatter must be utterly wrong in the spirit"

देशयामि समीचीनं धर्मं कर्मनिबर्हणम्।
संसारदुःखतः सत्त्वान् यो धरत्युत्तमे सुखे॥

तात्पर्य यह है कि जो संसार के दुःखों से बचाकर जीव को उत्तम सुख प्राप्त करावे वह धर्म है। डा० राधाकृष्णन के अनुसार 'सत्य तथा न्याय की उपलब्धि को तथा हिंसा के परित्याग' को धर्म कहना चाहिये। ईसाई धर्म के दस आदेश (Ten commandents) और मनुस्मृति एवं गीता के दस धर्मों ने इसी बात का पोषण किया है। एक अन्य आचार्य उमास्वामी ने अपनी प्रख्यात कृति तत्त्वार्थसूत्र में धर्म का विवेचन करते हुए दस धर्मों के नाम इस प्रकार

---

[1] Mind and Face of Bolshevism by Fulop Miller



गिनाये हैं—उत्तम क्षमा, मार्दव, आर्जव, सत्य, शौच, संयम, तप, त्याग, आकिंचन्य, और ब्रह्मचर्य। अतः यदि धर्म हमें उत्तम क्षमा, मानहीनता, सरलता, अपरिग्रह, संयम आदि की सीख देते हुये पवित्र जीवन व्यतीत करने के लिये आदेश और प्रेरणा देता है तो क्यों उसे बुरा कहना चाहिये? क्या हिंसा और इन दस धर्मों के विरोधी तत्वों से उन्नति हो सकती है? यदि नहीं तो धर्म का तिरस्कार करना व्यावहारिक मूर्खता ही है। भारतीय संस्कृति में सभी कार्यों में धर्म को ही आधारभूत माना है। लेकिन यहां प्रश्न यह उठता है कि धर्मपालन क्यों होना चाहिये? भारतीय संस्कृति ने व्यक्तित्व को प्रधानता देते समय कुछ कारणों पर विचार कर लिया है। प्रत्येक व्यक्ति और प्राणी में आत्मा का सद्भाव है और उसकी उन्नति के लिये धर्मपालन अनिवार्य है। अधर्म से कुछ समय के लिये शरीर, धन और वैभव में वृद्धि हो सकती है, किन्तु आत्मा का कदापि उत्कर्ष नहीं हो सकता। जब आत्मा का उत्कर्ष होता है, तब व्यक्ति का वास्तविक उत्कर्ष और व्यक्ति-समुदायी समाज का उत्कर्ष अनिवार्य रूप से होता है। अतः धर्मपालन में व्यक्तिगत और सामाजिक उत्कर्ष को खुला क्षेत्र दिया गया है। इतिहास साक्षी है कि वस्तुतः धार्मिक शासनों में समाज सुखी था। और धर्म, अर्थ काम और मोक्ष की सिद्धि सहज ही हुआ करती थी। 'रामराज्य' के बारे में यह वर्णन है कि, 'अयोध्या में कोई कामी पुरुष न था, न कंजूस, न अनपढ़, न निर्दयी और न कोई नास्तिक था। आज के जड़वादी युग में ऐसी बात पर विश्वास नहीं होता और यह उपहासास्पद प्रतीत होती है। किन्तु यह अपने संस्कार की बात है, अन्यथा राजा और प्रजा के धार्मिक रहने पर यह मंगलमय स्थिति स्वाभाविक ही थी।

तो फिर धार्मिकता के फलस्वरूप क्या इतिहास के अनुसार भयानक विनाश और कलह का बाजार गर्म हुआ? फ्रांस इटली भारत और चीन आदि सभी राष्ट्रों का इतिहास इस बात की साक्षी दे रहा है। यदि हम प्रतीकारात्मक तर्क का आश्रय न लेकर प्रहारात्मक तर्क से काम लें तो सहज ही यह प्रश्न उठा सकते हैं कि धर्महीन विज्ञान के फलस्वरूप हिरोशिमा में एटम बम से भी तो लाखों निरीहों की हत्या हुई है और दो दो महायुद्धों की आशा की जा रही है। धार्मिकता के नाम से किए गये पतन से यह पतन लाखों गुणा बड़ा है। फिर क्यों धर्म की बुराई की जानी चाहिये? लेकिन इससे क्या धर्म पतन और कलहकारी सिद्ध होता है? यह धर्म का तो कदापि ध्येय और रूप नहीं है। क्या चन्द्रकिरणों से भी ताप हो सकता है और शीतल जल से भी कोई जल सकता है? अवश्य ही धर्म के बदले किसी अन्य चीज ने ऐसा खेल रचा है कि जिससे आज हमारे हृदय में भ्रमवश धर्म से ही घृणा हो उठी है। अपने साधारण जीवन में ही हम अपने सर्वोच्च हितैषी से भ्रमवश घृणा और विद्वेष करने लगते हैं। यह तो हम देख ही चुके हैं कि यथार्थ रूप से धर्म मानव को सुगति और सुख देने का कार्य करता है। लेकिन यदि उससे दुःख दिखाई देता है तो निश्चय ही मूल में भूल विद्यमान है। आज हमने धर्म की आत्मा को ही नहीं पहिचाना है। हम उसके चोगे में अपनी गल्तियों द्वारा ही उलझ गए। हमने तत्व को विस्मरण कर दिया और अपने-अपने धर्म के अंधभक्त बन बैठे। धर्म के मर्म को न जान हमने अपना पतन प्रारम्भ कर दिया। स्नीरयुक्त नद हमारे सामने से सदा बहता रहा है और हमने उसमें अपवित्रता डालने के अतिरिक्त उसका कुछ भी उपयोग न किया। इसमें धर्म और धर्मदाता महावीर राम आदि का क्या दोष? दोष तो हमारा है जो धर्म को न जानकर धर्मविरोधी ईर्ष्या कलह हिंसा परिग्रह में उलझते गये। धर्म तो कभी भी विद्वेष करना नहीं सिखाता। और यदि हम विद्वेष करते हैं तो निश्चय ही यह धर्म के बदले अधर्म का ही कार्य है, जो पाप है, पतनकारी है। ऐसे ही भ्रम में बेचारा औरंगजेब पड़ गया था। उसने सोचा कि जो धर्म वह मानता था वही एक मात्र मान्य सिद्धान्त था अन्य सब मिथ्या, त्याज्य और घृणास्पद था। औरंगजेब में धर्म के स्थान पर अधर्म ने प्रवेश किया जिसके फलस्वरूप इतिहासप्रसिद्ध हिन्दुविध्वंस हुआ था। ऐसे ही जब धर्म के स्थान पर अधर्म ने प्रवेश किया तब कुछ धर्म के ठेकेदारों के आदेशानुसार तत्कालीन राजाओं ने परधर्मियों के प्रति हत्याकाण्ड का नग्न तांडव मचा दिया। उच्चकोटि का साहित्य इसी विद्वेष (अधर्म) के फलस्वरूप अग्निसात् कर दिया गया। एक विद्वान् श्री प्रो० आर० तातााचार्य एम० ए० टी० का जैनधर्म के कन्नड साहित्य के विनाश का यह उद्धरण इस विषय पर प्रकाश डालता है।

"Religious persecution, intolerence bigotry, conservatism and the like have done much to put keep from the public all that is valu. ble in Kannada Jain

literature Thousands of bastis have been destroyed and the libraries set on fire Several thousands palmyra manuscript have been thrown into Kaveri or Tungabhadra and the havoc of worms has been equally destructive of the vast treasures of learning"

न केवल यह ही किन्तु जैनियों का विनाश भी ऐसे ही किया गया। बुद्ध धर्म का अपनी जन्म-भूमि भारत से उखड जाने मे यही विद्वेष कारणभूत रहा आया है और भारत के विभाजन ने तो इस विद्वेष के मन्दिर पर कलशारोहण ही कर दिया है। यूरोप में प्रोटेस्टेंट और कैथोलिकों का विरोध विख्यात है। अमेरिका मे एन्जिल के नाम पर पार्तगीजों द्वारा किए गए अत्याचार भी हमें रोमाञ्चित कर देते हैं। खुदाई किताब के नाम पर कितने ही मुसलमान बादशाहों का भारत में अन्याय, अपौरुषेय ग्रन्थ के नाम पर बौद्धों और जैनों के प्रति तिरस्कार भाव आदि के परिणामस्वरूप यदि कदाचित् धर्म से आज के बुद्धिवादी ने तङ्ग आ यह कह दिया कि We have just enough religion to make us hate, but not enough to make us love one another ? तो कोई अव्यावहारिक बात नहीं कही गई है। यदि विचारक इंगरसोल का यह वाक्य इसी प्रकार के तथ्यों पर आधारित है तो सच ही ऐसे धर्म को प्रणाम है—

"Religion has reduced spain to a Guitar, Italy to a hand organ and Ireland to exile"

वह विद्वान् यदि आज भारत को देखता तो इंगरसोल कथन में "and India into" भी जोड देता।

यह सब निष्प्राण धर्म की बेढंगी आराधना का दुष्परिणाम है। हम पहले ही कह चुके हैं कि अपने यथार्थरूप में धर्म का कभी यह काम नहीं है। धर्म कभी प्रकृति का विरोध नहीं करता। उसकी आड में जो पाशविकता का परिचय दिया गया है उसने बुद्धिमानों को बड़ी भारी चेतावनी दी है।

एक विशाल देश मे, विशेषकर भारत सदृश अर्द्ध-महाद्वीप में अगणित धर्मों को पालना अपनी-अपनी पद्धति के अनुसार होता है। आधुनिक युग मे, जब कि नृपवादिता के बदले जनतन्त्रीय शासन का बोलबाला हो, यह कभी भी सम्भव नहीं है कि एक ही धर्म के माननेवाले शासन का भार सभालें। अब तो एक राजनैतिक-दल शासन का कारोबार सभालता है, जिसमें सभी धर्मों और जातियों के व्यक्ति रहा करते हैं। यथा, कांग्रेस में हिन्दु, मुसलमान, पारसी, ईसाई जैन, बौद्ध, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य सभी ने योग दिया है। पूर्वकाल मे जब एक राजा होता था तब तो वह अपने व्यक्तिगत अधिकार के फलस्वरूप किसी धर्म-विशेष का पालन करता था और फिर प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप मे किसी न किसी प्रकार मे अपने धर्म का प्रचार और प्रसार करता था। यदि वह निर्दयी होता तो तलवार के बल पर, और यदि नीतिमान एवं दयालु होता तो प्रेम और बुद्धिमत्ता से ऐसा करता था। भारत का इतिहास औरंगजेब और अशोक के रूप मे इन दोनों पद्धतियों का परिचय देता है। किन्तु अब स्थिति बदल चुकी है। ऐसा तो अवाञ्छनीय हो गया है कि शासन किसी धर्म को आश्रय दे, उसकी अभिवृद्धि मे शासन की ओर से व्यय करे और अन्य धर्मों के प्रति घृणा और उपेक्षा भाव वर्तने में लावे। जिन दिनों ब्रिटिश राज्य हमारे देश मे था उन दिनों ही भारतवासियों ने सदा ही राजकोष के उस व्यय का कड़ा विरोध किया था, जो ईसाई धर्मप्रचार के लिए धार्मिक-कार्य (Ecclesiastical Department) के नाम पर किया जाता था। इस दुर्नीति के फलस्वरूप ही भारत के लिए अत्यन्त नवीन ईसाई धर्म का अत्यधिक प्रचार हो गया और स्वदेशी धर्मों मे अनेक बुराइयों का प्रवेश हो गया। यह तो ब्रिटेन के ही हित मे था कि भारत के धर्म नष्ट और उनमें अमद्र बुराइयों का प्रवेश हो, ताकि भारतवासी अपने धर्म की ओर से विमुख हो जावें। यह एक प्रकार की साम्यवादी रीति का प्रचार था, जिसके अनुसार जैसे ही जनता जब रोटी तक की प्राप्ति नहीं कर पाती तब साम्यवाद का आश्रय लेती है। ठीक वैसे ही ब्रिटेन ने चाहा कि जब भारतीयों को अपने धर्म से किसी भी प्रकार की आशा नहीं रहेगी तब आप ही आप ईसाई धर्म का वे आश्रय लेंगे। "बुभुक्षितः किम् न करोति पापम्" के अनुसार करोडों भारतीयों ने स्वधर्म और सस्कार



[illegible]

[illegible]

धर्मनिरपेक्ष शासन को, जो धर्मान्ध और धर्मविरोधी शासन का शतप्रतिशत विरोध रहता है, आधुनिक युग के सभी सभ्य देशों ने स्वीकार किया है। इस प्रसंग पर नवजाग्रत इन्डोनेशिया के राष्ट्राध्यक्ष श्री सोकर्नो की, अधिकांश मुसलिम-भूमि इन्डोनेशिया में 'धर्मनिरपेक्ष शासन' की घोषणा निराला महत्त्व रखती है। यह ध्यान रहे कि इन्डोनेशिया विश्व का सबसे बड़ा मुसलिम राज्य है फिर भी श्री सोकर्नो की यह घोषणा उनकी विशालता और समय की जीत का परिचय देती है। संयुक्त राष्ट्र दिवस को मनाते हुए जकार्ता में उक्त नेता ने ८ नवम्बर १९५१ को कहा था 'इन्डोनेशिया का यह सुन्दर राष्ट्र बड़ा भाग्यवान है, क्योंकि इसमें प्रत्येक नागरिक को अपनी पद्धति के अनुसार ईश्वर की पूजा करने का पूर्ण स्वातन्त्र्य है। यद्यपि यह देश मुसलिम बहुमत वाला है, फिर भी यहां ईसाई, हिन्दू कान्फ्यूशियन आदि भी रहते हैं। हमने धर्म-निरपेक्ष राज्य का चुनाव स्वेच्छा से किया है क्योंकि हमें विश्वास है कि धर्म व्यक्ति और ईश्वर के बीच का मसला है। इसका अर्थ यह नहीं कि हम नास्तिक राज्य (अधार्मिक राज्य) चाहते हैं। हमें इस बात से बड़ा हर्षपूर्ण प्रकाश मिलता है, जिसका हमें गर्व है, कि हमारे पूर्वकालीन दीर्घ इतिहास में, जबकि हम उत्कर्ष की चरम सीमा तक पहुँच चुके थे, कभी भी इन्डोनेशिया ने ऐसा कार्य नहीं किया जिसे अपने पड़ोसियों की भूमि के लिए आक्रमणात्मक या शत्रुतापूर्ण कहा जा सके। हमारे अतस्तल में शान्ति और खामोशी की चिराभिलाषा है। इस मुसलिम बहुमत वाले राष्ट्र का यह उद्गार धर्मान्ध देशों के लिए एक चुनौती है। जो देश एशिया का वृहत्तर एशिया में परिवर्तन करना चाहते हैं, उन्हें यह ध्यान रखना चाहिए कि बिना धर्मनिरपेक्षता के पवित्र सिद्धान्त को अपनाये कोई भी कार्य सफल न होंगे। यदि पाकिस्तान बार-बार मध्यपूर्व के मुस्लिम राज्यों में इस बात की प्रार्थना करता है और उनके सामने प्रस्ताव प्रस्तुत करता है कि वे सब मिलकर मुसलिम राज्यों के एक संघ का निर्माण करें तो वृहत्तर एशिया का स्वप्न धूलि में मिल जाता है। जैसा कि डाक्टर सोकार्नो ने कहा है "धर्म एक व्यक्तिगत चीज है," तो पं० ज्वाहरलाल नेहरू ने बार बार कहा है—कि धर्म (लेबिल वाले धर्म) का राजनीति में बोलने का अधिकार नहीं है। बार बार उन्होंने दोहराया है कि "साम्प्रदायिकता को हमें नष्ट कर देना है।" इसका तो यह अर्थ कभी नहीं हो सकता कि नेहरूजी यह चाहते हैं कि हिन्दू अपना धर्म छोड़ दें। इसमें यही सार है कि धर्म के नाम पर घृणा और द्वेष की अग्नि को भड़काना रोकना चाहिये, धर्मान्धता को त्याग देना चाहिए। अन्यथा इतिहास अपने को दोहरायेगा और कभी भी यह सम्भव है कि साम्प्रदायिकता के नाम पर इस पवित्र भूमि को पुन महाभारत जैसी आपसी कलह से लाल होना पड़े। सम्प्रदाय बनाना और उनके नियमों का पालन करना अनुचित नहीं है। प्रत्येक सम्प्रदाय में महापुरुष हुए हैं। उन महापुरुषों ने जीवन को ज्योतिर्मय करने का पवित्र सन्देश जगती को दिया। और जैसा कि कहा जाता है, सभी महापुरुष एकसा सोचते हैं, उनकी बातें सभी सम्प्रदाय के महापुरुषों की एकसी प्रतीत होती हैं। दार्शनिक सूक्ष्मता में अवश्य ही उनमें अन्तर होता है, जो विशेष ज्ञान की वृद्धि पर आधारित है। किन्तु जीवन को उज्ज्वल बनाने वाले आचारविधान में सब एकमत हैं। और कम से कम भारत की तो यह विशेषता रही है कि सभी महापुरुषों ने आत्मा की स्थिति को स्वीकार किया है। आत्मा की अनुभूति में तो सभी धर्म किसी न किसी तरह सहमति ही प्रकट करते हैं। केवल आत्मोन्नति के मार्ग भिन्न हैं। हो सकता है कि इनमें कोई मार्ग निश्चय ही शत प्रतिशत सत्य हो। किन्तु जब सब अपने अपने मार्ग से चलते हैं तब क्यों अन्य पर पत्थर फेंकना और उसे बुरा कहना? अपने मार्ग को सभी अच्छा कह सकते हैं। अपना कुरूप पुत्र भी माता को राजकुमार से अधिक प्रिय प्रतीत होता है। यह तो प्राकृतिक नियम है। अत सम्प्रदायप्रेम का अनुचित या बुरा नहीं रह जाते। साधारण जीवन में मनुष्य अपने कुटुम्ब, शरीर व देश से प्रेम करता है। इसी प्रकार वह अपने सम्प्रदाय से भी प्रेम करता है। किन्तु जब अपने शरीर की रक्षा के लिए एक दूसरे का रक्त पीना चाहता है और अपने कुटुम्ब के संरक्षण के लिये दूसरे के धन का अपहरण करना चाहता है, तब अवश्य ही ऐसा स्वार्थी प्रेम तिरस्कार का पात्र है। ठीक इसी प्रकार जब हमारा सम्प्रदायप्रेम उचित सीमा का उल्लघन कर अन्य सम्प्रदाय वालों पर कटाक्ष तथा प्रहार करने लगता है तब वह भी अवाञ्छनीय और घृणास्पद बन जाता है। ऐसी साम्प्रदायिकता से सभी का अहित होता है और धर्म का प्राण तो निश्चय ही समाप्त हो जाता है। धर्म और सम्प्रदाय के नाम पर युद्ध की भेरी बजाने वालों को यह नहीं भूलना चाहिये कि उनके जिस कार्य से भी अशान्ति, हिंसा और ईर्षा की भावना को प्रोत्साहन मिलता है वह किसी भी प्रकार धर्म की कोटि में नहीं आ सकता। हमें बलिष्ठ और स्वस्थ होने का प्रयत्न अवश्य करना चाहिये किन्तु दूसरे पर आक्रमण करने की भावना से बलिष्ठ और स्वस्थ बनना उपयुक्त





नही है। वह हमारे मन मे मालिन्य बढाता है और मनोभावनाओ मे सड़ान पैदा करता है। यह भी वाछनीय नहीं कि हम दूसरो पर व्यर्थ ही सन्देह करते रहे कि कही वह आक्रमण न कर बैठे। यदि हम अपनी व्यवस्था ठीक बनाये रखने के लिये, अपने महापुरुषो के सन्देश को कार्यरूप मे परिणत करने के लिये एव आत्मोन्नति करने के लिये अपने समाज या सम्प्रदाय को सबल बनाने का प्रयत्न करते है तो यह कभी भी अवाछनीय नही कहा जा सकता। साथ ही जिस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति को अपनी सपत्ति और जीवन की सुरक्षा का अधिकार है, ठीक उसी प्रकार प्रत्येक सम्प्रदाय को अवाछनीय आक्रमणो से भी अपनी रक्षा करने का अधिकार है। परन्तु प्रारम्भ मे ही क्यो हम सदेह ईर्षा और कलह पर अपने साम्प्रदायिक कार्यो को आधारित कर दे? इससे तो ध्येय और भी दूर होता जाता है। क्योकि विरोधात्मक कार्यो मे विधायक कार्यों की अपेक्षा सदा ही अधिक शक्ति का अपव्यय होता है और हम केवल इसी मे अपना ध्येय सीमित कर बैठते है। तथा वास्तविक बातो की ओर मन को न झुकाकर ईर्षा-द्वेष मे ही जीवन को समाप्त कर देते हैं।

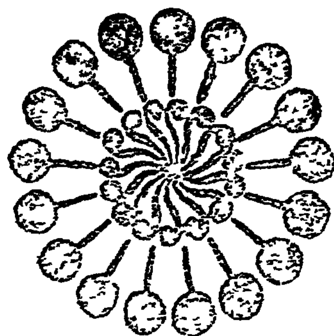
साम्प्रदायिकता पर अभी तक बहुत कुछ लिखा जा चुका है। हमारा अभिप्राय तो केवल यही बताने का है कि धर्म-निरपेक्ष शासन मे साम्प्रदायिकता को तनिक भी स्थान नही होता। लेकिन इसका कार्यरूप मे परिणमन परीक्षा की बात होती है। अपने धार्मिक सस्कारो के फलस्वरूप हो सकता है कि राष्ट्र का सर्वोच्च अधिकारी अपने धर्म को ही मुख्यता देना चाह। उदाहरणार्थ भारत मे, धर्म निरपेक्ष शासन की उपयुक्त घोषणा की गई है, तो भी कभी सोमनाथ के मन्दिर मे अतुलराशि का व्यय अन्य धर्मावलम्बियो के लिये खटकने की चीज बन जाता है। यदि केवल प्रधान धर्मो या राजनैतिक प्राबल्य वाले धर्मो के सतोष के लिए यह हो तो ऐसी नीति को कौन बुरा कहने का प्रयत्न न करेगा? जैनधर्म सदृश भारत के अत्यन्त प्राचीन धर्म के प्रति उपेक्षा का भाव रखा जाता है। जैन धर्मावलम्बियो द्वारा दिये गये सम्मान को देहली मे राष्ट्रपति बडे हिचकिचाते हुए स्वीकार करते दिखाई देते हैं तो दूसरी ओर अन्य धर्म के लिये कितनी उदारता और सहृदयता दिखाई जाती है! शासक को ध्यान रखना चाहिये कि राष्ट्र के एक छोटे से अग की उपेक्षा एक बडा रूप धारण कर सकती है और उससे जो असन्तोष फैल सकता है वह बडा अप्रिय होता है। इसी प्रसग मे ध्यान देने योग्य बात यह कि जब शासक अपने राष्ट्र को "धर्मनिरपेक्ष" बनाने का कार्य करे तब किसी भी प्रकार ऐसी तानाशाही न मचा दे कि राष्ट्र के धर्मों पर उनकी परम्परा और प्रचलित रूढियो एव माग की पूर्ण रूप से उपेक्षा कर मनचाहा परिवर्तन किया जावे। किसी भी धर्म के मामले मे शासक को बहुत सोच विचार कर दस्तदाजी करना चाहिये। उसके धर्माचार्यों का आदरपूर्वक सहयोग और समर्थन प्राप्त करना चाहिये। शासक का यह सोचना बडा भारी भ्रम होगा कि उसके द्वारा इच्छित परिवर्तन के अभाव मे देश का नाश हो जायगा। राष्ट्र की जिंदगी दो चार वर्ष की नही होती, वह हजारो वर्ष के जीवन वाला होता है। क्या गारटी है कि राजनीति के पारगत विद्वान् धार्मिक विषयो के भी पारगत होते हो, जब राजनैतिक विषयो पर उनके निष्कर्ष व सकल्प मिथ्या और अलाभकारी सिद्ध हो जाते है, तो फिर धर्म के नवीन विषयो मे भी उनका एकागी राय हानिप्रद सिद्ध हो सकता है। बहुधा धर्माचार्य और धर्म के पोषक राजनीति मे भाग लेकर व्यवस्थापक सभा मे पहुचना पसन्द नही करते। परन्तु सर्वतोभद्र जनतन्त्रीय शासन में ऐसे महान् साधकों की उपेक्षा करना पापपूर्ण कार्य ही समझना चाहिये। समाज के विचारक और साधक यदि राजनीति मे नही पडते तो राजनेताओ को स्वय उनके पास पहुचकर पथ-प्रदर्शन प्राप्त करना चाहिये। चद्रगुप्त का भद्रबाहु और चाणक्य के पास पहुचना, अशोक का बौद्ध साधुओ के समीप पहुचना, राम का वशिष्ठ के आश्रम मे पहुचना, इसी तथ्य के परिचायक हैं।

●

दानवीर भामाशाह-परिवार

श्री रामवल्लभ सोमानी,

जयपुर



भारत के इतिहास में भामाशाह का नाम स्वर्णाक्षरों में लिखा रहेगा। देशभक्ति, अपूर्व त्याग और स्वामिभक्ति के लिए आज भी इन्हें आदर्श माना जाता है। मेवाड़ के लिए इनकी सेवायें उसी प्रकार उल्लेखनीय हैं जिस प्रकार गुजरात के लिये वस्तुपाल तेजपाल की।

मेवाड़ के महाराणा सांगा की मृत्यु वि० सं० १५८४-८५ में खानवा युद्ध के कुछ समय पश्चात् हो गई। इनके उत्तराधिकारी इनके समान शक्तिशाली नहीं थे। भारत में उस समय सत्ता के लिये मुगल और अफगान संघर्ष कर रहे थे और हुमायूँ ने शेरखाँ सुल्तान को हटाकर अपना खोया हुआ राज्य वापस प्राप्त कर लिया। थोड़े समय पश्चात् इसकी मृत्यु हो गई। इसका उत्तराधिकारी अकबर अत्यन्त शक्तिशाली था। इसने कई राजघरानों से वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित कर अपने राज्य की नींव दृढ़ कर ली। इसने मेवाड़ पर वि० सं० १६२४ में आक्रमण किया। उस समय वहाँ का महाराणा उदयसिंह शासक था। राजपूतों ने महाराणा को पहाड़ों में भिजवा कर चित्तौड़ दुर्ग का भार जयमल मेड़तिये को सौंप दिया। राजपूतों की हार हो गई और उदयसिंह कुंभलगढ़ की तरफ चला गया। वि० सं० १६२५ की लिखी सम्यक्त्वकथाकौमुदी की प्रति आमेर-शास्त्रभंडार में संगृहीत है जिसमें कुंभलगढ़ में उक्त राणा के शासनकाल में प्रतिलेखन का[1] उल्लेख है। जिससे कुंभलगढ़ में उनके राज्य की पुष्टि होती है। धीरे-धीरे अकबर ने मेवाड़ के अधिकांश भाग को अधिकृत कर लिया। यहाँ के महाराणा के पास उस समय धन और सैनिक सामान दोनों की व्यवस्था कर सकने वाले पुरुष की आवश्यकता थी। उस समय रामाशाह प्रधान था किन्तु वह इतना उपयुक्त नहीं था। इसे हटाकर उदयसिंह के वंशज महाराणा प्रताप ने भामाशाह को अपना प्रधान नियुक्त किया। ख्यातों में लिखा मिलता है 'भामो परधानो करे, रामो कीधो रद्द।[2]

भामाशाह के पूर्वज

भामाशाह कावड़िया गोत्र का ओसवाल था। इसके पूर्वज अलवर क्षेत्र के रहने वाले थे और सांगा के समय इसका पिता भारमल रणथंभोर में किलेदार के पद पर था। वह इस पद पर कई वर्षों तक सफलतापूर्वक कार्य करता रहा।

महाराणा सांगा ने अपने अन्तिम दिनों में इस दुर्ग को अपने पुत्र विक्रमादित्य एवं उदयसिंह को दे दिया

---

१ संवत् १६२५ वर्षे शाके १४९० प्रवर्तमाने दक्षिणायने मार्गशीर्षशुक्लपक्षे षष्ठम्यां शनौ श्री कुंभलमेरु दुर्गे रा० श्री उदयसिंह राज्ये खरतरगच्छे श्री गुणलाभ महोपाध्यायैः स्ववाचनार्थं लिखापितं। (सम्यक्त्वकथाकौमुदी ग्र० नं० १६१०, आमेर-शास्त्र भंडार)

२. ओझा-उदयपुर राज्य का इतिहास, भाग २, पृ० ६६२ ।



था। ये दोनो अपनी माता हाडी करमेती के साथ यही रहा करते थे।[1] बाबर ने अपनी जीवनी तुजके बाबरी मे लिखा है कि सागा की मृत्यु के पश्चात् उक्त रानी ने चित्तौड के राज्य को प्राप्त करने[2] मे उसकी सहायता चाही थी एव रणथभोर उसे देने का वचन भी दिया था किन्तु राणा सागा का ज्येष्ठ पुत्र एव उत्तराधिकारी रत्नसिंह शीघ्र ही मार डाला गया एव हाडी करमेती का पुत्र विक्रमादित्य स्वत चित्तौड का स्वामी हो गया। इतना होते हुए भी रणथभोर पर मुसलमानो का अधिकार हो गया। आमेर-शास्त्रभडार मे उक्त काल की लिखी कुछ ग्रथो की प्रतिया उपलब्ध है जिनमे स्थानीय शासक का नाम लिखा दिया हुआ है।[3] अतएव प्रतीत होता है कि इस राजनैतिक परिवर्तन के अवसर पर यह परिवार भी रणथभोर से चित्तौड चला आया हो तो कोई आश्चर्य नही। क्योंकि उस समय हाडी करमेती के पुत्रो का ही राज्य चित्तौड मे था। यह घटना वि० स० १५९०-९५ के मध्य सम्पन्न हुई होगी।

भामाशाह की सेवाएँ

भामाशाह का जन्म चित्तौड मे आषाढ शुक्ला १० वि० स० १६०४ (२८ जून १५४७ ई०) को हुआ था।[4] लूकागच्छीय पट्टावली से प्रतीत होता है कि यह परिवार वि० स० १६१६ के पूर्व अवश्यमेव चित्तौड मे बस चुका था और किसी दक्षिणी शेठ की कृपा से इस परिवार के पास करोडो रुपयो की सम्पत्ति हो गई थी। मूल वर्णन देपागर मुनि के वर्णन के साथ आता है जो परिशिष्ट के रूप मे दिया गया है।

हल्दीघाटी के युद्ध और इसके पश्चात् निरन्तर युद्धो मे व्यस्त रहने के कारण प्रताप की लगभग सारी सम्पत्ति विनष्ट हो गई। आजादी का दीवाना प्रताप देश की स्वाधीनता के लिये जगलो की खाक छानता फिर रहा था। इन भयकर विपत्तियो के समय भी वह अपने दृढ निश्चय पर अडिग रहा था। किन्तु धनाभाव से दुखी होकर वह सदैव के लिये मेवाड छोडकर जा रहा था। ऐसे समय मे भामाशाह ने अपनी सारी सम्पत्ति लाकर के उसके सन्मुख रख दी। कर्नल टाड के द्वारा दिये गये वर्णन के अनुसार यह सम्पत्ति इतनी अधिक थी कि प्रताप २५ हजार सैनिको को १२ वर्ष तक निर्वाह करा सकता था।[5] सम्पत्ति देने के सम्बन्ध में विद्वानो मे मतैक्य नही है। श्रीगौरीशकर हीराचद ओझा लिखते हैं[6] कि भामाशाह महाराणा का विश्वासपात्र प्रधान होने के कारण उसी की सलाह के अनुसार मेवाड राज्य का खजाना सुरक्षित स्थानो पर रखा जाता था जिसका ब्यौरा वह एक वही मे रखता था और आवश्यकता पडने पर इन स्थानो मे द्रव्य निकालकर लडाई का खर्च चलाया जाता था। यह मत मुझे सत्य नही लगता है। बहादुरशाह के मेवाड पर दो बार आक्रमण हुए और एक बार शेरशाह का आक्रमण हुआ। इसके बाद अकबर के साथ उदयसिंह का भयकर युद्ध हुआ। इन युद्धो से मेवाड का राजकोष खाली-सा हो चुका था।[7] बहादुरशाह को सागा द्वारा छीने हुए मालव के सुल्तान के बहुमूल्य जेवर,

---

१ ख्यातो मे लिखा है कि करमेती पर राणा सागा का विशेष प्रेम था। एक दिन करमेती ने निवेदन किया कि आप अपने जीवनकाल मे ही अपने २ पुत्रो को, जो रतनसिंह से छोटे हैं, रणथमोर की जागीर दिला दें और सूरजमल हाडा को नियुक्त कर दें तो अधिक अच्छा रहे। सागा ने ऐसा ही कर दिया। किन्तु उसके मरने के बाद रतनसिंह और सूरजमल मे विद्वेष बना रहा और दोनों इसी मामले को लेकर आपस मे मन-मुटाव रखने लगे। इसके परिणामस्वरूप दोनो ने एक-दूसरे पर घातक आक्रमण कर अपनी अपनी जान से हाथ धोया।

२ तुजके बाबरी (अग्रेजी अनुवाद) पृ० ६१२-६१३

३ राजस्थान के जैन भडारो की सूची, भाग ३, पृ० ७३

४ वीर विनोद, भाग २, पृ० २५१। ओसवाल जाति का इतिहास, पृ० ७४

५ ओसवाल जाति का इतिहास, पृ० ७३

६ ओझा-उदयपुर राज्य का इतिहास, भाग २, पृ० ९९१-९२

७ ओझा-उदयपुर राज्य का इतिहास, भाग १, पृ० ४६३-६५। इसमे महाराणा अमरसिंह के समय की सम्पत्ति का उल्लेख किया गया है। जहागीर को दिये गये रत्नो का उल्लेख भी है किन्तु प्रताप ने अपने अन्तिम वर्षो मे मेवाड मे फिर से समृद्धि और शाति ला दी थी अतएव उस सम्पत्ति से प्रताप के सकट के समय की सम्पत्ति से तुलना नहीं हो सकती है।

जडाऊ मुकट, सोने की कमरपेटी आदि तक देने पडे थे। अतएव उस समय जो राशि भामाशाह ने दी थी वह स्वय उसके परिवार की ही थी। लूकागच्छीय पट्टावली के वर्णन के अनुसार इस परिवार के पास करोडो की सम्पत्ति थी। इस सम्पत्ति के अतिरिक्त महाराणा ने भामाशाह और उसके छोटे भाई ताराचद को मालवा से सम्पत्ति लूट कर लाने को भेजा। दोनो भाइयो ने २०,००० मोहरें लूट करके ला कर महाराणा को प्रस्तुत की।[1] अकबर के सेनापति शाहबाजखा ने पीछा किया और लडते-लडते बसी ग्राम के पास ताराचद घायल हो गया। तब बसी का स्वामी साईदास उसको उठाकर लेगया और उपचार की समुचित व्यवस्था कराई।

इस प्रकार विशाल सम्पत्ति के मिलजाने से प्रताप ने अपनी खोई हुई भूमि को वापस प्राप्त करने मे सफलता प्राप्त करली। मेवाड मे चितौड कुभलगढ के महत्वपूर्ण दुर्गो को छोडकर शेष सारे भाग पर उसका अधिकार हो गया था।

भामाशाह और ताराचद दोनो कुशल सैनिक भी थे। हल्दीघाटी के युद्ध मे दोनो सफलतापूर्वक[2] लडे थे। भामाशाह द्वारा जारी किये गये कई ताम्रपत्र भी मिले हैं। ये महाराणा प्रताप के शासनकाल के हैं और वि० स० १६३३ से लेकर १६५१ तक के मिलते हैं।[3] ताराचद उस समय गाडवाड मे सादडी ग्राम का हाकिम था। इसने इस नगर की बडी सुन्दर व्यवस्था की थी और शाहबाजखा को इसे अधिकृत नही करने दिया था।[4] नाडोल की तरफ से

---

१ डा० गोपीनाथ शर्मा-मेवाड एण्ड मुगल एम्परर्स'

२ वीर विनोद, भाग २, पृ० १५१। ओझा-उदयपुर राज्य का इतिहास, भाग १, पृ० ४३२

३ महाराणा प्रताप के समय के कुछ ताम्रपत्र जिनपर भामाशाह का नाम प्रधान के रूप मे अकित है, इस सम्बन्ध मे उल्लेख हैं —

(१) वि० स० १६४४ का दिगम्बर जैन मदिर ऋषभदेव का।

(२) वि० स० १६३३ का कुभलगढ का ताम्रपत्र—"महाराजाधिराज महाराणा श्री प्रतापसीघ आदेशात् आचार्य बालाजी वा किसनदास दलभद्र कस्य ग्राम १ सवाणो मया कीधो उदके आवाटे दत्ता कुभलमेर मध्ये सवत् १६३३ वर्षे भादवा सुदी ५ रवौ श्रीमुख प्रति हुकम दी दो रायजीसाहभामो पहला पतर ले गया लुटग्यो गयो सु नवो करे नया कीधो"—(मेवाड एन्ड मुगल एम्परर्स, पृ० २०८)

इस ताम्रपत्र से स्पष्ट है कि इस सवत् तक अवश्यमेव वह मेवाड का प्रधान हो चुका था।

(३) वि० स० १६४५ का ताम्रपत्र जहाजपुर का —
"सिधश्री महाराजाधिराज महाराणाजी श्री प्रतापसींघजी आदेशातु तिवाडी साहूल नायण भवान काना गोपाल टीला धरती उदक आगे राणाजी श्री जी ता-रा पत्र करावे दीधो थो प्रगणे जाजपुर रा ग्राम पडेरमट्टे हले धरती बीगा सारा करे दीधो श्रीमुख हुकम हुओ। साह भामा। सवत् १६४५ काती सुदी १५।"

(४) वि० स० १६५१ का ताम्रपत्र—
"महाराजाधिराज महाराणा श्री प्रतापसिंघ आदेशातु चौधरी रोहितास कस्य ग्राम नय कीधो ग्राम डईलाणा वडा माहे पेत ४ वरमाली रा उदक स० १६५१ वर्षे आसोज सुद १५ दव श्रीमुख वीदमान सा० भामा।"

इन उपरोक्त विवरणो से उक्त वर्षो मे उसके बराबर प्रधान रहने की बात सिद्ध होती है।

४ शाहबाजखा बराबर इस क्षेत्र में लड रहा था। रामपुरा नवाब की लाइब्रेरी मे सुरक्षित तारीख-ए-अकबरी जो हाजी मोहम्मद आरिफ कधारी ने लिखी है, इस सम्बन्ध में महत्वपूर्ण है। इसमे वि० स० १६३३ मे ही अकबर ने शाहबाजखा को इस क्षेत्र मे लगा दिया था। जैसलमेर भडार मे भोजचरित की हस्तलिखित प्रति सग्रहीत है जिसमे वि० स० १६३४ की प्रशस्ति दी है जिसमे कुभलगढ के लिये लिखा है—"कुभलगढ दुर्गे विग्रहो विजयो भवति" एव वहां अकबर का राज्य भी उल्लखित किया है आदि। शाहबाजखा को पूर्ण विजय वि० स० १६३५ मे मिली थी। उस समय भी धोखे और चालाकी से। कधारी ने "खिदहाव और फरेब दादा" शब्द प्रयुक्त किये हैं। इस प्रकार निरन्तर दो वर्षो तक शाहबाजखां इस क्षेत्र मे बराबर लडता रहा था।



बादशाह की ओर से आक्रमण होते रहते थे। इनका उसने सफलतापूर्वक मुकाबला किया था।[1]

वीर-विनोद में दिये गये वृत्तान्त के अनुसार भामाशाह[2] को अब्दुर्रहीम खानखाना ने महाराणा को अकबर की अधीनता में लाने के लिये बहुत समझाया था और हर तरह से इसे लालच दिया गया था किन्तु त्यागमूर्ति भामाशाह ने उसे नकारात्मक उत्तर दे दिया।

लूंकागच्छ की सेवायें

भामाशाह-परिवार लूंकागच्छ का मानने वाला था। उक्त पट्टावली में दिये गये वृत्तान्त के अनुसार भीण्डर आदि मेवाड़ के कई ग्रामों में लूंकागच्छ के फैलाव के लिये इसने बड़ी सहायता दी थी। कई दिगम्बर परिवारों तक को इसमें दीक्षित कराया था। लोगों को लाखों रुपयों की धन से भी सहायता दी थी। ताराचंद ने भी गोड़वाड़ में इस कार्य को किया था। मोहनलाल दलीचंद देसाई लिखते[3] हैं कि भामाशाह के भाई ताराचंद को गोड़वाड़ की हाकिमी मिलते ही वह सादड़ी में रहने वाले लूंकागच्छीय साधुओं का पक्ष लेने लगा। उसने मूर्तिपूजा बन्द तो नहीं कराई किन्तु पुष्पादि वस्तुयें इसके लिये वर्जित करादीं। इसके प्रभाव के कारण कई लोग लूंकागच्छ में आ गये। इसने मूर्तिपूजकों पर कई अत्याचार किये। श्री देसाई ने अत्याचार का उक्त कथन श्री जैन श्वेताम्बर मूर्तिपूजक गोड़वाड़ और सादड़ी लूंकामतियों के मतभेद का दिग्दर्शन नामक पुस्तक के आधार पर लिखा है जो कहां तक सही है कहा नहीं जा सकता।

कलाप्रेमी ताराचंद

ताराचंद बड़ा कलाप्रेमी था। इसने सादड़ी में विशाल बावड़ी बनवाई थी और उस पर एक शिलालेख भी लगवाया था। यह बावड़ी इसके मरने के बाद इसके पुत्र ने पूरी की थी। इसका शिलालेख अभी जीर्णोद्धार के समय वहां से हटा लिया गया प्रतीत होता है। मैंने कुछ वर्ष पूर्व इसकी छाप ली थी और इसे प्रकाशित भी कराया था।[4] यह बावड़ी स्थापत्यकला का एक उत्कृष्ट नमूना है। ताराचंद के यहां कई संगीतज्ञ भी थे। सादड़ी में इसकी छत्री के समीप इसकी चार स्त्रियों की मूर्तियां हैं। इनके अतिरिक्त एक खवास, ६ गायिकाएं, एक गवैया और एक गवैया की स्त्री की मूर्तियां भी खुदी हुई हैं। इन पर वि० सं० १६४८ वैसाख वदि ६ के लेख हैं। इससे प्रतीत होता है कि कलाओं का वह बड़ा संरक्षक था। बावड़ी में इसके बैठने का स्थान दर्शनीय है। यह साहित्यप्रेमी भी था। हेमरतन ने प्रसिद्ध गोरा-बादल चौपाई[5] इसके पास रहकर के ही लिखी थी। इसकी प्रशस्ति से प्रताप के अन्तिम दिनों में इस परिवार की स्थिति का पता चलता है।

---

१ वीर विनोद, भाग २, पृ० २५७

२ उक्त पृ० १५६। ओझा-उदयपुर राज्य का इतिहास, पृ० ४४६

३ जैन साहित्यनो संक्षिप्त इतिहास, पृ० ५६६

४ मरु भारती अंक ३, पृष्ठ ७ से १०

५ संवत् सोलहसइ पणयाल।
श्रावण सुदी पंचमी सुविसाल॥
पृथवी पीठि घणु परगही।
नयर पुरी सोहइ सादडी॥
पृथ्वी परगट राण प्रताप।
प्रतपइ दिन दिन अधिक प्रताप॥
तस मंत्रीसर बुद्धिनिधान।
कावेडिया कुल तिलक निधान॥
सामिधरमी धुरी भामुसाह।
वयरी घन विधुपण राह॥
(पुरातत्त्वमंदिर जोधपुर की एक प्रति से) यहां 'सामिधरमी' शब्द विशेष उल्लेखनीय है।

भामाशाह के वंशज

भामाशाह की मृत्यु वि० सं० १६५६ में हुई थी।[1] महाराणा प्रताप के बाद उनके पुत्र अमरसिंह के समय में भी वह इस पद पर विद्यमान रहा था। उसकी मृत्यु के पश्चात् उसका पुत्र जीवाशाह मेवाड़ का प्रधान बनाया गया। कर्णसिंह के साथ संधि के समय वह जहाँगीर बादशाह के पास गया था।[2] इसकी मृत्यु के पश्चात् उसका पुत्र अक्षयराज मेवाड़ का प्रधान बना था।[3] इसके बाद भामाशाह के वंशजों को यह अधिकार प्राप्त नहीं हो सका। किन्तु उनका सम्मान यथावत् बना रहा। महाराणा स्वरूपसिंहजी के समय एक विवाद उठ खड़ा हुआ कि ओसवालों की न्यात में प्रथम तिलक किसको किया जावे? इस पर महाराणा ने वि० सं० १६१२ ज्येष्ठ १५ बुधवार को एक पट्टा लिखकर भामाशाह के परिवार वालों की प्रतिष्ठा बनाये रखने और उनको प्रथम तिलक करने का आदेश दिया।[4]

इस प्रकार भामाशाह की सेवाओं से मेवाड़ की ही रक्षा नहीं हुई अपितु समस्त हिन्दू जाति का महान उपकार हुआ। अगर यथासमय धन की सहायता भामाशाह-परिवार नहीं देता तो संभवतः प्रताप मेवाड़ छोड़कर चले जाते। इससे इतिहास कुछ और ही होता। प्रताप की त्याग बलिदान और अपूर्व साहस की कहानी के साथ साथ भामाशाह की स्वामिभक्ति और देशभक्ति की गाथाएँ सदैव गाई जाती रहेंगी।

सादड़ी का शिलालेख

सादड़ी से उत्तर भाग में बावड़ी का शिलालेख महाराणा अमरसिंह के शासनकाल के प्रारम्भिक वर्षों का है। इसमें भामाशाह के भाई ताराचन्द के बनवाने की चर्चा हुई है। इसमें कुल २२ पंक्तियाँ हैं। लेख वि० सं० १६५४ वैशाख वदि ३ का है। ताराचंद इस समय स्वर्गस्थ हो चुका था। उसके पुत्र सुरताण ने इसकी प्रतिष्ठा कराई थी। लेख में भामाशाह की माता कर्पूरदेवी का उल्लेख है। यह लेख इसलिए भी महत्त्वपूर्ण है कि महाराणा प्रताप के अन्तिम दिनों में इस क्षेत्र को मुसलमानों से पूर्ण रूप से मुक्त करा लिया था। इस बात की पुष्टि वि० सं० १६५१ के ढेलाना (गोड़-वाड़) ताम्रपत्र से होती है। यह ताम्रपत्र भामाशाह के हस्ताक्षरों से जारी किया गया था।

परिशिष्ट १

नागपुरीय लुकागच्छीय पट्टावली में भामाशाह का वर्णन

" तत्पट्टे श्री देवगार सूरयो वसुदन्ने परीक्षक दर्शीया कोटटानिसमेपेतनी नामा जनक धनवती जननी, नागोरपुरे चारित्र पदमपि लब्धवानम्। संवत् १६१६ चित्रकूट महादुर्गे कावड़ियान्वयो भारमल्लो धनी तपा-



---

1 ओझा-उदयपुर राज्य का इतिहास, भाग २, पृ० ६६२-६३

2 उक्त भाग २ पृष्ठ० ६६३

3 उक्त

4 "स्वस्ति श्री उदयपुर सुभसुथाने महाराजाधिराज महाराणा श्री सरूपसिंघजी आदेशात् कावड्या जैचंद कुनणे वीरचन्द कस्य अप्रच थारा बडा वासा भामो कावड्यो ईं राजम्हे सामध्र्म कासु काम चाकरी करी जिकी मरजाद ठेठसू ह्या है—महाजना की जातम्हे बावनी त्या चोका की जीमण वा सीग पूजा होवे जीम्हे पहला तलक थारे हो तो हो सो अगला नगर सेठ वेणीदास करसो कर्यो अर बेदर्याफत तलक थारे नहीं करबा दीदो अबार थारी सालसी दीठी सो नगे करी अर न्यात म्हे हुक्मर मालुम हुई सो अब तलाक माफक दस्तूर के थे थारे कराया जाजो आगा सु थारा हुकम कर दीदो है सो पेली तलक थारे होवेगा। प्रवानगी मेहता मेरसींघ सवत् १६१२ ज्येष्ठ सुदी १५ बुधो ॥"

गणीयोऽभूत् । तेन देपागरसूरीणामभिधान शुद्धक्रियाधारकत्व च श्रुतम् । तदादित एव तद्गुणरञ्जितचेतस्कोऽवदत् श्लोक —

धन्यो देपागरस्वामी प्रदीपो जैनशासने ।
एष एव गुरुर्मेऽस्ति धन्योऽहं तन्निदेशकृत् ।।

इति भावनया शुद्धात्माऽभूद् भारमल्ल । तस्मिन्नवसरे तत्रत्यो भामा नामो नाहटोऽस्ति । तद्गृहे पुण्ययोगाद् दक्षिणवर्त्त शङ्ख प्रादुरभूत् तत्सानिध्याद् गृहेऽष्टादशकोट्यो धनस्य प्रकटी भवन्ति एकदा तत्र वन्तारुचैर्मण्ड-पाद्यो धर्मध्यान विदधत् साधुगुणग्रामाभिराम श्रीदेपागरस्वामी शुद्ध नगोवने भारमल्लेन दृष्टो विधिवद् वन्दितश्च । शुद्धधर्मोपदेशामृत पीत श्रवणाभ्याम् । अति प्रसन्नेन भारमल्लेन विमृष्टमहो ! महान भाग्योदयो मे प्रकटितो यदीदृग गुण-गौरवा दृष्ट । सर्वेऽर्थो मे सेत्स्यन्ति। तदा भारमल्लान्वये च बहव श्रावका जाता नागोरी लुङ्कगणीया । अथ भारमल्ल-स्य भामानामकसुतोऽजनि । महान् मह कृत । सवत्र दानादिनार्थिजनमनोरथा पूरिता । अन्येपि ताराचद्रादय पुत्रा अभूवन् । तत्र भामाशाहताराचद्रौ विश्रुतौ जातौ । स्वगच्छरागेण बहवो जना स्वगणे समानीता । पुन श्री राणाजी-तोऽमात्य पद लात्वा बलिनौ जातौ । ताराचद्रेण सादडी नाम नगर स्थापितम् । सर्वत्र पौषध शालादिकानि स्थानानि कारितानि । स्थाने स्थाने पुरे पुरे ग्रामे ग्रामे बहुजनेभ्यो धन दाय दाय स्व गणीया कृता । श्री नागोरी लुकागणोऽतिस्या-तिमाप । पुन भामाशाहेन दिगम्बरमतगा नरसिंघपोरा स्वगणेसमानीता । बहु स्व दत्वा १७०० गृहाणि तेपामात्मी-यानि कृतानि । भिण्डरकादि पुरेषु तदा च जात श्रावकगृहाणा चतुरशीतिसहस्राधिक लक्षमेकम् ।

(विविधगच्छीय पट्टावली से)

परिशिष्ट २

सादड़ी का तारावावडी का शिलालेख

मूल शिलालेख

(१) ॐ ।। श्री गणेशायनम । श्री ब्राह्मणेनम ।
(२) (श्री) लक्ष्मीनारायणाय नम ।। श्री उमामहे—
(३) श्वराय [राभ्या] नम ।। अथ श्री नृपविक्रमार्क समय (या)
(४) त् ।। सवत् १६५४ वर्षे शाके १५२० प्रवर्तमाने
(५) महामागल्यप्रदवैशापम (ा) से कृष्णपक्षे द्वि-
(६) तीयाया तिथौ बृहस्पत्त (ति) वासरे श्रीसादडी
(७) नगर ।। महाजाधिराज महाराणा श्री श्री
(८) अमरसघजी विजयराज (ज्ये) उसवाली ज्ञाती
(९) य कावेडीय गोत्र श्रावकवृन्द विराजमान
(१०) साह श्री भारमलतद्भार्या शीलालकारधा-
(११) रणी अनेकतुल्य पुरुपाद (पेन्य) महापुण्यकार-
(१२) णी नादेचा गात्रगायि (य) श्रीगगाजल-निर्मला
(१३) माइ श्री कर्पूरनाम्नि नयस (तस्या) पुत्रस्य

(१४) तारचदन्य एरादशनतीर्नाटन (?) मपुयर्ं (पुण्यार्थं)

(१५) श्रेयार्थं श्रीनागवारिनामक तीर्थं कारित

(१६) नगुरेण साह् मग्नान (सुरत्राण) जीनाम केन प्रन (नि)

(१७) पन्यमान विजीरोना (विजयाना) [मृ] शुभ भवतु । ठ

(१८) यावत् कूर्मधृना धरा विजयते यावद्भुजगा-

(१९) धिप पाताले पवमानपूग्निननुर्यावद्रवि

(२०) इन्द्रन्ता । तावत्तिष्ठतु तीर्थमतमदल वा-

(२१) पी महामदना साह् श्री सुग्नाणवेन वि

(२२) हित सातन्यपुष्टिप्रद ।। श्रीरस्तु । श्री ।।

•





चतुर्थ खण्ड



• साहित्य

मज्झिमनिकाय में उपलब्ध जैन शब्दावलि एवं उसका तुलनात्मक विवेचन



डॉ० परमेष्ठीदास जैन

शास्त्री, एम०ए०, बी०टी०, पी-एच० डी० आचार्य गुरुकुल, खुरई (म०प्र०)

किसी भी धर्म का स्वरूप उसके साहित्य में मिलता है। साहित्य के द्वारा हमें न केवल धर्म के सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त होती है, बल्कि समाज तथा समय के अनुरूप उस धर्म की व्याख्या में क्या कैसे परिवर्तन परिवर्द्धन या संवर्द्धन हुए उन सब बातों की जानकारी मिलती है। इसके सिवाय समकालीन अन्य मतावलम्बियों के साहित्य में भी उस मत से सम्बन्धित यत्र-तत्र सामग्री बिखरी पड़ी रहती है।

यद्यपि जैन तीर्थंकरों की परम्परा पौराणिक है परन्तु वर्तमान में प्राप्त जैन साहित्य का प्रारम्भिक स्रोत अंग-साहित्य वेद के समान पुराना नहीं है। फिर भी इसे बौद्ध पिटक का समकालीन माना जाता है। जैन एवं बौद्ध चिन्तकों ने तप, शम दम इत्यादि की साधना पर अधिक जोर दिया है। उन्होंने हिंसा आदि घोर अनर्थकारी प्रवृत्तियों के उन्मूलन करने का प्रयास और सफल प्रयास किया है। समय और परिस्थिति के अनुसार जैन और बौद्ध श्रमणों को दो प्रकार से एक-से प्रयास की ओर मुड़ना पड़ा।

(१) तत्कालीन वैदिक विचारधारा ने अपने वेदों को अपौरुषेय तथा नित्य कहा था। भारतीय जन की इस श्रद्धा की नींव को हिलाना था। उनकी प्रामाणिकता में शंका के बीज बोना था। वेदों में वर्णित यज्ञों की हिंसा का प्रबल विरोध करके उसके स्थान पर अहिंसा सरीखे आत्म-साम्यपरक सिद्धान्तों का प्रचार करना था।

(२) दूसरी बात है जैनों और बौद्धों को एक ही स्थान और एक ही समय पर अपने-अपने सिद्धान्तों का प्रचार करना था। काल, क्षेत्र और परिस्थिति का साहित्य पर अधिक प्रभाव पड़ता है। महात्मा बुद्ध और भगवान् महावीर ने बिहार में जन्म लिया। वही उनका कार्यक्षेत्र रहा। एक दूसरे के मतानुयायी परस्पर में मिलते-जुलते रहे। एक धर्म के मानने वाले दूसरे धर्म में भी दीक्षित किए गए। स्वयं महात्मा बुद्ध ने कुछ समय तक आत्मज्ञान प्राप्त करने के प्रयत्न में कई धर्मों की साधना की।

इन बातों का प्रभाव यह हुआ कि इन दोनों श्रमण-संस्कृतियों एवं उनके साहित्य में न केवल कई समान क्रियाओं, आचरण तथा शब्दों का उल्लेख पाया जाता है, बल्कि उनकी व्याख्या या विवेचन भी साम्यता लिए हुए हैं।

मज्झिमनिकाय का बौद्ध साहित्य में एक प्रमुख एवं महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसमें स्थान-स्थान पर भगवान् महावीर तथा उनके सिद्धान्तों के सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण जानकारी मिलती है। जिस समय भगवान् महावीर का निर्वाण पावा में हुआ था उस समय भगवान् शाक्य सामगाम में विहार करते थे[1]। जैनसाधुओं के विभाजन होने का उल्लेख भी यहीं मिलता है।

जैनसाहित्य में प्रयुक्त होनेवाली शब्दावलि मज्झिमनिकाय में प्राप्त होती है। इन शब्दों में से कई शब्दों

---

१ सामगाम सुत्त ३-१-४

का नाम मात्र उल्लेख पाया जाता है जबकि कई शब्दों की विस्तृत व्याख्या भी मिलती है। जो शब्द इस ग्रन्थ में उपलब्ध हैं, वे निम्न प्रकार से दिये जाते हैं—

ज्ञान, दर्शन, क्रोध, राग, मोह, द्वेष, देव, मार, श्रमण, मुनि, जिन, अचेलक, ध्यान, प्रज्ञा, तप, पुण्य, पाप, निदान, ऋद्धि, निर्वाण, ब्रह्मचर्य, तृष्णा, वेदना, संज्ञा, शील, समाधि, सदाचार, इन्द्रिय, समय, त्याग, सर्वज्ञ, अर्हन्, नरक, स्वर्ग, चक्रवर्ती, अपरिग्रह, शल्य, दुःख, आत्मवाद, अनात्मवाद, धर्म, आस्रव, संवर, भावना, संसार, निगंठ निग्रन्थ, सम्यग्दृष्टि, योनि, अण्डज, औपपातिक, जरायुज, मोक्ष, ईर्या, केवली, गति, गुप्ति, पुद्गल, त्रिगुप्ति, गन्धकुटी, [illegible]-निकाय, संस्थान इत्यादि।

इन शब्दों में से निम्नलिखित शब्दों का विवेचन मिलता है —

(१) सम्यग्दृष्टि
(२) भावना
(३) निर्वाण
(४) योनि
(५) शल्य
(६) इन्द्रिय
(७) स्वर्ग-नरक
(८) आस्रव
(९) गति
(१०) जिन, अर्हन्, मुनि, केवली, तीर्थंकर।

सम्यग्दृष्टि —

मज्झिमनिकाय (१-१-९) में सम्मादिट्ठि सुत्तन्त नामक सूत्र है। उसमें सम्यग्दृष्टि का वर्णन किया गया है। आर्य श्रावक सम्यग्दृष्टि होता है। उसकी दृष्टि सीधी, वह धर्म में अत्यन्त श्रद्धावान् और इस सद्धर्म को प्राप्त होता है। आर्य श्रावक अकुशल को जानता है। अकुशल-मूल को जानता है। कुशल को जानता है और कुशल-मूल को जानता है। इतने से आवुसो! आर्य श्रावक सम्यग्दृष्टि होता है।"

इस ग्रन्थ में अकुशल की गणना १० तथा अकुशलमूल की गणना ३ में बताई गई है।

(१) प्राणातिपात (हिंसा) (२) अदत्तादान (चोरी) (३) काम (स्त्रीसंसर्ग) में मिथ्याचार (४) मृषावाद (झूठ बोलना) (५) पिशुन वचन (चुगली) (६) परुष वचन (कठोर भाषण) (७) सप्रलाप (बकवाद) (८) अभिध्या (लालच) (९) व्यापाद (प्रतिहिंसा) (१०) मिथ्यादृष्टि (झूठी धारणा)। यह आवुसो अकुशल कहा जाता है।

(१) लोभ (२) द्वेष (३) मोह अकुशलमूल है। इसके विपरीत कुशल और कुशलमूल का विवेचन इसी सूत्र में किया गया है।

जैनदर्शन के अनुसार सम्यग्दर्शन साधना का मूल है। साधना में बाधा डालने वाला मोहकर्म है। मोहरूपी मूल रहने के कारण ही व्यक्ति अपनी साधना करने में असमर्थ रहता है। मोह में राग और द्वेष भी सम्मिलित रहते हैं अर्थात् राग, द्वेष और मोह ही व्यक्ति की साधना में अत्यधिक बाधक हैं। इसी प्रकार मज्झिमनिकाय में बुराइयों की जड़ लोभ, द्वेष, और मोह बताया गया है।

मज्झिमनिकाय (१ ५ ३) में एक प्रश्नोत्तर मिलता है। सम्यग्दृष्टि के ग्रहण में कितने प्रत्यय हैं? दो प्रत्यय हैं (१) दूसरों से घोष (उपदेश श्रवण) और (२) योनिश मनस्कार (मूल पर विचार करना)।

इसी प्रकार जैनधर्म में सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति के दो कारण बतलाए गए हैं। आचार्य उमास्वाति ने लिखा

है[1] कि सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति मे दो कारण होते है (१) अधिगम और (२) निसर्ग। उसका तात्पर्य वही है जो मज्झिमनिकाय मे बताया गया है।

अब हमे यह देखना है कि मज्झिमनिकाय मे जिन कुशल धर्मो को गिनाया है (२-४-६) उनमे जैनमतानुसार वर्णित महाव्रतो से कैसे सामञ्जस्य स्थापित किया जा सकता है ?

साधना की पाच भूमिकाएँ होती है, उनमे सर्वप्रथम सम्यग्दर्शन का ही स्थान दिया गया है। उसके बाद विरति को स्थान मिला है। व्रत पाच होते है—

(१) अहिंसा (२) सत्य (३) अचौर्य (४) ब्रह्मचर्य (५) अपरिग्रह।

हम देखते है कि सम्मादिट्ठि सुत्तन्त मे जिन १० कुशल धर्मों का उल्लेख आया है, वे सब ५ महाव्रतो के अनुकूल ही बैठते है।

महाव्रत	कुशल धर्म
(१) अहिंसा	(१) प्राणातिपात (९) व्यापाद से विरति
(२) सत्य	(४) मृषावाद (५) पिशुनवचन (६) परुष वचन
	(७) सम्प्रलाप से विरति
(३) अचौर्य	(२) अदत्तादान से विरति
(४) ब्रह्मचर्य	(३) काम मे मिथ्याचार से विरति
(५) अपरिग्रह	(८) अभिध्या से विरति

इन सभी का मूल (१०) मिथ्यादृष्टि से विरति ही है इसलिए कुशल धर्मों मे उसे भी जोड दिया गया है। जैनधर्म मे भी व्रत धारण करने के पूर्व मिथ्यादर्शन से रहित होने के लिए कहा गया है। इसका इतना अधिक महत्त्व प्रदर्शित किया गया है कि सम्यग्दर्शन के अभाव मे सच्चा चारित्र हो ही नही सकता।

भावना[2]

सम्यग्दर्शन के साथ ही भावना का स्थान आता है। भावना निरन्तर चिन्तवन करने योग्य है। महायमक वग्ग के अन्तर्गत चूल अस्सपुर सुत्तन्त मे भावना का वर्णन आता है।

'मैत्री, करुणा, मुदिता, उपेक्षा की भावना करने वाला आध्यात्मिक शान्ति प्राप्त कर सकता है। भिक्षुओ ! भिक्षु श्रमण सामीची प्रतिपद् (सच्चा श्रमण बनाने वाले मार्ग) पर कैसे आरूढ हो सकता है ? भिक्षुओ ! जिस किसी अभिध्यालु भिक्षु की अभिध्या (लोभ) नष्ट होती है, मिथ्यादृष्टि नष्ट होती है (वह) इन श्रमण मलो० के विनाश से श्रमण सामीची प्रतिपद् पर मार्गारूढ कहता हूँ। (फिर) वह उन सभी पापक अकुशल धर्मों से अपने को विशुद्ध देखता है, अपने को विमुक्त देखता है। (फिर) इन सभी पापक० धर्मों से अपने को विशुद्ध० विमुक्त देखने वाले उस (पुरुष) को प्रमोद उत्पन्न होता है। प्रीतिमान् की काया स्थिर होती है। स्थिर शरीर सुख अनुभव करता है। सुखित का चित्त समाहित (एकाग्र) होता है। वह मैत्रीयुक्त चित्त से एक दिशा को प्लावित कर विहरता है और दूसरी दिशा० और तीसरी० और चौथी० इसी प्रकार ऊपर नीचे तिरछे सबकी इच्छा से सबके अर्थ सभी लोक को विपुल, महान, अप्रमाण, अवैर, द्वेषरहित, मैत्रीपूर्ण चित्त से प्लावित कर विहरता है।

तत्वार्थ सूत्र[3] के सप्तम अध्याय मे व्रतो की भावना का वर्णन है। इसके अन्तर्गत निरन्तर चिन्तवन करने योग्य चार भावनाएँ आती है। मैत्री, प्रमोद, कारुण्य और माध्यस्थ्य भावनाओ का चिन्तवन करना चाहिए। इन सूत्र



---

१ तत्वार्थसूत्र—तन्निसर्गादधिगमाद्वा १-३

२ मज्झिमनिकाय १-४-१०

३ मैत्रीप्रमोदकारुण्यमाध्यस्थ्यानि च सत्त्वगुणाधिकक्लिश्यमानाऽविनयेषु त० सू० ७-११



मे यह स्पष्ट किया गया है कि किनके साथ कैसी भावना करना चाहिए। प्राणी मात्र मे मित्रता की भावना रखना, अधिकगुणो के धारी जीवो को देखकर आन्तरिक प्रसन्नता प्रकट करना, दुखी जीवो को देखकर उनके प्रति उपकार करने की भावना रखना तथा विरोधियो के प्रति माध्यस्थ्य भाव रखना ये ४ भावनाएं हैं। इन भावनाओं को प० जुगलकिशोर मुख्तार ने मेरी भावना मे सुन्दर ढग से रखा है—

मैत्री भाव जगत मे मेरा सब जीवो से नित्य रहे।
दीन दुखी जीवो पर मेरे उर मे करुणा स्रोत बहे ॥
दुर्जन क्रूर कुमार्गरतो पर क्षोभ नही मुझको आवे।
साम्यभाव रखू मैं उन पर ऐसी परिणति हो जावे ॥
गुणी जनो को देख हृदय मे मेरे प्रेम उमड आवे ॥

दोनो धर्मों मे उल्लिखित चार भावनाओ का समान रूप उपलब्ध होता है। सिर्फ प्रमोद के लिए मुदिता तथा माध्यस्थ्य के लिए उपेक्षा शब्द का प्रयोग किया गया है लेकिन अर्थ मे कोई भिन्नता नही है।

निर्वाण

आरोग्य परम लाभ है। निर्वाण परम सुख है।[1] जो यह तृणकाष्ठ के उपादान को लेकर जली, उसके पर्यादान से और अन्य (तृण काष्ठ) के अनुपहार से आहार बिना बुझ गई (निर्वाण प्राप्त) यही नाम होता है।[2]

जिस रूप से (उन्हे) जतलाया जाता, वह रूप (ही) तथागत का प्रहीण (नष्ट) हो गया, उच्छिन्न मूल, शिरकटे ताड जैसा, अभाव प्राप्त, भविष्य मे उत्पन्न न होने लायक हो गया।[3]

पाँच अवर भागीय सयोजनो के क्षय से औपपातिक (देव) हो उस देवलोक मे निर्वाण प्राप्त करने वाला, उस लोक से लौटकर न आने वाला हो।[4]

मज्झिमनिकाय (१-३-४) मे निर्वाणमार्ग का पूरा वर्णन मिलता है। इसके अनुसार बताया गया है कि शीलविशुद्धि तभी तक है जब तक कि पुरुष चित्तविशुद्धि को प्राप्त नही होता, चित्तविशुद्धि तभी तक है जबतक कि दृष्टिविशुद्धि को प्राप्त नही होता, दृष्टिविशुद्धि तभी तक है जबतक कि कांक्षा वितरण विशुद्धि को प्राप्त नही होता। कांक्षा वितरण विशुद्धि तबतक है जबतक मार्गामार्ग ज्ञान दर्शन विशुद्धि को प्राप्त नही होता। मार्गामार्ग ज्ञानदर्शन विशुद्धि तबतक है जबतक कि प्रतिपद् ज्ञान दर्शन विशुद्धि को प्राप्त नही होता। प्रतिपद् ज्ञानदर्शन विशुद्धि तबतक है जबतक कि ज्ञानदर्शन विशुद्धि को प्राप्त नही होता। ज्ञानदर्शन विशुद्धि तभीतक है जबतक कि उपादान रहित परि-निर्वाण को प्राप्त नही होता।[5]

अजात (जन्म रहित) अनुत्तर (सर्वोत्तम) योगक्षेम (मगलमय) निर्वाण की पर्येषणा करना है।[6]

आत्मवादी का परम या चरम साध्य मोक्ष है। इसलिए जैनदर्शन के विवेचन का मुख्य उद्देश्य आत्म-विकास है। आत्मविकास का अर्थ है आत्मा की स्वाधीनता अर्थात् उसका कर्म की परतन्त्रता से छुटकारा। यह तीन रूप से होता है —

(१) शरीरमुक्ति

---

१ मज्झिमनिकाय २।३।५
२ वही २।३।२
३ वही २।३।२
४ वही २।३।३
५ वही १।३।४
६ वही १।३।६

(२) वचनमुक्ति
(३) क्रियामुक्ति

पाप का प्रत्याख्यान, इन्द्रिय संगोपन, शरीर संयम, वाणी संयम, मानमाया परिहार, ऋद्धि, रस और सुख के गौरव का त्याग, उपशम, अहिंसा, अचौर्य, सत्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, क्षमा, ध्यान, योग और कायव्युत्सर्ग- ये अवलंबनीय हैं। पण्डित इनके द्वारा मोक्ष का परिव्राजक बनता है।[1]

तत्वार्थसूत्र में मोक्ष या निर्वाण का मार्ग सूत्र रूप में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की गणना बताई गई है।[2]

निर्वाण कोई क्षेत्र का नाम नहीं, मुक्त आत्माएँ ही निर्वाण हैं। वे लोकाग्र में रहती हैं इसलिए उपचार दृष्टि से उसे भी निर्वाण कहा जाता है। मुक्त जीव अलोक से प्रतिहत हैं, लोकान्त में प्रतिष्ठित हैं मनुष्यलोक में शरीर मुक्त और सिद्धि के क्षेत्र में वे सिद्ध हुए हैं।[3]

मुक्त जीव अशरीरी होते हैं। मुक्ति दशा में आत्मा का किसी दूसरी शक्ति में विलय नहीं होता। मुक्त जीवों की विकास की स्थिति में भेद नहीं होता। उनकी सत्ता स्वतन्त्र होती है। सत्ता का स्थानान्तर मोक्ष की स्थिति का बाधक नहीं है।

मुक्त दशा में आत्मा समस्त वैभाविक, औपाधिक विशेषताओं से विरहित हो जाती है। मुक्त होने पर पुनरावर्तन नहीं होता।

यदि दोनों दर्शनों में वर्णित निर्वाण के विवेचन पर दृष्टिपात किया जावे तो वहाँ मार्ग की एकरूपता दृष्टिगत होती है, वहाँ निर्वाण के सम्बन्ध में सर्वथा प्रतिकूल दृष्टिकोण रखा गया है। निर्वाण के मार्ग में सच्चा विश्वास, ज्ञान और आचार-विचार को दोनों में प्रधानता दी है परन्तु जहाँ बौद्धमतानुसार द्रव्य सत्ता का अभाव ही निर्वाण है वहाँ जैनदर्शन आत्मा की शुद्ध अवस्था को निर्वाण कहता है। संसार के परिभ्रमण का अभाव उसमें हो ही जाता है अर्थात् मुक्तजीव संसार में उत्पन्न होने लायक नहीं रहता। इस दृष्टि से उसे अभाव प्राप्त मान लेने में कोई हानि नहीं है परन्तु द्रव्य का ही लोप मान लेने में कई अड़चनें उत्पन्न हो जायेंगी, जिससे द्रव्य-व्यवस्था ही भंग हो जायेगी।

योनि

मज्झिमनिकाय में योनि के चार भेद कहे हैं।[4]

(१) अण्डज योनि—जो प्राणी अण्डे के कोश को फोड़कर उत्पन्न होते हैं, यह अण्डज योनि कही जाती है।

(२) जरायुज योनि—जो प्राणी वस्तिकोष (जरायु) को फोड़कर उत्पन्न होते हैं।

(३) स्वेदज योनि—जो प्राणी सड़ी मछली, मुर्दे, कुल्माष चन्दनिका (गड्ढे) और गिल्ल (गड्ढी) में उत्पन्न होते हैं।

(४) औपपातिक योनि—देवता, नरक के जीव, कोई-कोई मनुष्य और कोई-कोई विनिपातिक (नीचे गिरने वाले), यह औपपातिक योनि कही जाती है।

जैनदर्शन में योनियों के भेद अलग से गिनाए हैं।[5] परन्तु जन्म के भेदों में जो वर्णन आया है, वह बौद्ध दर्शन के योनिभेदों से मिलता-जुलता है। सम्मूर्च्छन, गर्भ और उपपाद के भेद से जन्म तीन प्रकार का होता है।[6]

---

१ सूत्रकृतांग १ । ८ । ६ । ३६
२ सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्राणि मोक्षमार्गः १ । १
३ औपपातिक सूत्र
४ म० नि० १ । २ । २
५ तत्वार्थसूत्र २ । ३२
६ वही २ । ३१



गर्भ जन्म मे जरायुज, अण्डज और पोतज इन तीन भेदो का समावेश किया गया है।[1] इस प्रकार अडज और जरायुज गर्भ जन्म के अन्तर्गत आते है। सम्मूर्छन जन्म और स्वेदज का वर्णन बिल्कुल एक सा है। औपपातिक और उपपाद मे अन्तर नही है। सिर्फ एक बात पर ध्यान देना है। मज्झिम-निकाय मे देव और नारकी को उपपाद योनि वाला बताया है। साथ ही कोई-कोई मनुष्य और कोई-कोई विनिपातिक भी उपपाद योनि वाला बताया गया है। जैनदर्शन मे कई देवता मध्यलोक मे निवास करते हैं और कई देव रत्नप्रभा पृथ्वी (पहला नरक) के खर भाग तथा पकभाग मे जन्म लेते हैं। मालूम पडता है कि इन्ही बातो को प्रकट करने के लिए ऐसा कहा गया है।

प्राणियो के वर्णन मे इनके भेद विस्तार से बताये गये है।[2] प्राणी दो प्रकार के होते हैं—चर और अचर। अचर प्राणी पाच प्रकार के होते है। पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजस्काय, वायुकाय और वनस्पतिकाय। चर प्राणियो के आठ भेद होते है—

(१) अण्डज—अण्डो से उत्पन्न होनेवाले प्राणी अण्डज कहलाते है। जैसे—साप, केंचुआ, मच्छ, कबूतर, काक आदि।

(२) पोतज—जो जीव खुले अग मे उत्पन्न होते है, वे पोतज कहलाते है। जैसे हाथी, नकुल, चूहा, वगुली आदि।

(३) जरायुज—जरायु एक तरह का जाल जैसा रक्त एव मास से लथडा हुआ आवरण होता है और जन्म के समय वह बच्चे के शरीर पर लिपटा हुआ रहता है। ऐसे जन्मवाले प्राणी जरायुज कहलाते हैं। जैसे—मनुष्य, गौ, भैंस, ऊँट, घोडा आदि।

(४) रसज—मद्य आदि मे जो कृमि उत्पन्न होते है, वे रसज कहलाते हैं।

(५) सस्वेदज—स्वेद (पसीने) मे उत्पन्न होने वाले सस्वेदज कहलाते हैं।

(६) सम्मूर्छिम—किसी सयोग की प्रधानतया अपेक्षा नही रखते हुए यत्र-तत्र जो उत्पन्न हो जाते है, वे सम्मूर्छिम कहलाते हैं। जैसे—चीटी, मक्खी, आदि।

(७) उद्भिद्—भूमि को भेदकर निकलने वाले प्राणी उद्भिद् कहलाते हैं। जैसे—टिड्डी आदि।

(८) उपपातज—शैय्या एव कुम्भी मे उत्पन्न होने वाले उपपातज है। जैसे—देवता, नारकी आदि।

शल्य[3]

यहाँ यह अर्थ है—व्रण (घाव) यह ६ आध्यात्मिक (शरीर सम्बन्धी) आयतनो का नाम है। विषदोष यह अविद्या का नाम है। शल्य यह तृष्णा का नाम है। एषणा यह स्मृति का नाम है। शस्त्र यह आर्यप्रज्ञा का नाम है। शल्यकर्ताभिषक् यह तथागत अर्हत् सम्यक् सबुद्ध का नाम है।

सुनक्खत्त, जो भिक्षु ६ स्पर्शायतनो (चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा, काय, मन के विषयो) मे सयमी है। उपाधि (विषय सग्रह) दुःख का मूल है—इसे जान उपाधि से रहित हो उपधि के क्षय से मुक्त हो गया है, वह उपधि मे काया को लगावेगा या चित्त देगा, यह सभव नही।

तत्वार्थसूत्र[4] मे जहाँ व्रतो का वर्णन आया है, वहाँ बताया गया है कि व्रतधारण करने वाले व्यक्ति को शल्य-रहित होना चाहिए। जो आत्मा को काटे की तरह दुःख दे उसे शल्य कहते है। उसके तीन भेद है—१ माया शल्य (छल-कपट करना) २ मिथ्यात्व शल्य (तत्वो का श्रद्धान न होना) ३ निदान शल्य (आगामीकाल मे विषयो की वाञ्छा करना)।

---

१ वही २। ३३
२ जैनदर्शन के मौलिक तत्व पृ० ८५। ८६
३ म० नि० ३। १। ५
४. त० सू० ७। १८

बौद्ध ग्रन्थानुसार पाँचो इन्द्रियो के विषयो मे सयम रखने के लिए कहा गया है ।

इन्द्रिय[1]

पाँच इन्द्रियाँ हैं—चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा, काय । इन पाँच इन्द्रियो का प्रतिशरण मन है। मन इनके विषय का अनुभव करता है।

पाँच काम गुण हैं ।[2] (१) चक्षु से विज्ञेय रूप (२) श्रोत्रविज्ञेय शब्द (३) घ्राणविज्ञेय गन्ध (४) जिह्वाविज्ञेय रस (५) कायविज्ञेय स्पर्श ।

आचाराग सूत्र के शस्त्रपरिज्ञा अध्ययन मे इन इन्द्रियो का वर्णन आया है, जिनमे कहा गया है कि रूप, रस, गन्ध, शब्द व स्पर्श अज्ञानियो के लिए आवर्त रूप हैं, ऐसा समझकर विवेकी को इनमे मूर्छित नही होना चाहिए । यदि प्रमाद के कारण पहले इनकी ओर झुकाव रहा हो तो ऐसा निश्चय करना चाहिए कि अब मैं इनसे बचूगा—इनमे नही फसूगा—पूर्ववत् आचरण नही करूगा ।

स्वर्ग-नरक

मज्झिमनिकाय[3] मे स्वर्ग नरक जाने के कारण बताए गए हैं। अधर्माचरण के कारण कोई प्राणी काया छोडकर मरने के बाद नरक मे उत्पन्न होते है । धर्माचरण के कारण गृहपतियो! कोई प्राणी सुगति, स्वर्गलोक मे उत्पन्न होते हैं।

[कायिक ३] हिंसक, अदिन्नादायी (चोर), कामो मे मिथ्याचारी [वाचिक ४] मिथ्यावादी, चुगलखोर, परुषभाषी, प्रलापी [मानसिक ३] अभिध्यालु, व्यापन्नचित्त, मिथ्यादृष्टि लोग नरक मे जाते हैं ।

इसके विपरीत कार्यो के करने से प्राणी मरकर स्वर्ग मे उत्पन्न होते हैं।

व्याख्याप्रज्ञप्ति मे गतियो मे उत्पन्न होने का विशद विवरण मिलता है । उसमे कहा गया है कि व्रत, सयम, शील, तप आदि कारणो से यह जीव मरकर देवगति मे उत्पन्न होता है । देवगति मे उत्पन्न होने के कारणो मे समानता अधिक है, विषमता कम है।

आस्रव

आस्रव को रोकने के उपायो मे मन, वचन, काय की क्रिया को ठीक करने के लिए कहा गया है ।[4] उनमे से जो वह व्यक्ति अगणरहित होता है, उसे ठीक से जानता है, उससे आशा होगी कि वह शुभ निमित्त को मन मे न करेगा, शुभ निमित्त को मन में न करने से राग उसके चित्त मे न चिपटेगा, इस प्रकार वह रागद्वेष मोह से रहित, अगणरहित एव निर्मलचित्त रह मृत्यु को प्राप्त होगा ।

तत्वार्थसूत्र के छवें अध्याय मे आस्रव तत्व का वर्णन आया है। उसका प्रथम सूत्र है—"कायवाङ्मन कर्म योग." और दूसरा सूत्र है—"स आश्रव " अर्थात् काय, वचन और मन की क्रिया को योग कहते है और वह योग ही आस्रव कहा जाता है । इस प्रकार दोनो मतो मे आस्रव का वर्णन है।

गति[5]

गतियाँ पाँच होती हैं । नरक, तिर्यग्, प्रेत्यविषय, मनुष्य, देवता । इन गतियो मे जैनदर्शन के अनुसार



१ म० नि० १ । ५ । ३
२ वही १ । २ । ४
३ म० नि० १ । ५ । १
४ म० नि० १ । १ । ५
५ वही १ । २ । २



प्रेत्यविषय और देवता एक ही कोटि के माने गए हैं। भले ही निवास की दृष्टि से दो भेदकर दिए जावें परन्तु शरीर व गति आदि की दृष्टि से एक ही है। जैनदर्शन में ४ गतियों का वर्णन मिलता है।[1]

जिन, अर्हत्, केवली, मुनि, शैक्ष्य

मेरे जैसे ही मनुष्य जिन होते हैं, जिनके कि आस्रव (क्लेश मल) नष्ट हो गए। मैंने पाप धर्मों को जीत लिया है इसलिए हे उपक! मैं जिन हूँ।[2] अर्हत् क्षीणास्रव (राग आदि से मुक्त) ब्रह्मचर्यवास समाप्त कर चुका, कृत-करणीय व अवहितभार (भार को फेंक चुका) सच्चे पदार्थ को पा चुका, भवबंधन को काट चुका, यथार्थ ज्ञान द्वारा मुक्त हो चुका।[3] जो वह अर्हत् क्षीण आस्रव (ब्रह्मचर्य) वास समाप्त, कृतकृत्य, भारमुक्त, सत्पदार्थ को प्राप्त, भवबंधन रहित, सम्यक् ज्ञान द्वारा मुक्त है, वह मार की धारा से तिरछे काटकर स्वस्तिपूर्वक पार जावेगा।[4] जो भिक्षु अर्हत् (मुक्त) है, वह इन पांच बातों में असमर्थ है (१) जानकर प्राण नहीं मार सकता (२) चोरी नहीं कर सकता (३) मैथुनसेवन नहीं कर सकता (४) जानकर झूठ नहीं बोल सकता (५) क्षीणास्रव भिक्षु एकत्रित कर काम-भोगों को भोग करने के अयोग्य है जैसे कि पहले गृही होते भोगता था। जो रागों से बिल्कुल मुक्त विशुद्ध चित्त को जानता है, जन्म-मरण जिसका नष्ट हो गया, ब्रह्मचर्य (पूर्ण हो गया वह) केवली है। जो पूर्वजन्म को जानता है, स्वर्गनरक को जानता है और (जो) जन्म के क्षय को प्राप्त अभिज्ञा तत्पर (है, वह) मुनि है। जिसको अभी सीखना बाकी है, पहुंचे हुए मन वाला नहीं है, सर्वोत्तम योग क्षेम की चाह से विहरता है।

जैनदर्शन के अनुसार जिन अर्हत् और केवली में कोई अन्तर नहीं है। वे नामान्तर ही हैं। केवलज्ञान की उत्पत्ति में कारण प्रदर्शित करते हुए उमास्वाति ने लिखा है कि मोहनीय कर्म का क्षय होने से अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त क्षीण कषाय नामक १२वां गुणस्थान पाकर बाद में एक साथ ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय कर्म का क्षय होने से केवलज्ञान उत्पन्न होता है। स्पष्ट है कि जिन, अर्हत् या केवली के राग-द्वेष मोह का सर्वथा क्षय हो जाता है। जन्म-मरण के चक्र से भी छुटकारा मिल जाता है और उसकी आत्म-साधना (ब्रह्मचर्य) भी पूरी हो जाती है। मुनि, साधु, श्रमण साधक, शैक्ष्य आदि मुनियों के नाम हैं। शैक्ष्य मुनि वह कहलाता है जो शास्त्र के अध्ययन में तत्पर हो।

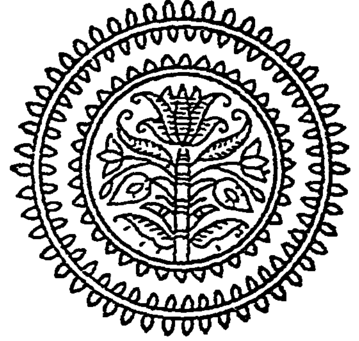
इस प्रकार जैन शब्दावलि पर विवेचन प्रस्तुत किया गया। बौद्धधर्म के समस्त ग्रन्थों का आलोडन करने के उपरान्त जैनधर्म के महत्त्वपूर्ण सिद्धान्तों पर विवेचन प्रस्तुत करना लाभकारी सिद्ध हो सकता है। आशा है, विद्वज्जन इस ओर ध्यान देंगे।

●

---

१ त० सू० ८-१०
२ म० नि० १ ३ ६
३ वही १ १ १
४ वही ९ ४ ४

प्राकृतकथा-साहित्य और उसकी विशेषताएँ



डॉ० नेमिचन्द्र शास्त्री
ज्योतिषाचार्य, एम०ए०, पी-एच०डी०, डी०लिट्०

उत्थानिका

स्थूलरूप में कथासाहित्य दो वर्गों में विभक्त किया गया है—लोककथा-साहित्य और अभिजात्यकथा-साहित्य। लोककथाओं में लोकमानस की सहज और स्वाभाविक अभिव्यक्ति रहती है। कथाकार जो कुछ कहता-सुनता है उसे समूह की वाणी बनाकर और समूह में घुलमिल कर। ये कथाएँ लोकचित्त से सीधे उत्पन्न होकर सर्व-साधारण को आन्दोलित, चलित और प्रभावित करती हैं और जनता की बोली में लिखी जाती हैं। इन कथाओं में मानवजाति की आदिम परम्पराओं, प्रथाओं और उनके विभिन्न प्रकार के विश्वासों का समवाय पाया जाता है। नृत्य, जादू, टोना, सम्मोहन, वशीकरण, भाग्य, शकुन, रोग, मृत्यु, कृषि के नाना-प्रकार सामाजिक प्रथाएँ आदि भी लोककथाओं के तत्त्व हैं। अभिजात्यकथाओं में शिक्षित, सम्पन्न एवं सुसंस्कृत समाज के विलास, वैभव, परम्परा, रीति-रिवाज एवं आचार-विचार का निरूपण रहता है। अभिजात्य कथाएँ समस्त समाज की नहीं अभिजात्य वर्ग की होती हैं। इस प्रकार की कथाएँ जनता की बोली में नहीं लिखी जाती, बल्कि किसी सामन्तीय परिष्कृत भाषा में निबद्ध की जाती हैं। संस्कृत भाषा में लिखी गयी कथाएँ भाषा और सामन्तीय वर्गविशेष का चित्रण होने से अभिजात्यवर्ग की हैं। इनमें चित्रित समाज और संस्कृति उन्नतवर्ग की है, जनसामान्य का चित्रण इन कथाओं में नहीं है।

प्राकृतकथा और उसके सामान्य भेद

प्राकृत कथाएँ लोककथाओं के संस्करण के रूप में मानी जा सकती हैं। इनमें निम्न और उन्नत दोनों प्रकार के समाज का चित्रण पाया जाता है। प्राकृत भाषा भी जनता की भाषा थी, जबकि संस्कृत भाषा अभिजात्यवर्ग की। अतः भाषा की दृष्टि से भी इन कथाओं को लोककथा के निकट मानना युक्तिसंगत है। ऐसा प्रतीत होता है कि प्राकृतकथाकारों ने लोककथाओं को धार्मिक कथा के साँचे में ढालने का प्रयत्न किया है जिससे इनमें लोकसंस्कृति का पूर्ण प्रतिफलन उपलब्ध है। प्राकृत कथाओं का लक्ष्य मूलतः कर्मफल, पुनर्जन्म, आत्मशुद्धि, व्रतभावना एवं तपश्चरण द्वारा मानव से भगवान् बन जाने का सन्देश देना है। आत्मसाधना किसी एक भव में सम्पन्न नहीं होती, इसके लिए कई जन्म-जन्मान्तरों में प्रयास करना पड़ता है। जो व्यक्ति किसी के साथ शत्रुता, मित्रता या अन्य किसी प्रकार का भाव रखता है, उस भाव की निर्जरा किसी एक भव में सम्पन्न नहीं होती। वैर-विरोध अनेक जन्मों तक चलता रहता है, जिससे व्यक्ति की शुद्धि के लिए भव-भवान्तर तक साधना की आवश्यकता रहती है। कर्मफल इतना प्रबल है, जिससे प्रेम, राग, द्वेष, ममता-मोह, घृणा-कलह आदि के भावों की समाप्ति किसी एक जन्म में सम्भव नहीं है, अगणित जन्मों तक उक्त संस्कारों की परम्परा चलती जाती है। पुनर्जन्म के उद्घाटक जैनमुनि और कर्मवाद के भोक्ता नायक-नायिका के शीलस्थापत्य के सन्दर्भ में लोककथाओं के अनेक रूप प्रकट होते हैं।

प्राकृतकथाओं के विषय पात्र, शैली और भाषा की दृष्टि से भेद-प्रभेद किये गये हैं। विषय की दृष्टि से



अर्थकथा, कामकथा, धर्मकथा और मिश्रितकथा ये चार भेद किये गये हैं।[1] पात्रों के प्रकारों के आधार पर दिव्य, मानुष और दिव्यमानुष ये तीन भेद किये हैं। जिनमें दिव्यलोक के व्यक्तियों के क्रियाकलाप से कथानक और कथा-वस्तु का निर्माण होता है, वे कथाएँ दिव्य कहलाती है। मानुष कथा मे पात्र मनुष्यलोक के ही रहते हैं, उनके चरित्र मे पूर्ण मानवता सन्निविष्ट रहती है। कथा के पात्र सजीव और क्रियाशील होते है। दिव्यमानुषीकथा बहुत सुन्दर मानी गयी है। इस कोटि की कथा का कथाजाल सघन और कलात्मक होता है। चरित्र और घटना, विभिन्न परि-स्थितियों के विशद और मार्मिक चित्रण, हास्य-व्यग्य का सम्मिश्रण एव सौन्दर्य के विभिन्न रूप इस कथा मे समवेत रहते हैं।[2]

शैली के आधार पर सकलकथा, खण्डकथा, उल्लापकथा, परिहासकथा और सकीर्णकथा ये पाच भेद किये गये है।[3] सकलकथा मे चारो पुरुषार्थ, नवरस, आदर्श चरित्र एव जन्म-जन्मान्तर के संस्कार वर्णित रहते हैं।[4] प्राकृत भाषा में लिखा गया कथासाहित्य गुण और परिमाण दोनो ही दृष्टियो से महत्त्वपूर्ण है। लेखकों ने उसमें जनजीवन का पूर्णतया चित्रण कर साहित्य को अपूर्व निधि प्रदान की है।

प्राकृत-कथासाहित्य का सर्वेक्षण

प्राकृतकथा-साहित्य के बीज आगम ग्रन्थों में उपलब्ध होते है। निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णि प्रभृति व्याख्या-ग्रन्थों मे छोटी-बडी सभी प्रकार की सहस्रो कथाएँ प्राप्त है। आगम-साहित्य मे धार्मिक आचार, आध्यात्मिक तत्त्व-चिन्तन तथा नीति-सदाचार का प्रणयन कथाओ के माध्यम मे किया गया है। सिद्धान्तनिरूपण, तत्त्वनिर्णय एव दर्शन की गूढ समस्याओं को कथा के माध्यम से सुलझाने का प्रयत्न आगमग्रन्थो मे उपलब्ध है। अग और उपाग साहित्य मे ऐसे सवेदनशील अनेक आख्यान आये हैं, जो ऐतिहासिक और पौराणिक तथ्यो की प्रतीति के साथ बर्बरता की निमम घाटी पर निरुपाय लुढकती मानवता को नैतिक और आध्यात्मिक भाव-भूमि पर ला मानव को महान् और नैतिक अधिष्ठाता बनाने मे सक्षम है। प्राकृत कथाकारो ने समाज और व्यक्ति के जीवन की विकृतियो पर जितना प्रहार किया है, उतना अन्य भाषा के कथाकारो ने नही।

यह सत्य है कि आगम-साहित्य मे प्रयुक्त कथाओं मे घटनाविहीनता, मनोवैज्ञानिक सूक्ष्मता एव शीलनिरू-पण के लिए आवश्यक वातावरण और कथनोपकथन की कमी है, पर धार्मिकता का समाहार रहने से जीवन को उसके समस्त विस्तार मे देखने की प्रवृत्ति वर्तमान है, जिससे इन कथाओ मे स्थापत्य की दृष्टि से विरूपता नही है। इनमे पूरा चरित्र, कोई पूरा व्रत, कोई वर्जना, कोई आचार तथा सजीव क्रमयुक्तता वर्तमान है। जातीय सस्कृति के आधार पर चरित्रो के व्यक्तित्व का सगठन, उनका नियमन उस विशिष्टता से इन कथाओ मे हुआ है कि चरित्र का निश्चया-

---

१ अत्यकहा कामकहा धम्मकहा चेव मीसिया य कहा।
एत्तो एक्केक्काचि य णेगविहा होइ नायव्वा ॥ —दशवैकालिक, हरिभद्रीयवृत्ति गा० १८८ पृ० २१२
एत्थ सामन्नओ चत्तारि कहाओ हवति। त जहा—अत्यकहा कामकहा धम्मकहा सकिण्णकहा य—
—समराइच्चकहा, याकोबी सस्करण पृ० २

२ दिव्व, दिव्वमाणुस, माणुस च। तत्थ दिव्व नाम जत्य केवलमेव देवचरिअ वण्णिज्जइ।
—समराइच्चकहा याकोबी सस्करण पृ० २
त जह दिव्व-माणुसी माणुसी तहच्चेय। —लीलावई गा० ३५
एमेय मुद्धजुयई—मणोहर पाययाए भासाए।
पविरलदेसि-सुलक्ख कहसु कह दिव्वमाणुसिय ॥ —लीलावई गा० ४१ पृ० ११

३ ताओ पुण पचकहाओ। त जहा—सयलकहा खडकहा उल्लावकहा परिहासकहा तहावरा कहिय त्ति सकिण्ण कहत्ति।
— कुवलयमाला पृ० ४, अनुच्छेद ७

४ समस्तफलान्तेति वृत्तवर्णना समरादित्यवत् सकलकथा। —हैम-काव्यनुशासन ५।६ पृ० ४६५

इस प्रकार अन्तर पड़ ही जाता है। आगमकालीन कथाओं की यह विशेषता है कि इन्होंने उपमाओं और दृष्टान्तों का अवलम्बन ग्रहण कर जनता को धर्म-सिद्धान्तों की ओर आकृष्ट किया है। इन कथाओं की उत्पत्ति उपमान, रूपक और प्रतीकों के आधार पर हुई है।

आगमकालीन कथाओं के पश्चात् प्राकृतकथा साहित्य का दूसरा युग टीकायुग है। आगम-कथाएँ "वण्णओ" द्वारा बोझिल थीं। चम्पा या अन्य किसी नगरी के वर्णन द्वारा ही समस्त नगरों का वर्णन कर देने की ओर संकेत किया जाता था, पर टीकाओं में यह प्रवृत्ति न रही और कथाओं में साहित्यिक सौन्दर्य आने लगा। दूसरी विशेषता यह आयी कि एकरूपता के स्थान पर विविधता और नवीनता का प्रयोग होने लगा। कथाओं की दृष्टि से पात्र, विषय, प्रवृत्ति, वातावरण, उद्देश्य, रूपगठन एवं नीतिसन्देश आदि की दृष्टि से आगमिक कथाओं की अपेक्षा टीका-कथाओं में अधिक नवीनता पायी जाती है। इस युग की कथाओं के परिशीलन पर्याप्त किया गया। वस्तुतः कथा का रूप या स्थापत्य दो बातों पर निर्भर करता है — प्रथम यह कि कथा किस वातावरण में घटित हो रही है, उसके विस्तार, सीमा और निर्णायक तत्त्व कौन-कौन से हैं? विषय के साथ पात्रों के उद्देश्य किस प्रकार घटित किये गये हैं? कथाओं की रूपाकृति को प्रभावित करनेवाले निर्णायक तत्त्व की उद्देश्य के प्रति कितनी सजगता है और प्रभावोत्पन्न करने में उसकी कितनी क्षमता है?

कथा के रूपतत्त्व को निर्धारित करनेवाली दूसरी वस्तु है उसकी आवश्यकता। किसी की किस आवश्यकता की पूर्ति के लिए कथा लिखी गयी है, उसके प्रतिपादन का उद्देश्य क्या है तथा उस उद्देश्य की अभिव्यञ्जना किस प्रकार सम्पन्न हुई है यह भी कथासाहित्य के रूपविधान में सम्मिलित है। टीकायुगीन कथाओं की रचना आवश्यकता भाष्य या व्याख्या के सिलसिले में नीति या किसी तत्त्व की पुष्टि के रूप में ही प्राप्त है। आगमकालीन कथाएँ साम्प्रदायिक धार्मिकता से अभिभूत थीं, उनमें मनोरञ्जन और कुतूहल का प्रायः अभाव था। आगम युग में घटनाओं की शृंखला ही किसी चरित्र या वर्णना का रूप प्रस्तुत करती थी किन्तु टीकायुग की प्राकृतकथाओं में सौन्दर्य भी समाविष्ट है। आकार-प्रकार भी संक्षिप्त हो गया है तथा विभिन्न विषयों से सम्बद्ध होने के कारण उनमें अनेकरूपता है। ऐतिहासिक, अर्द्ध-ऐतिहासिक एवं पौराणिक परम्परा का उद्घाटन भी किया गया है।

विशुद्ध कथासाहित्य का आरम्भ तरंगवती[1] से माना जा सकता है। पादलिप्त सूरि ने इस कथाग्रन्थ की रचना विक्रम संवत् की तीसरी शती में की है। तरंगवती का दूसरा नाम तरंगलोला भी है। इस कथा के संक्षिप्तकर्ता नेमिचन्द्र गणि ने इस नाम का उल्लेख किया है। यह प्रेमकथा है इसकी अन्तिम परिणति विरक्ति में घटित होती है। तरंगवती कौशाम्बी नगरी के ऋषभदेव श्रेष्ठी की पुत्री थी। यमुना की प्रार्थना के फलस्वरूप उत्पन्न होने के कारण उसका नाम तरंगवती रखा गया था। वनविहार के समय हंसमिथुन के दर्शन से उसे पूर्वजन्म का स्मरण हो गया था। कथा में बताया गया है कि गंगा नदी के तट पर चकवा-चकवी निवास करते थे। एक दिन एक शिकारी आया। उसने जंगली हाथी को मारने के लिए बाण चलाया, पर वह बाण भूल से चकवा को लगा। चकवा की मृत्यु से चकवी बहुत दुःखी हुई। शिकारी को भी चकवा की मृत्यु से पश्चात्ताप हुआ और उसने [illegible] उस चकवा का दाहसंस्कार सम्पन्न किया। चकवी प्रेमवश उसी चिता में जलकर भस्म हो गयी। इसी चकवी का जीव तरंगवती के रूप में उत्पन्न हुआ। तरंगवती ने अपने प्रिय की प्राप्ति का प्रयत्न किया और अन्त में उसका विवाह चकवा के जीव पद्मदेव से सम्पन्न हो गया।

---

१ प्रसन्नपदगाम्भीर्यरथाङ्ग-मिथुनाश्रया।
पुण्या पुनाति गङ्गेव या तरङ्गवती कथा॥ —संक्षिप्त तरंगवती प्रस्तावना पृ० १३।
को न जणो हरिसिज्जइ तरंगवइ-वइयरं सुणेऊण।
इयरे पबंधसिंधू पाविया जीए मुद्दरस॥ [illegible], कुवलयमाला प० गा० ६
सोसं कहवि न फुट्टं जम्मस्स पालित्तय हयस्स। जस्स मुहनिज्झराओ तरंगलोलानई वूढा॥
—[illegible] पृ० २६

समस्त कथा उत्तमपुरुष में वर्णित है। करुण, शृंगार और शान्त रस की त्रिवेणी समग्र कथा में प्रवाहित है। प्राकृत भाषा की इस समृद्ध कथाकृति के अवलोकन से यह अनुमान सहज में लगाया जा सकता है कि प्राकृत भाषा में आधुनिक उपन्यास के रूप में बृहत्कथाओं का निर्माण गुप्तकाल के पहले ही हो चुका था। यद्यपि विशुद्ध-कथा की यह प्रणाली आठवीं शती के पूर्व चरितात्मक सद्याख्यान के रूप में प्रचलित रही है, तो भी चरितग्रन्थों में सहकारी कथाओं के रूप में निबद्ध कथाएं अपने मौलिक रूप में उपलब्ध हैं।

चरितात्मक कथाग्रंथ के रूप में वसुदेवहिण्डी का नाम आता है। इस ग्रंथ के दो खण्ड हैं, प्रथम खण्ड के कर्त्ता संघदास गणिवाचक और द्वितीय खण्ड के कर्त्ता धर्मसेन गणि हैं। प्रथम खण्ड में २९ लम्भक और द्वितीय में ७१ लम्भक हैं। यह ग्रन्थ 'बृहत्कथा' के समान कथाओं का कोष है। वसुदेव के भ्रमण के साथ तीर्थंकरों एवं अन्य शलाकापुरुषों के जीवनवृत्त भी अंकित हैं। वेश्या, जुआरी प्रभृति व्यक्तियों के चरित्र चित्रित करने के हेतु कई मनोरंजक कथाएं निबद्ध की गयी हैं। इसमें वसन्ततिलका या वसन्तसेना गणिका का आख्यान आया है, जो आगे के कथासाहित्य में बहुत प्रिय रहा है। मृच्छकटिक नाटक की कथावस्तु का स्रोत भी वसुदेवहिण्डी का उक्त आख्यान प्रतीत होता है। जिस प्रकार संस्कृत वाङ्मय में उपजीव्यकाव्य के रूप में बृहत्कथा, महाभारत और रामायण को माना गया है, उसी प्रकार प्राकृतकाव्य और कथा में विकास एवं स्रोत के रूप में वसुदेवहिण्डी को उपजीव्य माना जा सकता है।

चरितग्रन्थों में विमलसूरि का पउमचरियं और हरिवंसचरियं, शीलाङ्काचार्य का चउप्पन्नमहापुरिसचरियं, गुणपाल मुनि का जंबूचरियं, धनेश्वर का सुरसुन्दरीचरियं, नेमिचन्द्र का रयणचूडरायचरियं, गुणचन्द्र गणि का पासनाहचरियं और महावीरचरियं, देवेन्द्रसूरि का सुदंसणाचरियं और कण्हचरियं, मानतुंग सूरि का जयन्तीप्रकरण, चन्द्रप्रभ महत्तर का चन्दकेवलीचरियं, देवचन्द्रसूरि का सन्तिनाहचरियं, शान्तिसूरि का पुहवीचन्दचरियं, मलधारी हेमचन्द्र का नेमिनाहचरियं, श्रीचन्द्र का मुणिसुव्वयसामिचरियं, देवेन्द्रसूरि के शिष्य श्रीचन्द्रसूरि का सणकुमारचरियं, सोमप्रभसूरि का सुमतिनाहचरियं, नेमिचन्द्रसूरि का अनन्तनाहचरियं एवं रत्नप्रभ का नेमिनाहचरियं प्रसिद्ध चरितात्मक कथा ग्रंथ हैं। इनमें कथा और आख्यानों का अपूर्व सम्मिश्रण है। कथावस्तुओं में बुद्धिमाहात्म्य, लौकिक आचार-व्यवहार, सामाजिक प्रथाएं एवं राजनैतिक परिस्थितियों का सजीव चित्रण किया गया है। पर इतना सत्य है कि इन रचनाओं में 'कथारस' की अपेक्षा 'चरित' की प्रधानता है। अतः इन्हें विशुद्ध कथाकृतियों में परिगणित नहीं किया जा सकता है।

तरंगवती या तरंगलोला के पश्चात् विशुद्ध कथासाहित्य की समृद्धि हरिभद्र की 'समराइच्चकहा' में होती है। इस कथाग्रन्थ की आधारभूत प्रवृत्ति प्रतिशोध भावना है। यह भावना विभिन्न रूपों में अभिव्यक्त हुई है। अग्निशर्मा गुणसेन के प्रति अत्यन्त तीव्र घृणा के कारण निदान बांधता है। यह घृणा ज्यों की त्यों अगले भवों में दिखलायी पड़ती है। कथा नौ भवों तक चलती है, तथा इन भवों में नायक शुभ परिणति को शुद्ध परिणति के रूप में परिवर्तित कर शाश्वत सुख प्राप्त करता है और प्रतिनायक या खलनायक अनन्त संसार का पात्र बनता है। आचार्य हरिभद्र का समय ईस्वी सन् ७३०-८३० है।[1]

धूर्ताख्यान हरिभद्रसूरि की व्यंग्यप्रधान रचना है। इसमें पुराणों में वर्णित असंभव और अविश्वसनीय बातों का प्रत्याख्यान पांच धूर्तों की कथाओं के द्वारा किया गया है। भारतीय कथासाहित्य में इस ग्रन्थ का शैली की दृष्टि से मूर्धन्य स्थान है। लाक्षणिक शैली में इस प्रकार की अन्य रचना दिखलायी नहीं पड़ती है। इन दो कथाग्रन्थों के अतिरिक्त दशवैकालिक टीका में ३० महत्त्वपूर्ण लघुकथाएँ और उपदेशपद में लगभग ७० लघुकथाएँ आयी हैं। हरिभद्र सूरि की इन प्राकृत लघुकथाओं में मनोरंजक शैली में वासनाओं का उदात्तीकरण किया गया है।

धर्मकथा साहित्य में समराइच्चकहा का जो स्थान है, वही 'प्रेमाख्यानक आख्यायिका' के रूप में कौतूहल कवि की कथाकृति 'लीलावई' का। दोनों कथाकृतियां अपने-अपने क्षेत्र में बेजोड़ और सरस हैं। दोनों का स्थापत्य

---

१ विशेष जानने के लिए देखिये—हरिभद्र के प्राकृत कथासाहित्य का आलोचनात्मक परिशीलन पृ० ४३—४६

एक होने पर भी दोनों की दिशाएँ दो हैं। इस कृति में प्रतिष्ठान के राजा सातवाहन और सिंहलद्वीप की राजकुमारी लीलावती की प्रेमकथा वर्णित है। अवान्तर कथा-वितान के पश्चात् प्रधान कथा का प्रवेश होता है। सिंहलराज की पुत्री लीलावती का जन्म वसन्तश्री की बहन विद्याधरी शारदश्री से हुआ था। एक दिन लीलावती प्रतिष्ठान के राजा सातवाहन के चित्र को देखकर मोहित हो गयी। बाद में उसने उसे स्वप्न में भी देखा। माता-पिता की आज्ञा लेकर वह अपने प्रिय की खोज में निकल पड़ी। उसका दल मार्ग में गोदावरी-तट पर आकर ठहरा, वहाँ उसे अपनी मौसी की पुत्री महानुमती मिली। महानुमती, कुवलयावली और लीलावती तीनों ही विरहिणियाँ एक साथ रहने लगीं। अपने मन्त्री विजयानन्द द्वारा गोदावरी के तट पर निवास करनेवाली लीलावती का समाचार ज्ञात कर सातवाहन वहाँ उपस्थित होता है। सातवाहन लीलावती के कथनानुसार माधवानिल और भीषणानन का उद्धार करता है और तीनों राजकुमारियों का विवाह अपने-अपने प्रियों से सम्पन्न हो जाता है। इस ग्रन्थ की रचना वि० सं० ८०० के लगभग हुई है।

'लीलावई कहा' के पश्चात् 'कुवलयमाला' का नाम आता है। इस कथाकृति के रचयिता हरिभद्र सूरि के शिष्य उद्योतन सूरि हैं। यह धर्मकथा होते हुए भी प्रेमकथा है। इसमें क्रोध, मान, माया, लोभ और मोह इन पाँचों विकारों का परिणाम प्रदर्शित करने के लिए अनेक अवान्तर कथाओं का गुम्फन किया गया है। कदली-स्तम्भ के समान कथाजाल संघटित है। कथानक का जितना विस्तार है, उससे कहीं अधिक वर्णनों का बाहुल्य है। कथारम्भ के साथ काव्यात्मकता भी विद्यमान है। आरम्भ में ही काव्यात्मक संकेत उपलब्ध होने लगते हैं। लूट में कुमार महेन्द्र का प्राप्त होना राजा दृढवर्मा को पुत्रप्राप्ति का संकेत करता है। कथावस्तु के विकास में कथानकों की चमत्कारपूर्ण योजना की गयी है। मनोरञ्जन, उपदेश, कुतूहल और संयोगतत्त्व का सुन्दर संयोजन पाया जाता है। कथा और चम्पूकाव्य के गुण एक साथ इस कृति में समाविष्ट हैं। संवादों की प्रभावोत्पादकता और अलङ्कृतपदों की मनोहरता इस कृति की विशेषता है। इस कृति का प्रणयनकाल शक संवत् ७०० में एक दिन कम बताया है।[1]

'जिनेश्वर सूरि की निर्वाणलीलावती' कथा प्राकृत-पद्यों में लिखी गयी है। मूल कृति अभी तक उपलब्ध नहीं है पर इसका सारूप्य संस्कृतभाषा में जिनरत्न सूरि कृत प्राप्य है। क्रोध, मान आदि विकारों के साथ हिंसा, झूठ, चोरी, व्यभिचार एवं परिग्रह-संचय आदि पापों का फल जन्म-जन्मान्तर तक भोगना पड़ता है, इस तथ्य की अभिव्यञ्जना कथा द्वारा की गयी है। कथा उत्तमपुरुष में वर्णित है और समरसेन आचार्य ने अपना आत्मवृत्त कहकर सिंहराज और रानी लीलावती को सम्बुद्ध किया है। इस कृति में कथातत्त्व की अपेक्षा उपदेशतत्त्व की प्रधानता है। रचनाकाल वि० सं० १०८२-१०९५ के मध्य है।

'कथाकोष प्रकरण' के रचयिता जिनेश्वर सूरि हैं। मूलग्रन्थ में ३० कथाएँ हैं और वृत्ति में मुख्य कथाएँ ३६ और अवान्तर कथाएँ ४-५ हैं। इस कथाकोष की समस्त कथाएँ जिनपूजा, जिनस्तुति, वैयावृत्य, दान, धर्मोत्साह की प्रेरणा प्रभृति विषयों की अभिव्यञ्जना करती हैं। कथाओं का कथानक कर्मसंस्कारों के ताने-बाने में बुना गया है। कथाकार ने चमत्कार और कुतूहल को बनाये रखने के लिए प्रवचन शैली को अपनाया है। धार्मिक कथाएँ होने पर भी शृंगार और नीति का यथेष्ट समावेश किया है। इस कथाकोष की समाप्ति वि० सं० ११०८ मार्गशीर्ष कृष्ण पञ्चमी रविवार को हुई है।

अभयदेव की प्रार्थना से जिनेश्वर सूरि के शिष्य जिनचन्द्र ने 'संवेग-रंगशाला' नामक रूपक कथा की रचना की है। संवेगभाव का निरूपण करने के लिए इस कृति में अनेक कथाओं का गुम्फन किया गया है। मुख्यरूप से महासेन राजर्षि की कथा वर्णित है। राजा संसार त्यागकर मुनिदीक्षा धारण करना चाहता है पर रानी अपने तर्कों द्वारा राजा को घर में ही रखना चाहती है। वह तपश्चरण, उपसर्ग और परीषह का आतंक दिखलाती है। आराधना के स्पष्टीकरण के लिए मधुराजा, कोशलमुनि, वज्रदत्त, कूलवाल, मनु, श्रेणिक, नेमिराजा, वसुदत्ता, स्थविरा, कुरुचन्द्र



1. कुवलयमाला पृ० २८२, अनु० ४३० ।



और वज्रमित्र के कथानक आये हैं। इस कथाकृति के पात्र पौराणिक हैं, उनके चरित्र का विकास मनोवैज्ञानिक द्वन्द्वों के बीच नही हो पाया है। कथारस मे तरलता का अभाव है, कथाओं मे मनोरजक परिवेश की स्थापना भी नहीं हो पायी है। इसका रचनासमय वि० स० ११२५ है।

'नाणपचमी कहा' की रचना महेश्वर सूरि ने की है। इस कृति मे श्रुतपचमी व्रत का माहात्म्य प्रतिपादित करने के लिए दस कथाएँ सकलित हैं। प्रथम कहा 'जयसेण कथा' है। इसमे नारी की भावनाओं, चेष्टाओं एव विचारो का अच्छा निरूपण हुआ है। कथातत्त्वों की दृष्टि से भी इसे महत्त्वपूर्ण माना जा सकता है। कुतूहल और सयोग आद्यन्त व्याप्त हैं। दूसरी 'नन्द कथा' मे नन्द का शील-उत्कर्ष पाठकों को मुग्ध किये बिना नही रह सकता। तीसरी 'भद्राकथा' रोचक अवश्य है पर चरित्रो का विकास नही हो सका है। वीरकहा और कमलकहा मे आन्तरिक द्वन्द्व हैं, पर कथा की गति सरल रेखा के रूपमे घटित हुई है, जिससे जिज्ञासा वृत्ति अन्त तक नही रह पाती। 'गुणाणुराग कहा' एक आदर्श कथा है, नैतिक और आध्यात्मिक गुणों के प्रति आकृष्ट होना मानवता है। जिस व्यक्ति मे उदारता, दया, दाक्षिण्य आदि गुणो की कमी है, वह व्यक्ति समाज और राष्ट्र के लिए उपयोगी नहीं हो सकता है। विमल और धरणकहाओं मे कथा का प्रवाह बहुत तीव्र है। 'भविसयत्त कहा' सुन्दर कथा है, उसी कथा के (बीज स्रोत को ग्रहण कर अपभ्रंश भाषा मे धनपाल कवि ने अत्यन्त श्रेष्ठकथाग्रन्थ लिखा है। इस कथाकृति मे भविष्यदत्त और बन्धुदत्त तथा कमल-श्री और नागस्वरूपा विरोधी प्रवृत्तियों के पुरुष एव स्त्रियो के युगल हैं। कथाकार ने नागस्वरूपा मे सपत्नीसुलभ ईर्ष्या का और कमलश्री मे दया-ममता का सुन्दर चित्रांकन किया है। भविष्यदत्त अपने सौतेले भाई बन्धुदत्त से स्नेह करता है, उसका मगल करना चाहता है, पर बन्धुदत्त सर्वदा भविष्यदत्त से ईर्ष्या-द्वेष करता है। कथाकार ने मानव-स्वभाव का अच्छा परिचय प्रस्तुत किया है।

इस कथाकृति मे अलौकिक सत्ताओं एव शक्तियों का महत्त्व प्रदर्शित किया गया है। कथानकों का गठन पौराणिक पृष्ठो मे किया है। मानव के छल-कपट और राग-द्वेषो के वितान के साथ इसमे मनुष्यता की विजय दिखलायी गयी है। इस कथाकृति का रचनाकाल विक्रम सवत् ११०९ है। कथा का स्रोत पौराणिक है, जिनका प्रचार-प्रसार निरन्तर होता रहा है।

देवभद्र सूरि या गुणचन्द्र ने 'कहारयणकोस' की रचना वि० स० ११५८ मे की है। इस कृति मे कुल ५० कथाएँ है। ग्रन्थ मे दो अधिकार हैं—प्रथम मे ३३ कथाएँ और द्वितीय मे १७ कथाए निबद्ध हैं। इस कृति की सभी कथाएँ रोचक हैं। उपवन, ऋतु, रात्रि, युद्ध, श्मशान, राजप्रासाद नगर आदि के सरस वर्णनो द्वारा कथाकार ने कथा-प्रवाह को गतिशील बनाया है। जातिवाद का खण्डन कर मानवतावाद की प्रतिष्ठा इन सभी कथाओं मे मिलती है। इन कथाओं मे आदर्श गार्हस्थिक जीवन-यापन करने की ओर सकेत किया गया है। भौतिकवाद के घेरे से निकालकर आध्यात्मिक क्षेत्र मे उपस्थित करने का प्रयास किया है। सम्यक्त्व, व्रत और सयम के शुष्क उपदेशों को कथा के माध्यम से पर्याप्त सरस बनाया है। सुदत्त और नागदत्त की कथाएँ पर्याप्त रोचक हैं, सास, बहू, ननद और बच्चों के स्वाभाविक चित्रण मे कथाकार ने पूरी कुशलता प्रदर्शित की है। सुजसश्रेष्ठि और उसके पुत्रों की कथा मे बालमनो-विज्ञान तत्त्व विद्यमान है। धनपाल और बालचन्द्र की कथा मे वृद्ध विलासिनी वेश्या का चरित्र बहुत सुन्दर चित्रित हुआ है।

नेमिचन्द्र सूरि ने 'आख्यानमणिकोश' की रचना की है। इस ग्रन्थ पर आम्रदेव सूरि ने ई० सन् ११३४ मे टीका लिखी है। यह ग्रन्थ प्राकृत पद्यो मे लिखा गया है। इस कृति मे ४१ अधिकार है और १२७ आख्यान। आख्या-नों मे प्राकृत भाषा के साथ सस्कृत और अपभ्रंश का भी प्रयोग पाया जाता है। इन आख्यानो मे अभयाख्यानक मे बताया गया है कि चण्डप्रद्योत नृपति अपनी पुत्री वासवदत्ता को सगीत-शिक्षा देने के लिए उदयन को नियत करता है। आख्यान भास कवि के नाटक 'प्रतिज्ञा यौगन्धरायण' की कथावस्तु से समता रखता है। कथानक मे नायिका को कानी और नायक को कोढी बताया गया है। गुरु और शिष्या एक-दूसरे के मुखदर्शन से आसक्त न हो जायें, अतएव पर्दा लगाकर शिक्षा का प्रारम्भ होता है। पर्दा हटाकर वे आपस मे देख न सकें, अतएव विकलाग होने की बात कही जाती है। अन्त मे भेद खुल जाता है और वे दोनो आपस मे प्रेम करने लगते हैं। तथा उनका विवाह भी हो जाता है।

ये समस्त आख्यान संक्षेप में किसी एक भाव, मनःस्थिति और घटना का चित्रवत् स्वरूप उपस्थित करते हैं। चण्डचूड का आख्यान मानवस्वभाव पर प्रकाश डालता है। उपकोशा और तपस्वी के आख्यान में मानसिक द्वन्द्व पूर्णतया वर्तमान है। ऐतिहासिक, अर्ध-ऐतिहासिक एवं पौराणिक पात्र अपने व्यक्तित्व में मण्डित हैं। कार्य-कारण, परिणाम-आरम्भ एवं उत्कर्ष-अपकर्ष का निर्वाह भी आख्यानों में सुन्दर रूप में हुआ है। लघु कथाओं का यह संग्रह कई दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है। टीकाकार ने आख्यानों को पूर्ण बनाने का प्रयास किया है।

'जिनदत्ताख्यान' के रचयिता आचार्य सुमति सूरि हैं। इस ग्रन्थ की एक पाण्डुलिपि वि० सं० १२८६ की पायी जाती है, अतः इसका रचनाकाल वि० सं० की १३वीं शती से पूर्ववर्ती है। यह एक सरस कथाग्रन्थ है, इसमें जीवन के हर्ष-विषाद, शक्ति-दुर्बलता, सौन्दर्य-कुरूपता आदि पक्षों का सुन्दर उद्घाटन किया गया है। इस सीधे आख्यान में श्रीमती और रतिसुन्दरी के प्रणय-सम्बन्ध तथा नायक द्वारा उनकी प्राप्ति के लिए किये गये साहसिक कार्यों का उल्लेख कर जीवन की विविधता और विचित्रता के साथ दान और परोपकार का मार्ग प्रदर्शित किया है। जिनदत्त की द्यूतासक्ति और उसके परिभ्रमण का निरूपण कर मूलकथावस्तु के सौन्दर्य को पूरी तरह चमकाया है। यह सत्य है कि यह आख्यान सोद्देश्य है और जिनदत्त को वसन्तपुर के उद्यान में सुभद्र आचार्य के समक्ष दीक्षा दिलाकर मात्र आदर्श ही उपस्थित करना अभीष्ट है। इसे फलागम की स्थिति तो कहा जा सकता है, पर कथा की वह मार्मिकता नहीं है, जो पाठक को भटका कर विलास और वैभव से विरत कर 'पेट भरो पेटी न भरो' की ओर ले जा सके। कथाकार ने नायक के चरित्र में सहृदयता, निश्छलता, और उदारता इन तीनों गुणों का समावेश किया है।

रचना-विधान की दृष्टि से विचार करने पर ज्ञात होता है कि पूर्वजन्म के संस्कारों का फल दिखलाने के लिए जिनदत्त के पूर्वभव की कथा वर्णित है। घटित होनेवाली छोटी-छोटी घटनाएँ सगठित तो हैं, पर स्थापत्य कला की विशेषता प्रकट नहीं हो पाती है।

'नर्मदासुन्दरी' की कथा का प्रणयन महेन्द्रसूरि ने वि० सं० ११८७ में किया है। नर्मदासुन्दरी का विवाह महेश्वरदत्त के साथ सम्पन्न हुआ। धनार्जन के हेतु महेश्वरदत्त सपत्नीक यवनद्वीप गया। मार्ग में पत्नी के चरित्र पर सन्देह हो जाने के कारण उसने वहाँ सोती हुई नर्मदासुन्दरी को छोड़ दिया। जागने पर नर्मदा ने बहुत विलाप किया। कुछ समय के पश्चात् उसका चाचा वीरदास आया और वह उसे बब्बरकूल ले गया। यहाँ हरिणी नाम की एक प्रसिद्ध गणिका निवास करती थी, यह सात सौ गणिकाओं की स्वामिनी थी। अन्य गणिकाएँ उसके लिए धन कमाकर लाती थीं। वह धन का कुछ भाग राजा को भेंट करती थी। वीरदास के वहाँ पहुँचने पर उस हरिणी ने चतुराई से नर्मदासुन्दरी को अपने पास बुला लिया। वीरदास ने नर्मदासुन्दरी की बहुत खोज की, पर जब उसे पता न लगा तो वह अपने देश चला गया। हरिणी ने नर्मदासुन्दरी को वेश्या बनाने का पूर्ण प्रयास किया, पर वह अपने व्रत में अटल रही। हरिणी द्वारा दिये गये नाना प्रकार के प्रलोभन व्यर्थ सिद्ध हुए। अनेक प्रकार के त्रास दिये गये, किन्तु नर्मदासुन्दरी विचलित न हुई। वहाँ करिणी नामक एक अन्य वेश्या भी रहती थी, नर्मदासुन्दरी उसके यहाँ रसोई बनाने का कार्य करने लगी। हरिणी की मृत्यु के पश्चात् नर्मदासुन्दरी को प्रधान गणिका के पद पर प्रतिष्ठित किया गया। बब्बर राजा को जब नर्मदासुन्दरी के अनुपम सौन्दर्य का पता चला तो उसने सैनिकों द्वारा उसे वहाँ बुलाया। वह स्नान कर और वस्त्राभूषणों से अलंकृत हो चली। मार्ग में एक बावड़ी में पानी पीने के लिए उतरी और जानबूझकर गड्ढे में गिर गयी। उसने अपने शरीर पर कीचड़ लपेट ली और बकवाद करने लगी। उसने उन्मत्त जैसा आचरण करना आरम्भ किया। राजा ने उसकी चिकित्सा करायी, पर सब निष्फल गया। अन्त में नर्मदासुन्दरी जिनदेवनामक श्रावक से मिली और उसने वीरदास के पास उसे पहुँचा दिया। नायिका ने कुछ समय उपरान्त सुहस्तमुनि से दीक्षा ग्रहण कर ली।

कथा का गठन सुन्दर रूप में हुआ है। कुतूहल आद्यन्त व्याप्त है। महेश्वरदत्त का धर्मपरिवर्तन करना और नर्मदासुन्दरी के सौन्दर्य से आकृष्ट हो उसके साथ विवाह सम्पन्न करना, पश्चात् परित्याग करना जिज्ञासापूर्ण है। हरिणी वेश्या के अत्याचार और शीलरक्षा के हेतु नर्मदा की दृढ़ता तथा बुद्धिमत्ता कथाप्रवाह में रोचकता उत्पन्न करती है।





सोमप्रभसूरि द्वारा विरचित 'कुमारपाल प्रतिबोध' भी प्राकृतकथाओं का सुन्दर कोश है। इसमे ५४ कथाए हैं। मूलदेव की कथा अधिक रोचक और सरस है। कुमारपाल को प्रतिबुद्ध करने के लिए अहिंसा, सत्य आदि व्रतो से सम्बद्ध कथाए लिखी गयी हैं। नल-दमयन्ती का कथानक कई दृष्टियो से महत्त्वपूर्ण है। शीलवती की कथा मनोरजक और चित्ताकर्षक है। शीलवती एक दिन अर्धरात्रि के समय घडा लेकर घर से बाहर गयी और बहुत विलम्ब कर लौटी। इससे उसके श्वसुर को शीलवती के चरित्र पर आशका हो गयी, अत वह उसे रथ मे सवार कर उसके पितृगृह पहुँचाने के लिए चला। मार्ग मे एक नदी आयी, शीलवती के श्वसुर ने कहा 'वहू जूते उतार कर नदी पार करो'। पर उसने जूते नही उतारे। श्वसुर ने सोचा यह उद्दण्ड है। आगे चलने पर एक मूँग का खेत मिला। श्वसुर ने कहा, 'देखो यह खेत कितना अच्छा फल रहा है ? खेत का स्वामी इस धन का उपभोग करेगा'। शीलवती ने उत्तर दिया—'वात ठीक है, यदि यह खाया न जाय तो'। श्वसुर ने सोचा यह व्यर्थ ही ऊट-पटाँग बोलती है। आगे चलने पर दोनो एक नगर मे पहुँच गये। वहाँ के लोगो को आनन्दमग्न देखकर श्वसुर ने कहा—'यह नगर कितना सुन्दर है'। शीलवती—'वात ठीक है, पर कोई इसे उजाड दे तो क्या होगा ?' कुछ दूर चलने पर एक कुलपुत्र मिला। श्वसुर—'यह कितना शूरवीर है'। शीलवती ने उत्तर दिया—'यदि पीट दिया जाय या रोग हो जाय तो क्या स्थिति होगी ?'

कुछ दूर चलन के उपरान्त शीलवती का श्वसुर एक वटवृक्ष के नीचे विश्राम करने बैठ गया। शीलवती दूर ही बैठी रही। श्वसुर ने विचार किया कि यह वहू सदा उल्टा कार्य करती है। थोडी दूर चलने पर शीलवती के मामा का गाँव आया। भोजन के पश्चात् श्वसुर रथ के अन्दर लेट गया। शीलवती रथ की छाया मे बैठी रही। इतने मे ववूल के पेड पर बैठे कौवे को बार-बार काँव-काँव करते देखकर उसने कहा—'क्यो तग करते हो, एक बार तुम लोगो की बोली सुनकर कार्य करने से तो घर से निकलना पड रहा है, अव दूसरी गलती करने पर तो प्रियतम से मिलन भी नही हो सकेगा।

श्वसुर द्वारा पूछे जाने पर उसने अपना स्पष्टीकरण दिया कि मैं पशु-पक्षियो की बोली को समझती हूँ। उस दिन अर्धरात्रि के समय गीदड का शब्द सुनकर मैंने जाना कि नदी मे वहुमूल्य आभूषण पहने हुए मुर्दा वह रहा है। मैं वहाँ गयी और आभूषण लेकर लौट आयी। यहाँ यह कौवा कह रहा है कि इस ववूल के वृक्ष के नीचे स्वर्ण गडा है। शीलवती का श्वसुर अधिक प्रसन्न हुआ और उसने गडा हुआ सोना निकाल लिया। शीलवती ने श्वसुर के अन्य प्रश्नो का भी तर्कपूर्ण उत्तर दिया, जिससे उनका श्वसुर बहुत प्रभावित हुआ। उसने अपनी वहू को वहुत ही बुद्धिमती समझा और घर ले आया।

कुछ दिनो के पश्चात् शीलवती का पति अजितसेन राजा का प्रधानमन्त्री वन गया। राजा ने शीलवती के शील की परीक्षा के लिए अपने नरमित्रो को भेजा, जिन्हे शीलवती ने अपने यहाँ कैद कर लिया। यहा यह आख्यान कथासरित्सागर (१-४) से मिलता-जुलता है।

इस प्रतिबोध की अन्य कथाए भी अत्यन्त सरस और मनोरजक हैं। चरित्र का उत्थान अनेक परिवेशो मे दिखलाया गया है। कथारस सभी आख्यानो मे पाया जाता है। पात्र सभी वर्गों से ग्रहण किये हैं। पञ्चम प्रस्ताव की 'जीवमन करणसलापकथा' एक रूपक काव्य है, इसमे जीव, मन और इन्द्रियो का वार्तालाप सुन्दर रूप मे निवद्ध किया गया है। देह नामक नगरी लावण्यलक्ष्मी का निवास स्थान है, नगरी के चारो ओर आयुकर्म का प्राकार है, जिसमे सुख, दुख, क्षुधा, तृषा आदि अनेक मार्ग हैं। इस नगरी का 'आत्मा' राजा है, यह बुद्धि नामक महादेवी के साथ रहता है। मन इसका प्रधानमन्त्री और पाँच इन्द्रियाँ प्रधान पुरुष हैं। कथाकार ने इनका सरस सवाद अकित किया है। यह कथा अपभ्रश भाषा मे लिखी गयी है। इसके साथ ऐतिहासिक तथ्य भी उपलब्ध होते हैं। नन्दराज, स्थूलभद्र एव कोशा आदि के कथानक भी प्रवाहपूर्ण हैं। इस कथाग्रथ का रचनाकाल विक्रम सवत् १२४१ है।

'प्राकृतकथासग्रह' बारह प्राकृतकथाओं का एक सग्रह ग्रन्थ है। इस कथाग्रथ की एक पाण्डुलिपि विक्रम सवत् १३९८ की उपलब्ध है। अत इसका रचनाकाल वि० स० की १४ वी शती के पूर्व है। ग्रन्थ से रचयिता और रचनाकाल के सम्बन्ध म कुछ भी जानकारी प्राप्त नही होती। इन कथाओ मे दान के महत्त्व को प्रकट करने के लिए

धनदेव-धनदत्त कथा, सम्यक्त्व का प्रभाव बतलाने के लिए धनश्रेष्ठि कथा, दान के विषय मे चडकथा, दान देने मे कृपणता दिखलाने के लिए कृपणश्रेष्ठि कथानक, शील का प्रभाव व्यक्त करने के लिए जयलक्ष्मी देवी कथानक और सुन्दरीदेवी कथानक, नमस्कार मन्त्र का फल अभिव्यक्त करने के लिए सौभाग्यसुन्दरी कथानक, तप का प्रभाव बतलाने के लिए मृगाङ्कलेखा कथानक और घट कथानक, भावना का प्रभाव व्यञ्जित करने के लिए धमदत्त और बहुबुद्धि कथानक एव अनित्यता के सम्बन्ध मे समुद्रदत्त कथानक आया है। इन कथाओ मे दान, शील तप, भावना, सम्यक्त्व, परमोत्साह एव अनित्यता आदि का विश्लेषण किया गया है।

अनुरञ्जन के लिए कथाकार ने परिस्थिति और वातावरण का बहुत ही सुन्दर चित्रण किया है। कृपण-श्रेष्ठि की कथा मे तारानिलय नगर के एक कजूस सेठ का बडा ही जीवन्त चित्र प्रस्तुत किया है। कथाकार ने उसकी कृपणता की अभिव्यञ्जना के लिए कई मर्मस्थल अकित किये है। वह अपने पुत्र को पान खाते देखकर दुखी होता है। उसकी पत्नी का बच्चा उत्पन्न हुआ है पर वह भोजन देने मे कजूसी करता है। दान न देना पडे, इस भय से वह साधु-महात्माओ के दर्शन करने नही जाता।

सुन्दरी की प्रेमकथा तो अत्यन्त सरस और मनोरञ्जक है। कथाओ मे साहस, प्रेम, त्याग और भावना का समन्वय पाया जाता है। कुतूहल और जिज्ञासा के सूत्रो मे घटनाओ को पिरोया गया है। भावो मे उतार-चढाव एव मानसिक द्वन्द्वो की स्थिति अनेक स्थलो पर वर्तमान है। सुन्दरी अत्यन्त चतुराई और कुशलता से अपना प्रेमपत्र विक्रम राजा की सेवा मे भेजती है। इस कथानक की कथाओ की निम्नलिखित विशेषताए है —

१ कथानक सयोग और दैवी घटनाओ पर आश्रित।
२ कथाओ मे सहसा दिशा का परिवर्तन।
३ तात्कालिक सामाजिक समस्याओ का उद्घाटन।
४ सवाद तत्त्व की अल्पता या अभाव, किन्तु घटनासूत्रो द्वारा कथाओ मे गतिमत्व धर्म की उत्पत्ति।
५ रोचकता मध्यबिन्दु तक रहती है, इसके आगे कथानक की एकरूपता के कारण आकर्षण भाव की स्थिति।
६ जीवन के शाश्वत मूल्यो का सयोजन—प्रेम, त्याग, शील, दान, सयम प्रभृति सिद्धान्तो की घटनाव्यापार द्वारा अभिव्यञ्जना।
७ विषयवस्तु मे जीवन की विविध प्रवृत्तियो और कार्यव्यापारो का समावेश।

'सिरिवाल कहा (श्रीपालकथा) का सकलन बृहद् गच्छीय वज्रसेनसूरि' के प्रशिष्य और हेमतिलक सूरि के शिष्य रत्नशेखर सूरि ने किया है।[1] इसका सकलन काल वि० स० १४२८ है। यह कथा बहुत ही रोचक है, इसका उद्देश्य सिद्धचक्र पूजा का माहात्म्य प्रदर्शित करना है। इसके प्रमुख पात्र पृथ्वीपाल और उसकी दोनो पत्निया सौभाग्य-सुन्दरी और रूपसुन्दरी, उनकी दोनो कन्याए—सुरसुन्दरी और मदनसुन्दरी एव श्रीपाल है। श्रीपाल की मा और अमात्य मतिसागर भी कथावस्तु से सम्बद्ध है। इस कृति मे एक धार्मिक उपन्यास के सभी गुण वर्तमान है। पात्रो के चरित्र का उत्थान-पतन, कथाप्रवाह की गति मे विभिन्न प्रकार के मोड, सरसता और रोचकता आदि गुणसमाहित है। प्रासगिक कथाओ का गुम्फन एव घटना को सम्पादित करने की प्रक्रिया रोचक है। पृथ्वीपाल जैसा निष्ठुर पिता, जो रुष्ट होकर अपनी कन्या को कोढी को समर्पित कर देता है, आधुनिक यथार्थवादी पिता है। प्रतिशोध की भावना का प्राबल्य एव कन्या के प्रति निष्ठुरता का प्रदर्शन उसे यथार्थवादी कोटि मे प्रतिष्ठित करने के लिये पर्याप्त प्रमाण है। मा के हृदय की ममता और पिता के हृदय की कठोरता विरोधाभास का समुज्ज्वल उदाहरण है। भाग्यवादिनी मदन-सुन्दरी भी आधुनिक अप-टू-डेट नारी से कम नही है। उसमे अपूर्व आत्मविश्वास और बल है। धवलसेठ जैसे कृतघ्नी पात्रो की आज भी कमी नही है। ऐसे निम्न स्वार्थी व्यक्ति सदा से समाज के लिए कलक रहे है। अजितसेन जैसे



१ सिरिवज्जसेण गणहरपट्टपहूहेमतिलयसूरीण।
सीसेहि रयणसेहरसूरीहि इमाहु सकलिया ॥
चउदस अट्ठावीसो ।

राज्यलम्पट और मतिसागर जैसे विश्वासभाजन आज भी विद्यमान हैं। राजकुमारी मदनमजरी का त्याग और मानसिक द्वन्द्व किसी भी काव्य के लिए उपकरण बन सकते है। पात्रो की चारित्रिक दुर्बलताओं का चित्रण व्यापक रूप मे अकित हुआ है।

इस कथाकृति मे भावुकता को उभारने की पूरी शक्ति वर्तमान है। दुधमुहे श्रीपाल का अपने चाचा के अत्याचारो और आतको से त्रस्त हो मा के साथ जगल मे चला जाना और वहाँ कुछ रोगियो के सपर्क मे रहने से उम्बर कुष्ठ विशेष से पीडित होना प्रत्येक पाठक को द्रवित करने मे समर्थ है। दूसरी ओर अपनी सुन्दरी और गुणवती कन्या की स्पष्टवादिता से रुष्ट हो कोढी से उसे व्याह देना भी हृदयहीनता का परिचायक है। जीवनदर्शन को लेखक ने अपनी इस कथाकृति मे समझाने का पूरा यत्न किया है। परिवार का स्वार्थ के कारण विघटन होता है और यह विघटित परिवार सदा के लिए दुखी हो जाता है। अत सामाजिक सम्बन्धो को स्थिर करने के हेतु समाज के सभी घटको और उनकी प्रतिक्रियाओ को उदारभाव से स्थान देना होगा। प्रेम, सेवा, सहयोग, सहिष्णुता, अनुशासन एव आज्ञापालन आदि गुणो के अभाव मे स्वस्थ और सबल समाज का गठन नही हो सकता है।

'रयणसेहरनिवकहा' (रत्नशेखरनृपकथा) के रचयिता जिनहर्ष सूरि हैं। इसका रचनाकाल विक्रम सवत् १४८७ है। यह जायसीकृत पद्मावत की कथा का मूलस्रोत है। पर्व के दिनो मे धर्मसाधन करने का माहात्म्य बतलाया गया है। रत्नशेखर नृपति रत्नपुरनगर का रहनेवाला था, इसके प्रधानमन्त्री का नाम मतिसागर था। राजा वसन्त-विहार के समय किन्नरदम्पती के वार्तालाप मे रत्नवती की प्रशसा सुनता है और उसे प्राप्त करने के लिए व्याकुल हो जाता है। मतिसागर जोगिनी का रूप धारण कर सिंहलद्वीप की राजकुमारी रत्नवती के पास पहुँचता है। रत्नवती अपनी वर-प्राप्ति के सम्बन्ध मे प्रश्न करती है और जोगिनी वेषधारी मन्त्री उत्तर देता है—"जो कामदेव के मदिर मे द्यूतक्रीडा करता हुआ वहा तुम्हारा प्रवेश रोकेगा वही तुम्हारा पति होगा।"

मन्त्री लौटकर राजा को समाचार सुनाता है, राजा रत्नशेखर सिंहलद्वीप को प्रस्थान कर देता है और वहा कामदेव के मन्दिर में पहुचकर मन्त्री के साथ द्यूतक्रीडा करने लगता है। रत्नवती अपनी सखियों के साथ काम-देव की पूजा करने आती है। दोनो का साक्षात्कार होता है। युद्ध के पश्चात् विवाह सम्पन्न हो जाता है। पर्व के दिनो मे राजा अपने शीलव्रत का पालन करता है, जिससे उसे परम शान्ति प्राप्त होती है।

यह एक सुन्दर प्रेमकथा है। लेखक ने प्रेम के मौलिक रूप का सार्वभौमिक विवेचन किया है। इन्द्रियों के व्यापारो और वासनात्मक प्रवृत्तियों के विश्लेषण द्वारा कथाकार पाठको के हृदय मे आनन्द का विकास करता हुआ विषय-वासना के पक से निकालकर उन्मुक्त भावक्षेत्र मे उन्हें ले गया है। राग का उदात्तीकरण विराग के रूप मे हुआ है। पाशविक वासना परिष्कृत हो आध्यात्मिक भावभूमि को प्राप्त होती है।

इस कृति मे उपन्यास के समस्त तत्त्व वर्तमान है। कथावस्तु, पात्र, चरित्र-चित्रण सवाद, वातावरण और उद्देश्य की दृष्टि से यह सफल है। घटनाओ और पात्रो के अनुसार वातावरण तथा परिस्थितियो का निर्माण सुन्दर रूप मे किया गया है। समस्त तत्त्वो के सामजस्य ने कथा के शिल्प-विधान को पर्याप्त गतिशील बनाया है। मूल-कथा के साथ प्रासगिक कथाओं का ताता लगा है। दैवी चमत्कारो और अतिमानवीय तत्त्वों का बाहुल्य भी निहित है। व्रत परीक्षा के सदर्भ मे घटित घटनाए सरस और प्रभावोत्पादक है।

'महिवालकहा (महीपालकथा) के रचयिता वीरदेव गणि है। यह परी-कथा और निजन्धरी इन दोनो का मिश्रित रूप है। इसका रचनाकाल १५वी सदी है। कथा मे बताया गया है कि उज्जयिनी नगरी के राजा नरसिंह के यहा कलाविचक्षण महीपाल नाम का राजपुत्र रहता था। राजा ने रुष्ट होकर महीपाल को अपने राज्य से निकाल दिया। वह अपनी पत्नी के साथ भडौच आया और वहा से जहाज मे सवार होकर कटाह द्वीप की ओर चला। रास्ते मे जहाज जलमग्न हो गया और बडी कठिनाई से वह किसी प्रकार तट पर पहुचा। कटाह द्वीप के रत्नपुर नगर मे पहुँचकर उसने राजकुमारी चन्द्रलेखा से विवाह किया। अब वह अपनी प्रथम पत्नी सोमश्री को ढूंढने चला। राजा ने साथ मे अथर्वण मन्त्री को भी भेज दिया। महीपाल का जलयान समुद्र मे चला जा रहा था, कि अथर्वण मन्त्री के मन मे लोभ

प्रविष्ट हुआ। उसने राजकुमारी चन्द्रलेखा और धन के लोभ से महीपाल को समुद्र में गिरा दिया। राजकुमारी इस दुर्घटना से दुःखी होकर चक्रेश्वरी देवी की उपासना में संलग्न हो गयी। महीपाल समुद्र पार कर जितशत्रु राजा के यहाँ पहुँचा, राजा ने प्रसन्न हो अपनी कन्या शशिप्रभा के साथ उसका विवाह कर दिया। यहाँ उसे तीन वस्तुएँ उपलब्ध हुईं—विचित्रलकुट, खट्वा, और सर्वकामद विद्या। इन तीनों वस्तुओं के बल से वह रत्नसंचयपुर नगर में गया और वहाँ चक्रेश्वरी के मन्दिर में उसे तीनों स्त्रियाँ प्राप्त हो गयीं। उस नगर के राजा ने अपनी पुत्री चन्द्रश्री के साथ महीपाल का विवाह सम्पन्न किया। महीपाल अपनी चारों पत्नियों के साथ उज्जैनी चला आया और यहाँ नरसिंह राजा के यहाँ रहने लगा। श्रुतसागर मुनि से उपदेश सुनकर उसके मन में विरक्ति उत्पन्न हुई और श्रमणदीक्षा ग्रहण कर तपश्चरण किया।

यह कथा साहसिक कथा है। महीपाल के स्वभाव और प्रकृति के अनुसार ही सारी घटनाएँ घटित हुई हैं। चन्द्रलेखा का प्रत्युत्पन्नमतित्व और अपनी शीलरक्षा के लिए उसका कपट प्रेम ऐसे स्थल हैं, जो मानव-जीवन में एक नयी दिशा और स्फूर्ति प्रदान करते हैं। इस कथा का मूलस्रोत प्राचीन है, लेखक ने पौराणिक आख्यानों से कथावस्तु को लेकर एक नयी कथा का प्रणयन किया है। अवान्तर कथाओं में लोभ के दोष का निरूपण करने के हेतु लिखी गयी नन्द सेठ की कथा बहुत सुन्दर है। इसमें कार्य-व्यापारों की तीव्रता निहित है।

इन प्रमुख कथाकृतियों के अतिरिक्त [illegible] सूरि ने आरामसोहकहा, पंडिअधणवालकहा, पुप्फचूलकहा, आरोग्गदुजकहा, रोहगुत्तकहा, वज्जकण्णनिवकहा, सुहडकहा, भीमकुमारकहा, मल्लवाइकहा, मलवाहुकहा, पादलित्तायरियकहा, सिद्धसेणदिवायरकहा, नागदत्तकहा, कामिणीकहा, मेतार्यमुणिकहा, द्रवदत्तकहा, पउमसेहरकहा, संगामसूरकहा, चन्दलेहा कहा एवं नरसुन्दरकहा का प्रणयन किया है। देवचन्द्रसूरि का कालिकाचार्यकथानक और अज्ञातनामधारी कवि की मलयसुन्दरी कथा भी सुन्दर रचनाएँ हैं।

उपदेशप्रद कथाओं में धर्मदास गणि की उपदेशमाला, हरिभद्र सूरि का उपदेशपद, जयसिंह सूरि की धर्मोपदेशमाला, जयकीर्ति की शीलोपदेशमाला, विजयसिंह सूरि की भुवनसुन्दरी, मलधारी हेमचन्द्र सूरि की उपदेशमाला, साहड की विवेकमंजरी, मुनि सुन्दरसूरि का उपदेशरत्नाकर, शुभवर्धन गणि की वर्धमानदेशना एवं सोमविमल की दशदृष्टान्तगीता आदि रचनाएँ भी महत्त्वपूर्ण हैं। इन रचनाओं में कथा का सर्वांगीण विकास प्रमुख नहीं है। किन्तु संयम, शील, दान, तप, त्याग और वैराग्य की भावनाओं का विकास मुख्य रूप से दिखलायी पड़ता है। कथानकों, उदाहरणों, आख्यानों एवं दृष्टान्तों का संयोजन उक्त श्रेणी की समस्त रचनाओं में पाया जाता है। लेखकों ने मनोरंजन तत्त्वों का भी समावेश किया है। उपदेशप्रद कथाओं में नगर, वन, सरोवर एवं क्रीडाओं का चित्रण हुआ है, पर उद्दीप्त स्वर उपदेश का ही है। सदाचार विनय और शील का निरूपण पद-पद पर होता चला गया है। बुद्धिवादी कथाएँ भी इस वर्ग के साहित्य में निबद्ध की गयी हैं।

प्राकृत-कथासाहित्य की विशेषताएँ और उपलब्धियाँ

हिन्दी और अपभ्रंश के प्रेमाख्यान काव्यों का विकास प्राकृत कथाओं से हुआ है। यतः प्राकृत-कथाकारों ने धर्मकथाओं में शृंगार-रस से पूर्ण प्रेमाख्यानों का समावेश कर कथाओं को लोकोपयोगी बनाया है। मदन-महोत्सव, वसन्त-क्रीडा, प्रेमपत्र, मार्मिक घटनाएँ, प्रेमी-प्रेमिकाओं की विभिन्न मानसिक दशाएँ, प्रेमानुराग, प्रेमालाप, हास्य-विनोद आदि का पूर्णतया समावेश किया है। रूपविधान की दृष्टि से प्राकृत-कथाएँ 'बीजधर्मा' हैं। कथाबीज से एक विशाल वटवृक्ष उत्पन्न होता है और अनेक अवान्तर प्रासंगिक कथाशाखाएँ निकलती हैं, जो सभी धार्मिक अन्तश्चेतना से प्राणतत्त्व ग्रहण करती हैं।

प्राकृत कथाओं में विशेषतः कथोत्थप्ररोह शिल्प पाया जाता है। प्याज के छिलकों के समान अथवा केले के स्तम्भ की परत के समान जहाँ एक कथा से दूसरी कथा और दूसरी कथा से तीसरी कथा निकलती जाय तथा वट के प्ररोह के समान शाखा पर शाखा फूटती जाये, वहाँ इस शिल्प को माना जाता है। इस स्थापत्य का प्रयोग समस्त प्राकृत कथाओं में विद्यमान है। मनोरंजन के साथ वर्णनशैली को सहज बनाया गया है। जिस प्रकार वृत्त को कई अंशों में विभाजित किया जाता है और उन अंशों की पूरी परिधि से वृत्त की समग्रता प्रकट हो जाती है, उसी प्रकार





कथोत्थप्ररोह के आधार पर उनिसरा की सगरन गतिविधि प्रकट हो जाती है। वास्तव मे वटप्ररोह के समान उपस्थित कथाओ मे सकेतात्मकता और प्रतीकात्मकता की योजना सुन्दर हुई है। परिच्छेदो या परिच्छेदमण्डलो का नियोजन भी जीवन और जगत् के विस्तार को नायक और प्रतिनायक के चरित्रगठन के रूप मे समेटे हुए है। रचना मे सम्पूर्ण इतिवृत्त को इस प्रकार सुविचारित ढग से विभक्त किया गया है, कि प्रत्येक खण्ड अथवा परिच्छेद अपने परिवेश मे प्राय पूर्णता प्रतीत होता है और कथा की समष्टि-योजना प्रभाव को उत्कर्षोन्मुख करती है।

साहित्य मे चम्पूविधा का विकास शिलालेखो और प्रशस्तियो की अपेक्षा गद्य पद्य मिश्रित प्राकृत कथाओ से मानना अधिक तर्कसगत है। यत प्राकृत मे कथाओ को रोचक बनाने के लिए गद्य-पद्य दोनो का ही प्रयोग किया गया है। पद्य भावना का प्रतीक है और गद्य विचार का। प्रथम का सम्बन्ध हृदय से है और द्वितीय का मस्तिष्क से। अतएव प्राकृत कथाकारो ने अपने कथन की पुष्टि, कथानक के विकास, धर्मोपदेश, सिद्धान्त-निरूपण एव कथाओ मे प्रभावोत्पादकता लाने के लिए गद्य मे पद्य की छौक और पद्य मे गद्य की छौक लगायी है। समराइच्चकहा और कुवलयमाला की यह गद्य-पद्यमयी विशेषता चम्पूविधा की उत्पत्ति के लिए कारण हो सकती है। सस्कृत मे त्रिविक्रम भट्ट के मदालसाचम्पू और नलचम्पू से पहले कोई चम्पू ग्रन्थ उपलब्ध नही होता। दडी ने चम्पू की परिभाषा दी है, पर प्राकृत मे दण्डी के पहले की गद्य-पद्य मिश्रित शैली मे लिखी गयी कथाएँ रही हैं। अत हमारी दृष्टि मे सस्कृत की चम्पूविधा का मूलस्रोत प्राकृत कथाए है।

प्राकृत कथाए लोककथा का आदिमरूप है। वसुदेवहिण्डी मे लोककथाओ का मूलस्रोत सुरक्षित है। गुणाढ्य की बृहत्कथा जो कि पैशाची प्राकृत मे लिखी गयी थी, लोककथाओ का विश्वकोष है। अत प्राकृत कथाओ का लोककथा के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है। जातीय गौरव, वीरपूजा, जीवन की नवीन व्याख्या एव सकेत विशेष की उपलब्धि प्राकृत कथाओ मे पायी जाती है। विशिष्ट तथ्यो, सामाजिक और राजनैतिक वातावरण का यथातथ्य चित्रण एव गहन समस्याओ के समाधान प्राकृत कथाओ मे निहित है। कथाओ का ढाँचा लोककथा का है, प्राकृत लेखको ने इसी धरातल पर धार्मिक कथाओ का निर्माण किया है। साधारणत प्राकृत कथाओ का स्वरूप पालिकथाओ के समान प्रतीत होगा, किन्तु अन्तर यह दिखलायी पडेगा कि पालिकथा-साहित्य मे पूर्वजन्म कथा का मुख्य भाग रहता है, जबकि प्राकृतकथाओ मे यह केवल उपसहार का कार्य करता है। पालिकथाओ मे बोधिसत्व या भविष्य बुद्ध ही मुख्यपात्र रहते हैं और कथा की चरम परिणति उपदेशकथा के रूप मे हो जाती है। समस्त जातक कथाएँ एक ही पिटी-पिटाई शैली मे लिखी गयी है। पर प्राकृतकथाए भूत नही, वर्तमान की होती है। प्राकृत कथाकार जन्म-जन्मान्तरो का सम्बन्ध वर्तमान के साथ ही जोड देता है। सिद्धान्त की प्रतिष्ठा भी सीधे-सादे रूप मे नही की जाती है, बल्कि पात्रो के कथोपकथन और शीलनिरूपण आदि के द्वारा उसकी आग व्यजना की जाती है। प्राकृतकथाकार अपने पात्रो को सीधे नैतिक नही दिखलाते। चरित्र के विकास के लिए वे किसी प्रेम-कथा अथवा अन्य किसी लोककथा के द्वारा उनके जीवन की विकृतियो का उपस्थित करते है। लम्बे सघर्ष के पश्चात् पात्र किसी आचार्य या केवली को प्राप्त करता है और उनके सम्पर्क से उसके जीवन मे नैतिकता आती है। इसी स्थल पर सिद्धान्त की स्थापना भी इतिवृत्त के सहारे होती जाती है। कथानक और घटनाओ का विकास मनोरजक शैली मे होता है।

प्रो० हर्टल प्राकृतकथाओ की विशेषता से अत्यन्त आकृष्ट हैं। उन्होने बताया है—'कहानी कहने की कला की विशिष्टता प्राकृतकथाओ मे पायी जाती है। ये कहानियाँ भारत के भिन्न-भिन्न वर्ग के लोगो के रस्म-रिवाज को पूर्ण सचाई के साथ अभिव्यक्त करती है। ये कथाए जनसाधारण की शिक्षा का उद्गम-स्थान ही नही हैं, वरन् भारतीय सभ्यता का इतिहास भी है।'"[1]

इसमे सन्देह नही कि भारतीय सस्कृति और सभ्यता का यथार्थ ज्ञान प्राप्त करने के लिए प्राकृत कथा-साहित्य बहुत उपयोगी है। जनसाधारण से लेकर राजा-महाराजाओ तक के चरित्र को जितने विस्तार और सूक्ष्मता के साथ प्राकृतकथाओ ने चित्रित किया है, उतना अन्य भाषा के कथाकारो ने नही। निम्नश्रेणी के व्यक्तियो का

---

१ आन दी लिटरेचर आफ दी श्वेताम्बरास् आफ गुजरात, पृ० ८।

यथार्थ मूल्यांकन प्राकृतकथाओं में समाहित है। इन कथाओं को केवल धार्मिक कथाएं ही नहीं माना जा सकता। अपितु कथातत्त्व की प्रचुरता के कारण इनमें मनोरंजन, कुतूहल और प्रभावान्विति पूर्णरूपेण वर्तमान रहने से इन्हें उत्तम श्रेणी की कथाएं भी माना जा सकता है। जीवन के विस्तार में जितनी समस्याएं और परिस्थितियां आती हैं जिनमें नाना प्रकार के सत्य और सिद्धान्त निखरते जाते हैं, उनका यथेष्ट समावेश कथाओं में हुआ है।

इन कथाओं में पात्रों की क्रियाशीलता और वातावरण की सजावट नाना प्रकार की आवश्यकताओं का सृजन करती है। इन कथाओं में ऐहिक समस्याओं के चिन्तन, पारलौकिक समस्याओं के समाधान, धार्मिक-सामाजिक परिस्थितियों के चित्रण, अर्थनीति राजनीति के निदर्शन एवं जनता की व्यापारिक कुशलता के उदाहरण समाहित हैं। पशु-पक्षी-कथाओं का विकास भी प्राकृतकथाओं से हुआ है। संस्कृत में गुप्तसाम्राज्य के पुनर्जागरण के पश्चात् नीति या उपदेश देने के लिए पशु-पक्षीकथाएं लिखी गयी हैं। पर 'नायाधम्मकहाओ' में कुए का मेंढक, जंगल के कीड़े, दो कछुए आदि कई सुन्दर पशु-कथाएं अंकित हैं। आचार और धर्म का उपदेश पशु एवं अन्य प्राणियों के दृष्टान्त देते हुए नाना प्रकार के कथानकों और घटनाओं द्वारा उपस्थित किया गया है। 'नायाधम्मकहाओ' की पशु-पक्षी कथाएँ स्वयं भगवान् महावीर के मुख से कहलायी गयी हैं। निर्युक्तियों में गज, मूषक, हिरण और वानर आदि पशुओं की कई कथाएं उपलब्ध हैं। वस्तुतः पञ्चतन्त्र, हितोपदेश आदि ग्रन्थों की पशु-पक्षी कथाएं प्राकृतकथाओं से ही निःसृत हैं।

प्राकृतकथाओं में ऐहिक समस्याओं के चिन्तन, पारलौकिक समस्याओं के समाधान, धार्मिक-सामाजिक परिस्थितियों के चित्रण सर्वांग-चित्र-वस्तु कथाओं के सुन्दर उदाहरण एवं विभिन्न प्रकार की परिस्थितियों के अंकन किये गये हैं। इन कथाओं का उद्देश्य मनोरंजन करना ही नहीं है, प्रत्युत व्यक्तित्व का निर्माण और चरित्र का उत्कर्ष दिखलाना है। इनमें वर्णाश्रम धर्म के प्रति बगावत की गयी है। मानवसमत्व का सिद्धान्त तथा जन्म-जन्मान्तर के संस्कारों का अमिट प्रभाव और कर्मफल की त्रिकालाबाधिता सिद्ध की गयी है।

कथानकों के विकास में चामत्कारिक घटनाओं और अप्रत्याशित कार्य-व्यापारों के योग द्वारा मनोवैज्ञानिक द्वन्द्वों की स्थितियों का भी चित्रण किया गया है, जिससे कथाओं के सिद्धान्तों का स्फोटन और पात्रों का चरित्र चित्रित होता गया है।

प्राकृतकथासाहित्य की कहानी लगभग दो हजार वर्षों की है। इस लम्बे समय में इसके शिल्प में भी आश्चर्यजनक विकास हुआ है। विभिन्न समय, परिस्थितियों और वातावरण में निर्मित इन कथाओं के शिल्प में भी कई स्तर दिखलायी पड़ते हैं। अतः स्थापत्य-विकास की दृष्टि से प्राकृतकथाओं में अनेक प्रकार की विशेषताएं परिलक्षित होती हैं। भारतीय वाङ्मय में साहित्य-विधाओं के विकास की दृष्टि से प्राकृतकथाओं का अध्ययन परम आवश्यक है।

प्राकृतकथा-साहित्य की एक अन्य विशेषता यह भी है कि कथा में आये हुए प्रतीकों की उत्तरार्ध में सैद्धान्तिक व्याख्या कर दी जाती है। उदाहरणार्थ वसुदेवहिण्डि का 'इब्भपुत्तकहाणय' का उपसंहार अंश उद्धृत किया जाता है —

"जहा सा गणिया, तहा धम्मसुई। जहा ते रायसुयाई तहा सुर-मणुयसुहभोगिणो पाणिणो। जहा आभरणाणि, तहा देसविरतिसहियाणि तवोवहाणाणि। जहा सा इब्भपुत्ता, तहा मोक्खकामी पुरिसो। जहा परिच्छाकोसल्लं, तहा सम्मन्नाणं। जहा रयणपायपीढं, तहा सम्मद्दंसणं। जहा रयणाणि, तहा महव्वयाणि। जहा रयणविणिओगा, तहा निव्वाणसुहलाभोत्ति।"—वसुदेवहिण्डि पृ० ४।

विण्टरनित्स ने भी प्राकृतकथा-साहित्य की प्रशंसा करते हुए लिखा है—

प्राकृत का कथासाहित्य सचमुच में विशाल है। इसका महत्त्व केवल तुलनात्मक परिकथा साहित्य के विद्यार्थी के लिए ही नहीं है, बल्कि साहित्य की अन्य शाखाओं की अपेक्षा हमें इसमें जनसाधारण के वास्तविक जीवन की झांकियां भी मिलती हैं। जिस प्रकार इन कथाओं की भाषा और जनता की भाषा में अनेक साम्य हैं उसी प्रकार उनका वर्ण्यविषय भी विभिन्न वर्गों के वास्तविक जीवन का चित्र हमारे सामने उपस्थित करता है। केवल राजाओं





और पुरोहितों का जीवन ही इस कथासाहित्य में चित्रित नहीं है, अपितु साधारण व्यक्तियों का जीवन भी अंकित है।"[1]

वस्तुत प्राकृतकथाओं के पात्र कल्पनात्मक सृष्टि से किसी समस्या को लेकर उपस्थित होते है। ये कथा के प्रारम्भ से लेकर उपसंहार तक अपने जीवन की अनन्त पीडाओं के साथ उस समस्या का हल चलते है। इतिवृत्तों का अधिक जमघट रहने पर भी कथाप्रवाह में कोई कमी नहीं आने पाती है। कथानकों के साथ रोचकता उत्पन्न करने में सहायक हैं। मुख्य कथा का सिद्धान्त अवांतर कथाओं द्वारा स्पष्ट किया गया है। प्राकृत की लघुकथाओं में घटना और उद्देश्य ये दोनो तत्त्व उपलब्ध होते हैं। सूक्ति और लोकोक्तियों द्वारा लघुकथाओं को मनोरंजक बनाया गया है।

प्राकृतकथाओं में व्यवहृत प्रमुख कथानक-रूढियाँ

कथाओं में बार-बार व्यवहृत होनेवाली एक-जैसी घटनाओं अथवा एक-से विचारों को 'कथानक रूढि' की संज्ञा दी गयी है। यह शब्द 'अंग्रेजी' के फिक्सन मोटिफ का पर्याय है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने लिखा है—"हमारे देश के साहित्य में कथानक को गति और घुमाव देने के लिए कुछ ऐसे अभिप्राय बहुत दीर्घकाल से व्यवहृत होते आये हैं, जो बहुत दूर तक यथार्थ होते हैं, और जो आगे चलकर कथानकरूढि में बदल गये हैं"।[2] कथानकरूढियों का प्रयोग कर संस्कृति के साथ कथातत्त्वों की भी योजना करना है। सामान्यत कथानकरूढियों द्वारा निम्नलिखित गुणों का समवाय किया जाता है—

(१) कथानकों में गतिमत्व-कर्म की निष्पत्ति।
(२) कथानकों और घटनाओं में नया मोड उत्पन्न करना।
(३) कथा में विस्तार का सम्पादन।
(४) संकेतों द्वारा कथोद्देश्य का स्पष्टीकरण।
(५) प्रक्षेपकों द्वारा कथासूत्रों का अध्याहार करना।
(६) भावी घटनाओं का संसूचन।
(७) पुरातन संस्कृति और प्रवृत्तियों का संयोजन।
(८) घटनाओं में आवृत्ति द्वारा उत्पन्न नीरसता का निराकरण।

प्राकृतकथा-साहित्य में प्रयुक्त समस्त कथानकरूढियों का विश्लेषण करना इस लघुकाय निबन्ध में सम्भव नहीं है, अतएव यहा कतिपय प्रमुख कथानक-रूढियों की तालिका प्रस्तुत की जाती है।

१ घोडे का आखेट के समय निर्जन-वन में पहुच जाना, मार्ग भूलना, समुद्रयात्रा करते समय यान का भग हो जाना और काष्ठफलक के सहारे नायक-नायिका की प्राणरक्षा, जैसी घटनात्मक रूढियाँ इस कोटि के अन्तर्गत हैं।

२ स्वप्न में किसी पुरुष या किसी स्त्री को देखकर उस पर मोहित होना अथवा अभिशाप, यन्त्र-मन्त्र, जादू-टोना के बल से रूप-परिवर्तन करना आदि विचार या विश्वासों का समवाय।

३ महान् शक्तिशाली व्यक्ति के जन्म के पूर्व स्वप्नदर्शन का होना एव भविष्यसूचक शुभशकुनो का प्रकट होना।

४ भविष्यवाणी और आकाशवाणी की योजना। नायक-नायिका को रहस्यमयी घटनाओं की सूचना देने हेतु उक्त वाणियों का प्रयोग, उनको कर्त्तव्य की सूचना एव भावी-फलाफल।

५ राक्षस और व्यन्तरो के वार्तालाप, व्यन्तरी की प्रेमयाचना और रूपान्तर द्वारा नायक को धोखा देना एव विद्याधरो द्वारा नायक के कार्यों में सहयोग देना।

---

१ ए हिस्ट्री ऑव इण्डियन लिटरेचर, भाग दो, पृ० ५४५।

१ हिन्दी साहित्य का आदिकाल, पटना, प्रथम सस्करण पृ० ७४।

६ कठिन कार्य के सम्पादन के निमित्त सहायक के रूप में देवताओं का अवतरित होना, विशिष्ट अवसरों पर देव का प्रकट होकर कथानायक अथवा नायिका के प्राण की रक्षा करना।

७ किसी निमित्त-विशेष से पूर्वजन्म की स्मृति जाग्रत होने पर नायक या नायिका का अपने पूर्वजन्म के प्रेमी को प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील होना, मन्त्र-औषधि-पट-गुटिका आदि के चमत्कार का प्रयोग और इनके द्वारा विलक्षण कार्यों का सम्पादन एवं किसी नगर के राजा की मृत्यु होने पर देवाधिष्ठित वस्तुओं द्वारा नये राजा का निर्वाचित होना।

८ वैराग्यप्राप्ति के निमित्तों की योजना, निर्जन स्थान में उजड़े नगर या भवन की प्राप्ति, वहाँ पर राक्षस या व्यन्तर का उपद्रव, किसी रूपवती राजकुमारी या श्रेष्ठिकन्या का सद्भाव, नायक का उस कन्या के साथ विवाह सम्पादित होना एवं नगर की ओर प्रस्थान। प्रतिनायक द्वारा नायक को समुद्र में गिरा देना, नायक का बचकर निकल आना, नायिका के शील पर प्रतिनायक का आक्रमण, पर नायिका की दृढ़ता और अन्त में किसी जैनमन्दिर या अन्य धर्मस्थान में आर्यिका के सदृश साधना में व्याप्त होना, कालान्तर में नायक का मिलन और उनकी विपत्ति का अन्त।

९ चित्रपट द्वारा पूर्वभव के नायक या नायिका का अन्वेषण, विवाह में विघ्न और संघर्ष के अनन्तर विवाह का होना। छोटे भाई से बड़े भाइयों की ईर्ष्या, उसका नगरत्याग, शुभोदय से छोटे भाई का धनार्जन और अन्त में बड़े भाइयों का भी उसी के यहाँ पहुँच जाना।

१० जन्म-जन्मान्तरों की शृंखला तथा एक जन्म के शत्रु का अगले जन्म में भी शत्रु के रूप में अवतरित होना, प्रतिशोध चुकाने के कारण अनेक प्रकार के कष्ट देना एवं कष्टसहिष्णु बनकर जनता की सहानुभूति प्राप्त करना।

११ छोटी रानी के प्रेम में आसक्त हो राजा द्वारा अन्य रानियों और उनके पुत्रों पर अत्याचार, पुत्रों का विदेश गमन, धनार्जन एवं शक्तिसम्पादन, लौटने पर राजा द्वारा स्वागत और घर में यथोचित स्थान।

इस प्रकार प्राकृतकथाओं में विभिन्न कथानकरूढ़ियों का प्रयोग होने से उनकी प्राचीनता तो सिद्ध होती ही है, साथ ही साहित्यिक महत्त्व भी प्रकट होता है। सामाजिक परम्परा, रीति-रिवाज, कला-कौशल, विद्या-बुद्धि, ज्ञान-विज्ञान आदि की अभिव्यञ्जक सर्वाधिक कथानकरूढ़ियाँ प्राकृतकथा-साहित्य में समवेत हैं। इसमें सन्देह नहीं कि भारतीय संस्कृति, साहित्य और प्राचीन परिस्थितियों के परिज्ञानार्थ प्राकृतकथा-साहित्य अत्यधिक उपयोगी है।

०



जैन-कथा-साहित्य और उसका श्रेय

गणेशप्रसाद जैन, वाराणसी



भारतीय-साहित्य का बहुभाग प्राय कथासाहित्य है जिसमे विभिन्न काव्य-विधाओ मे रचे गए एक से एक सुन्दर ग्रन्थ उपलब्ध होते है। इन रचनाओ मे जहा लोक-सस्कृति की झलक मिलती है वही उस युग मे बोली जाने वाली भाषा का यथार्थ रस भी मिलता है। इन रचनाओ के पठन मे व्यायाम की आवश्यकता नही पडती।

विश्व के सम्पूर्ण साहित्य का बहुभाग एव सर्वाधिक जन-प्रिय अश किसी न किसी रूप मे कथात्मक-साहित्य मे ही पाया जाता है। लौकिक साहित्य-क्षेत्र मे ही नही, बल्कि धार्मिक साहित्य-क्षेत्र मे भी यही स्थिति है। जैन-साहित्य का भी लोकदृष्टि मे सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण रोचक एव जन-प्रिय अश उसका कथासाहित्य ही है।

जैनधर्म को प्रसारित व प्रचारित करने के लिए जैनाचार्यों ने अपूर्व प्रेरणाप्रद और प्राजल नैतिक-कथाओ की सारगर्भित परम्परा का उद्घाटन किया है। भारतीय लोक-कथासाहित्य मे जैनकथाओ का विशिष्ट स्थान है। सख्या भी उनकी पर्याप्त है। विषय-विवेचन मे एक मौलिकता है, ससार के समस्त अनुभवो को अपने आचल मे छिपाये हुए, इन कथाओ ने विरक्ति और सदाचार को विशेषत प्रतिफलित किया है।

कहानियो के माध्यम से जिस उपदेश की धारा विस्तृत होती है, वह मानस पर मनोवैज्ञानिक प्रभाव छोड जाती है और मानव वैसा आचरण करने को आतुर हो जाता। घटनाओ के क्रमिक उत्थान व पतन का सयोग इस प्रकार होता है कि पाठको की उत्सुकता सदैव जीवित रहती है, और आनन्द की रसमयी धारा का उद्रेक होता रहता है। सरल, सुबोध और सुगम्य वर्णात्मक शैली कथाओ मे चार चाद लगाती है, और उस उपदेशात्मकता को विशेष प्रेरणाप्रद बनाती है।

जैनधर्म के कथाग्रन्थो मे ऐसे अनेक चिरगूढ सवेदनशील आख्यान उपलब्ध है, जो ऐतिहासिक तथ्यो की प्रतीति कराने के साथ बर्बरता की निर्मम घाटी पर निरुपाय लुढकती मानवता को नैतिक एव आध्यात्मिक भावभूमि पर महान् और नैतिकता का अधिष्ठाता बनाने मे सक्षम है। ये कथाग्रथ सस्कृत, प्राकृत, और अपभ्रश भाषा मे होने के कारण जन-साधारण मे प्रसारित नही हो सके। यदि कुछ राजस्थानी बोली और पुरानी हिन्दी के माध्यम से आये भी हैं तो उनसे पर्याप्त मात्रा मे लाभ नही पहुँच सका है।

यथार्थवाद के धरातल पर निर्मित इनकी रूपरेखाओ मे आदर्शवाद का ही रग गहरा है। इन्होंने एक बार नही, हजारो बार बतलाया है कि मानव का लक्ष्य मोक्षप्राप्ति है, उसमे सफल होने के लिए विरक्त होना ही पडेगा। यद्यपि पुण्य सुखकर है और पाप की तुलना मे इसकी उपलब्धि श्रेयस्कर है, फिर भी पुण्य की कामना का परित्याग एक विशेष परिस्थिति मे आत्म-शुद्धि के लिए आवश्यक है।

कर्म-सिद्धात के निरूपण से इन कथाओ मे पाप-पुण्य की विशद व्याख्या हुई है। प्रत्येक जीव को अपने कर्मों का फल भोगना पडता है, इस अटल सिद्धात की परिधि के बाहर न देवता जा सकते हैं और न नरपति। ऋषि-मुनियो को भी अपने कृत्यो के शुभाशुभ परिणामो का अनुभव करना पडता है।

जैन-धर्म पुनर्जन्म के सिद्धान्त में भी पूर्ण आस्थावान् है। इसलिए कर्मवाद की अभिव्यक्ति अधिक प्रभावशाली बन जाती है। किसी कारणविशेष से यदि जीव अपने वर्तमान जीवन में अपने कर्मों का फल नहीं भोग पाता तो उसे दूसरे जन्म में अवश्य भोगना पड़ेगा।

जीवन में व्रतों की आवश्यकता, उनके प्रयोग, उनकी उपयोगिता आदि पर अनेकों कहानियां हैं जो उज्ज्वल जीवन को समुन्नत करने में सक्षम हैं। इन कहानियों के सतत चिन्तन और मनन से एक प्रकार की प्रेरणा पाकर मानव आध्यात्मिकता और पवित्रता की ओर अग्रसर होता है।

समस्त प्राणियों की चिन्ता करने वाले जैनधर्म के सिद्धान्तों में 'सर्वजनहिताय' की भावना सदैव सम्पादित रही है। वर्ग-भेद अथवा जाति-भेद की कल्पना के लिए यहां स्थान है ही नहीं। पशु-पक्षी, देव-दानव, राजा-रंक और श्वपच को भी समान रूप से धर्मोपदेश सुनाकर जैनमुनियों ने अपनी उदारता का परिचय दिया है। जैनधर्म के सिद्धान्तों को समझाने के लिए जिन कथाओं का सहारा लिया है, वह काल्पनिक नहीं है वरन् उनकी कथा-वस्तु में यथार्थता है, तथा आदर्शवाद की पुष्टि में उनका अवसान हुआ है। इस प्रकार से भारतीय लोक-कथा-साहित्य में जैन-कथा साहित्य का विशिष्ट स्थान है।

कथा-तत्त्व की विशेषताओं के उदाहरणस्वरूप हम जैन-कथाओं को उपस्थित कर सकते हैं। भारतीय जनता के प्रत्येक वर्ग के आचार-विचारों एवं व्यवहारों के विषय का उनसे यथार्थ एवं सविस्तार परिचय प्राप्त होता है। जैन-कथा-साहित्य का भारतीय सभ्यता व संस्कृति के इतिहास-क्षेत्र में भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। जैन-कथा-साहित्य की मूलवस्तु भूत को वर्तमान से सम्बन्धित करती हुई अपने सिद्धान्तों का सीधा उपदेश नहीं देती, उसके स्थान पर प्रायः अप्रत्यक्ष रूप से अपना उद्देश्य प्रकट करते रहते हैं।

जैन-कथाओं में यद्यपि सरल-शैली का ही सफल निर्वाह है, फिर भी उनमें भावनाओं का उत्थान-पतन, जीवन का क्रमिक-विकास एवं मानवता का उच्च सन्देश विद्यमान है। जैन कथा साहित्य की शृंखला का निर्माण धार्मिक और लोक व्याख्या के क्षेत्र से उद्घटित होता है।

जैन-कथा-साहित्य अत्यन्त विशाल, व्यापक, विभिन्न-भाषामय एवं विविध है। लोक-कथाओं, दन्तकथाओं, नैतिक आख्यायिकाओं, प्रेमाख्यान, ऐतिहासिक कहानियों, पशु-पक्षी की कहानियों, अमानवी देवी देवताओं से सम्बन्धित कहानियों, उपन्यास, नाटक, काव्य, चम्पू, दोहा (दूहा) ढाल, रास, रूपक, प्रतीकात्मक आख्यान इत्यादि समय-समय पर एवं प्रदेश-प्रदेश अथवा विविध भाषाओं में प्रचलित विभिन्न शैलियों एवं रूपों में जैन-कथा-साहित्य उपलब्ध है। स्वतन्त्र कथाओं की बहुलता है पर अनेक कथाओं की परम्परा सम्बद्ध शृंखलाएं भी हैं। कुछ छोटी कहानियाँ हैं तो अनेक बृहद्-कथाएं भी उपलब्ध होती हैं।

कथाओं के विविध प्रकारों में से दो मुख्य हैं, एक लौकिक कथा दूसरा धार्मिक। धार्मिक-कथाओं में आध्यात्मिकता का पूरा-पूरा पुट तो रहता ही है, आन्तरिक जीवन-घटनाओं से भी उनका घनिष्ठ सम्बन्ध रहता है। उनमें व्रतों का सदनुष्ठान करने वाले भव्य श्रावकों की धार्मिक मर्यादा के साथ नैतिक जीवनचर्या का भी अच्छा चित्रण पाया जाता है। साथ ही संकट के समय सुदृढ़ रहकर विजय प्राप्त करने का वर्णन भी स्पष्ट रहता है। सत्पुरुषों के उच्चतर जीवन के विकास और नैतिक चरित्र से अपने चरित्र में विकास सम्भव है।



जैनकथाएँ प्रायः मौलिक हैं, कुछ महाभारत आदि जैनेतर ग्रंथों से भी ग्रहण की गई हैं। अनेक मौखिक प्रचलित लोक-कथाओं का भी उनमें समावेश हो गया है, किन्तु ये सब जैनधर्म के सांचे में ढलकर ही प्रस्तुत हुई हैं।

जन-साधारण में अपने सिद्धान्तों का प्रचार करने के लिए जैन साधु कथाओं को सबसे सुलभ व प्रभावशाली साधन मानते थे और इन्होंने इसी दृष्टि से सभी भाषाओं में गद्य-पद्य दोनों में ही कहानीकला को चरम-सीमा में पहुँचा दिया है। उनकी कथायें दैनिक जीवन की सरल से सरल भाषा में होती थीं। कोई-कोई घटनायें तो केवल एक ही साधारण कथा हुआ करती थीं, पर अधिकांश कथाओं में बहुत-सी गौण-कथाएं चलती रहती हैं, जैसे पचतन्त्र।



डॉ० सत्यकेतु (एम०ए०,पी-एच०डी०) ने जैन लोककथाओं पर विचार प्रकट करते हुए लिखा है कि "जैन-साहित्य में तो बौद्धों से भी अधिक कहानियों का भण्डार मिलता है। ये कहानियां कुछ तो धर्म-सिद्धान्त ग्रंथों में आती हैं। ये बहुधा तीर्थंकरों तथा उनके श्रमण अनुयायियों तथा शलाका-पुरुषों की जीवन-झांकियों के रूप में जहाँ-तहाँ मिलती हैं।"

डॉ० याकोबी इनके उद्‌भव का उल्लेख करते हुए लिखते हैं कि कथानक-साहित्य का उद्‌भव ईसा के एक शताब्दी बाद के उत्तरार्द्ध में माना जाना चाहिए।

सुप्रसिद्ध यूरोपियन विद्वान् श्री सी० एच० टान ने अपने ग्रंथ "ट्रजरी आफ स्टोरीज" की भूमिका में स्वीकार किया है कि जैनों के कथा-कोष में संगृहीत कथाओं व यूरोपीय कथाओं में अत्यन्त निकट साम्य है।

प्रो० मैक्समूलर ने तथा राईज डेविड्स ने अपने ग्रंथों में इस बात को सिद्ध करने के लिए पर्याप्त प्रमाण दिये हैं कि भारतीय बौद्ध-कथाएं लोककण्ठों के माध्यम से परसिया से यूरोप गई हैं।

पूर्वमध्य-काल में ही अनेक जैनकथाएँ भारत के पश्चिमी तट से अरब पहुँचीं वहाँ से ईरान, और ईरान से यूरोप। अनेक जैनकथाओं को तिब्बत, हिन्द एशिया, रूस, यूनान, जिप्सी और इटली के तथा यहूदियों के साहित्य में पहचानकर खोज निकाला गया है। इसी कारण जैन-कथा साहित्य को अखिल भारतीय संस्कृति का प्रतीक माना जाना चाहिए और यथार्थत है भी यही।

श्री टानें, हर्टल, ल्यूडर, ल्यूमेन, तेस्सितौरि, जैकोबी आदि अनेक यूरोपीय प्राच्यविदों ने जैन-कथा साहित्य के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण गवेषणाएँ की हैं।

विदेशी लोक-कथाओं के परिशीलन से ज्ञात होता है कि अनेकों जैनकथाएँ सागर पार कर वहाँ गईं, और वहाँ की मान्यताओं की वेष-भूषा में अलकृत हो गयीं, किन्तु उनकी मूलभूत आत्मा ज्यों की त्यों सुरक्षित रही।

जैन-कथाकार अपनी उन्मुक्त स्वतन्त्रता के कारण जीवन की प्राय प्रत्येक भौतिक, मानसिक, दैनिक अथवा भावनात्मक परिस्थितियों को अपनी कथा में आत्मसात् कर लेता है, जिससे जैन-कथायें जन-जीवन के प्राय प्रत्येक अंग का स्पर्श करती हैं, और वह आबाल-वृद्ध, स्त्री-पुरुष जन-साधारण का स्वस्थ मनोरंजन करती हुई तात्त्विक, दार्शनिक, सैद्धान्तिक तथा नैतिक तथ्यों की छाप डाल देती हैं, जिससे जीवन श्रेयस्-उन्मुख होने लगता है।

जैन-कथायें अबाधगति से अग्रसर होती रहती हैं। कोई कथानक या पात्र हो, कोई भी घटना-क्रम अथवा स्थिति का चित्रण हो, उसे जैन-कथाकार अपने सांचे में ढालकर, अपना मन्तव्य रोचक और वस्तुपरक ढंग से कहकर समर्थन प्राप्त करता है। कथाकार कहानी के अन्त में दार्शनिकता व पुण्य-पाप के सुफल निष्कर्ष को बड़ी ही गभीरता-पूर्वक उपस्थित करता है, जिससे पाठकों अथवा श्रोताओं पर धार्मिक श्रद्धा की छाप पड़ जाती है।

जैन-साधुओं का कथा कहने का ढंग भी अन्यों की अपेक्षा कुछ विशेषतापूर्ण है। कथा के प्रारम्भ में वे अपने किसी प्रसिद्ध धर्म-वाक्य या पद्यांश द्वारा मंगलाचरण कहते हैं और पश्चात् कथा कहना प्रारम्भ करते हैं। कथा की लम्बाई-छोटाई पर वह कभी भी ध्यान नहीं देते। उनकी कथायें घटनापूर्ण होती हैं। कथा के प्रारम्भिक भाग में प्रमुख पात्र अथवा पात्रों का परिचय व निवास-स्थान आदि की चर्चा की जाती है। कथा के अन्त में वक्ता-श्रोताओं अथवा पाठकों से सम्बन्धित पात्रों को सन्मार्ग पर चलने का उपदेश देते हैं। कथा-पात्र अरिहन्त भगवान् से ससार के दुःखों से छुटकारा प्राप्त करने का उपाय पूछता है, प्रत्युत्तर में केवली भगवान् जैन-धर्म के मुख्य-मुख्य तत्त्वों का निरूपण करते हैं। वे बतलाते हैं कि प्राणी को पूर्वकृत कर्मों के फलस्वरूप ही सुख-दुःख की प्राप्ति होती है। अपने कथन के उदाहरण में वह कहानी के पात्रों के जीवन में घटित घटनाओं के वर्णन द्वारा उसे स्पष्ट रूप से समझाते हैं।

जैनेतर विद्वानों ने लोक-भाषाओं को गौण मानकर जहाँ-संस्कृत आदि अन्य भाषाओं में कथा-साहित्य की सृष्टि की है, वहीं जैन विद्वानों ने संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश तीनों ही भाषाओं में कथा-साहित्य का भण्डार परिपूर्ण किया है। इस प्रकार की रचनायें कथा, चरित और पुराण-ग्रंथों के रूप में हमें उपलब्ध हैं। इतना ही नहीं बल्कि

भारतीय विविध प्रान्तीय भाषाओं, मराठी, गुजराती, हिन्दी आदि में रचित रचनायें भी कथा-साहित्य भण्डार की अमूल्य निधि हैं।

प्रसिद्ध और महत्त्वपूर्ण जैन कथा-ग्रंथों में हरिषेण का बृहत्कथा-कोष, प्रभाचन्द्र, श्रीचन्द्र, नेमीदत्त आदि का आराधना कथा कोष, जिनेश्वर सूरि एवं भद्रेश्वर सूरि की कथावलियाँ, रामचन्द्र का पुण्याश्रवकथा कोष इत्यादि उल्लेखनीय हैं।

स्वतन्त्र कथाओं में तरंगवती कहा, समराइच्च कहा, धूर्ताख्यान, कुवलयमाला, उपमितिभवप्रपंचकथा, धर्मपरीक्षा, सम्यक्त्व कौमुदी, तिलकमंजरी, धर्मामृत, शुकसप्तति, रत्नचूड की कथा आदि विशेषत: महत्त्वपूर्ण हैं।

जैनकथा-साहित्य के प्रधान मूल स्रोत 'पइन्नाओं' को तथा शिवार्य की 'भगवती आराधना' को माना जाता है। गुणाढ्य की प्रसिद्ध बृहत्कथा का आधार काणभूति द्वारा भूतभाषा में रचित जिस ग्रंथ को माना जाता है, वह जैन विद्वान् काण भिक्षु का प्राकृत-कथा ग्रंथ प्रतीत होता है। श्वेताम्बर आगम-सूत्र और दिगम्बर पौराणिक-साहित्य में भी अनेक जैनकथाओं के उद्गमस्रोत हैं।

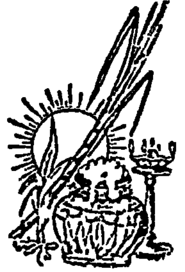
०



जैन-कथासाहित्य : एक अनुदृष्टि

प्रोफेसर श्रीचन्द्र जैन

एम० ए०, उज्जैन



कहानी साहित्य की एक प्रमुख विधा है जिसे सबसे अधिक लोकप्रियता प्राप्त हुई है। विश्व के सर्वोत्कृष्ट काव्य की जननी कहानी ही है। कथा के प्रति मानव मात्र का सहज आकर्षण है। फलत जीवन का कोई भी ऐसा क्षेत्र नही है जिसमे कहानी की मधुरिमा अभिव्यजित न हुई हो। सत्य तो यह है कि मानव अपने जन्म के साथ कथा को लाया है और वह अपनी जिन्दगी की कहानी कहता हुआ समाप्त करता है। कहने और सुनने की उत्कण्ठा सार्वभौम है। मानव-विकास की गाथा मे एक ऐसा भी चरण था जब मनुष्य काननो मे ही रहकर पशु-पक्षियो के साहचर्य ने अपनी नीरस जीवनयात्रा को सरस बनाता था। उस समय हरे-भरे पेड उसे छाया देते थे, गगनचारी विहग मधुर गीत सुनाकर उसकी थकान मिटाते थे और पशु अपनी उल्लासभरी क्रीडाओ से उसका मनोरजन करते थे। इसी सान्निध्य ने मानव को पशु-पक्षियो का मित्र बनाया है और कई युगो के बीत जाने पर भी आज का इसान इन्हे भूल नही पाया है। सुसस्कृत होने पर मानव ने अपने इस स्नेह को कहानियो के माध्यम से विकसित किया। परिणामत कथा के आकर्पण को सबल बनाने के लिए प्राकृतिक सुषमा कहानी-साहित्य मे एक विशिष्ट उपकरण के रूप मे मान्य है।

हमारे प्राचीनतम साहित्य मे कथा के तत्त्व जीवित है। ऋग्वेद मे, जो ससार का सर्वप्रथम उपलब्ध ग्रन्थ है, स्तुतियो के रूप मे कहानी के मूलतत्व पाये जाते है। ऋग्वेद के मत्र १ सूक्त २४।२५, मत्र ३० (दोनो मे मिलाकर) में ऋषि शुन शेप का वह प्रसिद्ध आख्यान है जिसमे उन्होने 'वरुण' की प्रार्थना की है, उदाहरण के रूप में लिया जा सकता है। अप्पला-आमेयी के आदर्श नारीचरित ऋग्वेद मे आए हैं। ब्राह्मणग्रन्थो मे भी हमे अनेक कथाएँ उपलब्ध होती हैं। शतपथ ब्राह्मण की पुरुरवा और उर्वशी की कथा का किस को ज्ञान नहीं है?

ये कहानिया उपनिषत्काल से पूर्व की है। उपनिषत्काल मे आकर इन्हे कुछ नया रूप मिला है। गार्गी-याज्ञवल्क्य सवाद तथा सत्यकाम-जाबाल आदि की कहानिया उपनिषद्-युग की प्रसिद्ध कहानिया है। छान्दोग्य उपनिषद् ४। १। ३ मे जनश्रुति के पुत्र राजा जानश्रुति की कथा का चित्रण मिलता है। पुराणो मे कहानी खुलकर आई है जिससे वेद के गूढार्थ का प्रतिपादन होता है। यह कहना कि पुराणो मे वेद की व्याख्या है, निराधार नही है। पुराण वेदाध्ययन की कुजी हैं। वेदो की मूलभूत कहानिया पुराणो की कथाओ मे पल्लवित प्रस्फुटित हुई हैं। पुराण कथा-कहानियों का अतुल भडार है।

रामायण और महाभारत में भी बहुत से आख्यान जुडे हैं। रामायण की अपेक्षा महाभारत मे यह वृत्ति अधिक है। एक प्रकार से देखा जाय तो महाभारत कहानियो का कोप है।[1]

इस प्रकार कथासहित्य की एक प्राचीन परम्परा है जिसमे पचतत्र, हितोपदेश, बेताल पचविंशतिका, सिंहासनद्वात्रिंशिका, शुकसप्तति, वृहत्कथामजरी, कथासरित्सागर आख्यानयामिनी, जातक कथाएँ आदि विशेपत उल्लेख्य हैं।

कथा साहित्य-सरिता की बहुमुखी धारा के वेग को क्षिप्रगामी बनाने मे जैन कथाओ का योगदान उल्लेख-

---

१ हरियाना प्रदेश का लोक-साहित्य, — ले० डा० शकरलाल यादव पृष्ठ ३३९ तथा ३४०।

नीय है। जैनो के मूल आगमो मे द्वादशागी प्रधान और प्रख्यात है। इनमे नायाधम्मकहा, उवासगदसाओ, अन्तगड, अनुत्तरोपपातिक, विपाकसूत्र आदि समग्र रूप मे कथात्मक है। इनके अतिरिक्त सूत्रगडांग, भगवती, ठाणाग आदि मे भी अनेक रूपक एव कथाए है जो अतीव भावपूर्ण एव प्रभावजनक हैं। तरगवती, समराइच्चकहा तथा कुवलयमाला आदि अनेकानेक स्वतन्त्र कथाग्रन्थ विश्व की सर्वोत्तम कथाविभूति है। यदि अध्ययन विविवत् तथा इतिहास-क्रम से इस साहित्य का किया जाय तो कई नवीन तथ्य प्रकाश मे आवेंगे और जैन कथा-साहित्य की प्राचीनता वैदिक कथाओ से भी अधिक पुरानी परिलक्षित होगी। जैनो का पुरातन साहित्य तो कथाओ से पूर्णत परिवेष्टित है। डॉक्टर वासुदेवशरण अग्रवाल 'लोक-कथाए और उनका सग्रहकार्य' शीर्षक निबन्ध मे लिखते हैं—"बौद्धो ने प्राचीन जातको की शैली के अतिरिक्त अवदान नामक नये कथा-साहित्य की रचना की जिसके कई सग्रह (अवदानशतक दिव्यावदान आदि) उपलब्ध हैं। किन्तु इस क्षेत्र मे जैसा कार्य जैन लेखको ने किया वह विस्तार, विविधता और बहुभाषाओ के माध्यम की दृष्टि से भारतीय साहित्य मे अद्वितीय है। विक्रम सवत् के आरम्भ से लेकर उन्नीसवी शती तक जैन साहित्य मे कथाग्रन्थो की अविच्छिन्न धारा पायी जाती है। यह कथा-साहित्य इतना विशाल है कि इसके समुचित सपादन और प्रकाशन के लिए पचास वर्षो से कम समय की अपेक्षा नहीं होगी।

जैन साहित्य मे लोक-कथाओ का खुलकर स्वागत हुआ। भारतीय लोक-मानस पर मध्यकालीन साहित्य की जो छाप अभी तक सुरक्षित है उसमे जैन कहानी साहित्य का पर्याप्त अश है। सदयवच्छ सावलिंग की कहानी का जायसी ने पद्मावत मे और उससे भी पहले अब्दुल रहमान ने सदेशरासक मे उल्लेख किया है। वह कहानी विहार से राजस्थान और विध्यप्रदेश के गाव-गाँव मे जनता के कठ-कठ मे बसी है। कितने ही ग्रन्थो के रूप मे भी वह जैन-साहित्य का अग है।[1] जैन कथाओ को विद्वान् लेखको ने सस्कृत, प्राकृत अपभ्रंश आदि कई भाषाओ मे लिखकर एक ओर भाषा की समृद्धि की है और दूसरी ओर जनता की भावना को परिष्कृत किया है। जनपदीय बोलियो मे भी जैन लेखको ने कथासाहित्य का पर्याप्त मात्रा मे लिखा है। इन कथाओ मे जैन सस्कृति तथा सभ्यता विविध रूपो मे मुखरित हुई है। लोक-जीवन के बडे सजीले चित्र इन कहानियो मे चित्रित हैं जिन्हे देखकर आज का समाज अपने विगत वैभव का ज्ञान सुगमता से कर सकता है। लोक-जीवन को कई रूपो मे अपनाने वाली इन कथाओ मे यद्यपि उपदेश की भावना अधिक प्रबल है, फिर भी जैन लेखको ने इनमे मानव की सुख-दुखात्मक अनुभूतियो को भी सरस रूप मे अकित किया है। जैनाचार्यो ने इन कथाओ के माध्यम से गहन सैद्धान्तिक तत्वो को सुगम बनाया है तथा श्रावको एव साधारण जनता ने इनके द्वारा अपनी सहज प्रवृत्तियो को विशुद्ध बनाने का सतत प्रयास किया है। जैन लेखको ने इन आख्यानो मे मानवजीवन के श्वेत तथा श्याम दोनो रूपो को अपनाया है लेकिन आख्यान की परिसमाप्ति पर श्वेत रूप को ही प्रधानता देकर आदर्शवाद को स्थापित किया है।

डॉ० यादव के मतानुसार "कथासाहित्य की दृष्टि से जैन साहित्य बौद्ध साहित्य की अपेक्षा अधिक सम्पन्न है। जैन कहानियो मे तीर्थंकरो, श्रमणो एव शलाकापुरुषो की जीवनकथाएँ मुख्य है जिनमे धर्म के सिद्धान्तो का स्पष्टीकरण होता चलता है। इनमे धार्मिक दृष्टि को पुष्ट करने के लिए जैन कहानीकार साधारण कहानी की समाप्ति पर 'केवली' (मुक्ति के अधिकारी साधु) के द्वारा दुख-सुख की व्याख्या पूर्वजन्म के कर्म के आधार पर कर देता है। बस यही पर ये जातको से भिन्न हैं। जैन कथाओ मे भूत, वर्तमान दुख-सुख की व्याख्या या कारणनिर्देश के रूप म आता है। वह गौण है। मुख्य है वर्तमान। जब कि बौद्ध जातको मे वर्तमान अमुख्य है। वहाँ बोधिसत्व की स्थिति विगत काल मे ही रहती है। इनमे अनेक रूपक कहानियाँ भी हैं। एक उदाहरण देना पर्याप्त होगा। एक तालाब है। उसमे खिले हुए कमल भरे हैं। मध्य मे एक बडा कमल है। चार ओर से चार मनुष्य आते हैं और वे उस बडे कमल को हथियाना चाहते हैं। प्रयत्न करते है परन्तु सफल नही होते। एक भिक्षु तालाब के किनारे से कुछ शब्द बोलकर उस बडे कमल को प्राप्त कर लेता है। यह सूयगड (सूत्रकृताग) आगम की रूपक-कहानी है। इस रूपक



---

१ आजकल-लोककथा अक पृ० ११



के द्वारा यह समझाया गया है कि विषयभोग का त्यागी साधु राजा महाराजा आदि का संसार से उद्धार कर देता है।

उस प्राचीन कथासाहित्य से, जिसका ऊपर वर्णन हुआ है, तत्त्व ग्रहण कर आगे के लेखकों ने संस्कृत, प्राकृत, और अपभ्रंश में अनेक कहानियां रची हैं। अपभ्रंश के पउमचरिउ (पद्मचरित्र) एवं भविस्सयत्तकहा (भविष्यदत्तकथा) नामक ग्रन्थ कहानी साहित्य की अमूल निधि है। इनमें अनेक उपदेशप्रद कहानियाँ उपलब्ध होती हैं। अधिक क्या कहा जाए, कथाओं के समूह के समूह जैन आचार्यों ने रच डाले हैं जिनके द्वारा जैनधर्म का प्रचार भी हुआ है और धार्मिक सिद्धान्तों को बल भी मिला है।[1]"

इस कथासाहित्य के कथानक बड़े ही मर्मस्पर्शी है और साथ ही साथ व्यापक हैं। जीवन के शाश्वत तत्त्वों का इनमें निरूपण हुआ है। तथा पात्रों का चरित्र स्वाभाविक रूप में होने के कारण सर्वग्राह्य बन गया है।

कथनोपकथन पात्रानुकूल हैं। वातावरण इन कथाओं की भाव-भूमि को मनोरम बनाता है तथा पात्रों की विचारधारा में वैशिष्ट्य समुत्पन्न करता है। देश काल से सम्बन्धित कथा-सूत्र तत्कालीन धार्मिक, सामाजिक एवं ऐतिहासिक तथ्यों को प्रदर्शित करते हैं और पाठकों के सन्मुख विविध चित्रावलियों को प्रस्तुत कर अपनी सार्थकता का परिचय देते हैं।[2] शैली में सरलता है, सरसता है तथा एक विशिष्ट परम्परा का अवलम्बन है। उद्देश्य के सम्बन्ध में यही कहना पर्याप्त है कि जैन लेखकों ने कथाओं के द्वारा आध्यात्मिक पक्ष की प्रतीति को ही प्रधानता दी है। स्वप्निल आकांक्षाओं से दूर रहकर ही मानव अपने आपको पहिचान सकता है। यही सिद्धान्त सर्वत्र ध्वनित हुआ है। मुनिश्री महेन्द्रकुमार जी प्रथम—"सचित्र जैन कहानियां" नामक पुस्तक के दूसरे भाग की भूमिका में लिखते हैं - 'परिस्थितियां ही मनुष्य को बनाती या बिगाड़ती है, यह स्थूल सत्य है। इसमें तत्त्व की उपलब्धि नहीं होती। वास्तविकता तो यह है कि मनुष्य ही अपना ब्रह्मा-स्रष्टा, विष्णु-संरक्षक व महेश संहारक है। उसकी सावधानी या असावधानी पर उसका सारा भावी जीवन अवलंबित होता है। यह अपनी धरोहर को खोता है,[3] सुरक्षित रखता है या सुसज्जित करता है। यह उसके कर्तव्य पर आधारित है। प्रस्तुत जैन कहानियां पाठक के समक्ष यही नवनीत प्रस्तुत करती हैं। इन कहानियों में नायक के पूरे जीवन-चित्र प्रस्तुत नहीं हैं अपितु वे ही हैं जिनमें वह अपने कर्तव्य

---

१ हरियाना प्रदेश का लोक-साहित्य, पृ० ३४६।

२ विचारों के प्रकट करने के ढंग को हम शैली कह सकते हैं। साधारणतः लिखने और कहने की गति को यदि शैली कहा जाय तो ठीक ही है। "प्रसिद्ध यूनानी विचारक अफलातून या प्लेटो का मत है - जब विचार को तात्त्विक रूपाकार दे दिया जाता है तो शैली का उदय होता है।—बर्नार्ड शा का विचार है कि प्रभावपूर्ण व्यक्ति ही शैली का अथ और इति है। हमारी समझ में शैली अनुभूत विषयवस्तु को सजाने के उन तरीकों का नाम है जो उस विषयवस्तु की अभिव्यक्ति को सुन्दर एवं प्रभावपूर्ण बनाते हैं। शैली अंग्रेजी 'स्टाइल' का अनुवाद है।"

—हिन्दीसाहित्य कोश—भाग १ पृ० ३८७।

जैन कथाओं की शैली एक परम्परा को अपनाए हुए है जिससे भावों को सहज रूप में अभिव्यक्त करने की पूर्ण क्षमता है। कहावतों, मुहावरों एवं सूक्तियों का समावेश होने से यह शैली बड़ी सरस बन गई है। प्रत्येक कहानी के प्रारम्भ में मंगलाचरण-स्वरूप जिनेन्द्र भगवान् की स्तुति-परक कुछ पंक्तियां होती हैं तथा कथा की समाप्ति में भी भगवद्भक्ति की कामना की जाती है —"संसार का हित करने वाले जिनेन्द्र भगवान् को प्रसन्नतापूर्वक नमस्कार कर शुभ नाम के राजा की कथा लिखी जाती है।" कथा की परिसमाप्ति पर लेखक की कामना इस प्रकार अभिव्यक्त होती है —'जिनके वचन पापों के नाश करने वाले हैं, सर्वोत्तम हैं, और संसार का भ्रमण मिटानेवाले हैं, वे देवों द्वारा पूजे जाने वाले जिन भगवान् मुझे तब तक अपने चरणों की सेवा का अधिकार दें, जब तक कि मैं कर्मों का नाशकर मुक्ति प्राप्त न कर सकूं।'

अराधनाकथाकोश-तीसरा भाग पृष्ठ ६१। पद्यात्मक कथाओं की शैली कुछ पृथक् होती है। चम्पू शैली में लिखी हुई कथाओं की शैली अधिक प्रभावोत्पादक मानी गई है।

से या तो बहुत अधिक निखर उठा है या वह काला स्याह हो गया है। जीवन का पूर्वार्ध या पश्चिमार्ध यत्र-तत्र आया भी है तो वह एक संयोजक शृंखला के रूप में ही उपस्थित हुआ है। इन कहानियो मे एक ओर त्याग भावना व वैराग्य की प्रचुरता है तो साथ ही मानव जीवन के व्यावहारिक पहलुओ को छूने वाले भी अनेक प्रकरण है जिनमे आध्यात्मिकता और भौतिकता का समन्वित स्वर है।"

कहानियों में कथोपकथन के माध्यम से केवल विनोद ही नही होता अपितु उनमे जीवन की सरस अनुभूतियो के साथ संस्कृति, सभ्यता, दर्शन व धर्म का निचोड भी होता है। सामान्यतया दर्शन मे तात्विक उलझन, धर्म में आचरणीय पहलुओ की विविधता तथा संस्कृति व सभ्यता मे प्राचीनता व अर्वाचीनता का विवाद होता है । जिज्ञासु व्यक्ति उनके गहरे विवेचन को पढता है पर उसमें से उसके हस्तगत बहुत थोडा होता है। कई बार तो दो-चार डुबकियाँ लगाने पर भी व्यक्ति को खाली हाथो लौटना पडता है। कुछ इने-गिने व्यक्ति ही ऐसे होते है जो उस विवेचन में मुक्ता पा सकते हैं। किन्तु संस्कृति, दर्शन व धर्म कुछ एक व्यक्तियों की ही धरोहर नहीं होती । वे तो प्रत्येक व्यक्ति की पवित्र निधि होते है, जिनके बिना एक कदम चलना भी असभव होता है। ऐसी स्थिति मे उनका सरल मार्ग कहानीसाहित्य ही होता है। इस माग मे दर्शन के दुरूह प्रश्न, संस्कृति का गहरा चिन्तन व धर्म के विविध पहलू सरलता से हृदयगम किये व कराये जा सकते है। इसमे उन सब की बोलती हुई आत्मा होती है । मित्रसम्मत व कान्तासम्मत उपदेश भी इसी माध्यम से प्राप्त होता है जो श्रुति मे मधुर, आचरण मे सुन्दर व हृदय को छूने वाला होता है।"

मुनि जी का यह कथन प्राय समस्त जैन कथाओ के सम्बन्ध मे मान्य कहा जा सकता है। सासारिक वैभव-विलास से विरक्ति उत्पन्न करने के लिये जैन-कथाए अधिक प्रयोजनवती सिद्ध हुई है । उनमे जिन सूक्तियो को समाविष्ट किया गया है वे भी इस प्रस्तुत मन्तव्य को सार्थक बनाती है।

जैनकथाओ का वर्गीकरण

जैन-कथाओ का एक विशाल भाण्डार है जिसे निश्चित रूपों मे विभक्त करना सरल नही है। फिर भी विद्वानो ने कथानकों, पात्रों, एव उद्देश्यो के अनुसार कथाओ का वर्गीकरण किया है । कथा-साहित्य-विशारदो ने अभिप्रायो के आधार पर इन्हे विभाजित करने का प्रयत्न किया है। दीर्घनिकाय के ब्रह्मजालसुत्त मे एक स्थान पर कथाओं के जो अनेक भेद दिये है वे इस प्रकार है—(१) राजकथा (२) चोरकथा (३) महामात्यकथा (४) सेनकथा (५) भयकथा (६) युद्धकथा (७) अन्नकथा (८) पानकथा, (९) वस्त्रकथा (१०) शयनकथा (११) मालाकथा (१२) गधकथा (१३) ज्ञातिकथा (१४) यानकथा (१५) ग्रामकथा (१६) निगमकथा (१७) नगरकथा (१८) जनपदकथा (१९) स्त्रीकथा (२०) पुरुषकथा (२१) शूरकथा (२२) विशिखाकथा (बाजारु गप्पें) (२३) कुम्भस्थानकथा (पनघट की कहानिया) (२४) पूर्वप्रेत कथा (गुजरों की कहानियाँ) (२५) निरर्थककथा (२६) लोकाख्यायिका (२७) समुद्राख्यायिका (दीर्घ निकाय १।८)[1]

साधारणत जैन कथाओ को निम्नलिखित चार भागो मे विभक्त किया जा सकता है —

(१) धर्म सम्बन्धी कथाए।
(२) अर्थ सम्बन्धी कथाए।
(३) काम सम्बन्धी कथाए।
(४) मोक्ष सम्बन्धी कथाए।

इस वर्गीकरण मे भी मोक्षविषयक-भावना सर्वत्र विद्यमान है। इसके अन्तर्गत विरक्ति, त्याग, तपस्या, पूजन, आदि धार्मिक चिन्तन एव कृत्य स्वय ही सन्निहित है, क्योकि जैन कथाओं का लक्ष्य जैन धर्म की महिमा को बताना तथा जैनधर्म-प्रतिपादित आचार का प्रचार करना है।



---

१ लोक-कथाए और उनका सग्रहकार्य (डा० वासुदेवशरण अग्रवाल)—आजकल-लोक-कथा अक पृष्ठ ६,



प्रकारान्तर से जैन कथाओ को इस प्रकार भी—वर्गीकृत किया जा सकता है (१) धार्मिक (२) ऐतिहासिक (३) सामाजिक (४) उपदेशात्मक (५) मनोरजनात्मक (६) अलौकिक (७) नैतिक (८) पशु-पक्षी सबधी (९) गाथाए (१०) शाप-वरदान विषयक (११) व्यवसाय सम्बन्धी (१२) विविध (१३) यात्रासम्बन्धी (१४) गुरु शिष्य सम्बन्धी (१५) देवीदेवता सम्बन्धी (१६) शकुनापशकुन सम्बन्धी (१७) मन्त्र-तन्त्रादि सम्बन्धी (१८) बुद्धिपरीक्षण सम्बन्धी (१९) विविध जाति-वर्ग सम्बन्धी (२०) विशिष्ट न्याय विषयक (२१) काल्पनिक कथाए, एव (२२) प्रकीर्णक।

कतिपय कथाकोशो का सक्षिप्त परिचय

(१) कथाकोश (कथानककोश अथवा कथाकोश प्रकरणम्)—इसके रचयिता श्रीवर्धमानसूरि के शिष्य जिनेश्वरसूरि हैं। प्राकृत के इस ग्रन्थ मे २३९ गाथाए है। इस ग्रन्थ की सस्कृतटीका मे गद्य-पद्य दोनो का प्रयोग किया गया है। यत्र-तत्र किए गए सस्कृत, प्राकृत तथा अपभ्रश के उद्धरणो मे यह कृति विशेष आकर्षक बन गई है।

(२) कथाकोश – इसके रचयिता का नाम अज्ञात है। १७ कथाए इसमे सगृहीत है। इन कहानियो मे लोककथातत्त्व विशेषत द्रष्टव्य है। सस्कृत मे लिखित इस कृति मे प्राकृत गाथाओ का भी समावेश है।

(३) कथाकोश (कथारत्नकोश) सवत् ११५८ मे लिखित कृति के रचयिता श्रीप्रसन्नचन्द्र के शिष्य श्री देवभद्र हैं। मुनिमार्ग के विवेचन के लिए आदर्श कथाओ को प्राकृत मे लिखा गया है तथा यत्र-तत्र सस्कृत के पद्यो को भी उद्धृत करके कथा-कोशकार ने बडी निपुणता से गृहस्थ के कर्त्तव्यो को प्रतिपादित किया है।

(४) कथाकोश (भारतेश्वर बाहुबली-वृत्ति)—प्राचीन जैन-साहित्य मे निर्दिष्ट धार्मिक महापुरुषो की जीवन-कथाओ को प्राकृत मे लिखकर लेखक ने अपनी कथाप्रणयन अभिरुचि का सुन्दर परिचय दिया है। प्राकृत की इस रचना मे सस्कृत का भी प्रयोग हुआ है। यह कृति सवत् १५०९ मे निर्मित हुई थी।

(५) कथाकोश (व्रतकथाकोश)-सस्कृत की इस रचना के प्रणेता श्रीश्रुतसागर हैं। व्रतो मे सम्बन्धित कथाए इसमे सगृहीत है तथा विक्रम सवत् की १६ वी शताब्दी की यह कृति है। इस कृति के रचयिता के गुरु विद्यानदि थे।

(६) कथाकोश—इसमे प्राकृत मे लिखित १४० गाथाए है। कृति के लेखक श्रीविजयचन्द्र हैं।

(७) कथामणि-कोश (आख्यानमणिकोश)—प्राकृत मे रचित इस पद्यात्मक ग्रन्थ के रचयिता कवि श्रीदेवेन्द्रमणि हैं जिन्हे नेमिचन्द्र भी कहा गया है। श्री देवेन्द्र अपनी सरल शैली के लिए प्रख्यात है। यह वृहत् ग्रन्थ ४१ अध्यायो मे समाप्त हुआ है। इस कोश की सस्कृतटीका के लेखक श्रीजिनचन्द्र के शिष्य श्रीअमरदेव हैं। टीका सवत् ११९० मे लिखी गई थी।

(८) कथामहोदधि (कर्पूरप्रकर अथवा सूक्तावली)—१७९ छन्दो मे लिखा गया यह ग्रन्थ धार्मिक तथा नैतिक सिद्धान्तो की विवेचना करने मे पूर्णरूपेण सक्षम माना गया है। प्रत्येक छद मे एक अथवा दो कथाओ का उल्लेख हुआ है। इसके रचयिता श्रीवज्रसेन के शिष्य श्रीहरिषेण हैं।

(९) कथारत्नसागर—इसमे १५ तरग है। श्रीदेवभद्र सूरि के शिष्य नरचन्द्र सूरि इस 'सागर' के निर्माता है।

(१०) कथारत्नाकर—सस्कृत की इस रचना के प्रणेता श्रीउत्तमर्षि है।

(११) कथारत्नाकर—सवत् १६५७ मे रचित इस ग्रन्थ के रचयिता श्रीकमलविजय के शिष्य हेमविजय गणि हैं। इसमे सगृहीत कथाओ मे से कुछ तो सुनी हुई कथाए है और कुछ काल्पनिक हैं। दस तरगो मे २५८ कथाओ की विस्तृत चर्चा हुई है। सरल सस्कृत मे लिखी गई यह कृति बडी सरस एव नैतिकता की शिक्षिका है। सस्कृत, प्राकृत, अपभ्रश, पुरातन हिन्दी एव प्राचीन गुजराती के उद्धरणो को पर्याप्त सख्या मे अपनाया गया है।

(११) कथाकोश – (ई० सन् की १३ वीं शताब्दी में विरचित) । प्राकृत की रचना के कवि धर्मघोष हैं। जैन साध्वी यों की कथाओं के साथ-साथ अन्य उपदेश-कथाओं को भी इसमें उचित स्थान मिला है।

(१२) कथारत्न—प्राकृत गद्य में विरचित इस बृहत् ग्रन्थ के लेखक श्रीभद्रेश्वर हैं। इसमें ६३ शलाका-पुरुषों के वृत्तान्तों के साथ अन्य महात्माओं के चरित्रों का कथा रूप में उल्लेख हुआ है।

(१३) कथामाला (उपदेश माला) – इसके लेखक श्री जिनभद्र हैं। इसमें संगृहीत कथाएं प्राकृत में हैं जिनका मध्य मानवों को निश्रेयमार्ग की ओर आकर्षित करना है।

(१४) कथा मदार—(कथाकोश) इसके रचयिता श्री राजशेखर मलधारी (श्री तिलकसूरि के शिष्य) हैं।

[illegible] कथाएं गुम्फित कर सामान्य संस्कृत गद्य में लिखी गई हैं। कथाओं के अन्त में संस्कृत, प्राकृत एवं अपभ्रंश के पद्यों का उद्धरण किया गया है। [illegible] के प्रचारार्थ लेखक ने इन कथाओं को लिखा है। [illegible] परिलक्षित है। एक बड़ी कथा के अन्तर्गत अन्य कथाओं का भी उल्लेख होने से [illegible] गया है।

[illegible] प्रभाचन्द्र, चन्द्रकीर्ति, सिंह मुनि, सकलकीर्ति, पद्मनन्दि तथा रामचन्द्र विरचित कथाकोशों का भी [illegible] विद्वानों ने उल्लेख किया है।

[illegible] अनेक कथासंग्रहों का और भी उल्लेख हुआ है जिनमें से कतिपय ये हैं —

[illegible] का कथाकोश, [illegible] का कथाकोश एवं [illegible] का कथासंग्रह। इनके अलावा कथा-[illegible] आदि कथा-संग्रहों का भी यत्र तत्र उल्लेख हुआ है।[1] शोध विद्वानों को इन [illegible] के सम्बन्ध में [illegible] चाहिये। यदि विधिवत् जैन [illegible] ग्रन्थों की तालिका तैयार की जाय [illegible] तो जैन [illegible] सम्बन्धी अनेक तथ्य प्रकाश में आ सकते हैं। [illegible] इस ओर [illegible] सर्वांगीण [illegible] वाञ्छनीय है।

जैन-कथाओं का देशाटन

[illegible] आवागमन तथा यातायात की सुविधाएं साहित्य के परिभ्रमण में सहायक बनती हैं। उपदेशक [illegible] जब उपदेशार्थ आते हैं तब उन्हीं के माध्यम से उनका कण्ठस्थ साहित्य उनके देशों की जनता तक [illegible] तथा आना-जाना [illegible] अपनी विचार-धारा के अनुसार विविध रूपों में [illegible]। भारत के विभिन्न प्रान्तों में अनेकविध जैन कथाएं पाश्चात्य देशों में भी गईं और वहां के निवासियों ने उनका [illegible] किया। शनैः शनैः जैन कथाओं में परिवर्तन आया तथा विशिष्ट [illegible] की सांस्कृतिक चेतना ने उन्हें प्रभावित किया। पात्रों के नाम बदले गए, स्थानों के नामों में भी परिवर्तन हुआ, वेश भूषा परिवर्तित हुई, लेकिन मूल अभिप्राय [illegible]। [illegible] रूप में यहां सुगन्धदशमी कथा की संक्षिप्त चर्चा अपेक्षित है। डा० हीरालाल जैन [illegible] ने [illegible] रूप में प्रस्तुत किया है। विद्वान सम्पादक ने इस कथा के अपभ्रंश, संस्कृत, गुजराती, मराठी एवं हिन्दी-रूपों को भी पाठकों के सामने रखा है। परिशिष्ट में सम्यक्त्व की कथा (नागश्री) [illegible] श्रावक सुना कथानक (श्रावकप्रज्ञप्ति टीका से) तथा [illegible] (उत्तर पुराण से) को भी रखा गया है। इन सबके तुलनात्मक अध्ययन से ज्ञात हो जाता है कि एक ही कथा में किस प्रकार परिवर्तन होते रहते हैं एवं स्थानीय मान्यताएं किस रूप में कथा की मूल भावना को प्रभावित करती हैं। इसी सुगन्धदशमी कथा की उपलब्धि (साधारण परिवर्तन के साथ) फ्रेंच और जर्मन कथा-साहित्य में हुई है। [illegible] प्रकट होता है कि कथाओं की भी यात्राएं बड़ी लम्बी होती हैं। साहित्य का यह



---

1 विशेष अध्ययन के लिए देखिए श्रीहरिषेणाचार्यकृत बृहत्कथाकोश की डा० उपाध्ये लिखित अंग्रेजी में भूमिका।



देशाटन बताता है कि सम्भवतः यूरोप और भारत के बीच इस कथानक (सुगन्धदशमी कथा की कथावस्तु) का आदान-प्रदान हुआ है। मैक्समूलर व हर्टल आदि अनेक विद्वानों ने यह सिद्ध कर दिखाया है कि भारतीय कथाओं का यह अटूट प्रवाह अति प्राचीन काल से पश्चिम की ओर प्रवाहित होता रहा है जिसके फलस्वरूप वेदकालीन, जातक संग्रहों तथा पचतत्र हितोपदेश व कथासरित्सागर आदि भारतीय आख्यान साहित्य में निबद्ध अनेक लोककथाएं पाश्चात्य देशों में जाकर वहाँ के वातावरण के अनुकूल हेर-फेर सहित प्रचलित हुई हैं। उक्त यूरोपीय कथा के सर्व प्राचीन लेखक चार्ल्स पेरोल्ट का जीवनकाल सन् १६२८ से १७०३ तक माना गया है। उससे पूर्व इस कथानक के यूरोप में प्रचलित होने का कोई प्रमाण हमारे सम्मुख नहीं है। इसकी तुलना में भारत की सुगंधदशमी कथा की परम्परा अति प्राचीन है। इसका मराठी अनुवाद जिनसागर द्वारा सन् १७२४ के लगभग, संस्कृत अनुवाद श्रुतसागर द्वारा व गुजराती अनुवाद जिनदास द्वारा सन् १४५० के लगभग, एवं अपभ्रंश की मूल रचना सन् ११५० ई० के लगभग हुई पाई जाती है। अतः कोई आश्चर्य नहीं जो अन्य भारतीय कथाओं के सदृश इस कथा का भी देशान्तर-गमन हुआ हो, जिसका प्रचार-क्रम गवेषणीय है।[1]

धैर्य-पूर्वक यदि तुलनात्मक अध्ययन किया जाय तो हजारों ऐसी जैन कथाएं उपलब्ध होंगी जो सामान्य परिवर्तनों के साथ पाश्चात्य कथासाहित्य में गुम्फित हैं।

जैन-कथा-साहित्य का भाषा-वैज्ञानिक अध्ययन

भाषा-विज्ञान की दृष्टि से जैनकथाओं का कम महत्त्व नहीं है। यदि प्राकृत, संस्कृत, अपभ्रंश आदि भाषाओं का तुलनात्मक अध्ययन किया जाय तथा कतिपय कथाओं के विविध अनुवादों को सामने रखा जाय तो पाठक को ज्ञात होगा कि किस प्रकार शब्दों के रूपपरिवर्तन होते हैं तथा प्राकृत का एक शब्द संस्कृत में आकर किस रूप में उच्चारित होता है तथा वही शब्द अपभ्रंश आदि भाषाओं में प्रयुक्त होकर कौनसी विकृति की परिधि में आबद्ध होता है। लेकिन इस प्रकार भाषावैज्ञानिक अध्ययन उन अध्येताओं को ही प्रिय लगेगा जो बहुभाषाविद् हैं तथा जिनकी भाषाविज्ञान में विशेष अभिरुचि है। शब्दों के अर्थ-परिवर्तन को समझने के लिए ये कथाएं बड़ी उपयोगी सिद्ध हो सकती हैं।

जैन-कथाओं के अनुशीलन से हमें हजारों ऐसे शब्द प्राप्त होते हैं जिनमें जैनों की सांस्कृतिक भावना अभि-व्यंजित है। इस प्रकार के शब्द उस युग की चेतना को भी ध्वनित करते हैं जब कि जैनों की समृद्धि एवं त्याग-प्रवृत्ति चरम-सीमा को छू रही थी।

यहाँ कुछ ऐसे विशेष शब्द दिये जाते हैं, जो हिन्दी जैन-कथाओं में प्रयुक्त हुए हैं तथा इनका भाषा-वैज्ञानिक अध्ययन बड़ा ही महत्त्वपूर्ण है।

१ न्योता (निमंत्रण) २ कोहबर (कौतुकगृह) ३ मढया (मण्डप) ४ ककन (कंकण) ५ सिन्होरे (सिन्दूर-दानी) ६ पितरनेती (पितृनिमंत्रण) ७ बदरिया (बद्‌लिका) ८ पोखर (पुष्कर) ९ गौरा (गौर), १० कौआप (काक-पक्षी) आदि।

जैन-ग्रंथों में आए हुए निम्न कुछ ऐसे शब्द हैं जिनका अर्थ जैनाम्नाय के अनुकूल ही मान्य होगा। यह विशिष्ट अर्थ शब्दों की अभिव्यंजना-शक्ति का द्योतक है —

१ नाक—पुत्र।
२ दरवल्ल—ग्राम-प्रधान अथवा प्रासाद।
३ गनाशन—जाति-बहिष्कृत।
४ प्रतिमा—त्याग की एक सीमा।
५ लेश्या—भावना।

---

१ सुगंधदशमी कथा (सम्पादक डा० हीरालाल जैन) प्रस्तावना पृष्ठ १५

६ अणुव्रत—पापों का कुछ सीमा तक त्याग।
७ महाव्रत—पापों का सर्वथा त्याग।
८ सम्यग्दर्शन—देव-शास्त्र-गुरु के प्रति दृढ़ विश्वास।
९ प्रातिहार्य—वैभवविशेष।
१० दिव्यध्वनि—केवली के मुख से निकली हुई ध्वनि।
११ वस्तु—उत्पादव्यय एवं ध्रौव्य से युक्त पदार्थ।
१२ जिन—जिनेन्द्रदेव (जैनों के भगवान्देव)।

अनेकान्त—विभिन्न दृष्टिकोण। यह जैनधर्म का प्रमुखवाद है जो समन्वय का प्रतीक है एवं इसके अनुसार द्रव्य में अनेक धर्मों की स्थिति मानी जाती है।
धर्म-द्रव्य—स्थिति का माध्यम जो जीव और पुद्गल को चलने में सहायता करता है।
अधर्म-द्रव्य—स्थिति का माध्यम जो जीव और पुद्गल को ठहरने में सहायता करता है।
आकाश—यह सभी द्रव्यों को स्थान देता है।
कालद्रव्य—जो वस्तुमात्र के परिवर्तन में सहायक है।
बंध—जीव और कर्म का परस्पर में मिल जाना।
संवर—आस्रव के रुकने को संवर कहते हैं।
पाक्षिक-श्रावक—जो एक देश से हिंसा का त्याग करके श्रावक धर्म को स्वीकार करने का इच्छुक हो।
श्रमण—जैन साधु।

जैन-कथाओं में चित्रित लोक-संस्कृति

जैन-कथाओं में लोक संस्कृति का मनोरम चित्रण मिलता है। वस्तुतः लोकसंस्कृति को अपनाने के कारण ही ये कथाएं विशेष लोकप्रिय बनी हैं। मानव के विश्वास, आराध्य देवी-देवता, वेश-भूषा, व्यवसाय, मान्यताओं आदि का विशद चित्रण इन कथाओं में हमें सुगमता से उपलब्ध होता है। कथाकारों ने जनसाधारण को प्रभावित करने के लिए कथाओं की सर्जना की है और उसी के वातावरण में रहकर अपनी काव्य-भावना को श्रेयस्कर बनाया है।

संस्कृति, अन्तर की तथा बाह्य जीवन की अभिव्यक्ति है। इसके अन्तर्गत हमारे जीवन के सभी भौतिक, सामाजिक तथा आध्यात्मिक मूल्य आ जाते हैं। वास्तव में हर समाज के मूल में कुछ नैतिक स्तर, धार्मिक विश्वास, संस्कार, सामाजिक नियम तथा अन्य सामाजिक क्रिया-कलाप होते हैं जिनको सामाजिक तथा धार्मिक स्वीकृति प्राप्त होती है। इन सब की पृष्ठ-भूमि में युगों-युगों से चला आता इतिहास छिपा रहता है। हर देश तथा समाज की उत्कृष्ट संस्कृति की आधारशिला वहाँ का लोक-समाज होता है। इसी लोक समाज की संस्कृति लोक-संस्कृति कहलाती है। लोक-संस्कृति पुस्तक-बद्ध कोई लेखा नहीं अपितु एक मानसिक धरोहर तथा विश्वास है जो लोक-मानव को युगों से पीढ़ी-दर-पीढ़ी विरासत के रूप में मिल रही है। यद्यपि सभ्यता इस संस्कृति में सामयिक परिवर्तन करती रहती है, परन्तु लोक-मानव उस सभ्यता की इसी संस्कृति को मानता है तथा मानना चाहता है। यदि यह परिवर्तन करता भी है तो परिस्थितिगत विवशता के कारण ही करना पड़ता है। इसीलिए किसी भी देश की लोक-संस्कृति में स्थायित्व होता है।

हमारे देश में लोक-संस्कृति धर्मपरायण है तथा आदर्शवाद के तत्त्वों को निरन्तर अपनाती रहती है। जैन लोकसंस्कृति में विरक्ति, करुणा, उदारता, सेवा, त्याग, अहिंसा, कर्मवाद, अनेकान्तवाद आदि के मधुर स्वर चिरकाल से ध्वनित हो रहे हैं।



---

१ खड़ी बोली का लोक-साहित्य (डा० सत्या गुप्ता) पृष्ठ ३२१

पाप पुण्य एवं धर्म-अधर्म का शाश्वत संघर्ष है। अतः अत्याचार तथा अनाचार के विरोध में सदाचार और मानवता सफलमनोरथ सिद्ध हुई है। फिर भी दुष्टों का अभाव कहीं नहीं होता है। दुष्टता न रहे तो जीवन आकर्षणहीन बन जाता है। इसी प्रकार दुर्जन एवं सज्जनता के संघर्ष से अभिवृद्धि होती है। ऐसी स्थिति में इन कथाओं की कथावस्तु दोनों को लेकर आगे बढ़ती है, लेकिन परिसमाप्ति पर दुर्जनता प्रभावहीन बनकर स्वयं नष्ट हो जाती है और सौजन्य दिनकर की भांति प्रकाशित होता है। आजीविका के अनेक साधन थे। फिर भी व्यापार तथा खेती की प्रधानता प्राचीनकाल में उल्लेख्य है। नौकरी के प्रति जनता का अधिक आकर्षण न था। धन कमाकर मानव दान के प्रति उत्सुक रहता था, एवं धार्मिक कृत्यों में भी सहायक हुआ करता था। परलोक की भावना वैराग्य को कुण्ठित न होने देती थी। समस्त धर्मों के प्रति अनुराग होने पर भी जनता स्वधर्म धर्म-साधना में मग्न रहती थी। समाज सुगठित था, तथा विरोधी-तत्त्वों का दमन सामूहिक रूप से हुआ करता था। इस सम्बन्ध में आराधना-कथा-कोश, भाग-१ २, जैन-कहानियाँ, मोक्षमार्ग की कहानियाँ, एवं पुण्याश्रव कथा-कोश दृष्टव्य हैं। नाना प्रकार के कुव्यसनों में भी कुछ लोग संलग्न रहते थे लेकिन उनकी संख्या कम थी। सदाचार को सुरक्षित रखने के लिए मानवता के अनुरूप शील की महिमा प्रस्तुत की जाती थी। परिणामस्वरूप युवक एक-पत्नीव्रती थे तथा युवतियां स्वपति परायण थीं। (देखिये शीलवती सुदर्शन एवं नीली और अनन्तमती की कथायें)। नारी का प्राचीन युग में विशेष सम्मान था तथा समाज इन्हें समय समय पर आदर देकर आदर्श उपस्थित करता था। (सती सीता की कथा इस सन्दर्भ में विशेष उल्लेख्य है।) युवतियाँ स्वयं धर्म परायण थीं और अपने पति को भी धार्मिक बनाने में पूर्ण सहयोग देती थीं। (देखिए भावदेव और नागला शीर्षक कहानी)। बलि प्रथा प्रचलित अवश्य थी लेकिन जैन-कथा साहित्य के अध्ययन से प्रकट होता है कि जैनों ने इसका सदैव विरोध किया है। (देखिये जयसेन राजा की कथा आराधना कथा कोश तीसरा भाग।)

यद्यपि वैवाहिक सम्बन्धों में उदारता प्रदर्शित की जाती थी फिर भी जैन-अजैनों का विवाह सम्बन्ध प्रायः वर्जित था। (नीली की कथा, आराधना कथा कोश दूसरा भाग)। मन्त्र-शक्ति पर जनता का प्राचीन काल से अधिक विश्वास था। तपस्वी मन्त्रों की साधना से गगनचारी बन जाते थे तथा शारीरिक व्याधियों को भी शान्त कर देते थे। (पाराशर मुनि की कथा, आ० क० कोश भाग २।) हत्या के अपराध में दोषी को प्राणदण्ड की सजा दी जाती थी। (सुकुमाल मुनि की कथा आ० क० कोश भाग दूसरा)। बहुपत्नी प्रथा का भी प्रचलन था। (सुकोशल मुनि की कथा आ० क० कोश भाग दूसरा)। सम्पन्न व्यक्ति पुत्री के विवाह के समय दामाद को दहेज में बहुत कुछ धन सम्पत्ति दिया करते थे। (मृगसेन धीवर की कथा आ० क० कोश भाग दूसरा)। बृहत्कथा-कोश की कथाएँ ११-१२६, १३-२१, २४-३८ ७०-८७ बताती हैं कि अपराधी को गधे पर बैठाकर सारे नगर में घुमाया जाता था तथा उसकी सम्पत्ति को राज्याधिकार में कर लिया जाता था। काले वस्त्र तथा काले बैलों का पुरस्कार भी बड़ा अपमानजनक समझा जाता था। बृहत्-कथा कोश कथा-संख्या १५७-१०)।

भक्तामर-कथाओं के अनुशीलन से स्पष्ट है कि भगवान् जिनेन्द्रदेव के परम श्रद्धालु जैन विपत्तियों से छुटकारा पाने के लिए तथा सांसारिक वैभव की प्राप्ति के हेतु मन्त्रों की सिद्धि करते हैं तथा विजया, प्रभावती अजिता, ब्राह्मी, जलदेवी, महिदेवी, वनदेवी, महादेवी, रोहिणी देवी, चक्रेश्वरी, पद्मावती देवी आदि अनेक देवियों की प्रसन्नता प्राप्त कर सफल मनोरथ होते हैं। इन कथाओं के अनुशीलन से यह भी ज्ञात होता है कि पुरातन काल में लोक-जीवन विशेष समृद्ध एवं सुखमय था। कृषि से कृषकों को पर्याप्त आय होती थी तथा खाद्य पदार्थ अत्यल्प मूल्य में प्राप्त हो जाते थे। सब ओर समृद्धि परिलक्षित होती थी। धनिक हीरा-पन्ना मोती आदि के सुन्दर आभूषण पहनते थे तथा महिलाएँ भी विविध सोने-चांदी के अलंकारों से अपने मनोरम शरीर को समलंकृत किया करती थी। अनेक प्रकार के सुरभित लेपों के प्रयोग से इन रमणियों का सौन्दर्य सदैव आकर्षक बना रहता था। घी दूध की कमी न थी तथा साधारण ग्रामवासी भी सैकड़ों गायों को रखता था। उपासकदशांग सूत्र में वर्णित आनन्द आदि श्रावकों के यहां हजारों गायें थीं। दूध, दही, घी, शक्कर विविध दालें, सुगंधित चावल, आचार, मिठाइयां आदि भोजन के प्रमुख तत्त्व थे। रंगीन वस्त्रों के प्रति कामिनियों की अधिक रुचि थी। बालक बालिकाएँ भी अलंकारों से सुसज्जित रहते थे। रेशमी वस्त्र मनुष्य अधिक पहनते थे। सुन्दर गृहों में रहकर सम्पन्न व्यक्ति अपने समीपवर्ती मित्रों को भी

सुखी बनाने का प्रयत्न करते थे तथा आवश्यकता पड़ने पर धन-अन्न वस्त्रादि से उनकी सहायता करते रहते थे। मनोविनोदार्थ कई प्रकार के खेल भी खेले जाते थे। चौपड़ द्यूत आदि का भी प्रचलन था। इस प्रकार कथाओं मे चित्रित लोक संस्कृति बड़ी सुहावनी लगती है।

जैन-कथाओं की प्ररूढ़ियाँ

कथाओं के निर्माण मे प्ररूढ़ियों का विशेष महत्त्व है। जिस प्रकार गृह के आकार का स्थूल रूप देने के लिए ईंट, पत्थर, चूना, लकड़ी आदि की आवश्यकता पड़ती है उसी प्रकार कथा के स्वरूप मे स्थिरता लाने के लिए, उसे विशेष मनोरञ्जक बनाने के लिए तथा उसमे रोमाच की अभिवृद्धि के हेतु प्ररूढ़ियों का प्रयोग अत्यावश्यक माना गया है। प्ररूढ़ि को अभिप्राय भी कहते हैं। इसे अंग्रेजी मे 'मोटिव' नाम से अभिहित किया जाता है। डॉ० श्यामाचरण दुबे इस अभिप्राय को कथा का मूल भाव मानते हैं। डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी इसे कथानक-रूढ़ि के रूप मे स्वीकृत करते हैं जबकि कृष्णानन्द गुप्त ने इस अभिप्राय को कथानक का मुख्य लक्षण कहा है। डा० कन्हैयालाल सहल मोटिव के लिए प्ररूढ़ि शब्द को अपनाते हुए लिखते हैं—"प्ररूढ़ि शब्द मे आवृत्ति और गति दोनो का भाव एक साथ पाया जाता है इसलिए 'मोटिव' के रूप मे प्ररूढ़ि शब्द अपनाया जा सकता है।"[1]

"कहानियों के लिए अभिप्रायो का वैसा ही महत्त्व है जैसा किसी भवन के लिए ईंट-गारे का अथवा किसी मंदिर के लिए नाना भांति से उकेरे हुए शिलापट्टों का।"[2]

"कथानक रूढ़ि—सामान्यतया रूढ़ि और अभिप्राय का प्रयोग एक दूसरे के पर्याय के रूप मे किया जाता है। अभिप्राय जिसे अंग्रेजी मे मोटिव कहते है उस शब्द अथवा साचे मे ढले हुए उस विचार को कहते है जो समान परिस्थितियों मे अथवा समान मन स्थिति और प्रभाव उत्पन्न करने के लिए किसी एक कृति अथवा एक ही जाति की विभिन्न कृतियों मे बार-बार आता है। विभिन्न कलाकृतियों के अपने अलग अलग अभिप्राय होते हैं। चित्रकला मे अभिप्राय का अर्थ होता है—"कोई चल या अचल, सजीव या निर्जीव, प्राकृतिक अथवा काल्पनिक वस्तु जिसकी अलकृत एव अतिरञ्जित आकृति मुख्यत सजावट के लिए किसी कलाकृति मे बनाई जाय।" प्रत्येक देश के साहित्य मे भी अनुकरण तथा अत्यधिक प्रयोग के कारण कुछ साहित्य सम्बन्धी रूढ़ियां बन जाती है और यान्त्रिक ढग से उनका प्रयोग साहित्य मे होने लगता है, इन सभी रूढ़ियों का साहित्यिक अभिप्राय करते हैं।

भारतीय साहित्य मे परकायप्रवेश, लिंगपरिवर्तन, पशुपक्षियों की बातचीत किसी बाह्य वस्तु मे प्राणो का बसना, आदि कितने ही अभिप्राय हैं। ये सभी कथानक-रूढ़िया प्रधानतया दो प्रकार की है—एक लोकविश्वास पर आधारित दूसरी कविकल्पित। हिन्दी साहित्य मे सबसे पहले हजारीप्रसाद द्विवेदी ने "हिन्दी साहित्य का आदिकाल" मे उन साहित्यिक अभिप्रायो की ओर ध्यान आकर्षित किया।"[3]

ये प्ररूढ़िया कथावस्तु मे नए-नए मोड़ो को जन्म देती है और कथानक को अधिक आकर्षक बनाती है। इनके माध्यम से लोक की मान्यताओं एव विश्वासो का भी निरूपण किया जा सकता है।

इन अभिप्रायो से कथा की व्यापकता सिद्ध होती है तथा विविध रूपो मे फैलती हुई कहानियो की एकरूपता का परिज्ञान इन प्ररूढ़ियो से ही सहज मे हो जाता है। कथा की रोचकता मे अभिवृद्धि करने वाले अभिप्राय निरन्तर बढते रहते हैं।

जैन-कथाओ मे कुछ ऐसे विशिष्ट अभिप्राय उपलब्ध होते है जो जैनसंस्कृति के मूल तत्त्वों को अनावृत करते हुए एक ऐसी प्राचीन परम्परा की ओर सकेत करते हैं जो कई युगों से भारतीय जीवन को प्रभावित कर रही



१ लोक-कथाओं की कुछ प्ररूढ़ियां-उपक्रम
२ लोककथा अक—आजकल, मई १६५४ पृष्ठ ११
३ हिन्दी साहित्य कोश, भाग १ पृष्ठ २०५



है । इस सदर्भ मे निम्नलिखित कुछ अभिप्राय उल्लेख्य हैं —

१ विलीन होते हुए मेघ को, श्वेत केश को, शव को, बिजली की चमक को, वृद्ध को, नृत्य करती वेश्या को मृत्यु को या कोढी को देखकर विरक्त होना ।
२ अवधि ज्ञानी मुनि के द्वारा आयु की समाप्ति जानकर मुनिदीक्षा ग्रहण करना ।
३ जैनमुनि के दर्शन या धर्मोपदेश से वैभव का परित्याग कर साधक बनना ।
४ जैन-मुनि से पूर्वभव अथवा अपना भविष्य सुनकर विरक्त होना ।
५ स्वकीय पापो की आलोचना करते हुए विरागी बनना ।
६ शास्त्र-श्रवण से सासारिक भोगो से विरक्ति होना ।
७ मत्रो के द्वारा सर्प-दश का शमन होना ।
८ मत्रो की सिद्धि से विपुल धन की उपलब्धि ।
९ मन्त्रित पादुकाओ से आकाश मे उडना ।
१० श्मशान मे पुत्र-जन्म ।
११ दु साध्य कार्यो की पूर्णता से बुद्धि-परीक्षा ।
१२ भाग्यपरीक्षा ।
१३ राजकुमार के चुनाव मे हाथी द्वारा माल्यार्पण ।
१४ धन से परिपूर्ण जहाज का डूबना ।
१५ जलदेवी द्वारा आशीर्वाद ।
१६ अगारो को छूकर निर्दोषिता प्रमाणित करना ।
१७ अग्नि-कुण्ड मे कूदकर निर्दोषता सिद्ध करना ।
१८ सौतेली माता के दुर्व्यवहार से गृह-परित्याग ।
१९ शिशु को सदूक मे बन्द करके जल मे प्रवाहित करना ।
२० चन्द्र-ग्रहण काल मे मत्र-सिद्धि ।
२१ प्रहेलिकाएँ पूछ कर बुद्धि की परीक्षा करना ।
२२ मुनि के आशीर्वाद से रोग का शमन होना ।
२३ गधोदक से कुष्ठ-रोग की समाप्ति ।
२४ पद-प्रक्षालन से पति की पहचान ।
२५ पद-स्पर्श से कपाटो का खुलना और इस प्रकार सच्चरित्रता को प्रमाणित करना ।
२६ पूर्व जन्म के पाप-पुण्य का अगले जन्म मे भोगना ।
२७ अपनी बात मनवाने के लिए स्त्री का हठ करना ।
२८ पुण्य-फल के रूप मे समस्त कलाओ की शीघ्र प्राप्ति ।
२९ मरणासन्न पशु-पक्षी का णमोकार मत्र सुनकर स्वर्ग मे जाना ।
३० अमृत फल खाकर अमर बनना । अतिशयशाली जैन मुनि के प्रभाव से शुष्क वृक्ष का पुष्पित होना या छ ऋतुओं का एक साथ आविर्भाव ।
३१ कुपित सिंह का मत्र के प्रभाव से नतमस्तक होना, युद्ध मे विजय प्राप्त होना, क्षुब्ध सागर का शात होना, अक्षय भडार होना ।
३२ स्तोत्र के पाठ से असाध्य रोग से मुक्ति, सर्प-विष का नाश, कारागार से मुक्ति एव बन्धनो का विच्छिन्न होना ।
३३ भव्य पशु-पक्षियो द्वारा जैन मुनि के उपदेश से प्रभावित होकर मास का परित्याग ।
३४ जादू-टोना से असाध्य कार्यो का साध्य होना ।
३५ पुण्य के प्रभाव से अग्नि का जल के रूप मे परिवर्तित हो जाना ।

३६ [illegible]।
३७ [illegible] अथवा [illegible] मे जाना।
३८ [illegible]।
३९ [illegible] होना।
४० [illegible] आदि का शमन होना।
४१ [illegible] और [illegible] मे जाना।
४२ [illegible] मे जाना।
४३ [illegible] पाप से नरक मे जाना।
४४ [illegible]।
४५ [illegible] प्रसन्न होना।
४६ [illegible] होना।
४७ [illegible]।
४८ जैन-मुनि [illegible] होना।
४९ [illegible] मिलना।
५० [illegible]।

जैन-कथाओं की विशेषताएं

[illegible] प्रत्यक्ष एव परोक्ष दोनो [illegible] धार्मिक कहानियों का विविध [illegible] निष्कर्ष [illegible] मे बहुत प्राचीन काल मे [illegible] विशिष्ट [illegible] की रचना की है। इन [illegible] प्रमुखता नहीं है अपितु लौकिक जीवन के [illegible] अपने चरम लक्ष्य को बड़ी [illegible] विशेषताओं को निम्न रूपों मे [illegible]

(१) [illegible]
(२) [illegible] का आधार।
(३) [illegible] की व्यापकता।
(४) कर्मसिद्धान्त का निरूपण।
(५) [illegible] एव [illegible] का समन्वय।
(६) जीवन के चरम लक्ष्य का निरूपण।
(७) [illegible] की प्रेरणात्मक अनुभूति।
(८) सामाजिक जीवन की [illegible] का यथार्थ चित्रण।
(९) नारी की उदात्त भावनाओं की अभिव्यक्ति।
(१०) कौतूहल का पर्याप्त सम्मिश्रण।
(११) मानवीय तत्त्व को अधिक आकर्षक बनाने के हेतु अमानवीय तत्त्वों का समानुपातिक प्रयोग।
(१२) औत्सुक्य को जागृत करने के लिये अलौकिकता की अभिव्यंजना।
(१३) लोक-जीवन का सफल अभिव्यंजन।
(१४) आदर्शवाद एव यथार्थवाद के समन्वयात्मक दृष्टिकोण का सन्तुलित निरूपण।



(१५) विशुद्ध शृंगार का चित्रण एवं अश्लील शृंगार का पूर्ण अभाव।
(१६) विविध विषयों (गणित, ज्योतिष, न्याय, राजनीति, व्याकरण, इतिहास, दर्शन आदि की चर्चा का समावेश।
(१७) पाप पुण्य की रोचक व्याख्या।
(१८) प्रकृति का रमणीय चित्रण।
(१९) भारत के प्राचीन वैभव की अनुपम अभिव्यजना।
(२०) ऐतिहासिक तत्त्वों की निष्पक्ष एवं समुचित व्याख्या।
(२१) वर्णन की स्वाभाविकता।
(२२) कहानी की सुखद परिसमाप्ति।
(२३) तात्त्विक दृष्टि से आत्म-चिंतन का प्राचुर्य।
(२४) सूक्तियों के प्रयोग।
(२५) कल्पना का उचित उपयोग।
(२६) रूपकों एवं प्रतीकों का विभिन्न रूपों में प्रयोग।
(२७) लोक-प्रचलित उदाहरणों के माध्यम से सैद्धान्तिक गहन विषयों का सुगम निरूपण।
(२८) विभिन्न भाषाओं एवं बोलियों की शब्दावली का उदारतापूर्वक प्रयोग।
(२९) जैनधर्म की उदारता को प्रमाणित करने के हेतु जाति-बन्धन के शैथिल्य का चित्रण।
(३०) पशु-पक्षियों का मानवीकरण।
(३१) जैन-तपस्वियों की सहनशीलता एवं महानता का अलौकिक अंकन।
(३२) परम्पराओं उत्सवों एवं मंगलमय आचारों तथा व्यवहारों का सहज उल्लेख और विवरण।
(३३) वर्ग विशेष के सांस्कृतिक चित्रण के साथ-साथ एक विशाल संस्कृति की सुहावनी अभिव्यंजना।
(३४) यथावसर विभिन्न कलाओं का स्वाभाविक वर्णन।
(३५) मर्मस्पर्शी भावाभिव्यंजना एवं सत्यम्, शिवम् सुन्दरम् की मूर्त्त अभिव्यक्तियाँ।
(३६) समयानुवर्तिनी सभ्यता का गतिशील वर्णन।
(३७) मानवीय नैसर्गिक प्रवृत्तियों का सीमाबद्ध चित्रण।
(३८) स्थानीयता का पुट।
(३९) सशक्त वातावरण की अभिव्यक्ति।
(४०) अतीत काल के साथ वर्तमान की अभिवृद्धि की कामना।
(४१) कृत्रिमता का पूर्ण अभाव आदि।

अभिप्राय यह है कि जैनकथासाहित्य विश्वसाहित्य के विशाल भंडार की एक बहुमूल्य निधि है। जिसकी अपनी विशेषतायें है, मौलिकता है। इस साहित्य का विशेष प्रचार और प्रसार होने पर ही पूरी तरह मूल्यांकन किया जा सकता है।



जैन-तंत्र-साहित्य

श्री अगरचन्द नाहटा

बीकानेर

जैनधर्म भारत का एक प्राचीनतम धर्म है। इसके प्रवर्त्तक चौबीस तीर्थंकर भारत-भूमि में ही पैदा हुए, यहीं साधना कर इन्होंने सिद्धि प्राप्त की। भगवान् ऋषभदेव, जिनका पावन चरित्र भागवत आदि पुराणों में भी पाया जाता है, यावत् वेदों में भी नामोल्लेख प्राप्त है, जैन मान्यतानुसार सारे ज्ञान-विज्ञान या संस्कृति के प्रवर्तक आदि पुरुष थे। इसीलिए उन्हें आदिनाथ या आदीश्वर कहा जाता है। नाथपंथ के प्रवर्त्तक भी आदिनाथ माने जाते हैं पर संभव है वे बाद के कोई अन्य व्यक्ति हों। प्राचीन जैनागमों के अनुसार भगवान् ऋषभदेव से पूर्व यह आर्यावर्त्त भोग भूमि थी। अर्थात् उस समय के लोग वृक्षों के फलादि से अपना जीवननिर्वाह करते थे। असि-मसि और कृषि का व्यवहार तब तक नहीं था। एक बालक और बालिका का युगल साथ ही जन्मता और वयस्क हो जाने पर उनका सम्बन्ध पति-पत्नी का हो जाता था। उनकी समस्त आवश्यकताओं की पूर्ति इस प्रकार के कल्पवृक्षों से होती थी, इसलिए परवर्त्ती साहित्य में कल्पवृक्ष की उपमा इस अर्थ में रूढ़ हो गई कि जिसके द्वारा मनोवाञ्छित की पूर्ति हो जाय और वस्तु प्राप्त हो जाय वह कल्पवृक्ष के समान है।

भगवान् ऋषभदेव के समय में कल्पवृक्ष फल कम देने लगे और तत्कालीन युगलक स्त्री-पुरुषों की आवश्यकताएं प्रत्युपेक्षया बढ़ गईं, फलतः संघर्ष होने लगा। उनके वाद-विवादों और अनैतिक कार्यों को रोकने के लिए शासन-व्यवस्था व राजा की आवश्यकता हुई। भ० ऋषभदेव से पहले शासकों की नीति 'ह'कार 'म'कार और धिक्कार की रही। इन शासकों की संज्ञा कुलकर बतलाई गयी है। भ० ऋषभदेव के पिता नाभि अन्तिम कुलकर थे। भ० ऋषभदेव इस भरतक्षेत्र के प्रथम राजा हुए। सरल हृदयवाले उन युगलकों के कष्टनिवारणार्थ भगवान् ने असि (शस्त्र), मसि (लेखन), और कृषि आदि कार्यों की उन्हें जब शिक्षा दी तब से यह भूमि भोगभूमि की जगह कर्मभूमि बन गई। भ० ऋषभदेव के बड़े पुत्र भरत के नाम से हमारे देश का नाम 'भारतवर्ष' पड़ा। जैनागमों में उन्हें प्रथम चक्रवर्त्ती कहा है। भ० ऋषभ के अन्य ९९ पुत्र थे और २ पुत्रियाँ थीं। इनमें से बड़ी ब्राह्मी को ऋषभदेव ने लिपि अर्थात् लेखन विद्या सिखलाई। इसलिए भारत की प्राचीनतम लिपि को 'ब्राह्मी' लिपि कहा जाता है। दूसरी पुत्री सुन्दरी को अंक अर्थात् गणितविद्या सिखलाई। जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति नामक उपांग सूत्र में भ० ऋषभदेव एवं भरत का चरित्र संक्षेप में वर्णित है। उसमें कहा गया है कि पुरुषों की ७२ कलाओं और स्त्रियों के ६४ गुणों या विद्या की शिक्षा भ० ऋषभदेव ने दी। इन कलाओं और विद्याओं में जीवनोपयोगी सभी बातों का समावेश हो जाता है। इस प्रकार जैनआगमों की यह मान्यता है कि मन्त्र और तन्त्र के प्रवर्त्तक आदि पुरुष भगवान् ऋषभदेव हुए।

संघदासगणिरचित 'वसुदेव-हिण्डी' नामक पाँचवी शताब्दी के प्राकृत-कथा-ग्रन्थ के चतुर्थ लम्भक में भ० ऋषभदेव का चरित्र जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति की अपेक्षा अधिक विस्तार से दिया है। इसमें एक महत्त्वपूर्ण घटना का उल्लेख इस प्रकार है—जिसका सम्बन्ध तन्त्र-मन्त्र शास्त्र से है। कहा गया है कि भ० ऋषभदेव ने जब मुनिदीक्षा ग्रहण की तो उनके प्रिय कच्छ और महाकच्छ नामक दो कुमारों के पुत्र नमि-विनमि कहीं बाहर गए हुए थे। ऋषभदेव ने राज्य-ऋद्धि आदि १०० पुत्रों में बाँट दी और स्वयं सन्यासी बन गए। बाद में नमि एवं विनमि आये और ऋषभदेव की खोज



करते हुए उनके पास जा पहुंचे। जब भगवान् ध्यान करते थे, वे हाथ में तलवार लेकर उनकी सेवा में खड़े रहते। एक बार ऋषभदेव को वन्दन करने के लिए नागराज धरण अर्थात् धरणेन्द्र आये और उन्होंने नमि-विनमि को सेवा में उपस्थित देखकर पूछा कि तुम लोग भगवान् की सेवा किस उद्देश्य से कर रहे हो? उन्होंने कहा - प्रभु ने सब पुत्रों को अपनी भूमि व सम्पत्ति बांट दी, हम उस समय दूर थे, इसलिए अब सेवा में आये हैं। प्रभु कृपा करके हमें भी यथोचित देंगे। नागराज ने हंसकर कहा—अरे भाई, ये सब कुछ त्याग चुके हैं। इन्होंने राग और सन्यास को ग्रहण कर लिया है। अब इनके पास क्या है सो तुम्हें देंगे? खैर, तुमने लम्बे समय तक भगवान् की उपासना की है, उसका फल तो तुम्हें मिलना ही चाहिए। मैं तुम्हारी सेवा से प्रसन्न होकर वैताढ्य पर्वत के दोनों ओर की दो श्रेणियां और विद्याएं देता हूँ। तुम दोनों वहां जाकर बस्ती बसाओ और आनन्द से रहो। वैताढ्य पर्वत बहुत दूर है, वहां पहुंचने के लिए आकाश-गामिनी आदि विद्याएं देता हूँ। उन्होंने बड़ी विनम्रता से उन विद्याओं को ग्रहण किया। नागराज ने महा-रोहिणी, प्रज्ञप्ति, गौरी, विद्युन्मुखी, महाज्वाला, तिरस्कारिणी, बहुरूपा आदि सत्तवा और पन्नगी को ४८ हजार विद्याएं उन्हें दी। उन्होंने नागराज की कृपा से वैताढ्य की उत्तर व दक्षिण श्रेणी में क्रमश: विनमि ने गगनवल्लभ आदि ६० नगर बसाये और नमि ने रथनूपुर चक्रवाल आदि ५० नगर बसाये। विद्याओं के धारक होने से कारण वे विद्याधर कहलाये। उन विद्याधरों की कुछ विद्याओं और नामों का उल्लेख करते हुए कहा गया है कि गौरी विद्या से गौरिक, मनु से मनु-पूर्वक, गान्धारी से गांधार, मानवी से मानव, कौशिकी से कौशिकपूर्वक, भूमि तुण्डक विद्या के अधिपति भूमि-तुण्डक, मूल-वीर्या से मूलवीर्य, शंकुका से शंकुक, पांडुकी से पाण्डुक, कालिकी से कालिकेय, मातंगी से मातंग, पार्वती से पार्वतेय, वंशालता से वंशालय, पांशुमूलिका से पांशुमूलक, वृक्षमूलिका से वृक्षमूलक, कालिका से कालकेय, इस प्रकार १६ निकाय (वर्ग) हुए। नमि और विनमि ने ८-८ निकाय ग्रहण किये। इस प्रकार मनुष्य होते हुए भी विद्यावल से उन्होंने देव के समान भोग भोगे और सुख प्राप्त किया। अपने नगरों के सभास्थानों में भगवान् ऋषभदेव की स्थापना की और अपने अपने निकाय में उस निकाय की विद्या के अधिपति देवता की भी स्थापना की गई। यहाँ विद्या शब्द का अर्थ मन्त्र-तन्त्र ही अभिप्रेत है। परवर्ती जैनसाहित्य में भी यह शब्द प्राय: इसी अर्थ में प्रचुरता से प्रयुक्त होता रहा है। १४ पूर्व ग्रंथों में एक विद्यानुप्रवाद पूर्व भी है जिसमें प्रमुखता से विद्याओं अर्थात् तन्त्र-मन्त्र का ही वर्णन था। दिगम्बर ग्रन्थों के अनुसार उसमें सात सौ अल्प विद्याएं, रोहिणी आदि ५०० महाविद्याएं एवं उन्हें साधन करने की विधि और सिद्ध-विद्याओं के फल व अनेक विद्यातिशयों का वर्णन था। श्वेताम्बर आगम समवायांग के अनुसार विद्यानुवाद में १५ वस्तुएं थी। चौदह पूर्वों का समावेश दृष्टिवाद नामक अंगसूत्र में होता है और वह अंगसूत्र विच्छेद हो चुका है, इसलिए हम जैन मंत्र तन्त्रवाद के बहुत बड़े साहित्य से वंचित हो गये हैं। इतना ही नहीं, इस विषय के कई प्राचीन ग्रंथ जो जैनाचार्यों ने बनाए थे, वे भी अब नहीं मिलते। जैन ग्रन्थों के अनुसार विद्याधरों की संख्या बहुत विशाल थी और चिरकाल तक उनकी परम्परा चलती रही है। जैनाचार्यों के ४ कुलों में एक विद्याधर कुल भी था, उस कुल की परम्परा में भी अनेकों विद्याओं के ज्ञाता और उनके प्रयोग से चमत्कारिक सिद्धि प्राप्त आचार्य हो गये हैं। जैनआगमों में ऋद्धि अर्थात् विशेष प्रकार की चामत्कारिक शक्तिवाले मनुष्यों के छ भेद बतलाये हैं। १ अरिहंत २ चक्रवर्ती ३ बलदेव ४ वासुदेव ५ चारण—जंघा-चारण, विद्याचारण साधु, ६ विद्याधर अर्थात् विद्याधरों का एक वर्ग विशेष था जो मंत्र-तन्त्रादि में निपुण होते थे। अपनी विद्याओं के बल से वे विमानों द्वारा आकाश में यात्रा करते थे और अनेक चामत्कारिक सिद्धियाँ उन्हें प्राप्त थीं। चारण मुनियों में विद्याचारण को अलग स्थान दिया गया है। वे किसी मन्त्राक्षर का उच्चारण करते ही आकाश मार्ग से उड़कर इच्छित स्थान में पहुंच जाते थे। ऐसे आकाशगामिनी विद्यावाले अनेक मुनियों के उल्लेख जैनग्रंथों में प्राप्त हैं। तप-विशेष के द्वारा भी अलौकिक सिद्धियां प्राप्त की जाती थीं, जिनकी संज्ञा 'लब्धि' पाई जाती है। ये लब्धियां अनेक प्रकार की होती थी, इनका विशद वर्णन भी जैनागमों में मिलता है।

विद्यानुवाद पूर्व के अतिरिक्त दसवें अंगसूत्र प्रश्नव्याकरण में भी मंत्रविद्या और विद्यातिशयों का वर्णन था। खेद है कि वह अंगसूत्र भी लुप्त होगया। आज उसके बदले में उसी नाम का जो सूत्र प्रसिद्ध है वह मूलग्रन्थ से सर्वथा भिन्न है।

परवर्ती ग्रंथों में स्त्री-देवताधिष्ठित को विद्या और पुरुष देवताधिष्ठित को मंत्र माना गया है। अथवा पाठ करने मात्र से जो कार्य में साधक हो उसे मंत्र व जप होम आदि विधिसाध्य हो उसे विद्या कहा जाता है। वसुदेव हिण्डी

से जो सोलह निकाय बतलाये हैं, उनमें आगे चलकर कुछ परिवर्तन हुआ मालूम देता है। इसलिए पीछे के ग्रंथों में विद्याओं की अधिष्ठात्री १६ देवियों के नाम इस प्रकार मिलते हैं—

१ रोहिणी, २ प्रज्ञप्ति ३ वज्रशृंखला ४ वज्राकुशी ५ अप्रतिचक्रा ६ पुरुषदत्ता ७ काली ८ महाकाली ९ गौरी १० गान्धारी ११ महाज्वाला १२ मानवी १३ वैरुट्या १४ अच्छुप्ता १५ मानसी १६ महामानसी।

निरयावली नामक उपाङ्ग के पुष्पचूला नामक चतुर्थ वर्ग के १० अध्ययनों में निम्नोक्त १० देवियों के पूर्व-भवों का वर्णन पाया जाता है। इनमें से कुछ के नाम तो मंत्राक्षरों में बहुत ही प्रसिद्ध हैं, इसलिए इन देवियों के पूर्व-भवों के वर्णनवाला यह पुष्पचूला वर्ग विशेष महत्त्व का है। चतुर्थ वर्ग के दस अध्ययनों में १० देवियों के नाम इस प्रकार हैं —

१ श्री २ ह्री ३ धृति ४ कीर्ति ५ बुद्धि ६ लक्ष्मी ७ इलादेवी ८ सुरादेवी ९ रसदेवी १० गन्धदेवी।

प्राचीन जैनागमों में तो तीर्थङ्करों के साथ यक्ष और यक्षिणी का कोई सम्बन्ध नहीं पाया जाता। पर निर्वाण-कलिका, तिलोयपण्णत्ति आदि ग्रंथों में चौबीस तीर्थंकरों में से प्रत्येक का सेवक एक देव और एक देवी होना बतलाया गया है। इन्हें शासनदेव और शासनदेवी कहा गया है। चूंकि जैनधर्म के अनुसार तीर्थंकर तो सिद्ध, बुद्ध और मुक्त हो गये अत वे न तो किसी पर प्रसन्न होते हैं और न रुष्ट ही। चाहे उन्हें कोई माने या न माने, इससे उनका कोई सम्बन्ध नहीं। इसलिए यह मान्यता प्रचलित हुई कि जो तीर्थंकर की भक्ति करते हैं, उन भक्तों के मनोरथ उन तीर्थंकरों के सेवक यक्ष और यक्षिणी पूर्ण करते हैं। २४ तीर्थंकरों के यक्ष और यक्षिणी इसप्रकार हैं —

१ गोमुख २ महायक्ष ३ त्रिमुख ४ यक्षनायक ५ तुंबरु ६ कुसुम ७ मातंग ८ विजय ९ अजित १० ब्रह्मा ११ यक्षराट् १२ कुमार १३ षण्मुख १४ पाताल १५ किन्नर १६ गरुड १७ गान्धर्व १८ यक्षराज १९ कुबेर २० वरुण २१ भृकुटि २२ गोमेध २३ पार्श्व २४ ब्रह्मशान्ति।

यक्षिणी —१ अप्रतिचक्रा (चक्रेश्वरी), २ अजितबला (३) दुरितारि ४ कालिका ५ महाकाली ६ श्यामा ७ शान्ता ८ भृकुटि (ज्वालामालिनी) ९ सुतारका १० अशोका ११ मानवी (श्रीवत्सा) १२ प्रचण्डा (चंडा) १३ विदिता (विजिया) १४ अंकुशा १५ कन्दर्पा (प्रज्ञप्ति) १६ निर्वाणी १७ बला (अच्युतबला) १८ धारिणी १९ धरण-प्रिया २० नरदत्ता (अच्छुप्ता) २१ गांधारी २२ कूष्माण्डी (अम्बिका) २३ पद्मावती २४ सिद्धायिका।

इन यक्ष—यक्षिणियों के वाहन, वर्ण, भुजाओं, अस्त्रों आदि का वर्णन निर्वाणकलिका तथा वास्तुसार आदि ग्रन्थों में पाया जाता है। इनमें से चक्रेश्वरी, ज्वालामालिनी, अम्बिका और पद्मावती देवियों की उपासना विशेषरूप से प्रचलित है।

इनके अतिरिक्त सरस्वती देवी की उपासना भी जैनसमाज में पर्याप्त प्राचीनकाल से प्रचलित रही है। भारत में सबसे प्राचीन सरस्वती की मूर्ति मथुरा के जैनपुरातत्त्व में ही मिली है। मध्यकालीन अनेक भव्य और सुन्दर जैन सरस्वती की मूर्तियाँ प्राप्त हैं जिनमें पल्लू से प्राप्त दो प्रतिमाएं तो अपनी उत्कृष्ट कला के कारण विश्वविख्यात हैं। समय समय पर कई जैनाचार्यों व मुनियों ने सरस्वती देवी की आराधना करके बहुत ही सफलता प्राप्त की थी। राज-स्थान के अजारा गाँव की सरस्वती मूर्ति बहुत ही चमत्कारी मानी जाती है। उपर्युक्त २४ शासनदेव और देवियों की मूर्तियाँ अधिष्ठायक और अधिष्ठात्री के रूप में प्राय सभी जैनमन्दिरों में पायी जाती है। अर्थात् जिन तीर्थंकर की मूर्ति मूलनायक के रूप में जिस मन्दिर में स्थापित होती है, उसी तीर्थंकर के यक्ष-यक्षिणी की मूर्ति उस मन्दिर में अलग आले या देहरी में प्रतिष्ठित की जाती है। अम्बिका, पद्मावती, ज्वालामालिनी, वैरोट्या, चक्रेश्वरी आदि के स्वतंत्र मंदिर या देवकुलिकाएं कई स्थानों में हैं। इन देवियों के स्तोत्र, स्तुति, कल्प आदि प्रचुरपरिमाण में उपलब्ध हैं। जैनों के अतिरिक्त





जैनेतर भी इन्हे मानते-पूजते है। पार्श्वनाथ के स्तुति, स्तोत्र, मत्र आदि प्रचुराधिक मिलते हैं। अम्बिका परवर्ती साहित्य मे तो नेमिनाथ की शासनदेवी के रूप मे प्रसिद्ध है पर प्राचीन तीर्थंकर-मूर्तियों को देखने से विदित होता है कि अम्बिका का सम्बन्ध केवल नेमिनाथ से ही नही, अन्य तीर्थंकरो के साथ भी माना जाता रहा है। जैन मान्यता के अनुसार ये यक्ष और यक्षिणियाँ मनुष्यो मे से ही मरकर देवरूप मे उत्पन्न होने के पश्चात् प्रसिद्धि पाती हैं। इसलिए अम्बिका आदि कई देवियो के पूर्वजन्म की कथाए भी जैनग्रन्थो मे प्राप्त हैं। प्रभावकचरित्र मे वैरोट्या के पूर्वजन्म की कथा पायी जाती है। ज्वालामालिनी देवी की आराधना दिगम्बर समाज मे अधिक की जाती है।

उपर्युक्त देवी-देवताओ के अतिरिक्त कुछ जैनेतर और बौद्ध देवी देवताओं की पूजा भी जैन-समाज मे प्रारम्भ हो गई जिनका उल्लेख कर देना आवश्यक है। पार्श्वनाथ परम्परा के उपकेश गच्छीय रत्नप्रभसूरि ने ओसियाँ की चामुण्डा देवी को अपने वश मे करके ओसवालो की कुलदेवी रूप मे मान्य बना दिया। जो सच्चायिका के नाम से प्रसिद्ध है। यो दिगम्बर, श्वेताम्बर दोनो मे बहुत सी जातियाँ प्राय किसी न किसी देवी को अपनी कुलदेवी मानकर उसकी पूजा-उपासना करती हैं। घण्टाकर्ण सभवत बौद्ध-मान्य देव था, शिव के गणो मे भी उसे माना गया है, जैनो ने उसे अपना लिया। घण्टाकर्ण कल्प नामक एक रचना भी मिलती है। बीजापुर, बम्बई के महावीर जिनालय आदि मे तो घण्टाकर्ण की मूर्त्तियाँ प्रतिष्ठित की गई ह और वे काफी चमत्कारी मानी जाती हैं। इसी तरह तपागच्छ मे माणिभद्र यक्ष की अधिक मान्यता है और खरतर गच्छ मे प्रसिद्ध चार दादा गुरुदेवो के भक्त के रूप मे काले और गोरे भैरुजी की। जैन लोग इसी प्रकार स्थानीय देवी-देवताओं को मानने लगे। यति लोग कर्णपिशाचिनी आदि देवियो की उपासनाकर चमत्कारी सिद्धियाँ प्रदर्शित करने लगे। सम्मेतशिखरजी महातीर्थ के भोमिया जी, नाकोडा पार्श्वनाथ के भैरुजी आदि भी बडे चमत्कारी माने जाते हैं। इस प्रकार अनेक देवी देवताओं की मान्यता जैन समाज मे प्रचलित है।

यहाँ एक महत्त्वपूर्ण तथ्य का स्पष्टीकरण कर देना आवश्यक है कि जैनसमाज मे शाक्त तत्रो की भाँति पच-मकारादि को कतई स्थान नही दिया गया है। जैन मुनियो का आचार विचार इतना कठोर है कि तत्रोक्त उपासना उनके लिए किसी भी प्रकार अनुकूल नही थी। इसलिए उन्होंने तत्र की अपेक्षा मत्र और यत्र को ही अधिक महत्त्व दिया। उच्चकोटि के आचार-विचारवाले ब्रह्मचारी और सात्त्विक जैनमुनियो को देवी देवताओं की आराधना कभी भी दारू, मास आदि कुत्सित वस्तुओं द्वारा नही करनी पड़ी। मत्र-जाप आदि द्वारा देवी देवता स्वय उनके भक्त बन गये। भगवान् महावीर ने जैन मुनियो के लिए मत्र-तत्र आदि करने का सर्वथा निषेध किया है। उत्तराध्ययन सूत्र के पन्द्रहवे अध्ययन मे अन्य अनेक बातो के साथ मत्रादि से दूर रहनेवाले मुनि को ही सच्चा भिक्षु बतलाया गया है।

मतमूल विविह वेज्जचिंत वमण-विरेयण धूमणेत्तसिसाण।
आउरे सरण तिगिच्छिय च त परिन्नाय परिव्वए जे स भिक्खू ॥

पर जैन शासन की उन्नति के लिए आचार्य आदि को मत्रादि विद्या सम्पन्न होना आवश्यक भी माना है और आठ प्रकार के प्रभावको मे विद्यावान और सिद्ध को भी प्रभावक माना गया है। ऐसे प्रभावको के चरित्र विषयक कई ग्रथ प्राप्त हैं। स० १३३४ मे प्रभाचद्रसूरि द्वारा रचित प्रभावकचरित्र मे विद्यासम्पन्न वज्रस्वामी, पादलिप्तसूरि, मान-देवसूरि, वीरगणि, वीरसूरि और सिद्ध प्रभावक के रूप मे आर्य मगु, कालिकसूरि, विजयसिंह सूरि, जीवदेवसूरि, मानतुग सूरि आदि आचार्यों के चरित्र दिए हुए है। प्राप्त जैन साहित्य से ध्वनित होता है कि व्यक्तिगत स्वार्थ और इहलौकिक कामना से मत्र-तत्रादि साधना जैनमुनियो के लिए निषिद्ध हैं। अयोग्य व्यक्ति विद्याओं का दुरुपयोग न कर बैठे, इसलिए बहुत सावधानी रखी गई। परिणामत अनेक महत्त्वपूर्ण विद्याओ से सम्बन्धित ग्रथ लुप्त भी हो गए। इन ग्रन्थो मे सबसे प्राचीन चौदह पूर्वो मे विद्यानुप्रवाद पूर्व था। इसके बाद सिद्धप्राभृत, योनिप्राभृत निमित्तप्राभृत और विद्याप्राभृत ग्रन्थो का उपयोग जैनाचार्य करते रहे, वे भी अब लुप्त प्राय है। योनिप्राभृत का कुछ अश ही प्राप्त है। इन ग्रन्थो मे क्या-क्या चमत्कार दिखाये गये और कौन-कौन आचार्य इनके विशेष जानकार थे? इसका विवरण मुनि कल्याणविजय जी द्वारा लिखित 'आपणा प्राभृतो' नामक गुजराती लेख मे दिखाया गया है, जो जैन श्वेताम्बर कान्फ्रेंस, बम्बई की

पत्रिका "जैन युग" के प्रथम वर्ष के दो अंकों में छपा था। पूर्वों के ज्ञान के क्रमशः लुप्त होने की चर्चा भी जैन ग्रन्थों में पायी जाती है। आचार्य भद्रबाहु तक १४ पूर्वों का ज्ञान था। उनके पास आचार्य स्थूलिभद्र ने दश पूर्वों का ज्ञान प्राप्त करने के बाद पूर्वों की विद्याओं का प्रयोग अपनी महत्ता बतलाने के हेतु किया तो आचार्य भद्रबाहु ने उन्हें आगे के पूर्व पढाना बंद कर दिया। अन्त में संघ के अनुरोध से चार पूर्व पढाये, पर उनका अर्थ नहीं बतलाया। अतः स्थूलिभद्र के पश्चात् चार पूर्वों का ज्ञान लुप्त हो गया। इसी तरह वज्रस्वामी अंतिम दश पूर्वधर थे।

जैन इतिहास से स्पष्ट है कि आचार्य भद्रबाहु अन्तिम श्रुतकेवली थे। उनके समय में बारहवर्षी दुष्काल पडा। इसके कारण जैनमुनियों के आचार-विचारों में कुछ शैथिल्य आगया और वह फिर बढता ही गया। आचार्य वज्रस्वामी ने आचारांग सूत्रगत महापरिज्ञा अध्ययन में आकाशगामिनी विद्या का उद्धार किया था। इसके बाद तो वह अध्ययन ही लुप्त हो गया। फिर भी बीच बीच में आकाशगामिनी विद्या सपन्न कई जैनाचार्य हुए हैं। और भी अनेक प्रकार की विद्याएं एवं सिद्धियाँ जैनाचार्यों को प्राप्त थीं। वे क्रमशः लुप्त होती गईं। प्रभावक चरित्र के जीवदेवसूरि प्रबन्ध में सुवर्णकीर्त्ति के लिए लिखा है कि उन्होंने अपने गुरु श्रुतकीर्त्ति से अप्रतिचक्रा विद्या का आम्नाय और परकाय-प्रवेशिनी विद्या प्राप्त की थी। जैनाचार्यों के जीवनचरित्रों में से ऐसे अनेक मंत्र, तंत्र, यंत्र एवं विद्याओं आदि के चमत्कारों की जानकारी मिलती है। बहुत-सा साहित्य लुप्त होनेपर भी लगभग ५०० छोटी बडी जैन रचनाएं इस विषय की आज भी प्राप्त हैं, जिनकी जानकारी पाँच-दस व्यक्तियों के अतिरिक्त और किसी को नहीं है। जैन ज्ञान भंडारों में ऐसी अनेक रचनाएं मिलती हैं और उनमें से कतिपय प्रकाशित भी हो चुकी हैं। कुछ ग्रन्थों के केवल उल्लेख ही मिलते हैं, ग्रन्थ प्राप्त नहीं होते। जैसे १४ वीं शताब्दी में पद्मावती-वर-लब्ध महमदतुगलकप्रतिबोधक खरतरगच्छाचार्य जिनप्रभसूरि जी ने 'रहस्य कल्पद्रुम' नामक ग्रन्थ बनाया था। इसका समकालीन उल्लेख लघुस्तववृत्ति में मिलता है। इस ग्रन्थ का थोडासा अंश बीकानेर के वृहद् ज्ञानभंडार की एक प्रति में लिखा हुआ मिला है पर पूरे ग्रन्थ का कहीं पता नहीं है। अब मैं प्राप्त जैन साहित्य का कुछ विवरण अत्यन्त संक्षेप में प्रस्तुत करता हूँ।

उपलब्ध जैन साहित्य में तान्त्रिक प्रभाववाला देव-देवियों के वर्णन, तथा प्रतिष्ठादि विधि विधान सम्बन्धी ग्रंथ "निर्वाण कलिका" है। इसके रचयिता पादलिप्तसूरि का समय प्रथम शताब्दी माना जाता है, पर मुनिकल्याण-विजयजी के मतानुसार दूसरी शताब्दी का उत्तरार्द्ध और तीसरी का पूर्वार्द्ध माना गया है। इसमें दस दिक्पाल, नौग्रह, ग्रहशान्ति, क्षेत्रपाल तथा मुद्राओं आदि का भी वर्णन है। श्रीमोहनलाल भगवानदास झवेरी द्वारा सम्पादित यह ग्रन्थ बम्बई में प्रकाशित हुआ है। इसकी ३० पृष्ठों की अंग्रेजी प्रस्तावना बडी महत्त्वपूर्ण है। श्रीझवेरी ने जैनमंत्र शास्त्र सम्बन्धी गहरा अध्ययन किया था और 'कम्परेटिव स्टडी ऑन जैनमंत्र-शास्त्र' नामक बहुत ही महत्त्वपूर्ण ग्रंथ लिखा जो सारा भाई नवाब द्वारा प्रकाशित भैरव-पद्मावती कल्प के साथ छप चुका है। श्वेताम्बर जैन मंत्र तंत्र साहित्य की सर्वाधिक जानकारी इसी ग्रंथ में मिलती है। एतद्विषयक दिगम्बर जैन साहित्य सम्बन्धी एक लेख 'अनेकान्त' के प्रथम वर्ष में पं० जुगलकिशोर मुख्तार ने प्रकाशित किया था। श्री सागभाई मणिलाल नवाब, अहमदाबाद ने जैन मंत्र, तंत्र, यंत्र सम्बन्धी ग्रंथों के प्रकाशन में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है। भैरव-पद्मावती कल्प आदि उन्हींके प्रकाशन हैं।

जैनधर्म में सबसे प्राचीन और महत्त्वपूर्णमंत्र नवकारमंत्र माना जाता है। भगवतीसूत्रादि के प्रारंभिक मंगलाचरण में इसी मंत्र का उपयोग हुआ है। श्वेताम्बर जैनसमाज में तो इसके सम्बन्ध में इतना बडा साहित्य उपलब्ध है कि नवकार सम्बन्धी स्तुति, स्तोत्रादि के संग्रहरूप एक प्राकृत और एक संस्कृत का बडा ग्रन्थ जैनसाहित्य विकास मण्डल, बम्बई में प्रकाशित हो चुका है। नवकार मंत्रकल्प आदि का एक अच्छा संग्रह सर्वप्रथम बीकानेर के जैनेतर संस्कृत विद्वान् पं० जयदयालजी शर्मा ने 'मंत्रराजगुणकल्प महोदधि' के नाम से सन् १९२० में प्रकाशित किया था। तब से अब तक लगभग ३०-३५ ग्रन्थ केवल नवकारमंत्र के सम्बन्ध में प्रकाशित हो चुके हैं। जैन मान्यतानुसार मंत्रों में सर्वश्रेष्ठ, इहलौकिक और पारलौकिक सिद्धि का सर्वोत्तम साधन इस नवकार मंत्र को ही माना जाता है।

नमस्कार सूत्र के ५ पदों में ४ पद और जोडकर एक नवपद या सिद्धचक्र मंत्र तैयार किया गया। गत ६००





वर्षा में दिगम्बर और श्वेताम्बर समाज में इस सिद्धचक्र यंत्र विधान और उपासना का बहुत ही प्रचार रहा है। इसकी आराधना की महिमा को बतानेवाले श्रीपालचरित्र सम्बन्धी ६० ग्रन्थ प्राकृत, संस्कृत, अपभ्रंश, हिन्दी, राजस्थानी, गुजराती और कन्नड भाषाओं में प्राप्त हैं। इसका विवरण 'अनेकान्त' में प्रकाशित मेरे दो लेखों में दिया जा चुका है। वर्ष में दो बार हजारों व्यक्ति इस सिद्धचक्र या नवपद की आराधना बड़े भक्तिभाव से करते हैं। उभय सम्प्रदायों में आराधनाविधि आदि में अन्तर होनेपर भी इसका प्रचार समान रूप से है। मन्दिरों में सिद्धचक्र विधान या नवपद मण्डल की रचना की जाती है।

श्वेताम्बर समाज में आचार्य के लिए सूरिमन्त्र कल्प की आराधना आवश्यक मानी जाती है। उनके नाम के पीछे जो सूरि विशेषण रहता है वह इसी सूरि मंत्र की आराधना का सूचक है। सूरिमंत्रकल्प छठी शताब्दी से लेकर पन्द्रहवीं शताब्दी तक के अनेक मिलते हैं जिनका एक संग्रह साराभाई मणिलाल नवाब ने 'सूरिमंत्र कल्पादि' के नाम से प्रकाशित किया था और पत्राकार रूप में तीन चार संग्रह मुद्रित हो चुके हैं। अभी ऐसे सूरिमंत्र कल्प कई अप्रकाशित भी हैं जिन्हें सम्पादन कर प्रकाशित करने का प्रयत्न जैनसाहित्य विकास मण्डल की ओर से चल रहा है।

नवकार मंत्र की भाँति लोगस्स (चतुर्विंशति स्तव), णमुत्थुण (शक्रस्तव), उवसग्गहर स्तोत्र, तिजयपहुत्त, भक्तामर, कल्याणमन्दिर, ऋषिमण्डल आदि स्तोत्रों के मन्त्र व कल्प भी प्राप्त हैं जिनमें से ऋषिमण्डल यन्त्र व कल्प का विशेष प्रचार है। दिगम्बर व श्वेताम्बर उभय सम्प्रदाय इसे मान्य करते हैं और दोनों के ग्रंथ प्रकाशित हो चुके हैं। भक्तामर व कल्याणमन्दिर स्तोत्र भी उभय सम्प्रदायमान्य है और मन्त्र, यन्त्र गर्भित ये दोनों स्तोत्र बड़े प्रभावशाली माने जाते हैं। साराभाई ने नवस्मरण, भक्तामर, कल्याणमन्दिर तथा अन्य स्तोत्रों के मंत्र और साहित्य भी प्रकाशित किया है। वर्द्धमान विद्या एवं ह्रींकार कल्प या मायाबीजकल्प का भी श्वेताम्बर समाज में अच्छा प्रचार है। आचार्य के सूरिमन्त्र की तरह उपाध्याय के लिये वर्द्धमान विद्या का आराधन भी आवश्यक माना गया है। श्री धीरजलाल टोकरसी शाह लिखित 'मंत्र साधन, केटलाक यन्त्रो, तन्त्रो नु तारण,' उवसग्गहर स्तोत्र आदि ग्रंथ जैन मंत्र, यंत्र, तंत्र सम्बन्धी अच्छी जानकारी देते हैं।

अब दिगम्बर जैन तंत्र-मंत्र सम्बन्धी कुछ ग्रन्थों की जानकारी दी जा रही है। श्री जुगलकिशोर जी मुख्तार ने श्री जैनमंत्र शास्त्र और ज्वालामालिनी मंत्र[1] नामक लेख में सबसे पहला ग्रन्थ इन्द्रनन्दि योगेन्द्र का 'ज्वालिनी मत' बतलाया है। यह ग्रंथ शक संवत् ८६१ अक्षयतृतीया को मान्यखेट में रचा गया है और श्लोक संख्या ५०० है। मंगलाचरण व ग्रन्थ रचना की प्रतिज्ञा के श्लोकों के अनन्तर इसमें ज्वालिनी देवी का स्वरूप बतलाते हुए लिखा है —

"दक्षिण भारत के अन्तर्गत मलयदेश के हेम ग्राम में (जिसे टिप्पणी में कर्णाटक भाषा का होन्नूर ग्राम बतलाया है) द्रविडगण के अधीश्वर एक श्रीमान् मुनि महात्मा रहते थे। जिनका नाम 'हेलाचार्य' (टिप्पणी में इन्हें एलाचार्य रूप से भी उल्लिखित किया है) था। कमलश्री आपकी शिष्या थी, जो सम्पूर्ण शास्त्रों की जाननेवाली मानो श्रुतदेवी ही थी। कर्मयोग से वह ब्रह्मराक्षस नाम के किसी रौद्र ग्रह के द्वारा ग्रस्त हुई। इसलिए संध्या के समय वह कभी हाहाकार करके रोती थी, कभी अट्टहास करती थी, कभी जप करने लगती थी, कभी वेदों को पढ़ने लगती और फिर कहकहा लगाकर हंस पड़ती थी, कभी गर्व के साथ कहने लगती थी कि ऐसा कौन मंत्रवादी है जो अपनी मंत्रशक्ति से मुझे छुड़ाए, और कभी विकार भाव को लिए जभाई लेने लगती थी। उसे इस प्रकार अति दुष्टग्रह से परिपीडित देखकर और उसके प्रत्युपाय के विषय में किंकर्त्तव्यविमूढ होकर वे मुनि महाराज बहुत ही आकुलचित्त हुए। अन्त में उन्होंने कमलश्री का ग्रह छुड़ाने के लिए उस ग्राम (होन्नूर) के निकट नीलगिरि पर्वत के शिखर पर विधिपूर्वक ज्वालामालिनी देवी की साधना की।

सात दिन की साधना के बाद वह देवी प्रत्यक्ष होकर मुनिमहाराज के सामने खड़ी हो गई और बोली—हे

---

[1] अनेकान्त वर्ष १, अङ्क ८-९-१०

आर्य ! कहिये, आपका क्या काम है ? इसपर हेलाचार्य बोले—हे देवी ! मैंने काम-आदि किसी लौकिक फलसिद्धि के लिए तुम्हें अवरुद्ध नहीं किया है—नहीं रोका है—किन्तु कमलश्री को ग्रह छुड़ाने के लिए रोका है, अत ग्रह से छुटकारा दिलाइये। इतना ही मेरा कार्य है।' आचार्य श्री के वचन को सुनकर देवी ने कहा—यह कौनसी बड़ी बात है ? आप मन मे जरा भी खेद न कीजिये और इस मत्र से ग्रह का मोचन कीजिये, यह कहकर मृदुतर आयस पत्र पर मत्र को लिखकर उसे मुनिजी को दे दिया। उस मत्र की विधि को न जानते हुए मुनिजी ने फिर देवी से कहा—मैं इस मत्र की साधन कुछ भी नहीं जानता हूँ अत स्पष्ट करके मत्राराधन क्रम को बतलाइये। तब उस ज्वालामालिनी देवी ने एलाचार्यजी को मत्र का सारा रहस्य व्याख्या करके समझाया और फिर उनकी भक्ति के वश वह मत्र उन्हें बतौर सिद्ध विद्या के दे दिया एव साथ ही यह कह दिया कि आप होम-जप के बिना भी जिस किसी को साधन विधि से यह मत्र देंगे वह भी सिद्ध-विद्य हो जायगा। और यदि नहीं दोगे तो जो सिद्धि करना चाहे वह रमणीक उद्यान-वन मे, जिन मन्दिर मे, नदी के किनारे, पुलिन पर, गिरिशिखर पर अथवा अन्य किसी निर्जन्तुक स्थान पर स्थित होकर द्रव्य मनमे अविच्छिन भाव मन के द्वारा एक लक्षप्रमाण मत्र का जाप करके और दस हजार सख्या प्रमाण होम करके सिद्धि को प्राप्त करें ऐसा कहकर वह देवी अपने स्थान को चली गई।

एलाचार्य ने तब वहीं बैठे हुए उस दुष्ट ब्रह्मराक्षस को दहनाक्षरो के द्वारा दहयमान चिन्तवन करके रोते चिल्लाते हुए निकाल बाहर किया। एक ही सूनदहन-स्वरूप 'र र र र' बीजाक्षर का ध्यान करके जब ग्रह निर्वासित हो जाता है तो शेष दसनिग्रहो के लिए ऐसा कौनसा ग्रह है जो असाध्य हो ? कोई भी नहीं। अस्तु, देवी के आदेश से उन मुनि महाराज ने नव 'ज्वालिनी मत' नाम के शास्त्र की रचना की। वह शास्त्र उनके शिष्य गाङ्गमुनि को प्राप्त हुआ। फिर क्रमश नीलग्रीव, बीजाबाम्ब, आर्या क्षान्तिर-सब्बा और क्षुल्लक विरूवट्ट को उसकी प्राप्ति हुई। इस गुरु परिपाटी से वह अविच्छिन्न सम्प्रदाय के द्वारा चला आया और तब उसका ज्ञान कन्दर्पाचार्य को हुआ। उन्होंने अपने पुत्र समान गणनदि मुनि को उपदेश सहित 'ज्वालिनीमत' की व्याख्या की। इन दोनो मुनियो (कन्दर्पाचार्य और गणनदी) के पास से इन्द्रनदि मुनि ने उस शास्त्र का सूत्र रूप तथा अर्थ रूप से सविशेष अध्ययन किया। प्राक्तन शास्त्र क्लिष्ट ग्रन्थ है, ऐसा विचारकर उसी इन्द्रनदि मुनि ने ललित आर्याछन्दो तथा गीतादि छदो मे इस ग्रथ की रचना की है। इसमे हेलाचार्य का कहा हुआ अर्थ ही ग्रन्थ द्वारा वर्तन (शब्दादि परिवर्तन) के द्वारा निबद्ध हुआ है। यह ग्रथ सकल जगत को अपूर्व विस्मयजनक तथा जनसमूह के लिए हितकारी है, अत इसको सुनो ! इस कथन के पिछले दो पद्य इस प्रकार हैं—

> क्लिष्टग्रन्थप्राक्तनशास्त्र तदिति स चेतसि निधाय।
> तेनेन्द्रनन्दिमुनिना ललितार्यावृत्तगीताद्यं ॥२६॥
> हेलाचार्योक्तार्थं ग्रन्थपरावर्त्तनेन रचितमिदम्।
> सकलजगदेकविस्मयजननं जनहितकर शृणुत ॥२७॥



इस परिचय से यह स्पष्ट जाना जाता है कि यह शास्त्र और भी अधिक प्राचीन है और इसकी प्रथम सृष्टि हेलाचार्य के द्वारा हुई है जिन्हें एलाचार्य भी कहते हैं। इन्द्रनदि ने सहज भाषादिक अथवा शब्द-छन्दादिक के परिवर्तन द्वारा उसे कुछ सरल बनाकर यह नूतन सस्करण उपस्थित किया है। इसीलिए ग्रथ की सब सन्धियो मे ग्रथ का विशेषण हेलाचार्य प्रणीतार्थ दिया है जिसका एक नमूना इसप्रकार है—

"इति हेलाचार्यप्रणीतार्थे श्रीमदिन्द्रनन्दियोगीन्द्रविरचितग्रन्थसन्दर्भे ज्वालिनी-मते मन्त्रिलक्षणनिरुपणाधिकार प्रथम ॥"

इस मत्र शास्त्र मे १ मत्री, २ ग्रह, ३ मुद्रा, ४ मडल, ५ कटुतेल ६ वश्ययत्र ७ सुतत्र ८ स्नपनविधि ९ नीराजनविधि, १० साधनविधि नामके दस अधिकार हैं जिनमे क्रमश विषय का वर्णन किया गया है। इनमे से कुछ का

परिचय 'अनेकान्त' की अगली किरण में दिया जायगा और उससे पाठकों को कितनी ही नई बातें मालूम होंगी और यह समझ में आ सकेगा कि मंत्र-साधन करनेवाला मंत्री कैसा होना चाहिए? कौन इस मंत्र का पात्र तथा कौन अपात्र है? ग्रहों के कितने भेद हैं? कैसे पुरुष-स्त्रियों को ग्रह लगते हैं? और किस ग्रह के लगने से क्या चेष्टा होती है? इत्यादि।"

इन्द्रनन्दि के बाद सबसे बड़े दिगम्बर मंत्रविद् और धुरन्धर विद्वान् मल्लिषेण ग्यारहवीं शताब्दी में हुए हैं। मंत्रशास्त्र का सबसे बड़ा ग्रंथ विद्यानुशासन इन्हीं के द्वारा रचित बतलाया गया है, जिसमें २४ अधिकार और पांच हजार मंत्र होने का उल्लेख श्री जुगलकिशोरजी मुख्तार ने किया है। भैरवपद्मावती कल्प के अतिरिक्त उनके रचित सरस्वतीमंत्र-कल्प और ज्वालिनीकल्प भी प्राप्त हैं। भैरवपद्मावती कल्प के उपर्युक्त साराभाई नवाब के अतिरिक्त एक और संस्करण दि० जैनपुस्तकालय, सूरत से पं० चन्द्रशेखर शास्त्री की हिन्दी भाषा टीका सहित छपा है। ग्रन्थ के अन्त में ४६ यंत्र भी दिये गये हैं। यद्यपि साराभाई के संस्करण में भी ४७ यंत्र हैं पर दोनों यंत्रों में पार्थक्य है। साराभाई वाले संस्करण में संस्कृत टीका और गुजराती अनुवाद तो दिया ही है, पर परिशिष्ट में और भी बहुतसी महत्त्वपूर्ण सामग्री दे दी गई है। जिसमें से श्वे० श्रीवज्रसूरि कृत अद्भुत पद्मावतीकल्प, इन्द्रनन्दि विरचित पद्मावतीपूजनम्, अज्ञात-कर्तृक रक्त-पद्मावतीकल्प, पद्मावती व्रतोद्यापनम्, पद्मावती स्तोत्र, पद्मावती यन्त्राम्नाय विधि, सहस्रनाम स्तोत्र, स्तुति, चौपाई आदि केवल पद्मावती सम्बन्धी रचनाएं ही नहीं, पर मल्लिषेणरचित सरस्वती मंत्रकल्प, बप्पभट्टिसूरिकृत सरस्वतीकल्प, अम्बिका, चक्रेश्वरी, चौसठ योगिनी, ज्वालामालिनी मंत्रस्तोत्र आदि रचनाओं के साथ भद्रगुप्त विरचित अनुभव सिद्ध मंत्र द्वात्रिंशतिका, मानदेवसूरिकृत लघुशांति वृत्ति भी दे दी गई है। दिगम्बर मंत्र यंत्र सम्बन्धी ग्रंथों में विद्यानुशासन भी बड़ा ग्रंथ है। जयपुर के ज्ञानभंडारों में इसकी प्रतियाँ मिलती हैं। यह एक तरह का संग्रहग्रंथ है जिसके संग्राहक सुकुमारसेनमुनि हैं। पं० चन्द्रशेखर शास्त्री ने लिखा है कि इस विद्यानुशासन में बतलाया गया है कि २४ तीर्थंकरों की २४ शासन देवियों के कभी चौबीसों कल्प उपस्थित थे। सुकुमारसेन ने भैरवपद्मावती कल्प, ज्वाला-मालिनी कल्प, अम्बिका कल्प और चक्रेश्वरी कल्प देखे थे। श्री जुगलकिशोरजी मुख्तार ने इनके अतिरिक्त भारतीकल्प, कामचद्रावली कल्प, श्री देवताकल्प, नमस्कार मंत्रकल्प, ऋषिमण्डल यंत्र पूजा, गणधरवलय कल्प, बीजकोष, हनुमत पताकाविधि और कई स्तोत्रादि का उल्लेख किया है। जयपुर के दिगम्बर भंडारों में विद्यानुशासन, मतिसागर रचित चिन्तामणियंत्र, विजययंत्र विधान, यक्षिणीकल्प, प्रभावतीकल्प, माया बीजविधि, प्रत्यंगिरासिद्ध मंत्रोद्धार, भक्तामर ऋद्धि मंत्र, महामृत्युञ्जय मंत्र, नमोकारकल्प (सिंघनंदि) आदि की प्रतियाँ भी हैं। इनमें से मतिसागरकृत विद्यानुशासन मंत्रों सहित संग्रहग्रंथ है जिसकी १७८ पत्रों की प्रति संवत् १४३२ की लिखी हुई है। दिगम्बराचार्य श्री शुभचंद्र के ज्ञानार्णव में पदस्थ ध्यान के प्रसंग में कई जैनमंत्रों की अच्छी जानकारी दी गई है। और भी कई जैनग्रंथों में प्रसंगवश मंत्रों सम्बन्धी जानकारी है।

श्वेताम्बर विद्वानों के लिखे गए मन्त्र, यन्त्र और तन्त्र सम्बन्धी समस्त छोटी-बड़ी रचनाओं की संख्या श्री धीरजलाल टोकरसी शाह ने ५०० के लगभग होने का उल्लेख किया है। जिनमें से 'तंत्रो नु तारण'[1] नामक ग्रन्थ में उन्होंने १४८ रचनाओं की सूची दी है—

१ नमस्कार मन्त्र कल्प, २ पंच नमस्कार कल्प, ३ पंच परमेष्ठि महामंत्र, यंत्र, तंत्र बृहत्कल्प, ४ मयूरवाहिनी विद्या, ५ चन्द्रप्रभ विद्या, ६ चन्द्रपन्नति मन्त्र साधना, ७ ओंकार कल्प, ८ ह्रींकार कल्प, ९ उवसग्गहर कल्प, १० शान्तिकर स्तवन आम्नाय, ११ तिजय पहुत्त स्तोत्र आम्नाय, १२ सत्तरिसय यन्त्रविधि, १३ नमिऊण कल्प, १४ भक्तामर कल्प, १५ कल्याणमंदिर कल्प, १६ लोगस्स कल्प, १७ शक्रस्तव (णमोत्थुण) कल्प, १८ चिन्तामणि कल्प, १९ चिन्तामणि कल्प सार, २० चिन्तामणि सम्प्रदाय, २१ चिन्तामणि मन्त्राम्नाय, २२ चिन्तामणि

---

१ जैन शिक्षावली, त्रीजी श्रेणि 'तंत्रो नु तारण'

(त्रिभुवन विजय पताका यन्त्र) मन्त्र पद्धति, २३ मन्त्राधिराज कल्प, २४ अट्टे मट्टे-मन्त्र कल्प, २५ धरणेन्द्र स्तव कल्प, २६ कलिकुण्ड यन्त्र मन्त्र कल्प, २७ कलिकुण्ड आराधना, २८ श्री पार्श्वनाथ कल्पद्रुम मन्त्राम्नाय, २९ शीघ्र सम्पत्ति कर पार्श्वनाथ मन्त्र, ३० पार्श्वनाथ मन्त्राराधना, ३१ जीराउला पार्श्व मन्त्र कल्प, ३२ पार्श्व स्तमनी विद्या, ३३ वश्यकर-गोरी गाधारी पार्श्व यन्त्र, ३४ उवसग्गहर पार्श्व यन्त्र, ३५ विषापहार पार्श्व यन्त्र, ३६ पुत्रकर पार्श्व यन्त्र, ३७ सर्व कार्य-कर जगद्वल्लभ पार्श्व यन्त्र, ३८ मतिकर पार्श्व यन्त्र, ३९ वाद विजयकर पार्श्व यन्त्र, ४० पार्श्व चक्र मन्त्र, ४१ ऋषभ चक्र मन्त्र, ४२ अरिष्ट नेमि चक्र मन्त्र, ४३ वर्द्धमान चक्र मन्त्र, ४४ सीमधर मन्त्र, ४५ धरणेन्द्र लक्ष्मीकर मन्त्र, ४६ धरणेन्द्र कष्टापहार मन्त्र, ४७ रक्त पद्मावती कल्प, ४८ रक्त पद्मावती बृहद् पूजन विधि, ४९ शैवागमोक्त पद्मावती पूजन रक्त पद्मावती, हंस पद्मावती, सरस्वती पद्मावती, शवरी पद्मावती, ५० कामेश्वरी पद्मावती मन्त्र साधना, ५१ भैरवी पद्मावती मन्त्र साधना, '५२ त्रिपुरा पद्मावती मन्त्र साधना, ५३ नित्य पद्मावती मन्त्र साधना, ५४ पद्मावती दीपावतार, ५५ पद्मावती कज्जलावतार, ५६ महामोहिनी पद्मावती विद्या, ५७ पुत्रकर पद्मावती मन्त्र, ५८ पद्मावती स्तोत्र कल्प, ५९ पद्मावती स्वप्न मन्त्र साधन, ६० पद्मावती कल्प रचना, ६१ पद्मावती मन्त्र कल्प (मिरतुग एव दूसरे के) ६२शत्रु भय नाशिनी पार्श्व विद्या, ६३ परविद्यादि पार्श्व विद्या, ६४ सूरि मन्त्र कल्प, ६५ वर्द्धमान विद्या कल्प, ६६ गाधार विद्या कल्प, ६७ चतुर्विंशति तीर्थंकर विद्या, ६८ विद्यानुशासन, ६९ सुरपाणि वज्रपाणि मन्त्र, ७० चक्रेश्वरी (अप्रतिचक्रा) कल्प, ७१ अम्बिका (कुष्माण्डी) कल्प, ७२ ज्वालामालिनी (ज्वालिनी) कल्प, ७३ सिद्धायिका (कामचण्डालिनी) कल्प, ७४ कुरुकुल्ला मन्त्र साधन, ७५ पचागुलिका कल्प, ७६ प्रत्यगिरा कल्प, ७७ उच्छिष्ट चाण्डालिनी मन्त्र साधन, ७८ कर्ण-पिशाचिनी मन्त्र साधन, ७९ चक्रेश्वरी स्वप्न मन्त्र साधन, ८० स्वप्नावती मन्त्र साधन, ८१ अम्बिका मत्र स्वप्न साधन, ८२ अम्बिका घट-घट दर्पण जल दीपावतार, ८३ श्रुतदेवता घटावतार, ८४ शासन देवी मन्त्र, ८५ श्री ऋषभ विद्या, ८६ श्री शान्तिनाथ विद्या, ८७ शांति देवता मन्त्र साधन,, ८८ शोणमा मन्त्र, ८९ अपराजिता महाविद्या, ९० रोगापहा-रिणी विद्या, ९१ वासुपूज्य आम्नाय, ९२ अच्छुप्ता मन्त्र, ९३ ब्रह्मशांति मन्त्र, ९४ गज मूत्र बल मन्त्र, ९५ षोडश विद्या देवी मन्त्र, ९६ भारती कल्प, ९७ वाग्वादिनी कल्प, ९८ सारस्वत महा विद्या, ९९ श्रुतदेवता विद्या, १०० अपराजिता विद्या, १०१ श्री देवी कल्प, १०२ लक्ष्मी मत्र, १०३ महालक्ष्मी मन्त्र, १०४ योगिनी मन्त्र साधन, १०५ यक्षिणी मन्त्र साधन, १०६ सिद्धचक्र कल्प, १०७ ह्रीं मण्डल कल्प, १०८ श्री विद्या कल्प, १०९ ब्रह्म विद्या कल्प, ११० मणिभद्र कल्प, १११ घटाकर्ण कल्प, ११२ उग्र विद्या कल्प, ११३ क्षेत्र देवता मन्त्र साधन, ११४ कृष्ण-गौरक्षेत्रपाल मन्त्र साधन, ११५ खोडिया क्षेत्रपाल मन्त्र, साधना, ११६ भैरव मन्त्र साधन, ११७ बटुक भैरव मन्त्र साधन, ११८ स्वर्णाकर्षण भैरव मन्त्र साधन, ११९ चतुष्षष्टि योगिनी मन्त्र, १२० गौतम स्वामी मन्त्र, १२१ श्री वज्र स्वामी मन्त्र साधन, १२२ श्री जिनदत्त सूरि मन्त्र साधन, १२३ श्री जिनकुशल सूरि मन्त्र साधन, १२४ श्री जिनचन्द्र सूरि मन्त्र साधन, १२५ श्री हेमचन्द्राचार्य कृत मन्त्र, १२६ पचवीर साधन, १२७ ज्ञानार्णव मन्त्र, १२८ वीशा कल्प, १२९ पडरिका कल्प, १३० उवसग्गहर स्तोत्र की विविध वृत्तिया, १३१ स्वकार्यकर चतुर्विंशति यन्त्र, १३२ पैंसठिया कल्प, १३३ बहुत्तरिया कल्प, १३४ विजय यन्त्र कल्प, १३५ विजयपताका कल्प, १३६ जैनपताका कल्प, १३७ अर्जुनपताका कल्प, १३८ हनुमान पताका कल्प, १३९ त्रैलोक्य विजय यन्त्र, १४० घण्टार्गला यन्त्र, १४१ वज्र पजर महायन्त्र कल्प, १४२ वज्र पज-राराधना, १४३ मृत्युञ्जय साधन, १४४ चन्द्र कल्प (जगत सेठ वाला), १४५ सन्थान यन्त्रो, १४६ औषधि कल्प (श्वेतार्क) श्वेतगुजा, अपराजिता, रुदन्ती, मयूर शिखा, सहदेवी, शियाल शृङ्गी, मार्जारी, १४७ मन्त्रावली, १४८ प्रतिष्ठा कल्प।

अब हम प्रकाशित साहित्य का सक्षिप्त परिचय दे रहे हैं। जैसा कि पूर्व मे कहा गया है, जैन समाज का सबसे प्राचीन और सर्वाधिक महत्वपूर्ण प्रसिद्ध महामत्र नवकार मत्र है। यों तो प्राचीनकाल से ही इसके प्रति बडी श्रद्धा और भक्ति दिखाई देती है पर अभी कुछ वर्षो मे तो इसका खूब प्रचार हुआ है। निम्नोक्त ३० ग्रन्थ तो इसके सम्बन्ध मे विविध दृष्टिकोण से लिखे गए प्रकाशित हैं—



१ मत्रराज गुण कल्प महोदधि—प० जयदयालजी शर्मा बीकानेर ने यह ग्रन्थ सवत् १९७६ मे प्रकाशित

किया है। इनमें जिनकीर्ति सूरिकृत पंच परमेष्ठिनमस्कार स्तोत्र व्याख्या, गुणरत्न कृत णमो अरिहंताण के ११० अर्थ एवं अन्य अनेक विषयों का संग्रह है।

२ नवकार मंत्र या पंच परमेष्ठि—पं० सुखलाल जी प्र० चन्दूलाल गोकलदास साह सं० १९८३ अहमदाबाद

३ नवकार मंत्र संग्रह, फलदायक विधि सहित—मास्टर नानालाल मगनलाल, सं० १९९९ अहमदाबाद

४ नवकार महामंत्र कल्प—चन्दनमल नागोरी, छोटी सादडी (सं० १९९० से २०१७ तक इस ग्रन्थ की चार आवृत्तियाँ निकल चुकी हैं।

५ नमस्कार महामंत्र माहात्म्य—चन्दनमल नागोरी, छोटी सादडी।

६. श्री नमस्कार महामंत्र माहात्म्य—(हिन्दी अनुवाद सहित) सं० भद्रकरविजयजी म०, प्र० शंकरलाल मुणोत, ब्यावर।

७ श्रीनमस्कार महामंत्र—ले० भद्रकरविजय, प्र० केशरबाई जैन ज्ञान-मन्दिर, पाटण (गुजरात) पृ ३८६ स्तोत्र, गीत आदि संग्रह ग्रन्थ।

८ नमस्कार महामंत्र—ले० श्री हरिसत्य भट्टाचार्य, प्र० श्री जैन आत्मानन्द सभा, भावनगर। मूल अंग्रेजी मे प्रकाशक कलकत्ता विश्वविद्यालय। गु० अनुवाद प्रो० जयन्तीलाल।

९ महामंत्र नी आराधना—सं० अभयसागर जैन, श्वेताम्बर संघ पेढी इन्दौर (गुजराती मे)।

१० श्री पंच परमेष्ठी महामंत्र—चरणविजय, प्र० केशरबाईजैन, ज्ञान-मन्दिर, पाटण। (गुजराती) पृ ६०८।

११ नवकार स्वरूप—हर्ष विमल, पृ ९४, सं० १९७९।

१२ नमोकार मंत्र माहात्म्य—उमा स्वामी, प्र० धरणेन्द्रप्रसाद जैन, वाराणसी।

१३ श्री नमस्कार महामंत्र—पूर्णानन्द विजय, प्र० नथमल टीकमचन्द जैन शिवपुरी, सं० २०११।

१४ श्री नमस्कार महामंत्र मौक्तिकमाला—सुशील विजय, प्र० ज्ञानोपासक समिति बोटाद सं० २०१७।

१५ नमस्कार महिमा—कीर्तिविजय, प्र० धीरजलाल शाह, बम्बई पृ १०८।

१६ महामंत्र नवकार—अमरमुनिजी, प्र० सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा पृ १०४।

१७ महामंत्रनी साधना—कुन्दकुन्द विजय।

१८ श्री नमस्कार महामंत्र नु दर्शन—कान्तिलाल मोहनलाल पारेख।

१९. " " विज्ञान— " " प्र० श्री जैन साहित्य सभा, बम्बई।

२० श्री नवकार साधना—मफतलाल संघवी, रिसाला बाजार डीसा।

२१ विश्वप्राण श्री नवकार— " " " "

२२ अपूर्व नमस्कार— " " " " श्री मफतलाल संघवी द्वारा संपादित

'धर्म-चक्र' व 'अमीधारा' मासिक पत्रों में भी नवकार मंत्र के सम्बन्ध में काफी लेख प्रकाशित हुए हैं।

२३ नमस्कारगीतगंगा—भद्रगुप्त विजय, प्र० सोमचन्द डी० शाह, पालीताना।

२४ नमस्कार रत्न गंगा— „ „ „

२५. नमस्कार मन्त्र कल्प—जैन श्वेताम्बर मित्र मण्डल, कलकत्ता।

२६ नमस्कार महामंत्र—पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री, प्र० भारतीय दि० जैन संघ, मथुरा।

२७ मंगलमंत्र नमोकार—(एक अनुचिन्तन) डा० नेमिचन्द्र शास्त्री, आरा (बिहार)। इसकी द्वितीयावृत्ति सन् १९६० में छपी है। ३५८ पृष्ठ का यह ग्रन्थ बहुत ही महत्त्वपूर्ण है।

२८ णमोकार मंत्र माहात्म्य—ले० धरणेन्द्र प्रसाद जैन, मित्र मण्डल वाराणसी।

२९ णमोकार मंत्र कल्प—

३०. श्री नमस्कार स्वाध्याय—(प्राकृत विभाग) तत्त्वानन्द विजय प्र० जैन साहित्य विकास मंडल, बम्बई।

३१ „ „ (संस्कृत विभाग) स० धुरन्धर विजय „ „ „

नवकार पाठावली, परमेष्ठि नमस्कार आदि ५-७ ग्रन्थ गुजराती में प्रकाशित हैं।

सूरिमन्त्र कल्प कई प्रकाशित हो चुके हैं। मुनि प्रीतिविजय संपादित श्री सूरि मंत्र बृहत् कल्प विवरण एवं जिनप्रभसूरि रचित (२) श्री सूरिमंत्र आराधन विधि देवेन्द्र सूरि रचित, प्रकाशक—डाह्या भाई महोकमलाल, अहमदाबाद की पत्रकार प्रतियाँ तो हमारे संग्रह में हैं। इनके अतिरिक्त मलधारी राजशेखर सूरि, राजगच्छीय हंसराज सूरि, उत्तर गच्छीय जिनभद्र सूरि आदि के सूरि मन्त्र सम्बन्धी ग्रन्थ प्रकाशित होंगे, ऐसी सूचना श्री सूरिमंत्र आराधन विधि के अन्त में दी गई है।

सूरिमन्त्र सम्बन्धी ग्रन्थों का एक संग्रह श्री साराभाई नवाब ने प्रकाशित किया था जिसमें (१) मेरुतुंग सूरि रचित सूरिमंत्र मुख्य कल्प (२) दुर्गपद विवरण (३) सूरिमन्त्र कल्प (४) मलधारी गच्छीय सूरिमंत्र कल्प (५) सूरि मन्त्र आम्नाय (६) माया बीज कल्प (७) ह्रींकार कल्प (८) नालिकेर कल्प (९) सिंहतिलक सूरि रचित वर्द्धमान विद्या कल्प गुजराती अनुवाद सहित छपे हैं और अन्त में जिन प्रभसूरि रचित वर्द्धमान विद्या कल्प स्तवन, स्तोत्रादि छपे हैं।

मुनि कल्याणविजयजी ने 'आपणा प्राभृतो' शीर्षक गुजराती लेख में जैन मंत्र तंत्र सम्बन्धी ग्रन्थों का उल्लेख करते हुए लिखा है कि जैनों में आज जितने भी मंत्र और विद्याएं मौजूद हैं उनमें सबसे प्राचीन सूरिमंत्र और वर्द्धमान विद्या उल्लेखनीय है। जैन छेद सूत्र महानिशीथ के अन्त में वर्ण विश्लेष करके लिखी हुई वर्द्धमान विद्या मिलती है। जैन भण्डारों में प्राप्त इस विषय की निम्नोक्त रचनाओं के नामोल्लेख किये हैं —

(१) सूरि मंत्र कल्प (२) सूरि मन्त्र सारोद्धार (३) सूरि मन्त्र प्रदेश विवरण (४) वर्द्धमान विद्या कल्प (५) मयूर वाहिनी साधन (६) मन्त्र शास्त्र (७) विद्यानुशासन (८) पद्मावती कल्प (९) सरस्वती कल्प (१०) अट्टे मट्टे कल्प (११) ह्रींकार कल्प (१२) मन्त्राधिराज कल्प (१३) ऋषि मंडल कल्प (१४) चिन्तामणि पार्श्व कल्प



(१५) ज्वालामालिनी साधन (१६) प्रत्यगिरा कल्पसारोद्धार (१७) घटाकर्ण कल्प (१८) पचागुली कल्प (१६) उद्योतकर स्तव कल्प (२०) शक्र स्तव कल्प (२२) परमेष्ठि मत्र कल्प (२२) उपसर्गहर कल्प (२३) तिजय-पहुत्त स्तोत्र कल्प (२४) भयहर स्तव कल्प (२५) भक्तामरस्तोत्र कल्प।

वसुधारा के अतिरिक्त जागुली विद्या भी जैनो मे प्रसिद्ध है और वे दोनो ही बौद्धो से आई हैं। विद्या प्राभृत के सम्बन्ध मे भी मुनि कल्याणविजयजी ने अच्छी जानकारी दी है।

श्री धीरजलाल शाह ने अपने मत्र, तत्र, यत्र सम्बन्धी पुस्तिकाओ मे उपर्युक्त १४८ ग्रन्थो की सूची तो दी ही है, साथ ही कुछ ग्रन्थो के सम्बन्ध मे विशेष बातें भी बतलायी हैं। जैसे—मत्राधिराज नामक महान् जैन तन्त्र ग्रन्थ में जप के १३ भेदो का उल्लेख किया है। मूड बिद्री की हस्तलिखित प्रतियों मे समन्तभद्र रचित 'मत्र-व्याकरण' नामक एक महत्त्वपूर्ण कल्प है जिसकी प्रतिलिपि धीरजभाई के पास है। जैन आम्नाय का बीज सग्रह बृहत् विद्या विधि अपर नाम मत्रसारसमुच्चय मे होने का उल्लेख किया है। गुणनन्दिविरचित ऋषि-मण्डल यन्त्र पूजा मे दि० प० मनोहरलाल शास्त्री ने यन्त्र दिये हैं वे ठीक नही हैं, ऐसा धीरज भाई का मत है। णमोत्थुण यत्र की खोज मे तो उन्होंने दक्षिण भारत तक की यात्रा की थी। खेद है कि जैन मत्र, यन्त्रों के विशेषज्ञ भट्टारक चन्द्रसागरजी का कुछ वर्ष पूर्व स्वर्गवास हो गया। उसी तरह श्वेताम्बर आचार्यो मे इस विषय के ज्ञाता श्री जयसागर सूरि जी थे, उन्होंने सारा भाई नवाब को अनेक जैन ग्रन्थो के मत्र बनाकर दिये थे—उनका भी स्वर्गवास हो गया है।

ऋषिमण्डल, भक्तामर, कल्याणमदिर स्तोत्रो का प्रचार श्वेताम्बर व दिगम्बर दोनों सम्प्रदायो मे है और इनके यत्र, मत्र सम्बन्धी कई ग्रन्थ प्रकाशित भी हो चुके हैं, जिनमे से श्री चन्दनमल नागौरी सम्पादित (१) ऋषिमडल स्तोत्र कल्प, (२) सिंहतिलक सूरि रचित ऋषि मडल स्तव यन्त्र लेखनम् (प्र० जैन साहित्य विकास मडल, बम्बई) (३) ऋषि मडल स्तोत्र यत्र चित्र सहित—स० यशोविजयजी, ये तीन श्वेताम्बर समाज की ओर से और अन्य १-२ दि० समाज की ओर से भी प्रकाशित हो चुकी हैं। इसी तरह भक्तामर मत्र आम्नाय सहित श्वेताम्बर दि० दोनों के ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं। इनमे साराभाई नवाब के प्रकाशित नवस्मरण और भक्तामर-कल्याण मन्दिर सम्बन्धी ग्रन्थ विशेष महत्त्वपूर्ण हैं।

मुनि प्रीतिविजयजी ने जिनप्रभ सूरि रचित 'बृहत् ह्रींकार-कल्प-विवरण' और 'वर्धमान-विद्या-कल्प' दोनों एक साथ पत्राकार रूप में सा० डाह्याभाई मोहकमलाल, अहमदाबाद से प्रकाशित किए हैं। वर्द्धमान विद्या का भी श्वेताम्बर समाज मे काफी प्रचार रहा है। कई प्राचीन वस्त्रपट्ट वर्द्धमान-विद्या सम्बन्धी मिलते हैं जिनमे से एक हमारे सग्रह मे भी हैं। सूरि-मत्र और ह्रींकार-मत्र आदि के भी वस्त्रपट्ट पाये जाते हैं।

श्री चन्दनमल नागौरी ने उपरोक्त नवकार और ऋषिमण्डल के अतिरिक्त घटाकर्ण-कल्प और यत्र-मत्र-कल्प-सग्रह नामक ग्रन्थ भी प्रकाशित किये हैं। इनके प्रथम भाग मे यत्रों का सग्रह है। जिसमे जयपताका, विजयपताका, वर्द्धमान पताका, यत्र उल्लेखनीय हैं। दूसरे भाग मे मत्र-सग्रह है। तीसरे भाग मे कल्प-सग्रह है, जिसमे लोगस्स-कल्प, मरुदेवी-कल्प, मगल-कल्प, धर्मो-मगल-कल्प, स्वर्णसिद्धि-कल्प, बीसा यत्र कल्प आदि उल्लेखनीय हैं। श्री नागौरीजी के सग्रह मे इस विषय की और भी महत्त्वपूर्ण सामग्री है।

श्री एस० के० कोटेचा, धुलिया मे महावीर ग्रन्थमाला द्वारा भद्रगुप्ताचार्य रचित 'विद्यारत्नमहोदधि' आदि ग्रन्थ हिन्दी अनुवाद सहित प्रकाशित किए हैं। इनमे से विद्यारत्नमहोदधि वास्तव मे भैरव पद्मावती-कल्प के परिशिष्ट मे प्रकाशित 'अनुभवसिद्ध-मत्र-द्वात्रिंशिका' ही है। कोटेचा-प्रकाशित उवसग्गहर मत्र यत्र, मेघविजय रचित अनुभूत सिद्ध बीसा यत्र (अर्जुन पताका) आदि ग्रन्थ भी उल्लेखनीय हैं। जातसुन्दरी-प्रयोगमाला मे भी कुछ मत्र प्रकरण हैं। नागार्जुन के आकाशगामिनी-विद्या-कल्प और गोपी चक्र-कल्प भी छप चुके हैं।

श्री साराभाई नवाब के मन्त्र-तन्त्र सम्बन्धी—(१) महाप्रभाविक नव स्मरण (२) भैरव-पद्मावती-कल्प (३) श्री सूरिमन्त्र-कल्प-सन्दोह का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। इनके अतिरिक्त (४) श्री जैन-यन्त्रावली (५) श्री मन्त्राधिराज-चिन्तामणि (६) महाचमत्कारिक वीसा-यन्त्र-कल्प, (७) श्री घंटाकर्ण माणिभद्र मन्त्र-तन्त्र-कल्पादि संग्रह, तथा मणिकल्पादि-ग्रन्थ और श्री जैनचित्रपट्टावली भी प्रकाशित हुए हैं।

श्रीनिर्वाणकलिका का उल्लेख पहले किया जा चुका है। प्रतिष्ठा-कल्पादि ग्रन्थों में भी नवग्रह, दस दिग्पाल पूजादि में तान्त्रिक प्रभाव पाया जाता है। ऐसे प्रतिष्ठा-कल्प कई हैं जिनमें सकलचन्द्र का प्रतिष्ठा-कल्प अधिक प्रसिद्ध है। वैसे आचार-दिनकर के द्वितीय भाग में भी प्रतिष्ठा विधि दी गई है। श्री सिद्धचक्र यन्त्रोद्धार आदि अन्य रचनाएं भी प्रकाशित हैं।

साहित्य के अतिरिक्त वस्त्रपट्ट पर लिखे हुए अनेक प्रकार के मन्त्र जैन भण्डारों में प्राप्त होते हैं। १५वीं शताब्दी के प्रारम्भ का एक पार्श्वनाथ-चिन्तामणि यन्त्र का चित्रपट्ट हमारे नाहटा कलाभवन में है। १५वीं शती उत्तरार्द्ध का एक विस्तृत विजय यन्त्र के पट्ट का फोटो भी नाहटा कलाभवन में है। वह मूल वस्त्रपट्ट बोस्टन के म्युजियम में प्रदर्शित है। वर्तमान विज्ञा का भी एक प्राचीन वस्त्रपट्ट हमारे संग्रह में है तथा और भी अनेक वस्त्रपट्ट, वस्त्र और कागज पर लिखे हुए हमारे कला भवन तथा बीकानेर के बड़े ज्ञान-भंडार में सुरक्षित हैं। कई मन्त्रपट्ट प्रकाशित भी हो चुके हैं। जिनमें से सिद्धचक्र और ऋषिमण्डल के यन्त्र विशेष उल्लेखनीय हैं। सूरि मन्त्र आदि के भी यन्त्र पट्टों के ब्लाक ग्रन्थों में छप चुके हैं। श्री साराभाई द्वारा प्रकाशित ग्रन्थों तथा दिगम्बर समाज की ओर से प्रकाशित कई ग्रन्थों में मन्त्रों के ब्लाक छपे हैं। श्री धीरजलाल शाह के 'कल्याण यन्त्र' नामक पुस्तक में पनरिया, वीसा, सोलिया, चौतीसा, चालीसा, पैसठिया और बासठिया यन्त्र दिये गये हैं। जैन यति लोग यन्त्रों का काफी प्रयोग करते थे, अतः अनेक प्रकार के मन्त्र जैन भंडारों में लिखे हुए मिलते हैं। इसी तरह फुटकर हजारों मन्त्रों की प्रतियाँ प्राप्त हैं। अप्रकाशित साहित्य प्रकाशित साहित्य की अपेक्षा कई गुना है। प० भगवानदास जैन, जयपुर के संग्रह में (१) सूरि मन्त्र-कल्प-मानदेव सूरि, (२) धर्मघोष सूरि, (३) जिनभद्र सूरि कृत तथा (४) पञ्चांगुलि-कल्प, (५) मन्त्राधिराज, कल्प-सागरचन्द्र सूरि कृत आदि कई अप्रकाशित रचनाएं हैं।

हमारे संग्रह में उवसग्गहर स्तोत्र मन्त्र यन्त्र कल्प, शक्रस्तव कल्प, नवकार कल्प, तिजय पहुत्त कल्प, लोगस्स कल्प, भक्तामर मन्त्र कल्प, विजय मन्त्र विधि, चिन्तामणि-कल्प (धर्म घोष सूरि) घंटाकर्ण कल्प, सरस्वती कल्प आदि कई कल्प और विधि-विधान सम्बन्धी प्रतियाँ हैं। इसी तरह अन्य भंडारों में भी अनेक प्रतियाँ खोजने पर मिलेंगी।

दक्षिण भारत के भण्डारों में गणधर-कल्प, गणधर वलय यन्त्र, गणधर वलय मन्त्र जप विधि, पार्श्वनाथ मन्त्राष्टक (इन्द्रनंदि रचित) पञ्च नमस्कार-चक्र, बृहद् शान्ति विधान, काम-चण्डालिनी कल्प (मल्लिषेण), बीजाक्षर-कोष विद्यानुवाद, सरस्वती-कल्प, (विजयकीर्ति) श्री देवता-कल्प (अरिष्टनेमि), पञ्च नमस्कार कल्प, बालग्रह, चिकित्सा यन्त्र मन्त्र संग्रह आदि ग्रन्थ प्राकृत, संस्कृत, वा कन्नड भाषा और लिपि में पाये जाते हैं।

जिस तरह कागज और वस्त्र पर अनेक मन्त्र लिखे मिलते हैं उसी तरह तांबा, पीतल और चाँदी के भी अनेक यन्त्र जैन मन्दिरों में पूजे जाते हैं। बीकानेर के मन्दिरों में सिद्धचक्र मन्त्र यन्त्र, सर्वतोभद्र यन्त्र, चक्रेश्वरी विधान यन्त्र, कलिकुण्ड-यन्त्र, ह्रींकार यन्त्र आदि तांबे और पीतल के हैं। दि० मन्दिरों में षोडशकारण यन्त्र, सम्यक्-दर्शन-यन्त्र, दश धर्म यन्त्र, सम्यक् चरित्र यन्त्र, चिन्तामणि यन्त्र, सम्यक् ज्ञान यन्त्र, सिद्ध परमेष्ठि यन्त्र, कलिकुण्ड यन्त्र, पञ्च परमेष्ठि और चौबीस तीर्थंकर यन्त्र, गणधर वलय यन्त्र, शान्तिनाथ यन्त्र, नवमन्त्रों का यन्त्र, चौकोर यन्त्र, ऋषिमण्डल यन्त्र, महालक्ष्मी यन्त्र, सिद्धचक्र यन्त्र, अनन्त यन्त्र, सिद्ध यन्त्र, सिद्धि यन्त्र, नवग्रह यन्त्र आदि पाये जाते हैं।



सिद्धचक्र विधान की तरह अनेक प्रकार के विधान दिगम्बर समाज में प्रचलित हैं। ऐसे कई विधान सम्बन्धी

ग्रन्थ भी प्रकाशित हो चुके हैं। विधि-विधानो के अनेको ग्रन्थो मे तान्त्रिक प्रभाव दिखाई देता है। मन्त्रो का प्रयोग तो है ही।

जैन विद्वानों की दो विशेषताए विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। एक तो उन्होने मन्त्र के आदि अक्षरों का सम्बन्ध जैन महापुरुषो से जोड दिया है। जैसे ॐकार जैन मान्यता के अनुसार पच परमेष्ठि के ५ अक्षरो से बना है। अरहन्त या अरिहन्त का अ, सिद्ध अशरीर होने से अ, आचार्य का आ, उपाध्याय का उ, और मुनि का म्, इन अ×अ×आ×उ×म् से ओ शब्द बना है। इस तरह ह्रीकार की ह्री मे २४ तीर्थंकरो का समावेश किया जाता है। ओंकार ह्रीकार के ऐसे कई चित्रपट्ट, जिनमे पच परमेष्ठि और २४ तीर्थंकरो के चित्र प्रस्थापित किये गये हैं, प्रकाशित भी हो चुके हैं।

दूसरी विशेषता, उदार दृष्टिकोण है। जैनेतर देवी-देवताओ और रचनाओ को भी उन्होने अपनाया, पर उनमे जो हिंसात्मक विधान थे उन्हें नही अपनाया। जैसे ओसियाँ (राजस्थान) की चाँमुडा देवी को ओसवालों की कुल देवी मान्य रखी पर देवी के आगे जो पशुओं का बलिदान होता था उसे बन्द करके मेवा-मिष्ठान्न, फल-फूल, धूप, दीपक आदि से देवी की पूजा प्रचलित की। इसी तरह भैरूजी को भी उन्होंने अपनाया, किन्तु उनके आगे जो मास-मदिरा चढाने की पद्धति थी उसे नही अपनाया। अर्थात् जैनधर्म के मूल-भूत विधि-विधानो एव तत्त्वों में किसी तरह की आपत्ति हो ऐसा नही किया। घटाकर्ण आदि कई देवी-देवता मूलत जैनमान्य नही थे, पर आज उनकी सात्त्विक पूजा जैन-समाज मे प्रचलित है। बौद्धो के धारणियो आदि को भी जैनो ने अपनाई। विशेषत वसुधारा धारिणी नामक बौद्ध कृति का प्रचार गत ५०० वर्षों से जैन समाज मे काफी रहा है। हमारे सग्रह मे सवत् १५४८ की लिखी हुई वसुधारा की प्रति है। इसके बाद की तो एक दर्जन से अधिक प्रतिया है। बौद्धो मे प्रचलित वसुधारा मे कहाँ क्या परिवर्तन किया है, यह तो मिलान करने पर ही मालूम हो सकता है। चूरु की सुराणा लायब्रेरी मे बौद्ध वसुधारा की प्राचीन प्रतियाँ प्राप्त हैं। बौद्ध वसुधारा काफी विस्तृत है। जैन विद्वानो ने उसका सक्षिप्त रूप अपनाया प्रतीत होता है। इसी तरह अन्य जैन मत्र तत्र सम्बन्धी ग्रन्थो का जैनेतर ग्रन्थो से तुलनात्मक अध्ययन करने पर नये तथ्य प्रकाश मे आयेंगे।

जैसा कि पहले कहा गया है, प्राचीन काल से जैनाचार्य और मुनियो ने मत्र एव विद्याओ का समय-समय पर प्रयोग करके बहुत चमत्कार दिखाया है, पर उनका उद्देश्य जैन-शासन-रक्षा, सघ की विपत्ति निवारण, जैन धर्म की उन्नति व प्रभाव स्थापित करना रहा है और ऐसे कामो मे ही इन साधनो का अधिक उपयोग किया है। जैन विद्वान् सदा से लोक-सम्पर्क मे अधिक रहे हैं। वैसे बडे-बडे राजा-महाराजाओ को भी उन्होंने प्रभावित कर शासन प्रभावना की है। साधारणतया लोग चमत्कार को नमस्कार करते है, इसलिये उन्हें जब जैसा अवसर आया जनता या अधिकारियो को धर्मानुरागी बनाने के लिए चमत्कार भी दिखलाये। ऐसे अनेक प्रसग जैनाचार्यो के चरित्रो में प्राप्त है। उदाहरणार्थ—रत्नप्रभसूरि, जिनदत्तसूरि आदि ने लाखो अजैनो को जैन बनाया, चमत्कार दिखाकर ही। कई बार शास्त्रार्थ मे भी मत्रादि विद्याओ का प्रयोग आवश्यक हो जाता था।

मत्र, यत्र, तत्र का परस्पर मे घनिष्ठ सम्बन्ध है। तान्त्रिक साहित्य को आगम कहा जाता है और प्राचीन जैन ग्रन्थो को भी आगम की सज्ञा प्राप्त है। जिस प्रकार शिव और शक्ति के कहे हुए ग्रन्थ शैवागम कहे जाते हैं उसी तरह जिनेश्वर के कहे हुए वचनो का सग्रह जिस ग्रन्थ मे हो उसे जैनागम कहा जाता है। वैदिक धर्म, कर्म-काण्ड, यज्ञ-पूजा आदि प्रवृत्तियो को अधिक महत्त्व देता है। जैनधर्म अहिंसा, त्याग, तपस्या आदि निवृत्ति मार्ग को प्रधानता देता है। इसलिए जैनो मे पच मकार आदिक तान्त्रिक विधि-विधान कभी स्वीकृत नही हुए। यद्यपि भैरव-पद्मावती कल्प आदि मे कही-कही जैनधर्म को मान्य न होने वाले विधान भी देखने को मिलते हैं। दस दिग्पाल आदि की पूजा मे बलि का विधान भी है पर वहाँ पशु-बलि नही, अन्य खाद्य पदार्थों की बलि दी जाती है। इस तरह जैन धर्म मे तान्त्रिक प्रभाव बहुत कुछ स्वधर्मसम्मत आदर्शो को लिए हुए है और तत्र की अपेक्षा मत्र और यत्र को अधिक अपनाया गया है।

✤

जैनसाहित्य में रामकथा

पं० गोकुलचन्द्र जैन

एम० ए०, साहित्याचार्य



मर्यादा पुरुषोत्तम राम का पावन चरित्र पुण्यसलिला भागीरथी की निर्मल धारा के समान आदि कवि वाल्मीकि की सुधावर्षिणी लेखनी से प्रस्रवित हो कर नाना तीर्थ बनाता हुआ निरन्तर विकास को प्राप्त हुआ है। वैदिक, जैन और बौद्ध धाराओं के अनेक महारथी साहित्यकारों ने भगवान् राम के चरित्र को लिपिबद्ध करके अपना अहोभाग्य माना और इस त्रिवेणी-संगम के पावन तीर्थ में मज्जन करके अनेक महापुरुषों ने प्रेरणा पायी।

हिन्दुओं ने विष्णु का अवतार मान कर राम की पूजा की। जैनों ने मोक्षगामी महापुरुष मान कर तीर्थंकरों के समान आदर दिया और बौद्धों ने उन्हें बुद्ध का अवतार मान कर अपना आराध्य बनाया। इस प्रकार भारत का सम्पूर्ण जन-मानस प्राचीन काल से राम को पूजता चला आया।

रामकथा को साहित्यकारों ने और लोककथाओं ने मनचाहा मोड दिया। यहाँ तक कि अपनी-अपनी विचारधारा और मान्यता के अनुसार कथा के पात्रों को हिन्दू, जैन और बौद्ध भी बना डाला। कुछ मनचले लोगों ने तो सारी कथा को अद्भुत ही बना दिया जो बाद में अद्भुत रामायण के ही नाम से प्रसिद्ध हो गयी। इतना होने पर भी मजा यह कि राम का चरित्र उज्ज्वल से उज्ज्वलतर और उज्ज्वलतम होता गया। हीरे को ज्यों-ज्यों सान पर चढाया उसका रूप निखरता गया। राम मानव से ऊँचे उठकर भगवान की कोटि में पहुच गये।

भगवान की उपासना जिसे जिस रूप में अच्छी लगी उसने उसी रूप में उसकी आराधना की। किसी ने गीतों में गा कर, किसी ने ध्यान में ध्याकर तो किसी ने अपने मन-मन्दिर में बिठा कर। भक्तवत्सल भगवान को भक्तों के अनुकूल बनना पडा। अपने चरित्र को भी उनकी अभिरुचि के अनुसार मोड देना पडा। हिन्दुओं के राम हिन्दू थे इसलिए उन्हें हिन्दुत्व का चोंगा पहनना पडा और कथा को उसके अनुकूल बनाया गया। बौद्धों के राम बुद्ध के अवतार थे इसलिए उन्हें वाराणसी में जन्म लेना पडा और सीता को यशोधरा और भरत को आनन्द बनना पडा। जैनों के राम ही जैन नहीं थे प्रत्युत कथा के सभी पात्र जैनधर्म के सच्चे अनुयायी थे। यहाँ तक कि रावण भी जैनधर्म का कट्टर श्रद्धालु था।



जैन साहित्य में जब रामकथा लिपिबद्ध होना शुरू हुई उस समय तक कथा के कई रूप चल पडे थे। वाल्मीकि रामायण के अतिरिक्त शायद अद्भुत रामायण तथा बौद्धों का दशरथ जातक भी लिपिबद्ध हो चुका था। यही कारण है कि उत्तरपुराण की कथा का जानकी-जन्म अद्भुत रामायण के ढंग का है। और दशरथ को वाराणसी का राजा बताना बौद्ध जातक के अनुरूप है।



रामकथा सम्बन्धी जैन-साहित्य

उपलब्ध जैन साहित्य मे रामकथा का वर्णन करने वाला सबसे पहला ग्रन्थ विमलसूरि का पउम-चरिय मिलता है। विद्वानो ने इसे चौथी शती की रचना माना है। कुछ लोग इसे इससे भी पूर्व का मानते हैं। विमलसूरि के उल्लेख के अनुसार रामकथा का अवतरण जैन साहित्य मे उनसे पूर्व ही हो चुका था। उन्होने पउम-चरिय मे लिखा है कि—मैं नामवली मे निबद्ध और आचार्यपरम्परा से प्राप्त समस्त पद्मचरित (रामायण) आनुपूर्वी के अनुसार सक्षेप मे कहूगा।

तिलोयपण्णत्ति ग्रन्थ मे जिन श्रेष्ठ शलाकापुरुषो की गणना है उनमे राम की भी गणना की गयी है। बाद के ग्रन्थकारो मे स्वयभूदेव का पउम-चरिउ (अपभ्र श), गुणभद्र का उत्तरपुराण और रविषेणाचार्य का पद्मचरित या पद्मपुराण विशेष उल्लेखनीय है। आचार्य हेमचन्द्र ने भी अपने त्रिषष्ठिशलाकापुरुषचरित नामक ग्रन्थ मे रामकथा को सुन्दर ढग से प्रस्तुत किया है। जिनदास कृत रामपुराण (१५ वी शती), पद्मदेव विजयगणिकृत रामचरित (१६ वी शती) तथा सोमसेन कृत रामचरित (१७वी शती) भी रामकथा का वर्णन करने वाले स्वतन्त्र ग्रन्थ हैं। इन रचनाओ के अतिरिक्त अनेक जैनकथा ग्रन्थो मे राम की कथा आयी है। भारत की विभिन्न प्रान्तीय भाषाओ मे भी जैन साहित्यकारो ने भगवान राम के उज्ज्वल चरित का अ कन किया है।

जैन रामायण के दो रूप

उपर्यु क्त समस्त जैन साहित्य मे रामकथा का विकास दो धाराओ मे हुआ है। पहली धारा विमलसूरि के पउम-चरिय को आधार मान कर चली है और दूसरी गुणभद्र के उत्तरपुराण को।

विमलसूरि की परम्परा और पउम-चरिय की कथावस्तु

पउम-चरिय की कथा राक्षस तथा वानर वश के वर्णन के साथ प्रारम्भ होती है। राजा सेणिय (श्रेणिक) ने भगवान् महावीर के प्रधान शिष्य गोयम (गौतम) गणधर से रामकथा को जानने की इच्छा प्रकट की। इस पर गोयम पउम-चरिय सुनाता है। कथा-वस्तु इस प्रकार है—

राक्षस वशीय राजा रत्नश्रवा तथा कैकसी के चार सन्तान थी। रावण, कुम्भकर्ण, चन्द्रनखा और विभीषण। जब रत्नश्रवा ने पहले-पहल अपने पुत्र रावण को देखा तब शिशु माला पहने हुए था। इस माला मे पिता को रावण के दस सिर दिखाई दिये, इस कारण शिशु का नाम दशानन या दशग्रीव रखा गया। अपने मौसेरे भाई का विभव देखकर रावण आदि भाई बडे होने पर तप करने के लिए चले गये और तप के द्वारा अनेक विद्याए प्राप्त की। इसके बाद रावण ने मन्दोदरी आदि ६००० कन्याओं के साथ विवाह किया और दिग्विजय मे बहुत से राजाओ को परास्त किया। इसी विजय यात्रा मे रावण ने नलकूबर की पत्नी का प्रे म-प्रस्ताव ठुकरा दिया तथा किसी केवली का उपदेश सुनकर धर्म-प्रतिज्ञा की कि 'मैं विरक्त परनारी का भोग नही करू गा।'

इसके बाद वालि, सुग्रीव, हनुमान आदि का वर्णन है।

२१वे पर्व से मूल कथा आरम्भ होती है। जनक तथा दशरथ की वशावली के बाद दशरथ की तीन पत्नियो का उल्लेख है। कौशल्या, सुमित्रा तथा सुप्रभा ये तीन रानी थी। एक दिन नारद ने रावण से कहा कि आपकी मृत्यु जनक की पुत्री के कारण दशरथ के पुत्र द्वारा होगी। इस पर रावण ने अपने भाई विभीषण को इन दोनो को मार डालने के लिए भेजा। वहा नारद ने जनक और दशरथ को रावण के इस समाचार से पहले ही सावधान कर दिया

था। दोनों अपने-अपने रूप का एक-एक पुतला अपने-अपने महल में रख कर गुप्त रूप से परदेश चले गए। विभीषण ने इन दोनों मूर्तियों को ही वास्तविक जनक और दशरथ समझकर उनके सिर काट कर समुद्र में फेंक दिए। परदेश में दशरथ कैकेयी के स्वयम्वर में पहुंचे और कन्या ने दशरथ के गले में माला डाली। इस पर अन्य राजा बिगड़ खड़े हुए। फलस्वरूप उनसे राजा दशरथ का युद्ध हुआ। कैकेयी वीरांगना थी इसलिए उसने स्वयं दशरथ का रथ चलाया। राजा दशरथ अपने पराक्रम और उसकी चतुराई से युद्ध में विजयी हुए और अयोध्या वापस आकर राज्य करने लगे। कैकेयी की चतुराई से प्रसन्न होकर दशरथ ने उसे मनचाहा वर मांगने को कहा। कैकेयी ने यह कहकर कि 'मेरा वर भण्डार में रहे, जब आवश्यकता होगी तब मांग लूंगी', वर को सुरक्षित करा दिया।

कैकेयी सहित राजा के चार रानियां हो गयीं। इनसे चार पुत्र उत्पन्न हुए। कौशल्या से राम, जिनका दूसरा नाम पद्म था, सुमित्रा से लक्ष्मण, कैकेयी से भरत और सुप्रभा से शत्रुघ्न।

राजा जनक के विदेहा नामक रानी से एक पुत्र और एक पुत्री उत्पन्न हुईं। पुत्र का नाम भामण्डल तथा पुत्री का नाम सीता रखा गया। बड़े होने पर सीता का स्वयंवर हुआ। स्वयंवर में राम ने धनुष चढ़ाया तथा उनका सीता के साथ विवाह हो गया। इसके बाद राजा दशरथ राम को राज्य देकर तपस्या के लिए जाने की सोचने लगे, तभी कैकेयी ने राज्यभण्डार में सुरक्षित अपना वर मांग कर भरत को राज्य मांगा। यह सुन कर राम, लक्ष्मण और सीता दक्षिण की ओर चले गए। कैकेयी और भरत ने वन में जाकर राम से लौट चलने का अनुरोध किया पर सब व्यर्थ हुआ। राम अयोध्या नहीं लौटे।

इसके बाद वनभ्रमण का विस्तार के साथ वर्णन है। वन में राम और लक्ष्मण के म्लेच्छ राजाओं से अनेक युद्ध हुए। कई विपत्तिग्रस्त लोगों की राम ने सहायता भी की। जटायु से भेंट होने के बाद राम दण्डक वन में रहने लगे।

इसके बाद सीताहरण और उसकी खोज का वर्णन है। चन्द्रनखा तथा खरदूषण के पुत्र शम्बूक ने सूर्यहास खड्ग की प्राप्ति के लिए घोर तपस्या की, जिसके फलस्वरूप वहां सूर्यहास प्रकट हुआ। लक्ष्मण संयोग से वहां पहुंचे और शम्बूक खड्ग ले इसके पूर्व ही उन्होंने उसे उठा लिया। खड्ग की परीक्षा के लिए उन्होंने वहीं पास के एक बांस-समूह पर उसने प्रहार किया। उसी बांससमूह में बैठा शम्बूक तपस्या कर रहा था। इसलिए लक्ष्मण के इस प्रयोग से बांसों के साथ उसका भी सिर कट गया। चन्द्रनखा ने आकर जब अपने मृत पुत्र को देखा तो वह बहुत विलाप करने लगी और वापस आने पर अपने पति से सारा समाचार कह सुनाया। खरदूषण के साथ लक्ष्मण का भयंकर युद्ध हुआ। इसी समय खरदूषण के आह्वान पर रावण उसकी सहायता के लिए आया और सीता को देखकर उस पर मोहित हो गया। रावण सीता के अपहरण का उपाय सोचने लगा। उसने अपनी विद्या के बल से जाना कि राम को सहायतार्थ बुलाने के लिए लक्ष्मण ने सिंहनाद का संकेत बनाया है, इसलिए वह प्रपंचपूर्ण सिंहनाद करता है जिससे राम लक्ष्मण की सहायता के लिए सीता को अकेली छोड़ कर चले जाते हैं। इसी समय रावण सीता को अकेली पा कर हर ले जाता है।

सीताहरण के बाद राम बहुत दुःखी होते हैं। इसके बाद सुग्रीव के साथ राम की मैत्री का वर्णन है। साहसगति ने सुग्रीव का रूप धारण कर सुग्रीव की पत्नी का अपहरण कर लिया था। राम ने उसे मार कर सुग्रीव को उसकी पत्नी प्राप्त करा दी। सुग्रीव की आज्ञा से विद्याधर सीता की खोज करते हैं। कुछ ही समय में रत्नजटी नामक विद्याधर आकर बताता है कि सीता का हरण रावण ने किया है। रावण एक महान बलशाली राजा था इसलिए विद्याधरों ने उसके साथ युद्ध करने से इन्कार कर दिया, किन्तु जब उन्हें अनन्तवीर्य केवली का यह वचन याद आया कि जो व्यक्ति कोटि-शिला को उठायेगा वही रावण को मारेगा तो सबने कोटिशिला उठाने की परीक्षा की। लक्ष्मण ने शिला उठा दी। विद्याधर अब भी रावण से डरते हैं और हनुमान को लंका भेजने की सलाह देते हैं। हनुमान





लका जाते हैं और वहाँ पर अनेक तरह का विनाश करके सीता का सन्देश लेकर राम के पास लौट आते हैं ।

इसके बाद युद्ध का वर्णन है । सुग्रीव आदि विद्याधरो के साथ राम लका के लिए प्रस्थान करते हैं । मार्ग मे वानर वशी विद्याधरो की सेना को समुद्र नामक राजा रोकता है जिससे युद्ध होना है । अन्त मे समुद्र की पराजय होती है । राम कृपा करके उसका राज्य उसे वापस लौटा देते हैं । सेना लका पहुचती हैं । वहा रावण के साथ भयकर युद्ध होता है । अन्त मे रावण लक्ष्मण पर चक्र चलाता है, किन्तु वह चक्र लक्ष्मण को लगने के बदले उनकी प्रदक्षिणा देकर हाथ मे आ जाता है । लक्ष्मण इसी चक्र से रावण का वध करते हैं ।

तदनन्तर राम अयोध्या लौट कर राज्य करने लगते हैं । भरत विरक्त हो दीक्षा ले लेते हैं । लोकापवाद के भय से राम सीता को वन मे छुडवा देते हैं । सीता वज्रजघ के आश्रम मे रहती हैं । वही उनके लवण और अकुश दो पुत्र होते हैं ।

बडे होने पर लवण और अकुश का राम और लक्ष्मण के साथ युद्ध होता है । बाद मे नारद के द्वारा पारस्परिक परिचय होने पर पिता-पुत्रो मे मिलाप होता है । हनुमान, सुग्रीव, विभीषण आदि के कहने पर राम सीता को बुला लेते है । सीता अग्नि-परीक्षा देती है और उसमे सफल होने के बाद आर्यिका (जैन साध्वी) हो जाती है ।

किसी दिन दो देव राम और लक्ष्मण के स्नेह की परीक्षा करने के लिए आते हैं और लक्ष्मण को असत्य राम की मृत्यु का समाचार सुनाते हैं । लक्ष्मण अपने भाई की मृत्यु के समाचार सुनते ही अपने प्राण त्याग देते हैं । अब राम को लक्ष्मण की मृत्यु का समाचार मिलता है तो वे अत्यन्त दुखी होते हैं और विक्षिप्त से हो जाते हैं । अन्त में लक्ष्मण की अन्त्येष्टिक्रिया करने के बाद राम मुनि हो जाते है और साधना करके मोक्ष प्राप्त करते हैं ।

यहाँ पउम-चरिय की कथा समाप्त होती है ।

गुणभद्र की परम्परा और उत्तरपुराण की कथावस्तु

उत्तरपुराण की कथा बौद्ध साहित्य के दशरथ जातक की तरह प्रारम्भ होती है । कथा का सक्षेप इस प्रकार है—

वाराणसी मे दशरथ नाम के राजा राज्य करते थे । उनके चार पुत्र थे—राम, लक्ष्मण, भरत और शत्रुघ्न । राम सबाला के गर्भ से, लक्ष्मण कैकेयी के गर्भ से तथा साकेतपुर मे राजधानी स्थापित होने के बाद भरत और शत्रुघ्न किसी दूसरी रानी के गर्भ से (जिसका नाम नही दिया) उत्पन्न हुए थे । दशानन (रावण) विनमि विद्याधर वश के पुलस्त्य का पुत्र था । किसी दिन उसने अमितवेग की पुत्री मणिमती को तपस्या करते देखा और उस पर मोहित होकर उसकी साधना मे विघ्न डालन लगा । मणिमती ने निदान किया कि "मैं तेरी ही पुत्री होकर तेरा नाश करूगी ।" मृत्यु के बाद वह रावण की रानी मन्दोदरी के गर्भ मे आयी । उसके जन्म के बाद ज्योतिषियो ने रावण को बताया कि यह तुम्हारा नाश करेगी । अत रावण ने भयभीत होकर मारीच को आज्ञा दी कि वह उसे कही छोड आए । एक रत्नमजूषा में रख कर मारीच उस कन्या को मिथिला देश मे गाड आया । हल जोतते समय वह रत्नमजूषा दिखाई पडी और लोग उसे लेकर राजा जनक के पास ले गये । जनक ने खोलकर देखा तो उसमे से एक सुन्दर कन्या निकली । जनक ने उसका नाम सीता रखा और पुत्री की तरह उसका लालन-पालन करने लगे ।

बहुत समय के बाद राजा जनक ने राम और लक्ष्मण को अपने यज्ञ की रक्षा के लिए बुलाया । यज्ञ समाप्त होने के बाद राम का सीता के साथ विवाह हो गया और वे दशरथ से आज्ञा लेकर वाराणसी मे रहने लगे ।

नारद ने रावण के सामने सीता के सौन्दर्य का वर्णन किया जिससे रावण ने सीता को हर लाने का सकल्प किया और अपनी वहिन सूर्पणखा को सीता के मन की परीक्षा करने के लिए भेजा। सूर्पणखा ने लौट कर बताया कि सीता के मन को चलायमान करना असम्भव है।

एक दिन जिस समय राम और सीता वाराणसी के निकट चित्रकूट वाटिका मे विहार कर रहे थे उस समय मारीच स्वर्ण मृग का रूप धारण करके राम को दूर ले गया, इतने मे रावण राम का रूप बना कर आया और सीता से कहने लगा कि मैंने मृग को महल भेज दिया है। वह सीता को पालकी पर चढने की आज्ञा देता है। यह पालकी वास्तव मे पुष्पक विमान है जो सीता को ले जाता है। रावण अपनी आकाशगामिनी विद्या नष्ट होने के डर से पतिव्रता सीता को स्पर्श नहीं करता।

दशरथ को स्वप्न द्वारा यह पता चला कि रावण ने सीता का हरण किया है। उन्होंने यह समाचार राम के पास भेज दिया। इसी मौके पर सुग्रीव और हनुमान वाली के विरुद्ध सहायता मागने राम के पास पहुचे। हनुमान को लका भेजा गया और वे सीता को सात्वना देकर वहा से लौट आये। इसके बाद लक्ष्मण ने वाली का वध किया और सुग्रीव को उसके राज्य का अधिकार दिलाया।

इसके बाद वानरो और राम की सेना ने लका के लिए प्रस्थान किया। लका मे भयकर युद्ध हुआ और अन्त मे लक्ष्मण ने चक्र से रावण का सिर काट लिया। दिग्विजय के बाद सब लौट आये। सीता के आठ पुत्र उत्पन्न हुए। सीता के त्याग का यहा कोई उल्लेख नही मिलता। लक्ष्मण की एक असाध्य रोग से मृत्यु हो जाती है और राम लक्ष्मण के पुत्र पृथ्वीसुन्दर को राजपद पर तथा सीता के पुत्र अजितजय को युवराज पद पर अभिषिक्त करके मुनि दीक्षा ले लेते हैं और तप करके अन्त मे मोक्ष पाते हैं। सीता भी अनेक रानियों के साथ दीक्षा ले लेती है और तप करके स्वर्ग प्राप्त करती है। इस तरह कथा समाप्त होती है।

जैन साहित्य मे रामकथा की इन धाराओं का पर्याप्त विकास हुआ है। पहली धारा का आधार लेकर जिन ग्रन्थो की रचना हुई उनमे निम्नलिखित मुख्य हैं—

१—विमलसूरि का पउमचरिय (तीसरी-चौथी शती) प्राकृत

२—रविषेण का पद्मचरित (६६० ई०) सस्कृत

३—स्वयम्भूदेव का पउमचरिउ (७००-८०० ई०) अपभ्रश

४—हेमचन्द्र का जैन रामायण (१२ वी शती) यह त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित मे मिलता है, अलग से भी छप गया है। सस्कृत।

५—जिनदास का रामपुराण (१५ वी शती) सस्कृत

६—पद्मदेव विजयगणि का रामचरित (१६ वीं शती) सस्कृत

७—सोमसेन का रामचरित (१६वीं शती) सस्कृत

इन रचनाओ के अतिरिक्त अनेक कथाकोषो मे भी रामचरित की सामग्री मिलती है। उदाहरण के तौर पर हरिषेण का कथाकोष, रामचन्द्र मुमुक्षु का पुण्याश्रवकथाकोष तथा जिनरत्न-कथाकोष आदि मे रामचरित की पर्याप्त सामग्री मिलती है।





दूसरी परम्परा के ग्रन्थो मे निम्नलिखित मुख्य हैं—

१—गुणभद्र का उत्तरपुराण (९वी शती) संस्कृत

२—कृष्ण कवि का पुण्यचन्द्रोदयपुराण (१६वी शती) संस्कृत

३—पुष्पदन्त का तिसट्ठी महापुरिसगुणालकार (१०वी शती) अपभ्रंश

४—चामुण्डराय का त्रिपष्टिशलाकापुरुषपुराण (१०वी शति) कन्नड।

५—बन्धु वर्मा का जीवन सम्बोधन (१२वी शती) कन्नड

६—नागराज का पुण्याश्रवकथासार (१३३१ ई०)

इनमे पुण्यचन्द्रोदय को छोड कर बाकी ग्रन्थो मे अन्य ६३ महापुरुषों के चरित भी मिलते हैं।

इसके अतिरिक्त भारत की विभिन्न प्रान्तीय भाषाओ मे भी जितना रामकथा सम्बन्धी साहित्य जैन साहित्यकारो द्वारा लिखा गया है वह उपर्युक्त दोनो परम्पराओ मे से ही किसी एक को आधार मान कर निबद्ध हुआ है।

जैन साहित्यकारो द्वारा निर्मित रामकथा सम्बन्धी इस विशाल साहित्य को देख कर रामकथा मे जैन समाज की प्रगाढ अभिरुचि का पता चलता है। वर्तमान मे भी जैन समाज मे रामकथा सम्बन्धी साहित्य का तुलसी-दास की रामायण की तरह बडे चाव से पठन-पाठन होता है।

कथावस्तु की दृष्टि से वैदिक, जैन और बौद्ध साहित्य मे उपलब्ध रामकथा मे बहुत-सी समानताएँ और असमानताए पायी जाती हैं। यहा तक कि वैदिक साहित्य मे भी रामकथा का एक रूप नही मिलता। उदाहरण के लिए सीता की उत्पत्ति के प्रश्न को ही ले लिया जाए—महाभारत की सीता जनक की पुत्री हैं तो वाल्मीकि रामायण की सीता पृथ्वी की। वही सीता विष्णुपुराण और भागवतपुराण मे रावण की पुत्री हो गयी। इसी तरह दशावतार की सीता कमल से उत्पन्न होती है और आनन्दरामायण की अग्नि से।

इस तरह की नाना विप्रतिपत्तियो के होते हुए भी रामकथा का प्रचार अत्यधिक मात्रा मे हुआ है। मूल रामचरित की कथावस्तु क्या थी अथवा क्या होना चाहिए आदि के पचडे मे न पडकर यदि हम वैदिक, जैन और बौद्ध तीनो धाराओ के रामकथा सम्बन्धी साहित्य को उठा कर देखें तो ज्ञात होगा कि कथा-वस्तु मे पाये जाने वाले अन्तर के बावजूद रामकथा के पात्रो का चरित्र क्रमश निखरता ही गया है। केवल राम को ही नही रामकथा के अन्य सभी पात्रो को एक नयी धवलिमा, एक नया रूप, एक नयी चेतना और एक नया विकास आगे-आगे के साहित्य मे मिलता है।

हिन्दू रामायण मे राम ने केवल रावण का ही वध नही किया बल्कि वालि, शम्बूक तथा अनेक राक्षसो का भी काम तमाम किया। अहिंसा की मूल भित्ति पर प्रतिष्ठित होने वाला जैनधर्म यह बात कैसे बरदाश्त कर सकता था कि राम जैसा महापुरुष जिसे इसी जीवन से मोक्ष प्राप्त करना है, एक वध नही अनेको मनुष्यो की हत्या का पाप करे। भले ही वह राक्षस रावण हो या शूद्र शम्बूक। इसी कारण राम के चरित को बेदाग रखने के लिए जैन रामायण-कारो ने रावण, वालि और यहा तक कि शम्बूक का नाश भी लक्ष्मण के हाथ से कराया और राम को नर-हत्या जन्य पाप के पक से अछूता बचा लिया।

बौद्ध साहित्य के राम जब साक्षात दया के अवतार बुद्ध ही मान लिए गये तो यह कैसे सम्भव था कि दया-

किन्तु राम नर-संहार करें। इसी कारण बौद्ध-साहित्य में उपलब्ध होने वाली रामकथा में वालि वध का जिक्र तक नहीं आया।

हिन्दू रामायणकारों ने हनुमान और सुग्रीव के चरित्र को उन्नत रखते हुए भी आखिर उन्हें बन्दर बना ही दिया। जैन रामायणकार चरित्र-चित्रण की दृष्टि से यहां भी आगे रहे। उन्होंने हनुमान और सुग्रीव को केवल मनुष्य ही नहीं बनाया प्रत्युत उन्हें विद्याधर कहकर आकाशगामिनी आदि अनेक विद्याओं से युक्त सिद्ध किया।

रावण का चरित्र हिन्दू रामायण में जिस रूप में प्रस्तुत हुआ है उससे किसी भी व्यक्ति के मन में उसके प्रति महान घृणा उत्पन्न हो सकती है, पर जैन दृष्टि किसी भी व्यक्ति को चारित्रिक दृष्टि से गिरा हुआ स्वीकार नही कर सकती। इसलिए उसने रावण को भी नीचे नही गिरने दिया। रावण में लाख बुराइयाँ थीं फिर भी उसकी एक छोटी सी प्रतिज्ञा के आधार पर जैन रामायणकारों ने उसे ऊपर उठा लिया। 'जो स्त्री स्वेच्छा से मुझे अंगीकार नहीं करेगी उसके साथ मे बलात् भोग नहीं करूंगा।" रावण ने यह प्रतिज्ञा इस दर्प मे की थी कि "क्या दुनिया मे ऐसी भी कोई स्त्री होगी जो मुझ जैसे शक्तिशाली और प्रभुतासम्पन्न सम्राट को स्वीकार न करना चाहे।" सीता एक ऐसी महान नारी थी जिसने अन्त तक रावण को नही चाहा और कितना महान था रावण भी कि उसने अन्त तक अपनी प्रतिज्ञा की रक्षा की।

राम के उज्ज्वल चरित्र में रामकथा के सभी पात्रों के पाप धुल गये। रामचरित की सुधा-धारा मे नहा कर सभी पवित्र हो गये। राम सदा के लिए अमर हो गये, राम के साथ रावण भी अमर हो गया। हनुमान अमर हो गया, सुग्रीव अमर हो गया और अमर हो गया शम्बूक जैसा तुच्छ व्यक्ति भी। रामचरित्र को गाने वालों का कल्याण हुआ, सुनने वालों का उद्धार हुआ और राम सदा-सदा के लिए जन-जन के भगवान् बन गये।

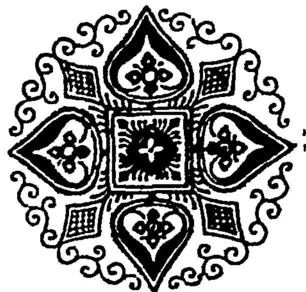
हे राम तुम नर से नारायण होके हो।



कन्नड में जिनभक्ति-साहित्य

प्रो० गुरुनाथ जोशी',

एम० ए० जे० एस० एस० कालेज, धारवाड



कर्नाटक में जैनधर्म

कर्नाटक अनेक धर्म-धर्मों का सगम एव आश्रय स्थान है। परधर्मसहिष्णुता उसकी नस-नस में सचारित है। इस कथन के सबल समर्थक कर्नाटक में उपलब्ध शिलालेख हैं। सन् ११५१ के एक शिलालेख में यह श्लोक आया है।

जयति यस्यावदतोपि भारती—
विभूतयस्तीर्थकृतेपि नोहिते (?)
शिवाय धात्रे सुगताय विष्णवे
जिनाय तस्मै सकलात्मने नम ॥

शिव, ब्रह्म, सुगत (बुद्ध), विष्णु और जिन इनमे अभेद को बताने वाला यह श्लोक यह भी बताता है कि कर्नाटक में शैव, बौद्ध, वैष्णव और जैन बहुत समय से रहते आ रहे हैं।

कर्नाटक मे जैनधर्म एक प्रबल धर्म के रूप मे रहा है। प्राचीन कर्नाटक मे तो वह एक अत्यन्त प्रबल धर्म था। उसका सार इस प्रकार सग्रह किया जा सकता है

"आत्मा अपनी स्वाभाविक शुद्धता पाकर केवल-ज्ञान को पावे, यही जीवन का ध्येय है। वह एक अलौकिक स्थिति है। तब आत्मा को समस्त पूर्णताएँ प्राप्त रहती हैं। उपनिषदो के उपदेशो की भाँति इसमे भी मोक्ष का अर्थ है पाप और पुण्य के परे हो जाना। इस स्थिति को पाने के लिए 'त्रिरत्न' अर्थात् सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र की साधना के साथ-साथ योग की साधना भी आवश्यक मानी गई है। इस साधना से मोक्ष की प्राप्ति कैसे हो सकती है, यदि यह जानना चाहे तो ध्यान मे रखना होगा कि जीव और अजीव मे सम्बन्ध करने वाला कर्म ही है। कर्म अत्यन्त सूक्ष्म जडवस्तु है। आत्मा अपनी अलौकिक स्थिति में ऐसी जडवस्तु से व्याप्त होती है। अजीव के प्रभेद इस कर्म से मुक्ति पाना ही उसका प्रधान लक्ष्य है। कर्मबधन और उससे मुक्ति के विषयो का प्रतिपादन इस प्रकार किया गया है पहली बात यह है कि कर्म अन्दर बहकर आता है (आस्रव), दूसरी बात यह है कि इसके कारण बधन होता है (बध), शुभाशुभ क्रियाओ के फलस्वरूप कर्म आत्मा मे बहकर आता ही रहता है, उससे मुक्ति ही नही। परन्तु एक आशा-किरण यह है कि इस प्रकार बहकर आने वाले कर्म को रोका जा सकता है। इसीलिए जैनधर्म में 'त्रिरत्नों' का विधान है। बहकर आने वाले कर्म को रोकना (सवर) आवश्यक है और पहले सचित कर्म का नाश करना (निर्जरा)

भी जरूरी है मोक्ष प्राप्ति के लिए। संवर और निर्जरा से कर्म का क्षय हो जाने पर (आत्मा) जीव को मोक्ष अपने आप मिल जाता है। तब वह बादलों से छुटकारा पाये हुए पूनम के चाँद की तरह अपनी मूल स्थिति को पाता है और अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तवीर्य, अनन्त सुख से विराजमान होता है।

"मोक्ष एक परिपूर्ण स्थिति है। मतलब यह कि जैनधर्म ने एक परमात्मा के अस्तित्व को यद्यपि नहीं माना है तथापि परिपूर्णता के रूप में दिव्यत्व की भावना को बचा लिया है। ये पाँच कर्म-प्रवाह (आस्रव), उनसे बंधन (बंध), उनको रोकना (संवर), उनका कटना (निर्जरा) और छुटकारा (मोक्ष) के साथ जीव और अजीव को मिलाकर कुल सात तत्त्व जैनधर्म में माने गये हैं।" ये सात तत्त्व सम्यग्दर्शन में समाविष्ट हैं।

'त्रिरत्नसाधना' का द्वितीय रत्न है सम्यग्ज्ञान। "किसी संशय विपर्यय के बिना जीवादि तत्वों की निज स्थिति को जानना ही सम्यग्ज्ञान है। वह भी मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवल, इस तरह पाँच प्रकार का है।"

'त्रिरत्नसाधना' का तृतीय रत्न सम्यक्चारित्र है। "संसार के त्याग के लिए तैयार करने वाले सम्यक्-ज्ञान से प्रेरित भव्य जीव की बाह्य और भीतरी क्रिया निवृत्ति सम्यक्चारित्र है। यह भी पाँच प्रकार का है—जैसे सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्म सपराय और यथाख्यात।

"बुद्धिपूर्वक श्रद्धा, भक्तिपूर्वक भाव, क्रियानिष्ठ आचार ये ही इस धर्म के मूल लक्षण हैं। 'आचार परमो-धर्म' इस धर्म की विशेषता है। आचार्यों के लिए कहे गये ३६ गुणों में इस धर्म के परमोच्च आचारांश ये हैं

१ पंचाचार : ज्ञानाचार, दर्शनाचार, तपाचार, चारित्राचार, और वीर्याचार।

२ बाह्य तप ६ : अनशन, अवमोदर्य, वृत्तिपरिसंख्यान, रस परित्याग, विविक्त शय्यासन, कायक्लेश।

३ अंतरंग तप ६ : प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, उत्सर्ग, ध्यान।

४ षडावश्यक : समता, स्तवन, वंदना, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, कायोत्सर्ग।

५ दशधर्म : उत्तम क्षमा, उत्तम मार्दव, उत्तमार्जव, उत्तम शौच, उत्तम सत्य, उत्तम संयम, उत्तम तप, उत्तम त्याग, उत्तम आकिंचन्य, उत्तम ब्रह्मचर्य।

६ त्रिगुप्तियाँ : मनोगुप्ति, वाग्गुप्ति, कायगुप्ति।

"संक्षेप में जैनधर्म अहिंसा, सत्य अस्तेय, ब्रह्मचर्य तथा निःपरिग्रह नामक पाँच व्रतों से युक्त है। इन्हीं को 'पंचशील' के नाम से सदाचार की माला में पिरोकर भगवान बुद्ध ने उपदेश दिया है।" महात्मा गांधीजी ने इन पाँच व्रतों के साथ और छः व्रतों को मिलाकर ग्यारह व्रतों का उपदेश दिया है। यहाँ यह स्मरणीय है।



जैनधर्म भी दो प्रधान सम्प्रदायों में विभक्त हो गया श्वेताम्बर और दिगम्बर। आजकल उत्तर भारत में श्वेताम्बर सम्प्रदाय और दक्षिण भारत में दिगम्बर सम्प्रदाय विशेष प्रचार में है। प्राचीन कर्नाटक में जैन दिगंबर सम्प्रदाय ही प्रधान रूप में था। पाँचवीं सदी के कदंब नरेशों के काल के ताम्रपटों में श्वेतपट महाश्रमण संघ और निर्ग्रन्थ महाश्रमण संघ का उल्लेख मिलता है। इससे विदित होता है कि कर्नाटक में श्वेताम्बर जैन भी थे। परन्तु उनका प्रभाव अधिक नहीं था।

श्वेतांबर और दिगंबर सम्प्रदायों के बीच में मानो समन्वय स्थापित करने के लिए और एक सम्प्रदाय का



उदय हो गया था जो 'यापनीय' सम्प्रदाय के नाम से प्रसिद्ध है। इस सम्प्रदाय का प्रचार विशेष रूप से उत्तर कर्नाटक मे रहा है। कुछ विद्वानो ने इसे सुधारवादी सम्प्रदाय कहा है, क्योकि इस सम्प्रदाय ने दिगबर सम्प्रदाय के कठोर नियमो मे कुछ परिवर्तन सुझाये और उसके प्रधान तत्व तीन है—(१) परशासने मोक्ष (अन्य मतावलबियो को भी मोक्ष है।), सग्रथाना मोक्ष (ससारी लोगो को भी मोक्ष है), (३) स्त्रीणा तद्भवे मोक्ष (स्त्रियों को भी इसी जीवन मे मोक्ष प्राप्ति हो सकती है)। ये तत्व श्वेताम्बर सम्प्रदाय के भी है, परन्तु इस यापनीय सम्प्रदाय के मुनि दिगबर ही रहे हैं। इस सम्प्रदाय के केन्द्र कर्नाटक मे गुलबर्गा जिले के आडकी, सेड, और बेलगाव जिले के हूलसी तथा धारवाड जिले के दोणि, नवलगुद आदि भागो मे थे। इस सम्प्रदाय के मुनियो को कदब राजाओ का प्रोत्साहन भी प्राप्त था।

पहले ही कहा जा चुका है कि कर्नाटक मे दिगबर जैनसप्रदाय ही प्रबल रहा है। ईसवी सन् के पूर्व ही भद्रबाहु के नेतृत्व मे दिगबर जैन सप्रदायवाले कर्नाटक आये और विशेषत तपानुकूल एव शात वातावरण के स्थान कोप्पल और श्रवणबेलगोल मे बस गये।

कर्नाटक मे जैनधर्म कदब, गग, राष्ट्रकूट, चालुक्य, होयसल राजाओ के आश्रय और प्रोत्साहन से बारहवी सदी तक उन्नतावस्था मे था। वैदिक सम्प्रदाय के होते हुए भी कदब राजाओ ने जैनधर्म को आश्रय दिया था। उनके काल के एक ताम्रपट मे जो वाक्य पाए जाते है उनका हिन्दी रूपातर यो है

"जिस देश मे जिनेन्द्र की पूजा होती है उस देश की उन्नति होती है, नगर निर्भय हो जाते हैं और उस देश के राजा की तरक्की होती है।"

कन्नड साहित्य के ग्रन्थो मे तथा शिलालेखो मे जैनधर्म के तत्वो और कार्यो आदि का उल्लेख, कई जैन मुनियो के कठोर तप का वर्णन, मुनियो और जैन सन्यासिनियो अर्थात् कतियो की विद्वत्ता की भूरि प्रशसा का वर्णन, कर्नाटक मे विद्यमान श्रमणसघो तथा जैन मन्दिरो का वर्णन, अलावा इनके समाधिमरण, निषीदिका, त्यौहार, यक्ष-यक्षी की आराधना का वर्णन भी हम पाते है। इन सब वर्णनो के आधार पर हम इस नतीजे पर पहुचते हैं कि जैन-धर्म का प्रभाव कर्नाटक मे काफी रहा है। पर क्या जैनधर्म वैदिकधर्म से अछूता ही रह गया था? उपलब्ध साहित्य और शिलालेखो के आधार पर यह कहा जा सकता है कि जैनधर्म पर वैदिकधर्म का प्रभाव अवश्य पडा था। इस बारे मे डा० एम० चिदानदमूर्ति कहते हैं

"बसदियो मे (जैन मदिरो मे) कुछ पचकूट के और कुछ त्रिकूट के थे। उनका भीतरी भाग सुगधमिश्रित काले अगरु-धूप के धूम से महकता रहता था। बाहरी भाग ध्वज, मकर, तोरण, मानस्तभ से अलकृत थे। तीर्थंकर दिव्यत्वप्राप्त मानव थे। तो भी ईसवी के प्रारम्भ से ही उनको देवता पुरुष मानकर जैनो ने उनकी पूजा की। क्योकि उनका विश्वास था कि ऐसी पूजाओ से कर्म का क्षय होता है, पुण्य की वृद्धि होती है, लौकिक ऐश्वर्य विभवादि मे बढती होती है। केवल-ज्ञान प्राप्त तीर्थंकर सिद्धशिला मे विराजे रहते हैं, उनकी ससार के प्रति अनासक्ति रहती है, अत अर्चना तथा स्तोत्र उनको पहुच नही पाते। उनसे सीधे व्यक्ति के कर्मनाश मे कोई सहायता नही होती। 'भगवत्कृपा या करुणा' (Divine Grace) को जैनधर्म मे कोई स्थान नही है।

"(इस दृष्टि से जैनधर्म ने पुरुष-प्रयत्न को जो ऊँचा स्थान दिया है वह अन्य धर्मों मे नही दिया गया है। व्यक्ति को अपने प्रयत्नो से ही कर्मो का क्षय कर लेना चाहिये।)

" तीर्थंकरो की पूजा लौकिक ऐश्वर्यादि की प्राप्ति के लिए करना जैनधर्म के तत्वो के विरुद्ध है। तो भी जैन हिन्दुओ के प्रभाव के कारण जैन मदिरो मे अष्टविधार्चन करने लगे और पूजादि मे विस्तार आ गया। जैन मदिरो मे देवदासियो के नृत्य भी होने लगे। शायद वैदिकधर्म के प्रभाव से जैन मदिरो मे होमादि भी होने लगे। (कहने की

जरूर नहीं कि उनमें प्राणिबलि नहीं दी जाती थी।) सोमदेव ने अपने 'यशस्तिलक' में जैनगृहस्थ को यदि वह चाहे, वैदिक यज्ञ करने की सूचना भी दी है। राष्ट्रकूटों के कतिपय ताम्रपटों में उल्लेख है कि जैनमंदिरों में बलिचरु दान, वैश्वदेवादि का आचरण करने के लिए कुछ जायदाद दान में दी गई है। बारहवीं सदी के ताम्रपट में उल्लेख है कि केवल ज्ञान का महाहोम पूजा विधानों में एक है। सोमदेव इन अन्य धर्मों के आचरणों को तब तक करने की अनुमति देता है जब तक वे जैनधर्म के तत्त्वों के विरोधी नहीं हैं। इन बातों से ऐसा लगता है कि जैनधर्म ने काल परिस्थिति के अनुसार अपने में भी परिवर्तन कर लेने का प्रयत्न किया है। ये जैनमंदिर विद्या के बड़े-बड़े केन्द्र भी रहे हैं।'

जैन भी अनेक त्योहार मनाते हैं। उनमें 'जीव दयाष्टमी' और 'नंदीश्वराष्टमी' मुख्य हैं। उनका उल्लेख शिलालेखों में मिलता है। ये त्योहार जैनधर्म को अधिक प्रचार में लाने में सहायक होते हैं और हुए हैं। जैनधर्म को और भी महान् बनाने के लिए और उसकी ओर सामान्य जनता को आकर्षित करने के लिए यक्ष-यक्षियों की आराधना तथा उपासना करके कुछ जैनधर्मावलम्बी कतिपय सिद्धियाँ भी प्राप्त करने लगे। कर्नाटक में पद्मावती और ज्वाला-मालिनी नामक यक्षियों को विशेष गौरव प्राप्त है। इन यक्ष-यक्षियों की आराधना से तनिक आगे बढ़कर कई जैन भट्टारक या मठाधीश मन्त्र-तन्त्र विद्या में भी प्रवीण हो गये। गृहदेवता की कल्पना जैनधर्म की विरोधिनी है, तथापि दिगम्बर जैनों में भैरव और शान्तिदेवी आदि को कुलदेवता-देवी की तरह मान कर उनकी पूजा करने की रुढि भी है।

बारहवीं सदी के मध्य भाग तक कर्नाटक में जैनधर्म उन्नत स्थिति में था। उसके बाद वीरशैवों के विरोध से उसकी अवनति शुरू हुई। जैनधर्म ने राजाश्रय भी खो दिया। जैन मंदिर शिव एवं विष्णु मंदिर बन गये। जैन-धर्म का पुरायुग बीत गया।

जिनभक्ति-साहित्य

कर्नाटक के राजाओं ने जैसे जैनधर्म की उन्नति के लिए सहायता पहुँचाई वैसे कन्नड कवियों ने भी अपनी रचनाओं द्वारा जैन धर्म की बढ़ती में अपना हाथ बँटाया। यह कहने की जरूरत नहीं कि वे जैन थे और जो नहीं थे वे जैनधर्म के प्रभाव में आकर, जैनधर्म की दीक्षा लेकर जैन बन गये थे। जैनधर्म ने कर्नाटक की समन्वयकारिणी संस्कृति के विकास में अमूल्य देन दी और ऐसे जैनधर्म के अनुयायी कवियों ने कन्नड साहित्य को जो देन दी है वह उपमातीत है।

आठवीं सदी में या नौवीं सदी में एक प्रसिद्ध जैन मरमी (अनुभवी) सन हो गये हैं। उन्होंने 'परमात्म-प्रकाश' और 'योगसार' नामक ग्रंथ लिखे हैं और उनका संपादन सुप्रसिद्ध विद्वान् आदिनाथ नेमिनाथ उपाध्ये ने करके 'श्रीरामचन्द्र जैन शास्त्रमाला' में प्रकाशित किया है। उक्त जैन मरमी संत का नाम है जोइंदु। उनके 'परमात्म-प्रकाश' में "वे सभी विशेषताएँ मिलती हैं जो उस युग के बौद्ध, शैव, शाक्त आदि योगियों और तान्त्रिकों के ग्रंथ में मिलती हैं।" संत जोइंदु कहते हैं—



> मत्यु पढतु वि होइ जडु, जो ण हणेइ वियप्पु।
> देहि वसतु वि णिम्मलउ, णवि मण्णइ परमप्पु॥

"साधारण जनता मुक्ति तक की बात सोचती है। सो युग के सभी साधक नाना मार्गों से चल कर एक ही परम सत्य तक पहुँचते थे। वह परम सत्य यह है कि यह शरीर ही परमात्मा का आवास है, देवता कहीं बाहर नहीं है, विविध भाव से विषयीभूत तत्त्वों का सामरस्य ही वह स्वसंवेदन रस है जिसके अनुभव से बढ़कर आनन्द दूसरा नहीं



है। आत्मा इसी रस का अनुभव करके अपने परम प्राप्तव्य को पा जाता है। यह जो चेला-चेलियो का ठाट बाट है, पोथियो का ढूह है, इनके चक्कर मे पडा हुआ जीव निस्सदेह प्रसन्न होता है, परन्तु यह मोह है, परम पद का अन्तराय है। जो ज्ञानी है वह इनसे लज्जित होता है —

चेल्ला चेल्ली पुत्थियहिं,
नूसइ मूढु णिभतु ।
एयहि लज्जइ णाणियउ,
बधइ हेउ मुणन्तु ॥

क्या ८-९वीं सदी के इन जैनधर्मी सत जोइदु के विचारो और तत्वो से कर्नाटक के जैन साधु और कवि प्रभावित नही हुए होगे ? इन जैन सत के भाव के सम्बन्ध मे हमे प्रत्यक्ष प्रमाण नही मिलते। परन्तु कर्नाटक के शिला-लेखो, ताम्रपटो तथा कन्नड के जैन कवियो के साहित्य के अवलोकन से ऐसा लगता है कि वे जोइदु के ही क्या अन्य धर्मावलवी साधुओ और सतो के विचारो से भी प्रभावित हुए हैं। उनकी कृतियों में भक्ति-मार्ग की सभी बातो का पुट लक्षित होता है। अब हम देखें कि कन्नड के कतिपय प्रतिनिधि जैन कवियो की रचनाओ मे भक्ति भागीरथी कैसे बह चुकी है।

पप (९४१) के पूर्वज वत्स गोत्र के ब्राह्मण थे। पर पप के पिता जैन बने तो पप वैदिक मतावलवी चालुक्य नरेश अरिकेसरी का दरबारी कवि बना। राजा का क्षत्रिय तेज और पप कवि का ब्राह्मण रक्त मिल गये, फलस्वरूप वेदव्यास का 'महाभारत' पप का 'विक्रमार्जुनविजय' बन गया। अपने आश्रयदाता अरिकेसरी की कीर्ति के लिए 'विक्रमार्जुनविजय' लिखने के उपरात पप ने सहधर्मियो के कल्याणार्थ एव आत्मकल्याणार्थ 'आदि पुराण' लिखा।

'विक्रमार्जुन विजय' मे व्यास 'भट्टारक' के प्रति भक्ति तथा विनय प्रदर्शित करके पप ने 'आदिपुराण' मे अपने परम श्रद्धेय गुरु देवेन्द्र मुनि का भक्ति से नामस्मरण किया है।

पप की कृति 'विक्रमार्जुनविजय' की अपेक्षा सामान्य जनता का मन 'आदिपुराण' की ओर ही झुक जाता है, क्योकि उसमे तीर्थकर के चरित मे जन्मावली की कथाएँ और जैनधर्म की प्रक्रियाएँ भरी हैं। अलावा इसके इस 'आदिपुराण' मे पप की धर्म श्रद्धा, भक्ति-ज्ञान-वैराग्य की भावनाएँ अभिव्यक्त हुई हैं।

पप ने अपनी भक्ति के प्रदर्शन के लिए सर्वप्रथम तीर्थकर पुरुदेव को ही 'आदिपुराण' के लिए धर्मनायक के रूप मे चुन लिया और प्रथम चक्रवर्ती उसके पुत्र भरत को वीर-नायक के रूप मे। इस काव्य के प्रारम्भ मे कवि ने प्रार्थना की है—"जगत् के स्वामी, अगाधबोध निलय, दुर्वारससार-विच्छेदोपाय नियुक्त सूक्ति आदिब्रह्म हमे मुक्ति-श्री सुखावाप्ति देने की कृपा करे।" तदुपरान्त कवि ने इस पुराण की विशेषता बताई है और उसका सार स्वर्गीय कन्नड के सुप्रसिद्ध श्रद्धेय साहित्यकार बी० ए० श्रीकठय्या ने इस प्रकार सग्रह किया है

"प्रधानत अर्थ कामो की तृष्णा से किये गए शुभाशुभ कर्मो के फलस्वरूप तिर्यक्, मनुष्य, नारक, देव नामक चार गतियो के ससार मे तडपने वाला जीव जिनधर्म मे श्रद्धा रखकर, सम्यग्दर्शन, सम्यक्चारित्र, सम्यग्ज्ञान नामक रत्नत्रय से परिशुद्ध होकर, दानधर्म, वैराग्य और तपादि से उत्तम जन्म पाते हुए, भवावली के शिखर पर अहमिंद्र बन के लोक मे रहकर, परिशुद्धात्मा बनकर मनुष्य लोक मे आकर चरमदेही होकर वैराग्य से समस्त को त्याग कर, तप करके कर्मक्षय कर तीर्थंकर बनके जैनधर्म का उपदेश लोक को देकर निर्वाण पद पाता है। यही तीर्थकर के पुराण (आदिपुराण) का साराश है।"

कन्नड-कविकुलतिलक, आदिकवि पप की इन कृतियो मे भक्तिभावना से भरे कुछ प्रसग हैं। 'विक्रमार्जुन-

विजय में एक स्थान मे घटी-घटी शिव की स्तुति दिखाई पडती है। अर्जुन के जन्म के लिए उसके माता-पिता शिव की आराधना करते हैं। तीर्थयात्रा मे रहनेवाला अर्जुन भी "गोकर्णनाथ गौरीनाथ अवनि-पवन-गगनदहन-तरणि सलिल-तुहिनकर यजमान मूर्ति त्रैलोक्यमगीनवीति को देव हाथ जोडकर 'सर्व जिगता गुरु गरिमुतापति पातु न'" कहकर चद्रमौलि की प्रार्थना करता है। इद्रकील पर्वत पर आनेवाले शिव-पारम्य का क्या कहना! "यह शिव भक्ति केवल भारत कथा से ही नहीं आई हुई है, राजा के इष्ट देवता के निर्देश के लिए भी नहीं है, पप के घर का उपासना फल भी है।" इस तरह वैदिक मतावलबी की भांति भारत की कथा लिखते हुए भी पप अपने स्वीकृत जैनधर्म की सूचना देते हुए कहता है "जिनपदाभोज-वरप्रसादोत्पन्न है मेरी कविता।" इस रचना मे पप ने शैव एव जैन भक्ति भाव को समता की दृष्टि से, समन्वय की दृष्टि से वर्णन किया है। यह उसकी उदारता, सर्वधर्मसमन्वय की दृष्टि का द्योतक है।

कन्नड के साहित्यकारो की दृष्टि मे पप का 'आदिपुराण' तो 'वाक्य माणिक्य कोश' है। उनमे से कुछ भागों को चुनकर सुप्रसिद्ध कन्नड साहित्यकार जी० पी० राजरत्नम् ने 'श्री कवि पप' नामक पुस्तक मे सग्रहीत किया है। जिन-धर्म प्राणिगार्म' अर्थात् 'जिनधर्म प्राणियों को समर्थ आश्रय' नामक भाग मे ललिताग के अवसान काल में उससे सामनिक देव कहते हैं —

जिनचैत्य आलम वदिसु जिनपदपद्म गल दिव्यमप्प
चर्चनेयिदं नविनर्यिदर्चिसु जिनन नमस्कार मत्र गलोल् भा
वनेय तालदल्तियिदं जिनमहिमेगलं माटुनी भव्यनें म
त्तिन मिथ्याज्ञानिवोल् नी तरलतेवेरसिते के विभ्रातनप्पे

भावार्थ—जिनों के मदिर-समूह का वदन करो। जिनके पाद-पद्मो की दिव्य अर्चना से, भक्ति से अर्चना करो। जिन के नमस्कार मत्रो मे भावना पाकर प्रीति से जिन-महिमाओ मे भावना करो। तुम भव्य हो (जिन भक्त हो)। अन्य मिथ्या ज्ञानी की तरह तुम चचलता से ऐसा क्यों विभ्रान्त हो गये हो!

वज्रजघ को एक चारणमुनि उपदेश देते हैं—

ई ससाराम्बोधिय
नीसुव निननिदुवे नावे तडिगाप्वेयना
यासदोले निन्गे मुक्ति
प्रासाद मन टरलिवुवे सोपानगल्

भावार्थ—इस ससार सागर मे तैरने वाले तुम को यही (सम्यक्त्व ही) नौका है। इसके द्वारा तुम आसानी से किनारे तक जाओगे। मुक्ति रूपी प्रासाद पर चढने के लिए ये ही (सम्यक्दर्शन, ज्ञान और चारित्र) तुम्हारे सोपान हैं।

श्री० जी० पी० राजरत्नम् की दृष्टि मे पप कवि का 'श्री जिनराज स्तव' प्राचीन कन्नड के स्तोत्र साहित्य मे मुक्तामणि है। इसमें आदि तीर्थंकर से की गई प्रार्थना के पद हैं जो प्रथम चक्रवर्ती भरतेश्वर द्वारा गाये गये थे। उनका नमूना देखिये।

त्रिदशेन्द्र मौलि मणिशो
णदीप्तिगल् पुदिदु पोलेवलक्तक रसदि





पुविदतोप्पिपर्हत्
पवगलेमगेगे तडेयवर्हत्पवभ ।

अमरेंद्रोन्नति खेचरेन्द्र विभव भोगीन्द्र भोग मर्हे
द्र महैश्वर्यमिवेल्लम ध्रुवमिव वेल्पतु वेलल्लेल्लेनु
त्तमदीक्षा विधियु समाधिमरण कर्मक्षय बोधिला
भममोघ दोरेकोल्वुवमकेमगे मुपित श्रीमनोवल्लभा ।

भावार्थ—स्वर्ग के इन्द्र के मुकुट मणियो की लाल दीप्ति से मानो भरे, चमकने वाले अलक्तक रस से मानो भरे अर्हत के चरण हमे शीघ्र अर्हत पद दें ।

भुवनेश्वर ! तुम्हारे रूप का स्तोत्र, पदार्थ का स्तोत्र, गुणो का स्तोत्र अमरेन्द्र वासुकि (भोगीन्द्र) आदि बडे-बडे लोग ही नही कर पाते हैं तो क्या मैं कर पाता हू ।

अर्हत ! समस्त वस्तुए मापी जा सकती हैं, तौली जा सकती हैं, गिनी जा सकती हैं । लेकिन तुम्हारे गुण-समूह इस लोक के जनो से न मापे जा सकते हैं, न तौले जा सकते हैं, न गिने जा सकते हैं ।

अर्हत जहाँ रहता है वह स्थान मेरु का जितना ऊँचा है, वह जहाँ रहता है वह स्थान सागर के समान गम्भीर है, वह जहाँ रहता है वह स्थान आकाश के जितना विस्तृत है । सकल जगन्नुत, तुम्हारे गुणो की उन्नति भुवनो के अन्तर मे भी व्याप्त है ।

अनाकुल स्थान की खोज करके, आकुल होकर ही घूमा-फिरा । तीनो लोको मे ऐसा स्थान न पा सका । तुम जिस स्थान में रहते हो वही सर्वोच्च शाश्वत स्थान है । उसी को मुझे देने का अनुग्रह करो अर्हत !

भवमथन ! भवरूपी शृखलाए तोड दो । भवसागर के पार पहुँचाओ । भव की महत्तर पीडा का नाश करो । शीघ्र से शीघ्र भवांतक भवन (ससार का नाश करने वाले जिनका घर—मुक्ति स्थान) पर मुझे ले जाओ ।

मरण और जनम की बेडी जो लगी है उसके छूटने तक हे जिन, तुम्हारा स्मरण करना अणोरण्वतर व्यति-क्रमण मात्र भी क्या भूल जाऊँगा ?

सकल भक्तो के तिलक (जिन) को भक्तो को वश मे कर लेना आवश्यक है ? जड जनता भीतरी रहस्य नही जानती । हे जगत्तिलक जिन, तुम्हारे पादरूपी चन्दन का तिलक तो जरूर तीनो लोको को वश मे कर लेने वाला होगा ।

अमरेन्द्र की उन्नति, खेचरेन्द्र का विभव, भोगीद्र का भोग, महेंद्र का ऐश्वर्य ये सभी अध्रुव हैं । इनको मागने वाला मूर्ख मैं नही हू । हे मुक्तिरूपी श्री के मनोवल्लभ अर्हत, उत्तम दीक्षाविधि, समाधिमरण, कर्मक्षय, बोधिलाभ जरूर हमे प्राप्त हो ।

महाकवि पप के ये भक्ति भरे पद भारत के किसी पहुँचे भक्त कवि के पदो से किसी हालत मे कम दर्ज के नही हैं ।

पोन्न—(९४५ से ९५०) नामक राजा के दरबार में था और वह संस्कृत तथा कन्नड में कविता रचता था, अत उसे 'उभय कवि चक्रवर्ती' उपाधि मिली थी। वह जैनशास्त्र का महापंडित था और यति की भाँति जीवन बिताता था। उसने 'जिनाक्षर माला' नामक पुस्तक में ३९ पद्यों में जिन की स्तुति की है। इस छोटी-सी रचना में कवि की उत्कट जिनभक्ति प्रस्फुटित हुई है। उसी से रचित 'शान्तिपुराण' में तीर्थंकर शान्तिनाथ का चरित है और उसमें भी भक्ति के स्थल पाये जाते हैं।

चाउंडराय—(९७८) संस्कृत, प्राकृत और कन्नड का प्रसिद्ध पंडित था। गंगराज राजमल्ल का मंत्री और नेमिचन्द्र सिद्धान्ति का शिष्य था। वह कई लड़ाइयों में जीतकर प्रसिद्ध भी हो गया था। उसी ने श्रवणबेलगोल के गोम्मटेश्वर के विग्रह की स्थापना करवा कर एक जैन मंदिर बनवाया। उसने 'त्रिषष्टि लक्षण महापुराण' भी लिखा जो 'चाउंडराय पुराण' के नाम से प्रसिद्ध है। उसके प्रारम्भ में तीर्थंकर की स्तुति की गई है, कहने की जरूरत नहीं कि वह भक्तिरस पगा है।

रन्न (९९३) भी कन्नड का एक श्रेष्ठ कवि है। वह मुधोल में पैदा हुआ, दक्षिण जाकर श्रवणबेलगोल में ज्ञानार्जन करके चाउंडराय के आश्रय में आश्रय पाने लगा। उसने गोम्मटेश्वर की पूजा की और 'अजितपुराण' तथा 'साहस भीम विजय' अर्थात् 'गदायुद्ध' नामक ग्रन्थों की रचना की। उसने अपने 'अजितपुराण' में अजित तीर्थंकर का चरित लिखा और उसमें "भक्ति, ज्ञान, वैराग्य का पावन चित्रण करके अपनी अद्भुत काव्यरचना प्रतिभा दिखाई है।"

नागचन्द्र (अभिनव पंप—११००) अपने युग का आचार्य था। श्रेष्ठ कवि था। उसकी दो प्रधान रचनाएँ हैं—(१) मल्लिनाथ पुराण, (२) रामचन्द्रचरित पुराण। इन दोनों में अधिक तेजस् और पौरुष की अपेक्षा भक्ति वैराग्य का चित्रण ही अधिक है। "पंपा पुर के चैत्यालय में 'जिनस्तुति' में अभिनव पंप ने जो जिनस्तुति की है उसमें उसका चमत्कार ही है।" ऐसा डॉ० ए० श्रीकंठय्या ने अभिनव पंप की प्रशंसा की है।

दो-तीन भक्ति पदों का नमूना देखिए—

जय जिनपुजिन जिनेश्वर
दयानदी-इनिन राजहंस भयाभो
दिप तटियनेय्दिमेन्न
नयनिरिसं प्रयाणशान्दिनर्हा।
• •

निनने रमर्मोदे आतमे
जिनेन्द्र मनमा रसोंवुपियोनगक्षगा
हृनमिर्दु मिवरु रसम
फनसिनोल नेनेयदनु माडेनगर्हा।
•• •• ••
•• •••

निन्य सुगमातम रूप
नित्य सुरा मोहरूपमेव विवेक
सत्य स्वरूप सदरोल
गप्रतानुनव विनयमवरेनगर्हा।।





भावार्थ—हे अर्हंत, तुम दुखो को जीतने वाले जिनेश्वर हो, तुम्हारी जय हो । दयानदी-पुलिन-राजहस, मुझे शीघ्र से शीघ्र इस भवसागर के किनारे लगाओ ।

हे अर्हंत, एक शान्तरस ही तुमको अभीष्ट है । मेरा मन शातरस रूपी अ बुधि मे ही अवगाहन करे । उस रस को छोड कर दूसरे रस का स्मरण स्वप्न मे भी मुझे न हो, ऐसी कृपा करो ।

हे अर्हंत, नित्य सुख आत्मरूप है । अनित्य सुख मोहरूप है, यह विवेक ठीक है, पर, तुम्हारी कृपा हो कि उसमे भी सत्यस्वरूप के अनुभव का विभव ही मुझे प्राप्य हो ।

अलावा इसके 'रामचन्द्रचरित्र पुराण' राम की जिनस्तुति और जनक की जिनस्तुति मे भक्तिरस का सुन्दर चित्रण मिलता है ।

एक कति अर्थात् जैन सन्यासिनी अभिनव पप के समय मे थी । उसके और अभिनव पप के बीच मे जो सवाद हुआ है उसमे समस्यापूर्ति की बातें हैं । अभिनव पप कति को एक समस्या देकर उसकी पूर्ति करने के लिए कहता है । कति पद्य मे समस्यापूर्ति करती है । उसके समस्यापूर्ति के पद्यो मे भक्ति की पावन रसधारा है । कति कवि को सुनाती है—

घनमतियिननुवय दोल
विनयदि फलपुष्पवेरसि भकुतिय भर्रदि ।
मनशुद्धिवडेवु परम जि—
ननिगे नमस्कार माङ्के कैवल्य सुख ।।

भावार्थ—तडके उठकर विनय से फल-पुष्प सहित, भक्ति से, शुद्ध मन से जिन को नमस्कार करने से कैवल्य सुख मिलता है ।

कति के ऐसे पद काफी मिलते हैं जिनमे भक्तिरस के पावन झरने का मजुल नाद सुनाई पडता है ।

अग्गल (११८९) के 'चन्द्रप्रभपुराण' और 'वर्धमानपुराण' मे पार्श्व पडित (१२०५) के 'पार्श्वनाथपुराण' में, जन्न (१२०९) के 'अनतनाथपुराण' में जिन भक्ति के सुन्दर पद मिलते हैं ।

जिनभक्ति परपरा का स्रोत शैवमत के प्रभाव से कुछ क्षीण होने पर भी सूखा नही । पन्द्रहवी सदी के प्रारम्भ में भास्कर नामक कवि ने मूल सस्कृत 'जीवधर चरित' के आधार पर कन्नड मे 'जीवधरचरित' लिखा है । उसने अपने 'जीवधरचरित' मे कुछ परिवर्तन किये हैं और उभर कर दिखाई पडने वाले परिवर्तन मे ऐसे जिनस्तुतिपरक पद्य मिलते हैं कि उनमे उपनिषदो और भक्तिमार्ग के विचार और विशेषण पाये जाते हैं । उदाहरणार्थ—'भक्तवत्सल लयविहीन महेश मायातीत', 'सर्वगत सर्वज्ञ सदभक्त सर्वमय ' सर्वलोकेश्वर सर्वभूतात्मक', एव 'दोष रहितनु नीने, करुणावास नीने, महेश नीनें, सुरेशनुत नीनेंदु सस्तुतिसिदनु जिनपतिय' अर्थात् 'तुम ही दोषरहित हो, तुम ही करुणावास हो, तुम ही महेश हो, तुम ही सुरेश से स्तुतित हो, कहकर जिनपति की अच्छी तरह से स्तुति की ।' इन पक्तियो का उद्धरण करके डा० मुगली जी कहते हैं कि भास्कर कवि पर भागवत तत्वज्ञान और उपासना का प्रभाव पडा होगा ।

चन्द्रम (१६४६) कवि के कार्कल के 'गोम्मटेश्वर चरित्र' मे गोम्मटेश्वर के सुन्दर स्तुतिपद्य मिलते हैं जिनमे भक्ति का उज्ज्वल पुट है । एक दो नमूने लीजिये

आवि जिनेशन सुकुमारनण्णनो, ल् कादि गेलिद बलु धीर ।
मेदिनो जनके मवार नम्मनु कायो, आदरदिं गुम्मटेश ।।

\+ \+ \+

यल देवरिगे नोनरगलनेंबुव, सो-लुतिदे दिव्य देह।
वतिलद गुम्मट स्वामि निन्नय पाव, पल्लवकानेरगुवेनु॥

भावार्थ आदि जिनेश के सुकुमार बड़े भाई के समान युद्ध करके विजयी बने बड़े धीर तुम इस भूमण्डल के लोगों के लिए मदार स्वरूप गोमटेश्वर, हमारी रक्षा करो।

... ..

तुम्हारा दिव्य शरीर कह रहा है कि सर्व देवों में तुम बड़े हो। हे ज्ञानी गुम्मट स्वामी, तुम्हारे पाद पल्लवों को मैं नमस्कार करता हूँ।

कन्नड के जैन कवियों के साहित्य में जिनभक्ति परम्परा बिलकुल लुप्त ही नहीं गई, वह जैनों में आज तक चली आ रही है, उसका प्रत्यक्ष अनुभव तब होगा जब कोई श्रवणबेलगोल और कार्कल जाकर गोमटेश्वर की पूजा करने वाले जनस्तोम को देखेगा।

कन्नड के जैन काव्यों में ही नहीं किन्तु जैन शिलालेखों में भी जिन स्तुति के श्लोक पाये जाते हैं। जो हो, कुछ ऐसे भी विद्वान हैं जो यह समझते हैं कि जैनमत में भक्ति के लिए गुंजाइश ही नहीं है, अगर वे कन्नड के जैन कवियों के साहित्य का और शिलालेखों का सूक्ष्म अवलोकन करेंगे तो उनको उनमें जिनभक्ति की तरल पावन गंगा बहती नजर आयेगी।

प्रधान संदर्भ ग्रन्थ

१ कन्नड साहित्य सांस्कृतिक अध्ययन — लेखक डा० एम० चिदानदमूर्ति।
२ कन्नड कैपिडि (संपुट-२) — लेखक बी० एम० श्रीकण्ठय्या।
३ कन्नड साहित्य चरित्रे — लेखक डा० आर० एम० मुगली
४ श्री पवि पद — लेखक प्रो० जी० पी० राजरत्नम्
५ कर्नाटकद कवयित्रियर — लेखिका डा० सरोजिनी महिषि
६ कन्नड जैन पुराण — लेखक डा० सदानन्द नायक





मध्यकालीन जैन हिन्दी काव्य में शान्त भक्ति

डा० प्रेमसागर जैन,
एम० ए०, पी-एच० डी०



पहले के आचार्यों ने 'शान्ति' को साहित्य में अनिर्वचनीय आनन्द का विधायक नहीं माना था, किन्तु पण्डितराज के अकाट्य तर्कों ने उसे भी रस के पद पर प्रतिष्ठित किया। तब से अभी तक उसकी गणना रसों में होती चली आ रही है। उसे मिलाकर नौ रस माने जाते हैं। जैनाचार्यों ने भी इन्हीं नौ रसों को स्वीकार किया है किन्तु उन्होंने 'शृङ्गार' के स्थान पर 'शान्त' को रसराज माना है। उनका कथन है कि अनिर्वचनीय आनन्द की सच्ची अनुभूति, राग-द्वेष नामक मनोविकार का उपशम हो जाने पर ही होती है। राग-द्वेष से सम्बन्धित अन्य आठ रसों के स्थायी भावों से उत्पन्न हुए आनन्द में वह गहरापन नहीं होता, जो 'शान्त' में पाया जाता है। स्थायी आनन्द की दृष्टि से तो शान्त ही एकमात्र रस है। कवि बनारसीदास ने 'नवमों शान्त रसनि को नायक'[1] माना है। उन्होंने तो आठ रसों का अन्तर्भाव भी 'शान्तरस' में ही किया है। डॉ० भगवानदास ने भी अपने 'रसमीमांसा' नाम के निबन्ध में अनेकानेक संस्कृत उदाहरणों के साथ, 'शान्त' को रसराज सिद्ध किया है।

जहां तक भक्ति का सम्बन्ध है, जैन और अजैन सभी ने 'शान्त' को ही प्रधानता दी है। यदि शाण्डिल्य के मतानुसार 'परानुरक्तिरीश्वरे' ही भक्ति है, तो यह भी ठीक है कि ईश्वर में 'परानुरक्ति' तभी हो सकती है, जब 'अपर' की अनुरक्ति समाप्त हो। अर्थात् जीव की मन प्रवृत्ति संसार के अन्य पदार्थों से अनुराग-हीन होकर, ईश्वर में अनुराग करने लगे, तभी वह भक्ति है, अन्यथा नहीं। और संसार को असार, अनित्य तथा दुःखमय मानकर मन का आत्मा अथवा परमात्मा में केन्द्रित हो जाना ही शान्ति है। इस भांति ईश्वर में 'परानुभक्ति' का अर्थ भी शान्ति ही हुआ। स्वामी सनातनदेव जी ने अपने 'भावभक्ति की भूमिकायें' नामक निबन्ध में लिखा है, "भगवदनुराग बढ़ने से अन्य वस्तुओं और व्यक्तियों के प्रति मन में वैराग्य हो जाना भी स्वाभाविक ही है। 'भक्ति-शास्त्र' में भगवत्प्रेम की इस प्रारम्भिक

---

१ "प्रथम सिंगार वीर दूजो रस, तीजो रस करुना सुखदायक।
हास्य चतुर्थ रुद्र रस पंचम, छट्ठम रस बीभच्छ विभायक॥
सप्तम भय अट्ठम रस अद्भुत, नवमो सान्त रसनिको नायक।
ए नव रस एई नव नाटक, जो जहँ मगन सोई तिहि लायक॥"

—बनारसीदास। नाटकसमयसार, पं० बुद्धिलाल श्रावक की टीका सहित, जैन ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, बम्बई, १०।१३३, पृ ३६१।

अवस्था का नाम ही 'शान्तभाव' है।"[1] नारद ने भी अपने 'भक्तिसूत्र' में 'सात्वस्मिन् परमप्रेमरूपा अमृतस्वरूपा च' को भक्ति माना है।[2] इसमें आया हुआ 'परम प्रेम' पद से यही ध्वनि निकलती है कि संसार से वैराग्योन्मुख होकर एकमात्र ईश्वर से प्रेम किया जाय। शान्ति में भी वैराग्य की प्रधानता है। 'भक्तिरसामृतसिन्धु' की उक्ति 'अन्याभिलाषिताशून्य कृष्णानुशीलन उत्तमा भक्ति'[3] उपर्युक्त कथन का ही समर्थन करती है। यह कहना उपयुक्त नहीं है कि अनुरक्ति में सदैव राग होता है, चाहे वह ईश्वर के प्रति हो अथवा संसार के, क्योंकि दोनों में महदन्तर है। सांसारिक अनुरक्ति दुःख की प्रतीक है और ईश्वरानुरक्ति दिव्य सुख को जन्म देती है। पहली में जलन है तो दूसरी में शीतलता, पहली में अपावनता है, तो दूसरी में पवित्रता और पहली में घुल-घुल मरने की बात है, तो दूसरी में मुक्त हो जाने की भूमिका।

जैनाचार्य शान्ति के परम समर्थक थे। उन्होंने सच मन से, रागद्वेषों से विमुक्त होकर वीतरागी पथ पर चलने को ही शान्ति कहा है। इसे प्राप्त करने के दो उपाय हैं—तत्त्व-चिन्तन और वीतरागी की भक्ति। वीतराग में किया गया अनुराग सांसारिक राग की कोटि में नहीं आता। जैनों ने शान्तभाव की चार अवस्थायें स्वीकार की हैं—प्रथम अवस्था वह है, जब मन की प्रवृत्ति, दुःखात्मक संसार से हटकर आत्म-शोधन की ओर मुड़ती है। यह व्यापक और महत्त्वपूर्ण दशा है। दूसरी अवस्था में इस प्रवाह का परिष्कार किया जाता है, जिससे बाह्य संसार के सुख-दुःख सताते हैं। तीसरी अवस्था वह जबकि चित्त-वासनाओं का पूर्ण अभाव होने पर निर्मल आत्मा की अनुभूति होती है। चौथी अवस्था केवल ज्ञान के उत्पन्न होने पर पूर्ण आत्मानुभूति को कहते हैं। ये चारों अवस्थायें आचार्य विश्वनाथ के द्वारा कथित युक्त, वियुक्त और युक्तवियुक्त दशाओं के समान मानी जा सकती हैं।[4] इनमें स्थित 'शम' भाव ही रसता को प्राप्त होता है।

जैनाचार्यों ने 'मुक्तिदशा' में 'रसता' को स्वीकार नहीं किया है, यद्यपि वहां विराजित पूर्ण शान्ति को माना है। अर्थात् साधक या अर्हन्त जब तक इस दशा में है, तभी तक उसकी 'शान्ति' शान्तरस कहलाती है, सिद्ध या मुक्त होने पर नहीं। 'अभिधान राजेन्द्रकोष' में रस की परिभाषा दी है, "रस्यतेऽन्तरात्मनाऽनुभूयते इति रसः" अर्थात् अन्तरात्मा की अनुभूति को रस कहते हैं।[5] सिद्धावस्था में अन्तरात्मा अनुभूति से ऊपर उठकर आनन्द का पुञ्ज ही हो जाती है, अतः अनुभूति की आवश्यकता ही नहीं रहती। जैनाचार्य वाग्भट्ट ने अपने 'वाग्भट्टालङ्कार' में रस का निरूपण करते हुए लिखा है—

विभावैरनुभावैश्च, सात्त्विकैर्व्यभिचारिभिः।
आरोप्यमाण उत्कर्षं स्थायीभावः स्मृतो रसः॥

अर्थात् विभाव, अनुभाव, सात्त्विक और व्यभिचारियों के द्वारा उत्कर्ष को प्राप्त हुआ स्थायी भाव ही 'रस' कहलाता है। सिद्धावस्था में विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी आदि भावों के अभाव में 'रस' नहीं बन पाता।



---

१ स्वामी सनातनदेव जी, भावभक्ति की भूमिकाएँ, कल्याण, भक्ति विशेषांक, वर्ष ३२, अङ्क १, पृष्ठ ३६६।

२ देखिए 'नारदप्रोक्त भक्तिसूत्रम्' [illegible] एण्ड सन्स, वाराणसी, पहला सूत्र।

३ भक्तिरसामृतसिन्धु, गोस्वामी दामोदर शास्त्री सम्पादित, अच्युत ग्रन्थमाला कार्यालय, काशी। वि० सं० १९८८, प्रथम संस्करण।

४ युक्तवियुक्तदशायामवस्थितो यः शमः स एव यतः।
रसतामेति तदस्मिन्सञ्चार्यादेः स्थितिश्च न विरुद्धा॥
—आचार्य विश्वनाथ, साहित्यदर्पण, शालिग्राम शास्त्री की हिन्दी व्याख्या सहित लखनऊ, द्वितीयावृत्ति, वि० सं० १९९१, ३।२५०, पृ १६८।

५. अभिधान राजेन्द्र कोश, 'रस' शब्द।



जैनाचार्यों ने भी अन्य साहित्य-शास्त्रियो की भाँति ही 'शम' को शान्तरस का स्थायीभाव माना है। भगवज्जिनसेन ने 'अलकारचिन्तामणि' मे 'शम' को विशद करते हुए लिखा है—"विरागत्वादिना निर्विकारमनस्त्व शम" अर्थात् विरक्ति आदि के द्वारा मन का निर्विकार होना शम है।[1] यद्यपि आचार्य मम्मट ने 'निर्वेद' को 'शान्तरस' का स्थायीभाव माना है, किन्तु उन्होने 'तत्त्वज्ञानजन्यनिर्वेदस्यैव शमरूपत्वात्' लिखकर 'निर्वेद' को शम रूप ही स्वीकार किया है।[2] आचार्य विश्वनाथ ने 'शम' और 'निर्वेद' मे भिन्नता मानी है और उन्होने पहले की स्थायीभाव मे तथा दूसरे की सचारीभाव मे गणना की है।[3] जैनाचार्यो ने वैराग्योत्पत्ति के दो कारण माने हैं—तत्त्वज्ञान, इष्टवियोग-अनिष्ट सयोग। इसमे पहले से उत्पन्न हुआ वैराग्य स्थायीभाव है और दूसरा सचारी। इस भाँति उनका अभिमत भी आचार्य मम्मट से ही मिलता-जुलता है। इसके साथ-साथ उन्होने मम्मट तथा विश्वनाथ की भाँति ही अनित्य जगत को आलम्बन, जैनमन्दिर, जैन तीर्थक्षेत्र, जैनमूर्ति और जैनसाधु को उद्दीपन, धृत्यादिको को सचारी तथा काम, क्रोध, लोभ, मोह के अभाव अर्थात् 'सर्वसमत्व' को अनुभाव माना है।

शान्ति का अर्थ है निराकुलता। आकुलता राग से उत्पन्न होती है। रत होना राग है। इसी को आसक्ति कहते हैं। आसक्ति ही अशान्ति का मूल कारण है। सासारिक द्रव्यो का अर्जन और उपभोग बुरा नही है, किन्तु उसमे आसक्त होना ही दुखदायी है। आचार्य कुन्दकुन्द ने कहा है कि जैसे अरतिभाव से पी गई मदिरा नशा उत्पन्न नही करती, वैसे ही अनासक्त भाव से द्रव्यो का उपभोग कर्मों का वन्ध नही करता।[4] कर्मों का वन्ध अशान्ति ही है। आचार्य पूज्यपाद का कथन है कि यह वन्ध जिनेन्द्र के चरणो की स्तुति से स्वत उपशान्त हो जाता है, जैसे कि मन्त्रो के उच्चारण से सर्प का दुर्जय विष शान्त हो जाता है।[5] जैसे ग्रीष्म के प्रखर सूर्य से सतप्त हुए जीव को जल और छाया से शान्ति मिलती है, वैसे ही ससार के दुखो से बेचैन प्राणी भगवान के चरण-कमलो मे शान्ति पाता है।[6] मुनि शोभन शाश्वत

---

१ भगवज्जिनसेनाचार्य, अलकारचिन्तामणि, तीसरा अध्याय।

२ आचार्य मम्मट, काव्यप्रकाश, चतुर्थ उल्लास, पृ १६४।

३. आचार्य विश्वनाथ, साहित्यदर्पण, लखनऊ, ३।२४५-२४६, पृ० १६६।

४. जह मज्ज पिवमाणो अरदिभावेण मज्जदि ण पुरिसो।
दव्वुवभोगे अरदो णाणी वि ण वज्झदि तहेव॥
—आचार्य कुन्दकुन्द, समयसार, श्री पाटणी दि० जैन ग्रन्थमाला, मारोठ, मारवाड, १९५३ ई०, १९६वीं गाथा, पृ २९६।

५ क्रुद्धाशीविषदष्टदुर्जयविषज्वालावली विक्रमो,
विद्याभेषजमन्त्रतोयहवनैर्याति प्रशान्ति यथा।
तद्वत्ते चरणाम्बुजयुगस्तोत्रोन्मुखाना नृणाम्,
विघ्ना कायविनाशकाश्च सहसा शाम्यन्त्यहो विस्मय॥
—आचार्य पूज्यपाद, सस्कृत शान्तिभक्ति, 'दशभक्ति', शोलापुर, १९२१ ई०, दूसरा श्लोक, पृ ३३५।

६ न स्नेहाच्छरण प्रयान्ति भगवन्पादद्वय ते प्रजा,
हेतुस्तत्र विचित्रदुखनिचय ससारघोरार्णव।
अत्यन्त स्फुरदुग्ररश्मिनिकरव्याकीर्णभूमण्डलो,
ग्रैष्म कारयतीन्दुपादसलिलच्छायानुराग रवि॥
—आचार्य पूज्यपाद, सस्कृत शान्तिभक्ति, दशभक्त्यादिसग्रह, सलाल, साबरकाठा, गुजरात, पहला श्लोक, पृ १७४।

शान्ति चाहते हैं। उनका विश्वास है कि भगवान की वाणी का श्रवण करने मात्र से वह उपलब्ध हो सकती है।[1] आचार्य सोमदेव शिव-सुख देने वाली शान्ति चाहते हैं। वही भवदुःखरूपी अग्नि पर घनामृत की वर्षा कर सकती है। वह शान्ति भगवान शान्तिनाथ प्रदान करते हैं।

"भवदु खानलशान्तिर्धर्मामृतवर्षजनितजनशान्ति ।
शिवशर्मास्रवशान्ति शान्तिकर स्ताज्जिन शान्ति ॥"[2]

जैन ग्रन्थों के अन्तिम मङ्गलाचरण प्राय शान्ति की याचना से ही समाप्त होते हैं। शान्ति भी केवल अपने लिए नहीं, सघ, आचार्य, साधु, धार्मिकजन और राष्ट्र के लिए भी। आचार्य पूज्यपाद का—

सपूजकाना प्रतिपालकाना यतीन्द्रसामान्यतपोधनानाम् ।
देशस्य राष्ट्रस्य पुरस्य राज्ञ करोतु शान्ति भगवान् जिनेन्द्र ॥[3]

इसी का द्योतक है। पं० श्री मेधावी ने 'धर्मसग्रहश्रावकाचार' का मङ्गलाचरण भी ऐसा ही है। उन्होंने भी राजा-प्रजा और मुनि, सभी के लिए शान्ति चाही है।[4]

शान्ति दो प्रकार की होती है—आत्मिक और भौतिक। पहली का सम्बन्ध मोक्ष से है और दूसरी का भौतिक ससार से। भक्तजन दोनों के लिए याचना करते रहे हैं। जिनेन्द्र की अनुकम्पा से उन्हे दोनों की प्राप्ति भी हुई है। इस दिशा मे जैन मन्त्रों का महत्त्वपूर्ण योग रहा। जैनों का प्राचीन मन्त्र णमोकार मन्त्र है। उसमे पञ्च परमेष्ठी को नमस्कार किया गया है। पूरा मन्त्र है—"णमो अरिहन्ताण, णमो सिद्धाण, णमो आइरियाण, णमो उवज्झायाण, णमो लोए सव्व-साहूण।" इसका अर्थ है—अर्हन्तों को नमस्कार हो, सिद्धों को नमस्कार हो, आचार्यों को नमस्कार हो, उपाध्यायों को नमस्कार हो और लोक के सर्वसाधुओं को नमस्कार हो। जैन आचार्यों ने इस मन्त्र मे अपूर्वशक्ति स्वीकार की है। आचार्य कुन्दकुन्द का विश्वास है—

"अरहा, सिद्धायरिया उवझाया साहु पचपरमेट्ठी ।
एदे पच णमोयारा भवे-भवे मम सुह दितु ॥"[5]

---

१ शान्ति वस्तनुतान्मियोऽनुगमनाद्यन्नैगमाद्यै र्नयै ,
रक्षोभ जन हेतुना छिन्नमदोदीर्णाङ्गजाल धृतम् ।
तत्पूज्यैर्जगता जिनै प्रवचन द्रप्यन्कुवाद्यावली ,
रक्षोभ जनहेतुनाछितमदो दीर्णाग जालधृतम् ॥
—मुनि शोभन, चतुर्विंशतिजिनस्तुति , काव्यमाला, सप्तम गुच्छक, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, तीसरा श्लोक, पृ १३३।

२. K. K Handiqui, Yasastila's and Indian Culture, Sholapur, 1949, P 311.

३ दशभक्त्यादिसग्रह, १४वा श्लोक, पृ १८१ ।

४ शान्ति स्याज्जिनशासनस्य सुखदा शान्तिर्नृपाणा सदा,
सुप्रजाशान्तियोभरभृता शान्तिर्मुनीना सदा ।
श्रोतॄणां कविताहृता प्रवचनव्याख्यातॄकाणा पुन ,
शान्ति शान्तिरयाग्निजीवनमुच श्री मज्जनस्यापि च ॥
—पण्डित श्री मेधावी, धर्मसग्रहश्रावकाचार, अन्तिम प्रशस्ति, प्रशस्ति स ग्रह, जयपुर, १९५० ई०, ३५वा श्लोक, पृष्ठ २५ ।

५ पचगुरुभक्ति, दशभक्ति , शोलापुर, १९२१ ई०, ७वीं गाथा, पृ ३५८ ।





अर्थात् अर्हन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु के लिए किए गए नमस्कार मुझे भव-भव में सुख देवें। आचार्य पूज्यपाद का कथन है कि यह 'पंचनमस्कार' मन्त्र सब पापों को नष्ट करने वाला है और जीवों का कल्याण करने में सबसे ऊपर है।[1] मुनि वादिराज ने 'एकीभाव स्तोत्र' में लिखा है, "जब पापाचारी कुत्ता भी णमोकार मन्त्र को सुनकर देव हो गया, तब यह निश्चित है कि उस मन्त्र का जाप करने से यह जीव इन्द्र की लक्ष्मी को पा सकता है।"[2] श्री जिनप्रभसूरि ने 'विविधतीर्थकल्प' के 'पंचपरमेष्ठिनमस्कार कल्प' में स्वीकार किया है, "इस मन्त्र की आराधना करने वाले योगीजन, त्रिलोक के उत्तम पद को प्राप्त कर लेते हैं। यही नहीं, किन्तु सहस्रों पापों का सम्पादन करने वाले और सैकड़ों जन्तुओं की हत्या करने वाले तिर्यञ्च भी इस मन्त्र की भक्ति से स्वर्ग में पहुंच जाते हैं।"[3] जैनाचार्यों ने 'णमोकार मन्त्र' को शक्ति का देवता कहा है। उसमें आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक तीनों ही प्रकार की शक्तियां सन्निहित हैं। वह मोह के दुर्गमन को रोकने में पूर्ण रूप से समर्थ है।[4] जैन परम्परा में यह मन्त्र अनादि निधन माना जाता है। वैसे भगवान ने अपने गणधरों को इसकी शिक्षा प्रदान की थी।[5] विद्यानुवाद नाम के पूर्व का प्रारम्भ णमोकार मन्त्र से ही हुआ था। विद्यानुवाद मन्त्र-विद्या का अपूर्व ग्रन्थ था।[6] श्री मोहनलाल भगवानदास झवेरी ने जैनमन्त्र शास्त्र का प्रारम्भ ईसा से ८५० वर्ष पूर्व, अर्थात् तीर्थंकर पार्श्वनाथ के समय से स्वीकार किया है।[7] हो सकता है कि पार्श्वनाथ के समय में भी '१४ पूर्व', 'पहले से आई हुई विद्या' के रूप में प्रतिष्ठित रहे हों। उपलब्ध पुरातात्त्विक सामग्री के आधार पर 'णमोकार मन्त्र' का प्राचीनतम उल्लेख हाथी गुफा के शिलालेख में प्राप्त होता है, जिसके निर्माता सम्राट् खारवेल ईसा से १७० वर्ष पूर्व हुए हैं।[8]

---

१ एष पंचनमस्कारः सर्वपापप्रणाशनः।
मंगलानां च सर्वेषां प्रथमं मंगलं भवेत् ॥
—देखिए वही, सातवां श्लोक, पृ० ३५३

२ प्रापद्दैवं तव नुतिपदैर्जीवकेनोपदिष्टैः पापाचारी मरणसमये सारमेयोऽपि सौख्यम्।
कः संदेहो यदुपलभते वासवश्री प्रभुत्वं जल्पञ्जाप्यैर्मणिभिरमलैस्त्वन्नमस्कार चक्रम् ॥
—एकीभावस्तोत्र, काव्यमाला, सप्तम गुच्छक, निर्णयसागर प्रेस बम्बई, १७वां श्लोक, पृ० १६।

३ एतमेव महामन्त्रं समाराध्येह योगिनः
त्रिलोक्याऽपि महीयन्तेऽधिगताः परमं पदम्।
कृत्वा पापसहस्राणि हत्वा जन्तुशतानि च
अमुं मन्त्रं समाराध्य तिर्यञ्चोऽपि दिवं गताः ॥
—जिनप्रभसूरि, पंचपरमेष्ठि नमस्कार कल्प, विविधतीर्थकल्प, मुनि जिनविजय सम्पादित, शान्ति-निकेतन, १९३४ ई०, प्रथम भाग, ५-६ श्लोक, पृ० १०८।

४ स्तम्भं दुर्गमनं प्रति प्रयततो मोहस्य सम्मोहनं।
पायात्पञ्चनमस्क्रियाक्षरमयी साराधना देवता ॥
—धर्मध्यानदीपक, कलकत्ता, ३ श्लोक, पृ० २।

५ The original doctrine was contained in the fourteen Purvas—old texts, which Mahavira himself has taught to his Ganadharas "
'Life in ancient India as depicted in Jain Conons', Dr J. C Jain, New Book Company Ltd, Bombay, 1947, P 32

६. कहा जाता है मुनि सुकुमारसेन (७वीं शताब्दी ईस्वी) के विद्यानुशासन मे विद्यानुवाद की बिखरी सामग्री का संकलन हुआ है। विद्यानुशासन की हस्तलिखित प्रति जयपुर और अजमेर के शास्त्रभण्डारों मे मौजूद है।

७. Dr A S Altekar, 'Mantra Shastra and Jainism' Jain Cultural Research Society Banaras Hindu University, Banaras, P 9

८ V A Smith, Early History of India, Oxford, 1908, P 38, No 1

शान्ति का आधार केवल 'णमोकार मन्त्र' ही नहीं है, अन्य अनेक मन्त्र भी हैं। यहाँ सबका उल्लेख सम्भव नहीं है। वे एक पृथक् निबन्ध का विषय हैं। मन्त्र-क्षेत्र में यन्त्रों की भी गणना होती है। उनमें एक 'शान्ति यन्त्र' भी है। मन्दिरों में इसकी स्थापना की जाती है और इसकी पूजा-अर्चा होती है। 'मन्त्राधिराज कल्प' नाम के ग्रन्थ में 'शान्तियन्त्र' की पूजा दी हुई है। इसके रचयिता सागरचन्द्रसूरि थे। इनका समय १४वीं शताब्दी माना जाता है। उन्होंने एक स्थान पर 'शान्ति यन्त्र' की महत्ता के सम्बन्ध में लिखा है, "शमयतिदुरितश्रेणि दमयत्यरिसन्तति सततमतो। पुरयति साध्यनिचय सुगणानि व्याधिसम्बाधाम् ॥"[1] तात्पर्य है—शान्तियन्त्र की पूजा से रोग, पाप, शत्रु और व्याधियाँ उपशान्त हो जाती हैं, और सौभाग्य का उदय होता है। शान्ति के लिए 'शान्तिपाठ' भी किये जाते हैं। वे मन्त्र-गर्भित होते हैं। अनेक दिन विधिवत् उनका पाठ होता है। आज भी उनका प्रचलन है। प्रति वर्ष अनेक स्थानों पर उनके पाठ का आयोजन किया जाता है। इन मन्त्र-यन्त्रों में इहलौकिक शान्ति की अमोघ शक्ति मानी गई है, किन्तु उनका मुख्य उद्देश्य पारलौकिक शाश्वत शान्ति ही है। उनका मूलस्वर 'आध्यात्मिक' है 'भौतिक' नहीं। यही कारण है कि उनमें वज्रयानी तान्त्रिक सम्प्रदाय की भाँति व्यभिचार, मदिरा और मांस वाली बात नहीं पनप सकी। जैन देवियाँ मन्त्र की शक्ति-रूपा थीं। उन्हें मन्त्र के बल पर ही साधा जा सकता है। किन्तु ऐसा कभी नहीं हुआ कि उन मन्त्रों के साथ नीचकुलोत्पन्न कन्याओं के आसेवन की बात चली हो। ऐसा भी नहीं हुआ कि भाद्रपद की अमावस की रात में एक सौ सोलह कुँआरी, सुन्दरी कन्याओं की बलि से वे यत्किञ्चित् भी प्रसन्न हुई हों। वे कराला थीं, किन्तु उनकी करालता व्यभिचार या मदिरा-मांस से तृप्त नहीं होती थी। सद्गुणों का प्रदर्शन ही उन्हें सन्तुष्ट बना सकता था। इसी भाँति जैन साधु मन्त्र विद्या के पारगत विद्वान् होते थे, किन्तु उन्होंने राग-वर्द्धक पदार्थों में उनका कभी उपयोग नहीं किया। जैन मन्त्र सांसारिक वैभव के देने में सामर्थ्यवान होते हुए भी वीतरागी बने रहे। वीतरागता ही शान्ति है। इसका जैसा शानदार समर्थन जैन मन्त्र कर सके, अन्य नहीं।

जैन भक्तिकाव्य और मन्त्रों की सबसे बड़ी विशेषता है उनकी शान्तिपरकता। कुत्सित परिस्थितियों और सरणियों में भी वे शान्तरस से दूर नहीं हटे। उन्होंने कभी भी अपनी ओट में शृंगारिक प्रवृत्तियों को प्रश्रय नहीं दिया। दाम्पत्यरति-मूला भगवद्भक्ति भी भक्ति की एक विधा है। जैन काव्यों के आध्यात्मिक विवाह इसी कोटि में आते हैं। नेमीश्वर और राजुल को लेकर अनेक काव्यों का निर्माण हुआ। वे सभी सात्त्विकी भक्ति के निदर्शन हैं। उनमें कहीं भी जगन्माताओं की सुहागरातों का नग्न विवेचन नहीं है। जिसे माँ कहा, उसके अंग-प्रत्यंग में मादकता का रंग भरना उपयुक्त नहीं है। इससे माँ का भाव विलुप्त होता है और सुन्दरी नवयौवना नायिका का रूप उभरता है। घनान्धेर में आबद्ध दम्पती भले ही दिव्य लोक-वासी हों, पाठक या दर्शक में पवित्रता नहीं भर सकते। भगवान पति की आरती के लिए भगवती पत्नी का अगूठों पर खड़ा होना ठीक है, किन्तु साथ ही पीनस्तनों के कारण उनके हाथ की पूजा-थाली से पुष्पों का बिखर जाना कहाँ तक भक्तिपरक है ?[2] राजशेखरसूरि के 'नेमिनाथफागु' में राजुल का अनुपम सौन्दर्य अंकित है, किन्तु उसके चारों ओर एक ऐसे पवित्र वातावरण की सीमा खिंची हुई है, जिससे विलासिता को सहलन प्राप्त नहीं हो पाती। उसके सौन्दर्य में जलन नहीं, शीतलता है। वह सुन्दरी है किन्तु पावनता की मूर्ति है। उसको देखकर श्रद्धा उत्पन्न होती है। मैंने अपने ग्रन्थ 'हिन्दी जैन भक्ति काव्य और कवि' में लिखा



---

१ श्री सागरचन्द्रसूरि, मन्त्राधिराजकल्प, जैनस्तोत्रसन्दोह, भाग २, मुनिचतुरविजय सम्पादित, अहमदाबाद, सन् १९३६ ३३वां श्लोक, पृ० २७७।

२ पादाग्रस्थितया मुहुः स्तनभरेणानीतया नम्रता
शम्भो सस्पृहलोचनत्रयपथ यान्त्या तदाराधने।
ह्रीमत्या शिरसीहित सपुलकस्वेदोद्गमोत्कम्पया
विश्लिष्यत्कुसुमाञ्जलिर्गिरिजया क्षिप्तोऽन्तरे पातु व ॥
—श्रीहर्ष, रत्नावली, प्रथममगलाचरण।



है, "जबकि भगवान के मंगलाचरण भी वासना के कीचड़ से सींचे जा रहे थे, नेमीश्वर और राजुल से सम्बन्धित मांगलिक पद दिव्यानुभूतियों के प्रतीक भर ही रहे। उन्होंने अपनी पावनता का परित्याग कभी नहीं किया।"[1] जिनपद्मसूरि के 'थूलिभद्दफागु'[2] में कोशा के मादक सौन्दर्य और कामुक विलास चेष्टाओं का चित्र खींचा गया है। युवा मुनि स्थूलभद्र के संयम को डिगाने के लिए सुन्दरी कोशा ने अपने विलास-भवन में अधिकाधिक प्रयास किया, किन्तु कृतकृत्य न हुई। कवि को कोशा की मादकता चित्रित करना अभीष्ट था, अतः उसके रति-रूप और कामुक भावों का अंकन ठीक ही हुआ। कवि की कुशलता तभी है, जब वह उत्तम से उत्तम सौन्दर्य के आगे भी दृढ़ बना रहे। कोशा कुल-ललना नहीं, वेश्या थी। वेश्या भी ऐसी वैसी नहीं, पाटलिपुत्र की प्रसिद्ध वेश्या। यदि जिनपद्मसूरि उसके सौन्दर्य को उन्मुक्त भाव से मूर्तिमन्त न करते तो अस्वाभाविकता आ जाती। उससे तो मुनि का संयम सुदृढ़ प्रमाणित हुआ। इसमें कहीं अश्लीलता नहीं है। सच तो यह है कि दाम्पत्य रति के रूपक को रूपक ही रहना चाहिए था, किन्तु जब उसमें रूपकत्व तो रहा नहीं, रति ही प्रमुख हो गई तो फिर अश्लीलता का उभरना भी ठीक ही था। जैन कवि और काव्य इससे बचे रहे। इसी कारण उनकी शान्तिपरकता भी बनी रही।

हिन्दी के जैन भक्त कवियों ने संस्कृत-प्राकृत की शान्तिधारा का अनुगमन किया। बनारसीदास ने तो 'नाटक समयसार' में 'नवमा सान्त रसनि को नायक' स्पष्ट रूप से स्वीकार किया। उनकी रचनायें इसकी प्रतीक हैं। आगे के कवि उनसे प्रभावित हैं। हिन्दी के इन जैन कवियों का मन्त्र, यन्त्र और शान्तिपाठों की रचना में मन न लगा। इनसे सम्बन्धित हिन्दी काव्य संस्कृत-प्राकृत ग्रन्थों के अनुवाद-भर हैं। देवी पद्मावती, अम्बिका आदि सत्राधिष्ठात्री देवियों की स्तुतियाँ भी पूर्व काव्यों की छाया ही हैं। उनका मन लगा संसार की आकुलता और राग-द्वेषों के चित्रांकन में। उन्होंने पुनः-पुनः मन को वीतरागता की ओर आकर्षित किया। इस दिशा में उनका पद-काव्य अनुपम है। मानव की मूलवृत्तियों के समन्वय ने इसे भावभीना बना दिया है। वे साहित्यिक कृतियाँ हैं। उनमें उपदेश की रूक्षता तो किञ्चिन्मात्र भी नहीं है। कोई भी बात, चाहे उपदेश-परक ही क्यों न हो, भावों के सांचे में ढल कर साहित्य बन जाती है। जैन हिन्दी के प्रबन्ध और खण्ड काव्यों का भी मूल स्वर शान्तरस ही है। अन्य रस भी हैं, किन्तु उनका समाधान शान्तरस में ही हुआ है। ऐसा करने में कहीं भी खींचतान नहीं है, सब कुछ प्रासंगिक और स्वाभाविक है।

जैन हिन्दी के भक्ति-काव्यों में यदि एक ओर सांसारिक राग-द्वेषों से विरक्ति है, तो दूसरी ओर भगवान् से चरम शान्ति की याचना। उनको शान्ति तो चाहिए किन्तु अस्थायी नहीं। वे उस शान्ति के उपासक हैं जो कभी समाप्त न हो। जब तक मन की दुविधा न मिटेगी, वह शान्ति का अनुभव नहीं कर सकता। और यह दुविधा जिननाथ निरञ्जन निर्विकार के सुमिरन करने से ही दूर हो सकती है। कवि बनारसीदास अपनी चिन्ता व्यक्त करते हुए कहते हैं, "न-जाने कब हमारे नेत्र चातक अक्षय-पदरूपी घन की बूंदें चख सकेंगे, तभी उनको निराकुल शान्ति मिलेगी। और न-जाने वह घड़ी कब आयेगी जब हृदय में समताभाव जगेगा। हृदय के अन्दर जब तक सुगुरु के वचनों के प्रति दृढ़ श्रद्धा उत्पन्न नहीं होगी, परमार्थ सुख नहीं मिल सकता। उसके लिए एक ऐसी लालसा का उत्पन्न होना भी अनिवार्य है, जिससे घर छोड़ कर वन में जाने का भाव उदित हुआ हो।[3]

कवि बनारसीदास ने 'शान्तरस' को आत्मिक रस कहा है। उसका आस्वादन करने से परम आनन्द मिलता है। वह आनन्द कामधेनु, चित्रावेलि और पंचामृत भोजन के समान समझना चाहिए।[4] इस आनन्द को साक्षात् करने

१ देखिए मेरा ग्रन्थ 'हिन्दी जैन भक्ति काव्य और कवि', प्रथम अध्याय, पृ० ४।

२ 'थूलिभद्दफागु', प्राचीन गुर्जर ग्रन्थमाला ३, सं० २०११, पृ० ३-७ पर प्रकाशित हो चुका है।

३ बनारसीविलास, जयपुर, १९५४, अध्यात्मपदपंक्ति, १३वां पद, पृ० २३१-३२।

४ अनुभौ की केलि यहै कामधेनु चित्रावेलि,
अनुभौ को स्वाद पंच अमृत को कौर है॥
—बनारसीदास, नाटकसमयसार, बम्बई, उत्थानिका, १९वां पद्य, पृ० १७-१८।

वाला चेतन जिनके घट में विराजता है, उस जिनराज की बनारसीदास ने वन्दना की है।[1]

यह जीव संसार के वन में भटकता फिरता है, किन्तु उसे शान्ति नहीं मिलती। वह अपने अष्टादश दोषों से प्रपीड़ित है और आकुलता उसे व्याकुल ही करती है। भैया भगवतीदास का कथन है, "हे जीव! इस संसार के अनन्त कोटि सागर को पीकर भी तू प्यासा ही है और इस संसार के द्वीपों में जितना अन्न भरा है, उसको खाकर भी तू भूखा ही है। यह सब कुछ अठारह दोषों के कारण है। वे तभी दूर हो सकते हैं जब तू भगवान जिनेन्द्र का ध्यान करे और उसी पथ का अनुसरण करे, जिस पर वे स्वयं चले थे।[2] भैया की दृष्टि में अष्टादश दोष ही अशान्ति के कारण हैं और वे भगवान जिनेन्द्र के ध्यान से जीते जा सकते हैं। तभी यह जीव उस शान्ति का अनुभव करेगा, जो भगवान जिनेन्द्र में साक्षात् ही हो उठी थी। भैया का स्पष्ट अभिमत है कि राग-द्वेष के कारण ही यह जीव अपने परमात्मा-स्वरूप के दर्शन का आनन्द नहीं ले पाता। अर्थात् वह चिदानन्द के सुख से दूर ही रहता है। राग-द्वेष का मुख्य कारण है मोह, इसलिए मोह के विदारने से राग-द्वेष स्वयं नष्ट हो जायेंगे और राग-द्वेष के टलने से मोह तो यत्किञ्चित् भी न रह पायेगा। इस ही उपाधि को समाप्त करने का भी यही एक उपाय है। जड़ के उखाड़ डालने से भला वृक्ष कैसे ठहर सकता है? और फिर तो उसके डाल-पात, फल-फूल भी कुम्हला जायेंगे। तभी चिदानन्द का प्रकाश होगा और यह जीव सिद्धावस्था में अनन्त सुख विलसेगा।

"मोह के निवारे राग-द्वेष हू निवारे जाहिं,
राग-द्वेष टारैं मोह नेकहू न पाइए।
कर्म की उपाधि के निवारिबे को पेंच यहै,
जड़ के उखारैं वृक्ष कैसे ठहराइए।
डार-पात फल-फूल सबै कुम्हलाय जाय,
कर्मन के वृक्षन को ऐसे के नसाइए।
तबै होय चिदानन्द प्रगट प्रकाश रूप,
जिनमें अनन्त सुख सिद्ध में कहाइए॥"[3]

अनन्त सुख ही परम शान्ति है। भैया ने एक कुण्डलिये पद में जैन मत को शान्तिरस का मत कहा है। शान्ति को धारण करने वाले ही ज्ञानी हैं, अन्य तो सब अज्ञानी ही रह जायेंगे।[4]

भूधरदास जी ने स्वामी की शरण को इसलिए चाहा है कि वे समर्थ और सम्पूर्ण शान्ति-प्रदायक गुणों से युक्त हैं। भूधरदास को उनका बहुत बड़ा भरोसा है। उन्होंने जन्म-जरा आदि वैरियों को जीत लिया है और मरन की



१ सत्य-स्वरूप सदा जिन्ह कै,
प्रगट्यो अवदात मिथ्यात निकन्दन।
सान्तदसा तिन्ह की पहिचानि,
करै कर जोरि बनारसि वन्दन॥
—वही, छठा पद्य, पृ० ७

२ भैया भगवतीदास, ब्रह्मविलास, जैनग्रन्थरत्नाकर कार्यालय, बम्बई, १९२६ ई०, शतअष्टोत्तरी, १६वां कवित्त, पृ० ३२।

३ ब्रह्मविलास, मिथ्यात्वविध्वंसन चतुर्दशी, ८वां कवित्त, पृ० १२१

४ शान्तरसवारे कहैं मन को निवारे रहैं।
वेई प्राणप्यारे रहैं और सब वारे हैं॥
—ब्रह्मविलास, ईश्वरनिर्णयपच्चीसी, ६ठा कवित्त, पृ० २५३

देव से छुटकारा पा गये हैं। उनसे भूधरदास अजर और अमर करने की प्रार्थना करते हैं। क्योंकि जब तक यह मनुष्य जन्म-मरण से छुटकारा नहीं पायेगा, शान्ति प्राप्त नहीं कर सकता। जैन परम्परा में देवों को अमर नहीं कहते। यहाँ अमरता का अर्थ है मुक्तदशा, जहाँ किसी प्रकार की आकुलता नहीं होती। ऐसी शान्ति वह दे सकता है, जिसने स्वयं प्राप्त कर ली है। वे संसारी 'साहिब', जो बारम्बार जनमते हैं, मरते हैं, और जो स्वयं भिखारी हैं, दूसरों का दारिद्र्य कैसे हर सकते हैं।'[1]

भगवान 'शान्तिजिनन्द', जो स्वयं शान्ति के प्रतीक हैं, सहज में ही अपने सेवकों के भव-द्वन्द्वों को हर सकते हैं। भूधरदास उन्हीं से ऐसा करने की याचना भी करते हैं।[2] यह जीव सांसारिक कृत्यों के करने में तो बहुत ही उतावला रहता है, किन्तु भगवान के सुमरन में सीरा हो जाता है। जैसे काम करता है, वैसे फल मिलते हैं। कर्म करता है अशान्ति और आकुलता के, किन्तु फल में शान्ति और निराकुलता चाहता है, जो कि पूर्णतया असम्भव है। आक बोयेगा, आम कैसे मिलेंगे, नग हीरा नहीं हो सकता। जैसे यह जीव विषयों के बिना एक क्षण भी नहीं रह सकता, वैसे ही यदि प्रभु को निरन्तर जपे तो सांसारिक अशान्ति को पार कर निश्चय शान्ति पा सकता है।'[3]

शान्तभाव को स्पष्ट करने के लिए भूधरदास ने एक पृथक् ही ढंग अपनाया है। वे सांसारिक वैभवों की क्षणिकता को दिखाकर और तज्जन्य बेचैनी को उद्घोषित कर चुप हो जाते हैं और उसमें से शान्ति की ध्वनि, संगीत की झंकार की तरह से फूटती ही रहती है। धन और यौवन के मद में उन्मत्त जीवों को सम्बोधन करते हुए उन्होंने कहा, "ए निपट गवार नर! तुझे घमण्ड नहीं करना चाहिए। मनुष्य की यह काया और माया झूठी है, अर्थात् क्षणिक है। यह सुहाग और यौवन कितने समय का है, और कितने दिन इस संसार में जीवित रहना है। हे नर! तू शीघ्र ही चेत जा और विलम्ब छोड़ दे। क्षण-क्षण पर तेरे बंध बढ़ते जायेंगे, और तेरा पल-पल ऐसा भारी हो जायगा, जैसे भीगने पर काली कमरी।"[4] भूधरदास ने एक दूसरे पद में परिवर्तनशीलता का सुन्दर दृश्य अंकित किया है। उन्होंने कहा, "इस संसार में एक अजब तमाशा हो रहा है। जिसका अस्तित्व काल स्वप्न की भाँति है, अर्थात् यह तमाशा स्वप्न की तरह शीघ्र ही समाप्त भी हो जायगा। एक के घर में मन की आशा के पूर्ण हो जाने से मंगल-गीत होते हैं, और दूसरे घर में किसी के वियोग के कारण नैन निराशा में भर-भर कर रोते हैं। जो लोग तुरंगों पर चढ़कर चलते थे, और खासा तथा मखमल पहनते थे, वही दूसरे क्षण नंगे होकर फिरते हैं, और उनको दिलासा देने वाला भी कोई दिखाई नहीं देता। प्रात ही जो राजतख्त पर बैठा हुआ प्रसन्न-वदन था, ठीक दोपहर के समय उसे ही उदास होकर वन में जाकर निवास करना पड़ा। तन और धन अत्यधिक अस्थिर हैं। जैसे पानी का बताशा। भूधरदासजी कहते हैं कि इनका जो गर्व करता है उसके जन्म को धिक्कार है।"[5] यह मनुष्य मूर्ख है, देखते हुए भी अन्धा बनता है। इसने भरे यौवन में पुत्र का वियोग देखा वैसे ही अपनी नारी को काल के मार्ग में जाते हुए निरखा और इसने उन पुण्यवानों को, जो सदैव यान पर चढ़े ही दिखाई देते थे, रंक होकर बिना पनही के मार्ग में पैदल चलते हुए देखा, फिर भी इसका धन और जीवन से राग नहीं घटा। भूधरदास का कथन है कि ऐसी सूमे की अंधेरी के राज-रोग का कोई इलाज नहीं है।

---

१ भूधरदास, भूधरविलास, कलकत्ता, ७३वां पद, पृ० ३०।
२ भूधरविलास, ३४वां पद, पृष्ठ १६।
३ वही, २२वां पद, पृष्ठ १३।
४ वही, ११वां पद, पृष्ठ ७।
५ वही, ९वां पद, पृष्ठ ६।

"देखो भर जोवन में पुत्र को वियोग आयो,
तैसें ही निहारी निज नारी काल मग में।
जे जे पुण्यवान जीव दीसत हैं यान ही पै,
रंक भए फिरैं तेऊ पनही न पग में॥
ऐते पै, अभागे धन जीतब सौं धरै राग,
होय न विराग जानैं रहूंगो अलग मैं।
आंखिन विलोकि अंध सूसे की अंधेरी,
करै ऐसे राजरोग को इलाज कहा जग में॥"

इस वृद्धपुरुष की दृष्टि घट गई है, तन की छवि पलट चुकी है, गति वक्र हो गई है और कमर झुक गई है। उसकी घरवाली भी रूठ चुकी है, और वह अत्यधिक रंक होकर पलंग से लग गया है। उसकी नार (गर्दन) कांप रही है और मुँह से लार चू रही है। उसके सब अंग-उपांग पुराने हो गये हैं, किन्तु हृदय में तृष्णा ने और भी नवीन रूप धारण किया है। जब मनुष्य की मौत आती है, तो उसने संसार के रस-रंग में जो कुछ किया है, सब कुछ यहां ही पड़ा रह जाता है। भूधरदासजी ने कहा है, 'तीव्रगामी तुरंग, सुन्दर रंगों से रंगे हुए रथ, ऊंचे-ऊंचे मत्त मतंग, दास और खवास, गगनचुम्बी अट्टालिकाएं और करोड़ों की सम्पत्ति से भरे हुए कोष, इन सबको यह नर अन्त में छोड़कर चला जाता है। प्रासाद खड़े-के-खड़े ही रह जाते हैं, काम यहां ही पड़े रहते हैं, धन-सम्पत्ति भी यहां ही डली रहती है और घर भी यहां ही धरे रह जाते हैं।"

"तेज तुरंग सुरंग भले रथ, मत्त मतंग उतंग खरे ही।
दास खवास अवास अटा, धन जोर करोरन कोश भरे ही॥
ऐसे बढ़े तो कहा भयो है नर, छोरि चले उठि अन्त छरे ही।
धाम खरे रहे काम परे रहे दाम डरे रहे ठाम धरे ही॥'[3]

श्री द्यानतराय ने भी भगवान् जिनेन्द्र को शान्तिप्रदायक ही माना है। वे उनकी शरण में इसलिये गये हैं कि शान्ति उपलब्ध हो सकेगी। उन्होंने कहा, "हम तो नेमिजी की शरण में जाते हैं। क्योंकि उन्हें छोड़कर और कहीं हमारा मन भी तो नहीं लगता। वे संसार के पापों की जलन को उपशम करने के लिए बादल के समान हैं। उनका विरद भी तारन-तरन है। इन्द्र, फणीन्द्र और चन्द्र भी उनका ध्यान करते हैं। उनको सुख मिलता है और दुख दूर हो जाता है।"[4] यहां बादल से बरसने वाली शीतलता परम शान्ति ही है। शान्ति को ही सुख कहते हैं और वह



१. भूधरदास, जैनशतक, कलकत्ता, ३५वां पद, पृष्ठ ११।

२ "दृष्टि घटी पलटी तन की छवि बंक भई गति लंक नई है।
रूस रही परनी घरनी अति रंक भयो परियंक लई है॥
कांपत नार बहै मुख लार महामति संगति छारि गई है।
अंग उपंग पुराने परे तिसना उर और नवीन भई है॥
—जैनशतक, कलकत्ता, ३८वां सवैया, पृष्ठ १२।

३ वही, ३१ वां पद, पृष्ठ ११।

४ "अब हम नेमि जी की शरन।
और ठौर न मन लगत है, छांडि प्रभु के शरन ॥१॥
सकल भवि-अघ-दहन बारिद, विरद तारन-तरन।
इन्द चन्द फनिन्द ध्यावैं, पाप सुख दुख हरन ॥२॥
—द्यानत-पद संग्रह, कलकत्ता, पहला पद, पृष्ठ १।

भगवान् नेमिनाथ के सेवकों को प्राप्त होती है। द्यानतराय की दृष्टि में भी राग-द्वेष ही अशान्ति है और उनके मिट जाने से ही 'जियरा सुख पावेगा', अर्थात् उसको शान्ति मिलेगी। अरहन्त का स्मरण करने से राग-द्वेष विलीन हो जाते हैं, अतः उनका स्मरण ही सर्वोत्तम है। द्यानतराय भी अपने बावरे मन को सम्बोधन करते हुए कहते हैं, हे बावरे मन! अरहन्त का स्मरण कर। ख्याति, लाभ और पूजा को छोड़कर अपने अन्तर में प्रभु की लौ लगा। तू नर-भव प्राप्त करके भी उसे व्यर्थ में ही खो रहा है और विषय-भोगों को प्रेरणा दे-देकर बढ़ा रहा है। प्राणों के जाने पर हे मनवा! तू पछतायेगा। तेरी आयु क्षण-क्षण कम हो रही है। युवती के शरीर, धन, सुत, मित्र, परिजन, गज, तुरग और रथ में तेरा जो चाव है, वह ठीक नहीं है। ये सांसारिक पदार्थ स्वप्न की माया की भाँति हैं, और आँख मींचते-मींचते समाप्त हो जाते हैं। अभी समय है, तू भगवान् का ध्यान कर ले और मगल-गीत गा ले। और अधिक कहा तक कहा जाये फिर उपाय करने पर भी सध नहीं सकेगा।"[1]

शुक्लध्यान में निरत तीर्थंकर शान्ति के प्रतीक होते हैं। उनमें से सभी प्रकार की बेचैनिया निकल चुकी होती हैं। उन्हें जन्म से ही पूर्वसंस्कार के रूप में वीतरागता मिलती है। उसी स्वर में वे पलते, बढ़ते, भोग-भोगते और दीक्षा लेते हैं। कभी विलासों में तैरते-उतराते, कभी राज्यों का सचालन करते और कभी शत्रुओं को पराजित करते, किन्तु वह स्वर सर्दव पवन की भाँति प्राणों में भिदा रहता। अवसर पाते ही वह उन्हें वन-पथ पर ले छोड़ता। चिन्तायें स्वतः पीछे रह जाती। वीतरागता शुक्लध्यान के रूप में फूट उठती। नासिका के अग्र भाग पर टिकी दृष्टि 'चिन्तानिरोध' को स्पष्ट कहती। वह एकाग्रता की बात कहती ही रहती। और फिर मुख पर आनन्द का अनवरत प्रकाश छिटक उठता। अनुभव रस अपनी चरमावस्था में प्रगट हो जाता। उसकी झलक में तीर्थंकर का सौन्दर्य अलौकिक रूप को जन्म देता, जिसे देख इन्द्र, सूर्य और चन्द्र जैसे रूपवन्तों का गर्व विगलित हो बह जाता। यह सच है कि उस परमशान्ति का अनुभव करते तीर्थंकर के दर्शन से 'अशुभ' नामधारी कोई कर्म टिक नहीं सकता था। फिर यदि उनके स्मरण से अनहद बाजा बज उठता हो तो गलत क्या है। जगराम ने लिखा है—

"निरखि मन मूरति कैसी राजै।
तीर्थंकर यह ध्यान करत हैं, परमातम पद काजै॥
नासा अग्र दृष्टि कौं धारें, मुख मुलकित मानों गाजै।
अनुभौ रस झलकत मानों, ऐसा आसन शुद्ध विराजै॥
अद्भुत रूप अनूपम महिमा, तीन लोक मे छाजै।
जाकी छवि देखत इन्द्रादिक, चन्द्र सूर्य गण लाजै॥
धरि अनुराग विलोकत जाकौं, अशुभ कर्म तजि भाजै।
जो जगराम बनै सुमरन तौ, अनहद बाजा बाजै॥"[2]

---

१ अरहन्त सुमर मन बावरे।
ख्याति लाभ पूजा तजि भाई, अन्तर प्रभु लौ लावरे॥१॥
नर भव पाय अकारथ खोवै, विषय-भोग जु बढ़ावरे।
प्राण गये पछितै है मनवा, छिन-छिन छीजै आवरे॥२॥
युवती तन धन सुत मित परिजन, गज तुरग रथ चावरे।
यह ससार सुपन की माया, आख मींच दिखराव रे॥३॥
ध्याय-ध्याय रे अब है दाव रे, नाहीं मगल गाव रे।
द्यानत बहुत कहा लौं कहिये, फेर न कछु उपाय रे॥४॥
—द्यानतपदसग्रह, ७०वा पद, पृष्ठ २९-३०।

२ पदसग्रह सं० ४९२, पत्र ७९, बधीचन्दजी का मन्दिर, जयपुर।

संसार के दुःखों से त्रस्त यह जीव शान्ति चाहता है। यहाँ शान्ति का अर्थ शाश्वत शान्ति से है। अर्थात् वैभव और निर्धनता दोनों ही में उसे शान्ति नहीं मिलती। अथवा वह सांसारिक वैभवों से उत्पन्न सुख-विलास को शान्ति नहीं मानता। राग चाहे सम्पत्ति से सम्बन्धित हो या पुत्र-पौत्रादिक से, सदैव दाहकारी ही होता है। मखमल और कमख्वाब के गद्दों पर पड़े लोगों को भी बेचैनी से तड़पते देखा गया है। दूसरी ओर गरीबी तो नागिन जैसी जहरीली होती ही है। सूरदास की यह पंक्ति "कहुँ न सुख संसार में सब जग देख्यो छान' देश-काल से परे एक चिरन्तन तथ्य है। इहलौकिक आकुलता से संतप्त यह जीव भगवान की शरण में पहुँचता है और जो शान्ति मिलती है, वह मानो सुधारस का चखना ही है, चिन्तामणिरत्न और नवनिधि का प्राप्त करना ही है। उसे ऐसा प्रतीत होता है जैसे आंगन कल्पतरु लगा हुआ है। उसकी अभिलाषायें पूर्ण हो जाती हैं। अभिलाषाओं के पूर्ण होने का अर्थ है कि सांसारिक रोग और सन्ताप सदा-सदा के लिए उपशम हो जाते हैं। फिर वह जिस सुख का अनुभव करता है वह कभी क्षीण नहीं होता और उसमें अनुस्यूत शान्ति भी कभी घटती-बढ़ती नहीं। कवि कुमुदचन्द्र की यह विनती शान्तरस की प्रतीक है—

"प्रभु पाय लागौं करूँ सेव थारी,
तुम सुन लो अरज श्री जिनराज हमारी।
घणौं कष्ट करि देव जिनराज पाम्यौ,
हवं सर्व संसारनौं दुख वाम्यौ।
जब श्री जिनराजनौ रूप दरस्यौ,
जवै लोचना सुप सुधाधार बरस्यौ॥
लह्या रतनचिन्ता नवनिधि पाई,
मानौं आगणे कल्पतर आजि आयो।
मनवांछित दान जिनराज पायो,
गयो रोग सताप मोहि सम्ब त्यागो॥"[1]

संसार की परिवर्तनशील दशा के अंकन में जैन कवि अनुपम हैं। परिवर्तनशीलता का अर्थ है—अस्थिरता, विनश्वरता। संसार का यह स्वभाव है। अतः यदि यहाँ संयोग मिलने पर कोई आनन्द-मग्न और वियोग होने पर दुःख-संतप्त होता है तो वह अज्ञानी है। यहाँ तो जन्म-मरण, सम्पत्ति-विपत्ति, सुख-दुःख चिरसहचर हैं। संसार में यह जीव नाना प्रकार से विविध अवस्थाओं को भोगता हुआ चक्कर लगाता है। वह नट की भाँति नाना वेष और रूप धारण कर नृत्य करता है। नृत्य करने की बात सूरदास ने भी, 'अब मैं नाच्यो बहुत गुपाल', शीर्षक पद में भली-भाँति स्पष्ट की है। यहाँ नृत्य का अर्थ है कि जीव का संसार के चक्कर में फँसना और तज्जन्य सुख-दुःख भोगना। वह जब तक आवागमन के चक्कर में फँसा है, उसे नाचना पड़ेगा। यदि वह हर्ष और शोक को समान समझकर सहज रूप से उनसे उदासीन हो जावे तो वह ज्ञानी कहलावे और शान्ति का अनुभव करे। गीता का यह वाक्य 'सुखदुःखे समे कृत्वा' जैनशासन में पूर्ण रूप से प्रतिष्ठित है। कवि त्रिभुवनचन्द्र (१७वीं शताब्दी) ने उसका सुन्दर निरूपण किया है—

जहा है संयोग तहा होत है वियोग सही,
जहा है जनम वहा मरण कौ वास है।
सम्पति विपति दोऊ एक ही भवनदासी,
जहा वसै सुप वहा दुप कौ विलास है॥
जगत में बार-बार फिरै, नाना परकार,
करम अवस्था झूठी थिरता की आस है।
नट कैसे भेष और रूप होहि घातै
हरष न सोग ग्याता सहज उदास है॥"[2]



१. देखिए गुटका नं० १३१, लेखनकाल वि० सं० १७७६, मन्दिर गोलियान, जयपुर।

२. अनित्यपचासिका (पाण्डुलिपि), लेखनकाल वि० सं० १६५२, गुटका नं० ३५, लूणकर जी का मन्दिर, जयपुर



ससार मे आनेवाला यह जीव एक महर्घ तत्त्व से समन्वित है। वह है उसका निजी चेतन। उसमे परमात्म-शक्ति होती है। वह अपने आत्म-प्रकाश से सदैव प्रदीप्त रहता है। किन्तु यह जीव उसे भूल जाता है। इसी कारण उसे ससार मे नृत्य करने के लिए बाध्य होना पडता है। और इस प्रकार भव-वन मे 'भरमते-भरमते' उसे अनादिकाल बीत जाता है। उसे सम्बोधन कर पाण्डे रूपचन्द ने लिखा है—अहो जगत के राय! तुम क्षणिक इन्द्रिय-सुख मे लगे हो, विषयो मे लुभा रहे हो। तुम्हारी तृष्णा कभी बुझती नही। विषयो का जितना अधिक सेवन करते हो, तृष्णा उतनी ही बढती जाती है, जैसे खारा जल पीने से प्यास और तीव्र हो जाती है। तुम व्यर्थ ही इन दु खो को झेल रहे हो। अपने घर को क्यो नही सम्भालते? अर्थात् तुम्हारा घर शिवपुर है। तुम शिवरूप ही हो। तुम अपना घर भूल गये हो। तुम इस ससार के मालिक हो। चेतन को यदि यह स्मरण हो जाये कि वह स्वय भगवान है तो ससार के सभी दु ख स्वत' उपशम हो जाये—जहाँ-के-तहाँ पडे रहें। ससार मे जन्म लेने के साथ ही यह जीव विस्मरणशील मनोवेग साथ लाता है। कस्तूरीमृग को यह विदित नही रहता कि वह सुगन्धि उसकी नाभि मे मौजूद है, जिसके लिए वह भटकता फिरता है। मन्दिर, मस्जिद और काबे मे परमात्मा को ढूंढनेवाला यह जीव नही जानता कि वह तो उसके भीतर ही रहता है। इसलिए जीव अज्ञानी कहलाता है। इसीलिए वह सांसारिक आकुलताओं मे व्याकुल बना रहता है। उसकी शान्ति का सबसे बडा उपाय है कि वह अपने को पहचाने। पाण्डे रूपचन्द ने लिखा है—

अपनो पद न विचारि के, अहो जगत के राय।
भव वन छायक हो रहे, शिवपुर सुधि विसराय॥
भव-भव भरमत ही तुम्हें, बीतो काल अनादि।
अब किन घरहिं सवारई, फत सुख देखत वादि॥
परम अतीन्द्रिय सुख सुनो, तुमहिं गयो सुलझाय।
किंचित् इन्द्रिय सुख लगे, विषयन रहे लुभाय॥
विषयन सेवते भये, तृष्णा तें न बुझाय।
ज्यों जल खारा पीवते, गाढ़े तृष्णाधिकाय॥[1]

श्री सुमित्रानन्दन पत ने 'परिवर्तन' मे लिखा है, "मूदती नयन मृत्यु की रात, खोलती नवजीवन की प्रात, शिशिर की प्रलयकर वात, बीज बोती अज्ञात॥" उनका तात्पर्य है कि मौत मे जन्म और जन्म मे मौत छिपी है। यह ससार अस्थिर है। जीवन अमर नही है। ससार के सुख चिरन्तन नही हैं। श्री पतजी की कविता का यह स्वर जैन 'टोन' है। यदि यह कहा जाये कि पतजी की अन्य कविताओ का आध्यात्मिक स्वर जैन परम्परा मे हूबहू मिलता-जुलता है, तो अत्युक्ति न होगी। जैन सांस्कृतिक परिप्रेक्ष्य मे उन सबका अध्ययन होना आवश्यक है। अठारहवी शताब्दी के प्रारम्भ (१७०५) मे एक जैन कवि प० मनोहरदास हुए हैं। भावधारा की दृष्टि से उन्हें श्री पतजी का पूर्व सस्करण ही कहा जा सकता है। उन्होंने एक जगह लिखा है, "हे लाल! दिन-दिन आव घटती है, जैसे अजली का जल शनै-शनै रिसकर नितान्त चू जाता है। ससार की कोई वस्तु स्थिर नही है इसे मन मे भली-भांति समझ ले। तूने अपना बालपन खेल मे खो दिया। जवानी मस्ती मे बिता दी। इतने राग-रगो मे मस्त रहा कि वृद्धावस्था मे शक्ति बिलकुल क्षीण हो गई। यदि तूने यह सोचा था कि वृद्ध होने पर जप-तप कर लूंगा, तो वह तेरा अनुमान असत्य की छाया ही था। तू ससार के उन पदार्थों मे तल्लीन है, जिनका कोई वास्तविक अस्तित्व नही है। वे सेमर के फूल की तरह झूठे हैं। प्रात के ओसकणो की भाँति शीघ्र ही विलुप्त हो जायेंगे।" वे पक्तिया हैं—

दिन-दिन आव घटै है रे लाल,
ज्यौं अंजली कौ नीर मन माहिं ला रे।
कोयो जाय ठोकर लै रे लाल,
थिरता नहीं ससार मन माहिं ला रे॥

---

१ देखिए पाण्डे रूपचन्द्र रचित परमार्थीदोहाशतक। यह 'रूपचन्द्रशतक' के नाम से जैनहितैषी, भाग ६, अङ्क ५-६ में प्रकाशित हो चुका है।

> वारसनी घोटी ध्यान में रे लाल,
> ज्योंतनी उसमान मन माहि सा रे।
> [illegible] सवनि घटी रे लाल,
> करि धरि [illegible] रगि मन माहि सा रे॥
> [illegible] स्यौं परख्यो खरो रे लाल,
> मिथ्या मति निवारि मन माहि सा रे।
> ज्यौं गुरु पावै धनि घना रे लाल,
> मनोहर कीव विचार मन माहि सा रे॥"[1]

[illegible] उनमें जन्म-जन्म के [illegible] भक्ति के गीतों में ढले हैं। [illegible] कि [illegible], किन्तु मूल में निराली शक्ति [illegible] की [illegible] नहीं हुई [illegible] है। [illegible] ही होता है। [illegible] प्रयोग-[illegible] नाम लेने से [illegible] है। [illegible] अपने हृदय में [illegible] है। ये हैं, व्याकुल और तपना मन शान्ति का [illegible] नाम [illegible] मात्र से [illegible] थे। [illegible] परम शान्ति ही परम पद है—मोक्ष है, [illegible] है। [illegible]। महाकवि [illegible] ने लिखा, [illegible] है।[2] [illegible] "अरे, ओ चेतन! तू इस संसार के [illegible] है। [illegible]। सद्गुरु ने भी भगवान का नाम जपने की बात कही है।[3] [illegible] नाम [illegible] दिन में, कटै कोट अघजाल।"[4] [illegible] जिनेन्द्र का नाम लेना चाहिए। यदि वह परमानन्द प्राप्त करना चाहता है [illegible]। [illegible] भव-समुद्र में गिर जायगा और उसी चहुँगति [illegible]। [illegible]। उसे [illegible] भौरा—

> "जिन नाम में रे भौरा, तू जिन-नाम में रे भौरा।
> जो तू परम गरम को चाहै तौ तन को सर्प न जोरा॥
> [illegible] भवदधि में परि है पायो चहुँगति भौरा।
> जिनगुणदल पदपङ्कज राच्यौ ज्यौं कमलन बिच भौरा॥"[5]

---

1 देखिए गुरुगीत, प० मनोहरदास रचित, गुटका नं० ५६, वेष्टन नं० २७२, जैन मन्दिर, बड़ौत (मेरठ)।

2 "कर्मादिक अरिन को हरैं अरिहन्त नाम,
  सिद्ध करैं काज सब सिद्ध को भजन है।"
  —मनरामविलास, मनरामचरित, मन्दिर ठोलियान, जयपुर की हस्तलिखित प्रति।

3 "जिनवर नामसार भज आतम, कहा भरम भरमावै।
  सुगुरु वचन प्रतीत भये तब, आनन्दघन उपगारै॥"
  —आनन्दघन अष्टपदी, आनन्दघन, आनन्दघनबहत्तरी, रायचन्द्र ग्रन्थमाला, बम्बई।

4 द्यानतपदसंग्रह, कलकत्ता, ६६वां पद, पृ० २८।

5 पदसंग्रह नं० ५८, दि० जैन मन्दिर, बड़ौत, पत्रा ४८।





'भैया' भगवतीदास ने 'ब्रह्मविलास' में भगवद्नाम की महिमा का नाना प्रकार से विवेचन किया है। उनकी मान्यता है कि "भगवान का नाम कल्पवृक्ष, कामधेनु, चिन्तामणि और पारस के समान है। उसमें इस जीव की इच्छायें भरती हैं, कामनायें पूर्ण होती हैं। चिन्ता दूर हो जाती है और दारिद्रय हट जाता है। नाम एक प्रकार का अमृत है, जिसके पीने से जरा रोग नष्ट हो जाता है। अर्थात् मृत्यु की आशंका नहीं रह पाती। यह जीव मृत से अमृत की ओर बढ जाता है। मौत का भय ही दुख है। उसके दूर होने पर सुख स्वतः प्राप्त हो जाता है। ऐसा सुख जो क्षीण नहीं होता। इसे ही शाश्वत आनन्द कहते हैं। किन्तु वीतराग का नाम वह ही ले सकता है जो स्वयं वीतरागता की ओर बढ रहा है।'[1] ऐसी शर्त तुलसी ने 'ज्ञान-भक्ति-विवेचन' में भी लगायी है।[2] उनकी दृष्टि में हर कोई भगवान का नाम नहीं ले सकता। पहले उसमें नाम लेने की पात्रता चाहिए। इसका अर्थ यह भी है कि पहले मन का भगवान की ओर उन्मुख होना आवश्यक है। ऐसा हुए बिना नाम लेने की बात नहीं उठती। उसके लिए एक जैन पारिभाषिक शब्द है 'भव्य'। उसका तात्पर्य है—भवसागर से तरने की ताकत। जिसमें वह नहीं उस पर भगवान की कृपा नहीं होती। भव्यत्व उपार्जित करना अनिवार्य है। यदि भगवान के नाम को कोई भव्यजीव लेता है तो उसके भवसागर तरने में कोई कमी नहीं रहती। इस भव्यत्व को वैष्णव और जैन दोनों ही कवियों ने स्वीकार किया है।

भारतीय भक्ति परम्परा की एक प्रवृत्ति रही है कि अपने आराध्य की महत्ता दिखाने के लिए अन्य देवों को छोटा दिखाया जाये। तुलसी के राम और सूर के कृष्ण की ब्रह्मा, शिव, सनक, स्कन्द आदि सभी देव आराधना करते हैं। तुलसी ने यहां तक लिखा कि जो स्वयं भीख मांगते हैं वे भक्तों की मनोकामनाओं को कैसे पूरा करेंगे। सूरदास ने अन्य देवों से भिक्षा मांगने को रसना का व्यर्थ प्रयास कहा है।[3] तुलसी का कथन है कि अन्य देव माया से विवश हैं। उनकी शरण में जाना व्यर्थ है।[4] तुलसी की दृष्टि में राम ही शील, शक्ति और सौन्दर्य के चरम अधिष्ठाता हैं। कृष्ण भी वैसे नहीं हो सकते। सूर का समूचा 'भ्रमर गीत' निर्गुण ब्रह्म के खण्डन में ही रचा-सा प्रतीत होता है। जैन कवियों ने भी सिवा जिनेन्द्र के अन्य किसी को आराध्य नहीं माना। मैंने अपने ग्रन्थ 'जैन हिन्दी भक्ति काव्य और कवि' में भक्ति-धारा की इस प्रवृत्ति का समर्थन किया है। मेरा तर्क है कि भक्त कवियों ने यह काम आराध्य में एकनिष्ठ भाव जगाने के लिए ही किया होगा। किन्तु साथ ही मैंने यह भी स्वीकार किया है कि उस 'एकनिष्ठता' की ओट में वैष्णव और जैन दोनों ही कडवाहट नहीं रोक सके। दोनों ने शालीनता का उल्लघन किया। फिर भी अपेक्षाकृत जैन कवि अधिक उदार

---

१ "तेरो नाम कल्पवृक्ष इच्छा को न राखे उर,
तेरो नाम कामधेनु कामना हरत है।
तेरो नाम चिन्तामन चिन्ता को न राखे पास,
तेरो नाम पारस सो दारिद डरत है॥
तेरो नाम अमृत पिये तैं जरा रोग जाय,
तेरो नाम सुखमूल दुख को दरत है।
तेरो नाम वीतराग धरैं उर वीतरागी,
भव्य तोहि पाय भवसागर तरत हैं॥
—सुपथ कुपथ पच्चीसिका, ब्रह्मविलास, भैय्या भगवतीदास, पृ० १८०।

२ "भाव सहित खोजइ जो प्रानी। पाव भगति मनि सब सुख खानी॥"
—देखिए रामचरितमानस, ज्ञानभक्ति विवेचन।

३ "जाचक पै जाचक कह जाचै। जौ जाचै तो रसना हारी॥"
—सूरसागर, प्रथम स्कन्ध, ३४वां पद, पृ० ३०।

४ "देव दनुज मुनि नाग मनुज सब माया-विवश विचारे।
तिनके हाथ दास तुलसी प्रभु, कहा अपुनपो हारे॥"
—विनय-पत्रिका, पूर्वार्ध, १०१ वां पद, पृ० १९२।

रहे। उनमें अनेक ने तो पूर्ण उदारता बरती। यह इतिहासप्रसिद्ध बात है कि प्रभासपट्टन के सोमनाथ के मन्दिर के उद्धार में सम्राट कुमारपाल को आचार्य हेमचन्द्र का पूर्ण आशीर्वाद प्राप्त था। हेमचन्द्र ने बिना तरतमता के उस देव को नमस्कार किया, जिसके रागादिक दोष क्षय को प्राप्त हो गये हों, फिर वह देव ब्रह्मा विष्णु, हर या जिन कोई भी हो। उनका कहना है—

"भवबीजाङ्कुरजनना रागाद्याः क्षयमुपागता यस्य।
ब्रह्मा वा विष्णुर्वा हरो जिनो वा नमस्तस्मै॥
यत्र तत्र समये यथा तथा योऽसि सोऽस्यभिधया यया तया।
वीतदोषकलुषः स चेद्भवानेक एव भगवन्नमोस्तु ते॥"[1]

इसी भांति एक अन्य जैन भक्त कवि देवी पद्मावती की आराधना करने को उद्यत हुआ तो अन्य देवियों की निन्दा न कर सका। उसने कहा कि देवी पद्मावती ही सुगतागम में तारा, शैवागम में गौरी, कौलिकशासन में वज्रा और सांख्यागम में प्रकृति कहलाती है। उनमें कोई अन्तर नहीं है। कोई छोटी-बड़ी नहीं है। कोई महान लघु नहीं है। सब समान हैं। सबकी शक्तियां समान हैं। उन सब मान्यताओं से समस्त विश्व व्याप्त है। ऐसा आराधक ही सच्चा भक्त है। जिसमें दूसरों के प्रति निन्दा और कटुता का भाव आ गया, वह सात्त्विकता की बात नहीं कर सकता। उसका भाव दूषित है। जिसने भक्ति के क्षेत्र में भी पार्टीबन्दी की बात की वह भक्त नहीं और चाहे कुछ हो। ऐसा व्यक्ति शान्ति का हामी नहीं हो सकता। उसका श्रम व्यर्थ होगा और आराधना निष्फल। वीतरागियों की भक्ति पूर्ण रूप से अहिंसक होनी चाहिए थी, यदि नहीं हुई तो वह भक्त के भावों की विकृति ही माननी पड़ेगी। किन्तु इस क्षेत्र में बहुत हद तक अहिंसा को प्रश्रय मिला, वह मिथ्या नहीं है। उपर्युक्त श्लोक है—

"तारा त्वं सुगतागमे, भगवती गौरीति शैवागमे।
वज्रा कौलिकशासने जिनमते पद्मावती विश्रुता॥
गायत्री श्रुतिशालिनी प्रकृतिरित्युक्तासि सांख्यागमे।
मातर्भारति किं प्रभूत भणितैर्, व्याप्तं समस्तं त्वया॥"[2]

यह पावनता जैन हिन्दी कवियों में भी पनपी। उनके काव्य में अपने आराध्य की महत्ता है। अन्य देवों की बुराई भी। किन्तु अनेक स्थल तरतमता से ऊपर उठे हैं, या उन्हें बचाकर निकल गये हैं। महात्मा आनन्दघन का ब्रह्म अखण्ड सत्य था। अखण्ड सत्य वह है जो अविरोधी हो, अर्थात् उसमें किसी भी दृष्टि से विरोध की सम्भावना न हो। कोई धर्म या आदर्श, जिसका दूसरे धर्मों से विरोध हो, अपने को अखण्ड सत्य नहीं कह सकते। वे खण्डरूप से सत्य हो सकते हैं। आनन्दघन का ब्रह्म राम, रहीम, महादेव, ब्रह्मा और पारसनाथ सब कुछ था। उनमें आपस में कोई विरोध नहीं था। वे सब एक थे। न उनमें तरतमता था और न उनके रूप में भेद था। महात्माजी का कथन था कि जिस प्रकार मिट्टी एक होकर भी पात्र-भेद से अनेक नामों से पुकारी जाती है, उसी प्रकार एक अखण्ड रूप आत्मा में विभिन्न कल्पनाओं के कारण अनेक नामों की कल्पना कर ली जाती है। उनकी दृष्टि से निज पद में रमने वाला राम है, रहम करने वाला रहमान है, कर्मों का कर्षण करने वाला कृष्ण है, निर्वाण पाने वाला महादेव है, अपने रूप का स्पर्श करने वाला पारस है, ब्रह्म को पहचानने वाला ब्राह्म है। वे इस जीव के निष्कर्म चेतन को ब्रह्म कहते हैं। उनका कथन है—



---

1 आचार्य हेमचन्द्र का श्लोक, देखिए मेरा ग्रन्थ 'हिन्दी जैन भक्तिकाव्य और कवि", पहला अध्याय, पृ० १२।

2 पद्मावती स्तोत्र, २०वां श्लोक, भैरव पद्मावती कल्प, अहमदाबाद, परिशिष्ट ५, पृ० २८।



"राम कहो, रहमान कहो कोऊ, कान कहो महादेव री।
पारसनाथ कहो, कोई ब्रह्मा, सकल ब्रह्म स्वयमेव री॥
भाजन भेद कहावत नाना, एक मृत्तिका रूप री।
तैसे खण्ड कल्पना रोपित, आप अखण्ड स्वरूप री॥
निज पद रमै राम सो कहिए, रहिम करे रहमान री।
कर्षे करम कान सो कहिए, महादेव निर्वाण री॥
परसे रूप पारस सो कहिए, ब्रह्म चिन्हे सो ब्रह्म री।
इह विधि साधो आनन्दघन, चेतनमय निष्कर्म री॥"[1]

इस प्रकार की उदार परम्पराओं ने जैन काव्यों में शान्ताभक्ति के रूप को शालीनता के साथ पुष्ट किया था। इसी सन्दर्भ में माया की बात भी का जानी है। माया, मोह और शैतान पर्यायवाची हैं। सन्त, वैष्णव और जैन तीनों ही कवियों ने शान्ति के लिए उसके निरसन को अनिवार्य माना। वह अज्ञान की प्रतीक है। उसी के कारण ही यह जीव ससार के आवागमन में फँसा रहता है। यदि वह हट जाय तो समस्त विश्व ब्रह्मरूप प्रतिभासित हो उठे। वह दो प्रकार से हट सकती है—ज्ञान से और भक्ति से। सांख्यकारिका में एक अत्यधिक मनोरंजक दृष्टान्त आया है। प्रकृति सुन्दरी है और पुरुष को लुभाने में निपुण है, किन्तु जब पुरुष उसे ठीक से पहचान जाता है, तो वह लज्जा से अपना वदन ढँक दूर हो जाती है। ठीक से पहचानने का अर्थ है कि जब पुरुष को ज्ञान उत्पन्न हो जाता है और वह प्रकृति के मूल रूप को समझ जाता है तो वह (प्रकृति=माया) पलायन कर जाती है।[2] जैन सिद्धान्त में ज्ञान ही आत्मा है। यहाँ आत्मा का अर्थ है विशुद्ध आत्मा। अर्थात् जब जीवात्मा में विशुद्धता आ जाती है तो मोह स्वत ही हटना जाता है। जैन आचार्यों ने आठ कर्मों में मोहनीय को प्रबलतम माना है। 'स्व' को सही रूप में पहचानने में वह ही सबसे बड़ा बाधक है। उसकी जड को निर्मूल करने में ज्ञानी आत्मा ही समर्थ है। बनारसीदास का कथन है, "माया वेली जेती तेती रेते में धारेती सेवी, फदा ही को कदा खोदे खेती को सो जोधा है।"[3] साख्य-की-सी बात भैय्या भगवतीदास ने 'ब्रह्म विलास' में कही हैं। उन्होने लिखा कि कायारूपी नगरी में चिदानन्द रूपी राजा राज्य करता है। वह मायारूपी रानी में मग्न रहता है। जब उसका सत्यार्थ की ओर ध्यान गया, तो ज्ञान उपलब्ध हो गया और माया की विभोरता दूर हो गई, "काया सी जु नगरी में चिदानन्द राज करै, माया-सी जु रानी पै मगन बहु भयो है। ऐसी राजधानी में अपन गुण भूलि रह्यो, सुधि जब आई तबै ज्ञान आप गह्यो है।"[4] कबीरदास ने भी जब उसका भेद पा लिया तो वह बाहर जा पड़ी। उनका भेद पाना ज्ञान प्राप्त करना ही है। ज्ञान के बिना माया मजबूत चिपकन के साथ ससारी जीव को पकड़े रहती है।

---

१. महात्मा आनन्दघन, आनन्दघनपदसग्रह, अध्यात्मज्ञान प्रसारक मण्डल, बम्बई, ६७वा पद।

२ प्रकृते सुकुमारतर न किञ्चिदस्तीति मे मतिर्भवति।
या दृष्टाऽस्मीति पुनर्न दर्शनमुपैति पुरुषस्य॥"
—साख्यकारिका, चौखम्बा सस्कृत सीरीज, प्रथम सस्करण, वि० स० १९९७, ६१वा श्लोक।

३ नाटक समयसार, मोक्षद्वार, तीसरा पद्य।

४ शत अष्टोत्तरी, २८वा सवैया, ब्रह्मविलास, पृष्ठ १४।

तुलसीदास ने भक्ति के बिना माया का दूर होना असम्भव माना है। इस सम्बन्ध मे रघुपति की दया ही मुख्य है। वह भक्ति से प्राप्त होती है। तुलसी ने विनयपत्रिका मे लिखा, "माधव अस तुम्हारि यह माया, करि उपाय पचि मरिय तरिय नहि, जब लगि करहु न दाया।"[1] जैनकवि भूधरदास ने मोहपिशाच को नष्ट करने के लिए 'भगवन्त-भजन' पर बल दिया। उसको भूलने पर तो मोह से कोई छुटकारा नहीं पा सकता। उन्होंने लिखा है, "मोह पिशाच छल्यो मति मारै, निज कर कंध वसूला रे। भज श्री राजमतीवर भूधर, दो दुरमति सिर धूला रे॥ भगवन्त भजन क्यों भूला रे॥"[2] कबीर की दृष्टि मे माया से छुटकारा प्राप्त करने के लिए सतगुरु की कृपा आवश्यक है। कबीर ने सतगुरु को गोविन्द से बडा माना है। उनका कथन है कि यदि गुरु की कृपा न होती तो वह इस जीव को नष्ट कर डालती, क्योंकि वह मीठी शक्कर की भाँति शीरनी होती है।[3] जायसी ने भी माया का लोप करने के लिए सतगुरु की कृपा को महत्त्वपूर्ण समझा था। उन्होंने लिखा कि जब तक कोई गुरु को नही पहचानता उसके और परमात्मा के मध्य अन्तराल बना ही रहता है। जब पहचान लेता है तो जीव और ब्रह्म एक हो जाते हैं। उनका मध्यान्तर मिट जाता है। जायसी की मान्यता है कि यह अन्तर माया-जन्य ही है।[4] भैय्या भगवतीदास को पूरा विश्वास है कि सतगुरु के वचनो से मोह विलीन हो जाता है और आत्मरस प्राप्त होता है।[5] कवि बनारसीदास ने गुरु को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है। मोह-जन्य बेचैनी दूर होने का एकमात्र उपाय गुरु का उपदेश है। यदि आत्मा 'अलख अखय निधि' लूटना चाहती है तो उसे गुरु की सद्वाणी से लाभान्वित होना ही चाहिए। उनका कथन है, "गुरु उपदेश सहज उदयागति, मोह विकलता छूटै। कहत बनारसी है करुनारसि अलख अखयनिधि लूटै॥"[6] इस घट मे सुधा-सरोवर भरा है, जिससे सब दुख विलीन हो जाते हैं। उस सरोवर का पता लगना आवश्यक है। वह सतगुरु से लग सकता है। सतगुरु भक्ति से प्रसन्न होते हैं। उन पर मन केन्द्रित करना पडता है। कवि विनयविजय ने लिखा है—

> "सुधा सरोवर है या घट में, जिसतें सब दुख जाय।
> विनय कहे गुरुदेव दिखावे, जो लाऊँ दिल ठाय॥
> प्यारे काहे कूं ललचाय॥"[7]

आत्मरस ही सच्ची शान्ति है। वही अलख अखयनिधि है। वह अनुभूति के बिना नहीं होता। ब्रह्म की, भगवान की या परमात्मा की अनुभूति ही आत्मरस है। अनुभूति के बिना लाखों-करोडो भवो मे जप-तप भी निरर्थक है। एक स्वान की अनुभूति जितना काम करती है, भव-भव की तपस्या और साधना नही। द्यानतराय ने लिखा है, "लाख कोटि भव तपस्या करतैं, जे तो कर्म तेरो जर रै। स्वास उस्वास माहि सो नासै जब अनुभव चित धर रै।"[8]

---

१ विनयपत्रिका, पूर्वार्ध, ११६ वां पद।

२ भूधर विलास, कलकत्ता, १९ वां पद, पृ० ११।

३ "कबीर माया मोहनी, जैसी मीठी खाड़।
सतगुरु की कृपा भई, नहीं तो करती भाड॥"
माया को अग, ७वी साखी, कबीर ग्रन्थावली, काशी, चतुर्थ संस्करण, पृ० ३३।

४. "जब लगि गुरु को अहा न चीन्हा। कोटि अन्तरपट बीचहि दीन्हा॥
जब चीन्हा तब और न कोई। तन मन जिउ जीवन सब सोई॥"
—देखिए जायसी कृत पद्मावत।

५ 'सतगुरु वचन धारिले अबके, जातें मोह बिलाय।
तब प्रगटै आतमरस भैया, सो निश्चय ठहराय॥"
भैया भगवतीदास, परमार्थ पदपंक्ति, २५ वां पद, ब्रह्मविलास, पृ० ११८।

६ बनारसीदास, अष्टपदी मल्हार, ८ वां पद्य, बनारसीविलास, जयपुर, पृ० २२९।

७ विनयविजय, 'प्यारे काहे कू ललचाय' शीर्षक पर, अध्यात्म पदावली, काशी, पृ० २२९।

८ द्यानतपद संग्रह, कलकत्ता, पद ७३ वां, पृ० ३१।



बनारसीदास ने अनुभूति का अनुभव कहा है। उसका आनन्द कामधेनु, चित्रावेलि के समान है। उसका स्वाद पचामृत भोजन जैसा है। कवि रूपचन्द्र ने 'अध्यातम सवैय्या' मे स्वीकार किया है, "आत्म-ब्रह्म की अनुभूति से यह चेतन दिव्य प्रकाश से युक्त हो जाता है। उसमे अनन्त ज्ञान प्रगट होता है और यह अपने आप मे ही लीन होकर परमानन्द का अनुभव करता है।"[1] आत्मा के अनूपरस का सवेदन करने वाले अनाकुलता प्राप्त करते हैं। आकुलता बेचैनी है। जिसमे बेचैनी दूर हो जाय, वह रस अनुपम ही कहा जायेगा। यह रस अनुभूति से प्राप्त होता है, तो अनुभूति करने वाला जीव शाश्वत सुख को विलसने मे समर्थ हो जाता है। प० दीपचन्द शाह ने ज्ञानदर्पण मे लिखा है, "अनुभौ विलास मे अनन्त सुख पाइयतु। भव की विकारता की भई है उछेदना ।।" उन्होने एक दूसरे स्थान पर लिखा, "अनुभौ उल्हास में अनन्तरस पायो महा ।।' यह अखण्ड रस और कुछ नही साक्षात् ब्रह्म ही है। अनुभूति की तीव्रता इस जीव को ब्रह्म ही बना देती है। आत्मा परमात्मा हो जाती है। अनुभव से ससार का आवागमन मिटता है। यदि अनुभव न जगा तो, "जगत की जेती विद्या भासी कर रेखावत, कोटिक जुगातर जो महातप कीने है।२ अनुभौ अखण्डरस उरमै न आयो जो तो, सिव-पद पावै नाहि पररस भीने हैं ।।"[2] किन्तु यह महत्त्वशाली तत्त्व भगवान की कृपा से ही प्राप्त हो सकता है। महात्मा आनन्दघन का कथन है, "मोकों दे निज अनुभव स्वामी, निज अनुभूति निवास स्वधामी।"[3] उस अनुभूति से जो सयुक्त है वही अनन्त गुणातम धाम है। अनुभव रूप होने के कारण ही 'भगवान' नाम भी दु ख हरण करने वाला और अतिभव को दूर करने वाला है। महात्मा का कथन है कि प्रभु के समान और कोई नटवा नही है। उसमें-से हेयोपादेय प्रगट होते हैं। अनुभव रस का देने वाला इष्ट है, वह परम प्रकृष्ट और सब कष्टो से रहित है। उसकी अनुभूति ही चित्त की भ्रांति को हर सकती है। वही सूर्य की किरण की भांति अज्ञान के तमस को नष्ट करती है। वह माया रूपी यामिनी को काट कर दिन के प्रकाश को जन्म देती है। वह मोहा सुर के लिए काल-रूपा है—

"या अनुभूति रावरी हरै चित्त की भ्रान्ति।
सा शुद्धा बुध भानु की किरण जु परम प्रशान्ति ।।
किरण जु परम प्रशान्ति तिमिर यवन जु कौ नासै।
माया यामिनी मेटि बोध दिवसै जु विभासै ।।
मोहासुर क्षयकार ज्ञानमूला जु विभूती।
भावै दौलति ताहि रावरी या अनुभूती ।।'[4]

जैनकवियो के प्रवन्ध और खण्डकाव्यो मे 'शान्तरस' प्रमुख है। अन्य रसो का भी यथा-प्रसग सुन्दर परिपाक हुआ है, किन्तु ये सब इसके सहायक-भर हैं। जिस प्रकार अवान्तर कथायें मुख्य कथा को परिपुष्ट करती हैं, उसी प्रकार अन्य रस प्रमुख रस को और अधिक प्रगाढ करते है। एक प्रवन्धकाव्य मे मुख्य रस की जितनी महत्ता होती है, सहायक रसो की उससे कम नही। प० रामचन्द्र शुक्ल अवान्तर कथाओं को रस की पिचकारियां कहते थे, सहायक रस भी वैसे ही होते है। वे अवान्तर कथाओं और प्रासगिक घटनाओं के सगठन मे सन्निहित होते है और वहाँ ही काम करते हैं। एक महानद के जलप्रवाह मे सहायक नदियो के जल का महत्त्वपूर्ण योगदान होता है, वैसे ही मुख्य रसो की गति भी

---

१ रूपचन्द्र, अध्यात्मसवैया, मन्दिर बधीचन्द्र जी, जयपुर की हस्तलिखित प्रति।

२ दीपचन्द्र शाह, ज्ञानदर्पण, तीनो उद्धरण, क्रमश पद्य न० १८१, १७८, १२६, सकलित अध्यात्म पचसग्रह, प० नाथूलाल जैन सम्पादित, तुकोगज, इन्दौर, वि० स० २००५, पृ० ६१, ५६, ४४ क्रमश।

३ महात्मा आनन्दघन, आनन्दघनपदसग्रह बम्बई, २१ वा पद।

४ प० दौलतराम, अध्यात्म बारहखडी, दि० जैन पचायती मन्दिर, बडौत, ११८ वाँ पद्य।

अन्य रसों से परिपुष्ट होती हुई ही वेगवती बनती है। किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि मुख्यरस केवल परिणति होता है, प्रारम्भ नहीं। यद्यपि प्रत्येक रस अपने-अपने क्षेत्र मे स्वतन्त्र और बलवान होता है किन्तु उसके अन्तराल मे मुख्यरस का स्वर सदैव हलके सितार की भाँति प्रतिध्वनित होता ही रहता है। एक प्रबन्ध काव्य मे घटनाएँ, कथाएँ तथा अन्य प्रसग होते हैं, जिनमे मानव-जीवन के विविध पहलुओ की अभिव्यक्ति, रहती है। किन्तु, उनके जीवन मे मुख्यरस एक प्राणतत्व की भाँति छिदा रहता है और उनमे मानव की मूल मनोवृत्तियो को खुल खेलने का पूरा अवसर मिलता है। मुख्यरस और मुख्य कथा भी होती है। दोनो मे कोई विरोध नही होता। दोनो दूध-पानी की भाति मिले रहते हैं। अत जैन काव्यों के विषय मे डॉ० शिवप्रसादसिंह का यह कथन, "जैनकाव्यो मे शान्ति या शम की प्रधानता है अवश्य किन्तु वह प्रारम्भ नहीं परिणति है। सम्भवत पूरे जीवन को शम या विरक्ति का क्षेत्र बना देना प्रकृति का विरोध है।"[1] उपयुक्त प्रतीत नही होता। अन्य काव्यो की भाँति ही जैन काव्य है। इनमे भी एक मुख्यरस और अन्य-रस रहते हैं। केवल शम को मुख्यरस मान लेने मे प्रकृति का विरोध है, शृ गार या वीर को मानने से नही। यह एक विचित्र तर्क है, जिसका समाधान कठिन है।

जैन महाकाव्य शान्ति के प्रतीक हैं। किन्तु इसका तात्पर्य यह नही है कि मानव जीवन के अन्य पहलुओ को दबा दिया गया है या छोड दिया गया है और इस प्रकार वहा अस्वाभाविकता पनप उठी है। जहाँ तक जैन अपभ्रंश के प्रबन्धकाव्यो का सम्बन्ध है, उन्हें दो भागो मे बाँटा जा सकता है—स्वयम्भू का 'पउमचरिउ', पुष्पदन्त का 'महा-पुराण', वीर कवि का 'जम्बूस्वामीचरिउ' और हरिभद्र का 'णेमिणाहचरिउ' पौराणिक शैली मे तथा धनपाल धक्कड की 'भविस्यत्तकहा', पुष्पदन्त का 'णायकुमारचरिउ' और नयनदि का 'सुदसणचरिउ' रोमाचक शैली मे लिखे गये हैं। हिन्दी के जैन प्रबन्ध काव्यों मे पौराणिक और रोमानचिक शैली का समन्वय हुआ है। सधारु का 'प्रद्युम्नचरित्र', ईश्वरसूरि का 'ललितागचरित्र', ब्रह्मरायमल्ल का 'सुदर्शनरास', कवि परिमल्ल का 'श्रीपालचरित्र', मालकवि का 'भोजप्रबन्ध', लालचन्द लब्धोदय का 'पद्मिनीचरित्र', रामचन्द्र का 'सीताचरित्र' और भूधरदास का 'पार्श्वपुराण' ऐसे ही प्रबन्ध काव्य हैं।[2] इनमे 'पद्मिनीचरित्र' की जायसी के 'पद्मावत' से और 'सीताचरित' की तुलसी के 'रामचरितमानस' से तुलना की जा सकती है।[3] स्वयम्भू के 'पउमचरिउ' की, महापण्डित राहुल साकृत्यायन ने भूरि-भूरि प्रशसा की थी। उनका पूरा विश्वास है कि तुलसी बाबा का रामचरितमानस, 'पउमचरिउ' से प्रभावित है।[4] पुष्पदन्त के महापुराण का श्री पी० एल० वैद्य ने सम्पादन किया है। उनकी मान्यता है कि महाकाव्यों मे वह एक उत्तमकोटि का ग्रन्थ है। 'भविसयत्त कहा' की खोज का श्रेय जर्मन के प्रसिद्ध विद्वान प्रो० जैकोबी को है। उन्होंने अपनी भारत यात्रा के समय इस काव्य को अहमदाबाद से सन् १९१८ मे प्राप्त किया था। यह सबसे पहले श्री सी० डी० दलाल और पी० डी० गुणे के सम्पादन मे गायकवाड ओरियन्टल सीरीज बडौदा से सन् १९२३ मे प्रकाशित हुआ। जैकोबी ने भाषा की दृष्टि से और श्री दलाल ने काव्य की दृष्टि से इसे समूचे मध्ययुगीन भारतीय साहित्य की महत्त्वपूर्ण कृति कहा है। डा० विण्टरनित्स ने लिखा है कि इसकी कथा मे थोडे मे अधिक कहने का गुण कूट-कूट कर भरा है। कार्यान्विति भी आदि से अन्त तक



१ डा० शिवप्रसादसिंह, विद्यापति, वाराणसी, द्वितीय सस्करण, सन् १९६१ ई०, पृ० ११०।

२ इनका विशद परिचय मेरे ग्रन्थ 'हिन्दी जैनभक्ति काव्य और कवि', अध्याय २ से प्राप्त किया जा सकता है।

३ पद्मिनीचरित्र और सीताचरित्र की हस्तलिखित प्रतियो का उल्लेख मेरे उपर्युक्त ग्रन्थ में पृष्ठ क्रमश २२५ व २३१ पर हुआ है।

४ महापण्डित राहुल साकृत्यायन, हिन्दी काव्यधारा, प्रथम सस्करण, १९४५ ई०, किताब महल, इलाहाबाद, पृष्ठ ५२।



बराबर बनी हुई है।[1] 'णायकुमारचरिउ' की भूमिका मे डॉ० हीरालाल जैन ने उसे उत्तमकोटि का प्रबन्धकाव्य प्रमाणित किया है।[2] सधारु के 'प्रद्युम्नचरित्र' के प्राक्कथन मे डॉ० माताप्रसाद गुप्त ने उसे एक उज्ज्वल तथा मूल्यवान रत्न माना है।[3] भूधरदास के पार्श्वपुराण को प्रसिद्ध प० नाथूराम प्रेमी ने मौलिकता, सौन्दर्य तथा प्रसादगुण से युक्त कहा है।[4] लालचन्द्र लब्धोदय के पद्मिनीचरित्र और रायचन्द्र के सीताचरित्र को, पाण्डुलिपियो के रूप में मैंने पढा है और मैं उन्हे इस युग के किसी प्रबन्धकाव्य से निम्नकोटि का नही मानता। इसके अतिरिक्त अपभ्रंश और हिन्दी के नेमीनाथ तथा राजुल से सबन्धित खण्डकाव्य हैं। उनका काव्य-सौन्दर्य अनूठा है। मैंने अपने ग्रन्थ 'जैन हिन्दी भक्तिकाव्य और कवि' मे यथा-स्थान उनका विवेचन किया है।

इन विविध काव्यों मे युद्ध है, प्रेम है, भक्ति है प्रकृति के सजीव और स्वाभाविक चित्र हैं। सवाद-सौष्ठव की अनुपम छटा है। भाषा मे लोच और भावों मे अनुभूति की गहराई है। कही छिछलापन नही, कही उद्दाम वासनाओं का नग्न नृत्य नही। केवल शान्तरस के प्रमुखरस होने से क्या हुआ। प्रबन्धकाव्य मे कोई-न-कोई रस तो मुख्य रस होगा ही। उसकी पृष्ठभूमि मे समूचा मानव-जीवन गतिशील रहता है, यह प्रबन्ध काव्यों की मूलविधा के जानकारो से छिपा नही है। प्रबन्धकाव्य की कसौटी पर खरे उतरते हुए भी शान्तरस का सुनिर्वाह जैनकाव्यों की अपनी विशेषता है और वह वीतरागी परिप्रेक्ष्य मे ही ठीक से समझी जा सकती है। ऐसा होने पर ही उसका आस्वादन भी ठीक हो सकता है।



---

१ एम० विन्टरनित्स, ए हिस्ट्री आव इण्डियन लिटरेचर, १९३३ ई०, खड २, पृष्ठ० ५३२।

२ देखिए णायकुमारचरिउ, भूमिका भाग, डा० हीरालाल जैन लिखित।

३ सधारु, प्रद्युम्नचरित्र, प० चैनसुखदास सपादित, महावीर भवन, सवाई मानसिंह हाईवे, जयपुर, प्राक्कथन, डा० माताप्रसाद गुप्त लिखित, पृ० ५।

४ प० नाथूराम प्रेमी, हिन्दी जैन साहित्य का इतिहास, जैन ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, हीराबाग, बम्बई, जनवरी १९१७, पृ० ५६।

आयुर्वेद को जैनाचार्यों की देन



राजकुमार गोयल,

रिसर्च स्कालर, जामनगर

भारतवर्ष के अधिकांश धार्मिक साहित्य में भी आयुर्वेद का कुछ-न-कुछ उल्लेख अवश्य मिलता है। प्राचीन काल में ऋषियों ने जहाँ तात्कालिक जनता की आत्मा का उद्धार करने वाले भाषण दिए, वहाँ उन्होंने 'शरीरमाद्य खलु धर्म-साधनम्' को ध्यान में रखते हुए धर्मसाधन के मूल शरीर को स्वस्थ एवं आतुरावस्था में आरोग्य प्रदान करने के लिए सरल, स्वानुभूत तथा प्रत्यक्षीकृत उपायों, प्रयोगों का मार्ग भी दर्शाया था।

आयुर्वेद कैसे उत्पन्न हुआ, यह कहना कठिन है, फिर भी इस श्लोक में—

> तं तीर्थनाथमधिगम्य विनम्रमूर्ध्ना,
>
> सत्प्रातिहार्यविभवादिपरीतमूर्तिम्।
>
> सप्रश्रया त्रिकरणोरुकृतप्रणामा,
>
> पप्रच्छुरित्यमखिल भरतेश्वराद्या ॥

जो प्रमाण मिलता है, इससे यह सिद्ध होता है कि जब संसार में तपश्चर्या, उपवास, अध्ययन, ब्रह्मचर्य, व्रत, प्रभृति उत्तमोत्तम कार्यों में जीवन यापन करने वाले पुरुषों में भी नाना प्रकार के विघ्नों को पैदा करने वाले रोगों का सूत्रपात हुआ, तब भरत चक्रवर्ती आदि भव्यों ने भगवान् आदिनाथ की सेवा में जाकर सविनय वन्दना की और स्वास्थ्य-रक्षा के लिए योग्य उपाय पूछा। भगवान् ने जो उत्तर दिए वहीं से आयुर्वेद का आरंभ हुआ।

जैनाचार्यों ने रोगाधिष्ठान दो बताये हैं—शरीर और मन। शरीर का रोगग्रस्त होना प्रत्यक्ष दिखाई देता है। मन का व्याधिग्रस्त होना लक्षणों के आधार पर अनुमान द्वारा निश्चित किया जाता है। जिन रोगों का प्रभाव प्रथम शरीर पर पड़ता है उन्हें शारीरिक और जिनका प्रथम मन पर प्रभाव पड़ता है उन्हें मानसिक रोग कहते हैं। शारीरिक रोग यथा —ज्वर, अतिसार, ग्रहणी, अर्श, कास, श्वास, प्रमेह, कुष्ठ, शोथ, शोषादि। मानसिक रोग यथा —काम, क्रोध, लोभ, मोह, ईर्ष्या, मान, शोक, भयादि। कुछ रोग ऐसे भी होते हैं जिनका अधिष्ठान दोनों—शरीर और मन होते हैं, जैसे—मूर्च्छा, उन्माद, अपस्मार आदि। जैनाचार्यों ने रोगों के चिकित्सार्थ जिन-जिन प्रयोगों को अपनाया और जिन-जिन औषधियों पर उन्हें सफलता प्राप्त हुई, उन्होंने उन औषधियों को जनकल्याणार्थ लिपिबद्ध किया। इस विषय में जैनाचार्यों (दिगम्बरों एवं श्वेताम्बरों) की महान् देन रही है।

संहिता-ग्रन्थों में आयुर्वेद को अथर्ववेद का उपवेद माना गया है। जैन परम्परा में द्वादशांग शास्त्रों में दृष्टि-



वाद नाग का जो १२ वां अग है, उसके ५ भेदो मे से एक भेद पूर्वगत है। इसके भी चौदह विभाग हैं। इन विभागो मे जो 'प्राणवाद' नामक पूर्वगत शास्त्र है, उसमे विस्तार के साथ अष्टागायुर्वेद—(१) काय-चिकित्सा (२) शल्यचिकित्सा (३) शालाक्यचिकित्सा (४) भूतविद्या (५) कौमार भृत्य (६) अगदतन्त्र (७) रसायनतन्त्र (८) वाजीकरण का कथन मिलता है, यही मूल आयुर्वेदशास्त्र अथवा मूलवेद है।

रोगशमन के लिए प्राचीन काल मे तरह-तरह के होम यज्ञादि हुआ करते थे, रोगविशेषो मे बलि का भी विधान था। किन्तु जैनाचार्यो ने 'अहिंसा परमो धर्म" को ध्यान मे रखते हुए, अपने ग्रन्थो मे औषधप्रयोग के सिवाय मद्य, मास, मधु, यज्ञादि का उपयोग नही बताया जैसा कि कन्नड भाषा के इस श्लोक से ज्ञात होता है —

सुकर तानेन पूज्यपाद मुनिगल् मु पेल्द् कल्याणका-
रकम वाहट सिद्धसार चरकाद्युत्कृष्टम सद्गुणा-
धिकम वर्जित मद्यमांसमधुक कर्णाविर्क लोकर-
क्षकमा चित्रवदागे चित्रकवि सोम पेल्दनि तलितयि ॥

विपत्तिकाल मे भी अहिंसा का इतना प्रबल उदाहरण अन्यत्र नही मिलता। इसका मुख्य कारण यह है कि जैनाचार्य व्यक्तियो को पारमार्थिक स्वास्थ्य की ओर ले जाना चाहते थे जो अतीन्द्रिय मोक्ष सुख रूप है।

जैनाचार्यो ने जहाँ अध्यात्म, दर्शन, काव्य, न्याय, आदि विषयो पर अद्‌भुत प्रकाश डाला है, वहाँ उनसे ज्योतिष एव आयुर्वेद विषय भी अछूता नही रहा। उन्होंने आयुर्वेद पर सैंकडो ग्रन्थ लिखे जिनमे से बहुत-से अब लुप्त-प्राय हैं। फिर भी अन्य ग्रन्थो मे उनके उद्धरणो से उनके अस्तित्व का पता चलता है।

"वसवराजीय" एक सग्रह-ग्रन्थ में "सिन्दूरदर्पण तद्वत्पूज्यपादीयमेव च" इत्यादि रूप से उल्लेख मिलता है। पूज्यपादजी ने अपने ग्रन्थो मे जैन प्रक्रिया का ही अनुसरण किया था। जैन प्रक्रिया कुछ भिन्न रही है यथा — "सूत केसरी गन्धक मृगनवासार द्रुमम्।" यह रससिन्दूर तैयार करने का पाठ है। इसमे 'केसरी' महावीर का चिह्न है, जो २४ वे तीर्थंकर हैं। अत केसरी शब्द से २४ सख्या समझनी चाहिए। मृग १६ वे तीर्थंकर का चिह्न है, अत मृग से १६ सख्या लेना चाहिए। आशय यह है कि पारद २४ भाग और गन्धक १६ भाग लेना चाहिए।

इसके अतिरिक्त 'वसवराजीय' सग्रहग्रन्थ मे पूज्यपाद के अनेक योगो का वर्णन मिलता है। यथा —

(१) "नाम्नाय चण्डभानु सकलगदहरो भाषित पूज्यपादै।—नित्यनाथीये

(२) 'रसकालाग्निरुद्रोऽय पूज्यपादविनिर्मित।—वसवराजीय, प्र० पृ० १३

(३) 'पूज्यपादकृतो योगो नराणा हितकाम्यया।—त्रिकुटनस्य—प० प्र० व० रा० पृ० १११

(४) 'शोकमुद्गरनाम्नाय पूज्यपादेन निर्मित। आदि

जैनाचार्य कोष लिखने मे भी किसी से पीछे नही रहे, किन्तु उनकी शैली औरो से भिन्न थी। यथा:— आचार्य अमृतनन्दी का कोष, जिसमे २२ हजार शब्द हैं, महत्त्वपूर्ण है। इसमे वनस्पतियो के नाम जैन पारिभाषिक रूप मे आये हैं, जैसे—अभव्य—हसपादी। अहिंसा—वृश्चिकाली। अनन्त-सुवर्ण। ऋषभ—पावठे की लता। ऋषभा—आमलक। वर्धमाना—मधुर मातुलुग। वीतराग—आम। आदि।

इसके अलावा अन्य ग्रन्थो और ग्रन्थकारो का भी उल्लेख मिलता है, यथा—

	ग्रन्थ नाम	कर्ता
(१)	रसावतार	माणिक्यचन्द्र
(२)	रसायनप्रकरण	मेरुतुंग नाम के जैन मुनि ने १३८७ में बनाया।
(३)	हितोपदेश	जैनाचार्य श्रीकण्ठ सूरि
(४)	योगरत्नाकर	जैन नागराजेश्वर ने १६०६ में लिखा।
(५)	जीवक तन्त्र	गुणचन्द्र
(६)	वैद्यसारसंग्रह	गंगादास सूरि
(७)	लक्ष्मणप्रकाश	ईश्वर सूरि के पुत्र हेमाद्रि ने १४६८ में लिखा।
(८)	कल्याणकारक	उग्रादित्य
(९)	योगरत्नाकर	नयनशेखर कृत (१६८० ईसवी)

इनके अतिरिक्त (१) श्रुतिसेन (२) कुमारसेन (३) वीरसेन (४) पात्रकेसरी (५) सिद्धसेन (६) मेघनाद (७) सिंहनाद (८) समन्तभद्र (९) ज्टाचार्य आदि आचार्यों के नाम भी आयुर्वेदसेवा के लिए विशेष उल्लेखनीय हैं।

आचार्य उग्रादित्य ने अपने 'कल्याणकारक' ग्रन्थ में, जो कि आज भी उपलब्ध है, उपर्युक्त आचार्यों का उल्लेख किया है। उन्होंने लिखा है—

पूज्यपाद आचार्य ने 'शालाक्यतन्त्र' लिखा था जिसमें जत्रु के ऊपर मुख, नासा, सिर, कर्ण और चक्षु गत रोगों का वर्णन किया था।

पात्रस्वामी ने नाना प्रकार के तृण, काष्ठ, पाषाण, धूलि, लौह, बाल, नख, पूय, दूषित व्रण, अन्त शल्य, गर्भशल्य आदि को निकालने के लिए तथा यन्त्र, शस्त्र, क्षार, अग्नि के प्रयोगार्थ एवं व्रणविनिश्चयार्थ शल्यशास्त्र लिखा था।

आचार्य सिंहनाद ने रसायन (वयःस्तम्भव्याधिविध्वंसी भेषजं तद् रसायनम्' अर्थात् जिस औषधि के द्वारा जरा, व्याधि नष्ट होकर युवावस्था प्राप्त होती है उसे रसायन कहते हैं) का वर्णन किया था। जैसा कि इस श्लोक से मालूम होता है —

> शालाक्यं पूज्यपादप्रकटितमधिकं शल्यतंत्रं च पात्रं।
> स्वामिप्रोक्तं विषोग्रग्रहशमनविधिः सिद्धसेनैः प्रसिद्धैः॥
> काये या सा चिकित्सा दशरथगुरुभिर्मेघनादैः शिशूनां।
> वैद्यं वृष्यं च दिव्यामृतमपि कथितं सिंहनादैर्मुनीन्द्रैः॥

महर्षि समन्तभद्र पूज्यपाद से पूर्व हुए हैं। आप जहाँ न्यायदर्शन के अद्वितीय विद्वान् थे, वहाँ आयुर्वेद में भी निष्णात थे। आयुर्वेदज्ञों में उनका ऊँचा स्थान था। आपने 'सिद्धान्तरसायनकल्प' नामक ग्रन्थ लिखा था जिसमें १८ हजार श्लोक थे। यह ग्रन्थ आज सम्पूर्ण नहीं मिलता किन्तु २-३ हजार श्लोक यत्र तत्र देखने को मिलते हैं।

गुम्मट देव मुनि—उन्होंने मेरुतुंग नामक वैद्यक ग्रन्थ लिखा था।

सिद्धनागार्जुन—यह पूज्यपाद के भानजे थे। इन्होंने 'नागार्जुनकल्प' 'नागार्जुन कक्षपुट' आदि ग्रन्थों का निर्माण किया था।



हर्षकीर्ति सूरि —इन्होने 'योगचिन्तामणि' नामक संग्रहग्रन्थ संस्कृत भाषा मे गद्य-पद्यात्मक लिखा था। ये नागपुरीय तपागच्छीय साधु थे।

जैनाचार्यों ने आयुर्वेद जैसी लौकिक विद्या के विषय मे अपनी जो कलम चलाई, उसके पीछे अनेक हेतु थे। उनमे एक मास मदिरा जैसी अभक्ष्य और हानिकारक वस्तुओ के सेवन का निषेध करके अहिंसा भावना को व्यापक बनाना था। प्राचीन काल मे अनेक चिकित्सक इन वस्तुओ का प्रयोग करते थे। जैनाचार्य आयुर्वेद को हिंसा से मुक्त करने के लिए प्रयत्नशील थे। निम्नलिखित श्लोक से यह तथ्य प्रमाणित होता है—

ख्यातश्रीनृपतुंगवल्लभमहाराजाधिराजस्थित,
प्रोद्यद्भूरिसभान्तर बहुविधप्रख्यातविद्वज्जने।
मासाशिप्रकरेन्द्रताखिलभिषग्विद्याविदामग्रत,
मासे निष्फलतां निरूप्य नितरा जैनेन्द्र वद्यस्थितम् (?)

इससे बिल्कुल स्पष्ट है कि नृपतुंग वल्लभ महाराजाधिराज के दरबार मे जहा मासाशन का समर्थन करने वाले अनेक विद्वान् थे, उनके सामने मास की निष्फलता सिद्ध करने वाले श्री जैनेन्द्र भी वहाँ उपस्थित थे। नृपतुंग अमोघवर्ष प्रथम का नाम है, और अमोघ वर्ष को ही वल्लभ और महाराजाधिराज की उपाधि थी। नृपतुंग भी उसकी उपाधि थी।

इस प्रकार आयुर्वेद का सूत्रपात करने का श्रेय जहाँ भगवान् आदिनाथ को है, वहा उसे पल्लवित करने का श्रेय जैन आचार्यों को भी है। इस विषय मे यदि गहरी छानबीन की जाय तो ऐसे तथ्य प्रकाश मे आ सकते है जिनकी कल्पना आज विज्ञजनो को भी नही है।

●



चम्पूकाव्य

पं० के० भुजबली शास्त्री

विद्याभूषण, सिद्धान्ताचार्य

कर्नाटक विश्वविद्यालय धारवाड (मैसूर)

हमें सर्वप्रथम (१) चम्पू काव्य की व्याख्या (२) चम्पू काव्यों का काल (३) चम्पू काव्यों उद्गम-स्थान (४) चम्पू काव्यों के जन्मदाता और (५) चम्पू काव्यों ने सर्वप्रथम किस भाषा में जन्म लिया ? इन बातों पर विचार करना है।

१ चम्पू शब्द की व्याख्या—'नलचम्पू' के उपोद्घात में श्री नन्दकिशोरजी शर्मा ने संस्कृतनिरुक्त को लक्ष्य करके गतिशील अर्थ में चम्पू की व्याख्या 'चम्पयति चम्पति इति चम्पू' यों की है। बल्कि आपने इस उपोद्घात के फुटनोट में इन्होंने इस सम्बन्ध में 'चमत्कृत्य पुनाति सहृदयान् विस्मयीकृत्य प्रसादयतीति चम्पू' इस प्रकार श्री हरिदास भट्टाचार्य के अभिप्राय को भी व्यक्त किया है। किन्तु ऊपर की ये दोनों व्युत्पत्तियाँ सन्तोषदायक नहीं हैं। इससे स्पष्ट विदित होता है कि संस्कृतपंडितों को 'चम्पू' शब्द का वास्तविक अर्थ मालूम नहीं हुआ है। ज्ञात होता है कि वस्तुतः चम्पू शब्द देश्य है।

कर्नाटक के सुप्रसिद्ध कवि मित्रवर श्री द० रा० बेंद्रे, एम० ए० बारबार की राय से चम्पू शब्द का सीधा सम्बन्ध जैन तीर्थंकरों के पंच कल्याणों से है। उनका स्पष्ट मत है कि 'पंच-पंच' शब्द ही 'राम-राम' की तरह 'चम्पू' शब्द बना है। साथ ही साथ उनका कहना है कि निःसंदेह साहित्य-संसार को चम्पू काव्य जैनों की अनुपम देन है। कविजी का यह भी कहना है कि कन्नड और तुलु भाषाओं में 'सपु' और 'चंपे' के रूप में जो शब्द उपलब्ध हैं, उनका अर्थ सुन्दर और मिश्र होता है। बहुत करके इन्हीं शब्दों से चम्पू शब्द निष्पन्न हुआ होगा। आज भी कन्नड और तुलु भाषा के केन् चेन् ये मूल शब्द चेंपु चेंपु के रूप में निष्पन्न होकर सुन्दर और मनोहर अर्थ को प्रदान करते हैं। गद्य-पद्य मिश्रित काव्य विशेष को जनता ने सर्वप्रथम सुन्दर एवं मनोहर अर्थ में चेंपु के नाम से पुकारा होगा और वही बाद में रूढि के बल से चेम्पु या चम्पु के नाम से प्रसिद्ध हुआ होगा। इस सब का तात्पर्य यह है कि चम्पू शब्द संस्कृत का न होकर निःसन्देह द्राविड भाषा का है।

२ चम्पू काव्यों का काल—गद्य-पद्य मिश्रित महाकाव्यों की प्रौढ सरणी सब से पहले हमें दसवीं शताब्दी के कवि त्रिविक्रम भट्ट कृत 'नलचम्पू' एवं सोमदेव सूरिकृत 'यशस्तिलक चम्पू' में उपलब्ध होती है। श्री नन्दकिशोरजी शर्मा ने नलचम्पू के उपोद्घात में लिखा है कि सभी विद्वानों की राय है कि यह नलचम्पू सर्वप्रथम चम्पू-काव्य है। हाँ हरिचंद्र का जीवन्धर-चम्पू भी एक प्रौढ जैन चम्पू काव्य है। पर विद्वानों की राय है कि यह काव्य ई० सन् नववीं शताब्दी के बाद का है। पर अभी तक यह निश्चित नहीं हो सका कि हरिचंद्र का काल नववीं शताब्दी के बाद कब का

है। यद्यपि इस समय रामायण चम्पू, भारत चम्पू आदि कई चम्पूग्रंथ उपलब्ध होते हैं, पर वे सभी ग्रंथ दशवीं शताब्दी के बाद के है। उपलब्ध चम्पूकाव्यो मे हमे दशवी शताब्दी के पूर्व का कोई चम्पूकाव्य दृष्टिगोचर नहीं होता है।

अब आप कन्नड-चम्पू काव्यो की ओर आइये। उपलब्ध कन्नड साहित्य मे भी हमे दशवी शताब्दी के चम्पूकाव्य ही प्राप्त होते हैं। ये चम्पूकाव्य सुप्रसिद्ध जैन कवि पप, पोन्न और रन्न के है। यद्यपि अधिकांश विद्वानो का मत है कि 'पप-भारत' ही कन्नड का सर्वप्रथम महाकाव्य है। इसे जो नहीं मानते हैं, वे पप के आदिपुराण अथवा पोन्न के शांतिपुराण को प्रथम स्थान मे रख सकते है। खैर, यह विषयातर है। यहाँ पर वास्तविक विषय यह है कि सुदृढ़ प्रमाणो से मालूम होता है कि कन्नड मे चम्पूकाव्य दशवी शताब्दी से पूर्व ही रचे गये थे।

'कविचरिते' मे नववी शताब्दी के कवि प्रथम गुणवर्म का उल्लेख मिलता है। इसने 'शूद्रक' और 'हरिवश' नामक दो ग्रंथो की रचना की है। यद्यपि ये दोनो ग्रंथ उपलब्ध नही हुए हैं, परन्तु इन ग्रंथो से उद्धृत पद्य हमे व्याकरण और सकलन-ग्रंथो मे उपलब्ध होते हैं। अभिनववादी विद्यानन्द ने अपने 'काव्यसार' नामक सकलन-ग्रंथ मे गुणवर्म के 'शूद्रक' ग्रंथ से नामनिर्देश के साथ अनेक सस्कृत वृत्त, कद, और एक गद्य भाग को उद्धृत किया है। इसी मे 'हरिवश की' अवतरणिका भी दी गयी है। यद्यपि 'काव्यसार' १६वी शताब्दी का ग्रंथ है, फिर भी कतिपय पद्यो के सिवा इसमे उद्धृत सभी उद्धरण चम्पूकाव्यो के है। गुणवर्म के 'शूद्रक' और 'हरिवश' से उद्धृत पद्य उपलब्ध चम्पूकाव्यो के पद्यो से बिल्कुल मिलते-जुलते हैं। इससे स्पष्ट मालूम होता है कि गुणवर्म के ये दोनो ग्रंथ चम्पूकाव्य थे।

गुणवर्म के पूर्व भी कन्नड मे चम्पूग्रंथ रचे गये थे, इस बात का समर्थन करने के लिए यद्यपि हमारे पास सुदृढ प्रमाण मौजूद नही हैं, फिर भी इस सम्बन्ध मे निम्नलिखित बाते अवश्य विचारणीय है। १६वी शताब्दी के कवि मगरस एव दोड्डय्य के उल्लेखो को आधार मानकर, 'कविचरिते' के मान्य लेखक आर० नरसिंहाचार्य का कहना है कि उपर्युक्त उभय कवियो के द्वारा निर्दिष्ट श्रीविजय का 'चन्द्रप्रभचरितचम्पू' 'कविराजमार्ग' मे प्रतिपादित कवि श्रीविजय के द्वारा ही रचा गया होगा। विद्वानो का मत है कि श्रीविजय का काल ८वी शताब्दी या नौवीं शताब्दी का पूर्वार्ध होना चाहिए। इस हिसाब से कन्नड मे चम्पूकाव्यों का काल श्रीविजय तक चला जाता है। अर्थात् श्रीविजय के काल मे कन्नड भाषा मे चम्पूकाव्यो का प्रचार अवश्य रहा।

इस समय उपलब्ध सस्कृत एव कन्नड चम्पूग्रंथ दशवी शताब्दी के हैं। किन्तु उपलब्ध न होने पर भी निश्चित आधारो से कन्नड चम्पूग्रंथो ने ८वी ९वी शताब्दियो मे ही जन्म लिया था, यो मानने मे किसी को आपत्ति नही होनी चाहिए। हाँ, इससे पूर्व भी कन्नड मे चम्पूग्रंथ मौजूद थे, इस बात को मनवाने के लिए सुदृढ प्रमाणो की आवश्यकता है। इस विषय मे सिर्फ अनुमान ही कार्यकारी नही होगा। इस परिस्थिति मे सस्कृत से पूर्व जन्म पाने वाला चम्पू रूप सस्कृत साहित्य तथा काव्यो के प्रभाव से यथेष्ट प्रभावित होने पर भी, स्वतंत्र है और वास्तव मे यह चम्पू रूप सस्कृत साहित्य को कन्नड भाषा के द्वारा प्रदत्त एक अमूल्य देन है, यो मानने मे विद्वानो को कोई आपत्ति नही होनी चाहिए।

३ चम्पूकाव्यो का उद्गम स्थान—चम्पूकाव्यो का उद्गम स्थान कर्णाटक ही है। इसके लिए निम्नलिखित पक्तियाँ अवश्य द्रष्टव्य हैं। कन्नड के आदि कवि पप का आश्रयदाता राष्ट्रकूटशासक तृतीय कृष्ण का सामत अरिकेसरी था। सस्कृत महाकवि सोमदेवसूरि का आश्रयदाता भी यही अरिकेसरी रहा। जब पप ने अपने 'भारतचम्पू' को अरिकेसरी के चरित्र सूचक इतिहास रूप मे रचा, तब उसी अरिकेसरी के आश्रय मे रहने वाले महाकवि सोमदेवसूरि ने अपने 'यशस्तिलक' को भी रचा। पप ने अपने द्वितीय ग्रन्थ 'आदिपुराण' को ई० सन् ९४१ मे समाप्त किया। इसी प्रकार सोमदत्त सूरि ने अपने ग्रंथ 'यशस्तिलक' को ई० सन् ९५९ मे पूर्ण किया। इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि पप के बाद ही सोमदत्त सूरि का 'यशस्तिलक चम्पू' रचा गया है। हां, 'नलचम्पू' इससे पूर्व रचा गया होगा। पर उसका समाप्तिकाल मालूम नही हुआ है।

इस 'नलचम्पू' को त्रिविक्रम भट्ट ने राष्ट्रकूटशासक तृतीय इन्द्र (ई० सन् ९१४-१६) के आश्रय मे रचा। पूर्वोक्त राष्ट्रकूटशासक तृतीय कृष्ण से 'कविचक्रवर्ती' की उपाधि पाने वाले महाकवि पोन्न ने दसवी शताब्दी मे ही 'शांतिपुराण' की रचना की थी। इन बातो पर विचार करने पर मालूम होता है कि प्रारंभिक संस्कृत चम्पूग्रंथ कर्णाटक राजाओ के आश्रय मे, कर्णाटक मे ही रचे गये और उन संस्कृतकवियो को कन्नड कवि एवं पण्डित ही आदर्श रहे। इस निर्णय पर पहुचने पर यह बात विदित हो जाती है कि प्रारंभ के सभी कन्नड कवि जैन रहे और उन्होंने ही कन्नड मे चम्पूरूप को जन्म दिया। बाद मे संस्कृतकवि सोमदेवसूरि और त्रिविक्रम भट्ट इन दोनो ने पूर्वोक्त कन्नड कवियो का ही अनुसरण किया। हा, यहाँ पर इस निर्णय की बाधाओ पर भी विचार कर लेना आवश्यक है।

'अग्निपुराण' और दंडि के 'काव्यादर्श' मे चम्पू का उल्लेख तथा लक्षण जो आया है, वह पूर्वोक्त निर्णय मे बाधक माना जा सकता है। अब इन ग्रन्थो मे से 'अग्निपुराण' को पहले लीजिये। पहले यह 'अग्निपुराण' एक अति प्राचीन ग्रन्थ माना गया था अवश्य, पर इधर के संशोधन मे यह ग्रन्थ ई० सन् सातवी शताब्दी का माना गया है और उसमे भी इसका अलंकार भाग ई० सन् ९वीं शताब्दी का। ऐसी परिस्थिति मे पूर्वोक्त निर्णय के लिये अग्निपुराण बाधक नही हो सकता।

द्वितीय 'काव्यादर्श' को लीजिए। यह पता नही लगता है कि १० वी शताब्दी के पूर्व के, दंडि के परिचित संस्कृतचम्पू ग्रन्थ कौन से हैं? हरिचन्द्र का 'जीवंधरचम्पू' नहीं हो सकता। हा, इस संदर्भ मे सहसा यह विचार उठ खडा होता है कि महाकवि दंडि के परिचित चम्पूग्रन्थ तमिल एवं कन्नड के क्यो नही हो सकते? क्योंकि विदर्भवासी दंडि बाद मे कंचि के पल्लवो के आस्थान में आ गया था। ऐसी दशा मे दंडि का तमिल एवं कन्नड चम्पूकृतियो से परिचित होना आसान और स्वाभाविक है।

४ **चम्पू काव्यों के जन्मदाता**—उपर्युक्त आधारो से यह बात सिद्ध हो जाती है कि कर्णाटक-वासी दिगम्बर जैन कन्नड कवि ही चम्पूकाव्यो के जन्मदाता हैं। श्रीमान् वेंद्रे का निर्दिष्ट मत है कि श्रीविजय आदि कन्नड जैन कवियो ने ही चम्पूकाव्यो की बुनियाद डाली। वस्तुत कन्नड जैन कवियो ने ही कन्नड मे चम्पूपरम्परा को प्रारंभ कर, कन्नडसाहित्य को सर्वोपरि शिखर पर पहुचाया। निःसन्देह इन चम्पूकाव्यो की शैली बहुत ही प्रौढ है। संस्कृतभाषा के परिज्ञान के बिना इन काव्यो को जानना आसान नहीं है। इस बात को निर्विवाद रूप से मानना होगा कि विशेषत चम्पूकाव्यो ने जैन पुराण एवं लौकिक काव्यो मे जो वैशिष्ट्य हासिल किया है, वह संस्कृत साहित्य के लिए नवीन है।

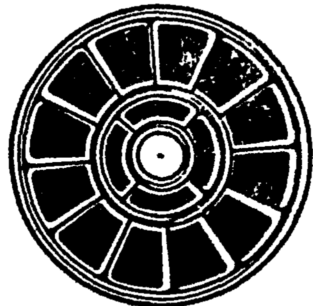
संस्कृत, अपभ्रंश, कन्नड, तमिल आदि किसी भी भारतीय भाषा का जैन काव्य हो, वह उनमे महाकाव्य के सभी लक्षणो से युक्त होकर भी, सिर्फ रस मे शृंगारादि रसो को विशेष स्थान न देकर, शांतरस को ही अपनाता है। क्योंकि जैनधर्म निवृत्ति प्रधान धर्म है। इसका अंतिम लक्ष्य एक मात्र मुक्ति है। इसीलिए इसमे शांतरस को स्थान देना सर्वथा स्वाभाविक ही है। पर पाठक, इस असाधारण गुण को जैन कृतियो मे ही पायेंगे। जैन काव्यो मे मतत्त्व, नीति, कथा आदि आवश्यक सभी विषय समाविष्ट हैं अवश्य फिर भी पाठकों को इन काव्यो मे द्राक्षापाक का सुख ही मिलेगा। इसका अनुभव एक भुक्तभोगी ही कर सकता है।

५ **चम्पूकाव्यों ने सर्वप्रथम किस भाषा में जन्म लिया**—इसका उत्तर ऊपर आ चुका है। फिर यहाँ पर भी उसे दुहराया जाता है। वस्तुत चम्पूकाव्यो ने कन्नड एवं तमिल भाषाओ मे जन्म पाकर, बाद मे संस्कृत भाषा मे प्रवेश किया क्योकि चम्पू शब्द संस्कृत का नही है। वह कन्नड का है। यह बात ऊपर स्पष्ट कर दी गयी है। अब इस विषय मे और लिखना केवल पिष्टपेषण होगा। इस विषय पर अन्य संशोधक विद्वान् भी अवश्य प्रकाश डालें।



कन्नड-साहित्य में जैन-काव्यो की लौकिक परंपरा

(१० वीं से १२ वी सदी ई० तक)



सु० रामचन्द्र

प्राध्यापक हिन्दी विभाग, कर्नाटक कालेज, धारवाड

आचार्य विनोबाजी ने साहित्यिकों से चर्चा करते समय एक स्थान पर सकेत किया है कि 'श्रेष्ठतम साहित्य का निर्माण या तो पूर्ण विरक्त द्वारा या सृष्टि के उपासक भक्त द्वारा सम्भव होता है। जो पूर्ण विरक्त नहीं है या सृष्टि का उपासक नही है, वह स्फूर्तिदायक आश्रय मे अपनी प्रतिभा का विकास करने मे समर्थ होता है।' कन्नड का यह सुयोग ही माना जाना चाहिए कि उसे आरम्भ से ही ऐसे साधकों का स्नेहदान मिला जो विरक्त थे, सृष्टि के उपासक भक्त थे और स्फूर्तिदायक राजाश्रय मे सम्मानित भी थे। राजदरबारो मे रहकर इन कवियो ने 'प्राकृत जन गुनगान' मे ही अपनी मौलिक प्रतिभा का अपव्यय न होने दिया। ये कवि कभी आश्रित नही रहे। आश्रयदाता ही इन सुकवियों की उपस्थिति से निज को गौरवान्वित मानने लगे थे।

इस युग की दूसरी विशेषता साहित्य का सम्प्रदायातीत होना है। ये साहित्यिक अपने-अपने सम्प्रदाय का समादर करते हुए सभी पथो सम्प्रदायों से भिन्न तथा परे दिखाई देते हैं। यही कारण है कि ये रससिद्ध कवीश्वर चिरतन साहित्य-निर्माताओ की श्रेणी मे आते हैं और युग-जीवन के यथार्थ को युग-वाणी मे चरितार्थ होने देते हैं। अधिकतर कवि जैनधर्म के अनुयायी थे। आदिकवि पप 'जिनसमयदीपक' की उपाधि से विभूषित थे ही। पर इन उदारचेता महानुभावो ने जैनेतर राजदरबारो मे अपनी गुणग्राहकता का परिचय दिया और आजीवन जैनदर्शन के आलोक मे सरस्वती की आराधनाओं मे लगे रहे। वाणी की यह उपासना प्रेम-श्रेय की समन्वित साधना से गरिमामडित रही। सस्कृत की महती परम्परा से पोषित इस साधना मे जीवनदर्शन तथा अभिव्यजना शैली की नवीनता काव्यक्षेत्र मे गोचर होने लगी। युगीन आदर्शों के अनुरूप परम्परागत आख्यानो-पात्रो की अवतारणा होने लगी। चपू काव्य-शैली मे तत्सम तथा देशज पद-विन्यास का चमत्कार लक्षित होने लगा। कवियो ने एक ओर रामायण, महाभारत जैसे आकर ग्रन्थो से कथानक तथा पात्र अपनाये और दूसरी ओर जैन पुराणो के आदर्श पर तीर्थंकरों की काव्यात्मक जीवनिया प्रस्तुत की। पहली श्रेणी की कृतियाँ लौकिक और दूसरी 'आगमिक' रचनाए मानी गई। प्रत्येक कवि ने इन द्विविध काव्यविधाओं मे अपनी अदभुत रचना पटुता का परिचय दिया। कलात्मक सौंदर्य का उत्कर्ष तथा सद्विचार के प्रतिपादन का महोन्नत आदर्श दोनो शैलियो मे लक्षित हुए। इस लेख मे जैनकाव्यो की लौकिक परम्परा का विश्लेषण प्रस्तुत करना हमारा अभिष्ट है।

आरभिक युग मे कन्नड साहित्य के 'रत्नत्रय' के नाम से विख्यात पप, पोन्न और रन्न हैं। इनमे आदिकवि पप द्वारा प्रवर्तित साहित्यिक सम्प्रदाय ही परवर्ती कवियो के लिए राजपथ सिद्ध हुआ। 'विक्रमार्जुनविजय' महाकाव्य के प्रणेता 'कवितागुणार्णव' पप (९४१ ई०) 'सुदविजननोमानसोत्तसइस' ही नही, 'सरस्वति मणिहार' भी माने गये। जैन ही नही,



जैनेतर कवियों ने भी इन्हें 'कविचक्रवर्ती' 'कविकुलसार्वभौम' मुक्तकंठ से घोषित किया। इससे स्पष्ट है कि कन्नड साहित्य में आदिकवि पप 'असदृश, अपूर्व रस-भाव-व्यंजना' के अनुपम प्रेरणा-स्रोत थे।

जैन काव्यों की लौकिक परम्परा में ओज गुण की प्रधानता है, उत्साह की अद्भुत व्यंजना है, चरितनायक के पौरुष-वर्णन में अपने आश्रयदाता के पराक्रम को संकेतित करने का चमत्कारपूर्ण श्लेष-विधान है, परंपरागत पात्रों के मनोभावों का निरूपण करने में मनोविज्ञान-सम्पन्न यथार्थवादी मानवीय दृष्टिकोण, जैन तथा वैदिक संस्कृतियों के सार-तत्त्व का समन्वित मूल्यांकन एवं आत्मप्रतीति के साथ उसका स्पष्ट प्रतिपादन है। अविरोधी मानवीय जीवनादर्शों के प्रति आस्थावान् ये कवि काव्य-कला को चरम उत्कर्ष पर पहुंचाने में समर्थ हुए हैं। इस परंपरा में 'विक्रमार्जुनविजय' (९४१ ई०), 'साहसभीमविजय' (९८२ ई०) तथा 'रामचन्द्रचरित पुराण' (लगभग ११०५ ई०) तीन अनुपम आख्यानकाव्य हैं जिनमें ऊपर वर्णित सारी विशेषताएं सहज ही दिखाई देती हैं। अब क्रम से इनका परिचय नीचे दिया जा रहा है।

'विक्रमार्जुनविजय' या 'पंपभारत'

यह महाकाव्य चालुक्यवंश के नरेश अरिकेसरी के पराक्रम से संबद्ध रचना है। चालुक्यों की राजधानी पुलिगेरे—धारवाड जिले का लक्ष्मेश्वर—थी। अरिकेसरी गुणार्णव नाम से विख्यात था। सोमदेव के 'यशस्तिलक' (९५९ ई०) ग्रन्थ में भी इसकी शूरता-वीरता का उल्लेख है। आदिकवि पंप ने अरिकेसरी की महिमा का गुणगान करने के लिए महाभारत के वीरव्रती अर्जुन का चित्रण किया है। कवि ने महर्षि व्यास-रचित महाभारत का ही अनुसरण किया है। अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए उसमें निम्नलिखित परिवर्तन कर लिए हैं

यहां का प्रधान पात्र अर्जुन है। द्रौपदी पांचों पांडवों की नहीं, केवल अर्जुन की जीवनसंगिनी है। हस्तिनापुर में अर्जुन तथा सुभद्रा के सिंहासनारूढ होते ही कथा समाप्त हो जाती है।

महाकाव्य के आश्वास या सर्ग के लिए कोई विशिष्ट शीर्षक नहीं है। पर कवि ने सर्ग के अन्त में सर्वत्र लिखा है कि 'यह विक्रमार्जुनविजय कवितागुणार्णवविरचित है'। कवि प्रसन्न-गम्भीर-वचन-रचना-चतुर है। यह विविध विबुधजन-विनुत जिनपदांभोज वर प्रसादोत्पन्न है। कवि ने वर्णित प्रमुख घटनाओं का सार स्वयं दे दिया है और यह दावा किया है कि मैंने कोई प्रसंग छोडा नहीं है, सभी घटनाएँ यहाँ समाविष्ट मिल जायंगी। राजधानी पुलिगेरे की परिष्कृत कन्नड में रचित यह चंपूकाव्य इतना लोकप्रिय हुआ कि इसके सामने पूर्ववर्ती काव्य फीके पड गये और परवर्ती काव्य इसका अनुकरण-मात्र रह गये।

चौदह आश्वासों में प्रणीत इस चम्पूकाव्य के आरंभ में चरितनायक का परिचय कराया गया है—'चालुक्य वंश में युद्धमल्ल नाम का अधीश्वर था। सपादलक्ष प्रदेश पर वह शासन करता था। इसका कुमार अरिकेसरी था जिसने निरुपमदेव के राज्य पर आक्रमण किया। अरिकेसरी के नरसिंह तथा भद्रदेव दो लडके थे। दुग्धमल्ल नरसिंह का सबसे बडा लडका हुआ। बद्देगा दुग्धमल्ल का ज्येष्ठपुत्र था। बद्देगा ने ४२ लडाइयाँ लडी और भीम को परास्त किया। वह बडा उदार था। दुग्धमल्ल और नरसिंह क्रम से बद्देगा के पुत्र और पौत्र हुए। नल, नहुष, पृथु, भगीरथ आदि से भी नरसिंह प्रतापी था। लाट इससे पराजित हुए, गुर्जर सेना इससे हार गई और महीपाल के पैर इसके सामने उखड गये। जाकव्वे, नरसिंह की रानी थी। अरिकेसरी इनका सपूत था। शैशव में ही इसकी शूरता सर्वविदित थी। अपने पूर्वजों से सर्वाधिक शक्ति संपन्न होने के कारण कवि ने उसे अपना चरितनायक चुना है, अर्जुन से उसकी समानता दिखाई है और काव्य रचना आरंभ की है।

इसमें पहले जो मंगलाचरण हैं वह भी कवि के उदात्त दृष्टिकोण का परिचायक है। कवि उदात्तनारायण की वंदना के बाद उदार महेश्वर, प्रचण्ड, तार्तांड, सहज मनोज, सरस्वति, दुर्गाजी और विनायक का स्तवन करते हैं।



कवि की दर्प-दीप्त मनोवृत्ति का आभास हमे इस कथन से मिल जाता है कि कविता गुणार्णव ही कवियों में सर्वश्रेष्ठ है और चरितानायक गुणार्णव ही राजाओं का राजा है। मैं महर्षि व्यास का अनुगमन करता हूँ, पर उस स्तर पर मैं अभिनन्दन का पात्र नहीं हूँ। गुणार्णव की महिमा का परिचय कराना मेरा ध्येय है और गुणार्णव ही अर्जुन से बराबरी का दावा कर सकते हैं।'

इतनी भूमिका बाँधने के बाद कवि महाभारत का आख्यान आरंभ करते हैं। तीसरे आश्वास में अर्जुन से द्रौपदी स्वयंवर का वर्णन है। तेरहवें आश्वास मे दुर्योधन का विलाप मार्मिकता से वर्णित है। कर्ण के वध पर दुर्योधन अधीर हो उठा है। धृतराष्ट्र और गांधारी के परामर्श के बाद भी दुर्योधन पाण्डवों से सुलह करने को तैयार नहीं है। शल्य के नेतृत्व में युद्ध जारी रखा जाता है। धर्मराज से जूझते शल्य का प्राणांत होता है। उद्विग्न दुर्योधन रणक्षेत्र में अकेले ही कूद पड़ना चाहता है। संजय इस दुस्साहस से उसे मना करता है। भीष्म से विचार-विनिमय का सुझाव देता है। पितामह से मिलने जाते समय मैदान में द्रोण, कर्ण, वृषसेन, दुःशासन तथा अन्य सुहृद्वर वीरों के मृतक शरीर देख दुर्योधन मर्माहत हो जाता है। पितामह से मिलकर उनकी सलाह माँगता है तो वे भी शांति की अनिवार्यता का स्मरण दिलाते हैं। दुर्योधन को यह बात रुचती नहीं। उसका रुख पहचानते हुए पितामह यह उपाय बताते हैं कि शाम को बलराम के लौट आने तक दुर्योधन चुप रह ले और उनकी सहायता पाकर संघर्ष जारी रखे। पितामह दुर्योधन को जलमग्न की दीक्षा देते हैं और वैशंपायन सरोवर में छिपे रहने की सलाह देते हैं। दुर्योधन को रणक्षेत्र में लापता देख पांडव चकित हो जाते हैं। भीम बड़ी चतुराई से उसकी चाल का पता लगा लेता है। वह सरोवर के समीप पहुँच कर चुभती हुई वाणी से दुर्योधन को ललकारता है। वीरवर स्वाभिमानी दुर्योधन इस ताने से आग-बबूला हो जाता है और पानी से बाहर निकल कर गदा फेरने लगता है। भीम के गदा-प्रहार से दुर्योधन की जांघ टूट जाती है और उसके प्राण पखेरू उड़ जाते हैं। अर्जुन राज्य का सर्वाधिकारी हो जाता है। यहाँ विस्तार से इस आश्वास का विवरण देने का आशय यही है कि परवर्ति कवि रत्न ने इसके आधार पर 'साहसभीमविजय' या 'गदायुद्ध' महाकाव्य रचा है।

चौदहवें आश्वास में हस्तिनापुर में अर्जुन तथा सुभद्रा का राज्याभिषेक—सिंहासनारोहण—वर्णित है। यहाँ कवि के व्यक्तित्व पर प्रकाश डालने वाले वृत्त का भी उल्लेख मिलता है। कवि कहता है कि 'वेंगिमंडल प्रदेश में वेंगियलु नाम का सुन्दर नगर है। कोट्टूरु, निडगुंदि, विक्रमपुर नाम की बस्तियाँ इसमें लगी हुई हैं। विक्रमपुर में वत्स गोत्री माधव सोमयाजी निवास करते थे। अभिमानचन्द्र, कुमारय्या, अभिरामदेवराय क्रम से इनके पुत्र, पौत्र, प्रपौत्र थे। अभिरामदेवराय जैन धर्मावलम्बी हुए। कविता गुणार्णव पंप इनके सपूत थे। अरिकेसरी के दरबार में पंप सम्मानित थे और उनकी इच्छा रखने हेतु यह महाकाव्य रचा गया है।

कवि ने अपनी असाधारण प्रबंधपटुता का परिचय इन शब्दों में दिया है—'पुलिगेरे की परिष्कृत कन्नड में पंप सफल काव्य-रचना करते है। 'पंपभारत' तथा 'आदिपुराण' पूर्ववर्ती समस्त कृतियों को फीका बनाने में समर्थ रचनाएँ हैं। कवि ने केवल छः माह में 'भारत' और तीन माह में 'आदिपुराण' समाप्त किया है। महर्षि व्यास की परम्परा में कवि पंप 'पुराणकवि' होने का गौरव पा चुके हैं। इसमें वर्णित महापुरुषों की महिमा का प्रताप है कि यह भारत सर्वत्र सम्मानित है।'

इस लम्बे उदाहरण से यह स्पष्ट है कि पंप कवि के पूर्वज ब्राह्मण थे, उनके पिताजी जैनधर्म में दीक्षित हुए और प्रतिभासम्पन्न कवि ने जैनदर्शन के आलोक में लौकिक 'आगमिक' काव्य-विधाएँ प्रवर्तित की। पर इस धर्म-परिवर्तन के आवेश में कहीं भी कटुता या प्रतिस्पर्धी मनोभाव व्यक्त नहीं हैं जो आज भी धर्मान्तर प्रेमियों के लिए अनुकरणीय आदर्श है।

पंप कवि की वर्णन-शैली में कालीदास, बाण, भारवी आदि महाकवियों की शिल्पचातुरी तथा रामायण, महाभारत

की अद्भुत रचना-प्रक्रिया की छाप दिखाई देती है। यहाँ संस्कृत की स्वर-माधुरी, प्राकृत की ध्वनि-लहरी कन्नड कस्तूरी का सौरभ बढाने मे सहायक हुई हैं। यहा महाकाव्योचित वस्तु-व्यापार वर्णन तो है ही, रसानुभूति मे सहायक भाव-व्यजना, अनुभाव-विधान तथा अलकार योजना भी है। पात्रो का स्वभाव अकित करने मे कवि की सवेदनशीलता का उत्कर्ष दिखाई देता है। अपने चरितनायक का गुणगान तो प्रत्येक कवि करता है, पर अपने आदर्श नायक के प्रति-स्पर्धी की बडाई विरल ही देखने को मिलती है। पपभारत मे अर्जुन के वीरोचित व्यापारो का ब्योरेवार वर्णन है ही, साथ ही कर्ण की त्यागशीलता का प्रसादपूर्ण चित्रण भी है। अर्जुन की वीरगाथा का कर्णरसायन की सजीवता के समन्वित विकास मे पपभारत के रचयिता को बडी सफलता प्राप्त हुई है। कन्नड के कविवर पूज्य बेन्द्रेजी ने ठीक ही कहा है कि 'अर्जुन की महिमा भारत का हृदय रसायन है जो कर्ण की कीर्तिगाथा उनका कर्ण रसायन है।' कर्ण का स्मरण हो आते ही कवि का करुणाकलित अत करण बरस पडता है और काव्यक्षेत्र मे खलनायको के प्रति समवेदना दर्शाने की नई परपरा चल पडती है।

सृष्टि के उपासक भक्त कवि पप का प्रकृति-प्रेम रसिको का आकर्षण-केन्द्र है। यहाँ का प्रकृति-प्रेम निर्मल हृदय की पुनीत भावधारा का पर्याय ही है। महाकवि के लक्षणो मे निर्दिष्ट प्राकृतिक रूप व्यापार का उल्लेख भी हुआ है। पर आलबन रूप मे प्रकृति-चित्रण मे कवि की तन्मयता व्यक्त हुई है। ऐसे स्थलो मे कवि की सहज सौन्दर्यानुभूति का उन्मेष आकर्षक लगता है, अलकृत शैली का कौतुक गौण हो जाता है। कवि बनवासी[1] की प्राकृतिक विभूतियों पर विशेष अनुरक्त है और वहाँ के वन-प्रांतर की बहुविध भगिमाओ का 'पल पल परिवर्तित प्रकृति-वेश' अकित किया है।

शृगार के प्रकरण मे प्रकृति का उद्दीपक चित्रण यहा अधिक हुआ है। प्रकृति के रूप-व्यापारो मे प्रेमानुभूति के पोषक तत्वो का विस्तृत समावेश षड्ऋतु-वर्णन मे दिखाई देता है। आम, वेला इन दोनो पर तो कवि विशेष मुग्ध है। कवि की दृष्टि मे ये दोनो 'ससार सार सर्वस्व फल है।' वर्ष भर प्रचुर परिमाण मे ये दोनो मिल जाएँ तो क्या कहना है। वसत का विलास आम मे तथा वसत और कामदेव का प्रभुत्व-विस्तार वेला मे अनुभव करने को मिलते हैं। अगणित पादपो-पुष्पो का भी उल्लेख हुआ है, पर आम तथा वेला पर कवि तन-मन निछावर कर चुका है। प्रत्येक ऋतु का सश्लिष्ट चित्रण भी कवि की सूक्ष्म-निरीक्षण-क्षमता का परिचायक है। मेघावृत नभ मे इन्द्रचाप का इद्रजाल अनोखा वरदान है। शरत् का आगमन लगता है मानो ससार नई आँखें पा गया हो। शशि-रवि के उदय का दृश्यांकन भी मनोरम है। इस चित्रण-विधान मे अर्थग्रहण का कुतूहल कम, बिम्बग्रहण की कल्पनाप्रसूत अनुभूति की तीव्रता अधिक है। कवि ने इस महाकाव्य मे सस्कृत के वर्णवृत्तो के साथ कन्नड के निजी छन्दो का भी प्रयोग किया है।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि विक्रमार्जुनविजय अपने युग के समन्वयात्मक जीवनदर्शन का प्रतिनिधि काव्य है।

'साहस भीम विजय' या 'गदायुद्ध'

यह भी एक प्रसिद्ध चपूकाव्य है और प्राजल कन्नड की अनुपम रचना है। रचयिता कवि रत्न ने अपने आश्रयदाता तैलप द्वितीय के राजकुमार इरिवबेडग की वीरता का गुणगान करने हेतु इसका प्रणयन किया है। इस



१ मैसूर राज्य में उत्तर कर्नाटक के सिरसी नगर से १८ मील पर स्थित ऐतिहासिक प्रदेश है। कहा जाता है कि ईसवी सदी के आरभ मे यही श्रुति-परपरा में प्राप्त जैन षट्खड आगम के मूल सूत्र पहली बार लिपिबद्ध हुए। आचार्य भुजबल शास्त्री जी की इस सूचना के लिए मैं उनका बडा आभारी हूँ।



काव्य में परमभट्टारक सत्याश्रम (इरिवबेडग) के रण कौशल का भीम के अमित पराक्रम के रूप मे उत्साहवर्धक चित्रण हुआ है। अत इसका नाम 'साहसभीमविजय' पडा है।

काव्य का वर्ण्य विषय गदायुद्ध है। दुर्योधन-भीम के हस्तलाघव के वर्णन द्वारा कवि ने चरितनायक इरिवबेडग की अनन्य शक्ति सामर्थ्य का महाकाव्योचित उद्घाटन किया है। यह आदिकवि पप के 'विक्रमार्जुनविजय' के तेरहवें आश्वास पर आधारित अनुपम कलाकृति है। उद्देश्य-सिद्धि के लिए कवि ने मूल कथानक मे आवश्यक परिवर्तन कर लिया है। महाभारत का दुर्योधन स्वभाव से ही दुष्ट है, अत अनिष्ट का उपभोग करने को विवश है। यहा का दुर्योधन बडा तेजस्वी है, श्रेष्ठ-गुण सम्पन्न है, वीरो की परपरा में गौरवान्वित होने योग्य है, पर नियति की निठुराई के कारण अभागा आहत होता है और सबकी सहानुभूति का पात्र बन जाता है। कर्ण एव अभिमन्यु के वध पर दुर्योधन के विलाप मे करुणा का नया स्रोत ही उमडा दिखाई देता है। धर्मराज के चरित्र-चित्रण मे नई उद्भावनाओ के द्वारा कवि ने उदात्तता व्यक्त होने दी है। महाभारत की भाति गदायुद्ध आसद (Tragedy) नही है। यह सुखात बन गया है और आदि, मध्य एव अत मे लोक मगल की ध्वनि व्यक्त हुई है। पूर्ववर्ती 'विक्रमार्जुनविजय' ही इसका आदर्श है। इधर-उधर कवि पप की उक्तिया भी ज्यो-के-त्यो उद्धृत कर दी गई हैं। कोई कोई इसे 'विक्रमार्जुनविजय' की प्रतिच्छाया भी कहते हैं। जो भी हो, इतना अवश्य सही है कि महायुद्ध के प्रणयन मे पपभारत से कवि विशेप प्रभावित हैं। रत्न कवि की मौलिक प्रतिभा का पता इतने से लगाया जा सकता है कि कवि ने एक सीमित वृत्त को विस्तृत पटल पर बहुरगी ताने-बाने से सुशोभित किया है और दस आश्वासो मे एक आश्वास की कथा का वितान ताना है।

गदायुद्ध दस आश्वासो-सर्गो मे वर्णित महाकाव्य है। प्रथम सर्ग भीमसेन की प्रतिज्ञा का प्रकरण है। ग्रथारभ मे कवि ने विष्णु, शिव, ब्रह्म, सूर्य आदि की वदना की है। मयूरवाहिनी यक्षिणी से चालुक्य वश की विजय की याचना की है। चालुक्य नरेश का मन्मथ के अनुरूप स्तुतिगान किया है। वाणी से अनुग्रह की आकाक्षा व्यक्त की है। वाल्मीकि, व्यास, कालिदास, बाण आदि कविपुगवो का अभिवादन किया है। अत मे गधवारण उपाधि से विभूषित राजकुमार इरिवबेडग—सत्याश्रय—की वीरता का स्तवन किया है।

कवि सत्याश्रय को इस चपूकाव्य का चरितानायक घोषित करता है। उसका पराक्रम अकित करने के लिए भीम का शौर्य निरूपित करने का सकल्प घोषित होता है। पीछे अपना परिचय देते कवि कहता है कि—'मै कवि रत्न हू। सामतो से सम्मानित, मडलेश्वर से गौरवान्वित तथा चक्रवर्ती से पुरस्कृत हू। ससार मे यश ही अमर है। धन अशाश्वत है। सपत्ति के मोहजाल मे फसते क्यो हैं? आनन्दानुभूति हो, परपरा से परिचित हो, जनभाषा से अभिरुचि हो तो काव्य निर्माण द्वारा जीवन सार्थक बनाया जा सकता है। मैं तैलप चक्रवर्ती के साम्राज्य का कवि सम्राट हूँ। पूर्ववर्ती कवियो में से किसी ने अपनी प्रतिभा से वाग्देवी के भाडार की मुहर तोडी नहीं। रस-भाव के मौलिक स्वरूप-भेद को पहचानते हुए अनुकूल वर्ग-विन्यास द्वारा उसे काव्य-रूप देने मे मैं चतुर्मुख के समान हू। गगमडलेश की कृपा से मैं अनर्घ्य रत्न हू। वसुधाधिपति की सेना में स्वर्ण-विजडित रत्न के समान 'महारत्न' नाम से विश्रुत हू। मेरी कन्नड प्राजल कन्नड है, सस्कृत मधु-सम्योत्पन्न है। मैं अभय कविता-विशारद हू, गुणाढ्य हू। मेरा काव्य 'कृतिरत्न' है। इसे परखने का पराक्रम है किसमे? इसमे सिंहावलोकन क्रम से समूचा भारत चित्रित किया है। पूर्ववर्ती महाकाव्यो की तुलना मे रत्ती भर भी यह चम्पू घटिया नही है। काव्य मे सहज ही गोचर गुण-दोप की आलोचना करने वाला दोषी नही माना जाता। सपन्न को उदार होना है, वाक्सपन्न को अमत्सर होना चाहिए। ऐसी दशा मे कवि भी कृतार्थ हो सकते हैं। सरस्वति के वर के अनुपात मे स्वर सधान मे लीन होने वाला कवि पुण्यात्मा है। दण्डनायक केशि ने इसका अवलोकन किया है, अत यह कृति 'यश श्री-वनिता की अलकृति' हो गई है।'

इस आत्मपरिचय मे कवि ने अपनी बडाई के अलावा काव्य के स्वरूप तथा प्रयोजन पर अपना विचार भी व्यक्त किया है। लगता है कि आवेश मे पडकर कवि ने अपने प्रेरणा-स्रोत पप कवि का कही भी नाम लिया नही है। भट्टनारायण की कृति 'वेणीसहार' का भी उल्लेख नही किया है जिस पर यह चपूकाव्य कुछ हद तक आधारित है।

यह निर्विवाद है कि गदायुद्ध एक अनमोल 'क्लासिक्ल' है। इसकी कला अननुकरणीय है। प्रसंग के अनुरूप शैली का उत्कर्ष इनकी विशेषता है। मनोवृत्तियों की सहज दशा का जितना मार्मिक विश्लेषण संभव है, उतना यहां लक्षित होता है। रन्नकवि मानव-हृदय का पारखी है। वीर, शृंगार दोनों का प्रभावशाली चित्रण यहां हुआ है। उत्साह रति की भांति शोक की भी बेजोड़ व्यंजना हुई है। भीम के पौरुष के वर्णन में भीम-द्रौपदी के स्नेहपूरित दृष्टिपात में तथा दुर्योधन के विलाप में इसका प्रमाण देखा जा सकता है। माता-पिता एवं पितामह से विदा मांगने वाले दुर्योधन का चित्रण मर्म पर आघात करने वाला है। युद्ध-जन्य हाहाकार के वर्णन में कवि की पैनी दृष्टि विस्मय जगाने वाली है। सर्वत्र कवि की सृजनशील प्रतिभा का उल्लास गोचर होता है, घिसी-पिटी पंक्ति योजना का अभाव है।

यही कारण है कि गदायुद्ध की अभिव्यंजना में सुस्पष्टता है। यहां के पात्र सजीव हैं, वीरगाथा युग के सच्चे प्रतिनिधि हैं। ये कवि के हाथों कठपुतलियां नहीं हैं। कवि प्रत्येक पात्र के साथ तादात्म्य स्थापित करता है और पाठकों को उनके अनुकूल-प्रतिकूल आचरण के अनुरूप निर्णय की छूट दे देता है। अतः पात्र अपनी सबलता-दुर्बलता के साथ ईमानदारी के साथ पाठक के सामने पेश हो जाते हैं और अपना स्वतंत्र व्यक्तित्व रखते हैं। इसलिए यह रचना काव्यकला का ही नहीं, एक समूचे युग की संस्कृति को प्रतिबिम्बित करने वाली मानी गई है। कवि की प्रतिभा की छाप सर्वत्र अंकित मिलती है। सरल से सरल तथा जटिल से जटिल प्रसंगों के वर्णन में कवि की बेफिक्री और मस्ती साफ जाहिर होती है।

प्रसंगोचित सूक्तियों—संस्कृत, प्राकृत, कन्नड तीनों, की—लोकोक्तियों के प्रयोग से शैली में चुस्ती आ गई। 'उचितोक्ति, अर्थदृष्टि, अलंकृति' रन्न की शैली की सूत्रात्मक व्याख्या है। सूत्र रूप में जीवन का मर्म के उद्‌घाटन करने में कवि बड़ा सफल हुआ है। अनायास ही उन्मुक्त हृदय से विमल विचारों से तथा सजग कल्पना से वाग्देवी की आराधना में तल्लीन रहने वाले ऐसे कलोपासक बड़े विरल हैं। 'असहज अपूर्व रसभाव व्यंजना' के अनुरूप पद-योजना रन्न कवि की सबसे बड़ी देन है। बिन्दु में सिन्धु को समाहित करने की समाहार शक्ति भी इसमें अद्‌भुत है। रसास्वादन में ही रन्न की पंक्ति के साथ न्याय किया जा सकता है, अनुवाद में नहीं।

गदायुद्ध में पात्रों का शील-निरूपण नाटकीय कौशल का चरम विकास सूचित करता है। आलोचकों ने इसे Dramatic poem या नाट्यकाव्य भी माना है। कथानक का विकास पात्रों के संवादों तथा घटना व्यापारों द्वारा होता जाता है। ऐसा लगता है कि कवि ने दृश्यकाव्योचित सौन्दर्य का निर्वाह इस श्रव्य काव्य में करने का संकल्प किया है। यहां के सभी पात्र परंपरागत आदर्शों के सांचे में ढले हुए हैं। फिर भी कवि ने मानवीय दृष्टिकोण से ही इनके स्वभाव का वर्णन किया है। भीम और दुर्योधन यहां के नायक और प्रतिनायक हैं। संजय तथा द्रौपदी का स्थान भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है।



भीम आरंभ से ही प्रलयकारी रौद्र की सजीव प्रतिमा है। उनका क्रोध अकारण भी नहीं है। दुर्योधन से अपमानित, तिरस्कृत और पीड़ित पांडवों में प्रतिशोध की ज्वाला में भुना हुआ जीव अकेला भीम है। भीम का प्रण है कि द्रौपदी के अपमान का बदला जब तक न लिया जाय तब तक जीना बेकार माना जाय। द्रौपदी की झिड़कियां उसे और भी उत्तेजित कर देती हैं। दुर्योधन रणक्षेत्र से लापता है। अकेला भीम उसकी खोज में लग जाता है। रौद्र की व्यंजना का जितना अनुकूल अवसर कवि ने यहां निकाल लिया है, वह देखते ही बनता है। रोषाविष्ट भीम धर्मराज के सम्मुख उपस्थित हो अपनी सारी खीझ यों व्यक्त करता है 'मुझसे द्रौपदी का दुःख देखा नहीं जाता, सहा नहीं जाता। तुम तो हृदय हीन हो। आज के दिन तुम्हें अपना बड़ा भाई नहीं मानता। इस मामले में मैं तुम्हारी बात मानने को तैयार नहीं। मुझे जाने दो। मैं दुर्योधन को दफना के ही दम लूंगा।' भीम की उद्विग्न मनोदशा का जीता-जागता चित्र यहां उभर आया है।



यहाँ से भीम गाधारी के सामने जाता है। माता के सामने उसके प्रिय सुत के वध का सकल्प दुहराता है। यहाँ उसके रोष की पराकाष्ठा अ कित है, साथ ही उसके उद्धत स्वभाव का बोध होता है। अन्त में वैशपायन सरोवर के पास पहुचकर वह जल मे छिपे दुर्योधन को जो ललकारता है, वह क्रोध का चरम उत्कर्ष ही है। गिन-गिन कर गदा का जो प्रहार वह करता जाता है और प्रति प्रहार के साथ जो हुकार भरने लगता है, वह भीम के स्वभाव के अनुरूप ही है। भीम दुर्योधन का मुकुट गिरा देता है और उसकी जाँघ तोड देता है। द्रौपदी का वेणी-सहार करने के बाद भीम धरती पर गिरे दुर्योधन पर लात जमा देता है। ये रोषावेश, भयकर गर्जन, औद्धत्य भीम के लिए कोई असहज नहीं प्रतीत होते। इसके विपरीत प्रतिनायक दुर्योधन के चित्रण मे कवि की मौलिकता अधिक निखर उठी है।

विश्व साहित्य के महोन्नत पात्रो की श्रेणी मे कविरत्न के दुर्योधन की गिनती होती है। कन्नड साहित्य-प्रेमियो मे तो रत्न का दुर्योधन घरेलू चर्चा का विषय है। गदायुद्ध की यह खूबी है कि यहाँ नायक भीम की अपेक्षा प्रतिनायक दुर्योधन सहृदय का रजन करने वाला बन गया है। काव्य के दूसरे आश्वास मे छठे आश्वास के आधे भाग तक दुर्योधन की ही चर्चा है। दसवें अर्थात् अ तिम आश्वास मे दुर्योधन भीम की बराबरी का पात्र अ कित मिलता है। काव्य मे वर्णित प्रसग ही ऐसा है कि दुर्योधन की नीचता ओझल-सी हो जाती है और उसकी महानता उभरती जाती है। पाँडवो के साथ हुए अत्याचार का विस्तृत वर्णन यहाँ भी होता, तो दुर्योधन हमारी महानुभूति का अधिकारी न न होता। भीम की उक्तियो मे इसकी स्मृति क्षणभर के लिए जागृत होती है। अन्यथा काव्य मे दुर्योधन मानवीय धरातल पर आचरण करने वाला असाधारण वीर पुरुष ही अ कित मिलता है।

दुर्योधन के व्यक्तित्व मे परस्पर विरोधी तत्त्वो का समावेश हुआ है। गुण-दोष के सघात से निर्मित इस जटिल स्वभाव के व्यक्तित्व का भव्य विश्लेषण यहाँ मिलता है। दुर्योधन मे राग-द्वेष, दभ-दर्प, छलकपट, स्वजनप्रेम-मित्रप्रेम, आत्मप्रशसा-परनिंदा, शौर्य-मात्सर्य, स्थैर्य-औदार्य आदि बेमेल चित्तवृत्तियों का योग हुआ है। अत उसके सकरुण अवसाद पर सभी की आँखें गीली हो जाती हैं। काव्य के आरभ से पूर्व द्रोण, कर्ण, जयदर्थ, दु शासन आदि महारथी कालकवलित हो गये हैं। 'समरधीर, महाशूर, छली, सकलभोगलक्ष्मीपति, अभिमानधन' दुर्योधन एकाकी रह गया है। सजय के साथ यह डरावने लडाई के मैदान मे जा रहा है। सजय पाडवो की बडाई करता है और उनसे समझौता करने को दुर्योधन से अनुरोध करता है। दुर्योधन के रोम-रोम से रोष प्रकट होता है। वह पांडवों को पीस डालने का प्रण करता है। दुर्योधन सजय की निष्ठा, सेवापरायणता और प्रामाणिकता से आश्वस्त है। इसलिए उसके मुँह से पाँडवो की प्रशसा सुनने का आदी हो गया है। वह किसी भी मूल्य से समझौते के लिए तैयार नही है। छल से लिया गया राज्य लौटाने को भी प्रस्तुत नही है। इस विषय पर धृतराष्ट्र-गाधारी की नेक सलाह मानना भी उसे पसन्द नहीं है। उनकी मीठी बात भी इस सपूत के लिए कडवी घूँट प्रतीत होती है। उसे अपनी कुटिलता पर सकोच नही उल्टे गर्व होता है। शोकसागर मे गोते खाने वाला यह वीर अपने को 'वज्रमन' वाला मानता है। रणक्षेत्र मे स्वजनो-मित्रो की निर्जीव देह देख सहसा वह द्रवित हो जाता है। लक्ष्मणकुमार, भाई दु शासन, साथीकर्ण इनकी याद मे तडपने वाला दुर्योधन दमनीय हो उठता है। दूसरे ही क्षण उसके प्रतिशोध से यह शोक दब जाता है।

भीष्म पितामह से मिलने पर पल भर के लिए दुर्योधन अपने पाप-कर्म पर पछताता है। लेकिन पितामह के आदेशानुसार शांति स्वीकार करने को तैयार नही होता। हाँ, उनकी इच्छा रखने के लिए वैशपायन सरोवर मे छिपने को राजी हो जाता है। पाँडव इस सरोवर के समीप आकर उस पर व्यगोक्तियाँ बरसाते हैं। भीम की ललकार सुनते ही 'उबलते रोष के साथ पानी मे पसीने से लथपथ दुर्योधन साहसगर्वालकृत' हो बाहर निकलता है। भीषण सघर्ष छिड जाता है। भीम एक बार मूर्च्छा खाकर गिर जाता है। बेहोशी की हालत मे दुर्योधन उस पर कोई हमला नही करता। वीरोचित्त-उदारता का, आदर्श रणनीति का कैसा सुन्दर नमूना है! होश मे आते ही भीम दुगुने वेग से उस पर टूटता है, वक्त पाकर उसकी जाघ तोड देता है। भीम की प्रतिज्ञा सफल होती है। दुर्योधन का जीवन सार्थक हो जाता है। उसका अन्त मर्मभेदी अवश्य हुआ है।

दुर्योधन के चरित्र-चित्रण मे अहंभाव की पराकाष्ठा प्रलय को भी चुनौती देती हुई-सी वर्णित है। कवि ने उनके आत्मविश्वास को पग-पग पर क्षीण होते दिखाकर उसकी मृत्यु पर सहृदय की संवेदना सिहर उठने दी है। रणांगण मे प्रेतो के साक्षात्कार के विधान द्वारा कवि ने दुर्योधन के आत्मप्रत्यय को शिथिल होते अंकित किया है। सजय के साथ लाशो से पटे मैदान मे आते समय एक प्रेत दुर्योधन से अट्टहासपूर्वक कहता है—'मैंने गुरु द्रोण के रक्त का स्वाद लिया है। भीम ने तुम्हारे अनुज का रक्तपान किया है। पितामह का उष्ण रक्त पीने को मिलेगा ही। अब तुम्हारा रक्त चखने की बडी इच्छा हो रही है।' कौरव सम्राट् के आसन्न पतन का कितना विडम्बनापूर्ण चित्रण है! प्रेत की किलकारियाँ! सम्राट् के सामने! भाग्य का फेर नही तो क्या है! नियति की निर्मम चपेट नर मात्र को साबित नही रहने देती।

दुर्योधन इन अट्टहास-उपहास की उपेक्षा कर आगे बढता है। उसका पैर एक जर्जर खोपडी पर पड जाता है। सजय को आशका होती है कि जांघ मे चोट लगी होगी। दुर्योधन ने 'चोट क्या लगेगी?' जवाब पाकर सजय आश्वस्त होता है। इसी बीच एक प्रेत दुर्योधन से बोल उठता है—'कौरवेश्वर! भीम के क्रोध से तेरी जाँघ टूटे बिना रहेगी कैसे?' इनकी छेडछाड की परवाह किये बिना दुर्योधन आगे बढता है तो प्रेत चुटकी बजाकर कहता है—'ए फणिराजकेतन! लाक्षागृह मे विष-मिश्रित अन्न का सेवन कराकर बधुजनो का मत्सरभाव से वध करने का आयोजन जिसने किया वह धोखे मे पडा है या रण मे आहत जीवो से तृप्त होने वाले हम धोखे मे पडे है? इनमे अन्तर देख ले भला!' दुर्योधन निरुत्तर कदम बढाता जाता है। उस वक्त प्रेत चुनौती देता है—'धूर्जटी की शपथ है यदि बोले बिना आगे बढे।' धूर्जटी दोनो के लिए गुरु जो हैं! इससे भी दुर्योधन अप्रभावित है तो प्रेत भीम की सौगंध खाने लगता है। भीम का नाम लेते ही दुर्योधन भभक उठता है और प्रेतो पर गदा फेरने लगता है। प्रेत भी लट्ठ लिए उसका सामना करने लग जाते है। गदाधारी दुर्योधन कहाँ, लट्ठधारी प्रेत कहाँ! विधि की वामलीला का इससे प्रभावशाली अंकन हो क्या सकता है?

कवि रन्न की उर्वर प्रतिभा का ही परिणाम है कि श्रव्यकाव्य मे ऐसा दृश्य काव्योचित कथा-प्रवाह और पात्र-निरूपण हो सका है। यहाँ प्रकारान्तर मे मानव मन के सत्-असत् का भी विराट् सघर्ष अंकित है और असत् की पराजय का सहज दिग्दर्शन भी है। कन्नड काव्य साहित्य मे 'गदायुद्ध' का अपना अनोखा स्थान है।

'गदायुद्ध' का हिन्दी मे अनुवाद शिवमोगा जिला स्थित आनवट्टी गाँव के सरकारी बेसिक ट्रेनिंग इस्टिट्यूट के हिन्दी-कन्नड के विद्वान् पडित श्री के जगन्नाथ शास्त्रीजी ने किया है। यह अभी पाण्डुलिपि की अवस्था मे मेरे पास है। कोई धनी-मानी साहित्यप्रेमी इसे प्रकाशित करा सके तो हिन्दी-कन्नड दोनो का भला हो।

'रामचन्द्रचरित पुराणम्' या 'पंपरामायण'



पूर्ववर्ती दोनो रचनाएँ महाभारत पर आधारित थी। पपभारत तथा गदायुद्ध व्यास-विरचित के आदर्श पर निर्मित महाकाव्य थे। आदिकवि पप तथा चूडीहार होकर भी कविचूडामणि रन्न दोनो ने युगीन आदर्शो के अनुरूप उसमे आवश्यक सस्कार परिष्कार किया। उसे उन्होंने अपने आश्रयदाताओ का 'विजयाभ्युदय' गाने का एक सुन्दर साधन बना दिया।

रामायण की कथा अंकित करने वाला 'रामचन्द्रचरितपुराणम्' पुराण होकर भी लौकिक काव्य परम्परा मे आने वाला विख्यात चम्पू है। 'पपरामायण' भी इसका नाम है। यहाँ की रामकथा पूरी की पूरी जैन दर्शन, धर्म-सम्प्रदाय पर आश्रित है, आदि कवि वाल्मीकि की रामकथा से सर्वथा भिन्न है। रविषेण-रचित 'पद्मपुराण' एव विमलसूरि के 'पउमचरिउ' के आदर्श पर रचयिता कवि नागचन्द्र जी ने इसका प्रणयन किया है। रचना के प्रति आश्वास के अन्त मे कवि ने चरितनायक के माध्यम से अपने लिए 'कवितामनोहर' 'भारती-कर्णपूर', 'साहित्यविद्याधर' इनमे से एक उपाधि का प्रयोग किया है और कन्नड साहित्य मे 'अभिनव पप' की ख्याति पाई है।



वस्तुविन्यास और चरित्रचित्रण की दृष्टि से यह रामायण विलक्षण है। यह रामकथा विपुलाचल में गौतम ने मगध नरेश से कही है। गुरुपरपरा में विश्रुत इस कथा की कुछ प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित हैं—

इस कथा में जिन-मुनियो ने कइयों को जन्मान्तर का मर्म समझाया है। इह के बधन से उन्हें छुटकारा दिला जैनधर्म में दीक्षित किया है।

इसका नायक राम नहीं, लक्ष्मण है। राम के केवल तीन तथा लक्ष्मण के अनेक विवाह यहा वर्णित हैं।

इसमें पुत्रकामेष्टियाग की चर्चा नहीं है। राम की माता का नाम अपराजिता है। लक्ष्मण सुमित्रा का एकमात्र सुत है। शत्रुघ्न सुप्रभा का सपूत है।

राम लक्ष्मण बलाच्युत हैं, कारणपुरुष हैं। लक्ष्मण के इतर नाम हैं—अष्टम केशव, उपेन्द्र, वासुदेव, कृष्ण, नारायण, लक्ष्मीधर, पुरुषोत्तम, जनार्दन आदि। लक्ष्मण नायक है। लक्ष्मण श्यामवर्ण हैं, राम गौरवर्ण हैं।

विश्वामित्रजी का यहा उल्लेख नहीं है। नारदजी सीताजी पर अनुरक्त हो गये हैं।

प्रभामडल खेचरनरेश इदुगति का पालित पुत्र है, सीताजी का बडा भाई है। नारद-निर्मित सीता के चित्र पर वह मुग्ध हो जाता है। अनजान में हुए इस अपचार से अन्त में खिन्न होता है, पश्चात्ताप प्रकट करता है।

खेचरनरेश इदुगति के पास वज्रावर्त, सागरावर्त नामक दो धनुष थे। जनक ये दोनो धनुष मिथिलानगरी ले आये। पहला धनुष राम ने और दूसरा धनुष लक्ष्मण ने तोडा। क्रम से सीता और चन्द्रध्वज की युगल कुमारियों से दोनों का विवाह हुआ।

राम लक्ष्मण की विभवसपदा लख भरत विषाद से मलिन हुए, विरक्त हुए। कैकई के परामर्श पर जनक के अनुज कनक की कन्या से विवाह किया।

विजय यात्रा के दौरान मे लक्ष्मण के कई विवाह सपन्न हुए।

एक पत्नीव्रतधारी राम के साथ सुग्रीव की कन्या, दधिमुखनगर की राजकुमारी, रत्नपुराधीश की कुमारी, इनके विवाह सपन्न हुए।

यहा कनक-मृगवेशधारी मारीच राम के अनुकरण पर आर्तनाद नहीं करता, रावण के वश में रही अवलोकिनी विद्या लक्ष्मण के अनुकरण पर सिंहनाद करती है।

सुग्रीव तथा उसके अनुयायी कपिध्वज खेचर हैं।

सुग्रीव की छोटी बहिन श्रीप्रभा रावण से ब्याही गई थी।

वाली कैलाश पर तपस्या में लीन था। रावण वह पर्वत उठाने गया। वाली ने अगूठे से पर्वत दबा दिया। रावण दब गया और चीखने लगा। इस चीख के कारण 'रावण' उसका नाम पडा।

कार्तवीर्यार्जुन—सहस्रबाहु—यहाँ रावण को बदी नही बनाता, स्वय रावण उसे वन्दी बना लेता है।

रावण की छोटी बहिन चन्द्रमुखी की कन्या अनगपुष्पा हनुमान से ब्याही गई थी। दहेज मे रावण ने हनुमान को कर्णकुडलपुर नगर दिया था। रावण से उसकी मैत्री थी। सीताहरण के समय से वह रावण का विरोधी हो गया और राम की ओर से उसके साथ लडाई ठान ली।

रावण का वध राम से नहीं, लक्ष्मण से होना है।

उपर्युक्त विशेषताओं के अलावा सोलह आश्वास वाले इन चम्पूकाव्य में अन्य मनोरंजक स्थल भी सहृदयों को आकर्षित करेंगे। प्रसंगानुकूल संस्कृत-प्राकृत की पदयोजना से कवि ने लालित्य, माधुर्य, गांभीर्य आदि का सफल निर्वाह किया है। 'हिनिमिन-मृदुवचनसरी' का उत्कृष्ट नमूना है पंपरामायण। पुरानी कन्नड की प्रवाहपूर्ण अभिव्यंजना के आचार्य के नाते अभिनव पंप काव्य-जगत् में अमर हो गये हैं। प्रकृति की शोभा सुषमा का काव्य-सौन्दर्यवर्धक रूप में चित्रण नागचन्द्र की विशेषतम भाषा और नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा का परिणाम है।

पंपभारत के कर्ण, गदायुद्ध के दुर्योधन आदि की भाँति नागचन्द्र रचित पंप रामायण का रावण अपूर्व व्यक्तित्व-संपन्न पात्र है। पाश्चात्य काव्यशास्त्र के दुरन्त नायक (Tragic character) के सारे लक्षण यहाँ के रावण पर खरे उतरते हैं। कन्नड काव्यश्री के उपासक भक्त स्व० 'बी० एम० श्री' (बी० एम० श्रीकंठय्याजी) ने पहले-पहल 'A Tragic Ravana' शीर्षक अंग्रेजी लेख में उनका विस्तृत विश्लेषण किया है। रावण के व्यक्तित्व को उभारने वाले चतुर चितेरे नागचन्द्र को उन्होंने 'कन्नड का मेरा प्रथम प्रिय कवि' घोषित किया।

यहाँ का रावण शुचिमूर्त है। 'परांगनाविरति व्रत' का पालन करने वाला है। यह शील-निधान रावण परनारी-प्रणय-पिपासा से पीड़ित हो उठे, यह विधाता का अट्टहास नहीं तो और क्या है। अपमानित छोटी बहिन का प्रतिशोध लेने निकले वीर रावण का स्थिर चित्त रूपसी जानकी पर डोल गया। पद्मपत्र पर ज्योतित जलबिंदु वायु के झोंके से जिस प्रकार चूलचूमरित हो उठता है, उसी प्रकार सात्विक शील-शिरोमणि रावण का पावन मन वासना के आवर्त-विवर्त से अपावन हो गया, मलिन हो गया। इस विकार से उसका सत्त्वशोषण होने लगा।

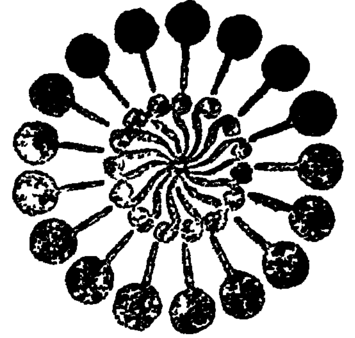
इससे पहले एक बार उपरंभा प्रणय-भिक्षा माँगने रावण के पास पहुंची थी। रावण ने उसे सदाचार का पाठ पढ़ाया और आत्मविनाश से बचाया था। अप्सराओं के रूपजाल से बच निकला रावण मानवी के मोहजाल में अनायास फंस गया। पर परिस्थिति एक बार भी उसके प्रतिकूल न हुई। वह वासना के गर्त से ऊपर उठा, अपने आचरण पर पछताने लगा। 'बहुरूपिणी विद्या' के प्रभाव से सीताजी को राम-विमुख बनाने और अपने संग साम्राज्य के उपभोग का प्रलोभन दिखाया। सीताजी टस-से-मस न हुई। राम के जीते जी रावण से कलंकित हो जाने की आशंका मात्र से अधीर हो गई, अचेत हो गई। रावण का विवेक जागा। मलमग्न जल हिल जाने पर कालान्तर में जिस प्रकार निर्मल हो जाता है, उसी प्रकार वासना के झोंके से विकृत रावण सहज ही सीताजी से विरक्त हो उठा, आत्मनिरीक्षण का वरदान पा गया। यह सच्ची ग्लानि थी जिसने उसके मन की मलिनता को सदा के लिए धो डाला। रावण को लगा कि 'विषयानवमतचेतनम्' ही सारे अनर्थ की जड़ है। लेकिन वह सहज ही हार मानने को तैयार न था। उसने मन-ही-मन कहा—'मैं इसी क्षण सीताजी को राम के हवाले कर दूं तो मेरा दंभ, दर्प, वैभव, पराक्रम, साम्राज्य आदि रजकण से भी क्षुद्र हो जाएंगे। मैं राम-लक्ष्मण को लड़ाई में बन्दी बना लूं और पीछे से सीताजी को उन्हें सौंप दूं तो ठीक होगा।'

स्वाभिमानी रावण का पात्र-निरूपण बड़ी कुशलता के साथ कवि करता गया है। रावण की रूपशोभा तथा नाना मनोदशाओं के चित्रण के लिए कवि ने सलिल से संबद्ध व्यापार का ही सर्वत्र आधार लिया है। अतः नागचन्द्र का रावण 'जलरावण' नाम से विश्रुत है।

पंपरामायण की कथा जैन रामायण की छाया है। पर उसकी वर्णनशैली और पात्रयोजना कवि पंप के कला-आदर्श से प्रभावित है। पंपभारत और गदायुद्ध की अपेक्षा पंपरामायण में जैनधर्म का अध्यात्म-पक्ष अधिक मुखरित है। अतः काव्यप्रेमियों में पहली दोनों की भाँति यह तीसरी कलाकृति प्रसिद्ध नहीं। फिर भी इतना तो मानना पड़ेगा कि जैन काव्यों की लौकिक परंपरा में विक्रमार्जुनविजय, साहसभीमविजय और रामचन्द्रचरितपुराणम् इन तीनों कृतियों का महत्त्वपूर्ण स्थान है।



भारतीय गौरव-ग्रन्थ
भरतेशवैभव और महाकवि रत्नाकर



वर्धमान पी० शास्त्री,
विद्यावाचस्पति, विद्यालकार, न्यायकाव्यतीर्थ
समाजरत्न, धर्मालकार

साहित्य-ससार मे कर्नाटकसाहित्यकारो का योगदान भी महत्वपूर्ण रहा है। महाकवि पप, रन्न, जन्न, पोन्न, आदि उद्दाम साहित्यसर्जको से साहित्यजगत् परिचित है ही, परन्तु मध्ययुगीन काल मे अपनी कृतियो से विश्व को चमत्कृत करने वाले महाकवि रत्नाकर का स्थान भी कम महत्वपूर्ण नही है। इसीलिए भारतीय साहित्य अकेडेमी ने उसके द्वारा रचित 'भरतेशवैभव' की भारतीय गौरव-ग्रन्थो मे गणना की है। विशेष क्या, इस राष्ट्र का जो नामाभिधान बहुत प्राचीन काल से 'भारत' हुआ है, उसके लिए इस ग्रन्थ का प्रमेय ही कारण है। जिस आदि सम्राट् भरतेश्वर के समग्र वैभव का इसमे कथन किया है, उसी के कारण से इस देश का नाम भारत पडा, इस विषय को अब इतिहासवेत्ता मान्य करने लगे हैं, ऐसे ग्रन्थ व ग्रन्थकर्ता के सम्बन्ध मे भारतीय नागरिको को परिचित होना आवश्यक है। इसलिए यह प्रयास है।

ग्रन्थ-परिचय

इस ग्रन्थ का नाम भरतेशवैभव है। ग्रन्थ मे ८४ सधि (अध्याय) और करीब १०००० श्लोक है, कर्नाटकसाहित्य के सागत्य छदो से निर्मित है। मुख्यत ग्रन्थ को पाँच विभागो मे विभक्त किया है, (१) भोगविजय (२) दिग्विजय (३) योगविजय (४) मोक्षविजय और (५) अर्ककीर्तिविजय। इन्हे पच कल्याणो के नाम से कवि ने उल्लेख किया है। ग्रन्थ की महत्ता के सम्बध मे सक्षेप मे इतना ही कहा जा सकता है कि महाकवि ने काव्य को अत्यन्त सरस, सुन्दर व मधुर शैली मे प्रस्तुत किया है। हाथ मे लेने के बाद पढते ही जाइये, नीचे रखने की इच्छा नही होती है। यह इसकी विशेषता है। दस हजार श्लोको के चारो ही चरणो मे अनुप्रास साधने का गुरुतर कार्य कवि ने अनायास साध्य किया है। कवि पर सरस्वती का वरद हस्त था, इसमे कोई सन्देह की बात नही है।

ग्रन्थ के सम्बन्ध मे स्वाभिमान के साथ कवि स्वय ही कहता है—

> अय्ययूया चेन्नादु देने कन्नडिगरु।
> अय्या भचिदि येने तेलुगा ।
> अय्ययूय येंच पोलडिट्टु तुलुवरु।
> मेय्युब्बि फेल वेक ००॥
>
> (भरतेशवैभव १-७)

कवि ने इस श्लोक मे यह अभिप्राय व्यक्त किया है कि मेरा काव्य सर्वप्रिय होगा, सर्वभाषाभाषी इसे बडी

[illegible], [illegible] [illegible]! [illegible] है, [illegible] [illegible] [illegible]! ([illegible]!) [illegible] [illegible]! [illegible] है, [illegible] [illegible]।

[illegible] बनाते हुए [illegible] [illegible]। [illegible] में भी यह [illegible] [illegible] है, [illegible]।

[illegible], [illegible] [illegible] [illegible], [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]। [illegible] [illegible], [illegible] [illegible]।

[illegible] [illegible] किया है, [illegible] [illegible]। [illegible] [illegible] है।

विषय-परिचय

[illegible] [illegible] आनन्द के साथ [illegible]। [illegible] [illegible] था, वह हास्यविनोद में सदा प्रसन्न [illegible] था, [illegible] [illegible] गोष्ठी में [illegible] उसका [illegible]। [illegible] [illegible] [illegible]। [illegible] था। [illegible] [illegible] [illegible] था। [illegible] [illegible] [illegible] था। उसकी [illegible] आत्महितैषी [illegible]। [illegible] [illegible] [illegible] ढंग से वर्णन किया है [illegible] है।

भोगविजय

[illegible] हुआ, [illegible] [illegible] वैभव से मनाया। [illegible] किया और [illegible] दिग्विजय के लिए प्रस्थान किया। दिग्विजय में [illegible] [illegible] भी [illegible] में आये। [illegible], [illegible], [illegible] आदि [illegible] ने [illegible] किया। साठ हजार वर्ष [illegible] दिग्विजययात्रा में अपने परिवार के [illegible], [illegible] [illegible] किया, [illegible] [illegible]। [illegible] [illegible] हुआ [illegible] [illegible] का दिग्विजय [illegible] [illegible] था, तब [illegible] [illegible] गया। ज्ञात हुआ कि [illegible] [illegible] हुआ है, [illegible] [illegible] है। [illegible] [illegible] गया। उनको सूचना दी गई। [illegible] [illegible] का स्वाभिमान जागा। पिता के द्वारा प्रदत्त राज्य का अनुभव स्वतन्त्रता के साथ हम



कर रहे हैं, फिर अधीनता के लिए आह्वान करने वाला यह कौन ? चलो ! पिताजी से ही न्याय करावेंगे । तत्काल समवसरण मे पहुचते हैं । पिता से सर्व घटना निवेदन करते हैं । प्रभु का आदेश होता है कि भरत को चक्रवर्ती होने का नियोग है । वह पुण्य आप लोगो को नहीं है । यदि राज्य चाहिए तो उसकी आधीनता मजूर करो । यदि वह मजूर न हो तो आत्मराज्य पाने के लिए मेरे पास रहो । सबने प्रभु के पास रहना स्वीकार किया । बाहुबली वीर, कामदेव और स्वाभिमानी था । वह सीधा जाना नही चाहता था । युद्ध मे अपने बाहुबल का परिचय देकर ही जाना उसे इष्ट था, अत युद्धसन्नद्ध होकर आया । भरत ने अपने छोटे भाई के साथ युद्ध न करके वचन—चातुर्य से ही उसे जीत लिया, जिता भी दिया । बाहुबलि अपनी कृति के लिए दु खी हुआ, पश्चात्ताप से दग्ध होकर दीक्षित हुआ । जिन योगी बना, भरतेश्वर ने आनन्द के साथ नगरप्रवेश किया । (३३ अध्याय)

विवेचनचातुर्य व सामंजस्य

भरत और बाहुबलि, दोनो सहोदर जिस समय समरभूमि मे आकर युद्ध के लिए खडे हुए तब उभय पक्ष के प्रमुख नेता चिंतित हुए । दोनो सहोदर तद्भवमोक्षगामी, अव्याघाती, तीर्थनायक के पुत्र, व समान बल वाले हैं, इनका कुछ भी बिगडने वाला नहीं है, व्यर्थ ही सेनाओ की हानि होगी । अत सेनाएँ परस्पर न लडकर दोनो व्यक्तिगत युद्ध करें । अध्वर्यु जनो की सलाह दोनो का मान्य हुई, दृष्टियुद्ध, जलयुद्ध और मल्लयुद्ध, ये तीनो युद्ध निर्णीत हुए । तीनो युद्धो के लिए दोनो सहोदर आमने-सामने खडे हैं । भरतेश ने सोचा कि करोडो सैनिको के सामने सहोदर का यह विरोध प्रदर्शनीय नही, इसलिए अनुज को एक बार समझाकर देखें, अगर समझ मे आया तो वह कटु प्रसग टल जावेगा । इसी हेतु से भाई को बोधित किया—

भ्रात बाहुबलि ! आज तुम और मुझ मे दुर्भाव से युद्ध हो रहा है, इसका क्या कारण है ? अकारण तो कोई प्रवृत्ति नही करते हैं, तुम्हारी सपत्ति मैंने नही छीनी, मेरी सपत्ति तुमने नही छीनी, पहिले से पिताजी ने मुझे राजा, तुम्हे युवराज बनाया है ।

भाई-भाई मे भी द्वेष होता है परन्तु उसके लिए कोई कारण होना चाहिए । मैंने भाई को केवल देखने की इच्छा से बुलाया तो इतना क्रोध क्यो ? क्या मैं तेरा शत्रु हू ? यदि प्रभु के पुत्रो मे ऐसा विचार हो तो सामान्य लोगो की बात क्या होगी ?

कदाचित् तुम सोचोगे कि युद्ध से डरकर बातो मे लगाया है । परन्तु ऐसी बात नही । युद्ध तो करूँगा ही, पहले अपने मन की बात कहकर दोष टाल रहा हू, दूसरा कोई मेरे सामने होता तो क्षण भर मे भगाता, भाई ! सोचो, सहोदरो के युद्ध को लोक पसन्द नही करेगा । हम दोनो खिलाडी हैं, ये लोग दर्शक हैं । कितनी शर्म की बात है । तुम मुझे जीतोगे तो क्या तुम्हें कीर्ति मिलेगी ? या तुम्हें मैं जीतू तो मुझे यश मिल सकेगा ? अपने इस वालिश व्यवहार को देखकर नरसुर-नागलोक के सज्जन छि छू कहे बिना नहीं रहेगे । तुम युद्ध के लिए आये हो न ? युद्ध मे जीत की इच्छा सबकी रहती है । साधारण लोगो के समान लडने की क्या जरूरत है ? तुम जीत गये, मैं हार गया । जाओ अब तो प्रसन्न हो न ?

भरतेश्वर के वचन को सुनकर मत्री, मित्र, राजा, महाराज आदि सभी ने कान मे उगली देकर कहा कि हाय ! यह क्या कहते है। आपकी कभी हार है ? सम्राट् ने कहा कि आप लोग क्या कहते हैं ? कामदेव से कौन नहीं हारते है ? मेरे भाई की जीत सो मेरी जीत है । बाहुबलि! उपचार के लिए मैंने तुम्हारी जीत का उल्लेख नही किया । अच्छी तरह सुनो, मेरी सेना भी सुने, स्पष्ट कहता हूँ—

दृष्टियुद्ध मे तुम्हारी जीत है, क्योकि तुम मुझसे २५ धनुष अधिक ऊचे हो, इसलिए मुझे सरलता से देख सकते हो, मुझे तुम्हें ऊर्ध्व दृष्टि कर देखना पडेगा, मुझे कष्ट होगा, तुम जीते, मैं हारा ।

भरतेश्वर के इस वचन को सुनकर मंत्री मित्रों ने कहा—जो अपने महल की छत पर बैठकर सूर्यविमान पर स्थित अकृत्रिम जिन-प्रतिमाओं का दर्शन करता है, उसे २५ धनुष ऊपर देखने में क्या कष्ट होगा ? यह केवल भाई को समझाने के लिए कह रहे हैं।

भरतेश ने पुनः कहा—भाई ! जलयुद्ध में भी तुम्हारी जीत है। तुम ऊंचे हो, तुम मुझे पानी में डुबा सकते हो, मैं तुम्हारी छाती तक पानी फेंक सकूंगा। अतः इसमें भी तुम्हारी जीत ही है।

मंत्री मित्र कहने लगे—सम्राट् यह क्या कह रहे हैं ? जो अनेक इच्छित वृहदाकार रूप बनाकर आकाश पर पानी फेंकने की शक्ति रखते हैं उनके लिए २५ धनुष की बात क्या है ? यह भाई को खुश करने की बात है।

भरतेश्वर ने पुनः कहा—भाई ! मल्लयुद्ध की तो चर्चा ही क्या है ? पिताजी ने तुम्हारा नाम ही बाहुबलि रखा है। वह अन्यथा किस प्रकार हो सकता है ? भुजबल में तुम प्रबल हो, मुझे सहज उठा सकते हो। पिताजी ने मेरा नाम भरत रक्खा, मैं भरत भूमि का अधिपति हुआ। तुम्हारा नाम भुजबलि रक्खा है। तो भुजबल से तुम मुझे उठाओगे ही, इसमें भी मैं हार मंजूर करता हूं।

मंत्री मित्रों ने कहा—स्वामिन् हे सम्राट् ! नाम के समान कोई आदमी भी दुनिया में होता है ? कभी नहीं। छोटी-सी उंगली से पहले सारी सेना को उठाया। बड़े-बड़े पर्वतों को जो सूखे पत्तों के समान उठा सकता है, वह क्या कामदेव को नहीं उठा सकता है ? यह भाई को समझाने की बात है।

ग्रन्थकार के चातुर्य को देखकर बुद्धि और तर्कशक्ति दंग रह जाती है। अनेक ग्रन्थकारों ने प्रत्यक्ष युद्ध कराकर चक्रवर्ती का पराजय कराया है, यहां अपने चरित्रनायक के वैभव में यत्किंचित् भी न्यूनता महाकवि को लानी नहीं थी। अतः उसे लोक की दृष्टि से जिताया, और स्वयं के मुख से हार स्वीकार कराकर हराया। कितना विवेकपूर्ण वर्णन है।

जब एक सम्राट् कामदेव से हार गया तो दसों दिशाओं में अन्धकार छा गया। आग के बिना धूम निकला, सेना घबरा गई, बाहुबलि के मन में भी विवेक जागृत हुआ कि मैंने अच्छा नहीं किया। अब भाई की ओर सीधा देखने का भी धैर्य नहीं। भरतेश्वर को भी इस घटना से कुछ उदासी-सी हो गई। पुनः संबोधित करने लगे—

भाई, सुनो ! मैंने इस चक्ररत्न की अभिलाषा नहीं की थी। आयुधशाला में वह अपने आप उदित हुआ और सारे देश में घुमाकर लाया। व्यर्थ ही तुम लोगों के हृदय में वेदना पहुंचाई। मैं इन सम्पत्तियों को पुण्यकर्म का फल जानकर उदासीन भाव से भोगता हूं। मुझे बिल्कुल इसमें आसक्ति नहीं, तुम इसको स्वीकार करो, यह राज्य तुम्हारा है। तुम्हारे लिए मैं षट्खंड को वश कर आया हूं। अब इसे तुम लो, राज्यपद को स्वीकार करो, अयोध्या में सुख से राज्य करो। मुझे एक छोटा सा राज्य दो, मैं वहां पर रहूंगा। तुम्हें प्रसन्न करने के लिए नहीं बोल रहा हूं। निरंजन सिद्ध ही इसमें साक्षी हैं। भाई, इससे अधिक बोलने की इच्छा नहीं है, स्वीकार करो इस राज्य को। क्रोध का परित्याग करो ! शांत हो।

बाहुबलि अन्दर-अन्दर ही लज्जित हो रहा था। अब सीधा खड़े होकर ज्येष्ठ भ्राता से बोलने की हिम्मत नहीं है। संकोच, लज्जा और वेदना से मन व्याकुल है।

भरतेश्वर इस समय उस चक्ररत्न को सुनाते हैं—हे चक्ररत्न ! अब जाओ, अब तुम्हारी मुझे जरूरत नहीं है। तुम्हारा अधिपति यह बाहुबलि है, मेरा भाई है, उसके पास जाओ।

इस प्रकार भरतेश्वर की आज्ञा होने पर भी चक्ररत्न आगे नहीं बढ़ रहा है, कारण चक्ररत्न को धारण करने





का भाग्य कामदेव को नही है। चक्ररत्न से वंचित होने तक का हीनपुण्य भरतेश्वर भी नहीं हुआ है। इसलिए चक्ररत्न सामने आकर खडा हुआ।

भरतेश्वर को क्रोध आगया—अरे चक्रपिशाच! भाई के पास जाने के लिए कहता हू। तू सुनता नही! तेरे ही कारण से भाई-भाई मे सघर्ष हुआ। मुझे तेरी जरूरत नही, भाई के पास जा।

फिर भी चक्ररत्न वहीं खडा रहा तो भरतेश्वर ने जबर्दस्ती धक्का दे दिया। यद्यपि बाहुबलि मे उसकी प्राप्ति के योग्य सातिशय पुण्य न होने से तथा भरतेश्वर के उसे खोने योग्य हीन पुण्य न होने से वह पशोपेश मे पडा, वह आगे जाकर बीच में खडा रहा।

लोगो ने कल्पना की—भाई को मारने के लिए चक्ररत्न का प्रयोग किया। क्या मोक्षगामी जीव अपने भाई की हत्या करने की भी भावना कर सकते हैं? तीर्थंकर के पुत्र तद्भवमोक्षगामी जीवो मे ऐसी निंद्य चेष्टा हो सकती है? कभी नही, महाकवि ने प्रसग के सामजस्य को बहुत ही उचित ढग से बैठाकर महापुरुषो के जीवन की महानता का समीचीन दर्शन कराया।

बाहुबली को तत्काल वैराग्य उत्पन्न होना है। समरभूमि से ही अमर भूमि की ओर प्रस्थान करता है। भरतेश्वर निराश भाव से नगर-प्रवेश करता है।

दिग्विजय

घोर तपश्चर्या करने पर भी बाहुबली को आत्मसिद्धि नही हुई, यह समाचार सुनकर भरतेश्वर प्रभु के समवसरण मे पहुचता है। वहा ज्ञात होता है कि बाहुबली योगी के मन मे एक विकल्प है कि अभी तक मैं भरत की भूमि पर खडा हू। जब तक भरत-भू पर खडा रहूगा तब तक आहार नही लूंगा। इस विकल्प के कारण निर्विकल्पक समाधि नही हो रही है। उसी समय भरतेश उस तपोवन मे पहुचते हैं और उस विकल्प को दूर करते हैं। तत्काल ध्यान की सिद्धि होकर केवल ज्ञान की प्राप्ति होती है। भरतेश्वर की माता यशस्वती भी अनन्तवीर्य केवली से दीक्षित होती है। कैलाशपर्वत पर जो जिनभवनो का निर्माण भरतेश्वर ने कराया उसका प्रतिष्ठासमारभ भी इसी अवसर पर पूर्ण कराया जाता है। एव धर्म की अपूर्व प्रभावना होती है। (अध्याय ९)

योगविजय

भरतेश्वर के सौ पुत्र विद्याध्ययन कर रहे थे। अकस्मात् एक दिन उनको समाचार मिला कि मेघेश दीक्षा लेकर चला गया है। उन्हें भी ससार मे वैराग्य हुआ। सीधे ही समवसरण मे चले गये। इस प्रसग मे महाकवि ने उनका वैराग्य समवसरण, तत्वोपदेश, दिव्यध्वनि, आदि का जागृत वर्णन किया है। पुत्रो ने दीक्षा ली, वृत्त जानकर चक्रवर्ती को दुख हुआ, तत्काल वे समवसरण मे पहुँचते हैं। वहाँ पर अब पुत्र नही, पूज्य परिव्राजक हैं। उन्हे देखकर वन्दना की। तीर्थनाथ की बडे वैभव से पूजा की, दूसरे दिन भगवान आदि प्रभु को निर्वाण पद की प्राप्ति हुई।

सम्राट् ने पुन अयोध्या मे पहुचकर कुछ काल राज्य किया। एक दिन दर्पण मे मुख देखते हुए एक श्वेत केश को देखकर वैराग्य उत्पन्न हुआ। तत्क्षण अर्ककीर्ति का पट्टाभिषेक किया, तदनन्तर स्वय ही गुरु होकर दीक्षा ले ली। गुरुओ के पास पहुँचने तक का समय नहीं था। निश्चल ध्यान के बल से केवल अतमुर्हूत मे कैवल्य को प्राप्त किया। (१९ अध्याय)

मोक्षविजय

अर्ककीर्ति भी राज्य मे उदास रहने लगा। पिता के पुण्य से प्राप्त सर्व वैभव धीरे-धीरे अदृश्य होने लगे। राज्यवैभव से मोह का परित्याग कर अपने छोटे भाई आदिराज के साथ जिनदीक्षा ले ली व क्रमश मूलोत्तर गुणो का

पालन करते हुए कुछ समय के बाद निश्चल ध्यान के बल से आत्मसिद्धि को प्राप्त किया। (२ अध्याय)

अर्ककीर्तिविजय

इस प्रकार ८४ अध्यायों में वर्णित विशाल कथावस्तु का यह संक्षेप-सार है, दिग्दर्शन मात्र है। यथार्थ आनंद मूल ग्रंथ के प्रकरणक्रम से अध्ययन से ही मिल सकता है।

महाकवि परिचय

महाकवि का जन्म पुण्यक्षेत्र मूडबिद्री में हुआ था जहाँ आज भी अनेक प्राचीन देवालय तथा धवलादि सिद्धान्तग्रंथों की मूल प्रतियाँ विद्यमान हैं। अनेक अनर्घ्य रत्नों की जिन-प्रतिमाओं की पुण्यभूमि में ही इस कविरत्न रत्नाकर का उदय हुआ। यह सूर्यवंश के देवराज का पुत्र था। माता-पिता ने इनका रत्नाकर नामकरण किया।

यह बाल्यकाल में ही कुशाग्रबुद्धि, अनेकशास्त्रप्रवीण एवं विद्वान् था। यह काव्यालंकार-लक्षणशास्त्र में प्रवीण, संगीत में चतुर, मंत्रशास्त्र में निष्णात, अध्यात्म व शृंगार शास्त्र में दक्ष सुकवि था। इनके गुरु चारुकीर्ति योगी थे। एक जगह महेंद्रकीर्ति या देवेन्द्रकीर्ति का भी उल्लेख है, हो सकता है कि प्रसंगवश महाकवि को दो गुरुओं का सान्निध्य मिला हो, क्योंकि कवि की जीवन-घटनायें ऐसी विचित्र स्थितियों का दर्शन कराती हैं। महाकवि के जीवन के संबंध में कन्नड साहित्य के ऐतिहासिक ग्रंथ राजावली कथा में देवचंद्र ने निम्नलिखित उल्लेख किया है—

महाकवि रत्नाकर भैरस राजा के दरबार में आस्थान कवि था। उस समय उसे देखकर राजकुमारी मोहित हुई। महाकवि भी उस पर अत्यासक्त हुआ। उससे मिलने के लिए वायु धारण के प्रयोग से, दशवायुओं को वश में कर महल की खिड़की से वहाँ पहुँचकर राजकुमारी से प्रेमालाप करता था। क्योंकि वह योगाभ्यास में भी निपुण था। जब धीरे-धीरे राजा को ज्ञान हुआ तब उसी रात को महेंद्रकीर्ति गुरु से अणुव्रत दीक्षा लेकर आगमाभ्यास में निरत हुआ। अनंतर विजयकीर्ति भट्टारक के शिष्य विजयण्ण के द्वारा रचित द्वादशानुप्रेक्षा ग्रंथ को हाथी के ऊपर विराजमान कर जुलूस निकाला जा रहा था तब रत्नाकर ने अपने द्वारा रचित भरतेशवैभव को भी हाथी के ऊपर विराजमान करना चाहिए इस प्रकार निवेदन किया। किसी कारणवश भट्टारकजी ने इसे स्वीकार नहीं किया। बात ही बात में विवाद बढ़ा। भट्टारकों का उस समय बड़ा प्रभाव था। महाकवि का भट्टारकजी ने तिरस्कार कर ७०० श्रावकों के घर में उसे कोई आहार न दे, इस प्रकार का कड़ा आदेश दे दिया। तब वह अपनी बहिन के घर में ही भोजन करता था, परन्तु इस कटु व्यवहार से रुष्ट होकर उसने जैनधर्म को ही तिलांजलि दी। वह वीरशैव-मतानुयायी बना, वहाँ भी अनेक ग्रंथों की रचना की अनंतर विवेक जागृत होने पर पुन जैनधर्म में आकर आत्मकल्याण किया।

महाकवि के संबंध में एक कथा इस देश में और भी प्रचलित है। उसका भी उल्लेख करना अनिवार्य है। महाकवि बाल्यकाल में ही चारुकीर्ति योगी से दीक्षित होकर योगाभ्यास में निरत रहता था। प्रातःकाल उठते ही अपने शिष्यों को एवं अनुयायियों को उपदेश देने की उसकी परिपाटी थी। प्रतिदिन शिष्यों का समुदाय बढ़ता जा रहा था। इसकी लोकप्रियता को देख कर कुछ ईर्षालुओं के हृदय में द्वेषाग्नि धधक उठी, इसलिए किसी भी तरह इसकी निन्दा हो, इसका वे प्रयत्न करने लगे। एक दिन प्रातःकाल होने के पहिले ही कवि के काष्ठासन (खाट) के नीचे एक वेश्या को लोगों ने छिपाकर रखा। उनके शिष्य पढ़ने आये। जब वे पढ़ रहे थे तब वेश्या ने कंगनों की आवाज की। विरोधियों ने जो उसी समुदाय में बुद्धिपुरस्सर बैठे थे, उसी समय उस वेश्या को बाहर निकाला। महाकवि का अपमान किया। तत्क्षण कवि ने इनकी कुचेष्टा को जाना। वहाँ से उठा, किसीसे कुछ भी न बोलकर चलने लगा, नगर से बाहर गया, लोगों ने बहुत रोका, रुका नहीं। मुझे इन दुष्टों की संगति की आवश्यकता ही नहीं, मैं जाता हूँ, मुझे इस धर्म की ही जरूरत नहीं, यह कहकर एक पहाड़ पर चला गया। वहाँ पर एक शैव ग्रंथ का हाथी पर जुलूस निकल रहा था। महाकवि ने उस ग्रंथ को देखा। राजा से कहा कि इस ग्रंथ में कोई खास विशेषता नहीं, रस नहीं, फिर इसका इतना सन्मान क्यों? राजा ने कहा—मैंने तो महाकाव्य समझकर उसका सन्मान किया। परन्तु तुम कहते हो





कि उसमे रंग नही तो रस क्या होता है ? तब रत्नाकार ने ६ महीने की अवधि मांगी, और ६ महीनों में भरतेशवैभव की रचनाकर राजा के दरबार में सुनाया। सभी प्रसन्न हुए। राजा ने बड़ा सत्कार किया।

कवि की प्रतिभा व योगसामर्थ्य से प्रसन्न होकर राजा ने उसे वीरशैवधर्म को अंगीकार करने के लिए आग्रह किया। राजा के आग्रह से वह वीरशैव मत मे दीक्षित हुआ, परन्तु बाहर से वीरशैव होने पर भी अन्दर से जैन ही था, मेरे मरण काल मे जैन पद्धति से ही उत्तरक्रिया होनी चाहिए इस प्रकार उसने शर्त की। मरणसमय मे स्पष्ट कहा कि मैं बाहर से वीरशैव होने पर भी अन्दर से जैन था। मैंने लिंगबंधन नही किया था, उसमे एक सुपारी को बाधा है। उस परिस्थिति मे भी उसने अनेक वीरशैव ग्रंथों की रचना की।

इन दोनो कथाओ को तुलनात्मक दृष्टि से देखने पर एक बात सत्य प्रतीत होती है कि कवि का पूर्व जीवन जैन धर्म मे, मध्य जीवन जैनियो के किसी दुष्ट व्यवहार से वीरशैव मत मे, और अंतिम जीवन पुन जैनधर्म मे व्यतीत हुआ। इसमे कोई सदेह नही रहता।

मतांतर को प्राप्त करने के बाद महाकवि ने स्वय वहा रचित सोमेश्वरशतक मे निम्नलिखित श्लोक का उल्लेख किया है, परन्तु वह श्लोक आधुनिक मुद्रित (सोमेश्वरशतक मे पाया नही जाता है, परन्तु प्राचीन ताड़पत्र के ग्रंथों मे उक्त श्लोक पाया जाता है। उससे भी स्पष्ट होता है कि महाकवि एक बार वीरशैव हो गया था तथापि उससे उसे आन्तरिक समाधान नही था। सोमेश्वरशतक का वह श्लोक इस प्रकार है—

> वरसम्यक्त्व सुधर्म जैनमत दोलतां पुट्टियादीक्षेय
>
> धरिसी सन्नुत काव्यशास्त्रगलुम निर्माणम माडुत।
>
> वररत्नाकर योगियेंदु निरत वैराग्यधदेरला।
>
> हरदीक्षा ब्रतनावेनै हरहरा श्रीचेन्न सोमेश्वरा॥

अर्थात् मैं उत्तम सम्यक्त्वरूप जिनमत मे उत्पन्न हुआ। दीक्षाग्रहण कर अनेक काव्यशास्त्रो की रचना की और वह रत्नाकर योगी के नाम से प्रसिद्ध हुआ। परन्तु किसी कारण से विरक्ति उत्पन्न होने पर हर दीक्षा (शैवदीक्षा) ली, हरहरा। श्रीचन्न सोमेश्वरा, ऐसा क्यो हुआ ? कवि के द्वारा विरचित अनेक अध्यात्मगीतो मे भी इस संबंध से पश्चात्ताप का स्वर निकला है। कुछ भी हो, यह निश्चय है कि शृंगार, अध्यात्म, त्याग, योग, मंत्र, तंत्र, आदि समस्त विद्याओ मे महाकवि सिद्ध योगी था। यह उसकी कृतियो से सूर्यप्रकाश के समान स्पष्ट होता है।

कालपरिचय

महाकवि के द्वारा विरचित त्रिलोकशतक मे स्वय इस ग्रंथ के रचनाकाल के संबंध मे कवि ने उल्लेख किया है "मणिशैलगतिइ द्वशालिक काल सदिरल्" इस वाक्य से कवि ने इस ग्रंथ की रचना शालिवाहन शक १४८६ और ई० सन् १५५७ मे की है यह स्पष्ट होता है। इससे कवि का काल १६वी शताब्दी का मध्ययुग मानने मे कोई आपत्ति नही है। साधारणत इतिहासविद् विद्वानो ने महाकवि के काल के संबंध मे इस प्रकार ऊहापोह कर निर्णय किया है।

महाकवि का जन्म करीब सन् १५३२, त्रिलोकशतक की रचना करीब सन् १५५७, भरतेशवैभव की रचना करीब सन् १५६७, मतातंरित होना करीब सन् १५७२, पुन जैनधर्म मे आना करीब सन १५७५, रत्नाकरशतक की रचना करीब सन १५७७, अपराजितशतक की रचना करीब सन १५८२, अध्यात्मगीतो की रचना करीब सन १५८३, महाकवि का महाप्रयाण करीब सन १६०० के बाद, इस प्रकार संक्षिप्त कालविवेचन है।

महाकवि की इतर रचनाएं

भरतेशवैभव महाकाव्य के अलावा कवि ने शतकत्रय नामक सुन्दर ग्रंथ की रचना की है। यह ग्रंथ रत्नाकरशतक अपराजितशतक और त्रिलोकशतक के नाम से प्रसिद्ध है। पहिले रत्नाकरशतक में विशेषतया वैराग्यबोधक तत्वोप-

देश का वर्णन है, अपराजितशतक में भक्ति व वैराग्य का सुन्दर उपदेश है। यह दोनों कृतियां कवि की प्रौढ प्रतिभा का दर्शन कराती है। विविध छंदों से, अनेक उदाहरणों से सुन्दर विषयविवेचन से अध्यात्मप्रेमियों का चित्त इनकी ओर आकर्षित होता है। तीसरे त्रिलोकशतक में त्रिलोकसंबंधी वर्णन है। यह जैन भूगोल को समझने के लिए सरल काव्य है।

इसके अलावा कवि ने करीब २००० से भी अधिक अध्यात्मगीतों की रचना की है, जिसमें से सैंकडों तो अभी उपलब्ध हो चुके हैं। उनमें से अनेक प्रकाशित भी हो चुके हैं। उन अध्यात्मगीतों की रचना में भी कवि की अध्यात्मप्रियता ओतप्रोत है।

कन्नड़ साहित्य का गौरव

प्रकृत विषयविवेचन के प्रसंग में कन्नड साहित्यकारों की परम्परा के संबंध में संक्षिप्त उल्लेख करना अनुचित नहीं होगा। कर्नाटक साहित्य की परम्परा बहुत प्राचीन होने पर भी उसकी महत्वपूर्ण कृतियाँ साधारणत पंप के साहित्यकाल से ही उपलब्ध होती है। करीब १०वे शतमान में महाकवि पंप ने आदिपुराण व भारत की रचना की। एक धार्मिक पुराण व दूसरा लौकिक पुराण। इस प्रकार लौकिक व धार्मिक, दोनों परम्परा के रसिकों का महाकवि ने उपकार किया। इसके बाद के प्रसिद्ध कवियों ने भी इसी का प्राय कुछ परम्परा तक अनुकरण किया। पंप के बाद पोन्न ने 'शान्तिनाथ पुराण' और 'भुवनैकरामाभ्युदय' की रचना की। इनमें भी एक धार्मिक, दूसरा लौकिक काव्य है। इसका तीसरा ग्रंथ जिनाक्षरमाला' है, तदनन्तर रन्न कवि ने 'अजितनाथपुराण' (धार्मिक) व 'साहसभीमविजय' (लौकिक) की रचना की। इसकी परशुरामचरित, चक्रेशचरित, ये दो कृतियां अभी अनुपलब्ध है। पंप, पोन्न और रन्न ये उस युग के कविरत्नत्रय कहलाते हैं।

तदनन्तर चामुण्डराय ने चामुण्डरायपुराण व शिवकोटी ने वड्डाराधना की रचना की। ये दोनों गद्यकाव्य हैं। तदनन्तर के कवियों में नागचन्द्र का उल्लेख बहुत आदर के साथ किया जा सकता है, जिसने रामचरित और मल्लिनाथपुराण की रचना की। यह अपने कृतिचातुर्य से अभिनव पंप कहलाया। इसके बाद महाकवि जन्न के द्वारा विरचित यशोधर-चरित्र, अनन्तनाथपुराण (चंपूकाव्य) मंगरस के द्वारा विरचित सम्यक्त्वकौमुदी जयनृपकाव्य, प्रभंजनचरित, श्रीपालचरित, नेमीश्वरजिनसंगति आदि, मधुर का धर्मनाथपुराण एवं दोड्डय्य का चंद्रप्रभपुराण आदि साहित्यजगत् के गौरव की वृद्धि में सहायक हुए हैं। इसके बाद सांगत्ययुग का प्रारम्भ होता है, जिसका उद्घाटन महाकवि रत्नाकर ने किया अर्थात् बाद के कवियों ने विशेषत अनुकरण किया।

भारतीय साहित्य का गौरव

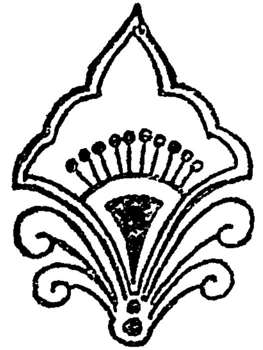
इस प्रकार भारतीय साहित्य के गौरव को बढाने में कर्नाटक जैन-साहित्यकारों ने भी बहुत बडा योगदान किया है। किं बहुना, कर्नाटक साहित्य की बहुभाग प्रौढ कृतियां जैन कवियों द्वारा विरचित हैं। आज विश्वविद्यालयों के पठनक्रम में भी उन कृतियों की नियुक्ति बहुत सम्मादर के साथ की जाती है, यह जैन साहित्य भारतीय साहित्य-संसार के लिए ही नहीं समाज के लिए भी गौरव का विषय है।

महाकवि रत्नाकर ने युग की मांग को स्वीकार करते हुए अपनी रचना द्वारा साधारण मानवों तक पहुंचने का स्तुत्य प्रयत्न किया है। इस विशुद्ध ध्येय के कारण ही आज उसके साहित्य लोकप्रिय होकर जनसाधारण के हित में सर्वोपरि उत्तम साधन सिद्ध हुए हैं।

आज जनतंत्रशासन के युग में सर्वजनहिताय रचित साहित्य के लिए आदर का स्थान प्राप्त होना अनिवार्य एवं स्वाभाविक है। अत महाकवि रत्नाकर के द्वारा रचित भरतेशवैभव को भारतीय गौरव ग्रंथ का स्थान शासन-साहित्यविभाग ने दिया है, वह सर्वथा औचित्यपूर्ण उपक्रम है।

(लेखक द्वारा रत्नाकर का यह ग्रंथ व अन्य अनेक साहित्य हिन्दी में अनुदित होकर प्रकाशित हुए हैं। जिनकी कई आवृत्तियां होकर लोकप्रिय हुई है। इतना ही नहीं, गुजराती, मराठी, आदि भाषाओं में भी प्रकाश में आये हैं, अंग्रेजी में आने की प्रतीक्षा में है।)





अज्ञात आयुर्वेदिक साहित्य

मुनि कान्तिसागरजी

भारत की पुरातन विद्याओ मे स्वास्थ्यविद्या का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान रहा है, इसे आयुर्वेद की सज्ञा से अभिहित किया गया है। इसका तात्पर्य, प्राण, स्वास्थ्य और दीर्घआयु से है। विश्व का प्रत्येक प्राणी स्वास्थ्यकामी है, यहा तक कि पशु भी स्वस्थ जीवन की कामना करते हैं। वे अपनी भावी प्रजा के प्रति पूर्णतया सजग रहते हैं, मनुष्य बुद्धि-जीवी प्राणी होने के साथ सामाजिक भी है, अत उसे अपने समाज तथा भावी पीढी के लिए स्वास्थ्य दृष्ट्या स्वभावत ही सावधान रहना पडता है। निरोगी जीवन केवल वैयक्तिक समस्या न होकर समष्ट्यात्मक है, सुदृढ और रोग रहित मानव ही स्वस्थ और प्रेरक समाज की रचना कर सकता है। समाज का मानसिक गहन चिन्तन और विकास भी उत्कृष्ट स्वास्थ्य पर अवलंबित है, कहने की सम्भवत आवश्यकता नही कि मानव-सस्कृति के विकास मे पशुओ का योग भी कम नही रहा है, यहा वन, लता और गिरि-कदराएँ अनुपेक्षणीय हैं। हमारी सस्कृति का विकास ऐसे ही प्राकृतिक वायुमण्डल मे हुआ है। आयुर्वेद प्रणालिका के प्रोत्साहक ऋषि-मुनियो ने स्वास्थ्य का विचार करते समय जिस व्यापकता का परिचय दिया है वह आज के प्रगतिशील युग मे भी विस्मयजनक है। पशुआयुर्वेद और वृक्षायुर्वेद विषयक रचनाएँ इस कथन के समर्थन मे उपस्थित की जा सकती हैं, इतिहास के प्रकाश मे आयुर्वेद की कालप्रणालिका, अन्य शास्त्रो की अपेक्षा अधिक उलझी हुई है। ऐसी कोई प्रामाणिक और आलोचनात्मक कृति भी उपलब्ध नही कि इसके क्रमिक विकास पर मार्मिक प्रकाश डाल सके। वेद और तत्परम्परानुयायी साहित्यानुशीलन से विदित होता है कि वेद-पूर्व काल मे भी आयुर्वेद का अस्तित्व था, कारण कि वेदो मे ऐसी अनेक ऋचाएँ सग्रहीत हैं जिनमे आयुर्वेद से सबद्ध विविध विषयो का सकलन एव निर्देश है, वेदो मे दीर्घायु के सबध मे मूल्यवान विषयो की व्याख्या की गई है। प्राण-तत्व की प्राप्ति ही वैदिक आयुर्वेद का लक्ष्य था। प्रकृति के रहस्य को आत्मसात् कर स्वास्थ्यमूलक नियमो का परिपालन ही चिकित्सा का उद्देश्य था। दीर्घायु का ही अपर नाम अमृत है, प्राण ही अमृत है—'अमृत वै प्राणा ।' वैदिक साहित्य इसी प्राण-विषयक समालोचना से परिपूर्ण है।

सुश्रुत और काश्यपादि सहिताकारो के अभिमत से भूतल पर मानवोत्पत्ति के पूर्व आयुर्वेद का प्रणयन हो चुका था, यथा —

इह खल्वायुर्वेद नाम यदुपाङ्गमथर्ववेदस्यानुत्पाद्यैव प्रजा कृतवान् स्वयम्भू ।—सुश्रुत

अथर्ववेदोपनिषत्सु प्रागुत्पन्नः स्वयम्भूर्ब्रह्मा प्रजा सिसृक्षु प्रजाना परिपालनार्थमायुर्वेदमेवाग्रेऽसृजत् सर्ववित् ।

—काश्यपसहिता

चरककार प्रजापति को ही आयुर्वेद का उद्भावक मानते हैं —

ब्रह्मणा हि यथाप्रोक्तमायुर्वेदं प्रजापति ।
जग्राह निखिलेनादावश्विनौ तु पुनस्तत ।

चरक० सूत्र० अ० १-४

किसी भी वैदिक संहिता में पठ धातु की अनुपलब्धि ही इस बात की ओर संकेत करती है कि उन दिनों श्रवण और मनन का ही महत्त्व था, छान्दोग्योपनिषद् और गीता में दोनों का विशिष्ट महत्त्व प्रतिपादित है। अध्ययन अध्यापन उस काल में प्रवचन द्वारा ही सम्पन्न किये जाते थे। आयुर्वेद के मूल ग्रन्थों से भी यही ध्वनित होता है। उदाहरणार्थ सुश्रुतसंहिता में सुश्रुत पृच्छक हैं और दिवोदास उत्तरदाता। यह पद्धति सर्वत्र थी। जैनागम-साहित्य भी इसका अपवाद नहीं है।

बौद्धिक क्षीणता, प्रसार और युग की माँग के कारण महामनीषियों ने आयुर्वेद को लिपिबद्ध किया। अनन्तर ग्रन्थस्थ साहित्य का चरक और नागार्जुन आदि विशेषज्ञों द्वारा प्रतिसंस्कार हुआ। प्रतिसंस्कार में संक्षिप्त तथ्य का विस्तार एवम् अतिविस्तृत का संक्षेपीकरण हुआ। जैनागमों की वाचना के समान आयुर्वेद की परिषदों के माध्यम से भी समय-समय पर परिवर्द्धन होता गया। कालान्तर में पूर्वलिखित सैद्धान्तिक विषयों पर अपने-अपने अनुभवों द्वारा मनीषियों ने स्वतन्त्र रचनाएं कीं। इस प्रकार आयुर्वेद शताब्दियों के अनुभव के सहारे परिपुष्ट होता गया। इस निबंध में भी ऐसे ही प्रयासों का परिणाम प्रस्तुत किया जा रहा है।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि आज आयुर्वेद के प्रति भारतीय जन समुदाय पूर्वापेक्षया अधिक आकृष्ट है, तद्विषयक साहित्य भी पर्याप्त प्रकाश में आया है, मूल कृतियों की समीक्षा भी हुई है—हो रही है, इन सब बातों के बावजूद भी कहना पड़ रहा है कि प्रकाशित साहित्य से भी अधिक रचनाएं आज प्रकाशन की प्रतीक्षा में हैं, अनेक आयुर्वेद संबंधी रचनाएं पुरातन ज्ञान मंदिरों में दिनानुदिन कीटकों का भक्ष्य बन रही हैं और इसकी अविच्छिन्न परम्परा का प्रवाह तो इतना व्यापक है कि यदि उसका व्यवस्थित संकलन किया जाय तो कई खण्ड तैयार हो सकते हैं, इस पर हमारा ध्यान अभी नहीं गया है। रस, धातु, द्रव्यगुण विज्ञान और निदान से संबद्ध कई रचनाएं आज भी ऐसी हैं जिनका अन्वेषण नितान्त वांछनीय है। इन सब कृतियों का महत्त्व इसलिए भी है कि शताब्दियों पूर्व के प्रयोगों का प्रत्येक समय में कैसा उपयोग होता रहा और उनमें कैसे सामयिक परिवर्तन हुए आदि का ज्ञान परवर्ती रचनाओं द्वारा ही संभव है।

एक समय था जब अपेक्षित ज्ञान की अपूर्णता के कारण प्राच्यतत्त्वविदों में यह भ्रम फैला था कि प्राचीन भारतीय लोगों ने आध्यात्मिक, धार्मिक और दार्शनिक विषयों में ही प्रावीण्य प्राप्त किया था। भौतिक विषय उनसे अछूते ही हैं, परिणामतः भौतिक बातें प्रत्यक्ष को न समझ सकने की परम्परा हिन्दू सभ्यता में आधुनिक रूप से उभर आई है, अध्यात्मेतर विषयों को आत्मसात् करने की बौद्धिक क्षमता भारतीयों में नहीं रही, यह आरोप आयुर्वेद पर भी चरितार्थ होता है। संस्कृत साहित्य से सुपरिचित श्री ए० ए० मेकडोनल का वक्तव्य प्रेक्षणीय है —



1 'With regard to the intrinsic value of the works of the old Indian writers on medicine, the opinion of competent Judges who have hitherto examined them is not favourable Nor is it likely that the Indian mind, since it never showed any aptitude for natural science, should have acomplished anything great in this direction Probably the only valuable contribution to surgery to which India can lay claim is the art of forming artificial noses.'

'Imperial Gazetteer of India,' Vol II p 266



उपर्युक्त वाक्यावली मे पूर्वग्रह का स्पष्ट प्रदर्शन है। एक जर्मन विद्वान् हास ने तो यहा तक कह डाला कि हिन्दुओ की वैद्यक विद्या का विकास १० से १८ शती तक का ही है कितना हास्यास्पद विश्लेषण है। परन्तु परवर्ती विद्वान् जोली ने इन मतो का निरसन हिस्ट्री ऑफ इडियन मेडिसीन मे भली-भाँति कर दिया है।

श्रद्धाजीवी मानस कभी-कभी भावुकतावश कह बैठता है कि पूर्णतया आध्यात्मिक जीवनयापन करने वाले मुनियो का आयुर्वेद जैसे भौतिक विषय से क्या सबध ? इन स्वरो मे प्राणीमात्र को सुख पहुचाने की प्रवृत्ति धूमिल हो जाती है। वे अहिंसा की व्यापकता एव सूक्ष्मता मे परिचित होते और सर्वथा दया का वास्तविक मर्म आत्मसात् किये होते तो सभवत यह विचार ही उनके मस्तिष्क पटल पर अकित न होता। इतना ही नही प्राचीन जैन वैदिक साहित्यानुशीलन से अवगत होता है कि आयुर्वेद की समस्त शाखाओ के विकास मे क्रियाशील आचार्यों का प्रधान सहयोग रहा है। प्रभावक आचार्य को सर्व विषयो मे निष्णात होना आवश्यक माना गया है। रसायन शास्त्रो के परम विद्वान् नागार्जुन के गुरु आचार्य पादलिप्तसूरिजी को यदि चिकित्सा का ज्ञान और अनुभव न होता तो पाटलीपुत्र के मुरुण्ड राजा के मस्तक रोग का निवारण सभव न था। कालिकाचार्य रसायनशास्त्र के न केवल सैद्धान्तिक विद्वान् ही थे अपितु इसका उन्हें सक्रिय ज्ञान भी था। तात्पर्य है कि न केवल मुनियो ने स्वतन्त्र आयुर्वेद के प्रामाणिक और महत्त्वपूर्ण ग्रन्थो का ही प्रणयन किया, अपितु, एतद्विषयक दुर्बोध कृतियो पर विस्तृत एव आलोचनात्मक टीका टिप्पणी लिखकर सर्वाधिक लोक भोग्य भी बनाया। सस्कृतानभिज्ञ प्रेमियो के लिये कई रचनाओ पर स्तबक-टबा और बालावबोध या अनुवाद कर उसे सुरक्षित रखा। जो सेवा आयुर्वेद जगत की की है वह आज के वैज्ञानिक व शोध के युग मे भी अभिनन्दनीय ही नही, अपितु अनुकरणीय है। नागार्जुन रचित योगरत्नमाला जैसे कतिपय ऐसे ग्रथ है जिन पर जैनाचार्यों द्वारा प्रणीत सुबोधवृत्ति ही समुपलब्ध है। ऐसी रचनाएँ उन दिनो की हैं जिन दिनो स्वल्प शैथिल्य भी समाज की दृष्टि मे अक्षम्य अपराध माना जाता था। अपने पारस्परिक आचार और शास्त्रीय नियमो का पूर्णतया दैनिक जीवन व्यवहार मे साकार करने वाले परम नि स्पृह मुनि ही इस कार्य के अधिकारी हो सकते थे। वे अपनी साधना और अनुभवो को छिपाने की अपेक्षा जनकल्याणार्थ सार्वजनिक प्रदर्शन करने मे तनिक भी सकोच नही करते थे। प्रयोग छिपाने से हमारी चिकित्सा के क्षेत्र मे कितनी हानि हुई है यह बताने की आवश्यकता नही। यहा जैनो द्वारा रचित आयुर्वेद की समस्त शाखाओ को परिपुष्ट करने वाले साहित्य की न तो समीक्षा करनी है और न क्रमबद्ध इतिहास ही उपस्थित करना है, पर यह कहने का लोभ भी सवृत नही कर सकता कि आज ६ दजन से अधिक एतद्विषयक रचनाए प्राप्त हैं। दूसरे शब्दो मे कहा जाय तो जहा तक राजस्थान का प्रश्न है, विशुद्ध आयुर्वेदीय परम्परा को सुरक्षित रखने और अधिकाधिक लोकभोग्य बनाने मे सर्वाधिक सक्रियोग जैन यति-मुनियो का ही रहा है। यह एक ऐसा ऐतिहासिक सत्य है जिसकी गवाही मे शताधिक मौलिक और सकलित कृतिया समुपस्थित की जा सकती हैं।

सकलनो से मेरा सकेत आम्नाय ग्रन्थो की ओर है। सम्पूर्ण भारत मे इस प्रकार की अनुभूत प्रयोगो की शताधिक पोथिया उपलब्ध है, पर राजस्थान के जैन भडारो मे तो इनका इतना बाहुल्य है कि यदि सबका सामूहिक प्रकाशन किया जाय तो कई जिल्दें सरलता से तैयार हो जाती हैं। पुन-पुन प्रयुक्त शास्त्रीय प्रयोगो की छाप तो ऐसे सकलनो पर होती ही है पर प्रारम्भिक अनुभवमूलक योग भी हजारो की सख्या मे पाये जाते हैं, जो तत्काल अपना मूल्यवान् प्रभाव प्रदर्शित करते है। ऐसे योग केवल काष्ठादिक औषधो से ही सबद्ध नही रहते अपितु रासायनिक-धातु परिवर्तन और विषोपविषो से सबध रखने वाले योग भी मिल जाते हैं। उदाहरणार्थ सिंग्रफ ही लें, शास्त्रीय दृष्टि से इसे गौ या महिषी के पय मे गरलकर सात बार नीबू के रस मे घोटकर शुद्धि की पद्धति पचलित है, पर पुराने अनुभवमूलक पत्रो मे इसे प्लाण्डु, घृत और प्लाण्डु रस सयुक्त, नागरवेल के पान के साथ, वच्छनाग के चूर्ण मे रखकर या उत्तम मद्ययोग से शुद्ध करने की कई प्रक्रियाए मिलती ह। भल्लातक के हिंगुल मिश्रित कई प्रयोग विभिन्न रोगो पर इन पक्तियो के लेखक ने शताधिक बार अनुभव किया है, पूर्ण सफलता प्राप्त हुई, रासायनिक प्रयोग अव्यर्थ प्रमाणित हुए। जिन विशिष्ट रोगो को दूर करने के लिए जिन धातुओ का वर्णन शास्त्रीय कृतियो मे आया है उन-उन रोग निवारणार्थ सबद्ध काष्ठादिक वनिस्पतियो के रस मे यदि उन्हें प्रभावित कर काम मे लाया जाय तो कोई कारण नही कि चिकित्सक को असफलता या अयश का सामना

करना पड़े। जैसे मधुमेह के निरसन के लिये प्रयुक्त भस्मों को इन चन्द्रवेग नामक वनस्पतियों के रसों के योग से बनाए तो तत्काल फल मिल जाता है। इन पंक्तियों के लेखक ने हिंगुल तथा मधुमेह पर यह प्रक्रियाएं कई बार प्रयुक्त की हैं। ऐसे आम्नाय ग्रंथ १८ वीं शती से मिलने प्रारम्भ हो जाते हैं, संभव है इन पूर्व के भी प्राप्त होते हों, पर मेरे संग्रह की कृतियों में जो सर्वाधिक प्राचीन हैं वे रचनाएं १८ वीं की ही हैं और सुप्रसिद्ध जैनाचार्यों की पारम्परिक आम्नायें हैं। मुझे इन प्रयोगों ने कभी असफल नहीं किया। १० संकलन इन पंक्तियों के लेखक के संग्रह में हैं। यद्यपि इनके प्रयोग बहुलतया वानस्पतिक होते हैं पर अन्यद्रव्यी रस भी उनमें समाविष्ट हो सकते हैं। यहाँ स्मरणीय है कि ऐसी रचनाओं में केवल प्रयोग ही संग्रहीत हों सो बात नहीं है, कई तो निदान संयुक्त भी प्राप्त हैं। १६ शताब्दी का एक संकलन मेरे संग्रह में है जिसमें आपाद-मस्तक सर्वांग का वर्णन, रोग, ना[illegible], परिचर्या और चिकित्सा का विशद और प्रामाणिक विवेचन संकलित है। इसमें संग्रहकर्ता को जो योग जिस-जिस महानुभाव से प्राप्त हुआ है उनके नाम भी विद्यमान हैं। जिन पर प्रयोग किया गया उनके नाम भी मिलते हैं, जैसे सिंहनाहनी गुटिका के साथ महाराणा कुंभा का नाम जुड़ा है।

हां तो मैं कहने यह जा रहा था कि जिस प्रकार शास्त्रीय कृतियों के गवेषण व प्रकाशन और अनुसंधान पर आज बल दिया जा रहा है उसी प्रकार ऐसे संकलनात्मक साहित्य पर सर्वाधिक ध्यान देने की आवश्यकता है। यह हमारे पूर्वजों की वर्षों की शताधिकवार की परीक्षित अमूल्य निधि है। इन संग्रहात्मक रचनाओं के अतिरिक्त भी अनपढ़ जनता और वय-प्राप्त मानव के कंठ में महान् औषधि-प्रयोग वर्षों से चले आ रहे हैं। उनका भी लिपिबद्ध हो जाना अत्यन्त वांछनीय है। कभी-कभी अनुभव किया गया है कि जहां दिग्गज विफल हो जाते हैं वहाँ ये ग्रामीण कहलाने वाले मानव सफल हो जाते हैं।

आज का युग शोध और अन्वेषण प्रधान है। अनुसंधित्सुओं ने अपनी मूल्यवान् साधनाओं द्वारा कई ऐसी वस्तुओं पर प्रकाश डाला है कि इन चमत्कारों से आश्चर्यान्वित हो जाना पड़ता है। आयुर्वेद के उद्धारार्थ भी प्रचुर प्रयत्नों की आवश्यकता है। यही एक ऐसी रोगनिवारण पद्धति है जिसने शताब्दियों से मानव के स्वास्थ्य को सुरक्षित रखने में बहुमूल्य योग प्रदान किया है। आज के सीमित अनुसंधानों ने प्रमाणित कर दिया है कि आयुर्वेद की शक्ति अपार है। तत्त्वदर्शी ऋषियों की साधना आज नवमूल्यांकन की अपेक्षा रखती है। उन द्वारा प्रणीत और प्रकाशित आयुर्वेदिक साहित्य से भी कहीं मूल्यवान रचनाएं अप्रकाशित अवस्था में पड़ी हुई उद्धार की प्रतीक्षा में हैं। प्राचीन ज्ञानागारों में, सम्भ्रान्त परिवारों में और मठ-मंदिरों में न जाने कितना साहित्य दिनानुदिन नष्ट हुआ जा रहा है, दीमकों का भोजन बन रहा है जिसका परिष्कार और प्रकाशन वांछनीय है।

इस प्रसंग में मैं अपने संग्रह के कतिपय अज्ञात या अल्पप्राप्य ग्रन्थों का परिचय दे रहा हूं जिनका संबंध आयुर्वेद से है। यों तो संकलनात्मक प्रयोगों के १० बृहत्तर संग्रह तथा स्फुट पत्र इतने अधिक हैं कि उनकी संख्या १००० से कम नहीं है, पर यहां तो केवल उन्हीं का उल्लेख होगा जो स्वतन्त्र कृतियां हैं। यदि कोई आयुर्वेदप्रेमी इनके प्रकाशन की व्यवस्था कर सके तो उत्तम है।

योगसुधानिधि

जर्मन भाषा के सुप्रसिद्ध विद्वान् और परम साहित्यसेवी आफ्रेक्ट के केटलोगस् कटलोगरम में इस कृति का उल्लेख, जहां तक मुझे स्मरण है, आया है और बताया गया है कि इसकी एक प्रति इंडिया ऑफिस लाइब्रेरी लंदन और जर्मनी में किसी के संग्रहालय में है। अद्यावधि प्रकाशित श्री जोशी, दुर्गाशंकर केवलराम शास्त्री, अत्रिदेव गुप्तादि द्वारा आलेखित आयुर्वेद शास्त्र के किसी भी इतिहास में इसका उल्लेख नहीं हुआ है। सर्वप्रथम यहीं इसका परिचय प्रस्तुत किया जा रहा है। इस मूल्यवान रचना के प्रणेता जगदीश मिश्र के पुत्र वदि मिश्र हैं। लेखक ने अपनी इस कृति में विशेषतः वात और स्त्री चिकित्सा पर ही विचार किया है। वैद्यक परम्परा आनुवंशिक संस्कार के रूप में लेखक को प्राप्त है जैसा कि प्रशस्ति से सिद्ध है। कवि के पूर्वज श्री भवानीदास स्वयं कुशल वैद्य और चिकित्सक थे। वदि मिश्र ने कृति में कई प्रयोगों में अपने पूर्वजों द्वारा प्रवर्तित सत्ता दी है। कवि को शास्त्रीय चिकित्सा पद्धतियों का भी अनुभव था जैसा कि



निनामी की चिकित्सा मे इस प्रकार उल्लेख किया है "तस्मिन्गुर्ज्जरदेशजातसुयवा क्षारस्य चूर्ण क्षिपेदल्पपान विधानतो हरति तद्बाल्पस्यनिर्नामिकाम्"

ग्रन्थकार ने बालक जन्म से लगाकर जब तक वह वयस्क नही हो जाता तब तक की पूरी चिकित्सा का वर्णन किया है। बिल्कुल अल्पावस्था मे औषधि लेने की स्थिति नही होती उसके लिए लेप और धूप की व्यवस्था की गई है या माता को दवा देने का विधान निर्दिष्ट है। सर्व प्रथम दुग्ध शुद्धि और लक्षण का परिचय वर्णित है। तदनन्तर षष्ठिपूजा, कार्तिकपूजन, वशपूजा, शखपूजा, नारायनपूजा, षोडश मातृका पूजा, कुलदेवतापूजा, हलपूजा आदि कृत्यो के बाद सूर्यावलोकन सस्कार सपन्न किया जाना बताया गया है। तया रोगो मे दाह, कुष्कुण, नाभि शोथ, गुदापाक, मुखस्राव, दतोद्भेद, निनामी, ज्वर, कास, हिक्का, श्वास, छर्दि, मूर्च्छा, भ्रम, उन्माद, अपस्मार, मूत्र के कई रोग, गुल्म, यकृतप्लीहाशोथ, हृदयरोग, श्लीपद, विद्रधि, गृध्रसी, अस्थिसधान, भगदर, नाडीव्रण, उपदश, कुष्ट, शूक, अम्लपित्त, अतिसार, दूध फैकना, विसर्प, विस्फोट और क्षुद्र रोगादि पर सुन्दर प्रकाश डाला गया है। कामला पाण्डु की चिकित्सा का उदाहरण देना उपयुक्त जान पडता है—

अथ पाण्डुरोगे चिकित्सा

गोमूत्रशुद्धमण्डूर सर्प्पिषा मधुना सह।
भक्षयेत्पाण्डुरोगघ्न, पक्तिशूलहर शिशो ॥
लोहपात्रे स्थित क्षीर सप्ताह पथ्यभुक्शिशु।
पिबेत्वांवामपहर, ग्रहणी सोक नाशनम् ॥

अथ कामलायाम्

अजयेत्श्यामलार्त्ताना चक्षुषी दोषशान्तये।
निशा गैरिक धात्रीभि र्द्रोणिपुष्पी रसेन च ॥
गडूचीपत्र कल्क तु 'पिबेत्तक्रेण वा शिशु।

उपर्युक्त सभी प्रयोग लेखक के शतशोनुभूत है।

कृति के अन्त परीक्षण से विदित होता है कि लेखक को शास्त्रीय ज्ञान भी पर्याप्त था। अपनी चिकित्सापद्धति को प्रमाणभूत बनाने के लिये रावण कृत कुमारतत्र का स्थान-स्थान पर उल्लेख किया है। विशेष कर स्त्री चिकित्सा वाले प्रकरणो मे तो वृद्धत्रयी का पूरा उपयोग परिलक्षित होता है। कौन-सा प्रयोग कहा से लिया, यथास्थान सकेत स्पष्ट है। दोनो विभागो मे लेखक ने अनेक स्थान पर मत्र और यत्रो द्वारा भी रोग निवारण का उपदेश दिया है। प्राचीन अन्य एतद्विषयक कृतियो मे इस प्रकार की परम्परा पाई जाती है। विद्वत्परिचयार्थ कृति का आदि भाग उद्धृत है—

श्री गणशाय नम

नत्वा धन्वतरीं भक्त्या चिकित्सा क्षीरनीरधिम्।
विलोक्य बुध्या बहुश कलाभि सकलकृत ॥१॥
गदघर्मार्त्त बालाना सुखाय भिषजा तथा।
क्रियते वन्दिमिश्रेण सोऽय योगसुधानिधि ॥६॥
रौराज्यरम्य पुरभिष्टकाख्य, मनोरम श्रोत्रियमदिरश्च।
अगस्तिगोत्रो वसतिस्म तत्र, स वैद्यपूज्यो हि भवानीदास ॥३॥

पृथ्वीव द्विजराजवन्दितपद. श्रीमान् सन्मत. ।
स्कन्दादुर्गादिधरो बभूव भिषजा मान्यस्य नारायण ॥४॥

कल्याणोऽस्य सुतस्ततस्तु भुवनानन्दैकहेतु ततो ।
ज्ञानीशो जगदीश्वरो सुविगतो दिव्याशिवाशम्बदन् ॥५॥

सिन्दलिङ्गेशात्मजेनास्य सोय ग्रंथ पुस्ता व्यादिदधावबद्ध ।
सर्वे योगा यन्मंत्रादयोऽस्मिन्लिखिताएव श्रीभवानीवरेण ॥६ ।

ग्रन्थकार ने आत्मवृत्त देने में कृपणता कर दी है। जहाँ से मुझे यह प्रति प्राप्त हुई उन सज्जन का कथन है कि हमारी परम्परा में यह प्रसिद्ध रहा है कि ये भावमिश्र के प्रपौत्र थे जिनकी रचना भावप्रकाश प्राप्त है। परन्तु यह कोरी किंवदन्ती है, इसके पीछे कोई ठोस आधार नहीं है, अतः प्रमाणभूत ऐतिहासिक साधन जब तक न मिले तब तक इसका अस्तित्व सन्दिग्ध अवस्था के गर्भ में ही रहेगा। हाँ भावमिश्र का समय सुनिश्चित होता तब भी कोई बात नहीं थी, पर उनका भी समय अनुमान ही है। यहाँ तो इतना ही निःसंकोच कहा जा सकता है कि यह कृति भावप्रकाश के बाद की है अर्थात् सत्रहवीं शताब्दी के अनन्तर ही इसका प्रणयन हुआ होगा, क्योंकि इसमें उपदंश का स्पष्ट उल्लेख है। अनुसन्धित्सुओं से विनम्र निवेदन है कि यदि किसी के संग्रह में इसकी अन्य प्रति प्राप्त हो तो इन पंक्तियों के लेखक को सूचित करने का कष्ट करें। इसकी मुद्रण योग्य प्रतिलिपि मैंने तैयार कर ली है। इसका प्रकाशन नितान्त वाञ्छनीय है।

गुणरत्नमाला

हिस्ट्री आफ इंडियन मेडिसिन के सुप्रसिद्ध आयुर्वेद गवेषक श्री जोली ने उपर्युक्त कृति का उल्लेख करते हुए सूचित किया है कि इसकी एक प्रति लंदन के "इंडिया आफिस" संग्रहालय में सुरक्षित है। श्रीयुत दुर्गाशंकर भाई केवलरामजी शास्त्री ने भी अपने आयुर्वेद के इतिहास में इसी बात को दुहराया है। इससे यही फलित होता है कि भारत में कहीं भी इसकी हस्तलिखित प्रति प्राप्त नहीं है। मेरे उदयपुर निवास दरम्यान स्थानीय विद्वान् श्री आलमशाह खान सा० ने मुझे अपने संग्रह के पुराने हाथ के लिखे स्फुट पन्नों का ढेर बताया। उसमें यह कृति आंशिक रूप में प्राप्त हो गई और उन्होंने मुझे अपने संग्रह के लिए सहर्ष समर्पित भी कर दी। सम्भव है अन्य विद्वानों के वैयक्तिक संग्रह में भी इसकी प्रति उपलब्ध हो जाय, इस प्रति के प्रारम्भ से १ से लगाकर १८ पद्य विलुप्त हैं।

अभी तक भावमिश्र की केवल एक ही रचना "भावप्रकाश" प्रसिद्ध थी और जब इस कृति का नाम अनुसन्धायकों ने सुना तो बड़ी प्रसन्नता हुई होगी। अन्वेषकों का यह सामान्य नियम रहा है कि किसी भी कृतिकार की आत्मा को यदि पहचानना है तो उसकी रचनाओं का अनुशीलन नितान्त वाञ्छनीय है। जैसा कि मैं पूर्व ही अपने आयुर्वेदिक मौलिक ज्ञान का उल्लेख कर चुका हूँ, तथापि मैंने विषय की दृष्टि से भावप्रकाश को देखा और गुणरत्नमाला को भी समक्ष रख प्रयत्न किया तो पता चला कि यह कृति भले ही स्वतन्त्र रचना प्रतीत होती हो परन्तु वस्तुतः यह भावप्रकाश का ही एक अंश है। या यों कहना चाहिए कि भाव मिश्रजी ने प्रथम इसका प्रणयन किया तदनन्तर इसी का विस्तार भावप्रकाश में किया, कारण कि कृति का अधिक तो नहीं पर आंशिक जो पर्यालोचन किया और शालिग्राम वैश्य सम्पादित भावप्रकाश के साथ इसमें वर्णित विषयों का निरीक्षण किया तो स्पष्ट हो जाता है कि इसमें केवल द्रव्य गुण विज्ञान का ही समावेश है, और ऋतुचर्या, परिचर्या और सामान्य पानादि के गुण दोषों की चर्चा है। और कृति समाप्त हो जाती है।

द्रव्य गुण विज्ञान का संक्षिप्त रूप मैं इसलिए कहता हूँ कि भावप्रकाश में वनस्पति नाम, पहचान के बाद गुणों का वर्णन किया है जब कि इसमें केवल गुणों का ही विवेचन है। इसके सभी श्लोक भावप्रकाश में मिलते हैं। वर्णन क्रम भी भावप्रकाश के ही अनुरूप है। मेरा तो यही अनुमान है कि भावमिश्र ने बालबुद्धि वैद्यों के लिये, विद्यार्थियों के लिये ही संक्षिप्त में तैयार किया है। विकल्पों को छोड़कर यदि इस गुणरत्नमाला को भावप्रकाश का संक्षिप्त संस्करण कह दिया जाय तो अत्युक्ति न होगी।





गुणरत्नमाला से इतना नवीन ज्ञातव्य अवश्य प्रकाश मे आया कि सुप्रसिद्ध विद्वान् भावमिश्र के पिता का नाम लटकन मिश्र था।

रसायनसार और सुखीजीवन प्रकाश

उदयपुर के निवासी सुखवाल विप्र की ये दोनो कृतियाँ हैं। ये अद्यावधि प्रकाशित हिन्दी भाषा और साहित्य के इतिहासो मे अनुल्लिखित कवि हैं। आयुर्वेद के इतिहासो मे भी इनका नाम नही मिलता है। इन कृतियो का अपना-अपना महत्व है। दोनों का सम्बन्ध रसायन शास्त्र से है जिसका उद्देश्य धातुपरिवर्तन विद्या से है। इन कृतियो का उद्धार कबाडियो मे किया गया है।

आयुर्वेद मे रसायन की उपयोगिता सर्वविदित है। एक धातु को किसी दूसरी मूल्यवान धातु मे परिवर्तन कर देना भारतीयों का ही कौशल है। नागार्जुन इस विषय के आचार्य माने जाते रहे हैं। यद्यपि इन कृतियो पर वैज्ञानिक दृष्टि रखने वाले महानुभाव बहुत ही स्वल्प विश्वास करते हैं, पर जिनकी रुचि इन ग्रन्थो मे हैं और वर्षो से जो परिश्रम करते रहे हैं वे सफल ही हुए हैं। चिकित्सा के क्षेत्र मे भी रसायन का अपना बहुत ही ऊचा स्थान है। रसचिकित्सा शीघ्र फलदायिनी होती है। रस का तात्पर्य पारद मिश्रित औषध से भी है।

कवि की प्रथम कृति 'रसायनसार है जिसमे रसायन निर्माण की ३२ प्रक्रियाओ का विशद् विवेचन है। दूसरी रचना मे धातुओ की शुद्धि और कृत्रिम मणिरत्नो का विधान दिया गया है। तावरा को स्वच्छ कर माणिक के रस मे कैसे परिवर्त्तित किया जाता है और अहिफेन आदि का निर्माण कैसे होता है, रत्नों पर पानी कैसे चढाया जाता है आदि कई उपादेय विषयो पर कवि ने अनुभवमूलक प्रकाश डाला है। इन आश्चर्योत्पादक प्रयोगो पर सामाजिक विश्वास होना कठिन ही है, अत कवि ने बार-बार जनता से आग्रह किया है कि मैंने जो कुछ भी लिखा है, अनुभव और गुरुगम के आधार से ही लिखा है, अविश्वास करने का कोई कारण नही है। इन पक्तियो के लेखक की दृष्टि मे और भी इस विषय की रचनाएँ और स्फुट प्रयोग देखने मे आये हैं। नही कहा जा सकता है इस मे कितना सत्यांश है। कृत्रिम मोती के लिए तो आज के युग मे प्रमाण देने की आवश्यकता नही रहती।

कवि ने कृति मे जो रचनासवत् दिया है उस से पता चलता है कि वह स० १७०० मे विद्यमान था। "राजस्थान मे हिन्दी के हस्तलिखित ग्रथों की खोज" भाग एक मे इनकी एक और कृति" "शकुन सवछरसार" उल्लिखित है। इसका रचना काल मेनारियाने स०१७९० दिया है जो विचारणीय है कारण कि रसायनसार मे कवि ने आत्मवृत्त देते हुए इसका प्रणयन समय स०१७००भाद्रपद शुक्ला ५ रविवार बताया है। श्री मोतीलाल मेनारिया ने इसी हृदयानन्द जोशी को महाराणा सग्रामसिंह द्वितीय (राज्य काल स० १७६८-१७९०) का आश्रित बताया है पर अपने इस कथन के समर्थन मे एक भी सम-सामयिक तथा कवि द्वारा स्वीकृत ऐसा कोई अकाट्य प्रमाण उपस्थित नही किया है। मेनारिया स्वय उदयपुर के निवासी और कथित अन्वेषक भी माने जाते है। कहीं ऐसा तो नहीं है कि उनने अपनी ही रिपोर्ट मे प्रदत्त "सेउत्रै" शब्द को नही मान कर महाराणा आश्रित रहने की कल्पना कर डाली हो? रसायनसार मे "सवत् सत्रह सइकरै" स्पष्ट अकित है।

कवि का लघुनाम "नन्द" था। ये भारती गुसाई के परम भक्त थे। कृति मे बार-बार भारती जी को याद किया है और इस रचना का पूरा श्रेय भी उन्ही को दिया है। यह कहने की यहाँ शायद ही आवश्यकता प्रतीत होती है कि उदयपुर के राजघराने से गुसाईयों का बहुत प्राचीन सबध रहा है। १८वी शताब्दी के जैन विज्ञप्तिपत्रो मे और उदयपुर के तात्कालिक ऐतिहासिक वर्णनो मे उनका वैभव वर्णित है। लादूवास के गुसांई प्रसिद्ध हैं।

यहाँ पर स्पष्टता वाछनीय है कि यदि कवि महाराणा सग्रामसिंह द्वितीय का आश्रित होता तो कम-से कम आश्रयदाता का नामोल्लेख तो करता ही जैसा कि राज्याश्रित कवि ग्रथान्त में आश्रयदाता की ही कृति बता दिया करते

थे, बल्कि इनके विपरीत मेनारिया ने जो उद्धरण दिया है उसमें तो कवि का उदयपुर का होना तक प्रमाणित नहीं होता। आज भी उदयपुर में इस जाति के पर्याप्त घर हैं। विद्वत्परिचयार्थ कृति के आदि और अंत भागों के उद्धरण प्रस्तुत हैं—

कवि ने रसायनसार का नाम "रसराज बोधप्रकाश" भी सूचित किया है—

रसराजबोध प्रकाश

आदि—

श्री गणेशाय नमः

अथ गुसाई भारथीजी कृत रसायण ग्रंथ लिख्यते

दोहा

प्रनमें गुरु इक भारती जिन घट कियो उजास।
और अनेक सुशिष्य गुरु बचने बचन प्रकास ॥१॥
जिनतें बस्तु भली मिलैं सोई सतगुरु जान।
बस्तु भुला दे गांठ की सो कुसंग कुबषांन ॥२॥

चन्द्रायनो

सपत धात उप धात चतुरदस जानीयैं।
इनमें सब ही ख्याल पिलार बषानीयैं ॥
उतपतिय है वैद्य पिलारी सब कहै।
हरि हा वैसी गुरगम होय सो तैसी बिध लहै ॥३॥
धात हि धात वैद्य कहो उपधात यो।
कहो धात उपधात आदि रघु जानियों ॥
उतपति सब ख्याल पिलारों यों कहै।
चिरता वैद्य कलक क्यों पैंहचानियें ॥४॥

अन्त भाग—

सवत सत्रैह सइकरै भादों उज्जल पक्ष।
तिथि पांचम रविवार युत, रचना रची सु दक्ष ॥
मिथिवाल नि में सोभतो जोसी हृदयानन्द।
चागिन गोत्र चामुण्डा, पिता सु ताराचद ॥
नगर उदैपुर कै विषै कवि न द को वास।
सद्य रसायन ग्रथ को जग में कर्यो प्रकास ॥

इतिश्री ताराचन्द सुत मिथवाल गोत्रे हृदयानन्द विरचिते "रसराजबोध प्रकास ग्रथ धातुवाद विचारनीय समाप्त ॥





सुख सजीवन प्रकाश

आदि—

सुखसजीवन प्रकाश भाषा जोसी हृदयान द कृत लिख्यते ।

दोहा

कहै नन्द कर जोरिकै सुनि दशनामी राय ।
सुखसजीवनप्रकाश की सतगुर कथा सुनाय ॥१॥
जो मति सुनि जीवै विदुर, नित प्रति चपल उपाय ।
विधि-विधि वस्तु अनेक 'जिहा', पराधीन वृप पाय ॥२॥
जो सव विद्या जगत मे जिनमें षोट न होय ।
कै हैं कृपालु भारथी सुप सु जीव उपाय ॥३॥

अन्त—

पल इक हीरा हींग सु सुद्ध मगाइयै ।
दुगुनो नागरमोथ मध्य मिलाइयै ॥
लपन फुली इक पोत सु प्यार पल का हियै ।
हरि हा अष्ट निवोरो मींग सु पाली सराहोयै ॥
उडद मु ग की पिस्ट सुकौरम जानियै ।
चौलागिरक वत्तीस परपक ठानियै ।
हरि हां टांक एक अफिम मसाला मांनियै ।
गाडर दूध मिलाय र वस्त घसाइयै ॥
अति सुछम जव होई पींड घघाइयै ।
आले गर्द्ध के चर्म ताहि भराइयै ॥
इति हींग पचम विधि सम्पूर्ण

सुपसजीवन प्रकास जोसी हृदयानन्द कृत भाषा बाईसमी विधि समाप्त ।

लंघनपथ्य निर्णय

आयुर्वेदिक चिकित्सा पद्धति मे पथ्य और लघन का अमुक रोगो मे विशिष्ट महत्त्व है । वस्तुत पथ्य स्वास्थ्य के लिए आवश्यक तत्त्व है । रोग निवारण मे दोनों की उपयोगिता असदिग्ध है । इस विषय पर मनीषियो ने गभीरता पूर्वक विचार किया है । वह वैद्यक का ऐसा अ ग है जिस पर ध्यान देना परमावश्यक है । स्वास्थ्य को प्रकृतिस्थ वनाए रखने के लिए भी माह मे एकाधवार लघन करना समुचित ही है । जिस रचना पर यहाँ विचार किया जा रहा है वह सूचित परिचर्या का एक अ ग ही है । किस-किस रोग मे कितने दिनो तक अनाहार रहा जाय और किन-किन रोगो मे क्या पथ्य ग्रहण किया जाय आदि वातो का सुन्दर विवेचन प्रस्तुत है । यह वताने की शायद ही आवश्यकता प्रतीत होती हो कि पथ्य भी देशज होते है । इस मे विशेषत मारू और जागलादि राजस्थान के जलवायु को ध्यान मे रखते हुए रोगी के पथ्य की व्यवस्था है । औषधि के परम सहयोगी तत्व पर पाश्चात्य-चिकित्सको ने सभवत इतना ध्यान नहीं दिया है ।

इस कृति के प्रणेता हैं खरतरगच्छीय आचार्य श्रीजिनदत्तसूरिजी के पारम्परिक मुनि लक्ष्मीनाथ वाचक जो दयातिलक के शिष्य थे। महामहोपाध्याय दयातिलक स्वयं कवि और मनस्वी संत थे। इनकी अन्य रचनाएँ १८वीं शती के दूसरे चरण की मिलती हैं। वाचक लक्ष्मीनाथ ने लंघनपथ्य निर्णय का प्रणयन महाराजा जयसिंह के राज्य में उन्हीं के पाटनगर जयपुर में सं० १८९२ माघ शुक्ला प्रतिपदा बृहस्पतिवार को किया। इससे विदित होता है कि इनका संस्कृत भाषा पर अधिकार था। अपने अनुभवमूलक विचारों को बहुत ही सरल और सुबोध भाषा में उपस्थित कर सामान्य या स्वल्प-बुद्धि वालों के लिए महदुपकार किया है।

"जैन सिद्धान्त भास्कर" भाग ५, किरण २, पृष्ठ ११८ पर लंघनपथ्य विचार नामक कृति का उल्लेख है। इसका प्रणयन समय सं० १७९२ ही है, पर वहाँ प्रणेता का नाम दीपचन्द दिया है।

कृति का आदि और अन्त भाग इस प्रकार है—

आदि—

श्रीसर्वज्ञं नमस्कृत्य भवतापनिवारकं ।
चतुर्गतिप्रहर्त्ता च सर्वसौख्यप्रदायकं ॥१॥
परमात्मा परं ज्योतिश्चिदानन्दमयं महः ।
अज्ञानध्वान्त नष्टस्य केवलज्ञानदायकं ॥२॥
सुवेषा च मनोज्ञा च मुक्ताभरणभूषिता ।
हंसवाहिनी या सा शारदा वरदास्तु नः ॥३॥
गणनाथं नमस्कृत्य किल विघ्ननिवारकं ।
मंगलं श्रेयकर्ता च गौरीपुत्र नमोऽस्तु ते ॥४॥
धन्वतरिं नमस्कृत्य सर्वरोगापहारकं ।
आयुर्वेदस्य वक्ता च आयुर्दाता यशः प्रदं ॥५॥
महामहोपाध्याय श्रीपूर्वदयातिलक सद्गुरुन् ।
सच्चरणं प्रणम्यादौ मया ग्रंथ विरच्यते ॥६॥
पचैतान्नमस्कृत्य पचैते विघ्नवारका ।
पचैते श्रेयकर्ता च पचैते च यश प्रदा ॥७॥

अन्त भाग—

विद्वज्जनान्य सपूज्य नमस्कृत्य गुरु प्रति ।
सर्वशास्त्रादि सवीक्ष्य आत्मबुद्ध्यानुसारतः ॥३३५॥
द्विनन्दमुनिभूपवर्षे मासे च माघ सज्ञके ।
शुक्ले प्रतिपदायां च वासरे भृगुसंज्ञके ॥३३६॥
संपूर्ण क्रियते ग्रंथ निर्णयपथ्यलंघनम् ।
श्रीजयपुरे महारम्ये राज्ये जयसिंहनृपते ॥३३७॥
पूर्णग्रन्थ मनोज्ञश्च वैद्याना च हितावहे ।
मुखाधीत कृतो येन विद्वन्मध्ये तु शोभते ॥३३८॥
कपोल कलित चास्ति पूर्वाचार्यानुसारतः ।
वाचक लक्ष्मीनाथेन एकत्री कृत शास्त्रत ॥३३९॥



मया च मंदबुद्ध्या च कुर्यात्स्वस्य च निर्णय ।
शुद्धाशुद्ध च विज्ञाय मम कोपो न कार्यता ॥३४०॥
कृपा कुरुध्य नो मतो मम विज्ञप्ति एव च ।
यावद्विजयते ग्रंथ तावच्चद्र दिवाकरो ॥३४१॥
इतिश्री लघनपथ्यनिर्णय ग्रंथ सपूर्ण
शुभ भूयात् श्रीकृष्णाय नमस्तु ॥

वैद्यदोध

इसके प्रणेता चरणदासी सप्रदाय के सन्तप्रवर श्री अर्गरामजी हैं। ये न केवल आध्यात्मिक साधक ही थे अपितु जनसेवा भी उनका आवश्यक व्रत था। प्रस्तुत रचना से उनके आयुर्वेद विषयक ज्ञान का पाण्डित्य परिलक्षित होता है कवि ने ज्वरदर्पण वृन्दविनोद, माधवप्रकाश, सन्निपात-लक्षण, त्रिशति योगचिंतामणि, योगशतक, वीरसिंहावलोक, कालज्ञान, कुमारतत्र और दानचिकित्सा जैसे वैद्यक के प्रमाणिक ग्रथो का आधार स्थान-स्थान पर टकित किया है। इन्ही से उनका अध्यवसाय झलकता है। कृति मे कवि ने दो बातो पर विशेष ध्यान दिया है एक तो यह कि रोगनिवारणार्थ जो भी औषधियाँ हैं सभी काष्ठिक ही है जो लगभग राजस्थान मे ही सरलता से सर्वत्र उपलब्ध हो जाती हैं। दूसरा अतिरिक्त उन रोगो का ही विवेचन है जिनका सबन्ध मुख्यतया राजस्थान की जनता से है। यद्यपि रोगो का जहाँ तक प्रश्न है उन्हे किसी प्रान्त विशेष की सीमा म आबद्ध नही किया जा सकता है पर तो भी प्रान्तीय जलवायु की प्रतिक्रिया कुछ वैशिष्ट्य को लिए हुए तो रहती है। कुछ रोग तो राजस्थान की ही देन है जैसे नेहरु।

मेरे पास इस की मूल प्रति लगभग ७ वर्ष से है और मैने इसके कई प्रयोग अजमाये है, सफलता ही मिली है। इसमे पक्षाघात की चिकित्सा बहुत सुन्दर और विस्तार से लिखी है।

पक्षाघात का तैल

सूचित बीमारी का प्रयोग यहा दे देना आवश्यक है—

देवदार, कूठ, भारगी, दोनो हल्दियें, त्रिकुटा, त्रिफला, पुष्करमूल, पाषाणभेद, कुडाबीज वच, चित्रक, विधारा, शालपर्णी, पृष्ठपर्णी ककोल, पद्म, खग दोनो अजवाहन, नागरमोथ, पतीस, अतीस, अजमोद, सनावगी, पुनर्नवा, कुलिजन, जाय फल जावत्री, कायफल, लौंग, अहिफेन, राई, मालकागणी, कपूर काचरी, इन सब वस्तुओं को कूट कर तैल बनाना चाहिए, इसमे आकडा, धतूरा, भागरा, कुमार, अरडी, सरजना, अडूसा, कटेरी, निर्गुण्डी आदि का रस पाचक करना आवश्यक है। विधिवत् इस तैल की मालिश से कैसा भी पक्षाघात क्यो न हो तत्काल लाभ मालूम देगा। मैं इस का व्यवहार ७ वर्ष से कर रहा हू, सामान्यत यह तैल चोट, मोच, लग जाना, वादीआजाना, चणक आदि अनेक वात विषयक रोगो पर आशीर्वाद सिद्ध हुआ है। जो-जो लक्षण कृति मे बताये हैं तदनुसार अनुभव होने पर इसकी मालीश अधिक दिनो तक भी की जा सकती है। कवि ने तो परहेज बहुत विस्तृत बताया है पर विशेष ध्यान इस बात का रखना अनिवार्य है कि शीतल भोजन और पेय सर्वथा निषिद्ध है।

इसमे भी बाल और स्त्रीचिकित्सा के स्वतंत्र प्रकरण हैं। कई रोगो पर तो अनेक अद्भुत प्रयोग हैं और कतिपय पर तो एक ही प्रयोग है, पर वह रामबाण ही प्रमाणित हुआ है। आख का केवल एक ही योग है, पर सभी चक्षु रोगो पर लाभदायक सिद्ध हुआ है।

मूलपाठ मे भाषा की त्रुटियाँ हैं, मौलिकता की रक्षा की दृष्टि से पाठ ज्यो का त्यो मुद्रित किया जा रहा है—सं०

कवि का विशेष वृत्त जानने के लिए 'भारतीय साहित्य' का प्रत्नमाक देखना चाहिए जो आगरा विश्वविद्यालय से प्रकाशित है।

विद्वत्सरित्यार्य कृति का आदि और अन्त भाग इस प्रकार है—

आदि भाग—

श्री गणेशाय नम

अथ राम कृत वैदबोध ग्रंथ भाषा लिख्यते—प्रथम श्रीगणेशजी कू मगलाचरण कहत हैं—

छप्पै

एक रदन गज वदन सकल तत्वारथ भ्यासी।
जोग जुक्ति ग्रहनिसि भाल इक चद प्रकासी॥
पाटवर बनि पोति हृदि दरमीइ हुग्र छिय।
भुज कङ्कण नी नाति लाल मुक्ताहु ललछिय।
अतैराम गनपति सुमिरि बुद्धि अपूर्व बल दीजिये।
सरस उकति इछा तणी नावत प्रणम तुव कीज्जिये॥१॥

सुखदेवजी कू स्तुति करत है—

दोहा

दिग अवर द्विज पुत्र है, ध्यावे अलख अभेव।
लोक तीन मे गति सदा जय-जय श्रीसुखदेव॥२॥

बहुरि हरिदेवजी कू स्तुति करत है—

दोहा

जै जै श्री हरदेवजी तुम देवन के देव।
तुम सेवन पातक नसै लहै अमरपुर भेव॥३॥
निराकार आकार हरि अगम अगोचर देव।
कई रूप निह रूप हो कोईय न पावे भेव॥४॥
गुरु किरपा जानी यही हरि बिन और न कोय।
चिर चर कीट प्रजत मैं व्याप रह्यो हरि सोय॥५॥

बहुरि चरनदाजी कू स्तुति करते हैं—

दोहा

चरणदास सतगुरु तणां चरण नमूं निस दीस।
अलिय विघन दूरै हरै निश्चय जानं जगीस॥६॥

बहुरि छीनाजी की स्तुति करत है—

दोहा

गुरु छीनां गुन आगरे दया दृष्टि अतिसार।
ताहि कृपा करि कीजियै वैद्य ग्रंथ विस्तार॥७॥





गुर छौंनां किरपा करी लहू प्रथन को भेव ।
वुद्धि सुद्धिमोहि दीजियै अविनासी गुरुदेव ।।८।।
गुरु छौंनां परताप सू तम अज्ञान नसाय ।
गुपत वात परगट लहै आनन्द नाहि समाय ।।६।।
अखैराम कै सदगुरु गुरु छौना सुख कद ।
चिंता टारन भै हरन मेटत सब सुख वद ।।१०।।
तुच्छ वुद्धि मम अलप है ग्रंथ करन को चाव ।
जैसे पिगल पुरष को गिरि चढवे को भाव ।।११।।
अखैराम की वीनती गुरु ईस्वर गुनि लेहु ।
वुद्धि सुद्धि सुख धाम ये मो हिरदे सुख देहु ।।१२।।
वार वार परनाम कर कर जोड़ सरि नाय ।
सतगुर तुम्हरी सरन हौं सव संदेह मिटाय ।।१३।।

अन्त—

चौपाई

वैधवोध यह नाम दखान्यो वहुत ग्रंथ को भेद सु ठान्यौं ।
मम मति अलप कहा उनमाना ग्रन्थ अपार अब्धि सम जाना ।।
गुरु किरपा तें ज्ञान लह्यौ है वैद्यवोध यह ग्रंथ कह्यौ है ।
पुनि वय वेरि चिकित्सा कीजै युवता-युक्त विचार जु दीजै ।।
देस काल अरु दन्हि विचारी व्याधि औषधि सव चित्त धारी ।
इह विचार करि दीजै सोई अखैराम भाषित इह होई ।।

अथ ग्रन्थ वचन—

तैल नीर मिपो जु कहेई इनसे रिक्षा करि तुम लेई ।
सिथल वध तें रिक्षा कीज्यो मूढ घीय कै कर मति दीज्यो ।।

छप्पै

ख-सर-नाग तुम जानि रूप धरि संवत कहियै ।
माघ मास सुनि नाम पक्ष प्रथमा सुख लहियै ।।
पुनि विरचि तिथि जानि सूर्य सुतवार वखांनू ।
ता दिन ग्रंथ समाप्ति होत अति हर्षित जानू ।।
श्री सवाई जयनगर मे ग्रंथ पूर्णता जानिये ।
गुरु प्रसाद तैं इह सही वैद्यवोध वखानिये ।।

इति श्री अखैराम कृत वैद्यवोध भाषाया वात रक्त उरुस्थभन आम वात परिणाम सूल सूल उदावृत्त हृद्रोग मूत्रकृच्छ्राादि प्रमेह—।

इन पक्तियो के लेखक ने इनके कतिपय प्रयोगो को—पक्षाघात, मधुमेह, श्वास, आंव आदि आदि—कई वार अजमाया है, पर असफलता न मिली ।

लक्ष्मी प्रकाश

इसके प्रणेता पं० लक्ष्मीचन्द जैन हैं। सं० १९३७ में इसे पूर्ण किया। इस रचना की विशेषता यह है कि इसमें प्रयुक्त लगभग सभी रोग स्वानुभवमूलक हैं। कृतिकार ने स्थान-स्थान पर इसकी सूचना दी है। दूसरी विशेषता यह है कि इसमें सर्वप्रथम रोग का निदान और पूर्व लक्षण विस्तार से दिए हैं, तदनन्तर शास्त्रीय चिकित्सा का वर्णन है। जिन-जिन सज्जनों से लेखक को योग प्राप्त हुए उनके नामों का भी कवि ने कृतज्ञता के साथ उल्लेख किया है। बागभट, माधवनिदान, भावप्रकाश, योगचिंतामणि आदि ग्रंथों की सहायता ली गई है—

इसका आदि और अन्त भाग इस प्रकार है—

प्रथम हि जिनकू सुमरिये दूजी सारदा माय।
ज्ञानी गुन गावे सदा ध्यानी धरे जु ध्याय ॥१॥
सर्व हि विघ्न निवारिकें पंचपरमेष्ठी सार।
सदा काल तिनकों नमो भवदधि पार उतार ॥
वैद्य धन्वन्तरि कों नमों नमू बागभट सार।
संस्कृत अनुसार नय कहूँ ज भाषा सार ॥२॥

अन्त भाग—

रोगी रोग निदान करि पीछे औषध देय।
याको निकई जानिकें ताकी विधि करेंय ॥
जाति चिकित्सा रोग की वात पित्त कफ आदि।
उलटि लपटि करि जानियें सर्व रोग की साधी ॥
लक्ष्मी प्रकाशज ग्रंथ है पूर्व ग्रंथ की साख।
माधव ग्रंथ निदान कृत भावप्रकाश की साख ॥
योगचिंतामणि उपाय करि चरक बागभट जान।
शारंगधर इत्यादि सब एही उपाय बखान ॥
साको अठारा मे कह्यो उपरि दोय बधाय।
ता दिन में यो ग्रंथ है इह विधि कही जिताय ॥
संवत उगणीसें अधिक वर्ष ऊपरी सेंतीस।
वदि वैशाख एकादशी बुध दिन करि प्रगटीस।
सिंघ लग्न में पूर्ण हैं लक्ष्मी ग्रंथ प्रकाश।
अल्प बुद्धि करि कीजिये ग्रंथ वरण को भाव ॥
शहर पचारी शुभ बसो जैनि जन को वास।
ता विघ मंदिर जैन को भगवत को निज दास ॥
निज सेवक हैं भक्तजन बुध कुशाल अरु चंद।
ता कुल को अरुमान है ताके शिष्य नैनचन्द ॥
ताकइ शिष्य मोतीरम है ताके शिष्य श्रीलाल।
ताके शिष्य लक्ष्मीचद है ताके शिष्य महिलाल ॥
बुध लक्ष्मीचंद कीजिये ग्रंथ पढनो नहीं चन्द।
ता गुन वर्नन कारणे हित मित करि आनन्द ॥





साधु सत दयाल की कृपा भई हित काल।
बाल बुद्धि के कारणे प्रगट करि जो विचार ॥
पूर्व ग्र थ की साख्य करि अल्प बुद्धि अनुसार।
श्रद्धा शुद्ध जो होय करि बुध जन लेहु सुधार ॥
बुधजन लक्ष्मीचद कृत आतम हित के काज।
तुच्छ बुधि करि कीजिये पूरण ग्र थ समाज ॥
दोहा सवैया चौपई छप्पय सोरठा जान।
एक सहस्र अरु सातमै उपरि बीस बखाण ॥
॥ इति श्रीलक्ष्मीप्रकाश ग्रथ सपूरण ॥

मिति वैशाख कृष्णा ३० स० '१९४५ का लिपीकृत ब्राह्मण रामनाथेन' सापूणि मध्ये लिलेख ॥ पठनार्थं बाबाजी श्री श्री १०८ जुगराजजी के ताई ॥

निघंटु

किसी भी देश की चिकित्सापद्धति मे द्रव्य गुणविज्ञान का महत्त्व सर्वोपरि होता है। जब तक इस तत्व का समुचित ज्ञान नहीं होता तबतक वैद्य चिकित्सा अधिकारी नही माना जाता। प्राचीन भारतीयो ने इस पर बहुत ध्यान दिया है। चरक काल पर दृष्टि केन्द्रित करने से विदित होता है कि उस समय वैद्यो का इस पर ध्यान आकृष्ट हुआ था। चरक के अनुपानविधि (सू अ २७) अध्याय मे खाद्य वस्तुओ की विवेचना करते हुए प्रत्येक के गुण दोषो पर वेधक प्रकाश डाला गया है। सूत्र स्थान के ३८वें अध्याय मे ३७ द्रव्यगुणो की परिगणना है—जो वैद्यकीय प्रगति की परिचायिका है। वाग्भट भी इसी का अनुसरण करते हैं। यहाँ ऐतिहासिक दृष्टि से विचार करने के पूर्व इस बात का स्पष्टीकरण वाछनीय है कि द्रव्यगुण विज्ञान के बीज चरक में होने के बावजूद भी इसके पृथक् विवेचन का युग वृहत्रयी के बाद का है। प्राप्त निघटुओ में सर्वप्राचीन धन्वतरि निघटु का माना जाता है, पर वनस्पतिशास्त्र के पर्यालोचन से उसकी प्राचीनता असदिग्ध नही है। ५वीं शती के सुप्रसिद्ध विद्वान् और कोशकार अमरसिंह ने भी वनस्पतियो के नाम दिये हैं, पर उनका दृष्टिकोण भिन्न था, वैद्यकीय नही था। मालवपति मु ज के समकालिक कवि हलायुध की अभिधान रत्नमाला और चक्रदत्त के द्रव्यगुणसग्रह को प्राचीन निघटु मानने मे आपत्ति नही है। दोनो कृतिकार चरक मे परिचित थे। धन्वतरि का प्रभाव भी इन पर नही है ऐसा नहीं कहा जा सकता है। इस की कृति को द्रव्यावलि की सज्ञा मे अभिषिक्त किया गया है। बारहवी शती के गुजराती विद्वान् शोढल को हम विस्मृत नही कर सकते जिनने वनस्पतियो का प्रत्यक्ष अनुभव कर अपने विचारो को विस्तार से उपस्थित किया। भेद प्रभेदो पर प्रकाश डाला। यह पहला व्यक्ति है जिसने न अपने गदनिग्रह में अहिफेन का उल्लेख किया है। वैद्य केशव प्रणीत सिद्धमत्र भी अनुपेक्षणीय नही। अति प्रसिद्धि प्राप्त यदि कोई निघटु है तो वह मदनपाल निघटु है जिस की रचना १४ वे शतक मे होना प्रमाणित है। डा० राजेन्द्रलाल मित्र और महामहोपाध्याय श्री विश्वेश्वरनाथजी रेउजी ने इसे कनौज का गहरवार वशीय माना है, पर प्रकाशित निघटु की प्रशस्ति से स्वत सिद्ध है कि ये जमनातटीय काष्ठ देशीय नरेश थे जिसकी अवस्थिति दिल्ली से उत्तर की ओर रही है। मदनपाल ने अपने निघटु की रचना करते समय एतद्विषयक अन्य सामग्री का भी पर्याप्त अध्ययन किया था। उस समय और निघटु रहे होगे। अभिधानचूडामणि भी एक मूल्यवान कृति है जो मदनपाल, अभिधानरत्नमाला, विश्वप्रकाश, अमरकोश आदि के निरीक्षण के पश्चात् लिखी गई है। आयुर्वेदीय औषधि शास्त्र के क्रमिक विकास की दृष्टि से इस कृति का विशेष महत्व है। विस्मृत वनस्पतियो के नाम भी इस मे विद्यमान हैं। सापेक्षत यह औषधो के अधिक नाम देता है। यहा क्षेम शर्मा के "क्षेम कुतूहल" को विस्मृत नही कर सकते

जिसकी रचना सं० १६०५ में हुई है। पारशास्त्र का विशद् विवेचन इसी में प्राप्त होता है। कवि ने आत्मवृत्त देते हुए सूचित किया है कि मेरे प्रपितामह ने दिल्ली के सुलतान की सेवा कर ११ ग्राम प्राप्त किये थे। कवि ने स्वय भी विक्रमसेन राजा की सेवा कर कुछ ग्राम पाये थे। पर वह कहाँ का नरेश था, कहना कठिन है। इसने उस समय के प्रचलित ग्रन्थ ग्रंथों का उल्लेख किया है, पर वे आज अप्राप्य है। इनके अतिरिक्त राजवल्लभ कृत द्रव्यगुणसग्रह (रचना काल सं० १८६० ई०) माधव कृत द्रव्यावलि, आदि कई निघटु सज्ञक रचनाएँ प्राप्त हैं।

सूचित निघटुओ मे राज निघटु के बाद सर्वोत्कृष्ट जो सूचना देने वाला निघटु उपलब्ध है वह है भावप्रकाश जिसकी रचना भावमिश्र द्वारा हुई और उनकी एतद्विषयक एक और रचना गुणरत्नमाला है जिसका परिचय इसी प्रबन्ध मे ऊपर की पक्तियो में दिया जा चुका है।

ज्यो-ज्यो समय बीतता गया, वानस्पतिक शास्त्र का विकास होता गया। वैद्यो के लिये इसका प्रत्यक्ष ज्ञान नितान्त आवश्यक ही नहीं अनिवार्य है। बिना परिचय के भैषज्य कल्पना असभव है। पर आज बहुत कम ऐसे चिकित्सक हैं जिन्हे वनस्पतियो का प्रत्यक्ष ज्ञान हो। पसारियो पर निर्भर रह कर सफल चिकित्सक नही बना जा सकता है। ऊपर की पक्तियों मे निघटुओ का विस्तृत अवलोकन इसलिये करना पडा कि मेरे सग्रह मे एक ऐसा निघटु है जिसका परिचय यहाँ दिया जा रहा है। यद्यपि यह कृति खण्डित है पर फिर भी इसका मूल्य कम नही होता। रचनाकाल और रचयिता अज्ञात है। इसका महत्व इसलिए भी है कि यह प्राचीन निघटुओ की अन्तिम कडी है। सम्भव है १८-१९वी शती की रचना हो। इसमे प्राचीन परम्परा का अनुसरण करते हुए प्रत्येक वनस्पति का नाम, गुण और किस प्रदेश मे अधिक प्राप्त होती है तथा वहाँ उसका क्या ग्रामीण नाम है, तत्रस्थित जनता उसे किस काम मे विशेषतया लाती है आदि अनेक मूल्यवान् सूचनाओ का इसमे उपादेय सग्रह किया गया है। इसमे सन्देह नहीं कि इसकी रचना भावप्रकाश के बाद की है, कारण कि जहाँ कवि ने वनस्पतियो का वर्णन किया है वहाँ यह भी सकेत किया है कि अमुक वनस्पति के भावप्रकाश ने इतने विशेष नाम दिये हैं, और कैय देव तथा धनवन्तरि ने इतने दिये हैं। प्रमाणस्वरूप गुणरत्नमाला का भी ६ स्थान पर उल्लेख है। ग्रन्थकार अमरकोश और इन्द्रकोश के नाम भी देता है। इसकी दूसरी विशेषता है आयुर्वेद मे प्रचलित औषध युनानियो मे क्या स्थान रखते है और उनके गुणों मे वे क्या अन्तर बताते हैं। साथ ही युनानी औषध पापाणादि का पूरा परिचय देकर दोनो पद्धतियो का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत कर वैद्य समाज पर महदुपकार किया है। इसमे कई प्रान्तीय नूतन वनस्पतियो का भी सविस्तृत वर्णन है जिसका उल्लेख अद्यतन निघटुओ मे नहीं मिलता। जो औषध प्राचीनकाल मे विदेशो से आते थे उनकी सूची पृथक् दे रखी है। प्रान्तीय औषध जैसे लोहबान कूर्मांचल मे प्राप्त होता है, ममीरा चीन मे, गोधा जिसका तेल बनता है, बुरहानपुर प्रान्त मे अधिक मिलता है। अन्तरगीक्षण मे ऐसा प्रतीत होता है कि इतना विस्तृत वर्णन तो भावप्रकाश मे उपलब्ध नहीं। परवर्ती साहित्य मे विकसित तथ्यों का समाविष्ट होना स्वाभाविक है।

यहाँ कुछ उद्धरण देना आवश्यक है—

जल भिलामा—"भल्लातक मज्जा भिलोली इति दक्षिणदेशे प्रसिद्ध बहुधा तत्रैव भोजनादी प्रचार ।

भृंगमारी—मालवे च प्रसिद्ध पुष्पविशेष नाम, क्वचिद्भाषायां भटवास इति प्रसिद्ध । आम्रस्य वाटिकाया

(भेंठा) भेटनर मुजायते किंत निनरा हस्तद्वयोच्चमान, पत्राणि ताम्बूलसदृशाणि—॥

सोप—अतमडले तत्काष्ठस्य दतधावन कुर्वं ति जना ।

मान कद—वगदेशे मानकछरि प्रसिद्ध ।

मोई—भावप्रकाशे पश्चिमदेशे मोई आर्टनि लोके प्रसिद्ध इति वृक्ष विशेष ।

शाह पसद—स्यात स्याह पसद स लता भेद एव हि पर्वत प्रान्त तदन्यदेशेपि समुद्गत जायते लक्ष्मणपुर (लखनऊ) प्रान्ते तद्विजमारुण ।





सुरवाली—इंद्रप्रस्थेति प्रसिद्धा, ब्रजदेशे मिजतीति प्रसिद्धा वर्षाकाले अवापितैवक्षेत्रे जायते तत्पत्र नलिकायाश्च शाक कुर्वन्ति जना । तद्बीजानि सूक्ष्माणि कृष्णवर्णानि कातियुतानि भवति ॥ निघण्टादौ सुनिषण सितवार इति नाम्ना विख्यात । मदन विनोदे तु सुनिषण शितवारौ पृथक् लिखितौ अन्य निघटेषु भावप्रकाश नैयदेव प्रभृतिषु एकैव लिखित ॥

कपूर—अथ चीनकोपि अस्यैवभेद लोके चीनिया इति प्रसिद्ध तस्य नामगुणा
चीनकश्चीनकर्पूर ? कृत्रिममोधवल पटु ।
मेघसारस्तुपारस्तु दीपकर्पूरजस्मृत ।
चीनक कटु तिक्तोष्ण इषत्पीतकफाम. ॥
कण्ठदोष हरोमेध्य पाचनक्रिमिनाशन. ।
पित्त प्रशमन प्रोक्त कुष्टकडूति नाशनम् ।
छर्दि प्रणाशन. सर्वव्याधिजन्मैककारणम्
तदुत्पत्तेर्विशेष लक्षणम
शिरोमध्यतलश्चेति कर्पूरस्त्रिविधस्मृत:
शिरस्तमाग्र सजात मध्यपर्णेतलेतल ॥
पुलकभावविशदशिरोजात तु मध्यमे ।
सामान्यपुलक स्वल्प तलेचूण तु गौरव ॥
स्तभगर्भस्थित श्रेष्ठ स्तभवाह्ये च मध्य ।
स्वच्छमीषद्हरिद्राभ शुभत.मध्यज स्मृतं ॥
अदृष्टशुभ्र रुक्षतु पुलकवाह्ज स्मृत ।
स्वच्छ भृगाभपत्र लघुतर विशद तोलनेतिक्तक च ।
खादेशैत्य सुहृद्य बहलपरिमल मोदसौरभदायी ॥
निस्नेह दार्व्यपत्र शुभतरमतिचेद्राज्य योग्य प्रशस्त
कर्पूर चान्यथाचेद्बहुतरमशने स्फोटदायिस्रणाम ॥

अपर च भीमसेनी कर्पूर इति लोके विख्यात तस्य नेत्ररोगेषु विशेषत प्रचार जयपुरे दक्षिणदेशेचास्यप्राप्ति निघटुवादी तदुत्पत्तिर्लक्षण न दृश्यते परन्तु वृद्ध पुरुषेभ्य एव श्रूयते पुराकिलमद्रदेशे लाहोरनामकनगरे भीमसेनानामावणिग्जनोन्यवसत् स च नानाविधौषधीनाक्रयविक्रय व्यवहारार्थं बहुसग्रह कृतवान् तत्र कर्पूरस्यापि आधिक्य मभवत् पुनश्चैवदैवयोगेन कदाचिदग्निनातदग्रहे दाहेजाते सर्वौषधिनामपि दाहोजातस्तत्रकर्पूरस्तुनानाविधौषधि सवर्षेनउड्डीयतद्गृहस्योर्ध्वस्थितमाष्ठा दौमलग्न सच तमालोक्यतिशुभ्र सुसुगधगुणवत्तर च सर्वत्र सगृहीतवान् पुनश्चयस्यकस्यापि जनस्यनेत्र व्ययायातर प्रयोगं प्रयोजितवान् तेनारोग्यमभवन् सच त भीमसेन कर्पूरमिदमित्यभिधायस्थापितवान इति सचाधुनावहुकालेनोच्छिन्न एवासीत् आयुकाल्तु सामान्यकर्पूरकस्तूरीकेशरादिनाना सुगधिद्रव्य सयुक्त वन्हिनाउड्डीनविधाय भीमसेनकर्पूरस्याने सएवायमितिव्यवहरति यत्रतत्रऔषध्यादि मयोपि प्रयोजयति ॥

नही कहा जा सकता भीमसेनी कर्पूर की उत्पत्ति की किंवदन्ती मे कितना सत्यांश है। पर कथा को रोचक खूब बनाया गया है। सूचित कर्पूर कृत्रिम है यह तो सही है ही।

आगे चल कर चाय माजुन और मोडे का भी ऐसा ही रोचक इतिहास और उसकी प्रयोग विधि बताई है, पर स्थान सीमित होने से उसे उपेक्षणीय रखना पड रहा है।

इसकी रचनाशैली बहुत सुन्दर और आकर्षक है। भाषा सरल और बोधगम्य होने के साथ वस्तु तत्वका बोद्घाटन कर देती है। इसमे वर्गों का विभाजन वस्तुपरक न होकर अकारादि क्रमानुसार है, उदाहरणार्थ जैसे ककारादि वर्ग लिया तो कादि सूचक सभी वस्तुए इसमें आ गई हैं, चाहे वह लता हो, वृक्ष हो, या अन्न हो।

क्या ही अच्छा होता उसकी पूर्ण प्रति समुपलब्ध हो जाती।

इन रचनाओं के अतिरिक्त सग्रहणी चिकित्सा पद्धति हंसराज कृत भिषक् चक्रचित्तोत्सव आदि कई कृतिया है जिनका वैद्यक शास्त्रों मे अपना महत्त्व है, पर उन सबकी विशद चर्चा का यह स्थान नहीं है।

यहाँ सूचित करना अनिवार्य है कि जिस प्रकार निघण्टुओं मे वनस्पतियो का विवेचन सन्निविष्ट है उसी प्रकार औषधियन्त्रों के कई सग्रह प्राप्त होते हैं, जिनसे एक ही औषधि का मान्त्रिक महत्त्व प्रदर्शित रहता है और साथ ही रोगनिवारणार्थ भी प्रयोग सगृहीत रहते हैं। जिस प्रकार मन्त्र गर्भित स्तुतियां रची जाती थी उसी प्रकार औषधि गर्भित रचनाएं भी निर्मित हुआ करती थी। इस प्रकार की रचनाओ के विकास का श्रेय जैन कलाकारो को है। आचार्य श्री अभयदेवसूरिजी का ऐसा एक सर्वौषधि गर्भित प्राप्त भी है।

प्रकीर्णक आम्नाय संकलन

एक ओर जहाँ प्राचीन पद्धति का अनुसरण करने वाले मौलिक ग्रन्थ हैं, वहाँ दूसरी ओर गुरुपरम्परा-प्राप्त आम्नाय-सग्रहों की भी कमी नहीं है। शताब्दियो से प्रयुक्त योगों का उपादेय सग्रह ऐसी ही रचनाओ मे सुरक्षित रहता है। रोगनिवारणार्थ इसकी उपयोगिता किसी मौलिक और शास्त्रीय कृति से कम नहीं है। सद्य फलदायक इस प्रकार का साहित्य ही यहाँ आयुर्वेदिक जगत मे सर्वाधिक उपेक्षणीय रहा है। राजस्थान के ज्ञानागारो मे, मदिरो मे और मठो मे जितना भी तद्विषयक सग्रह है उसका परिशीलन अनिवार्य है। एक समय था जब कि स्वास्थ्य और शिक्षा का उत्तरदायित्व भट्टारक व यतियो के सुदृढ कधो पर था, नाडी गुरु का आसन यो ही सुशोभित नही किया जा सकता था, ऐसी स्थिति मे सभी सम्प्रदायों के धार्मिक स्थान इस प्रकार के साहित्य से परिपुष्ट रहे हो तो क्या आश्चर्य है? कई गुटके सग्रह मैंने देखे है जिनमे तद्विषयक आचार्यों की आम्नायें उन्ही के नाम से उल्लिखित है।

आयुर्वेद की ऐसी कृतियां भारतीय भाषा विज्ञान और नाप तौल के क्रमिक विकास और प्रसार पर भी प्रकाश डालती है। जनभाषा का वास्तविक स्वरूप इनमे उपलब्ध हो जाता है और भिन्न-भिन्न प्रदेश मे कौन कौन सा नाप प्रचलित था और कितने तोलो का सेर कहा प्रचलित था आदि अनेक मूल्यवान् तथ्यो की जानकारी सहज ही सकलनात्मक रचनाओ से मिल जाती है। कही-कही तो मुद्राओ तक का उल्लेख होता है, उदाहरणार्थ स० १६७५ का एक आयुर्वेद का गुटका मेरे सग्रह मे है जो उदयपुर के निकटवर्ती स्थान जोवनेर मे प्रति लिखित है। इसमे जितने भी नाप हैं सभी सेरशाही मुद्रा मे है। इससे साफ जाहिर है कि उन दिनो भी शेरशाह के सिक्के राजस्थान मे प्रचलित थे। और विविध प्रान्तीय मुद्राओ का भी उल्लेख है जिनका अपना महत्त्व कम नहीं है।

सूचनात्मक अनुपूर्ति



प्रान्तीय भाषाओ मे क्षेत्रीय आयुर्वेदिक रचनाए पर्याप्त मात्रा मे प्राप्त है, उनका सशोधन अनिवार्य है। प्रकाशित रचनाओ की पुरानी प्रतियो पर ध्यान देना भी आवश्यक है। रस विषयक ऐसे कई ग्रन्थ हैं जिनका प्रकाशन होने के बाद भी पुरातन सस्करण महत्त्व रखते है। मेरे सग्रह मे १५वीं शताब्दी के रस रत्नाकर के कतिपय पत्र हैं जिनमें पारद शुद्धि के विवेचन के साथ तद्विषयक विविध यन्त्र दिये गये हैं।

आज आवश्यकता है आयुर्वेदिक विस्तृत इतिहास की, क्योकि आज तक स्फुट इतिहास के अतिरिक्त विशद और आलोचनात्मक इतिहास तैयार नहीं हुआ। पुराने प्रयोगो के उद्धार और इतिहासलेखन पर यदि चिकित्सक समाज ने ध्यान दिया तो बहुत बडा कार्य हो जायगा। यह प्रयास भी वाछनीय होगा कि आयुर्वेदिक कृतियो की स्वतत्र शोध करवाई जाय और उनका सास्कृतिक इतिहास भी प्रकाशित हो, जिससे पता तो चले कि इस विषय की कितनी साधन-सामग्री हमारे पास सुरक्षित है। वैज्ञानिक युग मे भारतीय चिकित्सापरम्परा को जीवित रखना है एव पाश्चात्य पद्धति से टक्कर लेनी है तो इस क्षेत्र मे सतत सशोधन को प्रोत्साहन मिलना ही चाहिए, अन्यथा ऋषि मुनियो की दुहाई देने मात्र से कार्य-सिद्धि असम्भव[1] है।

१ निबन्ध मे चर्चित कृतियों की मूल हस्तलिखित प्रतियां लेखक के सग्रह में सुरक्षित हैं।

आचार्य माणिक्यनन्दी और उनका परीक्षामुख

श्री गोपीलाल अमर
एम ए, शास्त्री, काव्यतीर्थ, सा रत्न
पुरातत्त्व विभाग, सागर विश्वविद्यालय, सागर (म प्र)



आचार्य माणिक्यनन्दी

व्यक्तिगत परिचय

भारतीय न्यायशास्त्र के महान् सूत्रकारों में आचार्य माणिक्यनन्दी का स्थान उल्लेखनीय है। ये नन्दिसघ के एक गण्यमान्य आचार्य थे, यह इनके नाम से तो ज्ञात होता ही है, विन्ध्यगिरि की सिद्धरवस्ती के एक स्तम्भलेख से भी सिद्ध होता है। यह स्तम्भलेख शक स० १३२० (१३९८ ई०) का है। इसमें नन्दिसघ के आठ आचार्यों की नामावली दी गई है। और उसमें आठवाँ नाम आचार्य माणिक्यनन्दी का है। वि० स० ११०० (१०४३ ई०) के एक अपभ्रंश काव्य सुदसणचरिउ से आचार्यजी की गुरुपरम्परा का ज्ञान होता है। इस काव्य के प्रणेता मुनि नयनन्दी आचार्यश्री के शिष्य थे। यह गुरुपरम्परा इस प्रकार है आचार्य कुन्दकुन्द की आम्नाय में क्रमश पद्मनन्दी, वृषभनन्दी (सभवत चतुर्मुखदेव), रामनन्दी, माणिक्यनन्दी, नयनन्दी। सुदसणचरिउ की एक अन्य प्रति[1] मे गुरुपरम्परा ऐसी है, आचार्य कुन्दकुन्द की आम्नाय में क्रमश पद्मनन्दी, विष्णुनन्दी, नन्दनन्दी, विश्वनन्दी, वृषभनन्दी, रामनन्दी, त्रैलोक्यनन्दी, नयनन्दी। इन दोनों परम्पराओं में कोई मौलिक अन्तर नहीं है और इससे निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि आचार्य माणिक्यनन्दी के दो गुरु थे, रामनन्दी और त्रैलोक्यनन्दी। उनकी शिष्यमण्डली में नयनन्दी के अतिरिक्त प्रभाचन्द्र जैसे समर्थ आचार्य[3] भी थे।

आचार्य माणिक्यनन्दी धारानरेश भोज के समकालीन और उनके दरबार में सम्मान प्राप्त विद्वानों में से थे।[4]

---

१ सुदसणचरिउ की इन दोनों प्रतियों के परिचय के लिए देखिए प० दरबारीलाल कोठिया आप्तपरीक्षा, प्रस्तावना, पृ० ३०, ३३।

२ जैसा कि पूर्वोक्त दोनों गुरुपरम्पराओं से ज्ञात होता है।

३ जैसा कि आगे स्पष्ट कहा जाने वाला है।

४ विस्तार के लिए देखें, आप्तपरीक्षा, प्रस्ता०, पृ० ३१।

समय

[illegible] समय भी विद्यमान थे। आचार्य विद्यानन्दी उनके पूर्ववर्ती ग्रन्थकार हैं[2], जिनका समय ७७५ से ८४० ई० माना जाता है। अतएव माणिक्यनन्दी के साक्षात् शिष्य और टीकाकार प्रभाचन्द्र का समय ९८०-१०६५ ई० माना गया है।[3] अतः प्रस्तुत आचार्यश्री का समय ८४० से ९८० ई० के मध्य कभी होना चाहिए। पर अभी यहाँ, १४० वर्ष की न्यूनाधिकता को दूर करने के लिए कोई पर्याप्त प्रमाण नहीं प्राप्त हो सके हैं।[4]

कृतित्व और व्यक्तित्व

आचार्यश्री के कृतित्व और व्यक्तित्व पर प्रकाश डालने के लिए स्वतन्त्र ग्रन्थ की आवश्यकता है। परीक्षामुख ही उनकी एकमात्र कृति है। [illegible] और आचार्य विद्यानन्दी की भाँति उन्हें न तो अधिक विस्तार अभीष्ट था और न विविधता से स्वल्प मन में प्रवेश करना प्रिय था। उनकी [illegible] और विवेकपूर्ण दृष्टि ही उनकी महत्ता में साधक हुई है। सूत्रों की [illegible] में ही अनेक मत-मतान्तरों का संकेत कर देना, उनका खण्डन करके अपने मत की स्थापना और [illegible] देना और [illegible] की प्रतिपत्ति का गहरा संस्कार उत्पन्न कर देना इन्हीं की विशेषता है।

परीक्षामुख, आचार्य माणिक्यनन्दी की महान् उपलब्धि है। वह उपयोगी तो है ही, नितान्त नवीन भी है। यद्यपि अकलङ्क ने जैन न्याय की स्थापना कर दी थी और उन्होंने अनेक महत्त्वपूर्ण न्यायविषयक ग्रन्थ भी लिखे थे, परन्तु बौद्धों के न्यायबिन्दु, दिङ्नाग के न्यायमुख, न्यायप्रवेश आदि की तरह जैनन्याय को सूत्रबद्ध करने वाला [illegible] ग्रन्थ [illegible] नहीं बन पाया था। इसी कमी की पूर्ति सर्वप्रथम आचार्य माणिक्यनन्दी ने अपना 'परीक्षामुख' लिख कर की है। उनकी यह [illegible] भारतीय न्यायग्रन्थों में अपना विशिष्ट स्थान रखती है।

परीक्षामुख के [illegible] अध्ययन से हम स्पष्ट अनुभव करते हैं कि आचार्य माणिक्यनन्दी का अध्ययन कितना विस्तृत एवं [illegible] था। अकलङ्क न्याय के समुद्र से उन्होंने न्यायविद्यामृत निकाला था, यह तो सिद्ध है ही,[5] जैनाचार्य विद्यानन्दी, आदि तथा बौद्धाचार्य दिङ्नाग और धर्मकीर्ति आदि से भी उन्होंने विपुल सामग्री उपार्जित की थी। उनकी कृति ने आचार्य [illegible] के प्रमाण[illegible] तथा आचार्य हेमचन्द्रसूरि के प्रमाणमीमांसा के लिए आधार का [illegible] किया है। [illegible] बहुत कुछ इसी से [illegible] निर्मित किया है।

[illegible] के महान् विवेचक तथा आचार्य प्रभाचन्द्र ने आचार्य माणिक्यनन्दी का अत्यन्त आदरपूर्ण शब्दों में स्मरण किया है। उन्होंने उनके अत्यन्त विनम्र शब्दों में [illegible] किया है। उनके अनुसार, आचार्य श्री

---

1 वही, पृ ७३।

2 जैन, डॉ॰ गोकुलचन्द्र सत्यशासनपरीक्षा, प्रस्ता॰ पृ ७६।

3 न्यायाचार्य, पं॰ महेन्द्रकुमार प्रमेयकमलमार्तण्ड, प्रस्ता॰, पृ॰ ६७।

4 इस सम्बन्ध में कुछ मतान्तर हैं, पं॰ कैलाशचन्द्र शास्त्री ने चर्चा की है। पं॰ गुरु गोपालदास बरैया स्मृतिग्रन्थ, पृ॰ ५४६।

5 कोठिया, दरबारीलाल आप्तपरीक्षा, प्रस्ता॰, पृ ७७।

६ आचार्य अनन्तवीर्य प्रमेयरत्नमाला, आदिपद्य नं॰ २।

शास्त्रं करोति वरमल्पतरावबोधो माणिक्यनन्दिपदपङ्कजसत्प्रसादात्।

अर्थं न किं स्फुटयति प्रकृतं लघीयाल्लोकस्य भानुकरविस्फुरिताद् गवाक्षः॥

—प्रमेयकमलमार्तण्ड, आदिपद्य नं॰ २।

सज्जनो के आह्लादक तो थे ही, एकान्तवादरूपी मालिन्य के मशोधक भी थे और थे वे सर्वोपरि जैनमत के साक्षात् समुद्र।[1] मुनिनयनन्दी ने आचार्यश्री को अपने सुदसणचरित्र मे महापण्डित कह कर स्मरण किया है। उन्होंने अपने सकल विधिविधान मे उन्हे महापण्डित तो कहा ही है प्रत्यक्ष-परोक्षप्रमाण रूपी जल से परिपूर्ण नयरूपी तरगो से गभीर और उत्तम सप्तभङ्गरूपी कल्लोलो से उच्छलित जिन शासनरूपी महासागर मे अवगाहन करने वाला भी लिखा है।[2] प्रमेयरत्नमालाकार आचार्य अनन्तवीर्य ने उन्हे अकलङ्कन्यायरूपी समुद्र से परीक्षामुखरूपी अमृत का उद्धार करने वाला लिखा है। प्रमेयरत्नमाला के टीकाकार आचार्य अजितसेन उनका सादर स्मरण करते हैं।[3] वे कहते हैं कि गुरु की भक्ति से ही मैं अपना कार्य सम्पन्न कर सका हूँ।[4] स्वय पण्डिताचार्य चारुकीर्ति अपार श्रद्धा और भक्ति से कामना करते हैं कि गुरुमाणिक्यनन्दी उन्हे हर्षमय बनावें।[5] उनके समक्ष वे अपनी अत्यन्त तुच्छता प्रकट करते हैं।[6] प्रत्येक परिच्छेद के और ग्रन्थ के अन्त मे वे अनेक महत्वपूर्ण विशेषण देकर उनके प्रति अपनी प्रगाढ आस्था व्यक्त करते हैं।

इसमे सदेह नही कि माणिक्यनन्दी अपनी शैली के अद्वितीय आचार्य हुए हैं।

---

१. गभीर निखिलार्थगोचरमल शिष्यप्रबोधप्रद
यद् व्यक्त पदमद्वितीयमखिल माणिक्यनन्दिप्रभो.।
तद् व्याख्यातमदो यथावगमतः किंचिन्मया लेशत
स्थेयाच्छुद्धधिया मनोरतिगृहे चन्द्रर्कतारावधि ॥१॥
मोहध्वान्तविनाशिनो निखिलतोविज्ञानशुद्धिप्रद.
मेयानन्तनभोविसर्पणपटुर्वस्तूक्तिभाभासुर.।
शिष्याब्जप्रतिबोधन समुदितो योऽद्रे परीक्षामुखात्
जीयात् सोऽत्र निबन्ध एव सुचिर मार्त्तण्डतुल्योऽमल. ॥२॥
गुरु श्रीनन्दिमाणिक्यो नन्दिताशेषसज्जन।
नन्दताद् दुरितैकान्तरजा जैनमतार्णव ॥३॥
श्रीपद्मनन्दिसैद्धान्तशिष्योऽनेकगुणालय।
प्रभाचन्द्रश्चिर जीयात् रत्ननन्दिपदे रतः ॥४॥

—वही, अन्तिमपद्य न० १-४।

२. पच्चक्खपरोक्खपमाणणीर णयतरलतरगावलिगहीर।
वरसत्तभगिकल्लोलमाल जिणसासणसरिणिम्मलसुसाल॥
पडियचूडामणि विबुहचदु माणिक्कणदि उप्पण्णु कदु।

—जैनग्रन्थप्रशस्ति सग्रह, भाग १, पृ० २६।

३ श्रीवर्धमानमकलङ्कमनन्तवीर्य माणिक्यनन्दियतिभुभाषितशास्त्रवृत्तिम्।
भक्त्या प्रभेन्दुरचिता लघुवृत्तिदृष्ट्या नत्वा यथाविधि वृणोमि लघुप्रपञ्चम्॥
न्यायमणिदीपिका (जैन सि भवन, आरा की पाण्डुलिपि), पद्य १ पार्श्व १।

४ अकलङ्कुरत्ननन्दि प्रभेन्दुसदनन्तवीर्यगुणभक्त्या।
एतद्विद्या वालो निरुढवानेष किं न गुरुभक्त्या। — वही पत्र १९६, पार्श्व २।

५. यत्सूत्रव्रजचन्द्रिकारसभर नित्य समास्वादयन्
भव्योत्तससुधीचकोरविकर सर्वोपि समोदते।
सोय सार्वपथीनधीबुधमन सौधाग्रकेलीशुको
हर्षं वर्षतु सन्तत हृदि गुरुर्माणिक्यनन्दी मम॥ प्रमेयरत्नालङ्कार, (जैन सि० भवन आरा की पाण्डुलिपी), आदिपद्य

६. माणिक्यनन्दिरचित क्व नु सूत्रवृन्द क्वाल्पीयसी मम मतिस्तु तदीयभक्त्या।
ताहक्प्रभेन्दुवचसा परिशीलनेन कुर्वे प्रबन्धमधुना बुधहर्षकन्दम्। वही।

परीक्षामुख

स्वरूप

परीक्षामुख आचार्य माणिक्यनन्दी की एकमात्र कृति है। छह समुद्देशों और दो सौ दस सूत्रों के माध्यम से इस ग्रंथ में सम्पूर्ण प्रमाणशास्त्र का अद्भुत एवं अपूर्व समावेश किया गया है। ग्रन्थ के आदि और अन्त में एक-एक श्लोक भी है। जैन न्याय का यह प्रथम सूत्र ग्रन्थ है।

सूत्र के सभी आवश्यक लक्षण[1] परीक्षामुख के सूत्रों में घटित होते हैं। महर्षि पाणिनि और आचार्य उमास्वामी के सूत्रों के मुकाबले आचार्य माणिक्यनन्दी के सूत्र कतिपय भी पीछे नहीं रहते। यही कारण है कि इस एक ही ग्रन्थ का प्रणयन करके आचार्य माणिक्यनन्दी अपना स्थान भारतीय न्यायकारों में सर्वोपरि बना गये हैं।

नामकरण

नामकरण की दृष्टि से भी परीक्षामुख का विशेष महत्त्व है। इस नाम में दो शब्द हैं, परीक्षा और मुख। दोनों शब्दों के चयन का ऐतिहासिक कारण प्रतीत होता है। आचार्य माणिक्यनन्दी के समक्ष ऐसे अनेक न्यायग्रन्थ थे जिनके अन्त में 'परीक्षा' शब्द का प्रयोग है, जैसे दिङ्नाग के आलम्बनपरीक्षा और त्रिकालपरीक्षा, धर्मकीर्ति का सम्बन्ध-परीक्षा, धर्मोत्तर का प्रमाणपरीक्षा और विद्यानन्दी के आप्तपरीक्षा, पत्रपरीक्षा, प्रमाणपरीक्षा, और सत्यशासनपरीक्षा। इसी तरह कुछ ऐसे भी ग्रन्थ उनके समक्ष थे जिनके अन्त में 'मुख' शब्द का प्रयोग है, जैसे हेतुमुख और न्यायमुख आदि। कदाचित् इन्हीं बहुप्रचलित 'परीक्षा' और 'मुख' शब्दों से प्रेरणा पाकर ही आचार्य माणिक्यनन्दी ने अपनी कृति को 'परीक्षामुख' का नाम दिया होगा।

वैसे इस नाम की अपनी निजी सार्थकता भी है। परस्पर विरोधी अनेक उक्तियों की प्रबलता और निर्बलता के निर्णय के लिए किया जाने वाला विचार परीक्षा कहलाता है[2] और यहाँ परीक्षा से तात्पर्य है न्यायशास्त्र या प्रमाणशास्त्र से। मुख का अर्थ है प्रवेशद्वार। जो प्रमाणशास्त्र का प्रवेशद्वार हो उसे परीक्षामुख नाम देना ही सार्थक है।

उद्गम और प्रभाव

परीक्षामुख का अन्तर्निरीक्षण करने से ज्ञात होता है कि इसका उद्गम अनेक ग्रन्थों से, विशेषतः अकलङ्कदेव के ग्रन्थों से हुआ है और अनेक ग्रन्थों का, विशेषतः वादिदेवसूरि के प्रमाणनयतत्त्वालोक तथा आचार्य हेमचन्द्र की प्रमाणमीमांसा का उद्गम इस ग्रन्थ से हुआ है।[3] यह उल्लेखनीय है कि आचार्य माणिक्यनन्दी ने प्रमाणस्वरूप आदि में



---

१ अल्पाक्षरमसन्दिग्धं सारवद् विश्वतोमुखम्।
अस्तोभमनवद्यं च सूत्रं सूत्रविदो विदुः॥

२ विरुद्धनानायुक्तिप्राबल्यदौर्बल्यावधारणाय प्रवर्तमानो विचारः परीक्षा।
—आचार्य धर्मभूषणयति : न्यायदीपिका, पृ० २, प० १८।

३ पं० दरबारीलालजी कोठिया द्वारा परीक्षामुख की अनेक ग्रन्थों से की गयी तुलना के लिए देखें, अनेकान्त, वर्ष ५, किरण ३-४, पृ० ११६-१२८।



शब्दावली का प्रयोग, अपने पूर्वाचार्यों की परपरा से जरा हटकर जैनेतर आचार्यों की परम्परा के अनुरूप किया है।[1]

भाषा और शैली

इस ग्रन्थ की भाषा सरल किन्तु सघन सस्कृत है। सूत्रमय होकर भी यह ग्रन्थ क्लिष्ट या दुर्बोध नहीं है। शब्दो के चयन मे परीक्षामुखकार के समक्ष अनेक समस्यायें थी। उन्हे अपने पूर्वाचार्यों की परम्परा का निर्वाह तो करना ही था, एक सूत्रग्रन्थ की मर्यादा की रक्षा भी करनी थी। उन्हे जहाँ आचार्य अकलङ्क के ग्रन्थ-समुद्र को मथकर सूत्रामृत निकालना था वहाँ उस सूत्रामृत पर अपने व्यक्तित्व की अमिट छाप भी छोडनी थी। उन्हे सूत्र जैसे सक्षिप्ततम माध्यम से न्यायशास्त्र के सिद्धान्त तो प्रस्तुत करने ही थे, तात्कालिक मत-मतान्तरो का खण्डन-मण्डन भी करना था। इन तमाम समस्याओ के रहते भी, हम पाते है कि परीक्षामुख अपनी भाषा की दृष्टि से, न्यायशास्त्र के प्राथमिक जिज्ञासुओ को भी कठिन नहीं, बहुत सरल है।

सूत्रकार की शैली भी, भाषा की भाँति सरल बन पडी है, विषय को स्पष्ट एव सुबोध बनाने के लिए स्थान-स्थान पर दिये गये उदाहरण इस बात के प्रमाण हैं। शैली की सबसे बडी विशेषता यह है कि सम्पूर्ण ग्रन्थ मे सिद्धान्तो का कोरा प्रस्ताव न रहकर परमत-निराकरण और स्वमत स्थापन की प्रक्रिया स्पष्टत आ गई है। यही कारण है कि इस ग्रन्थ पर अनेक, विस्तृत एव गम्भीर टीकाएँ लिखी जा सकी हैं।

विषयवस्तु

जैसा कि कहा जा चुका है, सम्पूर्ण ग्रन्थ को छह समुद्देशो मे विभक्त किया गया है। प्रथम समुद्देश मे प्रमाण सामान्य का स्वरूप, द्वितीय मे प्रत्यक्ष प्रमाण का स्वरूप, तृतीय मे परोक्ष का स्वरूप, चतुर्थ मे प्रमाण का विषय, पञ्चम मे प्रमाण का फल और षष्ठ मे प्रमाण के आभासो का विस्तृत विवेचन है।

विभाजन

परीक्षामुख की लघुतम इकाई है सूत्र और उसमे तीन से सत्तानवे सूत्रो तक के छह अध्याय है जिन्हें परिच्छेद नाम दिया गया है। प्रमेयकमलमार्तण्ड और प्रमेयरत्नालङ्कार मे यही नाम स्वीकृत है जब कि प्रमेयरत्नमाला मे समुद्देश।

परिच्छेदो के विभाजन मे प्रमेयरत्नमाला और प्रमेयरत्नालङ्कार एकमत है और वैज्ञानिक भी। परन्तु प्रमेयकमलमार्तण्ड मे, कह नही सकते किस उद्देश्य से आचार्य प्रभाचन्द्र ने पञ्चम परिच्छेद के तीनो सूत्रो को चतुर्थ परिच्छेद मे सम्मिलित किया है और षष्ठ परिच्छेद को उसका अन्तिम सूत्र छोडकर पञ्चम परिच्छेद माना है तथा षष्ठ परिच्छेद के केवल अन्तिम सूत्र को षष्ठ परिच्छेद के अन्तर्गत रखा है। इस विभाजन मे कोई विशेषता तो नही ही है, कुछ अवैज्ञानिकता भी है, कदाचित् इसीलिए इस विषय में पण्डित महेन्द्रकुमारजी भी मौन रहे हैं। यदि प्राचीन प्रतियो से छान-बीन की जाय तो मेरा यह अनुमान पुष्ट हो सकता है कि लिपिकार ने किसी पाण्डुलिपि मे, परिच्छेद के समाप्तिसूचक पद्यो और पुष्पिकावाक्यों को तितर-बितर कर दिया हो और उसी प्रति या उसी की परम्परागत प्रतियो पर से प्रमेयकमलमार्तण्ड के मुद्रित सस्करण निकाले गये हो। यदि हम पञ्चम परिच्छेद की समाप्ति-सूचक पद्य[2] को

१ परीक्षामुखम् (सेक्रेड बुक्स ऑफ दि जैनस, जिल्द ११) की प्रस्तावना।

२ आभास गदित प्रमाणमखिल सख्याफलस्वार्थत,
सुव्यक्तं सकलार्थसार्थविषयं स्वल्पै प्रसन्नै पदै।
येनासौ निखिलप्रबोधजननो जीयाद गुणाम्भोनिधि,
वाक्कीर्त्यो परमालयोन सतन माणिक्यनन्दिप्रभु ॥ प्रमेयकमलमार्तण्ड, पृ० ६७५।

इसलिए कि वे इन्हें पृथक्-पृथक् मानते ही नही थे अत उनकी पृथक्-पृथक् व्याख्या करने का प्रश्न ही उनके सामने नही था। षष्ठ परिच्छेद मे भी दो स्थल ऐसे है जिन पर विचार होना चाहिए। दसवें और ग्यारहवें सूत्रों[1] को प्रमेयकमलमार्तण्ड और प्रमेयरत्नमाला के अधिकाश सस्करणो मे एक ही सूत्र माना गया है, कदाचित् इसलिए कि दसवें सूत्र के पश्चात्, दोनो ग्रन्थो मे कोई व्याख्या नही है। दो या दो से अधिक सूत्रो के बीच व्याख्या न होने से ही उनमे एकता स्थापित नही हो जाती और फिर दो टीकाओं मे नही सही, एक टीका प्रमेयरत्नालङ्कार मे तो दसवें सूत्र के पश्चात् भी व्याख्या है। अत उसे पृथक् सूत्र माना जाना चाहिए। ठीक यही स्थिति इसी परिच्छेद के तीसवें और इकतीसवें सूत्रों[2] के साथ भी है।

महत्व

परीक्षामुख द्वारा तात्कालिक न्यायसम्बन्धी मान्यताओ पर अच्छा प्रकाश पडता है। उदाहरणार्थ इस ग्रन्थ का हम 'स्वपूर्वार्थव्यवसायात्मक ज्ञान प्रमाणम्'[3] सूत्र लें। इसमे प्रमाण की परिभाषा दी गई है। परिभाषा मे स्व, अपूर्व, अर्थ, व्यवसायात्मक और ज्ञान, ये पाँच शब्द है। स्व शब्द मे मीमासकसम्मत ज्ञान के परोक्षवाद, साख्यों के अस्वसवेदनवाद तथा नैयायिकों के ज्ञानान्तर वेद्यज्ञानवाद के खण्डन की दृष्टि मिलती है। अपूर्व शब्द से प्रकट होता है कि गृहीतग्राही या धारावाही ज्ञान की भी प्रमाण रूप मे मान्यता रही है। अर्थ शब्द मे मुख्यत तीन मान्यताएँ प्रकाश मे आती हैं, बौद्धो का विज्ञानाद्वैतवाद और शून्याद्वैतवाद तथा वेदान्तियो का ब्रह्माद्वैतवाद। व्यवसायात्मक शब्द मे बौद्धो की वह मान्यता प्रकाशित होती है जिसके अन्तगत वे प्रत्यक्ष प्रमाण को निर्विकल्पक या अनिश्चयात्मक सिद्ध करते हैं। ज्ञान शब्द से प्रधान रूप से चार मान्यतायें खण्डित होती है, युवन्नैयायिक का सन्निकर्षवाद, जरन्नैयायिको का कारकसाकल्यवाद साख्य का इद्रियव्यापारवाद और प्रभाकर का ज्ञातृव्यापारवाद।

और भी ऐसे अनेक सूत्र हैं जिनका शब्दविन्यास तत्कालीन मान्यताओ और न्यायकारो को दृष्टिगत करके ही किया गया है। हम दो सूत्र और ले—'भाव्यतीतयो मरणजाग्रद्वोधयोरपि नारिष्टोद्बोधौ प्रति हेतुत्व।' और 'तद्व्यापाराश्रित हि तद्भावभावित्वम्'[4] इन सूत्रो द्वारा भाविकारणवाद एव भूतकारणवाद के समर्थक[5] प्रज्ञाकर गुप्त की समालोचना की गयी है।

---

१ असम्बद्धे तज्ज्ञान तर्काभासम ॥१०॥
यावास्तत्पुत्र स श्यामो यथा ॥११॥

२ विपरीतनिश्चिताविनाभावो विरुद्ध ॥३०॥
अपरिणामी शब्द कृतकत्वात् ॥३१॥

३. समुद्देश १, सूत्र १

४ अ० ३, सू० ५७, ५८

५ अविद्यमानस्य करणमिति कोऽर्थ ? तदनन्तरभाविनी तस्य सत्ता, तदेतदानन्तर्यमुभयापेक्षयाऽपि समान-तथैव भूतापेक्षया तथा भाव्यपेक्षयाऽपि। न चानन्तर्यमेव तत्त्वे निबन्धन, व्यवहितस्य कारणत्वात्।

गाढसुप्तस्य विज्ञान प्रबोधे पूर्ववेदनात्।
जायते व्यवधानेन कालेनेति विनिश्चितम् ॥
तस्मादन्वयत्यतिरेकानुविधायित्व निबन्धनम्।
कार्यकारणभावस्य तद् भाविन्यपि विद्यते ॥

भावेन च भावो भाविनाऽपि लक्ष्यत एव। मृत्युप्रयुक्तमरिष्टमिति लोके व्यवहार,
यदि मृत्युर्न भविष्यन्न भवेदेवम्भूतमरिष्टमिति। —प्रज्ञाकरगुप्त प्रमाणवार्तिकालङ्कार, पृ १७६।

परीक्षामुख का महत्त्व इसलिए भी है कि वह अपने समय तक की जैन न्याय की अनेक विकीर्ण मान्यताओं को सुव्यवस्थित एवं वर्गीकृत रूप देता है। एक उदाहरण लीजिए। प्रमाण के लक्षण मे, आचार्य सिद्धसेन और स्वामी समन्तभद्र एक विशेषण 'स्वपरावभासक' समान रूप से लेते हैं और आचार्य अकलङ्क कही 'अनधिगतार्थक' कही 'अविसवादि' और कही 'स्वपरावभासक' विशेषणो का प्रयोग करते है लेकिन परीक्षामुख मे, आचार्य सिद्धसेन और स्वामी समन्तभद्र द्वारा स्थापित एव आचार्य अकलङ्क द्वारा विकसित परम्परा का 'स्व' एव 'अपूर्वार्थ' पदो के समावेश द्वारा सुन्दर सग्रह देखने को मिलता है।

इसलिए भी परीक्षामुख का महत्त्व बहुत अधिक है कि वह अपने समय तक के प्राय सम्पूर्ण जैन न्यायग्रथो का नवनीत हमारे समक्ष प्रस्तुत कर देता है। अकलङ्कन्याय का प्रतिनिधित्व करनेवाला तो, परीक्षामुख की भाति कोई ग्रन्थ ही नही।

अनेकानेक ग्रन्थकारो ने परीक्षामुख की परम्परा और पद्धति का अनुसरण किया इससे भी उसका महत्त्व कम नही बढता।

किसी भी ग्रन्थ पर अनेक विशालाकार एव गम्भीर टीकाओ का लिखा जाना भी उसके महत्त्व का द्योतक है। परीक्षामुख पर तीन टीकाए उपलब्ध हैं। इनके अतिरिक्त एक टीका उसके केवल प्रथम सूत्र पर ही है जो स्वय एक स्वतन्त्र पुस्तिका बन गयी है।

टीकाएं

प्रमेयकमलमार्तण्ड—परीक्षामुख की प्रथम, बृहत्तम और सर्वश्रेष्ठ टीका है प्रमेयकमलमार्तण्ड जिसे परीक्षामुखालङ्कार भी कहते हैं। यह आचार्य प्रभाचन्द्र की कृति है। इसके दो सस्करण प्रकाशित हो चुके है, प्रथम स्व० प० वशीधरजी शास्त्री सोलापुर द्वारा सन् १६१२ मे और द्वितीय स्व० प० महेन्द्रकुमारजी वाराणसी द्वारा सन् १६४१ मे। इसका आकार १२००० अनुष्टुप श्लोको के बराबर है।

जैन न्याय का कदाचित् ही कोई ऐसा विषय होगा जो इस ग्रन्थ मे समाविष्ट न हो। यह जैनन्याय के प्रतिनिधि ग्रंथो मे से एक है। इसके प्रणेता, आचार्य अकलङ्क के परवर्ती आचार्य हैं और उन्होंने उनके लघीयस्त्रय पर भी एक टीका लिखी है जिसे न्यायकुमुदचन्द्र कहते हैं। अकलङ्क न्याय की भूमिका पर परीक्षामुख की रचना हुई है और अकलङ्क न्याय के मर्मज्ञ आ० प्रभाचन्द्र जब परीक्षामुख पर टीका लिखें तब उसका अत्यन्त उच्चकोटि का बन पडना स्वाभाविक ही है।

न्यायकुमुदचन्द्र के प्रथम भाग की प्रस्तावना मे प० कैलाशचन्द्रजी सि० शास्त्री ने और उसके द्वितीय भाग की एव प्रमेयकमलमार्तण्ड की प्रस्तावनाओ मे स्व० प० महेन्द्रकुमारजी न्यायाचार्य ने आचार्य प्रभाचन्द्र और प्रमेयकमलमार्तण्ड पर विस्तार से विचार किया है अत यहा इतना ही पर्याप्त है।

प्रमेयरत्नमाला—प्रमेयरत्नमाला न्याय का एक बहुप्रचलित ग्रथ है। आचार्य लघु अनन्तवीर्य की यह एकमात्र उपलब्ध कृति है। आचार्य माणिक्यनन्दी के परीक्षामुख पर यह टीका के रूप मे लिखी गयी है।[1] इसके विषय-



---

१ तस्योपरोधवशतो विशदोरुकीर्ते,
माणिक्यनन्दिकृतशास्त्रमगाधबोधम।
स्पष्टीकृत कतिपयैर्वचनैरुदारै,
बालप्रबोधकरमेतदनन्तवीर्य ॥



प्रतिपादन की शैली और खण्डन-मण्डन की प्रबल क्षमता को देखकर तत्त्वार्थसूत्र पर लिखी गयी आचार्य पूज्यपाद की टीका सर्वार्थसिद्धि का ही स्मरण हो आता है।

अकलङ्कन्याय एक महासमुद्र है जिससे जनसाधारण की गति नहीं। परीक्षामुख उसमें से मथकर निकाला गया अमृत है[1] जो सर्वसाधारण के हाथ नहीं लग सकता। और प्रमेयकमलमार्तण्ड, परीक्षामुख की सुदृढ़ भूमिका पर प्रतिष्ठापित महाप्रासाद है जिसमें प्रत्येक का प्रवेश सम्भव नहीं। आचार्य लघु अनन्तवीर्य को यह एक जटिल समस्या प्रतीत हुई। उसीके समाधान के लिए उन्होंने प्रमेयरत्नमाला का सृजन कर डाला। इसका प्रमाण लगभग एक हजार सात सौ अनुष्टुप् श्लोकों के बराबर है। इसके चार नाम प्रचलित हैं—प्रमेयरत्नमाला, परीक्षामुखवृत्ति, परीक्षामुखलघुवृत्ति और परीक्षामुखपञ्जिका।

प्रमेयरत्नमाला की भाषा गद्यमय संस्कृत है। न्यायशास्त्र की स्वाभाविक नीरसता और सूत्रों के द्वारा उपस्थापित विच्छिन्नता के रहते हुए भी इसमें भाषा की सरसता और प्रवाह कायम रखा गया है। विषय का गम्भीर एवं सूक्ष्म विश्लेषण किया गया है, खण्डन-मण्डन के गहन वन में प्रवेश किया गया है, फिर भी भाषा कहीं दुरूह नहीं होने पायी है।

इस ग्रन्थ की तर्कशैली परम्परागत होकर भी सबल और अकाट्य है। तर्क की शैली अवश्य परम्परागत है लेकिन जो तर्क दिये गये हैं उनमें से अनेक मौलिक भी हैं। कुछ परम्परागत तर्कों का त्याग भी किया गया है क्योंकि या तो ये अत्यन्त अनिवार्य न होने से ग्रन्थकार को ग्रन्थ-विस्तार के ही कारण महसूस हुए या उनका इतना अधिक परिष्कार कर दिया गया कि उन्हें परम्परागत नहीं कहा जा सकता।

प्रमेयरत्नमाला की दो संस्कृत टीकाएं हैं, प्रथम आचार्य अजितसेन की न्यायमणिदीपिका और द्वितीय पण्डिताचार्य चारुकीर्ति की अर्थप्रकाशिका, और ये दोनों ही अप्रकाशित हैं। पं० जयचन्द्रजी छाबड़ा, जयपुर निवासी ने इसकी हिन्दी वचनिका भी लिखी थी जो प्रकाशित हो चुकी है।[2] स्वयं प्रमेयरत्नमाला का प्रकाशन विभिन्न संस्थाओं से लगभग पाँच बार हो चुका है।

प्रमेयरत्नालंकार

प्रमेयरत्नालङ्कार संस्कृत गद्य और नव्य शैली में लिखा गया जैन न्याय का एक महत्त्वपूर्ण व्याख्याग्रन्थ है। परीक्षामुख इसका व्याख्येय है।

इसके पूर्व प्रमेयरत्नालङ्कार का नाम प्रमेयरत्नमालालङ्कार प्रचलित रहा[3] जिसका कारण है इस पाण्डुलिपि[4]

---

१. अकलङ्कवचोऽम्भोधेरुद्दध्रे येन धीमता।
न्यायविद्यामृतं तस्मै नमो माणिक्यनन्दिने ॥ —प्रमेयरत्नमाला आदि श्लोक न० २।

२. प्रकाशक मन्त्री, मुनि अनन्तकीर्ति ग्रन्थमाला, कालबादेवी रोड, बम्बई।

३. 'जैनदर्शन' (प्रथम संस्करण) के पृ० ६२८ पर पं० महेन्द्रकुमारजी ने और आप्त-परीक्षा की प्रस्तावना के पृ० २७ पर पं० दरबारीलालजी कोठिया ने उक्त नाम का ही उल्लेख किया है। इसके अतिरिक्त, डा० आदिनाथ नेमिनाथ उपाध्ये और पं० के० भुजबली शास्त्री आदि ने भी मुझे लिखे गये अपने पत्रों में इसी नाम की ओर संकेत किया था।

४. यह पाण्डुलिपि जैन सिद्धान्तभवन आरा में सुरक्षित है। इसके विस्तृत परिचय के लिए देखिए, जैन सन्देश, शोधाङ्क १६, पृ० १६२।

के लिपिकार की त्रुटि जो मुझे प्रमेयरत्नमाला का सम्पादन करते समय प्राप्त हुई थी। इस पाण्डुलिपि के आवरण-पृष्ठ पर, शीर्षक के स्थान पर और द्वितीय पत्र के पुष्पिकावाक्य में प्रमेयरत्नालङ्कार न लिखा जाकर त्रुटिवश प्रमेयरत्नमालालङ्कार लिख दिया गया है। यह त्रुटि ऐसी तुच्छ नहीं है कि विद्वानों को इस ग्रन्थ का स्वरूप समझने में भ्रान्ति [illegible]।[1]

[illegible] परीक्षामुख की [illegible], प्रमेयकमलमार्तण्ड और प्रमेयरत्नमाला की भाँति स्वतन्त्र टीका है। इसके विपरीत, [illegible] किया गया था कि यह प्रमेयरत्नमाला की टीका (प्रमेयरत्नमालालङ्कार) है।[2]

पण्डिताचार्य चारुकीर्ति ने, [illegible][3] इसकी रचना की प्रेरणा आचार्य अनन्तवीर्य की 'प्रमेयरत्नमाला'[4] से भी [illegible] है। [illegible] आचार्य [illegible] का प्रमेय[illegible]', शान्तिषेण का प्रमेयरत्नसार[5] और [illegible] का [illegible]'[6] भी इस प्रेरणा के [illegible] रहे हैं। [illegible] इसके 'प्रमेय' और 'रत्न' शब्दों को इसी रूप में [illegible] लिया है। [illegible] को स्वीकार करने में पण्डिताचार्यजी ने [illegible] परम्परा का आश्रय लिया है। [illegible] गीतवीतरागप्रबन्ध [illegible]। [illegible]नालङ्कार, [illegible]

प्रमेयरत्नालङ्कार यद्यपि परीक्षामुख की व्याख्या है अतः इसका उद्देश्य, प्रधानतः तो प्रमाण और प्रमाणाभास के सम्बन्ध में परिचित कराना,[8] जैसा कि यहाँ स्पष्ट भी है। दूसरा उद्देश्य है — परीक्षामुख का स्पष्टीकरण। पण्डिताचार्यजी ने [illegible] दो सोपान हैं। प्रथम सोपान प्रमेयरत्नमाला है परन्तु यह [illegible] है। [illegible], जब द्वितीय सोपान तक पहुँचने [illegible] पण्डिताचार्य महोदय ने प्रमेयरत्नालङ्कार के रूप में [illegible] सोपान का निर्माण [illegible] जो प्रथम सोपान से उतना ही ऊँचा है जितना द्वितीय सोपान से नीचा। प्रमेयरत्नालङ्कार [illegible] प्रतिभा से प्रमेयकमलमार्तण्ड का सुन्दर संक्षेप किया है परन्तु [illegible]। फिर भी पण्डिताचार्य महोदय ने प्रमेय[illegible] उसका उपयोग भी इस ढङ्ग से किया है कि मूल ग्रन्थ का प्रवाह [illegible] भी [illegible] उभरी है।

---

१ मूल की पाण्डुलिपि में और भी अनेक त्रुटियाँ हैं जिनके लिए स्पष्टतः लिपिकार ही उत्तरदायी हैं, ग्रन्थकार नहीं।

२ इस नाम सम्बन्धी भ्रान्ति-निवारण के लिए देखिए, जैनसन्देश, शोधाङ्क २६, पृ० १६२ और आगे।

३ इनके परिचय के लिए देखिए, जैनसन्देश, शोधाङ्क २२, पृ० [illegible] और शोधाङ्क २३, पृ० ६६।

४ प्रमेयरत्नमाला की रचना की प्रेरणा आचार्य अनन्तवीर्य ने, बहुत कुछ सम्भव है कि न्यायमुक्तावली से ली हो क्योंकि प्रमेय और न्याय का [illegible] और मुक्ता का तथा माला और आवली का अर्थसाम्य [illegible] इसी सम्भावना की पुष्टि करता है। प्रमेयकमलमार्तण्ड [illegible] में यह प्रेरणा ली गयी होनी चाहिए, [illegible] प्रारम्भ का [illegible] इस बात का [illegible]।

५ प्रारम्भिक प्रशस्ति में इसका उल्लेख है।

६ इसकी एक पाण्डुलिपि जैन सिद्धान्त भवन, आरा में विद्यमान है।

७ इसकी पाण्डुलिपि भी जैन सिद्धान्त भवन आरा में विद्यमान है।

८ 'इति वक्ष्ये तयोर्लक्ष्म सिद्धमल्पं लघीयसः।' —परीक्षामुख, प्रतिज्ञाश्लोक।

पण्डिताचार्यजी के समय तक जैन न्याय में नव्य शैली लोकप्रिय हो चुकी थी, पर उसे अधिकाधिक प्रतिष्ठा देने का उद्देश्य भी प्रमेयरत्नालङ्कार की रचना का एक कारण हो सकता है। इसके अतिरिक्त, ऐसा कोई उद्देश्य ग्रन्थकार ने व्यक्त नहीं किया है जैसा अमुक व्यक्ति को पढ़ने आदि के लिए प्रमेयरत्नमालाकार आदि ने किया है।[1]

यदि हम पण्डिताचार्य चारुकीर्ति को उच्चतम कोटि का शब्दशिल्पी कहें तो प्रमेयरत्नालङ्कार की भाषा उसके लिए ज्वलन्त उदाहरण होगी। न्याय में भी काव्य की-सी रमणीयता पण्डिताचार्य जैसे विद्वान् ग्रन्थकारों का ही कार्य है। न्यायशास्त्रों में प्रायः सर्वत्र पायी जाने वाली शुष्कता, दुरूहता और प्रवाहशून्यता प्रमेयरत्नालङ्कार में कदाचित् कहीं भी नहीं मिलेगी। न्याय की नव्य शैली की सुदीर्घ पदावली भी इस सुन्दरता से प्रस्तुत की गयी है कि भाषा में उद्वेगकारी विच्छिन्नता के बदले एक आकर्षक प्रवाहमयता प्रस्तुत हो गयी है, ये देखिए दो झाँकियाँ

'ननूक्तरीत्याऽपूर्वार्थव्यवसायस्यैव प्रमात्वे भगवद्ज्ञाने केवलाख्य उक्तलक्षणस्याव्याप्तिस्तस्य निश्चितार्थ विषयकत्वेनापूर्वार्थविषयकत्वाभावात्। न चार्थेषु प्रतिक्षण विभिन्ना पर्याया उत्पद्यन्ते। तदुक्तम्,

'अनादिनिधने द्रव्ये स्वपर्याया प्रतिक्षणम्।
उन्मज्जन्ति निमज्जन्ति जलकल्लोलवज्जले॥'

इति। तथा च तत्तत्पर्यायविशिष्टतया पूर्वमग्रहान्नाव्याप्तिरिति वाच्य, तथा सति केवलज्ञानस्य सदा कतिपयार्थग्राहित्वेन कदापि सर्वविषयकत्वानुपपत्ते इतिचेन्न अपूर्वार्थविषयकत्व च सर्वविषयकत्वाभावगृहीतग्राहित्वोभयाभाववत्व धारावाहिकद्वितीयादिज्ञानेषूभयसत्त्वाद् व्यावृत्ति।'[2]

"नैयायिकास्तु 'पदाना बोधजनकतावच्छेदकशक्तिमत्त्वरूपयोग्यत्वमप्रामाणिकमेव, शक्तिरूपपदार्थान्तरस्यैवाप्रामाणिकत्वेन वह्न्यादावपि दाहानुकूलशक्तेरभावात्। किन्तु अस्माच्छब्दादयमर्थो बोद्धव्य इतीश्वरसकेत एव शक्तिशब्देनोच्यते स एव पदपदार्थयो सम्बन्ध, इति वदन्ति।"

अप्रचलित, कठिन या कटु शब्दों का प्रयोग कहीं नहीं मिलता। खण्डन-मण्डन के चक्र में पड़कर भी भाषा कहीं असयत नहीं होने पायी है।

सक्षेप में हम कहेंगे कि प्रमेयरत्नालङ्कार सरल, सरस और प्रवाहमय सस्कृत गद्य में लिखा गया है।

न्याय की नव्य शैली की स्थापना विक्रम की तेरहवीं शती में गङ्गेश उपाध्याय ने की थी। अवच्छेदकावच्छिन्न की भाषा में जकड़ी हुई भी यह शैली उत्तरोत्तर लोकप्रिय होती गयी। सत्रहवीं शती तक आते आते यह अपने विकास की चरम सीमा पर पहुँच गयी। उपाध्याय यशोविजय के खण्डनखण्डखाद्य आदि ग्रन्थ इसी युग की देन हैं। इसी परम्परा और शैली में प्रमेयरत्नालङ्कार की रचना हुई। शेष बातों में शैली की दृष्टि से प्रमेयरत्नालङ्कार में पूर्वाचार्यों की परम्परा का ही अनुकरण किया गया है।

ग्रन्थ का प्रारम्भ श्रीवर्धमान के भजन से होता है। फिर आचार्य अकलङ्क, माणिक्यनन्दी और प्रभाचन्द्र की वन्दना की जाती है। इसके पश्चात् ग्रन्थ-रचना की प्रतिज्ञा लेकर ग्रन्थकार ने अपनी लघुता प्रकट की है। प्रारम्भिक

---

१ 'वैजेयप्रियपुत्रस्य हीरपस्योपरोधत।
शान्तिषेणार्थमारब्धा परीक्षामुखपञ्जिका॥' —परीक्षामुख, आदि पद्य सख्या ५।

२ प्रमेयरत्नालङ्कार की मेरी पाण्डुलिपि।

परिच्छेदों में सम्बद्धविषय की मान्यता और उसके साथ [illegible] की गरिमा प्रदर्शित की गयी है। परिच्छेदों का प्रारम्भ 'अथ' शब्द से और अन्त [illegible] श्लोक और पुष्पिकावाक्य से होता है। अन्त में एक श्लोक में समूचे ग्रन्थ का उपसंहार और दूसरे श्लोक में [illegible] की उपासना की गयी है।

प्रारम्भ के छह श्लोक और [illegible] परिच्छेदान्त के पाँच अर्थात् तेरह श्लोक स्वयं ग्रन्थकार के हैं और बीस श्लोक उद्धृत हैं, शेष समूचा ग्रन्थ गद्य में है। परीक्षामुख के सूत्रों को व्याख्यान में गूंथा गया है, छोड़ा नहीं गया है जैसा कि प्रमेयकमलमार्तण्ड में किया गया है।[1]

सूत्रों का प्रारम्भ प्रायः [illegible] ही किया गया है और उनकी व्याख्या 'तत्' शब्द से लेकर [illegible] है। कहीं-कहीं 'सुगम' आदि कहकर बिना कुछ कहे ही व्याख्यान छोड़ दिये गये हैं। उनकी व्याख्या अनुपलब्ध [illegible] नहीं है।

व्याख्या, श्लोकों की हो या सूत्रों की, [illegible] से आरम्भ की गयी है। अधिकांश व्याख्याओं में खण्डन-मण्डन का पुट है। [illegible] के माध्यम से अधिक हुआ है। विषय को आगे बढ़ाने या कोई नवीन युक्ति प्रस्तुत करने के लिए 'किञ्च', 'अन्यच्च', 'न च', और 'तथाहि' आदि का प्रयोग किया गया है।

खण्डन-मण्डन में [illegible] की ओर [illegible] है। पूर्वपक्षों को देखकर लगता है मानो वे अपने मत के व्याख्याता द्वारा ही प्रस्तुत किये जा रहे हैं। उत्तरपक्ष, पूर्वपक्ष को बुनियाद को 'यदुक्तम्', 'यदप्यवादि', '[illegible]' आदि के द्वारा प्रस्तुत किये जाते हैं। उत्तरपक्षों में [illegible] का पूरा ध्यान रखा गया है, प्रमेयकमलमार्तण्ड आदि की भाँति [illegible] सामग्री [illegible] कम ही मिलेगी।

तर्कों की परम्परागत होकर भी [illegible] और [illegible] हैं। सर्व, सभी परम्परागत नहीं है, कुछ मौलिक और महत्त्वपूर्ण भी हैं। कुछ परम्परागत तर्क त्याग भी दिये गये हैं क्योंकि या तो वे अत्यन्त अनिवार्य न होने से ग्रन्थकार को [illegible] के कारण [illegible] इतना परिष्कृत कर दिया गया है कि उन्हें परम्परागत नहीं कहा जा सकता।

पारिभाषिक शब्द, [illegible], चाहे वे किसी भी प्रसङ्ग में प्रयुक्त क्यों न हुए हों, परिभाषा दिये बिना नहीं छोड़ा गया है। परिभाषाएँ भी ऐसी होती हैं कि उनमें प्रयुक्त हुए विभिन्न पदों की पृथक्-पृथक् सार्थकता भी बतानी पड़ी है। इस प्रकार [illegible] परिभाषा [illegible] ही वाक्य तक सीमित न रहकर पाँच-सात वाक्यों तक विस्तृत हो जाती है। इसी प्रकार जिस शब्द के भेद सम्भव हैं उनके भेद भी, परिभाषाएँ अवश्य दी गयी हैं और आवश्यकतानुसार उन भेदों की परिभाषाएँ भी दी गयी हैं। फलतः, पाठक जिस विषय में भी प्रवेश करता है उसी की प्रायः समूची सामग्री उसे वहीं प्राप्त हो जाती है।

उचित विषय की सम्पुष्टि [illegible], सम्बद्ध ग्रन्थों के उद्धरण देकर करते चलते हैं। उद्धरणों के साथ कभी उनके लेखक का उल्लेख करते हैं और कभी उनके मूलग्रन्थ का और कभी किसी का भी नहीं। उद्धरणों में संस्कृतेतर भाषा का कोई नहीं है। उन्हें 'उक्तं च', 'तदुक्तम्', 'यदुक्तम्' आदि शब्दों से प्रारम्भ और 'इति' शब्द से समाप्त किया गया है।



---

1 देखिए प० महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य का इस ग्रन्थ का सम्पादकीय, पृ० १।



पण्डिताचार्यजी में तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करने की एक अच्छी प्रवृत्ति पायी जाती है। वे अपने मत के साथ प्रभाचन्द्राचार्य, अनन्तवीर्य और अजितसेन (न्यायमणिदीपिकाकार) आदि के मत भी उद्धृत करते हैं और उनसे अपने मतभेद या मतैक्य का निर्देश करते चलते हैं।

इसमें सन्देह नहीं कि परीक्षामुख को पण्डिताचार्यजी ने नयी शैली और नये दृष्टिकोण से हमारे समक्ष रखा है। परीक्षामुख साहित्य में प्रमेयरत्नालङ्कार अपनी शैली और वाणी में अजोड़ है।

प्रमेयकण्ठिका

यह शान्तिवर्णी की एक लघुकाय रचना है और परीक्षामुख के प्रथम सूत्र 'स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मकं ज्ञानं प्रमाणम्' पर लिखी गयी वैसी ही स्वतन्त्र वृत्ति है जैसी मोक्षशास्त्र के सूत्र 'प्रमाणनयैरधिगमः' पर लिखी गयी 'धर्मभूषणयति की न्यायदीपिका'। न्यायदीपिका की ही भाँति यह भी सरल भाषा में लिखी गई है।

सम्पूर्ण ग्रन्थ पाँच स्तबकों में विभाजित है। प्रथम स्तबक में प्रमाण और फल का परस्पर सम्बन्ध तथा उनमें कथञ्चित् भेदाभेद का समर्थन है। द्वितीय में सांख्य, प्राभाकर, भाट्ट, बौद्ध एवं मुरारिमिश्र आदि द्वारा स्वमत प्रमाणस्वरूप का खण्डन किया है। तृतीय स्तबक में प्रामाण्य की ज्ञप्ति और उत्पत्ति की व्यवस्था के अन्तर्गत मीमांसक प्राभाकर, मुरारिमिश्र और नैयायिक के मत का खण्डन है। चतुर्थ में सिद्ध किया गया है कि प्रमाण का विषय सदसद्रूप है। और अन्तिम स्तबक में, विस्तार के साथ जगत्कर्तृत्ववाद का खण्डन करते हुए सर्वज्ञत्व की सिद्धि की गयी है।

इसकी एक पाण्डुलिपि[1] मुझे पं० दरबारीलालजी कोठिया के सौजन्य से प्राप्त हुई थी। इसमें ८३"×६३" आकार के ४० पत्र हैं। प्रत्येक पत्र में दोनों ओर ११ पंक्तियाँ और प्रत्येक पंक्ति में ४० अक्षर हैं। ३८ वें पत्र के प्रथम पार्श्व पर ग्रन्थ को समाप्त कर दिया गया है और द्वितीय पार्श्व पर कुछ अंश पुनः लिखा गया है। यह अंश लिपिकार द्वारा ग्रन्थ के मध्य में कहीं छूट गया प्रतीत होता है जिसे अन्त में लिख दिया गया है। इस प्रकार का भी अन्तिम अंश अपूर्ण है जिसके लिए ही कदाचित् अन्त में दो अतिरिक्त पत्र रख लिए गये हैं। ग्रन्थ का मङ्गलाचरण देखिए—

'ॐ जिनाय नमः ॥ श्री रस्तु ॥ श्रीवाण्यै नमः ॥
श्रीवर्धमानमानम्य विष्णुं विश्वगुणं हरम् ॥
परीक्षामुखसूत्रस्याद्यस्यार्थं विवृण्महे ॥'

पुष्पिकावाक्य भी देखिए—

'श्री शान्तिवर्णिविरचितायां प्रमेयकण्ठिकायां · स्तबकः ।'

और देखिए अन्तिम अंश—

'प्रमेयकण्ठिका जीयात् प्रसिद्धानेकसद्गुणा ।
सरस्मार्तण्डसाम्राज्ययौवराज्यस्य कण्ठिका ॥
सतिष्कलङ्क (?) जनयतु तर्कं
चापायितर्को मम तर्करत्ने ।
येनानिशं प्रवृत्त कलङ्क-
दचन्द्रस्य किं भूषणकारणं न ॥'

---

१. यह पाण्डुलिपि श्री जैन सिद्धान्त भवन आरा की सम्पत्ति है।

अन्त में ग्रन्थकार की प्रशस्ति नहीं है। किसी अन्य प्रकार से भी ग्रन्थकार ने अपनी गुरुपरम्परा आदि का कोई उल्लेख नहीं किया है।[1] न्यायशास्त्र के जिज्ञासुओं को प्रमेयकण्ठिका एक सुदृढ़ भूमिका है। इसकी सूत्रानुरूप भाषा प्रमाण देती है कि इसके माध्यम से प्रमेयशास्त्र को कण्ठस्थ किया जा सकता है। यह अभी तक अप्रकाशित है और इसके प्रकाशन की अत्यधिक आवश्यकता है।

ग्रन्थकार का अध्ययन गम्भीर एवं शैली प्रौढ़ है। न्यायदीपिकाकार धर्मभूषणयति की भाँति शान्तिवर्णी भी विस्तृत विषय को संक्षिप्त शब्दों द्वारा सरलता से व्यक्त कर देते हैं। उनका अपना व्यक्तित्व है जो पदे-पदे उनकी तर्क प्रणाली द्वारा प्रकट होता है। परीक्षामुख के सम्पूर्ण विषय को उसके एक ही सूत्र की व्याख्या में समाविष्ट कर देना शान्तिवर्णी जैसे सारग्राही का ही कार्य है।

श्री शान्तिवर्णी ने अपनी कृति में अपना कोई परिचय नहीं दिया है। मूडबिद्री के जैन भवन में 'अनन्तकुमारी-चरित' की दो ताडपत्रीय पाण्डुलिपियाँ विद्यमान हैं।[2] अनन्तकुमारीचरित के लेखक श्री शान्तण्ण वर्णी हैं। यदि शान्तिवर्णी और शान्तण्ण वर्णी को एक ही व्यक्ति माना जावे तो हम कह सकेंगे कि प्रमेयकण्ठिकाकार भारंगीपुर के निवासी थे और उन्होंने अनन्तकुमारीचरित की रचना शालि० शक सं० १७८६ (१८६४) से पूर्व की थी। इससे अतिरिक्त, योगरत्नाकर[3] और योगामृत[4] के लेखक शान्तिरस, पुरुदेवचरित के लेखक शान्तिमुनि, चतुर्विंशतितीर्थंकरपुराण[5] और पार्श्वनाथचरित[6] के लेखक शान्तिकीर्ति, सुकुमारचरित[7] के लेखक शान्तिनाथ, पञ्चविंशतिस्वानकाव्य,[8] शान्तिराजक-विप्रशस्ति[9] और सरसजनचिन्तामणि[10] के लेखक शान्तिराज कवि तथा जैनतर्कवार्तिकवृत्ति[11] के लेखक श्रीमच्छान्त्याचार्य के नाम भी विचारणीय हैं। सम्भव है कि इनमें से किसी एक या एकाधिक के साथ हमारे शान्तिवर्णी का समीकरण किया जा सके। साथ ही, न्यायावतारवार्तिकवृत्ति की प्रस्तावना में प्रो० दलसुख मालवणिया ने जिन सत्रह (१०+७=१७) शान्तिसूरि एवं शान्त्याचार्य नामक आचार्यों का उल्लेख किया है[13] उनमें से भी कोई एक या अनेक, प्रस्तुत शान्तिवर्णी हो सकते हैं। न्यायावतारवार्तिकवृत्ति के कर्ता शान्तिसूरि[14] और प्रमेयरत्नसार[15] के कर्ता शान्तिषेण[16] के साथ हमारे शान्तिषेण का समीकरण नहीं हो सकता। यदि मेरा अनुमान सत्य सिद्ध हुआ तो ये शान्तिवर्णी वह शान्तिषेण होना

---

१ विशेष विवरण के लिए देखिये, जैन सन्देश, शोधाङ्क, १४ मार्च '६३, पृ० १९३।

२ इन प्रतियों का परिचय श्रीमान् पं० के भुजवली शास्त्री ने इस प्रकार दिया है—'ग्रन्थ नं १५५। अनन्तकुमारी चरित। वर्णी शान्तण्ण। पत्र सं० १७। पंक्ति प्रतिपत्र ९। अक्षर प्रतिपंक्ति ७२। लिपि कन्नड। भाषा कन्नड। विषय चरित। वस्तु ताडपत्र। लेखनकाल शालि० शक १७८९। पूर्ण तथा शुद्ध। दशा उत्तम। विशेष—इस ग्रन्थ के रचयिता वर्णी शान्तण्ण भारंगीपुर के निवासी हैं। प्रतिलिपिकार मूडबिद्री पडुवसदि पुरोहित पद्मय्य इन्द्र के पुत्र चम्पय्य इन्द्र हैं।' अनन्तकुमारीचरित की दूसरी प्रति का ग्रन्थ नं० १७५ है।

देखिए, कन्नडप्रान्तीय ताडपत्रीय-ग्रन्थसूची पृ० २२९।

३ वही, पृ० ७९।

४. वही, पृ०, ८०।

५ वही पृ० १५५

६. वही, पृ० १४६। ७ वही, पृ० १५४। ८ वही, पृ० २६९। ९ वही, पृ० २९१।

१० वही, पृ० २९८। ११ वही, पृ० २९२।

१२ प्रकाशक—ई० जे० लाजरस एण्ड कं०, मेडीक्ल हॉल प्रेस, बनारस केण्ट (१९१७ ई०)।

१३ पृ १४६ से १४९ तक। १४ वही, पृ० १५१।

१५ यह ई० की १३ वीं शती की रचना है। अभी अप्रकाशित है। इसकी एक पाण्डुलिपि जैन सिद्धान्त भवन, आरा में उपलब्ध है। स्व० पं० महेन्द्रकुमारजी न्यायाचार्य जैनदर्शन, पृ० ६२८।

१६ वही, पृ ६२८।



चाहिए जिनके निमित्त से आचार्य अनन्तवीर्य ने प्रमेयरत्नमाला लिखी थी।¹ ये शान्तिषेण ही पढ़ लिखकर और कदाचित् दीक्षा लेकर शान्तिवर्णी हो गये हों यह असम्भावित नहीं है। प्रमेयरत्नमाला के माध्यम से परीक्षामुख का मर्म समझकर उस पर, उनके द्वारा टीका लिखी जाना भी स्वाभाविक ही है।

उपसंहार

इस विवेचन से, इसमें सन्देह नहीं रह जाता कि परीक्षामुख का महत्त्व जैन न्याय में ही नहीं बल्कि सम्पूर्ण भारतीय न्याय में भी उल्लेखनीय है। इसके मूल, हिन्दी और अंग्रेजी टीकाओं के साथ और सम्पादन प्रकाशित हो चुके हैं, फिर भी इसके एक ऐसे संस्करण की नितान्त आवश्यकता है जिसमें उसके प्रत्येक सूत्र का विवेचन समग्र भारतीय न्याय के प्रकाश में किया गया हो और जिसके साथ तुलनात्मक प्रस्तावना तथा आधुनिक शैली के परिशिष्ट सम्बद्ध हों। इसी प्रकार इसकी टीकाओं के भी, जिनमें से कुछ अभी अप्रकाशित हैं, आधुनिक शैली में सम्पादित संस्करण प्रकाशित होना चाहिए। ऐसे ग्रन्थों का प्रकाशन एक समस्या होती है, इसके कई कारण हैं। प्रथम यह है कि हममें अभी भी ग्रन्थ खरीद कर पढ़ने की प्रवृत्ति नहीं है। दूसरा, धनिक वर्ग का ध्यान साहित्य प्रकाशन की ओर पर्याप्त रूप से नहीं गया है। तीसरा कारण यह है कि प्रकाशक संस्थाएं और सभाएं या चालू किस्म का साहित्य प्राथमिकता से प्रकाशित करती हैं। और चौथा, अत्यन्त शोचनीय कारण यह है कि विद्वान् पुरुष भी अपनी अधिकांश शक्ति या तो व्यापार आदि में समाप्त कर देते हैं, या फिर चालू साहित्य के सृजन में लगा देते हैं। इस सबका परिणाम यह होता है कि परीक्षामुख जैसे सर्वोत्तम श्रेणी के ग्रन्थ भी उच्चस्तरीय प्रकाशनों से वंचित रह जाते हैं। आशा है, शीघ्र ही परीक्षामुख की ओर हमारा यथोचित ध्यान पहुंचेगा।

---

१ वैजेयप्रियपुत्रस्य हीरपस्योपरोधत ।
शान्तिषेणार्थमारब्धा परीक्षामुखपञ्जिका ॥

—प्रमेयरत्नमाला, आदिश्लोक न० ५।

राजस्थानी साहित्य के विविध रूप और जैन काव्य

डा० पुरुषोत्तमलाल मेनारिया
एम० ए०, पी-एच० डी०



साहित्य का वर्गीकरण अनेक प्रकार से किया जा सकता है । प्राचीनकाल से साहित्य मौखिक और लिखित दो रूपों में प्राप्त होता रहा है । प्राचीनकाल में लेखन और मुद्रण के साधन सुलभ नहीं थे, इसलिये विद्या को कण्ठस्थ करने पर बल दिया जाता था । तदनुसार "विद्याकंठे" की उक्ति प्रचलित हुई है । मौखिक और लिखित साहित्य को क्रमशः श्रुतिनिष्ठ और लिपिनिष्ठ भी कहा जा सकता है ।

आचार्य व्यास ने काव्य को तीन रूपों में वर्गीकृत किया है —

१ श्रव्य, २ अभिनेय और ३ प्रकीर्ण—"श्रव्य चैवाभिनेयच प्रकीर्णं सकलोक्तिभि ।"[1]

आचार्य भामह ने काव्य एवं साहित्य के पद्य और गद्य नामक दो भेद बताये हैं । भाषा भेद की दृष्टि से भामह ने संस्कृत, प्राकृत, और अपभ्रंश नामक तीन विभाग बताये हैं । भामह ने वर्ण्यवस्तु की दृष्टि से—(१) वृत्त-देवादिचरितशंसि, (२) उत्पाद्यवस्तु, (३) कलाश्रय और (४) शास्त्राश्रय नामक भेद बताये तथा काव्य का स्वरूप-भेद की दृष्टि से निम्नलिखित वर्गीकरण किया—

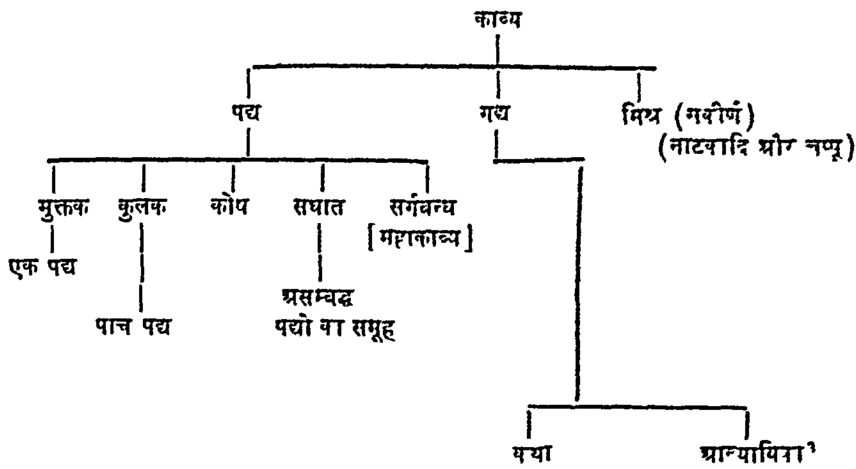
१ सर्गबन्ध (महाकाव्य) २ अभिनेयार्थ (नाट्य), ३ आख्यायिका ४ कथा और ५ अनिबद्ध ।[2]

आचार्य दण्डी ने साहित्य को संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश और मिश्र भाषाओं के अन्तर्गत रखते हुए काव्य का वर्गीकरण इस प्रकार किया—

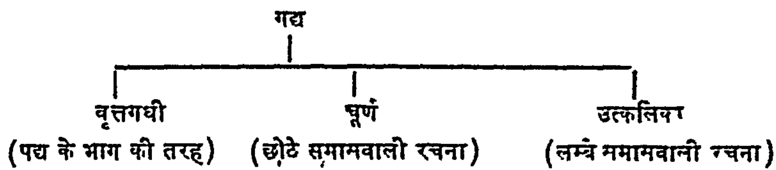
---

१ अग्निपुराण, ३३७ । ३६

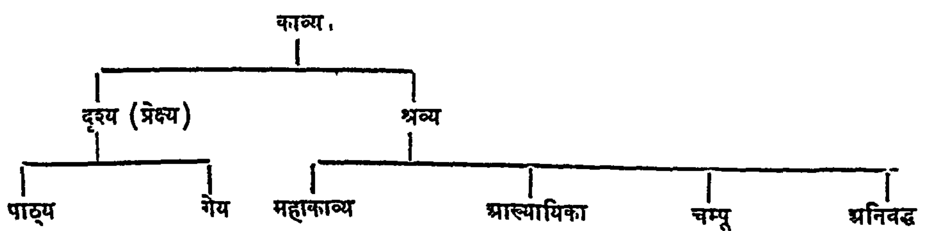
२ काव्यालंकार, प्रथम परिच्छेद ।



आचार्य वामन ने 'काव्यालकार सूत्र' मे काव्य के पद्य और गद्य दो रूप मानते हुए गद्य के तीन रूप बताये हैं —



आचार्य हेमचन्द्र ने सस्कृत, प्राकृत, अपभ्रश और ग्राम्यापभ्रश भाषाओ को काव्य-भाषा मानते हुए काव्यमानने का वर्गीकरण इस प्रकार किया—



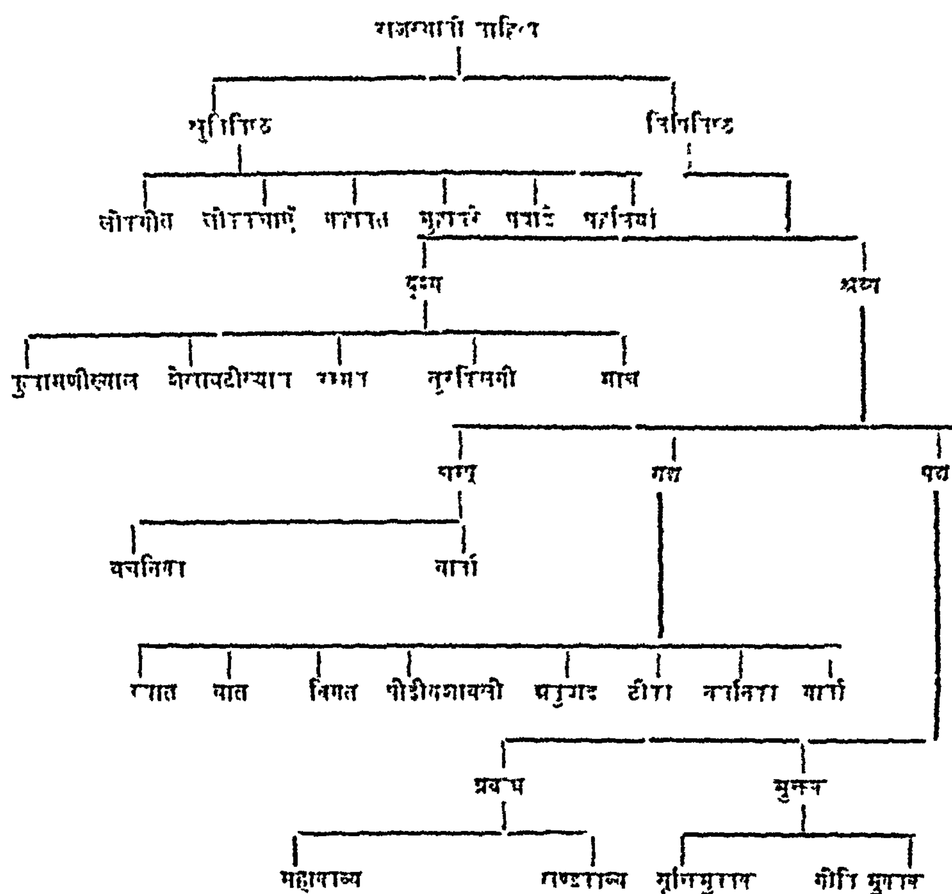
१ काव्यादर्श,
१।११।१४२३३१,

आचार्य विश्वनाथ ने 'साहित्यदर्पण' के अन्तर्गत काव्य के दृश्य और श्रव्य नामक दो भेद मानते हुए काव्य का वर्गीकरण निम्नलिखित रूप में किया है—

- काव्य
  - दृश्य
    - रूपक
      - नाटक, प्रकरण, भाण, व्यायोग, समवकार
      - डिम, ईहामृग, अंक, वीथी, प्रहसन
    - उपरूपक
      - नाटिका, त्रोटक, गोष्ठि, सट्टक, नाट्यरासक
      - प्रस्थानक, उल्लाप्य, काव्य, प्रेंखण, रासक
      - श्रीगदित, शिल्पक, विलासिका, दुर्मल्लिका
      - प्रकरणी, हल्लीश, भाणिका, संलापक
  - श्रव्य
    - पद्य
      - मुक्तक, युग्मक, संदानितक
      - कलापक, कुलक, महाकाव्य
      - काव्य, खण्डकाव्य, कोष, व्रज्या
    - गद्य
      - मुक्तक, वृत्तगंध, उत्कलिकाप्राय, चूर्णक



लिपिबद्ध और श्रुतिबद्ध राजस्थानी साहित्य का वर्गीकरण निम्नलिखित रूप से बताया जा सकता है—



प० नरोत्तमदास जी स्वामी ने राजस्थानी साहित्य की तीन शैलियाँ मानी हैं—(१) जैन शैली (२) चारणी शैली और (३) लौकिक शैली।[1]

उक्त शैलियों के अतिरिक्त राजस्थानी साहित्य की पिंगल, भक्ति एव सन्त काव्य और आधुनिक साहित्यिक शैलियाँ भी हैं जिनका समावेश उक्त वर्गीकरण मे नही हुआ है। चारणी शैली से चारणो द्वारा अपनाई गई शैली का ही बोध होता है। रावो, राजपूतो, मोतीसरो, ढाढियो और ब्राह्मणो आदि ने भी चारण कवियो की भाँति अनेक डिंगल रचनाए प्रस्तुत की हैं। अतएव "चारणी" शब्द उक्त अर्थ को प्रकट नही करता है। साथ ही "चारणी" शब्द "चारण" पुल्लिग शब्द के स्त्रीलिंग रूप का भी बोधक है।

श्री अगरचन्द जी नाहटा ने ११५ प्रकार के काव्य रूप बताये हैं —

(१) रास, (२) सधि, (३) चौपाई, (४) फागु, (५) धमाल, (६) विवाहलो, (७) धवल, (८) मगल, (९)वेलि, (१०) सलोक, (११) सवाद, (१२) वाद, (१३) झगडो, (१४) मातृका, (१५) बावनी, (१६) कक्का, (१७)बारहमासा, (१८) चौमासा (१९) पवाडा,(२०) चचरी (चाँचरी), (२१) जन्माभिषेक, (२२) कलश, (२३) तीर्थमाला, (२४) चैत्यपरिपाटी, (२५) सघ वर्णन, (२६) ढाल, (२७) ढालिया, (२८) चौढालिया, (२९) छढालिया, (३०) प्रबन्ध, (३१) चरित, (३२) सम्बध, (३३) आख्यानक, (३४) कथा, (३५) सतक, (३६) बहोत्तरी, (३७) छत्तीसी, (३८) सत्तरी, (३९) बत्तीसी, (४०) इक्कीसी, (४१) इक्तीसो, (४२) चौवीसी, (४३) बीसी, (४४) अष्टक, (४५) स्तुति, (४६) स्तवन, (४७) स्तोत्र, (४८) गीत, (४९) सज्झाय, (५०) चैत्यवन्दन, (५१) देववदन, (५२) वीनती, (५३) नमस्कार, (५४) प्रभाती, (५५) साझ, (५६) बधावा, (५७) गहूँली, (५८) हीयाली, (५९) गूढा, (६०) गजल, (६१) लावणी, (६२) छन्द, (६३) नीसाणी, (६४) नवरसो, (६५) प्रवहण, (६६) पारणो, (६७)वाहण, (६८) पट्टावली, (६९) गुर्वावली, (७०) हमचडी, (७१) हीच, (७२) मालामालिका (७३) नामामाला, (७४) रागमाला, (७५) कुलक,(७६) पूजा, (७७) गीता, (७८) पट्टाभिषेक, (७९) निर्वाण, (८०) मास, (८१) पद, (८२) मगली, (८३) रसावली, (८४) रसायन, (८५) रसलहरी, (८६) चन्द्रावला, (८७) दीपक, (८८) प्रदीपिका, (८९) फुलडा, (९०) जोड, (९१) परिश्रम, (९२) कल्पलता, (९३) लेखा, (९४) विरह, (९५) मूंदडी, (९६) सत, (९७) प्रकाश, (९८) होरी, (९९) तरग, (१००) तरगिनी, (१०१) चौक, (१०२) हुडी, (१०३)हरण, (१०४) विलास, (१०५) गरबा, (१०६) वोली, (१०७) अमृतध्वनि, (१०८) हालरियो, (१०९) रसोई, (११०) बडा, (१११) भूलणा, (११२) जकडी, (११३) दोहा, (११४) कुडलिया और (११५) छप्पय।"[2]

श्री नाहटाजी ने काव्य रूपो की सख्या ११५ दी हैं। किन्तु मगल रूप सख्या ८ और ५५ दो बार आ गया है और सख्या ८१ पर सयमश्री विवाह वर्णन, विवाह-परक रचना है। ऐसी रचनाओ का समावेश विवाह-विवाहला रूप मे ही हो जाता है।

श्री नाहटाजी की उक्त ११५ काव्य-सज्ञाओ की सूची मे डिंगल और पिंगल काव्य-रूप नहीं हैं तथा साखी, सबद, परिचयी और भक्तमाल जैसे काव्य-रूप भी छूट गये हैं। आधुनिक राजस्थानी काव्य-रूपो का भी उक्त सूची मे समावेश नही है। अतएव श्री नाहटाजी द्वारा प्रस्तुत काव्य-रूपो की उक्त सूची एकागी प्रतीत होती है।

भाषा-शैली की दृष्टि से राजस्थानी काव्य के निम्न लिखित भेद किये जाने चाहिए—



१ राजस्थानी साहित्य एक परिचय,
नवयुग ग्रन्थ कुटीर, बीकानेर, पृ० २३

२ प्राचीन काव्यों की रूप-परम्परा, भारतीय विद्या मदिर, शोध प्रतिष्ठान, विकानेर पृ० २-३।



(क) जैन काव्य, (ख) डिंगल काव्य, (ग) पिंगल काव्य, (घ) भक्ति एवं सन्त काव्य, (ङ) लोक काव्य और (च) आधुनिक काव्य।

जैनकाव्य का वर्गीकरण (अ) कथाकाव्य अथवा चरितकाव्य, (आ) ऋतु काव्य, (इ) उत्सव काव्य (ई) नीतिकाव्य, (उ) स्तवन, (ऊ) ढाल, (ए) टव्वा एवं बालावबोध और (ऐ) ज्योतिष वास्तुशास्त्र आयुर्वेद, रीति ग्रन्थ आदि शास्त्रीय विषयों पर आधारित काव्य के रूप में किया जा सकता है।

(अ) कथाकाव्य अथवा चरितकाव्य जैनकाव्य के अन्तर्गत आदर्श व्यक्तियों के चरित्रों से सम्बन्धित अनेक कथाकाव्य उपलब्ध होते हैं। इन काव्यों के माध्यम से दानशील, तप और भावना नामक ग्राह्य गुणों और क्रोध मान माया और लोभ नामक त्याज्य पर अवगुणों पर विशेष बल दिया गया है। इस विषय में कहा गया है—

दान सील तप भावना, चारु चरित्त यहेम।
क्रोध मान माया वली, लोभादिक पभणेस॥[1]

कथा अथवा चरितकाव्यों के रूप निम्नलिखित हैं—

(१) रास, रासो, (२) चौपाई, (३) संधि, (४) चरचरी, (५) प्रबन्ध, चरित, आख्यानक कथा।

(१) रास, रासो

रास परक काव्यों की परम्परा हमारे साहित्य में प्राचीन है। रास अथवा रासो-काव्यों को रासक, रासौ, राइसो, राइसी, रायसो, रायसउ, रासु, रायसा और रासा आदि भी लिखा गया है। रास शब्द की व्युत्पत्ति के विषय में अनेक मत प्रचलित है—

१ बीसलदेव रास में रसायन शब्द प्रयुक्त हुआ है। इसी "रसायन" शब्द से रासो की उत्पत्ति हुई है—आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल।"[2]

२ रासो शब्द की उत्पत्ति "राजसूय" से है—गार्सिद तासी।[3]

३ रासो शब्द की उत्पत्ति "रहस्य से है—श्यामसुन्दर दास।[4]

४ रासो शब्द की उत्पत्ति "राजयश" से है।[5]

५ "रासो के मायने कथा के है। यह रूढि शब्द है। एकवचन रासो, बहुवचन रासा।"—मुंशी देवीप्रसाद।[6]

६ "राजादेश" से रासो की उत्पत्ति हुई है।"—डॉ० जार्ज ग्रियर्सन।[7]

---

१ हेमरत्न कृत "अमरकुमार चौपई" से, हस्त प्रति श्री अभय जैन ग्रंथालय, बीकानेर।
२ हिन्दी साहित्य का इतिहास, काशीनागरी, प्रचारिणी सभा (सं० २००३), पृ० ३२
३ हिन्दुई साहित्य का इतिहास।
४. हिन्दी शब्द-सागर।
५ भारतीय विद्या, वर्ष ३, अंक १, पृ० ६६.
६ सरस्वती, भाग ३, पृ० ६८
७. वही, पृ० ६७.

७ रासा शब्द की उत्पत्ति संस्कृत शब्द के रास से है।[1] डा० गौरीशंकर हीराचन्द ओझा।

८ रासो शब्द की उत्पत्ति रास अथवा रासक से है।[2] प० मोहनलाल विष्णुलाल पंड्या।

९ "रास" शब्द वस्तुतः संस्कृत भाषा का नहीं है, प्रत्युत् देशी भाषा का है जो संस्कृत बन गया है।" डा० दशरथ ओझा।[3]

१० चरित्र-काव्यों में रासो-ग्रन्थ मुख्य हैं। जिस काव्य-ग्रन्थ में किसी राजा की कीर्ति, विजय, युद्ध, वीरता आदि का विस्तृत वर्णन हो, उसे रासो कहते हैं। प० मोतीलालजी मेनारिया।[4]

११ विश्वनाथप्रसाद मिश्र के मतानुसार 'रासक' शब्द को रासो की उत्पत्ति के लिये ग्रहण किया जा सकता है।[5]

१२ रास या रासक मूलतः नृत्य के साथ गाई जाने वाली रचना विशेष है।—के० का० शास्त्री।[6]

१३ उद्यम या पचड़े आदि भी रासो के अर्थ लिये गये हैं।[7]

१४. रास मुख्यतः गेय छन्दों में लिखा जाता था 'गरबो' को रास का उत्तराधिकारी भी बताया गया है।[8]

१५ प० हजारीप्रसादजी द्विवेदी ने इसको मिश्र गेय-रूपक मानते हुये रासो और रासक का पर्याय माना है। उनके मत से हेमचन्द्र के काव्य के आधार पर यह मिश्र गेय है।[9]

१६ विविध प्रकार के रास, रासावलय, रासा और रासक छन्दों, रासक और नाट्य-रासक उपनाटकों रासक, रास तथा रासो नृत्यों और नृत्तों से भी रासो-प्रबन्ध-परम्परा का निकट का सम्बन्ध रहा है।" डॉ० माताप्रसाद गुप्त।[10]

१७ पहले 'रासाओं' का धर्मोपदेश मुख्य हेतु था। फिर उपदेश में कथा-तत्व और चरित्र-सकीर्तन आदि तत्वों का समावेश हुआ। साहित्य-स्वरूप की दृष्टि से रासक एक नृत्य-काव्य अथवा गेय-रूपक है।[11]

---

१. सम्मेलन पत्रिका भाग ३३, संख्या १०, ७, पृ० ६७
२ रासो की प्रथम सरक्षा, उदयपुर।
३. हिन्दी नाटक . उद्भव और विकास, पृ० ७० (द्वितीय सस्करण)
४. राजस्थान का पिंगल साहित्य, पृ० २४, सन् १९५२
५ सम्मेलन-पत्रिका, भाग ३३, सख्या १२, अश्विन २००३.
६ आपणा कविओ, भाग एक, पृ० १८३-१५२ और ४१६-४३२
७ साहित्य-सन्देश, मई १९५१
८ दी केटलाग ग्राफ दी गुजराती एण्ड राजस्थानी, इन दी इण्डिया ओफिस लायब्रेरी, आक्सफोर्ड युनीवर्सिटी प्रेस १९५४,
९. हिन्दी साहित्य का आदिकाल, पृ० ५९, सन् १९५२,
१० हिन्दी अनुशीलन, वर्ष ४, अंक ४,
११ मंजुलाल र० मजुमदार गुजराती साहित्यना स्वरूपो, पृ० ६६ तथा ७१,





१८ डॉ० ओमप्रकाश के अनुसार तीन विशेषताएँ रासो मे पाई जाती हैं—(अ) वस्तु-वर्णन, (आ) शैली, (इ) सजिव चित्र।[1]

१९. रास शब्द का प्रयोग श्रीमद्‌भागवत मे गीत-नृत्य के लिये हुआ है—

"रासोत्सव सम्प्रवृत्तो गोपी मण्डल मण्डित "[2]

इसमे ध्रुपद आदि रागो का भी प्रयोग मिलता है—

"तदेव ध्रुवमुन्निन्ये तस्मै मान च वहूदात्।[3]

२० विजयराय कल्याणराय वैद्य के अनुसार रास छन्द धार्मिक कथाओ के तत्वो से युक्त है।[4]

२१ 'रास' के नृत्य, अभिनय और गेय वस्तु-इन्ही तीनो अगो से समय पाकर परस्पर मिलते-जुलते किन्तु साहित्य की दृष्टि से विभिन्न तीन प्रकार के रासो की उत्पत्ति हुई। कुछ नृत्य-विशेप रास कहलाए। इसी प्रकार श्रव्य रास और रासक उपरूपक बने।[5]

२२ विरहाक के वृत्तजातिसम्मुच्चय के 'रासग्र और स्वयभू छन्द के रामा' को बताते हुये डा० हरिवल्लभ भायाणी ने सदेश रासक मे प्रयुक्त 'रासा' नामक छन्द की भी चर्चा की है।[6]

२३ पृथ्वीराज रासो मे पाँच स्थलो पर रासो छन्द होने की सूचना डॉ० विपिन विहारी त्रिवेदी ने दी और बताया—

"इतना तो कहा जा सकता है कि एक समय रासा या रासो काव्य मे अनेक विशिष्ट छन्दो का व्यवहार इष्ट होकर शास्त्रोक्त हो गया था।[7]

२४ रासक या रास को छन्द-प्रभाकर[8] और हिन्दी छन्द-प्रकाश[9] मे एक छन्द विशेप बताया है।

२५ अनेक विद्वानो के मतानुसार रसपूर्ण होने से यह रचना रास कहलाई। शालिभद्र सूरिकृत 'पच पांडव चरित रासु' (सवत् १४१०) मे लिखा है—"रासि रसाउलु चुणीज्जई।"[10]

२६ जिनदत्त सूरि के "उपदेश रसायन रास" मे लगुड-रास और ताला-रास का पता चलता है। ये रास खेले भी जाते थे। कवि के अनुसार दिन मे लगुड-रास और रात्रि मे ताला-रास के खेल वर्जित हैं—

"ताला रासु विदिति न रयणिहि,
दिवसि वि लउडारसु सहु पुरिसिहिं॥"

---

१ हिन्दी काव्य और उसका सौंदर्य, पृ० १८-२०

२ स्कन्ध १०, अध्याय ३३, श्लोक ३,

३ १०।३३।१०

४ गुजराती साहित्यनी रूपरेखा, पृ० १९-२० (आवृत्ति पहली)

५ डा० दशरथ शर्मा, साहित्य-सदेश अ क १, जुलाई १९५१

६ सदेश रासक मुनि श्री जिनविजयजी, भारतीय विद्याभवन बम्बई,प्रस्तावना

७ रेवातट-समय, भूमिका पृ० १३४-१३५,

८ श्री जगन्नाथप्रसाद 'भानु' कृत, पृ० ५९

९ श्री रघुनन्दन शास्त्री कृत, पृ० २४५

१०. गुर्जर रासावली जी ओ एस अठारह

इसकी पुष्टि इन उद्धरणों से हो जाती है—

"ताला रासु रयणि नहि देइ, लउडा रसु मूलह वारेइ ।[1]

और:—

'पीछे ताला रास पडइ बहु भार पड़ता ।
अनइ लकुट रास जोईइ नेला नाचना ॥[2]

और—रेवतगिरि रास (सं० १२८८)

"रंगिहि ए रमई जो रासु सिरि विजयसेण सूरि निम्मविउए ।"

जिनोदय सूरि पट्टाभिषेक रास (सं० १४१५)

"नाचई ए नयण विशाल, चदवयणि मन रग भर ।
तरगति ए रासु रमति, रंगा खेलिय नृप परिवरे ॥

साहट्टदे रास (सं० १५१२)

दल्या मनोरथ पूगी आस, ठामि ठामि दिवराई रास ।"[3]

अतः भाव प्रकाश में शारदातनय ने तीन प्रकार के रासक का वर्णन किया है—

लतारासक नाम स्याद्‌तत्रेधा रासक मतेन ।
दण्डरासकमेकन्तु तथा मण्डलरासकम् ॥

और रासक नामक गेय-नाट्य का उल्लेख उपरूपकों में किया गया है—

"गोष्ठी च प्रेक्षणं नाट्य रासक रासक तथा उल्लोप्यक च हल्लीसक दुर्मल्लीकाऽपि च ॥"

हेमचन्द्र—

गेय-डोम्बिका-भाण प्रस्थान-शिंगक-भाणिका-प्रेरण-रामाक्रीड हल्लीसक-रासक-गोष्ठी-श्रीगदित राग काव्यादि ।[4]

वाग्भट्ट[5] (द्वितीय) और कवि विश्वनाथ—

"नाटिका त्रोटक गोष्ठि सट्टक नाट्यरासकम्
प्रस्थानोल्लाप्यकाव्यानि प्रेक्षण रासक तथा ।"[6]

रासक में अनेक ताल और लय ६४ तक के युगल और कोमल उद्धत-गेय रूपक तथा अनेक नर्तकियाँ भी होती हैं—

"अनेक नर्तकी योज्य चित्र ताल लयान्वितम् ।
आचतु षष्टि युगलाद्रासक मसृणोद्धतम् ॥



---

१ जगडू रचित, सम्यक्त्वमाई ।

२ सप्तक्षेत्री रास (प्रा० गु० का० सं० पृ० ५२)

३ पृ० ५६, तट १, २३६

४. काव्यानुशासनम् ।

५ वही ।

६. साहित्य दर्पण, ५, परि० ६ ।

डा० श्यामसुन्दरदास[1], श्री बालेन्दु[2] श्री ब्रजरत्नदास[3], आदि ने हिन्दी साहित्य में उपरूपक के १८ भेदों में से नाट्यरासक को भी एक भेद माना है।

२८ हिन्दी साहित्य कोष के अनुसार रासो नाम से अभिहित कृतियों दो प्रकार की हैं—एक तो गीत-नृत्य परक जो राजस्थान तथा गुजरात में विशेष रूप से समृद्ध हुईं और दूसरी छन्द-वैविध्य परक जो पूर्वी राजस्थान तथा शेष हिन्दी प्रदेश में अधिक विकसित हुईं।"

श्रीमद्भागवत के रासलीला प्रसंग से ज्ञात होता है कि रास का सम्बन्ध मूलतः शृंगारिक नृत्य-गीत से है। निम्नलिखित ग्रन्थों से भी रास का सम्बन्ध शृंगारिक नृत्यगीत से प्रकट होता है—पाइअलच्छी नाममाला[4] के रासो हल्लीसओ, देशी नाममाला के हल्लीसो रासा।[5] मण्डलेन स्त्रीणानृत्यम् तथा कृष्णो रासक[6] और पाइअ सद्द-महण्णवो के रास रासग[7] और रिपुदमण रास।[8]

रास मूलतः लौकिक और शृंगारिक गीत रहे हैं जिनके आधार पर जैन कवियों ने धार्मिक रास लिखे। धीरे धीरे इन रास-गीतों ने परिवर्द्धित होते हुये काव्य शैली का रूप धारण कर लिया।

(२) चउपई—

चउपइ अर्थात् चौपाई छन्दों में रचित होने से इन रचनाओं को "चउपइ" संज्ञा से अभिहित किया गया।

(३) संधि

अनेक महाकाव्यों में सर्ग से तात्पर्य संधि लिया गया है। हेमचन्द्राचार्य ने महाकाव्य के लक्षण बताते हुये लिखा है—

"पद्य प्रायं संस्कृत प्राकृतापभ्रंश ग्राम्य भाषानिबद्ध भिन्नवृत्तसर्गाश्वाससन्ध्यवस्कन्ध बन्धसत्सन्धिशब्दार्थ वैचित्र्योपेत महाकाव्यम्" कुछ संधि-विषयक काव्य निम्न हैं—

(१) आनन्द संधि,—विनयचन्द, (२) गौतम संधि (१४वीं शताब्दी) ह० प्रति श्री अभयजैन ग्रन्थालय बीकानेर, तथा जै० गु० क० भाग १, ६, (३) मृगापुत्र संधि (१५५०) कल्याणतिलक (४) नन्दन मणिहार संधि (१५८७)—चारु चन्द्र (५) उदाह राजर्षि संधि (१५६०) तथा गजसुकुमाल संधि (१५६०) संयममूर्ति (६) जिन-पालित जिन रक्षित संधि (१६२१) कुशललाभ, (७) गजसुकुमाल संधि (१५५२) मूलप्रभ (८) सुबाहु संधि (१६०४) पुण्यसागर (६) हरिकेशी संधि (१६४०) कनकसोम (१०) चउसरण प्रकीर्ण संधि (१६३१) चन्द्रसिंह (११) भावना संधि (१६४६) जयसोम (१२) अनाथी संधि (१६४७) विमल विनय (१३) क्यवन्ना संधि (१६५१) गुण विनय आदि।

---

१ रूपक रहस्य।
२ हिन्दी नाट्य-साहित्य।
३ हिन्दी काव्य-शास्त्र।
४ पृष्ठ ६५६
५ धनपाल कृत ॥९७॥
६ हेमचन्द्र कृत ॥८।६१॥ (कलकत्ता)
७ वही, २।३८
८ पण्डित हरगोविन्द दास, भीकचन्द सेठ (कलकत्ता १६८५)
६ मरुभारती, वर्ष ४, अंक २, जुलाई १६५६, डा० दशरथ शर्मा रिपुदमण रास.

(४) चर्चरी

संगीतबद्ध रचना राग-रागनियों में बाँध कर नृत्य के साथ में गाई जाती है, वह चर्चरी कहलाती है। जिनदत्त सूरि की रचना जिनवल्लभसूरि की स्तुति अपभ्रंश काव्यत्रयी में है।[1] हिन्दी और प्राकृत पैंगलम् में इसको छन्द बताया गया है।[2] ये रचनाएँ चौदहवीं शताब्दी में मिलना आरम्भ हुई हैं।[3]

(५) अ—प्रबन्ध चरित, आख्यानक और कथा

जैन कवियों ने अनेक रचनायें प्रबन्ध, चरित, आख्यानक और कथा काव्यों के अन्तर्गत लिखी हैं। सम्बन्धित चरित्र अथवा मुख्य घटना का उल्लेख इन नामों से पहले करने की परम्परा रही है।

आ—ऋतु काव्य

ऋतु काव्यों के अन्तर्गत (१) फागु (२) धमाल और (३) बारहमासा-परक रचनाओं का समावेश होता है।

(१) फागुकाव्य

बसन्त ऋतु में गेय है। होली के अवसर पर फाग के साथ इन रचनाओं का सम्बन्ध होने से इन्हें फागु कहा गया। फागु शब्द की व्युत्पत्ति के विषय में अनेक मत हैं—

१ डॉ० मोनीलाल साडेसरा—संस्कृत फल्गु>प्रा० फग्गु>फागु।

२ शृंगारिक विषयों के आधार पर के० का० शास्त्री ने इसे फागुकाल कहा है।[4]

३ श्री कान्तिलाल बलदेवराम व्यास के मतानुसार—सं० फाल्गुन>अ० फग्गु पु० प० रा० फागु। फागुन में बसन्त अपने पूर्ण यौवन पर होती है। इस समय में मादकता से भरे हुये गान को फागु कहते हैं।[5]

४ जिस प्रकार संस्कृत में यमकबद्ध अनुप्रासमय काव्य होते हैं। वैसी रचना को भाषा में फागबन्ध कहा जा सकता है। —डाक्टर अम्बालाल प्रेमानन्द शाह।[6]

५ श्री लालचन्द गांधी के मतानुसार फागु शैली विषय के आधार पर विविध तत्वों से युक्त है।[7]

६ अक्षयचन्द शर्मा के अनुसार यह मधुमहोत्सव रूपी गेय रूपक है।[8]

७ फागु मूल में लोक साहित्य का गौन स्वरूप है। —डॉ० म० र० मजुमदार।[9]

८ देशी नाममाला में बसन्तोत्सव कहा गया है—फग्गू महुच्छणो[10] संस्कृत फल्गु से भी इसकी उत्पत्ति इसी आधार पर दिखाई गई है।[11]

---

१ गायकवाड़ ओरियन्टल सिरीज में प्रकाशित।
२ हिन्दी छन्द-प्रकाश पृ० १३१ तथा हिन्दी काव्य शास्त्र पृ० २०८।
३ जैन सत्य-प्रकाश, वर्ष १२, अंक ६ में श्री हीरालाल कापडिया का 'चर्चरी' नामक लेख।
४ आपणा कविओ पृ० २३३।
५ बसन्त-विलास, भूमिका पृ० ३८।
६ जैन सत्य प्रकाश, वर्ष १२ अंक ५-६ पृ० १६५।
७. वही, वर्ष ११ अंक ७ पृ० २१२।
८ नागरी प्रचारिणी-पत्रिका वर्ष ५६ अंक १ संवत् २०११ पृ० २५।
९ गुजराती साहित्यना स्वरूपों, पृ० २०१।
१०. षष्ट वर्ग ॥८२॥ पृ० २४३ (कलकत्ता)।
११. गुजराती साहित्यना स्वरूपों पृ० १९९ टिप्पणी।



स० फल्गु>प्रा० फग्गु (अथवा देश्य फग्गु)>जू० गु० फागु>फाग।

६ डिंगल कोष मे भी फालगुण और फागण, फाल्गुण के पर्याय दर्शाये गये हैं।[1]

फागु काव्य गेय होने के साथ ही नृत्य के साथ अभिनेय भी होते थे। थूलिभद्द फागु [१४वी शताब्दी] मे लिखा है—

खरतर गच्छि जिण पदम सूरि किय फागु रमेवउ।
खेला नाचइ चैत्र मासि रगिहि गावेवउ ॥[2]

जैन कवियो द्वारा लिखित फागु काव्यो मे शृगार का अभाव होता है। शृगार रस परक फागु काव्य जनता मे लोकप्रिय थे। 'वसन्त-विलास' नामक फागुकाव्य शृगाररस का उत्तम उदाहरण है।[3] जैन कवियो ने लोक प्रचलित शृगाररस पर फागुण काव्य-परम्परा का अनुसरण करते हुये शान्तरस परक काव्यो की रचनायें की।[4]

(२) धमाल

राजस्थान मे होली के अवसर पर गेय गीतो को धमाल कहा जाता है। होली के अवसर पर गाई जाने वाली एक राग का नाम भी धमाल है। जैन कवियो ने धमाल-परम्परा मे अनेक आध्यात्मिक धमालें लिखी हैं। यथा आषाढ भूति धमाल, आर्द्रकुमार धमाल (-कनक सोम) नेमिनाथ धमाल (-माल देव) आदि।

(३) बारहमासा

बारहमासा-काव्यो मे मुख्यत विप्रलभ शृगार का समावेश होता है। कवि वर्ष के प्रत्येक मास की परिस्थितियो का चित्रण करते हुए नायिका का विरह वर्णन करते हैं। बारहमासा का वर्णन् आषाढ मे प्रारम्भ होता है। जैन कवियो ने बारहमासा-परम्परा के अन्तर्गत अनेक कृतियाँ लिखी हैं। जैसे—नेमिनाथ बारमास चतुष्पदिका (१३५३)—विनय चन्द्र सूरि[5], नेमिनाथ राजिमति बारमास चरित्र कलश[6] नेमिनाथ बारमास वेल प्रबन्ध (१६७०) गुण सौभाग्य।[7] श्री अगरचन्दजी नाहटा ने अपने एक निबन्ध मे "बारहमासा की प्राचीन परम्परा" पर विस्तृत प्रकाश डाला है।[8]

(४) उत्सव-काव्य

उत्सव काव्यो के अन्तर्गत विवाह दीक्षा आदि उत्सवो का वर्णन रहता है। जिस काव्य मे विवाह का वर्णन रहता है उसको विवाहलउ, विवाहलो, विवाहला आदि तथा विवाह के अन्तर्गत गाये जाने वाले गीतो को धवल और मगल कहा गया है। विवाहला परक रचनाओ मे जिनेश्वर सूरिकृत "सयम श्री विवाह वर्णन रास" और "जैनोदय सूरि विवाहला" अब तक प्राप्त हुई रचनाओ मे प्राचीनतम हैं। तेहरवी सदी मे रचित जिनपति सूरि "धवलगीत" धवल परक रचनाओ मे प्राचीनतम मानी गई है।[9] विवाहोत्सव सम्बन्धी कतिपय रचनाएँ इस प्रकार है —

---

१. परम्परा डिंगल कोष—कविराज मुरारीदान, पद १७२ पृ० १८८।
२ श्री सी० डी० दलाल, प्राचीन गुजर काव्य सग्रह, पृ० ४१।
३ प्रकाशित, राजस्थान प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर।
४ "राजस्थान फागु काव्य की परम्परा और विशिष्टता" सम्मेलन पत्रिका मे अगरचन्द जी नाहटा का निबन्ध।
५ प्राचीन गु० का० सा०।
६ गुजराती साहित्यना स्वरूपो, पृ० २७१,
७ वही, पृ० २८२-८३
८ हिन्दी अनुशीलन वर्ष ६, अक ४, स० २०१०
९ जैन सत्यप्रकाश वर्ष ११ अक १०-११

(क) आर्द्रकुमार विवाहलउ (१४९३)
(ख) महावीर विवाहलउ (१५ वीं शताब्दी) कीर्तिरत्न सूरि,
(ग) नेमि विवाहलउ (१५०५) जय सागर,
(घ) शांति विवाहलउ (१६ वी शताब्दी),
(ङ) शालिभद्र विवाहलउ (१५६८) लक्ष्मण,
(च) जम्बू अंतरंग रास विवाहलो (१५७२) सहज सुन्दर,
(छ) पार्श्वनाथ विवाह लु (१५८१) से पहले—पेथो,
(ज) शांतिनाथ विवाहलो-धवल प्रबन्ध (१५९१) आणद प्रमोद,
(झ) सुपार्श्वजिन विवाह लो (१६३२) ब्रह्मविनयदेव,

(ई) नीति काव्य

जैन कवियों ने प्राय प्रत्येक कृति मे उपदेश, ज्ञान एव नीति का किसी न किसी रूप मे समावेश किया है। जैन कवियो का मुख्य दृष्टिकोण धार्मिक प्रचार करना रहा है। नीति विषयक जैन रचनाओं की सख्या विस्तृत है। नीति काव्य के अर्न्तगत अनेक सवाद, कक्का, मात्रिका, बावनी, कुलक और हियाली परक रचनाओं का समावेश होता है। सवाद-परक रचनाओं मे दो विरोधी पक्षो के सवाद लिख कर बनाये गये हैं। इनमे जैन कवियो ने अपने पक्ष की अन्त मे विजय बताई है। सवाद-परक रचनाओं के द्वारा जैन कवियों ने अपने सिद्धान्तो को प्रचार की दृष्टि से सरल रूप मे प्रस्तुत किया है। सवाद-सम्बधी कतिपय रचनाए इस प्रकार हैं :—

(क) सहज सुन्दर, आँख-कान सवाद, यौवन-जरा सवाद,
(ख) लावण्यसमय कर-सवाद (१५७५) रावण-मन्दोदरी सवाद, गोरी-सावली गीत।
(ग) हरि कलश जीभ-दान्त-सवाद (१६८३) मोती-कपासिया-सवाद (१६७६)
(घ) शीलपरत्नी पार्श्वनाथ राम
(ङ) नरपति जिह्वा-दांत सवाद, सुमड पचक सवाद (१६वीं शताब्दी)
(च) श्रीधर रावण-मन्दोदरी-सवाद (१५६५)

(उ) कक्का

कक्का उन रचनाओं को कहते हैं जिनमे वर्णमाला के बावन वर्णों मे से प्रत्येक वर्ण से रचना का प्रारम्भ किया जाता है। कक्का सम्बन्धी रचनाओं को बारहखडी भी कहा जाता है। कक्का-बारहखडी परक रचनायें तेरहवीं सदी से उपलब्ध होती हैं।[1]

(ऊ) स्तवन

स्तुति परक काव्यों को स्तवन कहा जाता है। ऐसे काव्यों को स्तुति, स्तोत्र, सज्झाय, वीनती और नमस्कार भी कहते हैं। इनका सम्बन्ध तीर्थंकरों, महापुरुषों तीर्थों, साधुओ और महासतियों आदि से होता है।[2]

(ए) ढाल

अनेक जैन काव्य लौकिक शैलियों मे गेय हैं। इन शैलियो को देशी अथवा ढाल कहा जाता है। रचना के प्रारम्भ मे लौकिक गीत की पक्ति भी कभी २ दी जाती है। इस प्रकार अनेक लोकगीतों की प्राचीनता ज्ञात हुई है। श्री मोहनलाल दलीचन्द देसाई ने ढाई हजार ढालो की सूची भी प्रकाशित की है।[3]



---

१ प्राचीन गुर्जर काव्य-सग्रह।
२ राजस्थानी भाषा और साहित्य,—डॉ० माहेश्वरी, पृ० २८५
३ जैन गुर्जर कविओं, खड ३।

(ऐ) टब्बा और बालावबोध

मूल रचना के स्पष्टीकरण हेतु पत्र के किनारो पर टिप्पणियाँ लिखी जाती है, इन्हे टब्बा कहते है और विस्तृत स्पष्टीकरण को बालावबोध कहा जाता है।

(ओ) ज्योतिष, वास्तु शास्त्र, आयुर्वेदादि शास्त्रीय विषयो पर आधारित काव्य

जैन कवियो ने धार्मिक विषयो के साथ ही ज्योतिष, वास्तुशास्त्र, आयुर्वेद आदि शास्त्रीय विषयों पर भी काव्य की रचना की है। हरीकलशकृत जोइसहीर[1] शकुन सोलही[2] आदि अनेक ग्रंथ शास्त्रीय विषयों पर लिखित उपलब्ध होते हैं।

---

१ भास्कर-किरण, दो भाग ४

२ अभयजैन ग्रंथालय, बीकानेर।

राउलवेल के दो नखशिख और उनकी शब्दावली

डा० हरीश

राजस्थान साहित्य अकादमी, उदयपुर



राउलवेल हिन्दी साहित्य के आदिकाल का प्राचीनतम और श्रेष्ठ काव्य है। राउलवेल के सम्बन्ध मे सबसे बडी भ्रान्ति यह प्रचलित कर दी गई है कि यह काव्य दक्षिण कोसली का है। इस धारणा से हमारा मतभेद है। हमारी मान्यता है कि राउलवेल मालवा का काव्य है, जो उस समय दक्षिणी-पश्चिमी राजस्थान का प्रदेश था। राउल-वेल की इस भाषाजन्य उलझन पर हम 'राउलवेल की भाषा' नामक लेख में विस्तार से प्रकाश डाल रहे हैं ताकि उसके वैज्ञानिक अध्ययन मे भाषाशास्त्र के अध्येताओं की रुचि हो।

प्रस्तुत लेख मे हम राउलवेल के नखशिखों में प्रयुक्त शब्दावली का परिचय प्रस्तुत करेंगे। ताकि विद्वानों को उनकी शब्दावली की सम्यक् जानकारी हो सके। इन शब्दों का उस समय की उपलब्ध राजस्थानी कृतियो के शब्दो से तुलनात्मक अध्ययन भी अपेक्षित है। हमने ऐसा प्रयास किया है। राउलवेल मे वर्णित सातों नखशिखो मे डा० माताप्रसाद गुप्त ने सात विभिन्न भाषाओं के दर्शन किए हैं और हमारा मत यह है कि इस पूरी कृति मे एक ही प्रधान भाषा है, और कुछ शब्दावली इतर प्रान्तों की आ गई है, जिसका आना भाषा वैज्ञानिक नियमों के आधार पर भी सहज सम्भव है।

यहां प्रस्तुत लेख मे हम राउलवेल के आदि अन्त भाग तथा प्रारम्भ के दो नखशिखो की शब्दावली का विश्लेषणात्मक परिचय प्रस्तुत कर रहे हैं, वह इस प्रकार है।—

राउलवेल की भाषा पर एक अन्य लेख मे हमने विभिन्न विद्वानो के मतो के साथ अपनी मान्यता भी प्रस्तुत की है कि यह शिलांकित काव्य दक्षिण-पश्चिमी राजस्थान, गुजरात और मालवा प्रदेशो की भाषा के तत्वो को प्रस्तुत करता है तथा उत्तर अपभ्रंश या पुरानी हिन्दी मे लिखा गया है, जिसमे उक्त प्रदेशों की बोली की अच्छी खासी शब्दा-वली प्रयुक्त हुई है। कवि ने राउलवेल मे इस अलौकिक शब्दावली का प्रयोग रचना को सुघड एव सरस बनाने के लिए ही किया है। रचना प्रधानतया पश्चिमी अपभ्रंश की औक्तिक राजस्थानी मे लिखी गई है। इस विशिष्ट औक्तिक मे मालवी एव प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी का विशिष्ट सम्मिश्रण विद्यमान है।



यहाँ हम रचना के आदि अन्त एव प्रथम दो नखशिखों की शब्दावली को लेते हैं और उनका इस आधार पर परीक्षण करना चाहते हैं कि उसमे राजस्थानी या मालवी औक्तिक भाषा की कितनी शब्दावली है। जिन महत्वपूर्ण शब्दो को हम यहा प्रस्तुत कर रहे हैं, प्रसन्नता की बात है कि उन शब्दो मे से अनेक शब्द राजस्थानी और उसकी विशिष्ट बोली मालवी मे बोलचाल मे आज भी व्यवहृत होते हैं। साथ ही इन शब्दो के लिए हम प्राचीन राजस्थानी की आदि-कालीन काव्यकृतियो के उद्धरण भी प्रस्तुत करेंगे, जिन काव्यो मे राउलवेल मे प्रयुक्त भाषा की शब्दावली के अनेक शब्द यथावत मिल जाते हैं। ये शब्द वहाँ के जनपदीय भाषाकाव्यो मे आदिकाल से लेकर आज तक प्रयुक्त होते रहे हैं। हमारा यह सारा प्रयास वहाँ के प्रदेशो के लोकभाषा-तत्व एव बोल-चाल के शब्दो पर ही आधृत है। हमारा मत है कि हमारा यह प्रयास कदाचित् राउलवेल में प्रयुक्त एक ही औक्तिक भाषा के स्थिरीकरण मे कुछ योग दे सके। कृति के आदि अन्त की शब्दावली प्रस्तुत है—

आदि

"रोडे राउल बेल वखाणी"

(१) राउल शब्द राजस्थानी मे राजपुरुष के लिए प्रयुक्त होता है। राउल शासक को एव राजभवन को राउला या रावला कहते हैं। राउल शब्द का उत्तर अपभ्रंश के प्राचीन राजस्थानी काव्यो मे प्रयोग अनेक बार किया गया है। राउल शब्द के साथ राउत शब्द भी मिल जाता है, जो आजकल "रावत" रूप मे वहाँ की बोलियो मे बोला जाता है। इसका अर्थ भी राजपुरुष ही होता है। यही नही स्त्रीलिंग मे राउल नाम राजस्थान एव गुजरात मे नायिकाओ के लिए प्रयुक्त होता था। राउल राउ, राव एव राउत सभी शब्द पुंलिग मे केवल मात्र राजपुरुष के लिए ही आए हैं, देखिए

आदि अन्त

राउल—(स्त्री०)—१ राउल भणी गई पाधरी,
ऊभी रही विनीत करी—(२०६-१)

राउल—(पु०)—२ राउल भणइ इस्यूं का कीधउ—(२२७-१)
(कान्हड दे प्रबन्ध)[1]

राउत—१ राउत राउत वर रहीय,
मनि मू भइ मतिवत तु (३८) (भरतेश्वर वाहुवलि रास)[2]

२ मयणराय पह राउत राउत
किर अति धीरू—(१६) (जम्बूस्वामी फाग)[3]

---

१ देखिए कान्हड दे प्रबन्ध मे राउल शब्द के लिए-स्थल-खड ४ पद्य २६१, २३२, १४८, १०७, १४४, ३०७ २१३ २२७, २२२, १७८, ३-३७, १-१३०, ४-२६१, २०६, १०६, १४३ आदि।

२ भरतेश्वर वाहुबलि रास, पद्य ३८ शालिभद्र सूरि कृति स० १२४१

३ प्राचीन फागु काव्यसग्रह, पृष्ठ २७, प्राचीन गुर्जरग्रन्थमाला ग्रन्थ ३, बडोदा।

[illegible], [illegible] (प्रद्युम्न चरित)[1] में [illegible] (पंचपाण्डव चरित रासु)[2] तथा बीसलदेव रास में [illegible][3] रूपों में मिलता है।

[illegible] राजस्थान में [illegible] प्रचलित है। बोलचाल [illegible] आधुनिक रूप [illegible] या [illegible] है।

[illegible]—[illegible] बोली में सामान्य [illegible] शब्द हैं। इसी तरह [illegible], [illegible] आदि बोली में प्रयुक्त होते हैं।

[illegible]—[illegible] और [illegible], [illegible] में आते हैं।

इसी तरह [illegible] के आदि [illegible] प्रयुक्त [illegible] (नपुं०) [illegible] (विशे०) राजस्थान और मालवा में प्रयुक्त शब्द हैं।

[illegible] राजस्थानी बोली की [illegible]। तथा जेम्ब तेम्व जूनी गुजराती तथा आधुनिक [illegible]। इसी [illegible] प्रचलित रूपों में प्रयोग किये जाते हैं। रचना के [illegible] प्रयुक्त [illegible] राजस्थानी बोलचाल की शब्दावली है। डॉ० गुप्त ने शिलालेख के [illegible] उचित नहीं है। रचना के आदि अन्त [illegible] राजस्थान, मालवा और गुजरात की [illegible] बोली की शब्दावली है। अतः इसकी भाषा को [illegible]।

[illegible] की शब्दावली को [illegible] -

प्रथम नखशिख

(१) [illegible]—[illegible], [illegible] प्राचीन द० प० राजस्थानी (पुरानी हिन्दी) में [illegible] शब्दों को देखिए—

(२) राउलवेल	प्रचलित रूप (राजस्थानी में)
बेटिया	बेटी
[illegible]	माडन, माडणा
[illegible]	पेरणा
[illegible]	कवी
माठी	मठी
[illegible]	मरणा
[illegible]	मडर
(राउलवेल)	(बोलचाल की आज की राजस्थानी)



---

१ प्रद्युम्नचरित्र पद्य ८२८, ८२९, ६५०, ३३८ अतिशय क्षेत्र कमेटी जयपुर प्रकाशन।

२. नेलक की कृति आदिकाल के अज्ञात रासकाव्य—पंचपाण्डवचरित रासु, पृ० १८५, पद्य ७०५ मंगल प्रकाशन, जयपुर।

३. बीसलदेव रास। पृ०६५, छंद ८३, सम्पादक डा० माताप्रसाद गुप्त एवं अगरचन्द नाहटा।



(३) ग्रोह ग्रौर कोह क्रमश प्राचीन राजस्थानी उत्तर अपभ्रंश के हैं।

(४) काजल-काज, तबोलें-तबोली (राजस्थानी)

मोहि—म्हनै तथा रो, कोऊ, तासु, जसु, जा, जो, (सब०) एव मारग (जूनी एव आधुनिक गुजराती) तथा विशेषणो मे।

आछउ-आछ्यो, गाढउ गाढो, गाढ, रातउ-रातो, चागउ-चगो राजस्थान की बोली के शब्द है।

(५) क्रियाग्रो मे—गावइ—भावे, भावग्र, रचउ—रचे,रचग्र, माडीजइ—माडिजे, गाडिज्य, पावइ सुहावइ, दीजइ—दीजे, रचइ—रचज्ये, तथा अव्ययों मे कोउ, मणु मण, विणु आदि राजस्थानी की बोलियों मे आज भी धडल्ले से प्रयुक्त होते हैं।

डॉ० गुप्त ने प्रथम नखशिख की भाषा पश्चिमी हिन्दी लिखी है, इसमे हमे कोई आपत्ति नही। वस्तुत पश्चिमी हिन्दी की उक्त शब्दावली हमारे मत से प्रादेशिक राजस्थानी की ही शब्दावली है। इस तरह इस नखशिख मे—तरल, तर, मोरथि, एहइ, वाधउ, आनु, तुइउ, तारगि, मोह तूलीम्व, आहरणे—आदि प्रथम नखशिख के कुल ११ शब्द ऐसे है जो बोलचाल की राजस्थानी मे प्राय प्रयुक्त नही होते। पर यह निश्चित है कि ये शब्द उस समय अवश्य ही प्रौचलिक के रहे होंगे। शेष इस नखशिख के अधिकाश शब्द राजस्थान मे बोले जाते हैं।

द्वितीय नखशिख

इसमे राजस्थानी ग्रौर जूनी गुजराती के जनपदीय शब्दो की स्थिति इस प्रकार है—

(१) ग्रोण शब्द वारण के अर्थ मे सौगन्ध (शपथ) लेकर छोड देने या किसी वात के लिए प्रकृति द्वारा रोक दिए जाने के अर्थ मे, ग्रोट-ग्रोट (आढणा) के अर्थ मे, काछडा-काछडो-काछकडो, मेढी-मीढो, काचू-काचो (कच्चा) तथा काचुली (कचुकी पाहगिया-पगहास, काठी-काठ रूप मे बोलचाल मे प्रयुक्त होते हैं।

(२) जोवणु-जोवन, वेसु-वेस, वेस, मेस, मयणु-मदन रूप मे, लाठा-लाठ्यो (तगडा) लट्ठा (कपडा विशेष), आदि, गोह (गोहली गोहरा—जहरीले जन्तु), एव गोयरो, गोयली रूपो में, दीठि-दीठ, दीठा, दीठो (दृष्टि सूचक अर्थ), रेख (यथावत्) तागो-धागो, (तागो डोरे एव सूत्र-टूटने के लिए), गोलें-गोलो (दरोगा अर्थात् दास के अर्थ मे), रीठ-रीठो, भण (यथावत् वाघ वन्धन) वाघ, माघ, लोणचि-लूण (नमक) सलूणो अलूणो, गवारिम्व-गवार गमार-ग्वार-ग्वारचो (एक मेवाडी जाति) रूपो मे, पडिह-पट, पटा, पट्टो, डुपटो (वस्त्र), दढ-(सुगठित) दड दडो, आनि-आण, लान्ह-नान्ह न्यान, नानो (छोटा) तथा गाढी (यथावत्), अइसी (यथावत्) पातली, पातली (पतली-स्त्री) पातलिया (पति), थाढा ठाडो (थूडो ठाडो रूप मे) वोल्लें-वोल, आढी-आडी, माढी-माडी ऊजल-ऊज (ऊज धो) आदि रूपो मे मिलते है।

इस नखशिख मे उक्त शब्दो के जो शब्द राजस्थान की बोलियो मे प्रयुक्त नही होते वे निम्नाकित हैं—

सान्ह, आनिक, आविल, आपुली, आतु, आदि

(३) क्रियाओं में इन नखशिख की लगभग सभी क्रियायें राजस्थानी में बोलचाल की भाषा में प्रयुक्त की जाती है, जैसे—

वाय, नाट, भा तथा विविध कृदन्त-देखत, अछड-उठन्छे, ठ, विद्यमान हैं।

(४) अव्ययों में जो नहीं मिलते हैं वे ये हैं—...यु. ताउ, तउ, निरू [illegible]

उक्त नखशिख की भाषा को डा० गुप्त ने प्राचीन मराठी का कोई रूप कहा है, जिसकी अधिकांश शब्दावली का प्राचीन एवं अर्वाचीन रूप हमने ऊपर स्पष्ट किया है।

मराठी के चा चे ची प्रत्यय के कारण ही सम्भवतः वे इसको मराठी भाषा कह गए हैं, परन्तु मराठी के इन प्रत्ययों का प्रयोग डिंगल की प्रसिद्ध कृति 'क्रिसन रुकमणी री वेल' में मिल जाते हैं।

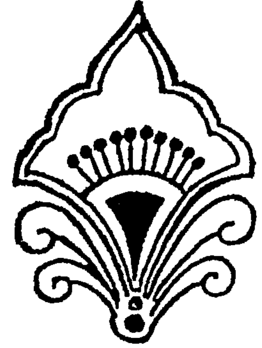
राजस्थानी भाषा के प्रसिद्ध विद्वान आचार्य बदरीप्रसाद साकरिया से भी हमने चा, ची, चे प्रत्ययों का प्राचीन राजस्थानी से सम्बन्ध पूछा। उनका निश्चित मत है कि चा, ची, चे प्रत्यय समग्र रूप से मूलतः प्राचीन राजस्थानी के हैं। ये प्रत्यय मराठी में भी राजस्थानी से ही गए हैं। अतः इनको मूलतः मराठी मान लेना प्राचीन राजस्थानी की शब्दावली को चुनौती देना है।

कृति के आदि अंत तथा दोनों नखशिखों की शब्दावली की हमने ऊपर परीक्षा की है तथा इससे स्पष्ट होता है कि राउलवेल के सात नखशिखों में से दो तो विशुद्ध रूप से प्राचीन राजस्थानी के ही हैं। इनमें दक्षिण कोसल की कहीं छाया नहीं। शेष पांच नखशिखों की शब्दावली की इसी प्रकार परीक्षा हम अन्यत्र प्रस्तुत करेंगे।



कवि जिनहर्षकृत मलयसुन्दरी चरित्र : एक पर्यवेक्षण

श्री ईश्वरानन्द शर्मा एम० ए०,
प्रवक्ता डूगर महाविद्यालय, बीकानेर



भारतीय सस्कृति मे दर्शन और धर्म का घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है । यहा की विचारधाराएँ धर्म-भावना मे सवलित रही हैं। यही कारण है कि यहा का साहित्य भी उनसे प्रभावित दृष्टिगोचर होता है। यहां सर्वथा विचार-स्वातन्त्र्य पनपता रहा, और समन्वय की अजस्रधारा प्रवाहित होती रही। चाहे वह ब्राह्मणसस्कृति हो या श्रमण-सस्कृति, अविछिन्नरूपता समान ही रही है। इन दोनो धाराओ ने जन-जीवन को साधना-पथ की ओर अग्रसर किया है। सरस सहृदयसवेद्य होने से काव्यकला विशेषत परिगृहीत हुई। उसकी अमृतमयी भावधारा से मानवता अभिषिञ्चित होकर अमर बन गई। अन्य कवियो के साथ जैन कवियो ने जो उत्तरदायित्व निभाया है वह स्पृहणीय है। ज्यो-ज्यो जैन कवियो का व्यक्तित्व एव कृतित्व सम्मुख आता जा रहा है त्यो-त्यो मान्य मान्यताओ की परिपुष्टि एव नवीन मान्यताओ की पुन सस्थापनायें सम्भव हो रही है। हमारे चरितनायक जिनहर्ष अद्वितीय विशिष्ट कृतिकार हैं जिनकी वृहत्परिमाण रचनाओ मे से "मलयसुन्दरी चरित्र" का पयवेक्षण प्रस्तुत किया जा रहा है। सर्वप्रथम इसकी परम्परा प्रस्तुत की जा रही है।

मलयासुन्दरी और महाबल की कथा अत्यन्त लोकप्रिय कथा रही है। अनेक कवियो ने इस पावन कथा से अपनी वाणी का शृगार किया है। प्राकृत और सस्कृत कवियो ने भी इसे अपनी पद्धति से अपनाया है। जर्मन भाषा मे इसका अनुवाद भी किया गया है। इस प्रकार इस कथा की एक परम्परा उपलब्ध होती है जो निम्नांकित है—

१ मलयसुन्दरी चरित्र—भाषा प्राकृत (कवि अज्ञात)।
२ महाबलमलयसुन्दरी चरित्र—शान्तिसूरि स० १४५६ के लगभग।
३ महाबलमलयसुन्दरी चरित्र—भाषा सस्कृत (माणिक्यसुन्दर) स० १४८० के लगभग।
४, मलयसुन्दरी रास—उदयधर्म स० १५४३।
५ महाबलमलयसुन्दरी रास—चारुचन्द्र स० १५८० के लगभग।
६ महाबलरास—स० १६४० से पूर्व।
७ मलयसुन्दरी चौपाई—लब्धोदय स० १७४३ [गोघूदा मे रचित]।
८ मलयसुन्दरी महाबलरास—उदयरतन स० १७६६।
९ महाबलमलयसुन्दरी रास—कान्तिविजय स० १७७५।
१० महाबल मलयसुन्दरी रास—विनयचन्द्र स० १८६० के लगभग।
११ मलयसुन्दरी कथा—धर्मचन्द्र [जर्मन भाषा मे अनूदित]।

अठारहवी शताब्दी के महान् कवि जिनहर्ष ने मलयसुन्दरी चरित्र की रचना पाटन मे स० १७५१ मे की थी। इसमे चार प्रस्ताव (खड) हैं। प्रथम मे मलयसुन्दरी का जन्म, द्वितीय मे महाबल के साथ उसका परिणय, तृतीय

में उनका स्वसुरकुलागमन तथा कलंकित होकर वहां से उनका निष्कासन, चतुर्थ में उनके अवदातशील एवं पूर्वभव का वर्णन है। प्रथम प्रस्ताव में १३८० पद्य, द्वितीय में ११६५, तृतीय में ७३७ तथा चतुर्थ में ११८० पद्य हैं। इस प्रकार यह ग्रन्थ ३८७१ पद्यात्मक है। श्री प्रमोदविजय ने इसकी लिपि सं० १८२१ में की थी जो अभय जैन ग्रन्थालय बीकानेर में सुरक्षित है।

इसमें भारत के दक्षिण में स्थित चन्द्रावती नगरी की राजकुमारी मलयासुन्दरी, और पृथ्वीस्थानकपुर के राजकुमार महाबल की कथा गुम्फित है। कनकवती, व्यन्तर, मगधावेश्या, मन्त्रसाधक योगी, लोहखुर चोर आदि की कथाएँ गौण है। कवि ने गुणवर्मा की कथा से इसका आरम्भ किया है, जो प्रस्तावना-कथा प्रतीत होती है। अलौकिक तत्वों से परिपूर्ण प्रस्तावना कथा का घटनाचक्र तथा अवान्तर कथाओं का बाहुल्य पाठक की जिज्ञासावृत्ति को अधिक उभार देता है। मूलकथा तक पहुँचने से पहिले पाठक-श्रोता इन कथाओं के श्रवण से अधिक सहानुभूतिशील तथा एकाग्रचेता हो जाता है। प्रस्तावना कथा के अभाव में भी मूलकथा में कोई न्यूनता नहीं आती।

इसका कथानक अत्यन्त विपुल और व्यापक है। नायक महाबल और नायिका मलया के समस्त जीवनवृत्त के साथ वीरधवल तथा चम्पकमाला के समग्र जीवन की कथा भी आ गई है। महाबल के माता-पिता सूरपाल और पद्मावती की कथा भी इसमें समाहृत है। वर्तमान जीवन के साथ पूर्वभव की कथाओं का भी स्पर्श किया गया है। प्रासंगिक पताका और प्रकरी कथाओं की भरमार है। जीवन के विविध व्यापारों के उद्घाटन से कथा में वैविध्य आ गया है। अलंकृत महाकाव्यों के कथानक का परिपाक इसमें लक्षित नहीं होता है। आधिकारिक कथा का महत्व सुरक्षित रखते हुए अवान्तर कथाओं का संघटन किया गया है। महान कान्तार में देवी चक्रेश्वरी का अवतार कथानक के संघटन में भावसन्धि का निदर्शन है जिसमें अन्तर्द्वन्द्व का उदय हुआ है। कवि अपने कलाकौशल से कथाविराम और औत्सुक्यवृद्धि के लिए उचित अवसर प्राप्त कर अवान्तर कथाओं का बीजारोपण करता चलता है। ये बीज अन्य कथाओं की सगति-विसगति में पल्लवित होकर ज्यों ही फलित होने को होते हैं त्यों ही कवि किसी न किसी अन्य अवान्तर कथा का बीजारोपण कर देता है। इन अवान्तर कथाओं के सगुम्फन में कवि का कौशल परिलक्षित होता है। कथासूत्र में अनुस्यूति बनाये रखने के लिए सयोगतत्व और अवान्तर कथाओं का आश्रय लिया गया है। इनके कारण कथासूत्र विच्छिन्न होने से बच गया है। इस चरित में अनेक वक्ता और श्रोता हैं जिनके आधार पर कथावेलि विकसित हुई है। कथाएं प्राय पात्रों के परित भ्रमणशील दृष्टिगोचर होती हैं। प्रत्येक बिछुड़ा हुआ पात्र अपना अनुभव अवश्य सुनाता है। अधिकांश कथाएँ "आपबीती" के रूप में पात्रों के मुख से कहलवाई गई हैं जो अधिक विश्वसनीय और प्रभावक हैं। कथानक सीधी सपाट सडक पर न होकर जिह्माज पद्धति पर है। अवान्तर कथाओं के तन्तुजाल में मुख्य कथासूत्र की बार-बार सही दिशा में ले संभालने के लिए श्रोता-पाठक को सजग रहना पड़ता है।

इसका कथानक कथानक-रूढ़ियों और अलौकिक तत्वों का आगार है। छोटी से छोटी और मोटी से मोटी घटना में किसी न किसी अलौकिक तत्व का प्रत्यक्ष या प्रच्छन्न हाथ रहता है। कथानक का वातावरण अतिमानवी क्रियाकलापों से अभिभूत है। अतिप्राकृत शक्तियां मानवी शक्ति पर हावी हैं। उनके वरदान में कल्याण तथा अभिशाप में अवश्यंभावी अनिष्ट निश्चित है। चमत्कारी वस्तु धरोहर के रूप में प्राप्त कर उसे पुन न लौटाना और शापित होना, "तस्मत-नारी को ढूंढते ढूंढते गुणवर्मा की उजाड़ नगर में प्राप्ति, वहाँ एक सुन्दर युवक का नगर द्वार पर मिलना, विजया का वर्णिनी के रूप में उजाड़ नगर में पहुंचना, वहां उसका निवास, राक्षस का आधिपत्य राक्षस का वशीकारक पुरुष द्वारा उसके तलवे से तैलमर्दन से रहना, काष्ठफलक का तैर के आना, सहसा चम्पकमाला का मिलना, कदलीवन में किसी स्त्री के रुदन स्वर को लक्ष्य कर तदभिमुख निशीथ में चल पड़ना और मार्ग में एक तपस्वी योगी से मिलना, स्वर्ण पुरुष की साधना, योगी का उबलतेतैल कड़ाह में गिरना, मणिरत्न सर्प के पीछे चलकर गुफाद्वार ढूंढना, शिरशूल उन्मूलन के लिए उत्तम पुरुष की भस्म प्राप्त करने का छल, पित्त शान्ति के लिए छिन्नटक पर्वत में आग लगाना, आदि कथानक रूढियो





का प्रयोग खुलकर किया गया है। जादू की डोरी, लिंगपरिवर्तन, रूप परिवर्तन भी अनेक बार प्रयुक्त हुए हैं। कथा का अधिकांश भाग अलौकिक शक्तियों का चमत्कार प्रतीत होता है। गुणवर्मा की कथा मे सिद्धरस के तूम्बे का वर्णन आया है जिसके स्पर्शमात्र से लोहा सोना बन जाता है। विजयचन्द्र अतिसारी तपस्वी की सेवाकर स्तम्भनकारी, वशीकरण विद्याएँ प्राप्त करता है। गुटिका को मुँह मे रखकर महाबल का चम्पकमाला बन जाना, आकाशगामी हस्त के रूप मे व्यन्तरी का महाबल का वस्त्र चुराना, महाबल का उस हाथ को पकडकर झूम जाना और लटकते हुए सैकडों मीलों की आकाश यात्रा विस्मयोत्पादक है। सिद्ध गुटिका को आम्ररस मे घिस कर लगाने से स्त्री का पुरुष बन जाना, वटवृक्ष पर व्यन्तरो का परस्पर वार्तालाप, महाबल के द्वारा उसको सुनना और समझना, वटवृक्ष का आकाश मे उड जाना और गन्तव्य स्थान पर जम जाना, 'हुँ' की आवाज के साथ ही उसी वृक्षवट का पूर्व नियत स्थान पर उडकर जम जाना, भीमकाय कृष्ण सर्प का लक्ष्मीपुंज हार उगलना, मलया का दिव्य परीक्षण मे पवित्र एव निरपराध सिद्ध होना, मृतक का उठना, उठ-उठ कर गिरना, उतना रोमाचक भी है और विस्मयकारी भी। ये घटनाएँ अलौकिक तत्व से प्रसूत हैं। इनसे पाठक एक काल्पनिक दुनिया मे पहुँच जाता है। जिससे उसकी जिज्ञासावृत्ति सन्तुष्ट होती रहती है और अधिकाधिक सदीप्त भी। यहा पर कवि उन अलौकिक लोकविश्वासो मे अधिक प्रभावित जान पडता है जो मानवसभ्यता के आरम्भ से लेकर अब तक किसी न किसी रूप मे कम या अधिक मात्रा मे समाज मे परिगृहीत होते रहे हैं।

इसमे मलयसुन्दरी और महाबल के उत्कृष्ट चरित्र को अकित किया गया है। काव्य होते हुए भी कथा, आख्यायिका, धर्मकथा के तत्वो से भी प्रभावित है। चरितकाव्यो मे साहसिक कार्यों का निदर्शन कराया जाता है। महाबल और मलया विकट से विकट परिस्थितियो से जूझते है। मरणान्तिक यातना प्राप्त करते हैं। जीवन मे जितनी कष्ट परम्परा हो सकती है इन दोनो ने सही है। इनका साहस और शील सदा उन्नत रहा है। चरितकाव्यो की शैली जीवन चरित की शैली होती है जिसमे माता-पिता एव वश का वर्णन रहता है। भवान्तर का वर्णन भी किया जाता है। इसमे कवि का ध्यान नायक-नायिका के अलौकिक अद्भुत व्यक्तित्व को प्रभावक रूप मे प्रस्तुत करने की ओर विशेष रहता है और वस्तुवर्णन एव ऋतुवर्णन की दिशा मे कम। यहाँ प्रेम, वीरता, वैराग्य भावना का समन्वय हुआ है। यह कथा सात्विक प्रेम की उत्कृष्ट व्यजना है। आदि से अन्त तक यह प्रेमधारा अविच्छिन्न रूप से प्रवाहित हुई है। बीच बीच मे प्रसगवश वीरभावना को अभिव्यक्त होने का अवसर प्राप्त हो गया है। अवसान शान्त रस मे होता है। महाराज वीरधवल, चम्पक माला, महाबल, मलया आदि सभी वैराग्य धारण कर लेते हैं। इसमे कर्म-फल की प्रधानता दिखाई गई है। जीवन का शाश्वत सत्य यही है। कथानक ख्यातवृत्त और अनुत्पाद्य है। वह विस्तृत और पद्यबद्ध भी है प्रत्येक सर्ग का नाम घटना के आधार पर है। इसके सर्गों म विपुल और व्यापक कथानक समाहृत हुआ है। प्रासगिक कथाओ का प्रवाह मूल कथा की ओर है, जिनसे उसे सम्पुष्टि प्राप्त होती है।

महाकाव्य का दूसरा प्रधानतत्व नायक होता है। वह सद्वशोत्पन्न, सयमी, क्षमावान्, गम्भीर, दृढनिश्चयी, विनयी और धीरोदात्त है। वह धार्मिक मनोवृत्ति का सत्यप्रिय प्रतापी राजकुमार है। सयम, सदाचार, एकपत्नीव्रत, पितृभक्ति का वह साकार स्वरूप है। उसका शौर्य अप्रतिहतगति है। भय, कायरता निष्क्रियता उसके जीवन मे नही है। बडे से बडे सकट को झेलने के लिए गहनतम विकट परिस्थिति की दुर्दान्तदरी मे साहस साथ वह प्रवेशोद्यत रहता है। वह अपराजेय योद्धा है। वह स्वकीया मे अनुरक्त अनुपम पति है। अलौकिक शक्तियो का शाप-वरदान उसे उपलब्ध है। वह कर्मक्षेत्र के सदाबहार कर्मठव्यक्तित्व के रूप से अवतरित हुआ है। उसका महान् व्यक्तित्व जनजीवन की भावनाओ का आश्रयस्थल है। वह देश और सस्कृति का स्वरूप ग्रहण कर लेता है। उसका सबल स्वरूप समाज के लिए शिक्षाकर है। उसका उत्तरावस्था का जीवन महान् त्यागी, तपस्वी का जीवन है। जो अपने उदीप्त वर्चस्व से गुणगरिमामडित बन गया है।

मलयासुन्दरी इस रास की नायिका है जो पतिप्राणा, संयमी और पतिव्रता है। अपना सर्वस्व गँवा कर भी वह अपने शील की रक्षा करती है। उस जैसा कष्टसतप्त जीवन अन्यत्र दुर्लभ है। ज्यो-ज्यों वह अग्निपरीक्षा मे तपाई

गई, उसका चरित्र स्वर्ण के समान अधिकाधिक दिव्य बनता गया। विवाह से पूर्व उसे अपने पिता का कोप भाजन बनना पड़ा। भाग्य की विडम्बना से विवाह हुआ श्वसुर गृह में उसे कलंकिनी समझा गया। दोहदावस्था में गृहनिष्कासन हुआ। वन में उसके शील के अनेक शत्रु आ गये। शील आर्य उसे अपनी एकलौती सन्तान से भी विमुक्त होना पड़ा, शरीर से रक्तनिष्कासन स्वीकार करना पड़ा, मार्मिक वेदनाएं सहनी पड़ी। कन्दर्प राजा के अत्याचार से बचने के लिए वह कूप-झंपा भी कर लेती है। मलया में भारतीय सती की सहज मुखरित है। मन, वचन, कर्म से भवभवान्तरों में उसे अपने एक ही पति का ध्यान इष्ट है। परिस्थितियों की द्वन्द्वात्मकता ने उसके चरित को महत्तमपद पर प्रतिष्ठित कर दिया है। उसका महत्तर साध्वी का चारित्र्य तो और भी निर्मल है। वह गंगा से भी पवित्र और परोपकारिणी है। उसका चरित शीलमहत्त्व का प्रेरक है —"सविपण शीलतरा फल जाय"।

वीरधवल प्रजापालक महान् राजा है। उसकी चम्पकमाला अनिन्द्यसुन्दरी गुणवतीपटरानी है। कनकवती का चरित्र कलुष मनोवृत्ति का प्रतीक है। मलया को कष्ट पहुचाने का उसका संकल्प था कि मणिमाला के सूत्र के समान प्रच्छन्न और अनिव्यक्त है। वह महाकाव्य का स्थिर पात्र है जो मिट सकता है पर स्वभाव को नहीं छोड़ सकता। 'स्वभावो दुरतिक्रम'। सूरपाल महाबल का पिता वीर राजा है। उसकी स्त्री पद्मावती महाबल की माता है। लक्ष्मीपुंज-हार के गुम हो जाने पर वह शोकसन्तप्त होती है और हार न मिलने पर ५वें दिन मरण-प्रण कर लेती है। उसके इस कठिन प्रण ने महाबल को तो संकट में डाल ही दिया पर कथानक को गतिसंकट से बचा लिया। लोहखुर भयंकर साहसिक चोर, कन्दर्प रूपपिपासु, सार्थवाह बलसार सन्तानेच्छुक पर साथ ही परदारानिलाषी है। ये सभी जीवन के विभिन्न पात्रों का प्रतिनिधित्व करने वाले हैं। अलौकिक पात्रों में उपकारिणी चक्रेश्वरी, अपकारिणी व्यन्तरी, और सशक्तिता पर सहृदया विद्याधरी देवी है। चन्द्रयश केवली परमवीतराग भव-भवान्तरों के ज्ञाता, परमज्ञानी के रूप में चित्रित हुए हैं।

रस की दृष्टि से यह रास अत्यन्त समृद्ध है। भावों की सरलता से परिणति हृद्य और सहृदयसंवेद्य बन पड़ी है। इसका प्रधानरस शृंगार और गौणरसों में हास्य, अद्भुत, वीर, भयानक, बीभत्स, रौद्र, करुण तथा वत्सल का उल्लेख किया जा सकता है। यह शान्त रसपर्यवसायी महाकाव्य है। कथानक की विविधता और व्यापकता के कारण प्रायः सम्पूर्ण स्थायी भाव रसदशा तक पहुंच गये हैं। शृंगार रस की व्यापकता महत्त्वपूर्ण है। शृंगार के दोनों पक्षों संयोग तथा विप्रलम्भ के साथ-साथ देवगुरु विषयक रति-भाव का वर्णनप्रसंग भी आया है। कार्यकारणवश शृंगाररसाभास का प्रकरण भी प्रस्तुत हो गया है। यहां संयोगशृंगार की अपेक्षा विप्रलम्भशृंगार को अधिक अवकाश प्राप्त हुआ है। उसके मार्मिक स्थलों को जिस कौशल से अनुभूतिगम्य बनाया गया है वह प्रशंसनीय है। मलया के हृदय में महाबल के लिए अंकुरित प्रथम प्रेम का प्रसंग बड़ा ही सुन्दर बन पड़ा है।

"व्यामोहित कुमरी थई देखी रूप अनंग।
पचबाण बाणें करी वींधाणो सर्वंग॥

राजकुमारी का मुग्ध मन सन्देह-आन्दोलन पर पैंग मारने लगता है। वहां सन्देहालकार इस प्रकार अभिव्यक्त हुआ है —

"कुमरी मनमां चिन्तवे ए कुण देवकुमार।
के विद्याधर राजवी के रतिपति अवतार॥

कुमारी का लुब्ध मन महाबल के अनुपम सौन्दर्य का अगाध साक्षात्कार करता है। अरुण अशोकपत्र के समान रक्ताभ चरण, दर्पणोज्ज्वल नख, कुंजरकर-जंघायुगल, मुष्टिग्राह्य कटिप्रदेश, गम्भीर नाभि, सुन्दर त्रिवली, सुदृढ विशाल वक्षस्थल, दीर्घ रसाल भुजदण्ड को आंखों से पान करती हुई स्त्री स्वभावोचित आकांक्षोद्गार प्रकट करती है —

"धन्य जे स्त्री आलिंग मे, वक्षस्थल सुविशाल रे॥
केहने कण्ठे लागसे, भुजदण्ड दीर्घ रसाल रे॥





मलया का अनुरक्त मन महाबल के रूप-रत्नाकर मे गहरा पैठ जाता है। वह प्रेम की शृखला मे आबद्ध है —'निरपटे जोई रही गजडि प्रेम-जजीर रे।'

कुमार महाबल भी वातायनस्था कुमारी को देखता है। लावण्य की अनुपम राशि कुमारी उस रूपावास स्वर्ग-अप्सरा सी प्रतीत होती है। वह सर्वप्रथम यही सोचता है कि यह राजपुत्री अविवाहित है अथवा नही ? राजकुमारी भी उसी क्षण यही सोचती है कि यह गुणनिधान कुमार किसका पुत्र है ? दोनो के विचार तत्कालीन सामाजिक प्रथा से प्रभावित हैं। राजकुमार को विवाहित राजकुमारी अभीप्ट नही थी जबकि मलया को विवाहित राजकुमार स्वीकृत था। स्नेहसिक्त नयनो से निरन्तर निरखकर कुमारी मलया ने महाबल का चित्त चुरा ही लिया। कुमार उससे मिलने के लिए व्यग्र हो उठता है। समागम से पूर्व प्रत्यक्षदर्शन से हृदय मे उत्पन्न यह मनोविकार पूर्वानुराग की कोटि मे आता है। विश्वनाथ के मतानुसार इसका मजिष्ठाराग है यह शोभित भी है और स्थायी भी। मलया महाबल से प्रथम ही प्रेमपाश मे बद्ध हो चुकी थी। इसलिये कवि ने उसे प्रेमातुर बताकर उसकी प्रियमिलन-आतुरता को इस प्रकार अभिव्यजित किया है—

"चतुरगी चन्द्रानना प्रेमातुर सुकमाल रे ॥

लुब्धमुग्धा मलया भोजपत्र पर दो पद्य लिखकर वह भोजपत्र तथा स्वकीय प्रेमप्रवण मन दोनों एक साथ ही महाबल को समर्पित कर देती है। प्रेमपाती पाते ही महाबल के सात्विक अनुभाव अत्यन्त रजक बन पडे हैं। पत्र पाकर वह रोमाचित हो उठता है, हर्ष की सीमा नही रहती। राजकुमारी ऊपर वातायन मे और राजकुमार ठीक उसके नीचे। प्रेम पत्र पढते ही राजकुमार ने रसपूरित, प्रेमविह्वल आकुल नेत्र ऊपर उठाये राजकुमारी के पिपासु नेत्र पहले से ही तडप रहे थे। परस्पर नेत्र सयोग मे आनन्द लहरा उठा। एकरस युगनद नेत्र अब अलग हो ही नही रहे थे। इस प्रसग मे कविने अप्रस्तुत वर्णन के व्याज से जो कौशल उपस्थापित किया है वह अत्यन्त मनोहारी है —

"मलयसुन्दरी गुणवरी, जोवे कुंवर नरेन्द्र।
कुमरी पण जोई रही जिम ध्यानमग्न योगीन्द्र।
विहुना नयण मिली गया '' पहली नयण करन्त ॥

अपरिचितो को परस्पर प्रेम मे मिला देने वाले जहाँ सन्धि भी नही दीखती, नेत्रो को दुर्लभ सयोजक कहना अधिक उपयुक्त होगा। उसी समय राजकुमार को बुलाने के लिए दूत आता है। उसके साथ जाता हुआ महाबल वातायनस्था सुग्रीवा मलया को पुन पुन देखता है। उसका मन मलया के पास ही रह जाता है। पूर्वराग विप्रलम्भ का यह आह्लादक प्रसग देखते ही बनता है। प्रस्तुत प्रसग मे शृगार का स्थायिभाव, विभाव, अनुभाव, सचारिभाव के सयोग से सचेतसो के लिए शृगार रस रूप मे निष्पन्न हो गया है। यहाँ नायक-नायिका दोनो के परस्पर आश्रय और उद्दीपन होने से प्रेम की एकागिता समाप्त हो गई है और उभयत प्रेमात्सुक्य के कारण पाठक का रसिक हृदय आनन्दाम्बुध मे अवगाहन करने लगता है। यहाँ महाबल के प्रति मलया का आकर्षण मोहान्दान्धभाव नही अपितु 'गुणा पूजास्थानम्' की चरितार्थता है। कवि ने परम्परित नायिका का नखशिख वर्णन भी प्रस्तुत किया है। महाबल महाटवी मे भयकर अजगर के मुख से मलया की रक्षा करता है। उस समय सोनादासी के माध्यम से कवि ने इस प्रकार का वर्णन प्रस्तुत किया है—

"चन्द्रमुखी मृगलोयणी पिकवयणी रतिरूप।
हसगमणि कृश हरिकटी लावण्य सुगुण अनूप ॥

गागर मे सागर भरने वाला अतिसक्षिप्त नायिकारूप वर्णन परम्परित नायिकानखशिख वर्णन का सफल निदर्शन है।

कवि ने वियोगावसानिक सयोग शृगार के मर्म को भी पहिचाना है। यह मन की वह स्थितिविशेष होती है जिसमे वियोग की दारुण ज्वाला की ऊष्मा सर्वथा शान्त नही हो जाती और प्रियमिलन का अपार औत्सुक्य भी बिना

नाचे नहीं मानता। विषाद के अस्तगामी सूर्यबिम्ब को उगनेवाले की प्रथम किरणों के हास का आभास देने का सा भाव इस सन्दर्भ में होता है। फलस्वरूप प्रिय को देखते ही आँसू की झड़ी लग जाती है। गला रुँध जाता है। वाणी स्खलित होने लगती है। भावों का ज्वार उमड़ने लगता है और पात्र की मौन अनुभूति सशक्त मुखर अभिव्यक्तियों से बाजी मार लेती है। प्रस्तुत रास में ऐसे अनेक स्थल हैं जहाँ वियोगावस्थाजनित सयोग का वर्णन मिलता है।

सयोग शृंगार की अपेक्षा विप्रलम्भ में प्रभावोत्पादकता अधिक रहती है। हृदय की अनेकानेक दशाओं का उद्घाटन इसी में सम्भव होता है। अधिक से अधिक सचारी भावों का स्फुरणस्थल भी यही है। यहाँ विप्रलम्भ का सांगोपांग परिपाक दृष्टव्य होता है। विप्रलम्भ के चार भेदों में से पूर्वानुराग प्रवास, और करुण विप्रलम्भ आलोच्य ग्रन्थ में मिलते हैं। केवल मानविप्रलम्भ का अभाव है। सयोग का वर्णन भी सफल बन पड़ा है।

महाबल मलया के महल से सप्रयास पहुँचता है। प्रेयसी से मिलकर वह गमनोद्यत होता है। मलया के आँसू उसे रोक देते हैं। प्रियतम के बिना उसके प्राण नहीं रह सकते। यदि वह जाना ही चाहता है तो मलया को जलाञ्जलि देकर जा सकता है। मलया नितान्त विकल तथा निराधार है। वह जल के बिना मछली-सी हो जावेगी। कहते हैं आर्त को चैन नहीं रहता। मलया भी पुन पुन प्रियतम को गमन से रोकती है। प्रेम विह्वल मलयाहार के व्याज से कुमार के गले में जयमाल डाल देती है। इस प्रकार उससे अपना चिर सम्बन्ध स्थापित कर लेती है। वह अपनी दाम्पत्यप्रीति बनाकर चिरसहचरी का पद पाने की अभिलाषिणी है। वह सब कुछ सह सकती है, केवल प्रियविरह नहीं सह सकती।

कुमार के चले जाने पर वह उसे भूल नहीं पाती है। क्या कभी योगी मन को विस्मृत कर सकता है। ? इस प्रसंग में सयोग शृंगार का सरस वर्णन उपलब्ध होता है। इसकी दृष्टि से यह रास एक सफल रचना है। इस सम्बन्ध में यहाँ दिङ्मात्र प्रदर्शित किया गया है। ऐसे अन्य स्थलों पर इसमें पूर्ण परिपाक हुआ है।

प्रस्तुत रास में करुणरस का पूर्ण परिपाक हुआ है। इस रास में शोक स्थायी भाव इष्टनाश से उद्बुद्ध होता है, अनिष्ट प्राप्ति से नहीं। वीरधवलचम्पकमाला प्रसंग और मलयावधादेशप्रसंग ही प्रमुख स्थल हैं, जहाँ शोक-भाव अत्यन्त परिपुष्टता को प्राप्त हुआ है। ऐसे सन्दर्भ में सहृदय सामाजिकों की आँखों से अश्रु स्वत छलछला उठते हैं। चम्पकमाला की मृत्यु का सन्देश लेकर आने वाली दासी के अनुभावों की सरलता और स्वर दर्शनीय है—

कर सूँ सिर ताडन्ती चेटी, वेगवती आवी नृपनेटी।
आंसू धारई मुख धोती नृपने वयण कहे इम रोती ॥

दासी के मुख से प्राणप्रिया चम्पकमाला की मृत्यु का दुखद समाचार सुनकर राजा वीरधवल का शोक इस प्रकार फूट पड़ता है—

'हा हा प्राणपियारी नारी कहिउ कने किण पापी मारी।"
तुझ पाखे किण साहरें सरसे, तुझ विण कुण मुझ सू हित धरसे ॥

यहाँ दैन्य, स्मरण, आवेग, शंकचिन्ता आदि सचारी भावों की अहमहमिका, रुदन अश्रुपात आदि अनुभावों की सतत उपस्थिति अत्यन्त मार्मिक बन पड़ी है।

शोकाहत राजा वीरधवल मूर्च्छित हो गिर पड़ता है। कवि ने इसका वर्णन इस प्रकार किया है—

"मूर्च्छागत राजा मणी सांभलि दासी वात
वृक्ष जेम छेद्यो पडे तिमि भूपति भुइ पात।"

राजा का शोक और भी घनीभूत हो जाता है। रोता है, बिलखता है, उसकी आंखें प्रिया को ढूंढती हैं। उसके न मिलने पर रोती हैं। वह कभी मस्तक पीटता है तो कभी छाती कूटता है। उसके दीर्घ निश्वास हृदय से दुख



न समाने का सकेत करते है। पृथ्वी पर लोट रहा है। बिखरे बाल उड रहे हैं। नाक आँखों का पानी मुँह के ऊपर से बह रहा है। वह कभी भाग्य को दोष देता है तो कभी निर्मोही पत्नी पर दोषारोपण करता है—

"नयणो वरसे नीर, मस्तक कूटे, फीटे हियडू रे हाथि विलूरे शरीर'

वह अनेक बार मुच्छित होता है, प्रकृतिस्थ होता है, विलाप की झडी लगा देता है। अलकृत महाकाव्य मे इतना विस्तृत करुणरुदन किसी नायक का नही मिलता है।

करुण का दूसरा प्रसग मलया के वधादेश से सम्बद्ध है। निर्दोष मलया स्वय भी रोती है। उसमे मर्मान्तक-वेदना है। माता चम्पकमाला का शोक भी कम प्रभावक नही है। इस निर्दोष वधादेश ने प्रजा के नेत्र सजल कर दिए। हिन्दी साहित्य मे इस प्रकार का करुण रस कदाचित् प्रथम प्रसग ही है। वध्यस्थान की ओर ले जाती हुई का विलाप हृदयद्रावक है।

"राजनरी बेटी थकी रे, चालन्ती पद चारि।
पडती पडती उठती रे खलती राजकुमारि।

माता चम्पकमाला का विलाप चरमसीमा को पहुँचा हुआ है। वह एक बार पुत्री को हृदय से लगाना चाहती है। मातृस्नेह स्वकरपालित पुत्री को कैसे विस्मृत कर सकता है। माता का विह्वल हृदय शोकसागर-तट को अभिभूत कर देता है। माता का अनुभाव छाती कूटना-गिरना-विलखना, स्पष्ट परिलक्षित होता है। इसमे कही ऊहापोह का चक्कर नही है। जो कुछ है वह हार्दिक कथा है। भावो का उतार-चढाव, अनुभावो के वैविध्य और सचारियों के अत्यन्त सक्रिय होने के कारण इस प्रकार का करुणरस हिन्दी साहित्य मे अद्यावधि उपलब्ध नही है। अलकारो की लडी की लडी स्वत प्रतिष्ठित हो गई है।

भयानक रस का परिपाक दो प्रसगो मे सम्पन्न हुआ है। प्रथम प्रसग कुशवर्धनपुर पर राक्षस के आक्रमण से सम्बद्ध है। यहाँ भय नामक स्थायी भाव का आश्रय प्रजावर्ग है, राक्षस आलम्बन, उसकी विकट चेष्टाए उद्दीपन हैं। त्रास, शका, ग्लानि, मोह सचारी भाव हैं। अनुभावो की छटा भी द्रष्टव्य है—

जीव लेइ आप आपणा मारण भय सहु ना ठारे।
ऋद्धि सिद्धि सहू मूकि गया हरि हिरणा जिनि माठा रे।

यहाँ अलकार का भी छटातिशय है। शून्याटवी मे सप्राप्त रानी चम्पकमाला की आपबीती कहानी कितनी मार्मिक है। भयावह वातावरण की सर्जना अनूठी है। डरना, कापना, इधर-उधर बचाव के लिये देखना अनुभावो के साथ त्रास मोह आदि सचारियो का स्फुरण भी आकर्षक है।

सूनी अटवी माँहि डरूहूँ एकली।
जूथ भ्रष्ट चलचित् हुवे जिम हिरणली॥

यूथभ्रष्ट हरिणी मे रानी का मृगाक्षी होना व्यग है। हिरणली से अवस्यासीकुमार्य। पात्र की कोमलता ने कोमलकान्त पदावली को भयानकरस-प्रसग मे दोष होने से बचा लिया है।

इसमे अलौकिक तत्वो की भरमार होने से अद्भुत रस का परिवेश प्राप्त हो गया है। कही हाथ उडते हैं, शव उठते है, व्यन्तर बोलता है, वृक्ष के वृक्ष हवाई यात्रा करते है, दिव्यपरीक्षण, सर्प के द्वारा हार उगलना, भारड पक्षी के द्वारा मलया को उठाकर आकाश मे उडा ले जाना, मकरपृष्ठ पर बैठकर समुद्रसतरण अद्भुत रस से सम्बद्ध है। वीरधवल और चम्पा के प्रसग मे एक उदाहरण द्रष्टव्य है—

दांत सूँ दात घणी पीसन्ती दीठो सवमन खम्योरे
इक कहते "उम्यो आकाशे दूउ लोक तमासो रे

मलया के स्वयम्वर प्रसंग में, महाबल, वीरधवल, सूरपाल के युद्धावसर पर, वीर रस का परिपाक प्राप्त होता है। वीरों का उत्साह दर्शनीय है। तलवार, कमानादि भिडन्त, हाथी, घोडों पदातियों की टक्कर, धूलि से सूर्य का आवृत हो जाना दर्शनीय है।

रोषपूर्ण वचनोच्चारण इत्यादि से रौद्र रस का दर्शन होता है। विषयानुकूल भाषा ने अपना परिधान स्वत ले लिया है।

वीर रस के साथ ही साथ रौद्र रस की छटा अपूर्व है—

मड मडु मडमड उठिया कटकड मारिवा हाथ हथियार भाले,
एहना आमरो किसो नय मत करो, एहने वींधाम्या एक भाले।

आदि प्रसंग दर्शनीय हैं।

वीभत्स का अवसर यथास्थान प्राप्त हुआ है। रक्त की नदी का बहना, योगिनियों का खप्पर भर-भर कर रक्तपान, आन्तडियों का विदारण, इत्यादि प्रसंगों में वीभत्स का परिपाक निष्पन्न हुआ है—

"सीस गोला पड़े चक्कडिसि धडहड वहे रगत परनाल वरसालू।
जिसा घणा नदिया तणा पूर चाला

कवि ने मलया के शैशव का चित्रण करने में वत्सल रस को पुरस्कृत किया है। आश्रय वीरधवल और चम्पकमाला हैं। आलम्बन मलया, उद्दीपन उसकी बालसुलभ चेष्टाएँ हैं। हर्ष सचारी भाव से वातावरण मधुरतम बन पड़ा है।

पगरे चाले धूजतारे, रतियाता वे बाल।
मिम मिम हरसे तेहना रे, माता पिता मन माहि,
रमक झमक पाय सोवनी रे, घुघरिया घमकाय।
बालासरा विराजिया रे जसे देवकुमार।

मलयास्वयम्वरप्रसंग में एक स्थल पर हास्य की उपस्थिति भी प्राप्त होती है। गौडराय वज्रसार धनुष को उठाने का असफल प्रयास करता है। वह उसके साथ ही जमीन पर गिर पड़ता है। दर्शकों के हास से वातावरण गुंजित हो जाता है। यह काव्य शान्तरसपर्यवसायी है। धर्मगुरुओं की देशना में शान्त रस का प्रसंग आया है। जहाँ जहाँ देववन्दना की गई है उसे भक्तिरस का स्थल कहा जा सकता है। रस राग इसकी दृष्टि से पूर्ण समृद्ध है।

महाकाव्य में कवि वर्णनात्मकता को महत्त्व देता है। कवि कल्पना तथा विचारों को विकासावसर वर्णनात्मकता में ही प्राप्त होता है। वर्णन जितना ही रगत और मनोहर होगा काव्य उतना ही सुन्दर और रोचक होगा। वर्णन की सीमा अत्यन्त व्यापक होती है। मानव और मानवेतर समस्त क्रिया—व्यापार इसका क्षेत्र होता है। आचार्यों ने नगरयात्रा, युद्ध, आखेट, वन, पवन, ऋतु, सन्ध्या, सूर्यचन्द्रमा आदि के वर्णन को महाकाव्य का अंग माना है। महाकवि जिनहर्ष वर्णनपटु हैं। पात्रों की प्राणप्रतिष्ठा और व्यक्तित्व अकन में उनका वर्णन-वैभव अत्यन्त सूक्ष्म है। नारी सम्बन्धता का वर्णन उनके प्रति प्रेम, स्थैर्य, सौन्दर्य, शील, उदात्तभाव को उन्मिषित करता है।

चम्पकमाला राणी रे, अभिनव चम्पकमाल।
मीठीवाणी कोकिलोरे, चन्द्रवदन सुकमाल॥

कनकवती के लिए इस प्रकार वर्णन आया है—

वलि बीजी नृपरामनी रे, कनकवती अभिधान।
रभा से य हारवी रे, सोहे सोवनवान—





दोना ही रानियो के आद्यन्त स्वरूप को कवि ने इस प्रसग मे स्पष्ट कर दिया है। रास की नायिका मलया-सुन्दरी के यौवन का वर्णन अत्यन्त मनोहारी है। परम्परित उपमान धाराप्रवाह से आते हैं। भावो के उल्लास मे भाषा का लास्य थिरकने लगता है। शब्दो की ध्वनि नायिका के हाव, हेला को व्यजित करती जाती है। नये उपमानो का सयोजन भी कलापूर्ण है। वर्णन मे स्वयमागत अलकार चार चाद लगा देते हैं।

हिवे ऊभरी यौवन वधी, उलस्यो अग अनग।
स्निग्ध चपल हरिणी हशी मुखराका पतिसग ॥
जेहनेए धरती हुस्ये लोक कहे ते धन्य।

शृगार का प्रसग हो या शृगारेतर, कवि का वर्णन सर्वत्र प्रभावक और आह्लादक है। उसमे बिम्ब उपस्थित करने की अद्भुत शक्ति है। दिव्य परीक्षण के लिए मगाये गये सर्प का वर्णन इस प्रकार किया गया है—

"मोरी काया विषभर्यो जी कज्जल आभा जास।
फू फूकार करे घणा जी धमणी परे ले सांस ॥

इसी प्रसग मे रूपपरिवर्तन का वर्णन भी द्रष्टव्य है—

इसी प्रकार राजा की निरकुशता, निर्दोष कन्या पर अत्याचारजनित शोक, युद्धवर्णन, नगर, पुत्रमहत्व, शील उपकार, उपवन, कान्तार, नदी, वर्षा ऋतुवर्णन भी समृद्ध बन पडा है। कवि के व्यापारवर्णन में जडजगत् की स्वाभाविकता और चेतनजगत् की मनोवैज्ञानिकता कही भी विस्मृत नही हुई है।

भारतीय समाजव्यवस्था मे नीति और धर्म का अक्षुण्ण महत्व है। इसका उत्स वैदिक वाड्मय है। अनेकानेक धाराएँ वही से विविध रूपो मे अद्यावधि प्रवहमान दृष्टिगोचर हो रही हैं। विधि और निषेध से शून्य जीवन की कल्पना जैसे भारतीय प्रज्ञा मे है ही नही। वहाँ करणीय का ग्रहण और अकरणीय का त्याग प्रतिपादित किया गया है। विचारात्मक साहित्य के समान भावात्मक साहित्य भी विधेयोन्मुख ही रहा है। जिनहर्ष मरलोचित साधु थे। उनकी सरस्वती समाज की मगलाशा मे निरत थी। उन्होने समष्टि को स्वस्थ एव सतुलित पथ पर अग्रसर करने तथा व्यष्टि को धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष की उचित रीति से प्राप्ति करने के लिए सामाजिक, व्यावहारिक, आचारिक, धार्मिक, राजनीतिक विधिनिषेध का विधान किया। कवि का काव्य इतना व्यापक और विविध है कि उसमे धर्म, आचार, ईश्वर, दया, परोपकार, अहिंसा, व्यवहार, कुल, प्रतिवेशी, मूर्खता, विद्या आदि विषयो पर प्रसग प्राप्त उपयुक्त चर्चायें हुई हैं।

कवि के नीतिप्रसग स्वानुभूति तथा परम्परानुभूति के दृढ आधार पर आधारित होने के कारण न काल्पनिक हैं और न अव्यवहार्य। इसके नीतिकाव्य मे उपदेश, सूक्ति और अन्योक्ति शैलिया मिलती हैं। उपदेश-शैली मे कवि ने उपदेश की बातें सीधी भाषा मे बिना वाग्वैदग्ध्य के कही है। सूक्तिशैली मे वह अपने श्रेष्ठतम स्वरूप मे प्रकट हुआ है। अर्थान्तरन्यास, दृष्टान्त, उदाहरण, विशेषोक्ति, कारणमाला आदि के कारण अभिव्यक्ति मनोहर और प्रभविष्णु हो गई है। अन्योक्तिशैली मे अप्रस्तुत के द्वारा सदृश प्रस्तुत की प्रतीति कराई गई है। उपदेशशैली मे लोभी की निन्दा इस प्रकार की गई है—

"लोभी प्रीति गणे नहीं रे न गिणे सगपण नेह रे
मात पिता ने लोभियो रे लाल तुरत दिखावे छेह रे।

सूक्तिशैली मे कवि का मन विशेष रमा है। वाग्वदग्ध्य, अलकारिता स्वत उभर आये है। भाव कल्पनावृद्धि और अलकारो का कष्टापकर्षण प्राय नही है। एक धर्म-कुटना के साथ प्रकृति मूर्ख अप्रकृति मूंज मजीठ का वर्णन करते हुए कवि लिखता है।

"कूटया विन रस न विदिये मूरख मूंज मजीठ'

यहाँ धर्म का उपादान प्रकृत वस्तु के लिए हुआ है। प्रसगवश उससे अप्रकृत पदार्थ भी प्रकाशित हो गये है। यहाँ दीपक अलकार की दीप्ति स्पृहणीय है। कपास कदथना, तरवर ताप, और ईख, उत्पीडन सहकर भी परोपकारवृति

नहीं त्यागते हैं। कवि के शब्दों मे—

तडके, वाले भोटके रे लोढे पीजें जास,
काते सहे कदर्थना रे ढांके अन्य कपास।

कवि पुण्य को ऋद्धि-सिद्धि का दाता समझता है। मान, सुत, यश भी पुण्य के फल है। सद्गृहिणी तथा पुत्र भी पुण्यप्रभाव से ही प्राप्त होते हैं—

पुण्यवी ऋद्धिसिद्धि लहिं ई पुण्यवी बहुमान रे
पुण्यवी गुणवन्त नारी पुण्यवी सन्तान रे॥

कवि का नीतिपक्ष अत्यन्त व्यापक और समृद्ध है। वह समाज को सन्मार्ग का अनुसरण कराने के लिए अपनी कथा का वाचन-विस्तार करता है। उसकी नीति मे स्पष्टता, सगति और सागोपागता है। वह कही पर भ्रान्त तथा अनुभवलघु प्रतीत नहीं होता।

कवि जिनहर्ष मर्मस्थलों के चतुर पारखी थे। जीवन के व्यापक आयाम मे से उन्होंने अनेकानेक संवेदनशील प्रसग चुने हैं जिनमे सहृदय सामाजिको को पूर्ण रसास्वादन प्राप्त होता है। कतिपय मर्मस्थल निम्नलिखित है—निर्दोष मलया को मृत्युदण्ड-विधान, मलया के लिए चम्पकमाला तथा नागरिको का करुण विलाप, नि सन्तानप्रसग, परित्यक्त मलया के पुत्रजन्म पर भाग्य की विडम्बना। कवि ने अपने कथ्य को अपने ढग से प्रस्तुत किया है। वहाँ सर्वपरिचित परम्परागुद्ध सामान्य उपमानो की उपस्थित रोचकता बढाने वाली है।

प्रकृति रास की भाषा गुजराती से प्रभावित राजस्थानी है। उसमे प्रवाह प्राञ्जलता तथा अभिव्यक्ति की पूर्ण क्षमता है। स्थान-स्थान पर लोकोक्ति और मुहावरो का सफल प्रयोग किया गया है—

'साहसिया सिर छत्र। अग लागे नहि खावो।'
'जाणू विस्वा वीस'। आगि तणा दाधा मणी रे,
आणि तणो उपचार। उतावला सो बावला।
राजा करे सो न्याव। मुँह माँग्या पासा ढलमाँ इत्यादि।

मलयसुन्दरी विकसनशील महाकाव्य न होकर साहित्यिक महाकाव्य की कोटि मे आता है। यह विशिष्ट कवि द्वारा प्रणीत है। इसकी रचनातिथि और पाडुलिपिया उपलब्ध है। इसमें वक्ता और स्रोता तो अनेक है लेकिन उनकी कोई परम्परा दृष्टिगोचर नही होती। महाबल और मलया के पिता के आख्यान भी इसमे हैं पर उनका वश-विवरण नहीं है। प्रतिनायक की परम्परा का भी अभाव है। यत्र-तत्र उपदेशात्मक वर्णन उपलब्ध होता है पर वह प्रकरणप्राप्त और अतिसक्षिप्त है। उसमे कथा के विकास मे गतिरोध न हो आता। ग्रन्थ मे कही पर स्तोत्र, महात्म्य, प्रशस्ति नहीं मिलती। मगलाचरण की बात इसमे भिन्न है। काल स्थान और सख्यागणना मे अतिशयोक्ति से काम नहीं लिया गया है। जो कुछ वर्णित है वह पर्याप्त और सगत प्रतीत होता है। इस ग्रन्थ की शैली पौराणिक शैली नही है। अलौकिक अतिप्राकृत शक्तियो पर विश्वास, साहसिक कार्यपरम्परा, सिद्ध गुटिकाप्रभाव वटवृक्षो का आकाश मे उड़ना, मत्रसिद्धि से शव का उठना, उडना, शाखावलम्बित होना, भूतप्रेत, व्यन्तरो का अद्भुत क्रियाकलाप, कथात्मकता आदि तत्वो के कारण इसकी शैली रोचक शैली ही है, जिसकी एक लम्बी साहित्यिक परम्परा हमे उपलब्ध होती है।

यह एक महदुद्देश्य चरितकाव्य है। धर्मानुकूल आचरित जीवन से धर्म काम मोक्ष की प्राप्ति होती है। सासारिक लोभ, आकर्षण और माया के झझावात मे अडिग रहने वाला सयमधैर्यवती मानव ही जीवन का परम लक्ष्य मोक्ष प्राप्त कर सकता है। शील मानसिक पवित्रता इस जीवन की अमूल्य निधि है। वैराग्यविरति के भाव मे भी धर्मरत रहकर इस असार ससार के जीवो को सदुपदेश द्वारा सन्मार्गोन्मुख बनाना जीवन की सार्थकता है। कथानक की व्यापकता, सच्चरित्रो की वशानुगत शालीनता, महदुद्देश्य, इसमे गुरुत्व की सर्जना करते हैं। स्थाली पुलाकन्यायेन प्रस्तुत रास का दिङमात्र ही पर्यवेक्षण प्रस्तुत किया गया है।



धर्मशर्माभ्युदय : एक अध्ययन



श्री पन्नालाल जी
साहित्याचार्य, सागर

धर्मशर्माभ्युदय, महाकाव्य के लक्षणो से युक्त एक उच्चकोटि का काव्य है। कोमलकान्त पदावली और नवीन-नवीन अर्थ इस महाकाव्य की सुषमा बढा रहे हैं। इस काव्य का कवि, कल्पना के अन्तरिक्ष मे उड़ान भरने मे सिद्धहस्त है तो रस के अगाध सागर मे डुबकी लगाने मे भी अतिशय निपुण है। इसके प्रत्येक श्लोक मे भाव का वह अनुपम माधुर्य प्रकट हो रहा है कि जिसे देख काव्य-मर्मज्ञ का हृदय बाँसो उछलने लगता है। इक्कीस सर्ग के इस महाकाव्य मे नगर समुद्र पर्वत ऋतु पुष्पावचय जलक्रीडा चन्द्रोदय तथा मधुपान के मनोहर वर्णन के साथ जैनधर्म के पन्द्रहवें तीर्थंकर धर्मनाथ का जन्म से लेकर निर्वाण पर्यन्त का पावन चरित्र वर्णित है।

संक्षिप्त कथासार

लवणसमुद्र के मध्य मे कमल के समान शोभायमान जम्बूद्वीप है। इसके बीच मे सुवर्णमय सुमेर पर्वत है। दक्षिण की ओर भरत क्षेत्र है, उसके आर्यखण्ड मे उत्तर कोशल नामक देश है और उस देश मे सुशोभित है रत्नपुर नाम का नगर। रत्नपुर के राजा महासेन थे। महासेन अपनी महती सेना के कारण सचमुच ही महासेन थे। उनकी रानी का नाम सुव्रता था। सुव्रता जहा शील सयम आदि गुणो के द्वारा अपने नाम को सार्थक करती थी वहाँ सौन्दर्य सागर की एक वेला भी थी वह। अवस्था ढल गई फिर सुव्रता के पुत्र उत्पन्न नही हुआ, इस कारण राजा महासेन का मन चन्द्र-हीन गगन के समान श्यामल रहने लगा।

पुत्र के बिना राजा चिन्ता निमग्न थे। उसी समय वनमाली ने वन मे अरुण नामक मुनिराज के आगमन की सूचना दी। मुनि आगमन का सुखद समाचार पाकर राजा का सारा शरीर रोमाञ्चित हो उठा। वह रानी सुव्रता के साथ गजेन्द्र पर आरुढ हो मुनिदर्शन के लिये चल पड़े। साथ मे नगरवासियो की बडी भीड भी व्यवस्थित रूप मे चल रही थी। वन के निकट पहुचते ही राजा ने राजकीय वैभव—छत्र चमर आदि का त्याग कर दिया और पैदल ही चल कर मुनिराज के पास पहुचे। प्रदक्षिणा और नमस्कार की प्रक्रिया को पूरा कर राजा ने उनके मुखारविन्द मे धर्म का उपदेश सुना और अन्त मे सकुचाते हुए सुव्रता के पुत्र न होने का कारण पूछा। मुनिराज ने कहा कि तुम्हारी इस रानी के गर्भ से तीर्थंकर पुत्र होने वाला है, चिन्ता क्यो करते हो ? इतना कह कर उन्होने तीर्थंकर के पूर्वभवो का भी निम्न प्रकार वर्णन सुनाया।

धातकी खण्ड द्वीप के वत्स देश मे सुसीमा नाम का नगर था, जिसमे राजा दशरथ राज्य करते थे। एकदिन रात्रि मे चन्द्रग्रहण देख कर उनका भवभीरु मन ससार, शरीर और भोगो से विरक्त हो गया। राज्य वैभव को छोडकर

मुनिदीक्षा लेने का विचार जब उन्होंने सभा मे रखा तब चार्वाक मत का पक्षपाती सुमन्त्र मन्त्री परलोक का खण्डन करता हुआ राजा के प्रयत्न को मूर्खतापूर्ण बतलाने लगा। परन्तु राजा ने सारगर्भित युक्तियो से सुमन्त्र की कुमन्त्रणा का निरसन कर विमलवाहन मुनिराज के पास दीक्षा धारण कर ली। घोर तपश्चर्या के फलस्वरूप उन्होंने तीर्थकर प्रकृति का बन्ध किया। आयु के अन्त मे सर्वार्थसिद्धि विमान मे अहमिन्द्र हुए। हे राजन्! छह माह के बाद उसी अहमिन्द्र का जीव तुम्हारी रानी सुव्रता के गर्भ मे अवतीर्ण होगा और पन्द्रहवें दिन धर्मनाथ तीर्थंकर के रूप मे प्रसिद्ध होगा।

मुनिराज के इन वचनो से राजा महासेन और रानी सुव्रता की प्रसन्नता का पार नहीं रहा। अन्त मे मुनिराज को नमस्कार कर इधर राजदम्पती घर आये उधर इन्द्र की आज्ञा से श्री ह्री आदि देवियो का समूह जिनमाता की सेवा के लिये गगन मार्ग से पृथ्वीतल पर अवतीर्ण हुआ और राजा की आज्ञा लेकर अन्तःपुर मे प्रविष्ट हो रानी सुव्रता की सेवा करने लगा। रानी ने नियोगानुसार उत्तम स्वप्न देखे और राजा महासेन ने उनका फल सुना कर उसे सन्तुष्ट किया। रानी गर्भवती हुई। नौ माह व्यतीत होने पर माघ शुक्ला त्रयोदशी के दिन पुष्य नक्षत्र मे उसने धर्मनाथ तीर्थंकर को जन्म दिया। तीर्थंकर का जन्म होते ही समस्त लोक मे आनन्द छा गया। देवो ने जन्माभिषेक का उत्सव किया।

विक्रिया ऋद्धि से बाल वेष को धारण करने वाले देवो के साथ भगवान धर्मनाथ बाल क्रीडा करने लगे। क्रम से धर्मनाथ ने यौवन अवस्था मे पदार्पण किया। उनके शरीर की सुषमा यद्यपि जन्म से ही अनुपम थी तथापि यौवन की मधुर वेला मे वह पहले से सहस्र गुणी हो गई। विदर्भ देश मे राजा प्रतापराज ने अपनी पुत्री शृंगारवती के स्वयवर मे कुमार धर्मनाथ को बुलाने के लिये विशेष दूत भेजा। पिता की आज्ञा पाकर कुमार धर्मनाथ सेना सहित विदर्भ की ओर चल पडे। बीच मे गगा नदी को पार करते हुए वे विन्ध्याचल पर पहुचे। विन्ध्याचल के प्राकृतिक सौन्दर्य से मुग्ध हो उन्होंने वहाँ निवास किया। उनके पुण्योदय से विन्ध्याचल पर छह ऋतुए प्रकट हो गई। वनक्रीडा के लिए साथ के स्त्री-पुरुष विन्ध्याचल के वनो मे बिखर गये। थकने पर नर्मदा के नीर मे सब ने जलक्रीडा की। सायकाल आया, ससार की अनित्यता का पाठ पढाता हुआ सूर्य अस्त हो गया। रात्रि का सघन अन्धकार सर्वत्र फैल गया। थोडी देर बाद प्राची-पुरन्ध्री के ललाट पर सफेद चन्दन बिन्दु की शोभा को प्रकट करता हुआ चन्द्रमा उदय हुआ। चन्द्रिका की रजत छाया मे दम्पतियो ने सुखपूर्वक रात्रि बिताई। धीरे-धीरे प्राची मे उषा की लाली छा गई, प्रातःकाल हुआ और कुमार धर्मनाथ ने आगे के लिए प्रस्थान किया। नर्मदा नदी को पार कर वे विदर्भ देश मे पहुचे। वहाँ कुण्डिनपुर के राजा प्रतापराज ने उनका भाव भीना स्वागत किया।

स्वयवर मण्डप मे अनेक राजकुमार पहले से बैठे थे, कुमार धर्मनाथ के पहुचने पर सब की दृष्टि इनकी ओर आकृष्ट हुई। अपनी सखियो के साथ राजपुत्री शृगारवती भी वहा आई। सखी ने अनुक्रम से सब का परिचय दिया परन्तु शृगारवती की दृष्टि किसी पर स्थिर नहीं हुई। अन्त मे धर्मनाथ की रूप-माधुरी पर मुग्ध हो उसने उनके गले मे वरमाला डाल दी। धर्मनाथ ने कुण्डिनपुर की सडको पर जब प्रवेश किया तब वहाँ की नारियाँ कुतूहल से प्रेरित हो अपने अपने कार्य छोड झरोखो मे आ डटी। धर्मनाथ का विधिपूर्वक विवाह हुआ। उसी समय पिता का पत्र पाकर धर्मनाथ कुबेरनिर्मित विमान द्वारा अपने घर आ गये और सेना का सब भार सुषेण सेनापति के आधीन कर आये। रत्नपुर मे कुमार धर्मनाथ का बहुत सत्कार हुआ। इसी बीच उनके पिता महासेन महाराज ससार से विरक्त हो गये। उन्होंने युवराज धर्मनाथ के लिये नीति का उपदेश देकर उनका राज्याभिषेक किया और स्वय वन मे जाकर दीक्षा धारण कर ली। धर्मनाथ ने राज्य का अच्छी तरह पालन किया।



सुषेण सेनापति अपनी सेना के साथ सकुशल वापिस आ गया। एक दूत ने अनेक राजाओ के साथ सुषेण के हुए युद्ध का वर्णन धर्मनाथ को सुनाया। जिसे सुनकर उन्होंने सुषेण की बहुत प्रशसा की। दीर्घकाल तक राज्य करने के बाद उल्कापात देखकर भगवान धर्मनाथ का मन ससार से विरक्त हो गया, जिससे समस्त राज्य को तृण के समान

त्याग कर उन्होंने निर्ग्रन्थ दीक्षा धारण कर ली। केवल-ज्ञान प्राप्त होने पर इन्द्र की आज्ञा से समवसरण की रचना हुई। उसके मध्य में सिंहासन पर विराजमान हो उन्होंने दिव्य ध्वनि के द्वारा जिन-सिद्धान्त का वर्णन किया। अन्त मे सम्मेदाचल से मोक्ष प्राप्त किया।

इस संक्षिप्त कथा का वर्णन करने के लिए कवि ने धर्मशर्माभ्युदय के इक्कीस सर्ग पूर्ण किये हैं। ऐसा लगता है कि कवि का हृदय एक विशाल रत्नाकर है और उसमे शब्द तथा अर्थ रूपी अगणित रत्न भरे हुए हैं। कवि उन्हे मुख द्वार से निकाल निकाल कर बाहर फैंकता जाता है। वे शब्द और अर्थरूपी रत्न इतनी अधिक दीप्ति को लिये हुए हैं कि उन्हें अलंकृत करने के लिये अन्य अलकारो की आवश्यकता नही। वे स्वय ही अलंकार रूप हो उठते हैं।

कथा का आधार

धर्मशर्माभ्युदय की कथा का आधार गुणभद्राचार्य का उत्तर पुराण जान पडता है। उसके ६१ वें पर्व मे धर्म-नाथ के पंच कल्याणात्मक वृत्त का वर्णन है परन्तु उनमें उसके माता-पिता के नाम दूसरे दिये हैं। स्वयंवर का वर्णन नही है। धर्मशर्माभ्युदय के कवि ने काव्य की शोभा या सजावट के लिए उसे कल्पनाशिल्प-निर्मित किया है। स्वयवर यात्रा के कारण काव्य के कितने ही अंगो का अच्छा वर्णन बन पडा है। अन्त मे समवसरण मे मुनियो की जो संख्या दी है उसमे भी जहा कही भेद मालूम पडता है।

धर्मशर्माभ्युदय के कर्त्ता महाकवि हरिचन्द्र

धर्मशर्माभ्युदय के प्रत्येक सर्ग के अन्त मे दिये हुए पुष्पिका वाक्यो तथा उन्नीसवे सर्ग के ९८-९९ श्लोको के द्वारा रचित षोडश दल कमल बन्ध से सूचित 'हरिचन्द्रकृतधर्मजिनपतिचरितम्' पद से एव उसी सर्ग के १०१-१०२ श्लोको से निर्मित चक्रबन्ध से निर्गत—

'आर्द्रदेवसुतेनेदं काव्यं धर्मजिनोदितम्।
रचितं हरिचन्द्रेण परमं रसमन्दिरम्॥

इस उक्ति से और उसी सर्ग के १०३-१०४ श्लोको से विनिर्मित चक्रबन्ध मे निर्गत 'श्री धर्मशर्माभ्युदय हरिचन्द्रकाव्यम्' इस उल्लेख से सिद्ध होता है कि इसके रचयिता महाकवि हरिचन्द्र हैं। ये हरिचन्द्र कौन हैं? किसके पुत्र हैं? इसका पता धर्मशर्माभ्युदय के अन्त मे प्रदत्त प्रशस्ति से चलता है। यद्यपि यह प्रशस्ति कुछ प्रतियों मे नहीं है, अत संशय हो सकता है कि किसी ने पीछे से जोड दी हो, परन्तु भाण्डारकर रिसर्च इन्स्टीट्यूट पूना मे विद्यमान १७३५ विक्रम सम्वत् की लिखित प्रति में यह प्रशस्ति विद्यमान है। इससे इतना तो फलित होता है कि यदि किसी ने पीछे से जोडी है तो १७३५ वि० स० के पूर्व ही जोडी है। इसके सिवाय अपने पिता 'आर्द्रदेव' का उल्लेख ग्रन्थकर्ता ने स्वय ग्रन्थ में किया ही है। प्रशस्ति के श्लोको की भाषा महाकवि की भाषा से मिलती-जुलती है अत बहुत कुछ सभव यही है कि यह ग्रन्थकर्ता की ही रचना है।

प्रशस्ति से विदित होता है कि नोमक वंश के कायस्थ कुल मे आर्द्रदेव नामक श्रेष्ठ पुरुष रत्न थे। उनकी पत्नी का नाम रथ्या था। महाकवि हरिचन्द्र इन्हीं के पुत्र थे। इनके छोटे भाई का नाम लक्ष्मण था। कवि ने यह तो लिखा है कि गुरु के प्रसाद से उनकी वाणी निर्मल हो गई पर वे कौन थे, यह नही लिखा। ये दिगम्बर सम्प्रदाय के अनुगामी थे।

हरिचन्द्र नाम के अनेक विद्वान्

'कर्पूरमञ्जरी' नाटिका में महाकवि राजशेखर ने प्रथम अवनिका के अनन्तर एक जगह विदूषक के द्वारा हरिचन्द्र कवि का उल्लेख किया है।[1] यदि ये हरिचन्द्र धर्मशर्माभ्युदय ही के कर्ता हो तो इन्हे राजशेखर से पहले का—वि० स० ९६० से पहले का मानना चाहिये। इसी प्रकार 'श्रीहर्षचरित्र' में बाणभट्ट ने 'पदबन्धोज्ज्वलो हारी कृतवर्णक्रमस्थिति, भट्टारहरिचन्द्रस्य गद्यबन्धो नृपायते'। इन शब्दो द्वारा हरिचन्द्र का स्मरण किया है। यदि ये हरिचन्द्र धर्मशर्माभ्युदय के ही कर्ता माने जावें तो इनका समय बाणभट्ट से भी पूर्व का सिद्ध होता है। परन्तु हरिचन्द्र का गद्य-काव्य कौन-सा है? इसका अभी तक पता नही चला। यद्यपि 'जीवन्धरचम्पू' नामक गद्यपद्यात्मक काव्य हरिचन्द्र का रचित उपलब्ध है और उनके गद्य भी उच्चकोटि के हैं तथापि अन्य प्रमाणो से वे बाणभट्ट से पूर्ववर्ती सिद्ध नही होते। धर्मशर्माभ्युदय के २१वें सर्ग मे धर्मतत्त्व का जो वर्णन है वह चन्द्रप्रभचरित से प्रभावित है अत उसके कर्ता वीरनन्दी से महाकवि हरिचन्द्र परवर्ती हैं, पूर्ववर्ती नही। एक हरिचन्द्र विश्वप्रकाश कोष के कर्ता महेश्वर के पूर्वज चरकसहिता के टीकाकार साहसाङ्क नृपति के प्रधान वैद्य भी थे, पर धर्मशर्माभ्युदय के कर्ता हरिचन्द्र उनसे भिन्न ही जान पडते हैं।

महाकवि हरिचन्द्र का समय

जीवन्धर चम्पू की प्रस्तावना मे धर्मशर्माभ्युदय तथा जीवन्धर चम्पू के तुलनात्मक अनेक उद्धरण देकर मैंने यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि धर्मशर्माभ्युदय के कर्ता हरिचन्द्र ही जीवन्धर चम्पू के कर्ता हैं। जीवन्धर चम्पू का कथानक जहाँ वादीभसिंहसूरि की क्षत्रचूडामणि और गद्यचिन्तामणि से लिया गया है वहाँ गुणभद्राचार्य के उत्तरपुराण से भी वह प्रभावित है। अत हरिचन्द्र गुणभद्र से परवर्ती हैं। साथ ही इसमे श्रावक के जो आठ मूलगुणो का वर्णन है वह यशस्तिलक चम्पू के रचयिता सोमदेव के मतानुसार है, इस कारण सोमदेव से परवर्ती हैं। सोमदेव ने यशस्तिलक चम्पू की रचना १०१६ वि० स० मे पूर्ण की है। पाटण के सघवी पाडा के पुस्तक भण्डार मे धर्मशर्माभ्युदय की १२८७ वि० स० की लिखी एक हस्तलिखित प्रति विद्यमान है उससे यह निश्चय अवश्य हो जाता है कि महाकवि हरिचन्द्र उक्त सवत् से पूर्ववर्ती ही हैं। इस तरह पूर्व और पर अवधियो पर विचार करने से जान पडता है कि ये ११-१२ शताब्दी के विद्वान् हैं। धर्मशर्माभ्युदय पर कालिदास के रघुवश भारवि के किरातार्जुनीय और माघ के शिशुपालवध की शैली का प्रभाव है, इसका आगे विचार किया जावेगा।

महाकवि हरिचन्द्र के ग्रन्थ



महाकवि हरिचन्द्र द्वारा रचित ग्रन्थो मे धर्मशर्माभ्युदय उनकी निर्भ्रान्त रचना है। जीवन्धर चम्पू के विषय में आदरणीय प्रेमीजी का ख्याल था कि वह किसी दूसरे कवि की रचना है पर दोनो के तुलनात्मक अध्ययन से सिद्ध होता है कि दोनो ग्रन्थो के रचयिता एक ही हरिचन्द्र हैं।[2] आग्ल विद्वान् डॉ० कीथ ने भी हरिचन्द्र को ही जीवन्धर-चम्पू का कर्ता माना है। इस तरह 'धर्मशर्माभ्युदय' और 'जीवन्धरचम्पू' ये दो ग्रन्थ महाकवि हरिचन्द्र के उपलब्ध हैं। दोनो ही ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं तथा काव्य जगत् मे अच्छी प्रतिष्ठा को प्राप्त हैं।

---

१ विदूषक (सक्रोध) 'उज्जुअ एव्व ता कि ण भणइ, अम्हाण चेडिआ हरिअद णदिअन्द कोट्टिस हालप्पहुदीण पि पुरदो सुकइत्ति, (ऋज्वेव तत्किं न भण्यते, अस्माक चेटिका हरिचन्द्र नदिचन्द्र कोटिश हाल प्रभृतीनामपि पुरत सुकविरिति।

२ देखो, जीवन्धर चम्पू की प्रस्तावना पृ०, ३७-४०

धर्मशर्माभ्युदय का काव्य वैभव

पण्डितराज जगन्नाथ ने काव्य के प्राचीन—प्राचीनतर लक्षणों का समन्वय करते हुए अपने रसगगाधर मे काव्य का लक्षण लिखा है—'रमणीयार्थप्रतिपादक शब्द काव्यम्' रमणीय अर्थ का प्रतिपादन करने वाला शब्दसमूह काव्य है। वह रमणीयता चाहे अलकार से प्रकट हो, चाहे अभिधा, लक्षणा या व्यञ्जना से। मात्र सुन्दर शब्दों से या मात्र सुन्दर अर्थ से काव्य, काव्य नहीं कहलाता किन्तु दोनो के सयोग से ही काव्य, काव्य कहलाता है। महाकवि हरिचन्द्र ने धर्मशर्माभ्युदय मे शब्द और अर्थ दोनो को बडी सुन्दरता के साथ सजोया है। वे लिखते हैं कि भले ही सुन्दर अर्थ कवि के हृदय मे विद्यमान रहे परन्तु योग्य शब्दो के बिना वह रचना मे चतुर नही हो सकता, यथा श्वान को गहरे-से-गहरे पानी मे भी खडा कर दिया तो भी जब वह पानी पीवेगा तो जीभ से चाट-चाट कर ही पीवेगा, अन्य प्रकार से उसे पानी पीना आता ही नहीं है।[1] (१।१४) इसी प्रकार सुन्दर अर्थ मे रहित शब्दावली विद्वानो के मन को आनन्दित नही कर सकती जैसे कि थूहर से झरती हुई दूध की धारा नयनाभिराम होने पर भी मनुष्यो के लिये रुचिकर नही होती[2] (१।१५) शब्द और अर्थ के सदर्भ से परिपूर्ण वाणी ही वास्तव मे वाणी है और बडे पुण्य से किसी विरले कवि को प्राप्त होती है। देखो न, चन्द्रमा को छोड अन्य किसी की किरण अन्धकार को नष्ट करने वाली और सुधास्राविणी नहीं है। सूर्य की किरण मे अन्धकार को नष्ट करने की शक्ति है पर वह भीषण आताप का भी तो कारण है। मणि की किरणें यद्यपि आताप का कारण नही हैं तथापि सर्वत्र व्याप्त अन्धकार को दूर करने की क्षमता उनमे कहाँ है? यह उभयविध क्षमता तो चन्द्रकिरण मे ही उपलब्ध होती है[3] (१।१६) उक्त सदर्भ का तात्पर्य यही है कि धर्मशर्माभ्युदय मे शब्द और अर्थ दोनो का बडा सुन्दर सन्दर्भ बन पडा है।

उपमालकार की अपेक्षा उत्प्रेक्षालकार कवि की प्रतिभा को अत्यधिक विकसित करता है। हम देखते हैं कि धर्मशर्माभ्युदय में उत्प्रेक्षालकार की धारा महानदी के प्रवाह की तरह प्रारभ से लेकर अन्त तक अजस्रगति से प्रवाहित हुई है। उपमा रूपक विरोधाभास श्लेष परिसख्या अर्थान्तर न्यास और दीपक आदि अलकार भी पद-पद पर इसकी शोभा बढा रहे हैं। उदाहरण के लिये देखें—

श्लेष (१।१०)

> लब्धात्मलाभा बहुधान्यवृद्धयं निर्मूलयन्ती घननीरसत्वम्।
> सा मेघसघातमपेतपङ्का शरत्सता ससदपि क्षिणोतु॥

उत्प्रेक्षा (१।१६) (२।३६)

> सक्रान्तबिम्ब स्रवदिन्दुकान्ते नृपात्मये प्राहरिकै परीते।
> हृताननश्री सुदृशा चकास्ति कारागृतो यत्र रुदन्निवेन्दु॥
> प्रयाणलीलाजितराजहसक विशुद्धपार्ष्णि विजिगीषुवत्स्थितम्
> तदङ्घ्रिमालोक्य न कोपदण्डभाग् भियेव पद्म जलदुर्गमत्यजत्॥

---

१ अर्थे हृदिस्थेऽपि कविर्न कश्चिन्निर्ग्रन्थिगीर्गुम्फविचक्षण स्यात्।
जिह्वाञ्चलस्पर्शमपास्य पातुं श्वा नान्यथाम्भो घनमप्यवैति॥

२ हृद्यार्थवन्ध्या पदबन्धुरापि वाणी बुधाना न मनो धिनोति।
न रोचते लोचनवल्लभापि स्नुही क्षरत्क्षीरसरिन्नरेभ्य॥

३ वाणी भवेत्कस्यचिदेव पुण्यै शब्दार्थसदर्भविशेषगर्भा।
इन्दु विनान्यस्य न दृश्यते द्युतमो धुनाना च सुधा धुनी च॥

रूपक और उपमा का सम्मिश्रण (२।५९)

अनिन्द्यदन्तद्युतिफेनिलाधरप्रवालशालिन्युरलोचनोत्पले ।
तदास्य लावण्यसुधोदधौ बभुस्तरङ्गभङ्गा इव भङ्गुरालकाः ॥

श्लेषोपमा (४।८३)

रम्यो घनाच्छच्छगुरूपदेशः श्रीदानवारातिविराजमानः ।
यस्या करोल्लासिनवज्रमुद्रः पौरो जनो जिष्णुरिवावभाति ॥

अर्थान्तरन्यास (७।५३)

न वारितो मत्तमदद्विपदोघः प्रसह्य कामश्रमशान्तिमिच्छन् ।
रजस्वला अप्यभजत्स्त्रवन्तीरहो महान्धस्य कुतो विवेकः ॥

परिसंख्या (१।३०)

निशासु नूनं मलिनाम्बरस्थितिः प्रगल्भकान्तासुरते द्विजक्षतिः ।
यदि क्षितिप सर्वविनाशसंस्तवः प्रमाणशास्त्रे परमोहसंभवः ॥

विरोधाभास (२।३३) (३।५१)

चित्रमेतज्जगन्मित्रे नेत्रमैत्रीं गते त्वयि ।
यन्मे जडाशयस्यापि पंकजातं निमीलति ॥

महानदीनोऽप्यजडाशयो जगत्यनष्टसिद्धिः परमेश्वरोऽपि सन् ।
बभूव राजापि निकारकारणं विभावरीणामयमद्भुतोदयः ॥

दीपक (२।७३)

नभो दिनेशेन नयेन विक्रमो वनं मृगेन्द्रेण निशीथमिन्दुना ।
प्रतापलक्ष्मी बलकान्तिशालिना विना न पुत्रेण च भाति नः कुलम् ॥

धर्मशर्माभ्युदय के कौतुकावह स्थल

महाकाव्य के लक्षण में लिखा है कि कहीं-कहीं प्रारम्भ में सज्जनप्रशंसा और दुर्जननिन्दा की जाती है। इस लक्षण को दृष्टिगत रखते हुए प्रायः सभी गद्य-पद्य काव्यों में सज्जनप्रशंसा और दुर्जननिन्दा का प्रकरण रक्खा गया है परन्तु धर्मशर्माभ्युदय का यह प्रकरण (प्रथम सर्ग १८-३१) संस्कृत साहित्य में अपनी उपमा नहीं रखता। गृहस्थ दम्पती के हृदय में पुत्र की स्वाभाविक स्पृहा रहती है। इसके बिना दम्पती का गार्हस्थ्य अपूर्ण रहता है। रघुवंश में कालिदास ने राजा दिलीप के पुत्राभाव सम्बन्धी दुःख का वर्णन किया है। बाणभट्ट ने कादम्बरी में इसका विस्तृत और मार्मिक उल्लेख किया है और चन्द्रप्रभचरित में महाकवि वीरनन्दी ने भी इसकी चर्चा की है पर धर्मशर्माभ्युदय के द्वितीय सर्ग के अन्त में (६८-७८) महाकवि ने सुव्रता रानी के पुत्र न होने के कारण राजा महासेन के मुख से जो दुःख प्रकट किया है वह अतीव मार्मिक है और पढ़ते ही हृदय में घर कर लेता है। उदाहरण के लिए उस प्रकरण के दो श्लोक देखिये—

सहस्रधा सत्यपि गोत्रजे जने सुतं विना कस्य मनः प्रसीदति ।
अपास्तताराग्रहशोभितं भवेद्दृते विधोर्ध्यामलमेव दिङ्मुखम् ।७०।
न चन्दनेन्दीवरहारयष्टयो न चन्द्ररोचींषि न चामृतच्छटाः ।
सुताङ्गसंस्पर्शसुखस्य निस्तुलां कलामयन्ते खलु षोडशीमपि ।७१।









तृतीय सर्ग का वनवर्णन कवि के वैदुष्य को प्रकट करने मे अपनी शानी नही रखता। इस प्रकरण के निम्नाङ्कित श्लोक देखिए और कवि की श्लेषविषयक वैदुष्य की श्लाघा कीजिए—

कान्तारतरवो नैते कामोन्मादकृत परम् ।
अभवन्न प्रीतये सोऽप्युद्यन्मधुपराशय ॥२३॥
अनेक विटपस्पृष्टपयोधरलटा स्वयम् ।
ववत्युद्यानमालेय मकुलीनत्वमात्मन ॥२४॥
उल्लसत्केसरो रक्तपलाश कुञ्जराजित. ।
कण्ठीरव इवाराम क न व्याकुलयत्यसौ ॥२५॥
एता प्रवालहारिण्यो भुवा भ्रमरसगता ।
मरुन्नर्तकतालेन नृत्यन्तीव वने लता ॥३४॥

चतुर्थसर्ग (४१-४४) मे चन्द्रग्रहण का जो कौतुकावह वर्णन महाकवि हरिचन्द्र ने किया है वह अन्यत्र नही मिलता। स्वर्गीय पूज्य गणेशप्रसादजी वर्णी महाराज को यह वर्णन बडा प्रिय था, वे जव तव बडे हर्ष से निम्नाङ्कित श्लोक सुनाया करते थे—

अथैकदा व्योम्नि निरभ्रगर्भक्षण क्षणपायां क्षणदाधिनाथम् ।
अनाथनारीव्ययनैनसेव स राहुणा प्रैक्षत गृह्यमाणम् ॥४१॥
किं सीधुना स्फाटिकपानपात्रमिद रजन्या परिपूर्यमाणम् ।
चलद्द्विरेफोच्चयचुम्व्यमानमाकाशगगास्फुटकैरव वा ॥४२॥
ऐरावणस्याथ करात्कथञ्चिच्च्युतः सपको बिसकन्द एषा :
किं व्योम्नि नीलोपलदर्पणाभे सश्मश्रु वक्त्र प्रतिविम्बित मे ॥४३॥
क्षण वितर्क्येति स निश्चिकाय चन्द्रोपरागोऽयमिति क्षितीश ।
हृङ्मीलनाविष्कृतचित्तखेदमचिन्तयच्चैवमुदारचेता ॥४४॥

चन्द्रग्रहण का निमित्त पाकर राजा का चित्त ससार शरीर और भोगो से निर्विण्ण हो जाता है। उसी दशा मे वह वृद्धावस्था का चिन्तवन करता है। वृद्धावस्था मे मनुष्य के दात झड जाते हैं, बाल सफेद हो जाते हैं, शरीर मे वल पड जाती और कमर झुक जाती है। इन सबका वणन महाकवि हरिचन्द्र के शब्दों मे देखिये कितना सुन्दर बन पडा है—

अन्याङ्गनासङ्गमलालसाना जरा कुतेर्य्येव कुतोऽप्युपेत्य ।
आकृष्य केशेषु करिष्यते न पदप्रहारैरिवदन्तभङ्गम् ॥५५॥
क्षाते तवागे वलिभि समन्तान्नश्यत्यनङ्ग. किमसावितीव ।
वृद्धस्य कर्णान्तिगता जरेय हसत्युदञ्चत्पलितच्छलेन ॥५६॥
आकर्णपूर्ण कुटिलालकोर्मि रराज लावण्यसरो यदगे ।
बलिच्छलात्सारणि धोरणीभि प्रवाह्यते तज्जरसा नरस्य ॥५८॥
असभृत मण्डनमगयष्टेर्नष्ट क्व मे यौवनरत्नमेतत् ।
इतीव वृद्धो नतपूर्वकाय पश्यन्नधोऽधो भुवि बम्भ्रमीति ॥५६॥

चन्द्रप्रभ चरित्र के द्वितीय सर्ग का विस्तृत न्याय वर्णन काव्य के अनुरूप न होकर एक स्वतन्त्र दर्शन शास्त्र-

सा हो गया है पर धर्मशर्माभ्युदय के चतुर्थसर्ग में (६७-७६) चार्वाक सिद्धान्त का सुमन्त्र मन्त्री के द्वारा मण्डन और राजा दशरथ के द्वारा खण्डन किया गया है वह काव्य की अनुरूपता को नहीं छोड सका है।

सप्तम सर्ग का (२०-३८) सुमेरुवर्णन कवि के अनुपम पाण्डित्य को सूचित करता है। इस प्रकरण के निम्न श्लोक गौर से देखिये—

मरुद्ध्वनद्वंशमनेकतालं रसालमंभावितमन्मथंलम् ।
धृतम्मरातङ्कमिवाश्रयन्तं वनं च गानं च सुरांगनानाम् ॥३०॥
विशालदन्तं घनदानवारि प्रसारितोद्दामकराग्रदण्डम् ।
उपेयुषो दिग्गजपुंगवस्य पुरो दधान प्रतिमल्ललीलाम् ॥३२॥
अधिश्रियं नीरदमाश्रयन्तीं नवाम्बुदन्तीमतिनिष्कलाभान् ।
स्वर्नर्भुवंगाङ्घ्रिशिखिना दधानं प्रगल्भवेश्यामिव चन्दनालीम् ॥३३॥

यहाँ देवों के वाहन के रूप में आगत हाथियो, घोडों तथा बैलो आदि का स्वाभावोक्तिमय वर्णन माघ की शैली का स्मरण कराता है। अष्टमसर्ग व्यापी क्षीरसमुद्र एव जन्माभिषेक का वर्णन मालिनी छन्द में बहुत ही सुन्दर बन पडा है। नवम सर्ग का पुत्रस्पर्शनवर्णन कालिदास के वर्णन से कहीं अधिक सुन्दर जान पडता है—

पुत्रस्य तस्यागसमागमक्षणे निमीलयन्नेत्रयुगं नृपो बभौ।
अन्त. क्रियद्गाढनिपीडनाद्वपु प्रविष्टमस्येति निरूपयन्निव ॥१०॥
उत्संगमारोप्य तमगज नृप परिष्वजन्मीलितलोचनो बभौ।
अन्तर्विनिक्षिप्य सुखं वपुर्गृहे कपाटयो सघटयन्निव द्वयम् ॥११॥

—धर्मशर्माभ्युदय

तमङ्कमारोप्य शरीरयोगर्ज सुखैर्निषिञ्चन्तमिवामृत त्वच।
उपान्तसमीलितलोचनो नृपश्चिरात्सुतस्पर्शरसज्ञतां ययौ ॥२३॥

—रघुवंश तृतीय सर्ग

युवराज धर्मनाथ शृंगारवती के स्वयवर में सम्मिलित होने के लिये दक्षिणदिशा की ओर प्रयाण कर रहे हैं। उस समय का श्लेषमय वर्णन देखिये—(६-५१)

ता नेत्रपेया विनिशम्य सुन्दरीं सुधामलंकामयमान उत्सुक ।
आमन्नपार्श्वो हरिसेनया वृतो बभौ स काकुत्स्थ इवास्तदूषण. ॥५१॥

ऐसा जान पडता है कि 'सुधामलंकामयमान' की मनोज सुरभि नैषध के 'चेतो नल कामयते मदीयम्' तक जा पहुची है।

नवम सर्ग का (६८-७७) गंगा वर्णन साहित्यिक दृष्टि से बहुत ही उच्च कोटि का है। दशम सर्ग का नाना छन्दो में रचा हुआ विन्ध्यागिरि का वर्णन माघ के चतुर्थ सर्ग में व्याप्त नाना वृत्तमय रैवतकगिरि के वर्णन का स्मरण कराता है। दोनों ही जगह यमकालकार की अनुपम छटा छिटकी हुई है। माघ में दारुक के द्वारा और इसमें प्रभाकर के द्वारा पर्वत का वर्णन कराया गया है। कालिदास ने रघुवश के नवम सर्ग में चतुर्थपाद सम्बन्धी यमक के साथ द्रुतविलम्बित छन्द का अवतार कर काव्यसुधा की जो मन्दाकिनी प्रवाहित की है उसका अनुसरण माघ के षष्ठ सर्ग तथा धर्मशर्माभ्युदय के एकादश सर्ग सम्बन्धी ऋतुवर्णन में भी किया गया है। जिस प्रकार नाक पर पहिने हुए मोती से किसी शुभ्रवदना का मुखमण्डल खिल उठता है उसी प्रकार इस एक पद का दो पदो के यमक से द्रुत विलम्बित छन्द सुशोभित हो गया है।





बारहवें सर्ग की वनक्रीडा छन्द और अलकार की अनुकूलता के कारण माघ की वनक्रीडा से कही अधिक सुन्दर बन पडी है। समग्र त्रयोद सर्ग मे व्याप्त जलक्रीडा ने भारवि की किरातार्जुनीय के अष्टम सर्ग मे व्याप्त जलक्रीडा को अत्यन्त निष्प्रभ बना दिया है। चतुर्दश सर्ग का सायकाल रात्रि तथा चन्द्रोदय का वर्णन पाठक को आनन्दविभोर कर देता है। चन्द्रोदय होने पर कमलों की लक्ष्मी चन्द्रमा के पास चली गई इसका वर्णन देखिये कितना मनोरम है।

तावत्सती स्त्री भ्रुवमन्यपु सो हस्ताग्रसस्पर्शसहा न यावत्।
स्पृष्टा कराग्रै कमला तथाहि त्यक्तारविन्दाभिससार चन्द्रम् ॥५२॥

पञ्चदश सर्ग का मधुपान काव्य की दृष्टि से बहुत ही उच्चकोटि का है। मदिरा के नशे मे जिसकी आवाज लडखडा रही है ऐसी एक स्त्री का वर्णन देखिये कितना हृदयहारी बन गया है—

त्यज्यतां पिपिपिपिप्रिय पात्र वयितां मुमु मुखासव एव।
इत्यमन्थरपदस्खलितोक्ति प्रेयसी मुदमदाद्दयितस्य ।२२॥

षोडस सर्ग का प्रात काल का वर्णन माघ के एकादश सर्ग का स्मरण कराता है। माघ के प्रात काल के वर्णन मे मालिनी छन्द ने यद्यपि अधिक शोभा ला दी है पर धर्मशर्माभ्युदय की कल्पनाए उसकी अपेक्षा कही अधिक सुन्दर हैं। देखिये, चन्द्रमा अस्तोन्मुख है, पूर्वदिशा मे अरुण की लाली छा रही है और दुन्दुभि का शब्द हो रहा है। इसका वर्णन धर्मशर्माभ्युदय मे कितना हृदयहारी हुआ है—

राजान जगति निरस्य सूरसूतेनाक्रान्ते प्रसरति दुन्दुभेरिदानीम्।
यामिन्या प्रियतमविप्रयोगदुःखैर्हृत्सन्धे स्फुटत इवोद्भट प्रणाद ॥८१॥

इसी सोलहवे सर्ग का सेना प्रस्थान माघ के द्वादश सर्ग मे वर्णित श्रीकृष्ण की सेना प्रयाण का स्मरण कराता है। सप्तदश सर्ग मे शृगारवती के स्वयवर का जो वर्णन है वह कालिदास के इन्दुमती के स्वयवर वर्णन को पीछे छोड देता है। स्वयवर सभा मे आते ही शृगारवती राजाओ के मनोमानस मे प्रविष्ट हो गई इसका श्लेषात्मक वर्णन देखिये कितना अद्भुत हुआ है—(१६-१७)

पयोधरश्रीसमये प्रसर्पद्धारावली शालिनि सप्रवृत्ते।
सा राजहसीव विशुद्धपक्षा महीभृतां मानसमाविवेश॥

स्वयवर के बाद शृंगारवती के साथ राजपथ मे जाते हुए धर्मनाथ को देखने के लिये स्त्रियो का कौतूहल यथार्थ मे कौतूहल की वस्तु बन गई है। धर्मशर्माभ्युदय के इस वर्णन ने कुमारसभव और रघुवश के इस वर्णन को पीछे छोड दिया है। विवाह दीक्षा के बाद धर्मनाथ अपनी दुलहिन शृगारवती के साथ चौक के बीच सुवर्ण सिंहासन को अलकृत कर रहे थे। उसी समय उन्हे पिता का एक पत्र मिला, जिसे पढकर वे एकदम कुबेरनिर्मित विमान पर आरूढ़ होकर दुलहिन के साथ राजपुर की ओर चल देते हैं। यहा ऐसा लगता है जैसे कवि ने रस का अकाण्डछेद कर दिया हो। पाठक के हृदय मे बहती हुई रस की धारा असमय मे ही शुष्क होती जान पडती है। स्वयवर के बाद होने वाले युद्ध से अछूता रखने के लिये ही मालूम होता है कवि ने धर्मनाथ को सीधा विमान द्वारा राजपुर भेजा है और युद्ध का दायित्व सेनापति के ऊपर निर्भर किया है।

अष्टादश सर्ग मे ससार की माया ममता से विरक्त हो राजा महासेन दीक्षा लेने के लिये कृतसकल्प हैं। वे युवराज धर्मनाथ को राज्याभिषेक के पूर्व जो उपदेश देते हैं वह कादम्बरी के शुकनासोपदेश और गद्य चिन्तामणि के आर्यनन्द्युपदेश का सक्षिप्त सस्करण-सा जान पडता है। उन्होंने युवराज धर्मनाथ के लिये गुणार्जन का जो उपदेश दिया है उसे देखिये, कवि ने श्लेषोपमा के द्वारा कितना आकर्षक बना दिया है—(१८-१५)

भृश गुणानर्जय सद्गुणो जनै क्रियासु कोदण्ड इव प्रशस्यते ।
गुणच्युतो बाण इवातिभीषण प्रयाति वैलक्ष्यमिह क्षणादपि ॥

उन्नीसवें सर्ग मे युद्धवर्णन के लिये कवि ने जो छन्द और चित्रालकार चुना है वह रस के अनुकूल नही है । यमक और चित्र अलकार कवि के कौशल को परखने के लिये कसौटी का काम देते हैं । महाकवि हरिचन्द्र का कौशल इन पर खरा उतरा है । पर वीररस की धारा उससे कुण्ठित हो गई है । बीसवें सर्ग मे कवि ने धर्मनाथ के राज्य, वैराग्य तपश्चरण और समवसरण का जो वर्णन किया है वह यद्यपि अपने आप मे परिपूर्ण है तथापि ऐसा लगता है कि कवि, काव्य के इस प्रमुख कथानक को जल्दी निपटाना चाहता है । इक्कीसवें सर्ग का उपदेश विस्तृत और अनुरूप छन्द से युक्त है ।

इस प्रकार धर्मशर्माभ्युदय काव्य के वैभव से युक्त उच्चकोटि का महाकाव्य है ।

धर्मशर्माभ्युदय पर मण्डलाचार्य ललितकीर्ति के शिष्य प० यशस्कीर्ति के द्वारा रचित 'सन्देहध्वान्तदीपिका' नामक सस्कृत की टीका है ।



राजस्थान के संस्कृत महाकवि एवं विचक्षण प्रतिभासम्पन्न ग्रन्थकार



विनयसागर

साहित्यमहोपाध्याय, साहित्याचार्य, दर्शनशास्त्री,
साहित्यरत्न, शास्त्रविशारद

महोपाध्याय मेघविजय

महोपाध्याय मेघविजय १८ वी शताब्दी के बहुमुखीप्रतिभासम्पन्न विशिष्टतम विद्वान् हैं। इनका जन्मसवत्, जन्मस्थान और गृहस्थावस्था का ऐतिह्य परिचय अद्यावधि अप्राप्त है। श्रीवल्लभोपाध्यायरचित, 'विजयदेवमाहात्म्य' पर मेघविजयजी द्वारा रचित विवरण की स० १७०९ की लिखित[1] प्रति प्राप्त होने से यह निश्चित है कि इस विवरण की रचना १७०९ के पूर्व ही हो चुकी थी। अत यह अनुमान सहज भाव मे लगाया जा सकता है कि इस रचना के समय इनकी अवस्था कम से कम २०-२५ वर्ष की अवश्य होगी। अत अनुमानत १६८५ और १६९० के मध्य इनका जन्मसमय माना जा सकता है। स० १७२७ मे रचित 'देवानन्दमहाकाव्य' में विजयप्रभसूरि द्वारा प्रदत्त 'उपाध्याय'[2] पद का उल्लेख होने मे निश्चित है कि स० १७१० और १७२७ के मध्य मे इनको उपाध्याय पद प्राप्त हो चुका था, क्योकि विजयप्रभसूरि का शासनकाल स० १७१० से १७३२ का है।

मेघविजयजी श्वेताम्बर जैन-परम्परा मे तपागच्छीय अकबरप्रतिबोधक जगद्गुरु हीरविजयसूरि की शिष्य-परम्परा मे कृपाविजयजी के शिष्य हैं, जैसा कि इनकी ग्रन्थ-प्रशस्तियो से प्रकट है —

> श्रीमत्तपागणपतिर्यतिमार्गवीर, श्रीहीरहीरविजयो जयवान् बभूव।
> य प्रत्यबूबुधदकब्बरराजराज्य वाक्यै सुधातिमधुरैर्यवनाधिराजम् ॥१३॥
>
> श्रीवाचक कनकतो विजया बभूवु—विद्यानवद्ययशमो भुवि तद्विनेया।
> तेपा सुशीलविजया कवयो विनेया, शिष्यौ बभूवतुरतुल्यमती तदीयौ ॥१४॥

---

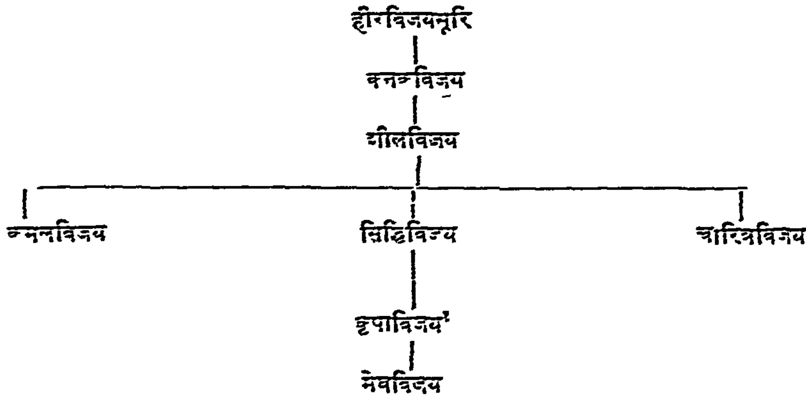
१. लिखितोऽय ग्रन्थ पण्डितश्री ५ श्रीरगसोमगणिशिष्य-मुनिसोमगणिना स० १७०९ वर्षे चैत्रमासे कृष्णपक्षे एकादशी तिथौ बुधे लिखित राजनगरे श्रीतपागच्छाधिराज—म० श्रीविजयदेवसूरीश्वरविजयराज्ये। (विजयदेवमाहात्म्य, प्रान्तपुष्पिका।)

२ देवानन्दमहाकाव्य, सर्ग ७, पद्य ८०

आद्यः श्रीकमलादिमश्च विजयस्तस्यानुजन्मा बुधः,
श्रीसिद्धिर्विजयोऽत्र तौ मम गुरोर्दीक्षानुशिक्षागुरू।
श्रीसन्मानकनाम्नि धाम्नि महतो दुर्गे विजित्य क्षणा-
ल्लुम्पाकेन्द्रगणान् जयश्रियममू सम्प्रापतुर्विश्रुताम् ॥१५॥

यः षट्तर्कवितर्ककर्कशमतिः साहित्यसिद्धान्तवित्,
प्रागल्भ्यनिधि कृपादिविजयः प्राज्ञो विनेयस्तयोः।
तत्पादाम्बुजभृंगमेघविजयोपाध्यायलब्धात्मना,
ग्रन्थो मेघमहीवरावधिरयं सिद्धिश्रियै तन्यताम् ॥१६॥
(युक्तिप्रबोधप्रशस्ति)

इस प्रशस्ति के अनुसार इनका वंशवृक्ष इस प्रकार बनता है—



मेघविजयगणि रचित ग्रन्थों को देखने पर यह साधिकार कहा जा सकता है कि ये एकदेशीय विद्वान् न होकर सार्वदेशीय विद्वान् थे। काव्य-साहित्य, पादपूर्ति, व्याकरण, छन्द, अनेकार्थ, न्यायशास्त्र, दर्शनशास्त्र, ज्योतिष, सामुद्रिक, रमल, मन्त्र-तन्त्र-यन्त्र, अध्यात्मशास्त्र आदि अनेक विषयों के ये अगाध पण्डित थे और इन्होंने अनेक विषय पर साधिकार वर्चस्वपूर्ण लेखनी चलाई है। इनका साहित्य-सर्जनाकाल वि० सं० १७०९ से १७६० तक का तो निश्चित ही है। साथ ही अन्तसागर गणि द्वारा सं० १७६१ में रचित स्तुति से स्पष्ट है कि उस समय तक आप विद्यमान थे। वर्तमान समय में प्राप्त इनकी रचित साहित्यसामग्री का विषयानुक्रम से संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—

महाकाव्य

१ सप्तसन्धान महाकाव्य—इसकी रचना वि० सं० १७६०[2] में हुई है। इसमें ९ सर्ग हैं। सर्गान्त में



---

१. कृपाविजयकी रचित विजयप्रभसूरि निर्वाणरास प्राप्त है।
२. विधुरसमुनीन्दूनां (१७६०) प्रमाणात् परिवत्सरे।
कृतोऽयमुद्यम पूर्वाचार्यचर्याप्रतिष्ठित ॥
—(सप्तसन्धानप्रशस्तिः)

पद्यसंख्या इस प्रकार है—८२, २५, ८८, ४२, ५८, ६३, ४२, २८, ३२, प्रशस्ति के ३, कुल ४२३। इस काव्य के प्रत्येक पद्य से सात महापुरुषों का कथानक क्रमबद्ध चलता है। ऋषभदेव, शान्तिनाथ, नेमिनाथ, पार्श्वनाथ, महावीर-स्वामी, रघुवंशी रामचन्द्र और यदुवंशी कृष्ण के जीवन-चरित्रमय यह महाकाव्य है। न केवल महाकाव्य की दृष्टि से अपितु अनेकार्थी साहित्य की दृष्टि से भी यह सर्वोत्तम कृति है। पहले मूलमात्र प्रकाशित हुआ था फिर श्रीविजयअमृत सूरि रचित 'सरणि' टीका सह यह ग्रन्थ जैन साहित्यवर्धक सभा सूरत से प्रकाशित हो चुका है।

२ दिग्विजय महाकाव्य—कवि ने इस ग्रन्थ में रचना समय नहीं दिया है। इस काव्य में तपागच्छीय जैनाचार्य विजयदेव सूरि के प्रशिष्य विजयसिंह सूरि के शिष्य गणाधीश विजयप्रभसूरि का जीवनचरित्र ग्रथित है। तत्कालीन राजनैतिक, भौगोलिक, सामाजिक एवं धार्मिक दृष्टि से यह महत्त्वपूर्ण है। महाकाव्य के लक्षणों से परिप्लुत १३ सर्गों का यह काव्य है। सर्गक्रम से पद्यसंख्या इस प्रकार है—८१, ५६, ६२, ७५, ७५, ५७, ७५, १४२, १५१, १५१, १३४, ११३, १०२, कुल १२७८। यह ग्रन्थ सिंघी जैन ग्रन्थमाला (भारतीय विद्या भवन) बम्बई से प्रकाशित हो चुका है।

पादपूर्ति-काव्यसाहित्य

३ शान्तिनाथचरित्र—श्रीहर्षरचित नैषध महाकाव्य की समस्यामय पादपूर्ति से इसका दूसरा नाम नैषधीय समस्या[1] भी है। नैषधकाव्य के प्रथम सर्ग की पादपूर्ति रूप यह काव्य है। मेघदूत की तरह अन्तिम चरण या एक चरण लेकर इसकी रचना नहीं हुई है, अपितु प्रत्येक चरण की चरणानुरूप पूर्ति करते हुए ६ सर्गों में उसकी रचना पूर्ण हुई है। कहीं-कहीं तो एक ही चरण की दो, तीन बार अनुवृत्ति भी की गई है। इस काव्य में सोलहवें तीर्थंकर शान्तिनाथ का जीवन-चरित वर्णित है। सर्गानुक्रम से पद्य संख्या इस प्रकार है—१२६, १३०, ११७, ७८, ७१ ६३, प्रशस्ति ५, कुल ५९०। ग्रन्थकार ने प्रान्त में इसका समय नहीं दिया किन्तु आचार्य विजयप्रभसूरि का उल्लेख होने से स्पष्ट है कि इसकी रचना वि० सं० १७१० के पश्चात् और सं० १७३२ के बीच हुई है। यह ग्रन्थ जैन विविध साहित्य शास्त्र-माला, काशी से प्रकाशित है।

४. देवानन्दमहाकाव्य—महाकवि माघ रचित शिशुपालवध (माघ) महाकाव्य के प्रारंभ के ७ सर्गों तक के प्रत्येक पद्य के चतुर्थ चरण की पादपूर्ति रूप यह महाकाव्य है। इस काव्य में भी सात सर्ग हैं। इसमें तपागणाधीश जैनाचार्य विजयदेवसूरि और विजयप्रभसूरि के जीवन की महत्त्वपूर्ण घटनाओं का क्रमबद्ध वर्णन है। पादपूर्ति के बन्धन में रहते हुए भी कवि ने इस काव्य की रचना इतनी सफलता के साथ की है कि रस-परिपूर्ण नवीन स्वतन्त्र काव्य का रसास्वादन होता है। इसकी रचना वि० सं० १७२७ आश्विनशुक्ला विजयादशमी को सादडी नगर[2] में हुई है। सर्गों की पद्यसंख्या इस प्रकार है—७८, १३०, १७९, ८५, ७२, ९०, ८५ कुल ७१९। यह ग्रन्थ सिंघी जैन ज्ञानपीठ से प्रकाशित हो चुका है।

५. किरातसमस्यापूर्ति—इसके सम्बन्ध में दिग्विजयमहाकाव्य की प्रस्तावना (पृ०४) में पं० अम्बालाल प्रेमचन्द शाह ने लिखा है—'आ काव्यनु नाम शु छे ते जाणी शकायु नथी, पण तेमा किरातार्जुनीय काव्यनी समस्यापूर्ति

---

१ इति श्रीनैषधीयमहाकाव्यसमस्याया महोपाध्यायमेघविजयगणिपूरितायां षष्ठ सर्ग सम्पूर्ण.।

२ मुनिनयनाश्वेन्दुमिते वर्षे हर्षेण सादडीनगरे। ग्रन्थ पूर्ण समजनि विजयदशम्यामिति श्रेय । ८५

(देवानन्दमहाकाव्यप्रशस्ति)।

तो छेज, एनी एक प्रति आचार्य श्रीविजयेन्द्रसूरि पासे हती जेनी प्रेसकापी मे केटलाये वर्षो अगाऊ तेमने करी आपेली, ते स्मरण ऊपरथी जणाय छे, ते प्रति मने मली शकी न थी। ते ये एक सर्गात्मकज हती, सभवत क्याई थी तेनी पूरी प्रति पण मली आवे।'

६ मेघदूतसमस्यालेख—जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है, यह लघुकाव्य महाकवि कालीदासप्रणीत मेघदूत खण्डकाव्य के चतुर्थ चरण को ग्रहण कर पादपूर्ति रूप मे लिखा गया है। वस्तुत विज्ञप्ति स्वरूप स्वगुरु को लिखा गया यह एक पत्र है, जो कि नवरंगपुर[1]-औरंगाबाद मे कवि ने देवपाटण[2] मे विराजमान आचार्य विजयप्रभसूरि को लिखा है। इसमे कवि ने रचना-समय नहीं दिया है किन्तु प्रान्त मे लिखा है कि विजयदेव सूरि की भक्ति मे माघकाव्य का समस्यापूर्ति और विजयप्रभसूरि के गुणोत्कीर्तन मे मेघदूत समस्या लिखी है।[3] जैसा कि ऊपर लिख आये हैं, देवानन्द महाकाव्य की रचना १७२७ में हुई है। अत स्पष्ट है कि इसकी रचना वि० स० १७२७ के बाद हुई है। मेघदूत के १३० पद्य कवि ने स्वीकार किये हैं। यह काव्य जैन आत्मानन्द सभा भावनगर से स्वतन्त्र पुस्तिका रूप मे और विज्ञप्तिलेखसग्रह प्रथम भाग मे सिंघी जैन ग्रन्थमाला से प्रकाशित है।

७ लघुत्रिषष्ठिशलाकापुरुषचरित्र—कलिकालसर्वज्ञ आचार्य हेमचन्द्र रचित त्रिषष्ठिशलाकापुरुषचरित्र का यह संक्षिप्त संस्करण है। कोठारी वनराज[4] की अभ्यर्थना से कवि ने लगभग पाच हजार पद्यो मे इसकी रचना की है। हेमचन्द्र की तरह ही इसके १० पर्वो को पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध मे विभाजित किया है। इसमे कवि ने रचना-समय नही दिया है। यह ग्रन्थ अद्यावधि अप्रकाशित है किन्तु इसका भावानुवाद गुर्जरभाषा मे प० मफतलाल झवेरचन्द ने किया है जो छोटालाल मोहनलाल शाह उनावा (गुजरात) की तरफ से प्रकाशित है।

कथा-साहित्य

८ भविष्यदत्त चरित्र—ज्ञान (श्रुत) पचमी माहात्म्य पर इस चरित्र की पद्यमय २१ अधिकारो मे रचना हुई है। कवि ने रचना-समय का उल्लेख नहीं किया है किन्तु विजयरत्नसूरि[5] का उल्लेख होने से यह स्पष्ट है कि यह रचना वि० स० १७३२ के पश्चात् की है क्योंकि विजयरत्नसूरि १७३२[6] मे आचार्य बने थे। यह चरित्र दानदया-सूरहिम्मतग्रन्थमाला अमदावाद से प्रकाशित हो चुका है।

---

१ स्वस्तिश्रीमद्भुवनदिनकृद्वीरतीर्थाभिनेतु, प्राप्यादेश तपगणपतेर्मेघनामा विनेय।
ज्येष्ठस्थित्या पुरमनुनरन् नव्यरग ससर्ज, स्निग्धच्छायातरुषु वसतिं रामगिर्याश्रमेषु ॥२॥

२. गत्वा चार्ग रुचिरनगरीं देवकात्पत्तनाख्या, बाह्योद्यानस्थितहरशिरश्चन्द्रिकाधौतहर्म्या ॥७॥

३ माघकाव्य देवगुरोर्मेघदूतं प्रभप्रभो। समस्यार्थं समस्यार्थं निर्ममे मेघपण्डित ॥१३॥

४ श्रीमेघविजयनामा विनयविलासे लघुत्रिषष्ठीयम।
चक्रे कोष्ठागारिक-वनराजाऽभ्यर्थनायोगात् ॥५६९॥
लघुत्रिषष्ठिशलाकापुरुषचरित्र प्रान्तप्रशस्ति,

५ तपागणाम्भोजसहस्रभानु, सूरिर्जयी श्रीविजयप्रभाह्व।
तत्पट्टदीप श्रमणावनीप प्रभासते श्रीविजयादिरत्न ॥७६॥
—भविष्यदत्तचरित्र प्रान्तप्रशस्ति

६ विजयप्रभसूरिवराणा पट्टे ६३ विजयरत्नसूरि तेषा पिता हीरानन्द माता च हीरादे, पालनपुरे १७१० वर्षे जन्म, १७२२ वर्षे दीक्षा, १७३२ वर्षे नागोरपुरे सूरिपद, सर्वायु ६३ वर्षाणिप्रपाल्य स० १७७३ भाद्रकृष्ण द्वितीयाया उदयपुरे स्वर्गं गत। भविष्यदत्तचरित्र प्रस्तावना पृ० ४•





९ पचाख्यान—सं० १७१६ मे नवरगपुर[1] मे इसकी रचना हुई है। कवि के कथनानुसार पूर्व मे ४६०० श्लोक[2] परिमाण का जो 'पचाख्यान' नामक ग्रन्थ था उसी का यह सक्षिप्त सस्करण है। सभवत यह पचाख्यान पूर्णभद्र रचित पचाख्यान ही हो। इसकी भाषा सरल और प्रसादगुण युक्त है। यह ग्रन्थ अद्यावधि अप्रकाशित है। इसकी एक प्रति स० १७५१ की लिखित अनूपसस्कृत लायब्रेरी बीकानेर मे प्राप्त है।

विज्ञप्ति पत्रकाव्य

पत्र-प्रेषक स्वीय आचार्य या गुरु को आलकारिक भाषा मे गद्य, पद्य या गद्यपद्यमिश्र मे जो विज्ञप्ति रूप पत्र लिखता है वह विज्ञप्ति-पत्र कहलाता है। जिस स्थान पर आचार्य विराजमान हो उस नगरी का, तत्रस्थ मन्दिरो का और आचार्य का प्रभावशाली आलकारिक वर्णन तथा स्वीय प्रवास, तीर्थयात्रा धर्मध्यान, पठन-पाठन, धर्मप्रचार के साथ स्वस्थित नगरी का वर्णन, इन विज्ञप्ति-पत्रो का प्रतिपाद्य विषय होता है। इस प्रकार के विज्ञप्ति-पत्र ऐतिहासिक, भौगोलिक, सामाजिक और साहित्यिक दृष्टि से बडे महत्त्व के होते है। ऐसे विज्ञप्ति-पत्रो मे हमे सर्वप्रथम वि० स० १४४१ मे जिनोदयसूरि द्वारा लोकहिताचार्य को प्रेषित 'विज्ञप्तिमहालेख' और वि० स० १४४८ मे जयसागरोपाध्याय द्वारा विजयभद्रसूरि को प्रेषित 'विज्ञप्ति-त्रिवेणी, प्राप्त होते हैं। इसके पश्चात् तो सैकडो की सख्या मे विज्ञप्तिपत्र प्राप्त होते हैं जिनमे से २५ विज्ञप्तिपत्र पुरातत्त्वाचार्य मुनि जिनविजयजी ने विज्ञप्ति लेखसग्रह प्रथम भाग मे प्रकाशित किये हैं।

मेघविजयजी लिखित विज्ञप्तिपत्र जो वर्तमान मे प्राप्त होते है उनमे से मेघदूतसमस्यालेख का विवरण दिया जा चुका है, अवशेष का क्रमश परिचय इस प्रकार है —

१० पाणिनिद्व्याश्रयविज्ञप्तिलेख—शिवनगरी[3] से यह पत्र गणनायक विजयप्रभसूरि को लिखा गया है। जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है, यह द्व्याश्रय काव्य है। एक ओर जहा पाणिनि के अष्टाध्यायी सूत्रो का क्रम चलता है तो दूसरी ओर वही पद्य श्लेषयुक्त होकर विज्ञप्ति-पत्र के प्रतिपाद्य अर्थ को प्रकट करता है। इसमे चार विश्राम हैं। प्रथम विश्राम मे सज्ञासन्धि के साथ भगवान ऋषभदेव का, द्वितीय विश्राम मे अच्सन्धि के साथ कुर्कुट नगरी का, तृतीय विश्राम में अच्सन्धि के साथ शिवनगरी और चातुर्मासिक धर्मकृत्यो का तथा चतुर्थ विश्राम मे हल्सन्धि के साथ आचार्य विजयप्रभसूरि का श्लेषालकारयुक्त वर्णन है। चारो विश्रामो की पद्य सख्या इस प्रकार है —२५,३८,३६,३६। यह पत्र अभी तक अप्रकाशित है। इसकी एक मात्र प्रति भाण्डारकर ओरियन्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट पूना मे न० ए-२६६।१८८२-८३ पर है। इसी की प्रतिलिपि राजस्थान प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान जोधपुर मे है। इसका आद्यन्त इस प्रकार है —

आदि—स्वस्ति श्रिया सत्प्रकृतित्वभाजा, य. प्रत्ययात्मापरयोगशाली।
सयुज्य नानाविधिरूपसिद्धयं, भवेन्मुदे य स मारुदेव ॥१॥
कौमाररूपेऽपि कलाविशेषात्, सज्ञाभिवृद्धे र्विधिलाघवाच्च।
य पाणिनीय नयमादिदेश, सदाऽकृतव्यूहतया शिवात्मा ॥२॥

---

१ तच्छिशुर्मेघविजयो रसेन्दुनगभूमिते वर्षे व्यधादिम ग्रन्थ नवरगपुरे वरे ॥ ६ ॥

२ चतु सहस्री शतषट्कयुक्ता श्लोकैतिशास्त्रप्रथित पुराऽभूत्।
सक्षिप्य तत्वालसुखावबुध्यै, व्यधत्त मेघाद्विजयो मनीषी ॥३॥ (पचाख्यानप्रशस्ति)

३. एव च यस्मिन्नगरेऽतिविद्वान्, बालो युवा वा प्रवया जनोस्ति।
शिवाभिलाषी सुरसार्थसक्तस्तत शिवाख्यान्नगरादमुष्मात् ॥ तृतीय विश्राम

विनिर्भना दूर जगोन्त एत्य, माक्षादिव श्रीगुरुमीक्षमाण ।
शिप्यागुमेघाद्विजय स्वकीय, भाव पर विज्ञपयत्य-मुप्मिन् ॥१२॥
(तृतीय विश्राम)

अन्त—एवं जगद्भासनकारि यस्या-नुशासन श्रीगणस्वामवस्य ।
जयत्यवन्या विजयप्रभाह्व, सूरि मभूरिप्रभुनाद्भुतश्री ॥३६॥

इति श्रीपाणिनीयहल्सन्धिश्लेषालकाररम्ये श्री परमगुरुविज्ञप्तिलेखे द्वयाश्रये गुरुवर्णनरूपश्चतुर्थविश्राम ॥

११ पाणिनीय द्वयाश्रयविज्ञप्तिलेख—यह द्वितीय विज्ञप्ति लेख भी मेघविजयजी ने शिवनगरी से कुर्कुटनगर[1] स्थित युवराजसूरि[2] विजयरत्नसूरि को लिखा है। प्रथम लेख की तरह ही यह भी पाणिनीय के सज्ञासन्धि, अच्सन्धि और हल्सन्धि के साथ श्लेषालकार युक्त चार विश्रामो मे विभक्त है। चारो विश्रामो की पद्यसख्या निम्न है —११,२२,१५, १३। विजयरत्नसूरि स० १७३२ मे आचार्य बने हैं अत यह स्पष्ट है कि इसकी रचना १७३२ के पश्चात् हुई है।

इन दोनो विज्ञप्तिलेखो को देखने से स्पष्ट है कि मेघविजयजी ने दोनो पत्र एक ही साथ लिखे हैं और एक साथ ही प्रेषित भी किये हैं, एक पत्र गणनायक के नाम से और दूसरा पत्र युवराजाचार्य विजयरत्नसूरि के नाम से।

इस लेख की भी एक मात्र प्रति भाण्डारकर ओरियन्टल रिसर्च ईन्स्टीट्यूट पूना मे न० २६६, ए १८९२-९३ पर है। इसी की प्रतिलिपि राजस्थान प्राच्यविद्याप्रतिष्ठान जोधपुर मे है। यह भी अभी तक अप्रकाशित है। इसका आद्यन्त इस प्रकार है —

आदि—स्वस्तिश्रये वररुचिर्जगतोऽपि शिक्षा-शास्त्रे पटुर्जयति पाणिनिमूल शास्ता।
योगे पतञ्जलिहिताय क्षतोपदेशम्सम्यक्पदार्थविधिसाधनकृज्जयाय ॥१॥

अन्त—वपुस्तप स्थानमिवाश्रमोऽस्तु-स्वाग्स्यन सत्यगिर गुरूणाम्।
मनो मनोभू विजयात्पवित्र, चित्र तदन्यत्र जनानुरागम् ॥१२॥

एव यदीयो जगतोऽपि लक्ष्म्यो, जागर्त्ति निर्देशमणिर्महिम्ना।
तं सूरिरत्नैर्विगलत्सपत्नं (?)—र्जय प्रणाम स्वशिरोऽस्त्रिन्नायम् ॥१३॥

इति श्रीपाणिनीयद्वयाश्रये विज्ञप्तिलेखे हल्सन्धि-श्लेषविशेषालकारश्चतुर्थविश्राम ॥

१२ विज्ञप्तिका—मेघविजयजी ने यह विज्ञप्तिका तत्कालीन गणनायक श्री विजयदेवसूरि को लिखी है। विजयदेवसूरि का स० १७१३ मे स्वर्गवास हो गया था, अत यह निश्चित है कि इस विज्ञप्तिका की रचना स० १७१३ के पूर्व ही हुई है। पद्यसख्या १२५ है। यह विज्ञप्तिका 'विज्ञप्तिलेखसग्रह प्रथम भाग' मे प्रकाशित है। इसका आद्यन्त इस प्रकार है —



१ यद् ह्रस्वदीर्घादिकृते स्वरेणोपदेशित कुर्कुटशब्दरूपम्।
तदीश्वर कुर्कुटशब्दपूर्वो यन्नाम्नि तस्मिन्नगरे वरेण्ये ॥२२॥ (द्वितीयविश्राम)

२ इत्याद्यसौ कृत्यविधौ प्रवीण, सर्वोऽपि लोक समभूत्तदानीम्।
निर्विघ्नताया युवराजसूरि, स्मृत्याऽपि हेतु शुभवल्लिमेघ ॥१५॥ (तृतीय विश्राम)



स्वस्ति श्रीगदमन्दमोदविनमद्देवेन्द्रमौलिस्फुरन्,
मागल्यागयवाकुराकरपरिग्लासाऽप्रयागादाया ।
यस्य श्रीजगदीश्वरस्य चरणाम्भोजन्मचिह्नच्छलात्,
तस्यौ पीनतनूग्नूनगुग्नभाग् गोकर्णजम्तर्णक ॥१॥

× × ×

तत्र श्रीमत्तारसिरसिकैरास्तिकै श्वेतपक्षै,
पूर्णे पूज्यक्रमजलरुहैर्नीतपद्माकरत्वे ।
सेवाप्रोढैर्मनसि हसित यर्मणा नर्मवाद,
कृत्वा तत्त्वाश्रयणविधये प्रेपयत्येप मेघ ॥२८॥

× × ×

पश्चाद् गुरोर्दृष्टिसुधाप्रवाहैराप्लाव्यमान दलमेव देयम् ।
स्मार्यश्च कार्येपु जिनार्यनामे (?), भुजिप्यमुल्योऽस्त्विति मगलश्री ॥१२५॥

१३ गुरुविज्ञप्तिलेखरूप चित्रकोशकाव्य—मेघविजयजी ने सादडी से यह लेख श्रीपुरस्थित तत्कालीन गणनायक श्री विजयप्रभसूरि को लिखा है। इसमे तीन अधिकार हैं। प्रथम अधिकार प्राप्त नही है और तृतीय अधिकार भी अपूर्ण रूप मे प्राप्त है। यह लेख चित्रबन्ध काव्यो मे लिखा गया है। सिंहासन, श्रीवत्स, मत्स्ययुगल, स्वस्तिक, बीजपूरक नन्दावर्त्त, भद्रासन, शरावसम्पुट, दर्पण, गोमूत्रिका कमल, अष्टारचक्र, नागसगम, मालती, सूर्यमुखी पुष्प, चतुर्दलदेवकुसुम आदि चित्र एव प्रश्नोत्तरजाति श्लिष्ट काव्यो से यह लेख गुम्फित है। द्वितीय अधिकार मे ४७ पद्य हैं और तृतीयाधिकार के ९ पद्य प्राप्त हैं। इसकी एकमात्र प्रति श्रीअगरचन्दजी नाहटा, बीकानेर के सग्रह मे है। इसका आद्यन्त इस प्रकार है —

आदि—यत्र चित्रभरचित्रिचैत्य-श्रेणिरुन्नततरा मनुजानाम् ।
नृत्यगुञ्जदुरुमञ्जुमृदगनिस्वनैर्धनमिहाह्वयतीव ॥

अन्त—शिवागजो लब्धरजोगवासि, शुभाशय शास्तशय समासु ।
बभार शान्त श्रुतसारभाव, सदानमासन्नसमा न दास ॥९॥

१४ विज्ञप्तिपत्रम्—मेघविजयजी ने नाडुलाई से यह पत्र वर्गवटी (वगडी) नगर मे विराजमान गणाधिप श्री विजयप्रभसूरि को लिखा है। पद्यसख्या १०१ है। प्रारभ मे पद्य १ से २२ तक युगादिनाथ का वर्णन, पद्य २३-४७ तक वगडी का वर्णन, पद्य ४८ से ७९ तक नाडुलाई का चातुर्मासिक धार्मिक कृत्यो का समाचार है और अन्त मे १ से २२ तक गच्छाधिप विजयप्रभसूरि का वर्णन है। इसकी एकमात्र प्रति राजस्थान प्राच्यविद्याप्रतिष्ठान, जोधपुर मे ग्र० न० २०४१५ है। इसका आद्यन्त इस प्रकार है

स्वस्तिश्रियामाश्रयणीयमूर्त्ति, सुरद्रुवन्निर्मितकामपूर्त्ति ।
स्फूर्तिर्यदीया महसस्त्रिलोक्या, सर्वाऽपि निर्वापितशत्रुकीर्त्ति ॥२॥

× × ×

तत्राभिरामप्रभुपादरेणो, पावित्र्यत पञ्चवटीकृतायाम् ।
स्फुटीभवेद् देवनटीस्तुताया, पुर्यां पर वर्गवटीतिनाम्न्याम् ॥४७॥

करोति विज्ञप्तिमिमाममाय, मेघादिशब्दाद् विजयन्त्रिसायम् ॥५८॥
येषामिदं विजयते वरपाणिपद्म-माहात्म्यमीहितमसृद्धिकरं जनानाम् ।
तैर्विश्वपूज्यचरणैस्त्ववधारणीया, स्वीयानु प्रणमनप्रकृतिस्त्रिनायम् ॥१०१॥

१५. विज्ञप्तिपत्रम्—मेघविजयजी ने यह पत्र उदयपुर से रामपुर में विराजमान श्रीविजयप्रभसूरि को लिखा है। पद्यसंख्या १६,३८ और ३६ अर्थात् ६० पद्य हैं। इसमें रामपुर का वर्णन, उदयपुर का वर्णन, समाचार एवं आचार्य विजयप्रभ के कीर्त्ति-सौरभ का वर्णन है। अंतिम अंश अपूर्ण है। इसकी मात्र प्रति रा प्रा० शाखा कार्यालय बीकानेर, मोतीचंद खजाची संग्रह 'ग' २८४ पर है जिसकी पत्रसंख्या ४-६ है और लेखन १८वीं शती है। इसका आद्यन्त इस प्रकार है —

जयति जगति सीमा यस्य रामस्य नीतेः,
सततविजयि राज्यं लब्धवर्णैन वर्ण्यम् ।
पुरमिदमिदमीयाख्याविशेषात्प्रतीतं
गुणगणगणनाया तस्य क शीतकः स्यात् ॥१॥
सनसि परिनिधाय स्वीयविज्ञप्तिमेतां
रचयति शुचिवृत्त्या मेघनामा भुजिष्यः ॥१६॥
तैस्तातपादैः प्रसरत्प्रसादैर्यशोभिराक्षिप्तहिमांशुपादैः ।
सत्यन्त्रिसाय गिनुना क्रियन्ते, ना मानसाध्वसः …॥३६॥

१६ विज्ञप्तिपत्रम्—यह पत्र भी मेघविजयजी ने उज्जैन से मेदिनीपुर (मेडता) में स्थित आचार्य श्री को लिखा है। यह पत्र अपूर्ण है, पद्य सं० ३१,३२,४ कुल ६७ है। हरिणी और वसन्ततिलका छन्द में गुम्फित हैं। इसकी एक मात्र प्रति रा० प्रा० वि० प्र० शाखा कार्यालय बीकानेर, खजाची सं० 'ग' २८४ पर है जिसकी पत्र सं० ४-६ है और लेखन १८वीं शती है, आद्यन्त इस प्रकार है —

जयति नगरे यस्मिन्नर्हन्निवेशन
द्विविधतनुभृत्तापव्यापव्यपोहसचेतनम् ।
अनुगुणगुणैर्मोदोवानान् कृतामृतवेतन,
समहिमहिमच्छायामायाप्रमोदितकेतनम् ॥१॥
यस्यामनेकसविवेकमहेन्द्यलोक-
निर्मापितार्हत महाभवनानि नूनम् ।
उच्चैः प्रसृत्वरसुधाकरसंकरेण,
व्याघातधारि वरधाम हसन्ति कामम् ॥१॥
शिष्यो भुजिष्य रुचिरत्नतनुर्विशिष्य
नाम्नाऽस्य मेघविजय किल त तनोति ।
विज्ञप्तिवल्लिवनपल्लवन रसैन
लेखान विशोजनविपल्लवन विधाय ॥८॥





१७ विज्ञप्तिपत्रम्—पत्र अपूर्ण होने से यह अस्पष्ट है कि कवि ने यह पत्र कहाँ से कहाँ को और किसको लिखा है ? 'तपगणभृत पचशाखस्य पाणेः' से अनुमान कर सकते हैं कि विजयसिंहसूरि को यह पत्र लिखा हो। पद्य २८ और २१ हैं। इसमें पर्युषणा के धार्मिक कृत्यों के समाचार हैं। इसकी भी एकमात्र प्रति रा० प्रा० वि० प्र० शाखा कार्यालय, बीकानेर, खजाञ्ची सग्रह 'श' २८४ पर है। पत्र सख्या ७-६ है। आद्यन्त निम्न है —

अथ गगनरमायाश्चित्रमायानुकारी,
निजकरनिकरेण ध्वान्तधारापहारी।
समयरसिकयोगी स्वान्तपद्मप्रचारी
धृततनुरिव बोध सूर्य आसीत्प्रकाशी ॥२॥
श्रीमान् सूरेर्जयति विजयी लक्षणै पञ्चशाख-
श्चञ्चललक्ष्मी भरवितरणैर्नन्दित श्राद्धशाख ।
सेव्य शश्वद्विबुधनिवहैर्गवान्पारिजात,
प्रातर्भास्वानिव हृततमस्तेजसाऽपारिजात ॥२॥
वासोल्लासप्रकटकपटादुद्गिरन् पोष्यराग,
लक्ष्मीलीलाभवनविभया सूरिराजस्य पाणि ।
अम्भोयोनेरपि च लभता सौरभेणोपमान,
श्यामाभासा यदिह रमते भृगमालाक्षमाला ॥२॥

१४, १५, १६ सख्याक तीनो विज्ञप्तिपत्र अनुमानत स्वय कवि द्वारा लिखित हैं, अक्षरो शब्दो और चरणो को स्थान-स्थान पर काट कर या हरताल फेरकर पुन नव्य शब्द या चरण लिखे हैं।

व्याकरण

१८ चन्द्रप्रभाव्याकरण—जिस प्रकार पाणिनीय अष्टाध्यायी को भट्टोजि दीक्षित ने सिद्धान्तकौमुदी का रूप प्रदान किया है उसी प्रकार मेघविजयजी ने अपने शिष्य भानुविजय के लिये हेमचन्द्राचार्यप्रणीत सिद्धहेमचन्द्रव्याकरण को कौमुदी का स्वरूप प्रदान किया है,[1] इसीलिए इसे 'हेमकौमुदी' भी कहते हैं। इसकी रचना स० १७५७[2] दीपमालिका के दिन आगरा[3] में हुई है। इस ग्रन्थ का सशोधन सौभाग्यविजय और मेरुविजय[4] ने किया है। इसका श्लोकपरिमाण आठ

---

१ श्री मेघविजयनाम्नोपाध्यायोऽध्यायतत्पर परम ।
चन्द्रचन्द्रप्रभा चक्रे भानूदयबुद्धिविवृद्धिकरी ॥११॥
भट्टोजिनामा भवदीक्षितेन, सिद्धान्तयुक्ता वरकौमुदीया ।
श्रीसिद्धहेमानुगता व्यधायि, सेवाश्रिया भानुविभोदयाय ॥१२॥

२ विजयन्ते ते गुरव शैलशरर्षीन्दु (१७५७) वत्सरे तेषाम् ।
आदेशाद देशपते स्थिति कृता राजधान्यन्त ॥७॥

३ चातुर्मास्यामस्या नाम्ना श्रीआगरा वराऽऽख्यायाम् ।
नानार्योगैरुचितै रचिता चन्द्रप्रभा सुधिया ॥८॥

४ हेमचन्द्रसुगुरो विनयस्य सिद्धे, शास्त्रार्णवोऽलभत पूर्णदशा रसेन ।
दीपोत्सवस्य दिवसे कुशलेन योऽसौ, सौभाग्य-मेरुविजयादिभिरीक्ष्यमाण ॥१५॥

हुआ है। व्याकरण की दृष्टि से यह इनकी सर्वोत्तम रचना कही जा सकती है। यह ग्रन्थ श्वेताम्बर संघ मेहसाणा की तरफ से प्रकाशित हो चुका है।

१९ हैमशब्दप्रक्रिया—मध्य सिद्धान्तकौमुदी के समान यह सिद्धहैमशब्दानुशासन की प्रक्रिया है। श्लोकपरिमाण ३५०० है। इसकी हस्तलिखित प्रति भाण्डारकर ओरियन्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट पूना में है, जो कि प्रकाशन योग्य है।

२०. हैमशब्दचन्द्रिका—लघुकौमुदी के सदृश ६०० श्लोक परिमाण की यह रचना है। विजयप्रभसूरि के शासनकाल में इसकी रचना हुई है। शाह वाघजी गोमजी, कोठारा (कच्छ) की तरफ से यह प्रकाशित हो चुकी है।

न्याय

२१ मणिपरीक्षा—इस ग्रन्थ में नव्यन्यायप्रवर्तक नैयायिकोत्तम गंगेशोपाध्याय रचित 'तत्त्वचिन्तामणि' का कतिपय अंशों का 'मणि' नाम से परीक्षण किया है।' उदयनाचार्यकृत किरणावली, वाचस्पतिकृत न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका, महामहोपाध्याय रघुनाथकृत तत्त्वचिन्तामणिदीधिति प्रगल्भ मणि पक्षधरमिश्रकृत न्यायरत्न आदि प्राचीन न्याय के ग्रन्थों के आधार से नई युक्तियों का नैयायिकों के समान परिष्कार प्रवीण शैली से युक्तिपूर्वक खण्डन किया है। इसमें चार विषय है। इसकी रचना विजयप्रभसूरि के शासन में स्वशिष्य भानुविजय के पठनार्थ हुई है। भाषा प्रौढ एवं प्राञ्जल है। इसकी स्वयं ग्रन्थकार द्वारा लिखित हस्तलिखित प्रति कुंवरजी भण्डार (बड़ा भण्डार) बीकानेर नं० ३२१, में है। पत्र संख्या ८ है।

२२ युक्तिप्रबोध सिद्धान्त—इस ग्रन्थ में आगरा निवासी, 'समयसार नाटक' के अनुवादकर्त्ता, प्रसिद्ध कवि बनारसीदास जी द्वारा प्रतिपादित आध्यात्मिक मत एवं दिगम्बर मान्यताओं का श्वेताम्बर ग्रन्थों के आधार से खण्डन

---

१ स्याते माघमहाकाव्यगणस्य चमत्कारिभिः सुरै,
मेघेन्द्रं माघमहत्त्वमानयति यं कुर्मीय तस्तं स्तुत।
प्रत्येकस्य महाकाव्यमस्मिन्नया सन्मार्गेऽसिने,
कुर्वीत् सोऽम्बुदः नित्यं स्तुवद दीर्घरविलोकी पुरः ॥१४॥
(चन्द्रप्रभाव्याकरण, पूर्वार्द्ध प्रान्तप्रशस्ति)

२ द्वितीय मध्यव्याकरण पञ्चविंशतिसहस्रश्लोकमितम्।
(हैमशब्दचन्द्रिका-प्रस्तावना पृष्ठ १)

३ श्रीविजयप्रभसूरे प्रेष्य शिष्य कृपादिविजयस्ये। श्रीमेघविजयवाचकवर कृता चन्द्रिका चक्रे ॥१

४ मणे परीक्षा मणिर्वणिग्स्य, पूर्णा स्वं स्वानन्दिकमुदेव।
गणेश्वर श्रीकृष्णशिरसाना, ध्यानेऽवधाया विदपूर्वतुर्या ॥१॥

५ श्रीविजयप्रभसूरेन्द्रपादारविन्द सेवको मेघ।
सम्यक् वसुद्धिसिद्धे रत्नवानेना मणिपरीक्षाम् ॥२॥

६ भानूदयगणिवाचनाय वृद्धया यत्नापन सृजेत।
अभ्यासध्यानरी हृत्सुखस्थान्येह सुधिये ॥३॥

७ देखें, मोहनलाल द० देसाई जैन साहित्यनो संक्षिप्त इतिहास, पृ० ५७६-५७८

८ देखें, सागरानन्दसूरि लिखित युक्तिप्रबोध का उपक्रम—पत्र ३-११



किया है। मूल ग्रन्थ के कुल २५ पद्य हैं जो प्राकृतभाषा में हैं और इस पर स्वयं ग्रन्थकार ने संस्कृतभाषा में ४३००[1] श्लोक परिमाण की विशद-विवेचना पूर्ण टीका की रचना की है। ग्रन्थ में रचनासंवत् का निर्देश नहीं है किन्तु विजयरत्न सूरि[2] के साम्राज्य का उल्लेख होने से इसकी रचना सं० १७३२ के पश्चात् ही हुई है। यह ग्रन्थ ऋषभदेव केसरीमल पेढी रतलाम से प्रकाशित हुआ है।

२३ धर्ममञ्जूषा—कवि ने उपाध्यायपद प्राप्ति[3] के पश्चात् इसकी रचना मेड़ता[4] में की है। इस ग्रन्थ में लेखक ने लुम्पक सम्प्रदाय के किसी अधिकारी के ५८ प्रश्नों के उत्तर अनेक शास्त्रों के आधार से दिये हैं। मुख्य ५८ प्रश्न हैं और १३ गौण प्रश्न हैं। ये प्रश्न किसने किये हैं या किसी ने इन प्रश्नों का कोई ग्रन्थ बनाया है जिसके उत्तर में इसकी रचना हुई है, स्पष्ट नहीं है। ग्रन्थ प्रश्नोत्तररूप गद्य संस्कृत में है। भाषा सरल और युक्तिपूर्ण है। लेखक ने अन्त में लिखा है कि विशेष समाधान हार्दपिकृत हुण्डिका[5] में देखना चाहिये। हार्दपिकृत हुण्डिका ग्रन्थ अप्राप्त है। यह ग्रन्थ अप्रकाशित है और इसकी प्रतियाँ बीकानेर दानसागर भंडार, बड़ौदा एवं आगरा के भंडारों में प्राप्त हैं।

ज्योतिष

२४ मेघमहोदय-वर्षप्रबोध—इस ग्रन्थ में रचना संवत् का निर्देश नहीं है किन्तु प्रशस्ति में गच्छनायक विजयप्रभसूरि और आचार्य विजयरत्नसूरि[6] का उल्लेख होने से यह निश्चित है कि इसकी रचना सं० १७३२ के पश्चात् ही हुई है क्योंकि विजयरत्नसूरि को आचार्यपद सं० १७३२ में प्राप्त हुआ था। ग्रन्थकार ने इस ग्रन्थ का सम्बन्ध और विषय स्थानांगसूत्र[7] (जैनागम) से बतलाया है। प्राचीन एवं आर्वाचीन ग्रन्थ तथा भड्डली आदि लोकप्रचलित अनेक ग्रन्थों के आधार से इनकी रचना हुई है।[8] उद्धृत ग्रन्थों में मुख्य-मुख्य ग्रन्थ निम्न हैं —

---

१. चतुः सहस्री श्लोकाना शतत्रयसमन्विता।
प्रमाणमस्य ग्रंथस्य निर्मित तत्कृता स्वयम् ॥८॥

२ तत्पट्टभूषा महसातिभूषा, सुवर्णनैर्मल्यविधानभूषा।
विराजते श्रीविजयादिरत्न, प्रभुः प्रभाध्यापितदेवरत्न ॥२१॥
तेषा राज्ये मुदाऽकारि, वाङ्मय युक्तिबोधनम्।
मेघाद्विजयसंज्ञेन, वाचकेन तपस्विना ॥१२॥

३ प्राप्तोपाध्यायपदास्ते चक्रुर्धर्ममञ्जूषाम् ॥२॥

४ श्रीमेघपूर्वविजयाह्ववाचकोऽसौ,श्रीमेदिनीपुरवरे स्वदृश प्रमत्यै ॥४॥

५ शेष श्रीहीरविजयसूरीश्वरवच प्रबुद्धश्रीलुमाघपाक्षिकश्रीमेघजीनामाचार्यसहचारयशःश्रीतपागच्छसामाचार्यगीकारक-सैद्धान्तिकमुख्यश्रीहार्दपिकृतहुण्डिकात प्रतिपत्तव्यम्।

६. श्रीमत्तपागणविभुः प्रसारत्प्रभाव, प्रद्योतते विजयत प्रभनामसूरि।
तत्पट्टपद्मतरणिर्विजयादिरत्न, स्वामी गणस्य महसा विजितद्युरत्न ॥६६॥

७. स्थानागसूत्रविग्योक्तवर्षबोध-ज्ञानाय यत्प्रकरण विहित वितत्य।
भक्त्या व्यदीपि जिनदर्शनमेव तेन, लोक सुखी भवतु शाश्वतबोधलक्ष्म्या ॥६८॥

८ क्वचित्प्राच्चैर्वाच्यैरतिशयरसात् श्लोककथनै,
क्वचिन्नव्यं श्रव्यं प्रकरणमभूदेतदखिलम्।
सता प्रामाण्याय क्वचिदुचित लोकोक्तिरुचित,
जिनश्रद्धाभाजामपि चतुरराजा समुचितम् ॥१०१॥

१ अर्घकाण्ड, २ गार्गीय संहिता, ३ गिरधरानन्द, ४ चतुर्मासकुलक, ५ जगन्मोहन, ६ जम्बूद्वीपप्रज्ञप्तिसूत्र, ७ तिथिकुलक, ८ त्रैलोक्यदीपक, ९ नरपतिजयचर्या, १० बालबोध ज्योतिष, ११ भड्डली, १२ भद्रबाहुसंहिता, १३ भगवतीसूत्र, १४ रुद्रकृत मेघमाला, १५ हीरविजयसूरि कृत मेघमाला, १६ केवलकीर्ति[1] (दिगम्बर) कृत मेघमाला, १७ खरतरगच्छीय उपाध्याय मेघजी[2] कृत मेघमाला, १८ रत्नमाला, १९ रामविनोद, २० वराहसंहिता, २१ विवेकविलास, २२ सारसंग्रह, २३ स्थानांगसूत्र, २४ दुर्गदेव कृत षष्टिसंवत्सर[3] आदि।

आश्चर्य है कि हीरविजयसूरि, खरतरगच्छीय मेघजी और केवलकीर्तिप्रणीत मेघमाला नामक तीनों ग्रन्थ आज अप्राप्य हैं।

यह ग्रन्थ १३ अधिकार और ३१ द्वारों में विभक्त है।[4] देश, मास, देव, संवत्सर, शनिश्चर वत्सर, अयन, मास पक्ष-दिन निरूपण, अगस्ति वर्षराजादि जन्मलग्न अन्नविशुद्धादि कथन, गर्भकथन, तिथिफलकथन, सूर्याचार कथन, ग्रहणविमर्श द्वारचतुष्टय कथन और शकुन निरूपण नामक १३ अधिकार हैं।

इस ग्रन्थ की महत्ता के सम्बन्ध में पं० भगवानदासजी जैन लिखते हैं —

'इसका प्रतिदिन अनुशीलन किया जाय तो अगले वर्ष में दुष्काल होगा या सुकाल, वर्षा कब और कितने कितने दिन बरसेगी, धान्य सोना चांदी आदि धातु, कपास, सूत और व्यापारिक वस्तु इन सबका तेजी होना या मंदी, अच्छी तरह जान सकते हैं। सारांश यही है कि भावी वर्ष का शुभाशुभ जानने के लिये कोई भी विषय इसमें नहीं छोड़ा है।' (भूमिका पृ० ४)

पं० भगवानदासजी जैन कृत हिन्दी अनुवाद के साथ यह ग्रन्थ प्रकाशित है।

२५ जन्मपत्रीपद्धति—मुनि जिनविजयजी की सूचनानुसार इसकी एक प्रति मुनि कान्तिसागरजी के पास है। अनूपसंस्कृत-लायब्रेरी बीकानेर में भी 'मेघीपद्धति' की एक प्रति है पर उसमें कर्त्ता का नाम नहीं है।

२६ हस्तसंजीवन—इसका दूसरा नाम सिद्धज्ञान भी है। मूल में ५२५ पद्य हैं। इस ग्रन्थ पर स्वयं ग्रन्थकार ने 'सामुद्रिक लहरी' नामक ५००० श्लोक परिमाण विस्तृत टीका की रचना की है—१ दर्शनाधिकार, २ स्पर्शनाधिकार, ३ रेखाविमर्शनाधिकार और ४ विशेषाधिकार। यह ग्रन्थ हस्तरेखा के सम्बन्ध में भारतीय सामुद्रिक शास्त्र का प्रामाणिक और महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। टीका सहित यह ग्रन्थ मुनि मोहनलालजी जैन ग्रन्थमाला इन्दौर से प्रकाशित है।

रमल



२७ रमलशास्त्र—यह ग्रन्थ अप्राप्य है। इसके संबंध में पं० अम्बालाल प्रेमचन्द शाह ने दिग्विजय-महाकाव्य की प्रस्तावना (पृ० ८) में लिखा है कि 'मेघमहोदयमां तेनो उल्लेख आवे छे। आ ग्रन्थ पण पोताना शिष्य मेघविजय माटे रच्यो हतो, किन्तु मेघमहोदय का स्थल लेखक ने नहीं दिया है। जहां तक मेरा ख्याल है मेघमहोदय में इसका उल्लेख नहीं है।

---

१. देखें पृ० २६२, ३४७
२. देखें, पृ० २६३, ३१२
३ देखें, पृ० १०८
४ त्रयोदशोऽधिकारो सूच्छास्त्रेऽस्मिन् शकुनाख्य ।
तदेकत्रिंशद्द्वारैर्ग्रन्थो लभते पूर्णताम् ॥९७॥

२८ उदयदीपिका—इसमें प्रश्न निकालने की पद्धति का विस्तृत वर्णन है। स० १७५२ मे श्रावक मदनसिंह[1] के लिये प्रश्नोत्तररूप मे ग्रन्थकार ने इसकी रचना की है। यह ग्रन्थ अद्यावधि अप्रकाशित है।

२९ प्रश्नसुन्दरी—इस ग्रन्थ मे प्रश्न-विधि का सक्षेप पद्धति से वर्णन है। इसकी रचना भी श्रीविजयप्रभसूरि के शासनकाल मे हुई है। यह ग्रन्थ अप्रकाशित है। दिग्विजय महाकाव्य की प्रस्तावना (पृ० ८) के अनुसार इसकी एक प्रति आचार्य क्षमाभद्रसूरि के पास है।

३० बीसा यन्त्र कल्प—यन्त्र-शास्त्र इसे अर्जुनपताका और विजययन्त्र भी कहते हैं। इस ग्रन्थ की रचना विजयप्रभसूरि के साम्राज्य मे हुई है। इस ग्रन्थ मे १५ का यन्त्र, १६-१७ का यन्त्र, का यन्त्र, १९ का यन्त्र, २० का यन्त्र, पद्माकार बीसा यन्त्र, अर्हं एव २० विहरमान के आधार से २० का यन्त्र, विजय यन्त्र आदि की रचना विभिन्न रूप मे किस प्रकार होती है, इसका विस्तार के साथ वर्णन किया है। अन्त मे पद्मावती स्तोत्रान्तर्गत 'भूविश्व' पद्य की व्याख्या करते हुये पद्मावती बीसा यन्त्र का विस्तार से आलेखन किया है।

बीसा यन्त्र का विचार करते हुये लिखा है कि बाहुबली[2] आदि मुनिगण इस बीसा यन्त्र को गतिभेद से स्वीकारते हैं। तो ये बाहुबली मुनि कौन हैं और इनका यन्त्र सम्बन्धी कौन-सा ग्रन्थ है? यह शोधकर्ताओं के लिये विचारणीय है।

यह ग्रन्थ अनुवाद सहित महावीर ग्रन्थमाला धूलिया से प्रकाशित है।

अध्यात्म

३१ आर्हद्गीता—भगवद्गीता के अनुकरण पर ३६ अध्यायों मे ग्रन्थकार ने इसकी रचना की है। भगवान् कृष्ण एव अर्जुन की तरह इसमें गणधर गोतमस्वामी द्वारा प्रश्न और श्रमण भगवान् महावीर द्वारा उत्तर शैली में सरल शब्द रचना द्वारा जैन-दर्शन का सुन्दर दिग्दर्शन है। प्रत्येक अध्याय मे २१ पद्य हैं। इसका दूसरा नाम तत्त्वगीता है[3]। रचना सवत् का निर्देश नही है। यह ग्रन्थ महावीर ग्रन्थमाला, धूलिया से प्रकाशित है।

३२ मातृका प्रसाद—मातृका वर्ण 'ओम् नम सिद्धम्' वर्णाम्नाय पर विवेचन करते हुये, 'ओम्' से

---

१ नत्वार्हन्त पार्श्वभास्वद्रूप शङ्खेश्वरस्थितम्।
श्रीश्राद्धमदनार्त्सिहे धर्मलाभ प्रतन्यते ॥१॥
(उदयदीपका मगलाचरण)

२. अथ केचिदिद यन्त्र विंशतेर्गतिभेदत।
प्राहु श्रीबाहुबल्याद्या मुनयो नयकोविदा ॥ (पृ० ५४)

३ इतोऽधिक किञ्चन मातृकाय, व्याख्यानमादेशि मया वितत्य।
श्रीतत्वगीताहितसत्प्रतीताऽध्यायेषु सद्ध्येयधियोत्तरेषु ॥ (मातृकाप्रसाद)
—(देवानन्दमहाकाव्य-प्रस्तावना पृ० ६ की टिप्पणी)

रहस्य का विश्लेषण करते हुये अध्यात्मदर्शन का प्रतिपादन किया है। सं० १७४७ धर्मनगर में इसकी रचना हुई है।[1] यह प्रति कहाँ प्राप्त है? इस सम्बन्ध में पं० बेचरदासजी ने देवानन्दमहाकाव्य की प्रस्तावना में कोई उल्लेख नहीं किया है।

३३ ब्रह्मबोध—यह ग्रन्थ अद्यावधि अप्राप्त है। अम्बालाल प्रेमचन्द शाह[2], पं० बेचरदास जीवराज दोशी[3], पं० भगवानदास जैन[4] आदि ने इसको मेघविजयजी की आध्यात्मिक रचना मानी है, परन्तु किस आधार से? यह स्पष्ट नहीं है। सम्भव है अर्हद्गीता की पूर्वपीठिका में ग्रन्थ का निर्देश होने से इसी आधार पर यह परम्परा चल पड़ी हो।

ऐतिहासिक

३४ तपगच्छपट्टावलीसूत्रवृत्त्यनुसन्धान—जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है कि मेघविजयजी ने पूर्व प्रणीत तपगच्छ पट्टावली जिसमें जगद्गुरु हीरविजयसूरि तक का वर्णन था, उसकी पूर्ति के रूप में मेघविजयजी ने इसकी रचना की है। इसमें मूल चार पद्य प्राकृत भाषा में हैं और उसकी व्याख्या संस्कृत पद्य में है। आचार्य विजयसेनसूरि, विजयदेवसूरि, विजयसिंहसूरि और विजयप्रभसूरि का सं० १६३२ से १७३३ तक अनुक्रम से ऐतिहासिक गुरुपरम्परा का वर्णन है। यह दिग्विजय महाकाव्य के परिशिष्ट में प्रकाशित है।

टीका-ग्रन्थ

३५. विजयदेवमाहात्म्यविवरण—खरतरगच्छीय ज्ञानविमलोपाध्याय के शिष्य श्रीवल्लभोपाध्याय ने सं० १६८८ के आसपास तपागच्छीय विजयदेवसूरि के यशोवर्णन रूप इस महाकाव्य की रचना की है।[6] इस काव्य पर विवरण अर्थात् दुर्गम शब्द एवं स्थलों का मेघविजयजी ने स्पष्टीकरण किया है। रचना संवत् का निर्देश नहीं है किन्तु १७०९ की लिखित हस्तलिखित प्रति प्राप्त होने से यह स्पष्ट है कि इसकी रचना इसी के आसपास हुई होगी। यह ग्रन्थ जैन साहित्य संशोधक समिति की तरफ से प्रकाशित हो चुका है।

३६ वृत्तमौक्तिक दुर्गमबोध—छन्दग्रन्थ, भट्ट चन्द्रशेखर प्रणीत वृत्तमौक्तिक नामक छन्दोग्रन्थ के प्रथम खण्ड के प्रथम गाथा प्रकरण के पद्य ५१ से ८६ तक अर्थात् ३६ पद्यों की टीका है। इन ३६ पद्यों में प्रस्तार का निरूपण हुआ है। प्रस्तार जैसे दुर्गम विषय को मेघविजयजी ने गोचर एवं सरल बना दिया है। इस टीका की रचना १७५५ में भानुविजय[7] के पठनार्थ हुई है। इसकी एकमात्र प्रति स्वयं मेघविजयजी द्वारा लिखित मेरे संग्रह में है। यह टीका मेरे द्वारा सम्पादित 'वृत्तमौक्तिक' में राजस्थान प्राच्यविद्याप्रतिष्ठान जोधपुर द्वारा प्रकाशित हो चुकी है।



---

१ श्रीं नमः सिद्धमित्यादेर्वर्णाम्नायस्य वर्णनम्
  चक्रे श्रीमेघविजयोपाध्यायो धर्मसाधनम् ॥
  संवत्सरेऽश्वाब्ध्यश्वभूमिते पौष उज्ज्वले।
  श्रीधर्मनगरे ग्रन्थः पूर्णश्रियमशिश्रियत ॥ (मातृकाप्रसाद-प्रशस्ति)

२ दिग्विजय महाकाव्य-प्रस्तावना

३ देवानन्दमहाकाव्य प्रस्तावना

४ मेघमहोदय-वर्ष प्रबोध-प्रस्तावना

५ अर्हद्गीता पूर्वपीठिका पद्य ७-१४

६ श्रीवल्लभोपाध्याय के परिचय के लिये देखें, 'अरिजनस्तव'

७ शशिरसवार्धिवसुवर्षे प्रौढिरेषाऽभवनर्थिये।
  भान्वादिविजयाध्यायहेतुना सिद्धिमाश्रिता ॥ (टीका प्रशस्ति)



३७ भक्तामरस्तोत्र टीका—आचार्य मानतुगसूरिप्रणीत भक्तामरस्तोत्र पर यह टीका है। इस टीका की प्रति मेरे देखने मे नही आई है।

३८ पञ्चतीर्थस्तुति सटीक—इसका उल्लेख दिग्विजयमहाकाव्य की प्रस्तावना मे अबालाल प्रेमचद शाह ने किया है। स्तोत्र के प्रत्येक पद्य के ५ अर्थ है जिनमे ऋषभ, शान्ति, नेमि, पार्श्व और महावीर की स्तुति की गई है और इसकी टीका की भी रचना स्वय ने ही की है।

३९. देवा प्रभो स्तवावचूरि—जयानन्दसूरिरचित स्तोत्र पर यह अवचूरि है। इसकी रचना स० १७२४ में हुई है। इसकी प्रति वढवाण के ज्ञानभडार मे प्राप्त हैं।

स्तोत्र

४० चतुर्विशतिजिनस्तव—कवि ने एक-एक पद्य के द्वारा चौवीस तीर्थंकरों की क्रमश स्तुति की है। रचना यमकालकारप्रधान है। इसकी एक मात्र प्रति मेरे सग्रह मे है। इसका आद्यन्त इस प्रकार है —

देवाधिदेवाधिकभाग्यलक्ष्मी, नाभेयनाभेयरुचस्तनो स्ते।
भावेन भावे न विभावयेत, केनाधिकेनाधिजगत् सतानो ॥१॥

अन्त —एव श्रीजिननायका स्तुतिपथ नीताश्चतुर्विशति
श्रीनाभेयमुखा सुखाय सुमुखा देवार्यदेवान्तिमा।

सूरिश्रीविजयप्रभप्रभुपदप्राप्तोदये सन्त्वमी,
मेघाख्ये सकृपा कृपादिविजयप्राज्ञेन्द्रशिष्ये मयि ॥२८॥

४१ आदिजिनस्तोत्र—यह स्तोत्र अपूर्ण रूप मे ही राजस्थान प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान जोधपुर ग्र० न० २०४१५ मे प्राप्त हैं। आद्यन्त इस प्रकार है —

स्वस्तिश्रियाभ प्रतिरूपरूपा, सर्वेऽपि देवासुरमर्त्यभूपा।
तासा विवाहस्थितिहेतवेय, प्रादुश्चकाराऽऽदिजिन विधाता ॥१॥
नय किमेन हृदये निधाय, मदोद्धुर दुर्द्धरतेजस तम्।
आद्य प्रभुर्बाहुबलि निनाय, पद पद स्वेन सम समगलम् ॥२४॥

४२ रावणपार्श्वनाथ स्तोत्र—शार्दूलविक्रीडित छन्द मे ९ पद्यो मे रावणपुर स्थित पार्श्वनाथ की स्तवना है। रावणपुर-सभवत अलवर का ही दूसरा नाम है क्योकि कवि ने इन्द्रप्रस्थ (दिल्ली) के निकट स्वीकार किया है —

जाने तज्जनकालमजाव्यतिकर प्रोद्भूयमानानया—
न्मत्वात्व ननु मगमेव भगवन्नैतस्थले तस्थिवान्।
सेवार्थं भुवि रावणाख्यनगर तत्तेन सवासित
पार्श्वे चेन्द्रपथ सुतेन विहित तेनेन्द्रजिच्छर्मणा ॥५॥

यह स्तोत्र 'महाचमत्कारिक वीशायन्त्रकल्प' नामक पुस्तक मे प्रकाशित हो चुका है।

गुर्जर भाषा की कृतियाँ

४३ कुमति निराकरण हुण्डी स्तवन—७६ गाथा के इस स्तवन में दिगम्बर समाज की मान्यताओं का खण्डन है। श्रीमोहनलाल द० देसाई लिखित जैन गुर्जर कविओ भाग २ के अनुसार इसकी प्रति महोपाध्याय रामलालजी संग्रह बीकानेर में है।

४४ पार्श्वनाममाला स्तवन—दीव में इसकी रचना हुई है। पद्य संख्या ३५ है। सं० १७२१ की लिखित प्रति से प्राचीन तीर्थमाला भाग १ में प्रकाशित हुई है अतः सं० १७२१ में इसकी रचना हुई है।

४५ विजयदेवसूरि निर्वाण स्वाध्याय—इसमें कवि ने विजयदेवसूरि का संक्षिप्त जीवनचरित्र प्रभाव आदि का उल्लेख करते हुए सं० १७१३ आषाढ सुदि १० को निर्वाण का विस्तार से आलेखन किया है। इसमें ४ ढालें हैं, दोहा सहित कुल गाथाएँ ५२ हैं। जैन ऐतिहासिक रासमाला भाग २ में पृ १०२-१०७ में प्रकाशित हो चुका है।

४६ विजयरत्नसूरि स्वाध्याय—इस स्वाध्याय में तत्कालीन गणनायक विजयरत्नसूरि के गुणों का कीर्तन किया गया है। गाथा ८२ है। ऐतिहासिक सज्झायमाला भाग १ पृ० ७१-७७ पर मुद्रित हो चुकी है।

४७ कृपाविजयनिर्वाण रास—इसका उल्लेख अम्बालाल प्रेमचन्द शाह ने दिग्विजय महाकाव्य की प्रस्तावना में किया है। संभवतः इसमें कवि ने अपने गुरु का जीवन-दिग्दर्शन कराते हुए निर्वाण का वर्णन किया होगा।

४८-५२-४८ जैनधर्मदीपक स्वाध्याय, ४६ जैन शासनदीपक स्वाध्याय, ५० आहारगवेषणा स्वाध्याय, ५१ चौवीस जिनस्तवन, तथा ५२ दशमत स्तवन आदि के भी उल्लेख प्राप्त होते हैं।

५३ मगनी पार्श्वनाथस्तवन—इस स्तवन की ५ गाथायें हैं। इसकी प्रति मेरे संग्रह में है।

पं० बेचरदास जीवराज दोशी ने देवानन्दमहाकाव्य की प्रस्तावना पृ० ६ में लिखा है कि ग्रन्थकार का एक स्वहस्तलिखित पत्र भी विद्यमान है और वह पत्र ग्रन्थकार ने सं० १७५६ भाद्र सुदि २ को ग्वालियर से अपने शिष्य मुनि सुन्दरविजय, जो जिहानाबाद (दिल्ली) नगर में चातुर्मास थे उन पर लिखा हुआ है। यह पत्र गुर्जर भाषा में है।

शोध करने पर कवि प्रणीत और भी अनेकों ग्रन्थ तथा विज्ञप्तिपत्र प्राप्त हो सकते हैं क्योंकि कवि प्रतिवर्ष चातुर्मास के मध्य में तत्कालीन गणनायक को प्रौढ एवं प्रांजल संस्कृत भाषा में कवित्व तथा वैदग्ध्यपूर्ण विज्ञप्ति-पत्र प्रेषित किया करता था। वर्तमान में केवल ७-८ ही पत्र प्राप्त हुए हैं तथा श्रीअगरचन्द जी नाहटा की सूचनानुसार आगमप्रभाकर मुनिराज श्रीपुण्यविजयजी को कुछ नये विज्ञप्ति-पत्र और प्राप्त हुए हैं।

ग्रन्थों के संक्षिप्त परिचय से स्पष्ट है कि महोपाध्याय मेघविजयजी का प्राकृत, संस्कृत और मरु गुर्जर भाषा पर तथा वाङ्मय के प्रत्येक क्षेत्र पर पूर्ण अधिकार था। कवि की प्रतिभा तथा कवित्व के प्रत्येक ग्रन्थ पर कलापक्ष और भावपक्ष की दृष्टि से विचार-विमर्श एवं मूल्यांकन किया जाय तो स्वतन्त्र ग्रन्थ तैयार हो सकता है जो कि इस निबन्ध के लिये उपयुक्त नहीं होगा अतः इस निबन्ध को संवत् १७६१ में अजरसागर गणि प्रणीत मेघविजयोपाध्यायस्तुति द्वारा पुष्पाञ्जली देता हुआ पूर्ण करता हूँ—

मेघविजय उवज्झाय शिरोमणि पूरण पुण्य निधान के भारा,
ग्यान के पूरनें दूर कियो सब लोकन के मति को अंधियारा।



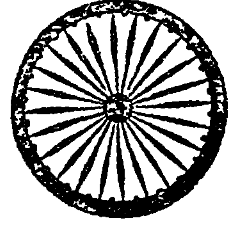


जा दिन लाग्गि उडुग्गण मे रवि चद अनारत तेज है मारा,
ता दिन लो प्रतपो मुनिराज कहे कवि आज भवोदधि तारा ।१।।

भानु भयो जिन के तप-तेज तै मद उद्योत सदा जगती मे ।
दूर गयो मरुदेश तें नीकरि मूढपणो थरकी धरती मे ।
जा दिन ते फुनि मुह कर्यो इत को तुम सुन्दर पूरब ही मे,
ता दिनतें दुख रोरव देश के दूर गये तजि के किन ही मैं ।।२।।

नाम जपै जिनके सुख होय वने अति नीको जगत्ति मे मारे,
भूरितरो सखरो इतमाम अमाम वधे सुविधि दिन मौरे ।
वानी मैं जाकै मिली मव आय सुधाई सुधाई तजी गुर मारै ।
मेघविजय उवभाय जयो तुम जा दिन लो दवि लोक मे तारे ।।३।।

धर्मशर्माभ्युदय-रचयिता महाकवि हरिचन्द्र



डा० स्वप्ना बनर्जी

ऐम० ए०, डी० फिल० इलाहाबाद विश्वविद्यालय

महाकवि हरिचन्द्र के जीवन-वृत्त के विषय मे विद्वानो मे बडा मतभेद रहा है। सस्कृत साहित्य के परिशीलन से पता चलता है कि ईसा की प्रथम शताब्दी से लेकर तेरहवी शताब्दी तक हरिचन्द्र नाम के अनेक विद्वान् विख्यात हुए हैं। अष्टाङ्गसग्रह की व्याख्या मे 'इन्दु' ने एक वैद्य हरिचन्द्र का उल्लेख किया है।[1] विश्वप्रकाश कोश के रचयिता माहेश्वर ने साहसाङ्क नृपति के राजवैद्य का नाम हरिचन्द्र बतलाया है जिन्होंने चरक-सहिता पर एक अतिप्रसिद्ध टीका लिखी थी, जो अब उपलब्ध नही है।[2] 'माधवनिदान' के 'मधुकोष' व्याख्या मे कई स्थलो पर हरिचन्द्र का नामोल्लेख आया है। माधवकर ने चरक, सुश्रुत, वाग्भटादि अन्यान्य प्रसिद्ध वैद्यो के नाम के साथ ही 'भट्टार-हरिचन्द्र' अथवा केवल 'हरिचन्द्र' का इतनी अधिक वार प्रयोग किया है कि ऐसा प्रतीत होता है कि उक्त वैद्य हरिचन्द्र की चरक पर लिखी गई टीका को पर्याप्त प्रसिद्धि मिली थी। इसी कारण से बाद के टीकाकारो ने 'हरिचन्द्रादिभिर्व्याख्यान्तर पाठान्तर पठन्ति' कहकर उनको उद्धृत भी किया है।[3]

चतुर्भाणी के श्यामिलक विरचित 'पादताडितक' नामक भाण मे एक हरिचन्द्र भिषक् का नाम आया है।[4] पादताडितक ईसा की प्रथम शताब्दी मे रचा गया है—यह सिद्ध है।[5] यहाँ हरिचन्द्र के साथ भिषक् विशेषण का

---

१ अष्टाङ्गसग्रह (इन्दुटीका) कल्पस्थान, छठा अध्याय।

२ साहसाङ्कनृपतेरनवैद्यविद्यातरगसुपदद्वयमेव बिभ्रत।
यश्चन्द्रचारुचारितो हरिचन्द्रनामा स्वव्याख्यया चरकतन्त्रमलचकार॥
—विश्वप्रकाश, कान्तवर्ग—५।

३ (क) अत्र केचित् हरिचन्द्रा दिभिव्याख्यान्तर पाठान्तर पठन्ति।
—माधवकर-माधवनिदान, पृ० २२, प० १०।

(ख) यदाह चरक — "सृष्ट्वा ललाटे चक्षुर्वैदग्ध्वा तान् सुरान् प्रभु।
बाण क्रोधाग्नि सन्तप्तमसृत्सन्ननाशनम्॥" इति
एषा च ज्वरोत्पत्तिकथा चरकचिकित्सिते सविशेषा श्रोतव्या इति भट्टारहरिचन्द्र। वही, पृ० २५, प०१५।

४ तत्र भवान् कामचारो भानु लोमशोगुप्त अमात्यो, विष्णुदास शैव्य आर्यरक्षितो दाशरथी रुद्रवर्मा स्कन्द-स्वामी हरिचन्द्रभिषक् आभीरक
आदयोययामभवसन्निपात्या। चतुर्भाणी, पादताडितक, पृ० १५६।

५ कृष्णमाचारी, हिस्ट्री आफ क्लासिकल सस्कृत लिट्रेचर, पृ० २७०।

प्रयोग किया हुआ है। कोप के अनुसार भिपक् का अर्थ वैद्य होता है।[१] ऐसा प्रतीत होता है कि सभी हरिचन्द्र नाम एक ही वैद्य हरिचन्द्र के है और ये ईसा की प्रथम शताब्दी मे हुए है। ये विद्वन्मूर्धन्य जैन रहे अथवा अजैन इसका कोई प्रमाण प्राप्त नही होता।

श्री एस० के० दीक्षित ने वैद्य हरिचन्द्र और प्रयाग स्तम्भ के हरिपेण मे अभेद स्थापित किया है।[२] इन्होने कतिपय पदो को उद्धृत करके यह कहा है कि दो बार उत्पन्न हुए शबरस्वामी के छ पुत्र हुए। ब्राह्मणपत्नी से ज्योतिर्विद वराहमिहिर, क्षत्रिय पत्नी से राजा विक्रम और भर्तृहरि, वैश्य पत्नी से वैद्य हरिचन्द्र और शकु तथा शूद्र पत्नी से अमर उत्पन्न हुए।[३] साथ ही दीक्षित का यह भी विश्वास है कि इन पदो से किसी ऐतिहासिक तत्त्व का तो पता नही चलता केवल हरिचन्द्र के साथ प्रयुक्त 'वैद्यतिलक' शब्द ही ध्यान आकर्पित करता है। प्रयाग स्तम्भ के लेखक हरिपेण के साथ 'खाद्यटपाकिकस्य' विशेपण प्रयुक्त है।[४] व्यूलर ने खाद्यटपाकिक का अर्थ 'राजकीय भोजनालय का निरीक्षक' किया है। किन्तु दीक्षितजी का कहना है कि 'खाद्यपटपाकिक' के साथ प्रयुक्त अन्य विशेपणो का अर्थ देखते हुए इसका यह अर्थ निरर्थक सिद्ध होता है। अत उन्होने इसका अर्थ 'वैद्यतिलक' अथवा 'धन्वन्तरि' माना है और इस प्रकार वैद्य हरिचन्द्र और प्रयाग स्तम्भ के लेखक हरिपेण को आपने एक सिद्ध करने की चेष्टा की है।

वस्तुत प्रयोग का यह स्तम्भ-लेख समुद्रगुप्त की विजयो का वर्णन करता है। इस अभिलेख मे इसके लिखे जाने का समय यद्यपि नही दिया है तथापि यह समुद्रगुप्त की विजयो का वर्णन करता है अत यह अवश्य ही उनके राज्य काल के अन्तिमाश मे लिखा गया होगा। समुद्रगुप्त का राज्य चौथी शताब्दी के मध्य मे था अत यह शिलालेख उसी शताब्दी के अन्तिम पाद मे लिखा गया होगा। इस प्रकार तो इसके लेखक हरिपेण का समय भी चौथी शताब्दी का अन्तिम पाद सिद्ध होता है। अब यदि श्री दीक्षितजी के (हरिपेण को वैद्य हरिचन्द्र मानना) मत को मान लिया जाय तो वैद्य हरिचन्द्र का समय भी चतुर्थ शताब्दी का अन्तिमाश ही मानना पडता है। किन्तु जैसा कि पहले कहा जा चुका है, पादताडितक तथा वैद्यक ग्रन्थो से प्रतीत होता है कि वैद्य हरिचन्द्र का समय ईसा की प्रथम शताब्दी है, अत. हरिषेण निश्चित रूप से कोई पृथक् ही व्यक्ति है, वैद्य हरिचन्द्र नही।

यहा एक मत और भी विचारणीय है—बाणभट्ट ने हर्पचरित मे अपने पूर्ववर्ती कवियो की प्रशस्ति मे एक भट्टार हरिचन्द्र का उल्लेख किया है।[५] भट्टार विशेपण से ऐसा प्रतीत होता है कि ये या तो स्वय राजा रहे या किसी राजा के निकट सम्बन्धियो मे से रहे। इतना निश्चित है कि ये बाण के पूर्ववर्ती कवियो मे से रहे। इन्होने 'मालती'

---

१ "भिपग्वैद्यो चिकित्सके।"—अमरकोष, २। ६। ५७

२ इण्डियन कल्चर, भाग ६, जुलाई १६३६, अप्रैल १९४०, पृ० २०८

३ "ब्राह्मण्यामभवद्वराहमिहिरो ज्योतिर्विदामग्रणी।
राजा भर्तृहरिश्च विक्रमनृप क्षत्रात्मजायामभूत्॥
वैश्याया हरिचन्द्रवैद्यतिलको जातश्च शकु कृती।
शूद्रायाममर षडेव शबरस्वामीद्विजात्मज॥"
—इण्डियन कल्चर भाग ६, पृ० २०६ मे श्री एस० के० दीक्षित द्वारा उद्धृत।

४ एतच्च काव्यमेपामेव भट्टारकपादाना दासस्य समीपपरिसर्पणानुग्रहोन्मीलितमते खाद्यटपाकिकस्य भट्टादण्डनायक-ध्रुवभूतिपुत्रस्य सन्धिविग्रहिक कुमारामात्यमहादण्डनायकहरिपेणस्य सर्वभूतहितसुखायास्तु।"
—समुद्रगुप्तकालीन प्रयागस्तम्भलेख, कॉरपस इन्सक्रप्शनम् इण्डिकेरम्, भाग ३ जे० वी० फ्लीट।

५ भट्टारहरिचन्द्रस्य गद्यबन्धो नृपायते॥ १। १३ हर्पचरित।

नाम की कोई प्रेम-कथा लिखी ऐसा श्री कृष्णमाचारी का मत है।[1] किन्तु प० केदारनाथ शर्मा इनके लिखे गद्यग्रन्थ का नाम 'साहसाङ्कचरित' बताते हैं।[2] ऐसा प्रतीत होता है कि प० केदारनाथजी साहसाङ्क नृपति, राजवैद्य हरिचन्द्र और भट्टार हरिचन्द्र को एक मानते हैं और इसी आधार पर उन्होंने वाणोल्लिखित हरिचन्द्र के गद्यग्रन्थ का नाम साहसाङ्कचरित' सोचा है। जो कुछ भी हो, भट्टार हरिचन्द्र का गद्य ग्रन्थ अब उपलब्ध नहीं। सम्भवत वाण के समय मे वह उपलब्ध रहा हो और वाण ने इसी के आधार पर कादम्बरी की रचना की हो। वाण का समय निश्चित है। ये हर्षवर्धन के समय में हुए और हर्षवर्धन ६३०-६४० के मध्य गद्दी पर बैठे। अत वाण भी इसी समय मे रहे होंगे। भट्टार हरिचन्द्र वाण से एक-डेढ शताब्दी पूर्व के अवश्य होंगे।

राजशेखर ने अपनी काव्यमीमासा[3] तथा कर्पूरमजरी[4] दोनो मे हरिचन्द्र का उल्लेख किया है। दोनो मे ही हरिचन्द्र को कवियो की श्रेणी मे गिनाया गया है।

इसके पहले वाक्पतिराज ने 'गउडवहो' में भास, कालिदास और सुबन्धु के साथ हरिचन्द्र का उल्लेख किया है।[5] राजशेखर का समय आठवी शताब्दी है। राजशेखर और वाक्पतिराज द्वारा उल्लिखित हरिचन्द्र एक ही हरिचन्द्र हैं।

श्री अमृतलालजी शास्त्री ने वाण द्वारा उल्लिखित भट्टार हरिचन्द्र को और वैद्य हरिचन्द्र को एक ही व्यक्ति माना है। दूसरी ओर राजशेखर द्वारा उल्लिखित काव्यमीमासा तथा कर्पूरमजरी के हरिश्चन्द्र को उन्होंने दो पृथक् व्यक्ति माना है।[6] शास्त्रीजी का यह मत कुछ चिन्त्य प्रतीत होता है। वैद्य हरिचन्द्र वाण मे पूर्ववर्ती रहे अर्थात् सम्भवत उनसे एक शताब्दी पूर्व के रहे हो। ऐसी अवस्था मे दोनों हरिचन्द्र भला एक कैसे हो सकते हैं? दूसरी आपत्ति यह है कि वैद्य हरिचन्द्र और भट्टारक हरिचन्द्र एक ही व्यक्ति हैं तो जितने स्थानो पर वैद्य हरिचन्द्र का उल्लेख है उनमे से कही एक स्थान पर भी वैद्य के साथ-साथ गद्यकार या कवि विशेषण प्रयुक्त होना चाहिए था। एक ही व्यक्ति यदि वैद्य है, वैद्यक पर टीका लिखता है और कवि भी है तो उस व्यक्ति का उल्लेख करते समय सर्वत्र उसके एक ही व्यक्तित्व का ग्रहण—कुछ उचित नही प्रतीत होता। वाण ने भी केवल गद्यकार हरिचन्द्र का नाम लिखा है, उसके साथ किसी विशेषण का प्रयोग नहीं किया है। अत अवश्य ही वैद्य हरिचन्द्र और भट्टार (गद्यकार) हरिचन्द्र पृथक्-पृथक् दो व्यक्ति रहे होंगे। दूसरी ओर काव्यमीमासा तथा कर्पूरमजरी के हरिचन्द्रो को दो पृथक् व्यक्ति मानना भी ठीक नही प्रतीत होता। दोनो ग्रन्थो मे ही हरिचन्द्रो को कवि कहा गया है, यही नहीं उनकी गणना उच्च, ख्यातिप्राप्त कवियो के मध्य की गई है।

---

१ कृष्णमाचारी—हिस्ट्री ऑफ क्लासिकल सस्कृत लिटरेचर, पृ० १४६

२ "उनका लिखा गद्य ग्रन्थ भी प्रबन्धराज कहा गया है। यह गद्यकाव्य अभी तक उपलब्ध नहीं है। कहा जाता है कि इसका नाम साहसाङ्कचरित था।" प० केदारनाथ शर्मा—काव्यमीमासा टीका, पृ० २७८

३ श्रूयते चोज्जयिन्या काव्यकारपरीक्षा ।
इह कालिदासमेंठावत्रामररूपसूरभारवय ॥
हरिचन्द्र चन्द्रगुप्तौ परीक्षिताविह विशालायाम् ॥—काव्य मीमासा, पृ० १४३।

४ उज्जअ ताव किं न भणइ, अम्हाण हरिअन्द—णदिअ दकोट्टिसाहालप्पहुनन्दिचन्द्रदीण पि पुरदो सुकइ त्ति।
कर्पूरमजरी, पृ० ७१, काव्यमाला सिरीज, १९००।

५ भासम्मि जलणमित्ते कन्तीदेवे अजस्स रहुआरे।
सोबन्धवे अबन्धम्मि हरिअन्दे अ आणन्दो ॥—गउडवहो, ८००।

६ महाकवि हरिचन्द्र (लेख,—प० अमृतलाल शास्त्री, जैन सन्देश (पत्रिका शोधाङ्क पृ० ७)



अत काव्यमीमासा तथा कर्पूरमजरी दोनो के हरिचन्द्र अवश्य ही एक ही व्यक्ति रहे होंगे। वाक्पतिराज के उल्लेख मे भी प्रतीत होता है कि ये हरिचन्द्र साहित्यकार थे। श्री वासुदेवशरण अग्रवाल ने बाणोल्लिखित हरिचन्द्र की पहचान राजशेखरोल्लिखित हरिचन्द्र से करायी है।[1] उनका यह मत उचित प्रतीत होता है।

किन्तु सस्कृत साहित्य मे प्रसिद्ध इन दो वैद्य और भट्टार हरिचन्द्रो को धर्मशर्माभ्युदय के कर्ता हरिचन्द्र के साथ नही मिलाया जा सकता। कुछ विद्वानो का कहना है कि बाण ने गद्यकार हरिचन्द्र कहा है अत ये उन हरिचन्द्र से पृथक् है जिन्होने धर्मशर्माभ्युदय की रचना की है। किन्तु साहित्यकार हरिचन्द्र गद्यकार और कवि दोनो ही हो सकते हैं। केवल गद्यकार कहने से कवि हरिचन्द्र का निराकरण नही हो जाता। इस विषय मे सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि हरिचन्द्र ने धर्मशर्माभ्युदय के प्रशस्तिपद्यो मे स्वय को 'रसध्वनेरध्वनिसार्थवाह'[2] कहा है। रसध्वनि सम्प्रदाय आनन्दवर्धन के द्वारा नवी शताब्दी मे प्रारम्भ हुआ। इस आधार पर धर्मशर्माभ्युदयकार हरिचन्द्र अवश्य ही नवी शताब्दी के बाद रहे होगे। कीथ[3] और विटरनित्स[4] ने भी धर्मशर्माभ्युदयकार हरिचन्द्र को नवीं शताब्दी के बाद का ही बताया है।

इसके अतिरिक्त भी अन्य कई हरिचन्द्रो का नाम सस्कृत साहित्य मे मिलता है। ऊपर गिनाये गये हरिचन्द्रो की तरह वे प्रसिद्ध तो नही हैं परन्तु उन सभी ने जैन सस्कृत साहित्य मे अपना किंचित् योगदान दिया है। सर्वप्रथम हरिचन्द्र नाम के कुछ जैनाचार्य है जिनका नाम विभिन्न भण्डारो के गुटको मे मिला है। आचार्य नेमिचन्द्रजी शास्त्री को पूज्याचार्य श्री महावीरकीर्तिजी के एक गुटके मे छियासी जैनाचार्यो के नाम मिले हैं जिनमे से बयालिसवे का नाम हरिचन्द्र है।[5] जैन सिद्धान्त भास्कर के इसी प्रति मे अगरचन्दजी नाहटा ने नागौर के भट्टारकजी के भण्डार मे कई गुटको मे मूलगण के नन्दी शाखा के बलात्कार गण की गुरु परम्परा की नामावली को देखने का विवरण दिया है। इस नामावली मे एक हरिश्चन्द्र गुरु भी हैं।[6]

किन्तु ये दोनो आचार्य-परम्परा वाले हरिचन्द्र धर्मशर्माभ्युदय के कर्ता नही हो सकते। धर्मशर्माभ्युदय के कर्ता किसी आचार्य-परम्परा के न होकर किसी राजवश या राजवश से निकट सम्बन्ध रखने वाले नोमक (?) वश के है। इसमे सन्देह नही कि आचार्य-परम्परा वाले दोनो हरिश्चन्द्र जैन ही हैं किन्तु उनके वश और धर्मशर्माभ्युदय के कर्त्ता हरिचन्द्र के वश में कोई समानता नहीं। अत इन दोनो को धर्मशर्माभ्युदय के कर्ता रूप मे नही माना जा सकता।

श्री जे० बी० फ्लीट ने सन् १८८८ मे अहमदनगर के कलसवदरुल नामक ग्राम से एक ताम्रपत्र लेख खोज निकाला। इसका समय १०२५ (शक ?) बताया जाता है।[7] इस लेख को पढने से यह पता चलता है कि देवगिरि

---

१ हर्षचरित एक सास्कृतिक अध्ययन, श्री वासुदेवशरण अग्रवाल, पृ० ६।

२ धर्मशर्माभ्युदय प्रशस्ति पद्य—७।

३ कीथ—हिस्ट्री आफ सस्कृत लिटरेचर, पृ० ३३६।

४ विटरनित्स—दि जैन्स इन दी हिस्ट्री आफ सस्कृत लिटरेचर, पृ० १६।

५ "न० ४२ सवत ९४८ तिथि असाढ वदी ८ आचार्य हरिश्चन्द्र जाति बघेरवल हरबीस गृहस्थवर्ष ८-४-० दीक्षा वर्ष १४-८-० पट्ट वर्ष २६-१-८ अन्तरदिन ८ सर्ववर्षायु ४९-१-२६।"—जैनसिद्धान्त भास्कर (भाग २२, किरण १, १९५५), पृ० ४४

६ "नयनन्दि हरिश्चन्द्रो महीचन्द्रो मलोक्षित।
माघवेंदुर्लक्ष्मीचन्द्रो गुणकीर्तिगुणाश्रया॥ वही, पृ० ५५

७ "प्रक्षालयिष्यन्ति नृप सग्रामकृतांजलि सादरम् असमि तेषा वचनाद् बिल्हणनृपते स सन्मिति रुद्रपण्डित-सुतेन। हरिचन्द्रनामाविदुषा ब्राह्मणहितहेतवे रचितम्।" ६१-६२ ताम्रपत्रलेख (पत्र तृतीय) इण्डियन एन्टिक्वेरी, XVII पृ० ११७।

के राजा विग्रह तृतीय की सभा में रुद्र पण्डित के पुत्र कवि हरिचन्द्र रहते थे। इन्हीं कवि हरिचन्द्र ने अपने आश्रयदाता राजा विग्रह तृतीय की आज्ञा से उनकी वंशावली लिखी थी।[1] किन्तु धर्मशर्माभ्युदयकार हरिचन्द्र के पिता का नाम धर्मशर्माभ्युदय-प्रशस्ति में आर्द्रदेव मिलता है। पुन इस ताम्रपत्र के हरिचन्द्र ब्राह्मण हैं, ब्राह्मण राजा के आश्रित हैं और और ब्राह्मणों के हित के लिए ही लेख लिखते हैं। अत धर्मशर्माभ्युदयकार हरिचन्द्र इनसे भी भिन्न कोई अन्य ही व्यक्ति हैं।

यहाँ एक बात स्पष्ट हो जाना चाहिए कि कुछ लोग हरिचन्द्र को हरिश्चन्द्र[2] भी कहते हैं। अष्टाध्यायी के आधार पर हरिचन्द्र को हरिश्चन्द्र भी कहा जा सकता है, इसमें कोई अशुद्धि नहीं होती।[3] किन्तु वास्तव में कवि का नाम हरिचन्द्र है न कि हरिश्चन्द्र क्योंकि प्राचीन हस्तलिखित प्रति में हरिचन्द्र' नाम ही उपलब्ध है।[4]

धर्मशर्माभ्युदय के अन्तिम प्रशस्ति पद्यों में महाकवि हरिचन्द्र ने अपना परिचय दिया है। इन प्रशस्तियों से पता चलता है कि ये किसी नोमक (?) वंश के थे। इनके पिता का नाम आर्द्रदेव तथा माता का रथ्या था। लक्ष्मण नाम का एक छोटा भाई भी इनको था। इनके वंश की विशेषताओं से प्रतीत होता है कि ये किसी राजवंश से निकट सम्बन्ध रखने वाले थे। श्री नाथूरामजी प्रेमी का कहना है कि नोमक (?) नाम का कोई राज्यवंश था, उससे इनका कोई सीधा सम्बन्ध नहीं जान पड़ता।[5] इनके पिता कायस्थ थे। कायस्थों में जैनधर्म की उपासना साधारणत. नहीं दिखाई पड़ती। कोश से पता चलता है कि कायस्थ कोई जाति नहीं अपितु लेखक का व्यवसाय है।[6] धर्मशर्माभ्युदय में स्वयं कवि ने भी कायस्थ शब्द का प्रयोग लेखक अर्थ में ही किया है।[7] अपने काव्य में हरिचन्द्र ने गुरुओं के प्रसाद से अपने काव्य के निर्मल होने की तथा समर्थ विद्वानों के द्वारा काव्य के परीक्षित होने की बात कही है। किन्तु ये समर्थ विद्वान् कौन थे एवं इनके गुरु ही कौन थे इसका कोई उल्लेख कवि ने नहीं किया। यदि इन विद्वानों का नाम मिलता तो स्थिति कुछ स्पष्ट हो सकती थी। धर्मशर्माभ्युदय में दिए गए इस संक्षिप्त परिचय के आधार पर हरिचन्द्र का समय नहीं निकाला जा सकता। अत इसके लिए अन्य प्रमाणों की आवश्यकता है।

पाटन के संघवी पाडा के पुस्तक भण्डार में धर्मशर्माभ्युदय की ३६ नं० (१८६ नं०—नवीन वेष्टन के अनुसार) की एक हस्तलिखित प्रति है इसमें १२॥ × १ साइज के १९५ पत्र हैं और इसका लेखनकाल वि० सं० १२८७ (१२३० ई०) है।[8] इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि वि० सं० १२८७ के पहले धर्मशर्माभ्युदय की रचना हो चुकी थी। कितने पहले हुई थी यह पुन अन्य प्रमाणों की अपेक्षा रखता है।

---

१ इण्डियन एन्टिक्वेरी, XVII, पृ० ११८, XXII, पृ० १२६।

२ वादिराज के यशोधरचरित की लक्ष्मणरचित टीका की भूमिका में एवं श्री नाथूराम 'प्रेमी' ने भी इन्हें हरिश्चन्द्र कहा है।

३ शश्छोऽटि—८।४।६३ पाठ

४ 'श्री हरिचन्द्रकविविरचित' ऐसा पाठ हस्तलिखित प्रति की प्रशस्ति में है।

५ जैन साहित्य और इतिहास—श्री नाथूराम प्रेमी, पृ० ४६६।

६ कायस्थस्याल्लिपिकर। २३, भूमिकाण्डे शूद्राध्याय, वैजयन्ती कोष।

७ कायस्थ एव स्मर एष कृत्वा दृग्लेखनी कज्जलमञ्जुला य।
शृङ्गारसाम्राज्यविभोगपत्र लावण्यलक्ष्म्या मुहुरो लिलेख ॥१४। ५८ धर्म०

८ सवत १२८७ वर्षे श्री हरिचन्द्रकविविरचित धर्मशर्माभ्युदयकाव्यपुस्तिका श्रीरत्नाकरसूरिआदेशेन कीर्तिचन्द्रगणिना लिखितमिति भद्रम् ॥ सघवी पाडा भण्डार, पाटण की धर्मशर्माभ्युदय की १८६ नं० की हस्तलिखित प्रति।





प० अमृतलालजी शास्त्री ने वाग्भट कृत नेमिनिर्वाण के साथ धर्मशर्माभ्युदय का तुलनात्मक अध्ययन करके यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि वाग्भट महाकवि हरिचन्द्र के पूर्ववर्ती थे।[1] उनका कहना है कि नेमिनिर्वाणकाव्य और धर्मशर्माभ्युदय की लेखन शैली बिल्कुल मिलती है। धर्मशर्माभ्युदय नेमिनिर्वाण से काफी बडा है। नेमिनिर्वाण मे पन्द्रह सर्ग हैं और धर्मशर्माभ्युदय मे इक्कीस। नेमिनिर्वाण की श्लोक सख्या ६७६ है और धर्मशर्माभ्युदय की १६५५। अत हरिचन्द्र ने नेमिनिर्वाण का अध्ययन अवश्य किया होगा। किन्तु श्री अमृतलालजी शास्त्री द्वारा दिये इन तथ्यो के आधार पर किसी कवि को किसी अन्य कवि से पूर्ववर्ती या परवर्ती सिद्ध करना तर्कसगत नही प्रतीत होता।

इसी प्रकार श्री कैलाशचन्द्र शास्त्री ने वीरनन्दि के चन्द्रप्रभाचरित और धर्मशर्माभ्युदय का तुलनात्मक अध्ययन करके यह बताने की चेष्टा की है कि हरिचन्द्र ने चन्द्रप्रभचरित का अध्ययन किया था। इसके लिए उनकी दो उपपत्तियाँ हैं। उनका कहना है, "हरिचन्द्र माघ आदि के टक्कर के कवि हैं किन्तु एक तो उनका कायस्थ कुल मे जन्म लेना तथा दूसरे अपने को अर्हत्पादाम्भोरुहचञ्चरीक' बताना यह सूचित करता है कि वे जैन सिद्धान्त के मर्मज्ञ नही थे। ज्ञाता अवश्य होगे, किन्तु श्रद्धावश आगम की विराधना से भयभीत थे। इसलिए उन्होंने उक्त विषय मे चन्द्रप्रभचरित का अनुमरण किया।"[2] कैलाशचन्द्रजी का यह कथन ठीक है कि कायस्थ कुलोत्पन्न व्यक्ति जैनधर्म का ज्ञाता होने पर भी श्रद्धावश आगम की विराधना से भयभीत होता है। किन्तु, जैसा कि पहले कहा जा चुका है, आर्द्रदेव कायस्थ अपने व्यवसाय के कारण कहलाए। दूसरी बात यह है कि प्रत्येक कवि स्वय को अपने इष्टदेव के चरण कमलो का भ्रमर कहता है। अत "अर्हत्पादाम्भोरुहचञ्चरीक" कहने से कवि दार्शनिक सिद्धान्त का मर्मज्ञ नहीं है, यह नहीं कहा जा सकता।

श्री अमृतलालजी ने और श्री कैलाशचन्द्रजी ने केवल शब्दो और भावो के मेल के कारण वाग्भट और वीरनन्दि को हरिचन्द्र से पूर्ववर्ती सिद्ध किया है। किन्तु इस प्रकार की तुलनाएँ भ्रमपूर्ण भी हो सकती है। भ्रम होना स्वाभाविक भी है क्योकि धर्मशर्माभ्युदय मे हरिचन्द्र ने जब कि वीरनन्दि और वाग्भट का नाम नही लिया है तब केवल शब्दो और भावो के दोनो मे सामान्य होने के कारण हरिचन्द्र को भी वीरनन्दि और वाग्भट का पूर्ववर्ती कहा जा सकता है। श्री नाथूराम प्रेमी ने प० राजकुमार शास्त्री के २२-११-४१ के पत्र का उल्लेख करते हुए लिखा है—"नेमिनिर्वाण काव्य और धर्मशर्माभ्युदय का तुलनात्मक अध्ययन करने से ऐसा मालूम होता है कि वाग्भट ने धर्मशर्माभ्युदय का अच्छी तरह परिशीलन किया था। कई पद्यो को थोडे से ही हेर-फेर के साथ उन्होने अपना बना लिया है। उदाहरण के लिए दोनो का प्रथम पद देखिए। इसी प्रकार धर्मशर्माभ्युदय के पचम सर्ग का और नेमिनिर्वाण के द्वितीय सर्ग का प्रारम्भिक अश भी मिलता-जुलता है जिसमे कि एक सुरागना आकाश से उतरती हुई राजा को दिखलाई देती है और इससे धर्मशर्माभ्युदय नेमिनिर्वाण के पहले का जान पडता है।"[3] इस प्रकार श्री बलदेव उपाध्याय का भी कहना है कि नेमिनिर्वाण की रचना धर्मशर्माभ्युदय के बाद हुई।[4] किन्तु इस प्रकार के तुलनात्मक अध्ययन पूर्णत निर्भ्रान्त नही कहे जा सकते।

"धर्मशर्माभ्युदय" "नेमिनिर्वाण" तथा "चन्द्रप्रभचरित' से पहले लिखा गया अथवा बाद में इस विषय मे श्री नाथूराम प्रेमी का अधोलिखित मत मान्य प्रतीत होता है। उनका कहना है कि "नेमिनिर्वाण" के कई श्लोक वाग्भटालकार मे उद्धृत हैं। वाग्भटालङ्कार (अन्य वाग्भटकृत) का समय वि० स० ११७९ के लगभग है। यदि

---

१ जैन सन्देश (शोधाङ्क ८) जुलाई १९६०, पृ० २६२।

२ अनेकान्त, वर्ष ८, अक १०-११ "महाकवि हरिचन्द्र का समय" श्री कैलाशचन्द्र जैन।

३ जैन साहित्य और इतिहास, श्री नाथूरामजी प्रेमी, पृ० ३०७।

४ सस्कृत साहित्य का इतिहास—श्री बलदेव उपाध्याय, पृ० २७५।

नेमिनिर्वाण के उद्धरण वाग्भटालङ्कार में उपलब्ध हैं तो यह अवश्य ही वाग्भट के पूर्व लिखा गया।[1] इसी प्रकार चन्द्रप्रभचरित वि० की १०वीं शताब्दी में लिखा गया। चामुण्डराय ने अपने गोम्मटसार में अपने गुरुभाई वीरनन्दि और इन्द्रनन्दि को स्मरण किया है। ये वीरनन्दि ही चन्द्रप्रभचरित के कर्त्ता हैं। चामुण्डराय राजाराचमल्ल के सेनापति थे। राचमल्ल का समय वि० सं० १०३१-४१ तक निश्चित है। अतः चामुण्डराय भी इसी युग के रहे। अब यदि वीरनन्दि का नाम चन्द्रप्रभ ने लिया है तो ये अवश्य ही चामुण्डराय के पूर्ववर्ती या समकालिक रहे।

उक्त संघवी पाडा भण्डार में ही १७६ नं० की धर्मशर्माभ्युदय[2]-की एक और हस्तलिखित प्रति है जिसमें १०×२½ के १४८ पत्र हैं। इस प्रति में लिखने का समय तो नहीं दिया है किन्तु प्रति लिखने वाले की आचार्य परम्परा का भी उल्लेख है। इस प्रति के लेखक का नाम कमलाक था और प्रति वितरित करने वाले का नाम विशालकीर्ति था।[3] श्री प्रेमीजी का मत है कि यदि किसी प्रकार से विशालकीर्ति का समय पता चल जाय तो हरिचन्द्र का समय भी निकाला जा सकता है।

एक हरिचन्द्र का नाम "शब्दार्णव की टीका शब्दार्णव चन्द्रिका" की पुष्पिका में आता है।[4] शब्दार्णव जैनेन्द्र-व्याकरण के सूत्र-पाठ के परिवर्द्धित रूप का नाम है। इस शब्दार्णव चन्द्रिका के रचयिता श्री सोमदेव मुनि हैं। ये शिलाहार वंशीय राजा भोजदेव के समय में हुए। शिलाहार वंशीय भोजदेव का समय ११वीं शताब्दी है। सोमदेव ने वादीभवज्राङ्कुश विशालकीर्ति के वैयावृत्त में इस ग्रन्थ की रचना शक संवत् ११२७ (वि० सं० १२६२) में कोल्हापुर राज्य में की।[5] यदि संघवी पाडा पुस्तक भण्डार के १७६ नं० (६०-१) की धर्मशर्माभ्युदय की हस्तलिखित प्रति के विशालकीर्ति और "शब्दार्णव चन्द्रिका" में आये विशालकीर्ति को एक माना जाय तो हरिचन्द्र का समय जानने में पर्याप्त सुविधा होगी। शब्दार्णव चन्द्रिका वि० सं० १२६२(ई० स० १२०५)में लिखी गई होगी। अतः

---

१ जैन सा० साहित्य का इतिहास, पृ० ३२३।

२- संघवी पाडा भण्डार, पाटण में मुझे नं० ६०-१ की "धर्मसगृहाभ्युदय" नाम की एक हस्तलिखित प्रति प्राप्त हुई जिसमें १४८ पत्र हैं। पूछने पर ज्ञात हुआ कि ग्रन्थ का यह नवीन वेष्टन नं० है। पर ग्रन्थ के नामकरण के विषय में कोई सन्तोषजनक उत्तर न प्राप्त हुआ। सम्भवतः नवीन वेष्टन बनाने वाले की अज्ञता ही इसका कारण है।

३ "जयति विजयसिंह श्रीविशालस्य शिष्यो जिनगुणमणिमाला यस्य कण्ठे सदैव।
अमितमहिमराशेर्धर्मनाथस्य कण्ठे निजमुक्तिनिमित्तं तेन तस्मै वितीर्णम्॥"
—धर्मशर्माभ्युदय की १७६ नं० (६०) की हस्तलिखित प्रति।

४ श्री-सूत्रसरजलजप्रतिबोधभानोर्मदन्दुदीक्षितभुजगसुधाकरस्य।
शब्दाम्भोधिनिधिविद्धिरस्य श्रीमिरेमेहलेन्द्रयतये वर दीक्षिताय॥८॥
—जैन साहित्य और इतिहास, श्री नाथूराम प्रेमी, पृ० ३९ से उद्धृत।

५ स्वस्ति श्रीकोल्हापुरदेशान्तर्वर्त्यार्जुरिकामहास्थानयुधिष्ठिरावतारमहामण्डलेश्वर गण्डरादित्यदेव निर्मापित-त्रिभुवनतिलकजिनालये श्री मत्परमपरमेष्ठि श्रीनेमिनाथ श्रीपादपद्मारावनवलेन -वादीभवज्राङ्कुश-श्रीविशालकीर्तिपण्डितदेववैयावृत्यतः—श्रीवीरभोजदेव विजयराज्ये शकवर्षैकसहस्रैकशतम-प्तविंशति ११२७ तम श्रीवनमवत्सरे स्वस्ति समस्तानवद्यविद्या चक्रवर्तिश्री पूज्य पादानुवतचेतसा श्री मत्सोमदेवमुनीश्वरेण विरचितेयं शब्दार्णवचन्द्रिकानामवृत्तिरिति। इति श्रीपूज्यपादकृत जैनेन्द्र महाव्याकरण सम्पूर्णम्॥" श्रीनाथूराम प्रेमी द्वारा जैन साहित्य और इतिहास पृ० ३४८ से उद्धृत।



१७६ न० की धर्मशर्माभ्युदय की हस्तलिखित प्रति जिसे विशालकीर्ति के शिष्य ने वितरित किया था, भी भ्रभाक द्वारा अवश्य ही इसी समय लिखी गई होगी अत सिद्ध होता है कि धर्मशर्माभ्युदय की रचना हरिचन्द्र ने १२वी शताब्दी के अन्तिम पाद मे की थी । अस्तु ।

हरिचन्द्र का गोत्र

प्रश्न है कि हरिचन्द्र का गोत्र क्या है ? धर्मशर्माभ्युदय की प्रकाशित प्रति से उनका गोत्र 'नोमक' था ऐसा ज्ञात होता है ।[1] किन्तु वास्तव मे यह अशुद्ध है । पाटण की सघवी पाडा भण्डार मे धर्मशर्माभ्युदय की जो १८६ न० की हस्तलिखित प्रति है उसमे कवि का गोत्र नेमक लिखा गया है ।[2] वास्तव में नोमक नाम का कोई गोत्र ही नही । नेमक ही गोत्र है । इस कथन की पुष्टि कालजर के एक शिलालेख से भी होती है जिसमे नेमक नाम का वश आया है ।[3]

सम्प्रदाय

हरिचन्द्र ने धर्मशर्माभ्युदय की प्रशस्ति मे अपना जो सक्षिप्त परिचय दिया है कि वे जैनधर्म के अनुयायी और अनुरागी थे । "उन दोनो के अर्हत् भगवान के चरण-कमलो का भ्रमण हरिचन्द्र नाम का वह पुत्र हुआ जिसके कि वचन गुरुओ के प्रसाद मे शास्त्रो मे अत्यन्त निर्मल थे ।"[4] किन्तु जैनो के किस सम्प्रदाय को वे लोग मानते थे इसका पता नही चलता । धर्मशर्माभ्युदय के अध्ययन से इस पर और थोडा प्रकाश पडता है । अलकार शास्त्र के अनुसार महाकाव्य मे कही-न-कही साधु-समागम का वर्णन अवश्य होना चाहिए—चाहे वह किसी सम्प्रदाय के साधु-समागम का वर्णन हो । धर्मशर्माभ्युदय मे भी कवि ने कुछ बार अपने सम्प्रदाय का नाम लिया है । प्रथम तो वनपाल राजा महासेन मुनि अवतरण की सूचना देते हुए कहता है—हे "राजन ! पूर्णचन्द्र की तरह दिगम्बर पथ के अलकरण भूत कोई चारण ऋद्धिधारी मुनि अभी-अभी आकाश से बाह्य उपवन मे अवतीर्ण हुए हैं ।"[5] मुनि अवतरण की सूचना पाकर राजा उनके दर्शनो को चले—"जिस प्रकार सूर्य प्रभा के साथ गमन करता है उसी प्रकार वह राजा भी अपनी प्रिया के साथ रथ पर आरूढ होकर दिगम्बर मुनिराज के चरणो के समीप चला ।"[6]

पुत्र जन्म के पूर्व सुव्रता द्वारा देखे गए षोडस स्वप्नो का विस्तृत वर्णन है । श्वेताम्बर सम्प्रदाय मे चौदह स्वप्न ही बताये गये हैं, किन्तु दिगम्बर मे सोलह स्वप्न बताते हैं । इसके अतिरिक्त बीसवें सर्ग मे कवि धर्मनाथ के ध्यान मुद्रा का वर्णन करते हुए उन्हें "स्वीकृतान्तवासा" कहा है ।[7] आकाश को जिसने वस्त्ररूप मे स्वीकार किया है अर्थात नग्न । "दिगम्बर" पद का भी यही तात्पर्य होता है । इससे सिद्ध होता है कि हरिचन्द्र दिगम्बर सम्प्रदाय के अनुयायी थे ।

---

१ "श्री मानमेयमहिमास्ति स नोमकाना वश —धर्मशर्मा० प्रकाशित पुस्तक प्रशस्ति से ।

२ "श्री मानमेयमहिमास्ति स नेमकाना वश —धर्म० की हस्तलिखित प्रति की प्रशस्ति से ।

३ नेमकान्वयजेन्दकसुतदेहुकेन भगवत्या कारितमण्डपिका प्रसर्क्षेन तदभार्यया लक्ष्म्या । एपि० इ० ए. पृष्ठ २१० ।

४ अर्हत्पादाम्भोरुहचञ्चरीकस्तयो सुत श्री हरिचन्द्र आसीत् ॥
गुरुप्रसादादमला बभूवु सारस्वने स्रोतसि यस्य वाच ॥ धर्म०, प्रशस्ति—४ ।

५ राकाकामुकवद्दिगम्बरपथालङ्कारभूतोऽद्युना ।
बाह्योद्यानमवतगद्ग्रहपथात्कश्चिन्मुनिशचारण । २।७७ धर्म०

६, दिगम्बरपदप्रान्त राजापि सह कान्तया ।
प्रतस्थे रथमास्थाय प्रभया भानुमानिव ॥ ३।८ धर्म०

७ मुक्ताहार सर्वदोपत्यकान्तारव्धप्रीति स्वीकृतान्तवासा । २०। ३७ धर्म०

उपनाम

हरिचन्द्र का नाम "चन्द्र" था। तेरहवीं शताब्दी में धर्मशर्माभ्युदय का एक श्लोक जल्हण की सूक्तिमुक्तावली में "चन्द्रसूरि" नाम से उपलब्ध है।[1] ऐसा प्रतीत होता है कि जैनेतर विद्वान जैन धर्मावलम्बी होने के कारण उन्हें सूरि कहते थे। शब्दार्थचन्द्रिका टीका में इनके यति नाम का भी पता चलता है।[2] जितेन्द्रिय को यति कहते हैं। सम्भवत हरिचन्द्र ने भी गृहस्थ धर्म स्वीकार नहीं किया था तथा संसार-त्यागी होकर 'यति' विशेषण प्राप्त किया था।

हरिचन्द्र का स्थान

हरिचन्द्र का जन्म कहां हुआ अथवा उन्होंने अपनी ग्रन्थ-रचना कहाँ की इसका कुछ भी पता अभी तक नहीं चला है। विद्वानों ने भी इस विषय पर विचार नहीं किया है। स्वयं हरिचन्द्र ने भी अपने सम्पूर्ण धर्मशर्माभ्युदय काव्य में तथा इसके प्रशस्ति पद्यों में अपने स्थान के विषय में कुछ संकेत नहीं किया।

११ वीं, १२ वीं शताब्दी के इतिहास का अध्ययन करने से पता चलता है कि उस समय जैनधर्म का प्रचार उन्नति पर था—विशेषत दक्षिण में। दक्षिण से जैनधर्म उत्तर की ओर अग्रसर हो रहा था। किन्तु इसके पूर्व ६ वीं से लेकर ११ वीं शताब्दी के लगभग भारत में शैवधर्म का बोलबाला था। इसका प्रभाव जैनधर्म पर भी पडा। लिंगायतों के आक्रमण बराबर हो रहे थे। इनका आक्रमण जैनियों के विरोध में ही था। कलचुरी काल के अन्तिमांश (१२ वी शताब्दी) में भी लिंगायतों का आक्रमण हुआ था। यह वर्णन 'विज्जलरायचरित' नामक किसी जैन कवि द्वारा रचे गए ग्रन्थ में मिलता है।[3] किन्तु इन विकट परिस्थितियों में भी जैन धर्म प्रगति करता रहा। गुजरात और पास के प्रदेशों में इस समय चालुक्य, सोलंकी, राष्ट्रकूट, कलचुरी, शिलाहार आदि विभिन्न राजवंशों का राज्य था। इनमें से प्रत्येक ने जैनधर्म की उन्नति के लिए विशेष योगदान दिया। चालुक्य वंशीय राजा कुमारपाल के समय में ही हेमचन्द्र का प्रसिद्ध योगशास्त्र लिखा गया। कोल्हापुर में उस समय शिलाहार वंशीय राजाओं का राज्य था। सन ११११ के लगभग शिलाहार वंशी राजा ने कोल्हापुर में शिव और बुद्ध मूर्ति के साथ अर्हंत की मूर्ति स्थापित की।[4] धर्मशर्माभ्युदय की संघवी पाडा पुस्तक भण्डार की १७६ नं० (नं० ६०-१) प्रति में गुर्जर (आधुनिक गुजरात) और विद्यापुर देश का नाम आया है।[5] विद्यापुर आधुनिक बीजापुर ही है। इस प्रति को लिखने वाले झमाक हुवड वंशीय थे। विद्यापुर और गुजरात में हुवडवंशीय जैनों की बस्ती अभी भी मिलती है। १० वीं शताब्दी के लगभग वहां हुवड वंश का आगमन राजस्थान में हुआ था। अत हरिचन्द्र बीजापुर के अथवा गुजरात के किसी स्थान के रहने वाले होंगे।

हरिचन्द्र की रचनाएं

महाकवि हरिचन्द्र रचित एक ग्रंथ जीवन्धर चम्पू उपलब्ध होता है। यह चम्पू धर्मशर्माभ्युदयकार हरिचन्द्र का ही है अथवा अन्य किसी हरिचन्द्र कवि का इस विषय में कुछ विद्वान् पूर्णत निश्चित नहीं। विंटरनित्स[6] और कीथ[7] दोनों ने जीवन्धर चम्पू के धर्मशर्माभ्युदयकार हरिचन्द्र द्वारा रचे जाने की सम्भावना मात्र व्यक्त की है। कुछ



१ धर्मशर्माभ्युदय का २।८८ श्लोक जल्हण (सूक्तिमुक्तावली) पृ० १८५ में चन्द्रसूरि के नाम से उपलब्ध है।

२ जैन साहित्य और इतिहास, श्री नाथूराम प्रेमी, पृष्ठ ३६ में उद्धृत।

३. कलेक्टेड वर्क्स आफ श्री आर० जी० भण्डारकर, पृ० १२६।

४ रॉयल एशियाटिक सोसाइटी, बम्बई, भाग १३, पृ० ४।

५ अथास्ति गुर्जरो देशो विख्यातो भुवनत्रये।
विद्यापुर पुर तत्र विद्याविभवसम्भवम्॥ १७६ नं० की धर्मशर्माभ्युदय की हस्तलिखित प्रति पाटण से प्राप्त।

६ विंटरनित्स—जैन्स इन दी हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिटरेचर, पृ० १६

७ कीथ—हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिटरेचर, पृ० ३३६

विद्वानो का मत है कि जीवन्धरचम्पू किसी अज्ञातनामा कवि की कृति है। श्री प्रेमीजी ने लिखा है—"यद्यपि जीवन्धरचम्पू मे धर्मशर्माभ्युदय के भावो तथा शब्दो तक मे बहुत कुछ समानता है, इससे दोनो को ही एक कर्ता की सृष्टि कहा जा सकता है, परन्तु साथ ही यह भी तो कह सकते है कि किसी अन्य ने ही धर्मशर्माभ्युदय के भावादि ले लिए हो।"[1]

प्रेमीजी की सभावना ठीक ही है। किन्तु यह कैसे सभव है कि किसी अज्ञातनामा कवि ने धर्मशर्माभ्युदय के शब्द और भाव दोनो को ही ग्रहण कर उसे हरिचन्द्र के नाम पर चला दिया हो ? दोनो के कर्ता महाकवि हरिचन्द्र हैं जैसा कि दोनो काव्यो की समाप्ति पर लिखा है।[2] जीवन्धरचम्पू की पुष्पिका मे भी इसके कर्ता हरिचन्द्र का ही उल्लेख किया गया है—"महाकवि हरिचन्द्र कहते हैं कि चिरकाल बाद मेरी वाणी कृतकृत्य हो सकी क्योकि उसने भाव जिनेन्द्र श्री जिनेन्द्र स्वामी को स्वय ही वरण किया है।"[3] जीवन्धरचम्पू का सर्वप्रथम प्रकाशन टी०एस० कुप्पू स्वामी शास्त्री द्वारा सन १६०५ मे किया गया। कुप्पूस्वामी ने उसमे जीवन्धरचपू और धर्मशर्माभ्युदय के श्लोको के तुलनात्मक अध्ययन के आधार पर सिद्ध करने की चेष्टा की है कि धर्मशर्माभ्युदयकार हरिचन्द्र ने ही जीवन्धरचपू की रचना की थी।[4] इस तुलनात्मक अध्ययन के आधार पर दोनो रचनाए हरिचन्द्र की हैं यह बात बहुत कुछ सिद्ध हो जाती है। वास्तव मे नकल-नकल ही है। कुप्पूस्वामी जैसे मर्मज्ञ विद्वान की दृष्टि मे यह बात अवश्य आ जाती है कि कौन सी रचना असली है और कौनसी नकली। जिस प्रकार सोमदेव के यशस्तिलकचपू के नीति भाग और नीति वाक्यामृत के एक कर्त्तक होने के कारण अनेको समानताए है उसी प्रकार धर्मशर्माभ्युदय तथा जीवन्धरचपू के भी एक कर्तृक होने के कारण अनेको समानताए हैं। श्री पन्नालाल जैन ने जीवन्धर चपू के हिन्दी अनुवाद की प्रस्तावना मे दोनो रचनाओ का तुलनात्मक अध्ययन किया है तथा लिखा है कि दोनो मे ही क्रमश वृषभदेव, चन्द्रप्रभ, शान्तिनाथ, महावीर, रत्नत्रय और जिनवाणी को नमस्कार किया गया है।[5]

दोनो ग्रन्थो के ही कर्ता—हरिचन्द्र जैन है। किन्तु दोनो रचनाओ के दार्शनिक पक्ष के प्रतिपादन मे कुछ नियमो का अन्तर है। यह बात विचारणीय है। धर्मशर्माभ्युदय मे तीन प्रकार का त्याग और पाच उदुम्बर फल का त्याग ये आठ श्रावक के मूल गुण बतलाये गये हैं किन्तु जीवन्धरचपू मे उदुम्बर फलो के स्थान पर पाच अणुव्रतो का धारण-करना बताया गया है।[6] इसी प्रकार शिक्षा-व्रतों के वर्णन मे भी दोनो मे कुछ वैशिष्ट्य है।[7] दार्शनिक मत के प्रतिपादन मे इस अन्तर का कारण यह है कि जैनो मे मूलगुण—शिक्षाव्रतो और गुण व्रतो का स्वीकारने मे मतभेद है।

---

१ जैन साहित्य और इतिहास—प्रेमी, पृ० ३०२

२. (क) इति महाकवि श्री हरिचन्द्र विरचिते धर्मशर्माभ्युदयमहाकाव्ये ·।
(ख) इति महाकवि श्री हरिचन्द्रविरचिते श्री मतिजीवधरचम्पूकाव्ये· ·।

३ भदीयवाणी रमणी चरितार्था चिरादभूत्।
वव्रे जीवन्धर देव या भावैर्जिननायकम्॥ ११११ जीवन्धरचम्पू

४ जीवन्धरचम्पू,—हरिचन्द्र पृ० १४७-१५०, प्रकाशक, टी० एस० कुप्पूस्वामी शास्त्री, सन १६०५ ई०।

५ जीवन्धरचम्पू, हरिचन्द्र पृ० ३७-४०, अनुवादक श्री पन्नालाल जैन, सन १६५८

६ मधुमासासवत्याग पचोदुम्बरवर्जनम्।
(क) अमी मूलगुणा सम्यग्दृष्टो प्रकीर्तिता॥ २१।१३२ धर्म०
(ख) हिंसानृतस्तेयवधूव्यव्यायपरिग्रहेभ्यो विरति कथचित्।
मथस्य मासस्य च माक्षिकस्य त्यागस्तथामूलगुणाइमेऽष्टो ॥७।१६ जीव०

७ २१। १४६—१५२ धर्म० ।७।१८ जीवन्ध .

हरिचन्द्र ने समवत दोनों में दो प्रकार की मान्यता को स्वीकार किया है। श्री पन्नालाल जैन ने भी कहा है—मूलगुण, गुणव्रतो और शिक्षाव्रतो के नामोल्लेख मे जैनाचार्यों मे शासन भेद है। इतना अवश्य है कि आचार्यों ने एतद्विषयक से अन्य अपनी मान्यता का निराकरण किया हो यह देखने मे नही आया। सभव है किसी ने एक ग्रन्थ मे एक मान्यता का उल्लेख किया हो और दूसरी मे दूसरी मान्यता का। धर्मशर्माभ्युदय मे शिक्षाव्रतो का वर्णन करते समय 'अतिथि सविभाग' के विकल्प मे सल्लेखना का भी उल्लेख करते हुए कवि ने अपनी तटस्थता सूचित की है।[1] अस्तु

इन दोनो मे से किस ग्रन्थ की रचना हरिचन्द्र ने पहले की, इस विषय मे भी मतभेद हैं। श्री अमृतलालजी शास्त्री का कहना है कि हरिचन्द्र ने जीवन्धरचम्पू की रचना पहले की थी। क्योंकि धर्मशर्माभ्युदय के अन्त मे प्रशस्ति पद्य दिया हुआ है। वे दोनों के रचयिता हैं अत वाद के ग्रन्थ में प्रशस्ति दिया है। अपने मत की पुष्टि के लिए उन्होंने जीवन्धर चम्पू का ही एक श्लोक उद्धृत किया है—"मेरी वाणी चिरकाल वाद कृतकृत्य हो सकी क्योंकि उसने भाव जिनेन्द्र तथा जिनेन्द्र स्वामी को स्वय ही वरण किया है।"[2] वाणीचरितार्थाचिरादभूत्' के आधार पर अमृतलालजी ने जीवन्धर चम्पू को प्रथम रचना स्वीकार किया है। किन्तु उन्होंने सम्भवत इसके पूर्व के एक पद्य की ओर ध्यान नही दिया जिसमें हरिचन्द्र ने कहा है कि गद्य और पद्य पृथक्-पृथक् दोनो आनन्द देते हैं किन्तु दोनों का मेल वहुत अधिक आनन्द-दायी होता है। "गद्यावली और पद्य परम्परा ये दोनो पृथक्-पृथक् भी बहुत अधिक आनन्द उत्पन्न करती हैं किन्तु जहा दोनों मिल जाती हैं वहा की तो बात ही निराली हो जाती है, वहा वे दोनो शैशव और युवावस्था के बीच विचरने वाली कान्ता के समान वहुत अधिक आनन्द उत्पन्न करती हैं।"[3] जीवन्धरचम्पू के इस श्लोक से स्पष्ट होता है कि हरिचन्द्र धर्मशर्माभ्युदय की रचना पहले ही कर चुके थे। वाद मे उन्होंने जीवन्धरचम्पू की रचना की। इसके अतिरिक्त कोई आवश्यक नही कि वाद के ग्रन्थ मे ही प्रशस्ति पत्र लिखा जाय पहले में नहीं। धर्मशर्माभ्युदय की रचना महाकवि हरिचन्द्र ने अवश्य ही पहले की होगी। इसी कारण उसके प्रशस्ति पद्यो मे जीवन्धरचम्पू का नाम नही है।

हरिचन्द्र लिखित एक 'जीवन्धर नाटक' का भी नाम मिलता है किन्तु इसकी कोई हस्तलिखित प्रति अद्यावधि उपलब्ध न होने के कारण इसके अस्तित्व मे सन्देह है।[4] किसी हरिचन्द्र लिखित पुरुदेवचम्पू का भी उल्लेख है। पुरुदेव-चम्पू अर्हद्दास रचित उपलब्ध है। यह ग्रन्थ प्रकाशित भी हो चुका है। हरिचन्द्र रचित पुरुदेव चम्पू की भी जीवन्धरनाटक की ही तरह कोई हस्तलिखित प्रति नही उपलब्ध है। अत हरिचन्द्र रचित इन दोनों ग्रन्थों के विषय में सन्देह है।

हरिचन्द्र का व्यक्तित्व

कवि अपने काव्य का रचयिता होता है। अत उसका हृदय काव्य मे झलकता है। जिस प्रकार साहित्य समाज का दर्पण माना जाता है उसी प्रकार काव्य कवि के हृदय का भी दर्पण है। काव्य मे ही कवि का सच्चा व्यक्तित्व प्रकट होता है। प्रयत्नपूर्वक यदि स्वभाव-विरुद्ध रचना की भी जाय तो वह निम्न श्रेणी की कृति होगी। ऐसी कृति कवि के हृदय के सच्चे भावो से रहित होती है। जिनमे हृदय की अनुभूतिया स्पष्ट दिखाई पडती हैं वही सच्चा काव्य है। राज-प्रशस्तिया इसी कारण अधिक लोकप्रिय नहीं हो सकीं क्योंकि उन्हें कविगण धन की लालसा से लिखते थे। दूसरो को



---

१ जीवन्धर चम्पू की प्रस्तावना, श्री पन्नालाल जैन, पृ० ४०, १९५८

२ मदीयवाणीरमणी चरितार्था चिरादभूत्।
वव्रे जीवन्धर देव या भावैर्जिननातकम् ॥१।११ जीव०

३ गद्यावलि पद्यपरम्परा च प्रत्येकमप्यावहति प्रमोदम्।
हर्षप्रकर्षं तनुते मिलित्वा द्राग्वाल्यतारुण्यवतीव कान्ता ॥१।९ जीव०

४ इण्डियन एण्टिक्वेरी, भाग ३६, टी० एन० कुप्पूस्वामी शास्त्री, पृ० २८५

५ केटलॉगस कैटलॉगोरम, प्रथम भाग, पृ० ७६१, १९६२

प्रसन्न करने के लिए, स्वार्थवश लिखे ऐसे काव्य मे कवि स्वय को चाहकर भी व्यक्त नही कर सकता। धर्मशर्माभ्युदय वैसे तो जैनो के पन्द्रहवे तीर्थंकर की कथा है किन्तु काव्य की सूक्ष्म समीक्षा के समय विचारक को हरिचन्द्र के निजी व्यक्तित्व की कथा भी मिल जाती है।

हरिचन्द्र का विचार है कि किसी श्रेष्ठ वस्तु का महत्व जानने के लिए उसके विपरीत किसी दोषयुक्त वस्तु का रहना आवश्यक है क्योकि काच के बिना मणि और अन्धकार के विना सूर्य अपना गुण नही प्रकट कर सकते।[1] सगक-दोष व्यक्ति को नष्ट कर देता है।[2] विनय को वे लक्ष्मी का ही नही सर्वकल्याणो का ही मूल मानते हैं।[3]

पुरुषो के स्वभाव के विषय मे उनका मत देखिए—अत्यन्त कठोर प्रकृति धारण करने वाले जड पुरुष मध्यस्थ पुरुष का भी अभ्युदय नही सह सकते।[4] मनुष्य को कामुक नही होना चाहिए क्योकि स्त्री-लम्पटी पुरुषो की कभी उन्नति नही हो सकती[5] और विषय-वासना के फेर मे पडा मनुष्य बुद्धिहीन हो जाता है[6] और जो बुद्धिहीन नही होता है वह जडता के भय से आगत नीरस व्यक्ति का साथ स्वय छोड देता है।[7] पुरुष का प्रेम स्त्री के प्रेम के अनुसार ही व्यक्त होता है।[8]

स्त्री-स्वभाव के विषय मे भी उनका अपना मत है। स्त्री को वे बहुत निकृष्ट चरित्र का समझते हैं। स्पष्ट उत्तम-पुरुष-वाचक शब्द के साथ उन्होने एक स्थान पर कहा है—"हम स्त्रियो के अत्यन्त दुरूह मायापूर्ण चरित्र को दूर से नमस्कार करते हैं।[9] इसी प्रकार स्त्रियो के गहन चरित्र को कौन जानता है।[10] काम के प्रबल आवेग मे मनुष्य को दिग्विदिग् ज्ञान नही रहता है। साधारण अवस्था मे जो कार्य वह किसी कारणवश नही कर सकता कामावस्थामे वह उस कार्य को कर लेता है। इसी कारण हरिचन्द्र कहते हैं—"काम के पौरुष से स्त्रियो को असाध्य है ही क्या?"[11] सतीत्व बहुत बडी वस्तु है। थोडी से आच से भी वह नष्ट हो सकती है। अत स्त्री को इस विषय मे चैतन्य रहना चाहिए क्योकि स्त्री तभी तक सती मानी जाती है जब तक कि वह अन्य पुरुष के हाथ का स्पर्श नही करती।[12]

हरिचन्द्र भाग्यवादी हैं। उनका विचार है—"जो स्वप्न-विज्ञान का अविषय है, जहाँ कवियो के भी वचन नही पहुच पाते और मन की प्रवृत्ति भी जिसके साथ सम्बन्ध नही रख सकती वह पदार्थ भी भाग्य द्वारा अनायास सिद्ध हो जाता है।"[13]

---

१ ऋते तमांसि द्युमणिमणिर्वा विना न काचै स्वगुण व्यनक्ति ॥१।२२ धर्म०

२ २।४० धर्म०

३ न पर विनयश्रीणामाश्रय श्रेयसामपि ॥३।४६ धर्म०

४ यदा नितान्तकठिना प्रकृतिं भजन्तो।
मध्यस्थमप्युदयिन न जडा सहन्ते ॥३।८ धर्म०

५ कुतोऽथवा स्यान्महोदय स्त्रीव्यसनालसानाम् ॥७।५८ धर्म०

६ नहि विषयान्धमति किमप्यवैति ॥१३।१८ धर्म०

७ ध्रुवमवगणयन्ति जाड्यभीत्या स्वयमपि नीरसमागत विदग्धा ॥—१३।६१ धर्म०।

८ गुणान्पुरन्ध्री प्रेमानुरूप पुरुषो व्यनक्ति ॥१४।३७ धर्म०

९ ततोऽतिगहन स्त्रियश्चरित्रमत्र वन्दामहे ॥१०।३२ धर्म०

१० क स्त्रीणा गहनमवैति तच्चरित्तम् ॥१६।३३ धर्म०

११ आरूढ् चेतोभवपौरुषाणा किमस्त्यसाध्य हरिणेक्षणानाम् ॥—१७।६३ धर्म०

१२ तावत्सती स्त्री ध्रुवमन्यपुसो हस्ताग्रसस्पर्शसहा न यावत्।१४।५२६ धर्म०

१३ य स्वप्नविज्ञानगतेरगोचरश्चन्ति नो यत्र गिर कवेरपि।
य नानुबध्नन्ति मन प्रवृत्तय स हेलयार्थी विधिनैव साध्यते ॥—९।३७ धर्म०

हरिचन्द्र धर्म के प्रबल अनुयायी हैं। वे अपने ग्रन्थ द्वारा तत्काल प्रचलित सभी दर्शनों का, धर्मों का निराकरण करते हैं। वे स्वयं संयम को धारण करते हैं। उनका जीवन दर्शन उच्च होने के कारण ही काव्य के प्रत्येक पात्र को उन्होंने उच्च विचार रखने वाला बनाया। अर्हन्तदेव की भक्ति के प्रभाववश दुःख सुख रूप मे बदल जाता है। "पूर्वकृत कर्मों के उदय मे प्राप्त हुआ दुःख भी अर्हन्तदेव की भक्ति के प्रभाववश शीघ्र ही अपनी शक्ति का विपर्यय कर लेता है। सूर्य की तीक्ष्ण किरणो से भयकर ग्रीष्म ऋतु क्या जल के समीपस्थ वृक्ष की छाया मे बैठे हुए शिशिर ऋतु नहीं बन जाती ?"[1]

हरिचन्द्र का मत है कि मनुष्य को गुणवान् होना चाहिए। क्योंकि उत्तम गुणो से युक्त मनुष्य ही कार्यो मे धनुष के समान प्रशसनीय होता है, गुणो से रहित मनुष्य वाण के समान अत्यन्त भयकर होने पर भी क्षण भर मे वैलक्ष्य दुःख को प्राप्त हो जाता है।[2]

कुछ और उक्तियाँ हैं जिनसे हरिचन्द्र के व्यक्तित्व पर थोडा और प्रकाश पडता है। उनका मत है कि कार्य प्रारम्भ करने के पहले व्यक्ति को अच्छी तरह विचार कर लेना चाहिए—"विना विचारे कार्य करने वाले मनुष्य का निःसन्देह उस प्रकार नाश होता है जिस प्रकार कि तक्षक सर्प से मणि ग्रहण करने के इच्छुक मनुष्य का होता है।"[3] दुर्जन को शान्त करना वडा कठिन है—"जिस प्रकार समुद्र के भारी जल मे वडवानल शान्त नही होता उसी प्रकार अनुनय-पूर्ण वचनो से दुर्जन शान्त नहीं होता।"[4] एव लाख प्रयत्न करने पर भी नीच नीच ही रहता है क्योकि क्या बगुला चकवा और हस के समान हो सकता है ? अथवा कौआ मयूर जैसा हो सकता है ?"[5]

---

१ दूरमुदितम् पाकोद्रेकात्पुराकृतकर्मणा झटिति घटयत्यर्हद्भक्तेः स्वशक्तिविपर्ययम् ।
उपजलतरुच्छायाच्छन्ने जने जरठीभवद्द्युमणिकिरणैर्भीष्मो ग्रीष्मो न कि शिशिरायते ॥
—८।५६ धर्म०

२ अत गुणानर्जय सद्गुणो जनः क्रियासु कोदण्ड इव प्रशस्यते ।
गुणच्युतो बाण इवातिभीषण प्रयाति वैलक्ष्यमिहक्षणादपि ॥१८।१५ धर्म०

३ असशय स्यादविमृश्यकारिणो मणि जिघृक्षोरिव तक्षकात्क्षय ॥१८।२८ धर्म०

४ तथाप्यनुनयैरेष शाम्यसि स्म न दुर्जन ।
और्वस्तनूनपान्नीरैर्नीश्वरैरिव भूरिभि ॥१९।४९ धर्म०

५ कक कि कोककेकोकी कि काक केकिकोऽङ्कम् ।
कौक कुकैक केक क केकाकाकुकाड्कम् ॥१९।८२ धर्म०



सीयाचरिउ : एक अध्ययन

श्री परमानन्द शास्त्री



भारतीय साहित्य मे राम, सीता, कृष्ण, पाण्डव, कौरवादि के विषय मे प्रचुर साहित्य लिखा गया है। यदि उस साहित्य को साहित्य-सूची से पृथक् कर दिया जाय तो भारतीय साहित्य निष्प्रभ हो जायगा। केवल राम और सीता पर विविध भाषाओं मे जो विपुल साहित्य रचा गया है उससे उसकी लोकप्रियता का स्पष्ट भान हो जाता है। सीता के सम्बन्ध मे लिखे गये कुछ ग्रन्थो का सक्षिप्त उल्लेख करते हुए अब तक अप्रकाशित एव अज्ञात ग्रन्थ प्राकृत के 'सीया-चरिउ" का परिचय प्रस्तुत करना ही इस लेख का प्रमुख उद्देश्य है।

भारतीय नारियो मे सीता का चरित्र अत्यन्त पावन और समुज्ज्वल रहा है। वह नारी जीवन के आदर्श के साथ धैर्य और विवेक की गरिमा को भी उद्भासित करता है। इतना ही नही, अनेक विषम एव दु खद प्रसंगो पर सीता अपने विवेक के सन्तुलन को कायम रखती हुई किसी को अपराधी नही ठहराती, प्रत्युत अपने पुराकृत अशुभ कर्म को ही दोषी मानती है। उस अवस्था मे भी सीता का वह विवेक उसे सुदृष्टि प्रदान करता है। इस कारण वह समागत आपदाओ से रचमात्र नही घबराती, धैर्य और समभाव से उन्हें सहती है। यही सब घटनाए उसकी लोक मे प्रसिद्धि एव प्रतिष्ठा की द्योतक हैं।

रावण सीता का अपहरण करके ले जाता है, और उसे देव-रमण उद्यान मे रखता है, उसे प्रसन्न करने के लिये विविध उपाय किये जाते हैं। वैभव का नजारा दिखाया जाता है, समझाया, डराया-धमकाया भी जाता है। किन्तु इन सब का उसके अन्तर्मानस पर कोई प्रभाव अ कित नही हुआ। उसकी आत्मनिर्भयता, महान् शक्तिशाली शत्रु के यहा अक्षुण्ण बनी रही। यही उसके सतीत्व की गरिमा का प्रतीक है। इससे पाठक सीता के सतीत्व की महत्ता का अ दाज लगा सकते है।

गर्भवती सीता को रामचन्द लोकापवाद के भय से कृतन्तवक्त्र सेनापति द्वारा भीषण एव हिंसक जन्तुओ से व्याप्त कानन मे छुडवा देते हैं। उस वन की भयानकता सीता की कोमलता और गर्भ-भार की विषमता को देखकर सेनापति का मानस भी रो देता है। जब सीता को सेनापति से ज्ञात होता है कि रामचन्द ने लोकापवाद के भय से मेरा परित्याग किया है, तब वह सेनापति से कहती है—"हे भाई, तुम स्वामी से मेरा यह सन्देश कह देना कि जिस प्रकार लोकापवादभय से मेरा परित्याग किया है, उसी तरह अपने धर्म का परित्याग न कर देना। पाठक देखें सीता के इस सद्विवेक को, जिसकी वजह से वह लोकपूजित हुई है। इसी कारण सीता की पावन जीवन-गाथा पर विविध भाषाओ मे जो साहित्य रचा गया है वह उसकी आदर्श जीवनी का दिग्दर्शन मात्र है, इसी से हजारो वर्ष व्यतीत हो जाने पर भी सीता की लोकप्रियता कम नही हुई।

जैन साहित्य मे सीता के सम्बन्ध मे जो साहित्य रचा गया है, उनमे से यहा कुछ ग्रन्थो का दिग्दर्शनमात्र कराया जाता है—

१ "सीताचरित्त"—आचार्य भुवनतु ग की कृति है, जिसे उन्होने प्राकृत गाथाओ मे निवद्ध किया है। कृति मे उनका रचनाकाल दिया हुआ है। अत उसके रचनाकाल का निर्णय करना कठिन है। ग्रन्थ का आदि-अन्त भाग निम्न प्रकार है—

आदि—जम्म पय-पउम नहचद जुहजलजालिलालियमलोह।
नि जगपि सुईजाय त मुणिमुव्वयजिण नमिउ ॥
अन्त—सीलगुणनवण सभूयवर परमाणदकारणारडय।
चरिय निसि भुवणतु ग पयमाहण होउ ॥ ४२ ॥

२. "सीताचरित"—महाकाव्य सर्ग ४, गाथा ६५, ६६, १५३, और २०६ है। कर्ता का नाम ज्ञात नही हुआ। यह कृति स० १३३६ के द्वितीय कार्तिक मे लिखे गए गुच्छक मे मौजूद है, जो पाटन के भण्डार मे सुरक्षित है।

३ "रामलक्खण सीयाचरित"—नाम की है, यह भी अज्ञात कर्ता की है। इसमे २०८ गाथाओ मे उक्त चरित्र दिया हुआ है। ग्रन्थ का आदि-अन्त भाग निम्न प्रकार है—

आदि—नमिय सीयाचरिय पुव्वभवविवागसूयग किंचि।
अह रामक्खणाण त लवामित्त पकित्तेमि॥
अन्त—रामो वि केवली विहरिऊण महिमडलमि सयलमि।
पडिबोहियभव्वजणो पत्तो सिवमपय विउल ॥ २०८ ॥

हिन्दी भाषा मे भी सीता के चरित्र का अच्छा चित्रण हुआ है। कुछ कृतियो का उल्लेख नीचे किया जाता है—

कविवर भगवतीदास अग्रवाल ने सवत् १६८७ मे चैत्र शुक्ला चतुर्थी-चन्द्रवार के भरणी नक्षत्र मे 'सिहरदि' नगर मे "लघुसीता सतु" की रचना की है। रचना सुन्दर और भावपूर्ण है। ग्रन्थ मे वारहमासा के मदोदरी-सीता प्रश्नोत्तर के रूप मे कवि ने रावण और मदोदरी की चित्तवृत्ति का चित्रण करते हुए सीता के सतीत्व का कथन किया है। वह बडा ही सुन्दर और मनमोहक है। अत ग्रन्थ सर्वसाधारण के लिये बहुत उपयोगी और शिक्षाप्रद है। पाठको की जानकारी के लिए आषाढ मास का प्रश्नोत्तर नीचे दिया जाता है—

तब बोलइ मन्दोदरी रानी, रुति अषाढ घन घट घहरानी।
पीय गये ते फिर घर आवा, पामरनर नित मन्दिर छावा।
लवहि पपीहे दादुर मोरा, हियरा उमग धरत नहि मोरा।
बादर उमहि रहे चौपासा, तिय पिय विनु लिहि उसन उसासा।
नन्ही बून्द झरत झरलावा, पावस नभ आगमु दरसावा।
दामिनि दमकत निसि अन्धियारी, विरहनि काम वान उरि मारी।
भुगवहि भोगु सुनहि सिख मोगी, जानत काहे भई मति बोरी।
मदन रसायनु हइ जगसारु, सजमु नेमु कथन विवहारु।
दोहा—जब लगु हम शरीरमहि, तब लग कीजइ भोगु।
राज तजहि भिक्षा भमहि इउ भूला सबु लोगु।





सोरठा—सुख विलसहि परवीन दुख देखहि ते वावरे।
जिउ जल छाडे मीन, तटफि मरहिं थलि रेत कइ।
यहु जग जीवन लाहु न मन तरसाइए।
तिय पिय सम सजोगि परम सुहु पाइए॥
जो हु ममज्झणहार तिसहि सिख दीजिये।
जाणत होइ अयाणु तिसहि क्या कीजिये॥

शुक-नासिक मृग-दृग पिक-वइनी, जानुकि वचन लवइ सुगि रइनी।
अपना पिउ पय अमृत जानी, अवर पुरिप रवि—दुग्ध-समानी॥
पिय चितवनि चितु रहइ अनन्दा, पिय गुन सरत वढत जसकन्दा।
प्रीतम प्रेम रहइ मनपूरी, तिनि वालिम मगु नाहीं दूरी।
जिनि पर पुरिप तियारति मानी, लखेनि सो आढि विकानी ?॥
करत कुशील वढत वहु पापू, नरकि जाइ तिउ हइ सतापू।
जिउ मधु विन्दु तनू सुख लहिये, शील विना दुरगतिदुख सहिये।
कुशल न हुइ पर पिय रसरेली, जिउ सिसु मरइ उरग-सिउ मेली।

दोहा—सुख चाहइ ते वावरी पर पति सगे रति मानि।
जिउ कपि शीत विथा मरइ तापत गुजा आनि॥

सोरठा—तृष्णा तो न बुझाइ जलु जव खारी पीजिये।
मिरगु मरइ धपि धाइ जल धोखइ थलि रेतकइ॥
पर पिय सिउ करि नेहु सुजनसु ग वावना।
दीपगि जरइ पतग सु पेगि सुहावना।
पर रमणी रग रग कवणु नरु सुहु लहइ।
जव कव पूरी हानि महति जिह अहि रहइ॥

दूसरी रचना "सीताचरित" है जो हिन्दी का एक महत्त्वपूर्ण काव्य है जिसे कवि रामचन्द्र ने स० १७१३ में वना कर समाप्त किया है। रचना पद्यवद्ध और मध्यम दर्जे की है। परन्तु रचना में गतिशीलता (प्रवाह) है। पद्यो की सख्या अढाई हजार से ऊपर है। ग्रन्थ मे सीता के जीवन पर अच्छा प्रकाश डाला गया है।

तीसरी रचना "सीताचउपई" है, जो ३२७ पद्यों की लघुकाय कृति है। इसके कर्ता खरतरगच्छ शाखा के समयध्वज हैं।

चौथी रचना "सीताप्रवन्ध" है, जो ३४६ पद्यो मे रचा गया है, रचनाकाल स० १६२८ हैं।

पाचवी रचना "सीताविरहलेख" है जिसमे ८१ पद्यो द्वारा कवि अमरचद ने सीता के विरह पर अच्छा प्रकाश डाला है। रचना सवत् १६७१ के द्वितीय आषाढ पूर्णिमा के दिन पूर्ण हुई है।

छटी रचना "सीतारामचौपई" है, जिसे कवि समयसुन्दर ने स० १६७३ मे अपने जन्म स्थान साचौर में वना कर समाप्त की है।

सातवी रचना "सीता चउपई" है, जिसे तपागच्छीय कवि चेतनविजय ने सवत् १८५१ के वैशाख सुदी १३ को वगाल के अजीमगज मे रचा है।

इनके अतिरिक्त और भी अनेक रचनाए शास्त्रभडारो मे हैं, जिन पर फिर कभी प्रकाश डाला जावेगा।

'सीयाचरिउ' प्राकृत भाषा का गद्य-पद्यमय एक चम्पू काव्य है। भाषा सरल और मुहावरेदार है। अनुमानतः इसमें ३००० गाथाएँ और कुछ गद्य भाग है। ग्रन्थ की अनेक प्रतियां श्वेताम्बरीय शास्त्रभण्डारों में उपलब्ध होती हैं। ग्रंथ अभी तक अप्रकाशित है। इसकी प्रति श्री अगरचन्दजी नाहटा के सौजन्य से कलकत्ता के नाहर भण्डार से प्राप्त हुई है जिसकी मैंने कापी की है और बाद में दूसरी प्रति से मिलान भी किया है। इतने बड़े ग्रंथ में कहीं सर्ग, उद्देश या प्रकरण विभाग नहीं है इसलिए कथानक का सन्दर्भ भी लम्बा और दुरूह हो गया है। पाठक को उसके समझने में बड़ी कठिनाई होती है। ग्रन्थ में कितनी ही गाथाएँ विमलसूरि के 'पउमचरिउ' से समानता रखती हैं। कितने ही विषयों में समानता दृष्टिगोचर होती है, वहाँ कुछ पाठ-भेद मिलता है। ग्रन्थ में काव्य का विशेष आडम्बर नहीं है, नगर, देश, नदी, ग्राम, वन आदि का सामान्य वर्णन या नामोल्लेख मात्र किया है। युद्ध का वर्णन भी पूर्व परम्परानुसार ही है। हाँ, कहीं किसी कथानक में विशेषता लाने का उपक्रम अवश्य किया है। उदाहरणस्वरूप वज्रकर्ण कथानक में कहा गया है कि वह धर्म रहित और शिकारी था। एक दिन वह वन में शिकार खेलने गया और वहां उसने गर्भवती हिरणी को बाण से मार दिया। बाण लगते ही हिरणी जमीन पर धड़ाम से गिरी और गिरते ही उसके पेट से तड़फड़ाता हुआ एक बच्चा निकला। वज्रकर्ण इस भ्रूणहत्या के महाताप उत्पन्न व्यथित हुआ[1] और विचारने लगा कि इस महापाप से कैसे बच सकता हूँ। ऐसा विचार कर वह इधर-उधर घूम ही रहा था कि उसकी दृष्टि सहसा एक शिला पर बैठे हुए ध्यानस्थ मुनि पर पड़ी। वज्रकर्ण ने उन्हें नमस्कार करके पूछा—'भगवन् आप इस जंगल में क्या करते हैं?' मुनि ने कहा 'मैं आत्महित करता हूँ।' वज्रकर्ण ने कहा—'भूख, प्यास, सर्दी, गर्मी की परीषह सहते हुए वन में अकेले कैसे आत्महित होता है?' तब मुनि ने उसे गृहस्थ और मुनिधर्म का स्वरूप समझाया, जिससे राजा को प्रतिबोध हुआ। उसने मद्य-मांसादि के त्याग के साथ सम्यग्दर्शन और श्रावकधर्म को ग्रहण किया और यह प्रतिज्ञा की कि मैं जिनेन्द्रदेव और जिनगुरु को छोड़कर अन्य किसी को नमस्कार नहीं करूंगा।[2]

प्रस्तुत काव्य में सीता का चरित्र पूर्व परम्परानुसार ही चित्रित किया है। यद्यपि कवि ने उसे विस्तृत रूप में लिखने का प्रयत्न किया है किन्तु यहां उस छोटे से परिचय लेख में उसका संक्षिप्त सार ही दिया जाता है। ग्रन्थ में काव्यगत सौन्दर्य का अभाव, भाषा सरल है। कहीं-कहीं कुछ सुभाषित एवं नीतिपरक पद्य उपलब्ध होते हैं जिससे पाठक ऊबता नहीं। सीता जहां सती सुशील और मितभाषिणी है वहां कष्टसहिष्णु, पतिभक्त, विवेकवती, कर्तव्यपरायणा आत्मगौरविणी और स्वदेशप्रेमिणी है।

वह मिथिला के राजा जनक और विदेहा की पुत्री है। वह युगलरूप में उत्पन्न हुई थी, किन्तु भाई के अप-



---

१ जा तस्स पिया अहियं पारद्धी धम्मबुद्धि-रहियस्स।
वच्चइ तेण अरण्णे मयाइं घायन्त अणुदियहं॥
अन्नम्मि दिणे सहसा हरिणी बाणेण तेण हणवई।
पडिओ य तीए गब्भो दरीय कुच्छीअ तडफडत्ति॥
दट्ठूण तडफडन्त भयभाव (सो) विसायमावन्नो।
चिन्तइ महापाव मए कयं भूणघाएण॥
—सीयाचरिउ, का० पृ० २८

२ सीयाचरिउ प० २६



हून हो जाने के कारण उसका अकेले ही लालन-पालन और शिक्षा हुई थी। अयोध्या के राजा के पुत्र रामचन्द्र के साथ उनका विवाह हुआ। केकैई के वर के कारण जव राम-लक्ष्मण वन को जाने लगे तब सीता भी साथ मे गई। सीता अपने पति राम और लक्ष्मण के साथ वन-वन घूमती हुई क्रमश दण्डक वन मे पहुची। वहाँ कुछ समय सुख से निवास करती है। वन मे होने वाले कष्टो से वह न कभी खेद-खिन्न हुई और न समागत आपदाओ से घवराई। उसे स्वकीय कर्म का विपाक समझ कर सन्तुष्ट रहती थी।

कुछ समय वाद रावण कपट से उसे हरण कर ले जाता है। वह पुष्पक विमान मे रोती-चिल्लाती, आँसू वहाती तथा आभूषणो को यत्र तत्र विखेरती हुई जाती है। रावण लका मे पहुचकर उसे किसी उद्यान मे ठहरा कर और रक्षको की व्यवस्था कर अन्त पुर मे चला जाता है। सीता राम का अनुचिन्तन करती हुई अपने अशुभोदय का विचार करती है और प्रतिज्ञा करती है कि जव तक राम और लक्ष्मण का कुशल समाचार नही मिलेगा तव तक मैं अन्न-जल, स्नान और गधमाल्यादि का ग्रहण नही करूँगी।[1] वह कभी मन मे पच परमेष्ठी का स्मरण करती है, कभी राम लक्ष्मण का चिंतन करती है और कभी अपने अशुभोदय की निन्दा करती है। सीता रावण के वैभव को तृण के समान तुच्छ गिनती है। यद्यपि रावण ने सीता को प्रसन्न करने के लिए अनेक प्रयत्न किये किन्तु उसे किंचित भी सफलता नही मिली रावण की परिचारिकाएँ रावण से कहती है कि सीता जव भोजन की भी इच्छा नही करती, तव वह आपकी कैसे इच्छा कर सकती है ?[2] यह सुन रावण को वडा दुख हुआ। उसका शरीर मदनानल से झुलस जो रहा था। यह देख मन्दोदरी रावण से कहती है—'तुम उसका वलात् सेवन क्यो नही करते ?' तव रावण कहता है—'मैंने मुनिपुगव अनन्त-वीर्य के सम्मुख यह नियम लिया था कि जो स्त्री मुझे न चाहेगी मैं उसकी इच्छा न करूँगा।'[3]

रोती हुई सीता को देखकर विभीषण ने पूछा—"यह किसकी पुत्री और किसकी भार्या है ?" सुनकर सीता ने कहा—"मैं जनक की पुत्री, भामडल की वहिन तथा राम देव की प्रथम पत्नी हू, यह पापी (रावण) मुझे अपहरण कर ले आया है—

१—तह वि न इच्छइ सिणाण न भोयण गधमल्लाइ।
अच्छइ एगग्गमणा झायती राहव णिच्च ॥
भणइ भोअणविसए न जाव दइयस्स बधुसहियस्स।
लद्धा कुसलपउत्ती भुजामि न भोयण ताव ॥

—सीयाचरिउ पृ० ३८

२—सीयावइयरमावेइऊण रमणीहिं रावणो भणइ।
जा भुत्त पि न इच्छइ सा इत्थि इच्छइ कहे णु तुमए ॥
सोऊण इम वयणो मयणानलेण वदज्झमाणसव्वगो।
पडियो वसणसमुद्दे दहवयणो दुक्खियो अहिय ॥

—सीयाचरिउ पृ० ८

३—किं पुण बला वि अबला तीए आलिगण विहेऊण।
पूरेसि तुम नियए मणोरहे नाह साहेहि।
एव पुच्छिओ पभणिओ दहवयणो—
अत्थि मए पडिवन्नो अभिग्गहो अणतविरियपयमूले।
जह भोत्तव्वा जुवई अणिच्छमाणा न कइयावि ॥

—सीयाचरिउ पृ० ६६

पुच्छइ विभीसणो तं न्यमाणि सुयणु कस्स त दुहिया ।
कस्स वि भज्जा मा वि हु माहेंड जुहुट्ठिय सव्व ॥
अवि य—जणयस्स अहं तणया भगिणी भामंडलस्स गुणनिहिणो ।
रामस्स पउम घरिणी अवहरियाणेण पावेण ॥

—सीयाचरिउ पृष्ठ ६७-६८

विभीषण सीता को आश्वासन देकर चला गया, वह मधुर वचनों से रावण से कहता है—"तुम पर-रमणी को क्यों लाए ? परनारी अग्नि-शिखा के समान है, विषलता, नागिन, और कुपित व्याघ्री के समान सताप, विनाश और दुःख का कारण है, कुल का कलंक है, यश का घातक है, अतएव तुम परनारी को छोड़ो, दुर्गति में मत पड़ो।" तब रावण ने कहा—'सारी पृथ्वी मेरी है। इसमें किंचित भी वस्तु परकीय नहीं है, तब इसके परित्याग का प्रश्न ही नहीं उठता।"

आभासिऊण सीय महुरगिराहिं विभिसणो भणइ ।
दहवयण कीस तुमए परमहिला आणिया एह्य ? ॥

हुयवहसिहिव्व, विसवल्लिव्व, भुयंगिव्व, कुविय वग्घिव्व परनारी होइ सताव-विणास-दुहहेउ । मा आणेसु कलंक कुलस्स नासेसु । मा जस नियर, मा पडसु दोग्गईए, मुयसु एयं पर पुरंधिं ।

—सीयाचरिउ पृष्ठ ६८

इधर राम जब अपने निवास स्थान पर आये और सीता को वहाँ न देखा, तब बहुत खेदखिन्न और दुःखी हुए। इतने में लक्ष्मण भी खरदूषण को मारकर आ गया। दोनों भाइयों ने सीता की इधर-उधर खोज की परन्तु कहीं पता न चला।

सीता का पता लगाने के लिए चारों ओर दौड़ धूप की और सुग्रीव स्वयं भी पता लगाने के लिये गया। तब पता चला कि रावण सीता का हरण करके ले गया है, उसे सुनकर विद्याधर भय से काँपने लगे। किन्तु राम लक्ष्मण ने सान्त्वना देकर उनका भय दूर किया। राम ने हनुमान को अपनी मुद्रिका और सब समाचार देकर कहा—तुम जाओ सीता से मिलकर उसका चूड़ामणि लेते आना तथा वहाँ का सब समाचार भी लाना, जिससे मुझे सीता के संबंध में प्रत्यय हो सके।

हनुमान ने लंका में पहुँच कर प्रच्छन्न हो राम की मुद्रिका सीता के आगे के वस्त्र पर डाली, उसे देख सीता कहने लगी—'राम की यह मुद्रिका यहाँ कैसे आई ? जो कोई इस मुद्रिका को यहाँ लाया हो वह प्रकट हो जाय। तब हनुमान ने प्रकट होकर, अपने नाम, स्थान एवं कुलादि का परिचय देते हुए राम का सब समाचार सुनाया। सीता को विश्वास हो गया कि राम और लक्ष्मण कुशल हैं। वे जल्दी ही यहाँ आयेंगे। इससे सीता को प्रसन्नता हुई। हनुमान ने सीता से कहा—अब आपकी प्रतिज्ञा पूरी हो गई, भोजन-पान ग्रहण करो। तब सीता ने ग्यारह दिन पश्चात् सब का स्मरण कर भोजन किया। तत्पश्चात् हनुमान ने सीता से कहा—मेरे कंधे पर बैठ जाओ मैं राम के पास पहुँचा दूँ। सीता बोली—पति की ऐसी आज्ञा नहीं और न इस प्रकार जाना उपयुक्त ही है। सीता ने अपना चूड़ामणि उतार कर हनुमान को दिया और अपनी कुछ जीवन-घटनाओं का वृत्तान्त भी कहा जिसे सुनकर राम को विश्वास हो गया कि सीता जीवित है और वह उनके वियोग में पीड़ित है।

राम ने रावण के पास दूत भेजा और कहलाया कि तुम सीता को वापिस पहुँचाओ अन्यथा युद्ध के लिए तैयार हो जाओ। रावण अभिमानी था, उसने सीता को वापिस न कर युद्ध किया जिसका नतीजा उसे भोगना पड़ा। राम-रावण का युद्ध प्रसिद्ध ही है। उसका विस्तार से वर्णन ग्रन्थानुसार चरितकार ने किया है। अन्त में लक्ष्मण के द्वारा रावण मारा गया। रामलक्ष्मण ने लंका में प्रविष्ट होकर सीता को प्राप्त किया। लंका में कुछ समय रहने के





और विभीषण को लका का राज्य देकर राम सीता और लक्ष्मण सहित अयोध्या को चले। अयोध्या मे राम सीता और लक्ष्मण का भव्य स्वागत हुआ। भरत ने जिनदीक्षा ले ली। और राम लक्ष्मण का राज्याभिषेक हुआ। दोनो भाई वहा सुख से राज्य करने लगे।

अशुभोदय में विवेक

कुछ समय के बाद अयोध्या मे सीता के सबध मे लोकोपवाद की वार्ता सामने आई, राम ने उस कलक से बचने के लिये सीता के परित्याग का निश्चय किया। यद्यपि लक्ष्मण ने बहुत समझाया पर राम अपने निश्चय पर दृढ रहे और कृतान्तवक्त्र सेनापति को बुला कर यह आदेश दिया कि सीता को बियावान जगल मे छोड आओ। सेनापति सीता को रथ मे बैठाकर ले चला और अयोध्या से बहुत दूर एक भयानक वनमे रथ को रोक कर सीता से बोला—आप उतर जाए।

जब सीता हिंसक जन्तुओ से भरे उस विकट वन मे उतरी तो भय से कांपने लगी। सेनापति ने रोते हुए सीता से कहा—मुझे आप क्षमा करे, मैने तो केवल स्वामी के आदेश का पालन किया है। सेनापति सीता की खिन्नमुद्रा, वन की भीषणता, नीरवता तथा गर्भ के भार की पीडा को देख कर अत्यन्त द्रवित हो गया। उसने जगल मे छोडने का कारण लोकोपवाद बतलाया। तब सीता ने जो कहा उसका उल्लेख हम पहले ही कर चुके हैं। सेनापति सीता के विवेक और और धैर्य से अत्यन्त प्रभावित होता है, अपने कृत्य पर पश्चाताप करता है और कहता है—यह सब कार्य मुझे पराधीनता-वश करना पडा है। देवी, मेरा यह अपराध क्षमा करो। कवि के वे वाक्य इस प्रकार है —

सेवावित्ती पुरिसो पहुवयणा विसइ जलणमि॥
जणणीए की स जाओ सो पुरिसो जो करेइ परसेव।
सेच्छाए जेण कओ न लहइ सो किंचि करणिज्ज॥
तो खमियव्वो सामिणि मह अवराहो इमो अहन्नस्स॥
एगागिणी अरण्णे ज परिचत्ता मए तमिह।

तओ बाहुल्ललोयणाए सुदीणवयणाए भणिय सीयाए, कहेहि केण पुण कारणेण एसो अम्ह अयडं चेक चडो दडो काराविओ राहवेण? तेण भणिय—देवि, सम्म न जाणामि। किन्तु मए वि सुओ जणप्पवाओ, जहा लकाहिवतिणा अवहरिय जीए सीलवररयण मा सीया णियभवेण कह आणिया राहवेणंव।

इयय सकल काउमन्ने भीएण पउभनाहेण।
सुयणु तुम परिचत्ता णो अण्णो कोइ अवराहो॥
अह वा न तुज्झ दोसो दोमा महचेव पुव्व पावरस।

० ० ०

जह नाह अह तुमए परिचत्ता आणइ अभावेउ।
तह मा मु चसु सामिण जिणवयण पिसुणवयणेहिं॥
मुक्कस्स मए पच्छा अवगणतस्स विगयविलियरस।
इह चेव भवे तिक्ख होही पिअयम महादुक्ख॥
चितामणिसारिच्छो जिणवरधम्मे मए विमुक्क।
नाणाविहदुक्खाण भवे भवे भायण होसि॥

—सियाचरिउ का० पृष्ठ १३५

सेनापति के जाते ही सीता रोती और बिलखती है और अपनी निन्दा करती है, परन्तु वहा उसका कौन है, जो उसे उस दुख मे सान्त्वना दे, ढाढस बधावे। वह कभी जिनदेव का स्मरण करती है, कभी अपने माता-पिता और लक्ष्मण को याद करती है, कभी अपने भाई भामडल को याद करती है। और कभी अत्यन्त करुण विलाप करती है।

उसके इस करुण विलाप को सुनकर वज्रजंघ की सेना रुक गई। वज्रजंघ ने सीता के शब्द सुने। उसने पास आकर जब सीता से उसका परिचय पूछा, तब सीता ने अपना परिचय दिया और वनवास का कारण बतलाया।

वज्रजंघ ने अपना परिचय देते हुए कहा—धर्मविधि से तुम मेरी बड़ी बहिन हो। सीता उसे अपना भाई मानकर उसके साथ नगर में चली गई। वज्रजंघ सीता का सम्मान के साथ पालकी में लाया, और वहा उसके साथ भगिनी के योग्य व्यवहार किया। सीता ने वहा युगल-पुत्रों को जन्म दिया जिनका नाम 'लव' और 'अकुश' रक्खा गया। दोनों पुत्रों का वहीं लालन-पालन, शिक्षण और विवाह हुआ। उन्होंने दिग्विजय की। पश्चात् अयोध्या आकर रामचन्द्र से युद्ध कर अपनी वीरता का परिचय दिया और आदर के साथ अयोध्या में प्रवेश किया।

अग्निपरीक्षा और आर्यिका की दीक्षा

कुछ दिनों के पश्चात् राम की स्वीकृति पाकर विभीषण, हनुमान, सुग्रीव और भामडल आदि राजा गण सीता को लेने के लिये पुडरीकपुरी नगरी गए, और सीता को ले आये। किन्तु जब सीता राम के सम्मुख आई, तब राम ने उसे कहा—देवि, मैं तुम्हारे शील को जानता हू, किन्तु किसी कर्मोदयवश जो जनापवाद रूप कलक हुआ उसे धोने के लिये अग्नि में प्रवेश कर आत्म-शुद्धि करो।

> तो रहवेण पालत्तअ सुमनिलेण जपियं दइए।
> ज भणसि तुमं सच्च सव्व पि हु नत्थि सन्देहो।
> जाणामि तुज्झ सील अणन्नमणस्स कुलीणय लज्ज।
> न निरित्तिम च पेम्म जह तुह तह कस्स भुवणमि।
> नहविहु जणाववाओ केणइ कम्मेण उच्छलिओ।
> ० ० ०
> पाविहिसि जम धवलं नहिमि पसिद्धी जणमि सयलमि।
> ता जलणपवेसेण करेसु तं अत्तणो सुद्धि॥
> हेमस्स व जेण मलो अवमकलको समुत्तरइ।
> एसो सिग्घ चिय तह सुन्दरि जाणइ मणनिव्वुइ अम्ह॥

—सियाचरिउ का० पृष्ठ १६०

सीता ने भी वस्तुस्थिति का दिग्दर्शन कराते हुए अपनी स्वीकृति दी।

अग्निकुण्ड तैयार कराया गया और जब वह प्रज्वलित हो उठा सीता ने पचनमस्कारमत्र का स्मरण कर सभा में बैठे लोगों से कहा—यदि मैंने इस जीवन में अपने पति रामचन्द्र को छोड़कर अन्य पुरुष का स्वप्न में भी स्मरण किया हो तो मेरा यह शरीर इस अग्नि में जल जाये और न किया हो तो न जले, तत्पश्चात् सीता ने अग्नि में प्रवेश किया। लोग हाय-हाय करने लगे, किन्तु जब सीता अपने शीलव्रत-माहात्म्य से न जली तब सबने उसके शील की प्रशसा की। कुण्ड से निकलने पर सीता ने ससार की अनित्यता और असारता का अनुभव कर आत्मकल्याण करने का निश्चय किया। रामचन्द्र ने घर चलने का आग्रह किया और यह भी कहा कि मैं तुझे सोलह हजार रानियों की पटरानी बनाऊँगा, किन्तु सीता ने अपने केशों का लुचन कर सर्वगुप्त मुनि के निकट आर्यिका की दीक्षा ले ली और विधिपूर्वक तपश्चरण द्वारा आत्मशुद्धि की।



सीयाचरिउ में सीता के पवित्र जीवन की जो झांकी दी गई है, उसका यह सक्षिप्त सार है, चरित ग्रन्थ सुन्दर व प्रकाशन योग्य है।

ग्रथ का कथानक दिगबर परपरा को लिये हुए है। उसमें कोई ऐसी बात नहीं है जिससे उसके विषय में सशय को अवकाश मिले। प्रत्युत ग्रथ का तुलनात्मक अध्ययन करने से स्पष्ट ज्ञात होता है, कि कर्त्ता ने विमलसूरि पउमचरिउ को अवश्य देखा है, क्योंकि उसका प्रभाव उन पर अकित है। ग्रथ के कितने ही पद्य ज्यों के त्यों साधारण पाठ-भेद के साथ



पउमचरिउ मे उपलब्ध होते हैं। कुछ पद्य "अन्न च", 'भणिय' तथा 'ओट्ठ' कह कर दिए गए हैं। ये उनसे उद्धृत किए गए जान पडते हैं। उदाहरणार्थ—

अन्न च—महिला महायनवला अदीहपेही महाइ माइन्ना।
त मे समाहि पुत्तय ज पडिकूल कय तुम्ह ॥ १६६ ॥
तो भणइ पउमणाहो अम्मो किं नत्तिया अनियवाई।
हुति महाकुलजाया नम्हा भरहो कुणउ रज्ज ॥
—सीताचरिउ १६७

महिला महाव गवना अदीहपेही सहावमाइल्ला।
त मे समाहि पुत्तय ज पडिकूलकय तुज्झ ॥३२-५१॥
तो भणइ पउमणाहो अम्मो किं नत्तिया अनियवाई।
होन्ति महाकुलजाया, नम्हा भरहो कुणउ रज्ज ॥
—पउमचरिउ ३२-५२

भणिय च—समणो गावो विप्पा इत्थीओ बालवुड्ढरोगत्ता।
एए न हु हन्तव्वा कयावराहा वि धीरेहिं॥
—सीताचरिउ कापी पृ० ३८

समणा य बम्भणा वि य, गोपसु इत्थीय वालया वुड्ढा।
जइ वि हु कुणन्ति दोस, तह वि य एए न हन्तव्वा॥
—पउमचरिउ ३५-१५

रच नाकाल

इस ग्र थ का रचयिता कौन है और ग्र थ कहा रचा गया, इसके जानने का कोई पुष्ट साधन अभी तक उपलब्ध नही हैं। ग्रन्थ मे रचनाकाल और गुरुपरपरा का भी कोई उल्लेख नही है। किन्तु ग्र थ के अ त मे एक गाथा निम्न प्रकार से उपलब्ध है।

एय सीयाचरिय वज्जरिम सेणियस्स नरवइणो।
जह गोयम तह महसूरिहिं निवेइय किंचि ॥

इसमे बतलाया है कि सीताचरित को गौतम ने जैसा राजा श्रेणिक से कहा वैसा ही महसूरि ने कुछ निवेदन किया। इस गाथा मे "मह" शब्द अपूर्ण जान पडता है और वह अन्य शब्द 'सेन" की अपेक्षा रखता है। पूरा नाम महसेन सूरि होना चाहिए। इतिहास मे महसेन और महासेन नाम के विद्वानो का उल्लेख मिलता है। बहुत सभव है कि इस ग्र थ के रचयिता कोई महसेन नामक विद्वान हो।

बघेरा के निम्न मूर्तिलेख मे आचार्य महसेन का उल्लेख स्पष्ट है, यह लेख सफेद पाषाण की खड्गासन मूर्ति के नीचे अ कित है।

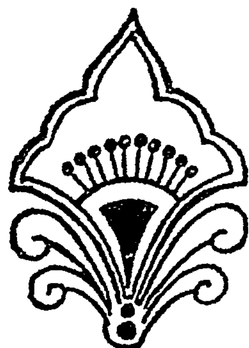
स० १२१५ वैशाख सुदी ७ श्री मरपुरसघे आचार्य श्री महसेने तद्दीक्षिता आर्यिका ब्रह्मदेवी श्री चन्द्रप्रभु प्रणमिति।"

कुछ विद्वान् "मह" का अर्थ मुझ बतलाते हैं पर यह सगत नही जान पडता।

इस ग्र थ की अनेक प्रतिया उपलब्ध हैं, सभव हैं उनमे से किसी पुरातन प्रति मे कर्ता का उल्लेख मिल जाय।

रहस्यवाद : जैनधर्म और साहित्य

श्री देव कोठारी, एम० ए०
शोध-अधिकारी साहित्य संस्थान,
राजस्थान विद्यापीठ, उदयपुर



विश्व-रचना के रहस्य एवं परम-आत्मा से साक्षात्कार के लिये मानव अनादिकाल से उत्सुक रहा है और इसके लिये उसने विविध आध्यात्मिक मत-मतान्तरों एवं उनके मार्गों के आधार पर अनेक अनुभूतियां ग्रहण की हैं। कभी वह आध्यात्मिक सीमा तक ही सीमित रहा है, तो कभी उसने उस शक्ति के पास पहुंचने के प्रयास में सहज प्राप्त अनुभूतियों को भाषा के माध्यम से अभिव्यक्त कर एक भाव-समूह के रूप में संचित कर दिया है, उसी संचयन को साहित्यिक शब्दावली में "रहस्यवाद" के नाम से अभिहित किया गया है। "मूलत अपनी अन्त स्फुरित अपरोक्ष अनुभूतियों द्वारा सत्य, परमतत्व अथवा ईश्वर का प्रत्यक्ष साक्षात्कार करने की प्रवृत्ति ही रहस्यवाद है।"[1] इस प्रकार की प्रवृत्ति मानव-स्वभाव की विशिष्ट, मौलिक, एवं अविभाज्य अंग रही है। मानवसभ्यता के प्राय प्रत्येक स्तर, देश और उसके काल में तत्कालीन परिस्थितियों के अनुरूप यह प्रस्फुटित भी हुई है।

यही प्रवृत्ति जैनधर्म और उसके साहित्य में उसके प्रारंभिक काल से ही पाई जाती है। कुछ विद्वान इस सत्य को स्वीकार करने में संकोच अनुभव करते हैं। उनका कहना है कि बौद्ध, चार्वाक, माध्यमिक, मीमांसा, सौत्रांतिक, वैभाषिक, योगाचार आदि दार्शनिक मतों की तरह जैनदर्शन भी आस्तिकतावादी नहीं है, क्योंकि रहस्यवाद के लिये आस्तिकता अनिवार्य है जो उनके अनुसार जैनधर्म में 'नहीं' पाई जाती है। 'मध्यकाल में वेदान्त को स्वीकार करने वाले ही आस्तिक हैं'—ऐसा विघटनकारी आन्दोलन चल गया था, इस कारण जैनधर्म को भी उसका शिकार होना पड़ा। वास्तव में उस समय आस्तिकता की स्पष्ट परिभाषा भी नहीं थी, मनु के शब्दों में वेदान्त को अस्वीकार करने वाला नास्तिक था तो कुमारिल भट्ट के शब्दों में परलोक में विश्वास नहीं रखने वाला नास्तिक था। यहां तक कि आस्तिकता के प्रबल प्रचारक एवं पाशुपतों तथा माहेश्वरों को नास्तिक करार देने वाले स्वयं शंकराचार्य को भी नास्तिक होने का आक्षेप सहन करना पड़ा था।[2] सत्य तो यह है कि वह व्यक्ति जो सत्य-धर्म से च्युत हो चुका है, किंवा विमुख हो चुका है, वह नास्तिक है और जो सत्य धर्म को जानता है वह आस्तिक है, यथा —

---

1 साहित्य कोश, ज्ञान मण्डल प्रकाशन, सम्वत् २०१५—पृष्ठ ६३५

2 डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, मध्यकालीन धर्म साधना, पृष्ठ १६



सत्यधर्मच्युतात् पुंसः क्रुद्धादाशीविषादिव।
अनास्तिकोऽप्युद्विजते जनः किं पुनरास्तिकः ॥[1]

वेदो की स्वीकृति अथवा अस्वीकृति के आधार पर ही आस्तिक नास्तिक निर्णय करना एकागी दृष्टिकोण है, हिन्दुओ के प्रमुख ग्रन्थ 'महाभारत' के श्लोक के अनुसार भी जैनधर्म को नास्तिक कहना बुद्धिगम्य नही है। वह आस्तिक दर्शन है और उसमे रहस्यवाद प्रारम्भ काल से ही पाया जाता है। यजुर्वेद तक मे जैनधर्म के प्रथम तीर्थंकर ऋषभनाथजी तथा दूसरे तीर्थंकर अजितनाथजी को गूढवादी (रहस्यवादी), बताया गया है।[2] "परमात्मप्रकाश" की भूमिका मे भी डा० ए० एन० उपाध्ये ने क्रमश प्रथम तीर्थंकर ऋषभनाथजी, बाईसवे तीर्थंकर नेमिनाथजी तथा तेईसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथजी को गूढवादी (रहस्यवादी) कहा है।[3] भगवान महावीर की वाणी के सग्रहीत ग्रन्थ रूप आगम साहित्य के सर्वाधिक प्राचीन अग "आचाराग सूत्र" मे भी इसका स्पष्ट उल्लेख है —

जे एग जाणइ से सव्व जाणइ।
जे सव्व जाणइ से एग जाणइ ॥[4]

अर्थात् जो एक को जान लेता है, वह सबको जान लेता है और जो सब को जान लेता है वह एक को जान लेता है। विक्रम की पहली शताब्दी मे कुन्दकुन्दाचार्य के "भावपाहुड" मे रहस्यवाद की भावात्मक अभिव्यक्ति को प्रमुखता दी गई है। इसके बाद अपभ्र श की कृतियो मे योगात्मक रहस्यवाद का स्वर पाया जाता है। मध्यकाल तक आते-आते भावात्मक अभिव्यक्ति एव योगात्मक रहस्यवाद की दोनो धाराएँ समान रूप से पाई जाती हैं। तन्त्रवादियो का प्रभाव भी इस पर पडे बिना नही रहा है फिर इसमें विकृति नही आ पाई है। यहा हम विभिन्न शीर्षको के अन्तर्गत जैनधर्म और उसके साहित्य मे रहस्यवाद की स्थिति का क्रमश अवलोकन करेंगे।

१ आत्मा, परम-आत्मा और ब्रह्म

आत्मा द्वारा परमात्मा या ब्रह्म से साक्षात्कार करने की स्थिति रहस्यवाद की आधारशिला है। यास्क ने अपने "निरुक्त" मे आत्मा शब्द की निरुक्ति यो बताई है —

"आत्मा तते वप्ति वापि वाप्त इव स्याद् यावद् व्याप्तिभूत इति"[5]

अर्थात् आत्मा शब्द अत् धातु या अप् धातु से बना है। आत्मा को आत्मा इसलिये कहा जाता है कि वह सदा चलती रहती है या वह सदा जीवधारियो मे व्याप्त रहती है। समस्त हिन्दूदर्शन आत्मा के इसी स्वरूप को स्वीकार करता है और रहस्यवाद भी इसी से प्रभावित है किन्तु जैनधर्म का इससे थोडा मतभेद है। स्थानाग सूत्र के अनुसार[6] "दुविहे तच्चे पन्नत्ते, तजहा जीवे चेव अजीवे चेव" अर्थात् दो प्रकार के तत्व हैं—जीव और अजीव। आगे कहा गया है

---

१ (क) महाभारत, आदि पर्व—
(ख) शब्दकल्पद्रुम मोतीलाल बनारसीदास सस्करण, पृष्ठ १९८ पर उद्धृत
२ डा० प्रेमसागर जैन, हिन्दी जैन भक्ति काव्य और कवि, ज्ञान मण्डल, पृष्ठ ४७६
३ डॉ० ए० एन० उपाध्ये द्वारा सम्पादित "परमात्मप्रकाश एण्ड योगसार" (अग्रेजी) इन्ट्रोडक्सन, पृष्ठ ३९
४ आचाराग सूत्र, ३।४
५ यास्क, निरुक्त, ३।१३।२
६ मुनि श्री रामेश कुमारजी, भगवान महावीर का तत्वदर्शन, जैन भारती, १६ अप्रैल ६७, पृष्ठ ३८० पर उद्धृत

कि 'न एवं भूतं वा भव्यं वा भविस्सदि वा जं जीवा अजीवा भविस्संति, अजीवा जीवा भविस्संति' अर्थात् न यह कभी हुआ, न होता है और न होगा कि जीव कभी अजीव रूप धारण करे और अजीव कभी जीव रूप धारण करले। इस प्रकार जैनधर्म में आत्मा न तो कभी अजीव रूप धारण कर सकती है और न अजीव कभी आत्मा का रूप धारण कर सकता है। आत्मा का अपना स्वतन्त्र अस्तित्व है, वह अजर अमर है। आचार्य पूज्यपाद के अनुसार उसकी तीन अवस्थाएं हैं —

बहिरन्त परश्चेति त्रिधात्मा सर्वदेहिषु।
उपेयात्तत्र परमं मध्योपायाद बहिस्त्यजेत् ॥४॥
बहिरात्मा शरीरादौ जातात्मभ्रान्तिरान्तर
चित्तदोषात्मविभ्रान्ति परमात्मातिनिर्मल ॥५॥[1]

अर्थात् बहिरात्मा उस अवस्था का नाम है, जिसमें आत्मा अपने स्वरूप को नहीं पहिचान पाती तथा शरीर और इन्द्रियों को ही अपना स्वरूप समझती है, अन्तरात्मा वह है जो चित्त सम्बन्धी दोषों को अपना स्वरूप समझती है। बहिरात्मा की अपेक्षा इसमें सम्यक् किंचित् अन्तर्मुख होती है तथा यह शरीर को अपने से अलग मानती है किन्तु पूर्ण नहीं बन पाती। परमात्मा वह विशिष्ट अवस्था है जहां आत्मा पूर्ण विकास पर पहुंच जाती है और उसका जन्म-मरण नहीं होता, वह अति निर्मल रूप धारण कर लेती है। कुन्दकुन्दाचार्य ने अपने मोक्खपाहुड में भी इसी का वर्णन किया है।[2] रहस्यवाद में आत्मा के दो स्वरूपों को ही स्वीकार किया गया है, एक तो वह जिसमें वह परमात्मा को प्राप्त नहीं कर सकती और दूसरी वह जिसमें वह परमात्मा में विलीन हो जाती है। जैनधर्म की पूज्यपाद के अनुसार उपरोक्त तीनों अवस्थाओं में प्रथम दो अवस्थाएं रहस्यवाद की पहली आत्मा की कोटि की हैं और तीसरी उसकी दूसरी के समान।

इस प्रकार जैनधर्म में आत्मा की तीसरी अवस्था (परम-आत्मा) आत्मा का ही एक अंग है, परम-आत्मा और आत्मा का अलग अस्तित्व नहीं है अर्थात् आत्मा ही परम-आत्मा है। आत्मा इतनी शक्तिशाली है कि वह स्वयं परम-आत्मा का रूप धारण कर लेती है, उसका रूप विशिष्ट हो जाता है, वह शरीर रहित, इन्द्रिय रहित, मल रहित, विशुद्ध परमपद में स्थित, केवलज्ञानी, सब कर्मों की विजेता, स्वात्मारागी, शाश्वत एवं सिद्ध हो जाती है, यथा —

मलरहिओ कलचत्तो अणिंदिओ केवलो विसुद्धप्पा।
परमेट्ठी परमनिरो सिवकरो सासओ सिद्धो ॥[3]

यहां आकर उसे 'मेरे' और "उसके" का भान नहीं रहता उसके लिये यह स्थिति हो जाती है कि किसकी समाधि करूं? किसकी अर्चना करूं? स्पर्श-अस्पर्श का विचार कर किसका परित्याग करूं? किससे मिलना और किससे रूठना करूं? जहां कहीं देखता हूं, आत्मा ही दिखाई पड़ती है —

को ? सुसमाहि करउ को अचउ
छोपु-अछोपु करिवि को वचउ।

---

1 आचार्य पूज्यपाद, "समाधितन्त्र", वीर सेवा मन्दिर, दिल्ली।

2. कुन्दकुन्दाचार्य, मोक्खपाहुड, चौथा और पांचवा श्लोक।

3 (क) कुन्दकुन्दाचार्य, मोक्खपाहुड छठा श्लोक
(ख) महावीर जयन्ति स्मारिका, अप्रैल ६२ श्री वासुदेवसिंह के लेख में उद्धृत-पृष्ठ १७४



हल सहि कलहु केण समाणउ,
जहिं कहिं जोवउ तहिं उप्पाणउ ॥[1]

आत्मा का यही शुद्ध रूप परम-आत्मा है, जैनधर्म मे यही ब्रह्म का पर्याय है। ब्रह्म की व्युत्पति 'वृह' (वढना) धातु से हुई है। जो वृहत्तम है जो सवसे वढा चढा हो, जिसमे वढना क्रिया के सभी अर्थ शामिल हो, उसे ब्रह्म कहा जाता है। शकराचार्य, रामनुजाचार्य आदि ब्रह्मवादियो ने अपने भाष्यो मे ब्रह्म शब्द की यही व्याख्या की है।[2] परम-आत्मा, जैनधर्म मे आत्मा का यही वढा चढा या वृहत्तम रूप है। आचार्य योगीन्दु के अनुसार[3]—

"मूढ वियक्खणु बमु परू अप्पा ति विहु हवेइ"

अर्थात् शुद्ध आत्मा ही ब्रह्म है, उसका कोई अलग स्वरूप या अस्तित्व नही हैं। इसका कारण यह है कि सिद्ध और ब्रह्म एक ही है —

जेहउ णिम्मलु णाणमउ सिद्धिहि णिवसइ देउ।
तेंहउ णिवसइ बभु परू देहहु म करि भेउ ॥[4]

और सिद्ध, आत्मा का ही विकसित रूप है, जो आठ कर्मो[5] से मुक्त हो जाते हैं तथा उसके वाद जो सिद्धि प्राप्त करते हैं वे ही सिद्ध हैं।[6] इस प्रकार के सिद्ध अमूर्तिक, अव्यक्त, ज्ञानयुक्त और शाश्वत सुख के धारणकर्त्ता होते हैं।[7] श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने उसमे सम्यक्त्व, दर्शन, ज्ञान, वीर्य, सूक्ष्मता, अगुरुलघु और अव्यावाध नामक आठ गुण वताये हैं —

सम्मत्त णाण दसण वीरिय, सुहुम, तहेव, अवगहण।
अगुरुलहुमव्वावाह अट्ठगुणा होंति सिद्धाण ॥[8]

कवीर का निर्गुण ब्रह्म भी अमूर्तिक और अव्यक्त है।[9] अत वह जैनधर्म के सिद्ध या परम-आत्मा के समान ही है।

उपरोक्त विवरण से स्पष्ट है कि जैनधर्म मे आत्मा और परम-आत्मा एक ही है। हिन्दू धर्म भी यही मानता

---

१ योगीन्दु मुनि, योगसार, दोहा-४०
२ साहित्यकोश, ज्ञान मण्डल, पृष्ठ ५२०
३ परमात्मप्रकाश, १।१३, पृष्ठ २२
४ वही १।२६, पृष्ठ ३३
५ आठ कर्म निम्न है —ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय मोहनीय आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय।
६ आचार्य पूज्यपाद, सिद्ध भक्ति, पहला श्लोक (दश भक्ति) शोलापुर, पृष्ठ २७
७ डा० प्रेमसागर जैन, हिन्दी भक्ति काव्य और कवि, ज्ञानपीठ पृष्ठ ४५६
८ कुन्कुन्दाचार्य सिद्धभक्ति (दशभक्ति), शोलापुर, पृष्ठ ६६
९ सतो धोखा कासू कहिये।
गुण मे निरगुण, निरगुण मे गुण, बाट छाडि क्यूं बहिये ॥
अजरा अमरा कथै सव कोई, अलख न कथणा जाई।
नाति स्वरूप वरण नहि जाकै, घटि-घटि रह्यो समाई ॥
प्यड ब्रह्मण्ड कथै सब कोई, वाकै आदि अरू अन्त न होई।
प्यड ब्रह्मण्ड छाँडि जे कथिए, कहै कबीर हरि सोई ॥

है। आचारांगसूत्र में व्यक्त 'सोऽहं' (वह मैं ही हूं)[1] तथा उपनिषदों के 'सोऽहं' (वह मैं ही हूं) या 'अयमस्मि' (यही मैं हूं)[2] में कोई अन्तर नहीं है। 'तत्वमसि' (वही तू है)[3] 'अहं ब्रह्मास्मि' (मैं ही ब्रह्म हूं)[4] तथा सुप्रसिद्ध सूफी मंसूर बिन अल-हल्लाज का 'अनलहक' (मैं ही ब्रह्म हूं)[5] आत्मा और परम-आत्मा (ब्रह्म) की अभिन्नता व्यक्त करने वाले चिरन्तन वाक्य हैं। छान्दोग्य उपनिषद् में भी आत्मा और परम-आत्मा (ब्रह्म) की एकता को व्यक्त करते हुए कहा गया है—"तत्सत्य स आत्मा तत्वमसि" अर्थात् वह सत्य है, वह आत्मा है, वह तू है।[6] इस प्रकार जैन कवियों एवं कबीर की आत्मा, परम-आत्मा (ब्रह्म) विषयक मान्यताओं में कोई मौलिक भेद नहीं हैं।

सद्गुरु

विश्व के सबसे बड़े रहस्य परम-तत्व (परम-आत्मा या ब्रह्म) से साक्षात्कार करना बहिरात्मा के लिए सम्भव नहीं है क्योंकि उस समय वह सांसारिक सुखों में तल्लीन रहता है। उसे अपने अस्तित्व का आभास तक नहीं होता, ऐसी स्थिति में उस रहस्य की ओर प्रवृत्त करना गुरु का कार्य है। गुरु ही आत्मा और परम-आत्मा को मिलाने में मध्यस्थ का कार्य करता है अर्थात् गुरु के द्वारा भक्त के कान में भक्ति का मन्त्र फूंका जाता है, जिससे उसके ज्ञान रूपी नेत्र खुल जाते हैं। परम-आत्मा व उससे साक्षात्कार के मार्ग को समझने लगता है।

जैन धर्म में सद्गुरु और ब्रह्म (परम-आत्मा) में समानता का भाव है, जबकि कबीर का गुरु ब्रह्म से पृथक् और बड़ा है। इस कारण जैन साधकों की भक्ति में सन्देह की आशंका कम रहती है। अर्हन्त, सिद्ध, उपाध्याय, आचार्य, साधु इन पंच परमेष्ठी के रूप में जैनधर्म में पांच गुरु हैं और पांचों परम-आत्मा के रहस्य की प्राप्ति के मार्ग में सहायक होते हैं। सतगुरु की योग्यता के ऊपर साधक की फल प्राप्ति निर्भर करती है, फलतः सतगुरु ऐसा होना चाहिए जिससे शिष्य का हृदय संशय, भ्रम, मिथ्यात्व और मोह से मुक्त हो जाय, चूंकि आत्मा का स्वभाव सांसारिक मोह से युक्त होता है। अतः उसे सतगुरु का सच्चा उपदेश भी रुचिकर नहीं लगता, इसलिए सतगुरु का सर्वांगीण होना नितान्त आवश्यक है।

कबीर का गुरु तो ऐसा है कि जिसके शब्द-बाण लगते ही शिष्य का मोह-जाल तत्काल नष्ट हो जाता है।[7] किन्तु जैनधर्म में सतगुरु के कोमल वचनों को सुनकर शिष्य मृग की तरह रीझ जाता है—

कोमल वचन गुरु बोलै मुख सेती सुन,
सुन मन रीझे-रीझे म्रिग सुनि नादिका।[8]

इस भवसागर को पार कराने के लिए गुरु रूपी जहाज की बराबर आवश्यकता रहती है। भूधरदास (अठारहवीं शताब्दी) के गुरु तो ऐसे हैं कि वे स्वयं भी इस भवसागर से पार होते हैं और दूसरों को भी पार कराते हैं—



---

१ आचारंग के सूक्त, अनुवादक श्री चन्दनमल पारिया, पृष्ठ ६
२ बृहदारण्यक उपनिषद्, अध्याय चतुर्थ, ब्राह्मण चतुर्थ, मन्त्र बारहवां।
३ छान्दोग्य उपनिषद्, षष्ठ प्रपाठक, अष्ट खण्ड, मन्त्र ७ वां।
४ बृहदारण्यक उपनिषद्, प्रथम अध्याय, ब्राह्मण चतुर्थ, मन्त्र दसवां।
५ साहित्यकोश, ज्ञान मण्डल, पृष्ठ ७३ पर उद्धृत
६ डा० गणपतिचन्द्र गुप्त, साहित्यिक निबन्ध, पृष्ठ ४६० पर उद्धृत, (संस्करण १९६८)
७ सतगुरु लाई कमांण करि, बाहण लागा तीर।
एक जु बाह्या प्रीति सू, भीतरि रह्या शरीर।
८ आध्यात्मसवैया, आमेर शास्त्र भण्डार, जयपुर, २६ वे पद्य का पूर्वार्द्ध



ते गुरु मेरे मन बसो, जे भव जलधि जिहाज।
आप तिरें पर तारहीं, ऐसे ही ऋषिराज ॥[1]

सतगुरु का उपदेश आस्रवो के लिए दीवार, कर्म के कपाटो को खोलने वाला और मोक्ष के लिए पैंडी का काम करता है —

यह सतगुरु दी देशना, कर आस्रव दीवाडि।
लद्दी पंडि मोखदी, करम कपाट उघाडि ॥[2]

गुरु की कृपा से ही परम-आत्मा की प्राप्ति होती है। सुन्दरदास की आत्मा को गुरु की दयालुता ने ही परम-आत्मा तक पहुचा दिया था।[3]

इसी तरह ब्रह्मजिनदास ने प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव को सतगुरु की कृपा से ही प्राप्त किया है —

तेह गुण मे जाणी या ए, सद्गुरु तणो पसावतो।
भवि-भवि स्वामी सेवसु, ए लागु सदगुरु पाय तो ॥[4]

इस प्रकार जैन धर्म मे भी गुरु के अभाव मे रहस्यमय ब्रह्म को पाना असभव है क्योकि वही सांसारिक मिथ्यात्व के आवरण को दूर कर परमसत्ता से साक्षात्कार के लिए उन्मुख करता है इसीलिए मुनि नथमल के गुरु, जो 'मुझ तक पहुच जाने मे समर्थ है पूजनीय हैं —

'मेरे पूजनीय !
मैं तुम्हारी पूजा इसलिए नही करता—
कि तुम बडे हो,
किन्तु इसलिए करता हू कि—
तुम मुझ तक पहुच जाते हो।'[5]

रागात्मक सम्बन्ध

रहस्यवाद मे आत्मा और परम-आत्मा मे एकता और उस एकता की रागात्मक अनुभूति का प्राप्त होना आवश्यक है। परम-आत्मा या ब्रह्म इन्द्रयातीत अगम्य होते हुए भी वह गम्य है, वह अलौकिक प्रेम द्वारा ही प्राप्य है। प्रेम या अनुराग या रागात्मक सम्बन्ध भक्ति के स्थायी भाव हैं। परम आत्मा के रहस्य से साक्षात्कार करने के लिए भक्ति के इसी रागात्मक सम्बन्ध को माध्यम बनाया जाता है। यह रागात्मक सम्बन्ध मानवेतर या स्वय ब्रह्म से होता है, अत लौकिक नही हो कर अलौकिक है।

हिन्दी साहित्य मे कबीर और जायसी ने परम-आत्मा की प्राप्ति के प्रयत्न मे प्रेम की प्यास को खूब बुझाई है किन्तु कबीरदास ने ब्रह्म के अपार सौंदर्य को घट के भीतर ही रखा है, इसके विपरीत जायसी एव जैन कवियो ने परम-तत्व के सौदर्य को प्रकृति के कण-कण मे उडेल दिया है, उनमे सवेदनात्मक अनुभूति की अधिकता है। सतगुरु के द्वारा

---

१ भूधरदास, आध्यात्म पदावली, ज्ञानपीठ, पृष्ठ ८४
२ बनारसीदास, 'बनारसी विलास', जयपुर (१९५४) दोहा २३, पुष्ठ १३६
३ परमातमसो आतमा जुदे रहे बहुकाल।
सुन्दर मेला करि दिया सद्गुरू मिले दयाल ॥
४ ब्रह्मजिनदास, 'आदिपुराण', प्रशस्तिसग्रह, जयपुर २०४
५ मुनि नथमल, 'मेरे पूजनीय', जैन भारती, १० सित० १९६७, पृष्ठ ९५७

परम आत्मा को प्राप्त करने की जो प्रेरणा भक्त को मिलती है उसी की आधारशिला पर प्रारम्भ में उसे ईश्वर की सत्ता का विश्वास व आभास होता है। तदनन्तर वह उसकी ओर आकर्षित होता है और अन्त में यह आकर्षण विरह में बदल जाता है। विरह में ब्रह्म से मिलने के लिए आत्मा इतनी व्याकुल हो जाती है कि उसके बिना उसको चैन नहीं पड़ती, हालत यह हो जाती है कि भूख और प्यास तक नहीं लगती —

> सखी री अब तो रह्यो नहिं जात।
> प्राणनाथ की प्रीत न बिसरत, छिन-छिन छीजत गात ॥
> नहिं भूख नहिं तिसु लागत घरहि घरहि मुरझात।
> मनतो उरझी रह्यो मोहन सु, सेवन ही मुरझात ॥[1]

और ऐसी हालत में ब्रह्म रूपी अग्नि पर प्रेम के प्याले को तैयार किया है, उसको पीकर मतवाला ही परम-आत्मा की सुगन्ध ले सकता है, दुनिया तो तमाशा देखती रहे—

> मनसा प्याला प्रेम मसाला, ब्रह्मअग्नि पर जाली ॥
> तन भाठी अवटाई पिये कस, जागे अनुभव लाली ॥
> अगम प्याला पीयो मतवाला, चिन्ही अध्यातम वासा।
> आनन्दघन चेतन ह्वै खेले, देखे लोक तमासा ॥[2]

फिर भी कभी-कभी ऐसा होता है कि परम-आत्मा के पास पहुंचते-पहुंचते तथा परिचय होने के कारण उससे साक्षात्कार नहीं कर पाते, भले ही उसके इतने निकट हो जैसे हाथ-से-हाथ या सांस-से-सांस टकरा जाये —

> तुम ?
> कि मेरे सामने जो
> सर्वथा अव्यवहित, अनावृत, स्फटिक-स्पष्ट
> और नये परिचय की आँखों से स्वच्छन्द, निर्बन्ध,
> इतने निकट कि
> हाथ से हाथ छू जाये
> सांस से सांस टकरा जाये
> फिर भी एक दूसरे को छू नहीं पाये।[3]

किन्तु प्रेम का तीर ऐसा अचूक होता है कि उसके लगने के बाद साधक उससे बच नहीं पाता। कबीर को भी जब सबद की चोट लगती है तो उसे और कोई ठौर नहीं रहती,[4] जायसी ने प्रेम-बाण के लगने के बाद की स्थिति बड़ी दुखदायी बताई है,[5] यही स्थिति जैन साधकों की है—

---

१ भट्टारक कुमुदचन्द्र, हिन्दी पद संग्रह (श्री महावीर जी) पृष्ठ १६

२ आनन्दघन पद संग्रह अध्यात्मज्ञान प्रसारक मण्डल, बम्बई, पद्य संख्या २८

३ मुनि रूपचन्द्र, 'कला-अकला' आदर्श साहित्य संघ, पृष्ठ ५

४ सारा बहुत पुकारिया, पीड पुकारे और।
  लागी चोट सबद की, रह्या कबीरा ठौर ॥

५ जायसी—प्रेमघाव दुख जान न कोई
  जेहि लागै जानै तै सोई ॥





कहा दिखावू और कू, कहा समझाऊँ मोर ।
तीर अचूक है प्रेम का, लागे सो रहे ठौर ।।[1]

और इस प्रकार जब उसे प्रभु की प्राप्ति हो जाती है तो वह उसमे मग्न हो जाता है, तन-मन की दुविधा विसरती है, दीनता दूर हो जाती है, अनुभव रस की प्राप्ति हो जाती है और चिदानन्द की मौज मच जाती है —

हम मगन भये प्रभु ध्यान मे ।
विसर गई दुविधा तन मन की, अचिरासुत गुन गान मे ।।
हरि-हर ब्रह्म-पुरन्दर की निधि, आव नहीं कोउ मान मे ।
चिदानन्द की मौज मची है, समता रस के पान मे ।।
इतने दिन तू नाहि पिछान्यो, जन्म गंवायो अजान मे ।
अब तो अधिकारी ह्वै बैठे, प्रभु गुन अखय खजान मे ।।
गई दीनता सभी हमारी, प्रभु तुझ समकित दान में ।
प्रभु सुन अनुभव इसके आगे, आवत नहि कोउ ध्यान मे ।।[2]

उपरोक्त प्रकार से परम-आत्मा के प्रति रागात्मक सम्बन्ध के साथ-साथ उठते, बैठने, खाते, पीते, सोते, जागते, सभी मे उसी परम-आत्मा (ब्रह्म) को देखते रहना चाहिए । इस तरह की जाग्रतावस्था की स्थिति मे ही उस अनन्त की ओर लगन स्थिर रहती है ।

परम-आत्मा (ब्रह्म)
प्राप्ति के मार्ग में बाधाएं

परम रहस्य से साक्षात्कार करने का मार्ग बडा कटकाकीर्ण है, उसमे अनेक बाधायें आती हैं, चूंकि मानव सांसारिक जीव है अत ससार से सम्बन्ध-विच्छेद करने के उपरान्त भी नाना प्रकार के अवरोध परम-आत्मा की प्राप्ति के समय आते रहते है । माया उन्ही मे से एक है । कबीरदास ने माया का मनमोहक रूप बताया है । जो अपने रूप से सबको आकर्षित करती है ।[3] पापिणी, सर्पणी, ठगिनि, डाकणी, विश्वासघातिनी आदि कबीर के अनुसार माया के ही भिन्न-भिन्न रूप है तथा मान, आशा, तृष्णा, काम, क्रोध, लोभ, मोह, मन्सा, मद, ममता, मिथ्यात्व आदि सब माया के ही परिवारी हैं । इन्हीं के फेर मे फसकर ससारी जीव परम-आत्मा (ब्रह्म) से विमुक्त हो जाता है । जैनधर्म भी माया को ठीक इसी रूप मे देखता है । उसे विजली की आभा के समान माना गया है जो अज्ञानियो को ठीक उसी प्रकार ललचाती है जिस प्रकार क्षणभगुर विजली की चमक—

सुनि ठगनी माया, तै सब जग ठग खाया ।
टुक विश्वास किया जिन तेरा, सो मूरख पछताया ।।
आभा तनक दिखाय विजजु, ज्यो मूढमती ललचाया ।
करि मद अध धर्म हर लीनो, अन्त नरक पहुँचाया ।।
केते कथ किये तै कुलटा, तो भी मन न अघाया ।
किसहीसौं नहि प्रीति निभाई, वह तजि और लुभाया ।।

---

१ आनन्दघन पद सग्रह, बम्बई, पद स० ४

२ डा० प्रेमसागर जैन, हिन्दी जैन भक्ति काव्य और कवि, ज्ञान मण्डल, पृष्ठ २०२ पर उद्धृत ।

३ कबीर माया मोहनी, मोहे जाण सुजाण ।
भागा ही छूटे नहीं, भरि-भरि मारे वाण ।।

'भूधर' छलत फिरत यह सबकों, भौंदू करि जग पाया।
जो इस ठगनी को ठग बैठे, मैं तिनको शिर नवाया।।[1]

इस माया से छुटकारा पाना ही परमात्मा का प्रथम सोपान है। माया से निर्लिप्त मनुष्य ही ब्रह्म के सन्निकट पहुंच सकता है। माया का सर्वाधिक प्रभाव मन पर पड़ता है अतः अन्तःकरण को शुद्ध कर मन की चंचलता पर विजय पाना आवश्यक है—

जग के माया बन्धन छोड़े,
पर मन के यदि बन्ध न तोड़े,
तो क्या, क्योंकि चित से बाहर,
जगत और सन्यास नहीं है।
प्यास लगी जब नीर नहीं था,
नीर भरा अब प्यास नहीं है।[2]

अज्ञानता का नाश एवं ज्ञान का प्रकाश होने पर माया हार मान जाती है। अतः रहस्यमार्गी को प्रज्ञावान होना चाहिए।

भाषा के माध्यम से अभिव्यक्ति

रहस्य की अनुभूति का अनुभव हँसकर, रोकर, गाकर, या नाचकर विविध प्रकार से किया जा सकता है। इस तरह की अनुभूति आज तक कितने ही जैन-जैनेतर साधकों ने प्राप्त की है, किन्तु हम सबको रहस्यवादी नहीं कह सकते। जैसा कि प्रारम्भ में स्पष्ट किया जा चुका है, परम-आत्मा से साक्षात्कार के प्रयास में सहज प्राप्त अनुभूतियों को भाषा के माध्यम से अभिव्यक्ति कर जब एक भाव समूह के रूप में उनका एकत्रीकरण होता है तब ही उस एकत्र रूप को रहस्यवाद कहा जाता है और ऐसा करने वाले रहस्यवादी कहलाते हैं। कबीर, जायसी, प्रसाद, पन्त और महादेवी के साहित्य के समान ही हिन्दी जैन काव्य में कुन्दकुन्दाचार्य, पूज्यपाद, योगीन्दु बनारसीदास, भूधरदास, ब्रह्मजिनदास, द्यानतराय, आनन्दघन, पाण्डे रूपचन्द्र, मुनि नथमल, मुनि रूपचन्द्र, मुनि हजारीमलजी व गणेशलालजी आदि ऐसे ही प्रमुख रहस्यवादी कवि हैं। इनका अधिकांश साहित्य रहस्यवाद से परिपूर्ण है। इनके साहित्य में "आत्म-ब्रह्म के प्रेम की अभिव्यक्ति रूपकों के द्वारा की गई है।"[3] ये रूपक भी बड़े सुन्दर हैं, किन्तु उनमें संयम की मात्रा अधिक है। एकदम भावुक होकर पानी की तरह बहे नहीं हैं। साहित्यिक गुणों की रक्षा के साथ-साथ परम-आत्मा की प्राप्ति में सहज प्राप्त अनुभूतियों का भी यथारूप अंकन हुआ है। विशाल मात्रा में उपलब्ध ऐसे साहित्य पर तटस्थ अनुसंधान की सामयिक आवश्यकता है।

◎



---

१ (क) हिन्दी पद संग्रह, (दि० जैन अ० क्षेत्र, श्री महावीर जी) में संकलित, भूधरदास का पद पृष्ठ १५४
(ख) इस पद की कबीर के "माया महा ठगिनी हम जानी,
निरगुन फाँस लिये कर डोले, बोले मधुरी बानी" वाले पद से मिलाइये

२. मुनि श्री रूपचन्द्रजी, 'कला-अकला' आदर्श साहित्य संघ प्रकाशन, पृष्ठ ५१

३ डा० प्रेमसागर जैन, हिन्दी जैन भक्ति काव्य और कवि, ज्ञान मण्डल, पृष्ठ-६



संत कवि रायचन्द्रजी और उनकी रचनाएँ

मुनिश्री लक्ष्मीचन्द्रजी म०
(स्व० गुरुदेव श्री सुजानमलजी म० के शिष्य)

स्थानकवासी परम्परा मे कई प्रभावशाली संतकवि हो गये हैं। उसकी आचार्य जयमल्लजी म० की परम्परा ने हिन्दी साहित्याकाश को कई उज्ज्वल नक्षत्र प्रदान किये जिनमे आचार्य रायचन्द्रजी, आसकरणजी, सबलदासजी, मुनि चौथमलजी, ताराचदजी, भगवानदासजी आदि के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। स्वय आचार्य जयमल्लजी प्रभावशाली सत एव कुशल कवि थे। उनके व्यक्तित्व को सूर्य से उपमित किया जा सकता है। उन्ही से प्रेरणा पाकर उक्त कवियों का प्रकाश अधिकाधिक विकीर्ण होता रहा। आलोच्य कवि रायचन्द्रजी इसी सौरमडल के कीर्तिमान ज्योतिष्पिड थे।

जीवन-वृत्त

आचार्य श्री रायचन्द्रजी का जन्म स० १७९६ आश्विन शुक्ल एकादशी को जोधपुर मे हुआ। इनके पिता का नाम विजयचन्द्रजी धाडीवाल तथा माता का नाम नन्दादेवी था। माता-पिता के धार्मिक संस्कारो से बालक रायचन्द्र का हृदय अध्यात्म-चिन्तन की ओर उन्मुख हुआ। जब आचार्य जयमल्लजी म० जोधपुर पधारे तो रायचन्द्रजी अपने माता-पिता के साथ इनके व्याख्यानादि सुनने के लिए धर्म-स्थान मे गये। जयमल्लजी प्रभावशाली वक्ता थे। उनमे तप, त्याग का ओज और शास्त्रीयज्ञान का अतुल बल था। साथ ही वे एक कुशल सहृदय कवि। उनके प्रवचन का रायचन्द्रजी पर उसी प्रकार प्रभाव पडा जैसा उपजाऊ भूमि मे डाले गये किसी बीज पर पडता है। इनका परिवार भरा-पूरा और सम्पन्न था। इनके दादाजी व नानाजी नगर के प्रतिष्ठित व्यक्तियो मे से थे। इनके दो बहिनें, एक भाई तथा माता-पिता जीवित थे। ऐसे चहकते हुए सासारिक बाग को छोडकर ये जयमल्लजी म० के चरणो मे जा पहुँचे और सयम-मार्ग के पथिक बनने की भावना व्यक्त करने लगे। लोगों ने दीक्षा के दुर्गम मार्ग से इन्हे खूब परिचित कराया पर ये अपने निश्चय पर दृढ़ बने रहे। अन्ततोगत्वा इन्होने स० १८१४ मे आषाढ शुक्ला एकादशी को पीपाड शहर मे आचार्यजी जयमलजी से श्रमण दीक्षा अगीकृत की।

पुत्र को दीक्षित होते देखकर पिता का मन भी विरक्त हो गया। कुछ समय बाद विजयचन्द्रजी भी दीक्षित हो गये। पिता-पुत्र दोनो साधनामय जीवन व्यतीत करते हुए ग्रामानुग्राम विचरण करने लगे।

श्री रायचन्द्रजी आचार्य जयमल्लजी के प्रिय, विनीत शिष्यो मे से थे। गुरु से प्रेरणा पाकर ये भी काव्य-साधना मे प्रवृत्त हुए और इन्होने काव्य क्षेत्र मे कई नवीन काव्य-रूपो का उद्घाटन किया। इनकी समस्त रचनाएँ विभिन्न

भंडारों में हस्तलिखित प्रतियों के रूप में बिखरी पड़ी हैं। उनके संग्रह-सम्पादन की महती आवश्यकता है।

कवि होने के साथ-साथ रायचन्द्रजी चर्चावादी संत थे। अपने तर्कबल, हेतु-दृष्टान्त एवं आगम प्रमाणों के आधार पर प्रचलित मिथ्या धारणाओं का खंडन कर, जैन तत्त्व को सही रूप में प्रस्तुत कर, इन्होंने जिन शासन का बड़ा प्रचार-प्रसार किया। इनकी विवेचना इतनी तात्त्विक और मार्मिक होती थी कि जो भी सुनता प्रभावित हुए बिना न रहता। नव दीक्षित साधु-साध्वियों के प्रति इनका माता-पिता की तरह ध्यान रहता था और ये उन्हें बड़े प्रेम से आचार धर्म की शिक्षा देते थे। अपने पिता एवं आचार्यश्री की अन्तिम समय तक इन्होंने अम्लान भाव से सेवा की व समाधिमरण में सहायक रहे। इनकी योग्यता एवं विद्वता से प्रभावित होकर जयमल्लजी ने अपनी उपस्थिति में ही इन्हें अपना उत्तराधिकारी बना दिया।

आचार्यश्री के स्वर्गवास के पश्चात् ये पट्टधर आचार्य बने। इन्होंने ८५ वर्ष तक सिंह की तरह ग्रामानुग्राम विचरण कर धर्म-प्रचार किया। बाद में शारीरिक दुर्बलता के कारण जोधपुर में स्थिरवास विराज गये। यहीं सं० १८६१ में चैत सुदि १ को शारीरिक स्थिति को क्षीणतम देखकर, आलोचना प्रतिक्रमणपूर्वक शूरवीरता के साथ संथारा अंगीकार किया और चैत सुदि ? को रोहिट ग्राम में स्वर्गगामी बने।

आचार्य रायचन्द्रजी कवि होने के साथ साथ सुन्दर लिपिकार भी थे। इनके द्वारा लिखे हुए कुछ पन्ने लेखक के पास संगृहीत हैं। इनकी लिपि सुन्दर सुवाच्य और स्पष्ट है। इन्होंने अपनी प्रत्येक रचना के अन्त में प्रशस्ति रूप में प्रायः रचना-संवत्, रचना-स्थल, गुरु-परम्परा आदि का उल्लेख किया है। इससे सूचित होता है कि जोधपुर, पाली, सोजत, बीकानेर, जयपुर मेड़ता आदि इनके विशेष विहार-क्षेत्र रहे हैं।[1]

रचनाएँ

विभिन्न भंडारों में यत्र-तत्र बिखरी हुई अब तक प्राप्त आचार्य रायचन्द्रजी की रचनाओं की सूची-नाम रचना काल, रचना-स्थल व छंद-संख्या के ज्ञातव्य के साथ—यहाँ प्रस्तुत की जा रही है।

क्र	रचना-नाम	रचना काल	रचना-स्थल	छन्द संख्या
१	भविष्य की कथा पर ढाल, क्रोध कषाय पर चौपाई	१८०६ आसोज	नागौर	
२	उपदेशी कड़ा	१८२० वैसाख सु ६	तिवरी	
३	उपदेश छत्तीसी	१८२० वैसाख सु ६	तिवरी	
४	उपदेशी ढाला (विशेष संख्या में)	१८२०	तिवरी	
५	उत्पत्ति की सज्झाय	१८२० वैसाख सु ६	तिवरी	
६	बढ़ावा	१८२० वैसाख सु ६	तिवरी	
७	धर्म बत्तीसी	१८२०		
८	श्वासोश्वास की सज्झाय	१८२०	फलौदी	
९	आठ कर्मों पर चौपाई	१८२१ कार्तिक व० ८	नागौर	



१ यह परिचय इनके शिष्य आसकरणजी द्वारा रचित एक संगीतिका के आधार पर लिखा गया है। इसकी रचना सं० १८६१ चैत शुक्ला अष्टमी को रोहिट में की गई। इसमें २२ गाथाएँ हैं।







१०	जम्बू स्वामी की सज्झाय, नन्दन मणिहार की चौपाई	१८२१ कार्तिक सुदि ८	नागौर	१२
११	आठ कर्मों पर ढाल	१८२१		१३
१२	बावीस परिषह की ढाल	१८२२	निवरी	२२
१३	महाव्रतों की ढालें	१८२२		
१४	मल्लीनाथजी की चौपाई	१८२४ कार्तिक सु० १४	सोजत	
१५	नंदन मणिहार व अभयसेन चोर को चोढालियो	१८२६	बीसलपुर	१२
१६	बहुपतिया देवी नो चरित्र	१८२६ आसोज सुदि ३	मेडता	
१७	नमीराय ऋषि की सज्झाय	१८२६	जालोर	
१८	१६ तीर्थंकरों का स्तवन	१८२६		
१९	चेतन पच्चीसी	१८२८ वैसाख सुदि ६	निवरी	
२०	सुदर्शन चरित्र	१८२८ वैसाख सुदि ६		
२१	हरिकेशी चरित्र	१८२८	बीकानेर	१०
२२	महावीरजी को चोढालीयो	१८२९ कार्तिक व०		
२३	केलावती की चौपाई	१८३० आसोज सु ५	मेडता	१६
२४	कमलावती की ढालें	१८३० आसोज	मेडता	
२५	एवन्ता ऋषि की ढाल	१८३१	पाली	४
२६	गुरुजी की चेला को सीख	१८३१	पाली	
२७	निन्हव बावनी	१८३१	पाली	
२८	विभीषण की रावण को सीख	१८३२	फलोदी	
२९	समकित नो चोढाल्यो	१८३३ जेठ व० ८	पीपाड	
३०	कपट पच्चीसी	१८३३ आसोज सु ३		
३१	रावण उद्धार सात ढालियो	१८३३ कार्तिक व० १५	मेडता	
३२	उपदेशी ढालें (विशेष सरया मे)	१८३३	मेडता	
३३	समाधि पच्चीसी	१८३३	मेडता	
३४	दस स्वप्नों की सज्झाय (म० महावीर ने केवलज्ञान होने से पहिले देखे)	१८३३	मेडता	
३५	गौतम स्वामी को रास	१८३४	बीकानेर	
३६	राजेमति नेमनाथ को चोढाल्यो	१८३४	जोधपुर	
३७	आषाढभूति मुनि को पच ढालियो	१८३६	नागौर	५
३८	राजा चेडा की सात पुत्रियों के गुण	१८३६	मेडता	
३९	निन्हव छत्तीसी	१८३६	पाली	
४०	चेलणा राणी चोढालियो	१८३७	रीया	
४१	मृगलेख्या चोपाई	१८३८	जोधपुर	६२
४२	चितवल्लभ चौढाल्यो	१८३९	नागौर	
४३	दीवाली स्तवन	१८३९	नागौर	२०
४४	नमिराजा की ढाल	१८३९ पौस व० १३	कुचेरा	
४५	सोलह सति की ढालें	१८३९	नागौर	

४६	रिषभदेव जी को चरित्र	१८४० आसोज सु० ५	पीपाड़	४७
४७	नमीनाथ की ढाल	१८४० पोस सु० १३	कुचेरा	
४८	नरमदा की चौपाई	१८४१	जोधपुर	२८
४९	राजमति रहनेमी की सज्झाय	१८४१	पीपाड़	
५०	[illegible] की चौपाई	१८४२	नागौर	
५१	फुटकर बोल पद	१८४२	मेड़ता	
५२	कृष्ण भैरी संवाद	१८४३		८
५३	सती पैंतीसी	१८४३	जयपुर	
५४	राजमति को चौढालियो	१८४४ आसोज	जोधपुर	
५५.	भगवान महावीर के शासन में नौ जीवों ने तीर्थंकर कर्म उपार्जन किया जिसकी ढाल	१८४६		
५६	पुष्प चूला की चौपाई	१८४७	जोधपुर	८
५७	देवकी राणी की ढाल	१८४७	साचोर	
५८	मेतारज मुनि चरित्र	१८४९ आसोज सुदि १५	नागौर	२०
५९	गौतम गुण माला	१८४९	नागौर	
६०	पूज्य गुण माला	१८५३ वैसाख		३
६१	रहनेमि राजमति का पत्र ढालिया	१८५४ वैसाख	जोधपुर	
६२	राजा श्रेणिक रो चौढालियो	१८५८ चैत सुदि १५	पाली	
६३	शालिभद्र पंचढालियो	१६३१	नागौर	
६४	वैर स्वामी री ढाल	१६५२ कार्तिक ब० ७	जोधपुर	८
६५	विषापहार स्तोत्र व नेमिनाथ स्तवन			
६६	सूंठन श्रावक रो चौढालियो			
६७	मृग सुन्दरी चौढालियो			
६८	शिवपुर नगर का स्तवन			
६९	महासती चेलणा की ढाल			
७०	योवन पच्चीसी			
७१	राजा चन्द्रगुप्त के १६ स्वप्न			
७२	१० श्रावकों की सज्झाय			
७३	चवदह बोल री सज्झाय			
७४	दस सुख री सज्झाय			
७५	लोभ पच्चीसी	– –	बीकानेर	
७६	दीक्षा की ढाल			
७७	दीक्षा पच्चीसी			
७८	मरुदेवी की ढाल			
७९	मेणरया री चौपाई			
८०	विजयकुंवर रो चौढालियो			
८१	रतनकुंवर की ढाल			









८२ श्रेयामकुवर की ढाल
८३ श्री चदनवाला मती को वखान[1]

'पच्चीसी' सज्ञक रचनाएँ

जैन कवियो ने काव्य-रूपो के क्षेत्र मे कई नये प्रयोग किये। प्रचलित काव्यों के कई भेद कर राम, फागु, चर्चरी, ढाल, वारहमासा, वेलि, सज्झाय, मगल आदि लिखे। सख्या सज्ञक रचनाओं मे भी अष्टक, इक्कीसी, चौवीसी, पच्चीसी, वत्तीसी, छत्तीसी, वावनी, वहोत्तरी, शतक, सतसई, हजारा आदि नामो मे अनेक ग्र थ लिखे। आलोच्य कवि रायचन्द्रजी ने जहाँ कई कथा-काव्य लिखे, स्तवन लिखे वहाँ 'पच्चीसी' सज्ञक भी कई रचनाएँ लिखी। इन रचनाओं मे सम्बन्धित विषय के गुणावगुणो की चर्चा करते हुए आत्मा को उज्जवल वनाने की देशना दी है। अव तक 'पच्चीसी' सज्ञक जो रचनाएँ इस दृष्टि से प्राप्त हुई है उनका विवरण इस प्रकार है[2] —

क्रम	रचना-नाम	रचना सवत्	रचना-स्थल,	छद सख्या
१	वय पच्चीसी	१८०६	डीडवाना	२८
२	जोवन पच्चीसी	१८३०	मेडता	२५
३	चित्त समाध पच्चीसी	१८३३	मेडता	२६
४	ज्ञान पच्चीसी	१८३५	जोधपुर	२५
५	चेतन पच्चीसी	"	जोधपुर	२४
६	दीक्षा पच्चीसी	१७३६	नागौर	२५
७	क्रोध पच्चीसी	"	"	२५
८	माया पच्चीसी		बीकानेर	२५
९	लोभ पच्चीसी	"	"	२५
१०	निन्दक पच्चीसी			२७

इनमे से 'जोवन पच्चीसी', 'दीक्षा पच्चीसी' और 'चेतन पच्चीसी' का मूल पाठ यहाँ दिया जा रहा है। 'जोवन पच्चीसी' मे कवि ने नर-भाव एव जवानी को व्यर्थ नष्ट करने वाले लोगो को उद्बोधित कर, यौवन के उत्साह उमग का सही उपयोग करने की प्रेरणा दी है। 'दीक्षा देने वाले गुरुओं को दीक्षार्थी की पात्रता-अपात्रता पर विचार कर दीक्षा देने की वात कही गई है। 'चेतन पच्चीसी' मे कजूस को अपने धन को लोकोपकारी प्रवृत्तियो मे लगाने की प्रेरणा दी गई है।

जोवन-पच्चीसी

पुन्य जोग नर भव लियो टाणो, थैं तो करो रे धर्म, पाप खोटो जाणो
खीर खवरे विना गोत्या खावै, पण गयो रे जोवन पाछो नहीं आवै ॥१॥

---

१ इनमे से अधिकाश रचनाएँ आचार्य श्री विनयचन्द्र ज्ञान भडार, शोध प्रतिष्ठान, जयपुर मे सगृहीत हैं।
२ ये सभी 'पच्चीसी' सज्ञक रचनाएँ आचार्यश्री विनयचन्दजी ज्ञान भडार जयपुर में सगृहीत हैं।

जोबन गमाई बूटो होय बैठो, वले पूने रे मिथ्यात माइ पैठो।
पाछै पर भव मे घणो पछतावै ॥२॥ पण ॥

हाथाँ ने कडा ने काना मे मोती, पहरतो थुरमान पीताम्बर धोती।
वाच देवी ने भेप बनावै ॥३॥ पण० ॥

केन भँवर थारा होना जाना गला माही पहरतो मोत्यारी माला।
मुख नागर वेल रा बीडा चावै ॥४॥ पण०

घुग घुग नि मीना राचता, एतो रूप चुपडीला मरगोरा।
मेला रा जामा पहिरिया माला पावै ॥५॥ पण

घणा घेरना पहरतो वागा, उपर उपरेणी रा बध लागा।
मूंछ मरोड वला चढावै ॥६॥ पण०

धन धन रे यो नाग पत्तारी, या तो छै न्यारी न्यारी।
मुख्ने घणी जरी नुवावै ॥७॥ पण०

बांध तो पाग तनरा चीरा, सिर पेच माहि जडिया हीरा।
टोगा छाले जो तेयारी जीवैना ॥८॥ पण०

ऊना भोजन तुरत त्यारी, आमा अथाणा अने तरकारी।
वन्नु भीवन तेवड मगावै ॥९॥ पण०

ममन्री गादी ने तकिया, ए तो लोगा माणस वडा वकिया।
घर जोडी जान मीम न मावै ॥१०॥ पण०

साधु कहे सांभल रे भाया, ममार तो मपना री माया।
बादल जमे माया बरलावै ॥११॥ पण०

हूँ घरनी घिरणी छुराती माती, म्हारै बेटा बहुनाती गोती।
गहना पहरे न वेन वणावै ॥१२॥ पण०

नर तो नारी रे वस पडिया, निकल मके नज जीरा जडिया।
नारी काज धरन कुमावै ॥१३॥

नारी होनी कचन वरणी, भोगी पुरुषा रा मन हरणी।
घरणी पण इपा रे गायो गावै ॥१४॥ पण०

काठ मे ठेनी परी बानी, थारा प्रीतम प्रीत नहीं पाली।
तुरत लुगाई दूसरी लावै ॥१५॥ पण०

थारा कपडा गहणा नारी, तने धरम री वात नैणा नही सूझै।
तरीया जाय नरक रा दुख पावै ॥१६॥ पण०

साधु कहे साभल रे भाई, तोने भाँत भाँत कर समझाई।
तूं वासी टुकडो अपाव ॥१७॥ पण

माथा रे जाना नोने नाज आवै, तु तो गाल गावा ने तुरत जावै।
पाछै पर भव मे घणी पिछतावै ॥१८॥ पण





तीन तमाशा भरता मेला, जठै लोग लुगाई घणा होवै भेला।
गैली लुगाई गीतज गावै ॥१६॥ पण०

खेलता गेरया अने होली, ये तो अणगल नीर घणो ढोली।
होल्या मे अकल मह्रू की जावै ॥२०॥ पण

झुर्रा आइने जो वन जावै, दिने दिन बुढापो नेडो आवै।
साधू तो तोने जतावै ॥२१॥ पण०

काची काया नै काची माया, साध कहे साभल रे भाया।
जमारो यो काइ गमावै ॥२२॥ पण०

कुगुरु कुदेव तणो रसियो, हिंसा धर्म मे गाढो वसियो।
दया धर्म दिल मे नही भावै ॥२३॥ पण०

अनै धन लछमी घणी होती, नर भावती पण नहिं घाली।
खरची विना आगे सूं खावै ॥२४॥ पण०

समत अठारह सो तीस कीयो, मेडते चोमास जस लीयो।
रिष रायचन्द अणगार गावै ॥२५॥ पण०

॥ इति सम्पूर्ण ॥

दिष्या (दीक्षा) पच्चीसी

ढाल—नणदल नी देसी। दीक्षा मति दीजो अयोग्य नै ॥ टेर ॥

तीजा अग नै ठांणै तीसरे, अरथ मैं इतरा वोल। मुनिवर०
वेनकल्प मे वर्जिया, अरिहत नी आंख्यो खोल ॥१॥ मुनिवर०

दिष्या म दीजो अजोग नै, ठावी किया विन ठीक। मुनि०
पछै ही पिछताव सौ, तिण मे मीन नै मेख ॥२॥ मुनि०

अतही बूढो विद्या नही वले, निवले नानो वाल। मुनि०
नपूसक नै रोगियो, चोर ने वलेह चडाल ॥३॥ मुनि०

कोई राय नो अपराधी हुवै, गैगो जैरी गुलाम। मुनि०
आंधो ने वले अनमति, कुष्टी दुष्ट परिणाम ॥४॥ मुनि०

मोल लियो नै दिवालियो, हीणो हुवै कुलजात। मुनि०
सु गाणै गुच वाहरो, डरपै दिन नै रात ॥५॥ मुनि०

चूक विना हैमटने करै, गर्भवती वले नार। मुनि०
गिणि रै चंगै छोकरी, तिण नै तजनिकलै निरधार ॥६॥ मुनि०

कान नाक नै होठ छुटा, हुवै वस्तु हीण मुख मूंड। मुनि०
दोष घणो नै मोह घणो, नाम हीण नै वागो भूंठ ॥७॥ मुनि०

बल बुद्ध हीणो हुवै वले, अपछन्दो अविनीत । मुनि०
कपटी नैं लपटी कदाग्रही, जिणरो पुनी नहीं प्रतीत ॥८॥ मुनि०
भोगी नैं वले भोलिगी, लोक पीर मनै काज । मुनि०
चपल बोल बकी बाहरो, नहिं नैणा मे लाज ॥९॥ मुनि०
समझ मे समझे नहीं, दीनी लागे सीख । मुनि०
सूनचित्त समझे नहीं, नहिं सुमन गुनन री टीक ॥१०॥ मुनि०
पहली थे कीजे पारख्या, जिनन (न) लीजो जोय । मुनि०
अजोग नैं वनावता, कदियन हुज्जो कोय ॥११॥ मुनि०
मुरखाँ ने मूड जो मती, जड मूढ जडग । मुनि०
मुलटी कहूँयाँ उलटो पडै, वले नागो भूगो भडग ॥१२॥ मुनि०
गधो कूटियो घोडो ना हुवै, जो करै लख प्रकार । मुनि०
गज ज्यूँ हालै नहीं, हाथी हुवा भार ॥१३॥ मुनि० दीप्या०
काली ऊन कुमाणसा कदे दुजो न आवे रग । मुनि०
काग न होवे ऊजलो, जो न्हावै नदी गग ॥१४॥ मुनि०
जोग नहु कुपात्र कहै, वले वरजै ग्यानी नैण । मुनि०
लेना नैवरे छोडना, दोनु इ वाताँ दैण ॥१५॥ मुनि०
छोड्याँ पछै ही छिद्र कैनै पाल्या न रहै रीत । मुनि०
तिण सू पैली कीजो पारख्या, निज कीजो सुविनीत ॥१६॥ मुनि०
विकथा नैं सेना कीया, पछै लजावै भेष । मुनि०
उपजै औगुणा तिणसूं राख जो विसेष विवेक ॥१७॥ मुनि०
कोई भक्त सन्यासी जोगी, जतीवले इकादुका भेष । मुनि०
तिण नैं मुन न मुड जो, परख जो मान विचार ॥१८॥ मुनि०
जे काई अण मैवा, आविरो, तिणरी ठीक न काय । मुनि०
जिणरो भरोसो मत राखजो, ज्यू जतन पोथी रा थाय ॥१९॥ मुनि०
कन्या तिना नैं मूंडने, पूरै चेलारी चाय । मुनि०
गलिहार गछै नाख्यो, ओगुण काढे जाय ॥२०॥ मुनि०
गुरु आदि वरजै वलि, तिणमैं नहीं भलियार । मुनि०
इण न्यावरा अटकल लीजिने, चतुर लीजो चित्त मे विचार ॥२१॥ मुनि०
ऐवन री रूप मैं नालिया, थोडा में घणो है समास । मुनि०
दीक्षा दीजै देखी नै, मन, मन सोभे विमास ॥२२॥ मुनि०
जिसि महिमा हुवै जिनधर्म की, हुवै वणी जगा सौभाग्य । मुनि०
वले चैनयावै चित्त आपणा, नै लोगा रे वधे वैराग्य ॥२३॥ मुनि०
दीख्या पचीसी परखवा, रिख रायचन्द कही विमास । मुनि०
समत अठारह छतीस मे, नागौर सहर चौमास ॥२४॥ मुनि०
पैली नो सिप वो तै भणी, वले ग्रावि पैलागी पण पाल । मुनि०
पूज्य जैमलजी प्रसाद थी, जुगत सु जोडी ढाल ॥२५॥ मुनि०

॥ इति सम्पूर्ण ॥





चेतन पच्चीसी

नीठ नीठ नर भव लह्यौ, इन जग मे नर-नार ।चेतन०।
केइ कर्म जोगै कृपण हुवा, महा लोभी पैले पार ।।१।। चे०

किरपण नै दान दो हलो, ते सत हीन नर सूम ।चे०।
दीसें फर्रा फूटरा, जेथा हलवा थोथा तूंब ।।२।। चे०

सूमा केरी सपदा, चोर कुपात्तर खाय ।चे०।
कै रोकीने लेवै रावलै, पिण दान दियो नही जाय ।।३।। चे०

सूम साधु ने देखने, फेरे मुंहडो पूठ ।चे० ।
कै छिपाय देवे छल वल करी, कै कोई बौले झूंठ ।।४।। चे०

घर मे धन पिण दलडी, जिके न देवै दान ।चे०।
सुणिया, भणिया, वाचिया, पिपा नही आयो ज्ञान ।।५।। चे०

जीव कटै वलै माहिलो, अने देता धूजै हाथ ।चे०।
मन माठो काठो घणो, किपला वाली वात ।।६।। छे०

साधा नै आता देख नै, किरपण देवै किवाड ।चे०।
आउकार आपै नही, अने उत्तर तुरत तैयार ।।७।। चे०।

किरपण दाता किमत रो, कहै कदे न दीजे दान ।चे०।
जो घररानें देता देख नै, तो तोडे जा सुंतान ।।८।। चे०।

किरपण कुडछी जाट कै, वलतो जलतो जेह ।चे०।
उपजावे आसातना जू वले न आये गेह ।।९।। चे०।

दाता रा ने देखने, करें चावत दिन नै रात ।चे०।
एक किरपण वले कदाग्रही, कै खाक मेरी वात ।।१०।। चे०।

देतां किरपण देखनै, मुंह मोडे कुमूलाय ।चे०।
पारकै दु खे दूवलो, कहो कठ लग जाय ।।११।। चे०।

किरपण रो धन कारयौ, धर्यौ रहै धूड रे मांह ।चे०।
लेखे कही लागे नही, पापी रो पर लै लै जाय ।।१२।। चे०।

भांड खावै माल वेश्या तणां, पिण भला मिनख नही खाय ।चे०।
जिन लिछमी पुण्य हीण री, पाप रे पैंडे जाय ।।१३।। चे०।

कीडी सचै कहे लोक मे, तेहनो तीतर खाय ।चे०।
किरपण कीडी सारखा, कहै लोक दुनि रे माय ।।१४।। चे०।

आगै नी हाणी कियो, साधुजी किरपण नर नै देख ।चे०।
हूँ बखतावर श्रावक हुजौ, हूँ देवूं अढलिग दान विमेख ।।१५।। चे०।

छाती फाटै सूंमरी, जो देतां देखै दान ।चे०।
कांई वस्तु जांचे जेहने कनें, तो मुलन माडै कान ।।१६।। चे०।

दियो उपदेशज दान रो, किरपण ने किरपाल ।चे०।
रीझै पर भीजै नही, जिम कोरडमूरी दाल ॥१७॥ चे०।

मुलक देइ मानै नही, कोई किरपण केरी वात ।चे०।
दीठा पिण दिलनां ठरै, जिम अमावस री रात ॥१८॥ चे०।

जान न्यात अनै लोक मे, धर्म कर्म रे माँहि ।चे०।
जन महिमा वले जेहनी, कोइ जो इन लाभै नाँह ॥१९॥ चे०।

नाहो धन निछमी तणो, किरपण न लीनो कोय ।चे०।
भरियै घर मे खाली गयो, कृपण कलदर होय ॥२०॥ चे०।

पुण्य विना पर लोक मे, कूण बँटावै पीर ।चे०।
एक लडो दुख भोगवै, नैनां न्हाखै नीर ॥२१॥ चे०।

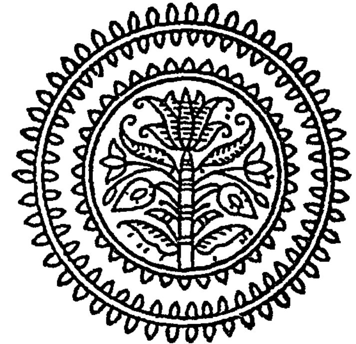
पाप जोगे पूर्व भवे, बाँध दीना अन्तराय ।चे०।
तिण सू हुवो कृपण सूमडा, जा सु दान दियो किम जाय ॥२२॥ चे०।

रिख रायचन्द कहै भव जीवनै, थे खरची लीजो लार ।चे०।
आगै आडी आवसी, उत्तम करो विचार ॥२३॥ चे०।

चेतन परचौनी चेतवा, समझै जाँनै साधास ।चे०।
पूज्य जैमलजी रे प्रसाद थी सहर जोधपुरै चौमास ॥२४॥ चे०।







प्राकृतभाषा का एक मात्र अलंकार-शास्त्र : अलंकार-दप्पण

अनुवादक- भंवरलाल नाहटा

[प्राकृतभाषा का विपुल और विविध विषयक साहित्य प्रकाश मे आया है किन्तु कोई अलकार ग्रथ अब तक प्रकाशित नही हुआ। प्रस्तुत ग्रथ के अतिरिक्त किसी अन्य ग्रन्थ का अस्तित्व भी विदित नही है।

इस गन्थ मे अलकार सम्बन्धी जो विवरण दिया गया है उससे इसका निर्माण-काल ८ वी से ११ वी शताब्दी का माना जा सकता है। रचना से कर्त्ता का पता नही चलता। प्राकृत भाषा की अलकार सम्बन्धी यह एक ही रचना जैसलमेर के बडे ज्ञानभण्डार मे ताडपत्रीय प्रति मे प्राप्त हुई है।

कवि ने प्रारम्भ मे श्रुतदेवता को नमस्कार करके, काव्य मे अलकारो का औचित्य और उद्देश्य का वर्णन कर अलकार-शास्त्र रचने की प्रतिज्ञा की है। पश्चात् पद्य ५ मे १० तक मे वर्णित ४० अलकारो के नाम कहे है। अनन्तर प्रत्येक अलकार के लक्षण एव उदाहरण दिये हैं। इसमे कतिपय अलकारो के लक्षण मात्र है तो कतिपय के उदाहरण मात्र ही है। प्ररूपित अलकारो की सख्या ४५ होती है जबकि ग्रन्थकार ने पद्य १० मे ४० सख्या का उल्लेख किया है, अत प्रेमातिशय से गुणोत्तर पर्यन्त ६ अलकारो को एक प्रेमातिशय के अन्तर्गत स्वीकार कर लेने से ४० की सख्या का औचित्य ठहरता है।

इस ग्रन्थ मे निरूपित रसिक, प्रेमातिशय, द्रव्योत्तर, क्रियोत्तर, गुणोत्तर, उपमारूपक, उत्प्रेक्षायमक अलकार अन्य लक्षण-ग्रन्थो मे प्राप्त नही है। ये अलकार नवीन निर्मित है या किसी प्राचीन अलकारशास्त्र का अनुसरण है, निश्चित नही कहा जा सकता।

१३४ गाथाओ की यह रचना जैसलमेर भडार की ताडपत्रीय प्रति न० ३२६ मे १३ पत्रो मे लिखी हुई है। प्रति १३ वी शताब्दी के पूर्वार्द्ध मे लिखी गई जान पडती है। इसके साथ काव्यादर्श भी लिखा हुआ है।

आगमप्रभाकर मुनि श्रीपुण्यविजयजी जब जैसलमेरभडार का उद्धार एव सुव्यवस्था कर रहे थे तब मैं अपने विद्वान् मित्र नरोत्तमदासजी स्वामी के साथ वहाँ पहुचा और स्वामीजी ने इस महत्वपूर्ण ग्रन्थ की प्रतिलिपि की। जिसे मुनि पुण्यविजयजी ने मूल प्रति से मिला कर सशोधित कर दिया। तदनन्तर मेरे भ्रातृपुत्र भवरलाल ने इसकी सस्कृत छाया और हिन्दी अनुवाद का कठिन कार्य यथामति सम्पन्न किया। अनुवाद में भूलें और कमी रह सकती है। केवल एक मात्र प्राकृत के अलकारशास्त्र का सभी विद्वानो को परिचय हो जाय इसलिये श्रम किया गया है।

—अगरचन्द्र नाहटा]

मगल और अभिधेय

सुन्दर-पअ-विण्णास विमलाल कार-रेहिअ-सरीर
सुइदेविअ च कव्व च पणविअ पवर-वण्णड्ढ ।१।

सुन्दर-पद-विन्यासं विमलालङ्काररञ्जित (शोभित) शरीरम्।
श्रुतदेवतां च काव्यं च प्रणम्य प्रवर-वर्णाढ्यम् ।१।

१—सुन्दर पदविन्यास (श्रुतदेवता के चरण और काव्य के पद) और विमल अलंकार से सुशोभित शरीर वाले श्रेष्ठ वर्णों से सम्पन्न (प्रशस्त वर्णीय) श्रुतदेवता व काव्य को नमस्कार करके सुन्दर पद-विन्यास (पैरों का रखना, गमन, गति) वाली और निर्मल अलंकारों (आभूषणों) से शोभित शरीर वाली और श्रेष्ठ वर्ण वाली श्रुतदेवी (ज्ञान की देवी सरस्वती) का और सुन्दर पदों के विन्यासवाले तथा निर्दोष अलंकारों से भूषित शरीर वाले और श्रेष्ठ वर्णों वाले काव्य को प्रणाम करके-

सव्वाइ कव्वाइं सव्वाइ जेण होंति भव्वाइं
तमलंकारं भणिमो अलंकारं कुकवि-कव्वाणं ।२।

सर्वाणि काव्यानि श्रव्याणि येन भवन्ति भव्यानि
तमलङ्कारं भणामोऽलङ्कारं कुकवि-काव्यानाम् ।२।

२—जिससे सभी काव्य श्रव्य और भव्य (सुन्दर) हो जाते हैं उस अलंकार का वर्णन करते हैं, जो कुकवि के काव्यों को भी अलङ्कृत (सुशोभित) करने वाला है।

अच्चंतसुन्दरं पि हु निरलंकारं जणम्मि कीरंतं
कामिणि-मुहं व कव्वं होइ पसण्णं पि विच्छायं ।३।

अत्यन्त-सुन्दरमपि खलु निरलंकारं जने क्रियमाणम्
कामिनी-मुखमिव काव्यं भवति प्रसन्नमपि विच्छायम् ।३।

३—जनसमाज में रचा (कहा) जाता हुआ काव्य अलंकार रहित होने से अत्यन्त सुन्दर और प्रसाद गुण-युक्त होने पर भी निश्चय ही शोभा रहित होता है जैसे सुन्दर स्त्री का मुख अलंकार रहित होने से अत्यन्त सुन्दर और विमल होने पर भी शोभा रहित होता है।

ता जाणिऊण णिउणं लक्खिज्जइ बहुविहे अलंकारे
जेहिं अलंकरिआइं बहु मण्णिज्जंति कव्वाइं ।४।

तत् ज्ञात्वा निपुणं लक्ष्यन्ते बहुविधा अलंकाराः
यैरलङ्कृतानि बहु मन्यन्ते काव्यानि ।४।

४—इसे अच्छी तरह जान कर नाना प्रकार के अलंकारों के लक्षण यहाँ कहे जाते हैं, जिनसे अलङ्कृत हुए काव्य बहुत प्रशंसित होते हैं।

अलंकारनाम

उवमा-रूवअ-दीवअ-रोहाणुप्पास-अइसअ-विसेस
अक्खेव-जाइ-वइरेअ-रसिअ-पज्जाअ भणिआओ ।५।

उपमा-रूपक-दीपक-रोधानुप्रास-अतिशय-विशेषाः
आक्षेप-जाति-व्यतिरेक-रसित-पर्याया भणिताः ।५।

५—उपमा, रूपक, दीपक, रोध, अनुप्रास, अतिशय, विशेष, आक्षेप, जातिव्यतिरेक, रसित, पर्याय कहे गये हैं।





जहासंख (ख) समाहिअ-विरोह-ससअ-विभावणाभावा
अत्थन्तरणासो-अण्णपरिअरो तह सहोत्ती अ ।६।

यथासङ्ख्य-समाहित विरोध-सशय-विभावना-भावा
अर्थान्तरन्यासोऽन्यपरिकरस्तथा सहोक्तिश्च ।६।

६—यथा-सख्य, समाहित, विरोध, सशय, विभावना, भाव, अर्थान्तरन्यास, परिकर तथा सहोक्ति ।

उज्जा अवण्हवइओ पेम्माइसओ उदत्त-परिअत्ता
दव्वुत्तर-किरिउत्तर-गुणुत्तरा बहुसिलेसा अ ।७।

ऊर्जा अप [ह्नु]ति प्रेमातिशय उदात्त परिवृत्ता
द्रव्योत्तर क्रियोत्तर-गुणोत्तरा बहुश्लेषाश्च ।७।

७—ऊर्जा, अपह्नुति, प्रेमातिशय, उदात्त परिवृत्त, द्रव्योत्तर, क्रियोत्तर, गुणोत्तर बहुश्लेष (अलकार) हैं ।

ववएस- थुई (इ) समजोइआइअ-अपत्थुअपसंसा अ
अणुमाण आअरिसो उपेक्खा तह अ ससिद्धी ।८।

व्यपदेश स्तुति समज्योतितावितका प्रस्तुत-प्रशसाश्च
अनुमानमादर्श' उत्प्रेक्षा तथा च ससिद्धि ।८।

८—व्यपदेश, स्तुति, समज्योति, अप्रस्तुत प्रशसा, अनुमान, आदर्श एव उत्प्रेक्षा तथा ससिद्धि ।

आसीसा उवमा-रूवअ च जाणइ णिअरिसिण तह अ
उपेक्खा च अ (ओ) भेअ वलिअ जमएहि सजुत्ता ।९।

आशीरुपमारूपक च जानीत निदर्शन तथा च
उपेक्षा (वयव) उद्भिद वलित च अभेद वलित-यमकै सयुक्ता ।९।

९—आशीष, उपमा रूपक तथा निदर्शना एव उत्प्रेक्षा अभेद उपेक्षा (वयव) (उद्भिद) वलित तथा यमक सहित (अलकार) जानो ।

एतिअ-मित्ता एए कव्वेसु पडिट्ठिआ अल कारा
अहिआ उवक्कमेण वीसाओ दोण्णि सखाओ ।१०।

एतावन्मात्रा एते काव्येषु प्रतिष्ठिता अलकारा
आख्याता उपक्रमेण द्वाविंशत्सख्याता ।१०

१०—काव्यो मे इतने ये अलकार प्रसिद्ध है, जो उपक्रम से बाईस अलकार कहे गये है ।

उपमा अलकार

उवमाणेण जा देसकालकिरिआवरोहपडिएण
उवमेअस्स सरिसअ लहइ गुणेण खु सा उवमा ।११।

उपमानेन या देश-कालक्रियावरोध प्रतीकेन
उपमेयस्य सदृशता लभते गुणेन खलु सा उपमा ।११।

११—जहाँ देश, काल, क्रिया और अवरोध के प्रतीक रूप उपमान के साथ उपमेय की गुण से सदृशता प्राप्त होती हो, वहाँ उपमा अलकार होता है ।

पडिवत्थू गुणकलिआ असमा माला अ विउणरूवा अ
सपुण्णा, गूढा, सखला, सिलेसा, अ दरविअला ।१२।

प्रतिवस्तु गुणकलिता असमा माला विगुण-रूपा च
सम्पूर्णा गूढा शृंखला च लेशा च दरविकला ।१२।

१२—प्रतिवस्तु, गुणकलिता, असमा, माला, विगुणरूपा, सम्पूर्णा, गूढा, शृंखला, श्लेषा, और दरविक(ग)ला।

अेवक्कमा, पसमा, तल्लिच्छा, णिदिआ, अइसआ अ
सुइमिलिआ, तह (अ) वि अप्पिआ अ सत्तरह उवमाओ ।१३।

एकक्रमा प्रशस्ता तल्लिप्सा निन्दिता अतिशया च ।
श्रुतिमिलिता तथा (च) विकल्पिता च सप्तदश उपमा ।१३।

१३—एकक्रमा, प्रशस्ता, तल्लिप्सा, निन्दिता, अतिशया, श्रुतिमिलिता तथा विकल्पिता यों १७ प्रकार की उपमाएं हैं।

उपमा के भेदों का वर्णन

पडिवत्थू अेसा उअमा जा होइ समाण-वत्थु-रूआ अ
इव-मिव-पिवाइरहिआ विसरिस-गुणपच्चु (च्च) आहिन्तो ।१४।

प्रतिवस्तु एषा उपमा या भवति समानवस्तुरूपा च
इवमिवापि वादिरहिता विसदृश गुणप्रत्ययेभ्य ।१४।

१४—प्रतिवस्तु उपमा वह है जो समान वस्तु रूप होती है। यह इव, मिव, (प्राकृत में) अपि, वा आदि सादृश्यवाचक शब्दों से रहित होती है, तथा विसदृश (असमान) गुण वाले शब्दों के आश्रित (संयुक्त) होती है।

पडिवत्थूवमा जहा—(प्रतिवस्तूपमा यथा)

सपत्तनिवग्गसुहा थोवा पुहवीअ होंति णरणाहा
महुर-फला-(य) सकुसुमा सिणिद्धपत्ता तरु विरला ।१५।

सत्राप्तत्रिवर्गसुखा स्तोका पृथिव्या च भवन्ति नरनाथा
मधुरफलाश्च सकुसुमा स्निग्धपत्रास्तरवो विरला ।१५।

१५—इस पृथ्वी पर सुन्दर पुष्प और मधुर फलों से युक्त चिकने पत्तों वाले वृक्ष विरल ही होते हैं, (वैसे ही) त्रिवर्ग (धर्म-अर्थ-काम) के सुख को प्राप्त नरेन्द्र (राजा) भी पृथ्वी में थोड़े ही होते हैं।

गुणकलिआ सा भण्णइ गुणेहि दोहि पि सारसआ जत्थ
उवमेओ किर जीअे उवमाण होइ सा असमा ।१६।

गुणकलिता सा भण्यते गुणै द्वयोरपि सदृशता यत्र
उपमेय किल जयत्युपमान भवति साऽसमा ।१६।

१६—गुणकलिता उपमा वह है, जहाँ (उपमेय और उपमान) दोनों के गुणों में सदृशता हो। और जहाँ उपमेय उपमान को निश्चय ही जीत लेता है, (वहाँ) वह असमा उपमा होती है।



गुण-कलिआ जहा—(गुणकलिता यथा)—

चपअलइव्व णवकुमुम-मुन्दरा महइ विंभकडइव्व
वच्छत्थलम्मि लच्छी तमाल-णीले-महु-महस्स ।१७।

चम्पकलतेव नवकुसुमसुन्दरा शोभते विन्ध्यकटिरिव
वक्ष स्थले लक्ष्मी तमालनीले मधुमथस्य ।१७।

१७—विन्ध्याचल की कटि मे नये फूलो से मनोहर चम्पकलता की तरह, तमाल की तरह नील मधुमथ (विष्णु) के वक्षस्थल के ऊपर लक्ष्मी शोभित होती है।

असमा जहा—(असमा यथा—)

जोण्हा-णिम्मल-लाअण्णपसरि चिंचइअसयलभुअणा (इ)
तुह तुज्झ व्व किसोअरि ! समाण-रुआ जअे णत्थि ।१८।

ज्योत्स्ना निर्मल-लावण्य प्रसारि चर्चित (विभूषित) सकल भुवना (नि)
त्व तव इव कृशोदरि ! समानरूपा जगति नास्ति ।१८।

१८—हे कृशोदरि, चन्द्रिका के समान निर्मल लावण्य फैला कर सारे जगत् को सुशोभित (प्रकाशित) करने वाली तेरे समान रूपवाली जगत् मे (अन्य) नही है। तेरे समान तू ही है।

सा माला उवमाणाण जत्थ विविहाण होइ रिछोली
विउण सरिसोवमाअे विणिम्मिआ विउणरुअत्ति ।१९।

सा माला उपमानाना यत्र विविधाना भवत्यावलिका।
विगुण सदृशोपमाया विनिर्मिता विगुणरूपेति ।१९।

१९—जहाँ विविध उपमानो की आवलिका (समूह) हो वहाँ मालोपमा होती है। विगुण वस्तु के सदृश उपमा होने पर विगुणरूपा उपमा बनती है।

मालोवमा जहा—(मालोपमा यथा—)

हरि-वच्छ व सुकमल गअण व भमन्त-सूर-सच्छाअ
साअर-जल व करि-मअर-सोहिअ तुह घर-द्दार ।२०।

हरिवक्ष इव सुकोमल गगनमिव भ्रमन्त सूर सच्छाय
सागरजलमिव करि-मकर-शोभित तव गृहद्वारम् ।२०।

२०—तुम्हारे घर का द्वार हरि के वक्ष स्थल की तरह सुकोमल (मुलायम) भ्रमण करती हुई सूर्य की आभा वाले आकाश की तरह कान्तियुक्त और हाथी तथा मगरमच्छो से सुशोभित समुद्रजल की तरह है।

विउणरूवोवमा जहा— (विगुणरूपोपमा यथा)—

णिव्वावारीकअभुअणमडलो सूर-णासिअ-पआओ
णाह ! पओसव्व तुम पाउस-सरिसत्तण वहसि ।२१।

निर्व्यापारीकृतभुवनमण्डल सूर्यनाशितप्रभाव
नाथ ! प्रदोष इव त्व प्रावृप्सदृशत्व वहसि ! ।२१।

२१—हे नाथ ! आप भूमण्डल को क्रियाशून्य करने वाले और सूर्य के प्रभाव को नष्ट करने वाले, अन्धेरी रात की तरह पावस (वर्षाऋतु) की समानता धारण कर रहे हैं।

ण हु ऊणा ण हु अहिआ जा जाअइ सा हु होइ सपुण्णा
जा उण समास-लीणा सा गूढा भण्णए उवमा ।२२।

न खलूना न खल्वधिका या जायते सा खलु भवति सम्पूर्णा
या पुन: समासलीना सा गूढा भण्यते उपमा ।२२।

२२—जो न तो न्यून हो और न अधिक हो, वह सम्पूर्णा उपमा होती है, जो समासगर्भित हो, वह गूढा उपमा कही जाती है।

संपुण्णा जहा—सम्पूर्णा यथा —

सोहसि वअणेण तुम केअइकण्णुप्पिअआसणाहेण
कमलेण वि पासट्ठिअेण मुद्धअ (इ) अहमेण पसअत्थि ।२३।

शोभसे वदनेन त्वं केतकी कर्णिका सनाथेन
कमलेन अपि पार्श्वस्थितेन मुग्धकहंसेन प्रशस्त (एव असि) ।२३।

२३—मुख से प्रसन्न तुम ऐसे सुशोभित हो रही हो जैसे केतकी और भ्रमर से युक्त कमल के पास मुग्ध हंस स्थित हो।

गूढोवमा जहा – गूढोपमा यथा –

कह पाडिहिसि किसोअरि दइअ थण-अलस खेअणीससिरि
स मा-सरोअरिअ-रुअ-भार-मसिणेण गमणेण ।२४।

क्व प्रतीक्षसे कृशोदरि ! दयित स्तनालस्यक्षेदनीःश्वसिरे !
स्तनारोपितवस्त्र-भारमसृणेन गमनेन ।२४।

२४—स्तनों-भार की तरह कोमल उर और नितम्ब के भार से कोमल गति से धारण स्तनों को आलस्यवश छिपाने से शोभा प्राप्त हे कृशोदरि ! अपने प्रियतम की क्यों प्रतीक्षा कर रही हो ?

उवमा-वअेहि जत्ति विहि (हि) सइअेहिं सम्वला होइ
उवमिज्जइ उवमेओ जेसि लेसाण सा लेसा ।२५।

उपमा वचोभि: उक्तिर्विधिभिर्विहितै: शृङ्खला भवति
उपमीयते उपमेयो येषां लेशानां सा लेशा ।२५।

२५—जहाँ विधि पूर्वक रचे हुए (क्रमागत हुए) उपमा शब्दों से उक्ति कही जाय, वहाँ शृङ्खलोपमा होती है। जहाँ उपमेय लेशों (किंचित् अंशों) द्वारा उपमित होता हो, वहाँ लेशोपमा होती है।

संखलोवमा जहा—शृङ्खलोपमा यथा —

सगाम्स व रुप्प-गिरी कणअ-गिरि व्व महिअर होइ
महि वीढस्सवि सअलस्स तह तुमं चेअ ।२६।

स्वर्गस्येव रजतगिरि-रजनगिरिरेव इव महीतलं भवतु
महीपीठस्य अपि सकलस्य धरणस्य त्वं चैव ।२६।

२६—(वह) स्वर्ग की तरह रजतगिरि और कनकगिरि आश्रय (सेवा) हो जाय। (क्योंकि) तुम ही महीपीठ के भी भार को धारण करने में समर्थ हो।





लेसोवमा जहा—श्लेपोपमा यथा—

सो ससारो असमो चलपेम्मो जो जणो सुहओ सो कि
भासड ससाराअे णव जो (व्वणवड) ण रिंछोली ।२७।

स ससारोऽ समश्चलत्प्रेमा यो जन सुभग स किं ?
भासते ससारे नवयौवनवतीनामावलिका ।२७।

२७ —वह सगार (सम्यक् सार वाला भी) असम है (विपम है या विगम-शान्ति रहित है) जा मनुष्य चलित प्रेम वाला है, (जिसका प्रेम अस्थिर) है वह कैसे (सुहत) भाग्यशाली है ? (उसे) ससार मे नवयौवना स्त्रियो का झुण्ड ही (चारो ओर) दिखाई देता है ।

मु (र) सरिसमा पखेव विअलड सच्चेव होइ दरविअला
अेक्कक्कमोवमाणेहिं होइ अेक्कवकमा णाम ।२८।

सुरसरित्समा प्रक्षेप विगलति सा चैव भवति दरविगला
अेकक्रमोपमानैर्भवति एकक्रमा नाम ।२८।

२८—(जो) गगा के समान डाली हुई चीज निगल जाती है (अपने अन्दर समा लेती है) वह दरविकला उपमा होती है । और जहाँ एक क्रम मे उपमान हो, वहाँ एकक्रमा नामक उपमा होती है ।

दर विअला जहा—दर विकला यथा—

पीणत्थणी सरूआ पहपेसिअलोअणा सह-कठा (सउक्कठा)
लिहियव्व दारलग्गा ण चलड तुह दसणासाए ।२९।

पीनस्तनी स्वरूपा पथप्रेषितलोचना सोत्कण्ठा
लिखितेव द्वारलग्ना न चलति तव दर्शनाशायें ।२९।

२९—तुम्हारे दर्शन की आशा मे पीनस्तनी, रूपवती, मार्ग मे आँखें बिछाई हुई, उत्कण्ठित (और) चित्र लिखित की तरह द्वार पर सलग्न (स्थिर खडी हुई) नायिका विचलित नही हो रही है ।

अेक्कक्कमा जहा—एकक्रमा यथा—

पअइ विमलाओ दोण्णि वि विवुहजणे (हिं) णिव्वुई-कराओ अ
अेक्कक्कम सरिसाओ तुह कित्ती तिअसरिआ अ ।३०।

प्रकृति विमलाद्वयोरपि विबुधजनैं निर्व्यपित-कराश्च
अेकक्रम सदृशास्तव कीर्तिस्त्रिदशसदृशाश्च ।३०।

३० - प्रकृति से निर्मल तथा दोनो लोक के विबुध (विद्वान् या देव) जनो द्वारा प्रकट की जाने वाली एक-क्रम के सदृश तुम्हारी कीर्तियाँ देवताओ सरीखी है ।

णिदाअे सलहिज्जइ उवमेओ जत्थ सा पसमत्ति
अणुहरइ अइसअे ण जा सच्चि (च्चि) अ होइ तल्लिच्छा ।३१।

निन्दया श्लिष्यते उपमेयो यत्र सा प्रशसेति
अनुहरत्यतिशयेन या सा चेत् भवति तल्लिप्सा ।३१।

३१—जहाँ उपमेय निन्दा के साथ श्लिष्ट होता है, वहा निन्दा-प्रशसोपमा होती है । यदि वह अतिशय हो तो तल्लिप्सा उपमा होती है ।

णिंदापसंसा जहा—निन्दाप्रशंसा यथा—

तुह सइन्न व णअरि ! भुज्जइ भिच्चेहिँ पाअडा लच्छी
हिअआइ वाअस्स व वअणिज्जभएण ओसरइ ।३२।

तव पत्न्येव नगरि ! भुज्यते भृत्यैः प्राकृता लक्ष्मी
हृदयेन दानस्य इव वचनीय-भयेन अपसरति ।३२।

३२—हे नगरि ! हृदय से मानो निन्दा के भय से भागते हुए तुम्हारी प्राकृत (नैसर्गिक) लक्ष्मी का उपभोग भृत्यों द्वारा किया जा रहा है।

तल्लिच्छोवमा जहा—(तल्लिप्सोपमा यथा—

पाउसणिसासु सोहइ जलप्पहारेहिँ पूरिआ पुहई
चलविज्जुचवलवाअणिवडिअ णक्खत्त (णक्खत्त) सरिसेहिँ ।३३।

प्रावृण्णिशासु शोभते जलप्रवाहैः पूरिता पृथ्वी
चलविद्युच्चपलवातनिपतितनक्षत्रसदृशैः ।३३।

३३—वर्षा की रात्रियों में चंचल बिजली तथा हवाओं के वेग से गिरते हुए नक्षत्रों के समान जल प्रवाह (मेघों) से परिपूरित पृथ्वी सुशोभित होती है।

उवमेओ ण (णि) दिज्जइ थुइ-ववएसेण जत्थ सा णिंदा
अइसइ भणिआ सच्चिअ अइस (इ) आ भण्णए उवमा ।३४।

उपमेयो निन्द्यते स्तुतिव्यपदेशेन यत्र सा निन्दा
अतिशये भणिता सा चैव अतिशयिता भण्यते उपमा ।३४।

३४—जहाँ स्तुति के बहाने से उपमेय की निन्दा की जाए, वह निन्दोपमा होती है। और जहाँ अतिशयित रूप से उपमा दी जाती है वहाँ अतिशयिता उपमा कही गई है।

सुअ-णिंदोवमा जहा—श्रुतनिन्दोपमा यथा—

तंबोल-राअ-मिलिअ ज्जेण अहरेण सोहसि पओसे
दप्पणि(णि)गअ अद्धद्धफलिअसरिसेण पि 'हु' अत्थि ।३५।

ताम्बूलरागमिश्रिताञ्जनेन अधरेण शोभसे प्रदोषे
दर्पणगतस्यार्धपक्वजम्बूफलसदृशेनापि ... ।३५।

३५—तुम ताम्बूल (पान) के (राग) रंग के साथ अंजन (काजल बिन्दु) मिले हुए आधे पके जामुनों (जम्बूफलों) की कान्ति के समान होठ से प्रदोष में (सन्ध्या में) शोभायमान हो रही हो।

अइसइयउवमा जहा—अतिशयितोपमा यथा—

जोण्हामअसअलगअणतिमिरसमूहेहिँ णिज्जिअमिअंक
सेविज्जइ वअण सामल-णव-कुट्ठेहिँ भमरेहिँ ।३६।

ज्योत्स्नामयसकलगगनतिमिरसमूहैर्निर्जितमृगाङ्कम्
सेव्यते वदनं श्यामलनवकुटिलैर्भ्रमरैः ।३६।

३६—(तुम्हारा) चन्द्रमा को जीतने वाला मुख चन्द्रिका के रूप में अन्धकार-समूह को नष्ट करते हुए श्याम और नवल मृदु भ्रमरों द्वारा सेवन किया जा रहा है।





जा सरिसऐहि वज्झइ सद्देहिं सा हु होइ सुइमिलिआ
अ'वकाणिक्कविअप्पणभेअ'ण विअप्पिआ दुविहा ।३७।

या सदृशैः बध्यते शब्दैः सा हि भवति श्रुतिमिलिता
एकानेकविकल्पनभेदेन विकल्पिका द्विविधा ।३७।

३७—जो उपमा समान शब्दो द्वारा वद्ध होती है वह श्रुतिमिलिता होती है । एक अनेक आदि विकल्पो के भेद से विकल्पिका उपमा दो प्रकार की है ।

सुइमिलिउवमा जहा— श्रुतिमिलितोपमा यथा—

दट्ठूण पर-कलत्त छदो वडिअ मणोहर कव्व
खिज्जइ खलो विअ भइ दूसइ दोस अपेच्छन्तो ।३८।

दृष्ट्वा परकलत्र छन्द पतित मनोहर काव्यम्
खिद्यते खलो विजृम्भते दूषयति दोपमप्रेक्षमाण ।३८।

३८—दूसरे की स्वच्छन्द पतित मनोहर स्त्री को देखकर दुष्ट पुरुष (उसी प्रकार) खिन्न होता है, (जिस प्रकार) छन्दोवद्ध मनोहर काव्य को देख कर दुजन खेद पाता है । वह (किसी प्रकार का) दोप न देखते हुए भी दोप निकालता है और गर्जता (रहता) है ।

अेक्कत्थविअप्पिओवमा जहा— एकत्र विकल्पिकोपमा यथा—

परिभमण वइ णिवुच्चिअ सपीडिअ वहलरेणुणिच्छ (? च) अ (आ)वा
णहसु अणड वसा 'अ (ए) व' वाआवत्ता मुणिज्जन्ति ।३९।

परिभ्रमण वती (?वायु) निर्वर्तित सम्पीडितबहलरेणुनिचया वा
नभसि अनतवशा एव वातावर्त्ता मन्यन्ते ।३९।

३९—चक्कर मारती हुई वायु द्वारा निष्पादित और वहुत सी वालू के ढेर को सम्पीडित करते हुए अनभ्र वास ही आकाश मे (गगनचुम्बी) वातावत्त (अन्धड) माने जा रहे हैं ।

बहुहा विअप्पिउवमा जहा— बहुधा विकल्पिकोपमा यथा—

सूरम्मि दाव जल इव्व वोलिउ णहअर वअरस व
पच्छिम (?-दि) णिसिअरेण व तमेण कसिणीकअ सअस (ल) ।४०)

सूर्ये दाव जलधिरिव ब्रूडितो नभश्चर वज्ररसमिव
पश्चिमनिशाकरेणेव तमसा कृष्णीकृत सकलम् ।४०।

उवमा लक्खण समत्त—उपमा लक्षण समाप्तम्

४०—पिछली रात्रि के निशाकर के अन्धकार ने मानो सबको काला कर दिया है, ठीक उसी प्रकार जैसे सूर्य मे दावाग्नि वाले समुद्र को अथवा आकाशचारी वादल को डुवो दिया हो ।

रूपक अलकार

उवमाणेणुवमेअस्स ज च रूविज्जअे वि रूविअ सु
दव्व-गुण-सम्मअ त भणति इह रूवअ कइणो ।४१।

उपमानेन उपमेयस्य यत् च रूप्यते विरूपित तत्
द्रव्य-गुणसम्मत तत् भणन्ति इह रूपक कवय ।४१।

४१—जहा उपमान के द्वारा उपमेय का द्रव्यगुण सम्मत स्वरूप निरूपित किया जाता है, उसे कवि रूपक कहते हैं।

त च्चिअ दुविह जाअइ समत्थपअत्थविरअणाजणिअ
पढम वीअ अेक्केक्क देसपरिसठिअ होइ ।४२।

तच्चैव द्वि-विधं जायते समस्तपदार्थविरचनाजनितम
प्रथम द्वितीय अेकैक देश परिस्थित भवति ।४२।

४२—वह (रूपक) दो प्रकार का होता है, एक समस्त पदार्थ-रचना से जनित होता है और दूसरा एक-एक देश (अंग) रचित होता है।

भेआ एएहिं च्चिअ हरिअच्छाएहिं रूव आणकया
अन्थो लभिज्जइ च्चिअ सअले अर रूअ आहिन्तो ।४३।

भेदनाम्मिश्चैप हरितच्छायैं रूपकाणा कृता
अर्थो लभ्यते चैव सकले तर रूपकं रत ।४३।

४३ —हरितच्छायावाले (सुन्दर प्रभावाले) नामो के द्वारा रूपको के अनेक भेद किये हैं। इसलिए सकल (सर्वांग) और विकल (एकांग) रूपकों के द्वारा अर्थ पाया जाता है।

सअलवत्थू रूअअं जहा—सकलवस्तुरूपकम् यथा—

गअण-सरोय पेच्छह पाउसम्मि तणुकिरणकेसरसणाह
ताराकुसुम मिववण महभरणमउल समक्कमइ ।४४।

गगनसरोज प्रेक्षस्व प्रावृषि तनुकिरणकेसरसनाथम्
तारा कुसुममिव वनं महाभरण मुकुलं समाक्रमति ।४४।

४४—वर्षाऋतु मे सूक्ष्म (पतले) किरण रूपी केसर से युक्त गगनरूपी सरोज को देखो, जो महाभूषण रूप मुकुल (कली) के समान तारा रूपी फूलो के वन को आक्रान्त कर रहा है।

अेक्केक्कदेसरूवअ जहा—अेकैकदेशरूपकं यथा—

अविरअ पसरिय धाराणि वा अणिट्ठविअ पथिअ-समूहो
मारिहइ म सदइअ पि णिक्किवो पाउस किराओ ।४५।

अविरतप्रसृतधारा निपात निस्थापित पथिकसमूह
मारयिष्यति मां सदयितमपि निष्कृप प्रावृष् किरात ।४५।

४५—निरन्तर फैलती हुई (अपनी) जलधाराओं के निपात से पथिको के झुंड को रोक देने वाला निर्दय पावस रूपी किरात मुझे प्रियतम सहित (साथ होते हुए भी) मार डालेगा।

दीपक अलंकार

दीविज्जति पआइ अेक्काअे चेअ जत्थ किरिआअे
मुह मज्झन्तग (आ) एण भणइ दीवि (?व) अ ति-विह ।४६।





दीप्यन्ते पदानि एकया चैव यत्र क्रियया
मुखमध्यान्तगतेन भण्यते दीपक त्रिविधम् ।४६।

४६ – जहाँ एक ही क्रिया से अनेक पद दीपित (शोभित) किये जाते हैं, वहाँ दीपक अलकार होता है। मुख, मध्य और अन्त के भेद से दीपक तीन प्रकार का कहा गया है।

मुह-दीवअ जहा—मुखदीपकम् यथा—

भूसिज्जति गअदा मएण सुहडा उ असिपहारेण
गइतुरएण तुरआ सोहग्गगुणेण महिलाओ ।४७।

भूषयन्ति गजेन्द्रा मदेन सुभटास्तु असिप्रहारेण
गतित्वरितेन तुरगा सौभाग्यगुणेन महिला ।४७।

४७—हाथी मद के कारण सुशोभित होते है, सुभट तलवार के प्रहार से विभूषित होते हैं, घोडे तेज गति के कारण और महिलाए सौभाग्य गुण के कारण सुशोभित होती हैं।

मज्झदीवअ जहा—मध्यदीपक यथा –

सु-कवीण जसो सूराण वी (धी) रिमा, ईहिअ णरिंदाण
केण खलिज्जइ पिसुणाण दुम्मई भीरयाण भअ ।४८।

सुकवीनां यश शूराणा वीरता (धीरता) ईहित नरेन्द्राणाम्
केन स्खल्यते पिशुनाना दुर्मति भीरुकाना भय ।४८।

४८ - सुकवियो का यश, शूरवीरो की वीरता (धीरता) नरेन्द्रो की चेष्टा, चुगलखोरो की दुर्बुद्धि और डरपाकों का डर कौन मिटा सकता है ?

अन्तदीवि(व)अ जहा—अन्तदीपकम् यथा –

सत्थेण बुहा दाणेण पत्थिवा गुरु-तवेण जइ-णिवहा
रण-साहसेए सुहडा मही-अले पाअडा होंति ।४९।

शास्त्रेण बुधा दानेन पार्थिवा गुरुतपसा यतिनिवहा
रणसाहसेन सुभटा महीतले प्रावृता भवन्ति

४९—शास्त्र के द्वारा विद्वान्, दान से राजा, उग्र तप से सयमी पुरुष, युद्ध मे साहस से सुभट भूतल पर छा जाते हैं (व्यापक बनते हैं)।

रोध अलकार

अद्ध-भणिअ णिरुभइ जस्सि जुत्तीअ होइ सो रोहो
पअ-वण्णभेअभिण्णो जाअइ दु-विहो अणुप्पासो ।५०।

अर्द्धभणित निरुध्यति यस्मिन् युक्तिश्च भवति स रोध
पद-वर्णभेदभिन्नो जायते द्विविधोऽनुप्रास ।५०।

५०—जहाँ आधा कह कर रुक जाता है, और जिसमे युक्ति होती है, वहाँ रोध अलकार होता है, पद और वर्ण के भेद से अनुप्रास दो प्रकार का होता है।

रोहो जहा—रोषो यथा—

को ण वलइ तेण विणा मा भणनु अ पुलइअेहिं पासेहिं
अइ रहस जपिआइ हवन्ति पच्छा अपत्थाइ ।५१।

को न वल्गति तेन विना मा भणत अपुलकितैः पार्श्वैः (सह)
अति रहस्य जल्पितानि भवन्ति पश्चाद् अपथ्यानि ।५१।

५१—उसके सिवाय कौन नहीं बोलता ? अर्थात् सभी बोलते हैं, अप्रसन्न पडोसियों के पास में रहने वालों के साथ मत बोलो। तात्पर्य, प्रसन्न पडोसियों के साथ जरूर बोलो। अत्यन्त रहस्य युक्त कथन बाद में अकल्याणकारी होते हैं।

पा(प) आणुप्पासो जहा—पद नुप्रासो यथा—

ससिमुहि मुहस्स लच्छी थणमालिणि थणहर पि पेच्छती
तणुआअइ तणु ओअरि हलिसु ओ कहसु ज जुत्त ।५२।

शशिमुखी मुखस्य लक्ष्मीं स्तनमालिनी स्तनधरमपि प्रेक्षमाणी
तनुतानितनुतोदरि हलीसु भो कथय यत् युक्तम् ।५२।

५२—हे चन्द्रमुखि, मुख की शोभा को, हे स्तनमालिनि स्तनधर (बादल) को देखती हुई अत्यन्त कृश उदर-वाली, तू सखियों को जो उचित हो, वह कह।

वण्णाणुप्पासो जहा—वर्णानुप्रासो यथा—

वाअन्ति सजल जलहर जल लव सवलण सीअल-प्फसा
फुल्ल धुअ धुअ कुसुमच्छल त गधु द्धुरा पवणा ।५३।

वान्ति सजल जलधर जल लव सवलन शीतल स्पर्शा
फुल्लितान्धुरु कुसुमच्छलत् गन्धुद्धुरा पवना ।५३।

५३—जल से परिपूर्ण मेघों के जलकणों के मिलने से शीतल स्पर्श वाली एवं खिले हुए अन्धुक के फूलों से निकलती हुई सुगन्ध से परिपूर्ण हवाएं बह रही हैं।

जत्थ णिमित्ताहिन्तो लोआ अेवकन्त गोअर वअण
विरइज्जइ सो तस्स अ अइसअ-णामो अल कारो ।५४।

यत्र निमित्तैर्लोका अकान्त गोचर वचनम्
विरचयन्ति स तस्य च अतिशय नाम अलकार ।५४।

५४—जहाँ किन्हीं निमित्तों से लोग एकान्तगोचर शब्दों की रचना करते हैं, उसका नाम अतिशया-लंकार समझो।

अतिसआलंकारो जहा—अतिशयालकारो यथा—

जइ गच मिलिअ (अ) भमगण होइ अवअम (म) चपअ-पसूअ
ता केण विभाविज्जइ कउहल मिलिअ पह तिम्मा ।५५।



यदि गन्ध मिलित भ्रमराणा अवतस भवति चम्पक प्रसूनम्
तस्मात् केन विभाव्यते कुतूहल मिलित पथा तस्य ।५५।

५५—यदि सुगन्ध मिला हुआ चम्पा का फूल भ्रमरो का आभूषण हो जाता है, तो कौन जानता है, उसका (भी) मार्ग कुतूहल मिश्रित हो ।

विगअे विपक्ख देसे गुणतरेण तु सवु (थु) ई जत्थ
कीरइ विसेसपअडण कज्जेण सो विसेसोत्ति ।५६।

विगते विपक्षदेशे गुणान्तरेण तु सस्तुतिर्यत्र
क्रियते विशेष प्रकटन कार्य्येण सो विशेष इति ।५६।

५६ – जहा विगत और विपक्षदेश मे गुणान्तर से, स्तुति की जाती एव कार्य के द्वारा जहां विशेषता प्रकट की जाती है वह विशेपालकार होता है ।

विसेसालकारो जहा— विशेषालकारो यथा –

णवि तह णिसासु सोहइ पिआण तवोलराकपव्वइओ
जह पिअअमपीओ पडुरो वि अहरो पहाअम्मि ।५७।

नापि तथा निशासु शोभते प्रियाणा ताम्बूलरागप्रवर्जित
यथा प्रियतमपीतो पण्डुरोऽपि अधर प्रभाते ।५७।

५७ – प्रियाओ के ताम्बूल (पान) के (लाल) रङ्ग से युक्त अधर (होठ) रात्रि मे वैसे सुशोभित नही होते, जैसे प्रभातकाल में प्रियतम द्वारा पान किये हुए पाण्डु (हलके पीले) रङ्ग के अधर सुशोभित होते हैं ।

जत्थ णिसेहो व्व स (स) सी हिअ कीरइ विसेस तण्हाअे
सो अक्खेवो दुविहो होन्ता अेक्कत भेअेण ।५८।

यत्र निषेध इव ससिद्धय क्रियते विशेष तृष्णया
स आक्षेपो द्विविधो भवन्त-एकान्त भेदेन ।५८।

५८ – जहा विशेष (बात प्रकट करने) की लालसा से सिद्ध करके निषेध सा किया जाता है, वहा आक्षेपालकार होता है, जो भवन्त और एकान्त के भेद से दो प्रकार का है ।

होंतक्खेओ जहा— भवन्ताक्षेपो यथा –

जइ वच्चसि ता वच्चसु महु गरुअ-दा (दी) ह-विरहग्गि-ताविअ तणूअे
वच्चइ तइ समअ चिअ अहवा कह जपिअ अेसा ? ।५९।

यदि व्रजसि तदा व्रजतु मधु गुरुक दीर्घ विरहाग्नि तापित तनुक !
व्रजति ते समय चेत् अथवा कथ जल्पितमेतत् ।५९।

५९—मधुमास (चैत्र) की भारी दीर्घ विरहाग्नि के ताप से शरीर को तप्त करने वाले, यदि तुम्हारा समय बीत रहा है और जाना चाहते हो तो चले जाओ अथवा यह बकवास क्यो ?

अेक्कन्तक्खेओ जहा – अेकान्ताक्षेपो यथा—

खग्ग-प्पहार-दढ-दलिअरिउ दलिअ-कु भ-वीढरय
तुअ णत्थि अन्त को महिहराण सचालणो होज्ज ।६०।

खड्गप्रहार दृढदलितरिपुदल च कुम्भ-पीठस्य
तव नास्ति अन्तक महीवराणां सचालनो भवतु ।६०।

६० —तलवार के प्रहार से दृढतापूर्वक समुदाय को और हाथियों की पीठों का दलन करने वाले हे राजन्, तुम्हारा अन्त करने वाला कोई नहीं है। (अत) तुम राजाओं के सचालक बनो।

होइ सहाओ जाई वेरग्गो (वइरेओ) उण विसेसकरणेण
उअणेण मणेही मआ अन्नेण बुज्झइ कईहि ।६१।

भवति स्वभावो जाति वैराग्य व्यतिरेक पुन विशेष करणेन
कुजनेन मन्यते मदाज्येन बुद्धयते कविभि ।६१।

६१ स्वभाव जाति अलंकार होता है, उसमें कुछ विशेषता पैदा करने से व्यतिरेकालकार हो जाता है, जो पहले से जनसाधारण हमेशा मानते हैं, और दूसरे से कवि लोग (मनीषी) समझते हैं।

जाई जहा जातिर्यथा—

सिर-घल्लि-कलस तोलि (णि) गवाहा जुअलाइ गामतरुणीओ
मण्णइ विलासदिट्ठो भडट्ठिअ (ओ) पामरो पुहविं ।६२।

शिरो धृत-कलश-तूणीर बाहुयुगलया ग्रामतरुण्या
मन्यते विलासदृष्टो भ्रष्ट पामर पृथ्वीम् ।६२।

६२—सिर पर कलश धारण की हुई, तथा दोनों भुजाओं से तूणीर की हुई ग्राम तरुणी मानती है कि विलास (कामना) से देखने वाला पामर पृथ्वी पर गिर गया।

वइरागो (वइरेओ) जहा— व्यतिरेको यथा—

दूसह पआ (भा) व पसरो सोमो स (ज)इ अक्खलिअपहो तास्सि
तिव्व जडाउण दोण्ण वि रवि रअ (ह) रअह अच्छाहा ।६३।

दुस्सह प्रभाव प्रसर सोमो यद्यस्खलितपथस्तेयाम्
तीव्र जटायुना द्वयोरपि रविरथ रजो हृतच्छाया ।६३।

६३ - चन्द्रमा यदि दुसह प्रभाव फैलाने वाला और अस्खलित पथवाला बना है तो (उसका कारण) उन तीव्रगामी जटायुओं से दोनों (सूर्य चन्द्र) में से सूर्य के रथ की उडने वाली रज की छाया ही है।

फुडसिंगाराइ रसो रसिओ अह भण्णए अल कारो
अण्ण ववएस भणिए विणिम्मिओ होइ पज्जाओ ।६४।

स्फुट शृगारादि रस रसिक अथ भण्यते अलकार
अन्य व्यपदेश भणिते विनिर्मितो भवति पर्याय ।६४।

६४—जिसमें शृगारादि रस स्पष्ट (प्रगट) हो, वह रसिकालकार कहलाता है और उसमें किसी दूसरे का व्यपदेश कहे जाने पर (अन्य के विषय में कहे जाने पर) पर्यायालकार बनता है।

रसिओ जहा— रसिको यथा—

दूई-विअट्टववअणाणु ववाडअम विअभिउं थक्का
पडइ मउगम्म उरे रमन्त रमणा कुर गच्छी ।६५।





दूती विदग्ध वचनानुबद्धा इतर विस्तमितु स्तब्धा
पतति सपुण्यस्य उरसि रसन्त रसना कुरङ्गाक्षी ।६५।

६५—दूती के चतुर वचनो मे बधी हुई और दूसरे का रोकने मे स्तब्ध (घमण्डी) रसीली जबान वाली मृगनयनी (नायिका) (किसी) पुण्यशाली के वक्ष स्थल पर गिर जाती है ।

पज्जाओ भणइ जहा—पर्यायो भणति यथा—

गरुआए ग्गो (? थो) रिआए रमन्ति (ति) पअडे रयरस कत्तो
मा कुणसु तस्स दोस मुन्दरि ? विसमट्ठिअे कज्जे ।६६।

गुरुकाना गौर्याम् रमन्ति प्राकृत रतिरस कृत
मा कुरु तस्य दोष, सुन्दरि ! विषमस्थिते कार्य्ये ।६६।

६६—गुरुजनो की (बड आदमियो की) सुन्दरी मे गवार आदमी ही रतिरस (का सेवन) करता है । इसमे हे सुन्दरी (ऐसे) विषम परिस्थितिवाले कार्य मे उसको दोष मत दे ।

जह णिअ भण्णइ वहुआ परिवाडी पअटण जहा सख
किं पुण विउण त्तिगुण चउग्गुण होइ कव्वम्मि ।६७।

यथानीत भण्यते वहुधा परिपाटी प्रकटन यथासख्य
किं पुन द्विगुण-त्रिगुण-चतुर्गुण भवति काव्ये ।६७।

६७—यथासख्य अलकार वह कहलाता है, जहाँ यथा क्रम मे बहुधा (प्राय) परिपाटी (श्रेणी) पूर्वक (शब्द) प्रकट किये जाते है और तो क्या कहे ? काव्य मे यथासख्य अलकार द्विगुण, त्रिगुण और चतुर्गुण (यो तीन प्रकार का) होता है ।

विगुणो जहा – द्विगुणो यथा –

ह स-ससि कमल-कुवलय-भसल-मुणालाए णिज्जिआ लच्छी
तिस्सा गइ मुह-करअल-लोअण-धम्मेल्ल-बाहाहिं ।६८।

हस-शशि कमल कुवलय भ्रमर मृणालाना निर्जिता लक्ष्मी
तस्या गतिमुखकरतललोचनधम्मिल्लबाहुभि ।६८।

६८—उसकी गति, मुख, करतल, नेत्र, केशपाश तथा भुजाओ ने क्रमश हस, चन्द्रमा, कमल, कुवलय, भ्रमर और मृणाल (कमलदण्ड) की लक्ष्मी (शोभा) को जीत लिया ।

तउणो जहा –त्रिगुणो यथा—

जो वहइ विमल वेल्लदल कसण सिअ सरिसिआ विसमिअको
मुद्धद्ध रयणीकर मउलिसमिअे त सिव णवह ।६९।

यो वहति विमल विल्वदल कृष्ण सित सरीसृपान विषमिश्राङ्क
मूर्द्धार्द्ध रजनीकर मौलि सश्रित त शिव नमत ।६९।

६९—जो निर्मल विल्वपत्र, काले और सफेद सापो तथा कालकूट विष और चन्द्रमा को धारण करता है, जिसके मस्तक के अर्द्धभाग पर चन्द्र रूपी मुकुट आधार पाए हुए है, उन महादेव को नमन करो ।

चउग्गुणो जहा—चतुर्गुणो यथा—

णीअे सम मउअ-दीहेहिं णिम्मला-ऊअब धवल सोहेहिं
उमणा हर णअणेहिं जिआइ मणि जवय कमलाइ ।७०।

तया नम मृदुक दीर्घ निर्मलाताम्र धवल शोभै
दशनाधर नयनै जितानि कणियावक कमलानि ।७०।

७०—उस (नायिका) ने अपने सम (एक सरीखे) कोमल और दीर्घ, निर्मल लाल और श्वेत शोभा वाले दांत, होंठ और नेत्रों से (क्रमश) यवन नाम की मणि (और बहूटी या बिहूटी) तथा कमलों को जीत लिया।

अण (णवे) विअअ पत्र (वन्न ? पत्त ?) महाअमपआजे समाहिओ होइ
गुण-किरिआग विरोहेण जेम भणिओ विरोहोत्ति ।७१।

अनपेक्षित प्राप्त सहाय सपदा समाहितो भवति
गुण क्रियाणा विरोधेन एव भणितो विरोध इति ।७१।

७१—जहां अनपेक्षित सहायता की सम्पदा प्राप्त होती हो, वहां समाहित अलंकार होता है। तथा गुण और क्रियाओं के विरोध के कारण यह विरोधालंकार कहलाता है।

समाहिओ जहा—समाहितो यथा—

अच्चन्त कुविअ पिअ अव (म) पसायणत्थ पअउमाणीअे
उइओ चंदो वि तनो अपसरिओ मलअगंधवहो ।७२।

अत्यन्त कुपित प्रियतम प्रसादनार्थं प्रवृत्तमानाया
उदितश्चन्द्रोऽपि तत अपसृतो मलयगन्धवह ।७२।

७२—अत्यन्त कुपित प्रियतम को प्रसन्न करने में प्रवृत्त हुई नायिका के भाग्य से चन्द्रमा का भी उदय हो गया और मलयानिल की हवा भी चली गई।

विरोहो जहा—विरोधो यथा—

तुज्झ जसो हरससहर समुज्जलो सअल (य) व(य ?) णिअ दिट मवि
मइल (इ) ण (ह) वइ वर वेरि वीर वहु वअण कमलाहं ।७३।

तव यश हर शशधर समुज्ज्वल सकल प्रवणित दृढमपि
मलिन न भवति (?) वर वैरिवीर वधू वदन कमलाभ ।७३।

७३—तुम्हारा श्रेष्ठ वैरियों की वीरांगनाओं के मुख कमल के समान यश महादेव के (ललाट पर स्थित) चन्द्रमा के समान उज्ज्वल है, वह समस्त जनों की निन्दाओं से दृढ होने पर भी मलिन नहीं होता।

उवमाणेण सरुअ भणिऊण भम्मअे जहिं भेओ
थुइ करणेण संदेहमसिओ सो हु संदेहो ।७४।

उपमानेन स्वरूप भणित्वा भाव्यते यत्र भेद
स्तुति करणेन संदेह मश्रितसम्म तु संदेह ।७४।

७४—उपमान के द्वारा स्वरूप बताकर जहां भेद (पृथक्करण करके) कहा जाता हो, स्तुति करने में जहां सन्देह का आश्रय लिया गया हो, वहां यह सन्देह अलंकार कहलाता है।

सदेहो जहा— संदेहो यथा—

कि कमल मिण (णो) त सकेमर कि ससी ण तत्थ मओ
दिट्ठ सहि ? तुज्झ मुह सससअ अज्ज तरुणेहि ।७५।

किं कमलमिद ? तत्सकेसर ? किं शशी ? न तत्र मृग
दृष्ट सखि ! तव मुख ससशय आर्य तरुणै ।७५।

७५—क्या यह कमल है ? (पर) वह पराग के मलिन होता है। तो क्या वह चन्द्रमा है ? (पर वहाँ मृग तो नही है, हे सखि, (इस प्रकार) तुम्हारे मुख को आर्य तरुणो ने सदेह के साथ देखा।

णत्थि विहेओ किरिआ रसिअस्स वि होइ जच्च फल रिद्धी
भण्णइ विभावणा सा कव्वल कार इत्तेहि ।७६।

नास्ति विभेद क्रिया रसिकस्याऽपि भवति यत्र फल ऋद्धि
भण्यते विभावना सा काव्यालकारवित्तै ।७६।

७६—जहाँ विभेद (पृथक्करण) न हो क्रियारसिक की भी जहा फल ऋद्धि होती हो, उसे काव्यालकारविज्ञ विभावना (अलकार) कहते है।

विभावणा जहा— विभावना यथा—

वड्ढइ असित्तमूलो अणुप (? ओ) अर ताइ पसरइ णहम्मि
सग्ग गओ (अस्स) वि अकण्हो अधो अ विमलो जसो तुज्झ ।७७।

वर्द्धतेऽसितमूलमनुपरान्तमपि प्रसरति नभसि
(स्वर्ग) गतस्यापि अकृष्ण अधश्च विमल यशस्तव ।७७।

७७—तुम्हारे स्वर्ग जाने पर भी, तुम्हारा अश्वेतमूलक और असीम यश आकाश में बढ रहा है, (ऊपर) फैल रहा है, और नीचे (मर्त्यलोक मे) भी पवित्र और श्वेत है।

अन्नो चिअउ तरल्लिअ आज अ सा वाइ त स सजणिउ
डि (ड) विहो होइ जह तहा साहिअ त णिसामेह ।७८।

अन्य त्यजतु तरङ्गि तता च आशवादि त स सजनयितु
द्विविधे भवति यथा तथा साधित त निशामय ।७८।

७८—दूसरे चाहे चाचल्य को छोडे, आशावादी उसे करने के लिए तैयार रहता है। (वह) जैसे दो प्रकार का होता है उसे उस प्रकार सिद्ध किया गया, उसे सुनो।

कतइ वअणाइ जहिं असुएहिं उत्तरेहिं णज्जति
सोउहि तरम्मि उहिं अगूढ भावो सआ उत्तो ।७९।

कति वचनानि यत्र अश्रुतैरुत्तरै ज्ञायन्ते
सोऽभ्यन्तरै ऊहै अगूढ भाव सदा उक्त ।७९।

७९—जहा कुछ वचन बिना उत्तर सुने हुए ही आभ्यन्तर तर्कों द्वारा ज्ञात हो जाते हो, वहा वह सदा अगूढभाव कहलाता है।

जस्स हणइ हि अण्णणो ण ऽणो पअडिअ जओ जहि अत्थो
अण्णावअेस-णामो (सो) सिद्धो अत्थ आरेहि ।८०।

यस्य हन्ति ह्यन्यो नान्य प्रकटित जगति यत्रार्थ
अन्याव्यपदेश नामा स सिद्धो अर्थकारं ।८०।

८०—जहा जिसका अन्य अर्थ जगत् न प्रकटित (प्रसिद्ध) अर्थ का हनन नहीं करता (हटाता नहीं) वह अर्थकारों की दृष्टि से अन्य व्यपदेश अलकार नाम से प्रसिद्ध है।

आतुर अलंकारो जहा— आतुरालकारो यथा—

हा हा विहुअ करअलाहिअ सुअ डइ्ढ
पडिआ गोलातुरेण णरसे ा मिसेण हल्लिअ सो हा ।८१।

हा ! हा ! विधुत करतला लब्ध सुत दग्धम्
पतिना नद्यामातुरेण नद्देन मिषेन हलिकस्नुषा ।८१।

८१—हा ! (जब) किसान की पुत्रवधू ने पुत्र को जला हुआ पाया तो हाथ हिलाती हुई समान आतुर (रोग) के बहाने नदी में गिर पड़ी।

अण्णावअेसो जहा— अन्य व्यपदेशो यथा -

अण्णे सवव भोइणि णववच्छअसेणअ वडलस्स
आलोअ वत्त (? मेत्त) सुहवो ण कज्जकरणक्खमो अेसो ।८२।

अन्ये सम्बन्धभोगिनि नव वत्सो अदृश बलीवर्द्दस्य
आलोक मात्र सुखद न कार्य्यकरणक्षम एष ।८२।

८२—अन्य से सुम्बन्ध का उपभोग करने वाली ! बैल का यह असहन नया बछड़ा सिर्फ देखने में सुन्दर है, कार्य करने में समर्थ नहीं।

पुव्व-भणिअसरिसम्मि वत्थुणि भणण तह अण्ण ? परिअरो
ण स परिअरिओ अत्थ (न) व (र) णासो जहा

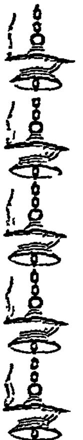
पूर्व्व भणित सदृशे वस्तुनि भणन तथा च परिकर
न स परिकरित अर्थान्तर न्यासो यथा ।।

८३—पहले कहीं हुई सदृश वस्तु का वैसा ही कथन करना अन्य परिकरालकार कहलाता है। अगर वह परिकरित (उसी अर्थ का कथन) नहीं है तो उसे अर्थान्तरन्यास समझना चाहिए।

विप्फुरइ रवी उअआ चलम्मि णहु अत्थ महिहर सिरत्थो
ते असिणो वि तेअ लहन्ति ठाण लहेऊण ।८३।

विस्फुरति रवि उदयाचले नहि अस्त महीधरशिरस्थ
तेजस्विनोऽपि तेज लभन्ते स्थान लब्ध्वा ।८३।

८३—सूर्य उदयाचल पर ही चमकता है, अस्ताचल के शिखर पर रहा हुआ नहीं। तेजस्वी पुरुष योग्य स्थान पाकर ही तेज पाते हैं।



अण्णपरिअरो जहा—अन्यपरिकरो यथा –

तुरियाइ (तु) रियगमणो णिअवभरमन्थराइ खलिअपओ
मग्गेण तीअ वच्चइ पेल्लावल्लीअ तरुणिजणो ।८४।

त्वरितातित्वरितगमनो नितम्वभरमथरातिस्खलितपद
मार्गेण स्त्री व्रजति पीड्यन तरुणि(ण) जन ।८४।

८४—शीघ्रातिशीघ्र गमन करने वाला, और नितम्व के भार से मन्द और अतिस्खलित चरणवाला तरुण जन मार्ग मे स्त्रियो को धक्का मुक्की करते हुए जा रहा है । ?

वहु वत्थु च्चिअ किरिआ समकालपआसण स होउत्ति
गुरुवीर जाइ रडओ जाअइ उज्जा अलकारो ।८५।

वहु वस्तूचितक्रिया समकालप्रकाशन सहोक्ति
गुरुवीरजातिरचितो जायते ऊर्ज्जालकार ।८५।

८५—अनेक वस्तुओ के योग्य क्रियाओ को एक ही समय मे प्रकट करना सहोक्ति कथन होता है । जहा महान् वीरो के स्वभाव का कथन होता हो, वहा ऊर्जालकार होता है ।

उज्जा (? ज्ञा) लकारो जहा—ऊर्ज्जालकारो यथा—

वीसत्थ च्चिअ गेण्हसु वइ वि (रि) अणा वेग्ग णिविडिअ खग्ग
पहर त्त पडिअ पहरण मुणइ करेसु णाससमत्थ ।८६।

विश्वस्त चैव गृह्णातु वैरिजनावेग-निपीडित खड्ग
प्रहरान्त पतित प्रहरण मन्यते करोतु नाशसमर्थम् ।८६।

८६—वैरीजनो के हौसलो को परास्त करने वाली तलवार विश्वस्त होकर पकडो । एक पहर तक गिरे हुए पर प्रहार करो, (वह) नाश करने मे समर्थ माना जाता है ।

सहोत्ती जहा—सहोक्ति यथा—

णिद्दाइ समा लज्जा सरीर सो (स्मा) न्ता (भा) इ सह गआ कित्ती
समअे तुह अणुरअणी तीअे वड्ढन्ति णीसासा ।८७।

निद्रया सम लज्जा शरीरस्यान्तेन शोभया (?) सह गता कीर्त्ति
समये तव अनुरजनी अतीते वर्द्धन्ते निश्वासा ।८७।

८७—निद्रा के साथ लज्जा चली गई, शरीर के अन्त के (शरीर शोभा के) साथ कीर्ति चली गई । प्रत्येक रात्रि को समय के वीत जाने पर तुम्हारे नि श्वास बढते जाते है ।

उअमा इत्थ णिण्हविअ णिअडासा अवण्हुई होइ
पीई अईसअेण पेमाइसओ भणेअव्वो ।८८।

उपमा अत्र (यत्र) निन्हविता निकटा सा अपह्नुतिर्भवति
प्रीत्यतिशयेन प्रेमातिशयो भणितव्य ।८८।

८८—जहा निकट की उपमा छिपा दी गई हो, वहा अपह्नुति होती है । जहा प्रीति की अतिशयिकता का वर्णन हो, उसे प्रेमातिशयालकार कहना चाहिए ।

अवण्हुई जहा—अपह्नुति यथा—

णहु उच्च विडअ मठिअ पहिट्ठकलअंठि कलरवप्पसरो
सुव्वइ वणविलसिअ पुप्फचावमहुरो रवो अेसो ।८९।

न तु उच्च विटप संस्थित प्रहृष्ट कलकण्ठि कलरवप्रसर
श्रूयते वनविलसित पुष्पचाप मधुरो रवो एष ।८९।

८९—यह ऊँचे पेड पर बैठी हुई ढीठ (धृष्ट) कोयल के कलरव का प्रसार नहीं है, किन्तु वन में विलास करने वाले कामदेव का यह मधुर रव (शब्द) सुनाई देता है।

पेमाइसओ जहा—प्रेमातिशयो यथा—

सहसा तुअम्मि दिट्ठे जो जाओ तीअे प (र) हरिसाइसओ
सो जइ पुणोवि होसइ सुन्दर तुअ दंसणु च्चेअ ।९०।

सहसा त्वयि दृष्टे यो जात स्त्रिय प्रहर्षातिशय
स यदि पुनरपि भविष्यति सुन्दर तव दर्शन चैव ।९०।

९०—सहसा तुम्हें देखने पर स्त्री का जो हर्षातिशय हुआ है वह यदि पुन होगा तो तुम्हारा दर्शन सुन्दर ही है।

रिद्धी-महाणुभावत्तणेहिं दुविहो वि जाअइ उदत्तो
सो परिअत्तो घेप्पइ जत्थ विसिट्ठ णिअ दाउ ।९१।

ऋद्धिमहानुभावत्वाभ्या द्विविधो ऽपि जायते उदात्त
स परिवर्त्तो गृह्यते यत्र वैशिष्ट्य निज दातुम् ।९१।

९१—ऋद्धि और महानुभावना के भेद से उदात्तालंकार दो प्रकार का होता है। और परिवर्तालंकार वह कहलाता है, जहा अपनी विशेषता देकर (बनाकर) आकर्षित किया जाता है।

रिद्धी-उदत्तो जहा—ऋद्धि उदात्तो यथा—

तुह णरसेहर ! विप्फुरिअरअणकरिण (किरण) णिअरणासिअतमाइ
भिच्चाणवि दीव-सिहामइलाइ ण होंति भवणाइ ।९२।

तव नरशेखर ! विस्फुरितरत्नकिरणनिकरनाशिततमासि
भृत्यानामपि दीप शिखा मलिनानि न भवन्ति भवनानि ।९२।

९२—हे नरशेखर ! तुम्हारे भवन चमकती हुई रत्न-किरण राशि से अन्धकार को नष्ट करने वाले होने से अनुचरों (के घर) की दीप शिखाओं से मलिन नहीं होते।

महाणुभाव जाइउदत्तो जहा— (महानुभाव जाति उदात्तो—

वेल्लहल रमण (णि) थणहर पडिपेल्लिअ विअड वच्छ पीटावि
ण चलंति महा-सत्ता मअणस्स सिरे पअ काउ ।९३।

विलासवत्फलरमणिस्तनभरप्रतिपीडितविकटवक्षपीठा अपि
न चलन्ति महा सत्वा मदनस्य शिरसि पद कर्तुम् ।९३।





९३—बिल्वफल, रमणी तथा बादलो द्वारा विकट वृक्षपीठ प्रतिपीडित होने पर भी महासत्व (महापुरुष) कामदेव के सिर पर पैर करने के लिए (कामदेव को दबाने के लिए) चलित नही होते।

परिअत्तो जहा— परिवर्त्तो यथा—

ससिमुहि ! मुहपकअकन्तिपसरकरणक्कम-विलासेण
दिट्ठि दाऊण तओ गहिआइ जुआण हिअआइ ।९४।

शशिमुखि ! मुखपकजकातिप्रसरकरणक्रमविलासेन
दृष्टि दत्त्वा ततो गृहीतानि युवाना हृदयानि ।१४।

९४—हे चन्द्रमुखी, तुमने इधर नजर दौडाकर अपने मुख कमल की कान्ति फैला कर तथा (अन्य) इन्द्रियो के क्रमश विलास से युवको के हृदय आकर्षित कर लिए।

दव्व किरिआ-गुणाण पहाणआ जेसु कीरइ कईहि
दव्वुत्तर किरिउत्तर गुणुत्तरा ते अलकारा ।९५।

द्रव्य-क्रिया-गुणाना प्रधानता येषु क्रियते कविभि
द्रव्योत्तर-क्रियोत्तर-गुणोत्तरास्ते अलकारा ।९५।

९५—जहा (जिस काव्य मे) कवियो द्वारा द्रव्य, क्रिया या गुणो की प्रधानता दी जाती है, वहा क्रमश वे द्रव्योत्तर, और गुणोत्तर अलकार कहलाते हैं।

दव्वुत्तरो जहा— द्रव्योत्तरो यथा—

वरकरितुर ग मदिरआणा अर सेवअ ? कणअ रअणाइ
चिंतिअमेत्ताइ चिअ हवन्ति देवे पसण्णम्मि ।९६।

वरकरितुरगमन्दिर-आज्ञाकरसेवककनकरत्नानि
चिन्तितमात्राणि चैव भवन्ति देवे प्रसन्ने ।९६।

९६—देवता के प्रसन्न होने पर श्रेष्ठ हाथी, घोडे, महल, आज्ञाकारी सेवक, सोना और रत्न चिन्तितमात्र से हो जाते हैं।

किरिउत्तरो जहा— क्रियोत्तरो यथा—

मा रुअउ मा किसाअउ मा खिज्जउ मा विहि उआलहउ
जा णिक्किवा तुह वहु वल्लहम्स व (वि) रई पडे (?) पडिआ ।९७।

मा रुदतु मा विलश्नातु मा खिद्यत मा विधि उपालभता
या निष्कृप तव वहु वल्लमस्य विरति पदे पतिता ।९७।

९७—मत रोओ, क्लेश मत करो, खिन्न मत होओ और न विधि (दैव) को ही उपालम्भ दो। तुम तो बहुवल्लभ (बहुजनप्रिय) हो, इसलिए जो निर्दया बन गई है, वह विरत होकर (तुम्हारे) चरण मे पडेगी।

गुणुत्तरो जहा— गुणोत्तरो यथा—

ससिसोम्म ! सरल ! सज्जण ! सच्चवअ ! सुहअ ! सुवरिअ ! सलज्ज !
दिट्ठो सि जहि रुअ ते ताइ (तुह) कह णु ण र्णारंद ? ।९८।

शशिसौम्य ! सरल ! सज्जन ! सच्चव्रत ! सुहृज ! सुचरित्र ! सलज्ज !
दृष्टोसि यत्र रूप, ते तावत् तव कथ नु न नरेन्द्र ।९८।

९८—हे चन्द्रमा के समान सौम्य सरल, सज्जन, सत्यव्रत, भाग्यशाली, अच्छी बात स्वीकार करने वाले, सलज्ज नरेन्द्र, जहा रूप देख लिया है, वहा वे तुम्हारे (अपने) कैसे नहीं होंगे।

उवमाए उवमेअ रूडज्जइ जेण सो सिलेस त्ति
सो उण सहोत्ति-उअमा-हेऊहितो मुणेअव्वो ।९९।

उपमया उमेपय रूप्यते येन स श्लेष इति
स पुन सहोक्तिरुपमा हेतुभ्यो मन्तव्य ।९९।

९९—जहाँ उपमा के द्वारा उपमेय का जिस शब्द (कारण) से निरूपण किया जाता है, वहाँ वह श्लेषालंकार होता है। वह सहोक्ति, उपमा और हेतु को लेकर तीन प्रकार का समझना चाहिए।

सहोत्ति-सिलेसो जहा— सहोक्तिश्लेषो यथा

पीणा घणा अ दूर समुण्णआ णहविअत्ति अच्छाआ
मेहा (हा) घणआइ तुह णिद्धवत्ति तण्हाउरो लोओ ।१००।

पीना घनाश्च दूर समुन्नता नभो (नख) विवर्त्तितच्छाया
मेघा घनतया तव निर्द्धावति तृष्णातुरो लोक ।१००।

१००—हे मोटे (पुष्ट) दूर तक उन्नत (ऊँचे) आकाश मे (नख पर) अपनी छाया फैलाए हुए पयोधरो ! (स्तनो) सघनता के कारण तृष्णातुर (कामातुर) लोग तुम्हारी ओर दौडते हैं (आकर्षित होते हैं)। (नोट—यहाँ मेघ और स्तन दोनो का शब्दों द्वारा सहोक्ति श्लेष बताया गया है)।

उवमासिलेसो जहा— उपमाश्लेपो यथा—

दूराहि च्चिअ णज्जइ रक्खा सद्दस्स (स) मूइअ गमण
लहुइअमहिहरसत्ताणु मत्तहत्थीण व पहूण ।१०१।

दूराच्चैव ज्ञायते रक्षा शब्दस्य ससूचित गमनम्
लघूदित महीधर सत्तोन्मत्तहस्तीनामिव प्रभूणाम् ।१०१।

१०१—छोटे-से उदीयमान महीधर (पर्वत और राजा) की सत्ता मे उन्मत्त हाथियो की तरह प्रभुओ (राजाओं) का दूर से ही रक्षा (घण्टा के और रक्षकों के) शब्द से सम्यक्तया (भलीभाँति) सूचित गमन मालूम होता है। (नोट—यहाँ हाथियों और राजाओं का उपमाश्लेष सूचित किया गया है) (हाथियो की सत्ता पर्वत पर और राजाओ की पृथ्वी पर)।

हेउसिलेसो जहा— हेतु श्लेपो यथा—

हेलाविसप्पिअमअण (ग) णगणेण समपेच्छआइ अ जणस्स
अलिअपरम्मुहआए भद्द ! णअणप्पहो त सि ।१०२।

हेला विसर्पितमदनगणेन सम्प्रेक्षकादिक जनस्य
अलीक पराङ्मुखतया भद्र ! नयनपथ त्वमसि ।१०२।





१०२—हे भद्र, (तुमने) अनायास (लीला पूर्वक) ही कामदेव के गण को दूर हटा दिया है। इसलिए झूठ में पराङ्मुखता के कारण प्रेक्षकादिजनों के लिए तुम ही नयनपथगामी हो।

(अच्चुब्भट) गुण सथुइ वच्चमे (ववए) स वसेण सविसआ जत्थ
कीरइ णिद्दा (? णिंदा) इत्थिआ मा ववएसत्थुई णाम ।१०३।

अत्युद्भट गुण सस्तुति-व्यपदेशवशेन सविषया यत्र
क्रियते निन्दादि स्थिता (?) सा व्यपदेशस्तुति नाम ।१०३।

१०३—जहाँ अत्यन्त उद्भट गुण की स्तुति व्यपदेशवश (बहाने को लेकर) विषय रहित निन्दादिस्थित विषयों के सहित की जाती है, उसका नाम व्यपदेश स्तुति है।

ववएसत्थुई जहा—व्यपदेशस्तुति यथा—

अकुलीणे पअत (इ) जडे अकज्जवके जीऐ ससकम्मि
तुज्झ जसो णर-सेहर किज्ज सुअणाविअणामाइ ।१०४।

अकुलीने प्रकृतिजडे अकार्य्यवक्रे जीवे सशके
तव यश नरशेखर! कुर्यात् श्रुतज्ञापितनामादि ।१०४।

१०४—अकुलीन, प्रकृतिजड और अकार्य करने में वक्र जीव के सशंक होने पर हे नरशेखर, तुम्हारा यश सुनने पर तुम्हारे नामादि का ज्ञापन करे।

गुणसरिसत्तण तण्हाइ जत्थ हीणस्स गुरुअणेण समं
होइ समकाल किरिआ जा सा समं जोइआ साहु ।१०५।

गुणसदृशत्व तृष्णया यत्र हीनस्य गुरुजनेन सम
भवति समकाल क्रिया या सा समज्योतिता साधु ।१०५।

१०५—जहाँ गुरु (महान्) के साथ हीन (लघु) का गुण की समानता की तृष्णा से जो सम (एक) कालिकक्रिया होती है, वह समज्योतितालंकार कहलाता है।

समजोइअ जहा—समज्योतित यथा—

सअणस्स पर रज्ज कीरइ रइ तरल तरुणि णिवहस्स
समआलचलिअमणिवलयमेहला णेउररवेण ।१०६।

स्वजनस्य पर राज्य करोति रतिस्तरलतरुणिनिवहस्य
समकालचलितमणिवलयमेखलानुपूररवेण ।१०६।

१०६—रतिचञ्चल तरुणी समूह के एक काल (साथ) में चलित मणिजटित वलय करधनी एवं नुपूर (नेऊर) की आवाज से स्वजन पर राज्य करती है।

अप्पत्थुअ-प्पसगो अहिआर-विमुक्क वत्थुणो भणण
अणुमाण लिंगेण लिंगी साहिज्जओ जत्थ ।१०७-१०८।

अप्रस्तुतप्रसगो ऽधिकार-विमुक्त वस्तुत भणनम्
अनुमान लिङ्गेन लिंगी साध्यते यत्र ।१०७-१०८।

[illegible]—जहाँ [illegible] (प्रतिज्ञा से बाहर की) वस्तु का कथन किया जाता है, वहाँ अप्रस्तुत-[illegible] है। जहाँ लिंग [illegible] से [illegible] (साध्य) सिद्ध किया जाता है वहाँ अनुमानालंकार [illegible]।

[illegible] जहा—अप्रस्तुत प्रसंगो यथा –

[illegible] देवउत
[illegible] जाणे ।१०८-१०६।
[illegible]
[illegible] ।१०८-१०६।

[illegible]

[illegible]

[illegible] (अ ने) [illegible]
[illegible] ।१०६-११०।
[illegible] (उपरोत)
[illegible] ।१०६-११०।

[illegible] (नदी [illegible]) है।

[illegible] ?
[illegible] आअम्मिो ।१११।
[illegible]
[illegible] ।१११।

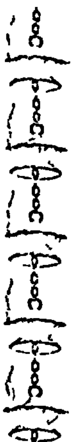
[illegible]

[illegible] जहा—[illegible]—

[illegible]
[illegible] (ते) [illegible] ।११२।
[illegible]
[illegible] (ते ?) [illegible] ।११२।

[illegible] प्राप्त [illegible]

[illegible] गुणाणुजोअेण
[illegible] (व ?) [illegible] (त्थे ?) ओ [illegible] होइ [illegible] ।११३।



स्तोकोपमादि सहिता शान्तकिरणा गुणानुयोगेन
अविवक्षितसामर्थ्ये उत्प्रेक्षा भवति सातिशया ।११३।

११३—*गुण के योग से शान्त किरणवाली, थोडे उपमादि से सहित एव कहने की इच्छा (विवक्षा) का सामर्थ्य* न होने पर जहाँ अतिशयिता होती हो, वहाँ उत्प्रेक्षा अलकार होता है ।

ओपेक्खा जहा—उत्प्रेक्षा यथा—

दीसइ पूरिअ सखो व्व मलअ-मारुअ-णरे द सचलणे
दरदलिअमल्लिआमउलग्गमुहगुंजिरो भमरो ।११४।

दृश्यते पूरित सख इव मलय-मारुत-नरेन्द्र सञ्चलने
दरदलितमल्लिकामुकुललग्नमुखगुञ्जारवो भ्रमरो ।११४।

११४—मलयाचल के पवन रूपी राजा के चलने पर खिली हुई मोगरे की कली मे लगा हुआ मुखवाला भ्रमर का गुँजारव सा मालूम होता है, मानो शख ध्वनि हो रही है ।

विविहेहिं अलकारेहिं अेक्क-मिलिअेहिं होइ ससिद्धी
आसीसालकार आसिव्वाअ चिअ भणति ।११५।

विविधैरलकारैः एकमिलितैर्भवति ससिद्धि
आशीषालकार आशीर्वाद चैव भणन्ति ।११५।

११५—जहाँ विविध अलकार एकत्र मिलते हो, वहाँ ससिद्धि अलकार होता है । जहाँ आर्शीवाद कहा जाता है—दिया जाता है, वहाँ आशीपालकार होता है ।

ससिद्धी जहा—ससिद्धिर्यथा—

तुज्झ मुह ससिमुहि ! तुह मुह व णअ पल्लव (पा) करी चल (र) णा
थणआ सुहजलकलसोव्व सुन्दरा क ति (?ण) मोहत्ति (न्ति) ।११६।

तव मुख शशिमुखि ! तव मुख इव नवपल्लवकरचरणा (पादचलना)
स्तना शुभजलकलमिव सुन्दरा क न मोहयन्ति ।११६।

११६—हे चन्द्रमुखि, तुम्हारा मुख तुम्हारे मुख के समान ही है । नये पल्लव (कोमल पत्तो) के समान हाथ और चरण है, तुम्हारे दोनो स्तन शुभजलकलश के समान सुन्दर हैं वे किसे नही मोहित करते ?

आसीसा जहा—अशीषा यथा—

आसीस तातस्सइ (वि) सअलकलुसाइ तुम्ह णासतु
दिअ गुरु-तवसि कुआर -सइअण सुअणेहि दिण्णाइ ।११७।

आशीपरतातस्यापि सकलकलुषानि तव नाशयतु
द्विजगुरुतपस्विकुमारस्वजन सुजनै दत्ता ।११७।

११७—देव, गुरु, तपस्वीकुमार, स्वजन और सज्जनो द्वारा दिए हुए, पिताजी के भी आर्शीवाद तुम्हारे समस्त पापो का नाश करें ।

उवमा रूवअमेअ विरइज्जइ जत्थ रूयअे उवमा
णिअ रिमणा हु विसिट्ठा चदा चिअ उवभारहिआओ ।११८।

उवमा रूपकमेतत् विन्यस्ते यत्र रूपके उपमा
निदर्शना खलु विशिष्टा चन्द्राङ्कितो उपमारहिता, ११८।

११८—जहां रूपक में उपमा स्थापित की जाती हो, वहाँ वह उपमारूपक अलंकार होता है। जहां चन्द्राङ्कित (चन्द्रादिकों) उपमा से रहित विशिष्ट वर्णित हों, वहाँ निदर्शनालंकार होता है।

उवमारूवअं जहा—उपमारूपकं यथा—

संपेसिअ णअणसरा रसणा रव तरल मिलिअ घर (? व) हसा
खलिअ जुआणा पसरइ मम्मह वाडिव्व धवलच्छी ।११९।

सम्प्रेषित नयन शर रसना रव तरल मिलिता धर हसा
स्खलित युवाना प्रसरति मन्मथ धाटीव धवलाक्षी ।११९।

११९—कामदेव की दूती की तरह धवलाक्षी (सुन्दर नेत्र वाली) युवती अपने नयनबाणों का प्रेषित करती हुई जिह्वा के शब्द से चंचल होठ तथा हंसी को मिलाती हुई अतएव युवकों को स्खलित करती हुई जा रही है।

णिदरिसणं जहा—निदर्शनं यथा —

दावन्ति जलहरा सअल दसगवह समारूढा
खणविहडन्तघण समुन्न (? ण्ण) ई रह अ कालकीलाओ ।१२०।

द्रवन्ति जलधरा सकलदृश्यनव हंसमारूढा
क्षण विघटन् घन समुन्नती रहस्य काल क्रीडात ।१२०।

१२०—समस्त दृश्य (आकाश) रूपी स्वर्हंस पर आरूढ होकर जलधर द्रवित हो रहे हैं (बरस रहे हैं)। क्षण भर में बिखर जाने वाले बादलों की समुन्नति (ऊँचे उठ जाना) स्वर्गिक गति से बढ़ने वाले काल की क्रीडा से होती है।

होइ सिलेस छलेण मज्ज ना (नी ?) रूअअेण अफुडेण
उपेक्खा, अेना सुआ उप्पेक्खावअव-णामा हु ।१२१।

भवति श्लेषच्छलेन मार्जयन्ती रूपकेनास्फुटेन
उपेक्षा, एषा श्रुता उत्प्रेक्षावयवनाम्नी खलु ।१२१।

१२१—श्लेष के छल (बहाने) से अस्फुट रूपक के द्वारा जहाँ परिमार्जन (साधन) होता हो, वहाँ उत्प्रेक्षा-अलंकार होता है, इसका नाम 'उत्प्रेक्षावयव' भी सुना गया है।

उप्पेक्खावअवो जहा—उपेक्षावयवो यथा—

समवि अमण सपुण्ण वणेण कुसुमाण रआणि विरअन्ति
उज्जोवइ हअवट्ठ दोडक्खेण य पइट्ठो ।१२२।

समविक्रमनसम्पूर्णं वनेन कुसुमानि रत्नानि विरचन्ति
उद्योतते हत चन्द्रोदयेक्षण उप प्रतिष्ठ ।१२२।

१२२—समानरूप से विकसित सम्पूर्ण उद्यान के द्वारा पुष्पों के पराग रचे जा रहे हैं। जो अपने स्थान पर स्थित रह चन्द्र की किरण (चन्द्रमा की किरणों) से शोभित हो रहे हैं।





सा ओ भेउ व अत्थू जत्थ वत्थूहि होइ ओहेऊ
अभणिअ किंप्पय ? अग्गभो पीओ तण (ह) णूण सद्देण ।१२३।

सा उद्भिव वस्तू यत्र वस्तुभि भवति उद्भेद
अभणत् 'किंपद गर्भो' प्रियो तनु (तथा) 'न्यून' शब्देन ।१२३।

१२३ – वह उद्भिद् अलंकार है, जहाँ वस्तु का दूसरी वस्तुओ द्वारा उद्भेद होता है, वह 'किंपदगभ' 'प्रिय' तथा नून' से शब्द तीन प्रकार का कहा है ।

उब्भिओ भणिओ किंपअगब्भो जहा—(उद्भिद्भणितो किंपदगर्भो यथा—

आली विअच्छण साल (लेएा) णीअ हलिअस्स अमुणिअरसस्स
णिव्वासिअ सिर वीर मिच्छूण मुह विअट्टेण ।१२४।

आली ! विचक्षण श्यालेनानीत हलिकस्याज्ञातरसस्य
निर्वासितशिरोवीर इक्षूणा मुख विवर्त्तेन ।१२४।

१२४—अरी सखि, जिसे रस ज्ञात नही, ऐसे हालिक (हल चलाने वाले) के साले के द्वारा लाए हुए गन्नो का मुख विवर्त (फाडने) के कारण निर्वासित सिर वाले वीर की तरह विचक्षण लगता है ।

णूण सद्दे जहा—

दर णिग्गअ ण पेच्छइ णूण सहआरमजरी अज्ज
तेण तुह वच्छ लोअण अहिओ (अ) वह (इ) मुहअद ।१२५।

दर निर्गत न प्रेक्षते नून सहकारमञ्जरी अद्य
तेन तव वत्स लोचन अधिक वह मुखचन्द्रम् ।१२५।

१२५—निश्चय ही आम्रमजरी आज थोडे मे बाहर निकले हुए मुखचन्द्र को नही देखती, इसके कारण हे वत्स ! तुम्हारे नेत्र अधिक (भार) वहन करते है ।

यमक अलकार

वर (र) वअण पालण किंपअेण सहि (ह) रिसण खवलअ त्ति
जमअ सुइ सम भिणद्ध (? त्थ) वअणे पुणुरुत्तआ भणिअ ।१२६।

वरं वचन-पालन, किं पदेन, सहर्षण खवलय इति
यमक श्रुति सम भिन्नार्थ वचने पुनरुक्तता भणित ।१२६।

१२६—वचन पालन करना श्रेष्ठ है पद से क्या मतलब ? (यह) महर्ष आकाशवलय है, श्रवण के साथ ही भिन्न अर्थ के कहने मे पुनरुक्ति करना 'यमक' कहलाता है ।

वलिआलकारो जहा – वलितालकारो यथा –

किं तु रूअेग हला, रूअस्स स साम (मि ?) णिव्व सत्तीअे
अस्सा (स्स) ओच्छ अ ध इ ओ तस्स अ पाअेसु पडिआओ ।१२७।

किं नु रूपेण हले, रूपस्स स्व स्वामिनीव सति
आस्य उत्सव धृता तस्य च पादेसु पतिता ।१२७।

१२७—सखी, [illegible] के बने हुए भी [illegible] (मनाती हुई) [illegible] हुई [illegible] के [illegible] नहीं।

आई [illegible] (अ) भासा तहा बंदि लिहवो
[illegible] जाइ [illegible] ।१२८।

आदि [illegible] प्राकृत भाषा तथावलि निबन्धः
[illegible] यानि [illegible] पद-विघ्नम् ।१२८।

१२८ [illegible] होता है।

पाअइ जमअ जहा—पादादि यमकं यथा—

[illegible] (दाइ) [illegible] भाजूनी
[illegible] (अ) [illegible] ।१२९।

[illegible] शार्वरी।
[illegible] ।१२९।

१२९—[illegible] है।

मज्झन्त जमअं जहा—मध्यान्तयमकं यथा—

[illegible] चिर चिर
[illegible]
[illegible] अविम्म [illegible] अन अ
[illegible] (ग) [illegible] (न) [illegible] विज्जु [illegible]

[illegible] चिर चिरं
[illegible] (?) [illegible] वारिण [illegible]
महीपाडया अविस्मरन्त अन्तकम्
विमल कु [illegible] विद्युद्दुज्ज्वल [illegible]

१३०—[illegible] (?) [illegible] नहीं होता [illegible] विद्युत के समान [illegible] है।

[illegible] जहा
[illegible] ।१३१।

सेतुबद्ध [illegible] पाद भणित यमक यथा
[illegible] घनवारिण [illegible] ।१३१।

१३१—[illegible] (जिस पर पुल बंधा हुआ है) [illegible] (जल के समान [illegible] है। [illegible] के [illegible] है।





आवली जमग्रो जहा आवलि यमको यथा—

हु भोग विज्जल पजल पजलणिभरे णिःभरे ओण
सा सा सा मे मा मा म म अमोतु कलिओ ।१३२।

हे भद्र ! विद्युत्प्रज्वलप्रज्वलनभरे निर्भरे कोण
सा अह ता मोक्तु कलित ।१३२।

१३२ हे भद्र, अग्नि के भार से निभर कोने म बिजली जलाओ, वह मेरे लिए ऐसी ही है मैं भी उसके लिए वैसा ही हू, मैं उसे छोडने के लिए तैयार हू

सअल पग्र जमग्र जहा

तुह कज्जे माहसिआ केण कआ वदणेण माहसिआ
भणिऊण साहसिआ सहिआहि फुड मा हसिआ ।१३३।

तव कार्ये सा हसिता केन कृता वन्दनेन साहसिका ?
भणित्वा साहसिका सखिभि स्फुट सा हसिता ।१३३।

१३३—तुम्हारे कार्य (के बारे) मे वह हस पडी थी, जिस वन्दन ने उसे साहसिक बना दिया। (वह) साहसिका या बोल कर सखियो के साथ स्पष्ट (खिलखिला कर) हसी।

सकल पद यमक यथा—

असे विऊण अगेपाण (?) होति समग्ग आधिणो कव्वे
तेण वि अन्नो भावो पअेमो चेअ दट्ठव्वो ।१३४।

अश विज्ञाय च शेषाणा भवन्ति समग्राधीना काव्ये
तेनाऽपि अन्यो भाव प्रवेशो चैव द्रष्टव्य ।१३४।

१३४—काव्य मे शेष (अलकारो) का एक अश जानने पर वे समग्र रूप मे अधीन हो जाते है (यानी समग्र रूप मे जाने जाते है)। उसमे भी अन्य भाव और प्रवेश देख लेना चाहिए, अर्थात् उसमे अन्य भाव निकलना हो तो अन्य अलकार का प्रवेश मालूम कर लेना चाहिए।



इति अलकार दर्पण सम्मत्त

।। शुभ भवतु ।।

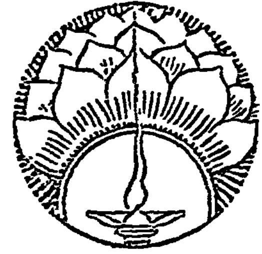


पंचम खण्ड



• जनपदीय संस्कृति

लोक और शास्त्र



अभयदेव शर्मा,
एम० ए० (संस्कृत)

लोक-संस्कृति को आधुनिक काल में एक विद्या (branch of knowledge) का रूप अब लगभग प्राप्त हो चुका है, ऐसा कहा जा सकता है। संभवत: कालान्तर में कभी लोक-संस्कृति का समावेश, शिक्षा के क्षेत्र में, पाठ्य विषय के रूप में भी हो जाए तो आश्चर्य नहीं।

ऐसा तो नहीं है कि 'लोक'-वाद की ओर प्राचीन भारत का ध्यान कभी गया ही न हो। पर आधुनिक काल में इसका विस्तृत और सूक्ष्म अध्ययन करने का, तथा भारतादि प्राचीन परंपरायुक्त देशों का ध्यान इस ओर खींचने का श्रेय पाश्चात्य विद्वानों को है। मेरे अनुमान से, 'कथासरित्सागर' के टानी-कृत सटिप्पण अंग्रेजी अनुवाद ने ही सर्वप्रथम लोक-संस्कृति विषय की महत्ता की ओर भारत की पढ़ी-लिखी जनता का ध्यान विशेष-तौर से आकर्षित किया था। और सबसे ताजी घटना, जिसने लोक संस्कृति को एक प्रकार से शास्त्रीय विषय बना देने का गौरव प्राप्त किया है प्राचीन ग्रंथों के सांस्कृतिक अध्ययनों, तथा ग्रामांचल में बिखरे हुए असंख्य उन शब्दों के जो कि या तो साहित्य में प्रविष्ट हुए ही नहीं और फलत: जिनके अस्तित्व तक से केवल नागर-संस्कृति में पले हुए लोग अनभिज्ञ हैं, अथवा जो कि साहित्य में तथा नागर बोलियों में बहुत कम प्रयुक्त हो पाये हैं, भंडार की खोज है। अपनी सीमित जानकारी से, इन दोनों ही क्षेत्रों को उन्मीलित करने का गरिमायुक्त तथा सुदूर तक प्रभाव विकीर्ण करने वाला कार्य, नवनवोन्मेष-शालिनी प्रतिभा के धनी, श्री वासुदेवशरण अग्रवाल ने ही संभवत: सर्वप्रथम स्वयं आरम्भ किया था, और अपनी प्रेरणा से अन्य अनेक लोगों से भी कराया था।

इतना होने पर भी, नागर संस्कृति में पले लोगों के लिए यह 'लोकायन'-शास्त्र अभी एक प्रकार की ऐसा बालक्रीडा बना हुआ है जिसके प्रति बुजुर्गों का कुतूहलमिश्रित, हल्की कोटि का भाव हुआ करता है। यह दृष्टि-कोण ग्रामीण संस्कृति को असंस्कृतता का पर्याय समझ लेने के कारण है। 'ग्राम ग्रामीण' 'ग्राम्य' शब्द सुनते ही आम आदमी के मस्तिष्क में फूहड़, अशिक्षित, भोलेपन से युक्त, नासमझ, 'मनुष्य' कहाने वाले होने पर भी मनुष्य के बड़प्पन से रहित, मोटे-झोटे कपड़े पहनने वाले, अस्त-व्यस्त केशश्मश्रु वाले, देशी जूते पहनने या नंगे पैर वाले एक अजीब-से जीव का चित्र उभर जाता है। और, लोकसंस्कृति, जो वस्तुत: और मुख्यत: इनके ही जीवन और चरित्र का अध्ययन है, भला कैसे गंभीर अध्येय विषय हो सकता है, यह सोचते हुए नागर संस्कृति का प्राणी बरबस मुस्काए बिना रह नहीं पाता है।

ग्राम और पुर या प्राचीन शब्दों में कहें तो अरण्य और ग्राम का यह सांस्कृतिक अन्तर आज का नहीं वरन् काफ़ी पुराना है। हां, यह बात अलग है कि योरोपीय संस्कृति के प्रभाव ने इस अंतर को दुर्लंघ्य चौड़ी खाई बना दिया है। प्राचीन और मध्यकालीन भारत में ग्राम और नगर का भेद ऐसा कभी नहीं रहा कि किसी एक ही बात को नितान्त ग्रामीण या नितांत नागर कहा जा सकता हो। यों भी कह सकते हैं कि नागर संस्कृति का भवन जिस कुर्सी या पीठिका पर खड़ा होता था वह ग्रामीण या लोक-संस्कृति ही थी। इन दोनों में उच्च स्तरभेद तो था, पर कोटि-भेद नहीं था। नगरों का ग्रामों से घनिष्ठ संबंध बना रहता था। दूसरी ओर, ग्राम भी नगर के संपर्क में आकर अपने को बिल्कुल अजनबी-सा अनुभव नहीं करते थे और यही स्पृहणीय सामाजिक अवस्था है जो हर देश का स्वप्न होनी चाहिए। किसी भी देश की अधिकतर जनता ग्रामों और वनों में निवास करती है। भौतिक सुविधाओं की सम्भो-



पलब्धि से दूर, ये ग्राम और वन ही, शेप नागर जनता के अन्नदाता होते हैं। वेदो मे 'जन,' विश', 'प्रजा' कहाने वाली अथवा रियाया का अधिकाश ग्राम और वन मे होता है। जो सामाजिक व्यवस्था और जो राजनीतिक ढाचा ग्राम और वन के वजाय नगर के रग मे अधिक रगा हुआ होगा, वह भला, कैसे प्रजातन्त्री, वा लोकतन्त्री, व गणतत्री कहाने का अधिकारी हो सकता है, उससे कैसे for the people, by the people तथा of the people का आदर्श चरितार्थ हो सकता है, यह गभीर विचार के योग्य बात है। अस्तु।

प्राचीन भारत का समाज 'वर्ण' और 'आश्रम' इन दो पायो पर खडा रहता था। वर्णों मे ब्राह्मण, और आश्रमो मे गृहाश्रम के अलावा शेप तीनो आश्रम, समाज वा समूह के वजाय, कही एकान्तप्रिय होते थे। ब्राह्मण के लिए 'अरतिर्जनसमदि' का व्यवहार आदर्श माना गया था ताकि वह एकातसेवनपूर्वक अध्ययन, अध्यापन और शास्त्र-प्रणयन मे, विद्याओ, कलाओ और शिल्पो के विकास मे रत रह सके। जनसमूह मे अरति, ब्राह्मण के असामाजिक होने के वजाय, सास्कृतिक निधि को समृद्धतर करने मे उसके रतिभाव की दृष्टि से, अपने पर बलात् ओढा हुआ, कष्ट-प्रद, कृच्छ्रतायुक्त, अभावो और तप के जीवन से उपेत, एक महान् उत्तरदायित्व थी जिसे सुधी और प्राज्ञ, तपस्वी और मनस्वी ब्राह्मण-वर्ग को स्वीकार करना ही होता था और इसी मे उसका गौरव भी था। । ब्राह्मण ही 'आरण्य' होता था। उसका मन ग्राम वा समूह मे न रमकर, नागर सस्कृति के लिए अरमणीय प्रतीत होने वाले अरण्य अर्थात् एकात मे अधिक रमता था। आचार्य विनोबा भावे ने इसी उदात्त अभिप्राय से एकत्र अपने को आरण्य जगली प्राणी वताया है। वैदिक दर्शन मे भी पशुओ को आरण्य और ग्राम्य, दो प्रकार का माना गया है। 'आरण्य' अर्थात् एकाकी निवास का स्वभाव रखने वाले, यथा सिंह, और ग्राम्य अर्थात् झुड मे रहने वाले, यथा हाथी, भेड, मनुष्य। वेद के शब्दो मे 'सूर्य एकाकी चरति'-अपने मार्ग पर स्वय के तेज से बढे जाने वाले साहसी 'आरण्य' प्रकृति के, अग्रणीकोटि के, जन-नायक होते हैं। वे सूर्यवत् स्वयप्रकाश होते हैं। तद्विपरीत 'नवो नवो भवति जायमान'-स्वभाव वाला, 'जायस्व प्रियस्व' के चक्र मे प्रवहमान रहने वाला चन्द्रमा 'ग्राम्य' प्रकृति का प्रतीक है। वह नक्षत्रपत्नियो के साथ समूह मे रहता है। ग्राम्य सस्कृति परत प्रकाश है, वह आरण्य सस्कृति के पुजारी, विप्रो के निर्देशन और निरीक्षण मे ही, शास्त्र के प्रमाण को सिर झुकाते हुए ही चलने वाली है। तो,जैसे ब्राह्मण वर्ण आरण्य वा प्राकृत सस्कृति का उपासक है, वैसे ही आश्रमो मे वानप्रस्थ और सन्यास आश्रम भी एकानोपासक होते है। वानप्रस्थाश्रम एकात मे साधना का साध्यावस्था वाला आश्रम है, तो सन्यास अत मे एकातसिद्ध होकर भी लोक मे अपने सर्वस्व का न्यास कर देने रूप, प्रवृत्त्याभासरूप, 'क्षुरस्य धारा' रूप दुर्गम पथ है। सन्यासी अन्त मे घोर एकातशील रहकर लोक मे सग्रहशील भासता है।

वन वा तपोवन की यह सस्कृति एक ओर थी, तो दूसरी ओर क्षत्रिय-वैश्य शूद्र-वर्ग निर्मित गृही जनो की नागर वा पौर, वा जानपद, वा ग्राम्य सस्कृति थी जिसके लक्षण और स्वरूप विलकुल ही भिन्न थे। नगर के भौतिक, आराममय, शरीरपरायण वातावरण मे जीवन की सरलता क्लिष्ट हो जाती है। आत्मानुशासित बुद्धि के वजाय, देह-प्राण का अधीश मन नागर सस्कृति मे जीवन का शासक होता है। यही वह ग्राम्य सस्कृति है जिसके उच्चावच दो स्तर थे, पुर (नगर) और जनपद (ग्रामाचल)। 'पौरजानपद' इस समस्त पद के प्रयोग प्राचीन भारतीय वाड्मय मे प्राय उपलब्ध होते है। इन दोनो 'ग्राम्य' स्तरो मे नगर स्तर का जनपद स्तर पर श्रेष्ठता का भाव होने से, समाज के अग्रणी राजा, अमात्यो, धनिको आदि का राजधानी मे प्राय जमघट रहने से, पौर सस्कृति अपने से अवर जानपद सस्कृति का ही 'ग्राम्य' सस्कृति पुकारने लगी। परिणामत ग्राम, ग्रामणी, ग्राम्य शब्द सरलतर जानपदीन जीवन के सूचक वनते हुए हीनभाव के द्योतक वन वैठे। नगरो मे ही राजसभा मे साहित्यकारो, शिल्पियो, कलाविदो, विद्वानो आदि को आदर और वैभव प्राप्त होता था। अत सस्कृति के नवोन्मेपो के तथा सभ्यता के अभिनव फैशनो के प्रधान उत्स नगर ही हो गए थे। नागर सस्कृति का एक प्राचीन चित्र यदि देखना हो तो वात्स्यायन के 'काम-सूत्र' मे देखा जा सकता है। काव्यादि का विकास भी नगरो मे ही हुआ। अत नाटको, गद्य-पद्य-चपू-काव्यो, कहानी-किस्सो मे भी नागर सस्कृति के विभिन्न कालो के चित्र साहित्य मे उपलब्ध है। जनजीवन के एक महत्त्वपूर्ण पक्ष, नागर सस्कृति का लगभग पूर्ण और समृद्ध चित्र प्राचीन भारतीय वाड्मय मे विद्यमान है।

यह ग्राम्य, वा लोक-सस्कृति गृहस्थाश्रम का विपय है। गृहस्थ राग और भोग का आश्रम है। कह सकते

है कि 'रतिरंजनमदि' लोकसंस्कृति का प्राण है। जीवन में रस लूट कर उसी में आकण्ठ निमग्न रहकर, जीवन-रस का पान करते रहना, रसक्रीडा, या जीवन के भागवत रस को आनन्द पान करना ही लोकजीवन है। लोक में ही आत्मवर्चस्वोपेत समाज और राजनीति का ढांचा बनता है। लोकानुरंजन क्षत्रिय का परमधर्म माना गया है। 'युक्त प्रजानामनुरंजने स्या', 'क्षतात् किल त्रायते इति' क्षत्रशब्दरूढि, आदि वचन राजा के रंजन या लोककल्याणधर्म के द्योतक हैं। लोक में ही विट-शूद्र-रूप 'प्रजा' रहती है। धनोपार्जन करना, आजीविका कमाना और परिवार बनाकर जीवन की सुविधा के साथ, कर्तव्य, धर्मों का निर्वाह करते हुए, इह और पर जीवन को सिद्धिपूर्वक बिताना —यही लोकजीवन का स्वरूप रहा है। जीवन की आवश्यकताओं और क्रमशः वृद्धिमान जटिलताओं के अनुरूप नाना विद्याओं और कलाओं—शिल्पों का जाल फैलता चला गया। सभ्यता और संस्कृति के जिन स्तरों पर विभिन्न देशों की प्रजाएं हैं वह लोकजीवन या ग्राम्य संस्कृति की ही देन है, आरण्य, या शास्त्र संस्कृति की नहीं।

आरण्य और ग्राम्य या शास्त्र और लोक, या जानपद और पौर संस्कृतियों का मध्यसेतु है ब्रह्मचर्याश्रम। ब्रह्मचारी का आधार पौर जानपद था। पर वह शिक्षा पाता था गुरुकुलों में, जहां समूह में भी एकान्तता का वातावरण रहता था। ब्रह्मचारी को एक ओर माता-पिता-बन्धुओं का प्यार-दुलार प्राप्त रहता था तो दूसरी ओर आचार्य की ताड़ना या अनुशासन उसे जीवन की यथार्थ कठोरता का सामना करने की शिक्षा देती थी। शिशु का आरम्भिक 'लालयेत् पंच वर्षाणि'-रूप जीवन 'ग्राम्य' वातावरण में बीतता था, तो 'दश वर्षाणि ताडयेत्' का विद्यार्थी-जीवन पाठशालाओं और गुरुकुलों के 'सामूहिक एकान्त' के वातावरण में। जहां वह लोक में रहते हुए शास्त्र का ग्राम में रहते हुए आरण्य संस्कृति का शास्त्रवाद का महणठियों में रहते हुए भी तपोवनों का जीवन जीना सीखता था। ब्रह्मचारी को लौटकर लोक में ही आत्मसात् होना होता है। वह लोक से अरण्य में जाकर वापिस लोक में लौटता है। और, जीवन के सान्ध्य काल में उसे पुनः आरण्य आश्रमों-वानप्रस्थ और संन्यास में लौटने का लक्ष्य सम्मुख रखना होता था। धर्मपूर्वक अर्थ और काम सिद्धि के बाद धर्म और मोक्ष की साधना में ही उसे जीवन का 'इति शम्' करना चाहिए। इस प्रकार, भारतीय वर्णाश्रम-व्यवस्था में ग्राम्य-आरण्य या लोक और शास्त्र का अपूर्व और स्वस्थ समन्वय हुआ है। प्रवृत्ति और निवृत्ति, मुक्ति और भुक्ति, भोग और योग, जीवन के दोनों पक्षों का, अथवा वैदिक भाषा में ब्रह्म और श्रम (ब्राह्मण संस्कृति और श्रमण संस्कृति) का सामंजस्य ही भारतीय मन की प्रिय जीवनपद्धति है।

[२]

लोक और शास्त्र का, अथवा ग्राम्य और आरण्य संस्कृति का तादात्म्य भारतीय वाङ्मय में आद्योपान्त व्याप्त है। एक ओर 'आरण्यक' और 'उपनिषद्' नाम से ऐसे ग्रंथ विद्यमान हैं जो लोकजीवन में अनध्येय एवं निषिद्ध माने गए हैं, तो दूसरी ओर कामशास्त्र, अर्थशास्त्र और धर्मशास्त्र हैं जिनका सम्बन्ध मुख्यतः लोकजीवन से है। लौकिक साहित्य और शास्त्रीय वाङ्मय-ये दो कोटियां भारतीय ग्रन्थों की सर्वमान्य हैं। एक कोटि को 'स्मृति' और दूसरी को 'श्रुति' भी कहा गया है। व्याकरण की परिभाषाओं में इनका क्रमशः 'लौकिक' और 'वैदिक' (छान्दस) वाङ्मय कहा गया है। पतंजलि ने वेदवाक् और लोकवाक्-दो वाक् माना है। पाणिनीय 'शब्दानुशासन' (अष्टाध्यायी) वैदिक, लौकिक दोनों भाषास्तरों का विवेचन करने वाला है।

शास्त्र, श्रुति, वेद या उस कोटि में वे ग्रन्थ आते हैं जो स्वतः प्रमाण, स्वप्रकाश, बुद्धिपूर्व वाक् हैं। लौकिक, या स्मृति ग्रंथों को शास्त्र का अनुगन्ता माना गया है। 'श्रुतेरिवार्थं स्मृतिरन्वगच्छत्' कहकर कालिदास ने 'रघुवंश' में इस परम्परा का संकेत किया है। स्मृति श्रुत्यनुकूल ही मान्य है। श्रुति परमप्रमाण है, स्मृति परतः प्रमाण, परतः प्रमाण, पौरुषेय, मनःपूर्विका वाक् है। श्रुति आत्मानुशासित, स्थितप्रज्ञ, बुद्धि से प्रसूत दिव्य-शास्त्र है, तो स्मृति देहप्राणानुगत, आत्मबुद्धि के अनुशासन के अधीन, उच्छृंखल, चंचल मन से अनुप्राणित लौकिक वाङ्मय है जिसमें स्त्री, शूद्र, द्विज-बन्धुओं तक का मन रमता है। नाट्यशास्त्र की भाषा में 'वेद' या शास्त्र उपदेश-आदेश अनुशासन करता है, तो 'स्मृति' या 'लोक' कान्तासम्मित परामर्श या 'क्रीडनीयक' है जो क्रीडा-माध्यम से सहज में चित्त को रमाने के लिए है। द्विज शास्त्ररुचि होते हैं, स्त्री शूद्रादि लोक-रुचि वाले हैं।





यहा प्रश्न उत्पन्न होना चाहिए कि लोक और शास्त्र, अथवा श्रुति और स्मृति मे पौर्वापर्य क्या है, तथा कौन किसके अनुशासन मे है। इस सबध मे एक आगम वचन का हठात् स्मरण हो जाता है कि 'देवकार्याद् द्विजातीना पितृकार्य विशिष्यते'। देवपूजा-परक श्रौत यज्ञो मे भी अधिक महत्ता पैत्र कर्मो-श्राद्ध, पितृयज्ञादि—की मानी गई है। ऐसा क्यो ? इसमे तो यही ध्वनित होता है कि स्मृति पहले है, श्रुति पीछे। बात ठीक भी है। इसी प्रसग मे पुराण' शब्द पर भी ध्यान दे लेना चाहिए। 'पुराण' का अर्थ है 'पुरा-नव-पुराना होते हुए नया। जो वृद्ध और युवा, दोनो एक साथ हो, अथवा, वेद की भाषा मे, जो 'वाम-पलित' हो, वह 'पुराण' है। दूसरी ओर, सदावृद्ध, एकरस, शाश्वत श्रुति' परम्परा है जो उपदेश वा आदेशरूप होती हुई 'शास्त्र'-कोटि मे है। परन्तु लौकिक वाङ्मय अथवा स्मृति-साहित्य विभिन्न भगिमाओ मे युक्त रमणीय साहित्य है जो हिमाचल-रूप एकरस आधार से नि सृत होकर भी नित रम्य और हठलाती हुई सरिताओ के समान देश-काल मे विविध रूप धारण करता है।

लोक पहिले है। शास्त्र लोक का सार है—चिरस्मरणीय, और सभाल कर रखने योग्य तत्त्वसचय है। लोक की धारा सतत प्रवहमान रहती है। उसमे अच्छा, बुरा, रम्य, और हेय, सत्य और भ्रांति सब कुछ है। काल देवता अपनी कतरनी से क्षणिक और त्याज्य को छाटकर परे कर देता है और जो कुछ 'सत्य शिव सुन्दर शाश्वतम्' काल और देश की परिधियो मे यमाग्नि से दग्ध होने से बच रहता है, वही शास्त्र, श्रुति वेद, छन्द, के रूप मे जीवित बच रहता है। सस्कृति और सभ्यता की दीर्घ यात्रा के जो स्मृतिचिह्न आज तक मानव को उपलब्ध है वे ही 'शास्त्र' हैं। शास्त्र अपने शाश्वत मूल्यो के कारण सहेज कर रखने योग्य बन जाता है, और परपरा उसे मरने मे, कालकवलित होने मे बचाये रखती है। उधर, लोक-सस्कृति की धारा भी अपनी स्वच्छद, मस्त चाल से चलती रहती है। लोक-सस्कृति के छन्ने मे छनकर, द्रोणकलश मे भरा शास्त्ररस लोक-सस्कृति की परवर्ती धारा को प्रभावित करता है। जीवन की ठोकरो का यही तो उपयोग हो सकता है कि आगे वैसी ठोकरो मे बचा जाये। बस, यही शास्त्र का उपयोग है, और यही लोक पर शास्त्र का, अथवा स्मृतिपर श्रुति का अकुश है। अत जहा कालिदास का यह कथन कि 'स्मृति श्रुत्यर्थ का अनुगमन करती है' ठीक है, वहा यह आगमोक्ति भी ठीक है कि देवो से पितरो का वैशिष्ट्य अर्थात् श्रुति पर स्मृति का ज्येष्ठत्व है। लोक की आयु शास्त्र से अधिक है। लोक पहिले है – शास्त्र लोक का निचोड है। पर शास्त्र का आधार है लोक ही। लोक मे परिवर्तन होने पर, शास्त्र मे परिवर्तन की अपेक्षा हो सकती है, और होती है। लोक पुराना होने पर भी नया है—अत वह 'पुराण' है। पुराणो को स्मृति के अतर्गत माना गया है। एक उक्ति भी है कि 'आत्मा पुराण वेदानाम्'। वेद वा शास्त्र का आत्मा-वा प्राण—, वा आधार पुराण परपरा है। पुराण-परम्परागत ज्ञान ही 'वेद' है। एक और उक्ति है कि 'पुराण सर्वशास्त्राणा प्रथम ब्रह्मणा स्मृतम्'। पहले पुराण बने, फिर वेदादि शास्त्र बने। यहा वेदादि शास्त्रो की निन्दा करना पुराणकार की नीयत नहीं है, वरन् वह शास्त्र का मूल लोकपरम्परा को बतला रहा है।

भारतीय समाज मे लोक-परम्परा पर शास्त्रानुशासन की प्रधानता रही है। शास्त्र का ठाठ जब खडा हो जाता है तो फिर शास्त्र लोक पर शासन करने लगता है। यह बात भारतीय जीवन के हर क्षेत्र मे सही है। इसी को यो भी कह सकते है कि आम भारतीय का स्वभाव शास्त्र द्वारा बना दी गई लोक वा पद्धति वा परम्परा को सहज ही ग्रहण कर लेने का है। ग्रामाचलो मे आज भी सहस्रो ऐसी प्रथाए, ऐसे शब्द प्रचलित हैं जिनके उल्लेख हजारो साल पुराने काव्यादि मे, तथा शास्त्रीय ग्रथो मे उपलब्ध है। प्रकारातर से हम आज भी, कम-से-कम ग्रामाचल मे तो, भास-, और कालिदास-कालीन जीवन जी रहे है, और महाभारतकालीन भाषा बोल रहे हैं। छोटी-से-छोटी हमारी आदतो, अतिसाधारण-सी लगने वाली कहावतो, मुहावरो की आयु बहुत-बहुत लम्बी है। पाश्चात्य विद्वानो की भाषा मे कहे तो, यह ठीक ही है कि भारतीय स्वभाव से Conservative वा परम्पराभक्त होता है। यह परम्पराभक्ति शास्त्र का अनुशासन स्वीकार करने की हमारी प्रवृत्ति ही तो है। स्मृति, जो स्वभाव मे देशकालानुसार परिवर्तनशील होती है, अपने क्षेत्र मे परम्परा को त्याग कर नही चलती। और श्रुति तो है ही सुदृढ परम्परा का अपर नाम। इस प्रकार लोक मे शास्त्रानुशासन, और शास्त्र मे लोक का प्रतिफलन, भारतीय जीवन और सस्कृति की, अथवा थोडे-बहुत रूप मे मानव की सार्वभौमिक सस्कृति की विशेषता रही है। परम्परा को सर्वथा मेटकर, मानव जी नही सकता। परन्तु लोक और शास्त्र, अथवा श्रुति और स्मृति का तारतम्य जब गडबडा जाता है तभी लोक-जीवन मे सवाद उत्पन्न हो

जाती है। परम्परा की अन्धी भक्ति मूढ़ता और साहसहीनता है, तो तोड़ने के लिए परम्परा को तोडना उच्छृ-ङ्खलता और बेवकूफ़ी है। दूसरों के अनुभवों के आलोक में भी ठोकर खाने से जो बचना नहीं चाहता, उस पर तरस ही खाया जा सकता है। शास्त्रदीप नवनवोन्मेषशाली लोकजीवन की ताज़गी को झुलसाने के लिए नहीं है वरन् स्वच्छन्दता के तिमिर को आलोक में परिणत करने के लिए है। कालिदास ने बड़ी मार्मिक बात ललित कलाओं के प्रसंग में कही थी कि 'पुराणमित्येव न साधु सर्वं न चापि काव्यं नवमित्यवद्यम्।' कोई चीज़ मात्र पुरानी, परम्परा पुष्ट-शास्त्रीय होने से ही वरणीय नहीं बन जाती है, और साथ ही हर नई वस्तु बुरी नहीं होती है। यह भी कह सकते हैं कि हर नई चीज़, हर नया फैशन अच्छा ही हो और हर पुरानी परम्परा या शास्त्रविधान बुरा ही है ऐसा भी नहीं है। बुद्धिमान् अपनी आत्मानुशासित बुद्धि से परीक्षा करके ही किसी बात को ग्रहण करते या छोड देते हैं। पर देह-प्राण से वशीभूत मन की लगाम से बेबस बना हुआ प्राणी मूढ़ ही कहलायेगा क्योंकि वह स्वयं निर्णय न कर परत-प्रमाण पर विश्वास करता है।

जीवन में आया कोई परिवर्तन जब चिरस्थायी हो जाए तो शास्त्र में उसे स्थान मिल जाना चाहिए। शास्त्र प्रत्येक परिस्थिति में अपने अनुशासन का आग्रह न करे। उदाहरणार्थ, 'सत्यं ब्रूयात्'-सत्य बोलना चाहिए यह शास्त्र का आदेश है। पर किस परिस्थिति में सत्य का क्या रूप होगा, यह निर्णय करना स्मृति का काम है। किसी निर्दोष की जीवन-रक्षा के लिए यदि कभी अयथार्थ भाषण करना पड़े तो वह नितांत असत्य-भाषण की कोटि में नहीं आता। सत्य प्रिय भी हो, सत्य को अप्रिय ढंग से बोलना ठीक नहीं, आदि, आदि, स्मृति-परिधियां 'सत्यं ब्रूयात्' इस शास्त्रीय विधान को देश-कालानुरूप उपयोगी बनाने के लिए हैं। शास्त्र जब अड़ियल हो जाता है तो या तो उस शास्त्र से अनुशासित लोक का जी घुटने लगता है, अथवा लोक उस शास्त्र को ठोकर मारकर परे फेंक देता है। व्या-करण ने जब लोक में बोली जाने वाली संस्कृत भाषा को अपने शिकंजे में कसना आरम्भ किया तो भाषा की ताज़गी नष्ट होने लगी और अन्ततः भाषा का रूप ऐसा स्थिर हो गया कि अपनी परिधि में वह लोक-बहिष्कृत बन बैठी। परन्तु भाषा की धारा अवरुद्ध नहीं हुई। संस्कृत को अपने ही टीले पर पडा छोडकर, भाषा की धारा प्राकृत, अप-भ्रंश, देशी भाषाओं के रूप में बह रही है और बहती रहेगी। काव्यशास्त्र ने जब लौकिक काव्य को शिकंजे में कसना आरम्भ किया, तो शास्त्रानुगन्ता काव्य बासी हो चला। पर शास्त्रमुक्त काव्यधारा प्राकृत, अपभ्रंश काव्यों में से बहती हुई देशी भाषा-काव्यों के रूप में आज भी प्रवहमान है। लोक का उपासक कवि लीकबद्ध उपमानों के बजाय ताजे उपमान खोजता है। वह 'विस्मृति की दराज़ों,'[1] 'वेदना के वातायनों,'[2] 'प्यार के बल्बों, 'भुने हुए पापड के समान टूटे हुए सपनों', 'आत्मा के चक्के पर चढ़ाये जा रहे मक्खनशक्ति के लोहे के मजबूत ज्वलन्त टायरों,' 'भावों की सीपियों' आदि, आदि नव-नव कल्पनाओं में रस लेता है और जीवनरस से अपने काव्य को ताजा बनाये रखता है। नाट्य-शास्त्र ने नाटकों की रचना-प्रक्रिया को एक ही सांचे में ढाले जाने का जब आग्रह किया, तो नाटक-साहित्य बासी पड़ गया, और उसके स्थान पर लोक-नाट्य की स्वच्छन्द धारा नाना रूपों में फूटती रही। वर्णाश्रमधर्म कभी लोक-मंगल का साधक था। पर इसकी परिधियां जब व्यक्ति की सामर्थ्य और अभीप्सा में बाधक बनने लगीं तो वर्ण मर गए और उनका स्थान जातियों, उपजातियों ने तथा वर्णसांकर्य ने लिया, तथा आश्रमों का महत्त्व भी क्षीण होता गया। लोक इन परिवर्तनों से जीवन जीने के लिए ओज को ग्रहण करता है। काश, शास्त्र भी लोक के अनुरूप अपने को ढालने के लिए सन्नद्ध रखे जायें, तो ग्राम्य और आरण्य संस्कृति, अथवा लोक संस्कृति और नागर संस्कृति में आजकल विद्यमान चौड़ी और गहरी खाई समरसता के साथ पाटी जा सकती है। लोक संस्कृति का अन्वेषण और अध्ययन शास्त्रीय मनोवृत्ति को ताजी और स्वस्थ रखने का साधन बने, तथा शास्त्र लोक को, बस, अमर्यादित होने से रोकने तथा भूलभुलैया की ठोकरों से बचाए रखने तक अपनी हलचलों को सीमित रखे—यही आदर्श सामंजस्य इन दोनों में हो सकता है। इतिहास का कार्य वर्तमान और भविष्यत् को आलोकित रखना मात्र है।



---

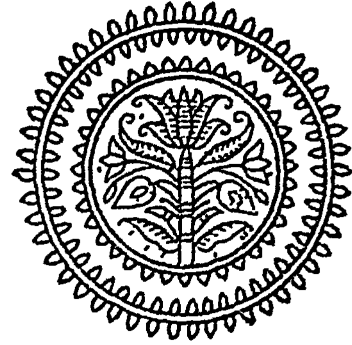
१ भवानीप्रसाद मिश्र।

२ 'अज्ञेय'-इत्यलम्, पृ० १८२।

ये तथा अन्य ऐसे ही सदर्भ 'मानव-भावाभिव्यंजक नए आलंकारिक प्रकृति-उपमान' (ललिताप्रसाद सक्सेना) लेख (विश्वभारती पत्रिका, चैत्र-ज्येष्ठ, २०२४) से लिये गए हैं।

लोक-देवता

प्रो० चेतनप्रकाश पाटनी



वर्तमान काल में 'लोक' शब्द अंग्रेजी भाषा के फोक (Folk) का पर्यायवाची स्वीकृत किया गया है। फोक के विषय में 'एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका' में लिखा है कि आदिम समाज में तो उसके समस्त सदस्य ही लोक (फोक) होते हैं और विस्तृत अर्थ में तो इस शब्द से सभ्य राष्ट्र के समस्त जनगण को भी अभिहित किया जा सकता है, किन्तु सामान्य अर्थ में यह शब्द केवल उन्हीं का ज्ञान कराता है जो नागरिक-संस्कृति और सविधि-शिक्षा के प्रवाहों से मुख्यतः परे हैं, जो निरक्षर भट्टाचार्य हैं अथवा जिन्हें मामूली-सा अक्षर-ज्ञान है, ग्रामीण और गंवार।"

डा० सत्येन्द्र के अनुसार "'लोक' मनुष्य समाज का वह वर्ग है जो आभिजात्य संस्कार, शास्त्रीयता और पाण्डित्य की चेतना से अहंकार से शून्य है और जो एक परम्परा के प्रवाह में जीवित रहता है। ऐसे लोक की अभिव्यक्ति में जो तत्त्व मिलते हैं वे लोकतत्त्व कहलाते हैं।'

भारत गांवों का देश है। गांवों में उपर्युक्त 'लोक' में आने वाला समाज बसता है। ग्रामों के समूह जनपद हैं। गांवों और जनपदों का जाल हमारे चारों ओर फैला हुआ है। इस भूमि के अधिकांश जन गांवों और जनपदों में ही बसे हुए हैं। गांव-बस्तियां हमारी संस्कृति की धात्री हैं। उनकी संस्कृति देश की प्रधान-संस्कृति है।

इस संस्कृति का सबसे अद्भुत अंग उसकी धार्मिक परम्परा है। डा० वासुदेवशरण अग्रवाल के अनुसार 'इस परम्परा का इतिहास पांच सहस्र वर्ष पुराना है। पृथ्वीसूक्त ऋषि के अनुसार यह हमारी मातृभूमि अनेक प्रकार के जन को धारण करती है। यह जन अनेक प्रकार की भाषाएं बोलने वाला है और नाना धर्मों को मानने वाला है।'

जनं बिभ्रती बहुधा विवाचसं नाना धर्माणं पृथिवी यथौकसम्।

—अथर्ववेद १२। १४५

भारत रूपी उपवन सदा से कई भाषाओं और कई धर्मों रूपी सुमनों से महकता रहा है। इस विभिन्नता ने भिन्नता की अपेक्षा एकता को ही जन्म दिया है। एकता की स्थापना करने वाली यही विचारधारा भारतीय संस्कृति का मुख्य दृष्टिकोण है।

समन्वय का सबसे विशाल प्रांगण धर्म का है। इस प्रांगण में इतना अधिक विनिमय हुआ है कि किसी एक देव का मूल स्वरूप क्या था? किस प्रकार वह और रूपों को समेटता हुआ विकास को प्राप्त हुआ? और अंत में देश और काल दोनों की विस्तृत अवधि में फैल कर वह किस रूप में आज मान्य हो रहा है? यह अनुसंधान का विषय है।

भारतीय लोकजीवन को कहीं पर भी गहराई से देखा जाये तो उसमें सर्वत्र प्राचीनता दृष्टिगत होती है। समाज किसी भी संस्था या पूजा-पद्धति के विषय में सतर्क नहीं होता, किसी का बलपूर्वक निराकरण नहीं करता। प्रत्येक धार्मिक संस्था अपने रस से जीवित रहती है और अपने रस से घटती-बढ़ती या रूप बदलती हुई दूसरी संस्थाओं में घुलमिल जाती है।

ब्राह्मण, जैन, बौद्ध, इन प्रमुख धर्मों मे यदि शोध की जाय तो ज्ञात होगा कि पर्याप्त साम्य है। यक्षपूजा तीनो धर्मों मे किसी न किसी रूप मे रही है। सम्पूर्ण भारत मे वीर ब्रह्म (महावीर, ब्रह्मदेव) आदि को किसी न किसी रूप में आज भी पूजा जाता है।

भारतीय जन सर्वव से आस्थावान् रहा है। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र मे वह अपने से श्रेष्ठ शक्ति मे आस्था रख कर चलता है। पद-पद पर कार्य-सिद्धि के लिये वह देवी-देवताओ की अनुकम्पा के लिये प्रयत्नशील रहता है। लोक के प्रत्येक जन का व्यक्तिगत रूप मे कोई न कोई देवता इष्ट रहता है। किसी को हनुमान का इष्ट है, तो किसी को भैरू का, तो किसी को किसी अन्य का। व्यक्ति के बाद दम्पती (पति-पत्नी) के लिये भी पृथक् देवता हैं। शादी-ब्याह के बाद या पुत्रप्राप्ति के अनन्तर धोक देने के लिये दम्पती अपने इष्ट के पास पहुँचते हैं। सम्पूर्ण परिवार की रक्षा के लिये फिर किसी न किसी कुलदेवी की योजना है। प्रत्येक कुल की एक-एक देवी होती है और कुल की वृद्धि के निमित्त उसकी पूजा की जाती है।

कई परिवार मिलकर ग्राम बनाते हैं। पुन गाव की रक्षा करने के निमित्त गाव से एक डेढ-मील दूर कांकड (ग्रामसीमा) के देवता की स्थापना की जाती है। वह सम्पूर्ण गाव को बीमारिया व अन्य आपत्तियो से बचाता है। किसी विशेष क्षेत्र की रक्षा करने के लिये 'क्षेत्रपाल' की स्थापना व पूजा की जाती है। दसो दिशाओ में दस[1] दिक्पालो की कल्पना करके उनको पूजा जाता है। उनकी सुन्दर मूर्तियो का निर्माण किया जाता है। देवताओ की यह कल्पना साहित्य, कला और धर्म तीनों मे अपना विस्तार रखती है।

क्षेत्र के बाद प्रान्त की स्थिति होती है। किसी विशेष प्रान्त के विशिष्ट देवता होते हैं। राजस्थान प्रान्त के चार महत्त्वपूर्ण देवता ये माने गये हैं। १ नागानेर का सागा बाबा, २ रणथम्भोर के गणेश, ३ एकलिंग जी, ४ हनुमान गढ के हनुमान जी। पूर्वी भारत को कामाख्या देवी का, काश्मीर को त्रिपुरसुन्दरी का, महाराष्ट्र को गणेश का, तमिलनाड को सुब्रह्मण्यम् का और मालवा को महाकाल का क्षेत्र माना जाता है। प्रान्त के अनन्तर सम्पूर्ण राष्ट्र का एक लोक-देवता स्वीकार किया गया है। भारत का लोक-देवता इन्द्र है। इसी के नाम पर भारत को इन्द्रद्वीप कहा जाता था।

एक सामान्य गाँव मे घूमकर पता लगाने पर जिन लोकदेवताओ के सम्बन्ध मे जानकारी प्राप्त हुई उसे प्रस्तुत कर रहा हू। इन देवताओ का पशुरक्षक, कृषिवर्द्धक, आरोग्यदाता, उत्सव विशेष मे सहायक आदि श्रेणियो मे वर्गीकृत करके अध्ययन किया जा सकता है।

पशुरक्षक देवताओ मे काला जी, गोरा जी, छप्पन जी, पोपस्या ग्वाल, देवजी (तेजाजी) ताखाजी आदि आते है। ये सब वीर पुरुष ही रहे हैं। वेदो मे 'पूषा' पशुरक्षक देवता है। सम्भवत उसी के गुणो का इनपर आरोप किया गया है और इस तरह वीर पूजा का प्रचार चल पडा है। इन मान्य पुरुषो ने कभी सकट के समय पशुओं के समूह की रक्षा की। तभी से देवता के गुणो का आरोप करके इन्हें देवरूप में मानने की प्रवृत्ति चल पडी है।

लोक मे बहुमान्य देवता है—भैरव या भैरू जी। प्रत्येक अवसर पर इस देवता की उपासना की जाती रही है। सामान्यत प्रत्येक कुआ, बावडी या जलस्थान इनका अधिष्ठान रहता है। कृपिकार्य से पूर्व जलस्थान पर कृषक इनकी पूजा अवश्य करता है। लोक में ५२ भैरू और ६४ योगनिया प्रसिद्ध हैं। कुछ प्राचीन कृतियों मे बावन वीरों की नामावली मिलती है। जयसागर सूरिरचित जिनदत्तसूरि-चरित्र मे यह नामावली है। सम्भवत ये बावन-वीर ही लोक मे ५२ भैरू के नाम से जाने जाते हैं। उनके नामो में ही यह ज्ञात हो जाता है कि ये किस-किस प्रकार के कार्य करने मे समर्थ है? मध्ययुग मे पूजित मणिभद्र आदि यक्ष कही ये ही तो नहीं है?[2]



---

१ १ इन्द्र २ अग्निदेव ३ यमदेव ४ नैऋत्य ५ वरुणदेव ६ वायुदेव ७ कुवेर ८ ईशान ९ धरणेन्द्र १० सोमदेव।
२ बावनवीरों की ८ नामावलियाँ डा० वासुदेवशरण अग्रवाल ने अपने 'प्राचीन भारतीय लोकधर्म' नामक ग्रन्थ (पृ० १४५-४७) मे दी है। इनमे कुछ नाम समान हैं और कुछ मे भिन्नता है।



इसी प्रकार चौसठ योगनियों के नाम भी प्राप्त हुए हैं। कहीं योगनियाँ यक्षिणियाँ ही तो नहीं हैं ?[1] भैरव को युद्ध का देवता और योगनियों को युद्ध मे आहत वीरों का खून पीने वाला माना जाता है। पृथ्वीराज राठौर कृत 'क्रिसनरुक्मणी री वेली' मे ६४ योगनियों का उल्लेख आता है।

कृषि की अन्य देवी 'स्यावड' नाम से जानी जाती है। किसान जब खेत में सबसे पहले हल जोतता है तब इसका स्मरण करता है।

स्यावड माय गाडा घालो आव।'
भलो करणी माय, सिर दु दे न पाव।

वह देवी का आह्वान करता है ताकि उसके खेत मे कई गाड़ियों मे भरने लायक अनाज पैदा हो सके। साथ ही 'सिर मे दर्द न हो' यह कहकर वह अपने आराध्य के लिए भी प्रार्थना करता है।

आरोग्य प्रदान करने हेतु जिन देवताओं की ग्राम में पूजा की जाती है, वे हैं भैरू जी, सप्तमातृकाये (शीतला, मसानी, काली, कीजासन, लालवाई, फलका माता, गलफैंडी माता) मोती महाराज, वीर हनुमान आदि।

चेचक से रक्षा के लिए शीतला माता, एक विशेष प्रकार की चेचक के लिए मसानी माता, गलफेडे मे मुक्ति के लिए गलफेडी माता, मोतीझरे से बचने के लिए मोती महाराज आदि की पूजा की जाती है। बाहरी शक्तियों से गाव की रक्षा करने के लिए भैरव, हनुमान, वीर हनुमान (बालाजी), क्षेत्रपाल कवर जी आदि की पूजा की जाती है। सम्भवत क्षेत्रपाल और बाला जी का स्वरूप एक ही है।

जीवन के अन्य विभिन्न अवसरों पर सूर्य, गणेश, अग्नि, नवग्रह, शिव, जल (वरुण) गगा गो, वृषभ, गोवर्धन, सत्यनारायण, गोगाजी (वीरपुरुष-सर्वरक्षक), सती देवी, लक्ष्मी आदि की पूजा व स्तुति की जाती है ताकि प्रत्येक कार्य निर्विघ्न समाप्त हो सके।

जिस किसी भी कार्य को जन प्रारम्भ करता है उसकी निर्विघ्न समाप्ति हो सके इसके लिए वह प्रारम्भ मे देव-वन्दना करता है। कार्य समाप्ति के उपरान्त उसके प्रति कृतज्ञता व्यक्त करने के लिए फिर देवपूजा की जाती है।

देवोपासना की गावों मे दो पद्धतियाँ प्रचलित हैं। एक तो व्यक्तिगत रूप से पूजा की जाती है और दूसरे सामूहिक रूप से की जाती है। व्यक्तिगत रूप से ग्रामीण जन नित्य शिव पर जल चढ़ाता है, मन्दिर मे जाकर देव-विग्रह को ढोकता है, सूर्य को अर्घ्य प्रदान करता है, भोजन करते समय भगवान् को भोग लगाता है, भोजन का थोड़ा अंश वैसन्दर (वैश्वानर) मे आहुति के रूप में डालता है, गोग्रास गाय को देता है, पितरों के नाम पर नित्य या सावन-पूनो अन्नदान करता है। राजा किरण (सूर्य) को प्रणाम करने से उसकी दिनचर्या प्रारम्भ होती है और तारों भरी रात मे सबकी हित-कामना करते हुए अपने सारे दिन भर के कार्य के फल को इष्टदेव को समर्पण करके निद्रादेवी की गोदी मे विश्राम लेने के साथ उसके जीवन के महाकाव्य के एक पृष्ठ का पटाक्षेप होता है। इस महाकाव्य का प्रत्येक पृष्ठ दिव्य-चेतना की गाथा कह जाता है। वह अपनी कर्मभूमि को 'देवरा' (देवमन्दिर) मान कर कर्मनिरत रहता है। पूर्णिमा को वह सत्तू बना कर सत्यनारायण को भोग लगाता है, व्रत करता है। अन्य उत्सवों को भी किसी न किसी देवता की कृपा की आकाक्षा करता हुआ मनाता है।

जब कोई सकट आता है तो वह देवताओं की विशिष्ट उपासना करता है। देवताओं की कृपा से उसके रोग-शोक सब दूर भाग जाते हैं। उपासना की विधि बड़ी सरल है। देवताओं की वाट बुहारना, सिर पर पत्थर रखकर आत्म-तितिक्षा का परिचय देते हुए देव-सेवा करना, गीत गाना, दिशा ढोकना, देवता के नाम की ज्योति जलाना, गायों को चारा डालना, कबूतरों को चुगा या चीटियों को चीटीचुगा डालना, उनके नाम का गुड़ या मिठाई

---

१ चौसठ योगनियों की तीन नामावलिया डा० अग्रवाल ने 'प्राचीन भारतीय लोकधर्म' ग्रन्थ (पृ० १४७-४६) मे दी हैं।

बांटना आदि। कुछ देवताओं को मांसाहारी जातियों के लोग मदिरा की धार चढ़ाने या बकरे आदि की बलि देते हैं। इसी तरह अपना काम हो जाने पर धनिक लोग देवताओं के नाम पर मन्दिर बनवाते हैं। कभी सोने-चांदी के छत्र आदि भी चढ़ाते हैं, परन्तु कोई भी ऐसा देवता नहीं है जो पत्रपुष्प मात्र समर्पित करने वाले निर्धन से निर्धन व्यक्ति पर भी कृपालु न हो जाता हो। जात काम में सफलता के लिए बोलारी डालते हैं। देवताओं के थानक पर 'रसोई' दी जाती है जिसे 'जात' भी कहते हैं। सम्भवत जात शब्द यात्रा का अपभ्रंश है। विवाह के बाद विनायक का विदा करते समय उनके थानक पर 'बोलावे' की रसोई दी जाती है। ऐसे समय देवमन्दिर पर नई ध्वजा चढ़ाई जाती है। पूजा के लिए गावों मे 'धूप-दासी चढ़ाना' मुहावरा चलता है। इससे पता चलता है कि ऐसी पूजा को साधनहीन भी कर सकता है।

सामूहिक देवपूजन तब किया जाता है जब गाव के ऊपर कोई दैवी प्रकोप आया हुआ हो। महामारी आदि का आक्रमण होने पर गाव भर मे चन्दा किया जाता है और जाती गत से ही समस्त सब देवताओं की पूजा की जाती है। गाव से होकर 'ग्रामभैरव' निकाले जाते हैं। एक मिट्टी के घड़े खप्पर मे अग्नि जलाकर उसमे दूध और घृत की आहुति देते हुए गाव की सीमा पर होकर घुमाया जाता है। ऐसा माना जाता है कि इस प्रकार से ग्रामसीमा को अग्नि-परिवेष्टित कर देने पर महामारी का प्रकोप समाप्त हो जाता है। सूखा पड़ने पर भी सारे देवताओं की इसी तरह पूजा की जाती है। नदी मे बाढ़ आ जाने पर यदि गाव को खतरा पैदा हो जाए तो ढोल नगाड़े बजाकर नदी की पूजा की जाती है। उसको देवी का साक्षात् रूप मानकर घाघरा-लूगड़ा आदि समर्पित किए जाते हैं। लोगो का विश्वास है कि पूजा से सन्तुष्ट होकर नदी उतरने लग जाती है। सामूहिक पूजा का एक उदाहरण गगाभक (गगोत्सव) भी है। अकाल पड़ने पर सारे गाव के निवासी मिलकर यज्ञ करते हैं और एक दिन गाव की सीमा से बाहर वनवास करते हैं।

देवपूजा के जिन स्वरूपों का प्रचलन अब भी देखने को मिलता है उनके मूल रूप को खोजें तो ज्ञात होगा कि मध्यकाल मे प्रचलित विविध महों से इनका विकास हुआ है जो स्वयं वैदिक यज्ञों के परिवर्तित रूप थे। डा० वासुदेवशरण अग्रवाल ने रुद्रमह, गिरिमह, इन्द्रमह, स्कन्दमह, नदीमह, कूपमह, नागमह, वृक्षमह, सागरमह, चैत्यमह, रथमह आदि का उल्लेख किया है। चैत्यमह की परम्परा मे अब भी मन्दिरों मे 'डोरे' होते हैं। लोकजीवन मे विविध उत्सव मनाये जाते देखे जाते हैं। उनका भी किसी न किसी देवता की उपासना से सम्बन्ध अवश्य है।

स्त्रियां स्वतन्त्र रूप से देवपूजा करके अपने सुहाग की अमरता, पुत्र और भाई की दीर्घायु, पारिवारिक समृद्धि, नीरोगी काया आदि के लिए प्रार्थना करती हैं। गौरी तो उनकी पद-पद पर सहायता करती है। स्त्रियां पूजा करके देवी-देवताओं की कहानियां सुनती हैं और गीत गाती हैं।

देवों के सान्निध्य में जीना, उनकी कृपा से जन्म लेना और मरकर उनके गण के रूप मे शाश्वत-जीवन का उत्तराधिकार पा लेना—यह है ग्रामवासी भारतीय जन का जीवन और जीवनोद्देश्य। देवताओं का सम्बल लेकर वह इस जीवन की वैतरणी को तो पार करता ही जाता है, परलोक मे भी शान्ति का लाभ करता है। वह आस्था धन्य है जिसने जीवन मे ऐसी दिव्यता भर दी है।



हमारी अद्भुत लोक-संस्कृति

डॉ० रामानन्द तिवारी

एम० ए०, पी-एच० डी०, डी० फिल्०, शास्त्री,

महारानी श्री जया कालिज, भरतपुर



आधुनिक सास्कृतिक धारणा मे प्राय ग्रामीण और वन्य लोगो की सस्कृति को लोकसस्कृति माना जाता है । ज्यो-ज्यो नागरिक सभ्यता बढती गई त्यो-त्यो यह लोक-सस्कृति पीछे छूटती गई है अथवा नागरिक लोग उससे दूर होते गये है । इस प्रकार यह लोक-सस्कृति एक अनागरिक सस्कृति है । नागरिक समाज के जीवन मे उस लोक-सस्कृति का उतना स्थान और महत्त्व नही है जितना कि ग्रामीण लोगों और वन्य जातियों के जीवन मे है जो उस सस्कृति को अपनी सत्ता का अभिन्न अग मानते है ।

पश्चिमी देशो मे लोक-सस्कृति और नागरिक-सभ्यता का यह भेद अधिक स्पष्ट दिखाई देता है । कदाचित् पश्चिम मे ऐसी लोक-सस्कृति अधिक समृद्ध नही थी जो समाज के जीवन मे ओत-प्रोत हो तथा इस कारण जो नागरिक सभ्यता के विकास के बाद नागरिक जीवन मे भी सुरक्षित और समादृत बनी रहे । किन्तु भारतीय लोक-सस्कृति इतनी समृद्ध और सार्थक रही है कि सभ्यता के विकास के साथ-साथ नागरिक जीवन मे उसका विच्छेद नही हुआ । वह ग्रामीण और वन्य सस्कृति मे सीमित नही रह गई है । समाज के सामाजिक जीवन से उसका इतना घनिष्ठ सबन्ध रहा है कि नागरिक जीवन मे भी उसका महत्त्व अक्षुण्ण बना हुआ है । यह भारतीय लोक-सस्कृति की एक अद्भुत विशेषता है जिसकी ओर सस्कृति के व्याख्याताओ ने समुचित ध्यान नही दिया है । इतना ही नही, पश्चिमी सभ्यता के प्रभाव मे आकर नगरो के निवासी अब अपनी इस लोक-सस्कृति की उपेक्षा कर रहे है, यद्यपि अब तक यह लोक-सस्कृति नागरिक जीवन की नीरसता मे मधुरता और सौंदर्य का सचार करती रही है ।

हमारी यह अद्भुत लोक-सस्कृति वास्तविक अर्थ मे एक लोक-सस्कृति है । लोक का अभिप्राय एक देश के सम्पूर्ण समाज से है । सम्पूर्ण समाज की सस्कृति को ही वास्तविक अर्थ मे लोक-सस्कृति कहा जा सकता है । जो सस्कृति सम्पूर्ण समाज मे आदर नही पाती तथा केवल ग्रामीण और वन्य समाज मे ही शेष रह जाती है, उसे लोक-सस्कृति न कह कर ग्रामीण सस्कृति अथवा वन्य सस्कृति कहना चाहिए । सामूहिक नृत्य के उदाहरण के द्वारा इस भेद को स्पष्ट किया जा सकता है । सामूहिक नृत्य विशेष रूप मे ग्रामीण और वन्य सस्कृति मे ही शेष रह गये हैं । नागरिक सभ्यता ने उन्हे त्याग दिया है ।

किन्तु सामूहिक नृत्य का उदाहरण एक अपवाद जैसा है । इसके अतिरिक्त भारतीय लोक-सस्कृति के ऐसे अनेक रूप हैं जो ग्रामीण और नागरिक सभ्यता मे समान रूप से पाये जाते है । लोक-सस्कृति के कुछ रूपो के सम्बन्ध मे यह भी कहा जा सकता है कि अधिक जनसख्या और अधिक समृद्धि के कारण नागरिक जीवन मे इनका रूप अधिक भव्य बन जाता है । होली, दीपावली आदि के पर्व इसके उदाहरण हैं । नगरो मे इनकी शोभा ग्रामो की अपेक्षा अधिक होती है ।

हमारे तीज त्योहार, पर्व-व्रत, उत्सव, संस्कार, मेले, तीर्थ आदि हमारी इस अद्भुत लोक-संस्कृति के महत्त्वपूर्ण अंग हैं। ग्रामीण और नागरिक दोनों प्रकार के समाजों में इनका समान महत्त्व है। दोनों ही समाज लोक-संस्कृति के इन रूपों का समान रूप से निर्वाह करते हैं। जैसा कि अभी कहा जा चुका है—अनेक बार लोक-संस्कृति के कुछ रूप ग्रामीण समाज की अपेक्षा नागरिक समाज में अधिक जनसंख्या और समृद्धि के कारण अधिक भव्य रूप में सम्पन्न होते हैं। लोक-संस्कृति के कुछ रूपों की भूमिका मूलतः ग्रामीण कृषक समाज में बनी थी। किन्तु इस भूमिका के ऊपर इस लोक-संस्कृति का विकास ऐसे सुन्दर रूपों में हुआ कि ये नागरिक जीवन में भी सहज भाव से समाहित हो गये हैं।

दीपावली, होली आदि के पर्व हमारी इस अद्भुत लोक-संस्कृति के सर्वोत्तम उदाहरण हैं। संसार की अन्य किसी संस्कृति में ऐसे पर्व देखने को नहीं मिलेंगे। प्रायः कहा जाता है कि संसार के अन्य देशों में भी इस का पर्व होता है तथा दीपक जलाये जाते हैं। कदाचित् दूसरे देशों की ये प्रथाएँ हमारी समृद्ध परम्परा का आंशिक अनुकरण-मात्र हैं। हमारी दीपावली केवल दीपकों का पर्व नहीं है। दीपकों का जलना केवल उसका एक अंग है। कदाचित् अन्यत्र इन दीपकों की माला नहीं बनाई जाती और न दीपोत्सव को दीपमालिका कहते हैं। अन्य देशों में लक्ष्मीपूजन नहीं होता। दीपकों के द्वारा लक्ष्मीपूजन के अतिरिक्त धनवन्तरि त्रयोदशी, नरक चतुर्दशी, यमदीपन, घरों की सफाई-पुताई भित्ति आलेखन, मिष्टान्नवितरण, खील-बताशे, नवीन वस्त्र निर्माण, देव मन्दिरों तथा पड़ोसियों के घरों में दीप-दान आदि अनेक प्रथाएं सम्मिलित हैं जो इसे विदेशों के दीपोत्सव की अपेक्षा कहीं अधिक सम्पन्न और सार्थक बनाती हैं। दीपावली की प्रतिपदा की गोवर्धनपूजा तथा उसके बाद आनेवाली भ्रातृ-द्वितीया उसे और अधिक सम्पन्न बनाती है। दीपावली की इन सभी प्रथाओं का पालन ग्रामों और नगरों में समान रूप से होता है।

इसी प्रकार हमारी होली केवल रंग का पर्व नहीं है। यह रंग केवल प्राकृतिक रंग नहीं है। इसके पीछे भावों का रंग तथा श्री कृष्ण के भावमय जीवन की पवित्र भूमिका है। इसके अतिरिक्त वसन्त-पंचमी से होली की स्थापना, रंग की एकादशी से होली के गीतों का आरम्भ होना, पूर्णिमा के होलिकादहन के पूर्व कन्याओं द्वारा कई दिन तक नित्य होलिकापूजन एकादशी का आमलकी पूजन, पूर्णिमा का होलिकादहन, नवान्न की आहुति, प्रतिपदा का धूलि वन्दन, अतिथियों का आमन्त्रण, अपरिचितों का कण्ठमिलन, भ्रातृद्वितीया आदि ऐसी प्रथाएँ हैं जो दीपावली के पर्व की भांति होली के पर्व को भी अत्यन्त सम्पन्न और सार्थक बनाती हैं। ऐसे सम्पन्न और सार्थक पर्वों का उदाहरण संसार के किसी देश की संस्कृति में नहीं मिल सकता।

दीपावली और होली के अतिरिक्त अन्य अनेक तीज-त्योहार पर्व आदि भारतीय जीवन को सुन्दर और आनन्दमय बनाते हैं। इस प्रकार से हमारा सम्पूर्ण वर्ष ही पर्वों और उत्सवों का निरन्तर क्रम है। कुछ दिन के अन्तराल से नित्यप्रति नये पर्व और उत्सव आते रहते हैं। संगीत के स्वरों की भांति ये पर्व और उत्सव अनेक प्रकार के होते हैं और इन्हीं के साथ-साथ समय-समय पर पारिवारिक संस्कारों, मेलों आदि के संवादी-वाद्य हमारी जीवन्त लोकसंस्कृति को एक सम्पन्न संगीत का रूप देते हैं। वर्ष के आरम्भ में नवरात्र की दुर्गापूजा, कौमार्य वन्दना, मातृ-पूजा आदि से आरम्भ होकर अक्षय तृतीया, वट-सावित्री, गंगा-दशहरा, व्यास पूर्णिमा, रक्षाबन्धन, जन्माष्टमी, गणेश-चतुर्थी, ऋषि-पंचमी, अनन्त चतुर्दशी, पितृ-पक्ष, शारदीय नवरात्र, दीपावली, गोवर्धनपूजा, मकरसंक्रान्ति, वसन्त-पंचमी, और शिवरात्रि के स्वर-सोपानों से होकर होली के लोकपर्व में हमारी लोक-संस्कृति की रागिनी अपने चरमोत्कर्ष पर पहुंचती है। लोक-संस्कृति की इस परम्परा में व्रत, पर्व, उत्सव, त्योहार आदि संगीत के विभिन्न स्वरों की भांति ऐसे क्रम में संजोये हुये हैं कि लोक-संस्कृति की यह योजना लोक-जीवन की एक सुन्दर रागिनी बन जाती है।

नवरात्र की रहस्यमय शक्तिपूजा के शांत और मन्द स्वर से संस्कृति की इस रागिनी का आरम्भ होता है। शक्ति ही जीवन का आधार है। मातृत्व उसका मूल है। कौमार्य के अभिनन्दन से समाज में शक्ति की परम्परा पोषित होती है। अतः इन तीनों के अभिनन्दन से वर्ष का आरम्भ करना अत्यन्त उचित है। गणित की मूल संख्याएँ नौ ही होती हैं अतः यह नौ दिन की शक्ति पूजा वस्तुतः प्रतिदिन की शक्तिपूजा की प्रतीक है। शक्ति के अनेक रूप हैं। इन अनेक रूपों में शक्ति हमारे जीवन और हमारी संस्कृति का आधार है। नवरात्र के इस व्रत का ग्राम और नगर के लोग समान रूप से पालन करते हैं। देवी के तीर्थों में होने वाले मेले इस व्रत में उत्सव का संपुट देते हैं और इसकी विभूति को व्यावहारिक जीवन में अन्वित करते हैं।





अक्षय तृतीया भी एक प्रकार से शक्ति की अक्षय परम्परा के प्रसार की प्रतीक है। यह परशुराम की जयन्ती के रूप मे भी मनाई जाती है। घडा, सत्तू, पखा, ऋतुफल आदि का दान शक्ति परम्परा मे दान के महत्त्व को सूचित करता है और व्रत की विभूति को सामाजिक सम्बन्धो मे अन्वित करता है। वट सावित्री का व्रत नारी की सजीवनी महिमा को अमर बनाता है। सत्यवान् को यम के पाश से लौटा लाने वाली सावित्री भारतीय नारी का आदर्श बन गई है। ग्राम और नगर सभी स्थानो की स्त्रिया सावित्री के व्रत का पालन करती हैं। इस अवसर पर कोई भारी मेला या उत्सव तो नही होता, जीवन-मरण का गम्भीर अवसर इसके लिए उपयुक्त भी नही है फिर भी घर मे इस व्रत के निमित्त से कुछ उत्सव का वातावरण ही बन जाता है।

गगादशहरा कोई व्रत न होकर गगास्नान का पर्व है। ग्रामीणो के लिए ज्येष्ठ के अवकाश काल मे गगा-यात्रा और गगास्नान एक धार्मिक पर्व बन जाते हैं। गगा के निकट के नगर निवासी भी इस पर्व के पुण्य मे भाग लेते हैं। गगातट के मेले इस पुण्य पर्व को उत्सव भी बना देते हैं तथा इसे आर्थिक एव सामाजिक भूमिका मे प्रतिष्ठित करते हैं। पिछले तीन वर्षो के बाद गगादशहरा के उत्सव मे सस्कृति की रागिनी का स्वर बदल जाता है। व्यास पूर्णिमा गुरुवन्दना का पर्व है। प्राचीन शिक्षा-परम्परा मे गुरुओ का बडा योग रहा है उन्ही के तप-त्याग मे निरुपयोगी होते हुये भी विद्या की परम्परा पोषित रही है। आषाढी-पूर्णिमा का यह पर्व उन्ही गुरुओ की महिमा का स्मारक है। स्वराज्य मे इसकी प्रथा मद हो चली है। किन्तु इस प्रथा का पुनरुज्जीवन राष्ट्र के पुनरुज्जीवन मे बहुत कुछ सहायक हो सकता है।

रक्षाबन्धन का पर्व वर्ष का पहला सामाजिक पर्व है। श्रावणी का उपाकर्म और बहनो की राखी इसके दो पक्ष है। ये दोनो क्रमश धार्मिक और सामाजिक उत्तरदायित्व के सूचक हैं। वैदिक उपाकर्म तो लोग प्राय भूल चले है। किन्तु बहनो की राखी ग्राम और नगर दोनो के घर-घर मे एक अद्भुत आनन्द की सृष्टि करती है। बहिन का सम्बन्ध एक अत्यन्त मधुर और पवित्र सम्बन्ध है। भारतीय सस्कृति मे इसका सबसे अधिक आदर किया जाता है। रक्षाबन्धन का पर्व विवाहित स्त्रियो के पीहर के साथ सम्बन्ध को प्रतिवर्ष नया कर देता है और उनके शील की मर्यादा को सुरक्षित बनाता है। यह सुन्दर पर्व हमारी लोक-सस्कृति का भी रक्षाबन्धन है। झूले के गीत और मधुर व्यजन इस पर्व के माधुर्य का विस्तार करते है।

रक्षाबन्धन के आठ दिन बाद जन्माष्टमी का धार्मिक पर्व आता है। इसके व्रत और उत्सव दोनों का समन्वय होता है। घरो और मन्दिरो मे भी श्रीकृष्ण की झाकियाँ सजाई जाती हैं और उत्सव के आनन्द मे व्रत का पारण होता है। गणेश चतुर्थी मे गणेश की पूजा होती है। महाराष्ट्र मे इसकी विशेष महिमा है। किन्तु मगल के देवता के रूप मे गणेश समस्त भारत मे पूजे जाते हैं। ऋषि-पचमी ऋषियो के सस्मरण का पर्व है। इसमे वन्य आहार के द्वारा ऋषियो का स्मरण किया जाता है। अनन्त चतुर्दशी अनन्त परम्परा का व्रत है। ये दोनो व्रत ही माने जाते है। इनकी सात्त्विकता के कारण कदाचित् इनमे उत्सव का सगम नही हो पाया।

अनन्त चतुर्दशी के दूसरे दिन से पितृ-पक्ष का प्रारम्भ होता है। पितरो का श्रद्धापूर्वक स्मरण भी एक सामाजिक सत्कार और पारिवारिक उत्सव का अवसर बन जाता है। गरीब, अमीर सभी घर-घर पितरो का श्राद्धोत्सव करते है। यह रक्षाबन्धन के समान ही एक व्यापक और सार्वभौमिक कृत्य है तथा हमारी लोक-सस्कृति का एक महत्त्वपूर्ण अग है।

पितृ-पक्ष के बाद शारदीय नवरात्र का आरम्भ हो जाता है जो वासतिक नवरात्र की आवृत्ति है। यह आवृत्ति जीवन मे शक्ति के महत्व का समर्थन करती है। शक्ति का तत्त्व अत्यन्त रहस्यमय है। किन्तु तात्रिक विद्वानो से लेकर ग्रामीण नर-नारियो तक असख्य लोग नवरात्र का व्रत करते है। कार्तिक की कृष्णा चतुर्थी से दीपावली की भूमिका आरम्भ हो जाती है। करक-चतुर्थी सौभाग्य का व्रत है। उसके बाद अहोई-अष्टमी वात्सल्य का व्रत है। सौभाग्य और वात्सल्य दोनो का भारतीय-सस्कृति मे अपार महत्त्व है। ग्राम और नगर की शिक्षित और अशिक्षित, गरीब और अमीर सभी स्त्रिया इन व्रतो को करती है। धन्वतरि त्रयोदशी का आयुर्वेदिक पर्व साधारण जनो के लिये नये पात्र खरीदने का पर्व बन गया है। किन्तु अपने इस नये रूप मे बहुत व्यापक है। नरकचतुर्दशी का यह 'यमदीप' अमावस्या की दीपमाला

का शृंगार बनता है। अमावस्या की रात में लक्ष्मीपूजन की दीपमालाएँ आकाश के नक्षत्रों से स्पर्धा करती हैं। एक वर्ष के बाद लीप-पोतकर स्वच्छ बनाये हुये घर-द्वार दीपों की ज्योति से जगमगा उठते हैं। श्रम, स्वास्थ्य, स्वच्छता नियम और प्रकाश की यह महिमा ही लक्ष्मीपूजा का मर्म है। राजमहलों से लेकर झोंपड़ी तक दीपावली का आलोक जीवन में उल्लास भरता है। रक्षाबन्धन के बाद दीपावली दूसरा व्यापक लोकपर्व है। प्रतिपदा की गोवर्धनपूजा कृष्ण-युग के गोपालन की स्मृति को हरा कर देती है। घर-घर में गोवर्धन की परिक्रमा का अभिनय होता है। भ्रातृ द्वितीया दीपावली के उल्लास पर्व पर एक सांस्कृतिक मर्यादा का तिलक रचती है। एकादशी के देवोत्थान में भारत के भाग्य देवता जाग उठते हैं और वर्ष की महत्त्वपूर्ण फसल के संरक्षण में लग जाते हैं।

दीपावली के पर्व से लोक-संस्कृति की रागिनी मध्यम सप्तक से पंचम स्वर तक पहुँच जाती है। उसके बाद मन्द सप्तक की ओर उतार होता है। ग्रीष्म के साथ विशेष रूप से भारतवासियों के लिये शीतकाल कठोर होता है। भारतीय जनों का शीतकाल धूप और आग का सेवन करते बीतता है। इसीलिये दीपावली से दो मास तक कोई विशेष पर्व नहीं होता। मकर संक्रान्ति से कुछ उतार-चढ़ाव होता है। संस्कृति की रागिनी मध्यम से तार की ओर चढ़ती है। माघस्नान और संक्रान्ति के क्रम से रागिनी का नया आलाप आरम्भ होता है। मकर संक्रान्ति के बाद शिवरात्रि का महान् लोकपर्व आता है। कृष्ण के मन्दिर ग्रामों में नहीं हैं। किन्तु शिवमन्दिर गाँव-गाँव में होने के कारण शिवरात्रि का पुण्य पर्व सभी जनों के लिये भी सुलभ हो जाता है। काशी से लेकर रामेश्वरम् तक शिवार्चन की झाँकियाँ सम्पूर्ण भारत के धार्मिक मानस को एक पवित्र उल्लास से आन्दोलित कर देती हैं।

वसन्त पंचमी से होली की भूमिका आरम्भ हो जाती है। आमलकी एकादशी से रंग-रोली का सूत्रपात हो जाता है। होलिका-दहन का नवान्न-यज्ञ कृषि और धर्म की भावना है। पिचकारियों के रंगमिलन, उन्मुक्त धूलि-वन्दन, स्वच्छन्द नर्तन और विपुल जनगायन से संस्कृति की रागिनी अपने उच्चतम तार-स्वर पर पहुँचती है। चैत की भ्रातृ द्वितीया पुनः मर्यादा का तिलक देकर उसे सम पर आने का संकेत करती है। वर्ष की रागिनी का अवसान होता है और नववर्ष के स्वागत में नये वर्ष की रागिनी आरम्भ हो जाती है।

वर्ष की इस अविच्छिन्न पर्व-परम्परा की सांस्कृतिक रागिनी को जन्मोत्सव, उपनयन, विवाह आदि के संस्कार तथा मेले, यात्राएं आदि के उत्सवों की तानें एवं आलापें और भी सम्पन्न एवं सुन्दर बना देती हैं। भारतीय लोक-संस्कृति इस प्रकार जीवन का एक अंग मात्र नहीं है, जिस प्रकार संस्कृति की आधुनिक धारणा में कला, धर्म, दर्शन, आदि को जीवन का अंग माना जाता है। लोक-संस्कृति के सभी रूप जीवन से समवेत हैं। पर्व, व्रत, संस्कार आदि सभी जीवन की भूमिका में प्रतिष्ठित हैं। साक्षात् और वास्तविक जीवन ही इसमें सांस्कृतिक रूप ग्रहण कर लेता है। भारतीय संस्कृति की यह एक अद्भुत विशेषता है जो उसे संसार की संस्कृतियों में अनुपम बनाती है।

जन्मोत्सव, उपनयन विवाह आदि साक्षात् जीवन के संस्कार हैं। इनके सम्बन्ध में होने वाले समारोह व्यक्ति और समाज के जीवन को उत्सव का रूप देते हैं। शास्त्रों में तो गर्भाधान से ही संस्कारों का आरम्भ होता है। किन्तु आज भी प्रायः जातकर्म का संस्कार सभी घरों में होता है। जन्म जीवन का आरम्भ है। जातकर्म के द्वारा आरम्भ से ही जीवन को सांस्कृतिक रूप मिलता है। इसके बाद चूडा-कर्म, कर्णवेध आदि करते हुये जीवन के पर्वों में सांस्कृतिक सौंदर्य का समन्वय करते हैं। उपनयन संस्कार शिक्षा में सांस्कृतिक सौंदर्य का समन्वय करता है। ग्राम और नगर सभी स्थानों के लोग इन संस्कारों का निर्वाह करते हैं। यद्यपि सामाजिक उदासीनता के कारण इनका महत्त्व कम होता जा रहा है, किन्तु अब भी इनका बहुत कुछ सौंदर्य शेष है। अनेक घरों में जातकर्म, चूडा-कर्म, कर्णवेध और उपनयन के संस्कार समारोह के साथ होते हैं। इन समारोह में व्यक्ति का जीवन ही नहीं वरन् परिवार और परिचित समाज का जीवन भी कुछ समय के लिये सांस्कृतिक सौंदर्य से भर जाता है।

इन संस्कारों में सबसे बड़ा विवाह का संस्कार है। विवाह जीवन का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सम्बन्ध है। भारतीय समाज में इसे एक विस्तृत और महत्त्वपूर्ण भूमिका में प्रतिष्ठित किया गया है। दो व्यक्तियों का विवाह-सम्बन्ध, परिवार, कुटुम्ब और समाज के लिये एक अपूर्व उत्सव बन जाता है। विवाह का ऐसा समारोह अन्य किसी देश में नहीं होता। अग्नि-वेदी, पुरोहित, वेदमन्त्र, सप्तपदी, आदि विवाह को धार्मिक पवित्रता प्रदान करते हैं। दूसरी



और स्वजनो का सौहार्द, गीत, वाद्य, भोज आदि उसे एक उत्सव का रूप देते है। इस प्रकार विवाह का प्राकृतिक सम्बन्ध एक विशाल सास्कृतिक उत्सव बन जाता है। अन्त्येष्टि की अधिक चर्चा उचित नही है। फिर भी इतना विचारणीय है कि जिस रूप मे अन्त्येष्टि का सस्कार होता है उस रूप मे वह शोकग्रस्त घर से मृत्यु की अपवित्रता और उसकी विभीषिका का प्रभाव अपनी धार्मिक प्रक्रिया के द्वारा बहुत कुछ दूर कर देता है। दूसरी ओर जिस श्रद्धा और सद्भावना के साथ मृतक का सस्कार होता है उसकी कल्पना ही प्रत्येक जीवित मनुष्य का अपनी नियति के सम्बन्ध मे बहुत कुछ सात्वना देती है। मृत्यु जीवन का अनिवार्य अन्त है। उसे कोई रोक नही सकता। अन्त्येष्टि सस्कार तथा श्रद्धा आदि के रूपो मे जिस प्रकार भारतीय परम्परा मे मृत्यु की इस अनिवार्य नियति का समाधान किया गया है तथा उसे सुन्दर और सह्य बनाने का प्रयत्न किया गया है उसमे जितनी अधिक सात्वना मर्त्य मनुष्य को मिल सकती है उससे अधिक सात्वना की आशा किसी समाज मे नही की जा सकती।

इस प्रकार जातकर्म से लेकर अन्त्येष्टि तक के सस्कार जन्म से लेकर मृत्यु पर्यन्त समस्त जीवन को सुन्दर बनाते हैं। सस्कार का अर्थ परिमार्जन अथवा शोधन है। किन्तु सस्कार सस्कृति का मौलिक बन्धु है। अत इन सस्कारो मे परिमार्जन के साथ-साथ सौन्दर्य का सन्निधान भी होता है। पर्व और सस्कार दोनो मिलकर जीवन को द्विगुणित सुन्दर बनाते हैं। पर्वो की गति वर्ष के कालानुक्रम के अनुसार है। सस्कारो की गति व्यक्ति के आयुक्रम के अनुसार होती है। अत प्राय दोनो का सगम होता है। गान-वाद्य की सगति की भाँति दोनो की सगति जीवन और लोक सस्कृति की रागिनी को मनोहर बनाती है। सस्कार साक्षात् जीवन के पर्व हैं। इनमे सास्कृतिक सौंदर्य को जीवन के यथार्थ मे अन्वित किया जाता है। पर्वो मे सास्कृतिक सौंदर्य मे जीवन के यथार्थ को अन्वित किया जाता है। इस प्रकार इस विविध और परिपूरक प्रक्रिया के द्वारा जीवन और सौंदर्य का द्विगुणित समन्वय जीवन को अपार सौंदर्य प्रदान करता है।

पर्वो और सस्कारो के अतिरिक्त तीर्थ-दर्शन, तीर्थस्नान, यात्रा, मेले आदि भी लोक-जीवन को अनेक प्रकार से सुन्दर और आनन्दमय बनाते है। तीर्थ धर्म के पीठ हैं। भारत मे सर्वत्र इतने तीर्थ फैले हुये हैं कि सम्पूर्ण भारत को धर्मभूमि कहा जा सकता है। पुण्य अवसरो पर तीर्थो मे मेले भी होते हैं। इस प्रकार तीर्थो मे धर्म और अर्थ का सगम होता है। तीर्थ-यात्रा, तीर्थ-दर्शन और तीर्थ-स्नान की प्रथा भारत मे बहुत प्रचलित है। ग्राम और नगर सभी स्थानो के निवासी तीर्थो मे श्रद्धा रखते है। यह तीर्थसेवन हमारी लोक-सस्कृति का एक धार्मिक अग है और उतना ही लोकप्रिय और महत्त्वपूर्ण है जितने कि पर्व, उत्सव, सस्कार आदि हैं। यह भारतीय जीवन की पवित्र भावना का द्योतक है। हमारे व्रतो और पर्वो मे भी धार्मिक भावना ओत-प्रोत है। तीर्थ-सेवन उस भावना की सगति को पूर्ण करता है तथा देश की भूमि के साथ मे हमारी एकात्मता स्थापित करता है। पर्वो, व्रतो और उत्सवो की भाति तीर्थ सेवन के अवसरो की बहुसख्यता धार्मिक भावना का जीवन के साथ व्यापक सामजस्य स्थापित करती है।

तीर्थो के अतिरिक्त भी अनेक स्थानो पर छोटे-बडे मेले लगते हैं। मूल रूप मे तो ये मेले आर्थिक व्यवसाय के अस्थायी केन्द्र है जो समय-समय पर सक्रिय होकर आर्थिक जीवन की गतिविधि को सन्तुलित करते हैं। किन्तु साधारण जनो विशेषत बालको और स्त्रियो के लिये ये मेले आर्थिक व्यवसाय के साथ-साथ विहार और विनोद के केन्द्र भी बन गये हैं। बडे नगरो का दैनिक बाजार ही मेले के समान होता है, किंतु छोटे नगरो के जीवन मे इन मेलो का बडा महत्त्व है। इनके निवासियो के लिये ये मेले एक नई चहल-पहल और नये उल्लास का अवसर लेकर आते हैं। समय-समय पर आकर ये मेले लोक-जीवन मे एक नई स्फूर्ति और नवीन प्रसन्नता भर जाते हैं।

इस प्रकार पर्व, उत्सव, व्रत, सस्कार, तीर्थ, मेले आदि के अनेक रूपो से युक्त हमारी लोक-सस्कृति इतनी समृद्ध है कि उसकी तुलना कदाचित् ही किसी देश की सस्कृति कर सकेगी। सास्कृतिक रूपो की विविधता और विपुलता इस समृद्धि का एक लक्षण है। किन्तु सस्कृति की समृद्धि का एक दूसरा लक्षण भी है जिसकी दृष्टि से भी हमारी लोक-सस्कृति अनुपम और अतुलनीय है। सस्कृति की समृद्धि के इस दूसरे लक्षण को जटिलता कह सकते हैं। जटिलता का अर्थ उलझन नही वरन् अनेक तत्वो और पक्षो का सगम है। जटाओ मे अनेक केश-ततु मिल जाते है। इसीलिये जटिलता शब्द उलझन के अतिरिक्त तत्त्वो और पक्षो की अनेकता का भी सूचक है। हमारी लोक-सस्कृति

के अनेक रूपों में देश, काल, मानवीय सम्बन्ध, उपकरण, विधि, निमित्त, रस, संगीत, देवता आदि अनेक विशेष तत्त्वों एवं पक्षों का संगम रहता है। ये सब मिलकर सांस्कृतिक आचार के प्रत्येक रूप को जटिलता की दृष्टि से सम्पन्न बना देते हैं। यही सम्पन्नता हमारी दीपावली और होली को विदेशों में प्रचलित रासलीला और दीपोत्सव से भेदक है। जटिलता की दृष्टि से संस्कृति के ऐसे सम्पन्न रूप कदाचित् ही किसी अन्य देश में मिल सकेंगे। संस्कृति के जटिल रूपों की विपुलता और भी अधिक दुर्लभ है।

जैसा ऊपर संकेत किया जा चुका है हमारी यह लोक-संस्कृति जीवन से समवेत है। यह कहा जा सकता है कि यह लोकसंस्कृति जीवन का ही सांस्कृतिक रूप है। लोकसंस्कृति की परम्परा में संस्कृति का सौन्दर्य जीवन में ही समवेत हो गया है। इस प्रकार हमारी यह लोक-संस्कृति उस अभिजात संस्कृति से भिन्न है जिसे पश्चिमी धारणा के अनुसार संस्कृति का एक मात्र रूप समझा जाता है। यह अभिजात-संस्कृति जीवन का सांस्कृतिक पर्याय नहीं है वरन् जीवन का एक अंग मात्र है। धर्म, दर्शन, कला आदि इसके पक्ष हैं। ये सम्पूर्ण लोक-जीवन के साथ समवेत नहीं हैं वरन् जीवन के एक अंग ही बने रहते हैं। इस प्रकार यह अभिजात संस्कृति जीवन और संस्कृति का आंशिक रूप है। इस धारणा के अनुसार लोक-संस्कृति ग्रामीण और वन्य समाज में शेष रह गयी है। नागरिक जीवन के लिये वह केवल अध्ययन और कौतूहल की वस्तु है।

किन्तु हमारी भारतीय लोक-संस्कृति इतनी समृद्ध और परिष्कृत है कि ग्रामीण और नागरिक समाज इसे समान आदर से अपनाते रहे हैं। नागरिक समाज ने इस संस्कृति का तिरस्कार करने के स्थान पर इसके अनेक रूपों को अपने वैभव से समृद्ध बनाया है। नगर की दीपावली, होली, नागरिक मेले, नागरिक तीर्थ, नागरिक विवाह आदि इसके उदाहरण हैं। इतनी विशाल और समृद्ध लोक-संस्कृति का नागरिक जीवन के साथ इतना घनिष्ठ सामंजस्य कदाचित् ही किसी अन्य देश में मिल सकेगा। इस दृष्टि से हमारी लोक-संस्कृति संसार में अद्भुत और अनुपमेय है।

इस लोक-संस्कृति की एक अन्य विशेषता बड़ी महत्त्वपूर्ण है। चित्रकला, संगीत, साहित्य, धर्म आदि जो अभिजात संस्कृति के अंग माने जाते हैं वे भी इसके जीवन रूप में समवेत हो गये हैं। भित्ति-चित्रण भूमि-आलेखन आदि चित्रकला के साधारण रूप इसमें समन्वित हैं। लोकगीतों के रूप में विपुल काव्य-साहित्य इस लोक-संस्कृति में समाविष्ट हो गया है। इसके अतिरिक्त गीता, रामायण, आल्हा, ढोला जैसे श्रेष्ठ साहित्यिक ग्रन्थ भी इस लोक-संस्कृति की विभूति बन गये हैं। इन ग्रन्थों का विद्वानों में जितना आदर है उतने ही वे जनता में भी लोकप्रिय हैं। ग्रामों और नगरों में लोग समान श्रद्धा के अनुसार इनका पाठ और गायन करते हैं। भारतीय आकाशवाणी से लोक-साहित्य का जितना प्रसारण होता है उतना कदाचित् ही किसी अन्य देश की आकाशवाणी से होता होगा। सूर, तुलसी, मीरा आदि की रचनाओं में श्रेष्ठतम साहित्य का जैसा लोकप्रिय रूप मिलता है वैसा कदाचित् ही किसी अन्य देश में मिल सकेगा। धर्म का भी हमारी लोक-संस्कृति में अद्भुत समन्वय हुआ है।

अस्तु, भारतीय परम्परा में लोक-संस्कृति का ऐसा श्रेष्ठ और सम्पन्न रूप विकसित हुआ है कि वह नागरिक जीवन में भी लोकप्रिय बनी रही है। नागरिक जीवन में व्याप्त ऐसी समृद्ध लोक-संस्कृति का किसी भी अन्य देश में उदाहरण मिलना कठिन है। संस्कृति का निर्माण और प्रचार विराट् और महान् संकल्प-शक्ति के द्वारा होता है। प्राचीन भारत की जिन आप्त विभूतियों ने अपने विराट और महान् संकल्प के द्वारा इस अद्भुत लोक-संस्कृति का निर्माण और प्रचार किया वे हमारे लिये सदैव वन्दनीय रहेंगे।



लोक-साहित्य

श्री चम्पालाल गुप्त, एम० ए०

आयुर्वेदरत्न, भारतीभूषण



आधुनिक युग विज्ञान का युग है। विश्व के बाह्य चमत्कारो की चकाचौंध से चकित होकर मानव प्रत्येक वस्तु को अपने पूर्वजो की अपेक्षा भिन्न दृष्टिकोण से देखने लगा है। और अपने आप को अपेक्षाकृत अधिक सुसभ्य व सुसंस्कृत समझने लगा है। फिर भी जब हम आधुनिक साहित्य की ओर दृष्टिपात करते हैं तो हमें उसमे उस मूल सवेदना, नैसर्गिक वृत्ति, सरलता, स्वच्छन्दता और जीवन की व्यापकता के दर्शन नही होते जिसके लोक-साहित्य मे होते हैं। भौतिक साधनसम्पन्नता और पदार्थवाद की बढती उद्दाम प्रवृत्ति आज साहित्य मे कृत्रिमता और प्रयत्न-साध्य ऊहापोह का पर्याय बन गई प्रतीत होती है। ऐसी अवस्था मे हमारे ध्यान का लोक-साहित्य की ओर आकृष्ट होना स्वाभाविक ही है, जिसमे सवेदनात्मक जीवन की रसमय व्याख्या हृदय की निश्छल भाषा मे अभिव्यक्त हुई है और रागात्मक वृत्तियो के साथ पूर्ण सामजस्य एव तादात्म्य हुआ है।

साहित्य की नवीनतम प्रवृत्तियो और गवेषणाओं ने भी लोक-साहित्य के महत्त्व को प्रतिष्ठित करने मे सहयोग दिया है। वास्तव मे साहित्य का लोक से अविच्छिन्न सम्बन्ध है। लोक का अर्थ है—विराट् जनसमुदाय, जहा व्यक्ति और समष्टि का जीवन व्यापक चेतना के एक समस्तर पर आदोलित होता रहता है। उसकी सत्ता सर्वव्यापक एव प्रकृति के अणु-अणु मे व्याप्त है। उसमे भूमि और जन दोनो के अस्तित्व का भाव है। वस्तुत व्यष्टि और समष्टि दोनो मे अभिव्यक्त समस्त मनोभावनाए ही लोकचेतना है और यही सस्कृति, कला, साहित्य, धर्म, दर्शन व सभ्यता का प्रतिबिम्बित रूप है।

'लोक' शब्द की व्युत्पत्ति दर्शन अर्थवाची लोकृ धातु से हुई है। लोक के अर्थ के विषय मे अभी तक भारतीय और पाश्चात्य भाषाविदो मे मतैक्य नही हो पाया है। ऋग्वेद मे प्रयुक्त 'देहि लोकम्' के अनुसार लोक शब्द का स्थान के अर्थ मे प्रयोग हुआ है, पर ब्राह्मण-ग्रन्थो, बृहदारण्यक उपनिषद् एव वाजसनेयी सहिता मे इस प्रकार की किसी भेदात्मक स्थिति का कोई विवरण उपलब्ध नहीं होता। लोक-परलोक, आकाश-पाताल, मृत्युलोक आदि मे लोक की अभिव्यक्ति 'लोक' के सम्बन्ध मे एक नवीन दृष्टिकोण प्रस्तुत करती है। लोक साहित्य को आर्य या अनार्य परम्पराओं मे विभाजित करके देखना न तो समीचीन ही है और न ही सभव। लोक की व्यापक सत्ता को अस्वीकार कर कोई भी परम्परा अपने अस्तित्व को चिरस्थायी नही रख सकती। इसलिए वेद लोक को भी अपने साथ लेकर चलता है। वेदवेत्ता महर्षि वेदव्यास ने स्वय लोक-धर्म और विधान के प्रति आस्था प्रकट करते हुए कहा है—"प्रत्यक्षदर्शी लोकाना सर्वदर्शी भवेन्नर।"[1] गीता का—अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथित पुरुषोत्तम[2] यजुर्वेद मे लोक के विराट् स्वरूप की कल्पना[3] एव जैमिनीयोपनिषद् ब्राह्मण मे उसका नाना रूपों मे वर्णन[4] इसी सम्बन्ध को पुष्ट करता है। प्राकृत एव अपभ्रंश मे प्रयुक्त 'लोकजत्ता' व 'लोकप्पवाय' शब्द भी लोक का महत्त्व व्यक्त करते हैं।

---

१ महाभारत, उद्योगपर्व, ४३। ३६।

२ गीता, अध्याय १५, श्लोक १८।

३ 'सहस्र-शीर्षा पुरुष सहस्राक्ष सहस्रपात्'।

४ 'बहु व्याहितो वा अय बहुशो लोक'।

पाश्चात्य दृष्टि से देखने पर विदित होता है कि आंग्ल भाषा में 'लोक' शब्द के अर्थ में फोक (Folk) शब्द का प्रयोग हुआ है, जिसकी उत्पत्ति 'Folc' से हुई है। सम्भवतः जर्मन का Volk शब्द ही एंग्लो सेक्सन में Folc नाम से अभिहित किया जाने लगा है। यहां 'फोक' शब्द असंस्कृत तथा मूढ़ समाज का द्योतक है, किन्तु सर्व-साधारण और राष्ट्र के अवयवभूत समस्त जनों के लिए भी इस शब्द का प्रयोग करने में किसी संकुचित प्रवृत्ति को प्रश्रय नहीं दिया गया है।

जो भी हो 'लोक' एक ऐसा व्यापक शब्द है जो भूभाग पर प्रसरित समस्त मानव-समुदाय के अर्थ में प्रयुक्त किया गया और वर्गभेद रहित व्यापक एवं प्राचीन परम्पराओं की श्रेष्ठ राशि सहित नवीन सभ्यता व संस्कृति के विकास का द्योतक समझा जा सकता है। डा० वासुदेव शरण अग्रवाल के शब्दों में—"लोक हमारे जीवन का महासमुद्र है। उसमें भूत, भविष्य, वर्तमान सभी कुछ संचित रहता है। लोक राष्ट्र का अमर स्वरूप है, लोक कृत्स्न ज्ञान और सम्पूर्ण अध्ययन में सब शास्त्रों का पर्यवसान है। अर्वाचीन मानव के लिए लोक सर्वोच्च प्रजापति है। लोक, लोक की धात्री सर्वभूतमाता पृथ्वी और लोक का व्यक्त रूप मानव, यही हमारे नये जीवन का अध्यात्म शास्त्र है। इसका कल्याण हमारी मुक्ति का द्वार और निर्माण का नवीन रूप है। लोक-पृथ्वी-मानव, इसी त्रिलोकी में जीवन का कल्याण-तम रूप है।"

ऐसे सर्वव्यापी सारग्राहि, महत्त्वपूर्ण 'लोक' की उपेक्षा कर कोई साहित्य शाश्वत व चिरन्तन पद का अधिकारी नहीं हो सकता। साहित्य को 'लोक' के मंगलकारी रूप को अपनाना पड़ा और इसके समायोजन व समावेश से साहित्य की प्रतिष्ठा व महत्ता को किसी प्रकार की ठेस नहीं पहुँची वरन् उसकी वृद्धि में ही सहायक हुआ। इसलिए 'लोक-साहित्य' को साहित्य के एक अभिन्न एवं अवयवभूत अंग के नाम से सम्बोधित किया जाये तो यह सत्यता का प्रतिपादन ही है, किसी प्रकार की अतिशयोक्ति नहीं।

कतिपय लोगों के मतानुसार लोकसाहित्य अभिजात्य संस्कार, शास्त्रीयता और पाण्डित्य की चेतना व अहंकार से हीन ग्रामीण एवं अशिक्षित लोगों की व्यापक भावनाओं का प्रतिनिधित्व करनेवाला साहित्य है। वास्तव में उनका यह विश्वास न तो सत्य है और न वास्तविकता पर आधारित ही। निस्सन्देह 'लोकसाहित्य' लोक की मौखिक अभिव्यक्ति है और यह वाणी के माध्यम से पीढ़ी-दर-पीढ़ी गतिमान रहता है परन्तु इसीसे यह अशिक्षित समुदाय की भावनाओं का प्रतिनिधित्व करने वाला साहित्य नहीं बन जाता। इसमें लोक-जीवन की अभिव्यक्ति जितनी निष्पक्ष, स्वाभाविक, पूर्णता व सत्यता के साथ प्रतिपादित मिलती है उतनी छंद, अलंकारादि के द्वारा नियमबद्ध सजाई गई भाषा द्वारा निर्मित साहित्य में भी नहीं मिलती। इसलिए यह सही अर्थों में जन-भावनाओं की अभिव्यक्ति व जन-साहित्य है और इसपर ग्रामीण व अनपढ़ लोगों के साहित्य मात्र का आरोपण करना तर्कपूर्ण व न्यायसंगत नहीं है।

डा० देवराज उपाध्याय के शब्दों में—"साहित्य और दर्शन की गगनचुम्बी हिम-श्रेणियों के बीच में 'लोक साहित्य' एक ऐसा सजल आलोकोज्ज्वल मेघ-खण्ड है जो न तो इनके टूट-टूट कर गिरनेवाले शिलाखण्डों से दबता है और न इन श्रेणियों की सीमाओं में आबद्ध होकर ससीम बनता है, प्रत्युत गीत, नृत्य एवं वार्ता आदि विविध-वर्णी किरणों से स्नान होकर साहित्य की इन उन्नत चोटियों का शृंगार कर जाता है और संगीत-लहरी के प्रत्येक स्पंदन-कम्पन के साथ उठकर उस निरालता के रोम-रोम को मादकता का सागर प्रस्तुत करता है।'

ऐसे लोकसाहित्य की महत्ता से कौन इन्कार करेगा? मानवमस्तिष्क की मूलभूत एकता का तो यह सर्वोत्तम परिचायक है ही, साथ ही आज जबकि मानव कृत्रिमता, आत्म-प्रवंचना, ईर्ष्या, द्वेष, भय, लूटखसोट, परस्पर अविश्वास की चट्टान से टकरा कर छिन्न-भिन्न होने जा रहा है, ऐसे समय में यह 'लोक-साहित्य' अपनी सहज मानवीय भावनाओं से मानव-हृदय में करुणा व आशा का उज्ज्वल आलोक निष्पादित करता प्रतीत होता है—



एक जनम, एक चार बरसे के टूट पनिया रे,
मरम उठली एक उठत फिरे दिन गनिया रे।



चुगत-चुगत गई दूर सो दूसर अनमनिया रे,
मार्यो वियाधा ने बान रोवन लागी दोउ आखिया रे।

यह हमारे विकास की अमूल्य निधि के समान है। जातीय हृदय की उथल-पुथल, सुख-दुःख, संयोग-वियोग, सभ्यता, संस्कृति को प्रतिबिम्बित करने वाला स्वच्छ मुकुर है। अनुभव की सरसता, सत्यता व सजीवपन का इसमे सुन्दर समावेश है। देश का सच्चा इतिहास और उसका नैतिक व सामाजिक आदर्श— इसकी मूक वाणी है। आशा-वाद और जीवन-स्फूर्ति इसका आलोकमय स्तम्भ है। जो स्थायी रूप से सत्य की शिला पर प्रतिष्ठित है। 'सत्य, शिव, सुन्दरम्' भावो का अपार सागर है।

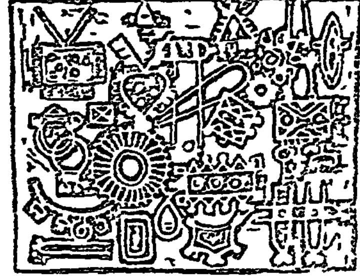
वास्तव मे 'लोकसाहित्य' साहित्य की अमूल निधि और धरोहर है। इसकी महत्ता से इन्कार नही किया जा सकता। मनोवैज्ञानिक अध्ययन साहित्यिक चिन्तन और समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से तो यह महत्त्वपूर्ण है ही, सांस्कृतिक एकता की स्थापना की दृष्टि से भी इसका योगदान महान् है। अत इसका अध्ययन और सर्वांगीण विवेचन होना अपरिहार्य है। राजस्थान 'लोकसाहित्य' की दृष्टि से अन्य किसी प्रान्त मे पीछे नही है। वार्ता, गीत आदि के रूप मे यहा साहित्य की अपार निधि छिपी पडी है। संस्कार, आदर्श, उत्तमता, विशुद्धता और मनोरमता सभी दृष्टियो से वह सुन्दर व सुरुचिसम्पन्न है। इसको प्राचीनता के आवरण मे देख कर ठुकरा देना अथवा भुला देना मूर्खता ही नही, जातीय आत्मघात के समान होगा। यह शुभ लक्षण है कि अब हमारे मनीषियों व विद्वानो का ध्यान साहित्य की इस अमूल्य निधि की ओर गया है और नये-नये रत्नो को इस अपार निधि मे खोजकर निकाला जा रहा है। आशा है 'लोकसाहित्य' को अपना उपयुक्त स्थान शीघ्र ही प्राप्त होगा और आधुनिक साहित्य भी इसके सम्पर्क से अधिक गरिमामय व गौरवपूर्ण स्थान प्राप्त कर ज्ञान-आलोक से जनमानस को विशेष रूप से आलोकित कर सकेगा। डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल का यह कथन सत्य है कि—

'लोक का अध्ययन बुद्धि का कौतूहल मात्र नही है। लोक-सम्पर्क के बिना सब शास्त्र अधूरे है। जो ज्ञान लोक-हित के लिए नही, वह अधूरा है, वह मानवी चिंतन का छूंछा फल है।'

लोक-दर्शन और धर्म का स्वरूप

डा० रामप्रसाद दाधीच

हिन्दी विभाग, जोधपुर विश्वविद्यालय, जोधपुर



'लोक' शब्द आज एक विशेष पारिभाषिक अर्थ मे प्रयुक्त होने लगा है। सामाजिक विज्ञानों के अध्ययन और अनुसन्धान के इस युग मे अनेक जन-प्रचलित शब्दो को उनके सामान्य अर्थो के अतिरिक्त विशेष वैज्ञानिक अर्थ और सदर्भ दिये गये है। लोक का व्यापक मानवसमाज मे अर्थ न लेकर लोकवार्ता-विज्ञान आज 'मानव समाज के उस वर्ग मे अर्थ लगाता है जो आभिजात्य सस्कार, शास्त्रीयता और पाडित्य की चेतना और पाडित्य के अहकार से शून्य है और जो एक परम्परा के प्रवाह मे जीवित रहता है।'[1] एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका मे 'लोक' शब्द से अर्थ उस मानव-वर्ग से लिया गया है जो नागरिक सस्कृति और सविधि शिक्षा की धाराओं मे मुख्यत परे है, जो निरक्षर भट्टाचार्य है अथवा जिन्हे मामूली-सा अक्षर ज्ञान है—ग्रामीण और गवार।[2]

'लोक' शब्द का उपयुक्त अर्थ और परिभाषायें यह स्पष्ट करते है कि लोक-मानस और हृदय सहज और सारल्य सवृत्त होता है, उसमें दिखावा नही होता, मानव-स्वभाव की वक्रतायें और कुटिलतायें नही होतीं। प्रसिद्ध लोकवार्ताविद् जेम्स फ्रेजर ने इस लोकमानस और हृदय का स्पष्टीकरण करते हुये प्रस्थापित किया है कि वह विवेकपूर्वी (Prelogical) और मिस्टिक होता है।[3] फ्रेजर की इन मूलस्थापनाओ को लोकमानस और लोकवार्ता-विदों की पूर्ण सहमति यद्यपि नही मिल पाई किन्तु कुछ ऐसे तत्त्व अवश्य है जिन्हें वे सभी स्वीकार करते है। ये तत्त्व सक्षेप मे इस प्रकार है—(१) लोक-मानस यथार्थ और कल्पना मे भेद नही करता (फैंटेसी थिंकिंग), (२) वह प्राणी-अप्राणी-जड-चेतन को आत्मा से युक्त मानता है (ऐनिमिस्टिक थिंकिंग), (३) उसका यह विश्वास रहता है कि तुल्य से तुल्य पैदा होता है (मैजिकल थिंकिंग), (४) उसका यह अमिट विश्वास है कि विशेष विधि से कार्य करने से इच्छित फल अथवा अभीष्ट की प्राप्ति होती है (रिचुअल थिंकिंग)।[4] इन तत्त्वो के परिणामस्वरूप लोकजीवन मे हमे ऐसे अनेक विश्वास, मान्यतायें, आचरण, अभिचार और अनुष्ठान देखने को मिलते हैं जिनका औचित्य और उपयोगिता आज के बुद्धिप्रधान वैज्ञानिक युग मे समझ मे नहीं आते। इन्ही के फलस्वरूप वह देवी-देवताओं, प्रकृति और परप्राकृतिक शक्तियों, भूतों और प्रेतो मे विश्वास करता है। वह वृक्ष, पहाड, नदी, नाले आदि को आत्मतत्व से युक्त मानता है—उसका विचार है कि चेतन मानवो की भाति यह सब काम करते है। मत्र, टोने और अनुष्ठानो की लोकजीवन मे इसीलिये भरमार रहती है। उसका विश्वास है कि विशेष विधि से वह अपने अभीष्ट और अभिप्रेत को प्राप्त कर लेगा।

उपर्युक्त सक्षिप्त विवेचन लोकजीवन की मानसिक पृष्ठभूमि को प्रस्तुत करता है। अब हम इसके आधार पर लोक के दर्शन और धर्म को समझने की चेष्टा करेंगे। लोक किसी भी राष्ट्र की अमूल्य सम्पदा होता है। एक जाति

---

१ लोकसाहित्य विज्ञान, पृ० स० ३ डॉ० सत्येन्द्र।

२ फोक-लोर, इन साइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका, भाग १०.

३ दि गोल्डन बाउ-सर जेम्स फ्रेजर।

४ लोक साहित्य विज्ञान-पृ० स० ८८, डॉ० सत्येन्द्र

और राष्ट्र की गरिमा उसके लोक के जीवन मे निहित होती है । उसकी सस्कृति, कला, धर्म, और दर्शन के वास्तविक स्वरूप के दर्शन नगरो मे रहनेवाले अति-आधुनिक और सभ्य समाज के जीवन मे नहीं हो सकते, ग्राम्याचलो के प्राकृतिक परिवेश मे निवास करने वाले अनन्त लोग के जीवन मे ही हमे वे दर्शन सुलभ हो सकेंगे ।

इस निबन्ध मे मैंने भारतीय लोक को ही आधार बनाया है । जब हम भारतीय लोक के दर्शन और धर्म पर दृष्टिपात करते है तो सबसे महत्त्वपूण विशेपता जो हमे दिखाई देती है वह है, उसकी आध्यात्मिकता । यह आध्यात्मिकता भारतीय लोकजीवन का अविनश्वर स्वरूप है ।[1] वैदिक पूर्व-काल मे लेकर आज तक लोकजीवन मे आध्यात्मिकता की यह धारा अविरल गति मे प्रवहमान मिलती है । आधुनिकता के प्रभाव से यह धारा यद्यपि क्षीण अवश्य हो रही है। लोक-हृदय समस्त जड-चेतन मे आत्म-तत्त्व के दर्शन करता है और उससे अपनी अभेदता मानता है । भारतीय सस्कृति का सिद्धान्तसूत्र-'सर्वभूतस्थमात्मानम्, सर्वभूतानि चात्मनि' लोकदर्शन मे प्रत्यक्ष दिखाई देता है । इसी के फलस्वरूप भारतीय लोकजीवन मे अलौकिक स्नेह और सौहार्द्र दिखाई देता है। इस आत्मा और परमात्मा के समन्वय-दर्शन से हमारा जन-जीवन अत्यन्त समृद्ध हुआ है । ब्रह्मा, विष्णु, शिव, राम, कृष्ण, राधा, सीता, पार्वती, लक्ष्मी लोकदेवता, लोकदेवियां-ये सब लोकजीवन और परिवार के अग के रूप मे ही लोकवार्ता और साहित्य मे चित्रित हुये है । जिस प्रकार दुख-सुख, हर्प-विषाद्, मिलन-वियोग जन्म-मृत्यु आदि से साधारण मनुष्य अभिभूत होता है, उसी प्रकार उसके आराध्य ये देवी-देवता भी होते हैं । यह उसके अभेद-दर्शन का द्योतक है । शिव और पार्वती, कृष्ण और राधा, राम और सीता से सम्बधित शत-शत भारतीय लोक-कथाओ और गीतो को इस कथन के प्रमाण स्वरूप प्रस्तुत किया जा सकता है । केवल देवी-देवताओ मे ही नही पशु, पक्षी, वनस्पति और अन्य प्राकृतिक उपकरणो मे भी लोक की यही आत्मतत्त्वमयी अभेद-दृष्टि दिखाई देती है। इस प्रकार आत्मा और प्रकृति, व्यष्टि और समष्टि लोकदर्शन मे एक-रस हो गये है ।

लोक-दर्शन और धर्म की दूसरी प्रमुख विशेपता श्रम-साधना और कर्मनिष्ठा मे दिखाई देती है । लोक का प्रत्येक सदस्य कुछ न कुछ कर्म अथवा श्रम करता है । वह पराश्रित नही रहना चाहता । अपने श्रम से ही वह जीविकोपार्जन करता है । आदिम लोकजातियो के दैनन्दिन जीवन, उनकी बस्तियो, गृहनिर्माण आदि पर दृष्टिपात करने से पता लगता है कि श्रम की भागीरथी मे वे निरन्तर स्नान करते हैं । एक क्षण भी वे निष्क्रिय नही रहते । जीवन मे इस श्रम-साधना की प्रतिष्ठा महाभारत के शान्तिपर्व मे व्यासजी ने कराई है—

अहो सिद्धार्थता तेषा, येषा सन्तीह पाणय ।
अतीव स्पृहदेतेषा, येषा सन्तीह पाणय ॥
पाणिभद्र भय स्पृहास्माक यथा तवधनस्वै ।
न प्राणिलाभादधिको लाभ कश्चन विद्यते ॥

भारतीय लोकगीतो मे कर्म और श्रम की इस महत्ता को देखा जा सकता है । आखेट, कृषि, पशु-पालन, कुटि-उद्योग और अब औद्योगिक उत्पादन मे सम्बन्धित ऐसे सहस्रो गीत है जो लोकजीवन की कर्मनिष्ठा का परिचय देते है ।

लोकदर्शन की एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण विशेपता है उसकी समाजवादी दृष्टि । लोककला, साहित्य और सगीत के माध्यम मे जो लोक-चिन्तन हमारे सामने आता है उसमे व्यक्ति की सत्ता को कही स्वीकृति नहीं मिली, न वह स्रष्टा है और न सरक्षक । लोक के चिन्तन मे समाज ही सर्वोपरि शक्ति है । वह ईश्वर से जो कुछ मागता है, व्यक्ति के लिये नही मागता, समूचे समाज के लिये मागता है । लोकसाहित्य मे अभिव्यक्त सुख-दुख, हास-रुदन तथा शोक आह्लाद व्यक्ति का नही है—वह समूचे लोक-मानस का है । सक्षेप मे लोक का व्यक्ति अपने लिये नही जीता, अपने अस्तित्व को समाज मे विलय कर समग्र लोक के लिये जीवित रहता है ।

---

१ सम्मेलन पत्रिका (लोक सस्कृति अक) पृ० स० ८६

लोकमन और दर्शन में व्यक्ति के नैतिकता से पूर्ण पवित्र आचार पर बल दिया गया है। आभिजात्य संस्कृति में [illegible] शास्त्रीय कर्मकाण्ड को लिया गया है यही नहीं, उसमें कुछ अधिक लोकजीवन में सदाचार को दिया गया है। मानवधर्म ही सदाचरण का आधार है। मनुष्यत्व की प्रतिष्ठा मानव धर्म के पालन से ही होती है। यह [illegible] है। इसीलिये महाभारत में कहा गया है —

[illegible] ।
[illegible] ॥

[illegible] धर्म ही [illegible] का आश्रय है और [illegible] धर्म से ही [illegible] है।"

[illegible] अक्रोध, शौच, इन्द्रिय-निग्रह, धी, विद्या, सत्य और अक्रोध मनु महाराज द्वारा [illegible] लोकधर्म के प्राण। किन्तु धर्म का यह उपदेश मनु महाराज ने वर्णाश्रम धर्म [illegible] लोकजीवन में इसे [illegible] दिखाई देता है वह [illegible] शास्त्रीय नहीं [illegible] । [illegible] भजन, [illegible] निराकार [illegible], [illegible] प्राणिमात्र की सेवा आदि का [illegible] । [illegible] मिलता है। [illegible] किसी न किसी [illegible] किन्तु इनके [illegible] धार्मिक भावना [illegible] है। [illegible] समाज और परिवार की सुख-समृद्धि की कामना [illegible] ।

[illegible] आदिम युग से ही मानव- [illegible] और बुद्धि की [illegible] जा सकता। [illegible] प्रकार हैं —

१ [illegible] ।
२ [illegible] ।
३ [illegible] ।
४ [illegible] ।
५ [illegible] ।
६ [illegible] ।[2]

[illegible] अन्धविश्वास और [illegible] होते हैं। [illegible] भूत, प्रेत, पिशाच, [illegible] और [illegible] शक्तियों में लोक-विश्वास [illegible] । [illegible] जादू टोना, मारण, मोहन, उच्चाटन, वशीकरण आदि [illegible] क्रिया [illegible] भावना [illegible] ।[3]

---

१ [illegible]
२ [illegible] सोनिया [illegible] वर्मा।



भारतीय लोक-साहित्य में इस प्रकार के अनेक अन्धविश्वास आज भी उपलब्ध होते हैं जो लोकमानस की एक विशेष अवस्था का परिचय देते हैं। ग्रामीण, अल्प-शिक्षित, सरल स्वभाव के लोग अनेक प्रकार के अन्धविश्वासों से पीड़ित हैं और उनका धर्म-भीरु हृदय उनकी अवहेलना की कल्पना भी नहीं कर सकता। सूने भवनों और स्थानों में भूतों के रहने की कल्पना, विशेष वृक्षों पर राक्षसों का निवास, शुभ कार्य, यात्रा, व्यापार के प्रारम्भ के समय शुभ मुहूर्त्त और शकुन-अपशकुन का विचार, रोग और मृत्यु का कारण किसी देवता, और देवी अथवा भूत-प्रेत का आक्रोश और फिर अभिचार और अनुष्ठान की विशेष विधि से उन्हें प्रसन्न करना इत्यादि अन्धविश्वास लोकजीवन से अभिन्न रूप में सम्पृक्त मिलते हैं। इसी प्रकार बलि देने का रिवाज भी आदिम जातियों में इसी प्रकार के अन्ध-विश्वासों से जुड़ा हुआ है। आज भी देवी-देवताओं को प्रसन्न करने के लिये कुछ आदिम जातियों में नरबलि की प्रथा मौजूद है। पशुबलि देना तो आम रिवाज है।

लोकदर्शन और धर्म के इस संक्षिप्त विवेचन से सिद्ध हो जाता है कि आभिजात्य समाज में जो दर्शन और धर्म हमें आज उपलब्ध होता है, उसकी जड़ें लोकदर्शन और धर्म में हैं। शिष्ट और शिक्षित वर्ग की दार्शनिक और धार्मिक मान्यताओं की सही व्याख्या और स्पष्टीकरण लोकदर्शन और धर्म के गहरे अध्ययन से ही संभव हो सकते हैं। लोक के टोने-मन्त्र, अनुष्ठान, शकुन-अपशकुन आदि इस बुद्धि और तर्क के युग में हमें विचित्र और अनुचित लग सकते हैं किन्तु लोक की समाजवादी दृष्टि, अभेद दर्शन, समष्टिगत चिन्तन, शुचि आचरण लोकतन्त्रीय जीवन प्रणाली के लिये अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कहे जायेंगे। जीवन के वर्तमान संदर्भ में लोकदर्शन और धर्म के गहरे अध्ययन और अनुसंधान की आवश्यकता है।

●

काव्यरूपों में लोकतत्त्वों की प्रतिष्ठा

डॉ० सत्येन्द्र

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

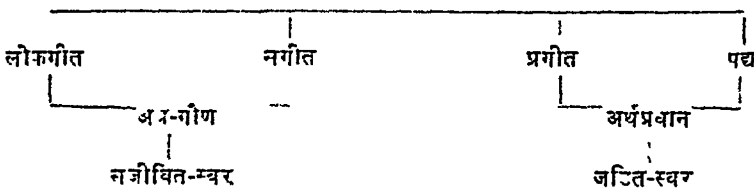
[illegible]



रूप अभिव्यक्ति का सहजात तत्त्व है। रूप, अभिव्यक्ति और अनुभूति का नित्य सम्बन्ध है, तो रूप के वैविध्य के साथ अभिव्यक्ति और अनुभूति का वैविध्य भी स्वीकार करना होगा। साहित्य मे काव्यात्मक अनुभूति को मूलत अद्वैत ही मानना पडेगा। विविधता तो अनुभूति के अद्वैत के विस्तार मे ही निहित है - केन्द्र-विन्दु जब अपनी अभिव्यक्ति के लिए आत्म-प्रसार करता है तो वह परिधि का निर्माण करता चलता है। परिधि देश काल को जन्म देते हुए ही उद्भूत होती है। बीज मे वृक्ष, उसकी शाखाए पल्लव, पुष्प तथा फल सभी समाये हुए ह, वे बीज के विस्तार के ही परिणाम ह। अनुभूति भी इसी प्रकार अपने अन्तरग निर्माण मे वैविध्य समाहित किये हुए है। कवि की अद्वैत अनुभूति को तो अनिवार्यत वैविध्य युक्त होना होगा। हमारे भारतीय शास्त्रकारो ने बताया है कि तीन प्रकार से काव्य-उद्भव हो सकता है। (१) शक्ति निपुणता अथवा प्रतिभा द्वारा, (२) ज्ञानार्जन से (लोककाव्यशास्त्राद्यवेक्षणम्) और (३) अभ्यास (काव्यज्ञशिक्षयाभ्यास)

शक्तिनिपुणता लोककाव्यशास्त्राद्यवेक्षणात्।
काव्यज्ञशिक्षयाऽभ्यास इति हेतुस्तदुद्भवे॥

आरम्भिक अवस्था मे मानव के पास व्यवसाय कम और प्राकृतिक प्राणियो की भाति चहक विशेष थी। वह यो व्यवसाय कर्म के साथ भी लिप्त रहती थी और कोकिल की कूक की भाति सभवत उल्लास-उन्माद के क्षणो मे यही चहक लय-ध्वनि से युक्त होकर 'गीत' रूप मे कठ मे अभिव्यक्त हुई होगी। फलत मानव की वाणी की दो ही प्रवृत्तिया आरम्भ मे हुई -१—गीत तथा २—वात। गीत का उदय वात से पहले ही होना चाहिए। क्योकि गीत प्राकृतिक इकाई है। उसका भावोच्छ्वास से गहन सम्बन्ध बताना भी गीत के स्वरूप का ठीक से प्रतिपादन करना नहीं, वस्तुत गीत स्वय भावोच्छ्वास है। आदिमावस्था मे भावोच्छ्वास के रूप मे ही गीत उत्पन्न हुआ होगा, उस काल के मानव-जीवन मे इस गीत ने प्रमुख स्थान ग्रहण किया था, इसमे सदेह नही किया जा सकता। उस अवस्था मे मनुष्य की प्रत्येक क्रिया भले ही वह व्यवसाय-वृत्ति से उद्भूत हो भावोच्छ्वासमयी रहती है। गीत तबसे अबतक विकसित होकर निम्नलिखित रूप ग्रहण कर सका है



लोकगीत ही आदिम गीत का यथार्थ उत्तराधिकारी है और यह निरर्थक जगली गीत-ध्वनि से लेकर सार्थक दादरी ख्यालो तक के विविध प्रकारो मे व्याप्त है। इसका प्रधान धर्म है सजीवित-स्वर का सहज उन्मुक्त उपयोग। मानव भावोन्माद मे अपने को भूलकर जब गीत के हाथो अपने को बेच देता है, उसमे मनत और शरीरत लीन हो जाता है, तब वह लोकगीत रचता होता है। स्वर, लय, तान, ताल आदि भाव की थिरकन के साथ स्वयमेव आते जाते है। आगे उसमे परिभाजन और सस्कार द्वारा ऊँचाई अथवा भव्यता के लिए शास्त्रीयता का सहारा लिया जाने लगता है तो वह सगीत हो जाता है। लोकगीत और सगीत का प्राण वह सजीवित-स्वर जब उच्छ्वास-गति के साथ भाव और उसमें भी अधिक शब्द अर्थ के तत्त्व से बोझिल, मथर और स्थूलकाय होने लगता है तो प्रगीति अथवा लीरिक मे परिणति प्राप्त कर लेता है। यहा तक स्वर पूर्णत सजीवित रहते हैं अपने स्वाभाविक लोच और लचक के साथ, उच्चारकर्ता के लालित्य से लिपटे हुए, किन्तु जब इन सजीवित स्वरो को जमा दिया जाता है, मात्रा की ताल मे स्वर को नही अक्षर या वर्ण को बाध दिया जाता है, और साचे बना दिये जाते, तब वह गीत 'पद्य' का रूप ग्रहण कर लेता है। छन्द नियमो का निर्माण तो आरम्भ मे सुविधा तथा विचार-क्रान्ति तथा रचना-क्रान्ति का स्मरण स्थिर करने के लिए हुआ है, पर वे नियम रचना के बन्धन बन जाते है, और मर्यादाओ का स्थान ग्रहण कर लेते है। इसमे फिर किसी दृष्टि से सहज और स्वाभाविक गति और तान का स्थान नही रह जाता। छन्द इसे स्वातन्त्र्य को उपेक्षा

ही नहीं घृणा की दृष्टि से देखा जाता है। यही कारण है कि साहित्य-शास्त्र द्वारा पद्य तो मान्य हुआ, गीत नहीं। वह गीत अपनी स्वाभाविकता सहित लोक में पनपता रहता है।

गीत की अभिव्यक्ति का अभिप्राय 'बात' अथवा वार्ता की अभिव्यक्ति से भिन्न होता है। गीत निरर्थक होते हुए भी गीत रहता है। अर्थ उसमें भर जाता है। अर्थ का उसमें आरोप होता है। किन्तु 'बात' का जन्म ही अर्थ प्रेषण के लिए होता है—उस बात का प्रधान धर्म विचार-विनिमय-साधना है। इस कोटि क्रम से गीत और बात, ये दो ही मौलिक रूप प्रतीत होते हैं। ये साहित्य-शास्त्र की शब्दावली में विकास और संस्कार प्राप्त करने के पश्चात् गद्य और पद्य कहलाये। यही कारण है कि भामह, दण्डी, वामन आदि आचार्यों ने काव्य के रूपों में सबसे पहले इन्हीं दो को स्थान दिया है।

साहित्य और काव्य के रूपों का एक मौलिक वर्गीकरण हमें विश्वनाथ के साहित्य-दर्पण में मिलता है-- यह विभाजन है —दृश्य और श्रव्य काव्य में। हेमचन्द्र ने इसे प्रेक्ष्य और श्रव्य नाम दिया। दृश्यानुभूति का पाश्चात्य आलोचनाशास्त्रियों ने भी महत्त्व दिया है। उन्होंने तीन प्रकार की काव्यानुभूतियाँ स्वीकार की हैं। लिरिक (गेय) एपिक या नैरेटिव (कथात्मक) तथा ड्रामेटिक (नाटकीय दृश्य)। दृश्य काव्य की सृष्टि कवि द्वारा होते हुए भी, कवि की स्थिति नहीं होती। पाठक अथवा दर्शक दृश्य काव्य की स्थूलता का दर्शन करते समय यह विस्मृत किये रहता है कि यह कवि है जो अपनी अनुभूति का ही साक्षात्कार करा रहा है। वह समझता है कि वह दृश्य वह प्रथमत स्वयं ही देख रहा है।

'श्रव्य' शब्द वस्तु का विशेषण होते ही वस्तु के अतिरिक्त वक्ता और श्रोता की उपस्थिति की भी सूचना देता है। एक वक्ता दूसरा श्रोता। श्रव्य-काव्य में वक्ता जो वस्तु प्रस्तुत कर रहा है, वह श्रवण योग्य है, बस इतनी ही अनिवार्यता अपेक्षित है। दृश्य और श्रव्य के दोनों रूप रचना के प्रकारगत रूप भेद ही हैं। दृश्य काव्य वह नहीं जो देखा जा सके, वरन् दृश्य काव्य वह रचना है, जिसमें दृश्य के गुण विद्यमान हैं और श्रव्य वस्तु में पंक्ति और शब्द को वक्ता की उपस्थिति की सूचना इन से स्पष्ट होना चाहिए।

पाठ्य में हेमचन्द्र—नाटक, प्रकरण, नाटिका, समवकार, ईहामृग, डिम, व्यायोग, उत्सृष्टाङ्क, प्रहसन, भाण, वीथी, सट्टक, आदि मानते हैं। 'पाठ्यं-नाटकप्रकरण-नाटिका-समवकारेहामृगडिम-व्यायोगोत्सृष्टाङ्क-प्रहसन-भाण-वीथी-सट्टकादि।"

'गेय' के लिए हेमचन्द्र की कारिका यह है—

'गेय डोम्बिकाभाणप्रस्थानशिगकभाणिकाप्रेरणरामाक्रीडहल्लीसकरासकगोष्ठीश्रीगदितरागकाव्यादि'। इन्हीं के साथ विवेक में इनके तीन गेय काव्य और बताये हैं शम्पा, छलिक और द्विपदा।

गेय काव्य को उन्होंने तीन प्रकार का माना है — सम्पूर्ण (कोमल), उदाहरण, ताण्डविका। उद्धत, उदाहरण भाण और मिश्र। यह विचारणीय है कि हेमचन्द्र ने भाण का पाठ्य में भी रखा है और गेय में भी।

रूपों के हेमचन्द्र ने ग्यारह भेद किये हैं—उपाख्यान, आख्यान, निदर्शन, प्रवह्लिका, मन्थल्लिका, मणिकुल्या परिकथा, खण्डकथा, सकलकथा, उपकथा और बृहत्कथा। यह तो शास्त्रों के आधार पर काव्य के रूपों के विकास का स्वरूप है। किन्तु शास्त्रों से हटकर जब हम उस समय विद्यमान साहित्य का साक्षात्कार करते हैं तो हमें लोकक्षेत्र में और भी नयी उद्भावनाएँ दिखायी पड़ती हैं। इन उद्भावनाओं को तत्कालीन लोक-भाषा के कवियों ने मान्यता प्रदान की। आठवीं से चौदहवीं शती के अन्दर निम्न काव्य रूप उठ खड़े हुए थे—गाथाबन्ध, दोहाबन्ध, पद्धडियाबन्ध, चौपाई-दोहावली रमैनी, छप्पयबन्ध, कुण्डलिनी बन्ध, रासा बन्ध, चर्चरी या चाचर, फागु, साखी, सबदी, दोहर, सोहर, पद, मंगलकाव्य, चौंतीसा, विप्रमतीसी, बसन्त, बेलि, बिरहुला, हिंडोला, कवित्तसवैया, बहरा, बरवै, विनय, लीला, अखरावट, नहछू, सागर, नख, भ्रमरगीत, मुकरी, दो सुखने, अनमिल, ढोलना, बुझावन, षट्ऋतु, बारहमासा, नखशिख, दसम, दशावतार, नटौआ, जीवनी आदि। इनके अतिरिक्त ध्यान देने से और भी कई नये रूप दिखायी पड़ जाते हैं—सतसई, मंगल, माहात्म्य, पच्चीसी, बत्तीसी, पुराण, संवाद, बाटी, पटल, खण्ड, चरित। इन रूपों पर विचार करने से विदित होता है कि इनके नामकरण के पांच आधार हैं छंद, गीत, शैली, संख्या, और विषय। किसी भी दृष्टि से इन रूपों का नामकरण



क्यो न हुआ हो, एक बात स्पष्ट दिखायी पडती है कि इन सब का मूल लोक-क्षेत्र है, और प्रत्येक रूप का लोकतत्त्व मे घनिष्ठ सम्बन्ध है।

छन्दो के आधार पर जो खडे हुए है उनके इतिहास मे हमे विदित होता है कि 'गाथा' काव्य रूप प्राकृत भाषा का एक प्रकार से पर्याय हो गया था। इसी प्रकार 'दोहा' अपभ्रश का। 'दोहा बध' का अर्थ होना था, अपभ्रश काव्य। पद्धडिया बध उत्तरकालीन अपभ्रश अथवा अवहट्ठ से सम्बन्धित माना जा सकता है।

चौपाई-दोहा-बध रूप कथा अथवा चरित्र-काव्य मे सामान्यत सबद्ध हो गया, और यह रूप हिन्दी के प्राचीन काव्य से चलकर बीसवी शती के आरम्भ तक अत्यन्त दृढता के साथ प्रवाहित होता चला आया है।

इस समस्त छन्द-परम्परा का मूलत लोकक्षेत्र और लोकतत्त्व से सबध है। उसका सबसे प्रबल प्रमाण तो उन छन्दो का स्वभाव है। ये छन्द स्वभाव से मात्रिक है। मात्रिक छन्द मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्ति से उत्पन्न होते है, क्योकि 'मात्रा' का आधार मूलत ताल है, और ताल का जन्म नृत्य के साथ हुआ। ताल का जितना सम्बन्ध नृत्य से है, उतना सगीत से नही। क्योकि निश्चय ही सगीत के दो रूप मूल मे रहे है—एक लयबद्ध और दूसरा तालबद्ध। तालबद्ध सगीत नृत्य-बद्ध सगीत था। लयबद्ध मुक्त-सगीत था। आगे दोनो प्रणालिया मिल गयी। 'नृत्य' अथवा ताल मे विराम लाने के लिए 'लय' सगीत का उपयोग होने लगा। इससे वैभिन्य भी आया। यह 'लय' जब आरम्भ मे उपयोग मे आने लगी तो 'टेक' कहलायी। आज पर्यन्त नृत्य ताल मे गुथे हुए गीत मे लय द्वारा विराम प्रचलित है। रसिया या चौबोलो को देखिये। रसिया जब अत्यन्त तीव्र-ताल-गीत मे झमाके के साथ रुकते है तो किसी दोहे के रूप के 'लय' बद्ध छन्द का उपयोग किया जाता है। चौबोले मे ताल पर पहुचने के लिए पहले दोहे के बोल रखे जाते हैं, जिसका लय से ही सम्बन्ध है। इस प्रकार तालबद्ध लोक नृत्य गीतो मे 'लय-विराम' की प्रणाली प्रचलित हुई। इस लय के आवरण मे 'ताल' को अधिकाधिक लपेटा गया। आज यह देखा जा सकता है कि प्रत्येक सगीत मे 'ताल' उसकी रीढ है और स्वर का उतार-चढाव और लय उसके सौन्दर्य और माधुर्य प्रसाधन के तत्त्व है। यह ताल नृत्य मे विलग होकर गीत मे रही। गीत मे लय और उतार-चढाव के तत्त्व जब जड होने लगे, और शब्द की, अर्थ की दृष्टि से, अधिकाधिक प्रबलता होने लगी, तब उनका सम्बन्ध मात्र रीढ अथवा ताल से रह गया। ये, शब्द में बधने पर ताल 'समय की कला अथवा अश', पर निर्भर नही कर सकते थे उसके लिए शब्द मे ही कोई आधार ढूढना होगा, और यह आधार मात्रा का था। एक 'मात्रा' इसकी इकाई बनी। यह एक मात्रा एक अक्षर के 'उच्चारण' के काल की कला का मान प्रस्तुत करती थी। हिन्दी की मात्राओ के स्वरूप के अनुकूल ये मात्राए 'लघु और गुरु' मे बाट दी गयी। 'लघु' मात्रा की एक इकाई है। गुरु मात्रा दो इकाइयो के समान। इस प्रकार 'शब्द' के निर्मायक अक्षरो मे गुरु-लघु के माध्यम से वस्तुत ताल को, 'ताल' का लघुतम कालकला (टाइम फैक्टर) को घनिष्ठत बाँध दिया गया है। इससे यह सिद्ध है कि ताल का ही एक रूप मात्रिक छन्द-विधान है। मात्रिक छन्दो मे 'सजीवित' शब्द स्वर भरते हैं। अत मात्रिक छन्द स्वभाव से ही कठोर शास्त्रीय ढाचे मे नही बैठ सकते। एक आतरिक स्वच्छन्दता उनमे रहती है, जो लोक-प्रकृति के अनुकूल है। इससे मात्रिक छन्दो मे लोकतत्त्व रहता है। 'चौपाई' एक ऐसा छन्द है जिसमे यह लोक-प्रवृत्ति की अनुकूलता सबसे अधिक है। चौपाई विविध लयो मे हो सकती है।

इसीलिये लोक-कथा के लिए यही छन्द विशेषत चुना गया। इसमे रूप और वस्तु की दृष्टि से अद्भुतरूपेण लोकतत्त्व अभिमडित है। विविध आवेग, विविध आवेश, विविध रस और विविध भाव इस छन्द मे गुम्फित हो सकते हैं। इस छन्द मे वर्णन, कथा, विचार और विवेचन सभी खप जाते हैं। अन्य जिन छन्दो के नाम से काव्यरूप खडे किये गये हैं, वे हैं छप्पय, कुडलिनी, रासा, दोहरा, कवित्त, सवैया, बरवै।

रासा छन्द का उल्लेख स्वयभू ने किया है। गाथा-बध जिस प्रकार प्राकृत का पर्याय हो गया था, दोहा बध अथवा 'दूहा-विद्या' जैसे अपभ्रश है, वैसे ही रासाबध का सम्बन्ध अपभ्रश और पुरानी हिन्दी के सधिकाल की कथा-चरित-काव्य की शैली वाली भाषा से विदित होता है। रासा-बध मे पहले रासा छन्दो का ही बाहुल्य होता होगा, बाद मे रासा का सम्बन्ध विषय से जुड गया, रासा छन्द गौण हो गया। धीरे-धीरे रासा काव्य मे से इस छन्द का लोप हो चला, और रासा विषय मे वैविध्य लाने के लिए छन्द वैविध्य का आश्रय लिया गया। अब रासा-काव्य-रासा-बध

नहीं रह गया। पृथ्वीराज रासो में दोहा, छप्पय, गाहा, पाधड़ी, मोतीदाम, अडिल्ल आदि छन्दों का उपयोग हुआ है। इन छन्दों में दोहा घत्ता का स्थानापन्न है। छप्पय और छदनिका प्राय एक है। पाधरी पद्धरी या पद्धटिका का ही रूपान्तर है। इनमें दूहा अथवा दोहा और पद्धरिया अपभ्रंश के अवशेष हैं तथा छप्पय ने हिन्दी तक विकासित है। इन सब में वे तत्त्व विद्यमान हैं, जिनका जन्म लोक-क्षेत्र में हुआ तथा जिन्हें कवियों तथा साहित्यकारों ने पहले लोक-क्षेत्र से लेकर अपनाया फिर उन्हें शास्त्रीय दृष्टि से संस्कार प्रदान किया।

यह प्रश्न प्रस्तुत होता है कि छन्द का नाम पहले पड़ा या वस्तु के कारण छन्द ने नाम ग्रहण किया। लोक-साहित्य के सामान्य पर्यवेक्षण से यह विदित होता है कि बहुधा छन्द का नाम वस्तु के नाम पर रखा गया। आज लोक में प्रचलित गीतों को लीजिये ढोला, आल्हा, निहालदे, रसिया, होली, पवाड़े, साके, एकानेक लोक-गीत अपने विषयों के नाम पर ही गीत के प्रकार को भी अभिहित करते हैं। ऐसे गीत साहित्यिक अभिव्यक्ति के अद्वैत को सिद्ध करते हैं। स्वर, वस्तु और अनुभूति तीनों एक साथ एक-दूसरे से अविच्छिन्न ही अवतीर्ण होते हैं। लोक-गीतों में आज भी यह तथ्य विद्यमान है, उनमें प्रत्येक गीत का अपना पृथक् राग होता है। चन्द्रावली का अपना राग है और वह चन्द्रावली राग ही है। 'बिजनारी', भातना, रतजागा, लटवा—ये सभी वर्ण्य विषयों के नाम हैं, पर प्रत्येक का राग निजत्व रखता है और वही नाम राग का भी रखा जा सकता है। साहित्य के जिन रूपों में ऐसे छन्दों और विषयों का तादात्म्य अथवा अद्वैत है, वे भी लोक-प्रवृत्ति की प्रबलता के साक्षी हैं।

छन्दों के उपरान्त 'गीतों' के नाम पर काव्य-रूप मिलते हैं। इन गीतों की स्थिति भी छन्दों की भांति का विकास प्रस्तुत करता है। रसिया, होरी अथवा फाग में 'गीत' और वस्तु का तादात्म्य है और वस्तुत इन रूपों का नामकरण उनकी वस्तुओं के कारण ही हुआ है, किन्तु आज वह गीत का अपना नाम हो गया है, इसीलिए होली विषय का वर्णन यदि किसी अन्य गीत में होगा तो उस गीत को होली नहीं कहा जायगा। इसी प्रकार 'होली' राग में होली वर्णन के अतिरिक्त भी कोई अन्य वर्णन होगा तो वह होली ही कहलायेगा। वस्तुत तो होली विषय और होली गीत में अद्वैत ही है। होली के वर्णन की आत्मा होली गीत में ही है।

गीतों में सामान्यत छन्दों से अधिक लोक-तत्त्व विद्यमान रहता है। गीतों में वस्तुत लोक का भावुक और मर्मस्पर्श अभिव्यक्त होता है। एक-एक भावकण के लिए एक स्वतन्त्र गीत अवतरित होता है। छन्द जहां कथा जैसी प्रबन्धात्मकता या वर्णनात्मकता के लिए उपयोगी सिद्ध होता है, वहीं गीत भावोच्छ्वासों के लिए। गीतों में जब गीतों का रूप, वर्णन से पृथक् अस्तित्व की आकांक्षा करने लगता है तब शास्त्र के हाथों पड़कर संगीत कला के बीज पड़ने लगते हैं, तथा ताल और स्वर के विविध संयोगों को राग-रागिनियों के नाम दिये जाते हैं। उसके नियम खोज लिये जाते हैं और उनके अभ्यास की जटिल प्रणाली निर्धारित हो जाती है।

किन्तु इस शास्त्रीय प्रवाह के साथ लोक-प्रवाह निरन्तर रहता है। लोक-प्रवाह शास्त्रीय नियम और नाम की परवाह नहीं करता। पद-साहित्य का इतिहास बतलाता है कि इसका जन्म लोकभाषा या लोकक्षेत्र था, और जिस सम्प्रदाय ने सबसे पहले लोकसम्प्रदाय अथवा लौकिक-धर्म की प्रतिष्ठा का उद्योग किया उसने जहां लोकभाषा को अपने सम्प्रदाय का माध्यम बनाया वहीं उसी लोक परम्परा में प्राप्त गीत अथवा पद को भी चुना। बौद्ध सिद्धों ने पदों को अपनाया, नाथों ने अपनाया, फिर सन्तों ने अपनाया। इसी प्रकार आचार्यों, बाउलों ने पद गाये और उनकी परम्परा में वैष्णव सन्तों ने इनमें अत्यन्त ही उत्कर्ष प्रकट किया। ये शास्त्रीय सौन्दर्य और शास्त्रीय तात्विकता से अभिमण्डित हुए, लोक-वेद की खाई पाटने का काम किया गया। ये सभी सम्प्रदाय लोकतत्वों पर पोषित हुए हैं। इन्होंने ही लोक-तत्त्वों को समन्वित करने का उद्योग किया, लोक की विजय वैजयन्ती को बिना झुकाये। इन लोक-सम्प्रदायों की वाणी, शब्द या सबद आदि नामों से अभिहित हुई। उनमें ही इन सम्प्रदायों के अग्रणियों ने अपने सिद्धान्तों की आध्यात्मिक अनुभूति प्रस्तुत की। ये पद प्राय दो वर्गों में बंटे १ निर्गुण वाणी तथा २ सगुण गान। और इन दोनों वर्गों में लोक की अनुकूलता निरन्तर बनी रही। एक ने लोक की आस्था को लोकपरिभाषा और लोकविवेक के साथ संयुक्त करके गीतों का प्रचलन किया, दूसरे ने सगुण के आध्यात्मिक सौन्दर्य की मूर्त कल्पना को लोकभाव से अभिमण्डित कर दिया।





शैलीगत रूपो मे 'अखरावट' पर ध्यान जाता है। अखरावट अथवा अक्षरावृत स्वभावत शास्त्रीय प्रवृत्ति से सम्बन्धित है। अक्षर-क्रम से अक्षरो को आदि मे लेकर किसी चरण की अथवा छद की अथवा काव्य-खड की रचना करने मे जिस श्लिष्ट मनोवृत्ति का उपयोग होता है, वह मूलत शास्त्रीय विदित होती है। पर वस्तुत ऐसा नही है। अखरावट जैसी रचनाओं के मूल मे शब्द ब्रह्म नही, अक्षर ब्रह्म की वह धारणा व्याप्त है जो आदिम मनुष्य के ऐनिमिस्टिक पदार्थ—आत्म-तत्त्व से सम्बन्धित है, साथ ही जो उस अक्षर—आत्म मे अकारण रूप कार्यकारण परम्परा मे किसी ऐसे तत्त्व की स्थिति मानती है जो उस अक्षर से आरम्भ होता है।

ना—नारद यह रोय पुकारा।
कि जुलाहे से मैं हारा। आदि

'ना' का नारद से सम्बन्ध उक्त लोक तत्त्व से ही चरितार्थ हुआ है। इस प्रवृत्ति के फलस्वरूप 'अक्षरो' मे सजीवित आत्म-शक्ति का विश्वास प्रकट होता है। जो केवल अक्षर अथवा शब्द विषयक शास्त्रीय खिलवाड नही रह जाती। शैलीगत मे अनामिका और ढकोसला तथा मुकरी पर भी ध्यान जाता है। इन तीनों का जन्मदाता अमीर खुसरो माना जाता है। अमीर खुसरो का जन्म एटा मे हुआ था, वह जन्म से व्रज-क्षेत्र के थे। व्रज मे अनामिका और ढकोसला का एक प्रबल प्रवाह प्रवाहित है। यहा से अमीर खुसरो ने इन्हे लिया होगा। क्योंकि इनमें अमीर खुसरोपन नही दीखता है।

विषय अथवा वस्तु के आधार पर खडे किये गये रूपो मे नहछू अथवा मगल विशेष रूप मे दृष्टव्य है। ये दोनो लोक तत्त्व पर निर्भर हैं। 'नहछू' एक सस्कार है। उस सस्कार पर जो गीत गाया जाता है, वह 'नहछू' कहा जाता है। उसका गीत-रूप-नाम अभिन्न है। वह वस्तु भी पूर्ण लौकिक है।

मगल का सम्बन्ध विवाह से होता है। विवाह के अवसर पर ही यह मगलगीत गाया जाता है। असस्कृत जातियो में तो इस मगल गीत को ही मन्त्र का स्थान मिला हुआ है और उसमे दी गयी विधियों से ही भावरें पड जाती हैं। इस प्रकार मगलगीत मूल मे लोकप्रवृत्ति के ही परिणाम हैं। मगल का दूसरा नाम 'व्याहुलो' भी है। यही स्थिति सोहर की है। 'सोहर या सोहिले' 'सोभर' अथवा सौरिगृह के गीत हैं जो सतान के जन्म के समय गाये जाते है। सख्या के आधार पर 'रूप' वस्तुत मुक्तक के ही भेद हैं। क्योंकि उनमे मुक्तक छन्दो पर मुक्तक विषयो पर रचना रहती है, पर छन्दो की सख्या बोध हो जाती है। जैसे पच्चीसी, शतक, सतसई, दशक आदि। इन सख्याओं का रूप विशेष से सम्बन्ध नही माना जा सकता। यह रूप—विभाजन अथवा नामकरण कोई विशेष अर्थ नही रखता। केवल रचना की सख्या का ज्ञान कराता है।

इस प्रकार यह स्पष्ट विदित होता है कि इस काल के प्राय समस्त रूपो का मूल लोक-क्षेत्र मे था। इन रचनाओं का विषय भी लोक-वस्तु से लिया गया था और अनेक व्यक्त सिद्धान्त भी लोक-मानस से घनिष्ठत सम्बन्धित थे। रीतिकाल के पूर्व का हिन्दी-साहित्य-लोकक्षेत्र से घनिष्ठरूपेण सम्बन्धित था। उस काल के पूर्व की प्राय समस्त साहित्यिक-निधि लोक मे मौखिक रूप मे सुरक्षित सामग्री मे से सकलित की गई थी और ऐसी महान् प्रतिभाओं ने उन्हे परिनिष्ठित क्षेत्र मे स्थापित करने की चेष्टा की जो स्वय लोकक्षेत्र के अश थे जिन्हे समस्त पाडित्य लोकक्षेत्र के प्रवाह मे से ही मिला था।

कबीर, जायसी, सूर, तुलसी सभी ऐसे थे जो महावीर की दृष्टि से 'मसि-कागद' नही छूते थे। जिनके व्यक्तित्व का समस्त मौलिक निर्माण लोकप्रवाह मे हुआ था। इन और इनकी परम्परा के सभी कवियों की स्थिति लोक-कवियो की स्थिति थी। इनके काव्य के समस्त ताने-बाने मूलत लोक के ताने-बाने थे। उस पर कहीं-कहीं कभी मनीषी-परिष्कार किया गया। अत सन्त सम्प्रदाय, कृष्ण सम्प्रदाय, राम सम्प्रदाय, और प्रेमगाथा प्रभृति सभी का साहित्य लोकभूमि के अत्यधिक निकट है।

लोककला का आधुनिक कला पर प्रभाव



श्री ओ३म्प्रकाश जोशी

प्राध्यापक समाजशास्त्र,
राजकीय महाविद्यालय, भीलवाडा (राज०)

संस्कृति एक व्यक्ति अथवा समूह द्वारा दिये गये सामाजिक, व भौगोलिक वातावरण से सामंजस्य स्थापित करने का साधन है जिसके द्वारा व्यक्ति अपनी आवश्यकतापूर्ति का साधन प्राप्त करता है। यह एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तान्तरित की जाती है ताकि हर आने वाली पीढ़ी हर ज्ञान को नये सिरे से नहीं खोजे अपितु संकलित ज्ञान का उपयोग करे व उसमें अपनी खोज के अनुसार वृद्धि करे। संस्कृति उप-संस्कृतियों में बटी हुई हो सकती है। अध्ययन की दृष्टि से संस्कृति को तीन मुख्य भागों में बाटा जा सकता है। (१) उच्चवर्गीय संस्कृति (२) लोक संस्कृति (३) जनजातीय संस्कृति। प्रथम दो संस्कृतियां निरन्तर अन्तक्रिया करती रही हैं। लोकसंस्कृति एकाकी अथवा उच्चवर्गीय संस्कृति से कटी हुई नहीं है। भारत की अधिकतर जनता इसी संस्कृति में जीती है तथा ऐतिहासिक परिवेश में भी लोकसंस्कृति का अपना महत्त्व रहा है। यह संस्कृति मुख्य रूप से मौखिक आदर्शों, विचारों कथानकों पर आधारित है, परन्तु उच्चवर्गीय लिखित संस्कृति का सरल रूप ही लोक-संस्कृति के आदर्श बने हैं। लोकसंस्कृति को बिना उच्चवर्ग की संस्कृति के जाने नहीं समझा जा सकता। वेद, गीता, शास्त्र आदि यद्यपि उसी रूप में लोक-संस्कृति के अंग नहीं है जिस रूप में उच्चवर्गीय संस्कृति के, परन्तु लोकसंस्कृति के प्रेरणा-स्रोत ये ही हैं। परन्तु यह सोचना भी गलत होगा कि लोकसंस्कृति केवल उच्चवर्गीय सांस्कृतिक गुणों के सरलीकृत रूप को अपना लेती है। इसके विपरीत लोकसंस्कृति के गुणपरिष्कृत रूप में उच्चवर्गीय संस्कृति द्वारा अपना लिये जाते हैं।

यह सोचना कि लोकसंस्कृति आविष्कारहीन है अथवा उच्चवर्गीय संस्कृति का सरल अनुकरण मात्र ही, उपयुक्त नहीं है। लार्ड रेगलन व प्रो० रेडफील्ड के इस कथन को पूर्ण सही नहीं माना जा सकता कि लोकसंस्कृति जो छोटी परम्परा है उच्चवर्गीय संस्कृति अथवा महान् परम्परा का अनुकरणमात्र ही है। लोकसंस्कृति व उच्चवर्गीय संस्कृति में दो तरफा अन्तक्रिया होती रही है। इस विचार को स्पष्ट करने हेतु लोकसंस्कृति के महत्त्वपूर्ण पक्ष लोक-कला, का अध्ययन व उसका आधुनिक कला पर क्या प्रभाव पड़ा है यह जानने का यत्न किया गया, ताकि इस प्रकिया को जाना जा सके कि लोकसंस्कृति जिसे केवल अनुकरण मात्र कहा गया है कितनी सृजक भी है। लोकसंस्कृति का व्यापक आयाम में लोककला के माध्यम से अध्ययन किया गया है। लोकसंस्कृति का रूप व आयाम भाषा व भौगोलिक बाधाओं से सीमित नहीं हुआ है जैसा कि हम अनेक उदाहरणों के आधार पर देखेंगे। लोकसंस्कृति केवल ग्रामीण समाज तक ही सीमित नहीं कही जा सकती। शहर व नगर के निम्नवर्गीय लोग भी लोकसंस्कृति में जीते हैं। इसी प्रकार भारत में उच्चवर्गीय समाज की स्त्रियां भी लोकसंस्कृति अपनाये रहती हैं। इस रूप में लोकसंस्कृति का अपना क्षेत्र बहुत ही विस्तृत है। इस लेख में लोकसंस्कृति को लोककला के माध्यम से समझने का यत्न किया गया है।

लोककला किसे कहें ?

इस प्रश्न के उत्तर में यह कहा जा सकता है कि लोककला लोकमानस की सृजनात्मक अभिव्यक्ति है। लोक-मानस सरल व स्पष्ट है तथा उसके विचार वादों के झमेले से दूर है। लोककला आडम्बरहीन तथा स्पष्ट है व अभिव्यक्ति का प्रत्यक्ष माध्यम है। परन्तु इतना कहना लोककला की विशेषताओं को स्पष्ट नहीं कर पाता। लोक-



कला जितनी सरल दीखती है उतनी वास्तव मे है नही। लोककला को समझने के लिये कुछ परम्पराओ की जानकारी आवश्यक हो जाती है क्योकि कला धीरे-धीरे एक स्थायी स्वरूप ग्रहण कर लेती है तथा कला का यह परम्परागत स्वरूप (conventionalized form) यथार्थ से दूर होता चला जाता है जिसे सहज ही समझना कठिन हो जाता है। जैसे त्योहार पर बनाया जाने वाला श्रवण का चित्र इतना ज्यामितिक हो गया है कि केवल तीन रेखायें ही श्रवण व उसकी कावड के प्रतीक हो गये हैं। इसी प्रकार लोक चित्रो मे प्रयोग किये जाने वाले – भिन्न २ प्रतीक गूढ अर्थ वाले बन जाते है।

चित्रो के स्वरूप यद्यपि अनौपचारिक रूप से परम्पराओ द्वारा नियन्त्रित होते है परन्तु चित्रकार उनमे अपनी सृजनात्मक प्रतिभा के कारण बहुत परिवतन लाते रहते हैं।

लोककला धार्मिक भावनाओ से ओतप्रोत है तथा इसमे धार्मिक कथा या लोकदेवताओं की कथाओ का चित्रण किया गया है। ये चित्र जिनमे कथायें चित्रित है अपने मे एक चित्र होते हुये भी चलचित्र मे दिखलाई देते है। लोक-कलाकार एक विस्तृत कपडे पर लोकदेवता, लोकनायक या किसी प्रेमकथा का प्रदर्शन चित्रो के माध्यम से करता है। राजस्थान मे मुख्य रूप मे ऐसे चित्र पड कहलाते हैं। जिन्हे नक्शे की तरह लपेट कर रखा जाता है, लोक गायक इस लिपटे 'पड' चित्र को प्रदर्शन हेतु खोलता जाता है व सगीत के माध्यम से कथा कहता है। गीत को सरस बनाने के लिये एकतारा वाद्य या रावणहत्या का प्रयोग किया जाता है। राजस्थान के 'पडो' के विषय लोकदेवता देवनारायणजी, रामदेवजी, तेजाजी व पाबूजी है। उनकी शौर्य-गाथा का वर्णन गीतो के माध्यम से किया जाता है। गायक मण्डली एक परिवार होता है जो गीत के बोलो को थोडा २ गाते जाते है व उन्हे चित्रो मे दिखाते हैं।

राजस्थान के अलावा अन्य प्रान्तो मे भी लोककला प्रचलित रही है। महाराष्ट्र मे लोककला का विकास बहुत सुन्दर रूप मे हुआ है। महाभारत का अकन बडे बडे पड चित्रो मे व दीवारो पर किया गया है। महाभारत के अश्वमेध के वर्णन को चित्रो मे अकित किया गया है। कथा को स्थानीयकरण करने की प्रवृत्ति लोककथाकार व कलाकार मे रही है। जैसा कि 'मेकिम मेरियट' ने अपने अध्ययन मे बतलाया है कि लोक-सस्कृति अखिल भारतीय-सस्कृति का स्थानीयकरण कर लेती है। इसी प्रकार स्थानीय-सस्कृति का गुण अनेक बार अखिल भारतीय हो जाता है। यह प्रवृत्ति लोक-कला व आधुनिक कला के सदर्भ मे भी देखी जा सकती है।

लोककला की विशेषता उसका सरल रूप है। स्थानीय रगो मे सपाट आधारो पर चित्र बनाये जाते हैं। लोककला के चित्र स्थानीय पर्यावरण से प्रभावित होते हैं। ये चित्र आडम्बरहीन होते है। तकनीक की दृष्टि से विभिन्न रगो को रेखाओ से बाधा जाता है। ये रेखायें गहरे रग, मुख्य रूप से काले रग से बनाई जाती है। अनेक बार चित्र बनाते समय पहले रेखाओ से चित्र बनाया जाता है। उसमे रग भर दिये जाते हैं। परम्परागत तरीके म पहले रग भर कर रेखाओ से बाधा जाता है। रगो की दृष्टि मे लोक-कला मे सीमित रगो का प्रयोग होता है। भूरा, गेरुवा, सफेद, काला रग ही प्रमुख होते हैं। छाया व प्रकाश को बतलाने की प्रवृत्ति लोककला मे नही है। रग सपाट अमिश्रित होते है तथा चित्र से आकारो की बहुतायत रहती है। पशुओ मे घोडे, हाथी आदि का चित्रण बहुतायत से हुआ है। खाली स्थानो को विभिन्न रगो की मोटी रेखाओ द्वारा भरा जाता है। लोककलाकार नई तकनीको को अपनाता है पर उन्हे परम्परा मे बाध लेता है। लोककला के आकार स्थानीय रग मे रगे होते है। अत एक ही नायक अलग-अलग स्थानो पर अलग २ रूप से अकित होता है। जैसे महाराष्ट्र मे कृष्ण को महाराष्ट्रीय धोती व गहनो मे अकित किया गया है और उसके चेहरे पर मूछे भी अकित की गयी है। इसी प्रकार अर्जुन मूछ-दाढी से युक्त व विशिष्ट पगडी पहने हुये है। परतु सब लोगो की आखो का आकार एक जैसा है। राजस्थान के पड चित्रो मे भी यहा की वेश-भूषा व आकारो का दर्शन होता है। स्त्री-पुरुषो का पहनावा स्थानीय व्यवहार से प्रभावित है। अलौकिक शक्तियो या नायको का चित्रण अद्भुत आकार में किया गया है। जैसे—राक्षस का आकार बहुत बडा, सीग वाले चेहरे से चित्रित किया है। धनुष, तलवार व वाद्य-वादन के साधन भी लोकसस्कृति के तत्व है जो चित्रण के अग बने है। चित्रण मे पशुओ को आलकारिक रूप दिया गया है। गर्वोन्नत सिर वाले घोडे गहनो व रगो मे सजे हुये है। इसी प्रकार सारे

चित्रण में आलंकारिकता है। युद्ध के दृश्य भी इस दृष्टिकोण से नहीं बचे हैं। एक योद्धा द्वारा चलाये गये तीर ऐसे दिखाये गये हैं, जिनसे एक आलंकारिक डिजाइन का भ्रम होता है। यहां तक कि एक को छोड़कर दूसरे तीर का रंग भी भिन्न कर रखा गया है। संक्षेप में लोककला एक सरल स्पष्ट कम रंगों वाली परन्तु आलंकारिक कला है। राजस्थान में यह कला घर की दीवारों तथा विभिन्न त्यौहारों व उत्सवों पर बनाये जाने वाले चित्रों में भी देखी जा सकती है। राजस्थान में लोककला के विविध रूप हैं। जैसे—१ पड़ चित्रण २ त्यौहारों अथवा विवाह पर भित्ति चित्रण ३ आंगन में ज्यामितिक चित्रण विविध रंगों से माण्डणे बनाये जाते हैं जो प्रतीकात्मक होते हैं। लोककला का उपयोग कपड़े को कसीदे से सजाने व उन पर कसीदे के चित्र बनाने के लिये भी किया जाता है। कुम्हार अपने बर्तनों पर रेखा-चित्रों का निर्माण कर उन्हें सुन्दर रूप प्रदान करता है।

लोककला व आधुनिक कला का क्या सम्बन्ध है? इसे जानने के लिये आधुनिक कला के विकास का थोड़ा इतिहास आवश्यक है। आधुनिक कला का प्रारम्भ पश्चिमी समाज में हुआ है। आधुनिक-जीवन को आधुनिक-विधियों में चित्रित करना व जीवन के विभिन्न भाव-पक्षों को स्पष्ट रूप में अभिव्यक्त करना आधुनिक कला का उद्देश्य रहा है जिसके लिये नये-नये तकनीकों का विकास किया गया है। कला में अभिनव विषय, साधन व तकनीक अपनाये जाने लगे हैं। आधुनिक कलाकारों ने नये विषयों को तो खोज निकाला, परन्तु तकनीकों व शैली के बारे में उन्हें लोक-कला व आदिवासी-कला के तकनीक का सहारा लेना पड़ा। पिकासो आदि की कला कृतियों से प्रभावित हुये, जिनमें आकार ही महत्वपूर्ण रहा है, न कि निर्माण का तकनीक। इस प्रकार लोक-कला को भी थोड़े बहुत सुधार के साथ आज विशिष्ट वर्ग की कला का स्थान दिया गया है। इस सदर्भ में भारत में होने वाले कला के इस परीक्षण का एक संक्षिप्त सर्वेक्षण किया जा सकता है।

भारतीय कला पुराने समय में भी निरन्तर लोककला से प्रेरणा लेती रही है। जैनशैली लोककला के अत्यन्त निकट है जिसमें ज्यामितिक रूपों व आकृतियों का सरलीकरण है। आखें दोनों ही दिखाई गई हैं यद्यपि चेहरा सवा चश्म दिखलाया गया है। आखों का रूप स्थिर है व सब ही आकृतियों में आखों की बनावट एकरूपी है जो लोककला की विशेषता है। रंगों में भी गहरे जैसे गेरू व लाल रंग का प्राथमिक रंगों का आधिक्य है। आकृतियों व चित्र की पृष्ठभूमि सपाट है जिसमें मुगल शैली जैसी बारीकी नहीं है। न अजन्ता जैसा लालित्य है यह कहना कि जैन शैली अजन्ता की ही अपभ्रंश शैली है उचित नहीं कहा जा सकता। मेरा अनुमान है कि यह प्रचलित लोककला का थोड़ा परिष्कृत रूप मात्र है। यह शैली अजन्ता से नीचे की ओर नहीं आयी अपितु सामान्य जन की शैली ऊपर की ओर गयी है। लोककला का उपयोग पढ़े-लिखे लोगों ने विशिष्ट उद्देश्य के लिए करना प्रारम्भ कर दिया था। अतः यह कहने में कोई अतिशयोक्ति नहीं है कि जैन शैली की उत्पत्ति का आधार प्रचलित लोककला ही था। मुगल शैली फारस से प्रेरणा पाती रही तथा जहांगीर, शाहजहां के काल तक भी फारस शैली का पूर्ण भारतीयकरण नहीं हो पाया। एक विदेशी दृष्टिकोण व भारतीय विषय वस्तु का मिश्रण उपयुक्त नहीं हो सका। चित्रों के पात्र अनेक बार निर्जीव अथवा भावरहित लगते हैं। मुगल शैली के चित्र भीड़ भरे व बारीकी लिये हुये रहे। यह शैली स्पष्टतः विशिष्ट वर्ग की शैली ही रही। मुगल दरबार के वैभव के विनाश के साथ-साथ मुगल चित्रकारों ने कांगड़ा की घाटियों में शरण ली और चित्रकला की पहाड़ी शैली का विकास हुआ ऐसा माना जाता है। यद्यपि यह पूर्ण सत्य नहीं है। यदि मुगल चित्रकार ही पहाड़ी कला के प्रणेता रहे तो प्रश्न यह है कि विशिष्ट शैली का उदय क्यों हुआ? सामान्य उत्तर यह हो सकता है कि स्थानीय भौगोलिक व सामाजिक वातावरण का प्रभाव पड़ा होगा परन्तु चित्रों को देखकर स्पष्ट हो जाता है कि पंजाब के ३८ राज्यों की चित्रकला में से केवल कांगड़ा व बसोली की ही कला वहां के भौगोलिक वातावरण से स्पष्ट प्रभावित दिखाई देती है। अन्य राज्यों की कला में लोककला के सपाटपन, सरलता व प्राथमिक रंगों का उपयोग ही लगता है। अतः यह सम्भव है कि मुगल दरबार से कुछ चित्रकार इस प्रदेश में आये हों जिनको कुछ रियासतों में संरक्षण मिला हो। जिनकी देखादेखी अन्य जागीरदारों या राजाओं ने स्थानीय लोककलाओं को दरबारी चित्रकार का दर्जा दिया हो और अधिक परिश्रम नवीनता व राजकीय इच्छा से प्रभावित हो लोककला का यह विशिष्ट रूप उभरा हो। यह बात राजस्थानी कला के लिये भी कही जा सकती है जिसमें विभिन्न रियासतों के कलाकारों ने



स्थानीय कला को विशिष्ट दर्जा दिया । राजस्थान के राजे-महाराजे मुगल दरबार मे जाते रहे जहा उन्होने बादशाह मे कला के प्रति सम्मान की भावना पाई । उसी का अनुकरण कर इन लोगो ने उन कलाकारो को जो लोक-जीवन को चित्रित करते थे, विशिष्ट कला के चित्रकार बना दिया । अत यह कहना उचित है कि लोककला को अनक बार अपने उसी रूप मे अथवा परिष्कृत रूप मे उच्चवर्गीय कला बनाने का श्रेय राज्यो को रहा है ।

इस प्रक्रिया को आधुनिक कला के सन्दर्भ मे और भी अच्छी तरह परखा जा सकता है । भारत मे आधुनिक युग का प्रारम्भ १८४० ई० मे कलागुरु अवनीन्द्रनाथ के कला के पुनरुत्थान के प्रयत्न मे हुआ । अजन्ता व राजपूत शैली को शुद्ध कला मानकर उस स्तर तक पहुचने का प्रयत्न किया गया । शान्तिनिकेतन मे अवनिबाबू के अनक शिष्य रहे जिन्होने उनके दृष्टिकोण को ग्रहण किया । दूसरा प्रयत्न अमृता शेरगिल व गगनेन्द्रनाथ ठाकुर द्वारा हुआ जिन्होने पश्चिमी तकनीक को अपनाया व भारतीय विषयो का चित्रित किया । परन्तु दोनो ही आन्दोलन अकादमिक अधिक हो गये । जिन्हे सामान्यजन व विशिष्ट-समाज अधिक समय तक सहारा नही दे सके । जेमिनीराय ने इस आन्दोलन के प्रति प्रतिक्रिया की तथा कला मे सरल आकृतियो को अपनाया । लोकशैली का परिष्कार कर उसे विशिष्ट शैली का रूप दिया । चित्रो व लोककला के रूपो को उन्ही आकारो मे तथा वैसे ही रगो से अधिक बारीकी व सुघडता के साथ अकित किया गया यद्यपि अलकरण का वही रूप बना रहा जो लोककला मे होता है । एक-सी आकृतिया प्राथमिक व गहरे भूरे रग तथा रगो का सपाट प्रयोग बना रहा । जेमिनीराय के समान ही श्रीनिवासलु नरसिंहम्मा व अन्य चित्रकारो ने भी लोककला का वैसा ही रूप अपनाया । परन्तु यह शैली भी कला का प्रचलित रूप नही बन सकी । क्योकि इसकी समानरूपता उबा देने वाली है । आधुनिक कलाकारो ने कला मे लोक-कला के तत्वो का अधिक अच्छा व सृजनात्मक प्रयोग किया है । जेमिनीराय की तरह इसे लोककला का परिवर्तन मात्र ही नही कहा जा सकता । आधुनिक कलाकारो ने लोककला को पचा लिया है तथा उनकी कल्पनाशीलता ने नये आयामो को जन्म दिया है । नये रूप व बिम्बो का भी निर्माण हुआ है ।

पद्मश्री मकबूल फिदा हुसेन अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति-प्राप्त चित्रकार हैं जो लोककला से प्रभावित हैं । प्रारम्भ मे उन्होने एक खिलौने बनाने वाले के रूप मे कार्य किया तथा वहा से लोकपरम्परा को उच्चवर्गीय कला मे स्थापित किया । इसका तात्पर्य यह नही है कि वे लोककलाकार ही है । रग, नये रूप व आकारो की सरलता की प्रेरणा उन्हें लोककला से मिली पर इन रूपो को वैसे के वैसे ही बनाये रखने के बजाय उन्होने इसे पचाकर प्रस्तुत किया । राजस्थानी लोककला मे घोडे का चित्रण बहुतायत से हुआ है । हुसेन ने घोडे का अकन बहुत ही सशक्त रूप से किया । घोडा तथा नारी उनके प्रसिद्ध चित्र है । बून्दी, चित्तौड व जैसलमेर पर बनाई गई फिल्म 'Through the painter's eye' उनकी प्रसिद्ध फिल्म है, जिसमे उन्होने लोक-कला व लोक-जीवन के बिम्बो को उभारा है ।

इसी प्रकार स्वामीनाथन ने तान्त्रिक प्रतीको को नये रूप मे प्रस्तुत किया है । श्री लक्ष्मण पै ने रामायण, महाभारत व रागमालाओ का चित्रण नयी शैली मे किया है ।

मूर्तिकला के क्षेत्र मे भी राम-किंकर, धनराज भगत, अमरनाथ सहगल, रमनपटेल व अन्य मूर्तिकारो की कृतियो मे लोक-कला का प्रभाव झलकता है यद्यपि इन मूर्तिकारो मे अन्धी नकल की प्रवृत्ति नही रही है । उन्होंने सृजन के नये आयामो को समझा है तथा परम्परा को पचा कर नयी कृतिया प्रस्तुत की हैं । राजस्थान मे लोककला का प्रभाव आधुनिक कलाकारो की कृतियो मे स्पष्ट देखा जा सकता है । श्री गोवर्धनलाल जोशी, रामनिवास वर्मा व कृपालसिंह शेखावत के चित्र लोककला की अभिव्यक्ति-शक्ति को पचा कर प्रस्तुत करते हैं ।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि लोककला केवल उच्चवर्गीय सस्कृति का सरलीकृत रूप ही नही है अपितु स्वय मे मौलिक, सृजनात्मक रही है तथा लोकसस्कृति की मौलिक उपज को व खोजे गये तत्वो को उच्चवर्गीय सस्कृति ने सुधार कर परिष्कृत कर अपना लिया है । मूल रूप मे लोक-सस्कृति जनमानस की अभिव्यक्ति है । लोक सस्कृति जड-मात्र नही है । यह सक्रिय व नये तत्वो की उत्पादक है । नयी परिस्थितियो के साथ चल सकने की सामर्थ्य भी लोक-सस्कृति मे है क्योकि यह सृजनात्मक है ।

सांस्कृतिक-समन्वय के प्रतीक : उत्सव

श्रीमती कमला पंचोली
किशनगढ़ (राज०)



उत्सव 'सव' या यज्ञ के विविध रूपों में विकसित हुए हैं। उत्सव शब्द का अर्थ है—सव या यज्ञ का उत्कृष्ट रूप। युगानुवर्तन के साथ-साथ समाज में आये हुए परिवर्तन ने 'सव' को उत्सव बना दिया। भारतीय मान्यता के अनुसार समाज का संगठन ही पुरुष-यज्ञ के रूप में हुआ है। ऋग्वेद के पुरुषसूक्त में अनन्त सिर, चक्षु, पाद आदि से विभूषित समाज रूपी यज्ञ-पुरुष का वर्णन मिलता है। समाजोपयोगी प्रत्येक कार्य भारत में यज्ञ संज्ञा का अधिकारी बन जाता है। इसी मान्यता के अनुसार महाकवि कालिदास ने नाटक को चाक्षुष-यज्ञ कहा है।

यज्ञ अनेक प्रकार के हैं, परन्तु उन सभी के मूल में समाज के विभिन्न घटकों में समन्वय स्थापित करने की बात सन्निहित है। इस प्रकार की प्रेरणा पिण्ड और ब्रह्माण्ड में चलने वाले आध्यात्मिक और आधिदैविक यज्ञों से मिलती है। शरीर में चलने वाले चेतना के यज्ञ में विभिन्न इन्द्रियाँ आत्मा में आहुति दिया करती हैं। सारा कार्य-व्यापार मन, प्राण और वाक् के स्तर पर सुसंगठित रूप से चला करता है। यज् धातु देवपूजा, दान और संगतिकरण अर्थ में प्रयुक्त होती है। शरीरस्थ यज्ञ में यज् धातु से संकेतित तीनों भावों की संगति देखी जा सकती है। प्रत्येक इन्द्रिय अपने विषय का ग्रहण करके आत्मा के प्रति समर्पित करती है। इसमें पूजा और दान का भाव समाविष्ट हो जाता है। सारा शरीर व्यवस्थित ढंग से कार्य करता रहता है यही संगतिकरण है। ब्रह्माण्ड में विविध देवशक्तियाँ पंच भूतों में व्याप्त एक प्रजापति देव के लिए आहुति प्रदान करती रहती हैं और सारे ब्रह्माण्ड में व्यवस्था बनी रहती है। समाज को सुव्यवस्थित करने के लिए इन यज्ञों के अनुकरण पर समाज में विविध यज्ञ चले, यथा - नृमेध, अश्वमेध, गोमेध आदि। नर-वृद्धि प्राप्त करने के उद्देश्य से ब्राह्मण नृमेध, शारीरिक और सैन्य बल का संगठित करके समाज में न्याय स्थापित करने के लिए क्षत्रिय अश्वमेध और प्रजा-वृद्धि को पाने के लिए लोग गोमेध किया करते थे। इन्हीं से आगे चलकर विविध आलम्भ-यज्ञ विकसित हुए। आलम्भ-यज्ञ ही आगे उत्सव-समारम्भों के रूप में समाज में प्रचलित हो गये।

वैदिक-परम्पराओं के अनुसार आलम्भ यज्ञों की व्यवस्था राजा या अन्य राजन्य किया करते थे। महाभारत (शान्तिपर्व २३३।२१) के अनुसार क्षत्रिय के लिए आलम्भ-यज्ञ, वैश्य के लिए हविर्यज्ञ, ब्राह्मण के लिए तपोयज्ञ और शूद्र के लिए परिचार्य-यज्ञ विहित है। यज्ञ की समृद्धि वेदमंत्रों का अभिरूपण करने से होती है। अभिरूपण या तो मंत्रोल्लिखित पदार्थ का निर्माण करके किया जा सकता है या बने बनाये उन पदार्थों का क्रय करके अथवा उन पदार्थों की भावना करके। पदार्थ विशेष की भावना मात्र करके उसकी उपयोगितादि को समझना और तदनुसार उसके निर्माण में योग देने का काम समाज के बुद्धिजीवी करते हैं। यद्यपि इन उपयोग में लाने वाले लोग समाज में बहु-संख्यक होते हैं, परन्तु अल्पसंख्यक होने पर भी उन उपयोगी पदार्थों का निर्माण करने वाले लोग समाज में विशेष स्थान के अधिकारी होते हैं। यज्ञ विशेषकर आलम्भ-यज्ञ में इन तीनों श्रेणियों के लोगों के मिलने का भावनात्मक आधार उपस्थित रहता है। क्षत्रिय शासक ऐसे समाज-सम्मेलन का आयोजन किया करते थे। कलियुग के प्रारम्भ में गणराज्य-व्यवस्था को प्रचलित होने का अवसर मिला क्योंकि पुराने राजवंश महाभारतयुद्ध में समाप्त हो गये थे। गणराज्य के लिए समाज-संगठन की आवश्यकता सर्वाधिक है। इसीलिए विविध गणराज्यों में यज्ञों के युग सापेक्ष उत्सव रूप का विकास हुआ। महाभारत में 'गणान् उत्सवसंकेतान्' शब्दों द्वारा गणजीवन के अभिन्न अंग उत्सवों की ओर संकेत किया



गया है। पुराणों और महाभारत से यह भी पता चलता है कि वैश्यों के उत्सव दीपावली का प्रारम्भ व्रजभूमि के वैश्य गणराज्य में हुआ था। वैश्यों के गणराज्य की सूचना 'वैश्यराट्' या वैश्यराष्ट्र शब्द से मिलती है। इसी तरह ब्राह्मण के श्रावणी-पर्व का सम्बन्ध ब्राह्मणों के सारस्वत गणराज्यों से था। नैमिषारण्य को भी पुराणों में 'ऋषिराट्' कहा गया है। वह ब्राह्मणों का सारस्वत-गणराज्य रहा होगा। तपोवन के ऋषि-आश्रम सारस्वत-गणराज्य ही हुआ करते थे।

विजयादशमी क्षत्रियों का उत्सव है। इसका प्रारम्भ आयुधजीवी और राजशब्दोपजीवी क्षत्रिय-गणराज्यों में हुआ। शूद्र वर्ण से सम्बद्ध होली पर्व का प्रारम्भ शूद्रगणीर गणराज्य में हुआ। यद्यपि चारों वर्णों के इन उत्सवों का सम्बन्ध विशिष्ट वर्ण से रहा है, परन्तु इनको मनाने का उद्देश्य समाज को संगठित और सुव्यवस्थित रखना था। इसलिए कालान्तर में ये सार्वजनिक उत्सव बन गये। क्षत्रियों के उत्सव क्षात्र-शक्ति को समाज के लिए विनियोजित करने के उद्देश्य से, ब्राह्मणों के उत्सव ब्रह्म-बल को सामाजिक हितकार्य में प्रवृत्त करने के उद्देश्य से वैश्यों के उत्सव वित्त को समाज के उपयोग में लाने के लिए विनियुक्त करने के उद्देश्य से और शूद्रों के उत्सव श्रम शक्ति का राष्ट्र-निर्माण के लिए उपयोग में लाने के उद्देश्य से प्रचारित हुए। इनका लाभ समाज के सभी वर्गों को मिलता था। इस-लिए सभी लोगों ने इन उत्सवों को अपना लिया और इस प्रकार ये उत्सव हमारे जातीय-जीवन के अंग और सांस्कृतिक-समन्वय के प्रतीक बन गये।

होली, दीपावली, श्रावणी-पर्व ऋषिपंचमी, विजयादशमी आदि उत्सवों के साथ किसी न किसी तरह से अग्नि का सम्बन्ध है। इससे स्पष्ट है कि ये वैदिक-यज्ञों की परम्परा के विकास हैं। वैदिक-परम्परा में वैष्णव, शैव, शाक्त और तान्त्रिक परम्परायें समाहित हैं। जैन और बौद्धों की श्रमण परम्परा वैदिक-परम्परा से भिन्न, किन्तु उसकी पूरक है। ये सभी परम्परायें इन उत्सवों में जैसे एक हो जाती हैं और इस प्रकार भारतीय समाज की एकता का परिचय देने का सेहरा इन उत्सवों के सिर पर बाँध देती हैं।

दीपावली—दीपावली सांस्कृतिक समन्वय का परिचय देने वाला सबसे बड़ा पर्व माना जा सकता है। श्रमण-परम्परा में दीपावली महावीर के निर्वाण-दिवस के रूप में प्रसिद्ध है। वैदिक परम्परा में पुराणों के अनुसार इसे उस दिन की स्मृति के रूप में मनाया जाता है जिस दिन मर्यादा पुरुषोत्तम राम रावण को मार कर अयोध्या लौटे थे। वामन रूपधारी विष्णु ने तीन चरणों से विश्व को नाप कर बलि को इसी दिन रसातल में भेज दिया—ऐसा कहा जाता है। इन परम्परागत बातों से पृथक् रूप से देखें तो भी दीपावली पर्व का महत्त्व कम नहीं ज्ञात होता। त्रयोदशी को धनतेरस के रूप में मनाया जाता है। आरोग्य-दाता धन्वन्तरि की जयन्ती के रूप में धनतेरस का महत्त्व है। इसका किसी सम्प्रदाय से कोई सम्बन्ध नहीं है। धन्वन्तरि का अर्थ है—मरुस्थल की नौका (धन्वन्+तरि)। नीरोगी काया ही मरुस्थल की नौका है। दीर्घायु पाने की अभिलाषा किसको नहीं होती? घर-आंगन की सफाई करके शरीर और सारे वातावरण को स्वच्छ बना कर और स्वास्थ्यप्रद भोजन करके आरोग्य लाभ किया जा सकता है। लोक में ऐसा करके ही धन्वन्तरि की जयन्ती मनायी जाती है। नरक चतुर्दशी का रूप चौदस भी कहा जाता है। कृष्ण ने नरकासुर को इसी दिन मारा था। जो रमणीय और कमनीय न हो उसे ही नरक कहा जाता है। असुन्दर को जीत कर सुन्दर-जीवन का निर्माण करना—यही रूप-चौदस की पृष्ठभूमि में निहित भावना है। अमावस की घोर अन्धेरी रात में अगणित दीप जलाकर ज्योतिर्मय-जीवन की साधना में जुट जाना मानव की अपराजेय निष्ठा का द्योतक है। इस दिन सामाजिक-जीवन में लक्ष्मी का आह्वान करने के लिए वैयक्तिक-जीवन में श्री साधना की जाती है। समाज की शक्ति लक्ष्मी है और व्यक्ति के जीवन की सूत्रधारिणी श्री। जब व्यक्तित्व में सत्य, दया, क्षमा, करुणा, विनय, श्रद्धा आदि मानवीय भावों के विकास के साथ चारित्रिक दीप्ति जागती है तभी समाज में समृद्धि की अधिष्ठात्री लक्ष्मी का आविर्भाव होता है। श्री और लक्ष्मी दोनों विष्णु की पत्नियाँ हैं। व्यक्ति अपने व्यक्तित्व में चारित्रिक दीप्ति जगा कर सच्ची लक्ष्मी-पूजा करता है। वैयक्तिक साधना के द्वारा सामाजिक-हित-साधन की प्रेरणा देने वाला दीपावली-पर्व इस प्रकार हमारा जातीय पर्व बन गया है।

दीपावली को ज्योतिपर्व के रूप में मनाया जाता है। दीपक वस्तुतः आत्म-ज्योति का प्रतीक है। जैन-परम्परा में तप को ज्योति और जीव को ज्योतिस्थान कहा गया है—जीवो जोई तवो जोइट्ठाणं। बौद्ध मत में साधक को आत्मदीप जलाने की प्रेरणा दी गई है।—

किन्नु हास किमानन्द नित्य प्रज्वलिते सति।
अन्धकारावनद्धा किं प्रदीप न गवेषयथ॥ (धम्मपद)

इससे स्पष्ट है कि श्रमण-परम्परा में ज्योतिर्मय जीवन की प्राप्ति के लिए साधना पर बल दिया गया है। वैदिक-साधना-पद्धति में भी जीवन का लक्ष्य ज्योति प्राप्त करना है। आदित्य-ज्योति के रहस्यज्ञ ऋषि ने अपने जीवन को ज्योतिर्मय बना लिया है। साधक 'तमसो मा ज्योतिर्गमय' कहकर ज्योति की कामना करते थे। ऐसे तपस्वी पुरुष विशेष उत्सवों पर गृहस्थों में सदाचार की प्रतिष्ठा के लिए उनके घर पर आया करते थे। दीपावली के दिन राजस्थान में सुहागिनें दीपक जलाकर पड़ोसी के यहाँ रख आती हैं। इसे 'परन्धा पाहुणा' अर्थात् स्पर्श किया हुआ अतिथि (स्पृष्ट प्राघूणिक) कहा जाता है। दीपक के रूप में अतिथि को पड़ोसी के यहाँ पहुँचाना इस बात की ओर संकेत करता है कि आत्मज्योति का काम करने वाले सिद्ध पुरुषों को एक घर वाले सम्मानित करके उन्हें पड़ोसी के यहाँ पहुँचा दिया करते थे।

प्रतिपदा को गोवर्द्धन-पूजन होता है और अन्नकूट मनाया जाता है। गाँव का कृषकों के घरों में बैलों का पूजन होता है। गायों को वे एक दिन पहले ही धो लेते हैं। पूजा के समय पशुओं के सींगों पर स्वर्ण और रजत के आभूषण तथा हल्दियाँ छुआई जाती हैं। इससे संकेत मिलता है कि कृषक अपनी समृद्धि को गो-वृषभ की देन मानता है और इसीलिए उनको अवध्य मानने की परम्परा चली है। यज्ञों में भी इसी प्रकार से शस्त्र को पशुओं से उठाकर यह संकल्प दुहराया जाता था कि शस्त्र गो-वृषभादि के वध के लिए नहीं होगा। यह बात आज भी गाँवों में प्रचलित है। भारतीय जनजीवन में व्याप्त इस दया की इसी भावना ने यहाँ अहिंसा को परमधर्म और महाव्रत के रूप में मानने का विचार फैलाने वाले जैन और बौद्ध मतों में विशिष्ट स्थान पाया है। इनके बिना वैदिक-परम्परा भी सर्वथा हिंसात्मक ही रह जाती। इसलिए इन मतों को भारतीय-संस्कृति के अभिन्न अंग के रूप में वैदिक परम्परा का पूरक कहना उचित होगा, विरोधी नहीं।

पूजा के उपरान्त पशुओं को मगरमालिका (मगरा) के नीचे से निकाला जाता है और गोबर पर बैलों से गोवर्द्धन बनाया जाता है। इस प्रक्रिया में पशुमंगल की भावना निहित है। पशुओं का ऐसे चरागाहों और पर्वतों पर चराना चाहिए जो हिंसक जीवों से रहित हों और जहाँ पुष्टिकर घास प्रचुर मात्रा में विद्यमान हो। गोवर्द्धन-पूजन का यही तात्पर्य है।

भ्रातृ-द्वितीया को बहिनें भाइयों का टीका करके उनकी मंगलकामना करती हैं। यज्ञों में नारी का स्थान पत्नी के रूप में ही सुरक्षित रहता था। यहाँ इन उत्सवों में नारी के भगिनी रूप को भी प्रतिष्ठा मिली। यह हमारी सांस्कृतिक-चेतना में एक नया मोड़ था।

इस प्रकार दीपावली उत्सव पाँच दिन तक धूमधाम से मनाया जाता है। इसका वर्तमान स्वरूप वैदिक, जैन और बौद्ध तीनों परम्पराओं के सम्मिलित प्रयत्न के फलस्वरूप मिला है। इसलिए इसे सांस्कृतिक समन्वय के प्रतीक के रूप में सदैव स्मरण किया जाता रहेगा।



होली—दीपावली के बाद सांस्कृतिक-समन्वय के प्रतीक के रूप में होली का स्थान माना जा सकता है। मूलतः शूद्र वर्ग में प्रचलित होने पर भी यह शीघ्र ही राष्ट्रीय उत्सव बन गया। यह भूमि-वन्दना का पर्व है। 'माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः' कह कर अपनी मातृभूमि के साथ पुत्रत्व का सम्बन्ध स्थापित करने वाले भारतीय होली के दिन सारे भेद भाव भुला कर गले मिलते हैं और पार्थिव-रज से परस्पर अभिनन्दन करते हैं। सम्भवतः प्राचीन-



काल मे पुष्परज मे अभिनन्दन करके पारस्परिक-सम्मिलन मे सौन्दर्य-निष्ठा को व्यजित किया जाता होगा। कभी अज्ञात रूप से पुष्परज का स्थान पार्थिवरज ने ले लिया और अनजाने मे ही जीवन मे राष्ट्रीयता का मूलमन्त्र-मातृभूमि की धूल से सामाजिक-बन्धनो का दृढ बनाना, प्रतिष्ठित हो गया। फलत भारतीय समाज मे धूलि-वन्दन की क्रिया को 'धूलेटी' (धूल-इष्टि) या धूलेण्डी (धूलि-वन्दन) कहा जाने लगा। भारतीय इस बात को अच्छी तरह से जानते थे कि गन्धधर्मा पृथिवी की धूल से सम्बन्ध जोडकर ही जीवन मे स्वराज्य-ससिद्धि की जा सकती है। आत्मदानी और श्रमशील मानव धूल और पानी से युक्त भूमि मे मातृ-रूप देखकर उसके सारे उपयोगी पदार्थों के उपभोग का अधिकारी स्वय को बना लेता है (अथववेद १२।१।६०)।

होली जलाने की प्रथा अग्निहोत्र का ही परिवर्तित रूप है। उसके साथ प्रह्लाद और हिरण्यकशिपु के विरोध की स्मृति भी जुड गई है। प्रह्लाद मृत्यु की भी परवाह न करके सत्य के मार्ग पर दृढतापूर्वक चलता रहा। होली निर्भीक बनने की प्रेरणा देती है। इस बात की पुष्टि इस दिन सम्पन्न होने वाली अन्य क्रियाओ से भी होती जाती है। होली के पहले बालको के लिए माताए गोबर की ढाल व लकडी की तलवार आदि बनाती है। होली जलाते समय 'डबूले' ईधन के ढेर मे डाल दिये जाते हैं। स्त्रिया पानी डालकर होली की ज्वाला को शान्त करने की चेष्टा करती है, प्रौढ होली की ज्वाला मे गेहूँ या जौ की बालिया सेंक लेते है। प्राचीन समय मे गृह्यसूत्रो के अनुसार इस समय यज्ञ मे नवान्न की आहुति दी जाती थी। जब नवसस्येष्टि के स्थान पर उत्सवपरम्परा चली तो ढाल तलवार की आहुति देने की प्रथा चल पडी। तलवारो को जलाने से हिंसा से विरत होने की और ढाल को जलाने से अपनी आत्मशक्ति के विषय मे पूर्ण रूप से विश्वस्त हो जाने और निर्भयता सम्पादित करने की सूचना मिलती है। लकडी की तलवार और गोबर की ढाल-युद्ध को प्रवर्तित करने वाले आतकवादियो की सभ्यता का कैसा चित्र भारतीय जन-मानस मे अकित है। युद्ध छेडने वाला तो विश्व-चेतना के प्रति अपराधी है ही, साथ ही प्रतिरक्षा के नाम पर शस्त्रास्त्रो और सेनाओ की वृद्धि करने वाला भी समान रूप से अपराधी माना जा सकता है। पूर्ण शान्ति की प्रतिष्ठा तभी हो सकती है जब युद्ध के साधन और प्रतिरक्षा के साधन-दोनो को समाप्त कर दिया जाय और जन-जन के आत्मबल मे वृद्धि हो। सस्कृति की पूर्ण विकासावस्था का मानदण्ड निर्भयता का सम्पादन ही है। होली का उत्सव हमे यही सन्देश देता है। युद्ध की अग्नि को बुझाने मे नारी-जाति महत्वपूर्ण योगदान कर सकती है। होली की अग्नि को जल से बुझाने का यही तात्पर्य ज्ञात होता है। होली की ज्वालाओ मे अन्न की बालिया सेंकने मे यह प्रेरणा मिलती है कि विवेकपूर्वक विनाश के साधनो को भी सृजन के लिए उपयोगी बनाया जा सकता है।

श्रावणी पर्व—श्रावणी पूर्णिमा को यह पर्व मनाया जाता है। इसे रक्षा-बन्धन भी कहा जाता है। श्रुति वेद ज्ञान की सज्ञा है। प्राचीनकाल मे शिक्षा-सत्र का प्रारम्भ इसी दिन से होता था। यज्ञोपवीत पहना कर सबसे पहले छात्र को व्यक्तित्व के सत्य, धृति, क्षमा, अस्तेय, शौच, धी, अक्रोध, विद्या और इन्द्रियनिग्रह इन नौ गुणो को अपनाने की प्रेरणा दी जाती थी। यज्ञोपवीत के तीन तारो से छात्र वेद-त्रयी, और उससे प्रेरित आचरण की शिक्षा भी लेता है। ऐसे आचरण द्वारा वह देव-ऋण, पितृ-ऋण और ऋषि-ऋण से मुक्त होने मे सफल होता है। यज्ञोपवीत धारण करने के उपरान्त विद्यार्थी गुरु के साथ यज्ञ मे भाग लिया करता था। वैदिक परिवारो मे अब भी यज्ञ होता है। बहिनें भाइयो के रक्षा-सूत्र बाधती है। राखी के सूत्र ने कई बार इतिहास की धारा मे मोड ला दिया है। वर्तमान काल मे यह भाई-बहिन के पवित्र सम्बन्ध की उद्घोषणा करने वाला उत्सव बन गया है और इस प्रकार हमारी सास्कृतिक-चेतना का महत्वपूर्ण वाहक कहा जा सकता है। रक्षा-सूत्र बाधकर पारस्परिक-सौहार्द का परिचय देने की परम्परा इस पर्व के साथ जुडी हुई है। गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने इस पर्व की इस विशेषता को देखकर इस दिन रक्षासूत्र बाधकर हिन्दू और मुसलमानो के बीच सास्कृतिक-सेतु बनाने का प्रयत्न किया था ऐसी परम्पराओ को आगे बढाना राष्ट्रीयता के हित मे है।

ऋषि पचमी—वैदिक परम्परा मे इसे ऋषिपचमी और जैन परम्परा मे सवत्सरी कहते हैं। ऋषि-मुनि वर्षाकाल मे चातुर्मास्य बिताने के लिए बस्तियो के निकट आ जाया करते थे। सामान्य गृहस्थ उनकी इस उपस्थिति का

लाभ उठाया करते थे। ये लोग आगन्तुक तपस्वियों से जीवन-यापन की विशिष्ट पद्धतियों के विषय में जानकारी प्राप्त करके उनके सान्निध्य में आचार-विचार का अभ्यास किया करते थे। संवत्सरी मनाने वाले श्रमण-परम्परा के अनुयायी पुनर्वत्स-जीवन (ऐसे वत्स के समान जीवन, जो एक बार अपनी माता का दूध पीना छोड़कर पुनः लग जाय) के लिए संकल्प करते थे। ब्रह्मचर्य आश्रम में प्रकृति माता का दूध पीने वाला, गृहस्थ आश्रम में ऐसा करना छोड़ कर, वानप्रस्थ और सन्यास में पुनः पीने लगता है। इसलिए आश्रमव्यवस्था को पुनर्वत्स-जीवन कहना उचित ही है। वैदिक-परम्परा पर आश्रित धर्म और जैन-बौद्धादि श्रमणधर्म के मूल में वत्स बन कर विश्व की परमशक्ति का वात्सल्य प्राप्त करने की प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है। जैनधर्म में सम्यक्त्व की साधना के अष्टांग मार्ग में वात्सल्य को भी गिनाया जाता है (चारित्र पाहुड, ७)। धर्मात्माओं का प्रियवचन और आचरण से अनुसरण करने वाले सम्यक्-दृष्टि जीव का वात्सल्य अंग होता है (कार्तिकेयानुप्रेक्षा ३५) वात्सल्य में वत्स और वत्सल दो पक्ष होते हैं। जैनमत में आदिजिन ऋषभ (पुंगव) ही वत्सल हैं। साधक तप और श्रद्धा द्वारा ऋषभ का वात्सल्य प्राप्त करता है। बौद्धग्रंथ चूलनिद्देस में गोव्रतिकों का उल्लेख मिलता है—'गोवतिकान गावो देवता।' जैनमत में वात्सल्य प्राप्ति के लिए साधना करने की बात का समावेश गोव्रतिकों से ही हुआ होगा। बौद्धमत में भी आर्यों के गोचर में लीन होने की बात कही गई है। जैन-वैदिक परम्परा में वत्स-जीवन की साधना को गोचरी ही कहा जाता है। पंचमहाव्रतों को अपना कर त्याग और तपपूर्वक जीवन बिताने के जैन-परम्परागत मार्ग को संवत्स या पूर्ण-वत्स की साधना का मार्ग कहा जाता है और संवत्सरी ऐसे जीवन के लिए संकल्प करने का उत्सव है। आर्ष-मार्ग के अनुयायी इस दिन पुनर्वत्स साधना के लिए कृत-संकल्प होते हैं। आर्ष और श्रमण परम्पराओं में समन्वय स्थापित करने वाला यह सबसे बड़ा पर्व माना जा सकता है।

विजयादशमी – विजयादशमी क्षात्रजीवन से सम्बद्ध उत्सव है। हमारी मान्यता रही है कि मानव-शरीर युद्धक्षेत्र है जिसमें दैवी और आसुरी मनोवृत्तियों में अनवरत संघर्ष छिड़ा रहता है। इस युद्ध में दैवी वृत्तियों को विजयी बनाने के लिए साधनारत प्रत्येक साधक क्षत्रिय है। इस प्रकार विजयादशमी आध्यात्मिक मार्ग पर चलने वाले प्रत्येक व्यक्ति के लिए उसकी आत्मविजय की घोषणा करने वाला सबसे बड़ा पर्व है। इसी रूप में यह भारत के सभी समुदायों का समन्वय उत्सव बन गया है। दशहरे के पहले भक्ति-साधना के लिए नवरात्रव्रत किया जाता है। इस व्रत के अन्त में दुर्गापूजन के साथ कुमारी-कन्याओं का पूजन भी किया जाता है। कन्यापूजन भारतीय समाज में नारी-सम्मान की दिशा में एक नवीन दृष्टिकोण उपस्थित करता है। रावण के पुतले को जलाना यज्ञ का ही परिवर्तित रूप है। आसुरी वृत्तियों को समाप्त करने से ही दिव्यभावनाओं की विजय संभव है।

यहां कुछ ही उत्सवों का उल्लेख किया जा सका है। वैसे भारतीय-जाति को उत्सवप्रधान जाति कहा जा सकता है। यहां वर्ष के ३६५ दिनों में ३६६ उत्सव मनाने की बात कही जाती है जो अनुचित नहीं कही जा सकती। ये उत्सव समाज के वर्गविशेष से सम्बद्ध हो सकते हैं। परन्तु भारतीय-समाज का संगठन ही ऐसा है कि ऐसे उत्सव भी सर्वमान्य उत्सव बन जाया करते हैं। भारत में मनाये जाने वाले सभी उत्सव यहां प्रचलित विभिन्न सामाजिक परम्पराओं में समन्वय स्थापित करके राष्ट्रीय-एकता की भावना को सुदृढ़ करने वाले हैं। इस प्रकार जीवन को जीने के लिए भारत में जिस विशिष्ट दृष्टिकोण का विकास हुआ है, वह भारत का अपना है, जिसमें संकीर्णता को कोई स्थान प्राप्त नहीं है। हम अपने उत्सवों में प्रतिबिम्बित होने वाली इस सांस्कृतिक-समन्वय की प्रवृत्ति के आधार पर अपने जातीय जीवन का समुचित रूप में विकास कर सकते हैं।

●



कहावती ग्रन्थों की जैन-परम्परा

डा० कन्हैयालाल सहल

अध्यक्ष हिन्दी-संस्कृत विभाग बी० आई० टी० एस०,
पिलानी



कहावतें मानव-जाति की सर्वसामान्य सम्पत्ति है, उन पर किसी जाति अथवा राष्ट्र का एकाधिकार नहीं होता। जीवन के अनुभव का एक "लघुतम स्तर" सर्वत्र देखने को मिलता है जिसकी अभिव्यक्ति संक्षिप्त सारगर्भित तथा चटपटे वाक्यों द्वारा कहावतों के रूप में पुरा काल से होती आई है। इसीलिए किसी विद्वान् ने कहावत को 'जीवन का लघुतम समापवर्त्य' कहा है।[1]

जाति-विज्ञान और संस्कृति के विद्वानों का कथन है कि जनता की विचारधारा जन-कथाओं, कहावतों और मुहावरों आदि में व्यक्त होती है तो यह बात सोलहों आने सही है। कहावतें और मुहावरे श्रमिक जनता की सम्पूर्ण और ऐतिहासिक अनुभूतियों के संक्षिप्त रूप हैं। लेखकों के लिए इस सामग्री का अध्ययन करना आवश्यक है। मैंने कहावतों और मुहावरों आदि से बहुत कुछ सीखा है।[2]

राजस्थान में कहावतों का प्राचुर्य है। शिक्षा की दृष्टि से यह राज्य अन्य राज्यों की अपेक्षा भले ही पिछड़ा हुआ रहा हो किन्तु इसका लोक-साहित्य अत्यन्त विशाल और समृद्ध है। भारतवर्ष के किसी भी राज्य की तुलना में यहाँ का लोक-साहित्य निःसंकोच रखा जा सकता है। राजस्थान की कहावतों को लेकर ही विचार करें तो वे संख्या में १० हजार से कम न होंगी। अभी राजस्थानी कहावतों का कोश तैयार नहीं हुआ है जिसके प्रणयन में लेखक वर्षों से संलग्न है। इसलिए संख्या आदि के सम्बन्ध में निश्चित रूप से कुछ कहना निरापद तो नहीं तथापि इतना निःसन्देह सत्य है कि विविधता और प्राचुर्य की दृष्टि से यहाँ की कहावतों की समता सहज ही नहीं की जा सकती।

राजस्थानी सभ्यता और संस्कृति को समझने में जैन विद्वानों के ग्रन्थों से बड़ी सहायता मिलती है। राजस्थानी कहावतों के संबन्ध में भी उन्होंने सराहनीय प्रयत्न किए हैं। सं० १६९९ को पौष मास में श्री धनविजयगणि ने राजनगर के समीप ऊस्मापुर नामक नगर में 'आभाण शतकम्' नामक ग्रंथ की रचना की थी। इसकी अनेक कहावतें ऐसी है जो राजस्थानी लोकोक्तियों का अनुवाद-सी जान पड़ती है। तुलना के लिए यहां कुछ लोकोक्तियां उद्धृत की जा रही हैं—

(१) गता तिथिर्यथा पूर्वं ब्राह्मणेन न वाच्यते।
तथा पुराकृतं पापं धर्मिभिर्नानुमन्यते ॥२१॥

अर्थात् गई तिथि जैसे ब्राह्मण नहीं बाचता, उसी प्रकार पूर्वकृत पाप का धर्मात्मा अनुमोदन नहीं करते।

---

१ The L C M of Life has been expressed in every Country by Combination or words or pithy Sentences, which are called proverbs
(Prof Mukkhan Lal Roychoudhury, D Lit)

२ गोर्की

राजस्थानी कहावत

गड गिरि नो बामण भी जोनी बाचै ।

(२) स्वकीयाशुद्धधर्मस्य मिथ्यात्वं वक्ति को जनः ?
दुष्टाया को निजाम्बाया शाकिनीत्व प्रकाशयेत् ?।२७॥

अर्थात् कौन मनुष्य ऐसा है जो अपने अशुद्ध धर्म को मिथ्या बतलाता है ? अपनी दुष्ट माता को भी शाकिनी कौन कहता है ?

राजस्थानी कहावत

आपकी मा ने डाकण कुण बनावै ?

(३) बहुरक्षितबहुशिक्षितनीचजनो भजति नैव सन्मार्गम् ।
पुच्छमिव शुनो नालिकाधृतमपि सरलं यथा न स्यात् ॥२८॥

अर्थात् नालिका में रखी हुई भी कुत्ते की पूछ जैसे सीधी नहीं होती, उसी प्रकार बहुरक्षित और बहुशिक्षित नीच मनुष्य सन्मार्ग का अनुसरण नहीं करता ।

राजस्थानी कहावत

कुत्ते की पूंछ १२ वर्ष नाली मे राखी तो वी टेढी की टेटी ।

(४) यद्वचो धर्मनाशाय तद्वचो वक्ति कः सुधी ?
यत्स्वर्णं कर्णनाशाय यथा तत्को निषेवते ? ॥४४॥

अर्थात् जिस वचन से धर्म का नाश होना हो उस कहने मे कौनसी बुद्धिमानी है ! जिस सोने से कान का नाश होना हो, उसे कौन सेवन करेगा ?

राजस्थानी कहावत

बाल सोनूं कान तोडै ।

(५) संयमेन वियुक्तस्य यद्वत्साधो क्रियाविधि ।
अधो नग्नस्य मर्त्यस्य मस्तके मौलिबन्धनम् ॥५४॥

अर्थात् संयम-विहीन साधु की क्रियाविधि वैसी ही होती है जैसे कोई मनुष्य नीचे से नग्न हो और मस्तक पर मौलिबन्धन कर रखा हो ।

राजस्थानी कहावत

ऊपर तो ल्हर्यो पण नीचे के पहर्यो ।

अर्थात् सिर पर तो रंग-बिरंगी पाग अथवा लहरिया धारण कर रखा है पर नीचे क्या पहना है ?

(६) अंगोपांगादयो ग्रन्था द्वादशांग्यां प्रतिष्ठिताः ।
गवादीनां यथा पादा हस्तिपादे महत्तरे ॥७३॥

अर्थात् अंगोपांगादि ग्रन्थ द्वादशांगी मे प्रतिष्ठित हैं जैसे गायों आदि के पैर हाथी के पैर मे समा जाते हैं ।



राजस्थानी कहावत

हाथी कै खोज मे सैंका खोज समावै ।

(७) मधुरवचनेन युक्त सव हितमेव वेत्ति न त्वहितम् ।
सकल धवल दुग्ध पश्यति वालस्तु नो तक्रम् ॥८८॥

अर्थात् जो भी मधुर वचन से युक्त है, उसे हित के रूप मे ही ग्रहण करता है, अहित के रूप मे नही । वालक, जा भी सफेद है, उसे दूध ही समझता है, छाछ नही ।

राजस्थानी कहावत

ऊ ताइ छाय भी धोली, दूध भी धोलो ।

अर्थात् उसके लिए छाछ भी सफेद है और दूध भी सफेद ।

(८) दातुर्दान यथा स्वल्पमनल्प न विचार्यते ।
धर्मधेनोस्तथा दन्ता न विलोक्या हि धीधनै ॥९३॥

अर्थात् दाता के स्वल्प या अधिक दान पर विचार नही किया जाता । धर्म की गाय के दात नही देखे जाते ।

राजस्थानी कहावत

धर्मादै की गाय का दात कोनी देख्या जाय ।

"आभाणशतकम्" के भी कई सौ वर्ष पहले कहावत-ग्रन्थो की रचना होने लगी थी । "ओहाणक स्तोत्र" की एक प्रति स० १४३० की लिखी मिलती है जिसमे से कुछ कहावतें यहा उद्धृत की जा रही है—

१ वलिकिय त सुन्न ज सुन्न तोडए कन्न ।

राजस्थानी रूप—वाल सोनू जो कान तोडे ।

२ चिक्कण घडए सामिय ढलिऊण पाणिय जाइ ।

राजस्थानी रूप—चीकणे घडे पर वून कोनी ठैरै ॥

३ पक्काण भडाण कि पहु कन्नाय लग्गति ।

राजस्थानी रूप—पाकै घडै के कानो कोनी लागै ।

४ जो मरेइ गुलेण चिय तस्स विस दिज्जए कीस ।

राजस्थानी रूप—जो गुड से मरे ऊने झैर क्यूं देणो ?

५ नय मरइ न मचय देइ ।

राजस्थानी रूप—मरे न माचो छोडै ।

६ जइ नच्चाण पविट्ठा ता किं घुघट्टकरणेण ।

राजस्थानी रूप – नाचण हाली के क्याको घूमटो ?

७ हत्थट्ठिय ककणय को पुण जोएइ आरिसए ?

राजस्थानी रूप - हाथ कंगण ने आरसी सू के काम ?

८ दुद्ध च दियइ छाली पुण भरिय मिंगीणिय च ।

राजस्थानी रूप बकरी दूद तो दे पण दे मींगणी करके ।

६ खीरी खड मिट्ठ परलोय केण पुण दिट्ठ ।

राजस्थानी रूप —ओ भव मीठो, पर भव किण दीठो ?

इस प्रकार स्पष्ट है कि जैन विद्वानो ने लोक प्रचलित कहावतो को प्राकृत और संस्कृत के छन्दो मे निवद्ध करने का स्तुत्य प्रयास किया था।

व्यावहारिक शिक्षा की दृष्टि से लोकोक्तियो से परिचय प्राप्त करना अत्यन्त उपादेय है ।[1]



1 Acquaint thyself with proverbs for of them thou shalt learn instruction (Ecclesiasticas 8, 8)

धर्मस्थानों का जैन लोक-साहित्य

महेन्द्र भनावत,

एम० ए०



धर्मस्थानो के लोक-साहित्य मे सपना साहित्य, चौवीसियां, परवीगीत, साधु-साध्वी सवधी गीत तथा वधावे, थोकडे, गर्भ चिताणियां तथा मृत्यु-पूर्व के गीत, तपस्या-गीत, चौक, ढालें, तवन तथा भजन, कथाएँ, व्यावले, जान (वरात) श्रवण, कुडलीक, वालक-वालिकाओ के गीत तथा चौवीस तीर्थंकरो, गणधरा एव सोलह सतियो सवधी साहित्य विशेष उल्लेखनीय है। इनमे से कुछ महत्वपूर्ण विषयो पर यहा प्रकाश डाला जा रहा है—

सपना साहित्य—सपनो मे विशेष रूप से तीर्थंकरो सवधी गीत मिलते हैं। वैसे व्याह-शादियो मे चाक-नूतने से लेकर शादी होने के दिन तक प्रतिदिन प्रात काल ये सपने गाये जाते हैं परन्तु पर्युषण के दिनो मे धर्मस्थानो मे भी विशेष रूप से य सपने गाये जाते है। इन सपनो के कई रूप एवं प्रकार मिलते हैं। इन सपनो मे तीर्थंकरो के विशेष-विशेष महत्वपूर्ण कार्यो का उल्लेख रहता है और अत मे 'सामी सिध होयाजी' जैसा कडावा रहता है जिसमे उनके सिद्ध होने की वात व्यक्त होती है। कुछ सपने तीर्थंकरो की पूजा से सम्वधित होते हैं जिनमे सभी तीर्थंकरो की पूजा के लिए विभिन्न पूजा-सामग्री का उल्लेख रहता है जैसे—ऋषभदेव के लिए केसर, नेमिनाथ के लिए फूल, पार्श्वनाथ के लिए केवडा, महावीर स्वामी के लिए नारियल तथा शानिनाथ के लिए खारकें आदि। पूजा का थाल लेकर दूर-दूर से आई महिलायें दर्शन की लम्बी प्रतीक्षा-पक्ति मे खडी-खडी थक जाती हैं तो वे अपनी शिकायत भगवान तक पहुचाने के लिए ललक पडती है—

सामी कदकी ऊबीने कदकी खडो रकबनाथ रे दरवाजे
सामी केसर घोटी-घोटी भर्यारे पियाला
तोईनी खोल्या दरवाजा रे।
सामी पाव पूजण दोनी मुख देखण दोनी
म्हें दूरा सू आयाजी।

इन सपनो मे तीर्थंकरो के वाल्य-जीवन के भी कई सजीव चित्र मिलते है। उदाहरण के लिए नेमिनाथजी के सपने मे उनका वालहठ विशेषरूप से छलक पडा है। सपनो के अत मे कई प्रकार के कूकडे तथा चूदड गीत गाये जाते हैं जिनमे स्थान-स्थान पर भगवान का निवास वताया गया है। चूदड गीतो मे तीर्थंकरो की माताओं द्वारा चूदडें रगवाकर सावणीतीज जैसे त्यौहार मनाने की वात वडी भली लगती है।

सपनो के अत मे सपने गाने का फल वैकुण्ठ की प्राप्ति तथा नहीं गाने वालियो को अजगर का अवतार होने का जिक्र रहता है, साथ ही गाने वाली को सुहाग चिह्न चूडा तथा चूदड एव जोडने वाली को पुत्ररत्न की प्राप्ति जैसे भी सकेत मिलते है यथा—

जोरे रो सपनो जो गावे ज्या रो वैकुठ वासो जी।
नहीं रे गावे नी सामे ज्यारो अजगर रो अवतारो जी॥
म्हें रे गावा जी सामला जी म्हारो वैकुठ वासो जी।
गावा वारी ने चूडा चूदड जोड़णवाली ने झोलण पूतो जी॥

चौवीसियां तथा पच्चीसीगीत.—पक्खी के दिन पाक्षिक प्रतिक्रमण (उपासना) के रूप में कई प्रकार की चौवीसियां गाई जाती हैं जिनमें एक दूसरे से बारम्बार क्षमायाचना की जाती है।

पच्चीसा खमत खामणा
जगजी पैला ऋषभनाथ वंद मां
कई हुआ अनन्तनाथ देव
पच्चीसा खमत खामणा।

चौमासे की पंक्तियों में स्वच्छन्द सारा संसार छोड़कर प्यारा संयम मार्ग धारण की बलवती भावनाओं की सुन्दर अभिव्यक्ति मिलती है।

मने लग रयो संसार खारो सुगन मे आवा दो
मने लग रयो संयम प्यारो सुगन में आवा दो।

साधु-साध्वी सम्बन्धी गीत तथा बधावे.—किसी गाँव अथवा शहर में साधु-साध्वियों के पधारने पर उनके स्वागत में कई प्रकार के स्वागत-गीत गाये जाते हैं जिनमें उस दिन को सोना तथा रत्नों वाला दिन कहकर विशेष हर्ष एवं उत्साह प्रकट किया जाता है।

आज सोना रो सूरज ऊगियो।
आज रतनां रो सूरज ऊगियो।
ऊँचा सागमाग वेसासणी
नीचे पगलड़ा रो ठाट।
गुनर सगीनी रा बांचणा जी
जग्या ने छैर न पार
सारासा ओआज निरवाणी सूरज ऊगियो।

महाराजश्री के कंकु-केसर के पगल्यो पर सारो-सारो (श्रावक-श्राविकाओं) की अपार भीड़ बारम्बार वंदना के लिए लूम-झूम रहती है, उस समय लगता है जैसे सारे ही गाँव में रत्नों की रिमझिम बरसात हुई हो—

कंकू रे पगल्ये सारासा पधारिया
केसर रे पगल्ये सारासा पधारिया।
ओरा गामा हींग मोती निपजेजी
माणे गामा रतना री खान।
थोडी अरज जी घणी विनती जी
भूल चूक लागूली पांय ॥

साधु-साध्वियों के स्थानक में पधारने पर तो जैसे श्रावक-श्राविकाओं के जन्म-जन्मान्तर के भाग्य जग गये हो और पूर्व जन्म के अन्तराय टूट गये हों, ऐसी ही कुछ अनोखी बात देखने में आती है और ऐसे अवसर पर कंकु-केसर से मोतियों का चौक पुराया जाय तो क्या आश्चर्य! बधावे के रूप में देखिये इस प्रसंग का कितना सुन्दर हृदय-चित्र है—

मैंया घणो ए बधावो
कंकू-केसर घोट मोत्यां चोक पूरां
ए धीरे-धीरे चाल हूने आगणे जी।
आजने दीयाडो जी सवाई सूरज ऊगियो



हरखे हिया मे जी उमावो म्हारा अग मे
करू म्हारा मारासारी सेवा
दरसण आऊ ली
गुण गाऊ आपरा
परमने वाध्याजी सामी जी अणी भवे उवर्‌या
आज टूटो अ तराय

थोकडा —लोक-युग पर प्रचलित थोकडों का भी विशेष महत्व है। ये थोकडे भी कई प्रकार के मिलते हैं जिनका अपना विशेष 'टाइप' मिलता है। ये थोकडे प्राय बडे होते हैं जिनमें अनेकानेक कुकर्मों से छुटकारा पाकर सुकर्मों द्वारा सदगति पाने की भावना निहित रहती है। इन थोकडों के अत मे सारारूप मे सारभूत सकेत मिलता है। साथ ही– 'यो थोकडो कोई सुणे, सामरे, सामरता रो परायचित जावे। आगलो बोल पाछे क्यो वे। पाछो बोल आगे क्यो वे। काना मातर शुद्ध नी क्या वे। पाप दोष लागावे तो तस्स मच्छामि दुकड– " जैसी बात भी मिलती है। पाठकों की जानकारी के लिए यहा आतमनिन्दा थोकडे का आदि और अत भाग दिया जा रहा है।

आदिभाग—ये आतमा, ये चेतना, कोई माद्यो वे। कोई परत्यो वे। रम गिर्दीपणा मे खोटी-खोटी धरम्‌री आणी वे तो दो घडी रे मर्मे रे अमी चितावणा मत कर।

तेवारे कामराग मे। तेवारे सदे राग मे। तेवारे मन धन मे। तेवारे वचन मन मे। तेवारे काया सरण मे। तेवारे मत्या द्रस्टी मे। तेवारे नील लेस्या। तेवारे कपोन लेस्या। तेवारे इरिगावगाई। तेवारे रसगारवाई। तेवारे मातागारवाई। आठकर्मा री एक सोने अडतालीम परकरति। अठेसण थानक थारा– जीव दोरा लागीर्‌या रे वापडा। सीलव्रत गाजो, भाग, तमाखु, दारुरो, तजारो, अतरी हरी लीलोती रा होगन नेडने भागसी तो थारा जीवरी गरज कठासू मरसी रे वापडा।

ज्यू समुन्दर मे किलोरा उछरे छे। ज्यू थारी तिष्णारूपी किलोरा उछरे छे। अरे जीव थू करणी तो करे छे पर सूना मन सू करे। धरप मन सू करसी तो थारे लके लगाजी नीतर साही रलेप समान होमी। अतर जीवा ने वश करीने आवो म्हारा पारस पुतर। आवो म्हारा चवदेरतन। आवो म्हारा नवलुध्यान। आवो म्हारा रमाण चतराई। आवो म्हारा रसका घटका। आवो म्हारा अमरत रा कूपा। अतराजीवा ने वशकरीने सेठ वेइग्या। सेनापति वेइग्या। लाखनी वेइग्या। क्रोडम वेइग्या। राजा वेइग्या। मिस्त्री वेइग्या। परधान वेइग्या ने गमास्तो वेइग्या। मिन मिन करीने पुदगल्या रो उपाव करी र्‌यो छे।

अन्तभाग —अरे चेतन मातारी अग्या मे चाल। समगत मातारी अग्या मे चाल। मोख अखारा बीज ने वार। क्रोध, मान, माया, लोभरी चकरी ने पटरी पार। आकुल विकलपणो थारे मटे नती। तम्मणा रूपी गा थारे वधे नती। अन्न आरे। पन्न आरे। अरस आरे। वरम आरे।। अन्न जीवा। पन्न जीवा। अरम जीवा। वरस जीवा। करण मचे जोग। खमावत ने वेरागवत। दमवती ने सरपवती। सातारे ठकाणे ने असाता रे ठकाणे नती। पाचमी गति पावमी नती। कचण तो प्राप्ति करे ने पत्थर ने दूर करे। कचण तो कद्रु न मिलमी ने पत्थर थारी छाती पटसी। या सम या समाई तो थारी नही छे रे नही छे। या समाई तो वारी छे रे वारी छे। आनदजी, कामजी, शंखजी, पोकरजी, चदगुपतराजा, सुमनगेह, पुन्यानामा श्रावक या समाई तो वारी छे रे वारी छे। थारी समाई तो या छे रे या छे। रोदर क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, देस जगजगारमान होई रया छे। थारी समाई तो या छे ने या छे। ततनतनती सू। नती सू के घंटा सू। घटा सू के पटा सू। पटा सू के भविसू। भवि सू के अभविसू। अभवि सू के दुर्भविसू। ग्यान तो ग्यानी मागज। मकारे तो ते ते। दरीग डोटा। नदी रा हारा। सातारे ठकाणे। असातारे ठकाणे नही।

गर्भचिताणिया और मृत्यु-पूर्व के गीत —हमारे यहा मरणासन्न व्यक्ति को सुनाये जाने वाले मृत्यु-पर्व के

गीतों का भी विशेष महत्व रहा है। इस प्रसंग में कई प्रकार के गीत मिलते हैं जिनमें भरे पूरे संसार को छोड़ सांसारिक राग त्यागने के कई रूप देखने को मिलते हैं। गीतों में इस संसार से मोह हटाकर जिनदेव की स्तुति कर सद्गति पाने की भावना भाई जाती है। पापी जीवन को बुरी तरह रगेदा जाता है। कुकर्मी जीवन को धिक्कारा जाता है। आत्मनिन्दा और आत्मभर्त्सना के खुले पृष्ठों पर अवनत के जीवन को उतारा जाता है और अन्त में वैरागी जीवन की दशा पर आंसुओं की गंगा-यमुना बहाई जाती है। एक नमूना देखिये—

काचकूंना मेला ऊपर सूतो खूंटी ताणरे
माल्या में थारे कोई न समझे आण गेवयो कठरे
म्हारा पयीडा मत पड पिंजड संसार मार्यो जाय।
धन्धो करीने धन जोड्यो लाखां ऊपर क्रोड रा
मरती वेरा मानती थारा लिया कदोरा तोड रे
म्हारा पयीडा, मत पड पिंजरे संसार मार्यो जाय।
कोरो वस्तर घरे लाया थाने लियो ओडायरे
फूटी हांडी लारा लीदी उठ चल्या लीलधार रे
म्हारा पयीडा, मत पड पिंजड संसार मार्यो जाय।
मात थारी सदाई झूरे बैन बारंबार रे
घर की तिरिया नैन झूरे थने कईनी राखणहार रे
म्हारा पयीडा, मत पड पिंजड संसार मार्यो जाय।

गर्भ चिंतामणियां भी इसी प्रसंग पर सुनाई जाती हैं जिनके छोटे व बड़े सभी रूप मिलते हैं। वैसे गर्भवती औरतों का भी ये गर्भ चिंतामणियां सुनाई जाती हैं। धर्म स्थानों में इनके पाठ महिला-समुदाय तथा पुरुषवर्ग द्वारा कभी भी सुने जा सकते हैं। लेखक ने छोटी और बड़ी दोनों प्रकार की गर्भ चिंतामणियां नोट की हैं। यहां बड़ी गर्भचिंतामणी के कुछ अंश दिये जा रहे हैं।

(अ) नरनारी रे मिलवारे संजोग। भोग रच्या संसार्या रा सोग। गर्भवती ओनारी वा रोती। भरत जो भाकर पेट जो भार। नीचा रे मस्तक ऊंचा जो पाव। नानी समाण घोडा न्यारे अपार। नेत्रकने दोई मुस्किरा। जाई थू उपन्यारे घर दे मूजार। हृदय सुद राखी दत आग। यूं चेते ज चेते मानवी।

(ब) उदर जगा थूं उपन्यो रे जीव। जाजेरी दीदी नम्मा सम्नेरी नीम। चामेचडी सू चेंटी र्यो। माताने दुदियाने वेटाने मूक। जिम दिन में घणा भोगवतो दुख। सुभ जाचाणा इम केवे। मन खड पेली समाड री जोन। सुई ससारी साडे तीन से कोट। अगन वरणजई जारगी। चापे दियोरे थारो सगरो शरीर। मास गया भावन सावीरा। थू चेते ज चेते मानवी।

(स) स्वार्थ तो सच्चो वेडरे संसार। बेटाबहुने सोइ परिवार। अन्तयवरो जाणे अवसरा। कयानु लोपे तोतें नरनार। हुकम थारा परवा लावनो। दासीनो थारे ऊबी वेकर जोड। एके बुलावेने दस आवे दौड। परवल्लाजों पन्न परसाद स। रोगा रा टावाने रतनारी सज। लाग रही थारे जगमग जोत। थू चेते ज चेते मानवी।

(द) काल भमर थारा होनाजी वेस। जिम दिन करतो नवा नवा, वेस। सैलसपाटा करतो घणो। चालतो नरखतो आपणी पाग। नीचे तलावेने देखतो वाग। मातपिता नहीं पूछतो। देतो रे ताण मरोडतो मूंछ। चावे तो विडिया ने सू छे तो फूल। धरम वना थारे कई होसी। थू चेते ज चेते मानवी।





(य) रतना रा प्यालाने सोनारी थाल । मूग मिठाई ने चावल दार । भोजन भली भली भातरा । गगाजल पाणी दीदो छे ठार । वस्तु मगावोने तुरत तियार । कमी ए नही कणी वातरी । वडा वडा होता रे राणा ने राव । सेठ सेनापतिने उमराव । खातर मे नही राखता । जो नर भोगन्ता शक भरपूर । देकता देकता होइ गया धूर । देकोरे गत ससार की । थू चेते उचेते मानवी ।

(र) परनारी सू लगावतो प्रीत । खोटारे कर दिया सु सेरा नीत । परणीयो दायनु आवसी । माटी तो थारी रेती रे द्रस्ट । काचे लपेटे थू होइ गयो भ्रस्ट । देकोरे गत संसार की । परवारी जात थारे पचामें साक । दडत फडत काटे सी नाक । लोका माई फटफट करे । अभी कणी थने दीदी रे सीक । भव भव माय थू मागसी भीक । थू चेते उचेते मानवी ।

इस अवसर पर सथारे भी सुनाये जाते है जिनका विषय भी परम कल्याण प्राप्ति का ही रहता है—

सथारो प्यारो घणो
रतन चितामणि हेम हो भवियन
पचमी गति पोचाये ।
सथारो प्यारो घणो ।।
आरपाणी आदरे नहीं
सव जीवारा छे खमाय हो भवियन
पचमी गति पोंचाय ।
करोनी सुध आलोचणा
लगावो सूगत्या सु ध्यान
ऐसी सदा ओ मुझमें बीरता हो भवियन
होवे तरत कल्याण ।
सथारो प्यारो घणो ।।

चोक, ढाल, तवन तथा भजन

ढाल, तवन, भजन आदि की तरह एक प्रकार 'चोक' का भी है । इन चोको मे कर्म-जजाल, विषय-वासना, मोह-माया आदि से जीव को परे रखकर इन सबके ऊपर कमलवत् रहने की सारभूत शिक्षाए मिलती हैं । उदाहरणार्थ कुछ नमूने द्रष्टव्य है—

(अ) करम नचावे जू ही नाचे । ऊची होवणने सब करता । नीची होवणने कोइयन राजी । नन्दया विरता क्यूं करता । चवदे पूरव चार ग्यान का करमा से छूटा जो नहीं । ऊचा चढके पडे कीच मे ग्यानी वचन झूठा जो नही । सोयचाक मोटो मद पीसै ओगण पारका थू क्यू गिनै । थारा ओगण थने नही दीसै । अनेक ओगण है मारे रे आतमा । ग्यानी वचन पकडो रस्ता ।

(व) पन प्रकार का काम भोग है सेवे सेवाये सब करता । शवद, वरण, गद, रस, फरश है जेर खायके क्यू मरता । आकिर यू डीकता लोगा की करत आतमा भर करता । कीने सरावे कीने विसरावे हरक-हरक आनद धरता । आमवश बबुर खावे आमरस सुख किम पडता । रोग शोक करो दारिदर दुखमे दुख पैदा करता । थारी मारी करता दिण जावे । आयारे सामा भाटा भिडावे । सुख मे दुख थू वेर गलावे । ज्यू दीपक मे पडे पतग्या चेतन दुरगत क्यू पडता ।

(स) होत का थू क्या स-ारे । अणोत क्या विसराता है । पुन्नपाप तो बाध्या जीवन जैसा ही फल पाता

है। किने मारा दीदी भोगवने कोई रखवारी करता। जम अपजसतो वाध्या जीवने जैसा ही कारज मन्ना। पाप अठारे सेंधा जीवने इणमें सबही फसता है। स्वादवाद, रस, काम, भोग मे कूचा पूना का करना है। आग, थां और तुमारी मोगी पाप कर कटवा लगता।

तवनों और भजनों के ना मैंन्डो प्रकार मिलने है। तवनों मे सतियो तथा तीर्थंकरो के अलावा रतनजी, जबूजी, गणधरो तथा राम-जीवन सबधी तवन विशेप लोकप्रिय है। व्यावलो मे नेमजी (नेमीनाथजी) का व्यावला विशेप प्रचलित है।

ढालो मे भ, अन्न, मेघकुमार, पवन कुमार, रावण, विजया सेठ तथा जबूजी की ढालें उल्लेखनीय है। इन ढालो मे छुटपुट जीवन की कई सुन्दर झाकियाँ मिलती है। ये गद्य और पद्य दोनो रूपो मे मिलती हैं। गेदाजा की ढाल मे कवर और कवरी का वार्तालाप बडा मार्मिक बन पडा है—

कवर—कायेरी थारे बेवडो ओजी कायेरी थारे नेज।
कायेरी थारे चूमरी एकवरी कई तो थारा मोलजी ॥

कवरी—जन मोडर रो बेवडो ओजी रेशमरी मारे नेज।
कमल फूलारी मारे चूनरी ओ कवरा लाखे रीपारी मोल जी ॥

कवर—गारा री थारे बेवडो ओजी सणकी थारे नेज।
गाच पुचेरी थारे चूमरी एकवरी कोटी री थारो मोल ॥

कवरी—वगर विचारया किसे बोलिया ओजी बोलिया इ ढेड चमार।
स्तरीनो वाता कई करो ए कवरा घरे कमीक है नार ॥

कवर—थारा सरीकी मारे अत घणी ओजी छापारी छणीयार।
अन खावेने पाणी पीवे ए कवरी के नी मनरी वात ॥

कवरी—थाणा सरीका मारे अन घणा ओजी घोटा रा चरवादार।
अन खावेने पाणी पीवे ओ कवरा कोनी मनरी वात ॥

कथा-कहानियाँ—धर्म स्थानो में व्याप्त धार्मिक कथा-कहानियो की सख्या सर्वाधिक है। इन कहानियो की आत्मा धार्मिकता के ताने बाने से गूँथी हुई होती है। ये कहानिया प्राय सुखान्त होती है। अधिकतर कहानियों की समाप्ति सयममार्ग धारण करने—दीक्षा लेने मे होती है। कहानियों मे छोटी से छोटी तथा बडी से बडी कहानिया मिलेंगी जो गद्य, पद्य अथवा दोनो रूपो मे सुनने को मिलती हैं। लेखक ने ऐसी कई कहानिया नोट की हैं जिनमे से बहुत सारी प्रकाशित भी करवाई है।

सोरठ की कहानी मे सोरठ के पीछे-पीछे बीज्या भागता हुआ लपकना चाहता है कि इतने मे साध्वियो का ठिकाना आ जाता है। सयोग से सोरठ वहा रुक जाती है और उसका सकट बच जाता है। साध्वियो मे वह दीक्षा लेने की भावना भाती है। साध्वियाँ दीक्षा की आज्ञा देने वाले का नाम पता पूछती है इस पर सोरठ कहती है—'आज्ञा देने वाले भी आप हैं। मारने वाले भी आप हैं और तारने वाले भी आप है। साध्विया उसे दीक्षा दे देती है और बीज्या मुँह लटकाता रह जाता है।

यहा इसी प्रकार की एक कथा देकर इस प्रकरण को समाप्त किया जाता है—

एक डोकरी ही जटे एक बेटो हो। छोटापणा मे इ डोकरी बटाने परणाई दीदो। परणीने बेटो देसावर परो गयो। बेटारी बउ भला घरारी ही। ना स्याटो साथा पेस्ती ने नाम वतो करती, ध्यान-ध्यान करती। एकदन पाडो-





सण्या बोली—'चालो लाडी बागा मे चाला।' वा बोली-'नी आऊ।' अतराक मे बडी मामु बोली—'लाडी जावो भलाई, मारे आडीऊ मनाई नी।' लाडी फाटागाबा खोल्यानी ने बागमे गो। बागम सब सखिया तो हिले, मिले, नाचे, कूदेने गीत गावे पण या एक जगा छानी मानी बेठी बेठी वणारा खेल तमस्या देखे। बारा वरस वतीतव्या ने वडो पति आयो। घरे देखे तो वउ मलीनी। वणी होच्यो के कठे गगीता नेगी। माने पूछ्यो। मा बोली वाग मे गी है वेटा। वातोनी जावा लागी। पण मे गज वयो तोई फाटा गावा पेरीनगी। वेटो दोड्यो-दोड्यो वाग मे ग्यो देखे तो सब लुगाया तो हसी-खुशी मनाई री ने या एकली बेठी।

जदी वो बोल्यो—लाबी गोरी पातरीने गज गज लाबा केश।
सब सखिया सुहावणी रे थारे क्यू मेला वेश।

वा बोली--आडा पग्वत अति घणारे जाणो वणी देश।
पीऊनो परदेश वसे रे जणी सू मेला वेश।।

वो बोल्यो—लाय रागावो डूगरिया ने फाटो वो वणी देश।
पीऊतो दूजा करो ने नत नवा करो शृगार।।

वा बोली—अमर तारा आकाश में ने धरती धान न होय।
पाणी मे दीवलो जले जद पीऊ दूजा होय।।

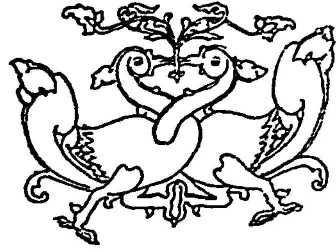
अतरो केइने वो परोग्यो। पाछाऊ सब सखिया रे हाडे वा भी गी। जाइने देखे तो वोड अडो धणी है। वा पगा मे पडी। वो बोल्यो के मे तो थारी परीक्षा ली दी ही थू वणी मे खरी उतरी। आप्रकार वणी धणी तो दूजी शादी की दी है ने वऊ दक्षा लीने आपणो आतमारो कल्याण को दो।

धर्मरथानो के साहित्य के बारे मे जितना जो कुछ कहा जाय उतना ही कम है। यह साहित्य इतना महान और मेधावी है कि किसी भी धर्मसाहित्य के समक्ष इसे 'ए-वन' की कोटि में रखा जा सकता है।

●

राजस्थानी चित्रकला में लोकतत्त्व

डा० जयसिंह नीरज
राजपूत छात्रावास, अलवर



भारतीय चित्रकला की विभिन्न शैलियों में राजस्थानी चित्रकला का महत्त्वपूर्ण स्थान है। खेद यही है कि आज तक विस्तार से इस चित्रकला के सविधान, वर्गीकरण एवं विभिन्न पहलुओं पर शोध-पूर्ण कार्य नही हुआ। राजस्थानी चित्रकला का उद्भव एवं उत्कर्ष राजस्थान के प्रान्त मे हुआ तथा यह अन्य भारतीय शैलियो से प्रभावित होती हुई स्वतंत्र रूप से राजस्थान के वीर प्रदेश मे पोषित एवं पल्लवित हुई। इसके विकास एवं संवर्धन मे राजस्थान का प्राचीन इतिहास और भौगोलिक रचना का प्रमुख हाथ रहा है। वीर राजपूतों की वीरभूमि के कण-कण मे उनके शौर्य की गाथायें, लोक-कथाए, सभ्यता और संस्कृति के पद-चिह्न काव्य, चित्रकला, स्थापत्य आदि के रूप में यत्र-तत्र बिखरी पडी है। वास्तविकता तो यह रही है कि अपने प्राकृतिक निर्माण और मोहक वातावरण के कारण काव्य एवं कला की उद्भावना के लिए राजस्थानी धरती अत्यधिक उपयुक्त रही है।

विशुद्ध राजस्थानी शैली का प्रारम्भ १५ वी शती के उत्तरार्ध से १६ वी शती के पूर्वार्ध के बीच १५०० ई० के लगभग माना जाता है। तब से लेकर १९ वी शती के उत्तरार्ध तक राजस्थानी चित्रकला अनेक शैलियो मे परिप्लावित होती रही है। इसका विकास एवं निर्माण दूसरी अधिकांश शैलियों की भांति न तो एक स्थान मे हुआ है और न ही कुछेक कलाकारो द्वारा। राजस्थान के जितने भी प्रमुख प्राचीन नगर, राजधानियां तथा धार्मिक और सांस्कृतिक प्रतिष्ठान हैं, वहाँ चित्रकला पनपी और प्रतिष्ठित हुई है। धर्म-प्रिय रियासतों के कला-प्रेमी राजाओं, सामंतों और जागीरदारों तथा सामान्य जन-जीवन का राजस्थानी चित्रकला के विकास एवं संवर्धन मे महत्वपूर्ण योगदान रहा है।

धार्मिक प्रतिष्ठानों के अतिरिक्त कवियों, चित्रकारों, संगीतज्ञों, शिल्पाचार्यों के दरबारी जमघट के कारण राजस्थानी चित्रकला की अजस्र धारा अनेक रियासती शैलियों को परिप्लावित करती हुई १७ वी-१८ वी शती मे अपने चरमोत्कर्ष पर पहुची, जिससे इसका समन्वित स्वरूप सामने आया। अधिकांश रियासतों के चित्रकारों ने जिन-जिन तौर तरीकों से चित्र बनाये, स्थानानुसार अपनी मौलिकता, भौगोलिक तथा सामाजिक लोक कलात्मक विशेषताओं के कारण वहा की चित्रशैली कहलाई। राजस्थानी चित्रकला इस प्रकार अनेक शैलियों का समन्वित स्वरूप है जिसमे मेवाड, किशनगढ, बूंदी, जयपुर, बीकानेर, मारवाड, कोटा, अलवर आदि शैलिया विशेष उल्लेखनीय हैं।

राजस्थानी चित्रकला के प्रमुखतया दो स्वरूप मिलते हैं—एक लोककलात्मक, और दूसरा दरबारी। प्रथम स्वरूप अधिकतर धर्म-पीठों एवं जनसमाज में अधिक पल्लवित हुआ है और दूसरा सामंती परिवेश मे। निश्चय ही उपर्युक्त दोनों स्वरूप अबाध गति से प्रवाहित होते रहे हैं। प्रारम्भिक राजस्थानी चित्रकला लोककलात्मक अधिक है। सही बात तो यह है कि लोक-जीवन तो राजस्थानी कलाओं के कण-कण मे समाहित है। भित्ति-चित्रण की परम्परा में विकसित राजस्थानी चित्रकला को लोकजीवन मे विशेष सान्निध्य रहा है। भित्ति-चित्रण मे लोक-जीवन का पुट अधिक रहता है। लोक कथायें, धार्मिक भावनाए, भगवान की चमत्कारी लीलायें तथा महापुरुषो की गाथायें राजस्थान मे भित्तियो पर प्राचीन समय से ही चित्रित की जाती रही हैं और यह परम्परा (अपने रूढ रूप मे ही सही) आज भी प्रचलित है। राजस्थान के प्रमुख भित्ति-चित्रों मे कृष्ण की विभिन्न चमत्कारी लीलायें व ढोला मारू की कथा, पाबूजी की कथा तथा

अन्य लोक-जीवन सम्बन्धी कथाओ का समावेश विशेष रूप से मिलता है। कोटा के राजमहल, बूंदी के छत्रशाल महल, आम्बेर और जयपुर की अनेक छतरियाँ तथा शेखावाटी की विभिन्न अट्टालिकाओं का चित्रण लोक-जीवन एव लोक-तत्वो के अधिक समीप है।

राजस्थानी चित्रकला का विकास जो प्रमुख रूप से अपभ्रश शैली की दाय है, अत अपनी पूर्ववर्ती शैली की रूक्षता, भदेसपन, रेखाओ की मुटाई आदि लोकतत्व प्रारम्भिक राजस्थानी शैली मे विशेष देखने को मिलते हैं। अत्यधिक नफासत पच्चीकारी और मीनाकारी तथा रेखाकन की बारीकी सामती प्रभाव के कारण ही राजस्थानी चित्रकला मे आयी है। प्रारम्भिक मेवाड शैली के चित्रो मे इस प्रकार का भदेसपन विशेषतया द्रष्टव्य है। 'चारपचाशिका', 'दुर्गा सप्तशती' तथा 'गीत-गोविन्द' पर आधारित चित्र उपर्युक्त लोकतत्व के प्रमुख उदाहरण है। यह धारा १७ वी और १८ वी शती मे भी सामती चित्रण के साथ-साथ प्रवाहित होती रही है।

राजस्थानी चित्रकला मे लोकतत्व को सर्वाधिक कृष्ण चरित्र ने उभारा है। कृष्ण का चरित्र अपने आप मे लोक-जीवन का साक्षात् प्रतीक है। स्वच्छन्द वातावरण मे कृष्ण का गौवें चराना, जगल मे अनेक प्रकार के खेल रचना, पूतना से लेकर कस तक का उद्धार करना तथा गोवर्धनधारण, काली दमन, दान-लीला, मान-लीला आदि का चित्राकन विषय की दृष्टि से तो लोकजीवन से सबद्ध है ही, साथ ही चित्राकन की शैलीगत विशेषताओ के कारण भी लोकतत्व के अधिक समीप है। ऐसे चित्र प्रमुखतया धर्म-पीठो मे तो बने ही हैं साथ ही विभिन्न दरबारो की धार्मिक भावना के कारण भी विपुल रूप से अकित किये गये हैं। हा १८ वी शती के चित्रो की लोककलात्मकता मे सामती परिवेश का प्रभाव अवश्य आ गया है। मेवाड शैली, बून्दी शैली, मारवाड शैली के ऐसे चित्र विभिन्न सग्रहालयो मे विशेष द्रष्टव्य है। जिनमे विषय और शैली की दृष्टि से लोककलात्मकता है।

चित्रकला के माध्यम से कृष्ण चरित्र को सर्वाधिक प्रसार दिया है मेवाड की उपशैली नाथद्वारा-शैली ने। नाथद्वारा मे श्रीनाथजी के स्वरूप के स्थापित होने के साथ ही गुसाईयो के साथ अनेक चित्रकार भी व्रज-क्षेत्र मे अपनी जीविका उपार्जन हेतु आ बसे और श्रीनाथजी के स्वरूप एव अन्य लीलाओ का चित्राकन करने लगे। स्थानीय जागिड ब्राह्मण भी श्रीनाथजी के चित्राकन मे जुट गये और इस प्रकार व्रज के प्रभाव तथा मेवाड शैली के योग से १८ वी शती के अन्त मे नाथद्वारा शैली जोर-शोर से अपना विस्तार पाने लगी। ये चित्रकार अधिकतर कपडे पर चित्राकन करते थे जो श्रीनाथजी की पिछवाइयो के रूप मे प्रचलित हुआ। इन पिछवाइयो का अकन ठेठ लोक-कलात्मक शैली में हुआ है। माता यशोदा के चित्रण की प्रमुखता के कारण स्त्रियो की आकृति मे प्रौढता, शारीरिक स्थूलता और भावो मे वात्सल्य की झलक विशेष दर्शनीय है। पुरुषो मे गुसाईयों के पुष्ट कलेवर बाल-गोपालो की ग्रामीण आकृतियाँ तथा गाय, बछडे, वन, निकुज आदि का अकन सरस एव सौम्य बन पडा है। इन चित्रो मे लोक-जीवन की पूर्ण छाप है, इसलिये ये चित्र लोककला के सच्चे प्रतीक है।

राजस्थानी चित्रकला की सबसे बडी विशेषता है काव्याकन। काव्य को आधार बनाकर चित्र अकित करने की यहा परम्परा रही है। लोककथाओ पर आधारित चित्र तो लोककला के द्योतक है ही पर उच्चकोटि के साहित्य पर आधारित चित्र भी लोकतत्वो से प्रभावित है। प्रारम्भिक चित्र अपनी शैली-गत विशेषताओ के कारण लोक-कला से सबद्ध हैं। भक्तिकालीन साहित्य जैसे सूरसागर, परमानन्दसागर तथा अन्य फुटकर भक्ति पदो पर आधारित चित्रो मे भी भक्तिकालीन लोकजीवन का यथेष्ट पुट द्रष्टव्य है। दूसरी ओर रीतिकालीन अर्थात् रसिक प्रिया, बिहारी सतसई, रसराज आदि काव्यो को आधार बना कर जो चित्र मेवाड, बूंदी जयपुर, बीकानेर आदि शैलियो मे निर्मित हुये है, उनमे रीतिकालीन मीनाकारी पच्चीकारी और बारीक अलकरण का विशेष प्रभाव है। ऐसे चित्रो मे सामती परिवेश की पूर्ण छाप देखने को मिलती है।

राजस्थानी चित्रकला मे जो चित्र लोक-कलात्मक शैली मे अकित किये गये हैं उनमे रगो का प्रयोग भी लोककलानुकूल ही है। मिट्टी और पत्थर से बनाये गये ऐसे रगो का प्रभाव सहज मौलिक है। ऐसे चित्रो मे रगों का तालमेल अधिक नही हुआ है और वे अपनी सूचक अवस्था मे ही प्रयुक्त किये गये हैं। सूचक अवस्था का सबन्ध प्राचीनतम

रूपों में है। ऐसे लोककलात्मक रूप प्राग् ऐतिहासिक काल की गुफाओं से निकलकर अजन्ता शैली, जैन-शैली, गुजरात शैली और फिर राजस्थानी शैली में विशेषतया प्रयुक्त हुये हैं। आगे चलकर रंगों की यह सूचक अवस्था टूटने लगी और रंगों का सम्बन्ध 'टोन' से आबद्ध होकर 'हारमनी' की ओर अग्रसर हुआ। इस प्रकार राजस्थानी शैली के लोककलात्मक रंग मानवी परिवेश की चमक-दमक में अपनी सहज सूचक अवस्था खोकर एक दूसरे में घुल मिल गये। राजस्थानी चित्रकला के लोककलात्मक चित्रों में रंगयोजना भी अत्यधिक सहज है। लाल, पीले, नीले, हरे, काले रंगों का इतना सहज प्रयोग भित्ति-चित्रण की परम्परा का परिचायक है।

संक्षेप में राजस्थानी चित्रकला के अधिकांश चित्र विषय शैली एवं रंगयोजना की दृष्टि से लोककलाओं से अत्यधिक प्रभावित हैं। भारतवर्ष के ही नहीं संसार भर के अनेक संग्रहालय पोथीचित्रों, लघु-चित्रों, पिछवाइयों तथा लिपटवाँ पटों के रूप में इन चित्रों से सुशोभित हैं। खेद यही है कि अपनी अमूल्य धरोहर तथा सांस्कृतिक परम्परा के प्रति हम और हमारी सरकार तनिक भी जागरूक नहीं हैं।

o



राजस्थान का किसान गाता है !



डा० मनोहर शर्मा

सेठ आर० एम० रुइया कालेज

रामगढ (शेखावाटी) राजस्थान

राजस्थानी लोकगीतों मे किसान का सम्पूर्ण जीवन गाया गया है। खेती सम्बन्धी कोई भी काम नही है जिसके साथ अनेक गीत जुड़े हुए नही। जमीन को साफ करने से लेकर अनाज को घर पहुचाने तक के सभी प्रसंग गीतो से गुंजायमान हैं। ये गीत श्रम को सरस बनाने मे असाधारण योग देते है। किसान का मन गीतो के राग में इतना रम जाता है कि वह अपने तन मे किसी भी प्रकार के श्रम से थकान अनुभव नही करता और पूर्णतया कर्मठ जीवन का आनन्द प्राप्त करता रहता है।

खेती के गीतो की रसधारा जलागम के साथ प्रवाहित होती है। मोरो के देश राजस्थान मे वर्षा – मंगल के समान सुखद समय और क्या हो सकता है ? इस समय जड़ प्रकृति और चेतन जीव सभी उल्लास-विकसित हो उठते है। किसानो के लिए तो यह अवसर जीवनाधार ही है। ऐसे अवसर पर उनके हृदय का राग अपने आप गूंज उठती है—

सुरगी रुत आई म्हारे देस,
भलेरी रुत आई म्हारे देस,
मोटी-मोटी छाट्या ओसर्‌यो, ए बदली,
तो छाट-घडे के मान, मेवा-मिसरी
सुरगी रुत आई म्हारे देस, भलेरी० ॥
मुन्याणो मोज्याणो सै भर्‌या, ए बदली,
तो धोल-पालियो ठेलम-ठेल, मेवा मिसरी,
सुरगी रुत आई म्हारे देस, भलेरी० ॥
यो कुण बोवे बाजरो, ए बदली,
तो यो कुण बोवे हरिया मोठ मेवा मिसरी,
सुरगी रुत आई म्हारे देस, भलेरी० ।
ईसरराम बावे बाजरो। ए बदली,
तो कान्हीराम बावे हरिया मोठ, मेवा मिसरी
सुरगी रुत आई म्हारे देस, भलेरी० ॥

"हमारे देश मे सुरगी ऋतु आई है हमारे देश मे बडी भली ऋतु आई है। अरी बदली, तू काफी मोटी बूदो मे बरस पडी है एक एक बूद एक घडे के समान है। हमारे देश मे मेवा और मिश्री के समान सुरगी ऋतु आई है।"

"मुन्याणो" और मोज्याणो नामक कच्चे जोहड पूरे भर गये हैं।" 'धोलपालियो' नामक पक्का तालाव ऊपर तक लबालब हो गया है। बदली, हमारे देश में मेवा और मिश्री के समान सुरगी ऋतु आई है। हमारे देश मे बडी भली ऋतु आई है।

"बाजरा कौन बो रहा है ? हरे मोठ कौन बो रहा है ? हे बदली, हमारे देश में मेवा और मिश्री के समान ऋतु आई है, हमारे देश में बड़ी भली ऋतु आई है।

"ईसरराम बाजरा बो रहा है और कान्हीराम हरे मोठ बो रहा है। हे बादली, हमारे देश में मेवा और मिश्री के समान सुरंगी ऋतु आई है, हमारे देश में बड़ी भली ऋतु आई है।"

इन्द्र देव के मिलन-महोत्सव में पृथ्वी अपना शृंगार सजाती है। सर्वत्र शोभा एवं सुख का वातावरण प्रकट होता है। खेतों में हल चलने लगते हैं। राजस्थान का किसान बोता हुआ भी गाता है। गाये बिना तो उससे रहा ही नहीं जाता है। जब प्रकृति में सर्वत्र आनन्द है। तो वह उससे अप्रभावित कैसे रह सकता है ? जुलाई के समय का 'तेजा' गीत सुप्रसिद्ध है। यह गीत काफी लम्बा है और इसमें गो भक्त तेजाजी की जीवन गाथा गाई जाती है, जो एक लोकदेवता के रूप में पूजित है। गीत काफी ऊंचे स्वर में गाया जाता है। जब किसान इसे गाता है तो मानो सम्पूर्ण वातावरण भी उसके साथ गाने लगता है। तेजागीत राजस्थानी हलवाहों का स्वस्तिवाचन है। यह उनके जीवन का गीत है।

गीत के प्रारम्भिक बोल इस प्रकार हैं।

भरियोजी भरियो मेवालिया जोम, म्हारा लाडेसर रे,
भरियोजी भरियो मेवालिया में जोम रे,
कोई बोलण भी लाग्या रे, पपैया बेठा डूगरा।
चालैजी चालै मेवलिया री बाल रे म्हारा लाडेसर रे।
कोई खरसो तो उतर्यो रे, चौमासो बेटा लागियो।
सूज्योजी सूज्यो घर घर हलसाज रे, म्हारा लाडेसर रे,
कोई अलिये तो अलिये का रे, खेती भी ये लागियो।

"हे मेरे लाडले बेटे, बादलों में पूरा वेग भर गया है और पहाड़ों में पपीहे पक्षी बोलने लगे हैं।"

"हे मेरे लाडले बेटे, बादलों की ठंडी हवा चलने लगी है, अब गर्मी की तपन मिट गई है और चौमासा लग गया है।"

"हे मेरे लाडले बेटे, अब घर घर में हल का साज तैयार किया जा रहा है और पास पड़ौस के सभी लोग खेती के काम में जुट पड़े हैं।"



खेत की बुवाई के बाद निनाण अथवा निराई होती है। जब अनाज के पौधे कुछ बड़े हो जाते हैं तो अनावश्यक और स्वयंरुह घास से उनकी रक्षा करना जरूरी है अन्यथा अनाज बढ़ नहीं पाता और उसकी शक्ति समाप्त हो जाती है। इस कार्य में शीघ्रता की आवश्यकता होती है। अतः समवेत-श्रम द्वारा इसे जल्दी ही पूरा करने की चेष्टा की जाती है आसपास के सब किसान उस खेत में इकट्ठे हो जाते हैं, जिसकी निराई स्वयं किसान—परिवार पूरी नहीं कर पाता है। वे सब सामूहिक रूप से उसकी निराई कर डालते हैं। यह श्रम-सहयोग देखने लायक होता है। ऐसे अवसर पर खेत के मालिक को सब साथियों के लिए अपनी ओर से मीठे भोजन का प्रबन्ध करना पड़ता है। इसे लोक भाषा में "ल्हास" कहा जाता है। "ल्हास" के अवसर पर आये हुये श्रमवीर बड़े उत्साह और स्फूर्ति से काम करते हैं। वे काम करते समय गाते भी है। यह सामूहिकश्रमगान बड़ा प्रिय लगता है। इस समय विविध विषयों के प्रचलित दोहे ऊंचे स्वर में गाये जाते हैं इन्हें 'सिन्धूड़ा' कहते है और इनके मूल में प्रेरणा का भाव है कुछ चुने हुये दोहे द्रष्टव्य है—



घर जाता, धर्म पलटता, त्रिया पड़ता ताव ।
तीन दिहाडा मरण रा कहा रंक कहा राव ॥ हो
पाल् कह क परसराम अरजन कहू क भींव ।
तेरा परवाडा कुण गिण्या, धन धाधल का भींव ॥ हो
काले मुंह की गादडी, खाया सूना खेत ।
आसी फौज हमीर की, लेसी खाल समेत ॥ हो
सिंघ गमन सापुरस वच, केल फले इक वार ।
तिरिया तेल हमीर हठ, चढे न दूजी वार ॥ हो

निराई के समय अनेक गीत भी गाये जाते हैं। समूहगान का एक नमूना यहा प्रस्तुत किया जाता है—

तन्नै क्याको फीकर लाग्यो, छोरा राम धनिया ।
तू तो माडो कैया होगो, छोरा रामधनिया ।
तेरे दो भाया की जोडी, छोरा रामधनिया ।
तेरे दो भावज कमावै, छोरा रामधनिया ।
तेरे चढवा ने दो घोडी, छोरा रामधनिया ।
तेरे दो दो ऊट लदीजैं, छोरा रामधनिया ।
तेरे दो दो भैंस्या दूजे, छोरा रामधनिया ।
तेरे च्यार च्यार गाया दूझै, छोरा रामधनिया ।
तेरे ऊचे चोक तिवारी, छोरा रामधनिया ।
तू तो काला कैया पडगो, छोरा रामधनिया ।

"अरे रामधन, तुझे किस चीज की चिन्ता लगी है जो तू कमजोर हो गया है ?"

"रामधन, तेरे दो भाइयो की जोडी है और दो भाभी हैं, जो सब कामो मे पूरा सहयोग देती है ।"

"रामधन, सवारी करने के लिए तेरे घर मे दो घोडिया बधी हुई हैं और बोझा लाने के लिए घर मे दो ऊट है । "

"रामधन तेरे दूध देने वाली दो भैंस और चार गाये है ।"

"रामधन, तेरे मकान का चौक ऊचा है और फिर उसमे तिवारी है । इतने सब ठाठ होने पर भी तू काला पड गया है, कैसे ?"

इस गीत मे सुखी एव सब प्रकार मे सम्पन्न तथा सद्भावनापूर्ण गृहस्थ की यशोगाथा गाई गई है, जो खडी खेती के वातावरण मे बडी सरस लगती है खेती मे कठिन काम करने के कारण और धूप की तेजी के कारण किसान का बेटा अपने स्वाभाविक रग को छोड कर काला-सा प्रतीत होता है परन्तु यह उसकी तपस्या का रूप है । इस गीत मे प्राचीन भारत के सुखी एव सम्पन्न किसान जीवन का मनोरम चित्र देखते ही बनता है ।

निनाण के सामूहिक गीतो के बाद खेत मे यही अवसर "लावणी" (कटाई) के समय फिर देखने को मिलता है। इस अवसर के अनेक गीत और "सिन्झूडे' लावणी के समय फिर गाये जाते हैं परन्तु कई गीत अतिरिक्त भी है ।

इनमें 'दांतियो" (हंसिया) गीत विशिष्ट है। यह समय किसान के लिए उसकी तपस्या की फल-प्राप्ति का है। अत-इसकी पूर्ण छटा इस गीत में भरी है। गीत इस प्रकार है।—

उगूणे ढंग मे ओ देवर, आयगी ओ भल लावणी।
देवर तो मोजई ओ आपा, करस्या ओ भल लावणी।
नामू तो सरावें मेरा देवर, करस्या, ओभल लावणी।
नीम तले लुहारी ओ देवर, घढवा दे दांतियो।
तने अमन खेडी को घडवाधू ए भावज, घणो सो दांतियो।
टाडी तो दिवा दे ओ देवर, चन्दण काठ की।
मैं तो चुडले के रलके मे ओ देवर, वावूलो दांतियो।
थे तो छिरणें के फटकारे देवर, वावोना दांतियो।
थे तो पूचे के रलके से भावज, वावोना दांतियो।
थे तो घूघट के फटकारे भावज, वावेना दांतियो।
मनैं घूघरिया घडवा दे देवर, रूपे के झोल का।
मैं तो एडी के ठिणके से देवर, वावुला दांतियो।
मैं तो डेर्‌या डेर्‌या वावूलो देवर, खरो सो दांतियो।

"मेरे देवर, पूरब की ओर वाले खेतो में कटाई का समय आ गया है। देवर भाभी मिलकर ऐसी कटाई करें, जिसकी सराहना मेरी सास करने लगे।"

"मेरे देवर, नीम के नीचे लुहारी है। उससे मुझे एक हंसिया बनवा दो।"
"भावज, तुम्हारे लिए पक्के लोहे का अच्छा-सा हंसिया बनवा दूंगा।"

"मेरे देवर, उस हंसिये का डाडा (पकडने का भाग) चदन की लकडी का बनवाना। मैं अपने चुडले को हिलाते हुए उसे पौधों पर चलाऊंगी और तुम अपना हंसिया सिर के छिरणें को हिलाते हुये चलाना।"

"भावज, तुम अपना हंसिया हाथ का पूरा जोर लगाते हुए चलाना। उसे अपने घूघट को हिलाते हुए चलाना"
"देवर, मेरे लिये चादी के घुघरू भी लगवाना। मैं एडी के ठिणके से आवाज करते हुये अपना हंसिया चलाऊंगी।"

"मैं खेत की सभी ढेरियो मे भले से हंसिये का प्रयोग करूंगी।"

इस गीत मे भाभी-देवर का सवाद सर्वथा सहयोग और श्रम का सूचक है। हल से जो क्रिया प्रारम्भ होती है उसका फल हंसिये से प्राप्त किया जाता है। पके हुये भरे-पूरे खेत मे यह गीत आश्चर्यजनक निर्मल रस-धारा प्रवाहित करता है। जब इसका सामूहिक गान ऊंचे स्वर मे गूंजने लगता है तो मानो सम्पूर्ण प्रकृति भी इसमे अपना योग देने लगती है।

खेती के गीतो मे किसान के साथ उसकी पत्नी की साधारण झलक दिखाई गई है। परन्तु अपने पति के साथ उसे भी खेती को सफल बनाने मे कम तपस्या नहीं करनी पडती।

आगे किसान-पत्नी के जीवन का एक सरल तथा स्वाभाविक चित्र द्रष्टव्य है, जिसमे कृषि-कर्म की सम्पूर्ण झांकी प्रकट हुई है—





काली तो पीली ए मा मेरी बादली, घमक र बरस्यो मेह,
बाबोजी ने, कहज्यो, हाली ने बेटी गल देई ।
सोला बलदा को ए मा मेरी नीरणो ।
आठ हाल्या की भाझी छाक,
बाबोजी नै कहज्यो हाली न बेटी मत दीज्यो ।
धौर जिठाण्या सँ मा मेरी ओलणो,
कुण उठावे झाझी छाक ।। बाबोजी ।।
ऊचो तो घालो ए बाई म्हारी चू तरो,
मचक उठायो झाझी छाक बाबोजी ।।
धोरा तो धोरा ए मा मेरी मैं फिरी,
कठे ए न लाद्यो म्हानै खेत ।। बाबोजी ।।
धोरे तो ढलती ए मा मेरी आखडी,
झक्कर ढुलगी बाला छाछ ।। बाबोजी ।।
टीबै तो ओलै ए मा मेरी टीबडी,
जै तले हालीडा रो खेत ।। बाबोजी ।।
देवर जेठा सँ एमा मेरी ओलणो,
कूण तो उतारै झाझी छाक ।। बाबोजी ।।
काठो तो कसल्यो ए बाई म्हारी लाडणो,
मचक उतारो झाझी छाक ।। बाबोजी ।।
धोरा तो धोरा ए मा मेरी बाजरो,
ढेरा मे फोड्याली जवार ।। बाबोजी ।।
ढेरा तो ढेरा ए मा मेरी फाकटी,
टीबा पर गुडै छै मतीर ।। बाबोजी ।।
कोठी तो कुठला ए मा मेरी सँ भरया,
बाकी को गाड्यो ऊडी खास ।। बाबोजी ।।

"सुसराल मे नई बहू आई है । खेती का मौसम है । बहू घर के धन्धो मे लग जाती है और अपनी माता को ससुराल के सम्बन्ध मे सदेश भेजती है । वह कहती है—

"काले-पीले बादलो की घटा उमडी और काफी जोर की वर्षा हुई । मेरे बाबोजी को कहना कि उन्होने हल चलाने वाले किसान को अपनी बेटी देकर बडा अच्छा किया ।"

फिर घर के काम का भारी बोझा उस पर अचानक आया तो वह कुछ घबरा गई और फिर उसने नया सदेश इस प्रकार भेजा —

"माता, यहा सोलह बैलो को चारा-पानी देना पडता है और आठ हल चलाने वालो के लिए भारी मात्रा मे खेत पर भोजन बनाकर पहुचाना पडता है । बाबोजी से कहना कि ऐसे किसान के घर मे अपनी बेटी कभी न देवे ।"

'मेरी देवरानी और जिठानी रूठी रहती हैं। इसलिए इतनी बडी छाक (भोजन) मेरे सिर पर कौन उठावे ? बाबोजी से कहना कि ऐसे किसान को अपनी बेटी कभी न देवे।"

इसके उत्तर मे उसकी माता सदेश भिजवाती है – "बेटी, बडा सा एक चबूतरा बना लो और उस पर छाक का पात्र रखकर फिर नार लाकर उसे उठाओ। ऐसे करने पर तुम्हे ससुराल भली लगेगी।"

"माता, मै सिर पर छाक का भार लेकर धोरो (टालो) मे खूब घूमी, परन्तु मुझे तो वह खेत मिला ही नहीं। तुम बाबोजी से कहना कि ऐसे घर मे अपनी बेटी न देवे।"

"माता, एक टीले से उतरते समय मेरा पैर जरा फिसला और छाक में रखी हुई छाछ बिखर गई। बाबोजी से कहना कि ऐसे घर मे अपनी बेटी न देवे।"

'माता, एक बडे टीले के पीछे छोटा टीला है। उसके दूसरी तरफ आखिर मुझे खेत मिल ही गया। बाबोजी से कहना कि ऐसे घर मे बेटी न देवे।"

"माता मेरे देवर और जेठ रूठ हुये हैं। फिर इतनी बडी छाक का भार मेरे सिर पर से कौन उतारे ! बाबोजी से कहना कि ऐसे घर मे किसान को वह अपनी बेटी न देवे।"

माता ने उत्तर भेजा—"बेटी, अपने घाघरे के नाडे को अच्छी तरह कसो और फिर जोर लगा कर मचके से सिर की छाक नीचे उतार लो। बाबाजी को यहा सदेश भिजवाना कि किसान को अपनी बेटी देकर उन्होने अच्छा काम किया।"

अपने खेत का वैभव देख कर अत मे उसने सदेश भेजा—"माता, हमारे खेत के टीलो पर भरपूर बाजरा खडा है और नीचे वाली धरती पर खूब ज्वार है। माता, नीचे वाली धरती ककडी से भरी हुई है और टीलो पर मतीरे-फल लुढक रहे हैं। बाबोजी को कहना कि ऐसे घर मे बेटी देकर उन्होने बडा अच्छा काम किया।"

जब फसल पकने पर खेत का अनाज घर मे आ गया तो फिर उसने अपने पीहर सदेश भेजा—

"माता, हमारे घर मे जितने छोटे-बडे कोठी-कुठाले (अनाज रखने के भाड) हैं वे सब भर गये और फिर भी काफी अनाज सुरक्षित करने के लिये बचा तो उसे जमीन मे गहरी सो "खास" (अनाज रखने का सुरक्षित स्थान) बना कर उसमे भर दिया। बाबोजी से कहना कि ऐसे किसान के घर में अपनी बेटी आगे भी सदा ही देते रहे।"

इस प्रकार हमारा किसान अपने श्रम से केवल अपने जीवन को ही नही, वह हमारे देश के जीवन को भी सुखी एव समृद्ध बनाने मे योगदान करता है। अत वह सम्मान का पात्र है।

जय जवान, जय किसान !



राजस्थान की मण्डन-कला (मांडणा)

कु० स्नेहलता



बैठने के स्थान को कुत्ता भी पूछ से झाड लेता है। मनुष्य की विशेषता तो इससे आगे बढने में है। मनुष्य की पशु-जीवन से आगे बढने की यही प्रवृत्ति उसे कला-प्रेमी बना देती है। घर का छोटा-बडा, कच्चा-पक्का होना तो गृहस्वामी की आर्थिक दशा पर निर्भर होता है, परन्तु उसका कलात्मक उपयोग निश्चय ही गृहस्वामिनी की सुरुचि-सम्पन्नता का परिणाम होता है। इसीलिए 'गृहिणी गृहमुच्यते' की उक्ति लोक मे प्रचलित हुई है। ससार के सबसे प्राचीन प्राप्त ग्रन्थ ऋग्वेद मे भी कहा गया है—'जायेदस्तम्' अर्थात् जाया ही घर है। कला और ज्ञान-विज्ञान का आश्रय गृहस्थ-जीवन ही माना गया है और गृहिणी उसकी सूत्रधारिणी मानी जा सकती है। नारी से ही नर को अर्द्ध से पूर्ण बनने का अवसर व सौभाग्य प्राप्त होता है। अपत्नीक जीवन-यज्ञ मे भाग लेने का अधिकारी नही होता। श्रद्धा-स्वरूपा नारी से मिल कर पुरुष सत्य-स्वरूप बनता है और इन दोनो का उत्तम मिथुन स्वर्गलोक का सृजन करता है। फूस का साधारण झोपडा भी नारी के हाथो से सस्कार लाभ करके ज्योतिर्मय-जीवन का अधिष्ठान बन जाता है।

वर और वधू के रूप मे पहली बार मिलन झोपडे को 'चतरसार' (चित्रशाला) मे परिवर्तित कर देता है। यही पति की सहचरी बन कर वधू पहली बार अपने आगन को सजा कर नन्दन-वन का रूप देने और ओबरी को कला के धागे पहना कर देवलोक के विमान जैसा बनाने का सकल्प लेती है। जीवन भर उसका यह सकल्प 'नवो नवो भवति जायमान' के रूप मे साकार होता रहता है। अभावो म असमय मृत्यु को प्राप्त होती हुई आशाए—आकाक्षाए भी उसको इस सकल्प से नही डिगा पाती। कलाकृतियो के रूप मे हृदय की भावनाओ को साकार रूप देते रहना ही उसके जीवन का व्रत बन जाता है और वह देवताओ को मनाती हुई प्रार्थना करती है कि कही अपने व्रत को अधूरा छोड कर वह मर न जाय। इस रूप मे उसका छोटा-सा सकल्प जीवन मे मृत्युंजयी साधना का स्वागत सोपान बन जाता है। सुखदु खमयी भावनाओ की लोकगीतो मे अभिव्यक्ति होती है तो जीवन के उल्लास और आशावाद को लोक-कलाओ मे अभिव्यक्ति मिलती है।

विवाह के उपरान्त पतिगृह मे प्रवेश पाने पर पहला त्योहार आते ही कुलवधू से माडणे माडने के लिए कहा जाता है। नणद, जिठानी, पडोसिनें आदि माडणा माडने मे उसकी सहायता कर सकती है, परन्तु माडणे की रेखाकृति तैयार करने का काम वधू ही करती है। यह एक प्रकार से उसकी सुघडता की परीक्षा ही होती है। बचपन से ही माता, बुआ, भौजाई आदि से उसे इसकी शिक्षा मिलती है। सबसे पहले वह 'भैंतल' देती है।[1] इससे माडणा का स्थान समतल हो जाता है। सूख जाने पर वहा राती गार को गोबर मे मिला कर लीपती है। जितने विस्तार मे माडणा होगा उतनी जगह मे वह पुन गोहली देती है और उस स्थान पर हिरमिच से माँडणे की आधारभूत रीगटिया (रेखाए) 'ढोलती' है। उनके सहारे पाडु या खडिया मिट्टी से माडणे की रेखाकृति उठाती है। सीधी रीगटिया खीचने

---

१ भैंतल शब्द सस्कृत भक्ति शब्द से विकसित हुआ है। राजस्थानी के भात, भैंत, भैंतल आदि शब्दो का प्रयोग भक्ति के अर्थ मे होता है।

के लिए फुटे आदि का प्रयोग नहीं किया जाता। गोलाकार आकृतियों का उठान भी बिना किसी उपकरण के, आधार के ही उठाया जाता है। रेखाकृति का उठान तैयार हो जाने पर बीच के गोलाकार, तिकोने या चौकोर डाबों में आडी-तिरछी रीगटियों से भराव किया जाता है। भराव करने को भरण कहा जाता है। कहीं कांटे का, कहीं फूल का और कहीं चोटी या नारियल का भरण किया जाता है। भरण पूरा हो जाने पर आसपास चार रीगटिया नीरण की खींच कर उनको तिरछी रीगटियों से भरा जाता है। आसपास लाडू, झवरे आदि बनाए जाते हैं। मांडणे के आसपास सूरज, चांद, बावडी, गाय के खुर, स्वस्तिक आदि माडे जाते हैं। प्रत्येक माडणा विशेष प्रकार के प्रतीकात्मक अर्थ को ध्वनित करता है। इसीलिए प्रत्येक त्यौहार के माडणे अलग प्रकार के होते हैं। वधू के लीपने, गोइरी देने, ढोलने, रेखाकृति उठाने, भरण करने, नीरण भरने, अन्य महकृतियों के बनाने आदि को घर की बडी बूढ़िया और पडोसिनें बडे ध्यान से देखती हैं और अपने अनुभव के आधार पर वह के जमे हुए हाथ को साक्षी बना कर इस नवीन गृहस्थी की सफलता की घोषणा कर देती हैं और नयी वधू की प्रशंसा करते नहीं थकतीं, परन्तु यदि वधू में कलात्मक रुचि की कमी हो, उसका हाथ शिल्प के क्षेत्र में जमा हुआ न हो अथवा उतावलापन के कारण वह उस पहले ही शकुन को बिगाडे दे तो सब सयानी स्त्रियां शंका करने लगती हैं कि वह कभी गृहस्थी को सुख-सगीन से भर सकेगी।

माडणे सारे भारत में ही माडे जाते हैं, परन्तु राजस्थान की गृहिणी ने इस क्षेत्र में अपने शिल्प-कौशल और वैविध्य-युक्त कलात्मक अभिरुचि का परिचय देकर इस प्रदेश को बहुत आगे बढा दिया है। माडणे का कोई प्रति-रूप एक अवसर या एक स्थान हो तो कहा जाय। एक सूचना के अनुसार केवल बूंदी—झालावाड क्षेत्र में ही ३०० से अधिक माडणों के प्रतिरूप हो चुके हैं। खेद है कि सारे राजस्थान के माडणों के प्रतिरूप अभी एकत्र नहीं किए जा सके और नारी-शिल्प की इस अमूल्य विद्या को स्थायी रूप में सुरक्षित रखने की दिशा में अब तक कोई ठोस कार्य नहीं हुआ।

घर का सस्कार करने के लिए गृहिणी प्रतिवर्ष होली—दीपावली पर घर की भीतों को लीपती है। बाद में पाडू या खडिया से दीवारों को पोता जाता है। पक्के मकान को चूने से पोता जाता है। भीत का निचला हिस्सा लाल-मिट्टी से पोत दिया जाता है। फिर सीधी लकीरें खींच कर पोते दिये जाते हैं। कोनों में विविध प्रकार की भातें निकाली जाती हैं। कई गावों में पोते आधी दीवार से भी ऊंचे होते हैं। नीचे विविध पशु-पक्षियों के चित्र, पौराणिक या ऐतिहासिक महापुरुषों के रेखाचित्र या उनके किसी लोकविश्रुत कार्य के साकेतिक-चित्र अंकित किये जाते हैं। सक्रान्ति, नव-वर्षारम्भ आदि के अवसर पर द्वार के कूले पर मगल-कलश आदि, राखी पर चिडिया, हाथी या श्रवण कुमार आदि तथा अन्य उत्सवों पर किसी न किसी प्रकार के साकेतिक चित्र बनाये जाते हैं। अक्षय-तृतीया को कूले पर दोनों ओर पीले रंग से ज्वार या बाजरे का पौधा फल-सहित अंकित किया जाता है। नव-वर्ष के लिए अच्छी फसल होने की शुभेच्छा का सकेत है। कभी केवल साथिया या हाथ की थाप ही मेहदी से या हल्दी से अंकित की जाती है। दीपावली पर मेटे (द्वार का ऊपरी भाग) पर वरद गणेश का ऋद्धि-सिद्धि सहित चित्र अंकित किया जाता है। पुत्र-जन्म के अवसर पर दीवार पर गोहली लगा कर बेमाता[1] का चित्र बनाया जाता है। चौथ के व्रत का उद्यापन करते समय त्रिशूल और सात टपकिया लगा कर पूजा की जाती है। त्रिशूल प्रकृति के सत्त्व-रज-तम गुणों के प्रेरक शिव का और सात टपकिया सप्त-यह्वी या सप्तमातृका के रूप में सुजान सृजनशक्ति के प्रतीक हैं। दुर्गाष्टमी को हाथ की थाप दीवार पर लगाकर उसको सिन्दूर-चर्चित करके पूजा जाता है। हाथ क्रिया-शक्ति का प्रतीक है। ये सब भित्ति पर अंकित होने वाले माडणे हैं। विवाहादि के अवसर पर चितेरे से दीवारों पर चित्र बनाने की प्रथा भी प्रचलित है। इन चित्रों में राजस्थानी जन-जीवन की झांकी देखने को मिलती है।



---

१ बेमाता या वृद्धिका-माता को वृद्धाया या बिहाई (अन्य प्रान्तों में प्रचलित नाम) भी कहा जाता है। महाभारत वनपर्व (२२०।१६) तथा कादम्बरी में वृद्धा और वर्द्धिका नाम प्रयुक्त हुए हैं। सूतिकागृह में इसकी पूजा की जाती है। यह ब्रह्म की शक्ति-सृजकप्रकृति ज्ञात होती है। बिहाई के गीत भारत भर में प्रचलित हैं।



चितेरा तो अपना काम करके चला जाता है। दीवारों पर पोते देना आगन मे चौक माडना, द्वार पर चौक पूरना, घर फर्श को माडणों से सजाना आदि काम तो स्त्रियों को ही करना पडता है। गृहिणी को ही पता रहता है कि होली दीपावली के माडणे तो लाल-मिट्टी और गोबर से लिपे आगन मे माडे जायेंगे और तीज आदि के माडणे वर-सातों हरे गोबर से लिपी हुई आधारभूमि पर ज्यादा खुलेंगे। द्वार पर चौक पूरने के लिए गृहिणी हल्दी और आटा लेती है। सुलभ होने पर रग-बिरगी गुलाल का प्रयोग भी किया जाता है। साधारण समय पर लिपे आगन मे केवल पाडू या खडिया मिट्टी से माडे जाते हैं, होली, दीपावली, सक्रान्ति आदि पर्वों या विवाहादि के अवसर पर रेखाकृति गेरु या हिरमिच से तैयार की जाती है और भरण आदि मे पाडू या खडिया का प्रयोग होता है। आँगन बडा हुआ तो उसके वर्ग या आयताकार की दृष्टि मे रखते हुए बडे माडणे माडे जाते हैं। आगन लम्बा अधिक हुआ तो दो या तीन माडणे भी चित्रित किये जा सकते हैं। ऐसा ही बडा माडणा विवाह के अवसर पर माया के घर मे[3] उसके सारे फर्श पर अकित किया जाता है। इसे राजस्थानी भाषा मे पमरण (सभवत प्रमरण-फैलाव का लोक-भाषा मे विकसित रूप) कहा जाता है। विविध भक्तियो से दीवारें और पमरण से फर्श के सुसज्जित होने के कारण ही कदाचित् वर-वधू के प्रथम मिलन के स्थान उस घर को 'चतरसार' भी कहा जाता है। इस घर मे प्रवेश को लेकर ही शब्द 'घर मे लेना' प्रचलित हुआ है।

केलदि श्रीवसवराजेन्द्र-विरचित 'शिवतत्त्वरत्नाकर' मे ६४ कलाओ मे चित्रालेखन का भी उल्लेख है। 'सम-रागणसूत्रधार' नामक ग्रन्थ मे इस कला का विशद रूप मे विवरण दिया गया है। वहा चित्रकला के ६ अग वर्णित हैं-१ रूपभेद अर्थात रगो की मिलावट आदि का ज्ञान, २ प्रमाण अर्थात् दूरी, गहराई, अनुपात आदि का ज्ञान, ३ भाव और लावण्य योजना, ४ सादृश्य, ५ वर्णिका अर्थात् रगो का सामजस्य और ६ भग अर्थात् रचना-कौशल। भारतीय स्त्रिया इस कला मे बडी निपुण होती थी। आज भी वे उस परम्परा को निभाती चली आती हैं। सामाजिक और धार्मिक उत्सवों पर दीवारों और फर्श पर चित्रित किये जाने वाले मॉडणे इसकी साक्षी देते है। सीमित साधनो और रगो से स्त्रिया घर-आगन को चमका देती हैं।

राजस्थान के विशिष्ट मांडणो मे कुछ के नाम हैं—चौक, ओल टपकियो के रेखाचित्र और स्थानीय उत्सवो सम्बन्धी माडणे। चौक कई तरह के माडे जाते है—यथा, मुकुट का चौक, सिंहासन का चौक, जलहरी का चौक, जलेबी का चौक, स्वस्तिक-चौक आदि। राजमहलो आदि मे युद्ध, आखेट, नौका-विहार आदि के चित्रो के चौक भी बनाये जाते रहे हैं, परन्तु अधिकतर ये चित्र भित्तियो पर ही अकित किये जाते थे। दीपावली को गायो और बैलो की पूजा करते समय उनकी पक्ति के सामने एक लम्बा माडणा माडा जाता है जिसे ओल कहा जाता है। यह लगभग दो हाथ चौडी होती है और इसकी लम्बाई उतनी होती है जितनी दूर तक गाये या बैल पूजने के लिए खडे किये जाते है। इसके पास सामने की ओर हल-जूडा भी माडा जाता है और पीछे की ओर गायो के खुर के निशान माडे जाते हैं। ऐसी ही ओल विवाह या गगोज (गगोत्सव) की रसोई के समय या घर मे मेहमान आने पर वहा माडी जाती है जहा उनको भोजन के लिए बिठाना होता है।

टपकियो के माडणे महाराष्ट्र, गुजरात आदि प्रदेशो मे भी माडे जाते है, परन्तु राजस्थान के ऐसे माडणे अपनी विशिष्टता रखते है। उनमे जालियो के नमूने अकित किये जाते है। तीज, गणगौर आदि राजस्थान के विशिष्ट उत्सव हैं। इनसे सम्बन्धित माडणे राजस्थान की अपनी विशेषता रखते है।

ये माडणे गृहसज्जा के साधन तो होते ही हैं, इनका भावात्मक महत्त्व भी कम नहीं है। इसीलिए प्रत्येक उत्सव से सम्बन्धित माडणे अलग-अलग तरह के होते हैं। भारत की अध्यात्म-प्रधान सस्कृति की झलक इन माडणो मे

---

३ माया के घर मे विनायक बिठाने से लेकर अन्य सारे पूजाकार्य सम्पन्न होते हैं और इसी में सुहागरात की व्यवस्था की जाती है।

भी सिद्ध होती है। चौकापूरन पर माडे जाने वाले माडणों में श्रवणकुमार पौराणिक उपाख्यान की ओर संकेत करता हुआ पुत्रधर्म का निर्वाह करता है। नाग [illegible] का प्रतीक है और सर्पों द्वारा [illegible] के नाती बाटने की धार्मिक गाथा की स्मृति की उद्भावना करता है। [illegible] मुद्राविद्या का [illegible] है। होली पर [illegible] और पेड़ की बाड़ी माडी जाती है। इस समय यह प्रथा भी प्रचलित है कि बच्चे गोबर के ढाल-तलवार बनाते हैं और इन्हें होलिका-दहन में दहन करते हैं। स्त्रियां ग्राउ-उबूले में [illegible] हुई [illegible] का सम्मान करती हैं परन्तु उसके पहले उसमें पेड़ की डालियों की भेंट कर 'हरी' बना ली जाती है। यह इस बात का संकेत है कि आत्मरक्षा और रक्षा के साधन पारम्परिक अभिज्ञान के द्योतक हैं। [illegible] उनकी होली, उनके [illegible] कुल-नारियों के द्वारा [illegible] से स्थापित होता है। [illegible] को पुरवधुओं की अग्नि में [illegible] का साधन बना देना चाहिए।

दीपावली पर माडे जाने वाले हल-जूए के चित्र कृषि-प्रधान भारत की सामर्थ्य के सूचक हैं। 'हीड़' आध्यात्मिक-ज्योति का प्रकाश करने की प्रेरणा देती है। 'सिंहासन का चौक' गृह-लक्ष्मी के स्वागत के लिए माडा जाता है। 'दीपमाली' लक्ष्मी-समृद्धि प्राप्त करने के लिए साधना करने वाले के मानस को प्रकट करती है। प्राचीनकाल में पुरुषों के जाते समय शायद इसी भाव को प्रकट करने के लिए [illegible] किया करता था। मकरसंक्रान्ति पर वृक्ष माडा जाता है जो भारतीय समृद्धि का संकेत है। एक लोकगीत में प्रार्थना की गई है—

फूलो फलो दूब ज्यूं, दीजै म्हारा नाथ।

इस प्रार्थना में जिस भाव को साहित्य रूप में प्रस्तुत किया गया है उसे ही माडणों द्वारा चित्र रूप में प्रकट किया जाता है। गार्हस्थ्य की सम्पन्नता के प्रतीक के रूप में वट आदि वृक्ष, ज्वारे, पुष्प, फल आदि का माडणों में उत्कीर्ण किया जाता है। कई स्थानों पर [illegible] के भावों को स्थायित्व प्रदान करने के लिए कलाकारों ने उनका अलंकरण कर दिया है। ऐसे माडणों में कलश-सज्जा और मोर विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। भारत के अनेक भागों में पाये जाने वाले पूजा-चित्र भी लोककला का [illegible] रूप से सफल प्रयत्न माने जा सकते हैं। कुएं, बावड़ियों की दीवारों पर [illegible] चौपड़, मानव-आकृति आदि उत्कीर्ण करते हैं। [illegible] समय में [illegible]। कई स्थानों पर कुटुम्बों के [illegible] चित्र उत्कीर्ण किये गये मिलते हैं जिनमें [illegible] राम-सीता के चित्र [illegible] हैं। कुछ जातियों में [illegible] चित्र बनाने की प्रथा है। ऐसा होना स्वाभाविक है। [illegible] भावों का [illegible] माडणों द्वारा [illegible] व्यंजित किया जाता है।

स्पष्ट है कि माडणे लोक-जीवन से अभिन्न सम्बन्ध रखते हैं। ये विविध भावों को व्यक्त करने वाले प्रतीक [illegible] माने जा सकते हैं जिनका उपयोग गृहिणियां अपने घर-आंगन को सजाने के लिए भी करती हैं। चित्ररचना का 'लिपि' नाम से अभिहित किया जाना इस बात की ओर संकेत करता है कि प्रारम्भ में कभी वर्ण [illegible] भाव प्रकट किये जाते रहे होंगे। इस प्रकार माडणे लिपि के पूर्वज हैं और अब भी [illegible] के समान साधन के रूप में प्रयुक्त होते हैं। इनके प्रतीकात्मक स्वरूप का अध्ययन करने पर हमारी संस्कृति के अनेक अज्ञात पहलू हमारे सामने आ सकते हैं।

मण्डन-कला सम्बन्धी लोकभाषा के कुछ पारिभाषिक शब्द —

१ उठान — रेखाओं के सहारे माडणे की रूपरेखा तैयार करना।

२ ओल — आयताकार माडणा, पवित्र अर्थ में भी प्रयुक्त।

३ कुल्लना — सुशोभित होना।

४ चौगण — तिरछी रेखाएं भर कर माडणे की सीमाएं बनाना।

५ गोठ्नी — जहां माडणा माडना है उस स्थान को गोलाकार में लीपना।

६ ठाला — त्रिकोणाकार, षट्कोण या गोलाकार खाली स्थान।



७ ढोलना—गेरु या हिरमिच की आधार रेखाए खींचना। सभवत इसका अर्थ परिष्कार करना है। मूग साफ करने के लिए मूग ढोलना शब्द प्रयुक्त होते हैं। गोहली की सफाई करके उस स्थान पर रेखाचित्र अकित करना ढोलना कहा जा सकता है।

८ पूरना—आटा आदि भुरक कर माडणा तैयार करना। सूर ने कृष्ण-जन्म के समय मोतियों के चौक पूरे जाने का वर्णन किया है।

९ पोते देना—लिपाई और पुताई के बीच मे खडिया से सीधी सीमारेखा का अकन।

१० रींगटिया-रेखाए।

११ भरण-भराव करना।

१२ भंतल-भथितल, भथित वाला, पूरी माडणा मांडने की क्रिया का द्योतक, अर्थसकोच से केवल माडणे के स्थान को समतल बनाने के लिए गारा लगाना व लीपना।

राजस्थान के मांडणे

कु० विद्या बंसल
किशनगढ़ (राज०)



कला का विकास नारी द्वारा हुआ है। वह अपने शरीर की सज्जा के लिए विविध वस्त्राभूषण पहनती है, मेंहदी, महावर आदि का उपयोग करती है और विविध प्रकार की गंधों का उपयोग करती है। इसी तरह भवन पर आंगन की सजावट के लिए भूमि-अलंकरणों का प्रयोग करती है। मांडणा भूमि-अलंकरणों में गिना जाता है। यह शब्द संस्कृत की मंड अलंकरणे धातु से व्युत्पन्न हुआ है। इस प्रकार इसका अर्थ है—सुसज्जित करना या शोभा बढ़ाना। मांडणा शब्द राजस्थानी का है। मांडणा उन कलापूर्ण रेखाकृतियों की संज्ञा है जिन्हें स्त्रियां घर-आंगन को सुसज्जित करने के लिए भूमि पर या घर की दीवारों पर बनाती हैं। भूमि-अलंकरण के लिए मांडणों का उपयोग भारत भर में होता है। गुजरात में इन्हें 'साथिया' महाराष्ट्र में रांगोली या रंगोली (रंगावली) बिहार में 'अरिपन' नेपाल व उसके समीपवर्ती उत्तरप्रदेश के जिलों में 'अइपना' या 'ऐपन', बंगाल में 'अल्पना' तथा मध्यप्रदेश में 'चौक पूरना' या 'मान रचना' कहते हैं। अल्पना शब्द संस्कृत 'अल' धातु से व्युत्पन्न हुआ है और इसका अर्थ मांडणा के समान ही 'सुसज्जित करना' है। राजस्थान में कभी-कभी मांडणों को रंगों आदि से रंगीन रूप तैयार किया जाता है और इसे 'कापना' कहते हैं जो संस्कृत की 'कल्प' धातु का विकसित रूप ज्ञात होता है। 'क्लृप्' या 'कल्प' धातु का प्रयोग सिरजना या विचारना अर्थ में होता है। राजस्थानी का रचना शब्द मांडणे में रंगों का सामञ्जस्य बिठाना और विचारपूर्वक भावाकृतियां तैयार करने की ओर संकेत करता है। मांडणे गृहसज्जा के लिए अपनाई गई निरर्थक रेखाकृतियां मात्र नहीं हैं, वरन् ये विशिष्ट भावों के प्रतिपादक भी हुआ करते हैं। ये भारत की आध्यात्मिक संस्कृति को प्रकट करने वाले प्रतीक तो होते ही हैं साथ ही अनेक लौकिक भावों की सृष्टि करने वाले रसानन्द-दायक भी होते हैं।

अब तक की खोज के आधार पर यह प्रमाणित हुआ है कि राजस्थान मांडणों की एक समृद्ध और वैविध्य-युक्त परम्परा का पोषक रहा है। यद्यपि अब तक मांडणों के समस्त नमूने नहीं लिये जा सके हैं, परन्तु यह निश्चित है कि राजस्थान इस क्षेत्र में बहुत आगे है और यहां मांडणों की संख्या अन्य प्रान्तों से बहुत अधिक है। एक वृद्धा स्त्री से पूछने पर पता चला कि अकेले उसको कम से कम 110 मांडणों की रेखाकृतियां ज्ञात हैं। यहां के मांडणों पर इस प्रदेश की प्राकृतिक-सम्पदा, रीति-नीतियों और शौर्य की परम्परा का व्यापक प्रभाव पड़ा है।

राजस्थानी मांडणों के प्रकार

राजस्थानी मांडणों का वर्गीकरण इस प्रकार किया जा सकता है—

1 पर्वोत्सव-सम्बन्धी मांडणे—मकर-संक्रान्ति, अक्षयतृतीया आदि पर्वों पर तथा दीपावली, होली आदि उत्सवों पर मांडे जाने वाले मांडणे इस वर्ग में आते हैं। इन मांडणों के द्वारा पर्व या उत्सव से सम्बन्धित विशिष्ट सांस्कृतिक भावों को अंकित किया जाता है।

2 संस्कारोत्सव सम्बन्धी मांडणे—जन्मोत्सव, मुण्डन, यज्ञोपवीत, विवाह आदि संस्कारों के समय मांगलिक रीतियों से उत्सव मनाये जाते हैं। इन अवसरों पर इन उत्सवों से सम्बन्धित भावों की सूचना देने वाले प्रतीकात्मक मांडणे मांडने की प्रथा चली आती है। ऐसे मांडणे इस वर्ग में परिगणित किये जा सकते हैं।

३ गृहसज्जा सम्बन्धी माडणे- वैसे तो सभी माडणो का उपयोग गृहसज्जा मे होना है, परन्तु कुछ माडणे किसी प्रकार की प्रतीकात्मकता के बिना केवल गृहसज्जा के लिए उपयोगी होते हैं। फूल, पत्ती, बेलें, विविध प्रकार की जालियो आदि के रेखाचित्र इस वर्ग मे आते हैं। अतिथि आन पर उसके स्वागत को ऐसे सौन्दर्य उपादानो से सजाया जाता है।

४ पूजा सम्बन्धी माडणे—पूजा के लिए गणेश, शिव, गौरी, गोवत्स, वैमाता आदि के रेखाचित्र बनाकर उनकी पूजा की जाती है। ऐसे देवविग्रहो के रेखाचित्र या उनके प्रतीको के संकेतचित्र इस वर्ग मे आते हैं।

मडनकार

विशेष अवसरो पर मांडे जाने वाले इन माडनो को माडने वाले हाथ एक नही होते। सामान्यत द्वार पर द्वाराचार के लिए चौक घर की नाइन पूरती है। मृत्यु आदि के अवसर पर सारा घर शोक-संतप्त होता है, उस समय पर तीसरे, नवें या ग्यारहवें दिन लीपना और माडणे माडने का काम नाइन ही करती है। विवाह मे कन्यादान के उपरान्त वर के पिता की गोद मे कन्या को बिठाने की प्रथा प्रचलित है। उस समय वर के पिता को चौकी पर बिठा कर पूजा जाता है—वस्त्रादि देकर उसका सम्मान किया जाता है। चौकी के नीचे हल्दी-चून का चौक माडा जाता है। इसे कुल का राव या उसकी पत्नी माडती है। राखी के माडणे बहिन माडती है। भैयादूज पर भी बहिन ही इस कार्य को करती है। बालक को पहली बार पालने मे सुला कर बडा करते समय, अन्नप्राशन के समय, उसके पहली बार कहीं बरात मे जाकर लौटने पर या उपनयन आदि सस्कारो के समय माडणे माता माडती है। अन्य अवसरो पर कुल की शुभकामना से सम्बन्ध रखने वाले माडणें बहिन-बेटिया माडती हैं, जैसे घर मे 'उकीरा' (विवाहपत्रिका) आते समय या भाई के पुत्रजन्म होने पर विविध उत्सवो सम्बन्धी माडणें कुलवधू द्वारा चित्रित किये जाते हैं। पारिवारिक-जीवन के उल्लास को व्यक्त करने वाले विवाहादि के चौक, माया के घर की पमरण आदि काकी-भाभियो द्वारा माडे जाते है। होली, गणगोर आदि के माडणे भी काकी-भाभिया ही माडती हैं। साझी के भित्तिचित्र कुवारी कन्याओ या व्याह के पहले साल युवतियो द्वारा अपने पितृगृह में अकित किये जाते हैं। अक्षय-तृतीया पर पोल के कूले पर पलाश के रग से ज्वार के पौधे का चित्र ग्वाले की पत्नी या परिवार से सम्बन्ध रखने वाले चर्मकार की पत्नी माडती है। दीपावली पर ओल गृहस्वामिनी गोबर पाथने वाली सेविका की सहायता से माडती है। गोवर्द्धन पूजा के समय माडणे पासपडौस की सुहागिनों के साथ मिलकर गृहस्वामिनी माडती है। पुत्रजन्म के समय वैमाता का चित्र बालक की बुआ अकित करती है। इस प्रकार लोकजीवन म पाई जाने वाली विविधता के दर्शन यहा भी होते हैं। विविध अवसरो पर माडने वाले हाथ एक नही होते।

माडणे के साधन

भीतो पर माडे जाने वाले माडणे हिरमिच या पलाश आदि के रगो से माडे जाते हैं। कभी ऊँचे पोते लगा कर नीचे बची हुई जगह मे खडिया या पाडू से भित्तिचित्र अकित किये जाते हैं। नीचे जमीन पर अकित किये गये माडणें भी खडिया या पाडू मे ही माडे जाते हैं। इनकी प्रारम्भिक रेखाकृति गेरु या हिरमिच से अकित की जाती है। इसी के आधार पर माडणे का उठान उठाया जाता है। रेखाकन के लिए खजूर या काम की बारीक कूची बनाई जाती है। भरण के लिए सिर के बालो की कूँची बनाई जाती है। यह केवल पाडूँ आदि का घोल भरने और निश्चित दबाव के साथ छोडते रहने के उद्देश्य से ही प्रयुक्त होती है। शेष काम तो माडणा माडने वाली की अगुली ही करती है। पूरे जाने वाले माडणो के लिए हल्दी, आटा, गुलाल आदि का प्रयोग होना है। राजस्थानी नारी का हाथ इतना सधा हुआ होता है कि वह सीधी रेखा खीचने के लिए फुटे का, वृत्ताकार-आकृति बनाने के लिए प्रकार का अथवा अन्य प्रकार के उपकरणो का उपयोग नही करती। अन्य प्रान्तो मे ऐसे उपकरणो का प्रयोग होता है। साझी के भित्तिचित्रो मे पत्ते, फूलो की पखुडिया, पन्नी आदि भी प्रयोग मे आते हैं। स्थानीय स्वल्पतम साधनो से सुन्दर कलाकृति तैयार कर देना कुशल नारी के कलात्मक रुझान से ही सभव है। राजस्थान की गृहिणी इस रुझान मे बहुत आगे है।

अन्य प्रान्तो मे माडणे के साधनोपकरणों की लम्बी सूची होती है। गुजरात मे मडनकार के पास चित्रकला के लिए अपेक्षित सारी सामग्री, यथा-कागज, ब्रश, पक्का रग, विविध रगो की कटोरिया, रग, फुटा आदि होता है। अन्य प्रान्तों मे भी विविध रग आदि जुटाने पडते है। इसके विपरीत राजस्थानी नारी गेरु या लाल मिट्टी, खडिया या पाडू आदि से ही भव्य माडणा तैयार कर देती है। वह सभी प्राप्त साधनों का यहाँ तक कि अपने बालो तक का उपयोग कर लेती है।

माडणो की रंग-सज्जा

भारत के दूसरे प्रान्तों मे माडणो मे विविध रगों का उपयोग किया जाता है, परन्तु राजस्थान मे सामान्यतया दो ही रगो का प्रयोग होता है, वे है लाल और श्वेत। लाल रग शौर्य का प्रतीक है जबकि श्वेत रग हृदय की पवित्रता का सूचक है। इन रगो के माध्यम से राजस्थान की भूमि के सस्कार यहाँ के निवासियों के चरित्र में जागते हैं। इस प्रक्रिया के लिए राजस्थान मे एक मुहावरा प्रयुक्त होता है। यह मुहावरा है—"भूमक्या जागना"। जब लोगो मे अपने अपने क्षेत्र या भूमि के सस्कार जागते हैं तभी उनके द्वारा सच्चे राष्ट्र का निर्माण होता है।[1] इस प्रकार राष्ट्र उसके निवासियों की उस विशिष्ट मनोभूमि का नाम है जो कला, शिल्प, साहित्य आदि मे विविध रूपो मे व्यजित होती रहती है।[2] राजस्थानी माडणे यहा के निवासियो मे राजस्थान की 'भूमक्या जागने' के श्रेष्ठ उदाहरण माने जा सकते हैं। लाल और श्वेत रगों का आधिक्य भी इसी बात को प्रमाणित करता है।

लाल रग के लिए 'राती गार' या गेरु का और श्वेत के लिए खडिया या पाडू का प्रयोग होता है। गहरी लालिमा लाने के लिए हिरमिच का प्रयोग भी किया जाता है। ये माडणे राती गार मिले हुए गोबर के लीपणे पर अत्यन्त सुन्दर लगते है। श्रावण-भाद्रव मास मे माडणा बरसाती हरे गोबर के लीपणे पर माडा जाता है। कुछ विशिष्ट माडणो मे पलाश के केसरिया और रगीन गुलाल के विविध रगो का प्रयोग भी होता है। भित्ति पर अकित की जाने वाली साझी मे फूलो की पखुडियों आदि के द्वारा रगसज्जा की जाती है। गुलबास के फूलो के गुलाबी, तुरई और कुम्हडे के फूलो के पीले, कुछ अन्य जगली स्थानीय फूलो के नीले, लाल और उदई तथा पत्तो के हरे और पन्नी के चमकीले रगो से साझी की रूपाकृति अत्यन्त सुन्दर बन जाती है। अन्य प्रान्तो मे माडणों मे सूखे रगो का उपयोग भी होता है, परन्तु राजस्थान मे हल्दी और चून आदि से केवल द्वार पर चौक पूरे जाते हैं। स्थानीय साधनो की सहायता से दो-तीन रगो द्वारा ही माडणों की सुन्दर रूपाकृतियाँ तैयार कर देना राजस्थानी गृहिणी की हस्तकुशलता का जीता-जागता प्रमाण है।

विशिष्ट भावनाओ के प्रतीक माडणे

ऊपर कहा जा चुका है कि गृहसज्जा के लिए बनाये जाने वाले कुछ माडणे किसी न किसी मानवीय-भावनाओं के प्रतीक होते है और इस प्रकार हमारी सांस्कृतिक भावनाओं को साकार करने वाले महत्वपूर्ण साधन माने जा सकते है। प्राचीन मन्दिरों, विहारों आदि के भित्ति-आलेखनो के प्रेरणास्रोत लोक की कलात्मक अभिरुचि को व्याप्त करने वाले ये माडणे माने जा सकते हैं।



कलात्मक सज्जा मे प्राय प्रकृति के क्षेत्रीय उपादानो की ही सहायता ली जाती है। काश्मीर की कोई भी कलाकृति चिनार के पत्ते के बिना अधूरी मानी जाती है इसी तरह राजस्थान के आलेखनो मे स्थानीय फूलपत्तो, वेलो, पशु-पक्षियों आदि को स्थान मिल जाना सर्वथा स्वाभाविक है। इस प्रकार रूपसज्जा की सामान्य सरल और सश्लिष्ट आकृतियाँ भी मानव पर स्थानीय प्रकृति के प्रभाव की सूचक होती है। अन्य जिन माडणो का अकन ही किसी न किसी भाव की सृष्टि करने के लिए होता है उनका सांस्कृतिक महत्व तो अतुलनीय होगा ही।

---

१ डा० बद्रीप्रसाद पचोली-राष्ट्ररक्षा विचार और व्यवहार, विश्वज्योति, मार्च १९६७

२ डा० बद्रीप्रसाद पचोली-वैदिक स्वराज्य-साधना, विश्वज्योति, दिसम्बर १९६६



प्राय संस्कारात्मक सम्बन्धी माडणे उन भावों के प्रकाशक होते है जो उन सम्कारो के उपलक्ष मे की जाने वाली क्रियाओ के मूल मे विद्यमान होते है। पुत्रजन्म के समय बेमाता या वृद्धिका देवी का चित्राकन करके उसकी पूजा की जाती है। ऐसा सन्तान के लिए दीर्घायुष्य की कामना से किया जाता है। अन्य देवताओ का अकन और पूजन सन्तान के लिए विविध प्रकार की समृद्धि, आरोग्य आदि की कामना करते हुए किया जाता है। द्वार पर मगल-सूचक चौक पूरा जाता है। आगन मे सिहासन का चौक माडा जाता है जो सभवत माता की इस भावना का सूचक है कि उसके आगन मे खेलने के लिए किसी दिव्य शक्ति का आविर्भाव हुआ है। उसी के स्वागत के लिए सिहासन का चौक अकित किया जाता है। यह कहना न होगा कि भारत मे स्त्रीत्व की सार्थकता मातृत्व मे मानी जाती है और प्रत्येक भारतीय माता अपनी गोद मे 'नन्दलाल' और 'रामरघुनाथ' को खिलाने के लिए लालायित रहती है।

यज्ञोपवीत सस्कार के उत्सव के समय आगन में जनेऊ और स्वस्तिक-चौक माडा जाता है। जनेऊ के माडणे के द्वारा यज्ञोपवीत के नौ तारो से व्यक्त होने वाले आदर्श व्यक्तित्व के नौ गुणो की ओर सकेत किया जाता है। स्वस्तिक चौक बालक की सर्वतोमुखी प्रगति की कामना को सकेतित करता है। स्वस्तिक का विकास प्रणव से माना जाता है।[3] इस माडणे से प्रणव-साधना द्वारा आत्मोन्नति करने की प्रेरणा भी मिलती है।

विवाह सस्कार के समय माया के घर मे माडी जाने वाली पसरण जीवन मे आत्मीयता के विस्तार और पारिवारिक भावना के विकास की सूचक है। इस समय जलेबी चौक माडा जाता है। जो इस बात की सूचना देता है कि गृहस्थधर्म अनाडी के लिए जलेबी की तरह उलझन से भरा हुआ है। उसे लोक मे निनानवे का चक्कर इसीलिए कहा जाता है। इस समय माया के घर मे कुछ माडणे भित्ति पर यौनभावनाओ के प्रतीक के रूप मे भी अकित किये जाते है।

अन्य सस्कारो के समय भी इसी प्रकार के भावपूर्ण माडणे माडे जाते है। पूजा सम्बन्धी माडणो में या तो देवता की मूर्ति भित्ति पर बनायी जाती है या उसके किसी प्रतीक-चिह्न को अकित किया जाता है। यथा-दुर्गाष्टमी को भित्ति पर सिन्दूर से पजे का चिह्न अकित किया जाता है। हाथ का पजा शक्ति का प्रतीक है। उसकी पाच अगुलिया पचतत्वो की प्रतीक ज्ञात होती है। शक्तिरूपा प्रकृति का प्रतीक हाथ के अतिरिक्त और क्या हो सकता है। चौथ के दिन शक्ति का ही एक अन्य प्रतीक त्रिशूल अकित किया जाता है। उसके निकट सिन्दूर की आठ टपकिया लगाई जाती है। ये टपकिया अष्टमूर्ति शिव की और त्रिशूल त्रिगुणात्मिका प्रकृति या त्रिपुरसुन्दरी का प्रतीक है। गणगौर पर गौरी का विग्रह अकित किया जाता है। वट सावित्री के व्रत के दिन आगन मे वट वृक्ष माडा जाता है। वट ससारी रूप अश्वत्थ वृक्ष का सूचक है। 'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया' मत्र की ईश्वर और जीव विषयक भावना को व्यक्त करने वाला एक चित्र मोहनजोदडो की एक मृण्मुद्रा मे उत्कीर्ण है। इससे पता चलता है कि वृक्ष को ससार के प्रतीक के रूप मे अकित करने की परम्परा भारत मे सिन्धुघाटी सभ्यता के काल मे भी प्रचलित थी।

व्यास-पूर्णिमा को गृहिणी पुस्तक और पलाशदण्ड माड कर अपने पुत्र को योग्य गुरु से उत्तमशिक्षा दिलवाने की कामना व्यक्त करती है। श्रावणी पूर्णिमा को द्वार पर श्रवणकुमार का रेखाचित्र अकित किया जाता है। यह हमारी सस्कृति की पितृसेवा की भावना की ओर सकेत करता है। एक चिडिया का अकन करके उसके मुंह मे राखी दी जाती है। पक्षी वैदिक सुपर्ण विद्या का प्रतीक है। यह कथा चली आती है कि गायत्री सुपर्ण रूप धारण करके सौर-मडल से अमृत ले आई थी। यह चित्र इसी भाव का सकेतक ज्ञात होता है। राखी अमृत की स्थानापन्न है और इस बात की सूचक है कि बहिन इस स्नेह सूत्र को भाई के लिए अमर-जीवन की कामना करते हुए बांधती है।

कजली तीज को गृहिणी झूला और लहरिया माडती है। ये जीवन की रागात्मिका-वृत्ति के सकेतक है। विजयादशमी को घोडे, हाथी आदि के माडणे माडे जाते हैं। ये माडणे हमारे राष्ट्रीय जीवन मे ओतप्रोत वीरत्व का

३. भारतीय प्रतीक-विद्या डा० जनार्दन मिश्र, पृ० ३९

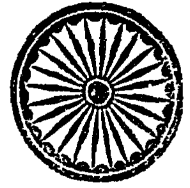
सूचित करते हैं। दीपावली पर श्री और समृद्धि की कामना को सूचित करने वाले अनेक भावपूर्ण माडणे माडे जाते हैं। एक जलहरी का चौक माडा जाता है जो पूर्ण-जीवन की कामना को व्यक्त करता है। संक्रान्ति पर कूंडा माडा जाता है जो कूंडा भर कर धान्य पाने की भावना को व्यक्त करता है। होली पर ढाल, तलवार, गेहूं की बाली आदि माडे जाते हैं। यह इस समय होली में ढाल तलवार जला दिये जाते हैं और होली की ज्वाला में अनाज की बालियां सेकी जाती हैं। इस बात का सूचक है समाज में आक्रमण के साधनों के साथ भय के सूचक रक्षा-साधन भी नष्ट हो जाने चाहिए। उनका सामाजिक हितकार्यों में अन्यथा उपयोग कर लेना चाहिए।[1] होली समाज में पूरी तरह से निर्भयता के सम्पादन करने की दिशा का मार्ग प्रदर्शित करती है और ये माडणे भी इसी भावना को व्यक्त करते हैं।

भारत पर्व और उत्सवों का देश है। इन पर सर्वत्र विशेषतया राजस्थान में विशिष्ट भावनाओं के प्रतीक माडणे भी माडे जाते हैं। यहां पर कुछ ही मांडणों के विषय में प्रतीकात्मक संकेत किये गये हैं। वस्तुतः इस दृष्टि से राजस्थानी माडणों का विस्तृत अध्ययन होना चाहिए। इस प्रकार का अध्ययन हमारी संस्कृति के महत्वपूर्ण तथ्यों पर प्रकाश डाल सकेगा यह आशा की जा सकती है। राजस्थानी माडणों का ऐसा अध्ययन सम्पूर्ण भारत की मडन-कला के सांस्कृतिक-अध्ययन का मार्ग प्रशस्त कर देगा।



१ डॉ० बद्रीप्रसाद पचोली-धूलि-वन्दना, कादम्बिनी १९६५

राजस्थान के देवी-देवताओं के गीत : सांस्कृतिक मूल्यांकन



श्री भागचंद जैन, एम० ए०

राजकीय माध्यमिक शाला, किशनगढ़ (राज०)

लोकगीतो म देवी-देवताओ के गीतो का विशिष्ट स्थान है। इन गीतो मे घुली हुई हार्दिक श्रद्धा, पावन प्रेम और पारिवारिक सहयोग-भावना त्रिवेणी सगम से कम नही है। इनकी पक्तियो मे कूट-कूट कर भरा हुआ आत्म-विश्वास उज्ज्वल भविष्य की मधुर कामना का मागलिक दर्शन कराता है—इनमे गहरे एव हृदय-स्पर्शी भावो का उद्रेक सरल भाषा के माध्यम से हुआ है।

इन गीतो मे भक्त-हृदयो की भक्ति-पूर्ण श्रद्धा प्रकट होती है। वे अपना सवस्व मनुहार के साथ सादर समर्पण करने के लिए सदैव तत्पर रहते है। राजस्थान मे मनुहार का स्थान व्यावहारिक जीवन मे अत्यन्त महत्वपूर्ण है तथा इसे शिष्टाचार का प्रमुख अङ्ग माना जाता है। यही रूप भक्ति क्षेत्र मे भी उभरा है। कही कही तो भोले बालक सी सरल, सहज एव निष्कपट भावनाओ के दर्शन होते है। भारतीय संस्कृति का वास्तविक रूप इनकी प्रत्येक पंक्ति से शब्दवेधी बाण चलाता-सा प्रतीत होता है।

प्रस्तुत पक्तियो मे विनायकजी (गणेशजी) की स्तुति का सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत है। परम्परानुसार इनका स्थान सर्वोपरि है। शुभ कार्यो मे सवप्रथम इनको स्मरण किया जाता है। विनायकजी प्रत्येक कामना को पूर्ण करने वाले हैं, ऐसा अटल विश्वास लोकजीवन में व्याप्त है—

> गढ़ रणत भवर से आवो विनायक करो अनचीती विडदडी।
> विडद विनायक दोनू जी आया, आय पवास्या सिलैवडतलै।
> बूझत बूझत नगर पवास्या पोल बताओ दशरथ राय की ।

आपकी कृपा से सरवर का पानी शीतल हो जाता है, बाग हरे भरे हो जाते है तथा पेडो से पथिको को अगम छाया प्राप्त होती है—

> पे' लो तो वासो सरवर बसियो, सरवर भरियो ठण्डे नीर से।
> दूजो तो वासो वाडी जी वसियो, वाडी भरियो विक्षोवना।
> फल फूल वाडी सुफल फलियो, कुञ्जा जी मरवा केवडा।
> अगणो लो वासो बड तले बसियो, बड नारेला छाईयो ।

विवाह के अवसर पर फेरो के समय वेदी पर बैठे हुए दूल्हा-दुल्हिन के लिए सौभाग्य एव दीर्घायु प्राप्ति की प्राथना की जाती है। दुल्हिन के पीहर व समुराल मे आनन्द-मगल हो ऐसी सामूहिक प्रार्थना अटूट विश्वास के साथ प्रस्तुत गीत मे द्रष्टव्य है—

> छठो तो वासो फेराजी वसियो फेरा मे बैठ्या लाडो लाडली।
> म्हारी लाडल को चीर वढ़ज्यो, राई वर की वढज्यो बीटली।
> वढज्यो वढज्यो ए लाडी गोद थारी, एक पीहर दूजो सासरो।

प्रत्येक घर में भंडार भरपूर रहे, धन-धान्य से परिपूर्ण रहे तथा जीवन में लाभ ही लाभ से मंगलमय एवं सुखमय दिनों का आगमन होता रहे। प्रस्तुत पंक्तियों में आशावादी उच्च भावनाओं के सुन्दर दर्शन होते हैं—

सातवो तो वासो ओवरड़ा बसियो, ओवरड़ो गुड घी भरियो।
एक चून चावल कि एक मैंदा, बरकत करो विनायकजी,
एक कोयलडी द्रव देईयो, विनायक लाडले के बाप ने ।

वे अपने जीवन में नम्रता, मधुरवाणी एवं आदर्श संयुक्त-परिवार का वरदान मांगते हैं। यही तो भावनाएं जीवन में आगे चलकर 'वसुधैव कुटुम्बकम्' के विचार का आधार बनती हैं—

वा तो मीठी सी बोले, नमकर चले जस रवै वा के व्याह में।
एक बांहडली बल देइयो विनायक लाडल के बीर ने,
एक मात में जस देइयो विनायक लाडली के नाना मामा ने।
एक आरतें जस देइयो विनायक लाडलै की भुवा भैण ने।

विवाह में सर्वप्रथम विनायक को निमंत्रणपत्र टोल के दमके के साथ दिया जाता है तथा श्रद्धा के साथ उन पर आशा ही नहीं पूर्ण विश्वास भी रखा जाता है। इन गीतों में लोक जीवन में व्याप्त भाग्यवाद एवं आस्तिकता के पावन दर्शन होते हैं। इनकी दृष्टि में भगवान की प्रसन्नता पर ही सम्पूर्ण कार्य की सफलता निर्भर है।

आराध्यदेव को प्रसन्न करने के लिए सम्भवतः भक्त हृदय उड़ेल दिया जाता है तथा तन्मयता के साथ सुगन्धित वातावरण का आयोजन कर पाट-पाटले बिछा दिये जाते हैं। लोकजीवन में ऐश्वर्यपूर्ण जीवन के भी दर्शन होते हैं—

'एक आवै गूगल की वास सुगधी कुण ए सुहागण गणपत पूजियो ?
गणपत पूजै लाड लडै की माय सुहागण ज्यां घर विड़द उतावली।।

दीपावली के अवसर पर लक्ष्मी-पूजन के समय विनायकजी को पहले स्मरण किया जाता है तथा उनका प्रतीक स्वस्तिक सर्वप्रथम अंकित कर उनका पूजन भी किया जाता है। यहां घर-घर इस पावन चिह्न के दर्शन होते हैं। सभी मांगलिक अवसरों पर गणपति पूजन अगाध श्रद्धा के साथ किया जाता है।

जीवन में सुस्वास्थ्य एवं शांति शीतलता आदि के लिए 'शीतला माता' का पूजन परम श्रद्धा के साथ किया जाता है। माता के मन्दिर को लीपा व धोया जाता है। चांदी के थाल में कुंकुम रोली, मोली व नैवेद्य आदि सामग्री के साथ मां के सुसज्जित मंडप में जाकर भक्ति-भाव से अर्चन किया जाता है। गलतफहमियों के फलस्वरूप इसे अन्धविश्वास का ही प्रतीक माना जाता है, परन्तु इसकी अतल गहराई में उतरने पर अनेक मूल्यवान विचार-रत्न प्राप्त होते हैं। मां भी (जन्मदायिनी, सभी प्राणियों का भार उठाने वाली धरती मां) के प्रति पावन प्रेम व गहन श्रद्धा को मूल स्वरूप देने में अद्वितीय योगदान देते हैं। सामूहिक रूप से पूजन-समारोह सम्पन्न होता है। ऐसे गीतों, कार्यक्रमों में हमारी संस्कृति के मूल आधार एकता, प्रेम व सहयोग के बीज अज्ञात रूप से विद्यमान हैं। शीतला का पूजन वह पुत्रप्राप्ति के लिए करती है—

"आज भवानी री माता मडप में विराजै, तो मडप पूजन जाऊं ए भवानी एक बालूडो देई।"

सास—पीली पाटु भरिया ढावडी बहू थे, सिद्ध चाल्या जी।

बहू—आज भवानी की माता मडप में विराजै वो मडप लीपण जीऊं ए भवानी-गोद जड़ूला देई।

प्राचीन समय में प्रजा व राजा के मध्य प्रेम और श्रद्धा का संचार करने में इन्हीं गीतों का स्थान महत्त्व-पूर्ण रहा है। युद्ध, शान्ति का अजस्र-स्रोत बहाने वाली ये ही गीत की पंक्तियां द्रष्टव्य हैं।





"(राजा का नाम लेते हुए) दरवाजा खोल था पर मैयाजी करछे माता शीतला ।
राजा द्वारा उत्तर-म्हाने काई फरमावे माता शीतला ।

थान देसी गढ तिलडी रो राज शीतला ।

हमारी सस्कृति बडो के साथ श्रद्धापूर्ण व्यवहार तथा छोटो के साथ स्नेहपूर्ण व्यवहार, एकता व प्रेमपूरित समाज की व्यवस्था करती है । लोकगीतो मे कुछ ऐसे है जो परिवार के अविवाहित सदस्यो के मरणोपरान्त गाये जाते है । वे प्रेम मगलकामना और पुनर्जन्म के सिद्धान्तो से प्लावित है । पारिवारिक मनोहारी उद्यान मे वे कलियाँ, फूलो व लताओ के साथ खेलकर मरणोपरान्त भी वरदान-स्वरूप सिद्ध हो रहे है । प्रेम की अनूठी मीठ इनमे पीयूषधारा के रूप मे प्रवाहित हो रही है—"दादामा रा बाग मे उडयो चमेली रो रूख जी म्हारा छोटा-सा पीतर बनिया मे खेल, मोगरा मे खेल, हरख हरख फल देय ।

इसी प्रकार लोकगीतो के अन्तर मे छुपे हुए तत्त्व नारी-ससार मे एकता, प्रेम व आदरभाव को प्रकट करते है । कभी कभी पुरुष प्रथम विवाहित स्त्री की मृत्यु के बाद द्वितीय स्त्री से विवाह करता है तो पहली वाली के लिए कितना श्रद्धापूर्ण स्थान हृदय मे रहता है ? इन भावो का सुन्दर चित्रण निम्नलिखित पक्तियो मे द्रष्टव्य है—

वडी जी तो आया जी ल्होडी के प्यारा पावणा ।
चौकी तो ढलावा जी वडी जी थाने वैसना,
दूध पखा लागा पाव, वडी जी तो

नव-वधू वडी जी को श्रद्धाजलि अर्पित करने के साथ ही साथ उन्हे हमेशा अपने साथ समझती है । उनके अग प्रत्यग की शोभा का स्मरण हो आता है । उनके प्रति आराध्य देव के तुल्य सेवा-भाव प्रकट किया जाता है । गीत की पक्तियो मे सेवा और त्याग का रूप दर्शनीय है—

"जीमत नीरखा जी वडी जी थारा आगली, मुलकत नीरखाग थारा दात जी । मूगफली सी जी वडी जी थारी आगली दात दाडू का बीज ।"

वहूरानी ससुराल मे सास और श्वसुर का अपने माँ बाप की भाति ही आदर सत्कार करती है तथा उसके हृदय मे ससुराल के सभी सदस्यो के लिए श्रद्धा और प्रेम की गगा यमुना बहती रहती है । वह सर्वदा उनकी प्रगति, स्वास्थ्य आनन्द एव समृद्धि के लिए भगवान से प्रार्थना करती है । उसका हृदय विशाल सागर की भाति प्रेम-तरगो से तरगित रहता है, भेदभाव की तग गलियो को छोडकर व्यापकता धारण करती है । दूसरो के हित व सेवा-कार्य मे ही अपने जीवन की सफलता मानती है । वह अपने अमर सुहाग के प्रतीक चुडले (पति के लिए) के लिए, अपने पुत्र (दादामा के पौत्र) के दीर्घायु होने के लिए देवी-देवताओ को ढोकती है—उनसे प्रार्थना करती है—

"सुसरा जी म्हारा थे हो धरम रा बाप जी म्हारा थे छो धरम का मायेत जी, थारा हस्तीणा सीणगारो म्हें वालाजी ने ढोकस्या ।"

कोडरा खातर भवण वोली छै जात ए भवण वोली छै जात ए

सुसरा—थे तो काहेरा खातर वजरग जी ने ढोकस्यो ।

वहू—कवरा री खातर मे तो वोली छै जात जी म्हारै चुडलैरी खातर वालाजी ने ढोकस्या ।

उपर्युक्त पक्तियो मे परिवार के ऐश्वर्य, पर्दाप्रथा के अभाव आदि का भी स्पष्ट सकेत मिलता है ।

इतना ही नही वह देवर और देवरानी के उज्ज्वल एव मगलकारी भविष्य के लिए भी उत्सुकता व हार्दिक कामना प्रकट कर आदर्श सयुक्त परिवार की स्थापना करती है । प्रस्तुत पक्तियो मे देवर आदि से वालाजी ढोकने के लिए कह रही है—

"देवर म्हारा देवरिया चतुर सुजान जी, थांरा करहलिया ललकारों म्हैं बालाजी ने ढोकस्या,
कंवरारी खातर बालाजी ने ढोकस्या जी, थारै जीवडा री खातर बालाजी ने ढोकस्या ।

पतिव्रता नारी की सुन्दर एव स्तुत्य भावनाए गीतो मे उमडी पडती है। हमारे देश का सांस्कृतिक पक्ष इस दृष्टि से अत्यन्त सबल दृष्टिगत होता है। प्यार और त्याग मे डूबा लोकजीवन सर्वदा एक दूसरे के प्रति मागलिक-कामना करता रहता है तथा उज्ज्वल भावी जीवन के लिए हार्दिक-श्रद्धा ईश-चरणो मे अर्पित करता रहता है ।

लोक मे व्याप्त हरिजन के माध्यम से अतिथिसत्कार की पुनीत भावनाओ के दर्शन होते हैं। लोग विभिन्न प्रकार के स्वादिष्ट रस भरे व्यजन तैयार कर अपने आराध्यदेव को मनुहार के साथ जिमाने के लिए हार्दिक अभिलाषा व्यक्त करते हैं। उनके लिए अतिथि देव ही आराध्यदेव के तुल्य है। प्रेमपूरित भावना है —

"म्हारी कुटिया मे आवो दीनानाथ जिमावू थाने मिलवानी ।
चावल दाल गुवा का फलका, खूब बनायो साग ।
पुडी, पकौडी और कचौडी मण्डी बनाई मजेदार ।

गरीब व्यक्ति विभिन्न पक्वानो के अभाव मे साधारण भोज देने को उत्सुक है। उसमे घुला हुआ है श्रद्धा और प्रेम का मधुरस । वह अपनी दीन अवस्था के लिए क्षमा-याचना करते हुए भगवान को अपनाने की अनुनय विनय करता है। भगवान भाव के भूखे हैं। वे सुदामा के स्नेहपूरित चावलो का चबाने मे नहीं चूकते, भीलनी के जूठे बेर खाने मे नहीं हिचकिचाते तथा करमा बाई का खींचडा खाने मे भी आगे-पीछे नही सोचते। लोक-गीतो मे छुआ-छूत एव छोटे बडे की सकीर्ण भावनाओं को प्रश्रय नही मिला है। वरन् प्राणीमात्र का प्यार करने की निर्मल भावनाओ के पावन-दर्शन होते हैं। ऐसी स्थिति मे ही विश्वबन्धुत्व की पुनीत-भावनाओ को बल मिलता है। यही हमारी सस्कृति का मूलमन्त्र व मुख्य लक्षण है।

प्रस्तुत है करमाबाई को खीचडलो—

"थे तो आरोगोजी मदनगुपाल करमाबाई को खींचडलो ।
मैं छू अनायनी नहीं जानु पूजा फन्द ।
नयो नवायो, झेलियो यो बन्धो गोकुलचन्द,
तू ही राखणियो भगत की बाजी श्याम ।

इसमे भक्त के सरल, सादगीपूर्ण एव आडम्बरहीन जीवन के पावन दर्शन होते है। उनके जीवन मे परि-व्याप्त विनम्रता की स्पष्ट अभिव्यक्ति है ।

अस्तु निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि राजस्थान के देवी-देवताओ सम्बन्धी लोकगीतो मे आशावाद सादगी, सरलता, श्रद्धा, प्रेम, नम्रता, आस्तिकता, एकता एव सहयोग से पूर्ण जीवन के दर्शन होते हैं। यहा के लोक-जीवन मे हर्षोल्लास की मधुर ध्वनि गुजायमान है ।

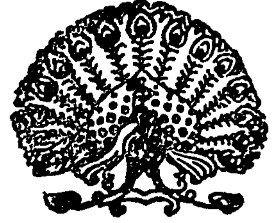
ये गीत लोकजीवन मे वेदमन्त्रो की तरह ही व्याप्त है। गीतों के बिना जीवन की गाडी आगे नही बढ सकती। प्रत्येक हर्ष और उल्लास के समय लोग अपने कुलदेवता, कुलदेवी, गगाजी, भेरूजी, बालाजी, पितर, नाग-देवता, कुआ-बावडी के थानक पर विराजने वाले विशिष्ट देवता आदि को याद करते हैं, अपने पशुधन की रक्षा के लिए हीरामन, तेजाजी आदि लोक-वीरों की स्तुति करते है और अपनी सांस्कृतिक-दाय को सुरक्षित बनाये रखन के लिए राम, कृष्ण आदि अवतारी पुरुषों के चरितो का गान करते हैं। इन सबके लिए वे गीतो का उपयोग करते हैं। ऐसा कोई भी उत्सव नहीं है जो देवी-देवताओं के गीतों के बिना सम्पन्न हो जाता हो और ऐसा कोई भी धार्मिक या सामाजिक आयोजन नहीं होता जिसमे देवी-देवताओ की स्तुति न की जाती हो। इन गीतो और स्तुतियो मे हमारे सांस्कृतिक-वैभव का स्पष्ट चित्र अकित रहता है और लोक की सतरगी भावभूमि का स्पष्ट दर्शन होता है जिसको जाने बिना कोई राष्ट्र अपने स्वरूप को बनाये नहीं रख सकता ।



●

राजस्थान के चैत्र-मासीय पूजोत्सव-गीतों में नारी-जीवन

डा० रामप्रसाद शर्मा
गवर्नमेन्ट कालेज, किशनगढ (राज०)



साहित्य समाज का दर्पण है, पर जिन रचनाओ को साहित्यिक कहा जाता है उन पर तो रचनाकार वाछित-अपेक्षित-व्यवहारो एव सभ्यता और साहित्य के निर्धारित आदर्शों का आवरण डाल देता है जिसके फलस्वरूप उसका वह साहित्य तो उक्त समाज का निखरा और कुछ कृत्रिम प्रतिबिम्ब ही प्रस्तुत करता है। यो कहना अधिक उपयुक्त होगा कि सत्य, शिव, सुन्दर के आधार पर निर्मित साहित्य-दर्पण तो समाज का आदर्श और व्यवहार से समन्वित प्रतिबिम्ब ही प्रस्तुत करता है जो वास्तविकता मे उतना ही परे होता है जितना 'फिनिशिंग' किया हुआ केमरे का फोटो। इसके विपरीत लोक-साहित्य द्वारा उक्त जनपद के जीवन का वास्तविक और अप्रच्छन्न रूप प्रकट किया जाता है। साहित्यक गीतो और लोक-गीतो के माध्यम से प्रकट होने वाली सामाजिक-सास्कृतिक जन-जीवन की झाकी मे भी स्वरूपत यही अन्तर विद्यमान रहता है।

लोकगीतो की गणना अपरिष्कृत-साहित्य मे भले ही की जाती हो पर उनमे प्रकट होने वाले सामाजिक-सास्कृतिक तथ्य अत्यन्त स्पष्ट और सत्य होते है। यहा लोक-मानस का नग्न, अनावृत और विशुद्ध चित्र प्रकट होता है। लोकगीतो मे मन का स्वच्छन्द-आलाप छन्द-स्वर से परे हटकर और यहाँ तक कि मनोविकारो-उद्वेगो के स्वाभाविक प्रवाह को बाधित करने वाली सामाजिक मान्यताओ-सीमाओ को तोडकर वन्यवायु की भाति बेखटके चलता है। अस्तु लोकगीत ही जन-मन और जीवन की सत्यता को भाषित करने वाले होते है।

लोकगीत जीवन के अनेक सस्कारो, सामाजिक व्यवहारो, रीतिरिवाजो, वैयक्तिक अनुभवो साधारण-असाधारण परिस्थितियो से सम्बन्धित होते है जिनके आधार पर उक्त समाज के जीवन का अध्ययन किया जाता है। यहा हम राजस्थान के चैत्र-मासीय व्रत-पूजा-उत्सव-पर्वादि पर प्रचलित लोकगीतो के आधार पर यहा के नारी-जीवन का चित्रण करना चाहते हैं। राजस्थान एक बृहद् भूभाग है जहा अनेक बोलियाँ और जनभाषाए व्यवहृत होती है जिनके समन्वित रूप को मरुभाषा या राजस्थानी कहा जाता है। मरुभाषा अथवा मारवाडी की साहित्यिक शैली डिंगल है जो बोल-चाल व्यवहार की साधारण भाषा मारवाडी से भिन्न हो गई है। आज जिसे मारवाडी कहा जाता है उसी भाषा मे यहा के व्रत-उत्सव-त्योहार और सस्कार सम्पन्न किये जाते है। इसी माध्यम मे यहा के विभिन्न उत्सवो-पूजापर्वो पर महिलाओ द्वारा गीत गाये जाते है जिनमे जनपदीय-जीवन की सामाजिक सास्कृतिक-परम्पराओ का अध्ययन किया जा सकता है।

राजस्थान का नारी-समाज धर्म-प्राण है जिसके जीवन मे आये दिन एक न एक पूजा और व्रतोत्सव का विधान है। वसन्त, पावस और शरद ऋतुए जीवन मे विशेष स्फूर्ति और चेतना प्रदान करती हैं और यही कारण है कि हमारे जीवन मे सारे पूजा-महोत्सव और त्योहार लगभग इन्ही ऋतुओं में आते है। होली, दशहरा, रक्षाबन्धन, दीवाली आदि त्योहार और अनेक व्रत-उपवास पूजा के पर्व इन्ही दिनो आते हैं। राजस्थान मे फाल्गुन शुक्ला पूर्णिमा मे चैत्र मास तक तीन महत्वपूर्ण पूजोत्सव मनाये जाते है—होली, शीतला और गणगौर। इन पूजोत्सवो मे यहा के नारी

जीवन सम्बन्धी अनेक तथ्य निहित हैं। होलिकादहन से एक मास पूर्व फाल्गुन की प्रतिपदा को होली-रोपण किया जाता है और इसी दिन से गीतों की लहर उमड पड़ती है। गांवो, शहरो, मोहल्लो मे चग और डफ पर फागु-गीत गाये जाते हैं। महिलाए और पुरुष अलग-अलग समूहगान करते हैं। ऋतुराज वसन्त की प्रेरणा से युवतियाँ लोकगीतों के माध्यम से स्थूल शृगार का चित्रण करती हैं। जिनमें मन की निरकुशता और काम परवशता व्यक्त होती है। होलिकादहन के अवसर पर महिलाए भी पूजन करती हैं तथा वे होली से लोकमगल की कामना करती हैं। होलिका-पूजा के समय ग्रामीण बालाए जो गीत गाती हैं उनमे जीवन की सरलता, भोलापन और वसन्तोल्लास की भावना प्रकट होती है। आज उनके जीवन मे होली और फूलो से लदा वसन्त दोनो साथ-साथ आते हैं, इसी वेला मे उनका कान्ह जैसा नन्हा सुकुमार भाई केसरिया वस्त्र पहिने खेल रहा है। ऐसे मगल-अवसर पर उन्हे प्रह्लाद जैसे भाई की कुशलता के अतिरिक्त और क्या चाहिये ? हर वर्ष होली पर उनका भैया प्रफुल्ल मन से खेलता रहे, यही उनकी चिर-अभिलाषा है —

होली आई है फूलाँ री झोली झरमटियो ल।
श्री कुण खेल' है केसरियो बागा झरमटियो ल॥
श्री खेल' हे म्हारो कान्हुडो बीरो झरमटियो ल।
श्री खेल' हे पहलाद ज्यू प्यारो झरमटियो ल॥

चैत्र मास की कृष्णा सप्तमी-अष्टमी को यहा शीतला पूजन किया जाता है जो प्राय: दो दिन तक चलता है। शीतला चेचक नामक भयकर रोग को शान्त करने वाली देवी समझी जाती है। चेचक भारत का प्रबलतम सक्रामक रोग है जिससे प्रतिवर्ष हजारो बच्चे मरते हैं और कुरूप हो जाते हैं। अध्यात्म-प्राण सस्कृति मे पलने वाले भारतीय नारी-समाज ने इस रोग को देवी का प्रकोप माना है और इससे बचने तथा स्वास्थ्य-लाभ करने के लिए शीतला-पूजन का विधान स्वीकार किया है। वैज्ञानिक युग मे चेचक के चमत्कारी टीको का आविष्कार हो चुका है फिर भी आज इसकी रोकथाम और इसका उपचार असाध्य है। शीतला पूजन का परम्परागत विश्वास ही आज इस असाध्य रोग को सहने का आत्मबल देता है। चाहे हम इसे वैज्ञानिक-आलोक से अनभिज्ञ अर्द्धसभ्य नारी-हृदय का अधविश्वास कहे, फिर भी पूजन का महत्त्व कम नही है जो सुकुमार अवस्था के बाल रोगी एव उसके सतप्त मातृ-हृदय को असीम कष्ट-सहिष्णुता और आत्मबल देता है। शीतला की कृपा से असाध्य रोग से बच जाने का आत्मविश्वास रुग्णावस्था मे प्राण फूकता है। यही आतरिक उपचार है जिसके अभाव मे कितनी ही मूल्यवान ओषधिया देने पर भी छोटे रोग भी मृत्यु के कारण बन जाते हैं।

शीतला-पूजन यहा सभी वर्णो और जातियो की माताए करती हैं। इस दिन दही से बनी 'राबडी' या ओलिया से देवी शीतला को शीतल किया जाता है। माताए दो दिन बासी भोजन करती हैं और शीतला से सतान के मगल की प्रार्थना करती हैं। यह व्रतोत्सव और पूजन माता के वात्सल्य का प्रतीक है। बच्चे माता के लिए अमूल्य निधि हैं। अत बच्चो के सौन्दर्य की सुरक्षा करने वाली तथा चेचक रोग मे जीवन प्रदायिनी-माता शीतला ही यहा की माताओ के लिए सर्वपूज्या सर्वेश्वरी देवी है—

और माता आलपाल सावी माता सीतला।
गोरा ने काला करै काला ने किडकावरा।

शीतला-पूजन नारी हृदय की देवी-आस्था, परम्परागत विश्वास और उसके पवित्र वात्सल्य-भाव का प्रतीक है जिसमे व्यष्टि और समष्टि के कल्याण की कामना निहित है। नारी हृदय के अगाध-वात्सल्य को व्यक्त करने वाला यह पूजन अधविश्वास-अज्ञान की परिधि मे परे है। यह पूजन शिक्षित परिवार की महिलाए ही नही करतीं वरन् चिकित्सकों-डाक्टरो की पत्नियाँ भी इसकी उपेक्षा नही करती। चाहे विज्ञान के विश्वासी इस आस्था को नारी का अन्धविश्वास ही कहे और चाहे नर इसका विरोध ही क्यों न करे फिर भी इसका अस्तित्व स्थायी रहेगा क्योकि यह





पुत्रवती नारी का आग्रह है जिसके सतानप्रेम की तुलना मे पतिप्रेम भी नगण्य है। इस पूजन मे प्रसविनी मातृ हृदय की दृढ आस्था है। जिसने प्रसव-पीडा का कटु-अनुभव किया है, क्या वह कठिन साधना मे प्राप्त सतान की मगल-कामनाओ के अवसर छोड देगी ? नारी-हृदय अत्यन्त कोमल और भावुक होता है जिसे व्यष्टि से परे समष्टि की पीडा का अनुभव भी शीघ्र ही होता है। अत वह कैसे सह सकती है कि चेचक का प्रकोप समाज पर हो और उसके तथा समाज के नौनिहाल महामारी द्वारा छीन लिये जायें ? किसी की आख चली जाय तो किसी के सौन्दर्य और प्राणो का अपहरण ही हो जाय ? भावुक और करुण नारीहृदय किसी का रुदन नही देख सकता। उसकी छाती पराये दुख से फटने लगती है। उसका हृदय वात्सल्यातिरेक से पडौसी के निधन पर भी सिसकियां भरने लगता है, किसी बालक की सद्य मृत्यु पर वर्षो पूर्व की हृदय-द्रावक स्वानुभूतिया उसे स्वत ही रुलाने लगती हैं। नारी मे सृष्टि की पालयित्री शक्ति का निवास होता है, जिसके स्तनो को दुग्ध-धारा मे सृष्टि पलती है तो सहानुभूति मे बहने वाली अश्रुधारा में लोककल्याण पलता है। 'आचल मे है दूध और आखो मे पानी' वाले नारी व्यक्तित्व का यही रहस्य है। यह शीतला पूजन मातृ-हृदय के इन्ही रहस्यो को प्रकट करना है।

शीतला-पूजन सप्तमी की अर्द्धरात्रि से प्रारम्भ होता है तथा अष्टमी तक चलता रहता है। गाव के किसी एक स्थान पर शीतला देवी का मडप होता है जिसे हम चबूतरे के रूप मे बना छोटा मदिर कह सकते हैं, जहा सारे भेदभाव-जातपात को भूलकर सभी माताए पूजन करती हैं। महिलाओ के सरस-स्वर मे बडी ही श्रद्धा के साथ बच्चो की रखवाली (बालूडी रखवाली) माता शीतला का पूजा गीत गाया जाता है। गाती हुई वे कहती हैं—"बछडो और बालको के तन पर चेचक का आगमन हुआ है।" सेढल (सीतला) मा का देश मे पधारणा हो रहा है, शिशु-धन उसी का है। उसका पूजन ही उपचार है। अत हम पीले वस्त्र, दीपक अक्षतादि से उसे पूजेंगी। उसके मडप को स्वच्छ करके सजायेंगी। शीतल भोजन करेंगी—

माता (सेढल) आई ईं देस मे हे माय। वालूडा रखवाली माता सीतला ॥
धडकी छ वालूडारी हे माय ॥
दडक्या छ टोडा-टोरडी य माय।
माता रो मडो चूणस्या री माय ॥
माता रो मडो ढोलस्या हे माय।
माता रो मडो चरचस्या हे माय ॥ वालूडा—
घर घर दीवलो जोवस्या हे माय।
नौ नेवज कर पूजस्यां हे माय ॥
ऊजली अठाई पूजस्या हे माय।
सइय सवारो पूजस्या हे माय ॥ वालूडा—
मोती रा आखा चढास्या हे माय।
पीला पोटला सू पूजस्या हे माय ॥
टावर-टूबरा दुखास्या हे माय।
वालूडा रखवाली म्हारी सीतला हे माय ॥

राजस्थान के स्त्री-समाज मे राजतन्त्र के प्रति अगाध श्रद्धा विद्यमान है। सुयोग्य राजाओ के कुशल-उदार प्रशासन को वे आज भी कृतज्ञतापूर्वक याद करती है। शीतला के पूजागीत मे राजतन्त्र के प्रति गहरी श्रद्धा और मगलकामना प्रकट हुई है। इन गीतो मे माताए आज भी स्थानीय राजाओ के मगलमय भविष्य की कामना करती है तथा अपने से पूर्व उनकी पारिवारिक कुशलता एव वशवृद्धि की बलवती कामना करती हैं। गीतो मे अपने पारिवारिक पूर्वजो से पूर्व क्षेत्रीय राजा का नामोच्चारण करती है। जो उनके हृदय का पुरातन मोह है। राजस्थान की सभी रियासतों का भारतीय सघ मे विलीनीकरण हुये बहुत समय हो चुका है, पर स्त्रीशिक्षा के अत्यल्प प्रसार के कारण यहा

आज भी इन प्राचीन राजनरीत-विश्वासो-परम्पराओं का अवमान नहीं हुआ है, शीतला-पूजन का प्रस्तुत गीत इसी तथ्य का द्योतन है—

सुमेरसिंह सा (किशनगढ के वर्तमान राजा) हो दरवाजा खोल—
था पर दैया जी करेली माता सीतला।
म्हान' काई जी फुरमाय माता सीतला ॥
थाने देसी जी गढ दिल्ली री राज—
थाने देसी जी भाई भतीजाडारी जोड—
थाने देसी जी बेटा पोता री जोड। था पर—
सासू-बुवा हो ओवलिया (कोटरी) खोल—,
थाने देसी जी फूलडीया री बेन—,
थाने देसी जी पीलडो री बेस—,
थाने देसी जी सासू बुवा री जोड-,
थाने देसी जी दोर जीठाणिया री जोड। था पर

राजस्थान के स्त्री-समाज का सर्वश्रेष्ठ उत्सव गणगौर पूजन है। ईसर-गणगौर का यह पूजन अपने मूल मे शिव-पार्वती की युगलोपासना है। यह पूजा चैत्र कृष्णा प्रतिपदा से सोलह दिन तक चलती है। अविवाहित किशोरी बालिकाए-सुयोग्य वर की प्राप्ति के लिए तथा विवाहित युवतिया अपने सुत-सुहाग की मगल-वृद्धि के लिए गौरी पूजन करती है। सोलह दिन तक पूजा और व्रत का विधान निरन्तर चलता रहता है। गौरी पूजा के लिए मोहल्ले के किसी एक घर पर जहा स्त्री-समूह सरलता से एकत्र हो सकता है, वहा ईसर-गणगौर का भित्तिचित्र बना लिया जाता है तथा वही पूजन क्रम चलता है। बालिकाए और युवतिया गौरी पूजा के लिए दूर्वादल और पुष्प लेने उपवनो मे जाती है तथा जलाशयों से स्वच्छ जल के कलश भर कर लाती है। फिर दूर्वादल से सजे पवित्र जल के कलशो को माथे पर लिये प्रस्तुत गीत समवेत स्वरो मे गाती हुई पूजास्थल पर चली आती है—

वाडी वाला, वाडी खोल, वाडी की किवाडी खोल, छोरिया आई दूब ने
ये कुण्या जीरी बेटी हो, कुण्या जीरी भैण, काई थारो नाम छ ?
म्हें वीरमा जीरी बेटी हा ईसरदास जी री भैण गौरा म्हारो नाम छ ॥
म्हें आया ये फलसार वार घई घमोडा गुजरी।
घमोडाये ईसरदास घर नार आछी घोली पायली।
म्हें पातलियाँ न पातलयाँ द्यार सीघामण बैठस्यां।
म्हें देस्या तिलडी रो हार हरीया मु ग मरोडस्याँ ॥ म्हे आया—गुजरी।

ईसर—गणगौर के भित्ति-चित्र की पूजा दूर्वादल-पुष्प-जल मे की जाती है और सोलहवें दिन आटे और गुड मे बने 'फल' का भोग लगाया जाता है। पूजा करते समय प्रतिदिन निम्न वरदान गीत गाया जाता है—

गौर हे गणगौर माता खोल हे किवाडी।
बायर ऊबी थाँरी पूजन हारी।
पूजो हे पूजारीयाँ बायां काई काई मागों।
म्हें मागा हलसल कूडो छाछ मचू डो।
हिया सवाणो गोवर मागा कड्या सवाणी लाद है।
अलजल जामी मागा राता देई मा है।
काण्ह कुवर सो वीरो मागा राई सी भोजाई।
वडा घूनालो काको मांगा चूडला वाली काकी।





फूस उडावण फूफो मागा हांडाधोवण भुआ।
काजलियो वहण्योई मागा सदा सुहागण भैण हे।
महला चढता साहिब मागा ज्याकी म्हैं घरनार हे।
इतरा तो दे म्हारी गोरज्या इतरो सो परवार।
बाप तो फव' बेटी लाडली मा कव परदेस।
वीरो तो कय बनड वीजली चमक' छ चारों देस।
गाजू नो घोरू वीरा मालवरे बरसू बाबाजी क देस।
वरस नीपजाऊ मोठर बाजरी र कोड्याती जुवार।
टका रो मण बाजरो र पइसा रो मण मोठ।
झाला तो झाला वीरा बाजरो र गाडा गाडा मोठ।

यदि हम राजस्थान की ग्रामवासिनियों के जीवन का दर्शन करना चाहते हैं, तथा उनके गार्हस्थ जीवन के प्रति उनकी अभिलाषा-आशा, उत्साह उमग, व्यावहारिक परिकल्पना को परखना चाहते हैं तो गीत की व्याख्या कर लें। गणगौर से राजस्थानी युवतिया न केवल सुन-सुहाग, आमोद-प्रमोद ही मागती हैं वरन् वे उनसे सरल, श्रमसाध्य जीवन और सयुक्त परिवार का वरदान भी चाहती हैं। वे कहती हैं—हे गणगौर, आप हमे भरापूरा कृषक परिवार देना, जिसमे हल कुआ बैलादि खेती के समस्त साधन हों तथा जिसमे खूब दूध-दही होता हो। हम कर्म मे विश्वास करती है, श्रम ही हमारा जीवन है अत हमे बहुत-सा पशुधन देना जिसके गोबर खाद से हम अपने खेत भर दें। सरल हृदय वाले पिता देना, खर्चीला-रोबीला काका देना, सुन्दर भाई देना, राई-सी भोली भाली भाभी देना, भरपूर कपडे देने वाली मा देना, सुन्दर चूडे वाली काकी देना, कामकाज मे हाथ बटाने वाले फूफा-फूफी देना, सजीला-रगीला बहनोई देना, सदा सुहागिन बहन देना, तथा निरन्तर हमारे ही साथ रमण करने वाला पति देना। मारवाड की सूखी मरुधरा के इस नारी-जीवन मे कितना उल्लास-उत्साह भरा हुआ है। वे श्रम और कर्त्तव्य के प्रति कितने सजग हैं? उनमें सामूहिक परिवार की भावना कितनी दृढ है? उनका मानस कितना सरस और भावुक है? तथा वे कितनी सयत होकर आडम्बर रहित सच्चे आनन्दमय जीवन की परिकल्पना करती है? यह जीवन शहरी आडम्बरो से परे, झूठी चमक-दमक और थोथी कल्पना से दूर कितना सरल और व्यावहारिक है? जिसमे फूहड ग्राम्यत्व नही। आज पाश्चात्य परिधान मे अपने तन को आधुनिकतम फेशन मे सजाने वाली तथा मन को 'सिने-ससार' की आसमानी कल्पनाओ मे रगने वाली युवतिया क्या शताश में भी भारतीयता के पूर्ण ठोस व्यावहारिक जीवन का प्रतिनिधित्व करती है जिस जीवन का मूलाधार कृषि और पशुधन है?

राजस्थान का यह गणगौर पूजापर्व सामत-काल मे आकर राजसी और शाही उत्सव बन गया। यदि हम ईसर-गणगौर के भित्ति चित्र को देखें तो उसमे राजपूतकालीन वेषभूषा और चित्रशैली दिखाई पडती है। राजस्थान के प्राचीन राज्यो मे यह पर्व शाही तरीके से मनाया जाता था, प्रत्येक राज्य मे ईसर-गणगौर की काष्ठ-प्रतिमाए रखी जाती थी जिन्हे गणगौर पर्व पर खूब अलकृत किया जाता था और धूम-धाम से उनकी सवारी निकाली जाती थी। आज भी जयपुर का गणगौरपर्व दर्शनीय बना हुआ है। गणगौर राज्य के मान-अपमान का प्रतीक भी बन गई थी, ऐसी कई घटनाए हुई है जब कि एक राजा ने दूसरे राजा की गणगौर प्रतिमा को बलपूर्वक मगवा लिया। इस प्रकार की छीना-झपटी और अप्रत्याशित लूट के कारण गणगौर-समारोह पर रक्तपात भी होता रहा था। स्वतत्रता के बाद राज्यो के विलय मे गणगौर का उत्सव अब उतना समारोह-पूर्वक और शाही ढग से तो नही मनाया जाता फिर भी आज इस पर्व के प्रति प्रत्येक हिन्दू परिवार मे पूर्ववत् उत्साह और आस्था वर्तमान है। आज भी वह प्रत्येक सुहागिन स्त्री के सुहाग का मगल दिन बना हुआ है। प्रवासी प्रियतम इस दिन अवश्य आते हैं और अपनी पत्नी के सुख-सौभाग्य को सरसाते है। आज के दिन पति से अलग रहना पत्नी का दुर्भाग्य है और यदि पति गणगौर पर आने से किसी प्रकार असमर्थ रहता है तो वह इस गीत द्वारा लज्जित किया जाता है—"निकल गई गणगौर मोल्यो मोडो आयो।" यो कहना चाहिए कि गणगौर आज दाम्पत्य जीवन के उत्साह और उमग का मगलपर्व है जिसमे पत्नी ही गणगौर है और पति ईसर, और वे शिव-पार्वती के जोडे की भाँति अपने लिए भी चिर-साहचर्य की कामना करते हैं।

इस पर्व पर और भी कई पूजा-उत्सव गीत प्रचलित हैं जिनमें गणगौर-आरती, गणगौर पाणी प्यावण गीत, बधावा, सीठना और विदाई गीत गौर पूजा से सम्बन्धित हैं। अन्य उत्सव गीत हैं जो नारी-जीवन के सुख-सुहाग-विलास के परिचायक हैं। इन गीतों में जीवन की उदात्त-भावना के दर्शन होते हैं।

साथ ही इन गीतों में स्त्री जीवन के परम्परागत-विधान भी समाये हुए हैं, जिनमें हमें राजस्थानी नारी के जीवन-स्तर, वेषभूषा-अलंकार, आचार-विचार का भी ज्ञान होता है। मैंमद (मृगमद-कस्तूरी का तेल) रखड़ी (बोर-सुहाग का प्रतीक शीर्ष अलंकार) कुण्डल, कण्ठी, बेसर, लहँगा, चूनड़ी, पायल आदि शब्दों के सहारे प्रस्तुत गीत में वर्णित आभूषणों-अलंकारों से सजी राजस्थानी महिला का चित्र हमारे समक्ष उपस्थित हो जाता है —

म्हारे माथे न' मैंमद ल्याय म्हारा हजा मारू याहीं रहवो जी ।
म्हारे काना न कुण्डल ल्याय— — —
म्हारे गल मे कठी ल्याय— — —
म्हारी नाक मे बेसर ल्याव— — --
याहीं रहवो उगन्ता सूरज याहीं रहवो जी ।
— — बरसन्ता बादल— —।
म्हारे कानें छ गिणगौर म्हारी हजा मारू याहीं रहवो जी ।
जावा द्यो नखराली-छिणगारी नार जावा द्यो न जी ।
म्हारा भायला जोवे छ बाट मिरगानैणी नार जावा द्यो जी ।
म्हारा पुचा न चूड़लो ल्याय म्हारा हजा मारू याहीं रहवो जी ।
— बाया न बाजूबन्द ल्याय — —
— पगल्या न पायल — -
— आगल्या न बीछिया — —
याने आया पुजावा न'गिणगौर म्हारी मिरगानैणी जावा द्यो न जी ।

इन्हीं दिनों यहां की महिलायें जवांग-पूजन भी करती हैं। मिट्टी के पात्र में जो गेहूं की पौध लगाई जाती है और प्रत्येक परिवार के पुरुषों का नाम लेकर खेत में मृग तोड़ने का संकेत करती हुई महिलायें अपने पुरुषों को कृषिकार्य की ओर विशेष प्रेरणा देती हैं और गुरुतर भार को अपने और विश्व कल्याण के लिए निभाने का मधुरतम उपदेश देती हैं। ४-७ दिन गीत गाती हैं। गीत से प्रकट होता है कि —

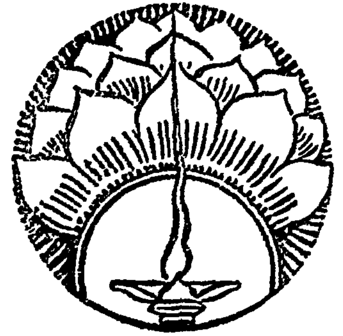
म्हारां हरीआं जुआंरा ललीआ जुआंरा-जोह चिरन्ता मृगला ।
मृगा ताडो न लालचन्द जी का—कृष्ण लाल जी मृग ला—।।

इस प्रकार हम राजस्थानी के इन चैत्रमासीय महत्वपूर्ण पूजोत्सव में यहां के महिला समाज के अनेक तथ्यों का उद्घाटन कर आये हैं। वास्तव में यहां के वर्णित नारी-जीवन में भारत की प्राचीन-संस्कृति आज भी सांस ले रही है। यहां की नारी का सम्पूर्ण व्यक्तित्व पति और पुत्र के कल्याण में समाया हुआ है और वह विश्वकल्याण का पोषक है।



हाड़ौती प्रहेलिका साहित्य की परम्परा

डॉ० नाथूलाल पाठक
एम० ए० (हिन्दी, संस्कृत), पी-एच० डी०
गवर्नमेण्ट कालेज, कोटा (राज०)



हाड़ौती लोक मे प्रचलित प्रहेलिका के नाम

हाड़ौती प्रदेश मे पहेली के लिये दो शब्द-पयाली और पारसी-प्रचलित हैं। सामान्यतः पयाली शब्द का ही प्रयोग देखा जाता है। पयाली शब्द संस्कृत के 'प्रहेलि' शब्द का विकृत रूप है। संस्कृत 'प्रहेलि' शब्द की व्युत्पत्ति प्र उपसर्ग हिल् धातु मे इन् प्रत्यय जोड़कर हुई है। हिल् धातु केलिक्रीड़ा या रागेच्छा प्रकट करने के अर्थ मे प्रयुक्त होती है। मनोरंजन का साधन होने से पयाली ने अपने धात्वर्थ को भी नही छोड़ा है। प्रहेलि शब्द के अतिरिक्त प्रहेलिका शब्द भी संस्कृत साहित्य मे पहेली के लिये प्रयुक्त हुये है। वैदिक साहित्य मे पहेली को ब्राह्मोद्य कहा गया है। पहेली के लिये भारत की प्रान्तीय भाषा मे भिन्न-भिन्न शब्दों का प्रयोग मिलता है। अवधी लोक-भाषा मे इसके लिये 'हियाली' और हरियाणा की जनभाषा मे फाली शब्द प्रचलित है, जो हाड़ौती पयाली से मिलते जुलते हैं। बुन्देली मे पहेली को बुझौवल और पंजाबी मे बुझारत कहते हैं। कही इसको उगाणा भी कहा जाता है।

हाड़ौती लोक भाषा मे पहेली के अर्थ मे प्रयुक्त दूसरा 'पारसी' शब्द विस्मयजनक-सा प्रतीत होता है। यह शब्द हिन्दी साहित्य के अन्तर्गत अमीर खुसरो की कविता मे इसी अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है। समझाने मे कठिनता के भाव को लेकर यह नामकरण किया गया है। पारसी भाषा की कठिनाई और पहेली की रहस्यमयता व दुरूहता का समन्वय होकर 'फारसी' या 'पारसी' पहेली का वाचक बन गया। आजकल भी विद्यालय मे पढ़ने वाला बच्चा गांव में जाकर अपने अशिक्षित परिवार वालो के सामने जब हिन्दी बोलता है, तब वे लोग यह कहते है कि अंग्रेजी बोल रहा है।

हाड़ौती लोक-प्रहेलिका की परम्परा

हाड़ौती की बौद्धिक-परम्परा मे पहेली का अपना विशेष स्थान है। इन पहेलियो का सूक्ष्म अध्ययन करने पर ज्ञात होता है कि वैदिक युग के विकसित चिन्तन और परिष्कृत अभिव्यक्ति-पद्धति के मूल मे जो परम्परा विद्यमान हैं, वही इनमे भी चली आ रही है। उदाहरण के लिये हाड़ौती लोकमुख मे सञ्चरमाण निम्न पहेली को देखा जा सकता है।—

> "च्यार ठंडा च्यार ताता, च्यार झरण्या झरे।
> एक टांग सू बारा हरण्या, न्यारी न्यारी चरे॥"

"चार ठंडे है, चार गरम है और चार मे झरने झरते है। बारह हरणिया एक पैर से खड़ी होकर अलग अलग चरती है।"

हाड़ौती लोक मे प्रचलित इस पहेली मे शीत, ग्रीष्म व वर्षा-तीन प्रधान ऋतुओं तथा बारह महीनों का संकेत किया गया है। इसके साथ ऋग्वेद के प्रथम मंडल के पिचानवें सूक्त का प्रथम मंत्र द्रष्टव्य है—

'द्वे विरूपे चरत स्वर्थे अन्यान्या वत्समुपधापयेते ।
हरिरन्यस्या भवति स्वधावान् शुक्रो अन्यस्या ददृशे सुवर्चा- ।
(ऋग्वेद १-९५-१)

अर्थात् (विरूपे) विभिन्न-रूपों मे सयुक्त (द्वे) दोनो दिन और रात (स्वार्थे) शोभन प्रयोजन के लिये (चरत-) विचरण करते हैं । (अन्यान्या) दोनो ही अपने अपने (वत्स) बछडे की (उपधापयेते) रक्षा करते हैं । (अन्यस्या) एक (रात्रि) के पास से (हरि-) सूर्य (स्वधावान् भवति) अन्न प्राप्त करते हैं और (अन्यस्या) दूसरे (दिन) के पास से (शुक्र) चन्द्र (सुवर्चा) शोभनदीप्ति से युक्त होकर (ददृशे) प्रकाशित होते हैं ।

विद्वानो ने इसके गूढार्थ को स्पष्ट करते हुए दोनो को दिन और रात बतलाया है। उनके वत्स चन्द्र और सूर्य हैं । ऋग्वेद के इस मत्र मे वही चरने अर्थ मे "चरत" क्रिया का प्रयोग किया गया है । हाडौती पहेली मे बारह महीने तथा एक टाग मे एक राशि का भाव प्रदर्शित होता है। दोनो स्थलो पर पशु के माध्यम मे समय के रहस्य को बताया गया है ।

अपने रूपकात्मक कलेवर मे हाडौती की उक्त पहेली ऋग्वेद के इस मत्र के समकक्ष रखी जा सकती है । लोक प्रसिद्ध उपकरणो द्वारा वर्ण्य-विषय को ध्वनित करने वाले लाक्षणिक प्रयोगो मे युक्त इस प्रकार के अलकृत प्रयोग हाडौती के प्राचीन लोक-साहित्य मे अब भी उपलब्ध होते हैं । इससे प्रतीत होता है कि मानव-सस्कृति के विकास के साथ वैदिक युग मे चिन्तन की अभिव्यक्ति-पद्धति के द्वारा सुसस्कृत वर्ग वाले विद्वानो का अतुलनीय साहित्य प्रकाश मे आया । दूसरी ओर स्वल्प सस्कृत वर्ग मे गतिशील अभिव्यक्ति का दूसरा रूप सामान्य-जीवन मे पनपता रहा, जो लोकसाहित्य के रूप मे समय-समय पर प्रकाश मे आता रहा । इसीलिये आज भी दोनो धाराओ के मूल में विद्यमान चिन्तन की एकरूपता दृष्टिगोचर होती है ।

रहस्यमूलक अभिव्यक्ति का यह प्रकार मानव की सहजात-प्रवृत्ति है । इसी कारण विश्व की विभिन्न भाषाओं में यह पद्धति दृष्टिगोचर होती है । भारतीय साहित्य के अन्तर्गत वेद सहिताओ मे प्रहेलिका ने साहित्य और कर्मकाण्ड के क्षेत्र में सर्वप्रथम स्थान प्राप्त किया है । ऋग्वेद को प्रहेलिकाओ का वेद कहे, तो अत्युक्ति न होगी । वैदिक युग मे जिस समय लम्बे सोम-यागो की परम्परा थी, उस समय सवनो के मध्य, अवकाश के समय यज्ञकार्य मे प्रवृत्त ऋत्विजादि ब्रह्मोद्य द्वारा मनोरजन किया करते थे । यही बौद्धिक परम्परा यज्ञानुष्ठानो के समान ही प्रचलित सस्कारादि विभिन्न उत्सवो और विभिन्न मागलिक अवसरो पर अत्यन्त आवश्यक समझी जाने लगी । यही प्राचीन परम्परा आज भी समयानुकूल परिवर्तनों के साथ हाडौती समाज मे चली आ रही है ।

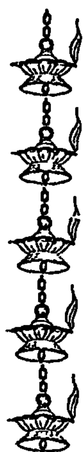
हाड़ौती लोकप्रहेली का प्रयोजन

हाडौती लोक प्रहेलिकाओं का प्रमुख उद्देश्य बुद्धिविलास द्वारा मनोरजन होता है । वक्ता के बुद्धि-वैभव के प्रदर्शन और श्रोता की बुद्धि-परीक्षा के लिये इनका उपयोग किया जाता है । बुद्धि को तीव्र करने, स्मरण शक्ति को बढाने और वस्तु ज्ञान के प्रति मेधा को प्रेरित करने का कार्य प्रहेलियो द्वारा सम्पन्न होता है । प्राचीन काल से इनका उपयोग क्रीडा, गोष्ठी और विनोदकाल मे होता चला आ रहा है । भोजराज ने सस्कृत प्रहेलिकाओ के उपयोग के विषय में लिखा है कि खेल, गोष्ठी और विनोदकाल में प्रहेलिका जानने वाले नागरिक पारस्परिक विचार-विनिमय एव श्रोताओ को आश्चर्यचकित करने के लिये इनका उपयोग करते हैं ।[1]

हाडौती के गावो मे जामाता की बुद्धिपरीक्षा के लिये ससुराल मे प्राय पहाली पूछी जाती है। यदि जामाता ससुराल मे अकेला ही पहुचा हो तो गाव के युवक पहेलियो का उत्तर देने मे उसकी सहायता करते हैं । हाडौती प्रान्त मे



१ क्रीडागोष्ठीविनोदेषु तज्ज्ञैराकीर्ण मन्त्रणे ।
परव्यामोहने चापि सोपयोगा प्रहेलिका ॥



वालक और महिलायें ही प्रहेली कहते-सुनते देखे जाते हैं। वैसे स्त्री-पुरुष सभी मे उनके प्रति रुचि देखी जाती है, किन्तु प्राय देखा गया है कि इस कला मे स्त्रिया ही अधिक प्रवीण होती हैं। प्राचीन काल से पहेली को स्त्रियो की कला समझा जाता रहा है। जैन-कल्पसूत्र मे प्रहेली को स्त्रियो की एक कला बताया गया है। कल्पसूत्र मे वर्णन आया है कि भगवान् ऋषभदेव ने अपनी पुत्री सुन्दरी को जिन चौसठ कलाओ का बोध कराया था, उनमे एक प्रहेलिका भी थी। प्राचीन समय मे पहेली द्वारा वर-वधू एक दूसरे के बौद्धिक स्तर का मूल्याकन करते हुये परस्पर माधुर्य भाव का तादात्म्य स्थापित करते थे। इसीलिये यह विकसित परम्परा विकसित एव अविकसित सभी परिवारो मे पाई जाती है।

विवाहसस्कार मे कवर कलेऊ पर, वधू को लेने आये हुये अतिथियो के लिये, सगाई सम्बन्ध के अवसर पर, वाईजी को लिवाने के लिये नणदोई के प्राप्त होने पर अथवा समधी-समधिन के आगमन पर सध्या के समय हाडौती प्रदेश मे गीत गवाने की प्रथा प्रचलित है। गाल-गीतो की समाप्ति होने पर अतिथि की बुद्धि-परीक्षा के लिये एकत्र हुई महिलाओ के द्वारा पहेलिया बूझी जाती हैं। स्त्रिया पेहलिया गाती हैं और अतिथि उनका उत्तर देते हैं। आजकल भी यह पद्धति इसी रूप मे विद्यमान है, किन्तु परम्परा का निर्वाह मात्र ही इस प्रथा का एक मात्र लक्ष्य प्रतीत होता है।

हाडौती लोक-प्रहेली पूछने का ढंग

हाडौती पहेलिया महिलाओ द्वारा रागविशेष अलापकर गायी जाती हैं। सगीत और साहित्य के इस अनुपम सामजस्य से श्रोताओ की हृत्तत्री झकृत हो उठती है। पहेलियो को गाते समय अपने प्यारे पाहुनो के लिये अनेक विशेषण लगाये जाते हैं। जामता के लिये कवर विहारी और राजकवार, समधी के लिये रसिया व्याई जी, भोला व्याई जी, चतर-विहारी आदि तथा सामान्य अतिथियो के लिये रगीला फाऊणा, छवीला फाऊणा और प्यारा फाऊणा विशेषण प्रयोग मे लाये जाते हैं। कभी-कभी श्रोताओं के उत्साहवर्धन के लिये "पडत जोसी करो वच्यार, या साथ्या मे कुण सरदार"—इस अर्द्धालिका का पाठ किया जाता है। पहेली पूछने का ढग निम्न प्रकार है —

> **जी वियाइजी, धोली जी धोली वेलडी, धोला छाया फैल**
> **फैरया सुं दुख नीपजै, लागे घर्णी सरूप**
> **चतर म्हाकी पयाली को फल खीज्यो जी**
> **क अन्तर कपट्या छो जी वियाईजी,**
> **वोलो न, अमरत वोल।**

श्रोता की बुद्धि पर शाण चढाने के लिये महिलायें पहेली पूछती हुई उत्तर अर्द्धालिकाओ मे यहा तक कह देती है कि यदि हमारी पहेली का उत्तर न दे सको तो अपनी मा पत्नी को हमारे गिरवी रखकर इसका उत्तर पूछिये। यदि अतिथि पहेली का उत्तर न दे सके तो उसे हार स्वीकार करनी पडती है। पहेली प्रस्तुत करते समय ही महिलायें कह देती हैं कि हमारी पहेली न वता सको तो नाक कटा कर यहा से उठिये। यदि कोई अतिथि नकटा वन जाये और हार स्वीकार न कर सके, तो उसे स्त्रियो द्वारा गाव वलाई या मीणे का पुत्र कहकर सम्बोधित किया जाता है। पयाली के फल को न वता सकने पर महिला मडल द्वारा नाको मे तीर-चलाना तो साधारण वात है। इसके साथ ही हार जाने वाले श्रोता को चक्की—चलाने का विधान भी वता दिया जाता है। हर प्रकार उत्तर मे विफल होते रहने पर महिलायें यहा तक कह देती हैं कि जो हमारी इस पहेली का फल न वतावेगा, वह कालीसिंध नदी का पत्थर होगा। यहाँ तो उनकी वचनावलि की सीमा समझनी चाहिये, क्योकि ऐसा शक्ति-सम्पन्न व्यक्ति की चेतना के स्पन्दन की यहा समाप्ति हो जाती है।

हाडौती प्रहेलिकाओ की प्रकृति

ज्ञान की थाह लेने वाली पहेलियो की रचना कई प्रकार से होती है। वक्ता भेद से उनकी प्रकृति भिन्न-

भिन्न प्रकार की हो जाती है। प्रकृति के अनुसार हाड़ौती पहेलियों का वर्गीकरण निम्नप्रकार से किया जा सकता है —

(१) सामान्य वर्णनात्मक

(२) स्वय परिचयात्मक

(३) आत्मानुभूत

(४) परवस्तु-निर्देशक

(१) सामान्य वर्णनात्मक प्रकृति वाली पहेलियों में वक्ता सामान्य वर्णन के द्वारा वर्ण्य विषय को प्रस्तुत करता है। इस प्रकार की पहेलियों की संख्या सर्वाधिक है। उदाहरण के लिये निम्न पहेली देखी जा सकती है —

"एक नारजो अड्ड, जे बोलै चड्ड।
जीं की छाल छल्लादार, जीने गावे वल्लादार।"[1]

(२) स्वय परिचयात्मक पहेलियों में वर्ण्य-विषय या अप्रस्तुत स्वय अपनी विशेषताओं का परिचय देता है। जैसे—

"जैपर म्हारो सासरो बूंदी म्हारो पीर
पीठे म्हारी भाटली, ऊबे म्हारो जीव।"[2]

(३) आत्मानुभूत पहेलियों में वर्ण्य विषय नहीं, वक्ता अपने व्यक्तिगत अनुभव को प्रदर्शित करते हुये पहेली प्रस्तुत करता है। जैसे —

"जब मरी आगी म्हारै सगर्प धगो
सारी मारी रात म्हू तो तमाया मरी।"[3]

(४) परवस्तु-निर्देशक पहेलियों में दो सम आकारवाली वस्तुओं का निर्देश किया जाता है। इस प्रकार के नाम साम्य वाली तीसरी वस्तु का नाम श्रोता को स्मरण शक्ति अथवा अनुभव से निकलना है जैसे —

"एक तो सूड गजानन की, दूसरी सूड हाथी की।
तीसरी आप बता दीज्यो, न तर थाकी लोटी नें गंणे मैलो जी।"[4]

हाड़ौती प्रहेलिकाओं के वर्ण्य-विषय

हाड़ौती पहेलियों के वर्ण्य विषय विविध हैं। साधारण से साधारण वस्तु भी पहेली का विषय बन जाती है। ज्यों ज्यों कल्पना का विकास होता जाता है, त्यों त्यों उनकी संख्या बढ़ती जाती है। यह भी देखने में आता है कि एक ही वस्तु पर कई प्रतिभाओं का ध्यान जाने पर भिन्न-भिन्न प्रकार से उस वस्तु का चित्रण प्रस्तुत होता है। उदाहरण के लिये सिंघाड़े के लिये निम्नांकित चार पहेलियां दृष्टि-पथ में आई हैं।

(क) ऊंची सी छतरी दूब की, मोदण फतरे जी पान।
फनर फतर बडला रह्या, चाबो राजकवार।।

(ख) रंग रूप्यो, तीन सींग्यो।
धोली गाय, दूध मीठो।।



१ गन्ना   २ बीजणी या पंखा   ३ इत्र की शीशी   ४ चरस।



(ग) कालो फाणी दमका कर, भैंस्या पडी पचास ।
झोट्या झोट्या छाटज्यो, ज्या को दूध उफाणो जाये ।।

(घ) रींग गींग्यो, तीन सींग्यो ।
खाल कड्डी, मास मीठो ।

प्रस्तुत के द्वारा अप्रस्तुत की योजना का जो विधान पहेलीकार द्वारा प्रस्तुत किया जाता है उसमे ग्रामीण वातावरण स्पष्टत प्रतिविम्बित होता है। ऐसे उपमानो का सयोजन वर्ण्य विषय के साथ प्राय नही किया जाता, जिनकी प्रतीति सामान्य मनुष्य की पकड के बाहर हो। विषय के अनुसार हाडौती पहेलियो को मोटे तौर पर निम्न लिखित वर्गो मे बाटा जा सकता है—(१) धर्म सम्बन्धी (२) कृषि सम्बन्धी (३) प्राकृतिक पदार्थ सम्बन्धी (४) गृहवस्तु सम्बन्धी (५) वस्त्र भूषण सम्बन्धी (६) भोजन सम्बन्धी (७) वृक्षफलादि सम्बन्धी (८) पशुसरीसृपादि सम्बन्धी (९) व्यावसायिक वस्तु सम्बन्धी (१०) शरीरावयव सम्बन्धी।

१ धर्म सम्बन्धी पहेलियो के अन्तर्गत ईश्वर, मन्दिर, धार्मिकसिद्धान्त तथा पूजा सम्बन्धी उपकरणो का समावेश किया जा सकता है। हाडौती की जनता आस्तिक है और भक्ति को प्रधानता देती है। भोजन करने से पूर्व प्रतिदिन मन्दिर मे बैठे हुये भगवान के लिये एक पहेली इस प्रकार कही गई है —

"म्हा तो थ्हाकै आवा जावा, अन्न फाणी न खावा।
थ्हा तो म्हासू मुखण न बोलो, गुण म्हा खुण का गावां।"

इस पहेली का रहस्य 'थ्हाँ' शब्द मे छिपा हुआ है। एक आस्तिक भोजन से पूर्व मन्दिर पर नित्य दर्शन करने जाता है। भगवान की प्रतिमा मुह से नही बोलती, फिर गुणगान किसका किया जाये ? इस पहेली मे मनुष्यो के प्रत्यक्ष व्यवहार को लेकर ईश्वर सम्बन्धी सामान्य व्यजना प्रदर्शित की गई है। शख के सम्बन्ध मे एक पहेली इस प्रकार है—

"भूरी भैंस भराडो पाडो।
पकड्यो सींग, करयो अड्डाटो।"

इस पहेली मे भूरी भैंस (शख का कीडा) ने भराडे (भाटे) पाडे को जन्म दिया है। शख के पिछले भाग रूपी पाडे के सीग ज्यो ही पकडे, त्यो ही वह अर्रा उठता है अर्थात् शख को पकड कर फूक मारने से वह बज उठता है।

२ कृषि सम्बन्धी पहेलियो के अन्तर्गत कृषि-कर्म उपकरण, फसलें, खेत आदि आते है। चने के पौधे के के लिये एक पहेली इस प्रकार है —

'एक नर सूतो माल मे, ओढ्या हरी जी सोड,
नीचै लटकै घूघरा, ऊपर मोत्या का पान।"

एक नर माल मे हरी (सोड) चादर ओढकर सो रहा है। नीचे घूघरे लटकते हैं और ऊपर मोती के पत्ते हैं। चना पुल्लिग होने से नर कहा गया है। उसके शयन के स्थान और ओढने की दुलाई का सकेत करते हुये नीचे लटकते हुये गुच्चो द्वारा उसके स्वरूप का ज्ञान कराया गया है। पत्तो पर खार जम जाने से वे मोती जैसे चमकते हैं।

३ प्राकृतिक पदार्थ सम्बन्धी पहेलियो मे ऋतु, मास, आकाश, चन्द्र, चन्द्रिका, नक्षत्र, नदी, पर्वत आदि प्राकृतिक पदार्थ उपमित होते है। चन्द्रिका का मानवीकरण करते हुये एक पहेली इस प्रकार कही गई है।

"धोली साडी धोलो घाघरो, धोलो मारुणी को रूप।
उजली बतीसी, वडला पान का, मोत्या तपै छै ललाट।"

श्वेत साडी, श्वेत लहगा, श्वेत रूप, श्वेत दन्त-पक्ति और नक्षत्र रूपी श्वेत मोती जिसके ललाट पर चमकते हैं चन्द्रिका के सर्व श्वेतमय रूप की इस पहेली में झांकी प्रस्तुत की गई है ।

नक्षत्रो के लिये निम्न पहेली द्रष्टव्य है —

"माली की बाडी फूल री र लाल, जी ने तोडवा हालो कुण छै ?
रगीला फाळणा रै लाल छबीली फाळणा रै लाल ।"

"ईश्वर रूपी माली की आकाश रूपी बाटी फूल रही है । इसे तोडने वाला कोई नहीं है । नक्षत्रो से भरे हुये आकाश का रूपक इस पहेली मे बाधा गया है ।"

(४) गृहवस्तु सम्बन्धी पहेलियों मे चक्की, किवाट, साकल, कुन्दा, ताला, सिगडी, पखा, टिन्टी, तवा कुरचणा, चमचा, धोवणा, रई, तराजू आदि घर-गृहस्थी के प्रतिदिन उपयोग मे आने वाली वस्तुओ पर बनी हुई पहेलिया आती हैं । छाछ बिलोने के लिये रई पर निम्न पहेली कही गई है—

"चार घडूकया चक चक बोली बोली अमरत वाणी ।
मरया समदर मे जा पडी, ऊपर सू मांग्यो पाणी ।"

सर्व प्रथम दही के भाण्ड मे रई टाल कर धीरे धीरे चलाई जाती है । इस समय वह चक चक शब्द करती है मानो अमृतमय वाणी बोल रही हो । भरे हुये (माट रूपी) समुद्र मे गिरने के पश्चात् भी ऊपर से पानी मागती है । मक्खन निकालने के लिये माट मे ठण्डा पानी डाला जाता है ।

अनाज पीसने की चक्की के लिये निम्न पहेली प्रस्तुत —

"एक सींग की ढागरी, जतरो नीरै, जतनोई खावै ।
चतर म्हारी पयाली को फल बैंद्यो जी ।"

इस पहेली मे चक्की को एक सींग की ढागरी (गाय आदि पशु-ढोर) कहा गया है । एक सींग से तात्पर्य चक्की चलाने के लिये लगे हुये हत्थे (हाथली) से है । चक्की में जितना डालते हैं, उतना ही खा जाती है । इस पहेली मे वस्तु सम्बन्धी सामग्री तो ऊपर की ही पक्ति मे है । दूसरी पक्ति तो पाद पूर्ति के लिये कही गई प्रतीत होती है ।

५ वस्त्राभूषण सम्बन्धी पहेलियों मे पगडी, कचुकी, अगरखी, धाती आदि वस्त्र तथा चूडा, नथ, कान की मुरकी, मोती बिछिया, फोलरी आदि आभूषण आते हैं । पगडी का रहस्य निम्न पहेली मे कहा गया है । इसमे स्त्री वक्ता व्यक्तिगत अनुभव व्यक्त करती हुई कहती है ।

"सोला सोला हात की साडी म्हारे सराणे धरी ।
सारी सारी रात म्हू तो न्याई मरी ।"

पगडिया प्राय सोलह हाथ की हुआ करती हैं । साडी के स्थान पर उसका उपयोग नहीं किया जा सकता । यहाँ केवल पगडी की लम्बाई का और शरीर पर पहनी जाने मे असमर्थता का सकेत करके रहस्य को छिपाया गया है । चूडे के लिये एक पहेली इस प्रकार कही गई है —

"हरियो जी पेलो लीलडो, साथ कसूमल रग ।
नारी ज्यू परण चढे, दन ऊतरे न रात ।"

हरा, पीला, नीला, मध्यम मे कसूमल रग वाला, नारी के विवाह के समय मे ही चढता है जो दिन और रात उतरता ही नही है । चूडा स्त्रियो का सुहाग चिह्न माना जाता है । उसमे उक्त विविध रग होते हैं ।





६ भोजन सम्बन्धी पहेलियो मे दूध, दही, मक्खन, छाछ, रोटी, पापड, पराठा, जलेबी नमक, मिर्च, शहद पान, सुपारी आदि वस्तुए आती है। मक्खन विषयक निम्न कहावत द्रष्टव्य है —

"सल डूबे, लोडी तरै, जल मे छायो पाप।
एक अचम्भो मै सुण्यो, बेटी ने जायो बाप।"

'शिला डूबती है और बट्टा (लोडी) तैरता है। जल मे पाप छा गया है। मैंने एक अचम्भा सुना है कि पुत्री ने पिता को पैदा किया है।" इस पहेली का शब्दार्थ तो इस प्रकार है। इस मे दही को शिला (जो पानी मे डूब जाती है) और मलाई को बट्टा(जो पानी मे तैरता है) कहा गया है। जब डालने ही मक्खन पाप के रूप मे ऊपर छा जाता है। छाछ रूपी बेटी मक्खन रूपी बाप को जन्म देती है यह आश्चर्य की बात है। शहद के लिये निम्न पहेली द्रष्टव्य है —

"बन कडछू, बन खुरचणो, बन फाणी बन आग।
सुन्दर सीरो कर रही, होयो व्होत सवाद।"

बिना कडाही, बिना पल्टे, बिना पानी और बिना अग्नि के सुन्दरी हलुआ बना रही है। वह बहुत ही स्वाद बना। शहद की मक्खी रूपी सुन्दरी द्वारा शहद का निर्माण का यह रूपक बडा हृदयग्राही है।

७ वृक्ष फलादि सम्बन्धी पहेलिया मे आम, जामुन, तेंदू, अनार, सिंघाडा, रेण, कैर, खजूर, खरबूजा, इमली निम्बोली, मूगफली, ककडी, बैंगन, नारियल, प्याज आदि पदार्थो से सम्बन्धी पहेलिया आती हैं। आम की गुठली के लिये निम्न पहेली कही जाती है —

"गगन सतारा हींदती, मुखडे पडती लाल।
व्हाहीं जमारो धारती, चामडी चामडी वाल।"

आम की गुठली आकाश मे नक्षत्रो के साथ झूलती है। उसके मुख से लार गिरती है। ऊपर ही जन्म लेती है और जिसकी चमडी पर बहुत अधिक बाल होते है। सिंघाडे के लिये प्रस्तुत एक पहेली इस प्रकार है —

"ऊची सी छतरी टूंक की, मोदण कतरै जी पान।
कतर कतर बडला करया, चावो राजकवार।"

जामाता का सिंघाडे द्वारा मानसी स्वागत करने के लिये वातावरण के चित्रण द्वारा सिंघाडे का रहस्य बताया गया है। टोक के बाहर की एक पहाडी के नीचे की एक झील मे सिंघाडे बहुत होते हैं। सिंघाडे वाली स्त्रिया इनको तिकोना काटती हैं। पान की तरह इनको बना देती है। सिंघाडे को चबाया जाता है। अत यहा चबाना क्रिया का प्रयोग किया गया है, जो उपयुक्त है।

८ पशुपक्षीसरीसृपादि सम्बन्धी पहेलियो मे सूकरी, साप, बिच्छू, दीमक, बीरबहूटी, आदि जीवो पर पहेलियां कही गई है। दीमक पर पहेली निम्न प्रकार है —

"अत्तर तोडू, पत्थर फोडू, फोडू सीसम सीसा।
बना फाणी के म्हैल बणादू, म्हू कारीगर कैसा ?"

"पृथ्वी की परत तोडने वाला, पत्थर और सीसे को फोडने वाला तथा बिना पानी के महल बना देने वाला कारीगर कैसा ?"

बीरबहूटी के लिये "हरया खेत मे लोई को टपको" कहा जाता है। सावन के दिनो मे हरियाली के बीच मे बीरबहूटी की उपमा रक्त की बूद से दी गई है।

९ व्यावसायिक वस्तु सम्बन्धी पहेलियों में भिन्न-भिन्न व्यवसाय की साधन-भूत वस्तुओं पर कही गई पहेलियाँ सम्मिलित होती हैं। इस वर्ग में कागज, कलम-दवात, तलवार, सारंगी, नगाड़ा, नगर पतन आदि वस्तुएँ आती हैं। सारंगी पर एक पहेली निम्न प्रकार है —

"चार चतर चाल्या चाकरी, लाया डढ़दी नार।
न तो खावै न जल पीवै, बोलै सारी रात।"

"चार चतुर (व्यक्ति) चाकरी में चले। एक डढ़दी स्त्री को ले आये। वह न खाती है और न पानी पीती है, किन्तु सारी रात बोलती रहती है।" ऊपर की पंक्ति में वृत्यनुप्रास की छटा दर्शनीय है। योद्धा की तलवार के विषय में पहेली इस प्रकार है —

"झाली छी, कोडाली छी, काला वन में रै छी।
लाल पाणी पै छी, मरदा क खांदै रै छी।"

"तलवार काले म्यान में रखी जाती है। धार पर अवर वाली उस कोडाली होती है। रक्त रूपी लाल पानी पीती है और मर्दों के ही कन्धे पर शोभा देती है। नामर्द इसे धारण नहीं कर सकता।"

१० शरीरावयव सम्बन्धी पहेलियों में हाथ, नाक, कान, हथेली आदि का वर्णन होता है। आँख पर एक पहेली निम्न प्रकार कही जाती है —

"तल जननी सी ओवरी, जो जननो सो कवाड़।
जीमे सुन्दर नापटी, रपट पड़्या मोट्यार।"

"तिल के बराबर कोठरी और जौ के बराबर किवाड़ हैं। उसमें सुन्दर वन्द है। उसे देखते ही युवक रपट पड़ते हैं। सुन्दर नैनों के प्रति आकर्षण स्वभावत होता है। इसी प्रकार हथेली के विषय में पहेली इस प्रकार है —

"पाच पीपल्या पदम तलाई।"

तात्पर्य है कि कमलों की तलैया पर पाच पीपल के पेड़ खड़े हैं। कितना सुन्दर रूपक है। हथेली का उपमा कमल से सर्वत्र दी गई है। हथेली के मध्य भाग को कमलों की तलैया और पाँच अंगुलियों का पाच पीपल की उपमा दी गई है। हाथ को कमल की उपमा शिष्टसाहित्य में प्रचुर मात्रा में दी जाती रही है।

बाल प्रहेलिकायें



छोटे-छोटे बच्चों में प्रहेलिका के प्रति जिज्ञासा भाव पैदा करने तथा उन्हें प्रहेलिका साहित्य का शिक्षण देने के लिये बालोपयोगी पहेलिया हाड़ौती लोक साहित्य में प्रचुर मात्रा में विद्यमान है। ये पहेलिया युवको एव प्रौढ व्यक्तियों से पूछी जाने वाली पहेलियों की अपेक्षा सरल होती है। इनमे उलझनें कम होती हैं। बाल-मनोविज्ञान का पूरा-पूरा ध्यान इनमें रखा जाता है। जिस अवस्था में जितना वस्तुज्ञान अपेक्षित है, उसके अनुसार ही पहेलिया होती हैं। वृद्धा माता, दादी या नानी सोते समय रात्रि म बच्चों से पहेलिया पूछती हैं। बच्चे पहेली की शब्दावली को सावधानी से सुनते हैं। माता या मातामही के मुख से ज्यों ही "अंधेरा घर मे दो को टपरो"—पहेली निकली कि बच्चे का मस्तिष्क दही जैसी सफेद और उसके जैसी गोल वस्तु की खोज में लग जाता है। अब तक जितने सफेद और गोल पदार्थ उसके अनुभव में आये हैं उन सबका नक्शा उसके सामने आ जाता है। वह कभी दही-बड़ा और कभी बताशा बताने लगता है। जब माता ना ही करती जाती है और बालक की बुद्धि में थकावट बढती जाती है, तब वह कह उठता है कि माँ तू बता। तब माता "चाँदी का रुपया" कह कर उसकी जिज्ञासा को शान्त कर देती है। इसी प्रकार थोड़े बड़े बच्चों से माता पूछती है —



"छोटो सो मनीराम, वडी भारी पूछ ।
ऊ ग्यो मनीराम पकड लाओ पूछ ।"

वालक के सामने यह पहेली आते ही उसको लम्बी पूछ वाले मनीराम की तलाश होती है। वडी पूंछ वाला चूहा वाल-वुद्धि मे आता है। इस प्रकार अन्य वस्तुओ का निर्देश करता हुआ वालक थक जाता है, तो माता सुई-डारा वताकर उसकी जिज्ञासा शान्त कर देती है। वालक के अनुभव और ज्ञान की परिधि मे आने वाले विषयो पर ही वालको से पहेलियाँ पूछी जाती हैं।

अनभ्यफल-प्रहेलिकायें

कभी कभी ऐसा अवसर उपस्थित हो जाता है कि पुरुष-श्रोता-वर्ग महिलाओं द्वारा पूछी गई प्रहेलिकाओ का उत्तर देता चला जाता है और स्त्रियां पहेली कहते कहते थक जाती है। ऐसी परिस्थिति मे कुछ ऐसी पहेलिया कही जाती है, जिनका कोई उत्तर नही होता। इस प्रकार की पहेलियो को हाडौती लोक भाषा मे "ओरावण्या" कहा जाता है। ये आरोवण्या पहेली का अर्थ वताने वाले को चक्कर मे डालने के लिये कही जाती हैं। जैसे ही श्रोता इन पहेलियो के अर्थ को जानने के लिये अपनी वुद्धि को दौडाता है वैसे ही महिला समाज को कुछ विश्राम मिल जाता है। इन पहेलियो का अर्थ नही निकलता। प्रत्यक्ष रूप मे तो यह विश्वास नही होता कि इनका कोई अर्थ नही है। ओरा-वण्यो के निम्न उदाहरण द्रष्टव्य हैं —

"पैली सूना राखडी, पैली चणा की माल।
रगीला फाऊणा रे लाल, छवीला—फाऊणा रे लाल।"

दूसरी इस प्रकार है —

"चींटी ने मूत्या मूतणो, जी की धार वलींडै जाय।
रगीला फावणा रै लाल, छवीला फाऊणा रै लाल।"

हाडौती पहेलियो की रचना वडी सरल है। इनमे अनुप्रास, रूपक, श्लेष आदि अलकारो की छटा सर्वत्र देखने को मिलती है। कही ध्वनिवैचित्र्य और शब्दवैचित्र्य द्वारा वस्तु का चित्र प्रस्तुत किया जाता है। कहीं-कहीं दृष्टिकूट शैली द्वारा चमत्कार उत्पन्न करके कौतूहल पूर्ण जिज्ञासा की सृष्टि की जाती है, जिनका सम्वन्ध ढूढने पर भी नही मिलता।

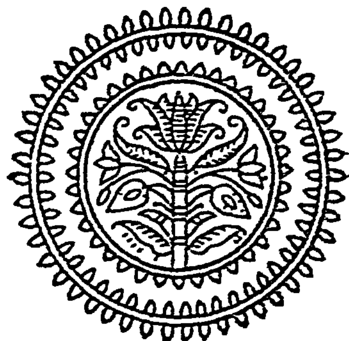
कुछ पहेलिया शृ गारिक वातावरण प्रस्तुत करती है। कही-कही ऐसे शब्द-चित्र प्रस्तुत किये जाते हैं, जो यौन विज्ञान से सम्वन्धित हैं। अर्धसभ्य और असभ्य जातियो मे ये शब्द चित्र पर्याप्त सख्या मे मिलते हैं किन्तु अन्य जातियो मे ये स्वल्प मात्रा मे और सयत हैं। इस प्रकार की पहेलिया अवोध श्रोता के अवचेतन मन मे विद्यमान यौन ततुओ को स्पन्दित कर देती है।

हाडौती पहेलियो का भाषावैज्ञानिक और साहित्यिक दोनो दृष्टियो से अध्ययन अपेक्षित है। इनमे प्रयुक्त भावो और शब्दो का विश्लेषण करने से ज्ञात होता है कि कुछ भाव और शब्द तो अत्यन्त प्राचीन काल से चले आ रहे है। वैदिक साहित्य से उनका तुलनात्मक अध्ययन भी किया जा सकता है। कालक्रम के अनुसार हाडौती पहेलियो का अध्ययन कष्टसाध्य है। इनके सम्यक् विश्लेपण, अध्ययन और मनन से ज्ञात होगा कि युगो से चली आती हुई प्रहेलिका की सवल परम्परा के अमिट स्वर आज भी लोक मानस में गुजायमान हैं। हाडौती प्रहेलिका साहित्य की गरिमामयी परम्परा का अनुशीलन कर विद्वान प्राचीन और अर्वाचीन साहित्य की रहस्यमय ग्रन्थियो को खोलने मे समर्थ हो सकते है।

●

हाड़ौती लोकगीत में प्रकृति-चित्रण

डा० चंद्रशेखर भट्ट
एम० ए०, पी-एच०डी०
निदेशक, शिक्षा मूल्यांकन विभाग, अजमेर



हाड़ौती लोकगीतों में वनस्पति-जगत् का इनके गहरे-रंगों का उपमान, पक्षियों का स्वर-लय तरंगित संगीत आदि का संश्लिष्ट वर्णन लोकगीतों के माध्यम से हुआ है। आकाश में मुक्त विचरण करते हुए पक्षी, सरिता का निरन्तर गतिशील प्रवाह, गगन में फैली हुई ऊषा की अरुणिमा और रजनी में तारों से खचित नीलाकाश – यह समस्त प्रकृति का शृंगार मानव के मन के भावों को सौन्दर्य-स्थिति प्रदान करता है। आंसू तथा बरसात की बूंदों का यथातथ्य वर्णन इस गीत में सरस हुआ है —

नैण बरसे सेज पर जी,
आंगण बरसे मेह।
होड़ा-होड मचा रही जी,
इन सावण इन नेह।

कैसी तुलना है एक वियोगिनी आंसुओं की सावण की झड़ी से इधर बरसात की झड़ी है उधर उनके आंसुओं की झड़ी है। उधर सावन का जोर है, तो इधर स्नेह की कमी नहीं है।

सावण आते ही क्या क्या साथ आ जाते हैं इसका भी एक लोकगीत में वर्णन हुआ है—

लूम झूम नदिया लेहर
टोला बाग पतंग भर बाय।
मोरा, सोर मचोलिया रे
सावण लायो साथ।

एक और गीत में लहराती नदियों के बहने का संश्लिष्ट वर्णन है—

अरड-खरड भैर नदिया बहे छै
बीचे जल का घोग-बाबा मैं जी –
—थाने ढोकवा आई रे घाटी का भैरू लाडला ।

आलम्बन रूप से प्रकृति वर्णन तीन रूपों में किया जाता है —
आह्लाद भाव से, आनन्दानुभूति से और आत्मतल्लीनता से

आह्लाद-भाव से प्रकृति दर्शन करते समय जन-कवि प्रकृति-वर्णन में रम जाता है। इसकी अभिव्यक्ति के लिए कवि प्रकृति के रंग, रूप, ध्वनि आदि से युक्त सौन्दर्य की कल्पना गहराई से करता है, और इस कल्पना में फिर प्रगाढ़ सुख की अनुभूति का योग भी उपस्थित करता है। यह सौन्दर्य के प्रति आह्लाद की भावना गम्भीर और सूक्ष्म बन कल्पना का आधार लेकर विभिन्न रूप ग्रहण करती है। हाड़ौती गीत में फूलों का आश्रय लेकर इस भाव की सुन्दर अभिव्यक्ति हुई है —

फूल्यो जी करेलो, लटपट छा रही वेल
इत मरवो उत मोगरो, गुल तुर रीर गुलाब
मदमाती म्हेला चढी, पिय जाणें मेहताज,
प्यारा थाके आगन जी, फूल्यो जी करेलो
लटपट छा रही वेल।
वागा जाओ सायवजी, नीबू लाज्यो चार
नारगी मत ल्यावजो, सौकडल्या को सार
प्यारा थाके आंगन फूल्यो जी करेलो,
लटपट छा रही वेल।

आलम्बन की स्थिति मे कवि की अनुभूति अधिक रहती है। प्रकृति का यह सौन्दर्य रूपात्मक नही वरन् भावात्मक साहचर्य के आधार पर ही स्थित है। इस प्रकृति के सौ दर्य साहचर्य मे कवि स्वय अपने को सजग पाता है, और यह सजगता विभिन्न रूपो मे अभिव्यक्त होती है—

चादा थारी चादणी सी रात रऽ
नणद भौजायां पाणी निसरी,
घड्ल्या तो मेल्यो छै समदर तीर
नणद तो खींचे छै भोजाई झेले री
छूमकी तो टाकीं छै बोर्‌या झाड के
रमवा ने चाल्या चम्पा वाग मे।

आत्म-तल्लीनता की स्थिति मे जन-गायक प्रकृति सौन्दर्य की चेतना भूल जाता है। और उसके मन मे यह सौन्दर्य आनन्द के रूप मे स्वय अभिव्यक्ति की प्रेरणा बन जाता है—

हरियाला आवा क'नीचे पालणों घलायो
हरियाला नीम क'नीचे पालणो घलायो
चिडिया बोली चूं चूं चूं
सो ज्या नन्हीं यूं यूं यूं
हरियाला रूखा पै बैठो
चिडियां बोली च्यू च्यू च्यू

ऐसे विरल सौन्दर्य-चित्र हाडौती गीतों मे प्रचुर मात्रा में उपलब्ध हैं। एक विरहिणी तो पावस के उद्दीपक चित्रो मे अन्दर ही अन्दर सिमटती-सी जा रही है, उसे चारो ओर सूना ही सूना नजर आ रहा है—

काली काली वादली मे
विजली चमके रे
मेघा मेघा झरमर झरमर
मेवलो वरसे रे,
भीजे म्हारी नुंई नुंई कोर
डू गर मे बोलरिया छै मोर,
विन साजन मू तडफू एकली
किया धराऊ धीज।

इधर पपैया बोल रहा है उधर वह अकेली डोल रही है परन्तु—

पपइयो बोल्यो एऽऽ
एजी मू वागा फिरू अकेली,
भवर भागा मे आज्यो जी
छैल वागा मे आज्यो जी
वैरी पपइयो कूकै, जी थे ।
किण विध जीवू जी
पपइयो बोल्यो एऽऽ
ए जी मू वागा फिरू अकेली
भवर वागा मे आज्यो जी ।

हाडौती गीतो में अलकारो के माध्यम से कई सुन्दर चित्र प्रस्तुत किये गये हैं—

रेत का तो खेत वणाया
पानी की गुलक्यारी
चाद मून्ज का बैल वणाया
नाम लगाया हाली ।

इसी प्रकार एक अन्य गीत मे गोरी की उपमा गुलाब के फूल से दी गई है—

गोरी फूल गुलाव की जी
पडयो पलग के वीच
कलिया लूटो भवरजी ज थें
लाल नणद का वीर

हाडौती जन-साहित्य प्रहेलिकाए भी प्रचुर मात्रा मे मिलती है जिनमे अलकारो के माध्यम से प्रकृति को प्रस्तुत किया गया है—

जी ऊची टाण चरस का डोरा
लाग्यो चार पातला, पाणत करऽ
गोरी फर फर जाय—(भैस)
जी लम्बा नल की मोरडी
वैठी आजम गाल
जी आधो पगल्यो मालवो
आधो नागर चाल—(हुक्का)

प्रकृति पर चेतन व्यक्तित्व का आरोप ही मानवी-करण है । यह प्रवृत्ति वैदिक काल से चली आई है । सूर्य, चन्द्र, वायु, जल और मेघ आदि को देवत्व प्रदान करना ही मानवीकरण की प्रवृत्ति को प्रकट करता है । वह अपने समाचार तोते से कहती है—

उड रे सुवा तू पचरग्या
जाजे रे मार' पीयर, धू की आमलियाँ ।
म्हारा दादाजी मले तो यू कीजै
थाकी वेट्या वसे छै परदेस
धू की आमलियाँ





म्हारा वीराजी मले तो यू कीजे
थाकी बहन वसे छै परदेस
घू की आमलियाँ

विरहिणी ऐसी दुखिनी होती है कि उसकी व्यथा मे सारे जगल की वेलें, वृक्ष एव लताए भी झुरने लग जाती हैं, एक विरहिणी कुरजा को सन्देश देती हुई कहती है—

कुर्जडी मारी वेनजी, पाँख उदारिल्या
पीव मल्या उच्छ्व करा मे, भलकर पाछीद्या
गगन उडा वेचु गा अदविच वासिल्या
मे परदेशी कुर्जडा पाख कुणीन दइरा।

एक भाई अपनी वहिन से मिलने के लिये जा रहा है, वह पशु को भी अपने समान समझता है, उससे तदात्मय स्थापित करता है, और उसे जोश दिलाता हुआ कहता है—

चालो म्हारा वलद्या उतावला रे
म्हारी मां की जाई जोवे वाट
चाल्यो म्हारा धोल्या उतावला रे
म्हारी जामण जाई जोवे वाट
गाडो तो रलकी रेत मे रे वीरा
हो गई गगना—गोट
वलद्या का चमक्या सींगडा रे
म्हारे वीराजी की पचरग पाग

रहस्यमय प्रकृति मे जन-कवि परमतत्व के दर्शन करता है, और इस प्रकार प्रकृति विश्वात्म के दर्शन का माध्यम वन जाती है। 'शिकार गीत', जिसमे शिकार के माध्यम से लोगो को परम-तत्व की याद दिलाई है।

अठीन' डूगर अठीन मारवर
अध विच घेरो घाल्यो राज
छोट छोड रे सपन सुरंगा
कई हठ लाग्यो रे

इधर मोह-ममता का फन्दा है, तो इधर माया ने अपनी हाट सजा दी है और बीच में भोला मानव दिग्भ्रमित सा चक्कर लगा रहा है, उसके चारो तरफ घेरा डाला हुआ है।

ऐ मानव, उठ! निद्रा को त्याग। इन सुनहरे स्वप्नो को भूल जा, ज्यादा हठ ठीक नही है।

इन गीतो मे आध्यात्मिकता की गगा प्रवाहित हुई है, वहा मीरा-सी तन्मयता भी है। पचरग चोला प्रेम माधुर्य मे भींज रहा है—

काली काली वादली मे
विजली चमके रे
मेघा मेघा झरमर झरमर
मेवलो वरसे रे।
भींजे म्हारी नुई नुई कोर

डुंगरिया मे बोले छे मोर
उजली चादर रापू ज्यू की ज्यू
रेण अंधेरी बिजली झपके रे
काली कानी बादली मे
बिजली चमके रे

हाड़ौती गीतों में ऐसे प्रयोग प्रचुरता से हुए हैं। हरियाली नूतन का सर्वश्रेष्ठ प्रतीक है। लोक जीवन के लिये हरियाली से बढ़कर कोई अन्य सुख नहीं है। इसलिए किसी भी समय, किसी भी पर्व पर आशीर्वाद भी दिया जाता है तो हरियाली से बाहर के कोई उपमान ही नहीं सूझते। बहिन भाई को आशीर्वाद देती है, तो कहती है

बधज्यो रे वीरा, बड़ पीपल ज्यू
फलज्यो रे वीरा, फड़ये नीम ज्यू
वीरा बधज्यो ओ हरियाली दूब।
बधज्यो रे वीरा बेना ज्यू
फलज्ये ए भावज, फल फूला ज्यू
बधज्ये ए, भावज, मायली दूब ज्यू
वीरा फूलज्यो रे फलज्यो आमा री डाल ज्यू

जहाँ पक्षियों का वर्णन हाड़ौती लोक-गीतों में प्रचुरता से हुआ है वहाँ पशु भी पीछे नहीं रहे। विवाह के अवसर पर घोड़ी का रूप रंग निखारा जाता है—

घोड़ी ने तुररा री झड़प उड़ाय
केसरियो लाड़ो परणवा ने जाय
घोड़ो ने नीरा नागर पान
केसरियो वीरो परणवा ने जाय।

गाय हमारे परिवार की मुख्य सदस्या है, एक लोकगीत में उसकी रक्षा का भी वर्णन हुआ है -

सायीड़ा म्हारा, गाया ने वेगी छोड़ रे
हां रे रग मरदाना
गाया ने वेगी छोड़ो रे
दनटो ऊगो आयो रे
सयीड़ा म्हारा गाया ने थोड़ी टाबो रे
हां रे रग मरदाना
गाया ने थोड़ी टाबो रे।

गाय जहाँ उसकी मातृ-स्वरूपा है, तो बैल उसके भाई हैं, सुख-दुःख के साथी, हिम्मत बढ़ाने वाले, अकाल और कष्ट में पार लगाने वाले। फिर लोक-गायक क्या उन्हें भूल सकते हैं? देरी हो रही है, भाई को बहिन के घर जाना है। कहीं देर न हो जाय, कहीं बहिन कुछ और न मान ले, वह बैलों को शीघ्रता से चलने के लिये प्रोत्साहित करता है—

चालो म्हारा बलद्या उतावला रे
म्हारी मा क जाई म्हाले वाट
चालो म्हारा धोल्या उतावला रे
म्हारी जामण जाई जोवे वाट।



गाडी तो रलकी रेल मे रे वीरा
हो रही गगनां गोट
वलदा का चमक्या सींगड़ा रे
म्हारे वीरा जी की पचरंगी पाग

भारतीय जीवन कृषि प्रधान है, यहा प्रकृति का मुक्त रूप देखा जा सकता है। भारत के विभिन्न गावो की तरह हाडौती ग्रामो का भी एक अनोखा आकर्षण है। इन गीतो मे खेत-खलियान, नदी-नाले, पग-डडिया, कच्चे-रास्ते गाडी-गडार, कुए, सरवरिया री पाल तथा उद्यानो आदि का सहज वर्णन हुआ है। हाडौती जन-जीवन सामान्य जीवन है। पति खेत मे हल चला रहा है, स्वय बैलो को हाक रहा है।[1] स्त्री रोटियां और छाछ लाई है।[2] स्त्री गाव के किनारे स्थित सरोवर जाती है, समदर तालाब से घडा भर कर लाती है।[3] उसका काकड वाला खेत है।[4] जहा उसका पति हल चलाता है। वह खुश है। अपने पति के विषय मे बडे भाई के प्रति आभार प्रदर्शन करती हुई कहती है, हे भाई! धन्यवाद है। तुमने ठीक किया, मो हाली सा बहनोई चुना। हे पिता! तुम भले ही परणाई इस घर मे, अच्छा जवाई ढूंढा है—

भला ही जणी छी री म्हारी
राता देयड माय
भलो ही हालीडो वर हेर्‌यो
भला ही परनाई र म्हारा जरमर वामी वाप
कान्ह कवर वीर, भला ही हालीडों वर हेरियो।

उसे इससे ज्यादा चाहिए क्या? सुखी जीवन है, ग्राम है, स्वय का निर्मित मकान है, सुन्दर पति है, खेत है, खलिहान है, उसका पति हल चलाता है, वह खाना पहुँचाती है और दोनो मिलकर हस-हस कर खाते है, इससे ज्यादा सुख उसे चाहिए ही क्या?

घर लिपे - पुते है, जिसमे गोवर और पीली मिट्टी होती है।[5] वह अपनी झोपडी को ही स्वर्ग समझती है, विशालमहलो के समकक्ष मानती है।[6] उसके महलो के वजर किवाड है।[7] उसके महल की ऊँचाई इतनी ऊँची

---

१ मु हल हाकू ए गोरी आपणू, दौड घडो भर ल्याव।

२ माथ' हो लीन्हीं जी हाली भस की डाल, हाथ रोट्या अर छाछ।

३ झड झड झडया छे हालण का मोर, दौडी गई कुवा वावडी देख्या देख्या समद तलाव।

४ कस्यो ओ दीखे री वाई थारो काकड खेत
तो वो हल हाकै री थारा घर धणी।

५ या तो गोवर पीली की कीच मची
म्हारो घर लीप्यो ई जाय।

६ भवर म्हारे मेला आज्यो जी
ऊ‌चीं अटाडी दिवलो वले।

७ तोडया जी तोडया वजर किवाड।

है कि वह चलते-चलते ही थक जाती है।[१] इधर घर पर वह अपने पति की बाट जोहती है, झरोखे मे झांकती है।[२] घर उसका लिपा-पुता होता है, केसर और कुंकुं की गार डाली जाती है, और चंदन चौक पूरा जाता है।[३]

हाडौती के कई लोक-गीतों मे बाजार गलियों, दुकानों आदि का वर्णन भी आया है।[४] प्रत्येक गृह में वृक्ष का होना शुभ माना गया है। विशेषत केले का वर्णन मिलता है।[५]

ग्राम-मार्गों पर दौड़ती हुए बैलगाड़ियों का सौंदर्य-वर्णन गीतों मे बड़ी ही स्वाभाविकता से उतारा गया है। मार्ग मे उड़ाई जाने वाली गाड़ी की उड़ती धूल तो उस केसर और कुंकुम से भी ज्यादा सुहावनी लगती है।[६]

हाडौती लोक-गीत प्रकृति-चित्रण से ओत-प्रोत हैं। प्रकृति के प्रत्येक छोटे से छोटे वर्णन का, दृश्य का अथवा रूप को इतनी तन्मयता, स्वाभाविकता एवं मर्मस्पर्शिता से ढाला गया है कि उन भोले अजान अनाम जन-गायकों के प्रति श्रद्धा से हमारे मस्तक झुक जाते हैं जिन्होंने ग्राम्य-संस्कृति-हाडौती लोक संस्कृति को सदा के लिये, गीतों मे बांधकर अक्षुण्ण बना दिया है।

○

---

१ थाकी तो थाकी बना राज जी ओ सेन,
चढ़ता उतरता थाकी म्हारा राज।

२ मेला चढ़ी ने जोवूं राज री ओ बाट।

३ केसर कूं कूं की गार घुलाऊं चन्दण चौक पुराऊं।

४ कोटा रे बाजार मे थे पाटड्या घड़ाइजो—।

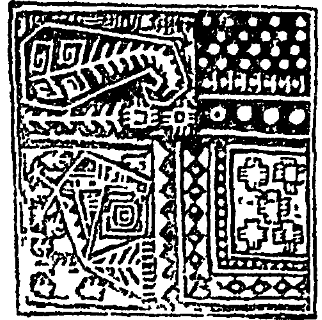
५ सूरज नामी म्हारी रात री पोर आगणिये
में केल झबूकिया जो माय।

६ म्हारे पीयरिये री गाडी झीणी उडे रे गुलाल
झीणो केसर कुंआर माता जी थे आगल खोल ज्यो।



हाड़ौती अंचल के व्रत तथा उत्सव

श्री हरिवल्लभ 'हरि'
कोटा (राज०)



हाटौती अचल का मम्पूण जीवन उत्मवमय है, आवालवृद्ध-वनिता वर्ष भर किमी न किमी उत्मव मे व्यस्त रहते है । उत्मवा की परम्परा के उत्स की कल्पना करके हृदय आश्चर्य मे भर जाता है । कितना समृद्धिशाली होगा वह जीवन, कितना निर्द्वन्द्व और कितना निश्छल । जातीयता, सामाजिकता और राष्ट्रीयता की भावना से ओतप्रोत तत्कालीन लोक-जीवन मे हर्षोल्लास से परिपूर्ण जिन व्रतो और उत्सवो की उद्भावना हुई, वे आज भी लौकिक-मस्कृति को अक्षुण्ण वनाये हुए है ।

प्रकृति ने रग वदला और लोक-जीवन हर्ष से उन्मत्त होकर नाच उठा, युगान्तरकारी किमी धर्म प्रवर्त्तक का जन्मदिन आया और धर्मप्राण लोक-जीवन मे श्रद्धा तथा भक्ति की लहर दौड गई, व्यक्ति गत सस्कार मृत्यु, विवाह, अठमासा भी आनन्द के प्रतीक वनकर सम्पूर्ण जाति एव समाज के लिए उत्फुल्लकारी वन गये । वर्ष का कोई महीना ऐसा नही जिसमे कोई निश्चित उत्सव न मनाया जाता हो ।

लोकोत्सव कुछ स्थायी होते है और कुछ सामयिक । स्थायी उत्सव निश्चित तिथि पर प्रतिवर्ष मनाये जाते हैं । होली, दशहरा, दीपावली जैसे वडे उत्सव तो इसके अन्तर्गत है ही, तेजा दशमी, जैसे वीर-पूजात्मक भी इसी श्रेणी के है । कथाओं एव स्त्रियो के अनेक व्रत भी उसी कोटि मे आते है । सामयिक उत्सव अधिकतर व्यक्तिगत होते हैं, किन्तु उनमे जातीयता एव सामाजिकता का पूरा योग रहता है, लोकजीवन मे मैथिलीशरण गुप्त की इस पक्ति का वडा महत्त्व है —

'सुख वढ़ जाता, दुख घट जाता, जव है वह वट जाना ।'

लोक-जीवन व्यक्तिगत सुख और दुःख को भी सब मे वाट कर भोगता है । फलत उल्लास कारी उत्सवो मे तो सम्पूर्ण जाति, समाज और परिवार का योग रहता ही है, मृत्यु जैसी भयकर, किन्तु सुनिश्चित चीज भी सामाजिकता का वाना पहनकर उत्सव वन जाती है ।

लोक-जीवन जिन तत्वो से प्रभावित होकर आनन्दोत्सव मनाने को ललक उठता है, वे व्यक्तिगत, सामाजिक, सास्कृतिक और प्रकृति जन्य होते है । पुत्रोत्पत्ति, पुत्र-पुत्री के विवाह, यज्ञोपवीत आदि अवसर तो व्यक्तिगत उल्लास के होते ही है, यहाँ तक कि मरण भी उत्सव वन कर लोक-जीवन मे व्याप्त मृत्यु-भय का निराकरण करने मे समर्थ होता है । किसी की मृत्यु के उपरान्त उसके उत्तराधिकारी द्वारा सामूहिक भोज (मृत्यु-भोज जिसे सरकार ने कानून से वन्द कर दिया है, पर लोक-जीवन मे आज भी वह अनिवार्य माना जाता है ।) मरणोत्सव का ही प्रतीक है । लोक-रूढि के अनुसार यह भोज मरने वाले व्यक्ति की आत्मा की शान्ति के लिए होता है, जिसे मृतव्यक्ति के 'मुह की राख निकालना' कहा जाता है, यह भोज लोक-जीवन मे उतना ही आवश्यक माना जाता है जितना मृतक की भस्मी को गगाजी या किसी नदी मे प्रवाहित करना । यदि कोई पुत्र अपने माता-पिता की मृत्यु पर भोज देने मे असमर्थ होता है या समर्थ होकर भी किसी सिद्धान्त-वश नही देता तो वह लोकउपालम्भ का शिकारी वनता है और यह मान

किया जाता है कि उस 'कपूत' के माता-पिता की सद्गति नहीं मिल सकती। फलतः आधुनिक शिक्षा प्राप्त तथा 'नुक्ते' के विरोधी युवक भी लोकोपवाद से बचने के लिए तथा अपने माता-पिता को स्वर्ग या मोक्ष प्राप्ति के प्रलोभन से किसी न किसी रूप में 'नुक्ता' कर ही देते हैं।

धाकड़, मीणा, गूजर जैसी जन-जातियों में तो आज भी मृत्यु भोजों में दखल देने वाली पुलिस को येन केन प्रकारेण संतुष्ट कर दिया जाता है और 'नुक्ता' निर्विघ्न सम्पन्न हो जाता है।

मरणोत्सव का दूसरा अवसर 'टीके' का होता है। मृत व्यक्ति धनी हो या निर्धन, उच्चवर्ण का हो या निम्नवर्ण का, जाति तथा व्यवहारी लोगों की उपस्थिति में उसके उत्तराधिकारी को 'पगड़ी' बंधवाना तथा 'टीका' करना अनिवार्य प्रथा है। कहते हैं कि 'राजा मर गया, राजा कभी नहीं मरता'। इस सिद्धान्त के अनुसार राजसिंहासन कभी खाली नहीं रहता। राजा के मरने पर उसकी अन्त्येष्टि बाद में की जाती है, पहले उसके उत्तराधिकारी का अभिषेक होता है। लोक-जीवन में भी इस नियम की झलक मिलती है। मृत पिता की पगड़ी उत्तराधिकारी के सिर पर बांधी जाती है। तत्पश्चात् समागत सम्बन्धी तथा व्यवहारी उसका तिलक करके अपनी-अपनी ओर से पगड़ी अथवा कर अपनी स्वीकृति की मुहर लगाते हैं। उत्सव की समाप्ति यहीं नहीं हो जाती। एकत्र जन समुदाय उत्तराधिकारी को इसी रूप में मन्दिर पर ले जाता और भगवान को साक्षी बनाकर उसके आशीर्वाद की उत्तराधिकारी के लिए याचना करता है। आगे-आगे ढोल बजता है। जिस पर डके की चोटें इस प्रकार मारी जाती हैं कि हर्षोत्सव एवं शोकोत्सव में स्पष्ट भेद किया जा सकता है। ढोल की ध्वनि को सुनकर ही पहचाना जा सकता है कि यह किस अवसर पर बजाया जा रहा है। इधर घर पर एक-दो गीत रस्मी तौर पर गाये जाते हैं और मरणोत्सव के साथ-साथ नये उत्तराधिकारी का टीकोत्सव सम्पन्न होता है।

यह सही है कि उक्त उत्सव पर हर्ष तथा उल्लास की मात्रा नहीं होती, पर भोज, टीका, मन्दिर दर्शन, ढोलवादन, गीत आदि सारी रस्में वे ही होती हैं, जो शुभ कार्य में होती हैं। इनके लिए तैयारी भी व्यक्ति के मरने के तीसरे दिन से ही प्रारम्भ हो जाती है। निमन्त्रण भेजे जाते हैं, परिवार सबंधियों को सूचना दी जाती है, जिसमें विवाह आदि संस्कारों के निमन्त्रणों के अनुसार 'दन च्यार पैली पधारज्या' जैसा आग्रह तो नहीं होता, पर 'द्वादशे' की तिथि दिन की सूचना अवश्य होती है। इस प्रकार यह व्यक्तिगत शोक का अवसर भी सामाजिक उत्सव बन जाता है।

जन्मोत्सव

हाड़ौती की लोक-मान्यता में 'जनम, परण और मरण' जीवन के महत्त्वपूर्ण अंग हैं। मरणोत्सव का वर्णन संक्षेप में किया जा चुका है। पुत्र-पुत्री जन्म पर जो उत्सव मनाया जाता है, वह स्त्रियों तक ही सीमित रहता है। पुत्र-जन्म पर अधिक खुशी मनाई जाती है। कन्या का जन्म अभिशाप माना जाता है, पर आवश्यक प्रथा सूरज पूजन, चूड़ा पहनना आदि कन्या जन्म पर भी की जाती हैं। प्रथम सन्तानोत्पत्ति पर लड़की के पीहर से 'जामणा' आने की प्रथा भी बहुप्रचलित है, जिसमें दामाद तथा कन्या के लिए वस्त्रों के अतिरिक्त नवजात शिशु के लिए कई जोड़ी झगूले, आभूषण, खिलौने आदि होते हैं।

विवाहोत्सव

'परण' (परिणय) जीवन का सबसे महत्त्वपूर्ण उत्सव है, संसार की सभी जातियों में इसे विभिन्न रूपों में मनाने की प्रथा है। हाड़ौती में विवाहोत्सव लोक-जीवन में विशिष्ट स्थान रखता है। विवाह की निश्चित तिथि से लगभग एक महीने पूर्व से ही उत्सव प्रारम्भ हो जाता है। 'विनायक स्थापना' के साथ ही लड़का-लड़की 'लाडा-लाडी' बन जाते हैं। मान्यता है कि 'बेनायक आयो, नाज लायो' अर्थात् विनायक स्थापना होते ही विवाहोत्सव की सारी सामग्री एकत्र होने लग जाती है। लाडा-लाडी गणेश-पूजन किये बिना भोजन नहीं करते। गणेश का मूर्तिमान्





प्रतीक कोई बालक जो 'वन्दयाक' (विनायक) कहलाता है, भोजन, पूजन आदि कार्यों मे लाडा-लाडी के साथ रहता है और उसे प्राथमिकता दी जाती है।

इस उत्सव के साथ अत्यन्त आवश्यक एव महत्त्वपूर्ण सामाजिक प्रथा भी जुडी हुई है। लाडा-लाडी के सवधी तथा व्यवहारी उन्हे अपने घर पर निमन्त्रित करते है और सुस्वादु भोजन से उन्हे तृप्त करते है। व्यवहारियो की अधिकता होने पर कभी-कभी तो वर-वधू को दिन मे चार-चार, पाच-पाच जगह भोजन करना पडता है।

वर-वधू के वैवाहिक वस्त्र भी ऐतिहासिक महत्त्व रखते है। 'निकासी' के समय वर को चूडीदार पाजामा, धोती, टखने तक लम्बा कवचनुमा लाल या केसरिया रग का गोटेदार झगा पहनाया जाता है। सिर पर उसी रग की पगडी बाँधी जाती है, जिसको 'मार' की सुइयो (आलपिनो) मे इतना मजबूत कर दिया जाता है कि तीन-चार दिनो तक वह ढीला न हो, क्योकि इस समय बाधी गई पगडी विवाह करके लौटने के बाद ही उतरती है। पैरो में कामदार मखमली जूतियाँ पहनी जाती है और कमर मे सात हाथ लम्बा केसरिया या कसुमल रग का दुपट्टा, जिसे 'मोल्या' कहते है, बधा रहता है। पगडी पर मौर तथा कलगी की शोभा भी दर्शनीय होती है।

विवाह के लिए प्रस्थान करने से पूर्व वर की भाभी उसकी आखो मे काजल देती है और माँ अपने आचल का दूध पिलाने का अभिनय करती है। वर के कधे पर तलवार रहती है और कमर मे कटारी। इस रूप मे वर को घोडी पर बिठाकर घुमाया जाता है, इष्ट देवताओ को ढुकराया जाता है।

वर की इस युद्ध जैसी तैयारी से अनुमान होता है कि किसी समय वधू को विवाह करके लाना बडी टेडी खीर होती होगी। एक कन्या के लिए दो या अधिक वरो के आने की आशका बनी रहती होगी। माता पुत्र को अपना आचल देकर कामना करती होगी कि 'बेटा' मेरा दूध मत लजाना। 'बहू को लेकर ही लौटना।' इस अवसर पर वर को अपने इष्ट देवता का आशीर्वाद प्राप्त करना भी आवश्यक होता होगा।

इसी प्रसग मे वधू के घर पर 'तोरण' मारने की प्रथा भी उल्लेखनीय है। यह प्रथा उक्त अनुमान की पुष्टि करती है, वर घोडे पर बैठकर वधू के दरवाजे पर टागे हुए लकडी के तोरण को अपनी तलवार से स्पर्श करता है और तत्काल वधू के घर मे प्रविष्ट हो जाता है। तोरण द्वार तक आते-आते निश्चय ही उसे अपने प्रतिद्वन्द्वियो से सघर्ष करना पडता होगा। इस बीच म कन्या पक्ष की आतुरता एव व्याकुलता भी द्रष्टव्य होती है। कन्या से आयु तथा 'नग' मे बडे स्त्री-पुरुष उस दिन, दिन भर भूखे रहकर 'धनाल' करते हैं और 'फेरे' पड जाने के बाद ही अन्न ग्रहण करते है।

कन्याओ के व्रतोत्सव

वैयक्तिक उत्सवो मे कन्याओ के व्रत का लोक-जीवन मे उल्लेखनीय स्थान है। भावी वैवाहिक जीवन को सुखद एव शान्तिमय बनाने के लिए हाडौती अचल मे कन्याओ से अनेक व्रत करवाते है जो विवाह के बाद तक चलते है। ये व्रत भी दो तरह के होते है—(१) वार्षिक और (२) दैनिक। वार्षिक व्रत वर्ष मे एक बार किये जाते है और कई वर्षो तक जब तक कन्या अविवाहित रहती है करने पडते है। दैनिक व्रत प्रतिदिन करने पडते है और वर्ष भर चलते हैं।

वार्षिक व्रतो मे प्रमुख व्रत 'अमकारचा' (ओंकार उपासना) है, जो भादो मे शुक्ल पक्ष की अष्टमी को किया जाता है। इस दिन कन्या दिन भर निराहार रहती है, अग्नि मे पकाया या सेंका हुआ अन्न ग्रहण नही करती और जब तक शिवपूजन करके तत्सम्बन्धी कहानी नही सुन लेती, मुँह मे पानी की बूद तक नही डालती। यह व्रत पार्वती के व्रत और तपस्या का लघुतम सस्करण है जो उसने शिव को पति रूप मे प्राप्त करने की कामना से किया था। तीन-चार वर्ष की आयु से ही यह व्रत आरम्भ कर दिया जाता है। कन्या को कम से कम नौ व्रत करने पडते है। नौ व्रत पूरे हो जाने पर कन्या स्वभावत विवाह के योग्य हो जाती है।

कन्याओं के अन्य धार्मिक व्रत भी इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए किये जाते हैं। इन सब व्रतों मे शिव जी का पूजन तथा उनकी स्तुति प्रमुख होती है। सावन के महीने के चारो सोमवार, श्रावणी तीज, गणगौर आदि इसी प्रकार के व्रतोत्सव हैं। इस प्रकार तपस्या से कन्या को योग्य वर तो प्राप्त हो जायगा, पर गृहस्थी के सचालन के लिए उसमे जिन गुणों की आवश्यकता है, उनका अभ्यास जब तक बाल्य जीवन मे नही होगा, तब तक उसका गृहस्थ जीवन कैसे सफल, सुखी और समृद्ध हो सकता है? इसीलिए कन्या से कई दैनिक व्रत करवाये जाते हैं। मकर सक्रान्ति के दिन कन्या एक या दो व्रत लेती है और जगली सक्रान्ति को बडे उल्लास के साथ उनका समापन करती है। बीच मे किसी दिन व्रत भग हो जाने पर कन्या को प्रायश्चित्त स्वरूप उपवास करना पडता है। दैनिक व्रतो मे मुख्य मुख्य ये हैं—

गो का खूटा—लोक जीवन में गो का महत्त्व सर्वमान्य है। घर मे गो का होना अनिवार्य और सौभाग्य का चिह्न माना जाता है। गौ के जगल मे चरने जाने पर उसके स्थान की स्वच्छता का काम गृहिणी के जिम्मे होता है। गो के खूटे को सीचने का व्रत कन्या को अपने गार्हस्थ्य जीवन मे 'ठाण' को स्वच्छ रखने की शिक्षा देना है।

तुलसी, साथिया और तुलसी-चरणामृत—तुलसी-ठाणा भी प्रत्येक घर मे अनिवार्य रूप से होना है। तुलसी और गो को गृहस्थी का अग बना कर हमारे पूर्वजो ने आर्थिक और शारीरिक स्वास्थ्य समस्या को सहज ही हल कर लिया था। 'तुलसी ठाणे' का चित्रित कर उसे आकर्षक बनाना तथा उसमे प्रतिदिन पानी देकर उसे हरा-भरा रखना गृहिणी का कार्य होता है। कन्या को 'तुलसी ठाणे' पर हल्दी से स्वस्तिक अकित करने का व्रत लेना पडता है जो उसकी पूर्व तैयारी है।

सामी रोटी (सम्मुख रोटी)—यह व्रत बडा महत्त्वपूर्ण है। यह उस समय की याद दिलाता है जब वनवासी लोग आश्रमवासियो के लिए भोजन एकत्र करने समीपस्थ गावो मे जाते होंगे और गृहिणियाँ उनके आने से पूर्व ही हाथ में भोजन लेकर अपने द्वार पर मौन खडी हो जाती होंगी। ब्रह्मचारी भी चुपचाप उनके हाथ से भोजन लेकर चल देते होंगे। इस व्रत मे कन्या पक्की गरम रोटी लेकर द्वार पर मौन खडी हो जाती है। आने-जाने वालो मे से कोई उस रोटी को ले लेता है। पूरे एक वर्ष तक इसका अभ्यास करता है।

तारा-दातण—(ब्रह्ममुहूर्त में शय्या-त्याग)—गृहिणी के लिए आकाश मे तारा के रहते शय्यात्याग कर गृहकार्यों के लिए तैयार हो जाना गार्हस्थ्य-सुख-समृद्धि की कुजी है। कन्या को 'तारा-दातण' व्रत द्वारा इसी का अभ्यास कराया जाता है। उसे ब्राह्ममुहूर्त मे जगा दिया जाता है और कुल्ला-दातुन कराया जाता है। यह दूसरी बात है कि आज की कन्या फिर सो जाती है और सूर्योदय पर ही उठती है।

साझी मून (सान्ध्य मौन)—इसके दो प्रकार हैं—छोटी मून और बडी मून। विवाह के पूर्व जो 'मून' का व्रत लिया जाता है उसे 'छोटी मून' कहते हैं। विवाह के पश्चात् ली जाने वाली 'मून' बडी मून कहलाती है। 'छोटी मून' मे कन्या सध्या होते ही किसी से 'राम-राम' कह कर मौन धारण कर लेती है और सध्याकाल की समाप्ति पर, जब मन्दिरो मे सध्या-आरती हो चुकती है, मौन तोडती है। मौन भग करने का भी एक विशेष ढग होता है। कन्या हाथ जोड कर किसी मन्दिर के सामने खडी हो जाती है। वह निम्नलिखित पक्तिया बोल कर कन्या का मौन तोडती है—



'सीता जी की बाडी मे,
आमा मोर्‌या, नीमू मोर्‌या,
मोर्‌या दाड्‌यू दाख।
नरीकसन जी मेवा बैठ्या,
राजा-राणी रामे बैठ्या।



चढी चुडगल्ला वागे वैठ्या ।
झालर वाज घडावल वाजी,
सझ्या फूटी, तारा ऊग्या,
छोडो मून, सिताफल लाग्या
मूनी जी का मून छूटी,
मूनी वावा राम ! राम ! !

और कन्या राम-राम' कह कर अपना मौन भग कर देती है ।

'चडी मून' ससुराल मे ली जाती है। कन्या अब बडी और समझदार हो जाती है। इसलिए मौन लेते और भग करते समय किसी अन्य से 'राम-राम' कहने की आवश्यकता नही होती । सध्या का सुनहरापन आकाश में फैलते ही वह स्वत 'राम-राम' कह कर मौन धारण कर लेती है और प्रथम तारे का दर्शन कर स्वत ही 'राम-राम' कह कर भग कर देती है ।

गार्हस्थ्य-जीवन मे गृहिणी के लिए यह सध्याकालीन मौन अत्यन्त आवश्यक है, इसीलिए इसका अभ्यास एक-एक वर्ष के लिए दो वार कराया जाता है। पति, देवर तथा घर के अन्य लोग खेतो, खलियानो मे दिनभर काम करके सध्या को हारे थके घरो को लौटते है। श्रम से उनके स्वभाव मे चिडचिडापन आ जाना स्वाभाविक है। उधर बच्चे भी खेल-कूद कर सध्या को घर पर आते है। सारा घर चहल-पहल और कोलाहल से भर जाता है। कोई कुछ चाहता है, तो कोई कुछ। कोई डाट-फटकार दिखाता है तो कोई ताने मारता है। वेचारी अकेली गृहिणी और यह जजाल, किस-किसको उत्तर दे ? किस-किस को सतुष्ट करे ? अत वह मौन रहकर अपना सध्याकालीन कार्य सम्पन्न करती रहती है। थकी वह भी कम नही होती, पर यदि वह भी चिडचिडी होकर वडवडाने लगे तो घर गृह-कलह का अड्डा ही वन जावे। सद्गृहिणी अपने मौन द्वारा घर को कलह की आग मे जलने से बचाती है। दोनो प्रकार के 'मौन' के अभ्यास का यही महत्त्व है ।

स्त्रियों के अन्य व्रतोत्सव—कन्याओ के व्रत योग्य पति की प्राप्ति तथा भावी गार्हस्थ्य जीवन मे सुख और शान्ति की कामना से किये जाते है। विवाहित स्त्रियो के व्रतो मे उस जीवन के स्थायित्व एव सफलता की कामना सन्निहित होती है। गार्हस्थ्य जीवन मे शान्ति और सुख का मुख्य तत्त्व गृहस्वामी का स्वस्थ, सकुशल एव कर्मठ होना है। सधवा स्त्रियो के लगभग सभी व्रत पति की मगल कामना के लिए ही किये जाते है। सच तो यह है कि भारतीय नारी का जीवन ही पतिमय है। पति के विना वह अपने जीवन की कल्पना भी नही कर सकती। अत वह जीवन भर अपने पति की कुशल कामना के लिए व्रत किया करती है। इन व्रतो मे उसकी आराध्या पार्वती होती है। जिसने अपने अनेक जन्मो मे एकमात्र शिव को ही पति रूप मे वरण किया था। 'आठ सौभागती, करवा चौथ, गणगौर, श्रावणी तीज, वट सावित्री अमावस्या, आदि इसी प्रकार के व्रत हैं।

नारी का सम्बन्ध दो कुल से होता है। एक कुल की वह पुत्री होती है, दूसरे की पुत्रवधू। एक कुल मे जन्म लेकर उसने अपने जीवन का महत्त्वपूर्ण समय वचपन विताया है और भावी जीवन की तैयारी की है, दूसरा कुल उसकी तैयारी का प्रयोग-स्थल है। एक कुल मे उसका जीवन क्रीडाओं और किलकारियो मे वीता है, दूसरे कुल मे वह मर्यादित हो गई है। पति-गृह उसके शेष जीवन का आलम्बन होते हुए भी उसके लिए प्रारम्भ मे नया और अटपटा होता है। इस तथ्य से अनभिज्ञ पतिगृह के व्यक्ति सास, ससुर, देवर, ननद, आदि कभी-कभी नववधू के मस्तिष्क मे उलझन पैदा कर देते है। वे उसके पीहर के लोगो की यदाकदा निन्दा करने मे ही अपनी प्रशसा समझते है और नवागत वधू के समक्ष यह प्रकट करने का प्रयत्न करते हैं कि उसके पीहर के घर तथा लोगो से हमारा घर धन, सम्पत्ति, प्रतिष्ठा, शिक्षा, सभ्यता आदि मे कही वढकर है। पीहर के उन्मुक्त वातावरण में स्वच्छन्द हिरणी के समान किलोलें करने वाली कन्या इस नये जीवन मे घुटन का अनुभव करने लगती है। उसके जीवन की सारी आशाए

प्रतिष्ठित हो जाती है। पतिगृह उसके लिए कारागार बन जाता है। वह अनेक गीतों के माध्यम से अपने पिता-माता, भाई आदि को याद कर-कर के गाती है और समय-समय पर ऐसे व्रत करती है जिनमें उसके माता-पिता विशेष कर उसके भाई की मंगल कामना रहती है। ससुराल में पति और पितृगृह में भाई ये दो ही उस अबला के आश्रयदाता हैं। अतः वह जीवन भर इन्हीं के सुखमय दीर्घ जीवन की कामना करती रहती है।

श्रावणी पूर्णिमा पर वह अपने भाई के हाथ में रक्षा का सूत्र (राखी) बाँध कर उसे संसार के समस्त अनिष्टों-कष्टों से बचाने की कामना करती है, ताकि समय आने पर वह उसकी भी रक्षा कर सके। वर्ष में दो बार 'भैयादूज' (भ्रातृद्वितीया) पर भाई को तिलक करना बहिन का पवित्र कर्तव्य होता है। वह भाई के घर जाकर उसके मस्तक पर रोली अक्षत से तिलक करती और 'बारणे' लेती है। प्रातः काल अपने घर पर मिट्टी या आटे के शिव-पार्वती, सर्प आदि बनाकर उनकी पूजा करती है। किसी स्यानी स्त्री से कहानी सुनती है, जिसमें बहन के व्रत के प्रभाव से भाई की संकटों से रक्षा होने की बात होती है।

पति तथा भाई—इन्हीं दोनों की मंगल-कामना के लिए वह कभी वटवृक्ष की पूजा करती है तो कभी नाग-देवता की। ज्येष्ठ की अमावस्या को वटवृक्ष की पूजा और सत्यवती की कहानी तथा नागपंचमी को नागदेवता की पूजा और कहानी। लोक जीवन में अनादि काल से प्रचलित ये कहानियाँ ही उनके लिए शास्त्रीय वचन हैं। यहाँ वेद-शास्त्र, रामायण, भागवत, गीता किसी का इतना महत्त्व नहीं, जितना इन कहानियों का है। सच तो यह है कि वेद शास्त्रों के लोक जीवन में नाम ही नाम हैं। लोक-हृदय की निष्ठा श्रद्धा ने इन कहानियों को लोक-जीवन में सर्वोच्च आसन पर बिठा दिया है।

प्राकृतिक तथा सामाजिक उत्सव—वैयक्तिक व्रतों तथा उत्सवों की धारा नारी-जीवन में सतत प्रवाहित रहती है। पुरुष जीवन में इसकी गति मन्द पड़ जाती है। पुरुषों के उत्सव अधिकतर प्रकृति की अनुकूलता पर निर्भर होते हैं। प्रकृति के उल्लास के साथ लोक-जीवन भी उल्लसित हो उठता है। यह उल्लास उत्सवों के रूप में प्रकट होकर लोकहृदय की सरसता, पवित्रता एवं निश्छलता की अभिव्यक्ति करता है। सावन आता है। प्रकृति अपने सम्पूर्ण वैभव के साथ धरती पर अवतरित होती है। बादल घिर आते हैं। बिजलियों की चमाचम और घटाओं के गर्जन के साथ कभी-कभी रिमझिम और कभी मूसलधार वर्षा होने लगती है और इधर लोक-जीवन नाना उत्सवों, व्रतों और त्यौहारों से भर जाता है। अलगोजे, बांसुरी और ढोलक बजने लगते हैं और सामूहिक गानों की धारा बहने लगती है, प्रति सोमवार को लोग गांवों और नगरों से बाहर स्वच्छन्द प्रकृति की गोद में पहुँच जाते हैं। झूलते हैं, नाचते हैं और समस्त वातावरण को अपने मधुर गीतों से रसमग्न कर देते हैं।

उफनती हुई बलखाती नदियाँ, धरती पर नवांकुरित शस्य, ग्रीष्म से रूक्ष वृक्षों पर नई हरियाली, नृत्यलीन मयूर, कूकती हुई कोकिलाएं एक ओर, और झूलों पर झूलती हुई ग्राम बालाओं के कलकण्ठों से निसृत नाना भाव समन्वित रसीले गीत, पुरुषों द्वारा अलगोजों पर मस्ती से गाये जाने वाले रसिया और मल्हार तथा अनेक रागों के रेखरिया, कुसुमित वल्लरों की छटा दूसरी ओर प्रकृति और पुरुष मानो समवेत हो जाते हैं।

खेतों में ज्वार बाजरा बो दिया गया है, वह अंकुरित होकर धरती के ऊपर आ गया। कच्चे मकानों को आषाढ़ की प्रथमवर्षा के बाद ही 'मग' लिया गया है। गृहलक्ष्मियां 'देव सोने से पूर्व ही अपने प्रियतम के घर लौट आई हैं। घरों के 'टापरों' पर तोरई, कद्दू और तूमड़े की बेलें छा गई हैं। उल्लास के सारे कारण उपस्थित हैं। फिर लोक-जीवन क्यों न प्रकृति की क्रीडाओं का आस्वादन करने के लिए उसकी गोद में जावे ?

वर्षा के बाद वसन्त का स्थान है। होली का सम्बन्ध पर्व-वसन्त से ही आता है। नीच ऊँच, छोटे-बड़े का भेद भुला कर नर-नारी, बालवृद्ध रसमग्न हो जाते हैं। रंग और गुलाल के साथ कीचड़ और धूल भी एक दूसरे को बिखेर करके प्रेम प्रदर्शित करने के काम में आते हैं। सभ्य शिष्टता ने भी रंग और गुलाल के स्थान पर कीचड़ और धूल की प्रतिष्ठा की है, पर वह लोक-जीवन के हार्दिक उल्लास को कम करने में समर्थ नहीं हो सकी।





होली जलाने की प्रथा के साथ कई वैदिक, पौराणिक तथा सांस्कृतिक परम्पराएँ जुड़ी हुई हैं, जिनमें से लोक जीवन ने होलिका और प्रह्लाद के कथानक को ही प्रकट रूप में स्वीकार किया है, परन्तु परोक्षरूप में वह 'दहूगों' (गेहूं की बालें) को होली की आग में सेंक कर दिक नव शस्येष्टि को तथा रंग बैगुलाल और पारस्परिक मिलन के द्वारा उसके सांस्कृतिक तथा सामाजिक महत्त्व का भी स्वीकार करता है।

बड़गोत्र की बनजारा जाति में होली का उत्सव विशिष्ट ढंग से मनाया जाता है। युवकों और युवतियों की टोलियां बन जाती हैं। नमक से भरी बोरी को एक लम्बे मोटे रस्से से बांध कर रस्से के दूसरे सिरे को खुला छोड़ दिया जाता है। युवतियाँ हाथों में कोड़े और लाठियाँ लेकर बोरी की रक्षा पर डट जाती हैं। युवक रस्से को खींचकर बोरी को ले जाने का प्रयास करते हैं। युवतियों के डण्डों की मार से बचते, मार खाते, युवक बोरी को खींच कर निश्चित स्थान तक ले जाते हैं। इस प्रयास में कई युवक घायल हो जाते हैं और कई हिम्मत हार कर बैठ जाते हैं। अन्त में जो युवक बोरी को अपने अधिकार में कर लेता है, उसे जयमाल पहनाई जाती है और राग रंग, खान-पान में समवेत नर नारी निमग्न हो जाते हैं। इसे 'नेजा तोड़ना' कहा जाता है। पुरुषों के पुरुषार्थ तथा शौर्य की परीक्षा का कैसा अद्भुत ढंग है?

जातिगत, ऐतिहासिक तथा भौगोलिक कारणों से होली मनाने के विविध ढंग प्रचलित हैं, पर सब में एकत्व की, संगठन की, मैत्री की और वैर भाव भुलाकर जीवन बिताने की भावना सन्निहित होती है।

होली से प्रारम्भ होकर उत्सवों की जो परम्परा चलती है वह अक्षयतृतीया पर जाकर विराम लेती है। न्हान-होली, गणगौर, भैयादूज, शीतला-अष्टमी, दुर्गाष्टमी, रामनवमी आदि सामाजिक, सांस्कृतिक एवं धार्मिक उत्सवों में लोक-जीवन संलग्न रहता है। फसल खेतों में पक रही होती है, किसान और मजदूर के पास खेती सम्बन्धी विशेष-कार्य नहीं होता और लहलहाते हुए गेहूं-चने अलसी के खेत उसे उमगित करते रहते हैं।

वीरपूजोत्सव—लोक-जीवन उन वीरों का प्रति वर्ष कृतज्ञता एवं श्रद्धापूर्वक स्मरण कर उत्सव मनाता है जिन्होंने कभी अपने सत्व वीरता एवं साहस से लोकरक्षण के पवित्र कार्य में अपने प्राणों की आहुति दी थी। पौराणिक तथा ऐतिहासिक वीर पुरुषों की कहानियाँ तो लोक जीवन में मान्य हैं, पर पूजनीय वही लौकिक वीर पुरुष हैं, जो उसकी आवश्यकताओं, भावनाओं तथा आशाओं को पूरा करने में आज भी समर्थ माने जाते हैं। 'वीर तेजा' का नाम कौन नहीं जानता है? जिसने दस्युओं से साहसपूर्वक लड़कर गायों की रक्षा की। लड़ते-लड़ते सारा शरीर घावों से जर्जर हो गया, पर तक्षक को दिये हुए वचन की रक्षा के लिए अपने अनाहत अंग-जीभ को तक्षक के सामने कर दिया। लोकविश्वास के अनुसार सांप के काटे के गले में तेजा के नाम की 'डसी' (कपड़े की रस्सी) बांध देने पर व्यक्ति मर नहीं सकता और तेजादशमी के दिन तेजाजी के चबूतरे पर 'डसी' को काटने के बाद तो वह सर्प विष से सर्वथा मुक्त हो जाता है।

देव जी, पाबूजी, हीरामन जी, तागा जी आदि भी ऐसे ही लोक पूज्य वीर देवता हैं, जिनकी जयन्तियाँ गांवों में समारोहपूर्वक मनाई जाती हैं। स्थान-स्थान पर इनके नाम के थानक, चबूतरे आदि बने होते हैं, जो वर्ष में एक बार ढोल, नगारे, अलगोजा, बांसुरी के वादन तथा लोगों के सस्वर गायन से मुखरित हो उठते हैं।

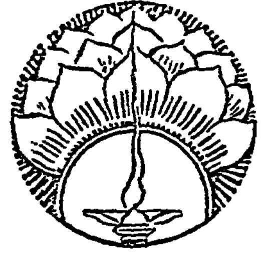
अन्त में एक ऐसे उत्सव का उल्लेख कर देना आवश्यक है जिसका सम्बन्ध केवल बालकों से होता है। भादों सुदी चतुर्थी को 'गणेशचौथ' के रूप में मनाया जाता है। गणेशजी विद्या बुद्धि प्रदाता हैं। बालकों को और क्या चाहिए? इस दिन बालक अच्छे वस्त्र आभूषण पहन कर 'चतरा' बनते हैं। एक दिन पूर्व अच्छी तरह स्नान करके हाथों में मेंहदी रचाते हैं और रंग-बिरंगे सुडौल डंडे बजाते हुए एक-दूसरे के घर पर जाते हैं। डंडों के साथ अवसर के लिए लोक-प्रचलित कुछ पद्य पंक्तियाँ सस्वर उच्चरित करते हैं, जिनमें अन्ततः गणेशजी से बुद्धि प्रदान करने की प्रार्थना होती है। बालकों को घरों पर प्रसाद के रूप में मोदक वितरित किये जाते हैं। कुछ वर्ष पूर्व तक इस उत्सव में अध्यापकों का भी सहयोग रहता था, परन्तु अब शिक्षा के यंत्री-करण तथा अतिबौद्धिकता के प्रभाव से शिक्षक अभिभावकों के इस अनाहूत एवं अनौपचारिक सम्मेलन का अवसर ही समाप्त हो गया।

०

निमाड़ का जीवन और संस्कृति

श्री रामनारायण उपाध्याय

(खण्डवा म० प्र०)



हिन्दुस्तान के नक्शे में विन्ध्य और सतपुड़ा के अंचल में जो भू-भाग बसा है, वह निमाड़ के नाम से परिचित है। सतीत्व की गाथाओं की तरह नर्मदा और ताप्ती जिसके बायें और दायें होकर बही हैं। और सब ओर की हवाओं का खुला स्वागत करने के लिये विन्ध्य और सतपुड़ा जिसके दो छोरों पर बाहें फैलाये से खड़े हैं। सतपुड़ा की सर बाईस फुट ऊँची श्रेणी पर स्थित असीरगढ़ का किला यहाँ के प्राचीन इतिहास की कहानी सुना रहा है और हृदय की तरह मध्य में स्थित ओंकारेश्वर नामक तीर्थ यहाँ की लक्ष-लक्ष जनता के प्रणाम और पूजा का केन्द्र रहा है। निमाड़ी यहाँ की लोक भाषा है और सोलहवीं शताब्दी के महान् सन्त सिंगाजी ने अपने आध्यात्मिक भजनों को इसी के माध्यम से जन-जन में प्रसारित किया है।

गंगा के किनारे आर्य सभ्यता पनपी है तो नर्मदा को निमाड़ की संस्कृति के निर्माण का श्रेय रहा है। गंगा को ज्ञान का रूप माना गया है क्योंकि इसके किनारे ऋषियों ने ज्ञान की प्राप्ति की और यमुना को प्रेम का प्रतीक माना गया है क्योंकि इसके किनारे भक्ति का प्रसार हुआ। नर्मदा भी एक भावना का प्रतीक है और वह है तपस्या और आनन्द की भावना। इसके किनारे ऋषियों ने तपस्या के द्वारा आनन्द की प्राप्ति की है। उत्तर भारत और दक्षिण भारत के बीच बहने के कारण यह उत्तर की आर्य और दक्षिण की द्राविड़ संस्कृति का संदेश भी वहन करती है। यहाँ की ऊबड़-खाबड़ जमीन के बीच भी लहलहाने वाली खेती, असाढ़ की गाज और ज्वार की गोटी में पुष्ट होने वाले जीवन और झुलसा देने वाली गरमी के बीच भी मुस्कराने वाले पलाश के फूल से मानो एक ही संदेश गूँज रहा है—तपस्या का आनन्द।

यहाँ की जमीन की ही तरह यहाँ के जानपद जन मटमैला गेहुँआ रंग लिये होता है। हल की नोक से जमीन की छाती पर उभरे हुये ढेलों की तरह जिनके चेहरों पर सदियों का दुख-सुख आसानी से पढ़ा जा सकता है।

स्वभावतः यहाँ का जानपद जन अत्यन्त ही मेहनती और सहनशील होता है। यहाँ की ऊबड़-खाबड़ जमीन को समतल खेतों में बदल देने का श्रेय उसे ही रहा है। उसने इतने कष्ट सहे हैं कि कष्टों को मुस्कराकर पार कर जाना उसके संस्कारों में बिंध गया है। वह विश्वास पर बिक जाता है। श्रम पर झुक जाता है। सबकी सहता है पर कभी शिकायत नहीं करता, सबकी सुनता है पर कभी अपनी ओर से नहीं कहता। वह कभी थककर नहीं बैठता, झुककर नहीं चलता और परिश्रम में भी विश्राम का आनन्द पाता आया है। दुख का पहाड़ आ जाये या सुख की क्षीण रेखा, वह सदा मुस्कराता है और अकेले रह जाने पर भी अपनी राह चलना नहीं छोड़ता। वह अशिक्षित भले ही हो, सुसंस्कृत रहा है। स्नेह, पारस्परिक-सहयोग और सहकारिता जैसे गुण उसके जीवन के अभिन्न अंग बन चुके हैं।

धार्मिक रीति-रिवाज

यहाँ राम, कृष्ण, शिव और विष्णु की समान रूप से उपासना की जाती है। उत्तर भारत की तरह यहाँ के प्रत्येक गाँव में एक हनुमान मन्दिर होता है। बिना हनुमान मन्दिर के कोई गाँव नहीं बसाया जा सकता। यह एक

आश्चर्यजनक संयोग की बात है कि यहा के अधिकाश गावो मे मन्दिर प्राय राम के पाये जाते है लेकिन घरो पर पूजा बालमुकुन्द के रूप मे कृष्ण की जाती है। भगवान राम का आदर्श जहा सार्वजनिक रूप से समूचे ग्राम को प्रेरणा देने की क्षमता रखता है वहा भगवान कृष्ण का बालस्वरूप पारिवारिक जीवन के अधिक से अधिक नजदीक पडता है। निमाड का यदि राम-कृष्ण के समन्वय का उपासक कहे तो भी अत्युक्ति नही, यही वजह है कि जिससे यहा रामलीला और रास-मण्डल दोनो समान रूप से मनाये जाते हैं। साथ ही रामकृष्ण के साथ शिव की उपासना भी की जाती है।

वेश-भूषा

यहा पर पुरुष धोती कुरता और सिर पर लाल रग की पगडी पहनते है। कही मेहमान आदि जाने पर पगडी के ऊपर से एक पचा (दुपट्टा) लपेटने का भी रिवाज है। यह सम्मान सूचक माना गया है। कुछ वृद्ध पुरुष अगरखा भी पहनते हैं। जिसमे बजाय बटन के बगल मे कसने के बद लगे रहते हैं। धोती दोनो सिरो को पीछे की ओर कच्छ लगाकर पहनी जाती है।

स्त्रियाँ लहगा साडी और काचलई (कचुकी) पहनती है कचुकी मे बजाय सामने के पीछे की ओर बद होते है। उत्तर भारत और दक्षिण भारत की सधि रेखा पर बसे होने के कारण यहा की वेशभूषा मे दोनो का सम्मिश्रण पाया जाता है। कही पर साडी उत्तर भारत की तरह बिना कच्छ के पहनी जाती है और कही पर दक्षिण भारत की तरह कच्छ लगाकर।

बच्चो मे झगा, टोपी और चडडी पहनने का रिवाज है।

यहा पर पहने जाने वाले वस्त्रो के नाम निम्न है—

पुरुषो के वस्त्र

अगा—अग (शरीर) मे पहनने का वस्त्र।
अगरखा—अग (शरीर की) रक्षा करने वाला वस्त्र।
बालाबडी—दोहरे पल्ले की बनियान।
दुपट्टा—दो पुट करके गले मे डालने का वस्त्र।
पचा—पगडी के ऊपर लपेटने का सम्मान सूचक वस्त्र।
अगोछा—अग लपेटना का छोटा वस्त्र।
मुकम्तर—मुख वस्त्र।
धोती, पगडी, साफा, कुरता आदि।



स्त्रियो के वस्त्र

लुगडा—जनानी धोती।
काचलई—पीछे वाली बन्द कचुकी।
चोलई—सामने बद वाली कचुकी।
अगिया—अग (शरीर) मे पहनने का चुस्त वस्त्र।
परतोर—अधोवस्त्र
घाघरा—घेरदार लहगा।

पेलो—पीला वस्त्र

मेंदगाडी—हाथ की बनी साड़ी

पोलको—कमल के फूल वाला वस्त्र

कापड़ो—कंचुकी का कपड़ा

बच्चों के वस्त्र

लड़कों के—कुरता, टोपी, चड्डी।

लड़कियों के—झगा, कब्जी-ओढ़नी, घाघरी-लहंगा।

खान-पान

यहां का मुख्य भोजन ज्वार की रोटी और तुवर, मूंग आदि की दाल से बनी साग है। चावल का उपयोग बहुत कम होता है। ज्वार की रोटी गरम पानी से आटा सानकर बनाई जाती है जिससे वह शीघ्र हजम होने वाली तथा बिस्कुट की तरह आसानी से टूटने वाली होती है। जिससे उसे खेत में काम करते समय भी खाने में सुविधा होती है। शाम को घाट, दाल (ज्वार की दलिया) अथवा चावल-दाल से बनी खिचड़ी खाने का रिवाज है। भोजन दिन में तीन बार किया जाता है। बड़ी सुबह ज्वार की रोटी का नाश्ता करके किसान खेत में जाता है। दोपहर का भोजन प्रायः खेत में ही होता है। स्त्रियां घर से रोटी बनाकर खेत में ले जाती हैं और उसे १० बजे से १ के बीच में खाया जाता है। शाम का भोजन, सूर्यास्त के बाद घर में आने के पश्चात् ६ से ७ बजे तक चलता है। सुबह नाश्ता, दोपहर को भोजन, और शाम को पुनः हल्का फुल्का भोजन करने का रिवाज है।

आवास-निवास

यहां पर दो तरह के मकान बनाये जाते हैं एक झोपड़ीनुमा कच्चे घर, दूसरे ईंट मिट्टी के पक्के मकान। झोपड़ियां मिट्टी की दीवार से बनी होती हैं और उनकी छतपर घास फूस छाया होता है। गरीब लोग ज्वार और तूवर के डण्ठलों को बांधकर ऊपर से मिट्टी का प्लास्टर चढ़ाकर दीवार बना लेते हैं। ऊपर सन की काड़ी छाने का भी रिवाज है। जिसमें से एक बूंद भी पानी टपकने नहीं पाता। दूसरे प्रकार के मकान, ईंट, मिट्टी और लकड़ी से बने होते हैं। जिन पर छत के लिये गांव में ही बने खपरैल काम में लाये जाते हैं।

बर्तन

घरों में प्रायः तांबे, पीतल के बर्तनों का उपयोग होता है। गरीब लोग एल्यूमिनियम और मिट्टी के बर्तन भी काम में लाते हैं। अनाज रखने के लिये पहले मिट्टी की कोठियां और बेंत के करंडे काम में लाये जाते थे, अब उनका स्थान टीन की कोठियां लेने लगी हैं। लेकिन मिट्टी से उत्पन्न अनाज मिट्टी की कोठियों में जितना सुरक्षित रहता था उतना टीन की कोठियों में नहीं। मिट्टी की कोठियों में उसकी सोंधी गंध और ताजापन नष्ट नहीं होने पाता पर क्योंकि टीन की कोठियों में वह ऐसा। लगता है जैसे किसी ने अपने बच्चे को शिशु कल्याण केन्द्र में रख दिया हो जहां उसके मुंह से बजाय दूध के, दवाइयों की गंध आती है।

तांबे पीतल के बर्तनों के अलावा आज भी गांवों में निम्नलिखित मिट्टी के बर्तन पाये जाते हैं।



सकोरा—गिलासनुमा पानी पीने का बर्तन

करवा—लोटेनुमा पानी लेने का बर्तन

घेंडई—घड़ेनुमा पानी रखने का बर्तन

माथनी—बटलोईनुमा पानी रखने का बर्तन



मटका — पानी रखने का बडा वर्तन

राजण — काठीनुमा पानी रखने का वर्तन

हडी—दाल बनाने का वर्तन

दुतली—दूध दूहने का वर्तन

दवणी—दही बनाने का वर्तन

घागर—तेल रखने का वर्तन

ढाकणी—इन सबका ढक्कन

आभूषण

यद्यपि वदलते हुये समय तथा वढते हुए फैशन के कारण आभूषणों का रिवाज कम होता जा रहा है लेकिन निमाड मे नख से शिख तक पहनने के निम्नलिखित आभूषणों का प्रचलन पाया जाता है।

वेला—पैर के अगूठे मे पहनने का आभूषण

टीचा—पैर की सबसे छोटी अगुली मे पहनने का आभूषण

इच्छा और मच्छी—पैर की बीच की तीन अगुलियो मे पहनने का आभूषण

अनवट—पैर के अगूठे के ऊपर पहनने का जजीरनुमा गुथा हुआ आभूषण

पिंजणी—(पायल) पाव मे पहनन का आवाजदार आभूषण।

झाझरिया—छोटी छोटी घु घरियो से गठा हुआ पाँव मे पहनने का का आभूषण

रमझोल—चेन और घु घरियो मे गठा हुआ पाव मे पहनने का आवाजदार आभूषण

कडा—पाव का ठोस चादी का आभूषण

कल्ला—पाव का पोला आभूषण

तोडा—चादी का घुमावदार कडियो से वना पाव का आभूषण

काम्या—पाव के पजे तक फैला हुआ टेडा कलात्मक आभूषण

कदरा—कमर मे पहनने का आभूषण

मूदी या छल्ला—हाथ की अगुली मे पहनने का आभूषण

आरसी—हाथ के अगूठे मे पहनने का काच से जडा आभूषण

हाथ साकल्या—हाथ के पहुचे पर पहनने का जजीर से गुथा आभूषण

वद—पहुचे पर पहनने का आभूषण

चूडा—हाथ मे पकडने का लाख से वना नक्काशीदार सौभाग्य सूचक आभूषण

कावलइ—हाथ मे पहनने की चूडिया

करोदी—चूडिया के बीच पहनने का आभूषण

गजरी—कलाई पर पहनने का गूथा हुआ आभूषण

कडा—कलाई मे पहनने का ठोस चादी का आभूषण

भावट्या—वाह मे पहनने का चादी के तारो का गूथा आभूषण

वाजूवद—वाह मे पहनने का आभूषण

हुरड़ी—गले का आभूषण
हामावल्या—गले में पहनने का जंजीरनुमा आभूषण
मंगलसूत्र—गले में पहनने का सौभाग्य सूचक आभूषण
हार—गले का सोने का आभूषण
नवसरी हार—गले का नौ सर का आभूषण
टकावल्या—गले में पहनने का चाँदी के सिक्कों का आभूषण
बजट्टी—गले का सोने के दानों से बना आभूषण
तुलसी—गले का सोने के दानों से युक्त आभूषण
नागली—गले का अर्द्धचन्द्राकार आभूषण
झुमका—कान में झूलने वाला आभूषण
टोटी—कान का फुल्ला आभूषण
बाल्डे—कान का गोल आभूषण
कर्णफूल—कान का फूलदार आभूषण
लोलक—नाक में झूलते हुये पहिनने का मोती का आभूषण
वेसर—नाक में पहनने का आभूषण
नथ—मोतियों से गठा नाक में पहनने का सुन्दर आभूषण
काटा—नाक में पहनने का कीलनुमा आभूषण (सोने का)
टीकी—सिर में लगाने का सौभाग्य सूचक आभूषण (बिंदी)
मदर—कपाल पर लगाने का आभूषण
झब्बी—कपाल पर लगाने का आभूषण
गबटीबोरा—सिर के बालों का गूँथने का आभूषण

०



जैसलमेर के कतिपय लोक-विश्वास

मोहनलाल पुरोहित
बीकानेर (राज०)



लोक-विश्वासो की परम्परा बहुत ही लम्बी है। निसदेह इनके पीछे इनका अपना हजारो वर्षो का इतिहास छिपा हुआ है। लोक-साहित्य की जहाँ अपनी एक विशेषता रही है-असम्भव को सम्भव मानकर चलना होता है, यहा अविश्वास नाम का कोई प्रश्न ही नही उठता। तर्क को लोक-साहित्य मे स्थान नही दिया जाता। ठीक इसी प्रकार हम लोक-विश्वासो मे भी देखते आ रहे हैं—वे समाज मे एक प्राचीन-परम्परा को लिए चले आ रहे हैं। लोग इन्हें क्यो मानते है ? इसका यहा कोई प्रश्न ही नही उठता। समाज मे ऐसा ही लोक-प्रचलित-विश्वास है। अत समाज इसे अपनी छाती से चिपाए, अपने पूर्वजो की थाती, बडी सावधानी से इसकी रक्षा किए, इसका आज भी पालन करता आ रहा है। स्थानीय रीति-रिवाजों, विश्वासो, टोना-टोटको और लोक-देवताओ की पूजा-पाठ को लेकर भले ही इनमे थोडा-बहुत अन्तर पाया जा सकता है। लेकिन जो टोना-टोटका राजस्थान-प्रान्त मे प्रचलित है सम्भव है वही महाराष्ट्र, मध्यभारत, और बगाल अथवा किसी अन्य स्थान मे, किसी दूसरे रूप मे प्रचलित हो सकता है। साथ ही विभिन्न-प्रान्तो एव स्थानो मे स्थानीय-विशेषताओ के साथ ही एक ही उद्देश्य की पूर्ति के लिए नए-नए टोटको और विश्वासो का प्रचलित होना भी स्वाभाविक है। अत यह समझलेना कि जो लोक विश्वास यहाँ दिए जा रहे हैं, वे राजस्थान भर मे सर्वत्र ही समान रूप मे प्रचलित है, अथवा उनकी सख्या एव गणना इतने मे ही इति श्री हो गई है – ऐसा नही है।

प्रस्तुत हमारा विषय तो जैसलमेर के कतिपय 'लोक-विश्वासो' को लेकर है। राजस्थान के अन्य जन-पदीय लोक-विश्वासो पर तो स्वतत्र-रूप से लिखने की आवश्यकता है। अस्तु

चोप

आख मे खेलते समय अथवा असावधानी वश चोट लगने मे एक-प्रकार की लाली-सी आ जाती है—इसे चोप कहते हैं। चोप को निकालने के लिए बूढी-बडेरी एक कासी के कटोरे मे पानी भर लेती है। एक टुकडा मूज का ले लिया जाता है। उसे घी अथवा तेल मे डुबो लेते हैं। फिर उसे जलाया जाता है। बुढिया अथवा चोप-निकालने वाली एक तरफ एक कोने मे बैठ जाती है और उसके सामने वह व्यक्ति, जिसे चोप की पीडा हुई होती है, बैठ जाता है। चोप निकालने वाली उसे सावधान करते हुए विशेष आदेश देती है—इस कटोरे मे ध्यान मे देखते रहना, तुम्हारी चोप झडी जा रही है। और वह फिर इस प्रकार मे कहना प्रारम्भ करती है—

चोप चोप झड जा
आडेरी, पाडे री,
आए री, गए री,
मेलेरी, छैलेरी,
कुत्तेरी, मिनी री,

तेलीरी, तंबोलीरी,
खीचीरी, घांचीरी,
नाईरी, धोबीरी,
सोनीरी, लुहाररी,
चोप चोप झड जा,

इस प्रकार चोप निकालने वाली सात बार यह कह कर अन्त में, 'चोप-झडै, आख ठरै' कहती है और चोप निकलवाने वाला उसे हर बार यही उत्तर में कहता है, 'झडै !'

ऐसा विश्वास किया जाता है, इस प्रकार से आंख की पीडा जो एक-प्रकार से होती है, ठीक हो जाती है।

रोंई-झोंई

कभी-कभी ऐसा भी संयोग रहता है—शहर से बाहर ३-४ मील दूर अक्सर मेले आदि में स्त्रियों को जाना होता है। छोटे-छोटे बच्चों को घर पर तो नहीं रखा जा सकता अकेले में सम्भव १-२ वर्ष वाले बच्चों के लिए ही ऐसा कुछ किया जाता हो। उन्हें भी साथ लेना ही होता है। इस समय जब औरतें मेले आदि से वापिस शहर में आती हैं, तो शहर के प्रमुख-द्वार पर अथवा उस दरवाजे के बाहिर जहां से पहिले गमन किया होता है—वहीं बैठ जाती हैं। वहां वे सात छोटी-छोटी पत्थर की कंकरी लेती हैं। बच्चे के सिर के ऊपर से उन्हें सात-बार घुमाकर हवा में ऊपर को फैंक देती है यह कहती हुई—

रोई झोई
रोवणिया री कणिया जारै,
हसणिया कूदणीया आगै।

उनका ऐसा विश्वास है—यदि ऐसा नहीं किया जाए, तो बच्चा घर जाकर फिर रोता ही रोता रहता है। वह चुप नहीं कर लेता, जब तक उसे शहर के बाहर लेकर, उस पर 'रोई-झोई' न की जाए।

गूजर

एक व्यक्ति की पहली पत्नी के मर जाने पर उसकी जो दुबारा शादी होती है, उस पत्नी को हमारे यहां "लोडी" कहते हैं। और यदि दूसरी वाली यह पत्नी "लोटी" भी दुर्भाग्यवश मर जाए, और वह व्यक्ति यदि छोटी-उम्र में हो तो उसका तीसरा-विवाह भी सम्भव हो जाता है। ऐसे मौके पर उस तीसरी पत्नी को 'गूजर' की संज्ञा दी जाती है।

गूजर के साथ विवाह हो जाने पर भी व्यक्ति विशेष को एक-प्रकार का भय-सा लगा रहता है—कहीं यह भी न मर जाए। अतः विवाह कर लाने के बाद वह घर में प्रविष्ट होने से पूर्व इस प्रकार का टोटका करता है। वह अपने दुपट्टे का छोर उस 'गूजर' के रंगीले साळू से बांधे घर के मुख्य दरवाजे पर आकर ठहर जाता है। फिर उस 'गूजर' के सिर पर दो-तीन छोटे पानी के भरे बर्तन रख दिए जाते हैं। कन्या-पक्ष से एक औरत 'गूजर' की ओर से बोलती है—

कोई लो भई, कोई ना दई,
कोई लो गूजर, मट काली,

और वर उसके उत्तर में कहता है—





हू लू मई,
हू लू गई,
हू लू गूजर मटकाली

इस प्रकार कन्या-पक्षवाली स्त्री सातवार ऐसा कहती है और वर उसके उत्तर मे सात ही बार यही उत्तर देता है—

हू लू भई,
हू लू दई,
हू लू गूजर मटकाली,

ऐसा 'विश्वास' है—इस प्रकार का टोटका करने मे व्यक्ति-विशेष की तीसरी वाली पत्नी की मृत्यु नही होती।

ठीक इसी प्रकार के अन्य कई टोटके एव 'लोक-विश्वास' है, जिन्हे यहा विज्ञ-पाठको की सेवा मे सक्षिप्त रूप मे प्रस्तुत कर रहे हैं।

छोटे बच्चे को पानी के घडे अथवा मटकियां आदि जहा रखी रहती है, वहा नही ले जाते। ऐसा ख्याल किया जाता है—इसे वहा ले जाने पर टट्टिया लग जाएगी। यह क्रम उसका मुडन-सस्कार न किया जाए, तब तक रहता है। यदि ऐसा कही असावधानी से हो जाता है—वह भाग दौड कर पानी की मटकिया जहा रखी हुई है, पहुच जाता है, तो उसे टट्टिया लगनी प्रारम्भ हो जाती है। इसका प्रतिकार घर के ऊपर से पानी निकलने की मोरी (Out let) मे अनाज उडेल कर किया जाता है। उस बच्चे विशेष के कपडो मे बाजरी अथवा गेहू रात्रि में बाधकर उसके सिरहाने रख देते है। सुबह घर का कोई भी व्यक्ति चुप-चाप कोठे पर चढकर कुछ दाने तो चारो-ओर चारो दिशाओ मे उडाता है और शेष को मोरी, जिसे हमारे यहा 'रवाल' कहते हैं, उसके रास्ते मे नीचे आगन मे उडेलता है।

छोटे बच्चे को कही नजर न लग जाए! अत माताए नाना-प्रकार के टोने-टोटके किया करती हैं। बच्चे के गले मे घोडे का खुर, जरख का दान्त, छोटा-सा चाकू मजबूत डोरे मे पिरो कर पहना देती हैं। उसके काली टीकी लगाते है और ललाट मे एक किनारे पर काजल से चाद बना देती हैं। बच्चे के दोनो हाथो मे भी काजल की टीकिया लगा देती है। बच्चे के नजर लगने पर उसके ऊपर से रुई की बाती को घी अथवा तेल मे भिगोकर सात बार घुमा-फिराकर फिर उसे भीत पर चिपका देते है और बच्चे को उस ओर देखने के लिए कहा जाता है। नजर लग जाने पर रोटी और एक लोटा पानी का भर कर उसे सात बार बच्चे पर घोलकर बाहर पाराहे पर रोटी रख आते हैं और रोटी के चारो ओर एक गोल-वृत्ताकर कर दिया जाता है। नजर के लग जाने पर नमक लेकर उसे सात बार बच्चे के सिर पर से घुमाकर अग्नि मे जला देते है। नजर लग जाने पर पीसी हुई लाल-मिर्चें भी इसी प्रकार सातवार बच्चे के ऊपर से घुमा-फिरा कर अग्नि मे डाल देते हैं। इसी प्रकार नजर लगने पर फिटकरी को सातवार सिर पर से घुमा फिरकर उसे अग्नि में डाल देते हैं। फिटकरी के जल-भुन जाने पर उसे निकाल लेते है। फिर उसे अपने पैरो से कुचलकर बाहर गली मे फैंक देते हैं। यह समझकर कि अमुक व्यक्ति की कुदृष्टि, नजर बच्चे पर लगी है—उसके पैर की धूल (स्त्री हो तो दाया और पुरुष हो तो सीधा पैर) लेकर उसे भी सात बार सिर के ऊपर से घोलकर अग्नि मे फैंक देते है।

बच्चो के दात बडी कठिनाई से निकला करते है। अत इसी विश्वास से कि इन्हें कष्ट भी न हो और दात भी आसानी से निकल सकें इनके, उन्हे हाथी-दात की चूडिया पहना देते है। बच्चो को काच नही दिखाया जाता। ऐसा माना जाता है, इससे उनके दात कठिनाई से निकलते हैं। बच्चे के मुह मे अगुली भी इसीलिए नही डालते कि

उसके दात कठिनाई से निकलेंगे। हा, यदि बच्चे की बूआ मुह में अगुली डाल दे, तो बच्चे के दात आसानी से निकला करते हैं—ऐसी दृढ-धारणा है।

छोटे-बच्चे अक्सर सूखने लग जाते हैं—वे सूखकर काटा हो जाते हैं। हमारे यहाँ इसे 'सूख णो पड ग्यो' कहते हैं। ऐसे मौके पर घर के ऊपर की छत पर दीवार के सहारे गोबर का एक पूतला (बच्चे के बराबर गोबर को तोलकर उतना बडा पुतला बनाया जाता है) बनाते हैं। ऐसा विश्वास किया जाता है—जैसे जैसे यह गोबर का पुतला सूखता जायगा, बच्चा बढता चला जायगा। बच्चे का गुड के बराबर तोल कर, गुड गायो को दे देने पर भी बच्चे का सूखना बन्द हो जाता है, एक ऐसा भी विश्वास किया जाता है। जगल मे 'खेजड' के पेड की जड जो जमीन से काफी ऊपर को उठी हुई हो—बच्चे को उसके नीचे से सात बार निकालने से-भी सूखे पन्न का रोग हट जाता है—ऐसी भी मान्यता रही है।

कभी-कभी बच्चो को Articaria हो जाती है। हमारे यहा 'पित्ति' को 'छपाका' कहते है। उसके निकल जाने पर बच्चे को बेसन की हुई मिठाई खाट के सुराखो (साखों) मे से सातबार नीचे-ऊपर को लेकर खिलाते हैं। ऐसा विश्वास है—छपाका इस प्रकार के टोटके से ठीक हो जाता है।

बच्चे की आयु बढे, यह लबे-वर्षो तक जीवित रहे, हर मा-बाप की ऐसी मनो-कामना रहती है। उसके गले मे बूढे व्यक्ति के मरने पर उसके ऊपर से उछाले हुए रु० पैसो को लेकर उनमे सुराख बनाकर पहना देते हैं।

कभी-कभी ऐसा भी देखा जाता है एक के बाद एक इस प्रकार व्यक्ति के कई बच्चे मर जाते हैं। अत बच्चे के नाक मे 'बुलाक' अथवा सोने की बाली डाल देते हैं। उसका नाम बहुत ही विचित्र एव निम्न श्रेणी के व्यक्तियो के समान रख देते हैं। उसे नमक के बराबर तोलकर मोल ले लेते हैं। किसी व्यक्ति को बेचकर, उससे दुबारा पैसे देकर मोल ले लेते है। उसे मागे हुए कपडे पहिनाते हैं।

अधिक लडकिया, बच्चिया किसी के पैदा होने पर उनका नाम 'धापि', 'शान्ति', आदि रखा जाता है। ऐसा विश्वास है। इस प्रकार के नाम रखने पर बच्चिया फिर पैदा नही होतीं।

रजस्वला स्त्री का पापडो को बनते समय देख लेने पर पापड बिगडकर खट्टे हो जाते हैं। उन्हे सेकने पर वे लाल रग के हो जाते हैं—ऐसा विश्वास है।

गर्भवती-स्त्री को ग्रहण मे बाहर नही निकलने दिया जाता। वह चन्द्र-ग्रहण अथवा सूर्य-ग्रहण नहीं देख सकती। कारण-ऐसा विश्वास है उसके ऐसा करने पर ग्रहण की छाया से होने वाले बच्चे के पागल होने की सम्भावना होती है। गर्भवती की भोजन-सम्बन्धी इच्छाओ पर समुचित ध्यान दिया जाता है। ऐसी मान्यता है—यदि उसकी इच्छाए पूरी न की जाए, तो होने वाली सन्तान के मुह मे से लार टपका करती है। यह एक विश्वास बडा ही बल प्राप्त कर चुका है—गर्भवती यदि काले साप को देखले तो साप अधा हो जाता है। गर्भवती को बिच्छु आदि काटने पर एव भूत-भूतनी, प्रेत आदि लगने पर उस पर झाडा अथवा मत्र करने वाले का झाडा एव मन्त्र खोटा हो जाता है। गर्भवस्था मे किसी स्त्री के मर जाने पर ऐसा ख्याल किया जाता है—यह भूतनी ही होगी। कारण यह अशुद्ध अवस्था मे मरी है, इसकी सद गति नही हो सकती। ऐसे समय मे उसकी अर्थी के पीछे काफी तादाद मे राई उछाली जाती है। ऐसा विश्वास किया जाता है कि न तो वह इतनी राई बटौर ही सकेगी और न हमारे घर मे फिर से प्रविष्ट हो सकेगी।

नए गहने पहिनने पर कहीं नजर न लग जाए। अत उन्हे काले डोरे मे बाध दिए जाते है। नया मकान बनवाते समय भी नजर का भय, इसका भूत तो सवार रहता ही है। अत उसके दरवाजों पर खिडकियों के किवाडो पर, गोखो पर, घर के छज्जो पर काले कपडे की छोटी-छोटी पट्टिया बाध देते हैं। खीर पकाते समय डर लगा





रहता है—दूध सफेद है और सफेद वस्तु पर हर किसी की कु-दृष्टि ठहर सकती है। अत खीर पकाते समय उसमे एक कोयले का टुकडा डाल देते है। गाय के बच्चा देने पर, कही इसके दूध को नजर न लग-जाए, उसके थनो को तवे की कलमस से काला कर देते है। दूल्हे को शादी के समय नजर न लग जाए, उसके ललाट मे एक किनारे पर काजल से चन्द्रमा का आकार बना देते है।

विवाह के समय दूल्हा एव दुल्हिन का हाथो मे लोहे की छडो, जिसे हमारे यहा 'गेडीयों' कहते हैं, दिया जाता है। यज्ञोपवीत के समय भी ऐसा उसे रखने का आदेश रहता है। ऐसा विश्वास किया जाता है – इस प्रकार की क्रिया से प्रेतात्माओ से किसी प्रकार के अनिष्ट होने की आशका नही रहती। बच्चे का खाली झूला नही झुलाया जाता। ऐसा करने से बच्चे का पेट दर्द करेगा। विश्वास किया जाता है। रात्रि मे भी बच्चे का झूले मे नहीं सुलाया जाता।

रात्रि के समय घर मे बाहिर से मिष्ठान्न आदि नही लाया जाता। और यदि कभी सम्भव भी हो तो घर मे लाने से पूर्व उसमे से हर मिष्ठान्न का थोडा-थोडा अश तोडकर बाहिर गली मे फेंक देना होता है।

जहाँ गधा लेटा हो, उस स्थान पर चलने मे पावो मे 'भरणें' (एक प्रकार का मीठा-मीठा थकान के समान दर्द) चलने लगती है, ऐसा विश्वास किया जाता है।

बिल्ली द्वारा रास्ता काट लेने पर आगे पाव धरना लडाई को निमन्त्रण देना समझा जाता है। जूता फैंककर फिर आगे पाव रखना, इस दोष का प्रतिकार करते देखा गया है।

दीवाली एव अक्षय तृतीया आदि शुभ-पर्व के दिन बिच्छू आदि का निकलना शुभ माना जाता है। इस दिन बिच्छू को मारा नही जाता-मिट्टी की एक हडिया मे गोबर, दही, शक्कर आदि डाल कर उसे घर मे ही रख दिया जाता है। त्योहार आदि समाप्त हो जाने पर उसे बाहर छोडा जाता है।

राह चलते समय राह मे रु० पैसा आदि का मिल जाना शुभ माना जाता है। इसे खर्च नही किया जाता-सम्भालकर भीतर पेटी मे रखा जाता है अथवा पूजा मे रखा जाता है। चादी का इस प्रकार प्राप्त होना शुभ एव सोने को अशुभ समझा जाता है। सोना मिल जाने पर उसे मन्दिर मे भगवान् के भेंट कर दिया जाता है।

घी का ढुल जाना अशुभ एव तेल का ढुल जाना शुभ समझा जाता है।

स्याही की दवात का गिर जाना शुभ माना जाता है।

रसोई करते समय यदि तवा हसता हुआ दिखाई दे तो उसे शुभ समझा जाता है।

जूती का दूसरी जूती पर चढ जाना कही यात्रा करनी होगी, ऐसा विश्वास किया जाता है।

हिचकी आने पर ऐसा विश्वास किया जाता है हमारा स्वजन प्रवास मे हमे अवश्य याद कर रहा है।

हमने यहा कुछ जैसलमेर के 'लोक-विश्वास' थोडे मे रखे है। विज्ञ-पाठक इनसे सहज ही मे अनुमान लगा सकते हैं—ये सभी केवल अध-विश्वास मानकर अपेक्षित किए जाए, अथवा ये सभी अध-विश्वास मूलक हो, ऐसा नही है। इनमे लम्बी सख्या मे बहुत से ऐसे भी है, जिन्हे स्वास्थ्य एव विज्ञान की दृष्टि से सही माने जा सकते हैं। इन सब पर आज मनोविज्ञान की दृष्टि से मूल्याकन करना आवश्यक है। इस प्रकार के 'लोक-विश्वास' सैकडो की सख्या मे खोजने पर मिल सकते हैं। इन पर स्वतन्त्र-रूप से लिखा जाना आवश्यक समझा गया है।

●

भूत-व्याधि चिकित्सार्थ ब्रज के मंत्र



श्री रामशरणदास गुप्त एम० ए०

शोध-छात्र (हिन्दी विभाग) राजस्थान विश्वविद्यालय

जयपुर (राज०)

विश्व की प्रत्येक संस्कृति में भूत-प्रेत की सत्ता में विश्वास किया जाता रहा है। भूत-प्रेत क्या हैं ? लोक मान्यता के अनुसार मनुष्य की मृत्यु के पश्चात् उसकी आत्मा ही भूत है। कुछ मनुष्यों की असमय में मृत्यु हो जाती है। इस मृत्यु के कारण होते हैं आग में जलना पानी में डूबना, आदि। जिन मनुष्यों की असामयिक मृत्यु होती है, वे भूत बन जाते हैं। लेकिन भूत बनने की यह अनिवार्य शर्त नहीं है। क्षेत्रीय सर्वेक्षण करने पर ज्ञात होता है कि कितने ही ऐसे मनुष्य हैं जिन की मृत्यु इस प्रकार की आकस्मिक घटनाओं के कारण नहीं हुई लेकिन वे मृत्यु के पश्चात् भूत बने हैं। उत्तर प्रदेश के विभिन्न ग्रामों में इस प्रकार के उदाहरण मिलते हैं। ये भूत उन मनुष्यों को पीड़ित करते हैं जिनसे इनकी मानवीय-जीवन में शत्रुता रही होती है अथवा जिनके द्वारा इनका किसी प्रकार का अहित हुआ होता है। जब किसी व्यक्ति को इस प्रकार की सत्ता पीड़ित करती है, उस समय वह उन्मादग्रस्त हो जाता है। लोक मान्यता के अनुसार बैठे-बैठे चौंकना, उन्मादिनी स्थितियाँ होना, अनेक प्रकार की आचरण-हीन क्रियाएं करना, गुम-सुम हो जाना, एक साथ बेहोश होना तथा इन क्रियाओं की पुनरुक्ति होना ही इस के बात के लक्षण हैं कि इस व्यक्ति पर भूत-प्रेत का प्रभाव हो गया है, इसी को ब्रज, मर्दा बोलें, कन्नौजी आदि क्षेत्र में भूत का आना, ब्यारका झटका होना, ब्यार का असर होना, हवा का आना आदि विभिन्न नामों से अभिहित किया जाता है। इस की चिकित्सा के लिए लोक-चिकित्सक विभिन्न मंत्रों का प्रयोग करते हैं। मनुष्य में उक्त मानसिक विकृतियां इन भूतों के प्रभाव के कारण होती है अस्तु, हमने इन मंत्रों को यहाँ भूत-व्याधि चिकित्सार्थ मंत्रों की संज्ञा से अभिहित किया है।

भूत-व्याधि चिकित्सा के लिए मंत्रों का प्रयोग विश्व की प्राचीनतम संस्कृतियों में किया जाता रहा है। भारत में ही यदि इसके इतिहास पर विचार किया जाय तो लोक जीवन के अतिरिक्त प्राचीन साहित्य में भी इसके संकेत ही नहीं अपितु अनेक मन्त्र मिलते हैं जिन का उपयोग भूतापसारण के लिये किया जाता था। अथर्ववेद इसका ज्वलन्त उदाहरण है। अथर्ववेद में इस प्रकार के अनेक मन्त्र प्राप्त होते हैं। बौद्ध-धर्म के ग्रन्थों में भूत-प्रेत की सत्ता में विश्वास और निवारण हेतु मन्त्रों के प्रयोग के स्पष्ट उल्लेख मिलते हैं। डा० मथुरालाल शर्मा के अनुसार—We have clear refererces also to beliefs in ghosts, goblins, evil spirits and other Super-Natural beings meddeing with man's affairs Spells were practiced to ward off their influences and schemes Some of spirits live on the earth and some in the air People stood in Constant Terror of them and appeared them by offerings [1]

तदनुसार ब्रज में इसप्रकार के विभिन्न अनिष्टकारी प्रभावों के मोचन हेतु निम्नलिखित मंत्र दिया गया है।—

---

1 Dr Mathura Lal Sharma, Magical Beliefs and Superstit ons in Buddhism, The Journal of Bihar and Orissa Research Society, 1931 Vol Page 147



"Tutte Tutte Vutte Vutte Patte Patte Katte Katte amale amale Vimale Vimale nime nime hime hime vame vame Kale Kale Kale Kale atte Matte vatte tutte mette Katte Katte latte Patte dime dime cale cale pace pace bandhi bandhi añche mañche dutāre patāre arkke arake sarkke sarakke Carkke Carkke dime dime hime hime tu tu tu tu du du du du ru ru ru ru phū phū phu Svāhā (2)

इस प्रकार भूत-प्रेत व्याधि अथवा प्रभाव आदि के विमोचन हेतु मंत्रों के प्रयोग का इतिहास अत्यन्त प्राचीन है। आज भी भारतवर्ष की विभिन्न जीवित बोलियों उपभाषाओं एवं भाषाओं में इस प्रकार के अनेक मंत्र प्रचलित हैं। विभिन्न हिन्दी की उपभाषाओं एवं बोलियों में भूत-प्रेत व्याधि निवारण के विभिन्न मंत्र आज भी प्रचलित हैं यहाँ इन मंत्रों का विवेचन ब्रज-भाषा क्षेत्र में प्राप्त सामग्री के आधार पर किया जाता है—

भूत-व्याधि चिकित्सा के लिए लोक-मांत्रिक तीन प्रकार के मंत्रों का प्रयोग करते हैं। प्रथम प्रकार के वे मंत्र हैं जिन का प्रयोग भूत-प्रेत आदि के भय के निवारण-हेतु किया जाता है। यदि किसी व्यक्ति को मार्ग में जाते समय भूत आदि का भय प्रतीत होता है। तो वह इन मंत्रों का स्वयं मन ही मन जाप करता है। इसके साथ ही इन मंत्रों से मांत्रिक छोटे २ बच्चों को झाड़ा देते हैं। इस प्रकार इन मंत्रों द्वारा झाड़ा देने से बच्चों आदि पर भूत-प्रेत के प्रभाव का भय नहीं रहता। दूसरे प्रकार के वे मंत्र हैं जिनका प्रयोग रोगी-विशेष पर भूत को बुलाने के लिये किया जाता है। प्रायः ऐसा होता है कि भूत-प्रेत के प्रभाव से रोग-ग्रस्त व्यक्ति प्रत्येक समय अचेतन अवस्था में या असामान्य अवस्था में नहीं रहते अपितु जिस समय भूत का प्रभाव होता है तभी वे एक उन्मादकारिणी अवस्था में हो जाते हैं लेकिन भूत के जाने पर उनकी सामान्य स्थिति हो जाती है। ऐसी स्थिति में लोक-चिकित्सक ऐसे व्यक्ति की चिकित्सा करते समय मंत्र के प्रभाव से उन आसुरी सत्ताओं को बुला लेता है। तत्पश्चात् रोगी की विधिवत् चिकित्सा करता है। तीसरे प्रकार के मंत्रों का प्रयोग भूत-प्रभाव-मोचन हेतु किया जाता है। इन्हें क्रमशः 'चौकी या भूत का असर रोकने' 'भूत बुलाने या भूत बाँधने' एवं 'भूत उतारने' के मंत्र कहा जाता है। हम इन्हें यहाँ क्रमशः, भूत भयहारी भूताकर्षक एवं 'भूतापसारक' मंत्रों की संज्ञा दे सकते हैं —

भूत-भय-हारी मंत्र—भूतभयहारी मंत्रों का सम्बन्ध नरसिंह एवं हनुमान से है। अस्तु, इन्हें नरसिंह की चौकी तथा हनुमान की चौकी भी कहा जाता है। मंत्रों में प्रायः उस उद्देश्य को व्यक्त कर दिया जाता है जिसके लिये मंत्र विशेष का प्रयोग किया जाता है। लेकिन इनमें इस प्रकार के किसी उद्देश्य का निर्देशन नहीं हुआ है। नरसिंह से सम्बन्धित मंत्र का जाप करते हुए मांत्रिक भूत-भय की आशंका से मुक्त करने के लिये झाड़ा दे देता है। मंत्र इस प्रकार है।

"मनका मनका मनकवीर मनका हुंकारी।
तू कहिये परचंड वीर, तेरी नांउ हंकारी ॥
कहतो पीछे जाउ, कहू मारू बजरंगा ॥
तेरे ही अंगन दरक, तेरी बजरंगा ॥
बाघ गरज झूठे करे हांक देत नरसिंहा।
फुरै मंत्र ईश्वरी, मेरे गुरु का सबद सांचा ॥"

हनुमानजी से सम्बन्धित एक मंत्र में प्रथम उनके पराक्रम का वर्णन है, तत्पश्चात् उनकी पूजा करने का विधान है और अन्त में हनुमानजी द्वारा सीता की खोज का वर्णन करते हुए मांत्रिक ने अपने ऊपर कृपा करने का निवेदन किया है। यदि हनुमान उस पर कृपा नहीं करेंगे तो उन के प्रति अनेक शपथों का विधान भी मन्त्र में वर्णित है —

---

1 Luñkāvatār Sutra—Page 260-261, Edited by Bunyin Nanjiokyoto, Otani University Press 1923

"चार चटे हनुमन्त समुद्र माहनै चन्द
मन मे करी विचार
बीर बाउ आगै चले
चना जोर की पान जगा वृक्ष की छाया
सदा सेन्दुर का गोट लगोट हनुमन्त को चढाता
तेरी पूजा पान सुपारी
ये पूजा अजनी ने जो
ये पूजा तहरी न चढ़
जल स्नान कर बैठ
मेंहदिया महल की ऊँच बाग हनुमन्त
आठ हजार सन्ताहा की
बीर धीर ने लड़ै
नरसिंह धीर भैरों की निन्दा करै
उठाय पाव गुदी पैं धरै
वे हनुमन्त जती लागुरा
सीता माता की सेवा कूं गये
ऐसी सेवा मेरी ना करोगे
सोनों मार चौरह ने ढ अम्मान के मारे परोगे
माता अजनी का दूध पीवें हराम करोगे
फुरै मन्त्री ईश्वरी वाचा मेरे गुरु का शबद साचा ॥

हनुमान सम्बन्धी इसके मत्र मे हनुमान के साथ ही अन्य अतिमानवीय शक्तियों का समावेश किया गया है। इस मे एक ओर हनुमान के पराक्रम का बखान है। हनुमान बलवान हैं, उनके हाथ मे लड्डू है और मुख में पान है। जब वे गरजते है तो गिरि, समुद्र, महरावण आदि चलायमान हो जाते हैं। दूसरी ओर "अलआ बल्आ वीर समान" एवं "ताईया मल्हार महमदावीर" से पाप एवं दोष आदि का विचार किये बिना ही मारने हार (हनने) को मारने (हनिये) के लिये प्रार्थना की गई है। इस कार्य के हेतु उन्हें हनुमान की आन दी गई है। भैरो को ब्रज के ताले की लाह की कुंजी लगा कर रक्षा करने हेतु बैठने का आदेश दिया गया है —

'गिरि चले पर्वत चले
चले समुन्दर पान
महरावन फिर नीसरी
तब बोले हनुमान
अल्आ बल्आ वीर समान
ताईया मल्हार महमदा वीर
हनने को हनिये
पाप दोष नहीं गनिये
हनुमान बलवान





हाथ मे लड्डू मुह मे पान
भैरो की चौकी हनुमान की आन
लोहे की तारी वज्जर का तारा
ठोक बैठे भैरो मतवारे
इस चोले का हनुमन्त रखवारा ।।"

भूताकर्षकमन्त्र —ये मन्त्र काली, चामड एव महम्मदावीर से सबधित है । काली से सबधित मन्त्र मे काली का ब्रह्मा एव इन्द्र के साथ सबन्ध व्यक्त करते हुए उस से निवेदन किया गया है कि जहा मैं तुम्हारा स्मरण करू वहीं आकर उपस्थित हो । तत्पश्चात् काली देवी को इक्कीस लोग के जोडो एव पान के बीडो का प्रलोभन देकर नदी, नाले माडी, घाट आदि के भूत-प्रेत, खईस, मसान को बान्ध कर लाने का आदेश दिया है । यदि देवी मान्त्रिक के इस आदेश का पालन नहीं करती है तो वह धोबी की नाद तथा चमार के छोडे मे गिरेगी—

"काली काली महाकाली
विरम्हा की बेटी इन्दर की साली
दोनो हाथ बजावे ताली माला लिये खडी तेरी माली
जब सुमरू जब हाजिर ठाढी
खाय बोकरा पीवे दारु
नदी कू नवारे कू गैल के घाट कू
खईस कू, मसान कू, चुरैल कू, भूत कू
बाध-बाध कै मुसकें चढ़ावैगी
इक्कीस लौंग को जोडा पान को बीडा पावैगी ।
मेरी वाचा ते टरेगी धोबी की नाद मे गिरैगी ।
चम्बाली के चमडे मे गिरैगी ।
जो मेरे वचन को टारैगी ।"

चामड से सम्बन्धित मन्त्र मे चामड के साथ काल भैरो एव नरसिंह वीर का समावेश किया गया है । मन्त्र के आरम्भ मे चामड की प्रार्थना और पूजा का विधान है—"हे चामड माता ! तू गुणो को देने वाली है । मैं तेरा पुत्र हू, तू मेरी माता है । मैं तुझ पर घटाघोर (प्रचुर मात्रा मे) सिंदूर चढा कर ऊपर मे लाल शालु उढाता हू ।" तत्पश्चात् काल भैरो को भूत की छाती पर चढ कर (भूत की) मुश्कें बाधने के लिए तथा नरसिंह वीर को भूत की गर्दन और पैर बाधकर सोते हुए को जगाकर, बैठे हुए को उठाकर लाने का आदेश दिया है —

चावड माता गुन की दाता
हू तेरा पुत्र तू मेरी माता
घटाघोर सदूर चढाऊ
ऊपर सालू लाल उढाऊ
आगै लें कालिया भैरो
चढ छाती पै मुसकें बाधै

सोने कू जगाता, बैठे कू उठाता
गुदी पाव बदला
छोटा बटो नाहरसिंह
देखू तेरा कीया
फुरै मन्त्री ईश्वर वाचा
मेरे गुरु का सबद साचा ।।

मोहम्मदापीर सबधी मन्त्र मे मोहमद पीर जिद, मसान, खईस, भूत एव चुड़ैल को बाध कर लायेंगे । —

"कारा घटा राग जीन
जा पर चढ़ै महम्मदापीर
महम्मदा पीर कहा चले ?
दजरी बन कू ।
धजरी बन ते कहा लाओगे ?
सवा मन की साग बनवा के लायेंगे
सवामन की जजीर बनवां कै लायेंगे
जजीर ते कौन कौन-कू बाधि के लाओगे ?
जिद कूं बाधि कै लायेंगे, मसान कू बाधि कै लायेंगे ।
प्रेत कूं बाधि कै लायेंगे, खईस कू बाधि के लायेंगे ।
भूत कू बाधि के लायेंगे, चुड़ैल कू बाधि कै लायेंगे ।
कहा कहा के ?
मेडे के, मरघट के, गोठे के, गिरारे के
चौराहे के, पनघट के, गैल के, घाट के
इनन कू बाधि के ना लायेगा
(तो) अपनी माता अजनी का दूध पीकै हराम करैगा ।।"

भूत उतारने के मन्त्र —भूत उतारने के मन्त्र काली, चामड, हनुमान, अकाल भैरो, नरसिंहवीर, विनौता वीर, मुहम्मदावीर 'कमालपा, जैनपा, तारिनी, बिसमिल्ला, रहमान रहीम, इस्माइल जोगी से सबधित है । इन मन्त्रो मे मान्त्रिक के भूत-प्रेत आदि को भगाने के उद्देश्य की व्यजना अत्यन्त तीव्र स्वर मे हुई है । मान्त्रिक काली को सबोधित करते हुए कहता है —"हे रानी काली महारानी ! तेरा वचन खाली नही जाता है । तेरे दाहे हाथ मे गदा है और बाए हाथ मे तीर है । मा, तू खप्पर मे खाती है और श्मशान मे लेटती है । इस ससार मे ऐसा कोई है, जो तेरी पूजा न करे ? अर्थात् ससार मे सभी तेरी पूजा करते हैं । (अस्तु) हे मा ! तू नदी, नाले, मार्ग, घाट, कुआ, पनघट आदि पर निवास करने वाले भूत-प्रेत मसान आदि को बाध बाध कर डाल दे । यदि ऐसा नही करेगी तो काली मा नहीं कहलायेगी तथा माता के दूध को पीकर हराम करेगी ।"[1] चामड से सम्बन्धित मन्त्र मे मान्त्रिक कहता है— "हे गुणो को देने वाली चामड माता, अपने पुत्र की रक्षा तू ही करेगी क्योंकि क्योकि तू पापी को छोड कर धर्मात्मा



१ मत्र सख्या १७६, ३०२ इ, ३०२ उ । लेखक के अपने सकलन से ।



की सहायता करने वाली है, तू मार्ग, घाट, कुआ आदि के खईस, चुडैल एव भूत को बाध ले। यदि इन को बाध कर नही लायेगी तो काली गऊ के रक्त मे कौलारे के थान पर बैठ कर स्नान करेगी —

"चामड माता गुन की दाता
तू राखै पुत्र कू माता
देखू तेरे तरकमे
देखू तेरे बावन वीर
चामड विनौनी साची कहाई
पाप कू छोडि धर्म कू धाई
ऊध वाचा ब्रह्म वाचा
जो तू मेरी वाचा से हटे
बाधि ले जिद मसान, खईस, चुटैल भूत।
गैल, घाट, कुआ, पनघट, गोडा, गिरारा मे से,
छत्तीसौ कौमकू बाधि कै नही लावैगी
काली गऊ के रक्त मे बैठिकै
कौलारे के थान पै नहायगी
जो तू मेरी वाचा से टरैगी॥

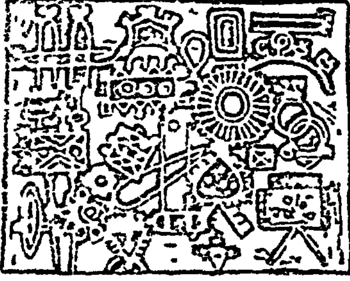
इसी प्रकार हनुमान, नरसिंह, कमालखा, विसमल्ला रहमान रहीम को मात्रिक ने मार्ग, घाट, पनघट, नदी, नाले, ग्राम के पडौस के भूत-प्रेत, जिंदा, खईस, मसान, चुडैल, डाकिनी, शाकिनी आदि को रोगी के चाम-चाम, गूद-गूद, हाडे-हाड, नौउ नाडी एव बहत्तर सौ कोठो मे खीच-खीचकर बाध-बाध कर लाने का आदेश दिया है। आदेश के न मानने पर इन अलौकिक सत्ताओ के प्रति अनेक प्रकार की शपथ एव अभिशाप की अभिव्यक्ति की है।

हनुमान के प्रति शपथ विधान उदाहरण स्वरूप प्रस्तुत है —

१ "तीन लोक चौदह अस्तान के मारे परोगे।"
२. "राजा रामचन्द्र के सिंहासन के मारे परोगे।"
३ अजनी का खीर खैचो हलाल न कियो हराम कियो।"

इस प्रकार भूत-व्याधि चिकित्सा के लिये प्रयुक्त अनेक मन्त्र लोक मे प्रचलित है। इन मन्त्रो को गुरु-शिष्य परम्परा से प्राप्त किया जाता है। गुरु मौखिक रूप से शिष्य को मन्त्र दिया करता है। शिष्य जब मन्त्र सीख जाता है, तब वह गुरु के निर्देशानुसार उन्हें सिद्ध करता है। सिद्ध करने के पश्चात् उनके गुरु द्वारा निर्देशित विधि के अनुसार ही प्रयोग में लाता है। इन मन्त्रो के प्रयोक्ता एक ग्राम मे दूसरे ग्राम मे अनेक विद्यमान हैं।

●



षष्ठ खण्ड



अंग्रेजी-भाषा-निबन्ध

ANTIQUITY OF JAINA CULTURE



DR. MOHAN LAL MEHTA M.A., Ph.D

Culture is that complex which includes knowledge, belief, art, morals, rules, customs and any other capabilities and habits acquired by man as a member of society In other words, culture is the sum total of man's learned behaviour The culture of the individual is mainly dependent on the culture of the society to which that individual belongs Thus, the acquisition of culture is predominantly a social phenomenon The application of a particular culture may be social as well as individual

There are individual differences in a group or class or society Similarly, we find social differences in the world Some of these differences are purely non-cultural, whereas some differences are definitely cultural A number of causes, individual as well as social, may be attributed to these cultural differences

Indian Culture

Indian culture is remarkable for its peculiarities It consists of two main trends · Śramanic and Brāhmanic The Vedic, Aryan or Hindu (in a restricted sense) traditions come under the Brāhmanic trend The Śramanic trend covers the Jaina, Buddhist and similar other ascetic traditions The Brāhmanic schools accept the authority of the Vedas and Vedic literature The Jainas and Buddhists have their own canons and canonical literature and accept their authority

Jaina Culture

Jainism is one of the oldest religions of the world It is an independent and most ancient religion of India It is wrong to say that Jainism was founded by Lord Mahāvīra. Even Lord Pārśva cannot be regarded as the founder of this great religion It is equally incorrect to maintain that Jainism is nothing more than a revolt against the Vedic religion The truth is that Jainism is quite an independent religion It is even older than the Vedic religion The Jaina culture, which represents now the Śramanic culture in India, is in negative terms, non-Vedic, non-Aryan and non-Brāhmanic It has its own peculiarities It is flourishing on this land from times immemorial The Indus Valley civilization of Mohenjodaro and Harappa sheds some welcome light on the antiquity of the Jaina culture Of course, we cannot deny that there has been a good deal of mutual influences on both the currents of Indian culture. In fact, Indian culture is a composite culture The two most predominant currents in the stream of Indian culture are Brāhmanism and Śramanism They have greatly influenced each other and, thereby, contributed to the composite Indian culture It is true that they have some similarities and certain common principles But it is equally true that they have their own peculiarities and marked differences



Iconism and Nudity

The time assigned to the Indus Valley civilization is 3000 B C The Indus culture is quite different from the Aryan culture in the Vedic period A comparison of the Indus and Vedic cultures shows that they were unrelated The Vedic religion is generally not iconic At Mohenjodaro and Harappa iconism is everywhere apparent In the houses of Mohenjodaro the firepit is conspicuously lacking There have been discovered at Mohenjodaro many nude figures which depict personages who are no other than ascetic Yogis Iconism and nudity have been two chief characteristics of the Jaina culture

The nude figures of Mohenjodaro clearly indicate that the people of the Indus Valley not only practised Yoga but also worshipped images of Yogis Along with the seated deities engraved on some of the Indus seals the standing deities on them also show the Kāyotsarga posture This posture of Yoga or meditation is peculiarly Jaina

Followers of Arhats

There existed in India sects different from the Vedic faith long before Mahāvīra and Buddha Arhats and Arhat-caityas were also in existence before their birth. The followers of those Arhats were known as Vrātyas They had a republican form of Government They had their own shrines, their non-Vedic worship and their own religious leaders They with their well-built cities and non-violent, non-sacrificial cult were the indigenous rivals and enemies whom the first Aryans had to encounter for settling and extending in this country In the Vedic period some saints were known as Yatis who probably belonged to the non-Vedic group, i e , the Śramanic society Some of the saints are described as naked which indicates that they practised stern asceticism Such people who liked renunciation and abandoned all pleasures were the pillars of the Śramanic society, i e , the society of the non-Aryans The Brāhmanic view of life was quite different It longed for long life, heroic progeny, wealth, power, abundance of food and drink and the defeat of the rivals It seems that the idea of renunciation did not much appeal in the beginning to the Brāhmanic society, i e , the society of the Aryans.

Jaina Philosophy

The Jaina philosophy, no doubt, holds certain principles in common with Hinduism and Buddhism, but this does not disprove its independent origin and free development If it has some similarities with the other Indian systems, it has its own peculiarities and marked differences as well Its animism, atomic theory, Karmic theory etc are quite peculiar

Jaina Culture and Dravidian Culture

In the opinion of some scholars the Jaina culture is identical with the pre-Vedic Dravidian Culture Both are simple, unsophisticated, clear cut and direct manifestation of the pessimistic outlook Jainism believes in pessimism, i e , the conviction that life is full of misery No trace of this type of pessimism is available in the optimistic attitude of the Vedic Aryans An atheistic attitude and a kind of dualism between soul and matter characterize both the Dravidian religion and Jainism The doctrines of transmigration and Karma are peculiar to both the religions They were unknown to the early Brāhmanas The general tendency of scholars has been in favour of the theory that the Indus people were of Dravidian stock The Mohenjodaro people were Dravidian, their language was a purely Dravidian language and their culture was also Dravidian

Jainism and Buddhism

Jainism and Buddhism now represent the Śramanic culture If we examine the antiquity of Jainism from the Buddhist and Jaina records, it will be clear that Jainism is older than Buddhism The Nigantha Nātaputta of the Buddhist scriptures is none else but Lord Mahāvīra, the last Tīrthānkara (Fordmaker) of the Jainas The place of his death is mentioned as pāvā The Buddhists often refer to the Jainas as a firmly established rival sect Buddha made several experiments in the quest of enlightenment But such was not the case with Mahāvīra He practised and preached the old Nirgrantha Dharma He made no attempt to found or preach a new religion Buddha is even said to have entered the Śramanic (Nirgrantha or Jaina) order of ascetics in his quest of enlightenment

The Sāmaññaphala-sutta of the Dīgha-nikāya refers to the four vows (Caturyāma) of the Nirgrantha Dharma It shows that the Buddhists were aware of the older traditions of the Jainas Lord Pārsva who preceded Lord Mahāvīra, had preached the four-fold law (Cāturyāma Dharma) Mahāvīra adopted the same but added one more vow to it and preached the five-fold law (Pañcayāma Dharma) This is clear from the Uttarādhyayana-sūtra of the Jainas There is a nice conversation between Kesi, the follower of Pārśva, and Gautama, the follower of Mahāvīra, in this canonical text In this conversation the two leaders realise and recognise the fundamental unity of the doctrines of their respective teachers They discuss the view-points of the four vows (non-injury, truth, non-stealing and non-possession) and five vows (chastity added) and come to the conclusion that fundamentally they are the same

Historicity of Pārsva

The historicity of Pārśva has been unanimously accepted He preceded Mahāvīra by 250 years He was the son of King Asvasena and Queen Vāmā of Varanasi At the age of thirty he renounced the world and became an ascetic He practised austerities for eighty-three days On the eighty-fourth day he obtained omniscience Lord Pārsva preached his doctrines for seventy years At the age of a hundred he attained liberation on the summit of Mount Sammeta (Parasnath Hills)

The four vows preached by Lord Pārsva are not to kill, not to lie, not to steal and not to own property The vow of chastity was, no doubt, implicity included in the last vow, but in the two hundred and fifty years that elapsed between the death of Pārsva and the preaching of Mahāvīra, abuses became so abundant that the latter had to add the vow of chastitly explicity to the existing four vows Thus, the number of vows preached by Lord Mahāvīra was five instead of four

Neminātha

Neminātha or Aristanemi who preceded Lord Pārsva, was a cousin of Krsna If the historicity of Krsna is accepted, there is no reason why Neminātha should not be regarded as a historical person He was the son of Samudravijaya and grandson of Andhakavṛṣni of Sauryapura Krsna had negotiated the wedding of Neminātha with Rājīmati, the daughter of Ugrasena of Dvārakā Neminātha attained emancipation on the summit of Mount Raivata (Girnar)

Other Tīrthānkaras

The Jaina tradition believes in the occurrence of twenty-one more Tīrthankaras They preceded Neminātha Lord Rsabha was the first among them It is not an easy job to establish the historicity of these great souls



Mahāvīra

Mahāvīra was the twenty-fourth, i e, the last Tīrthankara According to the Pali texts he was a contemporary of Buddha but they never met The early Prakrit texts do not mention the name of Buddha They totally neglect him This indicates that Mahāvīra and his followers did not attach any importance to Buddha's personality and teachings On the other hand, Mahāvīra is regarded as one of the six Tīrthankaras of Buddha's time in the Pali Tripitaka. This shows that Mahāvīra was an influential personality and a leading venerable ascetic

According to the tradition of the Śvetāmbera Jainas the liberation of Mahāvīra took place 470 years before the beginning of the Vikrama Era The tradition of the Digambara Jainas maintains that Lord Mahāvīra attained liberation 605 years before the beginning of the Śaka Era By either mode of calculation the date comes to 527 B C Since the Lord attained emancipation at the age of 72, his birth must have been around 599 B C This makes Mahāvīra a slightly elder contemporary of Buddha who probably lived about 567-487 B C

There are many references in the Buddhist canon to Nātaputta and the Niganthas, meaning Mahāvīra and the Jainas The Buddhist canon refers to the death of Nātaputta at Pāvā at a time when Buddha was still engaged in preaching According to Hemacandra, Mahāvīra attained liberation 155 years before Candragupta's accession to the throne This leads to a date around 549-477 B C for Mahāvīra and places his death slightly later than that of Buddha Some scholars support this view

There is no doubt that Pārsva preceded Mahāvīra by 250 years The Jaina canon clearly mentions that the parents of Mahāvīra were followers of Pārśva whose death took place 250 years before that of Mahāvīra (527 B C) Since Pārśva lived for a hundred years, his date comes to 877-777 B C

Mahāvīra was not the inventor of a new doctrine but the reformer of a law already long in existence The Uttarādhyayana-sūtra gives a good account of this fact The following is the essence of this account —

There was a famous preceptor in the tradition of Lord Pārsva His name was Kesi Surrounded by his disciples he arrived at the town of Śrāvastī In the vicinity of that town there was a park called Tinduka There he took up his abode in a pure place

At that time there was a famous disciple of Lord Mahāvīra His name was Gautama Surrounded by his pupils he too arrived at Śrāvastī In the vicinity of that town there was another park called Koṣṭhaka There he took up his abode in a pure place

The pupils of both, who controlled themselves, who practised austerities, who possessed virtues, made the following reflection

"Is our law the right one or the other ? Are our conduct and doctrines right or the other ? The law as taught by Lord Pārsva, which recognises only four vows, or the law taught by Lord Mahāvīra (Vardhamāna), which enjoins five vows ? The law which forbids clothes for a monk or that which allows an under and an upper garment ? Both pursuing the same end, what has caused this difference ?"

Knowing the thoughts of their pupils, both Kesi and Gautama made up their minds to meet each other Gautama went to the Tinduka park where Kesi received him With his

permission Kesi asked Gautama "The law taught by Pārsva recognises only four vows, while that of Vardhamāna enjoins five Both laws pursuing the same end, what has caused this difference ? Have you no misgivings about this two-fold law ?" Gautama made the following reply "The monks under the first Tīrthankara are simple but slow of understanding, those under the last are prevaricating and slow of understanding and those between the two are simple and wise Hence, there are two forms of the law The first can but with difficulty understand the precepts of the law and the last can but with difficulty observe them But those between them can easily understand and observe them " This answer removed the doubt of Kesi He asked another question "The law taught by Vardhamāna forbids clothes but that of Pārsva allows an under and upper garment Both laws pursuing the same end, what has caused this difference ?" Gautama gave the following reply "The various outward marks have been introduced in view of their usefulness for religious life and their distinguishing character The opinion of the Tīrthankaras is that right knowledge, right faith and right conduct are the true causes of liberation " This answer too removed the doubt of Kesi He, thereupon, bowed his head to Gautama and adopted the law of five vows

It is clear from the account of the Uttarādhyayana-sūtra that there were two main points of the difference between the followers of Pārsva and those of Mahāvīra The first point was relating to vows and the second was regarding clothes The number of vows observed by the followers (monks) of Pārsva was four, to which Mahāvīra added the vow of chastity as the fifth It seems that Pārsva had allowed his followers to wear an under and an upper garment, but Mahāvīra forbade the use of clothes Preceptor Kesi and his disciples, however, adopted the law of five vows without abandoning clothes Thus, Mahāvīra's composite church had both types of monks with clothes (Sacelaka) and without clothes (Acelaka)

Mahāvīra was the son of Ksatria Sidhārtha and Trisalā of Kundapura or (Kundagrāma), the northern borough of Vaisālī He belonged to the Jñātr clan He was born on the thirteenth day of the bright half of the month of Caitra when the moon was in conjunction with the Hastottarā costellation As the family s treasure of gold, silver, jewels etc went on increasing since the prince (Mahāvīra) was placed in the womb of Trisalā, he was named Vardhamāna (the Increasing One) He was known by three names Vardhamāna, Śarmana (Ascetic) and Mahāvīra (Great Hero) The name of Vardhamāna was given by his parents He was called Śramana by the people, as he remained constantly engaged in austerities with spontaneous happiness Since he sustained all fears and dangers and endured all hardships and calamities, he was called Mahāvīra by the gods

Vardhamāna lived as a house-holder for thirty years When his parents died, with the permission of his elders he distributed all his wealth among the poor during a whole year and renounced the world After observing fast for two days and having put on one garment, Vardhamāna left for a park known as Jñātrkhanda in a palanquin named Candraprabhā He descended from the palanquin under an Aśoka tree took off his ornaments, plucked out his hair in five handfuls and entered the state of houselessness with one garment He wore the garment only for a year and a month and then abandoned it and wandered about naked afterwards

The Venerable Ascetic Mahāvīra spent his second rainy season in a weaver's shed at Nālandā, a suburb of Rajagrha Gosāla, the Ājīvika, approached the Venerable Ascetic and





made a request to admit him as his disciple Mahāvīra did not entertain his request, Gosāla again approached the Venerable Ascetic when he had left the place at the end of the rainy season This time his request was, however, accepted and both of them lived together for a considerable period While at Siddhārthapura, Gośāla uprooted a sesamum shrub and threw it away challenging Mahāvīra's prediction that it would bear fruits Owing to a lucky fall of rain the shrub came to life again and bore frūits Seeing this Gosāla concluded that everything is pre-determined and that all living beings are capable of reanimation Mahāvīra did not favour such generalisations Gośāla, then, severed his association with Mahāvīra and founded his own sect known as Ājīvika

Mahāvīra had travelled up to Lādha in West Bengal He had to suffer all sorts of tortures in the non-Aryan tarritory of Vajrabhūmi and Śubhrabhūmi Many of his hardships were owing to the adverse climate, stinging plants and insects and wicked inhabitants who set dogs at him The Venerable Ascetic had spent his ninth rainy season in the non-Aryan land of the Lādha country

Mahāvīra passed twelve years of his ascetic life with equanimity performing hard and long penances and enduring all afflictions and calamities with undisturbed mind During the thirteenth year on the tenth day of the bright fortnight of the month of Vaiśākha the Venerable Ascetic obtained omniscience under a Śāla tree in the farm of Śyamāka on the northern bank of river Rjupālikā outside the town of Jṛmbhikagrāma He preached the law (Dharma) in the Ardhamāgadhī language, taught five great vows etc, initiated Indrabhūti (Gautama) and others and established the four-fold order (monks, nuns, male lay-votaries and female lay-votaries)

Jamāli, who was the son-in-law of Mahāvīra and had entered his church, left the order after some time and founded a new sect known as Bahurata He is regarded as the first schismatic (Nihnava) in the Jaina church

Lord Mahāvīra passed the last thirty years of his life as the omniscient Tīrthankara He spent his last rainy season at Pāpā (Pāvāpurī) On the fifteenth day of the dark fortnight of the month of Kārttika the lord attained liberation there at the age of seventy-two The eighteen confederate kings of Kāśī and Kosala (and eighteen Kings) belonging to the Mallaki and Lecchaki clans were present there at that time Thinking that spiritual light of knowledge has vanished with the passing away of the Lord they made a material illumination by lighting lamps

Lord Mahāvīra was the head of an excellent community of 14000 monks, 36000 nuns, 159000 male lay-votaries and 318000 female lay-votaries The four groups designated as monks, nuns, laymen and laywomen constitute the four-fold order (Tīrtha) of Jainism One who makes such an order is known as Tīrthankara Tīrthankara Mahāvīra's followers comprised three categories of persons ascetics, lay-votaries and sympathisers or supporters Indrabhūti (monk), Candanā (nun) etc form the first category Śankha (layman), Sulasā (laywoman) etc come under the second category Śrenika (Bimbisāra), Kūnika (Ajātasatru), Pradyota, Udāyana, Cellanā etc form the third category The Tīrthankara's Tīrtha or Sangha consisted of only the first two categories

Sudharamun, Jambū, Bhadrabāhu and Sthūlabhadra

Of the eleven principal disciples (Ganadharas) of Lord Mahāvīra, only two, viz, Indrabhūti and Sudharman survived him After twenty years of the liberation of Mahāvīra

Sudharman also attained emancipation He was the last of the eleven Ganadharas to die Jambū the last omniscient, was his pupil He attained salvation after sixty-four years of the liberation of Mahāvīra Bhadrabāhu belonging to the sixth generation since Sudharman, lived in the third century B C He died 170 years after Mahāvīra He was the last Śrutakevalin (possessor of knowledge of all the scriptures) Sthūlabhadra possessed knowledge of all the scriptures less four Pūrvas (a portion of the Dṛṣṭivāda) He could learn the first ten pūrvas with meaning and the last four without meaning from Bhadrabāhu in Nepal Thus, knowledge of the canonical texts started diminishing gradually There are still a good many authentic scriptures preserved in the Śvetāmbara tradition Of course, some of them have, partly or wholly, undergone modifications The Digambaras believe that all the original canonical texts have vanished

Up to Jambū there is no difference as regards the names of successors in the Digambara and Śvetāmbara traditions They are common in both the branches The name of Bhadrabāhu is also common, although there is a lot of difference regarding the events relating to his life There is no unanimity with regard to the name of his own successor too Besides, the names of intermediary successors are also different Judging from the total picture it seems that in fact there had been two different preceptors bearing the name of Bhadrabāhu in the two traditions Probably they were contemporary The Śvetāmbara account mentions that the death of Śrutakevalī Bhadrabāhu occurred 170 years after the liberation of Mahāvīra, whereas the Digambara tradition maintains that Bhadrabāhu died 162 years after Mahāvīra

According to the tradition of the Śvetāmbaras, preceptor Bhadrabāhu had been to Nepal and remained there engaged in some specific course of meditation Sthūlabhadra and some other monks went to Nepal to learn the Dṛṣṭivāda from Bhadrabāhu

The Digambara tradition believes in a migration of Bhadrabāhu and other monks to South India It holds that the head of the Jaina church in the time of Candragupta's reign (322-298 B C) was Bhadrabāhu He was the last Śrutakevalin He prophesied a twelve-years famine and led a migration of a large number of Jaina monks to South India They settled in the vicinity of Śravana Belgolā in Mysore Bhadrabāhu himself died there King Candragupta, an adherent of the Jaina faith, left his throne and went to Śravana Belgolā He lived there for a number of years in a cave as an ascetic and finally embraced death

Samprati

Sthūlbhadra's pupil Suhastin had won King Samprati, the grandson of and successor to Asoka, for Jainism Samprati was very zealous in the promotion and propagation of Jainism He showed his enthusiasm by causing Jaina temples to be erected over the whole of the country During Suhastin's stay at Ujjain (Samprati's capital), and under his guidance, splended religious festivals were celebrated The devotion manifested by the king and his subjects on such occasions was great The example and advice of King Samprati induced his vassals to embrace and partonize Jainism He had sent out missionaries as far as to South India In order to extend the sphere of their activities to non-Aryan countries, Samprati sent there Jaina monks as messengers They acquainted the people with the kind of food and other requisites which Jaina monks may accept as alms Having thus prepared the way for them, Samprati induced the superior to send monks to those countries Accordingly missionaries were sent to the countries of Andhra and Dramila in South India



Khāravela

Somewhere near Samprati's time there lived King Khāravela of Kalinga His inscription in a cave of Khandagiri, dating around the middle of the second century B C, tells among other things of how he constructed rock-dwellings and gave abundant gifts to Jaina devotees. There are some Jaina caves in sandstone hills known as Khandagiri, Udayagiri and Nīlagiri in Orissa The Hāthīgumphā or Elephant Cave, as it is now known, was an extensive natural cave It was improved by King Khāravela It has a badly damaged inscription of this king. The inscription begins with a Jaina way of veneration

Kālkācārya and Gardabhilla

In the first century B C, when Gardabhilla was the king of Ujjain, there lived a famous Jaina preceptor known as Kālakācārya King Gardabhilla carried off Sarasvatī, a Jaina nun, who was the sister of Kālakācārya. After repeated requests and threats when Kālakācārya found that the king was not prepared to set the nun free, he travelled west of the Indus and persuaded the Śakas to attack Ujjain and overthrow Gardabhilla The Śakas attacked Ujjain and established themselves in the city Vikramāditya, the successor to Gardabhilla, however, expelled the invaders and reestablished the native dynasty He is said to have been won for Jainism by some Jaina preceptor

Jaina Stupa at Mathura

An inscription of the second century A D has been found in the ruins of Jaina stupa excavated in the mound called kankali Tila at Mathura The inscription says that the stupa was built by gods The truth underlaying this type of belief is that at that time the stupa was regarded as of immemorial antiquity The sculptures and inscriptions found at Mathura are of great importance for the history of Jainism They corroborate many of the points current in the Jaina traditions For instance, the series of twenty-four Tīrthankaras with their respective emblems was firmly believed in, women also had an influential place in the church, the order of nuns was also in existence, the division between the Śvetāmbaras and Digambaras had come into being, the scriptures were being recited with verbal exactitude

Kumārapāla and Hemacandra

Coming to the medieval period, King Siddharāja Jayasimha (A D 1094-1143) of Gujarat, although himself a worshipper of Śiva, had Hemacandra, a distinguished Jaina preceptor and writer, as a scholar member of his court King Kumārapāla (A D 1143-1173), the successor to Jayasimha, was actually converted to Jainism by Hemacandra Kumārapāla tried to make Gujarat in some manner a Jaina model state On the other hand, Hemacandra, taking full advantage of the opportunity, established the basis for a typical Jaina culture by his versatile scientific work He bacame famous as the Kalikālasarvajña, i e, the omniscient of the Kali Age In South India the Gangas, Rāṣṭrakūtas and Hoysalas were Jainas They fully supported the faith

Digambaras and Śvetāmbaras

There were both types of monks, viz Sacelaka (with clothes) and Acelaka (without clothes), in the order of Mahāvīra The terms Sacelaka and Śvetāmbara signify the same sense and Acelaka and Digambara express the same meaning The monks belonging to the Śvetāmbara group wear white garments, whereas those belonging to the Digambara group wear no garment The literal meaning of the word Digambara is sky-clad and that of the Śvetāmbara is white-clad It was, probably, up to Jambū's time that both these groups

formed the composite church Then they separated from each other and practised the faith under their own heads This practice is in force even in the present time The Śvetāmbaras hold that the practice of dispensing with clothing has no longer been requisite since the time of the last omniscient Jambū

The following main differences exist between the Digambaras and Śvetāmbaras —

1 The Digambaras believe that no original canonical text exists now The Śvetāmbaras still preserve a good number of original scriptures

2 According to the Digambaras the omniscient no longer takes any earthly food The Śvetāmbaras are not prepared to accept this conception

3 The Digambaras strictly maintain that there can be no salvation without nakedness Since women cannot go without clothes, they are said to be incapable of salvation The Śvetāmbaras hold that nakedness is not essential to attain liberation Hence, women are also capable of salvation

4 The Digambaras hold that Mahāvīra was not married The Śvetāmbaras reject this view According to them Mahāvīra was married and had a daughter

5 The images of Tīrthankaras are not decorated at all by the Digambaras, whereas the Śvetāmbaras profusely decorate them

The two main Jaina sects, viz , the Śvetāmbara and the Digambara, are divided into a number of sub-sects There are at present three important Śvetāmbara sub-sects Mūrtipūjaka, Sthānakavāsī and Terāpanthī The number of present important Digambara sub-sects is also three Bīsapanthī, Terahapanthī and Tāranapanthī The Mūrtipūjakas worship images of Tīrthankaras etc The Sthānakavāsīs are non-worshippers The Terāpanthīs are also not in favour of idol-worship Their interpretation of non-violence (Ahimsā) is slightly different from that of the other Jainas The Bīsapanthīs use fruits, flowers etc in the idolatry ceremony, whereas the Terahapanthīs use only lifeless articles in it The Tāranapanthīs worship scriptures in place of images All these sub-sects have their own religious and other works in addition to the common ones They have their own temples and other religious and cultural centres

BIBLIOGRAPHY

1 Jainism—The Oldest Living Religion—Jyoti Prasad Jain—Jain Cultural Research Society, Banaras, 1951
2 Doctrine of the Jainas—Welther Schubring—Motilal Banarasidass, Delhi, 1962
3 Heart of Jainism—Sinclair Stevenson—Humphrey Milford, London, 1915
4 Sources of Indian Tradition—Motilal Banarasidass, Delhi, 1963
5 Cultural Heritage of India, Vol I—Ramakrishna Mission Institute of Culture, Calcutta, 1958
6 Philosophy of Culture—N K Devaraja—Kitab Mahal, Allahabad, 1963
7 Most Ancient Aryan Society—Ram Chandra Jain—Institute of Bharatalogical Research, Ganganagar, 1964
8 Jaina Sūtras—Hermann Jacobi—Motilal Banarasidass, Delhi, 1964
9 Archeology of World Religions—Jack Finegan—Princeton University Press, 1965
10 Pacifism and Jainism—Sukhlal Sanghavi—Jain Cultural Research Society, Banaras, 1950.





THE CONCEPT OF ARAHANTA (ARHAT) IN JAINISM

DR K C SOGANI, M A, Ph D
(Department of Philosophy, University of Udaipur, Udaipur)

The supreme objects of devotion enumerated by the Jaina are five, namely, Arahanta, Siddha, Acarya, Upadhyaya and Sadhu The same may be expressed by saying that Deva, Sastra and Guru deserve our highest reverence Again, we come across a different expression that the four objects, namely, Arahanta, Siddha, Sadhu and Dharma preached by Arahantas, are most auspicious and unexcelled in the universe These ways of expression are essentially one, and each is inclusive of the rest To make it clear, Arahanta and Siddha are comprised under the category of Deva, Acarya, Upadhyaya and Sadhu are styled Gurus, and the religion preached by the Arahantas is called Dharma or Sastra Considered from the perspective of mystical realisation, Arahanta and Siddha stand at par But as the former enjoys embodied liberation, and the latter, disembodied one, it is alleged that Siddha occupies a higher status In view of this it may appear that disrespect is shown to Siddhas, inasmuch as Arahantas are everywhere bowed first, Siddhas, next But the conviction of the Jaina is that it is through Arahantas that we have been able to recognise Siddhas, and it is through his intervention that Apta, Agama and Padartha have been made intelligible [1] Hence this supreme Guru is entitled to receive our preferential obeisance Thus Arahanta is the perfect Guru owing to the delivering of sermons for general beneficence, and is also called perfect Deva on account of the complete actualisation of the divinity potential in Himself It is through his medium that mystical life has been possible on earth Hence he must have our highest gratitude and reverence

Thus the concept of Arahanta in Jainism plays a double role the role of the perfect Deva, and the role of the perfect Guru And this is quite consistent with the view-point of spiritual experience, and the consequent upliftment of mankind at large through preaching Guruhood refers to the outward manifestation of intuitive experience, while Devahood signifies simply the inward spiritual realisation Thus the concept of Arhat stands for the consistent identification of Devatva and Gurutva, of the inward experience and the outward expression In the state of the Siddha, there is no outward representation of mystical experience, which, on the other hand, is integrally connected with the life of Arahanta Because of this double role, Arahanta is bowed first in preference to the Siddha who is simply the Deva on account of his being incapable of preaching Dharma Prof A N Upadhyaya rightly remarks "The magnanimous saint, the Jaina Tirthankara, who is at the pinnacle of the highest spiritual experience is the greatest and ideal teacher and his words are of the

1 Sat Vol I, P 53

highest authority" This does not imply the belittlement of the Siddha, but simply the glorification of the Arahanta as the supreme Guru, Gurutva being his additional characteristic.

Now, two kinds of Arahanta, namely Tirthankara and non-Tirthankara have been recognised The distinction between the two is this that the former is capable of preaching and propagating religious doctrines in order to guide the mundane souls immersed in the life of illusion, and his sermons are properly worded by the Ganadharas, while the latter is not the propounder of religious faith or principles, but silently enjoys simply the sublimity of mystical experience These two tendencies of the perfected mystics or Arahantas may be compared with the *"activistic" and "quietistics" tendencies of the mystics [1] Thus the word Arahanta should be primarily esteemed as referring to the Tirthankara and only secondarily to the ordinary omniscient souls[2] It is only the privilege and prerogative of those rare souls to have the designation of Tirthankara Arahanta, who in the past or the present life have accumulated in themselves the potency of revealing truth by the performance of virtuous activities resulting from their dedication to the sixteen kinds* of reflections [3] According to the Jaina dogma the number of Arhats in each cycle of time is limited, i e, twentyfour[4]

Thus Arahanta is the ideal saint, the supreme Guru and the divinity-realised soul; hence he may be designated as Paramatman or God Siddha has also been called God But "neither Arhat nor Siddha has on him the responsibility of creating, supporting and destroying the world The aspirant receives no boons, no favours, and no curses from him by way of gifts from the divinity The aspiring souls pray to him, worship him and meditate on him as an example, as a model, as an ideal that they too might reach the same condition"[5] But it should not be forgotten that unified, singleminded devotion to Arahantas or Siddhas accumulates in the self the Punya of the highest kind, which, as a natural consequence, brings forth material and spiritual benefits Samantabhadra observes that the adoration of Arahanta occasions great heap of Punya [6] He who is devoted to him realises prosperity and he who

* The sixteen kinds of reflections are —

(1) Transcendental awakening, (2) Possession of reverential attitude towards the Guru and the spiritual path, (3) Observation of vows and renunciation of passions for the proper pursuance of vows, (4) Application of oneself constantly to the earning of spiritual knowledge, (5) Due apprehension of worldly miseries, (6) Charity in the matter of food, shelter and knowledge, (7) Pursuance of proper bodily austerities without the concealment of strength, (8) Removal of obstacles from the path of a Muni, (9) Nursing of the virtuous souls, (10) Devotion to Arhats, (11) Devotion to the Teacher, (12) Devotion to the Learned, (13) Devotion to the Sastra (14) Performance of the essential duties, (15) Influencing the society through the medium of knowledge, austerity, charity, Bhakti and adoration, and (16) Having an affectionate attitude towards the spiritual breathern (Sarvartha VIII-9)



1 Mysticism in Maharashtra Preface P 28
2 Moksamarga P 6
3 Sarvartha VI 24
4 PP Intro P 36
5 PP Intro P 36
6 Svayambhu P 78

casts aspersions, sinks to perdition, in both these Arahanta is astonishingly indifferent[1] The aspirant, therefore, should not breathe in despondency for the aloofness of God. (Arahanta and Siddha) Those who are devoted to him are automatically elevated The ultimate responsibility of emancipating oneself from the turmoils of the world falls upon one's own undivided efforts, upon the integral consecration of energies to the attainment of divine life Thus every soul has the right to become Paramatman, who has been conceived to be the consummate realisation of the divine potentialities

We shall now dwell upon the characteristics of Arahantas, the effects of transcendental life, the effects which the realisation of *Paramatman produces upon the perfected mystic* The Acaranga tells us that the Arahanta is established in truth in all directions[2] He is Ātmasamāhita[3] He has freed himself from anger pride, deceit, greed, attachment, hatred, delusion, birth, death, hell, animal existence and pain[4] Arahant is lead a life of supermoralism, but not of a-moralism It is inconceivable that the saint who has attained supremacy on account of the realisation of perfect Ahimsā may in the least pursue an ignoble life of Himsa, a life of vice He is no doubt beyond the category of virtue and vice, good and evil, Punya and Pāpa, auspicious and inauspicious psychical states, yet he may be pronounced to be the most virtuous soul, though the pursuit of virtuous life is incapable of binding him to the cycle of life and death[5] Samantabhadra ascribes inconceivability to the mental, vocal and physical actions of Arhat, since they are neither impelled by desire nor born of ignorance[6] Whatever issues from him is potent enough to abrogate the miseries of the tormented humanity Hundred of souls get spiritually converted by his mere sight, forsaking their sceptical and perverted attitude towards life His presence is supremely enlightening Even his body causes amazement to indra in spite of his beholding it with thousand eyes[7] As he has transcended human nature and is revered and worshipped even by celestial beings, he is supreme God[8] Thus he is the embodiment of mystical virtues, and is the spiritual leader of society[9] He is beyond attachment aversion and infatuation, and consequently, he is absolutely dispassionate[10] By virtue of his intuitively apprehending the nature of reality, as also the implications of the sacred text, all his doubts have been resolved[11]

The perfected mystic has been able to adorn himself with self-control, since he has abandoned all Himsa and has resisted the temptations of senses and mind He has also subdued anger, lust, greed etc by performing the internal and external austerities[12] In

1 *Ibid* p 69
2 Acara p 199
3 *Ibid* p 131
4 *Ibid* p 171
5 Jnana LXII-33
6 Svayambhu p 71
7 *Ibid* p 89
8 *Ibid* p 75
9 *Ibid* p 35
10 Prava p 1-14 and Comm Amrta

mystical language we may say that with the emergence of the Atmanic experience and steadfastness in it, the conquest over the mind, the senses, and the passions becomes natural to him, i e, a thing flowing from his intrinsic nature By virtues of his self-realisation, and of having achieved sublime concentration and owing to his simultaneous establishment in the triune path of right belief, right knowledge and right conduct, he has transcended the dualities of friends and enemies, pleasure and pain, praise and censure, life and death, sand and gold [1] And yet in spite of this transcendence, he embrances reconcilable contradictions, he is self-established yet all pervading, is knowing all things yet detached, is associated with great longevity, yet devoid of senility [2] The transcendent mystic has manifested pure consciousness, has destroyed the destructive Karmas, and has attained supersensuous knowledge*, infinite potency and unique resplendence [3] As a consequence of which all his desires for bodily pleasure and pains vanish immediately [4]

The infinite life of the mystic has rendered possible the emergence of omniscience which possesses the potency of completely, simultaneously and intuitively or unassistedly** apprehending all the substances along with their present and absent modifications† in contradistinction to the limited life of sensuous knowledge which congnises substances incompletely, successively and intellectually or assistedly [5] In view of the fact of possessing omniscience, it will not be contradictory to say that the omniscient being is all pervading, and that all the objects are within him, since Arahanta is the embodiment of knowledge and all the objects are the object of knowledge [6] The omniscient being neither accepts nor abandons, nor transforms the external objectivity[7], but only witnesses and apprehends the world of objects without entering into them, just as the eyes see the objects of sight [8] Yogindu, in a similar vein, proclaims that the universe resides in the Parmatman, and he resides in the universe[9] but he is not the universe The pure soul, according to him, is all pervading in the sense that when delivered from the Karmas he comprehends, by his omniscience, physical and superphysical words [10] The knowledge which is independent, perfect, immaculate, intuitive and extended to infinite things of the universe may be identified with bliss on account

---

1 Prava p 1-14, III—41, 42

2 Visapahara Stotra p 1

* That is called supersensuous knowledge which knows any substance, with or without space points, with or without form and those modifications which have not come into existence and those which are destroyed (Prava I-41 Trans Upadhya p 6)

3 Prava p 1-15, 19

4 *Ibid* I-20

** Unassistedly—Without the help of senses light, and mind (Sat Vol I, p 191)

† Absent modifications—Those which have never originated and those in fact that have been and are already destroyed are the absent modifications (Prava I-38, Trans Upadhaya p 5)

5 Prava I-21, 51

6 *Ibid* I-26

7 *Ibid* I-32

8 *Ibid* I-29

9 PP I-41

10 *Ibid* I-32





of the absence of discomposure arising from the knowledge which is dependent imperfect, maculate, mediate[1] and, extended to limited things In other words, the consciousness of the perfected mystic is not only omnipotent and intuitive but also blissful Bliss is naturally consequent upon the destruction of the undesirable and accomplishment of the desirable

The consummate mystic experiences unprecedented bliss, which originates from the innermost beings of self and which is supersensuous, unique, infinite, and interminable[2] A legitimate question is apt to be asked, what does the culminant mystic who has swept away the dense destructive Karmas, who intuits all the entities, who does not allow even an infinitisimal fragment of the objects to escape his all-comprehensive knowledg, and who is free from doubts, meditate upon ?[3] This may be replied by saying that the consummate Atman who is supersensuous, bereft of senses, free from all hindrances, permeated by knowledge and happiness, meditates upon the happiness supreme[4] According to Kundakunda he is the real contemplator of the Atman who after removing the filth of delusion, overthrowing attachment and aversion, detaching himself from the objects of pleasure, restraining his mind, and attaining indifference to pleasure and pain, is established in the intrinsic nature of the Atman, he thus attains inexaustible bliss[5] The perfected mystic is the exemplary illustration of this sort of living Thus the mystical or spiritual consciousness is intuitive, blissful and all-powerful We may conclude by saying that the cognitive, conative and affective tendencies of the perfected mystic reveal their original manifestation in his supreme mystical experience, which is ineffable and transcends all the similies of the world[6]

Bibliography and Abbreviations

1 Acaranga-Sutra (Sacred Books of the East Vol XXII) (Acara)

2 Jñānārnava of Subhacandra (Jñānā) Rayacandra Jaina Sastramala, Bombay)

3 Mokṣamārgaprakasaka of Pt Toderamala (Moksamarga) (Bhāratiya Digambara Jaina Sangha, Chewasi Mathura)

4 Mysticism in Maharastra by R D Ranade (Oriental Book Agency, Poona)

5 Paramatmaprakasa, Introduction by A N Upadhya (PP Intro) Rayacandra Jaina Sastramala, Bombay)

6 Pravacanasāra of Kundakunda with the Commentary of Amṛtacandra (Prava Comm Amṛta) Rayacandra Jaina Sastramala, Bombay)

7 Sarvarthasiddhi of Pujyapāda (Sarvartha) (Bhāratiya Jñānapitha, Kasi)

8 Satkhandagama Vol I of Puspadanta and Bhūtabali with the Commentary of Virasena (Ṣaṭ Vol I) (Jaina Sahitya Uddharaka Fund Karyalaya, Amroti)

9 Svayambhustotra of Samantabhadra (Svayambhu) (Viraseva Mandira, Delhi)

10 Visāpahāra Stotra of Dhananjaya (Mulacanda Kisanadasa Kepadiya, Surat)

1 Prava I-59 and Comm Amrta
2 Prava I-13
3 Prava II-105
4 *Ibid* p 106
5 Prava II p 103, 104
6 Jnana LXII p 76, 77, 78

JAINISM AT A GLANCE*

MRS SUSHILA S. SINGHVI



The word "Jain" is derived from a Sanskrit word "Jina" which means the conqueror who has conquered his lower nature, who has reached the divinity, and in whom the soul asserts the supreme and perfected powers The saint is also termed as "Jina"—the victor, and his disciples, therefore, "Jainas"—the followers of the victor The name Jainism indicates predominantly the ethical character of the system

Historical Background

According to historians, the foundation of Jainism was systematically laid down by Lord Mahavira in 600 B C Jainism is contemporary to Buddhism, and both faiths have prospered since then However, the history asserts that Jainism is much older than Buddhism The credit of recognizing the historical existence of Mahavira goes, surprisingly enough to a German scholar in the field of Indology, Professor Herman Jacobi who made an English translation for the first time of the Jain literature, and published it with a masterly introduction in the series called the 'Sacred Books of the East" in 1884 Ancient historical research has made some progress since then, and today Indian historians freely recognize not only that Mahavira was a historical personage but also his predecessor Lord Parshvanath had historical existence who lived 1200 years before Lord Mahavira

According to Jainism there are twenty-four "Tirthankaras" or teachers In "Kalpa-Sutra" a great religious book, we can find a brief life-history of all twenty-four teachers The first teacher was Lord Rishabhdev, and the last teacher was Lord Mahavira whose life-history is given in a great detail in "Kalpa-Sutra"

Life of Lord Mahavira

Lord Mahavira, the last Tirthankara of Jainas, was a supreme personality and a leader of thought He was born in 599 B C into the royal family of King Siddharatha and Queen Trishala After His conception in the family, the family had increased in wealth, power and prosperity So His parents named Him "Vardhamana"—the Increasor of Prosperity in the Family Later on He was called by His followers as "Mahavira"—the great hero Although a born prince, He showed great indifference to pleasure and pain from His very boyhood At the age of thirty He renounced the world and remained engaged in deep meditation and hard penances for a full twelve years At the age of forty-two, He had become "Kevlin"—Omniscient All Knowing Teacher He then preached his lofty philosophy and message of

* This article is based on a speech delivered by Mrs Sushila S Singhvi at St John's Methodist Church, Dover, New Hampshire on February 13, 1966 The author expresses her sincere thanks to Mr Surendra S Singhvi and Dr D C Jain for their suggestions



universal love and service far and wide for the next thirty years and attained salvation in 527 B C at the age of seventy two

Lord Mahavira's Teachings

Lord Mahavira's first and foremost principle is that of non-violence and universal love, which changed the very hearts of the people at that time The principle of non violence or non-injury had visible effects It has had salutary effect on man's habitual diet Those who came under the influence of Lord Mahavira's personality and teachings gave up eating meat and fish for food and adhered to a vegetarian diet The same principle served to mitigate the rigour and ruthlessness of the criminal injustice of ancient India The principle of compassion was also encouraged by Him

In His last sermon, when asked by one of His disciples, which principle is the most fundamental of His teachings, He replied "Of all my teachings, the first of my five commandments is the most important Do not kill or hurt any living being by word, thought, or deed Do not kill animals Do not hunt or fish, never kill even the smallest creature at any time Do not go to war Do not step upon a worm on the roadside Even the worm has a soul "

The message of "Ahinsa" or non-violence to living beings was the greatest heritage Lord Mahavira has left to mankind The principal of non-violence may also be explained—if we cannot give life to a living being, what right do we have to take life of others Mahatma Gandhi also followed and preached the same principle for freedom of India in the twentieth century

The other four commandments of Lord Mahavira are

1 Never to tell a lie,
2 Never to steal any thing which belongs to others,
3 To lead a life of chastity, and
4 To renounce the pleasures in external objects

The Jain Philosophy

The Jain philosophy consists in attaining the infinite bliss The ultimate object, according to Lord Mahavira, is "Nirvana," which consists in peace, deliverence, and liberation This can be attained by leading a painful and hard life, by practising penances thereby destroying sinful deeds of past lives and not affecting to new ones

Jainism believes in the birth and rebirth-cycle and emphasizes the doctrine of soul The soul never perishes The body is just the cover of the soul One should not think for the comforts of the body, rather one should try to free his soul from birth and rebirth This state of liberation can be attained by disregarding the comforts of the body and doing severe austerities Today the world is becoming materialistic and there is rapid advancement in luxuries and comforts Yet in spite of these comforts there is no real peace and happiness People are constantly striving for happiness and peace but their approach is wrong because the infinite bliss, according to Lord Mahavira, can only be attained by leading a life of austerity.

Some other cardinal principles taught by Lord Mahavira sum up in the right knowledge, right faith and right virtue or conduct There is no right conduct without right belief, and no right belief without right knowledge The virtue can be attained by avoiding

sins. The path of right knowledge, right faith and right virtue leads to the destruction of sins and to perfection Austerity and meditations are two other very important factors in Jain philosophy These lead to ' Nirvana" a state of peace.

Classifications ii Jainism ·

With respect to its sub-division, Jainism can be compared to Christianity Just as Christianity has been divided into Catholicism and Protestantism, and Protestantism further sub-divided into Methodists and Presbyterians, Jainism has also been divided into Digambaras, whose monks are clad in white Swetambaras are further sub-divided into Derawasi, or temple-goers and worship idolatrous, and Sthanakwasi those who believe in private worship, being non-idolatrous and having no temples, and Terapanthi, a small group which emphasizes on thirteen principles and is also non-idolatrous

Just as all the Christians, whether Catholic or Protestant believe in Lord Christ, all Jainas whether Swetambaras or Digambaras worship the twenty-four teachers The goal is the same for all Jainas although the means to achieve it differ slightly from each other

About a Jain Monk

Leading the life of a Jain monk is like a hard nut to crack A Jain monk or a nun lives away from his or her family and travels from one place to another on foot For him, the whole world is his family He usually lives in a group of five or six or more monks He keeps very limited clothes and things which he gets from his followers He does not keep money with him The eldest among them lectures every morning and many followers visit them to listen to their lectures One of the monks goes out from house to house in order to collect food He is respected by all Jainas, and they feel greatly honoured if visited by a monk The reason for collecting food from house to house is that he keeps himself away from monatary attachments The whole day he studies religious books, meditates for a few hours and performs routine religious duties During the rainv season for four months from July to October, he does not go out from one city to another city If it rains the whole day he does not go out to collect food and observes fast on that day The reason for not travelling from one place to another during the rainy season is that there are too many insects and worms on the roadside due to the rain and mud, and he is not supposed to kill them in keeping with the principle of non-violence Thus in modern times also he lives a very hard life, observes several fasts a month, and does not eat before sunrise or after sunset

Jain Temples

Temples are also important for those Jainas who are temple-goers There are hundreds of Jain temples in India Jainas visit them every day Some of them are well known for their architecture For example, Delwara Temple of Abu, which is located in North Western India on a mountain is very famous for its architecture and beauty Among other temples, Palitana (Saurastra), Kesariyaji (Rajasthan), Shikharji (Bihar), Ranakpura (Rajasthan), and others have greater historical significance

Jain Festivals

The festivals of Jainas are of great interest The important festivals are "Paryushana", "Samvatsari", "Divali", ' Gyan Panchami", and others Since austerity is emphasized in Jainism to attain the infinite bliss, Jainas are supposed to observe fast on the festival days.





The fasts are very strict in which they do not eat or drink anything except boiled water during the day time

"Paryushana", the last eight days of the Jain year, is known as the festival of fasts Some Jainas observe fast for one month, others for eight days, and many for one to three days depending upon their will-power and health The last day of "Paryushana" is known as "Samvatsari" All Jainas are supposed to observe fast on this day All the holy places are crowded with followers making their confessions At the close of meetings everyone present asks forgiveness from his relatives, friends, and neighbours for any offence he may have committed intentionally or unintentionally They also write letters to relatives and friends asking for their forgiveness

"Divali", the festival of light is celebrated by all people in India However, for Jainas it has special significance because on that day Lord Mahavira reached "Nirvana", a state of peace

"Gyan Panchami" is another Jain festival when a fast is observed. On this day all Jain sacred books are worshipped.

Conclusion

So far we have discussed in brief the historical background of Jainism, the life and teachings of Lord Mahavira, the philosophy of Jain, the life of a Jain monk, Jain temples and festivals Before concluding this article, a few additional important aspects need to be discussed here

First, India is a country of vastness and variety There is hardly any religion or faith that does not flourish on her soil According to the 1961 census conducted by the Government, there are 366 million Hindus, 47 million Muslims, 11 million Christians, 7 8 million Sikhs, 3 3 million Buddhists and 2 million Jainas Although the population of Jainas is very small in comparision with other religious groups, Jainas are inhabited in large numbers in a few states in India

Second, there are many small scale schools where the principles of Jainism are taught to youngsters as well as to adults In some schools, there are courses on Jainism offered along with other courses At college and university levels, the teaching on Jainism is limited Generally, Jainas learn about the religion at home and also at religious places by attending sermons given by monks and nuns

Third, the World Jain Mission and the International Academy of Jain Wisdom and Culture was founded in 1951 by the late Dr Kamta Prasad Jain It brings out each month a journal called "The Voice of Ahinsa" The headquarters of the mission are located in Aliganj (U P), India The objective of the mission is to propagate and spread Lord Mahavira's gospel of Ahinsa, and the Universal brotherhood, giving a spiritual trend to the erring humanity, and bringing peace and equality between people and people, through the "Voice of Ahinsa"

It seems that the fundamental principles of Jainism are of great importance to the present day turmoiled world The challenge lies in spreading these principles across nations

BIBLIOGRAPHY

Lord Mahavira, edited and published by the World Jain Mission, Aliganj, India, 1962

Diwakar, S C *Glimpses of Jainism*, Delhi, 1964.

Shastri, I C *Jainism and Democracy*, Delhi (All India S S Jain Conference), 1964

Lathe, A B *An Introduction to Jainism*, Delhi, Jain Mitra Mandal, 1964

Lalwani, Genesh (Compiled), *Thus Sayeth Our Lord* (Teachings of Lord Mahavira), Calcutta Jain Bhawan, 1965 (Pamphlet)

Diwakar, S C 'Jainism and Peace'', *The Voice of Ahimsa*, Vol XV, No 7-8 (July-August, 1965)

Bool Chand, *Lord Mahavira* Delhi, 1948

Law, B C. 'Mahavira,'' *His Life and Teachings*

Stevenson, E *The Heart of Jainism*.



SRAMANIC FOUNDATIONS OF ANCIENT EGYPT



RAM CHANDRA JAIN, Advocate,
(Hony Director, Institute of Bharatalogical Research, Ganganagar)

Human society, through its long experiences, developed an understanding that in the motley of these ever-changing events, there is something permanent without which the changes would be unmeaningful There is grief, suffering and woe which none cherishes, then why bring grief, suffering and woe to a fellow human being, nay, to any being on earth enjoying life The discovery of the identity of something permanent in the plurality of living beings became the foundation stone of the human society This permanent substance came to be called Ātman or soul The discovery of soul was the result of the dialectical historical efforts of mankind Human efforts conditioned the nature of society The efforts of the individual members of the society reduced the woe and suffering of his fellow beings to the minimum The ideal individual efforts began to be directed to the end which would cause the least suffering to the other living beings This second discovery of the Efficacy of effort became the driving force of the Soul or Ātman This is what we call Sama in Prākrta and Srama in Sanskrt Sama in Prākrt[1] and Srama in Sanskrt[2] means Efforts The rightness of the efforts is indicated by the word "N", both in Prākrt[3] and Sanskṛt[4] The word Samana or Sramana, thus, means Right Ātmic Efforts The way founded on right Ātmic effort is called Sramanalogy The basic foundations of the science of Sramaṇalogy are the five well-known tenets of Non-Violence (Ahimsā), Truth, Non-Stealing, Continance and Non-Attachment, (Aparigraha)

A group of expert mariners, led by great engineers and accompanied by spiritual leaders, under the supreme leadership of Menes, reached the shores of Egypt in the middle of the fourth millenium B C He was the first Pharaoh, the supreme leader of the people, who founded the great city of Memphis and excavated a lake on the north and west sides of the city [5] He peacefully developed the new country as the interpretation of the Slate Palette of Narmer indicates[6] Menes and his people remembered their original home as Punt The root of the word is Pwn, the T being the usual feminine ending for a foreign country[7] The Pwn may be identified with Paṇi of Bhārata Punt, thus means "the country of the Panis" The Panis of the Ahi sub-race were a great sea-faring adventures of Bhārata Menes, thus, appears to be a great Pani leader who took his Sramanalogical culture and civilization from Bhārata to Egypt

The Sramanalogical beliefs of the ancient Egyptians are contained in the Book, "The Manifestation of Light" miscalled "Book of the Dead" The essential parts of this book originated in the most ancient times This book claims to be a revelation from Thoth The oldest monumental evidence of the existence of Thoth is available in the oldest existing Egyptian temple belonging to the reign of Chefren (Shafra), the builder of the second pyramid He belonged to the fourth dynasty and lived circa 2800 B C Thoth is the same as Tet, He flourished circa 3350 B C This Thoth was later regarded as essentially the god of learning,

he was the master of the words of god, i e , Hieroglyphies, he was the scribe and messenger of the gods, he was the Measurer of time and the Mathematician Hesepti or Hesep is mentioned in several copies of the Book as the author of the two of its most important chapters. Thoth or Tet and Hesepti or Hesep, the plebians, certainly do belong to the first Dynasty and lived also during the times of Menes[9]

The Egyptians believed in Soul, its Right Effectiveness, Transmigration of Soul and its final Attainment (Siddhi) They believed in body and intelligence, Matter and Spirit' The five Sramanalogical tenets of the Egyptians are given with manifold details in the 125th chapter of the Book This chapter "Hall of Truth" is very significant This chapter contains 48 Sramanalogical tenets of Non-Violence, Truth, Non-Stealing, Continance and Non-Attachment along with three tenets of Right Knowledge, Right Conduct and final aim of Siddhi[10]

These Sramanalogical beliefs of the most ancient Egyptians were at the foundations of their political social and economic institutions

Sramanalogy reflects itself in political institutions as a Republican system Kingship, Ganapatiship and dictatorship is abhorrent to it Menes was the first great personage at the dawn of the Egyptian history who united the two regions of upper and lower Egypt Menes, Mena or M'ns means the establisher of the station[11] He is the first pharaoh At first no single minister stood between the Pharaoh and the various branches of the administration There was no grand vizier The vizierata was, however, introduced under the fourth Dynasty[12] The Egyptian state was divided into various nomarchs Nomarch was the local administrator resembling the modern pattern of a provincial executive head Nomarch Nesutnefer, of the fifth Dynasty, is marked by his title as 'Leader of the Land" He led the people; he did not govern them Perhaps the people selected him and the Pharaoh nominated him He enjoyed the confidence of both the pharaoh and the people The election or selection of this official was dependant on the moral virtues of the incumbent of the office The ideal official was the silent man", who is respectful of established authority and just, since maat (which means Truth, Justice, Rightness) is part of the world order of which his royal master, the pharaoh is the champion The silent man is not the meek sufferer, but the wise, self-possessed, well-adapted man, modest and self-effacing upto a point but deliberate and firm in the awareness that he is thoroughly in harmony with the world in which he lives[13] His idealism was not of the coward, it was of the brave Pharaoh, the supreme leader of the people, possessed these qualities almost to a point of perfection He was the best and the noblest servant of the people Men of high moral fibre, possessing great intellectual and spiritual qualities, self-effacing, having little material possessions occupied high public offices with no hereditary rights This ancient type of republican society flourished in Egypt till circa 2200 B C



Sramanalogy reflects itself in the social sphere as freedom, equality and progress of the individual and the group. This was the age of Tirthankar Mallinath when the first servant of Egypt, under the leadership of Menes, went from Bhārata to their new home Egypt imported custom of matrilineal descent from here first immigrants Monogamy was the general custom The position of women was of equality and prestige. She was economically independant and enjoyed status and freedom She would attain the position of a priestess. She could go anywhere without molestation All landed property descended in the female line from mother to daughter[14] Family was the social unit and based on a single

individual was of necessity small The marriage took place outside the family Monogamy was compulsory Polygamy was unknown to the inhabitants of the Nile Valley Women constantly appeared in public, were equal in the eye of law, could ascend the throne and administer the government of the country The Nobles also limited themselves to a single wife whom one made the partner of his cares and joys and treated her with respect and affection[15]

The economic life of the ancient Egyptians was marked by simplicity equality, peace and progress Though the people voluntarily granted certain privileges to the priests for their specific services, their general living was marked by simplicity[16] The society generally was composed of middle classes They lived in one-storeyed or two-storeyed simple houses Side by side the houses of the common people, we find massive, huge, spacious and palatial buildings, pyramids and temples Private houses and community buildings characterise the individual and state-governed economic life of the people It was a mixed economy

Egypt in the fourth millenium B C was the granary of the civilised world The peasantry was simple It was really free from the entire class of restrictions and interferences It was not vaxatiously interfered by the Government It had freedom of choice with respect of crops and farming operations[17] The common people were mostly tied to the land which they tilled for their own living and for the maintenance of the State[18] The Egyptian peasants lived wonderfully simple and unpretending[19] The Egyptians were good and industrious peasants and employed improved methods of husbandry Their natural intelligence was remarkable as they were free tenants of their land They had not to render forced labour They employed elaborate system of canals, with embankments, slimes and flood-gates and counstructed reservoirs for flood water Land was extensively reclaimed from marshes for cultivation They had abundant surplus yields

The Egyptian industries were diversified and individual-owned The most important Egyptian industries were building, stone-cutting, weaving, furniture-making, glass-blowing, pottery, metallurgy, boat-building and embalming[20]

The sarplus agricultural and industrial outputs were stored by the society in the community buildings It appears that the internal trade was left largely in private hands. The international trade was centrally organised by the community Pharaoh was the wholesale merchant Foreign trade was the royal monopoly[21]

The earliest immigrants into Egypt peacefully developed their new home Egypt shows its peaceful development till the fourth Dynasty Snefru built a fleet of sixty ships of one type for trade purposes His times were free from wars[22]

This picture of the most ancient Egyptian people reveals their basic character The society was organised on the basic principles of human freedom, equality and harmony The people lived like brothers in peace and happiness Though the pattern of family earning was private, there was no greed and vulgarity attached to it as private wealth was counter-balanced by community wealth There was no private or public display of wealth The disparities in incomes and possessions appear to be negligible hence there were no classes There might have been high and low people but that was not on account of the differences in material possessions That was due to the inherent merit in intelligence and character of the individual

The society was happy and prosperous for want of social tensions It was an integrated society

This study of this integrated society of the most ancient Egypt is of prime importance in the present age of disintegration wrought by the Āryan materialism of history that established its hegemany over the whole world by the beginning of the first millenium B C The communist tribalism and the capitalist tribalism both, the ultimate dialectical developments of the Āryan materialism, stand at the brink of self-annihilation. Matter is characterised by division and disruption It has divided, disrupted and disintegrated the human soul and the human society How the materialistic tribal force displaced the Sramanic free society is an interesting chapter of history The fundamental way that would regain to humanity its lost freedom, equality and peace has to be rightly understood and followed This is the imperative necessity of the age This purpose of the age forces upon us the necessity of undertaking the Sramanalogical research on an international scale The imperialistic necessity gave birth to the science of Oriental Research The human necessity has to give birth to the science of Sramanalogical Research to discover the principles which may lead to the establishment of an integrated society of mankind

REFERENCES

1. M D T Seth, Pāi-Sadda-Mahannavo, 1928, page 1081
2 Monier-Williams, A Sanskrta-English Dictionary, 1956, page 1096
3 H D T Seth, op cit, page 467
4 Monier-Williams, op cit, page 431
5 Herodotus, The Histories, 955, page 138
6 (1) M A Murray; The splendour that was Egypt, 959, Plate LXVIII on page 196
(2) R C Jain, The Most Ancient Āryan Society, 1964, Chapter 2, Sec VII "Origins" The Plate is given detailed interpretation here
7 M A Murray, op cit, page XXI
8 (1) G Rawlinson, Ancient Egypt, 1881, Vol I, page 136, Vol II, pages 38, 31, 28
(2) M A Murray, op cit, pages 330, 161
9 J H Breasted, Development of Religion and Thought in Ancient Egypt, 1959, pages 52, 55, 56, 418
10 (1) James B Pritchard, Ancient Near Eastern Texts, Relating to the old Testament, 1955, page 34-36
(2) R C Jain, op cit, These tenets have been re-classified and re-organised in the chapter 'The Sramanic Way" of M A A S
11. G Rawlinson, op cit, page 27
12 H Frankfort, The Birth of Civilization in the Near East, 1956, page 84
13 H Frankfort, op cit; page 87
14 M A Murray, op cit, pages 101-104
15 G Rawlinson, op cit, Vol. I, pages 534, 539, 552, Vol II, page 324
16 G Rawlinson, op cit, Vol I, page 439
17 G Rawlinson, op cit, Vol I, pages 151-155
18 H Frankfort, op cit, page 90
19. G Rawlinson, op cit, Vol II, page 42
20 G Rawlinson, op cit, Vol I, page 483
21. H Frankfort, op cit, pages 98-99
22 M A Murray, op cit, page 97



THE JAIN CONCEPTION OF AHINSA



G L. AMAR
(M A, Shastri, Kavyatirtha, Sahityaratna)

What is Ahinsa

Jainism[1] is a practical religion, and consistent with temporal activity and prosperity It does not inculcate laziness, or inertness It is not the fatalism of the idle do-nothing-fellow. It is a religion which can be practised while one is engaged in the daily transactions of life in this world A good Jain may happen to be engaged in any kind of persuit He may be a king, a statesman, a military commander, a soldier, a trader, an artisan or an agriculturist, and yet he is in a position to adopt the vow of Ahinsa and other vows, to the extent of his limitations and capacities, situation and circumstances in life, and be a good and true Jain

The word Ahinsa is the negative form of a Sanskrit word Hinsa meaning violence, killing, slaying, destruction, injury, mischief, wrong, harm, hurt, etc in any shape or form It is defined as injury to the vitalities, caused through want of care and caution The vitality, literally Prana is of two kinds Bhava Prana, conscious vitalities, are the attributes of Jiva, the soul, such as consciousness, peacefulness, happiness, power, etc Dravya Prana, material vitalities, are ten the five senses (Indriya) of touch, taste, smell, sight and hearing, the three forces of body, speech, and mind, and breathing and age The conscious vitalities are possessed by all Jivas alike So far as the material vitalities are concerned, a Jiva may possess at least four and at the most all the ten of them

Ahinsa is either Autsargiki Nivritti or Apavadiki Nivritti The first is defined as complete Ahinsa in nine ways, by self, through another, or by approbation, and in each case through mind, body and speech That which is not complete, is Apavadiki, and its degrees and forms are innumerable, varying from the slightest to that which just falls short of being complete

Hinsa is also classified as Sankalpaja or Arambhaja Sankalpaja is what which is committed with the sole intention of Hinsa, without any justifying reason whatsoever behind it Arambhaja is committed unavoidably, by householders in the performance of various duties and occupations This kind of Hinsa may be sub-divided as Udyami, Griharambhi, and Virodhi Udyami is Hinsa unavoidably committed in the exercise of one's profession Griharambhi Hinsa is that which is unavoidably committed in the performance of necessary domestic purposes Virodhi is Hinsa unavoidably committed in defence of person and

1 This essay is based specially upon the PURUSHARTHASIDDHYUPAYA of Amritachandracharya, edited by Ajit Prasad

[illegible] connection and [illegible] practices complete [illegible]. A true believer in the [illegible] unable to [illegible] from Arambhaja, [illegible] progress in such [illegible]

[illegible]

[illegible] as well as the material [illegible] leads to Hinsa [illegible] and their [illegible]

[illegible] and [illegible] duly [illegible] the rules of [illegible] injury to the crawling [illegible] shall not be [illegible] there [illegible] Whenever [illegible] injury [illegible] necessarily [illegible] him [illegible] unity of [illegible] leading [illegible]

[illegible] consequences [illegible] of Hinsa [illegible] thinking [illegible] injury, and [illegible] instrument of [illegible] honest [illegible] during an opera- [illegible] such death

[illegible] Hinsa at time [illegible] which [illegible] but the person [illegible] unavoidable [illegible] for the sake of [illegible] about among bushes and fields [illegible] relentlessly follows him on, [illegible] He sees his dead body and [illegible] in the company of friends, and [illegible] generated and acquired by [illegible] the hunter becomes responsible for, though the [illegible] the latter only [illegible] The reason is the [illegible] actuates the action



Even when simultaneously committed by two persons, the same Hinsa at the time of function, curiously enough causes severe retribution to one and a mild one to another One goes out to kill another, and takes his servant with him Both master and servant join the murder The master all along feels an excitement, pleasure and satisfaction in having got rid of one whom he hated The servant however, for fear of losing his job unwillingly joins the master in the foul deed and all along regrets, curses himself and repents for his weekness in serving such a master and enjoying such a foul deed Both are equally guilty but the degree of culpability varies because of the degree of evil intentions entertained by them In effect the same Hinsa committed by both, will affect them differently

Because of intention, Hinsa is culpable sometimes before it is committed, sometimes at the time of commission, sometimes even after it has been committed, and sometimes for attempt to commit it, even when it is not committed, because of the intention to commit Hinsa A person has been contemplating and devising schemes to commit murder, but for some reason incapacitated from carrying out his intention another commits murder, a third commits murder, and thereafter continues to gloat over his act, and a fourth attempts but fails in the attempt to murder All the four are culpable, and have to suffer from Hinsa It is the intention which makes one culpable

Hinsa is committed by one, and there are many who suffer the consequences, many commit Hinsa, and only one suffers the consequence for Hinsa A person commits murder. The many persons who look approvingly on, take interest in and apptaud the deed, have to suffer the consequences thereof Again a whole army fights and kills but the responsibility for all the carnage committed under his order lies with the king

Hinsa gives to one at the time of frution, the consequence of Hinsa only, to another the same Hinsa gives considerable Ahinsa rewards A number of persons happen to witness lynching by a mob One of them sympathises with the victim and puts forth his best efforts to save him from the fury of the assailants Another excites and encourages the mob in the lynching The latter is guilty of Hinsa and the former acquires the merit of Ahinsa

In result, Ahinsa gives to one the consequence of Hinsa, to another Hinsa gives the benefit of Ahinsa A person protects and saves an innocent victim of oppression Another declaims against this act of Ahinsa, and wishes that the victim were not so protected and saved By such thought he becomes liable for Hinsa Again it the person who interferes to protect and save an innocent victim fails in the attempt be would acquire the merit of Ahinsa, though Hinsa has been caused by some one else

Having thus correctly understood what is meant by Hinsa, its consequence, its victim, and perpetrator, persons who embrace the doctrine should always avoid Hinsa, to the best of their capacity

Physical Sphere of Ahinsa

Those who desire avoiding Hinsa, should, first of all take care to renounce wine, flesh, honey and the five Udumbara fruits

The five Udumbara trees are Gular, Anjeera, Banyan, Peepal and Pakar, all belonging to the fig class

Wine stupifies the mind, one whose mind is stupified forgets pity and the person who forgets pity commits Hinsa without hesitation And wine is said to be the worth-place of many creatures which are generated in liquor, those who are given up to wine, necessarily commit Hinsa Pride, fear, disgust, ridicule, ennui, grief, sex-passion, anger etc, are forms of Hinsa, and all these are concomitants of wine

Flesh cannot be procured without causing destruction of life, one who uses flesh, therefore commits Hinsa, unavoidably If the flesh be that of buffalo, ox, etc, which has died of itself, even then Hinsa is caused by the crushing of creatures spontaneously-born therein Whether pieces of flesh are raw, or cooked, or in the process of cooking spontaneously-born creatures of the same genus are constantly been generated there He who eats, or touches, a raw, or a cooked piece of flesh certainly kills a group of sponteneously-born creatures constantly gathering together

Even the smallest drop of honey very offen represents the death of bees Even if one uses honey which has been obtained by some trick from honey comb, or which has itself dropped down from it, there is hinsa in that case also, because of the destruction of creatures of spontaneous-birth born there

Honey, wine, butter and flesh are extreme fermentations Those with vows would not eat them Therein are born creatures of the same genus

The Udumbaras i e Gular, Anjeer, Peepal, Banyan and Pakar are birthplaces of mobile beings Therefore Hinsa of those creatures is caused by eating them Again, it they, the above five fruits be dry, and free from mobile beings, on account of effect of time, even then in using them there is Hinsa, caused by the existence of an excessive desire for them A person would not think of eating such prohibited things, unless he has strong desire for them, and one who has a strong uncontrollable desire is certainly injuring his pure character and is likely to be tempted into the use of the forbidden things The pratice of drying vegetables for use is reprehensible, because of the strong desire for the thing itself Those pure intellects, who renounce the above eight things which cause painful and insufferable calamily, render themselves worthy of Jain discipline

The use of all Ananta-Kaya vegetables must be given up, because in destroying one, infinite (one-sensed living being) are killed Ananta-Kaya vegetable is that which infinite Jivas adopt as their one and common body Vegetables are either Pratyeka or Ananta-Kaya or Sadharana In Pratyeka vegetable only, one Jiva pervades through the body, whereas in Ananta-Kaya infinite Jivas adopt the vegetable as their one and common body, and it is therefore called Sadharana also There are many distinctive characteristics of Sadharana vegetables Most of the vegetables which fructify under ground belong to the Sadharana class such as potatoes, ginger, radish, etc

Fresh butter if not at once melted on fire and strained away, becomes the places for generation of innumerable Jivas This is visibly apparent in what is called fermentation Fermentation in the case of butter, actually commences at once, trough it is not visible early As examples of other prohibited articles may be mentioned, curd after twenty four hours of its preparation, milk if not boiled within forty eight minutes of its being taken out, water which has been kept in a leather vessel Jivas do not generate in butter for forty eigth minutes after its preparation Even then it is prohibited, and has been included with wine, flesh and hone





Those who take their meals at night cannot avoid Hinsa Therefore obstains from Hinsa, should give up night-eating Dav is the natural time for work and taking food Food is more easily, with greater care, and with less probability of injury to living beings prepared in the day than at night The light of the sun makes it easy to pick out, to separate unwholesome stuff, and to remove the worms and small insects which find place in provisions There are many insects which are not even visible in the strongest artificial light There are also many small insects have a strong affinity for food stuffs and which do not appear in day light It is not possible then to avoid Hinsa when food is taken day and night Hearing this observation a carping critic might exclaim that one may well give up eating in the day and take his meals at night only This is obviously improper It is established that he who has renounced night-eating, through mind, body and speech, always observes Ahinsa

International Sphere of Ahinsa

Those who have been impressed with the highest Ahinsa-Elixir, which leads to immortality, should not be distressed on being improper behaviour of the ignorant

"Sacred religion is very subtle, and there is no wrong in committing Hinsa for the sake of religion" People should not allow themselves to be thus deceived in the name of religion and should never kill embodied beings Never entertain the wrong idea that religion flourishes through Gods, and that therefore everything may be offered to them It is a a preverse nation that religion sanctions Hinsa, or that the Gods are pleased at sacrifices of living beings offered in their name Gods are good, and religion is peacegriving, and can never encourage or sanction what gives pain to living being Animals should not be killed for guests in the belief that there is no harm in killing goats, etc , for the sake of persons deserving respect With the idea that a meal prepared from the slaughter of one living being is preferable to that produced by the destruction of many lives One should never kill a living being of a higher grade

Some people urge that be Jains believe that there is life in all vegetables, and further that there are innumerable, and even infinite Jivas in some vegetables Vegetable food would therefore lead to the killing of innumerable lives, and it would be preference to kill one animal for food rather than cut up and cook a number of vegetables This argument is misleading and false It ignores the fact that the body of an animal has innumerable mobile and immobile beings therein The presence of innumerable Amaebae in a drop of blood is a matter which has been proved to demonstration by science , microscopic examination also show the presence of infinite germs in faces, urine and in all parts of the body Thus there is, comparatively speaking, the least Hinsa in injuring the motionless one-sensed living beings belonging to the vegetable kingdom The higher of vitalities possesses a Jiva, the greater it is Hinsa in killing it

Beings which kill others should not be killed in the belief that the destruction of one of them leads to the protection of many others The plausible argument is often raised by sportsman They defend hunting on the ground that by doing so they protect huminity from the revages of ferocious animals The wanton shooting off birds, and fowls, of pig and fox, of deer and rabbit, and fishing or obviously indefencible Lion hunt is a pastime The hunters go in larger parties for the excitement of sports, and not for freeing mankind from the possible attack of the lion In fact the poor lion is beaten and brought out from his seclusion for being shot at for the fun of the big men who level their guns at him from a safe distance

and take pleasure in watching his death agonies The rare case of a person going out to kill a man-eating tiger now requires to be discussed In this case also, it may safely be said that the feelings which actuate him or the hope of a reward, praise, renown, the expectation of being called a bold man, and excitement of sport, rather then the pure desire of saving his fellow men The argument, is in fact, and an apology and on excuse

To proceed further You cannot make some happy by destroying others The feelings of anmity, hostility, and revage are the cause of pain and misery, dread and fear It has been known that serpants and tigers have approached and gone part the saintly ascetics who, wrapped up in their meditation had in them no fear of, and no hostility towards them The serpant or the tiger attacks man, not because, as is wrongly supposed, it is his nature to do so, but because it apprehends harm from man and strikes it self-defence If man, the most intelligent of all creatures, himself cast aside all fear and looked at a serpant or a tiger fearlessly, eye to eye, it would simply be magnetised or hypnotised, would obey his will and never think of injurying him This is the scientific explanation of the miraculous fact that tigers and serpants, bears and scorpions, crawled at the blessed feet of the Munis and Rishis of Yore

"These kill many lives, and accumulate grave sin" Doing this act of mercy, those who injure others should not be killed This is also a fallacious argument Killing does not mean an extinction of life for ever The only way to stop the accretion of bad deads is by self-restraint Loss of life is only a last of the opportunities for spiritual advancement By killing such living being you incur sin and retard the spiritual progress of yourself and of those when you kill

"Those in great suffering will on being killed soon obtain relief from agony" Do not even kill the distressed one by having grosped the sword of such misconception The wrong notion that by killing a dog or a horse, permanently disabled, or suffering from incurable wounds You would relieve of his pain, and would then do good to him is very commonly prevalent In Egypt some people considered it a pious religious duty to stab their old parents to death, in the belief that by doing so thev relieved them of the miseries and infirmities of old age This false belief arises from an ignorance of the law of Karma The pain and suffering which a living being has to endure and go through is inevitable, and a necessary consequence There is no possible escape from it It must be undergone now, or hereafter, in this life or the next the bad Karmas which bring it about must be worked out You cannot reduce the effect of Karmas The chief influencing cause in the killing is that you cannot bear to see the misery of the suffering of the living being and wish to put an end to the disagreeable sight or the piteous means by the cheap process of killing him outright Such an act of Hinsa It is wrongly called and believed to be an act of mercy or commiseration One may well help the distressed by nursing or helping otherwise Veternary hospitals should take as much care of the sub-human class, as other hospitals do for huminity All hospitals should be free There should be no fee charged for medicine, attendance, or surgical operations This is the primary duty of individual citizens Municipal Corporations, and of the State Its neglect is a culpable omission

It is difficult to optain happiness The happy shall, if killed, continue to be happy Do not please adopt the weapon of this (false) reasoning for killing those who are happy Happiness and misery depends upon one's own acts thoughts We cannot make the happy





state, one is in, continue by killing him Cessation of one form of existence does not mean the wiping of all evil Karmas previously acquired, and the continuence of the good Karmas in operation at the time he is killed

A disciple desirous of piety should not cut off the head of his own preceptor when he, by means of constant practice has attained such perfection of concentration, as leads to a good condition of life Here is another illustration of Hinsa committed by misguided fanatics in the name of religion Some persons believe that if the soul of person in deep concentration, and thus in close communication with the super-soul, is separated from the body while in that condition, he will attain everlasting bliss This is a false belief The person in concentration, make, if he is sufficiently spiritually advanced continue the concentration throughout and enjoy the bliss of communion If he is not so advanced, death cannot add to his spiritual advancement The killing is not only useless, but positively harmful as bringing evil Karmas in bondage

Do not believe in the doctrine of "Pot-breaking immediate solvation" inculcated by Kharapatikas, impelled by their thirst for small riches, in inducing such belief in their pupils The sect of Kharapatikas now extinct, believed that the soul was imprisoned in the body, just like a light covered by a pot When the pot is broken the light becomes free and spreads out in all directions The body being destroyed the soul would be free This doctrine was inculcated by wicked priests in order to get rid of their votaries who stayed with them, and whose belongings were on their death likely to come into possession of the priests Much crime was once committed in the name of religion, and the unsuspecting credulity of ignorant people was exployted by criminal sophits

One should not kill himself by zealously giving one's own flesh as food to another starving person, seen approaching in front Self-sacrifice, literally speaking was also at one time considered an act of religious piety It is undoubtedly Hinsa Attempt at suicide is a criminal offence

Ahinsa in the Lyman's Life

One who has perfectly renounced Hinsa will not utter a word which is likely to give pain another, will not do any act which may cause injury to another, will not harbour any thoughts prejudicial to another, will not make anybody else utter words likely to cause pain another, nor commit acts likely to injure another, nor entertain feelings of ill will towards another, and will not opprobate or encourage other who by words, deeds or thought cause pain to another The nine-fold renunciation is Perfect Renunciation If the renunciation is limited in respect of mobile or immobile or of any one or more of the nine kinds of the commission, it would be Imperfect Those who, even offer listening to the doctrine of Ahinsa are not able to renounce the Hinsa of immobile beings should at least give up the Hinsa of mobile beings

Whatever any wrong statement is made through Pramada Yoga (careless activities of body, mind or speech), it is certainly known as falsehood Pramad Yoga having been stated to be the cause of all false speech, sermon, preaching the renouncement of viores and the performance of religious duties, would not be a falsehood, even it should be distasteful, or cause mental pain to the listener Pramada Yoga, chief cause of Hinsa is present in all the false Speeches, therefore Hinsa comes, certainly, in falsehood also Those who are not able to

give up Sa adya untruth (All speech which makes another engage in piercing, cutting, beating, ploughing, training, stealing etc), as is unavoidable is arranging for articles of use, should renounce all the other untruth forever

The taking, by Pramada Yoga, of objects which have not been given, is to be deemed theft and that is Hinsa because it is cause of injury The person ho thin's of stealing, injures the purity of his own inner nature, and if detected in the act of stealing, he is punished and suffers pain He causes pain to the person whom he deprives of the things stolen, which deprivation even bring about death, what to say of inconvenience and trouble The presence of desire and the injury to self in the form of a moral and a spiritual fall, and to the person deprived, resulting there from, constitute Hinsa A layman is not able to follow this high discipline, but he also should obtain taking things which are not given him except such as may be appropriated without permission

Abrahma is copulation arising from sexual desire The vagina is said to be full of humerous living organisms, being constantly and spontaneously born there and those would of course, be killed in the function brought about on sexual intercourse Again, whatever indulgence of the sex-passion is had in unnatural ways on acount of lust, it always brings about Hinsa because it had its rise in desire etc Many a householder is not sufficiently advanced to give up sex-ces re altogether It is only the ascetics who do so The housenolder also should however, observe the vow of Brahmacharya to a limited extent by total obstinece from all sexual desire with reference females other than his own wife

Attachment itself should be understood to be Parigraha It may be object that if Parigrah is defined as mental attachement to things than there can be no external Parigrah The answer is that the Parigrah (Possession of goods) creats an attachment to them It is therefore necessary to give up all external possession to avoid any possibility of an attractions for them Thus Parigraha is of two kinds, external and internal, actual possession of property is external (Bahiranga), while an inclination for possession is internal (Antaranga) All the internal attachment should be suppressed and all external attachments whether living or non-living should also be avoided and if one is unable to wholly renounce cattle, corn, servants, buildings, wealth etc, he also should at least, limit them Such limitation will act as a beneficial check on greed

One should fix the limit of his activities, in all the ten directions and thus complete vow of Ahinsa as regards what in beyond these limits, because of total absence of non-restraint there Then, again, one should fix a limit within those limits for a fixed time in order to shorten the area and duration of Hinsa. He who deliberately renounces all the unnecessary sins, e g evil thinking, evil instruction. careless dealings, gift of instruments of offence, evil-hearing and gambling etc leads his Hinsa vow ceaselessly upto admirable victory One with Partial Vows who observes with 48 hours in the prescribed way, may, well, during the period, be said to have practically reached the stage of a saint He is not actually a saint because the Karmic tendencies which obstract the observance of ideal conduct are not extenct One with partial vows incurs Hinsa arising from the use of articles of Bhoga (enjoyment of an object which can only be used once, such as food and drink, fruit, and flowers), and Upabhoga (enjoyment of an object which can be used several times, such as furniture, dresses, ornaments, buildings), and not other use He should therefore ascertain the reality of things, and renounce these two also, in accordance with his own capicity. In making a gift one gets over greed,





which is a form of Hinsa, and hence gifts made to a worthy recipient amount to a renunciation of Hinsa Mutilation, beating, trying up, overleading, withholding food and drink, are the five transgressions of the vow of Ahinsa, such acts would not be transgressions if indicated for correction or by way of punishment, by one having due authority, and without ill will

Thus knowledge and continued practice will bring about graduated renunciation, and hence it is that a limitation to the use of objects necessary for a healthy growth is inculcated Gaduated renunciation, with increasing enlightenment, will lead to total renunciation, and perfect conduct, the path of liberation In the practice of Sallekhana (renunciation of the body), all passions, which cause Hinsa, are subdued Like the other vows, this also helps, strengthens, and leads to Ahinsa Sallekhana, also called Sannyasa, or Samadhimarana, is adapted when in the event of an incurable disease, extreme old age, famine, or calamity, one finds that death is certainly approaching He then obtains forgiveness from all friends and relatives, and with perfect peace of mind, gives up all possessions, gradually reduces his meals, and engages in spiritual contemplation

Conclusion

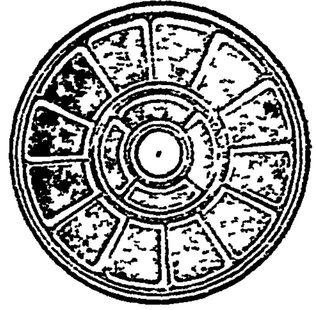
The philosophy of Ahinsa is liable to be misunderstood Ahinsa must proceed from perfectly disciplined mind All moral weaknesses, Pramada, are manifested in the animal impulses of anger, pride, decoit and greed, and unless these mental and moral weaknesses are completely overcome, mere practice of external code such a vegetarian diet and the like will not lead to the spiritual development In one word a man aspiring for perfection must be spiritually free from animal passions and in external conduct must follow the path of non-resistance to evil All discomforts, inconveniences and lack of creature comforts must be endured without resistance and with infinite forbearance This is of course the ideal which can be lived and fulfilled only by saints But the householder also has no immunity from the moral obligation Purity of conduct must be the exponent of perfectly pure mind

The concept of Ahinsa is not negative One has no right to take the life of another creature for his self-gratification Life cannot be restored to the victim, and it is nothing short of brutish barbarism to indulge in self-pleasure at the expense of other creatures who have the same charter of rights to live and work out their ultimate destiny The tyrant is the worst coward, though he poses to be the boldest man The true hero is he who has mastered the animal in him

Ahinsa is in reality the basic social ethic It takes its birth in sociality in human nature, and it builds its whole edifice on that principle It emphasises all those qualities which would inexorably lead to the fortification of the social life of mankind by the ending of all conflicts based upon differences of race, religion and creeds These conflicts, so say the psychologists, are born of human narrowness Ahinsa therefore aims at the eradication of all the prodivities of men Of all the forces which have functioned in human history as solvents of conflict, Ahinsa has naturally been by far the strongest and the most powerful

o

REALITY AND RELATIVITY OF SPACE AND TIME IN JAIN METAPHYSICS AND MODERN PHYSICS



MUNI SHRI MAHENDRA KUMARJI "DVITEEYA"
B Sc (Hons)

Introduction

Human mind is an ocean of inquisitiveness and curiosity Every now and then waves of question spring forth in it Man tries to find answers to them by his rational, intellectual and intuitional power Philosophy and Science are two powerful branches of the same stream of knowledge, which has been ceaselessly flowing to satisfy the curious mind of man Some of the questions tackled by Philosophy as well as Science are regarding the nature of space and time. What are space and time ? Do they really exist ? Are they the forms of matter—or consciousness or some independent entities ? etc

A comparative study of the views of Philosophy and Science can be of great assistance in answering these questions The well-known modern physicist, Sir Edmund Whittaker rightly remarks, ' It is still true that may central philosophical questions cannot be discussed profitably without reference to the physical universe, and recent advances in physics have exhibited some classical philosophical problems in a new light Among this is a question as to the nature of physical space "[1]

The different philosophies have given different solutions to the above problem To give a full account of their efforts is a bit lengthy task In this short paper, the concepts of Jain metaphysics and modern physics are discussed and compared

A *Jain Metaphysical Concept*

In Jain philosophy, a very eloborate, characteristic and systematic exposition of the theory of the universe is to be found But we shall have to confine ourselves only to a brief review of its metaphysical exposition of space and time

Space

Space, which is termed as '*Ākāsa*' is defined as that substance which acts as a container of other substances It is an independent objective reality different from matter, energy and consciousness It is infinite in extent and is composed of infinite number of space-points. It is eternal an existence It is immovable, continuous in texture, non-atomic and invisible. It is imagined to be devided into two parts, on account of the existence of other substances

1 The portion of space, which is occupied by other substances is termed *Loka-Ākāsa* i e universal space

2 The rest of space, which is empty is called *Aloka-Ākāsa* i e non-universal space

---

1 *From Euclid to Eddigton*, p 1



Thus the universe is infinite and is surrounded in all directions by the non-universe which is boundless The problem of the finiteness of the universe is solved by the Jain theory thus There are two substances, called *Dharmāstikāya* and *Adharmāstikāya*, which can be translated as 'positive ether,' and 'negative ether' respectively, for they are considered to be the indispensible media of motion and rest respectively They exist only in the finite universal space, and hence, no substance can move or be at rest in the non-universal space That is, in no condition or under no force, a substance can travel or stay in the non-universal space

The *Loka-Ākāsa* or the universe has a definite size and shape

Its volume is believed to be 343 cubic *Rajjus* Rajju being an astrophysical unit Though the value of a *Rajju* cannot be stated in round numbers, it is definitely greater than X light-years[1], where

$$\left(10^{131 \text{ times}}\right)$$

$$X = K^{K^{K^{K^{K}}}}$$

$$\text{where, } K = 10^{10^{13}}$$

The space of the *Loka-Ākāsa* is similar to a solid figure consisting of three pyramids with rectangular base but with the tops chopped up, which are put one above another, smaller faces of the lowest and middle and the bigger faces of the middle and top touching together.

Time

While there is unanimity of opinion about the ultimate reality of space there is considerable disagreement amongst the Jainas themselves regarding time One school does not accept time as an ultimate reality, but maintains that the unceasing mutability of other substances like souls and matter, etc is in itself symbolised into an 'existent' called time On the other hand, another school of thought considers it to be an ultimate reality Both the schools, however, agree to the fact that the, *Samaya* is the absolute mathematical unit of time The *Samaya* is defined to be the indivisible unit of time Though it is beyond our numerical comprehension, it has a definite value[2] Roughly speaking, one second is greater than X *Samayas* the number 'X' being defined above

---

1 For the discussion of Rajju, see the author's *Visva Prahelika*

2 For the discussion of the mathematical computation of *Samaya*, see *Ibid*

B *Newtonian Concept*

Newton conceived space as some absolute entity His concept of absolute space was "Absolute space, in its own nature, without regard to anything external, remains always similar and immovable '[1] According to Newton, "All things are placed in space as regards order of situation " It means that the earth and the heavenly bodies are situated in an immovable container of boundless extent—which exists and has always existed, independently of whether it is observed by perceiving minds or not, and independently of whether it is occupied at any particular place or not, it is the scene of all that happens in the physical universe, at any instant, every material body is located somewhere in it, and has the possibility of changing from one location to another Its size is infinite, its character uniform, its texture continuous, and its geometry Euclidean [2]

Newton's concept of time was "Absolute true, and mathematical time, of itself, and from its own nature, flows equally without regard to anything external "[3]

C *Theory of Relativity and Modern Concept*

After the advent of the theory of relativity, the concepts of space and time were changed According to Dr Einstein, "Space and time are forms of intuition which can no more be divorced from consciousness than our concepts of colour, shape or size Space has no objective reality except as an order or arrangement of the objects, we perceive in it, and time has no independent existence apart from the order of events by which we measure it "[4]

The philosophical interpretation of the theory of Relativity in Einstein's view is "The universe is a four-dimensional space-time continuum, which is not simply a mathematical construction, all reality exists both in space and in time, and the two are indivisible [5]

Some Scientists have interpreted the Theory of Relativity in a different way According to, Hans Reichenbach, "From conventionalism the consequence was derived that it is impossible to make an objective statement about the geometry of Physical space, and that we are dealing with subjective arbitrariness only, the concept of geometry of real space was called meaningless This is a misunderstanding Although the statement about the geometry is based upon certain arbitrary definitions, the statement itself does not become arbitrary once the definitions have been formulated, it is determined through objective reality along which is the actual geometry Let us use our previous example although we can define the scale of temperature arbitrarily, the indication of the temperature of a physical object does not become a subjective matter By selecting a certain scale we can stipulate a certain arbitrary number of degrees of heat for the respective body, but this indication has an objective meaning as soon as the co-ordinative of the scale is added On the contrary, it is the significance of co-ordinative definitions to lend an objective meaning to physical measurement "[6]



Thus although Reichenbach has accepted the Theory of Relativity, he has maintained that the absolute space and time have objective existences In the concluding chapter of his

1 *Principia Mathematica*, Tr By Motte & Canjore, p 6

2 Cf Sir Edmund Whittaker, *From Euclid to Eddington*, p 13

3 *Principia Mathematica*, p 6

4 *The Universe and Dr Einstein* by Lincoln Barnett, p 21

5 *Ibid*, p 76

6 *The Philosophy of Space and Time*, p 37



work on space and time he observes "The statement that physical space has three dimensions has, therefore, the same objective character as, for instance, the statement that there are three physical states of matter, the solid, liquid and gaseous state, it describes a fundamental fact of the objective world

"We may therefore regard the following statement as the most general assertion about space-time order everywhere and at all times there exists a space-time co-ordinate system

"This result implies the topological distinguishability of space and time In a space-time co-ordinate system one of the dimensions is to be considered as time and the three others as space "[1]

D *Newtonian Concept and Jain Concept*

The Newtonian Concept of absolute space has striking similarities with the Jain Concept of *Ākāsa* Both the concepts regard space as an independent objective reality which is single, continuous, infinite and immovable substratrum of all other substances and which exist even in the absence of the external substances Nevertheless, there is an important difference in the two Concepts In the Newtonian physics, the problem of motion was tried to be solved by postulating a material medium called 'ether' which was supposed to fill the whole space and act as the medium of all kinds of motion including the wave motion On the contrary the problem of motion and rest is solved in Jain metaphysics by the principal of *Dharmāstikāya* and *Adharmāstikāya* which are non-material media of motion and rest respectively It was the postulation of material ether in Newtonian Concept, which was responsible for creating an insoluble enigma for the physicists, as a consequence of which they had altogether discarded in the new theory, viz the Thoery of Relativity But, as far as the question of reality of Newton's space is concerned, it can be said that its logical consistency is still unobjected The renowned western philosopher, Bertrand Russell accepting this fact observes "The Newtonian theory of obsolute space meets the difficulty of attributing reality to not being To this Theory there are no logical objections The chief objection is that absolute space is absolutely unknownable, and cannot, therefore, be a necessary hypothesis in an empirical science The more practical objection is that physics can get on without it" [2]

Thus it becomes clear that Newton's theory of absolute space and the Jain Theory of *Ākāsa* are irrefutable on logical basis Newton believed that absolute true, and mathematical time exists, Jain metaphysics also asserts that the *Samaya*, etc are absolute mathemetical time-units Thus both the concepts are quite akin to each other There is however a slight variance in them In Newton's physics there is no conception of finite velocity of light, and hence it does not accept the space-time relation which has emerged out because of the finiteness of the velocity of the light, whereas the Jain metaphysics has no objection to such relation.

E *Post-Einsteinian Concept and Jain Concept*

There are two aspects of the theory of relativity regarding the nature of space and time

1 The relativity of space and time
2 The reality of space and time

---

1 *The Philosophy of Space and Time*, p 27

2 *History of Western Philosophy*, pp. 90-91

We shall first discuss the former

The special theory of relativity of Dr Einstein states "It is impossible to determine the absolute motion of any uniformally moving system by any experiment whatsoever " On the basis of the theory, it is usually interpreted that there is no existence of obsolute space If this is the true interpretation, the Theory of Relativity does not become consistent with the Jainmetaphysics But, fortunately, the above interpretation is not unanimously accepted, and it seems that is not the true interpretation

Subjective Inability or Objective Indeterminacy

First of all it is necessary to find out whether the 'impossibility' stated in the theory of relativity is 'subjective inability' or 'objective indeterminacy' If our inability to know the absolute motion of any system in uniform motion is, in reality, the subjective inability, then it does not mean that the absolute motion does not really exist On the basis of the Jain metaphysical concept it can be said that the said impossibility is a result of subjective inability, and not that of objective indeterminacy Reinchenbach has very well explained this confusion in his well known treatise He observes

This we are accused of having confused subjective inability with objective indeterminacy

"There are, indeed, many cases where physics is unable to make measurements Does this mean that the magnitude to be measured does not exist ? It is impossible, for instance, to determine exactly the number of molecules in a cubic centimeter of air, we can say with a high degree of certainty that we shall never succeed in counting every individual molecule But can we infer that this number does not exist ? On the contrary, we must say that there will always be an integer which denotes this quantity exactly The mistake of the theory of relativity is supposed to consist in the fact that it confuses the impossibility of making measurement with objective indeterminacy" [1] Thus it becomes clear that it would be wrong to infer on the basis of the theory of relativity that the absolute space has no existance at all

Dr Heisenberg on Absolute Space

One of the top-most physicist of our age, Dr Heisenberg has also made an attempt to remove the above misunderstanding He writes, "The hypothetical substance 'ether', which had played such an important role in the early discussions on Maxwell's theory in the ninteenth century, had—as had been said before—been abolished by the theory of relativity This is sometime stated by saying that the idea of absolute space has been abandoned But such a statement has to be accepted with great caution"[2]

Thus although Heisenberg has not accepted that there exists an independent reality called space, he has at least, accepted that abolition of material ether does not mean abolition of absolute space At another place, Heisenberg quotes an argument of the critics of the Theory of Realtivity Here also though he has not accepted this view he has asserted "It is seen at once that this argument cannot be refuted by experiment, since it is yet makes no assertions which differ from those of the theory of special relativity" [3]



1 *The Philosophy of Space and Time*, p 28

2 *Physics and Philosophy*, p 107

3 *Physics and Philosophy*, p 120



The argument of the critics of the theory of relativity is

"The non-existence of absolute space and absolute time is by no means proved by the theory of special relativity It has been shown only that true space and true time do not occure directly in any ordinary experiment, but if this aspect of the laws of nature has been correctly taken into account, and thus the correct 'apparent' times have been introduced for moving co-ordinate systems, there would be no arguments against the assumption of an absolute space It would even be plausible to assume that the centre of gravity of our galaxy is (atleast approximately) at rest in absolute space The critics of the special theory of relativity might add that we may hope that future measurements will allow the unambiguous definition of absolute space (that is, of the hidden parameter of the theory of relativity) and that the theory of relativity will thus be refuted"[1]

Prof Margenau's Construct

Another Eminent Philosopher-scientist Prof Margenau calls absolute space a possible 'construct', which is his term for 'reality' He writes "The advocate of absolute space bases his attitude on the simple fact that he can intuit three-dimensional space even when it is vacant of objects This kind of space is a possible construct, and it is absolute within the frame-work of the initial question"[2]

Further, Prof Margenau has explained that this kind of absolute space is not adopted by the scientist only because it is not useful to them But it does not mean that the absolute space has ceased to exist

The *Ākāsa* of the Jain metaphysics is also an absolute space, and this theory of *Ākāsa* cannot be refuted on the basis of the theory of relativity, yet we have to accept that in the empirical science, such passive space is of no use, and hence, the physicists may not take account of its reality, as stated by Russell Thus, we may conclude that space is essential in the logical field, lest it is not so in the field of empirical science It should be remarked here that the scientists are not able to solve some other aspects of the enigma of the universe probably on account of their abandoning the absolute space

The Reality of Space-time

The second aspect of the theory of relativity is regarding the reality of space and time We have already seen that all the scientists are not unanimous regarding it Whereas Einstein, Jeans etc consider space and time as merely the intuition of consciousness, Reichenbach, Hiesenberg do not deny their reality To reach some definite conclusion, first of all it is necessary to clearly understand some scientific concepts, such as space, time four-dimensional continuum of space-time, gravitational field, meterical field, ether etc It will be also fruitful to know their relation with the metaphysical concept of '*Ākāsa*' 'time' *Dharma* and *Adharma*

Einstein, etc mean by space an 'order of things, Raichanbach etc conceive space as an independent reality, besides such an order, the Jain metaphysics define *Ākāsa* as an objective reality or real substance giving room to other substances This concept of Jain metaphysics is quite different from the Einsteinian concept But if we accept the Einsteinian concept, the problem of the substratum of the substances is not solved We therefore, on the logical

1 *Physics and Philosophy, p 12*

2 *The Nature of Physical Reality, p. 153*

grounds, have to abandon the Einstinian concept, moreover the Einstein definition is not sufficiently clear. For the general theory of relativity unifies space with the gravitational field or the matrical field Then space no more remains a mere order of things but takes the form of some reality or field which has curvature Now the question is whether this field is an independent reality ? If the answer to this question is not in negative then this field would be probably not much different from the 'real space'

It is generally believed that such a field or curvature is generated only due to the presence of the mass of the substances That is to say anything possessing the mass creates a gravitational field around itself, just as magnet creates magnetic field or an electric current creates an electromagnetic field around it If this is so the gravitational field cannot be considered as an independent reality But this is not strictly true Even in absence of matter or mass, there exists a sort of residual curvature or field in the space This is clearly expressed by Sir Arthur Eddington, the renowned physicist thus "In a region where there is no recognised matter or electromagnetic field there is still a certain small natural curvature, viz that specified by the famous "cosmical constant" The mass, momentum and stress equivalent to this curvature ought therefore to be ascribed to whatever we suppose to occupy such a region, i e to the space, field or ether[1], whichever term we are using "[2] This question makes it clear that even in complete vacuum there exists something which we have to consider as an independent reality The '*Ākāsa*' of Jain metaphysics may be even different from this The twin ethers *Dharma* and *Adharma* seem to be responsible for this natural curvature of space Though we cannot say anything certainly about this, at least it becomes clear that the Einsteinian definition of space falls short in this respect Also the above discussion makes it clear that the concepts of *Ākāsa*, which is given by the Jain metaphysics is not fulfilled by the concepts of space, ether or field of the modern physics

Now, we shall consider the curvature or field, which is different from the natural curvature denoted by the cosmical constant, and which is created by the masses The general theory of relativity proposed by Dr Einstein is supposed to replace the Newton's Law of Gravitation by its La of Curvature of Space According to this law, the properties of space or even the existence of space depends upon the material bodies and energy or masses that are present Where there is a mass, a field or space is generated around it If the mass is removed from that place, the field or space is also removed In other words, as said before this field is connected with a magnet The philosophical interpretation of this phenomenon would be that a gravitational field or metrical field is essentially an atribute of matter and not an independent reality in itself Hence it is clear that the realities represented by *Ākāsa*, *Dharma* and *Adharma* of the Jain metaphysics are quite different from this gravitational field produced by a mass

Next we consider the concept of four-dimensional continuum of space and time This Einsteinian concept is a bit different to be understood As said before Einstein, Jeans, etc



1 Sir Arthur Eddington has given a clear conception of ether According to him the theory of relativity has abolished the material ether, but a non-material ether still exists Also he believes that there is no space without ether and no ether which does not occupy space Thus he makes ether, space and matrical field a single thing (c f *New Pathways in Science*, p 48-41)

2 *New Pathways in Science*, p 47



consider it not to be an objective reality The universe, in their view, is nothing but a four-dimensional continuum of space and time [1]

Also, they believe that the universe consists not of things but of events, and that these events are the various modes of the four-dimensional continuum of space and time Such a picture of the universe is certainly quite confusing On one hand, it is believed that the matter causes curvature in the four-dimensional continuum This belief is clearly expressed in the following anology "Just as a fish swimming in the sea agitates the water around it, so a star, a comet, or a galaxy distorts the geometry of the space-time through which it moves "[2] On the other hand, all these objects which constitute the universe are taken to be the modes of the four-dimensional continuum itself Such ambiguous concepts have weakened the philosophical or more precisely the metaphysical aspect of Einstein's theory Contrary to this, Reichenbach's concepts are quite clear He accepts the fact that space, time and matter are related to each other, but at the same time he does not deny their independent existences Also it is his clear view that calling time a dimension of space on the basis of the concept of the four-dimensional continuum would be wrong He remarks, "Whereas the conception of space and time as a four-dimensional manifold has been very fruitful for mathematical physics, its effect in the field of epistemology has been only to confuse the issue Calling time the fourth dimension gives it an air of mystery "[3] He concludes "We may therefore retain the perceptual difference between space and time without fear of contradicting the mathematical representation The properties of time which the theory of relativity has discovered have nothing to do with its treatment as fourth dimension "[4]

The Jain metaphysical concepts are more logical and clear than Einsteinian concepts By accepting the *pudgala* (i e matter), *Ākāsa* (i e space) and *Kāla* (i e. time) as independent substances The Jain theory does not seem to contradict the theory of relativity The Jain view is that the material atributes of *pudgala* such as mass, motion etc should have no effect on the structure of *Ākāsa* On the basis of the Jain concept, it can be said that the gravitational field, etc generated by matter or material effects should be material and hence the changes or modifications brought about thus also should be connected with matter and not with space

Russell's Conceptual Space

Russell's theory of space is of great value in understanding the confused concepts of the scientists He, in the conclusion of a philosophical discussion on space, states "We have, on this view, two spaces, one subjective and one objective, one knwon in experience and the other merely inferred But there is no difference in this respect between space and other aspects of perception, such as colours and sounds All alike, in their subjective forms, are known empirically all alike in their objective forms are inferred by means of a maxim as to causation There is no reason whatever for regarding our knowledge of space as in any way different from our knowledge of colour and sound and smell "[5]

The two kinds of space interpreted by Russell can be called perceptual space and conceptual space The Jain metaphysical *Ākāsa* can be compared to the conceptual space of

1 *The Universe and Dr Einstein*, p 70.
2 *The Universe and Dr Einstein*, p 92
3 *Philosophy of Space and Time*, p 110
4 *Ibid*, 112
5 *History of Western Philosopho*, p 144

Russell, while the space of the physicists is akin to the perceptual space of Russell But, on logical basis without accepting the reality of conceptual space, the problem of substratum of substances cannot be solved

Zeno's Nest of Space

The Jain metaphysical concept of *Ākāśa* is based on the logical necessity of the substratum of all the substances. Against such a concept the general argument which is the well-known paradox of Zeno, is as follows ' If all that exist were in space, space also would have to exist in space and so *ad infinitum* "[1] ' The answer to this argument is as follows If the substratum of the other substances is conceived to be a material substance, there would be a fallacy of *regressus ad infinitum*, for experience tells us that any material substance cannot stay without a substratum We, therefore, have to conceive of some non-meterial substratum Thus *Ākāśa* or space, which is a non-meterial substratum is defined as that substance, which is self-supported and which can support other substances Hence we need not think of any other substance to support the space

Thus we can conclude that the Jain metaphysical concept of *Ākāśa* is not only irrefutable by the theory of relativity but also unobjectionable on logical grounds

Physical Aspects of the Theory of Relativity

After having discussed the philosophical aspect of the theory of relativity, now, we shall discuss some its physical implications

Shape of the Universe

Einstein's theory of the universe imply that the universe has no definite shape This is expressed by Lincon Barnett thus ' And the most remarkable of these assumptions is that the universe is not a rigid and immutable edifice where independent matter is housed in independent space and time, it is on the contrary an amorphous continuum without any fixed architecture Wherever there is matter and motion the continuum is disturbed" Such a picture of universe does not seem to be logical, for, if the total mass of the universe is constant its effect on the four-dimensional continuum also should remain constant Even when a body moves in the space from one place to another place there is no change in the total mass contained in the universe Hence the total curvature of the universe which should depend upon the total mass contained in the universe should remain constant and subsequently, there should be no change or distortion in its architecture

The Jain theory also states that the shape of the universe which is in fact the shape of the *Loka-ākāśa, Dharma* and *Adharma* remains the same inspite of the motion of the masses inside it.

Fitzgerald Contractions

One of the important implication of the theory relativity in the field of physics is the contractions in space and time-dimension which are popularly known as Fitzgerald Contractions Their mathamatical values can be found by the Lorentz equation According to this theory of contractions when a system moves there accurs a contraction in the space-and-time dimensions In other words, the length of the moving body contracts in the directions of the



1. *Cf Margenau, The Nature of Physical Reality*, p 457

motion, and a clock placed in such a system moves slowly Such contraction in the length of the moving body, is generally spoken of as the contraction in space Now, if we consider it to be the contraction of the real space, it would not be correct For this contraction is the result of thechange in the state of the material substance, and not that of the non-meterial entity like space in which the meterial body exists

The contraction in time-dimension is a bit difficult to comprehend Let us take a simple illustration Imagine that a star is 10 light-years away from the earth Now, if rocket moves with the speed of 210,000 Kilometers/second, how much time would it take to reach from the earth to the star ? The theory of relativity gives to answers to this question —

(1) For the observer on the earth, the rocket will take

$$\frac{300000 \times 10}{210000} = 50 \text{ years}$$

to reach the star (300000 km/sec is the velocity of light)

(2) For the passanger who is travelling in the rocket, there will be contraction in the time-dimension according to the laws of Fitzgerald Contraction This contraction will be in the ratio of 10 : 6 i.e. for the passenger in the rocket, it will take

$$\frac{50 \times 6}{10} = 3 \text{ years}$$

to reach the star

This illustration explains the contraction in time-dimension But, there is still a confusion in the philosophical aspect of this contraction The question arises whether the natural processes of man (one of which is his age) are affected by this contraction, that is to say, whether the natural processes of man will take place according to the contraction in time created by his motion ?

The scientists are probably not unanimous regarding its answer Prof Margenau, for example, states "That the length of rigid bodies is different when it is measured by an observer moving relative to these bodies from what it is when measured by an observer at rest with respect to them Similarly, clocks have their tempo changed when read by moving observers These are empirical facts which are not subject to metaphysical interpretation, they are true and real in every ordinary sense of these words "[1] Contrary to this, the famous physicist Sir Arthur Eddington in answer to the above question writes "In the early days of the theory of relativity one of the most frequent questions asked by my correspondents was, 'Is the Fitzgerald Contraction real or apparent ? Is it really true that a rapidly moving rod becomes shortened in the direction of its motion ?' The answer which I have given in *the Nature of the Physical World* (pp 32-34) is too long to quote here, but having pointed out with an example that we often draw a distinction between things which are 'true' and things which are 'really true', I explained that on the same principles the contraction of the moving rod would be described as true but not really true "[2]

This statement of the renowned scientist makes it clear that the contraction in space and time are not real from the point of view of absolute truth Our commonsense also forbid

1 *The Nature of Physical Reality*, p 110

2. *New Pathways in Science*, p 278

us to believe that the age of man travelling in rocket will increase with his velocity Thus, we can say that the absolute units of space and time have real existence, and that they are not affected by the external phenomena of motion, etc If this had not been the case how the velocity of the light would remain absolutely constant ? For velocity is measured in space units per time—units

The above contractions, when considered in the light of Jain metaphysics, seem to be only material changes, for only material can be relative and the ultimate units of space and time are absolute

Space and time related to each other

In the theory of relativity space and time are related which each other, because of the finite velocity of light Heisenberg has explained this in this way 'In the theory of relativity we have learned that the situation is different Future and past are separate by a finite time interval the length of which depends on the distance from the observer Any action can only be propagated by a velocity smaller than or equal to the velocity of light Therefore an observer can at a given instant neither know of nor influence any event at a distant point which takes place between two characteristic times The one time is the instant at which a light signal has to be given from the point of the event in order to reach the observer at the instant of observation The other time is the instant of the observation, when it reaches the point of the event The whole finite time interval between these two instants may be said to belong to the 'present time' for the observer at the instant of observation '[1] Thus it becomes clear that the knowledge which we obtain through our senses and external equipment cannot be obtained faster than the velocity of light Hence, the definition of simultaneity also depends upon the spatial distance between the event and observer Consequently, in any event the space and time becomes related to each other So far, it is unobjectedly acceptable But, the question whether the velocity of light is the maximum possible velocity or not, is certainly not uncontroversial

It is a fundamental assumption of the theory of relativity that the velocity of light is the maximum possible velocity Now, if we re-examine this assumption in the light of Jain metaphysics, we find that this assumption is not strictly true According to the Jain theory, out of the six substances constituting the universe, only matter and soul are capable of moving The soul, besides capable of moving in space from one place to another, is also capable of getting knowledge of the things situated at far distances without taking help of the external means The actual motion of soul takes place when any living thing moves from one place to another, when a soul transmigrates from one body to another, when an emancipated soul transverses to the end of the universe and also when gods or persons with special powers travel with high speeds from one place to another The epistemological motion is not the actual change of place in space, but in it the soul perceives, intuits or transcends a distant object by its epistemological powers In both the types of motions, a soul can travel at a velocity higher than that of light In the transmigration, a soul can travel with a maximum velocity of one *Rajju* per one *Samaya* Also, in epistemological motion, an omniscient soul can transcend an object *Rajjus* away within a *Samaya*

The above is the possibility of the velocity of soul Now, matter is also capable of moving with surprising speeds The ultimate indivisible particle of matter known as *parmanu*



1 *Physics and Philosophy*, pp 102-3

(the ultimate atom), is also capable of moving with a velocity of 14 Rajjus/Samaya This is the maximum velocity of matter

Now, if we examine the theory of relativity in light of the above facts, we find that the fundamental assumption of the theory of relativity may not hold good in microcosmos Another interesting thing is that in accordance with the theory of relativity, the velocity of any thing may become greater than that of light, if it has no mass The Jain metaphysics asserts that the ultimate atoms and certain types of bodies composed of infinite number of the ultimate atoms are completely massless Mass, according to the Jain theory, is not the fundamental property of matter Thus, if such massless bodies travel with a velocity greater than that of light the theory of relativity would have to accept it

We may also note here that in the modern age, together with the developments of the techniques of space-travelling, the mind of the scientists are eager to cross the speed limit set by the velocity of light In one of the advanced scientific works on the exploration of space Arthur Clarke expressing this possibility writes "Before closing this chapter we must deal with two questions which any discussion of interstellar travel inevitably raises. In the first place, despite the categorical remarks made a few pages ago, can we be absolutely certain that the speed of light will never be surpassed ? The theory of relativity is, after all, only a theory May it not one day be modified, just as it modified Newton's law of gravitation, which had remained inviolate for centuries and was generally regarded as being absolutely correct ?

"Any attempt to answer this question would lead us to the deep waters of Philosophy and would involve such ideas as the fundamental structure of space and time It is doubtful if anyone alive today could contribute much of real value to such a discussion the verdict must be left to the future "[1]

The above question supports the plausibility that the barrier of velocity of light may be practically overcome one day, and if it actually happens, the foundation, on which the theory of relativity stands, itself would fall to the ground

Macrocosmos and Microcosmos

The truthfulness of the theory of relativity will probably be certified only when the law of the macrocosmos would hold good in the microcosmos The amount of knowledge about the microcosmos possessed by the present day physics is also quite small

In such a condition nothing can be said finally about the truthfulness of the laws of physics As far as the theory of relativity is concerned, its experimental basis is also not satisfactorily strong The renowned atomic physicist, Werner Heisenberg himself has accepted this fact thus "In the present state of astronomical observation the questions about the space-time geometry on a large scale cannot yet be answered with any degree of certainty But it is extremely interesting to see that these questions may possibly be answered eventually on a solid empirical basis For the time being even the general theory of relativity rests on a very narrow experimental foundation and must be considered as much less certain than the so called theory of special relativity expressed by the Lorentz transformation "[2]

1 *The Exploration of Space*, p 175

2 *Physics and Philosophy*, p 111

In the articles and the books written on this aspect of science often it is expressed that it the future experiments of science disprove the laws of the past, it would not be much surprising In one of such articles Robert C Cowen has expressed a doubt about the theory of relativity He remarks ' Thus even though the experimental basis of relativity has been substaintially strengthened, physicist will continue to ask in this larger context—Was Einstein right ?"[1] Cowen has tried to show in his article that inspite of the experimental verification the theory of relativity, its certainty will always be doubted

Even if we neglect the views of other scientists regarding Einstein's theory, we can not neglect Einstein's own wordings where he frankly states "No amount of experimentation can ever prove me right, a single experiment may it anytime prove me wrong" This statement, on the one hand, shows the humbleness of this great scientist, whereas on the other hand, it also clearly manifests the imperfectness of science

The whole discussion may be summarised as follows Firstly the veracity of the concepts of space and time based on the theory of relativity is not unequivocal, secondly, its philosophical interpretation is not uncontrovertible The philosophical concepts of Einstein etc. are not clear and logical

The Jain methaphysical theory presents more consistent and logical conepts of space and time In fact the Jain theory is a philosophy of existence The origin of its concepts and theories are not reason but intuition and transcedental knowledge in which the reality is directly experienced Logic can only be a criterion for its theories The why of reality probably may never be known through reason, physical equipments or sensory knowledge Prof Margenau has rightly remarked somewhere in the end of his famous work on the nature of reality . "I know how unwise it is now-a-days to write systematic philosophy—the why of experience and hence the why of reality are problems it does not endeavour to solve To be sure, reality can have no cause in the physical sense of the word This invalidates our phrasing of the questions but not its meaning At this point, the scientist bows out, and the philosopher of existence enters the scene "[2]

*



1 *"Was Einstein Right ?" in Bharat Jyoti, Bombay,* 31st July 1963

2 *The Nature of Physical Reality*, p 458

THE NATURE OF REALITY IN JAINISM AND BUDDHIST PHILOSOPHERS



DR BHAGCHANDRA JAIN, Sahityacharya,
M.A. (Sanskrit), M.A. (Pali), Ph.D. (Ceylon)
Head of the Deptt. of Pali & Prakrit, Nagpur University
Gandhi Chowk, Sadar, Nagpur

Conflicting views and heated arguments about the nature of reality confused the minds of people to such a degree that it became essential to reconsider this vexing philosophical question in a conciliatory spirit. This important step was taken by the Jainas through the theory of Anekāntavāda, which postulates the theory of manifoldness of analysis (Nayavāda) and synthesis (Syādvāda).

According to Jaina philosophy, an entity is possessed of infinite characteristics which cannot be perceived all at once. Therefore one who perceives a thing partially, must be regarded as knowing one aspect of truth as his position permits him to grasp. Even though he is not aware of the entire truth, the aspect he has come to know cannot be altogether disregarded or ignored.

The question arises as to how the whole truth or reality could be known. According to Jaina standpoint, all the theories contain a certain degree of genuineness and hence should be accepted from a certain point of view, but the entire nature of reality and its entities can be perceived only by means of the theory of manifoldness (Anekāntavāda). The Jaina philosophers synthesize all the opponents' views under this theory.

The nature of reality, according to this theory, is permanent in change. It possesses three common characters, viz. utpāda (origination), vyaya (destruction) and dhrauvya (permanence through birth and decay). It also possesses the attributes (guṇas) called anvayī which co-exist with substance (dravya) and modification (paryāyas) called vyatirekī which succeed each other.[1] Productivity and destructivity constitute the dynamic aspect of an entity and permanence is its enduring factor. This view is a blended form of the completely static view held by the Vedantins and the completely dynamic view held by the Buddhists.

All this has nicely been described by Dr Padmarajiah in his book entitled Jaina Theories of Reality and Knowledge. He also pointed out three different views with regard to the relation of guṇa and paryāya with a substance (dravya), viz. the bhedavāda, abhedavāda and the bhedābhedavāda.[2] The bhedavāda represents the view that the attributes and the modifications are a combination with the substance which gives birth to the triple characters (dravya, guṇa and paryāya) of an entity.[3] Both, guṇa and paryāya are two distinctive elements

---

1 Utpādavyayadhrauvyayuktam sat, TSū 5.30; Saddravyalakṣaṇam, TSū 5.29; Guṇaparyayavaddravyam, TSū 5.38. See for explanation the Tattvārthavārtika of Akalaṅka.

2 P. P. 258; also see the Darśana aura Cintana, Khaṇḍa, 2, P. 103

3 Atho Khalu davvamao davvaṃ guṇappajjāṇi bhaṇidāṇi. Pravacanasāra, 110

in this view The former is called sahabhāvī or intrinsic, while the latter kramabhāyī or extrinsic.[1] This ideology was promulgated by Kundakunda and supported by Umāsvāmi, Samantabhadra and Pūjyapāda

According to abhedavāda, the gunas and the paryāyas are synonymous signifying the conception of change inherent in which are both, external modifications of all realities without creating any contradictory position[2] Siddhasena Divākara is the chief supporter of this view and he is supported by Siddhasenagani, Haribhadra and Hemachandra

The third view (bhedabhada) held by Akalankadeva has been accepted by all his commentators and followers such as Prabhāchandra, Vādirājasūri and Anantavirya This view appears in a more developed and normonized form and clarifies further the relation between guna and paryāya in opinion of Dr Padmarajah On commenting on the Sūtra "Gunaparyavavaddravya" of the Tattvārthasūtra, Akalanka suggests that gunas are themselves a distinct category from, as well as identical with paryāvas[3] It means gunas always exist with realities and their modifications which follow one after another Prabhāchandra[4] gives a more critical and comprehensive explanation

All these three views are not fundamentally different from one another, since they unanimously accept the common factors, utpāda, vyaya and dhrauvya simultaneity (sahabhāvitva) and modifications with successivity (kramabhāvitva) The Buddhist philosophers are familiar with the first and last view but they do not make any distinction between them This view shall be examined through the Buddhist literature itself

Samantabhadra explains the triple characters which abide with a substance at one and the same time They are not mutually independent Utpāda can never exist without vyaya and dhrauvya The other two characters are mutually dependent Samantabhadra uses an example to clarify this view If a jar made gold is turned into a crown it will please a man who has an attachment to the crown, but it will displease a man who dislikes the crown, while the third man who is neutral about the crown but is interested in the gold, will have no objection to it at all Here origination, destruction and permanence abide in one reality

Another example is presented to make this controversial point clearer He says he who takes a vow to live on milk, does not take curd, he who takes a vow to live on curd, does not take milk, and he who takes a vow to live on food other than that supplied by a cow, takes neither milk nor curd Thus Samantabhadra concludes that utpāda, vyaya, and dhrauvya may exist in a relative sense

Na sāmānyātmarodeti na vyeti vyaktamanvayāt
Vyetudeti visesāt'e sahaikatrodayādi sat
Ghatamaulisvarnārthī nāsotpādasthitisviyam
Śokapramodamādhyasthyam jano yāti sahetukam.



---

1 Pravacanasāra, Jayasena's commentary, p 121
2 Sanmati Tarka Prakarana, 2 9—14,
3 Gunabhāvādayuktiriti cet, na, arhatpravacanahrdayadisu gunaopādesāt, guna evā paryāya iti vacanirdesah, visesanānupapattirarthābhedaditi cet, na, matāntaranivrttyarthat at Tattvārtha Vārtika, 5 37 2—4
4 Nayaya Kumauda Cand p 363

Payovrato na dadhyatti na payotti dadhivratah
Agorasavrato nobhe tasmāttattvam trayātmakam [1]

The etymology of the word "dravya" itself indicates that a thing is permanent-in-change taking a new form simultaneously with the disappearance of the previous form [2] This view was also accepted by Durvekamiśra according to Krdanta section [3] Śāntarakṣita[4] and Arcata[5] have also recorded this conception in their respective works

Trayatmakavāda and Arthakriyāvāda

The arthakriyākārtiva (causal efficiency) is the result of the doctrines of Bhedvāda, Abhedavā, and Bhedābhedavāda The Satkāryavāda of Sānkhyas, Asatkāryavāda of Naiyāyikas and Buddhists and Sadasatkāryavāda of Jainas are well-known to us in this respect Here we are concerned with the views of the Buddhists and Jainas

The Buddhists assert that the "Particular is the only real element of an entity charactenised as svalakṣana (thing-in-itself) It is supposed to be momentary and a congregation of atoms A thing accordingly is born and immediately afterwards it is destroyed [6] The substance is nirhetuka (devoid of causes) in the sense that it originates without the assistance of causes other than its own cause of origination Each moment produces another moment destroying itself and thus it presents a sort or continuity of existence Thus it manages to maintain a cause and effect (kāryakāranabhāva) relationship

According to Buddhism, momentariness (ksanabhangurata) and causal efficiency (kāryakāranabhāva) are inseparable It treated momentariness, efficiency, causality and reality as synonyms, and hence argued that an entity is momentary because it was efficient and it was efficient because it was momentary On the basis of this idea, the Buddhists criticise causal efficiency in a permanent thing They say that entities come into being either simultaneously (yugapadena) or successively (kramena) But in a permanent thing, both these ways cannot be effective, since they are not able to originate it immediately due to the non-proximity of a cause In the first alternation, the substance should originate all the possible effects in the very first moment of its existence As regards the type of causal efficiency that takes place simultaneously, a permanent thing cannot have any effects, because it can be neither perceived nor inferred As Śāntarakṣita say after having brought about all the effects simultaneously, the nature of a thing comprising its capacity for effective action, disappears, and therefore

---

1 Ātmamīmāmsā, 59-61 quoted in Pramāna Vārtika Svavrti Tīkā by Karnagomin, p 333, Durvekamiśra quotes one more kārika in the Hetubindutīkāloka, p 371
Na naśena vinā soko notpādena vinī dhṛtih
Sthiyā vinā na mādhyasthyam tasmāt vastu tryātmakam

2 Laghīyastrya, 30 Pramāṇamīmamsā, p 24

3 Dravyaśabdena dravati paryāyena gacchati ti vutpatyā dharmī parināmīnityo vivaksitah Paryayasabdena ca parisamantadetyeti dravyamiti vyutpatyādharmah, Hetubindutīkāloka, p 337

4 Tattvasangraha, Atmaparīkṣā I utilized its English translation in the article

5 Hetubindutīkā, p 98

6 Yo yatraiva sa tatraiva yo yadaiva tadaiva sah
Na desakālayor vyāptir bhāvānāmiha Vidyate Quoted in the prameyaratnamālā, p 1
See Jaina theory of knowledge and reality Also see the VIII chapter of the Tattvasangraha

the momentary character of thing is an essential factor for causal effeciency Further more they point out that auxiliaries (sahakārī) must follow the things with which they are connected. These auxiliaries, as a matter of fact, cannot abide with permanent things, because the peculiar condition produced in a thing by auxiliaries would neither be similar nor dissimilar It they make any difference, the efficiency of the permanent thing in producing the cause is compromised and becomes dependent upon other things in order to be efficient If, on the contrary, they are not able to make any difference, the arguments for inoperative and ineffective (akiñcitkara) elements in a thing have no meaning The Buddhists, therefore, conclude that causal efficiency is the essence of the simple and unique moments each of which is totally different from the others [1]

On the other hand, the Jainas believe that a substance is dynamic (pariṇāmī) in character It means thing is eternal from the real standpoint (niscayanayena) and momentary from a practical viewpoint (vyavahāranayena) Causal efficiency, according to them, is possible neither in a thing which is of the static nature (kūtasthanitya) nor in a thing which does not suite to the doctrine of momentariness (ksanikavāda), but it is possible only in a thing which is permanent-in-change To clarification of this view, they say that efficiency takes place either successively or simultaneously Both these alternations cannot be effective in the momentary existence, since the spetial as well as temporal extension which requires the notion of 'before" and "after" for efficiency are absent from the momentary thing of the Buddhists Santāna (continuous series) is also not effective in this respect, since it is too momentary in the opinion of the Buddhists

> Pūrvam nasvarācchaktātkāryam kinnāvinasvarāt
> Kāryotpattirniruddnyeta na vai kāranasattayā
> Yadyadā kāryamutpitsu tattadotpādanātmakam
> Kāranam kārya abhedena na bhinnam ksaṇikam yathā [2]

This view of the Jainas is recorded by Durvekamisra in the Hetubindutīkaloka A writer of the Vādanyaya called Syādvādakesarī who is supposed to be the same as Akalankadeva, is said to have defeated the opponents and established the Jaina Nyāya Vādirāja pays homage to him by saying "tārkikalokamastikamaṇi" in the Nyāyaviniscayavivarana, and Prabhāchandra "Syādvādakesarasatasatatīvramūrtih" in the Nyāyakumudachandra.

According to Syādvādkesarī, Durvekamiśra says, every entity is anaikāntika (having infinite characters), which is the basis of arthakriyā (casual efficiency) Kulabhūsana, a commentator on the Vādanyaya explains this view that 'anyathānupapatti" is the main character of reality, and arthakriyā is possible only in that character

Tathācāvādīt vādanyāye Syādvādakesarī—"akhilasya vastuno'nekāntikaatvam sattvāt anyathārthakriyā kutah" iti etacca vyācaksaṇena Kulabhūsanena tīkākrtā evam vyākhyātamupapāditanca

> Anyathānupapannatvam yasyāsau heturisyate
> Drastantau dvāvapistām vāyācā tau hi na kāranam [3]



1 See Tattvasangraha, 340-346 Also see, HBT p 213
2 Siddhi Viniscaya, 3 11-12 Also see Nyāyakumudacandra, p 379.
3 Hetubindutīkāloka, p 373-74

He, then, on the basis of above view, tries to point out defects in the theory of absolute momentariness and absolute eternalism stating that causal efficiency is not possible in either of these theories of reality Clarifying his own position, Kulabhūṣana asks whether momentary character has causal efficiency during its own existence or in another If the first alternative is accepted, the entire universe would exist only for a moment The effect produced by a certain cause during its own existence would be a cause of others, despite being caused itself, and this series will never end The argument "Cause makes an effect during its own existence and an effect comes into being during the existence of other," is not favoured, since an effect is supposed to be originated during the existence of its own cause and not of another" Otherwise, an effect cannot take place and there will be defect of "Samanantara-virodha", according to which the effects would emerge in the distant future

Tanna tāvadakṣaniko bhāvah kāryam kartum saknoti, tasya kramayaugapadyābhyā-marthakriyāvirodhāt nāpi kṣaniko bhāvah kāryam kartum prabhavati tathāhi kim kṣaniko bhāvah svasattākāle kāryakāraṇasvabhāvo'thānyadā Yadi prathamavikalpastada taduva kuryāt svasattākṣane ca kāryakrtau sarvam jagadekakṣaṇavarti prāpnoti tathāhi kāraṇam svasattākṣana eva yat kāryamakrta tadapyanyasya kāranamiti tadapi tadaiva svakāryam kuryāt [1]

The next moment is also not powerful to generate the thing, since it is not a creator Otherwise, what would be the difference between sat and asat, and kṣanika and akṣanika We could conclude, therefore, that arthakriya is possible only in permanent-in-change character

Tarhi kāryamapi tadaivotpadyeta'nyada tatkālam parihrtya kāryotpattirvirudhyata [2]

Afterwards, Durvekamisra tries to criticise the view of Syādvādakesarī not by advancing arguments but merely hurling insults As a matter of fact, whenever the Buddhist philosophers came across people whose views were different to theirs, especially when they could not refute their theories, they resorted to the practice of rediculing them by means of ironical speech It is in this manner that the arguments of the Jainas against the theory of kṣanikavāda came to be dismissed by pandit Durvekamisra with cursory remarks that a wiseman should disregard the above objects raised by the "Ahrīkas" or Digambaras (yadi nāmahrī-koktirupekṣaṇīya prekṣāvatām) [3] He then tries to show that only the momentary character has a capacity of casual efficiency

Śāntarakṣita also refers to a view which seems to belong to the Jaina tradition, but it is attributed to Bhadanta Yogasena, who is claimed by certain scholars to be a Buddhist philosopher For instance, Bhattacharya says in his introduction to the Tattvasangraha that "nothing definits is known about Yogasena, he is not mentioned in the Nanjio's catelogue of the Chinese Tripitaka nor in any of the Tibetan catalogues" He then tries to prove that Yogasena was a Buddhist philosopher on account of his appellation "Bhadanta" saying "But the word 'Bhadanta' is always used in the Tattvasangraha to denote a Buddhist, or more preferably a Hīnayāna Buddhist Our authors have not made a confusion in this respect anywhere in this book, and on this ground we can take Yogasena to be a Buddhist" [4]

---

1 *Ibid* p 374
2 *Ibid* p 374
3 *Ibid* p 374
4 Tattvasangraha, introduction, p 1

But Śāntarakṣita has not indicated anywhere that the word "Bhadanta" should be limited only to the Buddhist Āchāryas It has been widely used in Jaina literature as a term of respect to elder Bhikkhus [1] It is, therefore, not impossible that Yogasena has been a follower of Jainism or has been influenced by its conceptions, as his views against Kṣaṇikavāda represent the Jaina standpoint Further Śāntarakṣita did not mention anywhere explicitly the criticism made by Jainas against Kṣaṇikavāda Moreover, it is unlikely that in such a comprehensive work he should forget to mention the refutation of the Buddhist theory of momentariness by the Jainas, when the Jainas were their greatest opponents

Some schools of thought opposing the doctrine of momentary (kṣaṇikavāda) were rising even within the Buddhist system For instance, Śāntarakṣita refers to the views of Vātsaputrīyas who classified things under two headings momentary and non-momentary [2] The conception of soul, according to them has been also refuted by Śāntarakṣita [3] Stcherbatsky mentions the Vātsaputrīyas who admitted the existence of a certain unity between the elements of a living personality In all probability they have been influenced by the Jaina views as their arguments are very similar to the Jaina arguments raised against the view of Ksaṇikavāda and Anātmavāda

There are, however, two important points of difference between the Buddhist and the Jaina in the meaning they attach to dravyavāda in their common denunciation of the view which connects this notion of arthakriyākāritva with dravyavāda First, the Buddhist is against dravyavāda of any kind, while the Jaina is against ekāntadravyāvada Secondly, the Buddhists attack actually turns out whatever his profession may be, to be on the hypothesis of the static (kūṭasthanitya) dravya whereas the Jainas's attack is also on the same hypothesis but only as a contrast to his own theory of the dynamic (parināmī) dravya [4] We have already discussed the Jaina's view against ekāntadravyavāda

Dual character of an entity

Some systems of thought accept only the Universal (sāmānya) character of reality Advaitvādins and the Sāṅkhyas are the typical representatives of the view Some other schools led by the Buddhists recognise only particular (visesa) character of reality The third school of thought belongs to Nyāya-Vaisesikas, who treat Universal and Particular (sāmānya and Visesa) as absolutely distinctive entities

Śāntarakṣita first establishes the Jainistic view on the nature of reality He says that according to Jainism, an entity has infinite characteristics which are divided into two categories, viz Universal and Particular Just as different colours can exist in a lustrous gem without conflicting with each other, so the universal and particular elements could abide in a reality

We find two kinds of existence of own nature (svarūpāstitva) The former tries to separate the similar (sajātīya) and dissimilar (vijātīya) substances and indicates their independence This is called Vertical Universal (Urdhvatāsāmānya), which represents unity (anugata-



1 Uttarādhyayana, 20 15, 23 28, 26 9,28 16, Bhagawati 73 209., Dasvai 4 etc
2 Tattvasangrha, 352
3 *Ibid* 336-349
4 Nanvanekātmakam vastu yathā mecakaratnavat,
Prakrtyaiva sadādīnām ko virodhastathā sati Tattvasangraha, 1709

pratyaya) in plurality of different conditions (vyāvṛttapratyaya) of the same individual In other words, the permanent character of an entity is called Ūrdhvatasāmānya [1]

Sādraśyāstitva, the so-called Tiryakasāmānya (horizontal) represents unity in the plurality of different individuals of the same class [2] The word "cow" is used to denote a particular cow and it also refers to others of the same class, because of similarity [3] Likewise, Viśesa is also of two kinds, paryāya and vyatireka The former distinguishes the two modes of same entity, while the latter makes a distinction between the two separate entities

Thus each and every reality is universalized-cum-particularized (sāmānya-viśeṣātmaka) along with substance with modes (dravya-paryāyātmaka) Here "dravya" represents the particular character of a thing The adjective "sāmānya-viśesātmaka" indicates the apprehension of Tiryakasāmānyātmaka and Vyatirekasāmānyātmaka, while "Dravyaparyāyātmaka" points out the ūrdhvatāsāmānya and Paryayaviśesātmaka character if a reality

Both these types of sāmānya have dealt with by Śāntaraksita, Karnakagomin and Arcaṭa They take the traditional example of a jar (ghata) made of gold which can be changed into several modes, while preserving gold as a permanent substance [4]

Another example has been given by Buddhist philosophers on behalf of Jainas. They say that the identical-in-difference (bhedābheda) between the substance and the modes is accepted by the Ahrīkas as the nature of reality [5] When a substance is spoken of as one, it is with reference to space, time and nature, when it is spoken of as different, it is with reference to number, character, name and function. For instance, when we speak of a jar and its colour and its other attributes, there is difference of number, and name, there is also a difference of nature, inasmuch as an inclusiveness or comprehensiveness is the nature of the substance of the jar, while exclusiveness or distributiveness is the nature of successive factors in the form of colour and so forth. There is also a difference of function, inasmuch as the propose served by the two are different Thus the substance is not totally undifferentiated, as it does become differentiated in the form of the successive factors

Desakālasvabhāvānāmabhedādekatocyate
Sankhyālakṣanasañjnārthabhedāt bhedāstu varnyate
Rūpādayo ghataśceti sankhyāsañjnā vibheditā.
Kāryānuvṛttivyāvṛtti lakṣanārthavibheditā
Dravyaparyāyayorevam naikāntenaviseṣavat
Dravyam paryāyarūpeṇa viśeṣam yāti cet svayam [6]

---

1 Tāsu tāsu hyavāsthāsu sa evāyam nara iti anuvrttipratyayahetor naratva jāterūrdhvatāsāmānya sabdābhilāpyastāsu cāvasthāsu Hetubindutikāloka p 343 cf Parāparavivārtavyāpi dravyam ūrdhvtā mṛdiva sthasādisu, Pramāna Mimamsa, 4 5 Ekasmin dravye kramabhāvinaḥ pariṇāmah paryayah ātmani harṣaviśādivat, ibid , 4 8

2 Tiryakasāmānyavyavrttipratyayaheto——Hetubindutīkāloka, p 343, cf Sadrsaparinamastiryaka khandamundadisu gotvavat Pramāna Mīmāmsā, 4 4

3 Arthantaragato visadrasaparināmo vyatirelo go-mahiṣādivat, p 4 9

4 Pramāna Vārtika, Svavṛtti Tīkā, p 333, Hettubinduṭīkāloka, p 309, etc.

5 Hetubindutīka, p 98

6 Tattva Sangraha, 313—315, also see, Hetubindutīka, pp 98

Kamalaśīla explains the Jaina view as to why it stresses on the Universal-cum-particular character. He says, as the Jainas assert: 'If the above doctrine is to be denied, all things would have to be recognised as one. If a certain thing spoken of, for instance, as a jar was not different from other things, such as cloth, then there would be no difference between the jar and sky-flower (i.e. sky-flower is a thing that does not exist at all-hence an absurdity) (ākāśa-kusuma). Like the thing that is always differentiated from all other things, can have no other shape than that of the sky-flower. Consequently, the general character in shape or universal entity has to be admitted.'

Kiñca vastutvam vastugatād ... ghaṭādirbhāvah paṭādinā bhāvāntarenatulyah ... tadā khapuṣpānna ... sarvathā vastantarād- ... ca ... antarād ... sambhavati, khapuṣpatām muktvā ... amabhyupagacchati bhāvāntaratulyatam vastutvam nāma sāmānyam upe... siddham sāmānyātmakam.[1]

Kamalaśīla further explains the Jaina conception of the particular character of an entity. He says that if the same entity, jar, was devoid of dissimilarity, then the jar could not be regarded as anything different from the cloth etc in the form of 'this is jar', "that is cloth", but in fact it does differ from other things. Therefore the particular character is always present in reality.[2]

As the Buddhists do not admit the universal character of an entity, the Jainas endeavour to convince them that the universal character is merged in the particular character of an entity. They set forth the argument that if any entity is not similar to other things, it ceases to be entity. For that which is excluded from an entity, could have no position, but non-existence as in the case of a sky-flower.

> ... rūpi ... tulyat ... hyo ... vastunah
> ... antarena ... atam vastut ama ... hīyate
> Vastuno ... rttasya ... ā sambhāvinī gatih
> Labhate ... rasta ... mukt ... tārāpatra sarojavat[3]

In support of the aforesaid view, another argument is presented on behalf of the Jainas, that is, if an entity were not similar to or different from every other entity, how then is it possible that the common idea of "being an entity," found to appear only in connection with the jar and such things, and not in connection with the crow's teeth. It is so because the said restriction is due to have a certain capacity in their natures. Though, according to Jainism, all things in the form of entities are not different from one another, their capacity may be regarded as the required "communality".[4] This is also called the "Niyatavṛtti". Without accepting this limitation anything could be transformed into thing else.



1 Tattvasangraha Pañjika, p. 487
2 Sa ... ghaṭādirbhā ... yadi paṭādinābh ... yadatulyatvam tena vihīnah syāt tadāyam ghato'yam ca paṭa iti paṭādibhyo ghaṭādirbhinno na siddhyet, svarūpavat bhidyate tasmād ...atirakatvamapi siddham—TSP 487
3 Tattva Sangraha, 1712—13
4 Anyathā hi na sa buddhirbalibhugdasanādiṣu
Vartate niyatā tveṣa bhāveṣ eti kim kṛtam
Sārūpyanniyamo'yam cet sāmānyam ca tadeva naḥ



Later the Jainas dealt with the difference among things They say that if a jar were entirely devoid of dissimilarity to those other things, then there being no difference between them, the jar could not be anything different from those things This would involve a self-contradiction When one is ready to accept some sort of difference among things, he has also to accept dissimilarity as a particular character [1]

Thus according to the Jainas view, like the gleaming sapphire, every entity, while being one has several aspects Of these, some are apprehended by inclusive notions Those that are apprehended by inclusive notions, are inclusive, and hence spoken of as "common", while others, which are apprehended by exclusive notions, are exclusive and hence said to be "particular" The inclusive notion appears in non-distinctive form of "This is an Entity", while the exclusive notion appears in the distinctive form "this is jar, not cloth"

Vastvekātmakamevedamanekākāramiṣyate
Te cānuvṛttivyāvṛttibhuddhigrāhyatayā sthitah
Ādyā ete'nuvṛttatvātsāmānyamiti kīrtitaḥ
Viśeṣāstvabhidhīyante vyāvṛttatvāttatato'pare [2]

Refutation of Jaina conception of reality in Buddhist literature

The Buddhist philosophers criticised the Jaina conception of reality on the grounds of self-contradiction, commingling, doubt, etc The main arguments of the foremost Buddhist logicians were as follows.

Nāgārjuna (about 150-250 A D), the profounder of Śūnyāvāda made the charge that the theory of triple character is itself a self-contradiction formula, as it cannot be associated with reality, since such a thesis is faulty on account of anavasthā-doṣa (regressus ad infinitum) [3]

Dharmakīrti remarks that the Anekāntavāda is mere non-sensical talk (pralāpamātra) He then mentions the Jainas' view "all is one, and all is not one" and points out why the Jainas do not recognize the jar or pot itself as a general character, since Dravyatva is in all of them according to Jainism (Sarvam sarvātmakam na sarvam sarvātmakam) [4]

Dharmakīrti is of the view that the Jaina theory of dual character, viz universal and particular, is so formulated that the character of particularity is relegated to the background and made less significant He explains this with reference to the famous example of camel and curd If the particularity which distinguishes camel from curd or vice-verse is not an important factor, he says, one may as well eat a camel when he wants to eat curd He tries by this argument to demolish the Jaina theory as he understood that curd is not only curd by itself (svarūpena) but also camel in a relative sense (pararūpeṇa) According to Dharmakīrti, these cannot be a universal character between camel and curd and even if such a character

---

Svabhāvānugatāśaktiranenaivopavarṇitā
Atyantabhinnatā tasmādghaṭate naiva kaśyacit
Sarvam hi vasturūpena bhidyate na parasparam —Tattva Sangraha, 1714-16

1. Ibid
2. Ibid 1720-1721
3. Mādhyamika Karikā, 15-40
4. Pramana Vartika, 1-183

exists, their mutual difference or particularity is all that matters for both identification and use

> Sarvasyobhayarūpatve tadvisesanirākrtah
> Codito dadhi khādeti kumustram nābhidhāvati
> Athāstyatisayah kascit yena bhedena vartate
> Sa eva dadhyonyatra nāstītyanubhayam param [1]

Prjñākaragupta (660-720 A D), the well-known commentator and a pupil of Dharmakīrti also refutes the Jaina theory of reality on the line of arguments submitted by Nāgārjuna He says origination, destruction, and permanence cannot exist together If it is destroyed how can it be a reality, if it is permanent, how can there be destruction, and if it is permanent, it should always be in mind He then argues that the reality cannot be realised as both eternal and non-eternal It should be accepted as either eternal or non-eternal [2]

Samantabhadra's view mentioned in the "dravyaparyāvayoraikyam" and "sañjñāsankhyāvisesasca" has not been refuted by Dharmakīrti Whatever may be its reason, it is criticised by his commentator Arcata who followed the arguments of Nāgārjuna [3] At another place he tries to refute the Bhedābhedavāda (identity-in-difference) conception which means the substance and its modes cannot be separated from a realistic standpoint, but they are different in name, number, nature, place, etc from a practical viewpoint It appears as if he does not see much difference between ubhavavāda of Vaisesikas and bhedābhedavāda of Jainas That is the reason why he conceives the substance as being completely different from its modes He refutes the view first in prose under the heading "Ahrīkādisammatasya dravyaparyāyayoh bhedābhedapaksasya nirāsah", and then the same arguments are repeated in fourty-five stanzas

Arcata refers to the Jainas view that they analyse reality through sui-generis (jātyantara) which exposes the combination of identity and difference, although it makes a distinction between the particular and general character of reality For instance, Narasimha is a combination of man and lion, which is not self-contradictory because of the theory of sui-generis

Opposing this theory, Arcata points out that Narasimha is a compendium of atoms which cannot be transformed into Narasimha Due to a combination of the forms which is called Śabalarūpa, a place of existence of diverse natures How then could a unity in nature be proved? Arcata finally remarks that is the philosophy of block-heads (darsanakrto'yam viprayāso mūdhamatīnām)

This criticism is based on the understanding that the nature of reality is completely in two different forms This is the view of Vaisesikas, not Jainas This criticism made by Āranyakas is answered by the later Jaina philosophers such as Vādirājasūri, Anantavīrya, Prabhācandra



---

1 *Ibid* 1 184 185

2 Athotpādavyayadhrauvyayuktam yattatsadisyate
Esameva na satvam syāt etadbhavadhiyogatah
Yadā vyayastadāsatvam katham tasya pratiyate
Pūrvam pratīte satvam syāt tada tasya vyayah katham
—Pramānavārtikalankāra p 142

3 Hetubindutīkā, p 233

of Narasimha which is criticised by the Buddhist philosophers Prabhāchandra says in response to the Buddhist criticism that it is neither nara nor simha, but because of their similarities they are called Narasimna While having mutual seperation they exist non-differently in relation to substence and like wavas in water they emerge and sink in each other Thus there is no self-contradiction in a dual character of an entity in relative sence, as the Jainas assert

Na narasimharūpatvan na simho nararūpatah
Śabdavijnānakāryānām bhedāt jātyantaram hi tat
Na naro nara eveti na simhah simha eva hi
Samānādhikaranyena narasimhah prakīrtitah [1]

Dharmakīrti urged with regard to the Universal-cum-particular character of reality that this theory compelled one to recognize the curd and camel as one entity In connection with the fallacious middle term (hetvābhāsa), Akalanka points out that the Buddhist philosophers discover defects to censure the Jainas on the basis of invalid arguments (mithyājāti) [2] For instance, Dharmakīrti ignores the formula "sarvobhāvāstadātatsvabhāvah" and tries to establish equality between curd and camel Hence he questions why one who intends to eat curd, does not go to eat a camel in place of curd, since according to Jainsim, both have the universal character

Akalanka tries to disaram critics like Dharmakīrti by pointing out the definition of sāmānya and visesa Vādirāja, a commentator of Akalanka explains that the similar transformation of a thing into its modes (sadrasaparinamo hi sāmānyam) is called sāmānya [3] According to this definition the modes of curd and camel are not similar, they are really completely different, as well as similar How is it then possible that there elements are mixed ?

Another argument used for the refutation of the Buddhist standpoint is that the identity is only among tne modes of curd, as hard, harder, hardest, etc , but they have never any sort of relation with the modes of camel Hence, they can never be mixed with each other Vādirāja refers here to a traditional fiction the Dharmakīrti proved himself as a Vidūsaka (jester) because a good knowledge of the opponents theory [4]

Akalanka again criticises the view of Dharmakīrti saying that if the argument that "the atoms of curd and camel may have been mixed sometimes before and the atoms of curd have still the capacity to be transfered into the modes of camel" is to be raised, it would not be advisable For the past and the future modes of an entity are different, and all transactions and transformations run according to present modes The curd is for the purpose of eating, while the camel is for riding The words for them are also completely different from each other The word "curd" can be applied only to curd, not camel It is the same case with the word "camel" too



Akalanka further points out that if in relation to past modes, the unity between curd and camel is derived then Sugata was Mrga (deer) in his previous birth and the same Mrga

1 Nyāya Kumuda Canda, p 369, Anekānta Pravesa Ṭīkā, p 15
2 Nyāyaviniscayavivarana, vol 2 p 233
3 Nyāyaviniscayavivarana, vol 2, p 233
4 Pūrvapaksamavijñyānāya dusko'pi vidusakaḥ, Nyāyaviniscayavivarṇa, vol 2, p 233



become Sugata Why then should Sugata only be worshipped and Mṛga be considered edible ?[1]

> Sugato' pi Mṛgo jāto Mṛgo'pi Sugatah smṛtah
> Tathāpi Sugato vandyo Mṛgaḥ khādo yathesyate
> Tathā vastubalādeva bhedābhedavyavasthiteḥ
> Codito dadhi khādeti kimustramabhidhāvati

Thus he tries to prove that as the tranformations of Sugata and Mṛga are quite different, and their being worshipped and eaten are related to their modes, all substances have the capacity to be transformed only to their possible modes, not to others Therefore the identity between the modes of curd and came cannot lead to the truth Their transformations do not have the tādātmyasambandha and niyatasambandha [2]

In fact, Akalanka and other Jaina philosophers tried to meet the arguments of the Buddhist philosphers in forceful words The innumerable examples of scathing attacks against Buddhists can be seen in Akalanka's and othere Jaina Ācāryas works The caustic remarks, such as "Jādyahetavaḥ", "ahnīkalaksanam", Paśulakṣanam" etc made by Dharmakīrti himself on opponents' views are criticised by Akalanka in the Pramāna-sangraha [3]

Thus the Jaina philosophers do not accept any self-contradiction in the nature of reality in Jainism Likewise, the other defects such as confusion, commingling etc which are based on the self-contradiction, are also proved as "mithyādosāropaṇa", And, according to them, the criticism made by the Buddhists or others is not effective in this context As matter of fact, in their opinion, the nature of reality in Jainism has no defects provided it is clearly understood

Nature of relation of an entity

The nature of an entity is also a controversial point among the philosophers For instance, the Naiyāyikas, the extreme realists, think that relation is a real entity According to them, it connects the two entities into relational unity through conjuntive relation (samavāya sambandha) Samavāya is said to be eternal, one, and all-pervasive [4]

The Vedāntins and the Buddhists, the idealists, are against the view of Naiyāyikas The Buddhists assert the subjective view of relations A relation, according to Dharmkīrti, is a conceptual fiction (sambandhah kalpanākṛtah), like universal, and hence it is unreal [5] He also rejects the two possible ways of entertaing a relation in universal They are dependence (pāratantra sambandha) and interpenetration (rupaslesa sambandha) [6]

---

1 Nyāyaviniscaya, 2 204-5 Likewise at another place
Akalanka, commenting on the Bauddhist Ācāryas, especially Dharmakīrti says
> Dadhyādau na pravartete Buddhah tadbhuktye janah
> *Adrasyam saugatim tatra tanum samsanl amānakah*

2 Nyāyaviniscayavivaraṇa, pt ii p 172

3 Pramāna Sangraha, p 115-116

4 Tarkabhāsā, pt I p 5

5 Pramānavārtika, p 3 237

6 Nyāyakumudacanda, p 305

On the other hand, the Jainas, on the basis of non-absolute standpoint, try to remove the extreme externalism of the Naiyāyikas and the extreme illusionism of idealism of Buddhism and Advaitism They maintain that a relation is a deliverance of the direct and objective experience Relation is not merely as inferable but also as an indubitaly perceptual fact Without recognising relation, no object can be concrete and useful and atoms would be existing unconnected [1]

As regards the rejection of two possible ways of relation, the Jainas says, that they should not be rejected For, pāratantyasambandha is not mere dependence, as the Buddhists ascribe, but it unifies the entity. Rupaslesa is also untenable for this purpose [2]

The two points are here to be noted the first is that, according to Jainism, the entity never lose their individuality Tny make internal changes having consistent internal relation with the external changes happening to them In adopting this attitude the Jainas avoid the two extremes of the Naiyāyikas, 'externalism and the Vedānin' internalism

Another point is that the Jainas consider relation to be a cobination of the reality in it as something unque or sui-generis (jātyantara) It is a character or trait in which the natures of reality have not totally disappeared but are converted in to a new form For instance, nara-simna is a combination of the units of nara and simha They are neither absolutely independent, nor absolutely dependent, but are indentity-in-difference Hence the Jainas are of view tnat relation is the structer of reality which is identity-in-defference [3]

Conclusion

From these comments we may conclude that .—

(i) Arthakriyā is the essence of Syādvāda conception According to Jainism, the arathakriyā is possible in only the dynamic (parināmī) substance

(ii) The nature of reality is universal-cum-particular, and the nature of relation of an entity is deliverence of the direct and objective experience

(iii) There is neither self contradiction nor any other defect which the Buddhist philosophers tried to point out in Jaina conception of reality

*



1 Jaina Theory of Reality and Knowledge

2 Nyāyakumudacanda, p 307.

3 Jaina theory of reality and knowledge, p 233

JAINA ETHICS
Its Ideal and Viewpoint

S C JAIN
M A , Ph D



Indian systems of philosophy are marked for their spiritual and moral outlook Almost all of them have a common feature of ethical inclination Jaina system of philosophy is no exception to the general philosophic trend of the country Some thinkers are of opinion that the most important part of Jaina philosophy is its ethics "Metaphysics or epistemology-infact, knowledge of any kind is useful for the Jaina in so far as it helps him to right conduct "[1] Still we find that Jaina has not been overpowered by this general trend of Indian philosophy but is sufficiently vigilent as regards the critical examination of the various ethical concepts Ethics, Metaphysics and other branches of philosophy constitute the philosophic system Jaina philosophy lays due emphasis on its various aspects It recognizes the claims of all the branches of the system with respect to the system as a whole and also in their mutual relationship in accordance with the spirit of Anekanta philosophy

So there is a close relation between ethics and Metaphysics without explaining the metaphysical intricacies of a system we may not be able to probe deep into its ethics It is said that the postulates of ethics are the conclusions of Metaphysics We fail to draw a clear line of demarkation between Metaphysics and ethics on account of their close relationship William Rashdall remarks, "It is impossible that our views on the ultimate problems of ethics should not be influenced by our attitude towards Reality as a whole, or that our view of reality as a whole should not be influenced by our attitude towards morality" [2] Neither ethics nor Metaphysics can be studied well in their mutual isolation In constructing an ethics without taking the necessary metaphysical problems into consideration we shall be constructing an ethics without necessary foundation, or shall be unwrittingly assuming the validity of the implied metaphysical conceptions

Like many other sciences ethics has a number of axioms and for the validity of these axioms we shall have to resort to Metaphysics It is why a system of Metaphysics is said to build the foundation of the connected system of ethics Metaphysics deals with the fundamental nature of reality which the Jaina finds to be anekantika So Jaina Ethics cannot shut its eyes to this basic nature of reality Actions performed by an individual may be attributed

1 Datta A Chatterjee An Introduction to Indian Philosophy, p 114
2 Willam Rashdall Theory of Good and Evil, p 103

to him is the primary postulate of morality [1] It may be a general postulate common to all system of ethics, but different schools of metaphysics will give different answers to this problem of moral accountability In a similar way other postulate of morality like the immortality of the self, the existence of God, freedom of will and the real existence of evil in the world will be explained in different ways One more axiom seems to be admitted in Jaina Ethics, and it is the possibility of liberation i e the possibility of the attainment of the ethical ideal Jaina Ethics presupposes that 'liberation must be an actual event in the life history of the soul' [2] As regards the metaphysics behind this postulate it is said, 'this aspect of Jaina philosophy did not much attract the attention of the Jaina thinkers themselves Like others they also did not doubt the possibility of liberation, because this possibility is the very hope for which an entire system of philosophy is constructed' [3] Jaina Ethics is not much in disagreement with other systems in respect of these axioms, but the connected metaphysics to explain them must be different on account of the anekanta nature of Jaina philosophy This anekanteka reflection on the problems of Ethics is a singular contribution to the ethical studies by the Jaina and it has given a distinct feature to Jaina Ethics

No less important are the psychological researches to the study of ethics The Jaina writers show a satisfactory insight into the psychological aspect of the ethical problems The truth of psychological Hedonism seems to be admitted in the proposition 'All living beings in the three worlds desire sukha (Happiness or pleasure) and fear pain' [4] 'The summum bonum of life is the attainment of unalloyed bliss'[5] but perhaps very few may be found to be conscious of this high ideal On account of the psychological factors this basic urge for unalloyed bliss is changed into a lust for pleasure The very capacity which, in the absence of obstructing conditions, could have been directed towards the ideal is turned towards the worldly pleasures The capacity for unalloyed bliss and worldly pleasures is fundamentally the same as Aurbindo has observed pleasure can become pain or pain, pleasure, because in their secret reality they are the same thing differently reproduced in the sensation and emotion [6] A drift from the psychological Hedonism to the ethical one does not require a special proof, if the truth of karma psychology is accepted Karma psychology explains the deviations from the pure functions of the self by means of Karma forces which vitiate and delimit its cognitive and conative energies in various ways

McDougall gives another psychological truth in the form of purposiveness He holds that purposiveness is the essence of mental activity We rightly feel that we did not act as a mere machine, but the action was a purposive action in which our nature was truly expressed, and we may confidently infer that the goal was forseen, however vaguely and incompletely at the time of action" [7] So purposiveness means that every living organism is guided by the idea of the end or purpose in view in its behaviour. It is not simply impelled to action by a push of causing factors from behind, but also feels a pull from ahead The idea of the end



1 Willam Rashdall Theory of Good and Evil, p 203
2. S C Jain The structure and the function of the soul in Jainism, p 295
3 *Ibid* p 300
4. Daulatram Chhahadhata, 1. 1
5 C R Jain Key of Knowledge, p 10
6 Aurbindo The Divine Life, p 339
7 McDougall An outline of Psychology, p 49



and the effort to attain it are the facts of psychology in which the truth of the ethical ideal is grounded The vision of the ideal and the effort to attain it will be proportionately clear and energetic to the absence of the disturbing factors in one's psychology Karma psychology conceives these disturbing factors as originating from the karma forces bound with a soul Besides, psychological knowledge of the self proves very helpful to one who aims at ethical attainments He can make a satisfactory diaganosis of his self for ethical purposes by introspecting his own mental states At the same time he will be able to eliminate such components from his vision of the ideal and from his efforts to attain it as may be determined by his psychology Right assessment of this vision and of the required efforts seems to be very essential in the path of ethical progress

In ethics conception of the ethical ideal occupies the most important place Every proposition in the sphere of ethics is formulated with respect to the ideal Ethics is a study of reality with respect to the ethical ideal Mainly two theories regarding the nature of the ethical ideal are in vogue One is Hedonism for which the ethical ideal is sensibility varying from grossest pleasure to its most refined form The other theory is Rationalism which difines the ethical ideal to the pure reason free from all sensibility Just to reconcile these two diverse views there comes Eudaemonism—a theory which recognizes the due claims of sensibility and reason All these theories are based on their conception of the self Hedonism finds the self to be of sensuous nature, while for Rationalism it is all reason Eudaemonism conceives the self as constituted of reason and sensibility both The Jaina bases his theory of the ethical ideal on the possibility of riddance from karma forces The state of the self which results from the breach of karma forces is the ethical ideal of Jaina philosophy In this state the soul's capacities for cognition and feeling are free from the vitiating influence which brought about limited and deluded knowledge and an inclination for worldly pleasures In the absence of the vitiating influence the soul becomes free to cognize every thing and enjoy unalloyed bliss This the state wherein there is no conflict between the cognizing and the feeling faculties of the soul

Jaina ethics recognizes one ingredient of the ethical path in the form of right faith which implies such an attitude of the mind as would direct the process of cognition and conation in congruence with the ideal in view In the presence of this attitude all knowledge and conduct the considered to be right i e leading to the ideal Just as limited knowledge in the presence of right faith is found to be helpful in the attainment of the ultimate ideal, so the lower forms of conduct in the presence of right faith must be held equally helpful on the ethical path Judged from this point of view we find no opposition between reason and sensibility, nor do we need the reconciliation effected by Eudaemonism In the ethical ideal reason must develop into full knowledge and sensibility into an enjovment of the pure state of the soul Jaina Ethics does not totally condemn reason or sensibility, but when they are not directed towards the ideal of pure self for want of right faith, they become undesirable

The true ethical ideal for an individual is the pure state of his own soul,[1] though he may get a good guidance from the study of other pure souls 'Swasamaya or self absorption is the essential goal to be aimed at by the Soul struggling to be free from the fetters of mundane bondage of karmas'[2] Kundakunda's theory of samayasara or the essence of the soul

1 Amrtacandra Purusarthasiddhyupaya, verse 15
2 J L Jaini Commentary on Samayasara, p 2

refers to this ethical ideal All this points to a distinction between the ideal and the actual The ideal is implied by the actual, and the actual is actual only with respect to the ideal There is nothing like the absolute actual and the absolute ideal. Advaita Vedanta's dictum 'that thou art' may be similarly interpreted That' refers to the ideal and 'thou' to the actual Kundakunda himself has differentiated his position from the Samkhyam absolutism on this very ground [1] From this stand-point we find a newer type of consistency in Bradley's concept of 'my station and its duties" One may be at any station in life, his duties must be in congruence with the ethical ideal Ethically the actual must agree with the ideal This is the way how we apply this criterion to judge the worth of lower Ethics The Jaina has to justify the householde's Ethics in this very way The lower ideals are simply means to the higher ones, and they are so admitted to make the gradual ethical progress possible These very ideals, when not accompanied by right faith i e when they are not in congruence with the ultimate ideal, are said to be false ideals

A closer study of the nature of the ethical ideal will provide a better faculty for moral judgment An action found to be in agreement with the ethical ideal must be called moral A motive itself is an action of the mind If it is in agreement with the ethical ideal though only as a motive, will be morally valuable Consequences are something external to the self, and they may in agreement with the internal state of the self If this agreement between the self and the consequences is conductive to the attainment of the ideal of pure soul the consequences may also be said to be morally valuable This problem of moral judgment is basically the problem of moral accountability which in Jaina Ethics is technically called the theory of the soul's bondage The self bound by the karma forces gives us the structure of the self of the karma psychology The actions which lead to this bound state of the self are said to have no ethical value, while those that bring about a free state of the self from such bondage are ethically valuable

One more implication of the Jaina theory of ethical ideal is that in Jaina Ethics pure view point takes the most significant position No doubt the ultimate ideal of Ethics is the pure soul From the point of view of the ideal it must be found as self contained and free from all external vestiges [2] But according to Jaina logic no view point can be adopted in an absolute manner i e with total negation of other view points The truth yielded by such view points is faithful to reality, if they are accomodating to each other [3] So inspite of the fact that the ideal view point occupies a very important place in Jaina Ethics it must be accomodating to the actual view point The letter view point sees the soul as it is found to be i e in relation with its setting and environment while the ideal view point presents to us the picture of our ideal, the actual viewpoint gives us the actual position and situation in which the self happens to be placed Both the viewpoints are equally essential on the ethical path If the ideal viewpoint is upheld in an absolute sense, there is a danger of falling into the position of the Sankhya for whom the Purusa is absolutely immutable When we enter the region of Ethics we have to take cognizance of the actual condition of the self and have to keep the picture of our ideal always in view The standpoint of Ethics just brings about what we call the division of the self into the higher and the lower The higher self passes judgments and issues commands for the lower self As the ethical ideal of an individual is the



1 Kundakunda Samavasara, verses 126-127

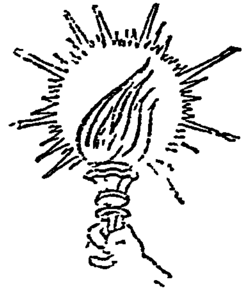
2 Samayasara verse 16

3 Samantabhadra Aptamimansa, verse 108

pure state of his own soul, the moral saction is considered to be internal to the self The same self when qualified by the vision of the ideal becomes the higher self, and when it is disenabled by the forces of karma it is called the lower self Thus the contant consciousness of the ethical ideal proves to be the real guide of an aspirant on his path to the highest goal of life

From the psychological point of view and also from the ethical point of view as seen above the individual nature of the self seems to be an unquestionable truth Whether it is the theorv of Hedonism, Rationalism, Eudaemonism or the Jaina theory of pure soul the individual nature seems to be admitted beyond doubt Bantham and Mill think that the object of every rational being is to obtain the greatest portion of happiness for himself Inspite of this overwhelming egoistic tendency in their systems both of them try to accomodate Altruism, though at the cost of a serious deviation from their fundamental position. Every egoistic system has to answer the above question The advocates of Altruism seem to presuppose that not only the psychological but also the ethical life of an individual is possible only in the society of selves In other words the self is to be seen in its setting and environment and not as divorced from all its relations The Jaina also has to face the problem Anekanta system of thought propounds that a real is a compendium of the relational and the non-relational A real has an existence which implies its identity as abstracted from its setting and also as related to its environment i e how it occupies its position in its setting To think it as absolutely independent of its relations or as absolutely dependent on its relations is the one sided view it yields The anekanta nature of existence accounts for the egoistic cum-altrustic trend of Jaina ethics To hold that a soul is the architect of his own destinity or that it accepts the influence of other factors is a partial way of thinking We may adopt the one or the other view as it suits our purpose, but the true position is identified with neither In this way a soul admits of the good of the other souls in achieving its ideal without losing its own identity and contributions in the process of self attainment The way to attain the ideal is two fold i e with respect to the soul itself and also with respect to the other helping factors The very fact that the soul is prepared to admit the influence of other factors, though after the fashion of 'nimitta' causation, opens an avenue for Altruism in Jaina ethics Love of those who walk on the right path, propogation of truth among the people, care to bring those who have deviated from the right path back on the right path and due encouragement in the form of revealing the merits and concealing the faults of those who have faith in the right path are considered as the very organs of right faith, the most important constituent of the path to liberation The admission that a right faith wanting in any organ will prove impotent in breaking the cycle of births is a clear proof of Altruism in Jaina Ethics It may be said that the position of Altruism explained above is valid only from the practical view point, but one should bear in mind that the practical view point is at least a view point, and it yields, like many other view points, a partial truth Hence in Jaina philosophy, if Altruism is taken to be condemned with respect to Egoism, then Egoism will be equally condemnable with respect to Altruism, while the true position is safe-guarded in Egoism-cum-Altruism The very nature of existence, and hence of the self is antagonistic to absolute Egoism and absolute Altruism On the ethical path the position of the soul seems enriched both by Egoism and Altruism, and the egoistic and the altruistic traits of the self are found in it simultaneously Such a position does not give us any opposition between Egoism and Altruism, but the two are held complementary to each other and go to constitute the good of the self at the various stages of its ethical progress

MAN-MADE GOD



K B JINDAL
(M A LLB IRS)

More than half the world believes without question, or argument that "God created man in his own image "[1] Cool consideration will however show that it was man who created God in his own image, The gods of the Greeks were conceived as finite beings, differing from human being only in degree They lived in Olympus and thought and acted like any one of us Only, they thought more rationally and acted more wisely They were deified ancestors or apotheosized men The incarnated gods of Hindus were also human beings There was nothing supernatural about Rama He was the essence of all that is best and noble in man

As long as religion is a matter of individual conscience, and as long as no priestly caste comes in between God and man, God will continue to be like us Each has his own God and conceives Him after his own fashion And since most of us are similar in physiognomy our God tends to be one

The Church Fathers of the middle ages created a great gulf between God and man They made him a Deity and took him away from us as our brother-man They imputed to him the whole creation of the Universe, and such of man also There is much to fear from Him People cease to do wrong not because their higher self impels them to do so but because there is somewhere some mute glorious power that is their arbiter, They work lest the "talent" may lodge with them useless and God ' returning chide " "The eternal selfconsciousness communicates to human consciousness the idea of social good "[2]

It is profoundly interesting to find Shelley laying down, a century ago, quietly in his room, the laws by which modern scholars govern themselves His "Essay on Christianity" is a blow directed against the popular and orthodox form of religion, as corrupted by churches into a despotism He speaks of Christ as an historical character and as a man To bind him up with miracles is to enfeeble his influence When the miraculous elements are left out, Jesus Christ remains, not indeed Deity, but loving humanity Shelley's 'Necessity of Atheism" sets abroad the spirit of free intellectual inquiry The spirit of science philosophy, and Geology questions the existence of God That earth was result of millions of years of formation is more reasonable than that God made earth in six days Engrossed in the problem of personal immortality, Tennyson and Browning reach a compromise in 1860 That compromise is embodied in three lines

1 Book of Genesis ch 1, verse 27

2 Greene's "Idealism "

"Nothing worth the proving can be proven
Nor yet disproven, therefore thou be wise
Cleave ever to the sunnier side of things"

For every individual the world is his own idea of it The reality is not to be found in any intellectual theory but in the blind impulses of man This is the "Pathetic symphony of the Nineteenth Century", and Hardy uses it to prove that God is a figment of the imagination, a mere make-believe All his life Hardy was much troubled by the questions of good and evil, and how it should be that evil was permitted by Deity who could presumbly have so easily checked it Because there is sin and evil in this world, God has not created it for He could not be such an incompetent architect as to desopoil has own creation.

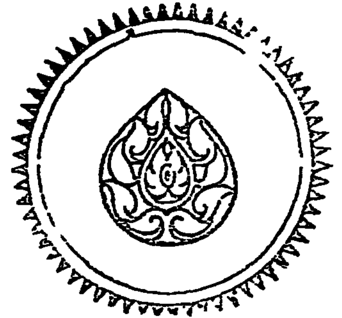
"Are God and Nature at strife
That Nature sends such ugly dreams ?
So careful of the type she seems
So careless of a single life"

Thus God ceases to be our Redeemer, our King of kings, our Heavenly father He has not made the Universe and so could not have "created man in his own image" It is man's infirmity to refuse to be satisfied with evolution He demands a ruddier presentation of the sum of his experience To nature and law, he prefers Destiny and God Where reason fails he reduces every phenomenon, every circumstance to some suitable "*mise-en-scene*" Since the child has been brought up in the belief that there is some supernatural power who controls his and his parent's destinies, we can very well imagine the child's query as to what this power is like And the child pictures God to something after his own shape This is the inherent psychology when we pronounce that "God created man his own image"

Of all human institutions, religious beliefs and practices are the most tenacious But they too must change with the changing times The note of disillusion-ment has been struck by Schopenhauer, and we cannot raise the child's faculty of make-belief to the *nth* power We are all the while conscious that God is our own creation and still we continue to say that God created us We must march back through centuries and tear a page from Greek History At best we can regard God as super-man, a supper-soul, a PARMATMA Man is his self-redeemer He is God himself The Jivatma will one day become Parmatma for—"God in man is one with Man in God"

*

JAIN SATIRISTS IN KANNADA LITERATURE



DR B S KULKARNI

M.A Ph D, Reader in Jainism, Karnatak University, Dharwar

Kannada literature has a history of one thousand years The pioneers in the field are Jain poets, though Jainism is supposed to have come from the North The Jain poets, though wel-versed in Sanskrit and Prakrit, preferred to write in the local tongue That is why Jain poets have become the pioneers in creating literature not only in Kannada, but also in Tamil There are a good number of inscriptions in Kannada to show that good literature might have come up as early as 6th or 7th century A D But no written book is available till the 9th Century A D The first written book is "Kavirājamārga"—written in the court of Nripatunga—the Rāstrakūta King who reigned from 814-877 A D This is a book written mainly on Rhetorics When a book comes out on Rhetorics it is sufficient proof to show that there must have come a lot of literature But to ones' surprise there is not a single work traced so far till we come to the 10th century A D

The first work on poetry is "Ādipurāna" written by the first Kannada poet "Ādipampa" in 941 A D in the court of Arikesari II a Chalukyan King Pampa has written another master piece called "Pampa Bhārata" He has written these two works in Champu form There is a fine blend of Sanskrit, Prakrit and Kannada in his works In Ādipurāna the poet has tried to explain his own religion i e Jainism along with pure poetry In his "Bhārata" the poet has given the story of Vyāsa Bhārata in Kannada This method of the first poet was followed not only by the poets of his own times but by the poets of later centuries also But the latter poets could not raise to the height of the poets of the 10th Century That is why 10 Century is called the Golden period in the history of Kannada Literature.

The literature produced during this golden perid does contain praise of the poet's of the poet's own religion In Ādipurāna, Pampa gives unique picture of a controversy among different religions viz, Cārvāka, Buddhism and Jainism The poet pleads in a very good sportive manner for each religion His satire towards each religion is entirely objective He never brings in low taste nor condemnation of any one religion The same case is with poet Ranna He praises Jainism but never depicts low taste for other religions

But this att tude did not continue during the later centuries During the 12th century a lot of change took over in the field of religious and social life of the people of Karnatak. Jainism began to decline There was no royal help nor protection to Jain poets Virasaiva



Śaraṇas and poets changed the course of Kannada literature The Champu form gave way to Ṣaṭapadi, Tripadi, Sāngatya, etc, and the common man's language was taken as the medium of expression in poetry also Apart from all these things, the literature was made a direct means to propagate the religion But during this period, the 10th century spirit was not *maintained The literature, of course, was used to propagate the religion, but the poets of* this period brought in the literature, not only the praise of their own religion, but also the abuse of other religions So the literature produced during this period, has become "Vāda Sāhitya" (वाद साहित्य) and contains satire of other religions Jain poets of this period did not lag behind, even though, they were in a weak position They did produce literature containing defence and praise of their religion i e Jainism and satire of other religions Glimpses of this attitude, may be seen in many poets of this period, but in this article, mention may be made only to outstanding three poets They are "Nayasena", 'Brahmaśiva" and 'Vrittavilāsa"

Poet "Nayasena" was a Jain monk and has written "Dharmāmrita" in the year 1112 A D He lived in Mulgunda, now a village in the Dharwar District, Mysore State "Dharmāmrita" contains 14 chapters In each chapter the poet has written a story connected with "Darsana" and its eight folds viz, Nisankṣā, niskānksā, nirvichikitsā, amūdhadṛṣtitva, upagūhana, sthitikarana, vātsalya, dharmaprabhāvanā and five anuvritas viz, Ahimsā, Satya, Asteya, Brahmacarya and Aparigraha

In all these stories the poet has tried to maintain the supremacy of Jainism The follies of other Faiths are depicted in a very high type of satire In one story a priest of another Faith condemns Jain monks. This very priest is made to live and eat like Jain monks for only a temporary period The priest is made to eat food prepared out of Ghee etc, and is kept in a room duly locked After some hours he feels thirsty but no water is given till the next day's food time He is made to live without bath like Jain monks and within a week's time his body becomes abode of itchees etc He could not live like Jain monks and he openly admitted the greetness of Jain monks who have full control over all limbs The fine staire in this story is clear evidence to show that poet "Nayasena" was a master in that art Examples of such fine satire are full of his work Nayasena has written his work in the Champu form He is not in favour of writing a book mixing up both Kannada and Sanskrit This attitude of the poet is seen throughout his book Though there are Sanskrit words, his book contains pure Kannada spirit Poet Nayasena uses Kannada proverbs and similia His similia are another noteworthy point in his work The poet give similia one after another and they are all from the local stock and tongue The effect of such fine similia is ever lasting and unforgetable pleasure Because of this 'Deshi' (देशी) 'Dharmāmrita" has earned a permanent place in the heart of Kannadigas apart from its religious tinge and satire

Poet Brahamashiva lived during the first half of the twelfth century and has written two works viz, "Samayaparīkshā" and "Trailokyachudāmanistotra"

In "Trailokyachudamanistotra" the poet condemns the worship of Tree, Sea, River, Sun etc, and says that they are all not gods To be liberated, the poet advises, to follow the path of Jina The 30 verses in this work depict poetry of high order

"Samayaparīkshā" is a masterpiece of poet Brahmasiva This work is a mirror to the contemporary society that existed in Karnatak during the first half of the 12th century from

religious, social and political points of view. All these aspects are depicted with historical sense. It is from this point of view that "Samayaparīkshā" gets unique place in the history of Kannada literature. The poet describes the decline of Jainism and all other different Faiths which had gathered in Karnatak claiming supremacy over each other and leaving the common man in despair. This work contains 15 chapters. The poet has tried to show that Jainism was a very ancient religion and held its sway all over the country. According to the poet every temple, religious place one day or the other, belonged to Jain Faith, and it is the best Faith to be followed. His verses in praise of 'Jina' display a very good poetry. Brahmashiva condemns blind or foolish beliefs. The poet takes references in the epics of other Faiths and describes the folly of them. He has done this part of satire without any mercy. He condemns the ten incarnations (avatāras) of Vishnu. He condemns the idea of 'Ardhanārīnateshvara.' He does not believe in the "Svayambhu" (स्वयंभू) existance of any man or idol. He mercilessly critisises the manners, food, drinks etc., of other Faiths. The satire of Brahmashiva may be felt harsh but as history admits with him, all the honour becomes due to him. His book really satisfies the saying that 'Literature is the mirror of contemporary life." The satire of Brahmashiva has become a boon to the students of history and here lies the poet's greatness.

Poet Vrittavilāsa has written two works viz., "Dharmaparīkshā" and "Shāstrasāra". He has not given anything regarding his date, place, parantage etc. So it is difficult to say about his define te date etc. He is supposed to have lived during the year 1360 A.D. His "Dharmaparīkshā" is based on poet Amitagati's "Dharmaparīkshā" written in Sanskrit. Vrittavilās has written his work in the Champu form. "Dharmaparīkshā" contains ten chapters. The poet has taken stories from Vaidic sources and has tried to show the follies there in. The satire is direct and forceful. His technique of telling the stories and condemning them is fine. He has taken two friends viz. Manovega and Pavanavega. Manovega was a believer in Jain "Siddhānta". Pavanavega was a believer in Vaidic system. Manovega wanted to make his friend a believer in right things and not in false ones. He wanted to do this without hurting the feelings of his friend. So, he adopted a method as if for a fun and at last convinces his friend and brings him to the right path. He took his friend to Pataliputra (Patna) in different garbs such as woodcutter, hunter etc., and going to "Brahma" temple, in the debates, he defeated the learned party. Manovega followed the method of telling a fantastic story. The other party did not believe and questioned its reality. Then Manovega asked them about such stories which were in their religious books. Then told a story and asked "If this is true, mine is also true. If this is not true then mine is also not true." The story is a powerful medium to win our the minds of listeners. So, Manovega wins over his friend without hurting his feelings and brings him to Jain Siddhānta. When Manovega was in the disguise of a shepherd he told a story as follows: "We two went to a forest with our herd. We saw a tree full of fruits. Then we cut of our heads and went up the tree and ate fruits. As our heads ate fruits, the bellies of the bodies lying at the trunk of the tree became full. After eating a lot the heads come down and attached themselves to the bodies. Meanwhile the sheep are missing and we are in search of them. The learned people did not believe and questioned its possibility. Then Manovega gave a good number of examples from Vaidic Epics such as the birth of Jarāsandha, Ghatodgaja and Rāvana cutting his heads and made them sit silent." During another occasion he took a cat and told the learned people that the price of the cat was 1000 'Varāhas'. Being surprised they asked the speciality of the cat





Manovega told that that cat could smell the presence of a mouse round about 1000 'Yojanas' When the cat was examined it was found that its ear was torn and it was bleeding When asked the reason for bleeding, Manovega said "Yesterday night when the cat was sleeping a mouse came and bite the ear" When they laughed Manovega told them stories of inconsistancy from Vaidic sources The work is full of such interesting stories full of satire

Though "Dharmaparīkshā" is a translation it is very useful addition to the Kannada field Vrittavilāsa's satire and poetry is of very high standard

In his second work "Shāstrasāra" also poet Vrittavilas has tried to condemn 'mithyavāda' and has given 'Samyaktva' for common man But this work has not been published so far

To praise one's own religion is something But one should not condemn the religion of others Ofcourse this should be the spirit of the poets as well as common men in general But things shape themselves in the light of the time and circumstances So, one should not worry about such things In Karnatak, "Vādasāhitya" was produced in the light of the times, and Jain poets also contributed their might, though they were in a declining stage and the names of these satirists stand immortal in the history of Kannada literature

*

SOUL IN JAINISM

KHEM CHAND JAIN
M.A.



Almost all the Indian thinkers have accepted two entities i e soul (jeeva) and non-soul (Ajeeva) According to Jain view soul is that element which knows, thinks and feels The fourfold characteristics of Anant-Jnana, Anant-Darshan, Anant-Sukh and Anant-Virya are found in the soul Ajeeva in all respects is the opposite of Jeeva Touch, taste, colour smell etc are the attributes attached to it Ajeeva is divided in to Pudgal, Dharam, Adharm, and Kala

Acharya Nemi Chandra Siddhant-Chkarvarti lays down the eight characteristics of Jīva

Jivo uvaogamao amutti katta sadehaparimano
Bhotta samsarattho siddho so vissasoddhagai

—Dravya Samgraha 1-2

The following verses from Panchastikayasamayasara by Kund-Kundacharya is exactly similar to this verse of Dravya-samgraha —

Jivotti havadi cheda uvaoga visesido pahu katta
Bhotta ya dehamatto nahi mutto kamma samjutto

—Panchastikaya Samayasara 27

Kamma mal vippa mukko uddham logassa ant-madhiganta

—Panchastikaya Samayasara 28

1 *Upayoga*

It is the sole characteristic of Jiva It is a sort of inclination which arises from consciousness This inclination is either towards Darshan or Jñana The detailless knowledge or indefinite cognition is called Darshan In Jñana the details are also known If the attention is directed merely to an awareness that something is present to it but cannot be described, it is Darshnopayoga If it is directed to know this something definitely, it is Jnanopayoga Darshan is divided into four parts i e Chakshu, Achakshu, Avadhi and Kevala So there are four kinds of Karma which obsure each of these varieties By removal, cessation or mitigation of one or more of these varieties of Karmas the corresponding class or classes of Darshan is or are evolved Jñana is of eight kinds viz , Mati, Śruta, Avadhi, Manah-parya, Kevala, Kumati, Kusurat, Kuavadhi It is also divided into two pratyaksha and paroksha Direct contact of

Jiva with the object is called, pratyaksha Sense perception or mediate knowledge is paroksha Avadhi Manah-parya and kevaljñan are pratyaksha and Mati and Srutajñana are paroksha

Charvaka-view accepts sense perception as pratyaksha and gives maximum importance to sense perception, Jain view stands against it The nyaya system recognises the difference between a quality and the possessor of a quality but by saying that Jiva consists of a quality Upayoga which is made up of Jñana and Darshan, the theory of nyaya is upset

According to Vyavahara Naya the general characteristics of Jiva are said to be eight kinds of Jñana and four kinds of Darshana But according to Shuddha Naya pure Jñana and Darshan are the characteristics of Jiva

2 *Amurta*

Jiva in its natural or real state is invisible When the soul is attacked by passians, desires etc it takes on the Karmic material fit for the bondage of Karmas The Karmic materical mixes with the soul as milk mixes withwater or fire with iron Due to karmic material the Jiva becomes Samesari and it has to travel in to four Gatis When the soul becomes free from karmic bondage it attains complete liberation or Moksha According to Vyavahara Naya the Jiva is Murta or with karmic form and it is Amurta according to Nischaya Naya, i e without karmic bondage It has no colour, taste, smell or touch

3 *Karta*

According to Vyavahara Naya Jiva is the doer of Pudgalkarmas According to Nischaya Naya, Jiva is the doer of Bhava-karmas And according to Shuddha Naya (Jiva is the doer) of Shuddha Bhavas

Puggalkammadinam katta vavaharado du nichchayado
Chedana kammanada Shuddhanaya Suddhabhavanam

—Dravya-Samgraha 1-8

Anger, pride, attachment, aversion etc are the bhava-karmas of Jivas Jiva being the doer of these karmas influx Pudgalkarmas or Dravyakarmas Vyavahara Naya says that Jiva is doer of Dravyakarmas but in reality it is the agent of its own bhavas Vedanta considers the whole universe as one spiritual brahama but Jainism asserts different units of Jiva Unlike Charvaka which declares that the universe is made up of matter only, it holds the view that universe has Jiva and Matter both They act and react and a constant state of activity is going on Sankhya believe Purusha as indifferent or inactive where as Jain philosophy confirms Jiva as an agent or doer of actions

4 *Svadeha parimana*

According to Vyavahara Naya the conscious Jiva becomes equal in extent to a small or large body by contraction or expansion, but, according to Nischaya Naya, it is existent in innumerable pradeshas A soul can occupy the space represented by ant or elephant or mahamachha found in the greatest ocean Svayambhuramana It may also occupy the body of [illegible] As the gases like oxygen or hydrogen fill up the whole of the space within different jars of different capacities so is the case with Jivas Tatvartha Sutram also confirms this principal

Pradesh samhar visarpabhyam pradipvat

—Tatvarth Sutram 5-16

5 *Bhokta*

Jiva enjoys misery and happiness, according to Vyavahara Naya According to Nischaya Naya Jiva enjoys conscious Bhavas only Broadly Jiva has the thinking and action in terms of attachment and aversion Due to this, these states of Jivas, there is influx of matter in them Jiva has to undergo misery or happiness as the fruits of pudgal-karmas As Jiva is an agent or doer of actions, it has to assimilate karmas These karmas maintain a series of Sata (happiness) or Asata (misery) for coming incarnations The fact that Atma is Karta and Bhokta refutes the doctrine of the Buddhistic philosophy that an agent does not enjoy the fruits of karmas

In this world we see that 'A' is happy and 'B' is unhappy 'A' is rich whereas 'B' is poor 'A' is healthy and 'B' is unhealthy, why ? Jainism gives satisfactory answer to these questions The proverb, 'As you sow, so shall you reap" or Jo jas karahu so tas phal chakha (Tulsidass) gives the proper reply Every soul in the course of evolution is knower, enjoyer and the actor-jñata, Bhokta and karta In Sankhya school purusha as a chetana entity is knower and enjoyer But he is not karta Prakriti (pudal) is considered karta Jain thinkers object to this idea They say if purusha is non-active (Akarta) how can be become brokta (enjoyer) of actions carried out by some other agency Hence the tripolar declaration (jñata, karta and bhokta) of Jain school solves all such problems

6 *Samsarastn*

Jiva or soul is mainly of two kinds—Samsara Jiva and Moksha Jiva The soul with Karmic bondage is Samsari Jiva It has to adopt the cycle of birth and rebirth It has to take birth in four gatis or classes The chaturgati bhraman-cycle is subject to birth and death This cycle is called Samsara i e "Samsarnam Sansarah" "Each samsaric soul is born with a body and continues to live as embodied soul subject to growth, old age, decay and death, when it has to quit its body in search of another body, it acquires another body consistent with and determined by its own karmic conditions This Samsara Jiva associated with its own corporeal existence is considered to be uncreated and therefore beginningless For the Jaina meta-physician Sansar is Anadi Other schools of Indian thought agree in this particular point that Samsara is Anadi" *

7 *Siddha*

When the soul destroys eight karmas by constant Tapa and Nirjara, it becomes free from karmic bondage It attains intrinsic purity This perfect self attains a state of existence which is permanent, immutable and incomparable A siddha has nothing to do with the cycle of Samsara Moksha is a state of perfect liberation, peace and bliss

Swami Samantbhadra defines Moksha —

Janam jara bhaya marnaer shokaer dukhaer Bhayaeschparimuktam
Nirvanam Shuddhsukhi, Nihshreyasmishyate nityam

—Ratnakarand Sharavakachara 6-131

Mukta Jeevas enjoy four infinities—Anant Jñana, Anant Darshan, Anant Sukh and Anant-virya and enjoy them for ever. The following verse describes that every Mukta Jiva enjoys and will enjoy absolute self with four infinites



* Prof A Chakravarti—Samayasara, p cxxvi

Vidyadarshan shakti swasthya prahlad trapti sudhi yujah
Nirati shaya nirvadhyo, Nihshreyasamavasanti sukham

—Ratnakarand Shravakachara 6-132

Every mukta Jiva like purest form of gold possesses the magnificance and radiance of its auspicious soul

8 *Urdhvagami*

A Jiva which destroys karmic fatters becomes liberated It goes upward, right vertically to the end of Loka or universe

Tadanantaamurddham gachhatya lokantat

—Tatvarthasutram, 10-5

Being void of eight Karmas a Jiva finds eight qualities in it They are Samyaktva, Jñana, Darshan, Virya, Sukshma, Avagahena, Aurulaghu and Avyavadha corresponding to the destruction of Mohaniya Jñanavaran, Darshanavarana, Antaraya, Nama, Aayu, Gotra and Vedaniya Karma

The upward motion of a Jiva is due to four considerations 1) Purvaprayogata—like a potter's wheel, 2) Asangatvat—like an empty gourd coated with clay, 3) Bandhachchadat—like the castor-been, 4) Tathagatiparinamat—due to the soul's nature to go upwards, like the flames of fire Because of the non-existence of Dharmastikaya or the medium of motion the soul does not rise higher than the extreme limit to Loka or universe All Siddha Jivas enjoy four infinites individually in Siddhaloka This refutes the doctrine of vedanta which accepts one supreme being and other souls being part of it

Stages of Atma

With the development or decrease of Ratnatraya i e Right belief, Right knowledge and Right conduct, the soul has three stages

1 **Bahiratma** —The soul which accepts his body as soul It does not believe in good or bad deeds, punya or paap The lack of self-confidence and right knowledge leads a Jiva to the circle of chaturgatis

2 **Antaratma** —Antaratma is he who has faith in himself, who wants to attain salvation Antaratmas are of three types

(A) Uttamantaratma is he who has won over emotions, passions, avarice etc who has full faith in four infinites, who completely follows the principle of non-possessiveness and owns twenty-eight Moolgunas

(B) Madhyama Antaratma is he who has faith in Ratnatraya and follows five Anuvratas He is called Deshvrati Due to the chhayopsama Mohaniya-karma he cannot attain full conduct (purna charitra) like uttamantaratma

(C) *Jaghanya Antaratma* —It is also a laity or householder like Madhyama Antaratma He does not observe any vow Thus he is Abrati Still he has faith in his soul and strives for salvation without renouncing the social responsibilities

› Paramatma— s of two types Sakal and Nikal Parmatma

(A) Sakal Parmatma — At the end of twelvth gunasthana the aspirant destroys other ghati karmas and attains four infinites This stage is known as Sayog kevali because the activity of mind, speech and body continues A Sakal Paramatma is called 'Arhat'

(B) Nikal Paramatma —This is the highest stage of the soul Here the soul is free from the bondage of Aghati Karmas The soul being free from karmic bondage rests on the Siddhshila Nikal Parmatma is the perfect self-enjoying Anant Chatustaya

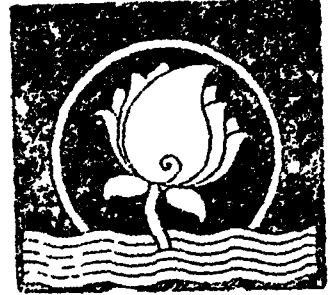
Conclusion

The chaos and the confusion in the present world is all due to the ignorance about the essential qualities and characteristics of the soul and the knowledge and faith that flow therefrom The realisation of the self is the only panacea for the solution of the crisis of confidence and collapse of national character "Live and let live" as preached by Mahavira and other great saints can be possible only when the individuals realize that their soul is akin to other souls and all are striving for perfection The dreams of saints will become null and void and the whole universe will be thrown in to the abyss of universal destruction if we throw compassion, mercy, tolerance, peace and love—the true attributes for a happy life—over board



THE BUDDHIST CONCEPT OF VINNANA

Prof P CHANDRA
University of Saugar



Viññāna (variously translated as consciousness, congnition and intellect) is one of the most significant Buddhist concepts Few others have attracted an equal amount of attention from the editors of the Pali Canon This term has been used in a wide variety of meanings and contexts and no accuracy seems ever to have been maintained in this respect Is it necessary, or even probable, that all the different imports of this word were prevalent at the same time ? The Buddhist Canon, as is now almost universally accepted, was not produced at one time There are discernible in it many strata of antiquity Perhaps some ideas were peculiar to the earlier strata while others characterize the developed stage *Viññāna* is one of those few important ideas which seem to have been common to all the stages of the Canon's development This can only mean that this particular concept must have had a process of growth all of its own If it is true that there are earlier and latter strata in the Pali record and that *viññāna* is referred to in both, a mere change of context would necessitate a change of meaning

It is not intended here to take up the whole complicated issue of a sound and acceptable criterion for ascertaining the relative antiquity of Buddhist ideas This problem has been us for a long time already, and we are not much nearer its solution Here, we can at best try to discover why some meenings of the term *viññāna* should be considered earlier then the others And this can be done only in general term, on the basis of widely accepted tenets Going into the merits and the details of the arguments, however, would be out of the scope of the present paper

There are some considerations that may help us in this search We have been told by generations of anthropologists that some form of animism-the belief that there is something within every living body which enlivens it—characterized all early religious thought Questions based on this belief are found in as late a Buddhist work as the *Milinda-pañho* [1] Similarly, there is little difference of opinion that there was a tendency towards a dualistic analysis of the human personality in almost all the earlier speculations on man Dualism, it is said, comes naturally to a beginner in the field of philosophy Finally, the movement of the thought-process is usually considered to have been from simple to complex, from homogenous, less exhaustive and less dogmatic to heterogenous, all-comprehensive and rigidly dogmatic

---

1 *The Questions of King Milinda*, SBE vol 35, by T W Rhys Davids, 1890, pp 86 ff, vol 36, pp 85-86, where water is held alive

By a combined application of these ideas, we can discern two different connotations of the concept of *Viññāna* One occurs in an evidently dualistic analysis of the personality, with clearly animistic overtones and without the scholastic acumen usually found in the Pali texts The other finds a place in the oft-repeated analyses of personality which are pluralistic in approach, free of animism and fairly critical and dogmatic As Dr E J Thomas has observed, "The Buddhist conception of the individual, the person consisting of a material and immaterial part, is a quite definite theory, which at first appears without any polemics "[1] However, to quote him again, 'It was the analysis into khandhas which became the established form for the analysis of the individual underwent further elaboration and comment "[2]

According to Rhys Davids and Stede the ecclesiastical dogmatic considers *viññāna* under the categories of (a) *khandha,* (b) *dhātu,* (c) *paticca-samuppāda,* (d) *āhāra* (e) *kāya*[3] Now, it can hardly be doubted that such a thorough and exhaustive analysis could not have been the work of the earliest Buddhist monks It apparently presuppses some development in acumen and much deliberation on the part of its propounders Earlier under the same entry the two scholars inform us that *viññāna* among other things meant "a mental quality as a constituent of individuality the bearer of (individual) life, life-force (as extending over rebirths), principle of conscious life, general consciousness (as functions of mind *and* matter) regenerative force, animation, mind as transforming (according to individual *kamma*) one individual life (after death) into the next " All these epithets fit only that conception of *viññāna* which we have considered to be the earlier one

The editors of the Pali Canon manifestly made no attempt to keep the two levels separate and distinct In fact, we find both the dualistic and the scholastic analysis running side by side in the whole Canon It is not uncommon to find that what almost looks like a problem needing interpretation when confined to one level becomes quite apparent the moment we take into consideration the other level also An attempt to discern the two levels of antiquity in the use of this particular concept, therefore, would not be wholly unwarranted However, we propose to confine ourselves to what we consider the early use, and to the reasons for considering it so

II

Let us begin with the frequently recurring phrase, 'body-with consciousness' (*sa-viññānaka-kāya*[4] It was obviously a way of pairing body and consciousness dualistically, and is almost equivalent to our modern way of speaking in terms of body-and-soul It is plain that *viññāna,* when thus used, must include all the mental or spiritual contents of the personality Here it combines those attributes of personality which cannot be grouped under body or physical constituents At one place, however, the term *saññā* replaces *viññāna* In the *Samyuttā-Nikāya,* the Buddha tells *devaputta* Rohitassa that the ill was in this 'fathom-long carcase with its impressions and ideas, *(Vyāmamatte kalevare saññīmhi)*[5] Nevertheless, no change in the meaning is warranted by the context The point of emphasis is their being non-material That *viññāna* or *saññā* are not to be confused with the factors of existence of



1 *History of Buddhist Thought,* 1933, p 96

2 *Ibid* p 97

3 PTS Pali-English Dictionary, qv

4 S N , ii, 253, iii, 80, 169, A N , i, 132, iv, 53 etc

5 i, 62



the same name, should also be quite plain In the standard and detailed analysis of the personality, it is never admitted that any one of the four non-material factors could replace the other three All the four are on the same plane When one of them assumes the role of all, as here, the conclusion is forced on us that we are dealing not only with two different meanings, but also with two levels of antiquity Such basic change of import is hardly understandable otherwise

Almost the same thing can be said about the often-repeated phrase to which Oldenberg has referred [1] 'This is my body, the material, framed out of the four elements, begotten by my father and mother but that is my consciousness *(viññāna)*, which clings firmly there to, is joined to it ' This way hardly differs from the common man's understanding of the subject There is nothing specifically Buddhistic in it Dr Thomas believes that, "Either we have here a more rudimentary analysis, or the sensations and thoughts are implicit in consciousness "[2] That is rudimentary is borne out by its nearness to the dualistic mode of thinking, and if it is dualistic, then all the mental attributes are bound to be implicit in consciousness

III

If consciousness is synthetically attached to the body, without any way forming a part of it, it can be imagined that, if transmigration were accepted in the earlier strata of Buddhist thought, it would be left for consciousness to accomplish it In other words, as the body cannot move from existence to existence, and as its destruction was visible to everyone, it certainly could not help in perpetuating the chain of existence Consciousness, as we saw above, combines in itself all the spiritual functions, and hence if there is to be a moving on, it would be the moving on of the consciousness And that is exactly what we find Transmigration was accepted in Buddhism from the very beginning, and there are many passages which directly point towards *viññāna* when the need of finding out the link between two lives was felt We are referring to the passages that talk about the "*descent*" into the mother's womb to form another name-and-shape Foremost among such passages is the *Mahānidāna Sutta* of the *Dīgha-Nikāya.* The Buddha is explaining the links of the causal chain to Ananda In what way does the *viññāna* cause the comming about of *nām-rūpa* (name-and-shape) ? "If *viññāna* were not to descend (okkamissatha) into the mother's womb, would *nāma-rūpa* take form therein ?" He asks In order to bring about new person, nothing short of the descent of consciouseness into a new womb is needed Further, if the *viññāna* become extinct after the descent the new person would not take birth Consciousness is not only responsible for the origin of a new personality, it has to foster it into full growth as well [3] This passage eludes all explanation unless some sort of a belief in animism is presumed on the part of early Buddhism The very idiom is based on a prior acceptance of a living principle inside the body which moves on to form another person And here also, it is difficult to see how consciousness could have been used in the sense it is used in the five-factor analysis As we saw in the passage quoted ealier, the body is what is brought about by father and mother, but the consciousness comes from outside and joins it

The way the Buddha mentions the desent in a *Samyutta* passage is interesting inasmuch as the Buddha, instead of offering it as an explanation, takes for granted as an established fact

1 *Buddha His Life, His Doctrine, His Order*, Tr by W Hoey, 1882, p 253
2 *op cit* , p 96
3 *D N* , ii, 63, *D B* , ii, 60



along with some disciples visited the scene—to find the *Māra* in the shape of a smoky cloud, going in all directions to find out where the *viññāna* of the deceased had established itself *(patiṭṭhan)* As it was established nowhere the deceased being a libereated person, he failed to find it [1] It is no use arguing that the Buddha migt have been speaking in figurative terms The physical reference is only to obvious And here, as earlier, the *viññāna* cannot be treated in the limited sense of being one of the four non-material *khandhas.* It quite plainly represents the life itself The *Māra,* in fact, is the power that maintains the cycle of rebirths His failing to find somebody's consciousness means his inability to keep that person in the chain of rebirths And how does he come to lose his hold upon a particular individual ? Through that individual's succeeding in eradicating the fetters, and thus rendering the *viññāna* untraceable And an untraceable entity cannot descend into a new womb It has been asserted by Rhys Davids[2] and Childers that it was not any part of the personality that transmigrated but the individual's karma However, the authors of this argument appear to have already decided against the possibility of the transmigration of the living principle, because they did find the transmigration of the soul maintained in the *Pali* Canon, and they had to ascribe rebirth to something In the opinion Dr Thomas, 'no envidence has ever been given for this views [3]

V

It appears that *nāma rūpa* was another way of describing the personality dualistically After an animistic descent in the womb, the *viññāna* caused the arising of the *nāma-rūpa* comlex Now what is *nāma rūpa* ? Sāriputta explains in the *Sammā-diṭṭhi Sutta* by equating the *nama* with the mental attributes, *vedanā, saññā, cetanā phassa,* and *manasikāra* (feeling, perception, volition, contact, and attention, respectively), and *rūpa* with the four great elements [4] This is good evidence of the fact that whatever the standard analysis of the person later became this dualistic interpretation was part of early Buddhism *Viññāna* is related to the two in the same way in which a transmigrating soul is related to the newly-created being in the popular terminology The soul causes the coming into being of a new person, but it never leaves the new person as long as he is alive Probably in the same way, *viññāna* also caused a new *nāma-rūpa,* but stayed in it in the form of the mental attributes Although *viññāna* was not equated with the *nāma,* it would not be unreasonable to suppose them denoting the same object, because the early Buddhists evidently realized the distinction between mental and physical, *viññāna* has elsewhere been indentified with the mental factors Thomas also considers *nāma rūpa* to have been adopted from popular usage, which failed to become the standard form for the analysis of the individual [5]

VI

Nibbāna or liberation affected the *viññāna* in an inexplicable manner It was certainly nor annihilated, but it became untraceable. This has been told in many passages describing many happenings As we saw above, in the case of the suicidis, the *viññāna* became untraceable even to the *Māra* Two more instance are now dealt with

---

1 *S N*, i, 122 and iii, 124

2 *Hibbert Lectures,* 1881, 4th ed. 1906, p 92

3 *op cit*, p 105

4 *M N*, i, 53

5 *op cit*, p 97

In the *Brahma-jāla Sutta*, we are told that after winning the truth, the *Tathagata's* body *(kāya)* remains but that which binds him to rebirth is no more *(ucchinna-bhava-nettiko)* [1] He would become untraceable after death Now, what is *bhava-rettiko*? And what is that which would become untraceable after death? Obviously, not the body, but some other factor which must have been there along with the body and on which depended the future becoming That factor could only be the mental constituent, or *viññāna*, although is has not been specified in as many words *Alagaddūpam Sutta* is more clear "When his (a monk's) heart is thus delivered, not Indra or Brahma or Pajāpati with all their trains, can succeed in tracking down aught on which depends a truth-finder s consciousness And why?—Because, say I, already, here and now, the truth-finder is untraceable"[2] Both these passages clearly define the role *viññāna* plays in transmigration As long as something is left on which a person's *viññāna* could depand, in other words, as long as there are ignorance, cravings and the *āsavas* present in him—he cannot be liberated After death, such a person's consciousness fall under the sway of the *Māra*, which means that it will move on to inhabit another womb But if that person has conquered the fetters, his conciousness will have no support, and will thus be in a condition immune from the unpleasant liability to move on

That the consciousness can persists only through depending on some object appears to have been clearly recognized in the Canon Thus, in *Samyutta-Nikaya*, we learn that it is volition which furnishes a station for the consciousness, thus enabling it to grow and bring about the perpetuation of the series of suffering [3] There is no rebirth if the consciousness is refused a standing space Similarly, at another place, the factors of body, perception, feeling and predispositions are declared to be the home of consciousness, and thus the latter becomes a "home-haunter" [4] This can only suggest that at least some considered conciousness to be more fundamental than the other factors Does it mean that there were two levels even among the five factors? It is declared later that it was through attachment to body and the *sankkhāras* (predispositions) that the *viññāna* persisted There could be no coming or going or the decease or the rebirth of conciousness, without the other four factors By abandoning lust for these four, one cuts off the platform for consciousness, and rebirth is no more [5] Almost the same idea is put forward in the *Anguttara*[6] where *viññāna* is compared to a seed sown in the field of *karma*, which is fostered by the moisture of craving, and thus brings about rebirth

It appears that all the passages where *viññāna* is coupled with body dualistically, or is treated as more fundamental than the other factors, or finally, is assigned a key role in the transmigration, should be considered as hinting at an earlier stratum of Buddhist teaching The developed scholastic doctrine has assuredly none of these characteristics No matter how intermingled these two currents are in the Canon, they can be sorted out by close examination But this should not be understood as a denial of the modifications affected by the Buddhist monks in the somewhat naive and uncritical concept of *viññāna* Passages suggesting such transformations are many



1 D N, i, 46
2 M N, i, 140, Furth, Dial, i, 98-9
3 *'ārammane sati patittha viññānassa hoti, tasmim patiṭṭhe viññāne virūlhe āyatim punabbhavābhinibbatti hoti'* S N, ii, 65
4 *'rūpadhātu kho gahapati viññānassa oko'* ete S N, iii, 9 K S iii, 11
5 S N, iii, 53
6 A N, i, 233

VII

The special characteristic of Buddhist thought was its thorough and relentless emphasis on the facts of change, movement and becoming These were, in fact, some of the points on which early Buddhism broke away from contemporary thinking Oldenberg has correctly remarked that, 'We must here divest ourselves of all customary modes of thinking Here as everywhere it (i e Buddhism) condemns that fixity which we are prone to give to the current of incidents that come and go by conceiving a substance to in which they might happen "[1] It would be out of place here to go into the details of this point, but this much can certainly be said that of all the current ideas accepted by early Buddhism, not one remained unaffected by the dynmic point of view The concept of *viññāna* could hardly have been an exception

First let us examine the use of *viññāna* as an *āhāra* (sustenance) and see to what extent this usage is free of the standpoint of being On being asked, 'Who feeds on consciousness-sustenance ?' The Buddha replied, 'Not a fit question ' The possible reason for saying so could only have been his refusal to deal in terms of being, as is evident from the answer he actually did give The proper question, according to him, would be 'of what' and not 'who', and the answer would be 'consciousness-sustenance is the cause of renewed becoming, of rebirth in future '[2] Mark the basic shift in the emphasis It is difficult to believe that the same text that talked of descent and of untraceability of conciousness at one place, could talk in these rigidly causal and dynamic terms unless the two passages were of different date

The best example of the manner in which *viññāna* underwent transformation to suit the doctrine of becoming is found in the passage dealing with Sāti's heresy The monk Sāti entertained the view that consciousness runs on and continues without break of identity *(viññānam sandhāvati samsarati, anaññan ti)* [3] When the Buddha asked him to define *viññāna* he said that he meant by it 'that speaking and sentient (self) which expereiences the ripened fruits of good or bad conduct in this or that earlier existence ' It is plain that Sāti is quite near the popular conception of the living principle, and even some Jain ideas can here be discerned The Buddha replied, 'Have I not, foolish man, laid it down in many a figure that consciousness only arises by causation and that, without assiganable conditions, consciousness does not come about ?' Further, the Buddha explained that whatever form of conciousness arises from an assignable condition is known by that condition's name

It hardly needs very great understanding of Buddhism to discover that what the Buddha was denying was not the fact of the movement of conciousness, but that it moves on unchanged In fact, movement was part and parcel of early Buddhism Only fixity or changelessness came into conflict with this philosophy of change As Keith has observed, "Now the chain of causation explains clearly enough the posssibility of change in consciousness, for it does not contemplate an autonomous consciousness, which, of course, adequately shows that there is alteration "[4]

The *Milinda-Panho* seems to carry this point of view further The king asked, "Where there is no transmigration *(saṅkamana)*, Naga-sena, can there be rebirth *(paṭisandahati)* ?"

---

1 *op cit*, 253

2 *K S*, ii, 9

3 *M N*, i, 256, Furth, Dial, i, 181

4 *op cit*, p 79

Nagasena declares that there could be, just as one lamp can be lighted from another, or a pupil can learn a verse from his teacher [1] In both these cases, one thing or person is causing something in another, without any actual movement No descent is here spoken of

That the Buddha was teaching a new doctrine is clearly hinted by the force and vehemence that he used against the popular conception, represented by Sāti Could it be that the Buddha and Sāti were talking of two different objects? What we learn about the arising and naming of consciousness here would lead us to believe that it is fallacious to talk about the consciousness, as we do when we refer to descent or even to untraceability We should speak only of so many conscious processes, each produced by and named after a particular sensefaculty How shall we reconcile these apparently incompatible ideas? There is at least some possibility that at some earlier stage in his career, the Buddha did accept *viññāṇa* in the then current sense Sāti must have concluded that if the Buddha had gone to that extent in agreeing with contemporary thought he would go all the way Whatever, it may be, it does not seem that the same stratum of ideas is reflected in the earlier passages and the present one

A NOTE ON ABBREVIATIONS AND REFERENCES:

D N	Dīgha-Nikāya, Edited by Rhys Davids and Carpenter, 1890, reprinted 1932, in three volumes
D B	Dialogues of the Buddha, Tr by T W Rhys Davids and C A F Rhys Davids, in three volumes, SBB vols 2, 3, 4
M N	Majjhima-Nikāya, Edited by V Trenckner and Lord Chalmers, in three volumes, reprinted 1935
Furth Dial	Further dialogues of the Buddha, Tr by Lord Chalmers 1926
S N	Saṃyutta-Nikāya, Edited by L Feer in five volums, reprinted 1932
K S.	The Book of the Kindred Sayings, Tr in five volumes by Mr Rhys Davids and F L Woodward, 1917-1930
A N	Anguttara-Nikāya, Ed by R Morris and E Hardy, in five volumes, 1885-1900
G S	The Book of the Gradual Sayings, Tr by F L Woodward and E M Hare, 1932-1936



1 op cit, vol 35, p 111

THE PLACE OF YAKSHA IN ANCIENT DEMONOLOGY

R N MISRA
Saugar University



Yaksha has been variously designated sometimes broadly and sometimes specifically, for instance, [illegible] *[illegible]-jane*,[1] [illegible] *[illegible] deva*,[2] *amanussā*,[3] *vānamantara* gods[4] *bhummadevas*[5] [illegible].[6] This group of words indicates that Yakshas formed a kindred group *deva-jātis* ([illegible] I 1 6) along with other various gods such as deva, Yaksha, Nāga, Gandharva, Apsaras, Asura, Kinnara, Suparna, Siddha, Sādhya and Vidyādharas.[7] Some of these are older [illegible] than Yakshas. It would be interesting to study how the Yakshas may have derived [illegible] of their characteristics from them. The Yakshas shared characteristics with the Gandharvas in [illegible] they liked fragrance.[8] They both were the fertility deities and granted

1 [illegible], VIII 10 28 (*Itarajana* in the *Paippalāda* version) *Mahābhārata* XVIII 1 18

2 *[illegible] Sutra* III, 7 167 p 168

3 [illegible] *Piṭaka* I 277, D I 116, S I 91, *amanussa* [illegible] Yakkha, a spirit, a ghost. The commentator explains that "they are either Yakkhas or men who, having departed, [illegible]" cf *Vinaya Piṭaka* I p 117 note 2. According to the *Pali English Dictionary* [illegible] 'not human being' (but not a sublime god either), a being half-[illegible] and [illegible] and influencing people (partly helpful partly hurtful)

4 *[illegible] Sutra* 36 206 Jacobi or *Vyantara devatā* cf *Tattvārtha Sūtra* IV 1 12 which enumerates four orders of gods of Jaina pantheon, namely *bhavanavāsi*, [illegible], *Jyotiṣka* and [illegible] and each of these four classes has ten grades, viz [illegible], *Trāyastrimśa*, *Pāriṣada*, *Ātmarakṣa*, *Lokpāla*, *Anīka*, *Prakīrṇaka*, [illegible] and *Kilbiṣika*. The gods of the Vyantara group are Kinnara, Kimpurusha, Mahoraga, Gandharva, Yaksha, Rākshasa, Bhūta and Piśāca. All these seven classes of [illegible] except Rākshasas live in the uppermost stratum of the first earth

offspring[1] and had the same region as their habitat,[2] they possessed women,[3] had control over speech[4] and possessed the highest wisdom[5] as well as great beauty.[6] Lastly, they were both music-lovers.[7] The Apsaras, etymologically meaning 'moving in waters' *ap sārinī*,[8] and being the 'celestial water-nymphs' according to their oldest conception, also have certain common features with the Yakshas. In the post-Vedic literature they are very often spoken of as frequenting forests, lakes and rivers, in the later Samhitās their "sphere extends to earth and in particular, trees".[9] They, like Yakshas, inhabit banyan and the sacred *asvattha* tree in which their cymbals and lutes resound,[10] or else they inhabit *udumbara* and *plaksha*[11] trees. Like Yakshas, dancing, singing and playing are their favourite pastimes.[12] Then both Apsaras and Yakshas are fond of dice and bestow at play,[13] both are capable of causing mental derangement,[14] great beauty[15] as both are, they are occasionally enjoyed by human-beings.[16] The Vedic

---

1 *Pancavimsa Brāhmana*, XIX 3 1 where Gandharvas along with Apsaras are prayed for granting offspring and Yakshas in the *Vipāka Sūtra*, VII 28 p 84 f

2 *Gandharvasya dhruve padam*, *Rigveda*, I 22 14 Sāyana explains *dhruve padam* as *antariksha* and quotes a statement of *Nrisimha-Tāpinyopanishad*, I 2 that the sky is inhabited by *groups of Yaksha, Gandharva and Apsaras*. Also *Sutta Nipāta Comm*, I 370 (*Ākāsattha Vimāna*)

3 Gandharva, *Rigveda*, X 85 40-44 and Yaksha in *Dhammapada Comm*, III 208 f *Jātaka*, VI 194

4 Gandharvas are said to impart upon women an auspicious speech according to the *Yājñavalkya Smriti*, I 3 71 in the marriage ritual. Cf Kubera, *Mahābhārata*, III 159 1 ff, *Shanti Parva*, 75 3

5 Gandharvas are described as the resceptacles of secrets *Atharvaveda*, II 1 2 and Yakshas are repository of wisdom, they ask pungent questions regarding existence, cf, *Yaksha-Prasna*, *Mahābhārata* III 296-297, *Sutta Nipāta*, Hare, I 9 10, II 5

6 Gandharva, *Śatapatha Brāhmana*, XIII 4 3. 7 and Yakshas in *Meghadūta*, II 19

7 Gandharvas are celestial singers in epics but not so in the Vedic literature. Macdonell, *Vedic Mythology*, 137, Yakshas in *Vimānavatthu*, III 4 ff *Vimānavatthu Commentary*, 131 f

8 Yāska, *Nirukta*, V 13, *Rigveda*, X 10 4 calls them *apyā-yoshā*, "aqueous nymphs"

9 Macdonell, *Vedic Mythology*, 134, Vedic Yakshas too are immensely connected with waters. Cf *Atharvaveda*, XI 2 24, G B I 1

10 *Atharvaveda*, IV 37 4, 5 for Yakshas

11 *Taittirīya Samhita*, III, 4 8 for Yakshas

12 Cf Yakshas in Bharata's *Natyasāstra* V 20, 47

13 Apsaras, *Atharvaveda*, IV 38, Yakshas in *Jātaka* VI 137, *Kathāsaritsāgara*, IX 17

14 Apsaras, *Atharvaveda*, II 2 5, for Yaksha *Sutta Nipāta*, Hare, I 10 p,29, *Carakasamhitā*, Nidānasthānam, VII 11 15

15 Apsaras, *Śatapatha Brāhmana*, XIII 4 3 8, Yakshas *Manjusrimūlakalpa*, I 200

16 Apsaras in *Rigveda*, X 95 10-17, Yakshas in *Manjusrimūlakalpa*, II 293, *Brihatkathāslokasamgraha* XI X 75 ff and XIX 130 ff



In the epics the Yakshas are found brushing shoulders with Indra in being the opulent repository of wealth As lord of wealth Kubera shared the role of Indra[1] with whom he shares the northern districts Indra rains gold in the epics[2] and his wealth is proverbial, he is sometimes specially grouped with Kubera-Dhanesvara as contrasted with other divinities[3] But soon, Kubera, the lord of Yakshas, supplanted the other gods, *e g*, Indra, Yama, and Varuna[4] and became the "norm of exhaustless wealth"[5]

A common list of attendants is encountered in the *Mahabharata* in connection with the Yaksha king Kubera and Kārttikeya Thus, one of the attendants of Kārttikeya as well as of Kubera and some of the latter's *grahas* (III 219 42) are all called *Dhanada*[6] While one attendant of Skanda is called *Vasudā*, 'the giver of wealth', still another has the name Pingākshī, an epithet of Kubera[7]

The Yakshas and Devas are inseparably interconnected by their nature and attitudes as well as in carrying that designation[8] The elements of tree-worship which had been considerably popular during the prehistoric,[9] the chalcolithic and the Vedic age,[10] have been found in the Yaksha cult Sometimes the deity living in a tree has been called *devatā* but that can be identified as Yaksha[11] from it various attributes Besides, there were certain common features between the tree-spirit (called *devatā*) and the Yakshas such as that they granted wishes and their mode of worship was more or less similar Just as trees were the abodes of the spirits they were also the abodes of Yakshas

---

1 Indra is *Dhanada* and Dhanapati in *Rigveda* I 32 2

2 *Mahābhārata*, XII, 29 22f

3 Hopkins, E W, *Epic Myth*, p 146

4 *Ibid*

5 Cf *Mahābharata*, II 52 Appendix I 37 25 For a proximity between Kubera and the Mothers Cf Hopkins, *op cit* 1, p 146

6 *Ibid*

7 *Ibid* p 145, 229

8 For details Cf my paper "A Semantic study of the words, Deva, and Yaksha ' *Madhya Bharati* 1959 p 1 ff The words, 'Yaksha' 'Devata' are identical and voluntarily applicable for each other Cf *Kindered Sayings*, I 273 9 note 1

9 Sri S K Pandey of the Department of Archaeology, University of Saugar has collected a number of pre-historic rock-paintings from Madhya pradesh many of which indicate the idea of tree-worship

10 *Rigveda*, X 97, *Atharvaveda*, VI 136 1, *Taittiriya Samhitā*, II 1 5 (Plants hinder child-birth and their favour is procured by offering an animal victim) Cult of Vanaspati in *Rigveda*, X 64 8, Cf also Keith, *op cit* p 184 ff, and Shine *Foundations of the Atharvanic Civilisation* B O I, Poona

11 *Petavatthu*, II 9 In sculptures also somtimes god of a particular tree is called *Yaksha* for instance, Yaksha Candramukha of *Vakula* tree Cf Sivaramamurti, *Amaravati Sculptures*, p 82



appears that Yakshas could not dislodge Guhyakas, their predecessors, from their proximity with Kubera so they chose to coexist with them and earned their connection with Kubera as also with the riches Later, they have been identified with each other [1] Kubera is, however, referred to as *Guhyakādhipati* in the *Mahābhāshya* of Patanjali There seems a complete identity between Yakshas and Guhyakas in so far as asssumptions of any form,[2] possession of riches, its concealment and also the service of Kubera are concerned They are more or less synonymous However, the Yakshas inherited the lordship of Kubera from the Guhyakas as they inherited many other features already described [3]

Kumbhandas were the other demi-gods in the service of Kubera The name has an interesting etymological interpretation It is said that they had huge stomachs and their genitals were as big as pots, hence their name [4]

This attempt at comparison and reciprocities between Yaksha and a number of other demi-gods shows that Yaksha cult swelled as a result of borrowings Although Yaksha is only Yaksha, he is none of Rākshasa, Gandharva, Apsaras, Piśāca or Kinnara but he is so closely associated with this kindred group that it is sometimes difficult to alienate him from another. Precisely, all these demi-gods or cult-personalities are manifestation of a folk-elment in the society and therefor, a unity kinds all of them There has never been any remarkable difference among folk-gods upto the present times, because of the factor of their being manifestation of the simple popular beliefs That the Yakshas were very much near the masses or the tribal settlements of India, can be specifically substantiated The Jaina work *Āvaśyaka Cūrni* informs us that one Ādambara Jakkha, also known as Hiradika Jakkha was worshipped by Mātangas who were a 'low class people' Similarly Dombas worshipped a Ghantika-Jakkha [5]

It is thus beyond doubt that Yakshas and other demi-gods were the gods of aboriginal settlers of India and with this idea in background it is perhaps not anachronistic to believe that the personality of Yaksha as also of other demi-gods should have imbibed the aboriginal's beliefs For this reason probably various folk-gods have palpably similar characteristics which so much overlap that sometimes a dividing line is difficult to draw among them

---

1 The *Vāyu Purāna* (Ch 69) says that Punyajana, Guhyaka and Devajana Yakshas, all under the category of Guhyakas, For more about Guhyakas, see Hopkins, *op cit*, p 148, Jain J C, *Life in Ancient India*, p 218 f and *Kathāsaritsāgara*, I. App I where it is said "They are often synonymous with the Yakshas"

2 Compare *Mahābhārat*, III 147 22 and *Mañjusrimūlakalpa*, III. 626

3 Kubera on the other hand was earlier the kind of Rakshasas Cf *Śatapatha Brāhmana*, XIII 4 3 10 and *Supra*, p 1 note 6 Such types of adjustments pertaining to different cults an classes are as intersting as they are numerous

4 *Pali-English Dictionary* sv Kumbhanda

5 Cf Shah, U P, *J O I*, III (i) p 59 In Karnataka there is still a *Jakkulu* community having balled concert and theatrical activities as their traditional pursuits and it has been surmised that they may be the desendants of ancient Yakshas I am thankful to Dr S V Joga Rao of Andhra University for this information This Modern habitation of *Jakkulus* further corroborates the tribal connection of Yakshas



Yakshas have thus many demonological traits It may be pointed out here that Yaksha is not always a personage It indicates, at times, a pure and simple word having an appellative sense The wholesale demonisation of Yaksha came only at the later stages In some cases as for instance, in the Bharhut labels, Nāga king Virūdhaka has been designated 'Yaksha' To explain this anomoly Barua had suggested that "term-Yaksha has been used in the Barhut labels in a special sense to denote a mighty hero or warrior "[1]

Historically, Yakshas have been called the "remnants of ancient demonology" and regarded as "of considerable folklorist interest as in them, the old animistic beliefs are incorporated and as they represent creatures of wild and forest "[2] It may suffice here to say that their demonological features are portrayed by their food habits their supernatural powers, physical features such as unwinking red eyes, the legs turned the other way, their malevolence as well as their beneficence and many other similar attributes and modes of worship etc A rich folklore has also gathered around the personality of Yaksha as indicate his numerous references in the Brahmanical and non-Brahmanical texts Mention may here be made of the *Kathāsaritsāgara* the *Jātakas* and the *Brihatkathāmañjarī* In the folklore as in literature traditional beliefs on various aspects of Yaksha exist in different parts of India, particularly in South where even the word *Yaksha* has been retained The Yaksha as a potential malefic or village god exists in present times in all the villages of India either in the guise of different names or under specific terms such as *Jakhaiyya* in the Mathura region[3] or *Jakkha* in Gujerat[4] Among the individual Yakshas mention may be made of Māṇik Pīr (Maṇibhadra Yaksha) whose worship is still very much in practice in Bengal

---

1 Barua and Sinha, *Barhut Inscriptions*, p 60

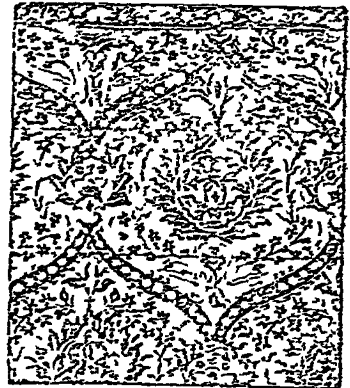
2 [illegible] ... Yaksha

3 [illegible] ... kindly given the information about it

4 [illegible] of Northern India, p 191 Crooke further says that in the Western India are worshipped as malevolent gods such as Jakhin, Jakhai, Jakhai, [illegible] About the village gods of [illegible] Whitehead, *Village gods* [illegible]

BANAVASI AND JAINISM

B R GOPAL
M A Ph D, Dharwar



Banavāsi is now a small town in the Sirsi Taluk of the North Canara district of the Mysore State It is one of the very few cities which has a continuous history from at least the historical times It has been referred to also as Vaijayanti and is mentioned in the Epics of India, specially the *Mahābhārata* Banavāsi was one of the important centres of Buddhism right from the days of Asoka Not only do we know from Buddhist literary sources like the *Mahāvamsa*, that Asoka sent his missionaries to Banavāsi besides several other places, but we have also an epigraphic evidence in the inscription found at Nāgārjunakonda, the Buddhist centre in Andhra Pradesh This inscription is engraved on the pedestal of the Lord Buddha wherein it is stated that the Buddhist missionaries converted hordes of people of Kashmir and several other countries and regions of which Vanavāsa, i e, Banavāsi, figures as one

It is, however, not so well-known that Banavāsi was also a centre for Jainism In the history of the Jaina canonical literature, of the Digambara tradition, Banavāsi figures as a prominent place Original canonical knowledge was preserved only by the word of mouth passed on from the *Guru* to his disciples and this continued right upto the middle of the 2nd century A D All the Digambara *Pattavalis* begin from Bhadrabāhu II (c 37-14 B C) who had the knowledge of Nine Angas and his successor was Lohāchārya (c. 14 B C -38 A D) Thereafter there were five *ekāngaradhāris*, viz, Arhadbali, Māghanandi, Dharasena, Pasupadanta, and Bhūtabali Of these the last three Dharasena, Pushpadanta and Bhūtabali are considered to have been responsible for the redaction of the surviving canonical knowledge There is no unanimity of opinion among scholars regarding the dates of these *Gurus*. While some hold the opinion that they lived in the period between 38-156 A D, others think that the monks who undertook this task have to be assigned to a period after 156 A D However all are agreed that the original canonical tradion in the memory of authorised saints survided upto 156 A D and that whereafter no such saint is known to have existed

An interesting story regarding this redaction of the *Angas* is told and it is in this connection that Banavāsi figures prominently Dharasena mentioned above was one of the very few who were considered as learned in canonical knowledge It was feared that this knowledge may not be available to posterity unless somebody who was qualified enough could commit it to writing With this desire, Dharasena sent an invitation to the saints (*āchāryas*) of the south who had assembled then at Mahima, which is described as Venākatatīpura Vena

is obviously the river Krishnā known also as Krishnavena and the place has been identified with Mahimanagara in the Satara district When this message reached them, they discussed the matter and chose Pushpandata and Bhūtabali, two scholars of repute, to be sent to Dharasena

To these two Dharasena revealed the canonical knowledge and they were asked to reduce it to writing The subject he dealt with is said to be *Mahākarma-prakriti-prābhrita* After bidding farewell to the teacher and receiving his blessings, the two saints set on their homeward march They first halted at Ankuleśvara (modern Broach) where they spent the rainy season

Dharasena was living in the Chandra-gupha (Moon cave) of the mount Ūrjayat in Girnar i e , Junagadh It may be noted that Girnar is the place where the inscription of the grandson of Jayadāman (either Damaysada or Rudrasimha I), of the 2nd century A D is found, besides the famous record of Rudradāman This record refers to men who had attained perfect knowledge (*Kevali-Jñāna*) and were free from *Jarāmarana*, old age and death This record is found engraved in a cave wherein symbols like the *svastika*, *bhadrāsana*, and *mīnayugula* are found carved suggesting that it was probably the abode of Jaina monks It is probably here that Dharasena was residing It may also be noted that this inscription is considered to be the earliest record that refers to the Jaina monks claiming the attainment of perfect knowledge

When the rainy season came to a close the two monks rendered their march and of the two, Pushpadanta proceded towards Banavāsi-desa while Bhūtabali marched on towards Dramiladeśa, i e , Tamilnad Pushpadanta had been joined by his nephew Jinapālita who was also initiated into the order It was at Banavāsi that Pushpadanta composed the first twenty cardinal *sūtras* relating to *Satprarūpana-adhikāra* which was the first of the eight *adhikāras* of *Jīvasthana-khanḍa*

In may be incidentally noted that according to the *Śrutāvatāra* of Indranandi the two monks spent their rainy season at Kurisvara-pattana from where they proceded further This place has not been identified but it is probably the same as Ankulesvara From here they marched to Karahata which is the same as Karad in the Satara district of Maharashtra It was here that Jinapālita joined his uncle

Jinapālita was sent to Bhūtabali by Pushpadanta after he had completed the *Sūtras*, with the manuscript he had prepared It was left for Bhūtabali to complete the work which came to be divided into six *Khanḍas* Hence, it came to be known as *Shatkhanḍāgama-siddhānta* The work was completed on the fifth day of the bright half of the month of Jyeśhtha and this day is a day of festival among the Jainas It is called *Śrutapanchami* and on this day the Jaina scriptures are worshipped

It has been said that Pushpadanta was responsible for the redaction of a part of this canonical work, and that he did so after he migrated to Banavāsidesa Where exactly in Banavāsideśa he lived is not known and it is probable that he settled down at Banavāsi itself which by then was a prominent centre We are not sure also as to when exactly these works were reduced to writing although obviously it was during the last years of the 2nd century A D

It is seen above that the work of reducing the canonical knowledge to writing took place probably only after c 150 A.D The Girnar inscription referred to is assigned to about the 2nd century A D It is tempting to suggest that it was at that time that Dharasena was

living But all this is based on traditions which came into existence much later Therefore, it is not possible to be absolutely sure about it

This traditional account of the redaction of the Jaina canonical knowledge is thus connected with Banavāsi Jainism, according to tradition, had been introduced into Karnataka much earlier, in the 3rd century B C , when Chandragupta Maurya and his teacher Bhadrabāhu came to the South Before the establishment of the Kadamba kingdom, the Banavāsi region was under the sway of the Śātavānanas in the 2nd-3rd centuries A D and thereafter under the Chutus Traditions and legends incorporated in the literary compositions of the Jaina writers of later age suggest that the Śātavāhanas came under the influence of Jainism Pratiśthanapura, i e , Paithan, which was their capital, was a stringhold of Jainism However, this was in the Andhra country and there is nothing to show that the Banavāsi region came under the influence of Jainism in this early period

The tradition around Simhanandi who was responsible for the establishment of the Ganga kingdom suggests that the faith had continued its hold and it had facilititated his efforts in investing the princes Dadiga and Mādhava of the Ganga family with royal authority and making them rulers of the kingdom The date of the foundation of this kingdom has been much disputed However, there are reasons to suggest that the two earliest kingdoms of Karnataka, of the Kadambas of Banavāsi and the Gangas of Talakad came to be founded almost simultaneously in the early part of the 4th century A D However, while the Gangas are known to be the followers of Jaina creed, the Kadambas were definetely Hindus who worshipped Śiva

Yet, the Kadambas were tolerant towards other religions The Halsi copper plate refers to a grant of land situated in the village called Kheta, made by the Kadamba king Kākusthavarma to the Jaina general Śrutakīrti We have other records which register similar grants by kings like Mrigesavarma Several grants of this king were issued from Vaijayanti i e , Banavāsi He even had a *Jinālaya* built at Halasige His Devagiri grant of his 4th year of rule is interesting because it registers a gift of the village Kālavangā which was divided into three parts each of which was given respectively the great god Jinendra, the holy Arhat, to the Svetapatamahā Samgha and to the Vigranthamahāsramana Samgha This indicates the existence of the Svetambara sect also in this part of the country from very early times

But we know that a few centuries later Jainism became an influential religion in this part of Karnataka In spite of this, however, so far as Banavāsi is concerned it is surprising that there is no relic of such antiquity that would connect it with Jainism All that remains now is a Basadi which is of a much later date, and within the precincts of which a few *nishidi* stones are found with inscriptions of the XII-XIII centuries A D



The earliest of these records belongs to the period of rule of the Kadamba chief of Hāngal, Kāmadeva It is dated his 7th year of rule, the cyclic year Pingala, Māghasu 5, Monday The details of the given date are irregular, but the equivalent christian date would probably be 1198 A D , January 14 On this day, the record says, that a follower of Jina, whose name is not clear, passed away It mentions Desi-gana

The second record refers to the death by *Samādhi-vidhi* of Bhogave wife of Tippisetti of Sateya who was a disciple of Sakalachandrabhattāraka of Kondakunda-ānvaya, Desgana and Pustaka-gachchha The record probably belongs to the reign of Kadamba Kāmadeva, and the

details of date given, viz, year 12, Durmati, Kārttika ba, 5, Monday, may possibly correspond to 1201 A D, October 18 The third record also probably belonging to the same chief, is fragmentary The *extant portion refers to the cyclic year Īśvara,* Vaiśākha, *śu* 3, Sunday probably corresponding to 1213 A D ?, April 10 This record is set up in memory of a Jaina devotee, Kāla-gāunda, son of Boppa-gāunda

Record No 4 refers to a Jaina teacher Nāgachandrabhaṭṭāraka of Mūla-sangha and Surastha-gana Other details of the record are not known as this also is a fragment The transliterated texts of these records are given below

I

1 Svasti Śrīmatu Kadamba chakravarti kaligalamku-
2 sa Kāvadeva [va] rsha, 7neya Pimgala samvatsarada mā-
3 gha śuddha pamchami Somavāradam-
4 du Deśi-gaṇada mayābhara
5 mudra mudipi su

The rest of the record is lost

II

1 Svasti Śrīmatu Kadamba chakravartti kaligalamkuśa gamdara davani Vīra-
2 [Ka] mavarshada 12 Durmati samvatsarada Kārttika bahula pamchami Soma
3 vāradamdu Deśi-gaṇada Pustakagachchha Komdakund-ānvayada Sakalacham-
4 dra-bhaṭṭārakara guddi Tippiseṭṭi Sāteyana hemdati Bhogave
5 samādhividhiyim mudi [pi] sugati prāptiyādalu
6 Mamgala mahā śrī śrī srī

III

1 siraschumbi chandrachāmarachārave trailokya
2 śambhave Svasti Śrīmatu Kadamba chakrava
3 Īsvara samvatsarada Vaisākha su 3 Ādivara
4 ya Boppagāunda na maga Kālagāvunda

IV

1 Śrī Mūlasamgha vidita
2 tra Surasta sadgana nīsvara
3 Nāgachandra-bhaṭṭārakasya ta
4 kritavān achalam

THE HUNAS IN ANCIENT INDIAN LITERATURE



K L. AGRAWAL
University of Saugar

Homeless and lawless, the Hūnas are most prominent in ancient Indian history They disturbed the peace and order of the Indian people, and during the last quarter of the 5th and the beginning quarter of the 6th Centuries ruled over the greater part of the North India In order to have a clear picture of the Hūnas as described in ancient Indian literature, the topic will have to be discussed fully

Epics

Epics are our earliest sources where the mention of the Hūnas is found A causual reference to the Hūnas occurs in one of the manuscripts of the Rāmāyana,[1] though their eloborate description is never found The next reference we find in the Sabhaparvan of the Mahābhārata where Arjuna is said to have led an expedition in the North-West, just as Raghu did in the Raghuvaṁsa of Kālidāsa But there the Bālhikas, the Daradas, the Kambojas, the Risbas and the Param-rsibas rather than Hūnas are mentioned as his main opponents [2] Further in the same epic the Śakas, the Tusāras and the Kankas are said to have presented horses to Yudhisthira on the occasion of his Rājasūyayagñya [3]

1 The St Petersburg Dictionary records only one reference to the Hunas in the Rāmāyana, namely as a varia lectio in the Bengal recension (ed Gorresio, Paris 1845, IV, 40 25) Here instead of दण्डकूलाश्च, one manuscript has पल्हूणाश्च ।

2 तन परमनिक्रान्तो बाल्हीकान् पाकशासनि ।
महता परिमर्देन वशे चक्रे दुरासदान् ॥
गृहीत्वा तु बल सार फल्गु (वल्गु) चोत्सृज्य पाण्डव ।
दरदान् सह काम्बोजैरजयत्पाकशासनि ।
प्रागुत्तरा दिश ये च वसन्त्याश्रित्य दस्यव ।
निवसन्ति वने य च तान्सर्वानजयत्प्रभु ॥
लाहान्परमकाम्बोजानृषिकानुत्तरानपि ।
सहितास्तान् महाराज व्यजयत्पाकशासनि ॥ *Mbh.* 2 27 22-27

3. चीनान्हूणाञ्शकानोड्रान्पार्वतान्तारवासिन ।
वार्ष्णेयान्हारहूणांश्च कृष्णान्हैमतास्तथा ॥ *Mbh*, 2 47 19
शकान्तुखारा कङ्काश्च रोमशा शृङ्गिणो नरा ।
महागमान्दूरगमान्गणितानर्बुद हयान् ॥ *Ibid*, 2 47 26

"Thence Raghu marched against the regions of Kubera Subjudging the northern kings with arrows as the Sun drinks up the water with his rays

"His horse relieved of the fatique of the journey by rolling on the banks of the Vanksu (Indus) shook their bodies which had saffron flowers clinging to their names

"There the redness of the Cheeks of the Hūna queens testified to Raghus achievement in which his powers was displayed against their husbands "

It is still controversial whether in the above cited verses, the reading 'Sindhu' is correct or 'Vanksu' Mallinātha tre great commentator of the epic, Dr D R Bhandarkar[1] and Hodivala[2] are of the opinion that the reading 'Sindhu' should be accepted But Prof K B Pathak[3] challenging the view, argues that the correct reading is 'Vanksu', and identifies it with the oxus Drs S K Aiyangar[4] and B C Law[5] have also endorsed this opinion The Nagpur stone inscription of Narvarmadeva dated V S 1161 (A D 1104-1105) is more helpful in ascertaining the correct reading It elaborately describes the victorious campaign of Laksamadeva, the brother of Narvarmadeva One of the verses refers to the encampanent of Laksamadeva, where his victory over the king of the Kiras is mentioned The translation of the verse is as follows

"Being encamped on the banks of the Vanksu, which were even softer than nature made them, because the saffron filaments on them were wittering under the rolling of the team of frisky horses, presented by the Turuska, whom he had eradicated with ease, he taught the Kīra chief to utter most flattering speeches, who on account of proximity of the Saraswatī was eloquent beyond measure and who was like a parrot shut-up in a big cage "[6]

The first line of the verse is simply a repetition of the Raghuvamsa Dr Buddha Prakash remarks that "a glance of the imagery and phraseology of these verses leaves no room for doubt that the author of the Nagpur prasasti, who was probably Narvarmadeva himself, had in mind the conception of Kālidasa and recapitulated it in almost the same style "[7] It appears from above references that the Hūnas probably had some relation with India Dr Buddha Prakash places this "conquests of Raghu to the oxus between 390 A D and 399 A D and that Kālidāsa's reference to the Hūnas on the oxus belongs to that period "[8]

Brhatsamhitā

The Brhatsamhitā composed in the glorious days of the Guptas contains important details about Astronomy, Geography, Architecture, Sculpture, Medicine, Psychology,



1 *JRASB*, (Letters), Vol XII, (1947), pp 36-37
2 *JBBRAS*, (1930), pp 282-83
3 *Ind Ant*, (1912), p 266
4 *Ibid*, (1919), pp 65, 74
5 *Geographical Aspects of Kālidasas works*, p 2
6 *Ep Ind*, Vol II, p 188.
उत्तीर्णानतुरुष्कदत्तविकटप्रह्लादिवाजिव्रजग्लानकुङ्कुमकेसराग्रिकवङ्क्षुतीरेषु स्थितः ।
येनावाप्य महत्तरपौषपविपरावालापपाटुस्तथा दम्भोत्कटपञ्जरगतः कीराधिपोऽध्यापयत ॥
7 *Journal of Indian History*, Vol XXXV, p 92
8 *Ibid*, p 125

Kuvalayamālā

We find an interesting account of the Hūna king, Toramāna, in a Jaina work called Kuvalayamālā (A D 778)[1] It is mentioned in the work that "on its bank (Chandrabhāgā) is the celebrated town of Pavvaiya where lived Śrī Torāya or (according to the Poona manuscript Toramāna enjoying the sovereignty of the world"[2] Śrī N C Mehta[3] says that "Torarāya is the celebrated Hūna monarch, Toramāna, who shook the Gupta empire to its very foundations and extended the sway as far as Mālwa (C 499-510 A D)

Navasāhasānkacharita

The Paramāra Siyaka II is mentioned in this historical epic to have conquered a Hūna chief, though his identity is not clearly known[4] Dr H C Ray,[5] however, conjectures that the Hūna prince might have died in the battle with Paramāra king The tenth Canto[6] of this epic mentions that Sindhurāja, too defeated a Hūna king This fact is corroborated by the Udaipur Prasasti[7] of the Mālwa king

Rājataranginī

Both the Hūna kings, Toramāna and Mihirakula, are referred to in the Rājataranginī, the chronicle of Kashmir One of the verse runs "Then his son Mihirakula, a man of violent acts and resembling Kāla (death), ruled in the land—which was overrun by hoardes of Mlecchas"[8] Kalhana, the illustrious author of this historical epic further mentions Mihirakula as a powerful king of Kashmīr and Gandhāra, who conquered India and Ceylon His heart-rendering deeds of cruelty are briefly mentioned in the work Dr M A Stein,[9] the translator of this great work, thinks this Mihirakula is undoubtedly identical with the great ruler of the Hūnas After making a careful and detailed study of the evidences of the inscriptions of Eran and Mandsor with the datas of Rājataranginī, Hiuen Tsang, Sung-Yun and coins Dr Fleet[10] also holds the same opinion However, Dr R C Majumdar is of different opinion He argues that "Rājataranginī also refers to Toramāna, but he flourished long after Mihirakula, about eighteen kings intervening between the two The career of this Toramāna hardly fits in with what we know of the Hūna chief of that name from other sources, though the age assigned to him fits in with that of later"[11] In the absence of more corroborative

1 JBORS , Vol XIV , pp 28 ff

2 'Tīrammi tiyapayada Pavvaiyanām rayanasohillā |
Jtthithi thie muttā puhajam siritorayena ||
JBORS , Vol XIV , p 34

3 In a recently published paper it has been suggested that "he (Toramāṇa) was a Huna king" IHQ , Vol XXXIII , p 33

4 अकङ्कणमकेयूरमनूपूरनूपुरममेन्वनम् ।
हूणावरोधवैधव्य दीक्षादान् व्यनत्त य ॥ 11 90

5 *DHNI* , Vol , II, p 850

6 अपकर्नुमत्र समरे नवात्तर्भामनमापि हूणनृपतिर्न वाञ्छति । 10 14

7 *Ep Ind* , Vol , I, p 235

8 I, 289 ff, III, 102 ff ed by Dr Stein

9 Translation, p 43

10 *Ind Ant* , Vol XV , pp 245 ff

11 *Classical Age*, p 35, Also, *The Vākātaka-Gupta Age*, p 197



dates it would, however, not be wrong to presume that Mihirakula of the Rājataraṅgiṇī is identical with the Mihirakula of the epigraphs

Kathāsaritasāgara

An interesting story[1] of the king, Udayana, is given in the Kathāsaritasāgara, 'the Ocean of Story' It is mentioned in this work that king Udayana who subdued the king of Sindhu at the head of cavalry, destroyed the Mlecchas as Rāma had destroyed the Rakshasas The cavalry of the Turushkas was shattered The king beheaded the Pārasikas This was the final blow to the Hūnas Dr B N Puri remarks that "the value of this tale might be nil but it clearly throws welcome light on the grouping of these powers situated in the close proximity to each other The Pārsikas were at that time living some where in Rājputānā, close to Sindhu and nearer to the Hūna territory "[2]

Dvyāśrayakāvya

The Hūnas are also mentioned by Hemachandra, a Jaina author, in his Dvyāśrayakāvya It is mentioned there that the Chalukya king, Durlabharāja who succeeded the throne of Anhilapātāna in A D 1009, won his queen Durlabhādevī in a Svayamvara and fought for her with a number of kings of Aṅga, Kāsi, Avanti, Hūnadeśa, Mathura and Vindhya[3]

The Social Status of the Hūnas

The Harakelināṭaka throws welcome light on a different interesting aspect It refers to that the Hūnas were no longer barbarians but had some literary taste Some portions of this drama are found in the Ajmer slab inscription[4] which was composed by Vigraharāja and engraved by Bhaskara, son of Mahipati and grandson of Govinda, who was born in a royal Hūna family He was a favourite of king Bhoja Rājasekhara[5] also mentions that the Hūna ladies were noted for the lusture of their cheeks Some of the medieval inscriptions have preserved a few examples of Hūnas and other chiefs being married into Brāhmana families Allata (10th Century A D)[6] of the Guhilas of Mewar married a Hūna lady named Hariyādevī Similarly Karnadeva of the Kalachuri family married a Hūna princess, Āvalldevī[7]

The above analysis reveals that the Hunas had started gaining favour in the Indian Society of that period They are mentioned in the list of thirty-six royal clans of Rajputs, which is a further proof that they definitely earned a high social status

---

1 मिन्धुराज वशीकृत्य हरिसैन्यैरनुद्रुन ।
क्षपयामास च म्लेच्छान्राघवो राक्षसानिव ॥1(S॥
हूणहानिकृतस्तस्य मुरारीकृतदिङ्मुखः ।
कीर्तिर्द्वितीया गङ्गेव विचचार हिमाचले ॥108॥ Bihar Rāstra-Bhāsā ed

2 *JUPHS*, Vol V, (new series), p 5

3 हूणाण राइणा टह तआ रायणो इमे पहु रमन्ते ।
अङ्गाण रण्णा राइणो तह सगेण राएण ॥ 161

4 *Ind Ant*, Vol XX, p 210 ft
'कुङ्कुमपङ्कजचर्चित हूणतरुणी ।'

5 *Bālarāmāyana*, VII, 59, p 198 Cf *Kāvyamimāṃsā*, (Boş), Chap XVIII, p 109
'हूणानाम् कुरुते मधुकमुकुलम् लावण्यकुठकम् ।'

6 Ep Ind, Vol XXIII, p 108
'(यस्य हूणक्षोणीशवशराजाहरियदेवी)', Also, p 373

7 C I I Vol IV, p 289 ff
'कर्णदेव अजनि कलचुरीणा स्वामिना तेन हूणान्वय जलनिधिलक्ष्म्या श्रीमदावल्लदेव्या ।'

मरुधरकेसरी

अभिनन्दनग्रन्थ

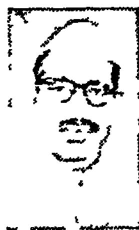


परिशिष्ट

विद्वान् लेखक—जिनके चित्र प्राप्त हो सके


डॉ० नरेन्द्र भानावत


लालचन्द नाहटा


पं० दरबारीलाल कोठिया


रिखबराज कर्णावट


कन्हैयालाल लोढा


शिखरचन्द कोचर


मिलापचद कटारिया


अनन्त लूणिया


जयन्तीप्रसाद जैन


हीरालाल शास्त्री


अजितकुमार शास्त्री


सौभाग्यमल जैन


निहालचद जैन


डा० कैलाशचद्र जैन


श्रुतिशील शर्मा


महेन्द्र राजा जैन


पं० चैनसुखदास जैन


प्रेमसुमन जैन

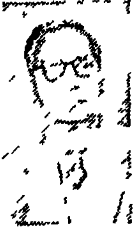

दयाचन्द्र साहित्याचार्य


डा० मंगलदेव शास्त्री


पारसमल 'प्रसून'


डा० हरीन्द्रभूषण जैन


सुन्दरलाल वैद्य


डा० ज्योतिप्रसाद जैन


डा० मोहनलाल मेहता


पं० गोपीलाल अमर


श्री परमानन्द जैन


व० पी० शास्त्री


पुरुषोत्तमलाल मेनाररिया


श्रीचन्द्र जैन



डा० स्वप्ना बनर्जी



के० भुजबली शास्त्री



देव कोठारी



पन्नालाल साहित्याचार्य



राजकुमार गोयल



गुरुनाथ जोशी



डा० परमेष्ठीदास



सूर्यनारायण व्यास



डा० कन्हैयालाल सहल



कन्हैयालाल अग्रवाल



भागचन्द जैन, किशनगढ



भवरलाल नाहटा



भागचन्द जैन ,इटारसी



डा० रामानन्द 'हरि'



श्री हरिवल्लभ



रामचन्द्र जैन



भागचन्द्र जैन



राजकुमार जैन



लक्ष्मीचन्द्र 'सरोज'



रामनारायण उपाध्याय



डॉ० देवेन्द्रकुमार
रायपुर



डा० राजाराम जैन



डा० गोकुलचन्द्र जैन



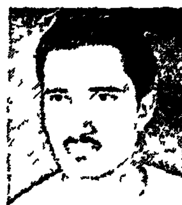
डा० बी० एस० कुलकर्णी



गणेशप्रसाद जैन



अगरचन्द नाहटा



डा० जयसिंह नीरज



के० बी० जिंदल



डॉ० कन्हैयालाल सहल



क्षेमचन्द्रजी जैन



जयभगवान वकील

अर्थ सहायक-चित्रावली

(प्रथम-श्रेणी)

श्री अन्नराजजी नलवाणी



आप आगेवा निवासी, उदारमना श्रावक हैं। आपके श्री लक्ष्मीचन्दजी एवं शान्तिलाल जी दोनों सुपुत्र बड़े आज्ञाकारी एवं सेवाभावी हैं। आपका व्यवसाय यहाँ और मैसूर दोनों जगह बड़े सुन्दर ढंग से चल रहा है।

•

आप बाजननिवासी स्व० महता बख्तावरमलजी के सुपुत्र हैं। आप में धर्म के प्रति गहरी लगन है। आपके सुपुत्र उत्तमचन्दजी आदि विनीत एवं सुशील हैं। व्यवसाय रावटसनपेट में चलता है।



श्री घेवरचन्दजी गतड़िया

श्री अन्नराजजी गादिया



आप आगेवा (मारवाड) के निवासी बड़े उदारमना हैं। आपने अपने स्वधर्मी भाइयों व सम्बन्धियों की स्थिति विचारणीय देख कर पूज्य मरुधरकेसरीजी म० के सम्मुख ही उनसे जो ५० हजार रकम मांगते थे उसे जमा कर खाते बराबर कर दिये। इसके अलावा आपने और भी समाज हित के कार्यों में भाग लिया। आपके भ्राता श्री धनराजजी भी बड़ी सरल प्रकृति के मनुष्य हैं। आपके दत्तक पुत्र श्री पुखराजजी भी बड़े सरल एवं आज्ञाकारी हैं।

श्री बी० अमोलकचन्दजी विनायकिया



आप मारवाड में कमीवास के निवासी हैं। आपका व्यवसाय नरसा बाजार मद्रास में है। आप सरल हृदय व धर्म-प्रेमी सज्जन हैं। आपके भ्राता श्री मिश्रीमलजी की तथा आपके सुपुत्रों की लगन प्रशंसनीय है।

•

आप पीपलिया मारवाड के निवासी थे। अत्यन्त कर्तव्यनिष्ठ तथा परिश्रमी व्यक्ति थे। आपके सुपुत्र श्री फूलचन्दजी लूणिया भी बड़े मिलनसार एवं निरभिमानी युवक हैं। लाखों कमाये और लाखों दान दिया।



स्व० श्री किशनलालजी लुणिया

श्री इन्दरसिंहजी मुणोत



आप जोधपुर निवासी श्री गणेशमलजी मुणोत के सुपुत्र है। बडे मेधावी, व्यापार-कुशल, आधुनिक विचारों के सुधारवादी नवयुवक हैं। व्यवसाय जोधपुर मे ही सुन्दर ढंग से चल रहा है।

●

आप सादडी निवासी कुन्दनमलजी सा० मेहता के बडे पुत्र हैं। पेढी पृथ्वीराज रतनचन्द के नाम से बम्बई में है। सादडी स्था० समाज के नेता, मूक सेवक और उदारदिल है।



श्री निहालचन्दजी के० मेहता

श्री दीपचन्दजी मूथा



आप चण्डावल निवासी श्रीकेसरीमलजी मूथा के सुपुत्र है। आप सोजतरोड स्थानकवासी समाज के प्रमुख है। धार्मिक लगन वाले उत्साही कार्यकर्ता है। आपकी सोजत रोड मे जालमचन्द दीपचन्द नामक प्रसिद्ध फर्म है।

श्री पन्नालालजी जागड़ा



आप मारवाड कापरडा के निवासी है। पिता का नाम श्री धनराजजी जागडा है। उदारमना, धर्मपरायण तथा समाजसेवी है। जालना मे धनराज पन्नालाल के नाम से प्रसिद्ध फर्म।

●

आप 'शालिभद्र' के नाम से प्रख्यात थे। दानी, सदाचारी, मितभाषी थे। व्यवस्था-शक्ति बडी सुन्दर थी। आपके सुपुत्र श्री पारसमलजी भी योग्य उत्साही नवयुवक है। आपका व्यवसाय ब्यावर मे ही चल रहा है।



श्री बस्तीमलजी बालिया

श्री कावड़िया गजराजजी छोगमलजी



आप उत्साही, नेकदिल, समाज के स्तम्भ रूप थे। आप छोगमलजी कावड़िया के सुपुत्र थे। हजारों रुपयों का सद्व्यय किया। पूना में श्री नगराज गजराज के नाम से आपकी प्रसिद्ध फर्म है।

•

आप साजन निवासी बाबू घीसूलालजी के पुत्र हैं। श्री मदनराजजी सा० के कनिष्ठ भ्राता हैं। भ्रातृप्रेम सराहनीय है। सामाजिक कार्यों में हजारों का दान देते हैं। अपने मवथिया को व्यवसाय में साझे में रखकर सम्पन्न बना दिया है। आपका व्यवसाय कटक में चलता है।



श्री जवरीलालजी नाहटा

श्री घीसूलालजी मरलेचा



आप स्व० सेठ गुलाबचन्दजी मरलेचा के दत्तक पुत्र थे। धर्मपरायण एवं दानवीर थे। किन्तु अल्प वय में ही स्वर्गवासी हो गये। आपके दत्तकपुत्र श्रीरणजीतमलजी भी उत्साही युवक हैं।

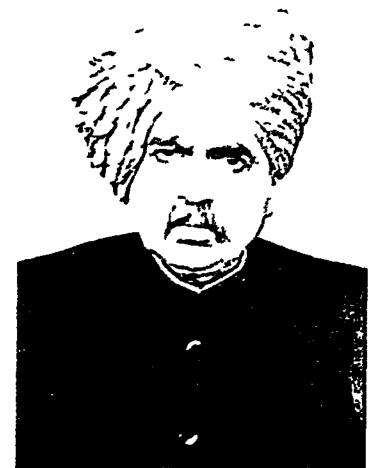
श्री चम्पालालजी डूंगरवाल



आप मारवाड़ में मालियों की कर्मावास के निवासी हैं। व्यवसाय श्री चम्पालाल चैतन्यप्रकाश के नाम से बेंगलोर में है। धर्म की लगन प्रशंसनीय है। अपने ही परिश्रम से ऋद्धि उपार्जित की है।

•

आप चावण्डिया निवासी श्री गुलाबचन्दजी पोखरना के सुपुत्र हैं। उत्साही नवयुवक हैं। आपका व्यवसाय पैराम्बूर मद्रास में चल रहा है। धर्म के प्रति बड़ी लगन है तथा आप गुरुदेव के अनन्य भक्त हैं।



श्री चान्दमलजी पोखरना

स्व० श्री मदनलालजी सकलेचा



आप श्रीमान घीसूलालजी बोहरदिया के द्वितीय पुत्र थे। हजारों का दान किया। बड़े गुप्तदानी थे। अजमेर सम्मेलन पर खुले दिल से खर्च किया। श्री मरुधरकेसरीजी म० के अनन्य भक्तों में से एक थे। ३१ वर्ष की अल्पायु में ही काल कवलित हो गये।

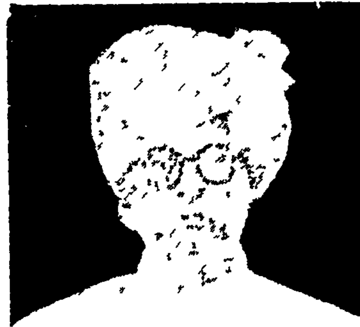
•

आप भावी निवासी श्री घीसूलालजी सेठिया के सुपुत्र और मोहनलालजी के बड़े भ्राता थे। आप बड़े होनहार नवयुवक थे किन्तु अल्प समय में ही आपका स्वर्गवास हो गया। आपके पिताजी तथा लघु भ्राता दोनों ही पिता-पुत्र धर्म स्तम्भरूप हैं। आपकी घीसूलाल सोहनलाल सेठिया फर्म मैसूर में है।



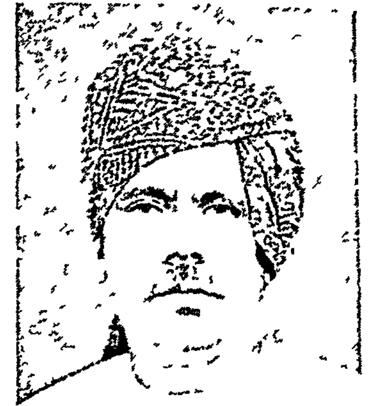
श्री स्व० कु० सोहनलालजी सेठिया

श्री मदनराजजी सुराणा



आप जोधपुर निवासी श्री मगनराजजी सा० के सुपुत्र थे। आप पुलिस विभाग में उच्च पद पर कार्य करते थे। आपने समाज की तन-मन से खूब सेवा की थी। उपाध्याय श्री हस्तीमलजी महाराज के शिष्य के दीक्षा-महोत्सव की व्यवस्था करते हुए आपका स्वर्गवास हो गया।

श्री चम्पालालजी कटारिया



आप बिलाडा निवासी बहादुरमलजी कटारिया के सुपुत्र हैं। बड़े उत्साही एवं मिलनसार हैं। बिलाड़े में बादरमल चम्पालाल के नाम से आपकी फर्म प्रसिद्ध है।

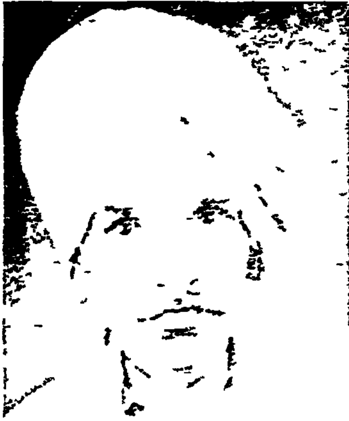
•

आप मादलिया निवासी श्री हस्तीमलजी मूथा के दत्तक पुत्र हैं। आप स्थानकवासी समाज के सेक्रेटरी उदारमना शास्त्र-श्रवण प्रिय सज्जन हैं। आपने अपने कुटुम्बियों को आर्थिक दृष्टि से उन्नत एवं सुदृढ बनाया है।



श्री पारसमलजी मूथा

श्री अनूपचन्दजी बोहरा



आप अटपडा निवासी हैं। बडे परिश्रमी एव धर्मसाधना मे लीन रहने वाले पुरुष हैं।

●

आप बुसी निवासी स्व० सेठ दीपचन्दजी मेरजी के दत्तक पुत्र हैं। होनहार नवयुवक हैं। आपके दान से हास्पिटल, जैन स्थानक, बहुत सी प्याऊ एव धर्मशालाए बनी हैं। व्यवसाय मुडागेरी [मैसूर] मे है।



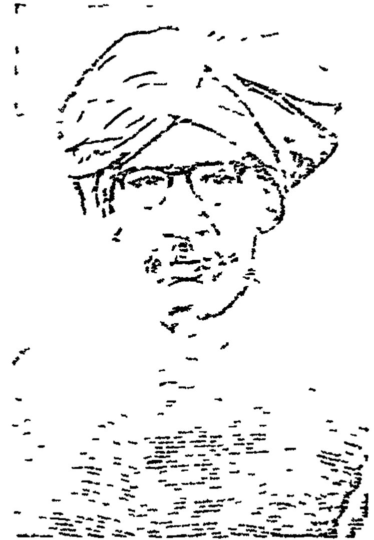
श्री देवीचन्दजी बोहरा

श्री सुन्दरबाई विनायकिया



आप श्रीमान् देवीचन्दजी विनायकिया पट्टा की धर्मावास (मारवाड) निवासी की धर्मपत्नी हैं। श्री किशनलालजी की मातेश्वरी है। धर्म कार्यों मे रस लेनेवाली महिला हैं। आपके परिवार का व्यवसाय नाम्बरम् मद्रास मे है।

श्री जुगराजजी बरमेचा



आप अटपडा मारवाड के निवासी हैं। आपके श्री वीवराजजी केवलचन्दजी दो छोटे भाई हैं। तीनो भाई धर्मप्रेमी, समाजसेवी एव दानवीर हैं। चिकित्सालय भवन का निर्माण कराया, हाईस्कूल के और भव्य स्थानक के निर्माण मे पूरा हाथ रहा है।

●

आप बडे मिलनसार एव उत्साही पुरुष थे। आपके सुपुत्र श्री जुगराजजी तथा श्री सम्पतराजजी होनहार युवक हैं। सामाजिक कार्यों मे अच्छा रस लेते हैं। आपका व्यवसाय सिकन्दराबाद दक्षिण मे चलता है। गुरुदेव के अनन्य भक्त हैं।



श्री पुखराजजी मुणोत

श्री चौथमलजी खीवसरा



व्यापारी-मारवाड निवासी श्री पन्नालाल-जी खीवसरा के चतुर्थ पुत्र है। आपने चारों धन कर रखे है। धर्माराधना मे अग्रसर है। आपके बडे भ्राता श्री साहबचद जी चिक-मगलूर मे सुन्दर ढग से व्यवसाय चला रहे हैं छह भाइयों का सपन्न परिवार है।

●

आप सादडी निवासी वेद मूथा है। आप का व्यवसाय बम्बई मे है। आप समाजसेवा मे सुन्दर सहयोग करते है



श्री हिम्मतमलजी मेहता

श्री रूपचन्दजी बोहरा



आप बूसी निवासी सेठ चन्द्रभानजी बोहरा के सुपुत्र हैं। आपके ज्येष्ठ पुत्र श्रीमाणकचन्द जी अपना व्यापार मद्रास मे सुन्दर ढग से चला रहे हैं। बोहराजी धर्मप्रेमी तथा स्थानकवासी समाज के प्रमुख पुरुष हैं

श्री एम० मगलचन्दजी जैन

कु० मगलचन्दजी सहवास निवासी सेठ मिश्रीमलजी कटारिया के सुपुत्र हैं। श्री मोहनलालजी आपके कनिष्ठ भ्राता हैं। दोनो भाई सम्मिलित रूप से मद्रास मे अपना व्यवसाय चला रहे हैं। गुरुदेव के परम भक्त है।

●

आप नीलम—मारवाड जकशन निवासी श्री फौजमलजी सा० के तृतीय पुत्र हैं। राणा-वास छात्रालय को एक मुश्त इक्कीस हजार रुपया प्रदान किया। लोकाशाह अर्ध सहस्रा-ब्दी पर भी हजारों खर्च किये। बडे भद्र, दानवीर एव धर्मनिष्ठ हैं।



श्री एफ० लालचन्दजी मुणोत

श्री पुखराजजी बोहरा



आप राणीवास निवासी सेठ गणेशमलजी बोहरा के सुपुत्र हैं। आपके कनिष्ठ भ्राता श्री जवरीलालजी हैं। आप राणीवास के सरपंच रह चुके हैं। आजकल प्रेमराज गणपतराज फैक्ट्री पीपलिया (मारवाड) के भागीदार उत्साही, धर्मप्रिय, नवयुवक हैं।

●

पट्टा की नर्मावास (मारवाड) निवासी स्व० सेठ पुखराजजी विनायकिया की धर्मपत्नी तथा श्री मोहनराजजी सोहनलालजी विनायकिया की मातेश्वरी हैं। आप की प्रेरणा से बच्चों में धार्मिक प्रेम पनपा है। विवेकशील महिला हैं। व्यवसाय ताम्बरम् में चलता है।



श्री चांदाबाई विनायक्या

श्री पुखराजजी कटारिया



नवाज निवासी श्री हिम्मतमलजी कटारिया के सुपुत्र हैं। बड़े दयालु, दानवीर धर्मपरायण, वयोवृद्ध सज्जन हैं। आपके लघु भ्राता श्री जन्नराजजी एवं सुपुत्र श्री पारसमलजी मिलनसार तथा गुरुदेव के भक्त हैं।

श्री अमरचन्दजी पीतलिया



सिरियारी निवासी दानवीर सेठ विच्छु-लालजी के सुपुत्र हैं। आपके बड़े भ्राता श्री बच्छराजजी बड़े मिलनसार एवं आदर्श नवयुवक हैं। धन एवं धर्म दोनों कमाने में कुशल हैं। आपका व्यवसाय रत्नागिरि में है।

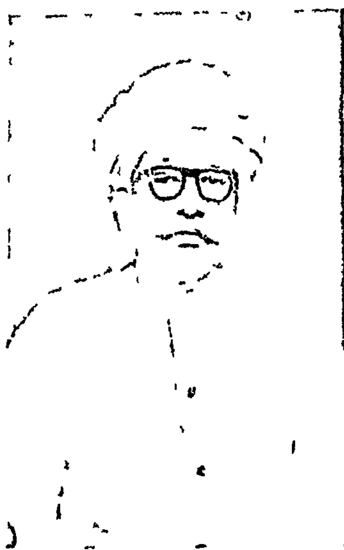
●

आप चाउडिया निवासी जीवराजजी सा० के पौत्र और वृद्धिचन्दजी सा० के सुपुत्र हैं। श्री हीरालालजी तथा अमोलकचन्दजी आपके चाचा हैं। आप उदारमना नवयुवक हैं। व्यवसाय मद्रास में है।



श्री भवरीलालजी तिलेसरा

श्री राजमलजी मरलेचा



आप गुडागिरी, सोजत रोड निवासी सेठ गणेशमलजी मरलेचा के दत्तक पुत्र है। आपके सात पुत्र एव पुत्रिया ह। आप विशेष मातृभक्त है। आपकी धार्मिक श्रद्धा अच्छी है।

•

आप जयतारण निवासी श्री देवराजजी सा० चोधरी की धर्मपत्नी ह। और श्री शान्तिलालजी व श्री धर्मीचन्दजी की मातेश्वरी हैं। आप परम गुरुभक्त ह और भाग्यवती ह। आपके सुपुत्र तिरुपति, मद्रास मे प्रख्यात व्यवसाय का सचालन कर रहे ह।



श्री केली वाई चोधरी

श्री कन्हैयालालजी जैन



कु० कन्हैयालालजी, मादलिया निवासी सेठ मिश्रीमलजी मूथा के पौत्र तथा श्री सम्पतराजजी सा० के सुपुत्र है। आपके पिताजी ने अपना कारोबार कुशल तथा गगावती मे चला रखा है। पिता-पुत्र की गुरुभक्ति, त्याग तथा तपस्या अनुकरणीय है।

•

आप सोजत निवासी श्री मिरेमलजी पगारिया के सुपुत्र ह। आप क्रान्तिकारी विचार वाले सादीभक्त एव धर्मनिष्ठ व्यक्ति हैं। आपके सम्पतराजजी वदरीचन्दजी आदि तीन सुपुत्र है। आपका कारवार निदवार रमेडी मे सुन्दर ढग से चल रहा है।



श्री पारसमलजी पगारिया

श्री सुगालचन्दजी तालेडा



आपकी जन्मभूमि चाउण्डिया (मारवाड) है। आपके लघुभ्राता का नाम श्री जुगराजजी है। वैगलोर म दोनो भाइयो का व्यवसाय सम्मिलित रूप मे वडे सुन्दर ढग से चल रहा है। आप देव-गुरु के परम भक्त ह।

श्री उत्तमचन्दजी अलिजार



आप जसनारण मारवाड निवासी श्री मिश्रीमल अलिजार के सुपुत्र हैं। आप व्यवसाय बैंगलोर मे चलाते हैं। बडे मिलनसार उदीयमान नवयुवक हैं।

●

सेठ मुकनचन्दजी बालिया मारवाड के प्रसिद्ध श्रीमन्त थे। आपने लाखो का दान देकर भी दानी नहीं कहलाने का सकल्प निभाया। श्री हस्तीमलजी आपके बडे पुत्र हैं। श्री मोहनलालजी माणकचन्दजी आदि चारो बडे सदाचारी, मिलनसार तथा शान्त स्वभाव वाले हैं।



श्री मुकनचन्दजी बालिया

श्री सोहनराजजी कन्हैयालालजी जैन



यह राणीवाल निवासी बोहरा सोहनराज जी तथा गुदडमलजी सुराणा की सयुक्त फर्म है। दोनो सज्जन समाज सेवा मे खूब रस लेते हैं। बडे कार्यकुशल नवयुवक हैं।

श्री घीसूलालजी लोढा



आप आउवा की दवली के निवासी, सुन्दर गायक एव कवि हैं। अपने हाथो मे ही सम्पत्ति उपार्जित करके सदुपयोग करते रहते हैं। आपका जवाहिर प्रि० प्रेस के नाम से जोधपुर मे प्रेस है।

●

आप खारिया (मीठापुर) निवासी श्री छगनमलजी खिवसरा के सुपुत्र हैं। दिल के बडे उदार एव धर्मपरायण व्यक्ति हैं। आपका व्यवसाय मद्रास मे है।



श्री पारसमलजी खिवसरा

श्री मानमलजी चोरडिया



आप पिच्याक (मारवाड) निवासी सेठ छोटमलजी मालिक फर्म श्री खेमचन्दजी भवरलालजी चोरडिया के दत्तक पुत्र हैं। आप प्रकृति मे उत्साही वीर एव हिम्मतवर व्यक्ति हैं। आपकी वडी जमीदारी है आप शस्त्र सचालन मे भी निपुण है।

•

आप सोजत निवासी श्री समर्थमलजी नावरिया के सुपुत्र है आप दिल के वडे उदार एव धर्मनिष्ठ ह प्रकृति मे मिलनसार व हसमुख है।



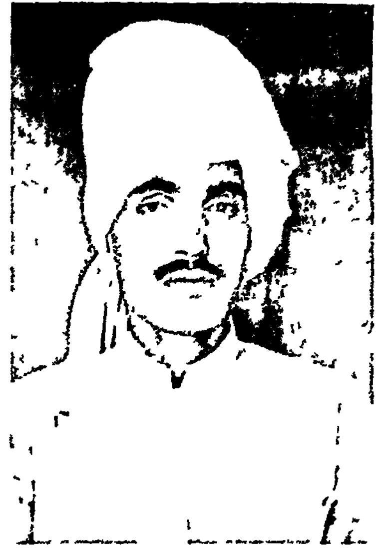
श्री मुन्नालालजी नावरिया

श्री मोहनलालजी भडारी



आप विलाडा निवासी गणेशमलजी भडारी के सुपुत्र व स्था० जैन श्रावक सघ के प्रमुख हैं। आपके कनिष्ठ भ्राता श्री पारसमलजी है। दोनो भाइयो का प्रेम राम-लक्ष्मण सा है। दोनो उत्साही है। व्यवसाय विलाडे मे ही हैं।

श्री माणकचन्दजी कोठारी



आप कुरडाया निवासी सेठ मुन्नराजजी के पौत्र मोहनलालजी के पुत्र है। आप वडी धार्मिक लगन वाले श्रावक हैं। आप की प्रेरणा से गाव मे धर्म का अच्छा प्रसार हो रहा है।

•

आप बुसी निवासी स्व० सेठ चन्दन-मलजी बोहरा के सुपुत्र ह। आप मे धर्म के प्रति लगन, समाज-प्रेम खूब है। आपकी गुरुभक्ति अनूठी है। आप आदर्श युवक है। आप से समाज को वडी आशाए है।



श्री मोतीलालजी बोहरा

श्री मोहनराजजी मूथा



आप मादलिया मारवाड के निवासी हैं। आपके पिता का नाम श्री जेवन्तराजजी है। पिता पुत्र दोनों ही समाज के रत्न है। गगावती (गजेन्द्र) मे अपना व्यवसाय करते हैं।

•

बिलाडा निवासी श्री गणेशमलजी लल-वाणी के सुपुत्र है। बिलाडा स्थानकवासी सघ के प्रमुख है। राज्यसम्मानित श्रीमान् है। आप के सुपुत्र पारसमलजी एव शान्ति-लालजी व्यापार मे अच्छा रस लेते हैं। आपकी अनेक फर्मे भी चलती हैं।



श्री पुखराजजी ललवाणी

श्री माणकचन्दजी मेहता



आप जयतारण मारवाड के निवासी हैं। बडे ही शान्त, गम्भीर एव गुरुभक्त व्यक्ति है। आप मे सज्जनता कूट-कूट कर भरी है। आपकी कुप्पल मे माणकचद सूरजमल नाम की फर्म एव ओइल मिल है।

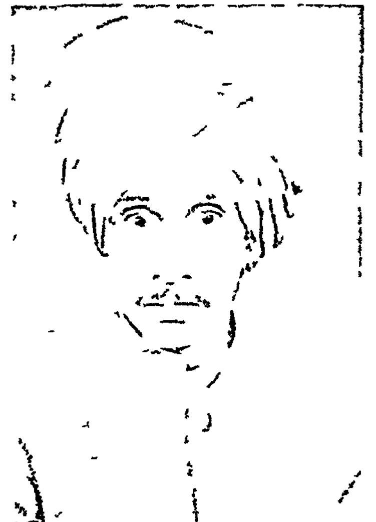
श्री बलवन्तराजजी काठेर



आप बगडी निवासी दिलेर, उत्साही और क्रान्तिकारी विचारों के नवयुवक हैं। आपकी धर्मपत्नी श्रीमती सज्जनकँवर बाई भी बडी धर्मपरायण एव विवेकशील हैं। श्री काठेरजी का व्यवसाय मद्रास मे है। बगडी के हाईस्कूल तथा छात्रावास के लिये आपकी सहायता प्रशसनीय रही है।

•

चाउन्डिया निवासी श्री ताराचन्दजी के सुपुत्र है। आपके लघुभ्राता श्री जुगराजजी सघ के मत्री, एव सगीतज्ञ है। आपकी बहन धनकुँवरजी ने भागवती दीक्षा अगीकार की है। आपका व्यवसाय यही चल रहा है।



श्री पुखराजजी क[illegible]

श्री जुगराजजी सचेती



आप सीरवाड़ा-सोजतरोड निवासी स्व० सेठ बख्तावरमलजी के सुपुत्र थे। कुशल व्यापारी, धर्मनिष्ठ एवं सहृदय थे। आप गुरुदेव के परम भक्तों में थे। आपके बड़े पुत्र भंवरलालजी हैं।

●

आप चाउण्डिया निवासी लालचन्दजी बोहरा के सुपुत्र और टीकमचन्दजी, सरपंच चाउण्डिया के बड़े भ्राता हैं। उदार और मिलनसार नवयुवक हैं।



श्री पुखराज बोहरा

श्री कुशलराजजी कटारिया



आप सोजत निवासी पूलचन्दजी कटारिया के सुपुत्र हैं। उत्साही युवक हैं। आपका व्यवसाय द० सिकन्दराबाद में चलता है।

श्री खींवराजजी बोहरा



आप चाउण्डिया निवासी वृद्ध, उत्साही एवं धर्मपरायण व्यक्ति थे। आपके सुपुत्र श्री सुगालचन्दजी व अन्नराजजी मारवाड़ व मद्रास में अच्छा व्यवसाय चला रहे हैं।

●

आप चाउण्डिया के निवासी हैं। आपका व्यवसाय आदनावरम् (मद्रास) में चलता है। आप धर्मप्रेमी, उत्साही गुरुभक्त नवयुवक हैं।



श्री गुदड़मलजी तालेड़ा

श्री बशीलालजी पीतलिया



आप निरियारी-सोजत निवासी धर्मपरायण पुरुष हैं। खद्दर के पूर्ण प्रेमी है। सामाजिक कार्यों में गुप्त रूप से मदद करना बहुत पसंद करते है। आपका व्यवसाय मनमाड में चल रहा है।

●

आप राम (मारवाड) के निवासी श्री राजमलजी बोहरा के सुपुत्र हैं। प्रकृति से भद्र, उदार और धर्मप्रेमी सज्जन हैं। आपने सामाजिक क्षेत्रों में धन का अच्छा उपयोग किया। आपकी धर्मपत्नी श्री दाखी बाई भी बडी धर्मपरायण महिला हैं।



श्री सम्पतराजजी बोहरा

श्री सूरजमलजी सकलेचा



आपकी फर्म श्री हीराचन्द भीकमचन्द के नाम से जोधपुर में मशहूर है। आपके पूज्य भाई सा० भीकमचन्दजी का स्वर्गवास हो गया है। आपके लघु भ्राता श्री इन्दरमल जी भी आप ही के समान, सरल, उदार एवं पूरे सादगी पसन्द हैं। आप दोनों भाइयों को तथा श्री भीकमचन्दजी सा० के सुपुत्र श्री पारसमलजी को समाज सेवा का बहुत चाव है। बडी सहृदयता से समाज सेवा का लाभ लेते हैं। आप मरुधरकेसरी अभिनन्दन ग्रन्थ प्रकाशन समिति के स्तंभ हैं।

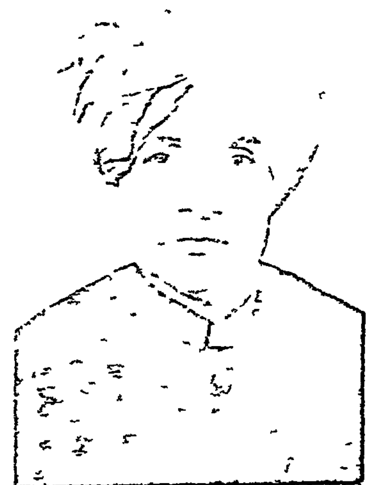
श्री घीसूलालजी राका



कुशलापुर निवासी प्रसिद्ध श्रावक है। घोर तपस्वी हैं। कई मासखमण और ५१ दिनों तक की तपस्या की है। दानी हैं। आप के सपुत्र फतेहचन्दजी चम्पालालजी मद्रास में व्यवसाय करते हैं।

●

आप चाउण्डिया निवासी श्री चुन्नीलालजी तालेडा के सुपुत्र हैं। आप बडे भद्र एवं धर्म-निष्ठ पुरुष हैं। मद्रास में विभिन्न स्थानों पर आपकी चार प्रसिद्ध फर्में हैं।



श्री गीसुलालजी तालेड़ा

श्री मिश्रीलालजी बाफणा



आप श्री हीरालाल जी साहब के सुपुत्र थे। श्री मोहनलाल जी आपके लघुभ्राता है। बाफणा जी की उदारता और धर्मप्रियता प्रशंसनीय है।

●

आप करमावस (मालियों का) के निवासी श्री उगनमलजी के सुपुत्र है। आपके कनिष्ठ भ्राता मांगीलालजी है। दोनों उत्साही, धर्मप्रिय एवं गुरुभक्त है। व्यवसाय मद्रास और वेलूर में है।



श्री भंवरलालजी डूंगरवाल

श्री बालाबक्षजी बोहरा



आप राणीवाल मारवाड़ के निवासी श्री गुलाबचन्दजी बोरा के सुपुत्र है। आपके पुत्र चम्पालालजी विजयराजजी और मदनलालजी होनहार उत्साही और धर्मप्रिय है। उनमें विजयराजजी प्रत्येक कार्य में विशेष उत्साह से भाग लेते है।

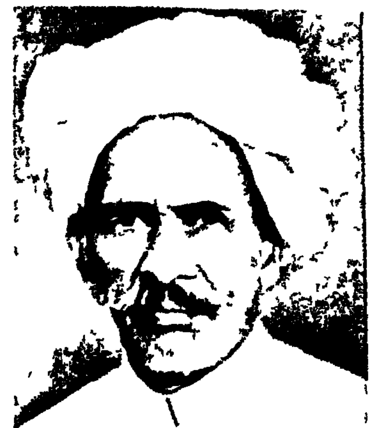
●

आप चाउण्डिया निवासी धर्मनिष्ठ एवं तपस्वी श्रावक थे। आपके मदनलालजी विजयराजजी आदि तीन सुपुत्र है। आपका व्यवसाय रायपेट मद्रास में बड़े सुन्दर ढंग से चल रहा है।



श्री केवलचन्दजी तिलेसरा

श्री मुलतानमलजी मूथा



आप डासरा (मारवाड़) के निवासी प्रमुख श्रावक है। आपके श्री हस्तीमलजी ताराचन्द जी आदि पुत्रों ने बेंगलोर में सुन्दर व्यवसाय चला रखा है। हजारों का दान देते है।

●

आप चाउण्डिया निवासी वयोवृद्ध श्रावक है। आपके सुपुत्र भंवरलालजी व मोहनलाल जी समाजसेवा में पूरा रस लेते है। देव-गुरु के श्रद्धावान है।



श्री चन्दनमलजी तालेडा

द्वितीय श्रेणी

श्री केवलचन्दजी मूथा, मादलिया



आप मादलिया के निवासी सरल प्रकृति के व्यक्ति हैं। धर्म में आपकी पूर्ण आस्था है। मैसूर में केवलचन्द रामसुख नाम की आपकी प्रसिद्ध फर्म है।

•

आप बांग्वडी निवासी, उत्साही युवक हैं। आपका व्यवसाय मद्रास में चल रहा है। यहां भी अच्छी जमींदारी है।



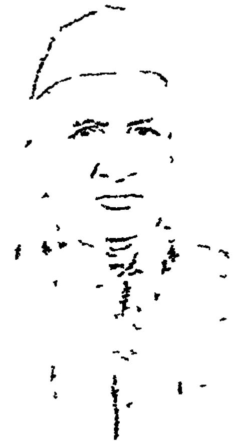
श्री रिखबचन्दजी मरलेचा

श्री स्व० सुजानमलजी बोहरा



आप पीपाड (मारवाड) निवासी थे। आपके सुपुत्र श्री सम्पतराजजी बोहरा हैं। आपके खानदान में से उपाध्याय श्री हस्तीमलजी म० एवं महासती श्री तेज-कंवरजी म० ने भगवती जैन दीक्षा ग्रहण की। आपका व्यवसाय यवतमाल में है।

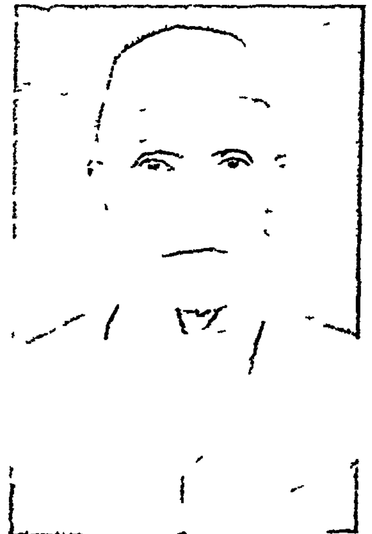
श्री नेमीचन्दजी राजमलजी कोटेचा



आप श्रमपरायण, जनसेवी एवं उदार-मना व्यक्ति हैं। आपका व्यवसाय यवतमाल में अच्छे ढंग से चल रहा है।

•

आप बड़े विनयवान विवेकशील व्यक्ति हैं। आपका व्यवसाय यवतमाल में उत्तम रीति से चल रहा है।



श्री नेमीचन्दजी उदयचन्दजी बरलोटा

श्री मो० जवरीलालजी कटारिया



आप सोजत निवासी श्री चुन्नीलालजी कटारिया के सुपुत्र हैं। आपका व्यवसाय मैसूर में चल रहा है। आपकी बहिन विमल कुंवरजी ने स्था० जैन भगवती दीक्षा अंगीकार की है। आप उत्साही युवक हैं।

●

आप बीजाजी का गुड़ा (मारवाड़) के निवासी हैं। आप धर्मध्यान में दृढ़ और पक्के गुरुभक्त हैं। मारवाड़ में बीजाजी का गुड़ा और चिगनपेट मद्रास में आपका व्यवसाय चल रहा है।



श्री दीपमलजी सकलेचा

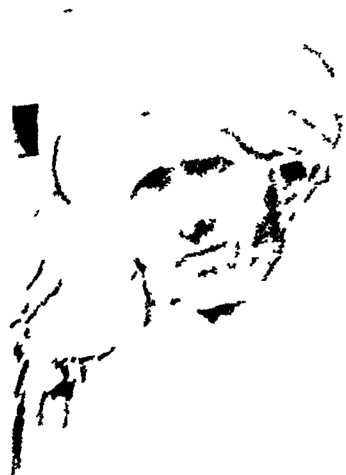
श्री घीसालालजी मूथा



आप अटवड़ा निवासी हैं। आप बड़े भद्रिक एवं जनप्रिय सज्जन व्यक्ति हैं। आपके सुपुत्र श्री लादूरामजी राजनैतिक क्षेत्र के सुन्दर कार्यकर्ता हैं। आपका व्यवसाय मद्रास तथा अटवड़ा में चल रहा है।

●

आप वृद्ध एवं धर्मनिष्ठ व्यक्ति हैं। आपका मादलिया में प्रेमराज जवरीलाल के नाम से फर्म चलता है।



श्री प्रेमराजजी लोढ़ा

स्व० श्री घेवरचन्दजी पगारिया



आप कुशालपुरा निवासी समाज प्रेमी सज्जन थे। आपके सुपुत्र भी धर्मप्रिय और परम गुरुभक्त हैं।

आप अटपड़ा निवासी उदारमना समाज-सेवी सज्जन हैं। आपके सुपुत्र श्री गिरधारीलालजी भी आपही के गुणों का अनुकरण कर रहे हैं।



श्री घीसूलालजी गधैया

श्री मोहनलालजी बोहरा



आप कुशालपुरा मारवाड निवासी गाटमलजी बोहरा के सुपुत्र हैं। आपको जिन-वाणी श्रवण का बहुत शौक है। स्वोपार्जित लक्ष्मी का सदुपयोग कर रहे हैं। आपके बाबूलालजी ऋषभराजजी आदि चार सुशील व आज्ञाकारी सुपुत्र हैं। आपका व्यवसाय मारवाड एवं मद्रास दोनों जगह चलता है।

आप धूंधला निवासी हैं। समाज में क्रान्ति पैदा करने वाले तथा दृढ धर्म श्रद्धा वाले सज्जन हैं। आपके सुपुत्र श्री लालचन्दजी एक योग्य व्यक्ति हैं। आपका व्यवसाय मद्रास में है।



श्री हीराचन्दजी धोका

श्री हिम्मतमलजी गुलेच्छा



आप ब्यावर निवासी श्री केसरीमलजी गुलेच्छा के सुपुत्र हैं। आपके कनिष्ठ भ्राता का नाम श्री सीवराजजी था। बचपन से ही आपमें धार्मिक लगन अच्छी है। आपके दत्तक पुत्र श्री उदयराजजी नवयुवक एवं सुशील हैं।

●

आप सिरियारी (मारवाड) के प्रसिद्ध मेहता खानदान के पीतलिया गोत्रीय धर्मज्ञ पुरुष हैं। आपकी ओसवाल समाज में अच्छी ख्याति है। भगवद् वाणी के बहुत प्रेमी हैं। आपके परिवारजनों में अच्छी धार्मिक भावना है।



श्री कस्तूरचन्दजी पीतलिया

श्री बादलचन्दजी काकरिया



आप चोकडी (नर्दा) निवासी हस्ती-मलजी सा० काकरिया के सुपुत्र हैं। आप उत्साही एवं बड़े उदार व्यक्ति हैं। साथ ही कवि, गायक एवं कलाकार हैं। आजकल आप मद्रास में एबी जनरल इन्श्योरेन्स कम्पनी में उच्च पद पर कार्य कर रहे हैं।

●

आप श्री शिवराजजी बोकडिया के सुपुत्र हैं। आपमें धार्मिक लगन अच्छी है। आपकी जसराज नेमीचन्द के नाम से पाली में प्रसिद्ध फर्म है। आप मूलतः खागटा के निवासी हैं।



श्री लालचन्द बोकडिया

अर्थसहायकों का संक्षिप्त परिचय, जिनके चित्र प्राप्त न हो सके

श्री एन० मिश्रीमलजी सूथा

आप जयनगर निवासी श्री मिसरूमलजी सुथा के सुपुत्र हैं। आप दृढ श्रद्धावान् एवं गुरुदेव के अनन्य भक्त हैं। आपने अपने ही परिश्रम से धनराशि उपार्जित की है। एम० मिश्रीमल जैन के नाम से ताम्बरम् मद्रास में आपकी फर्म चलती है।

श्री चम्पालालजी सकलेचा

आप बन्दा निवासी श्री घीसूलालजी सकलेचा के बडे पुत्र हैं। आप प्रसिद्ध व्यापारी, समाज-सेवी, उदार दिल नवयुवक हैं। आपके सबसे छोटे भाई मिट्ठालालजी भी होनहार नवयुवक हैं। दोनों भाइयों का व्यवसाय सम्मिलित रूप से जालना में चलता है। वहां घीसूलाल चम्पालाल के नाम से आपकी फर्म प्रसिद्ध है।

श्री घीसूलालजी रिखबाजी पुनमिया

आप बडे प्रिय उत्साही, समाजसेवी युवक हैं। आप लक्ष्मी के वरद पुत्र हैं। सारी श्री एवं समृद्धि स्वोपार्जित है। आपकी नाईगांव बम्बई में घीसूलाल रिखबाजी नामक प्रसिद्ध फर्म है।

श्री चन्दनमलजी लालचन्दजी कोठारी

आप रवामपुरा के निवासी हैं। आजकल गाठन में आपका व्यवसाय लालचन्द मोहनलाल के नाम से चलता है। आप समाज के अग्रणी हैं। सर्व श्री लालचन्दजी मोहनलालजी तथा चम्पालालजी चारों ही भाई बडे श्रद्धालु एवं गुरुदेव के परम भक्त हैं।

श्री जयवन्तराजजी गुलेच्छा

आप पिपाडा के निवासी हैं। उदार दिल धर्मप्रिय पुरुष हैं। आपके सुपुत्र श्री उदयराजजी मद्रास में व्यापार करते हैं। आपका व्यवसाय आलन्दूर मद्रास में अच्छे स्तर पर चल रहा है।

श्री जयवन्तराजजी सुगनचन्दजी बाफणा

आप कुशालपुरा निवासी हैं। आपका व्यवसाय बैंगलोर तथा मद्रास दोनों स्थानों पर अच्छा चलता है। आप बडे धर्मप्रेमी व्यक्ति हैं।

श्री भँवरलालजी रांका

आप ब्यावर के प्रसिद्ध एडवोकेट हैं। आप अच्छे धार्मिक एवं प्रतिभाशाली व्यक्ति हैं। आप एवं आपके पिता श्री तुगलालजी गुरुदेव के परम भक्त हैं। आपकी वकालत जोधपुर, जयपुर, अजमेर, ब्यावर एवं देहली में अच्छी चलती है।

श्री रामचन्द्रजी सकलेचा

आप सहवाज निवासी जुहारमलजी सकलेचा के पौत्र और श्री गणेशमलजी के सुपुत्र हैं। आप धर्मानुरक्त, दयालु एवं परम विनीत व्यक्ति हैं। आपकी बडनेरा में जुहारमल गणेशमल नामक प्रसिद्ध फर्म है।

श्री रिखबचन्दजी गांधी

आप गणावास निवासी श्री नैनमलजी के सुपुत्र हैं। खादीप्रेमी समाजसेवी शास्त्रज्ञ, पुरुष हैं। आपकी धार्मिक लगन बडी सराहनीय है। आपका व्यवसाय यवतमाल में चलता है।

श्री पारसमलजी सुराणा

आप सोजत निवासी श्री केसरीमलजी सुराणा के सुपुत्र हैं। आपके काका मनोहरमलजी सा० व कनिष्ठ भ्राता श्री मदनराजजी तथा सुपुत्र मोहनलालजी एवं सुदर्शनलालजी आदि सम्पूर्ण परिवार धर्मानुरागी, विनयशील, एवं समाजसेवी परिवार है। आप गुरुदेव के अनन्य भक्त हैं। आपका [illegible] मद्रास तथा मैसूर में अच्छा व्यवसाय चलता है।

श्री नथमलजी भसाली

आप जाजणवास निवासी श्री पन्नालालजी भसाली के सुपुत्र हैं। आप सरल हृदय व्यक्ति हैं। आपका व्यवसाय अपने गांव में मद्रास में पन्नालाल नथमल के नाम से चलता है।

श्री फुटरमलजी राजमलजी बरलोटा

आप सादड़ी निवासी बरलोटा खानदान के हैं। आपने लोंकाशाह जैन गुरुकुल सादड़ी (मारवाड़) को एक मुश्त बीस हजार तथा सादड़ी सम्मेलन के अवसर पर भी एक मुश्त बीस हजार फुटरमल राजमल के नाम से दिये हैं। और अनेक संस्थाओं को आप खुले हाथों से दान देते रहते हैं। आपका व्यवसाय पूना में सुन्दर ढंग से चल रहा है।

श्री फूलचन्दजी धर्मीचन्दजी डूँगरवाल

आप धारला निवासी हैं। स्व० फूलचन्दजी सा० ने [illegible] दीक्षाएँ दिलाई थीं। वे [illegible] के प्रमुख व्यक्ति थे। आपकी स्मृति में स्थानक का निर्माण कराया गया है। आप सन्तों की भक्ति में लीन रहनेवाले [illegible] थे। आपका व्यवसाय धारला में ही चलता है।

श्री विसनराजजी कटारिया

आप सहराज निवासी श्री वख्तावरमलजी कटारिया के सुपुत्र हैं। बड़े धर्मप्रेमी एवं समाजसेवी पुरुष हैं। आप अन्धश्रद्धा से दूर रहने वाले हैं। आपका व्यवसाय मद्रास में सुन्दर ढंग से चल रहा है।

श्री नवरलालजी नौरतनमलजी सेठ

आपकी फर्म ब्यावर में गणेशदास समीरमल के नाम से प्रसिद्ध है। आपने स्वोपार्जित चंचल लक्ष्मी का सदुपयोग में व्यय करने का सौभाग्य प्राप्त किया है। आप धर्मपरायण एवं दानी हैं। दोनों भाइयों का अटूट स्नेह है। आप अपनी जन्मभूमि निमाज मारवाड़ में एक बड़ी धनराशि व्यय करके धर्मस्थानक का निर्माण करवा रहे हैं। आपकी पूजनीया माताजी साहब बड़ी दयालु महिलाओं में से थीं।

श्री राजमलजी नथमलजी बरलोटा

आप मारवाड़ सादड़ी के निवासी हैं। बड़े दानी एवं समृद्धिशाली पुरुष हैं। आप लगभग चार लाख की कीमत की जमीन तथा ३१ हजार रुपये नकद श्री लोंकाशाह जैन गुरुकुल को समर्पित कर यशस्वी बने हैं। तथा अब सादड़ी में एक सुन्दर जैन स्थानक का निर्माण करवाना चाहते हैं। आपका व्यवसाय पूना तथा बैंगलोर में चल रहा है।

श्री मिश्रीमलजी कटारिया

आप सहराज निवासी [illegible]सामलजी सा० के सुपुत्र हैं। स्वोपार्जित लक्ष्मी का खूब सदुपयोग कर रहे हैं। आपका व्यवसाय मद्रास में चलता है।

श्री हेमराजजी सिंघी

आप कुशालपुरा निवासी तपस्वी, धर्मानुरागी, एवं दृढ़प्रतिज्ञ पुरुष हैं। आपने अनेक जगहों पर अपनी चंचल लक्ष्मी का दान कर सच्चे लक्ष्मीपति होने का परिचय दिया है। जय जैन धर्मानुयायी गरीब भाइयों के लिए

एक मुश्त पचहत्तर हजार रुपया प्रदान करके अपने धर्मप्रेम का परिचय दिया है। आपका व्यवसाय गारमेंट मद्रास मे सुचारु रूप से चल रहा है।

जवरचंद जी बोहरा

आप कुशालपुरा निवासी शाह केसरीमलजी के सुपुत्र है। उत्साही नवयुवक है, गुणवन्त है। सामाजिक कार्य मे लगे रहते हैं। कारबार यहीं है।

श्री भँवरलालजी नवलेखा

आप बीजाजी के गुड़ा के निवासी श्री गुलाबचन्दजी नवलेखा के सुपुत्र हैं। उत्साही, भद्र और सरल व्यक्ति है। आपका व्यवसाय बैंगलोर मे है।

श्री बानावगसजी विजेराजजी बोरा

आप गारीवाल मारवाड के निवासी श्री गुलाबचन्दजी बोरा के सुपुत्र है। आपके पुत्र चम्पालालजी विजयराजजी और मदनलालजी तीनो ही बडे होनहार उत्साही और धर्मप्रिय व्यक्ति है। इनमे विजयराजजी प्रत्येक कार्य मे विशेष उत्साह से भाग लेते है। आपका व्यवसाय मारवाड, मद्रास, और गुजरात मे बडे सुन्दर ढग से चल रहा है।

श्री लालचन्दजी मोहनलालजी डूगरवाल

आप कल्याणपुर निवासी है। व्यापार सिकन्दराबाद मे सुन्दर चल रहा है। दोनो भ्राता धमज्ञ, उत्साही और सेवाभावी है।

श्री केवलचन्दजी चोपड़ा

आप सोजत निवासी दानवीर, समाजसेवक है। आपने गौतम जैन गुरुकुल श्री उम्मेद गौशाला, आदि अनेक सस्थाओ मे तथा सामाजिक कार्यो मे लगभग तीन लाख रुपये व्यय किये है। आप गोपालचन्दजी सा० चोपड़ा के पुत्र है। आपके पास मे कोई भी व्यक्ति सहायतार्थ पहुच कर निराश नहीं लौटता। आप खद्दर भक्त है और तीन स्कन्ध भी रखते हैं। आपके लघु भ्राता श्री फूलचन्दजी है। आपका व्यवसाय बम्बई मे श्री केवलचन्द चम्पालाल के नाम से चलता है।

श्री चुन्नीलालजी सम्पतराजजी बरड़िया

फर्म के सचालककर्ता श्री सम्पतराजजी बरडिया जोधपुर के निवासी हैं। आपके दो कनिष्ठ भ्राता भी आप ही की भाति के कार्यकर्ता है। आप श्री मरुधरकेसरी अभिनन्दन ग्रन्थ प्रकाशन समिति के मत्री हैं।

श्री मदनराजजी नाहटा तथा श्री जवरीलालजी नाहटा

दोनो भाई है। आप सोजत निवासी बाबू मूलचन्दजी नाहटा के सुपुत्र है। आपके लघु भ्राता श्री जवरीलालजी नाहटा है। दोनो भाइयो मे असीम स्नेह है। आप बडे विशाल हृदय के है। सामाजिक कार्यो मे मुक्तहस्त से दान देते हैं। आपने परिवार तथा अन्य सम्बन्धियों को अपने व्यवसाय का साझेदार बनाकर उन्हे भी सम्पन्न बना दिया है। आपका व्यवसाय कटक-उडीसा मे चलता है। आप श्री मरुधरकेसरी अभिनन्दन ग्रन्थ प्रकाशन समिति के सचिव भी है।

श्री प्रेमराजजी कामदार

आपका जन्म चाडवास (मारवाड) मे हुआ। आप जवानमलजी तालेडा के सुपुत्र है। आप राज्य शासन के कार्यकलाप मे बहुत कुशल है। वर्तमान मे आपका व्यवसाय बैंगलोर शहर मे चल रहा है। जहा आपने अच्छी ख्याति प्राप्त की है।

श्री पुखराजजी सीसोदिया

आप ब्यावर निवासी श्री हीरालालजी के सुपुत्र हैं। आप वीर वर्धमान संघ के प्रमुख हैं और अनेक संस्थाओं के प्रमुख कार्यकर्ता हैं। श्री मरुधरकेसरी अभिनन्दन ग्रंथ प्रकाशन समिति के अध्यक्ष हैं। आप बड़े कुशाग्र-बुद्धि, व्यवसायकुशल, धर्मप्रेमी और अनुशासनप्रिय व्यक्ति हैं। आपका व्यवसाय पारसमल हीरालाल तथा हीरालाल पुखराज, नाम से ब्यावर और अजमेर में चलता है। जिसकी और शाखाएँ भी हैं।

श्री बालचन्दजी बाफना

आप सादड़ी निवासी मनराकचन्दजी सा० बाफणा के सुपुत्र हैं। आप श्री लोकाशाह जैन गुरुकुल सादड़ी के अध्यक्ष हैं। बड़े धर्मपरायण व्यक्ति हैं। आपने धर्मकार्यों के लिए हजारों रुपयों का दान मुक्त हस्त से दिया है। आपने अपने ही हाथों से सम्पूर्ण सम्पत्ति अर्जित की है। श्री शान्तिलाल रूपचन्द के नाम से आपकी पेढ़ी प्रसिद्ध है। आपकी धर्मपत्नी श्रीमती पानीबाई व सुपुत्र श्री रूपचन्दजी सदैव धार्मिक कार्यों के प्रति जागरूक हैं।

द्वितीय श्रेणी

श्री अन्नराजजी बुधराजजी कटारिया

आप सहनाज निवासी श्री जवानमलजी कटारिया के सुपुत्र हैं। आप दोनों भ्राता व्यापारकुशल एवं सरल युवक हैं। व्यवसाय मद्रास में चल रहा है।

श्री रघुनाथमलजी तालेड़ा

आप सोजत निवासी श्री गुलाबचन्दजी के सुपुत्र हैं। आपका वेलूर मद्रास में बहुत बड़ा व्यवसाय है। आप बड़े परोपकारी हैं। वेलूर के भारतविख्यात मिशन अस्पताल में रोगियों का जो देश के कोने कोने से रोगी आते हैं उनको वहाँ स्थान दिलवाना और उनकी सेवा करना आपका नित्य कर्म बन गया है। इसमें जो कुछ भी व्यय होता है वह आप सहन करते हैं। और ऐसा करने में अपना अहोभाग्य समझते हैं। आप पूर्ण गुरुभक्त हैं।

श्री जयवन्तराजजी विजयराजजी बोहरा

आप जयतारण निवासी एवं जयवन्तराजजी विजयराजजी फर्म के मालिक हैं। आप जोर के बड़े प्रसिद्ध व्यापारी हैं। आपका समाज में उच्च स्थान है। आप खूब पुण्य सेवा करते हैं। अभी २ आपने बैंगलोर, मद्रास आदि दूसरे प्रान्तों में व्यवसाय हेतु रहने वाले जयतारण निवासी स्वधर्मी बन्धुओं में स्वयं भ्रमण करके सवा लाख रुपये इकट्ठे किये हैं और यहाँ एक विशाल धर्मस्थानक का निर्माण करवा रहे हैं।

श्री पारसमलजी बोका

आप सोजत के स्थानकवासी समाज के मंत्री हैं। बड़े उत्साही व धर्मानुरागी व्यक्ति हैं। बड़े व्यवस्थाकुशल हैं। पूज्य श्री रघुनाथ जैन पुस्तकालय के भी आप मंत्री हैं। आपने कठोर परिश्रम से पुस्तकालय को अपने पैरों पर खड़ा कर दिया है।

श्री दीपचन्दजी हस्तीमलजी सकलेचा

आप सहनाज निवासी पटवारी गुलाबचन्दजी सकलेचा के सुपुत्र हैं। दोनों भाइयों के हृदय में धर्म की गहरी लालसा है। आपका व्यवसाय गुडियातम मद्रास में है।

श्री पुखराजजी रिखबचन्दजी राका

आप कुशालपुरा निवासी, आधुनिक विचारों के नवयुवक हैं। आपका व्यवसाय मद्रास में है।

श्री पुखराजजी रायचन्दजी छाजेड़

आप रायपुर निवासी, धर्मपरायण एवं योग्य व्यक्ति हैं। आपकी मातेश्री श्री फूटरीबाई घोर तपस्विनी हैं। उनके निरन्तर एकान्तर चलता है। आपका बैंगलोर में बहुत ही व्यवस्थित व्यवसाय है।

श्री प्रतापमलजी मगनराजजी मलगट

आप केसरसिंहजी का गुडा के निवासी हैं। समाज के प्रमुख श्रावक हैं। आप सन्त एवं सतियों की सेवा में दत्तचित्त रहते हैं। आपका व्यवसाय गाव में ही चलता है।

श्री लिखमीचंदजी खारीवाल

आप मांजत निवासी नारमलजी खारीवाल के सुपुत्र हैं। आपकी धर्म के प्रति गहरी लगन है। आपका व्यवसाय बैंगलोर में है।

श्री सिणगारबाई खारीवाल

आप मांजत निवासी नारमलजी खारीवाल की धर्मपत्नी है। आपके सुपुत्र लिखमीचन्दजी एवं पारसमलजी बड़े आज्ञाकारी हैं और आप स्वयं धर्मपरायण महिला है।

श्री सुगनीबाई खाबिया

आप मारवाड़ गोड निवासी हेमराजजी खाबिया की धर्मपत्नी है। आपके सुपुत्र श्री लालचन्दजी बड़े मिलनसार धर्मानुरागी व्यक्ति हैं। श्री सुगनीबाई गृहकार्य में दक्ष है। आपका स्वभाव बचपन से ही बहुत अच्छा है। आपका व्यवसाय मद्रास में है।

श्री हरकचन्दजी कन्हैयालालजी कोठारी

आप जवानपुरा निवासी हैं। आप मारवाड़ी हैं। स्वयं की प्रकृति सुन्दर एवं मिलनसार है, पूर्ण उत्साही हैं। समाज के कार्य में दत्तचित्त रहते हैं। आपका व्यवसाय मद्रास, गाठन, एवं जवानपुरा में है।

श्री चन्दनमलजी भीकमचन्दजी राका

आप कुशालपुरा मारवाड़ निवासी बावड़ी वाले राका के नाम से प्रसिद्ध हैं। समाज में आपका गौरवपूर्ण स्थान है। आपका व्यवसाय मारवाड़, मद्रास, चालीसगांव, और कोयम्बटूर में चलता है। समाजोन्नति के कार्यों में खूब हाथ बटाते हैं और हमेशा अग्रणी रहते हैं।

श्री चम्पालाल खारीवाल

आप कुशालपुरा निवासी अनराजजी खारीवाल के सुपुत्र हैं। आप सरल हृदय, सेवाभावी, एवं उदारमना व्यक्ति हैं।

श्री मांगीलालजी रेड

आप जोधपुर निवासी श्री मेघराजजी रेड के सुपुत्र हैं। आप ने जीवन में खूब उतार चढ़ाव देखे हैं। साहसी उत्साही नवयुवक हैं। गुरुदेव के अनन्य भक्त हैं।

श्री नेमीचन्दजी बांठिया

आप बगड़ी निवासी शाह हीराचन्दजी के सुपुत्र थे। उदारमना थे। एकमुश्त तीस हजार बगड़ी जैन हाई-स्कूल को तथा पन्द्रह हजार मोहन लाल जैन स्थानक को दिये तथा पचास हजार प्रकीर्णक दान दिया। आपकी धर्मपत्नी श्रीमती मदन कुंवरबाई आप के पद चिह्नों पर चलती हुई लक्ष्मी का सदुपयोग कर रही है। कारोबार आपका मद्रास में चल रहा है।

श्री जवरचन्दजी बोहरा कुशालपुरा

श्री चम्पालालजी खारीवाल कुशालपुरा

श्री मिश्रीमलजी नगराजजी गोठी, बिलाड़ा (बोलोवाकम)

आप बिलाड़ा सज्जन भी परम उत्साही, धर्मप्रेमी और गुरुदेव के भक्त हैं।

तृतीय श्रेणी के सहायदाता

१ श्री अमोलकचन्दजी छगनमलजी धारीवाल, बगडी (आरकानम)
२ श्री अभयराजजी रामलालजी कोठारी, (डूगड) कुरडाया
३ श्री केशरीमलजी तेजराजजी भडारी, पीपाड (मैसूर)
४ श्री अमोलकचन्दजी भवरलालजी नाहर, कालू आनदपुर (मद्रास)
५ श्री कातिलालजी चादमलजी पुनमिया, सादडी
६ श्री गणेशमलजी चादमलजी कांठेड, कोटडा
७ श्री गणेसमलजी सुकनराजी पोकरना, सामाजी का गुडा (मद्रास)
८ श्री गणेशमलजी लालचन्दजी पीतलिया, सिरियारी, (हैदराबाद)
९ श्री गहरीलालजी भवरलालजी पगारिया, बिलाडा (मद्रास)
१० श्री घीसूलालजी भवरलालजी लुकड, सोजत सीटी, (बेंगलोर)
११ श्री जसराजजी चन्दनमलजी सोमावत, सिरियारी, (मद्रास)
१२ श्री जेवतराजजी पारसमलजी कोठारी, (डूगड) कुरडायां
१३ श्री जोगीलालजी कन्हैयालालजी हिरण, बिलाडा
१४ श्री जुगराजजी जवरीलालजी नाहर, हरियाडाणा, (मद्रास)
१५. श्री जवरीलालजी अमरचन्दजी कोठारी, ब्यावर
१६ श्री जुगराजजी गजराजजी कटारिया, सेवाज
१७ श्री देवीचन्दजी रूपचन्दजी साकरिया, (साडेराव)
१८ श्री धूलचन्दजी पुखराजजी सिगी, सिरियारी (हैदराबाद)
१९ श्री धनराजजी चम्पालालजी समदडिया, केलवाज, (बेंगलोर)
२० श्री प्यारी बाई, जालोर
२१ श्री प्रेमराजजी मोतीलालजी मूथा, चावण्डिया, (मद्रास)
२२ श्री पुखराजजी विरदीचन्दजी चोधरी, जेतारन (मद्रास)
२३ श्री प्रेमराजजी विरदीचन्दजी गुगलिया, राणावास (सिकन्दराबाद)
२४ श्री पुखराजजी विरदीचन्दजी गाधी, बुसी
२५ श्री प्रेमचन्दजी बाबूलालजी बोहरा, बुसी
२६ श्री प्रेमराजजी हस्तीमलजी सोलकी, देवली आऊवा की
२७ श्री प्रतापमलजी दुलहराजजी कटारिया, सेवाज
२८ श्री बसीलालजी मीठालालजी सिगी, सोजत सीटी, (बंगलोर)
२९ श्री बस्तीमलजी बाठिया, सोजतसीटी (मद्रास)
३० श्री भवरलालजी लुकड व चम्पालालजी नाहर, बेंगलोर सीटी
३१ श्री भवरलालजी विरधीचन्दजी कोठारी, (डूगड) कुरडाया
३२ श्री मोतीलालजी काठेर, कोटडा (बेंगलोर सीटी)
३३ श्री मगलचन्दजी नेमीचन्दजी बोहरा, केलवाज, (बेंगलोर)
३४ श्री मिश्रीलालजी फूलचन्दजी दला, बीजाजी का गुडा (मद्रास)

३५. श्री मिश्रीमलजी जीवराजजी गुगलिया, राणावास, (सिकन्दराबाद)
३६. श्री मिश्रीलालजी मोतीलालजी नाहर, केलवाड़, (मद्रास)
३७ श्री माणकचन्दजी रतनलालजी राका, कुशालपुरा (मद्रास)
३८ श्री मोहनराजजी गणेशमलजी नाहर, देवली (आऊवा की)
३९ श्री मदनलालजी जवाहरराजजी मुणोत, सोजत (कुम्भकोणम्)
४० श्री मोतीलालजी सरदारमलजी कोठारी (दूगड़) कुन्दाया (मद्रास)
४१ श्री मिश्रीबाई शोभागमलजी की धर्मपत्नी, जैतारण
४२ श्री लालचन्दजी सम्पतराजजी कोठारी, कुशालपुरा (बंगलोर)
४३ श्री किशनचन्दजी नेमीचन्दजी कर्णावट, जोधपुर
४४. श्री विनयचन्दजी हीराचन्दजी पीपलिया सोजतरोड
४५ श्री सागरमलजी भंवरलालजी गेलड़ा, बड़ा गुडा (आरकोनम)
४६ श्री हिम्मतमलजी प्रेमचन्दजी माकरिया, साडेराव
४७ श्री मिश्रीलालजी चांदमलजी जामड़ बलाल (मारवाड़)
४८ श्री अमेराजजी चनणमलजी सकलेचा जैतारण (मारवाड़)
४९ श्री जेवतराजजी केसरीमलजी सोलंकी सादड़ी
५० श्री मोहनलाल खुबीलाल मदनलाल कावड़िया सादड़ी

चतुर्थ श्रेणी के सहायदाता

१ श्री केवलचन्दजी अमृतलालजी कोठारी, बगड़ी (आरकोनम)
२ श्री रूपमलजी धनराजजी सुराणा, बागरदा
३ श्री गणेशमलजी बाबूलालजी गुगलिया, राणावास, (सिकन्दराबाद)
४ श्री गुलाबचन्दजी अचलदासजी भंडारी, जोधपुर
५ श्री चम्पालालजी देवराजजी सीसोदिया, इन्दावड़
६. श्री जीवराजजी उगमराजजी दरड़ा, पुनलू
७. श्री जसराजजी नौरतमलजी बोहरा, कालू (मैसूर)
८. श्री भीकराजजी नेमीचन्दजी सीसोदिया, इन्दावड़
९ श्री जसराजजी चम्पालालजी सिंगी, कालू आनन्दपुर (जाम्बुर)
१० श्री चनराजजी पारसमलजी देवीचन्दजी सिंगी, सिरियारी (हैदराबाद)
११ श्री नथमलजी रामचन्दजी बरमट, केसरीसिंहजी का गुडा (हैदराबाद)
१२ श्री चांदराजजी भीकमचन्दजी कांठेड़, कोटडा, (वेलापुरम्)
१३ श्री दाखीबाई (भंवरीबाई) कन्हैयालालजी चोरडिया की धर्मपत्नी चांदावतों का नोखा
१४ श्री धनचन्दजी चांदमलजी ललवाणी, ब्यारिया मीठापुर (मद्रास)
१५ श्री पन्नालालजी महावीरचन्दजी गादिया, सोजत (बंगलोर)
१६ श्री पुखराजजी मोतीलालजी लुणावत, बलुन्दा, मैसूर
१७ श्री पुखराजजी हीराचन्दजी बजमरा, बीपारी, (हैदराबाद)
१८ श्री सोहनमलजी जेठमलजी चौधरी, जालोर
१९ श्री बस्तीमलजी शान्तिलालजी कांठेड़, सोजत
२० श्री मांगीलालजी शान्तिलालजी समदड़िया, केलवाड़ (बंगलोर)
२१ श्री मोहनलालजी सोहनराजजी रेड, मादलिया, मैसूर

२२ श्री मगलचन्दजी मीठालालजी चौधरी, जालोर
२३ श्री मोतीलालजी महावीरचन्दजी श्रीश्रीमाल, सोजत, (कुम्भकुलम)
२४ श्री मागीलालजी काठेर, कोटडा
२५ श्री रतनचन्दजी मीठालालजी आचलिया, कोटडा (मद्रास)
२६. श्री शोभाचन्दजी लुणावत, वगडी (मंसूर)
२७ श्री सेंसमलजी भवरलालजी वव सोजत, (मंसूर)
२८ श्री साकलचन्दजी लालचन्दजी चौधरी, जालोर
२९ श्री मिश्रीलालजी मीठालालजी सचेती धुवला (काजीवरम)
३०. श्री मोहनलालजी केवलचन्दजी काठेड वगडी (बीडकी)
३१ श्री सोहनलालजी रमेशकुमारजी सचेती, सोजतरोड
३२ रतनचन्दजी, चान्दमलजी, मकाना नीमाज (चगल पेठ)

अभिनन्दनग्रन्थ प्रकाशन समिति प्रवन्धकारिणी

१ अध्यक्ष— श्री पुखराजजी शीशोदिया, ब्यावर
२ उपाध्यक्ष— श्री वालचन्दजी वाफणा, सादडी (मा०)
३ उपाध्यक्ष—श्री केवलचन्दजी चोपडा, साजत सीटी
४ मत्री —श्री सम्पतराजजी वरडिया, जोधपुर
५ सहमत्री—श्री मदनराजजी तालेडा, चावडिया
६ सहमत्री—श्री सोहनराजजी सुराणा, साजत सीटी
७ सहमत्री—श्री मदनराजजी नाहटा, सोजत सीटी
८ सहमत्री—श्री मदनराजजी वाठिया, साजत सीटी
९ कोषाध्यक्ष—श्री इन्दरमलजी सकलेचा, जोधपुर
१० सलाहकार—श्री पारसमलजी वाका, सोजत सीटी
११. " श्री प्रेमराजजी कामदार, चावडिया
१२. " श्री श्री भवरलालजी सेठ, ब्यावर
१३ " श्री चिम्मनसिंहजी लोढा, ब्यावर
१४ " श्री शोभाचन्द्रजी भारिल्ल, ब्यावर
१५ सदस्य—श्री सोहनलालजी राठोड, सोजत रोड
१६ " श्री मानमलजी पारख्या, चावडिया
१७ " श्री पारसमलजी सुराणा, साजत सीटी
१८ " श्री चम्पालालजी सकलेचा, वर्तुंदा
१९ " श्री माणकचन्दजी गुलेच्छा, सोजत सीटी
२० " श्री लालचन्दजी कोठारी, गोठन
२१. " श्री देवीचन्दजी वोहरा, बुसी
२२ " श्री [illegible] गाधी, राणावास
२३ " श्री मोहनलालजी भडारी, बीलाडा
२४ " श्री [illegible]चन्दजी मूथा-पीतलिया, सिरियारी
२५ " श्री मुन्नालालजी नावरिया, सोजत सीटी
२६ " श्री हस्तीमलजी मुलतानमलजी मूथा, दासपा
२७ " श्री पुखराजजी लुंकड, सोजत सीटी
२८ " श्री जुगराजजी कोठारी, चावडिया
२९ " श्री पुखराजजी गादिया, आगेवा
३० " श्री पारसमलजी मूथा, पीपाड सीटी
३१ " श्री जुगराजजी सुराणा, मारवाड जक्शन
३२ " श्री वादलचन्दजी वाकरिया, चोकडी वडी
३३. " श्री वीसूलालजी मेठिया, भावी
३४ " श्री निहालचन्दजी मेहता, सादडी
३५ " श्री फूलचन्दजी लूणिया, पीपलिया
३६ " श्री चम्पालालजी डूगरवाल, [illegible],
३७ " श्री चन्द्रराजजी पीतलिया, सिरियारी
३८ " श्री दीपचन्दजी मूथा, साजत रोड
३९ " श्री छीतमलजी सिंघवी, बोपारी
४० " श्री रामचन्दजी सकलेचा, सवाज
४१ " श्री पन्नालालजी जागडा, जालपणा
४२ " श्री पारसमलजी [illegible], ब्यावर
४३ " श्री [illegible]चन्दजी मूथा, कुपाल
४४ " श्री लालचन्दजी मुणोत, सिकन्दराबाद
४५ " श्री मुनीम मूथा लादुरामजी कामदार, वर
४६ " श्री पुखराजजी बोहरा, राणीवाल
४७ " श्री मानमलजी चोरडिया सिचियाक,
४८ " श्री रामलालजी कोठारी, कुरडाया
४९ " श्री रूपचन्दजी लुणावत, पीपाड सीटी
५० " श्री वर्धीमलजी मूथा, पाली

५१ " श्री भवरलालजी राका एडवोकेट, ब्यावर

ग्रन्थ-प्राप्ति के स्थान

(१) श्री मरुधरकेसरी-अभिनन्दन-ग्रन्थ-प्रकाशन-समिति

श्री हीरालालजी भीकमचन्द

सुमेर मार्केट, जोधपुर (राज०)

फोन न० ५८०

•

(२) श्री मरुधरकेसरी-अभिनन्दन-ग्रन्थ-प्रकाशन-समिति

श्री पुखराज सीसोदिया

लोहिया बाजार, ब्यावर (राज०)

फोन न० ३१७

•

(३) श्री मरुधरकेसरी-अभिनन्दन-ग्रन्थ-प्रकाशन-समिति

श्री तेजमलजी पारसमलजी धोका

सोजत सीटी (राजस्थान)